

प्रकाशक : चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस वाराणसी.

मुद्रक : विद्याविज्ञान प्रेम वाराणसी

संस्करण : तृतीय, संवत् २ १८

मूल्य ५-

( Chowkhamba Sanskrit Series Office  
P O Box 8 Varanasi.  
' ' ( INDIA )

1961

Phone 3148

# भूमिका

## काव्यकी उपादेयता

महर्षिने कहा है—धर्मार्थियोंको धर्म, कामार्थियोंको काम, दुष्टोंको निग्रह, कायरोंको साहस, शूरवीरोंको उत्साह, भूखोंको ज्ञान, विद्वानोंको वैदुष्य एवं दुःखियों, शान्तों और शोकातोंको विश्रान्ति देनेवाला तथा धर्म, यश, आयुष्य को देनेवाला, बुद्धिवर्धक एवं परमहितकारक काव्य है<sup>१</sup>। भामहाचार्यने काव्यको धर्मार्थकाममोक्षरूप पुरुषार्थचतुष्टयका साधन कहा है तथा मम्मटाचार्यने काव्यको यश, धन एवं व्यवहारज्ञानका दाता, अमङ्गलनाशक, तत्काल परमसुखप्रद और कान्तावत् उपदेशप्रद वतलाया है।

अब प्रश्न यह उठता है कि वेदान्त, उपनिषद् आदि विविध शास्त्रोंका परिशीलन छोड़कर काव्यका ही परिशीलन क्यों किया जाय? इस सम्बन्धमें वक्रोक्तिजीवितकार कहते हैं—अन्यान्य शास्त्र कदवे औषधके समान अविद्यारूप रोगका नाश करनेवाले हैं परन्तु काव्यशास्त्र अमृतवत् आह्लादपूर्वक अविद्यारूप रोगका नाशक है। आचार्य भामहने भी उक्त विषयका ही समर्थन किया है<sup>२</sup>। इतना ही नहीं, काव्यके द्वारा राजनीति तथा लोकव्यवहारका ज्ञान भी होता है। व्यास, वाल्मीकि, कालिदास, बाण, माघ, श्रीहर्ष आदि परस्सहस्र काव्यनिर्माताओंको अजरामरत्व देनेवाले उनके रचित 'काव्यशास्त्र' ही हैं। उद्भट आदि विद्वानोंको राजकोपसे प्रतिदिन एक लाख अशर्कियाँ मिलती थीं<sup>३</sup> तथा कवियोंको ही राजदरबारोंमें सान्निधविग्रहिक, मुख्यामात्य आदि सम्माननीय पद प्राप्त होते थे। सूर्य भगवान्के स्तुतिकाव्यसे मयूरादि कवियोंके कुष्ठरोगका नाश होना भी शास्त्रोंमें पाया जाता है। अतएव काव्यको शृङ्गाररस-प्रधान मानकर रसिकमात्रोंके लिए उपयुक्त कहना नितान्त अमात्मक धारणा है।

## काव्यहेतु

अधिकतम आचार्यों का सिद्धान्त है कि—काव्य-रचनाके लिए शक्ति, निपुणता तथा अभ्यासका होना अत्यन्त आवश्यक है। इनमेंसे स्वस्थ मनमें अनेक प्रकारके अर्थोंका भान एवं सरल पदोंके स्फुरणको 'शक्ति' या 'प्रतिभा' कहते हैं। जिस कविमें इसका सहज अभाव है, वह व्युत्पत्ति तथा अभ्यासके द्वारा कविता



भले ही कर के, किन्तु उसमें वह सरसता नहीं आ सकती जो प्रतिभा-सम्पन्न कविके काव्यमें होती है। यह वर्मसाक्ष पुराण स्थावर्य सम्पन्न कहा ही हास कामतन्त्र, जायबेह, कोप आदि विविध साधनोंको एवं काव्यसारविषय साहित्याकङ्कमादि ग्रन्थोंका आम्नायपूर्वक ज्ञान प्राप्त करना 'विपुलता'। 'भुत्पत्ति' कहलाती है। इसके द्वारा कवि आचाराविद्वद् कविता करनेमें सज्ज होता है। सततसंस्कार होकर स्वयं तथा गुणजनक समग्र काव्यरचनार्थे कव्य क्रमिक विकास करते रहना 'अभ्यास' कहलाता है। औपाचार्य बागवत (प्रथम) प्रतिभाको काव्यका कारण भुत्पत्तिको विभूयत्न तथा अभ्यासको अधिकारिण अर्थात् तीनोंको ही काव्यका कारण माना है<sup>१</sup>। काव्यप्रकाशकार मम्मटाचार्य भी सम्मिश्रित तीनोंको ही काव्योत्पत्तिमें कारण माना है<sup>२</sup>।

### काव्य-संज्ञा

सबका वर्णन करने वा व्याख्यानका 'कवि' कहलाता है। श्लोकोंको प्रसिद्ध कर वा वर्णन करे उसे कवि कहते हैं। (कवते श्लोकान् प्रथत वर्णवति। 'कवि') 'कवि' शब्द का प्रयोग शुद्धार्थ<sup>३</sup> एवं विद्वत्तासाम्य<sup>४</sup> क वि भी होता है।

अग्निपुराणमें अकङ्कार एवं गुणीसे युक्त तथा विरहित पद्मावलीको 'काव्य' कहनेके बाद इस काव्यमें वचनचातुरीकी प्रधानता रहने पर भी रसको ही कल का प्राण कहा गया है<sup>५</sup>। कामवाचार्जने भी यही स्वीकार किया है<sup>६</sup> साहित्यदर्पणकार विश्वनाथने तो रसको ही काव्यकी ओत्पत्ता माना है<sup>७</sup> तथा पश्चिम राज जगन्नाथने रसयज्ञवरमें रमणीयार्थप्रतिपाद्यक शब्दको काव्यकी संज्ञा भी और उस रसमें अमलकारको सार मतकाया है। इस प्रकार समष्टिकप

१. बालमदाकङ्कार २।३

२. काव्यप्रकाश १.३ तथा वल्लभी वृत्ति 'अथ लघ्विनिता' — 'इत्थं तु रसवत्' इति

३. 'युक्तौ तेलयुक्तं काव्यं वदन्ता आर्गवः कविः। (अमरकोश २।१।२५)

४. 'विद्वान् विप्रविद्वोवच'—'लक्षणायां वचिष्ठत' कविः। (अमरकोश २।४।५)

५. 'संक्षेपाद्वाक्यमिदं—वचनविज्ञानप्रदायकम्।

काव्यं स्फुरत्कङ्कारं गुणवरीयवर्णिताम्।' (अग्निपुराण ३।३७०)

तथा—'वचनैरन्वयप्रवायेऽपि रस प्रवाय जीवितम्। (अग्निपु. ३।३।३३)

६. इहम्—काव्यालङ्कारसूत्र १।१।२.३ तथा वल्लभी वृत्ति।

७. क. 'वाचं रसहर्मकं काव्यम्। (सा. व. २)

८. 'रमणीयार्थप्रतिपाद्यकं वचनं काव्यम्। तथा—'रते सादयमरकरः।

विचार करने पर 'चमत्कारयुक्त रसात्मक सगुण सालङ्कार एवं निर्दोष वाक्यको 'काव्य' कहते हैं' यही निष्कृष्ट लक्षण काव्यका होता है ।

### काव्यके भेद

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथने काव्यके दो भेद कहे हैं—दृश्यकव्य और श्रव्यकाव्य । प्रथम दृश्यकव्यको 'रूपक' भी कहते हैं । यह ( दृश्य या रूपक ) दश प्रकारका होता है नाटक, प्रकरण, भाण, व्यायोग, समवकार, डिम, ईहामृग, अङ्क, वीथी और प्रहसन । द्वितीय ( श्रव्यकाव्य ) तीन प्रकारका होता है—पद्यात्मक, गद्यात्मक तथा गद्यपद्यात्मक । इनमेंसे भी प्रथम पद्यात्मक काव्यके मात भेद हैं—महाकाव्य, खण्डकाव्य, कुलक, कलापक, सन्दानितक, युग्मक और मुक्तक । द्वितीय गद्यात्मक काव्यके कथा, आख्यायिका ये दो और विश्वनाथके मतसे मुक्तक, वृत्तगन्धि, उत्कलिकाप्राय और चूर्णक—ये चार भेद हैं<sup>१</sup> । तृतीय गद्यपद्यात्मक काव्यको 'चम्पू' तथा उसीके राजस्तुतिपरक होने पर 'चिरुद' और बहुभाषा होने पर 'करम्भक' कहते हैं<sup>२</sup> ।

### महाकवि कालिदास और उनकी विशेषतायें

महाकवि कालिदास की नैसर्गिक एवं सामयिक वाणीमें जहाँ शूरवीरोंसे लेकर कायरों तकमें उत्साह भरनेकी शक्ति थी वहीं विद्वानोंसे लेकर मूर्खों तकमें पात्रानुकूल रचनाओंसे ज्ञान भरनेकी भी अदृष्टचर कला थी । प्रकृतिके सूक्ष्म निरीक्षण तथा मानवमानसमें अन्तर्हित गूढतम भावके ज्ञानमें कालिदासको अद्वितीय सिद्धि प्राप्त थी । शृङ्गाररसके तो ये, अन्यतम महाकवि थे ही, करुणरसमें भी इन्हें पूर्ण सफलता मिली है । कुमारसम्भवके रति-विलाप, तथा रघुवशके अज-विलाप में किये गए करुणात्मक वर्णनोंसे कौन ऐसा सहृदय होगा जो उनके दुःखसे दुःखी होकर चार वूद आँसू न बहा दे । इन महाकविके तीनों नाटक यद्यपि एकसे एक बढ़कर हैं, किन्तु 'अभिज्ञानशाकुन्तल' नाटक तो नाटकमालामणियोंका सुमेरु (मध्यनायकमणि) है, जिसकी तुलना कोई नाटक अद्यावधि नहीं कर सका है ।<sup>३</sup>

महाकविका भौगोलिक ज्ञान कितना समुन्नत था इसका पता मेघदूत, रघुवशके रघुदिग्विजय तथा अज-स्वयंवर-वर्णनसे स्पष्ट है । सैकड़ों वर्षों तक

१ 'वृत्तबन्धोज्झित गद्य मुक्तक वृत्तगन्धि च ।

भवेदुत्कलिकाप्राय चूर्णकश्च वृत्तविभम् ॥' ( सा० द० ६।५८६ ) ।

२ द्रष्टव्य—साहित्यदर्पण ६।५८९-५९१

३, 'काव्येषु नाटक श्रेष्ठ तत्रापि च शकुन्तला ।

वैशाखिक अनुसन्धानोंमें कोटिशा एषया ध्येय करनेके बाद आधुनिक वैज्ञानिक सिद्धांतों के अनुसार पता लगा सके हैं, उसको हमारे महाकवि काकिकास आश्रय हो सहाय पूर्व ही 'वृन्मोतिःसकलमकतां सकिपाता छ मेघः (मेघदूत पूर्व स्तो ५) के द्वारा बड़ेकी ओर मोपित कर चुके थे। कुमारसम्भव मेघदूत तथा साकुन्तलके वर्णनसे स्पष्ट है कि इन्होंने हिमाकय तथा उत्तरभारतका वर्णन अधिक प्रिय था।

काकिकास भारतीय संस्कृति (वैदिक संस्कृति) के मन्त्रों के उपासक थे इसी-विषय उन्होंने पद्यरूप में सत्यपोपासनादि विषयों के माध्यमों द्वारा आत्मों तथा जातकों के रीति-रिवाजों का वर्णन किया है। गो-ब्राह्मणके तो आप सन्ने उपासक थे। यजुर्वेदी विष्णुपर्व २१ द्वाि तक 'वन्दिनी की सेवा करनेके उपरान्त पुत्रप्राप्ति-रूप मनोरथ की सिद्धि होना तथा 'गोदूय' वेदमें कहाते ही दिव्य इति प्राप्त करना गो-सेवाका और आतिथ्यप्रकाररूप स्वकर्तव्यसे विष्णुकी महर्षिकर्मसूता साकुन्तलका गुर्वासा कापसे नावाधि कइ सहा आत्मसेवा-विमुक्तताका एवं कौत्सविषय वरतन्त्रको अपार चरसति दाव देकर अत्र' को पुत्ररूपमें प्राप्त करना ब्राह्मण-देवा का स्पष्ट उद्देश्य है। राहुवंशक वचन तथा अज्ञात सर्मकी रचना महाकविने बसकमें की है। आपकी रचनामें वैद्यों रीति पूर्व प्रसाद गुणका बाहुल्य पाया जाता है। उपमाके तो आप वैद्यों कवि हैं, कहा भी है—'उपमा काकिकास'।

### निवासस्थान तथा किंवदन्तियाँ

महाकविको हिमाकय तथा उत्तर भारतका वर्णन अधिक प्रिय था इसमें इन्होंने पूर्वतया सफरता निधी है। इसी वर्णनके आधारपर कुछ विद्वान् इन्हें कश्मीरी मानते हैं। महाकवि की वैदिक उपासक होनेसे कुछ विद्वान् इन्हें ब्रह्मकी और कुछ वैदिक तथा कुछ विद्वान् केवल्य मानते हैं। मेघदूतमें उज्जयिनीका सविस्तर वर्णन होनेसे कुछ इतिहासक विद्वान् इन्हें कश्मीरी विवासी बतकाते हैं। इसी प्रकार महाकविकी जीवनकाल भी सम्यक्साध्य-सा है। इनके सम्बन्धमें जो किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं, उनमेंसे कुछ इस प्रकार हैं—प्रथम किंवदन्ती यह है कि महाकवि काकिकास पहले महामूर्ख थे। साक्षात्में अनेक पण्डित विद्वानोंको परामर्श करनेवाली एक राजकुमारीसे अन्त-मुक्त कर कुछ विद्वानोंके काकिकासको राजममामें आकर इनके पाणिग्रहकी वही प्रार्थना करके उस राजकुमारीसे इनका विवाह करा दिया। अन्तर राजकुमारीके काकिकासको वत्समूर्ख जानकर तिरस्कार-पूर्वक बरसे निकाल दिया। इस प्रकार तिरस्कृत होकर वे अगवती 'महा कश्मीरी' जाता-जाते, बहुत-सा मांस कर चुका जब घर लौटे तो इनकी पत्नी राज-

कुमारीने पूछा—‘अस्ति<sup>१</sup> कश्चिद्वागर्थः ?’ इसके उत्तरमें महाकविने क्रमशः ‘अस्ति, कश्चिद्, वागर्थः’ इन तीन प्रश्नगत पदोंके आधार पर ‘अस्त्युत्तरस्या दिशि देवतात्मा’... ‘कश्चित्कान्ताविरहगुरुणा’... और ‘वागर्थोविव सम्पत्तौ’... इस प्रकार कुमार-सम्भव, मेघदूत तथा रघुवंश—इन तीन ग्रन्थोंकी रचना की। द्वितीय किंवदन्ती यह है कि महाकवि कालिदास लङ्काके राजा कुमारदास के राजपण्डित या मित्र थे। वहाँ इन्हें किसी वेश्याने मार डाला। तृतीय किंवदन्तीके अनुसार इनकी मृत्यु ‘धारा’ नगरीमें हुई ऐसा कहा जाता है।

### समय-निरूपण

कतिपय इतिहासवेत्ता कालिदासका समय ईसवीय षष्ठ शतकमें मानते हैं और अपने पक्षकी पुष्टिमें कहते हैं कि ईसवीय षष्ठ शतकमें महाराज यशोधर्माने हूणवशीय राजा मिहिरकुलको पराजित किया था। उस समय यशोधर्मा विक्रमादित्य नाम से प्रसिद्ध थे। विक्रमादित्य की सभा के नवरत्नों में कालिदास का नाम लिया गया है—

‘धन्वन्तरिर्छपणकामरसिंहशङ्खवेतालभट्टघटखर्परकालिदासाः।

स्थातो वराहमिहिरो नृपते सभायां रत्नानि वे चरसुचिर्नव विक्रमस्य ॥’

किन्तु यशोधर्माके विक्रमादित्यकी उपाधि धारण करनेका कोई प्रमाण नहीं मिलता। अतएव यह मत सयुक्तिक नहीं है। फर्ग्यूसन सा० का मत है कि ५४४ ई० में कारुरकी लड़ाई में उज्जयिनीनरेशने हूणोंको पराजित कर अपनी विजय को स्थायी करनेके लिए अपने नाम पर विक्रम सवत् चालू किया और उसकी प्राचीनता सिद्ध करने के लिए ६०० वर्ष पूर्व (ई० वर्षसे ५७ वर्ष पहले) उस संवत्का स्थापनाकाल कल्पित किया। यही महाकवि कालिदासके विक्रमादित्य हैं, अतः कालिदासका समय ईसवीय वर्षका षष्ठ शतक मानना चाहिये। परन्तु इस मतको अन्य इतिहासवेत्ता स्वीकार नहीं करते, उनका मत है कि भारतवर्षमें विक्रमादित्य नामका कोई भी राजा ईसवीय वर्षके षष्ठ शतकमें नहीं हुआ और न किसी राजाने ६०० वर्ष पूर्व स्थापनाकाल मानकर कोई सवत् ही चालू किया। इस सम्बन्धमें श्रद्धेय प. बलदेवीजी उपाध्याय का अमिमत् ठीक मालूम पड़ता है। उनका कहना है कि— पूर्वकालमें मालव गणोंका विशेष प्रभुत्व था, यह जाति सिकन्दरसेप राजित होकर राजपूतानेकी ओर आयी तथा मालवामें अपना पुनः प्रभुत्व जमाया। इस अर्सेमें इसे लगभग दो सौ वर्ष व्यतीत हो गये। इस गणराज्यके मुखिया विक्रमादित्य

ये इन्होंने ही पुस्तक में सकोंको हराया, विजयके इर्षोन्नासमें नवीन संघट् बना किया। राजराज्यमें किसी व्यक्तिकी नहीं अपितु समष्टिकी प्रमुखता रहती है, अतः एव उक्त संघट् 'माकन संघट्' नामसे प्रसिद्ध हुआ। इन्हीं विद्वत्मादित्वके समापविविध नवरत्नोंमेंसे महाकवि काकिकास भी अन्ततम थे अतएव काकिकास का समय ईसवीय-वर्षके एक शतक पूर्व मानना उचित प्रतीत होता है। मध्य भारत प्रान्तमें विद्यत मन्दसौरके सिद्धासेकसे इसका माकन संघट् होनेकी पूर्णतया पुष्टि होती है। उक्त सिद्धासेक इस प्रकार है—

‘माकनानी राजसिन्धुया पाल सतकतुहये।

विजयापधिकेन्द्रावायुती सम्पन्नरत्नने ॥ ( वासमक्ति )

काकिकासको ईसवीय वर्षके यह शतकमें माननेवालोंका तृतीय पक्ष यह कहता है कि—काकिकासक प्रत्यसे पता चलता है कि वे ग्रीक ज्योतिषसे सुपरिचित थे। उक्त ग्रीक ज्योतिष सिद्धान्त भारतमें सर्वप्रथम प्रचारक आर्यभट्ट ईसवीय वर्षके पाँचम शतकक अन्तिम पार्श्वमें हुए, अतः एव काकिकासका समय ईसवीय वर्षका यह शतक मानना सबसे व्यावहारिक है। किन्तु डा. मैकडोनेल्का कहना है कि ग्रीक ज्योतिष सिद्धान्तका भारतवर्षमें सर्वप्रथम प्रचार करनेवाले आर्यभट्ट नहीं हैं क्योंकि ‘रोमकसिद्धान्त’ नामक ग्रन्थसे स्पष्ट है कि भारतीय जनता आर्यभट्टसे पहले ही ग्रीक ज्योतिष सिद्धान्तसे पूर्णतया परिचित थी। यह ग्रन्थ आर्यभट्टसे भी पूर्व समझका है। अतः एव उक्त सिद्धान्तक प्रचार पर महाकवि काकिकासका ईसवीय वर्षके यह शतक में विद्यमान होना कदापि सामान्य नहीं माना जा सकता। काकिकासको ईसवीय वर्षके यह शतकमें माननेवालोंका चतुर्थ पक्ष यह है कि—काकिकासकृत मेघदूत पद्यांशके ‘अत्रेः गच्छं हरति पक्ष्मा’— ( मे. दू. पूर्व १७ ) श्लोकका म म मञ्जिमापने स्वरूप ‘सर्जिनिनी’ व्याख्या में द्वितीय अर्थ करते हुए ‘निधुन’ नामक विद्वान्को काकिकासका सहाय्याधी और उन ( काकिकास ) की रचनाओंमें दिङ्मागाचाय’ क द्वारा प्रदर्शित शेषोंका उद्धारक बतकाया है। ये दोनों विद्वान् ( निधुन तथा दिङ्मागाचाय ) बी. ए. से तथा इनमें से दिङ्मागाचार्य ईसवीय वर्षके यह शतकमें वर्तमान ‘चतुर्वन्धु’ क सिन्धु से अतः एव काकिकासका समय भी ईसवीय वर्षका यह शतक ही मानना चाहिये किन्तु यह पक्ष भी सर्वप्रथम नहीं है क्योंकि ‘चतुर्वन्धु’ के ईसवीय वर्षके यह शतकमें नहीं अपितु चतुर्थ शतकक प्रथम पार्श्व तथा पञ्चम शतकक प्रथम पार्श्व में होनेका दृढतम प्रमाण है। इन कारणोंसे काकिकासका ईसवीय वर्षके यह शतकमें अविनाश मानना किसी प्रकार भी सिद्ध नहीं होता।

बादराजीय के भी पाण्डुकाकिकासको स्वच्छन्द विद्वत्मादित्वका समझावीय मानते हैं। उनका कहना है कि चतुर्थशतके शुक द्विजप्रवर्तक मसूमें काकि-

दासने 'वङ्ग' ( वर्तमानमें-अरवसागरमें गिरनेवाली आमू दरिया ) नदीके तटपर हुणोंके रघुद्वारा पराजित होने का वर्णन किया है। हूण जातीय लोग आक्सस नदीके तटपर ईसवीय वर्षके पञ्चम शतकके प्रथम पादमें बस गये थे और स्कन्दगुप्त विक्रमादित्यके साथ उनका युद्ध ईसवीय वर्षके पञ्चम शतकके मध्यमें हुआ, इस कारण कालिदासका समय वही ( ईसवीय वर्षका पञ्चम शतक ) मानना उचित है। इस पक्षमें माननीय कान्तानाथ शास्त्री तैलङ्ग यह दोष दत्तलाते हैं कि अधिकतम ग्रन्थोंमें 'वङ्ग' के स्थान पर 'सिन्धु' पाठ मिलता है। इस पाठको ठीक मान लेनेपर यह मानना पड़ेगा कि हूण जातिके लोगों के 'सिन्धु' नदीके तटपर बसनेके समयमें कालिदास हुए थे और यह समय ईसवीय वर्षका षष्ठ शतक सिद्ध होता है, क्योंकि यशोधर्मसे पराजित मिहिर कुलने ईसवीय वर्षके षष्ठ शतकमें हूण राज्य की स्थापना की थी। यदि 'वङ्ग' पाठ ही ठीक मान लिया जाय तो आमू दरिया ( आक्सस नदी ) के तटपर केसरकी उत्पत्ति माननी पड़ती है, यह भूगोलशास्त्रके विरुद्ध है, क्योंकि भूगोलमें 'सिन्धु' नदीके तटपर ही केशरकी उत्पत्ति मानी गयी है। अतएव कालिदासको ईसवीय वर्षके पञ्चम शतकमें मानना भी सिद्धान्तसङ्गत नहीं है।

महाकवि कालिदासको ईसवीय वर्षके चतुर्थ शतकमें माननेवाले डा० कीथका कथन है कि अश्वघोषके प्राकृत की अपेक्षा कालिदासका प्राकृत अर्वाचीन है, कालिदास ग्रीक 'ज्यौतिषके पारिभाषिक शब्दोंसे सुपरिचित थे। उनके रचित ग्रन्थोंके वर्णनसे स्पष्ट मालूम पड़ता है कि उनके समयमें वैदिक धर्मका प्रचुरमात्रामें प्रचार था, देश सुखैश्वर्यसम्पन्न था, अतएव ये कालिदास किसी-न-किसी गुप्तवंशीय सम्राट् के आश्रित होंगे और वह गुप्त सम्राट् सम्भवतः द्वितीय चन्द्रगुप्त ही होंगे। कालिदासने 'कुमारसम्भव' की रचना भी इन्हीं सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीयके पुत्र कुमारगुप्तकी जन्मकालीन घटनापर की है। परन्तु यह पक्ष भी इतना ही सिद्ध करता है कि कालिदास किसी गुप्त सम्राट् के आश्रित थे, सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय ही थे, इस विषयमें कोई प्रबल प्रमाण नहीं मिलता, अतः गुप्तवंशमें स्कन्दगुप्त भी महाप्रतापी तथा विक्रमादित्योपाधिधारी हो चुके हैं और इनके ही आश्रित महाकवि कालिदासको माना जा सकता है। इसके अतिरिक्त समुद्रगुप्तका प्रयागका स्तम्भलेख उनकी मृत्युके बाद सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीयके समयमें लिखा गया जो विद्वान् मानते हैं, उनके सामने यह प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि कालिदास सम्राट् चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य द्वितीयके आश्रित थे तो उक्त प्रयाग का स्तम्भलेख इनसे न लिखाकर निम्नस्तरके विद्वान् 'हरिसेन' से क्यों लिखाया गया? अतएव इन कारणों से कालिदासको सम्राट् चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य द्वितीयका आश्रित मानकर ईसवीय

वर्षके चतुर्थ सतकमें काकिकासका समय मानना भी निर्णीत पक्ष नहीं कहा जा सकता।

कतिपय विद्वानों का यह पक्ष है कि महाकवि काकिकास तथा बीर दार्शनिक कवि अन्नघोषकी कवयन-सौलीमें अधिक साम्य है। जैसा कि काकिकासकृत रघुवंशके द्वितीय सर्गके ३३ वें तथा सप्तम सर्गके ११ वें श्लोकों और अन्नघोषकृत कुङ्कुमरितके अम्मया प्रपोषस सर्गके ५० वें तथा तृतीय सर्गके १९ वें श्लोकोंके साथ उक्त साम्य स्पष्ट हो जाता है। इसके अतिरिक्त रघुवंशके सप्तम सर्गमें ५ वें से १५ वें श्लोक तक बगारमें प्रवेश करते हुए बरबड़की बेकनेके छिपू उत्कण्ठित रमयिषोंका जो मगारम वर्णन काकिकासने किया है, ठीक जैसा ही वर्णन अन्नघोषकृत कुङ्कुमरितके तृतीय सर्गके १३ वें से २३ वें श्लोक तक मिळता है, अतः एव अन्नघोषके परवर्ती काकिकासका कुङ्कुमरितमें अन्नघोषकल्पित भाषका अनुसरण करना स्पष्ट हो जाता है। अन्नघोष ईसवीय वर्षके प्रथम सतकके वर्तमान कुपाय बरेल्लके समकालीन थे अतः अन्तराष्ट्रमें काकिकासका समय ईसवीय वर्षके द्वितीय सतकमें मानना अधिक है। इसके विपक्षमें अनेक पक्षोंके मित्रजीका कथन है कि काकिकास काव्यकलाके आकर से ऊपर सर्वोन्नतवादी दार्शनिक बीर कवि अन्नघोषका प्रभाव नहीं पड़ा है अपि तु अन्नघोषपर ही काकिकास का प्रभाव पड़ा है अन्हींके (अन्नघोषके) काव्यकलाकी वर्मप्रचारका कवतामिव उत्कृष्ट साधन मानकर उसे अपनाया। यदि अन्नघोषके माथोंकी काकिकासने अपनाया होता तो रघुवंशके इन्द्रमती-स्वर्चवरके आका की अभिराम वर्णन मिळता है ठीक वही श्लोक लो वर्णन उन्हीं रघुवंशके पद्योंसे कुमारसम्मन्यके सप्तम सर्गमें पार्वतीसिक्के बैलनेके छिपे उत्कण्ठित रमयिषोंका करके अन्नघोषका काव्य हुबारा काव्य नहीं करते अपि तु कृपान्तर देकर उस द्विपाने का काव्य करते। अतः उचित नहीं प्रतीत होता है कि काकिकासने अन्नघोषका अनुकरण नहीं किया है बल्कि अन्नघोषने ही काकिकास का अनुकरण किया है अतएव काकिकासका समय अन्नघोषसे पहले अर्थात् ईसवीय वर्षका प्रथम सतक होना चाहिये।

उपबृंह्य बातकी ही पुष्टि जैन विद्वान् मेरुगुप्ताचार्यकृत 'पद्यवलि'से एवं ऐतिहासिक अन्वेषणोंसे भी होती है। 'पद्यावली' में उज्जयिनी बोरस गार्भनिष्ठक राजकुमार विश्वमादिचने राज्योंको पराजितकर उज्जयिनीका राज्य पुनः ले लिया था, यह घटना अभिनव गीर्वाणर भगवान् महावीरके निर्वाणके ३८ वर्ष पहले की है। प्रबन्धघोष एवं राज्ञपयसाहायकी भी उक्त विषय प्रभावित होता है। यह उज्जयिनी बोरस विद्वानोंको छात्रोंका ज्ञान करता था तथा महाप्रभापी उदार और शूरवीर था। उक्त विष्णुसिंह के काव्यका काकिकासकी भावनेपर प्रभाव समय ईसवीय वर्षके पूर्व

प्रथम शतक होता है, किन्तु माननीय कान्तानाथ शास्त्री तैलङ्ग का अभिमत है कि पाश्चात्य विद्वान् कालिदासकृत समाजके वर्णनादिसे उन ( कालिदास ) को किसी गुप्त सम्राट् का ही आश्रित होना स्वीकार करते हैं ।

अन्त में बहुत ऊहापोह करने के बाद यह तो निश्चित है कि कालिदास ने अपनी रचना मालविकाग्निमित्र नाटकमें 'अग्निमित्र' को नायक बनाया है वह अग्निमित्र शुगवंशीय पुष्पमित्रका पुत्र था, जिसका समय इतिहासज्ञोंने ईसवीय सन्के पूर्वद्वितीय शतक माना है । तथा ईसवीय वर्षके सप्तम शतकमें वर्तमान हर्षचरितकर्ता महाकवि 'बाणभट्ट'ने कादम्बरीके कथामुखमें कवियोंका वर्णन करते हुए कालिदास का भी नाम लिया है, 'अतएव महाकवि कालिदासका समय ईसवीय वर्षके पूर्व द्वितीय शतक तथा ईसवीय वर्षके बाद सप्तम शतकका पूर्वार्द्ध या पष्ठशतक सिद्ध होता है ।

### कालिदासके ग्रन्थ

महाकवि कालिदासकी जीवनी तथा समयके समान रचना भी यद्यपि सन्देहसे परे नहीं है तथापि 'रघुवश तथा कुमारसम्भव' नामक दो महाकाव्य, 'मेघदूत' नामक एक खण्डकाव्य और 'अभिज्ञानशाकुन्तल, मालविकाग्निमित्र तथा विक्रमोर्वशीय' नामके तीन नाटक इनके ग्रन्थ हैं । 'रघुसंहार' काव्य तथा 'श्रुत-बोध' नामक छन्द-शास्त्रका छोटा सा ग्रन्थ भी इन्हीं की रचनाओंमें से है ऐसा भी कुछ विद्वान् मानते हैं । कतिपय विद्वान् 'नलोदय काव्य, पुष्पघाणविलास काव्य, द्वात्रिंशत्पुत्तलिका, शृङ्गारतिलक, शृङ्गाररसाष्टक और 'विवाहवृन्दावन' ग्रन्थोंको भी कालिदासकी ही रचना मानते हैं । यह तो निश्चित ही है कि उपर्युक्त सब ग्रन्थ महाकवि कालिदासकी रचना हैं, किन्तु तीन कालिदास हो चुके हैं,<sup>१</sup> उनमें किसने कौन-कौनसे ग्रन्थ रचे यह विवादका विषय है, तथापि पूर्व ६ ग्रन्थ (२ महाकाव्य, १ खण्डकाव्य तथा ३ नाटक ग्रन्थ) हमारे विवेच्य प्रथम महाकवि कालिदासकी ही रचना हैं इसमें कोई सन्देह नहीं है ।

कतिपय विद्वान् तो कुमारसम्भवके आदिम ७ सर्गोंको ही कालिदासकी रचना मानते हैं तथा कतिपय अष्टम सर्गोंकी भी । इन आठ सर्गों पर ही म० म०

१ 'निगतास्तु न वा कस्य कालिदासस्य सूक्तिषु ।

प्रीतिर्मधुरसान्द्रास्तु मञ्जरीध्रिव जायते ॥' ( हर्षचरित १।१६ )

२. जैसा कि राजशेखर ने कहा है—

'एकोऽपि जीवते इन्त कालिदासो न केनचित् ।

शृङ्गारे ललितोद्गारे कालिदासप्रयी किम् ? ॥'



महिम्नावली ध्यातया है—सौंदर्य सगौकी रचना किसी महाराज कविने की यह वा अक्षोभीक मत है।

### महाकाव्यका लक्षण

साहित्यदर्पणमें विरचनायने महाकाव्यका कथन इस प्रकार कहा है—महाकाव्य की रचना सगौमें होती है, उसमें एक बैवता या वीर वीर उदात्तगुणयुक्त भेद वर्णमें उत्पन्न चरित्र नायक होता है जबवा एक वर्णमें उत्पन्न अनेक राजा भी नायक होते हैं। इस महाकाव्यमें शत्रु वीर तथा शत्रु—इस तीनोंमेंसे कोई एक रस अग्नी (प्रभाव) तथा अन्य रस बहुत रहते हैं। नायककी सभी सगौयाँ महाकाव्यमें रहती हैं। इस महाकाव्य में कोई इतिहास प्रसिद्ध या सज्जनमित वृत्तका वर्णन रहता है। वर्ण, वर्ण, काम मोक्ष—इस चारों पुरुषार्थों का अर्थ महाकाव्यका फल (प्रयोजन) होता है। सर्वप्रथम प्रस्तावमें व्यासीर्वादात्मक, वसन्तकारत्मक या वस्तुवर्णनत्मक मन्त्राचरण किया जाता है। किसी-किसी महाकाव्यमें इष्टीकी विन्यास तथा सज्जनकी प्रशंसा भी की जाती है। महाकाव्य के प्रत्येक सर्गमें एक अर्थ होता है तथा सर्गके अन्तमें अर्थका परिवर्तन कर दिया जाता है जबवा अनेक अर्थों वाले भी एक किसी-किसी सर्गमें देखे जाते हैं। न बहुत बड़े और न बहुत छोटे कर्मसे कम आठ सर्ग महाकाव्य में होते हैं। सर्गकी समाप्तिमें अग्रिम सर्गकी कथाका संकेत रहता है। सगौया सूर्य चन्द्र रात्रि प्रदोष, अन्धकार दिन प्रातः, मध्याह्न, आश्विन, पर्वत वन समुद्र सम्मोग तथा विम-कर्म शत्रु, मुनि स्वर्ग, नगर, वन वृद्धबाबा विवाह अन्धवा पुष्टोत्पति आदिका साक्षोपाह वर्णन इस महाकाव्यमें पचासपर किया जाता है। कवि वर्ण-वीर विषय नायक या दूसरे किसीके नाम पर महाकाव्यका नामकरण किया जाता है। इसके सर्गका नाम सर्गमें वर्णवीर कथा-असत्के आचार पर रहता है।

—हरमोहिन्द शास्त्री

॥ श्रीः ॥

# रघुवंशमहाकाव्यम्

‘सञ्जीविनी’ ‘मणिप्रभा’ टीकाद्वयोपेतम्



## प्रथमः सर्गः

मातापितृभ्यां जगतो नमो वामार्घजानये ।

सद्यो दक्षिणद्वपातसकुचद्वामदृष्टये ॥ १ ॥

अन्तरायतिमिरोपशान्तये शान्तपावनमचिन्त्यवैभवम् ।

तन्नर वपुषि कुञ्जर मुखे मन्महे किमपि तुन्दिलं महः ॥ २ ॥

शरण करवाणि शर्मद ते चरण वाणि ! चराचरोपजीव्यम् ।

करुणामसृणै कटाक्षपातै कुरु मामम्ब ! कृतार्थसार्थवाहम् ॥ ३ ॥

वाणीं काणभुजीमजीगणदवाशासीञ्च वैयासिकी-

मन्तस्तन्त्रमरस्त पन्नगगवीगुम्फेषु चाजागरीत् ।

वाचामाकलयद्रहस्यमखिल यश्चाक्षपादस्फुरा

लोकेऽभूद्यदुपज्ञमेव विदुषा सौजन्यजन्य यश ॥ ४ ॥

मञ्जिनाथकविः सोऽय मन्दात्मानुजिघृक्षया ।

व्याचष्टे कालिदासीय काव्यत्रयमनाकुलम् ॥ ५ ॥

कालिदासगिरा सार कालिदास सरस्वती ।

चतुर्मुखोऽथवा साक्षाद्विदुर्नान्ये तु मादृशाः ॥ ६ ॥

तथाऽपि दक्षिणावर्तनाथाद्यैः क्षुण्णवर्त्मसु ।

वय च कालिदासोक्तिष्ववकाश लभेमहि ॥ ७ ॥

भारती कालिदासस्य दुर्भ्याख्याविपमूर्च्छिता ।

एषा सञ्जीविनी टीका तामद्योज्जीवयिष्यति ॥ ८ ॥

इहान्वयमुखेनैव सर्व व्याख्यायते मया ।

नामूलं लिख्यते किञ्चिन्नानपेक्षितमुच्यते ॥ ९ ॥

इह खलु सकलकविशिरोमणि कालिदास (काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे  
शिवेतरक्षतये । सद्य परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे) इत्याद्यालङ्कारिकव-

अममामावाकाव्यस्यानेकशेषःसाधनता (काव्याकापीन बर्षदेह) इत्यस्य निवेद्य  
साक्षात्साक्षात्कृतविषयता च परमम् रघुवंशावर्षं महाकाव्यं विधीयुः, विधीयित-  
र्थादिनपरिसमाप्तिमग्नवापाविन्धेद्वकचनकप्रसाधनमूलविधिद्वेषतानमस्कारस्य  
शिष्टाचारपरिप्राप्तवाद् (आधीर्नमस्कारपावस्तुनिर्देशो वाध्वि तन्मुक्तम्) इत्यादी-  
र्वाद्याद्यन्तमस्य प्रबन्धमूलकवचनत्वात् काव्यनिर्माणस्य विहितप्रकारप्रतिपत्ति  
मूलकत्वं विहितसद्वर्षबोध (वाग्जातमशेषं तु यत्तु चर्षस्य बह्वमा । अर्षस्यं  
यद्विच्छेदं यत्ते मृगयन्मुसेकरा ) इति बापुपुराणसंहितावचनचक्रेण पार्वतीपरमेष्ठि-  
वचनसंवात्प्रतिपत्तयः तावेवामिवाद्यते—

यागर्थाविधं संपूज्यै यागार्थप्रतिपत्तये ।

अगताः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेष्ठि ॥ १ ॥

वागिति । वागर्थाविधेत्येकं पदम् । इत्थं सद्यः शिष्यसमास्तो विमलप्रभेपथ ।  
पूर्वपदप्रकृतिरहरार्थं वेति वक्तव्यम् । एवमग्नयवापि ग्रहव्यम् । वागर्थाविधं संपू-  
जाविधं सम्पूज्यै शिष्यसम्बन्धाविधये । शिष्यसम्बन्धपोष्यमात्रत्वेनोपादिताम् ।  
निम्नाः संपूजाविधयः इति मीमांसकाः । अगतौ लोकस्य पितरौ । माता च पिता  
च पितरौ । पिता माता इति द्वन्द्वकलेषः । 'मातापितरौ पितरौ मातरपितरौ  
प्रयुज्यवितारौ' इत्यमरः । एतेन अक्षयिचक्रोः पूर्वप्रयोजनकतया वैशिष्ट्यमिदं  
प्रदानमिति परमकाव्यमिदं च सूच्यते । पार्वतीयापार्थं श्री पार्वती तत्त्वापत्त्यम्  
इत्यम् । 'विद्वान्मन्त्रवसन्मन्त्रम्' इत्यादिना जीप् । पार्वती च परमेष्ठि पार्वती-  
परमेष्ठि । परमेश्वरः सर्वोत्तमव्योतवाच्यः । मातुरभ्यर्चितावावृत्तावृत्त्या पार्व-  
तीकृत्यैव पूर्वनिपाता । वागर्थप्रतिपत्तये अग्रायवोः सम्बन्धनाय वन्दे इतिवाद्ये ।  
अत्रोपमाश्रुतारः सुप्र एव तिथोक्तं—(स्वताः सिद्धेन मित्रेण सगन्धेन च धर्मता ।  
साध्यमन्धेन वन्द्येन वाच्यं वैदेक्योपमा ॥) इति प्राथमिकोपमाश्रुतारः काकिदा-  
सोक्तप्रामाण्यः । भूदेवताकृत्यै सर्वगुरोर्मयस्य प्रयोगान्मुनयः संपूज्ये । तद्वत्-  
(शुभो मो भूमिमवा) इति अकारस्याभूतबीजत्वात्प्रचपयमावप्रतिपत्तिः ॥ १ ॥

सन्धी जीर नन्दे तमाव नित्य मित्रे ह्य, संसार के माता-पिता उमा जीर महेवर  
जी म (काकिदास) सन्धी जीर नन्दे का मकीमिति से वाच्य होने के बिन्दे प्रमत्कार  
करता हू ॥ १ ॥

अगति कविः स्वाह्वारं/परिहरति क सूर्यं-इत्यादिरक्षेकह्वयेन—

क ? सूर्यप्रमथो वंशः क ? आप्ताविषया सृष्टिः ।

तितीर्षुर्पुंस्तरं मोक्षापुत्रुपेनास्मि सागरम् ॥ २ ॥

वेति । प्रमथयस्मादिति प्रमथः कारणम् । 'अक्षरम्' । अक्षरं च कारके  
संज्ञायाम् इति साहुः ॥ सूर्यः प्रमथो यस्य स सूर्यप्रमथो वंशः क ? अक्षरो विद्वदो

ज्ञेयोऽर्थो यस्या सा मे मति प्रज्ञा च क ? द्वौ कसंबद्वौ महदन्तर सूचयत । सूर्य-  
वशमाकलयितु न शक्नोमीत्यर्थ । तथा च तद्विषयप्रबन्धनिरूपणतु दूरापास्तमिति  
भाव । तथा हि । दुस्तर तरितुमशक्यम् 'ईषद्दुःसुपु०' इत्यादिना खल्वेत्यय ।  
सागर मोहादज्ञानादुदुपेन प्लवेन । 'उदुप तु प्लव कोल' इत्यमर । अथवा  
चर्मावनद्धेन यानपात्रेण । 'चर्मावनद्धमुदुप प्लव काष्ट करण्डवत्' इति सज्जन ।  
'तितीर्षुस्तरीतुमिच्छुरस्मि भवामि । तरते सज्जन्तादुपेत्यय' । अल्पसाधनैरधिकार  
भो न सुकर इति भाव । इदं च वशोत्कर्षकयन स्वप्रबन्धमहत्त्वार्थमेव । तदुक्तम्  
'प्रतिपाद्यमहिम्ना च प्रबन्धो हि महत्तर' इति ॥ २ ॥

कहाँ सूर्य से उत्पन्न हुआ वश ( रघुकुल ) और कहीं धोड़े विषयों का प्रदग्ग कान्नेवाली  
मेरी बुद्धि, अतः उसके वर्णन करने में मैं अज्ञान में पनसुटिया ढोंगी द्वारा दुस्तर सागर  
पार करने की इच्छा करनेवाले की भाँति हूँ ॥ २ ॥

मन्द सन् महाकाव्य चिकीर्षु कवि स्वामामर्थ्यं कथयति—

मन्दः कवियशःप्रार्थी गमिष्याम्युपहास्यताम् ।

प्रांशुलभ्ये फले लोभादुद्वाहुरिव वामन ॥ ३ ॥

मन्द इति । किं च मन्दो मूढ । 'मूढात्पापदुर्निर्भाग्या मन्दा स्यु' इत्यमर ।  
तथाऽपि कवियशः प्रार्थी कवीना यश काव्यनिर्माणेन जात तत्प्रार्थनाशीलोऽह  
प्राशुनोन्नतपुरुषेण लभ्ये प्राप्ये फले कलविषये लोभादुद्वाहुरिव फलप्रहणायोऽद्भूतहस्तो  
वामन सर्व इव । 'खर्वो ह्रस्वश्च वामन' इत्यमर । उपहास्यतामुपहासविषयताम् ।  
'ऋहलोर्ण्यत्' इति ण्यत्प्रत्यय । गमिष्यामि प्राप्स्यामि ॥ ३ ॥

कवियों के यश पाने की इच्छा करनेवाला, मन्दबुद्धि मैं उस प्रकार हास्यास्पद  
होऊँगा जैसा कि लम्बे पुरुष के हाथ लगने योग्य फल की ओर लोभ से ऊपर हाथ किया  
हुआ बौना पुरुष होता है ॥ ३ ॥

मन्दश्चेत्तर्हि त्यज्यतामयमुद्योग इत्यत आह—

अथवा कृतवाग्द्वारे वंशेऽस्मिन्पूर्वसूरिभिः ।

मणौ वज्रसमुत्कीर्णे सूत्रस्येवास्ति मे गतिः ॥ ४ ॥

अथवेति । अथवा पक्षान्तरे पूर्व सूरिभिः कविभिर्वात्सीक्यादिभिः कृतवाग्द्वारे  
कृत रामायणादिप्रबन्धरूपा या वाक् सैव द्वार प्रवेशो यस्य तस्मिन् । अस्मिन्सूर्य  
, प्रभवे वंशे कुले । जन्मनैकलक्षण सन्तानो वंश । वज्रेण मणिवेधकसूचीविशेषेण ।  
'वज्रं त्वस्त्री कुलिशशस्त्रयोः । मणिवेधे रत्नभेदे' इति केशव । समुत्कीर्णे विद्धे मणौ  
रत्ने सूत्रस्येव मे मम गतिः सन्नारोऽस्ति । वर्गनीये रघुवंशे मम वाक्प्रसरोऽस्तीत्यर्थ ॥

अथवा पहले के कवियों ( वाल्मीकि आदि ) के द्वारा वर्णन किये हुए रामायण  
प्रबन्धात्मक द्वार वाले सूर्यवंशमें, मणि वेधनेवाले सूचीविशेष से वेध किये हुये मणि में  
सूत्र की भाँति मेरी गति है ॥ ४ ॥

एवं रघुवंशे कव्यप्रवेष्टारतद्वृत्तयो प्रतिभाधानाः 'सोऽयम् इत्यादिभिः पद्यभिः रच्येको कुण्डलनाह—

सोऽष्टमाश्रमशुश्रूषामाफकोदयकर्मणाम् ।

आसमुद्रसिंहीषामामानाकरधधर्मणाम् ॥ ५ ॥

स इति । सोऽयम् 'रघुणामव्ययं वक्ष्ये इत्युत्तरांश सम्पन्नाः । किञ्चिन्नानीं रघुना मित्यभोत्तराणि विभोपनामि बोधयामि । आश्रमभावः । आश्रमस्येत्यर्थः । 'आश्रमार्थाद्वाऽभिहित्योः' इत्यमरपीमावा । शुश्रूषाम् । सुप्सुपेति समासः । एवमुत्तराणि द्रष्टव्यम् । आश्रमशुश्रूषाम् । विभोकारित्सर्वसंस्कारसम्पन्नानामित्यर्थः । आश्रमेऽवसाककसिद्धेः कर्म वर्षां ते तथोत्तरास्तेषाम् । आश्रम्यन्तर्गांमिनामित्यर्थः । आसमुद्रं चित्तेरीषामाम् । साधनीमात्मामित्यर्थः । आवाकं रचयामं तेषां तेषाम् । इन्द्रसहस्रपरिणामित्यर्थः । अत्र सप्तधाडोऽभिहित्यर्थः द्रष्टव्यम् । अव्ययमर्थाद्वाऽव्ययं अस्मादिषु शुश्रूषमाश्रमसङ्घात् ॥ ५ ॥

वह 'मन्त्रमुद्रि' मैं करीबरास व्रम से निकैकरि संन्यस्तों से छुट, कन्धे सिद्धि परबन्त कर्न से करवेवाके समुद्रपरबन्त एणी का आसन करवेवाके त्सां तक रच के मारं वाके 'रघु के वक्ष्ये द्धता हूं' [ वह जागे के तीन स्वेष्टों में भी क्वाता चरहिने । कुण्डल होने से कहीं से गीचवे रचोक से उस कन्धे आखेप बिना जाता है ] ॥ ५ ॥

यथाविधिहुताग्नीनां यथाकामार्चितायिन्द्रम् ।

यथाऽपराधदृष्ट्यानां यथाकलप्रबोधितानाम् ॥ ६ ॥

यथेति । विधिननतिश्रम्य यथाविधि । 'यथाऽस्ताधरये' इत्यमरपीमावा । तथा हुतछन्देन सुप्सुपेति समासः । एवं 'यथाकामार्चित' इत्यादीनामपि द्रष्टव्यम् । यथाविधि हुता अग्नौ दैर्घ्येणाम् । यथाकामममिकपमनतिश्रम्यार्चितायिन्द्रम् । यथाऽपराधमपराधमनतिश्रम्य दृष्ट्यो यथा तेषाम् । यथाकार्कं आश्रमनतिश्रम्य प्रबोधितानां प्रबोधनकीकणाम् । यत्तुमिर्बिलेप्यर्धेयतायजानां सत्कारदृष्ट्यधरत्वप्रदा-  
पञ्चनसमपवायककवादीनि विवर्धितानि ॥ ६ ॥

विधिपूर्वक अग्नि में आहुति देनेवाके दृष्ट्यानुसार वाक्यों का सम्पन्न करवेवाके, अपराध के अनुसार दृष्ट्य देनेवाके अथिउ समय पर सावधान रहने वाके ॥ ६ ॥

त्यागाय संसुतार्थानां सत्याय मितमाचिषाम् ।

प्रशस्ते विशिगीपूर्णां प्रशायै शुद्धमेचिनाम् ॥ ७ ॥

त्यागायैति । त्यागाय सत्याय विनिभोगसत्यागस्तत्रै । त्याग्ये विहायितं वाचम् इत्यमरः । संसुतार्थानां सक्षितधनानाम् । न तु शुष्मांशाराय । सत्याय मितमाचिषां मितमापन्तीकणाम् । न तु परामवाय । यत्तसे स्मिर्तये । 'यथा कीर्तिः प्रमश' इत्यमरः । विशिगीपूर्णां विजेतुमिच्छुनाम् । न त्वर्थासंप्रदाय । प्रजापे

संतानाय गृहमेधिनां दारपरिग्रहाणाम् । न तु कामोपभोगाय । अत्र 'त्यागाय' इत्यादिषु 'चतुर्थी तदर्थार्थ-' इत्यादिना तादर्थ्ये चतुर्थीसमासविधानज्ञापकाच्चतुर्थी । गृहेर्दारैर्मैधन्ते सद्गच्छन्त इति गृहमेधिनः । 'दारेष्वपि गृहाः पुंसि' इत्यमरः । 'जाया च गृहिणी गृहम्' इति हलानुध । 'मेष्ट सगमे' इति घातोर्णिनि । एभिर्विशेषणं परोपकारित्व सत्यवचनत्वं यश परत्वं पितृणां शुद्धत्वं च विवक्षितानि ॥ ७ ॥

सत्पात्र को दान देने के लिए धन इकट्ठा करने वाले, यश के हेतु विजय चाहने वाले, संतानार्थ विवाह करने वाले ॥ ७ ॥

शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम् ।

वार्धके मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम् ॥ ८ ॥

शैशव इति । शिशोर्भावः शैशवं बाल्यम् । 'प्राणभृज्जातिवयोवचनोद्गात्र-' इत्यन्वयः । 'शिशुत्वं शैशवं बाल्यम्' इत्यमरः । तस्मिन् वयस्यभ्यस्तविद्यानाम् । एतेन ब्रह्मचर्याश्रमो विवक्षितः । यूनो भावो यौवनतारुण्यम् । युवादित्वादन्वयः । 'तारुण्यं यौवनं समं' इत्यमरः । तस्मिन् वयसि विषयैषिणां भोगाभिलाषिणाम् । एतेन गृहस्थाश्रमो विवक्षितः । वृद्धस्य भावो वार्द्धकवृद्धत्वम् । 'द्वन्द्वमनेज्ञादिभ्यश्च' इति वुन्प्रत्ययः । 'वार्द्धकं वृद्धसंघाते वृद्धत्वे वृद्धकर्मणि' इति विश्वः । सह्यार्तायै च 'धृद्धाच्च' इति वक्तव्यास्सामूहिको वुञ् । तस्मिन् वार्द्धके वयसि मुनीनां वृत्तिरिव वृत्तिर्येषां तेषाम् । एतेन वानप्रस्थाश्रमो विवक्षितः । अन्ते शरीरत्यागकाले योगेन परमात्मध्यानेन । 'योगः सज्जनोपायध्यानपङ्क्तियुक्तिषु' इत्यमरः । तनुं देहं त्यजन्तीति तनुत्यजा देहत्यागिणाम् । 'कायो देहः स्त्रीवपुसो स्त्रिया मूर्तिस्तनुस्तनू' इत्यमरः । 'अन्येभ्योऽपि दृश्यते' इति क्तिप् । एतेन भिक्षवाश्रमो विवक्षितः ॥ ८ ॥

बालकपन में ही समस्त विधाओं को अभ्यस्त कर लेने वाले, युवावस्था में भोग की अभिलाषा रखने वाले, बुढ़ापे में मुनियों की तरह जीविका रखने वाले, अन्त में (शरीर त्याग करने के समय) योग (चित्तवृत्ति के निरोध) से शरीर त्याग करने वाले ॥ ८ ॥

रघूणामन्वयं वक्ष्ये तनुवाग्विभवोऽपि सन् ।

तद्गुणैः कर्णमागत्य चापलाय प्रचोदितः ॥ ९ ॥

रघूणामिति । सोऽहं लब्धप्रवेशः । तनुवाग्विभवोऽपि स्वरूपवाणीप्रसारोऽपि सन् । तेषां रघूणां गुणैस्तद्गुणैः । आजन्मशुद्ध्यादिभिः कर्तृभिः कर्णममश्रोत्रमागत्य चापलाय चापलः चपलकर्मविमृश्यकरणरूपं कर्तुम् । युवादित्वात्कर्मण्यन् । 'क्रियासर्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः' इत्यनेन चतुर्थी । प्रचोदितः प्रेरितः सन् । रघूणामन्वयं तद्विषयप्रबन्धं वक्ष्ये । कुलकम् ॥ ९ ॥

(ऐसे) रघुवशियोंके वश को, मैं वाणी का वैभव थोड़ा होता हुआ भी कान में सुनाई पड़े

हुये काही के गुणों के द्वारा दिया विचार दिखे ही दर्शन करने के लिये प्रस्ताव दिया हुआ  
 यह रहा है ॥ १० ॥

सम्प्रति रघुप्रबन्धपरीक्षार्थं सतः प्राधयते—

त सन्तः धातुमर्हति सत्सङ्गवर्तिहेतवः ।

हेग्मः सत्सङ्गवर्ते ह्यग्नी विद्युसिः श्यामिकाऽपि वा ॥ १० ॥

तमिति । सं रघुबन्धकर्म प्रबन्धं सत्सङ्गतो गुणवोपयोग्यते हेतवः कर्तारः सन्त  
 धातुमर्हति । तथा हि । हेतो विद्युसिर्वोपस्थक्यं श्यामिकाऽपि कोट्यान्तरससर्गा  
 मको दोषोऽपि वाऽग्नी संकल्पते । आन्ध्रः । तद्ब्रह्मापि मन्त एव गुणवोपनिवेका  
 भिकारिणा । आन्ध्र इति भाषा ॥ १० ॥

मैं और तुम के विचार करने वाले पण्डित कोप वसे तुमने के लिये योग्य हैं क्योंकि  
 तुमने ही बुद्धता और श्रामता अपि ही में होती जाती है ॥ १० ॥

वर्णं वस्तुवर्तिवति तत्सङ्गवर्तेन—

वैवस्वतो मनुर्नाम मानवीयो मनीषिष्याम् ।

आसीन्महीक्षितामाद्यैः प्रणवहस्तैस्तामिष्ये ॥ ११ ॥

वैवस्वत इति । मन्वस ईषिणो मनीषिणो वीरः । विद्वंस इति भाष्य । प्रबो  
 दप्रवित्तात्साधुः । तेषां मानवीया पुत्र्याः । ब्रह्मसा वैदिकाम् । 'ब्रह्म' पद्ये च वेदे  
 च इति विज्ञाः । प्रवव ओम्कार इव । मही विद्यन्तीत्यत इति महीक्षितः विद्वीकराः ।  
 विद्यन्तीरेवर्षायां निष्कृत् पुत्रागमना । तेषामास जादिमूला । विवस्वतः सूर्येस्वापत्वं  
 पुमान्वैवस्वतो नाम वैवस्वत इति प्रसिद्धो मनुरासीत् ॥ ११ ॥

पण्डितों में वृक्ष कर्तों में प्रवव (ओम्कार) के समान राखानों में प्रवव वैवस्वत  
 नाम से प्रसिद्ध मनु हुये ॥ ११ ॥

वर्णं रघुवरी प्रबन्धपुस्तकस्य रघोः विद्वत्प्रामादयन्—

तद्वन्धये शुद्धिमति प्रसूतः शुद्धिमत्तरः ।

विद्यीप इति रासेन्धुरिण्डुः क्षीरमिषाविष ॥ १२ ॥

तदिति । तद्विरथास्तीति शुद्धिमात्र । तस्मिन्शुद्धिमति तद्वन्धये तस्य मनोर  
 म्येवं संसे । 'वन्धये' वायोऽन्धयो वंशो भोज्य आभिमन्त्रं तुकम् इति इकायुका । अति  
 लयेन शुद्धिमाम्शुद्धिमत्तरः । 'शुद्धिचमविमन्धोप' इत्यादिना तरप । विद्यीप इति  
 प्रसिद्धो राजा इन्द्रुरिष रासेन्धु राजसेन्द्र । 'उपमितं व्याप्रादिमि' इत्यादिना  
 समासः । क्षीरमिषाविषमसूतो जातः ॥ १२ ॥

उन 'वैवस्वत' मनु के पतिव वंश में, अतिपवित्र, राजाओं में वन्ध (वेध) 'विद्यीप'  
 नाम से प्रसिद्ध, क्षीरसमुद्र में अग्रमा के समान उत्पन्न हुये ॥ १२ ॥

‘व्यूढ’ इत्यादित्रिभिः श्लोकैर्दिलीपं विशिनष्टि—

व्यूढोरस्कः वृषस्कन्धः शालाप्रान्शुर्महाभुजः ।

आत्मकर्मक्षम देहं क्षात्रो धर्म इवाश्रित ॥ १३ ॥

व्यूढेति । व्यूढं विपुलसुरो यस्य स व्यूढोरस्कः । ‘उर प्रभृतिभ्य कप्’ इति कप्प्रत्ययः । व्यूढ विपुलं भद्र स्फार सम वरिष्ठ च’ इति यादवः । वृषस्य स्कन्द इव स्कन्धो यस्य स तथा । ‘सप्तभ्युपमान-’ इत्यादिनोत्तरपदलोपी बहुव्रीहिः । शालो वृष इव प्रान्शुस्रजतः शालाप्रान्शुः । ‘प्राकारवृक्षयोः शालः शालः सर्जतरुः स्मृतः’ इति यादवः । ‘उद्धप्रान्शुस्ततोदप्रोच्छ्रितास्तुङ्गे’ इत्यमरः । महाभुजो महाबाहुः । आत्मकर्मक्षमं स्वव्यापारानुरूपं देहमाश्रितः प्राप्तः क्षात्रं क्षत्रसवन्धी धर्म इव स्थितः । मूर्तिमान् पराक्रम इव स्थित इत्युपेक्षा ॥ १३ ॥

चीदी छाती वाले, बैल के कन्धे के समान कन्धे वाले, शाल सरीसे ऊँचे, लम्बी भुजा वाले, अपने काम के करने में समर्थ देह को धारण किये हुये, जैसे क्षत्रियों का धर्म पराक्रम हो, उसके समान दिलीप हुये ॥ १३ ॥

सर्वातिरिक्तसारेण सर्वतेजोऽभिभाविना ।

स्थितः सर्वोन्नतेनोर्वी क्रान्त्वा मेरुरिवात्मना ॥ १४ ॥

सर्वेति । सर्वातिरिक्तसारेण सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽधिकबलेन । ‘सारी बले स्थिरांशे च’ इत्यमरः । सर्वाणि भूतानि तेजसाऽभिभवतीति सर्वतेजोऽभिभावी तेन । सर्वेभ्य उन्नतेनात्मना शरीरेण ‘आत्मा देहे धृतौ जीवे स्वभावे परमात्मनि’ इति विश्वः । मेरुरिव । उर्वी क्रान्त्वाऽऽक्रम्य स्थितः । मेरावपि विशेषणानि तुल्यानि । (अष्टाभिश्च सुरेन्द्राणां मात्राभिर्निर्मितो नृपः । तस्मादभिभवत्येष सर्वभूतानि तेजसा ॥ ) इति मनुवचनाद्वाङ्मनः । सर्वतेजोऽभिभावित्वं ज्ञेयम् ॥ १४ ॥

सबसे अधिक बलवान् ( मेरुपक्ष में सबसे अधिक स्थिर ), सभी लोगों के तेज को अपने प्रभावसे (मेरुपक्षमें क्रान्तिसे) नीचा दिखाने वाले, सबसे अधिक ऊँचे शरीर से मेरु पर्वत के समान पृथ्वी को दबा कर बैठे हुए ॥ १४ ॥

आकारसदृशप्रज्ञः प्रज्ञया सदृशागमः ।

आगमैः सदृशारम्भ आरम्भसदृशोदयः ॥ १५ ॥

आकारेति । आकारेण मूर्त्या सदृशी प्रज्ञा यस्य सः । प्रज्ञया सदृशागमः प्रज्ञाऽनुरूपशास्त्रप्रतिष्ठम् । आगमैः सदृश आरम्भः कर्म यस्य स तथोक्तः । आरम्भ्यत इत्यारम्भः कर्म । तत्सदृशा उदयः फलसिद्धिर्यस्य स तथोक्तः ॥ १५ ॥

आकार के सदृश बुद्धिवाले, बुद्धि के सदृश शास्त्र का अभ्यास करने वाले, शास्त्रके अनुरूप कर्म प्रारम्भ करने वाले, प्रारम्भ किये हुये कर्म के अनुरूप फलसिद्धि प्राप्त करने वाले ( दिलीप हुए ) ॥ १५ ॥



तस्य मयङ्गरत्ने मनोरमत्वञ्च वर्त्तयति—

मीमक्षन्तेर्धृपगुणैः स वभूवोपजीविनाम् ।

अधृष्यन्नामिमम्यञ्च यादोरत्नैरिषार्षणैः ॥ १६ ॥

मीमेति । मीमेक्ष कान्तेष्वधृपगुणैः राजगुणैस्तेजःप्रतापादिभिः कुक्करीणादादि  
प्रादिभिश्च स दिक्षीय उपजीविषामाधितानाम् । बाहोभिर्बलवीर्यैः 'बाहोसि बल-  
वन्तवः इत्यमरः । रत्नैश्चात्नैव इव । अधृष्योऽन्नामिमम्यनीचः । अमिमम्य आश्रयणी-  
यञ्च वभूव ॥ १६ ॥

अथावक्तुं नौर मनोरम राजगुणैः (तेजः प्रताप आदि नौर इत्यादिभ्यः) के कारण  
नामिषो को नह राजा दिक्षीय बलवन्तु वीर रत्नैः के कारण सङ्ग्रह के समान दूर रहने  
बोल्न और सेवा करने योग्य हुये ॥ १६ ॥

तस्य प्रज्य राजनिर्देशवर्तिन्य इत्याह—

रेक्षामात्रमपि क्षुण्णाया मनोवर्त्मनः परम् ।

न व्यतीयुः प्रजास्तस्य नियन्तुर्मेमिक्षतया ॥ १७ ॥

रेक्षेति । निबन्तुः सिक्ककस्य सारथेभ्यः तस्य दिक्षीयस्तु सर्वश्रेष्ठो नेमीनां चक्र-  
पाराणां वृत्तिरिव वृत्तिर्भाषातो वासां तां चक्रवारां प्रविर्त्तयति इति यादवः ।  
'चक्रं रमाहं चक्ष्मांते वसि । जी त्वात्पत्रि पुमाह' इत्यमरः । प्रजा । आ मनो  
मनुमारभ्यैस्त्वमिविधिः । पश्यद्वयं चेतत् । समाप्तस्य विभाषितत्वात् । कुपमाद्वयस्ता  
त्यहताश्च वार्त्तम आचारपद्धतेरव्यवञ्च परमविकल्पः । इतस्तत् इत्यर्थः । रेखा प्रमात्र  
मस्येति रेक्षामात्रं रेखाप्रमाणम् । ईष्यत्वीर्यार्थः । 'प्रमाणं ह्यवसम्पन्नममात्रञ्च इत्य-  
मेव भाष्यप्रत्ययः । परब्रह्मविशेषकं चेतत् । न व्यतीयुर्नातिव्यन्तवत्वात् । कुक्कुरस्य-  
रविप्रपिषा एवमेव इव तस्मा प्रजाः पूर्णवृत्त्यभ्यायं न व्यतिरिति भावः ॥ १७ ॥

द्विचक्र अथवा सारथि के लच्छ वस राजा दिक्षीय के रथ के पहिने को घाँटि बन्दे  
वाली प्रजावै मनुके समग्र से प्रजावै हुये ( रथचक्रवर्तापन्नवै सुदरे हुए ) मार्ग से व्यतीर  
बाहर न गई ॥ १७ ॥

तस्य करप्रदत्तं प्रजानां सुखविषयार्थमित्याह—

प्रजाश्रमेव भूरयर्थे स ताम्यो वसिमग्रहीत् ।

सदस्यगुणमुत्पद्यन्तुमावृत्ते हि रसं रतिः ॥ १८ ॥

प्रजाश्रमिति । स राजा प्रजानां भूरया अर्थाय भूरयर्थं बृहत्पर्वमेव । ( अर्थेव  
सद निरवममानः सचक्रिहता च बलवन्ता ) प्रहजकिपादिसौवर्ग्यं चेतत् । ताम्याः  
प्रजाभ्यो वक्तिं पश्याकथं करमग्रहीत् । 'भाष्येयः करो वक्तिः इत्यमरः । तथाहि ।  
रविन्द्रादय गुणा वरिमन्मर्म्मसि तद्यथा तथा सदस्यगुणं सदस्यबोत्पद्युं दातुम् । उक्त  
व्यक्तिपादिसौवर्ग्यं चेतत् । रसमग्रग्राह्ये गृह्णाति । 'रसो गम्ये रते रथादे तिज्यदी

विपरोगयो' । शृङ्गारादौ द्रवे वीर्ये देहधात्वगुणपारदे ॥' इति विश्वः ॥ १८ ॥

प्रजाओं की भलाई के लिए ही वह राजा दिलीप उन सर्वों ( प्रजाओं ) से कर लेता था, जैसे-कि महत्त्वगुणा वरसाने के लिए ही सूर्य जल लेता है ॥ १८ ॥

सम्प्रति बुद्धिशौर्यसम्पन्नस्य तत्सार्थसाधनेषु परानपेक्षत्वमाह—

सेना परिच्छदस्तस्य द्वयमेवार्थसाधनम् ।

शास्त्रेष्वकुण्ठिता बुद्धिमौर्वी धनुषि चातता ॥ १९ ॥

सेनेति । तस्य राज्ञः सेना चातुरङ्गबलम् परिच्छाद्यतेऽनेनेति परिच्छद उपकरणं वभूव । छत्रचामरादितुल्यमभूदित्यर्थः । 'पुंसि सज्ञायां च प्रायेण' इति वप्रत्ययः । 'छाद्वेर्द्व्युपसर्गस्य' इत्युपधाह्रस्व । अर्थस्य प्रयोजनस्य तु साधन द्वयमेव । शास्त्रेष्वकुण्ठिताऽव्याहता बुद्धिः 'व्यापृता' इत्यपि पाठः । धनुष्यातताऽऽरोपिता मौर्वी ज्या च । 'मौर्वी ज्या शिक्षिनी गुणः' इत्यमरः । नीतिपुर सरमेव तस्य शौर्यमभूदित्यर्थः ॥ १९ ॥

उस राजा दिलीपकी सेना तो छत्र-चामरके समान केवल शोभार्थ हुई । क्योंकि प्रयोजन सिद्ध दो से होते थे, एक तो शास्त्रोंमें पैनी बुद्धिसे और दूसरे धनुष पर चढ़ी हुई प्रत्यक्षा से ॥ १९ ॥

राज्यमूल मन्त्रसंरक्षण तस्यासीदित्याह—

तस्य संवृतमन्त्रस्य गूढाकारेक्षितस्य च ।

फलानुमेया' प्रारम्भा' संस्काराः प्राक्तना इव ॥ २० ॥

तस्येति । संवृतमन्त्रस्य गुप्तविचारस्य । 'वेदभेदे गुप्तवादे मन्त्र' इत्यमरः । शोकहर्षादिसूचको शृङ्खलीमुखरागादिराकार इक्षित चेष्टित हृदयगतविकारो वा । 'इक्षिते हृद्गतो भावो बहिराकार आकृतिः' इति सज्जन । गूढे आकारेक्षिते यस्य स्वभावचापलाद्भ्रमपरम्परया मुखरागादिलिङ्गैर्वाऽनुतीयगामिमन्त्रस्य तस्य प्रारम्भ्यन्त इति प्रारम्भा सामाद्युपायप्रयोगा । प्रागित्यव्ययेन पूर्वजनमोच्यते तत्र भवा प्राक्तना । 'सायचिरप्राहप्रगेऽव्ययेभ्यष्टधुलौ तुट् च' इत्यनेन टधुलप्रत्ययः । संस्कारा पूर्वकर्मवासना इव । फलेन कार्यणानुमेयाऽनुमातु योग्या आसन् । अत्र याज्ञवल्क्य — ( मन्त्रमूल यतो राज्यमतो मन्त्र सुरक्षितम् । कुर्याद्यथा तन्न विदुः कर्मणामाफलोदयात् ) ॥ इति ॥ २० ॥

विचारको गुप्त रखनेवाले तथा बाहर-भीतर के हर्षशोकादिसूचक चिह्नोंको छिपाने वाले, उस राजा दिलीपके कार्य 'सामदामाद्युपाय' फलोंसे अनुमान किये जाते थे, जैसे-कि पूर्वजन्म के संस्कार ॥ २० ॥

सम्प्रति सामाद्युपायान्विनैवात्मरक्षाऽऽदिक कृतवानित्याह—

जुगोपात्मानमत्रस्तो भेजे धर्ममनातुरः ।

अगृन्तुराददे सोऽर्थमसक्त सुखमन्वभूत् ॥ २१ ॥

हुगोपेति । अग्रस्तोऽमीताः सन् । 'अस्तो भीमभीकमीसुका' इत्यमरः । नासो  
पादिमन्त्रैर्भैव शिवैर्वासिभ्यः प्रथमसाधनत्वादेवात्मानं शरीरं हुगोप रक्षितवान् ।  
अवातुरोऽहम् एव धर्मं सुकृतं मेमे । अर्जितवामित्वार्थः । अगुम्पुरार्थं तत्कीक एवार्थं  
मावदे स्वीकृतवान् । 'गुम्पुरस्तु वार्धनः । सुगोऽभिजापुकस्तुष्पनसमी कोमुपभोस्तुभौ  
इत्यमरः । 'असिपुबिहविषियेः वतु' इति क्युमादयः । असक आसत्तिरहित एव  
मुक्तमन्त्रमूत् ॥ २१ ॥

वत् ( राजा दिवीप ) ने बिना डरे हुए अपने शरीरकी रक्षा की बिना रोगी होते  
हुए धर्म का सेवक किया बिना कोपी होते हुये वन का ग्रहण किया और बिना नासक  
होते हुए मुक्त का अनुभव किया ॥ २१ ॥

परस्परविद्वद्भिरात्मनि गुणानां तत्र सादृश्यदर्शमासीदित्याह—

ज्ञाने मौन समा हास्यै स्यागे दक्षाद्याविपर्ययाः ।

गुणा गुणानुबन्धित्यात्तस्य समसत्वा इव ॥ २२ ॥

ज्ञान इति । ज्ञाने परबुधत्वात्ज्ञाने सत्यपि मौनं बाह्यनियमवत् । यथाऽऽह काम  
म्बक—( नाम्नोपतापि वचनं मौनं अतश्चरिष्युता ) इति । सत्यी प्रतीकारसामर्थ्ये  
इति समा अपकारसहनम् । अत्र चाप्यत्र—(सच्छर्मा भूषणं समा) इति । राज्ञो  
वितरणे सत्यपि रक्षाया विद्वत्पनस्य विपर्ययोऽभावाः । अत्राह मनु—( स दाया  
परिकीर्तयेद् ) इति । इत्थं तस्य गुणा ज्ञानादयो गुणैर्विद्वैर्मानादिभिरनुबन्धित्या-  
त्सादृश्यात् सह प्रसन्नो जन्म वेदां से समसत्वा सोऽह इवाभूवत् । विद्वद्भिरपि  
गुणास्तस्मिन्निरोधेनैव रिक्ता इत्यर्थः ॥ २२ ॥

हृदरे के वृत्तान्त को जानते हुए भी वत् विषय में धुर रहना समर्थ रहने पर भी  
अव्यक्त रहन करना जान करने पर भी अपने नदार्ह न करवा वत् प्रभार से वत् राजा  
दिवीप के ज्ञानादि गुणविद्वत् मौनादि गुणों के साथ रहने से सरोवर के समान हुए ॥ २२ ॥

द्विविधं बुद्धत्वं ज्ञानेन वयसा च । तत्र तस्य ज्ञानेन बुद्धत्पमाह—

अनाकृष्टस्य विषयैर्विद्यानां पारदृश्यमाः ।

तस्य धर्मस्तेरासीदुत्तमस्य जरसा विमा ॥ २३ ॥

अनाकृष्टेति । विषयैः अर्थादिभिः । 'रूप सङ्घे वागधरस्यपसांश्च विषया जमी  
इत्यमरः । अनाकृष्टस्यावशीकृतस्य विद्यानां वेदवेदाङ्गादीनां पारदृश्यमाः पारमर्थं  
दृश्यमाः । इतो वचविप् । धर्मो इतिर्धस्य तस्य राज्ञो जरसा जरया विमा । विज्ञप्ता  
वरा' इत्यमरः । 'विद्वद्भिरप्योऽह इत्यहमन्वयः । 'जराया जरसम्यतरवाद्य  
इति जरसादेः । बुद्धत्वं चार्थकमासीत् । तस्य यूनो विषयवैराम्यादिज्ञानगुण  
सम्पत्त्या ज्ञातौ बुद्धत्वमासीदित्यर्थः । नायस्तु चतुर्विधं बुद्धत्वमिति ज्ञात्वा 'अना  
कृष्टस्य इत्यादिना विधीयन्प्रवण वैराग्यज्ञानशीलबुद्धत्वमनुगमनीयवोचत् ॥ २३ ॥

विषयादिकों से नहीं खींचे जाते हुये ( विषयों के वश में न होते हुये ), विद्याओं के पार देखनेवाले ( अन्त करनेवाले ) धर्म में रुचि रखनेवाले उस राजा दिलीप को वृद्धावस्था ( आये ) विना उक्त विशेषणों से वृद्धता प्रगट हुई ॥ २३ ॥

द्विविध पितृत्वं रक्षणेनोत्पादनेन च तत्र तस्य रक्षणेन पितृत्वमाह—

**प्रजानां विनयाधानाद्रक्षणाद्भरणादपि ।**

**स पिता पितरस्तासां केवल जन्महेतवः ॥ २४ ॥**

प्रजानामिति । प्रजायन्त इति प्रजा जना 'उपसर्गे च सज्ञायाम्' इति प्रथमः । 'प्रजा स्यात्सततौ जने' इत्यमर । तासां विनयस्य शिक्षाया आधानात्क्षरणात्सन्मार्गप्रवर्तनादिति यावत् । रक्षणाद् भयहेतुभ्यस्त्राणाद् आपन्नवारणादिति यावत् । भरणादन्नपानादिभि पोषणादपि । अपिः समुच्चये । स राजा पिताऽभूत् । तासां पितरस्तु जन्महेतवो जन्ममात्रकर्तार केवलमुत्पादका एवाभूवन् । जननमात्र एव पितृणां व्यापार । सदा शिक्षारक्षणादिक तु स एव करोतीति तस्मिन्पितृत्वव्यपदेश । आहुश्च—( स पिता यस्तु पोषक ) इति ॥ २४ ॥

नम्रता आदि की शिक्षा देने से, आपत्तियों से बचाने से और अन्नादिकों के द्वारा पोषण करने से, वे दिलीप ही प्रजाओं के पिता हुए और उन प्रजाओं के पिता तो केवल जन्म देने में ही कारण हुये ॥ २४ ॥

तस्यार्थकामावपि धर्म एवास्तामित्याह—

**स्थित्यै दण्डयतो दण्डयान्परिणेतु प्रसूतये ।**

**अप्यर्थकामौ तस्यास्तां धर्म एव मनीषिणः ॥ २५ ॥**

स्थित्या इति । दण्डमर्हन्तीति दण्डया दण्डादिभ्यो य' इति यप्रत्यय । ( अदण्डयान्दण्डयन् राजा दण्डयाश्चैवाप्यदण्डयन् । अयशो महदाप्नोति नरक चैव गच्छति ) ॥ इति शास्त्रवचनात् । तान्दण्डयानेव स्थित्यै लोकप्रतिष्ठाय दण्डयत शिक्षयतः । प्रसूतये सतानायैव परिणेतुर्दारान्परिगृह्यत । मनीषिणो विदुषः । दोषज्ञस्येति यावत् । 'विद्वान्विपश्चिद्वोपज्ञ ससुधी कीचिदो बुध । धीरो मनीषी' इत्यमर । तस्य दिलीपस्यार्थकामावपि धर्म एवास्ता जातौ । अस्तेर्लङ् । अर्थकामसाधनयोर्दण्डविवाहयोर्लोकस्थापनप्रजोत्पादनरूपधर्मार्थवेनानुष्ठानादर्थकामावपि धर्मोपेततामापादयन्स राजा धर्मोत्तरोऽभूदित्यर्थ । आह च गौतम — ( न पूर्वाह्नमध्यदिनापराह्णानफलान्कुर्याद् यथाशक्ति धर्मार्थकामेभ्यस्तेषु धर्मोत्तरः स्यात् ) । इति ॥ २५ ॥

'लोक मर्यादा की' स्थिति के लिये अपराधियों को दण्ड देनेवाले, सन्तानके लिये विवाह करने वाले 'अत एव' बुद्धिमान् उस राजा दिलीप के अर्थ और काम भी धर्म ही हुये ॥ २५ ॥

‘तस्य दिङ्गीपरस्वेभ्येन सह परस्परनिमित्तेन सवयमाह—

बुद्धोऽहं गां स पद्याय सस्याय मध्याय विवम् ।

सपदिनिमित्तेनोमी वधतुर्मुच्यतेयम् ॥ २३ ॥

बुद्धोऽहेति । स राजा वधाय बन्धं कर्तुं गां धुवं बुद्धोऽहं । करग्रहणेन सिद्धं वकारे-  
र्यर्थः । मध्याय वेधेभ्यः सस्याय सस्यं वर्धयितुं दिवं स्वर्गं बुद्धोऽहं । सुखेकाग्रमहीकोके  
वृष्टिमुत्पादयामासेत्यर्थः । क्रियाभ्यां पपद्-’ इत्यादिना वधसस्याम्बां वधतुर्मी ।  
पुनर्मुमी सम्पदो विमित्तयेन परस्परमावायमतिदानाम्बां मुच्यते वधतुः पुनर्मुच्यते ।  
राजा पद्मैरिन्द्रकोकमिन्द्रकोकं मूकोकं पुनोषेत्यर्थः । उच्छं च वृण्वतीतो—( राजा  
त्वन्मांसमाहारं कुर्याद्विभ्रमहोष्ठवयः । मीनितो मेववाहस्तु महती वृष्टिमाव-  
हत् ) ॥ इति ॥ २३ ॥

कम् ( राजा दिङ्गी ) ने वह करने के लिये दृष्टी को ‘वर्धयितुं कर ग्रहण द्वारा  
हुआ और इन्द्र ने मान्य को वृष्टि करने के लिये स्वर्ग को वृष्टि द्वारा हुआ ‘स सम्पद’ है  
श्रीमते ‘इन्द्र और दिङ्गी’ परस्पर वध और वृष्टि कम् अपनी-अपनी सम्पत्ति के बरकनेसे  
श्रीमते ने त्मां और मत्मां कोक को राजा को ॥ २३ ॥

‘तस्य राज्ञे तस्करमर्थं वासीदित्याह—

न किञ्चानुपपुस्तस्य राजानो रक्षितुर्यथा ।

व्याधुत्ता यत्परस्वेभ्यः भुक्तौ तस्करता स्थिता ॥ २४ ॥

नेति । राजावोभ्ये भुक्ता रक्षितुर्मिष्यच्छानुस्तस्य राज्ञो बन्धो नानुपपुः किञ्च  
वानुपपुः कष्टः । भुक्ता । वधसमाप्तकलातस्करता भीषं परस्वेभ्यः परबन्धेभ्यः  
स्वविषयभूतेभ्यो व्याधुत्ता सती भुक्ता वाचकस्य स्थिता प्रवृत्ता । अपहर्तान्तरा  
भावात्तस्करता एवापहत इत्यर्थः । वधवा । ( कल्पान्तस्तस्यपि ह्यर्थे ज्ञानं सम्भू-  
करोति हि ) इति न्यायेन सम्ये स्थिता स्फुरिता न तु स्वकपतोऽस्तित्यर्थः ॥ २४ ॥

जन्म राजा भवे ‘जन्म’ से राजा करने भाव उस राजा दिङ्गी के वध का अनुकरण  
नहीं कर सके, क्योंकि उसके राज्य में ‘भीरी वह सम्प’ अपने विषयभूत दूसरे के इच्छ  
से पूरक होती हुई केवल अपनी-अपनी हुई अपना भीरी वर्धनायक भीरी सम्प के ही  
पुराने में प्रवृत्त हुई ॥ २४ ॥

‘तस्य विषय एव मिषो ब्रूय पचापि वासीदित्याह—

द्रेभ्योऽपि समताः शिषस्तस्यार्त्तस्य यथीपयम् ।

स्याम्यो बुद्धा मिषोऽप्यासीद्वक्त्रुक्षीवोरगासता ॥ २५ ॥

द्रेभ्य इति । मिषो बन्धो द्रेभ्यः कञ्चुरपि । आर्त्तस्य रोषिण भीषं यथीपयमिव ।  
तस्य समतोऽभ्युपगत आसीत् । बुद्धो जन्म मिषोऽपि प्रेमास्पदीभूतोऽपि । उरगता  
सर्पव्याधुक्षीव । ( वृन्ताज्जाह्नुमि बुद्धमात्मना ) इति न्यायात् त्वत्तव आसीत् ।  
तस्य विषय एव वन्मुर्धु वध कञ्चुरित्यर्थः ॥ २५ ॥

जिस प्रकार रोगी को कड़वी 'हितकर' औषधि भी प्यारी होती है, उसी प्रकार उस राजा दिलीप का द्वेष करने के योग्य 'वैरी' होता हुआ भी सब्जन प्यारा होता था और प्यारा होता हुआ भी दुर्जन साप से काटी हुई अङ्गुली की भाँति छोड़ देने के योग्य होता था ॥ २८ ॥

तस्य परोपकारित्वमाह—

तं वेधा विदधे नूनं महाभूतसमाधिना ।

तथा हि सर्वे तस्यासम्परार्यैकफला गुणाः ॥ २९ ॥

तमिति । वेधा छष्टा । 'छष्टा प्रजापतिर्वेधा' इत्यमर । तं दिलीपम् । समाधीयतेऽनेनेति समाधि कारणसामग्री । महाभूतानां य समाधिस्तेन महाभूतसमाधिना विदधे ससर्जं नूनं ध्रुवम् । इत्युत्प्रेक्षा । तथाहि । तस्य राज्ञः सर्वे गुणारूपरसादिमहाभूतगुणवदेव परार्थं परप्रयोजनमेवैकं मुख्य फलं येषां ते तथोक्ता आसन् । महाभूतगुणोपमानेन कारणगुणा कार्यं सक्रामन्तीति न्यायः सूचितः ॥ ब्रह्मा जी ने उस राजा दिलीप को महाभूतों ( पृथ्वी-जल-तेज-वायु-आकाश ) के कारण की सामग्री से बनाया था, निश्चय करके उस राजा दिलीप के सभी 'शौर्ष्यादि' गुण 'पञ्च महाभूतों के रूपरसादि गुणोंके तुल्य' पराये प्रयोजन वाले हो थे ॥ २९ ॥

तस्य चक्रवर्तित्वमाह—

स वेलावप्रवलयीं परिखीकृतसागराम् ।

अनन्यशासनामुर्वीं शशासैकपुरीमिव ॥ ३० ॥

स इति । स दिलीपः । 'वेला समुद्रकूलानि । 'वेला कूलेऽपि वारिधे' इति विश्व । ता एव वप्रवलयी प्राकारवेष्टनानि यस्यास्ताम् । 'स्याच्चयो वप्रमस्त्रियाम् । प्राकारो वरणं शाल प्राचीनं प्रान्ततो वृत्ति' इत्यमरः । परितः खातं परिखा दुर्गवेष्टनम् । 'खान खेयं तु परिखा' इत्यमरः । 'अन्येष्वपि दृश्यते' इत्यत्रापिशब्दाख्यनेऽप्रत्ययः । अपरिखा परिखा सम्पद्यमाना कृता परिखीकृताः सागरा यस्यास्ताम् । अभूततद्भावे च्चिः । अविद्यमानमन्यस्य राज्ञः शासनं यस्यास्तामनन्यशासनामुर्वीं मेकपुरीमिव शशास । अनायासेन शासितवानित्यर्थः ॥ ३० ॥

उस राजा दिलीप ने समुद्र का किनारा है कङ्कण की तरह चाहारदीवारी जिसकी और समुद्र है खान जिसकी, ऐसी अन्य किसी राजा से शासन नहीं की जाती हुई पृथ्वी को एक नगरी की भाँति शासन किया ॥ ३० ॥

तस्य परन्या नामाह—

तस्य दक्षिण्यरूढेन नाम्ना मगधवंशजा ।

पत्नी सुदक्षिणेत्यासीदध्वरस्येव दक्षिणा ॥ ३१ ॥

तस्येति । तस्य राज्ञो मगधवंशे जाता मगधवंशजा । 'सप्तम्यां जनेर्द' इति

अप्रत्ययः । एतेनाभिजायमुत्तमः । दक्षिण्वपरश्चन्द्रानुवर्तनम् । दक्षिणा सरस्वती  
 रपरश्चन्द्रानुवर्तिषु' इति आचताः । तेन कर्म प्रसिद्धम् । तेन याम्ना । अरहरस्व  
 यशस्व दक्षिणा दक्षिणाऽऽकृता पत्नीय सुदक्षिणैति प्रसिद्धा परम्बासीत् । अत्र  
 भ्रुति—( यशो यम्पर्यस्तस्व दक्षिणा अपसरसः ) इति । (दक्षिणाया दक्षिण्व नाम  
 स्त्रिंशो दक्षिणत्वमापकृतम् । ते दक्षिणे दक्षिणां प्रतिपुष्टा ) इति च ॥ ३१ ॥

वत् राधा दिक्षीय श्री मन्वन्त्रे मे उत्पन्नः ॥ दूसरे के मन्वन्त्रे वत्ने के करव  
 वत् श्री पत्नी दक्षिणा श्री तरङ्ग सुदक्षिणा वत् याम से प्रतिष्ठ पड़गनी श्री ॥ ३१ ॥

तस्यानेकासु परानीषु सतीष्वपि प्रिया सुदक्षिणैवेत्याह—

कलत्रवन्तमारमानमवरोधे महस्यपि ।

तया मेने मनस्विन्या कक्ष्या च वसुधाऽधिपः ॥ ३२ ॥

कलत्रवन्तमिति । वसुधाधिपः । अवरोधेऽन्तःपुरवर्गे महति सार्वपि मन  
 सिन्या इद्विचित्रा पतिविधानुहरवादिनिर्बन्धमवेत्तवर्गः । तया सुदक्षिणा  
 कक्ष्या चामात्र कलत्रवन्तं मार्गवन्तं मेने । 'कलत्रं भोजिमार्गवो' इत्यमरः ।  
 वसुधाधिप इत्यनेन वसुधाया चेति गम्यते ॥ ३२ ॥

वत् एका दिक्षीय श्री रनिवात बहुत बड़ा होने पर भी (बहुत ही रानिवा होने पर भी)  
 सुदक्षिण सुदक्षिणा नीर क्वनी से ही वह वत्ने की श्री वाक्क समझना वा ॥ ३२ ॥

दिक्षीयः स्वपत्न्या बहुदिनाबन्धि पुत्रोत्पत्तिपतीकम् कृतवावित्याह—

तस्याम्मारमानुकरुपायामात्मजम्समुत्सुकः ।

विद्वम्बितफलोः कर्त्तुं स निनाय मनोरथैः ॥ ३३ ॥

तस्यामिति । स राजा । आमानुकरुपाया तस्याम् । अरमनो जन्म तस्यासाया  
 यमस्या पुत्रः । तस्मिन्समुत्सुकः । बह्वः । अरमनो जन्मनि पुत्रकपेनोत्पत्ती समु  
 त्सुकः सन् । ( अरमा ये पुत्रमाप्नासि ) इति श्रुतेः । विद्वम्बितं कर्म पुत्रशक्तिरूपं  
 तेषां तैर्मनोरथैः कदा मे पुत्रो मयेदित्याशाभिः कर्त्तुं निनाय आपयामास ॥ ३३ ॥

वत् 'एका दिक्षीय' ने अपने मनके अनुकूल वत् 'सुदक्षिणा' ने पुत्र के जन्म के  
 विषय में उत्सुक होते हुए, विद्वम्ब है जिसने फल में पेटे 'अरमन' पुत्र दीया वत्  
 बाकांक्षा से समय निनाया ॥ ३३ ॥

सन्तानार्थमुद्योक्तं महत्तस्य राज्ञो मन्त्रिवर्गे राज्यभारसमर्पणमिवाह—

सन्तानार्थाय विधये स्वमुज्जाह्वतारिता ।

तेन पूर्वमतो शुर्वी सन्निधेः निविशिते ॥ ३४ ॥

सन्तानेति । तेन दिक्षीयेन । सन्तानार्थाः प्रयोजनं यस्य तस्मै सन्तानार्थाय विध  
 येऽनुज्ञाय । स्वमुज्जाह्वतारिताऽवरोपिता वगतो कोकस्य शुर्वी पूर्वतरः सन्निधेः  
 निविशिते विदिता ॥ ३४ ॥

सन्तान प्राप्ति के लिये अनुष्ठान 'करने' के निमित्त अपने बाहु से उतारे हुये जगद के बड़े भारी ( प्रजापालनरूप कार्य ) भार को मन्त्रियों के ऊपर रख दिया ॥ ३४ ॥

पुत्रप्राप्तिकाभ्यया दिलीपस्य स्वगुरोर्वसिष्ठस्याश्रमे गमनमित्याह—

अथाभ्यर्च्य विधातारं प्रयतौ पुत्रकाभ्यया ।

तौ दम्पती वसिष्ठस्य गुरोर्जन्मतुराश्रमम् ॥ ३५ ॥

अथेति । अथ धुरोऽवतारानन्तर पुत्रकाभ्ययाऽऽमन. पुत्रेच्छया 'काभ्यञ्च' इति पुत्रशब्दात्काभ्यच्प्रत्यय । 'अप्रत्ययात्' इति पुत्रकाभ्यतेरप्रत्यय । ततष्टाप् । तथा तौ दम्पती जायापती । राजदन्तादिपुजायाशब्दस्य दमिति निपातनात्साधु । प्रयतौ पूतौ विधातारं ब्रह्माणमभ्यर्च्य 'स खलु पुत्रार्थिभिरुपास्यते' इति मान्त्रिका । गुरो. कुलगुरोर्वसिष्ठस्याश्रम जन्मतु' पुत्रप्राप्त्युपायापेक्षयेति शेष ॥ ३५ ॥

मन्त्रियों के ऊपर राज्यभार सौंपने के अनन्तर पुत्र की कामना से पवित्र हो, वे दोनों श्री पुरुष सुदक्षिणा और दिलीप ब्रह्मा की पूजा कर गुरु वसिष्ठ के आश्रम को गये ॥ ३५ ॥

तयोरेकरथेन वसिष्ठाश्रमगमनमित्याह—

स्निग्धगम्भीरनिर्घोषमेकं स्यन्दनमास्थितौ ।

प्रावृषेण्यं पयोवाहं विद्युदैरावताविव ॥ ३६ ॥

स्निग्धेति । स्निग्धो मधुरो गम्भीरो निर्घोषो यस्य तमेकं स्यन्दनं रथम् । प्रावृषि भव प्रावृषेण्यं । 'प्रावृष ण्य' इत्येण्यप्रत्यय । त प्रावृषेण्यं पयोवाहं मेव विद्यु-दैरावताविव । आस्थितावारुढौ । जन्मतुरिति पूर्वेण सम्बन्धः । इरा आप । 'इरा भूवाक्सुराऽप्सु स्यात्' इत्यमरः । इरावान्समुद्र । तत्र भव ऐरावतोऽभ्रमातङ्गः । 'ऐरावतोऽभ्रमातङ्गैरावणाभ्रमुवल्लभा' इत्यमरः । 'अभ्रमातङ्गत्वाच्चाभ्रस्थरूपत्वात्' इति क्षीरस्वामी । अत एव मेवारोहणं विद्युत्साहचार्यञ्च घटवे । किञ्च विद्युत ऐराव-तसाहचर्यादेवैरावती सञ्जा । ऐरावतस्य स्थ्यैरावतीति क्षीरस्वामी । तस्मात्सुष्ठूक्तं विद्युदैरावताविवेति । एकरथारोहणोक्त्या कार्यसिद्धिवीजं दम्पत्योरत्यन्तसौमनस्यं सूचयति ॥ ३६ ॥

मधुर और गम्भीर शब्द करने वाले एक ही रथ पर वर्षाकाल के मेघ के ऊपर चढ़े हुये विजली और ऐरावत हाथी की भांति वे दोनों सुदक्षिणा और दिलीप चले ॥ ३६ ॥

सेनाविरहितयोस्तयोर्गमने कारणमाह—

मा भूदाश्रमपीडेति परिमेयपुर सरौ ।

अनुभावविशेषात्तु सेनापरिवृताविव ॥ ३७ ॥

मा भूदिति । पुन किंभूतौ वपती । आश्रमपीडा मा भून्मास्त्विति हेतोः । 'माडि लुह्' इत्याशीरर्थे लुह् । 'न माह्वोगे' इत्यड्वागमन्निषेधः । परिमेयपुर सरौ मितपरिचरौ । अनुभावविशेषात्तु तेजोविशेषात्सेनापरिवृताभ्यामिव स्थितौ ॥ ३७ ॥



गुह्यं लिख के आत्म को पीडा मही रस 'भरण' से बोड़े 'रुने' विने मोकरे (राजा के जागे-जागे बन्दे बालों) से मुक्त होते हुये भी मभाव को अधिकता के कारण से सेना से बिदे हुये को मरति 'दिक्कार' पकते हुये वे दोनों दुरक्षिण और दिक्षीप बने जाते थे ॥ ३८ ॥

मार्गे तथोः सुखदवापुमिः सेव्यमानयोगमवमिन्वाह—

सेव्यमानो सुखस्पृष्टैः शास्त्रनिर्यासगर्भिमिः ।

पुष्परेण्णुत्किरैर्वातेराभूतसत्तयजिमिः ॥ ३८ ॥

सेव्यमानविति । पुनः कथंमृतौ । सुखहीनकल्याणियः स्पृष्टो जेपां तैः । शास्त्र-  
निर्यासगर्भिमिः सर्वतर्कविशयव्याप्यवर्तिना । 'शास्त्रः सत्तत्क स्यूता इति  
कारयता । उत्किरन्ति विचिपण्ठिपुत्किराः । इगुपच— इत्यादिना किरतैः  
कलत्रव्या । पुष्परेण्णुत्किरास्तैराभूता मान्वादीपलम्पिता बबराजयो वैस्तेर्वातैः  
सेव्यमानौ ॥ ३८ ॥

सुखकर स्पृष्ट वाणी शास्त्र इत्थो से निकले हुये, लम्प से सुख, पुष्पों के परानों को  
बबानेवाली बाहु का 'दुरक्षिण और दिक्षीप' छेदन करते हुये जाने कथे ॥ ३८ ॥

मार्गे समूरवाजीः शृण्वतोस्तयोगमममिन्वाह—

मनोऽमिरामा शृण्वन्तौ रथमेमिस्वनोन्मुखौ ।

पद्मसंवादिनीः केका द्विषामिषा शिखण्डिमिः ॥ ३९ ॥

मनोऽमिरामा इति । रथमेमिस्वनोन्मुखौ । मेघप्लविसदृशोऽमितमुच्चैरित्वर्चा ।  
द्विषादिभिर्मयूरहिवा मिन्नाः शृङ्गविह्वलमेवेवाभिप्लुतावस्थायां स्फुटाभुतमेवेव  
वा पद्मजो द्विषाः । तत्तादरमात्केका अवि द्विषा मिन्ना इत्युच्यते । अत एवाह  
पद्मसंवादिनीरिति । पद्मजः स्वानेभ्यो जाता पद्मजः । तदुक्तम्— (नासाकण्ठमुर  
स्तामृजिह्वाभ्यां संस्पृशत् । पद्मजः संजायते यस्यात्तस्मात्पद्म इति स्यूता ॥)  
तु च तन्त्रीकम्पज्जमा स्वरविशेषः । 'मिषाद्वर्षमगान्वात्पद्मजम्भवमयैवताः । पद्मस-  
ञ्जेत्वमी सप्त तन्त्रीकम्प्योत्पिताः स्वरताः । इत्यमरा । पद्मजैः संवादिनीं सरसीः ।  
तदुक्तं मातङ्गेय— (पद्मं मयूरो वहति ) इति । मनोऽमिरामा, मयसा मिषाः । के  
मृग्य कापन्ति ज्ववन्तीति केका समूरवाज्या 'केका वाजी मयूरस्य' इत्यमरा । ता  
केका शृण्वन्तौ इति रथोकार्यः ॥ ३९ ॥

रथ के चक्रान्त के छन्द को छल कर ऊपर सुख विने हुये मयूतें द्वारा दो स्वर  
को हुई पद्म स्वर का अनुसरण करते वाजी तथा मन को प्रसन्न करते वाजी वाजी को  
छवते हुये वे दोनों बने ॥ ३९ ॥

मृगहृद् परयतोस्तयोगममम—

परस्पराक्षिसादृश्यमदूरोऽमृतवर्त्मसु ।

मृगहृदेऽप पद्मवन्तौ मृगवताध्वजपरिज ॥ ४० ॥

परस्परेति । विश्रम्भाददूर समीप यथा भवति तथोज्झितं वर्त्म यैस्तेषु । स्यन्द-  
नावद्धदृष्टिषु स्यन्दने रथ आवद्धाऽऽसज्जिता दृष्टिर्नेत्रं यैस्तेषु । 'दृग्दृष्टिनेत्रलोचनचक्षु-  
र्नयनाम्बकेक्षणाक्षीणि' इति हलायुध । कौतुकवशादथासक्तदृष्टिष्वित्यर्थः । मृगयश्च  
मृगाश्च मृगा । 'पुमान् स्त्रिया' इत्येकशेष । तेषां द्वन्द्वेषु मिथुनेषु । 'स्त्रीपुंसौ मिथुन  
द्वन्द्वम्' इत्यमर । परस्पराणां सादृश्यं पश्यन्तौ । द्वन्द्वशब्दसामर्थ्यान्मृगीषु सुद-  
क्षिणाऽक्षिसादृश्यं दिलीपो दिलीपाक्षिसादृश्यं च मृगेषु सुदक्षिणेत्येवं विवेक्तव्यम् ॥

समीपम् रथ के मार्ग को छोड़े हुये, रथ का ओर दृष्टि लगाये हुये, मृग के जोड़ों में  
परस्पर ( एक दूसरे के ) आँखों की समानता को देखते हुये 'वे दोनों चले' ॥ ४० ॥

मार्गे क्वचित् सारसान् पश्यन्तौ जग्मतुरित्याह—

श्रेणीबन्धाद्वितन्वद्भिरस्तम्भां तोरणस्रजम् ।

सारसैः कलनिर्द्वादैः क्वचिदुन्नमिताननौ ॥ ४१ ॥

श्रेणीबन्धादिति । श्रेणीबन्धापङ्क्तिबन्धादेतोरस्तम्भामाधारस्तम्भरहिताम् ।  
तोरणं वहिर्द्वारम् । 'तोरणोऽस्त्री वहिर्द्वारम्' इत्यमर । तत्र या स्रग्विरच्यते तां  
तोरणस्रजं वितन्वद्भिः । कुर्वद्भिरित्यर्थः । उपेक्षाव्यञ्जकेवशब्दप्रयोगाभावेऽपि  
गम्योपेक्षेयम् । कलनिर्द्वादिव्यक्तमधुरध्वनिभिः सारसैः पक्षिविशेषैः करणैः । क्वचि-  
दुन्नमिताननौ । 'सारसो मंथुनी कामी गोनर्दः पुष्कराह्वयः' इति यादवः ॥ ४१ ॥

पाङ्क बाधने से ( पाङ्क बाध कर चलने से ) बिना खम्भे के वन्दनवार ( की तरह  
शोभा ) को करते हुये, अस्पष्ट मधुर शब्द वाले सारस पक्षियों के कारण कभी कभी  
ऊपर की ओर मुख किये हुये 'वे दोनों चले' ॥ ४१ ॥

गच्छतोस्तयो पथ्यनुकूलवहनमित्याह—

पवनस्यानुकूलत्वात्प्रार्थनासिद्धिशंसिनः ।

रजोभिस्तुरगोत्कीर्णैरस्पृष्टालकवेष्टनौ ॥ ४२ ॥

पवनस्येति । प्रार्थनासिद्धिशंसिनोऽनुकूलत्वादेव मनोरथसिद्धिसूचकस्य पवन-  
स्यानुकूलत्वाद्गन्तव्यदिगभिमुखत्वात् । तुरगोत्कीर्णै रजोभिरस्पृष्टा अलका देव्या,  
वेष्टनमुष्णीष च राज्ञो ययोस्तौ तथोक्तौ । 'शिरसा वेष्टनशोभिना सुतः'  
इति वक्ष्यति ॥ ४२ ॥

मनोरथ की सिद्धि को सूचित करने वाली वायु की अनुकूलता ( सम्मुख दिशा की  
ओर बढ़ने ) के कारण घोड़ों के खुरों से उठी हुई धूलि से 'सुदक्षिणा' के घुँघुराले वाल  
और 'दिलीप' के सिरपैच नहीं छुए गये 'येसे वे दोनों चले' ॥ ४२ ॥

मार्गे कमलानां गन्धं जिघ्रतोस्तयोर्गमनमित्याह—

सरसीश्वरविन्दानां वीचिविक्षोभशीतलम् ।

आमोदमुपजिघ्रन्तौ स्वनिःश्वासानुकारिणम् ॥ ४३ ॥

सरसीष्विति । सरसीषु बीजविद्योमशीतकमुमिसंघट्टेन सीतकं स्वनिष्वास-  
मनुकर्तुं सीतकमस्वति स्वमिन्धासानुकारिणम् । एतेन तथोक्तदृष्टीपुंसजातीयत्वमु-  
क्तम् । अरविम्बापामामोक्षमुपविप्रन्ती प्राणैव गृह्णन्ती ॥ ४३ ॥

वातायो मे कहरो के सद्योरो से सीतक, अत एव अपने निरुवास 'मुक्त हो नाश' का  
वचन करने वाले, कमलों को मगोहर हृत्पन्न सूते हुए 'दे दोनों बके' ॥ ४३ ॥

बने प्राग्भाष्येभ्यः प्रवृत्ते प्राप्ते प्राप्ते तेषामासीर्बाह्वप्रह्ननमित्याह—

प्राग्भाष्यात्मविच्छेदेषु यूपविच्छेदेषु यज्वमाम् ।

अमोघाः प्रतिगृह्णन्तावर्षानुपद्मादिप ॥ ४४ ॥

प्राग्भाष्येति । आत्मविच्छेदेषु स्वच्छेदेषु । यूपो नाम संस्कृताः पशुव्याप हा-  
विरोपा । यूपे एव विधानि येषां तेषु प्राग्भाष्यमोक्षाः सकृदा वज्रवां विधितेहवताया  
'वज्रा तु विधितेहवताम्' इत्यमरा । सुयजोवर्षेभ्य इति स्वनिष्प्रत्यया । आक्षिप  
जातीर्बाह्वान् । अर्वा पूजाविधिः । तद्वर्षं वज्रमर्षम् । 'पादाधोर्मां च' इति  
यज्वमाम् । 'पद् तु मिष्वर्षमर्षार्थे पादं पादाव कारिणि' इत्यमरा । अर्ष्वरपाशुप-  
द्मव्यक्तः । अर्ष्वस्वीकारानन्तरमित्यर्थः । प्रतिगृह्णन्ती स्वीकृन्ती । पदस्य पञ्चादनु-  
पद्मम् । पञ्चादर्थेऽभ्यधीमाह । 'अन्वगन्धमनुगेऽनुपद्मं इतिवमव्ययम्' इत्यमरा ॥

सर्व 'दावर्षे दिने हुये वज्र के लम्पों से विहित प्राग्भाष्ये में विधिपूर्वक वज्र करने  
वाले आक्षिप के अन्वर्ष 'कभी निम्नक न जाने वाले' आक्षिपों को अर्ष्व स्वीकार करने  
के अनन्तर ग्रहण करते हुए 'दे दोनों बके' ॥ ४४ ॥

मार्गे वज्रवृत्तानां नामानि गृह्णन्तीस्तयोर्गमनमित्याह—

द्विपद्मपीनमादाय धोपवृत्तानुपस्थितान् ।

आमघेयानि गृह्णन्ती यज्वमाम् मार्गशास्त्रिणाम् ॥ ४५ ॥

द्विपद्मपीनमिति । द्वास्तनयोदोहोमर्षं पूर्तं द्विपद्मपीनम् । 'तत्तु द्विपद्मपीनं यद्  
होमोदोहोमर्षं पूर्तम्' इत्यमरा । द्विपद्मपीनं संज्ञायाम् इति निपातः । तत्तयो  
पूर्तमादायोपरिधतामधोपवृत्तान् । 'धाव आधीरपद्धी रयाद्' इत्यमरा । वज्रवां  
मार्गशास्त्रिणां नामघेयानि गृह्णन्ती । गृह्णात्— इत्यादिना गृह्णन्तीर्द्विकर्मकरम् ।  
नुसक्तम् ॥ ४५ ॥

नाम के नाम वृत्त का मन्त्रन लेकर करिबन हुये धोप ( अहीरो के घास ) में रहने  
करने ) वृत्तों से वज्रनी रातों के वृत्तों के नामों को वृत्तने हुये 'दे दोनों बके' ॥ ४५ ॥

तथोगन्धतोमिप्राग्भाष्यमसोदिव धामाभ्युत्थिताह—

काऽप्यमिष्या तयोरासीद् यजता मुखयेपयो ।

दिमनिर्मुक्तयोदीग विद्यायन्मसारायि ॥ ४६ ॥

काऽपीति । यजमोर्गन्धतो मुखयेपयोरासीत्तयेप्यथोस्तयो मुखिणादिषी

योश्चित्राचन्द्रमसोरिव योगे सति काऽप्यनिर्वाच्याऽभिख्या शोभाऽऽसीत् । 'अभि-  
ख्या नामशोभयो' इत्यमरः । 'आतश्चोपसर्गे' इत्यणप्रत्ययः । चित्रा नक्षत्रविशेषः ।  
शिशिरापगमे चैव्या चित्रापूर्णचन्द्रमसोरिवेत्यर्थः ॥ ४६ ॥

जाते हुये लज्जाल वेष वाले उन दोनों ( सुदक्षिणा और दिलीप ) का तुपार से निर्मुक्त  
हुये चित्रा नक्षत्र और चन्द्रमा के समान योग होने पर अनिर्वचनीय शोभा हुई ॥ ४६ ॥

पत्न्यै मार्गेऽद्भुतवस्तुजातं दर्शयतो दिलीपस्य गमनमित्याह—

तत्तदभूमिपतिः पत्न्यै दर्शयन्प्रियदर्शन ।

अपि लङ्घितमध्वानं बुबुधे न बुधोपमः ॥

तत्तदिति । प्रिय दर्शन स्वकर्मक यस्यासौ प्रियदर्शन । योगदर्शनीय इत्यर्थः ।  
भूमिपतिः पत्न्यै तत्तदद्भुत वस्तु दर्शयन्लङ्घितमतिवाहितमप्यध्वानं न बुबुधे न  
ज्ञातवान् । बुधः सौम्य उपमोपमानं यस्येति विग्रहः । इदं विशेषणं तत्तदर्शयन्त्यु-  
पयोगितयैवास्य ज्ञातृत्वसूचनार्थम् ॥ ४७ ॥

देखने में सुन्दर, 'अत एव' चन्द्रपुत्र बुधके समान, राजा 'दिलीप' अद्भुत वस्तुओं  
को रानी 'सुदक्षिणा' को दिखलाते हुये, लावे हुये ( पीछे छोड़े हुये ) मार्ग को भी न  
ज्ञान सके ॥ ४७ ॥

सुदक्षिणादिलीपयोर्वसिष्ठाश्रमप्रापणमित्याह—

स दुष्प्रापयशा प्रापदाश्रमं श्रान्तवाहन ।

सायं संयमिनस्तस्य महर्षेर्महिषीसखः ॥ ४८ ॥

स इति । दुष्प्रापयशा दुष्प्रापमन्यदुर्लभ यशो यस्य स तथोक्तः । श्रान्तवाहनो  
दूरोपगमनात्कलान्तयुग्मः । महिष्या सखा महिषीसखः । 'राजाह सखिभ्यष्टच्'  
इति टच्प्रत्ययः । सहायान्तरनिरपेक्ष इति भावः । स राजा सायं सायकाले  
सयमिनो नियमवतस्तस्य महर्षेर्वसिष्ठस्याश्रमं प्रापत्प्रापः । पुपादित्वादह् ॥ ४८ ॥

'दूसरों के' दुर्लभ यश वाले, धके हुये हैं वाहन जिसके ऐसे पटरानी सुदक्षिणा के  
सहित वे राजा दिलीप, सायंकाल के समय सयम रखने वाले उन पूर्वोक्त कुलगुरु महर्षि  
वसिष्ठ के आश्रम में पहुँचे ॥ ४८ ॥

तमाश्रमं विशिनष्टि—

वनान्तरादुपावृत्तै समित्कुशफलाहरैः ।

पूर्यमाणमहश्याग्निप्रत्युद्यातैस्तपस्विभिः ॥ ४९ ॥

वनान्तरादिति । वनान्तरादन्यस्माद्द्वानादुपावृत्तै प्रत्यावृत्तै । समिधश्च कुशांश्च  
फलानि चाहर्तुं शीलं येषामिति समित्कुशफलाहरास्तै 'आदि ताच्छीह्ये' इति  
हरतेराहपूर्वाच्प्रत्ययः । अहश्यैर्दर्शनायोग्यैरग्निभिर्वैतानिकैः । प्रत्युद्याताः प्रत्युद्गता-  
स्तैः । तपस्विभिः पूर्यमाणम् । ( प्रोप्यागच्छतामाहिताग्नीनामभयः प्रत्युद्यान्ति )

इति श्रुतेः । यथाऽह—( कामं पितरं पुत्राः प्रीयितवन्तं प्रत्यावावन्ति । एवमेतं मत्तया प्रत्यावावन्ति सकलान्वाकनिवाहरन् इति ) ॥ ४९ ॥

दूरे अद्भुत से कोरे हुये समिया कुछ और एक के जाने वाले, दूरी से नहीं दिखाई पड़ते हुये अग्नि के द्वारा अपनाती किन्ने वये उपरिबनों से भरे हुये 'आमम में पहुँचे' ॥ ४९ ॥  
आममस्थपक्षिणां सद्यः सेधिततस्मृच्छकपानमित्याह—

आकीर्णमुषिपक्षीनामुदग्रहाररोधिभिः ।

अपत्यैरिव नीवारमागधेयोबितैर्मृगैः ॥ ५० ॥

आकीर्णमिति । नीवारानां माग एव मागधेयोऽस्माः । 'आमकपनामम्यो वेदा' इति वक्ष्यमुदग्रस्वामिपेधे वेदमत्पयः । तत्सोचितैः । अत एवोदग्रानां पर्यक्षा स्मृतां हाररोधिभिर्हाररोधैर्मृगैर्वापिपक्षीनामपत्यैरिव । आकीर्णं व्याप्तम् ॥ ५० ॥

दुग्धान् के माग ओ पाने वाले तथा पर्यक्षा 'दूरी' के द्वार को रोधने वाले, अपिपक्षियों को सन्ताप्ये ओ तरह मृगों से भरे हुये आमम में पहुँचे ॥ ५० ॥

आममस्थपक्षिणां सद्यः सेधिततस्मृच्छकपानमित्याह—

सेकान्ते मुनिकम्पामिस्तत्तज्जोन्मिश्रतुषुसकम् ।

विन्वासाय विद्वज्जानामाजवाक्याम्पुपाधिनाम् ॥ ५१ ॥

सेकान्त इति । सेकान्ते वृक्षमूच्छेचवावसाये मुनिकम्पामिः सेकत्रीभिः । आक-  
वाकेषु अकावापमृजेषु यद्वन्तु उत्पाधिनाम् । 'स्यावाकवाक्यावाक्यावापा' इत्य-  
मरः । विद्वज्जानां पक्षिणां विन्वासाय विद्वज्जानाव । 'समी विद्वज्जानासी' इत्यमरः ।  
तत्त्वमे संकलन उचिता वृक्षम इत्यवृक्षा परिमस्तम् । इत्यार्थे कम्पयः ॥ ५१ ॥

वृक्षों ओ वनपरियों का एक पीछे का स्वभाव है विनवा ऐसे पक्षियों के विन्वास के किन्ने ( नर्वाह—ओह मच मही है ऐसा विन्वास विन्वाये के किन्ने ) मुनिकम्पानों के द्वारा सींचे जाने के उपरान्त उत्पन्न हो ओहें मचे हैं ओहें वृक्ष जिसमें 'ऐसे जानम में पहुँचे' ॥ ५१ ॥

तत्त्वानां मृगानां रोमन्ववर्चनमित्याह—

आतपात्पयसंसंहितानीवापान्मु निपादिभिः ।

मृगैर्घर्षितरामन्थमुदजाह्वनमूमिषु ॥ ५२ ॥

आतपैति । आतपस्थानवयेऽस्मान्ते सति संविता राधीकृता नीवारान्मृगान्वाधि-  
पाप्नु ताप्नु । 'नीवारान्मृगान्वाधि' इत्यमरः । उदग्रानां पर्यक्षाकावाम्पुपाधिनाम्  
अन्तरमागेषु 'पर्यक्षाकोदग्रोऽधिपायम्' इति । 'अह्वनं अन्तराशिरे' इति आमरः । निपा-  
दिभिरुपविष्टैर्मृगैर्घर्षितो निपादितो रोमन्ववर्चनवर्चनपरिमन्त्राजने तम् ॥ ५२ ॥

बाम के न रहने पर शब्दों किन्ने मचे हैं नीवार नामक जानम जिसमें, ऐसी पर्यक्षाका के जानम को मृमि में बैठने वाले हरिण जहाँ पाशुर कर रहे हैं ऐसे जानम में पहुँचे ॥

तत्रत्यो हुतहवनीयद्रव्यगन्धयुक्तो धूम इत्याह—

अभ्युत्थिताग्निपिशुनैरतिथीनाश्रमोन्मुखान् ।

पुनानं पवनोद्धूतैर्धूमैराहुतिगन्धिभिः ॥ ५३ ॥

अभ्युत्थितेति । अभ्युत्थिता प्रज्वलिता । होमयोग्या इत्यर्थः । (समिद्धेऽ-  
ग्नावाहुतीर्जुहोति) इति वचनात् । तेषामग्नीनां पिशुनैः सूचकैः पवनोद्धूतैः ।  
आहुतिगन्धो येषामस्तीत्याहुतिगन्धिनस्तैर्धूमैराश्रमोन्मुखानतिथीन् पुनानं पवित्री-  
कुर्वाणम् ॥ कुलकम् ॥ ५३ ॥

प्रज्वलित अग्नि को सूचित्र करने वाली 'तथा' वायु से फैले हुये, आहुति के गन्ध  
से मिले हुये धूँ से आश्रम की ओर आने के लिये उन्मुख अनितियों को पवित्र करने वाले  
'आश्रम में पहुँचे' ॥ ५३ ॥

आश्रमप्राप्यनन्तर रथादवतरणमिष्याह—

अथ यन्तारमादिश्य धुर्यान्विश्रामयेति सः ।

तामवारोहयत्पत्नीं रथादवततार च ॥ ५४ ॥

अथेति । अथाश्रमप्राप्यनन्तरं स राजा यन्तारसारथिम् । धुरं वहन्तीति धुर्यां  
युग्या । 'धुरो यद्दकौ' इति यत्प्रत्ययः । 'पूर्वहे धुर्यधौरेयधुरीणा सधुरन्धरा' इत्य-  
मर । धुर्यान् रथाश्चान्विश्रामय विनीतश्रमान्कुर्वित्यादिरयाज्ञाप्य तां पत्नीं रथा-  
दवारोहयदवतारितवान्स्वयं चावततार 'विश्रामय' इति ह्रस्वपाठे 'जनीजूप्-' इति  
मिश्रं 'मितां ह्रस्व' इति ह्रस्वः । दीर्घपाठे 'मिता ह्रस्व' इति सूत्रे 'वा चित्तविरागे'  
इत्यतो 'वा' इत्यनुवर्त्य व्यवस्थितविभाषाऽऽश्रयणाद्भ्रस्वाभाव इति वृत्तिकारः ॥

उसके बाद वह 'राजा दिलीप' सारथि को 'घोड़ों को विश्राम कराओ' यह आज्ञा  
देकर उस 'अपनी' की 'सुदक्षिणा' को रथ से उतारे और स्वयं भी उतरे ॥ ५४ ॥

मुनयो दिलीपार्हणां चक्रुरित्याह—

तस्मै सभ्याः सभार्याय गोप्त्रे गुप्ततमेन्द्रियाः ।

अर्हणामर्हते चक्रुर्मुनयो नयचक्षुषे ॥ ५५ ॥

तस्मा इति । सभाया साधवः सभ्या । 'सभाया य' इति यत्प्रत्ययः । गुप्ततमे-  
न्द्रिया अत्यन्तनियमितेन्द्रिया मुनयः सभार्याय गोप्त्रे रक्षकाय । नयः शास्त्रमेव  
चक्षुस्तत्त्वावेदकः प्रमाणं यस्य तस्मै नयचक्षुषे । अत एवार्हते प्रशस्ताय । पूज्याये  
त्यर्थः । 'अर्ह' प्रशस्त्याम् इति शतृप्रत्ययः । तस्मै राज्ञेऽर्हणा पूजां चक्रुः । 'पूजा  
नमस्याऽपचिति सपर्यार्चाऽऽर्हणा समा' इत्यमरः ॥ ५५ ॥

सभ्य जितेन्द्रिय मुनियों ने, रानी के सहित, रक्षा करने वाले, नीतिशास्त्ररूपी नेत्र  
वाले 'अत एव' पूज्य वन राजा दिलीप की पूजा की ॥ ५५ ॥

सायङ्कालीनक्रियान्तेऽन्यतीसद्वितम्ब गुरोर्द्वर्तनमित्याह—

विधेः सायम्भनस्यान्त स ददर्श तपानिधिम् ।

अन्यासितमरुन्धत्या स्यादयं द्रविमुजम् ॥ ५६ ॥

विधेरिति । स राजा सायम्भनस्य सायम्भनस्य । 'सार्धविरम्- ह्यादिना  
इत्यप्रत्ययः । विधेर्यपहोमाद्यनुष्ठानस्यान्तेऽवस्थानेऽन्यस्यान्वासातितं पश्चादुपवस्य  
भोपसेवितम् । कर्मणि क्त । उपसर्गपसारसकर्मकरणम् 'अन्यारमेनाम् इत्यादि  
रूपपक्षे । तपोनिधिं वशिष्ठम् । स्वाहया स्वाहादेव्या । अथाग्राधी स्वाहा च  
द्रुवमुनिमया इत्यमरः । अन्यासितं द्रविर्मुजमिव ददर्श । ( समित्पुण्यकुन्ताम्भम्  
सुदृष्टावतपानिकाः । अपं होमं च कर्माणि नामिवापी द्वयो भवेत् ॥ ) इत्यनुष्ठान-  
नस्य मध्येऽभिवादनविधेर्वाशिधेरन्ते ददर्शेत्पुनश्च । अन्यासनं चात्र पतिमताकर्म-  
त्वबोध्यं न तु कर्माह्वयेन । विधेरन्त इति कर्मणा समाप्यमिवाभावात् ॥ ५६ ॥

इस 'राजा दिगीप' ने सायङ्कालीन अनुष्ठान के समाप्त होने पर 'अरुन्धती' से सेवन  
तपोनिधि 'वशिष्ठ' को स्वाहा देयो से सेवन करिष्ये की प्रति ईदृश ॥ ५६ ॥

सुदृष्टिजादिद्वीपयोः सपानीकस्य गुरोः पादाभिवादनमित्याह—

तथाजगृहतुः पादान् राजा दृष्टी च मागधी ।

तौ गुरुर्गुरुपरमी च प्रीत्या प्रतिनमन्तुः ॥ ५७ ॥

तद्योरिति । मागधी मगधराजपुत्री रानी सुदृष्टिजा राजा च तद्योरन्यती-  
वशिष्ठयोः पादाजगृहतुः । 'पादः पदवस्त्रिभरणोऽक्षिपाय इत्यमरः । पादप्रक्षम-  
मिवावचम् । गुरुपत्नी गुरुस्य कर्ता तौ सा च स च तौ सुदृष्टिजादिद्वीपौ कर्ममूतौ ।  
प्रीत्या हर्षेण प्रतिनमन्तुः । आशीर्वादादिभिः संभाषयाजगृहतरिचर्यः ॥ ५७ ॥

मगध देश के राजा की कन्या रानी 'सुदृष्टिजा' और राजा 'दिगीप' ने उन दोनों  
'अरुन्धती' और 'वशिष्ठ' के चरणों को पकड़ा 'प्रणाम' किया तथा दूर 'वशिष्ठ' और  
गुरुपत्नी 'अरुन्धती' ने प्रेम से उन दोनों सुदृष्टिजा और दिगीप की आशुचरणों पर किया ॥

वशिष्ठो दिगीपं राज्यविपयककुम्भार्कं दृष्टवानित्याह—

तमातिथ्यक्रियाद्यान्तरथसोमपरिभ्रमम् ।

पमञ्च कुशल राज्ये राज्याश्रममुनि मुनिः ॥ ५८ ॥

तमिति । मुनिः । अतिथ्यर्कमातिथ्यम् । अतिथ्यर्कः इति व्याख्येयः । अति-  
थ्यस्य क्रिया तथा आन्तो रथकोमेघ या परिजमाः स परथ स र्च तथोक्तम् । राज्य  
मेवाश्रमस्तत्र मुनिं मुनितुल्यमित्यर्थः । तं दिगीपं राज्ये कुम्भार्कं पमञ्च दृष्टतेस्तु  
द्विकर्मकत्वमित्युक्तम् । अत्रापि राज्यश्रमः पुरोहितादिभ्यस्तर्गतत्वादायकर्मवचनः ।  
तथाऽन्यत्र सप्ताहवचनः । 'उपपन्नं ननु विषं सप्तस्वप्नेषु' इत्युपरविरोधात् । तथाऽ  
यं मनु—( स्वाभ्यमात्मपुरं राई कोकवन्दी तथा गृहम् । सप्तैतानि समस्तानि

लोकेऽस्मिन् राज्यमुच्यते ।) इति । तत्र ( ब्राह्मणं कुशलं पृच्छेत्तत्रवन्धुमनामयम् । वैश्यं क्षेमं समागम्य शूद्रमारोग्यमेव च ) इति मनुवचने सत्यपि तस्य राज्ञो महानुभावत्वाद् ब्राह्मणोचितं कुशलप्रश्न एव कृत इत्यनुमर्शयम् । अत एवोक्त-‘राज्याधममुनिम्’ इति ॥ ५८ ॥

मुनि ‘वशिष्ठ’ ने अनिधिसत्कार के द्वारा रथ के हिलने से उत्पन्न हुई, थकावट जिसकी दूर हो गयी है, ऐसे राज्यरूपी आश्रम के विषय में मुनितुल्य उन ‘राजा दिलीप’ से राज्य ‘स्वामी-मन्त्री-नगर-देश-खजाना-दण्ड-मित्र-’ विषयक कुशल पूछा ॥ ५८ ॥

वशिष्ठस्य कुशलप्रश्नानन्तरं दिलीपस्योत्तरदानोपक्रम —

अथार्थर्वनिवेस्तस्य विजितारिपुरः पुरः ।

अर्थ्यामर्थपतिर्वाचमाददे वदतां वरः ॥ ५९ ॥

अथेति ॥ अथ प्रश्नानन्तरं विजितारिपुरो विजितशत्रुनगरो वदतां वक्तॄणां वरं श्रेष्ठं ‘यतश्च निर्धारणम्’ इति पृष्टी । अर्थपति राजाऽथर्वणोऽथर्ववेदस्य निधेस्तस्य मुने. पुरोऽग्रेऽर्थ्यामर्थादनपेताम् । ‘धर्मपथ्यर्थन्यायादनपेते’ इति यत्प्रत्ययः । वाचमाददे । वक्तुमुपक्रान्तवानित्यर्थः । अथर्वनिधेरित्यनेन पुरोहितकृत्याभिज्ञत्वात्तत्कर्मनिर्वाहकत्वं मुनेरस्तीति सूच्यते । यथाऽऽह कामन्दक ( त्रय्या च दण्डनीत्यां च कुशलं स्यात्पुरोहितः । अथर्वविहितं कुर्यान्नित्यं शान्तिकर्षादिकम् ॥ ) इति ॥ ५९ ॥

‘गुरु वशिष्ठ के कुशल प्रश्न पूछ चुकने के’ बाद, वैरियों के नगरों को जीतने वाले, बोलने वालों में श्रेष्ठ, विभव के पति ‘राजा दिलीप’ ने, अथर्ववेद के राजाना ‘अथर्ववेद के विद्वान्’ उन ‘वशिष्ठ ऋषि’ के आगे प्रयोजन से युक्त बात छेड़ी ॥ ४९ ॥

यस्य त्व गुरुरसि तस्य राज्ये सर्वत्र कुशलमस्येवेत्याह—

उपपन्नं ननु शिवं सप्तस्वङ्गेषु यस्य मे ।

दैवीनां मानुषीणां च प्रतिहर्ता त्वमापदाम् ॥ ६० ॥

उपपन्नमिति । हे गुरो ! सप्तस्वङ्गेषु स्वाभ्यमास्यादिषु । ‘स्वाभ्यमास्यसुहृत्कोश-राष्ट्रदुर्गवलानि च । सप्ताङ्गानि’ इत्यमरः । शिवं कुशलमुपपन्नं ननु युक्तमेव । नन्ववधारणे । ‘प्रश्नावधारणानुज्ञाऽनुनयामन्त्रणे ननु’ इत्यमरः । कथमित्यत्राह—यस्य मे दैवीनां देवेभ्य आगतानां दुर्भिक्षादीनाम् मानुषीणां मनुष्येभ्य आगतानां चौरभयादीनाम् । उभयत्रापि । ‘तत् आगतं’ इत्यण् । ‘दिदृद्वाणञ्-’ इत्यादिना ङीप् । आपदा व्यसनानां त्वप्रतिहर्ता वारयिताऽसि । अत्राह कामन्दकः ( हुताशनो जलं व्याधिर्दुर्भिक्षं मरणं तथा । इति पञ्चविधं दैवं मानुषं व्यसनं तत् । आयुक्त-केभ्यश्चैरेभ्य परेभ्यो राजवस्त्रभात् । पृथिवीपतिलोभाच्च नराणां पञ्चधा मतम् ॥ ) इति ॥ ६० ॥

‘हे गुरो’ ! मेरे ‘राज्य’ के सात अङ्गों ‘स्वामी, मन्त्री, मित्र, कोश, राष्ट्र, किला,



ऐसा मैं कुछक क्यों न हो क्योंकि जिसके देशी अग्नि जल रीम सुमिथ मरु  
हम बाँच' और मानुषी द्रव्य, और सधु राजा का कृपापात्र राजा का टीम हम पाँच  
आपत्तियों के नाश करने वाले आप 'एवं विद्यमान है ॥ ६१ ॥

तत्र मानुषाप्यपत्तीकारमाह—

तस्य मन्त्रकृतो मन्त्रैर्नृरात्रप्रशमितारिभिः ।

प्रत्यादिरयस्त इय मे दृष्टव्यमिदं शराः ॥ ६२ ॥

तथेति । नृरात्रपरोक्ष एव प्रशमितारिभिः । मन्त्राङ्कृतवाग्मन्त्रप्रकृतम् । 'सुकर्म-  
पापमन्त्रपुण्येषु कृमा' इति छिप् । तस्य मन्त्रकृतो मन्त्राणां सधु प्रयोक्तृत्वा तत्र  
मन्त्रोऽवस्थितिः । दृष्टं प्रत्यक्षं पञ्चदशं यन्मार्गं विष्णुन्तीति दृष्टव्यमिदं मे शराः  
प्रत्यादिरयस्त इव । यद्यमेव समर्थाः । क्रिमेभिः विह्वलेपकैरिति निराक्रियस्त इवायु-  
ष्येष्टा । 'प्रधावेष्टो निराकृतिः' इत्यमरः । त्वन्मन्त्रसामन्वयेन वा पौर्णवं पञ्चतीति  
माया ॥ ६३ ॥

मन्त्र के प्रयोग करनेवाले आप के जो दूर हो से ( परोक्ष हो में ) शेरियों के नाश  
करनेवाले मन्त्र हैं वे प्रत्यक्ष हो में केवल वाले शेर बाणों को नष्ट से करते हैं ॥ ६२ ॥

समप्रति वैचिक्रप्यपत्तीकारमाह—

द्विष्टव्यमिति होतस्तथा विधिबध्निषु ।

वृष्टिर्मवति सस्यान्तमवमद्विहाविव्याम् ॥ ६४ ॥

इतिरिति । हे होतः । त्वया विधिबध्निष्वपवर्जितं प्रक्षिप्तं द्विराग्न्यादिकं कर्तुं ।  
अथग्रहो वर्पमतिवन्धः । 'अथे ग्रहो वर्पमतिवन्धे' इत्यप्स्तथा । 'वृष्टिर्बध्निषु तद्वि-  
धत्तेष्वप्रादाह्वयिणी समी' इत्यमरः । तेष विधोपिना विद्युप्यतां सस्यानां वृष्टिर्न  
वति वृष्टिक्रमेण सस्यान्मुपजीवयतीति भावः । अथ मनुः ( अग्नी प्रास्तावृष्टिः  
सम्यगादिवध्नुपतिष्ठते । आदित्याभ्यामते वृष्टिर्द्वेरेण्य ततः प्रजाः । ) इति ॥ ६५ ॥

हे इवन करने वाले । 'पुरी ?' आपसे धिनिपूर्वक बलि में हो हुई आहुति अद्याक से  
सूखते हुये बाणों 'वृष्टावधिषो के पञ्चों' के सम्बन्ध में वृष्टिक्रम होती ॥ ६४ ॥

स्वप्रधानां सर्वतो आत्मेन धुक्तित्वे त्वद्व्यमद्विहाविव्याम्—

पुष्टपायुपञ्जीविभ्यां निरातङ्गा निरीतयः ।

यन्मदीयाः प्रजाम्तस्य हेतुस्तत्त्वद्व्यमद्विहाविव्याम् ॥ ६६ ॥

पुष्टपायुपेति । आहुतीभित्तकाः पुष्टपायुः पुष्टपायुषः । वर्पमतिवन्धः ।  
( सत्तायुर्वै पुष्टपा ) इति कुतः । 'अन्तरिक्षतुरमुच्यते' इत्यादिपञ्चैवाप्यस्य  
पान्तो निपातः । मदीयाः प्रजाः पुष्टपायुर्व जीवन्तीति पुष्टपायुपञ्जीविभ्याः । निरा-  
तङ्गा निर्मन्त्राः । 'अतङ्गो मयमाद्यङ्ग' इति वृत्तायुषः । निरीतयोऽतिदृष्टवाहिरदिताः  
इति अतस्य सर्वस्य त्वद्व्यमद्विहाविव्याम् तत्र अताम्बवन्धसंपत्तिरेव हेतुः । 'अताम्बवन्ध

सपत्तिरित्येतद्ब्रह्मवर्चसम्' इति हृत्पायुधः । ब्रह्मणो वर्चो ब्रह्मवर्चसम् । 'ब्रह्महस्ति-  
भ्यां वर्चसः' इत्यप्रत्ययः । ( अतिवृष्टिरनावृष्टिर्मूपिका शलभाः शुकाः । अत्यास-  
न्नाश्च राजान पठेता ईतयः स्मृता ॥ ) इति कामन्दक ॥ ६३ ॥

जो मेरी प्रजायें, पुरुष की आयु 'सौ वर्ष' तक जीने वाली, निर्भय और ईति अनिवर्पा,  
सूखा, चूहा, टीटी, सुआ पक्षी' राजाओं की चढ़ाई में बची हुई हैं । वह इन सर्वों का  
कारण आपका ब्रह्मतेज 'सदाचार वेदवेदाङ्गाध्ययन से उत्पन्न पुण्य' ही है ॥

भवादृशेन मदगुरुणा सर्वं मे सुखं भवतीत्याह—

त्वयैव चिन्त्यमानस्य गुरुणा ब्रह्मयोनिना ।

सानुबन्धाः कथं न स्युः संपदो मे निरापदः ॥ ६४ ॥

त्वयैवमिति । ब्रह्मा योनिः कारणं यस्य तेन ब्रह्मपुत्रेण गुरुणा त्वयैवमुक्तप्रकारेण  
चिन्त्यमानस्यानुध्यायमानस्य । अत एव निरापदो व्यसनहीनस्य मे सपदः सानु-  
स्यूतयोऽविच्छिन्ना इति यावत् । कथं न स्युः । स्युरित्यर्थः ॥ ६४ ॥

'जब' ब्रह्मपुत्र आप 'मेरे' गुरु हैं और सर्वदा' उक्त प्रकार से 'मेरे कल्याण की' चिन्ता  
किया करते हैं । 'तो फिर' आपत्ति से रहित मेरी सम्पत्ति 'निरन्तर' अविच्छिन्न 'स्थिर'  
क्यों न रहे ॥ ६४ ॥

संप्रत्यागमनप्रयोजनमाह—

किन्तु बध्वां तवैतस्यामदृष्टसदृशप्रजम् ।

न मामवति सद्भीषा रत्नसूरपि मेदिनी ॥ ६५ ॥

किन्त्विति । किन्तु तवैतस्यां बध्वा स्नुपायाम् । 'बधूर्जाया स्नुपा चैव' इत्य-  
मरः । अदृष्टा सदृश्यनुरूपा प्रजा येन त मा सद्भीषाऽपि । रत्नानि स्यूत इति रत्न-  
सूरपि । 'सत्सूद्विप-' इत्यादिना क्विप् । मेदिनी नावति न प्रीणाति । अवधातृ रक्ष-  
णगतिप्रीत्याद्यर्थेषूपदेशादत्र प्रीणने । रत्नसूरपीत्यनेन सर्वरत्नेभ्यः पुत्ररत्नमेव श्ला-  
घ्यमिति सूचितम् ॥ ६५ ॥

परन्तु आपकी इस शिष्य-बधू में 'अपने' सदृश सन्तान होती हुई न देखने वाले मुझ-  
को भीषों के सहित रत्नों को पैदा करने वाली पृथ्वी भी नहीं मानी ॥ ६५ ॥

पुत्राभावेन पितृणां दुःखेन पिण्डग्रहणं भविष्यतीत्याह—

नूनं मत्त परं वंश्याः पिण्डविच्छेददर्शिनः ।

न प्रकामभुजः श्राद्धे स्वधासंग्रहतत्पराः ॥ ६६ ॥

नूनमिति । मत्त परं मदनन्तरम् 'पञ्चम्यास्तसिल' पिण्डविच्छेददर्शिनः पिण्ड-  
दानविच्छेदसुग्रेष्ठमाणाः । वशोद्धवावश्याः पितरः । स्वधेत्यव्ययं पितृभोज्ये वर्तते ।  
तस्याः सग्रहे तत्परा आमृताः सन्तः श्राद्धे 'पितृदानं निवाप' स्याच्छ्राद्धतत्कर्म  
शास्त्रतः' इत्यमरः । प्रकामभुजः पर्याप्तभोजिनो न भवन्ति । नूनं सत्यम् । 'काम

प्रकाशं पञ्चाक्षरम् इत्यमरा । निर्घना ह्यापन्नं किमपि संगृह्यतीति भावः ॥६४॥

मेरे बाद पिन्ध का कोप देखिये बाके, तथा बहूनी करने में कोपुने मेरे पूर्वज भाव  
में हृदयपूर्वक भोजन करने के लिये भिन्न करता हूँ नहीं कर रही हूँ ॥ ६१ ॥

पुत्राभावेन पितृणां दुःखेन बन्धमहर्षेण मविध्यतीत्याह—

मत्परं पुत्रोऽहं मत्ता नूनमावर्जितं मया ।

पयः पूर्वं स्वनिःश्वसैः कबोष्णमुपमुञ्चते ॥ ६३ ॥

मत्परमिति । मत्परं महत्तरम् । 'अभ्यारावितरते विक्रमस्याभ्युत्तरपदावादि  
पुत्रे इत्यनेन पद्यमी । दुर्कमे दुर्कम्यं मत्ता मयाऽवर्जितं महत्तं पयः पूर्वं  
पितृभिः स्वनिःश्वसैर्बुधैः कबोष्णमीपमुष्णं पया लघोपमुञ्चते । नममिति वितर्कः ।  
कबोष्णमिति दुःखमस्व कवादेशः । 'कबोष्णं कबोष्णं सन्धोष्णं कबुष्णं सिद्धं तद्वति'  
इत्यमरा ॥ ६० ॥

मेरे बाद 'जब को दुर्कम समझ कर वस समय' मुझसे दिये जब को 'मेरा' पूर्वज  
'पितृणां' अपने 'दुःखमन्त्र' निश्वासों से बोका गरम 'पीते ही पीते पीते हैं । 'पेठा में'  
जमुमान 'करता हूँ ॥ ६० ॥

विप्लवानुद्वृत्तस्य विधीयस्व ह्युक्तप्रकाशमितिआह—

सोऽहमिज्याविशुद्धसत्मा प्रकाशोपनिमीक्षिता ।

प्रकाशलोप्रकाशश्च लोकलोक इवाचला ॥ ६८ ॥

म इति । इज्या वायुः 'अजबकोमये क्यप् इति क्यप्प्रत्ययः । तथा विशुद्धात्मा  
विशुद्धचेतनाः प्रकाशवैद्य सन्तत्यमावय निमीक्षिता । कृतनिमीक्षणाः सोऽहम् ।  
कोवयत् इति लोकः । न कोवयत् इत्यलोकः लोकलोकाकोकलात् स्त इति । लोकलो-  
सावलोकावेति वा, लोकलोकाकोकलाकोऽवय इव । 'लोकाकोकलाकोकला' इत्य-  
मरा । प्रकाशत् इति प्रकाशश्च द्वैर्वाच्यमिवाच्यत् । न प्रकाशत् इत्यप्रकाशस्य पितृ-  
विमोचनात् । पञ्चाक्षरः अस्मीति शेषः । लोकलोकोऽप्यन्तमूर्त्यसंपर्काद्विस्तृतो  
व्यापका न प्रकाशलोप्रकाशश्चेति अन्तर्गम्यम् ॥ ६८ ॥

पय करने के कारण तुझ विप्लवा तथा पुन के न विचार पड़ने ( न होने ) से  
जो मैं देखे दुने 'अन्ता जैसा मैं दिखी लोकाकोक नरित को मांति मन्त्रवात् 'शो-  
मान्' और मन्त्रवात् 'मन्त्र' हो रहा हूँ ॥ ६८ ॥

अमु तपोदानादिसम्पन्नस्य किमप्यतीत्यत्राह—

लोकान्तरगुण पुण्य तपोदानसमुद्भवम् ।

सन्ततिः शुद्धयस्या हि परवेदं च धर्मये ॥ ६९ ॥

लोकान्तरेति । समुद्भवत्परमादिति समुद्भवकारणम् । तपोदाने समुद्भवो बन्ध  
तत्तपोदानसमुद्भव बन्धुर्बन्धु तल्लोकान्तरे वरलोकं पुण्यं सुखकरम् । दृश्ययोग्या

शुद्धवंश्या सन्ततिर्हि परत्र परलोके, इह च लोके शर्मणे सुखाय । 'शर्मशात-  
सुखानि च' इत्यमरः । भवतीति शेषः ॥ ६९ ॥

तप और दान है कारण जिसका ऐसा जो पुण्य है वह परलोक में सुख देनेवाला होता है । परन्तु पवित्र वंश में उत्पन्न हुई सन्तति इस लोक और परलोक दोनों ही में सुख के लिये होती है ॥ ६९ ॥

समर्थोऽपि कथमनपत्यं मां ज्ञात्वा भवान्न दूयत इत्याह—

तया हीनं विधातर्मां कथं ? पश्यन्न दूयसे ।

सिक्तं स्वयमिव स्नेहाद् बन्ध्यमाश्रमवृक्षकम् ॥ ७० ॥

तयेति । हे विधात ! 'स्रष्ट' , तथा सन्तत्या हीनमनपत्य माम् । स्नेहात्प्रेम्णा स्वयमेव सिक्तं जलसेकेन वर्धितं बन्ध्यमफलम् । 'बन्ध्योऽफलोऽवकेशी च' इत्यमरः । आश्रमस्य वृक्षकं वृक्षपोतमिव । पश्यन्कथं न दूयसे न परितप्यसे ? विधातरीत्यनेन समर्थोऽप्युपेक्षस इति गम्यते ॥ ७० ॥

हे विधाता । सन्तान से हीन मुझे स्नेह से स्वयं सींचे हुये फल से रहित आश्रम के छोटे वृक्ष की भाँति देखते हुये किस कारण आप दुःखी नहीं होते हो ॥ ७० ॥

दिलीपस्य स्वकीयापुत्रत्वस्यासद्यपीडत्वकथनमित्याह—

असद्यपीडं भगवन्नृणमन्त्यमवेहि मे ।

अरुन्तुदमिवालानमनिर्वाणस्य दन्तिनः ॥ ७१ ॥

असद्यपीडमिति । हे भगवन् ! मे ममान्यमृण पतृकमृणम् । अनिर्वाणस्य मज्जनरहितस्य । 'निर्वाणं निर्वृतौ मोक्षे विनाशे गजमज्जने' इति यादव । दन्तिनो गजस्य । अरुर्मर्म तुदतीत्यरुन्तुद मर्मस्पृक् । 'मृणोऽस्त्रियामीर्ममरु' इति, 'अरुन्तुदन्तु मर्मस्पृक्' इति चामरः । 'विध्वरूपोस्तुद' इति खरप्रत्ययः । 'अरुद्विषद्-' इत्यादिना सुमागमः । आलानं बन्धनस्तम्भमिव । 'आलानं बन्धनस्तम्भे' इत्यमरः । असद्यः सोढुमशक्या पीडा दुःखं यस्मिन्स्तदवेहि । दुःखं सहदुःखजनकं विद्धीत्यर्थः । 'निर्वाणो-  
स्थानशयनानि त्रीणि गजकर्माणि' इति पालकाप्ये । ( ऋणं देवस्य यागेन ऋषीणां दानकर्मणा । सन्तत्या पितृलोकानां शोधयित्वा परिव्रजेत् ) ॥ ७१ ॥

हे भगवन् ! मेरे अन्तिम 'पैतृक' ऋण को विना स्नान किये हुए हाथों के मर्म को दुःख देने वाले बंधन के खम्भे की तरह असद्यः पीडा 'पहुँचाने' वाला 'आप' समझें ॥ ७१ ॥

दिलीपस्य पुत्रप्राप्तौ प्रयत्नं कर्तुं वशिष्ठं प्रति कथनमित्याह—

तस्मान्मुच्ये यथा तात ! संविधातुं तथाऽर्हसि ।

इक्ष्वाकूणां दुरापेऽर्थे त्वदधीना हि सिद्ध्य ॥ ७२ ॥

तस्मादिति । हे तात ! तस्मात्पैतृकादृणाद्यथा मुच्ये मुक्तो भवामि । कर्मणि लट् । तथा संविधातुं कर्तुमर्हसि । हि यस्मात्कारणादिष्ववाकूणामिष्वक्ववंश्यानाम् ।

तत्रान्तर्वाद्गुण्यो लुक् । तुराये गुण्याप्येर्ध्वे । सिद्धयस्तवद्धीमास्तवदावता ।  
इत्याकृतामिति बोधे षष्ठी । 'न कोकाम्यमिहाकथयतुनाम्' इत्यनेन कृष्णागे षष्ठी-  
निषेधात् ॥ ७१ ॥

हे दात ! इस 'रेरुक्' ऋण से जिस प्रकार मैं तुझसे पाके उस प्रकार 'मते'  
करने के लिये आप योग्य हो । क्योंकि इक्ष्वाकुजन्म के रामाजी के कठिन स्वर्ग के विषय  
में सिद्धि का आप के ज्ञान ही ॥ ७१ ॥

विहीनपमर्शं भुत्वा वसिष्ठस्य तनुपरि विचार इत्याह—

इति विद्यापितो राजा ध्यानस्तिमितलोचनः ।

सज्जमात्रसूचिस्तस्थौ सुसमीन इव हृत् ॥ ७२ ॥

इतीति । इति राजा विद्यापित आधिप्यधिनि स्तिमिते लोचने यस्य स ध्यान-  
स्तिमितलोचनो निजकाका सन् सज्जमात्रं सुसमीनो इव इव तस्थौ ॥ ७२ ॥

इस प्रकार राजा 'विहीन' से निषेधन किया गये 'वसिष्ठ' अधि पमान से  
बोने लगे हैं हुए सज्ज मात्र, सोई मन्त्रिणी हैं जिसमें ऐसे जगत् जकास्य की मूर्ति  
तिर हुए ॥ ७२ ॥

वसिष्ठस्य ध्यानचक्रा गुणप्रतिबन्धकारणं विज्ञातं विहीनमिति कथयन्तित्याह—

सौऽपश्यत्प्रपिषाणेन संततोः स्तम्भकारणम् ।

भावितास्मा भुवो भर्तुर्यैर्न मत्प्रबोधयत् ॥ ७३ ॥

स इति । स मुनिः प्रपिषाणेन चित्तैक्यप्रयेन मप्रवितास्मा तुरान्तःकरणं भुवो  
भर्तुर्गुणस्य संस्तते । स्तम्भकारणं संज्ञाप्रतिबन्धकारणमपरयत् । अधान्तरमेर्न  
गुणं मत्प्रबोधयत् । स्वहृत् प्रापितवानित्यर्थः । एनमिति 'यतिबुद्धिप्रत्ययसाधार्य'  
इत्यादिवाच्यकर्तुः कर्मात्मम् ॥ ७३ ॥

चित्त की एकता प्राप्त हुए तुरान्त-करण वाले उन 'वसिष्ठ' अधि' ने 'हृत्' के पावन  
करने वाले राजा 'विहीन' की सन्तति के प्रतिबन्ध 'व बोध' के कारण की देखा वसिष्ठ  
जन्म इन 'राजा विहीन' की भी वतकावा ॥ ७३ ॥

वसिष्ठस्य राजा संज्ञाप्रतिबन्धकारणकथयन्तित्याह—

पुरा शक्रमुपस्थाय तबोर्वीं प्रति वास्यता ।

असौत्कृष्टतत्त्वप्रयामाभिता सुरमिः पथि ॥ ७४ ॥

पुरेति । पुरा पूर्वं अश्रमिन्नुपस्थाप्य संसृज्योर्वीं प्रति भुवभुविरय वास्यतो  
ममिष्यतस्तत् पथि वार्धनि कक्षपतद्व्यावामाभिता सुरमिः कामधेनुरासीत् । तत्र  
स्थितेत्यर्थः ॥ ७४ ॥

पहले 'विहीन' समय में शक्र का दरबार करने हृत् की नीर कीटते हुए तुम्हारे मार्ग  
में अश्रमिन्नु की व्याव का विषय करनी हुई कामधेनु भी ॥ ७४ ॥

कामधेनो. प्रदक्षिणाऽकरणे हेतु प्रदर्शयन्नाह—

धर्मलोपभयाद्राक्षीमृतुस्नातामिमां स्मरन् ।

प्रदक्षिणक्रियाऽर्हायां तस्यां त्वं साधु नाचरः ॥ ७६ ॥

धर्मेति । ऋतु पुष्पं रज इति यावत् । 'ऋतु स्त्रीकृसुमेऽपि च' इत्यमरः । ऋतुना निमित्तेन स्नातामिमां राज्ञीं सुदक्षिणां धर्मस्यैव भिगमनलक्षणस्य लोपाद्भ्रंश-  
न्नय तस्मात्स्मरन्ध्यायन् । ( मृद गा दैवत विप्रं घृत मधु चतुष्पथम् । प्रदक्षिणानि  
कुर्वीत विज्ञाताश्च वनस्पतीन् । ) इति शास्त्रात्प्रदक्षिणक्रियाऽर्हाया प्रदक्षिणकरण-  
योग्याया तस्या धेन्वा त्वं साधु प्रदक्षिणादिसत्कार नाचरो नाचरितवानसि ।  
व्यासक्ता हि विस्मरन्तीति भावः । ऋतुकालाभिगमने मनु — (ऋतुकालाभिगामी  
स्यात्स्वदारनिरत सदा) इति । अकरणे दोषमाह पराशर — (ऋतुस्नाता तु यो  
भार्यां स्वस्थ सन्नोपगच्छति । बालगोघ्नापराधेन वध्यते नात्र सशयः । ) इति ।  
तथा च — (ऋतुस्नाता तु यो भार्यां सन्निधौ नोपगच्छति । घोराया अ्रूणहत्यायां  
युज्यते नात्र सशयः ) इति ॥ ७६ ॥

ऋतुकाल ( रजोदर्शन ) निमित्तक स्नान की हुई, इस रानी सुदक्षिणाको धर्म के  
लोप के भय से स्मरण करते हुये तुमने प्रदक्षिण क्रिया के योग्य उस कामधेनु के विषय  
में उचित 'प्रदक्षिणादि सत्कार' नहीं किया ॥ ७६ ॥

अनादृताया सुरभेर्दिलीपाय शापप्रदानमित्याह—

अवजानासि मां यस्मादतस्ते न भविष्यति ।

मत्प्रसूतिमनाराध्य प्रजेति त्वां शशाप सा ॥ ७७ ॥

अवजानासीति । यस्मात्कारणान्मामवजानासि तिरस्करोषि । अतः कारणा-  
न्मत्प्रसूतिं मम संततिमनाराध्यासेवयित्वा ते तव प्रजा न भविष्यतीति स  
सुरभिस्त्वां शशाप । 'शाप आक्रोशे' ॥ ७७ ॥

तूने मेरा अनादर किया इस कारण मेरी सन्तति की आराधना किये बिना तुझे  
सन्तान नहीं होगी ऐसा उस 'कामधेनु' ने तुम्हें शाप दिया ॥ ७७ ॥

कथं तदस्माभिर्न श्रुतमित्याह—

स शापो न त्वया राजन्न च सारथिना श्रुत ।

नदत्याकाशगङ्गायाः स्रोतस्युद्गामदिग्गजे ॥ ७८ ॥

स इति । हे राजन् ! स शापस्त्वया न श्रुत सारथिना च न श्रुत । अश्रवणे  
हेतुमाह—क्रीडाऽर्थमागता उद्गमानो दाम्न उद्गता दिग्गजा यस्मिंस्तथोक्ते ।  
आकाशगङ्गाया मन्दाकिन्या स्रोतसि प्रवाहे नदति सति ॥ ७८ ॥

हे राजन् ! उस शाप को तुमने और सारथि ने भी नहीं सुना । क्योंकि स्नान करने

के किन्ने जाये हुये 'अत एव' बन्धन से छुटे हुये 'पिरावन आदि' दिग्गजों का बाधघनना ( मग्नाकिनी ) के प्रवाह में जम्बल बन्द हो रहा था ॥ ७८ ॥

अस्तु मस्तुते किमापावमित्यत्राह—

ईप्सितं तद्व्यञ्जानाद्विधि सार्गसमारमगः ।

प्रतिबध्नाति हि भेषः पूज्यपूजाभ्यतिक्रमः ॥ ७९ ॥

ईप्सितमिति । तद्व्यञ्जानात्तस्या धेनोरवज्जानादपमानाद्दामना स्वस्यामुक्ति-  
मीप्सितं मनोरथम् । आत्मोत्तेः सङ्गत्तात्पर्य ईकारश्च । सार्गसं सप्रतिबन्धं विधि  
जानीहि । तथा हि । पूज्यपूजायाः अतिक्रमोऽतिक्रमर्णं भेषः प्रतिबध्नाति ॥ ७९ ॥

तस्य कामधेनुका जमावर करने से अपने सन्तानकर मनोरथ को तुम [स्व] हुआ  
उमड़ी । क्योंकि पुन्नों को पूजा का उत्पन्न करना कामान्धो रोकता है ॥ ७९ ॥

तर्हि गत्वा तामाराधयामि । सा वा कर्षविदायमिष्यतीत्याद्या न कर्त्तव्येत्याह—

हविरे दीर्घसहस्रस्य सा चेदानीं प्रपद्यताम् ।

भुञ्जन्नपिहितद्वार पाताळमपितिष्ठति ॥ ८० ॥

हविष इति । सा च सुरभिरिदानीं दीर्घसहस्रं चिरकालसाध्यो पागविषेया यस्य  
तस्य प्रपद्यते हविरे इत्याद्यादिहविरर्घं भुञ्जन्नावस्थारं ततो भुञ्जन्नेषं पाताळ-  
मपितिष्ठति । पाताळे तिष्ठतीमर्ष्या । 'अधिसीद्स्वाऽऽस्तां कर्म' इति कर्मत्वम् ।

एत समय पर कामधेनु अनिक समय में पूर्ण होने वाले ब्रह्म के कर्ष करने के हवि  
'हवि पून आदि' के जिसे तापी से कैं हुए द्वार वाले पाताळ नीचे में रहती है ॥ ८० ॥

तर्हि का गतिरित्याह—

सुतां तदीयां सुरभ्यो हस्त्या प्रतिनिधिं शुचि ।

आराधय सपत्नीका प्रीता कामधुषा हि सा ॥ ८१ ॥

सुतामिति । तस्याः सुरभेरितं तदीया । सा सुतां सुरभ्यो प्रतिनिधिं कृप्या शुचि  
पुत्रा । सह पत्न्या वर्तत इति सपत्नीका सन् । 'वधूतम' इति कामधुषा ।  
आराधय । हि वरमाकारमप्यप्रीता सुहा सती । कामान्धोर्गपि कामधुषा  
मयति । 'बुद्धा कामध' इति कामधुषो धादेताम ॥ ८१ ॥

जब कामधेनु की लड़की को कमी के 'रथान पर' प्रतिनिधि करके तुम पुत्र बन  
होकर दाम्नी के सहित कामकी सेवा करी । क्योंकि पर गतिनी प्रमद होती हुई मनोरथ  
को पूरा करने वाली होती है ॥ ८१ ॥

कामधेनुमुत्तमा नमिष्या ववादानमममित्यत्राह—

इति यादित एषाभ्य दानुराद्रुतिसापनम् ।

अनिष्या नमिनी माम धेनुरापयूने यमात् ॥ ८२ ॥

इतीति । इति यादित वदन् वद दोगुरं वमर्षाकरव । 'यू' इति नृमात्तवा ।

अस्य मुनेराहुतीनां साधनं कारणम् । नन्दयतीति व्युत्पत्त्या नन्दिनीनामानिन्ध्याऽ-  
गर्ह्यां प्रशस्ता धेनुर्वनादाववृते प्रत्यागता । ( अग्न्याग्नेपो भविष्यन्त्या कार्यसिद्धेर्हि  
लक्षणम् ) इति भावः ॥ ८२ ॥

इस प्रकार कहते हुए ही वन वसिष्ठ महर्षि की आहुति का साधन 'नन्दिनी' नाम से  
प्रसिद्ध 'नई व्याई' धेनु वन से लौटकर आई ॥ ८२ ॥

सम्प्रति धेनु विशिनष्टि—

ललाटोदयमाभुग्नं पल्लवस्निग्धपाटला ।

विभ्रती श्वेतरोमाङ्कं सन्ध्येव शशिनं नवम् ॥ ८३ ॥

ललाटेति ॥ पल्लववरिस्निग्धा चासौ पाटला च । 'सध्यायामप्येतद्विशेषण योज्यम् ।  
ललाट उदयो यस्य स ललाटोदय' । तमाभुग्नमीपद्वक्रम् । 'आविद्ध कुटिल भुग्न  
वेक्षितं वक्रमित्यपि' इत्यमरः । 'ओदितश्च' इति निष्ठातस्य नवम् । श्वेतरोमाण्ये-  
चाङ्गस्त विभ्रती । नव शशिनं विभ्रती सन्ध्येव स्थिता ॥ ८३ ॥

पल्लव के तरह चिक्कण श्वेतयुक्त लाल रङ्गवाली, ललाट में उत्पन्न हुये, कुछ टेढ़े, सफेद  
रौंथे लगी चिह्न की धारण करती हुई, अत एव द्वितीया के चन्द्रमा की धारण करती हुई  
सन्ध्या के समान, वह नन्दिनी ( वन से लौट कर आई ) ॥ ८३ ॥

पुनरपि धेनुवर्णनप्रसङ्गेनाह—

भुवं कोष्णेन कुण्डोष्णी मेध्येनावभृथादपि ।

प्रस्नवेनाविर्वर्न्ती वत्सालोकप्रवर्तिना ॥ ८४ ॥

भुवमिति । कोष्णेन किंचिदुष्णेन । 'कवं चोष्णे' इति चकारात्कादेशः । अवभृ-  
थादप्यवभृथस्नानादपि मेध्येन पवित्रेण । 'पूत पवित्रमेध्यं च' इत्यमरः । वत्सस्या-  
लोकेन प्रदर्शनेन प्रवर्तिना प्रवहता प्रस्नवेन क्षीराभिष्यन्दनेन भुवमभिवर्पन्ती  
सिञ्चन्ती । कुण्डमिवोष आपीन यस्या सा कुण्डोष्णी । 'ऊधस्तु क्लीबमापीनम्'  
इत्यमरः । 'ऊधसोऽनङ्' इत्यनङादेशः । 'वहुव्रीहेरुधसो ङीप्' ॥ ८४ ॥

कुछ गरम, यज्ञ के अन्त में इष्टिपूर्वक स्नानार्थ जल से भी पवित्र, वरुहे के देखने से  
वहते हुये दूध के टपकने से पृथिवी को सींचती हुई, अत एव बहुलोईकी भाँति घन स्तनों  
वाली 'नन्दिनी वन से लौटी' ॥ ८४ ॥

नन्दिन्या खुरोद्धूतरजसा पूतत्ववर्णनपूर्वक तां विशिनष्टि—

रजःकणैः खुरोद्धूतैः स्पृशद्भिर्गात्रमन्तिकात् ।

तीर्थाभिषेकजां शुद्धिमादधाना महीक्षितः ॥ ८५ ॥

रज इति । खुरोद्धूतरन्तिकत्समीपे गात्रं स्पृशद्भिः । 'दूरान्तिकार्थेभ्यो द्वितीया  
च' इति चकारात्पञ्चमी । रजसां कणैः । महीं क्षियत ईष्ट इति महीक्षितस्य । तीर्था-  
भिषेकेण जाता तीर्थाभिषेकजाम् । शुद्धिमादधाना कुर्वाणा । एतेन वायव्य स्नान-





गवानुसरणप्रकारमाह—

प्रस्थितायां प्रतिष्ठेथाः स्थितायां स्थितिमाचरेः ।

निषण्णायां निषीदास्यां पीताम्भसि पिवेरपः ॥ ८९ ॥

प्रस्थितायामिति । अस्या नन्दिन्या प्रस्थिताया प्रतिष्ठेथाः प्रयाहि । 'समवप्र-  
विभ्य स्थ' इत्यात्मनेपदम् । स्थिताया निवृत्तगतिकाया स्थितिमाचरेः स्थिति  
कुरु । तिष्ठेत्यर्थः । निषण्णायामुपविष्टायां निषीदोपविश । विध्यर्थे लोट् । पीतम्भो  
यया तस्या पीताम्भसि सत्यामप पिवे पिव ॥ ८९ ॥

हे राजन् ! इस ( नन्दिनी ) के चलने पर तुम ( इसके पीछे २ ) चलो, ठहरने पर  
ठहरो, बैठने पर बैठो और पानी पीने पर पानी पीओ ॥ ८९ ॥

साम्प्रतं नन्दिनीपरिचर्याया सुदक्षिण्याऽनुष्ठास्यमान कर्म ब्रुवन्नाह—

वधूर्भक्तिमती चैनामर्चितामातपोवनात् ।

प्रयता प्रातरन्वेतु सायं प्रत्युद्गजेदपि ॥ ९० ॥

वधूरिति । वधूर्जाया च भक्तिमती गन्धादिभिरर्चितामेनां प्रातरातपोवनात् ।  
आहर्मर्यादायाम् । पदद्वयं चैतत् । अन्वेत्वनुगच्छतु । सायमपि प्रत्युद्गजेत्प्रत्युद्ग-  
च्छेत् । विध्यर्थे लिट् ॥ ९० ॥

वधू 'सुदक्षिणा' भक्ति 'श्रद्धा' से युक्त पवित्र मन होकर 'गन्धादिकों से' पूजित इस  
'नन्दिनी' के पीछे पीछे प्रातः काल तपोवन की सीमा तक 'वन में पहुँचाने के लिये' जाए  
और सायंकाल को भी 'तपोवन की सीमा पर जाकर इसका' स्वागत करे ॥ ९० ॥

नन्दिनीपरिचर्याऽवधिं निर्दिशन्नाह—

इत्याप्रसादादस्यास्त्वं परिचर्यापरो भव ।

अविघ्नमस्तु ते स्थेथाः पितेव धुरि पुत्रिणाम् ॥ ९१ ॥

इतीति । इत्यनेन प्रकारेण स्वमाप्रसादात्प्रसादपर्यन्तम् । 'आहर्मर्यादाऽभि-  
विध्योः' इत्यस्य वैभाषिकत्वादसमासस्त्वम् । अस्या धेनो परिचर्यापरोः शुश्रूपापरो  
भव । ते तवाविघ्न विघ्नस्याभावोऽस्तु । 'अव्यय विभक्तिसमीपसमृद्धिबुद्धयर्थाभाव'  
इत्यादिनाऽर्थाभावेऽव्ययीभावः । पितेव पुत्रिणा सत्पुत्रवताम् । प्रशसायामिनि-  
प्रत्ययः । धुर्ये स्थेथास्तिष्ठे । आशीरर्थे लिट् । 'एलिङि' इत्याकारस्यैकारादेशः ।  
स्वस्त्वदृशो भवत्पुत्रोऽस्त्विति भावः ॥ ९१ ॥

इस प्रकार जब तक यह नन्दिनी प्रसन्न न होये, तब तक तुम इसकी सेवा करने में  
तत्पर रहो, तुम्हारे विघ्नों का अभाव रहे ( अर्थात् तुम्हें विघ्नों का सामना न करना  
पड़े ), पिता के समान तुम भी अच्छे पुत्रवालों में मुख्य हो ( अर्थात् तुम्हें अपने समान  
पुत्र प्राप्त हो ) ॥ ९१ ॥

राज्ञो विष्णीपस्य सप्रेम गुरोराणाग्रद्वयमाह—

तथेति प्रतिज्ञमाह प्रीतिमाप्सपरिमहः ।

अपदेशं वेषकाकृशः शिष्यः शासितुरनतः ॥ ९२ ॥

तथेतीति । वेषकाकृशः । वेषोऽग्निर्होत्राद्वसानसमया । विशिष्टवेषकाकोत्पन्नमार्पणमग्न्याहृतमिति आनम् । अत एव प्रीतिमाप्सिष्योऽप्येवमस्ती राज्ञा सपरिमहः सपरवीर्यः । 'परमीपरितनादानमूकभाषाः परिमहा इत्यमरः । आनतो विनयनशः सख् शासितुगुरोरादेशमाशां तथेति प्रतिज्ञमाह स्वीचकार ।

हेतु भीरु बल को आननेवाले अत एव प्रसन्न शिष्य राजा दिग्गज के परमी 'सुरक्षित' के सहित विनय से नम्र 'हीते हुये कपदेश करने वाले गुण को भाषा को बैसा ही हो' यह कर कर स्वीकार किया ॥ ९२ ॥

अथ रात्रिकालं विशाच विष्णीपस्यचार्यं वशिष्ठगुशात्सवमाह—

अथ प्रहोषे क्षापयः संवेद्याय विद्यापतिम् ।

सनुः सन्तुतथापत्यपुर्विससर्जोर्जितद्वियम् ॥ ९३ ॥

अथेति । अथ प्रहोषे राज्ञी वेष्यो विद्वान् । विद्वान्निष्पन्नहोपज्ञ इत्यमरः । सन्तुतथापत्यपिषाक । पिषं सायं च सन्तुतम् इति इत्याहुषः । अथः सन्तुर्महः पुत्रो मुनिः । अनेन प्रहृतकार्यनिर्वाहकार्यं सूचयति । 'अर्जितद्वियं' विद्यापतिं अनुव्रैरवरम् । 'ह्रीं विष्ठी वेश्वरमनुजी इत्यमरः । सर्वज्ञाय निद्रायै । 'स्वाभिज्ञा' चापत्तं रक्षाया रक्षय्यः संवेद्या इत्यपि' इत्यमरः । विमलसर्जोर्जापयामास ॥ ९३ ॥

वसुदे ( गुण वशिष्ठ की भांति प्रहण करने के ) बाद रात्रि के प्रथम प्रहर होने पर ( प्रायःक विनय के ) शीर्षों को आनने वाले ( गर्व ) तथा सत्य भीरु विनयायी मन्त्र के ( आनन ) पुत्र ( वशिष्ठ मुनि ) ने राजा दिग्गज को सीने के जिह्वे भाषा दी ॥ ९३ ॥

महर्षेर्वशिष्ठरव दिक्षीपाच मुनिजगार्दसाम्प्रीमग्याद्वयमाह—

सत्त्वामपि तपासिद्धी निषमापेक्षया मुनिः ।

कल्पयित्वाकल्पयामास धर्म्यामेवास्य संविधाम् ॥ ९४ ॥

अप्यामिति । कल्पयित्वाकल्पयामासिद्धी मुनिः । तपसिद्धी साध्यामपि । तपमेव राजप्रयोगाद्वारसंवाहकमात्मार्थे जायसीत्यर्थः । निषमापेक्षया तत्त्वमन्यायेव मनचर्तयेक्षया । अथ राज्ञः कल्पामेव । नविधीयतेऽनयेनि संविधाम् । कुसारासमयमासीत् । 'आनमोपपन्नं' इति कल्पयत् । अकतहि च कारक संस्थापाम्' इति कल्पार्थवत् । कल्पयामास संवाहयामास ॥ ९४ ॥

अत के प्रयोग को आनन वाले मुनि 'अविधीयते' ने तप को तपि राजा को के प्रयोग को 'अनये' तत्त्वमन्यायेव करने की सामर्थ्य 'रहने हुये ही' नविधीय को संस्थाप

व्रत का विचार कर इन 'राजा दिलीप' के लिये वन में उत्पन्न हुए 'वनवासियों के उपभोग करने के योग्य' सामग्री का प्रबन्ध किया ॥ १४ ॥

वशिष्ठाज्ञया पर्णशालायां परन्या सह प्रसुप्तस्य दिलीपस्य ब्राह्ममुहूर्ते निद्रात्यागमाह—

निर्दिष्टां कुलपतिना स पर्णशाला-

मध्यास्य प्रयतपरिग्रहद्वितीयः ।

तच्छिष्याध्ययननिवेदितावसानां-

संविष्टः कुशशयने निशां निनाय ॥ १५ ॥

निर्दिष्टमिति । स राजा कुलपतिना मुनिकुलेश्वरेण वशिष्टेन निर्दिष्टा पर्णशाला-  
मध्यास्याधिष्ठाय । तस्यामधिष्ठान कृतेत्यर्थः । 'अधिशिष्याऽऽसां कर्म' इत्यनेना  
धारस्य कर्मत्वम् । कर्मणि द्वितीया । प्रयतो नियत परिग्रह परनी द्वितीयो यस्येति  
स तथोक्तः । कुशानां शयने संविष्टः सुप्तः सन् । तस्य वशिष्टस्य शिष्याणामध्ययने-  
नापररात्रे वेदपाठेन निवेदितमवसानं यस्यास्ता निशां निनाय गमयामास । अपर-  
रात्रेऽध्ययने मनु - ( निशान्ते न परिश्रान्तो ब्रह्माधीत्य पुनः स्वपेत् ) । ( न चापर-  
रात्रमधीत्य पुनः स्वपेत् ) इति गौतमश्च । प्रहर्षिणीवृत्तमेतत् । तदुक्तम् - ( नौ औ  
गच्छिष्यति प्रहर्षिणीयम् ) ॥ १५ ॥

इति सञ्जीविनीव्याख्याया वशिष्ठाश्रमाभिगमनो नाम प्रथमः सर्गः ।



उन राजा दिलीप ने कुलपति 'दश सहस्र मुनियों को अन्नादि देकर वेद पढ़ाने वाले  
ब्रह्मर्षि वशिष्ठ जी' की बताई हुई पर्णकुटी 'पत्तों से बनी हुई कुटी' में निवास कर 'वश आदि  
से' शुद्ध धर्मपत्नी सुदक्षिणा के साथ कुशों से बनी हुई शय्या पर सोये हुये, वशिष्ठजी के  
विद्यार्थियों के वेदाध्ययन करने से ज्ञात हो गया है प्रातः काल का होना जिसका ऐसी  
रात को बिताया ॥ १५ ॥

इति रघुवशमहाकाव्ये प्रथमः सर्गः समाप्तः ।



## द्वितीयः सर्गः

अथ प्रजानामधिपः प्रभाते जायाप्रतिग्राहितगन्धमाल्याम् ।

चनाय पीतप्रतिबद्धवत्सां यशोधनो धेनुमृषेर्मुमोच ॥ १ ॥

आशासुराशीभवदङ्गवल्लीभासैव दासीकृतदुग्धसिन्धुम् ।

मन्दस्मितैर्निन्दितशारदेन्दु वन्देऽरविन्दासनसुन्दरि । त्वाम् ॥

अथेति । अथ निशानयनानन्तरं यशोधनः प्रजानामधिपः प्रजेश्वरः प्रभाते प्रातः-  
काले जायया सुदक्षिणया प्रतिग्राहयिष्या प्रतिग्राहिते स्वीकारिते गन्धमाल्ये यया

सा आवापतिप्रादितगन्धमाहवा तौ तयोक्तम् । पीतं पात्रमस्वास्तीति पीता पीत  
 वानित्यर्थः । 'अर्घं आविम्योऽथ' इत्यथस्त्ययः । 'पीता गावो मुक्ता आम्बुणा' इति  
 महामाष्ये दर्शनात् । पीता प्रतिबद्धो वस्तो यस्यास्ताम्बुपेर्धेनुं वधाय वन गन्तुम् ।  
 'क्रियाधोपपदस्य च कर्मणि स्थाविता इत्यनेन अतुर्धा । सुमोच मुक्तवान् । आवा  
 पत्सामर्षात्पुद्गलिवाया पुत्रवमनयोग्यत्वममुसम्बोधम् । तथा हि श्रुतिः—( पति-  
 र्वायां प्रविशति पत्न्यो मृत्योर्मातरम् । तस्यां पुनर्भवो भूत्वा ह्यग्रे मासि जायते ।  
 तज्जाया जाया भवति यदस्यां जायते पुनः ॥ ) इति । यतोऽयम शयनेन पुत्रवत्ता  
 कीर्तिकोमाद्राजानर्हं गोरक्षयो प्रवृत्त इति सम्प्रते । ( अरिमन्मर्गे वृत्तमुपजाति—  
 ( अमन्तरोदीरितकथममानो पादौ पक्षीयानुपजातयस्ताम् ) ॥ १ ॥

रानके वीर जाने पर प्रातराह्नक प्रजाओं के पावन करने वाले वर को ही वन समझते  
 वाले राजा विजय से राजा सुरक्षिता के हाथ वृजन में प्राप्त बन्धन और पुत्रोंको माता को  
 वारण को हरे, दूत की बुद्धि के वार मिलकर यथा वीर दिया गया है देती यदि कहीं  
 को मरे प्यारे हरे अग्निवी काम की वो को वरुण में वली के बिन्दे दीक दिया ॥ १ ॥

तस्याः सूरम्यासपदित्रपांसुमपांसुलानां धुरि कीर्त्तनीया ।

मार्गे मनुष्येभ्यश्चर्मपत्नी भुतरिवाप्यं स्मृतिरन्यगच्छत् ॥ २ ॥

तस्या इति । पांसवो दोष आसीं सन्तीति पांसुकाः रवेरित्या । स्वैरित्री  
 पांसका इत्यमरः । 'सिध्मादिभ्यश्च इति कर्त्तव्यम् । अपांसुलानां पतिव्रताणां  
 पुत्रमे कीर्त्तनीया परितमनीया । मनुष्येभ्यश्चर्मपत्नी । सूरम्यासैः पदित्रा पांसवो  
 यस्य तम् । 'रिपुह्वया' द्विती धुकि पांसुनां च हयो राजा इत्यमरः । तस्या जेवोर्मा  
 र्गम् । रघुविर्मन्त्रादिवाचं भूतेर्भेदवाचयस्वार्थमभिधेयमिव अन्वगच्छद्वुसुतवती  
 च । यथा रघुतिः सुतिष्ठन्ममेवार्थमनुसरति तथा सा अपि गोनुराह्ण्यमेव मार्गमनु-  
 ससारेत्यर्थः । चर्मपत्नीत्यत्राजपासादिपञ्चादर्थ्ये वहीसमासा प्रकृतिविकाराभावात् ।  
 पांसुपदपञ्चादप्यपांसुलानामिति विरोधाकट्टारो रक्ष्यते ॥ २ ॥

पतिव्रताओं से अधिका राजा दिलीप को अपनी सुरक्षिता से अग्निवी के पुरों के रक्तने  
 से पतिव्रत के वाले मार्ग का वही नीति अनुसरण किया जैसे यन्त्रादि रघुविर्मो वर के  
 मार्गों के अर्थ वा अनुसरण करती है ॥ २ ॥

निपस्ये राजा दयितां दयालुस्तां नीरमेयीं सुरमिर्यथाभिः ।

पयायरीभूतचतुर्म्ममुद्रां जुगाप गारुपयपमिषोर्याम् ॥ ३ ॥

विचार्येति । दयालुः काटणिकः । 'दयालुतायां काटणिकः' इत्यमरः । 'रघु-  
 र्दि—' इत्यादिनाऽऽनुष्ठाप्यम् । यथोक्तिः सुरमिर्मनोज्ञः । 'सुरमिः दयालुतायां  
 तापि इति विद्यः । राजा तौ दयितां विचार्ये नीरमेयीं कामधेनुसुतां नमिष्वीम् ।  
 वरन्तीति धराः । पयायजू । पयसां वराः पयोधराः वरजाः । 'धीरतमाम्नी पयो-

धरौ' इत्यमर' । अपयोधरा' पयोधरा सम्पद्यमाना पयोधरीभूता । अभूततद्भावे  
त्वि । 'कुगतिप्रादय' इति समास । पयोधरीभूताश्चत्वारः समुद्रा यस्यास्ताम् ।  
'अनेकमन्यपदार्थे' इत्यनेकपदार्थग्रहणसामाध्यात्रिपदो बहुव्रीहि । गोरूपधरा-  
सुर्वीमिव जुगोप ररत्त । भूरक्षणप्रयत्नेनेव ररचेति भावः । धेनुपक्षे—पयसा दुग्धेना  
धारीभूताश्चत्वारः समुद्रा यस्या सा तथोक्ताम् । दुग्धतिरस्कृतसागरामित्यर्थः ॥३॥  
दया से युक्त कीर्तियों से सुशोभित राजा दिलीप प्यारी पटरानी मुदक्षिणा को  
लौटा कर जिस के दूध से चारों समुद्र तिरस्कृत हैं ऐसी उम नन्दिनी की, चार समुद्रों  
को चार स्तनों के रूप में धारण की हुई गौ के रूप में उपस्थित पृथ्वी की भाँति रक्षा करने  
लगे ॥ ३ ॥

व्रताय तेनानुचरेण धेनोर्न्यपेधि शेषोऽप्यनुयायिवर्गः ।

न चान्यतस्तस्य शरीररक्षा स्ववीर्यगुप्ता हि मनोः प्रसूति ॥ ४ ॥

व्रतायेति । व्रताय धेनोरनुचरेण न तु जीवनायेति भावः । तेन दिलीपेन शेषोऽ-  
वशिष्टोऽप्यनुयायिवर्गोऽनुचरवर्गो न्यपेधि निवर्त्तित । शेषत्व मुदक्षिणाऽपेक्षया ।  
कथं तर्ह्यस्मिन्ननुचरेण आह—न चेति । तस्य दिलीपस्य शरीररक्षा चान्वयत पुरुषा  
न्तरात् । कुत । हि यस्मात्कारणान्मनोः प्रसूयत इति प्रसूति सन्तति स्ववीर्यगुप्ता  
स्ववीर्येणैव रक्षिता । न हि स्वनिर्वाहकस्य परापेक्षेति भावः ॥ ४ ॥

गोसेवा व्रत पालन करने के लिये सेवक की भाँति पीछे पीछे चलने वाले उन 'राजा  
दिलीप' ने 'मुदक्षिणा' के लौटाने के बाद बचे हुये अनुचर वर्ग को भी पीछे पीछे  
आने से रोका और उनको शरीर की रक्षा करने के लिये भी दूसरे पुरुष की आवश्यक-  
कता नहीं थी । क्योंकि 'वैवस्वत' मनु के वंश में उत्पन्न राजा लोग अपने ही पराक्रम से  
आत्मरक्षा कर लेते थे ॥ ४ ॥

आस्वादवद्भिः कवलैस्तृणानां कण्डूयनैर्दशनिवारणैश्च ।

अव्याहृतैः स्वैरगतैः स तस्याः सम्राट् समाराधनतत्परोऽभूत् ॥५॥

आस्वादवद्भिरिति । सम्राट् मण्डलेश्वर । 'येनेष्ट राजसूयेन मण्डलस्येश्वरश्च य ।  
शास्ति यश्चाज्ञया राज्ञः स सम्राट्' इत्यमर । स राजा आस्वादवद्भि रसवद्भि स्वा-  
दयुक्तैरित्यर्थः । तृणानां कवलैर्ग्रासैः । 'ग्रासस्तु कवल पुमान्' इत्यमर । कण्डूयनै  
खर्जनैः । दशाना वनमक्षिकाणां निवारणैः । 'दशस्तु वनमक्षिका' इत्यमर । अव्या  
हृतैरप्रतिहृतैः स्वैरगतैः स्वच्छन्दगमनैश्च । तस्या धेन्वा समाराधनतत्पर शुश्रूषाऽऽ-  
सक्तोऽभूत् । तदेव पर प्रधान यस्येति तत्पर । 'तत्परे प्रसितासक्तौ' इत्यमर ॥५॥

चक्रवर्त्ती वे राजा दिलीप स्वादयुक्त कोमल-कोमलतृणों के आसों से शरीर के खुजलाने  
से, वन के मच्छड़ों के 'वैठने पर उसे' उड़ाने से और बिना रुकावट के स्वच्छन्द फिरने  
देने से उस 'नन्दिनी' को प्रसन्न करने में तत्पर हुये ॥ ५ ॥

स्थिताः स्थितामुच्यन्ति प्रयातां निपेदुषीमासमबन्धपीर ।

अस्मामिहापी अस्माद्वानां छायेष तां मूपतिरन्वगच्छत् ॥ ६ ॥

स्थिता इति । अपतिस्तां तां स्थितां सर्ती स्थितासम् । स्थितिर्धर्मावरणम् । प्रयातां प्रस्थितामुच्यन्ति प्रस्थिताः । निपेदुषीं निष्कामम् । उपविष्टामिधर्माः । 'प्रपापी सद्यसमुवा' इति कस्यप्रयथाः । 'अमितम्' इति वीप् । आसमबन्ध उपवेष्टे पीरः । स्थित उपविष्टा सन्निवर्त्तः । अस्माद्वानां वक्तं पिबन्ती । अस्मामिहापी वक्तं पिबन्तिवर्त्तः । इत्थं छायेषाम्गच्छदुपुष्टयान् ॥ ६ ॥

पृथीपति 'राजा दिवीप' ने वक्त मन्दिनी से उठरने पर उठरते थे, वक्त ने वक्त से, बैठने पर बैठने ने वक्त पीने पर वक्त पीने से इस प्रकार छाया की शक्ति अनुसरण किया ॥ ६ ॥

स म्यस्ताच्चिह्नमपि यज्जलक्ष्मीं तेजोविशेषालुमितां दधानाः ।

मासीदन्नाविष्कृतद्वानराजिरन्तर्महावस्य इव द्विपेन्द्रः ॥ ७ ॥

स इति । म्यस्तानि परिहृतानि निहृतानि वृक्षचमरादीनि यत्वास्तां तद्यादूनां मनि तेजोविशेषेण प्रमाणाविषयेषामुमिताय, सर्वथा राज्ञेयार्थं महेदित्पूजितां राज्ञेयक्ष्मीं दधानाः स राज्ञा अन्नाविष्कृतद्वानराजिरन्तर्महावस्य इव । अन्तर्गता महावस्या वस्य सोऽन्तर्महावस्या, तमाप्यते द्विपेन्द्र इव मासीत् ॥ ७ ॥

वर्षीय वन-नामदादि निहा से मूपित नदी है तथापि अपने पैर की बलिष्ठा से हो जाती जाती हुई राजक्ष्मी को नारण करते हुई प्रकट रूप से नदी दिखाते वर रही है मन्देका जिसको वक्त वक्त पीने से स्थित है मन्द की वक्तवा जिसको ऐसे मन्दवक्त की शक्ति माह्वय करते थे ॥ ७ ॥

कक्षीप्रतान्नेदुप्रयितैः स केजौरविजययन्त्रा विधत्तार दायम् ।

रक्षापदेशान्मुनिहोमयेनोर्ध्व्याम्बिनेभ्यधिय बुधसत्त्वान् ॥ ८ ॥

कतेति । कतानां कक्षीनां प्रतानैः मुनिहोमनुमिह्वप्रयिता यन्त्रमप्य प्रयिता वै केतास्तेष्वच्युताः । इत्थंमूलकवर्धे इति वृत्तीया । स राज्ञा । अविजयमारोपित-मौर्वीकं अनुवस्य सोऽभियजयन्त्रा सत् । 'अनुवस्य' इत्यनकादेशः । मुनिहोमयेनो रक्षापदेशान्मन्त्रयन्त्रात् । यन्त्रान् यन्त्रे यन्त्रान् बुधसत्त्वान् बुधसत्त्वान् 'मप्यासु' स्वक-सायेषु सत्त्वमयी तु अन्तुत्तु' इत्यमरा । विनेष्यन् विधत्तारविधिय दायं दायम् 'यने च यनवही च दावी दय इत्येवमेतै' इति बाह्वः । विधत्तारः । यने यपारोत्तर्यः । 'येषु कक्ष्यापरात्तन्त्रा कर्मसंज्ञा कर्मनाम्' इति दायस्य कर्मवत् ॥ ८ ॥

कताओं के देहे-देहे सूत के समान माकाविकोंसे कक्षी हुई फिर ये दावों से मुनीमित है राजा दिवीप मत्वाया वक्त हुई वक्त की नारण दिने हुई बलिष्ठ यद्वि के होम की सामग्री

वृतादि देने वाली नन्दिनी की रक्षा करने के व्याज से वनेले दुष्ट 'व्याघ्रादि' जीवों का शासन करने के लिए मानो जङ्गल में घूम रहे थे ॥ ८ ॥

'विस्मृ' इत्यादिभिः पङ्क्तिभिः श्लोकैस्तस्य महामहिमतया द्रुमादयोऽपि राजो-  
पचार चक्षुरित्याह—

विस्मृपाश्वानुचरस्य तस्य पार्श्वद्रुमाः पाशभृता समस्य ।

उदीरयामासुरिवोन्मदानामालोकशब्दं वयसां विरावैः ॥ ९ ॥

विस्मृतेति । विस्मृता पार्श्वानुचरा पार्श्ववर्तिनो जना येन तस्य । पाशभृता वरु-  
णेन समस्य तुल्यस्य । 'प्रचेता वरुण' पाशी' इत्यमर । अनुभावोऽनेन सूचितः ।  
तस्य राज्ञः पार्श्वयोर्द्रुमाः । उन्मदानामुत्कटमदानां वयसां खगानाम् । 'खगवात्या-  
दिनोर्वयः' इत्यमर । विरावैः शब्दैः । आलोकस्य शब्दं वाचकमालोकयेति शब्द-  
जयशब्दमित्यर्थः । 'आलोको जयशब्दः स्याद्' इति विश्वः । उदीरयामासुरिवावद-  
न्निव, इत्युत्प्रेक्षा ॥ ९ ॥

पार्श्ववर्ती अनुचरवृन्द के छोड़ देने पर भी वरुण के समान 'प्रभावशाली' उन राजा  
दिलीप के आस पास के वृक्षों ने उन्मत्त पक्षियों के शब्दों द्वारा जयशब्द उच्चारण किया  
ऐसा मालूम पड़ता था ॥ ९ ॥

मरुत्प्रयुक्ताश्च मरुत्सखाभं तमर्च्यमारादभिवर्त्तमानम् ।

अवाकिरन्बाललताः प्रसूनैराचारलाजैरिव पौरकन्याः ॥ १० ॥

मरुत्प्रयुक्ताश्चेति । मरुत्प्रयुक्ता वायुना प्रेरिता, बाललता, आरात्समीपेऽभिवर्त्त-  
मानम् । 'आराद्दूरसमीपयोः' इत्यमरः । मरुतो वायो सखा मरुत्सखोऽग्निः । स  
ह्वाभातीति मरुत्सखाभम् । 'आतश्चोपसर्गे' इति कप्रत्ययः । अर्च्यं पूज्यं तं दिलीपं  
प्रसूनैः पुष्पैः । पौरकन्या पौराश्च ता कन्या आचारार्थैर्लाजैराचारलाजैरिव । अवा-  
किरन् तस्योपरि निक्षिप्तवत्य इत्यर्थः । सखा हि सखायमागतमुपचरतीति भावः ॥

वायु से प्रेरित (हिलाई गई) कोमल कोमल लताओं ने अग्नितुल्य (तेजस्वी) समीप में  
स्थित, पूज्य उन ( राजा दिलीप ) के ऊपर फूलों की वर्षा की, जैसे कि नगरवासियों की  
कन्यार्ये मङ्गलार्थक धान के लार्वा की वर्षा करती हैं ॥ १० ॥

धनुर्भृतोऽप्यस्य दयाऽऽर्द्रभावमाख्यातमन्तः करणैर्विशङ्कैः ।

विलोकयन्त्यो वपुरापुरक्षणां प्रकामविस्तारफलं हरिण्यः ॥ ११ ॥

धनुर्भृत इति । धनुर्भृतोऽप्यस्य राज्ञः । एतेन भयसम्भावना दर्शिता तथाऽपि  
विशङ्कैर्निर्भीकैरन्तः करणैः कर्तृभिः । दयाया कृपारसेनार्द्रो भावोऽभिप्रायो यस्य  
तद्दयाऽऽर्द्रभावं तदाख्यातम् । दयाऽऽर्द्रभावमेतद्विद्याख्यातमित्यर्थः । 'भाव-  
सत्तास्वभावाभिप्रायचेष्टाऽऽत्मजन्मसु' इत्यमरः । तथाविध वपुर्विलोकयन्त्या हरि-  
ण्याऽक्षणा प्रकामविस्तारस्थात्यन्तविशालतायाः । फलमाप्नुः । (विमल कलुषीभवच्च



येतः कथमायेव द्वितैर्यत्र रिपुं च) इति स्वायेन स्वाम्ताकरणवृत्तिमामाभ्यायेन  
विमर्ष्य दृष्टारित्यर्थः ॥ ११ ॥

अतएव को बाल्य भिन्नं पुत्रं नो रागा दिव्यं वा दृष्ट्वा से दृष्ट्वा नन्दे नन्दनरूपे के  
द्वारा दया से भार्ये नमिमात्र मायुस पवने से जनके चरीर को विदेह रूप से देखनी हुई  
हरिभयो मे नन्दने-नन्दने लोको का भावना बड़े होमे का जन प्राद्व क्रिया ॥ ११ ॥

स कीचकैर्मांसतर्पणैः कुम्भक्षिरापादितयंत्रकुरमम् ।

शुभाय कुञ्जेषु यथाः स्वमुष्णैरवुगीयमानं जनदेवताभिः ॥ १२ ॥

स इति । स दिव्योपो मांसतर्पणैः । अत एव कुम्भक्षिरा स्ववज्रा कीचकैर्वैकुं  
विसेपैः । 'यमवा कीचकारते स्वुर्न स्ववन्वनि कोदतः इत्यमरा । वंसा सुपिरवाप्त  
विसेपः । 'वंसादिकं तु सुपिरम्' इत्यमरा । आपादितं सन्पादितं बंधस्य कुर्यं कार्यं  
अस्मिन्कर्मणि लक्षणा । कुञ्जेषु कटापुत्रेषु । 'विकुञ्जकुञ्जी वा वल्मि कटादिपिहितो  
घो' इत्यमरा । जनदेवतामिरवुगीयमानमुपचैर्गियमानं स्व यथा शुभाय भुतवाय ॥

जन्म रागा दिव्यं नै बाहु से मरे हुए दिव्यो के होमे से पन्न करते हुए कीचकभयं  
पौंडो के द्वारा बंधी का कार्य सन्पादन मिलने से रहा है ऐसे कटापुत्रों में जन को अवि-  
हायी देविनी से लेके स्वरो में गाये जाने हुए वध को सुना ॥ १२ ॥

पृच्छस्तुपारैर्गिरिनिर्झरजाम्बोकङ्काकम्पितपुष्पगन्धी ।

तमातपकक्षाभ्यस्तममातपजमाचारपूतं पयसाः सिपेये ॥ १३ ॥

पृच्छ इति । गिरिषु निर्झराणां पारिमज्जायम् । 'पारिमज्जो निर्झरो जरा' इत्य-  
मरा । तुपारैः सिकरैः । 'तुपारी द्विमसीकरो' इति जारवता । पृच्छा जम्बूकोटो  
कहाती बुद्धाभामाकम्पिताबीजकम्पितानि पुष्पाणि तैषां नो गन्धा सोऽस्वा-  
स्तीत्याकम्पितपुष्पगन्धी । ईपकम्पितपुष्पगन्धवात् । पयसीतो मग्ना सुरभिः पयसो  
बाहुरवातपत्रं भवार्थं परिहृतम् । अत एवातपकक्षाभ्यस्तमाचारैः पूतं शुद्धं तं पूर्यं  
सिपेये । आचारपूतत्वात्स राजा जगत्यावनस्यापि सेव्य आसीदिति भाषा ॥ १३ ॥

बहादी सरनो के कम्पितपुष्प से पुष्प, नवपन शीतल तथा दूधों के कुञ्ज-कुञ्ज रिके हुए  
पूकों के गन्ध को लेना हुआ 'जम्बू-जम्बू पुष्पगन्ध'वात् अत करये से जन से रहित अत एव  
नाम से सुरक्षा है हुए, संवाचार से पणिय जन राजा दिव्य को लेना करने क्या ॥ १३ ॥

वाश्याम बुष्ट्याऽपि पिना वृषाग्निपसीक्षितोषा फलपुष्पवृद्धिः ।

ऊर्ध्वं न सत्येष्पथिको यथाये तस्मिन् वर्णं गोसरि ग्राहमाने ॥ १४ ॥

अथामेति । गोसरि तस्मिन् वर्णं ग्राहमाने प्रविष्टति सतिदृष्ट्या विद्यामि दया  
निर्बन्धाग्नि 'वृषाची वृषावधे' इति द्विज । वाश्याम फलाणां पुष्पाणां च वृद्धिः ।  
विष्टेष्पथ इति विष्टेया अतिष्ठविताऽसीत् । कर्माथं वृषावधाय । सत्येष्टु वानुष्टु

मध्ये । 'यतश्च निर्धारणम्' इति सप्तमी । अधिक' प्रबलो व्याघ्रादिरूपं दुर्बल हरि-  
णादिक न वधाधे ॥ १४ ॥

जगत् के रक्षा करने वाले उन राजा दिलीप के वन में प्रवेश करने पर वृष्टि के बिना  
ही वन की अग्नि ज्ञान दुई, फल और पुष्पों की वृद्धि अधिक हुई तथा वनैले जीवों के बीच  
में 'कोई बलवान् 'व्याघ्रादि' अपने से निर्मल किसी 'मृगादि' को नहीं सताने लगा ॥ १४ ॥

सञ्चारपूतानि दिगन्तराणि कृत्वा दिनान्ते निलयाय गन्तुम् ।

प्रचक्रमे पल्लवरागताम्रा प्रभा पतङ्गस्य मुनेश्च धेनुः ॥ १५ ॥

सञ्चारेति । पल्लवस्य रागो वर्णः पल्लवराग' । 'रागोऽनुक्तौ मात्सर्यं क्लेशादौ  
लोहितादिषु' इति शाश्वत । स इव ताम्रा पल्लवरागताम्रा पतङ्गस्य सूर्यस्य प्रभा  
कान्ति 'पतङ्ग पक्षिसूर्ययोः' इति शाश्वत । मुनेर्धेनुश्च । दिगन्तराणि दिशामव-  
काशान् । 'अन्तरमवकाशावधिपरिधानान्तधिभेदतादर्थ्यं' इत्यमर । सञ्चारेण  
पूतानि शुद्धानि कृत्वा दिनान्ते सायकाले निलयायास्तमयाय । धेनुपक्षे आलयाय  
च गन्तु प्रचक्रमे ॥

पल्लव के वर्ण के तरह लाल वर्ण वाली सूर्य की प्रभा और मुनि वशिष्ठ की धेनु ये  
दोनों, दिशाओं के मध्यभाग की अपने अपने सञ्चार से पवित्र कर दिन के अन्त  
( संध्याकाल ) में अस्त होने के लिये तथा अपने आश्रम में पहुँचने के लिये उपक्रम  
करने लगीं ॥ १५ ॥

तां देवतापित्रतिथिक्रियाऽर्थामन्वग्ययौ मध्यमलोकपालः ।

वभौ च सा तेन सतां मतेन श्रद्धेव साक्षाद्विधीनोपपन्ना ॥ १६ ॥

तामिति । मध्यमलोकपालो भूपाल । देवतापित्रतिथीनां क्रिया यागश्राद्ध-  
दानादि ता एवार्थं प्रयोजनं यस्यास्ता धेनुमन्वगनुपदययौ । 'अन्वगन्वक्षमनुगेऽ-  
नुपद क्लीबमन्ययम्' इत्यमर । सतामतेन सद्धिर्मन्येन । 'गतिबुद्धि-' इत्यादिना  
वर्त्तमाने' क्त । 'क्तस्य च वर्त्तमाने' इति षष्ठी । तेन राज्ञोपपन्ना युक्ता सा धेनु ।  
स्तामतेन विधिनाऽनुष्ठानेनोपपन्ना युक्ता साक्षात्प्रत्यक्षा श्रद्धाऽऽस्तिक्यबु-  
द्धिरिव वभौ च ॥ १६ ॥

भूलोक के पालन करने वाले राजा दिलीप देवता, पितर और अतिथि लोगों के कार्यों  
( यज्ञ-श्राद्ध-भोजनादि ) को साधने वाली, उस धेनु के पीछे पीछे चले और सज्जनों के  
द्वारा पूजित उनसे युक्त, वह ( नन्दिनी ) भी सज्जनों से किये गये अनुष्ठान से युक्त श्रद्धा  
जैसी सुशोभित होती है वैसी सुशोभित होने लगी ॥ १६ ॥

स पल्लवलोत्तीर्णवराहयूथान्यावासवृक्षोन्मुखवर्हिणानि ।

ययौ मृगाध्यासितशाद्वलानि श्यामायमानानि वनानि पश्यन् ॥ १७ ॥

स इति । स राजा । पल्लवलोत्तीर्णवराहयूथान्यावासवृक्षोन्मुखवर्हिणानि  
शाद्वलानि निर्गतानि वराहानां

पूषानि कुकानि येषु तादि । बर्हन्त्यपो सन्तीति बर्हिषो मयूराः । 'मयूरो बर्हिषो बर्हि' इत्यमरः । 'बृहन्नर्हन्त्यामिनध्वरयो बृहन्नः' अत्रासहृषाणामुमुखा बर्हिषा येषु तादि । रथामाधमायानि बराह्वर्हिषादिमन्त्रिणीम्वा अरथामानि रथामानि भवन्तीति रथामाधमायानि । 'कोटित्वाविहाभ्याः कथप्' इति कथप्प्रत्ययः । 'वा कथप्' इत्यमरेनेषु आनप् । युगैरभ्यामिता अपिष्टिताः आहूय येषु तादि । आहूः सप्यान्नेषु दशेभु सन्तीति आहूकम् अप्यश्यामवैद्याः । 'आहूकः साहूरिते' इत्यमरः । 'साहः कर्त्तमप्यपो' इति शिरवः । बहसाहहृषकप्' इति हृषकप्रत्ययः । यानि परबन्ध्याः ॥ ३७ ॥

वे राजा विभीषण छोटे-छोटे सक्कारों से जिकके हुए हैं इनके लूकरों के मुखवाले, अपने अपने आवाचबोच वृत्तों के तरफ 'बाबे के लिए समुदाय मयूरो' वाले तथा इरिष जिन पर बैठे हुये हैं ऐसे पासों से हरे महेय, अर पन सर्प' इत्यादि ही इत्यादि वनों की देखते हुए जाने को ॥ २७ ॥

भापीनमारोहहृत्प्रयत्नादुत्पिर्गुत्वाहपुषा नरेन्द्र ।

उत्पादकानां च तेषाम् तपोवनावृत्तिपर्यं गताभ्याम् ॥ १८ ॥

अपीमेति । गृहिः सङ्ख्यसूता गीः । 'गृहिः सङ्ख्यसूता गीः' इति इकादश ।  
 नरेन्द्र । अमी पञ्चाशत् । आरीनमू । 'अमी पञ्चाशत्' इत्यमरः ।  
 आरीनस्य पारोहहमे प्रवत्तात्पञ्चाशत् । वपुषो गुह्यवादादिपञ्चाशत् । अत्रिताम्ना  
 पञ्चाशत् । गताम्ना गताम्ना तपीननादाहृते पञ्चाशत् । तपीननादाहृतिपञ्चाशत् । 'अमी  
 पञ्चाशत्' इत्यमरः । समासोपपत्त्यात्पञ्चाशत् । अमी पञ्चाशत् । १८ ॥

बहुतेक बार का स्वागत हुए महिला और राजा विजय रत्न दोनों ने कम है (महिला) राजा के बार के बार कम से कम करने के कारण है। राजा (राजा विजय) शरीर की रक्षा के कारण है अपने-अपने सुन्दर वस्त्र है उपयोग है जोरों के राजा के सुखोचित किया है।  $191 < 10$

वशिष्टधर्मोत्तुयायिर्न समावर्त्तमानं धर्मिता वज्रन्तात् ।

पपौ निमेषात् सप्तमर्षाद्द्वयोपिताम्यामिह स्त्रोत्रनाम्याम् ॥ १९ ॥

[illegible]

बसिष्ठ महर्षि की कई स्थायें हुई मन्दिरों प्राग की मैतु के पीछे-पीछे चकनेवाले तरीकन के प्राग प्राग से कीटी हुई कम राजा विभीषण से स्नेह करने वाली उसी तरफिवाले के

के वन्द करने में आलसी बरौनी वाली होती हुई ( अर्थात् एक एक से ) प्यासे की भाँति आँखों से पिया अर्थात् देखा ॥ १९ ॥

**पुरस्कृता वर्त्मनि पार्थिवेन प्रत्युद्धता पार्थिवधर्मपत्न्या ।**

**तदन्तरे सा विरराज धेनुर्दिनक्षपामध्यगतेव सन्ध्या ॥ २० ॥**

पुरस्कृतेति ॥ वर्त्मनि पार्थिवेन पृथिव्या ईश्वरेण । 'तस्येश्वर' इत्यन्वयः ।

पुरस्कृताऽप्रत कृता धर्मस्य पत्नी धर्मपत्नी धर्मार्थपत्नीत्यर्थः । अश्वघासादिवत्ता-  
दर्थ्ये षष्ठीसमासः । पार्थिवस्य धर्मपत्न्या प्रत्युद्धता सा धेनुस्तदन्तरे तयोर्दम्पत्यो  
र्मध्ये । दिनक्षपयोर्दिनरात्रयोर्मध्यगता सन्ध्येव विरराज ।

मार्ग में राजा दिलीप द्वारा आगे की गई और उनकी पटरानी सुदक्षिणा से आगे  
जाकर ली हुई ( अगवान्नी की गई ) वह नन्दिनी सुदक्षिणा और दिलीप के बीच में दिन  
और रात्रि के मध्य में स्थित सन्ध्याकाल की भाँति शोभित हुई ॥ २० ॥

**प्रदक्षिणीकृत्य पयस्विनीं तां सुदक्षिणा साक्षतपात्रदस्ता ।**

**प्रणम्य चानर्च विशालमस्याः शृङ्गान्तरं द्वारमिवार्थसिद्धेः ॥ २१ ॥**

प्रदक्षिणीकृत्येति । अक्षताना पात्रेण सह वर्त्तत इति साक्षतपात्रौ हस्तौ यस्याः  
सा सुदक्षिणा पयस्विनीं प्रशस्तक्षीरा ताधेनु प्रदक्षिणीकृत्य प्रणम्य च । अस्याधेन्वा  
विशाल शृङ्गमध्यम् । अर्थसिद्धे कार्यसिद्धेर्द्वारं प्रवेशमार्गमिव, आनर्चाचर्यामास ।  
अर्चतेर्भावादिकाह्निट् ॥ २१ ॥

अक्षतों से युक्त पात्र को हाथ में लिये रानी सुदक्षिणा ने उत्तम दूध वाली उस नन्दिनी  
की प्रदक्षिणा तथा वन्दना कर उसके चौड़े दोनों सींगों के मध्यभाग का, पुत्राप्तिरूप  
प्रयोजन सिद्ध होने के द्वार की भाँति जानकर पूजन किया ॥ २१ ॥

**वत्सोत्सुकाऽपि स्तिमिता सपर्यां प्रत्यग्रहीत्सेति ननन्दतुस्तौ ।**

**भक्त्योपपन्नेषु हि तद्विधानां प्रसादचिह्नानि पुरःफलानि ॥ २२ ॥**

वत्सोत्सुकाऽपीति । सा धेनुर्वत्सोत्सुकाऽपि वत्स उत्कण्ठिताऽपि स्तिमिता  
निश्चला सती सपर्यां पूजा प्रत्यग्रहीदिति हेतोस्तौ दम्पती ननन्दतु । पूजास्वीकार-  
स्यानन्दहेतुमाह—भक्त्येति । पूज्येष्वनुरागो भक्तिस्त्योपपन्नेषु युक्ततेति विषये  
तद्विधानां तस्या धेन्वा विधेय विधा प्रकारो येषां तेषाम् महतामित्यर्थः । प्रसादस्य  
चिह्नानि लिङ्गानि पूजास्वीकारादीनि पुरःफलानि पुरोगतानि प्रत्यासत्तानि येषां  
तानि हि । अविलम्बितफलसूचकलिङ्गदर्शनादानन्दो युज्यत इत्यर्थः ॥ २२ ॥

उस नन्दिनी ने अपने बछड़े को देखने के लिये उत्कण्ठा युक्त होने पर भी स्थिर होती  
हुई 'सुदक्षिणा द्वारा किये गये' पूजन को स्वीकार किया वे दोनों सुदक्षिणा और दिलीप  
प्रसन्न हुए । क्योंकि अपने में अनुराग रखने वाले जनों के विषय में नन्दिनी के समान  
बड़े लोगों की प्रमन्नता का चिह्न, शीघ्र अभीष्ट सिद्ध करनेवाले निश्चय करके होते हैं ॥

गुरोः सहायस्य निपीड्य पादौ समाप्य साग्न्यञ्च विधिं दिक्षीप ।

दोहावसाने पुनरेव वाग्मी भजे मुञ्चोच्छ्वसतिपुर्निपण्णाम् ॥२३॥

गुरोरिति । मुञ्चोच्छ्वसतिपुर्निपीड्यः सहायस्य द्वारैरङ्गत्वात्वा सह वचनमात्रस्य गुरोः । उमचोरपीत्वर्थः । 'मायां आधाऽयं पुष्पमिदं दारा' इत्यमरः । पादौ निपीड्या-  
मिष्यन् । सग्न्यायां निहिते विधिमनुष्ठानं च समाप्य । दोहावसाने विपण्ण-  
मासीनां शोण्यं दोहनशीलाम् । 'ए' इति वृत्त्यवयवः । येनमेव पुनर्मेघं सेवितवान् ।  
शोण्यमिति निष्पद्यप्रयोगात्कामयेनार्थं गृह्यते ॥ २३ ॥

बाहुभौ से वनुभौ का नह करये बाक राजा दिक्षीप मे पत्नी के सहित पुत्र का वरन  
इया कर बीर साहसुकिह हत्य को सगात कर पुत्र पुत्नी के दार सुखपूर्वक बैठी हुई  
मन्दिनी की फिर से सेवा हुक को ॥ २३ ॥

तामस्तिक्यस्तवक्षिप्रवीपामन्वास्या गोसा पुद्गिनीसहाय ।

कमेण सुतामनुसंयिषेद्य सुतात्पितरौ प्रातरनूवतिष्ठत् ॥ २४ ॥

तामिति । गोसा रक्षको पुद्गिनीसहायः पत्नीद्वितीयः भव । उमावपीत्वर्थः ।  
अस्तिके न्वस्ता वक्ष्यता प्रवीपाम् वस्यास्तां तत्रोच्छ्वसतिपुर्निपण्णं येनमन्वास्या  
नूपदिरव कमेण सुतामन्वावन्तरं संयिषेद्य सुप्ताय । प्राता सुतोत्थितमनूवतिष्ठ  
हुरितवान् । अत्रानुसन्धेन येनुरागम्भापारवोः पौर्वापर्यमुच्यते कमसन्धेन यन्मुष्पां  
पारामन्वेत्यपौनस्त्यस्य । कर्मप्रवचनीयमुक्ते द्वितीया इति द्वितीया ॥ २४ ॥

रक्षा करये बाक सुरक्षिता के सहित राजा दिक्षीप जिनके समीप में उपहारसम्बन्धी  
होप रखे गये हैं ऐसी वच नेत्री हुई मन्दिनी के पीछे बैठकर कम के वच ( मन्दिनी ) के  
छोने के पीछे लोहे और मातृ काक वचके पीछे बस जाने के पीछे बने ॥ २४ ॥

इत्थं व्रतं धारयता प्रजार्थं स्वर्गं महिष्या महनीयकीर्तः ।

सप्त व्रतीमुखिगुणानि तस्य विनामि वीनोऽरण्याप्रवितस्य ॥२५॥

इत्थमिति । इत्थमनेन प्रकारेण प्रजार्थं अग्न्यावाध महिष्या सममिषिकपास्या  
सह । 'इतामिषैका महिषी' इत्यमरः । व्रतं धारयता महनीया पूज्या कीर्तिर्बस्य  
तरप वीनाधाममुद्वरनं देव्यविमोचनं तत्रोचितस्य परिचितस्य तस्य नूपस्य अत्रो  
गुणा आहुतयो वैपो तानि किगुणानि विराहुतानि सप्त विनाम्येकविंशतिविधानि  
व्रतीमुखः ॥ २५ ॥

एत प्रकार पुत्र के निवे महागनी सुरक्षिता के नाम निषय को धारण करते हुए  
प्रव्रतशील वीतिवर्मा शीतो के बहार करने में लगे हुए महाराज दिक्षीप के निगुने छान  
( रथीन ) जिन वीन गये ॥ २५ ॥

अभ्येधुरारमानुचरस्य मार्यं मित्रासमाणा मुनिद्वोमयेनः ।

गङ्गाप्रपातामस्तद्विकृतार्थं गौरीगुरोर्गच्छामाविशेद्य ॥२६॥

अन्येद्युरिति । अन्येद्युरन्यस्मिन्दिने द्वाविंशे दिने । 'सद्यः परस्पराम्' इत्यादिना निपातनादस्ययत्वम् । 'अद्यात्राह्वयय पूर्वोऽह्नीत्यादौ पूर्वोत्तरापरात् । तथाऽधरान्या न्यतरेतरापूर्वेद्युरादयः' इत्यमरः । मुनिहोमधेनुः । आत्मानुचरस्य भावमभिप्राय दृढभक्तित्वम् । 'भावोऽभिप्राय आशय 'इति यादव' । जिज्ञासमाना ज्ञातुमिच्छन्ती । 'ज्ञाश्रुमृदशा सन' इत्यात्मनेपदे ज्ञानच् । प्रपतन्त्यस्मिन्निति प्रपातः पतनप्रदेश । गङ्गायाः प्रपातस्तस्यान्ते समीपे विरुढानि जातानि शष्पाणि बालतृणानि यस्मिन्-स्तत् । 'शष्प बालतृण घास' इत्यमरः । गौरीगुरोः पार्वतीपितुर्गङ्गायामाविवेशः ॥  
दूसरे ( बारसवें ) दिन वशिष्ठ की होममग्न्यधी धेनु ( नन्दिनी ) अपने सेवक राजा दिलीप का 'मेरे में दृढभक्ति है या नहीं' इस भाव को जानने की इच्छा रखती हुई, गङ्गा के वारिप्रवाह के समीप उनी हुई हैं छोटी-छोटी घासों जिसमें ऐसे पार्वतीके पिता ( हिमालय पर्वत ) की गुफा में बसा ॥ २६ ॥

सा दुष्प्रधर्षा मनसाऽपि हिंस्रैरित्यद्रिशोभाप्रहितेक्षणेन ।

अलक्षिताभ्युत्पतनो नृपेण प्रसह्य सिंहः किल तां चकर्ष ॥ २७ ॥

सेति । सा धेनुहिंस्रैर्व्याघ्रादिभिर्मनसाऽपि दुष्प्रधर्षा दुर्धपेति हेतोरद्रिशोभायाः प्रहितेक्षणेन दत्तदृष्टिना नृपेणालक्षिताभ्युत्पतनमाभिमुख्येनोत्पतन यस्य स सिंहस्ता धेनु प्रसह्य हठात् । 'प्रसृत् तु हठार्थकम्' इत्यमरः । चकर्ष । किलेश्यलीके ॥ २७ ॥

'यह नन्दिनी हिंसक व्याघ्रादि दुष्ट जीवों द्वारा बड़ी कठिनार्थ से मन से भी तकलीफ न पहुँचाने के योग्य है' इस कारण से निश्चिन्त हो हिमालय की शोभा देखने में दृष्टि को लगाये हुये राजा दिलीप के द्वारा जिसका आक्रमण करना नहीं देखा गया ऐसा मायाकृत सिंह जबरदस्ती उस नन्दिनी को बनावटी ढङ्ग से फाड़ने लगा ॥ २७ ॥

तदीयमाक्रन्दितमार्त्तसाधोर्गुहानिबद्धप्रतिशब्ददीर्घम् ।

रश्मिष्विवादाय नरेन्द्रसक्तां निवर्त्तयामास नृपस्य दृष्टिम् ॥ २८ ॥

तदीयमिति । गुहानिबद्धेन प्रतिशब्देन प्रतिध्वनिना दीर्घम् । तस्या इदं तदीयम् । आक्रन्दितमार्त्तघर्षणम् । मार्त्तेषु विपन्नेषु साधोर्हितकारिणो नृपस्य नरेन्द्र-सक्ता दृष्टिम् । रश्मिषु प्रग्रहेषु 'किरणप्रग्रहौ रश्मी' इत्यमरः । आदायेव गृहीत्वेन निवर्त्तयामास ॥ २८ ॥

गुफा में टकराती हुई प्रतिध्वनि से बचे हुए उस ( नन्दिनी ) के आर्त्तनाद ने दुसियों के विषय में सज्जन ( रक्षक ) राजा दिलीप की हिमालय पर्वत ( की शोभा देखने ) में लगी दृष्टिको लगाम पकड़ कर जैसे कोई घोड़े आदिको फेरता है वैसे ही अपनी ओर फेर लिया ॥

स पाटलायां गवि तस्थिवांसं धनुर्धरः केसरिणं ददर्श ।

अधित्यकायामिव धातुमय्यां लोभद्रुमं सानुमतः प्रफुल्लम् ॥ २९ ॥

स इति । धनुर्धरः सा नपा पाटस्थानी रणवर्णायां गदि तपिषातं स्थितम् ,  
 'कमुम्' इति कमुम्पयः । केमरीके सिद्धम् । मानुमनोऽग्नेः । पातोर्गेरिहरय विद्यारो  
 मानुमनी तरयामपिपकायामूर्ध्वमूमी 'उपायकार्हे'भ्रमन्ना भूमिर्ध्वमपिपका  
 ह्यमरः । 'उपायिष्यो' रवकामकारणः । इति रवकामकारणः । प्रपुत्रयो विद्वित  
 स्तम् । 'पुत्रक विद्वमने' इति पातोः पचायः । प्रपुत्रकम् इति तस्मात्पाठे 'त्रिपुत्र  
 विसरगे' इति पातोः कचरि च 'उत्पदरथातः' इत्युकारादेशः । स्तोत्राभये भूमिष  
 पवर्त्त ॥ २९ ॥

धनुष को धारण करने वाले उस राजा दिगीप ने रवेनपुत्र का कर्त्तव्यानी गरिबी के  
 कारण बड़े हुए सिंह को वर्ण को धेरिक मानुमनी केकी भूमि में लगे हुए लोग वृद्ध को  
 मूर्ति होता ॥ २९ ॥

ततो मृगेन्द्रस्य मृगेन्द्रगामी वधाय वारस्य शर शरण्याः ।

आतामिपक्षी वृपतिर्निपक्षायुस्तर्तुमैकछत् प्रसमन्वृधृतादि ॥ ३० ॥

तत इति । ततः सिद्धार्धनामन्तरं मृगेन्द्रगामी 'शरयं' शूहरविषोः । ह्यमरः ।  
 'शरयं रवये शूहे' इति वाङ्मयः । शरयं साधु शरण्याः । 'तत्र साधु' इति पत्तावयः ।  
 प्रसमेन वक्रकारेजोवृत्ता शरयो वेध स वृपतिः । राजा आतामिपक्षः जातपरामर्शः  
 सन् । 'वनिपक्षः' इत्यमरः । कम्पस्य वधाहरणम् । 'वृक्षदिम्बो धा' इति प्रत्ययः ।  
 मृगेन्द्रस्य वधान् निपक्षमणीरात् । 'स्वीपासहृत्स्वीरविष्या' इत्युक्तिर्बोः' इत्यमरः ।  
 शरमुद्धतुमैक्यम् ।

सिंह के वर्धन के बाद मृगेन्द्र की तरह वधने वाले राजा करने में निपुण, दुस्मनों को  
 वक्रपूर्ण वधा देने वाले, वक्रमान पक्षी हुए राजा दिगीप ने सिंह को धारण के लिये शरक  
 से बाध निष्काशने के लिए रण्यो की ॥ ३० ॥

वामेतरस्तस्य करा प्रहर्तुर्नैकप्रमामृपितकक्षपमे ।

सत्ताङ्गुलिः सायकपुष्ट एव विचारिषितारम्भ ह्वायतस्ये ॥ ३१ ॥

वामेतर इति । प्रहर्तुस्तस्य वामेतरो वृषिणा कराः । नक्षत्रमामिर्मुपितामि विष्णु-  
 रितामि कक्षस्य पश्चिमिसेवस्य पश्चमि वस्य तस्मिन् । 'कक्षः पश्चिमिसेवे स्वम्  
 गुणकमरो बुधिविद्वे' इति विष्णुः । 'कक्षस्तु कर्षट' इति वाङ्मयः । सायकस्य पुष्ट वक्र  
 कर्त्तव्यकले मूकपक्षी । 'कर्षति पुष्टे' इति वाङ्मयः । सत्ताङ्गुलिः सङ् । निवारिषितारम्भ  
 निवारिषितारम्भोद्धरणोद्योग इव अवतरये ॥ ३१ ॥

प्रहार करने वाले उसका दिगीप का बाहिना हाथ नपने मण को कागित से पूरित  
 कक्ष ( पक्षी पक्ष ) निधये लगे हुए इति है पक्षी वानके मूकपक्षी में हो लगी हुई है कक्षिकों  
 निधये ऐसा होता हुआ निध में लिये हुए वान निष्काशने के लक्ष्य में लगे हुए को  
 जोति हो गया ॥ ३१ ॥

बाहुप्रतिष्ठम्भविबृद्धमन्युरभ्यर्णमागस्कृतमस्पृशद्भिः ।

राजा स्वतेजोभिरदह्यतान्तर्भोगीव मन्त्रौषधिरुद्धवीर्यः ॥ ३२ ॥

बाहुप्रतिष्ठमेति । बाहो. प्रतिष्ठमेन प्रतिबन्धेन । 'प्रतिबन्ध. प्रतिष्ठम्भ' इत्य-  
मर. । विबृद्धमन्यु प्रबृद्धरोपो राजा । मन्त्रौषधिर्यां रुद्धवीर्य. प्रतिबद्धशक्तिर्भोगी  
सर्प इव 'भोगी राजभुजङ्गयो.' इति शाश्वत । अभ्यर्णमन्तिकम् । 'उपकण्ठान्ति-  
काभ्यर्णाभ्यग्रा अप्यभितोऽव्ययम्' इत्यमर । आगस्कृतमपराधकारिणमस्पृशद्भिः  
स्वतेजोभिरन्तरदह्यत । 'अधिचेपाद्यसहन तेजःप्राणात्ययेष्वपि' इति यादव. ॥ ३२ ॥

हाथ क रुक जान से बढ हुए क्रोधवाल, राजा दिलीप, मन्त्र और औषधि से बाँध दिया  
गया है पराक्रम जिसका ऐसे साँप की भाँति समीप में ( स्थित ) अपराधी को नहीं स्पर्श  
करते हुए अपने तेज से भीतर जलने लगे ॥ ३२ ॥

तमार्यगृह्यं निगृहीतधेनुर्मनुष्यवाचा मनुवंशकेतुम् ।

विस्माययन्विस्मितमात्मवृत्तौ सिंहरुसत्त्वं निजगाद सिंह ॥ ३३ ॥

तमिति । निगृहीता पीडिता धेनुर्येन स सिंह. । आर्याणा सता गृह्यं पचयम्  
'पदास्वैरिवाह्यापचयेषु च' इति क्षिप् । मनुवन्शस्य केतु चिह्न केतुवद्व्यावर्त्तकम् ।  
सिंह इवोरुसत्त्वो महाबलस्तम् । आत्मनो वृत्तौ बाहुस्तम्भरूपे व्यापारेऽभूतपूर्वत्वा  
द्विस्मितम् । कर्त्तरि क्त । त दिलीपं मनुष्यवाचा करणेन पुनर्विस्माययन्विस्मय-  
माश्रयं प्रापयन्नजगाद । 'स्मिद् ईपदसने' इति धातोर्णिचि वृद्धावायादेशे शतृ-  
प्रत्यये च सति विस्माययन्निति रूप सिद्धम् । 'विस्मापयन्' इति पाठे पुगागममात्र  
चक्षव्यम् । तच्च 'नित्य स्मयते' इति हेतुस्मयविज्ञायामेवेति 'भीस्मयोर्हेतुभये'  
इत्यात्मनेपदे 'विस्मापयमान' इति स्यात् । तस्मान्मनुष्यवाचा विस्माययन्निति  
रूप सिद्धम् । करणविवक्षाया न कश्चिदोप ॥ ३३ ॥

नन्दिनी को पीडित किया हुआ सिंह सज्जनों के पक्ष में रहने वाले मनुवन्श के द्योतक  
सिंह के समान महान् बलवान् अपने बाहुस्तम्भरूप व्यापार के विषय में चकित हुए उन  
राजा दिलीप को मनुष्यवाणी से पुन चकित करता हुआ बोला ॥ ३३ ॥

अलं महीपाल ! तव श्रमेण प्रयुक्तमप्यस्त्रमिमो वृथा स्यात् ।

न पादपोन्मूलनशक्तिरंहः शिलोच्चये मूर्च्छति मारुतस्य ॥ ३४ ॥

अलमिति । हे महीपाल ! तव श्रमेणालम् ! साध्याभावाच्छ्रमो न कर्त्तव्य  
इत्यर्थः । अत्र गम्यमानसाधनक्रियाऽपेक्षया श्रमस्य करणत्वात्तृतीया । उक्तं च न्या  
सोद्द्योते (न केवलश्रूयमाणैव क्रियानिमित्त करणभावस्य । अपि तर्हि गम्यमानाऽ-  
पि) इति । 'अल भूषणपर्याप्तशक्तिवारणवाचकम्' इत्यमर । इतोऽस्मिन्मयि ।  
सार्वविभक्तिकस्तसि । प्रयुक्तमप्यस्त्र वृथा स्यात् । तथाहि—पादपोन्मूलने शक्ति-  
र्यस्य तत्तथोक्तं, मारुतस्य रहो वेग. शिलोच्चये पर्वते न मूर्च्छति न प्रसरति ॥ ३४ ॥



हे पृथ्वी के पावन करने वाले महाराज विभीषण ! आपका जम करना हुआ है वह  
रहने होविगे क्योंकि मेरे ऊपर बकाया हुआ भस्म भी वैसा ही व्यर्थ होगा वैसा कि  
पेड़ों को ज्यादाने बाढ़ी छक्ति रखने वाले बाजुका वैन पर्वतके विचल में व्यर्थ होता है ॥२२॥

केसासगौरं वृषमादकृताः पद्मार्पणानुमहपूतपूष्ठम् ।

अवेदि मां किङ्करमष्टमूर्त्तौ कुम्भोदर नाम निकुम्भमित्रम् ॥ ३५ ॥

केससेति । केसस इव गौराः शुभ्ररत्नम् । 'वामीकरं च शुभ्रं च गौरमाहुर्म-  
भीषिणः' इति स्मारकम् । वृषं वृषममादकृषोरासोऽनुमिच्छते । स्वस्थापरि पदं विविधं  
वृषमारोहतीत्यर्थः । अष्टौ मूर्त्तयो यस्य स तस्मादष्टमूर्त्तौ शिवस्य पद्मार्पणं पद्मार्प-  
णस्तदेवाधुमहः प्रसादस्तेव पूतं पूष्ठं यस्य तं तथोक्तम् । निकुम्भमित्रं कुम्भोदरं  
नाम किङ्करं मामवेदि विदि । 'पृथिवी सखिर्लं तेजो वायुराकाशमेव च । सूर्या-  
चन्द्रमसौ सोमपात्री चैस्वष्टमूर्त्तयः । इति वाङ्मनः ॥ ३५ ॥

हे राजन् ! केसस पर्वत के तुल्य श्वेत रंग पर चढ़ने को इच्छा करने वाले जाट  
( पृथ्वी वल ठेक-बापु जाकास सूर्य चन्द्र-सोमपात्री ) हैं मूर्त्तियों तिनको ऐसे विचली के  
चरम रखने रूप अनुमह से एविग रोडपाव्य निकुम्भ ( शिवजी का मण्डित मन ) का मित्र  
'कुम्भीदर नाम से मण्डित 'शिवजी का' ओकर मुझे तुम काको ॥ ३५ ॥

अमुं पुरा परयसि देवदाहं पुत्रीकृताऽसौ वृषमप्यजेन ।

या हेमकुम्भस्तनमिच्छतां स्कन्धस्य मातुः पयसा रसज्ञा ॥ ३६ ॥

अमुमिति । पुरोऽग्रतोऽमुं देवदाहं परयसि इति काकुः । अष्टौ देवदाहः । वृषमो-  
ज्जो यस्य स तेन शिवं पुत्रीकृताः पुत्रत्वेन रचीकृतः । अमृततन्नामे पियः । यो देव-  
दाहः स्कन्धस्य मातुर्गीर्वा इमाः कुम्भ इव स्तनस्तस्मात्त्रिासुतायां पयसाममूर्त्तां  
रसज्ञा रसादश्च, स्कन्धपत्रे—हेमकुम्भ इव स्तन इति विग्रहः । पयसा जीराणाम् ।  
'पया जीरं पयोऽम्बु च इत्यमरः । स्कन्धसमानप्रेमास्पदमिति भावः ॥ ३६ ॥

हे राजन् ! तुम को जागी रिक्त इस देवदाह के वृद्ध को दण्ड रहे ही इसे छट्टती के  
पुत्रभाव से माना है जो कि कर्त्तिकेन को गौं चार्त्तकी के छीने के बरकरी स्वयं से  
निकले हुए वृषकी जाट के रसाह का नामसे बापा है स्कन्धपत्र में सोने के बड़े के समान  
रसमो से निकले हुए हुए के रसाह का बालने माना है ॥ ३६ ॥

अवृषयमानेन कष्ट कदाचिद्व्यग्रिपेभोऽग्नयिता स्वरास्य ।

अयेनमद्रेस्तनया दुष्टोद्य सेनाम्यमालीढमिवासुरयद्वि ॥ ३७ ॥

अवृषयति । कदाचिदर्थं कपोलं अवृषयमानेन धर्ययता । 'अवृषयतिप्यो यक'  
इति 'यक' तत्ता शास्त्रम् । व्यग्रिपेनाग्न्य देवदारोस्त्वगुग्मयिता । अवात्रेननवा गीरी  
असुराधेरादीर्हं यतयः । सेनां नयतीति सेनामी । स्कन्धः । 'चार्त्तनीमन्वना स्कन्धः  
सेनामी' इत्यमरः । 'सामूद्रिक'—इत्यादिना किवृ । तमिव वृषं देवदाहं दृष्टोच ।

किसी समय में गण्डस्थल को रगड़ते हुये किसी जगली हाथी ने इस देवदार वृक्ष की छाल उचेड़ डाली, इसके बाद पार्वतीजी ने दैत्यों के अर्खों से चोट खाये हुये अपने पुत्र स्कन्ध के समान इसके सम्बन्ध में भी शोक किया ॥ ३७ ॥

**तदाप्रभृत्येव वनद्विपानां त्रासार्थमस्मिन्नहमद्रिकुक्षौ ।**

**व्यापारितः शूलभृता विधाय सिंहत्वमङ्गागतसत्त्ववृत्ति ॥ ३८ ॥**

तदेति । तदा तत्काल प्रभृतिरादिर्यस्मिन्कर्मणि तत्तथा तदाप्रभृत्येव वनद्विपानां त्रासार्थं भयार्थं शूलभृता शिवेन, अङ्क समीपमागता प्राप्ता सन्वा प्राणिनो वृत्तिर्यस्मिन्स्तत् 'अङ्क समीप उरसङ्गे चिह्ने स्थानापराधयोः' इति केशव । सिंहत्व विधाय । अस्मिन्नद्रिकुक्षौ गुहायामह व्यापारितो नियुक्त ॥ ३८ ॥

उसी समय से जङ्गल हाथियों के डराने के लिये, शूल के धारण करने वाले श्रीशिवजी ने समीप में आये हुए प्राणियों पर निर्वाह करने वाली सिंहवृत्ति देकर मुझे इस पहाड़ की गुफा में नियुक्त किया है ॥ ३८ ॥

**तस्यालमेवा क्षुधितस्य तृप्त्यै प्रदिष्टकाला परमेश्वरेण ।**

**उपस्थिता शोणितपारणा मे सुरद्विपश्चान्द्रमसी सुधेव ॥ ३९ ॥**

तस्येति । परमेश्वरेण प्रदिष्टो निर्दिष्टकालो भोजनवेला यस्या सोपस्थिता प्राप्तेषा गोरूपा शोणितपारणा रुधिरस्य व्रतान्तभोजन, सुरद्विपो राहो, चन्द्रमस इय चान्द्रमसी सुधेव, क्षुधितस्य दुभुक्षितस्य तस्याङ्गागतसत्त्ववृत्तेर्मे मम सिंहस्य तृप्त्या अल पर्याप्ता । 'नमः स्वस्तिस्वाहास्वधाऽलवपढयोगाक्ष' इत्यनेन चतुर्थी ॥ ३९ ॥

शिवजी के बताये हुये भोजन के समय पर उपस्थित यह गोरूप रुधिरसम्बन्धी व्रत की समाप्ति के समय का भोजन दैत्य राहु के लिए चन्द्रसम्बन्धी अमृत की भाँति, भूखे हुये उस को अर्थात् समीप में आये हुये प्राणियों को खाकर जीवन निर्वाह करने वाले मुझ सिंह की तृप्ति के लिये पर्याप्त ( पूरा ) होगा ॥ ३९ ॥

**स त्वं, निवर्त्तस्व विहाय लज्जां गुरोर्भवान्दर्शितशिष्यभक्ति ।**

**शस्त्रेण रक्ष्यं यदशक्यरक्षं न तद्यशः शस्त्रभृतां क्षिणोति ॥४०॥**

स त्वमिति । स एवमुपायशून्यस्त्व लज्जा विहाय निवर्त्तस्व । भवांस्त्व गुरोर्दर्शिता प्रकाशिता शिष्यस्य कर्त्तव्या भक्तिर्येन स तथोक्तोऽस्ति । ननु गुरुधन विना शय कथं तरसमीप गच्छेयमत आह—शस्त्रेणेति । यद्रक्ष्य धनं शस्त्रेणायुधेन । 'शस्त्र मायुधलोहयो' इत्यमर । अशक्या रक्षा यस्य तद्रक्ष्यरक्षम् । रक्षितुमशक्यमित्यर्थ । तद्रक्ष्य नष्टमपि शस्त्रभृता यशो न क्षिणोति न हिनस्ति । अशक्यार्थेण्वप्रतिविधानं च दोषायेति भावः ॥ ४० ॥

उपाय से शून्य पूर्वोक्त तुम लज्जा को छोड़ कर लौट जाओ । तुमने गुरु के सम्बन्ध

में दिम्बो के योग्य भक्ति रिपुता हो नीर को रखा करने योग्य वस्तु सब ठीक  
करने के योग्य नहीं होती वह नष्ट होती हुई भी सबकारी की क्षीति को नष्ट नहीं कर  
सकती है ॥ ४ ॥

इति प्रगल्भ पुण्याधिराजो मृगाधिराजस्य वधो निशम्य ।

प्रत्याहृतात्सो गिरिशप्रभावादात्मन्यवर्णा क्षिपिस्त्रीचकार ॥ ४१ ॥

इतीति । पुण्याधिराजः मृग इति प्रगल्भ मृगाधिराजस्य वधो निशम्य  
शुक्ला गिरिशस्येश्वरस्य प्रभावात्प्रत्याहृताः कुण्ठिताः सञ्जगमनि विपदेश्वज्जग-  
ममान क्षिपिस्त्रीचकार । तत्प्राप्त्यर्थः । अवज्ञातोऽश्रमिति निर्बद्ध न प्राप्येत्पथः ।  
समाधेयु हि क्षिपिजातानामिमाधो न सर्वेश्वरं प्रतीति भावः ॥ ४१ ॥

सरणिप दिग्भर ने इस जगत् में जीठ सिंह के वक्त्र चुनकर सहर के प्रभाव से  
नरने सब को सब दूर गात कालकर करने दिग्भर में अपमान के भाव की क्षिपि कर  
विना कहीं अपमान अपमान नहीं समझा ॥ १ ॥

प्रत्यग्रवीक्ष्यैतन्मिपुप्रयोगे तत्पूर्वमङ्गे वितथप्रयत्नः ।

जङ्गीकृतस्त्र्यम्बकवीक्षणेन यत्तं मुमुक्षुश्चिब बज्रपाणिः ॥ ४२ ॥

प्रतीति । स एव पूर्वा प्रकृतो मङ्ग प्रतिबन्धो यस्य तस्मिन्स्तत्पूर्वमङ्गे इपुप्रयोगे  
वितथप्रयत्नो विप्रकप्रयासः । अत एव यत्तं कुम्भितं त्र्यम्बकोन्मुमिच्छत् । अन्वर्त  
छोचनम् । 'इन्द्रविजयोचकचकुम्भपनाम्बकेकनाक्षीणि' इति इकायुवा । वीम्बम्-  
कानि यस्य स त्र्यम्बको हराः तस्य वीक्षणेन जङ्गीकृतो विष्णुवीकृता । बज्र पाणी  
यस्य स बज्रपाणिर्मुखा । 'प्रहरणार्थेष्वा परे विद्यासप्तमी भवत इति बज्र-  
व्यय' इति पाणिः सप्तम्यन्तस्योत्तरविपाता । स एव निबन्धो मृग एवं सिंह प्रत्यग्र-  
वीक्ष ( बाहुं सवर्णं शस्त्रस्य कुञ्जत्वास्तस्मिन्मयाह्वयः ) इति महाभारते ॥ ४२ ॥

पक्षे पक्ष ही है कदाकर निबन्धो पक्षे बाण के कमाने में निष्पन्न प्रयास बाण  
अत एव अहत् नयनाम् के देखने से ही निबन्ध किये हुये बज्र का प्रहार करने को इच्छा  
करने बाण है बाण में किलके पक्षे हन्त्र के समान स्थित उच्चादिजीव सिंह के  
मत्स्यार में नीचे ॥ ४२ ॥

संक्षब्धेष्वस्य मृगेन्द्र । कामं हास्यं बभूवस्तद्यत्तं विपद्युः ।

अन्तर्गत प्राणभृता हि वेद सर्वे मन्त्राण्यप्यमृतोऽमिषास्ये ॥ ४३ ॥

संक्षब्धेष्वस्येति । मृगेन्द्र । संक्षब्धेष्वस्य प्रतिबज्रपाणापास्तम् मम तद्वचो बाधार्थं  
कामं हास्यं परिहसनीयम् । बह्वचः 'सर्वं मनीषेव' ( ११५५ ) इत्यादिप्रकारं विपद्यु-  
र्बन्तुमिच्छति । तर्हि तूष्णीं रथीयतामिषाद्यहोचर किङ्करत्वात्सर्वार्थं त्वां प्रति व  
हास्यमित्याह-अन्तरिति । हि यतो मन्त्राण्यप्यमृतमप्यमृतं ब्रह्मं वाग्भूत्वा बहिर-  
प्रकाशितमेव सर्वं भावं वेद वेति 'विदो कयो वा' इति अथर्ववेदः । अतोऽश्रमि-

धास्ये वषयामि । वच इति प्रकृतं कर्म सम्बद्धयते । अन्ये त्वीदृग्वचनमाकर्ण्या-  
सम्भावितार्थमेतदित्युपहसन्ति, अतस्तु मौनमेव भूषणम् । त्वं तु वाङ्मनसयोरे-  
कविध एवायमिति जानासि । अतोऽभिधास्ये यद्वचोऽहं त्रिवच्चुरित्यर्थः ॥ ४३ ॥

हे सिंह ! यद्यपि रुकी हुई है चेष्टा जिसकी, ऐसे मुझ दिलीप का वह वचन अत्यन्त  
परिहास करने के योग्य है, जिसे कि मैं कहने की इच्छा करने वाला हो रहा हूँ, तथापि  
आप सभी जीवों के हृदय के भाव जानते हैं, इससे कहूँगा ॥ ४३ ॥

**मान्यः स मे स्थावरजङ्गमानां सर्गस्थितिप्रत्यवहारहेतुः ।**

**गुरोरपीदं धनमाहिताग्नेर्नश्यत्पुरस्तादनुपेक्षणीयम् ॥ ४४ ॥**

मान्य इति । प्रत्यवहार प्रलयः । स्थावराणां तरुशैलादीनां जङ्गमानां मनुष्या-  
दीनां सर्गस्थितिप्रत्यवहारेषु हेतुः स ईश्वरो मे मम मान्य पूज्य । अलङ्घ्यशासन  
इत्यर्थः । शासन च 'सिंहत्वमङ्गागतसत्त्ववृत्ति' ( २।३८ ) इत्युक्तरूपम् । तर्हि  
विसृज्य गम्यताम् । नेत्याह-गुरोरपीति । पुरस्तादग्रे नश्यदिदमाहिताग्नेर्गुरोर्धन-  
मपि गोरूपमनुपेक्षणीयम् । आहिताग्नेरिति विशेषणनानुपेक्षाकारणं हविःसाधनत्व  
सूचयति ॥ ४४ ॥

स्थावर ( वृक्ष-पर्वत आदि ) और जङ्गमों ( मनुष्यादिकों ) के उत्पत्ति, पालन और  
संहार करने में कारण वे श्रीशिवजी मेरे पूज्य हैं, ( अर्थात् उनकी आज्ञा माननीय है )  
और आगे नष्ट होता हुआ यह अग्निहोत्र करने वाले गुरुजी वसिष्ठ महाराज का गोरूप  
धन भी उपेक्षा करने के योग्य नहीं है ( अर्थात् इसकी ही रक्षा करनी चाहिये ) ॥ ४४ ॥

**स त्वं मदीयेन शरीरवृत्तिं देहेन निर्वर्त्तयितुं प्रसीद ।**

**दिनावसानोत्सुकबालवत्सा विसृज्यतां धेनुरियं महर्षे ॥ ४५ ॥**

स इति । सोऽङ्गागतसत्त्ववृत्तिस्त्वं मदीयेन देहेन शरीरस्य वृत्तिं जीवन निर्वर्त्त-  
यितुं सम्पादयितुं प्रसीद । दिनावसाने उत्सुको माता समागमिष्यतीत्युत्कण्ठितो  
बालवत्सो यस्या सा महर्षेरियं धेनुर्विसृज्यताम् ॥ ४५ ॥

समीप में आये हुए प्राणियों से अपना जीवन-निर्वाह करने वाले ( वह ) तुम मेरे  
शरीर से अपने शरीर का जीवन रखने के लिये अनुग्रह करो और दिन के समाप्त होने  
पर 'हमारी माँ आती होगी' इससे उत्कण्ठित छोटे बछड़े वाली महर्षि वसिष्ठ की इस धेनु  
'नन्दिनी' को छोड़ो ॥ ४५ ॥

**अथान्धकारं गिरिगङ्गराणां दंष्ट्रामयूखैः शकलानि कुर्वन् ।**

**भूयः स भूतेश्वरपार्श्ववर्त्ती किञ्चिद्विद्वदस्यार्थपतिं वभाषे ॥ ४६ ॥**

अथेति । अथ भूतेश्वरस्य पार्श्ववर्त्यनुचर स सिंहो गिरिगङ्गराणां गुहानाम् ।  
'देवखातयिले गुहा । गङ्गाम्' इत्यमरः । अन्धकार ध्वान्तं दंष्ट्रामयूखैः, शकलानि

अन्धमि कुर्वन् । निरस्यचित्तवर्गः । किञ्चिद्ब्रह्मस्वात्परिपुत्रं भूयो वमाये । हात्स  
कारणम् 'अक्षयस्य हेतोर्बहु हातुमिच्छन्' इति वक्ष्यमाणं ब्रह्मण्यम् ॥ ३६ ॥

दिकीप के बर बुझने के बाद मगवान् शहर के पास रहने काका यह सिंह रिमन्म  
पवन को शुक्यों के जन्मकार की रीतों को कायि से डकड़े डकड़े करता हुआ कुछ  
हँसकर दिकीप से फिर बोला ॥ ३६ ॥

एकातपत्रं अगतः प्रभुत्वं नय वयः कान्तमिवं वपुष्य ।

अस्यस्य हेतोर्बहु हातुमिच्छन्निवारमुहः प्रतिमासि मे त्वम् ॥३७॥

एकातपत्रमिति । एकातपत्रमेकपत्रं अगतः प्रभुत्वं स्वामित्वम् । नय वयः  
वीक्षन्म् । इह कान्तं इत्थं वपुष्य । इत्येवं बहु अक्षयस्य हेतोरक्षयेन कारमेव,  
अक्षयस्येत्यर्थः । 'पट्टी हेतुमयोरी' इति वक्षी । हातुं त्यक्तुमिच्छेत्तत्त्वं विज्ञाते  
कार्याकार्यविमर्शं मुहा सूत्रं मे मम प्रतिमासि ॥ ३७ ॥

एकपत्र तंत्रार की प्रभुता गवीन सुवापस्था और यह तन्त्रार शरीर इस सब शक्तियों  
को भोजी से लानिनी रूप फल के काय के कारण से छोड़ने की इच्छा करते हुये हम 'नय'  
करना चाहिये क्या नहीं करसु चाहिये इससे विचार करने में कुछे पूर्व माहस्य बदले ही ॥

भूतानुक्त्या त्वं खेदिव्यं गौरेक्यं मवेरस्वस्तिमती त्वद्वन्ते ।

जीवन्मुनः शब्दपुण्यवेद्यः प्रज्ञाः प्रज्ञाभाय । पितेव पासि ॥३८॥

भूतानुक्त्येति । त्वं भूतपुण्यकृपा कृपा येत् । 'कृपा इवाभ्युक्त्या रवात्  
इत्यमरः । कुपैव वरुंते वैदित्यर्थः । तर्हि त्वद्वन्ते त्वं नासे सतीपमेका गौ ।  
स्वस्ति वेममस्वा अस्तीति स्वस्तिमती मवेत् । जीवन्मुनः । 'एवस्वासीः वेम  
पुन्यादौ' इत्यमरः । हे प्रज्ञाभाय । जीवन्मुनः पितेव प्रज्ञा उपपन्नवेद्यो विवेकज्ञा  
शब्दासहा । पुनश्चादार्थबोः अथत् इत्यमरः । पासि रचसि । स्वमाज्ययमेक-  
वेमुरववाहर् जीवितेमेव शब्दवृत्तिकप्रयात्वाप्यमित्यर्थः ॥ ३८ ॥

हे राजन् ! तुम्हारी प्राणियों के ऊपर क्या बहि है तो तुम्हारे मर जाने पर कैसा बड़ी  
एक ही कस्याम से कुछ ही सफ़ी है । हे प्रज्ञाओं के स्वामी महाराज दिकीप ! और तुम्हें  
विषय ही आप विना के समाज प्रज्ञाओं की किम्बों से निरन्तर रखा कर सकते हैं ॥ ३८ ॥

न चर्मकोपादिवं प्रवृत्तिः किन्तु गुरुजवावित्वत आह—

अथैकवेमोरपरराक्षसपञ्चाद् गुरोः कथानुप्रतिमाद् विमेपि ।

शपयाऽस्य मर्त्युर्मवता यिमेनुं वाः कोटिषः स्पर्शयता धर्तोऽप्री ॥३९॥

अथेति । अथेति पञ्चागरे । अथवा । अथैव वैकुण्ठस्य तस्मात् । अर्थ कोपकारणो-  
पपत्ता इति वैय्यः । अत एवापराये गवोपेधाकृष्ये सति 'अन्धावतिकोपनात् ।  
'अन्धस्वात्तन्त्रकोपना' इत्यमरः । अत एव कृष्णानु । प्रतिमोपमा अस्व तस्माद्वि-  
कृष्याद् गुरोर्बिमेपि । इति व्याख्या । 'धीशार्थावा मयहेतु' इत्यपादानात्प्रज्ञासी ।

अल्पवित्तस्य धनहानिरिति दुःसहेति भावः । अस्य गुरोर्मन्युः क्रोधः 'मन्युर्देन्ये कृतौ क्रुधि' इत्यमरः । घटा हवोधासि यासां ता घटोधनी । 'ऊधसोऽनह्' इत्यनङादेशः । 'बहुव्रीहेरुधसो ङीप्' इति ङीप् । कोटिशो गाः स्पर्शयता प्रतिपादयता । 'विश्रा-  
णन वितरण स्पर्शन प्रतिपादनम्' इत्यमरः । भवता विनेतुमपनेतुं शक्यः ॥ ४९ ॥

अथवा हे राजन् ! एक ही है धेनु जिसके अत एव गौ के रक्षा न करने रूप अपराध होने से अत्यन्त क्रुद्ध हुये, अग्नि के तुल्य अपने गुरु वसिष्ठजी से यदि तुम डरते हो तो, उनके क्रोध को घटे के समान बड़े-बड़े स्तनों वाली करोड़ों गायों को देते हुये दूर करने में समर्थ हो ॥ ४९ ॥

तद्रक्ष कल्याणपरम्पराणां भोक्तारमूर्जस्वलमात्मदेहम् ।

महीतलस्पर्शनमात्रभिन्नमृद्धं हि राज्यं पदमैन्द्रमाहुः ॥ ५० ॥

तद्रक्षेति । तत्तस्मात्कारणात्कल्याणपरम्पराणां भोक्तारम् । कर्मणि पष्ठी । ऊर्जो यलमस्यास्तीत्यूर्जस्वलम् । 'ज्योत्स्नातमिस्त्रे' ध्यादिना वलच् प्रत्ययान्तो निपातः । आत्मदेह रक्ष । ननु गामुपेक्ष्यात्मदेहरक्षणे स्वर्गहानिः स्यात् । नेत्याह—  
महीतलेति । ऋद्ध समृद्ध राज्य महीतलस्पर्शनमात्रेण भूतलसम्बन्धमात्रेण भिन्न-  
मैन्द्रमिन्द्रसम्बन्धिपद स्थानमाहुः स्वर्गाच्च भिद्यत इत्यर्थः ॥ ५० ॥

इस कारण से हे राजन् ! तुम उत्तरोत्तर सुखों का भोग करने वाले अत्यन्त बल से युक्त अपने शरीर की रक्षा करो, क्योंकि विद्वान् लोग-समृद्धिशाली राज्यको केवल पृथ्वीतल के सम्बन्ध होनेसे अलग हुआ इन्द्रसम्बन्धी स्थान ( स्वर्ग ) कहते हैं ॥ ५० ॥

एतावदुक्त्वा विरते मृगेन्द्रे प्रतिस्वनेनास्य गुहागतेन ।

शिलोच्चयोऽपि क्षितिपालमुच्चैः प्रीत्या तमेवार्थमभाषतेव ॥ ५१ ॥

एतावदिति । मृगेन्द्र एतावदुक्त्वा विरते सति गुहागतेनास्य सिंहस्य प्रतिस्व-  
नेन शिलोच्चयो शैलोऽपि प्रीत्या तमेवार्थं क्षितिपालमुच्चैरभाषतेव इत्युत्प्रेक्षा ।  
भाषिरय ब्रुविसमानार्थकत्वाद् द्विकर्मक । ब्रुविस्तु द्विकर्मकेषु पठितः । तदुक्तम्—  
( दुहियाचिरुधिप्रच्छिच्छिचिजामुपयोगनिमित्तमपूर्वविधौ । ब्रुविशासिगुणेन च यस्स-  
चते तदकीर्तितमाचरित कविना ॥ ) इति ॥ ५१ ॥

सिंह के घृतना कहकर चुप हो जाने पर गुफा में पहुँची हुई इसकी प्रतिध्वनि द्वारा पर्वत भी प्रेम से मानो उसी बात को राजा दिलीप से जोर से कहने लगा ॥ ५१ ॥

निशम्य देवानुचरस्य वाचं मनुष्यदेवः पुनरप्युवाच ।

धेन्वा तदध्यासितकातराक्ष्या निरीक्ष्यमाणः सुतरां दयालुः ॥ ५२ ॥

निशम्येति । देवानुचरस्येश्वरकिङ्करस्य सिंहस्य वाचं निशम्य मनुष्यदेवो राजा पुनरप्युवाच । किम्भूत सन् । तेन सिंहेन यदध्यासित व्याक्रमणम् । नपुसके भावे क्तः । तेन कातरे अक्षिणी यस्यास्तथा । 'बहुव्रीहौ सक्थ्यघ्णोः स्त्राङ्गात्पच्' इति

अपह्नाति कुर्वन् । निरस्वचित्पथः । किञ्चिद्विहृतस्वार्थपतिं त्वं भूयो वभाषे । इत्थं  
कारणम् 'अल्पस्य हेतोर्ननु हातुमिच्छन्' इति वक्ष्यमाणं द्रष्टव्यम् ॥ ७६ ॥

विभीष के वर पुष्प के बार मगवान् पहर के वास रहने बाबा वह सिंह दिमाक  
बरेन को गुप्तियों के अन्धकार का दोषों की शक्ति से डकड़े डकड़े करता हुआ उग्र  
हैसकर विभीष से फिर बोला ॥ ७६ ॥

एकतपस आगतः प्रभुत्वं नव यया कथन्तमिदं वपुज्ज ।

अस्यस्य हेतोर्ननु हातुमिच्छन्विचारमूढः प्रतिमासि मे त्वम् ॥७७॥

एकतपसमिति । एकातपसनेकवर्ष आगतः प्रभुत्वं स्वामित्वम् । नवं वयो  
धीवत्यम् । इदं कथन्तं रस्यं वपुज्ज । इत्थं बहु अल्पस्य हेतोरल्पेन कारणेन,  
अल्पप्रकारोत्पत्तिः । 'पक्षी हेतुप्रयोगे' इति पक्षी । हातुं त्यक्तुमिच्छत्त्वं विचारे  
कार्याकार्यविमर्शं यथा यत्नो मे मम प्रतिमासि ॥ ७७ ॥

एकवर्ष संसार की प्रभुता बहीन पुत्रावस्था की वह सुन्दर सरीर इन सब वस्तुओं  
की भीड़े से नाशिकी रूप रूप के काम के कारण से छोड़ने की इच्छा करते हुये तुम 'नवा'  
करना चाहिये नवा नहीं करना चाहिये बसके विचार करते ये छोटे मूर्ख मात्स्य रहते हो ॥

भूतानुकम्पया त्वेव वैविष्ये चोरेका मयेत्यवस्थिमती स्वदन्ते ।

जीवेन्पुनः शब्दपुपञ्चमेभ्यः प्रज्ञाः प्रज्ञानाय । पितृव पाप्मि ॥७८॥

भूतानुकम्पेति । त्वं भूतानुकम्पया कृपा चेत् । 'कृपा इयाम्भुकम्पया स्वाय'  
इत्यमरः । कुर्वन् वर्तते वैदित्यर्थः । तर्हि स्वदन्ते त्वं नास्ते सतीवमेका यौ ।  
स्वस्ति चममत्वा अस्तीति स्वस्तिमसी मयेत् । जीवेदित्यर्थः । 'इहसबाह्यं चम'  
पुन्बाहो' इत्यमरः । हे प्रज्ञानाय । जीवेन्पुनः पितृव प्रज्ञा उपपञ्चमेभ्यो विभेत्वा  
शब्दत्तदा । 'पुनश्चार्थबो' शब्दत् इत्यमरः । पाप्मि रक्षति । स्वप्राप्तव्यवेष्टेन  
केतुरक्षणाद्वरं जीवितेनेन शब्दवृत्तिकम्पयात्तावमित्यर्थः ॥ ७८ ॥

हे राम् । तुम्हारे प्राणियों के अपर बना यदि है तो तुम्हारे मर जाने पर केवल बारी  
रह यी कम्पना से तुम हो लक्ष्मी है । हे प्रज्ञाओं के स्वामी महाराज विभीष । जीते हुये  
विभव हो आप पिता के समाप प्रज्ञाओं की विधियों से अलग रख कर लक्ष्मी ॥ ७८ ॥

न चर्मकोपादिवं प्रवृत्तिः किन्तु शुद्धमवाहित्यत आहु—

अयैकयेनोरपराधेनपञ्चाहं शूरोः कृपासुप्रतिमाह विमेयि ।

शर्कयोऽस्य मन्मथुर्मर्षता विमेयुं गाः कोटिषः स्पर्शयता प्रयोद्गी ॥७९॥

अयेति । अयेति पञ्चमरे । अथवा । यदीव वैश्वर्येन तस्मात् । अर्थं कोपकारणो  
पञ्चाह इति शेषः । अथ अपापराधे गणोपेक्षाकथने अति अन्धावृत्तिकोपवात् ।  
'अन्धस्त्वान्तकोपवा' इत्यमरः । अथ यत्र कृपासु प्रतिमोपमा बत्त्व तस्माद्वि  
कृपात् पुरोर्भिमेयि । इति काण्डम् । 'भीष्मार्थानां मर्षहेतु' इत्यपवादवात्पञ्चमी ।

अरुपवित्तस्य धनहानिरतिदुःसहेति भावः । अस्य गुरोर्मन्युः क्रोध 'मन्युर्दैन्ये कृतौ क्रुधि' इत्यमरः । घटा इवोष्ठांसि यासां ता घटोष्णीः । 'ऊधसोऽनह्' इत्यनङादेशः । 'बहुव्रीहेरुधसो ङीप्' इति ङीप् । कोटिशो गाः स्पर्शयता प्रतिपादयता । 'विश्रा-  
णन वितरण स्पर्शनं प्रतिपादनम्' इत्यमरः । भवता विनेतुमपनेतुं शक्यः ॥ ४९ ॥

अथवा हे राजन् ! एक ही है धेनु जिसके अत एव गौ के रक्षा न करने रूप अपराध होने से अत्यन्त क्रुद्ध हुये, अग्नि के तुल्य अपने गुरु वसिष्ठजी से यदि तुम डरते हो तो, उनके क्रोध को घड़े के समान बड़े-बड़े स्तनों वाली करोड़ों गायों को देते हुये दूर करने में समर्थ हो ॥ ४९ ॥

तद्रक्ष कल्याणपरम्पराणां भोक्तारमूर्जस्वलमात्मदेहम् ।

महीतलस्पर्शनमात्रमिन्द्रमृद्धं हि राज्यं पदमैन्द्रमाहुः ॥५०॥

तद्रक्षेति । तत्तस्मात्कारणात्कल्याणपरम्पराणां भोक्तारम् । कर्मणि षष्ठी । ऊर्जो बलमस्यास्तीत्यूर्जस्वलम् । 'ज्योत्स्नातमिस्त्रे' त्यादिना बलच् प्रत्ययान्तो निपातः । आत्मदेह रक्ष । ननु गामुपेक्ष्यात्मदेहरक्षणे स्वर्गहानि स्यात् । नेत्याह—  
महीतलेति । ऋद्ध समृद्ध राज्यं महीतलस्पर्शनमात्रेण भूतलसम्बन्धमात्रेण मिन्द्र-  
मैन्द्रमिन्द्रसम्बन्धिपद स्थानमाहुः स्वर्गाच्च भिद्यत इत्यर्थः ॥ ५० ॥

इस कारण से हे राजन् ! तुम उत्तरोत्तर सुखों का भोग करने वाले अत्यन्त बल से युक्त अपने शरीर की रक्षा करो, क्योंकि विद्वान् लोग-समृद्धिशाली राज्यको केवल पृथ्वीतल के सम्बन्ध होनेसे अलग हुआ इन्द्रसम्बन्धी स्थान ( स्वर्ग ) कहते हैं ॥ ५० ॥

एतावदुक्त्वा विरते मृगेन्द्रे प्रतिस्वनेनास्य गुहागतेन ।

शिलोच्चयोऽपि क्षितिपालमुच्चैः प्रीत्या तमेवार्थमभाषतेव ॥५१॥

एतावदिति । मृगेन्द्र एतावदुक्त्वा विरते सति गुहागतेनास्य सिंहस्य प्रतिस्व-  
नेन शिलोच्चयो शैलोऽपि प्रीत्या तमेवार्थं क्षितिपालमुच्चैरभाषतेव इत्युपेक्षा ।  
भाषिरयं ब्रुविसमानार्थकत्वाद् द्विकर्मकः । ब्रुविस्तु द्विकर्मकेषु पठितः । तदुक्तम्—  
(दुहियाचिरुधिप्रच्छिच्छिचिजामुपयोगनिमित्तमपूर्वविधौ । ब्रुविशासिगुणेन च यत्स-  
त्ते तदकीर्त्तितमाचरितं अविना ॥ ) इति ॥ ५१ ॥

सिंह के इतना कहकर चुप हो जाने पर गुफा में पहुँची हुई इसकी प्रतिध्वनि द्वारा पर्वत भी प्रेम से मानो उमी बात को राजा दिलीप से जोर से कहने लगा ॥ ५१ ॥

निशम्य देवानुचरस्य वाचं मनुष्यदेवः पुनरप्युवाच ।

धेन्वा तदध्यासितकातराक्ष्या निरीक्ष्यमाणः सुतरां दयालुः ॥५२॥

निशम्येति । देवानुचरस्येश्वरकिङ्करस्य सिंहस्य वाचं निशम्य मनुष्यदेवो राजा पुनरप्युवाच । किम्भूतं सन् । तेन सिंहेन यदध्यासितं व्याक्रमणम् । नपुसके भावे क्तः । तेन कातरे अक्षिणी यस्यास्तया । 'बहुव्रीहौ सप्तम्यघणोः स्वाङ्गापच' इति



पञ्च । 'विदूषीरादिम्बज' इति ङीप् । किंवा वचनतीति मीम्बैर्बं रिपतयेत्त्वर्त्तः ।  
 भम्बा विरीचकस्याः । अत एव सुतरां वयाह्यं सन् । सुतरामिरवत् 'विरचवचि-  
 मन्त्य' इत्यादिना मुक्तव्याचरणम् । किमेषिदम्बयभावाद्भम्बद्रुम्यप्रकर्षे' इत्यनेनाभ्य-  
 त्पत्ता । 'तद्विद्वत्तासर्गविमर्शिन' इत्यभ्यवसंज्ञा ॥ ५१ ॥

ग्रहणं यवयान् के लोकर ( सिंह ) की वाग्य की सुमकर मनुष्यों के राजा (वि विजीप)  
 फिर यो ( वसते ) बोके, ओहि—उस सिंह के द्वारा आकाश होने से नाकुल देखो बाकी  
 नगिनो से देखे जाते हुये अत एव अत्यन्त वयाह्य हो रहे थे ॥ ५१ ॥

किमुवाचैत्याह—

सत्तात्किञ्च ज्ञायत इत्युच्यते सत्त्वस्य शब्दो भुवनेषु कदा ।

एवमेव किं तद्विपरीतपुच्छे प्रायैरुपकोशमलीमसैर्वा ॥५२॥

ज्ञातविति । 'अनु हिंसायाम् इति चातोः सम्प्रदादित्वात्किप् । 'गमादीनाम्  
 इति वक्तव्याश्चुवाधिककोपे तुगमामे च जदिति क्यं सिद्धम् । ज्ञात् माशात्  
 ज्ञायत इति क्त्वा । सुपीति योगविभागात् । तामेतां व्युत्पत्तिं कविरर्चतोऽभ्युद्य-  
 मति—ज्ञातवित्वादिना । अत्रम् उच्यते ज्ञातस्य ज्ञातव्यस्य शब्दो वाचक्यं ज्ञातव्यम्  
 इत्यर्थः । ज्ञाताप्रामत् इति व्युत्पत्त्या भुवनेषु कदा किञ्च प्रसिद्धा कदा । वक्त्रवक्त्रा  
 विक्लेशककदा, किन्तु पट्टवादिष्योगकदा इत्यर्थः । तदा किमित्यत आह—  
 तस्य ज्ञातव्यस्य विपरीतपुच्छेर्बिम्बव्यापारस्य ज्ञातव्यमकुर्वता पुंसो राज्ञेव  
 किम् । वक्त्रेणमलीमसैर्विन्दासकैर्वा । 'उपकोशो तुगुप्ता च कुप्ता निन्दा च  
 गार्हते' इत्यमरा । 'ज्योत्स्नातमिका' इत्यादिना मलीमसशब्दो विपाठितः ।  
 'मलीमसं तु मक्त्रिं कवर्ं मकुप्तिव्य' इत्यमरा । ते प्रायैर्वा किम् । निम्बितस्य  
 सर्वं ज्ञातमित्यर्थः । एतेन 'वृकात्पञ्चम् ( ११७० ) इत्यादिना द्रव्येकद्रव्येनोक्तं  
 प्रमुक्तमिति वेदितव्यम् ॥ ५२ ॥

अतः जो कविचर्च अत्रका वाक्य अत्र अत्र है तो 'ज्ञात ज्ञातव्य वाच्य से जो  
 वक्त्रवै नर शक्ति कदापि है इस व्युत्पत्ति से संसार में 'पट्टम्' की तरह कोरकति  
 से प्रसिद्ध है अतः उस ज्ञान अत्र से विपरीत व्यापार करने वाले ज्ञातव्य वाच्य से यहाँ रहा  
 करने वाले पुच्छ का राज्य और अपकीर्ति हैं मक्त्रिण पुत्र-मात्र के दोनो अर्थ हैं ॥ ५२ ॥

'अनेकनेत्रो' ( १-४९ ) इत्यनेनोच्यते—

कथं तु शक्यताऽनुगतो महर्षेर्विभाजनाच्छाव्यपयस्विनीनाम् ।

इमामनूतां सुरमेरवेहि रघूराजा तु महर्षं त्वयाऽस्त्याम् ॥५३॥

कथमिति । अनुगता ज्योत्स्नापनता । अकता ज्ञातव्यार्थः । महर्षेरनुगतो  
 वाग्यवासा पयस्विनीनां शोभीनां यथा विभाजनाद्यानाम् । 'त्वमो विद्यापितं  
 वाग्यमुत्सर्गविसर्गवे । विजगन्तं वितरणम् इत्यमरा । कथं तु ज्ञाना । न ज्ञान

इत्यर्थः । अत्र हेतुमाह—इमां गां सुरभे' कामधेनोः 'पञ्चमी विभक्ते' इति पञ्चमी । अनूनामन्यूनामवेहि जानीहि । तर्हि कथमस्याः परिभवो भूयादित्याह—रुद्रौज-  
सेति । अस्यां गवि स्वया कर्त्रा प्रहृतं तु प्रहारस्तु । नपुसके भावे क्तः । रुद्रौजसेश्वर-  
सामर्थ्येन न तु स्वयमित्यर्थः । 'सप्तम्यधिकरणे च' इति सप्तमी ॥ ५४ ॥

महर्षि वसिष्ठजी के क्रोध की शान्ति दूसरी दूध देने वाली गायों के देने से किस प्रकार हो सकती है ? 'अर्थात् कमी नहीं हो सकती है' क्योंकि—'इसे कामधेनु से कम नहीं समझना चाहिये' और इस के ऊपर तुम्हारा आक्रमण हुआ है, उसे भी शङ्कर भगवान् के सामर्थ्य से ही समझना चाहिये न कि अपनी सामर्थ्य से ॥ ५४ ॥

तर्हि किं चिकीर्षितमित्याह—

सेयं स्वदेहार्पणनिष्क्रयेण न्याय्या मया मोचयितुं भवत्तः ।

न पारणा स्याद्विहता तवैवं भवेदलुप्तश्च मुने' क्रियाऽर्थः ॥ ५५ ॥

सेयमिति । सेयं गौर्मया निष्क्रीयते प्रत्याह्रियतेऽनेन परिगृहीतमिति निष्क्रय-  
प्रतिशीर्षकम् 'एरच्' इत्यच्प्रत्ययः । स्वदेहार्पणमेव निष्क्रय तेन । भवत्तस्त्वत्तः ।  
पञ्चम्यास्तसिल् । मोचयितुं न्याय्या न्यायादनपेता । युक्त्यर्थः । 'धर्मपथ्यर्थन्या-  
यादनपेते' इत्यनेन यत्प्रत्ययः । एव सति तव पारणा भोजन विहता न स्यात् ।  
मुनेः क्रिया होमादि स एवार्थः प्रयोजनम् । स चालुप्तो भवेत् । स्वप्राणव्ययेनापि  
स्वामिगुरुधन संरक्षयमिति भावः ॥ ५५ ॥

कामधेनु के तुल्य उसी इस नन्दिनी का मुझे अपने शरीर का त्याग कर देना ही  
रूप निष्क्रय के द्वारा आप से छुड़ाना न्यायसङ्गत है, ऐसा करने पर आपका व्रणके अन्त  
का भोजन ( पारणा ) भी नष्ट नहीं होगा, वसिष्ठ महर्षि का होमादिरूप प्रयोजन भी  
नष्ट नहीं होगा ॥ ५५ ॥

अत्र भवानेव प्रमाणमित्याह—

भवानपीद परवानवैति महान् हि यत्त्रस्तव देवदारौ ।

स्थातुं नियोक्तुर्न हि शक्यमग्रे विनाश्य रक्ष्यं स्वयमक्षतेन ॥ ५६ ॥

भवानिति । परवान्स्वामिपरतन्त्रो भवानपि । 'परतन्त्र पराधीन परवान्नाथ-  
वानपि' इत्यमरः । इदं वक्ष्यमाणमवैति । भवताऽनुभूयत एवेत्यर्थः । 'शेषे प्रथमः'  
इति प्रथमपुरुषः । किमित्यत आह—हि यस्माद्धेतो । 'हि हेतावधारणे' इत्यमरः ।  
तव देवदारौ विषये महान् यत्नः । महता यत्नेन रक्षयत इत्यर्थः । इदं शब्दोक्तमर्थं  
दर्शयति—स्थातुमिति । रक्षय, वस्तु विनाश्य विनाश गमयित्वा स्वयमक्षतेना-  
ग्रणेन । नियुक्तेनेति शेषः । नियोक्तुः स्वामिनोऽग्रे स्थातुं शक्यं न हि ॥ ५६ ॥

पराधीन होते हुए आप भी इस ( आगे कही जाने वाली ) बात को जानते हैं, क्योंकि  
आपका देवदार के विषय में 'रक्षा करने के लिए' बहुत भारी प्रयत्न है । 'अत एव' रक्षा

करने के योग्य वस्तु का नाश कर के स्वर्ग विना नष्ट हुए, पीकर त्याग के भाव  
वर्धित होने के लिए समर्थ नहीं हो सक्ता ॥ ५६ ॥

सवया चैतद्व्यतिहार्यमित्याह—

किमप्यहिस्यस्तव चेन्ममतोऽहं यशःशरीरे मय मे दयालुः ।

एकान्तविष्वंसिषु मद्रिधानां पिबेज्येयनास्था कलु मीतिकेषु ॥५७॥

किमिति । किमपि किं नाहं तवाहिस्योऽन्यथो मतरचेत्तर्हि मे यस एव शरीरं  
तस्मिन्वास्तुः काव्यिको मय । 'स्यादयालुः काव्यिका' इत्यमरः । मनु मुक्कमुपे-  
यामुक्कशरीरे कोऽमिबिद्योऽत आह—एकान्तेति । मद्रिधानां मादधानां विवेकिना-  
मेकान्तविष्वंसिष्वकरयविनाशिषु मीतिकेषु वृषिभ्यादिमृतविकारेषु पिबेज्यु शरीरे  
प्यनारथा कृच्छनपेक्षैः । 'आस्था त्वाकम्बनात्स्वावचनापेक्षामु कस्वते इति विद्याः ॥

और मैं यदि तुम्हारी समस्त मैं अवश्य हूँ तो मेरे वक्कम शरीर के विषय में तुम  
दयालु हो क्योंकि हमारे ॥५७॥ कोयों के वक्कम नष्ट होने लगे पुरी मय-देव-वा-  
नाशु इत पौव महाभूतों से बने हुए शरीर में अपेक्षा नहीं रहनी है ॥ ५७ ॥

सौहार्दावहमनुसरमीथोऽमरीत्याह—

सम्बन्धमामापणपूर्वमाहुर्बुधः स नो सङ्गतयोर्वनाम्न ।

नदभूतमायातुगं । मार्हसि सर्वं सम्बन्धिता मे प्रणयं विद्वन्तुम् ॥५८॥

सम्बन्धमिति । सम्बन्धं सकलम् । आमापणमाकायाः पूर्वं कारणं वरत्त तमाहुः ।  
'स्यादामापणमाकायाः इत्यमरः । स तावत्सम्बन्धो ब्रह्मन्ते सङ्गतयोर्नाशव्यो  
र्बुधे जातः । तत्ततो देतोर्हं भूतमायातुगं । शिवातुवर । एतेन तस्मै महत्त्वं सूच-  
यति । अत एव सम्बन्धो मिश्रण्य मे प्रणयं वाचयाम् । 'मनवास्त्वमी । विभ्रम-  
वाप्यामेमाजः इत्यमरः । विद्वन्तुं माहसि ॥ ५८ ॥

अव ४ ( ईश ) ही श्री वात्रवाग ही अथवा तुम हीन कहने हैं वह वक् के शेष में  
मिले हुए हम दोनों का ही पुत्र है इस कारण से है शिरगी के अनुवर विद्व । तुम  
सर्व ही शीर । अतः शिरीर ही प्रार्थना को विफल करने के योग्य नहीं हो ॥ ५८ ॥

तथेति गामुत्तपत्तं विलीपाः स्वयाः प्रतिष्ठमपिमुत्तपाहुः ।

न न्यस्तशरणा हरयं मयद्वदमुपानयतिपञ्चमिषामिषस्य ॥ ५९ ॥

तथेतीति । तथेति गामुत्तपत्ते हरयं मिहाम् । कर्षी सिद्धे मुक्कमे य बर्मेविष्णी  
हर्ति विदुः इति शारवतः । सतततत्तमे प्रतिष्ठामापयतिपञ्चमिषामिषस्य । वादुर्यरथ  
न विटीया । अथतसप्तशरपञ्चमुषः सप्तः । वरदेहम् । आमिषरथ मातरम् । 'पञ्च-  
मिषमामिषम्' इत्यमरः । पिबेज्यु कलकमिषः । उपायमगतमर्षितवाह । एतेन निर्मम  
त्वमुत्तम् ॥ ५९ ॥

देता ही हो । तस वक्कम को कहते हुए फिर के विद्व, परों कल में वक्कम ही तुम

ब्राह्म-वाले उन राजा दिलीप ने शत्रु के त्यागने वाले होते हुए अपने शरीर को मांस के पिण्ड ( ग्रास ) के समान समर्पण कर दिया ॥ ५९ ॥

तस्मिन् क्षणे पालयितुः प्रजानामुत्पश्यतः सिंहनिपातमुग्रम् ।

अवाङ्मुखस्योपरि पुष्पवृष्टिः पपात विद्याधरहस्तमुक्ता ॥६०॥

तस्मिन्निति । तस्मिन्क्षणे उग्र सिंहनिपातमुत्पश्यत उत्प्रेक्षमाणस्य तर्क्यतोऽवाङ्मुखस्य 'स्यादवाङ्मुख्यधोमुखः' इत्यमर । प्रजाना पालयितुं राज्ञ उपर्युपरिष्ठात् 'उपर्युपरिष्ठात्' इति निपात । विद्याधराणां देवयोनिविशेषाणा हस्तैर्मुक्ता पुष्प-वृष्टि पपात ॥ ६० ॥

उस क्षण में उत्कट सिंह के आक्रमण के विषय मैं विचार करते हुए नीचे को मुख किए प्रजाओं के पालन करने वाले राजा दिलीप के ऊपर विद्याधर नामक दैवयोनिविशेषों के हाथों से छोटी गई फूलों की वर्षा हुई ॥ ६० ॥

उत्तिष्ठ वत्सेत्यमृतायमान वचो निशम्योत्थितमुत्थितः सन् ।

ददर्श राजा जननीमिव स्वां गामग्रतः प्रक्षविणीं न सिंहम् ॥६१॥

उत्तिष्ठेति । राजा अमृतमिवाचरतीत्यमृतायमान तत् 'उपमानादाचारे' इति वयच् । तत् शानच् । उत्थितमुत्पन्न 'हे वत्स ! उत्तिष्ठ' इति वचो निशम्य श्रुत्वा । उत्थित सन् । अस्ते शत्रुप्रस्थयः । अग्रतोऽग्रे प्रक्षव क्षीरस्रावोऽस्ति यस्या सा ता प्रक्षविणीं गा स्वा जननीमिव ददर्श सिंह न ददर्श ॥ ६१ ॥

राजा दिलीप ने अमृत के समान ( नन्दिनी के मुख से ) निकले हुये 'हे पुत्र ! उठो' इस वचन को सुनकर उठने लगे आगे 'स्थित' जिसके 'स्तनों से' दूध बह रहा है ऐसी गौ ( नन्दिनी ) को अपनी मा के समान देखा 'किन्तु' सिंह को नहीं देखा ॥ ६१ ॥

तं विस्मितं धेनुरुवाच साधो ! मायां मयोद्भाष्य परीक्षितोऽसि ।

ऋषिप्रभावान्मयि नान्तकोऽपि प्रभुः प्रहर्तुं किमुनान्यहिंसा ॥६२॥

तमिति । विस्मितमाश्चर्यं गतम् । कर्तरि क्त । तं दिलीप धेनुरुवाच किमित्य-ब्राह्म—हे साधो ! मया मायामुद्भाष्य कल्पयित्वा परीक्षितोऽसि । ऋषिप्रभावान्म-अत्यन्तको यमोऽपि प्रहर्तुं न प्रभुर्न समर्थ अन्ये हिंसा घातुका । 'शरार्वर्षातुको हिंस्र' इत्यमर । 'नमिकम्पिस्मयजसकमहिंसदीपो र' इत्यादिना रप्रस्थय । किमुत सुष्ठु न प्रभव इति योज्यम् । 'बलवत्सुष्ठु किमुत स्वत्यतीव च निर्भरे' इत्यमर ॥६२॥

आश्चर्य-युक्त उन राजा दिलीप से धेनु बोली कि-सज्जन महाराज दिलीप ! मैंने माया को उत्पन्न कर तुम्हारी परीक्षा ली थी, महर्षि वशिष्ठ जी के प्रभाव से यमराज भी मुझ पर प्रहार करने के लिये समर्थ नहीं हैं । दूसरे हिंस्र व्याघ्रादि तो अत्यन्त समर्थ नहीं हैं ॥

भक्त्या गुरौ मय्यनुकम्पया च प्रीताऽस्मि ते पुत्र ! वरं वृणीष्व ।

न केवलानां पयसां प्रसूतिमवेहि मां कामदुर्घां प्रसन्नाम् ॥ ६३ ॥

मत्स्येति । हे पुत्र ! गुरो मत्स्या मत्स्यजुष्मन्वाच ते तुभ्यं प्रीताऽस्मि । 'किवा-  
ग्रहणमपि कर्त्तव्यम्' इति चतुर्थी । वरं देवेभ्यो वरणीयमर्थम् । 'देवान् वृते वरा  
मेते त्रिषु ऋषीष मनाक् प्रियं' इत्यमरः । वृणीष्य ऋषीकृत । तथाहि—मो केवकायां  
पयसा प्रसृतिं कारयं गत्वेहि न विद्धि । किन्तु प्रसन्नां माम् । कामान्बोर्ग्रीति काम  
बुधा वामवेहि । 'बुधा कम्बध' इति कप्यत्वधः ॥ ६३ ॥

हे पुत्र ! वसिष्ठ महर्षि के विषय में भक्ति रहने से भीरु मेरे विषय में दया करने से मैं  
तुझपर प्रसन्न हूँ । इत्यर्थः तु वर मांग और मुझे केवल दूध देने वाली माय मत्त समस्त  
मत्त होने पर कमिष्ठाभाभी को पूरी करने वाली काम ॥ ६३ ॥

ततः समासीत्य स मानितार्थी हस्ती स्वहस्ताजितवीरशब्दः ।

धरास्य कर्त्तारममन्तकीर्तिं सुहृदिष्यायां तनयं वयाधे ॥ ६४ ॥

तत इति । ततो मानितार्थी । स्वहस्ताजितो भीर इति शब्दो येन पुत्रेमास्य  
दातृत्वं हेम्वराहित्यं चोक्तम् । स राजा हस्ती समासीध संकाय । अक्षसि बद्धये  
त्वयै । बंधस्य कर्त्तारं प्रकर्त्तवितारय । अत एव रघुजुष्ममिति प्रसिद्धा । अमन्त  
कीर्तिं स्मिरयद्यसं तनयं सुहृदिष्यायां वयाधे ॥ ६४ ॥

इसके बाद बाबू को समुद्र करने वाले वरने हाथों से 'भीर' इत शब्द को प्राप्त  
करने वाले उन राजा विष्णु ने दोनों हाथों को बंध कर बंध को बंधने वाले स्मिर  
कोटिछाकी पुत्र 'अपनी राजी सुहृदिष्या में दोनों को प्रार्थना की ॥ ६४ ॥

सन्तानकामाय तथेति कर्म राजे प्रतिभुस्य पयस्विनी सा ।

तुग्ध्वा पया पत्रपुटे महीर्यं पुत्रोपमुह्यन्वेति तमादिदेश ॥ ६५ ॥

सन्तानेति । पयस्विनी ग्रीः । सन्तानं कामयत इति सन्तानकामः । कर्मण्यज्  
तस्मै राज्ञे तथेति कामयत इति कामो वरः । कर्मार्थे वयमन्वधः । तं प्रतिभुस्य प्रति  
शाय हे पुत्र ! महीर्यं पया पत्रपुटे पत्रमिमिते पात्रे तुग्ध्वापमुह्यन्व । 'उपमुह्यन्व'  
इति वा पाठः । 'पिब' इति तमादिदेशात्प्रापितवती ॥ ६५ ॥

अत वयम दूध वाली अम्बिनी में पुत्र चाहने वाले राजा विष्णु से वैसा ही ही  
इसी वरनाम की प्रतिष्ठा कर 'हे पुत्र ! मेरे दूध को पत्र के बोने में तुझ कर दो को ऐसी  
कान्हे माया को ॥ ६५ ॥

यस्सस्य होमार्थेविद्येभ्य शेषमुपेरनुज्ञामविगम्य मातः । ।

औघस्यमिच्छामि तत्रोपमांस्तु पक्षाशमुष्यां इव रक्षितायाः ॥ ६६ ॥

यस्सस्येति । हे माता ! यस्सस्य यत्तपीतस्य जेवम्, यत्तपीतायमिहमिवावर्त्त ।  
होम एवार्था, तस्य विधिरनुज्ञायम् तस्य च जेवम् । होमायमिहमिवावर्त्त । तत्र  
कवति भवमौवर्त्त भीरय । 'शरीरायववाप्य' इति अयमन्वधः । रक्षिताया उष्याः  
वर्द्धां वृद्धमामासि । अपेरनुज्ञामविगम्य उपमोपुमिष्यामि ॥ ६६ ॥

हे मां ! मैं बछड़े के पीने से तथा होमरूप प्रयोजन के अनुष्ठान ( अग्निहोत्रादि ) से बचे हुये तुम्हारे स्तनों से निकले हुये दूध को पालन की गई पृथ्वी के पष्ठाश ( छठा भाग रूप ) कर की तरह ऋषि वसिष्ठ की आज्ञा प्राप्त करके पीना चाहता हूँ ॥ ६६ ॥

इत्थं क्षितीशेन वशिष्ठधेनुर्विज्ञापिता प्रीततरा बभूव ।

तदन्विता हैमवताच्च कुक्षेः प्रत्याययावाश्रममश्रमेण ॥ ६७ ॥

इत्थमिति । इत्थं क्षितीशेन विज्ञापिता वसिष्ठस्य धेनु प्रीततरा, पूर्व शुश्रूषया प्रीता सम्प्रत्यनया विज्ञापनया प्रीततराऽतिसन्तुष्टा बभूव । तदन्विता तेन दिली-पेनान्विता हैमवताद्विमवत्सम्बन्धिन कुक्षेर्गुहाया सकाशादश्रमेणानायासेनाश्रम प्रत्याययावागता च ॥ ६७ ॥

इस प्रकार से राजा दिलीप की प्रार्थना करने से वसिष्ठ महर्षि की धेनु नन्दिनी अत्यन्त प्रसन्न हुई और दिलीप से युक्त होती हुई हिमालय की गुफा से बिना परिश्रम के आश्रम की तरफ लौटी ॥ ६७ ॥

तस्याः प्रसन्नेन्दुमुखः प्रसादं गुरुर्नृपाणां गुरवे निवेद्य ।

प्रहर्षचिह्नानुमितं प्रियायै शशंस वाचा पुनरुक्तयेव ॥ ६८ ॥

तस्या इति । प्रसन्नेन्दुरिव मुख यस्य स नृपाणां गुरुर्दिलीप प्रहर्षचिह्नैर्मुख-रागादिभिरनुमितमूहित तस्या धेनो प्रसादमनुग्रह प्रहर्षचिह्नैरेव ज्ञातत्वापुनरुक्त-येव वाचा गुरवे निवेद्य विज्ञाप्य पश्चात्प्रियायै शशंस । कथितस्यैव कथनं पुनरुक्ति । न चेह तदस्ति । किन्तु चिह्नैः कथितप्रायत्वापुनरुक्तयेव स्थितयेत्युत्प्रेक्षा ॥ ६८ ॥

निर्मल चन्द्रमा की भाँति स्वच्छ मुखवाले राजाओं में श्रेष्ठ दिलीप ने अधिक प्रसन्नता के द्योतक मुख की लालिमा आदि चिह्नों से जिसका अनुमान हो रहा था, ऐसे उस नन्दिनी के वरदानरूपी अनुग्रह को हर्ष के जानने वाले चिह्नों से कहने से पहिले ही मालूम हो जाने से दुबारा कही जाती हुई की भाँति वाणी के द्वारा गुरु जी से निवेदन किया पश्चात् प्यारी पटरानी सुदक्षिणा से भी कहा ॥ ६८ ॥

स नन्दिनीस्तन्यमनिन्दितात्मा सङ्गतलो वत्सहुतावशेषम् ।

पपौ वसिष्ठेन कृताभ्यनुज्ञः शुभ्रं यशो मूर्त्तमिवातितृष्णः ॥ ६९ ॥

स इति । अनिन्दितात्माऽगहितस्वभाव । ससु वत्सल प्रेमवान्सद्वत्सल । 'वत्सांसाभ्यां कामवले' इति लक्ष्यार्थः । वसिष्ठेन कृताभ्यनुज्ञः । कृतानुमति स राजा वत्सस्य हुतस्य आवशेष पीतहुतावशिष्ट नन्दिन्या स्तन्य चौर शुभ्र मूर्त्त परिच्छिन्न यश इव । अतितृष्ण सन् पपौ ॥ ६९ ॥

प्रशस्तनीय स्वभाव वाले, सज्जनों से प्रेम रखने वाले, वसिष्ठ महर्षि की आज्ञा को प्राप्त किये हुए, उन राजा दिलीप ने बछड़े के पीने से तथा अग्निहोत्र से बचे हुए नन्दिनी के

हृत् को सदैव मूर्ति को पारण दिने हुए वस्तु की नीति अधिक शुद्धा है कुछ होते हुए  
पिया ॥ ६९ ॥

प्रातर्यथोक्तप्रतपारजाऽन्ते प्रास्थानिक स्वस्थयमं प्रयुज्य ।

तौ दम्पती स्थां प्रति रात्र्यानीं प्रस्थापयामासवशी यक्षिण् ॥७०॥

प्रातरिति । वशी वसिष्ठः प्रातः । यथोक्तम् प्रतरय गोसेवाकृत्स्थान्मूला वा  
पारजा तस्या अन्ते प्रास्थानिकं प्रस्थापकाके भर्त्तात्काद्येचितमित्यर्थः । 'काकादुक्'  
इति टप्पणम् । 'यथा कथंविद् शुभकृत्स्याऽपि काके वर्त्तमानत्वात् प्रतरय इभ्यते'  
इति सूक्तिकारः । ईषते प्राप्सतेऽनेवेत्यर्थः स्वस्थयमं शुभाशुभादीर्वाद् प्रयुज्य  
तौ दम्पती स्थां रात्र्यानीं प्रति प्रस्थापयामास ॥ ७० ॥

रघुर्वर को कपर अपने प्रमुखा रखने वाले ( विष्णुदेव ) वसिष्ठ महर्षि ने प्रातः-  
काक में दूबोले घोड़ेकारूप वन की पारजा कर चुम्बने के बाद प्रत्या-काद्येचित स्वत्ववन  
करके वन दोनों की पुरव सुशिक्षा और दिशोर को समझी रात्र्यानीं अयोध्या को  
गरक दिया ॥ ७० ॥

प्रवक्षिषीकृत्य हुत हुताद्यमन्तर मर्तुरदम्बतीं च ।

येन सवस्तां च मृषा प्रतस्ये सम्मत्सोऽप्रतरप्रभावा ॥ ७१ ॥

प्रवक्षिषीकृत्यति । मृषा हुतं तर्पितं, हुतमरणातीति हुताद्योऽग्निः । अम्बन्तुः ।  
तं मर्तुर्मैत्रमन्तरम् प्रवक्षिषीकृत्यमित्यर्थः । अम्बन्ती च सवस्तां येन च प्रवक्षि  
षीकृत्य प्रभावा वक्षिषम् । 'तिष्ठद्गुप्रमन्तिनि च इत्यस्वधीभाषः । ततरिष्याः । अम्-  
वक्षिषं सम्पद्यमाव कृत्वा प्रवक्षिषीकृत्य सजिर्महकाचारैरुप्रतरप्रभावाः सन्मतरये ॥  
रात्रा दिशोर मे आशुः । इमे पुत्र अग्नि को तथा रक्षा करने वाले वसिष्ठ जी की  
प्रवक्षिणा कर चुम्बने के बाद उनकी कली अद्वयनी तथा रसदे के सहित अग्नि की भी  
प्रवक्षिणा करके अपने महानमक प्रवक्षिणा आदि करने से वदे पुत्रे तत्र वाले होते हुए  
प्रत्याव दिया ॥ ७१ ॥

ओत्रामिरामप्यमिना रथेन स धर्मपत्नीसहिताः सहिष्णुः ।

यथायनुयातसुयेन मार्गं श्येमेय पूज्येन ममोरथेन ॥ ७२ ॥

ओधेति । यमपत्नीसहिताः सहिष्णुर्मतादिबु-जमहवसीकाः स मृषा ओत्रामिरा  
मप्यमिना वनाद्वाहरकरकमेवानुयाताः पावायादिपनिपातरहितः । अत एव सुगय  
नीति सुताः, तेन रथेन रथेन पूज्येन सपथेन ममोरथेन मार्गमप्यावन् वधौ । ममो  
रथपथै-रपथिः सुनिः । अनुयाताः प्रसिद्धमिहूतिः ॥ ७२ ॥

वधवाणी सुशिक्षा के सहित प्रतरि सम्पत्नी चुम्बो के सहित करने वाले वन रात्रा  
दिशोर मे दोनों को सुख देनेवाली है अग्नि विलम्बी, तथा भीषे देने वल्लो के डीकर  
-कप्ये से मित्रों से नहीं गिर लपटा, अत एव सुप्रमद एव है भी सुन्दर है दोनों को

सुख देने वाला है तथा प्रतिबन्ध के दूर हो जाने से आनन्दप्रद है ऐसे अपने सफल हुए मनोरथ के समान रास्ता को तय करने लगे ॥ ७२ ॥

तमाहितौत्सुक्यमदर्शनेन प्रजाः प्रजाऽर्थव्रतकशिताङ्गम् ।

नेत्रैः पपुस्त्वस्मिनाप्नुवद्भिर्नवोदयं नाथमिवौषधीनाम् ॥ ७३ ॥

तमिति । अदर्शनेन प्रवासनिमित्तेनाहितौत्सुक्यजनितदर्शनोत्कण्ठ्यम् । प्रजाऽर्थेन सन्तानार्थेन व्रतेन नियमेन कशित कृशीकृतमङ्ग यस्य तम् । नवोदय नवाभ्युदय प्रजास्त्वस्मिनाप्नुवद्भिरतिगृध्नुभिर्नेत्रैः । ओषधीना नाथ सोममिव तं राजानं पपु । अत्यास्थया ददृशुरित्यर्थः । चन्द्रपक्षे—अदर्शनं कलाचयनिमित्तं प्रजाऽर्थं लोकहितार्थं व्रतं देवताभ्यः कलादाननियमः ( तच्च सोमं पपुर्देवा पर्यायेणानुपूर्वशः ) इति व्यासः । उदय आविर्भावः । अन्यत्समानम् ॥ ७३ ॥

प्रवास करने के कारण से नहीं देख पटने से 'चन्द्रपक्ष में' कला के क्षय हो जाने से नहीं देख पटने से लोगों में देखने की उत्कण्ठा जिनसे उत्पन्न करा दी है तथा पुत्र के लिए गोसेवारूप व्रत करने से जिनका शरीर कुश हो गया है 'चन्द्रपक्ष में' लोक के हित के लिये देवताओं को अमृतरूपी कलाओं के दानरूपी नियम से जिनका शरीर कुश हो गया है, तथा जिनकी नवीन उन्नति हुई है 'चन्द्रपक्ष में' जिनका नवीन आविर्भाव हुआ है, ऐसे ओषधियों के स्वामी चन्द्रमा की भांति उन राजा दिलीप को प्रजाओं ने अतृप्त नेत्रों से देखा ॥ ७३ ॥

पुरन्दरश्च पुरमुत्पताकं प्रविश्य पौरैरभिनन्द्यमानः ।

भुजे भुजङ्गेन्द्रसमानसारे भूयः स भूमेर्धुरमाससञ्ज ॥ ७४ ॥

पुरन्दरेति । पुर पुरीरसुराणां वारयतीति पुरन्दर शक्रः । 'पू सर्वयोर्दारिसहो' इति खच्प्रत्ययः । 'वाचयमपुरन्दरौ च' मुमागमो निपातितः । तस्य श्रीरिव श्रीर्यस्य स नृपः पौरैरभिनन्द्यमानः । उत्पताकमुच्छ्रितध्वजम् । 'पताका वैजयन्ती स्यात् केतनं ध्वजमस्त्रियाम्' इत्यमरः । पुर प्रविश्य भुजङ्गेन्द्रेण समानसारे तुल्य बले । 'सारो बले स्थिरांशे च न्याय्ये क्लीबं वरे त्रिपु' इत्यमरः । भुजे भूयो भूमेर्धुर-माससञ्ज स्थापितवान् ॥ ७४ ॥

इन्द्र के समान कान्ति वाले उन राजा दिलीप ने पुरवासियों से अभिनन्दन किये जाते हुए, जिसमें पताकायें फहरा रही थीं, ऐसे 'अयोध्या' नामक नगर में प्रवेश करके संपराज वासुकि के समान बल रखने वाले बाहु पर फिर पृथ्वी के पालनरूप भार को धारण किया ॥ ७४ ॥

अथ नयनसमुत्थं ज्योतिरत्रेरिव द्यौः सुरसरिदिव तेजो वह्निनिष्ठयूतमैशम् ।

नरपतिकुलभूत्यै गर्भमाधत्त राक्षी गुरुभिरभिनिविष्टं लोकपालानुभावैः ॥

अथेति । अथ द्यौः सुरवत्सम् । 'द्यौः स्वर्गसुरवत्समो' इति विश्वः । अत्रैर्महर्षेणयः ।



नयोः समुत्थमुत्पन्नं नयनसमुत्थम् । आतमोपसर्गे इति कथयमा । ओतिरिव  
 चन्द्रमिकेवर्षा । 'अवेसा रवादिनिषेधसूता' इति इत्यमुकः । चन्द्रस्वाग्निनेत्रोद्भू  
 तावमुकद्विर्बरो 'नेत्राभ्यां वारि सुकाव वसपा योतयदिताः । तद्गर्भविधिना इष्टा  
 विसो वैभ्यो बभुस्तदा ॥ समेत्य धारयामासुर्न च ताः समस्तबभुवन् । स ताभ्यां  
 सहस्रबाध दिग्भ्यो गर्भो प्रमावितः । पपात भासबहोकाण्डीतांशुः सर्वमावना ॥  
 इति । सूरसरिद् गङ्गा बह्विना निहयूतं निहितं 'बभूवोः शुक्लानासिके च' इत्यनेन  
 निपूर्वात् छीवतेर्बकारस्य ऊट् । 'भुक्तनुवास्तनिह्वताभिरुचिरेरिताः समा' इत्यमरा ।  
 येदां तेजा स्कन्धमिव । अथ रामायणम्—(त गत्वा पर्वतं राम कैकासंघातुमनिहतम् ।  
 अग्नि निषोन्नयामासुः पुत्रार्थं सर्वदेवताः ॥ देवकार्यमिदं देव ! समावाप्त्य हुताद्यन !  
 शैकपुष्पां महादेवो यन्नायां तेज ऊत्सृज ॥ देवतायां यतिशय गङ्गामभ्येत्य पावकः ।  
 गर्भं धारय वै देवि ! देवतानामिदं मित्रम् ॥ इत्येतद्देवार्थं धृत्वा दिव्यं रूपमधारयत् ।  
 सा तस्या महिमा दृष्ट्वा समन्ताश्चक्षीर्य च ॥ समस्ततस्तु तां देवीमम्बपिञ्जत पावकः ।  
 सब्रवीतांसि पूर्वाणि गङ्गाया रघुबन्धव ॥ इति । ) राक्षी मुहुरिवा नरपतर्हिणी-  
 परय कुक्कुमायै संततिक्कयायै गुणधिमहर्त्रिर्कोकपाकायामनुमावैस्तेजोमिरामिनि  
 विष्टमनुष्यविष्टं गर्भमाधत्त इवावित्यर्थः । अथ मनु—( अद्यानां कोकपादानां बभुर्वा-  
 रयते नृपाः ) इति । आधत्त इत्यनेन छीकर्तृकारणमात्रमुच्यते । तथा मन्त्रे च  
 हरयते—( यथेवं धृतिवी मनुजानां गर्भमाधये । एवं तं गर्भमाधेहि इष्टमे  
 माग्निं घृतम् ) । इत्यादिवसायनायां सीमन्तमन्त्रे छीत्वापारवारण आधानाद्यध्  
 प्रयोपदर्शनादिति । माटिनीवृत्तमेतत् । तदुक्तम्—'नमययययुतयं माटिनी भोगि  
 स्यादः इति लक्षणात् ॥ ७५ ॥

इति संजीवनीम्यावयायां नमिद्वीवरदानो नाम द्वितीया सर्गः ।



इसके बाद काव्यांग में दीये कवि मुनि के देवों से राज्य ओतिरिवरूप चन्द्रमा को  
 और देवताओं नानाओं में जैते अग्नि से केदे हुये संकल्पमन्त्री (रक्षर को पड़ा करने वाले)  
 कोदे को पाता क्रिया उन्नी माँहि राक्षी हरणिना ने भी राक्षी रिहीर के कुन को सत्यान-  
 वर एगति के विद वीह कोदवानों के नेत्र से गर्भ को धारण किया ॥ ७५ ॥

इति रघुर्वरामहाकाव्ये द्वितीयः सर्गः ।



## तृतीयः सर्गः

‘राज्ञी गर्भमाधत्त’ (२ ७५) इत्युक्तम् । सम्प्रति गर्भलक्षणानि वर्णयितुं प्रस्तौति—

अथेप्सितं भर्तुरुपस्थितोदयं सखीजनोद्वीक्षणकौमुदीमुखम् ।

निदानमिक्ष्वाकुकुलस्य सन्ततेः सुदक्षिणा दौर्हृदलक्षणं दधौ ॥ १ ॥

उपाधिगम्योऽप्यनुपाधिगम्यः समावलोक्योऽप्यसमावलोक्य ।

भवोऽपि योऽभूद्भवः शिवोऽयं जगत्पयायादपि न स पायात् ॥

अथेति । अथ गर्भधारणानन्तरं सुदक्षिणा । उपस्थितोदय प्राप्तकालं भर्तुर्दिली-  
पस्येप्सितं मनोरथम् । भावे क्त । पुनः सखीजनस्योद्वीक्षणानां दृष्टीनां कौमुदीमुखं  
चन्द्रिकाप्रादुर्भावम् । यद्वा कौमुदी नाम दीपोऽसवतिथिः तदुक्तं भविष्योत्तरे—  
( कौ मोदन्ते जना यस्या तेनासौ कौमुदी मता ) इति । तस्या मुख प्रारम्भम् ।  
‘सखीजनोद्वीक्षणकौमुदी’ इति पाठकेचित्पठन्ति । इक्ष्वाकुकुलस्य सन्ततेरविच्छेदस्य  
निदानमूलकारणम् । ‘निदानं त्वादिकारणम्’ इत्यमरः । एवविधं दौर्हृदलक्षणं  
गर्भचिह्नं वक्ष्यमाणं दधौ । स्वहृदयेन गर्भहृदयेन च द्विहृदया गभिणी । यथाऽहं  
वाग्भट - ( मातृजमस्य हृदयं मातृश्च हृदयेन तत् । सम्बद्धं तेन गभिण्या श्रेष्ठं श्रद्धा-  
भिमाननम् । ) इति । तत्सम्बन्धित्वाद् गर्भो दौर्हृदमित्युच्यते । सा च तद्योगाद्दौर्हृ-  
दिनीति । तदुक्तं सग्रहे— ( द्विहृदयां नारीं दौर्हृदिनीमाचक्षते ) इति । अत्र दौर्हृदल-  
क्षणस्येप्सितत्वेन कौमुदीमुखत्वेन च निरूपणाद् रूपकालद्वारः । अस्मिन् सर्गे  
वशास्थं वृत्तम्—( जतौ तु वशास्थमुदीरितं जरौ ) इति लक्षणात् ॥ १ ॥

उस के बाद रानी सुदक्षिणा ने जिसका समय उपस्थित हो गया है और जो स्वामी  
महाराज दिलीप का अभीष्ट है तथा सखी लोगों के नेत्रों को आह्लादित करने वाली चन्द्रिका  
का जो प्रादुर्भावस्वरूप है और जो इक्ष्वाकुवंश के सन्तान ( पुत्र ) का मुख्य कारण है, ऐसे  
गर्भ के लक्षण जो कि आगे शरीर की कृशता आदि से कहे जायेंगे उनको धारण किया ॥

सम्प्रति क्षामताऽऽख्यं गर्भलक्षणं वर्णयति—

शरीरसादादसमग्रभूषणा मुखेन साऽलक्ष्यत लोभ्रपाण्डुना ।

तनुप्रकाशेन विचेयतारका प्रभातकल्पा शशिनेव शर्वरी ॥ २ ॥

शरीरेति । शरीरस्य सादात्कार्यादसमग्रभूषणा परिमिताभरणा लोभ्रपुष्पेणैव  
पाण्डुना मुखेनोपलक्षिता सा सुदक्षिणा । विचेया मृग्यास्तारका यस्या सा तथोक्ता ।  
विरलनक्षत्रेत्यर्थः । तनुप्रकाशेनाल्पकान्तिना शक्तिनोपलक्षितेपदसमाप्तप्रभाता  
प्रभातकल्पा । प्रभातादीषदूनैत्यर्थः । ‘तसिलादिष्वाकृत्वसुच’ इति प्रभातशब्दस्य  
पुवद्भावः । शर्वरी रात्रिरिव । अलक्ष्यत । शरीरसादादिगर्भलक्षणमाह वाग्भट —

( कामता गरिमा कुचेर्मूर्च्छा क्षुद्धिरोचकम् । कृष्णा प्रसेकाः सार्धं होमराज्याः  
प्रक्षयसमम् ) ॥ इति ॥ १ ॥

शरीर के इस ही कामे के कारण से सारे आत्मानों को नहीं रहने हुई नीम के फल  
के रस की तरह राख्डु बने बाके हुए से उपकृष्टि ( कदव की मागी हुई ) वस रानी  
सुखिना को भिने कामे कावक ( विरक ) मक्नों वाली मोड़ी दामिनी है कुछ बम्भमा से  
बन्येधन सवेरा होने में मोड़ी ही हैरी विमये है येही रात्रि के समान नीमों ने देखा ॥ १ ॥

तदाम्बु मृत्सुरभि सितीभ्यरो रदस्युपाधाय न वृत्तिमायधौ ।

करीव सिक्तं पृथतेः पयामुर्चा शुचिभ्यपाये वनरात्रिपत्यक्षम् ॥ ३ ॥

तदिति : चित्तिविरा रदसि धृवा सुगम्भि तस्या आननं तदाम्बुं सुख  
विद्यामुक्तमुपाधाय वृत्ति न बधौ । का कमिब । शुचिभ्यपाये प्रीप्तावसाने । 'शुचि  
शुद्धमुपहृते श्रुतरापादयोः सिते । प्रीप्ते हुतवर्धस्य स्वाधुपकाशुद्धमन्त्रिमि ॥ इति  
विरवा । पयोमुर्चा मेधानां पृथतेविम्बुमि । 'पृथमि विम्बुपृथता । ह्यमरा ।  
सिक्तमुचितं वनराज्याः पक्षकमुपाधाय करी गद्वृष । वन करिवनरात्रिपत्यक्षतां  
कलतकामिनीचद्वसमाधिरनुसन्धेया । धर्मिणीचा धृजकथं कोकप्रसिद्धमेव । पृथेव  
दोहदाकं गर्मककनमुप्यते ॥ ३ ॥

हृषी के स्वामी राजा विरूप ने पक्ष्यन्त में मिट्टी के कामे से उपन्य सुख उत सुद  
दिना के सुख को लूँ कर गमी के अन्त में मिट्टी के बूँतों से लीके हुए वन की क्लारों  
के बीच में स्थित छोटे ताकन ( मोड़े बक बाके नहूँ ) को लूँ कर बाकी के समान वृत्ति  
को नहीं प्राप्त किया ॥ ३ ॥

दीर्घद्वयने मृजकने होमन्तरमुपेचते—

दिर्घं मरुत्वानिब माह्वयतं भुर्धं विगन्तविगन्तरथा हि तत्सुता ।

अतोऽमिजाये प्रथमं तथाविधे मनो बबन्धान्परसाम्बिस्तकृष्य सा ॥

विबमिति । हि यस्माद्विगन्तविगन्तरथककर्थी तस्यः सुतस्तत्सुता । मरुत्वा  
निग्नः । 'हृषो मरुत्वान्ममवा' इत्यमरा । दिर्घं स्वर्गमिव भुर्धं भोचवते । 'भुजोऽ  
नवने इत्वाधमैपदम् । अतोऽप्रथमं सा सुखिना तथाविधे मृधिकारे धृजरे ।  
अमिक्तम्बत इवमिजायां भोज्यवस्तु तस्मिन् । कर्मणि यन्त्रवधा । रस्यन्ते स्वा  
यन्त इति रसा भोज्यार्थाः । अन्ये च ते रसाश्च साम्बिककृष्य विहाय मयी बबन्ध ।  
विज्वावित्त्वर्थाः । दोहद्वैदुकरय मृजकनस्य पुनर्भूभोगधृजवार्त्तावमुपेचते ॥ ४ ॥

क्याकि विद्यामो के अन्त में रव को विभाग करामे ( पहुँचाने ) बाका ( कदवरी )  
वस ( सुखिना ) का पुनर्द्वय वैसी स्वर्गभू भोग करता है वही मृष्टि हृषी का भोग  
करेगा इस कारण से प्रथम वस ( सुखिना ) ॥ वस मरुत के विष्टिकम भोज्यवस्तु में  
अन्य बचने कदवक कस्तुमों को छोड़ कर धर्म कथा ॥ ४ ॥

न मे हिया शंसति किञ्चिदीप्सितं स्पृहावती वस्तुषु केषु मागधी ।  
इति स्म पृच्छत्यनुवेलमादृतः प्रियासखीरुत्तरकोसलेश्वरः ॥ ५ ॥

नेति । मगधन्य राज्ञोऽपत्य स्त्री मागधी सुदक्षिणा । 'इन्मगधऋलिङ्गसूरमसा-  
दण्' इत्यणप्रत्यय । हिया किञ्चित् किमपीप्सितमिष्ट मे मद्य न शसति नाचष्टे ।  
केषु वस्तुषु स्पृहावतीत्यनुवेलमनुष्णमादृत आदृतवान् । कर्तरि क्त । 'आदृतौ  
सादराचितौ' इत्यमरः । प्रियाया' सखी सहचरीरुत्तरकोसलेश्वरो दिलीपः ।  
पृच्छति स्म पप्रच्छ । 'लट् स्मे' इत्यनेन भूतार्थे लट् । सखीनां विश्रम्भभूमित्वा-  
दिति भावः ॥ ५ ॥

मगध देश के राजा की लड़की रानी सुदक्षिणा लज्जा से किसी अभिलाषा को मुझसे  
नहीं प्रकट करती है, अतः किन वस्तुओं में पाने की उसकी इच्छा रहती है । इस बात को  
बारबार आदरपूर्वक रानी को सखियों से उत्तरकोसल देश के अधिपति राजा दिलीप पूछा  
करते थे ॥ ५ ॥

उपेत्य सा दोहददुःखशीलतां यदेव वव्रे तदपश्यदादृतम् ।

न हीष्टमस्य त्रिदिवेऽपि भूपतेरभूदनासाद्यमधिज्यधन्वनः ॥ ६ ॥

उपेत्येति । दोहद गर्भिणीमनोरथ । 'दोहदं दौहदं श्रद्धा लालसेन समं स्मृतम्'  
इति हलायुध । सा सुदक्षिणा दोहदेन गर्भिणीमनोरथेन दुःखशीलता दुःखस्व-  
भावमुपेत्य प्राप्य यद्वस्तु वव्रे आचकाङ्क्ष तदादृतमानीतम् । भर्त्रेति शेषः । अपश्य-  
देव अलभतेत्यर्थः । कुतः । हि यस्मादस्य भूपतेस्त्रिदिवेऽपि स्वर्गेऽपीष्ट वस्त्व-  
नासाद्यमनवाप्यं नाभूत् । किं याञ्जया ? इत्याह-अधिज्यधन्वन इति । नहि वीर-  
पत्नीनामलभ्य नाम किञ्चिदस्तीति भावः । अत्र वाग्भटः- (पादशोको विदाहोऽन्ते  
श्रद्धा च विविधात्मिका) इति । एतच्च पत्नीमनोरथपूरणाकरणे दृष्टदोषसम्भवाद् न  
तु राज्ञः प्रीतिलौक्यात् । तदुक्तम्- (देयमप्यहित तस्यै हितोपहितमकल्पकम् ।  
श्रद्धाविघाते गर्भस्य विकृतिश्च्युतिरेव वा ।) अन्यत्र च- (दोहदस्याप्रदानेन गर्भो  
दोषमवाप्नुयात्) इति ॥ ६ ॥

उस सुदक्षिणा ने गर्भिणियों का मनोरथ द्वारा जो दुःख पाने का स्वभाव है उसे पाकर  
जिस वस्तु के पाने की इच्छा की उसी को महाराज दिलीप से तुरन्त मगवाई गई देखा ।  
क्योंकि धनुष को चढ़ाये हुए इन महाराज दिलीपके स्वर्ग में भी वाञ्छित वस्तु हो तो वह  
भी पाने के लायक नहीं हुई यह नहीं कह सकते अर्थात् पाने के योग्य ही हुई ॥ ६ ॥

क्रमेण निस्तीर्य च दोहदव्यथां प्रचीयमानावयवां रराज सा ।

पुराणपत्रापगमादनन्तरं लतेव सन्नद्धमनोक्षपल्लवा ॥ ७ ॥

क्रमेणेति । सा सुदक्षिणा क्रमेण दोहदव्यथा च निस्तीर्य प्रचीयमानावयवा  
५ रघु०

पुण्यमात्रावयवा सती । पुराणपञ्चानामपगमाभ्यास्तावन्तरं सञ्चरन् सञ्जाताः प्रत्य  
प्रत्यात्मनोऽहम् । पश्यन्वा वरुणां सा कृतेव रराज ॥ ३ ॥

और वह रानी सुरक्षिता कम से कमिनिर्वा के मनीरप से जो स्वभा होती है उसे  
जतिरुमण करके, जिसके अवयव पुष्ट हो रहे हैं ऐसी होती हुई पुराने पत्तों के मिलने के  
कार, मनीन हीमे से सुन्दर पश्य जिसमें उत्पन्न हो गये हैं ऐसी कृता के समान सुप्रो-  
थित ॥ ३ ॥

कव्यान्तरं वर्णयति—

दिनेषु पञ्चस्तु मितान्तपीवर तदीयमानीकमुर्धं स्तनद्वयम् ।

तिरज्जकार भ्रमराभिनीमयोः सुजातयोः पङ्कजकोशयोः म्रियम् ॥ ८ ॥

दिनेष्विति । दिनेषु दोहरविकसीडु गच्छन्तु सन्तु मितान्तपीवरमतिरदृश्यम् ।  
भासमन्ताभीके मुक्ते चतुके वस्य तत् । तदीयं स्तनद्वयम् । भ्रमरैरभिनीमयोरभि-  
न्यस्तयोः सुजातयोः सुन्दरयोः पङ्कजकोशयोः पद्ममुकुटयोः विषं तिरज्जकार ।  
अत्र दाम्पत्य—( अम्बेइता स्तनी पीनौ श्वेताम्नौ कृष्णचतुर्भौ ) इति ॥ ८ ॥

कुछ दिव अतीत होने पर अत्यन्त पीडे और चारों तरफ से नीक कर्म हुए बाँके वर  
सुरक्षिता के दोनों कुर्चों में पीरे से ज्ञात सुन्दर कमल की दो कन्वियों की झोमा की  
‘अपनी झोमा से नीचा कर दिया ॥ ८ ॥

निधान्यमामिब सागराम्बरां शमीमिषाम्यन्तरक्षीनपायकम् ।

नदीमिषाम्तःसलिकां सरस्वतीं नृपाः ससरसां महिषीममम्यत ॥ ९ ॥

निधावेति । नृपाः ससन्धामावससत्तां गर्मिणीमिरवर्षाः । ‘आपन्नसत्त्वा रवात्  
शुर्विज्वन्तर्वाणी च गर्मिणी’ इत्यमरः । महिषीं विषावे विषिर्गमिं यस्यास्तां सामरा-  
म्बरां ससुद्रवसनाम् भूमिमिषेरवर्षाः । ‘मृतपात्री रत्नगमां जगती सागराम्बरां’  
इति शेषः । अम्यन्तरे क्षीना पावको यस्यास्तां शमीमिष । शमीक्षरी वह्निरस्ती-  
त्यत्र छिन्नं ‘शमीममामिर्गमिं जनवतीति’ । अन्तस्तलिकामन्तर्गतवकी सरस्वतीं नदी-  
मिष । अमम्यत । पृथेन गर्मस्व आर्यवत्पतेजसिषत्तपावरावामि विषक्षितानि ॥ ९ ॥

राजा दिक्षीप मे गर्मिणी रानी सुरक्षिता को गर्म हैं रत्नों के विषि को रचने वाली  
पृथी तथा बीतर में प्रियी हुई जति को रचने वाले शमी वृक्ष और अन्तर्गत वर वाली  
सरस्वती नदी के समान सञ्चरन् ॥ ९ ॥

प्रियाऽनुरागस्य भक्तः समुद्यतेर्भुजार्जितानां च विषान्तसम्पदाम् ।

यथाकर्म पुंस्त्यनादिका क्रिया भूतेष्वधीरा सहस्रीर्व्यपद्यत सा ॥ १० ॥

प्रियेति । अधीरा स राज्ञा विषावामनुरागरव भक्तः समुद्यतेर्द्वार्यस्व मुनेष्व  
मुद्रवकेन कजेन पार्श्वजितानां च तु वापिषादिना । विषान्तेषु सम्पदां यताः ‘पुत्रो  
मे महिष्यतीति सन्तापराव च । ‘प्रतिर्षीगान्तरे यैषधारणात्वरुदितु’ इति विषा ।

सदृशीरनुरूपा' । पुमान्सूयतेऽनेनेति पुसवन तदादिर्यासा ताः क्रिया यथाक्रम  
क्रममनतिक्रम्य व्यधत्त कृतवान् । आदिशब्देनानवलोमनसीमन्तोन्नयने गृह्येते ।  
अत्र ( मामि द्वितीये तृतीये वा पुसवन यदा पुनः नक्षत्रेण चन्द्रमा युक्त स्यात् )  
इति पारस्कर । ( चतुर्थेऽनवलोमनम् ) इत्याश्वलायन' । ( पष्ठेऽष्टमे वा सीमन्तो-  
न्नयनम् ) इति याज्ञवल्क्य ॥ १० ॥

बुद्धिमान् उन राजा दिनाप का जैसा रानी सुदक्षिणा में स्नेह था, तथा जैसी उनमें  
मन की उदारता थी और बाहुबल में उपाजित चारों दिशाओं के प्रान्त की जैसी सम्पत्ति  
थी, तथा मेरे पुत्र होगा इससे जितना सन्तोष था, उसके अनुरूप पुसवन आदि सभा  
संस्कारों को जैसा जिसका क्रम है उसी क्रम से उन्होंने किया ॥ १० ॥

सुरेन्द्रमात्राऽऽश्रितगर्भगौरवात् प्रयत्नमुक्तासनया गृहागतः ।

तयोपचाराञ्जलिखिन्नहस्तया ननन्द पारिप्लवनेत्रया नृपः ॥ ११ ॥

सुरेन्द्रेति । गृहागतो नृपः सुरेन्द्राणां लोकपालानां मात्राभिरंशैराश्रितस्यानु-  
प्रविष्टस्य गर्भस्य गौरवाद्गौराधयत्नेन मुक्तासनया । आसनादुत्थितयेत्यर्थः । उपचा-  
रस्याञ्जलावञ्जलीकरणे खिन्नहस्तया पारिप्लवनेत्रया तरलाक्षया । 'चञ्चल तरलं  
चैव पारिप्लवपरिप्लवः' इत्यमरः । तथा सुदक्षिणया ननन्द । ( 'सुरेन्द्रमात्राऽऽ-  
श्रित' इत्यत्र मनु-अष्टाभिश्च सुरेन्द्राणां मात्राभिर्निर्मितो नृपः ) इति ॥ ११ ॥

गृह में आये हुए राजा दिलाप लोकपालों के अंश से भरे हुये गर्भ की गुरुता से  
कोशिश करके अपने आसन का परित्याग किये हुए, तथा उपचारार्थ ( प्रणाम करने के  
लिये ) अञ्जलि बाँधने में शिथिल हाथ वाली होता हुई, अत एव चञ्चल नेत्रों वाली उस  
रानी सुदक्षिणा से बहुत खुश हुये ॥ ११ ॥

कुमारभृत्याकुशलैरनुष्ठिते भिषग्भिराप्तैरथ गर्भमर्मणि ।

पतिः प्रतीतः प्रसवोन्मुखीं प्रियां ददर्श काले दिवमाश्रितामिव ॥

कुमारेति । अथ कुमारभृत्या वालचिकिरसा । 'सज्ञाया समजनिपद'-इत्यादिना  
क्यप् । तस्यां कुशलैः कृतिभिः । 'कृती कुशल इत्यपि' इत्यमरः । आसैर्हितैर्भिषग्भि-  
वैद्यैः । 'भिषग्वैद्यो चिकिरसके' इत्यमरः । गर्भस्य भर्मणि । 'भरणे पोषणे भर्म' इति  
हैम । 'मृतिर्मर्म' इति शाश्वत । मृजो मगिचप्रत्यय 'गर्भमर्मणि' इति पाठे  
गर्भाधानप्रतीतावौचित्यमङ्ग । अनुष्ठिते कृते सति । काले दशमे आसि । अन्यत्र  
ग्रीष्माद्यमाने । प्रसवस्य गर्भमोचनस्योन्मुखीम् । आसन्नप्रसवामित्यर्थः । 'स्याबु-  
त्पादे फले पुष्पे प्रसवो गर्भमोचने' इत्यमरः । प्रिया भार्याम् । अत्राण्यस्या सज्ञा-  
तान्यञ्जिता ताम् । 'तदस्य सज्ञात तारकादिभ्य इतच्' इतीतच्प्रत्ययः । दिवमिव ।  
पतिर्भर्ता प्रतीतो दृष्टः सन् । 'ख्याते दृष्टे प्रतीत' इत्यमरः । ददर्श दृष्टवान् ॥ १२ ॥

बसके ( बासन्त प्रसन्न के कल्ल जालने के बाद ) बाकबिकिरा में मिथुन विवासरत  
वैद्यों के द्वारा गर्भ की रक्षा कर चुकी पर समय प्राप्त होने पर जर्भाद इससे महीने में  
'बाकबिकिरा' में गर्भ शत्रु के आरम्भ काल में बच्चा जनने के तरफ उन्मुख होती हुई  
प्यारी बत्ती सुदक्षिणा की वर्षभोग्युक्त गैर्बो से व्याप्त बाकबिकिरा की भीति स्वामी  
राजा विभीषण से प्रसन्न होते हुये देखा ॥ २९ ॥

प्रहैस्तता पञ्चमिदन्वसंघयैरसूर्यगैः सुखितमान्यस्तम्पवम् ।

असुत पुत्र समये शशीसमा विसाधना शक्तिरिषार्थमसयम् ॥

प्रहैरिति । ततः अन्वेषणात्मा समा । 'पुत्रोमन्त्रा शशीश्रवणी इत्यमरः । सा  
सुदक्षिणा समये प्रसूतिकाले सति दशमे मासीत्यर्थः । ( दशमे मासि जायते । )  
इति श्रुतेः । दन्वसंघयैरसुतस्यैस्तुत्यानगौरसूर्यगौरवस्तमितौ कैश्चिद् यथास्तम्भं  
पञ्चमिर्गैः सुखिता मान्यस्तम्पवत्वं पुत्रम् । त्रीणि प्रभावमन्त्रैस्तद्व्याप्तमन्त्रि  
साधनान्मुत्पादकाणि यस्याः सा विसाधना सक्तिः । 'सद्यस्तिता प्रभावोस्ताद्  
मन्त्रा इत्यमरः । अङ्गवमर्धमिव । असुतः । 'वृक्ष प्राणिगर्भविमोचने' इत्यमरमे  
पदिषु पत्यते । तस्मान्मातो-कर्तरि कण्ठ । अनेहमनुसंवेवम्—( अन्वेषणमनुपाह-  
नसुखीरा सपत्निकौ च विवाकरादिपुत्राः । वसधिक्षिमनुपुकिवीम्रिपासेक्षिबक-  
विद्यतिमिन्न तेऽस्तवीचाः ॥ ) इति सूर्यादीनां सप्तानां प्रधानां मेघपुत्रमादयो  
राक्षसा रक्षोकेष्टमन्त्रविधिना उक्तस्यागानि स्वस्वतुष्टापेक्षया सप्तमस्वाधानि च  
नीचानि । तत्रोक्तेष्वपि दशमादयो रात्रिपिशांसा यथाक्रममुक्तेषु परमोक्षा नीचेषु  
परमनीचा इति कातकटकोकार्यः । अनासक्तिस्तो ज्ञेयाः । यथाऽहं नारदः—( विद्य  
ज्ञानात्मकं कर्मम् ) इति सूर्यपत्यासतिर्ग्रहाणामस्तमया नाम । तदुक्तं कटुजातके-  
( रविप्राप्तमयी भोगो मिथोगस्तृष्णा भवेत् ) इति । ते च स्वोचस्था ककम्भि  
वास्तवा अपि नीचगाः । तदुक्तं राजसूयाङ्के—( स्वोच्ये पूर्वं रवर्धकेऽहं सुहृदमे पार्श्व  
द्विदमेऽर्धं शुभं क्षेत्रेऽहम् । नीचरवाणी वास्तव्ये वा न विद्विष्यात् पूर्वं स्वधिकोऽहं  
वृद्धतिः ॥ ) इति । तदिहमाह कविदन्वसंघयैरसूर्यगैरिति च । पूर्वं सति यस्य कर्म  
काळे पञ्चममृतको महाः स्वोचस्थाः स पुत्र तुल्ये भवति । तदुक्तं कूटस्थीये—( सुखिना  
प्रकृष्टकार्या राजपतिरूपकाम राजानम् । पृथङ्निजतुमिर्जायन्तेऽतः परं विज्याम् ॥  
इति ) तदिहमाह—पञ्चमिरिति ॥ ३३ ॥

बसके बाद बत्ती के पुत्र राणी सुदक्षिणा से प्रसन्न हो समय ( बसके महीने )  
होते पर जब रवाय में दिव्य सूर्य के साम्बिध्म से जल को नहीं प्राप्त होते हुये भीषण गर्मों  
के द्वारा शिशु की भावसम्पत्ति सुखिन हो रही है ऐसे पुत्र को प्रभाव वस्ताद, मन्त्र एवं  
व्याप्य से उत्पन्न होने वाली शक्ति जैसे अणुव गर्भ को उत्पन्न करती है इस भीति  
कारण दिया ॥ ३३ ॥

दिशः प्रसेदुर्मरुतो बबुः सुखाः प्रदक्षिणार्चिर्हविरग्निराददे ।

बभूव सर्वं शुभशंसि तत्क्षणं भवो हि लोकाभ्युदयाय तादृशाम् ॥१४॥

दिश इति । तत्क्षण तस्मिन् क्षणे । 'कालाध्वनोरत्यन्तसयोगे' इति द्वितीया ।  
दिश प्रसेदु प्रसन्ना बभूवुः । मरुतो घाता सुखा मनोहरा बबुः । अग्निः प्रद-  
क्षिणार्चि सन् हविराददे स्वीचकार । इत्थ सर्वं शुभशंसि शुभसूचक बभूव ।  
तथाहि । तादृशा रघुप्रकाराणां भवो जन्म लोकाभ्युदयाय । भवतीति शेषः । ततो  
देवा अपि सन्तुष्टा इत्यर्थः ॥ १४ ॥

उस क्षण ( रघु के जन्म समय ) में दिशार्थे निर्मल हो गई, सुख पहुँचाने वाला  
जिसका स्पर्श है, ऐसा वायु बहने लगा । अग्नि, दक्षिण के तरफ घूमकर जिसकी ज्वाला  
निकल रही है ऐसा होता हुआ, इवि घृत आदि को ग्रहण करने लगा । इस प्रकार से  
सभी 'उस समय' शुभ-सूचक लक्षण होने लगे । क्योंकि इस तरह के महापुरुषों का जन्म  
जगत् के कल्याण के लिये होता है ॥ १४ ॥

अरिष्टशय्यां परितो विसारिणा सुजन्मनस्तस्य निजेन तेजसा ।

निशीथदीपाः सहसा हतत्विषो बभूवुरालेख्यसमर्पिता इव ॥१५॥

अरिष्टशय्यामिति । 'अरिष्टं सूतिकागृहम्' इत्यमर । अरिष्टे सूतिकागृहे शय्यां  
तत्प परितोऽभित 'अभित परितः समयानिकषाहाप्रतियोगेऽपि' इति द्वितीया ।  
विसारिणा सुजन्मनः शोभनोत्पत्ते । 'जनुर्जननजन्मानि जनिरुत्पत्तिरुद्भव'  
इत्यमरः । तस्य शिशोर्निजेन नैसर्गिकेण तेजसा सहसा हतत्विष क्षीणकान्तयो  
निशीथदीपा अर्द्धरात्रप्रदीपाः । 'अर्द्धरात्रनिशीथौ द्वौ' इत्यमर । आलेख्यसमर्पिता-  
श्वित्रार्पिता इव बभूवुः । निशीथशब्दो दीपानां प्रभाऽऽधिव्यसम्भावनार्थः ॥ १५ ॥

सूतिकागृह में शय्या के चारों तरफ फैलने वाले, सुन्दर जन्म लेने वाले उस बालक  
रघु के स्वाभाविक तेज से एकाएक कान्ति क्षीण हो गयी है जिनकी ऐसे अर्द्धरात्रि के समय  
सभी प्रदीप चित्र में लिखे हुये की भाँति हो गये अर्थात् मालूम पड़ने लगे ॥ १५ ॥

जनाय शुद्धान्तचराय शंसते कुमारजन्मामृतसम्मिताक्षरम् ।

अदेयमासीत् त्रयमेव भूपतेः शशिप्रभं छत्रमुभे च चामरे ॥ १६ ॥

जनायेति । भूपतेर्दिलीपस्यामृतसम्मिताक्षरममृतसमानाक्षरम् । 'सरूपसम-  
सम्मिता' इत्याह दण्डी । कुमारजन्म पुत्रोत्पत्तिं शंसते कथयते शुद्धान्तचरायान्त-  
पुरचारिणे जनाय त्रयमेवादेयमासीत् । तत् किं शशिप्रभमुज्ज्वल छत्रम् । उभे  
चामरे च । छत्रादीना राज्ञ प्रधानाह्मत्वादिति भावः ॥ १६ ॥

राजा दिलीप को अमृत के समान अक्षर हैं जिसके ऐसे 'पुत्र का जन्म हुआ है'  
इस बात को ब्रूते हुये अन्त पुर में चलने फिरने वाले जो लोग हैं, उनके लिये तीन ही



वस्तुर्नही हैने योग्य भी एक वस्त्र के समान धन्यवत्त वर्तन प्राप्त और हो नामः पाशे  
कुत्र वस्तुर्नही हैने योग्य भी ॥ १६ ॥

निवातपद्मस्तिमितेन चक्षुषा नृपस्य काम्यं पिपतः सुताननम् ।

महोदधेः पूर इत्येवमुर्ध्वमाह शुक्रा ग्रहर्ष्यः प्रथमूच नारमणि ॥ १७ ॥

निवातेति । निवातो निवातप्रदेशः । निवातावाधवापातो हृदयमरा । तत्र वत्  
पद्मे तद्गतिस्तिमितेन चक्षुष्येन चक्षुषा नेत्रेन काम्यं सुन्दरं सुताननं पुत्रमुखं पिपत-  
स्त्वप्यवा परयतो नृपस्य शुक्ररत्नका ग्रहर्ष्यः ( कर्त्ता ) इत्युर्ध्वमाह शुक्रमहोदधेः पूरौ  
कक्षीय इव । आत्मनि धरीरे य प्रथमूच स्वाहं व क्षयाक । अन्तर्मे माति स्मेति  
वावत् । न इत्यप्यपारेऽधिकं सीयत इति भाषा । यद्वा हर्षं आत्मनि स्वस्मिन्निवसे  
न प्रथमूच । आत्मा मे निवन्तु व क्षयाक । किन्तु बहिर्निर्जगामेवर्त्तः ॥ १७ ॥

वायु से परिह प्रवेश में स्थित कर्मन् भी नहीं निवृत्त मैत्रों से सुन्दर पुत्र के मुख को  
सुष्मापूर्वक देखते हुये राज्य विजय का पुत्रवर्धन से उत्पन्न महान् आनन्द वस्त्र के देखने  
से महान् सुन्दर के वक्त्र को हृदि के समान धरीरे के धीनर उदरे में समर्पण हो सदा  
किन्तु वस्त्र निकल रहा ॥ १७ ॥

स जातकर्मण्यलिखे तपस्विना तपोयनादेश्य पुरोदसा कृते ।

दिक्षीपसन्नुमन्निवाकरोद्भवा प्रमुक्तसंस्कार इवाधिकं बभौ ॥ १८ ॥

स इति । दिक्षीपसन्नुः । तपस्विना पुरोदितेन । 'पुरोपास्तु पुरोदितः' इत्यमरा ।  
वसिष्ठेन । तपस्विनापुत्रपुत्रिणं कर्म सवीर्यं स्यादिति भाषा । तपोयनादेश्यम् ।  
अग्निदे सप्तमे जातकर्मणि कर्त्तव्यसंस्कारविधौ कृते सति । प्रमुक्तसंस्कारा सागो-  
क्तेयनादिर्ब्रह्म स तपोयः । जाकरोद्भवाः तपिप्रसवाः । 'कनिःक्षिपामाकरा स्वाह' इत्यमरा ।  
मन्त्रिणः । अधिकं बभौ वसिष्ठमन्त्रप्रवापापेक्षितोद्भूतिवर्त्तः । अत्र  
सन्नुः—( प्राङ्गनाभिचर्चयन्पुंसो जातकर्मं दिक्षीयत ) इति ॥ १८ ॥

ये राजा विजय के महापुत्र पुत्र तपस्वी पुरोदित वसिष्ठ महर्षि के द्वारा तपोयन से  
जाकर सन्तुष्ट जातकर्म नायक संस्कार विधौ के विधे जाये पर विसृज्य राज पर महाना  
आदि संस्कार हो पुत्रा है ॥ राज से निकले हुये यदि भी वसिष्ठ अधिक सुयोग्य हुये

सुराध्या मग्नलक्ष्यनिरयनाः प्रमोदन्तुरथैः सह वारयोपिताम् ।

न श्रेयस्य सधनि मागपीपतं पथि क्यञ्चिद्वन्त दिषीकस्तामपि ॥ १९ ॥

गुणेति । गुणः सुराकराः अथः अथवे येषां ते गुणधरा भुविपुताः । मग्नलक्ष्यनि-  
रयना मग्नलक्ष्यनरवर्गो वारयोपितां वेदनामाह । 'वारयोपिता' वेदना इत्यादिना  
इत्यमरा । प्रमोदन्तुर्बैर्धनार्थैः सह मागपीपतेर्द्वितीयवत् सधनि कैवलं गृहं वृषं व  
व्यजामन् । किन्तु धीरोको येषां ते दिषीकता देवाः । इत्येतादिव्याख्याः । तेषां

पथ्याकाशेऽपि व्यजृम्भन्त । तस्य देवांशत्वाद् देवोपकारित्वाच्च देवदुन्दुभयोऽपि नेदुरिति भावः ॥ १९ ॥

सुनने में सुखकर मङ्गलवाद्य मृदङ्ग आदि की ध्वनि, वेदशार्थों के आनन्दसम्बन्धी नाच के साथ मगध देश के राजा की लड़की सुदक्षिणा के स्वामी महाराज दिलीप के गृह में ही केवल नहीं स्फुट हुआ, किन्तु देवताओं के मार्ग-आकाश में भी स्फुट हुआ ॥ १९ ॥

न संयतस्तस्य बभूव रक्षितुर्विसर्जयेद्यं सुतजन्मदुर्षितः ।

ऋणाभिधानात्स्वयमेव केवलं तदा पितॄणां मुमुचे स बन्धनात् ॥२०॥

नेति । रक्षितुः सम्यक्पालनशीलस्य तस्य दिलीपस्य । अत एव चौराद्यभावात् सयतो बद्धो न बभूव नाभूत् । किं तेनात आह—विसर्जयेदिति । सुतजन्मना दुर्षितस्तोपितः सन् य बद्ध विसर्जयेद्विमोचयेत् । किन्तु स राजा तदा पितृणामृणामिधानाद्बन्धनात्केवलमेकं यथा तथा स्वयमेव । एक एवेत्यर्थः । 'केवलः कृत्स्न एकश्च केवलश्चावधीरितः' इति शाश्वतः । मुमुचे कर्मकर्त्तरि लिट् स्वयमेव मुक्त इत्यर्थः । अस्मिन्नर्थे—[ एष वा अनृणो यः पुत्री ] इति श्रुतिः प्रमाणम् ॥ २० ॥

भलीभाँति रक्षा करने वाले उन दिलीप महाराज का कोई कैदी नहीं था कि जिसे पुत्रजन्म से प्रसन्न होते हुए छोड़ें, किन्तु वे महाराज उस समय पितरों के ऋणरूपी बन्धन से अकेले स्वयं ही मुक्त हुये ॥ २० ॥

श्रुतस्य यायादयमन्तमर्भकस्तथा परेषां युधि चेति पार्थिवः ।

अवेक्ष्य धातोर्गमनार्थमर्थविच्चकार नाम्ना रघुमात्मसम्भवम् ॥२१॥

श्रुतस्येति । अर्थविच्छब्दार्थज्ञः पार्थिव पृथिवीश्वरो दिलीप । अयमर्भको बालकः श्रुतस्य शास्त्रस्यान्त पारं यायात् । तथा युधि परेषां शत्रूणामन्त पार च यायात् । यातुं शक्नुयादित्यर्थः । 'शकि लिङ् च' इति शक्यार्थे लिङ् । इति हेतोर्धातोः । 'अधिवधिलधिगार्यर्थाः' इति लविधातोर्गमनार्थमर्थमर्थविच्चादेवेत्यालोच्य । आत्मसम्भवं पुत्रं नाम्ना रघु चकार । 'लङ्घिवद्गोर्नलोपश्च' । ह्युपसर्ग्ये 'बालमूललघ्वलमङ्गुलीनां वा लो रश्चमापद्यते' इति वैकल्पिके रेफादेशे रघुरिति रूपं सिद्धम् । अत्र शब्द 'आशौचे तु व्यतिक्रान्ते नामकर्म विधीयते' इति ॥ २१ ॥

शब्दों के अर्थों को जानने वाले पृथ्वी के स्वामी राजा दिलीप ने यह बालक शास्त्र के पार को निश्चय जा सकेगा ( जान सकेगा ) तथा युद्ध में शत्रुओं के पार ( नाश ) को जा सकेगा ( फ़र सकेगा ) इस कारण लवि धातु के जाना रूप अर्थ को विचार कर अपने लड़के का रघु ऐसा नाम रखा ॥ २१ ॥

पितुः प्रयत्नात्स समग्रसम्पदः शुभैः शरीरावयवैर्दिने दिने ।

पुपोष घृद्धि हरिदश्वदीधितेरनुप्रवेशादिव घालचन्द्रमाः ॥२२॥

पितुरिति । स रघुः समग्रसम्पदः पूर्णलक्ष्मीकस्य पितुर्दिलीपस्य प्रयत्नाच्छुभैर्म-

तोदरैः शरीरावधनैः । हरिवन्धवीषितैः सूर्वस्य ररमो । 'मास्वद्विषस्वरससायवहरिष  
शोष्यररमया' इत्यमरः । अनुप्रवेसाद्वा कश्चिद्वा इव द्विने द्विने प्रतिद्विषम् । 'मिष  
वीप्सपो' इति द्विर्वचनम् । वृद्धिं पुषोप । अत्र वराहसंहितावचनम्—( सकिंठमये  
काशिमि रवर्धोपितपो मूर्ध्वज्ज्वास्तमो वैद्यम् । उपयमि वृषजोवरमिहिता इव  
मन्विरस्यामता ) इति ॥ २२ ॥

यह वाक्य छठे पूर्व सम्पत्तिप्राप्ते पिता विभीष के प्रचरन से मनोहर मद्र नीर ग्वाहों  
से सूर्व की फिरनों के भीतर प्रवेश करने से वाक्य कम्पना ( प्रतिपद के कम्पना ) की मूर्ति  
प्रतिबिम्ब वृद्धि को प्राप्त करने लगा ॥ २२ ॥

उमाहृपाद्वी सरजम्भना यथा यथा जयन्तेन वाचीपुरम्भरी ।

तथा सृपा सा च सुतेन मापधी नमन्वत्तुस्तरसङ्घोषेन तस्समौ ॥ २३ ॥

उमेति । उमाहृपाद्वी पार्वतीहृषमन्धवी सरजम्भना कर्त्तिकेमेन । 'कर्त्तिकेयो  
महत्सेना सरजम्भा पञ्चावधौ' इत्यमरः । यथा नमन्वत्तुः । वाचीपुरम्भरी जयन्तेन  
जयन्तान्ध्वेन सुतव । 'जयन्ताः पाक्ष्यासनि' इत्यमरः । यथा नमन्वत्तुः । तथा  
तस्समौ ताम्बामुमाहृपाद्व्याम्बा वाचीपुरम्भराभ्यां च समौ समाधौ सा मापधी  
मुपत्र तत्सङ्घोषे ताम्बा कुमारजयन्ताम्बा सरजैव सुतेव नमन्वत्तुः । मापधी  
ग्राम्भाभ्याता ॥ २३ ॥

पार्वती और कम्पना छद्मर में कर्त्तिकेय से और इन्द्रापी तथा इन्द्र में वचन से वेसा  
जानकर पावा, इसी तरह से इन दोनों (पार्वती और छद्मर की तथा इन्द्रापी और इन्द्र) के  
छद्मर यह छद्मविषय और राजा विभीष (इन दोनों) में इन दोनों (कर्त्तिकेय और वचन)  
के छद्मर पुनः छुटे जानकर पावा ॥ २३ ॥

रथाङ्गनाम्भोरिव भावतन्धन वमूव यस्मेन परस्परसङ्घमम् ।

विमच्छमभ्येकसुतेन तत्तयोः परस्परस्योपरि पर्यधीयत ॥ २४ ॥

रथाङ्गेति । रथाङ्गनाम्भोरीव रथाङ्गनामा च रथाङ्गनामात्री चक्रवाकी 'धूमन्धि-  
वा' इत्येकशेषः । तयोरेव तयोर्भूषणयोर्भावतन्धनं हृष्याकर्षकं परस्परसङ्घमम्भो  
भ्यधिपरं यत्नेन वमूव तदैकेन केवकेन ताम्बासम्भवेन वा । 'एकं मुक्कान्धकं वक्रा'  
इत्यमरः । सुतेन विमच्छमपि कृतविमामामपि परस्परस्योपरि पर्यधीयत बहुषे ।  
कर्मकर्तारि कङ् । अङ्गनामनात्मनमभ्योपधितमिन्ध्या । यदैकाधारी वस्तु तथाधार  
इये विमच्छमार्थं हीयते । अत्र तु तयोः मातृकैककर्तृकमेकैकविपर्यमेन सङ्गति  
द्वितीयविपर्ययमेव वाहीयत । मातृतोपधितमेवामूर्धिति भावा ॥ २४ ॥

कम्पना-कम्पनी की मूर्ति यम दोनों ( सरजिना और विभीष ) के हरण की भाङ्ग  
करने वाजा कम्पनी-विषयक की प्रेम वा यह कैवळ पुनः छद्म के द्वारा यह वादे मर भी  
हरण पर छद्मर के कवर लक्ष्मी तथा ॥ २४ ॥

उवाच धाड्या प्रथमोदितं वचो ययौ तदीयामवलम्ब्य चाङ्गुलिम् ।

अभूच्च नम्रः प्रणिपातशिक्षया पितुर्मुदं तेन तनान सोऽर्भकः ॥२५॥

उवाचेति । सोऽर्भक शिशु' । 'पोत' पाकोऽर्भको हिम्भः पृथुक शावक' शिशु' इत्यमर' । धाड्योपमात्रा । 'धात्री जनन्यामलकीवसुमत्युपमातृपु' इति विश्व । प्रथममुदितमुपदिष्ट वच उवाच । तदीयामङ्गुलिमवलम्ब्य ययौ च । प्रणिपातस्य शिष्योपदेशेन नम्रोऽभूच्च । इति यत्तेन पितुर्मुदं तनान ॥ २५ ॥

वह बालक रघु धार्ष्ट के द्वारा उच्चारण किये 'तात आदि' वचन का उच्चारण करने लगा और उसकी अङ्गुली का सहारा लेकर चलने लगा तथा प्रणाम करने की शिक्षा से बड़ों के सामने नम्र होने लगा, इन सब पूर्वोक्त प्रकारों से पिता के हर्ष को बढ़ाने लगा ॥२५॥

तमङ्गमारोप्य शरीरयोगजैः सुखैर्निषिञ्चन्तमिवामृतं त्वचि ।

उपान्तसंमीलितलोचनो नृपश्चिरात्सुतस्पर्शरसज्ञतां ययौ ॥२६॥

तमिति । शरीरयोगजैः सुखैस्त्वचि त्वग्निन्द्रियेऽमृत निषिञ्चन्तं वर्पन्तमिव त पुत्रमङ्गमारोप्य मुदाविर्भावादुपान्तयोः प्रान्तयोः समीलितलोचनः सन् नृपश्चिरात्सुतस्पर्शरसज्ञतां ययौ । रसः स्वादः ॥ २६ ॥

'पुत्र के' अङ्ग के सङ्ग से उत्पन्न आनन्द के द्वारा मानो त्वचा पर अमृत बरसाते हुए उस पुत्र को गोद में बिठा कर नेत्रप्रान्त को बन्द किये हुए राजा दिलीप ने बहुत दिनों से अभिलषित पुत्र के स्पर्श-सुख को अभिशता को प्राप्त किया ॥ २६ ॥

अमस्तं चानेन परार्ध्यजन्मना स्थितेरमेत्ता स्थितिमन्तमन्वयम् ।

स्वमूर्त्तिभेदेन गुणाग्रयवर्त्तिना पतिः प्रजानामिव सर्गमात्मनः ॥

अमस्तेति । स्थितेरमेत्ता मर्यादापालक स नृप परार्ध्यजन्मनोऽकृष्टजन्मनाऽनेन रघुणाऽन्वय वशम् । प्रजानां पतिर्ब्रह्मा । गुणाः सस्वादय । तेष्वग्रयेण मुख्येन सस्वेन वर्त्तते व्याप्रियत इति गुणाग्रयवर्त्ती तेन । स्वस्य मूर्त्तिभेदेनावतारविशेषेण विष्णुनाऽऽत्मनः सर्गं सृष्टिमिव । स्थितिमन्तं प्रतिष्ठावन्तममस्तं सन्त्यते स्म । मन्त्येतेरनुदात्तत्वादित्प्रतिषेधः । अत्रोपमानोपमेययोरितरेतरविशेषणानीतरेतरत्र योज्यानि । तत्र रघुपते गुणा विद्याविनयादयः । 'गुणोऽप्रधाने रूपादौ मौन्यां सूदे वृकोदरे । स्तम्बे सस्वादिसध्यादिविद्याऽऽदिहरितादिषु ॥' इति विश्व । शेष सुगमम् ॥

मर्यादा की रक्षा करनेवाले राजा दिलीप ने उत्कृष्ट जन्मवाले इस रघु के द्वारा वशको जिस भाँति प्रजापति ब्रह्माजी सर्वगुणवाले अपने अवतार विशेष विष्णु भगवान् के द्वारा अपनी सृष्टि को स्थिर रहनेवाली मानते हैं उसी भाँति स्थिर रहने वाला माना ॥ २७ ॥

स वृत्तचूलश्चलकाकपक्षकैरमात्यपुत्रैः सद्योभिरन्वितः ।

लिपेर्यथावद्वहणेन चाङ्गमयं नदीमुखेनैव समुद्रमाविशत् ॥२८॥

स इति । (चूडाकार्यं द्विजातीनां सर्वेषामेव धर्मतः । प्रथमेऽब्दे तृतीयेव ।

कर्त्तव्यं मुतिचोदनात् ॥) इति मनुस्मरणानुतीये वर्षे वृत्तबुद्धौ विष्वक्पदाकर्मा  
सम् । बक्योरमेव । स रघुः । (प्राप्ते तु पञ्चमे वर्षे विद्याभ्यर्म्भं च कारयेत्) इति  
वचनात्पञ्चमे वर्षे । बक्यकपयवैश्वदेवकपयवैश्वदेवः । 'वाक्यानां तु विद्या प्रोक्त  
कपयवः सिद्धयवः' इति ह्यनुक्तम् । सवर्गोऽपि सिद्धयः ॥ 'वयस्या रिचयः'  
इत्यमरः । अमत्यपुत्रैरभितः सन् क्रियेः पञ्चासहस्राभिर्यथा मातृकया यथावत्  
ग्रहमेव सम्यग्बोधेनोपायमूलेन वाक्यमर्थं ग्रह्यमातम् । यथा मुखं हारम् । मुखं तु  
वदने मुखपारम्भे हाराम्बुपाययो' इति वाङ्मयः । तेन कश्चिन्मकरादिः समुद्रमिव ।  
आविष्टप्रविष्टः । ज्ञातवानित्यर्थः ॥ १८ ॥

ब्रह्मर्षे संस्कार के हो चुकने पर उस वाक्य रङ्ग में ब्रह्म विद्यावाक्ये वदने उस  
वक्तु मन्त्रिपुत्रों के सहित वर्षमात्र का मन्त्रमूर्ति परिचय या चुकने पर -कसी के द्वारा  
समस्त वाक्य में नदी के द्वारा मन्त्रपरि कहे समुद्र में प्रवेश करते हैं वही मूर्ति प्रवेश  
क्रिया ॥ १८ ॥

अथोपनीतं विषयद्विपक्षितो विमिष्युरेव गुरवो गुरुप्रियम् ।

अवश्यं यत्नात् बभूवुरथ ते क्रिया हि यस्तुपहिता प्रसीदति ॥२५॥

अवेति । (गर्माहमेभ्यः कुर्वति ब्राह्मणत्वोपनायनम् । गर्माहिकवसे राहो  
गर्माह द्वादशे विद्याः ॥) इति मनुस्मरणानुगतगमदिकवसेभ्यः विषयद्विपक्षितं गुरु-  
प्रियमेव रघुं विपक्षितो विद्वांसो गुरवो विमिष्युः क्षिप्रवन्तः । ते गुरवोऽप्यास्मिन्  
रवावबन्धवत्वात् बन्तुः । तथाहि । क्रिया क्रिया । 'क्रिया तु विष्कृती सिद्धाधिकि-  
त्वावागत्कर्म्मणः' इति वाङ्मयः । वस्तुनि पात्रमूल उपहिता प्रसुक्त प्रसीदति चकति ।  
'क्रिया हि ब्रह्म विवर्तति नाश्वर्यम्' इति कौटिल्यः ॥ २५ ॥

इसके बाद वर्ष ॥ २१ वे वर्ष में छाकानुकूल व्यवस्था कर चुकने पर गुरुओं के प्रिय  
हम रघु को विद्या गुरु लोगों ने शिक्षा की और वे गुरु लोग हम रघु के विषय में तत्काल  
अमर्यादे हुए क्योंकि विद्या सत्ताम को ही ब्रह्म कल्पती होती है ॥ २५ ॥

विद्याः समग्राः स गुरौक्यारथीः क्रमाच्छतश्राव्यतुरर्णवोपमाः ।

ततार विद्याः पञ्चमतिपातिभिर्दिशा हरिर्जिह्वरितामिबेभ्यराः ॥३०॥

प्रिय इति । अत्र कामन्दक-शुनका अर्थं चैव ग्रह्यं चारणं तथा । अज्ञापोहा  
म्विश्रान्तं तत्त्वज्ञानं च धीशुजाः ॥ इति । आन्वीक्षिकी जपी वाचां दृग्गतीति  
वाचती । वृत्ता विद्याकृतकस्तु कोक्यंतिवसिहेतवाः ॥ इति च । अहारथीकृत्यनुक्तिः ।  
स रघुः समग्रेष्वपि गुरवैः । अवारोऽर्णवा उपमा वासां तावत्तुरर्णवोपमाः । 'तद्धि  
तार्पोऽरपदसमाहारे च' इत्युत्तरपदसमासाः । अतको विद्याः । हरितां विद्यामीश्वरा  
गुरवः पञ्चमतिपातिभिर्दिशिर्जिह्वारथैः । 'हरित्कुमि बर्णे च दृग्वाक्षिविषेययोः'  
इति कोसा । अतको द्विष्ट इव क्रमाच्छतार । अतुरर्णवोपमात्वं दित्तमपि ब्रह्मण्यम् ॥  
नन्वी उदितवाके वन राजकुमार रङ्ग में उसघ (गुरुगुरुवा-मन्त्र-ग्रह-वारण-

ऊहापोह-अर्थज्ञान तत्त्वज्ञान ) इन बुद्धि के गुणों के द्वारा चार समुद्र के समान चार ( आन्वीक्षिकी-वेदत्रयी-वार्ता-दण्डनीति आदि ) विद्याओं को दिशाओं के स्वामी ( सूर्य ) जैसे पवन से भी अधिक वेगवान् अपने घोड़ों से चारों दिशाओं को कम से पार करते हैं, उसी भाँति पार किया ॥ ३० ॥

त्वचं स मेध्यां परिधाय रौरवीमशिक्षतास्त्रं पितुरेव मन्त्रवत् ।

न केवलं तद्गुरुरेकपार्थिवः क्षितावभूदेकधनुर्धरोऽपि स ॥३१॥

त्वचमिति । स रघु । 'कार्णरौरववास्तानि चर्माणि ब्रह्मचारिणः । वसीरज्ञानु-पूर्व्येण ज्ञानक्षौमाविकानि च' इति मनुस्मरणान्मेध्यां शुद्धा रौरवीं रुक्सम्बन्धिनीम् । 'रुक्महाकृष्णसार' इति यादवः । त्वच चर्म परिधाय वसित्वा मन्त्रवत्स-मन्त्रकमस्त्रमाग्नेयादिक पितुरेवोपाध्यायादशिक्षताभ्यस्तवान् । 'आख्यातोपयोगे' इत्यपादानसज्ञा । पितुरेवेत्यवधारणमुपपादयति-नेति । तद्गुरुरेकोऽद्वितीयः पार्थिव-केवल पृथिवीश्वर एव नाभूत् । किन्तु क्षितौ स दिलीप एको धनुर्धरोऽप्यभूत् ॥

उस ( रघु ) ने पवित्र रुक् सृग के चर्म को धारण करके मन्त्रयुक्त ( आग्नेयादि ) अस्त्रों को पिता ही से सीखा, क्योंकि उसके पिता ( दिलीप महाराज ) अद्वितीय चक्रवर्ती महाराज केवल न थे, किन्तु-पृथ्वी में वह अद्वितीय धनुर्धर भी थे ॥ ३१ ॥

महोक्षतां वत्सतरः स्पृशन्निव द्विपेन्द्रभावं कलभः श्रयन्निव ।

रघुः क्रमाद्यौवनभिन्नशैशवः पुपोष गाम्भीर्यमनोहरं वपुः ॥ ३२ ॥

महोक्षतामिति । रघु क्रमाद्यौवनेन भिन्नशैशवो निरस्तशिशुभाव सन् । महाबुद्धा महोक्षो महर्षभ 'अचतुरविचतुर' इत्यादिसूत्रेण निपातनादकारान्तत्वम् । तस्य भावस्तत्ता ता स्पृशन्नाच्छन्वत्सतरो दम्य इव । 'दम्यवत्सतरौ समौ' इत्यमरः । द्विपेन्द्रभाव महागजत्व श्रयन्ब्रजन्कलभः करिपोत इव । गाम्भीर्येणाचापलेन मनोहरं वपुः पुपोष ॥ ३२ ॥

रघु कम से युवावस्था के द्वारा लडकपन दूर होने पर बड़े भारी बैल के भाव को प्राप्त किये हुए दमन करने लायक बखड़े की भाँति तथा गजराज के भाव ( स्वभाव ) को प्राप्त किये हुए हाथी के बच्चे की भाँति चञ्चलता न होने से सुन्दर शरीर को पुष्ट करने लगे ॥

अथास्य गोदानविधेरनन्तरं विवाहदीक्षां निरवर्त्तयद् गुरुः ।

नरेन्द्रकन्यास्तमवाप्य सत्पतिं तमोनुदं दक्षसुताश्चावभुः ॥३३॥

अथेति । 'गौर्नाऽऽदित्ये चलीवर्दे क्रतुमेदर्विमेदयो । स्त्री तु स्याद्विशि भारत्यां भूमौ च सुरभावपि । पुस्त्रियो स्वर्गवज्राम्बुरश्मिहृग्वाणलोमंसु ॥' इति केशव । गावो लोमानि केशा दीयन्ते खण्ड्यन्तेऽस्मिन्निति न्युत्पत्त्या गोदान नाम ब्राह्मणादीनां पोडशादिषु वर्षेषु कर्त्तव्य केशान्तास्य कर्मोच्यते । तदुक्तमनुना—(केशान्त पोडशे वर्षे ब्राह्मणस्य विधीयते । राजन्यबन्धोर्द्वाविंशे वैश्यस्य द्व्यधिके ततः ॥ ) इति ।

तुल्या राक्षसुषा रेषा आद्यापाद्याः) इत्यादिभिरुपा । राक्षसुषैरनुभुतमनुगतं चतुर्थं  
तं रघुं होन्तुराद्यान् रक्षसो निमुञ्च । एकेन कृतुवाङ्मूर्त्यमेकैर्न कनूनामन्मेषानां  
अतमपविध्यमपगतविध्यं यथा तथाऽऽप ॥ ३८ ॥

इन्द्र के मुख बन दिक्पीर महाराज ने राक्षसुषाओं से अनुसरण किये यों बहुत बड़े  
बारण करने वाले बन तुवरान् रघु को होम के किये को अक्षयमेव बह-सम्पत्ती बोड़े के  
बनको उठा करने में निमुञ्च करने एक कम ही अक्षयमेव बह को निर्विघ्न समाप्त किया ॥

ततः परं तेन मन्त्राय यज्यन्तां तुरङ्गमुत्सृष्टमगौतं पुनः ।

अनुसृतमग्रत एव रक्षिणां अह्वारं शक्यं गृहविग्रहाः ॥ ३९ ॥

तत इति । ततः परमेकोनसप्तत्युपाप्यवन्तरं यज्यन्तां विधिनेष्टवता तेन  
दिक्पीरैः पुनः पुनरपि मन्त्राव मन्त्रं कर्तुम् । 'क्रियाध्वोपपदस्य' इत्यादिना  
चतुर्थी । उत्सृष्टं मुक्तमगौतममतिकल्पयत् । अज्याहतस्वैरगतिमित्यर्थः । अपर्वा  
वर्तयन्तोऽव्यवमनुचरन्ति इत्यापरतन्वसमरणात् । तुरङ्गं अनुसृतं रक्षिणां रक्ष  
काणामग्रत एव सम्यगे गृहविग्रहाः सन् । अह्वारं किञ्च । किञ्चेत्येतिष्ठे ॥ ३९ ॥

उत्सृष्टे ( १९ वां बह समाप्त होने के ) बाद विधिपूर्वक बह करने वाले बन दिक्पीर  
महाराज से फिर से बह करने के किये बोड़े हुये किना टीक-टीक करने मन्त्र से चकने वाले  
बोड़े को अनुसृत रक्षकों के आगे से ही अग्रगण्य क्षीर बाका होता हुआ इन्द्र के गया ॥ ३९ ॥

विषाद्वृत्तप्रतिपत्तिं विस्मिर्तं कुमारसौम्यं सपदि स्थितं च तत् ।

वसिष्ठयेनुज्य यद्व्यङ्ग्याऽऽयतां भुतप्रमाणा वृष्टयेऽथ नन्दिनी ॥ ४० ॥

विषादेति । तत्कुमारस्य सौम्यं सेना सपदि । विषाद इष्टवाञ्छितो मन्त्रोमहा ।  
तद्वृत्तम् ( विषादभेदतो मन्त्र उपाधामाववाधयोः ) इति । तेन सता प्रतिपत्तिं  
कर्तव्यत्वात् यस्य तत्तथोक्तम् । विस्मिमतमरचनात्स्वाकस्मिन्कथादात्म्याविष्टं सत् ।  
स्थितं तस्यै । अथ भुतप्रमाणा यद्व्यङ्ग्यां स्वैच्छयाऽऽयतां । रघो स्वप्रसादकस्य  
त्वाद्वृत्तिवृत्तेति भावाः । नन्दिनी नाम । यद्विष्टयेनुज्य वृष्टये । द्वौ चकाराव-  
विद्यन्वायुचकौ ॥ ४० ॥

अब राक्षसुषा रघु को बह सेना कती क्षण ( बोड़ा के ब दोन पदने के क्षण ) विचार  
से भया करना चाहिये क्या नहीं करण चाहिये इस विचार से सत्य विस्मित होती  
हुई निश्चल स्थिर हुई, तब उत्सृष्टे बाद जिसका मन्त्रान् तन्त्रो धिहित है वेष्टि करनी रक्षा  
से आरंभ हुई नन्दिनी नाम की वसिष्ठ महर्षि की वेशु को बोनों से दिया ॥ ४० ॥

तद्वृत्तमित्यन्वञ्जनेन काव्येन प्रसूज्य पुण्येन पुरस्कृतः सताम् ।

अतीन्द्रियेष्वाप्युपगम्यार्जो बभूव भावेऽपु दिक्पीरान्धना ॥ ४१ ॥

तथेति । सतां पुरस्कृतः वृत्तितो दिक्पीरान्धनी रक्षा पुण्येन वरदा वन्दिना

यदङ्गं तस्य निस्यन्दो द्रवः स एव जलम् । मूत्रमित्यर्थः । तेन लोचने प्रमृज्य शोधयित्वा । अतिन्द्रियेष्विन्द्रियाण्यतिक्रान्तेषु । 'अस्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया' इति समासः । द्विगुप्रासापञ्चालम्पूर्वगतिसमासेषु परवस्त्रिद्वताप्रतिपेधाद्विशेष्यनिघ्नत्वम् । भावेऽपि वस्तुपूपपद्दर्शनः सम्पन्नसाक्षात्कारशक्तिर्बभूव ॥ ४१ ॥

सज्जनों से पूजित दिलीप महाराज के पुत्र युवराज रघु, पवित्र उस नन्दिनी के अङ्ग से उत्पन्न जल ( मूत्र ) से दोनों आँखों को धोकर इन्द्रियों से नहीं प्रत्यक्ष होने वाली भी वस्तुओं में देखने की शक्ति वाले हो गये ॥ ४१ ॥

स पूर्वतः पर्वतपक्षशातनं ददर्श देवं नरदेवसम्भवः ।

पुनः पुनः सूतनिषिद्धचापलं हरन्तमश्वं रथरश्मिसंयतम् ॥४२॥

स इति । नरदेवसम्भवः स रघुः पुनः पुनः सूतेन निषिद्धचापलं निवारितौद्धत्यं रथस्य रश्मिभिः प्रग्रहैः । 'किरणप्रग्रहौ रश्मी' इत्यमरः । सयतं बद्धमश्वं हरन्तं पर्वतपक्षाणां शातनं छेदकं देवमिन्द्रं पूर्वतः पूर्वस्यां दिशि ददर्श ॥ ४२ ॥

राजा दिलीप के लड़के उन युवराज रघु ने वारम्बार सारथि के द्वारा जिसकी उद्धत-पना रोकी जा रही थी और जो रथ की डोरी से बँधा हुआ था, ऐसे घोड़े को हरण करके ले जाते हुये पर्वतों के पक्षों को काटने वाले देवराज इन्द्र को पूर्व दिशा में देखा ॥ ४२ ॥

शतैस्तमक्षामनिमेषवृत्तिभिर्हरिं विदित्वा हरिमिश्च वाजिभिः ।

अवोचदेनं गगनस्पृशा रघुः स्वरेण धीरेण निवर्त्तयन्निव ॥४३॥

शतैरिति । रघुस्तमश्वहर्त्तारमनिमेषवृत्तिभिर्निमेषध्यापारश्चन्यैरचनां शतैर्हरिमि-  
हर्तिद्वर्णैः । 'हरिर्वाच्यवदाख्यातो हरिरकपिलवर्णयोः' इति विश्वः । वाजिभिरश्वैश्च हरि-  
मिन्द्रं विदित्वा । 'हरिर्वातार्कचन्द्रेन्द्रयमोपेन्द्रमरीचिषु' इति विश्वः । पुनमिन्द्रं गग-  
नस्पृशा व्योमन्यापिना धीरेण गम्भीरेण स्वरेण ध्वनिनैव निवर्त्तयन्निवावोचत् ॥

युवराज रघु उन्हें ( अश्व के हरण करने वाले को ) निमेष ( पलक का गिरना ) शून्य व्यापार वाले सैकड़ों आँखों के द्वारा तथा हरे रङ्ग के घोड़ों के द्वारा इन्द्र जानकर उसे आकाश में गूँज जाने वाले गम्भीर स्वर से लौटाते हुये की भाँति बोले ॥ ४३ ॥

मखांशभाजां प्रथमो मनीषिभिस्त्वमेव देवेन्द्र ! सदा निगद्यसे ।

अजस्तदीक्षाप्रयतस्य मद्गुरोः क्रियाविघाताय कथं प्रवर्त्तसे ॥४४॥

मखांशेति । हे देवेन्द्र ! मनीषिभिस्त्वमेव मखांशभाजां यज्ञभागभुजा प्रथमः  
सदा निगद्यसे कथ्यसे । तथाऽऽप्यजस्तदीक्षायां प्रयतस्य मद्गुरोः क्रियाविघाताय ।  
ऋतुविघाताय । क्रियां विहन्तुमित्यर्थः । 'तुमर्थाच्च भाववचनात्' इति चतुर्थी ।  
कथं प्रवर्त्तसे ॥ ४४ ॥

हे इन्द्र ! विद्वान् लोग आप ही को यज्ञ के भाग को ग्रहण करने वाले देवताओं में प्रथम सदा बतलाते हैं अतः निरन्तर यज्ञसम्बन्धी दीक्षा लेने में प्रवृत्त ( सदा यज्ञ



अथ गुण पिता 'गुणार्थिपतिपिनाहो' इत्यमरः । अस्व गोदावविधेरनन्तरं विवाह  
वीची विरचयत् । कृतवानित्यर्थः । अथ नरेन्द्रकन्यास्तं रघुम् । दक्षस्य पुत्रा  
रोहिणीबाह्यस्तमोनुवं चन्द्रमिष । 'तमोनुवोऽमिषचन्द्रार्क' इति विद्या । सत्पति  
मवाप्याचम्य । रघुरपि तमोनुव । अथ मनुः—'वद्वानवस्य वेदी वा वेदं वाऽपि  
यनाक्रमम् । अविपुस्यवद्वानवधो गुरुस्याजममामिषोत्' ॥ इति ॥ ३३ ॥

उत्तरे वाद पिता विष्णोप महाराज मे हन राजकुमार रघु का 'नैष्ठान्त' नामक संस्कार  
कर तुझे के वाद विवाह संस्कार किया, उत्तरे वाद राजकुमारों विषय तरह रोहिणी अग्नि  
बन्ध को पाकर सुसौमित्र हुई थी कृती मीति सुसौमित्र हुई ॥ ३३ ॥

सम्मति दीवरान्वययोग्यतामाह—

बुधा युगम्यायातवाहुरंसङ्गः कपाटवज्राः परिजस्रकन्यराः ।

वपुःप्रकर्षावक्ष्यन्तुं शुर्वं रघुस्तथाऽपि नीचैर्बिग्नपादद्वयम् ॥ ३४ ॥

बुधेति । बुधा बुधो नाम बुर्वस्कन्यया सध्विज्जगन्तो यानाद्भूतो द्वाकविधेयः ।  
'यानाच्छे बुधा पुंसि बुधं बुधे कृतविधु' इत्यमरः । बुधाकं व्याचष्टी वीचीं बाहु  
परम वा । अंसावस्य स्त इर्वसको बन्वान् मांसकन्येति वृत्तिकारः । 'बलमात्मो  
सर्कोऽम्यक' इत्यमरः । 'कर्त्तामात्म्या कामबन्धे' इति कथ्यात्ययः । कपाटवज्रा परि  
जस्रकन्यरो विद्याकर्मिणः । 'परिणाहो विद्याकृता' इत्यमरः । रघुर्वपुः प्रकर्षाद्वा  
विशवादीवचकृतान् शुर्वं पितरमज्जयत् । तवाऽपि विषयात् नञ्त्वेन नीचैरवपुः  
द्वयम् । अवेनावीक्ष्यं च विवक्षितम् ॥ ३४ ॥

बुधत्वा के मांस हुए बुध ( पाप का लक्ष्य प्राप्त करनेसेव बुद्धि ) के मीति कन्यो  
मुक्तवाके बन्वान् किया के तरह वीची बातीवाके तथा विद्या कर्मवाके रघुने कन्ये  
द्वार के अपि कर्ता पिता के मीति किया ना तथापि विषय के ओं ही दोष पढ़ते थे ॥

सम्मति तस्य दीवरान्वयमाह—

तदा प्रजानां विरमातमना भूर्ता मिथान्तगुर्वी क्षयपिप्यता पुरम् ।

मिसर्गसंस्कारपणीत इत्यसौ नृपेण जके गुह्यराजशाप्समाह् ॥

तत इति । तत अहमना विरं जतां मिथान्तगुर्वी । 'बोधो गुणवचनान्' इति  
कीप् । प्रजानां पुरं पादप्रवासं क्षयपिप्यता कर्तुं करिष्यता । 'तत्करोति तद्वाचते  
इति कहुसम्प्रदायिन् । ततो 'कृत् सहा' इति अतुमात्ययः । नृपेण द्विधीयेतासी  
रघुर्मिसर्ग स्वमात्रेण संस्कारेण साक्षात्सज्जनितवासनया च विधीतो वज्र इति  
हेतोः । मुखराज इति अहम् अजतीति तपोक्तः । 'अजो मिव' इति निघण्टययः । जके  
कृताः । ( द्विषो द्विषा स्वाधापिका कुक्षिमज्ज ) इति कीदृश्याः । तदुभय  
सम्प्रदायात्पुर्वं मुखराजं अकारोत्यर्थः । अत्र कामन्वकः—( विनयोपग्रहाम्भूतै

कुर्वीत नृपतिः सुतान् । अविनीतकुमार हि कुलमाशु विशीर्यते ॥ विनीतमौरसं पुत्र यौवराज्येऽभिषेचयेत् ॥ ) इति ॥ ३५ ॥

उमके बाद स्वयं बहुत दिनों से धारण किये हुये अत्यन्त भारयुक्त प्रजापालन सम्बन्धी मार को हल्का करने की इच्छा करनेवाले राजा दिलीप ने यह रघु स्वभाव से तथा शास्त्र के अभ्यास करने से उत्पन्न वासना से नष्ट है इस कारण से उसे युवराज पद से भूषित किया ॥ ३५ ॥

नरेन्द्रमूलायतनादनन्तरं तदास्पदं श्रीयुवराजसञ्ज्ञितम् ।

अगच्छदंशेन गुणाभिलाषिणी नवावतारं कमलादिवोत्पलम् ॥ ३६ ॥

नरेन्द्रेति । गुणान्विनयादीन्सौरभ्यार्दींश्चाभिलषतीति गुणाभिलाषिणी राज्य-लक्ष्मी पद्माश्रया च नरेन्द्रो दिलीप एव मूलायतनं प्रधानस्थानं तस्मात् । अपादानात् । अनन्तरं सनिहितम् । युवराज इति सज्ञाऽस्य सञ्ज्ञाता युवराजसंज्ञितम् । तारकादिस्वादित्प्रत्ययः । आत्मन पदं स्थानमास्पदम् । 'आस्पदं प्रतिष्ठा-याम्' इति निपातः । स रघुरित्यास्पदं तदास्पदम् । कमलाखिरोत्पन्नात् नवावतार-मखिरोत्पन्नमुत्पलमिव । अशेनागच्छत् । स्त्रियो हि यूनि रज्यन्त इति भावः ॥ ३६ ॥

विनयादि गुणों की अभिलाषा रखने वाली राजलक्ष्मी के पक्ष में सुगन्ध आदि गुणों की अभिलाषा रखने वाली कमलालया लक्ष्मी, राजा दिलीप रूप प्रधान स्थान से समीप में स्थित युवराज इस पदवी को धारण करने वाले रघुरूप अपने स्थान को जैसे पुराने कमल से नवान उत्पन्न हुये कमल को पक्षालया जाती है, वैसे ही एक अश से गई ॥ ३६ ॥

विभावसुः सारथिनेव वायुना घनव्यपायेन गभस्तिमानिव ।

वभूव तेनातितरां सुदुःसहः कटप्रभेदेन करीव पार्थिवः ॥ ३७ ॥

विभावसुरिति । सारथिना सहायभूतेन । एतद्विशेषणमुत्तरवाक्येऽप्यनुपल-नीयम् । वायुना विभावसुर्वहिरिव । 'सूर्यवह्नी विभावसू' इत्यमरः । घनव्यपायेन शरत्समयेन सारथिना गभस्तिमान्सूर्य इव । कटो गण्डः । 'गण्डं कटो मदो दानम्' इत्यमरः । तस्य प्रभेदः स्फुटनम् । मदोदय इत्यर्थः । तेन करीव पार्थिवो दिलीप-स्तेन रघुणाऽतितरामत्यन्तं सुदुःसहं सुष्ट्वसह्यो वभूव ॥ ३७ ॥

सहायभूत वायु से जैसे अग्नि और मेष का नाश जिसमें हैं ऐसे सहायभूत शरत्काल से जैसे सूर्य, तथा मदायभूत गण्डस्थल के फूटने से ( मदके उदय होने से ) जैसे हाथी, अत्यन्त सुदुःसह हो जाता है, उसी भाँति राजा दिलीप भी सहायभूत उस रघु से 'दुश्मनों के लिये' भली भाँति दुःसह हुये अर्थात् नहीं जीतने लायक हुये ॥ ३७ ॥

नियुज्य तं होमतुरङ्गरक्षणे धनुर्धरं राजसुतैरनुद्रुतम् ।

अपूर्णमेकेन शतक्रतूपमः शतं क्रतूनामपविघ्नमाप सः ॥ ३८ ॥

नियुज्येति । शतक्रतुरिन्द्र उपमा यस्य स शतक्रतूपमः स दिलीपः । ( शतं वै

तुल्या राक्षसुणा देवा जातापात्ताः) इत्यादिभिरुक्ताः । रामसुतैरनुसुतमनुगतं चतुर्वर्तं रघुं होमपुराणां रचने निमुञ्च । पञ्चन प्रनुनाऽप्यूर्ध्वमेकीनं कनूनामथमेवानां अतमपविष्ममपगतविष्मं यथा तथाऽऽप ॥ ३८ ॥

इन्द्र के पुत्र बन दिवीप महाराज मे रामकुमारों से अनुसरण किये गये चतुर्वर्त के कारण करने वाले बन महाराज रघु को होम के किये को नक्षत्रमेव बह-सम्पत्नी बोधे थे, इनको रक्षा करने में निवृत्त करने एक कम ही नक्षत्रमेव बह को निर्दिष्ट समाप्त किया ॥

ततः परं तेन मन्वाय यज्यता सुरक्षमुस्तुप्रमनर्गर्ह पुनः ।

चतुर्वर्तामप्रत यय रक्षिष्यां बह्वार शक्तः किञ्च गूढयिप्रहा ॥ ३९ ॥

तत इति । ततः परमेकोबलतच्छुभापयनमन्तरं यज्यता विधिमेवतता तेव दिवीपेन पुनः पुनरपि मन्वाय मन्त्रं कर्तुम् । 'किंवाऽर्धोपपदस्य-' इत्यादिना चतुर्वर्तं । इत्यर्थं शुक्लमनर्गमयतिबन्धवत् । अप्याहृतस्वैरगतिमित्यर्थः । अपर्वा चर्तवन्तोऽन्यमनुचरन्ति इत्यावस्तम्बरमरणात् । सुरक्षं चतुर्वर्ता रक्षिष्यां रक्ष कामामप्रत एक शक्तो गूढयिप्रहा सन् । बह्वार शक्तः । किञ्चेत्येतिशे ॥ ३९ ॥

वक्तुं ( १९ वां बह समाप्त होने के ) बाद विधिपूर्वक बह करने वाले बन दिवीप महाराज से फिर से बह करने के किये बोधे हुए किन्ना ऐक्य-बोध करने दन से बहने वाले बोधे को चतुर्वर्ती रक्षकों के जाये से ही इन्द्रपुत्र शरीर बाणा होता हुआ हर के बना ॥ ३९ ॥

विषादलुप्तप्रतिपत्ति विस्मिर्तं कुमारसैव्यं सपदि स्थितं च तत् ।

वसिष्ठयेनुज यद्व्यङ्ग्याऽऽगता भुतप्रमथा वदयेऽथ नन्दिनी ॥ ४० ॥

विपद्नेति । तत्कुमारस्य सैव्यं सेवा सपदि । विषाद इहनाशङ्कतो ममोमहा । तदुक्तम् ( विषादमेतसो मङ्ग उपपायमाववाचयोः ) इति । तेन कुता प्रतिपत्ति कर्तव्यज्ञात् यत्तत्तत्तत्तत् । विस्मिर्तमरववाचस्याकस्मिन्कथात्मात्माविष्टं सत् । स्थितं तत्तत् । अथ भुतप्रमथा यद्व्यङ्ग्या सैव्य्याऽऽगता । रघोः स्वमसाद्व्यङ्ग्यत्वात्तदुक्तिवृत्तेति भावाः । नन्दिनी नाम । वसिष्ठयेनुज वदये । द्वी चकाराक निवृत्त्युच्यते ॥ ४० ॥

अथ रामकुमार रघु को बह सेवा कती क्षम ( बीड़ा के व दीयपक्ष के क्षम ) विषाद से 'बना करना चाहिये' बना नहीं करना 'चाहिये' इति विचार ॥ इत्येव विस्मिर्त होती हुई विम्वर स्थित हुई, तब वक्तुं बाद निवृत्ता ममान लगको विवित है, ऐसी नरनी इन्द्र से नारे हुई नन्दिनी नाम की वसिष्ठ महर्षि को वेनु को जानो ने देखा ॥ ४० ॥

तद्व्यङ्ग्यमिदं ज्ञातेन प्रमुञ्च्य पुण्येन पुरस्कृतः सताम् ।

अतीन्द्रियेष्वप्युपगच्छवर्जानो बभूव भावेणु दिवीपकन्तना ॥ ४१ ॥

तद्व्यङ्ग्येति । सतां पुरस्कृतः पवित्रो दिवीपकन्तना रघुः पुण्येन तस्या नन्दिन्या

यदङ्गं तस्य निस्थन्दो द्रव स एव जलम् । मूत्रमित्यर्थः । तेन लोचने प्रमृज्य शोधयित्वा । अतिन्द्रियेष्विन्द्रियाण्यतिक्रान्तेषु । 'अत्यादय क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया' इति समासः । द्विगुप्राप्तापन्नालम्पूर्वगतिसमासेषु परवल्लिङ्गताप्रतिपेधाद्विशेष्यनिघ्नत्वम् । भावेऽपि वस्तुपूपपद्मदर्शनः सम्पन्नसाक्षात्कारशक्तिर्वभूव ॥ ४१ ॥

सज्जनो से पूजित दिलीप महाराज के पुत्र युवराज रघु, पवित्र उस नन्दिनी के अङ्ग से उत्पन्न जल ( मूत्र ) से दोनों आँखों को धोकर इन्द्रियों से नहीं प्रत्यक्ष होने वाली भी वस्तुओं में देखने की शक्ति वाले हो गये ॥ ४१ ॥

**स पूर्वतः पर्वतपक्षशातनं ददर्श देवं नरदेवसम्भवः ।**

**पुनः पुनः सूतनिषिद्धचापलं हरन्तमश्वं रथरश्मिसंयतम् ॥४२॥**

स इति । नरदेवसम्भव स रघुः पुनः पुनः सूतेन निषिद्धचापल निवारितौद्धत्यं रथस्य रश्मिभिः प्रग्रहैः । 'किरणप्रग्रहौ रश्मी' इत्यमरः । संयत वद्धमश्व हरन्त पर्वतपक्षाणां शातनं छेदक देवमिन्द्र पूर्वत पूर्वस्यां दिशि ददर्श ॥ ४२ ॥

राजा दिलीप के लड़के उन युवराज रघु ने बारम्बार सारथि के द्वारा जिसकी सज्जत-पना रोक जा रही थी और जो रथ की डोरी से बँधा हुआ था, ऐसे घोड़े को हरण करके ले जाते हुये पर्वतों के पक्षों को काटने वाले देवराज इन्द्र को पूर्व दिशा में देखा ॥ ४२ ॥

**शतैस्तमक्षगामनिमेषवृत्तिभिर्हरिं विदित्वा हरिभिश्च वाजिभिः ।**

**अवोचदेनं गगनस्पृशा रघुः स्वरेण धीरेण निवर्त्तयन्निव ॥४३॥**

शतैरिति । रघुस्तमश्वहर्त्तारमनिमेषवृत्तिभिर्निमेषध्यापारशून्यैरक्षगामं शतैर्हरिभिर्हरिद्विजैः । 'हरिर्वाच्यवदाख्यातो हरिस्कपिलवर्णयो' इति विश्व । वाजिभिरश्वैश्च हरिमिन्द्र विदित्वा । 'हरिर्वाताकंचन्द्रेन्द्रयमोपेन्द्रमरीचिषु' इति विश्व । पुनमिन्द्र गगनस्पृशा व्योमव्यापिना धीरेण गम्भीरेण स्वरेण ध्वनिनैव निवर्त्तयन्निवावोचत् ॥

युवराज रघु उन्हें ( अश्व के हरण करने वाले को ) निमेष ( पलक का गिरना ) शून्य व्यापार वाले सैकड़ों आँखों के द्वारा तथा हरे रङ्ग के घोड़ों के द्वारा इन्द्र जानकार उसे आकाश में गूँज जाने वाले गम्भीर स्वर से लौटाते हुये की भाँति बोले ॥ ४३ ॥

**मखांशभाजां प्रथमो मनीषिमिस्त्वमेव देवेन्द्र । सदा निगद्यसे ।**

**अजस्रदीक्षाप्रयतस्य मदगुरोः क्रियाविघाताय कथं प्रवर्त्तसे ॥४४॥**

मखांशेति । हे देवेन्द्र ! मनीषिमिस्त्वमेव मर्यादशभाजा यज्ञभागभुजां प्रथमः सदा निगद्यसे कथ्यसे । तथाऽऽप्यजस्रदीक्षाया प्रयतस्य मदगुरोः क्रियाविघाताय । क्रतुविघाताय । क्रियां विहन्तुमित्यर्थः । 'तुमर्थाच्च भाषवचनात्' इति चतुर्थी । कथं प्रवर्त्तसे ॥ ४४ ॥

हे इन्द्र ! विद्वान् लोग आप ही को यज्ञ के भाग को ग्रहण करने वाले देवताओं में प्रथम सदा बतलाते हैं अतः निरन्तर यज्ञसम्बन्धी दीक्षा लेने में प्रवृत्त ( सदा यज्ञ

ही करते हुये ) मेरे पिता दिगीप महाराज के लक्ष्मण बह को मर करने के लिये माप  
क्यों प्रवृत्त हो रहे हैं ॥ ४४ ॥

मिलोकनायेन सदा मखद्विपस्तयया नियम्या मनु दिव्यचक्रुपा ।  
स येस्त्वय कर्मसु धर्मचारिणां त्वमन्तरायो भवसि व्युतो विधिः ॥

मिलोकेति । प्रपात्रां कोकानां नायकिलोकनाय । 'तद्वितार्थोत्तरपदसमाहारं  
च' इत्यनेनोत्तरपदसमाहारः । तेन त्रैलोक्यविषयामकेन । दिव्यचक्रुपाश्रीनिद्रपार्श्व  
सिना त्वया मखद्विपाश्रुविषयतया सदा विषय्या मनु सिद्धया कृता । स त्वं धर्म  
चारिणां कर्मसु श्रुतु स्वयमन्तरायो विष्णो भवसि येत् । विचित्रमुद्यमं व्युता  
कृता । लोके सत्कर्मकर्मैवास्तमिवाहित्यर्थः ॥ ४५ ॥

मिलोक के स्वामी दिव्य हृदि वाले भाप के द्वारा वह के निर्वास करने वाले रामदादि  
सदा विषय करके दम्भणीय हैं । अतः ऐसे ही भाप हैं जो धर्म के वाचन करने वाले  
सत्त्वों के वधादि कर्म में स्वयम् यदि विष्णु हो रहे हैं तो वहप्रति सत्कर्म वह हुना ही है  
अर्थात् लोक में उन सत्कर्म की कला भी भस्त ही है ॥ ४५ ॥

तद्वत्प्रमथं मखवन्महाकठोरमुं तुरङ्गं प्रतिमोक्तुमर्हसि ।

पथा श्रुतेर्वर्णयितार ईश्वर मकीमसामादृष्टे न पश्यतिम् ॥ ४६ ॥

तद्वत्प्रमथं । हे मखवन् । तत्तस्मात्कारवात्म्यमहाकठोरकमेवस्वाप्रथं श्रेष्ठम्  
साधनममुं तुरङ्गं प्रतिमोक्तुं प्रतिबन्धमुर्हसि । तथाहि—श्रुतेः पथा वर्णयितार  
सम्पत्प्रवर्णका ईश्वरा महात्मो मकीमसो मकिनी पश्यति मर्मा आदृष्टे न  
स्वीकृति । अतस्मार्गं नान्यकम्पन्ता इत्यर्थः । 'मकीमसो तु मकिने कम्पन्तं मक्युपि  
तम्' इत्यमरा ॥ ४६ ॥

हे बन्ध । इस कारण से महाकठ ( लक्ष्मण ) का प्रपात्र साधन इस बोद्धे को जोकने के  
लिये माप समर्थ होवे क्योंकि—येद के मार्ग को दिखाने वाले बड़े कोन मकिन (निम्बिण)  
मर्मा ( वह का अन्य पुराणा कर्म ) का लक्ष्मण नहीं करते हैं ॥ ४६ ॥

इति प्रगल्भं रघुणा समीरितं बन्धो निरागम्याधिपतिर्द्विषीकसाम् ।

निवर्त्तयामास रघुं सविस्मया प्रचक्रमे च प्रतिबन्धतुमुत्तरम् ॥ ४७ ॥

इतीति । इति रघुणा समीरितं प्रगल्भं बन्धः निरागम्याधिर्यः । द्विषीकसाः स्वर्गी  
कसाः । 'द्विषं स्वर्गोऽन्तरिक्षे च' इति विश्वः । तेषामधिपतिर्द्विष्यो रघुममावात्स  
विस्मया सत् । एवं निवर्त्तयामास । उत्तरं प्रतिबन्धतुं प्रचक्रमे च ॥ ४७ ॥

इस प्रकार से रघु के द्वारा कहे हुये बृहत् बन्ध की हान कर देवदामों के स्वामी इन्द्र  
के रघु के प्रपात्र ॥ नाशपूर्ण होवे हुये रघु की जोगना और कण्ठ देने के लिये  
कारण दिया ॥ ४७ ॥

यदात्थ राजन्यकुमार । तत्तथा यशस्तु रक्ष्यं परतो यशोधनैः ।

जगत्प्रकाशं तदशेषमिज्यया भवद्गुरुर्लङ्घयितुं ममोद्यतः ॥४८॥

यदिति । हे राजन्यकुमार । क्षत्रियकुमार । 'मूर्धाभिपिक्तो' राजन्यो बाहुज-  
क्षत्रियो विराट्' इत्यमर यद्वाक्यमात्थ ब्रवीषि । 'ब्रुव पञ्चानामादित आहो ब्रुव'  
इत्यनेनाहादेश । तत्तथा सत्यम् । किन्तु यशोधनैरस्मादशैः परव. शत्रुतो यशो  
रक्ष्यम् । तत् किमत आह-भवद्गुरुस्वल्पिता जगत्प्रकाश लोकप्रसिद्धमशेष सर्वं  
मम तद्यश इज्यया यागेन लङ्घयितुं तिरस्कर्तुमुद्यत उद्युक्तः ॥ ४८ ॥

हे क्षत्रियकुमार रघु । तुम जिस बात को कह रहे हो वह उसी तरह से (ठीक) ही है,  
किन्तु यश ही को धन माननेवाले हमारे ऐसे लोगों को शत्रु से यश की रक्षा करनी उचित  
है और आपके पिता जगत् में अतिशय प्रसिद्ध जो सम्पूर्ण मेरा यश है, उसे यश से लङ्घन  
करने के लिए उद्यत हो रहे हैं ॥ ४८ ॥

किं तद्यश इत्याह—

हरिर्यथैकः पुरुषोत्तमः स्मृतो महेश्वरश्च्यम्बक एव नापरः ।

तथा विदुर्मां मुनयः शतक्रतु द्वितीयगामी नहि शब्द एव नः ॥

हरिरिति । पुरुषेष्टम इति सप्तमीसमासः । 'न निर्धारणे' इति षष्ठीसमास-  
निषेधात् । कर्मधारये तु 'सन्महत्परमोत्तमोत्कृष्टा पूज्यमाने' इत्युत्तमपुरुष इति  
स्यात् । यथा हरिविष्णुरेक एव पुरुषोत्तम स्मृतः । यथा च च्यम्बक शिव एव महेश्वर  
स्मृतः । नापरोऽपर पुमान्न । तथा मा मुनयः । शतक्रतुं विदुर्विदन्ति । 'विदो  
लटो वा' इति क्षेरसादेशः । नोऽस्माकम् । हरिहरयोर्मम चेत्यर्थः । एष त्रितयोऽपि  
शब्दो द्वितीयगामी नहि । द्वितीयाप्रकरणे गम्यादीनामुपसङ्ख्यानसमासः ॥४९॥

जिस प्रकार विष्णु ही केवल पुरुषोत्तम कहे जाते हैं और जिस प्रकार से च्यम्बक ही  
केवल महेश्वर कहे जाते हैं और दूसरा कोई नहीं कहा जाता है, उसी भाँति से मुनि लोग  
मुझे शतक्रतु (सौ अश्वमेध यश करने वाला) समझते हैं । हम लोगों के ये तीनों  
(पुरुषोत्तम-महेश्वर-शतक्रतु) शब्द दूसरे पुरुष के लिए नहीं हैं ॥ ४९ ॥

अतोऽयमश्वः कपिलानुकारिणा पितृस्त्वक्षीयस्य मयाऽपहारितः ।

अलं प्रयत्नेन तवात्र मा निधाः पदं पदव्यां सगरस्य सन्तते ॥५०॥

अत इति । यतोऽहमेव शतक्रतुरतस्वदीयस्य पितुरय शततमोऽश्व कपिलानु-  
कारिणा कपिलमुनितुल्येन मयाऽपहारितोऽपहृतः । अपहारित इति स्वार्थे णिच् ।  
तवात्राश्वे प्रयत्नेनालम् । प्रयत्नो मा कारीत्यर्थः । निषेधस्य निषेधं प्रति करणत्वा-  
त्तृतीया । सगरस्य राज्ञः सन्तते सन्तानस्य पदव्यां पदं मा निधा न निधेहि ।  
निपूर्वाद्धातोर्लुङ् । 'न माङ्योगे' इत्यङागमप्रतिषेधः । महदास्कन्दनं ते विनाशमूलं  
भवेदिति भावः ॥ ५० ॥

क्योंकि मैं ही केवल अरुणमेघ का करीबाना हूँ दूसरा कोई नहीं है इस कारण है  
 तुम्हारे पिता के इस बोझ को कपिल आदि के मुख मेंने भुग किया है । तुम्हारा इस बोझ  
 के निरन मैं 'छुड़ाने के लिए' प्रयत्न करना चुका है और सगर महाशय के पुत्रों के मार्ग  
 में पैर मल रखते जहाँ-तुम्हारा अनुसरण मत करो ॥ ५ ॥

तथा महस्यापमयाः पुरम्हर्तुं पुनर्ब्रमाये तुरगस्य रक्षिता ।

गृहाण शत्रुं यदि सर्गं पश्य ते न शस्त्रमिर्मित्य रघुं कृती भवान् ॥

सप्त इति । तत्तत्पुरगस्य रक्षिता रघुः महस्य महासं कृत्वा । अपमयो निर्मल  
 सन् । पुत्रः पुरम्हर्तुं ब्रमाये । किमिति-हे देवेन्द्र ! बसे-पे-आमाचनरूपस्ते तव सर्वो  
 निजकार । 'सर्गः स्वमायानिमोचनिकषात्प्राचर्यद्विषु' इत्यमरः । तर्हि शत्रुं गृहाय ।  
 मवान् रघुं सामनिर्मित्य कृतमनेनेति कृती । कृतकृत्यो यः शत्रुः । 'इष्टादिभ्यश्च' इती-  
 निप्रत्ययाः । इष्टुमिदमनेनात्मनो दुर्जयार्थं सूचितम् ॥ ५१ ॥

सचके (रत्न का वात सन कुचन के) बार बोझ को रखा करने वाले यह हँस कर  
 विभीक होवे हुए रत्न से बोझ-हे देवेन्द्र ! यदि वह 'बोझ' न छोड़ना स्व आपका निधन  
 है तो शत्रु को ग्रहण करिये क्योंकि आप शत्रु विना जीते बोझ के बोझ रूप सर्व में  
 निग्रह कृतकृत्य नहीं हो सँभे ॥ ५१ ॥

स पश्यमुक्त्वा ममद्यन्तमुम्मुखाः करिष्यमाणाः सद्यर्तं शपसन् ॥

अतिप्रदासीदविद्योपशोभिता वपुष्पकर्षेण विहन्मि तेभ्यः ॥ ५२ ॥

स इति । स रघुकुमुपाः सन् ममद्यन्तमिच्छमेवमुक्त्वा शरासन चार्पं सर्वं  
 करिष्यमाणाः । आसीद्वैनासीद्वैत्येन स्थानभेदेन विद्योपशोभिताऽतिप्रदासीद्विना वपु-  
 ष्पकर्षेण वैहीनत्वेन विहन्मि तेभ्योऽमुमुक्षुसुपिबन्धी सन् । अतिप्रद । आसीद्वैत्येनमाह  
 पाद्वै- (स्वानाति बन्धिका पञ्च तत्र वैद्याचमश्चिवाय । निमित्तत्पान्तरी पाद्वी  
 मण्डलं शीरणाकृति । अन्वर्थं स्वातस्मपदमासीत् तु ततोभ्यः । इति नै वाममा-  
 न्मुखाः प्रत्यासीत् विपर्ययाः ॥ ) इति ॥ ५२ ॥

नर यह कयर को मुख दिने हुए रत्न से इस प्रकार चर कर वपुष को घाम से कुछ  
 किना जाने वाला करते हुए लाजिब नामक (नागे को और बड़ीभा पैर कुछ बोझ को  
 हुआ हो और नागों पैर पीछे को और तना हुआ रखा हो ती गी लाजिब नामक पैरों  
 वपुर्बिना के बालने वाले करते हैं ) पैरों से विधेय छोड़ा देमपाके देह के भीन्वत् से  
 कहर ममवान् का अनुसरण दिने हुए कहा हुआ ॥ ५२ ॥

रघोरज्यम्भममेव परिजना इदि सतो गोजमिदप्यमर्षका ।

मयाम्बुबाजीकमुहूर्तजायन्ते वपुष्पमोर्षं समघट्ट सायकम् ॥ ५३ ॥

रघोरिति । रघोरज्यम्भममेव स्वामाकर्षेण । 'अवहत्याः मुकर्षे च स्वाम्यारम्भ-  
 चोरपि' इति विग्रहः । इतिना वानेन इदि इदर्थं सतो विग्रहः । अथ पशामर्षको-

सहन । क्रुद्ध इत्यर्थः । गोत्रभिदिन्द्रोऽपि । 'सम्भावनीये चौरैऽपि गोत्रः क्षोणी-  
धरे मतः' इति विश्वः । नवाम्बुदानामनीकस्य वृन्दस्य मुहूर्त्तं क्षणमात्रं लाञ्छने  
चिह्नभूते धनुषि । दिव्ये धनुषीत्यर्थः । अमोघमवन्ध्यं सायकं बाणं समघत्तं संहि-  
तवान् ॥ ५३ ॥

रघु के स्तम्भरूप बाण के द्वारा हृदय में क्षत (घाव) हो जाने से क्रोधित हुये,  
पर्वतों के भेदन करने वाले (इन्द्र) ने भी नवीन मेघ के समूह की थोड़ी देर चिह्न (शोभा)  
को धारण करने वाले धनुष पर अमोघ (कभी व्यर्थ नहीं जाने वाला) बाण सन्धान किया ॥

**दिलीपसूनोः स बृहद्भुजान्तरप्रविश्य भीमासुरशोणितोचितः ।**

**पपावनास्वादितपूर्वमाशुगः कुतूहलेनेव मनुष्यशोणितम् ॥ ५४ ॥**

दिलीप इति । भीमानां भयङ्कराणामसुराणां शोणिते रुधिर उचित परिचित  
स इन्द्रमुक्त आशुगः सायको दिलीपसूनोः रघोर्वृहद्विशाल भुजान्तरं वक्ष्य प्रविश्य ।  
अनास्वादितपूर्वं पूर्वमनास्वादितम् । सुप्सुपेति समासः । मनुष्यशोणितं कुतूहलेनेव  
पपी ॥ ५४ ॥

भयङ्कर दैत्यों के रक्तपान में अभ्यस्त वा विदित उस बाण ने दिलीप के पुत्र रघु के  
विशाल वक्ष स्थल में प्रविष्ट होकर जिसका पहले कभी स्वाद नहीं लिया है ऐसे मनुष्य के  
रक्त का कुतूहल से मानो पान किया ॥ ५४ ॥

**हरेः कुमारोऽपि कुमारविक्रमः सुरद्विपास्फालनकर्कशाङ्गुलौ ।**

**भुजे शचीपत्रविशेषकाङ्क्षिते स्वनामचिह्नं निचखान सायकम् ॥ ५५ ॥**

हरेरिति । कुमारस्य स्कन्दस्य विक्रम इव विक्रमो यस्य स तथोक्तः । 'सप्तस्यु-  
पमानपूर्वपदस्य—' इत्यादिना समासः । कुमारोऽपि रघुरपि सुरद्विपस्यैरावत-  
स्यास्फालनेन कर्कशा अङ्गुलयो यस्य स तस्मिन् । शच्या पत्रविशेषकैरङ्क्षिते  
शचीपत्रविशेषकाङ्क्षिते हरेरिन्द्रस्य भुजे स्वनामचिह्नं स्वनामाङ्कितं सायकं निचखान  
निखातवान् । निष्कण्टकराज्यमाप्तस्यायं महानभिभव इति भावः ॥ ५५ ॥

कार्तिकेय के समान अत्यन्त पराक्रमी युवराज रघु ने भी ऐरावत हाथी के उत्साहार्थ  
मारने से कठिन अङ्गुलियों जिसकी हो रही हैं तथा इन्द्राणी के तिलक का जिसमें चिह्न  
है, ऐसे इन्द्र के बाहु मध्य में अपने नाम का चिह्न जिसमें मौजूद है ऐसे बाण को  
गाढ़ दिया ॥ ५५ ॥

**जहार चान्येन मयूरपत्त्रिणा शरेण शक्रस्य महाशनिध्वजम् ।**

**शुकोप तस्मै स भृशं सुरश्रियः प्रसह्य केशव्यपरोपणादिव ॥ ५६ ॥**

जहारेति । अन्येन मयूरपत्त्रिणा मयूरपत्रवत्ता शरेण शक्रस्येन्द्रस्य महाशनि-  
ध्वजं महान्तमशनिरूपं ध्वजं जहार चिच्छेद च । स शक्रः । सुरश्रियं प्रसह्य  
चलाकृत्य केशानां व्यपरोपणादिवतारणाच्छेदनादिव । तस्मै रघवे मृशमस्यर्थं शुकोपः ।





शरासनज्या धनुर्मूर्ध्वम् । शशाङ्कस्यार्द्धं खण्ड इव मुखं फलं यस्य तेन पत्रिणाऽ  
लुनादच्छिनत् ॥ ५९ ॥

इसके बाद रघु ने हरिचन्दन लगे हुये प्रकोष्ठ ( केहुनी से कलार्ध पर्यन्त भाग ) में मधे  
जाते हुये समुद्र की भोंति गम्भीर शब्द करने वाली इन्द्र के धनुषकी प्रत्यक्षा को चन्द्र के  
आधे टुकड़े के समान फल वाले बाण से काट दिया ॥ ५९ ॥

स चापमुत्सृज्य विवृद्धमत्सरं प्रणाशनाय प्रबलस्य विद्विषः ।

महीध्रपक्षव्यपरोपणोचित स्फुरत्प्रभामण्डलमख्यमाददे ॥ ६० ॥

स इति । विवृद्धमत्सरं प्रवृद्धवैर इन्द्रश्चापमुत्सृज्य प्रबलस्य विद्विष शत्रो-  
प्रणाशनाय वधाय । महीं धारयन्तीति महीध्रा पर्वताः । मूलविभुजादित्वात्कप्रत्ययः ।

तेषां पक्षव्यपरोपणे पक्षच्छेद उचितं स्फुरत्प्रभामण्डलमख्यमाददे जग्राह ६०

'धनुष की प्रत्यक्षा के कट जाने से' जिसका क्रोध अत्यन्त बढ़ गया है, ऐसे इन्द्र ने  
धनुष को छोड़ कर अत्यन्त बलवान् शत्रु (रघु) का नाश करने के लिये पर्वतों के पक्षों के  
काटनेमें प्रसिद्ध, चमकती हुई प्रभा का मण्डल जिसके चारों तरफ है ऐसे वज्रसशक  
अस्त्र को ग्रहण किया ॥ ६० ॥

रघुर्भृशं वक्षसि तेन ताडितः पपात भूमौ सह सैनिकाश्रुभिः ।

निमेषमात्रादवधूय तद्व्यथां सहोत्थितः सैनिकहर्षनिःस्वनैः ॥ ६१ ॥

रघुरिति । रघुस्तेन वज्रेण मृशमत्यर्थं । वक्षसि ताडितो हतः सन् । सैनिकाना-  
मश्रुभि सह भूमौ पपात । तस्मिन्पतिते ते रुरुदुरित्यर्थं निमेषमात्रात्तद्व्यथां दुःख-  
मवधूय तिरस्कृत्य सैनिकानां हर्षेण ये निःस्वना च्वेडास्तैः सहोत्थितश्च । तस्मि-  
न्नुत्थिते हर्षात् सिंहनादाश्चक्रुरित्यर्थः ॥ ६१ ॥

रघु वस ( इन्द्र से छोड़े हुये ) वज्र से छाती में अत्यन्त चोट लगने से सैनिकों के अश्रु  
के साथ जमीन पर गिर पड़े और क्षणभर के बाद ही उसकी पीड़ा को सहन करके सैनिकों  
के हर्ष से किये सिंहनाद के साथ ही उठ पड़े ॥ ६१ ॥

तथाऽपि शस्त्रव्यवहारनिष्ठुरे विपक्षभावे चिरमस्य तस्थुष ।

तुतोष वीर्यातिशयेन वृत्रहा पदं हि सर्वत्र गुणैर्निधीयते ॥ ६२ ॥

तथाऽपीति । तथाऽपि वज्रपातेऽपि शस्त्राणामायुधानां व्यवहारेण व्यापारेण  
निष्ठुरे क्रुरे विपक्षभावे शात्रवे चिर तस्थुष । स्थितवतोऽस्य रघोर्वीर्यातिशयेन । वृत्र  
हतवानिति वृत्रहा । 'ग्रहाभ्रूणवृत्रेषु क्लिप्' । तुतोष । स्वयं वीर एव वीर जानातीति  
भावः । कथं शत्रोः सन्तोषोऽत आह-गुणैः सर्वत्र शत्रुभिर्नोदासीनेषु पदमह्व-  
निधीयते । गुणैः सर्वत्र सक्रम्यत इत्यर्थः । गुणाः शत्रून्प्यावर्जयन्तीति भावः ॥

उस प्रकार के वज्रप्रहार होने पर भी अस्त्रों के व्यवहार करने से निष्ठुर शत्रुभाव

में बहुत देर से स्थित हुई इस रघु के पराक्रम की अधिकता से हवासुर को (उसी वन से) मारने वाले वन प्रसन्न हुई क्योंकि-शुण ही सर्वत्र छत्र-मित्राधिक्य में वेर को स्थगित करते हैं क्योंकि शुण से ही सर्वत्र जागर होता है ॥ ६२ ॥

असङ्गमद्रिष्वपि सारवत्तया न मे स्वद्वन्द्वेन विसोढमायुधम् ।

अथेहि मां प्रीतयुते तुरङ्गमास्त्रिमिच्छसीति स्फुटमाह घासबा ॥

असङ्गमिति । सारवत्तयाऽद्रिष्वप्यसङ्गमप्रतिबन्धं मे आमुष्यं वल्लं स्वद्वन्द्वेन न विसोढम् । अतो मां प्रीतयुतमथेहि । तुरङ्गमास्ते तुरङ्गं वञ्चयित्वा । 'अन्धारादि-उत्तरे' इति पञ्चमी किमिच्छसीति स्फुटं घासबा आह—तुरङ्गमास्त्वद्वन्द्वेन नास्तीति भाषा ॥ ६३ ॥

सारवाद् ( हृद् ) होने से परंतो में भी यही कल्पे बाबा मेरा अस्त्र भी वह वन है ही तुम्हारे अलावा किसी दूसरे के नहीं सदन किया है अतः हमें तुम प्रसन्न समझो और बोके को छोड़ कर क्या चाहते हो । ऐसा वन मैं प्रकाश रूप में रघु से क्या ॥ ६३ ॥

ततो निपङ्गावक्षमप्रमुदभूतं सुवर्णपुङ्गवतिरक्षिताङ्गुलिम् ।

अरेन्द्रसूनुः प्रतिसंहरन्निषु प्रियंवदं प्रत्यववत्सुरेभ्वरम् ॥ ६४ ॥

तत इति । ततो निपङ्गावक्षमप्राप्तमप्रं वचा तथोद्वृत्तं सुवर्णपुङ्गवतिर्नि-रक्षिता अङ्गुलिं येन तमिषु प्रतिसंहरन्निषुवत् । अथैवमर्त्तं प्रहरेदिति निरेवा-दिति भावः । प्रियं वदतीति प्रियंवदः । 'प्रियंवतो वदः कव' इति प्राप्त्वयः ॥ 'अर्च्यपद्वन्तस्य' इति भुमागमाः । अरेन्द्रसूनुः रघुः सुरेभ्वरं प्रत्यववत् । न तु माहुरदिति भाषा ॥ ६४ ॥

उसके ( शत्रु को वात तुलने के ) बाद तुरकस से पूरे नहीं निकले हुये जिसके सुवर्ण-अव मुक्त माय की कान्ति से अङ्गुलियों रह गई हैं ऐसे बाण को फिर से तुरकस में रखते हुए प्रियवचन बोलने वाले महाराज शिबीर के कुमार रघु देवताओं के प्रभु शत्रु से बोले ॥ ६४ ॥

अमाङ्ग्यमर्थं यदि मय्यसे प्रभो ततः समासे विधिर्नैव कर्मणि ।

अमङ्गनीक्षाप्रघटाः स मद्गुरुः कृतोरघोपेण फलेन सुखयताम् ॥

अमोचमिति । इ प्रभो हृद् ! अरवममोच्यं मय्यसे यदि तत्तरतर्ह्यङ्गुलीकायां प्रघटाः स मद्गुरोर्मम पिता विधिर्नैव कर्मणि समासे सति कृतार्थत्वं तेन चक्रेवा-धेनेन कुरतैव सुखयतां युक्तोऽग्रतु । अरवमेधककलाये विमरवैवेति भाषा ॥ ६५ ॥

हे प्रभो अरव को यदि नहीं छोड़ने लायक भाव समझते हैं तो वो निरन्तर वन को दीपा में जले हुये हैं ऐसे वे मेरे पिता महाराज शिबीर विधिवर्तक कार्य को समाधि देने पर वन को जल होता है उत सन्तुर्न वन से सुख हो 'वद मे चाहता हूँ' ॥

यथा च वृत्तान्तमिमं सदोगतस्त्रिलोचनैकांशतया दुरासदः ।

तवैव संदेशहराद्विशांपतिः शृणोति लोकेश तथा विधीयताम् ॥६६॥

यथेति । सदोगतः सदो गृह गतस्त्रिलोचनस्येश्वरस्यैकांशतयाऽष्टानामन्यतममूर्त्तिस्त्वात् । दुरासदोऽस्मादशौर्दुप्राप्त्यो विज्ञापतिर्यथेम वृत्तान्त तव संदेशहराद्वात्ताह-  
रादेव शृणोति च । हे लोकेशेन्द्र ! तथा विधीयताम् ॥ ६६ ॥

और यज्ञमण्डप में स्थित शङ्कर भगवान् का भा एक अंश ( यजमानरूपी मूर्त्ति ) होने से हमारे ऐसे लोगों के लिए बड़ी कठिनाई से प्राप्त होने के योग्य महाराजाधिराज दिलीप जी जिस प्रकार इस वृत्तान्त को तुम्हारे दूत से ही सुनें, हे लोकपाल इन्द्र जी ! वैसा आप करें ॥ ६६ ॥

तथेति कामं प्रतिशुश्रुवान् रघोर्यथाऽऽगतं मातलिसारथिर्ययौ ।

नृपस्य नातिप्रमनाः सदोगृहं सुदक्षिणासूनुरपि न्यवर्त्तत ॥६७॥

तथेतीति । मातलिसारथिरिन्द्रो रघो सम्बन्धिन काम मनोरथं तथेति तथा-  
स्त्विति प्रतिशुश्रुवान् । 'भाषाया सदवसश्रुव.' इति कसुप्रत्यय । यथाऽऽगतं  
ययौ । सुदक्षिणासूनू रघुरपि नातिप्रमना विजयलामेऽप्यश्वनाशास्त्रातीव तुष्टः सन् ।  
नमर्थस्य सुसुपेति समाम् । नृपस्य सदोगृह प्रति न्यवर्त्तत ॥ ६७ ॥

मातलि नामक सारथि है जिमका ऐसे इन्द्रजी रघु की 'अभिलाषा के सम्बन्ध' में  
वैसा ही होगा 'जैसा कि तुमने कहा है' ऐसी प्रतिष्ठा करके जिस मार्ग में आये थे उसी  
मार्ग से गये और सुदक्षिणा के पुत्र रघु भी 'विजय होने पर भी घोड़ा न मिलने से'  
अत्यन्त प्रसन्न चित्त नहीं होते हुये राजा दिलीप के समाभवन की ओर लौटे ॥ ६७ ॥

तमभ्यनन्दप्रथमं प्रबोधितः प्रजेश्वरः शासनहारिणा हरेः ।

परामृशन्दर्पजडेन पाणिना तदीयमङ्गं कुलिशव्रणाङ्कितम् ॥६८॥

तमिति । हरेरिन्द्रस्य शासनहारिणा पुरुषेण प्रथम प्रबोधितो ज्ञापित । वृत्तान्त-  
मिति शेष । प्रजेश्वरो दिलीपो हर्षजडेन हर्षशिशिरेण पाणिना कुलिशव्रणाङ्कितम् ।  
तस्य रघोरिदं तदीयम् । अङ्गं शरीरं परामृशस्त रघुमभ्यनन्दत् ॥ ६८ ॥

इन्द्र की आज्ञा को लाने वाले पुरुष से ( रघु के आने के ) पहिले ही वृत्तान्त को जाने  
हुए प्रजाओं के मालिक, राजा दिलीप ने हर्ष से कौपते हुए हाथ से वज्र के धाव से युक्त  
उन ( रघु ) के शरीर का स्पर्श करते हुये उन ( रघु ) का अभिनन्दन किया ॥ ६८ ॥

इति क्षितीशो नवतिं नवाधिकां महाक्रतूनां महनीयशासनः ।

समारुह्यश्रुर्दिवमायुषः क्षये ततान स्रोपानपरम्परामिव ॥ ६९ ॥

इतीति । महनीयशासन पूजनीयाज्ञ क्षितीश इत्यनेन प्रकारेण 'इति हेतुप्रकर-

ज्यकारादिसमाप्तिश्च इत्यमरः । महाभयवामरवमेवावां नवभिरधिकं नवसिमेको-  
नसतमापुपा चये सति द्विं स्वर्गं समाकृष्टरारोहमिच्छन् सोपाभावां परम्परां  
पङ्क्तिमिव तवान् ॥ ९९ ॥

जिसकी आवा सयी जीगो को माननीय है ऐसी पृथ्वी के स्वामी राजा दिगीप ने इस  
प्रकार से जब अधिक मन्त्रों केभाँत निम्नागमे ९९ अवधयेव नामक महावक्यों को पूरा किया  
सो मानी जीवन समाप्त होने पर ऊपर स्वर्ग पर चढ़ने को इच्छा रखने वाले को भी  
सौन्दर्य को पङ्क्ति केकार को ॥ ९९ ॥

अथ स विषयस्यावृत्तात्मा यथाविधि सूत्रये  
नृपतिककुर्वं वत्सा धूने सितातपवारणम् ।  
मुनिवततद्वच्यार्थां वेभ्या तथा सह सिद्धये  
गङ्गितययसामिह्याकृष्यामिहं हि कुलमतम् ॥ १०० ॥

अथेति । अथ विषयेभ्यो व्यावृत्तात्मा निवृत्तचित्तः ॥ दिगीपो यथाविधि वत्सा-  
साधं धूने सूत्रये नृपतिककुर्वं वत्साधितम् । 'कुरुहात्कुरुवं कोटे वृषाह्ने राजकुलमभि'  
इति विद्याः । सितातपवारणं वेतच्छत्रं इत्यादि तथा वेभ्या मुनिवचना सह मुनिवत-  
रोन्मादीं सिद्धये मितवान् । नामग्रन्थाधर्म स्वीकृतवाचित्पर्यः । तथाहि । यस्मिन्  
वचसां वृत्तानामित्वाकृष्यामिह्याकोट्योपापत्तावाम् । तद्वाक्यसंज्ञकत्वान्नमो दुःख ।  
इहं वत्सगमनं कुलमतम् । वेभ्या सहैत्यनेन सपत्नीकमान्यत्वाग्रमपच इत्यम् । तथा  
च पाठवत्त्वम्—(सुतविन्यस्तपनीकस्तथा वा शुभगती वचम् । वाच्यस्तो मन्त्राचारी  
सारिणः सोपासनी भवेत् ।) इति । इतिगीवृत्तमेतत् । तदुच्यते—(रसपुगाहयैर्त्सी  
श्री स्त्री गो वदा इतिगी तद्यम्) इति ॥ १०० ॥

इति सज्जीविनीव्याख्यायां रघुराज्यामिपेको नाम तृतीयः सर्गः ॥ ३ ॥

—॥१०१॥—

इसके बाद दिक्को ( इन्द्रियग्रहण कर्पादिको ) से निवृत्तचित्त हो गया है ऐसी  
दिगीप महाराज साम्नीक रीति से जुवावरणा को प्राप्त पुत्र रघु को राज्यविषय वेतच्छत्र  
हैकर पूर्वोक्त महाराजो दुर्द्विषा के साथ मुनिवर्गों के वसीवन के वृक्षोंको छाया का हैवन  
करने लगे ( अर्थात् वाग्यवनाजय के लिये ), कदाचि-वृद्ध वत्सापुत्रस के राजाओं का  
वत् ( वत्स में जाका ) कुलमत विषय है ॥ १०० ॥

अथ तृतीया सर्गः ।

## चतुर्थः सर्गः

अथ प्राप्तराज्यस्य रघो कीदृशी शोभाऽऽसीत्तामेवाह—

स राज्यं गुरुणा दत्तं प्रतिपद्याधिकं बभौ ।

दिनान्ते निहितं तेजं सवित्रेव हुताशनः ॥ १ ॥

शारदा शारदाम्भोजवदना वदनाम्बुजे ।

सर्वदा सर्वदाऽस्माकं सन्निधिं सन्निधिं क्रियात् ॥

स इति । स रघुगुरुणा पित्रा दत्तं राज्यं राज्ञः कर्म प्रजापरिपालनात्मकम् ।

पुरोहितादिस्वाद्यक । प्रतिपद्य प्राप्य । दिनान्ते सायंकाले सवित्रा सूर्येण निहित तेजः प्रतिपद्य हुताशनोऽग्निरिव । अधिकं बभौ । ( सौर तेजं सायमग्निं सक्रमते । आदित्यो वा अस्तः सन्नग्निमनुप्रविशति । अग्निं वा आदित्यः सायं प्रविशति ) इत्यादिश्रुतिः प्रमाणम् ॥ १ ॥

वह रघु महाराज पिताके दिये हुये राज्य ( प्रजापालन रूप कर्म ) को पाकर सायंकाल में सूर्यके द्वारा स्थापित तेजको पाकर जैसे अग्नि अधिक सुशोभित होता है उसी भाँति अधिक सुशोभित होने लगे ॥ १ ॥

अथ रघो राज्येऽवस्थानं श्रुत्वा शत्रूणां हृदि सन्तापाधिक्यं बभूवेत्याह—

दिलीपानन्तरं राज्ये तं निशम्य प्रतिष्ठितम् ।

पूर्वं प्रधूमितो राज्ञां हृदयेऽग्निरिवोत्थितः ॥ २ ॥

दिलीपेति । दिलीपानन्तरं राज्ये प्रतिष्ठितमवस्थितं तं रघु निशम्याकर्ण्य पूर्वं दिलीपकाले राज्ञां हृदये प्रकर्षेण धूमोऽस्य सञ्ज्ञातं प्रधूमितोऽग्निः सन्तापाग्नि-रुत्थित इव प्रज्वलित इव । पूर्वमेवोऽधिकसन्तापोऽभूदित्यर्थः । राजकर्तृकस्यापि निशमनस्यागनावुपचारात् समानकर्तृकत्वविरोधः ॥ २ ॥

दिलीप महाराजके बाद प्रतिष्ठित हुए उन महाराज रघु को सुनकर पहले ( दिलीप महाराजके ) समयमें जो राजाओंके हृदयमें धूमयुक्त सन्तापाग्नि थी सो इस समय प्रज्वलित हो उठी अर्थात् पहले की अपेक्षा अधिक मन्नाप हुआ ॥ २ ॥

अथ रघु राज्येऽवस्थितं दृष्ट्वा सर्वा अपि प्रजा प्रसन्ना बभूवुरित्याह—

पुरुहूतध्वजस्येव तस्योन्नयनपङ्क्तयः ।

नवाभ्युत्थानदर्शिन्यो ननन्दुः सप्रजाः प्रजाः ॥ ३ ॥

पुरुहूतेति । पुरुहूतध्वज इन्द्रध्वज । स किल राजभिर्वृष्टयर्थं पूज्यत इत्युक्तं भविष्योत्तरे ( एव यं कुरुते यात्रामिन्द्रकेतोर्युधिष्ठिरः । पर्जन्यं कामवर्षां स्यात्तस्य राज्ये न संशयः ॥ ) इति । ( चतुरस्र ध्वजाकार राजद्वारेऽप्रतिष्ठितम् । आहु शक्रध्वज नाम पौरलोकसुखावहम् । ) इति । पुरुहूतध्वजस्येव तस्य रघोर्नवाभ्युत्थानमभ्युन्न-

तिमम्पुङ्गव्यं च परयन्तीति नवाभ्युत्थानवर्तिन्याः । सम्यक् प्रसिधता चङ्गसिताम्  
नयनपद्मो वासां तत्र समजाः ससङ्गताः प्रजा जनाः । 'प्रजा रघारसन्ततो जने  
ह्युपमयन्नाप्यमराः । नवम्पुः ॥ ३ ॥

इन्द्रो पञ्चभक्तो वरु रघु महाराजके नवीन अभ्युदय ( वरुही ) ओ देवने वाके नव  
पर कपरको मेव-समूहो को क्रिये ॥ सञ्जान सहित प्रजा कोय प्रसन्न दुषे ॥ ३ ॥

अथ रघोः सिंहासनाख्यञ्जन एव मनुमण्डलमपि पद्माभ्यास्तममूर्तिपद्म—

सममेव समाकाम्स्ते द्वय द्विरङ्गामिना ।

तम सिंहासनं पित्र्यमपिल्ल खारिमण्डलम् ॥ ४ ॥

सममवति । द्विरङ्ग इव द्विरङ्गैश्च गच्छतीति द्विरङ्गामी तेन । 'कथमुपमाने' इति  
'सुप्पञ्जातो' इति च निमित्तः । तेन रघुना समं पुनपदेव द्वयं समाभ्यास्तमभिहितम् ।  
किं तद् द्वयम् । पितुरागतं पित्र्यम् । पितृर्षव इति यथावयवः । सिंहासनम् अपि  
कमरीणां मण्डलं राङ्गं च ॥ ४ ॥

राङ्गो वरु रघुनायकं वलनेशके अथवा हा ० पर वरुदे वाते रघुने छात्र ही शोभो  
ओ वरावा वरु ही विनासे वाङ्ग निशामनये दुनरे सङ्गुर्ष रघुनायकओ ॥ ४ ॥

अथ सिंहासनाराहनामस्तर्हि ताव लक्ष्मीमन्त्रिषावमाह—

छायामण्डललक्ष्येण तमदृश्या किल स्पष्टम् ।

पद्मा पद्मातपत्रय मेजं साध्यायवीक्षितम् ॥ ५ ॥

छायेति । अत्र रघोरनेकाकिरीकेण वरु सचिहितया लक्ष्म्या द्वावधारत्वं कृतमि  
त्युक्तवत् । पद्मा लक्ष्मीः । 'लक्ष्मीः पद्मातपत्रय पद्मा कमला श्रीर्हस्तिविवा' इत्यमरः ।  
सा स्वयमहरवा हिम क्रमेति सम्भावनावाच्यः । रात्री । छायामण्डललक्ष्येण कामि  
पुत्रानुमेयम् अतु वरुपता हरवत् । छायामण्डलमिष्येयवानपञ्चानं लक्ष्यते । छाया  
सूर्यविवा कामिः प्रविष्टिब्रह्मनातपः ह्युपमयन्नाप्यमराः । पद्मानपत्रय पद्मेशानपत्र  
तेन वारमभूतेन साध्यायवीक्षितं साध्याये वाक्तायकमपि मण्डलमिष्य वीक्षित  
मविर्विर्त्त तं भेजे । अथवा कथमगाहती कामिममरसिरिनि भावः ॥ ५ ॥

रघो वरु लक्ष्म्य कव ही विद्यमान दुर्हि छाया ( छाया वा छाया ) के मण्डल ही  
विमला कमला विवा वा मण्ड दे रीमे जन रघु महाराज को तीस वरु कथी ॥ ५ ॥

साध्याय वरुवनीमात्रिष्यमाह—

परिचरितमसाध्याया वसत वसत च वज्रिपु ।

मनुष्यं मनुनिमिरद्वर्षाविकृतमप्ये मरुद्वनी ॥ ६ ॥

परिचरितेति । मरुद्वनी च वाते कासे मरुद्वर्षा वीक्षकानेपु । 'निमरीष्यथो  
इति वीषाया द्विचयम् । वज्रिपु परिचरितमसाध्याया कृतमविषाया सती मनुष्य

स्तोत्राहं तं रघुम् । अर्घ्याभिरर्थादनपेतामि । 'धर्मपथ्यर्थन्यायादनपेते' इति यत्प्र-  
त्ययः । स्तुतिभिः स्तोत्रैरुपतस्थे । देवताबुद्ध्या पूजितवतीत्यर्थः । देवतात्वं च  
( ना विष्णु पृथिवीपति ) इति वा लोकपालात्मकत्वाद्देव्यनुसंधेयम् । एवं च सति  
'उपादेवपूजासद्गतिकरणमित्रकरणपथिषु' इति वक्तव्यादात्मनेपद सिध्यति ॥ ६ ॥

सरस्वती देवा ने भी समय-समय पर वन्दिर्योकी समीपवर्त्तनी होती हुई स्तुति करने  
के योग्य उन रघु महाराज की अर्थ से युक्त उचित स्तोत्रों द्वारा देवबुद्धि से या लोकपालों  
के अंश से उत्पन्न होने के कारण पूजन किया ॥ ६ ॥

अथ रघोरनन्यपूर्वमिव पृथ्वीशासनमासीदित्याह—

मनुप्रभृतिभिर्मान्यैर्भुक्ता यद्यपि राजभिः ।

तथाऽप्यनन्यपूर्वेव तन्मित्रासीद्वसुन्धरा ॥ ७ ॥

मनुप्रभृतिभिरिति । वसुन्धरा मनुप्रभृतिभिर्मन्वादिभिर्मान्यै पूज्यै राजभिर्भुक्ता  
यद्यपि । भुक्तैवेत्यर्थः । यद्यपीत्यवधारणे । 'अप्यर्थे यदि वाऽर्थे स्यात्' इति केशवः ।  
तथाऽपि । तस्मिन् राज्ञि । अन्य पूर्वो यस्या साऽन्यपूर्वा अन्यपूर्वा न भवतीत्य-  
नन्यपूर्वा अनन्योपभुक्त्वासीत् । तत्प्रथमपतिकेवानुरक्तवतीत्यर्थः ॥ ७ ॥

पृथ्वी मनु आदि माननीय राजाओं से यद्यपि भोगी हुई थी, तथापि उन महाराज रघु  
में अन्य से जैसे नहीं भोगी गई हो ऐसी अनुरक्त हुई ॥ ७ ॥

अत्र कारणमाह—

स हि सर्वस्य लोकस्य युक्तदण्डतया मनः ।

आददे नातिशीतोष्णो नभस्वानिव दक्षिणः ॥ ८ ॥

स इति । हि यस्मात्कारणात्स रघुर्युक्तदण्डतया यथाऽपराधदण्डतया सर्वस्य  
लोकस्य मन आददे जहार । क इव । अतिशीतोऽत्युष्णो वा न भवतीति नातिशीतो-  
ष्ण । नजर्थस्य न शब्दस्य 'सुप्सुपे'ति समास । दक्षिणो दक्षिणदिग्भवो नभस्वान्वा  
युरिव । मलयानिल इवेत्यर्थः । युक्तदण्डतयेत्यत्र कामन्दकः—( उद्देजयति तीक्ष्णेन  
मृदुना परिभूयते । दण्डेन नृपतिस्तस्माद्युक्तदण्डः प्रशस्यते ) । इति ॥ ८ ॥

क्योंकि उस रघु ने अपराध के अनुसार दण्ड देने से सभी लोगों के मन का हरण कर  
लिया जैसे कि—न अत्यन्त शीत और न अत्यन्त गरम बहने वाला दक्षिण दिशा का पवन  
सब लोगों के मन को हरण करता है ॥ ८ ॥

अथ रघो सुप्रबन्धेन प्रजावर्गस्य दिलीपकर्तृकसुप्रबन्धस्य विस्मरणमाह—

मन्दोत्कण्ठाः कृतास्तेन गुणाधिकतया गुरौ ।

फलेन सहकारस्य पुष्पोद्गम इव प्रजाः ॥ ९ ॥

मन्देति । तेन रघुणा प्रजा गुरौ दिलीपविषये । सहकारोऽतिसौरभश्चूत 'आम्र  
श्चूतो रसालोऽसौ सहकारोऽतिसौरभ' इत्यमरः । तस्य फलेन पुष्पोद्गमे पुष्पोदय-



इव ततोऽपि शुभाधिकतया हेतुना मन्वोत्कण्ठ्य अह्वीत्सुवयाः कृताः । गुणोत्तराद्ये  
तरी विषयः पूर्वं विस्मारयतीति भावः ॥ १७ ॥

तत्र रघु महाराज ॥ प्रयागं यो अपरं पिता महाराज दिक्षीप के विषय में कहे नाम  
का पद—दूत (वीर) के निकलने के विषय में वस (वीर) को भवेद्या अधिक गुण  
होमे से दोनों को स्वल्प कलङ्का बाधा बना देता है कसी भीति बना दिया जहाँ रघु के  
गुणों से अथ महाराज दिक्षीप को भूत गये ॥ १८ ॥

अथ रघोः सद्गतोर्मये सद्देवामिममत्तमासीद्विवाहः—

न्यविद्भिर्नये राक्षि सवसज्ज्वापवर्षितम् ।

पूर्वं यथामवस्यस्तस्मिन्नामवतुत्तरा ॥ १९ ॥

अथेति । नवविद्भिर्नयेति धात्वन्तेनये तस्मिन् राक्षि विषये । तमविद्वत्तेत्यर्थः ।  
सर्वमपुत्रादिकमस्तत्पुत्रादिकं चोपवर्षितम् । तस्मिन्नाह्नि पूर्वं पञ्च यथामवत् ।  
संज्ञन्त इत्यर्थः । इतरः पञ्चो नामवत् । न संज्ञन्त इत्यर्थः । तत्र सद्गतोर्मये  
सद्देवामिममत्तं वासत् । तदुद्भावर्त्तु उद्भावार्थमेत्यर्थः । पञ्च साधवचोर्वाचः । 'पञ्चः  
पार्श्वोद्गतात्पञ्चोद्गतात्तस्मिन्निष्ठ' इति केसवः ॥ १ ॥

भीति जानने वाले मन्त्रियों ने मन्त्री महाराज रघु के विषय में अच्छा वर्मपुत्रादिक  
वीर कृता पद—दूतादिक दोनों विवेचन करके दिखाया पर उनके वीर्य पहचान  
पुत्रादि पञ्च ही निषय हुआ इतरा अवर्मपुत्रादि पञ्च निषय नहीं हुआ ॥ १ ॥

अथ रघो राज्ञे प्रज्जेषु गुणाणां गन्वादीनामुत्कर्षमाह—

पञ्चाशदपि मृतामामुत्कर्षं पुपुषुर्गुणाः ।

नये तस्मिन्महीपाके सर्वं नवमियामवत् ॥ २० ॥

पञ्चाशदपि । पृथिव्यादीनां पञ्चाशानां मृताणामपि गुणा गन्वादीन उत्कर्षमस्ति  
अयं पुपुषुः । अत्रोत्प्रेक्षते—तस्मिन्मही नाम नव महीपाके सर्वं वस्तुवार्त्तं नवमिवा-  
भवत् । तदैव मृताणां मिहानीमपुषुगुणधोरात्पूर्वमिवाभवदिति भावः ॥ ११ ॥

द्विती कक, पैर वस्तु वीर आत्मज्ञ इन वीर महामूर्खों के पां गुण गन्ध रस स्पर्श  
स्पर्श वीर छन्द आत्मज्ञ पुत्र हुए ( जहाँ पढ़के की नपेक्षा नपिण्य को प्राप्त हुये ) वस  
मन्त्री महाराज रघु के राजा होमे पर सभी वस्तुओं की तरफ हो गई ॥ २१ ॥

अथ रघुरन्वर्षो राजाभ्युदितमाह—

यथा प्रह्लादमप्यन्वृः प्रतापात्तपनो यथा ।

तथैव सोऽमूक्यर्थो राजा प्रह्लादिरक्षमात् ॥ २२ ॥

अथेति । यथा अन्वरेण प्रह्लादपतीति अन्व इत्युः । अदिपातरीवादिषो  
रमत्पयः प्रह्लादनादपुत्रादिकराजन्वर्षोऽनुगतार्थनामकोऽमूत् । यथा च तपतीति  
तपनः सर्वः । 'नन्विष्यद्विष्यादिभ्यो वसुनिष्पद्य' इत्यनेन वसुद्व्यप्ययः । प्रतापा

त्सन्तापजननादन्वर्थ । तथैव स राजा प्रकृतिरञ्जनादन्वर्थः सार्थकराजशब्दोऽभूत् । यद्यपि राजशब्दो राजतेर्दीप्त्यर्थात्कनिप्रस्थयान्तो न तु रञ्जेस्तथाऽपि धातूनामने-  
कार्थत्वाद्भ्रजनाद्वाजेत्युक्तं कविना ॥ १२ ॥

जिस प्रकार से चन्द्रमा आह्लाद उत्पन्न करने से सार्थक नाम वाले हुए और जिस प्रकार से सूर्य सन्ताप उत्पन्न करने से यथार्थ नामवाले हुये, उसी प्रकार से वे रघु महाराज भी पुरवासी लोगों के अनुराग को पैदा करने से यथार्थ नाम वाले राजा हुये ॥

अथ चक्षुष्मतोऽपि रघोर्लोचनं शास्त्रमेवासीदित्याह—

कामं कर्णान्तविश्रान्ते विशाले तस्य लोचने ।

चक्षुष्मत्ता तु शास्त्रेण सूक्ष्मकार्यार्थदर्शिना ॥ १३ ॥

काममिति । विशाले तस्य रघोर्लोचने काम कर्णान्तयोर्विश्रान्ते कर्णप्रान्तगते । चक्षुष्मत्ता तु चक्षुःफल स्वर्यर्थः । सूक्ष्मान् कार्यार्थान्कर्तव्यार्थान्दर्शयति प्रकाश-  
यतीति सूक्ष्मकार्यार्थदर्शिना शास्त्रेणैव शास्त्र दृष्टिर्विवेकिनामिति भावः ॥ १३ ॥

यद्यपि बड़े बड़े उन रघु महाराज के लोचन हृद से ज्यादा कान तक फैले हुए थे, परन्तु आँख का होना ( आँखों का फल ) तो गूढ़ कर्तव्य विषयों के दिखानेवाले शास्त्र से ही था, अर्थात् वे शास्त्र से देखकर कार्य करते थे न कि केवल आँखों से ही ॥ १३ ॥

अथ रघोर्द्विजययोग्य समय शरद्वत् प्राप्त इत्याह—

लब्धप्रशमनस्वस्थमयैनं समुपस्थिता ।

पार्थिवश्रीर्द्वितीयेव शरत्पङ्कजलक्षणा ॥ १४ ॥

लब्धेति । अथ लब्धस्य राज्यस्य प्रशमनेन परिपन्थिनामनुरञ्जनप्रतीकाराम्यां स्थिरीकरणेन स्वस्थं समाहितचित्तमेन रघु पङ्कजलक्षणा पद्मचिह्ना । श्रियोऽपि विशेषणमेतत् । शरद् । द्वितीया पार्थिवश्री राजलक्ष्मीरिव समुपस्थिता प्राप्ता । ( रक्षा पौरजनस्य देशनगरग्रामेषु गुप्तिस्तथा योधानामपि संग्रहोऽपि तुलया मान-  
व्यवस्थापनम् । साम्यं लिङ्गिषु दानवृत्तिकरणं त्याग समानेऽर्चन कार्याण्येव मही-  
सुजां प्रशमनान्येतानि राज्ये नवे ) ॥ १४ ॥

इसके ( राजासन पर बैठने के ) बाद पाये हुये राज्य का ( पौरजनों की रक्षा आदि प्रशमनात्मक कार्यों से ) प्रशमन ( शान्तिस्थापन ) करने से शान्त चित्त हुये इन रघु महाराजकी कमल ही है चिह्न जिसका ऐसी शरद् ऋतु दूसरी कमलरूप चिह्नवाली राजलक्ष्मी की भाँति प्राप्त हुई ॥ १४ ॥

अथ शरद्वत्गुणान् वर्णयन् कविरादौ सूर्यस्य रघोश्च साम्यस्थितिमाह—

निर्वृष्टलघुभिर्मैघैर्मुक्तवर्त्मा सुदुःसहः ।

प्रतापस्तस्य भानोश्च युगपद् व्यानशे दिश ॥ १५ ॥

निर्वृष्टेति । निःशेषः, वृष्टा निर्वृष्टा । कर्तरि, क्तः । अतः एव लघुवत् । तैर्मैघैर्मुक्त-

वामोत्पत्तमार्गः । नत एव सुदुःसाह । तस्य रघोर्मार्गोऽथ प्रतापः पीडयमातपम् ।  
‘प्रतापी पीडयातपी’ इति यादवः । पुनरपह्निसो ध्यानसो ध्याप ॥ १५ ॥

अग्रे उरह एक नरसा कुक्षे से हथके हुए पैरों ने जिसके मार्ग को छोड़ दिया है नत एव नरबल सुदुःसाह रघुवंश प्रताप नीर सूर्यका पैर दोनों एक समय ही छारी दिशाओं में ध्याप हो गये ॥ १५ ॥

अपेक्षस्य वार्षिकधनुःसहारावन्तरं रघोर्बैषधपुनारवमाह—

वार्षिकं संजहारेन्द्रो यनुर्बैषी रघुर्वैषी ।

प्रजाऽप्येसाधने तौ हि पर्यायोद्यतकार्मुकी ॥ १६ ॥

वार्षिकमिति । इन्द्रः । वर्षांषु मयं वार्षिकम् । वर्षात्रिमित्तमित्यर्थः । ‘पर्याम्न-  
पृक’ इति व्यग्रप्रत्ययः । यनुः संजहार । रघुर्वैषी जयशीलम् । केतुसम्प्राप्तुचन्तात्  
‘प्रजादिम्बज’ इति रत्नार्थेऽग्रप्रत्ययः । यनुर्वैषी हि यस्मात्तद्विग्रहं प्रजामामर्षस्य  
प्रयोजनस्य दृष्टिर्विग्रहकृत्तस्य साधनविषये पथविशोद्यते कार्मुके धाम्नां तौ  
पर्यायोद्यतकार्मुकी । ‘पर्यायोद्यमविग्रही’ इति पाठान्तरे पर्यायोद्यमो विग्रहमात्र  
अवोस्ती पर्यायोद्यमविग्रही । इषोः पर्यायकरमप्यवसेष्ट इति भाषा ॥ १६ ॥

इन्द्रने वर्षा काक में लगे बाले यनुवकी एक दिशा नीर रघुने विजय करने वाले यनु  
को नारज किया क्योंकि वे दोनों इन्द्र नीर रघु प्रजाओंका प्रयोजन को वर्षाका होना तथा  
दिग्बिजयका करना है इन दोनोंको घाटी-घाटीसे मिला करने के लिये उत्तर रहते थे ॥ १६ ॥

अथ धरदुःकपुर्कं रघो रत्नविहस्य कृत्तव्यमरक्यस्वाधुकरवमाह—

पुण्डरीकतपत्रस्तं विकस्रकाशचामरा ।

स्तुर्विहस्यधामास न पुनः प्राप तच्छिष्यम् ॥ १७ ॥

पुण्डरीकेति । पुण्डरीकं सिताम्भोजमौषातपत्रं यस्य स तत्रोक्तः । विकस्रन्ति  
काशाणि काशात्पुण्ड्रमुमांशेव चामराणि यस्य स तत्रोक्तः । अमुं धरदुः  
पुण्डरीकनिमातपत्रं काशविभजामरं तु रघुं विहस्यधामासपुनरुच्यते । तस्य रघोः  
मित्रं पुनः कोमां तु न प्राप । ‘कोमासम्पत्तिप्राप्तु कचमीः क्षीरिष कच्यते’ इति  
सातवता ॥ १७ ॥

जिसका श्वेतकमल ही जल है तथा लिले हुए अक्ष ही चामर हैं—वेसा को धरदुःक  
है वसने नक्षत्र श्वेतकमल के समान श्वेत जल तथा लिले हुए अक्ष के समान चामर  
वाले इन रघु महाराज का अनुकरण किया, तथापि उनकी सीमा को नहीं प्राप्त किया ॥

अथ सर्वाणां प्रजाणां तस्मिन् रघो र्बलतमा पीठिरासीदित्याह—

प्रसन्नसुमुखो तस्मिन्मन्त्रे च विद्यादप्रमे ।

तथा बभूव्यतां प्रीतिपसीत्समरसा ह्रयो ॥ १८ ॥

मन्त्रेति । मन्त्रादेव ह्रमुके तस्मिन् रघो विद्यादप्रमे विर्मन्त्रन्ती यन्त्रे च ह्रयो

विपये तदा चक्षुष्मतां प्रीतिरनुरागः समरसा समस्वादा । तुष्ट्ययोगेति यावत् ।  
‘रसो गन्धे रसः स्वादे’ इति विश्वः । आसीत् ॥ १८ ॥

लोगों के अपार अनुग्रह करने से देखने में सुन्दर मुखवाले उन रघु महाराज तथा स्वच्छकान्ति वाले चन्द्रमा इन दोनों के विषय में उस समय जिनके आखें धीं ऐसे लोगों की प्रीति समान ही थी ॥ १८ ॥

अथ रघुयशसां धवलमवर्णनमाह—

हंसश्रेणीषु तारासु कुमुदत्सु च वारिषु ।

विभूतयस्तदीयानां पर्यस्ता यशसामिव ॥ १९ ॥

हंसश्रेणीष्विति । हंसानां श्रेणीषु पङ्क्तिषु तारासु नक्षत्रेषु कुमुदानि येषु सन्तीति कुमुद्वन्ति । ‘कुमुदान्कुमुदप्राये’ इत्यमरः । ‘कुमुदनढवेतसेभ्यो ङ्मत्तुप्’ । तेषु कुमुदप्रायेष्वित्यर्थः । वारिषु च तदीयानां रघुसम्बन्धिना यशसा विभूतयः सम्पदः पर्यस्ता इव प्रसारिताः किम् । इत्युत्प्रेक्षा । अन्यथा कथमेपां धवलमेति भावः ॥ १९ ॥

हंसों की पक्तियों में, नक्षत्रों में और कुमुद से युक्त जल में रघुसम्बन्धी यश की सफेदीरूप विभूति मानों फैली हुई थी ॥ १९ ॥

आमीणस्त्रियोऽपि रघुयशोगानपरायणा आसन्नित्याह—

इक्षुच्छायनिषादिन्यस्तस्य गोप्तुर्गुणोदयम् ।

आकुमारकथोद्धातं शालिगोप्यो जगुर्यशः ॥ २० ॥

इक्षुच्छायेति । इक्षुणा छायेक्षुच्छायम् । ‘छाया बाहुल्ये’ इति नपुसकत्वम् । तत्र निषण्णा इक्षुच्छायनिषादिन्यः ‘इक्षुच्छायानिषादिन्यः’ इति स्त्रीलिङ्गपाठे इक्षोश्छायेति विग्रहः । अन्यथा बहुत्वे नपुसकत्वप्रसङ्गात् । शालिगोपायन्ति रक्षन्तीति शालिगोप्यः सस्यपालिकाः स्त्रियः । ‘कर्मण्यण्’ । ‘टिड्ढाणञ्-’ इत्यादिना ङीप् । गोप्तुः रक्षकस्य तस्य रघोः । गुणोभ्य उदयो यस्य तद्गुणोदयः गुणोत्पन्नमाकुमारं कुमारदारभ्य कथोद्धातः कथाऽऽरम्भो यस्य तत् । कुमारैरपि स्तूयमानमित्यर्थः । यशो जगुरायन्ति स्म । अथवा कुमारस्य सतो रघोर्या कथा इन्द्रविजयादयस्तत आरभ्याकुमारकथम् । तत्राप्यभिविधावन्वयीभावः । आकुमारकथमुद्धातो यस्मिन्कर्मणि । गानक्रियाविशेषणमेतत् । ‘स्यादभ्यादानमुद्धात आरम्भः’ इत्यमरः । ‘आकुमारकथोद्भूतम्’ इति पाठे कुमारस्य सतस्तस्य कथाभिश्चरितैरुद्भूत यद्यशस्तद्यश आरभ्य यशो जगुरिति व्याख्येयम् ॥ २० ॥

ईखकी छायामें बैठी हुई साठी आदि धानकी रखवाली करने वाली किसानों की स्त्रियोंने रक्षा करने वाले उन रघु महाराज के शूरता, उदारता आदि गुणों से प्रकट हुये शालकों तक से तारीफ किये गये यश का गान किया ॥ २० ॥

अथ रघोः प्रतापोद्भवेन निजामिभवाद्युवा साधूनां मनाः शुभितं बभूवेत्याह—

प्रसस्ताद्योद्भास्यमाः कुम्भपोनेर्महीमसाः ।

रघोरमिमयाशङ्खि शुश्रुमे द्विपतां मनाः ॥ २१ ॥

प्रसस्तादेति । महीमसाः कुम्भपोनेरगस्यस्य । 'अगस्यः कुम्भसंभवाः इत्यमरा ।  
उद्भास्यमाः प्रसमाद् प्रसन्नं बभूव । महीमसो रघोर्दृष्ट्याद्भिभवाश्चङ्खि द्विपतां मनः  
शुश्रुमे कामत्स्यं प्राप । 'अगस्योद्भवे जलानि प्रसीदन्ति' इत्यागमाः ॥ २१ ॥

एवममहावक्त्रात् अवस्य बी का मधुनरूपेण वक्ष्य होने से वह निर्मल हुआ और  
एवममहावक्त्रात् रघु महाराज का विगिनयके बिने सर्वत्र विजय करने वाले बभूव का  
प्राप्त करता रूप वक्ष्य होने से दुश्मनोंका मन अत्यन्त व्याकुल हो गया ॥ २१ ॥

अथ रघोर्महोद्भवन्दीवमासीदित्याह—

महोद्भवाः ककुचान्तः सरितां कृतमुद्रुजाः ।

श्रीलाखेक्षमलुमापुर्महोक्षास्तन्य पिबन्मम ॥ २२ ॥

महोद्भवा इति । महोद्भवा महोद्भवाः । ककुचेपामस्तीति ककुचान्तः, महाककुच  
इत्यर्थः । पवाहित्वाम्भकारस्य कवामावाः सरितां कृत्वाशुश्रुजन्तीति कुम्भमुद्रुजाः ।  
'अदि कृके कजिबहो' इति छरप्रत्यया । 'अर्धद्विपद्वन्तस्य मुद्रु' इत्यादिना  
मुद्रुमागमः । महान्त वक्ष्यो महोद्भवाः । 'अचतुर— इत्यादिना निपातवाङ्मरणात् ।  
कीकाखेक्षं विहासमुमर्गं तस्य रघोर्दृष्ट्याहवतो वपुष्मत् । परमजकस्य विह्वलं शीर्षं  
मनुमापुर्मुच्यते ॥ २२ ॥

मरुते मनाके रहे ककुच ( कीक ) वाले सरितांके विहारोन्धे गिरने वाले कृके-कृके  
बैजोमे कीकाखेक्षं टैक्री तरह उन रघु महाराजके विह्वल का अनुकरण किया ॥ २२ ॥

अथ रघोः सैन्ये महोद्भवा वज्रेन्द्रा आसदित्याह—

प्रसन्नैः सप्तपर्णानां मक्षगन्धिमिराहताः ।

असूपयेव तन्मागाः सप्तर्षेय प्रसुजुषु ॥ २३ ॥

प्रसन्नैरिति । महोद्भवेन गन्धो धेयां तैर्मक्षगन्धिमि । 'उपमाभावा' इतीकारा  
धमासन्ताः । सप्तपर्णानां वृक्षविशेषाणां । 'सप्तपर्णो विद्याकरक धारदो विषम-  
च्छदः' इत्यमरा । प्रसन्नैः पुष्पैराहतास्तस्य रघोर्मागा गजगः । 'वज्रेऽपि नायमा-  
तङ्गी' इत्यमरा । असूपयेवाहतिविमित्तवा स्पर्धयेव सप्तर्षेय प्रसुजुषुर्मर्षं वधुः ।  
प्रतिगजगन्धामिमावादिदि मागाः । 'कराण्यग्राभ्यां मैकाव वेलाभ्यां च महकुति'  
इति पाठकाप्ये । कराण्यस्तारण्यग्राभ्यामित्यर्थः ॥ २३ ॥

हानीके मरुके मूल्य पम्भवाके सप्तपर्ण के पुष्पों से आहत हुए वन रघु महाराज के सखी  
हानी मागों लर्पा से सप्त मक्षर ( सात बड़ी ) से मरुन्धे वरदाने कये ॥ २३ ॥

अस शरद्वुर्दिग्विजयाय तं रघुं प्रथम प्रेरयामासेत्याह—

सरितः कुर्वती गाधाः पथश्चाश्यानकर्दमान् ।

यात्रायै चोदयामास तं शक्तेः प्रथमं शरत् ॥ २४ ॥

सरितो गाधाः सुप्रतरा कुर्वती। पथो मार्गाश्चाश्यानकर्दमान्छुष्कपङ्कान्कुर्वती। 'संयोगादेरातो धातोर्यणवतः' इति श्यतेर्निष्ठातस्य नत्वम्। शरच्छरद्वुस्त रघुं शक्तेरुत्साहशक्तेः प्रथम प्राग्यात्रायै दण्डयात्रायै चोदयामास प्रेरयामास। प्रभाव-मन्त्रशक्तिसम्पन्नस्य शरत्स्वयमुत्साहमुत्पादयामासेत्यर्थः ॥ २४ ॥

नदियों को सुखपूर्वक पार जाने लायक करती हुई तथा मार्गों के कीचड़ों को शुष्क करती हुई शरद् ऋतु प्रभाव-शक्ति तथा मन्त्र-शक्ति से युक्त उन रघु महाराज को उत्साह शक्ति होने के पहले ही दिग्विजय के लिये प्रेरणा करने लगी ॥ २४ ॥

अथ रघोर्यात्रासमये शुभशकुन सूचयन् वह्निं प्रदक्षिणार्चिर्वभूवेत्याह—

तस्मै सम्यग्धुतो वह्निर्वाजिनीराजनाविधौ ।

प्रदक्षिणार्चिर्व्याजेन हस्तेनेव जयं ददौ ॥ २५ ॥

वाजिनामश्वाना नीराजनाविधौ नीराजनाऽऽख्ये शान्तिकर्मणि सम्यग्विधिवद् हुतो होमसमिद्धो वह्निः। प्रगता दक्षिणं प्रदक्षिणम्। तिष्ठदगुप्रभृतिस्वाद्व्ययी-भावः। प्रदक्षिण याऽच्चिर्वाला तस्या व्याजेन हस्तेनेव तस्मै जयं ददौ। उक्तमाह-वयात्रायाम्—'इद्ध प्रदक्षिणगतो हुतमुद्धनृपस्य धात्रीं समुद्ररशना वशगा करोति' इति। वाजिग्रहण गजादीनामप्युपलक्षण तेषामपि नीराजनाविधानात् ॥ २५ ॥

घोटों के नीराजना नामक शान्तिकर्म में विधिपूर्वक हवन जिसमें किया गया है उसे होमाग्नि ने दक्षिण की तरफ धूमकर निकलती हुई ज्वाला के छल से मानो अपने हाथ से उन रघु महाराज के लिये विजय प्रदान किया ॥ २५ ॥

स गुप्तमूलप्रत्यन्तः शुद्धपाणिंरयान्वितः ।

षड्विधं वलमादाय प्रतस्थे दिग्जिगीषया ॥ २६ ॥

गुप्तौ मूल स्वनिवासस्थान प्रत्यन्त प्रान्तदुर्गं च येन स गुप्तमूलप्रत्यन्तः। शुद्धपाणिस्त्वृष्टतपृष्ठशत्रु सेनया रक्षितपृष्ठदेशो वा। अयान्वित शुभदैवान्वित 'अय शुभावहो विधि' इत्यमरः। स रघुः, षड्विध मौलभृत्यादिरूप वल सैन्यम्। 'मौल भृत्य सुहृच्छ्रेणी द्विपदादिकं वलम्' इति कोपः। आदाय दिशा जिगीषया जेतुमिच्छया प्रतस्थे पचाल ॥ २६ ॥

नगराज रघुने अपने निपात-स्थान तथा प्रान्त के दुर्गों की रक्षा का प्रवन्ध कर तथा सेना के पृष्ठ भाग की सुरक्षा वत् पचाल करने वाले यात्राकालीन भद्रलाचरणादि की विधिवत् संपादन कर छः प्रकार के वल (सैन्य) के माध दिग्विजय की इच्छा से प्रस्थान किया ॥ २६ ॥

अथ विविजयाय प्रस्थितस्य तस्य रघोरुपरि पीरबुद्धाङ्गनामो काञ्चपक्षेपमाह—

अवाकिरग्ययोरुद्धास्त काञ्चैः पौरयोपिता ।

पृषतैर्मन्वरोद्धूतैः क्षीरोर्मय इवाच्युतम् ॥ २७ ॥

रघोरुद्धाः पीरयोपितास्तं रघुं प्रभातं काञ्चैराचारुकाञ्चैः मन्वरोद्धूतैः पृषतैर्विष्णुमित्रा क्षीरोर्मयः, क्षीरमनुप्रोमेबोद्धूतं विष्णुमित्र । अवाकिरग्यर्षापिन् ॥ २७ ॥  
अवस्था में बुद्धा मन्वराधिको श्री विष्णो के विविजय के द्विजे भाटी हुने का ॥ महाराज के ऊपर मन्वराधिक काञ्चो ( काच के पीछे ) से मन्वराचक से फेंके हुने बुद्ध के विष्णुको से औरछुद्र श्री कृष्ण से फेंके विष्णु मन्वराच के ऊपर वर्य श्री श्री उद्यो योनि वर्य श्री ॥ २७ ॥

अथ पुष्पेन प्रथमं रघोः प्राच्यां विसि गमनममुदित्वाह—

स ययौ प्रथमं प्राचीं तुल्यः प्राचीनवर्हिषा ।

अद्वितामनिखोद्धूतैस्तर्जपक्षिष केतुमिः ॥ २८ ॥

प्राचीनवर्हिनाम अधिष्महाराम इति केचित् प्राचीनवर्हिनिम्ना । 'पञ्चम्यो मघवा बुवा हरिदयः प्राचीनवर्हिः स्युतः' इतीग्नपर्वणिषु इकापुत्राभिवावाह । तेन तुल्यः ॥ २८ ॥ अविद्येनाबुद्धवातेनोद्धूतैः केतुमिर्ष्वद्वितामिरुस्तर्जपक्षिष मर्षवक्षिष । तर्हिअस्पर्षोद्धूतस्त्वेषि अविद्ये विद्वारनैनाबुवातेष्वनिमिसस्यातम नेपदस्वानित्वत्वापमत्पररमैपदमिति नामका । प्रथमं प्राचीं विष्टं यवी ॥ २८ ॥

स्त्र के तुल्य है रघुमहाराज अनुकूल बाबु से प्यारती हुई पतकामो से दुस्मनों से मामो बराते हुने वही पूर्व दिशा श्री तरफ वही ॥ २८ ॥

अथ कवी रघोः सैन्यबाहुध्वं योतयमाह—

रघोमिः स्यान्मनोद्धूतैर्गौरीभ्य धनसधिमैः ।

मुचस्तकमिभ्योम कुर्षेभ्योमेव मृतकम् ॥ २९ ॥

किं कुर्षेभ्योमनोद्धूतै रघोमिर्धनसधिमैर्धनैः, मिषाता परिमाणतः तेन तुल्यैर्धनैः अथाक्रमं न्योमाक्रमं मुचस्तकमिभ्य मृतकं च न्योमेव कुर्षेभ्य । अवाविदि पूर्वैः सम्पन्नाः ॥ २९ ॥

रघु से उद्यो हुई बुद्धि से और मेघ के तुल्य ( गर्जन करने वाले तथा वर्य और आश्चर्य वाले ) हाथिनो ॥ क्रम से आग्रह श्री पुष्पीतक श्री योनि और पुष्पीतक श्री आग्रह श्री योनि करते हुने 'हे रघु महाराज पूर्व दिशा श्री गवै' ॥ २९ ॥

अथ रघोः सैन्यगमनं वर्णयन्माह—

प्रतापोऽमे तता शम्भुः पद्यगस्तद्वनन्तरम् ।

ययौ पद्माद्रथावीति जतुभ्यस्तन्मेव सा वसू ॥ ३० ॥

अमे प्रतापस्तेजोविद्येयः । 'स प्रतापः प्रभाषण पसेना कोषद्वन्द्वम् इत्यमरा । जतुः शम्भुः शेषाकककक । तद्वनन्तरं पराज्यो बुद्धिः । 'पराताः पुष्परजसि बुद्धि-

स्नानीययोरपि' इति विश्वः । पश्चाद्रथादि रथाश्वादिकं चतुरङ्गवलम् । 'रथानीकम्' इति पाठे, इति शब्दाध्याहारेण योज्यम् । इतीत्थं चतुःस्कन्धेव चतुर्व्यूहेव । 'स्कन्धः प्रकाण्डे कायांशे विज्ञानादिषु पञ्चसु । नृपे समूहे च' इति हैमः । सा चमूर्ययौ ॥ ३० ॥

सबसे पहले रघु का प्रताप उसके बाद सेनाका कलकल शब्द और उसके बाद धूलि तथा पीछेसे रथ वगैरह, इस प्रकारसे चार व्यूह किये हुयेकी भांति रघुसेना चली ॥ ३० ॥

अथ रघोः शक्त्युत्कर्षाज्जले स्थलेऽपि च सर्वत्र सुखेन गमनमासीदित्याह—

मरुपृष्ठान्युदम्भांसि नाव्याः सुप्रतरा नदीः ।

विपिनानि प्रकाशानि शक्तिमत्त्वाच्चकार सः ॥ ३१ ॥

स रघु शक्तिमत्त्वासमर्थत्वान्मरुपृष्ठानि निर्जलस्थानानि । 'समानौ मरुधन्वाचौ' इत्यमरः । उदम्भास्युदभूतजलानि चकार । नाव्याः नौभिस्तार्या नदी । 'नाव्यं त्रिलिङ्गं नौतीर्ये' इत्यमरः । 'नौवयोधर्मविपमूलसीतातुलाभ्यः—' इत्यादिना यत्प्रत्ययः । सुप्रतराः सुखेन तार्याश्चकार । विपिनान्यरण्यानि । 'अटव्यरण्यं विपिनम्' इत्यमरः । प्रकाशानि निर्वृक्षाणि चकार । शक्त्युत्कर्षात्तस्यागम्यं किमपि नासीदिति भावः ॥ ३१ ॥

उन रघु महाराज ने प्रभाव, उत्साह और मन्त्र-शक्तिसम्पन्न होने से जल से रहित प्रदेशों को जल से युक्त और नौका से पार करने लायक नदियों को सुख से पार करने के योग्य, तथा जङ्गलों को ( वृक्ष कट जाने से ) प्रकाशयुक्त कर दिया ॥ ३१ ॥

अथ पूर्वोयसिन्धुतटमुद्दिश्य गच्छन्तीं महतीं सेनां नयतो रघोः शोभां वर्णयन्नाह—

स सेनां महतीं कर्षन्पूर्वसागरगामिनीम् ।

वभौ हरजटाभ्रष्टां गङ्गामिव भगीरथः ॥ ३२ ॥

महतीं सेना पूर्वसागरगामिनीं कर्षन् स रघुः हरस्य जटाम्यो भ्रष्टां गङ्गां कर्षन् । ( साऽपि पूर्वसागरगामिनी ) भगीरथ इव वभौ । भगीरथो नाम कश्चित्कपिल-दग्धानां सगराणां नसा, तत्पावनाय हरकिरीटाद् गङ्गा प्रवर्तयिता राजा, यत्सम्बन्धाद् गङ्गा च भगीरथी गीयते ॥ ३२ ॥

वही भारी सेना जो कि पूर्वसमुद्र की तरफ जाने वाली थी उसे ले जाते हुये वे रघु महाराज वसी भांति सुशोभित हुये जैसे कि शङ्कर की जटा से नीचे गिरी हुई पूर्व समुद्र की तरफ जाने वाली गङ्गा जी को लिये जाते हुए भगीरथ सुशोभित हुये थे ॥ ३२ ॥

अथ रघोः सैन्यमार्गं प्रतिबन्धरहित आसीदित्याह—

त्याजितैः फलमुत्खातैर्भग्नैश्च बहुधा नृपैः ।

तस्यासीदुल्बणो मार्गः पादपैरिव दन्तिनः ॥ ३३ ॥

फलं लाभम् । 'फलं फले घने बीजे निष्पत्तौ भोगलाभयो' इति केशवः । वृक्षपत्रै-प्रसव च । त्याजितैः । त्यजेर्ण्यन्ताद् द्विकर्मकादप्रधाने कर्मणि क्तः । उत्खातैः



स्वपदावस्थादितोः । अन्धधोरपादितैः । बहुधा भग्नै रसो जितैः । अन्धप्र क्षिप्तैः । सुपैः ।  
पाद्वैर्दन्तिभो गजस्येव । तस्य रसोर्मार्गो उद्वहः प्रकाश आसीत् । 'प्रकाशं प्रकाशं  
स्वपदुद्वहं विस्तारं दृष्टुम' इति यावत् ॥ ३३ ॥

राज होना जिसका जितना किया गया है और जो अपने स्वयंसे प्युत कर दिये गये  
हैं तथा जनेक प्रकार से कड़वाँ मैं जो जीव किये गये हैं ऐसे अशुभ रूप रामाभी से अब  
रघु महाराज का मार्ग साफ ( निष्कण्टक ) हुआ । जैसा कि जिनके कण मिरा दिये गये हैं  
और जो कड़ से उखाड़ दिये गये हैं तथा तोड़ दिये गये हैं ऐसे हकों से हाथी का मार्ग  
स्वच्छ ( निष्कण्टक ) हो जाना है ॥ ३३ ॥

अथ द्विजिज्यं कुर्वतो रघोः पूर्वसमुद्रतटसमीपमासिमाह—

पौरस्त्यानेवमाकाशमस्तास्ताक्षगपवाक्षपी ।

माय तासीवनश्याममुपकण्ठ महाब्धेः ॥ ३४ ॥

अथी जगवलीकः । 'जिह्विजिभि' इत्यादिबेगिप्रत्ययाः । स रघुरेवम् । उरे  
महान्पौरस्त्यान्माणात् । 'द्विषापकापुरसत्यक' इति त्यक्प्रत्ययः । तास्ताः ।  
सर्वाभितर्काः । बीप्सायां द्विरिति । जगपदात् वैद्यानाकाशमस्ताक्षीवमैः श्यामं महो  
द्वेदपकण्ठमस्तिकं माय ॥ ३४ ॥

जिसकी वे रघु महाराज इस प्रकार से पूर्व दिशा के सब देशों पर अपना अधिकार  
करते हुए ताकी के बनीं से श्यामवर्ण को महासमुद्र का तट प्राप्त है वहाँ पहुँचे ॥ ३४ ॥

अथ रघोः सखासतमुद्रादृक्षिमाणां शृपाणां पादपश्यामश्चमसंरक्षममाह—

अनघ्राण्यं समुद्रतुंस्तस्मात्सिन्धुरयाविम ।

अरमा संरक्षितः सुदीर्घंतिमाभिरय पैतसीम् ॥ ३५ ॥

अनघ्राणम् । कमलि पक्षी । समुद्रतुंस्तस्मात्सिन्धुरयाविम । सखाजालः ।  
'मीप्राणां मवहेतु' इत्यपादानत्वात् वक्षसी । सिन्धुरयावदीवेगद्विष सुदी  
मुद्रादीदीपैः । सुद्रादृषा जगपद्वक्षसाः शत्रियमाचक्षते । पैतसी पैतसाः सारथिदी  
। इतिम् । प्रगतिमित्यर्थः । आभिरयः आत्मा संरक्षितः । अत्र कीदृश्या—'वक्षीवसः  
अमिबुद्धे कुर्वन् सर्वकामुपजतो पैतसवर्ममाविष्टे' इति ॥ ३५ ॥

जो कि वन गयी है ऐसी लोगों को उपाह देने वाले नरी के पैग के समान जब यह  
महाराज से सुप्रीत के राजाभीने पैग के शृण ( मज ही जाना कर ) इति का नाम  
के दर भरने को ( बह दीने से ) बचाया ॥ ३५ ॥

अथ रघुर्नृपं बह्वर्षीयानां राज्ञां पराभवमाह—

पद्मानुष्ठाप्य तरसा नंगा शीसापमोचसाम् ।

मिषद्यान जयस्तस्मान् गङ्गाप्लोतोऽन्तरेषु ख ॥ ३६ ॥

नैरा धारका ॥ रघुदीपिः साधनेदयनात् संवत्साम्बद्धपरायत्तरसा बजेन ।

‘तरसा बलरहसी’ इति यादव । उखायोन्मूल्य गङ्गायाः स्रोतसां प्रवाहाणा-  
मन्तरेषु द्वीपेषु जयस्तम्भान्निचखान । स्थापितवानित्यर्थः ॥ ३६ ॥

बड़ी भारी सेना के नायक उन रघु महाराज ने नौकारूप साधनों से युद्ध के लिये  
उद्यत बङ्गदेश के राजाओं को बल से उखाड़ कर ( जीत कर ) गङ्गा के प्रवाह के बीच द्वीपों  
में अपने जय के स्मारक स्तम्भों को गाढ़ दिया ॥ ३६ ॥

अथ रघोः समीपे विजितवङ्गदेशीयराजकर्तृकमुपहारस्वरूपधनार्पणमाह—

आपादपद्मप्रणताः कलमा इव ते रघुम् ।

फलैः संवर्धयामासुस्त्वातप्रतिरोपिताः ॥ ३७ ॥

आपादपद्ममङ्घ्रिपद्मपर्यन्त प्रणता । अत एवोखाता पूर्वमुद्धृता अपि प्रतिरो-  
पिता पश्चात्स्थापितास्ते वङ्गाः, कलमा इव शालिविशेषा इव । ‘शालयः कलमाद्याश्च  
पट्टिकाद्याश्च पुस्त्यमी’ इत्यमरः । तेऽप्यापादपद्मपादपद्ममूलपर्यन्तं प्रणताः । ‘पादो  
बुध्ने तुरीयांशशैलप्रत्यन्तपर्वताः’ इति विश्वः । उत्त्वातप्रतिरोपिताश्च । रघुं  
फलैर्धनैः । अन्यत्र सस्यैः । संवर्धयामासु । ‘फलं फले धने बीजे निष्पत्तौ भोग-  
लाभयोः । सस्ये’ इति केशवः ॥ ३७ ॥

‘रघु महाराजके’ चरणकमल तक झुके हुये ‘शालिपक्ष में’ अपने कमलसदृश मूल  
भाग तक झुके हुये, अत एव पहले राजपद से हटाये गये भी पश्चात् पुन राजपद पर  
स्थापित किये गये ‘शालिपक्ष में’ पहले उखाड़े पश्चात् अन्यत्र फिर से बैठाये गये, उन  
बङ्गदेशी राजाओं ने अगहन मास में तैयार होने वाले ‘कलम’ नामक शालि विशेष की  
मांति धनों से ‘शालिपक्ष में’ फलों से उन रघु महाराज को पूर्ण कर दिया ॥ ३७ ॥

अथ रघुर्वङ्गान्विजित्य कलिङ्गामिमुखो ययात्रित्याह—

स तीर्त्वा कपिशां सैन्यैर्बद्धद्विरदसेतुभिः ।

उत्कलादर्शितपथः कलिङ्गामिमुखो ययौ ॥ ३८ ॥

स रघुर्वद्धा द्विरदा एव सेतवो यैस्तैः सैन्यैः कपिशां नाम नदीं तीर्त्वा ।  
‘करमाम्’ इति केचित्पठन्ति । उत्कलैः राजभिरादर्शितपथः सन्दर्शितमार्गः सन् ।  
कलिङ्गामिमुखो ययौ ॥ ३८ ॥

वे रघु महाराज जिसने शायियों से ही पुल को तैयार किया है, ऐसी अपनी सेना के  
साथ कपिशा नाम की नदी को पार कर उत्कल देश के राजाओं से बताये हुये मार्ग से  
कलिङ्गदेश की तरफ ( मुख किये हुये ) चले ॥ ३८ ॥

अथ रघोः प्रतापो महेन्द्रपर्वतशिखरे व्याप्तो वभूवेत्याह—

स प्रतापं महेन्द्रस्य मूर्ध्नि तीक्ष्णं न्यवेशयत् ।

अङ्गुशं द्विरदस्येव यन्ता गम्भीरवेदिनः ॥ ३९ ॥

स रघुर्महेन्द्रस्य कुलपर्वतविशेषस्य । ‘महेन्द्रो मलयः सद्यः शक्तिमानृक्षपर्वतः ।

विष्णुस्य पारिषादस्य सद्यैवे ह्युत्पन्नताम् ॥ इति विष्णुपुराणात् । मूर्ध्नि तीर्णं  
 हुम्नाहं प्रतापम् । अन्ता सारविरोम्भीरवेदिनो हिरण्यस्य गजविरोपस्य मूर्ध्नि तीर्णं  
 सितमङ्गुसमिधः । स्यवेद्यव्यभिचिन्ताम् । 'त्वग्मेधाङ्गो नितकावाभ्यासस्य क्रमवा-  
 दपि । अश्वमार्यं यो न जानाति सा रमायुः गम्भीरवेदिता ॥ इति राजपुत्रीये ।  
 'विरकालेन यो वेत्ति सिद्धां परिचितामपि । गम्भीरवेदी विज्ञेया सा गजो राज-  
 वेदिनि' ॥ इति मृगचर्मणि ॥ ३९ ॥

अथ रघु महाराजस्य महान्द्र नामक पर्वतस्य शिखर परं हुम्नाहं अपने प्रताप को जिते  
 सारवि ( महान्द्र ) गम्भीरवेदीसंज्ञक ( विरकाज होये परं को अत्यन्त परिचित सिद्धां को  
 समझता है वही गम्भीरवेदी ऐसा राज साहब के जानने वाले पण्डित बन कहते हैं ) राजा  
 के मरण पर पीछे अङ्गुष्ठ को रगना है वही मर्ति रखा ॥ ३९ ॥

अथ कश्चिद्भैसाविषो पुत्रार्थं रघोरभिमुखो बभूवेत्याह—

प्रतिज्ञाग्राह्य कश्चिद्वस्तमस्यैर्गजस्यधनः ।

पक्षच्छेदोपत शार्ङ्गं शिखापर्णीव पर्यतः ॥ ४० ॥

गजसाधना सन् कश्चिद्भौ राजा 'ह्यवन्मगपकश्चिद्वस्तमसाहन्' इत्यनेनाश-  
 र्वत्वा । अक्षैरासुवैस्तं रघुम् । पक्षार्णो वेदे उपतमुपतं शार्ङ्गं शिखापर्णी पर्यत इति  
 प्रतिज्ञाग्राह्य प्रत्यभिमुखान् ॥ ४० ॥

राज ही है साधन ( सेवाका लक्ष ) जिसका ऐसा कश्चिद्भौ का राजा आज्ञावत् है वह  
 रघु महाराज का जैसे राजा के अग्नि में प्रवृत्त शम्भु का शिखाको की वर्ण करने वाले  
 पर्वतों के समान किया या वही मर्ति किया ॥ ४० ॥

अथ रघोर्विजयप्रप्तो बभूवेत्याह—

द्विषां विषदा अगुनस्यस्तत्र नाराचपुर्विभम् ।

सम्पन्नस्तस्मात् इव प्रतिपेदे जयधिपम् ॥ ४१ ॥

काकुत्स्थो रघुस्तत्र महेन्द्राद्री द्विषां नाराचपुर्विभं नाराचानां वायविशेषानां  
 पुर्विभम् । कञ्चनवा वर्णमुच्यते । विषदा सद्विद्या सत्यधातापुं मङ्गलस्मात् इव  
 विजयमङ्गलकार्यमभिरिक्त इव जयधिषं प्रतिपेदे प्राप । यत्तु सर्वविधिराज्यं  
 तन्मात्रक्यमुदीरितम् इति आहवा ॥ ४१ ॥

ककुत्स्थ राजा के संज्ञक रघु महाराज ने उस महेन्द्र नामक पर्वत को कर राजाओं के  
 मोह के वन दुजे अज्ञानजन्य वागों की धीर वर्णों को सहन करके कौनों को राजाजुमार  
 विजय-मङ्गल जिये सर्वविध सौ शान दिया हुआ ही वन मर्ति जयप्राप्ति को प्राप्त किया ॥

अथ महेन्द्राद्री रघोर्निष्ठा विजयमहोत्सवं बभूवेत्याह—

ताम्रवृलीनां वल्लेभ्यश्च रजितापात्रममयः ।

नारिकेलस्य चापाः शार्ङ्गश्च यः पशुपतेर्यः ॥ ४२ ॥

तत्र महेन्द्राद्रौ युध्यन्त इति योधा । पचाद्यच् । रचिता 'रक्षिता आपानभूमयः पानयोग्यप्रदेशा यैस्ते तथोक्ताः सन्तो नारिकेलसवं नारिकेलमद्य ताम्बूलाना नाग वल्लीना दलैः पपु' । तत्र विजहुरित्यर्थः । शात्रवं यशश्च पपु' जहुरित्यर्थः ॥ ४२ ॥

उक्त महेन्द्र नामक पर्वत पर महाराज रघु के योद्धा लोगों ने मधपान करने के योग्य प्रदेशों की रचना कर नारियल का आसव बनाकर उसे पान के पत्तों से पिया ( विहार किया ) और शत्रुओं के यश का भी पान किया अर्थात् हरण किया ॥ ४२ ॥

अथ रघुमहेन्द्रनाथं कालिङ्गं विजित्य पुनरपि त राजासने स्थापयामासेत्याह—

गृहीतप्रतिमुक्तस्य स धर्मविजयी नृपः ।

श्रियं महेन्द्रनाथस्य जहार न तु मेदिनीम् ॥ ४३ ॥

धर्मविजयी धर्मार्थं विजयशील स नृपो रघुः । गृहीतश्चासौ प्रतिमुक्तश्च गृहीत-प्रतिमुक्तः । तस्य महेन्द्रनाथस्य कालिङ्गस्य श्रियं जहार । धर्मार्थमिति भावः । मेदिनी तु न जहार । शरणागतवारसत्यादिति भावः ॥ ४३ ॥

धर्मार्थं विजय करने वाले शरणागनवत्सल महाराज रघु ने पहले पकट कर फिर छोड़ दिये गये कलिङ्ग-देशीय महेन्द्राचल के राजा की लक्ष्मी का ही केवल हरण किया न कि राज्य का ॥ ४३ ॥

अथ पूर्वदिशातो दक्षिणां दिशं रघुर्ययावित्याह—

ततो वेत्तातटेनैव फलवत्पूगमालिना ।

अगस्त्याचरितामाशामनाशास्यजयो ययौ ॥ ४४ ॥

तत प्राचीविजयानन्तरम् फलवत्पूगमालिना फलितक्रमुकश्रेणीमता । ब्रीह्या-दिस्वादिनिप्रत्ययः । वेलाया समुद्रकूलस्य तटेनोपान्तेनैवागस्त्येनाचरितामाशां दक्षिणां दिशमनाशास्यजयः । अयत्नसिद्धत्वादप्रार्थनीयजयः सन् । ययौ 'अगस्त्यो दक्षिणामाशामाश्रित्य नभसि स्थित । वरुणस्यात्मजो योगी विन्ध्यवातापिमर्दनः ॥' इति ब्रह्मपुराणे ॥ ४४ ॥

पूर्व दिशा का विजय कर चुकने के बाद फल से लदे हुए सुपारी के वृक्ष कतार के कतार जिसमें लगे हुए हैं ऐसे समुद्र के किनारे-किनारे से ही अगस्त्य भगवान् से सेवित जो दक्षिण दिशा है उसकी तरफ अनायास ही विजय लाभ करने वाले महाराज रघु गये ॥

अथ दक्षिणा दिशं गच्छन् रघुमार्गे कावेरीं प्रापेत्याह—

स सैन्यपरिभोगेण गजदानसुगन्धिना ।

कावेरीं सरितां पत्युः शङ्कनीयामिवाकरोत् ॥ ४५ ॥

स रघु । गजाना दानेन मदेन सुगन्धिना सुरभिगन्धिना । 'गन्धस्येदुत्पतिसु-सुरभिभ्य' इत्यनेनेकारादेश समासान्तः । यद्यपि गन्धस्येत्वे तदेकान्तग्रहणं कर्त-

विष्ण्वयं पारिधात्रयं सत्तेते कृष्णपर्वताः ॥ इति विष्णुपुराणात् । मूर्ध्नि तीर्णं  
 दुग्धं प्रतापम् । वन्ता सारथिर्गम्भीरवेदिनो हिरण्यस्य वाजविसेपस्य मूर्ध्नि तीर्णं  
 सितमङ्गुलिम् । न्यवेष्टावकिञ्चित्तान् । 'स्वर्गमेवाङ्गोनितावाग्भास्त्रस्य कपवा-  
 इपि । अत्रमानं यो न जानाति सा वयाद् गम्भीरवेदिता' ॥ इति राजपुत्रीभिः ।  
 'चिरकालेन यो वेति भिषां परिणितामपि । गम्भीरवेदी विशेषा स यज्ञो गज-  
 वेदिमि' ॥ इति मृगच्छर्मिणि ॥ ३९ ॥

एत रघु महाराजने महान् नामक पर्वतके शिखर पर दुग्ध अर्पन प्रताप को करते  
 सारथि ( महावध ) गम्भीरवेदीर्षक ( चिरकाल होने पर भी अत्यन्त परिनिष्ठ शिवा को  
 सम्प्रता है उसे गम्भीरवेदी ऐसा गज वाक के जानने वाले पण्डित वन कहते हैं ) राज्ञे  
 के मस्तक पर पीछे अङ्गुल को रक्ता है उसी यात्रि रत्ना ॥ ३९ ॥

अथ कश्चिन्वेष्टाधिपो जुह्वार्च रघोरभिमुखो बभूवेत्याह—

प्रतिजग्राह काशिकृस्तमसैर्यज्ञस्यधनः ।

पशुच्छेदोद्यतं शकं शिखापर्वीव पर्यत ॥ ४० ॥

यजसाधवा सत् कश्चिन्वेष्टा राजा 'इत्यग्नायकश्चिरमस्य' इत्यनेनाश-  
 त्वाः । अक्षैरनुवेष्ट रघुम् । पशुधर्मैः पशुधर्मैः शकं शिखापर्वी पर्यत इव  
 प्रतिजग्राह मत्स्यमिषुक्तवान् ॥ ४० ॥

राज ही है साधव ( सेनाका जह ) जिसका ऐसा कश्चिद्देव का राजा जात्रवते वन  
 रघु महाराज का वेष्टे पशु के कान्ते में प्रवृत्त इन्द्र का शिखरों को बर्षा करने वाले  
 पर्वतों में सामना किया था उसी यात्रि रत्ना ॥ ४० ॥

अथ रघोर्विजयकामो बभूवेत्याह—

क्षिपां विषह्य कश्चुरस्त्यस्तत्र नायकपुर्विन्मम् ।

सम्मङ्गलस्मात् इव प्रतिपेदे जयमिषम् ॥ ४१ ॥

कश्चुरो रघुस्तत्र महेन्द्राद्री क्षिपां नारायणुर्विन् नारायणां धानविरोपार्ण  
 दुर्दिनम् । कश्चनया वर्षमुज्ज्वले । विषह्य सहित्वा सपथासात् सम्मङ्गलस्मात् इव  
 विजयमङ्गलार्थमभिपिक्त इव जयमिषं प्रतिपेदे प्राप । 'यत्तु सर्वोपधिस्तान्  
 सम्माङ्गल्यमुदीरितम्' इति बाह्या ॥ ४१ ॥

कश्चुर राजा के वंशज रघु महाराज ने जब महेन्द्र नामक पर्वत के ऊपर सङ्गनों के  
 ओढ़े के बने हुए नायकसंघक वाणों की पीर वर्षा को सङ्घ करके बैठे ओढ़े कायानुसार  
 विजय-मङ्गलके किये सर्वोपधि से स्नात किया हुआ हो उस यात्रि कश्चुरोको प्राप्त किया ॥

अथ महेन्द्राद्री रघुसैनिका विजयमङ्गलोत्सर्गं कश्चुरित्याह—

तामूलीनां दक्षैस्तत्र रक्षितापाममूयः ।

मारिकेसासर्पं पाथाः शान्तं च पशुपेशा ॥ ४२ ॥

अथ मलयतरुषु बद्धान् सेनाराजान्वर्णयन्नाह—

भोगिवेष्टनमार्गेषु चन्दनानां समर्पितम् ।

नास्रसत्करिणां ग्रैवं त्रिपदीच्छेदिनामपि ॥ ४८ ॥

चन्दनानां चन्दनद्रुमाणा भोगिवेष्टनमार्गेषु सर्पवेष्टनान्निम्नेषु समर्पितं सज्जितं त्रिपदीच्छेदिना पादशृङ्खलच्छेदकानामपि 'त्रिपदी पादवन्धनम्' इति यादव । करिणाम् । ग्रीवासु भव ग्रैवं कण्ठवन्धनम् । 'ग्रीवाभ्योऽण्च' इत्यणप्रत्ययः । नास्रं सन्न स्रस्तमभूत् । 'धुद्ध्यो लुङि' इति परस्मैपदे पुषादिवादाद् । 'अनिदितामि'ति नकारलोपः ॥ ४८ ॥

चन्दन के वृक्षों में सर्पों के लिपटे रहने से पट्टी हुई रेखाओं के बीचमें दिये हुए पैरों के सीकड़ों को तोड़ डालने वाले हाथियों के बन्धन ( सीकड़ ) नहीं ढाले हुये ॥ ४८ ॥

अथ रघोः प्रतापं पाण्डुदेशाधिपतयो न विपेहिर इत्याह—

दिशि मन्दायते तेजो दक्षिणस्यां रवेरपि ।

तस्यामेव रघो पाण्ड्या प्रतापं न विपेहिरे ॥ ४९ ॥

दक्षिणस्या दिशि रवेरपि तेजो मन्दायते मन्दं भवति । लोहितादिस्वात्क्यप्-प्रत्ययः । 'वा क्यप्' इत्यात्मनेपदम् । दक्षिणायने तेजोमान्धादिति भावः । तस्यामेव दिशि पाण्ड्याः पाण्डूना जनपदानां राजानः पाण्ड्याः । 'पाण्डोर्यण्वक्तव्यः' । रघो प्रतापं न विपेहिरे न सोढवन्तः । सूर्यत्रिजयिनोऽपि विजितवानिति नायकस्य महानुत्कर्षो गम्यते ॥ ४९ ॥

दक्षिण दिशा में सूर्य का भी तेज मन्द हो जाता है, पर उसी दिशा में पाण्डु देश के राजा लोग रघु महाराज के प्रताप को नहीं सह सके ॥ ४९ ॥

अथ रघवे पराजितानां पाण्डुदेशाधिपतीनामुपहारस्वरूपमुक्ताफलार्पणमाह—

ताम्रपर्णीसमेतस्य मुक्तासार महोदधेः ।

ते निपत्य ददुस्तस्मै यशः स्वमिव सञ्चितम् ॥ ५० ॥

ते पाण्ड्यास्ताम्रपर्ण्या नद्या समेतस्य सङ्गतस्य महोदधेः सम्बन्धि सञ्चितं मुक्तासारं मौक्तिकवरम् । 'सारो बले स्थिराक्षे च न्याय्ये क्लीबं वरे त्रिषु' इत्यमरः । 'स्व स्वकीयं सञ्चितं यशः हवः । तस्मै रघवे निपत्य प्रणिपत्य ददुः । यशसः शुभ्रत्वा-दौपम्यम् । ताम्रपर्णीसङ्गमे मौक्तिकोत्पत्तिरिति प्रसिद्धम् ॥ ५० ॥

पाण्डुदेश के राजाओं ने ताम्रपर्णी नाम की नदी से मिले हुये दक्षिणमसुद्र सम्बन्धी शकटों किये हुये उत्तमोत्तम मोतियों को अपने सचिन यश की भाँति उन रघु महाराज के पैरों पर रख कर नजराना दिया ॥ ५० ॥

व्यमिति नैसर्गिकगन्धविषयवायामेवेकारादेशः, तथाऽपि 'निरङ्कुशः कवचा' तथा  
माचक्राम्—'चतुर्युक्तवयुष्कसुगन्धया' सततमारतुतगानगिराऽस्तिमि ( ३१७ )  
नेचये च—'अर्षा द्वि एताप न चरिचारा स्वाहुः सुगन्धिया स्वदुते सुवारा' ( ३१८ )  
इति । 'न कर्मधारयसम्बन्धीया' इति नियेधादिनिग्रहपक्षेऽपि व्यमन्त्र पृथ ।  
सेनायां समवेताः सैन्यम् । 'सेनायां समवेता ये सैन्यास्ते सैनिकाश्च ते' इत्यमरः ।  
'सेनाया वा' इति व्यग्रत्वया । सेनां परिमोमेन कावरी नाम सरितं सरितां पशुः  
समुद्रस्य सङ्गृहीत्यामन्विरवसनीयामिवाकरोत् । संमोपमिहृत्तनाज्जतुरविरवस्तो  
अवतीति भाषा ॥ ४५ ॥

वन एव महाराम ते हाथियों के मर ले कावेरी नाम की नदी को नदियों के स्वामी  
समुद्र के मन्दरीक नहीं विरवात करके के योग्य बना दिया ॥ ४५ ॥

एव मार्गे रघुसैन्य मन्व्याचकोपत्यकाम् विवसति स्मेत्याह—

बह्वैरभ्युपितास्तस्य विविधीभोगताम्यनः ।

मारीचोद्भ्रान्तहारीता मल्लपात्रैरुपत्यकाः ॥ ४६ ॥

विविधीभोगिभूतमिच्छोर्गताम्यनस्तस्य रघोर्बन्धैः सैन्यैः । 'बलं सत्पिबकं सैन्यम्'  
इति यादवः । मारीचेषु मरीच्यबेद्भ्रान्ताः परिभ्रान्ताः हारीताः पश्चिदिवापा वास्तु  
ताः । 'सेनां विरोधा हारीतो मरुगुः कारणवचः पक्षः' इत्यमरः । मल्लपात्रैरुपत्यका  
आसन्नमुसवाः । 'उपत्यकाऽद्वेरास्तका भूमिकर्ष्यमवित्पका' इत्यमरः । 'उपप्रविश्या  
त्यकन्नासन्नाकन्धयो' इत्यनेन त्यकज्जगयवाः । अभ्युपिताः । उपत्यकासुपितमित्यर्थः ।  
'उपान्वरवाद्भसा' इति कर्मत्वम् ॥ ४६ ॥

विजय को रण्डा रण्ये वाके ( दक्षिण दिशा का ) कुछ रास्ता वन भिन्ने हुए वन एवं  
महागज के सैनिकों ने विजय गज पर मरीच के बलों में हारीत नामक विदियों वृक्षों  
की पत्तों मन्व्याचक के समीप की भूमि ( पर्वत ) में डेरा डाला ॥ ४६ ॥

अथ मल्लपात्रैरुपत्यकामूमि बर्षपरतत्रैकाकतायां प्राशुर्बमासीदित्याह—

ससङ्गरम्भधुष्ण्यानामेकानामुत्पत्तिज्ययः ।

तुल्यगमिषु मत्तेमकटेषु फलारेणवा ॥ ४७ ॥

अरवैः धुष्ण्यानामेकानामेकाकतायामुत्पत्तिज्ययः उत्पत्तयसीकाः । 'अलंकृतनिरा-  
कुम्भ- इत्यादिबेष्पुष्पायवाः । फलारेणवाः फलरज्जमि तुल्यगमिषु समावगमिषु ।  
सर्ववशीतिवद्विज्जन्तो बहुवीद्विः । मत्तेमानां कटेषु ससङ्गः सत्तः । 'गजगण्डकटी-  
कटी' इति कोशाः ॥ ४७ ॥

वीरों के द्वारा वे दुरी दूर लगावपी की कटाओं की कट्टी दूर का की दृष्टि करने  
मन्त्रा — जिस वाये कटवाते हाथियों के मन्दरीक (मर वृद्ध के रवाओं) में विरव मर ॥

अथ सलयतत्पु वद्वान् सेनागजान्वर्णयन्नाह—

भोगिवेष्टनमार्गेषु चन्दनानां समर्पितम् ।

नास्त्रसत्करिणां ग्रैवं त्रिपदीच्छेदिनामपि ॥ ४८ ॥

चन्दनानां चन्दनद्रुमाणा भोगिवेष्टनमार्गेषु सर्पवेष्टनान्निग्नेषु समर्पितं सज्जितं त्रिपदीच्छेदिनां पादशृङ्खलच्छेदकानामपि 'त्रिपदी पादवन्धनम्' इति यादवः । करिणाम् । ग्रीवासु भव ग्रैवं कण्ठवन्धनम् । 'ग्रीवाभ्योऽण्च' इत्यणप्रत्ययः । नास्त्र सन्न स्रस्तमभूत् । 'शुद्ध्यो लुङि' इति परस्मैपदे पुपादित्वादङ् । 'अनिदितामि'ति नकारलोपः ॥ ४८ ॥

चन्दन के वृक्षां में सर्पों के लिपटे रहने से पट्टो हुई रेखाओं के बीचमें दिये हुए पैरके सीकड़ों को तोड़ डालने वाले हाथियों के बन्धन ( सीकड़ ) नहीं ढीले हुये ॥ ४८ ॥

अथ रघोः प्रतापं पाण्डुदेशाधिपतयो न विपेहिर इत्याह—

दिशि मन्दायते तेजो दक्षिणस्यां रवेरपि ।

तस्यामेव रघो पाण्ड्या प्रतापं न विपेहिरे ॥ ४९ ॥

दक्षिणस्या दिशि रवेरपि तेजो मन्दायते मन्दं भवति । लोहितादित्वात्क्यप्-प्रत्ययः । 'वा क्यप्' इत्यात्मनेपदम् । दक्षिणायने तेजोमान्धादिति भावः । तस्यामेव दिशि पाण्ड्या पाण्डूनां जनपदानां राजानं पाण्ड्या । 'पाण्डोर्यण्वक्तव्यः' । रघो प्रतापं न विपेहिरे न सोढवन्तः । सूर्यत्रिजयिनोऽपि विजितवानिति नायकस्य महानुत्कर्षो गम्यते ॥ ४९ ॥

दक्षिण दिशा में सूर्य का भी तेज मन्द हो जाता है, पर उसी दिशा में पाण्डु देश के राजा लोग रघु महाराज के प्रताप को नहीं सह सके ॥ ४९ ॥

अथ रघवे पराजितानां पाण्डुदेशाधिपतीनामुपहारस्वरूपमुक्ताफलार्पणमाह—

ताम्रपर्णीसमेतस्य मुक्तासारं महोदधे ।

ते निपत्य ददुस्तस्मै यशः स्वमिव सञ्चितम् ॥ ५० ॥

ते पाण्ड्यास्ताम्रपर्ण्या नद्या समेतस्य सङ्गतस्य महोदधे सम्बन्धि सञ्चितं मुक्तासारं मौक्तिकवरम् । 'सारो बले स्थिराशे च न्याय्ये बलीव वरे त्रिपु' इत्यमरः । स्व स्वकीय सञ्चित यश इव । तस्मै रघवे निपत्य प्रणिपत्य ददुः । यशसः शुभ्रवा-द्यौपम्यम् । ताम्रपर्णीसङ्गमे मौक्तिकोत्पत्तिरिति प्रसिद्धम् ॥ ५० ॥

पाण्डुदेश के राजाओं ने ताम्रपर्णी नाम की नदी से मिले हुये दक्षिणसमुद्र सम्बन्धी झकट्टे किये हुये उत्तमोत्तम मोतियों को अपने सचिन यश की भाँति उन रघु महाराज के पैरों पर रख कर नजराना दिया ॥ ५० ॥



अथ रघुर्मह्यदुर्गुरपरंतपोरयेषां निवासं कृत्वा सद्यादिमकहृत्पदिति पुष्पेबाह—

स निर्विष्य यथाकामं तदेष्याद्धीनचम्बुभौ ।

स्तन्यामिष दिशस्तस्याः शौक्षी मलयवर्षुरौ ॥ ५१ ॥

असह्ययिक्रमः सद्यं दूरान्मुखमुपम्यता ।

मिथम्पमिष मेदिन्यां अस्तांशुकमस्रकृष्यत् ॥ ५२ ॥

पुष्पमेतद् । असह्ययिक्रमः सा रघुस्तदेषु सागुम्बाधीनचम्बुभौ व्याप्तचम्बुभौ । 'गण्यसातो मलयको भद्रभीष्मन्मनोऽक्षियाय' इत्यमरः । स्तन्यपक्षे—धान्येभु व्याप्त-चम्बुभानुषेयी । तस्या इपिजस्या दिकाः स्तनामिष शिखी मलयवर्षुरौ नाम शैली यथाकामं यथेष्टं निर्विषयोपमुप्य । निर्विष्यां च्छविमोगयो' इत्यमरः । उदकाम्यस्व सन्तीमुदम्बामुदकि । 'उदम्बावृष्यौ च' इति निपातः । उदम्बता दूरान्मुखं दूरत लपन्त्यम् । 'स्तोकाम्पिकदूरार्षकृष्यानि केन इति समासः । 'पञ्चम्यां स्तोका-दिभ्यः' इत्युक्तम् । अस्तांशुकं मेदिन्यां मिथम्पमिष स्थितं सद्यं सद्यादिमकहृत्पदस्या-सोऽस्तिशान्तो वा ॥ ५१—५२ ॥

विमल पराक्रम दुरयनोदे त्विमे असह्य ईशे दे रघु महाराज त्रिकल मान्यमाय वन्द्य के दृष्टो से बरा हुआ है 'लनयवर्षमे त्रिकले मान्यमाय मे वन्दन का कैद हुआ है ऐसे वस दक्षिण-दिशाको लीके लन की मीनि विमल मलय और दुर्गुर नामक पर्वतपर इच्छा पूर्वक वपनीय (विहार) करके 'उत्तमपद्य मे जर्दन करके, समुद्रसे दूर छोड़े दूने अथ वहाँ से बल गिरलक गया है ऐसे दृष्टीकय लीके लीके पाद त्रिकलकी मीति त्रिपद छद्म नामक पर्वत को लीय गये, अर्थात् उन पर्वत पर भी विहार करके जाने की और वने ॥ ५१—५२ ॥

सम्पति मतीर्षी द्विजममिषवाधिराह—

तन्यानीकैपिसर्पेज्जिरपयन्तजपोयतैः ।

रामादनास्सारितोऽप्यासीत्सद्यःकृष्ण इवाणयः ॥ ५३ ॥

अपरान्तामी पाधारवामाय उत्तनेदयनैः । 'अपरान्तारतु पाधारवास्ते च सुर्वरि कादृशः इति यादृशः । विमर्षेज्जिर्यवज्जिस्तारव रघोरभीष्टेः सौम्ये । 'अनीकं तु रणे सैन्य इति दिशः । अर्जवा रामस्य ज्ञानवृत्त्यवसाद्यैरुत्सारितः परिसारितामपि छद्म लान इवाणीय । सैवमं शिमीवाजर्जव इवाहरवसेति भाषा ॥ ५३ ॥

पथिष देव के राजाओं के शिखर करने से वपन जन वव समुद्र तट से चम्बु दुर्ग रघु महाराज की सेनाओं से समुद्र परतुगामकी के अलों से दूर किया गया भी पाद पर्वत से त्विमे दूर की मीनि मान्य पक्षे लगा ॥ ५३ ॥

अथ रघोमहन् सैवमं दृष्ट्वा भीमः ताया करकवापिका पक्षविता आमत्रिबाह—

भयात्पृष्टायभूषाणां तन करकवापिताम् ।

अलकपु यमूरणुद्यूर्णमनिनिपीकृतः ॥ ५४ ॥

तेन रघुणा भयेनोत्सृष्टभूपाणां परिहृतभूषणानां केरलयोषितां केरलाङ्गनाना-  
मलकेषु चमूरेणुः सेनारजश्चूर्णस्यकुङ्कुमादिरजसः प्रतिनिधीकृतः । एतेन योषितां  
पलायनं चमूनां च तदनुधावन ध्वन्यते ॥ ५४ ॥

उन रघु महागजने, डर के कारण से आभूषणों को छोड़कर भागती हुई केरल देशकी  
स्त्रियों के घुँघराले वालों में सेनाओं की धूलि की कुङ्कुम आदि सुगन्धित द्रव्यों के चूर्ण का  
प्रतिनिधि बना दिया ॥ ५४ ॥

अथ रघो सैन्यं नदीं प्रापेत्याह—

मुरलामारुतोद्धूतमगमत्कैतकं रजः ।

तद्योधवारबाणानामयत्नपटवासताम् ॥ ५५ ॥

मुरला नाम केरलदेशेषु काचिन्नदी । 'मुरलीमारुतोद्धूतम्' इति केचित्पठन्ति ।  
तस्या मारुतेनोद्धूतमुत्थापित कैतक केतकीसम्बन्धि रजस्तद्योधवारबाणानां रघु-  
भटकञ्चुकानाम् । 'कञ्चुको वारबाणोऽस्त्री' इत्यमरः । अयत्नपटवासतामयत्नसिद्ध-  
वस्त्रवासनाद्रव्यस्वमगमत् । 'पिष्टातः पटवासकः' इत्यमरः ॥ ५५ ॥

मुरला नाम की नदी की वायु से उड़ाये हुए केतकी पुष्प के पराग ने उन रघु महाराज  
के योधाओं के कञ्चुकों ( कवचविशेषों ) का बिना प्रयत्न के ही वस्त्र को सुगन्धित करने  
वाले चूर्ण का कार्य किया ॥ ५५ ॥

अथ पथि गच्छतो रघोर्वाहानां राजतालीवनमध्ये प्रवेशमाह—

अभ्यभूयत वाहानां चरतां गात्रशिञ्जितैः ।

वर्मभिः पवनोद्धूतराजतालीवनध्वनिः ॥ ५६ ॥

चरता गच्छतां वाहानां वाजिनाम् । 'वाजिवाहार्वागन्धर्वहयसैन्धवसप्तयः' इत्य-  
मरः । गात्रशिञ्जितैर्गात्रेषु शब्दायमानैः । कर्तरि क्तः । 'गात्रसञ्जितैः' इति वा पाठः ।  
सञ्जितेर्ण्यन्तात्कर्मणि क्तः । वर्मभिः कवचैः । 'मर्मरः' इति पाठे वाहानां गात्रशिञ्जि-  
तैर्गात्रध्वनिभिरित्यर्थः । मर्मरो मर्मरायमाण इति ध्वनेर्विशेषणम् । पवनेनोद्धू-  
ताना कम्पिताना राजतालीवनाना ध्वनिरभ्यभूयत तिरस्कृतः ॥ ५६ ॥

चलते हुए घोड़ों के शरीरों पर शब्द करते हुए कवचों की ध्वनि से वायु से हिलते हुए  
तालवृक्षों के वन की ध्वनि तिरस्कृत हुई ॥ ५६ ॥

अथ मदस्त्राविणा रघुमेनागजाना गण्डस्थले पुन्नागत रुवनाद्भ्रमराणां निपतनमाह—

खर्जूरीस्कन्धनद्धानां मदोद्गारसुगन्धिषु ।

कटेषु करिणां पेतुः पुन्नागेभ्यः शिलीमुखा ॥ ५७ ॥

खर्जूरीणां तृणद्रुमविशेषाणाम् । 'खर्जूरः केतकी ताली खर्जूरी च तृणद्रुमा'  
इत्यमरः । स्कन्धेषु प्रकाण्डेषु । 'अस्त्री प्रकाण्डः स्कन्धः स्यान्मूलाच्छाखावधेस्तरो'  
इत्यमरः । नद्धानां वद्धानां करिणां मदोद्गारेण मदस्त्रावेण सुगन्धिषु । 'गन्धस्येदुस्पू-

तिष्ठसुरमित्राः । इत्यनेनेकारः । कष्टेऽपु पुत्राद्येभ्यो नागकंसरेभ्यः पुत्रागपुत्राणि  
विहाय । स्वच्छोपै पद्ममी । सिद्धीमुखा नरुषा वेतुः । अकिचापौ सिद्धीमुखौ इत्य-  
मराः । ततोऽपि सौगन्ध्यातिसयादिति भाषः ॥ ५३ ॥

कष्ट के तनों में बने हुए हाथियों के मर के करीब से गुगम्बुक्त गण्डत्वकों पर पुत्राग  
( नागकंसर ) के पुत्रों को धोकर मरे या देदे ॥ ५३ ॥

अथ पश्चिमदेशीया राजानो रथवे करं ददुमिरत्वाह—

अथकाश किञ्चोवम्बान् रामायाम्यर्थितो बहौ ।

अपराण्ठमहीपाजम्बाजेन रथवे करम् ॥ ५४ ॥

उदम्बापुदमी रामाय कामवम्बाय । अर्थितो वाचिता सन् । अथकाशं त्याज्यं  
बहौ किञ्च । किञ्चेति प्रसिद्धौ । रथं त्वपराण्ठमहीपाजम्बाजेन करं बहि बहौ ।  
'अकिञ्चोवम्बाः करा' इत्यमराः । अपराण्ठाणां समुद्रमन्धरेसवर्तितात्तैश्चक्रे सप्त-  
प्रवृत्तलोपचारः । करदायं च सीत्वा न तु वाचयेति रामायचोदकर्षः ॥ ५४ ॥

जिस समुद्र में परसुरामजी के किये प्रार्थना करके पर रथों के किये अम्बाज (त्याग)  
दिया ना बही समुद्र में रजु महाराजके किये पश्चिम देशके राजानोंके व्याजसे कर दिया ॥

अथ रथोर्जवस्तम्मकिञ्चोवमिरभूदित्वाह—

मत्तेमरवृत्तोत्कीर्णम्यक्तविक्रमहास्रपम् ।

त्रिकूटमेव तथोर्जवस्तम्म अकार सः ॥ ५५ ॥

तत्र स रजुर्मयावामिमानां रवृत्तोत्कीर्णमिदं वृत्तस्यैव । मारे सः । अक्षयि  
रजुयामि विक्रमकृत्तानि पराक्रमविह्वलि निजवचनार्थकिस्थानाणि वर्त्तिमस्तं तथोर्जं  
त्रिकूटमेवोर्जवस्तम्म अकार । शास्त्रकात्रिकूटोऽग्निरेवोत्कीर्णस्तम्मो रथोर्जं  
स्तम्मोऽभूदित्वाह ॥ ५५ ॥

उस के एक देश में रजु महाराज ने मरवाके हाथियों के रथों के महारों से छुई हुये  
बूटों ही जिसमें एक कप से पराक्रम के बिना भीख है ॥ त्रिकूट नामक पर्वत को ही  
ऊँचा दिखन का स्वरण दिखाने वाला लगभग अवम किया ॥ ५५ ॥

अथ रथोः पारसीकस्रोतुं मत्तावमाह—

पारसीकास्ततो जेतुं प्रतस्थे स्वस्ववर्मना ।

इन्द्रियाभ्यानिव रिपूस्तस्त्वहानेन संयमी ॥ ५६ ॥

ततः स रजुः । संयमी बोधी तत्त्वज्ञानेनेन्द्रियाभ्यानिन्द्रियनामकान् रिपूनिव  
पारसीकान् राज्ञो जेतुं स्वस्ववर्मना प्रतस्थे न तु मिद्विजेनापि कल्पयेत् सप्तप्रवा-  
यस्य निषिद्धत्वादिति भाषः ॥ ५६ ॥

उठके ( विद्वत्पक्ष को ही विजयसारकण्य कायम कर चुकने के ) बार क्य ए

महाराज ने योगी की भांति तत्त्वज्ञान से इन्द्रिय नामक शत्रु के समान पारस देश के म्लेच्छ राजाओं को जीतने के लिए स्थलमार्ग से प्रस्थान किया ॥ ६० ॥

अथ रघुर्यवनस्त्रीमुखाना मधुनो मदरागं न सेह इत्याह—

यवनीमुखपद्मानां सेहे मधुमदं न सः ।

बालातपमिवाब्जानामकालजलदोदयः ॥ ६१ ॥

स रघुर्यवनीना यवनस्त्रीणाम् । 'जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्' इति ङीष् । मुखानि पद्मानि च मुखपद्मानि । उपमितसमासः । तेषां मधुना मधेन यो मदो मद-  
रागः । कार्यकारणभावयोरभेदेन निर्देशः । त न सेहे । कमिव । अकाले प्रावृद्धयति-  
रेके काले जलदोदयः । प्रायेण प्रावृषि पक्षविकासस्याप्रसवत्वादब्जानां सम्बन्धिन  
बालातपमिव । अवजहितत्वादब्जसम्बन्धित्व सौरातपस्य ॥ ६१ ॥

रघु ने यवन की स्त्रियों के मधुपान-जनित कमल-सदृश मुख को जैसे-वर्षा ऋतु के  
अलावे और ऋतुओं में मेघों का उदय होना कमल-सम्बन्धी सूर्य की कोमल किरणों को  
नहीं सहता है उसी भाँति नहीं सहन किया ॥ ६१ ॥

अथ पारसीकैः सह रघोस्तुमुल युद्धं बभूवेत्याह—

सङ्ग्रामस्तुमुलस्तस्य पाश्चात्त्यैरश्वसाधनैः ।

शार्ङ्गकूजितविज्ञेयप्रतियोधे रजस्यभूत् ॥ ६२ ॥

तस्य रघोरश्वसाधनैर्वासिसैन्यैः । 'साधनं सिद्धिसैन्ययो' इति हैमः । पश्चाद्भवै-  
पाश्चात्त्ययवनै सह । 'दक्षिणापश्चात्पुरसस्यक्' इति त्यक् । सहाय्यं वृत्तीया । शृङ्गाणां  
विकारा शार्ङ्गाणि धनुषि तेषां कूजितैः शब्दैः । 'शार्ङ्गं पुनर्धनुषि शार्ङ्गिणः । जये  
च शृङ्गविहिते चापेऽप्याह विशेषतः' इति केशवः । अथवा शार्ङ्गैः शृङ्गसम्बन्धिभिः  
कूजितैर्विज्ञेया अनुमेया प्रतियोधा प्रतिभटा यस्मिंस्तस्मिन् रजसि तुमुल सङ्ग्राम-  
सङ्कुल युद्धमभूत् । 'तुमुलं रणसङ्कुलं' इत्यमरः ॥ ६२ ॥

उन रघु महाराज का घोड़ों ही की सेना जिनकी है ऐसे पश्चिम दिशाके यवन राजाओं  
के साथ धनुष के टुकड़ों से ही जिसमें प्रतिद्वन्द्वी योद्धाओं का परिशान होता था ऐसी  
( उबती हुई ) धूल में धमासान युद्ध हुआ ॥ ६२ ॥

अथ रघु स्ववाणच्छिन्नैः पारसीकानां शिरोभिः पृथ्वीं छुादयामासेत्याह—

भल्लापवर्जितैस्तेषां शिरोभिः श्मश्रुलैर्महीम् ।

तस्तार सरघाव्यासैः स क्षौद्रपटलैरिव ॥ ६३ ॥

स रघुर्भल्लापवर्जितैर्वाणविशेषकृतैः । 'स्तुहीदलफलो भल्ल' इति । यादवः । श्मश्रुलैः  
प्रवृद्धमुखरोमवद्भिः । 'सिध्मादिभ्यश्च' इति लच्प्रत्ययः । तेषां पाश्चात्यानां शिरोभिः ।  
सरघाभिर्मधुमक्षिकाभिर्व्यासैः । 'सरघा मधुमक्षिका' इत्यमरः । छुद्रा सरघा ।  
'छुद्रा व्यङ्गा नटी वेश्या सरघा कण्टकारिका' इत्यमरः । छुद्राभिः कृतानि क्षौद्राणि

मधुभिः । 'मधु चीर्त्रं माषिकादि इत्यमरः । 'ब्रूमाधमरवटपादपादम्' इति संज्ञा-  
सम्प्रत्ययाः । तेषां परस्मै सङ्ख्यैरेव । 'पठ्यते' तिङ्गन्धे भेदोऽसि मन्त्रये । निरु-  
परिवारे च' इति ईमा । महीं तस्मात्तस्मात्तस्मात् ॥ १३ ॥

अथ रघु महाराज ने रघुवीर के पति की तरह जिसमें फल को छूट है ऐसे बाधों से बड़े  
हुए बाढ़ी-मूछों से कुछ बन पारसी राजानों के धिरो से जैसे मधुमक्षिकानों से बड़े हुए  
मधु के पत्तों से बड़ जाने उस मीठी पृथ्वी को बड़ दिया ॥ १३ ॥

अथ हतावशिष्टम् पारसीका राजानस्तं रघुं सरणं ययुरित्याह—

अपनीतशिरस्त्राणाः क्षोपास्तं क्षार्ष्यं ययुः ।

प्रविपातप्रतीकारा संरम्भो हि महारमणम् ॥ १४ ॥

क्षोपा हतावशिष्टम् अपनीतशिरस्त्राणा अपसारितशीर्षण्यम् भन्ताः । 'क्षीर्षकम् ।  
क्षीर्षकं च शिरसो' इत्यमरः । सरणागतकक्षबभूवतः । तं रघुं क्षार्ष्यं ययुः । तथाहि ।  
महाराजानां संरम्भा क्षोपाः । 'संरम्भः सङ्ग्रहे क्षोपे' इति विश्वः । प्रविपाता प्रवृत्तिरेव  
प्रतिक्रमो यस्य सः । हि महतां परकीयमीदृशमेवासक्तं च तु जीवितमिति भावः ॥

हुड़ में मरने से बड़े हुए राजा लोग अपने-आपने दोषों को छुटार कर रघु महाराज के  
समीप ( सरण में ) आने लगे क्योंकि निश्चय करते महाराजों का क्षीप प्रणाम करने ही  
से दूर हो जाने का डर होता है ॥ १४ ॥

अथ रघोर्धोषानां विचयजमनिवारणार्थं मत्प्राप्तमाह—

वितपन्ते स्म तद्योषा मधुमिर्विजयधमम् ।

आस्तीर्णान्निगन्तास्तु प्राप्तावकचभूमिषु ॥ १५ ॥

तस्य रघोर्धोषा महा आस्तीर्णान्निगन्ताविति कर्ममेष्टानि यस्तु तास्तु प्राप्ता  
वकचार्था भूमिषु । 'युष्मिका योस्तवी प्राप्ता स्वाह्वी महारसेति च' इत्यमरः । मधु  
मिर्जावाकचमधुतिर्कर्मैवेतिजयधमं युज्यते विचयन्ते स्मापनीतकन्ताः । 'कर्मस्ते  
चात्तरि कर्मणि' इत्यात्मनेपदम् । 'कम् स्ते' इति भूतार्थे कम् ॥ १५ ॥

जब रघु महाराज के बीषाणों ने जिसमें जन्म पुण्यार्थ जाति निष्ठे हुये हैं ऐसी पीछ-  
कर प्राप्ता की कन्ताओं से वैदित भूमण में प्राप्ता के पक्षों से बने हुये मधु के हाथ  
( जर्माय मधुराज करने से ) निश्चय करने में जो परिजम हुआ है बड़े दूर किया ॥ १५ ॥

अथ रघोर्विजयपार्श्वमुदीचीं वितमुदिरण प्रत्यागममवृत्तित्याह—

ततः प्रतस्थे कौबेरीं मान्त्रानि च रघुर्विजयम् ।

शरैश्चौरिवोदीच्यानुदरिष्याम् रक्षानिव ॥ १६ ॥

ततो रघुर्मास्त्रासुर्बं ह्य शरैर्बानैकैः किरणैरेव । 'किरणैश्चमयूषांशुपमस्ति-  
'चमिररमण' इत्यमरः । उदीच्यानुदरमपान्तानुदकावीथोदरिष्यामौबेरीं कुबेर

सम्बन्धिनीं दिशमुदीचीं प्रतस्थे । अनेकेनेवशब्देनेयमुपमा । यथाऽह दण्डी-‘एकाने-  
केवशब्दवासा वाक्यार्थोपमा द्विधा’ इति ॥ ६६ ॥

उसके ( पश्चिम दिशा के देशों की विजय कर चुकने के ) बाद रघु महाराज ने सूर्य  
जैसे किरणों से जलों का शोषण करने के लिए उत्तरायण होते हैं उसी भांति अपने वाणों  
से पश्चिम और उत्तर दिशा के देशाधिपति राजाओं को उखाड़ डालने ( विजय करने ) के  
लिये कुवेर की जो उत्तर दिशा है उसकी ओर प्रस्थान किया ॥ ६६ ॥

अथोदीचीं दिशं प्रस्थितस्य रघो सेनासम्बन्धिनोऽश्वान् वर्णयन्नाह—

विनीताध्वश्रमास्तस्य सिन्धुतीरविचेष्टनैः ।

दुधुवर्वाजिनः स्कन्धाल्लग्नकुङ्कुमकेसरान् ॥ ६७ ॥

सिन्धुर्नाम कश्मीरदेशेषु कश्चिन्नद्विशेषः । ‘देशे नद्विशेषेऽन्धौ सिन्धुर्ना  
सरिति स्त्रियाम्’ इत्यमरः । सिन्धोस्तीरे विचेष्टनैरङ्गपरिवर्त्तनैर्विनीताध्वश्रमास्तस्य  
रघोर्वाजिनोऽश्वः, लग्ना कुङ्कुमकेसरा कुङ्कुमकुसुमकिञ्जल्का येषां तान् । यद्वा  
लग्नकुङ्कुमाः केसरा सटा येषां तान् । ‘अथ कुङ्कुमम् । कश्मीरजन्म’ इत्यमरः ।  
‘केसरो नागकेसरे । तुरङ्गसिंहयोः स्कन्धकेशेषु वकुलद्रुमे । पुष्पागवृक्षे किञ्जल्के  
स्यात्’ इति हैमः । स्कन्धान्कायान् । ‘स्कन्धः प्रकाण्डे कार्येऽसे विज्ञानादिषु  
पञ्चसु । नृपे समूहे व्यूहे च’ इति हैमः । दुधुवु कम्पयन्ति स्म ॥ ६७ ॥

सिन्धु नामक नदी के किनारे उलट-पलट कर जिन्होंने अपने २ मार्गों की थकावट को  
दूर कर दिया है और जिनके स्कन्ध के वालों में केसर लगे हुये हैं ऐसे रघु महाराज को  
घोड़ों ने अपने २ शरीर या कन्धे को ढिलाया ( झाड़ा ) ॥ ६७ ॥

अथ रघुर्हूणान् युधि जितवानित्याह—

तत्र हूणावरोधानां भर्तृषु व्यक्तविक्रमम् ।

कपोलपाटलादेशि बभूव रघुचेष्टितम् ॥ ६८ ॥

तत्रोदीच्यां दिशि भर्तृषु व्यक्तविक्रमम् । भर्तृवधेन स्फुटपराक्रममित्यर्थः । रघु-  
चेष्टित रघुव्यापारः । हूणा जनपदाख्याः क्षत्रिया तेषामवरोधा अन्तःपुरस्त्रियः ।  
तासां कपोलेषु पाटलस्य पाटलग्नस्ताडनादिकृताङ्गुल्यस्यादेशरूपदेशक बभूव ।  
अथवा पाटल आदेश्यादेष्टा यस्य तद् बभूव । स्वयं लेख्यायत इत्यर्थः ॥ ६८ ॥

उत्तर दिशा में अपने २ स्वामियों के विषय में जो पराक्रम हुये हैं वे जिनसे व्यक्त हो  
रहे हैं ऐसे रघु महाराज के व्यापार हूण देश के राजाओं की स्त्रियों के कपोलों पर जो  
( पतियों के मर जाने से दुःख में पीटने पर ) रक्तवर्णता आ गई थी, उसके उपदेश वाले  
हुये अर्थात् रघु ने हूणों को जीता है इसको बतलाने वाली उनकी स्त्रियों के कपोलों की  
रक्तवर्णता ही हुई ॥ ६८ ॥

अथ रघुः कम्बोजदेशवासिभ्यो राज्ञोऽपि विभित्तवानित्याह—

काम्बोजाः समरे सोढुं तस्य क्षीर्यमनीम्बरा ।

गजानानपरिविस्त्रष्टैरहोदयैः सार्धमानताः ॥ ६९ ॥

कम्बोजा राजाना समरे यस्य रघोर्क्षीर्यं प्रमाद्यम् । क्षीर्यं तेजःप्रमाद्ययोः इति हैमा । सोढुमनीम्बरा जलच्छाः समतः गजानानाकारानं बन्धनम् । माने हनुमि । 'विमाया क्षीयते' इत्यात्वम् । तेन परिविस्त्रष्टैः परिवर्तैरहोदयैर्बुधविसेपैः सार्धमानताम्

कम्बोज देशवासी राजा (कपुली) कोय कुद में डब रघु महाराज के प्रमाद्य (पराक्रम) को सङ्घ करने में श्री समर्थ होते हुये क्षीरियों के बंधने के क्रिये लुग्म-स्वकार होने से नीचे जाते हुये अदरोट के कुशों के साथ मात्र हो बने अर्थात् फिर लुग्मने ॥ ६९ ॥

अथ रघवे कम्बोजाः पराजिताः सम्बोजवधनादिकमुपायर्षं बहुरित्याह—

तेषां सङ्गम्भूमिष्ठास्तुङ्गा प्रविण्णराज्यं ।

उपदा विविधुः क्षाम्बोत्सेका कोसलेम्बरम् ॥ ७० ॥

तेषां कम्बोजाणां सज्जिरवैर्युविद्य बहुकस्तुङ्ग प्रविषाणां हिरण्यानाम् । 'हिरण्यं प्रविण्णं पुम्नम्' इत्यमरः । राक्षस एवोपदा उपपायवाणि । 'उपायंनमुपप्राङ्-मुपहारस्तयोपदा' इत्यमरः । कोसलेम्बर कोसकदेशाविपतिं तं रघुं बन्धदसङ्गि-विद्युः । 'स्तुङ्गा पुमा पुना सङ्गदमीकामसङ्गत्समा' इत्यमरः । क्षाम्बोत्सेका वर्षा स्तु न विविधुः, सत्यपि वर्षाकाले न जगर्षेत्यर्थः ॥ ७० ॥

(हारे हुये) कम्बोज देश के राजानों के बहुत से पञ्च ९ बीड़े और बहुतस स्वर्ण की राशि उपहार स्वरूप में केन्द्र रीसक देश के स्वामी जब रघु महाराज के पास उपस्थित हुये तबिन्तु फिर भी (रघु के द्वारा ये) महद्धार नहीं देना हुआ ॥ ७० ॥

अथ कम्बोजविक्रमवन्तरं रघोर्हिमाकनपर्यन्तारोहणमाह—

ततो गौरीशुर्षं शीकमाकरोद्दाम्बस्तापना ।

वर्षपञ्चिह तत्क्षानुवृष्टौषौतुरण्युमि ॥ ७१ ॥

ततोऽनन्तरमकसावना सन् वीर्यां शुर्षं पितरं शीकं क्षिमवन्तम् । उद्भूते-रङ्गहरोद्भूतेर्बाष्पां गौरिकाक्षीणां शैलमिस्तत्क्षानुस्तस्य ब्रह्मणि । 'दृष्टोम्भी धिक्करं मृद्वम्' इत्यमरः । वर्षपञ्चिह । जाकरोह । तत्पतद्भूतिवृष्ट्यादिरिधिवरहृदिजमो जात इति भाषा ॥ ७१ ॥

बाष्पिकों की निम्न का शुष्मों के साथ दुर्दस्तारों को साथ में क्रिये हुये वे रघु महाराज हिमाकन पर्यन्त पर ओलों के झरो से कड़ी हुई पञ्चपञ्चिह जाति बाष्पों की बहियों से पर्यन्त की ओरियों की बहाने हुये की मति बड़े ॥ ७१ ॥

अथ हिमालयपर्वतगह्वरेषु सुसान् सिहान् वर्णयन्नाह—

शशंस तुल्यसत्त्वानां सैन्यघोषेऽप्यसम्भ्रमम् ।

गुहाशयानां सिंद्धानां परिवृत्यावलोकितम् ॥ ७२ ॥

शशसेति । तुल्यसत्त्वानां सैन्यै समानबलानाम् । गुहासु शेरत इति गुहाश-  
यास्तेषाम् । 'अधिकरणे शेते' इत्यच्प्रत्यय । 'दरी तु कन्दरो वा स्त्री देवम्वातविले  
गुहा' इत्यमरः । सिंद्धानां हरीणाम् । 'सिंहो मृगेन्द्र पञ्चास्यो हर्यश्च. केसरी हरि'  
इत्यमरः । सम्बन्धि परिवृत्य परावृत्यावलोकितं शयित्वैव ग्रीवामङ्गेनावलोकनं कर्तुं  
सैन्यघोषे सेनाकलकले सम्भ्रमकारणे सत्यप्यसम्भ्रममन्तं चोभविरहितम् । नञ्.  
प्रसज्यप्रतिपेक्षेऽपि समास इष्यते । शशस कथयामास । सैन्येभ्य इत्यर्थाद्भ्यते ।  
वाङ्मचेष्टितमेव मनोवृत्तेरनुमापकमिति भावः । असम्भ्रान्तत्वे हेतुस्तुल्यसत्त्वाना-  
मिति । न हि समबला समबलाद् विभ्यतीति भावः ॥ ७२ ॥

समान बल वाले हिमालय पर्वत की गुफाओं में सोये हुये सिंहों का घूम कर (सोते २  
गर्दन फेर कर) देखना जो है उसीने भय का कारण जो सेना का कलकल शब्द है, उसके  
होने पर भी निर्भीकता प्रकट की ॥ ७२ ॥

अथ हिमालयमारोहतो रघोः पथि गङ्गाऽम्बुक्षणोपेतः पवनो ववावित्याह—

भूर्जेषु मर्मरीभूताः कीचकध्वनिहेतवः ।

गङ्गाशीकरिणो मार्गे मरुतस्तं सिपेविरे ॥ ७३ ॥

भूर्जेष्विति । भूर्जेषु भूर्जपत्रेषु । 'भूर्जपत्रो भुजो भूर्जो मृदुत्वक्चर्मिका मता' इति  
यादव । मर्मरः शुष्कपर्णध्वनिः । 'मर्मरः शुष्कपर्णानाम्' इति यादव । अयं च शुष्कादि-  
शब्दवद्गुणिन्यपि वर्तते । प्रयुज्यते च—'मर्मरैरगुरुधूपगन्धिभिः' इति । अतो  
मर्मरीभूताः । मर्मरशब्दवन्तो भूता इत्यर्थः । कीचकानां वेणुविशेषाणां ध्वनिहेतवः ॥  
श्रोत्रसुखाश्चेति भावः । गङ्गाशीकरिणः शीतला इत्यर्थः । मरुतो वाता मार्गे तसिपेविरे ॥

सूखे हुए भूर्जपत्र ( भोजपत्र ) के वनों में मर्मर शब्द युक्त, कीचक नामक वनस्पतियों  
की ध्वनि को पैदा करने वाला गङ्गा के जल कणों से मिला हुआ ( शीतल ) वायु मार्ग में  
रघु महाराज की सेवा करने लगा, अर्थात् वहते हुए शीतल वायु ने रघु के शत्रु को दूर किया ॥  
अथ रघोः सैनिका मृगमदवासितशिलातलेषु मार्गश्रमापन्नयनार्थं निवासं चक्रुरित्याह-

विशश्रमुर्नमेरूणां छायास्वध्यास्य सैनिकाः ।

दृषदो वासितोत्सङ्गा निषण्णमृगानाभिभिः ॥ ७४ ॥

विशश्रमुरिति । सैनिका सेनायां समवेता । प्राग्बहतीयष्टकप्रत्ययः । नमेरूणां  
सुरपुञ्जागानां छायासु निषण्णानां दृषदुपविष्टानां मृगाणां कस्तूरीमृगाणां नाभिभि  
वासितोत्सङ्गा सुरभिततला इषदं शिला अध्यास्याधिष्ठाय । 'अधिशीङ्स्थासा  
कर्म' इति कर्म । इषत्स्वधिरुद्धेत्यर्थः । विशश्रमुर्विश्रान्ताः ॥ ७४ ॥



रघु के सैनिक जोगो में हारगुणाय (देवताओं की हाराती) नामक दूतों की छाया में बैठे हुए कारागीर जोगो की (माधिरिग) बल्गुरी से जिनके कुछ भाग दुग्धभिन्न हो गये हैं ऐसी छिन्नाओं पर बैठकर विनाश किया ॥ ७४ ॥

अथ हिमवति रघोर्दक्षिणार्ध रात्रौ ज्योतिर्लङ्काविरोधोऽथ दुर्बलित रमेत्याह—  
सरलासक्तमातङ्गमैयैयस्फुरितस्त्रिषः ।  
आसन्नोपधयो मेतुर्गलमग्गद्दक्षीणिकाः ॥ ७५ ॥

सत्येति । सरलेषु देवदाहविरोधेष्वामत्यनि यानि मातङ्गानां राजानाम् प्रीवानु मवर्तिनैवेयानि कण्ठमृगानि । 'प्रीवान्मोऽन्व' इति चकाराहम्प्रत्ययः । तेषु स्फुरितस्त्रिषा प्रतिफलितधामस ओपधयो ज्वलन्तो ज्योतिर्लङ्काविरोधो नक्ष रात्रौ मेतुर्गलमग्गद्दक्षीणिकारतैकविरयेकाः प्रदीपा आसन् ॥ ७५ ॥

सरल नामक दूतों में बंधे हुए रात्रियों के वल में बांधने की सीधों में जिनकी आगि पड़ रही थी ऐसी ज्योतिर्लङ्का नामक ओपधियां रात होने पर सैन्य के सञ्चालन करने वाले रघु महाराज के निधे सैन्यादि की अपेक्षा नहीं रखने वाले प्रदीप की भाँति हुई ॥ ७५ ॥

अथ रघोः सेनायाश्चामौहार्थं देवदाहकन्यवत्कण्ठैः किराता जालन्ति रमेत्याह—  
तस्योत्सृष्टनिषासेषु कण्ठरजसुसतत्त्वजः ।  
गजवर्ष्म किपतेभ्यः पाशसुर्वेयदारकाः ॥ ७६ ॥

तस्येति । तस्य रजोत्सृष्टेषु स्थितेषु निषासेषु संवाजिषेधेषु कण्ठरजसुमिर्गजवर्षे चता निमिष्टास्त्रयो वेपां ते देवदारकाः किरातेभ्यो वधचरेभ्यो यज्ञानां वर्ष्म प्रमा-  
यन् ॥ 'वर्ष्म देह्यमायको' इत्यमरः । कण्ठैः कवितवन्तः । देवदाहकन्यवत्कण्ठैः तैर्गजानाम्प्रीवानुमीवत इत्यर्थः ॥ ७६ ॥

जब रघु महाराज के छोड़े हुए सैन्य के वधार्थ पर गले में बांधने के रस्सों से जिनके वस्त्र कट गये हैं ऐसे देवदार के दूतों में ही किरातों से हाथियों की जंघारों की परा-  
कृत्य किरातों की जंघारों पर देवदार के वस्त्र कट गये के पतली दूतियों की जंघारों किरातों में समझी ॥ ७६ ॥

अथ रघोः पर्वतीयैर्गजवर्ष्मैः किरातादिभिः सह बोरं बुद्धमयुदित्याह—  
तत्र जग्य रघोर्धोरं पर्वतीयैर्गजैरमूत् ।  
गाराक्षसेपणीयाश्मनिष्येपोत्पतितानकम् ॥ ७७ ॥

तत्रेति । तत्र हिमाद्री रघोः पर्वते यत्र पर्वतीयैः । 'पर्वतान्' इति जग्यप्रत्ययः । गजैरसवस्कृताश्चैः सहभिः सह । 'गजानुरसवस्कृताश्मजवत्तत्र पाण्डव' इति महा-  
भारते । गाराक्षानां बाजविलसपानां सेपणीयानां मिषिपाक्यमममनां च तिष्येजेन सहर्षेभ्योत्पतिता जनका बर्हिस्तपचवीर्यम् । 'सेपणीयो मिषिपाक्य' आहूतो हीर्यो

महाफलः' इति यादवः । घोरं भीमं जन्यं युद्धमभूत् । 'युद्धमायोधनं जन्यम्' इत्यमरः ॥ ७७ ॥

उस हिमालय पर्वत पर रघु का वहाँ के निवासी उत्सवसङ्केताख्य म्लेच्छजाति के गणों के साथ केवल नाराच नामक वाण और भिन्दिपाल तथा पत्थर के टुकड़े, इन सबों के परस्पर रगण से, अग्नि जिसमें उत्पन्न हो गया थी ऐसा भयङ्कर युद्ध हुआ ॥ ७७ ॥

अथ पर्वतीयगणविजयिनो रघोर्यशोगान तत्र किन्नरगणाश्चक्रुरित्याह—

शरैरुत्सवसङ्केतान् स कृत्वा विरतोत्सवान् ।

जयोदाहरणं बाह्वोर्गापयामास किन्नरान् ॥ ७८ ॥

शरैति । स रघुः शरैर्वाणैरुत्सवसङ्केतान्नाम्नो गणान्विरतोत्सवान्कृत्वा । जित्वेत्यर्थः । किन्नरान् बाह्वोः स्वभुजयोर्योदाहरणं जयख्यापकं प्रबन्धविशेषं गापयामास । 'गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थशब्दकर्मकर्मकाणामणि कर्त्ता स णौ' इत्यनेन किन्नराणां कर्मत्वम् ॥ ७८ ॥

उन रघु महाराज ने वाणों से उत्सवसङ्केत नामक सात पर्वत-निवासी म्लेच्छजाति के गिरोहों को युद्धमें वाणों से पराजित कर उनके उत्सवों को बन्द कर दिया और किन्नरों द्वारा अपने भुजबल का यशोगान कराया ॥ ७८ ॥

अथ पराजितानां पर्वतीयगणानां रघवे उपहारस्वरूपमणिगणाद्यर्पणमाह—

परस्परेण विज्ञातस्तपूपायनपाणिषु ।

राज्ञा हिमवतः सारो राज्ञः सारो हिमाद्रिणा ॥ ७९ ॥

परस्परेणेति । तेषु गणेषूपायनयुक्ता पाणयो तेषां तेषु सत्सु परस्परेणान्योऽन्यं राज्ञा हिमवतः सारो धनरूपो विज्ञातः, हिमाद्रिणाऽपि राज्ञः सारो बलरूपो विज्ञातः । एतेन तत्रत्यवस्तूनामनर्घ्यत्वं गणानामभूतपूर्वश्च पराजय इति ध्वन्यते ॥

उन पर्वतीय उत्सवसङ्केत नामक म्लेच्छजातिके सात गिरोहों के हाथमें उपहारस्वरूप रत्नादिकोंको लेकर रघुके शरण में उपस्थित होने पर महाराज रघु और हिमालय ने परस्पर एक दूसरेके सारको जाना अर्थात् उपहारस्वरूप उन बहुमूल्यक रत्नों को देखकर महाराज रघुने हिमालयके धन रूप सारको और हिमालयने पर्वतीय उन वीरों को पराजित देखकर रघुके पराक्रमरूप सार को जाना ॥ ७९ ॥

अथ रघुरग्रे कैलासपर्वतमगत्वैव हिमालयशिखरादवततारेत्याह—

तन्नाक्षोभ्यं यशोराशिं निवेश्याचरुद्व सः ।

पौलस्त्यतुलितस्याद्रेरादधान इव ह्रियम् ॥ ८० ॥

तत्रेति । स रघुस्तत्र हिमाद्रावक्षोभ्यमष्टव्यं यशोराशिं निवेश्य निधाय । पौलस्त्येन रावणेन तुलितस्य चालितस्याद्रेः कैलासस्य ह्रियमादधानो जनयश्चिव । अव-

सरोहावततार । कैवलयमालयैव प्रतिनिवृत्त इत्यर्थः । नहि श्रुता परेण पराश्रितमपि पुण्यस्त इति भावः ॥ ८० ॥

ये रघु महाराज वत् हिमाक्ष्य पर्वत पर अथवा गङ्गोराक्षि को रघुकर रावण से दिकने मये केलास पर्वत को अश्रित करते हुयेको भाँति ( वहाँ से ) उत्तरे १८ ॥

अथ कामरूपाभिपत्ती रघोर्मवेन कम्पितवानित्याह—

अक्षये तीर्णक्षीदित्ये तस्मिन् प्राम्थ्योत्तिषेभ्यः ।

तद्रुद्रास्त्रागतं प्राप्तेः सह काकागुरुद्रुमैः ॥ ८१ ॥

अक्षय्य इति । तस्मिन् रघौ । तीर्णं क्षीदित्या नाम वही येन तस्मिंस्तीर्ण-  
क्षीदित्ये सति । प्राम्थ्योत्तिषाणां अक्षयदानामीश्वरः, तस्य रघोर्मज्जानामात्मनो  
प्राप्तेः काकागुरुद्रुमैः कृष्णागुरुद्रुमैः सह अक्षये कम्पितवान् ॥ ८१ ॥

उन रघु रावा के कोहित्य गरी के बार करने पर प्राम्थ्योत्तिष देव का राजा इसके  
हथियों के बाँधने में लक्ष्य का काम को दे रहे थे ऐसे काकागुरु द्रुम के साथ ही साथ  
श्रीव गया ॥ ८१ ॥

अथ कामरूपाभिपो रघो रघुमार्गशुक्तिं दृष्ट्वैव भीता सन् तेन सह युद्धं न  
कृतवानित्याह—

न प्रसेहे स कन्दार्कमघारावर्षपुर्विणम् ।

रघवरमैरजोऽप्यस्य कुत एव पताकिनीम् ॥ ८२ ॥

मेति । स प्राम्थ्योत्तिषैश्चरो कन्दार्कमावृतसूर्यम् । अघारावर्षं च तद् दूर्विर्बं च  
घारावृष्टिं विना दूर्विर्बिमूतम् । अस्य रघो रघवरमैरजोऽपि न प्रसेहे । पताकिनीं  
येनां तु कुत एव प्रसेहे । न कुतोऽपीत्यका ॥ ८२ ॥

प्राम्थ्योत्तिष देव का राजा सूर्य को ढक देने वाली स्थितर कल्पादि के पिता देव से  
पिरे हुए दिन के समान बाह्यम पक्षमे वाली वन रघु महाराज के रघुमार्ग को युक्ति को भी  
वही सह सन्न फिर ऐसा को देते सहण ॥ ८२ ॥

अथ कामरूपाभिपो गजराजमुवावनीकृत्य रघोः शरणागतो बभूवेत्याह—

तमीशः कामरूपायामस्यासृण्डक्षयिणमम् ।

मेष्टे मिश्रकटीर्णगैरम्यानुपश्रोथ यैः ॥ ८३ ॥

तस्मिन् । कामरूपाणां नाम दैद्यानामीशोऽप्यासृण्डक्षयिणममीश्वरपराक्रमं  
रघुम् । मिश्रः घब्रमकाः कदा गच्छा येषां तेर्णगैर्गमैः साधनैर्मेष्टे । अम्यान्वरा  
शरणागत इत्यर्थः । कीदृशैर्गमैः । यैरम्यान्वराभ्यतिरिक्तानुपश्रोथ । शूरावामपि  
शूरो रघुरिति भावः ॥ ८३ ॥

कामरूपदेव के राजा ने पराक्रम में शत्रु को भी अतिदमन करने चाहे वन रघु  
महाराज को जिसके गजराजों से यह शर रहा था ऐसे हाथियों से सेवा को अर्थात्

हाथियोंको मेंटमें देकर शरणागत हुआ, कैसे वे हाथी हैं, कि जिन हाथियों से रघुके अलावे और आक्रमणकारी राजाओं को दूर कर दिया था, अतः रघु शूर के भी शूर थे ॥ ८३ ॥

अथ कामरूपेश्वरो रघोः पादयोर्निपत्य रत्नान्युपायनीकृतवानित्याह—

कामरूपेश्वरस्तस्य हेमपीठाधिदेवताम् ।

रत्नपुष्पोपहारेण छायामानर्च पादयोः ॥ ८४ ॥

कामेति । कामरूपेश्वरो हेमपीठस्याधिदेवता तस्य रघोः पादयोश्छायां कनकमय-  
पदपीठव्यापिनीं कान्तिं रत्नान्येव पुष्पाणि तेषामुपहारेण समर्पणेनानर्चार्चयामास ॥

कामरूप देशके राजाने पैर रखने के लिए सोनेके बने हुए आसन की अधिदेवता स्वरूप  
अन रघु महाराज के पैरों की कान्ति की रत्नरूपी फूलों को समर्पण करके पूजा की ॥ ८४ ॥

अथ रघुः सर्वा दिशो जित्वा दिग्विजयान्निवृत्तोऽभूदित्याह—

इति जित्वा दिशो जिष्णुर्न्यवर्तत रथोद्धतम् ।

रजो विश्रामयन्राज्ञां छत्रशून्येषु मौलिषु ॥ ८५ ॥

इतीति । जिष्णुर्जयशीलः । 'ग्लानिस्थश्च गन्तुः' इति गन्तुप्रत्ययः । स रघुरितीत्य-  
दिशो जित्वा रथैरुद्धत रजश्छत्रशून्येषु । रघोरेकच्छत्रकत्वादिति भावः । राज्ञा  
मौलिषु किरीटेषु । 'मौलिः किरीटे धर्मिले चूडाकङ्केलिमूर्धजे' इति हैमः । विश्रा-  
मयन् । सहकामयन्नित्यर्थः । न्यवर्तत निवृत्त ॥ ८५ ॥

विजयी राजा रघु इस प्रकार से दिशाओं को विजय करके रथों से उठी हुई धूलि को  
छत्ररहित राजाओं के मुकुटों में जमाते हुये दिग्विजय करने से निवृत्त हुये ॥ ८५ ॥

अथ रघुर्विश्वजितं यज्ञं कृतवानित्याह—

स विश्वजितमाजहे यज्ञं सर्वस्वदक्षिणम् ।

आदानं हि विसर्गाय सतां वारिमुचामिव ॥ ८६ ॥

स इति । स रघुः सर्वस्व दक्षिणा यस्य तः सर्वस्वदक्षिणम् । 'विश्वजित्सर्वस्व-  
दक्षिणः' इति श्रुतेः । विश्वजित नाम यज्ञमाजहे, कृतवानित्यर्थः । युक्तं चैतदित्याह-  
सता साधूनाम् वारिमुचा मेघानामिव । आदानमर्जनं विसर्गाय त्यागाय हि, पात्र-  
विनियोगायेत्यर्थः ॥ ८६ ॥

अन रघु महाराज ने, जिसकी दक्षिणा में अपना सारा धन दे दिया जाता है, ऐसा  
विश्वजित नाम का यज्ञ किया, क्योंकि यह उचित है कि—सज्जनों का लेना मेघों की  
भाँति (जैसे मेघ समुद्र से जल ले जाता है और बरसा कर किसानों को खुश करता है) उसी  
प्रकार दूमरे को देने ही के लिये होता है ॥ ८६ ॥

अथ यज्ञान्ते स्वनिदेशायत्तीकृतेभ्यो नृपेभ्यो निजनिजगृहगमनाय रघुराज्ञां ददातीत्याह—

सत्रान्ते सचिवसखः पुरस्क्रियामिर्गुर्वीभिः शमितपराजयव्यलीकान् ।

काकुत्स्थश्चिरविरहोत्सुकावरोधान् राजन्यान्स्वपुरनिवृत्तयेऽनुमेने ॥

सन्नाम्न इति । कङ्कुरस्यो रघुः सप्रसन्ने यशाम्ने । 'सन्नमाभ्याहने यज्ञे सदा यज्ञे यज्ञेऽपि च इत्यमरः । सन्निधानामभाधानां सत्तेष्वसि सन्निपसत्ता सन् । 'सन्निबो मृत कम्मात्ते' इति हेमः । तेषामात्यन्तानुसरणद्योतनार्थं राज्ञः सन्निपसत्पदैश्च । 'राजाह- सन्निपसत्पदैश्च' । शुर्वाभिर्महतीभिः । 'शुर्महत्वाद्भिरेति निष्ठादी धर्मसङ्ग इति हेमः । पुररिक्वाभिः पूत्राभिः समित पराजयन स्वधीर्कं पुत्रं वेकयं वा येषां तात् । 'पुत्रं वेकयते स्वधीकम् इति बावृका । पिरपिरहेणोसुकिता उत्कण्ठिता अवरोधा भक्ताः पुराणवा येषां तात् । राज्ञोऽप्यत्यायि राज्ञ्य्याः, उत्पिवास्तात् । 'राज्यचक्षुराद्यत् इत्यप्यर्थे चत्याययः । 'शूर्वाभिपिच्छे राज्ञ्यो बाहुजः । उत्पिपो विरात् इत्यमरः । स्व पुत्रं प्रति बिबृचये प्रणिगमनायापुमेनेऽनुज्ञातवात् । महर्षिणीवृत्तमेतत् । तदुक्तम्- 'मौ ली राक्षिवायति मद्रिणीयम् इति ॥ ८७ ॥

कङ्कुरस्य के वंश में वेवा हुये रघु महाराजने बिबिचि नामक बड़ की समर्पित होने पर मन्त्रियों के मित्र जहाँय मन्त्रियों के मनका अनुसरण करनेवाले होने हुये अन्तमत् भावर साक्षर द्वारा जिसके पराजय से उत्पन्न पुत्र सम्य हो गये हैं और बहुत दिनों से विज्रीर होने के कारण जिनको अन्तमुरयो जिनको वेगने के किये उत्कण्ठित हो रही हैं ऐसे क्षत्रिय राजाओं को अरने-अपने अगर की ओर जाने के किए जाया की ॥ ८७ ॥

अथ रघुरं प्रति यमवाच प्रसादमुवाच राज्ञां प्रयाणकाके रथोः पादयोः प्रनिपतनमाह-  
ते रेखाभ्यजकुलिशात्पत्रविह सन्नाम्नधारण्यपुर्गं प्रसादसम्यम् ।

प्रस्थानप्रणतिमिरकुक्षीषु अकुर्मीक्षिष्यन्मुतमकरन्द्रेणुगौरम् ॥ ८८ ॥

त इति । ते राजानाः । रेखा एव पञ्चाङ्ग कुलिशानि चातपत्राणि च पञ्चाङ्गा- काररेखा इत्यर्थः । तानि बिह्वानि पश्य तत्पद्येष्टम् । प्रसादेनच सम्बद्ध प्रसात् सम्बद्ध । सन्नाम्न सार्धमीमस्य रथोद्वारणमुपे प्रस्थाने प्रवाचसमये वा प्रन तयो वमस्कारास्तामिः करणैः । अङ्गुलीषु, मीक्षिषु केसवन्धवेषु वा अत्रो मास्त्राणि ताम्बरधनुर्तेर्मकरन्द्रेः पुष्परसैः । 'मकरन्दा पुष्परसा' इत्यमरः । रेणुभिः परागैः । 'परागः सुमनोरजा' इत्यमरः । गौरं गौरवर्चं चक्षुः ॥ ८८ ॥

इति सतीमिनीन्वाक्यायां रघुबिम्बजयो नाम अतुर्थः सर्गः ।



बिबिचि बड़ के किये भिर्मलि राजाओं ने पचाङ्ग वज्र और अथ के चिह्न रेखाएँ से जिनमें मौजूद हैं और की कि अनुग्रहसे जाने योग्य हैं ऐसे बरकतों महाराज रघुके बरनों की अङ्गुलियों को पर जाने के समय प्रणाम करते समय जहाँ-जहाँ दिरोंमें मैं को पाऊँके क्या रखी थी वनसे शरी हुये पुष्पों के रस तथा परागों हैं गौर वर्ण कर दिया ॥ ८८ ॥

इति अतुर्थः सर्गः ॥ ४ ॥



## पञ्चमः सर्गः

अथ गुरुदक्षिणाऽर्थी वरतन्तुशिष्यः कौत्स ऋषी रघुम्प्रापेत्याह—

तमध्वरे विश्वजिति क्षितीशं निःशेषविश्राणितकोषजातम् ।

उपात्तविद्यो गुरुदक्षिणाऽर्थी कौत्सः प्रपेदे वरतन्तुशिष्यः ॥ १ ॥

इन्दीवरदलश्याममिन्दिराऽऽनन्दकन्दलम् ।

वन्दारुजनमन्दारं वन्देऽहं यदुनन्दनम् ॥

तमिति । विश्वजिति विश्वजिज्ञास्यध्वरे यज्ञे । 'यज्ञः सवोऽध्वरो यागः' इत्यमरः । नि शेषं विश्राणित दत्तम् । 'श्रणु दाने' चुरादि । कोषाणामर्थराशीना जात समूहो येन त तथोक्तम् । 'कोषोऽस्त्री कुड्मले खड्गपिधानेऽर्थोऽधदिव्ययोः' इत्यमरः । 'जात जनिसमूहयो' इति शाश्वतः । एतेन कौत्सस्यानवसरप्राप्तिं सूचयति । त द्वितीया रघुमुपात्तविद्यो लब्धविद्यो वरतन्तोः शिष्यः कौत्सः । 'ऋष्यन्धकवृष्णिङ्कुरुभ्यश्च' इत्यण् । इमोऽपवादः । गुरुदक्षिणाऽर्थी । 'पुष्करादिभ्यो देशे' इत्यात्रार्थाच्चासन्निहिते तदन्ताच्चेतीति । अप्रत्याख्येय इतिभावः । प्रपेदे प्राप । अस्मिन्सर्गे वृत्तमुपजातिः । तल्लक्षणं तु—( स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ ग, उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ । अनन्तरोक्षीरितलक्ष्मभाजौ पादौ यदीयावुपजातयस्ता ) ॥ इति ॥ १ ॥

विश्वजित् नामक यज्ञ में सारे अर्थ-राशियों के समूह ( खजाना ) का दान किए हुये उन महाराज रघु के पास १४ विधा ( छन्द-कल्प-ज्योतिष-निरुक्त-शिक्षा-व्याकरण-इन छ अङ्गों के सहित ऋग्वेद-यजुर्वेद-सामवेद-अथर्ववेद-ये ४ वेद और मीमांसा-न्याय-धर्मशास्त्र-पुराण ) को प्राप्त किये हुए वरतन्तु नामक महर्षि के शिष्य कौत्स ऋषि गुरुकी दक्षिणा स्वरूप १४ करोड़ धन को चाहने वाले होते हुए पहुँचे ॥ १ ॥

अथ रघुः कौत्सस्य स्वागतार्थमर्घ्यं गृहीत्वा सम्मुख ययावित्याह—

स मृन्मये वीतद्विरण्मयत्वात्पात्रे निधायार्घ्यमनर्घशीलः ।

श्रुतप्रकाशं यशसा प्रकाशः प्रत्युज्जगामातिथिमातिथेयः ॥ २ ॥

स इति । अनर्घशीलोऽमूल्यस्वभावः । असाधारणस्वभाव इत्यर्थः । 'मूल्ये पूजा-विधायवर्ध' इति । 'शील स्वभावे सद्वृत्ते' इति चामरशाश्वतौ । यशसा कीर्त्या ।

प्रकाशाय इति प्रकाशः । पञ्चाद्यथ । अतिथिषु सापुरातियेषा । 'अतिथिष्वमनित्स्व-  
पठेर्हम्' इति इम् । स रघुः । द्विरण्यस्य विकारो द्विरण्यमयम् । 'दागिहनायन  
दायादिना सुज्ञेन निपातः । पीतद्विरण्यमयावाह्यगतसुवर्णपात्रावात् । यशस्य सबन्ध-  
वर्णिनाकत्वादिति भावः । शुभमये सुद्विकारे पात्र । अर्थाधर्मिदुर्मार्गम् । 'पात्रार्थाग्या  
च' इति यत् । पुत्रार्थं इत्थं विधाय श्रुतेन धान्नेन प्रकाशं प्रमिश्रम् । अथत इति  
शुभं वेदप्राप्तम् । शुभं शास्त्रावहनयोः इत्यमरः । अतिथिमभ्यागत कौत्सम् ।  
इत्यमरः । यपुरजगाम ॥ १ ॥

अन्तारम् एतन्मात्रं शीतिं ते परम प्रसिद्धं अनिनिच्छा सरकार करदेवाके, हे तु  
महाराज सोने के बने हुए पात्रों के न रहने से मिट्टी के बने हुए पात्र में अनिनिच्छ  
इत्य रत्न कर प्राप्त से परम प्रसिद्ध अतिथि कौत्स के पास बंध कर गये ॥ १ ॥

अथ कौत्समर्णाद्विज्ञानेन पूजयित्वाऽऽसने समुपवेश्य कृताञ्जलिं सन् रघुर्वन्दुमा-  
रेम इत्याह—

तमर्चयित्वा विधिपद्धिचिह्नस्तपोधनं मानवमाग्रयायी ।

विद्याभ्यतिथिधरमाज्जमारास्तृताञ्जलिं कृत्यविदित्पुत्राच ॥ ३ ॥

तमिति । विधिज्ञः साधुज्ञः । अकरमे प्रत्यवाचसीदरित्वर्थः । मानवनामानम-  
पाप्ममेतरः । अपवर्गोमीदरित्वर्थः । कृत्यविदित्वर्थः । आत्मवप्रबोजनमवरण मङ्ग-  
ल्यमिति कृत्यविदः । विद्याभ्यतिथिधरः । 'हो विदो वैरयमबुधो' इत्यमरः । विद-  
रमाज्जमासगतम् । उपविष्टमित्यर्थः । विहरो विहरी धर्ममुक्ति पीठ्यमासगतम्  
इत्यमरः । 'पूजासनयोर्विहरो' इति निपातः । तं तपोधनं विधिबद्धिप्यर्थम् । यथा-  
माज्ञमित्यर्थः । 'तद्वर्हम्' इति वतिप्रत्ययः । अर्चयित्वाऽऽनतस्तमीये । आराद् पुर-  
समीपयो' इत्यमरः । कृताञ्जलिं सन्निधिं वक्ष्यमाण्यङ्गरेणोवाच ॥ ३ ॥

ज्ञात के जानने वाले, मान के हो वन मानने वालों में सर्वप्रथम, एवं 'आपमङ्ग का  
प्रबोजन अवसर प्राप्त्य चाहिये इस कार्य को जानने वाले राजा रघु आसन पर बैठे हुए  
उन तपोधन कौत्स की विविध पूजन करके समीप में शान्त बोधे हुए इस प्रकार अब  
से बोले ॥ ३ ॥

अथ कौत्सं प्रति ब्रुवता रघुना तदगुरोः सर्वप्रथमं वृत्तम् इतित्याह—

अप्यग्रणीर्मन्त्रकृतामृषीणां कृपाप्रबुधे ! कुशली गुरुस्ते ।

पतस्तथा ज्ञानमथेयमासं लोकान् शैतन्यमिबोष्णरश्मौ ॥ ४ ॥

अप्यग्रणीरिति । हे कृपाप्रबुधे ! सूक्ष्मबुधे ! । 'कृपादीपमति मोक्ष सूक्ष्म  
दर्शी च वा पुमान्' इति इकाबुधः । मन्त्रकृतां मन्त्रज्ञपुत्राच । 'सूक्ष्मपापमन्त्र  
इत्यादिना स्मिन् । अपीजमग्रणीः ओहाते तत्र गुरु कृपाव्यपि ज्ञेयवान् स्मिन् । अपि  
मरये । 'गर्दासमुच्चयमरणकृतासम्भावनास्वपि' इत्यमरः । वदो वरमात् गुरो

सकाशात्त्वयाऽशेषं ज्ञानम् । लोकेनोष्णरश्मेः । सूर्याच्चैतन्यं प्रबोधे हव । आपं स्वीकृतम् ॥ ४ ॥

हे तीक्ष्णबुद्धि वाले ! ऋषे कौस ! मन्त्रों के स्मरण करने वाले ऋषियों में श्रेष्ठ वे आप के गुरुजी महाराज कुशल से तो हैं ? जिनसे आपने सम्पूर्ण ज्ञान उस भौति प्राप्त किया जिस भौति लोग सूर्य से प्रबोध प्राप्त करते हैं ॥ ४ ॥

अथ सम्प्रति रघुकर्तृकं पुनर्महर्षेस्तपोविषयककुशलप्रश्नमाह—

कायेन वाचा मनसाऽपि शश्वद्यत्सम्भृतं वासवधैर्यलोपि ।

आपाद्यते न व्यथमन्तरायैः कच्चिन्महर्षेस्त्रिविधं तपस्तत् ॥ ५ ॥

कायेनेति । कायेनोपवासादिकृच्छ्रचान्द्रायणादिना वाचा वेदपाठेन मनसा गायत्रीजपादिना कायेन वाचा मनसाऽपि करणेन वासवस्येन्द्रस्य धैर्यं लुम्पतीति वासवधैर्यलोपि । स्वपदापहारशङ्काजनकमित्यर्थः । यत्तप शश्वदसकृत् । 'मुहु पुन' पुन शश्वदभीक्ष्णमसकृत्समा' इत्यमरः । सम्भृत सञ्चितं महर्षेर्वरतन्तोस्त्रिविध चाहमनःकायजतत्तपोऽन्तरायैर्विघ्नैरिन्द्रप्रेरिताप्सर शापैर्व्यथनाशनापाद्यते कच्चिद् न नीयते किम् । 'कच्चिन्कामप्रवेदने' इत्यमरः ॥ ५ ॥

शरीर से ( कृच्छ्रचान्द्रायणादि द्वारा ), वाणी से (वेदपाठ द्वारा) और मन से ( गायत्रीजपादि द्वारा ) इन्द्र के धैर्य का नाश करने वाला ( इन्द्र के पदके अपहरण की शङ्का को उत्पन्न करने वाला ) जो ( तप ) बारबार सञ्चय किया हुआ महर्षि वरतन्तु का तीन प्रकार का ( शरीर-वाणी-और मन से सम्पादित ) तप है वह विघ्नों से ( इन्द्र की भेजी हुई अप्सराओं से या शापों से ) कभी नष्ट तो नहीं कराया जाता है ? ॥ ५ ॥

अथ रघुकर्तृकं महर्षेस्तपोवनवर्तिवृक्षविषयककुशलप्रश्नमाह—

आधारबन्धप्रमुखैः प्रयत्नैः संवर्धितानां सुतनिर्विशेषम् ।

कच्चिन्न वाय्वादिरुपप्लवो वः श्रमच्छिदामाश्रमपादपानाम् ॥ ६ ॥

आधारेति । आधारबन्धप्रमुखैरालवालनिर्माणादिभिः प्रयत्नैरुपायैः । 'आधार आलवालेऽगुध्वन्धेऽधिकरणेऽपि च' इति विश्व । सुतेभ्यो निर्गतो विशेषोऽतिशयो यस्मिन्कर्मणि तत्तथा संवर्धितानां श्रमच्छिदां व आश्रमपादपाना वाय्वादि । आदिशब्दाद्वावानलादि । उपप्लवो बाधको न कच्चिन्नास्ति किम् ॥ ६ ॥

क्यारी बाँधना, जल देना आदि उपायों से पुत्र के समान बढ़ाये गये जो ( पथिकों की ) धकावट को दूर करने वाले आप लोगों के तपोवन के वृक्ष हैं, उन सबों को शब्दा वात-दावानल आदि उपद्रवों से कोई बाधा तो नहीं पहुँचती है ? ॥ ६ ॥

अथाश्रमस्थमृगीणा सद्योजातशिशुविषयककुशलप्रश्नमाह—

क्रियानिमित्तेष्वपि वत्सलत्वादभयकामा मुनिभिः कुशेषु ।

तदङ्गशय्याच्युतनाभिनाला कच्चिन्मृगीणामनवा प्रसूतिः ॥ ७ ॥



क्षिपामिमितेष्विति । क्षिपामिमितेष्वप्यनुष्ठानसाधनेष्वपि कुप्येव मुनिमिर्लस्य  
कृत्वाभ्यागस्नेहादभनकामाऽप्रतिहतेष्व । तेषां मुनीनामह्ना एव द्रव्यास्तमु  
च्युतादि नामिवाक्यमिदं यस्याः सा तथोक्त्यं सुखीणां प्रसूतिः समुत्तिरनभ्याऽभ्यसवा  
कथित् । अनपापिनी किमित्यर्थः । 'कुक्षौनोऽप्यसवेऽप्यभम्' इति यादवा । ते हि  
प्यालमपादभराभमह्ना एव चारयन्ति ॥ ३ ॥

और अनुष्ठान के निमित्त रखे हुए भी कुक्षों में जो मुनि स्नेहवश हो शिव  
के पाने की रक्षा को नहीं रोक सके हैं ( खाने दिया है ) ऐसे इन मुनिों की यौवो रूप  
विज्ञाने पर भ्रष्ट के नामिवाक्य गिर गये हैं ऐसे इतिथियों के अन्वयत वन्दे विपदि से  
रहित ( कुलक से ) तो हैं ॥ ३ ॥

अथ रघुर्नृप्तिरेवितजकानां निरुपग्रवं वृच्छन्नाह—

निर्बल्यते येनियमामिपेको यस्या निवापाकस्तथा पितृव्याम् ।

ताभ्युच्छन्नाह्वितसैकतामि क्षिपामि वस्तीर्यमह्वानि कर्षन्वत् ॥ ४ ॥

निर्बल्यते इति । वेस्तीर्यमह्वानिर्नियमामिपेको मित्यस्वानादिनिर्बल्यते निष्पाद्यते ।  
येस्यो कछेयः । उद्धृत्येति शेषः । पितृव्यामनिष्पाद्यादीनां निवापाकस्तर्पणा  
लक्षणा । 'पितृव्यां निवापा स्वप्' इत्यमरः । निर्बल्यन्ते । उच्छ्रानां मकीर्णोद्धृत  
वात्स्यानां पठे पठमासौ पाककृत्वाऽनभ्यागस्नेहादिनां सैकतामि पुष्टिनामि वषां  
तामि तथोक्त्यामि नो पुष्पार्क तामि तीर्थककानि क्षिपामि भग्नानि कथित् । अनुप  
प्लवामि किमित्यर्थः । 'उच्छ्रौ वात्स्यासकाशान् कथिसाधनेन क्षिप्य' इति यादवा ।  
'वृष्टाहमास्यां न च' इति पठ्यन्नाह्वानार्थेऽन्यथयः । अत एवापूरवार्त्तवात् 'पूर  
नगुण' इत्यादिना न पठ्यमानाप्रतिषेधा । सिकता येषु सन्ति तामि सैकतामि ।  
'सिकताकर्मराम्यां च' इत्यप्यन्यथयः ॥ ४ ॥

शिव तीर्थों ( शिवके कर्मों से अधिक योग मित्यं स्नान-वर्ष्यादि किया करते हैं ) उन्हें  
तीर्थ कहते हैं ) के कर्मों से अगस्त्यज्जी स्नातद्विद्विना निष्कन्त होती है और शिव  
तीर्थ-कर्मों से विरुगन का गर्वण किया जाता है और शिवके वातुधमव दिनारे ( वने हुए  
कुबड़ों द्वारा वातु की राशि कटा के जाने पर एक-एक कर्मों की कटाकर शब्दों दिने मने  
राजा के भिन्ने दिने ) वज्र संकट वालों के लठे वालों से सुशोभित हो रहे हैं ऐसे माय  
मीनों के भीनों के अन्व उपग्रह में रहित तो हैं ॥ ४ ॥

अथ रघुर्मुविजयभक्त्यानां नीवारणान्वातां निरुपग्रवं वृच्छन्नाह—

नीवारणाद्वि कञ्जकगरीयेरामुरयते आनपदेनै कथित् ।

कञ्जोपपन्नातिथिकस्यमार्गं धर्म्यं घाटीरसिद्यतिसाधनं च ॥ ५ ॥

नीवारणि । कञ्जेषु बोध्यकालेनृपपञ्चानामभ्यतानामतिथीनां कञ्ज्या भागा वरव  
तत्तभीक्य । अये सर्वं वन्द्यम् । घाटीरसिद्यतेर्जीवितरव साधनं नो भुप्यात्मनः । पथ्यत

इति पाकः फलम् । धान्यमिति यावत् । नीवारपाकादि । आदिशब्दाच्छ्रुयामाका  
दिधान्यसंग्रहः । जनपदेभ्य आगतैर्जनपदैः । 'तत् आगतः' इत्यण् । कटङ्गरीयैः ।  
कटङ्गरं-वुसमहन्तीति कटङ्गरीयाः । 'कटङ्गरो वुसं क्लीवे धान्यत्वचि तुष पुमान्'  
इत्यमरः । 'कटङ्गरदक्षिणाच्छ च' इति छप्रत्यय । तैर्गोमहिषादिभिर्नामृश्यते कच्चि  
न भक्ष्यते किमित्यर्थः ॥ ९ ॥

उचित समय पर ( वलि वैश्वदेव कर चुकने पर ) आये हुए अतिथियों के भागों की  
भी जिनमें कल्पना की जाती है, ऐसे जङ्गलों में उत्पन्न हुये, शरीर की स्थिति बनाये रखने  
के कारण रूप ( मक्ष्य पदार्थ ) जो आप लोगों के नीवार-सावा आदि धान्य हैं उन्हें ग्राम  
से आये हुए भूसा खाने वाले गाय-भैस तो नहीं खा जाते हैं ॥ ९ ॥

अथ किं गुरुणा प्रसन्नतया गृहस्थाश्रमं प्रवेष्टुं समाप्तविद्यस्वमाज्ञसः ? इति  
पृच्छन् रघुराह—

अपि प्रसन्नेन महर्षिणा त्वं सम्यग्विनीयानुमतो गृहाय ।

कालो ह्ययं संक्रमितुं द्वितीयं सर्वोपकारक्षममाश्रम ते ॥ १० ॥

अपीति । 'किञ्च त्वं प्रसन्नेन सता महर्षिणा सम्यग्विनीय शिष्यित्वा विद्या-  
मुपदिश्येत्यर्थः । गृहाय गृहस्थाश्रमं प्रवेष्टुम् । 'क्रियाऽर्थोपपद०' इत्यादिना चतुर्थी ।  
अनुमतोऽप्यनुज्ञात किम् । हि यस्मात्ते तव सर्वेषामाश्रमाणा ब्रह्मचर्यवानप्रस्थ-  
यतीनामुपकारे क्षमशक्तम् । 'क्षम शक्ते हिते त्रिषु' इत्यमरः । द्वितीयमाश्रमं गार्हस्थ्य  
संक्रमितुं प्राप्तुमय काल । विद्याग्रहणानन्तर्यात्तस्येति भावः । 'कालसमयवेलासु  
तुसुन्' इति तुसुन् । सर्वोपकारक्षममित्यत्र मनु — ( यथा मातरमाश्रित्य सर्वे  
जीवन्ति जन्तव । वर्तन्ते गृहिणस्तद्गृहाश्रित्येतर आश्रमा ) इति ॥ १० ॥

और आपसे प्रसन्न होने हुये महर्षि वरतन्तु जी ने भलीभाँति शिक्षा देकर गृहस्थाश्रम  
में प्रवेश करने के लिए क्या आपको आज्ञा दी है ? क्योंकि सभी ( ब्रह्मचर्य-वानप्रस्थ-  
सन्यास ) आश्रमों के उपकार करने में समर्थ जो दूसरा गार्हस्थ्य आश्रम है उसमें प्रविष्ट  
होने का यह समय है ॥ १० ॥

कुशलप्रश्नं विधायागमनप्रयोजनप्रश्नं चिकीर्षुराह—

तत्प्रार्हतो नाभिगमेन त्वं मनो नियोगक्रिययोत्सुकं मे ।

अप्याक्षया शासितुरात्मना वा प्राप्तोऽसि संभावयितुं वनान्माम् ॥ ११ ॥

तत्प्रार्हत इति । अर्हत् पूज्यस्य प्रशस्यस्य । 'अर्हं प्रशंसायाम्' इति शतृप्रत्ययः  
तवाभिगमेनागमनमात्रेण मे मनो न तृप्तं न तुष्टम् । किन्तु नियोगक्रिययाऽऽज्ञा  
करणेनोत्सुक सोत्कण्ठम् । 'इष्टार्थोदुक्त उत्सुक' इत्यमरः । 'प्रसितोत्सुकाम्यां  
तृतीया च' इति सप्तम्यर्थे तृतीया । शासितुर्गुरोराज्ञाप्यात्मना स्वतो वा ।  
'प्रकृत्यादिभ्य उपसख्यानम्' इति तृतीया । मां सम्भावयितुं वनाः प्राप्तोऽसि । गुर्वर्थं  
स्वार्थं वाऽऽगमनमित्यर्थः ॥ ११ ॥

दृश्यते नो आप हीं सो आपके ( आप छहट पूजनीय के ) जाने मात्र से ही मेरा मन समुद्र नहीं हुआ, किन्तु आप आया करें इस विषय में अत्यन्त उत्कण्ठित है बल्लु आप क्या पुत्र की आशा से जन्मा जन्मी श्रद्धा से मुझे कुतार्थ करने के लिए बंजर से आये हैं ? क्योंकि आप किस लिए आये ? इसे कहें ॥ ११ ॥

अथ पूर्वोक्तं रघुवक्ता श्रुत्वा तदनुत्तरं बाहुकामतया कीर्त्तितो वक्त्रमात्मप्रकारेण तमुवाचेत्याह—

इत्यर्घ्यपाधानुमितव्ययस्य रघोरुवाचमपि नां निश्चयम् ।

स्वार्थोपपत्तिं प्रति दुर्बलज्ञाशस्वमित्यबोधद्वरतन्मुक्षिष्यम् ॥ १२ ॥

इतीति । अर्घ्यपादेन धूम्रमेनामुमितो ज्ञात्वा सर्वस्वरवाप्यो यस्य तस्य रघोरि त्युक्तप्रकारामीदार्थमुक्तमपि नां वाच्यम् । मनोनिधोयमिन्द्रियोन्मुखं मे इत्येवंरूपम् 'स्वर्गोत्पुष्टयाम्बुजविह्वलेनपुत्रिभूम्बके । कचपञ्चनोः क्षियां पुंसि यौ' इत्यमरः । निश्चयम् श्रुत्वा वरतन्मुक्षिष्यः कीर्त्तितः स्वार्थोपपत्तिं स्वकार्यसिद्धिं प्रति दुर्बलज्ञा सम्बुध्यमानपात्रवर्त्तनाच्छिषिभूमनोरथा संसर्तं रघुमिति वक्ष्यमाणप्रकारेणाबोधत् ॥

अर्घ्यतन्वन्तो ( धूम्रव ) पात्र से ही जिसके सम्पूर्ण मन के धर्म हो जाने का पता लग गया है ऐसे मन रघु महाराज को 'हमारा मन आपकी आशा पाकर करके के लिए उत्कण्ठित है इस तरह की बचारासे मरी हुई बानी तुम कर गी वरतन्मु मुझसे क्षिप्य कीर्त्तित श्रुति अपने धर्म की सिद्धि की ओर से निराश होते हुए, वैसे नहीं कहें जानेवाले प्रजा ने बोले ॥ १२ ॥

अथ कीर्त्तितो रघोः प्ररनोत्तरं बाहुकामतया तं प्रति धापमान्वा आदौ 'नः सर्वप्रकारेण सर्वत्र कुम्भकमस्ती'त्याह—

सर्वत्र नो धातमवेदिराज्यघातेकुतस्त्वप्यशुभं प्रजानाम् ।

सूर्यं तपस्यायवण्याय दृष्टेः कश्येत्त ओकम्य कर्षं तमिषा ॥ १३ ॥

नक्षत्रेति । हे राजन् ! एवं सर्वत्र नोऽस्माकंदेवार्तं स्वास्त्वमवेदिराजीहि । 'नार्तं वज्राश्वरोगे च इत्यमरः । 'वार्तं पादवमारोगे' अर्थे स्वास्त्वमवामवय इति आहवा । न चैतद्वाक्यमिष्याह—नाथ इति । त्वयि नाथ ईश्वरे सति प्रजानामशुभं दुर्गं कुतः । तथाहि । अर्थात्तरं न्यस्थति—सूर्ये इत्यादिना । सूर्ये तपनि प्रकाशमाने सति तमिषा तमस्तति । 'तमिषे तिमिरं रोगे तमिषा तु' तमस्तती । कुम्भपत्रे विभावां च इति चिन्ता । 'तमिषाम् इति पाठे तमिषे तिमिरम् । 'तमिषं तिमिरं तमः' इत्यमरः । लोकरूप जनस्य । 'लोकरतु मुचने जने' इत्यमरः । रघोराचराण्य कथं कश्येत् ? इतिमावरितं नाकमिष्यर्थः । वज्रपेरलमर्ष्यन्वात्तद्योगे 'अमारचरितस्यद्वा रवचा' अंतर्वचदयोमाच' इत्यनेन अनुर्थः । 'अकमिति वक्ष्ये' अर्थप्रद्वयम् इति भगवाण्माप्त्रकारः । कश्येन सम्प्रत्येत् न कश्यत् इत्यर्थः । वन्पुि सम्प्रद्यमाने अनुर्थमिति वक्ष्येत्याह ॥ १३ ॥

हे राजन् ! सब विषयों में हम लोगों का कुशल है यह जानो, तुम्हारे ऐसे राजा के रहने पर प्रजाओं को दुःख कहाँ से है, अर्थात् कहीं से भी नहीं है, क्योंकि सूर्यके प्रकाशमान होने पर अन्धकार-समूह लोगों की दृष्टि को ढँकने के लिये किसी प्रकार से भी नहीं समर्थ होता है ॥ १३ ॥

‘तवार्हत’ ( ५।१२ ) इत्यादिनोक्त यत्तन्न चित्रमित्याह—

भक्तिः प्रतीक्ष्येषु कुलोचिता ते पूर्वान्महाभाग ! तयातिशेपे ।

व्यतीतकालस्त्वहमभ्युपेतस्त्वामर्थिभावादिति मे विषादः ॥१४॥

भक्तिरिति । प्रतीक्ष्येषु पूज्येषु । ‘पूज्य’ प्रतीक्ष्य’ इत्यमर । भक्तिरनुराग-विशेषस्ते तव कुलोचिता कुलाम्यस्ता । ‘अभ्यस्तेऽप्युचित न्याय्यम्’ इति यादव । हे महाभाग ! सार्वभौम ! तया भक्त्या पूर्वानतिशेपेऽतिवर्तसे । किंतु सर्वत्र वार्तं चेत्तर्हि कथं खेदस्त्रिज इव दृश्यसेऽत आह—व्यतीतेति । अहं व्यतीतकालोऽतिक्रान्तकालः सन्नार्थिभावात्त्वामभ्युपेत इति मे मम विषादः ॥ १४ ॥

‘पूज्य जनों में भक्ति रखना’ यह आपके कुल में परम्परा से चला आया है, अतः हे परमभाग्यशाली रघु महाराज ! आप ( पूज्य-विषयक भक्ति ) से अपने पूर्वजों को भी लाँघ गये हैं, अर्थात् पूज्यजनों में भक्ति रखने में आप अपने पूर्वजों से भी बढ कर हैं, किन्तु ( सब जगह कुशल यदि है, तो आप उदास क्यों हैं ऐसा यदि आप कहें तो ) मैं समय बीत जाने पर याचकरूप से आपके पास आया हूँ, इसी से मुझे उदासी है ॥ १४ ॥

अथ धनप्राप्तौ निराश सन्नपि कौसो रघु प्रशसन्नाह—

शरीरमात्रेण नरेन्द्र ! तिष्ठन्नाभासि तीर्थप्रतिपादितर्द्धिः ।

आरण्यकोपात्तफलप्रसूतिः स्तम्भेन नीवार इवावशिष्टः ॥ १५ ॥

शरीरमात्रेणेति । हे नरेन्द्र ! तीर्थे सत्पात्रे प्रतिपादिता दत्ता ऋद्धिर्येन स तथोक्त । ‘योनौ जलावतारे च मन्त्र्याद्यष्टादशस्वपि । पुण्यक्षेत्रे तथा पात्रे तीर्थं स्याद्दर्शनेऽपि’ । इति हलायुधः । शरीरमात्रेण तिष्ठन् । आरण्यका अरण्ये भवा मनुष्या मनुष्यप्रमुखा । ‘अरण्यान्मनुष्ये’ इति वृष्प्रत्यय । तैरुपात्ता फलमेव प्रसूतिर्यस्य स स्तम्भेन काण्डेनावशिष्ट ( प्रकृत्यादित्वात्तृतीया ) । नीवार इव । आभासि शोभसे ॥

हे राजन् ! सत्पात्रों को अपनी सारी सन्पत्ति दे देने में केवल बचे हुये शरीर से स्थित आप वन के रहने वाले मुनिजन आदिकों से फल तोड लिये जाने पर डाठ मात्र से बचे हुए नीवार नामक मुनिधान्य के समान सुशोभित हो रहे हैं ॥ १५ ॥

कौसो रघोर्मखजस्य निर्धनत्वस्य समीचीनत्वं पुनर्दृष्टान्तान्तरेण प्रदर्शयन्नाह—

स्थाने भवानेकनराधिप सन्नकिञ्चनत्वं मखजं व्यनक्ति ।

पर्यायपीतस्य सुरैर्हिमांशोः कलाक्षयः श्लाघ्यतरो हि वृद्धेः ॥१६॥

स्थाव इति । भवानेकवराधिपः सार्वभौमा सः । मलय मलयम् । य विजते किञ्चन वसेत्यस्मिन् । ( मयूरवर्णसकाशित्वात्तत्पुष्पा ) तस्य भावस्तत्त्वं विर्जनत्वं व्यनक्ति प्रकटयति । स्थाने पुष्पम् । 'पुष्पे द्वे सौमते स्थाने' इत्यमरः । तस्मात्ति सुरैर्देवैः पञ्चमिषा क्रमेण पीतरय द्विमांसोः ककाचनो बृहदेत्यथमाध्यकाव्यतरो हि वरा जह्व । 'मत्ति साप्पोरुचीडा समरविजयी हेतिमिहो मङ्गलीयो भाया हरति सरिता रयानपुकिनाः । ककाचोपजगद्गुः सुरतसृष्टिता वाक्यमिता तमिम्मा सोमस्ते गच्छितविमवात्ताविषु मृपाः ॥' ( मर्त्य ११४४ ) इति भाषा । अतः कामान्द्रक- 'अमार्थं श्रीयकोवरय श्रीवरायमपि धोमते । सुरैः पीताबलेपस्य कृष्णपक्षे विषो रिष ॥ इति ॥ १६ ॥

आद्य अद्वितीय महावाम ( चक्रवर्ती ) होते इन्हे भी को विरुद्धिद वर में सर्वस्व वात करने से उत्पन्न विरजता को प्रकट कर रहे हैं वर वधित है ( बहुत बड़ा माहम पड़ना है ) क्योंकि-देवताओं द्वारा कम के शीघे गये कङ्कमा की ककाचों का हव होया क्पेको अनेका निम्न करके कविष्ठतर मञ्जुतवीन होता है ॥ १६ ॥

कौरवो रघोर्महर्षं विरजन्तं स्तुत्वाऽप्यतो गुरुवममाहर्तुं स्वकीयमन्त्रात्त गमनं सम्प्रति विहायचक्राह—

तद्वन्मृतस्तावद्वनम्यकाधो गुर्वर्चमाहर्तुमहं यतिष्ये ।

स्वस्त्यस्तु ते निर्गञ्जिताम्बुमर्मे चाच्छर्नं नार्हति खातकोऽपि ॥१७॥

तद्विति । तत्तस्मात्तावद्वनम्यकाधः । 'वावतावच साकस्यम्बौ मावेऽवधारणे इति चिरवा । प्रयोजनान्तररहितोऽहमन्वतो वदन्त्यान्तरात् गुर्वर्चं गुरुवममाहर्तुं मर्जेवितुं यतिष्य जघोष्ये । ते तुम्हं स्वस्ति ह्यममस्तु । 'वमः स्वस्तिस्वाहास्वधाऽ- कंयचक्रोगाव' इत्यनेन अनुर्थः । तस्मात्ति—खातकोऽपि । ( वरणीयतितं तोयं खात कपाया ककाचरय ) इति हेतोरप्यन्यतिकाकोऽपीत्यर्थः । निर्गञ्जितोऽप्येव यमो वस्य तं सरयव नार्हति न वाचते । 'अर्ह-यती वाचते न' इति वाग्गु । 'वावताऽर्थे रवे- अर्धवय' इति वाग्गु ॥ १७ ॥

इत ( आपकी निर्जिता के ) कारण ( कवचक अभीष्ट इत्य की प्राप्ति न होवे ) वर एक पुष्पविना देने के लज्जावा इतरा कोई प्रयोजन नहीं रखये वाका में ( कीटत अर्थ ) दूसरे किसी बात के वात से पुत्र वरतन्तु महर्षिके किन्ने वर कपाजन करनेके लिये कीटिष्ट करनेवा आपका कल्याण होने और ( दुष्पी वर पिरा हुआ वर रोचनाकर होने से केवल मेव का ही वर पीनेवाका ), वाचक ( पसीहा ) पक्षी भी वर वकरहित ( मिलके मन्त्र वाग से वर निकल गया है ऐसे इतरा काक के ) देने से वर की वाचवा नहीं करना है

पूर्वोक्तवाक्यमुक्त्वा गन्तुकामं कौत्सं निषिध्य, गुरवे प्रदेयं वस्तु किमात्मकं किंपरिमाणं वाऽस्तीति त रघु पृच्छन्नाह—

एतावदुक्त्वा प्रतियातुकामं शिष्यं महर्षेर्नृपतिर्निषिध्य ।

किं वस्तु विद्वन् । गुरवे प्रदेयं त्वया कियद्वेति तमन्वयुङ्क्त ॥१८॥

एतावदिति । एतावद्वाक्यमुक्त्वा प्रतियातु कामो यस्य तं प्रतियातुकाम गन्तुकामम् । 'तुकाममनसोरपि' इति मकारलोपः । महर्षेर्वरतन्तो शिष्यं कौत्स नृपती रंघुर्निषिध्य निवार्य । हे विद्वन् । त्वया गुरवे प्रदेय वस्तु किं किमात्मककियत् किंपरिमाणं वा । इत्येव त कौत्समन्वयुङ्क्तापृच्छत् । 'प्रश्नोऽनुयोग पृच्छा च' इत्यमरः ॥

इतनी बात कह कर जाने की इच्छा करने वाले महर्षि वरतन्तु के शिष्य कौत्स ऋषि को महाराज रघु ने रोक कर—हे विद्वन् । आपको जो गुरुजी के लिये देना है, वह वस्तु कौन सी और कितनी है, यह उनसे पूछा ॥ १८ ॥

अथ कौत्सो रघोः प्रश्नोत्तरं दित्सुराह—

ततो यथावद्विहिताध्वराय तस्मै स्मयावेशविवर्जिताय ।

वर्णाश्रमाणां गुरवे स वर्णां विचक्षणः प्रस्तुतमाचक्षे ॥ १९ ॥

तत इति । ततो यथावद्यथाऽहम् । अर्हार्थं वति । विहिताध्वराय विधिवदनुष्ठितयज्ञाय । सदाचारायेत्यर्थः । स्मयावेशविवर्जिताय गर्वाभिनिवेशशून्याय । अनुष्ठितायेत्यर्थः । वर्णानां ब्राह्मणादीनामाश्रमाणां ब्रह्मचर्यादीनां च गुरवे नियामकाय । 'वर्णां स्युर्ब्राह्मणादयः' इति । 'ब्रह्मचारी गृही वानप्रस्थो भिक्षुश्चतुष्टये । आश्रमोऽस्त्री' इति चामरः । सर्वकार्यनिर्वाहकायेत्यर्थः । तस्मै रघवे विचक्षणो विद्वान्वर्णां ब्रह्मचारी । 'वर्णिनो ब्रह्मचारिण' इत्यमरः । 'वर्णाद् ब्रह्मचारिणि' इतीनिप्रत्ययः । स कौत्सः प्रस्तुत प्रकृतमाचक्षे ॥ १९ ॥

उसके बाद शास्त्रानुकूल यज्ञ को जिसने किया है और जो गर्व के आवेश से शून्य है अर्थात् अहङ्कारशून्य है ऐसे चारों ( ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र ) वर्णों और चारों ( ब्रह्मचर्य-गार्हस्थ्य-वानप्रस्थ-सन्यास ) आश्रमों को अपने-अपने मार्ग पर चलाने वाले उन रघु महाराज से पण्डित और ब्रह्मचारी वे कौत्स ऋषि प्रकृत विषय को कहने लगे ॥ १९ ॥

अथ प्रकृतविषयमाचक्ष्वाण कौत्स आदौ गुरुदक्षिणायै साग्रहं कृतं गुरौ निवेद-  
नमेव रंघुं प्रत्याह—

समाप्तविद्येन मया महर्षिर्विज्ञापितोऽभूद् गुरुदक्षिणायै ।

स मे चिरायास्खलितोपचारां तां भक्तिमेवागणयत्पुरस्तात् ॥ २० ॥

समाप्तेति । समाप्तविद्येन मया महर्षिर्गुरुदक्षिणायै गुरुदक्षिणास्वीकारार्थं विज्ञापितोऽभूत् । स च चिरायास्खलितोपचारां तां दुष्करां मे भक्तिमेव पुरस्तात्प्रथ-

ममगजपत्तंस्यात्तवान् । भक्त्यैव सन्तुष्टा किं दक्षिणोत्तुक्तप्रामित्यर्थः । अथवा भक्तिमेव तां दक्षिणामगजपत्तिं धोयन् ॥ २० ॥

१४ दिनाओं को प्राप्त किसे हुए हमने गुरुदक्षिणा के लिये महर्षि वरतन्त्रु जी से सब मार्चना की तब उन्होंने ने बहुत दिव तक निवस-पूर्वक सुसती की हुई देर बराबर चारि सेवा ही की मुकन दक्षिणा समझा नहीं, वह क्या कि-मैं ठीकी सेवा से ही प्रसन्न हूँ मुझे दक्षिणा से क्या काम है ॥ ११ ॥ ॥

अत्र दक्षिणाऽर्थं पुनः पुनः प्रार्थनया कष्टे गुरुद्वयार्थकोटिमितं अत्र दक्षिणाकल्प-मानेन मांमादित्यमिति कथयन् कीर्त्तय आह—

निर्बन्धस्तस्मात्तदुपाऽर्थकाऽर्थमधिन्तयित्वा गुरुणाऽहमुक्तः ।

यित्तस्य विद्यापरिसंख्यया मे कोटीशतस्रो वृत्त आहरेति ॥ २१ ॥

निबन्धेति । निर्बन्धेन प्रार्थनाऽतिशयेन सजातकया सजातक्येव गुरुणा । अर्थकारणं दारिद्र्यमधिन्तयित्वाऽविचारार्थम् । यित्तस्य अन्तस्मिन् कतलो वृत्त य कोटीशतस्रोऽर्थाकोटीम् अष्टमाहाराविति विद्यापरिसंख्यया विद्यापरिसंख्याऽनुसारेण-बोध्यः । अत्र मनु-ब्रह्मणि वेदाश्चत्वारो सीमांसा न्यायविस्तराः । पुरार्थं वर्मशालं च विद्या क्षेत्रात्तदुत्पत्तिः ॥ इति ॥ २१ ॥

बारंबार दक्षिणा प्रश्न करने के लिये मेरे द्वारा प्रार्थना करने से क्षीयित होकर प्रबन्धी ने मेरी दक्षिणा की तरफ क्काक न करके १४ करीब हुए मेरे लिये काजी देता क्या नहीं, अतः अतः विद्या वृत्ति की उत्तमी विद्या की संख्या के अनुसार ही मुझे ही सब लक्ष के लिये करा ॥ २१ ॥

सम्प्रति भवन्तं निस्त्वं मत्वा निजानीप्सितवृत्त्यासिमसम्भास्य चाभ्यास विपमि पुरस्सीति बोधयन् कीर्त्तय रत्नसम्भास्य—

साऽहं सपर्याविधिमात्रेण मत्वा भवन्तं प्रमुखाप्यशेषम् ।

अभ्युरसहे सम्प्रति नोपरात्पुनर्मध्यतरत्वात्पुनर्मध्यतरस्य ॥ २२ ॥

सोऽहमिति । सोऽहं सपर्याविधिमात्रेणार्थपात्रेण भवन्तं प्रमुखाप्यशेषं दोषो यस्य तं मत्वा । निस्त्वं निश्चित्यर्थः । पुनर्मध्यतरस्य विद्यामूलवत्त्वान्पेतरत्वादि महारत्नसम्भास्यपुनरोद्भूतं निर्बन्धुं नाम्नुत्सहं ॥ २२ ॥

प्रबन्धी आज्ञा से माँगने के लिये मैं आज्ञा हुआ था किन्तु प्रबन्ध करने का सब नहीं, सुम्नह अर्थपात्र हस्त आपकी केवल 'प्रभु' वह सन्त्र विपरीत प्राप्त सब मत्वा है देता समस्तकर नहीं, विद्वत्पुनः यम से रहित जान कर दिया था वृत्त (गुरुदक्षिणा) पुनः अधिक (१४ करीब) होगी से इस लक्षण आप देखें इससे किए वाच्य करने में मुझे बड़ा ही नहीं होता है । अतः आपकी आज्ञा देखकर मुझे कुछ करने का तादृश नहीं होता अतः मेरा जाना ही अहित है ॥ २२ ॥

पूर्वोक्तं कौत्सवच श्रुत्वा रघुः पुनस्तमुवाचेत्याह—

इत्थं द्विजेन द्विजराजकान्तिरावेदितो वेदविदां वरेण ।

एनोनिवृत्तेन्द्रियवृत्तिरेनं जगाद् भूयो जगदेकनाथः ॥ २३ ॥

इत्थमिति । द्विजराजकान्तिश्चन्द्रकान्ति । 'द्विजराज दाशधरो नक्षत्रेशः सपावर' इत्यमरः । 'तस्मात्सोमो राजा नो ब्राह्मणानाम्' इति श्रुतेः । द्विजराजकान्तिस्त्वेनार्थावाप्तिर्वराय वारयति । एनसः पापाध्विवृत्तेन्द्रियवृत्तिर्यस्य स जगदेकनाथो रघुर्वेदविदा वरेण श्रेष्ठेन द्विजेन कौत्सेनेत्यमावेदितो निवेदितः सन् । एन कौत्स भूयः पुनर्जगाद् ॥ २३ ॥

चन्द्रमा की तरह कान्ति वाले, पापों से निवृत्त इन्द्रिय वृत्ति वाले ( जितेन्द्रिय ) ये जगत् के एकमात्र प्रभु चक्रवर्ती रघु महाराज, वेद के जानने वालों में श्रेष्ठ ब्राह्मण ( कौत्स ऋषि ) के द्वारा पूर्वोक्त प्रकार से निवेदन किये जाने पर उन कौत्स ऋषि से फिर बोले ॥

अथ रघुः कौत्समन्यत्रगमनात्परावर्त्तयन्नाह—

गुर्वर्थमर्थी श्रुतपारदृश्वारघोः सकाशादनवाप्य कामम् ।

गतो वदान्यान्तरमित्ययं मे माभूत्परीवादनवावतारः ॥ २४ ॥

गुर्वर्थमिति ॥ श्रुतस्य पार दृष्टवान्छ्रुतपारदृश्वार । 'दृशोः कनिप्' इति कनिप् । गुर्वर्थं गुरुदक्षिणाऽर्थं यथा तथाऽर्थी याचक । विशेषणद्वयेनाप्यस्याप्रत्याख्येयत्वमाह । रघोः सकाशात्कामं मनोरथमनवाप्याप्राप्य वदान्यान्तर दात्रन्तरं गतः । 'स्युर्वदान्यस्थूललघ्वदानशौण्डा बहुप्रदे' इत्यमरः । इत्येवंरूपोऽयं परीवादस्य नवो नूतन प्रथमोऽवतार आविर्भावो मे मा भून्नाऽस्तु । रघोरिति स्वनामग्रहणं सम्भावितत्वद्योतनार्थम् । तथा च—( सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ) इति भावः ॥ २४ ॥

'शास्त्र के पारगमी, गुरु के लिये याचना करने वाले कौत्स जी रघु के पास से मनोरथ पूर्ण न होने से दूसरे दाता के यहाँ गये,' इस तरह का यह निन्दा का पहले पहल नया ( अवतार ) सोहरा मेरा न होवे ॥ २४ ॥

अथ रघुः 'दिनत्रयाम्यन्तरमेव भवदपेक्षित धन दास्यामी'त्युक्त्वा कौत्सं निवासयामासेत्याह—

स त्वं प्रशस्ते महिते मदीये वसंश्चतुर्थोऽग्निरिवाग्न्यगारे ।

द्वित्राण्यहान्यर्हसि सोढुमर्हन् यावद्यते साधयितुं त्वदर्थम् ॥ २५ ॥

स इति । स त्व महिते पूजिते प्रशस्ते प्रसिद्धे मदीयेऽग्न्यगारे त्रेताग्निशालाया चतुर्थोऽग्निरिव वसन्द्वित्राणि द्वे त्रीणि वाऽहानि दिनादि । सख्ययाऽग्न्ययाऽसन्धादूराधिकसङ्ख्या सख्येये' इति बहुव्रीहि । 'बहुव्रीहौ सख्येये दजबहुगणात्' इति ङप्रत्ययः समासान्तः । सोढुमर्हसि । हे अर्हन् ! मान्य ! । त्वदर्थं तव प्रयोजन



साधयितुं पावयते यतिष्ये । 'पाव्यापुराविपातबोर्द्ध' इति भविष्यद्दर्शने ॥ २५ ॥

बन्धन नहीं बंधाकर मेरे कहने से रहे हुये वो जाय है सो सों से पुत्रित भव स्व  
प्रसिद्ध मेरी अधिष्ठाता में ( दक्षिणाधि-गार्हपत्य-आहवनीय-रत्न तीन अधिनोके तब )  
कोये अग्नि को प्रीति रहते हुये तब तक १ २ दिन तक ( नीर उधारने से विरक्त होये  
को ) दया करने में समर्थ हो । अब तक कि है मानवीय ! आप का प्रयोजन पूरा करने  
के लिये मैं बन्धन हूँ ॥ २५ ॥

अथ रघुः कौत्सं निवारय कुबेरात् तद्वीर्यवशमाहर्तुमिष्येत्वाह—

तथेति तस्याधितय प्रतीता मत्प्राप्तीस्तद्विरमप्रशम्भा ।

मामातृसारां रघुरप्यवेक्ष्य निष्कपुमर्यं चकमे कुबेरात् ॥ २६ ॥

तथेतीति । अमरकम्भा आहवा प्रतीता प्रीता संस्तव्य एकोरवितथममोर्ध सङ्गे  
प्रतिज्ञाय । 'अथ प्रतिज्ञाधर्मवर्धविवाहस्तु सङ्गत' इत्यमरः । 'तां निरम' इति  
केचित्सकन्ति । तथेति मत्प्राप्ती । रघुरपि मां भूमिमातृसारां पृथीतवशमवेक्ष्य  
कुबेरात्तुं निष्कपुमाहर्तुं चकमे इत्येव ॥ २६ ॥

शिशु में मेरा कौत्स आदि प्रसन्न होते हुये अब रघु महाराज को तब प्रतिज्ञा को वेसा  
आर कहते हैं वेसा ही होगा अर्थात् मैं २-३ दिन तक उबरूँगा । ऐसा कर कर श्रीभार  
विना अर्थात् प्रतिज्ञा तब मानकर उधर गये और रघुमहापति ने कृपों को 'विश्राम' बच  
कर करते के विना है' ऐसा समझ कर कुबेर से बच केने को इच्छा को ॥ २६ ॥

अथ कुबेरो कोक्याकोऽम्बुपुरवासी जलच्छत्र एकोर्यमनममन्यममित्यत आह—

वसिष्ठमन्त्रोक्तजन्ममाधायुवृन्धवाक्प्रशममहीभरेणु ।

मरुत्सकस्येव बलाहकस्य यतिर्विज्जने नहि तद्रूपस्य ॥ २७ ॥

वसिष्ठमन्त्रेति । वसिष्ठस्य धर्ममन्त्रोक्तजन्ममयिमन्त्र्य ओम्बुं तस्मात्प्रमात्रसम्  
प्राप्तेतोः । इत्यम्बुदाकासमहीभरेपुवृन्धवाक्प्रशममहीभरेणु वा । मरुत्सकस्य  
मरुता सन्नेति तत्पुत्रो बहुवीही समाधत्तात्मावात् । ततो वायुपुत्रावस्येति  
कम्पते । वारिर्वा बाह्वो वक्राह्वका ( पुत्रोद्वादिवात्साहा ) तस्येव मेवत्येव ।  
तद्रूपस्य यतिः सञ्चारो न विज्जने न विहता हि ॥ २७ ॥

वसिष्ठ महर्षि के जन्म से अभियन्तित जब प्रियदर्शने से अत्यन्त सामर्थ्य से समुद्र,  
वाकाश और पर्वतों में वायु को उदात्तता से कैरे मेव को यति नहीं सकती है वही भवति  
जब रघु महाराज के रव को यति नहीं नहीं सकती भी अर्थात् सब जगह से वा वा उभरते  
से जगह कुबेर के पास आकर मन के जाने को इच्छा करता डीक ही है ॥ २७ ॥

अथ कुबेरं विगीतु रघुः पातार्गमवार्थं दत्तौ रथमविविधितयाभित्याह—

अथाधिधिर्ये प्रयतः प्रदोये रथं रघुः कस्यितवाहगर्भम् ।

सामन्तसमावर्णयैव धीराः कैलासनाथं तरसा जिगीषुः ॥ २८ ॥

अयेति । अथ प्रदोषे रजनीमुखे । तत्कालेयानाधिरोहणविधानात् । प्रयतो धीरो रघुः । समन्तान्नवः । सामन्तः । राजमात्रमिति सम्भावनयैव कैलासनाथ कुबेर तरसा वलेन जिगीपुर्जेतुमिच्छुः सन् । कदिपत सजित शस्त्र गर्भे यस्य त्र रथमधिशिश्ये । रथे शयितवानित्यर्थः । 'अधिशोढ्स्थाऽऽसां कर्म' इति कर्मत्वम् ॥ २८ ॥

इसके ( कुबेर से धन प्राप्त करने की इच्छा होने के ) बाद सायंकाल में ( उस समय थ पर चढ़ने का मुहूर्त होने से ) धैर्यशाली ( किसी से नहीं डरने वाले ) रघु महाराज । केवल यक्षों के राजा हैं न कि लोकपाल, इस सम्भावना से ही कैलास पर्वत के स्वामी कुबेर को बल से जीतने की इच्छा करते हुये जिसके मध्यभाग में सब शस्त्र रक्खे हुये हैं ऐसे रथ में शयन किया ॥ २८ ॥

अथ रघु युद्धार्थमाजिगमिषुं वीक्ष्य कुबेरो रात्रावेव तदीयकोषागारे सुवर्णवृष्टिं कृतवानित्याह—

प्रातः प्रयाणाभिमुखाय तस्मै सविस्मयाः कोषगृहे नियुक्ताः ।

हिरण्मयीं कोषगृहस्य मध्ये वृष्टिं शशंसुः पतितां नभस्तः ॥ २९ ॥

प्रातरिति । प्रातः प्रयाणाभिमुखाय तस्मै रघवे कोषगृहे नियुक्ता अधिकृता भाण्डागारिका सविस्मया सन्त कोषगृहस्य मध्ये नभस्तो नभसः । ( पञ्चम्यास्त-सिद्धप्रत्यय ) पतिता हिरण्मयीं सुवर्णमयीम् । 'दाण्डिनायन०' इत्यादिना निपातनात्साधु । वृष्टिं शशंसु कथयामासु ॥ २९ ॥

प्रातः काल यात्रा करने के लिये उद्यत उन रघु महाराज से खजाने पर नियुक्त किये हुये लोगों ने आश्चर्ययुक्त होते हुये खजाने के गृह के अन्दर आकाश से गिरी हुई सुवर्ण की वृष्टि को कहा ॥ २९ ॥

अथ यावती सुवर्णवृष्टिरभूत्तावतीं सर्वामेव रघु कौत्साय ददावित्याह—

तं भूपतिर्भासुरहेमराशिं लब्धं कुबेरादभियास्यमानात् ।

दिदेश कौत्साय समस्तमेव पादं सुमेरोरिव वज्रभिन्नम् ॥ ३० ॥

तमिति । भूपति रघु । अभियास्यमानादभिगमिष्यमाणात्कुबेरात्लब्धम् । वज्रेण कुलिशेन भिन्न सुमेरो पादं प्रत्यन्तपर्वतमिव स्थितम् । 'पादा प्रत्यन्तपर्वता' इत्यमर । 'शृङ्गम्' इति क्वत्तिपाठः । त भासुर भास्वरम् । 'भञ्जभासमिदो घुरच्' इति घुरच् । हेमराशिं समस्त कृत्स्नमेव कौत्साय दिदेश ददौ । न तु चतुर्दशकोटि-मात्रमित्येवकारार्थः ॥ ३० ॥

महाराज रघु ने युद्ध के लिये चढ़ाई किये जाने वाले कुबेर से पाये हुये वज्र से कटकर, अलग हुये सुमेरु पर्वत के बिलकुल पास की छोटी पहाड़ी की माँति स्थित, उस चमकते हुए, सम्पूर्ण स्वर्ण-राशि को कौत्स के लिये दे दिया ॥ ३० ॥

अथ कौत्सः सर्वस्वभरातिं वित्तो रघोः सकाशात्तुदृष्टकोटितो वार्षिकं  
प्रीतिमुच्येतेत्याह—

अस्य साकेतन्यासिनस्तौ द्वावप्यभूतामभिनन्दसत्तौ ।

गुरुप्रदेयाधिकमिदं स्पृहोऽर्थी नृपोऽर्थिकामाधिकप्रदश्च ॥ ३१ ॥

अथत्येति । तावद्विहारी द्वावपि सन्नेतृनिवासिनोऽभ्योप्यावासिनः । 'सन्नेतृ'  
स्वाद्योप्यायां कोसला मन्त्रिणी च सा' इति यावत् । अथस्याभिनन्दसत्तौ स्तुत्य  
व्यवसायावभूताम् । 'मन्यामुज्ज्वलसनेषु सत्त्वमयी तु जम्बुपु' इत्यमरः । कौ ह्री ।  
गुरुप्रदेयाधिकमिदं इतिरिक्तद्वये निस्पृहोऽर्थी । अर्थिकामादर्थिमनोरथादधिकं प्रददा  
तीति तथोक्तः । 'मि दाञ्ज' इति कर्मत्वया । नृपञ्च ३-३१ ॥

हे (कौत्स और रघु) रघो अबोध्या के निवासी लोगों के निरुत प्रसन्नवीज जनसत्ता  
(जबहार) वाले हुये एक तो गुरु के देने (१४ करोड़) से अधिक देने में विनम्र  
वाचक कौत्स और दूसरे-वाचक की कमन्या से अधिक देने वाले महाराज रघु ॥ ३१ ॥

अथ सकलमनोरथा सम्पन्नुक्तमः कौत्सः प्रयतं रघुमुवाक्येत्याह—

अथोभूवामीशतबाह्वितार्थं प्रजेभ्यं प्रीतमना महर्षिः ।

स्पृशन्करेणानतपूर्वकार्यं सम्पत्स्थितो वाचमुवाच कौत्सः ॥ ३२ ॥

अथेति । अथ प्रीतमना महर्षिः कौत्सः सम्पत्स्थितः प्रत्यास्पन्नात् सन्  
'आत्ताद्यायां मृतवत्' इति भविष्यदर्शे कः । बह्वायां कसेककायां वामीनां बहवान्  
च शतैर्बाह्वितार्थं प्रापितजनमानतपूर्वकार्यम् विवचनमनित्यर्थः । प्रजेभ्यं रघु  
करोम स्पृशन्वाचमुवाच ॥ ३२ ॥

इसके बाद प्रसन्न मन हो महर्षि कौत्स भी प्रत्याग करते हुये एकदो कंटों की  
बोदियों से जब की पहुँचा देने का प्रयत्न कर देने वाले (पहुँचा देने वाले), शरीर ।  
जाने के जान की हुकम दे हुए अनार विमल से मात्र प्रजाओं के अनु रघु महाराज की हा  
से लपट करते हुये बर्बाद पज्जे करत हाथ फैरते हुये बोले ॥ ३२ ॥

अथ कौत्सा स्वर्णवृद्धिमन्त्रकोरय तदीयमत्यवसृतं प्रभार्यं प्रसन्नयाह—

किमत्र विप्र यदि कामसुर्मूर्धुत्वे स्थितस्याधिपतेः प्रमानम् ।

अधिन्तमीयस्तु तव प्रमाया मनीषितं धीरपि येन तुभ्य ॥ ३३ ॥

किमिति । वृत्ते स्थितरथ । (न्यायेनार्जममर्षस्य चर्चवं पाठ्यं तथा । सत्ता  
प्रतिपत्तिर राजवृत्ते चतुर्थिषम् ॥) इति कामन्दकः । तस्मिन्वृत्ते स्थितरथ प्रमाया  
मनीषितेर्नृपस्य भूः कामासूत इति कामसूचि । 'सरसृष्टिचतुष्टयजिह्वमिह' इति  
वृत्तिरीराजानुपसर्गोऽपि किप् । हानवेक किप् । अथ कामप्रसन्नये किं विप्रम् । न किम्  
मित्यर्थः । किन्तु तव प्रमायो बहिमा स्वधिन्तमीयः । येन त्वया धीरपि मनीषित

मभिलषितं दुग्धा । दुहेर्द्विकर्मकत्वादप्रधाने कर्मणि क्तः । ( प्रधानकर्मण्यारब्धे  
लादीनाहुर्द्विकर्मणाम् । अप्रधाने दुहादीनां पठ्यन्ते कर्तुश्च कर्मणः ) इति स्मरणात् ॥

‘न्याय से धनका उपार्जन करना, बढाना, रक्षा करना, सत्पात्र को देना’ इस तरह  
के चार प्रकार के राजाओं के व्यवहार में स्थित रहने वाले राजा को भूमि अभिलषित  
वस्तुओं को पैदा करने वाली यदि होवे तो इस विषय में कोई आश्चर्य नहीं है, किन्तु आप  
का प्रभाव वस्तुतः निश्चय करके अचिन्तनीय ( आश्चर्यजनक ) हैं, कि जिस प्रभाव से अपने  
अभिलषित वस्तु को आकाश से भी दुहा अर्थात् प्राप्त किया ॥ ३३ ॥

संप्रति कौत्सो रघवे ‘पुत्रं स्वानुरूपं लभस्व’ इत्याशीर्वादं ददावित्याह—

आशास्यमन्यत्पुनरुक्तभूतं श्रेयांसि सर्वाण्यधिजग्मुषस्ते ।

पुत्रं लभस्वात्मगुणानुरूपं भवन्तमीदृशं भवतः पितेव ॥ ३४ ॥

आशास्यमिति । सर्वाणि श्रेयांसि शुभान्यधिजग्मुष प्राप्तवतस्ते तद्वान्यत्पुत्रा  
तिरिक्त्वा आशास्यमाशी-साध्यमाशसनीयं वा पुनरुक्तभूतम् । सर्वसिद्धमित्यर्थः ।  
किन्वीदृशं स्तुत्यं भवन्त भवतः पितेव आत्मगुणानुरूपम् । त्वया तुल्यगुणमित्यर्थः ।  
पुत्रं लभस्व प्राप्नुहि ॥ ३४ ॥

सभी कल्याणों को प्राप्त किये हुए, आप के लिये पुत्र के अलावा आशीर्वाद देना व्यर्थ  
है, अर्थात्—सभी मौजूद है, किन्तु फिर भी ( पुत्रसुख न होने से मेरे आशीर्वाद से ) प्रशंसा  
के योग्य आप सरीखे पुत्र को आप के पिता दिलीप महाराज ने जैसे पाया, वैसे ही आप  
भी अपने समान गुण से युक्त अर्थात् अपने तुल्य ही पुत्र को प्राप्त करें ॥ ३४ ॥

अथ कौत्स इत्थं रघवे आशीर्वादं दत्त्वा गुरोः सकाशं गतः, सोऽपि शीघ्रमृषेराशिपा  
पुत्रं प्राप्तवानित्याह—

इत्थं प्रयुज्याशिषमग्रजन्मा राज्ञे प्रतीयाय गुरोः सकाशम् ।

राजाऽपि लेभे सुतमाशु तस्मादालोकमर्कादिव जीवलोकः ॥ ३५ ॥

इत्थमिति । अग्रजन्मा ब्राह्मणः । ‘अग्रजन्मा द्विजे श्रेष्ठे आतरि ब्रह्मणि स्मृत’  
इति विश्व । इत्थं राज्ञ आशिषं प्रयुज्य दत्त्वा गुरोः सकाशं समीपं प्रतीयाय प्राप ।  
राजाऽपि । जीवलोको जीवसमूह । ‘जीव प्राणिनि गीष्पतौ’ इति विश्व । अर्का-  
दालोकप्रकाशमिव । शीघ्रम् । ‘चैतन्यम्’ इति पाठे ज्ञानम् । तस्मादृषेराशु सुत  
लेभे प्राप ॥ ३५ ॥

ब्राह्मण कौत्स महर्षि इस प्रकार से राजा को आशीर्वाद देकर अपने गुरु भरतन्तु महर्षि  
के पास चले गये और राजा ने भी जैसे जीव-समूह सूर्यसे प्रकाश को शीघ्र प्राप्त करवा है,  
उसी तरह से उन पूर्वोक्त महर्षि कौत्स के अर्थात् उनके आशीर्वाद से शीघ्र ही पुत्र को प्राप्त  
किया, अर्थात् उनकी महर्षि ने गर्भ धारण किया ॥ ३५ ॥

अथ कौत्समहर्षेरासीर्वादिन आद्यो मुहूर्ते रघोर्महिषी पुत्ररत्नमासूत अत एव तस्य  
'अजः' इति नामकरणं बभूवेत्याह—

आद्यो मुहूर्ते किञ्च तस्य देवी कुमारकस्य सुपुत्रे कुमारम् ।

अतः पिता प्रह्लाद एव नाम्ना तमारमन्मन्मानमज्ज अकार ॥ ३६ ॥

आद्य इति । तस्य रघोर्देवी महिषी आद्यो । 'तस्येवम्' इत्यञ् । अजदेवतात्वेऽ  
मित्रिधामके मुहूर्ते मित्रेण्वसमाप्तं कुमारं कुमारकस्य स्कन्धस्तदस्यम् । 'ईश्वरसमाप्ती  
कन्यारघ्वरवदेष्टीयरा' इत्यनेन कथ्यपुत्रत्वया । कुमारं पुत्रं सुपुत्रे । 'कुमारो बालके  
स्कन्धे' इति शिष्या । अतो आद्यमुहूर्तोत्पत्त्यापिता रघुवंश्यान्वो विधेरेव नाम्ना तमा-  
रमन्मन्मानं पुत्रमजमजनामजं अकार । 'अजो हरी हरे कम्पे मिषी द्वागे रघोः सुते'  
इति शिष्या ॥ ३६ ॥

अत रघु मन्त्राद्यन्वो परराष्ट्री ये मन्त्रा विरुद्धे न विनात देवता ई देते अविमित्रमन्त्र  
मुहूर्ते ये अविमित्र के समान बालक देता किञ्च, वसते अर्थात् आद्यमुहूर्ते में उत्पन्न होने से  
पिता रघु मन्त्राद्यन्वो मन्त्रा के ही 'अज' वत नाम से वत पुत्र का अज नाम रक्का ॥

अथ बालको निरुद्धिमुत्पन्नं पुत्रामूर्तिर्याह—

कपं तदोजस्वि तदेव वीर्यं तदेव नैसर्गिकमुत्पन्नत्वम् ।

अ कारणात्स्वादिमिहे कुमारः प्रवर्तितो वीर्य इव प्रवीपात् ॥ ३७ ॥

कपमिति । ओजस्वि तेजस्वि बलिर्ह वा । 'ओजस्वेजस्वि धातूनामवहम्मन्मन्त्र-  
कायोः । ओजो बलं च वीर्यं च' इति शिष्या । कपं वपुः । 'अथ कपं वपुस्तदम् ।  
स्वभावात्कृतिर्हीन्यवपुर्नि रज्ज्वेकमन्त्रयो' ॥ इति शिष्या । तदेव पैतृकमेव वीर्यं  
वीर्यं तदेव । नैसर्गिकं स्वभाविकमुत्पन्नत्वं तदेव । तादृशमेवेत्यर्थः । कुमारो  
बालकः । प्रवर्तितो उत्पादितो वीर्य प्रवीपात्स्वोत्पन्नत्ववीपादिव । स्वतत्त्ववीपात् ।  
'पूर्वादिभ्यो नबन्धो वा' इति स्माज्ञात्वा वैकल्पिकः । कारणात्स्वभावकाम्भ निमित्ते  
मिन्तो नासूत् । सर्वात्मना तादृशं पुत्रामूर्तिरर्थाः ॥ ३७ ॥

पिता के पुत्र्य तेज ॥ तुल्य परीर नहीं पराक्रम नहीं स्वाभाविक विर्य का वसत होना  
नहीं नहीं अर्थात्-पिता ही के पुत्र्य होने से बालक कम बलिते-कहावा तथा वीर्य ( जिस  
वीर्य से कहावा गया है ) वस ( वीर्य ) से मिलन नहीं होता अर्थात्-वसी तरह से  
मन्त्राद्यन्व होता है अती गर्विष्ठ अपने कल्पन करने वाले पिता रघु से निर्य नहीं हूय, अर्थात्  
पराक्रम नादि में पिता के समान ही पुत्र ॥ ३७ ॥

अथ बालकोऽज्ञा कम्पसा सर्वा विद्या अर्थात् पुत्रावस्थां प्रपन्न सन् पौत्रराज्या-  
होऽभ्युदित्याह—

अपात्तविद्यं विमिश्रं शुद्धम्यस्तं पौत्रलोहमेव विशेषकाम्तम् ।

अथैः सामिहापाऽपि गुरोरनुर्वा वीरेव कम्पा पितृपक्षक्याह ॥ ३८ ॥

उपात्तविद्यमिति । गुरुभ्यो विधिवद्ययाशास्त्रमुपात्तविद्यं लब्धविद्यम् । यौवन-  
स्योद्भेदादाविर्भावाद्धेतोर्विशेषेण कान्तं सौम्यं तमज प्रति साभिलापाऽपि श्रीः  
धीरा स्थिरोन्नतचित्ता । 'स्थिरा चित्तोन्नतिर्या तु तद्वैर्यमिति सञ्ज्ञितम्' इति  
भूपालः । कन्या पितुरिव । गुरोरेनुज्ञामाचकाद्ध्येप । यौवराज्यार्होऽभूदित्यर्थः ।  
अनुज्ञाशब्दात्पितृपारतन्त्र्यमुपमासामर्थ्यात्पाणिग्रहणयोग्यता च ध्वन्यते ॥ ३८ ॥

गुरुओं से विधिवद् ( शास्त्रोक्त-रीति से ब्रह्मचर्यादि में रहकर तथा गुरुओं की सेवा  
करके ) सम्पूर्ण १४ विद्याओं को प्राप्त किये हुए, जवानों आने से अत्यन्त सुन्दर उन राज-  
कुमार अज के प्रति अनुरागिणी होती हुई भी राज्यलक्ष्मी धीरा (स्थिर उन्नत चित्त वाली)  
कन्या जैसे पिता की आज्ञा ( मनोवाञ्छित पति वरण करने के लिए ) चाहती है, वैसे ही  
श्रेष्ठ रघु महाराज की अनुमति चाहने लगी, अर्थात् राजकुमार अज युवराज बनाने के योग्य  
हो गये ॥ ३८ ॥

अथ रघुसमीपं विदर्भराजप्रेषितो दूत इन्दुमतीस्वयवरार्थमजस्यानयनार्थमाजगा-  
मेत्याह—

अथेश्वरेण क्रथकैशिकानां स्वयंवरार्थं स्वसुरिन्दुमत्याः ।

आप्तः कुमारानयनोत्सुकेन भोजेन दूतो रघवे विसृष्टः ॥ ३९ ॥

अथेश्वरेणेति । अथ स्वसुर्भगिन्या इन्दुमत्याः स्वयवरार्थं कुमारस्याजस्यानयन  
उत्सुकेन क्रथकैशिकानां विदर्भदेशानामीश्वरेण स्वामिना भोजेन राज्ञाऽऽप्तो हितो  
दूतो रघवे विसृष्ट-प्रेषितः । ( क्रियामात्रयोगेऽपि चतुर्थी ) ॥ ३९ ॥

इसके बाद अपनी बहन इन्दुमती के स्वयवर के लिए युवराज 'अज' के बुलवाने में  
उत्कण्ठित विदर्भदेश के महाराज भोज ने अपने विश्वासपात्र दूत को रघु महाराज के पास  
भेजा ॥ ३९ ॥

अथ रघुर्विदर्भाधिपराजधानीम् प्रायजं सैन्यैः सह प्रस्थापयामासेत्याह—

तं श्लाघ्यसम्बन्धमसौ विचिन्त्य दारक्रियायोग्यदशं च पुत्रम् ।

प्रस्थापयामास ससैन्यमेनमृद्धां विदर्भाधिपराजधानीम् ॥ ४० ॥

तमिति । असौ रघुस्त भोज श्लाघ्यसम्बन्धमनूचानस्वादिगुणयोगात्स्पृहणीय-  
सम्बन्ध विचिन्त्य विचार्य पुत्रं च दारक्रियायोग्यदशं विवाहयोग्यवयसं विचिन्त्य  
ससैन्यमेन पुत्रमृद्धां समृद्धां विदर्भाधिपस्य भोजस्य राजधानीं पुरीं प्रति प्रस्थाप-  
यामास । धीयतेऽस्यामिति धानी । 'करणाधिकरणयोश्च' इत्यधिकरणे ल्युट्प्रत्ययः ।  
राज्ञां धानीति विग्रहः ॥ ४० ॥

इन रघु महाराज ने उन भोज महाराज के साथ सम्बन्ध प्रशसनीय होगा, यह सोच  
कर तथा पुत्र की विवाह के योग्य अवस्था विचार कर सेना के सहित इन युवराज अज  
को समृद्धि-युक्त विदर्भ देश के महाराज की राजधानी को भेजा ॥ ४० ॥

अथ विदर्भराजपार्श्वी मति गच्छतो रघुसुनोर्मर्गे रचितामि निवासस्थानानि  
नगरीविहारस्थानतुल्याभ्यासवित्याह—

तस्योपकार्यारुचितोपचारा बभ्येतरा ज्ञानपदीपदामि ।

मार्गे निवासा मनुजेन्द्रसुमोर्वमुबुदधानविहारकक्षाः ॥ ४१ ॥

तस्येति । उपकार्यास्तु राजपौत्र्येषु पदमववादिषु । 'सौधोऽम्भी राजसद्वनमुपक-  
र्षोपकारिका' इत्यमरवचनभ्याकृताने श्रीरत्नमी । उपक्रियत उपकरोति वा परमव-  
पादि राजसद्वनमिति । रचिता उपचाराः अयनादयो येषु ते तथोक्त्या । ज्ञानपदार्था  
ज्ञानपदेभ्य आगतानामुपदामिद्वयायमैः बभ्य बभेमवा इतरे येषां ते बभ्येतरा ।  
अबभ्या इत्यर्थः । 'न बभुवीहौ' इति सर्वनामसंज्ञानिवेषः । तत्पुरुषे सर्वनामसंज्ञा  
बुद्धारैव । तस्य मनुजेन्द्रसुमोरजस्य मार्गे निवासा वासविका उद्यावाम्बादीनाम् ।  
'पुष्पावाम्बादि पञ्चावय इत्यमरः । तान्येव विहारा विहारस्थानानि तत्कक्षाः ।  
तत्सदृसा इत्यर्थः । 'ईपदसमासौ' इति कक्षप्यस्यवा । वमबुः ॥ ४१ ॥—

राजागो के कोण तन्मुखो में छप्पा आदिक कहीं पर किसी द्वार है तथा वपटों से नाये  
हुए वपटार त्यकर छक्क-छावक-छायामियों से जो कंक में वने हुए जो बाँटि कहीं माहम  
पद रहा है ऐसे कन महाराज रघु के पुत्रराज जब के मार्ग के निवास-स्थान जपदी राज-  
पार्श्वी के कनों में वने हुए विहार स्थानों के समाव ही हुए ॥ ४१ ॥

अथ रघुसुनुरजो वर्मशातर्ध प्राप्य तत्र सैन्येव सह निवासं कृतवामित्याह—

स वर्मशातोषसि श्रीकरार्द्रैर्मन्त्रिरागतिगतकक्षाः ।

निवेशयामास विस्मृतिगन्ता कलान्त रजोघूसरकेतु सैन्यम् ॥ ४२ ॥

स इति । विस्मृतिगन्ताऽतिगन्तमार्गः सोऽम्बा श्रीकरार्द्रैः । जीतकैरित्यर्थः ।  
मन्त्रिर्जातिरागतिताः कल्पिता वक्ष्यमाकाशिरविस्वात्मपक्षमेवा । चिरविक्षो भक्त  
साक्षा करजस करजके इत्यमरः । वर्त्मन्तस्मिन् । निवेशार्द्र इत्यर्थः । वर्मशावा  
रोषसि रेषावास्तीरे कलान्तं जलान्तं रजोमिधूसराः केतवो पञ्चा तस्य तत्सैन्यं  
निवेशयामास ॥ ४२ ॥

मार्ग ( मन्त्रि ) को जब करके पूरा किसे हुए कन पुत्रराज जब के जब के कनों से  
आर्द्र अवर्ष होकर बल से कहीं पर चिरविक्ष नामक वृक्ष बिक रहे हैं ऐसे वर्मशा गरी  
के किनारे पर बड़ी हुई, वृक्ष से नुसर बिजली पताकाएँ हो रही हैं ऐसी जपदी सेना को  
उधराया ॥ ४२ ॥

अथ सेनाविभासकरनामन्तरं वर्मशातः कश्चिद्दृश्यो पात्र पश्चित इत्याह—

अथोपरिष्ठातु जमरैर्मन्त्रिः प्राक्सुखितान्तास्तद्विषयप्रवेशः ।

निधीतदानामकणकमितिर्धन्यः सरित्तो गजः सन्ममज ॥ ४३ ॥

अयेति । अथोपरिष्ठादूर्ध्वम् । 'उपर्युपरिष्ठात्' इति निपातः । अमङ्गिः । मद-  
लोभादिति भावः । अमरैः प्रागुन्मज्जनात्पूर्वं सूचितः ज्ञापितोऽन्तःसलिले प्रवेशो  
यस्य स तथोक्तः । निर्धौतदाने क्षालितमदे अत एवामले गण्डभित्ती यस्य स  
तथोक्तः । 'दान गजमदे त्यागे' इति शाश्वत । प्रशस्तौ गण्डौ गण्डभित्ती । 'प्रशसा-  
वचनैश्च' इति समासः । भित्तिशब्दः प्रशस्तार्थः । तथा च गणरत्नमहोदधौ—  
'मत्तल्लिकोद्धमिश्रा स्युः प्रकाण्डस्थलभित्तय' इति । भित्तिः प्रदेशो वा । 'भित्तिः  
प्रदेशे कुड्येऽपि' इति विश्वः । निर्धौतदानेनामला गण्डभित्तिर्यस्येति वा ।  
वन्यो गज सरित्तो नर्मदाया सकाशात् । ( पञ्चग्यास्तसिद्धप्रत्ययः ) । उन्म-  
मज्जोत्थित ॥ ४३ ॥

सेना ठहरा चुकने के बाद मद के लोभ से ऊपर उठते हुए भीरों से पहले जल में  
डूब कर जिमका नहाना सूचित हो रहा था, अत एव (जल में डूब कर नहाने से) जिसके  
मद धुल गये हैं, ऐसे दोनों गण्डस्थल जिसके निर्मल हो रहे हैं ऐसा कोई जङ्गली हाथी  
नर्मदा नदी से निकला ॥ ४३ ॥

अथ नर्मदासलिलादुत्थितस्य गजस्य शोभां युग्मेन वर्णयितुकासः कविरादौ  
तस्य वप्रक्रियासूचकं दन्तद्वयमेव वर्णयन्नाह—

नि शेषविक्षालितधातुनाऽपि वप्रक्रियामृक्षवतस्तटेषु ।

नीलोर्ध्वरेखाशषलेन शसन्दन्तद्वयेनाश्मविकुण्ठितेन ॥ ४४ ॥

नि शेषेति । कथम्भूतो गजः । नि शेषविक्षालितधातुनाऽपि धौतगैरिकादिना-  
ऽपि । नीलाभिरूर्ध्वाभी रेखाभिस्तटाभिघातजनिताभि शवलेन कर्बुरेण । 'चित्र  
किर्मीरकल्माषशवलैस्ताश्च कर्बुरे' इत्यमरः । अश्मभिः पापाणैर्विकुण्ठितेन कुण्ठीकृतेन  
दन्तद्वयेन । शृङ्गवाक्षाम कश्चित्त्रय पर्वतः । तस्य तटेषु वप्रक्रिया वप्रकीडाम् ।  
उत्खातकेलिमित्यर्थः । 'उत्खातकेलि शृङ्गाद्यैर्वप्रकीडा निगद्यते' इति शब्दार्णवः ।  
शसन्कथयन् । सूचयन्नित्यर्थः । युग्मम् ॥ ४४ ॥

जल में डूबकर स्नान करने से जिसमें लगे हुए गैरिकादि धातु अच्छी तरह से धुलकर  
आफ हो गये हैं और पर्वत के तट प्रान्त पर प्रहार करने से ऊपर की तरफ काली रेखायें  
ढले से जो चितकावर रङ्ग के हो रहे हैं, तथा पत्थरों से जिनके नोक घिस गये हैं ऐसे  
अपने दातों से 'ऋक्षवान्' नामक नर्मदा के पास के पर्वत के तट प्रान्तों में किये हुए  
उत्पात-केलि अर्थात् पत्थरों को दातों से उखाड़ने के खेल को सूचित करना हुआ वह  
नर्मदा से निकला हुआ हाथी सुशोभित होने लगा ॥ ४४ ॥

तीरमभिलक्ष्याजिगमिपया वृहत्तरङ्गान् करेण विदारयतो गजस्य शोभामुख्येक्ष-  
माण कविराह—

संहारविक्षेपलघुक्रियेण हस्तेन तीरामिमुखाः सशब्दम् ।

वभौ स भिन्दन्वृहत्तरङ्गान् वार्यर्गलामङ्ग इव प्रवृत्तः ॥ ४५ ॥



संहति । संहारविधेययोः सङ्कोचप्रसारणयोर्लक्ष्येण विप्रभापारेय । 'कपु  
विमसर हुतम् इत्यमरः । इत्येन शुष्काङ्गणेन । 'हस्तो नवप्रभेदे स्वातन्त्र्यमकरपो  
रपि' इति विश्वः । ससम्पत् सवोपं बृहत्तरङ्गाग्निमन्त्रं विहारयत् तीरामिमुखा  
स गच्छः । भारी गजबन्धनस्थानम् । 'भारी ॥ गजबन्धनी' इति यादवः । भार्या  
अर्थकाया विष्कम्भस्य मञ्जे मञ्जने प्रवृत्त इव यमौ ॥ ४५ ॥

ढोरेये नीर देकाने में बिसके न्यापार कसी १ हो रही हैं ऐसे कपनी सूँठ से घन्ट  
के साथ कैरे हो भैसे बड़े १ तरङ्गों को नीरवा हुआ गर्महा के तीर को तरफ मुक्त किने हुए  
तस हाजी ने कैरे हाजी नावने के स्थान को कर्षका के तीरने में प्रवृत्त होने से छोमा  
होती है देही छोमा गारे ॥ ४५ ॥  
इत्थं तरङ्गात् सिन्धु स गच्छो यत्तदेभ्यसौम्यं स्थितं तच्छर्दं प्रापयति कर्षणम् कविराह

श्रीकोपमाः श्रीकलमञ्जरीणां आकाशानि कर्षण्णुरस्ता स पश्चात् ।

पूर्वं तदुत्पत्तीक्षितवारिपथिः सरित्प्रवाहस्तदमुत्ससर्प ॥ ४६ ॥

शैकोपम इति । शैकोपमाः स गच्छः श्रीकलमञ्जरीणां आकाशानि इत्यान्तरा  
कर्षणपथमुत्ससर्प । पूर्वं तेन यजेनोत्पत्तिवो बुद्धो वारिरात्रिर्वस्व स सरित्प्रवाह  
स्तदमुत्ससर्प ॥ ४६ ॥

पर्वत के समान आकार क्या वह हाजी केवार के मञ्जरियों के समूहों को भारी से  
लीकना हुआ पीछे से तीर पर पहुँचा नीर उसकी राहके उस नज से दिखाया गया है वह  
को राशि जिसकी दिशा नहीं का मचाव तट पर पहुँच गया ॥ ४६ ॥

अथ तट प्राप्य ततस्तत्र स्थितसौम्यगजद्वर्तनेन तस्य बन्धगजेन्द्रस्य कपोलजदे  
आम्बा मदकाशोद्भवित्वाह—

तस्यैकमगस्य कपोलमिष्योर्लङ्कावगाहस्यमाजगाम्ना ।

वम्येतयमेकपवर्धनेन पुनर्विहीपे मव्युर्दिनधीः ॥ ४७ ॥

तस्यैति । तस्यैकनागस्यैकमिष्यो गजस्य कपोलमिष्योर्लङ्कावगाहेन वममात्रं  
जगाम्ना निहता मव्युर्दिनधीर्मव्युर्दिनधीर्नौवहीषां प्राग्भावमनेकपानी द्विपानी  
वर्धनेन पुनर्विहीपे मव्युर्दिनधीः ॥ ४७ ॥

हाथियों में मुख्य उस गज के शीशों गजदन्तों में अत में हुए कर बराने से को  
अनमान के किने जग्त हो गई थी नहीं वह कराने को छोमा कपली हाथियों से निज  
अर्थात् सेना के हाथियों के देखने से पुनः वह गई, अर्थात् पहले की अपेक्षा अधिक तर  
हाने गया ॥ ४७ ॥

सम्पत्ति तस्य बन्धगजेन्द्रस्योत्कर्षं मव्युर्दिनमाप्राप सेनारिवतगजग्रासामवर्त्तनी  
वर्धयत् कविराह—

सप्तच्छदक्षीरकमुमवाहमसद्यमाप्राप मर्षं तवीयम् ।

विकृतितापारणतीमयद्या सेनागजेन्द्रा विमुक्ता यमूयः ॥ ४८ ॥

सप्तच्छदेति । सप्तच्छदस्य वृक्षविशेषस्य चीरवत्कटुः सुरभिः प्रवाहः प्रसारो यस्य तम् । 'कटुतिक्तकपायास्तु सौरभ्येऽपि प्रकीर्तिता' इति यादव । असह्य तदीय मदमाघ्राय सेनागजेन्द्राः । विलङ्घितस्तिरस्कृत आधोरणानां हस्तिपकानां तीक्ष्णो महान्यतनो यैस्ते तथोक्ताः सन्तः । 'आधोरणा हस्तिपका हस्त्यारोहा निपादिनः' इत्यमरः । विमुखा पराङ्मुखाः । चमूयुः ॥ ४८ ॥

सप्तपर्ण नामक वृक्ष के दुग्ध की मूर्ति जिसकी मुगन्धि फैल रही थी, इसी से असह्य उस जङ्गली हाथी के मद को सूँघ कर सेना के सभी गजेन्द्र अपने-अपने महावर्तों के किये हुए अत्यन्त अद्भुत से मारने आदि उपायों को निफल करते हुए मुँह फेर कर भागने लगे ॥

अथ स वन्यो गजेन्द्रः सैन्यनिवेश प्रविश्य तत्रस्थान् सर्वानेव समुद्विग्नमनस कृतवानित्याह—

स च्छिन्नवन्धद्रुतयुग्यशून्यं भग्नाक्षपर्यस्तरथं क्षणेन ।

रामापरित्राणविहस्तयोर्धं सेनानिवेशं तुमुलं चकार ॥ ४९ ॥

स इति । स गजः । छिन्ना वन्धा यैस्ते छिन्नवन्धा द्रुताः पलायिताः, युग वहन्तीति युग्या वाहा यस्मिन्स, स चासौ शून्यश्च तम् । भग्ना अक्षा रथावयवदारु विशेषः । 'अक्षो रथस्यावयवे पाशकेऽप्यक्षमिन्द्रियम्' इति शाश्वतः । येषान्ते भग्नाश्चा अत एव पर्यस्ताः पतितारथा यस्मिन्स्तम् । रामाणां परित्राणे सरक्षणे विहस्ता व्याकुला । 'विहस्तव्याकुलौ समौ' इत्यमरः । योधा यस्मिन्स्त सेनानिवेशं शिविरक्षणेन तुमुलं सङ्कुलं चकार ॥ ४९ ॥

उस जङ्गली हाथी ने अपने-अपने वन्धनों को तोड़कर भागे हुए वाहनों ( हाथी घोड़े वगैरह ) से जो शून्य हो रहा है, पुरा के टूट जाने से गिरे हुए रथ जिसमें पड़े हुए हैं, स्त्रियों की रक्षा करने में योधा लोग जिस में व्याकुल हो रहे हैं, ऐसे सेना के निवास-स्थान को क्षण मात्र में व्याकुल कर दिया ॥ ४९ ॥

अथ वन्यगजकृता सेनाशिविरव्याकुलता श्रुत्वा त गजं निवर्तयितुकामो युवराजोऽजो धनुरीषदाकृप्य कुम्भस्थले बाणेन जघानेत्याह—

तमापतन्तं नृपतेरवध्यो वन्यः करीति श्रुतवान्कुमारः ।

निवर्तयिष्यन्विशिखेन कुम्भे जघान नाट्यायतकृष्टशार्ङ्गः ॥ ५० ॥

तमिति । नृपते राज्ञो वन्यः कर्षवध्य इति श्रुतवान्शास्त्राज्ज्ञातवान्कुमार आपतन्तमभिधावन्तं त गजं निवर्तयिष्यन्नतु प्रहरिष्यन् । अत एव नाट्यायतमनन्ति-दीर्घं यथा स्यात् ( नजरथस्य नशब्दस्य सुप्सुपेति समास ) । कृष्टशार्ङ्ग ईपदाकृष्टचाप सन्विशिखेन बाणेन कुम्भे जघान । अत्र चाक्षुष — ( लक्ष्मीकामो युद्धादन्यत्र करिवधं न कुर्यात् । इयं हि श्रीर्यै करिणः ) इति । अत एव ( युद्धादन्यत्र ) इति द्योतनार्थमेव वन्यग्रहणं कृतम् ॥ ५० ॥

‘राजा के बिने जड़की हाथी का मारना व्यर्थ नहीं है’ इस बात की धामने राजे  
बुबराज जब ने सामने बौढ़कर जाते हुए वह हाथी के मथाने की दृष्टि से यह मार  
वाक्य की दृष्टिसे भोजा सा बहुत लीनकर छोड़े हुए बागों से कुम्भ स्वक में मारा ॥५०॥

अथ धामने विद्वमात्र पृथ स गजकर्म विहाय सद्यः खेचरं वपुः प्रापैत्वाह—

स विद्वमात्रः किञ्च नागरूपमुत्सृज्य तद्विस्मितसैम्यद्वयः ।

स्फुरत्प्रमामण्डलमभ्यवर्ति कास्तं वपुर्धर्मोपचरं प्रपेदे ॥ ५१ ॥

स इति । स यत्रो विद्वमात्रस्ताकितमात्र किञ्च न तु प्रकृतस्तथापि मातृक्यं  
गजघरीरमुत्सृज्य । तैव वृत्ताम्येन विस्मितैरतद्विस्मितैः सैम्यैर्यः सन् । स्फुरत्  
प्रमामण्डलस्य अभ्यवर्ति कास्तं मनोहरं धर्मोपचरं वपुः प्रपेदे प्राप ॥ ५१ ॥

वह जड़की हाथी से बाग से विप जाते ही अपने हाथी के कम को छोड़ कर (एत  
वदमा में होने से) आश्रय के साथ सैम्यों से देखा जाता हुआ, कमकटे हुए प्रमा-मण्डल  
के मध्य में स्थित सुन्दर मातृका में वक्षोवाक्य गन्धर्व का घरीर चारन कर दिया ॥५१॥

अथ स कल्पवृक्षवृक्षमाग्यजरघोपरि विकीर्य तमुवाचैवाह—

अथ प्रमावोपगतैः कुमारं कल्पवृक्षमोत्पैरवकीर्य पुष्पैः ।

उवाच धाम्नी दृष्टानप्रमामिः सर्वर्षितोरस्यस्तारहाट ॥ ५२ ॥

अथैति । अथ प्रमावोपगतैः प्रसीः कल्पवृक्षमोत्पलैः पुष्पैः कुमारमग्रमवकीर्य  
मिवृक्ष दृष्टानप्रमामिर्हन्ताकान्तिमिः सर्वर्षिता उरभयके व तारहारा रघूय मुख  
हारास्ते वेन स तथोक्तः । बाबोऽस्य मन्तीति धाम्नी वध्यः । ‘बाबो मिमि’ इति  
मिमिप्रत्ययः । स पुरुष उवाच ॥ ५२ ॥

उन के (विश्वघरीर प्राप्त होने के) बाद अपने प्रपार से प्राप्त कल्पवृक्ष के पुष्पों की  
बुबराज जब के कपर वहाँ करके बाँठों की काण्ठ से घाती पर करवती हुई हुए रहे-रहे  
बोनिबों की मानाओं की काण्ठ की वृक्षा हुआ अच्छे वचनों की बोमने बाबा वह दिव्य  
पुरुष बोम ॥ ५२ ॥

अथ रवकीवर्ष्यपरिचयं कृत्वा करिघरीरप्राप्तिप्रकरणे मतद्वारापमेव निर्दिष्टाह—

मतद्वारापापद्वयसेपमूलाववातपातमिम मतद्वारयम् ।

अथेहि गन्धर्वपतेस्तनूजं प्रियदर्शं मां प्रियदर्शनस्य ॥ ५३ ॥

मतद्वारापापद्वयः । अथसेपमूलाववातपातम् । अथअपस्तु गर्भे स्वात्मकेपने द्वेक-  
की-ति च’ इति विद्वत् । मतद्वारयः मुखैः आपापमतद्वारयमवातपातमिम । मां प्रियं  
दर्शनस्य प्रियदर्शनाकवरयः गन्धर्वपतेर्गन्धर्वराजस्य तनूजं पुत्रम् । प्रिया मूर्तिलगु  
रतनम्’ इत्यमरः । ‘गन्धर्वदेवा’ ह्यपूविनि केचित् । प्रियदर्शं प्रियदर्शकपमवेदि जानी  
दि । प्रियं वृत्तीति प्रियंवहः । ‘प्रियवती वहा गच्छ’ इति शब्दप्रत्ययः ॥ ५३ ॥

मेत वरं कृत्वा ही मिलन कारण वा, देते मनुज अथि के साथ से हाथी के घरीर को

जो मैंने प्राप्त किया था, उसी मुझको प्रियदर्शन नामक गन्धर्वराज का पुत्र प्रियवद नामक गन्धर्व-राजकुमार आप जानें ॥ ५३ ॥

तथा शापप्रदानानन्तरं मरुतप्रणतिपूर्वकस्तवेन शान्तिं लभमानस्य महर्षेर्मयि पुन कृपाऽभूदित्याह—

स चानुनीतः प्रणतेन पश्चान्मया महर्षिर्मृदुतामगच्छत् ।

उष्णत्वमग्न्यातपसंप्रयोगाच्छैत्यं हि यत्सा प्रकृतिर्जलस्य ॥ ५४ ॥

स इति । महर्षिश्च प्रणतेन मयाऽनुनीत सन्पश्चान्मृदुता शान्तिमगच्छत् । तथा हि । जलस्योष्णत्वमग्नेरातपस्य वा संप्रयोगात्सपर्कात् न तु प्रकृत्योष्णत्वम् । यच्छैत्यं सा प्रकृतिः स्वभावः । विधेयप्राधान्यात्सेति स्त्रीलिङ्गनिर्देशः । महर्षीणां शान्तिरेव स्वभावो न क्रोध इत्यर्थः ॥ ५४ ॥

और उन महर्षि मतङ्ग के पैरों पर गिरे हुए मैंने उन से क्रोध शान्त करने की प्रार्थना की, बाद में उन्होंने क्रोध को शान्त किया, क्योंकि—जलका गरम होना जो है वह अग्नि और सूर्य के किरणों के सम्बन्ध से है और जो शीतलता है वह उसकी प्रकृति है, अर्थात् जैसे जल स्वाभाविक शीतल ही है, कारणवश गरम हो जाता है, उसी भाँति महात्मा लोग स्वाभाविक शान्त होते हैं, कारणवश क्रुद्ध हो जाते हैं ॥ ५४ ॥

अथ पश्चात् प्रसन्नेन महर्षिणा निर्दिष्ट शापान्तसमर्थं कथयन्नाह—

इक्ष्वाकुवंशप्रभवो यदा ते भेत्स्यत्यजः कुम्भमयोमुखेन ।

संयोज्यसे स्वेन वपुर्महिम्ना तदेत्यवोचत्स तपोनिधिर्मांम् ॥ ५५ ॥

इक्ष्वाकुवंशेति । इक्ष्वाकुवंश प्रभवो यस्य सोऽजो यदा ते कुम्भमयोमुखेन लोहाग्रेण शरेण भेत्स्यति विदारयिष्यति तदा स्वेन वपुषो महिम्ना पुन संयोज्यसे सगस्यस इति स तपोनिधिर्मांमवोचत् ॥ ५५ ॥

इक्ष्वाकु-वंश में उत्पन्न, अज नामक राजकुमार जब तुम्हारे कुम्भ-स्थल को लोह का बना हुआ है अथ भाग जिसका ऐसे बाण से वेधेंगे, तब अपने शरीर सम्बन्धी गौरव से फिर तुम युक्त हो जाओगे ऐसा उन तपोनिधि महर्षि, मतङ्ग ने मुझसे कहा था ॥ ५५ ॥

सम्प्रति त्वयाऽहं शापान्मोचितोऽस्मीत्यतस्तेऽपि प्रत्युपकारं चिकीर्षुरस्मीत्याह—

समोचितः सत्त्ववता त्वयाऽहं शापाच्चिरप्रार्थितदर्शनेन ।

प्रतिप्रियं चेद्भवतो न कुर्यां वृथा हि मे स्यात्स्वपदोपलब्धिः ॥ ५६ ॥

समोचित इति । चिरं प्रार्थित दर्शनं यस्य तेन सत्त्ववता बलवता त्वयाऽहं शापात्समोचितो मोक्षं प्रापित । भवतः प्रतिप्रियं प्रत्युपकारं न कुर्यां चेन्मे स्वपदोपलब्धिः स्वस्थानप्राप्तिः । 'पदं व्यवसितत्राणस्थानलक्षमाङ्गविवस्तुषु' इत्यमरः । वृथा स्याद्धि । सदुक्तम्—( प्रतिकर्तुमशक्तस्य जीवितान्मरणं वरम् ) इति ॥ ५६ ॥

बहुत दिनों से जिस का दर्शन अभीष्ट हो रहा था ऐसे बलवान् आपने मुझे शाप से

कुशावा अर्थात् गन्धर्वोऽपि भुक्त्वा कर गन्धर्व-क्षीर प्राप्त करता था अतः आप का प्रत्युत्तर  
 यदि मैं न करूँ तो मेरा स्वाग (गन्धर्व-क्षीर) को प्राप्त करना ही बुधा होगा इस में  
 कोई संदेह नहीं है ॥ ५१ ॥

अथ प्रत्युपस्थितिर्यथा शिष्यबहोऽज्जाय स्वकीयं समोद्गर्जनामकमर्चं हातुस्वेच्छां  
 प्रकटीकृत्येवाह—

संमोद्गर्जनाम सखे ! ममास्त्र प्रयोगसंहारविभक्तमञ्जम् ।

शास्त्रार्थमावस्त्व यतः प्रयोक्तुर्न चारिर्हिंसा विजयश्च हस्ते ॥५२॥

संमोद्गर्जनामिति । हे सखे ! सविद्यैवैव समप्राप्तोक्तं लघोक्तम्—( अस्त्राभ्या-  
 सहको बन्धुः सर्वैवानुमत्तः सुहृत् । एकस्मिन् मन्त्रिन् समप्राप्तः सखा मत्तः ॥ )  
 इति । प्रयोगसंहारयोर्विभक्तमञ्जं शास्त्रार्थं गन्धर्वदेवताकम् । संमोद्गर्जेत्येवमिति संमो-  
 द्गर्जनाम ममास्त्रमावस्त्व गृह्णाव । यतोऽस्यास्त्रबोद्धुरक्षप्रयोगिभोऽरिर्हिंसा न च  
 विजयश्च हस्ते । हस्तगतो विजयो भवतीत्यर्थः ॥ ५२ ॥

हे प्राय के समान शिव भक्त । आप बचाने और बीड केमे में जिसके एक-दुसरे मन्त्र  
 है तथा गन्धर्व जिसके देवता है और जो सखे मोहित करके बाधा होने से सम्मोद्गर्ज-  
 नाम से प्रसिद्ध है ऐसे मेरे इस अस्त्र को स्वीकार करो जिस अस्त्र से कि-बचाने वाले के  
 शत्रुओं का वध भी नहीं हो जाता और विजय हस्तगत हो जाता है ॥ ५२ ॥

अथकस्मिता कथमस्त्रप्रहासपरः स्वामिति वैचित्राह—

अर्चं द्विधा मां प्रति यन्मुहूर्त्तं वृथापरोऽभूः प्रहरन्नपि त्वम् ।

तस्मात्पुनश्चक्ष्म्यसि प्रयोज्यं मयि त्वया न प्रतिपेक्षस्यम् ॥५३॥

अकस्मिति । किं च । मां प्रति द्विधा प्रहारविमिश्रचाञ्छम् । कुता । यद्यतो-  
 हेतोस्तर्त्तं ॥ प्रहरन्नपि मुहूर्त्तं वृथापराः कुपानुरम् । तस्मात्पुनश्चक्ष्म्यसि प्रार्थयमाने  
 मयि त्वया प्रतिपेक्षा परिहारा न युव हीनं पादप्यम् । तत्र प्रयोज्यं न कस्तप्यम् ।

मेरे प्रति वाप प्रहार करने के कारण आप अज्जाय नग करो, क्योंकि—आप मुझपर प्रहार  
 करते हुये भी थोड़ी देर के लिये तथा से कुछ ही दूर मे अर्थात् आप का वाप मात्रा मेरे  
 लिये दवा करता ही हुआ था इस कारण से अज्जा प्रश्न करने के लिये मेरे प्रार्थना करने  
 पर आप 'हम नहीं डेंगे' ऐसी बचाने मग करो ॥ ५३ ॥

अथ शिष्यबहोऽर्चं समोद्गर्जनामको गृहीतवामित्याह—

तपेत्युपस्पृश्य ययं पवित्रं सामोद्गर्जायाः सरितो नृसोमः ।

उदङ्मुखाः सोऽस्त्रविद्वत्तमञ्जं जग्रादतस्मादिगृहीतवाप्यात् ॥५४॥

तपेतीति । वा सोमञ्जम् इव नृसोमः । उदङ्मुखाः सोमविद्वत्तमञ्जः । 'सोम ओषधिबन्धु-  
 इति शाश्वतः । उदङ्मुखः शिष्यः । अस्त्रविद्वत्तः सोऽस्त्रतपेति सोम उदङ्मो-  
 चरवाः सा उदङ्मोः सोमोद्गर्जायाः सरितो नर्मदायाः । देवा तु नर्मदा सोमोद्गर्जा

मेकलकन्यका' इत्यमरः । पवित्र पय उपस्पृश्य पीत्वा । आचम्येत्यर्थः । उदह्मुखः  
सन्निगृहीतशापान्निवर्तितशापात् । उपकृतादित्यर्थः । तस्मात्प्रियंवदादस्त्रमन्त्रं  
जप्राह ॥ ५९ ॥

पुरुष श्रेष्ठ, शास्त्रों को जाननेवाले उन युवराज अज ने 'जैसा आप कहते हैं वैसा ही  
होगा' अर्थात् मैं ग्रहण करूँगा, यह कह कर नर्मदा के पवित्र जल से आचमन करके उत्तर  
की ओर मुख किये हुए, जिसका शाप छूट गया था ऐसे उस प्रियवद नामक गन्धर्व राज-  
कुमार से समोहन नामक अस्त्रको चलाने और छौटा लेनेके मन्त्रोंके सहित ग्रहण किया ॥

एव मित्रत्व प्राप्तवतोस्तयोः प्रियवदश्चैत्ररथमजश्च विदर्भदेशान् ययावित्याह—

एवं तयोरध्वनि दैवयोगादासेदुषो. सख्यमचिन्त्यहेतु ।

एको ययौ चैत्ररथप्रदेशान्सौराज्यरम्यानपरो विदर्भान् ॥ ६० ॥

एवमिति । एवमध्वनि मार्गे दैवयोगाद् दैववशादचिन्त्यहेत्वनिर्धार्यहेतुकं सख्य  
सखित्वम् । 'सख्युर्य' इति यप्रत्ययः । आसेदुषो. प्राप्तवतोस्तयोर्मध्ये एको गन्धर्व-  
श्चैत्ररथस्य कुबेरोद्यानस्य प्रदेशान् । 'अस्योद्यान चैत्ररथम्' इत्यमरः । अपरोऽज,  
सौराज्येन राजन्वत्तया रम्यान्विदर्भदेशान्ययौ ॥ ६० ॥

इस प्रकार से मार्ग में दैवयोग से, जिसका कारण नहीं समझा जा सकता ऐसे परस्पर  
मित्रभाव को प्राप्त किए हुए उन दोनों के मध्य में से एक अर्थात्-प्रियवद चैत्ररथ नामक  
कुबेर के बगीचा की तरफ गये और दूसरे युवराज अज भली भाँति शासन करनेवाला राजा  
होने से सुन्दर विदर्भ देश की तरफ गये ॥ ६० ॥

अथ नगरसमीपेऽजस्यागमनं श्रुत्वा विदर्भाधिपतिस्तत्स्वागतार्थं स्वसदनाच्चिरात्  
त प्रत्युज्जगामेत्याह—

तं तस्थिचांसं नगरोपकण्ठे तदागमारूढगुरुप्रहर्षः ।

प्रत्युज्जगाम क्रयकैशिकेन्द्रश्चन्द्रं प्रवृद्धोर्मिरिचोर्मिमाली ॥ ६१ ॥

तमिति । नगरस्योपकण्ठे समीपे तस्थिवासस्थित तमजतस्याजस्यागमेनागम-  
नेनारूढ उत्पन्नो गुरु प्रहर्षो यस्य स क्रयकैशिकेन्द्रो विदर्भराज । प्रवृद्धोर्मिरुर्मि-  
माली समुद्रश्चन्द्रमिव प्रत्युज्जगाम ॥ ६१ ॥

नगर के समीप में स्थित उन युवराज अज के आगमन ने उत्पन्न हुए अत्यन्त हर्ष से  
युक्त विदर्भ देश के महाराज भोज जैसे-बढ़ी हुई लहरों वाला समुद्र चन्द्रमा के उदय होने  
से अत्यन्त आनन्दित हो उससे मिलने के लिये जाता है, वैसे ही मिलने के लिए गये ॥

अथ विदर्भेश्वरोऽप्रयायी भूत्वा मार्गं प्रदर्शयन्नज सादरं स्वपुरं प्रवेश्य नञ्च  
सन्नुपाचरदित्याह—

प्रवेश्य चैनं पुरमप्रयायी नीचैस्तथोपाचरदर्शितधीः ।

मेने यथा तत्र जन समेतो विदर्भमागन्तुमजं गृहेशम् ॥ ६२ ॥

प्रवेष्टेति । पृथग्भक्षमाग्राणी । सेवाधर्मेण पुरो गच्छन्तित्यर्थः । नीचैर्नृणां पुरं प्रवेष्टुं प्रवेसं कारयित्वा ग्रीष्मावर्षितग्रीष्मस्था तेन प्रकारेणोपाचरंरूपचरितवात् । यथा नमः प्रकारेण तत्र पुरे समेतो मिश्रितो जगो वैद्युर्भोजनमागन्तुं प्राप्नुमिह मेने । अत्रं गृहेसं गृहपतिं मेने ॥ ६९ ॥

इमं नमः के भागे-भागे जाते हुए मन्त्र भोजन महाराज उन्हें नगर में प्रवेष्ट कराने त्रैय से सारी सम्पत्ति अर्पण किये हुये उस तरह कमली सेवा करने को मिश्रित तरह वहाँ पर इच्छते हुए जोयों ने विषयवेद्याविषयि की आगन्तुक (महमान) और नमः की वर का माकिह नमः ॥ ६९ ॥

तस्याधिकारपुरुषैः प्रणतैः प्रदिष्टां प्राग्द्वारवेदिविनिवेशितपूर्वकुम्भाम् ।  
रम्यां रघुप्रतिनिधिः स नयोपकार्याम्यास्यास्परामिषदद्यां भव्नोऽभ्युवासां ॥

तस्येति । रघुप्रतिनिधी रघुकन्या । रघुकन्य इत्यर्थः । कर्त्तुं च इच्छित्वा सादर्य वाचकप्रस्तावे 'कन्यदेष्टीयदेष्टवादि प्रकृतप्रतिनिधी अपि' इति । सोऽत्र प्रकृतैर्नमः स्मृतवन्ति । कर्त्तरि च । तस्य भोजनवापिकारो निबोधस्तस्य पुरुषैः । अविच्छिन्नैरिति त्वर्थः । प्रदिष्टां निदिष्टां प्राग्द्वारस्य वेदां विनिवेशितां पूर्वकुम्भो वरवास्ताम् । यथा पितृमहत्कृतकामित्वार्थः । रम्यां रमणीयां नयोपकार्यां भूतान् राजभवनम् । 'उप कार्यां राजसन्तानुपचारचितैः अयत्न' इति विरचः । भव्नो वात्स्यात्परां संघवादन स्तरां दद्यामिष । नौबन्मिषेत्यर्थः अभ्युवासाविहितवात् । ततोऽपि वाचिन्वर्त्तः । 'उपान्वध्याह्वता' इति कर्मत्वम् ॥ ७० ॥

रघु के पुत्र नमः पुरराज नमः में नमः करके करते हुए, जब विनिवेशित भोज के विषय किये हुये पुरों से नमः किये हुये, जिसके वरवा द्वार के भागे वेदी पर नमः से वेदी महान कन्या रस्ते हुये हैं वेति सुन्दर नवीन कन्या के वर हुये, राजाओं के रहने के बीच महान में वेति नमः वरवा के बाद पुनः नमः में विवाह करवा है वही प्रति निवास विवा ॥ ७० ॥

अथ रात्रौ कन्यारात्रिमिन्नुमती जिप्सुरज्जिरेण निज्वायतो वनूवेत्याह—  
तत्र म्ययपरसमाहृतराजलाक कन्यालक्ष्माम कमर्मापमत्रस्य जिप्साः ।  
भावायवापकस्तुपा दयितेव रात्रौ निद्रा विरण नयनमिमुषी वमूय ॥  
तत्रेति । तत्रोपकार्यां वर्यपरमिषितं समाहृतः समेकिनो राजकोको येन नमःमनीर्षं रघुजीर्षं कन्यालक्ष्माम कन्याम् अहम् । तत्तमोऽपि तत्तमपरि प्रमाये नुरे रवने । अहम् रात्रौ नमःमिमुषी इति यादवः । जिप्साः तन्मुनि-  
वयोः । तयोः मन्त्रादुत्पत्त्या । अत्रेव भावायवापे पुनरापमिषावपरिज्ञाने कपु वाग्ममर्षा दयितेव रात्रौ निद्रा विरेण नमःमिमुषी वमूय । कमिषं राजार्थं चौर परितमिष नमःमर्षा इति यावत् । अमिमुषीमर्षो दीकन्तदध्वन्तो वा ॥ ७१ ॥

उस पटनिर्मित राजमण्डप में, स्वयंवर में जिसके लिए राजा लोग एकत्र किये गये हैं ऐसे सर्वों के चाहने योग्य कन्याओं में श्रेष्ठ उस इन्दुमती को पाने की इच्छा रखने वाले अज के अभिप्राय के जानने में असमर्थ सुग्ध नवोढा नायिका की भौंति निद्रा रात में बहुत देर के बाद आँखों के सम्मुख अर्थात् आँखों में आई ॥ ६४ ॥

बहुमुहूर्त्तानन्तरं प्रसुप्तमज वन्दिपुत्रा स्तुतिपाठैरुपसि प्रबोधयामासुरित्याह—  
तं कर्णभूषणनिपीडितपीवरांसं शय्योत्तरच्छद्विमर्दकृशाङ्गरागम् ।

सूतात्मजाः सवयसः प्रथितप्रबोधं प्राबोधयन्नुपसि घाग्भिरुदारवाचः ॥

तमिति । कर्णभूषणाभ्यां निपीडितौ पीनावसौ यस्य तम् । शय्याया उत्तरच्छ-  
दस्योपयांस्तरणवस्त्रस्य विमर्देन घर्पणेन कृशो विरलोऽङ्गरागो यस्य तम् । न त्वङ्ग-  
नासङ्गादिति भावः । प्रथितप्रबोधः प्रकृष्टज्ञान तमेनमज सवयसः समानवयस्का  
उदारवाचः प्रगल्भगिरः सूतात्मजा वन्दिपुत्राः । 'वैतालिका' इति वा पाठः ।  
'वैतालिका बोधकरा' इत्यमरः । वाग्भिः स्तुतिपाठैरुपसि प्राबोधयन्प्रबोधयामासुः ॥

दोनों कर्णों के भूषणों से जिसके मोटे-मोटे दोनों कन्धे ढब गये हैं और शय्या के ऊपर  
बिछाने की चद्दर की रगड़ से जिसके अङ्ग में लगे हुए फस्तूरी आदि अङ्गराग झट गये  
हैं, तथा जो उत्तम ज्ञान सम्पन्न हैं ऐसे उन युवराज अज को समान अवस्था वाले  
प्रगल्भता के साथ बात करने वाले वन्दियों के पुत्र स्तुति-वचनों को कह कर जगाने लगे ॥

स्तुतिवचनानि ब्रुवन्तो वन्दिपुत्रा अजनिद्रास्यागे हेतुं प्रदर्शयन्तीत्याह—

रात्रिर्गता मतिमतां वर ! मुञ्च शय्यां धात्रा द्विधैव ननु धूर्जगतो विभक्ता ।  
तामेकतस्तव विभर्ति गुरुर्विनिद्रस्तस्या भवानपरधुर्यपदावलम्बी ॥ ६५ ॥

रात्रिरिति । हे मतिमता वर ! निर्धारणे पटी । रात्रिर्गता । शय्यां मुञ्च । वि-  
निद्रो भवेत्यर्थः । विनिद्रत्वे फलमाह-धात्रेति । धात्रा ब्रह्मणा जगतो धूर्मारः । 'धूः  
स्याद्यानमुखे भारे' इति यादवः । द्विधैव द्वयोरेवेत्यर्थः । एवकारस्तृतीयनिषेधार्थः ।  
विभक्ता ननु विभज्य स्थापिता खलु । तत्किमत आह-तां धुरमेकत एककोटी तव  
गुरु पिता विनिद्र सन्निभर्ति तस्या धुरो भवान् । गुर वहतीति धुर्यो भारवाही ।  
तस्य पद वहनस्थानम् । अपरं यद् धुर्यपद तदवलम्बी । ततो विनिद्रो भवेत्यर्थः ।  
नह्युभयवाह्यमेको वहतीति भावः ॥ ६६ ॥

हे बुद्धिमानों में श्रेष्ठ अज ! रात बीत गई, अब शय्या को आप छोड़ें, अर्थात् निद्रा-  
त्याग करके उठें, क्योंकि-ब्रह्माजी ने जगत् के पालन का भार दो ही हिस्सों में बांट कर  
रखा है, उसमें से एक हिस्से के कार्यभार को आप के पिता रघु महाराज निद्रा त्याग  
कर वहन कर रहे हैं और आप भी उस जात्पालन रूप कार्यभार के दूसरे हिस्से के  
भारवहन करने वाले के स्थान का अवलम्बन करें, अर्थात् आप भी उठकर अपने हिस्से के  
भार को वहन करते हुये पृथ्वी पालन करें । क्योंकि-दो का भार एक नहीं उठा सकता है ॥



अथविद्यात्यागो हेतुमूर्त निशाब्जसागमेव चन्द्रस्यास्तमितत्वेन सूचयन्नाह—  
निद्रावशेन भवताऽप्यनपेक्ष्यमाणा पर्युत्सकस्थमवस्थां निद्रि कश्चिद्विद्यते ।  
कश्मीर्विनोदयति येन दिगन्तस्रम्भी सोऽपि स्वदामनरुचि विज्रहाति चन्द्रः ।

चन्द्रारविन्दराजवद्व्याधयो कश्मीरनिवासस्थानानीति प्रतिदिमाभिरुचोच्यते ।  
निद्रावशेन निद्राऽभीनेन । स्यान्तरासहोऽत्र आन्यते । भवता पर्युत्सकस्थमपि ।  
त्यन्यदुत्सकस्थमपीत्यर्थः । 'प्रसितोत्सुकाम्नां तृतीया च' इति सप्तम्यर्थे तृतीया ।  
अपि सप्तम्यस्तद्विषयादुत्सुकस्थानपेक्षायोक्तवार्था । पिसि कश्चिद्विद्या भवताऽप्यनपेक्ष्यमाणा  
नक्तुविद्याऽन्येन नापिकेन । 'ज्ञातेऽन्यासहचिद्विद्यते कश्चिद्विद्याकपाविता' इति  
वृत्तकपके । अनपेक्ष्यमाणाऽविचार्यमाणा सती । उपेक्ष्यमानेत्यर्थः । 'ज्ञातेऽन्यासहचिद्विद्या' इति  
इति पाठे विद्यावशेन भवताऽनपेक्ष्यमाणाऽविचिन्त्यमाणा । कर्मणि सामान्य । कश्मीर  
प्रत्येकज्जर्मी देन प्रत्येक्येन चन्द्रेन पर्युत्सुकस्थं त्वद्विरहवेदनाम् । 'कश्मीरमन्त्रमौ-  
रुक्मं मनस्तापवरादिहृद्' इत्येकहारे । विनोदयति निरासयतीति बोधना । शेषे  
पूर्ववत् । ( वायस्यवर्षोपपत्तिमपरवर्षमिं पञ्चमुपेक्षितम् ) । कश्मीरेन चन्द्रेन सह ।  
स्वदामनरुचि विज्रहाति माता । विनोदयति विनोदं करोति । विनोदसम्भात् । 'तत्क-  
रोति तद्व्याप्यते' इति विध्यतययः । सादृश्यवर्षव्याधयो हि विरहिणां विनोदस्थानानीति  
माता । स चन्द्रोऽपि विप्लवकम्भी पश्चिमायां यतः सः । अस्तं गच्छतित्यर्थः । अत  
एव स्वदामनरुचि विज्रहाति । त्वमुक्तसादृश्यं त्यजतीत्यर्थः । अतो निद्रां विहाय  
तां कश्मीरमन्त्रमन्त्ररत्नां परिगृह्णन्तेति माता ॥ १७ ॥

विद्यारूपी रमणी के लकीन हुए नाप के विषय में अरबी अनुपमि की तरह रात्रि  
में चम्बिता नाविषय की मोति कुछ भ्रान्त नहीं दंगी हुई अतः-किञ्चित् होनी हुई  
कश्मीर जिस चन्द्रमा के साथ अरुने मन की वहनापी की वह चन्द्रमा की इत सम  
पश्चिम विद्या के अन्त में जाता हुआ अर्थात् अस्त होता हुआ सुन्दारे मुख की कान्ति की  
मोति की अपनी कान्ति है कसकी छोड़ रहा है अर्थात् कान्तिहीन हो रहा है । अतः निद्रा  
की छोड़कर नाप जिसका कोई आनन्द नहीं है ऐसी अत कश्मीर के प्रद्वन करें अर्थात् करें ॥

निशाबसानसूचककमलविकाससादरवाय नेत्रोन्मीलनीतिर्यं सूचयन्नाह—  
तद्वस्तुना युगपदुन्मिषितेन तावत् सद्यः परस्परतुलामपिरोहतां द्वे ।  
प्रस्पन्दमानपद्येतरतारमन्त्राभ्युस्तव प्रसक्तितकमर ख पद्यम् ॥ १८ ॥

तद्वस्तुनेति । तत्तरमात्रकम्भीपरिग्रहनाह्वस्तुना मनोज्ञम् । 'वस्तु स्वाने मनोज्ञे  
च वस्तु भावितमन्त्रवत्' इति विद्याः । युगपदाह्वस्तुमिषितेन युगपदेवोन्मिषितेन  
सद्यो द्वे अपि परस्परतुलामन्यान्पसादरवमपिरोहतां प्राप्नुताम् । मार्चनायाम् ओद् ।  
के द्वे । अन्ता प्रस्पन्दमाना चकन्ती पद्येतरा रिक्त्वा तारा कनीविषय वरव तत्त-  
वोद्यम् । 'तारकाऽयमा कनीविद्या' इत्यमरः । तव चक्षुः । अन्ता प्रसक्तितकमर

चलद्भृङ्गं पद्मं च । युगपदुन्मेवे सति सम्पूर्णसादृश्यलाभ इति भावः ॥ ६८ ॥

इस (लक्ष्मी के स्वीकार करने के) कारण से सुन्दर जो साथ ही साथ एकही क्षण में आँख का खुलना और कमल का खिलना ये दोनों व्यापार हैं उनसे शीघ्र उसी क्षण में दोनों ही परस्पर एक दूसरे की बराबरीको प्राप्त करें, वे दोनों कौन-एक तो भीतर कुछ-कुछ चलती हुई चिकनी काली पुतलियों वाली तुम्हारी आँखें और दूसरे भीतर कुछ कुछ चलते हुए भौंरों से युक्त कमल, अर्थात्-साथ ही साथ खुलने और खिलने से आँखों की और कमलों की पूर्ण रूप से समानता हो जायगी, अर्थात् आप आँखें खोलें, कमल खिल रहे हैं ॥

अथ निशाऽवसानसूचकं प्रातःकालीन मन्दसुगन्धिपवन वर्णयन्नाह—

वृन्ताच्छ्लथ हरति पुष्पमनोकहानां संसृज्यते सरसिजैरुणांशुभिन्नैः ।

स्वाभाविकं परगुणेन विभातवायुः सौरभ्यमीप्सुरिव ते मुखमारुतस्य ॥

वृन्तादिति । विभातवायुः प्रभातवायुः स्वाभाविक ते तव मुखमारुतस्य निःश्वासपवनस्य सौरभ्यम् । तादृक्सौगन्ध्यमित्यर्थः । परगुणेन । साक्रामिकगन्धेनेत्यर्थः । ईप्सुराप्तुमिच्छुरिव । 'आपूज्यधामीत्' इतीकारादेशः । अनोकहानां वृक्षाणां श्लथ शिथिलं पुष्प वृन्तात्पुष्पवन्धनात् । 'वृन्त प्रसववन्धनम्' इत्यमरः । हरत्यादत्ते । अरुणाशुभिन्नैस्तरणिकिरणोद्बोधितैः सरसि जातैः सरसिजैः कमलैः सह । 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्' इति सप्तम्या अलुक् । संसृज्यते सङ्गच्छते । सृजेद्वा-दिकात्कर्त्तरि लट् ॥ ६९ ॥

प्रातः काल की वायु स्वाभाविक तुम्हारे मुख की नि श्वास-वायु की सुगन्धि के समान सुगन्धिको दूसरे के गुण से अर्थात् दूसरे से प्राप्त किये हुए गन्ध के द्वारा प्राप्त करने की इच्छा से, मानों वृक्षों के शिथिल हुये पुष्पों को वृन्त अर्थात् फूलों के बन्धन-स्थानों से अलग कर रहा है, और सूर्य की किरणों से विकसित कमलों के साथ सङ्गत हो रहा है, अर्थात्-फूलों के और कमलों के गन्ध को ग्रहण करता हुआ बह रहा है, अतः सूर्योदय का समय हो रहा है आप उठें ॥ ६९ ॥

अथ तरुपल्लवस्थित हिमाम्भोवर्णनपुरःसरं निशाऽवसान सूचयन्नाह—

ताम्रोदरेषु पतितं तरुपल्लवेषु निर्धौतद्वारगुलिकाविशदं द्विमाम्भः ।

आभाति लब्धपरभागतयाऽधरोष्ठे लीलास्मितं सदृशानां चिरिव त्वदीयम् ॥

ताम्रोदरेष्विति । ताम्रोदरेष्वरुणाभ्यन्तरेषु पतित निर्धौता या द्वारगुलिका मुक्तामणयस्तद्वद्विशदं हिमाम्भो लब्धपरभागतया लब्धोत्कर्षतया । 'परभागो गुणोत्कर्षः' इति यादवः । अधरोष्ठे स्वदीय सदृशानां चिदन्तकान्तिसहित लीलास्मित-मिवाभाति शोभते ॥ ७० ॥

ताम्र के समान लाल वर्ण से युक्त जिनका मध्य भाग है, ऐसे वृक्षों के नवीन पल्लवों में गिरे हुए स्वच्छ मोतियों के द्वार के गुच्छे की भाँति विमल ओस की बूँदें उत्कर्ष

को प्राप्त किन्ने हुने होने से बने नीचे के ओठ में तुम्हारी दाँतों की शक्ति के सहित  
कोई पूर्वक मध्य दाँत सङ्गोमित होता है वही गौति सङ्गोमित हो रहा है। वही  
सूत्रोदक होना चाहता है। अतः आप कहें ॥ ७ ॥

याचरप्रतापनिधिपद्ममते न मानुरहाय तावदरुणेन तमो निरस्तम् ।  
मायोधनाप्रसरतां स्वयि वीर । याते किं वा रिपूस्तव गुरु स्वयमुच्छिन्नसि  
यावदिति । प्रतापनिधिरस्तेजोनिधिर्मानुर्बाबकाक्रमते भोज्यकृति । 'आह उ  
मने इत्यतममेपद्यम् । तावत् भावावपुदित ऐवेत्यर्थः । अज्ञाय सति । 'त्रास  
दित्यजसांश्चाय' इत्यमरः । अस्मैगान्ध्या । 'सूर्यसूतोऽस्मैभ्यः इत्यमरः । तमो  
निरस्तम् । तथाहि । हे वीर ।। स्वम्याबोधनेषु शुकेषु । 'युद्धमायोधनं ज्ञानम्'  
इत्यमरः । अमरसरतां याते सति तव गुरु पिता रिपूस्त्ववमुच्छिन्नसि किं वा ।  
नोन्निवृत्त्येवेत्यर्थः । न कष्ट बोध्यप्रम्यस्तमारानां स्वामिनां स्वर्ग व्यापारजेद्  
इति भावः ॥

ऐस के बिधि सूर्य कावात् आप एक करव नहीं हो पाते तब तक बसके बहिके  
ही कन्दो से सूर्य के सारवि भव्य हो अन्धकार की दूर कर देते हैं अतः हे वीर ।  
तुम्हारा अन्ध आँके सब से नामे सुद में रहने वाले होते हुये आपके पिता एव मरुताम  
सुनुओं को वहा राखव बन्धित करते हैं नहीं बहिक आप करते हैं अतः आप अ  
सो कान्हे कहें ॥

समग्रति से सेनास्यजेन्द्रा अपि विनिष्ठा जाता अतस्त्वमपि विनिष्ठो भवेत्पाह—  
घाट्यां अहरयुमयपसविनीतनिष्ठाः स्तम्भेरम्य मुखरन्मृगसर्पिजस्ते ।  
येषां विमाम्नि तदवधारणप्रागयागाग्निप्राग्निमैरिक्ततया इव दन्तकाशाः ॥  
स्तम्भामिति । उमास्यां पञ्चान्धो विनीता अपगता मित्रा येषां च उमयपस  
विनीतनिष्ठाः । अत्र समासविचित्र उमशब्दस्यात्र उमयपसप्रबोध एव सापुरित्य  
नुसन्धेयम् । यमाऽऽ कैपठ—'उमादुहातो निपमि'ति निम्बमहमस्येद् प्रबोधनं  
कृतिरियम उमशब्दस्य प्रयोगो माम् । उमयपसस्यैव यथा स्वात् उमयपस  
इत्यादि भवति इति । मृगरान्मुखावचलमाच्छ्रयमावाविभ्युक्तानि विगद्यनि  
कर्षणीनि तथोच्यत एव तव स्तम्भे समस्त इति स्तम्भेरमा इति । 'स्तम्भ  
कर्षया रमिजपो ह्यप्यथायथाः । 'दृशिनृचकपोः इति अत्रशब्दात् । इमा स्तम्भे  
रमाः पक्षी' इत्यमरः । तन्पुत्र कृति मनुकम् इति राशब्दा अत्रुक्तः । अस्यां वहति  
त्यजम्नि । येषां स्तम्भेरमाः । वृत्ताः कोशा इव दन्तकोशा दन्तकुह्यकारतदना-  
कमरागभोगार् वाकाकाकमसंरकाद्वेतोभिन्नादिनैरिक्ततया इव विमाम्नि । यानुरक्त  
इव धातुनिर्गर्भः ॥ ७९ ॥

दीनी पारसी से करवा बरतने से जिनकी बीट पूरी हो चुकी है अतः एव बरने के  
कवन मृगो के दिखने से मृग मृग प र करते हुए जीने के बने हुये तीक्ष्णों की क्षीय

रहे हैं, ऐसे आपकी सेना के सभी गजेन्द्र शय्या का त्याग कर रहे हैं, अर्थात् अपने अपने सयन करने के स्थानों से उठ रहे हैं, और जितने खिलने के नजदीक आर्द्र हुई कलियाँ के समान शीत झाल में उदय होने लगे सूर्य की लाल-लाल किरणों के सम्पर्क होने से कटे हुए पर्वत के गेरु के टुकड़े की भाँति मालूम पड़ते लगे शुशोभित हो रहे हैं । अर्थात् छापी भी मोकर के उठ गये, अब आपको भी उठना चाहिये ॥ ७२ ॥

अथ सेनाऽश्वा अपि विगतनिद्रा जाता इति युवन्तो वन्दिपुत्रा आहुरित्याह—  
दीर्घेण्वमी नियमिताः पटमण्डपेषु निद्रां विहाय वनजाक्ष । वनायुदेश्याः ।  
वक्त्रोष्मणा मलिनयन्ति पुरोगतानि लेह्यानि सैन्धवशिलाशकलानि वाहाः ॥

दीर्घेण्विति । हे वनजाक्ष ! नीरजाक्ष ! । 'वनं नीरं वनं सधम्' इति शाश्वत । दीर्घेषु पटमण्डपेषु नियमिता वद्धा वनायुदेश्या वनायुदेशे भवा । 'पारसीका वनायुजा' इति हलायुधः । अभी वाहा अश्वा निद्रा विहाय पुरोगतानि लेह्यान्या-  
श्वाद्यानि सैन्धवशिलाशकलानि । 'सैन्धवोऽस्त्री शीतशिव मणिमन्थ च सिन्धुजे' इत्यमरः । वक्त्रोष्मणा मलिनयन्ति मलिनानि कुर्वन्ति । उक्तं च सिन्धुयोगसंग्रहे—  
पूर्वाह्नकाले चाश्वानां प्रायशो लवणं हितम् । शूलमोहविग्रन्धेन लवण सैन्धव वरम् ॥ इत्यादि ॥ ७३ ॥

हे कमलनयन ! अज ! कपटों के बने लगे बड़े बड़े मण्डपों में बँधे लगे पारस देश में उत्पन्न लगे ( पारसी ) ये आप की सेना के घोड़े निद्रा त्याग कर उठे लगे, आगे रते लगे चोटने लायक मेधा नमक की चट्टानों के टुकड़ों को अपने मुख की बाधु की गर्मी से अर्थात् भाप से मलिन कर रहे हैं ॥ ७३ ॥

भवित विरलभक्तिर्लान् पुष्पोपहारः स्वकिरणपरिवेषोद्भेदशून्याः प्रदीपाः ।  
अथमपि च गिरं नस्त्वत्प्रबोधप्रयुक्तामनुवदति शुक्लं मञ्जुवाक्पञ्जरस्थः ॥

भवतीति । ग्लान' पुष्पोपहारः पुष्पपूजा ग्लानत्वादेव विरलभक्तिर्विरलरचनो भवति । प्रदीपाश्च स्वकिरणानां परिवेषस्य मण्डलस्योद्भेदेन स्फुरणेन शून्या भवन्ति । निस्तेजस्का भवन्तीत्यर्थः । अपि चायं मञ्जुवाह मधुरवचन पञ्जरस्थस्ते तत्र शुक्लस्त्वत्प्रबोधनिमित्तेन प्रयुक्तामुच्चारिता नोऽस्माकं गिर वाणीमनुवदति । अनुकृत्य वदतीत्यर्थः । इत्थं प्रभातलिङ्गानि वर्तन्ते, अतः प्रबोद्धव्यमिति भावः ॥

उपहार में आये लगे पुष्पों के सुरक्षा जाने से उनका रचना ( गुथाद ) दीली लगी गई है, और दीपक अपने अपने प्रभामण्डल की चमक से रक्षित हो रहे हैं, अर्थात्-दीपकों की प्रभा पीकी हो गई है, अतः इन सब पूर्वोक्त लक्षणों से पूरा मवेरा हो गया है, और यह सुन्दर बोलने वाला पिंजरे में रखा हुआ आसका सूआ भी आप की जगाने के लिये कटे गये हम लोगों के पूर्वोक्त वचनों का अनुकरण करके बोल रहा है, अब आप निद्रा का त्याग करते उठें ॥ ७४ ॥

इति विरचितयागिर्भवत्पुत्रैः कुमारः सपदि विगतनिद्रस्तपमुग्धाश्चकार ।  
मदपटु निगदन्निर्बोधिता राजद्वसौ सुरगम इव गाङ्ग सैकतं सुप्रतीका ॥

इतीति । इतीत्येव विरचितयागिर्भवत्पुत्रैर्बोधिताभिः । पुत्रग्रहणं समाप्तवत्स्य  
त्वद्योतनार्थम् । सपदि विगतनिद्रा कुमारः । तत्पुत्रं सप्याम् । 'तत्पुत्रं सप्याम्' इति  
रेषु इत्यमरः । उक्ताश्चकार विमसर्ज । इत्यादिषु मुक्तमतोऽनुक्ता इत्यात्मन्वयः ।  
कथमिव । मदेन पटु मधुरं निगदन्ती राजद्वसौ बोधिता । सुप्रतीकावयः । सुरगम  
ईषानदिमात्रा । गङ्गाया इव गाङ्ग सैकतं पुष्कलमिव । लोचोन्धितं तपुस्त्रिभं संकतं  
सिकतामवयम् इत्यमरः । 'सिकताद्यकाराभ्यां च इत्यमरः । सुप्रतीकग्रहणं  
प्रायदाः केकासकामिनस्तस्य नित्यं गङ्गास्तटविहारसमवादिबभूवुस्तथ्येषम् ॥ ७५ ॥

रघु प्रहस्य से लुपि-बन्धो को रचना किन्हीने को है येमे बन्दि पुत्रों से शीघ्र ही  
जिनकी निद्रा दूर हो गई थी ऐसे मधुराव अथ मे घरवा को बस तरह से बरितवान किसे  
कि—प्रित तरह से हर्ष से मधुर शब्द करते हुए राजद्वसौ से लगावा गया, 'सुप्रतीक'  
मानक संज्ञाव रिखा का रिगम गङ्गा के रानीने तरह का बरितवान करना है ॥ ७५ ॥

अथ विधिमवसाध्य दारुणदृष्ट दिवसमुन्मोहितमञ्जिताक्षिपद्मा ।

बुधालविरचितानुकूलयेव क्षितिपसमाजमगारम्यदयंवरम्भम् ॥ ७६ ॥

अथेति । अथोत्थानागम्यारमञ्जितानि आकण्ठविषयमागि धरय सोऽङ्गः प्राप्ते  
रहमपगतं दिवसमुन्मोहितं प्राजाकाकाभिर्न विषिमनुहाममवसाद्य समाप्य ।  
अथतस्मिन्मात्रेण । बुधालैः प्रामाण्यवत्परिचितानुक्ताः स्वयं करोवितो बन्धो मेवमर्थं  
धरय स तथाप्य मन्त्रवचनस्यै विनिपसमाजं राजममृदमगदगमम् । इतो मा  
लुपि इति गारेषा । पुण्यताप्राप्तमेतत् । तत्तदगमं अपुत्रि मनुगरेकनो बहारा  
पुत्रि च मत्रा अरगात्र गुं तनाप्रा इति ॥ ७६ ॥

इति बद्धममर्गे म म कोऽप्यवत्समन्त्रिणापमूरिविरचितसजाविभीरीका गमस्ता ।

प्रथम श्राव्य का करने के बाद जिसके नती के लिये लुपि है ऐसे मधुराव अथ  
पुत्रों के प्रत्यक्ष के बोध लुपि व इत्यदि मनुमान गयाव करव अथ ७६ का  
वाम से मधुर पुत्रों के द्वारा अपने दरदर से जाने के बोध उक्त है वनाथ दरदर  
के रहे है तत्तदगम ५ गये ७६ ॥

१ ५ अर्द्धि-यागिर्भवत्पुत्रैः विमसर्ज । मदेन विषयमती ॥ १५ ॥

# रघुवंशमहाकाव्यम्

‘घण्टापथ’ ‘मणिप्रभा’ टीकाद्वयोपेतम् ।

षष्ठः सर्गः ।

जाह्नवी मूर्ध्नि पादे वा कालः कण्ठे वपुष्यथ ।

कामारिं कामतात वा कञ्चिद्देव भजामहे ॥

स तत्र मञ्चेषु मनोज्ञवेपान्सिंहासनस्थानुपचारवत्सु ।

वैमानिकानां मरुतामपश्यदाकृष्टलीलाञ्जरलोकपालान् ॥ १ ॥

स इति । सोऽजस्तत्र स्थाने उपचारवत्सु राजोपचारवत्सु मञ्चेषु पर्यङ्केषु सिंहा-  
सनस्थान्मनोज्ञवेपान्मनोहरनेपथ्यान्वैमानिकानां विमानैश्चरताम् । ‘चरति’ इति  
ठक्प्रत्ययः । मरुताममराणाम् । ‘मरुतौ पवनामरौ’ इत्यमरः । आकृष्टलीलान्गृहीत-  
सौभाग्यान्, आकृष्टमरुल्लीलानित्यर्थः । सापेक्षत्वेऽपि गमकत्वात्समाम् । नरलोक-  
पालयन्तीति नरलोकपालाः । कर्मण्यणप्रत्ययः । तान्भूपालानपश्यत् । सर्गेऽस्मिन्नुप-  
जातिश्छन्दः ॥ १ ॥

सुरनदी शिर या चरणमें श्यामता गल कण्ठमें ।

कामके रिपु वा पिता उस देवको हम नित भजें ॥

उस अगने राजकीय साधनोंसे सजाये गये मञ्चोंपर सुन्दर बैचवाले तथा त्रिमनस्थ  
देवताओंके अनुकरण करनेवाले राजाओंको उस स्वयंवरमें देखा ॥ १ ॥

रतेर्गृहीतानुनयेन काम प्रत्यर्पितस्वाङ्गमिवेश्वरेण ।

काकुत्स्थमालोकयता नृपाणां मनो बभूवेन्दुमतीनिराशम् ॥ २ ॥

रतेरिति । ‘रति स्मरप्रियाया च रागे च सुरते स्मृता’ इति विश्वः । रते काम-  
प्रियाया गृहीतानुनयेन स्वीकृतप्रार्थनेन, गृहीतरत्यनुनयेनेत्यर्थः । सापेक्षत्वेऽपि गम-  
कत्वात्समासः । ईश्वरेण हरेण प्रत्यर्पितस्वाङ्गः काममिव स्थित काकुत्स्थमजमालो-  
कयतां नृपाणां मन इन्दुमतीनिराशः वैदर्भाणि स्पृह यभूव । इन्दुमती सत्पतिमेन  
विहाय नास्मान्वरिष्यतीति निश्चिन्त्युरित्यर्थः । सर्वातिशयसौन्दर्यमस्येति भावः ॥ २ ॥

रति ( कामपत्नी ) की प्रार्थनाको स्वीकारकर शिवजीसे फिर अपने शरीरको प्राप्त किये

हृदय कामके समान नवको देखते हुए राजाओंका मन हनुमती ( श्री पाते ) से विरक्त हो गया ॥ २ ॥

वैदर्भनिर्विष्टमसौ कुमारः क्लृप्तेन सोपानपथेन मञ्चम् ।

शिखाविमलैर्मृगराजशावस्तुङ्गं भगोत्सङ्गमिषाकरोह ॥ ३ ॥

वैदर्भेति । जसी कुमारो वैदर्भेन मोक्षेन निर्विष्टं प्रदर्शितं मन्त्रं पर्यङ्कं पदकेन सुविहितेन सोपानपथेन । मृगराजशावा सिङ्गपोतः । 'पोतः पादोर्मध्ये विष्ठा पृष्ठकं शाक्यः सिङ्गः' इत्यमरः । शिखायां विमलैर्मृगमिसृङ्गमुक्तं यथोत्सङ्गं सौम्यप्रतिबलकरोह ॥ ३ ॥

वै कुमार ( जय ) विदर्भनरोह ( मोक्ष ) से उत्कृष्ट गये मञ्चपर गमाये गये सीढ़ीके रास्तेसे । मृगनोंके रास्तेसे मृगमरुत सिङ्गके पदोंके समान चढ़ गये ॥ ३ ॥

परार्धैर्वास्तरणोपपन्नमासेविषामल्लवदासनं स ।

भूयिष्ठमासीदुपमेयकन्तिर्यमूरपृष्ठाभयिजा शुहेन ॥ ४ ॥

परार्धैर्वा । परार्धो ज्ञेया वन्द्य नीलपीठादयो वस्तु । तैनास्तरणैः कम्बुकादिवो परार्धं सङ्गतं रत्नवज्रलक्षितमासनं सिंहासनमासेविषामल्लवदासनं । मयूरपृष्ठाभयिजा शुहेन सेवान्वा सङ्गः । 'सेववीरसिर्गुहः' इत्यमरः । भूयिष्ठमन्त्रार्थद्वयमेव कन्तिरस्ति । मयूरस्य विविन्नकण्ठवाक्प्राप्तमन्त्रं रक्षाप्रवरणं । तद्द्वारा च तदाकालं योरपीति भाषा ॥ ४ ॥

बहुमुख रंभीय वाहरसे विजाये गये राजवर्धित आसनपर बैठे हुए वै जय सीढ़ी पीठपर बैठे हुए कन्तिर्यमके समान अधिक धीममान हुए ॥ ४ ॥

तासु भिन्ना राजपरम्परासु प्रभाविशेषोत्पुनर्निरीक्ष्य ।

सहस्रधात्मा व्यदन्तिमक्षः पयोमुखां पङ्क्तिषु विद्युतेषु ॥ ५ ॥

तासिचि । तासु राजपरम्परासु भिन्ना कक्ष्या कर्मा पयोमुखी मेघायां पङ्क्तिषु विद्युतेषु सहस्रधा विमल्य तरङ्गेषु तरनिरिव स्वयमेक पृष्ठं प्रत्येकं सहस्रमित इत्यर्थाः । प्रभाविशेषोत्पुनर्निरीक्ष्येन हर्षिरीक्ष्यो हर्षरान् कष्टाया भिन्ना स्वर्ग्यं व्यदन्तिमक्षोतिष्ठः । मुक्तयो लुकि' इति परस्मैपदम् । पुनादित्वाद्द्वयवचनः । तस्मिन् समये प्रत्येकं सहस्रकण्ठकक्षीकृतया तेषां किमपि कुरातर्त्तं तैश्च प्रादुरासीदित्यर्थाः ॥ ५ ॥

इन राजपङ्क्तिषोमें कक्षी ( घोषा ) से हजारों भागोंमें ( तरङ्गोंमें सूर्यके समान ) आगम्यो देखाये हुए वै जय, मेघपङ्क्तिषोमें विमलसे हजारों भागोंमें विमल ( तर तरक देवसे भये ) आगम्य अर्थात् मण्डपके समान शोभित हुए ॥ ५ ॥

तेषा महार्हासनसस्थितानामुदारनेपथ्यमृता स मध्ये ।

रराज धाम्ना रघुमनुरेव कल्पद्रुमाणांमिव पारिजातः ॥ ६ ॥

तेषामिति । महार्हासनसस्थितानां श्रेष्ठसिंहासनस्थानाम् । उदारनेपथ्यमृता-  
मुज्ज्वलवेपथारिणा तेषा राज्ञां मध्ये । कल्पद्रुमाणां मध्ये पारिजात इव सुरद्रुम-  
विशेष इव । 'पञ्चैते देवतरवो मन्दार' पारिजातक । सतान कल्पवृक्षस्य पुति वा  
हरिचन्दनम्' इत्यमरः । स रघुसूनुरेव धाम्ना तेजसा । 'भूम्ना' इति पाठेऽतिशयेने-  
त्यर्थः । रराज । अत्र कल्पद्रुमशब्द पञ्चान्यतमविशेषवचन , उपकल्पयन्ति मनोरथा-  
निति व्युत्पत्त्या सुरद्रुममात्रोपलक्षकतया प्रयुक्त इत्यनुसन्धेयम् । कल्पा इति द्रुमाः  
कल्पद्रुमा इति विग्रहः ॥ ६ ॥

बहुमूल्य आसनोपर बैठे हुए तथा श्रेष्ठ भूषणोंको पहने हुए उन राजाओंके बीचमें रघु-  
कुमार अज हो, कल्पद्रुमोंके बीचमें पारिजातके समान अपने तेजसे शोभायमान हुए ॥ ६ ॥

नेत्रव्रजा. पौरजनस्य तस्मिन्विहाय सर्वान्पतीन्निपेतुः ।

मदोत्कटे रेचितपुष्पवृक्षा गन्धद्विपे वन्य इव द्विरेफाः ॥ ७ ॥

नेत्रेति । पौरजनस्य नेत्रव्रजा' सर्वान्पतीन्विहाय तस्मिन्नजे निपेतु । स एव  
सर्वोत्कर्षेण ददृश इत्यर्थः । कथमिव—मदोत्कटे मदोद्विग्नगण्डे निर्भरमदे वा वन्ये  
गन्धप्रधाने द्विपे गजे । रेचिता रिक्तीकृताः पुष्पाणां वृक्षा यैस्ते, त्यक्तपुष्पवृक्षा  
इत्यर्थः । द्विरेफा मृदा इव । द्विपस्य वन्यविशेषण द्विरेफाणां पुष्पवृक्षत्यागसम्भ-  
वार्यं कृतम् ॥ ७ ॥

नागरिकोंको दृष्टि सब राजाओंको छोडकर उस अजपर ही उस प्रकार गयी, जिस प्रकार  
भौर फूले हुए पृक्षोंको छोडकर तीव्र गन्धवाले हाथी ( के गण्डस्थल ) पर जाते हैं ॥ ७ ॥

त्रिभिर्विशेषमाह—

अथ स्तुते बन्दिभिरन्वयज्ञैः सोमार्कवंश्ये नरदेवलोके ।

सञ्चारिते चागुरुसारयोनी धूपे समुत्सर्पति वैजयन्ती. ॥ ८ ॥

अथेति । अथान्वयज्ञै राजवशाभिज्ञैर्बन्दिभि' स्तुतिपाठकै । 'बन्दिन स्तुति-  
पाठका' इत्यमरः । सोमार्कवंश्ये सोमसूर्यवंशभवे नरदेवलोके राजसमूहे स्तुते सति ।  
विवेशेऽनुत्तरेण सम्बन्धः । एवमुत्तरत्रापि योज्यम् । सञ्चारितो समन्तात्प्रचारितः ।  
अगुरुसारो योनि कारण यस्य तस्मिन्धूपे च वैजयन्तीः पताका समुत्सर्पति सति  
अतिक्रम्य गच्छति सति ॥ ८ ॥

इसके बाद वंश ( की परम्परा ) को जाननेवाले बन्दिनोंसे सूर्यवंशी तथा चन्द्रवंशी-  
राजाओंके प्रशंसित होनेपर अर्थात् प्रशंसात्मक वचनोंसे परिचय दिये जानेपर, जलये  
गये अगरकी धूपवत्तियों ( के धूप ), की पताकाओंसे ऊपर तक फैलते रहनेपर— ॥ ८ ॥



पुरोपकण्ठेपयनाभयाणां कक्षापिनामुद्यतमृत्युहेतो ।

प्रध्मावशङ्के परितो दिगन्तांस्तूर्यस्वने भूर्ध्वसि सङ्गकार्थे ॥ ६ ॥

पुर इति । किं च । पुरस्योपकण्ठे समीप उपवनाभ्यामवो चेपौ तेषां कक्षपिनां बहिर्नामुद्यतमृत्युहेतो मेघध्वनिस्तारुणात्ताम्रवक्त्ररत्ने । प्रध्मात्ता पुरितः सङ्गः यत्र तस्मिन् मङ्गकार्थे मङ्गलप्रबोधनके । तूर्यस्वने आद्यबोधे परितः सर्वतो दिगन्ता भूर्ध्वसि व्याप्नुवति सति ॥ ९ ॥

अत्रत्ये पार्श्वरतीं उपययोर्मे रक्षित्वाके मन्त्रोक्तं वाचिकं वाचनिका कारण बने हुर ल सङ्ग वक्तव्ये वायेवाके, मङ्गलके चित्ते पुरही (वादि वाक्तामो) की अनिष्टी दिगन्त ल वीर्य रक्षेत्—॥ ९ ॥

मनुष्यवशं चतुरक्षयानमप्यस्य कन्या परिवारशोभि ।

विदेश सञ्जान्तरराजमार्गे पतिवरा वल्लभविवाहव्या ॥ १० ॥

मनुष्यवशमिति । पतिं वृजोतीति पतिवरा स्वर्ध्वरा । 'अथ स्वर्ध्वरा । पतिं वरा च वर्धाभ्या' इत्यमरः । 'संज्ञायां ध्रुववृत्तिवारिसङ्घितपिहम्' इत्यनेन वक्ष्य-  
त्परा । वल्लभविवाहव्या कन्येभ्युमती मनुष्यैर्वाप्य परिवारेण पतिवरेण शोभि  
चतुरक्षयानं चतुरक्षयाह्वनं क्षिप्तिकामप्याप्त्यस्तस्य सञ्जान्तरे मङ्गमन्ये यो राज-  
मार्गास्तं विवेक्ष ॥ १ ॥

पतिवरे स्वयं वरान करनेवाले विवाहके मूल्योंकी पहची हुईकुमारी दन्तुमती परिवारमें  
श्रीममल तथा मनुष्योंसे होये जानेवाले वाक्प्रे वा ताम्रदन्तपर सवार होकर मङ्गके  
मध्यमें ( बनी हुई ) सङ्कपर पहुँची ॥ १ ॥

तस्मिन्विधानातिशये विधातुं कन्यामये नेत्रप्रसङ्गस्ये ।

निपेतुरन्तःकरपैर्नरेन्द्रा इहे स्थिता केवलमासनेषु ॥ ११ ॥

तस्मिन्निति । वेदव्यतागामेककल्पे एकदशके कन्यामये कन्याकये तस्मिन्विधाने  
विधानातिशये छद्मविशेषे नरेन्द्रा अन्तःकरपैर्निपेतुः । आसनेषु इहे केवलं ही-  
रेण स्थिताः । दैवानपि विस्मृत्य तत्रैव वदन्तिता वमृष्टुमिर्त्तवः । अन्तःकरपैर्नि-  
पेतुवे नरेन्द्राणां कर्तृत्वव्यपदेश आह्वानातिशयार्थः ॥ ११ ॥

ऐक्यो मैत्रौका यत्र कथं कन्या ( दन्तुमती ) कम मङ्गलके वेद रचनायें तथाहीन  
अन्तःकरपैर् मध ही गये और आसनपर ( तो वे केवल ) सरीरके बैठे रहे । ( दन्तुमतीमें  
उन राजाओंका अन्तःकरण आह्व ही गया ) ॥ ११ ॥

तां प्रत्यभिगम्यक्तमनोरथानां महीपतीनां प्रणयप्रपूत्य ।

प्रयत्नशोभा इव पादपानां गृह्णारभेष्टा विविधा वमृष्टु ॥ १२ ॥

तामिति । तामिन्दुमतीं प्रति । अभिव्यक्तमनोरथानां प्ररुढाभिलाषाणां मही-  
पतीनां राज्ञां प्रणयाग्रदूत्यः प्रणयः प्रार्थना प्रेम वा । 'प्रणयास्त्वमी । विज्रम्भयाञ्चा-  
प्रेमाणः' इत्यमरः । प्रणयेष्वग्रदूत्यः प्रथमदूतिका । प्रणयप्रकाशकत्वसाम्याददूतीत्व-  
व्यपदेशः । विविधा शृङ्गारचेष्टा शृङ्गारविकाराः पादपाना प्रवालशोभाः पल्लवसम्पद  
इव वभूवुरूपज्ञा । अत्र शृङ्गारलक्षणं रससुधाकरे—'विभावैरनुभावैश्च स्वोचितैर्न्यभि-  
षारिभिः । नीता सदस्यरस्यत्व रतिः शृङ्गार उच्यते' ॥ रतिरिच्छाविशेषः । तच्चोक्त  
तत्रैव—'यूनोरन्योन्यविशेषस्यायिनीच्छा रति स्मृता' इति । चेष्टाशब्देन तदनुभा-  
वविशेषो उच्यन्ते । तेऽपि तत्रैवोक्ता—'भाव मनोगतं साक्षात्स्वहेतु व्यञ्जयन्ति ये ।  
तेऽनुभावा इति ख्याता भूविशेषस्मितादयः' ॥ ते चतुर्धा चित्तगात्रवाग्बुद्ध्यारम्भसम्भ-  
वा' इति । तत्र गात्रारम्भसम्भवांश्चेष्टाशब्दोक्ताननुभावान् 'कश्चित्'—इत्यादिभि  
श्लोकैर्वर्णयति । शृङ्गाराभासश्चायम् । एकत्रैव प्रतिपादनात् । तदुक्तम्—'एकत्रैवानुरा-  
गश्चेत्तिर्यक्शब्दगतोऽपि वा । योपितां बहुसक्तिश्चेदसाभासस्त्रिधा मतः' इति ॥ १२ ॥

उस इन्दुमतीके प्रति स्पष्ट अभिलाषावाले राजाओंकी प्रेमसम्बन्धिनी प्रथम दूती, वृक्षोंकी  
वपल्लवोंकी शोभाके समान, अनेक चेष्टायें ( श्लो० १३-१९ में वर्णित ) हुई ॥ १२ ॥

'शृङ्गारचेष्टा वभूवुः' इत्युक्तम् । ता एव दर्शयति—

कश्चिद्विदिति । कश्चिद्राजा कराम्यां पाणिभ्यामुपगृह्णन्नाल गृहीतनालम् । आलो-

रजोभिरन्तःपरिवेषबन्धि लीलारविन्द भ्रमयाञ्चकार ॥ १३ ॥

कश्चिदिति । कश्चिद्राजा कराम्यां पाणिभ्यामुपगृह्णन्नाल गृहीतनालम् । आलो-  
लैश्चञ्चलैः पत्रैरभिहतास्ताडिता द्विरेफा भ्रमरा येन तत्तथोक्तम् । रजोभिः परागै  
रन्तःपरिवेष मण्डल वज्रातीत्यन्तःपरिवेषबन्धि । लीलारविन्द भ्रमयाञ्चकार । करस्य  
लीलारविन्दवत्त्वयाह भ्रमयितव्य इति नृपभिप्रायः । हस्तघूर्णकोऽयमपलक्ष्यक  
इतीन्दुमत्यभिप्रायः ॥ १३ ॥

कोई राजा दोनों हाथसे पकड़े गये नालदण्डवाले, हिलते हुए पत्तोंसे भ्रमरोंको दूर  
करनेवाले और भीतरमें परागोंके मण्डल बाधते हुए लीलकमलकी धुमा रहा था । ( 'मेरे  
हाथमें स्थित इस लीला-कमलके समान तुम्हारे साथ में भ्रमण करूंगा या तुम मेरे साथ  
भ्रमण करना' यह राजाका अभिप्राय था और 'हाथको धुमानेवाला यह राजा कुलक्षण है'  
'यह इन्दुमतीका अभिप्राय था ) ॥ १३ ॥

विज्रस्तमसादपरो विलासी रत्नानुविद्धाङ्गदकोटिलभम् ।

प्रालम्बमुत्कृष्य यथावकाश निनाय साचीकृतचारुवक्त्रः ॥ १४ ॥

विज्रस्तमिति । विलसनशीलो विलासी । 'वौ कषलसकल्यजम्भ' इति धिनु-  
णप्रत्ययः । अपरो राजासाद्विज्रस्त रत्नानुविद्ध रत्नखचित यदङ्गद केयूर तस्य कोटि-

अथ प्राकम्बयुक्तकम्बिनीं कथम् । 'प्राकम्बयुक्तकम्बि स्वाकम्ब्यात् इत्यमरा । 'प्र-  
 वारम्' इति पाठे एतरीयं वक्ष्यम् । उत्कृष्टोद्भूतं साध्वीकृतं तिर्यक्कृतं वाच्यं कर्त्तुं  
 वक्ष्य स तथोक्तं सन् यथाकालं स्वस्थानं निनाय । प्रावारोत्थेपपञ्चद्वैबाई ताम्रैर्  
 परिरम्ब इति श्रुयामिप्रायः । शोषणीयं किञ्चिद्दोषमिति ततोऽयं प्रावृणुत इतीन्द्रमुत्प-  
 मिप्रायः ॥ १३ ॥

दूसरा निवासी राजा कम्बेते नीचे सरको दुर्ग तथा रत्नमयि निवायठके निजैर्द-  
 ५-१० दुर्ग मातादी ( पाठान्तरसे—दुपट्टेकी ) सुन्दरी बोझा तिर्का करता हुआ नवस्ताव  
 रत्ना । ( 'दुपट्टेकी' इत्यादि के बहाने से ये दुमको इसी प्रकार नाजिहान करमा' वह राजाका  
 नमिप्राय वा और 'वह राजा अपने वृत्ति नवको शिपा रहा ॥ वह इन्द्रमुत्प-  
 नमिप्राय वा ॥ १४ ॥

अक्षुब्धितामाहुजिना सतोऽन्य किञ्चित्समावर्जितनेत्रशोभ ।

तिर्यग्यिसंसर्पिनकप्रमेय पाद्वन हैम विविक्तेष्व पीठम् ॥ १५ ॥

अक्षुब्धेति । ततः पूर्वोक्तदम्बोम्बरो राजा किञ्चित्समावर्जितवैशद्योम ईश्वर-  
 क्पाठितवैशद्योमः सन् । अक्षुब्धिता नाम्नामा यमाहुकम्बो वक्ष्य तेन तिर्यग्यिसंसर्पि-  
 न्को वक्ष्यमा वक्ष्य तेन च पाद्वन हैम विरम्भयं पीठं पाद्वीठं विविक्तेष्व किञ्चित-  
 वाक् । पादाहुकीवामाहुजिनेय एवं मध्यमीपमागप्यैति श्रुयामिप्रायः । भूमिविक्ते-  
 कोऽम्बमपककक इतीन्द्रमुत्प्रायः । भूमिविक्तेष्व तु कक्षमीविनायदेति ॥ १५ ॥

उसके नातिरिक्त दूसरा राजा वैश्वी नीका नीचे सरको कोमयुक्त होता हुआ नवाय ५-१०  
 निक्षेप करता हुआ नवकुम्बो बोझा तिर्काकर तिर्यक् के लो दुर्ग मध्यमिनायके वैरते दुम-  
 रक्ति पन्थीठ ( शिवासनके नीचे लगे हुए पावचल ) को सुरचने क्या । ( 'दिग्बि' इत्य-  
 मति । दुम मेरे समीप नालो वह राजाका नमिप्राय वा और 'भूमिको सुरचनेयके राजाके  
 मन्त्रीके विनायक रूपक अद्वय कल्प ॥' ऐसा ॥ दुमको नमिप्राय वा ) ॥ १५ ॥

निवेश्य वामं मुखमासनार्थे तत्सन्निवेशाधिकोभृतांस ।

कश्चित्पुत्रत्रिकमिजहार मुहूर्त्तसमाभाषणतत्परोऽमूल ॥ १६ ॥

निवेश्येति । कश्चित्पुत्रा वामं मुखमासनार्थे सिद्धस्त्रीकदैरे निवेश्य संस्थाप-  
 न्त्सन्निवेशात्तस्य वाममुखस्य सन्निवेशात्संस्थापनाधिकोभृतांसो वामांत ५-  
 वक्ष्य स तथोक्तं सन् । विष्णुषे परावृत्ते त्रिके त्रिकमदैरे मिजहारो मुहूर्त्तहातः सन्  
 'मुहूर्त्तहातरे त्रिकम् इत्यमरा । मुहूर्त्तसमाभाषणतत्परोऽमूल । वामपार्श्ववर्तिनैव सिं-  
 नेय सम्पादितुं प्रवृत्त इत्यर्थः । अत एव विवृत्तमिच्छं वदते । त्वया वामाहो नि-  
 पितवा सदैवं वार्ता करिष्य इति श्रुयामिप्रायः । परं दृष्ट्वा परावृत्तोऽयं न कार्यं  
 कर्त्तव्यमिति श्रुयामिप्रायः ॥ १६ ॥

सिंहासनके आधे भागमें बायें हाथको रखकर उस हाथको आसनपर रखनेसे ऊंचे (उठे हुए दहिने) कंधेवाला तथा पीठपर पहुँचे (लटकते) हुए हारवाला कोई राजा मित्रके साथ बात करने लगा । ( 'तुमको बायें अङ्गमें बैठाकर इसी प्रकार मैं तुमसे वार्तालाप करूँगा' यह राजाका अभिप्राय था और 'दूसरेके सामने मुख फेर कर कर्तव्यविमुख होनेवाला यह राजा है' यह इन्दुमतीका अभिप्राय था ) ॥ १६ ॥

विलासिनीविभ्रमदन्तपत्रमापाण्डुर केतकवर्हमन्यः ।

प्रियानितम्बोचितसन्निवेशैर्विपाटयामास युवा नखाग्रैः ॥ १७ ॥

विलासिनीति । अन्यो युवा विलासिन्या प्रियाया विभ्रमार्थं दन्तपत्र दन्तपत्रभूतमापाण्डुर केतकवर्हं केतकदलम् । 'दलेऽपि वर्हम्' इत्यमर । प्रियानितम्ब उचितसन्निवेशैरभ्यस्तनिक्षेपणैर्नखाग्रैर्विपाटयामास विदारयामास । अहं तव नितम्ब एव नखव्रणादीन्दास्यामीति नृपाशयः । तृणच्छेदकवत्पत्रपाटकोऽयमपलक्षणक इतीन्दुमत्याशयः ॥ १७ ॥

दूसरा युवक राजा विलासिनियोंके विलासार्थं निर्मित दन्तपत्रवाले एव श्वेतवर्ण केतकी-पुष्पके पत्तेकी प्रियाके नितम्बपर रखने योग्य अर्थात् प्रियाके नितम्बको विलिखित करनेवाले नखाग्रोंसे खुरचता था । ( 'मैं तुम्हारे नितम्बपर सम्भोगकालमें इसी प्रकार नखाग्रोंसे विलेखन करूँगा' यह राजाका अभिप्राय था और 'तृणच्छेदन करनेकी अशुभ प्रकृतिवाला यह केतकी-पुष्पके पत्रको विदीर्ण कर रहा है' यह इन्दुमती का अभिप्राय था ) ॥ १७ ॥

कुशेशयाताम्रतलेन कश्चित्करेण रेखाध्वजलाब्धनेन ।

रत्नाङ्गुलीयप्रभयानुविद्वानुदीरयामास सलीलमच्चान् ॥ १८ ॥

कुशेशयेति । कश्चिद्राजा कुशेशय शतपत्रमिवाताम्र तल यस्य तेन । 'शतपत्र कुशेशयम्' इत्यमर । रेखारूपो ध्वजो लाब्धनेन यस्य तेन करेण । अङ्गुलीषु मवान्यङ्गुलीयान्यूर्मिका । 'अङ्गुलीयकमूर्मिका' इत्यमर । 'जिह्वामूलाङ्गुलेरङ्गु' । इति छप्रत्ययः । रत्नानामङ्गुलीयानि तेषां प्रभयानुविद्वान्याप्तानन्धान्पाशान् । 'अचास्तु देवना. पाशकाश्च ते' इत्यमर । सलीलमुदारयामासोक्षिन्नेप । अहं त्वया सहैव रस्य इति नृपाभिप्रायः । अक्षचातुर्येण कापुरुषोऽयमितीन्दुमत्यभिप्रायः । 'अक्षैर्मा दीव्येत्' इति श्रुतिनिषेधात् ॥ १८ ॥

कोई राजा कमलके समान लाल तलहत्थीवाले तथा ध्वजाके चिह्नसे युक्त रेखावाले हाथसे, रत्न जड़ी हुई अंगूठीकी क्लान्तिसे युक्त पाशको उछाल रहा था । ( 'मैं तुम्हारे साथ इसी प्रकार रमण करूँगा' यह राजाका अभिप्राय था और 'यह जुआरी है' यह इन्दुमतीका अभिप्राय था ) ॥ १८ ॥

कश्चिपथामागमयस्थितेऽपि स्वसन्निवेशाद्यतिव्रत्तिनीव ।

वर्षांशुगर्भाङ्गुलिरग्धमेकं व्यापारयामास क्व क्विरीटे ॥ १६ ॥

कमिदिति । कश्चिदध्यामायां यथास्थानमवहितेऽपि स्वसन्निवेशाद्भवति छिदीय  
स्वरयानात्कित इव छिदीये यज्ञाणां छिदीयस्तामामंसचो धर्मं वेद्यं तांभुक्तिरग्रानि  
यस्य तमेकं कर्तुं ध्यापारयामास । छिदीयकम्भस्य सिरसि स्थितामपि त्वां धारं न मन्त्र  
इति श्रुतामिष्यत् । सिरसि न्यस्ताहस्तोऽन्वमपकञ्च इतीन्वमात्यमिषायाः ॥ १५ ॥

बीरे रामा अर्थात् स्थानपर स्थित होनेपर भी अगर-अगर सरकै रूपसे समान सुष्ठुपर होनेसे फिरगोंसे सुष्ठु बहुविधिप्रयोगके कारणसे सुष्ठुपर रखा । ( यस्तुपर रहनेपर भी समानसे सुष्ठुके समान भार जहाँ समानुपा यह रामाका अविग्राम वा बीर 'यस्तुपर' शब्द रहनेवाला यह कुम्हल रामा ॥ यह अनुमतीका अविग्राम वा ) ॥ १९ ॥

ततो वृषायां भुवऋक्षवंशा पुष्यगन्तुमा प्रतिहारही ।

प्राक्ससन्निकर्षं मंगलेश्वरस्य गीत्वा कुम्भारीमववत्सुतन्वा ॥ २० ॥

तत इति । ततोऽनन्तरं सुपात्तां सुतनुष्वर्थां सुतनुष्वृत्तवर्धेत्यर्थः । सापेक्षे-  
 ऽपि यमकव्यासमासाः । प्रत्ययानां नामिनी सुतनुष्वर्थां सुतनुष्वर्थां प्रतिहारं रक्षयति  
 प्रतिहाररक्षी इतरपाठिका । कर्मण्यण्यत्वयोः । 'प्रिकृष्टाणाम्बुहवसश्चराम्नाम्रवृत्तव-  
 र्णमृत्तवृत्तवर्णा' इत्यनेन लीप् । प्रत्ययस्य सुमात्रीमित्युपसृतिश्च । मयावेधस्य सति  
 कर्त्तुं समीपं गीष्वा पुंकार्पुसां तुल्यम् । 'तेन तुल्यं श्रिया येहति' इति वृत्तिप्रत्ययः ।  
 अथवा ॥ २ ॥

इसके बाद राजाजीके आचरण पर मैं भी—परम्पराकी शानसेवाकी उपा हीठ ( कन्या पुरुषके समान हीठ ) आरणात्मिक 'सुकन्या' पत्रके कुमाटी शम्भुमतीकी मंगलचरित्रके समीप केवलकर प्रथमके समान बोली ॥ १ ॥

असौ शरदः शरणेषु ज्ञानमगाधसत्त्वो मगधप्रविष्टः ।

राजा प्रजानामनताम्यवर्णः परम्यपो नाम यथार्थन्यमा ॥ २१ ॥

असाविति । असी राज्ञा । असाविति पुरोवर्तिनो निर्वृता । अश्वमुत्तराणि  
ब्रह्मण्य । सारणीमुत्तानां करणवर्तिनां अरण्या अरने रक्षणे साधुः, 'यत्र साधु' इति  
वचनव्यापारः । सारणे भवितुमर्हः सारण्य इति नामनिष्ठविधिर्विमुक्तैः । असावसारणे गम्भीर  
स्वभावाः । 'सर्वं गुणे पिताप्राप्तौ वक्तुं ब्रह्मण्यमाद्ययोः' इति विद्या । असाव अश्वपदम्  
तेषु प्रतिष्ठापयन् वक्ष्य स असावमतिष्ठ, 'मतिष्ठ कृत्यमात्पदम्' इत्यमरः । असावजने  
अश्वपदयोः विचक्षणः । असा असावजनेन कर्मयोगदर्शः । असावज्ज्ञेतापतीति परमपद  
परमपदव्यापारः । द्विपदव्योस्तापे' इति अश्वपदव्यापारः । 'अवि इत्यम्' इति इत्यम् ।

‘अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्’ इति मुमागमः । नामेति प्रसिद्धौ, यथार्थनामा, शत्रुसन्तापनादिति भावः ॥ २१ ॥

यह शरणार्थियोंके लिये शरण्य (शरणागतोंके साथ सद्ब्यवहार करनेवाला), अपरिमित बलवाला, मगध देशकी प्रतिष्ठा अर्थात् मगध देशमें रहनेवाला, प्रजाओंके अनुरजन करनेमें विद्वान् और शत्रुओंको सन्तप्त करनेसे यथार्थ नामवाला ‘परन्तप’ नामक राजा है ॥ २१ ॥

काम नृपाः सन्तु सहस्रशोऽन्ये राजन्वतीमाहुरनेन भूमिम् ।

नक्षत्रताराग्रहसङ्कुलापि ज्योतिष्मती चन्द्रमसैव रात्रिः ॥ २२ ॥

काममिति । अन्ये नृपाः कामं सहस्रशः सन्तु । भूमिमनेन राजन्वतीं शोभन-राजवतीमाहुः, नैतादृक्कश्चिदस्तीत्यर्थः । ‘सुराजि देशे राजन्वान्स्यात्ततोऽन्यत्र राज-चान्’ इत्यमरः । ‘राजन्वान्सौराज्ये’ इति निपातनात्साधुः । तथा हि—नक्षत्रैरश्वि-न्यादिभिस्तारामि साधारणैर्ज्योतिर्मिग्रहैर्भौमादिभिश्च सङ्कुलापि रात्रिश्चन्द्रमसैव ज्योतिरस्या अस्तीति ज्योतिष्मती, नान्येन ज्योतिरेत्यर्थः ॥ २२ ॥

दूसरे हजारों राजा भले हो हों, ( किन्तु लोग ) इसी राजासे पृथ्वीकी श्रेष्ठ राजावाली कहते हैं, क्योंकि अश्विनी आदि नक्षत्र, अन्य ताराएँ तथा मङ्गल आदि ग्रहोंसे परिपूर्ण भी रात्रि चन्द्रमासे ही ‘बौदनीवाली’ होती है ॥ २२ ॥

क्रियाप्रबन्धादयमध्वराणामजस्रमाहूतसहस्रनेत्रः ।

शच्याश्चिरं पाण्डुकपोललम्बान्मन्दारशून्यानलकांश्चकार ॥ २३ ॥

क्रियेति । अयं परन्तपोऽध्वराणां क्रतूनां क्रियाप्रबन्धादनुष्ठानसातत्यात्, अवि-च्छिन्नादनुष्ठानादित्यर्थः । अजस्र नित्यमाहूतसहस्रनेत्रः सश्चिरं शच्या अलकान्पाण्डु-कपोलयोर्लम्बान्स्तान् । पचाद्यच् । मन्दारैः कल्पद्रुमकुसुमैः शून्यांश्चकार । प्रोषितभर्तृका हि केशसस्कारं न कुर्वन्ति । ‘प्रोषिते मलिना कृशा’ इति । ‘क्रीडां शरीरसस्कारं समाजोत्सवदर्शनम् । हास्यं परगृहे यान् त्यजेत्प्रोषितभर्तृका ॥’ इति च स्मरणात् ॥ २३ ॥

सर्वदा यज्ञ करनेसे इन्द्रकी बार २ गुलानेवाला यह राजा इन्द्राणीके ( पतिविरहसे ) पाण्डुर कपोलोंपर लटकते हुए बालोंकी मन्दार-पुष्पसे रङ्गित कर दिया है । ( जब २ इन्द्र राजा के यहाँ यज्ञभाग लेनेके लिये जाते हैं तब २ प्रोषित ( परदेशमें गये हुए ) पतिवाली इन्द्राणीका कपोलमण्डल पतिविरहसे श्वेतवर्ण हो जाता है और वह केशोंमें मन्दार-पुष्पोंकी गूथकर शृङ्गार करना छोड़ देती है ) ॥ २३ ॥

अनेन चेदिच्छसि गृह्यमाण पाणिं वरेण्येन कुरु प्रवेशे ।

प्रासादवातायनसञ्चितानां नेत्रोत्सव पुष्पपुराङ्गनानाम् ॥ २४ ॥

अभिपद्यमागमवस्थितेऽपि स्वसन्निवेशाच्चतिलङ्घिनीष ।

वस्त्राद्युपाभाङ्गशिरःप्रमेहं व्यापारयामास कर्त्तुं किरीटे ॥ १६ ॥

कमिदिति । कमिद्यथाभागे यथास्थानमवस्यतेऽपि स्वस्वविशेषाद् व्यतिरिक्तत्वेन  
स्वस्यामायकित्व इव किरीडे वज्राणां किरीडगतागामंशयो धर्मो येषां ताभ्यामुक्तिरग्र्याभि-  
यस्य तमेके करं व्यापादयामासुः । किरीडबन्धम शिरसि स्थितामपि त्वा भारं च मन्त्र-  
इति नृपाभिप्रायाः । शिरसि अस्तहस्तोऽयमपकर्षण इतीन्द्रमत्यभिप्रायः ॥ १९ ॥

कीर्ति रामा बधित स्थानपर स्थित होनेपर भी शर-वधर शरके रूपके समान सुन्दर होनेके कारणोंसे कुछ अङ्कशिक्षितोंके हस्तके सुन्दर रहता । ( 'मल्लिकपर रहनेपर भी सुन्दरके समान मार नहीं समझता वह राजाका बलिदान था कीर्ति 'मल्लिकपर राजा रहनेका वह सुन्दर राजा ।' वह अनुमतीका बलिदान था ) ॥ १५ ॥

ततो नृपाणां मृतकृत्तपेरा पुत्रत्वगत्वा प्रतिहाररक्षी ।

प्राक्सन्निकर्षं मगधेश्वरस्य नीत्वा कुमारीमण्डपस्तुनम्वा ॥ २० ॥

एत इति । ततोऽनन्तरं सुपात्रां सुतद्वृत्तर्थां सुतद्वृत्तर्थां । साधये  
 इति गमकत्वात्तमासाः । प्रगल्भा वाग्मिनी सुगन्धा सुगन्धाद्या प्रतिहारं रक्षतीति  
 प्रतिहाररक्षी हारपात्रिका । कर्मण्यभ्यस्तवा । 'दिग्भान्द्रवसचन्द्रमाम्बुतवा  
 द्युक्तम्भुक्तवा' इत्येव छीप् । प्रत्ययमं कुमारिणिभूमतीत्य । मगधैरस्य सति  
 कर्पं समीपं गीत्वा पुंसपुंसां पुंस्यम् । 'तेन पुंसं छिपा येदिति' इति वतिप्रत्यवा ।  
 अथवा ॥ २ ॥

इसके बाद राजाजीके कात्तरन घन पक्ष-परम्पराके आलयेष्टकी सेवा छीठ (अर्थात् पुराने समाल छीठ) इतरपाकिम्ब 'सुखम्बा' पक्षे कुमारी इन्धुमतीके भगवदरेके समीप केवात्तर प्रसन्ने समाल बीनी ॥ १ ॥

असौ शरयष शरणोभ्युत्थानामग्रयसत्तो मगयप्रविष्टः ।

रक्षा प्रद्वारस्तनकम्भर्णे परम्यपो माम वषार्यनामा ॥ २१ ॥

असाविति । असौ राजा । असाविति पुरोवर्तिनो विवेका । एवमुक्तमपि  
ब्रह्मम् । अरजोऽमृतात्मा अर्यावर्तिनां अरण्या अरये रक्षणे साधुः, 'तत्र साधु' इति  
वचस्तत्र । अर्यं भवितुमर्हं अरण्या इति वायनिकृतिर्निर्मूलैव । अयावद्वत्तो गम्भीर  
त्वमाद्य । 'सत्यं तुमे पिशाचादौ कष्टे ब्रह्मस्त्वमाद्यतो' इति विद्या । मयावा अमपरा  
तैव प्रतिज्ञात्पदं अत्य स मयावमतिष्ठ, 'मतिष्ठा कृत्यमात्पदम्' इत्यमरः । मयावतये  
अवयवार्थे विचक्षणा । अहं मयावतयेन कथ्यतेत्यर्थः । पराम्बुर्नृस्तापतीति परमत्क  
परमत्प्राप्तः । द्विस्तपरमोस्तापे' इति अथस्तपः । 'अथि इत्य' इति इत्य ।

लकादिभिर्महपिभिर्विनीतनागः शिक्षितगज । किलेत्यैतिर्ये । अत एव भूमिगतो-  
न्यैन्द्र पदमैश्वर्यं भुङ्क्ते, भूलोक एव स्वर्गसुखमनुभवतीत्यर्थः । गजाप्सरोदेवपि-  
व्यत्वमैन्द्रपदशब्दार्थः । पुरा किल कुतश्चिच्छापकारणाद् भुवमवतीर्णं दिग्गजवर्गमा-  
जेक्य स्वयमशक्तेरिन्द्राभ्यनुज्ञयाऽऽनीतर्देवपिभिः प्रणीतेन शास्त्रेण गजान्वशोक्त्य-  
मुवि सम्प्रदाय प्रावर्तयदिति कथा गीयते ॥ २७ ॥

और थोली—‘देवाङ्गनाओं (अप्सराओं) से अभीप्सित यौवनश्रीवाला गजशास्त्रके  
गण्डितों (पालकादि ऋषियों) से हाथियोंको शिक्षित करानेवाला यह अङ्गदेशका राजा  
पृथ्वीपर स्वर्गके पदको भोग करता है अर्थात् पृथ्वीपर ही स्वर्गतुल्य सुखभोग रहा है ॥२७॥  
पौराणिक कथा—१ एक समय यह राजा असुरपीडित इन्द्रकी सहायताके लिये स्वर्गमें  
गया था तो अप्सराएँ इसकी यौवनावस्थाकी शोभापर मुग्ध होकर इसे चाहने लगी थीं ।

२ पहले किसीके शापके कारण भूलोकमें आये हुए दिग्गजोंको देखकर इन्द्रके स्वयं  
असमर्थ होनेके कारण उनकी अनुमतिसे पालकादि देवर्षियोंको बुलाकर उनके बनाये गज-  
शास्त्रमें वर्णित विधिके अनुसार उन दिग्गजोंको वशमें करके इस राजाने ‘गज-शिक्षा’ का  
सम्प्रदाय भूलोक में चलाया ।

अनेन पर्यासयताश्रुविन्दून्मुक्ताफलस्थूलतमानस्तनेषु ।

प्रत्यर्पिता शत्रुविलासिनीनामुन्मुच्य सूत्रेण विनैव हारा ॥ २८ ॥

अनेनेति । शत्रुविलासिनीनां स्तनेषु मुक्ताफलस्थूलतमानश्रुविन्दून् । ‘अस्त्रमश्रुणि-  
शोणिते’ इति विश्व । पर्यासयता प्रस्तारयता । भर्तृवधादिति भावः । अनेनाङ्गनाथे-  
नोन्मुच्याक्षिप्य सूत्रेण विना हारा एव प्रत्यर्पिता । अविच्छिन्नाश्रुविन्दुप्रवर्तनादु-  
त्सूत्रहारार्पणमेव कृतमिवेत्युत्प्रेक्षा गम्यते ॥ २८ ॥

शत्रुओंकी स्त्रियोंके स्तनोंपर मोतीके समान बड़ी २ आसुओंके बूंदोंको फैलाता हुआ यह  
राजा, उनके मोतियोंके द्वारोंको हटाकर विना सूत्रके ही द्वारोंको पहना दिया । ( इस  
राजाके द्वारा पत्निके मारे जानेसे शत्रुस्त्रियां द्वारोंको फेंक करके रोती हुईं मोतीके समान  
बड़ी २ आसुओंकी जो बूंदें स्तनोंपर गिरा रही हैं, वे मुक्ताहारके समान मालूम पड़ रहे हैं) ॥

निसर्गभिन्नास्पदमेकसस्थमस्मिन्द्वय श्रीश्च सरस्वती च ।

कान्त्या गिरा सूनृतया च योग्या त्वमेव कल्याणि तयोस्तृतीया ॥ २९ ॥

निसर्गेति । निसर्गत स्वभावतो भिन्नास्पद भिन्नाश्रयम्, सहावस्थानविरोधी-  
त्यर्थः । श्रीश्च सरस्वती चेति द्वयमस्मिन्नङ्गनाथ एकत्र सस्था स्थितिर्यस्य तदेक-  
सस्थम्, उभयमिह सङ्गतमित्यर्थः । हे कल्याणि ! ‘वह्नादिभ्यश्च’ इति ङीप् । कान्त्या  
सूनृतया सत्यप्रियया गिरा च योग्या ससर्गाहं त्वमेव तयोः श्रीसरस्वत्योस्तृतीया ।-



अनेनेति । बरेव्येन बरणीयेन । कृणोतेरेणादिकं पुष्पप्रत्ययः । अनेन रागा पुष्प-  
मार्गं पाप्मिमिष्यसि चेत् पाप्मिप्रहणमिष्यसि चेदित्यर्थः । प्रवेरो प्रवेसकाळे प्राप्ता-  
द्वयतामनसंमिथानीं राजमवनयवाचस्पितानीं पुष्पपुराङ्गनानीं पादस्त्रिपुराङ्गनानीं  
वेष्टोत्सवं कुरु । सर्वोत्तमानां तासामपि दुर्वाणीनां भविष्यतीति भावः ॥ २२ ॥

युग में इस राजाके साथ विवाह करना पावती हो ती ( इस राजाकी राजधानी में मरने ) प्रवेशकाक्रमे महलोंकी लिहकिमोपर नेही हरे कुम्भपुर ( 'पटना'—इस राजाकी राजधानी ) की यहिकानोंके मेमोंकी कतसबकुल कमीर अपना दर्शन देकर सुमसज को ।

एवं तद्योक्तं समयेक्ष्य किञ्चिद्विस्तारसिद्धान्तमभ्युपगमात् ।

शुद्धप्रणामक्रियस्यैव तन्वी प्रस्थादिवृत्तमभापयाम्णा ॥ २५ ॥

एवमिति । एवं तथा शुभम्बोके सति तं परम्पमवेद्य किञ्चिद्विद्वंसिषी दूर्ध्वं  
दूर्ध्वं विद्या मय्यमाया शुभपुष्पमाया यस्याः सा 'मयूके तु शुभपुष्पमनुयुयै'  
इत्यमरा । अरवे सिद्धिप्रदयेति आद्यः । तन्मीश्वरमेव शुभमभापमाज्ज्वा मय  
शुभया प्रयाममिषये प्रयाग्वैद्य परिब्रूतः ॥ १५ ॥

एतद् अनुमानात् ऐता करनैषा दुर्वास्तु मनुष्ये माकसी कुत्र भीमे सरकायै ई  
 इत्यादि शब्दमयी विना लोके सरक (नद्या-मल्लि रचित) लक्ष्मी सामान्य रूप  
 करनैषा ही कस्य जग कर दिया ॥ २५ B

तां सैव बेत्रप्रहणे नियुज्य राजान्तरं राजसूतां निनाय ।

सुनीरणोत्पेध तरङ्गसेना पद्माम्बरं मानसपङ्कजंसीम् ॥ २६ ॥

तानिर्दिष्ट । सैव नाम्ना विचक्षणमिति यावत् । वेदमार्गे निरुद्धा होमविकी  
 कुबन्धा तां राजधुतां राजान्तरमन्त्रराजान् निराय । नयतिहिकर्मक । कर्मनिर्दि  
 स्तमीरभोत्वा वाद्योत्पन्ना तरङ्गकोटोर्मिपट्टिर्मनसे स्मरति वा राजहंसी तां पद्मान्  
 रमिष ॥ २९ ॥

वैभवविधो मह्य कारमेमं निबुद्ध कर्मात् द्वारपात्रिभ्यः शरी ह्यपन्था वाकुसे तमुत्पन्न  
उत्तरार्धेन मातङ्गरीपरतो रात्र्यांसीको भिन्न प्रकार एक कमण्ठी वृक्षे क्यञ्चै रात्र के वाली  
है वैसे (रात्रकुमारी वस्तुमयीको कस मणवन्नेकके पाससे) वृक्षे रात्रके पास के पत्नी ।

अथाह वैनामयमङ्गनाय मुदाह्माप्रार्थितयीवमभी ।

विनीतनागः शिखरसूत्रकारैरेन्द्र पदं भूमिगतोऽपि मुह्यते ॥ २७ ॥

अगाधैति । अगामिन्नुभयौ अगाध । किमिति अगमद्वययोः अगमिन्नादीनां पुरा-  
 ण्यादि प्रसिद्धा अगमिता । अगमद्वयोर्यस्य स ततोऽगम, पुरा सिद्धेन मिश्रसद्वाप्यार्थ-  
 मिश्रपुरागामिभ्यश्चमवन्ताप्सरस इति प्रसिद्धिः । किञ्च । अगमद्वयोर्यस्य अगमिन्नादीनां

पालकादिभिर्महपिभिर्विनीतनागः शिक्षितगज । किलेत्यैतिल्ये । अत एव भूमिगतो-  
ऽप्यैन्द्र पदमैश्वर्यं भुङ्क्ते, भूलोक एव स्वर्गसुखमनुभवतीत्यर्थः । गजाप्सरोदेवपि-  
सेच्यत्वमैन्द्रपदशब्दार्थः । पुरा किल कुतश्चिच्छापकारणाद् भुवमवतीर्णं दिग्गजवर्गमा-  
लोक्य स्वयमशक्तेरिन्द्राभ्यनुज्ञयाऽऽनीतैर्देवपिभिः प्रणीतेन शास्त्रेण गजान्वशीकृत्य  
भुवि सम्प्रदाय प्रावर्तयदिति कथा गीयते ॥ २७ ॥

और थोली—‘देवाङ्गनाओं ( अप्सराओं ) से अभीप्सित यौवनश्रीवाला गजशास्त्रके  
पण्डितों ( पालकादि ऋषियों ) से हाथियोंको शिक्षित करानेवाला यह अद्भुतदेशका राजा  
पृथ्वीपर स्वर्गके पदको भोग करता है अर्थात् पृथ्वीपर ही स्वर्गसुख सुख भोग रहा है ॥२७॥

पौराणिक कथा—१ एक समय यह राजा असुरपीडित इन्द्रकी सहायताके लिये स्वर्गमें  
गया था तो अप्सराएँ इसकी यौवनावस्थाकी शोभापर मुग्ध होकर इसे चाहने लगी थीं ।

२ पहले किसीके शापके कारण भूलोकमें आये हुए दिग्गजोंको देखकर इन्द्रके स्वयं  
असमर्थ होनेके कारण उनकी अनुमतिसे पालकादि देवर्षियोंको बुलाकर उनके बनाये गज-  
शास्त्रमें वर्णित विधिके अनुसार उन दिग्गजोंको वशमें करके इस राजाने ‘गज-शिक्षा’ का  
सम्प्रदाय भूलोक में चलाया ।

अनेन पर्यासयताश्रुविन्दून्मुक्ताफलस्थूलतमान्स्तनेषु ।

प्रत्यर्पिता शत्रुविलासिनीनामुन्मुच्य सूत्रेण विनैव हारा ॥ २८ ॥

अनेनेति । शत्रुविलासिनीनां स्तनेषु मुक्ताफलस्थूलतमान्शुविन्दून् । ‘अस्त्रमश्रुणि-  
शोणिते’ इति विश्व । पर्यासयता प्रस्तारयता । भर्तृवधादिति भावः । अनेनाङ्गनाथे-  
नोन्मुच्याक्षिप्य सूत्रेण विना हारा एव प्रत्यर्पिता । अविच्छिन्नाश्रुविन्दुप्रवर्तनादु-  
त्सृजहारार्पणमेव कृतमिवेत्युत्प्रेक्षा गम्यते ॥ २८ ॥

शत्रुओंकी छियोंके स्तनोंपर मोतीके समान बड़ी २ आसुओंके बूँदोंको फैलाता हुआ यह  
राजा, उनके मोतियोंके हारोंकी हटाकर विना सूँके ही हारोंको पहना दिया । ( इस  
राजाके द्वारा पनिके मारे जानेसे शत्रुछिया हारोंको फेंक करके रोती हुई मोतीके समान  
बड़ी २ आसुओंकी जो घूँद स्तनोंपर गिरा रही हैं, वे मुक्ताहारके समान मालूम पड़ रहे हैं) ॥

निसर्गभिन्नास्पदमेकसंस्थमस्मिन्द्वय श्रीश्च सरस्वती च ।

कान्त्या गिरा सूनृतया च योग्या त्वमेव कल्याणि तयोस्तृतीया ॥ २९ ॥

निसर्गेति । निसर्गतः स्वभावतो भिन्नास्पद भिन्नाश्रयम्, सहावस्थानविरोधी-  
त्यर्थः । श्रीश्च सरस्वती चेति द्वयमस्मिन्नङ्गनाथ एकत्र सस्था स्थितिर्यस्य तदेक-  
सस्थम्, उभयमिह सङ्गतमित्यर्थः । हे कल्याणि ! ‘वह्नादिभ्यश्च’ इति ङीप् । कान्त्या  
सूनृतया सत्यप्रियया गिरा च योग्या ससर्गाहं त्वमेव तयोः श्रीसरस्वत्योस्तृतीया ।-

समावगुण्योयुं बभौर्हाम्यर्त्तं पुन्यत एवेति भावा । दक्षिणार्धकृतं चास्व धन्यते ।  
 -तुल्यम्—‘तुल्योऽनेकस्य दक्षिण इति ॥ १९ ॥

स्वभावे ही मित्र २ एवाभौर्मे रहनेवाची कस्यी और सरस्वती—इस रात्नामें वह  
 साथ रहती है ( वह रात्ना विद्वान् तथा ऐश्वर्यवान्—दोनों ही हैं ) ‘हे कश्यप ! होमा  
 तथा मयुर माणसे योग्य ( साधमें निवास करने योग्य ) उन दोनों (कस्यी और सरस्वती)  
 में तुम्हीं तीसरी होनी’ ( जन्मा—सोमा तथा मयुर माणसे जन्म दोनोंके योग्य तीसरी  
 तुम्हीं हो—जन्म कोई नहीं जन्त एव तुम इस रात्नाको वरज करी ) ॥ १९ ॥

अर्वाङ्गराजावधत्तार्थं चक्षुर्गोहीति कन्यामवदत्कुमारी ।

नासौ न कन्यो न च वेत् सस्यग्रष्टुं न सा मिमरुचिर्हि शोकः ॥२०॥

अवेति । अथ कुमारीङ्गराजावधत्तार्थं अपविवेचय । कन्यां मातृसखीम् ।  
 ‘कन्यां मातृसखीमुचोः इति विधा । सुगन्धां चाद्वि गच्छेत्पचद् । ‘घातेति कन्याम-  
 वद्’ इति पाठे अर्वां चक्षुं वहन्तीति कन्या वक्षुचक्षुः । तान् घातं पच्छेत्पचद् ।  
 कन्यो वरचक्षुःशान्तिमित्रतुल्यद्विषेऽपि च’ इति विधा । अथवा कन्या वक्षुचक्षुः ।  
 ‘चक्षुःशान्तिमित्रतुल्यद्विषेऽपि च’ इति केसावा । ‘संज्ञां कन्या-’ इति पक्षपचान्तो  
 विपात्ता । पचद्वाद् वृत्तिकरः—‘अर्वां चक्षुं वहन्तीति कन्या कामातुर्वपस्या’ इति ।  
 वक्षामरः ‘कन्याः शिष्या वरस्य ये इति तत्सर्वमुपकल्पार्थमित्यविरोधः । न चाथ  
 मङ्गराजविषयो वरपक्षोपाधत्ति मृष्यदोषादित्याह—नेत्यादिना । असावङ्गराज कन्या  
 कन्योचो नेति न किन्तु कन्ये भवेत्पर्य । सा कुमारी च सस्यग्रष्टुं विवेकं न  
 वेदेति न वेद्वेत्पर्य । किन्तु कोको जगो मिमरुचिर्हि दक्षिणमपि किञ्चित्कर्मैव  
 रोचते । किं कुर्मो न हीन्वा मिमन्तुं शक्यत इति भावा ॥ २० ॥

रसके वाह कुमारी इन्दुमतीने अङ्गराजसे इष्टिभी वरकर मातृसखी सुगन्धासे ( रात्ना -  
 लक्ष्मी होनेवालीसे ) कन्यो’ ऐसा कहा । ‘वह रात्ना सुन्दर नहीं था’ वह बात नहीं थी  
 और ‘वह इन्दुमती ईश्वरी ( ईश्वर माता तथा आत्मका विचार करना ) नहीं जानती थी’  
 वह बात भी नहीं थी; किन्तु कोय विषय २ दक्षिणाके होते ॥ ( जन्त विद्वन्मो भी वचन ॥  
 नहीं वचन के क्रिये सुन्दर एवं माता हीना है ) ॥ २० ॥

ततः परं दुष्प्रसहं द्विषाद्भिर्गुणं नियुक्त्य प्रतिहारमूमी ।

निदर्शयामास विशेषदृष्ट्यामन्दं नयोत्थाममियेन्दुमत्ये ॥ २१ ॥

तत इति । ततोऽनन्तरं प्रतिहारमूमी द्वारद्वेषो नियुक्त्य दीकारिणी । ‘धी द्वारार्हं  
 प्रतीहारम् हृषमरः । द्विषद्भिः शत्रुभिर्गुणसहं दुष्प्रसहम् शूरमित्यर्थः । विरोधेन दृष्टं  
 दर्शनीयं कथयन्तमित्यर्थः । परमर्घ्यं गुणम् । नयोत्थानं नयोद्वयमिन्द्रमिव । इन्दु  
 मत्ये निदर्शयामास ॥ २१ ॥

इसके बाद द्वारपालिका सुनन्दाने शत्रुओंसे असह्य, विशेष सुन्दर तथा नयी अवस्था या उन्नतिवाले (अत एव) विशेष सुन्दर तथा नया उदय लेते हुए चन्द्रमाके समान राजाको इन्दुमतीके लिये दिखलाया ॥ ३१ ॥

अवन्तिनाथोऽयमुदग्रबाहुर्विशालवक्षास्तनुवृत्तमध्यः ।

आरोप्य चक्रभ्रममुष्णतेजास्त्वष्ट्रेव यत्नोल्लिखितो विभाति ॥ ३२ ॥

अवन्तीति । उदग्रबाहुर्दीर्घबाहुर्विशालवक्षास्तनुवृत्तमध्य कृशवर्तुलमध्योऽय राजाऽवन्तिनाथोऽवन्तिदेशाधीश्वर । त्वष्ट्रा विश्वकर्मणा । भर्तुस्तेजोवेगमसहमानया दुहित्रा सज्ञादेव्या प्राथितेनेति शेष । चक्रभ्रम चक्रकार शस्त्रोत्तेजनयन्त्रम् । 'भ्रमोऽनुनिर्गमे भ्रान्तौ कुण्डालये शिल्पियन्त्रके' इति विश्वः । आरोप्य यत्नो-  
ल्लिखित उष्णतेजा सूर्य इव विभाति । अत्र मार्कण्डेय — 'विश्वकर्मा त्वनुज्ञातः शाकद्वीपे विवस्वता । भ्रममारोप्य तत्तेज शतनायोपचक्रमे ॥' इति ॥ ३२ ॥

लम्बी ( धुटने तक ) बाहुवाला, चौटी छातीवाला तथा कृश एव गोलाकार कटिवाला यह अवन्ती देशका राजा, ( कन्याकी प्रार्थना करनेसे ) विश्वकर्मा द्वारा सानपर चढाकर यत्नपूर्वक उल्लिखित अर्थात् धिसे गये सूर्यके समान है ॥ ३२ ॥

पौराणिक कथा—विश्वकर्माने अपनी पुत्री सज्ञाका विवाह सूर्यके साथ कर दिया तो पति सूर्यके तेजको सहन नहीं कर सकनेवाली उस सज्ञाके प्रार्थना करनेपर विश्वकर्माने शाकद्वीपमें सूर्यको सानपर चढाकर बड़े यत्नपूर्वक उन्हें छोड़ा किया ।

अस्य प्रयाणेषु समग्रशक्तेः सैर्वाजिभिरुत्थितानि ।

कुर्वन्ति सामन्तशिखामणीना प्रभाप्ररोहास्तमय रजांसि ॥ ३३ ॥

अस्येति । समग्रशक्ते शक्तित्रयसम्पन्नस्यास्यावन्तिनाथस्य प्रयाणेषु जैत्रयात्रास्व-  
त्रेसैर्वाजिभिरुत्थितानि रजांसि सामन्तानां समन्ताञ्चवाना राज्ञा ये शिखामण-  
यश्चूडामणयस्तेषां प्रभाप्ररोहास्तमय तेजोह्वरनाश कुर्वन्ति । नासीरैरेवास्य शत्रवः  
पराजीयन्त इति भाव ॥ ३३ ॥

समस्त शक्ति ( प्रभुशक्ति, मन्त्रशक्ति तथा उत्साहशक्ति—ये तीन शक्तियाँ हैं ) से युक्त इस राजाकी दिग्विजयकी यात्राओं में आगे चलनेवाले घोड़ों ( के खुरों ) से उड़ी हुई धूलिया सामन्त राजाओंके मुकुटमणियोंकी प्रभाओंके अङ्कुरोंको छिपा ( नष्ट कर ) देती हैं ॥ ३३ ॥

असौ महाकालनिकेतनस्य वसन्नदूरे किल चन्द्रमौलेः ।

तमिस्रपक्षेऽपि सह प्रियाभिर्ज्योत्स्नावतो निर्विशति प्रदोषान् ॥ ३४ ॥

असाविति । असाववन्तिनाथ । महाकाल नाम स्थानविशेष । तदेव निकेतन मकुटस्थानं यस्य तस्य चन्द्रमौलेरीश्वरस्यादूरे समीपे वसन् । अत एव हेतोस्तमिस्र-

पथे कृष्णपथेऽपि प्रियाभिः सह पथोत्सवावताः प्रयोषात् राष्ट्रीर्विचित्रत्वमुपवति स्मिन् ।  
मिथ्यज्योत्स्नाविहारत्वमेतस्यैव नाम्यस्येति श्रुत्वा ॥ ३३ ॥

महाकाव्य (गुणक कव्यविधौ र रत्नान्) निवासी द्वितीयोऽसौ समीपे ररत्नान्  
पथ (व्यक्तिनरेण) कृष्ण पथ (यौ रात्रिर्भौ) यौ भी प्रियाभौके साव चौर्यो रात्रौ  
(का ज्ञानम्) अनुभव करता है ॥ ३३ ॥

अनेन यूना सह पार्थिवेन रम्भोरु कश्चिन्मनसो कथिस्ते ।

सिमास्तस्मान्निष्कम्पितासु विहर्तुमुद्यानपरम्पराम् ॥ ३४ ॥

अनेनेति । रम्भे कश्चिन्मनसाविशेषः कथिः सा रम्भोरुस्तस्याः सम्भोजकः ।  
हे रम्भोरु ! 'कुरुत्तरपदादीपम्भे' इत्युक्तत्वात् । कश्चिन्मनसा । यूनामेव पार्थिवेन  
सह । सिमा नाम तद्वत्ता नदी तस्यास्तस्मान्निष्कम्पितासुद्यानाणां परम्पराम्  
पश्चिन् विहर्तुं ते तव मनसो कथिः कथिः । सृष्टास्ति किमित्यर्थः । 'कश्चिन्मनसा'  
सृष्टाणां च यन्मनसो च कथिः सिमां इत्यमरः ॥ ३४ ॥

'हे केशिके तस्मिन्ने समान कव्यवारी अनुमति । इस कुरुत्तरपदाके साव सिमान्तोके  
तराहोत्री इवासे कथित उद्यानोंके समुद्रमें विहार करनेके लिये द्वन्द्वारी वादना है  
नवा ।' ॥ ३४ ॥

तस्मिन्ममिद्योवित्तवन्नुपपद्ये प्रतापसंशोपितशत्रुपङ्के ।

वचन्य सा नोत्तमसीकुमार्या कुमुद्रता मातुमतीष मत्तम् ॥ ३५ ॥

तस्मिन्ममिद्योवित्तवन्नुपपद्ये । उत्तमसीकुमार्याः कुमुद्रताः सेन्दुमती । ममिद्योवित्तवन्नुपपद्ये  
तानि वचन्य पृथ पद्यानि वैव तस्मिन् । प्रतापेव तेजसा संशोपिताः कव्यव दृव पङ्कत  
कर्त्तमा वैव तस्मिन् । तस्मिन्ममिद्योवित्तवन्नुपपद्ये । 'कुमुद्रताः कव्यवतेभ्यो वृत्तम्' इति  
कुमुद्रताः । मातुमतीषुमतीषु मातुमतीषु वचन्य च तन्मातुमतीषुमतीषु  
द्वितीयः । वचन्य पद्यान्तेन कव्यतां पङ्कतेन च विकल्प्य राज्ञः सूर्यसाम्प्राप्तम् ॥ ३५ ॥

अत्रान्त सुकुमारो नव अनुमते व-कुम्भ कमर्कोको विचलित करमेवाके तथा साव कर्माद  
कथिः सम्पत्ती प्रतापसे सहकृप पङ्कोकी सुकावेवाके वस अवन्तिनरेणदे (वन्नुमोंके समान  
कीमर्कोको विचलित करमेवाके तथा वृषते सहकृमोंके समान पङ्कोकी सुकावेवाके सूर्यके अत्रान्त  
कीमर्क) कुमुदिनीके समान मातु नहीं किया कर्माद कर्मादी वादना नहीं की ॥ ३५ ॥

तामप्रतस्तामरसान्तराभामनूपराश्रयः शुणैरनूनाम् ।

विधाय सृष्टिं कश्चित्तां विधातुर्जगात् भूयः सुवती सुमन्या ॥ ३६ ॥

तामिति । सुमन्या तामरसान्तराभामां पद्योदरतुल्यकामिन् कनकपौरीमित्यर्थः ।  
शुणैरनूनाम् अधिकमिति । कामना वन्ता यस्याः सा सुवती, 'वपति कृतत्वं

दत्त' इति दत्तादेशः 'उगितश्च' इति ङीप् । तां प्रकृतां प्रसिद्धां वा विधातुर्ललितां सृष्टिं, मधुरनिर्माणां स्त्रियमित्यर्थः । अनुगता आपो येषु तेऽनूपा नाम देशाः । 'ऋक्पू-  
रवधू'पथामानजे' इत्यप्रत्ययः समासान्तः । 'ऊदनोर्देशे' इत्युदादेशः । तेषां राज्ञोऽ-  
नूपराजस्याग्रतो विधाय व्यवस्थाप्य भूय पुनर्जगाद ॥ ३७ ॥

सुनन्दाने कमलोदर ( कमलपत्रका भीतरी भाग ) के समान आभावाली, गुणोंसे परि-  
पूर्ण, ब्रह्माकी मनोहर रचनारूप और सुन्दर दातोंवाली उस इन्दुमतीको अनूप-नरेशके  
सामने लेजाकर फिर कहा—॥ ३७ ॥

सङ्ग्रामनिर्विष्टसहस्रबाहुरष्टादशद्वीपनिखातयूपः ।

अनन्यसाधारणराजशब्दो बभूव योगी किल कार्तवीर्यः ॥ ३८ ॥

सङ्ग्रामेति । सङ्ग्रामेषु युद्धेषु निर्विष्टा अनुभूता सहस्र बाहवो यस्य स तथोक्तः ।  
युद्धादन्यत्र द्विभुज एव इत्यत इत्यर्थः । अष्टादशसु द्वीपेषु निखाता स्थापिता यूपा  
येन स तथोक्तः । सर्वकृत्याजी सार्वभौमश्चेति भावः । जरायुजादिसर्वभूतरक्षणाद-  
नन्यसाधारणो राजशब्दो यस्य स तथोक्तः । योगी ब्रह्मविद्विद्वानित्यर्थः । स किल  
भागवतो दत्तात्रेयाह्वययोग इति प्रसिद्धः । कृतवीर्यस्यापत्य पुमान्कार्तवीर्यो नाम  
राजा बभूव किलेति । अयं चास्य महिमा सर्वोऽपि दत्तात्रेयवरप्रसादलब्ध इति  
भारते इत्यते ॥ ३८ ॥

युद्धमें हजारों बाहुओंको प्राप्त करनेवाला, अठारहों द्वीपोंमें यज्ञस्तम्भोंको गाढनेवाला  
और अनन्य साधारण ( दूसरोंमें अप्रयुक्त ) 'राजा' इस शब्दवाला और योगी कार्तवीर्य  
( सहस्रानुन ) हुआ था ॥ ३८ ॥

अकार्यचिन्तासमकालमेव प्रादुर्भवञ्चापधरः पुरस्तात् ।

अन्तःशरीरेष्वपि यः प्रजानां प्रत्यादिदेशाविनयं विनेता ॥ ३९ ॥

अकार्यति । विनेता शिक्षको यः कार्तवीर्यः । अकार्यस्यासत्कार्यस्य चिन्तया, अहं  
चौर्यादिक करिष्यामीति बुद्ध्या । समकालमेककालमेव यथा तथा पुरस्तादग्रे चापधरः  
प्रादुर्भवन्सन्, प्रजानां जनानाम्, 'प्रजा स्यात्सन्ततौ जने' इत्यमरः । अन्तःशरीरेष्व-  
न्तःकरणेषु शरीरशब्देनेन्द्रिय लक्ष्यते । अविनयमपि प्रत्यादिदेश मानसापराधमपि  
निवारयामासेत्यर्थः । अन्ये तु बाह्यापराधमात्रप्रतिकर्तार इति भावः ॥ ३९ ॥

शासक जो ( कार्तवीर्य ), नहीं करने योग्य कार्यके विचार करनेके समयमें ही सामने  
वनुष धारण किया हुआ उास्थित होकर प्रजाओंके मनमें या इन्द्रियोंमें भी अविनय दूर  
करता था । ( प्रजाओंमें-से कोई व्यक्ति नहीं करने योग्य कार्यको करनेके लिये जब विचार  
करता था, तब उसके मनमें उक्त विचार आते ही उसे ऐसा मालूम पड़ता था कि वनुष धारण

स वितीका । अरदा प्रमुखाशुचरोपरोषो विरक्तमेवावस्था पर्वोत्तकः पूर्वकः  
 पसी नक्षिप्या इव । तस्या इन्दुमत्या चक्षुषे न बभूव कश्चि नाजीवचक्षिपर्वः ।  
 कोको मित्रचक्षिरिति यावा ॥ ४४ ॥

इत्येये अजान्ता सुन्दर सी वह राधा कमलिनीको तरङ्ग जगुष्टे दूर किने नरे येने  
 नावरन्माके नर्वाए येवरहित तथा पूर्व कक्षाकाके नन्ममाके समान कस इन्दुमतीको  
 क्षिपिके किने मही हुआ ( इन्दुमतीये वसे मही नाहा ) ॥ ४४ ॥

सा शूरसेनाभिपतिं सुवेण्णुदिरय खोचान्तरगीतकीर्तिम् ।

आचारसुखोमयवशादीपं सुखान्तरत्वा जगदे कुमारी ॥ ४५ ॥

सेति । कोचान्तरे स्वर्णकाचपि कीर्तकीर्तिमाचारैव सुखोचमयोर्वचमोर्माता  
 विपुलकयोर्दीपं प्रकाशकम् । समयवसेत्सुखोमयवचनविर्वाहः । शूरसेनायां देवायाम्  
 विपतिं सुखेन नाम सुखसुखदिरयामिसम्बाध सुखान्तरत्वायान्तरपात्रिकाया । 'कर्म  
 मन्त्र' । 'दिव्यान्त्र' इति जीप् । सा कुमारी जगदे ॥ ४५ ॥

एतेवत्तको रक्षामे विपुल सुखान्ते नन्व कोच ( स्वर्णादि ) में पावे नरे मन्त्राके  
 तथा नावरन्मते सुख दीपो बंध ( नावुक तथा विपुल ) काके शूरसेन इत्येके राज  
 'सुखे' को दिवाकर इन्दुमती से कहा—॥ ४५ ॥

नीपान्बध पार्ष्णिष पय बन्धा गुणैर्यमाभित्य परस्परैः ।

सिद्धात्मनं शान्तमिषैत्य सत्पैर्नैसर्गिकोऽप्युत्ससृजे विरोध ॥ ४६ ॥

नीपान्बध इति । बन्धा विविधविधान् । 'सुपबोर्बधनिप्' इति कबचिन्त्यवा  
 पय पार्ष्णिषो बीपो नामान्बधोऽप्येति नीपान्बधो बीपवन्तवा । बं सुपेयमाभित्य  
 गुणैर्ज्ञातमौनादिभिः शान्तं प्रशब्दं सिद्धात्मनमपुथात्ममेव प्रान्ध सत्पैर्गोचसिद्दिभि  
 प्राप्तिमिति । नैसर्गिक स्वामाबिकोऽपि परस्परैव विरोध धम्ससृजे स्वच्छ ॥ ४६ ॥

विधिपूर्वक बधको किवा हुआ वह राधा 'नीप'के बंधके हैं जिसे जानवकर  
 ( समा बीरठ, बधा, बान आदि ) गुणोंके शान्त सिद्धात्मनको प्राप्तकर ( परस्पर  
 विरोधी सिंह-बध, नी-बन्ध जगु-तर्प आदि ) बीपोंके समान स्वमध्यिक विरोधको  
 बोध दिया है ॥ ४६ ॥

यस्यात्मगोहे मयनामिरामा काम्तिहिमांशोरिव सन्निविष्टा ।

हर्म्याप्रसंख्यदृष्ट्यादुरेणु तेजोऽधिपद्यं रिपुमिश्रेणु ॥ ४७ ॥

यत्येति । हिमांशो काम्तिजगुकिरमा इव नववचोरमिरामा वरय सुपेजस्य  
 काम्तिः शोमात्मगोहे स्वमयने सन्निविष्टा सङ्कमता । अविषय विन्दुमन्त्रार्थ लेक  
 प्रशमत्य । हर्म्याप्रेणु चनिकनगिराम्येणु । 'हर्म्यादि चविषायाः इत्यमरः । प्रशम-

स्तृणाङ्कुरा येषां तेषु, शून्येष्वित्यर्थः । रिपुमन्दिरेषु शत्रुनगरेषु । 'मन्दिरं नगरे गृहे' इति विश्वः । सन्निविष्टम् । स्वजनाद्धादको द्विपन्तपश्चेति भावः ॥ ४७ ॥

चन्द्रमाके समान नयनोंको आछादित करनेवाली जिसकी कान्ति अपने घरोंमें स्थित है तथा असह्य तेज शत्रुओंके महलोंके छज्जोंपर जमे हुए घासके अङ्कुरोंवाले, उनके महलोंमें धत है । ( शत्रुओंके मारे जानेसे या इसके भयसे घर छोड़कर भाग जानेसे उनके महलोंके पर घासोंके जमनेसे वह इसके असह्य प्रताप तुल्य दिखलाई पड़ता है ) ॥ ४७ ॥

यस्यावरोधस्तेनचन्दनानां प्रक्षालनाद्वारिविहारकाले ।

कलिन्दकन्या मथुरां गतापि गङ्गोर्मिसंसक्तजलेव भाति ॥ ४८ ॥

यस्यावरोध इति । यस्य सुषेणस्य वारिविहारकाले जलक्रीडासमयेऽवरोधानामन्तं पुराङ्गनानां स्तनेषु चन्दनानां मलयजानां प्रक्षालनाद्वेतो । कलिन्दो नाम शैलस्तत्कन्या यमुना । 'कालिन्दी सूर्यतनया यमुना शमनस्वसा' इत्यमरः । मथुरा नामास्य राज्ञो नगरी । तां गतापि, गङ्गाया विप्रकृष्टापीत्यर्थः । मथुरायां गङ्गाऽभावं सूचयत्यपिशब्दः । कालिन्दीतीरे मथुरा लवणासुरवधकाले शत्रुघ्नेन निर्मास्यते इति वक्ष्यति । तत्कथमयमुना मथुरासम्भव इति चिन्त्यम् । मथुरा मथुगपुरीति शब्दभेदः । यद्वा सान्येति । गङ्गाया भागीरथ्या ऊर्मिभिः संसक्तजलेव भाति । धवलचन्दनसंसर्गात्प्रयागादन्यत्राप्यत्र गङ्गासंगतेव भातीत्यर्थः । 'सितासिते हि गङ्गायमुने' इति घण्टापथः ॥ ४८ ॥

जिस राजाकी जलक्रीडाके समयमें रानियोंके स्तनोंके श्वेत चन्दनके धुल जानेसे मथुरामें भी यमुना गङ्गाके तरङ्गोंसे मिली हुईके समान शोभमान होती है । ( जिस प्रकार प्रयागमें गङ्गाकी धाराके मिलनेपर यमुनाका जल श्वेत-नीलवर्ण दिखलाई पड़ता है, वैसे ही मथुरामें भी इस राजाकी जलक्रीडाके समयमें रानियोंके स्तनोंके श्वेत चन्दनके धुलनेसे यमुनाका जल श्वेत मिश्रित नीलवर्ण दिखलाई पड़ता है ) ॥ ४८ ॥

त्रस्तेन तार्क्ष्यात्किल कालियेन मणिं विसृष्ट यमुनौकसा यः ।

वक्षःस्थलव्यापि रुच दधानः सकौस्तुभ ह्येपयतीव कृष्णम् ॥ ४९ ॥

त्रस्तेनेति । तार्क्ष्याद्गरुडात्रस्तेन । यमुना ओकं स्थान यस्य तेन । कालियेन नामानागेन विसृष्ट किलाभयदाननिष्क्रयत्वेन दत्तम् । किलेत्येतिद्ये । वक्षःस्थलव्यापिरुच मणिं दधानो य सुषेण सकौस्तुभ कृष्ण विष्णुं ह्येपयतीव । 'अर्ति-हीवलीरीकन्यूयधमाय्यातां पुङ्गी' इत्यनेन पुगागमः । कौस्तुभमणेरप्युत्कृष्टोऽस्य मणिरिति भावः ॥ ४९ ॥

गरुडसे डरे हुए यमुनामें रहनेवाले कालिय नागके द्वारा (अभयदान देनेसे उपहारमें) दिये गये तथा द्यातीपर फैलती हुई कान्तिवाले रक्षको धारण किया हुआ यह 'सुषेण' राजा



विना हुआ तथा कार्तवीर्य हमें दण्ड देनेके लिये जा गये । जब वह उठखड़े बजा नहीं करे  
तो मैं किसी भी कार्यको करकेच निवार तक भी नहीं करती थी ) ॥ ३९ ॥

क्याच धनिष्पन्दमुजेन यस्य विनिश्चयस्तद्वत्परम्परेण ।

कारागृहे निश्चितवाससेन खड्गेसरेणोपितमामसादात् ॥ ४० ॥

क्याचन्पेति । क्याचा भीष्मा बन्धनेन बन्धनेन विष्पन्धा निजोद्य भुजा यस्य तेन  
विनिश्चयस्ती व्याचन्धोपरोकारादीर्ष विःशसन्ती वनप्रपरम्परा इत्युन्नी यस्य तेन  
निश्चितवाससेनेन्द्रविजयिना । अत्रेन्द्रादयोऽप्यनैव जितप्राया पृथेति भावाः । खड्गेणेन  
वृक्षास्येन यस्य कार्तवीर्यस्य कारागृहे बन्धनागारे 'कारा स्याद्वन्धनाकये' इत्यमरा ।  
आमसादात्पुष्पपर्यन्तमुपितं स्थितम् । 'वर्जुसके धावे छा' । वृत्त्यसत् पृथ तस्य  
मोक्षोपायो न तु काश्चित्ति भावाः ॥ ४० ॥

अलङ्कारके कथनसे स्पष्ट ( विशेष ) वाङ्मयम्, कम्पी २ वाक्य केते हुए सुकसुह  
वाक्य और हमरूपे पराजित करनेवाला बहुपरिचित राज्य केकर्म जित ( कार्तवीर्य ) के  
बलसे होने तक बड़ा रहा । ( जब तक कार्तवीर्यने अपनाकर राज्यको नहीं छोड़ा जब तक  
वह उसके कर्ममें ही विवश होकर बड़ा रहा ) ॥ ४० ॥

ऐराविक कथा—एक समय कार्तवीर्य अपने बाहुओंसे समस्तकी भारतमें रोमकर रम-  
विजोके साथमें बकसीका कर रहा था । वही समयमें विविधकर्मके क्रिये निजका हुआ दण्ड  
विजो राज्य वहाँ पहुँचकर उससे छुड़ करने लगा । जब कार्तवीर्यने राज्यको छोड़कर और  
बहुजन्मी बोरोसे बांधकर कैदी बना दिया और जब तक वह पसब नहीं हुआ जब तक राज्य  
नहीं केकर्म पड़ा रहा ।

तस्यान्वये भूपतिरेव जातः प्रतीप इत्यागमबुद्धसेवी ।

येन भियः संभवदोपस्य स्वमात्रलोलेत्यमराः प्रमुष्टम् ॥ ४१ ॥

तस्मेति । आगमबुद्धसेवी प्रतीप इति । कथात इति टीका । एव भूपतिस्तस्य  
कार्तवीर्यस्यान्वये भंसे जातः । येन प्रतीपेन संभवत्स्वात्मवत्स्य दुंसो दोषैर्भवत्समादिनी  
कडमुत्पन्नं भियाः सम्भवि स्वमात्रलोका प्रकृतिचक्रकेलेवैक्यमन्त्रो हुन्नीर्तिः प्रमुष्टं  
विरत्तम् । बुद्धात्मप्राप्तानीकालाः भियाः प्रकृतिचक्रप्रवाहो मृद्वज्रपरिकल्पित  
इत्यर्थः । अत्र तु दोषराहित्यात् कथाविद्वि भियाः त्यज्यत इति भावाः ॥ ४१ ॥

कालों तथा दण्डको का ऐवक 'प्रतीप' नामक वह राज्य उस कार्तवीर्यके बंधमें बलब  
हुना है जिसमें आत्मके दोषसे कम्पीके 'कम्पी' कथानसे ही 'जबका हीटी है' इस बलबकी  
दूर कर दिया है । ( 'वाल्मीकिमें कम्पीपानोंके दुर्गुणोंके कारण ही कम्पी जब पुत्रवध  
त्याग करती है । शीघ्र पर्व शुक्लात् कम्पिकी कम्पी कथापि नहीं बसिती' इस वाक्य

सद्गुणवान् इति 'प्रतीप' राजाने प्रमाणित करके लक्ष्मीके 'स्वभावचञ्चला' होनेकी लोक-निन्दाको दूर कर दिया है अर्थात् इसके पास लक्ष्मी सर्वदा निवास करती है ) ४१ ॥

आयोधने कृष्णगति सहायमवाप्य यः क्षत्रियकालरात्रिम् ।

धारा शिता रामपरश्वधस्य सम्भावयत्युत्पलपत्रसाराम् ॥ ४२ ॥

आयोधन इति । यः प्रतीप आयोधने युद्धे कृष्णगतिं कृष्णवर्त्मानमग्निं सहाय-मवाप्य क्षत्रियाणां कालरात्रिं, सहाररात्रिमित्यर्थः । रामपरश्वधस्य जामदग्न्यपरशोः । 'द्वयोः कुठार' स्वधितिः परशुश्च परश्वधः' इत्यमरः । शितां तीक्ष्णां धारां मुखम् । 'खड्गादीनां च निशितमुखे धारा प्रकीर्तिता' इति विश्वः । उत्पलपत्रस्य सार इव सारो यस्यास्तां तथाभूतां सम्भावयति मन्यते । एतन्नगरजिगीषयागतान्निपून्स्वयमेव धष्यामीति भगवता वैश्वानरेण दत्तवरोऽयं राजा । 'दह्यन्ते च तथागताः क्षत्रवः' इति भारते कथानुसन्धेया ॥ ४२ ॥

जो 'प्रतीप' राजा युद्धमें अग्निको सहायक पाकर क्षत्रियोंके लिये कालरात्रि परशुरामजीके फरसेकी तेज धारको कमलपत्रके समान शक्तिवाला अर्थात् निःसार समझता है ॥ ४२ ॥

पौराणिक कथा—पहले अग्निने इस प्रतीप राजाको वरदान दिया था कि 'इसके नगरको जीतनेके लिये आये हुए शत्रुओंको मैं स्वयं जला दिया करूँगी' अतः क्षत्रियोंके २१ बार संहार करनेवाले परशुरामजी इस प्रतीप राजाको कभी नहीं जीत सके ।

अस्याङ्गलक्ष्मीर्भव दीर्घबाहोर्माहिष्मतीवप्रनितम्बकाञ्चीम् ।

प्रासादजालैर्जलवेणिरम्यां रेवा यदि प्रेक्षितुमस्ति कामः ॥ ४३ ॥

अस्येति । दीर्घबाहोरस्य प्रतीपस्याङ्गलक्ष्मीर्भव, एन वृणीष्वेत्यर्थः । अनेनाय विष्णुतुल्य इति ध्वन्यते । माहिष्मती नामास्य नगरी । तस्या वप्रः प्राकार एव नितम्ब तस्य काञ्चीं रक्षनाभूताम् । जलानां वेण्या प्रवाहेण रम्याम् । 'ओघः प्रवाहो वेणी च' इति हलायुधः । रेवां नर्मदां प्रासादजालैर्गवाक्षैः । 'जाल समूह आनायो गवाक्षचारकावपि' इत्यमरः । प्रेक्षितुं काम इच्छाऽस्ति यदि ॥ ४३ ॥

माहिष्मती ( नामक इस राजाकी राजधानी ) के परकोटा ( चहारदिवारी ) रूप नितम्बकी करधनी तथा जलरूप वेणी ( केशकी चोटी ) से रमणीय रेवा नदीको महलोंके शरोखोंसे देखनेकी इच्छा है तो इस राजाके अङ्गकी शोभा बनो अर्थात् इस राजाको वरण करो ॥ ४३ ॥

तस्याः प्रकामं प्रियदर्शनोऽपि न स क्षितीशो रुचये बभूव ।

शरत्प्रमृष्टाम्बुधरोपरोधः शशीव पर्याप्तकलो नलिन्या ॥ ४४ ॥

तस्या इति । प्रकामं प्रिय प्रीतिकर दर्शन यस्य सोऽपि, दर्शनीयोऽपीत्यर्थः ।

२ रघु०



स्तृणाङ्कुरा येषा तेषु, शून्येष्वित्यर्थः । रिपुमन्दिरेषु शत्रुनगरेषु । 'मन्दिर नगरे गृहे' इति विश्वः । सन्निविष्टम् । स्वजनाद्वादको द्विपन्तपश्चेति भावः ॥ ४७ ॥

चन्द्रमाके समान नयनोंको आह्लादित करनेवाली जिसकी कान्ति अपने घरोंमें स्थित है तथा असह्य तेज शत्रुओंके महलोंके छज्जोंपर जमे हुए घासके अङ्कुरोंवाले, उनके महलोंमें स्थित है । ( शत्रुओंके मारे जानेसे या इसके भयसे घर छोड़कर भाग जानेसे उनके महलोंके ऊपर घासोंके जमनेसे वह इसके असह्य प्रताप तुल्य दिखलाई पड़ता है ) ॥ ४७ ॥

यस्यावरोधस्तनचन्दनाना प्रक्षालनाद्वारिविहारकाले ।

कलिन्दकन्या मथुरां गतापि गङ्गोर्मिसंसक्तजलेव भाति ॥ ४८ ॥

यस्यावरोध इति । यस्य सुषेणस्य वारिविहारकाले जलक्रीडासमयेऽवरोधानामन्तःपुराङ्गनानां स्तनेषु चन्दनानां मलयजानां प्रक्षालनाद्धेतोः । कलिन्दो नाम शैलस्तत्कन्या यमुना । 'कालिन्दी सूर्यतनया यमुना शमनस्वसा' इत्यमरः । मथुरा नामास्य राज्ञो नगरी । तां गतापि, गङ्गाया विप्रकृष्टापीत्यर्थः । मथुरायां गङ्गाऽभावं सूचयत्यपिशब्दः । कालिन्दीतीरे मथुरा लवणासुरवधकाले शत्रुघ्नेन निर्मास्यते इति वक्ष्यति । तत्कथमधुना मथुरासम्भव इति चिन्त्यम् । मथुरा मथुगपुरीति शब्दभेदः । यद्वा सान्येति । गङ्गाया भागीरथ्या ऊर्मिभिः ससक्तजलेव भाति । धवलचन्दनससर्गाध्रयागादन्यत्राप्यत्र गङ्गासगतेव भातीत्यर्थः । 'सितासिते हि गङ्गायमुने' इति घण्टापथः ॥ ४८ ॥

जिस राजाकी जलक्रीडाके समयमें रानियोंके स्तनोंके श्वेत चन्दनके धुल जानेसे मथुरामें भी यमुना गङ्गाके तरङ्गोंसे मिली हुईके समान शोभमान होती है । ( जिस प्रकार प्रयागमें गङ्गाकी धाराके मिलनेपर यमुनाका जल श्वेत-नीलवर्ण दिखलाई पड़ता है, वैसे ही मथुरामें भी इस राजाकी जलक्रीडाके समयमें रानियोंके स्तनोंके श्वेत चन्दनके धुलनेसे यमुनाका जल श्वेत मिश्रित नीलवर्ण दिखलाई पड़ता है ) ॥ ४८ ॥

त्रस्तेन तात्पर्यात्किल कालियेन मणिं विसृष्ट यमुनौकसा यः ।

वक्षःस्थलव्यापि रुच दधानः सकौस्तुभ ह्येपयतीव कृष्णम् ॥ ४९ ॥

त्रस्तेनेति । तात्पर्याद्गरुडात्रस्तेन । यमुना ओक स्थान यस्य तेन । कालियेन नाम, नागेन विसृष्ट किलाभयदाननिष्क्रयत्वेन दत्तम् । किलेत्यैतिह्ये । वक्षःस्थलव्यापिरुच मणिं दधानो यः सुषेण सकौस्तुभ कृष्ण विष्णु ह्येपयतीव । 'अर्ति-होवलीरीकन्यूयीश्माल्याता पुङ्खौ' इत्यनेन पुगागमः । कौस्तुभमणेरप्युत्कृष्टोऽस्य मणिरिति भावः ॥ ४९ ॥

गरुडसे डरे हुए यमुनामें रङ्गनेवाले कालिय नागके द्वारा ( अभयदान देनेसे उपहारमें ) दिये गये तथा छातीपर फैलती हुई कान्तिवाले रत्नको धारण किया हुआ यह 'सुषेण' राजा

श्रीलुप्त मणिको कारण किने हुए विष्णु मयभाऊको मानवो अभिमत कर रहा है ॥ ५५ ॥

सन्माख्य भर्तारममुं युवानं मृदुप्रधासोत्तरपुष्पशय्ये ।

पृथ्वायने चैत्ररथायनूने निर्विरपतां मुन्वरि षोडशमी ॥ ५० ॥

सम्माप्येति । बुधानाममुं सुपेनं यतारं सम्माप्य मत्वा पतित्वेनाद्रीहृत्वेत्यर्थः ।  
 मृदुमवाक्येत्तरोपतिप्रस्तारित्येवमकपडवा पुण्यस्यया धर्मिस्तत्तस्मिन्नेवरात्रात्तुभो-  
 यावाद्गुणे हृन्वने हृन्वावनवामक उच्यते हे सुन्दरि ! धौमनीर्वावद्वज्रं  
 विद्विषतां भुज्जताम् ॥ ५ ॥

हे सुन्दरि ! इस युवक राजाको वरि यामकर कपरमें कीमक वसे मिष्टी हर् पुनइया-  
 बाके वैभव (मामक पुनैरोपाज) के समान पुन्यावनमें वषापीकी क्षोयाको वरिठार् करो

अथ्यस्य चान्मपूपतोहितामि शैलेषाम्भीनि शिलावज्जानि ।

अक्षपिनां प्रावृषि परमं मुख्यं अन्तासु गोवर्धनचन्द्रासु ॥ ५१ ॥

अध्यास्येति । किं च, प्राहुषि वर्यासु कण्ठासु दीर्घवत्त्वाजः कण्ठासु इति  
 'वरी तु कण्ठो वा वी' इत्यमरः । अस्मिन् पृष्ठैर्बिन्दुमिहिति सिद्धमि  
 ति कान्तां भवं कैकेयम् । 'सिद्धकतु च कैकेयम् इति बाह्वः । यद्वा सिद्धपुष्पात्  
 भोवद्विद्विद्येयम् । 'आकाशुसार्वभूतमस्युपपत्तिरिति वाचि तु । कैकेयम्' इत्यमरः  
 'सिद्धपुष्पा वा' इत्यस्य सिद्धाया इति योगविभागादिवाच्यं इत्यमरः । तदुपपन्नमि  
 सैकैवमन्वीति सिद्धकतुकाध्यास्याविधाय ककपिवां यद्विंशो मृतं पश्य ॥ ५१ ॥

भीर सुन्दर मोचनम पर्वतको गुफामाथे बस्छो धुलोसि चिकनास किनै नभै यत्र सिम  
झोल्ने गल्फसि मुक्त बाहुमोचर बैठ्छर वरसातमै भीरोको गुल्फको देखो ॥ ५१ ॥

सृप तमावर्तमनोऽनामि' सा व्यस्यगादम्यवधूर्मवित्री ।

महीधरं मार्गेशाहूपेक्षं सोतोषहा सागरगामिनीव ॥ ५२ ॥

शुपमिति । 'एवादाकर्तोऽयमपी जगत्' इत्यमरः । जाकर्तमन्नेष्टा धामिर्वात्ता  
 सा । इहं च गदीसाम्भार्यमुच्यते । जगत्पदबहुवचनी यस्मिन् धामिनी सा कुमारी तं  
 शुपम् । सत्प्राप्त्यामिन् सगर्भं यन्मन्त्रोक्तोक्तं गदी मार्गवशाद्दुष्टं यत्तं गदीवर्ग  
 वर्तमानं जगत्पदवर्तमानं गता ॥ ५२ ॥

पञ्चमी मीरके समान सुन्दर नाभिवाली तथा भविष्यमें बृहत् अर्थात् 'बज्र' की भाँति होनेवाली इस शकुन्तलीमें रास्तेमें जानेसे प्रायः पर्यटकों समुद्रप्रसिद्धी एवं प्रवासे लक्ष्मी वाणी मन्त्रीके समान ( माती-वति 'बज्र'के वहाँ जाते समय मार्गमें प्रायः ) इस राजाजी को निया लक्ष्मी इस राजाजी को भविष्यत् ज्ञाने लक्ष्मी ॥ ५२ ॥

अथाङ्गदाश्लिष्टभुजं भुजिज्या हेमाङ्गदं नाम कलिङ्गनाथम् ।  
आसेदुषीं सादितशत्रुपक्ष बालामवालेन्दुमुखीं वभापे ॥ ५३ ॥

अथेति । अथ भुजिज्या किङ्करी सुनन्दा । 'भुजिज्या किङ्करी मता' इति हला  
युधः । अङ्गदाश्लिष्टभुज केयूरयुद्धयार्हुं सादितशत्रुपक्ष विनाशितशत्रुवर्गं हेमाङ्गदं नाम  
कलिङ्गनाथमासेदुषीमासन्नामवालेन्दुमुखीं पूर्णेन्दुमुखीं बालामिन्दुमतीं वभापे ॥ ५३ ॥

इसके बाद दासी सुनन्दाने बाहुमें विजायठ पड़ने हुए तथा शत्रुपक्षकी नष्टकरनेवाले  
अङ्गदेशके राजा 'हेमाङ्गद'को ( घतलाकर ) समीपमें स्थित तथा पूर्णचन्द्रतुल्य इन्दुमतीसे  
कहा ॥ ५३ ॥

असौ महेन्द्राद्रिसमानसारः पतिर्महेन्द्रस्य महोदधेश्च ।  
यस्य चरत्सैन्यगजच्छलेन यात्रासु यातीव पुरो महेन्द्रः ॥ ५४ ॥

असाविति । महेन्द्राद्रे' समानसारस्तुल्यसत्त्वोऽसौ हेमाङ्गदो महेन्द्रस्य नाम कुल-  
पर्वतस्य महोदधेश्च पति स्वामी । 'महेन्द्रमहोदधी एवास्य गिरिजलदुर्गे' इति  
भावः । यस्य यात्रासु चरतां मदस्त्राविणां सैन्यगजानां छलेन महेन्द्रो महेन्द्राद्रि  
पुरोऽग्रे यातीव । आद्रिकल्पा अस्य गजा इत्यर्थः ॥ ५४ ॥

महेन्द्र पर्वतके समान सार ( शक्ति तथा सम्पत्ति ) वाला यह 'हेमाङ्गद' राजा महेन्द्र  
पर्वतका तथा महासमुद्रका स्वामी है, जिसकी ( दिग्विजयकी ) यात्रामें मदजलकी बहानेवाले  
हाथियोंके बहानेसे महेन्द्रपर्वत मानों आगे चलता है ॥ ५४ ॥

ज्याघातरेखे सुभुजो भुजाभ्या विभर्ति यश्चापभृता पुरोगः ।  
रिपुश्रिया साञ्जनबाष्पसेके बन्दीकृतानामिव पद्धती द्वे ॥ ५५ ॥

ज्याघातेति । सुभुजश्चापभृता पुरोगो धनुर्धराग्रेसरो य बन्दीकृतानां प्रगृहीता-  
नाम् । 'प्रग्रहोपग्रहौ बन्धाम्' इत्यमरः । रिपुश्रिया साञ्जनो बाष्पसेको ययोस्ते,  
कजलमिश्राश्रुसिके इत्यर्थः । पद्धती द्वे । द्वे ज्याघातानां मौर्वीकिणानां रेखे राजी  
भुजाभ्यां विभर्ति । द्विवचनात्सम्यक्साचित्त्व गम्यते । रिपुश्रियां भुजाभ्यामेवाहरणात्त-  
द्गतरेखयोस्तत्पद्धतित्वेनोपेक्षा । तयो श्यामत्वात्साञ्जनाश्रुसेकोक्तिः ॥ ५५ ॥

सुन्दर भुजाओंवाला तथा धनुर्धारियोंमें प्रधान जो 'हेमाङ्गद' राजा दोनों भुजाओंमें,  
चन्दिनी बनायी गयीं शत्रुओंकी राजलक्ष्मियोंके अजनयुक्त आँसूसे सिक्त दो रेखाओंके समान  
प्रत्यङ्गाके आघातसे उत्पन्न दो चिह्नों ( घट्टों ) को धारण करता है । ( सर्वदा धनुष चलानेसे  
इसकी भुजाओंमें जो प्रत्यङ्गाके आघातसे उत्पन्न कृष्णवर्ण दो घट्टे हैं, वे वशमें की गयी शत्रु-  
ओंकी राजलक्ष्मीके अजनयुक्त श्यामवर्णकी दो रेखाओंके समान मालूम पड़ते हैं ) ॥ ५५ ॥

यमात्मनः सद्यनि सभिच्छ्रो मन्त्रध्वनित्यजित्वामर्त्यः ।

प्राप्ताद्वाठायनहरयवीधिं प्रबोधयत्यर्णव पव सुप्तम् ॥ ५६ ॥

वमिति । आत्मनः सप्तविंशतिं यं हेमाद्र्यं सविष्णुः समीपलोभ्य एव प्रपन्नः  
 सप्तविंशतिं यं विमर्शयेज्जगत्परीज । 'मम हस्तं जग्मुरे' इत्यमरः । जग्मिवा  
 न्यासितं विमर्शितं पालय्य तूर्णं ग्रहराजप्राप्तसुखं वादं वैज स तपोऽहम् । 'हौ  
 वाममहरी समौ' इत्यमरः । जग्म्व एव प्रबोधयति । जग्म्वस्येव तूर्णकार्यकारिणः  
 सप्तविंशतिमर्शयः । सप्तविंशतिं योज्याः क्रियन्त्येवामिति भावः ॥ ५१ ॥

अपने महकमें सीधे हुए जिस 'हेमाद्र' राजाकी समीपल महकमें झरोखोंसे निजमें  
मगते हुए उज्जोबाब और मन्गीर खण्डसे महर-सूचक नामकी न्याय करयेवाला समुद्र ही  
क्याता है ॥ ५६ ॥

अनेन सप्तं विहराम्बुराशेस्तीरेषु वास्तीवनममरेषु ।

ह्रीपाम्बरानीसक्तकङ्कपुष्पैरपाङ्गवस्त्रेदक्षया मरुद्भिः ॥ २० ॥

अवेवेति । अवेव रात्रौ सार्धं तन्मीयमैर्मरिषु मरिषि विनष्टम् । 'अथ मरिषः ।  
स्मरिते वक्ष्यमाणानाम् इत्यमरवचनात्पुनरुक्त्यापि मरिषसम्बन्धस्य पुनिरुक्तं शब्दोक्तं  
वक्ष्येयम् । अन्तुरासोः समुद्रस्य तीरेषु द्वीपान्तरेभ्य आनीतानि कच्छपुण्यानि वैश्व-  
कुमुदानि वैश्वे । 'अथ वैश्वकुमुदमय' इत्यमरः । मन्त्रिर्धर्तरेपाकृतः मन्त्रितः  
स्वैरस्य कथा विन्वदो वस्ताः सा तथा भूता सती त्वं विहर शीघ्रम् ॥ ५० ॥

राजधानीसे 'ममर' ज्वनि करमेवाले छात्रले जेठेवर कल्प होएते क्वाहपुण्योले  
कानेबाकी हवासे फुलीमेकी हलामेबाकी ग्राम इस रत्नाले ताल विहार करो ॥ ५७ ॥

प्रज्ञोमिताप्याहुविज्ञोमनीय विबुर्मराजावरजा तपैवम् ।

तस्मादपावर्तत वृक्षस्य नीत्येव क्षत्सी-प्रतिपुञ्जवैवात् ॥ ५८ ॥

प्रत्येकमिच्छापीति । अतएव कस्यैव कोमयीचाऽऽकर्षणीया न तु सर्वमप्येवैवार्थः ।  
विदर्भराजावरणा भोषाभुजेन्नुमती तथा सुखमन्वेष्यं प्रत्येकमिच्छाति प्रत्येकमिच्छाति ।  
वीणा सुखमन्वरेण दूरकृत दूरमासीत् कस्यसि मतिशून्यं वैवं यस्य तस्मात्सुखं इव ॥  
तस्मात्प्रत्येकमप्यप्यवर्तत मतिमिच्छा ॥ ५८ ॥

इससे ओमबीन वह बीजको ओमबीनहन हनुमयी उस धुपन्दाके बहुत कामेवर  
पी नीति अर्थात् दुस्सार्थके द्वारा दूर कीयी गई अस्सीके समान प्रतिद्वन्द्वमागवाके उस  
राज्यके दूर दूर गई ॥ ५८ ॥

जपोरगाय्यस्य पुरस्य मार्गं बीभारिणी देवसरूपमेत्य ।

इत्यथोक्तेराणि विज्ञोक्तयेति पूर्वानुशिष्टां निजगाढ मोक्ष्यम् ॥ ५३ ॥

अयेति । अथ द्वारे नियुक्ता दीवारिकी सुनन्दा । 'तत्र नियुक्तः' इति ठक्प्रत्ययः ।  
'द्वारादीनां च' इत्यौ आगमः । अकारेण देवसरूप देवतुल्यम् । उरगाख्यस्य पुरस्य  
पाण्ड्यदेशे कान्यकुब्जतीरवर्तिनागपुरस्य नाथमेत्य प्राप्य । हे चकोराक्षि । इतो  
विलोकयेति पूर्वानुशिष्टां पूर्वमुक्तां भोजस्य राज्ञो गोत्रापत्य स्त्रिय भोज्यामिन्दु-  
मतीम् । 'क्रोड्यादिभ्यश्च' इत्यत्र भोज्याक्षत्रियादित्युपसख्यानात्पठ्प्रत्ययः ।  
'यङ्श्चाप्' इति चाप् । निजगाद । इतो विलोकयेति पूर्वमुक्त्वा पश्चाद्वक्तव्य  
निजगादेत्यर्थः ॥ ५९ ॥

इसके बाद द्वारपालिका सुनन्दा देवतुल्य कान्तिवाले 'उरग' ( पाण्ड्यदेशमें कान्यकुब्जके  
तटवर्ती नागपुर ) के राजाको प्राप्तकर पूर्वोक्त भोजवशोत्पन्न इन्दुमतीसे 'हे चकोरनेत्रे ।  
इधर देखो' इसप्रकार बोली—॥ ५९ ॥

पाण्ड्योऽयमंसापित्तलम्बहार क्लृप्ताङ्गरागो हरिचन्दनेन ।

आभाति बालातपरक्तसानुः सनिर्झरोद्गार इवाद्रिराजः ॥ ६० ॥

पाण्ड्य इति । असयोरपिताः लम्बन्त इति लम्बा. हारा यस्य सः । हरिचन्दनेन  
गोशीर्षाख्येन चन्दनेन । 'तैलपर्णिकगोशीर्षे हरिचन्दनमस्त्रियाम्' इत्यमरः । क्लृप्ता-  
ङ्गराग सिद्धानुलेपनोऽय पाण्डुना जनपदाना राजा पाण्ड्यः । 'पाण्डोर्जनपदशब्दा-  
क्षत्रियाद्व्यण्वक्तव्य' इति व्यण्प्रत्ययः । 'यस्य राजन्यपत्यवत्' इति वचनात् ।  
बालातपेन रक्ता अरुणा सानवो यस्य स सनिर्झरोद्गार' प्रवाहस्यन्दनसहितः ।  
'वारिप्रवाहो निर्झरो द्वार' इत्यमरः । अद्रिराज इवाभाति ॥ ६० ॥

कन्धोंसे लटकते हुए हारको पहना हुआ तथा हरिचन्दनका अङ्गराग ( अङ्गोंमें लेप )  
लगाया हुआ यह पाण्ड्य देशका राजा प्रातः कालके धूपसे रक्तवर्णयुक्त शिखरवाले क्षरन्तोंसे  
जल बहाते हुए हिमालयके समान शोभमान हो रहा है ॥ ६० ॥

विन्ध्यस्य सस्तम्भयिता महाद्रेनि शेषपीतोऽज्झितसिन्धुराजः ।

प्रीत्याश्वमेधावभृथार्द्रमूर्तेः सौस्नातिको यस्य भवत्यगस्त्यः ॥ ६१ ॥

विन्ध्यस्येति । विन्ध्यस्य नाम्नो महाद्रेः । तपनमार्गनिरोधाय वर्धमानस्येति  
शेषः । सस्तम्भयिता निवारयिता नि शेष पीत उज्झित पुनस्त्यक्तः सिन्धुराजः  
समुद्रो येन सोऽगस्त्योऽश्वमेधस्यावभृथे दीक्षान्ते कर्मणि । 'दीक्षान्तोऽवभृथो यज्ञे'  
इत्यमरः । आर्द्रमूर्तेः स्नातस्येत्यर्थः । यस्य पाण्ड्यस्य प्रीत्या स्नेहेन, न तु दाक्षि-  
ण्येन । सुस्नात पृच्छतीति सौस्नातिको भवति । 'पृच्छतौ सुस्नातादिभ्यः'  
इत्युपसख्यानाद्वक् ॥ ६१ ॥

विन्ध्य महापर्वतको स्तम्भ करनेवाले तथा सम्पूर्ण समुद्रको पी जानेवाले अगरत्य ऋषि



अथपुनः ( ब्रह्माण्डमें कर्त्तव्य राजा-विशेष ) से भीपि कुछ शरीरवाले अर्थात् स्वान विदे हुए  
मिस राजाके प्रसन्नतासे शुभपूर्वक स्वाग करनेका कुछक वृत्ति है ॥ ६१ ॥

पौराणिक कथा—१ पूर्वकालमें राजाके साथ राजाकर कमके मार्गको रोकनेके लिए राजे  
बेगटे बढ़ते हुए विष्णुपर्वतको बैठकर बैठवालोंके सहित शत्रुने जगत्त्रय मुनिसे इसे क्या  
करनेके लिये प्रार्थना की तब जनकी प्रार्थना सुनकर जगत्त्रय भी विष्णु दिशाको जाने लगे  
तब विष्णु विष्णुपर्वतको शुभ जनसम्बन्धी वृत्तिमें बैठकर प्रणाम करनेपर जायने  
करा कि 'जब तक मैं वापस नहीं जोड़ता तब तक तुम वहीं ही रहना, ठठना नहीं'  
तबतुलार विष्णुपर्वत बाजना जगत्त्रय जायनेके विष्णु दिशासे नहीं जोड़नेसे वेते ही  
मुनिपर दम्भवत् पड़ा हुआ है ।

२ एक समय ब्राह्मणोंकी हत्या करनेवाले बातापि तथा दूसरा नामक ही असुर हुए ।  
उनमें दूसरा ब्राह्मणका कम बारम्बार छेड़छाड़में बीछता हुआ बाहके नामसे ब्राह्मणोंको  
भोजनके लिये निमन्त्रण देता था और भोजन कम बारम्बार करने हुए बातापिकी मारकर  
उसके मांसको विविधपूर्वक नाममें उन ब्राह्मणोंको भोजन कराता था । इनके भोजन कर  
केनेपर अन्य स्वरासे हि बातापि । बाहर निकलते पुकारता था, भार्गव पुकारता सुनकर  
उन ब्राह्मणोंके पैरकी पट्टकर बातापि बाहर जा जाता था और वे ब्राह्मण मर पाते थे ।  
इस प्रकार वे राजासे हजारों ब्राह्मणोंका वधकर उनके मांसका भक्षण करते थे । यह देख  
देखवालोंकी प्रार्थना करनेपर महर्षि जनपदकी वहाँ पडे और दूसरने लगी प्रकर उन्हें  
निमन्त्रितकर भोजनकारी बातापिके मांसको विविध नामकर भोजन करनेके उपरान्त  
हि बातापि । बाहर निकलते इस प्रकार एक स्वरासे पुकारने लगा । यह देख महर्षि भाग-  
दत्तकीने हँसते हुए कहा—'भिक्षु कब बारम्बार करनेवाला तुम्हारा मार्ग मेरे पैरमें पच गया  
है, अब बाहर निकलनेकी क्षति कष्टमें नहीं है ।' यह सुनकर कुछ वह दूसरा मुनिकी  
मारनेके लिये बीका तो मुनिने क्षणमात्रमें क्षीयगतिसे उछली भी पत्तन कर दिया ।  
( वास्तविक रामा नारदकाव्य ११।५६-६० ) । एक बातापि-बातापिकी मारनेके लिये  
जनसम्बन्धी हत्या उद्गृह्णानकी कथा थी नहीं २ मिलती है ।

अथ हरावाप्तवता सुरार्प येनेन्द्रसोऽथवज्रपाय हसः ।

पुरा जनस्मान्निर्मर्षराष्ट्री सम्भाय तादृशपतिं प्रतप्तये ॥ ६२ ॥

अथमिति । पुरा पूर्व अवस्थानस्य काराकस्य निर्मर्षराष्ट्री एत वदन्तो कदापि-  
पती राजको सुरार्प दुर्कर्ममत्तं प्रकृष्टिरोनामकं हरावृत्तवता येन पाण्डवेन सम्भाय ।  
इन्द्रकोकनवपायेन्द्रकोकनेतुं प्रतप्तये । इन्द्रविश्वामित्री राजकस्यापि विरोधेत्त्वर्षः ॥ ६२ ॥

पुर्वके जनसम्बन्धी बाहकी बाहका करनेवाले अवस्थ कहेकर राजपते दुर्कर्म ( मर-  
दिर नामक ) नामको सिनवीसे पावे हुने मिस पाण्डववरेकके साथ लानि करके इन्द्रकोक  
( लगी ) की विषयके लिये जाता थी ॥ ६२ ॥

अनेन पाणौ विधिवद्गृहीते महाकुलीनेन महीव गुर्वी ।

रत्नानुविद्धार्णवमेखलाया दिशः सपत्नी भव दक्षिणस्याः ॥ ६३ ॥

अनेनेति । महाकुलीनेन महाकुले जातेन । 'महाकुलादन्वज्री' इति खन्प्रत्ययः । अनेन पाण्डयेन पाणौ स्वदीये विधिवद्यथाशास्त्र गृहीते सति गुर्वी गुरुः । 'वोतो गुण-वचनात्' इति ङीप् । महीव रत्नैरनुविद्धो व्याप्तोऽर्णव एव मेखला यस्यास्तस्याः । इदं विशेषणं मय्यामिन्दुमत्यां च योज्यम् । दक्षिणस्या दिशः सपत्नी भव । अनेन सपत्न्यन्तराभावो ध्वन्यते ॥ ६३ ॥

श्रेष्ठ कुलमें उत्पन्न हस्त पाण्डव राजाके साथ विवाह करनेपर तुम पृथ्वीके समान रत्नयुक्त समुद्ररूप मेखला ( करघनी ) वाली दक्षिण दिशाकी सपत्नी ( सौत ) बनो ॥ ६३ ॥

ताम्बूलवल्लीपरिणद्धपूगास्वेलालतालिङ्गितचन्दनासु ।

तमालपत्रास्तरणासु रन्तु प्रसीद शश्वन्मलयस्थलीषु ॥ ६४ ॥

ताम्बूलेति । ताम्बूलवल्लीभिर्नागवल्लीभिः परिणद्धा' परिबद्धा' पूगाः क्रमुका यासु तासु । 'ताम्बूलवल्ली ताम्बूली नागवल्लीयपि' इति, 'घोष्ठा तु पूग क्रमुका' इति चामरः । एलालताभिरालिङ्गिताश्चन्दना मलयजा यासु तासु । 'गन्धसारो मलयजो भद्रश्रीश्चन्दनोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः । तमालस्य तापिच्छस्य पत्राण्येवास्तरणानि यासु तासु । 'कालस्कन्धस्तमाल' स्यात्तापिच्छोऽपि' इत्यमरः । मलयस्थलीषु शश्वन्मुहुः सदा वा रन्तु प्रसीदानुकूला भव ॥ ६४ ॥

जलीय लताओंसे वेष्टित सुपारीके वृक्षोंवाली, छोटी इलायचीकी लताओंसे वेष्टित चन्दन वृक्षोंवाली और तमालपत्रोंकी ऊपरी चादरवाली ( तमालके पत्तोंसे ढकी हुई ) मलयाचलकी भूमिमें निरन्तर रमण करनेके लिये प्रसन्न होओ ॥ ६४ ॥

इन्दीवरश्यामतनुर्नृपोऽसौ त्व रोचनागौरशरीरयष्टिः ।

अन्योन्यशोभापरिवृद्धये वां योगस्तडित्तोयदयोरिवास्तु ॥ ६५ ॥

इन्दीवरेति । असौ नृप इन्दीवरश्यामतनुः । त्व रोचना गोरोचनेव गौरी शरीर-यष्टिर्यस्या' सा ततस्तडित्तोयदयोर्विष्णुमेघयोरिव वां युवयोर्योग समागमोऽन्योन्य-शोभायाः परिवृद्धयेऽस्तु ॥ ६५ ॥

यह राजा नीलकमलके समान श्यामवर्ण देहवाला है तथा तुम गोरोचनके समान गौर शरीरयष्टिवाली हो, ( अत एव ) तुम दोनोंका सम्बन्ध विजली तथा मेघके समान परस्परकी शोभा बढ़ानेवाला होए ॥ ६५ ॥

स्वसुविदर्भाधिपतेस्तदीयो लेभेऽन्तरं चेतसि नोपदेशः ।

दिवाकरादर्शनबद्धकोशे नक्षत्रनाथांश्चरिवारविन्दे ॥ ६६ ॥

स्वसुरिति । विहर्षाविप्लवेर्भोजस्य स्वसुरिन्मुग्धाभेतसि तदीयाः सुवन्दास्तन्-  
न्मुपदेशो दानयम् । विवाकरस्याहर्षेण बह्वर्षेणो मुकुटितेभ्यश्चिन्ते बह्वर्षाणां-  
हृत्पद्मनिभ इव । अन्तरमयकक्षां न केमे ॥ ६९ ॥

एतके नहीं देखते वे नन्द कोछपाके (मुकुटित) कमरमें बह्वर्षाके समान, विहर्षबोधो-  
पह्वन इन्धुमतीके हृदयमें अनेके ( अन्तर्यामि ) अपदेसने स्थान नहीं पाया ॥ ६९ ॥

सञ्चारिणी दीपशिखेव रात्रौ ध र्धं व्यतीयाय पतिवरा सा ।

मरेन्द्रमार्गाद् इव प्रपेदे विवर्णमार्धं स स भूमिपात्र ॥ ७० ॥

सञ्चारिणीति । पतिवरा सेन्धुमती रात्री सञ्चारिणी दीपशिखेव ध र्धं व्यतीयाय भूमिपात्रं  
व्यातीयायातीत्य वृत्ता स स भूमिपात्रः, स सर्व इत्यर्थः । 'वित्पत्नीस्तयोः' इति  
दीप्याणां द्विवचनम् । मरेन्द्रमार्गे रात्रययैश्चकरो गृहमेव इव । 'स्याद्गृहं श्रीम-  
न्निधाम्' इत्यमरः । विवर्णमार्धं विवर्णायावत् । अहस्तु तमोवृत्तत्वम् । प्रपेदे ॥ ७० ॥

पतिवो स्तव वरन करनेवाली वह इन्धुमती रात्रिमें बकरी हुई दीपकके बीके समान  
चित १ रात्रको छोड़कर आने बह गयी वह १ रात्रा सबकरी अहस्तिकके समान अहस्तोप  
धान ( पद्ममें-नैवरा ) की मात्र किना अर्धोप इन्धुमतीके छोड़कर आये ॥ आनेसे वे रात्रा  
अहस्तोप हो गये ॥ ७० ॥

तस्यां रघोः सुदुःखपस्विताया वृजीत मां नेति समाकुलोऽमूत् ।

वामेतरं संशयमस्य बाहुं केयूरबन्धोऽप्यसितैमुनोद ॥ ७१ ॥

तस्वामिति । तस्वामिन्मुग्धागुपस्वितायामासञ्चार्यां सत्यां रघोः सुदुःखो मां  
वृजीत न नेति समाकुलः संशयितोऽमूत् । अयास्वात्मस्य वामेतरो वामाक्षितो  
वृजिजो बाहुः । केयूरं बन्धतेऽनेति केयूरबन्धोऽप्यसितैः सितैः सुनयैः  
संशयं मुनोद ॥ ७१ ॥

अस ( इन्धुमती ) के पास वृज्वामेतर रज्जुजुन जब 'कब 'इन्धुमती' मुझे वरन करेगी या  
नहीं ?' इसप्रकार सन्देह करने लगे, ( फिर ) हल्की बहनी मुझने विवाह बंधनके  
स्थानके लुरित होने ( प्रकटने ) से हल्के सन्देशको दूर कर दिया । ( ससुरिक आत्मानुसार  
बहनी मुझने लुरकरी कोणमहीया है वरः बहनी मुझने लुरित होनेसे नकली इन्धुमतीके  
कमरमें सन्देश नहीं रहा ) ॥ ७१ ॥

तं प्राप्य सर्वावयवान्नवर्षं व्यवर्ततेऽन्धोपममात्रुमारी ।

न हि प्रपुच्छ सहकारमेत्य वृक्षान्तरं काक्क्षति वदपवाधि ॥ ७२ ॥

तमिति । कुमारी सर्वेभ्यश्चपेभ्यश्चपयमहीर्षं तमर्धं प्राप्य अन्धोपममात्रुत्वान्तरो  
पममश्चवाकर्तव्यं विवृता । तथा हि । वदपवाधि वृक्षान्तरे । प्रपुच्छतीति प्रपुच्छ

वेकसितम्, पुष्पितमित्यर्थः । प्रपूर्वात्फुल्लतेः पचाद्यच् । फलतेस्तु प्रफुल्लतमिति पठि-  
तव्यम् । अनुपसर्गात् फुल्लक्षीयकृशोक्लाघा, इति निषेधात् । इत्युभयथापि न कदा-  
चेदनुपपत्तिरित्युक्तं प्राक् । सहकारं चूतविशेषमेव । 'आम्रश्चूतो रसालोऽसौ सहका  
रोऽतिसौरभः' इत्यमरः । वृद्धान्तरं न काङ्क्षति । न हि सर्वोऽकृष्टवस्तुलाऽपि वस्त्व-  
न्तरस्यामिलाष स्यादित्यर्थः ॥ ६९ ॥

कुमारी इन्दुमती सम्पूर्णं अङ्गोर्मे अनिन्दनीयं उत अजको पाकर अन्यत्र जानेसे रुक गयी  
अर्थात् दूसरे राजाके पास जानेका विचार छोड़ दिया, क्योंकि अमरोंकी पङ्क्ति खिले (मौजरी-  
बौरीसे लदे) हुए आमको छोड़कर दूसरे वृक्षको चाहना नहीं करती है ॥ ६९ ॥

तस्मिन् समावेशितचित्तवृत्तिमिन्दुप्रभामिन्दुमतीमवेक्ष्य ।

प्रचक्रमे वक्तुमनुक्रमज्ञा सविस्तरं वाक्यमिदं सुनन्दा ॥ ७० ॥

तस्मिन्निति । तस्मिन्नजे समावेशिता सङ्क्रामिता चित्तवृत्तिर्यथा ताम् । इन्दोः  
प्रभेव प्रभा यस्यास्ताम् । आह्लादकत्वादिन्दुसाम्यम् । इन्दुमतीमवेक्षयानुक्रमज्ञा  
वाक्यपौर्वापर्यामिज्ञा सुनन्देव वक्ष्यमाणं सविस्तारं संप्रपञ्चम् । 'प्रथमे वाचशब्दे'  
इति वज्रो निषेधात् । 'ऋतोरपू' इत्यप्प्रत्ययः । 'विस्तारो विग्रहो व्यास स च शब्दस्य  
विस्तरः' इत्यमरः । वाक्यं वक्तुं प्रचक्रमे ॥ ७० ॥

पूर्वापरं क्रमं अर्थात् अवसरको जाननेवाली सुनन्दा उत अजमें मनको लगायी हुई,  
चन्द्रतुल्य कान्तिवाली इन्दुमतीको देखकर विस्तारपूर्वक यह (श्लोक ७१-७९) वचन  
कहने लगी ॥ ७० ॥

इक्ष्वाकुवश्यः ककुदं नृपाणां ककुत्स्थ इत्याहितलक्ष्णोऽभूत् ।

काकुत्स्थशब्दं यत उन्नतेच्छा श्लाघ्यं दधत्युत्तरकोसलेन्द्रा ॥ ७१ ॥

इक्ष्वाकुवश्य इति । इक्ष्वाकोर्मनुपुत्रस्य वश्यो वशे भवः । नृपाणां ककुदं श्रेष्ठः ।  
'ककुच्च ककुदं श्रेष्ठे वृषांसे राजलक्ष्मणि' इति विश्वः । आहितलक्ष्णः प्रख्यातगुणः ।  
'गुणैः प्रतीते तु कृतलक्षणाहतलक्षणौ' इत्यमरः । ककुदि वृषांसे तिष्ठतीति ककुत्स्थ  
इति प्रसिद्धं कश्चिद्वाजाऽभूत् । यतः ककुत्स्थादारम्योन्नतेच्छा महाशया । 'महेच्छस्तु  
महाशयः' इत्यमरः । उत्तरकोसलेन्द्रा राजानो दिलीपादयः श्लाघ्यं प्रशस्तम् । ककु-  
त्स्थस्यापत्यं पुमान्काकुत्स्थ इति शब्दः सज्ञां दधति विभ्रति । तन्नामसस्पर्शोऽपि  
वशास्य कीर्तिकर इति भावः । पुरा किल पुरज्जयो नाम साक्षाद्भगवतो 'विष्णोरेक्षाव-  
तारं कश्चिदैक्ष्वाको राजा देवैः सह समयवन्धेन देवासुरयुद्धे महोत्तरूपधारिणो महे-  
न्द्रस्य ककुदि स्थित्वा पिनाकिलीलया निखिलमसुरकुलं निहत्य ककुत्स्थसज्ञां लेभे  
इति पौराणिकी कथानुसन्धेया । वक्ष्यते चायमेवार्थः उत्तरश्लोके ॥ ७१ ॥

इक्ष्वाकु (जखको भेदनकर उत्पन्न होनेसे मनुपुत्रका नाम 'इक्ष्वाकु' पड़ा) के वशमें



जातः कुले तस्य किलोरुकीतिः कुलप्रदीपो नृपतिर्दिलीपः ।  
अतिष्ठदेकोनशतक्रतुत्वे शक्राभ्यसूयाविनिवृत्तये यः ॥ ७४ ॥

जात इति । उरुकीर्तिर्महायशाः कुलप्रदीपो वंशप्रदीपको दिलीपो नृपतिस्तस्य  
ककुत्स्थस्य कुले जातः किल । यो दिलीप शक्राभ्यसूयाविनिवृत्तये न त्वदाक्येति  
भावः । एकेनोना शत क्रतवो यस्य स एकोनशतक्रतुः । तस्य भावे तत्त्वेऽतिष्ठत् ।  
इन्द्रप्रीतये शततमं क्रतुमवशेषितवानित्यर्थः ॥ ७४ ॥

उस 'ककुत्स्थ' राजाके वंशमें महायशस्वी, कुलदीपक ( वंशको दीपकके समान प्रकाशित  
करनेवाले ) 'दिलीप' राजा उत्पन्न हुए, जो इन्द्रकी असूया ( गुणमें भी दीप बताना )  
को दूर करनेके लिये निन्यानवे (अश्वमेध) यज्ञ करके ठहर गये (केवल इन्द्रकी ही सौ अश्व-  
मेध यज्ञ करनेका अधिकार होनेसे ९९ यज्ञोंको करके रुक गये (देखें सर्ग ३ श्लो० ३८) ॥ ७४ ॥

यस्मिन्महीं शासति वाणिनीनां निद्रां विहारार्धपथे गतानाम् ।

वातोऽपि नास्त्रसयदशुकानि को लम्बयेदाहरणाय हस्तम् ॥ ७५ ॥

यस्मिन्निति । यस्मिन्दिलीपे महीं शासति सति । विहरत्यत्रेति विहारः क्रीडा-  
स्थानम् । तस्यार्धपथे निद्रा गताना वाणिनीना मत्ताङ्गनानाम् । 'वाणिनो नर्तकी-  
मत्ताविदग्धवनितासु च' इति विश्वः । 'वाणिन्यौ नर्तकीदूत्यौ' इत्यमरश्च । अशुकानि  
वस्त्राणि वातोऽपि नास्त्रसयज्ञाकम्पयत् । आहरणायपहर्तुं को हस्तं लम्बयेत् । तस्या-  
शंसिद्धत्वादकुतोभयसञ्चाराः, प्रजा इत्यर्थः । अर्धश्चासौ पन्थाश्चेति विग्रहः । समप्र-  
विभागे प्रमाणाभावाच्चैकदेशिसमासः ॥ ७५ ॥

जिस 'दिलीप' राजाके शासन करते रहनेपर क्रीडास्थानके आधे मार्गमें, सोई हुई मत-  
वाली स्त्रियोंके वस्त्रोंको बाधु भी नहीं हटाया ( तो फिर दूसरा ) कौन पुरुष उन्हें हटानेके  
लिये हाथ बढ़ावे ॥ ७५ ॥

पुत्रो रघुस्तस्य पदं प्रशास्ति महाक्रतोर्विश्वजितः प्रयोक्ता ।

चतुर्दिगावजितसम्भृतां यो मृत्पात्रशेषामकरोद्विभूतिम् ॥ ७६ ॥

पुत्र इति । विश्वजितो नाम महाक्रतो प्रयोक्ताऽनुष्ठाता तस्य दिलीपस्य पुत्रो  
रघु पदं प्रयोज्यमेव प्रशास्ति पालयति । यो रघुश्चतसृभ्यो दिग्भ्य आवर्जिताऽऽहृता  
सम्भृता सम्यग्वर्धिता च या चतुर्दिगावर्जितसम्भृता तां विभूतिं सम्पदं मृत्पात्रमेव  
शेषो यस्यास्तामकरोत् । विश्वजिद्यागस्य सर्वस्वदक्षिणाकृत्वादित्यर्थः ॥ ७६ ॥

'विश्वजित' यज्ञको करनेवाला, उस 'दिलीप'का पुत्र रघु उसके पद अर्थात् राज्यका  
शासन करते हैं, जिसने चारों दिशाओंसे लाकर 'सञ्चित की हुई सम्पत्तिकी ( दानकर )  
मृण्मयपात्रमात्र अवशिष्ट कर दिया ( समस्त सम्पत्तिको इस प्रकार दान कर दिया कि उनके  
यहां केवल मिट्टीके घर्तन रह गये । देखें सर्ग ४ श्लो० ८६ ) ॥ ७६ ॥

आस्त्रमहीमुदधीम्बिधीर्षं मुञ्जङ्गमानां वसतिं प्रविष्टम् ।

ऊर्ध्वं गतं यस्य न चासुबन्धि यथा परिच्छेत्तुमियच्छासम् ॥ ७७ ॥

आस्त्रमिति । किं च । आङ्गीनास्त्रम् । उदधीम्बिधीर्षमवगम्य, सकङ्कमूलेषु  
व्यापकमित्यर्थः । मुञ्जङ्गमानां वसतिं पातालं प्रविष्टम् । ऊर्ध्वं स्वर्गदिशि गतं  
व्याप्य, इत्थं सर्वदिग्भासीत्यर्थः । असुबन्धोऽस्तीत्यसुबन्धि चाविच्छेदौ । कङ्कमू-  
लेषु व्यापकं चेत्त्यर्थः । अतः पूर्ववन्मृतं यस्य पक्ष इव यथा दैवतः काकतो वा केनचिन्मृगोऽपि  
परिच्छेत्तुं परिमल्लं नाकं न सक्तयम् ॥ ७७ ॥

पर्वतोपरं यथा हुवा, सप्तर्षीके पारं यथा हुवा, नागकेक (पताक) में हुवा हुवा,  
ऊपर केव हुवा और निरन्तर ( निश्चयमें ) नविच्छिन्न विसृष्टा यथा 'यहां तक क्या है  
वा सत्ता है' ऐसा प्रमाण करनेमें लक्ष्य है क्योंकि विच्छेदके बहकी सीमा तथा प्रमाण  
गरी ही संख्या ॥ ७७ ॥

असौ कुमारस्वमसोऽनुवातस्त्रिविष्टपस्येव पतिं वपन्तः ।

गुर्भी धुरं शो मुवनस्य पित्रा धुर्येण हन्त्यः सहस्रं विमति ॥ ७८ ॥

अत्राविति । असावनामका कुमारः । त्रिविष्टपस्य पतिमिच्छं वपन्त इव । 'वपन्तः  
पाकृतासन्ति' इत्यमरः । तं रघुमुवाच, वस्माज्जात इत्यर्थः । उवाचोऽपि तत्र  
मुवाचो भवति अन्वयवचनोरागमन्त्यर्थः । 'पात्रार्थकर्मकरिकवर्गीकृतासक्तवचन  
कीर्त्यतिशब्द' इति च । सोपपन्नवत्सकर्मकत्वम् । आह याज्ञेय सूत्रे वृत्तिकारः—  
'निकृतादप्य सोपपन्नाः सकर्मका भवन्ति' इति । हन्त्यः त्रिविष्टपस्येव पतिः कोऽसौ  
गुर्भी धुरं यत्र यत्र धुरं धुर्येण धुर्यधरेण धिर्विक्रमेण पित्रा सहस्रं दुर्गं यथा तत्र  
विमति । यथा कश्चिद्विष्टपस्योऽपि धुर्येण मन्त्रोक्तेन समं बहतीत्युपमाकृत्यारो व्यन्वते ।  
'हन्त्यवच्छतरौ धर्मौ' इत्यमरः ॥ ७८ ॥

यह कुमार 'जब' स्वर्गगति हन्ति वपन्तके [समाप्त] वह पति वपन्त हुवा है,  
विष्टपीन ( अवलम्बा ) को जब संसारके ( नई जारी प्रयापकत्वसे ) मारपी मारबाहक  
विष्टके समाप्त कारण करता है ॥ ७८ ॥

कुक्षेन अस्त्य वयसा मनेन गुणैश्च तैस्तैर्विनवप्रधानैः ।

त्वमात्मनस्तुभ्यममुं वृणीष्व रत्नं समागच्छतु कञ्चनेन ॥ ७९ ॥

कुक्षेनेति । कुक्षेन काव्येन काव्येन वयसा वयस्येन विषया प्रधातं येषां  
तेषां गुणः इत्युच्यते । इत्युच्यते । इत्युच्यते । इत्युच्यते । इत्युच्यते । इत्युच्यते ।  
रत्नं काव्येन समागच्छतु सङ्गच्छताम् । मार्थनाथो कोटः । रत्नकाव्येनचोरिवत्तवन्ता-  
स्तुभ्यमापुनरोऽपि समागताः मार्थत इत्यर्थः ॥ ७९ ॥

कुलसे, सौन्दर्यसे, नई अवस्था ( युवावस्था ) से और विनयादि प्रधान उन २ ( शास्त्र-ज्ञान, शील, दया, दाक्षिण्य, आदि ) गुणोंसे अपने समान इस कुमार अजकी तुम रण करो, ( इस प्रकार ) रत्न सुवर्णके साथ सयुक्त हो ( तुम दोनोंका सम्बन्ध सुवर्णमें नई रत्नके समान उचित एवं सर्वप्रिय होगा ) ॥ ७९ ॥

ततः सुनन्दावचनावसाने लज्जां तनूकृत्य नरेन्द्रकन्या ।

दृष्ट्वा प्रसादामलया कुमार प्रत्यग्रहीत्सवरणस्रजेव ॥ ८० ॥

तत इति । ततः सुनन्दावचनस्यावसानेऽन्ते नरेन्द्रकन्येन्दुमती लज्जां तनूकृत्य स्रज्कोच्य प्रसादेन मनःप्रसादेनामलया प्रसन्नया दृष्ट्वा सवरणस्य स्रजा स्वयंवर-णार्थं स्रजेव कुमारमजं प्रत्यग्रहीत्स्वीचकार । सम्यक्सानुरागमपश्यदित्यर्थः ॥ ८० ॥

तब सुनन्दाके वचनके अन्तमें राजकुमारी इन्दुमतीने लज्जाको कम करके सवरणकी मालाके समान प्रसन्नतायुक्त निर्मल दृष्टिसे कुमार 'अज' को स्वीकार किया । ( अनुरागयुक्त होकर इन्दुमतीने अजको अच्छी तरह देखा ) ॥ ८० ॥

सा यूनि तस्मिन्नभिलाषबन्धं शशाक शालीनतया न वक्तुम् ।

रोमाञ्चलक्ष्येण स गात्रयष्टिं भित्त्वा निराक्रामदरालकेश्या. ॥ ८१ ॥

सेति । सा कुमारी यूनि तस्मिन्नजेऽभिलाषबन्धमनुरागग्रन्थि शालीनतयाऽ-दृष्टतया । 'स्याददृष्टस्तु शालीनः' इत्यमरः । 'शालीनकौपीने अदृष्टाकार्ययो.' इति निपातः । वक्तुं न शशाक । तथाप्यरालकेश्या सोऽभिलाषबन्धो रोमाञ्चलक्ष्येण पुलक-व्याजेन । 'व्याजोऽपदेशो लक्ष्य च' इत्यमरः । गात्रयष्टिं भित्त्वा निराक्रामत् सात्त्विका-विर्भावलिङ्गेन प्रकाशित इत्यर्थः ॥ ८१ ॥

वह इन्दुमती युवक उस अजविषयक अनुरागको सरलताके कारण कह नहीं सकी ( तथापि ) वह अनुराग कुटिल केशों ( अगुठिया बालों ) वाली उस इन्दुमतीके शरीरको भेदनकर रोमाञ्चके वहाने बाहर निकल आया । ( इन्दुमतीके रोमाञ्चसे उसके विना कहे ही 'अज'में उसका अनुराग स्पष्ट मालूम पढ़ने लगा ) ॥ ८१ ॥

तथागताया परिहासपूर्वं सख्या सखी वेत्रभृदावभाषे ।

आर्ये । व्रजामोऽन्यत इत्यर्थेनां वधूरसूयाकुटिल ददर्श ॥ ८२ ॥

तथेति । सख्यामिन्दुमत्यां तथागतायां तथाभूतायां, दृष्टानुरागायां सत्यामि-त्यर्थः । सखी सहचरी । 'सख्यशिक्षीति भाषायाम्' इति निपातनाङ्गीप् । वेत्रभृत् सुनन्दा । हे आर्ये पूज्ये । अन्यतोऽन्य प्रति व्रजाम इति परिहासपूर्वमावभाषे । अथ वधूरिन्दुमत्येना सुनन्दामसूयया रोपेण कुटिल ददर्श, अन्यागमनस्यासद्वत्वा-दित्यर्थः ॥ ८२ ॥



आहूतमहीनुदधीम्विधीर्षं मुजङ्गमानां वसतिं प्रविष्टम् ।

उत्थं गतं पश्य न बामुजस्य परा परिच्छेत्तमिषत्तयाज्ञम् ॥ ७० ॥

आकम्भमिति । किं च । अक्षीमाकम्भम् । उद्वीगिणीर्गम्ययाहम्, सकम्भोऽ-  
 म्बापकमित्यर्थः । भुजङ्गमाद्यो यस्यति पाताकं मविहम् । कर्म्म स्वर्गदिकं पतं  
 म्याप्तम्, इत्ये सर्वदिम्यापीत्यर्थः । अतुल्यमासीत्तुल्यमिव चामिच्छेदि । आकम्भ-  
 म्यापकं चेत्त्वर्थः । अत प्रवैर्भूतं यस्य यथा इयस्य वा वैकृता आकम्भो वा केनचित्प्राये  
 परिच्छेत् परिमत्तं वाक्यं च कथयम् ॥ ७७ ॥

बर्तौर पर बड़ा हुआ, समुद्री के पार गया हुआ सागरीय (वायु) में हुआ हुआ।  
 ऊपर फैल हुआ और निरंतर (विद्यमान) अवस्थिति विस्तार वह वहाँ तक गया है  
 वा खाना है। ऐसा प्रमाण करने में वायुमय है क्योंकि विज्ञान के बहरी सीमा तथा प्रमाण  
 नहीं ही संभव है ॥ ७७ ॥

असौ कुमारस्त्वमसौऽनुवातश्चिपिष्ठपश्येव पठिं वयन्त' ।

गुरीं पुरं चो मुबनस्य पित्रा पुरेण वन्यः सद्यः विमति ॥ ५८ ॥

असाविति । असावशाक्यः कुमायः । त्रिविधस्य प्रतिमिर्न ज्ञानं इव । 'अन्तः  
पाकसाक्षि' इत्यमरः । तं शुद्धमुजातं, तस्माज्ज्ञं इत्यर्थः । उजातोऽपि तद्  
मुजातो भवति अन्तर्जनकचोराभ्यन्तर्वात् । 'पापघातकर्मकरितपती' इत्यासत्तत्त्वस्य  
क्षीयतिभ्यश्च' इति क्यः । सोपचुष्टत्वात्सकर्मकत्वात् । आह चात्रैव सूत्रे इति कार—  
'रिक्पादवा सोपचुष्टा सकर्मका भवन्ति' इति । इत्यादिप्रतीयावत्त्वात् कोऽप्यो  
शुद्धं मुजातस्य पुरं शुर्वेण पुरन्धरेण चिरमिच्छेन विद्या सारं तत्त्वं यथा तथा  
विमर्ति । यथा कश्चिद्दृष्टतरोऽपि शुर्वेण महोदयेन समं दृष्टीक्षुपमाकङ्क्षारो ज्ञेयतै ।  
'इत्यवच्छतरो समौ' इत्यमरः ॥ ७८ ॥

बद कुमार 'अज' स्वर्णवर्ति हज़रत अवलोकित (समान वस्तु हस्तित कृत्य हुआ है  
 दिव्यपति (अवस्थापना) की अज संसारकी (वही आती प्रमाणात्मक) आरम्भ आरम्भ  
 रिश्वतके समान भारत करता है ॥ ७८ ॥

शुद्धेन चान्त्या वषसा नयेन गुणैश्च सैस्तेजिनवप्रधानै ।

स्वमात्मनस्तु स्यात्तुं हृषीकेश रत्नं समागच्छतु व्यसनेन ॥ ७६ ॥

कुक्ष्येति । कुक्षेयं कामवा कान्धेयं यनेन ययसा वीर्यनेन विवहाः प्रधानं येषां  
 तैस्तैर्गुणः सुतप्रीत्यदिमिजासमस्तगुणं एवानुक्रममुपयुज्यते तं वृत्तीयम् । किं बहुना ।  
 एतं काशनेन समापन्नु सङ्गच्छताम् । मार्गनामां कोट् । एतकाशबभोरितान्ता-  
 नुस्यन्तापबभोरः समागमः मार्ग्यत इत्यर्थः ॥ ७९ ॥

भागीरथी, तत्सदृशीत्यर्थः । हृष्येव नृपाणां श्रवणयोः कटु परुषमेकविसर्वादि वाक्य-  
मेकवाक्य विवदम् । मालिनीवृत्तम् ॥ ८५ ॥

उस स्वयंवरमें समान गुणोंके सम्बन्ध होनेसे प्रसन्न नागरिक लोग 'यह इन्दुमती'  
मेघसे मुक्त ( होनेसे निर्मल ) चन्द्रमाकी प्राप्त चादनी तथा योग्य समुद्रकी प्राप्त गङ्गा  
( के सदृश ) हुई' इस प्रकार राजाओंके मुननेमें कटुवचन एक स्वरसे कहने लगे । ( अनेकों  
वरण करनेसे प्रसन्न नागरिकोंकी बातें राजाओंको कटु मालूम पड़ती थीं । ) ॥ ८५ ॥

प्रमुदितवरपक्षमेकतस्तत्क्षितिपतिमण्डलमन्यतो वितानम् ।

उपसि सर इव प्रफुल्लपद्मं कुमुदवनप्रतिपन्ननिद्रमासीत् ॥ ८६ ॥

प्रमुदितेति । एकत एकत्र प्रमुदितो हृष्टो वरस्य जामातुः पक्षो वर्गो यस्य तत्त-  
थोक्तम् । अन्यतोऽन्यत्र वितान शून्यम्, मग्नाशत्वादप्रहृष्टमित्यर्थः । तत्क्षितिपति-  
मण्डलम् । उपसि प्रभाते प्रफुल्लपद्मं कुमुदवनेन प्रतिपन्ननिद्रं प्राप्तनिमीलन सर इव  
नरस्तुल्यम् । आसीत् । पुष्पिताग्रावृत्तमेतत् ॥ ८६ ॥

इति श्रीमहामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितया सञ्जीवनीसमा-

ख्यया व्याख्यया समेतो महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवशे महाकाव्ये

स्वयंवरवर्णनो नाम षष्ठः सर्गः ॥ ६ ॥



एक ओर प्रसन्न वर-पक्षवाला तथा दूसरी ओर उदासीन वह राज-समूह प्रातःकालमें  
खिले हुए कमलवाले तथा मुकुलित ( वन्द ) कुमुदोंवाले तडागके समान था । ( अजपक्षवाले  
व्यक्ति प्रसन्न थे तथा उनसे भिन्न राजालोग इन्दुमतीकी पानेकी आशाके भ्रम होनेसे  
उदासीन थे । ) ॥ ८६ ॥

यह 'मणिप्रभा' टीकामें 'रघुवश' महाकाव्यका 'स्वयंवरवर्णन' नामक

षष्ठः सर्ग समाप्त हुआ ॥ ६ ॥



नभये वस हनुमतीने बैसा अगुरान करमेरु द्वारपात्रिका सही सुमन्वाने वरिष्ठ  
पूर्वक क्या कि—दि नार्थे । दूसरी कण्ठ 'वर्ते' इसके बाद वच् हनुमतीने वसे अगुवार्थ  
मन्त्र इति (देवी नवर) से बैसा ॥ ८९ ॥

सा चूर्णेगौरं रघुनन्दस्य चात्रीकराम्बां करमोपमोरुः ।

व्यासञ्जयमास यथाप्रवेशं कञ्ठे गुणं मूर्तिमिवानुरागम् ॥ ८९ ॥

सेति । करमा करप्रवेशविशेष । 'अधिकप्राप्तकपिर्हं करस्य करमो वशिः' इत्य-  
मरा । करम उपमा बधोस्तावत्क यस्या सा करमोपमोरुः । 'अरुणपरशमौपमे'  
इत्युक्तमप्यत्र । सा कुमारी चूर्णेन मङ्गलचूर्णेन गौरं व्येहितं गुणं लब्धम् । मूर्तिं मूर्ति-  
मन्तमगुरानमिव । चाम्पा उपमात्ता गुणवत्त्वात् । कराम्बा रघुनन्दनस्वाम्यस्य कञ्ठे  
व्यासप्रवेशं यथास्वागमात्तत्तत्पामासास्तत्तत् करपामास व तु स्वपमासस्य वच-  
नित्वात् ॥ ८९ ॥

करम ( हाथी कर्मसे कनिष्ठा अङ्गुलिसे पूर लब्धत्वात् ) के समान कस्याने  
वस हनुमतीने मङ्गलचूर्णसे वीरवर्ध माकण्ठे मूर्तिप्राप्त् अगुरान्छे समान वार्त् 'सुमन्वा'ने  
हार्थसे ( अन्धे ) कञ्ठने ववात्स्वान पवनवाचा ॥ ८९ ॥

तथा क्षत्रा मङ्गलपुष्पमप्य विराजितवच्च स्वसज्जन्यया स ।

अमस्त कञ्ठार्पितबाहुपारा विवमं गजापरक्षां वरेवच ॥ ९० ॥

तवेति । श्रेष्ठो वरणीय उत्कृष्टः । पुत्र पुत्र्या । सोम्यो मङ्गलपुष्पमप्य मङ्गल-  
मिष्टसुममप्य विराजितवच्च कञ्ठया कञ्ठमाववा तथा मङ्गलया क्षत्रा विवर्-  
तन्वावरचामिन्नुमती कञ्ठार्पिणी बाहु पूर पासो ववा तामसेत्त । मन्त्रवेङ्कट । बाहु-  
पाराकल्पमुक्तमन्त्रधर्मित्वात् ॥ ९० ॥

मेव वस वन्देयमङ्गमाव पुष्पोसे वनी हुई तथा बीड़ी काटीपर करको हुई वस शान-  
से विरजनेकण्ठ बीड़ी नवन हनुमतीने कञ्ठने बाहुपार करण की हुई ( गङ्गेदे वरिष्ठ  
काजी हुई ) समसा म पठ ॥

शशिनमुपगतेषु कीमुवी मेघयुक्तं

अक्षनिधिमनुरूप बहुकम्पावतीर्ण ।

इति समगुणयोगप्रीतयस्तत्र पौरा

अमणकटु शुपाश्रामेकमाकर्ष्य विबभू ॥ ९१ ॥

अक्षिणमिति । तत्र दक्षिणरे समगुणयोस्तत्तत्पुनचोरिन्नुमतीरुमन्त्रमपोर्बोनेव  
प्रीतिर्बेवा से समगुणयोगप्रीतया पौरा पुरे अना जना । इत्यमरसंगतेनुमती सेवेर्मुक्तं  
अक्षिणं धारयन्मुपगता कीमुवी । अनुकर्षं सार्धं कञ्ठनिधिमक्तीर्णा प्रविष्टा बहुकम्पा

भागीरथी, तत्सदृशीत्यर्थः । इत्येव नृपाणा श्रवणयोः कटु परुषमेकविसंवादि वाक्य-  
मेकवाक्य विवदुः । मालिनीवृत्तम् ॥ ८५ ॥

उस स्वयवरमें समान शुर्णोंके सम्बन्ध होनेसे प्रसन्न नागरिक लोग 'यद् इन्दुमती'  
मेघसे मुक्त ( होनेसे निर्मल ) चन्द्रमाकी प्राप्त चादनी तथा योग्य समुद्रकी प्राप्त गक्षा  
( के सदृश ) हुई' इस प्रकार राजाओंके सुननेमें कटु वचन एक स्वरसे कहने लगे । ( अजकी  
वरण करनेसे प्रसन्न नागरिकोंकी वातें राजाओंको कटु मालूम पड़ती थीं । ) ॥ ८५ ॥

प्रमुदितवरपक्षमेकतस्तत्क्षितिपतिमण्डलमन्यतो वितानम् ।

उपसि सर इव प्रफुल्लपद्म कुमुदवनप्रतिपन्ननिद्रमासीत् ॥ ८६ ॥

प्रमुदितेति । एकत एकत्र प्रमुदितो हृष्टो वरस्य जामातुः पक्षो वर्गो यस्य तत्त-  
थोक्तम् । अन्यतोऽन्यत्र वितान शून्यम्, भग्नाशत्वादप्रहृष्टमित्यर्थः । तत्क्षितिपति-  
मण्डलम् । उपसि प्रभाते प्रफुल्लपद्मं कुमुदवनेन प्रतिपन्ननिद्रं प्राप्तिनिमीलन सर इव  
सरस्तुल्यम् । आसीत् । पुष्पिताग्रावृत्तमेतत् ॥ ८६ ॥

इति श्रीमहामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितया सञ्जीवनीसमा-

ख्यया व्याख्यया समेतो महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये

स्वयवरवर्णनो नाम पष्ठः सर्गः ॥ ६ ॥



एक ओर प्रसन्न वर-पक्षवाला तथा दूसरी ओर उदासीन वह राज-समूह प्रातःकालमें  
खिले हुए कमलवाले तथा मुकुलित ( वन्द ) कुमुदोंवाले तडागके समान था । ( अजपक्षवाले  
व्यक्ति सुप्रसन्न थे तथा उनसे मित्र राजालोग इन्दुमतीको पानेकी आशाके भग्न होनेसे  
उदासीन थे । ) ॥ ८६ ॥

यद् 'मणिप्रभा' टीकामें 'रघुवंश' महाकाव्यका 'स्वयवरवर्णन' नामक

पष्ठ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ६ ॥



## सप्तमः सर्गः ।

ममेमहि मिथीयैर्हं शुद्धरन्व पयोपरम् ।

मार्यमर्तं बाष्पमाध्वेनवाधासयन्ती हि दम्पती ॥

अयोपयन्त्र्य सदृशेन युक्त्यं स्कन्धेन साक्षाद्विय दैवसेनाम् ।

स्वसारमावाय विधर्मनाथं पुरप्रवेशामिमुखो बभूव ॥ १ ॥

अथेति । अथ विदर्शनार्थो भोजः सदृशमेव यन्त्रा बरेन युक्तम् । अत एव सात्  
प्रात्यक्षम् । 'साक्षात्प्रत्यक्षतुल्ययोः' इत्यमरः । स्कन्धेन युक्त्यं दैवसेनामिव । दैवसे-  
नायाम् दैवपुत्री स्कन्धपत्नी 'पूर्वं हि बह्वना निर्मिते दैवसेनादैवसेने इन्द्रस्कन्धेभ्यः  
तयोः पूर्वस्याः पतित्ये स्कन्धोऽभिषिक्त' इत्यात्मनः । तामिव स्थितां स्वसारं मर्त्यं  
वीमिन्बुम्बतीमावाय दृष्ट्वा पुरप्रवेशामिमुखो बभूव । अयमतिवृत्तं सर्वेऽस्मिन् ॥

पौनर पवीनर एक फिर भी दूसरा हुंसे क्ये ।

एत राक्षसे मानसम्भर वन्धितो ह्य वजने क्ये ॥

एतमे वाद विरमन्तरेण बीज बीज्य वर ( अथ ) ते युक्त ( अत एव ) साक्षात् स्कन्ध  
युक्त दैवसेना ( स्कन्ध-पत्नी ) के समान बहन ( दम्पती ) की केकर कारणे प्रवेश करने  
लिये क्ये ॥ १ ॥

सेमानिबेराम्बुविषीक्षितोऽपि अमुर्विमातप्रहमन्वभास' ।

मोक्ष्यं प्रति व्यर्थमनोरमत्वाद्रूपेषु वैषेषु च साङ्गसूय ॥ २ ॥

अथेति । मोक्षस्य रामो योनापन्नं चो भोज्या तामिन्बुम्बतीं प्रति व्यर्थमनोरम  
त्वाद्रूपेणाकृतिषु वैषेषु वैषयेषु च साङ्गसूया दृष्येति निवृत्ता । किञ्च विमर्ते प्राप्तं  
कथं ये दृष्टान्मन्त्राद्यस्त इव मन्त्रभासा जीवकान्तवः शुचिबीक्षितो युवा अपि ऐव  
निवेष्टाम्बिरासि अमुः ॥ २ ॥

इत्युक्तिके प्रति अस्मिन् मन्त्रोर्य बीजैरे प्रत्यागच्छन्ती वारान्नेने समान प्रोक्ते क्ये इ  
तथा अनेने कथ नीर वैपते र्वन्ती करी इव रात्राजोव भी विविरोकी क्ये ॥ २ ॥

ननु बुद्ध्याद्येवमन्तां उवाह—

साभिष्यद्योगात्किञ्च तत्र राक्षसा स्वयम्वरक्षोमकुठामयाव' ।

अङ्गुस्थमुद्गरिच समस्तरुऽपि शराम तेन क्षितिपाशलोक्त ॥ ३ ॥

साभिष्येति । तत्र स्वर्गवरक्षेत्रे कथ्या इन्द्राण्यः । अक्षिपिरेव साभिष्यः ।  
एव बोधवत्तत्रावासेतोः स्वर्गवरस्य कोयकुतां निवृत्तपरिणामयाव किञ्च । निवेष्टे

स्वयंवरविधातका शक्त्या विनाश्यन्त इत्यागमसूचनार्थम् । तेन हेतुना काकुत्स्थमज-  
मुद्दिश्य समस्सरोऽपि सर्वैरोऽपि क्षितिपाललोकः शशाम नाधुम्यत् ॥ ३ ॥

वहाँ (स्वयंवरस्थलमें) इन्द्राणीके सामीप्य रहनेसे स्वयंवरमें विघ्न करनेवालोंका अभाव  
रहा अर्थात् स्वयंवरमें कोई गड़बड़ी नहीं कर सका, इस कारण अजको लक्ष्यकर ईर्ष्यालु भी  
राजालोग शान्त रहे ॥ ३ ॥

तावत्प्रकीर्णाभिनवोपचारमिन्द्रायुधद्योतिततोरणाङ्कम् ।

वरः स वध्वा सह राजमार्गं प्राप ध्वजच्छायनिवारितोष्णम् ॥ ४ ॥

तावदिति । 'यावत्तावच्च साकक्ष्ये' इत्यमरः । तौवत्प्रकीर्णाः साकक्ष्येन प्रसारिता  
अभिनवा नूतना उपचाराः पुष्पप्रकरादयो यस्य त तथोक्तम् । इन्द्रायुधानीव द्योति-  
तानि प्रकाशितानि तोरणान्यङ्काश्चिह्नानि यस्य तम् । ध्वजानां छाया ध्वजच्छायम् ।  
'छाया बाहुक्ष्ये' इति नपुसकत्वम् । तेन निवारित उष्ण आतपो यत्र तं तथा राज-  
मार्गं स वरो वोढा वध्वा सह प्राप विवेश ॥ ४ ॥

वे 'अज' वधू इन्दुमतीके साथ, सर्वत्र नये २ साथनोंवाले, इन्द्रधनुषके समान शोभ-  
मान तोरणोंसे युक्त और पताकाओंसे घूँपरहित मुख्य सड़कपर पहुँचे ॥ ४ ॥

ततस्तदालोकनतत्पराणां सौवेषु चामीकरजालवत्सु ।

बभूवुरित्थ पुरसुन्दरीणा त्यक्तान्यकार्याणि विचेष्टितानि ॥ ५ ॥

तत इति । ततस्तदनन्तर चामीकरजालवत्सु सौवर्णगवाक्षयुक्तेषु सौवेषु तस्या-  
जस्यालोकने तत्पराणामासक्तानां पुरसुन्दरीणामित्थं वक्ष्यमाणप्रकाराणि त्यक्ता-  
न्यकार्याणि केशवन्धनादीनि येषु तानि विचेष्टितानि व्यापाराः । नपुसके भावे क्तः ।  
बभूवुः ॥ ५ ॥

इसके बाद सुनइले क्षरोंखोंवाले महलोंमें उन्हें ( इन्दुमती तथा अजको ) देखनेके लिये  
तैयार नागरिक सुन्दरियोंका अन्यान्य कार्योंकी छोड़कर इस प्रकार की ( श्लो० ६-१० )  
चेष्टाए हुई ॥ ५ ॥

तान्येवाह पञ्चभि श्लोकै —

आलोकमार्गं सहसा व्रजन्त्या कयाचिदुद्वेष्टनवान्तमाल्यः ।

वद्धुं न सम्भावित एव तावत्करण रुद्धोऽपि च केशपाशः ॥ ६ ॥

आलोकेति । सहस्रालोकमार्गं गवाक्षपथं व्रजन्त्या कयाचित्कामिन्योद्वेष्टनवान्त-  
माल्यः । उद्वेष्टनो द्रतगतिवशादनुमुक्तबन्धनः । अत एव वान्तमास्यो बन्धविरले-  
षेणोद्गीर्णमास्य करेण रुद्धो गृहीतोऽपि च केशपाशः केशकलापः । 'पाश पञ्च

## सप्तमः सर्गः ।

मजेमहि मिपीयेचं सुहुरग्य पवीवरम् ।

मार्पेभं बाळमाळेन्याथासवन्ती हि दम्पती ॥

अबोपयन्त्रा सहरोन पुच्छं स्कन्देन साक्षादिव देवसेनाम् ।

स्वसारमावाप विद्वन्नाथः पुरमवेशामिमुखो बभूव ॥ १ ॥

अथेति । अथ विद्वन्नाथो श्रीका सख्येवोपयन्त्रा वीर्यं पुच्छाय । अत एव साक्षात्-  
कृतवत् । 'साक्षात्कृतवत्पुच्छयोः' इत्यमरः । स्कन्देन पुच्छं देवसेनामिव । देवसेना-  
नाम देवपुत्री स्कन्दपत्नी 'पूर्वं हि बाह्या विर्मिते देवसेनादेवसेने इन्द्रकन्धेभ्योऽ-  
तयोः पूर्वस्याः पठित्वे स्कन्दोऽमिषिष्ठ' इत्यमरः । तामिव स्थितां स्वसारं अमि-  
षीमिन्धुमतीमावाप पृथ्वीया पुरमवेशामिमुखो बभूव । उपकान्तिवृत्तं सर्वेभ्यस्मिन् ॥ १ ॥

पीकर पवीवर एक किर भी हूतरा हुंसे क्ये ।

अत बाळके नामकाकर दम्पतीची हून घबले क्ये ॥

एतदेव विद्वन्मरेद्व मोक्ष योग्य वा ( अथ ) ते पुच्छ ( अत एव ) साक्षात् स्कन्देन  
पुच्छ देवसेना ( स्कन्द-पत्नी ) के समान, वर्य ( इन्द्रपुत्री ) की केकर नगरने प्रवेश करनेके  
जैसे कहे ॥ १ ॥

सेनानिवेशान्पृथिवीचिरोऽपि कम्पुर्बिमातमहमन्वसात् ।

भोक्त्वां प्रति न्यर्षमनोरथत्वाद्भूषेण च साध्यस्तूया ॥ २ ॥

अथेति । भोक्तृत्वं राज्ञोऽप्येवात्वं यो न्यर्षा तामिन्द्रपुत्रीं प्रति न्यर्षमनोरथ-  
त्वाद्भूषेणाह्वयितुं भूषेण च साध्यस्तूया इत्येति विन्दन्ता । किञ्च विमाते मातृ-  
काले च प्रधानप्रादुर्भूत इव मन्वसात् जीवन्मन्वसा इति चिरोऽपि नृपा अपि सेना-  
निवेशान्पृथिविरामि कम्पुः ॥ २ ॥

इन्द्रपुत्रीके प्रति अतएव मनीरथ होनेसे प्रादुर्भूतकी कारणोंके समान प्रीति रसे हुए  
तथा नपथे रूप और देवसे इत्यादि करते हुए राजायोग की विनिरोधी गये ॥ २ ॥

मनु मुद्राके प्रकृष्टतां उवाह—

सामिष्ययोगात्किञ्च तत्र शक्यां स्वर्णवरद्वोभक्ततामभात् ।

अङ्गुस्थमुद्गिरय समस्तरोऽपि शशाम तेन क्षितिपक्षलोकाः ॥ ३ ॥

अथेति । तत्र स्वर्णवरद्वौ अथवा इन्द्राणां । सक्षिचिरेव सामिष्यः ।  
तस्य योगात्प्रजापतेयोः स्वर्णवरस्य चोभक्ततां विजयपरिणामभावात् किञ्च । अथेति

झरोखेके मध्यसे देखती हुई दूसरी खीने ( शीघ्र ) चलनेसे खुलौ हुई नीची ( फुफुती, फुफुनी ) को नहीं बांधा, ( किन्तु ) वह नाभिमें प्रविष्ट होती हुई कङ्कणकी कान्तिवाले हाथसे कपड़ेको पकड़कर ( इन्दुमती तथा अजको देखती हुई ) खड़ी रही ॥ ९ ॥

अर्धाञ्चिता सत्वरमुत्थितायाः पदे पदे दुर्निमित्ते गलन्ती ।

कस्याश्चिदासीद्रशना तदानीमद्भुष्टमूलार्पितसूत्रशेषा ॥ १० ॥

अर्धाञ्चितेति । सत्वरमुत्थिताया. कस्याश्चिदार्धाञ्चिता मणिभिरर्धगुम्फिता हुन-  
मिते सम्भ्रमादुत्थिते । 'द्भुमिन्द्रचपणे' इति धातो कर्मणि क्त. । पदे पदे प्रतिपदम् ।  
वीप्सायां द्विर्भाव । गलन्ती गलद्गत्वा सती रशना मेखला तदानीं गमनसमयेऽद्भुष्ट  
मूलेऽर्पितं सूत्रमेव शेषो यस्या साऽऽसीत् ॥ १० ॥

शीघ्रतासे उठी हुई किसी खीकी आधी गुथी हुई तथा शीघ्र चलनेसे पग २ पर गिरती  
हुई करघनीका ( झरोखेके पास पहुचनेपर ) अगूठमें बाधा हुआ केवल धागा ही बच गया ।  
( शीघ्रतासे चलनेके कारण उसे सम्हालनेका ध्यान नहीं रहनेसे रास्तेमें ही सब मणि  
गिर पड़े ) ॥ १० ॥

तासां मुखैरासवगन्धगर्भैर्व्याप्तान्तराः सान्द्रकुतूहलानाम् ।

विलोलनेत्रभ्रमरैर्गवाक्षा सहस्रपत्राभरणा इवासन् ॥ ११ ॥

तासामिति । तदानीं सान्द्रकुतूहलाना तासा खीणामासवगन्धो गर्भे येषां तै ।  
विलोलानि नेत्राण्येव भ्रमरा येषां तै. । मुखैर्व्याप्तान्तराश्छन्नावकाशा गवाक्षाः सहस्र-  
पत्राभरणा इव कमलालङ्कृता इव । 'सहस्रपत्र कमलम्' इत्यमर' । आसन् ॥ ११ ॥

( वधू-वरको देखनेके लिये ) अत्यन्त कौतूहलवाली उन खियोंके मदिरापानसे गन्धयुक्त  
तथा चञ्चल नेत्ररूप भ्रमरवाले मुखोंसे व्याप्त अवकाशवाले अर्थात् ठसाठस भरे हुए झरोखे  
कमलोंसे अलङ्कृतके समान हो गये । ( कमलमें गन्ध तथा भौर रहते हैं यद्वा उनके मुखमें  
मदिराका गन्ध तथा नेत्ररूपी भ्रमर थे । ) ॥ ११ ॥

ता राघव दृष्टिभिरापिबन्त्यो नार्यो न जग्मुर्विषयान्तराणि ।

तथा हि शेषेन्द्रियवृत्तिरासा सर्वात्मना चक्षुरिव प्रविष्टा ॥ १२ ॥

ता इति । ता नार्यो रघोरपत्य राघवमजम् । 'तस्यापत्यम्' इत्यण्यप्रत्यय' । दृष्टि  
भिरापिबन्त्योऽतितृष्ण्या पश्यन्त्यो विषयान्तराण्यन्यान्विषयान्न जग्मु, न विदुरि  
त्यर्थः । तथा हि । आसा नारीणा शेषेन्द्रियवृत्तिश्चक्षुर्यतिरिक्तश्रोत्रादीन्द्रियव्यापार  
सर्वात्मना स्वरूपकान्त्येन चक्षु प्रविष्टेव । श्रोत्रादीनीन्द्रियाणि स्वातन्त्र्येण ग्रहणा  
शक्तेश्चक्षुरेव प्रविश्य कौतुकास्त्वयमप्येनमुपलभन्ते किमु । अन्यथा स्वस्वविषयाधि-  
गम. किं न स्यादिति भावः ॥ १२ ॥



इत्थं कटापायं कथापरे इत्यमरः । तावदाद्योक्तमार्गमाप्तिपर्वन्तं ननु कथाया  
न सम्पादितो न चिन्तित एव ॥ ६ ॥

विश्वेदे रातेरु श्रीमतासे वती हुरे मिसी की मे कीम होवेसे धिरो हुरे पुन-नागतसे  
( अथ एव ) इत्ये पक्षे इत्ये केच-सम्भू अर्थात् 'बीबीकी गयीं हो गयी' ॥ ६ ॥

प्रसाधिक्रमस्मिन्तमप्रपादमाक्षिप्य काचित् प्रवरागमेव ।

उत्सृष्टस्त्रीप्रागतिरागवाधावस्य कर्मज्ञं पक्षीं तथान ॥ ७ ॥

प्रसाधिकेति । काचित् । प्रसाधिकया कर्मज्ञा कश्चित् राजात्तं तत् प्रवरागमेव  
प्रागुक्तमेव । अत्रास्ती पाक्षेयप्रपाद इति कर्मधारयसमासाः । 'इत्ताप्रपादस्त  
इतो गुण्युमिबोर्मेदानेदास्याम्' इति वामनः । तमाक्षिप्याकृष्य । उत्सृष्टस्त्रीकर्मज्ञ  
कर्मज्ञमन्वगमना सती । आम्नावाद्वाचपर्वन्तं पक्षीं पन्थायनकृतकृष्टां कथाया  
यच्छिन्नां तथान विस्तरयामास ॥ ७ ॥

मिसी की मे नहानर क्माती हुरे राती काचिते आकम्बित देरवे अग्रमाग्यो कीम ।  
कौकल कीका पुष्टं गमनको कौकल अर्थात् क्माती २ क्माती हुरे, विश्वेदे एव ( धिरो  
होवेसे ) महानरसे कुल पेटोके विश्वेदे वता विना ॥ ७ ॥

विश्वोचनं दक्षिणमङ्गलेन सम्भाष्य तद्वञ्चितवामनेन ।

तथैव वातायनसन्निकर्षं यदी शस्त्राभ्रमपरा बहन्ती ॥ ८ ॥

विश्वोचनमिति । अपरा की दक्षिणं विश्वोचनमङ्गलेन सम्भाष्यकृतम् । तन्म  
माक्षिति भावः । तद्वञ्चितं तेनाङ्गलेन वञ्चितं वामनेन यस्य सा छती तथैव कर्मज्ञ  
मङ्गलमुक्त्वा बहन्ती छती वातायनसन्निकर्षं यथावत्समीपं गयी । दक्षिणमङ्गलं सम्भा  
ष्य कृष्णकर्मकरमयोतवार्थम् । 'सर्पं हि पूर्वं मनुष्या बहन्ते' इति मते ॥ ८ ॥

इत्थं की इहमीं आकमे अत्रय कर्मज्ञ गयीं आकमे विना अत्रय क्पाते हो उत्तरं  
किं इह इतोकेके पाठ पक्षे ॥ ८ ॥

आकाश्वरमेपितद्विहिरन्य प्रस्थानभिम्नां न बबन्ध नीबीम् ।

नाभिप्रविष्टाभरणप्रमेण हस्तेन तस्यापचक्ष्मस्य वास ॥ ९ ॥

आकाश्वरेति । अन्ना की आकाश्वरमेपितद्विहिराचमध्यमेतिद्विहिरा छती प्रस्था  
नेन गमनेन भिम्नां बुद्धिर्ता नीबीं बसन्प्रविष्टम् । 'नीबीं वरिण्ये प्रम्वी कीर्ता  
अत्रयवाससि' इति विश्वः । न बबन्ध । किन्तु नाभिप्रविष्टा आभरणवां कृष्णा  
दीर्घा प्रमा बस्य तेन । प्रमेण नाभेराभरणमगृह्णति भावः । हस्तेन वास्तोऽपचक्ष्म  
गृहीत्वा तस्यी ॥ ९ ॥

सहस्रमध्ये । सत्यपि व्यत्यासकारण इति भावः । आत्मप्रतिरूपं स्वतुल्यमेव । 'तुल्य-  
सङ्काशनीकाशप्रकाशप्रतिरूपकाः' इति दण्डी । गता प्राप्ता । तदपि कथं जातमत  
आह—हि यस्मान्मनो जन्मान्तरसङ्गतिश्च भवति । तदेवेदमिति प्रत्यभिज्ञाभावेऽपि  
वासनाविशेषवशादनुभूतार्थेषु मनःप्रवृत्तिरस्तीत्युक्तम् । जन्मान्तरसाहचर्यमेवात्र  
प्रवर्तकमिति भावः ॥ १५ ॥

निश्चय ही ये दोनों ( पूर्वजन्ममें ) रति तथा कामदेव थे ( और इस जन्ममें ) इन्दुमती  
तथा अजरूपमें उत्पन्न हुए हैं, क्योंकि कुमारी इस इन्दुमतीने हजारों राजाओंके बीचमें  
इनको प्राप्त कर लिया । मन दूसरे जन्मकी सङ्गतिका ज्ञाता ( जानकार ) होता है ॥ १५ ॥

इत्युद्गताः पौरवधूमुखेभ्य शृण्वन्कथाः श्रोत्रसुखाः कुमारः ।

उद्भासितं मङ्गलसंविधाभिः सम्बन्धिनः सद्यः समाससाद ॥ १६ ॥

इतीति । इति 'स्थाने वृता' इत्याद्युक्तप्रकारेण पौरवधूमुखेभ्य उद्गता उत्पन्नाः  
श्रोतव्यो सुखा मधुराः । सुखशब्दो विशेष्यनिष्ठा । 'पाप पुण्य सुखादि च' इत्यमरः ।  
कथा गिरः शृण्वन्कुमारोऽजो मङ्गलसंविधाभिर्मङ्गलरचनाभिरुद्भासित शोभितं  
सम्बन्धिनः कन्यादायिनः सद्यः गृहं समाससाद प्राप ॥ १६ ॥

इस प्रकार ( श्लो० १३-१५ ) नगरकी स्त्रियोंके मुखसे निकली हुई एव कर्णप्रिय बातों-  
को सुनते हुए कुमार 'अज'ने मङ्गलमय सामग्रियोंसे शोभित, सम्बन्धी अर्थात् नातेदार  
( भोज ) के घरको प्राप्त किया ॥ १६ ॥

ततोऽवतीर्याशु करेणुकायाः स कामरूपेश्वरदत्तहस्तः ।

वैदर्भनिर्दिष्टमथो विवेश नारीमनांसीव चतुष्कमन्तः ॥ १७ ॥

तत इति । ततोऽनन्तर करेणुकाया हस्तिन्या सकाशादाशु शीघ्रमवतीर्य ।  
कामरूपेश्वरे दत्तो हस्तो येन सोऽज अथोऽनन्तर वैदर्भेण निर्दिष्ट प्रदर्शितमन्तश्चतुष्क  
चत्वरम् । नारीणा मनासीव विवेश ॥ १७ ॥

तदनन्तर वे अज कामरूप ( कामाक्षा ) देशके राजापर हाथ रखकर अर्थात् हाथका  
सहारा देकर इधिनसे शीघ्र उतर गये । बाद विदर्भ-नरेश भोजके बतलाये हुए चौक  
( अन्तःपुरके मध्यवर्ती आँगन ) में स्त्रियोंके मनके समान प्रवेश किये ॥ १७ ॥

महार्हसिंहासनसंस्थितोऽसौ सरत्नमर्घ्यं मधुपर्कमिश्रम् ।

भोजोपनीतं च दुकूलयुग्मं जग्राह सार्धं वनिताकटाक्षैः ॥ १८ ॥

महार्हेति । महार्हसिंहासने संस्थितोऽसावजः भोजेनोपनीतम् । रत्नैः सहित  
सरत्नम् । मधुपर्कमिश्रमर्घ्यं पूजासाधनद्रव्यं दुकूलयोः क्षीमयोर्युग्मं च । वनिताकटा-  
क्षैरन्यस्त्रीणामपाङ्गदर्शनैः सार्धम् । जग्राह गृहीतवान् ॥ १८ ॥

अत एव पुनः नमस्को नमस्को तदा रोहणी इति विद्योमे वृत्तरे विषयोमे नदी नमः  
( नमः नदी नदी ही रहा है । इस विषयको कुछ भी नहीं जाता ), क्योंकि इस विषयो  
वृत्तरे इति बोका व्यापार मायो मेरोमें प्रविष्ट ही गया था ॥ १२ ॥

'नमः नमः यो ज्ञोः सुखाः कुमारा' इति वचनमिति । तदा कथयति 'स्वाने' इत्या-  
दिमिदमिति—

स्वाने वृत्ता भूपतिमि परोक्षे स्वयम्बर साधुमर्मस्त भोक्ता ।

पक्षेप नारायणमन्यसाऽसौ समेत कान्त कथमात्मतुल्यम् ॥ १३ ॥

स्वान इति । योगेश्वरभुवती परोक्षेष्टेष्टुपतिमिदृता समेधेयमिति प्रकृत्यपि  
स्वर्णरमेव साधु वित्तमर्मस्त मेने । न तु परोक्षमेव कश्चित्पार्थक्यं करो । स्वाने वृत्त-  
मेतत् । 'वृत्ते हे साम्प्रत स्वाने इत्यमरः । वृत्ता । अन्वयात् स्वर्णरामानेष्टाभिन्नु-  
मती पञ्चमस्या अस्तीति पञ्चा कथ्यते । 'वर्षावादिभ्योऽन्व' इत्यष्टवत्यः । नमः-  
यमिति अन्वयस्तु स्वानुक्तं कान्तं पतिं कर्म कथ्येत । न कमेतेव सक्तमिवेकमे-  
कमेति भावः ॥ १३ ॥

'परोक्षमे' स्थित ( अन्वय ) रात्राजोसे वरच की पत्नी ( 'इन्दुमती मेरी ही पत्नी' )  
देता समझी पत्नी ) इन्दुमतीमे स्वर्णरक्षी ही कन्धा समझा' वह ठीक हुआ नहीं तो वह  
इन्दुमती विष्णु मन्त्रवाकी अन्वये समान कर्म अन्वय पतिही कैसे पत्नी ? ॥ १३ ॥

परस्परैः स्मृहणीयशोभं न चेदिवं हन्तुमयोऽविध्यत् ।

अस्मिन्द्वये रूपविधानकाले पशुः प्रजानां वितथोऽभविध्यत् ॥ १४ ॥

परस्परैवेति । स्मृहणीयशोभं सर्वाकारस्योन्मूल्यमिवं हन्तुं मिश्रम् । 'हन्तुं'  
इत्यमरार्थाद्यवयववृत्तजन्यवृत्तप्राप्तयोगादिभ्यस्तु' इत्यनेन विपत्ता । परस्परै-  
वाभोऽविध्यन्वैव बोधयेत्यदि तर्हि प्रकृत्या पशुर्विषयतुरस्मिन्द्वये हन्तुं अपविद्यत्-  
वात्वा सोऽन्वर्थविमोक्षप्रपन्नो वितथो विकल्पोऽभविध्यत् । एतादृशावृत्तपक्षीपुंसान्-  
रामावादि भावः । 'किन्मिति चेत् वृत्तिव्यातिपत्ती' इति वृत्त । 'वृत्तमिदमन्व-  
येगुण्वादिप्रमाया अवमितिभ्यपिठिः विद्यातिपत्तिः इति वृत्तिप्रकारः ॥ १४ ॥

एता कर्तव्यीन्व धीमावाजी वह बोधी ( इन्दुमती तथा च ) यदि परस्परमे वरी  
मिद्वे, तब प्रकृत्या इस दोनोमें सोऽन्वर्थ वनामेका परिमम विपत्त ही जाता ॥ १४ ॥

रतिस्मरी भूतमिमावभूतां रासां सहस्रेषु तथा हि वाता ।

गतेषमात्मप्रतिरूपमेव मनो हि अग्न्यान्तरसङ्गतिदम् ॥ १५ ॥

रतीति । रतिस्मरी धी विपत्तसहचरादिभ्यजिप्रायाः । भूततावेदेवं चार्थं वेनो  
वन्पती अमृताय भूतभूतेजोत्पत्ती । वृत्ता । तथा हि इयं वाता रसां सहस्रेषु रास-

सहस्रमध्ये । सद्यपि व्यत्यासकारण इति भाव । आत्मप्रतिरूप स्वतुल्यमेव । 'तुल्य-  
सङ्काशनीकाशप्रकाशप्रतिरूपका' इति दण्डी । गता प्राप्ता । तदपि कथं जातमत  
आह—हि यस्मान्मनो जन्मान्तरसङ्गतिज्ञं भवति । तदेवेदमिति प्रत्यभिज्ञाभावेऽपि ।  
वासनाविशेषवशादनुभूतार्थेषु मनःप्रवृत्तिरस्तीत्युक्तम् । जन्मान्तरसाहचर्यमेवात्र  
प्रवर्तकमिति भाव ॥ १५ ॥

निश्चय ही ये दोनों ( पूर्वजन्ममें ) रति तथा कामदेव थे ( और इस जन्ममें ) इन्दुमती  
तथा अजरूपमें उत्पन्न हुए हैं, क्योंकि कुमारी इस इन्दुमतीने हजारों राजाओंके बीचमें  
इनको प्राप्त कर लिया । मन दूसरे जन्मकी सङ्गतिका ज्ञाता ( जानकार ) होता है ॥ १५ ॥

इत्युद्रताः पौरवधूमुखेभ्य शृण्वन्कथाः श्रोत्रसुखाः कुमारः ।

उद्भासित मङ्गलसविधाभिः सम्बन्धिनः सद्य समाससाद ॥ १६ ॥

इतीति । इति 'स्थाने वृता' इत्याद्युक्तप्रकारेण पौरवधूमुखेभ्य उद्रता उत्पन्नाः  
श्रोतव्योः सुखा मधुराः । सुखशब्दो विशेष्यनिघ्न । 'पाप पुण्य सुखादि च' इत्यमरः ।  
कथा गिरः शृण्वन्कुमारोऽजो मङ्गलसविधाभिर्मङ्गलरचनाभिरुद्भासित शोभितं  
सम्बन्धिनः कन्यादायिनः सद्य गृहं समाससाद प्राप ॥ १६ ॥

इस प्रकार ( श्लो० १३-१५ ) नगरकी स्त्रियोंके मुखसे निकली हुई एवं कर्णप्रिय बातों-  
की सुनते हुए कुमार 'अज'ने मङ्गलमय सामग्रियोंसे शोभित, सम्बन्धी अर्थात् नातेदार  
( भोज ) के घरको प्राप्त किया ॥ १६ ॥

ततोऽवतीर्याशु करेणुकायाः स कामरूपेश्वरदत्तहस्तः ।

वैदर्भनिर्दिष्टमथो विवेश नारीमनांसीव चतुष्कमन्तः ॥ १७ ॥

तत इति । ततोऽनन्तर करेणुकाया हस्तिन्या सकाशादाशु क्षीघ्रमवतीर्य ।  
कामरूपेश्वरे दत्तो हस्तो येन सोऽज अथोऽनन्तर वैदर्भेण निर्दिष्ट प्रदर्शितमन्तश्चतुष्क  
चत्वरम् । नारीणां मनासीव विवेश ॥ १७ ॥

तदनन्तर वे अज कामरूप ( कामाक्षा ) देशके राजापर हाथ रखकर अर्थात् हाथका  
सहारा देकर हथिनीसे शीघ्र उतर गये । बाद विदर्भ-नरेश भोजके बतलाये हुए चौक  
( अन्तःपुरके मध्यवर्ती आँगन ) में स्त्रियोंके मनके समान प्रवेश किये ॥ १७ ॥

महार्हसिंहासनसंस्थितोऽसौ सरत्नमर्घ्यं मधुपर्कमिश्रम् ।

भोजोपनीतं च दुक्कलयुग्मं जग्राह सार्धं वनिताकटाक्षैः ॥ १८ ॥

महार्हति । महार्हसिंहासने संस्थितोऽसावजः भोजेनोपनीतम् । रत्नैः सहित  
सरत्नम् । मधुपर्कमिश्रमर्घ्यं पूजासाधनद्रव्यं दुक्कलयो क्षीमयोर्युग्मं च । वनिताकटा-  
क्षैरन्यस्त्रीणामपाङ्गदर्शनैः सार्धम् । जग्राह गृहीतवान् ॥ १८ ॥

वदुमन्त्रं विहास्यनपर वैठे ह्य क्त कुमार अन्ते भोजसे जावे ह्य रात्रौके सहित, मन्त्र  
 दुष्ट कर्म तथा ही वरौ ( बौली-दुपहा ) की बिनीके कटाक्षोंके साथ मध्य दिवा ॥ १८ ॥

१ दुकूलबासा स वधूसमीप निम्ने विनीतैरशरोधरौ ।  
 येष्वासकश स्फुटफेनरात्रिर्नवैकव्यानिव वम्त्रपावै ॥ १९ ॥

दुकूलेति । दुकूलबासाः सोम्याः । विनीतैर्नवैकरोधरौ रौद्रान्तःपुरादिभूतैर्बधूसमीपं  
 निम्ने । तत्र दृष्टान्तः—स्फुटफेनरात्रिकव्यान्तमुद्रो नवैर्नवैकवम्त्रपावैकवम्त्रभिन्ने  
 रौद्रपायाः सकाशं समीपमिव । पूर्वदृष्टान्तोऽयम् ॥ १९ ॥

रौद्रमी वर वरौ ह्य क्त अन्ते अन्तरात्रौ रौद्र वधू ( इन्दुमती ) के पास हस्त प्रकर  
 के गये जिस प्रकार वम्त्रधारण रौद्र फेन-समुद्रबाके समुद्रकी तीरके पास के जाती है ॥ १९ ॥

तत्रार्चितो भोजपते पुरोषा हुत्वाभिमाग्न्यदिमिरमिहस्य ।  
 तमेव आवाह विवाहसाधये वधूधरो सङ्गमपात्रकर ॥ २० ॥

तत्रेति । तत्र सङ्गमार्चितः पृथितोऽधिक्यरोऽग्निपुत्रो भोजपतेर्मांजदेवाधीवस्त्य  
 पुरोषाः पुरोहितः । 'पुरोषस्तु पुरोहितः' इत्यमरः । आग्न्यादिभिर्मांजैरग्निं हुत्वा तमेव  
 आवाहि विवाहसाधये आवाह साधिवं च कृतेत्यर्थः । वधूधरो सङ्गमपात्रकर  
 बोधव्यमाप्तः ॥ २० ॥

वर्षापर सत्कृत तथा अग्निके समान (पितृवः) मीन रात्रौके पुरोहितके ही आदिसे अग्नि  
 में दहनकर वरी ( अग्नि ) की विवाहमें समीप वलाकर वधू-वर ( इन्दुमती-वर ) की  
 संवृत्त ( विवाह-सम्बन्ध ) कर दिया ॥ २० ॥

इस्तेन हस्त परिगृह्य भव्या स रत्नसुत सुतरां चक्रसे ।  
 अमन्तरात्रौकलवाप्रभातं प्राप्येव चूतं प्रतिपन्नमेव ॥ २१ ॥

इस्तेनेति । स रत्नसुतुर्इस्तेन स्वकीयेन भव्या हस्त परिगृह्य । अमन्तरात्रौ  
 सविहिताया असौक्यकृत्याः प्रभातं वृद्धं प्रतिपन्नमेव स्वकीयेन प्राप्य चूतं आत्र  
 ह्य सुतरां चक्रसे ॥ २१ ॥

वै रत्नकुमार अत्र ( अगने ) हाथसे वधू इन्दुमतीका हस्त पकड़कर समीपस्थ असौक्य  
 कृत्याके अवपन्नकी अपने वृद्धवती प्राप्त कर आग्निकालके समान अमन्त्र बोधित हुए ॥ २१ ॥

आसीद्धर कथंकिंमप्रकोष्ठं स्विन्नाहुतिः संवहृते कुमारी ।  
 सस्मिन्नुये तदङ्गणमात्मवृत्तिं समं विमच्छेव मनोममेव ॥ २२ ॥

आसीदिति । वरः कथंकिंमः प्रकोष्ठः अकोष्ठो वरः ॥ आसीत् । 'सूच्यते इमं  
 अत्र च रोमहर्षे च कथंकिं' इत्यमरः । कुमारी स्विकाहुतिः संवहृते वधू । अको-

येन ते—तस्मिन्द्वये मिथुने तत्क्षणमात्मवृत्तिः सात्त्विकोदयरूपा वृत्तिर्मनोभवेन कामेन सम विभक्तेव पृथक्कृतेव । प्राक्सिद्धस्याप्यनुरागसाम्यस्य सम्प्रति तत्कार्यदर्शनात्पाणि-  
स्पर्शकृतत्वमुपेक्षते । अत्र वात्स्यायन —‘कन्या तु प्रथमसमागमे स्विन्नाङ्गुलि  
स्विन्नमुखी च भवति । पुरुषस्तु रोमाञ्चितो भवति । एभिरनयोर्भाव परीक्षेत’ इति ।  
स्त्रीपुरुषयो स्वेदरोमाञ्चाभिधान सात्त्विकमात्रोपलक्षणम् । न तु प्रतिनियमो विव-  
क्षित , एभिरिति बहुवचनसामर्थ्यात् । एव सति कुमारसम्भवे—‘रोमोद्गमः प्रादुर-  
भूद्दुमाया’ स्विन्नाङ्गुलिः पुङ्गवकेतुरासीत्’ । इति व्युत्क्रमवचन न दोषायेति । ‘वृत्ति-  
स्तयो’ पाणिसमागमेन सम विभक्तेव मनोभवस्य’ इत्यपराधस्य पाठान्तरे व्याख्या-  
नान्तरम्—पाणिसमागमेन पाण्यो सस्पर्शनं कर्त्रा । तयोर्वधूवरयोर्मनोभवस्य वृत्ति  
स्थिति सम विभक्तेव । समीकृतेवेत्यर्थः ॥ २२ ॥

वर अजका प्रकोष्ठ ( हाथकी कोठनी तथा कलाईका मध्यभाग ) रोमाञ्चित हो गया  
तथा कुमारी इन्दुमतीकी अङ्गुलिया पसीज गयीं ( स्वेदयुक्त हो गयीं ) । हाथोंके उस स्पर्शने  
उन दोनों ( वधू-वर ) के कामवृत्तिको मानों बराबर २ बाट दिया ॥ २२ ॥

तयोरपाङ्गप्रतिसारितानि क्रियासमापत्तिनिवर्तितानि ।

ह्रीयन्त्रणामानशिरे मनोज्ञामन्योन्यलोलानि विलोचनानि ॥ २३ ॥

तयोरिति । अपाङ्गेषु नेत्रप्रान्तेषु प्रतिसारितानि प्रवर्तितानि क्रिययोर्निरीक्षण-  
लक्षणयो समापत्त्या यदृच्छासङ्गत्या निवर्तितानि प्रत्याकृष्टान्यन्योन्यस्मिंहलोलानि  
सत्पृष्णानि । ‘लोलश्चलमत्पृष्णयो’ इत्यमर । तयोर्दम्पत्यो, विलोचनानि दृष्टयो  
मनोज्ञां रम्या हिद्या निमित्तेन यन्त्रणा सङ्कोचमानशिरे प्रापु ॥ २३ ॥

नेत्रप्रान्त तक खुली हुई, दर्शनरूप कार्यके स्वेच्छासे हो जानेपर दृष्टाई हुई उन दोनोंकी  
आंखें मनोहर लज्जापरवशताको प्राप्त हुईं । ( विना चाहनाके भी उन्होंने आंखोंको फाड़कर  
एक दूसरेकी अच्छी तरह एकाएक देख लिया, किन्तु पुन शीघ्र ही लज्जासे आंखोंको जो  
सङ्कुचित कर लिया वह बहुत सुन्दर मालूम पड़ा । ) ॥ २३ ॥

प्रदक्षिणप्रक्रमणात्कृशानोरुदर्चिषस्तन्मिथुन चकासे ।

मेरोरुपान्तेष्विव वर्तमानमन्योन्यसंसक्तमहस्त्रियामम् ॥ २४ ॥

प्रदक्षिणेति । तन्मिथुनमुदर्चिष उन्नतज्वालस्य कृशानोर्वह्ने प्रदक्षिणप्रक्रमणात्प्र-  
दक्षिणीकरणात् मेरोरुपान्तेषु समीपेषु वर्तमानमावर्तमानम्, मेरु प्रदक्षिणीकुर्वदि-  
त्यर्थः । अन्योन्यसंसक्त परस्परसङ्गतम् । मिथुनस्याप्येतद्विशेषणम् । अहश्च त्रियामा  
चाहस्त्रियाम रात्रिदिवमिव । समाहारे द्वन्द्वैकवद्भावः । चकासे दिदीपे ॥ २४ ॥

जलती हुई अग्निकी प्रदक्षिणा करनेसे परस्परमें मिली हुई ( वधू-वरकी ) वह जोड़ी

बाबां सहेताचारनामसु' इति केतवः । स रावकोकः समयोपक्रममन्त्रस्थानकमे  
कम्प तथा तत्त्वैकाग्रितादिति भावः । 'समयोपक्रमश्च' इति पाठे बुद्धसाध्यमित्थ-  
र्यः । तद्यमवैभामिर्धं प्रोक्तवस्तु । 'आमिधं त्वक्षिपां मांसे तथा स्वाज्ञोत्थवस्तुभि' इति  
केतवः । आत्मास्वमाज्ञो ग्रहीष्यमाणः सञ्जस्य पन्थानमाहुत्पादकम्प तस्यौ ॥ ३१ ॥

कारम्प क्रिये गमे कर्कशे छिद्रिमे पक्षेसे ही सहेत क्रिये ह्रप ( अतुल्य स्थावर हन  
कीम मिच्छर रस्तेमे ही जयसे कङ्कडर हनुमतीकी कीम जेये देसा ग्रह सकाहकर ) तम्प  
वर ( वाहान्तरसे-समरमे ) मिच्छेनाके हनुमतीकम्प मांस जर्षात् भोम्प पदार्थके क्षीयमे  
केवेवाके वे राणात्मिय जयके मांसकी रौचकर उहर गमे ॥ ३१ ॥

मर्तापि तावत्कवचैरिच्छनामनुष्ठितानन्तरमाभिधाह ।

सस्वाप्तुस्पाह्वणीकृतमी प्रास्वापचङ्गापवमन्वगाव ॥ ३२ ॥

मर्ताप्येति । अनुष्ठिता सत्पादित्येवमन्तरजाया अनुष्ठिता विवाहो देन स तयोक्त  
कवचैरिच्छनां देसाभां मर्ता स्वामी भोकोऽपि तावत्तथा सस्वाप्तुस्पाह्वणीकृतमी  
वचा तथा वा समन्तात् अवेवामिपतवस्तुवापमिच्छर्षः । इदम् कम्पामे देवं वन्द्य ।  
तदेवाह कात्वापच- 'ऊढवा कम्पवा वापि परकु पितृगृहेऽपि वा । ज्ञातु सकाशा-  
त्पिभोर्षं कम्पं सौदामिर्धं स्मृतम्' ॥ 'भौतकादि तु परेषं सुदायो इदम् च तत्' इत्य-  
मरा । आह्वरणीकृता क्षीयैव तयोक्त सन् राधवमर्षं प्रास्वापचङ्गापवमन्वगाव-  
यादनुष्ठिताम् च ॥ ३२ ॥

क्षीये वह्म हनुमतीके विवाहकी क्रिये ह्रप कम्पैर्धक ( विदम् ) के राजा भीम यो  
शक्तिमे अनुष्ठार वहेम देकर जयके विरा क्रिये तथा स्वर्ष भी जयके पीछे चले ॥ ३२ ॥

तिस्रस्त्रिंशोऽप्रमितेन सार्धमजेन मार्गे वसतीक्षुपित्वा ।

तस्मादपावर्तत कुचिदनेश पर्वात्यये सोम इवोप्जररमे ॥ ३३ ॥

तिस्र इति । कुचिद्वर्ष विद्वर्षमार्गं तत्वेसो भोजयिषु अवेकेषु प्रमितेनाजेन सार्धं  
मार्गे वधि तिस्रे वसती राक्षीक्षित्वा स्थित्वा । 'वसती राक्षिर्वेदमयो' इत्यमरा ।  
'आह्वरणीकृतस्पाह्वणीकृतमी' इति द्वितीया । पर्वात्यये दक्षान्त यज्ज्वरयोः सुर्वात्योमज्ज्वर  
हृत् । तस्मादपावर्तत तं विस्तृतं विस्तृत इत्यर्थः ॥ ३३ ॥

कुचिद्व ( विद्वर्ष ) नौष्ट भीम त्रिकोर्धमे निवनात जयक ताव रस्तेमे तीम पहातोपर  
विशामकर वर ( जवावरवा ) के भीमवेर नृपति यज्जमाके सकाम वत ( जय ) से वाव  
हीटे । (जवावरवाकी यज्जमा तथा सुर्वे वक्त ताव रस्ते है तथा वारमे यज्जमा सुर्वेमे जय  
हीटे है । वर व्योतिषकाज्जय निवनात है ) ॥ ३३ ॥

प्रमन्यवः प्रागपि कोसलेन्द्रे प्रत्येकमात्तस्वतया बभूवुः ।

अतो नृपाश्चक्षमिरे समेता स्त्रीरत्नलाभं न तदात्मजस्य ॥ ३४ ॥

प्रमन्यव इति । नृपा राजान प्रागपि प्रत्येकमात्तस्वतया दिग्विजये गृहीत-  
वनत्वेन कोसलेन्द्रे रघौ प्रमन्यवो रूढवैरा बभूवुः । अतो हेतोः स्वयवरार्थं समेता  
सङ्गताः सन्वस्तदात्मजस्य रघुसूनोः स्त्रीरत्नलाभं न चक्षमिरे न सेहिरे ॥ ३४ ॥

राजालोग पहले (रघुके दिग्विजय-समयमें) भी हरपककी सम्पत्तिको ग्रहण कर लेनेसे  
कोसलाधीश रघुपर रुष्ट थे, इस कारण सम्मिलित हुए वे उन (रघु) के पुत्र अजकी स्त्री-  
रत्नप्राप्तिको नहीं सहन किये ॥ ३४ ॥

तमुद्बहन्तं पथि भोजकन्यां क्रोध राजन्यगणः स दृप्तः ।

बलिप्रदिष्टां श्रियमाददानं त्रैविक्रम पादमिवेन्द्रशत्रुः ॥ ३५ ॥

तमिति । इस उद्धत । स राजन्यगणो राजसङ्घातः । भोजकन्यामुद्बहन्तं नयन्त  
तमजं बलिना वैरोचनिना प्रदिष्टां दत्ता श्रियमाददानं स्वीकुर्वाणम् । त्रिविक्रमस्येव  
त्रैविक्रम पादमिन्द्रशत्रुः प्रह्लाद इव, पथि क्रोधः । तथा च ब्रह्माण्डपुराणे—‘विरोचन-  
विरोधेऽपि प्रह्लादः प्राक्तनं स्मरन् । विष्णोस्तु क्रममाणस्य पादाम्भोजं क्रोधं ह’ इति ॥

उद्धत उस क्षत्रिय-राज-समूहने इन्दुमतीको ले जाते हुए उस अजको, बलि राजासे दी हुई  
लक्ष्मीको लेते हुए वामनके चरणको इन्द्रशत्रु प्रह्लादके समान रास्तेमें रोक लिया ॥ ३५ ॥

पौराणिक कथा—दैत्यराज बलिके यज्ञमें जाकर वामनरूपधारी विष्णु भगवान्ने साढ़े  
तीन पग पृथ्वीको दानमें उनसे प्राप्त किया, तदनन्तर विराटरूप धारणकर पृथ्वीको स्वाधीन  
करनेके लिए विष्णुभगवान् नापने लगे तब विरोचनके विरोध करनेपर भी पूर्व बातकी  
स्मरण करते हुए प्रह्लादने विष्णु भगवान्के चरणकमलोंको रोक लिया था ।

तस्याः स रक्षार्थमनल्पयोधमादिश्य पित्र्यं सचिवं कुमारः ।

प्रत्यग्रहीत्पार्थिववाहिनीं ता भागीरथीं शोण इवोत्तरङ्गः ॥ ३६ ॥

तस्या इति । स कुमारोऽजस्तस्या इन्दुमत्या रक्षार्थमनल्पयोधं बहुभद्रम्, पितु-  
रागतं पित्र्यम्, आसमित्यर्थं । सचिवमादिश्याज्ञाप्य तां पार्थिववाहिनीं राजसेनाम् ।  
‘ध्वजिनीं वाहिनीं सेना’ इत्यमरः । भागीरथीमुत्तरङ्गः शोणः । शोणाख्यो नद इव ।  
प्रत्यग्रहीदभियुक्तवान् ॥ ३६ ॥

उस कुमार अजने उस इन्दुमतीकी रक्षाके लिये बहुत योद्धाओंसे युक्त, पिताके क्रमसे  
रहनेवाले अर्थात् विश्वासपात्र मन्त्रीको नियुक्तकर, भागीरथीको उन्नत तरङ्गोंवाले ‘शोणभद्र’  
नामक मदाहृद्के समान राजाओंके उस सेनाको रोका ॥ ३६ ॥



दृश्ये पर्यन्ते समीपये नर्वाण्य चारो नीर कनकर जगाती इह परस्पर मिश्रित रिम-राज्ये  
समान दीपित इह ॥ २४ ॥

नितम्बगुर्वी शुरुषा प्रयुज्य धयूनिषात्प्रविमेन तेन ।

चकार सा मत्तचकोरनेत्रा सखजावती लासविसर्गमन्ती ॥ २५ ॥

नितम्बेति । नितम्बेन गुर्व्यङ्ग्यम् । 'शुरुषाकङ्कुमोर्गुर्वी' इति साकता । विषात्प्रवि-  
मेन मत्तचकोरनेत्रेण सखजावती लासकेन प्रयुज्य लङ्घनीति विपुला मत्तचकोरनेत्रेण नेत्रे  
पस्त्रा सा सखजावती सा चक्षुरग्नौ लासविसर्गं चकार ॥ २५ ॥

वहै १ नितम्बोवाले चकोरके समान पैरवाली तथा सख्यन वह हनुमती मन्त्रके पुत्र  
गुह नर्वाण्य पुरोद्विष्टके कनकेपर अग्निये कावा (वानकी खीकौली) बोहा ( नानिने कवा  
इति श्री ) ॥ २५ ॥

हविशामीपक्षकसाजगन्धी पुष्यं कृत्तानोक्षदियाय धूमः ।

कपोलससर्पिरित् स तस्य मुहूर्तकर्जोत्पलतां प्रपेदे ॥ २६ ॥

हविरिति । हविश् आत्मापोः समीपकवावां सखजावां च धूमोऽम्बास्तीति  
हविशामीपक्षकसाजगन्धी । 'समीपकवामिर्वा' इत्यम्बाजगन्धिका वपति इति कल्पा-  
यत् । पुष्यो धूमः कृत्तानो वायकापुविषापोऽधूमः । कपोलससर्पिरित् ससर्पिणी प्रसर  
नक्षीका विष्ठा पश्य स तयोक्त स धूमस्तस्या कवा मुहूर्तं कर्जोत्पलतां कर्जोत्पलतां  
प्रपेदे ॥ २६ ॥

हविष्य धूमो-पक्षक तथा खीकौ ( वानके लाहे ) के गन्धवाका वपित ( श्री ) धूना  
आग्निते निकटा कपोल सख वपुषि इह अम्बान्माका वह धूना बोहे समकले सिद्धे वल  
हनुमतीका कर्पेभूषण वम गया ॥ २६ ॥

तद्वस्त्रनक्षलेपसमाधुलाश्र प्रम्लानवीजाङ्कुरकणपूरम् ।

धधूमस्यं पाटलगणहनेत्यमाचारयूममहणाद्भूष ॥ २७ ॥

तद्विति । तद्वधूमसमाकारेण प्रम्लानधूममहणात् । अङ्कुरकण वल्लोऽङ्कुरकण-  
अङ्कुरमिहवापोऽङ्कुरमिहार्थः । तेषां ममाङ्कुराणम् । अङ्कुरो धीजाङ्कुरा यथाङ्कुर एव  
कर्मपुराऽङ्कुरम् । तस्य तान्द्रिकगणहनेरामलकगणहनेरार्थं च धधूमः ॥ २७ ॥

आचरन्नाह धूम-महण करनेसे वह हनुमतीका मुष्ट अङ्कुरके धीन जानेसे आङ्कुर  
नेधोरान्त तथा तान्द्रिकगणहनेरं मुष्ट श्री गया ॥ २७ ॥

ती स्नानकैवन्मुमता च राहा पुरग्निप्रभिद्य नमरा धमुजम् ।

कन्याकुमारो जनकासनस्यावशिष्टतारोपणमम्यभूताम् ॥ २८ ॥

ताविति । कनकासनस्थौ तौ कन्याकुमारौ स्नातकैर्गृहस्थविशेषैः, कृतसमावर्तनै-  
रित्यर्थ । 'स्नातकस्वाप्लुतो व्रती' इत्यमर । वन्दुमता, वन्दुपुर मरेणेत्यर्थ । राज्ञा  
च पुरन्धिभिः पतिपुत्रवतीभिर्नारीभिश्च क्रमशः प्रयुक्त स्नातकादीनां पूर्वपूर्ववैशिष्ट्या-  
क्रमेण कृतमाद्रोक्षतानामारोपणमन्वभूतामनुभूतवन्तौ ॥ २८ ॥

सुवर्णके आसनपर बैठे हुए वधू इन्दुमती तथा कुमार अजने क्रमसे स्नातकों, परिवार-  
सहित राजा भोज और सौभाग्यवती स्त्रियोंके द्वारा किये गये आर्द्र अक्षतोंके आरोपणको  
प्राप्त किया ॥ २८ ॥

इति स्वसुभोजकुलप्रदीपः सम्पाद्य पाणिग्रहण स राजा ।

महीपतीनां पृथगर्हणार्थं समादिदेशाधिकृतानधिप्रीः ॥ २९ ॥

इतीति । अधिप्रीः अधिगता प्राप्ता श्रीः सम्पत्तिः येन सः अधिप्रीरधिकसपन्नो  
भोजकुलप्रदीपः स राजा । इति स्वसुरिन्दुमत्याः पाणिग्रहणं विवाहं सम्पाद्य कार-  
यित्वा । महीपतीनां राज्ञां पृथगेकैकशोऽर्हणार्थं पूजार्थमधिकृतानधिकारिणः समादि-  
देशाज्ञापयामास ॥ २९ ॥

सम्पत्तिशाली तथा भोजकुलदीपक राजाने इस प्रकार (श्लोक० १८-२८) वहन  
इन्दुमतीके विवाहको पूर्णकर राजाओंकी अलग २ पूजा (आदर-सत्कार) करनेके लिये  
अधिकारियोंको आदेश दिया ॥ २९ ॥

लिङ्गैर्मुदः सवृतविक्रियास्ते हृदाः प्रसन्ना इव गूढनक्राः ।

वैदर्भमामन्त्र्य ययुस्तदीया प्रत्यर्प्य पूजामुपदाछलेन ॥ ३० ॥

लिङ्गैरिति । मुदः सतोपस्य लिङ्गैश्चिह्नैः कपटहासादिभिः सवृतविक्रिया निगू-  
हितमत्सरा अत एव प्रसन्ना बहिर्निर्मला गूढनक्रा अन्तर्लीनग्राहा हृदा इव स्थितास्ते  
नृपा वैदर्भं भोजमामन्त्र्यापृच्छथ तदीयां वैदर्भीयां पूजामुपदाछलेनोपायनमिषेण  
प्रत्यर्प्य ययुर्गतवन्तः ॥ ३० ॥

(वाहरी) दर्पके चिह्नोंसे छिपाये हुए विकार (भीतरी द्वेष) वाले अत एव (जलमें  
दूबकर) छिपे हुए मगरसे युक्त निर्मल तडागके समान वे राजाओंके विदर्भनरेश भोजके  
यहाँसे पूजा (में आयी हुई मणि आदि सामग्रियों) को भेंटके बहाने उन्हें लौटाकर और  
उनसे पूछकर (वहाँसे) चले गये ॥ ३० ॥

स राजलोकः कृतपूर्वसंविदारम्भसिद्धौ समयोपलभ्यम् ।

आदास्यमानः प्रमदामिषं तदावृत्य पन्थानमजस्य तस्थौ ॥ ३१ ॥

स इति । आरम्भसिद्धौ कार्यसिद्धौ विषये । पूर्वं कृता कृतपूर्वा, सुस्पुपेति समा-  
सः । कृतपूर्वा सवित्सकेतो मार्गावरोधरूप उपायो येन स तथोक्तः । 'सविशुद्धे प्रति

आत्मां सहेताचारनामासु इति केसवः । स राजकोट्यः समस्योपक्रम्यमत्रमस्यावक्रम्य  
कम्प तथा तस्मैकान्तिवावृत्ति भावः । 'समस्योपक्रम्यम्' इति पाठे पुनःसाम्यमित्य-  
र्थः । त्वयमवैवामिधं श्रोतव्यस्तु । 'आमिधं त्वक्षिमां मांसे तथा स्वाज्ञोपवस्तुवि' इति  
केसवः । आत्मास्वभावो ग्रहीष्यमाणः सत्त्वस्य पन्थानमाहृत्वावक्रम्य तस्मै ॥ ३१ ॥

भारम्य विने नये क्षयक्षेपे सिद्धिर्मे परैकेषु ही सहेतु विने ह्य ( नमुन्य स्वान्तर इम  
लोग मिच्छर रास्तेमे ही नवसे ककुकर इन्दुमतीक्षी क्षीन जेगे पैसा गुप्त सत्त्वककर ) तन्म  
पर ( राजान्तरसे-समरमे ) मिच्छेवाके इन्दुमतीक्ष्म मांस नर्वात् वीम्य परार्थक्षी नमिच्छे  
जेनेवाके वे रावाम्नेग नवसे मार्गेक्षी रौककर ठहर नये ॥ ३१ ॥

मर्त्तापि तावत्कर्मकैश्चिदनामनुष्ठितानन्तरमाविवाहः ।

सस्वाप्तुस्माहरणीकुठशीं प्रास्वापकत्रापयसन्वगात् ॥ ३२ ॥

मर्त्ताप्सीति । अनुष्ठितः सम्पादितोऽन्तःपराया अनुवाया विच्छिन्नो वैव स तथोक्त  
कथकैश्चिदनां देशानां मर्त्ता स्वामी भोबोऽपि तावत्तथा सत्त्वानुपकत्रापयसाहानुत्प-  
पथा तथा आ समान्तात् अनेनामिधतस्तुवावमित्यर्थः । हरणं कम्पाने ईहं वमम् ।  
सवैवाह कत्वापयः-उद्धवा कम्पवा वापि पत्तुः पितृपुत्रेभ्य वा । आत्मा सत्त्वसा-  
त्पिच्छोर्वा कम्पं सौवापिकं स्तुतय ॥ 'वीरकादि तु परेवं सुदातो हरणं च तत्' इत्य-  
मरा । आहरणीकुठा क्षीर्मेव तथोक्तः सत्त्व राजकर्मणं प्रास्वापकत्रापयसावित्तवान्स्वबन्ध-  
गावुजगाम च ॥ ३२ ॥

क्षीर्ये वहन इन्दुमतीक्षे विवाहको विने ह्य कम्पक्षीक ( विरध ) के रावा भोज नी  
क्षिमे नमुनार इहेव हेकर नवसे विना विने तथा स्वर्ण भी नवसे पीजे नये ॥ ३२ ॥

तिष्ठस्त्रिलोकप्रभितेन सार्वभवेन मर्त्तो वसतीरपित्वा ।

तस्मादपावर्तत कुण्डिनेशः पर्वात्यये सोम इषोप्जररमे ॥ ३३ ॥

तिष्ठ इति । कुण्डिनं विष्णुर्मनगरं तस्मैशो भोजधियु कोकेषु प्रमितेनात्रेव सार्व  
मार्गे पवि तिष्ठो वसती राभीरपित्वा स्थित्वा । 'वसती राभिधरमभो' इत्यमरा ।  
'काकपञ्चमोत्पन्नतर्तबोरो' इति द्वितीया । पर्वात्यये इक्षान्त उप्जररमेः सूर्वात्सोमजग्न  
इव । तस्मादपावर्तत तं विष्णुव विष्णुत इत्यर्थः ॥ ३३ ॥

कुण्डिन- ( विरध ) गरीष भीव विबोक्ष्ये निस्वात नवसे ताव रास्तेमे तीव पदतोपर  
निताककर परं ( नमावस्था ) के बीतनेपर धूर्ति नम्रमाके समान वृत्त ( नव ) ॥ वार  
त्ये । ( नवतरवाके नम्रमा तथा पूर्ण वक्त ताव रहते है तथा शरमे नम्रमा धूर्ति नम्रग  
दीपे है । पर क्षीरिचक्रावृत्ता शिखान्ते है ) ॥ ३३ ॥

प्रमन्यवः प्रागपि कोसलेन्द्रे प्रत्येकमात्तस्वतया बभूवुः ।

अतो नृपाश्चक्षमिरे समेताः स्त्रीरत्नलाभं न तदात्मजस्य ॥ ३४ ॥

प्रमन्यव इति । नृपा राजानः प्रागपि प्रत्येकमात्तस्वतया दिग्विजये गृहीत-  
धनत्वेन कोसलेन्द्रे रघौ प्रमन्यवो रूढवैरा बभूवुः । अतो हेतोः स्वयवराथं समेता  
सङ्गताः सन्तस्तदात्मजस्य रघुसूनोः स्त्रीरत्नलाभं न चक्षमिरे न सेहिरे ॥ ३४ ॥

राजालोक पहले (रघुके दिग्विजय-समयमें) भी हरएककी सम्पत्तिको ग्रहण कर लेनेसे  
कोसलाधीश रघुपर रुष्ट थे, इस कारण सम्मिलित हुए वे उन (रघु) के पुत्र अजकी स्त्री-  
रत्नप्राप्तिको नहीं सहन किये ॥ ३४ ॥

तमुद्वहन्तं पथि भोजकन्या रुरोध राजन्यगणः स दृप्तः ।

बलिप्रदिष्टां श्रियमाददानं त्रैविक्रम पादमिवेन्द्रशत्रुः ॥ ३५ ॥

तमिति । इस उद्धतः । स राजन्यगणो राजसङ्घात भोजकन्यामुद्वहन्तं नयन्त  
तमज बलिना वैरोचनिना प्रदिष्टां दत्ता श्रियमाददानं स्वीकुर्वाणम् । त्रिविक्रमस्येव  
त्रैविक्रम पादमिवेन्द्रशत्रु प्रह्लाद इव, पथि रुरोध । तथा च ब्रह्माण्डपुराणे-‘विरोचन-  
विरोधेऽपि प्रह्लादः प्राक्तन स्मरन् । विष्णोस्तु क्रममाणस्य पादाभ्भोज रुरोध ह’ इति ॥

उद्धत उस क्षत्रिय-राज-समूहने इन्दुमतीको लेजाते हुए उस अजकी, बलि राजासे दी हुई  
लक्ष्मीको लेते हुए वामनके चरणको इन्द्रशत्रु प्रह्लादके समान रास्तेमें रोक लिया ॥ ३५ ॥

पौराणिक कथा—दैत्यराज बलिके यज्ञमें जाकर वामनरूपधारी विष्णु भगवान्ने साढ़े  
तीन पग पृथ्वीको दानमें उनसे प्राप्त किया, तदनन्तर विराटरूप धारणकर पृथ्वीको स्वाधीन  
करनेके लिए विष्णुभगवान् नापने लगे तब विरोचनके विरोध करनेपर भी पूर्व बातको  
स्मरण करते हुए प्रह्लादने विष्णु भगवान्के चरणकमलोंको रोक लिया था ।

तस्याः स रक्षार्थमनल्पयोधमादिश्य पित्र्यं सचिव कुमारः ।

प्रत्यग्रहीत्पार्थिववाहिनीं ता मागीरथीं शोण इवोत्तरङ्गः ॥ ३६ ॥

तस्या इति । स कुमारोऽजस्तस्या इन्दुमत्या रक्षार्थमनल्पयोध बहुभद्रम्, पितु-  
रागत पित्र्यम्, आसमित्यर्थः । सचिवमादिश्याज्ञाप्य तां पार्थिववाहिनीं राजसेनाम् ।  
‘ध्वजिनी वाहिनी सेना’ इत्यमरः । मागीरथीमुत्तरङ्गः शोण शोणाख्यो नद इव ।  
प्रत्यग्रहीदभियुक्तवान् ॥ ३६ ॥

उस कुमार अजने उस इन्दुमतीकी रक्षाके लिये बहुत योद्धाओंसे युक्त, पिताके क्रमसे  
रहनेवाले अर्थात् विश्वासपात्र मन्त्रीको नियुक्तकर, मागीरथीको उन्नत तरङ्गोंवाले ‘शोणभद्र’  
नामक मदाहदके समान राजाओंके उस सेनाको रोका ॥ ३६ ॥

पठि पयसि रथिनं रथेशस्तुपासादी तुरगाधिरुहम् ।

यन्ता गवस्याभ्यपतृजस्वं तस्यपतिद्विधं यमूष मुयम् ॥ ३० ॥

[illegible]

पैरक पैरकने सान रबसवार रबसवारके सान बुसवार बुसवारके सान और  
हानीपर सवार बीछा हानीपर सवार बुस बीछाके सानमें मिह पके बह बुस समान प्रति-  
भयोबाजा हुआ ॥ ३७ ॥

महत्सु तुर्येयविभाष्यवाचो मोदीरयन्ति स्म कुलोपदेयाम् ।

बाजासुरैरेव परस्परस्य नामोक्तिं चापमृतं शरांसु ॥ १८ ॥

बद्धिर्बलः । तत्रैव बद्धसु सात्त्विकिमाध्यवायोन्मयवर्त्मिरभापयतो बाहुपद्मा ।  
कुम्भमुपरिरपते प्रक्याप्यते वैस्ते कुम्भोपदेष्टास्तान्कुम्भामानि बोधिरवन्ति स्म योवा-  
रवाम्नाम् । धीनुमक्षयत्वाद्वायो बाहुवर्जितवर्धः । किन्तु बापावरेवाम्नेषु क्षिप्रिताव-  
रेव परपरस्वाम्योन्मत्स्योन्मिर्तं प्रक्यातं नाम धर्तुसंस्तुतः ॥ ३८ ॥

द्वारिणी (बाबू विद्याजी) के बच्चे रहनेपर (बरकरारमें कथित) बचनको यहाँ समझने वाले पञ्चवारी बीन्दाजीय जन्मे बंधकी प्रसिद्धिकी यहाँ क्यूँसे वे किन्तु बाबूपर शिष्टे की कहारोते ही (अरुने २) प्रसिद्ध बाबकी (या जान तथा बरकरारको) पञ्चमते के ॥ १ ॥

अथवापि संयति रेणुरथै सान्नीह्यं स्वमनसाचक्षे ।

पिस्तारितं दुष्कारक्यतासैनेत्राम्नेषोपररोय सूर्यम् ॥ ३६ ॥

उत्थापित इति । सर्वान् सप्तप्रामेऽधैतुरगैरुत्थापितः स्वम्बुनक्षत्राणां रथसमूह-  
 नां चैव रथादौ "अधैतुम्यै ज्ञानवर्त रथावपराधपूयोः । संसारे मन्दके हृत्ते धर्मभंदा-  
 यमेवयोः ॥ इति वक्ष्यमर्थाः । साग्रीहृत्ते धर्मिभूताः । "अथा रथास्थि गीरोष्मकादे-  
 देनी गले कुक्षे" इति कदाच । कुक्षिरक्ष्मणां ताम्ररतावर्तविस्तारिताः प्रसारिताः । पु-  
 नश्चक्रमेणां पुनरुत्थापितः अथुक्तमिदमेवार्थः "स्याज्जाहृत्तेधर्मोऽथ इति "अमोऽधै-  
 परिवात्मा ॥" इति केचन । सूर्यमुचरराथाप्यारुत्थामास ॥ ३९ ॥

सुबसे बोहो ( ६ सुरी ) से बजनाकी लगी एक-आनूसकी बहिरों से सजन की बरी ठरा

हाथियोंके कानोंके फटकारनेसे फैलाई गयी धूलि नेत्रके क्रमसे वरुके समान सूर्यको रोक ( छिपा ) लिया अर्थात् उक्त धूलिसे पहले किसीको कुछ वस्तु दिखलाई नहीं पड़ती थी, पीछे उससे सूर्य भी छिप गया ॥ ३९ ॥

मत्स्यध्वजा वायुवशाद्विदीर्णैर्मुखैः प्रवृद्धध्वजिनीरजांसि ।

बभूव पिवन्तः परमार्थमत्स्या पर्याविलानीव नवोदकानि ॥ ४० ॥

मत्स्येति । वायुवशाद्विदीर्णैर्विघटितैर्मुखैः प्रवृद्धानि ध्वजिनीरजांसि सैन्यरेणून्पिवन्तो गृह्णन्तो मत्स्यध्वजा मत्स्याकारा ध्वजा । पर्याविलानि परितः कलुषाणि नवोदकानि पिवन्तः परमार्थमत्स्या सत्यमत्स्या इव । वभूवर्भान्ति स्म ॥ ४० ॥

वायुके कारण बाये ( फैलाये ) हुए मुखोंसे सेनाकी बड़ी हुई धूलिको पीती हुई, मछलियोंके आकारवाली पताकायें वरसाती मलिन पानी पीती हुई वास्तविक मछलियोंके समान शोभित हुई ॥ ४० ॥

रथो रथाङ्गध्वनिना विजज्ञे विलोलघण्टाकणितेन नागः ।

स्वभर्तृनामग्रहणाद्बभूव सान्द्रे रजस्यात्मपरावबोधः ॥ ४१ ॥

रथ इति । सान्द्रे प्रवृद्धे रजसि रथो रथाङ्गध्वनिना चक्रस्वनेन विजज्ञे ज्ञातः । नागो हस्ती विलोलानां घण्टानां कणितेन नादेन विजज्ञे । आत्मपरावबोधः स्वपर-विवेकः । बोधानामिति शेषः । स्वभर्तृणा स्वस्वामिना नामग्रहणाश्चामोच्चारणाद्बभूव । रजोन्धतया सर्वे स्व परं च शब्दादेवानुमाय प्रजघ्नुरित्यर्थः ॥ ४१ ॥

धूलिके सघन होनेपर पहियोंके शब्दसे रथ तथा हिलती हुई घटामोंकी ध्वनियोंसे हाथी मालूम पड़ते थे और अपने स्वामीका नाम लेनेसे अपने-परायेका ज्ञान होता था ॥ ४१ ॥

आवृण्वतो लोचनमार्गमाजौ रजोऽन्धकारस्य विजृम्भितस्य ।

शस्त्रक्षताश्वद्विपवीरजन्मा बालारुणोऽमूद्रुधिरप्रवाहः ॥ ४२ ॥

आवृण्वत इति । लोचनमार्गमावृण्वतो दृष्टिपथमुपलब्धतः अजौ युद्धे विजृम्भितस्य व्याप्तस्य । रज एवान्धकारं तस्य । शस्त्रक्षतेभ्यो जन्म यस्य स तथोक्तो रुधिर-प्रवाहो बालारुणो बालार्कोऽमूत्र 'अरुणो भास्करोऽपि स्यात्' इत्यमरः । घालविशेषण रुधिरसावर्ण्यार्थम् ॥ ४२ ॥

दृष्टिपथको रोकते हुए तथा बड़े हुए धूलिरूप अन्धकारका, शस्त्रोंसे घायल घोड़ों, हाथियों तथा शूरवीरों (के शरीर) से उत्पन्न रक्तका प्रवाह वाल सूर्य हुआ । (जैसे रात्रिमें अन्धकारसे कुछ नहीं दिखाई पड़ता, दृष्टिमार्गको रोकनेवाले उस अन्धकारके बाद लाल रंगवाले प्रातः-कालीन सूर्यका उदय होता है और कुछ समयके बाद ही वह अन्धकार भी नष्ट हो जाता है, वैसे ही युद्धमें आहत अश्व, हाथी तथा वीरोंसे उत्पन्न रक्तप्रवाह दृष्टिरोधक धूलिका

काञ्च पूर्वं माह्वम पश्यता वा । दसते दस शुष्मिन्ना जीम ही विमाल भी दृष्टि किम वय  
है केसा कि जमिम इकीकर्म वर्णित है । ॥ ४९ ॥

स चिद्धमूच्छा घटजेन रेणुस्तस्योपरिष्टात्मयमावभूतः ।

अङ्गारोपस्य हुतारानस्य पूर्वोन्मिषतो भूम इवावभासे ॥ ४९ ॥

॥ इति । घटजेन वशिरेण चिद्धमूच्छा त्वामितभूतकसम्बन्ध इत्यर्थः । तस्य  
घटजस्योपरिष्ठात्पचमावभूतो घटादृता । स रेणुः अङ्गारोपस्य हुताद्यवस्थाम्ने  
पूर्वोन्मिषतो भूम इव भावभासे सिद्धीये ॥ ४९ ॥

( नीचे भूतकर्म ) रक्ते मरुतो गयी तथा कसके कपरमें इवासी कमिष्ठ ( हवर-उपर  
रकली वाली हुई ) वह चूँकि अङ्गारमात्र नहीं हुई कमिष्ठ, परके कपर बड़े हुए  
चूँके समान होममात्र होती थी ॥ ४९ ॥

महारमूच्छांपगमे रयस्या यन्मुमुपासम्य निवर्तितम्भान् ।

ये साविता कश्चितपूर्वकेतुन्स्तानेन सामर्पतया निजम्भु ॥ ५० ॥

महारेति । रयस्या रयिना महारेण वा मूच्छां तस्या अवगमे सति मूर्च्छितामात्र-  
म्वच नीत्वा संरक्षणं सारथिचर्म इति ह्यथा विवर्तितावात्मन्मुम्भारवीमुपासन्वासात्  
कुतमितवधिक्षिप्तः । पूर्वो ये स्वर्गं साविता हुताः, कश्चितपूर्वकेतुः पूर्वरोः केतुकि  
प्रत्यभिज्ञातामित्यर्थः । तामेव सामर्पतया सकोपत्वेन हेतुवा विजगुः प्रजगुः ॥ ५० ॥

रवर वरु हुए वीर महारकी मूच्छाके हुए हीनेपर ( बुद्धिनावारार्थ ) पीछेकी  
( बुद्धिमिष्टे ) वास्त तानेवाके तारविनीकी पताकम्भ देकर ( तुम बुद्ध भूमिसे हमारे रय  
की वास्त नामे वह अच्छा नहीं दिया, फिर नहीं रयकी के बलसे हमपर बड़ना देकर )  
मिनसे बड़े वास्त हुए ने बड़े कवच की गयी पताकामोवाके उन बीरमोवर ही  
शोधित भावसे महार किया ॥ ५० ॥

अप्यधमार्गे परबाणसूना यनुर्मुतां इस्तवतां प्रपत्स्यः ।

ममप्रापुरबारमज्जामुपुत्स्या पूर्वधमार्गे पक्षिमि शरव्यम् ॥ ५१ ॥

अरीनि । अधमार्गे मार्गाच्च अर्धमार्गैरतिमधमार्गे नीरवां यत्तेर्नुतारिद्वज्जा  
अपि इस्तवतां ह्यनुस्मानां यनुर्मुतां प्रपत्स्यः । तदा अप्यधमज्जामुपुत्स्या शरव्यानुपुत्स्येन  
हेतुना पक्षिमिर्धोहापक्षिः । 'पक्ष्यवाजाप्रयोः पक्ष्यम्' इति विरहः । पूर्वधमार्गे ।  
ममार्गीनि घटः । तस्मै दितं धारणं कल्पम् । अगवादिभ्यो वत्' इति वाच्यम् ।  
'तर्धं कल्पं धारणं च' इत्यमरः । ममप्रापुरेव न तु मध्ये कनिना ह्यवर्तः ॥ ५१ ॥

मुनीं हारवाके यनुर्गारिवाके, हुनरोके वागीसे जाके जालीने ( कपर एक चरुबरेके  
वाले ही ) के हुए की वज्र अपने वेगके अनुकूल वज्र ( वज्रमय मज्जामात्र ) से मुक्त दुरोके

गोंसे निशानाओंको प्राप्त ही कर लिये ( आधे मार्गमें दो टुकड़ा होकर भी निपुण धनु-  
रियोंके वाणोंने अपने लक्ष्यका वेध कर ही दिया ) ॥ ४५ ॥

आधोरणानां गजसन्निपाते शिरासि चक्रेर्निशितैः क्षुराग्रैः ।

हृतान्यपि श्येननखाग्रकोटिव्यासक्तकेशानि चिरेण पेतुः ॥ ४६ ॥

आधोरणेति । गजसन्निपाते गजयुद्धे निशितैरत एव क्षुराग्रैः क्षुरस्याग्रमिवाग्र  
पेषा तैश्चक्रेरायुधविशेषैर्हृतानि छिन्नान्यपि । श्येनानां पक्षिविशेषाणाम् । 'पक्षी  
श्येनः' इत्यमरः । नखाग्रकोटिषु व्यासक्ता केशा येषां तानि । आधोरणानां हस्त्या-  
रोहाणाम् । 'आधोरणा हस्तिपका हस्त्यारोहा निपादिनः' इत्यमरः । शिरासि चिरेण  
पेतुः पतितानि । शिर पाताम्रागेवारूढ पश्चादुत्पतता पक्षिणां नखेषु केशसङ्गश्चिर-  
पातहेतुरिति भावः ॥ ४६ ॥

हाथियोंकी लड़ाईमें तेज एव क्षुरके समान फलवाले चक्रोंसे कटे हुए भी, बाज पक्षियों-  
के चक्रुलोंके नखाग्रमें फँसे हुए हाथीवानोंके मस्तक देरसे (भूमिपर) गिरे । ( मस्तक कटनेके  
पहले ही उनपर बाज मड़राते थे, इतनेमें ही वे कट गये और उनको लेकर वे उड़े, किन्तु भारी  
होनेसे चक्रुलके नखोंमें बालोंके फसनेसे विलम्बसे नीचे गिर पड़े । यहाँ मस्तकोंके छिन्न होनेके  
पहले बाजोंके उनके मस्तकोंपर मड़रानेसे कविने उनके अशुभ शकुनको सूचित किया है ) ॥

पूर्वं प्रहर्ता न जघान भूयः प्रतिप्रहारोत्तममश्वसादी ।

तुरङ्गमस्कन्धनिषण्णदेहं प्रत्याश्वसन्त रिपुमाचकाङ्क्ष ॥ ४७ ॥

पूर्वमिति । पूर्वं प्रथम प्रहर्ताऽश्वसादी तौरङ्गिकः । प्रतिप्रहारेऽत्तममश्व-  
स्कन्धे निषण्णदेहम्, मूर्च्छितमित्यर्थः । रिपु भूयो न जघान पुनर्न प्रजहार । किन्तु  
प्रत्याश्वसन्तं पुनरुज्जीवन्तमाचकाङ्क्ष । 'नायुधव्यसन प्राप्तं नातं नातिपरिहृतम्'  
इति निषेधादिति भावः ॥ ४७ ॥

पहले प्रहार करनेवाला घुड़सवार ने घोड़ेके कन्धेपर पड़े हुए शरीरवाले अर्थात् मूर्च्छित  
तथा प्रतिप्रहार ( जवाबी हमला ) करनेमें असमर्थ उस शत्रुपर फिर प्रहार नहीं किया,  
किन्तु उसको होशमें आनेकी प्रतीक्षा करने लगा । ( इस वर्णनसे वह युद्ध धर्माधर्मको  
विचारकर हो रहा था, यह संकेत किया गया है ) ॥ ४७ ॥

तनुत्यजां वर्ममृता विकोशैर्बृहत्सु दन्तेष्वसिभिः पतद्भिः ।

उद्यन्तमग्निं शमयांबभूवुर्गजा विविग्ना करशीकरेण ॥ ४८ ॥

तनुत्यजामिति । तनुत्यजां, तनुषु नि स्पृहाणामित्यर्थः । वर्ममृतां कवचिनां सम्ब-  
न्धिभिर्बृहत्सु दन्तेषु पतद्भिरत एव विकोशौ । पिधानादुद्धृतैः । 'कोशोऽङ्गी कुड्मले  
खड्गपिधाने' इत्यमरः । असिभिः खड्गैरुद्यन्तमुत्थितमग्निं विविग्ना भीता गजाः  
करशीकरेण शुण्ढादण्डजलकणेन शमयाम्बभूवुः शान्तं चक्रुः ॥ ४८ ॥



( भित्तर होकर ) धीरे-धीरे करकेसे तेवार बगै पड़ने हुए घोड़ानोंकी म्यासे निकली हुई तथा बड़े ९ बालोंपर बहती हुई तन्वारोंसे निकली हुई बगिचोंमें जाऊँ हथिनोंने सुन्ने दीधरों ( पुनवार करकेसे निकले हुए बग-बगों ) से तुलना ॥ ४८ ॥

शिखीमुखोत्कृत्तशिरःफलाख्या च्युतैः शिरस्यपकोत्तरेष ।

रणसिति शोणितमद्यकुन्धा रराज सुत्योरिव पानभूमि ॥ ४९ ॥

शिखीमुखैति । शिखीमुखैर्बानैककुलानि शिरास्येव कञ्चानि तेराख्या सम्भवा । च्युतैर्बहैः । शिरासि प्रापन्त इति शिरसाणि शोर्षन्वाणि । 'शीर्षन्' च 'शिरास्य' इत्यमरः । तेजपकोत्तरा, कचका पात्रपात्रमुत्तरं पस्यां लेव । 'कचमेव' पात्रपात्रम् इत्यमरः । शोणितान्येव मत्तं तस्य कुन्धा मवाह्य पस्यां सा । 'कुन्धास्या' इति सरित् इत्यमरः । रणसितिर्पुनःशुभिमिर्लुकोः पानभूमिरिव रराज ॥ ४९ ॥

बानोंसे बड़े हुए बलाकस्त बगोंसे परिपूर्ण, गिरे हुए शिरकात्र बगोंसे दीपकम पत्रिका बोंबली तथा रणकर्म मक्के मवाहोबाकी यह कुन्धभूमि बलुकी ( मच ) पान-भूमिसे समान शोणित हुई ॥ ४९ ॥

उपान्तयोर्निष्कृपित विहङ्गैराक्षिप्य तेभ्यः पिशितमिच्छति

केयूरकोटिहृततस्तुवेरा दिग्वा मुज्यन्तेहमपाचकार ॥ ५० ॥

उपान्तयोरिति । उपान्तयोः प्रान्तयोर्विहङ्गैः पक्षिमिर्निष्कृपितं क्षिपितम् । 'हनिष्यन्वा' इतीकामरा । मुज्यन्तेहं मुज्यन्ते तेभ्यो विहङ्गेभ्य आक्षिप्याक्षित पिशितमिच्छा मांसमिच्छामि क्षिपा श्लेषी । 'सिक्क क्षिक्क क्षिपा श्लेषी' इति सिक्क । केयूरकोट्याम्भुवायेन हतस्तानुवैद्यो पस्याः सा सती । अपाचकारापसारवामात् । निरलेः करोतेर्वा किद् ॥ ५० ॥

पक्षिभोंमें दोनों नीचे नीचे बड़े बाहुके कुन्धेकी पन ( पक्षियों ) से क्षीनकर मांसमि ( मांसको चहनेबाग ) पारिकवि ( बाहुमें कपी हुई ) निवानकके निवारसे तन्त्रके कपिरर ( क्त बाहुका ) क्षीनकर क्षिपा ॥ ५० ॥

कश्चिद्वृष्टिपत्न्यग्राह्योत्तमाङ्ग सद्यो विमानप्रसुतामुपेत्य ।

वामाङ्गससक्तमुपगच्छन् दवं नृत्पत्यन्त्य समरे वृद्धा ॥ ५१ ॥

कश्चिदिति । वृष्टा कश्येन हतोत्तमाङ्गतिवृष्टिराग । 'उत्तमाङ्ग' शिरा शीर्षम् इत्यमरः । कश्चिद्विद सद्यो विमानप्रसुतां विमाबाधिपेत्वम् देवत्वमित्यर्थः । उपेत्य माम् वामाङ्गससक्त सन्धोत्तमाङ्गतिनी सुराङ्गा पस्य स तथोक्त धत् । कश्चिद्विद इत्यने—'वराप्सरसहृद्यमि नृपमयोवने इत्यम् । त्वरितानुवचनमि मम मर्त्यममेति च ॥' इति ८ समरे नृत्पत्यं दवं विधं कश्चिद्विद्विरसं कश्चिद्वं वृद्धा । 'कश्चिन्धो' विमानप्रसुतामप्युत्तमाङ्गतिवरा' इत्यमरः ॥ ५१ ॥

शत्रुकी तलवारसे छिन्नमस्तक किसी योद्धा ने विमानका मालिक अर्थात् देव बनकर बाँधे भाग-  
में स्थित देवाग्रनासे युक्त होना हुआ युद्धमें नाचते (छटपटाते हुए) अपने घडकी देखा ॥५१॥

अन्योन्यसूतोन्मथनाद्भूतां तावेव सूतौ रथिनौ च कौचित् ।

व्यश्चौ गदाव्यायतसम्प्रहारो भग्नायुधौ बाहुविमर्दनिष्ठौ ॥ ५२ ॥

अन्योन्येति । कौचिद्वीरावन्योन्यस्य सूतयो सारथ्योरुन्मथनास्त्रिधनात्तावेव सूतौ  
रथिनौ योद्धारौ चाभूताम् । तावेव व्यश्चौ नष्टाश्चौ सन्तौ गदाभ्यां व्यायतो दीर्घ-  
सम्प्रहारो युद्धं ययोस्तावभूताम् । ततो भग्नायुधौ भग्नगदाौ सन्तौ बाहुविमर्दं निष्ठा-  
नाशो ययोस्तौ बाहुयुद्धसक्तावभूताम् । 'निष्ठा निष्पत्तिनाशान्ता' इत्यमर ॥ ५२ ॥

कोई दो योद्धा आपसके सारथियोंके मरनेसे वे ही सारथि तथा रथी हो गये अर्थात्  
स्वयं रथको हाँकते हुए युद्ध करने लगे, ( फिर ) घोड़ोंके मर जानेपर गदायुद्ध करने लगे,  
( और फिर ) शस्त्र अर्थात् गदाके टूट जानेपर मल्लयुद्ध करने लगे ॥ ५२ ॥

परस्परेण क्षतयोः प्रहर्त्रोरुत्क्रान्तवाय्व्योः समकालमेव ।

अमर्त्यभावेऽपि कयोश्चिदासीदेकाप्सरःप्रार्थितयोविवादः ॥ ५३ ॥

परस्परेणेति । परस्परेणान्योन्य क्षतयो क्षतवन्वो समकालमेककालं यथा तयो-  
क्त्तान्तवाय्वोर्युगपदुद्धतप्राणयो । एकैवाप्सरा प्रार्थिता याम्यां तयोरेकाप्सरःप्रार्थि-  
तयो, प्रार्थितैकाप्सरसोरित्यर्थः । 'वाहिताग्न्यादिषु' इति परनिपातः । अथवा एक-  
स्यामप्सरसि प्रार्थितं प्रार्थना ययोरिति विग्रहः । 'स्त्रिया बहुष्वप्सरसः' इति बहुत्वा-  
भिधानं प्रायिकम् । कयोश्चिदप्रहर्त्रोर्योऽयोरमर्त्यभावेऽपि देवत्वेऽपि विवादः कलह  
आसीत् । एकामिषामिलापो हि महद्वैरवीजमिति भावः ॥ ५३ ॥

आपसमें ( एक दूसरेके प्रहारसे ) मारे गये एक साथ ही निकली हुई प्राणवायुवाले  
किसी एक ही अप्सराको चाहनेवाले दो योद्धाओंके देवत्व प्राप्त करनेपर भी वादविवाद  
ही बना रहा ॥ ५३ ॥

व्यूहावुभौ तावितरेतरस्माद्भङ्गजं चापतुरव्यवस्थम् ।

पश्चात्पुरोमास्तयोः प्रवृद्धौ पर्यायवृत्त्येव महार्णवोर्मौ ॥ ५४ ॥

व्यूहाविति । तावुभौ व्यूहौ सेनासङ्घातौ । 'व्यूहस्तु घलविन्यासः' इत्यमरः ।  
पश्चात्पुरश्च यौ मास्तौ 'द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बध्यते', तयो पर्याय-  
वृत्त्या क्रमवृत्त्या प्रवृद्धौ महार्णवोर्मौ इव । इतरेतरस्मादन्योन्यस्मादव्यवस्थं व्यवस्था-  
रहितमनियतं जयं भङ्गं पराजयं चापतुं प्राप्सवन्तौ ॥ ५४ ॥

वे दोनों व्यूह ( अजपक्षीय तथा राजपक्षीय सेनासमूह ) आगे तथा पीछे ( या पूर्व और  
पश्चिम ) वायुके पर्यायक्रमसे बढे हुए महासमुद्रके दो तरङ्गोंके समान आपस में एक दूसरेसे

अम्बराशित नन्द तथा पराशरयोः प्राप्तः कुरुते मे । ( कभी अम्बराशित सेवा-सम्पुष्टी भोप होती थी तथा कभी अम्बराशित नन्द वरुण सेवा-सम्पुष्टी भोप होती थी ) ॥ ५४ ॥

परेष्य मग्नेऽपि बले महीया पद्मापज्ज प्रस्थरिसैन्धमेव । -

धूमा निधर्त्येत समीरयोगेन यतस्तु कथंस्तत एव बहिः ॥ २५ ॥

परेयेति । कस्मै स्वसैन्ये परेय परबलेन भग्नेऽपि अहोरा म्हाबलोज्ज्वलसैन्ये  
प्रत्येक पर्यो । तथा हि-समीरयेन बाधुना भूमौ विस्फूर्त कङ्कालपछार्येत । अतस्त्वं  
स्वतन्त्रमपि सगमावधायं किङ्क । अस्मिन्नु जतो नम कङ्कालमृणम् 'कङ्कालं तु पुनर्जीवयती'  
इत्यमरः । तत् पुन उच्येत । अकर्तुं इति शेषः । सार्वभिमतिमस्तस्मि ॥ ५५ ॥

अपनी सेवाओं के लिये मारे जाने पर भी महात्माजी जब शत्रुओं की सेवानों की ओर ही बढ़ रहे थे। इससे भूत (मर्कट) विह्वल हो जाने किन्तु वहाँ कुछ नहीं है, वहाँ भी बढ़ती है ॥ ५५ ॥

रषी निषङ्गी कषणी यनुष्मन् ह्य स राजन्मन्त्रेकीर ।

निवारय्यमास महाश्वराह कल्पय्योदुदुधमिषार्पणान्म ॥ २६ ॥

रवीति । रवी रवाक्यो विष्णुर्वा कृषीरवात् । 'वृक्षेपास्तद्वृक्षीरविष्णु इति  
 ईदो' इत्यमरः । कवची कर्मचरो बहुभ्याम् बहुचरो एतौ रमण्य पृथ्वीरभ्यहायस्य  
 सोऽभ्यो रत्नसमूहम् । 'योत्रोयोप्योरजराजराकल्परात्रिपुत्रसप्तमपुत्रावात् पुत्र' इत्य-  
 म्बैम पुत्रस्यवा । महावराहो वराहाकृतो विष्णुः कल्परात्रे कल्पान्तकाले पदद्वय-  
 द्वेकमर्जयाम्भ इव विचारयामास ॥ ५९ ॥

[illegible]

स वसिष्ठं तृणमुत्तेन धामं व्यापारयन् हस्तमलक्ष्मणी ।

आकर्षकस्य सकृदस्य नोदुर्मौर्षीणि वाप्यान्सुपुत्रे रिपुज्जान् ॥ ५७ ॥

स इति । सोऽयं आजी सङ्ग्रामे दक्षिणं दक्षं एतमुक्तेषु विषयविशेषेण धामम-  
विष्णुम्बरम् । 'धामं सन्ने प्रतीये च दक्षिणे आसिमुम्बरे' इति विश्वः । ध्यापात्यङ्क-  
कथतः । धारसङ्गताभादयस्य दुर्धन्या इत्यर्थः । सहस्राकर्णकृष्टा बोधुरत्वाज्जलन मौर्ध-  
न्या रिपुञ्जन्तीति विष्णुज्जलत्वात् । 'जममुम्बरकमुके च' इति जयप्रत्ययाः । वाच्य-  
शब्द इव शब्दे निम्न इत्युच्यते ॥ ५० ॥

ये भय भुजने रहने हानकी तरफसर रहते हुए नये सुन्दर आवाज करते थे । एक

र कानतक खींची गयी, योद्धा इस अजकी प्रत्यक्षा ( धनुषकी डोरी ) मानो शत्रुताशक  
गणोंको पैदा कर रही थी ॥ ५७ ॥

स रोषदष्टाधिकलोहितोऽथैव्यक्तोर्ध्वरेखा भ्रुकुटीर्वहन्नि ।

तस्तार गां भल्लनिकृत्तकण्ठैर्हुङ्कारगर्भैर्द्विपतां शिरोभि ॥ ५८ ॥

स इति । सोऽज रोषेण दष्टा अत एवाधिकलोहिता ओष्ठा येषां तानि तैः ।  
व्यक्ता ऊर्ध्वा रेखा यासां ता भ्रुकुटीर्भ्रूमङ्गान्वहन्नि । भल्लनिकृत्ता बाणविशेषच्छिन्ना  
कण्ठा येषां तैः । हुङ्कारगर्भैः सहुङ्कारैः, हुङ्कुर्वद्भिरित्यर्थः । द्विपता शिरोभिर्गा भूमिं  
तस्तार छादयामास ॥ ५८ ॥

उस अजने क्रोधसे कांट गये अतएव लाल ओठोंवाले, चढी हुई टेढी भ्रुकुटियोंसे युक्त,  
भालेसे कटी हुई गर्दनवाले, ( अत एव ) भीतरमें ही हुङ्कार करनेवाले, शत्रुओं के मस्तकोंसे  
पृथ्वीको ढंक दिया ॥ ५८ ॥

सर्वैर्वलाङ्गैर्द्विरदप्रधानैः सर्वायुधैः कङ्कटभेदिभिश्च ।

सर्वप्रयत्नेन च भूमिपालास्तस्मिन्प्रजहुर्युधि सर्व एव ॥ ५९ ॥

सर्वैरिति । द्विरदप्रधानैर्गजमुख्यैः सर्वैर्वलाङ्गैः सेनाङ्गैः । 'हस्त्यश्वरथपादात्तं  
सेनाङ्गं द्याच्चतुष्टयम्' इत्यमरः । कङ्कटभेदिभिः कवचभेदिभिः । 'उरच्छ्रद्ध' कङ्कटको  
जगरः कवचोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः । सर्वायुधैश्च । बाह्यवलमुक्त्वाऽऽन्तरमाह—सर्वप्रयत्नेन  
च सर्व एव भूमिपाला युधि तस्मिन्नजे प्रचहुः, तं प्रजहुरित्यर्थः । सर्वत्र सर्वकारक  
शक्तिसम्भवात्कर्मणोऽप्यधिकरणविवक्षायां सप्तमी । तदुक्तम्—'अनेकशक्तियुक्तस्य  
विश्वस्यानेककर्मणः । सर्वदा सर्वथाभावात्कचिच्छिद्विषयते' ॥ इति ॥ ५९ ॥

हाथी हैं मुख्य जिसमें ऐसे सम्पूर्ण सेनाङ्गोंसे ( गजदल, रथदल, अश्वदल तथा पैदलरूप  
चतुरङ्गिणी सेनाओंसे ), कवचको विदीर्ण करनेवाले सम्पूर्ण शस्त्रोंसे और समस्त उपायोंसे  
सब राजालोग युद्धमें अजपर ही प्रहार करने लगे ॥ ५९ ॥

सोऽस्त्रव्रजैश्छन्नरथैः परेषां ध्वजाग्रमात्रेण बभूव लक्ष्यः ।

नीहारमग्नो दिनपूर्वभागः किञ्चित्प्रकाशेन विधस्वतेव ॥ ६० ॥

स इति । परेषा द्विषामस्त्रव्रजैः शस्त्रसमुदायैश्छन्नरथ सोऽज । नीहारैर्हिमैः  
मग्नो दिनपूर्वभागः प्रातः कालः किञ्चित्प्रकाशेनैव लक्ष्येण विधस्वतेव आच्छादितरथः  
ध्वजाग्रमात्रेण लक्ष्यो बभूव । ध्वजाग्रादन्यत्र किञ्चित्लक्ष्यते स्मेत्यर्थः ॥ ६० ॥

शत्रुओंके शस्त्रसमूहसे ढँके हुए रथवाले वे अज केवल ध्वजाके अग्र भागसे उस  
प्रकार दिखलाई पड़ते थे, जिस प्रकार हिमसे आच्छादित, दिनका प्रथम भाग कुछ २  
प्रकाशमान सूर्यसे लक्षित होता है ॥ ६० ॥

प्रियंवदात्मात्मसौ कुमारः प्रायुक्तः रामस्वभिरात्मसूनुः ।

गान्धर्वमन्त्रं कुसुमाक्षकाम्नां प्रस्थापनं स्यजनिवृत्तहोत्रम् ॥ ६१ ॥

प्रियंवदादिति । जगिराजसूनुर्महाराजपुत्रः कुसुमाक्षकाम्नां महानुम्बराः स्वप्न  
विवृत्तहोत्राः स्यजनिवृत्तः, जगिराज इत्यर्थः । जसौ कुमारोऽयः । प्रियंवदात्मा  
काश्च गन्धर्वोऽयं गान्धर्वः गान्धर्ववैजयन्तम् । 'सास्व वैजयन्ता' इत्यप् । प्रस्थापयतीति  
प्रस्थापनं विद्याजयकमन्त्रं रामसु प्रायुक्तः प्रयुक्तवान् ॥ ६१ ॥

महाराजकुमारः महामन्त्रे उपानं सुन्दरं तथा जगिराजः कुमारः जगन्त्रे प्रियंवदः ( गान्धर्वः )  
सिं प्रातः ( ५५५५ ), गान्धर्वः वैजयन्ताके पर्यं नीतिः कामिनाके जगन्त्रो रत्नाजोत्त  
मकावा ॥ ६१ ॥

ततो घनुष्कर्षणमूढहस्तमेकसपर्यस्तशिरस्कृत्वाक्षम् ।

तस्मै चक्रस्तन्मनिपश्यदेहं निग्राभिषेयं नरदेवसैम्यम् ॥ ६२ ॥

तत इति । ततो घनुष्कर्षणे चपकर्षणे मूढहस्तमध्यापुतहस्तम् । एकस्मिन्ने  
पर्यस्तं प्रस्तं शिरस्कृत्वा धीर्पन्थायां काळं समूहो यस्य तत् । चक्रस्तन्मेघे निपश्य  
जगद्गन्धा वैद्या यस्य तत् नरदेवाणां राज्ञां सेनैव सेम्यम् । चातुर्वर्ण्यद्विपद्यस्तर्षे  
चक्रस्तन्वा । निग्राभिषेयं विद्यापरतन्त्रं तस्मै ॥ ६२ ॥

यदनन्तरं वसुधके धीचनेर्मे वैद्यारहितं दाववाका एक कल्पेन वदे हृद शिरस्काल-समूह  
( दोषो ) वाका नीर चक्रस्तोके सहारे रिक्त शरीरोत्तराका वद दाव-सेनैव निग्राके जगन्त्र  
हो गवा जगन्त्रो तो गवा ॥ ६२ ॥

ततः प्रियोपाचरसेऽधरोष्ठं निवेशय दम्पती जलजं कुमारः ।

तेन स्यहस्ताजितमेकवीरं पिबन् यतो मूर्तमिषावमासे ॥ ६३ ॥

तत इति । ततो कुमारोऽयः प्रियोपाचरसेऽधरोष्ठं निवेशय दम्पती । जति-  
रकाप्य इति भावः । जगन्त्रोके जगन्त्रं चातुं निवेशय । 'जगन्त्रं चातुपचरतो' इति शिष्टः ।  
दम्पती मुच्यमास्तेन वृत्तमागतः । तेनोद्विषिद्वेष्टेन दाव-सेनैकवीरः स स्यहस्ताजितं वृत्तं  
मूर्तमिषावमासे । जगन्त्रः वृत्तमागदिति भावः ॥ ६३ ॥

राष्ट्रके बाद कुमारः जगन्त्रे पिबा दम्पतीके नीचे नीचे रत्नाके निषेके नीरपर वृत्तो  
रत्नपर वजावत्, वसते सुखं नीर ( वा निमा सहायके नीर ) वे जगन्त्रे वजावत्  
वजावत् वृत्तपरी वजावत् वजावत् वजावत् वजावत् वजावत् वजावत् ॥ ६३ ॥

राष्ट्रस्वनामिषयथा निवृत्तास्तं सप्तमार्थं ददृष्टुः स्ययोधाः ।

मिमीक्षितानामिषं पशुजानां मध्ये स्फुरन्तं प्रतिमाशराष्ट्रम् ॥ ६४ ॥

अष्टुस्वनेति । अष्टुस्वनेत्याजगद्गन्त्रेणमिषयथा अष्टुमिषयतत्वाविषयः प्राप्ति-

लाय्य सम्प्रति प्रत्यागता स्वयोधा. सप्तशत्रुं निद्राणशत्रु तमजम् । निमीलितानां  
मुकुलितानां पङ्कजानां मध्ये स्फुरन्त प्रतिमा चासौ शशाङ्कश्च तं प्रतिमाशशाङ्क प्रति-  
विम्बचन्द्रमिव ददृशु ॥ ६४ ॥

( अजकी ) शङ्खध्वनिको पहचाननेसे वापस लौटे हुए अपने ( अजपक्षवाले ) योद्धाओंने  
शत्रुओंको पराजित किये हुए अजको, मुकुलित ( वन्दमुखवाले, अत एव शोभाहीन )  
कमलोंके बीचमें प्रकाशित होते हुए प्रतिविम्बित चन्द्रमाके समान देखा ॥ ६४ ॥

सशोणितैस्तेन शिलीमुखाग्रैर्निक्षेपिताः केतुपु पार्थिवानाम् ।

यशो हृत सम्प्रति राघवेण न जीवितं वः कृपयेति वर्णाः ॥ ६५ ॥

सशोणितैरिति । सम्प्रति राघवेण रघुपुत्रेण । पूर्व रघुणेति भावः । हे राजान !  
वो युष्माक यशो हृतम्, जीवित तु कृपया न हृतम् । न स्वशक्त्येति भावः । इत्येवं-  
रूपा वर्णा, एतदर्थप्रतिपादकं वाक्यमित्यर्थः । सशोणितैः शोणितदिग्धैः शिलीमुखा  
ग्रैर्बाणाग्रैः साधनैस्तेनाजेन प्रयोजककर्त्रा पार्थिवानां राज्ञां केतुपु ध्वजस्तम्भेषु नि-  
क्षेपिताः प्रयोजयैरन्यैर्निवेशिताः, लेखिता इत्यर्थः । क्षिपतेर्ण्यन्तात्कर्मणि क्तः ॥ ६५ ॥

'इस समय रघुपुत्र अजने तुमलोगोंके यशको ले लिया तथा कृपाकर प्राणोंको नहीं  
लिया' इन अक्षरोंको अजने राजाओंकी पताकाओंपर वाणोंके रक्तलिप्त अग्रभागों ( नोकों )  
से लिखवा दिया ॥ ६५ ॥

स चापकोटीनिहितैकबाहुः शिरस्त्रनिष्कर्षणभिन्नमौलिः ।

ललाटबद्धश्रमवारिबिन्दुभीतां प्रियामेत्य वचो बभाषे ॥ ६६ ॥

स इति । चापकोट्यां निहित एकबाहुर्न स । शिरस्त्रस्य निष्कर्षणेनापनयनेन  
भिन्नमौलिः शल्यकेशबन्धः । 'चूडा किरीट केशाश्च सयता मौल्यस्त्रय' इत्यमरः ।  
ललाटे बद्धा श्रमवारिबिन्दवो यस्य सः । सोऽजो भीता प्रियामिन्दुमतीमेत्यासाद्य  
वचो बभाषे ॥ ६६ ॥

धनुषके किनारेपर एक हाथको रखे हुए, शीर्षण्य ( युद्धकालमें सिरकी रक्षाके लिये पहने  
जानेवाला टोप ) के नहीं रहनेसे शिथिल ( बिखरे ) केशवाले और ललाटपर पसीनेकी बूंदोंसे  
युक्त वे अज मयभीत प्रिया ( इन्दुमती ) के पास जाकर बोले ॥ ६६ ॥

किमित्याह—

इतः परानर्भकहार्यशास्त्रान्वैदर्भि ! पश्यानुमता मयाऽसि ।

एवंविधेनाहवचेष्टितेन त्व प्रार्थ्यसे हस्तगता ममैभिः ॥ ६७ ॥

इत इति । हे वैदर्भि इन्दुमति ! इत इदानीमर्भकहार्यशास्त्रान्बालकापहार्यायु-  
धान्पराव्शत्रून्पश्य । मयाऽनुमताऽसि द्रष्टुमिति शेषः । एभिर्नृपैरेवविधेन निद्रारूपेणा-

प्रियंवदात्मात्मसौ कुमारः प्रायुक्तः रामस्वधिराजसुतः ।

गान्धर्वमहाकुमुमाक्षकान्तः प्रस्थापनं स्वप्ननिवृत्तौस्थः ॥ ६१ ॥

प्रियंवदादिति । अधिराजसुतुर्महाराजपुत्रः कुमुमाक्षकान्तो महत्सुम्हरः स्वप्न-  
निवृत्तकौस्थः स्वप्ननिवृत्तः, जागरण इत्यर्थः । असी कुमारोऽयः । प्रियंवदात्पूर्व-  
पञ्च गान्धर्व्याप्तं गान्धर्वं गान्धर्वदेवताकम् । 'सास्य देवता' इत्यप् । प्रस्थापयतीति ।  
प्रस्थापने निद्राजवकमर्धं राजसु प्रायुक्तः प्रयुक्तमात्रम् ॥ ६१ ॥

महाराजकुमारः यवके स्यात्तुम्हरः तथा जागरण कुमारः अयमे प्रियंवदः (यत्न-  
गान्धर्व) सः प्राज्ञः ( ५/५९ ) गान्धर्व देवतावाके एवं नीदः कवेरुके अकरो रत्नार्जोत्त-  
रकमया ॥ ६१ ॥

ततो धनुर्धर्यजमूढहस्तमेकांसपर्यस्तशिरःकक्षाक्षम् ।

तस्मै श्वसस्तम्भनिषरणवेहं निद्राविषेयं नरदेवसैन्यम् ॥ ६२ ॥

तत इति । ततो धनुर्धर्यजे धनुर्धर्यजे मूढहस्तमम्बापुटहस्तम् । एकस्मिन्धरे  
पर्यस्तं अस्तं शिरसात्मा क्षीर्णभ्यामां बाधं समुद्धो बन्धु उत् । श्वसस्तम्भेन निषण्ण-  
अवस्थया देहा यस्य तत् नरवीर्यानां राज्ञां सेनैव सैन्यम् । धनुर्धर्यजित्वात्सर्व-  
श्वसस्तम्भः । निद्राविषेयं निद्रापरतन्त्रं तस्मै ॥ ६२ ॥

ज्वलन्तरः धनुर्वके क्षीरधरेन कैदारहित शारदाया, एक कन्दैपर फले दुर शिरसात्त-सुहृ-  
( दोरी ) बाध नीर अन्तर्लोके सहाये स्थित सुतोरोनाका बह रत्न-सैन्य निद्राके अर्ध-  
हो नवा कर्माणि हो गया ॥ ६२ ॥

ततः प्रियोपात्तरसेऽद्यरोष्ठे निवेश्य दध्मी अक्षकः कुमारः ।

तेन स्वहस्ताजितमेकवीरः पिबन् मरुतो मूर्तमिवावमासे ॥ ६३ ॥

तत इति । ततः कुमारोऽयः प्रियोपात्तरसे अस्वाहितमायुर्वे । अस्ति-  
रक्षाश्च इति भावः । अद्यरोष्ठे अक्षकं दध्मी निवेश्य । 'अक्षकं कक्षपत्रयोः इति विक्र ।  
दध्मी मुखमाकृतेन पूरयामास । तेनोडभिदिष्टेन अक्षकेनेकवीरः स स्वहस्ताजितं मूर्तं  
मूर्तिमयया पिबन्निवावमासे । अक्षकां दध्मिनादिति भावः ॥ ६३ ॥

इतके वाक् कुमारः अयमे शिवा इन्दुमतीति नीचे नीचे रसवाके निषके नीधरः अक्ष-  
रक्षकः बजायः अतः मुख नीर ( वा निद्रा सहायके नीर ) के अक्ष अयने धनुर्वके  
क्याजित मूर्तिवती अक्षको बान करके समान शोभमान दुर ॥ ६३ ॥

राक्षसवामिष्ठवया निवृत्तास्तं सप्तराजं ददध्मः स्वधोधा ।

निमीलितानामिष पङ्क्त्यामां मध्ये स्फुरन्तं प्रतिमास्त्याक्षम् ॥ ६४ ॥

राक्षसवैति । सप्तस्ववयाजकाङ्क्षवेरमिष्ठवया प्रत्यभिज्ञातव्यानिवृत्तः प्रत्य-

मदोपा तामिन्दुमतीमुदवहदुपानयत्, आत्मसाच्चकारेयर्थः । अयमर्थ 'तमुदहन्त पथि भोजकन्याम्' इत्यत्र न श्लिष्टः । तस्याजस्य रयतुर्गाणां रजोभी रूक्षाणि पर-  
पाण्यलकाग्राणि यस्याः सा, सेन्दुमत्येव मूर्ता मूर्तिमती समरविजलधमीर्बभूव । एत-  
रुत्तामादन्यः को विजयलधमीलाभ इत्यर्थः ॥ ७० ॥

अनिन्दित वे अज इस प्रकार ( शत्रुभूत ) राजाओंके मस्तकपर धाँधे पैरको रखकर  
अनिन्दनीय उस इन्दुमतीको लेकर चले । रथों तथा घोड़ोंकी धूलिसे रूखे केशाग्रवाली वह  
इन्दुमती ही मूर्तिमती विजयलधमी हुई ॥ ७० ॥

प्रथमपरिगतार्थस्त रघु सन्निवृत्त विजयिनमभिनन्द्य श्लाघ्यजायासमेतम् ।  
तदुपहितकुटुम्बः शान्तिमार्गोत्सुकोऽभून्न हि सति कुलधुर्ये सूर्यवंश्या गृहाय ॥

प्रथमेति । प्रथममजागमनाप्रागेव परिगतो ज्ञातोऽर्थो विवाहविजयरूपो येन सः  
प्रथमपरिगतार्थो रघुर्विजयिन विजययुक्त श्लाघ्यजायासमेतं सन्निवृत्त प्रत्यागत तम-  
जमभिनन्द्य तस्मिन्नजे उपहितकुटुम्ब सन् । 'सुतविन्यस्तपत्नीक' इति याज्ञव-  
ल्क्यस्मरणादिति भावः । शान्तिमार्गो मोक्षमार्गो उत्सुकोऽभूत् । तथा हि—कुलधुर्ये  
कुलधुरन्धरे सति सूर्यवंश्याः गृहाय गृहस्थाश्रमाय न हि भवन्ति ॥ ७१ ॥

इति श्रीमहामहोपाध्यायकोलाचलमहर्षिनाथसूरिविरचितया सक्षीविनीसमाख्यया  
व्याख्यया समेतो महाकविश्रीकालीदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये  
अजपाणिग्रहणो नाम सप्तमः सर्गः ॥ ७ ॥



( अजके पहुचनेके ) पहले ही समाचारको मालूम किये हुए रघु लौटे हुए, विजयी तथा  
प्रशसनीय स्त्रीसे युक्त उस अजका अभिनन्दनकर उनपर कुटुम्ब ( अपनी स्त्री ) का भार  
समर्पितकर शान्ति-मार्ग अर्थात् मुक्तिके लिये उत्सुक हुए, क्योंकि—सूर्यवंशी राजा अपनी  
सन्तानके राज्यभार सम्हालनेके योग्य होनेपर गृहस्थाश्रममें नहीं रहते ॥ ७१ ॥

यह 'मणिप्रभा' टीकामें 'रघुवंश' महाकाव्यका 'अजपाणिग्रहण'

नामक सप्तमः सर्गः समाप्त हुआ ॥ ७ ॥





इवचेद्विषेव रण्यकर्मजा मम हस्तगता हस्तगतस्तुप्रहृष्टार्थः । त्वं प्राप्स्यसे अपविर्जि-  
र्ष्यस इत्यर्थः । पूर्वविषेनेत्यत्र स्वहस्तविर्ज्यसोपहासमुवाचेति दृश्यम् ॥ १० ॥

‘वेदिस्मरानकुमारि । वन्द्येते क्षीमने योग्य नकोनाके वन्दुमोक्षी ईको मे शर्दे ईकदेदे  
क्षिमे पुमको अनुमति देता है । वस प्रकारकी ही मुझकी वन वेदासे मेरे हाथमें आयी हुई  
पुमको वे जोय (हरण करना) चाहते हैं’ ॥ १० ॥

सस्यः प्रविष्टमिष्टमयादिपावात्सद्यो विमुक्तं मुखमावभासे ।

निश्वासबाष्पापगमात्प्रपन्नं प्रसादमात्मीयमिवस्मदृशं ॥ ११ ॥

तस्या इति इमति इमिष्टमयादिपावात्सद्यो विमुक्तं तस्या मुखं वि-  
सस्य यो बाष्प कम्पा । बाष्पो वेदजकोष्मलो’ इति विद्य । तस्यापममतेजो  
सदीप्यं प्रसादं नैर्मल्यं प्रपन्नं प्राप्तः । आत्मा स्वकर्म दृश्यतेऽनेनेत्यात्मवत्ता दर्पण ।  
आवभासे ॥ ११ ॥

वेदिर्कोसे उत्पन्न विवस्वते उत्पन्नं कृत्यं इत्या वस वन्दुमतीका मुख, वात्सल्यके दूर होने  
अपनी (स्वामिनि) निर्मलताको प्राप्त दर्पणके समान अत्यन्त क्षीमने कम्पा ॥ ११ ॥

इष्टापि सा ह्रीविचिता न साक्षाद्वाग्मिः सखीनां प्रियमभ्यनन्दत् ।

स्मरन्ती नवान्मनूपपतामिषुष्टा मयूरकेभ्यमिरिवाभवृन्दम् ॥ १२ ॥

इष्टापि । सेन्दुमती इष्टापि पशु पीड्येव प्रमुक्तिपि द्विपा विचिता परं  
इष्टा प्रियमन्नं साक्षात्स्वर्गं वाग्यमन्वृत्तं प्रपन्नं स किन्तु वयैरन्मनूपपत्तौ पयोक्षि-  
मिरमिषुष्टाऽमिषिष्ठ स्वकपक्षिमा भूमि । ‘ज्ञानपक्षुष्टगोवस्वक— इष्टार्थ  
वाग्मिभिमार्थ कीप् । अन्नहृत्वं मेघसत्त्वं मयूरकेभ्यमिरिच । सखीनां वाग्मिरम  
मन्वृत् ॥ १२ ॥

(वतिके पराक्रमसे) प्रपन्न भी कम्पासे परामृत वस वन्दुमतीने वित्त प्रकार वने वर  
मूर्तसे छोटी नहीं लक्ष्यी (विना लुपती ॥ भूमि) मेघ—समूहका अतिमन्दम एवं ल  
करती है किन्तु मयूरकी कैय (मयूरकी पीकीका नाम) ॥ करती है वती प्रकार लम्बा  
(एवं ही) अपने वचनों से वतिकका अतिमन्दम नहीं किया, किन्तु लक्ष्मीके वचनों  
अतिमन्दम किया ॥ १२ ॥

इति शिरसि स धामं पादमाधाय राधासुहृदहृद्वनवर्था तामवधादपेत ।  
रघुरगरजोमिस्तस्य लम्बाकक्षमा समरविजयसङ्गमीः सौम मूर्ता बभूवाम् ॥

इतीति । मोघते मोघ्यत दृश्यवत् शब्दः । ‘अवधपञ्चवर्षागर्पपमितम्बादिरे  
वेदु’ इत्यनेन विपत्ता । ‘इष्टपक्षुष्टितावधयैर्यथाकम्पा सम्रा’ इत्यमरः । तस्मात्  
पेठो रहितः, निर्दोष इत्यर्थः । सोऽयं इति राधा शिरसि धामं पादमाधायवधवत्

वत्ता पूर्वंपामपकर्ष । प्रशसापरत्वात् 'सर्वत्र जयमन्विच्छेत्पुत्रादिच्छेत्पराजयम्' इत्य-  
ङ्गीकृतत्वाच्च ॥ ३ ॥

पृथ्वीने वसिष्ठ ऋषिके द्वारा (मन्त्रपूर्वक) छोड़े गये जलोंसे उस अजके साथ अभिषिक्त  
होकर निर्मल उच्छ्वास ( या आनन्दोच्छ्वास ) से ( गुणवान् पतिको प्राप्त करनेसे ) कृना-  
र्थताको प्रकट किया ॥ ३ ॥

स बभूव दुरासदः परैर्गुरुणाऽथर्वविदा कृतक्रियः ।

पवनाग्निसमागमो ह्ययं सहितं ब्रह्म यदस्त्रतेजसा ॥ ४ ॥

स इति । अथर्वविदाऽथर्ववेदाभिज्ञेन गुरुणा वसिष्ठेन कृतक्रियः, अथर्वोक्तविधिना  
कृताभिषेकसस्कार इत्यर्थः । सोऽजः परैः शत्रुभिर्दुरासदो दुर्धर्षो बभूव । तथा हि ।  
अस्त्रतेजसा चत्रतेजसा सहितं युक्तं यद् ब्रह्म ब्रह्मतेजोऽयं पवनाग्निसमागमो हि,  
तत्कल्प इत्यर्थः । पवनाग्नीथ्यत्र पूर्वनिपातशास्त्रस्यानित्यत्वात् 'द्वन्द्वे चि' इति नाग्नि-  
शब्दस्य पूर्वनिपातः । तथा च काशिकायाम्—'अयमेकस्तु लक्षणहेत्वोरिति निर्देशः  
पूर्वनिपातव्यभिचारचिह्नम्' इति । चात्रेणैवायं दुर्धर्षः किमयं पुनर्वसिष्ठमन्त्रप्रभावे  
सतीत्यर्थः । अत्र मनुः—'नास्त्रं ब्रह्म भवति स्त्रं नाब्रह्म वर्धते । ब्रह्मस्त्रे तु सयुक्ते  
इहामुत्र च वर्धते' ॥ इति ॥ ४ ॥

अथर्ववेदके ज्ञाता गुरु ( वसिष्ठजी ) से अभिषिक्त वे अज शत्रुओंके दुर्धर्ष ( अजेय )  
हुए, क्योंकि क्षत्रियतेजसे युक्त जो ब्रह्मतेज है, वह वायु तथा अग्निका समागम है अर्थात्  
जिस प्रकार वायुका संयोग होनेपर अग्नि असंख्य हो जाती है, उसी प्रकार वसिष्ठ ऋषिके  
ब्रह्मतेजसे युक्त अजका क्षत्रियतेज शत्रुओंको असंख्य हो गया ॥ ४ ॥

रघुमेव निवृत्तयौवनं तममन्यन्त नवेश्वरं प्रजाः ।

स हि तस्य न केवला श्रियं प्रतिपेदे सकलान्गुणानपि ॥ ५ ॥

रघुमिति । प्रजा नवेश्वरं तमजं निवृत्तयौवनं प्रत्यावृत्तयौवनं रघुमेवामन्यन्त । न  
किञ्चिद्मेदकमस्तीत्यर्थः । कुतः । हि यस्मात्सोऽजस्तस्य रघो केवलामेका श्रियं न  
प्रतिपेदे, किन्तु सकलान्गुणान्छौर्यदाक्षिण्यादीनपि प्रतिपेदे, अतस्तद्गुणयोगात्तद्वृ-  
द्धिर्युक्तैत्यर्थः ॥ ५ ॥

प्रजाओंने उस नये राजाको लौटी हुई जवानीवाला रघु ही माना, क्योंकि उस (अज)  
ने उस ( रघु ) के केवल राजलक्ष्मीको ही नहीं प्राप्त किया, ( किन्तु रघुके ) सब गुणोंको  
भी प्राप्त किया ॥ ५ ॥

अधिकं शुशुभे शुभयुना द्वितयेन द्वयमेव सङ्गतम् ।

पदमृद्धमजेन पैतृकं विनयेनास्य नवं च यौवनम् ॥ ६ ॥

## अष्टमः सर्गः ।

हेरम्बमवधम्येऽर्धं वस्मिन् पाताक्येऽपि ।

वन्देनोदस्वति क्षोणीं विधाम्बमि पञ्चोदरा ॥

अथ तस्य विवाहकौतुकं लक्षितं विभ्रत एव पार्श्विष ।

वसुधामपि हस्तगामिनीमकरोद्दिन्मुमतीमिषापरम् ॥ १ ॥

अथेति । अथ पर्ययो रङ्गलक्षितं सुमयं विवाहकौतुकं विवाहमंगलं विवाहद्वयं  
सूच्यं वा विभ्रत एव । 'कौतुकं मङ्गले इयं हस्तसूत्रे कुर्यादकौ' इति आख्या । तस्यानन्तरं ।  
अपरासिन्मुमतीमिव वसुधामपि हस्तगामिनीमकरोत् । एतन्मै तमम्बपिहिल्लर्क ।  
वस्मिन् सर्गे वैताम्यीर्धं कुर्यात् ॥ १ ॥

भाग्येय-क्षेत्र्ये चो भूको रंष्ट्रापर के केत ।

सुताते क्षेत्राय तत्र मै वस पञ्चमत् को मित सेता ॥

इसके बाद राजा राजे मनोहर विवाह मङ्गली बारण करते ही वत जनके राजीव  
हसते हनुमतीके समान कृष्णीकी भी लीप दिवा ॥ १ ॥

दुरितैरपि कर्तुमात्मसात्प्रयत्नस्ते नृपसूतयो हि भवत् ।

तदुपस्थितमग्रहीवत् पितुराज्ञेति न भोगवृत्तया ॥ २ ॥

दुरितैरिति । नृपसूतयो राजपुत्रा यज्जन्तं दुरितैरपि विच्छन्नोपादिविनिहोपायै-  
रप्यात्मसात्त्वाधीनम् । 'तदग्रहीवत्तमे' इति सातिप्रत्ययः । कर्तुं प्रयत्नते हि, प्रयत्नं  
पूर्वैर्त्यर्थः । तथा हि—'राजपुत्रा मधोर्हृत्वा यथा ह्य व निरङ्कुशाः । अतएव पितरं वारि  
विभ्रम्येवामिमाविवा ॥ द्विजम्बोध्यचारमे । 'हि द्विजावधारमे' इत्यमरः । उप  
स्थितं स्वता मातं यज्जन्तमग्र । पितुराज्ञेति द्विजमग्रहीवत्तमे भोगवृत्तया तु  
वाग्महीत् ॥ २ ॥

राजकुमारभोग मित राजकी (मिष देने वारि) उप कर्तोंके द्वारा भी स्वीयन करपेके  
किने प्रयत्न करते हैं । मातृ ह्य भी वत राजकी जनके 'पिताको वारि है' इत करणते  
लीकार दिवा यौग्यी वृत्ताते पही (लीकार दिवा) ॥ २ ॥

अनुभूय वसिष्ठसम्पृते सक्षिप्तैस्तेन सहामिषेचनम् ।

चिरादोष्णसितेन मेदिनी कथयमास कृतावतामिव ॥ ३ ॥

अनुभूयेति । मेदिनी मूयि । मक्षिणी च पञ्चमते । वसिष्ठेन सम्पृतेः सक्षिप्तैस्ते-  
नात्रेव सहामिषेचनमनुभूय वसिष्ठोष्णसितेन शुद्धसुहृद्द्वयेन आनन्दनिर्मलेष्णसि-  
तेन वेति प्रत्ययः । कृतावतां गुणवत्तर्क्यापहृतं शास्त्रं कथयामासेव । न वेता-

न खरो न च भूयसा मृदुः पवमान पृथिवीरुहानिव ।

स पुरस्कृतमध्यमक्रमो नमयामास नृपाननुद्धरन् ॥ ६ ॥

नेति । स नृपो भूयसा बाहुव्येन खरस्तीक्ष्णो न । भूयसा मृदुरतिमृदुरपि न । किन्तु पुरस्कृतमध्यमक्रमं सन्, मध्यमपरिपाटीमवलम्ब्येत्यर्थः । पवमानो वायुः पृथिवीरुहास्तरुनिव । नृपाननुद्धरन्नुत्पादयन्नेव नमयामास । अत्र कामन्दक— 'मृदुश्चेदवमन्येत तीक्ष्णादुद्धिजते जनः । तीक्ष्णश्चैव मृदुश्चैव प्रजानां स च सम्मतः' ॥ इति ॥ ९ ॥

न बहुत तेज तथा न बहुत मन्द—किन्तु मध्यम गतिसे बढ़ती हुई वायु जिस प्रकार वृक्षोंको नहीं उखाडती हुई उन्हें झुका देती है, उसी प्रकार न बहुत कठोर तथा न बहुत सरल—किन्तु मध्यम शासनको करनेवाले अजने राजाओंको नष्ट (राज्यभ्रष्ट) नहीं करते हुए उन्हें झुका दिया अर्थात् अपने वशमें कर लिया ॥ ९ ॥

अथ वीक्ष्य रघुः प्रतिष्ठितं प्रकृतिष्वात्मजमात्मवत्तया ।

विषयेषु विनाशधर्मसु त्रिदिवस्थेष्वपि निःस्पृहोऽभवत् ॥ १० ॥

अथेति । अथ रघुरात्मज पुत्रमात्मवत्तया, निर्विकारमनस्कतयेत्यर्थः । 'उदया-दिप्नविकृतिर्मनसः सर्वमुच्यते । आत्मवान् सत्त्ववानुक्तः' इत्युत्पलमालायाम् । प्रकृतिष्वात्म्यादिषु प्रतिष्ठितं रूढमूलं वीक्ष्य ज्ञात्वा विनाशो धर्मो येषां तेषु विनाश-धर्मसु, अनित्येष्वित्यर्थः । 'धर्मादनिच्छेवलात्' इत्यनिष्प्रत्ययः समासान्तः । त्रिदि-वस्थेषु स्वर्गस्येष्वपि विषयेषु शब्दादिषु निःस्पृहो निर्गतेच्छोऽभवत् ॥ १० ॥

इसके बाद रघु पुत्र (अज) को विकारहीन भावसे मन्त्री आदि प्रकृतियोंमें स्थिर (जमे हुए प्रभाववाला) देखकर विनाश स्वर्गीय विषयोंमें भी निष्पृह हो गये ॥ १० ॥

कुलधर्मश्चायमेवेत्याह—

गुणवत्सुतरोपितश्रियः परिणामे हि दिलीपवंशजाः ।

पदवीं तरुवल्कवाससां प्रयता संयमिनां प्रपेदिरे ॥ ११ ॥

गुणवदिति । दिलीपवंशजाः परिणामे वार्धके गुणवत्सुतेषु रोपितश्रियः स्थापित-लक्ष्मीका प्रयताश्च सन्तः । तरुवल्कान्येव वासांसि येषां तेषां संयमिनां यतीनां पदवीं प्रपेदिरे यस्मात्तस्मादस्यापीदमुचितमित्यर्थः ॥ ११ ॥

क्योंकि दिलीप-वंशोत्पन्न राजालोगोंने वृद्धावस्थामें गुणवान् पुत्रोंको राज्यभार सौंपकर वृक्षोंके वल्कल (छाल) पहननेवाले मुनियोंके मार्गको ग्रहण किया है (अतः रघुका विषय-निःस्पृह होना उचित ही था) ॥ ११ ॥

अचिकमिति । इयमेव ह्यर्धमुना शुभकता । 'ह्यर्धमुस्तु शुभाम्भितः' इत्यमरः । 'अर्धशुभयोर्धुम्' इति युष्मत्प्रत्ययः । श्रितयेव सङ्गतं पुनः सहचिकं तुष्टमे । किं केनेत्याह—पश्यमिति । पैतृकं पितुरागतम् । 'अतस्तुम्' इति कृत्यत्वम् । अर्धं सम्पदं पश्यं सम्पदमेव । अस्यास्य अर्धं धीवर्धं विनयेनेन्द्रियवज्जयेन च । 'विजयो हीमिन्द्रियवज्जयस्तद्युक्तं आत्मासर्वसि' इति कामन्दकः । सम्पदोऽपि प्राकृतवज्जयः क्षोभः सृष्टित्वर्थः ॥ ९ ॥

शुभमुक्तं होतुं (अथ तथा विजय) से सङ्गतं होतुं (पैतृकवज्जय तथा अर्धो युवास्ता) ही अचिक धीवर्ध इव—अवसे सृष्टिविधायी पितृकमागत सम्पद और विजयसे इस अवसे नवी युवावरता ॥ ९ ॥

सर्वं धुमुने महामुखं सहस्रोद्देगमिषं प्रजेदिति ।

अचिरोपनतां स मेदिनी मन्त्रपाणिप्रख्यां वधूमिव ॥ १० ॥

सर्वमिति । महामुखः सोऽग्रेऽचिरोपनतां वधोपनतां मेदिनीं मुखं नर्बपाणिप्रख्यं विवाहो अस्यास्तां वधोर्वा वधूमिव । वधं च एतद्वदस्ये—'सौम्वैराक्षिणैर्वा-वधैस्तुम्बवैवापि सात्वयेत्' । सहसा वधकालेन येत् । 'सद्ये वधे सदा मर्त्ये' इत्यमरः । इयं मेदिनी वधोर्वा नर्बं प्रजेदिति हेतोः । सर्वं सङ्घं धुमुने मुक्तवत् । 'मुक्तोऽग्नकले' इत्यमरन्नेपबुद्ध ॥ १० ॥

महामुखं अग्ने वोदे दिनीसे प्राप्तं वधुर्वाकी मन्त्रविवाहित वधूके तनान 'वधु' (और घातन वा दवावसे मोग करनेपर) वध (वधुी तथा वधवत्) अग्निन ही वाधुी' स्त स्वरन वधापूर्वक (बीरे २) मोग किया ॥ १० ॥

अहमेव मतो महीपतेरिति सर्वं प्रकृतिष्वचिन्तयत् ।

उद्देरिव निभगाग्रातेष्वभयक्षास्य विमानना कश्चित् ॥ ११ ॥

अहमिति । प्रकृतिषु प्रजासु मध्ये सर्वोऽपि जगः । अथवा प्रकृतिष्वित्यवस्थाद्वि-रपनेवात्मनः । अथवा तं सङ्घम् । सर्वोऽपि जगः प्रकृतिष्वहमेव महीपतेर्मतो महीपतिना सम्प्रमाणः । 'मतिहुद्रिद्रुप्रार्थेयव' इति कर्तमाने च । 'उत्स्य च कर्तुं मग्ने' इति वष्टी । इत्यचिन्तयत्प्रमथत् । उद्देरिर्निभगाग्रातेष्वभयत्स्य मृपस्य कर्तुः । 'कर्तुं कर्मजो कृति' इति कर्तरि वष्टी । कश्चित्पि अथविषये विमाननाऽवयवना तिर-स्कारो भाववत् । वष्टी च कश्चिद्व्यवस्थायतेऽग्रा सर्वोऽप्यहमेवात्मन मत् इत्यव्यवस्थेत्यर्थः ।

प्रकृतिषो (प्रजासो वा मन्त्री आदि लघोणत्व कर्मचरिणो) में 'मुक्ते ही रागा अचिक वावसे ॥ ऐसा करने समझा । लीक्यों गरिबोंमें समुद्रके लबाव वृत्त (अथ) के द्वारा भिक्षुका यो तिरस्कार नहीं हुआ ॥ ११ ॥

न खरो न च भूयसा मृदुः पवमान पृथिवीरुहानिव ।  
स पुरस्कृतमध्यमक्रमो नमयामास नृपाननुद्धरन् ॥ ६ ॥

नेति । स नृपो भूयसा बाहुव्येन खरस्तीक्ष्णो न । भूयसा मृदुरतिमृदुरपि न ।  
किन्तु पुरस्कृतमध्यमक्रमं सन्, मध्यमपरिपाटीमवलम्ब्येत्यर्थः । पवमानो वायुः  
पृथिवीरुहांस्तरुनिव । नृपाननुद्धरन्नुत्पाटयन्नेव नमयामास । अत्र कामन्दक—  
'मृदुश्चेदवमन्येत तीक्ष्णादुद्विजते जनः । तीक्ष्णश्चैव मृदुश्चैव प्रजानां स च सम्मतः' ॥  
इति ॥ ९ ॥

न बहुत तेज तथा न बहुत मन्द—किन्तु मध्यम गतिसे यहती हुई वायु जिस प्रकार  
वृक्षोंको नहीं उखाड़ती हुई उन्हें झुका देती है, उसी प्रकार न बहुत कठोर तथा न बहुत  
सरल—किन्तु मध्यम शासनको करनेवाले अजने राजाओंको नष्ट (राज्यभ्रष्ट) नहीं करते  
हुए उन्हें झुका दिया अर्थात् अपने वशमें कर लिया ॥ ९ ॥

अथ वीक्ष्य रघुः प्रतिष्ठितं प्रकृतिष्व्वात्मजमात्मवत्तया ।

विषयेषु विनाशधर्मसु त्रिदिवस्येष्वपि निःस्पृहोऽभवत् ॥ १० ॥

अथेति । अथ रघुरात्मज पुत्रमात्मवत्तया, निर्विकारमनस्कतयेत्यर्थः । 'उद्या-  
दिष्वविकृतिर्मनसः सत्त्वमुच्यते । आत्मवान् सत्त्ववानुक्तः' इत्युत्पलमालायाम् ।  
प्रकृतिष्व्वात्म्यादिषु प्रतिष्ठितं रूढमूल वीक्ष्य ज्ञात्वा विनाशो धर्मो येषां तेषु विनाश  
धर्मसु, अनित्येष्वित्यर्थः । 'धर्मादनिक्श्वलात्' इत्यनिष्प्रत्ययः समासान्तः । त्रिदि-  
वस्येषु स्वर्गस्येष्वपि विषयेषु शब्दादिषु निःस्पृहो निर्गतेच्छोऽभवत् ॥ १० ॥

इसके बाद रघु पुत्र (अज) को विकारहीन भावसे मन्त्री आदि प्रकृतियोंमें स्थिर (जमे  
हुए प्रभाववाला) देखकर विनश्वर स्वर्गीय विषयोंमें भी निःस्पृह हो गये ॥ १० ॥

कुलधर्मश्चायमेवेत्याह—

गुणवत्सुतरोपितश्रियः परिणामे हि दिलीपवंशजाः ।

पदवीं तरुवल्कवाससां प्रयता संयमिनां प्रपेदिरे ॥ ११ ॥

गुणवदिति । दिलीपवंशजा परिणामे चार्धके गुणवत्सुतेषु रोपितश्रियः स्थापित-  
लक्ष्मीका प्रयताश्च सन्तः । तरुवल्कान्येव वासांसि येषां तेषां संयमिनां यतीनां  
पदवीं प्रपेदिरे यस्मात्तस्मादस्यापीदमुचितमित्यर्थः ॥ ११ ॥

क्योंकि दिलीप-वंशोत्पन्न राजालोगोंने वृद्धावस्थामें गुणवान् पुत्रोंको राज्यभार सौंपकर  
वृक्षोंके वल्कल (छाल) पहननेवाले मुनियोंके मार्गको ग्रहण किया है (अतः रघुका विषय-  
निःस्पृह होना उचित ही था) ॥ ११ ॥

तमरस्यस्तमाधयोन्मुखं शिरसा येष्ठनशोभिना सुत ।

पितरं प्रणिपत्य पादयोरपरित्यागमप्यचतारमन ॥ १२ ॥

तमिति । अरस्यस्तमाधयोन्मुखं वदन्तस्तोक्तम् । अत्र मनुः—'गृहस्वस्त्यं वरा परपेक्षीपक्षितमात्मनः । सात्त्विको निरपत्यो वा तद्धारण्यं समाधयेत् ॥ पितरं तं रहं सुतोऽयः । वैष्णवोऽभिनोऽप्यभिनोऽहरेण शिरसा-पादयोः प्रणिपत्य । आत्मनोऽपरित्यागमप्यचत । मां परित्यज्य च दान्तव्यमिति प्रार्थितवानित्यर्थः ॥ १२ ॥

वक्त्रो धानेके किं वै तैवार विता रज्जुं पुत्र वज्रने पण्डी ( वा राजमुकुट ) ॥ डीपित मस्तकं दोनो चरनोये प्रणामकर 'कुले श्रीकृष्ण मय वासो' ऐतो प्रार्थना की ॥ १२ ॥

रघुवन्मुखस्य तस्य तत्कृतवानीप्सितमात्मनःप्रियः ।

न तु सर्प इव त्वच्च पुनः प्रतिपेदे व्यपवर्जितां भिषम् ॥ १३ ॥

रघुरिति । आत्मनःप्रियः पुत्रस्तस्यैव रघुः । अहम्भि मुने वस्व तस्याधुमुकुटत्वात् तस्य तदपरित्यागमप्यभिनोऽहरेण शिरसा-पादयोः प्रणिपत्य । किन्तु सर्पस्तच्चमित्रं व्यपवर्जितां त्वच्छां मित्रं पुनर्न प्रतिपेदे न प्राप ॥ १३ ॥

पुत्रस्तस्य रज्जुं वदन्तार् ॥ बाळोवाके वत वज्रके वयिकान्डी (पूँ) किना वज्राट वक्त्रो धानेक विचार कीक विना, किन्तु दोनो पदी कीकके (केपुत्र) की तरके समाव दोनो इरं रत्नकस्मीकी पुत्रः लीकार भही किना ॥ १३ ॥

स किंतामममन्त्यमाभितो निषसन्नाचसये पुरात् बहिः ।

समुपास्यत पुत्रमोम्बया स्नुषयेवाविहृतेमिह्य भिषा ॥ १४ ॥

स इति । स रज्जु किंतामममन्त्यमाभितो पुरात्ततस्तत् बहिरात्सये स्यादे विषसन्नविहृतेमिह्य, विहृतेमिह्यः सन्नित्यर्थः । अत एव स्नुषयेव वक्ष्येव पुत्रयो म्बया । न त्वमोम्बया । भिषा समुपास्यत ह्यभूषिताः । विहृतेमिह्यस्तत् तस्य स्नुषयेव भिषापि पुण्यकर्मोदकाहरणादिपुण्याभ्यतिरेकेण न किञ्चिदपेक्षितमासीदित्यर्थः । अत्र वक्ष्ये 'ब्राह्मणा प्रमदन्ति' इति श्रुतेः, 'भ्रातृमन्वसीन्ममतीप्य ब्राह्मणः प्रमदेद् गृहात् इति मनुस्मरणात् । 'मुक्तावागमर्षं बर्षो बह्विज्योर्किञ्चिद्वारयत् । वधु जातोऽजातानामर्षं बर्षो च विधत्ते । इति निषेधात् ब्राह्मणस्यैव प्रमदया च वक्षि-पादेतित्याहुः, तथापि 'पद्महरेण विरजेष्वहरेण प्रमदेत्' इत्यादिश्रुतेर्बर्षिकसा-घातव्यात् 'त्रयानां वर्षानां वैवमशीत्य क्तवारं ब्राह्मणाः' इति सूत्रप्रवरवचनात् 'ब्राह्मणं वक्षिषो वापि वैवमो वा प्रमदेद् गृहात्' इति स्मरणात्, 'मुक्तावागमर्षं बर्षो वैवमर्षं किञ्चिद्वारयत् । जातुजातोऽजातानां विहृष्टं च विधीयते ॥ इति निषेध-स्य विहृष्टविषयत्वदर्शनात् कुत्रचिद् ब्राह्मणपदत्वोक्तवचनामात्रात्तत्र केचित् वैव-

र्णिकाधिकारं प्रतिपेदिरे । तथा सति 'सं किलाश्रममन्त्यमाश्रितः' इत्यत्रापि कवि-  
नाप्ययमेव पक्षो विवक्षित इति प्रतीतम् । अन्यथा वानप्रस्थाश्रमतया व्याख्याते  
'विदधे विधिमस्य नैष्ठिक यतिभि साधर्मनग्निमग्निचित्' इति वक्ष्यमाणेनानग्नि-  
संस्कारेण विरोध स्यात् । अग्निसंस्काररहितस्य वानप्रस्थस्यैवाभावात् इत्यल प्राप्त-  
ङ्किनेन ॥ १३ ॥

वे ( रघु ) अन्तिम आश्रम ( सन्यासाश्रम ) को स्वीकारकर नगरको बाहरी स्थानमें  
रहते हुए जितन्द्रिय होकर पुत्रको भोग करने योग्य पतोहू ( पुत्रवधू ) के समान राजलक्ष्मी  
से सेवित हुए ॥ १४ ॥

प्रशमस्थितपूर्वपार्थिवं कुलमभ्युद्यतनूतनेश्वरम् ।

नभसा निमृतेन्दुना तुलामुदितार्केण समारोह तत् ॥ १५ ॥

प्रशमेति । प्रशमे स्थित पूर्वपार्थिवो रघुर्यस्य तत् । अभ्युद्यतोऽभ्युदितो नूतने-  
श्वरोऽजो यस्य तत् । प्रसिद्धं कुल निमृतेन्दुनाऽस्तमयासन्नचन्द्रेणोदितार्केण प्रक-  
दितसूर्येण च नभसा तुलां सादृश्यं समारोह प्राप्त । न च नभसा तुलामित्यत्र  
'तृतीयाऽन्यतरस्याम्' इत्यनेन प्रतिषेधस्तृतीयायाः । तस्य  
सदृशवाचितुलाशब्दाविषयत्वात् । 'कृष्णस्य तुला नास्ति' इति प्रयोगात् । अस्य च  
सादृश्यवाचित्वात् ॥ १५ ॥

शान्तिमें स्थित पुराने राजा ( रघु ) वाला तथा उन्नत होते हुए नये- राजा अज वाला  
वह ( इक्ष्वाकु- ) वंश अस्त होते हुए चन्द्रवाले तथा उदय हुए सूर्यवाले आकाश के सदृश हुआ ॥

यतिपार्थिवलिङ्गधारिणौ ददृशाते रघुराघवौ जनैः ।

अपवर्गमहोदयार्थयोर्भुवमशाविव धर्मयोगतौ ॥ १६ ॥

यतीति । यतिभिर्भु । पार्थिवो राजा । तयोर्लिङ्गधारिणौ रघुराघवौ रघुतत्सुतौ ।  
अपवर्गमहोदयार्थयोर्मोक्षभ्युदयफलयोर्धर्मयोः । निवर्तकप्रवर्तकरूपयोरित्यर्थः । भुव  
गतौ भूलोकमवतीर्णावशाविव । जनैर्ददृशाते दृष्टौ ॥ १६ ॥

भिर्भु ( सन्यासी ) तथा राजाके चिह्नों ( क्रमशः गैरिक वस्त्र आदि तथा राजमुकुट  
श्वेतच्छत्र एवं चामर आदि ) को धारण करते हुए रघु तथा अजको लोग मुक्ति तथा महोन्नति-  
) रूप फलवाले ( निवृत्ति तथा प्रवृत्तिको करनेवाले ) दो धर्मों के भूलोकपर अवतीर्ण अश्वके  
समान देखते थे ॥ १६ ॥

अजिताधिगमाय मन्त्रिभिर्युजे नीतिविशारदैरजः ।

अनपायिपदोपलब्धये रघुरात्रै समियाय योगिभिः ॥ १७ ॥

अजितेति । अजोऽजिताधिगमायाजितपदलाभाय नीतिविशारदैर्नीतिज्ञैर्मन्त्रिभिर्यु-



तमरव्यस्तमाधयोन्मुखं शिरसा वेष्टनशोभिना मुत ।

पितरं प्रणिपत्य पादयोरपरित्यगमवाचतात्मनः ॥ १२ ॥

तमिति । अरव्यस्तमाधयोन्मुखं वनवासोद्युक्तम् । अथ मनुः—‘पृथक्स्थं वरा  
पत्येहकीपक्षितमात्मनः । सापत्यो विरपत्यो वा तद्वारव्यं समाजयेत्’ ॥ पितरं तं  
रघुं सुतोऽग्रः । वेष्टनशोभितोष्णीपमबोधरेण शिरसा-पादयोः प्रणिपत्य । आत्मयोः  
परित्यागमवाच्य । मां परित्यज्य न गन्तव्यमिति प्रार्थितवामित्यर्थः ॥ १२ ॥

वनको बानेके छिन्ने तैवार पिता रघुको पुत्र बनने रघुकी ( वा राममुकुट ) से शोधित  
मस्तकसे दोनों वरघोर्मे प्रणामकर ‘सुखे जीवकर मत चारहे पैसी प्रार्थना की ॥ १२ ॥

रघुत्तमसुखस्य तस्य तत्कृतवानीप्सितमात्मवशिषः ।

न तु सर्वं इव त्वत् पुनः प्रतिपेदे व्यपवर्जितां मिथम् ॥ १३ ॥

रघुरिति । आत्मवशिषः पुत्रव्यस्तमो रघुः । अयम्पि सुखे तस्य तत्कृतवानीप्सित-  
मात्म तदपरित्यागव्यपवर्जितामात्मवशिषः कृतवान् । किन्तु सर्वस्ववशिष व्यपव-  
र्जितां त्वत्तां मिथं पुनर्न प्रतिपेदे न प्राप ॥ १३ ॥

पुत्रवत्तत् रघुने वनवासं हुई बानेकोवाके वन बनके वशिषाक्षी ( पूर्ण ) किया गया  
वनको बानेके विचार कीज दिया, किन्तु खोली यही वशिषी ( केशुच ) की सर्वके उपाय  
कीकी हुई रामव्यस्तमो पुत्रः खीवार नहीं किया ॥ १३ ॥

स किंतामममन्त्यमामितो निवसन्नावसये पुरम् बहिः ।

समुपास्यत पुत्रमोग्यया स्तुपयेवाविकृतेन्द्रियं त्रिषा ॥ १४ ॥

स इति । स रघुः किंतामममन्त्यमामितो पुराणराजः बहिरावसये स्वाये  
निवसन्नाविकृतेन्द्रियः, त्रितेन्द्रियः सन्नित्यर्थः । अत एव स्तुपयेव वक्ष्येव पुत्रयो-  
म्यथा । न स्वमोग्यया । त्रिषा समुपास्यत इत्युक्तिः । त्रितेन्द्रियस्य तस्य स्तुपयेव  
त्रिषापि पुष्पफलेदकाहरणमित्युपपादयितुमेव न किञ्चिदपेक्षितमासीदित्यर्थः ।  
अथ वक्ष्ये ‘आश्रयाः प्रवर्जिते’ इति श्रुतेः ‘आत्मन्यप्यन्तमसीष्य आश्रयाः प्रवर्जेद्  
पृहाय’ इति मनुस्मरणम् । ‘सुखवातामर्षं यमो बहिष्योर्किञ्चनारण्यम् । वातु-  
जातोऽस्मातामर्षं यमो न विधीते । इति त्रिविधाय आश्रयस्यैव प्रवर्ज्या न चति  
पादैरित्याहुः, तथापि ‘यदहरेण विरहैष्यदहरेण प्रवर्जेत्’ इत्यादिश्रुतेर्येदमिदं  
आश्रयात् ‘प्रवर्ज्यां यमोर्न वेदमधीत्य आश्रयात्’ इति सूत्रकारवचनात्  
‘आश्रयाः चरितो वापि वेरयो वा प्रवर्जेद् पृहाय’ इति स्मरणम् । ‘सुखवातामर्षं  
यमो वेत्यर्थं किञ्चनारण्यम् । वातुजातोऽस्मातामर्षं विद्वन् न विधीयते ॥ इति त्रिविध-  
स्य त्रिविधविषयवद्दर्शनात् कुत्रचिद् आश्रयवत्स्योपलब्धयामपराधाः केचित् वेव

सादकरोक्तास्त्वेन भस्मीकृतवान् । 'विभाषा साति कास्त्वे' इति सातिप्रत्ययः । इतरो रघुर्ज्ञानमयेन तत्त्वज्ञानप्रचुरेण वह्निना पावकेन करणेन स्वकर्मणां भवबीजभू-  
तानां दहने भस्मीकरणे वधृते । स्वकर्माणि दग्धुं प्रवृत्त इत्यर्थः । 'ज्ञानाग्निः सर्वक-  
र्माणि भस्मसात्कुस्तेऽर्जुन' इति गीतावचनात् ॥ २० ॥

नये राजा ( अज ) ने पृथ्वीपर शत्रुओंके आरम्भ किये गये कार्योंके फलोंको भस्म  
( नष्ट ) कर दिया तथा दूसरे ( प्राचीन राजा—रघु ) ज्ञानमय अग्निसे अपने ( ससार के  
कारणभूत ) कर्मोंको जलाने ( नष्ट करने ) में लग गये अर्थात् ज्ञानप्राप्तिसे अपने कर्मोंको  
नष्ट करने लगे ॥ २० ॥

पणवन्धमु खान्गुणानजः षड्पायुङ्क्त समीक्ष्य तत्फलम् ।

रघुरप्यजयद् गुणत्रयं प्रकृतिस्थं समलोष्टकाञ्चनः ॥ २१ ॥

पणवन्धेति । 'पणवन्धः सन्धिः' इति कौटिल्यः । अजः पणवन्धमुखान्सन्ध्या-  
दीन्षड्गुणान् । 'सन्धिर्ना विग्रहो यानमासन द्वैधमाश्रयः' । षड्गुणाः इत्यमरः । तत्फल  
तेषां गुणानां फल समीक्ष्यालोच्योपायुङ्क्त । फलिष्यन्तमेव गुणं प्रायुङ्क्तेत्यर्थः । 'प्रो-  
पाभ्यां युजेर्यज्ञपात्रेषु' इत्यात्मनेपदम् । समस्तुल्यतया भावितो लोष्टो सृष्टिपण्डः  
काञ्चन सुवर्णं च यस्य स समलोष्टकाञ्चन , निःस्पृह इत्यर्थः । 'लोष्टानि लेष्टवः पुसि'  
इत्यमरः । रघुरपि गुणत्रयं सत्त्वादिक्म् । 'गुणाः सत्त्व रजस्तमः' इत्यमरः । प्रकृतौ  
साम्यवस्थायामेव तिष्ठतीति प्रकृतिस्थ पुनर्विकारशून्य यथा तथाऽजयत् ॥ २१ ॥

अज सन्धि आदि षड्गुणोंका, उनका फल देखकर ( देश-कालके अनुसार ) प्रयोग  
करने लगे तथा मिट्टीके डेले और सुवर्णको समान समझते हुए अर्थात् सम्पत्तिसे निःस्पृह  
होते हुए रघु भी प्रकृतिस्थ तीनों गुणों ( सत्त्व, रज और तम ) को जीत लिये ॥ २१ ॥

न नवः प्रभुराफलोदयात्स्थिरकर्मा विरराम कर्मणः ।

न च योगविधेर्नवेतरः स्थिरधीरापरमात्मदर्शनात् ॥ २२ ॥

नेति । स्थिरकर्मा फलोदयकर्मकारी नव प्रभुरज आफलोदयात्फलसिद्धिपर्यन्त  
कर्मण आरम्भाच्च विरराम न निवृत्तः । 'शुगुप्साविरामप्रमादार्थानामुपसंख्यानम्'  
इत्यपादानात्पञ्चमी । 'ध्याह्परिभ्यो रम' इति परस्मैपदम् । स्थिरधीर्निश्चलचित्तः ।  
तदुक्त गीतायां—'दुःस्वप्नद्विग्नमना' सुक्षेपु विगतस्पृह । वीतरागभयक्रोधः स्थिर-  
धीर्मुनिरुच्यते' ॥ नवेतरो रघुश्चापरमात्मदर्शनात्परमात्मसाक्षात्कारपर्यन्त योगविधे-  
रैक्यानुसंधानाच्च विरराम ॥ २२ ॥

स्थिरकर्मा ( फलप्राप्तितक काममें लगे रहनेवाले ) नये राजा ( अज ) ने फलके  
दृष्टिगोचर होनेतक कार्यको नहीं छोड़ा तथा स्थिर बुद्धिवाले प्राचीन राजा ( रघु ) ने  
परमात्माके दर्शन होनेतक योगविधिकी नहीं छोड़ा ॥ २२ ॥

सुत्रे सङ्गतः । रघुरप्यनयाविषयवशोपकम्प्यये मोक्षस्य प्राप्तये यथार्थवर्जितो यथार्थ-  
विषयवशात् तैर्बोधिभिः समिधान् सङ्गतः । अथयथाप्युपायविस्तारमिति शेषः ॥ १००

अथ अत्रित परको प्राप्त करमेके द्विये बोधिविशुण मन्त्रिबोते भिन्ने ( अथये साय मन्त्रक  
करमे कये ) और रह अविमन्त्र नह अर्थात् सुष्ठिनी प्राप्त करमेके द्विये यथार्थ उत्तरदी  
बोधिबोते भिन्ने ॥ १०० ॥

सुपति प्रकृतीरवेक्षितु व्यवहारासनमावदे युवा ।

परिचेतुमुपांशु वारणां कुरापूतं प्रथयास्तु विष्टरम् ॥ १०१ ॥

सुपतिरिति । युवा सुपतिरस्य प्रकृतीः प्रकाः कार्यावर्तिनीरवेक्षितुम्, ब्रह्मब्रह्मपरी  
ज्ञानार्थमित्यर्थः । व्यवहारासनं यमांशनमावदे स्वीकृतम् । 'व्यवहारावुपा परवेद'  
इति बाह्यवक्ष्यस्मरणात् । प्रथया स्वधितो सुपती रघुस्तु । 'प्रथया स्वधितो ब्रह्म'  
इत्यमरः । वारणां विषयैकामयीं परिकेतुमन्वसितुमुपांशु विष्टरे । 'उपांशु विष्टरे  
शेषम् इति हकारपुनः । कुरापूतं विष्टरमासनमावदे । 'यमाविशुणसंतुष्टे यमसः  
स्थितिरश्मयि । वारणां शेष्यते अन्विर्बोधाच्छास्त्रिसारवै' इति वसिष्ठः ॥ १०१ ॥

सुक्त राजा ( अत्र ) प्रकाबोते ( व्यवहार—विचार ) की ईच्छनेके द्विये यमांशनको  
तथा ब्रह्म राजा ( रघु ) विष्टरी यथाप्रताके अन्वसितके द्विये यमांशनमें यविन उपासतको  
प्रथन द्विये ॥ १०१ ॥

अनयप्रसुप्तसिद्धसम्पदा वशमेको सुपतीसनमस्तदा ।

अपरं प्रविधानयोगवया मरुतं पञ्च शरीरगोचरम् ॥ १०२ ॥

अथपदिति । एकैक्यतरः, अत्र इत्यर्थः । अनयस्तदा स्वयम्भवन्तरावुपतीन्वा-  
द्यम्पदार्थिमाहादीन्प्रसुप्तसिद्धसम्पदा कोसदृष्टमहिमा वरं स्थपयतामनयत् ।  
'कोसो दृष्टो वरं चैव प्रसुप्तसिद्धमकीर्तिता' इति मिताहाराणाम् । अपरो रघु प्रवि-  
धानयोगवया समाध्यन्वासेव । 'योग्याभ्यासाङ्गयोगितो' इति विश्वः । शरीरगोचरम्  
वैद्याभ्यासपञ्च मरुतं प्राणादीन्पञ्चमनयत् । 'प्राणोऽपाना समाधयोद्वाच्यदात्री च  
वायवः । शरीरस्थाः' इत्यमरः ॥ १०२ ॥

एक राजा ( अत्र ) ये प्रसुप्तसिद्धि कर्त्तार कीच वरं दृष्टकी सम्पत्तिरी अनतर राजाबोधी  
तथा दूसरे राजा ( रघु ) ये समाधिद्वि अन्वसितो शरीरस्थ पांच वस्तुओं ( प्राण, अपान,  
वायु, उमान और व्यान ) को वशमें किया ॥ १०२ ॥

अकरोदधिरेष्टरः पितौ द्विपदारम्भफलानि अस्मत्ताम् ।

इतरो ददने स्वकर्मणा ययुते ज्ञानमयेन बहिमा ॥ १०३ ॥

अकरोदिति । अधिरेष्टरोऽत्र पितौ द्विपदारम्भाः कर्मणि शेषां फलानि अस्म-

अग्निहोत्र करनेवाले रघु-पुत्र ( अज ) ने पिताके शरीर-त्यागको स्मनकर यदुत देरतक रोकर इन ( रघु ) के अग्निस्काररहित अन्तिम स्कारको यतियोंके साथ किया ॥ २५ ॥

अकरोत्स तदौर्ध्वदैहिकं पितृभक्त्या पितृकार्यकल्पवित् ।

न हि तेन पथा तनुत्यजस्तनयावर्जितपिण्डकाङ्क्षिणः ॥ २६ ॥

अकरोदिति । पितृकार्यस्य तातश्राद्धस्य कल्पविधिधानज्ञः सोऽजः पितृभक्त्या पितरि प्रेम्णा करणेन न पितुः परलोकसुखापेक्षया । सुकृत्वादिति भावः । तस्य रघोरौर्ध्वदैहिकम् । देहादूर्ध्वं भवतीति । तत्तिलोदकपिण्डदानादिकमकरोत् । 'ऊर्ध्वं देहाच्च' इति वक्तव्याद्वक्तप्रत्ययः । अनुशक्तिकादिवाहुभयपदवृद्धिः । ननु कथं भक्तिरेव श्राद्धादिफलप्रेप्सापि कस्मात्तामूदित्याशङ्क्याह—न हीति । तेन पथा योगरूपेण मार्गेण तनुत्यजः शरीरत्यागिनः पुरुषास्तनयेनावर्जितं दत्तं पिण्डं काङ्क्षन्तीति तथोक्ता न हि भवन्ति ॥ २६ ॥

पितृ-कार्यविधिको जाननेवाले उस ( अज ) ने पिताकी भक्तिसे उनके पारलौकिक कार्य ( श्राद्धादि ) को किया, क्योंकि उस मार्ग अर्थात् योगसे शरीर-त्याग करनेवाले ( महायोगी लोग ) पुत्रके दिये हुए पिण्डकी चाहना नहीं करते हैं ॥ २६ ॥

स परार्ध्यगतेरशोच्यता पितुरुद्दिश्य सदर्थवेदिभिः ।

शमिताधिरधिज्यकार्मुकं कृतवानप्रतिशासनं जगत् ॥ २७ ॥

स इति । परार्ध्यगतेः प्रशस्तगतेः प्राप्तमोक्षस्य पितुरशोच्यतामशोचनीयस्व-मुद्दिश्यामिसन्धाय । शोको न कर्तव्य इत्युपदिश्येत्यर्थः । 'परिब्राजि विपक्षे तु पतिते चारमवेशमनि । कार्यो न शोको ज्ञातीनामन्यथा दोषभागिनः ॥' इति सुमन्तुस्मरणात् । सदर्थवेदिभिः परमार्थज्ञैर्विद्वद्भिः शमिताधिर्निवारितमनोव्यथः । 'पुत्याधिर्मानसी व्यथा' इत्यमरः । सोऽजोऽधिज्यकार्मुकं अधिज्यमारोपितमौर्वीकं कार्मुकं यस्य स तथोक्तः सन् जगत्कर्मभूतमप्रतिशासनं द्वितीयाज्ञारहितम्, आत्माज्ञाविधेयमित्यर्थः । कृतवाञ्छकार ॥ २७ ॥

उत्तम गति ( मोक्ष ) को पाये हुए पिताकी अशोच्यताको उद्देश्यकर परमार्थज्ञाताओंके द्वारा समझाये गये ( 'आपके पिताने मुक्तिको प्राप्त किया है, अतः उनके विषयमें शोक नहीं करना चाहिये' ) इस प्रकार शान्तियोंके समझानेपर पितृशोकको त्याग किये हुए ) अजने धनुषकी चढ़ाकर संसारकी एक शासनवाला कर दिया ( संसारमें सब राजाओंको अपने वशमें कर लिया ) ॥ २७ ॥

चित्तिरिन्दुमती च भामिनी पतिमासाद्य तमग्रथपौरुषम् ।

प्रथमा बहुरत्नसूरभूदपरा वीरमजीजनत्सुतम् ॥ २८ ॥

इति शत्रुषु चेन्मित्रेषु च प्रतिपिङ्गप्रसरेषु जामतौ । २३ ॥  
प्रसितासु ह्यप्यर्गयोः सम्यगी सिद्धिमुभाषवापसु ॥ २३ ॥

इतीति । इत्येवं प्रतिपिङ्ग प्रसराः स्वार्थप्रवृत्तिर्वैर्वा तेषु शत्रुषु चेन्मित्रेषु च जामताश्चमत्तसु ह्यप्यर्गयोः स्तुत्यमोक्षयोः प्रसितार्वास्तौ । 'तत्परे प्रसितास्तौ' इत्यमरा । समानवत्तु उभयी द्विविधामस्तुत्यमोक्षक्याम् । 'उभास्तु ह्यस्तौ' इति तत्राप्यपस्यावच्छेदाः । 'दिदृष्ट्वाप्य' इति जीप् । सिद्धिः । फलमवाप्तुः । उभास्तुये सिद्धी यथास्तंभमवापतुरित्यर्थः ॥ २३ ॥

इत प्रहारः (कौ २७-२९) लोकं गन्ते त्वार्थं प्रवृत्तिर्वाप्य शत्रुवैर्वा तथा शत्रुवैर्वा विपक्षे जामताः (तथा क्रमदाः) वृत्ति परं मोक्षार्थं जीप् इति वगैर्वा (अथ तथा च) ये द्विविध सिद्धिर्वाप्यो प्राप्त कर क्त्वा ॥ २३ ॥

अथ कश्चिद्व्यस्येव गमयित्वा समदर्शनं समा ।

तमस परमापद्व्यस्यं पुढ्य योगसमाधिना रघु ॥ २४ ॥

अथेति । अथ रघुः समदर्शना सर्वमूर्तेषु समरुति सज्जनस्यैव वाक्यकाङ्क्षादुरो येन काचित्समम कश्चिद्व्यस्येति । 'समा सर्वं समं तुल्यम्' इति क्त्वा । गमयित्वा गीत्वा । योगसमाधिरैव शत्रुसम्बन्धेन । 'संयोगो योग इत्युक्तो जीवन्मृतपरममयो' इति वसिष्ठा । व्यस्ययमाधिनाकिं तममा परमविद्यायां परम् भव्यातीतमित्यर्थः । अविद्यासुखादामसु क्लेशमुखात्तममुद्धिरविद्या' इति योगशास्त्रे । पुढ्यं परमतमान मापदाय साधुर्न प्राप्त इत्यर्थः ॥ २४ ॥

इत्येव वाच सप्त क्लेशमोक्षो तमाम देवदेवाके रघुने नवमौ शत्रुवैर्वा पुढ्यं वगैर्वा विनाशक बीजसमन्विते विनाशरहित तथा भावतीत परमपुढ्य (सत्यम्) को प्राप्त क्त्वा नवमौ शत्रुवैर्वा कर क्त्वा ॥ २४ ॥

सुतदेहविसर्जनं 'पितृभिरममृणि विमुच्य राघव' ।

विदुषे विधिमस्य नैष्ठिकं यतिमि सार्वभौमनिमग्नमिदम् ॥ २५ ॥

सुतेति । अग्निविधमि विधवावाहितवान् । 'जगदी वै' इति क्त्वात्वा । राघवोऽग्नौ पितुः सुतदेहविसर्जनं आकर्जितपितृवपुःश्रापं संभिरममृणि वापामि विमुच्य विदुषाश्च पितुरनिमग्नं अग्निस्तत्काररहितमित्यर्थः । वैदिकं विद्यायामग्नौ भर्तृ विधिमाचारमन्येष्टि वसिष्ठा संन्यासिमि सार्वं सह विदुषे चक्षे । अग्निं विधिमित्यत्र शीवकः— सर्वसङ्गमिदुत्तरं व्यावयोत्तरतस्व च । य तस्य वदन् कार्यं मेव पित्रोर्व्यकृष्टा ॥ दिदृष्ट्वाप्यन्येनैव विदो मिदोः कर्तव्यम् । योऽर्थं वदन् येन सर्वं तेनैव कारयेत् ॥ इति ॥ २५ ॥

द्वारा पितरोंके) ऋणसे छुटकारा पाये हुए वे राजा (अज) परिवेष (सूर्यके चारो ओर कभी २ दिखलाई पड़ने वाले गोल घेरे) से युक्त सूर्यके समान शोभमान हुए ॥ ३० ॥

बलमार्तभयोपशान्तये विदुषां सत्कृतये बहुश्रुतम् ।

वसु तस्य विभोर्न केवलं गुणवत्तापि परप्रयोजना ॥ ३१ ॥

बलमिति । तस्य विभोरजस्य केवल वसु धनमेव परप्रयोजन परोपकारकं नाभूत् । किन्तु गुणवत्तापि गुणित्वमपि परप्रयोजना परेषामन्येषां प्रयोजन यस्यां सा । विधे र्यांशत्वेन प्राधान्याद् गुणवत्ताया विशेषणं वस्त्वित्यत्र तूहनीयम् । तथा हि । बल पौरुषमार्तानामापन्नानां भयस्योपशान्तये निवेद्याय न तु स्वार्थं परपीडनाय वा । बहु भूरि श्रुत विद्या विदुषां सत्कृतये सत्काराय । न तूत्सेकाय बभूव । तस्य धन परोप-योगीति किं वक्तव्यम् । बलश्रुतादयोऽपि गुणाः परोपयोगिन इत्यर्थः ॥ ३१ ॥

( उस अजका ) बल दुखियोंके भय दूर करनेके लिये तथा शास्त्राध्ययन विद्वानोंके सत्कारके लिये हुआ, ( इस प्रकार ) समर्थ उस अजका केवल धन ही परोपकारके लिये नहीं हुआ, किन्तु गुणवान् होना भी परोपकारके लिये हुआ ॥ ३१ ॥

स कदाचिद्वेक्षितप्रजः सह देव्या विजहार सुप्रजाः ।

नगरोपवने शचीसखो मरुतां पालयितेव नन्दने ॥ ३२-॥

स इति । अवेक्षितप्रजोऽङ्कतोभयत्वेनानुसहितप्रजः । 'नित्यमसिचप्रजामेधयोः' इत्यसिचप्रत्ययः । न केवलं द्वैण इति भावः । शोभना प्रजा यस्यासौ सुप्रजा' सुपुत्र वान् । पुत्रन्यस्तभार इति भावः । सोऽजः कदाचिद्वेक्ष्या महिष्येन्दुमत्या सह नगरो-पवने नन्दने नन्दनाख्येऽमरावत्युपकण्ठवने शचीसखः, शच्या सहेत्यर्थः । मरुतां देवानां पालयितेन्द्र इव । विजहार चिक्रीड ॥ ३२ ॥

प्रजाओंकी देख-भाल करनेवाले तथा उत्तम सन्तानवाले वे ( अज ) किसी समय नगरके उपवनमें पटराजी ( इन्दुमती ) के साथ, 'नन्दन' वनमें इन्द्राणीके साथ देवरक्षक इन्द्रके समान विहार करने लगे ॥ ३२ ॥

अथ रोधसि दक्षिणोदधेः श्रितगोकर्णनिकेतमीश्वरम् ।

उपवीणयितुं ययौ रवेरुदयावृत्तिपथेन नारदः ॥ ३३ ॥

अथेति । अथ दक्षिणस्योदधे समुद्रस्य रोधसि तीरे श्रितगोकर्णनिकेतमधिष्ठित-गोकर्णाख्यस्थानमीश्वर शिवमुपवीणयितुं वीणयोपसमीपे गातुम् । 'सत्यापपाशरूप-धीणातूलश्लोकसेनालोमत्वचवर्मवर्णचूर्णचुरादिभ्यो णिच्' इत्यनेन वीणाशब्दादुपमा-भार्थे णिच्प्रत्ययः । ततस्तुमुन् । नारदः नराणां समूहः नार तद् धति खण्डयति

चिद्विरिति । चिद्विरिर्मांशो यामिनी कमिनीन्मुमती च । 'यामिनी कमिनी' इति वक्रावृत्तिः । अग्रवर्णोऽर्थः महापराक्रममुत्कृष्टमोघवर्ति च उन्मत्तं पतियस्तत्र प्राप्य । तत्र प्रथमा चितिः बहुवि इत्यादि श्लेषस्तुति सूत इति बहुवचनसूत्रम् । 'एतं स्वमाप्तिश्लेषेऽपि' इत्यमरः । अपरोन्मुमती वीरं विरोधेन द्रष्टुं ईदृशं कर्मणोति वीरस्तं सुतसन्धीजवज्जनपतिस्म । आपतेर्भी कृति कर्मम् । अहोत्सा साधनं मुच्यते ॥ २८ ॥

पृथ्वी तथा जमेरलो रघुमती यद्वापुवर्णा कृत ( कथ ) की पति, ( कर्म ) प्राप्तिः । महती बर्बाद पृथ्वी बहुत रत्नोक्तो पैदा करनेवाली हुई तथा दूसरी बर्बाद रघुमतीने भीरु पुत्र को पैदा किया, ॥ २८ ॥

विद्यामन्त्रोऽस्तव्य आद्य—

वृद्धरिमन्त्रतोपममुतिं वराद्या विदुः वरास्वपि मुतम् ।

वरापूर्वरथ यमात्मन्या वराकवठारिगुरुं विदुर्मुखा ॥ २९ ॥

वृषेति । वृद्ध रिमन्त्रास्ति यस्य स वृद्धरिमन्त्रा सूर्यः । स यस्मा यस्या स वृद्धरिमन्त्रतोपमा मुतिर्बलं तस्य । यस्या कर्मण वरास्वपि विद्यायास्तु कृतं प्रसिद्धम् । वराकवठारे राक्षसारे रामस्य गुरुं पितरं वं मुतम् । यन्मया नाम्ना वरापूर्वं वराकवठारं रथो रक्षस्यस्तस्य, वरावन्तिपथैः । मुता विद्वांसो विदुर्बलन्ति । 'विदो कथे वा' इति शीर्षसादृश्या ॥ २९ ॥

विद्या की वरा ही श्रिभोवाके ( पूर्व ) के समान कान्तिवाके भीरु वृद्धे वरों विद्वांसोंमें प्रसिद्ध, वरासुत ( रत्न ) - वृद्ध ( राम ) के पिता विद्वत् नाम वरापूर्वक रत्न बर्बाद वरावन्ति नामने हैं ( 'येते पुत्रकी रघुमतीने पैदा किया' रत्न पूर्वस्कोमते समान हैं )

अपिदेवगणस्थयामुक्तां मुतयागप्रसवैः स पार्थिवः ।

अनुपत्यमुपेयिवाप्यमौ परिधेर्मुक्त इषोप्यदीधितिः ॥ ३० ॥

अपीति । मुतयागप्रसवैरप्यवयवप्रसवप्रसवैः करणैः यथासंभवसूचीनां देवतानां यामिप्रादीनां रचनामुक्तां पितृणामनुपत्यमप्यवयवविमुक्तवस्तुपैविद्यप्रसवप्रसवम् । 'अर्थ देवत्व यज्ञेन पितृणां दातव्यम् । सामान्ता पितृश्रेयसां दातवित्वा परिमत्रेण' ॥ 'एव वा अनुप्ये वा पुत्री यज्जा जग्यारी वा' इति सूतेः । स पार्थिवोऽपि परिधेः परितेवाद्य । 'परितेवस्तु पार्थिवः' इत्यमरः । मुक्तो निर्गता कर्मकर्ता । अप्यदीधितिः सूत्रं इव । यमो विदीधे । इत्युपमा ॥ ३० ॥

देवारि जाकोंके अप्यवयव यव तथा पुत्रीत्वावयव ( क्रमका ) अर्थात् देवता तथा शिरोने ( देवारि वदनेके द्वारा आविर्भाव, यमोंके द्वारा देवताओंके भीरु पुत्र उत्पन्न करनेके

द्वारा पितरोंके) ऋणसे छुटकारा पाये हुए वे राजा (अज) परिवेष (सूर्यके चारो ओर कमी २ दिखलाई पड़ने वाले गोल घेरे) से युक्त सूर्यके समान शोभमान हुए ॥ ३० ॥

बलमार्तभयोपशान्तये विदुषां सत्कृतये बहुश्रुतम् ।

वसु तस्य विभोर्न केवलं गुणवत्तापि परप्रयोजना ॥ ३१ ॥

बलमिति । तस्य विभोरजस्य केवलं वसु धनमेव परप्रयोजन परोपकारकं नामूत । किन्तु गुणवत्तापि गुणित्वमपि परप्रयोजना परेषामन्येषां प्रयोजन यस्यां सा । विधे-  
त्याशत्वेन प्राधान्याद् गुणवत्ताया विशेषणं वस्त्वित्यत्र तूहनीयम् । तथा हि । बलं पौरुषमार्तानामापन्नानां भयस्योपशान्तये निषेधाय न तु स्वार्थं परपीडनाय वा । बहु भूरि श्रुत विद्या विदुषां सत्कृतये सत्काराय । न तूत्सेकाय बभूव । तस्य धनं परोप-  
योगीति किं वक्तव्यम् । बलश्रुतादयोऽपि गुणाः परोपयोगिन इत्यर्थः ॥ ३१ ॥

(उस अजका) बल दुखियोंके भय दूर करनेके लिये तथा शास्त्राध्ययन विद्वानोंके सत्कारके लिये हुआ, (इस प्रकार) समर्थ उस अजका केवल धन ही परोपकारके लिये नहीं हुआ, किन्तु गुणवान् होना भी परोपकारके लिये हुआ ॥ ३१ ॥

स कदाचिद्वेक्षितप्रजः सह देव्या विजहार सुप्रजाः ।

नगरोपवने शचीसखो मरुतां पालयितेव नन्दने ॥ ३२ ॥

स इति । अवेक्षितप्रजोऽकुतोभयत्वेनानुसंहितप्रजः । 'नित्यमसिचप्रजामेधयो' इत्यसिचप्रत्ययः । न केवलं खैण इति भावः । शोभना प्रजा यस्यासौ सुप्रजाः सुपुत्र वान् । पुत्रन्यस्तभार इति भावः । सोऽजः कदाचिद्वेद्या महिष्येन्दुमत्या सह नगरो-  
पवने नन्दने नन्दनाख्येऽमरावयुपकण्ठवने शचीसखः, शच्या सहेत्यर्थः । मरुतां देवानां पालयितेन्द्र इव । विजहार चिक्रीड ॥ ३२ ॥

प्रजाओंकी देख-भाल करनेवाले तथा उत्तम सन्तानवाले वे (अज) किसी समय नगरके उपवनमें पटरानी (इन्दुमती) के साथ, 'नन्दन' वनमें इन्द्राणीके साथ देवरक्षक इन्द्रके समान विहार करने लगे ॥ ३२ ॥

अथ रोधसि दक्षिणोदधेः श्रितगोकर्णनिकेतमीश्वरम् ।

उपवीणयितुं ययौ रवेरुदयावृत्तिपथेन नारदः ॥ ३३ ॥

अथेति । अथ दक्षिणस्योदधेः समुद्रस्य रोधसि तीरे श्रितगोकर्णनिकेतमधिष्ठित-  
गोकर्णाख्यस्थानमीश्वरं शिवमुपवीणयितुं वीणयोपसमीपे गान्तुम् । 'सत्यापपाशरूप-  
वीणातूलश्लोकसेनालोमवधवर्मवर्णचूर्णचुरादिभ्यो णिच्' इत्यनेन वीणाशब्दादुपमा-  
नार्थे णिच्प्रत्ययः । ततस्तुमुन् । नारदः नराणां समूहः नारं तद् यति खण्डयति



कमलह्वानात् इति बारदा वैदर्भी रवौः सूर्यस्य सम्बन्धिनोद्भास्यतिपदेनाकाशमार्गेण  
पयी गगाम । सूर्योपसाधेनास्वातिरेकस्तत्प्रप्यते ॥ ३३ ॥

इत्येकं वादं दक्षिण समुद्रके, अथ परं 'नोकली' नामक स्थानमेति शिवश्रीके वासं श्रीका इत्यत्र  
एषति करनेके क्रिये मारद्वयी नाकाशमार्गसे गये ॥ ३३ ॥

कुसुमैर्मथितामपार्थिवैः स्रसमातोद्यशिरोनिषेशिताम् ।

अहरत्किञ्च तस्य योगपानधिवासस्यूहयेय मारुतः ॥ ३४ ॥

कुसुमैरिति । अपार्थिवैरमीमैः, दिग्भैरित्यर्थः । कुसुमैर्मथितां रक्षिताम् । तत्त्वं  
मारद्वयतोद्यस्य आश्रयस्थ श्रीकावाः । शिरस्त्यग्रे निषेशिताम् । 'स्तुतिर्बिभर्षि' वाचं  
वाविप्रातोद्यमानकम्' इत्यमरः । कर्मं मार्का वैषकात्प्राप्यताम् । 'अधिवासे वासवादी  
एष्टद्वयेन राजा स्वाह्ने संरक्ष्युर्मित्यर्थः । 'संस्कारो गन्धमाश्रयाद्यैर्वा स्वातदधिकसम्बन्ध'  
इत्यमरः । अहरत्किञ्च किञ्चैवेति शिष्टो ॥ ३४ ॥

रिप्य (स्वर्गाद) पुष्पोत्ते पुष्पो हुई तथा श्रीकाके कपरी नाममें कपेटी या कदम्बरी हुई  
माकम्बो छत्र धनुने मानी अपनेको (वन पुष्पोत्ते) सुगन्धित करनेको दृष्ट्याते हरन कर  
क्रिया । (कदम्बपुष्पदिने स्वर्गाद पुष्पोत्ते वनी एवं श्रीकाके कपरी नाममें कदम्बो हुई मार्का  
देख दृष्टाते कह गयी) ॥ ३४ ॥

अमरैः कुसुमानुसारिभिः परिष्कीर्णा परिवादिनी मुनेः ।

वहरो पपनावलेपजं सूत्रती व्याप्यमिच्छाक्षुनाविश्रम् ॥ ३५ ॥

अमरैरिति । कुसुमानुसारिभिः पुष्पानुवादिभिर्मरैरिति परिष्कीर्णा अमरा  
मुनेर्भारद्वय परिवादिनी श्रीका । श्रीका तु बह्वरी । विपक्षी सा तु तन्मीमिः सप्तमिः  
परिवादिनी' ॥ इत्यमरः । पवनस्य वायोरमलेपोऽधिकैस्तत्प्रमज्जनेन अमलेनादिते  
कस्तुपं व्याप्यमनु सूत्रती सूत्रतीव वही दृष्टा । अमराणां साञ्जनाप्यविश्रुसारव  
विश्रुतिम् । 'वा गर्पुमकस्व' इति पतमनि 'आञ्जनीनक्षत्रोर्मुख' इति मुद्रियकथनः ॥ ३५ ॥

पुष्पोत्ते श्रीकाके अमरोंते व्याप्य मारद्वयीको श्रीका वायुह्वन अमानसे वरद  
अञ्जनसे मक्षिम आञ्जनी होवती हुईके समान देती गयी ॥ ३५ ॥

अभिभूय विभूतिमातपी मधुगपातिरायेन पीरुषाम् ।

मृपनेरमरस्रगाप सा द्युपितोरस्तनफोटिमुत्स्थितिम् ॥ ३६ ॥

अभिभूयेति । आञ्जनाप्यविश्रुमाका मधुगान्धर्वोर्मकरन्दमीरमभोरनिसन्नेनाधि  
नयेन । श्रीकापं कृतावात् । 'कृता प्रशानिनी श्रीका' इत्यमरः । कथोः प्रशामार्तवीर्य-  
तुपमन्विनी विभूतिः सद्युदिमधिभूय निरसृण्य मृपतेरजस्य द्युपितावा इन्मुमात्वा  
कर्मोदिशान्नयोः स्तनयोर्ने कपेटी मृपुषो तयोः सुस्थितिं श्रीकावधाने अनिगन्धाममरा  
रिचमि रवानमात्र प्रप्राता ॥ ३६ ॥

वह दिव्य माला पराग तथा सुगन्धिकी अधिकतासे लताओंके ऋतूत्पन्न ऐश्वर्यों ( सुगन्धियों ) को दबाकर राजा अजकी प्रियाके विशाल स्तनोंके चूचुकों (अग्रभागों) पर गिरी ॥

**क्षणमात्रसखीं सुजातयोः स्तनयोस्तामवलोक्य विह्वला ।**  
**निमिमील नरोत्तमप्रिया हृतचन्द्रा तमसेव कौमुदी ॥ ३७ ॥**

क्षणमात्रेति । सुजातयोः सुजन्मनोः, सुन्दरयोरित्यर्थः । स्तनयोः क्षणमात्र सखीं सखीमिव स्थिताम्, सुजातत्वसाधर्ग्यास्त्रज स्तनसखीत्वमिति भावः । तां सज्जमवलोक्येपद्दृष्ट्वा विह्वला परवशा नरोत्तमप्रियेन्दुमती तमसा राहुणा । 'तमस्तु राहुः स्वर्भानु' इत्यमरः । हृतचन्द्रा कौमुदी चन्द्रिकेव निमिमील मुमोह, ममारेत्यर्थः । 'निमीलो दीर्घनिद्रा च' इति हलायुधः । कौमुद्या निमीलन प्रतिसहारः ॥ ३७ ॥

सुन्दर स्तनोंकी क्षणमात्रके लिये सखी उस मालाको देखकर अजकी प्रिया ( इन्दुमती ) राहुसे अपहृत चन्द्रमावाली चाँदनीके समान मोहित हो गयी ( मर गयी ) ॥ ३७ ॥

**वपुषा करणोष्मिक्तेन सा निपतन्ती पतिमप्यपातयत् ।**  
**ननु तैलनिषेकविन्दुना सह दीपाचिरुपैति मेदिनीम् ॥ ३८ ॥**

वपुषेति । करणैरन्द्रियैरुष्मिक्तेन मुक्तेन । 'करण साधकतम क्षेत्रगात्रेन्द्रियेष्वपि' इत्यमरः । वपुषा निपतन्ती सेन्दुमती पतिमज्जमप्यपातयत्पातयति स्म । तथा हि । निषिच्यते इति निषेकः तैलस्य निषेकस्तैलनिषेक, चरतैलमित्यर्थः । तस्य विन्दुना सह दीपाचिर्दीपज्वाला मेदिनीं भुवमुपैति ननूपैत्येव । नन्वत्रावधारणे । 'प्रश्नावधारणानुज्ञानुनयामन्त्रणे ननु' इत्यमरः । इन्दुमत्या दीपाचिरुपमानम् । अजस्य तैल-विन्दुः । तत एव तस्या जीवितसमाप्तिस्तस्य जीवितशेषश्च सूच्यते ॥ ३८ ॥

इन्द्रिय-शून्य शरीरसे गिरती हुई उस इन्दुमतीने पति ( अज ) को भी गिरा दिया ( इन्दुमतीके सहाशून्य शरीरके गिरते ही उसे मरी हुई जानकर अज भी ( मूर्च्छित हो ) पछाड़ खाकर गिर पड़े ) । ( तैल-विन्दुके टपकने ( चूने-गिरने ) के साथ ही दीपककी लौ भी निश्चय ही पृथ्वीको प्राप्त करती पृथ्वीपर गिरती है ) ॥ ३८ ॥

**उभयोरपि पार्श्ववर्तिनां तुमुलेनार्तरवेण वेजिता ।**  
**विहगा कमलाकरालयाः समदुःखा इव तत्र चुक्रुशु ॥ ३९ ॥**

उभयोरिति । उभयोर्दग्गप्यो पार्श्ववर्तिनां परिजनानां तुमुलेन सङ्कुलेनार्तरवेण करुणस्वनेन वेजिता भीता कमलाकरालया सर स्थिता विहगा हृसादयोऽपि तत्रोपवने समदुःखा इव तत्पार्श्ववर्तिनां समानशोका इव चुक्रुशु क्रोशन्ति स्म ॥ ३९ ॥

दोनों ( इन्दुमती-अज ) के पासमें स्थित लोगोंकी फैली हुई आर्तध्वनिते तडागमें रहने-वाले पक्षी भी मानो ( उनके ) समान दुःखी होकर वहाँपर चिल्लाने लगे ( राजानुचरोंके

कञ्जहावा इति वारहः । वैदर्भी रघोः सुर्वस्य सम्बन्धिनोदयात्पुत्रिपदेवाकाशमार्गेण  
पयी कयाम् । सुर्वोपमावेनास्यासितिलेखलमुप्यते ॥ ३३ ॥

इसके बाद दक्षिण समुद्रके ऊपर 'नोकरी' नामक स्थानमें दिनबीके पत्त बीया बरकर  
रहति करनेके किये गारवबी जाकाय-यागसे 'बके' ॥ ३३ ॥

कुसुमैर्मयितामपार्षिबै खजमातोद्यशिरोनिवेशिताम् ।

अहरत्किञ्च तस्य वेगधानधिवासस्युद्वेग मारुत ॥ ३४ ॥

कुसुमैरिति । अपार्षिबैर्यौमे, विभ्येदित्यर्थः । कुसुमैर्मयितां रक्षिताम् । तस्य  
वारहस्वातोद्यस्य वाप्यस्य बीमत्वात् शिरस्त्रये निवेशिताम् । 'अतुर्विचमिर्दं वारहं  
वादिवातोद्यममरुतम्' इत्यमरः । 'कर्म मार्कं वेगमप्याहृतः । अधिवासे वासवायो  
स्युद्वेगः कञ्जः स्वाङ्गं संस्कनुमित्यर्थः । 'संस्कारो गन्धमाहवात्यैर्वा स्वातदधिवासमयं'  
इत्यमरः । अहरत्किञ्च किमेत्येतिष्ठे ॥ ३४ ॥

दिग् ( लघीव ) पुणोसे गुणी हुई तथा बीयाके कपरी भागमें जड़ेटी वा कज्जारे हुई  
माकम्बी तीव्र बाहुने मायी करनेको ( वन फूलोंसे ) लगावित करनेकी इच्छासे इतक कर  
दिया । ( अहरत्किञ्चइतिके लघीव फूलोंकी वनी पर बीयाके कपरी भागमें कज्जरी हुई बाज  
ऐक होता है वद गयी ) ॥ ३४ ॥

अमरैः कुसुमानुसारिभिः परिकीर्णं परिवारिणी मुने ।

दृश्ये पवनापलेपजं सृजती वाप्यमिवाह्वनाबिसम् ॥ ३५ ॥

अमरैरिति । कुसुमानुसारिभिः पुष्पाणुवाविमिश्रमरैरकिभिः परिकीर्णं अस्मा  
मुनेवारहस्य परिकारिणी बीजा । 'बीजा तु बह्व्री । निपट्री सा तु लम्बीमि सतमि  
परिवारिणी' ॥ इत्यमरः । पवनस्य वायोश्चक्रेयोऽभिरुपेपस्तत्रमज्जवेन कञ्जकेनाधिकं  
कञ्जं वाप्यमस्य सृजती मुञ्जतीव दृश्ये दृष्टा । अमराणां साज्जमवाप्यविभुसारकं  
विचक्षितम् । 'वा नपुंसकत्व' इति यस्मिन् 'आप्लीनघ्येर्नुब' इति नुमिकत्वा ॥ ३५ ॥

फूलोंकी बीजे बहनेवाले अमरोंसे अवात मारवबीकी बीजा बाहुकन अपमानसे कलक  
बज्जते मक्षिण भाँसुकी छोड़नी हुईके समान देखी गयी ॥ ३५ ॥

अभिभूय विभूतिमार्तवीं मधुगन्धातिशयेन बीरुधाम् ।

मृपतेरमरस्रगाप सा क्षपितोरुस्वनक्षेत्रिमुस्थितम् ॥ ३६ ॥

अभिभूयेति । साध्मरस्रविभूतमात्रा मधुगन्धपीर्मकरभूतैर्मयोरतिशयेनापि  
ल्येव । बीरुधाम कथावाम् । 'कथा प्रतापिणी बीरु' इत्यमरः । अतो मधुगन्धमार्तवीम्  
तुप्यन्धविभी विभूति समुद्रिमभिभूय शिरस्रगाप मृपतेरस्य क्षपिताया इन्दुमत्वा  
कर्मविभूतयोः स्तम्भयोर्बे कोटी बाहुकी लये क्षपितं योप्यस्वाने पक्षितवाप्यस्यो  
स्थितिं दवावमात्र प्राप्ता ॥ ३६ ॥

विललाप स बाष्पगद्गदं सहजामप्यपहाय धीरताम् ।

अभितप्तमयोऽपि मार्दवं भजते कैव कथा शरीरिषु ॥ ४३ ॥

विललापेति । सोऽज सहजां स्वाभाविकीमपि धीरतां धैर्यमपहाय विप्रकीर्ण-  
चाप्पेण कण्ठगतेन गद्गदं विशीर्णाक्षर यथा तथा ध्वनिमात्रानुकारिगद्गदशब्दै-  
र्विललाप परिदेवितवान् । 'विलापः परिदेवनम्' इत्यमरः । धीरस्य कुतः शोक इति  
चेदत आह—अभितप्तमग्निना सन्तप्तमयो लोहमचेतनमपि मार्दवं मृदुत्वमवैरत्वं च  
भजते प्राप्नोति । शरीरिषु देहिषु । अभिसन्तप्तेष्विति शेषः । विषये कैव कथा वार्ता,  
अनुकसिद्धमित्यर्थः ॥ ४३ ॥

वे ( अज ) स्वभाविक भी धैर्यको छोड़कर औसूसे गद्गद होकर विलाप करने लगे,  
तपा हुआ ( जह ) लोहा भी कोमल हो जाता है ( तब चैतन्य ) शरीरधारियोंके विषयमें  
क्या कहना है ? अर्थात् दु खसन्तप्त प्राणियोंके तरल होनेमें कोई आश्चर्य नहीं है ॥ ४३ ॥

कुसुमान्यपि गात्रसङ्गमात्प्रभवन्त्यायुरपोहितुं यदि ।

न भविष्यति हन्त साधन किमिवान्यत्प्रहरिष्यतो विधेः ॥ ४४ ॥

कुसुमानीति । कुसुमानि पुष्पाण्यपि । अपिशब्दो नितान्तमार्दवद्योतनार्थः ।  
गात्रसङ्गमाद्देहससर्गादायुरपोहितुमपहर्तुं प्रभवन्ति यदि । हन्त विपादे । 'हन्त हर्षेऽ-  
नुकम्पायां वाक्यारम्भविपादयो' इत्यमरः । प्रहरिष्यतो हन्तुमिच्छतो विधेर्देवस्या-  
न्यत्कुसुमातिरिक्त किमिव वस्तु । इवशब्दो वाक्यालङ्कारे, कीदृशमित्यर्थः । साधनं  
प्रहरण न भविष्यति न भवेत्, सर्वमपि साधन भविष्यत्येवेत्यर्थः ॥ ४४ ॥

यदि फूल भी शरीरपर गिरनेसे मारनेके लिये समर्थ होते हैं, तब खेद है कि भविष्यमें  
मारनेवाले देवकी दूसरी कौन वस्तु ( मारनेके लिये ) साधन नहीं होगी ॥ ४४ ॥

अथवा मृदु वस्तु हिंसितुं मृदुनैवारभते प्रजान्तकः ।

हिमसेकविपत्तिरत्र मे नलिनी पूर्वनिदर्शन मता ॥ ४५ ॥

अथवेति । अथवा पक्षान्तरे । प्रजान्तकः कालो मृदु कोमल वस्तु मृदुना वस्तुना  
हिंसितुं हन्तुमारभत उपक्रमते । अत्रार्थे हिमसेकेन तुषारनिष्यन्देन विपत्तिर्मृत्युर्यस्याः  
सा तथा नलिनी पद्मिनी मे पूर्व प्रथम निदर्शनमुदाहरण मता । द्वितीय निदर्शनं  
) सुषुप्तमृत्युरिन्दुमतीति भावः ॥ ४५ ॥

अथवा काल कोमल पदार्थको कोमल पदार्थसे ही नष्ट करता है, इस विषयमें पाला  
( तुषार ) पड़नेसे नष्ट होनेवाली कमलिनी मुझे पहले उदाहरण रूपमें प्राप्त हो चुकी है ॥ ४५ ॥

स्रगिय यदि जीवितापहा हृदये किं निहिता न हन्ति माम् ।

विषमप्यमृतं कचिद्भवेदमृतं वा विषमीश्वरेच्छया ॥ ४६ ॥

रोनेयो जन्मिन्ने जन्मन्त वद्विपर तद्वानवासी पक्षी यी वरहाक्षर कीक्यह्म करने ज्ये ) ॥१५॥

गुपतेर्भ्यज्जनादिभिस्तमो मुनुवे सा तु तथैव संस्थिता ।

प्रतिष्कारविधानमप्युप सति शोषे हि पञ्चाम कल्पते ॥ ४० ॥

गुपतेरिति । गुपतेरजस्य तातोऽङ्गार्थं ज्ञानवाहिनिः साधवैर्गुपुवैः प्रसारितम् ।  
आविष्टमैव जलसेककूपरक्षोदाहरो पुष्कन्ते । सा विष्णुमयी तथैव संस्थिता मृता ।  
तथा हि । प्रतिष्कारविधाने विभिन्नकारणं आपुषो क्षीयितकालस्य शोषे सति विध-  
माने । आपूर्ण्येति काको वा इत्यमरा । कालस्य सिद्धये कल्पते आरोम्बाय भवति ।  
'नक्षपि समग्रमात्रे च इति चतुर्थी । आम्बया गुपतेरपुषोऽवसन्नावाप्सरीकारस्य  
साधन्यम् । तस्मात्तु तद्व्याप्यैक्यवन्तित्यर्थः ॥ ४० ॥

राज्य ( जय ) की शृङ्गा पंजा कादि ( जयगमिनि जलसेक कादि कावे कलवाती )  
से दूर ईर्ष, किन्तु वह ( रघुमयी ) बैठे की पक्षी रही क्योंकि आपुषो के व रघुनेत्र जय  
सकल होता है ॥ ४० ॥

प्रतियोजयितव्यमवज्ञासमवस्थामय सत्यविष्णवात् ।

स निनाय निराम्यवत्सलं परिपूषोषितमङ्गुलज्जनाम् ॥ ४१ ॥

प्रतीतिः । जय सत्यस्य चैतन्यस्य विष्णवद्विधाकावेतोः । 'अम्बापुष्पवशावेष्टु  
सत्यम्' इत्यमरा । प्रतिकोजयितव्या तन्निमित्तोक्तकीचा, व तु योजिततन्मोत्यर्थः ।  
वा वृद्धकी बीज्य तस्मात् समग्रत्वा इत्या वस्वास्तामङ्गुली बभित्ता विराम्यवत्सल्ये-  
स्त्रिमेवाम्बोऽङ्गाः परिपूष इत्याम्बां पृथ्वीकोषितं परिपूषितमङ्गुलज्जनां विनाय बीज-  
जान् । वृद्धकीपक्षे तु सत्यं तन्निनायमवस्थामय काकाकावितेयः ॥ ४१ ॥

इसके बाद ( विषयों ) जन्मन्त प्रेमी वस जयने चेतनापूर्ण होने ( पर जाने ) से वह  
वहावे बीज्य बीज्यके समग्र स्थित विषयों ( इत्यते ) वृद्धकी बीज्य के किया ॥ ४१ ॥

पतिरङ्गुनिपण्यया तया करणापायविमिश्रणर्णया ।

समसदयत विभज्यविह्वला मृगक्षेद्यामुपसीध चन्द्रमा ॥ ४२ ॥

पतिरिति । पतिरजोऽङ्गुनिपण्ययोस्तद्विषयका कारणाभासिद्विधानां तदुप-  
पत्तित्वं चैतन्यरय हा अपावेपापामेव हेतुना विमिश्रणर्णया विष्णावया तथा ।  
'हृत्पमृतकपले' इत्यनेन सूतीया । यवसि पातम्भाके आविर्भा मन्त्रिणां वृषकेकां  
काम्युर्ध्वं मृगरोपाकं विभज्यवर्धमङ्गुल्य ह्य । समसदयतापरवत् इत्युपमा ॥ ४२ ॥

पति ( जय ) बीज्य स्थित तथा माथीके विभज्य कावेसे बीज्यबीज वस ( रघुमयी )  
से मातृकाकर्म मन्त्रिण वृष-विह्वलो पापण करते हुए चन्द्रमाके लक्ष्य काकर वदते है ॥४२॥

विललाप स बाष्पगद्गदं सहजामप्यपहाय धीरताम् ।

अभितप्तमयोऽपि मार्दवं भजते कैव कथा शरीरिणु ॥ ४३ ॥

विललापेति । सोऽजः सहजां स्वाभाविकीमपि धीरतां धैर्यमपहाय विप्रकीर्य बाष्पेण कण्ठगतेन गद्गदं विशीर्णाक्षरं यथा तथा ध्वनिमात्रानुकारिगद्गदशब्दैर्विललाप परिदेवितवान् । 'विलापः परिदेवनम्' इत्यमरः । धीरस्य कुतः शोक इति चेदत आह—अभितप्तमग्निना सन्तप्तमयो लोहमचेतनमपि मार्दवं मृदुत्वमवैरत्वं च भजते प्राप्नोति । शरीरिणु देहिषु । अभिसन्तप्तोऽपि शेषः । विषये कैव कथा वार्ता, अनुकसिद्धमित्यर्थः ॥ ४३ ॥

वे ( अज ) स्वाभाविक भी धैर्यको छोड़कर आँसू से गद्गद होकर विलाप करने लगे, तपा हुआ ( जड़ ) लोहा भी कोमल हो जाता है ( तब चैतन्य ) शरीरधारियोंके विषयमें क्या कहना है ? अर्थात् दुःखसन्तप्त प्राणियोंके तरल होनेमें कोई आश्चर्य नहीं है ॥ ४३ ॥

कुसुमान्यपि गात्रसङ्गमात्प्रभवन्त्यायुरपोहितु यदि ।

न भविष्यति हन्त साधन किमिवान्यत्प्रहरिष्यतो विधेः ॥ ४४ ॥

कुसुमानीति । कुसुमानि पुष्पाप्यपि । अपिशब्दो नितान्तमार्दवद्योतनार्थः । गात्रसङ्गमाद्देहसर्गादायुरपोहितुमपहर्तुं प्रभवन्ति यदि । हन्त विपादे । 'हन्त हर्षेऽनुकम्पायां वाक्यारम्भविपादयोः' इत्यमरः । प्रहरिष्यतो हन्तुमिच्छतो विधेर्देवस्यान्यत्कुसुमातिरिक्त किमिव वस्तु । इवशब्दो वाक्यालङ्कारे, कीदृशमित्यर्थः । साधन प्रहरण न भविष्यति न भवेत्, सर्वमपि साधन भविष्यत्येवेत्यर्थः ॥ ४४ ॥

यदि फूल भी शरीरपर गिरनेसे मारनेके लिये समर्थ होते हैं, तब खेद है कि भविष्यमें मारनेवाले देवकी दूसरी कौन वस्तु ( मारनेके लिये ) साधन नहीं होगी ॥ ४४ ॥

अथवा मृदु वस्तु हिंसितु मृदुनैवारभते प्रजान्तकः ।

हिमसेकविपत्तिरत्र मे नलिनी पूर्वनिदर्शनं मता ॥ ४५ ॥

अथवेति । अथवा पञ्चान्तरे । प्रजान्तकः कालो मृदु कोमल वस्तु मृदुना वस्तुना हिंसितु हन्तुमारभत उपक्रमते । अत्रार्थे हिमसेकेन तुषारनिष्यन्देन विपत्तिर्मृत्युर्यस्याः सा तथा नलिनी पद्मिनी मे पूर्व प्रथम निदर्शनमुदाहरण मता । द्वितीय निदर्शनं पुष्पमृत्युरिन्दुमतीति भावः ॥ ४५ ॥

अथवा काल कोमल पदार्थको कोमल पदार्थसे ही नष्ट करता है, इस विषयमें पाठा (तुषार) पदनेसे नष्ट होनेवाली कमलिनी मुझे पहले उदाहरण रूपमें प्राप्त हो चुकी है ॥ ४५ ॥

सगिध यदि जीवितापहा हृदये किं निहिता न हन्ति माम् ।

विषमप्यमृतं कचिद्भवेदमृतं वा विषमीश्वरेच्छया ॥ ४६ ॥

अगिति । इत्थं लम्बीवितमपहृन्तीति जीवितप्राप्तं न वि हृदये वसति, इदं  
 स्वात्तं हृन्मात्रं मनः इत्युक्तम् । विहता सती मां किं न, इति । ईरनेभ्यः  
 अविच्छेदे विपमप्युक्तं भवेत्कविद्वयं वा विपं भवेत्, ईरनेनात्र कार-  
 मित्यर्थः ॥ ४३ ॥

नरि नरं मया मारमेवाही है तो हृदयपर-रही इत्थं सुखको क्यों-नहीं मारती ॥ अथ  
 ईरनको हृन्मात्रे विप भी नहीं पर नष्ट हो जाता है नीर अगुप्त भी विप हो जाय है ॥ ४३ ॥

अथवा सम आगमविप्लवावशानि कस्मिन् यय वेधसा ॥ ४४ ॥

यदनेन तर्कम पातितं क्षपिता तद्विद्वपाभिसा कृता ॥ ४५ ॥

अथवेति । अथवा सम आगमस्य विप्लवादिपर्यवादेन, कस्मित्यर्थः । विज्ञेयमात्रा  
 न्याय्युक्तिर्विज्ञेयः । वेधसा विधाताऽऽभिर्विधुतोऽर्थ्याः कस्मिन् । 'इन्मीक्षितकर्मि-  
 षो' इत्यमरः । अथस्माद्बैनाप्यधमिना प्रसिद्धाऽऽविदेव तद्वत्तद्व्याधीयः स्वयमेव  
 न पातितः । किन्तु तस्म तरोविद्वपाभिसा कृता कस्मि क्षपिता नास्मिन् ॥ ४५ ॥

अथवा मैं पापको मरिहृत्वासे विधाताने इसे ( इस पुण्यमात्रको ) नष्ट नष्टा है  
 भी इस ( नष्ट ) ने कुछ ( कुछपुण्यसुख ) को नहीं मिराया किन्तु कस्मि नास्मिन् कृता ( मेरी  
 नष्टमिष्ट, हन्तुमटी ) को नष्ट कर दिया ॥ ४५ ॥

कुतवत्यसि नावधीरजामपराधेऽपि यदा चिरं मयि ।

कनमेकपदे निरागस्तं जनसामाप्यमिमं न मन्वसे ॥ ४६ ॥

कुतवतीति । मयि चिरं भूमिदोऽपराधेऽप्यपराधं कुतवत्यपि । राधेः कर्तारि यः ।  
 यदा परमाद्वेयोः । वदेति हेत्वर्थः । 'स्वरादौ पराधे पदेति हेतौ' इति यमकाव्य-  
 वात् । अथधीरजामपराधं न कुतवत्यसि वाक्यार्थः । तत्कथमेकपदे पदवदे । स्वा-  
 त्त्वं एकपद इति विरुद्धः । निरागस्तं निरागमनपराधमिमं अतः । इममिति  
 स्वयमभिर्वेसा मास्मित्यर्थः । आमाप्यं क्षम्याप्य न मन्वसे न क्षिप्रवसति ॥ ४६ ॥

( अथ इन्मीक्षीके मति नालन करते हुए जब विचार करते हैं ) जब मेरे बहुत बर  
 अपराध करवैपर भी इससे मेरा अपमान ( अंतर्धानवाद ) नहीं किना है तब एकपद  
 निरागामी इस जन ( कुछ ) को वाद्यविष्ट करने योग्य क्यों नहीं मापटी हो अर्थात् कुछसे  
 क्यों नहीं दोषटी हो ॥ ४६ ॥

भुवमस्मि शठः क्षुचिस्मिते ! विदितं कैतवयस्सशस्त्रम् ।

परदोषमसन्निवृत्तये क्वनाप्युच्य गतासि मामित ॥ ४७ ॥

भुवमिति । हे क्षुचिस्मिते शयकइसिते ! जटो गच्छविमिषकरी कैतवेव कैतवेव  
 कस्तकः कैतवमिष्य इति अथं शब्दे तव विदितस्त्वया विद्याधोऽस्मि, मयि-

सुद्विपूजार्थेभ्यश्च' इत्यनेन कर्तरि क्तः । 'कृत्य च वर्तमाने' इति कर्तरि ण्यङी ।  
कुतः, यद्यस्मान्मात्मना पृच्छयानामन्येतोऽस्माल्लोकात्परलोकसन्निवृत्तयेऽपुनरावृत्तये  
गतासि ॥ ४९ ॥

हे सुन्दर हासवाली प्रिये ! निश्चय हो तुम मुझे शठ ( गुप्त रूपसे बुराई करनेवाला )  
कपटी प्रेमी जानती हो, क्योंकि मुझसे बिना वहे ही फिर नहीं लौटनेके लिये यहांसे स्वर्गमें  
चली गयी हो ॥ ४९ ॥

दयितां यदि तावदन्वगाद्विनिवृत्तं किमिदं तथा विना ।

सहतां हतजीवित मम प्रबलमात्मकृतेन वेदनाम् ॥ ५० ॥

दयितामिति । इदं मम हतजीवित कुत्सित जीवित तावदादौ दयितामिन्दुमती-  
मन्वगादन्वगाच्छृद्यद्वि अन्वगादेव । यद्यत्रावधारणे । पूर्वं मूर्च्छितत्वादिति भावः ।  
तहि तथा दयितया विना किं किमर्थं विनिवृत्त प्रत्यागतम्, प्रत्यागमनं न युक्त-  
मित्यर्थः । अत एवात्मकृतेन स्वदुश्चैष्टेन निवृत्तिरूपेण प्रबलामधिकां वेदना दुःख-  
सहता क्षमताम् । स्वयंकृतापराधेषु सहिष्णुतेव क्षरणमिति भावः ॥ ५० ॥

यह मेरा निन्दित जीवन यदि पहले प्रियाके पीछे गया ( देखें, श्लो० ३८ ) तो फिर  
वसके बिना लौट क्यों आया ( देखें, श्लो० ४० ) ? इसलिये अपनी करनीके महान् दुःखों  
यह सहन करे ॥ ५० ॥

सुरतश्रमसम्भृतो मुखे ध्रियते स्वेदलवोद्गमोऽपि ते ।

अथ चास्तमिता त्वमात्मना धिगिमा देहभृतामसारताम् ॥ ५१ ॥

सुरतश्रमेति । सुरतश्रमेण सम्भृतो जनित स्वेदलवोद्गमोऽपि ते तव मुखे ध्रियते  
वर्तते । अथ च त्वमात्मना स्वरूपेणास्त नाशमिता प्राप्ता । अतः कारणादेहभृताम्  
प्राणिनामिमां प्रत्यक्षामसारतामस्थिरतां धिक् ॥ ५१ ॥

सुरतके परिश्रमसे उत्पन्न पसीनेका कुछ र लेश भी तुम्हारे मुखपर है और तुम स्वरूपसे  
नष्ट हो ( मर ) गयी, ( अतएव ) देहधारियोंकी इस नि सारताको धिक्कार है ॥ ५१ ॥

मनसापि न विप्रियं मया कृतपूर्वं तव किं जहासि माम् ।

ननु शब्दपतिः क्षितेरहं त्वयि मे भावनिबन्धना रतिः ॥ ५२ ॥

मनसेति । मया मनसापि तव विप्रियं न कृतपूर्वम्, पूर्व न कृतमित्यर्थः ।  
सुप्सुपेति समासः । किं केन निमित्तेन मां जहासि त्यजसि । नन्वह क्षितेः शब्दपतिः  
शब्दत एव पतिः न त्वर्थत इत्यर्थः । भावनिबन्धनाभिप्रायनिबन्धता स्वभावहेतुका  
मे रतिः प्रेम तु स्वय्येव । अस्तीति शेषः ॥ ५२ ॥



मैत्रे जनसे यी हुन्धारा माग्नि वहके कथी नहीं भिना ती हुन्धे क्यों धोइ रही हो ।  
ये निम्न ही नाममात्रसे कर्मात्त कर्मसे सिधे पुष्पीक वति हूँ किन्तु तुममें त्यागपथ  
मेम है ( जग मे मेरी सपत्नीकप पुष्पीके वति हैं पैता मानकर हुन्धे मेरा त्याग करना  
अचित नहीं है ) ॥ ५२ ॥

हुमुमोत्सविताम्बलीभूतमस्तयम्सुहृन्मन्त्रस्तथाप्यम् ।

करमोह करोति मारुतस्त्वपुपाभर्तनराष्ट्रि मे मन ॥ ५३ ॥

हुमुमेति । हुमुमैस्तत्त्ववितापुष्पकैव रविताम्बलीभूतो भग्नैपुकाद् सुप्रियवि  
रमर्षः । सुहृन्मन्त्रे मीठास्तथाप्यमस्तयम्सुहृन्मन्त्रमास्तयः । हे करमोह करमघरहोह ।  
“मन्त्रिणम्बादाकमिह करस्व करमो वक्ति” इत्यमरा । मे मन्त्रस्तपुपाभर्तनराष्ट्रि तव  
पुनरागमने सहायककरोति । त्वपुष्पीकमे कर्त्ता करमतीत्यर्थः ॥ ५३ ॥

हे करमोह । कूक शूरे हुए तथा जैसे २ हुन्धारे शर्कोके दिक्कती हुई गलु मेरे जनसे  
हुन्धारे कैरने ( जीवे ) का समीह सपन्न करती है ॥ ५३ ॥

तदपोहितुमर्हसि प्रिये । प्रतिबोधेन विपादमाद्य मे ।

अलितेन गुहागत तमस्तुदिनात्रेरिव मन्त्रमोषधि ॥ ५४ ॥

तदिति । हे प्रिये । तत्त्वस्मात्कारणमाद्य मे विषादं दुःखम् । तर्कं रत्नामोषधि-  
स्तुमन्मोषिराग्या कदा अलितेन प्रकाशेन तुदिनात्रोर्दिमाक्यस्व गुहागते तमोऽन्त्र-  
कर्मणि प्रतिबोधेन ज्ञानेनापोहितुं विरहितुमर्हसि ॥ ५४ ॥

हे प्रिये । इस कारणसे मेरे विषादकी राख्ये दिमाकव पर्यन्तकी पुकार्मीके जन्मकारकी  
प्रकाशसे ओरपिके समान ( हुन्धे ) ज्ञान ( वैतन्य ) से दूर करना चाहिये ॥ ५४ ॥

इदमुच्छुसितामक मुलं तव विभ्रान्तकर्म हुनोति माम् ।

निशि सुममिवैकपङ्कजं विरताभ्यन्तरपदपङ्कजम् ॥ ५५ ॥

इदमिति । इदमुच्छुसितामकं चकितपूर्वकुन्तकं विभ्रान्तकर्मं विदूष-  
संकापं तव मुक्यम् । निशि राक्षी सुप्तं निमीळितं विरतोभ्यन्तरागामन्तर्गतं  
चन्द्रपद्मं स्वयो चक्षुष्यं विभ्रान्तकर्ममिवैकपङ्कजम् । एकपङ्कजमहितोर्ध्वं पद्ममिव । मी  
शुनोति परितपयति ॥ ५५ ॥

दिक्कते हुए कोछोवाका माकनपदम् ( चुप ) हुन्धारा मुक्य, राख्येमें भीतरमें जनरके  
गुम्बरसे रहित वन्द हुए एक कमलके समान मुझे पीकित कर रहा है ॥ ५५ ॥

शशिन पुनर्येव शर्बरी पयिता हन्धुचर्त पतरिजम् ।

धृति ती विरहान्तरदामी कर्ममत्कर्मगतता न मां दहे ॥ ५६ ॥

शशिनमिति । शर्वरी रात्रिः शशिनं चन्द्रं पुनरेति प्राप्नोति । द्वन्द्वीभूय चरतीति ।  
द्वन्द्वचरः तत्पुत्रिण चक्रवाक दयिता चक्रवाकी पुनरेति । इति हेतोस्तौ चन्द्र-  
चक्रवाकौ विरहान्तरक्षमौ विरहावधिसहौ । 'अन्तरमवकाशावधिपरिधानान्तर्धिमेदता-  
दर्थ्ये' इत्यमरः । अत्यन्तगता पुनरावृत्तिरहिता त्वत्तु कथं न मां दहेर्न सन्तापयेः ।  
अपि तु दहेरेवेत्यर्थः ॥ ५६ ॥

'रात्रि चन्द्रमाको तथा प्रिया ( चक्रव ) मिथुनचारीपक्षी ( चकवे ) को फिर प्राप्त करती  
है' अतः एव वे दोनों ( चन्द्रमा तथा चक्रवा पक्षी अपनी २ प्रियाओंके ) विरहके मध्यभागको  
सहन करनेमें समर्थ होते हैं, ( किन्तु ) सर्वथा गयी हुई ( फिर नहीं लौटनेवाली ) अर्थात्  
मरी हुई तुम मुझे क्यों नहीं जलावोगी ( सन्तप्त करोगी ) अर्थात् अवश्य सन्तप्त करोगी ॥

नवपल्लवसस्तरेऽपि ते मृदु दूयेत यदङ्गमर्पितम् ।

तदिदं विषद्विष्यते कथं वद वामोरु । चिताधिरोहणम् ॥ ५७ ॥

नवेति । नवपल्लवसस्तरे नूतनप्रवालास्तरणेऽप्यर्पितं स्थापितं मृदु ते तव यदङ्गं-  
शरीरं दूयेत परितप्त भवेत् । वामौ सुन्दरौ ऊरु यस्या सा हे वामोरु ! 'वामस्यासु-  
न्दरे सव्ये' इति केशवः । 'सहितशफलक्षणवामादेश्च' इत्यादिनोद्धृत्ययः । तदिदमङ्गं-  
चितायाः काष्ठसञ्चयस्याधिरोहिण कथं विषद्विष्यते ? वद ॥ ५७ ॥

नये पल्लवोंकी शय्यापर भी स्थित जो तुम्हारा यह शरीर सन्तप्त होता था, हे वामोरु  
( सुन्दर जघनोंवाली प्रिये ) ! तब यह ( शरीर ) चितापर रखनेको कैसे सहन करेगा ? ॥

इयमप्रतिबोधशायिनी रशना त्वां प्रथमा रहःसखी ।

गतिविभ्रमसादनीरवा न शुचा नानुमृतेव लक्ष्यते ॥ ५८ ॥

इयमिति । इय प्रथमाऽऽद्या रहःसखी । सुरतसमयेऽप्यनुयानादिति भावः ।  
गतिविभ्रमसादेन विलासोपरमेण नीरवा नि शब्दा रशना मेखला अप्रतिबोधमपुन-  
रुद्बोध यथा तथा शायिनीम्, मृतामित्यर्थः । त्वामनु त्वया सह । 'तृतीयार्थे' इत्यनु-  
शब्दस्य कर्मप्रवचनीयत्वात् । 'कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया' इत्यनेन द्वितीया । शुचा  
शोकेन मृतेव न लक्ष्यत इति न, लक्ष्यत एवेत्यर्थः । सगभाव्यनिषेधनिवर्तनाय द्वौ  
प्रतिषेधौ ॥ ५८ ॥

यह मुख्य तथा एकान्तकी सहेली गमन-विलासके अभावसे शम्भरहित करधनी फिर  
नहीं जगनेके लिये सोई हुई अर्थात् मरी हुई तुम्हारे पीछे शोके मरी हुई नहीं लक्षित  
होती है, यह बात नहीं है अर्थात् यह तुम्हारी करधनी भी नहीं बजनेके कारण तुम्हारे-  
पीछे शोके मरी हुई-सी मालूम पड़ती है ॥ ५८ ॥

कलमन्यभृतासु भापितं कलहंसीषु मदालसं गतम् ।

पृषतीषु विलोलमीक्षितं पवनाधूतलतासु विभ्रमाः ॥ ५९ ॥

त्रिविधोऽस्तु कथाप्यवेद्य भां निहिता सत्यममी गुणास्त्वया ॥ ३ ॥

विरहे तप मे गुणव्यर्थ इवार्थं न त्वयस्त्वमित्युक्ता ॥ ६० ॥

कथमिति, त्रिविधेति । सुप्तम् उभयपरिकल्पनात् । धर्मवृत्तासु कोमिलसु कर्म मधुरं भाषितं माक्यम् । कथंसीदु विधिद्वंद्वसीदु महाकथं मन्त्रं यत् यमवत् । प्रयत्नीयु हरिनीयु विद्येकमीकितं ब्रह्मण इति । परमैव वापुवाऽवृत्तकृतास्वीकृत्यितकृतासु विभ्रमा विव्रस्ताः । इत्यमी पूर्वोक्ता कथमापवाद्यो गुणाः । एष कोमिलमिस्थानेऽपि बोधः । त्रिविधोऽस्तु कथापीह जीवन्मेव स्वर्गं प्रति प्रसिद्धवापि त्वया समावेक्ष्य विरहासहं विचार्य स्तब्धं निहिताम्, मत्प्राप्त्यारब्धेयाप्यतया स्थापिता इत्यर्थः । तत्र विरहे गुणव्यर्थमतिशुद्धं मे इवार्थं मयोऽप्यस्त्वितुं स्थापयितुं न शक्ता न शक्याः । ते तु स्वस्त्यंगम एव सुखकारिणो बान्धवाः, प्रसुप्तं प्राप्तावपहरन्तीति भावः ।

कोषकोमें मधुर भाषण कल्पितिवोमें मरुते जायतसहित गमन रुचिर्बोमें बलक देवता और पवनते बोवा २ दिक्को हुरं कर्माभोमें विवाहः इन गुणोंको स्वर्ग वायेके किने कल्प-  
गिष्ठ हुमने सुखको देवकार ( मेरे स्वर्ग वायेपर इन धीरे गुणोंको देवकार हो वे मधुर पर-  
कायों देवा विचारकर ) वास्तव में स्थापित किने हैं; तथापि वे हुमनते विरहमें लक्ष्मी-  
पोषित मेरे इववधो पारण करनेके किने समर्थ नहीं होते हैं । ( मधुर भाषण बादि  
हुमनते गुणोंको कोषक जाविमें लेनकर हुमनते बिना मेरे इववधो सुख नहीं मिळना है ) ॥

मिथुनं परिकल्पितं त्वया सहकारं कलिनी च तन्विमी ।

अविधाय विवाहसत्क्रियामनयोर्गन्धर्व इत्यसाम्प्रतम् ॥ ६१ ॥

मिथुनमिति । मधु है किने । सङ्गारकृतविशेष कलिनी मिथुनकृता यैसी त्वया मिथुनं परिकल्पितं मिथुनत्वैवान्वयमाप्ति । अथपोः कलिनीसहकारबोर्बिग्राहसत्क्रिया विवाहमङ्गलमविधायामङ्गल्य गन्धर्व इत्यसाम्प्रतममुक्तम् । मातृहीनायां च विधिः । सुखमस्तीति भावा ॥ ६१ ॥

हुमने इस नामके सुख तथा मिथुन कृतको बोवा ( बन्धितकर ) भावा वा ( मधु ) इन दोनोंके विवाह मङ्गल्यो विधा किने जा रही हो यह अनुचित है ॥ ६१ ॥

कुसुम कृतवोहवस्त्वया यदुरोकोऽयमुदीरयिष्यति ।

अलक्ष्मभरणं कथं मु तत्तत्र नेष्यामि निषापमास्त्यताम् ॥ ६२ ॥

कुसुममिति । वृक्षादिपौष्पं बोहवम् । त्वया कृतं बोहवं पादताडनकर्म बल्य कोऽयमसौको यत्कुसुममुदीरयिष्यति असमिष्यते । तथाकथनामाभरणमाभरणवत् तत्कुसुमे कथं मु कैव प्रकारेण निषापमास्त्यतां दाहशब्देनार्थतः नेष्यामि ? 'विप्राणां निषापा स्यात्' इत्यमरः ॥ ६२ ॥

तुम्हारे कोशके भूषणयोग्य उस पुष्पकी मैं किस प्रकार दाह सस्कारके बाद तिलाञ्जलिमें प्रदान करूंगा ? ॥ ६२ ॥

स्मरतेव सशब्दनूपुरं चरणानुग्रहमन्यदुर्लभम् ।

अमुना कुसुमाश्रुवर्षिणा त्वमशोकेन सुगात्रि ! शोच्यसे ॥ ६३ ॥

स्मरतेति । अन्यदुर्लभम्, किन्तु स्मर्तव्यमेवेत्यर्थः । सशब्द-ध्वनियुक्तं नूपुर मञ्जीर यस्य त चरणेनानुग्रह पादेन तादनरूप स्मरतेव चिन्तयतेव कुसुमान्येवाश्रूणि तद्वर्षिणाऽमुना पुरोवर्तिनाऽशोकेन । हे सुगात्रि ! 'अङ्गात्रकण्ठेभ्यो वक्तव्यम्' इति ङीप् । ख शोच्यसे ॥ ६३ ॥

हे सुन्दर शरीरवाली प्रिये ! दूसरेको दुर्लभ, झट्कार करते हुए नूपुरोंवाले चरण ( तादनरूप ) कृपाको स्मरण करते हुएके समान पुष्परूप आँसूको बरसाता हुआ यह अशोक तुम्हारे लिये मानो पश्चात्ताप कर रहा है ॥ ६३ ॥

तव निःश्वसितानुकारिभिर्वकुलैर्धर्धचितां समं मया ।

असमाप्य विलासमेखलां किमिदं किन्नरकण्ठि ! सुप्यते ॥ ६४ ॥

तवेति । तव निःश्वसितानुकारिभिर्वकुलैर्वकुलकुसुमैर्मया सम सार्धमर्धचितामर्ध यथा तथा रचितां विलासमेखलामसमाप्यापूरयित्वा । किन्नरस्य देवयोनिविशेषस्य कण्ठ इव कण्ठो यस्यास्तरसबुद्धिर्हे किन्नरकण्ठि ! 'अङ्गात्रकण्ठेभ्यो वक्तव्यम्' इति ङीप् । किमिदं सुप्यते निद्रा क्रियते । 'वचिस्वपियजादीना किति' इत्यनेन सम्प्रसारणम् । अनुचितमिदं स्वपनमित्यर्थः ॥ ६४ ॥

हे किन्नरके समान ( मधुर ध्वनियुक्त ) कण्ठवाली प्रिये ! ( सुगन्धिमें ) तुम्हारे श्वासका अनुकरण करनेवाले इन मौलसरीके फूलोंसे मेरे साथ आधी गुथी हुई विलास-मेखला ( विलासार्थ करवनी ) को बिना पूरा किये क्यों सो रही हो ? ॥ ६४ ॥

समदुःखसुखं सखीजनः प्रतिपच्चन्द्रनिभोऽयमात्मजः ।

अहमेकरसस्तथापि ते व्यवसायः प्रतिपत्तिनिष्ठुरः ॥ ६५ ॥

समेति । सखीजनः समदुःखसुखं, त्वदुःखेन दुःखी त्वसुखेन सुखीत्यर्थः । अयमात्मजो बाल प्रतिपच्चन्द्रनिभः दर्शनीयो वर्धिष्णुश्चेत्यर्थः । प्रतिपच्चन्द्रेण द्वितीया लक्ष्यते । प्रतिपदि चन्द्रस्यादर्शनात् । अहमेकरसोऽभिन्नरागः । 'शृङ्गारादौ त्रिपे वीर्यं गुणे रागे द्रवे रस' इत्यमरः । तथा जीवितसामग्रीसत्त्वेऽपीत्यर्थः । ते तव व्यवसायोऽस्मत्परित्यागरूपो व्यापारः प्रतिपत्त्या निश्चयेन निष्ठुरः क्रूरः । 'प्रतिपत्तिः पदप्राप्तौ प्रकृतौ गौरवेऽपि च । प्रागख्ये च प्रबोधे च' इति विश्वः । स्मर्तुं न शक्यः किमुताधिकर्तुमिति भावः ॥ ६५ ॥

। (वचन) हे सहैकित्तो सुख-दुःखमें समान रहनेवाली है वह वास्तव प्रतिपक्षे कर्ममार्गे  
समान ( सुख ही नवीन पूर्व बोध होमैंसे मातृपावनकी अपेक्षा करने योग्य ) है और मैं  
भरस रहके ही के समान प्रेम करनेवाला हूँ; तथापि तुम्हारा वर्णन ( हमकोपोंकी ओकर  
त्परी विचारना ) नष्ट ही निकुर मादम वदता है ॥ ६५ ॥

धृतिरस्वमिता रतिरभ्युता विरतं गेष्ममुर्निष्ठसम् ।

गतमामदुषप्रबोधनं परिहृत्य शयनीयमद्य मे ॥ ६६ ॥

धृतिरिति । अद्य मे धृतिर्बैर्ष्यं प्रतीतिर्नर्तनं वासमिता । रतिः कीदृशं च्युता यता ।  
दौर्बल्यं वातं विरतम् । अदुर्बलसम्पत्तिर्निष्ठसम् । आभरणानां प्रबोधनं गतमपगतम् ।  
क्षेत्रेऽस्मिन्निति लक्षणीयं वक्ष्यते, 'हृत्पदस्युद्ये बहुकम् इत्यधिकारार्थेऽप्युक्तम् ।  
परिहृत्यम् । त्वां विना सर्वमपि निष्कलमिति भावः ॥ ६६ ॥

आज मेरा वैर्ष्य दूर गया, प्रेम बह हो गया, गाना बन्द हो गया अदुर्बलसम्पत्ति  
ही नहीं मूल्य रहनेका प्रबोधन समाप्त हो गया और अन्ध हो गया ही फरी ॥ ६६ ॥

गृहिणी सन्धिषु सखी मित्रं प्रियशिष्या सुखिते कदापिषी ।

कठपाणिमुक्तेन सुप्तुना हरता त्वां बहु किं न मे हृतम् ॥ ६७ ॥

गृहिणीति । त्वमेव गृहिणी धाराः । अनेन सर्वं कुटुम्बं त्वदात्म्यमिति भावः ।  
सन्धिषु बुद्धिसहायो मन्त्री सर्वो द्वितीयस्त्वदात्म्य इत्यनेनोच्यते । मित्रो रहसि  
सखी वर्मसन्धिः । सर्वोपयोगस्त्वदात्म्य इत्यनुवा प्रकटितम् । कठिते मनोहरे  
कठपाणिषु शक्तिशालिषु लक्ष्मणमनोरे प्रियशिष्या । मित्रत्वं मातृत्वादित्यमि  
सन्धिः । सर्वाभ्युद्येन त्वत्किमन्येन ह्युक्तमित्यम् । अतस्त्वां समष्टिकम्पं हरता अत  
एव कठपाणिमुक्तेन कृपाशून्येन सुप्तुना मे सर्वसन्धि किं अस्तु न हृतं वद । सर्व-  
मपि हृतमित्यर्थः ॥ ६७ ॥

( प्रम ) गृहिणी मन्त्री, पञ्चान्तकी सखी और मनीषर कठानीके मनोमये प्रिय शिष्या  
थी । प्रमयी हरन करके हृदय विरहं दालने मेरा क्या नहीं हरन कर किया । कही मनीषर  
हलुमे मेरा सब कुछ हरन कर किया ॥ ६७ ॥

मदिराशि । मयाननार्पितं मधु पीत्वा रसवत्कर्म तु मे ।

अनुपास्थसि चाप्यदूषितं परलोकोपनतं जज्ञाच्छशिम् ॥ ६८ ॥

मदिराशीति । मातृममवैति मदिरा कोकप्रसिद्धा । तथापि 'वार्धो मदिराकोकवा'  
हत्वादिप्रयोगदर्शनमाप्तत्वाभ्यामिति मदिरै अक्षिणी वरदास्तत्तत्तुद्धिर्हे मदिराशि  
मच्छकीचै । मयाननैर्वापितं रसवत्कर्मतुहर् मधु मयं पीत्वा चाप्यदूषितमनुतर् पर  
लोकोपनतं वरकोकप्राप्तं मे जज्ञाच्छशिं तिलोदकादिति कथं तु आनन्दान्तरं प्राप्तमिति

तदनन्तरमित्यर्थः । यथाह भट्टमल्ल — 'अनुपान हिमजलं यवगोभूमनिर्मिते । दधित  
मद्ये विपे द्राक्षे पिप्पे पिष्टमयेऽपि च ॥' इति । तच्चेद्वैव युज्यते । इदं तूष्ण लोकान्त-  
रोपयोगि चेत्यायुर्वेदविरोधात्कथमनुपास्यमीति भावः ॥ ६८ ॥

हे मतवाली आँखोंवाली प्रिये ! ( पहले सर्वदा ) मेरे पीये हुए सरस मदिराकी पीकर  
बादमें ( अब मर जानेपर ) मेरी आँखोंसे दूषित तथा परलोकमें प्राप्त (तिलयुक्त) जलाञ्जलि-  
को कैसे पीओगी ? ॥ ६८ ॥

विभवेऽपि सति त्वया विना सुखमेतावदजस्य गण्यताम् ।

अहृतस्य विलोभनान्तरैर्मम सर्वे विषयास्त्वदाश्रयाः ॥ ६९ ॥

विभव इति । विभव ऐश्वर्ये सत्यपि त्वया विनाऽजस्यैतावदेव सुख गण्यताम्  
यावद्वया सह भुक्त ततोऽन्यत्र किञ्चिद्विष्यतीत्यर्थः । कुतः । विलोभनान्तरैर्विषया-  
न्तरैरहृतस्यानाकृष्टस्य मम सर्वे विषया भोगादयस्त्वदधीना । त्वां विना मे न  
किञ्चिदोचित इत्यर्थः ॥ ६९ ॥

( राज्यादि ) ऐश्वर्यके रहनेपर भी तुम्हारे विना अजका इतना ही सुख था ऐसा समझो,  
( क्योंकि ) दूसरे लुभावने पदार्थोंसे नहीं आकृष्ट होनेवाले मेरे भोग-साधन तुम्हारे ही  
आश्रित थे, ( अतः तुम्हारे विना सब भोग-साधन निष्फल मालूम पड़ते हैं ) ॥ ६९ ॥

विलपन्निति कोसलाधिपः करुणार्थप्रथित प्रिया प्रति ।

अकरोत्पृथिवीरुहानपि स्तुतशास्त्रारसबाष्पदूषितान् ॥ ७० ॥

विलपन्निति । कोमलाधिपोऽज इति करुणः शोकरसः स एवार्थस्तेन प्रथितः  
सबद्ध यथा तथा प्रिया प्रतीन्दुमतीमुद्दिश्य विलपन् पृथिवीरुहान्बृहानपि स्तुता-  
शास्त्रारसा मकरन्दा एव बाष्पास्तेर्दूषितानकरोत्, अचेतनानप्यरोदयदित्यर्थः ॥ ७० ॥

इस प्रकार प्रियाके लिये सकरुण विलाप करते हुए कोसलेश्वर अजने ( जड़ ) वृक्षोंको  
भी गिरे हुए मकरन्द ( या निर्यास-आर्द्र गोंद ) रूपी आँसूसे दूषित कर दिया अर्थात् जड़  
वृक्षोंतकको भी रुखा दिया ॥ ७० ॥

अथ तस्य कथंचिदहृतः स्वजनस्तामपनीय सुन्दरीम् ।

विससर्ज तदन्त्यमण्डनामनलायागुरुचन्दनैर्घसे ॥ ७१ ॥

अथेति । अथ स्वजनो बन्धुर्वास्तस्याऽजस्याहृत उत्सङ्गात्कथंचिदपनीय । तद्दि-  
व्यकुसुममेवान्त्यमण्डनमलकारो यस्यास्ता तां सुन्दरीमगुरुणि चन्दनान्येर्घांसी-  
न्धनानि यस्य तस्मै अनलायाग्नये विससर्ज विसृष्टवान् । क्रियाग्रहणमपि कर्तव्यम्  
इति क्रियामात्रप्रयोगे सम्प्रदानस्वाच्चतुर्थी ॥ ७१ ॥

इसके बाद आत्मीय जनोंने किसी प्रकार अजकी गोदसे अलगकर उस दिव्य पुष्पमाला-

एव नमिदं नृद्वारवाही तस्य तुन्दरीको नगर तथा नन्दनके रघुनोवाही नमिदं ।  
समर्पित कर दिवा नर्पात् नगर तथा नन्दनको नमिदं दूरं विचार नका दिवा ॥ ७१ ॥

प्रमदामनु संस्थितं शुभा नृपतिं सभित्तिं वाप्यवर्णनात् ।

न चक्षर शरीरमभिसात्सह वेभ्य नं तु जीविताशया ॥ ७२ ॥

प्रमदामिति । नृपतिरयः सद्यपि विद्वानपि शुभा लोकेन प्रमदामनु प्रमदया स  
संस्थितो मृत इति वाप्यवर्णनाद्विन्वावर्णनादेवेत्युक्त्या सह शरीरमभिसात्सह  
न चक्षर । 'तद्वर्णनचक्षणे इति सतिप्रत्ययाः । जीविताशया प्रत्येच्छया तु चेति ।

राजा ( नर ) 'विद्वान्' इति द्वय मी लोकेन विधाके रोके नर लोके' इत्य लोकेन  
मयसे ही परराजो (इन्दुपती) के सत्यने शरीरको नहीं बचता बीनेकी नाहसे नहीं

अथ तेन दराहृतं परे गुण्योपामुपविरथ मामिनीम् ।

विदुषा विभवो महर्षयः पुर पयोपवने समापिताः ॥ ७३ ॥

अवेति । अथ विदुषा वात्सल्येन कैवल्येन । गुण्य एव सैवा कपाम्बुको कल्याण  
गुण्येवां आमिनीं इन्दुमतीमुपविरथोदित्वा दक्षाचमम्हां समाहातो दक्षदा । 'तमि  
रातो' उपपदसमाहारे क' इत्यनेन समाप्ता । समाहारस्त्वैकत्वादेकवचनम् । 'राजा  
सचिन्वजम्' इति दम् । 'राजादाहा' पुंलिङ्गं इति पुंल्ल । तत्तत्तत्तत् । तस्माद्वाह  
पर कर्णं कर्तव्या महर्षयो महात्मन्महर्षयो विवचा क्रियाः पुरा पुरा उपवच दक्षाय प  
समापिताः सम्पूर्णमुक्तिताः । 'दक्षदाहा' इत्यत्र 'विद्राष्टा' इत्यादेव इत्यादेव युमि  
इति मनुष्यत्वविरोधो नाशकधीयः । तस्य विपुलचरित्रविनयत्वात् । पुनस्तत्तत्तत्तत्  
तु दक्षादेव दक्षिमाह पराधरा- 'कर्मिणस्तु दक्षादेव स्वयमेविरताः शुचिः' इति  
सुख्येभ्योऽपि गुणवत्त्वं विदुषैस्त्वयेन ॥ ७३ ॥

इत्येव वा विद्वान् वस अथवे गुणमात्रावहेन नर्पात् यरी दूरं तुन्दरी ( इन्दुपती ) के  
अवेत्येव दक्ष विरोधे वात्सल्ये सत्य नाह विवली विचारके सत्य अपरके उपवतने ही दृष्ट  
दिवा ॥ ७३ ॥

स बिभेरा पुरीं तथा विमा कृणवापायराशाङ्कवर्णम् ।

परिवाहमिवावलोकायस्वष्टाणं पीरवचमुत्थामुपु ॥ ७४ ॥

स इति । तथेभ्युक्त्या विना । कृणवापा रात्रिपानेभ्योऽप्येव वा कृणवाप्यः क  
इव दरयत इति कृणवापावलोकाङ्कवर्णम् । वाताकाशिकायम् इव दरयमाव इत्यर्थः ।  
दरयत इति कर्मर्थे ह्युक्तः । सोऽत्र पीरवचमुत्थामुपु स्वष्टाया स्वष्टोक्त्य परिपूर्ण  
अथोक्त्यासमिवावलोकायम् । 'अथोक्त्यासमिवावलोकायम्' इत्यमरः । स्वष्टाङ्कवर्णम्

मिव पश्यन्पुरीं विवेश । वधूप्रहणाच्चस्यामिन्दुमत्यां सख्याभिमानादजसमानदुःख-  
सूचकपरिवाहोक्तिर्निर्वहति ॥ ७४ ॥

उस ( इन्दुमती ) के बिना रात्रिके बाद चन्द्रमाके समान प्रभादान वे ( अज ) नगरकी  
स्त्रियोंके मुखपर आँखोंमें अपने शोकके प्रवाहको देखते हुए राजधानीमें प्रवेश किये अर्थात्  
राजा प्रियाके बिना निष्प्रम हो रहे थे तथा नगरकी रमणिया उनके दुःखमें गी रहीं थीं ॥७४॥

अथ त सवनाय दीक्षितः प्रणिधानाद्गुरुराश्रमस्थितः ।

अभिपङ्गजडं विजह्निवानिति शिष्येण किलान्वबोधयत् ॥ ७५ ॥

अथेति । अथ सवनाय यागाय दीक्षितो गुरुर्वसिष्ठ आश्रमे स्वकीयाश्रमे स्थितः  
सन् तमजमभिपङ्गजडं दुःखमोहितं प्रणिधानाच्चित्तैकान्याद्विजज्ञिवाञ्ज्ञातवान् ।  
'कसुश्च' इति कसुप्रत्ययः । इति वक्ष्यमाणप्रकारेण शिष्येणान्वबोधयत्किल बुधे-  
र्यन्ताणिचि लङ् ॥ ७५ ॥

इसके बाद यज्ञके लिये दीक्षाको ग्रहण किये हुए ( अतएव अजके यहां स्वयं आनेमें  
असमर्थ ) गुरु वसिष्ठजीने आश्रमपर रहते हुए ही, दुःखसे मोहित उस अजको इस प्रकार  
मालूमकर शिष्यके द्वारा ( श्लो० ७६-९०, प्रथम तीन श्लोकों (७६-७८) को शिष्यने अपनी  
ओरसे कहा है, शेष वसिष्ठजीका कथन है ) समझाया ॥ ७५ ॥

वसिष्ठशिष्य आह—

असमाप्तविधिर्यतो मुनिस्तव विद्वानपि तापकारणम् ।

न भवन्तमुपस्थितः स्वयं प्रकृतौ स्थापयितुं पथश्च्युतम् ॥ ७६ ॥

असमाप्तेति । यतो हेतोर्मुनिरसमाप्तविधिरसमाप्तकृतुस्ततस्तव तापकारणं दुःख-  
हेतु कलत्रनाशरूपं विद्वाञ्जानन्नपि । 'विदे, शतुर्वसु' इति वस्वादेशः । 'न लोका-  
व्ययनिष्ठाखलर्थतृणाम्' इत्यनेन पृष्टीप्रतिषेधः । पथश्च्युतः स्वभावाभ्रष्टः भवन्तः  
प्रकृतौ स्वभावे स्थापयितुं समाश्वासयितुमिच्छन्ति । स्वयं नोपस्थितो नागतः ॥ ७६ ॥

'मुनि ( वसिष्ठजी ) का यज्ञ समाप्त नहीं हुआ है अतएव आपके सन्तापके कारणको  
जानते हुए भी वे मार्ग ( धैर्य ) से भ्रष्ट आपको प्रकृतिस्थ करनेके लिये ( समझाकर पुनः  
अग्ने स्वभावपर लानेके लिये ) स्वयं नहीं आये हैं, ( किन्तु मेरे द्वारा आपको यह सन्देश  
मेजा है ) ॥ ७६ ॥

मयि तस्य सुवृत्तः । वर्तते लघुसन्देशपदा सरस्वती ।

शृणु विश्रुतसत्त्वसारः । तां हृदि चैनमुपधातुमर्हसि ॥ ७७ ॥

मयीति । हे सुवृत्त सदाचार ! सन्दिश्यत इति सन्देश सदेष्टव्यार्थः । तस्य पदानि  
वाचकानि लघूनि सत्त्वानि सन्देशपदानि यस्यां सा लघुसन्देशपदा तस्य मुने सर-



स्वर्ती वाद्यमि वर्तते । हे विभुतसारससार ! प्रख्यातवैर्वातिधाम ! तां सरस्वतीं ननु  
पूनां वार्चं हृद्युपवातुं वार्तुं चाहसि ॥ ७० ॥

हे सदाधारसम्पद ! मोक्षे सन्देशवाणी कनकी वाणी मुक्तमें स्थित ॥ वार्ता हृद्युप  
वाते धर्मोंमें मेरेद्वारा सन्देश भेजा है । हे प्रसिद्ध पराक्रमवाले जन ! इसे नाप सुनें और  
हृदयमें रखें ॥ ७० ॥

वचनमात्रार्थानुगुणं मुनेः सर्वज्ञत्वं तावदाह—

पुरुषस्य पदप्यखन्मनः समतीर्तं च भवच्च भावि च ।

स हि निष्प्रतिषेधेन चाधुना त्रितयं ज्ञानमयेन परयति ॥ ७१ ॥

पुरुषस्येति । अजन्मका पुरुषस्य पुराणपुरुषस्य भगवत्कृतिविजयस्य परेण वि  
मेधु त्रिमुदनेष्वपीत्यर्थः । समतीर्तं यतः च भवद्वर्तमानं च भावि भविष्यत्सर्वं  
त्रितयं स मुनिर्मिथ्यप्रतिषेधप्रतिषेधेन ज्ञानमयीन चाधुना ज्ञानरूपा परयति हि  
अतस्तदुक्तिं न संशयितव्यमित्यर्थः । कोकपदे काकजवस्य वार्तां पुरुषमिहं  
जायतातीति भावः ॥ ७१ ॥

वचनमा पुराणपुरुष (शामन गणवान्) के वार्तामें वार्ता वैकीरवमें स्थित वृत्त वर्तमान  
एवा भविष्य इन तीनोंको है (वर्तमान) प्रतिषेधप्रतिषेधेन ज्ञानमयीन ज्ञानमयीन ज्ञानमयीन है (अजन्म  
जनके भेदे हुए संदेशमें जायकी सन्देश दूरकर पूर्ण विचार करना चाहिये) ॥ ७१ ॥

चरतं किञ्च दुर्जरं तपस्तृणविन्दो परिगृह्यतुं पुनः ।

प्रतिषाद्य समाधिमेदिनीं हरिरस्मै हरिणीं सुराङ्गनाम् ॥ ७२ ॥

चरत इति । पुरा किञ्च दुर्जरं तीर्थं तपश्चरतस्तृणविन्दोस्तृणविन्दुनामकाकस्मा-  
द्विन्दोः परितस्त्रितो भीतः कर्नरि च । 'भीषार्थानां भवदेतु' इत्यपवादवाच्यप्रथमी ।  
हरिरिन्द्रा समाधिमेदिनीं तपोविषयिणीं हरिणीं नाम सुराङ्गनामरमे दुन्दुविन्दो  
प्रतिषाद्य मेरितवाङ् ॥ ७२ ॥

( शिष्य अहं वर्तते मुनि वनिज्योका उद्दिष्ट वदना है— ) 'पदके अतिरिक्त उत्तरा  
करते हुए दुर्गमन्तु मुनिसे करे हुए इन्द्रमे नवाधिको जंग करमेवाली हरिणी ( नायकी )  
देखाइवाली भेजा । ७२ ॥

स तपप्रतिबन्धमन्युना प्रमुखाविष्णुनचारुपिधमाम् ।

अरापद्वयं मानुषीति तां शमवेक्षं प्रत्ययोमिजा मुपा ॥ ७३ ॥

न इति । ॥ मुनिः शमः शान्तिरेव वेदा वार्ता तावदा प्रकथीर्म्मा प्रकथयन्-  
वार्ता प्रकथयन् प्रकथयन् । 'अप्यनुविदुषी वेदा काकमर्कद्वोरिति' इत्यमरः ।  
तप्याप्रतिबन्धेन विजेष को प्रमुखा कोकलीन हेतुना प्रमुखाये जाविष्णुनचारुपिधमाम्

प्रकाशितमनोहरविलासां ता हरिणीं भुवि भूलोके मानुषी मनुष्यस्त्री भवेत्यशप-  
च्छाप ॥ ८० ॥

उस मुनिने शान्तिरूपी किनारा ( पक्षा०-मर्यादा ) के, प्रलयकालिक तरङ्गके समान  
तपस्याके बाधक होने के कारण क्रोधसे, सामने सुन्दर विलास ( शृङ्गारमय हाव-भाव )  
दिखानेवाली उस ( हरिणी ) को 'मानुषी हो जावो' ऐसा शाप दिया ॥ ८० ॥

भगवन्परवानय जनः प्रतिकूलाचरित क्षमस्व मे ।

इति चोपनतां क्षितिस्पृश कृतवानासुरपुष्पदर्शनात् ॥ ८१ ॥

भगवन्क्षिति । हे भगवन्महर्षे ! अयं जनः परोऽस्यास्तीति स्वामित्वेन परवानपरा-  
धीनः । इन्द्राधीन इत्यर्थः । अयमित्यात्मनिर्देशः । अहं पराधीनेत्यर्थः । मे मम प्रति-  
कूलाचरितमपराध क्षमस्वेत्यनेन प्रकारेणोपनतां शरणागततां च हरिणीमासुरपुष्पदर्श-  
नात्सुरपुष्पदर्शनपर्यन्तम् । क्षितिं स्पृशतीति क्षितिस्पृक्तां क्षितिस्पृश मानुषीं कृतवा-  
नकरोत् । दिव्यपुष्पदर्शनं श्लापावधिरित्यनुगृहीतवानित्यर्थः ॥ ८१ ॥

'हे भगवन् ! यह जन अर्थात् मैं ( इन्द्रके ) पराधीन है, अतः ( मेरे ) विपरीत व्यवहार  
को क्षमा कीजिये' इस प्रकार ( कहती हुई ) शरणागत उसको देव-पुष्पके दर्शनतक पृथ्वी-  
पर रहनेवाली अर्थात् मानुषी बना दिया अर्थात् 'देव-पुष्प देखनेके बाद तुम मानुषी  
शरीरका त्यागकर फिर स्वर्गमें आ जावोगी' ऐसी शापकी अवधि मुनिने कर दी ॥ ८१ ॥

ऋथकैशिकवशसम्भवा तव भूत्वा महिषी चिराय सा ।

उपलब्धवती दिवश्च्युत विवशा शापनिवृत्तिकारणम् ॥ ८२ ॥

ऋथेति । ऋथकैशिकानां राज्ञा वशे सम्भवो यस्याः सा हरिणी तव महिष्यभि-  
षिक्ता स्त्री 'कृताभिषेका महिषी' इत्यमरः । भूत्वा चिराय दिवः स्वर्गाच्च्युत शापनि-  
वृत्तिकारणं सुरपुष्परूपमुपलब्धवती । विवशा अमूदिति शेषः । मृतेत्यर्थः ॥ ८२ ॥

ऋथकैशिक वशकी कन्या वह ( हरिणी नामकी ) तृणविन्दु मुनिसे शाप पायी हुई देवाङ्गना )  
बहुत दिनोंतक तुम्हारी पटरानी होकर स्वर्गसे गिरे हुए, शापकी निवृत्तिके कारण ( पुष्पमाला )  
को प्राप्त करनेपर विवश हुई अर्थात् मर गयी ॥ ८२ ॥

तदलं तदपायचिन्तया विपदुत्पत्तिमतामुपस्थिता ।

वसुधैवमवेक्ष्यतां त्वया वसुमत्या हि नृपाः कलत्रिणः ॥ ८३ ॥

तदलमिति । तत्तस्मात्तस्या अपायचिन्तयात्, तस्या मरणं न चिन्तयमित्यर्थः ।  
निषेधक्रियां प्रति करणत्वाच्चिन्तयेति तृतीया । कुतो न चिन्तयमत आह-उत्पत्तिमतां  
जन्मवता विपद्विपत्तिरूपस्थिता सिद्धा । 'जातस्य हि भ्रूवो मृत्युर्भ्रुव जन्म मृतस्य च'  
इत्यर्थः । तथापि कलत्ररहितस्य किं जीवितेन । तन्नाह-स्वयेयं वसुधा भूमिरवेक्ष्यता

पास्यताम् । हि वरमाप्नुया वसुमत्या पुत्रिभ्या ककुब्जिण ककुब्जवन्तः, जतो न शोचि  
तन्वमित्ययो ॥ ८३ ॥

रघु वरमाप्नुयै वरमाप्नुयै विन्ता वरमाप्नुयै ॥ यद्यपिभीषी विरति निमित्त है, पुन  
रघु पुत्रीकी देवी कर्वाए रत्नका कर्वाए सन्तानो, कर्वाए राधाजीग पुत्रीके वक्षोपके  
होते है ॥ ८३ ॥

उदये मद्वाक्यमुच्यता कुतमाविष्कृतमात्मवत्त्वया ।

मनसस्तुपस्थिते स्वरे पुनरवस्तीवतया प्रकाशयताम् ॥ ८४ ॥

उदय इति । उदयेऽमुदये सति मदीय ब्रह्मार्थं विन्तापुत्रीं वदुज्जता परिहृता  
सत्यपि मद्देवावमाप्नुया त्वया ब्रह्मवत्त्वमाप्नुयान्तरं कुतं वाक्यम्, तन्वितं वा  
मिति वाक्यम् । आविष्कृतं मन्त्रादितं तन्वितं मन्त्रो स्वरे सन्ताप उपस्थितं यत्नेन  
वतया वैर्येण विन्तेन पुनः प्रकाशयताम् । विदुषा सर्वात्मवत्त्वावपि वैरिण प्रकित  
व्यमित्ययो ॥ ८४ ॥

मन्त्रवदये मद्देव विन्तापुत्रीं त्वया करी है उदये की वाक्य ( वाक्यमन्त्र वाक्य ) को  
मन्त्रादित ( वाक्य ) विन्ता है । कते मन्त्रादित सन्ताप हीनपर पुनरवस्तीवतये ( वा वैरि )  
मन्त्रादित करो । ( ऐक्यवत्त्वम् होते है उदय की कथिमन्त्रादित त्वयाकर मन्त्र विन्ते है उदय  
वापतिवाक्यम् की वैर्यपूर्वक मन्त्रादितकर कते है कथ की कर्वाए योक्तव्य ज्ञान करो ) ॥ ८४ ॥

इतोऽपि न रोचिष्यमित्याह—

उदया कुत एव सा पुनर्मन्त्रा नानुसृतापि कम्पते ।

परलोकास्तुपां स्वकर्मभिर्गतया मिश्रपया हि देहिनाम् ॥ ८५ ॥

उदयेति । उदया मन्त्रा सा कुत एव कम्पते । न कम्पत एव । अनुसृतापि इत्य-  
नुसृता । विन् । वैरापुसृताऽनुसृतापि मन्त्रा पुनर्न कम्पते । कर्म न कम्पत  
इत्याह—परलोकास्तुपां कर्मभिरभ्यासां वृद्धिनाम् । गन्धर्व इति यत्पयो यन्मन्त्रादित  
स्वकर्मभिर् पूर्वावरितपुण्यपापैर्मिश्रपयाः पुनरनुसृतापि हि । परवापि स्वकर्मभिर्  
कर्मकर्मभोगाव मिश्रदेहिनामनाम् सुतेनापि कम्पत इत्ययो ॥ ८५ ॥

रीते है उदय पुन कते कथि वानोगे । कते पीके मन्त्र की कते नहीं वा कतेये, कर्वाए  
मरे है उदय कीर्वाए यति नपये कर्वाए अनुसार मिश्र २ होती है ॥ ८५ ॥

अपयोक्तमना कदुम्बिमीमनुगृहीष्य निषापद्विभि ।

स्ववनाम्बु किदातिसन्ततं वृद्धि मेतमिति प्रचक्षते ॥ ८६ ॥

अपयोक्तमना इति । निषापयोक्तमना विदुषाविन्ता सत् कदुम्बिमीं कर्वा मिश्र-  
पद्विभि विन्तेवद्विवावैरपुगृहीष्य तर्पित्ययो । कम्पया दोरमाह—अतिसन्त-  
त-

मविच्छिन्न स्वजनानां बन्धूना 'बन्धुस्वस्वजनाः समाः' इत्यमरः । अथ कर्तुं । प्रेतं मृतं दहतीति प्रचक्षते मन्वादयः किल । अत्र याज्ञवल्क्यः—'श्लेष्माशु बन्धुभिर्मुक्तप्रेतो मुहूर्त्ते यतोऽवशः । अतो न रोदितव्यं हि क्रियाः कार्याः स्वशक्तितः' ॥ इति ॥ ८६ ॥

मनको शोकरहितकर पत्नी ( इन्दुमती ) को पिण्डदान आदिसे तृप्त करो, क्योंकि 'निरन्तर वहनेवाली स्वजनोंकी आँख प्रेत ( मृतात्मा ) को जलाती है' ऐसा ( मनु आदि महर्षि ) कहते हैं ॥ ८६ ॥

मरण प्रकृतिः शरीरिणां विकृतिर्जीवितमुच्यते बुधैः ।

क्षणमप्यवतिष्ठते श्वसन्यदि जन्तुर्ननु लाभवानसौ ॥ ८७ ॥

मरणमिति । शरीरिणां मरणं प्रकृतिः स्वभावः, ध्रुवमित्यर्थः । जीवित विकृति-यादृच्छिकं बुधैरुच्यते । एव स्थिते जन्तुः प्राणी क्षणमपि । अत्यन्तसयोगे द्वितीया । श्वसन्जीवन्नवतिष्ठते यद्यसौ क्षणजीवी लाभवाननु । जीवने यथालाभ सन्तोष्यम् । अलभ्यलाभात् । मरणे तु न शोचितव्यम् । अस्य स्वाभाव्यादिति भावः । अत्र मरणशब्देन स्थूलशरीरत्यागोऽवगन्तव्यः ॥ ८७ ॥

शरीरधारियोंका मरना स्वभाव और जीना विकार कहा जाता है, ( अतः ) यदि जीव क्षणमात्र भी श्वास लेता हुआ ठहरता अर्थात् जीता है तो वह लाभवान् है ॥ ८७ ॥

अवगच्छति मूढचेतनः प्रियनाश हृदि शल्यमर्पितम् ।

स्थिरधीस्तु तदेव मन्यते कुशलद्वारतया समुद्धृतम् ॥ ८८ ॥

अवेति । मूढचेतनो भ्रान्तबुद्धिः प्रियनाशमिष्टनाश हृद्यर्पितं निखातं शल्यं शङ्कु-मवगच्छति मन्यते । स्थिरधीर्विद्वान्स्तु तदेव शल्यं समुद्धृतमुत्खातं मन्यते । प्रिय-नाशे सतीति शेषः । कुतः । कुशलद्वारतया प्रियनाशस्य मोक्षोपायतयेत्यर्थः । विष-यकाभविनाशयोर्यथाक्रमं हिताहितसाधनत्वाभिमानं पामराणां विपरीतं तु विपश्चि-त्तामिति भावः ॥ ८८ ॥

मूढबुद्धि व्यक्ति शूके नाशको हृदयमें चुभा हुआ काँटा समझता है और धैर्यवान् व्यक्ति तो ( मोक्षोपाय साधक ) श्रेष्ठ मार्गद्वारा उस काँटेको निकाला हुआ समझता है । ( मूर्खलोग विषयलाभको उत्तम लाभ तथा मरणको हानि और विद्वान्लोग इसके विपरीत समझते हैं ) ॥ ८८ ॥

स्वशरीरशरीरिणावपि श्रुतसयोगविपर्ययौ यदा ।

विरहः किमिवानुतापयेद्बद बाह्यैर्विषयैर्विपश्चितम् ॥ ८९ ॥

स्वशरीरेति । स्वस्य शरीरशरीरिणौ देहात्मानावपि यदा यतः श्रुतौ श्रुत्यवगतौ सयोगविपर्ययौ सयोगवियोगौ ययोस्तौ, तयोस्तौ, तदा बाह्यैर्विषयैः पुत्रमित्रकलत्रा-

विमिर्बिरहा विप्रविष्टं विह्वलं किमिवायुतापयेतं बह, न किञ्चिन्वितर्कः । ननु स्वयम्भूतस्य धर्मेतिषेव सम्बन्धः ॥ ८९ ॥

न नपये शरीर और नात्यान्ध भी संशय और विषय घना ( एवं देखा ) बरा है  
एव गहरी विचोरे विषय होया विह्वल भी नही उन्मत्त करे । कही । गहरी विचोरे  
विचोले विह्वल कदापि दोष नहीं करता चाहिये ॥ ८९ ॥

न पूषगजनवक्षुषो बरां बरिनामुत्तम । गन्तुमर्हसि ।

हुमसानुमतां किमन्तरं यदि वायौ हितयेऽपि ते बला ॥ ९० ॥

वेति । हे बरिनामुत्तम गितेन्द्रियवर्ष ! पूषगजनवक्षुषो बरां बरिनामुत्तम  
वक्षुषो बरिनामुत्तम । तथा हि हुमसानुमतां तदतिप्रसिद्धां किमन्तरं को मिले  
वायौ सति हितयेऽपि हिमकारा अपि । प्रथमवारम्— इत्यादिवा सति विमाना  
सर्ववामसंज्ञा । हे हुमसानुमतां बरां बरिनामुत्तम । साहुमतामपि बरां हुमसानुमतां  
वक्षुषो बरां बरिनामुत्तम ॥ ९० ॥

हे गितेन्द्रियोंमें मेह नन । ( हुम ) साधारण ननके समान धोके बरमें होय  
( हुमतामके फिरे धोक करना ) कथित नहीं है क्योंकि इनके बरनेपर वे तथा रते  
हीनों बरक हो तो उन हीनोंमें ननर ही नन रह जायगा । ननर ही ( नन  
एव हुम ) धोकेकारण कथित होये नर भी ननके बरनेपर बरनेके समान स्वर रता  
ननरिने ॥ ९० ॥

स तयेति विनेतुद्वारमते प्रतिगृह्य बभौ विससर्ज मुनिम् ।

तदलक्ष्यपय इति शोकपने प्रतिपातमिवान्तिक्मस्य गुरो ॥ ९१ ॥

स इति । सोऽयं द्वारमतेर्विनेतुर्गुरोर्वसिहस्य ननस्यन्विष्यमुक्तेरितं तयेति प्रति  
गृह्यान्विष्य मुनिं वसिहसिन्धं विससर्ज मेववामात् । किन्तु तद्वत् शोकपने हुम  
साम्नेऽस्याकरव इत्यलक्ष्यपयमप्राप्तावकाशं सगुरोर्वसिहस्यान्तिक्मं प्रतिपातमिव  
प्रतिविह्वले किम् । इत्युपेक्षा । छोटकृत्तमैतत्—इह शोकपनमुचितैः प्रवित्तव इति  
तद्वत्तमम् ॥ ९१ ॥

हे नन नन दुःखिणी ननरिण ( वसिहजी ) के ननरिणी देता ही कल्याण  
प्रकार प्रवित्तव मुनि ( वसिहजीके शिष्य ) को निवा फिरे किन्तु ननरिणी धोके  
( नन ) के इहमें त्यागही नहीं जायेगा नन ननरिणी ( नन ) के गुर ( वसिह जी ) के  
वाम धोद गया क्या ॥ ९१ ॥

तेमाही परिगमिता समा कर्मादिद्वारात्प्राप्तवित्तवसुखतन सुनो ।

सादरप्रतिकृतिदर्शनेऽपि प्राप्ता स्वप्नेषु कणिकसमागमोत्सवे ॥ ९२ ॥

तेनेति । अवितथ यथार्थं सूनुत प्रियवचन यस्य तेनाजेन । सूनोः पुत्रस्य वाल्वात्, राज्याक्षमत्वादित्यर्थः । प्रियाया इन्दुमत्या सादृश्य वस्त्वन्तरगतमाकारसाध्यम् । प्रतिकृतिश्चित्रम् । तयोर्दर्शनैः स्वप्नेषु क्षणिकाः क्षणमक्षुरा ये समागमोत्सवास्तैश्च कथञ्चिच्छृङ्खलैः । अष्टौ समा वत्सराः । 'सवत्सरो वत्सरोऽब्दो ह्ययनोऽस्त्री शरत्समा' इत्यमरः । परिगमिता अतिवाहिता । उक्तं च- 'वियोगावस्थासु प्रियजनसहचानुभवनं ततश्चित्रं कर्म स्वपनसमये दर्शनमपि । तदङ्गस्पृष्टानामुपगतवतां स्पर्शनमपि प्रतीकारं कामव्यधितमनसां कोऽपि कथितः' ॥ इति । प्रकृते सादृश्यादित्रितयाभिधानं तदङ्गस्पृष्टपदार्थस्पृष्टेरप्युपलक्षणम् । प्रहर्षिणीवृत्तमेतत् ॥ ९२ ॥

सत्यवक्ता उस ( अज ) ने पुत्रके बालक ( अवोष ) होनेके कारण प्रिया ( इन्दुमती ) के समान चित्र आदि देखने तथा स्वप्नोंमें क्षणिक समागमके आनन्दोंसे किसी प्रकार आठ वर्ष बिताया ॥ ९२ ॥

तस्य प्रसह्य हृदयं किल शोकशङ्कुः प्लुचप्ररोह इव सौधतल विभेदः ॥  
प्राणान्तहेतुमपि तं भिषजामसाध्य लाभं प्रियानुगमने त्वरया स मेने ॥ ९३ ॥

तस्येति । शोक एव शङ्कुः कीलः । 'शङ्कुः कीले शिवेऽस्त्रे च' इति विश्वः । तस्याजस्य हृदयम् । प्लुचप्ररोहः सौधतलमिव । प्रसह्य बलात्किल विभेदः । सोऽजः प्राणान्तहेतु मरणकारणमपि भिषजामसाध्यमप्रतिसमाधेयं तं शोकशङ्कुः रोगपर्यवसित प्रियाया अनुगमने त्वरयोत्कण्ठया लाभ मेने । तद्विरहस्यातिदुःसहत्वात्-  
श्चासिकारण मरणमेव वरमित्यमन्यतेत्यर्थः ॥ ९३ ॥

शोकरूप काँटेने उस अजके हृदयको, मकानके छतको पीपलके अङ्कुरके समान बलात् विदीर्ण कर दिया, उस ( अज ) ने प्राणान्त करनेवाले तथा वेधाँके असाध्य उस ( शोकरूप शङ्कु ) को शीघ्रतासे या उत्सुकतासे प्रियाके अनुगमनको लाभकारक माना ॥ ९३ ॥

सम्यग्विनीतमथ वमंहर कुमारमादिश्य रक्षणविधौ विधिवत्प्रजानाम् ।  
रोगोपसृष्टतनुदुर्वसति मुमुक्षुः प्रायोपवेशनमतिर्नृपतिर्बभूव ॥ ९४ ॥

सम्यगिति । अथ नृपतिरजः सम्यग्विनीतं निसर्गसत्काराभ्यां विनयवन्तम् । वमं हरतीति वमंहरं कवचधारणार्हवयस्कम् । 'वयसि च' इत्यधप्रत्ययः । तं कुमारं दृशरथ प्रजानां रक्षणविधौ राज्ये विधिवद्विध्यर्हं, यथाशास्त्रमित्यर्थः । 'तदहम्' इति वतिप्रत्ययः । आदिश्यं नियुज्य रोगेणोपसृष्टाया व्यासायास्तनो शरीरस्य दुर्वसति दुःखावस्थितिं मुमुक्षुर्जिहासु सन् । प्रायोपवेशनेऽनशनावस्थाने मतिर्यस्य स बभूव । 'प्रायश्चानशने मृत्यौ तुल्यबाहुल्ययोरपि' इति विश्वः । अत्र पुराण-

वचनम्—‘समासजो यथेष्टस्तु पातकैर्महाविमिः । बुद्धिभिरस्वैर्महामोः पीडितो  
 यः यथेष्टु यः ॥ स्वयं देहविनाशस्य काके प्राप्ते महामतिः । आश्रयान् वा स्वर्गं वि-  
 महाकविगीतवाः ॥ यथिसेय्यकर्म क्षीतं कुर्वाणवसर्गतवा । एतेषामधिकारोऽस्ति  
 बान्धवो सर्वजन्तुषु ॥ वराणामय वारीणां सर्वकर्त्रेण सर्वदा’ इति । जनबोधस्तत्  
 ठिकवचनम् । तद्वचनम्—‘अथ वसन्तविक्रमा तपसा कथं वा’ इति ॥

रघुदे वार राजा (नव) जन्मो तरह स्थिति जनवर्ती कुमार (पुत्र दत्तर) को  
 मन्त्रजो रक्षाके कर्तव्ये विविपूर्वक आदेश देकर रोगप्रस्त शरीरको कष्टम स्थितिको  
 बुद्धविक रण्णुव ही प्राप्तीपवैव (नव-वचन स्थान) कर दिने ॥ १४ ॥

तीर्थे तोयव्यतिकरमथे कङ्कुम्भासरण्यो  
 देहत्यागाद्मरगणनाक्षेप्यमासत्य सद्यः ।

पूर्वाभरविक्तरुणा सङ्गत कन्तयाऽसी

स्त्रीकागारेण्वरमत पुनर्नन्दनाभ्यन्तरेणु ॥ ६२ ॥

तीर्थे इति । जसावको कङ्कुम्भासरण्योस्तीर्थानां जलानां व्यतिकरेण सम्येदेव  
 मथे तीर्थे सङ्गतसरण्युत्तमे देहत्यागास्तद्य पूर्वमरगणनाक्षां केचन केचनम् । ‘तथोक्तं  
 कृतवचनकथा’ इति आचार्ये व्याख्याया । आसत्य प्राप्य । पूर्वस्मादाभरादधिकतरा  
 कन्तयास्तथा कन्तया रमण्या सङ्गतः सद्यः । नन्ववस्वेन्द्रोद्यावस्वाभ्यन्तरेणान्त  
 र्गतिं तु स्त्रीकागारेणु स्त्रीकायमथेणु पुनरवमत । ‘वयाकवविच्छीर्षेऽस्मिन् देहत्यागां करोति  
 वा । तस्याध्यासदोषा न प्राप्नुयादीप्तिराम्बरि ॥ इति तन्मते । तन्मात्रमन्ता-  
 वचनम् । तद्वचनम्—‘महाकम्ता जलविपद्गौर्मी वती तत्पुत्रक वेद’ इति ॥

इति श्रीमहम्महोपाध्यायकोकाव्यमहाविद्यालयस्य विरचितया सप्तोविंशति-

प्राक्तव्या व्याख्याया अमेतो महाकविगीतवाकित्वास्तुतो रघुवंसे

महाकम्ते जलविक्रपो वामाहमा सर्गः ॥ ६४ ॥



(दे अत्र) कहा तथा सरणु नदिकोंके जलके मिश्रणसे वने हुए तीर्थमें कर्तव्य पड़ा  
 सरणुके संपर्कमें देहत्याग करनेसे तत्पश्चात् देवत्वकी प्राप्त होने की वरदक्षेत्री नाकृतिसे  
 अभिष्ट तुम्हरी मित्रा (देवाहवा) के साथ भक्तव नयके भीतर कीद्वयमिदोंके सम  
 करने को ॥ १५ ॥

अह यमिमना टीकमें ‘तुर्वीक्ष’ महाकम्ताका ‘मज्जिगत नावक

अहम समे तमात्र हुना ॥ ५ ॥

## नवमः सर्गः ।

एकलोचनमेकार्धे सार्धलोचनमन्यत ।

नीलार्धं नीलकण्ठार्धं महः किमपि मन्यहे ॥

पितुरनन्तरमुत्तरकोसलान्समधिगम्य समाधिजितेन्द्रियः ।

दशरथः प्रशशास महारथो यमवतामवतां च धुरि स्थितः ॥ १ ॥

पितुरिति । समाधिना सयमेन जितेन्द्रियः । 'समाधिर्नियमे ध्याने' इति कोशः । यमवतां सयमिनामवताम् । 'ब्रह्मचर्यं दया चान्तिर्दानं सत्यमकल्कता । अहिंसास्ते-यमाधुर्यदमश्चेति यमाः स्मृताः' इति याज्ञवल्क्यः । रचता राज्ञां च धुर्यग्रे स्थितो महारथः । 'एको दश सहस्राणि योधयेद्यस्तु घन्विनाम् । शस्त्रशास्त्रप्रवीणश्च स महारथ उच्यते' ॥ इति । दशरथः पितुरनन्तरमुत्तरकोसलाक्षनपदान्समधिगम्य प्रशशास । अत्र मनु- 'चत्त्रियस्य परो धर्मः प्रजानां परिपालनम् ।' इति । द्रुतविलम्बितमेतद्बृत्तम् । तल्लक्षणम्- 'द्रुतविलम्बितमाह नभौ भरौ' इति ॥ १ ॥

वामार्द्धमें है एक नेत्र परार्द्धमें वह सार्द्ध है ।

नीलार्द्ध नील गलाद्धं उस निर्वाच्य महको हम भजें ॥

सयमस्ते इन्द्रियोंको विजय किये हुए तथा सयमियों और रक्षकोंमें मुख्य महारथी 'दशरथ' पिताके बाद उत्तरकोसल देशकी प्रजाओंका शासन करने लगे ॥ १ ॥

अधिगतं विधिवद्यदपालयत्प्रकृतिमण्डलमात्मकुलोचितम् ।

अभवदस्य ततो गुणवत्तर सनगर नगरन्ध्रकरौजसः ॥ २ ॥

अधिगतमिति । अधिगत प्राप्तमात्मकुलोचितं स्वकुलागतं सनगरं नगरजन-सहितं प्रकृतिमण्डलं जानपदमण्डलम् । अत्र प्रकृतिशब्देन प्रजामानवाचिना नगर-शब्दयोगाद्गोबलीवर्दन्त्यायेन जानपदमात्रमुच्यते । यद्यस्माद्विधिवद्यथाशास्त्रमपालयत् । ततो हेतोः । रन्ध्र करोतीति रन्ध्रकरः रन्ध्रहेतुरित्यर्थः । 'कृणो हेतुवाच्छ्रीत्या-नुलोम्येषु' इति टप्रत्ययः । नगस्य रन्ध्रकरो नगरन्ध्रकरः कुमारः । 'कुमारः क्रौञ्चदा-रणः' इत्यमरः । तदोजसस्तत्तुल्यबलस्यास्य दशरथस्य गुणवत्तरमभवत् । तत्पौरजन-पदमण्डलं तस्मिन्नतीवासकमभूदित्यर्थः ॥ २ ॥

प्राप्त हुए, अपने कुलके योग्य नगरसहित देशकी प्रजाको ( दशरथने ) जो ठीक पालन किया, इससे (क्रौञ्चनामक) पर्वतमें छिद्र करनेवाले अर्थात् स्वामी कीर्तिकेयके समान पराक्रमी इस ( दशरथ ) का प्रजामण्डल अतिशय गुणी ( दशरथमें स्नेह करनेवाला ) हुआ ॥ २ ॥



उभयमेव वदन्ति मनीषिणः समवर्षितया कृतकर्मणम् ।

बलनिपूतनमर्थपतिं च तं मममुक्त्वा मनुष्यद्वयस्यैव ॥ ३ ॥

उभयमिति । मत्तस्य इच्छितो मनीषिणो विद्वांसः । प्रयोदशदिवसत्माहुः । वर-  
विपुलमिन्द्रियम् । इन्द्रस्य यतो राजा मजुरिति यो वदन्त्यस्य स पृथग्वचः कृतस्वो  
वस्य तमर्थपतिं वृद्धारथं चेतुमथमेव । समवर्षस्यारे बलं बले च वर्पतीति सम-  
वर्षी तस्य भावः समवर्षिता तथा हेतुना कृतकर्मणा स्वकर्मकारिण्यम् । मुदतीति  
मुदम् । इगुपमवाप्तीक्रिया कः इति कर्मत्वया । ममस्य मुदं मममुदम् । किञ्चिन्तने  
मनुष्यकर्मिणे भोमपक्षमेव सामानाधिकरन्त्यं न स्यात् इति वदन्ति ॥ ३ ॥

विद्वान् कोऽपि सन्न तथा राजा मनुके वंशज वदन्त्य—एन बीबीको हो समवर्ष (कर्मका-  
रक तथा बलकी) गृहि करमेसे कर्म करैवाके ) बीबीके परिणमको दूर करैवाके करते हैं ।  
( 'एन' बवाप्तमव' वदन्ति कर कर्मवरावच मुदकोडे तथा राजा वदन्त्य बवाप्तमव' बलत्वकर  
कर्मवरावच मजले ममको दूर करते हैं ) ऐसा विद्वान् कोण करते हैं ) ॥ ३ ॥

अनपदे न गदं पद्मावस्थावमिममं कृत एव सपस्तजम् ।

चिद्विरमूत्स्वस्यजनन्यने शमरतेऽमरतेऽसि पार्श्वे ॥ ४ ॥

अनपद इति । समरते क्षान्तिपरेऽमरतेऽस्यजनन्यने वृद्धारथे वार्धिवे धूमिभ्या  
ईन्द्रे सति । 'तत्स्येव' इत्यन् मत्तया । अनपदे देहे गदो व्याधिः । 'अपतापरोम'  
व्याधिराशमयाः इत्यमरः । पदं वाक्वी नाच्छम्येत्यर्थः । सपस्तजम् अमुक्तमोक्षमिममं  
कृत एव असप्तभाविता येत्यर्थः । चिद्विरमूत्स्वस्य इति देवानुपस्थितमनुदित्वयोः ॥

क्षान्तिवचन तथा देवतुल्य ऐश्वर्ये अज-कुमार ( वदन्त्य ) के राजा शीमेर इष्टमे  
रीधने वैर नहीं रका नर्थात् देव रीनपीठित नहीं हुआ, कि प्रमुक्त्य वरान्न करते हो  
उपजा है । ( और वस समर ) इन्ही कल देवैवाके ( अन्ति पैदावार ) हुं ॥ ४ ॥

दशदिगन्तजिता रघुणा यथा त्रियमपुप्यवृजेन ततः परम् ।

तमधिगम्य तथैव पुनश्चमी न न महीमुमहीनपराक्रमम् ॥ ५ ॥

इति । मही दशदिगन्तजितवानिति दशदिगन्तजित् । अतस्तु कीर्तयेद्वाही  
यथा वा कञ्चन पश्चित् इति नाममत् । तत्र रघुणा यथा त्रिषु दिग्गन्तिमपुप्यवृजे । तत्र  
तत्र रघोरन्तरमजेन च यथा त्रियमपुप्यवृजे तथैवाहीनपराक्रमं न हीनपराक्रमो  
यस्य तमपुप्यवृजेन तं वृद्धारथमिव वयमिममधिगम्य पुनर्न वयादिति न वयादे  
येत्यर्थः । ही मही मनुष्यमर्थं यमवताः ॥ ५ ॥

इन्ही वद दिशाकोडे अन्तगत् विजनेवाके रघुने त्रिषु दिग्गत् धीविज हुं वा समरिधो  
वदापी तथा वदते वर अजते त्रिषु दिग्गत् धीविज हुं वृत्तं वरान्तरं वन महीरति

( दशरथ ) को पाकर उसी प्रकार शोभित नहीं हुई, ऐसा नहीं अर्थात् उसी प्रकार ( रघु तथा अज के शासनकालके समान ही ) शोभित हुई ॥ ५ ॥

समतया वसुवृष्टिविसर्जनैनियमनादसतां च नराधिपः ।

अनुययौ यमपुण्यजनेश्वरौ सवरुणावरुणाग्रसरं रुचा ॥ ६ ॥

समतयेति । नराधिपो दशरथ समतया समवर्तित्वेन, मध्यस्थत्वेनेत्यर्थः । वसु-  
वृष्टेर्धनवृष्टेर्विसर्जनैः असतां द्रुष्टानां नियमनाभिग्रहाच्च । सवरुणौ वरुणसहितौ यम-  
पुण्यजनेश्वरौ यमकुबेरौ यमकुबेरवरुणान्यथासख्यमनुययावनुचकार । रुचा तेजसाऽ-  
रुणाग्रसरमरुणसारथिं सूर्यमनुययौ ॥ ६ ॥

राजा ( दशरथ ) समान भावसे धन तथा वृष्टि के त्यागसे तथा दुष्टोंका शासन करनेसे  
वरुणसहित यम तथा कुबेरके और तेजसे सूर्यके समान हुए । ( कुबेर, वरुण तथा यम क्रमशः  
धनत्याग, वर्षा, दुष्टशासन करते तथा सूर्य तेजस्वी होते हैं, दशरथ उक्त चारों गुण युक्त  
होनेसे उन सबके तुल्य हुए ) ॥ ६ ॥

तस्य व्यसनासक्तिर्नासीदित्याह—

न मृगयाभिरतिर्न दुरोदरं न च शशिप्रतिमाभरण मधु ।

तमुदयाय न वा नवयौवना प्रियतमा यतमानमपाहरत् ॥ ७ ॥

नेति । उदयाय यतमानमभ्युदयार्थं व्याप्रियमाण त दशरथ मृगयाभिरतिराखेट-  
व्यसन नापाहरन्नाचकर्ष । 'आच्छ्रोदुन मृगस्यं स्यादाखेटो मृगया क्षियाम्' इत्य-  
मर । द्रुष्टमासमन्तादुदरमस्येति दुरोदर धूत च नापाहरत् । 'दुरोदरो धूतकारे  
पणे धूते दुरोदरम्' इत्यमरः । शशिन प्रतिमा प्रतिविम्बमाभरणं यस्य तन्मधु  
नापाहरत् । न वेति पदच्छेदः । घाशब्दः समुच्चये । नवयौवना नव नूतन यौवन  
तारुण्य यस्यास्तादृशी प्रियतमा वा स्त्री नापाहरत् । जातावेकवचनम् । अत्र 'मधु'—  
'पानमच्च क्षियश्चेति मृगया च यथाक्रमम् । पुनरुक्तम विद्याच्चतुष्क कामजे  
रागे' ॥ इति ॥ ७ ॥

उन्नतिके लिये प्रयत्नशील उस ( दशरथ ) को शिकारका व्यसन, जुआ, चन्द्रप्रति-  
विम्बसे झुशोभित मधु अर्थात् चाँदनी रातमें मधुपान अथवा नवयौवनवाली प्रियतमाने  
वशीभूत नहीं किया अर्थात् राजा दशरथ इनमेंसे किसीमें आसक्त नहीं होकर उन्नतिके  
लिये उद्योग करते रहे ॥ ७ ॥

न कृपणा प्रभवत्यपि वासवे न वितथा परिहासकथास्वपि ।

न च सपत्नजनेष्वपि तेन वागपरुषा परुषाक्षरमीरिता ॥ ८ ॥

नेति । तेन राज्ञा प्रभवति प्रभौ सति वासवेऽपि कृपणा दीना वाङ् नेरिता

नोक्त । परिहासकवात्सर्पि क्लिष्टाभ्युता वाक् मेरिता । किञ्चापक्वा रोक्ताभ्युतं तेव  
सपत्न्यवेधपि सपुत्रवेधपि पत्न्याचरं विदुराचरं तथा वाक् मेरिता । किमुताभ्युतं  
सर्वत्रापिसद्वार्धः । किञ्चदीना सत्त्वा भवुरेव वागुद्येति प्रकृतोऽर्थः ॥ ८ ॥

सप्त ( बधिर ) के घासन करी रहनेपर जहाँत जहाँत राजकमलमें हममें भी  
( भवता—कसने घासन करनेवाके भी हममें ) हीन वचन हींसी—मजाकमें भी नत्तल  
वचन और कहुवकीमें भी कुछ वचन नहीं कहा । ( फिर जन्म किसीके दिवसमें कहा ही  
था है ! जहाँत वे सर्वत्र जहाँत सत्त्व और यदुर वचन बोलते थे ) ॥ ८ ॥

उद्यमस्तमर्थं च रघूदातुमयमानरिरे वसुधाधिपा ।

स हि निवेशमकल्पयताममृतमुद्रवसोद्वयं प्रतिगर्भताम् ॥ ९ ॥

उद्यमिति । वसुधाधिपा राजावाः उद्यमतिमुद्रवो वायका । पत्न्याचर । रघूदा-  
तुद्रवो रघुवाचका । तस्माद्रघुवाचकाहुवर्षं वृषिष्य अस्तमर्थं मार्त्तं च इत्युमयमान-  
रिरे डेसिरे । कुतः । हि वस्त्रास्त वधिरावो निवेशमकल्पयताममृतमुद्रवसोद्वयं । सोमं इव  
मत्सेति सुहृन्मित्रममृत । 'सुहृद्वर्षी मित्रमित्रयो' इति निपाता । प्रसिद्धार्ण  
प्रतिस्पर्धिताम् । जय इव इवर्षं परस्परबोद्धव्यः कस्मिन्विषयेऽमृत । जातान्तरिभ्यो  
रहति जन्माभ्युत्पत्तीत्यर्थः ॥ ९ ॥

राजावोने रघुवर्षनेह सप्त ( बधिर ) से उद्यमि और वाय—दोनोही प्राप्त किया,  
जहाँकि वे ( बधिर ) जादोस्त्रमन नहीं करयेवाके ( राजावो ) के मित्र वे ( जय जात-  
पान्त्र राजावोने बधिरकसे उद्यमिकी प्राप्त किया ) तथा प्रतिस्पर्धा करयेवाके राजावोने  
'हिने औहृत्तल इववाके वे ( जय प्रतिस्पर्धी राजावोने कसने वाक्यकी प्राप्त किया ) ॥ ९ ॥

असमवेकरयेन स मेदिनीमुद्रविनेमिमधिरासत्तन ।

अथमथोपपत्त्यं तु केवलं गजवती जयतीन्द्रवा भवम् ॥ १० ॥

अथवदिति । अविज्जकारासत्ता । अविज्जं सारममं नत्प स वधिर  
उद्यमिनेमि समुद्रवेष्टा मेदिनीमेकरवैवाचकत्, स्वयमेकरवैनात्वेदीतिवार्थः । गजवती  
पञ्चपुच्छा जयेन तीव्रा जयविष्ठा इवा वस्त्रां हा वसुधवत्त्वं वृत्त्य केवलं अथमथो-  
पपत्त्यत् । स्वयमेककीरत्त वसुधवत्त्वंमात्रमिति भावः ॥ १० ॥

वसुधो वसुधे इव सप्त ( बधिर ) से एक रवति समुद्रवत् वृष्योही जीत किया  
हाविषो तथा ऐव बीकोवाये वनकी सेवाये ती केवल हमकी दिव्य—वीरगा की । ( मुद्रमें  
बधिरकसे जयती सेवाये कक्षावाकी जयेवा न करके केवल जयने पराक्रमसे ही समुद्रोही  
परप्रिय कर दिया ) ॥ १० ॥

अवनिमेकरथेन वरूथिना जितवतः किल तस्य धनुर्भृत' ।  
विजयदुन्दुभिता ययुरर्णवा घनरवा नरवाहनसम्पद' ॥ ११ ॥

अवनिमिति । वरूथिना गुप्तिमता । 'वरूथो रथगुप्तिर्या तिरोधत्ते रथस्थितिम्'  
इति सञ्जन । एकरथेनाद्वितीयरथेनावनिं जितवतो धनुर्भृतो नरवाहनसम्पदः कुबेर-  
तुल्यश्रीकस्य तस्य दशरथस्य घनरवा मेघसमघोषा अर्णवा विजयदुन्दुभितां किल  
ययुः, अर्णवान्तविजयीत्यर्थः ॥ ११ ॥

नरुतरवन्द ( रक्षार्थं बाह्रमें लौहपत्र लगे हुये ) एक रथसे ही पृथ्वीकी विजय करते  
हुए धनुर्धारी तथा कुबेरतुल्य सस्पत्तिवाले उम ( दशरथ ) के, मेघतुल्य गर्जनेवाले समुद्रोंने  
विजय दुन्दुमित्वको प्राप्त किया अर्थात् शब्दायमान समुद्रोंने विजयी दशरथके विजय-  
दुन्दुमिको बजाया ॥ ११ ॥

शमितपक्षवल् शतकोटिना शिखरिणां कुलिशेन पुरन्दरः ।

स शरवृष्टिमुचा धनुषा द्विषां स्वनवता नवतामरसाननः ॥ १२ ॥

शमितेति । पुरन्दर इन्द्र. शतकोटिना शताक्षिणा कुलशेन वज्रेण शिखरिणां पर्व-  
तानां शमितपक्षवलो विनाशितपक्षसारः । नवतामरसाननो नवपङ्कजाननः । 'पङ्केरुह  
तामरसम्' इत्यमरः । स दशरथः शरवृष्टिमुचा स्वनवता धनुषा द्विषां शमितो  
नाशित पक्ष सहायो बल च येन स तथोक्तः । 'पक्ष सहायेऽपि' इत्यमरः ॥ १२ ॥

इन्द्रने सैकड़ों नोकवाले वज्रसे पर्वतोंके पंखकी शक्तिको नष्ट किया तथा न बीन कमलके  
समान मुखवाले उस ( दशरथ ) ने बाणवर्षा करनेवाले ध्वनियुक्त ( टङ्कार करनेवाले )  
धनुषसे शत्रुओंके पक्ष ( में रहनेवालों ) के बलको नष्ट किया ॥ १२ ॥

चरणयोर्नखरागसमृद्धिभिर्मुकुटरत्नमरीचिभिरस्पृशन् ।

नृपतय' शतशो मरुतो यथा शतमख तमखण्डितपौरुषम् ॥ १३ ॥

चरणयोरिति । शतशो नृपतयोऽखण्डितपौरुष त दशरथम् । मरुतो देवा शत-  
मख यथा शतक्रतुमिव । नखरागेण चरणनखकान्त्या समृद्धिभिः सम्पादितद्रिभिर्मु-  
कुटरत्नमरीचिभिश्चरणयोरस्पृशन्, त प्रणेमुरित्यर्थः ॥ १३ ॥

सैकड़ों राजालोग अखण्डित पुरुषार्थवाले उस ( दशरथ ) को, इन्द्रको देवताओंके  
समान, नखोंकी छालिमासे अधिक शोभनेवाली मुकुटोंमें जड़े हुए रत्नोंकी कान्तियोंसे  
चरणोंमें स्पर्श ( प्रणाम ) किया ॥ १३ ॥

निववृते स महार्णवरोधसः सचिवकारितबालमुताञ्जलीन् ।

समनुकम्प्य सपत्नपरिग्रहाननलकानलकानवमां पुरीम् ॥ १४ ॥

शोध्य । परिहासकस्यास्त्वपि क्रियताम्भुता वाक् वेरिता । किञ्चापश्य रोचयत्येव तेव  
सपत्न्यनेप्यपि सञ्जुष्येप्यपि पश्याचरं निदुराचरं तथा वाक् वेरिता । किमुताम्यचेति  
सर्वत्रापिप्रत्यर्थः । किंरवीवा सत्त्वा मधुरैव वागुचेति शक्तिः ॥ ८ ॥

६४ ( बहरव ) ने धासन करते रहनेपर नवीर अपने राज्यदास्यमें दृष्टमें श्री  
( नवरा—बहने दास्य करनेवाके श्री दृष्टमें ) हीन वचन ईली—महाकर्म श्री नरत  
वचन जोर धृष्टमें श्री कष्ट वचन नहीं कहा । ( फिर अन्य किसीके विषयमें करना ही  
नवा है । नवीर ने सर्वथा हीन सत्य और मधुर वचन बोलते थे ) ॥ ८ ॥

अद्यमस्तमर्थं च रघूद्वहादुमयमानरिरे वसुधाधिपा ।

स हि निदेशमलङ्घ्यताममूरमुहृदयोद्वय प्रतिगर्जताम् ॥ ९ ॥

अद्यमिति । वसुधाधिपा रत्नायः उद्वहतीमुहृदो वायका । पचापश्च । रघू-  
द्वहो रघुनायका । तस्माद्रघुनायकमुहृदं वृक्षिष्य अस्तमर्थं वार्त्ता च इत्युपवमा-  
न्तिरे केमिरे । कुतः । हि वस्मात्स दसरथो निदेशमात्रमलङ्घ्यताम् । योमर्थ उद्वय  
मस्तेति मुहृन्मित्रमभूत् । 'मुहृद्वर्जो मित्रामित्रयो' इति मित्रात् । प्रतिगर्जतो  
प्रतिस्पर्धिताम् । अद्य इव इदं पत्येत्यनोद्वया कस्मिन्मित्रोऽभूत् । आशङ्कमित्रो  
रक्षति जन्मान्मातृपतीत्यर्थः ॥ ९ ॥

राजाजोने रघुद्वज्जो ६४ ( बहरव ) से सहाई और नाथ—हीनोको प्राप्त किया,  
नवीर ने ( बहरव ) काहीलकृष्ण नहीं करनेवाके ( राजाजो ) के निज ने ( नरत वाया-  
पाक्य राजाजोने बहरवसे सहाईको प्राप्त किया ) तथा प्रतिस्पर्धा करनेवाके राजाजोके  
विषे औरद्वय इदवाके ने ( नरत प्रतिस्पर्धा राजाजोने करते नाथको प्राप्त किया ) ॥ ९ ॥

अजयदेकरथेन स मेदिनीमुखधितेभिमधिरुषासुन ।

अथमधोवधस्य तु केवलं गलवती अवतीम्नस्य चमू ॥ १० ॥

अजयविति । अविम्वरराशभाः ज्वायमधिकम् अविम्वं वरासर्वं नत्त स दृक्व  
अधिविमेमि समुद्रवेदना मेदिनीमेकरथेनात्तत्त, स्वमेकरथेनात्तवीरित्वर्थः । राजवती  
गलवती अवती तत्रा अवामिका इया वस्ता सा चमूत्तत्त मुखस्य केवलं अथमधोव-  
धमवत्तत्त । स्वमेकरवीरस्य चमूत्तत्तवमात्रमिति माय ॥ १० ॥

चमूवकी वधाने हुए ६४ ( बहरव ) ने एक रथसे समुद्रज्य वृक्षीको पीत किया,  
वाक्विता तथा एक वीरुवाकी वधकी सेनामे तो केवल दृष्टी निज-वीरवा थी । ( कुतः  
बहरवने अपनी सेनाकी सहायताकी अपेक्षा न करके केवल अपने वराक्रमसे ही कष्टकी  
वत्प्रति कर दिया ) ॥ १० ॥

अवनिमेकारथेन वरूथिना जितवतः किन तस्य धनुर्मृतः ।  
विजयदुन्दुभितां ययुरर्णवा घनरवा नरवाहनसम्पदः ॥ ११ ॥

अवनिमिति । वरूथिना गुप्तिमता । 'वरूथो रथगुप्तिर्या तिरोधत्ते रयस्यतिम्'  
इति सज्जनः । एकारथेनाद्वितीयरथेनावनिं जितवतो धनुर्मृतो नरवाहनसम्पदः कुबेर  
तुल्यश्रीकस्य तस्य दशरथस्य घनरवा मेघसमघोषा अर्णवा विजयदुन्दुभितां किल  
ययुः, अर्णवान्तविजयीत्यर्थः ॥ ११ ॥

बल्लरवन्त ( रक्षार्थं बाहरमें लौहपत्र लगे हुये ) एक रथमे एी पृथ्वीकी विजय करते  
हुए धनुर्धारी तथा कुबेरतुल्य सत्पत्तिवाले उस ( दशरथ ) के, मेघतुल्य गर्जनेवाले समुद्रोंने  
विजय-दुन्दुभित्वको प्राप्त किया अर्थात् शब्दावमान समुद्रोंने विजयी दशरथके विजय-  
दुन्दुभिको बजाया ॥ ११ ॥

शमितपक्षवलः शतकोटिना शिखरिणां कुलिशेन पुरन्दरः ।

स शरवृष्टिमुचा धनुषा द्विषां स्वनवता नवतामरसाननः ॥ १२ ॥

शमितेति । पुरन्दर इन्द्रः शतकोटिना शताक्षिणा कुलशेन वज्रेण शिखरिणा पर्व-  
तानां शमितपक्षवलो विनाशितपक्षसारः । नवतामरसाननो नवपङ्कजाननः । 'पङ्केरुह  
तामरसम्' इत्यमरः । स दशरथः शरवृष्टिमुचा स्वनवता धनुषा द्विषां शमितो  
नाशित पक्ष सहायो बलं च येन स तथोक्तः । 'पक्षः सहायेऽपि' इत्यमरः ॥ १२ ॥

इन्द्रने सैकड़ों नोकवाले वज्रसे पर्वतोंके पक्षकी शक्तिको नष्ट किया तथा नवीन कमलके  
समान मुखवाले उस ( दशरथ ) ने बाणवर्षा करनेवाले ध्वनियुक्त ( टङ्कार करनेवाले )  
धनुषसे शत्रुओंके पक्ष ( में रहनेवालों ) के बलको नष्ट किया ॥ १२ ॥

चरणयोर्नखरागसमृद्धिभिर्मुकुटस्नानमरीचिभिरस्पृशन् ।

नृपतयः शतशो मरुतो यथा शतमख तमखण्डितपौरुषम् ॥ १३ ॥

चरणयोरिति । शतशो नृपतयोऽखण्डितपौरुष त दशरथम् । मरुतो देवा शत-  
मख यथा शतक्रतुमिव । नखरागेण चरणनखकान्त्या समृद्धिभिः सम्पादितर्द्धिभिर्मु-  
कुटरत्नमरीचिभिश्चरणयोरस्पृशन्, त प्रणेषुरित्यर्थः ॥ १३ ॥

सैकड़ों रानालोग अखण्डित पुरुषार्थवाले उस ( दशरथ ) को, इन्द्रको देवताओंके  
समान, नखोंकी लालिमासे अधिक शोभनेवाली मुकुटोंमें जड़े हुए रत्नोंकी कान्तियोंसे  
चरणोंमें स्पर्श ( प्रणाम ) किया ॥ १३ ॥

निषवृते स महार्णवरोधसः सचिवकारितबालमुताञ्जलीन् ।

समनुकम्प्य सपत्नपरिग्रहाननलफानलकानवमां पुरीम् ॥ १४ ॥

विद्युत् इति । स दक्षरश्च सन्निवोः सम्मबोधिः । अरिता वाङ्मुखावाम्भक्यो  
 वेस्ताः स्वयमसंयुक्तमतावितर्कः । अगच्छन्तुतमर्कतपाङ्गमस्तस्कारमुन्ना-  
 न्तपक्षपरिग्रहान्मुपपद्यते । 'पक्षीपरिग्रहाद्यमूकसायाः परिग्रहा' इत्यमरः । सम  
 मुकम्बालुपुष्पाङ्गद्वयमाम्भक्यनगराद्यभूनां अकस्ति भूयपति स्वस्यानमित्यङ्का  
 पुरीमबोम्बा प्रति महार्चवाचां शोचताः पर्यन्ताविवदुते । अरणास्तत्पक्ष इति  
 भावाः ॥ १३ ॥

ये दक्षरश्च सन्निवोः द्वारा दक्षरश्च क्रावे गवे पाङ्गोवाके तथा ( पक्षिं मरवेते )  
 संत्वारस्तुन दक्ष-विबोः केतोपर क्रावर नक्षत्र ( कुबेरश्च रावणो ) के उत्तम  
 अवीणा पुरीम्बे म्पस्तमुद्रके विनारेते वापुः कौड जावे ॥ १४ ॥

उपगतोऽपि च मयःकृत्नामितामनुविद्वान्धसितातपचारण ।

मिथमवेक्ष्य स रम्भचक्षामभूदमकसोऽनखसोमसमपुति ॥ १५ ॥

उपगत इति । अनुविद्वान्धसितातपचारणं स्वैतच्छ्रु-  
 तस्य सा । अमकसोमयोरन्विच्छ्रुतयोः समे सुती लेख्यमन्ती यस्य ॥ तथोक्तः ।  
 मिथं कथमीं रम्भेऽप्यावत्स्वादिष्ये दृष्टे चक्रे चक्षामवेक्ष्यावलोचय । अर्थः केव  
 विम्वितेन प्रमांसं परिहरति । स दक्षरश्चो मयःकृत्स्व नाभिर्वा द्वाद्दक्षराजमण्डलस्य  
 प्रधानमहोपतिस्तमुपगतोऽपि अकस्यतीं सञ्चरीत्यर्थः । 'अव नाभिस्तु जन्मद्वे यस्य  
 संज्ञा प्रसारिका । एवमकस्य मण्यत्वविम्विकायां च ना पुनः ॥ अथान कश्चिन्मेदै तु  
 मतो मुक्पमहीपतौ' इति केतवः । अमकसोऽयमथोऽभूत् । 'अस्तिमस्ति भूपात्स-  
 द्य इति पाद्मान्तरेऽस्मिन् भूपात्सदमसीति वृक्षवानकसोऽयमथोऽभूत् । विविधवि-  
 शिष्टमेतन्नोऽपि पुनर्लेख्यान्तरवाविच जायकञ्च पुनःपठित्वैतवर्कः । द्वाद्दक्षराज-  
 मण्डलं तु कामन्दकेनोक्तम्- 'अस्मिन्मिथमरेमिथं मिथमिथमताः परम् । त्वारिमिथमिथं  
 च विविधीयोः पुरमसराः । पार्थिव्याहस्तता पञ्चाङ्गान्स्वद्वयमन्तरम् । आसारावन्तो  
 जैव विविधीयोस्तु पूजताः । अथैव विविधीयोश्च मण्यमो मृग्यमन्तरः । अनुग्रहे संह-  
 तयोः समर्थो न्यस्तपीर्यवे । मण्डकाद्वाहिरेतेषामुद्गसीयो ककालिकाः । अनुग्रहे संह-  
 तानां न्यस्तानां च यवे मनु' ॥ इति । 'अस्मिन्मिथमरे पञ्च विविधीयोः पुरमसराः ॥  
 पार्थिव्याहस्तता पञ्चाङ्गान्स्वद्वयमन्तरम्' इति पूजतव्यत्वात् । मण्यमोद्गसीयो  
 द्वी विविधीपुरेक इत्येवं द्वाद्दक्षराजमण्डलम् । ततोद्गसीयमण्यमोत्तरमकस्यतीं, दक्ष  
 रपक्षेतादपिति तद्व्यवर्त्ता ॥ १५ ॥

दूतरे ध्येतकनके गवीं अग्ने नर ( मण्य रावाके गवीं रग्ने नर ) जीर अग्नि तथा  
 चन्द्रके समान्य अग्निवाके ( दक्ष रावागोर्मे अग्निः समान्य तीव्र अग्निवाके तथा विष रावागो  
 र्मे चन्द्रके समान्य आकाशक तैववाके ) ये ( दक्षरश्च ) नारद् राव-मण्डलीं न्यपिस्वर दव

कर पहियेके अरों ( लम्बे २ तीछें काष्ठों ) के आधारभूत नाभि ( मध्यके काष्ठ ) के समान बारह राज-मण्डलोंके आधारभूत ( होकर ) भी थोडा भी छिद्र ( दोष ) होनेपर चञ्चल लक्ष्मीको ( 'अजितमस्ति नृपास्पदम्' इस पाठभेदमें—'राजपद अजेय है' ऐसा ) विचारकर निरालस अर्थात् सर्वदा उद्योगशील रहते थे ॥ १५ ॥

तमपहाय ककुत्स्थकुलोद्भवं पुरुषमात्मभवं च पतिव्रता ।

नृपतिमन्यमसेवत देवता सकमला कमलाधवमथिषु ॥ १६ ॥

तमिति । पत्यौ व्रत नियमो यस्या सा पतिव्रता सकमला कमलहस्ता देवता लक्ष्मीरर्थिषु विषयेऽल्लाघव लघुत्वरहितम्, अपराद्धमुखमित्यर्थः । ककुत्स्थकुलोद्भव त दशरथमात्मभव पुरुष पुरि शरीरे उपतीति पुरुष त विष्णु चापहाय त्यक्त्वा । अन्य कं नृपतिमसेवत, कमपि नासेवतेत्यर्थः । विष्णाविव विष्णुतुल्ये तस्मिन्नपि श्री स्थिराभूदित्यर्थः ॥ १६ ॥

पतिव्रता कमलासनाया कमलहस्ता लक्ष्मी ने अतिथियोंमें अपराद्धमुख ककुत्स्थवशोत्पन्न उस राजा ( दशरथ ) को तथा विष्णु भगवान्को छोड़कर दूसरे किस राजा या देवताकी सेवा की ? अर्थात् किसी की नहीं ॥ १६ ॥

तमलमन्त पतिं पतिदेवताः शिखरिणामिव सागरमापगा ।

मगधकोसलकेकयशासिनां दुहितरोऽहितरोपितमार्गणम् ॥ १७ ॥

तमिति । पतिरेव देवता यासा ता पतिदेवता पतिव्रता मगधाश्च कोसलाश्च केकयाश्च ताऽजनपदान्छासतीति तच्छासिनः । तेषा राज्ञां दुहितरः पुत्र्यः । सुमित्रा कौसल्याकैकेय्य इत्यर्थः । अत्र क्रमो न विवक्षित । अहितरोपितमार्गणं शत्रुनिखात-शरम् । 'कदम्बमार्गणशराः' इत्यमरः । त दशरथ शिखरिणा क्षमाभृता दुहितर आ समन्तादपगच्छन्तीति । अथवा 'आपेनाप्सग्वन्धिना वेगेन गच्छन्तीत्यापगा' इति क्षीरस्वामी । नद्यः सागरमिव । पतिं भर्तारमलमन्त प्रापुः ॥ १७ ॥

मगध, कोसल तथा केकय देशके राजाओंकी पतिव्रता कन्याओं ( क्रमशः — सुमित्रा, कौसल्या तथा कैकेयी ) ने शत्रुओंपर बाणकी आरोपित करनेवाले ( बाणसे शत्रुओंको मारने वाले ) उस ( दशरथ ) को, समुद्रको पर्वतकन्याओं अर्थात् नदियोंके समान, पति रूपमें प्राप्त किया ॥ १७ ॥

प्रियतमाभिरसौ तिसृभिर्बभौ तिसृभिरेव भुव सह शक्तिभिः ।

उपगतो विनिनीषुरिव प्रजा हरिहयोऽरिहयोगविचक्षणः ॥ १८ ॥

प्रियतमाभिरिति । अरीघ्नन्तीत्यरिहणो रिपुघ्ना । हन्ते क्षिप् । 'ब्रह्मभ्रूणवृत्रेषु क्षिप्' इति नियमस्य प्रायिकत्वात् । यथाह न्यासकारः—'प्रायिकश्चाय नियम क्वचि-



इत्थस्तिष्ठन्पुपुष्वे हरयते मनुहा प्राणिर्कर्म च कथ्यमानस्य बहुकप्रवृत्तस्य पुरस्ता-  
दपकर्माङ्गमते' इति । तेषु योगोपपायेषु विचक्षणो ब्रूयः । 'योगः सङ्ग्रहोपायस्यात्म-  
सङ्गतिबुद्धिषु' इत्यमरः । इत्येवमपि योग्यमेतत् । जसी इक्षारश्चित्तसुप्तिः शिवतयाभि-  
सह । प्रजा विविधौपुर्विकेयुमिच्छसितसुप्तिः अकिम्पि प्रभुमन्त्रोत्साहप्रकिम्पिरेव सह  
भुवमुपगतो हरिश्च इन्द्र इव बभौ ॥ १८ ॥

उद्दनायक ज्वाबीमें बहुत बड़ ( बछरव ) तीन धियतमामों ( कोसला केकी और  
मुमिना ) के साथ प्रजाओंको विगीत करनेकी इच्छा करते हुए, तीन सज्जनों ( प्रवृद्धि,  
मन्त्रवृद्धि और उत्साहवृद्धि ) के साथ पृथीपर जाये हुए बहुतबाधक ज्वाबीसे बहुत  
इन्द्र के समान घोरित हुए ॥ १८ ॥

स किं सन्तुगमूर्ति सहायतां मयवत प्रतिपद्य महारथ ।

स्वमुखवीर्यमगापयदुच्छिन्न सुरबधूखवृत्तमया शरैः ॥ १९ ॥

स इति । महारथः स इक्षरथः संतुगमूर्ति रक्षाज्ञे मयवत इन्द्रस्य सहायतां  
प्रतिपद्य माय्य शरैरववृत्तमया निर्वर्तितयासाः सुरबधूखच्छिन्नं स्वमुखवीर्यमगापयति  
बाहु । गापतेः सम्पत्कर्मण्यत् 'यतिबुद्धि' इत्यादिना सुरबधूखामपि कर्मण्यत् ॥ १९ ॥

महारथ वत् ( बछरव ) ॥ सुदके जाये इन्द्रकी सहायता करके निर्मल देवाज्ञानोंके  
द्वारा, अपने कीड़े हुए बाहुवत् ( के वत् ) हो गयाथा । ( सुदके जाये होकर इन्द्रकी सहायता  
करनेसे निर्मल देवाज्ञानोंने बछरवके बाहुवत्त्वमय बन्धको पाया ) ॥ १९ ॥

अनुपु तेन विसर्जितमौकिना मुखसमाहृतदिग्बभूना कृता ।

कनकमूपसमुच्छ्रयरोमिनो वितमसा तमसासरमूतदा ॥ २० ॥

अनुब्रूति । अनुप्यन्मयेषु विसर्जितमौकिनाञ्चरोवितकिरिदिग् बीहितैव मुनिस्तेव  
भाष्यं त्वक्तमुक्तेन वा । यथा हि यशेषु अपवस्थाये मौकिं विसर्जयन्ति । 'यत्तद्वत्'  
मध्यक्षुरेव राजा भवति इति राज्ञिह्वाभ्यविद्यानादित्वमिमात्रा । 'मौकिं किरिदि  
कम्मिहणे' इति विद्या । मुखसमाहृतदिग्बभूना मुखान्वितदिगन्तसम्पदा । जनेव  
चपित्व विस्मितत्वमुक्तम् । विषमार्जितफलत्वं सङ्गिभोगकारित्वं च सूचते ।  
वितमसा तमोगुणरहितेन तेन बधारेण । तमसा च सरयूज्य यद्यो तथोत्तरात् कनक-  
पूपाणां समुच्छ्रयेन समुच्चमयेन शोभिता कृताः । कनकमयत्वं च पूपाणां शोभार्थं  
दिग्बभावात् । हेमपूषस्तु शोभिका इति बाह्यम् ॥ २ ॥

परीमें सुदुर हो ऊपरें हुए, बाहु ( वत् ) से दिवानोंकी सम्पत्तिकी प्राप्ति करने हुए  
ज्या तमोगुणसे रहित वत् ( बछरव ) ने तमसा और सरयूजियोंके तथेकी तरफें  
कनकमौकी लक्ष्मणसे दीवित कर दिया ॥ २ ॥

अजिनदण्डभृतं कुशमेखला यतगिरं मृगशृङ्गपरिग्रहाम् ।

अधिवसस्तनुमध्वरदीक्षितामसमभासमभासयदीश्वरः ॥ २१ ॥

अजिनेति । ईश्वरो भगवानष्टमूर्तिरजिन कृष्णाजिन दण्डमौदुम्बर विभर्तीति तम-  
जिनदण्डभृतम् । 'कृष्णाजिनं दीक्षयति, 'औदुम्बरं दीक्षितदण्ड यजमानाय प्रयच्छति'  
इति वचनात् । कुशमयी मेखला यस्यास्ता कुशमेखलाम् । 'धारमयी मौक्षी वा  
मेखला' तथा यजमानं दीक्षयतीति विधानात् । प्रकृते कुशग्रहण क्व चित्प्रतिनिधि-  
दर्शनात्कृतम् । यतगिर वाचंयमाम् । 'वाच यच्छति' इति श्रुते । मृगशृङ्ग परिग्रहः  
कण्डूयनवाधन यस्यास्ताम् । 'कृष्णविपाणेन कण्डूयते' इति श्रुते । अध्वरदीक्षितां  
संस्कारविशेषयुक्ता तनु दाशरथीमधिवसन्नधितिष्ठन् सन् । असमा भासो दीप्तयो  
यस्मिन्कर्मणि तद्यथा तथा अभासयद्भासयति स्म ॥ २१ ॥

और शिवजीने मृगचर्म तथा दण्ड धारण किये हुए, कुशाओंको मेखलावाले, मौनी,  
मृगके सींगमात्र परिग्रह ( साधन ) वाले ( यज्ञमें दीक्षित होनेपर यदि शरीर कहीं खुज-  
लाता है तो हाथकी अगुलियों या नखोंसे खुजलानेका निपेध होनेसे पूर्व गृहीत मृगकी  
सोंगसे ही खुजलाते हैं ), यज्ञमें दीक्षा ग्रहण किये हुए, दशरथके शरीरमें निवास करते हुए  
अनुपम कान्तिमान् उस ( दशरथ ) को सुशोभित किया ॥ २१ ॥

अवभृथप्रयतो नियतेन्द्रिय सुरसमाजसमाक्रमणोचितः ।

नमयति स्म स केवलमुन्नत वनमुचे नमुचेररये शिरः ॥ २२ ॥

अवभृथेति । अवभृथेन प्रयतो नियतेन्द्रिय सुरसमाजसमाक्रमणोचितो देव-  
समाजाधिष्ठानार्हं स दशरथ उन्नत शिरो वनमुचे जलवर्षिणे 'जल नीर वन सत्त्वम्'  
इति शाश्वत । नमुचेररये केवलमिन्द्रायैव नमयति स्म । लोकरक्षार्थं वृष्टेरपेक्षित-  
त्वादिन्द्रमेवानमच्छिरः न कस्मैचिदन्यस्मै मानुपायेत्यर्थः ॥ २२ ॥

अवभृथ ( यज्ञान्तमें किया जानेवाला स्नानविशेष ) से शुद्ध, जितेन्द्रिय और देवसमामें  
बैठने योग्य वे दशरथ उन्नत मस्तकको केवल जल-वृष्टि करनेवाले इन्द्रके लिये नवाते  
थे । ( अन्य राजाओंको पराजित करनेसे वे केवल इन्द्रको ही प्रणाम करनेमें मस्तक  
झुकाते थे ) ॥ २२ ॥

असकृदेकरथेन तरस्विना हरिहयाग्रसरेण धनुर्मृता ।

दिनकराभिमुखा रणरेणवो रुरुधिरे रुधिरेण सुरद्विषाम् ॥ २३ ॥

असकृदिति । एकरथेनाद्वितीयरथेन तरस्विना बलवता हरिहयस्येन्द्रस्याग्रसरेण  
धनुर्मृता दशरथेनासकृद् बहुशो दिनकरस्याभिमुखा, अभिमुखस्थिता इत्यर्थः ।  
रणरेणव सुरद्विषां दैत्यानां रुधिरेण रुरुधिरे निवारिता ॥ २३ ॥

अष्टीय (प्रवाल) रवी वक्रान् इन्द्रके जाये चलनेवाले वज्रपाटी (बछराव) के  
पूर्वके सम्मुख स्थित बर्षाव ऊपर लगी हुई मुखमें वृक्षोंकी राखणोंके रखते अनेक नर  
पाल्य किया । ( मुखमें इन्द्रके जाये १ बद्धकर राखणोंका अनेकवार संहार किया ) ॥ २४ ॥

अथ समापवृते कुसुमैर्मयैस्त्वमिव सेवितुमेकनराधिपम् ।

अमकुवेरजक्षेरवरवशिषां समधुरं मधुरञ्चितविष्णुम् ॥ २४ ॥

अथेति । अथ अमकुवेरजक्षेरवरवशिषां वर्मराक्षसवद्धकामरेण्यानां सम  
धुरांते अथ स समधुरा । माण्डरप्यवितरप्यलम्बियमवैरपयैस्तुल्यकच इत्यर्थः ।  
'अमकुवेरजक्षेरवामानये' इत्यनेन समानान्तोऽप्यलप्य । तं समधुरम् । अञ्चितविष्णुं  
पुञ्जितपराक्रममेकनराधिपं तं इत्यर्थं सेवितुमिव । मधुरैः सन्तः । 'मये पुष्परसे मधु ।  
इत्ये चैव वसन्ते च क्षीराद्योके मधुधुमे' इति विरच । नवैः कुसुमैरपञ्जिता त्व  
समानवृते समापय । 'निचक्षस्तेव बोधेनाप्राधान्यं देवतां गुप्सु' इति अस्मान्पुष्प-  
समेतो राजानं सेविनुमात्य इत्यर्थः ॥ २४ ॥

इत्ये वाद वम कुवेर वजन और इन्द्रके समान मारवाले (अमरा वमादि वृक्षों  
चारों दिक्पाकोंके समान समवर्धित, बलहीन, निवमन (बातव) और देखनेवाले),  
श्रेष्ठ पराक्रमी और प्रवाल राजा अथ (बछराव) की यानों सेना करनेके लिये कल्प  
(कद्रु) लगे १ कुक्षोंसे कुछ शीकर उपस्थित हुआ । ( जिस प्रकार जन्म राजाजोग रत्न-  
विका बपहार कन्दर बछरावकी सेवामें उपस्थित होते हैं, उसी प्रकार कद्रु राज (वसन्त)  
की लगे कुक्षोंका बपहार केन्द्राक्षमें सेवाके लिये उपस्थित हुआ जहाँ वसन्त कद्रु जाये  
पर लगे २ कुछ दिक्से लगे ) ॥ २४ ॥

जिगमिपुर्धनवाभ्युपितां विशां रजमुखा परिवर्तितवाहन ।

विनमुक्ताणि रविर्हिमनिभैर्हिमलकम्पलस्य नगमस्यद्वत् ॥ २५ ॥

जिगमिपुर्धिति । अथवाभ्युपितां कुवेराधिपतां विशे जिगमिपुर्धनमुपिभु ।  
रजमुखा सारविनाभ्युपेय परिवर्तितवाहनो निवर्तितमयो रवि हिमस्य निप्रैर्विना-  
भ्युपेर्दिनमुक्ताणि प्रमाताणि विमलकम्पलस्यद्वत् । अर्थात् यथै मन्वाचकम्पलस्यद्वत् ।  
वशिषां विजयत्याधीनित्वार्थः ॥ २५ ॥

कुवेरपाण्डित ( वर ) दिखली जायेके वधुधु (वज्ररावण होनेवाले), सारवि (नख)  
के द्वारा हुमावे लगे वीक्षकोंके पूर्वमें हिम (बाग या ढँक) की रोकनेसे प्रातःकालकी  
निर्मेक करते हुए मन्वाचकम्पल कीवा (पूर्व दिशिमानसे वज्ररावण ॥) ॥ २५ ॥

कुसुमजन्म ततो नवपल्लवास्तपसु पदपवर्कोकञ्जवृजितम् ।

इति पद्माक्रममाविरभून्मधुमवतीमपतीर्य अमस्वक्षीम् ॥ २६ ॥

कुसुमेति । आदौ कुसुमजन्म ततो नवपल्लवाः । तदनु । 'अनुर्लब्धे' इति कर्मप्रवचनीयत्वाद्द्वितीया । यथासंख्य तदुभयानन्तर पट्पदानां कोकिलानां च पूजितम् । इत्येवम्प्रकारेण यथाक्रम क्रममनतिक्रम्य पुष्पप्रियो भृङ्गः पल्लवप्रियः कोकिलः इति क्रमोक्तेरयमाशयः । द्रुमवर्ती द्रुमभूयिष्ठां वनस्थलीमवतीर्य मधुर्वसन्त आविश्रभूत् । केपाश्चिद्द्रुमाणां पल्लवप्राथम्यात्केशाश्चिकुसुमप्राथम्यान्नोक्तक्रमस्य दृष्टविरोधः ॥ २६ ॥

( पहले ) फूलोंकी उत्पत्ति, फिर नये २ पल्लव, उसके बाद ( क्रमशः ) अमरोंका गुजार और कोयलोंका कुहुकना, इस प्रकार वसन्त क्रमानुसार पेड़ोंवाली वन-भूमिमें उतरकर प्रकट हुआ । ( पहले पेड़ोंमें फूल लग गये और उनपर अमर गुजार करने लगे, तदनन्तर नये २ कोमल पल्लव निकलने लगे, जिनके आस्वादनसे कपाय कण्ठ कोकिल कूजने लगी, इस प्रकार वसन्त वनराजियोंमें दिखाई पड़ने लगा ) ॥ २६ ॥

नयगुणोपचितामिव भूपते. सदुपकारफलां श्रियमर्थिनः ।

अभिययुः सरसो मधुसम्भृतां कमलिनीमलिनीरपतत्रिणः ॥ २७ ॥

नयगुणेति । नयो नीतिरेव गुणः तेन, अथवा नयेन गुणैः शौर्यादिभिश्चोपचिताम् । सतामुपकारः फल यस्यास्तां सदुपकारफलां भूपतेर्वशरथस्य श्रियमर्थिन इव मधुना वसन्तेन सम्भृतां सम्बन्धपुष्टां सरसः सम्बन्धिनीं कमलिनीं पद्मिनीमलिनीरपतत्रिणः अलयो भृङ्गा नीरपतत्रिणो जलपतत्रिणो हंसादयश्च अभिययुः ॥ २७ ॥

नीतिरूपी गुणसे ( या नीति तथा पराक्रमादि गुणोंसे ) बड़ी हुई और सज्जनोंका उपकारमात्र फलवाली राजा ( दशरथ ) की सम्पत्तिको याचकोंके समान, वसन्तसे वृद्धिको प्राप्त, तडागकी कमलिनीको अमर तथा जलचरपक्षियों ( हंस आदि ) ने प्राप्त किया ॥ २७ ॥

कुसुममेव न केवलमार्तवं नवमशोकतरोः स्मरदीपनम् ।

किसलयप्रसवोऽपि विलासिनां मदयिता दयिताश्रवणार्पितः ॥ २८ ॥

कुसुमिति । ऋतुरस्य प्राप्त आर्तवम् । 'ऋतोरण्' इत्यण् । नवं प्रत्यग्रमशोकतरोः केवलं कुसुममेव स्मरदीपनमुद्दीपनं न, किन्तु विलासिनां मदयिता मदजनको दयिताश्रवणार्पितः किसलयप्रसवोऽपि पल्लवसन्तानोऽपि स्मरदीपनोऽभवत् ॥ २८ ॥

ऋतुमें उत्पन्न अशोकवृक्षका केवल फूल ही कामोद्दीपक नहीं हुआ, किन्तु विलासियोंको उन्मादित करनेवाला, प्रियाओंका कर्णभूषण बना हुआ नवपल्लव भी कामोद्दीपक हुआ ॥ २८ ॥

विरचिता मधुनोपवनश्रियामभिनवा इव पत्रविशेषकाः ।

मधुलिहा मधुदानविशारदा कुरबका रवकारणतां ययुः ॥ २९ ॥

विरचितेति । मधुना वसन्तेन विरचिता उपपन्नश्रियामभिनवाः पत्रविशेषकाः

पञ्चरत्ना इव स्थिता मञ्जुषा मकरन्दानां दाने विहारवाद्यपुरा कुरवकास्तरा मयु-  
किङ्का मञ्जुषा रत्नकरजतां वधुः । भूद्राः कुरवकाणां मञ्जुषि पीत्वा जगुरित्थम् ।  
बाणसौमहागर्जितनाः स्तुवन्तीति भाषा ॥ २९ ॥

वसन्तके द्वारा वसन्तकव्ययीक्री वनाभी यवी नवी २ वनरचना ( ली-करीकम  
वन्तवादिनी पञ्चकाररचना ) के समान स्थित बहुत मञ्जु-दान करवेवाके काठ वृक्षवाले  
करसरेवाके वृक्ष जमरोंके गुबारके धारण वन वने । ( जमर करसरेवा वृक्षोंके समान पुष्पोंके  
रसको पीकर बैठे गुबार करने लगे बैठे बाणसे दान प्राप्तकर बाणक वृक्षों गुणपाव  
करते हैं ) ॥ २९ ॥

सुखदन्ताधृमासधसम्प्लवस्तदनुवादिगुणं कुसुमोद्गमः ।

मधुकैरकरोम्मधु सोलुपैरैकमाकुलमायतपद्मिनि ॥ ३० ॥

सुखदन्तेति । सुखदन्ताधृमासधेन कम्पतामृकमयेन सम्प्लवो जनिता । तत्तत्त्व बोद्ध-  
मिति प्रसिद्धिः । तस्यास्यवत्त्वाधृवादी मधुसौ गुणो वस्तु तदनुवादिगुणं कुसुमोद्गमः  
कर्ता । मधुकैरैकपैरायतपद्मिनिर्विर्षपद्मिनिर्मधुपैः कर्तव्यं बहुको कुरवकाणां मधुपद्म-  
वेन पुष्प्यतीति प्रसिद्धिः । बहुकं बहुकमृकमाकुलमकरोत् ॥ ३० ॥

हृदयोके सुख-मदिरासे कलक ( लवणियां सुखमें मदिरा कैकर बहुत वृक्षपर कुड़ा फेंकती  
है ती वह झीज विच्छिन्न होता है—मिठी कपिसमय प्रसिद्धि है ) बीर कल ( मदिरा ) के  
बहुकम गुण ( गुणमि ) बाकी पुष्पोत्पत्तिने मृदुके बीजी कमी २ कुरवकोंकी बाणकर जलते  
हुए जमरोंके नौकेसरोके वृक्षको व्याकुल ( लव नीर व्याप्त ) कर दिया ॥ ३० ॥

उपहित विशिरापगमनिषा मुकुलबाहमशोमस किङ्कके ।

प्रणयिनीव मन्त्रकृतमबहर्नं प्रमथ्या मन्त्रापिपत्तकजया ॥ ३१ ॥

उपहितमिति । विशिरापगमनिषा वसन्तकव्यया किङ्कके पञ्चकवृक्षे 'पञ्चके  
किङ्ककः पर्णः इत्यमरः । उपहितं वृत्तं मुकुलबाहं कुसुमकलहस्तिः । मन्त्रेण पालित  
कव्यया व्यस्यारितकव्या यमव्या प्रणयिनि प्रियतम उपहितं मन्त्रकृतमेव मन्त्रकृतं तद्विषः ।  
जज्ञोमय ॥ ३१ ॥

( नाभिभक्त ) वसन्तकीके द्वारा ( बाणकम ) पञ्चक वृक्षमें वसन्त किना गया कवि-  
तमूह, मन्त्रके कव्याहीन प्रमथके द्वारा प्रियतम ( के लगीं ) पर किसे मने मन्त्रकृत-  
पुष्पके समान जोमता वा ॥ ३१ ॥

प्रमथुत्प्रमथप्रमथुत्प्रमथं वधममिर्विपरीकृतमेवमम् ।

न कम्पु तावद्वेगोपमपोहितं रमिरत्नं विरत्नं कृतवान् हिमम् ॥ ३२ ॥

मनेति । मनेर्दन्तकलेर्गुणमिर्गुणं हैः प्रमथामममथैरवधोहेर्गुणमहं हिमस्व व्यथक-

त्वादसद्यम् । जघनेषु निर्विषयीकृता निरवकाशीकृता मेखला येन तत् । शैत्यन्याजित-  
मेखलमित्यर्थः । एवमूतं हिम रविस्तावदावसन्तादशेष निःशेषं यथा तथापोहितु  
मिरसितु नाल खलु न शक्नो हि, किन्तु विरल कृतवांस्तनूचकार ॥ ३२ ॥

अधिक दन्तक्षतोंवाले प्रमदाओंके अधरोष्ठसे असद्य और ( ठण्डा लगनेसे ) जघनोंके  
करघनीसे रहित करनेवाली शीत ( ठण्डक ) को सूर्यने पूर्णतया नहीं दूर किया, किन्तु उसे  
कम कर दिया । ( पहले शिशिर ऋतुमें अत्यधिक ठण्डकसे दन्तक्षत असद्य हो रहे थे तथा  
करघनीको पहनना भी स्त्रियोंने छोड़ दिया था, उस ठण्डको सूर्यतापने कुछ कम कर दिया  
था, विशेष कम नहीं किया था ) ॥ ३२ ॥

अभिनयान्परिचेतुमिवोद्यता मलयमारुतकम्पितपल्लवा ।

अमदयत्सहकारलता मनः सकलिका कलिकामजितामपि ॥ ३३ ॥

अभिनयानिति । अत्र चूतलताया नर्तकीसमाधिरभिधीयते । अभिनयानर्थव्यञ्ज-  
कान्यापारान् । 'व्यञ्जकामिनयौ समौ' इत्यमर । परिचेतुमभ्यसितुमुद्यतेव स्थिता ।  
कुत मलयमारुतेन कम्पितपल्लवा पल्लवशब्देन हस्तो गम्यते । सकलिका सकोरका,  
'कलिका कोरक पुमान्' इत्यमर । सहकारलता । कलि' कलहो द्वेष उच्यते ।  
'कलि' स्यात्कलहे शूरे कलिरन्ययुगे युधि' इति विश्वः । कामो राग तज्जितामपि ।  
जितरागद्वेषाणामपीत्यर्थः । मनोऽमदयत् ॥ ३३ ॥

अभिनयों ( हाव-भाव-व्यञ्जक व्यापारों ) को अभ्यास करनेके लिये तैयार ( नर्तकी )  
के समान स्थित, मलयाचलकी वायुसे कम्पित पल्लवोंवाली कोरकयुक्त आम्रलता द्वेष तथा  
कामके विजेताओं ( ऋषि-मुनियों ) के भी मनको उन्मत्त कर दिया ॥ ३३ ॥

प्रथममन्यभृताभिरुदीरिताः प्रविरला इव मुग्धवधूकथाः ।

सुरभिगन्धिषु शुश्रुविरे गिरः कुसुमितासुमिता वनराजिषु ॥ ३४ ॥

प्रथममिति । सुरभिगन्धो यासां तासु सुरभिगन्धिषु 'गन्धस्येदुत्पत्तिसुसुर-  
भिभ्य' इत्यनेनेकार । कुसुमान्यासां सक्षातानि कुसुमिता । तासु वनराजिषु  
वनपङ्क्तिषु । अन्यभृताभि कोकिलाभि प्रथम प्रारम्भेपूदीरिता उक्ता अत एव मिता  
परिमिता गिर आलापा । प्रविरला भौगध्यास्तोकोक्ता मुग्धवधूनां कथा वाच इव  
शुश्रुविरे श्रुताः ॥ ३४ ॥

सुगन्धियुक्त गन्धोंवाली ( सुशबूदार ) पुष्पयुक्त वनराजियोंमें पहले कोयलोंसे कही  
गयी परिमित वचन ( कुट्टकना ) मुग्ध वधुओंकी कथाओंके समान सुना गया । ( जिस  
प्रकार रतिकालमें नववधु लज्जा से थोड़ा २ बोलती हैं उसी प्रकार सुगन्धियुक्त पुष्पित  
उपवनमें कहीं २ कोयलोंका कुट्टकना सुनाई पढ़ने लगा ) ॥ ३४ ॥

श्रुतिमुद्राभ्रमरस्थनगीतयः कुसुमकोमलवन्तरुचो यमुः ।

उपवनाम्वल्लता पथनाहते किसलयैः सतायैरिय पाणिभिः ॥ ३५ ॥

श्रुतीति । श्रुतिमुद्रा कर्ममुद्रा भ्रमरस्थना पृथ्वीतपो वासां ताः । कुसुमान्येव कोमला इत्यदयो इत्यकाम्तयो वासां ताः । अनेन समिततत्वं विवक्षितम् । उपवनाम्वल्लताः आराममप्यवस्थया पथनेनाहतेः कश्चित् किसलयैः । सक्तयैः सामिबयैः । उपसम्प्रेत कथामुगच्छेदमिषयो कथयते । उपवनाम्वे पथनाहतेरिति सञ्चित्वाभिधावात् । पाणिभिरिव वमुः । अनेन कृतानां वर्तकीसाम्यं गम्यते ॥ ३५ ॥

कान्तोऽथैव मुद्राभ्रमर-शुचयकतो यौतवत्यो तथा पुष्पकरी कोमल दार्ढ्योऽथैव शोभावादी करवन्दि वासवो कज्जलैः बाहुते दिवते इव बलीन वल्लवोऽथैव तव ( इत्य-आत्मन्यर्थे अभिनवविदेह ) उचित कान्तोऽथैव समान द्योयित इति ॥ ३५ ॥

ललितविध्रममण्यविचक्षण मुरमिगन्धपण्डितकेसरम् ।

पतिषु निर्बिषिष्ठमधुमक्त्रना स्मरसस्य रसप्रवहनवर्जितम् ॥ ३६ ॥

उचितेति । अहना कलितविध्रममण्यविचक्षणं मपुरविकासतदनापद्रुतात् । मुरमिना मयोदरेण गन्धेन पराभिजकेसरं निर्बिषिष्ठमधुमक्त्रम् 'अपके सौख्यं कुक्क इत्यमरा । स्मरस्य सत्कार्यं स्मरस्य स्मरादीपयमित्यर्थः । मधु मद्यम् । 'मधु मये पुष्करसे' इत्यमरा । अर्पयति पुष्पि च इति पुष्टिद्वया । उक्तं च—'मकान्द्रस मद्यस्य मायिकयापि पाचकः । अर्पयतिगमे पादपुष्पमधुमकसोर्मधु ॥ इति । पतिषु विषये रसगन्धवर्जितममुरागमद्रुदितं यथा तथा निर्बिषिष्ठः । परवराभिराम-पूर्वकं पतिभिः सह पपुरित्यर्थः ॥ ३६ ॥

शिवो ये हृन्तर दिव्यतयाभाते अविष बाहुर्पुष्पं लुगणिते मेकेनरीष्टे पराभि-  
कारेताते और धामय-मयको धनितोऽथैव विषयैः जागृता मेयके सत्यतान दिवा ।  
( परस्पर प्रमथुः होकर शिवोऽथैव श्रीशिवोऽथैव तव मन्त्रान्न दिवा ) ॥ ३६ ॥

शुशुभिरस्मिन्पाठकथनना श्रिय इव शतपरिच्छितमेतसा ।

विक्रयतामसा गृहदीर्घिका मृदकजाह्नकजोस्रिदक्षमाः ॥ ३७ ॥

शुशुभिर इति । विक्रयतामसा विक्रयितकमना मदेव कना भावधमपुर् परमल प्रवृत्त-सिद्धिमा कश्चिद्विचक्षणो हंनारका बाहुताम्य इत्येवमुच्यते  
इगमा गृहेषु दीर्घका जाह्नकः शिवेन वादरागवायवापि वासां ताः 'दीर्घकमिते-  
नोऽथैव कथाते मोहकोक्तिः । अकश्चित् द्विजहारे गृहपाथी शिवं मदेव ॥ इति  
वाक्याल्लेखने । शक्यं चिजिता मुतरा मेकला वासां ताः । तिमितेति कर्त्तुं च ।  
शिव इव शुशुभिर ॥ ३७ ॥

खिले हुए कमलोंवाली, मदसे अस्पष्ट एवं मधुर चहचहाती हुई जलचर पक्षियों (इसादि) वाली गृहको बावडियों, मुस्कानसे अधिक सुन्दर मुखोंवाली और ढोली लटकती एवं वजती हुई करधनियोंवाली स्त्रियोंके समान शोभित हुई ॥ ३७ ॥

उपययौ तनुतां मधुखण्डिता हिमकरोदयपाण्डुमुखच्छविः ।

सदृशमिष्टसमागमनिवृत्तिं वनितयाऽनितया रजनीवधू ॥ ३८ ॥

उपययाविति । मधुना मधुसमयेन खण्डिता हासगमिता । क्षीयन्ते खलूत्तरायणे रात्रयः, खण्डितास्या च नायिका ध्वन्यते । हिमकरोदयेन चन्द्रोदयेन पाण्डुमुखस्य प्रदोपस्य वक्त्रस्य च छविर्यस्या सा रजन्येव वधू । इष्टसमागमनिवृत्तिं प्रियसङ्गम-सुखमनितयाऽप्राप्तया । 'इण् गतौ' इति धातोः कर्तरि क्तः । वनितया सदृश तुल्यं तनुतां न्यूनतां कार्यं चोपययौ ॥ ३८ ॥

वसन्त-समय ( के आने ) से उदयसे पाण्डुवर्ण सायङ्काल ( पक्षान्तरमें—मुख ) वाली रात्रिरूपिणी, स्त्री इष्ट ( प्रिय )—समागमके सुखको नहीं पायी हुई नायिकाके समान कृशता ( दुर्बलता, रात्रिपक्षमें—छोटी होना ) को ग्रहण किया । ( स्त्री दुर्बल हो गयी तथा रात्रि छोटी होने लगी ) ॥ ३८ ॥

अपतुपारतया विशदप्रभैः सुरतसङ्गपरिश्रमनोदिभिः ।

कुसुमचापमतेजयदशुभिर्हिमकरो मकरोर्जितकेतनम् ॥ ३९ ॥

अपेति । हिमकरश्चन्द्र अपतुपारतयाऽपगतनीहारतया विशदप्रभैर्निर्मलकान्तिभिः सुरतसङ्गपरिश्रमनोदिभिः सुरतसङ्गखेदहारिमिश्रिभिः किरणैः । 'चन्दनं मृदुनालानि हरन्ति सुरतश्रमम्' इति रतिरहस्यम् । मकरोर्जितकेतन मकरेणोर्जितं केतनं ध्वजो यस्य तम् । लब्धावकाशात्वादुच्छ्रितध्वजमित्यर्थः । कुसुमचाप काममते-जयदशातयत्, 'तिज निशाने' इति धातोर्ण्यन्ताह्वद् । सहकारिलामात्कामोऽपि तीक्ष्णोऽभूदित्यर्थः ॥ ३९ ॥

चन्द्र हिमनाश होनेसे निर्मल प्रकाशवाले तथा सुरत ( रतिक्रोडा ) के सङ्गमसे उत्पन्न परिश्रमको दूर करनेवाले किरणोंके द्वारा मकरसे उन्नत पताकावाले कामदेवकी तीक्ष्ण करने ( बढाने ) लगा ॥ ३९ ॥

हुतहुताशनदीप्ति वनश्रियः प्रतिनिधिः कनकाभरणस्य यत् ।

युवतयः कुसुम दधुराहितं तदलके दलकेसरपेशलम् ॥ ४० ॥

हुतेति । हुतहुताशनदीप्याज्यादिप्रज्वलिताग्निप्रभ यत्कुसुम, कर्णिकारमित्यर्थः । वनश्रियः उपवनलक्ष्म्या कनकाभरणस्य प्रतिनिधिः, अभूदिति शेषः । दलेषु केस-रेषु च पेशल, सुकुमारपत्रकिञ्चदमित्यर्थः । आहित प्रियैरिति शेषः । तत्कुसुम युवत-योऽलके कुन्तले दधुः ॥ ४० ॥



प्रत्यक्षित भयिष्ठे सयाम् कान्तिवाजा (कनैरघ) कुरु नवत्यस्योक्ते कर्ममूलक  
मतिनिविष्टता, संसृष्टिषो तथा पराजोमे ह्यभोगल अर्थात् सुन्दर अथ कुरुषो पुष्टिषो  
वालोमे कथा (तूना) ॥ ४४ ॥

अक्षिमिरस्त्रनविन्दुमनोहरैः कुसुमपद्मिनिपातिमिरक्षितः ।

न कलु शोभयति स्म वनस्पतीं न सिलकस्तिलकं प्रमदामिव ॥ ४१ ॥

अक्षिमिरिति । अक्षनविन्दुमनोहरैः कम्मलकणसुन्दरैः कुसुमपद्मिनिपातिमिरक्षित  
ये ता अक्षिमिरक्षितमिद्धितस्तिलकः श्रीमान्नाम वृक्षः । तिलकः पुरकः श्रीमान्  
इत्यमरः । वनस्पतीम् । तिलको विलेकः । 'तमाकपत्रस्तिलकचित्प्रभमि विलपकम् ।  
द्वितीयं च तुरीयं च न क्षिपाम' इत्यमरः । प्रमदामिव न शोभयति स्मेति न कलु,  
अपि त्वशोभयदेवेत्यर्थः । 'कलु स्मे' इति समकण्डयोगाद्भूतार्थे कलु । तिलकेष्वक्षन  
विन्दुवः क्षोमार्यं क्षियन्ते ॥ ४१ ॥

अन्यत्रविन्दुके समान सुन्दर, पुष्पतमूर्त्तौ पर वैठते इव भयरोते विदिन तिलक इव  
वनस्पतीके, लोको तिलक (कलावत्त टोका) के समान नहीं सुशोभित करता वा ऐसा  
नहीं किन्तु सुशोभित करता ही ना ॥ ४१ ॥

अमदयन्मधुगन्धसनायथा किसलयावरसङ्कतया मन ।

कुसुमसम्भूतया नयमस्तिका स्मितरुचा तन्वास्तुबिज्ञासिनी ॥ ४२ ॥

अमदयदिति । तद्वत्परिष्कसिनी ततोः पुंसस्य चक्षुर्विज्ञासिनी अपमदयन्मधुगन्ध-  
कनका लता 'सप्तस्रम नवमस्तिका' इत्यमरः । मधुको मकरन्दस्म मधस्य च गन्धेव  
सनायथा गन्धप्रधानमेत्यर्थः । किसलकमेवापरस्तुत सन्तया प्रसृतरामवेत्यर्थः ।  
कुसुमैः सम्भूतया सम्पादितया कुसुमकणवेत्यर्थः । स्मितरुचा हासकानया मधः,  
परवतामिति शेषः । अमदयत् ॥ ४२ ॥

बुध (ब्रह्माण्डमें पुत्र) को सुन्दर विज्ञासिनी नवमस्तिका कना (नेपाही वा मोपरा)  
बाल तथा सुगन्धित पुष्प (माधिकापत्रमें—मध तथा हव नगरे सुगन्धिषोते पुष्प), मध  
वस्कररूप अपरवायी (माधिकापत्रमें—मध वस्करके द्वारा अपरवायी) और पुन्शोते कथा  
रित कुरक्षनको कान्तिषे (माधिकापत्रमें—सुलक्षण तथा लज्जामय—पुष्परूप कुरक्षनते)  
नमको मधुगन्ध (मध) कर दिया ॥ ४२ ॥

अरुणरागनिपभिर्मरुतैः भवजस्रधपदैश्च यथातुरैः ।

परमुतापिटतैश्च विज्ञासिन स्मरवत्तैरवलोकयता कृता ॥ ४३ ॥

अस्मेति । विज्ञासिनी विज्ञानगतीया पुदगा 'की कवकतप्यधमः' इत्यनेन  
विपुलमन्वयः । अदण्डवामुतो हासमारण्ये निवेद्यति विराजुर्बन्तीन्वरामनिवेदिना

तैः कुसुम्मादिरक्षणात्तत्सदृशैरित्यर्थः । 'तमन्वेत्यनुवध्नाति तच्छीलं तन्निपेधति । तस्येवानुकरोतीति शब्दा' सादृश्यवाचका ॥' इति दण्डी । अशुकैरम्बरः श्रवणेषु कर्णेषु लब्धपदैः, निवेशितैरित्यर्थः । यवाङ्कुरैश्च परमृताविरुतैः कोकिलाकृजितैश्च । इत्येतैः स्मरवल्लैः कामसैन्यैः । अवलास्वेक एव रसो रागो येषां तेऽवल्लैकरसाः स्त्रीपरतन्त्रा कृताः ॥ ४३ ॥

विलासीलोगोंको अरुण ( प्रातःकालकी लालिमा ) को तिरस्कृत करनेवाले ( लाल ) वस्त्र, कर्णभूषण बनाये गये यवके अङ्कुर और कोयलोंका कुङ्कुमा—इन कामसेनारूप इन सबोंने एकमात्र स्त्रियोंके पराधीन ( केवल स्त्रियोंमें आसक्त ) बना दिया ॥ ४३ ॥

उपचितावयवा शुचिभिः कणैरलिकदम्बकयोगमुपेयुपी ।

सदृशकान्तिरलक्षयत मञ्जरी तिलकजाऽलकजालकमौक्तिकैः ॥ ४४ ॥

उपचितेति । शुचिभिः शुभ्रैः कणै रजोभिरुपचितावयवा पुष्पावयवा । अलिकदम्बकयोगमुपेयुपी प्राप्ता । तिलकजा तिलकवृक्षोऽथवा मञ्जरी अलकेषु यज्जालकमाभरण विशेषस्तस्मिन् मौक्तिकैः सदृशकान्ति' अलक्षयत । मृगसङ्गिनी शुभ्रा तिलकमञ्जरी नीलालकसक्तमुक्ताजालमिवालक्षयतेति वाक्यार्थः ॥ ४४ ॥

श्वेत परागोंसे व्याप्त अवयवोंवाली तथा भ्रमरसमूहसे अधिष्ठित तिलकवृक्षकी मञ्जरी ( नायिकाओंके ) केशोंको बांधनेवाली जालियोंमें गुंथे हुए मोतियोंके समान दिखलाई पड़ती थी ॥ ४४ ॥

ध्वजपटं मदनस्य धनुर्भृतश्छविकरं मुखचूर्णमृतुश्रियः ।

कुसुमकेसररेणुमलित्रजाः सपवनोपवनोत्थितमन्वयुः ॥ ४५ ॥

ध्वजपटमिति । अलित्रजा पटपदनिवहा धनुर्भृतो धानुष्कस्य मदनस्य कामस्य ध्वजपट पताकाभूतम् । ऋतुश्रियो वसन्तलक्ष्म्याश्छविकरं शोभाकरं मुखचूर्णं मुखालङ्कारचूर्णभूतम्, 'धूर्णानि वासयोगा. स्यु' इत्यमर । सपवनोपवनोत्थित सपवनपवनेन सहित यदुपवन तस्मिन्नुत्थित कुसुमानां केसरेषु क्रिञ्जल्केषु यो रेणुस्तम् । अन्वयुरन्वगच्छन् । यातेर्लङ् ॥ ४५ ॥

भौरोंके समूह धनुर्धारी कामदेवकी पताकाके वस्त्ररूप, वसन्त ऋतुकी श्रीकी शोभित करनेवाले मुखमें लगाने योग्य चूर्णरूप वायुसहित उपवनमें उड़े हुए पुष्पपरागके पीछे चले ॥ ४५ ॥

अनुभवन्नवदोलमृत्सवं पटुरपि प्रियकण्ठजिघृक्षया ।

अनयदासनरञ्जुपरिग्रहे भुजलता जलतामबलाजन' ॥ ४६ ॥

अनुभवन्निति । नवा दोला प्रेङ्खा यस्मिन् नवदोलमृत्सवं वसन्तोत्सव-

प्रविवर्तमौक्षिरसौ वनमाश्रया तदपक्षारासवर्षतनुच्यव ।

तुरगवत्मानचक्रसङ्कुललो मिरुचये उरुचेष्टितमूमिषु ॥ २१ ॥

प्रविठेति । वनमाश्रया वनपुष्पलता प्रविवर्तमौक्षिरसमिष्टा । 'पञ्चपुष्पमयी मातम वनमाश्रया प्रवीर्तता' इति । तद्वत् पञ्चलः पक्षैः सवर्षः समावस्तुच्यवे वर्म यस्य स तयोक्तः । इत्थं च वर्मण्य पञ्चलसामर्थ्याभिधानं युवतीयां विद्यासार्थम् । तुरगस्य वनपतेन गतिविशेषेण चक्रसङ्कुललोऽस्ती इक्षारवो वनमिर्गविकीर्णैरेति साक्षरिवा वा भूमवत्प्राप्तु विरुचये विविधुते ॥ ५१ ॥

वनमाका ( पञ्च-पुष्परचितमाका ) से केच वधि तथा ऐश्वरीयै रचितयोके समान क्वाप हरे रंगके वनपक्षे परमे रूप भोर वीक्षेके क्वाप्ये इत्थं पाठ्ये द्विष्टे रूप कुम्भजीरते ( दक्षरव ) इव सुर्वेसे सुक्त वस्तुकिर्णोमे वीक्षित रूप ॥ ५१ ॥

तनुजवाविनिवेशितविग्रहा भ्रमरसंक्रमितेक्ष्णवृत्तयः ।

वृष्ट्यारब्धनि तं वनदेवता मुनयन नयननिवृत्तकोसजम् ॥ २२ ॥

तनुजवेति । तनुज क्वाप्तु विविधेष्टितविग्रहा संक्रमितदेहप्र भ्रमरेषु संक्रमिता ईश्वरवृत्तयो वनपारा वासां ता वनदेवताः सुवचनं सुकोचनं नयेन वीत्वा वनि-  
तास्तोक्षितप्र कोसजम् देव तं इक्षारवमप्यवि वृष्ट्या । प्रसन्नपातवतया तं देवता अपि गूढवृत्त्या वृष्ट्यारब्धः ॥ ५२ ॥

सुप्त क्वाप्तोमे उरुवकी तथा भ्रमरोमे मेवन्वापारयो संक्रमित की इत्थं क्वाप्येवोमे सुप्तर मेवराके तथा वीक्षिते कोसज ( ईश्वर प्रजापती ) की नावन्वित करदेवाके क्वा ( दक्षरवकी ) मर्ममे देवा ॥ ५२ ॥

श्वगजिवागुरिकैः प्रथमास्थित व्यपगतानक्षवस्यु विवेश स ।

स्थिरतुल्यममूमि निपानवम्भुगवयोगवयोपचित वनम् ॥ २३ ॥

क्वाप्तीति । स इक्षारवः । शुभां क्वा स युवावस्तीति क्वापिवा क्वापिवा तैः । वागुरा युगवन्वितरम्भुः । 'वामुरा युगवन्वितरी' इत्यमरः । तथा वरस्तीति वागु-  
रिका वासिका । 'वरति इति वृत्तप्रत्ययः । 'ह्री वागुरिकवासिके' इत्यमरः । तैश्च प्रथममास्थितमधिष्ठितम् । व्यपगता वनमा वावापयो इत्थवत्तस्कराव्य परमा-  
नयोक्तम् । 'इत्थुवत्तस्करमोपका' इत्यमरः । 'वार्येजवपक्षोवनमादी मातुरानि-  
कमपि प्रविदिष्टा । मातुराव्यनुगता प्रविदिष्टा संकटे च गान्ते च न विहेत्' इति क्वामन्वका । स्थिरा इवा पट्टाविरहिता तुल्यमयोव्या मूमिर्भव तत् । निपान-  
वद्वाहावनुक्तम् । वाहावस्तु निपानं एवावुपकृपजकापये' इत्यमरः । सुर्वैरिवा-  
दिमिर्बोमि पविमिर्बवैर्वीसद्वरवप्यविकीर्णैर्वीपचिते सपुर्वं वनं विवेश प्रविष्टवान् ॥ ५३ ॥

वे ( दशरथ ) शिकारी कुत्तोंके समूह तथा जालवाले लोगोंसे पहलेसे ही युक्त, दावाभि और चोरोंसे रहित, घोड़ोंके चलने योग्य सूखी हुई ( दलदलरहित ) भूमिवाले, कूबोंके पास पशुओंके पानी पीने योग्य हौजोंसे युक्त और हरिण, पक्षी तथा गवय ( शंखर, चीलगायों ) से परिपूर्ण हुए वनमें प्रवेश किये ॥ ५३ ॥

अथ नभस्य इव त्रिदशायुधं कनकपिङ्गतडिङ्गणसंयुतम् ।

धनुरधिज्यमनाधिरुपाददे नरवरो रवरोषितकेसरी ॥ ५४ ॥

अथेति । अथानाधिर्मनोन्यथारहितो नरवरो नरश्रेष्ठ । रवेण धनुष्टङ्कारेण रोषिता' केसरिण' सिंहा येन स राजा । कनकमिव पिङ्गः पिशङ्गो यस्तडिदेव गुणो मौर्वी तेन संयुत त्रिदशायुधमिन्द्रचाप नभस्यो भाद्रपदमास इव । 'स्युर्नभस्य' प्रौष्ठपद-भाद्रभाद्रपदा' समाः' इत्यमरः । अधिज्यमधिगतमौर्वीक धनुरुपाददे जग्राह ॥ ५४ ॥

इसके बाद कष्टरहित, ( धनुष ) के टङ्कारसे सिंहको क्रोधित किये हुए नरश्रेष्ठ ( दशरथ ) प्रस्यञ्चा चढ़े हुए धनुषको, सुवर्णके समान बिल्लीरूपी प्रत्यञ्चासे युक्त इन्द्रधनुषको भाद्रपद मासके समान ग्रहण किया ॥ ५४ ॥

तस्य स्तनप्रणयिभिर्मुहुरेणशवैर्व्याहन्यमानहरिणीगमन पुरस्तात् ।

आविर्बभूव कुशागर्भमुख मृगाणां यूथ तदग्रसरगर्वितकृष्णसारम् ॥ ५५ ॥

तस्येति । स्तनप्रणयिभि' स्तनपायिभिरेणशवैर्हरिणशिशुभि 'पृथुक शवक. शिशु' इत्यमरः । व्याहन्यमान तद्वत्सलतया तद्गमनानुसारेण मुहुर्मुहु प्रतिषि-ध्यमान हरिणीनां गमन गतिर्यस्य तत् । कुशा गर्भे येषां तानि सुखानि यस्य तत्कुश-गर्भमुखम् । यस्य यूथस्याग्रेसर' पुर.सरो गर्वितो हसश्च कृष्णसारो यस्य तत् । मृगाणां यूथ कुलम् । 'सजातीयै कुल यूथ तिरश्चा पुनपुसकम्' इत्यमरः । तस्य दशरथस्य पुरस्तादग्रे आविर्बभूव । वसन्ततिलकावृत्तम् ॥ ५५ ॥

स्तनको पीनेके लिये वृक्षोंसे वार २ रोके गये हरिणियोंके गमनवाला, मुखमें कुशा लिया हुआ आगे २ चलते हुए मस्त कृष्णसार मृगवाला, मृगोंका झुण्ड उस ( दशरथ ) के सामने आया ॥ ५५ ॥

तत्प्रार्थितं जवनवाजिगतेन राज्ञा तूणीमुखोद्धृतशरेण विशीर्णपङ्क्ति ।

श्यामीचकार वनमाकुलदृष्टिपातैर्वातेतरितोत्पलदलप्रकरैरिवाद्रैः ॥ ५६ ॥

तदिति । जवनो जवशील । 'जुचङ्क्रम्यदन्द्रम्यसृगृध्रिज्वलशुचलपपतपद' इत्यनेन युचप्रत्यय । 'तरस्वी त्वरितो वेगी प्रजजी जवनो जव' इत्यमरः । त वाजिनमश्व गतेनारुढेन । तूणीपुधि । 'वह्नादिभ्यश्च' इति स्त्रिया ङीप् । तस्यामुखा-द्विवरादुद्धृतशरेण राज्ञा प्रार्थितमभियातम् । 'याञ्चायामभियाने च प्रार्थना कथ्यते

मनुष्यव्यवस्थायाः पट्टरपि निपुणोऽपि प्रियकण्ठस्य त्रिदशपा महीतुमाकिञ्चिन्मि-  
च्छन्नाऽऽसन्नवस्तुपरिमहे पीठरग्न्यग्रे मुक्तायां बाहुक्यां लब्धतां लोकिवन् । उक्-  
तेभ्यमेव । 'यमऽऽरक्षेयचित्तैषु बलबोर्लक्ष्योर्न मित' इति । अथपत् । दोषमप्रीत्याहु  
पतयन्मन्वाष्टितकं प्रियकण्ठमासिष्यदित्यर्थः ॥ ३३ ॥

कवे सुन्दर चन्दर बरगोत्तव याली हूँ की सावधान रहती हूँ भी (छात्रों  
हजते हुए) पठिते गलेसे आभिमुख करनेकी रज्जुसे बैठे आभिमुख काटती रस्तीको पकड़नेमें  
बिचार करती । (सुन्दर वास्तवमें नहीं बिरती हूँ भी आभिमुख याली गिरती हूँ-ती  
होकर सुन्दर रस्तीके पकड़नेकी हीजकर पठिते गलेसे आभिमुख कर दिया) ॥ ५६ ॥

त्यजत मानसं च विप्रहेनं पुनरेति गतं चतुरं वयम् ।

परमृतामिरिषीष निषेविते स्मरमते रमते स्म बभूवन् ॥ ४० ॥

रपत्रतेति । वतेत्यामन्त्रे । 'वेदानुक्त्यासन्तोपदिस्मवात्मन्त्रे वत' इत्याम्ना ।  
 कतञ्चनान्नं मात्रं कोपं त्यक्तः । तदुक्तम्—'स्त्रीणामीर्ध्यातुः कोपो मावोऽन्वा-  
 द्भिनि दिये' । इति । विप्रैर्विरोधैरकं, विप्रदो व कार्यं इत्यर्थः । गतमतीर्थं पुरस्त-  
 थोद्यत्तमं वयो वीर्यं पुनर्वैति नागप्यति इत्येवंरूपे स्मरमते स्मरामिमात्रे । वयुंसते  
 मात्रे च । परानुवर्तिना कोटिकमयिर्विदेविते सतीव वयुवयो रमते स्म रेमे, कोटि-  
 कावृत्तितोदीपितरमरा स्त्रीजनः कामसासनमयाविशोक्तः इत्यर्थः ॥ १७ ॥

‘हाव ! तुम माफ़ी माँग दो विरोध करना कर्ष है, बीटी हुई चीजवादी फिर नहीं जीवती’ इस प्रकार बीबीके कामोदीपक वचन कन्देवर की (पठिते सप्त) रमन करने लगे । ( माफ़ी की बीबीके कामोदीपक कुकुला तुम्हारे माव होकर पठिते सप्त रमन करने लगे ) ॥ ५० ॥

अथ यथासुखमाचष्टुत्सव समनुभूय विद्यासुखदीप्तये ।

नरपतिश्चक्रमे सुगन्धारविं च मधुमम्माधुमम्मावसभिम् ॥ ४८ ॥

[illegible]

किर बिष्णु बसन्त तथा कम्बोदरके समान रागा (राजराग) के विनायकियों (विधायी) के साथ बसन्त ऋतुके वासन्ती शुक्लपूर्णिमा औपचारिक विवाह होकरा जाता है ॥ ४८ ॥

व्यसनासङ्गदोषं परिहरन्नाह—

परिचय चललक्ष्यनिपातने भयरूपोश्च तदिङ्गितबोधनम् ।

श्रमजयात्प्रगुणां च करोत्यसौ तनुमतोऽनुमतः सचिवैर्ययौ ॥ ४६ ॥\*

परिचयमिति । असौ मृगया चललक्ष्याणि मृगगवयादीनि तेषां निपातने परिचयमभ्यास करोति । भयरूपोर्मयक्रोधयोस्तदिङ्गितबोधन तेषां चललक्ष्याणां मिङ्गितस्य चेष्टितस्य भयादिलिङ्गभूतस्य बोधन ज्ञान च करोति । तनु शरीर श्रमस्य जयाञ्जिरासात्प्रगुणां प्रकृष्टलाघवादिगुणवर्ती च करोति । अतो हेतो सचिवैरनुमतोऽनुमोदित सन् ययौ । सर्वं चैतद् युद्धोपयोगीत्यतस्तदपेक्षया मृगयाप्रवृत्तिः । न तु व्यसनितयेति भावः ॥ ४९ ॥

यह ( शिकार ) चञ्चल लक्ष्य ( पक्षी या मृग व्याघ्रादि पशु ) के गिरानेमें अभ्यासको, ( उन लक्ष्यभूत पशुओं ) के मय तथा क्रोधकी चेष्टाओंकी जानकारीको तथा श्रमके जीतनेसे शरीरमें कुर्ती ( हलकापन ) को करता है, अत मन्त्रियोंसे अनुमति पाकर ( राजा शिकारके लिये ) चले ॥ ४९ ॥

मृगवनेपगमक्षमवेषभृद्विपुलकण्ठनिपक्तशरासनः ।

गगनमश्वखुरोद्धतरेणुभिर्नृसविता स वितानमिवाकरोत् ॥ ५० ॥

मृगवनेति । मृगाणां वन तस्योपगमः प्राप्तिः तस्य क्षममहं वेष विभर्तीति स तथोक्तः, मृगयाविहारानुगुणवेषधारीत्यर्थः । विपुलकण्ठे निपक्तशरासनो लज्जधन्वा । ना सवितेव नृसविता पुरुषश्रेष्ठः । उपमितसमासः । स राजाऽश्वखुरोद्धतरेणुभिर्गगन वितानं तुच्छमसदिवाकरोत्, गगनं नालक्ष्यतेत्यर्थः । 'वितानं तुच्छमन्दयोः' इति विश्वः । अथवा सवितानमित्येक पदम्, सवितानमुल्लोचसहितमिवाकरोत् । 'अस्त्री वितानमुल्लोच' इत्यमरः ॥ ५० ॥

मृगोंसे पूर्ण वनके योग्य भेषवाले, विशाल कण्ठमें धनुषको रखे हुए और राजाओंमें सूर्यवत् ( तेजस्वी ) वे ( दशरथ ) घोड़ोंके खुरोंसे उठी हुई घूलियोंसे आकाशको मानो छोटा ( सङ्कुचित ), ( या 'सवितानमिव' पाठ मानकर मानों चंदोवेसे युक्त ) कर दिया ॥ ५० ॥

\* एतदाशयक एव श्लोकोऽभिज्ञानशाकुन्तले प्रथमेऽङ्के दुष्यन्त प्रति सेनापतिनोक्तं दृश्यते, तथा—

‘भेदच्छेदकशोदर लघु भवत्युत्साहयोग्य वपुः

सत्त्वानामपि लक्ष्यते विकृतिमध्वित्त भयक्रोधयो ।

उत्कर्षः स हि धन्विना यदिपवः सिद्ध्यन्ति लक्ष्ये चले ।

मिथ्या हि व्यसनं वदन्ति मृगयामीषुग्विनोद कुत ॥’ इति ।



वे ( दशरथ ) शिकारी कुत्तोंके समूह तथा जालवाले लोगोंसे पहिलेसे ही युक्त, दावाभि और चोरोंसे रहित, घोड़ोंके चलने योग्य सूखी दुर्द ( दलदलरहित ) भूमिवाले, कूओंके पास पशुओंके पानी पीने योग्य झोर्जोंसे युक्त और हरिण, पक्षी तथा गवय ( शायर, नीलगायों ) से परिपूर्ण हुए वनमें प्रवेश किये ॥ ५३ ॥

अथ नभस्य इव त्रिदशायुधं कनकपिङ्गुतडिङ्गणसंयुतम् ।

धनुर्ध्वज्यमनाधिरुपाददे नरवरो रवरोषितकेसरी ॥ ५४ ॥

अथेति । अयानाधिर्मनोन्यथारहितो नरवरो नरश्रेष्ठः । रवेण धनुष्टङ्कारेण रोषिता केसरिणः सिंहा येन स राजा । कनकमिव पिङ्गुः पिङ्गो यस्तडिदेव गुणो मौर्वी तेन संयुत त्रिदशायुधमिन्द्रचाप नभस्यो भाद्रपदमास इव । 'स्युर्नभस्य प्रौष्ठपद-भाद्रभाद्रपदा' समा' इत्यमरः । अधिज्यमधिगतमौर्वीक धनुरुपाददे जग्राह ॥ ५४ ॥

इसके बाद कष्टरहित, ( धनुष ) के टङ्कारसे सिंहको क्रोधित किये हुए नरश्रेष्ठ ( दशरथ ) प्रत्यक्षा चढ़े हुए धनुषको, सुवर्णके समान विजलीरूपी प्रत्यक्षासे युक्त इन्द्रधनुषको भाद्रपद मासके समान ग्रहण किया ॥ ५४ ॥

तस्य स्तनप्रणयिभिर्मुहुरेणशावैर्व्याहन्यमानहरिणीगमन पुरस्तात् ।

आविर्बभूव कुशगर्भमुख मृगाणां यूथ तदग्रसरगर्वितकृष्णसारम् ॥ ५५ ॥

तस्येति । स्तनप्रणयिभिः स्तनपायिभिरेणशावैर्हरिणशिशुभिः 'पृथुक. शावक शिशु' इत्यमरः । व्याहन्यमान तद्वत्सलतया तद्गमनानुसारेण मुहुर्मुहुः प्रतिपि-ध्यमान हरिणीनां गमन गतिर्यस्य तत् । कुशा गर्भे येषां तानि सुखानि यस्य तत्कुश-गर्भमुखम् । यस्य यूथस्याग्रसर. पुरःसरो गर्वितो इतश्च कृष्णसारो यस्य तत् । मृगाणां यूथं कुलम् । 'सजातीयैः कुल यूथ तिरश्चा पुनपुलकम्' इत्यमरः । तस्य दशरथस्य पुरस्तादग्रे आविर्बभूव । वसन्ततिलकावृत्तम् ॥ ५५ ॥

स्तनको पीनेके लिये बच्चोंसे बार २ रोके गये हरिणियोंके गमनवाला, सुखमें कुश लिया हुआ आगे २ चलते हुए मस्त कृष्णसार मृगवाला, मृगोंका झुण्ड उस ( दशरथ ) के सामने आया ॥ ५५ ॥

तत्प्रार्थितं जवनवाजिगतेन राज्ञा तूणीमुखोद्धृतशरेण विशीर्णपङ्क्तिः ।

श्यामीचकार वनमाकुलदृष्टिपातैर्वारितोत्पलदलप्रकरैरिवाद्रैः ॥ ५६ ॥

तदिति । जवनो जवशील । 'जुचह्म्यदन्द्म्यसृग्धिज्वलशुचलषपतपद्' इत्यनेन युष्मत्प्रत्ययः । 'तरस्वी त्वरितो वेगी प्रजयी जवनो जवः' इत्यमरः । त वाजिनमश्च गतेनारुढेन । तूणीपुधिः । 'वद्वादिभ्यश्च' इति स्त्रियां ङीप् । तस्यामुखा-द्विवरादुद्धृतशरेण राज्ञा प्रार्थितमभियातम् । 'याश्चायामभियाने च प्रार्थना कथ्यते



सुयोः इति केसकाः । अत एव विज्ञीर्णां पक्षिः सङ्गीमात्रो यस्य तत् सुयपूषं कर्त्तुं ।  
आर्जैर्मयाम्भुसिचैरापुष्पा मयचक्रिता ये दक्षिपातारतोः । पातेरितोत्पद्यन्मकरैः पक्व-  
कम्पतेन्द्रीवरदकम्पदैरिव । वनं रघामीचक्रर ॥ ५६ ॥

येन नोद्वेपर चरे ह्रस्व, तरकस्येति चित्तैरेव वाक्पक्षी निष्कले ह्रस्व रात्रासे पीडा दिवा नरा-  
( नवपत्र ) निष्करी ( क्षिप्र मित्र ) पंक्तिमात्रे वसतुर्गोके ह्रस्वने ननुपुच एवं मयचक्रित  
केचोते वायुके द्वारा अभिप्रेत ह्रस्व मीळकम्पयोके समान, वक्त्रो रघामवर्ष कर दिवा ५६  
छन्दसीकृतस्य हरिणस्य हरिप्रभाष प्रेक्ष्य स्थितं सहचरी भवभाष देहम् ।  
आकर्षकृष्टमपि कामितया स चन्द्री बाण कृपासुखमन्ता प्रतिसञ्चयत् ॥ ५७ ॥

कचवीकृतरेति । इतिरिन्द्रो निष्करी । ह्रस्वेव प्रभाषा सामर्थ्यं यस्य स तत्रो-  
क्त । चन्द्री यमुष्मात्तु वृषा । कचवीकृतस्य वेदुमिहस्य हरिणस्य स्वमेवसो देहं  
भवभाषापुराणादम्भर्षां स्थिताम् । सह चरतीति सहचरी । पचामिदु चरतेति-  
स्वागमिन् । पचाम् नामक—चलुचरीति चरेदित्यात् इति । तां सहचरीं इति  
प्रेक्ष्य कामितया स्वर्षं कामुकत्वात् ह्रस्वसुखमन्त कर्माङ्गित्या सत् । आकर्ष-  
कृष्टमपि कृष्टमिति मन्दरमपीत्यर्थः । वार्जं प्रतिसञ्चयत् मैत्रुण्यादित्यर्थः । मैत्रुण्यं तु चन्द्री  
त्वमेव गन्त्यते ॥ ५७ ॥

निष्क ( वा ह्रस्व ) के समान समर्थ वक्त्रांरी वस ( वचरव ) ने निष्ठामा वनासे नये  
हरिणके चरोरको भवद्वित ( मेरे पक्षिको वक्त्रे वाक् व जगत्तर ह्रस्व ही ) जमे इत वाक्पाते  
रात्रा वचरव तथा मित्र वृष्के मन्त्ये ) करके चन्द्री ह्रस्व हरिणको देहकर कम्पक केने  
ह्रस्व वक्त्रको मी स्तव चन्द्री होयेके चरव कृपासे वचार्थित होति ह्रस्व व्याप किन्वा (मलका  
योक्तेकर ही जगत् वाक् नहीं होति ) ॥ ५७ ॥

तस्यपरेष्वपि सुगोपु रायन्मुमुक्षोः

कर्णान्तमेव विमिदे निबिडोऽपि मुष्टिः ।

अस्मादिमात्रचक्रुर्ध्वै स्मरत् सुनेत्रैः

प्रौढप्रियात्मनश्चित्रमप्येष्टितानि ॥ ५८ ॥

तस्मिन् । आसात्रवा इति मात्रा चक्रुर्ध्वै सुनेत्रैः प्रौढप्रियात्मनश्चित्रमप्येष्टितानि  
क्षितिमि प्रयत्नकान्ताविद्योचनविकासव्यापारात्साधनस्मरत् । अपरेष्वपि सुगो-  
परांमुमुक्षोर्मोक्षमिच्छोस्तस्य वृषस्य निबिडो यथोऽपि मुष्टिः कर्णान्तमेव प्राप्य  
विमिदे । स्ववमेव मिद्यते स्म । निबिडः कर्मकर्तृदि क्षिप् । कामिनस्तस्य प्रियाविज्रम  
स्पृष्टिचक्रितह्रस्वातिरेकान्मुष्टिमेव । व त्वमिदुण्यादिति तात्पर्यायः ॥ ५८ ॥

नपते कज्जन्त नपतत येनोके द्वारा नपनी प्रौढ प्रियात्राके केनोके निजसङ्गर्त केनोके

स्मरण करते हुए दूसरे मृगोंपर भी बाणोंको छोड़नेके इच्छुक उस (दशरथ) को इदं सुद्धो भी कानतक पहुच कर ढोली पट गयी । ( अत एव दूसरे मृगोंपर भी राजा दशरथ बाण नहीं छोड़ सके ) ॥ ५८ ॥

उत्तस्थुपः सपदि पल्वलपङ्कमध्यान्मुस्ताप्ररोहकवलावयवानुकीर्णम् ।

जग्राह स द्रुतवराहकुलस्य मार्गं सुव्यक्तमार्द्रपदपङ्क्तिभिरायतामिः ॥ ५९ ॥

उत्तस्थुप इति । स नृपः । मुस्ताप्ररोहाणां मुस्ताङ्कुराणां कवला ग्रासाः । तेषामवयवैः श्रमविवृतमुखशशिभिः शकलैरनुकीर्णं स्यात्सम् । आयताभिर्दोर्धाभिरार्द्रपदपङ्क्तिभिः सुव्यक्तम् । सपदि पल्वलपङ्कमध्यादुत्तस्थुप उत्थितस्य द्रुतवराहकुलस्य पलायितवराहयूयस्य मार्गं जग्राहानुसारं । जिघांसया तदीयपद्वीमनुययावित्यर्थः ॥

उस (दशरथ)ने मोथेकी जड़ोंके ग्रासोंके (मुखपतित) अवयवोंसे व्याप्त, सुदूर तक गीले पैरोंके चिढ़ोंकी कतारोंसे स्पष्ट, तत्काल (कुछ समय पहले) ही (गढ़ोंसे) निकलकर भागे हुए सूअरोंके झुंडोंके रास्ते का अनुसरण किया । (उस रास्तेसे बढ़ते हुए उनका पीछा किया) ॥

तं बाहनादवनतोत्तरकायमीषद्विध्यन्तमुद्धृतसटाः प्रतिहन्तुमीषुः ।

नात्मानमस्य विविदुः सहसा वराहा वृक्षेषु विद्वमिषुभिर्जघनाश्रयेषु ॥ ६० ॥

तमिति । वराहाः बाहनादश्वादीपदवनतोत्तरकायं किञ्चिदानतपूर्वकायं विध्यन्तं प्रहरन्तं तं नृपम् । उद्धृतसटा ऊर्ध्वकेसराः सन्तः । 'सटा जटाकेसरयोः' इति केषाव । प्रतिहन्तुमीषु प्रतिहर्तुमैच्छन् । अस्य नृपस्येषुभिः सहसा जघनानामाश्रयेष्ववष्टम्बेषु वृक्षेषु विद्वमात्मानं न विविदुः । एतेन वराहाणां मनस्वित्वं नृपस्य हस्तलाघवं चोक्तम् ॥ ६० ॥

सूअरोंने बोड़ेपर शरीरको थोड़ा झुकाकर प्रहार करते हुए उन ( राजा दशरथ ) को गर्दनके बालोंको खड़ाकर ( ऐसा सूअरोंका स्वभाव होता है कि किसीको मारनेके पूर्व वे गर्दनको उठाकर बालोंको कड़ा कर लेते हैं ) मारना चाहा किन्तु इस ( दशरथ ) के बाणोंसे प्रकाशक जङ्घोंके आश्रयभूत पेड़ोंमें अपनेकी विधा हुआ नहीं जाना । ( जब तक सूअरोंने राजाको मारना चाहा, इतनेमें ही उन्होंने छट उन सूअरोंकी जङ्घाओंमें बाण मारकर उन्हें विवश कर दिया ) ॥ ६० ॥

तेनाभिघातं रभसस्य विकृष्य पत्री वन्यस्य नेत्रविचरे महिषस्य मुक्तं ।

निर्मिद्य विग्रहमशोणितलिप्तपुङ्खस्त पातयां प्रथममास पपात पश्चात् ॥ ६१ ॥

तेनेति । अभिघाते रभस औसुष्यं यस्य तस्य, अभिहन्तुमुद्यतस्येत्यर्थः । वन्यस्य चने भवस्य महिषस्य नेत्रविचरे नेत्रमध्ये तेन नृपेण विकृष्याकृष्य मुक्तं पत्री शरो विग्रहं महिषदेहं निर्मिद्य विदार्य । शोणितलिप्तो न भवतीत्यशोणितलिप्तः पुङ्खो

प्रत्य ॥ तथोक्तं सन् । तं महिषं प्रथमं पातयामास । स्वयं पश्चादपपात । 'कुत्रापि  
प्रपुम्बते किञ्चि' इत्यत्राबुधस्यस्य व्यवहितविपर्यस्तप्रयोगनिर्गमपर्यन्तत्वात् 'पश्या  
प्रथममास' इत्यपप्रयोग इति पाणिनीयाः । यथाह वार्तिककारः—'विपर्यस्तविशेष  
व्यवहितनिवृत्त्यर्थं च' इति ॥ ६१ ॥

वेगते प्रहार करनेवाले बड़की मँदेकी जाँवर्ये वस (बहरन) से छँकर बोका क्या  
बाग पँड्ये बिना रकरवित होता हुआ (मँदेके) छरीरकी बिदोर्नकर बड़की ली राके  
मिरावा तवा एक लख पीछे मिरा ॥ ६१ ॥

प्रायो विद्यापपरिमोकलधूतमाङ्गलसङ्ग्राह्यकार नृपतिर्निशितैः क्षुरगैः ।  
शृङ्गं स हस्तविनम्यचिह्नितं परेषामस्युचिह्नितं न मस्यै न तु क्षीर्णमायुः ॥ ६२ ॥

प्राय इति । नृपतिर्विशितैः क्षुरगैः शरविशेषैः, कङ्कार्धबाधैरित्यर्थः । बह्व्यय  
कङ्कार्धबाधस्युपात् 'गम्यते कङ्कार्धबाधयो' इत्यमरः । प्रायो बाहुवचनं विद्यापपरि  
मोक्षेय शृङ्गमेव कपून्मगुल्मुत्तमाङ्गलमि क्षिरसि येषां ताँत्रकार, न त्वबधीदित्य  
र्थः । कुत्रापि, व्यतिवृत्तचिह्नितो मुहविष्यद्विपुत्र स राजा परेषां मल्लिकार्जुनस्युचि-  
ह्नितशृङ्गं शृङ्गं विपार्जं प्राबाल्यं च । शृङ्गं प्राबाल्यसाम्येण' इत्यमरः । न मस्यै न  
तेह । क्षीर्णमायुर्जीवितकाम्य । आयुर्जीवितकाम्ये वा' इत्यमरः । न मस्य इति न  
किन्तु मस्य प्रत्येत्वर्थः ॥ ६२ ॥

राजा (बहरन) ने तेज वालीसे गेंडोंकी बचिहरत लींकी लोहर इन्के मल्लिक-  
नारन कर दिया । कमिगनिनीके सासक (राजा बहरन) कहुनोंके बसुवत लींकी  
(सहपन्ये—कम्यो प्रयातकको) नहीं सहन किये (जीर कक्यो) दोबालुको नहीं सहन  
किये देतो बात नहीं की । (राजाके बवाकर कक्ये प्राय नहीं किये, किन्तु मानके पञ्जर  
दिया) ॥ ६२ ॥

व्याघ्रनमीरमिमुक्षोत्पतितान्युहाभ्यं

पुञ्जासनाप्रविटपानिव बायुरगणम् ।

रिक्ताविशेषकभुस्ततया निमेषा-

पूणीपञ्जर शरपुरितवक्त्ररम्भान् ॥ ६३ ॥

व्याघ्राविति । अमीर्विभीकः स कम्पी गुहाभ्योऽमिमुक्षुत्पतितान् । बायुरा  
वन्मात्स्यान् पुञ्जा निवधितान् । 'अनुपसर्गात्पुञ्जधीवङ्गोच्चावा' इति विष्णु-  
तकमस्य कत्वविपादा । येऽसवस्य धर्मबुद्धयः । 'सर्वकामसवकम्पुत्पुन्यप्रिय-  
धीवङ्गा' इत्यमरः । अमविटपात्तामिव स्थितान्, ह्युचिभूतामित्यर्थः । व्याघ्राणां  
विशेषपरवाहुपमायै पुञ्जविशेषणम् । कुरी पुरितमिव वक्त्ररम्भावि वेरां तान्वात्रान्

शिक्षाविशेषैर्गाम्यासातिशयेन लघुहस्ततया क्षिप्रहस्ततया निमेषात्तूणीचकार, तूर्ण शरैः पूरितवानित्यर्थः ॥ ६३ ॥

निर्मय दशरथने गुहासे निकलकर सामने आये हुए, वायुसे विखरे हुए विकसित, पुष्पोवाले सर्ज वृक्षोंके समान स्थित बाघोंका मुख उत्तम शिक्षा पानेके कारण फुटोंके हाथोंसे पलकभरमें बाणोंसे भर दिया । ( गुफासे उछलकर सामने आते ही क्षणमात्रमें बाणोंसे उनके मुखोंको पूर्ण कर दिया ) ॥ ६३ ॥

निर्घातोऽग्रे कुञ्जलीनास्त्रिधांसुर्ज्यानिर्घोषैः क्षोभयामास सिंहान् ।  
नूनं तेषामभ्यसूयापरोऽभूद्वीर्योदग्रे राजशब्दे मृगेषु ॥ ६४ ॥

निर्घातेति । कुञ्जेषु लीनान् । 'निकुञ्जकुञ्जौ वा क्लीबे लतादिपिहितोदरे' इत्यमरः । सिंहास्त्रिधांसुर्हन्तुमिच्छुः । निर्घातो व्योमोस्थित औत्पातिकः शब्दविशेषः । तदुक्तं नारदीयसंहितायाम्—'वायुनाऽभिहतो वायुर्गगनात्पतितः क्षितौ । यदाऽदीप्तः खगस्तः स निर्घातोऽतिदोषकृत् ॥' इति । तद्गुणै रौद्वैर्ज्यानिर्घोषैर्मौर्वीशब्दैः क्षोभयामास । अत्रोत्प्रेक्षते—तेषां सिंहानां सम्बन्धिनि वीर्येणोदग्रे उन्नते मृगेषु विषये यो राजशब्दस्तस्मिन्नभ्यसूयापरोऽभून्नूनम् । अन्यथा कथमेतानन्विष्य, हन्यादित्यर्थः । 'मृगाणाम्' इति पाठे समासे गुणभूतत्वाद्वाजशब्देन सम्बन्धो दुर्घटः । 'शालिन्युक्ता' भूतौ तगौ गोऽब्धिलोकैः' इति लक्षणात् ॥ ६४ ॥

कुञ्जोंमें छिपे हुए सिंहोंको मारनेके इच्छुक ( राजा दशरथ ) ने विजली कबकनेके समान तीव्र धनुषके टङ्कारोंसे उन्हें व्याकुल कर दिया । मालूम पड़ता है कि निश्चय ही ( राजा दशरथ ) मृगोंमें पराक्रमसे उन्नत राजशब्द अर्थात् 'मृगराज' शब्दोंमें ईर्ष्या करते थे । ( वे स्वयं एकच्छत्र राजा रहते हुए इन सिंहोंका 'मृगराज' कहलाना नहीं सहन करते थे, अतएव उन्हें मारनेकी इच्छासे कुञ्जोंमें छिपे हुए सिंहोंको धनुष्टङ्कारसे व्याकुल कर दिया ॥ ६४ ॥

तान्दत्त्वा गजकुलबद्धतीव्रवैरान्काकुत्स्थः कुटिलनखाग्रलभमुक्तान् ।

आत्मानं रणकृतकर्मणा गजानामानृण्य गतमिव मार्गणैरमंस्त ॥ ६५ ॥

तानिति । काकुत्स्थो दशरथः । गजकुलेषु बद्ध तीव्रं वैरं यैस्तान् । कुटिलेषु नखाग्रेषु लभ्या मुक्ता गजकुम्भमौक्तिकानि येषां तान्सिंहान्दत्त्वा । आत्मानं रणेषु कृतकर्मणा कृतोपकाराणां गजानामानृण्यमनृणत्वं मार्गणैः शरैः । 'मार्गणो याचके शरैः' इति विश्वः । गतं प्राप्तवन्तमिवामंस्त मेने ॥ ६५ ॥

दशरथने गज समूहोंसे घोर विरोध करनेवाले और टेढ़े नखोंके अग्रभागमें स्थित गजमुक्तावाले उन सिंहोंको मारकर युद्ध क्रायमें उपकार करनेवाले हाथियोंके ऋणसे अपनेको मुक्त हुआ माना ॥ ६५ ॥

अमरान्परितः प्रयतिताम् कविवाकर्णविकृष्टमज्ञवर्षी ।

मृपतीनिष तांश्चियोक्य सद्यः सितवाद्यव्यजनैर्जगाम शान्तिम् ॥ ६६ ॥

अमरानिति । कविश्चमरान्परितः । 'अमितापरितस्तमवानिकवाद्यप्रतिबोध्यैः' इत्यनेन द्वितोषा । प्रयतिताम् प्रयागिताम् । वाकर्णविकृष्टमज्ञाविपुविशेषान्वर्षीति उपोक्तं स नृपा । मृपतीनिष तांश्चमरान्परितः कव्यजनैः शुभ्रचामरैर्विबोध्य स्ति इत्य सद्यः शान्तिं व्रजाम् । शृङ्गां परकीयमैर्धर्ममेवासकम् । न तु जीवितमिति भावः । जीवन्मुक्तिर्लक्षं वृत्तम् ॥ ६६ ॥

अमर कुर्वोके चारों और शीशुकी होनावे हुए तथा कव्यजन कवि-प्रीति कर यत्न मारयेवाके वे ( बहुरथ ) राजाओंके समान कमकी श्रेष्ठ चामरों ( रत्ना-पूजों ) से हीनकर शीघ्र शान्त हो पड़े । ( राजानोंकी परस्परकर कर्णों राजविह्वल श्रेष्ठ चामरोंसे रक्षितकर शान्त होमेके समान अमर कुर्वोकेकी पूजोंको कायर छोड़ दिया कर्ण मारा गयी ) ॥ ६६ ॥  
अपि सुरगसमीपादुत्पलम्भं मयूर न स रुचिरकसारं बाणस्ययीचकर ।  
सपदि गतमनस्कमिन्द्रमास्यानुकीर्णं रतिमिगलितबन्धे केशपाशो म्रियायः ॥

अपीति । स मृपसुरगसमीपादुत्पलम्भमपि शुभ्रहारमरीचकः । रुचिरकसारं मासुरकसारं । म्रियायसिसेन रीतीति मयूरो वही । कुचोदरादित्यन्तात् । तं विज्ञेन मास्येनामुकीर्णं इती मिगलितबन्धे म्रियायाः केशपाशो सपदि म्रमनस्कः प्रवृत्तचित्तः । 'वरममृतिम्या कप् इति कथ्यत्वत्वा । न वाचकभयीचकर न म्रज हारेत्यर्थः ॥ ६७ ॥

वे ( राजा बहुरथ ) शीशुके बालसे कर्णके हुए भी मनीहर पूजोंवाले मोरको, विज-  
विज म्रजानोंसे म्वात ( शुभे हुए ) तथा रतिसे म्रम्य पुके हुए म्रियाके केश-समूर  
( मीरी ) की म्रमरकर वाणका निछाना नहीं बनाये ( बनकर बाल गयी चकाये ) ॥ ६७ ॥

तस्य कर्कशविहारसम्भवं स्वेदमाननपिष्मप्रज्ञासकम् ।

आपचाम सत्तुपारशीकरो भिन्नपञ्चवपुटो यनानिस्त ॥ ६८ ॥

तस्येति । कर्कशविहारवृत्तिष्वाधामात्सम्भवी वरय तस्य । आपवे विह्वलज्ञाकं वदकृष्णकं तस्य मृपस्य स्वैरयः । सत्तुपारशीकरा घितिराममुकजरादिता । मिषा निर्दिष्टिताः पञ्चबाबां पुटा कीसा येन सा यनानिस्त आपचाम आहारेत्यर्थः । एकोदता वृत्तमेतात् ॥ ६८ ॥

करीर ( मृपवा ) विहार करमेसे बालक मृपपर मूरीके समूरीसे मुक्त बनके वहीमेयी-  
राके म्रम्रकीये मुक्त तथा वसनोंके म्रम्र कीवीकी खुदित करदेवाही बनयी इससे हुए  
दिया ॥ ६८ ॥

इति विस्मृतान्यकरणीयमात्मनः सचिर्वावलम्बितधुरं धराधिपम् ।

परिवृद्धरागमनुबन्धसेवया मृगया जहार चतुरेव कामिनी ॥ ६६ ॥

इतीति । इति पूर्वोक्तप्रकारेणात्मनो विस्मृतमन्यत्करणीयं कार्यं येन तम्, विस्मृ-  
तात्मकार्यान्तरमित्यर्थः । सचिवैरवलम्बिता धृता धूर्यस्य तम् । 'ऋक्पूरुषः पथामा-  
नघे' इति समासान्तोऽच्प्रत्यय । अनुबन्धसेवया सन्ततसेवया परिवृद्धो रागो यस्य  
त धराधिपम् । मृग्यन्ते यस्यां मृगा इति मृगया 'परिचर्यापरिसर्यामृगयाटाव्यादी-  
नामुपसंस्थानम्' इति शप्प्रत्ययान्तो निपातः । चतुरा विदग्धा कामिनीव जहारा-  
चकर्ष । 'न जातु काम कामानामुपभोगेन शाम्यति । हविषा कृष्णवल्मेव भूय एवा-  
भिवर्धते ॥' इति भावः ॥ ६९ ॥

इस प्रकार अपने दूसरे कर्तव्योंको भूले हुए तथा राज्यभारको मन्त्रियोंके अधीन किये  
हुए और निरन्तर सेवन करने ( लगे रहने ) से अधिक प्रेम ( आसक्ति ) युक्त राजाको  
आखेटने चतुर कामिनीके समान आकर्षित कर लिया ॥ ६९ ॥

स ललितकुसुमप्रवालशय्यां ज्वलितमहौषधिदीपिकासनाथाम् ।

नरपतिरतिवाहयाम्बभूव कचिदसमेतपरिच्छदस्त्रियामाम् ॥ ७० ॥

स इति । स नरपतिः । ललितानि कुसुमानि प्रवालानि पल्लवानि शय्या यस्यां  
ताम् । ज्वलितभिर्महौषधीभिरेव दीपिकाभिः सनाथाम्, तत्प्रधानामित्यर्थः । त्रियामां  
अयो यामा यस्याः सा ताम् रात्रिं कचिदसमेतपरिच्छदं, परिहृतपरिजनं सस्त्रित्यर्थः ।  
अतिवाहयाम्बभूव गमयामास । पुष्पिताग्रा वृत्तम् ॥ ७० ॥

उस राजा ( दशरथ ) ने सुन्दर पुष्पो तथा नवपल्लवोंकी शय्यावाली, जलती हुई  
महौषधिरूप दीपकोंवाली रात्रिको कहींपर परिजनोंसे रहित होते अर्थात् झकेला बिताया ।  
( राजा दशरथने अपने अनुचरोंका साथ छूट जानेपर रातको किसी स्थानमें फूलों तथा  
पत्तोंपर सोकर बिताया और वहा दीपकके स्थानमें औषधियां प्रकाशित हो रही थीं ) ॥७०॥

उषसि स गजयूथकर्णतालैः पटुपटहध्वनिभिर्विनीतनिद्रः ।

अरमत मधुराणि तत्र शृण्वन्विहगाविकूजितवन्दिमङ्गलानि ॥ ७१ ॥

उपसीति । उषसि प्रातः पटुनां पटहानामिव ध्वनिर्येषां तैर्गजयूथानां हस्ति-  
समूहानां कर्णैरेव तालैर्वाद्यप्रभेदैर्विनीतनिद्रः स नृपस्तत्र वने मधुराणि विहगानां  
विहङ्गानां विकूजितान्येन वन्दिनां मङ्गलानि मङ्गलगीतानि शृण्वन्नरमत ॥ ७१ ॥

प्रातः काल बड़े नगाड़ेके समान ध्वनिवाली हाथियोंके कानोंकी ध्वनिसे जगे हुए त्रे  
( राजा दशरथ ) वहाँपर पक्षियोंका मधुर-मधुर वचन ( चहचहाना ) रूप वन्दियोंके मङ्गल  
स्तुतियोंको सुनते हुए प्रसन्न हुए ॥ ७१ ॥

अथ अतु दुरोगृहीतवर्त्मा विपिने पार्श्वधरैरक्षयमाणः ।

ममपेक्षमुखा तपस्विगार्हा समसा प्राप नदीं सुरजमेव ॥ ७२ ॥

अथेति । अथ अतु कदाचिदुरोगृहीतवर्त्मा स्वीकृतकर्मार्थं विपिने के पार्श्वधरैरक्षयमाणः, सुरजमेवादित्यर्थः । अमेव चेन्मुखा सकेन स्थितेत्यर्थः । सुरजमेव तपस्विगार्हा सेविता समसा नाम नदीं सरितं प्राप ॥ ७२ ॥

इत्येव वत् किसी समय जब बुधके मार्गको प्रस्थ किने ( बरका पीछा करते ) हुए वनमें बहुतदूरसे नदी देखे जाते हुए वे ( बरकर राधा ) कदाचरते केमलो गिराते हुए बोकेर कने हुए, तपस्विगार्हे जिसमें स्नान किया ॥ ऐसी समसा नदीको प्राप्त किया नदी पर पूजा पीछा करते हुए बरकर सामिवाँछ साध कर जावेपर नके हुए बोकेर कने हुए समसा नदीपर पहुँचे ॥ ७२ ॥

कुम्भपूरणमथ पट्टकषैकचक्रं निनदोऽम्मसि तस्य ।

तत्र स द्विरवृद्धितशङ्की शङ्खपातिममिपुं विससर्ज ॥ ७३ ॥

कुम्भेति । तत्त्वस्तमसाया अम्मसि कुम्भपूरेण मथ उत्पन्ना । पञ्चदश । शुभं मुमुक्षु । उच्चैर्मांसीरो विनदो ज्वलिपञ्चवारोदियाथ । तत्र विनदो स मुपा । द्विरवृद्धितं कङ्कते इति द्विरवृद्धितशङ्की सन् । सन्धेय सन्ध्याकुसारेण वलतीति शङ्खपातिममिपुं विससर्ज । स्वापावा वृत्तम् ॥ ७३ ॥

अस ( तमसा नदी ) के पानीमें बड़ा बरनेसे बहुत परं तीव्र ज्वनि हुई, वत ज्वनि शरीरके गर्भेका सन्धेहकर अस ( बरकर ) ने कङ्कषेयी वान बोला ॥ ७३ ॥

सुपते प्रतिपिद्यमेव तत्कृतवान्यद्विरथो विसङ्गम्य यत् ।

अपथे पद्ममर्पयन्ति हि सुतवस्तोऽपि रत्नोनिमीक्षिता ॥ ७४ ॥

सुपतेरिति । तत्कर्म मुपतेः कतिपय प्रतिपिद्यमेव नदीतन्त्रे यत्कृतवत् पट्टि रथो बरकरो विकङ्कतः । 'कर्मसीकामो मुखाद्व्यय कर्मिष्ये व कुर्वात्' इति कर्म-मुखाद्वय कृतवान् । अतु विदुषस्तस्य कर्मसीद्व्ययैकितमत्त जाह-नयन इति । सुतवस्तोऽपि विद्वांसोऽपि रत्नोनिमीक्षिता रत्नोपवाहताः सन्ता । य पन्था इत्यपथम् । 'पथो विमाथा' इति वा समासजन्तः । 'अपथं वदुंसकम्' इति वदुंसकम् । 'अपन्था' इत्यपथं इत्यर्थः । तस्मिन्मार्गोऽपि पद्ममर्पयन्ति हि विविधमिति हि, प्रकर्षण इत्यर्थः । वेताडीयं वृत्तम् ॥ ७४ ॥

वद ( नयनकर्म ) कर्म राधाके प्रतिपूज ही हुआ, जिस ( पथनकर्म ) कर्मको बरकर ने ( वदुंसकमिके नतिरिक्त शरीर पर नदी करना चाहिये ) वत काकोय नयन कर्म कङ्कत

कर किया । विद्वान् भी राजसिक्त गुणसे आक्रान्त होते हुए अयोग्य स्थानमें पैर रखते हैं अर्थात् नहीं करने योग्य काम कर देते हैं ॥ ७४ ॥

हा तातेति क्रन्दितमाकर्ण्य विषण्णस्तस्यान्विष्यन्वेतसगूढं प्रभवं सः ।  
शल्यप्रोतं प्रेक्ष्य सकुम्भ मुनिपुत्रं तापादन्तःशल्य इवासीत्क्षितिपोऽपि ॥ ७५ ॥

हेति । हेत्यार्तौ । तातो जनकः । 'हा विपादशुगतिषु' इति । 'तातस्तु' जनकः पिता' इति चामर । हा तातेति क्रन्दित क्रोधनमाकर्ण्य । विषण्णो भग्नोत्साहः सन् । तस्य क्रन्दितस्य वेतसैर्गूढं छिन्नम् । प्रभवत्यस्मादिति प्रभवः कारणम् । तमन्विष्य-  
न्वृक्ष्येन शरेण प्रोतः स्यूतम् । 'शल्यं शङ्खौ शरे वशे' इति विश्व । सकुम्भ मुनिपुत्रः प्रेक्ष्य स क्षितिपोऽपि तापाद् दुःखादन्तः शल्यं यस्य सोऽन्तः शल्य इवासीत् । मत्त-  
मयूर वृत्तम् ॥ ७५ ॥

'हा पिताजी !' ऐसा रोदन सुनकर इतोत्साह होते हुए, वेतों ( के कुञ्ज ) में छिपे हुए उस (रोदनध्वनि) के उत्पत्तिस्थानको ढूँढते हुए, बाणसे आहत तथा घटा लिये मुनिकुमारको देखकर राजा भी दुःखके कारण हृदयमें बाणविद्ध के समान ( दुःखित ) हो गये ॥ ७५ ॥

तेनावतीर्य तुरगात्प्रथितान्वयेन पृष्ठान्वयः स जलकुम्भनिषण्णदेहः ।  
तस्मै द्विजेतरतपस्विसुतः स्वलङ्घिरात्मानमक्षरपदैः कथयाम्बभूव ॥ ७६ ॥

तेनेति । प्रथितान्वयेन प्रख्यातवंशेन । एतेन पापभीरुत्वं सूचितम् । तेन राज्ञा तुरगादवतीर्य पृष्ठान्वयो ब्रह्महत्याशङ्कया पृष्टकुलः । जलकुम्भनिषण्णदेहः स मुनि-  
पुत्रस्तस्मै राज्ञे स्वलङ्घिः, अशक्तिवशादधोच्चारितैरित्यर्थः । अक्षरप्रायैः पदैरक्षरपदैः रात्मानं द्विजेतरश्चासौ तपस्विसुतश्च त द्विजेतरतपस्विसुतः कथयाम्बभूव न तावन्नै-  
वर्णिक एवाहमस्मि किन्तु करणः । 'वैश्यास्तु करणः शूद्रायाम्' इति याज्ञवल्क्यः । कुतो ब्रह्महत्येत्यर्थः । तथा च रामायणे—'ब्रह्महत्याकृतं पापं हृदयादपनीयताम् । न द्विजातिरहं राजन्माभूत्ते मनसो व्यथा । शूद्रायामस्मि वैश्येन जातो जन-  
पदाधिपः ॥ इति ॥ ७६ ॥

विरल्यात् कुलवाले उस ( दशरथ ) ने धोड़से उतरकर बश पूछा तो पानीके घड़े पर शरीरको रखकर (सहारा देकर) वह मुनिकुमार उन ( दशरथ ) से स्वलित होते हुए अर्थात् अस्पष्ट अक्षरोंवाले शब्दोंसे अपनेकी द्विजसे भिन्न ( वैश्यपितासे शूद्र मातामें उत्पन्न 'करण' संशक ) मुनि-कुमार बतलाया । ( इसी कारण राजा दशरथ ब्रह्महत्याके पापसे बच गये ) ॥

तच्चोदितश्च तमनुद्धृतशल्यमेव पित्रोः सकाशमवसन्नदृशोर्निर्याय ।

ताभ्यां तथागतमुपेत्य तमेकपुत्रमज्ञानतः स्वचरितं नृपतिः शशशः ॥ ७७ ॥

तदिति । तच्चोदितस्तेन पुत्रेण चोदितः प्रेरितः पितृसमीपं प्रापयेत्युक्तः स नृपः



तिरपुष्टसकपमास्तुत्यादितरमेव तं मुनिपुत्रम् । जगत्तद्वर्जोर्बहवपुषोः, जगत्ते  
रित्थम् । पित्रोर्मातापित्रोः । 'पिता माता' इत्येकशेषः । अक्षयं समीपं विद्यात् ।  
इह च रामावप्यविक्रमम् । तत्र—'जगद्भवेकस्तं देवं भीत्या तौ भुवःपुराणि । अस्पर्श-  
पमार्हं पुत्रं तं मुनिं सह भार्यया इति ब्रवीतीति पृथं मृतं पुत्रं प्रति पित्रोरन्त्य-  
मिवावात् । तयागतं वेतसगृहम् । पृथग्भासी पुत्रयैकपुत्रस्तम् । पृथग्भवं पित्रो  
रन्त्यपतिक्रमसूचनार्थम् । तं मुनिपुत्रमुपेत्य सन्निभं गत्वाश्रमता करिग्रामा  
स्वचरितं स्वहृत् ताम्बां मातापितृभ्यां किमाग्रहणात्तुषी । कर्त्तव्यं कर्त्तव्यम् इत्येव

रत्ना ( दक्षरत्न ) एतदे पैठा कर्मपर विद्या वाच निष्कले द्वौ वस ( कुमार ) द्वौ जने  
माता-पितादे पाद के ली नीर वज्रोते पुत्राके कन्योर्गते एत प्रभार ( वेतोंके कुर्त्त  
विपे रहने से ) जगामते किमे पने जपने कार्य ( दासीके प्रमसे मारवे ) को वरदा दिया ॥

तौ दम्पती बहु विलाप्य शिरोः प्रहर्त्रां शब्धं निस्स्रातमुवहस्तप्यतामुरस्तम् ।  
सोऽमृतरासुरज भूमिपतिं शराप हस्तापितैर्नयनभारिभिरेव ब्रुव ॥ ७८ ॥

वाविति । तौ ज्ञाया च पतिव्य दम्पती । रामहस्तादिषु ज्ञायाद्व्यस्य इत्यालो  
जगमावज विद्वत्पेन निपासितः । 'दम्पती कम्पती ज्ञायापती मार्त्तापती च तौ'  
इत्यमरः । बहु विकल्प मूरि परिहृष्य । 'विकारा परिदेववय' इत्यमरः । विद्वत्पेन  
वक्ष्यः । 'पञ्चम्यान्तसिद्ध' विद्वत्तं कर्म करं प्रहृष्टं रामोद्धारयतामुवहस्तप्यता-  
मस्तुः । स सिद्धः परासुर्गतप्रानोऽमृतः । अथ ब्रुवौ हस्तापितैर्नयनभारिभिरेव ज्ञा-  
यावत्य जगपूर्वकन्यतेरेव भूमिपतिं ज्ञायात् ॥ ७८ ॥

एत दम्पति मुनिदे बहुत विद्यापार वाक्कर्म्ये मारवेचके ( दक्षरत्न ) से ली हुए वाक्कर्म्ये  
( वाक्कर्म्ये ) दासीसे निष्कलना नीर वह मर गया, वरके वार पुँ ( मुनि ) ने कृत्यो  
जोछा वह केकर एवाली देखा ज्ञाप दिया—॥ ७८ ॥

विद्वान्तमाप्स्यति भवानपि पुत्रशोक-

वन्त्ये वयस्यहमिवेति समुत्तनन्तम् ।

आश्रमपूर्वमिव मुक्तविपं मुजर्ह

प्रोवाच कोसलपतिः प्रथमापराद्यः ॥ ७९ ॥

विद्वान्तमिति । हे राजन् ! भवानप्यन्ये जगत्तद्वर्जमिव मुक्तशोकविद्वान्तं काव्य-  
सामं मरचमित्यर्थः । 'विद्व काले च देवे स्वादिहम् इति विद्या । आप्ति  
प्राप्स्यति । इत्युत्तनन्तम् । आश्रमन्त पादाहता पूर्वमाश्रमन्तपूर्वः । सुप्सुपेति समाप्तः ।  
'रामहस्तादिषु वरम्' इत्येवैव वरनिवाता । तं प्रथममपकृतमित्यर्थः । मुक्तविप-  
कन्यारत्नमनुत्तवदिवि मुक्तमिव स्थितं तं ब्रुवं प्रति प्रथमापराद्यः प्रथमापराधी ।

कर्तरि कः । इदं च सहने कारणमुक्तम् । कोसलपतिर्दशरथः शापप्रदानात्पश्चादप्येनं मुनिं प्रोवाच ॥ ७९ ॥

‘आप भी वृद्धावस्थामें मेरे समान पुत्रके शोकसे मरेंगे’ ऐसा कहनेवाले, पहले आक्रान्त ( पैर आदिसे दबे हुए ) विषको उगलनेवाले सर्पके समान उस ( मुनि ) से, पहले ( अपने ) को अपराधी कहनेवाले कोसलाधीश ( दशरथ ) बोले—॥ ७९ ॥

शापोऽप्यदृष्टतनयाननपद्मशोभे

सानुग्रहो भगवता मयि पातितोऽयम् ।

कृप्यां दहन्नपि खलु क्षितिमिन्धनेद्धो

बीजप्ररोहजननीं ज्वलनं करोति ॥ ८० ॥

शाप इति । अदृष्टा तनयाननपद्मशोभा पुत्रमुखकमलश्रीर्येन तस्मिन्नपुत्रके मयि भगवता पातित । वज्रप्रायत्वात्पातित इत्युक्तम् । अयं पुत्रशोकान्निव्रयस्वेत्येवंरूपः शापोऽपि सानुग्रहः । वृद्धकुमारीवरन्यायेनेष्टावाप्तेरान्तरीयकत्वात्सोपकार एव । निग्राहकस्याप्यनुग्राहकत्वमर्थान्तरन्यासेनाह—कृप्यामिति । इन्धनैः काष्ठैरिद्धं प्रज्वलितो ज्वलनोऽग्निः कृप्यां कषणार्हाम् । ‘शृद्धुपधाद्वाक्लृपिचृते’ इति क्यप् । क्षितिं दहन्नपि बीजप्ररोहाणां बीजाङ्कुराणां जननीमुत्पादनञ्चमा करोति ॥ ८० ॥

पुत्रके मुखकमलकी शोभाको नहीं देखे हुए मुझपर आपने यह अनुग्रहरूप शापको गिराया है । इन्धनसे बढी हुई जोतने योग्य भूमिको जलाती हुई भी अग्नि उसे बीजाङ्कुरोत्पत्तिका बनाती है । ( मुझे अब तक कोई पुत्र नहीं हुआ है अत एव आपका वचन तो सत्य होगा तथा मुझे पुत्रका मुखकमल देखनेका सत्सौभाग्य प्राप्त होगा, इस प्रकार आपने शाप देकर भी मुझपर उस प्रकार अनुग्रह किया है, जिस प्रकार घास-फूस आदि इधनोंसे जोतने योग्य भूमिको जलानेवाली भी आग उसे पैदावार ही बना देती है ) ॥ ८० ॥

इत्थं गते गतघृणं किमयं विधत्तां वध्यस्तवेत्यभिहितो वसुधाधिपेन ।

एधान्हुताशनवतः स मुनिर्यथाचे पुत्र परासुमनुगन्तुमनाः सदारः ॥ ८१ ॥

इत्थमिति । इत्थं गते प्रवृत्ते सति । वसुधाधिपेन राज्ञा । गतघृणो निष्करुणः, हन्तृष्वाग्निष्कृप इत्यर्थः । अत एव तव वध्यो वधाहोऽयं जन । अथमिति राज्ञो निर्वेदादनादरेण स्वात्मनिर्देशः । किं विधत्तामित्यभिहित उक्तः, मया किं विधेयमिति विज्ञापित इत्यर्थः । स मुनि सदारः समार्यः परासुं गतासु पुत्रमनुगन्तु मनो यस्य सोऽनुगन्तुमनाः सन् । ‘तु काममनसोरपि’ इति मकारलोपः । हुताशनवतः साग्नीनेधान्काष्ठानि यथाचे । न चाग्रात्मघातदोषः । ‘अनुष्ठानासमर्थस्य वानप्रस्थस्य जीर्यतः’ । शृग्वग्निजलसम्पातैर्मरणं प्रविधीयते’ इत्युक्तेः ॥ ८१ ॥

'प्रत्यक्षोऽपीव प्रपञ्चावशिष्टासहेतुषु' इत्यमरः । स गृहाः मन्थयन्त्याः मन्थनवत्पूर्व-  
मन्थमिष्यन्त्याऽऽह । एतेत्यतिर्यस्य सोऽर्थेव इव । विरमतिहृत् । सामप्रथमाद्यदि  
कम्बो य तु बन्ध्यादिति भावः ॥ ३ ॥

धारण्यो नपेक्षा करनेवाली सन्तानवाले वे राजा ( दशरथ ) मन्थनके पहले बहुत  
एतेत्यतिवाले समुद्रके समान बहुत काव्यक रहे । ( भीतरमें रत्नोंके रखनेपर भी मन्थनके  
पहले बिल मन्थर समुद्रके रत्न नहीं देखनेवाली पड़ते, उसी प्रकार धारण ( पुष्टि कर )  
की अपेक्षा करनेवाली सन्तान भी राजाकी नहीं माग हुई ) ॥ ३ ॥

सुधम्यश्लाघ्यस्तस्य सन्तः सन्तानकाङ्क्षिणः ।

आरेमिरे जितरमानः पुत्रीयामिष्टिमुत्तिजः ॥ ४ ॥

सुधमेति । सुधम्यश्लाघ्यः । सुधम्यश्लो नाम कविद्वयः तद्वत्पदाः सुधम्यश्लो वा  
सन्तानोत्पत्तिर्यो वाञ्छिकः । 'अस्मिन्पुत्रस्यमिष्टिमुत्तिजः' इति श्लोकात् 'य' इत्यनेन  
किञ्चिन्तो निपातः । जितरमानो जितान्तरामनाः सन्तः सन्तानकाङ्क्षिणः पुत्रीय-  
मस्तस्य दशरथस्य पुत्रीयां पुत्रनिमित्तम् । 'पुत्राच्छ य इति वक्ष्यताः । इति  
वामासरेमिरे प्रकाशमिरे ॥ ४ ॥

उन ( दशरथ ) की सन्तानकी चाहनेवाले, यहात्पा यव विद्येन्निव सुधम्यश्लो वादि  
कालिर्गोमे पुष्टि कर करना वात्सल्य विना ( लक्ष्मी-सुधम्यश्लो वादि लक्ष्मी कालिर्गोमे  
सन्तानोत्पत्ति एवं विद्येन्निव वर राजाके पुष्टि करकी करना वात्सल्य विना ) ॥ ४ ॥

तस्मिन्नवसरे देवाः पीतस्त्योपप्लुता हरिम् ।

अमिजम्मुनिर्वापात्तारङ्गायाश्चमिवाचरात् ॥ ५ ॥

तस्मिन्निति । तस्मिन्नवसरे पुनश्चमिष्टिमुत्तिजस्य देवाः पुनश्चमिष्टिमुत्तिजस्य गोष्ठ्यस्य  
पुनश्चमिष्टिमुत्तिजस्य गोष्ठ्यस्य पीतस्त्योपप्लुताः पीतस्त्योपप्लुताः । निदास्यार्त्तं चर्मपुरा । अन्वार्त्तं  
यच्छन्तीत्यन्वार्त्तं पाण्ड्याः । 'अन्वार्त्तपाण्ड्याश्चमिष्टिमुत्तिजस्य देवाः' इति वक्ष्यताः ।  
अन्वार्त्तपाण्ड्याश्चमिष्टिमुत्तिजस्य देवाः । अन्वार्त्तपाण्ड्याश्चमिष्टिमुत्तिजस्य देवाः । इति निष्पुममिजम्मुः ॥

कही समय रातमें पीतित देवताओंमें विष्णु जगन्नाथके पास जातनाके पहले रात  
वामने सन्तः पत्नीके समान गये ॥ ५ ॥

ते च प्रापुःकृन्वन्तं ब्रुवन्ते 'वाविपूषव' ।

अम्यसेपो मविष्मत्याः कार्यसिद्धेर्हि कक्षणम् ॥ ६ ॥

त इति । ते देवाःपीतस्त्योपप्लुताः समुद्रम् 'तद्वत्पदाश्चमिष्टिमुत्तिजस्य देवाः' इति निपातः । प्रापुः ।  
वाविपूषवो विष्णुव ब्रुवन्ते । गोपनिर्वा च्छाविर्गो । समन्वार्त्तपाण्ड्याश्चमिष्टिमुत्तिजस्य देवाः ।  
अन्वार्त्तपाण्ड्याश्चमिष्टिमुत्तिजस्य देवाः । अन्वार्त्तपाण्ड्याश्चमिष्टिमुत्तिजस्य देवाः । इति वामने ।

मविष्यन्त्याः कार्यसिद्धेर्लक्षणं लिङ्गं हि । उक्तं च—‘अनन्यपरता चास्य कार्यसिद्धेस्तु  
लक्षणम्’ ॥ इति ॥ ६ ॥

वे लोग समुद्रको गये और आदि पुरुष भगवान् विष्णु जगे ( योग निद्रा छोड़े ),  
क्योंकि विलम्ब नहीं होना पूर्ण होनेवाले कार्य की सिद्धिका शुभ लक्षण होता है ॥ ६ ॥

भोगिभोगासनासीन ददृशुस्तं दिवौकसः ।

तत्फणामण्डलोदर्चिर्मणिद्योतितविग्रहम् ॥ ७ ॥

भोगीति । शोरोको येषां ते दिवौकसो देवा । पृषोदरादिस्वात्साधु । यद्वा दिव-  
शब्दोऽदन्तोऽप्यस्ति । तथा च बुद्धचरिते—‘न शोभते तेन हि नो विना पुर  
मरुत्वता वृत्रवधे यथा दिवम्’ इति । तत्र ‘दिवु क्रीडादौ’ इति धातो ‘इगु-  
पधज्ञाप्तीकरः क’ इति क । दिवमो क एवामिति विग्रहः । भोगिन’ शेषस्य भोग  
शरीरम् । ‘भोग’ सुखे स्थ्यादिमृतावहेश्च फणकाययो’ इत्यमर । स एवासन्नं  
सिंहासनम् । तत्रासीनमुपविष्टम् । आसे’ शानच् । ‘ईदास’ इतीकारादेश ।  
तस्य भोगिन’ फणामण्डले य उदर्चिष उद्ग्रश्मस्यो मणयस्तेर्द्योतितविग्रह त विष्णु  
ददृशु ॥ ७ ॥

देवताओंने सर्प ( शेषनाग ) के शरीरपर बैठे हुए तथा उसके फणा-समूहकी चमकती  
हुई मणियोंसे प्रकाशमान शरीरवाले उन ( विष्णु भगवान् ) को देखा ॥ ७ ॥

श्रियः पद्मनिषण्णायाः क्षौमान्तरितमेखले ।

अङ्गे निक्षिप्तचरणमास्तीर्णकरपल्लवे ॥ ८ ॥

श्रिय इति । कीदृशा विष्णुम्, पद्मे निषण्णाया उपविष्टाया । श्रिय क्षौमान्तरिता  
दुकूलन्यवहिता मेखला यस्य तस्मिन् । आस्तीर्णौ करपल्लवौ पाणिपल्लवौ यस्मिन् ।  
विशेषणद्वयेनापि चरणयोः सौकुमार्यात्कटिमेखलास्पर्शासहस्र सूच्यते । तस्मिन् अङ्गे  
निक्षिप्तौ चरणौ येन तम् ॥ ८ ॥

कमलपर बैठी हुई लक्ष्मीके रेशमी वस्त्रसे ढकी हुई करघनीवाले अङ्गमें फैलाये हुए  
पल्लवोपम हाथमें पैरको रखे हुए ( विष्णु भगवान्को देखा ) ॥ ८ ॥

प्रबुद्धपुण्डरीकाक्षं बालातपनिभांशुकम् ।

दिवसं शारदमिव प्रारम्भसुखदर्शनम् ॥ ९ ॥

प्रबुद्धेति । पुन कीदृशम् । प्रबुद्धे विकसिते पुण्डरीके सिताम्भोजे इवाक्षिणी  
यस्य तम् । दिवसे तु पुण्डरीकमेवाक्षि यस्येति विग्रह । बालातपनिभमंशुकं यस्य  
त, पीताम्बरधरमित्यर्थ । अन्यत्र बालातपव्याजांशुकमित्यर्थ । ‘निमो ध्याजस-  
दक्षयो’ इति विश्व । प्रकृष्ट आरम्भो योगो येषां ते प्रारम्भा. योगिन । तेषां

ऐसा होनेपर भिन्न होनेसे तुम्हारा क्या वह व्यक्ति क्या करे ? ( मैं क्या करूँ )  
 इस प्रकार राजाके दृष्टान्तपर भी हुए बुद्धके पीछे जीसहित मरनेकी इच्छा करेइसे  
 मुनिने अग्निमुख कहदिवेइसे बताया । ( राजासे मुनिने बिना बचकर बचानेके दिने  
 कहा ) ॥ ८१ ॥

प्राप्तानुग सपदि शासनमस्य राजा  
 सम्पाद्य पातकपिबुधप्रवृत्तिर्निवृत्त ।  
 अन्तर्निविष्टपद्मात्मविनाशहेतुं  
 शाप वयञ्जसूतनमौर्वमियाभ्युरगि ॥ ८२ ॥

प्राप्तेति । प्राप्तानुग प्राप्तानुचरो राजा सपद्यस्य मुनेः प्राप्तं ब्राह्मणमात्मनः  
 प्राप्तोऽपि सम्पत्तिः प्राप्तानुचरत्वात्सम्पाद्य पातकेन मुनिपदरूपेण विबुधप्रवृत्तिर्निवृ-  
 त्तः सः । अन्तर्निविष्टपद्मात्मविनाशहेतुं शापः । अन्तुराशिरौर्व-  
 मियाभ्यं बह्मजन्मिनः । 'मौर्वसु बाह्मो बह्मबाह्म' इत्यमरः । बह्मवृत्तकर्मणः ।  
 विबुधा न्नादिति शेषः ॥ ८२ ॥

इति महाभयोपाध्यायकोकाव्यमहिमावसुनिविरचितया संजीविनीसमा-  
 ख्यया आकाशवा समेतो महाकविरीकविवासकृतौ रघुवंसे  
 महाकाव्ये ध्रुवपावर्ज्येण नाम बहसा सर्गः ॥ ९ ॥

पातकबोली प्राप्तिपर राजा ( बह्मजन्म ) के सत्यज्ञ इस ( मुनि ) की आज्ञापर पश्यकर  
 पावसे बचोर होते हुए तथा अन्तःकरणमें स्थित अपने विषादके कारणमृत जानसे, बीतरसे  
 स्थित बह्मवृत्तको समझके समझ, भजन करते हुए ( राजवासीको ) बोले ॥ ८१ ॥

यह 'महिमावा' शीकामे 'रघुवंश' महाकाव्य का 'ध्रुवपावर्ज्य'  
 नामक नवम सर्ग समाप्त हुआ ॥ ९ ॥

## दशमः सर्गः ।

आशसे नित्यमानन्द रामनामकथामृतम् ।

सद्भिः स्वश्रवणैर्नित्य पेय पाप प्रणोदितुम् ॥

पृथिवीं शासतस्तस्य पाकशासनतेजस ।

किञ्चिदूनमनूनर्द्धः शरदामयुत ययौ ॥ १ ॥

पृथिवीमिति । पृथिवीं शासत पालयत पाकशासनतेजस इन्द्रवर्चस । अनूनर्द्ध-  
महासमृद्धेस्तस्य दशरथस्य किञ्चिदूनमीषन्मयून शरदा वत्सराणाम् । 'स्यादृतौ वत्सरे  
शरत्' इत्यमरः । अयुत दशसहस्र ययौ । 'एकदशशतसहस्राण्ययुत लक्ष तथा प्रयु-  
तम् । कोव्यवृद्ध च पद्म स्थानात्स्थान दशगुणं स्यात्' ॥ इत्यर्थमदृष्टः । इदं च मुनि-  
शापात्पर वेदितव्यं न तु जननात् । 'पष्टिवर्षसहस्राणि जातस्य मम कौशिक । दुःखे-  
नोत्पादितश्चायं न राम नेतुमर्हसि' ॥ इति रामायणविरोधात् । नाप्यभिषेकात्पर  
तस्यापि 'सम्यग्विनीतमथ वर्महर कुमारमादिश्य रक्षणविधौ विधिवत्प्रजानाम्'  
( ८।९४ ) इति कौमारानुष्ठितत्वाभिधानात्स एव विरोध इति ॥ १ ॥

आनन्ददात्री रामनामकथामुधा चाह सदा ।

पीकर जिसे सज्जन हटाते नित्य ह्रीं पापापदा ॥

इन्द्रके समान तेजस्वी, पृथ्वीको शासन करते हुए पूर्ण समृद्धिशाली उस दशरथको कुछ  
कम दश सहस्र वर्षं वीत गये ॥ १ ॥

न चोपलेभे पूर्वेषामृणनिर्मोक्षसाधनम् ।

सुताभिधानं स ज्योतिः सद्यः शोकतमोपहम् ॥ २ ॥

नेति । स दशरथः पूर्वेषां पितृणामृणनिर्मोक्षसाधनम् 'एष वा अनृणो य पुत्री'  
इति श्रुते । पितृणामृणविमुक्तिकारणम् । सद्यः शोक एव तमस्तदपहन्तीति  
शोकतमोपहम् । अत्राभयकर इतिचदुपपदेऽपि तदन्तविधिमाश्रित्य 'अपे क्लेश-  
तमसोः' इति उपलब्धम् । सुताभिधानं सुतार्यं ज्योतिर्नोपलेभे न प्राप च ॥ २ ॥

( किन्तु ) उन्होंने पूर्वजोंके ऋणसे मुक्त करनेका साधन, शोकरूपी अन्धकारका नाशक  
पुत्ररूप प्रकाशको नहीं प्राप्त किया ॥ २ ॥

अतिष्ठत्प्रत्ययापेक्षसन्ततिः स चिरं नृपः ।

प्राङ्मन्थादनभिव्यक्तरत्नोत्पत्तिरिवार्णवः ॥ ३ ॥

अतिष्ठदिति । प्रत्ययं हेतुमपेक्षत इति प्रत्ययापेक्षा सन्ततिर्यस्य स तथोक्तः ॥

‘प्रमथोऽधीचपथज्ञानविनासहेतुमु द्वापमहा । स गुणः मन्वाध्यायः मन्ववात्सर्ग-  
मनमिष्यच्छास्त्रा रघोत्पत्तिर्यस्य सोऽर्णव इव । विरमतिह्यम् । सप्तमप्रवभाषादि  
कम्बो न तु बन्धवत्वादिति भावः ॥ ३ ॥

आरम्यो भवेद्वा करनेवाली सन्तानवाले के राजा ( दशरथ ) मन्वन्वदे पहले मनु  
रत्नोत्पत्तिवाले समुद्रके समान बहुत कायवक रहे । ( पीठमें रत्नोंके रहनेपर भी मन्वन्वदे  
पहले जिस प्रकार समुद्रके रत्न नहीं निकलमरी पड़ते, वही प्रकार आरम ( पुत्रोंके बच )  
की भवेद्वा करनेवाली सन्तान भी राजाको नहीं प्राप्त हुई ) ॥ ३ ॥

‘अप्यष्टज्ञादयस्तस्य सन्तः सन्तानाश्चक्षिणः ।

आरेमिरे वितात्मानः पुत्रीयामिष्टिमुत्विजः ॥ ४ ॥

अप्येति । अप्यष्टज्ञादयः । अप्यष्टज्ञे नाम कश्चिदपि सहायका बहुमुखी वा  
पञ्चस्तैत्पुत्रिणो जातिभ्यः । ‘अत्विजश्चक्षुर्मिगुष्यिष्यश्चुपुत्रिह्यः च’ इत्येव  
किञ्चनो विपातः । वितात्मानो विताम्नःकरणाः सन्तः सन्तानकाक्षिणः पुत्रार्थि-  
नस्तस्य दशरथस्य पुत्रीयां पुत्रनिमित्ताय । ‘पुत्राणां च इति वयत्नवा । हरि  
वामनारेमिरे मन्वन्वदे ॥ ४ ॥

अन ( दशरथ ) की सन्तानकी चाहनेवाले अज्ञाना एवं विवेचिन्व अप्यष्टज्ञ आदि  
आत्मिनीं पुत्रोंके बच करवा कारण दिया ( कन्या-अप्यष्टज्ञ आदि सखीव आत्मिनीं  
सन्तानेच्छुक एवं विवेचिन्व इस राजाके पुत्रोंके बचने करवा कारण दिया ) ॥ ४ ॥

तस्मिन्नवसरे देवा पीक्षस्त्योपप्लुता हरिम् ।

अमिष्यन्मुनिषाघातारक्षायानुद्धमिषाचक्राः ॥ ५ ॥

तस्मिन्निनि । तस्मिन्नवसरे पुत्रकामेष्टिपुत्रितकने देवाः पुत्रस्त्येव योत्रास्त्यं  
पुत्रास्त्यैकस्त्यो राजाः सेवोपप्लुता पीक्षिता सन्तः । विषाघातो बर्माप्लुता । अन्ना-  
वाच्यन्तीत्यप्यया पान्था । ‘अन्तात्पन्ताप्यपूरपारध्याकनेपु डा’ इति वयत्नवा ।  
अन्ताप्यवार्थं दुष्टं अन्ताप्यवार्थम् । अन्ताप्यवार्थमित्यादि । हरिं विष्णुममिष्यन् ॥

क्यों समय राखने पीक्षित देवतायोग विष्णु मगधानके पास आवातके पहले रात  
वामन सन्तान पत्नीके समान बने ॥ ५ ॥

ते च प्रापुस्त्वन्मर्तं ब्रुवन्ते चाविपूष्यः ।

अम्यदेपो भविष्यन्त्या अर्थसिद्धेर्हि सप्तमम् ॥ ६ ॥

त इति । ते देवाः अन्ताप्यवार्थं सप्तमम् ‘अन्ताप्यवार्थं च’ इति विपातः । प्रापुः ।  
चाविपूष्ये विष्णुः ब्रुवन्ते । योगविज्ञां जातिविज्ञाः । यमममिष्यन्तीचबोरमि-  
क्यानी चक्राः । तयादि । अन्ताप्येपो अन्ताप्यवार्थम् । अन्ताप्य इति वयत्नवा ।

मविष्यन्त्याः कार्यसिद्धेर्लक्षणं लिङ्गं हि । उक्तं च—‘अनन्यपरता चास्य कार्यसिद्धेस्तु लक्षणम्’ ॥ ६ ॥

वे लोग समुद्रको गये और आदि पुरुष भगवान् विष्णु जगे (योग निद्रा छोड़े), क्योंकि विलम्ब नहीं होना पूर्ण होनेवाले कार्य की सिद्धिका शुभ लक्षण होता है ॥ ६ ॥

भोगिभोगासनासीनं ददृशुस्तं दिवौकसः ।

तत्फणामण्डलोदर्चिर्मणियोतितविग्रहम् ॥ ७ ॥

भोगीति । घोरोको येषां ते दिवौकसो देवाः । पृषोदरादिवात्साधुः । यद्वा दिव-  
शब्दोऽदन्तोऽप्यस्ति । तथा च बुद्धचरिते—‘न शोभते तेन हि नो विना पुर  
मरुत्वता वृत्रवधे यथा दिवम्’ इति । तत्र ‘दिवु क्रीडादौ’ इति धातो ‘इगु-  
पधज्ञाप्रीकिर क’ इति क । दिवमोक एवामिति विग्रहः । भोगिनः शेषस्य भोग  
शरीरम् । ‘भोगः सुखे स्त्र्यादिमृतावहेश्च फणकाययो’ इत्यमरः । स एवासनं  
सिंहासनम् । तत्रासीनमुपविष्टम् । आसे. शानच् । ‘ईदासः’ इतीकारादेशः ।  
तस्य भोगिनः फणामण्डले य उदर्चिष उद्ग्रहमगो मणयस्तेर्द्योतितविग्रहः त विष्णु  
ददृशुः ॥ ७ ॥

देवताओंने सर्प (शेषनाग) के शरीरपर बैठे हुए तथा उसके फणा-समूहकी चमकती  
हुई मणियोंसे प्रकाशमान शरीरवाले उन (विष्णु भगवान्) को देखा ॥ ७ ॥

श्रियः पद्मनिषण्णायाः क्षौमान्तरितमेखले ।

अङ्गे निक्षिप्तचरणमास्तीर्णकरपल्लवे ॥ ८ ॥

श्रिय इति । कीदृश विष्णुम्, पद्मे निषण्णाया उपविष्टाया. श्रिय क्षौमान्तरिता  
दुकूलव्यवहिता मेखला यस्य तस्मिन् । आस्तीर्णौ करपल्लवौ पाणिपल्लवौ यस्मिन् ।  
विशेषणद्वयेनापि चरणयोः सौकुमार्यात्कटिमेखलास्पर्शासहत्वं सूच्यते । तस्मिन्नङ्गे  
निक्षिप्तौ चरणौ येन तम् ॥ ८ ॥

कमलपर बैठी हुई लक्ष्मीके रेशमी वस्त्रसे ढकी हुई करघनीवाले अङ्गमें फैलाये हुए  
पल्लवोपम हाथमें पैरको रक्खे हुए (विष्णु भगवान्) को देखा ॥ ८ ॥

प्रबुद्धपुण्डरीकाक्षं बालातपनिभांशुकम् ।

दिवस शारदमिव प्रारम्भसुखदर्शनम् ॥ ९ ॥

प्रबुद्धेति । पुनः कीदृशम् । प्रबुद्धे विकसिते पुण्डरीके सिताम्भोजे इवाक्षिणी  
यस्य तम् । दिवसे तु पुण्डरीकमेवाक्षि यस्येति विग्रहः । बालातपनिभमशुक यस्य  
तं, पीताम्बरधरमित्यर्थः । अन्यत्र बालातपव्याजांशुकमित्यर्थः । ‘निम्बो व्याजस-  
हस्रयो’ इति विश्वः । प्रकृष्ट आरम्भो योगो येषां ते प्रारम्भा. योगिनः । तेषां



‘प्रत्ययोऽधीषद्यपयज्ञानविद्यासहेनृषु इत्यमरः । स नृषां मन्थाप्याह मन्थवत्पूर्ण-  
मनविष्यत्समृद्धा रणेत्पत्तिर्यस्य सोऽर्जव इव । पिरमतिहृत् । सामप्रथमावादि  
कम्बो न तु बन्धवत्वादिति भावः ॥ ३ ॥

अरमयी अवेद्या करनेवाली सन्तानवाले ने राजा ( बछराव ) मन्थवाले रूके नार  
रानीत्पत्तिवाले समुद्रके समान बहुत काजगड रहे । ( बीतरमे रत्नोंके रहनेपर भी मन्थके  
पक्षे जिस प्रकार समुद्रके रत्न नहीं दिखानेकी पड़े, वही प्रकार अरम ( उभेष्टि वर )  
भी अवेद्या करनेवाली सन्तान भी राजाको नहीं माह डुरे ) ॥ ३ ॥

अध्वगृह्णाव्यस्तस्य सन्त सन्तानकाङ्क्षिणः ।

आरेमिरे वितात्मानः पुत्रीयमिष्टिसुखिजः ॥ ४ ॥

अध्वेति । अध्वगृह्णाव्यस्तस्य नाम कश्चिदपि तदाह्वा अध्वगृह्णी वा  
वज्रन्तीत्युक्तिरिति वाचिजाः । ‘अतिमृदुरनमिशुष्यितानुबुजिन्नुजां च’ इत्यनेन  
लिङ्गान्ते निपाताः । वितात्मानो वितास्तन्मरणाः सन्तः सन्तानकाङ्क्षिणः पुत्रीय-  
मस्तस्य इतरस्य पुत्रीयां पुत्रविमिताम् । ‘पुत्राण् च’ इति वृत्तवत् । इति  
वामभारेमिरे मन्थवतिरे ॥ ४ ॥

उन ( बछराव ) की सन्तानकी चाहनेवाले, महारमा एवं विधिविध अध्वगृह्ण करी  
अतिथीके पुत्रेष्टि वर करना आरम्भ किया ( मन्था-अध्वगृह्ण आदि सन्तान अतिथीके  
सन्तानिच्छुक्त एवं विधे-इव वर राजाके पुत्रेष्टि वरको करवा आरम्भ किया ) ॥ ४ ॥

तस्मिन्नवसरे देवाः पौत्रस्त्योपप्लुता हरिम् ।

अभिजन्मुनिवायार्तारक्षायाहृष्टमिवाभगा ॥ ५ ॥

तस्मिन्निधि । तस्मिन्नवसरे पुत्रकामेष्टिमृदुसितमये देवाः पुत्रकामसेव योऽनर्ण  
पुमान्पौत्रस्त्यो राक्षसाः तेभ्योपप्लुताः पीडिताः सन्तः । विवायार्तं वर्मदुराः । अन्त्ये  
वाच्यन्तीत्यभगाः पान्थाः । ‘अन्तात्पन्ताप्यहृत्पारसर्वाकल्पेभु च’ इति वृत्तवत् ।  
आपान्थान् हृष्टं अन्ताहृष्टमिव । आन्तगार्थिकादित्यासमाज्ञः । इति विष्णुमधिजन्तुः ॥

उसी समय राक्षसी पीडित देवराक्षीय विष्णु वपवाण्के पति आपान्थके हृष्टे राक्ष  
वामते सन्त पत्नीके समाग भवे ॥ ५ ॥

ते च प्रापुःकृन्वन्तं जुजुवे आविपुहयः ।

अव्याहोपो मविष्मत्स्याः कार्यसिद्धेर्हि कल्पम् ॥ ६ ॥

त इति । ते देवाः कृन्वन्तं समुद्रम् । ‘अहन्वाजुहवी च’ इति निपातः । प्रापुः ।  
आविपुहो विष्णुवत् हृष्टे । योगविद्वां अहान्तिवर्तः । राममप्रतिबोधयोरभि-  
न्वाकीं अन्धरी । तथाहि । अव्याहोपो रामस्याप्याहृष्टः । मविष्मत् इति वाच्यः ।

अविष्यन्त्या' कार्यसिद्धेर्लक्षणं लिङ्गं हि । उक्तं च—'अनन्यपरता चास्य कार्यसिद्धेस्तु  
लक्षणम्' ॥ इति ॥ ६ ॥

वे लोग समुद्रको गये और आदि पुरुष भगवान् विष्णु जगे ( योग निद्रा छोड़े ),  
क्योंकि विलम्ब नहीं होना पूर्ण होनेवाले कार्य की सिद्धिका शुभ लक्षण होता है ॥ ६ ॥

भोगिभोगासनासीन ददृशुस्तं दिवौकसः ।

तत्फणामण्डलोदर्चिर्मणिद्योतितविग्रहम् ॥ ७ ॥

भोगीति । छोरोको येषां ते दिवौकसो देवा । पृषोदरादिखात्साधु । यद्वा दिव-  
शब्दोऽदन्तीऽप्यस्ति । तथा च बुद्धचरिते—'न शोभते तेन हि नो विना पुर  
मरुत्वता वृत्रवधे यथा दिवम्' इति । तत्र 'दिवु क्रीडादौ' इति धातो 'इगु-  
पघञाप्तीकिर क' इति क' । दिवमोक एवामिति विग्रहः । भोगिन' शेषस्य भोग  
शरीरम् । 'भोगः सुखे स्थादिमृतावहेक्ष फणकाययो' इत्यमर' । स एवासन्नं  
सिंहासनम् । तत्रासीनमुपविष्टम् । आसेः शानच् । 'ईदाम्' इतीकारादेश ।  
तस्य भोगिन फणामण्डले य उर्ध्वं च उद्गमयो मणयस्तैर्द्योतितविग्रह त विष्णु  
ददृशुः ॥ ७ ॥

देवताओंने सर्प ( शेषनाग ) के शरीरपर बैठे हुए तथा उसके फण-समूहकी चमकती  
हुई मणियोंसे प्रकाशमान शरीरवाले उन ( विष्णु भगवान् ) को देखा ॥ ७ ॥

श्रियः पद्मानिषण्णायाः क्षौमान्तरितमेखले ।

अद्वे निक्षिप्रचरणमास्तीर्णकरपल्लवे ॥ ८ ॥

श्रिय इति । कीदृश विष्णुम्, पद्मे निषण्णाया उपविष्टाया । श्रिय क्षौमान्तरिता  
दुकूलव्यवहिता मेखला यस्य तस्मिन् । आस्तीर्णौ करपल्लवौ पाणिपल्लवौ यस्मिन् ।  
विशेषणद्वयेनापि चरणयोः सौकुमार्यात्कटिमेखलास्पर्शासहत्वं सूच्यते । तस्मिन्नद्वे  
निक्षिप्तौ चरणौ येन तम् ॥ ८ ॥

कमलपर वैठी हुई लक्ष्मीके रेशमी वस्त्रसे ढकी हुई करघनीवाले अङ्गुमें फैलाये हुए  
पल्लवोपम हाथमें पैरको रखे हुए ( विष्णु भगवान्को देखा ) ॥ ८ ॥

प्रबुद्धपुण्डरीकाक्षं बालातपनिभांशुकम् ।

दिवसं शारदमिव प्रारम्भसुखदर्शनम् ॥ ९ ॥

प्रबुद्धेति । पुन कीदृशम् । प्रबुद्धे विकसिते पुण्डरीके सिताम्भोजे इवाक्षिणी  
यस्य तम् । दिवसे तु पुण्डरीकमेवाक्षि यस्येति विग्रह । बालातपनिभमंशुक यस्य  
त, पीताम्बरधरमित्यर्थः । अन्यत्र बालातपव्याजांशुकमित्यर्थः । 'निम्बो व्याजस-  
हस्यो' इति विश्व । प्रकृष्ट आरम्भो योगो येषां ते प्रारम्भाः योगिनः । तेषां



मुक्तशेषविरोधेन कुलिशत्रणलक्ष्मणा ।

उपस्थित प्राञ्जलिना विनीतेन गरुत्मता ॥ १३ ॥

मुक्तेति । मुक्तो भगवत्सखिधानात्यक्तः शेषेणाहोश्चरेण सह विरोधः सहजमपि वैरं येन तेन । कुलिशत्रणा वज्रत्रणा अमृताहरणकाल इन्द्रयुद्धे ये वज्रप्रहारास्त एव रुचमाणि यस्य स तेन । प्रवद्धोऽञ्जलिर्येन तेन प्राञ्जलिना, प्रवद्धाञ्जलिनित्यर्थः । विनीतेनानुद्धतेन गरुत्मतोपस्थितमुपासितम् । पुरा किल मातलिप्रार्थितेन भगवता तददुहितुर्गुणकेश्याः पत्युः कस्यचित्सर्पस्य गरुडादभयदाने कृते स्वविपचरक्षणक्षुभितं पक्षिराजं स्वद्वोढाहं स्वतो बलाढ्य इति गर्वितं स्ववामतर्जनीभारेणैव भङ्क्त्वा भगवान्विनीतायेति महाभारतीयां कथां सूचयति विनीतेनेत्यनेन ॥ १३ ॥

शेष ( सर्पराज ) के साथ वैरको छोड़े हुए, वज्रके धारोंके चिह्नोंसे युक्त, हाथ जोड़े हुए तथा शिक्षित अर्थात् शासित गरुटसे सेवित ( विष्णु भगवान्को देखा ) ॥ १३ ॥

पौराणिकी कथा—( १ ) एक समय गरुडकी माता 'विनीता'को नागोंकी माता 'कद्रू' से होठ लगनेपर हारकर उसकी दासी बनना पड़ा । फिर उसे ( अपनी माता 'विनीता'को ) 'कद्रू'को दासीत्वसे छुड़ानेके लिये गरुड स्वर्गसे अमृत लाने लगे तो इन्द्रने वज्रसे उनपर प्रहार किये, उसीके चिह्न गरुडके शरीरपर अब तक बने थे ।

( २ ) इन्द्र-सारथि मातलिके प्रार्थना करने पर विष्णु भगवान्ने मातलिकी गुणकेशी नामकी पुत्रीके पति किसी नागको गरुडके मयसे मुक्त कर दिया । अपने शत्रुके प्रति इस प्रकार पक्षपात करते हुए भगवान् विष्णुको जानकर गरुड उनको डोने ( उनके भारको सहन करने ) से अपनेको विष्णु भगवान्से भी बली मानकर अभिमान करने लगे, उनके इस अभिमानको अन्तर्यामी भगवान् विष्णुने अपने वाम हाथकी तर्जनीके भारसे नष्टकर उन्हें विनीत कर दिया ।

योगनिद्रान्तविशदैः पावनैरवलोकनैः ।

भृगवादीननुगृह्णन्त सौखशायनिकानृषीन् ॥ १४ ॥

योगेति । योगो मनसो विषयान्तरव्यावृत्तिः, तद्रूपा या निद्रा तस्या अन्तेऽवसाने विशदैः प्रसन्नैः पावनैः शोघनैरवलोकनैः सुखशायनं पृच्छन्तीति सौखशायनिकास्तान् । 'पृच्छतौ सुस्नातादिभ्यः' इत्युपसङ्गानाट्ठकप्रत्ययः । भृगवादीनृषीननुगृह्णन्तम् ॥ १४ ॥

। योगनिद्राके बादमें ( जगने से ) निर्मल और पवित्र दृष्टि से, सुखपूर्वक सोनेका कुशल पूछनेके लिये आये हुए भृगु आदि ऋषियोंको अनुगृहीत करते हुए ( विष्णु भगवान्को देखा ) ॥ १४ ॥

प्रणिपत्य सुरस्वस्मै शमयित्रे सुरद्विषाम् ।

अथैनं तुष्टुवु स्तुत्यमयाङ्मनसगोचरम् ॥ १३ ॥

प्रणिपत्येति । अथ दत्तात्रेयान्तरं सुराः सुरद्विषामधुराणां शमयित्रे दिवाककण  
तस्मै विष्णवे प्रणिपत्य स्तुत्यं लोकायाम् । 'यतिस्तुतास्तुष्टुवु कवप्' इति कवप्-  
त्वच् । कावप् भवत्वा वाह्मवत्ते । 'अणुर'—इत्यध्यायवाप्तो निपाता । तपोर्-  
ज्यो विद्यो न भवतीत्यवाह्मवत्सगोचरा । यद्वाह—'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य  
मनसा सह' इति श्रुतेः । तमेव विष्णु तुष्टुपुरस्ताकम् ॥ १५ ॥

इत्येते वाह ईशवाक्येन रामर्षोऽथे मारुतेवाके वन (विष्णु मन्वात्) के द्विने वनत्कार  
कर स्तुतिके वीज्य एवा कवप् नौर मनके कवीचर इव (विष्णु मन्वात्) को स्तुति  
करने क्ये—॥ १५ ॥

नमो विन्धसृजे पूर्वं विरवं तवमु विप्रते ।

अथ विन्धस्य संहर्त्रे तुभ्यं त्रेधा स्थितात्मने ॥ १६ ॥

नम इति । पूर्वमहरी विन्धसृजे विन्धसृजे 'वतो वा इमानि भूतानि कापन्ते'  
इति श्रुतेः । तवमु सर्गात्तन्तरं विन्धं विप्रते पुज्यते । अथ विन्धस्य संहर्त्रे । एवं त्रेधा  
स्थित्विस्त्रिंशद्धारकत्वेन स्थित आत्मा त्वत्पते यस्य तस्मै । अथविष्णुरात्मने  
तुभ्यं नमः ॥ १६ ॥

यहके संसारको छुट्टि करनेवाके कचके वाह संसारका वाक्य करते हुए, फिर संसार  
का संसार करनेवाके—एक प्रकार तीव्र प्रकार (महा, विष्णु और विन्धस्य) नमस्के  
विन्ध करनेवाके तुमको नमस्कार है ॥ १६ ॥

ननु तुष्टुत्वस्य कर्म वैकल्पमित्याहङ्गवीपायिकमिच्छाह—

रक्षान्तरावयकरस यथा विन्ध्य पयोऽनुते ।

देशे देशे गुणोप्येवमवस्थास्त्वमधिक्य ॥ १७ ॥

रक्षान्तरावयति । एकरसं महुरेकरसं द्विविधं यत् विन्ध्यं पयो वर्त्तुर्दकं देशे देशे  
अकरसिदेशेऽप्यावसात्रसन्तराणि कल्पनावीति यथाअनुते प्राप्नोति । एकरसिदेशो  
विधिकारा, एकरस इत्यर्थः । तं तुभ्यं यत्नाविध्यवस्थां वाक्यविक्रपा करतुये इत्ये  
रक्त रक्त (सर्परा यत्नर रक्षणा) यत्नाय एक प्राप्तेक स्थानीये जन्म (कल्पनादि)  
रक्षोको विरक्त प्रकार प्राप्त करण है कती प्रकार विन्धररहित तुम भी (सत्त्वदी) तुम्हीं  
(छात्रिका) वाक्यकर्ता और वाक्यकर्ता कर ) विविध नमस्कारोंको प्राप्त करते हो ॥ १७ ॥

अमेयो-मिथलोकरस्वमनर्था प्रार्थनावाह ।

अजितो विष्णुरत्यन्तमप्यक्षे व्यक्तकारणम् ॥ १८ ॥

अमेय इति । हे देव ! त्वममेयो लोकैरियत्तया न परिच्छेद्यः । मितलोकः परि-  
च्छिद्यलोकः । अनर्थो नि स्पृहः । आवहृतीत्यावहः । पचाद्यच् । प्रार्थनानामावहः  
कामदः । अजितोऽन्यैर्न जितः । जिष्णुर्जयशीलः । अत्यन्तमव्यक्तोऽतिसूक्ष्मरूपः ।  
व्यक्तस्य स्थूलरूपस्य कारणम् ॥ १८ ॥

( हे भगवन् ! ) तुम अमेय ( इतना प्रमाण है यह निश्चित न कर देने योग्य ), ससारके  
प्रमाणको करनेवाले, निःस्पृह, दूसरोंकी याचनाको पूर्ण करनेवाले, दूसरेसे नहीं जीते गये,  
( स्वयं ) विजयी, अत्यन्त सूक्ष्म स्वरूपवाले और स्थूलरूप ससारके कारण हो ॥ १८ ॥

हृदयस्थमनासन्नमकाम त्वां तपस्विनम् ।

दयालुमनुषस्पृष्टं पुराणमजरं विदुः ॥ १९ ॥

हृदयस्थमिति । हे देव ! त्वां हृदयस्थ सर्वान्तर्यामितया नित्यसन्निहित तथाप्य-  
नासन्नमगम्यरूपत्वाद्भिप्रकृष्टं च विदुः । सन्निकृष्टस्यापि विप्रकृष्टत्वमिति विरोधः ।  
तयाऽकाम न कामोऽभिलाषोऽस्य त परिपूर्णत्वान्नि स्पृहत्वाच्च निष्कामम् । तथापि  
तपस्विनं प्रदास्ततपोयुक्तं विदुः । यो निष्कामः स कथं तपः कुरुत इति विरोधः ।  
परिहारस्तु ऋषिरूपेण दुस्तरं तपस्तप्यते । दयालुः परदुःखप्रहरणपरं तथाप्यनुषस्पृष्टं  
नित्यानन्दस्वरूपत्वाददुःखिनं विदुः । 'अथ दुरितदुःखयो' इति विश्वः । दयालुः दुःखी  
चेति विरोधः । 'इर्ष्यां घृणी स्वसन्तुष्टं क्रोधनो नित्यशङ्कितः । परभाग्योपजीवी च  
पठेते नित्यदुःखिताः' ॥ इति महाभारते । पुराणमनादिमजरं निर्धिकारत्वादजरं विदुः ।  
धिरन्तनं न जीर्यत इति विरोधादजरः । उक्तं च—'आभासत्वे विरोधस्य विरोधा-  
ल्लङ्घनकृतिर्मता' इति । विरोधेन चालौकिकमहिमत्वं व्यज्यते ॥ १९ ॥

( हे भगवन् ! ऋषिलोग ) तुमको अत्यन्त निकटमें रहनेवाले ( होनेपर भी ) दूरमें  
रहनेवाला, ( परिपूर्ण एवं निस्पृह होनेसे ) निष्काम ( होनेपर भी ) तपस्या करनेवाला,  
दयालु ( दूसरोंके दुःखसे दुःखित होकर दया करनेवाला—होकर भी ) दुःखसे अछूता  
( वर्जित ) प्राचीन अर्थात् अनादि ( होनेपर भी ) जरारहित जानते हैं ॥ १९ ॥

सर्वज्ञस्त्वमविज्ञातः सर्वयोनिस्त्वमात्मभूः ।

सर्वप्रभुरनीशस्त्वमेकस्त्व सर्वरूपभाक् ॥ २० ॥

सर्वज्ञ इति । त्व सर्वं जानासीति सर्वज्ञः । 'इगुपधज्ञाप्रीकिरं क' इति कप्र-  
त्ययः । अविज्ञातः, न केनापि विज्ञात इत्यर्थः । त्व सर्वस्य योनिः कारणं त्वमात्मन  
एव भवतीत्यात्मभूः स्वयम्भूः, न ते किञ्चित्कारणमस्तीत्यर्थः । त्व सर्वस्य प्रभुः त्वम-  
नीश त्वमेकः सर्वरूपभाक् । त्वमेक एव सर्वात्मना वर्तस इत्यर्थः ॥ २० ॥

( हे भगवन् ! ) तुम सर्वज्ञ हो, तुमको कोई ( पूर्णरूपसे ) नहीं जानता, तुम सबके  
कारण ( उत्पन्न करनेवाले ) हो, स्वयं उत्पन्न होनेवाले हो ( तुम्हें किसीने उत्पन्न नहीं

बहुपेति । आत्मैक्यवीर्याद्यादिभिर्बुद्धिर्बुद्ध्या मित्रा अपि सिद्धिहेतवः पुनर्य-  
थापन्ना पन्थाव उपमाया आह्वया इमे आह्वयौवा याज्ञाः । 'बुद्ध्या' इति बहुवचनम् ।  
बोधोऽपि प्रवाहः । तेभ्यश्चामैरत्यतिभिर्बुद्ध्या मित्रा सिद्धिहेतवश्च, अर्थश्च इव तन्मेव  
मिपतन्ति प्रसिद्धन्ति । येन केनापि रूपेण स्वाभेदोपधान्तीत्यर्थः । यथाहाराचार्या-  
'किं बहुना कारकोऽपि विष्कम्भेऽपुपास्यते' इति ॥ २९ ॥

( सांख्य मीमांसा, वैश्व वेदान्तादि ) तत्त्वोपे नयेन प्रकाशते मित्र यो सिद्धिर्हेतवः  
नृत्त एव मार्गः ( कपाल ) समुद्रमे गङ्गाके प्रवाहोके समान सम्ये ही प्रवेष्ट करते ॥ २९ ॥

त्वम्यनेशितचित्तानां त्वत्समर्पितकर्मणाम् ।

गतिस्त्वं धीतरसाणां नमूयन्सन्निवृत्तये ॥ ३० ॥

त्वमीति । त्वम्यनेशितं विवेक्षितं चित्तं वैस्तेषां पुन्यं समर्पिताणि कर्मणि  
वैस्तेषां 'ममना यत्र मज्जत्ये मज्जन्ती मां नमस्तुभ्य' । आमेनेत्यसि कौन्तेय प्रतिज्ञाये  
प्रियोऽसि मे ॥ इति ममस्तुभ्यवत् । धीतरसाणां विरक्षानामनूयन्सन्निवृत्तयेऽन-  
राधुत्तये मोक्षार्थत्वात् । त्वमेव गतिः साधनम् । 'तमेव विवित्वातिवृत्तयेति । ममना  
पन्था विवित्वातिवृत्तये' इति सुतेरित्यर्थः ॥ ३० ॥

पुनर्मे विष्ट क्वापे इव, पुनर्मे एव कर्मका समर्पण करनेवाके विरक्ष ( वीरियो ) को  
सुष्ठिके दिने पुनर्मे पति हो ॥ ३० ॥

मत्पद्मोऽप्यपरिच्छेदो मद्याविमहिमा एव ।

आप्तभागानुमानाभ्यां साध्यं त्वां प्रति क्व क्वा ॥ ३१ ॥

मत्पद्म इति । मत्पद्मः मत्पद्ममालाभ्योऽपि एव मद्यादि दृष्टिभ्यादिर्निर्मित  
देवार्चनपरिच्छेदः इवत्तया भावधर्माः । आप्तभागेऽपि । 'वतो वा इमांश्च भूतानि  
आवृणोते' इत्यादिभ्यः । अनुमानं-किंवादिक् सत्कृतं कार्यमाप्त्यवधिनादिक् ताभ्यां  
साध्यं धर्म्यं त्वां प्रति क्व क्वा मत्पद्ममपि त्वत्कृतं मद्यादिपरिच्छेदम् । तन्नामम-  
मत्पद्ममप्यपरिच्छेद इति किमु क्वाप्यमित्यर्थः ॥ ३१ ॥

मत्पद्म भी पुनारे इमी आदि ऐश्वर्यका प्रमाण नहीं किन्ना वा सकटा ( इमे प्रमाण  
वाके है वर गरी क्वा वा सकटा ) भाव ( वेद वा कर्णार्थकारी वीर्य आदि ) के कल्प  
क्वा अनुमानके भाव हीने बीच पुनारे प्रति क्वा क्वा है । ( वर मत्पद्म के देवे जाते  
इव भी पुनारे वत्पद्म इमी आदि क्वा मदिमाका प्रमाण नहीं किन्ना वा सकटा, एव  
इमे वरमप्य पुनारा प्रमाण करनेको क्वा वाग है । अर्थात् वत्पद्म प्रमाण करवा हो  
तरेवा अनुमान ही है ) ॥ ३१ ॥

केवलं स्मरणेनैव पुनासि पुरुषं यतः ।

अनेन वृत्तयः शेषा निवेदितफलास्त्वयि ॥ २६ ॥

केवलमिति । स्मरणेन केवलं कृत्स्नम् । 'केवलं कृत्स्नमेकश्च' इति शाश्वतः । पुरुषं स्मर्तारं जनं पुनासि यतः, यदित्यर्थः । अनेन स्मृतिकार्येणैव त्वयि त्वद्विषये याः शेषा अवशिष्टा वृत्तयो दर्शनस्पर्शनादयो व्यापारास्ता निवेदितफला विशापित-कार्या । तव स्मरणस्यैवैतत्फलं दर्शनादीनां तु कियदिति नावधारयाम इति भावः ॥ २९ ॥

(तुम्हारे स्मरणमात्रसे ही पुरुषको जो पवित्र करते हो, इस स्मरण कार्यसे तुम्हारे विषयमें शेष (दर्शन, पूजन आदि) व्यापार विशापित कार्यवाले हैं । (जब तुम्हारे दर्शन-मात्रका इतना बड़ा फल है, तब दर्शनपूजन आदि करनेवाले व्यक्तिके फलका निश्चय कौन कर सकता है ? अर्थात् कोई नहीं) ॥ २९ ॥

उदधेरिव रत्नानि तेजांसीव विवस्वतः ।

स्तुतिभ्यो व्यतिरिच्यन्ते दूराणि चरितानि ते ॥ ३० ॥

उदधेरिति । उदधेरुदकं धीयते इति उदधिस्तस्य रत्नानीव । विवस्वतस्तेजांसीव । दूराण्यवाह्मनसगोचराणि ते चरितानि स्तुतिभ्यो व्यतिरिच्यन्ते । निःशेषं स्तोतुं न शक्यन्त इत्यर्थः ॥ ३० ॥

समुद्रके रत्नों तथा सूर्यके तेजोंके समान आपके चरित स्तुतियोंसे अत्यधिक हैं अर्थात् जिस प्रकार समुद्रके रत्नों तथा सूर्यके किरणोंका कोई अन्त नहीं पा सकता, उसी प्रकार आपके चरितोंकी स्तुतिका अन्त तक वर्णन नहीं किया जा सकता ॥ ३० ॥

अनवाप्तमवाप्तव्यं न ते किञ्चन विद्यते ।

लोकानुग्रह एवैको हेतुस्ते जन्मकर्मणोः ॥ ३१ ॥

अनवासमिति । अनवासमप्राप्तम् अवासव्य प्राप्तव्यं ते तव किञ्चन किञ्चिदपि न विद्यते, नित्यपरिपूर्णत्वादिति भावः । तर्हि किंनिबन्धने जन्मकर्मणी तत्राह—लोकेति । एको लोकानुग्रह एव ते तव जन्मकर्मणोर्हेतुः । परमकारुणिकस्य ते परार्थैव प्रवृत्तिः न स्वार्थेत्यर्थः ॥ ३१ ॥

तुम्हें कोई वस्तु अप्राप्त या अप्राप्तव्य (नहीं पा सकने योग्य) नहीं है, किन्तु लोक-पर एकमात्र कृपा ही तुम्हारे जन्म तथा कर्मका कारण है । (सब कुछ तुम लोकपकारके लिये ही करते हो, अपने लिये तुम्हें किसीकी आवश्यकता नहीं है) ॥ ३१ ॥

महिमानं यदुत्कीर्त्य तव सह्ययते वचः ।

श्रमेण तदशक्त्या वा न गुणानामियत्तया ॥ ३२ ॥



किंवा. ३ ), तुम उनके स्वामी हो तुम्हारा कोई स्वामी नहीं है और तुम एक (नरिणीय) हो ( तत्पदि ) सबसे रहस्यवादी हो ॥ २ ॥

सप्तसामोपगीत त्वा सप्तार्णवज्वरोरायम् ।

सप्तार्णवमुखायस्यु सप्तलोकेऽस्तंभयम् ॥ २१ ॥

असेति । हे वैश ! जहाँ सप्तभिः सामाभी रघुवंशरघुहृदयन्तरवामारेणवैकुण्ठपाव-  
मात्यवेराजकान्धमसैकरगीतस्य तद्विचारार्थपरपदसमाहारे च इत्युत्तरपदसमस्त ।  
सप्तार्णवमुखायस्यु सप्तार्णवज्वरोरायम् । पूर्ववत्समासाः । तत्र रोते वा स सप्तार्णवज्वरो-  
रायस्य । 'सप्तवासरपदित्यवकाशः' इत्युक्तम् । सप्तार्णवमुखायस्य तस्य 'अग्नि-  
मुखा वै वैशः' इति श्रुतेः । सप्तार्णवो लोकानां भुवःकस्तराशीनामेकस्तंभयम् एवं  
भूतनायकसु ॥ २१ ॥

( हे मन्वन् ! विद्वान् जीव ) तुमकी सात (सातों रक्तर नदियों में) से सात, सप्त  
समुद्रोंके बरतों 'सोदेवाका, सात जगजगामी ( नदि ) है सुख विजय देता, सात लोक  
( पूर, पुनः, रक्षा ) सह जब तब और सप्त लोक ) का मुख्य नायक कहते हैं ॥ २१ ॥

चतुर्वर्गं च ज्ञानं अज्ञातस्यास्तुयुगा ।

चतुर्वर्णमयो लोकस्तत् सर्वं चतुर्मुखात् ॥ २२ ॥

चतुर्वर्गं च ज्ञानं । चतुर्वर्गं चतुर्वर्णममोक्षायां चतुर्वर्णम् । 'विद्ययां चतुर्वर्ण-  
मर्थिचतुर्वर्णः समोक्षकः' इत्यमरा । तत्त्वज्ञानं चतुर्वर्णम् । अज्ञातं पुनरपि चतुर्वर्ण-  
मीनि पातु तत्त्वचतुर्वर्णः अज्ञानस्यापि अज्ञपरिमाणम् । अज्ञातो चतुर्वर्णः प्रकृता अज्ञाने  
परिमिति चतुर्वर्णमज्ञा, चतुर्वर्णमज्ञा इत्यर्थः । तत्त्वज्ञानचतुर्वर्णं मयम् । 'तद्विचारार्थ-  
परपदसमाहारे च' इत्यनेन तद्विचारार्थं विपक्षे तत्त्वज्ञानम् । स लोकः इत्येवंप्रत्य सर्वं  
चतुर्मुखात्तत्त्वज्ञानं चतुर्वर्णमज्ञा, अज्ञातमिति सेवा । 'इह सर्वमज्ञातं यदिह किञ्चिद-  
इति श्रुतेः ॥ २२ ॥

( हे मन्वन् ! ) चतुर्वर्ण ( चतुर्वर्ण ) नाम और मोक्षदा चार पुत्रवाणी ) का एक  
ज्ञान चार तुम ( सप्त जित, द्वार और नदि )-समयका परिमाणरूप चार वर्ण  
( माया ज्ञान वैश और राह ) नाम सप्त चतुर्वर्ण तुमसे ही हुआ है क्योंकि तब  
कन्य तुम्हीं हो ॥ २२ ॥

१ अज्ञातं चतुर्वर्णममोक्षायां चतुर्वर्णम् । इति ( अग्निवायविष्णुमरुति ५१२४१ ) ।

२ अज्ञातं चतुर्वर्णममोक्षायां चतुर्वर्णम् । इति ( अग्निवायविष्णुमरुति ५१२४१ ) ।

३ 'तद्विचारार्थपरपदसमाहारे च' इति ( अग्निवायविष्णुमरुति ५१२४१ ) ।

४ 'इह सर्वमज्ञातं यदिह किञ्चिद-  
इति श्रुतेः' इति ( अग्निवायविष्णुमरुति ५१२४१ ) ।

अभ्यासनिगृहीतेन मनसा हृदयाश्रयम् ।

ज्योतिर्मयं विचिन्वन्ति योगिनस्त्वा विमुक्तये ॥ २३ ॥

अभ्यासेति । अभ्यासेन निगृहीतं विषयान्तरेभ्यो निवर्तितम् । तेन मनसा योगिनो हृदयाश्रयं हृत्पद्मस्य ज्योतिर्मयं त्वां विमुक्तये मोक्षार्थं विचिन्वन्त्यन्विष्यन्ति ध्यायन्तीत्यर्थः ॥ २३ ॥

योगीलोग अभ्यामसे वशमें किये गये मनसे हृदयमें रहनेवाले प्रकाशस्वरूप तुमको मुक्तिके लिये ढूँढते ( ध्यान करते ) हैं ॥ २३ ॥

अजस्य गृह्णतो जन्म निरीहस्य हतद्विषः ।

स्वपतो जागरूकस्य याथार्थ्यं वेद कस्तव ॥ २४ ॥

अजस्येति । न जायत इत्यज । 'अन्येष्वपि दृश्यते' इति ङप्रत्ययः । तस्याजस्य जन्मशून्यस्यापि जन्म गृह्णतः । मत्स्यादिरूपेण जायमानस्य । निरीहस्य चेष्टा-रहितस्यापि हतद्विषः शत्रुघातिनो जागरूकस्य सर्वसाक्षितया नित्यप्रबुद्धस्यापि स्वपतो योगनिद्रामनुभवतः । इत्थं विरुद्धचेष्टस्य तव याथार्थ्यं को वेद वेत्ति । 'विदो लटो वा' इति णलादेशः ॥ २४ ॥

अज ( उत्पन्न नहीं होनेवाले ) होनेपर भी जन्मको ग्रहण करते हुए, निश्चेष्ट होकर भी शत्रुओंको मारनेवाले, जागरूक (सर्वद्रष्टा होनेसे नित्य जागते हुए भी) सोते ( योगनिद्राको प्राप्त किये ) हुए तुम्हारी वास्तविकताको कौन जानता है ? अर्थात् कोई नहीं ॥ २४ ॥

शब्दादीन्विषयान्भोक्तुं चरितुं दुश्चरं तपः ।

पर्याप्तोऽसि प्रजां पातुमौदासीन्येन वर्तितुम् ॥ २५ ॥

शब्दादीनििति । किञ्च, कृष्णादिरूपेण शब्दादीन्विषयान्भोक्तुम् । नरनारायणादि-रूपेण दुश्चरं तपश्चरितुम् । तथा दैत्यमर्दनेन प्रजां पातुम् । औदासीन्येन तादृश्येन वर्तितुं च पर्याप्तं समर्थोऽसि । तथा भोगतपसो पालनौदासीन्ययोश्च परस्परविरुद्ध-योराचरणे त्वदन्य-कं समर्थं इत्यर्थः ॥ २५ ॥

( हे भगवन् ! तुम कृष्ण-राम आदि अवतारोंको धारण कर ) शब्द आदि ( रूप, रस, गन्ध आदि ) विषयोंको भोगनेके लिये, ( नर तथा नारायणका रूप धारण कर ) कठिन तप करनेके लिये, ( असुरोंका संहार करनेसे ) प्रजाओंकी रक्षा करनेके लिये तथा ( सलभ रहते हुए भी ) उदासीन ( सुष्टिके पालन और संहारसे निरपेक्ष ) रहनेके लिये समर्थ हो ॥ २५ ॥

बहुधाऽप्यागमैर्भिन्ना पन्थानः सिद्धिहेतवः ।

त्वय्येव निपतन्त्योघा जाह्नवीया इवार्णवे ॥ २६ ॥



केवलं स्मरणेनैव पुनासि पुरुषं यतः ।

अनेन वृत्तयः शेषा निवेदितफलास्त्वयि ॥ २६ ॥

केवलमिति । स्मरणेन केवलं कृत्स्नम् । 'केवलं कृत्स्नमेकश्च' इति शाश्वतः । पुरुष स्मर्तारं जनं पुनासि यतः, यदित्यर्थः । अनेन स्मृतिकार्येणैव त्वयि त्वद्विषये या शेषा अवशिष्टा घृत्यो दर्शनस्पर्शनादयो व्यापारास्ता निवेदितफला विज्ञापित-कार्या । तव स्मरणस्यैवैतत्फलं दर्शनादीनां तु कियदिति नावधारयाम इति भावः ॥ २९ ॥

(तुम्हें) स्मरणमात्रसे ही पुंरूपको जो पवित्र करते हो, इस स्मरण कार्यसे तुम्हारे विषयमें शेष (दर्शन, पूजन आदि) व्यापार विज्ञापित कार्यवाले हैं । (जब तुम्हारे दर्शन-मात्रका इतना बड़ा फल है, तब दर्शनपूजन आदि करनेवाले व्यक्तिके फलका निश्चय कौन कर सकता है ? अर्थात् कोई नहीं) ॥ २९ ॥

उदधेरिव रत्नानि तेजांसीव विवस्वतः ।

स्तुतिभ्यो व्यतिरिच्यन्ते दूराणि चरितानि ते ॥ ३० ॥

उदधेरिति । उदधेरुदकं धीयते इति उदधिस्तस्य रत्नानीव । विवस्वतस्तेजांसीव । दूराण्यवाङ्मनसगोचराणि ते चरितानि स्तुतिभ्यो व्यतिरिच्यन्ते । निःशेषं स्तोतुं न शक्यन्त इत्यर्थः ॥ ३० ॥

समुद्रके रत्नों तथा सूर्यके तेजोंके समान आपके चरित स्तुतियोंसे अत्यधिक हैं अर्थात् जिस प्रकार समुद्रके रत्नों तथा सूर्यके किरणोंका कोई अन्त नहीं पा सकता, उसी प्रकार आपके चरितोंकी स्तुतिका अन्त तक वर्णन नहीं किया जा सकता ॥ ३० ॥

अनवाप्तमवाप्तव्यं न ते किञ्चन विद्यते ।

लोकानुग्रह एवैको हेतुस्ते जन्मकर्मणो ॥ ३१ ॥

अनवाप्तमिति । अनवाप्तमप्राप्तम् अवाप्तव्यं प्राप्तव्यं ते तव किञ्चन किञ्चिदपि न विद्यते, नित्यपरिपूर्णत्वादिति भावः । तर्हि किंनिवन्धने जन्मकर्मणी तत्राह—लोकेति । एको लोकानुग्रह एव ते तव जन्मकर्मणोर्हेतुः । परमकारुणिकस्य ते परार्थैव प्रवृत्तिः न स्वार्थेत्यर्थः ॥ ३१ ॥

तुम्हें कोई वस्तु अप्राप्त या अप्राप्तव्य (नहीं पा सकने योग्य) नहीं है, किन्तु लोक-पर एकमात्र कृपा ही तुम्हारे जन्म तथा कर्मका कारण है । (सब कुछ तुम लोकोपकारके लिये ही करते हो, अपने लिये तुम्हें किसीकी आवश्यकता नहीं है) ॥ ३१ ॥

महिमानं यदुत्कीर्त्य तव सह्यते वचः ।

श्रमेण तदशक्त्या वा न गुणानामियत्तया ॥ ३२ ॥

प्रमथेगौघे महिमा तथा पुष्पायै रक्षत ( राक्षस ) ॥ तथोग्रवक्षे तरुशृङ्ग तथा रजो-  
गुणैः समान ( जाग्रन्त इव ) नैः जानता ह ॥ ३८ ॥

विदितं तप्यमानं च तेन मे मुपनत्रयम् ।

अधमोपनतेनेष साधो हृदयमेनसा ॥ ३९ ॥

विदितमित्य । किञ्च जाग्रतेनाभिच्छयोपनतेन प्रमादाद्व्यापतेनैतसा पापेन साधो  
सम्भनस्य हृदयमिति । तेन रक्षसा तप्यमानं सन्तप्यमानम् । तपेर्मीथुनिकाल्पमिति  
साधम् । मुपनत्रयं च मे विदितम् । मया ज्ञायत इत्यर्थः । 'मतिमुद्रिषुर्माधर्म्यञ्च'  
इत्यत्रैव वर्तमाने च । 'तस्य च वर्तमाने' इति ज्ञेयं ॥ ३९ ॥

तथा विना रक्षसां कथं विना पापेन सन्तप्यमाने हृदयैः समानं रक्ष ( राक्षस ) से-संज्ञ  
इति ह्युप टीकां कोट्योको नैः जानता ह ॥ ३९ ॥

कार्येषु चैकस्म्यैत्वाव्यप्योऽस्मि न वशिष्ठा ।

स्वयमेव हि बाहोऽग्ने सारथ्यं प्रतिपद्यते ॥ ४० ॥

कार्येष्विति । किञ्च एकस्म्यैत्वात् एकं कार्यं यद्योक्तं तथोक्तं एकस्म्यैत्वात्  
तस्मादात्मनोरेककार्यकरत्वेनोक्तं । कार्येषु कर्तव्यार्थेषु विषयेषु वशिष्ठेनैवैवाव्यप्यं इति  
मुनिरिति प्रार्थनीयो नास्ति । तथा हि । बाहो स्वयमेवाग्रे सारथ्यं साहाय्यं प्रतिपद्यते  
प्रामोति । न तु वशिष्ठप्रार्थनया हृदयेवकार्यार्थः । प्रेक्षावती हि स्वार्थेषु स्वतः एव मनुष्यः,  
न तु परप्रार्थनया । स्वार्थज्ञाने प्रमाणीत्यर्थः ॥ ४० ॥

नौर एव काम ( अक्षरसंहारकम् ) इति ते अत्र ते नैः प्रार्थनीयं ज्ञेयं इति अत्र तेनैव तया  
इन्द्रजित् कार्यं एकमात्रं अक्षरसंहारं तथा शिवरक्षां वापि नैः अत्र अत्रैव इति कार्ये नैः  
इति प्रार्थना करवैधे कोर्न जायतमकता ज्ञेयं नैः नैः किं नृत्तं स्वयमेव वशिष्ठा तदाव  
नम बाहो नैः ( नैः हो नैः स्वयं ही अक्षरसंहार-शिवरक्षायदि-कार्येनैः अत्रैव स्वयमेव नृत्तं ) ॥

पुरा किञ्च त्रिपुरारिधीयथाव रवसिरीति किञ्चुता वृद्धकम्परेण बह्वर्धं शिरोऽ-  
वसेवितं तन्मन्त्रकार्यमित्याह—

स्वासिधारपरिहृतं कर्म चक्रस्य तेन मे ।

स्थापितो वृशभो मूर्धा खड्ग्याश्च ह्यव रक्षसा ॥ ४१ ॥

इति । स्वासिधारया स्वयमेवधारया परिहृतं, अथिष्ठ इत्यर्थः । वृशभे मूर्धा  
मे मम चक्रस्य कर्म पर्याप्तो कर्मोक्तः प्राप्तव्ययाश्च ह्यव तेन रक्षसा स्थापिता । तत्त-  
र्धया तस्मात् ह्यभिष्ठाामीत्यर्थः ॥ ४१ ॥

अथवा तस्मात्तथा वारते ज्ञेयं इति वृत्तं तस्मात्तथा वारते मेरे तस्मात्तथा वारते तदा  
समानं रक्ष ( राक्षस ) नैः रक्ष ज्ञेयः । ( जाग्रन्त इव ) नैः—

पहले रावण ने शिवके आराधनार्थ तलवारसे अपने नव मस्तकोंको काट काट कर हवन कर दिया और दसवें मस्तकको नहीं काटा, अतः उस दसवें मस्तकको मेरे सुदर्शन चक्रके भागरूपमें (हिस्ता) छोड़ दिया है अर्थात् मैं उस रावणके मस्तकको सुदर्शन चक्रसे अवश्य काटूंगा ॥

तर्हि किं प्रागुपेक्षितमत आह—

स्रष्टुर्वरातिसर्गात्तु मया तस्य दुरात्मनः ।

अत्यारूढं रिपोः सोढं चन्दनेनेव भोगिनः ॥ ४२ ॥

स्रष्टुरिति । किन्तु स्रष्टुर्व्रह्मणो वरातिसर्गाद्वरदानाद्धेतोः । मया तस्य दुरात्मनो रिपो रावणस्यात्यारूढमत्यारोहणम्, अतिवृद्धिरित्यर्थः । नपुसके भावे क्तः । भोगिनः सर्पस्यात्यारूढं चन्दनेनेव सोढम् । चन्दनद्रुमस्यापि तथा सहन स्रष्टुर्नियतेरिति द्रष्टव्यम् ॥ ४२ ॥

मैंने ब्रह्माके वर देनेके कारण उस दुष्ट शत्रु (रावण) की अतिसमृद्धिको, भाग्यके कारण सर्पकी समृद्धिको चन्दनके समान, सहन किया है ॥ ४२ ॥

सम्प्रति वरस्वरूपमाह—

धातारं तपसा प्रीतिं ययाचे स हि राक्षसः ।

दैवात्सर्गादवध्यत्व मर्त्येष्वास्थापराङ्मुखः ॥ ४३ ॥

धातारमिति । स राक्षसस्तपसा प्रीतः सन्तुष्ट धातार ब्रह्माणम् । मर्त्येषु विषये आस्थापराङ्मुख आदरविमुखः सन्, मर्त्यानिनादृत्येत्यर्थः । दैवादष्टविधात्सर्गादैवसृष्टेरवध्यत्व ययाचे हि ॥ ४३ ॥

क्योंकि मनुष्योंमें अनादर करते हुए उस राक्षस (रावण) ने तपस्यासे सन्तुष्ट ब्रह्मासे अष्टविध देवताओंसे अपनी अवध्य होनेका वर मागा है ॥ ४३ ॥

तर्हि का गतिरित्याशङ्क्य मनुष्यावतारेण हनिष्यामीत्याह—

सोऽह दाशरथिर्भूत्वा रणभूमेर्वलिक्षमम् ।

करिष्यामि शरैस्तीक्ष्णैस्तच्छिरःकमलोच्चयम् ॥ ४४ ॥

स इति । सोऽह । दशरथस्यापत्य पुमान्दाशरथि । 'अत इष्' इति इष्प्रत्ययः ।

१. देवसर्गाष्टविध श्रीमद्भागवतस्य दशमस्कन्धे उक्तस्तथा—

'देवसर्गाष्टविधो विबुधा पितरोऽसुराः ।

गन्धर्वाप्सरसः सिद्धा यक्षरक्षांसि चारणाः ॥

भूतप्रेतपिशाचाश्च विद्याघातः किन्नरादयः ।' इति ।

दिग्वा प्रमानुत्तिर्वा विस्मयेन सह प्रथमं प्रादुर्बभूव । तदाविर्भावात्तेषामपि विस्मयोऽभ्युदित्यर्थः ॥ ५० ॥

इसके बाद वसु राजा ( वसुधरा ) के काम्यकर्म (पुत्रपति वर) समाप्त होनेपर अतिरिक्त के काम्यकर्म के साथ अभिष्ट वर पुत्र वर कह्य हुआ । (वसुधरासे निकले पुत्रकी देखकर अतिरिक्त की भी काम्य कह्य ) ॥ ५० ॥

अनेक पुत्रं विसिञ्चति—

हेमपात्रगतं द्योभ्यामावधानं पथ्यन्नरम् ।

अनुप्रवेशावापस्य पुंसस्तेनापि पुष्यम् ॥ ५१ ॥

हेमेति । आपस्य पुष्यो विष्णोरपुष्येष्टाद्विद्यावाग्देतीस्तेषु दिव्यपुष्येष्टापि पुष्य इव । अनुर्बभूवुषनोदरस्य अथवतो द्वेरेतिगरीषस्त्वाद्देवमस्तस्यम् । हेमपात्रगतं पथसि पथं चरं पथमं पावसात् द्योभ्यामावधानो बभूव । अवधवावितोन्तकम्पज्ज ओदुनन्नर इति पाणिनिः ॥ ५१ ॥

आदि पुष्य ( विष्णु भगवात् ) के अविद्याव ( विद्या ) होनेसे वसु ( वसिष्ठ वसुधरा पुत्र ) के द्वारा भी कहते होते आये वीर्य त्वरपात्रसे दिव्य पावस ( पुष्य के वने ) वरकी वीर्य दावसे दिवा हुआ पुष्य अभिष्ट उत्पन्न हुआ ॥ ५१ ॥

प्राज्ञापत्योपनीत तद्वन्न मत्स्यमदीन्नुप ।

कूपेय पथसां सारमाविष्कृतमुपन्यता ॥ ५२ ॥

प्राज्ञापत्येति । कूपो वसुधरा प्राज्ञापत्येन प्राज्ञापतिसम्पन्निवा पुष्यैजोपनीतं व तु वसिष्ठेन । 'प्राज्ञापत्यं चरं विद्धि मामिहाम्यगतं कूपं इति रामावधत् । तद्वन्नं पावसात्प्रव । अगते इत्यत्र, उद्वन्ताद्विनाविष्कृतं प्रकाशितं पथसां सारममृतं कूपे वासव इव । 'वासयो कूपहा कूपं इत्यमरः । मत्स्यमदीन्नुप ॥ ५२ ॥

राजा ( वसुधरा ) ने प्राज्ञपति-सम्पन्नी वसु पुत्रके द्वारा दिने वने वसु वर ( वर ) को, तद्वरते प्रकट दिने वने वरके सार अर्थात् अमृतकी इन्द्रके सपथ मदन दिया ॥ ५२ ॥

अनेन कथिता रामो गुणास्तस्यान्यनुक्तमा ।

प्रसूतिं पथमे तस्मिन्मौक्तिक्यप्रमथोऽपि यत् ॥ ५३ ॥

अनेनेति । तस्य रामो वसुधरावपुत्रोऽयं असाधारण गुणा अनेन कथिता व्याख्यातम् । पथस्मात्प्रमथो कोकारौकोक्यम् । यानुर्बभूवोदित्यत्रवार्थे न्यम् । तस्य प्रमथः प्रमथं विष्णुरपि तस्मिन् शक्तिं प्रसूतिमुत्पत्तिं पथमे व्यमितवात् । विष्णुवत् कर्मवसावि कारवमिनि परमावधिगुणसमाज्ज इत्यर्थः ॥ ५३ ॥

इस कारण उस राजा (दशरथ) के दूसरोंसे दुर्लभ अर्थात् असाधारण गुण वर्णित है, जो तीन लोकोंके कारण (विष्णु भगवान्) ने भी उस (राजा दशरथके पुत्ररूप) में उत्पन्न होनेकी इच्छा की ॥ ५३ ॥

स तेजो वैष्णवं पत्न्योर्विभेजे चरुसंज्ञितम् ।

द्यावापृथिव्योः प्रत्यग्रमहर्षतिरिवातपम् ॥ ५४ ॥

स इति । स नृपः चरुसंज्ञास्य संजाता चरुसंज्ञित । वैष्णव तेजः । पत्न्योः कौसल्याकैकेयीः । द्यौश्च पृथिवी च द्यावापृथिव्यौ । 'दिवसश्च पृथिव्याम्' इति चकाराद्विशब्दस्य द्यावादेशः । तयोर्द्यावापृथिव्योः । अह्म पतिरहर्षति सूर्यः । 'अहरादीनां पत्यादिषु वा रेफः' इत्युपसंख्यानान्नैकत्विको रेफस्य रेफादेशो विसर्गापवादः । प्रत्यग्र नूतनमातप बालातपमिव । विभेजे । विभज्य ददावित्यर्थः ॥ ५४ ॥

उस (राजा दशरथ) ने चरुनामक उस विष्णु-सम्बन्धी तेजको दोनों स्त्रियों (कौसल्या तथा कैकेयी) के लिये उस प्रकार विभक्त कर दिया, जिस प्रकार सूर्य प्रातःकालके धूपको आकाश तथा पृथ्वीके लिये विभक्त कर देता है ॥ ५४ ॥

पत्नीत्रये सति द्वयोरेव विभागो कारणमाह—

अर्चिता तस्य कौसल्या प्रिया केकयवशजा ।

अतः सम्भाविता ताम्या सुमित्रामैच्छदीश्वरः ॥ ५५ ॥

अर्चितेति । तस्य राज्ञः । कौ पृथिव्या सलति गच्छतीति कौसल । 'सल गतौ' पचाद्यच् । कुशब्दस्य षष्ठोदरादित्वाद्गुणः । कौसलस्य राज्ञोऽपत्य स्त्री कौसल्या । 'बृद्धेत्कोसलाजादाव्यब्' इति व्यब् । 'यद्वश्चाप्' इति चाप् । अत एव सूत्रे निर्देशात्कोसलशब्दो दन्त्यसकारमध्यमः । अर्चिता ज्येष्ठा मान्या । केकयवशजा कैकेयी प्रियेष्ठा । अतो हेतोरीश्वरो भर्ता नृपः सुमित्रां ताम्या कौसल्याकैकेयीभ्यां सम्भावितां भागदानेन मानितामैच्छदिच्छति स्म । एव च सामान्यं तिसृणां च भागप्रापणमिति राज्यचित्तज्ञता कौशलं च लभ्यते ॥ ५५ ॥

उस (राजा दशरथ) की कौसल्या बड़ी पत्नी थी तथा कैकेयी प्रिय पत्नी थी, अतः राजा (दशरथ) ने सुमित्राको उन दोनों (कौसल्या तथा कैकेयी) के द्वारा (चरुका भाग देकर) सम्मानित करना चाहा ॥ ५५ ॥

ते बहुज्ञस्य चित्तज्ञे पत्न्यौ पत्युर्महीक्षितः ।

चरोरर्धार्धभागाभ्या तामयोजयतामुभे ॥ ५६ ॥

त इति । बहुज्ञस्य सर्वज्ञस्य । उचितज्ञस्येत्यर्थः । पत्युर्महीक्षितः चित्तीश्वरस्य विशेषणत्रयेण राज्ञोऽनुसरणीयतामाह—चित्तज्ञे अमिप्रायज्ञे ते उभे पत्न्यौ-कौसल्या-



विभ्रमा कौस्तुभन्यासं क्षान्ततरयिलम्बिनम् ।

पर्युपास्यस्त क्षत्रम्या च पद्मम्यजनहस्तया ॥ ६२ ॥

विभ्रमेति । किञ्च स्तनयोरन्तरे मध्ये विक्रमिर्न कम्बमाम् । न्यस्तत इति न्यासः कौस्तुभ एव न्यासस्तथैव । यत्वा कौस्तुभम्यस्तं कौस्तुभमित्यर्थः । विभ्रमा पद्ममेव न्यस्तत इति चक्षुष्यास्तथा कक्षम्या पर्युपास्यस्तौपासिताः ॥ ६२ ॥

१५ कृताभिः मन्त्रैः कथं कथं ह्यपि (पठि नर्वाप विष्णुके द्वारा ज्ञापित) कौस्तुभं मन्त्रिणो वारं-  
-करोति इति तथा हस्तमे कक्षम्या पेल्लोके केकर इति करोति इति कक्षयो रेषा कर रक्षी है ॥ ६३ ॥

कृताभिपेदैर्विभ्रम्यां त्रिस्तोतसि च सप्तमि ।

अष्टपिंमि परं अष्टा पृथक्त्रिरुपतस्मिरे ॥ ६३ ॥

कृतेति । किञ्च । विभि भवायां विष्णुयां त्रिस्तोतस्यान्तराग्राह्यां कृताभिपेदैः कृताभ्याहैः परं अष्टा वैदरहस्वं पृथक्त्रि पठतिः सप्तमिर्नष्टपिंमि करवप्यनृतिमि-  
-कस्तस्मिरे उपास्तान्त्रिरे ॥ ६३ ॥

स्वर्वाव गान्धर्वे स्वान्त्रिरे परं परम्य (वैदरह) को पठति ह्यपि (कथन नादि) सप्त-  
-म्यपि करवप्यनृति कर रहे है । (वैदे (को ६०-६१) स्वर्वाको न्य रात्रिर्वाते इति धीर  
-रावा दक्षरपते कथा ॥ ६४ ॥

ताम्यस्तयाविभ्रान् स्वप्राञ्चकुत्वा प्रीतो हि पार्थिव ।

मेन परम्यमात्मानं गुरुत्वेन जगद्गुरो ॥ ६४ ॥

ताम्य इति । पार्थिवो दक्षरवस्ताम्यः पक्षीम्या 'जाक्यातोपयोमो' इत्यपादाव  
-त्वात्पक्षमी । तयाविभ्रानुक्त्याप्राञ्चकुत्वा प्रीतः सन् आत्मानं जगद्गुरोर्विष्णो-  
-रपि गुरुत्वेन निरुत्वेन हेतुवा परम्यं सर्वोत्कृष्टं मेने हि ॥ ६४ ॥

रावा (दक्षरव) ये क्वा (कौस्तुभ नादि पक्षिणी) तौ वैदे (को ६०-६१)  
-स्वर्वाको दक्षरव मसक हीते ह्यपि, कथ्यगुरु (विष्णु भगवान्) के पिता होमेते नरवैको  
-सर्वत्रेड भागा ॥ ६५ ॥

विमच्छता विमुक्ष्यसामेकः कुक्षिप्वनेकपा ।

उवास प्रतिमाचन्द्रं मसन्नामामपामिव ॥ ६५ ॥

विमच्छेति । एक पक्ष्मयो विमुक्ष्यस्तुत्वाधा राजपक्षीयां कुक्षिपु ययैषु मसन्नामां  
-विमल्लामपां कुक्षिपु प्रतिमाचन्द्रां प्रतिविम्बचन्द्र इव अनेकधा विमच्छता  
-सम् उवास ॥ ६५ ॥

वक्षस्व विदु (एककप हीते ह्यपि तर्वाचकिमात् विष्णु भगवान्) कम्बे नर्वाते

निर्मल जलके भीतरमें प्रतिविम्बित चन्द्रमाके समान, अनेक रूपमें विभक्त होकर रहने लगे ॥

अथाग्रथमहिषी राज्ञः प्रसूतिसमये सती ।

पुत्रं तमोपहं लेभे नक्त ज्योतिरिवौषधिः ॥ ६६ ॥

अथेति । अथ राज्ञो दशरथस्य सती पतिव्रता अग्रथा चासौ महिषी चाग्रथ-  
महिषी कौसल्या प्रसूतिसमये प्रसूतिकाले ओषधिर्नक्त रात्रिसमये तमः अपहन्तीति  
तमोपहम् 'अपे क्लेशतमसो' इति उप्रत्ययः । ज्योतिरिव तमोपह तमोनाशकर  
- पुत्र लेभे प्राप ॥ ६६ ॥

इसके बाद साध्वी राजाकी पटरानी ( कौसल्या ) ने प्रसवकाल ( दशम मास ) में, रातमें  
अन्धकारका नाश कर नेवाले तेजको ओषधिके समान, पापनाशक पुत्रको प्राप्त किया ॥ ६६ ॥

राम इत्यभिरामेण वपुषा तस्य चोदितः ।

नामधेयं गुरुश्रुके जगत्प्रथममङ्गलम् ॥ ६७ ॥

राम इति । अभिरमतेऽत्रेत्यभिराम मनोहरम् । अधिकरणार्थे ध्वन्प्रत्ययः । तेन  
वपुषा चोदितः प्रेरितो गुरुः पिता दशरथस्तस्य पुत्रस्य जगता प्रथम मङ्गलं सुलक्षणं  
राम इति नामधेयं चक्रे । अभिरामत्वमेव रामशब्दप्रवृत्तिनिमित्तमित्यर्थः ॥ ६७ ॥

मनोहर शरीरसे प्रेरित उस पिता ( दशरथ ) ने उस ( बालक ) का नाम, ससारका  
प्रथम मङ्गलस्वरूप 'राम' रखा ॥ ६७ ॥

रघुवंशप्रदीपेन तेनाप्रतिमतेजसा ।

रक्षागृहगता दीपाः प्रत्यादिष्टा इवामवन् ॥ ६८ ॥

रघुवंशेति । रघुवंशस्य प्रदीपेन प्रकाशकेन अप्रतिमतेजसा तेन रामेण रक्षागृह-  
गता सूतिकागृहगता दीपाः प्रत्यादिष्टाः प्रतिबद्धा इवामवन् । महादीपसमीपे  
नाह्वा स्फुरन्तीति भावः ॥ ६८ ॥

रघुवंशमें दीपकके समान ( प्रकाशमान ) अपरिमित तेजवाले उस ( राम ) से रक्षागृह  
( प्रसूतिगृह ) में रखे हुए दीपक मानो फीके पड़ गये ॥ ६८ ॥

शय्यागतेन रामेण माता शातोदरी बभौ ।

सैकतान्भोजबलिना जाह्नवीव शरत्कृशा ॥ ६९ ॥

शय्यागतेनेति । शातोदरी गर्भमोचनात्कृशोदरी माता शय्यागतेन रामेण सैकते  
पुलिने योज्ज्मोज्जबलिः पक्षोपहारस्तेन शरदि कृशा जाह्नवी गङ्गेव बभौ ॥ ६९ ॥

( बालकोत्पादन करनेसे अत्यन्त ) कृश उदरवाली माता ( कौसल्या ), शय्यापर स्थित

कैकेय्यो । चरोर्वाचर्षमागौ सममागौ तयोर्वाचर्षौ सी च तौ मागौ चेत्यर्षमापाके-  
 त्रेद्यौ ताम्पामर्षार्थमापाम्याम् 'तुस्त्यर्षोऽर्षं समेऽस्तके' इत्यमरा । तौ सुमित्राम्बो-  
 अपतां पुच्छं चक्रेत् । अयं च विमागो च रामापणसंबादी तत्र 'चरोर्वाचर्षौसंबावा  
 कचशिष्टार्थं कैकेय्ये' सिद्धं पुनः सुमित्रायाः इत्यभिधानात् । किन्तु पुराणान्तर-  
 संबादो द्रष्टव्यः । उक्तं च नारसिंहे—'ते पिण्डपातने क्यञ्चे सुमित्रावै महीश्वरे ।  
 पिण्डाम्यामन्वमन्व तु स्वमगिन्ध्वे प्रपञ्चता' ॥ इति । एकस्म्यप्रापि विरोधे  
 पुराणान्तरात्समाधातव्यम् ॥ ५६ ॥

बहुव ( अस्मिन्निष्ठ सप्त बहुवै वाता ) महीपाल एनिके महीपात्रभ्यो वाजनेश्वरी त्व  
 दोनो पक्षिणौ ( कौस्तुभा तथा कैकेयी ) ये चवकै वापे १ मागसे वृत्त ( सुमित्रा ) ओ पुच्छ  
 ई वा ( एनिके वाक्ये अनुसारं वजने १ वजनेसे वापा १ पाता सुमित्राभ्यो वै दिवा ) ॥ ५६ ॥  
 न चैवं सत्यपीप्सा स्वादित्याह—

स्य हि प्रणयपत्यासीत्सपत्न्योरुभयोरपि ।

भ्रमरी वारणस्येव मयनिष्यन्दरस्यो ॥ ५७ ॥

सैति । सा सुमित्रोमयोरपि । समाव पृच्छा पतिर्षयोस्तयोः सुपत्न्योः । किञ्च  
 नयपत्यादिषु इति द्वीप् मन्त्रादेशः । भ्रमरी पृच्छाज्ञा वारणस्य पञ्चस्य भ्रम-  
 निष्यन्दरेकयोरिव गण्डद्वयगतयोरिति भावः । प्रणयवती प्रेमकत्यासीत् । सपत्न्यो-  
 रित्यत्र समासस्तर्पणस्य पशुद्वयमानं वारणस्यपि ॥ ५७ ॥

बह ( सुमित्रा ) दोनो छोटों ( कौस्तुभा तथा कैकेयी ) यें ( हस्तीके कौस्तुभगण  
 रिक्त ) मरके प्रवाह्यो दो चाराभाने भ्रम रेके समान, रेहपुच्छ ओ ( सुमित्रा ) वजनी दोनो  
 छोटोमें प्रेम करती थी, वह पच वजने वह भिन्नदेर ओ वने ईश्वो मही द्वरे ॥ ५७ ॥

तामिगमं प्रजामृत्यु दधे देयारासम्भव ।

सौरीमिरिष नाहीमिरसुनाग्यामिरम्मय ॥ ५८ ॥

तामिरिति । तामिः कौस्तुभादिभिः प्रजानां मृत्युं अभ्युदयाय । देवस्य विष्णो  
 रंता सम्भवः कारणं वरप न गर्भः । सूर्यस्यमा सौर्यः, तामिः सौरीभिः, 'सूर्यति-  
 ध्यागन्धमन्त्रवानां च उच्यते' इत्युपधावकारस्य लपः । अमृता इत्याख्या वासी  
 तामिः अमृतदहनप्याम्बाजासीमिरिष । नाहीमिरिषिगमर्जनीमिर्हीमिर्हिमिरिषां विहारो-  
 ऽम्बो अलम्बता गम इव । दधे पूजा । जानारेकवचनम् । गर्भा इति इत्यर्थः । अत्र  
 वाच्य—'तामां शनामि चच रि हरमीनां वृत्तिगर्भे । अमृतं हिम्येभार्गे तावत्-  
 र्भस्य गर्भे ॥ आनन्दाय हि मीप्याव नृपता- पूजा इति । अनुसार्तं वृत्तिगर्भा  
 मर्षं अमृताः पिपाः ॥ इति ॥ ५८ ॥

उन्हीं ( रानियों ) ने सन्तानकी वृद्धिके लिये विष्णु भगवान्का अंश है कारण जिसका ऐसे गर्भको, जलमय गर्भको सूर्यकी अमृतसंज्ञक किरणोंके समान धारण किया। (सहस्ररश्मि सूर्यकी चार सौ किरणें वर्षा करती हैं और उनकी 'अमृत' सज्ञा है) ॥ ५८ ॥

सममापन्नसत्त्वास्ता रेजुरापाण्डुरत्विपः ।

अन्तर्गतफलारम्भाः सस्यानामिव सम्पदः ॥ ५९ ॥

सममिति । सम युगपदापन्ना गृहीताः सत्त्वा प्राणिनो यामिस्ता आपन्नसत्त्वा गर्भिण्यः 'आपन्नसत्त्वा स्यादगुर्विण्यन्तर्वती च गर्भिणी' इत्यमरः । अत एवापाण्डुर-त्विप ईपत्पाण्डुरवर्णास्ता राजपत्न्यः । अन्तर्गता गुप्ताः फलारम्भाः फलप्रादुर्भावा यासां ताः । सस्यानां सम्पद इव रेजुर्वभुः ॥ ५९ ॥

एक साथ गर्भधारण करती हुई कुछ २ पाण्डुर वर्णकी कान्तिवाली वे ( कौसल्यादि तीनों रानियां ) शीघ्र ही फलको बाहर प्रकट करनेवाली ईपत्पाण्डुर धान्य-सम्पत्तिके समान शोभित हुई ॥ ५९ ॥

सम्प्रति तासां स्वप्नदर्शनान्याह—

गुप्तं ददृशुरात्मान सर्वाः स्वप्नेषु वामनैः ।

जलजासिगदाशार्ङ्गचक्रलान्छितमूर्तिभिः ॥ ६० ॥

गुप्तमिति । सर्वास्ता स्वप्नेषु जलज शङ्खः जलजासिगदाशार्ङ्गचक्रैर्लान्छिता मूर्तयो येषां तैर्वामनैर्हस्वैः पुरुषैर्गुप्तं रक्षितमात्मानं स्वरूपम् । जातावेकवचनम् । ददृशु दृष्टवत्यः ॥ ६० ॥

उन सबोंने स्वप्नोंमें देखा कि—( 'पाञ्चजन्य' नामक ) शङ्ख, ( 'नन्दक' नामक ) खड्ग, ( 'कौमोदकी' नामक ) गदा, शार्ङ्गनामक धनुष और 'सुदर्शन' चक्रसे युक्त मूर्तिवाले लघुरूप पुरुष इमारी रक्षा कर रहे हैं ॥ ६० ॥

हेमपक्षप्रभाजालं गगने च वितन्वता ।

उद्वहन्ते स्म सुपर्णेन वेगाकृष्टपयोमुचा ॥ ६१ ॥

हेमेति । किञ्चेति चार्थः । हेम सुवर्णस्य प्रज्ञाणां प्रभाजाल कान्तिपुष्प वितन्वता विस्तारयता वेगेनाकृष्टा पयोमुचो मेघा येन तेन । सुपर्णेन गरुडमता गरुडेन गगने ता उद्वहन्ते स्मोढा ॥ ६१ ॥

आकाशमें सुनहले पक्षोंके प्रभा-समूहकी फैलाते हुए तथा वेगसे मेघको आवर्धित करनेवाले गरुडसे वे ढोई जाती हैं अर्थात् उक्त स्वरूपवाले गरुडपर सवार होकर आकाशमें जाती हुई अपनेको स्वप्नमें देखती थीं ॥ ६१ ॥

विभ्रम्या कौस्तुभम्यासं स्तनान्तरयिलम्बिनम् ।

पर्युपास्मन्त सारम्या च पद्मम्यजनहस्तया ॥ ६२ ॥

विभ्रम्येति । किञ्च स्तनयोर्गुह्ये मध्ये विकम्बितं कम्बमाकम् । न्यस्तय इति न्यासाः कौस्तुभ एव न्यासस्तथा । यथा कौस्तुभम्यस्तं, कौस्तुभमित्यर्थः । विभ्रम्या पद्ममेव व्यञ्जनं हस्तैः चस्यास्तया कम्बमा पर्युपास्यतोपासिताः ॥ ६२ ॥

कम्बोके मध्यमे कम्बोके द्वय (यति वर्णादि विष्णुके द्वारा लापिते) कौस्तुभ मणिषो वारण करणी द्वे तथा हाथद्वे कम्बकम् पेंडिमे केन्द्र द्वारा करणी द्वे कम्बो सेवा कर रणे है ॥ ६२ ॥

कृत्यामिपेकैर्विभ्रम्यां त्रिस्तोतसि च सप्तमि ।

ब्रह्मर्षिमि परं ब्रह्म गूणक्षिपतस्मिरे ॥ ६३ ॥

कृतेति । किञ्च । विभि पद्यायो विभ्रम्यां त्रिस्तोतस्यात्मजगद्गतायां कृत्यामिपेकैः कृत्याम्याह परं ब्रह्म केसरहस्तं गूणक्षिपतस्मिः पठति । सप्तमिर्ब्रह्मर्षिमि करचपप्रवृत्तिमि-  
कस्तस्मिन् उपासाज्जम्बिरे ॥ ६३ ॥

त्वर्षीन पद्मार्से लाल मिते एवं वरम्या ( केरवल ) को वृष्टे द्वय ( कम्बप भाद्रि ) लाल मद्यपि कम्बाल कर रहे है । ( पेंडे ( को ६४-६६ ) त्वर्षीको कम्ब राक्षिनीने देवा कीर राव्य बहारकते क्या ) ॥ ६३ ॥

ताम्यस्तवाविधान् स्वप्नाम्यस्तुत्या प्रीतो हि पार्ष्णि ।

मेने परम्यमारमानं गुरुवेन जगत्पुत्रो ॥ ६४ ॥

ताम्य इति । पार्ष्णि के वृद्धरवकाम्या पक्षीम्या 'जात्यस्तोपयोमे' इत्यपञ्चव ल्यात्पञ्चमी । तथाविधावुत्पन्नराम्यस्यास्तुत्या प्रीता सन् जात्यानं जगत्पुत्रोर्विष्णो-  
रपि गुरुमेव पितृमेव हेतुना परार्त्तं सर्वोन्मोदये मेने हि ॥ ६४ ॥

रावा ( वृद्धरव ) के कम्ब ( कौस्तुभ भाद्रि पक्षिनी ) से वेष्टे ( को० ६०-६६ ) त्वर्षीको पुनःकर मद्यपि वीष्टे द्वय, जगत्पुत्र ( विष्णु कम्बाल् ) के पिता वीष्टे वरवेष्टे सर्वमेव माया ॥ ६४ ॥

विभ्रम्यरमा विमुक्त्यसामेकं कुक्षित्वनेकया ।

त्वात्स प्रतिमाचम्य प्रसभानात्मपासिध ॥ ६५ ॥

विभ्रम्येति । एक एककयो विमुक्तिस्तुत्यायां राक्षपक्षीनां कुक्षिषु धर्मेण प्रसभानां निर्मकानामपां कुक्षिषु प्रतिमाचम्य प्रतिविम्बचम्य इव जनेकया विभ्रम्यरमा सन् उवाच ॥ ६५ ॥

रक्षकम विद्रु ( रक्षकम वीष्टे द्वय धी सर्ववक्षिणान् विष्णु धपनाम् ) रक्षके वर्द्धे,

निर्मल जलके भीतरमें प्रतिबिम्बित चन्द्रमाके समान, अनेक रूपमें विभक्त होकर रहने लगे ॥

अथाग्रथमहिषी राज्ञः प्रसृतिसमये सती ।

पुत्रं तमोपहं लेभे नक्त ज्योतिरिवौपधिः ॥ ६६ ॥

अथेति । अथ राज्ञो दशरथस्य सती पतिव्रता अग्रया चासौ महिषी चाग्रय-  
महिषी कौसल्या प्रसृतिसमये प्रसृतिकाले ओपधिर्नक्त रात्रिसमये तमः अपहन्तीति  
तमोपहम् 'अपे क्लेशतमसो' इति द्रष्टव्यः । ज्योतिरिव तमोपहं तमोनाशकर  
- पुत्रं लेभे प्राप ॥ ६६ ॥

इसके बाद साध्वी राजाकी पटरानी ( कौसल्या ) ने प्रसवकाल ( दशम मास ) में, रातमें  
अन्धकारका नाश कर नेवाले तेजको ओपधिके समान, पापनाशक पुत्रको प्राप्त किया ॥ ६६ ॥

राम इत्यभिरामेण वपुषा तस्य चोदितः ।

नामधेयं गुरुश्रुते जगत्प्रथममङ्गलम् ॥ ६७ ॥

राम इति । अभिरामतेऽन्नेत्यभिरामं मनोहरम् । अधिकरणार्थे घञ्प्रत्ययः । तेन  
वपुषा चोदितः प्रेरितो गुरुः पिता दशरथस्तस्य पुत्रस्य जगतां प्रथम मङ्गलं सुलक्षण  
राम इति नामधेय चक्रे । अभिरामत्वमेव रामशब्दप्रवृत्तिनिमित्तमित्यर्थः ॥ ६७ ॥

मनोहर शरीरसे प्रेरित उस पिता ( दशरथ ) ने उस ( बालक ) का नाम, ससारका  
प्रथम मङ्गलस्वरूप 'राम' रखा ॥ ६७ ॥

रघुवंशप्रदीपेन तेनाप्रतिमतेजसा ।

रक्षागृहगता दीपाः प्रत्यादिष्टा इवाभवन् ॥ ६८ ॥

रघुवंशेति । रघुवंशस्य प्रदीपेन प्रकाशकेन अप्रतिमतेजसा तेन रामेण रक्षागृह-  
गता सूतिकागृहगता दीपाः प्रत्यादिष्टा प्रतिवद्धा इवाभवन् । महादीपसमीपे  
नालपाः स्फुरन्तीति भावः ॥ ६८ ॥

रघुवंशमें दीपकके समान ( प्रकाशमान ) अपरिमित तेजवाले उस ( राम ) से रक्षागृह  
( प्रसूतिगृह ) में रखे हुए दीपक मानो फीके पड़ गये ॥ ६८ ॥

शय्यागतेन रामेण माता शातोदरी बभौ ।

सैकताम्भोजबलिना जाह्नवीव शरत्कृशा ॥ ६९ ॥

शय्यागतेनेति । शातोदरी गर्भमोचनात्कृशोदरी माता शय्यागतेन रामेण सैकते  
पुलिने योऽम्भोजबलिः पद्मोपहारस्तेन शरदि कृशा जाह्नवी गङ्गेव बभौ ॥ ६९ ॥

( बालकोत्पादन करनेसे अत्यन्त ) कृश उदरवाली माता ( कौसल्या ) शय्यापर स्थित

रामसे तदपर ही हुई वयसपुत्राची वसिष्ठे सरस्वती में उक्त भर्वाद बोले बोले रामचर्च  
गयाके समान होमिष्ट हुई ॥ ६९ ॥

कैकेय्यास्तनयो जसे भरतो नाम शीखबाम् ।

जनयित्रीमहज्जने थ ममय इम भियम् ॥ ७० ॥

कैकेय्या इति । कैकेयस्व राजाश्वत्थे की कैकेयी 'तस्यापत्यम्' इत्यभि कृते  
कैकेयमित्रपुत्रत्वात् धादेरिव इतीयाहैत् । तस्या भरतो नाम शीख्यास्तनयो  
जसे ज्ञाता । वस्तवया प्रजयो विवका भियमिष्ट । वयविधी मातरमहज्जने ॥ ७० ॥

कैकेयीको भरतबामक कीन्तु पुत्र कल्प हुआ विष्टके कसीको नम्रताके समान  
मायाकी सुहोमिष्ट किया ॥ ७० ॥

सुतौ सस्मजशत्रुमौ सुमित्रा सुपुत्रे यमौ ।

सन्मगारयिता विद्या प्रबोधविनयविध ॥ ७१ ॥

सुताविति । सुमित्रा कस्मयशत्रुमौ नाम यमौ सुम्भवातौ सुतौ पुत्रौ । सन्मया  
रायिता विद्या प्रबोधविनयौ लक्षणावेन्द्रियव्यपाविध । सुपुत्रे ॥ ७१ ॥

सुमित्राने कस्मय और शत्रु नामक वयस पुत्रोकी, वय तथा विनयको अच्छी तरह  
सिखित निवाले समान कल्प किया ॥ ७१ ॥

निर्दोषममवत्सर्वमाविष्कृतगुणं जगत् ।

अन्यगादिव हि स्वर्गो ग्यं गतं पुत्रपोत्तमम् ॥ ७२ ॥

निर्दोषमिति । सर्वं जगद् भूभोके निर्दोषे बुद्धिवाविरोपरहितम् - आविष्कृतगुणं  
प्रकटीकृतारोम्भादिगुणं चामकम् । अलोप्येवते - गां भुवं गतमवतीर्णं पुत्रपोत्तमं  
विष्णु स्वर्गोऽन्यन्वयादिव । स्वर्गो हि शुभवादिर्दोषलोत्वागमः । स्वर्गपुत्रवमम्  
दित्यर्थः ॥ ७२ ॥

( वक्त समय ) तन्पूर्व तंतार बुद्धिवादि दोषोंसे रहित तथा वारीन्व एवं अवोदि इति  
कर गुणोंसे रहित हो गया । मातो भूमि पर लगे हुए विष्णु मगवाल्का रखते अनुकूल  
किया भर्वाद राम वारि वारी पुत्रोंके कल्प हीनार भूभोके स्वर्ग के समान होवर्गित  
एवं सद्बुद्धिपुत्र ही गया ॥ ७२ ॥

तस्योत्तरे चतुर्मुर्ते पीठस्थचक्रितेन्दरा ।

विराट्स्केनेमरुतिर्विश लक्ष्मसिता इव ॥ ७३ ॥

तस्येति । चतुर्मुर्ते रामाधिकरणे चतुर्मुख सततस्व हरेवत्ये सति । श्रीकृष्ण-  
रावभाचकिता भीता ईवता भावा इन्द्राव्यो बाह्या वा विद्यमव्यो विरट्स्केने

धूलिभिर्नभस्वद्धिर्वायुभिः मिषेण उच्छ्वसिता हव इत्युत्प्रेक्षा । श्वसे कर्तरि क्तः । स्वा-  
नाथशरणलाभसन्तुष्टाना दिशामुच्छ्वासवाता हव, वाता वचुरित्यर्थः । चतुर्दिगीश-  
रत्नं मूर्तिचतुष्टयप्रयोजनमिति भावः ॥ ७३ ॥

उन चारों मूर्तियोंके प्रकट होनेपर रावणसे ठरे हुए (इन्द्र आदि) पतियोंवाली दिशाये  
धूलिरहित वायुसे मानो श्वास लिया अर्थात् अपने पति इन्द्र आदिके शरण्य राम आदिके  
प्रकट होनेसे दिशाओंने सुखका श्वास लिया । (रामादिके प्रकट होनेपर सुखद वायु बहने लगी) ॥

कृशानुरपधूमत्वात्प्रसन्नत्वात्प्रभाकरः ।

रक्षोविप्रकृतावास्तामपविद्धशुचाविव ॥ ७४ ॥

कृशानुरिति । रत्नसा रावणेन विप्रकृतावपकृतौ पीडितावित्यर्थः । कृशानुरग्नि-  
प्रभाकर सूर्यश्च यथासंख्यमपधूमत्वात्प्रसन्नत्वाच्चापविद्धशुचौ निरस्तदुखाविवास्ता-  
मभवताम् ॥ ७४ ॥

राक्षस ( रावण ) से पीडित अग्नि-धूमरहित होनेसे तथा सूर्य निर्मल होनेसे मानो  
शोकरहित हो गये ॥ ७४ ॥

दशाननकिरीटभ्यस्तत्क्ष्ण राक्षसश्रियः ।

मणिव्याजेन पर्यस्ता पृथिव्यामश्रुविन्दवः ॥ ७५ ॥

दशाननेति । तत्क्ष्ण तस्मिन् क्षणे रामोत्पत्तिसमये राक्षसश्रियोऽश्रुविन्दवो दशा-  
ननकिरीटभ्यो मणीना व्याजेन मिषेण पृथिव्या पर्यस्ता पतिता । रामोदये सति  
तद्वध्यस्य रावणस्य किरीटमणिभ्रशलक्ष्णं दुर्निमित्तमश्रुदित्यर्थः ॥ ७५ ॥

उस ( रामादिके उत्पत्तिके ) समयमें राक्षसोंकी लक्ष्मीकी आंसूकी धूँदें रावणके मुकुटोंसे  
मणियोंके बहनेसे गिरी । ( रामादिकी उत्पत्ति होनेपर रावणके मुकुटोंसे मणियोंके गिरनेसे  
राक्षस-लक्ष्मीके रोनेके समान उसे अपशकुन हुआ ) ॥ ७५ ॥

पुत्रजन्मप्रवेश्यानां तूर्याणां तस्य पुत्रिणः ।

आरम्भ प्रथम चक्रुर्देवदुन्दुभयो दिवि ॥ ७६ ॥

पुत्रजन्मेति । पुत्रिणो जातपुत्रस्य तस्य दशरथस्य पुत्रजन्मनि प्रवेश्यानां प्रवेश-  
यितव्यानां वादनीयानामित्यर्थः । तूर्याणां वाद्यानामारम्भमुपक्रम प्रथम दिवि देव-  
दुन्दुभयश्चक्रुः । साक्षात्पुत्रदशरथादपि देवा अधिक प्रहृष्टा इत्यर्थः ॥ ७६ ॥

पुत्रवान् उस ( दशरथ ) के पुत्रजन्मसे बनाने योग्य बाजाओंका आरम्भ पहले स्वर्गमें  
देवताओंकी दुन्दुभियोंने किया अर्थात् पुत्रवान् दशरथकी अपेक्षा अधिक प्रसन्न देवताओंने  
पहले स्वर्गमें दुन्दुभि-मञ्जरियों ॥ ७६ ॥



सन्तानफलमयी वृष्टिर्मयने चास्य पेतुपी ।

सम्पन्नलोपचारार्णो सैवादिरचनाऽभवत् ॥ ७७ ॥

सन्तानेति । अस्य राज्ञो भवने सन्तानफलमयी वृष्टिर्बहुमुमानो विकारा सन्तानफलमयी वृष्टिश्च पेतुपी पपात । 'कमुध' इति कमुधस्तथा । 'उगितव' इति कीप् । सा वृष्टिरेव सन्ता पुत्रजन्मम्याकारयका ये भद्रलोपचारस्तेषामादिरचना प्रथमः प्रियाम्भवत् ॥ ७७ ॥

एत ( वदन् ) के राजभवनमें कपवृक्षोंकी पुष्पवृष्टि हुई वही मेह मद्रक-रचनाओंकी प्रथम रचना हुई अर्थात् राजकर्मसे इतित देवताओंने स्वर्गसे पुष्पवृष्टि की ॥ ७७ ॥

कुमारा कुतसंस्कारास्ते चात्रीस्तम्यपापिन ।

धामभ्येनामनेनेव समं ववृधिरे पितु ॥ ७८ ॥

कुमारा इति । कुतः संस्कारा चातकर्मार्थो येषां ते । चात्रीनामुपमातृणां स्तभ्यानि पर्वांसि विवन्तीति उपोक्तम् । ते कुमारा अग्रे चातेनम्येव ज्येष्ठेभ्यः स्विस्तेव स्तिुराग्न्येव समं ववृधिरे । कुमारवृद्ध्या पिता मद्रक्तमात्रमन्मयापेतव्यः । कुमारजन्मस्य प्रथमेव चातत्वात्प्रज्ज्जोतिरामन्मस्य ॥ ७८ ॥

( चातकर्मपरि ) संस्कारसे संकृत तथा चात्रीके वृक्षों पीनेवाले के वाक्क मेह ( प्रत्योत्पन्न ) के समान पितृके आत्मके साथ वृद्धि की ॥ ७८ ॥

स्वामाधिकं विनीतत्वं तेषां निनयकर्मणा ।

मुमुक्षुं सद्दत्तं तेजो हविषेय हविर्मुञ्जाम् ॥ ७९ ॥

स्वामधिकमिति । तेषां कुमारानां सम्यग्भिः स्वामाधिकं सद्दत्तं विनीतत्वं निनयकर्मणा विख्या । हविर्मुञ्जाम्मीनां सद्दत्तं तेषां हविषाम्भ्यामिनेभ्यः मुमुक्षुं ववृधे । निनयकर्मणाम्नां विनीता इत्यर्थाः ॥ ७९ ॥

अथ ( रामादि ) की सद्दत्त गन्ता प्रियासे हविष्यसे अग्निसे सद्दत्त देवके सयय ववृधो अर्थात् हविष्य वाक्यसे अग्निके आवाग्रहित हो पितृ प्रकार ववृ जाता है, अही प्रकार प्रियासे रामादिक स्वामाधिक विनय भी ववृ गया ॥ ७९ ॥

परस्परविद्वद्वास्ते सद्दत्तोरमर्थं कुम्भम् ।

अथमुपोतयामासुर्देवारयमिबर्तय ॥ ८० ॥

परस्परमिति । परस्परमविद्या अभिविद्या । सीमाभ्युत्पन्न इत्यर्थः । ते कुमाराः कदाचित्कमवर्थं विप्यायं हवीः कुम्भम् । अथचो वसन्तात्तयो देवारम्भं मन्त्रमिति ।

सहजविरोधानामप्युत्तूनां सहावस्थानसम्भावनार्थं देवविशेषणम् । अलमत्यन्तमुपो-  
त्तयामासु प्रकाशयामासु । सौभ्रात्रवन्तः कुलभूषणायन्त इति भावः ॥ ८० ॥

परस्पर में विरोधरहित वे (रामादि राजकुमार) रघुके उस निर्दोष वंशको, सुन्दर  
नन्दन वनको परस्पर विरोधरहित ऋतुओंके समान अत्यन्त प्रकाशित (प्रसिद्ध, पक्षा-  
न्तरमें—सुशोभित) कर दिया ॥ ८० ॥

समानेऽपि हि सौभ्रात्रे यथोभौ रामलक्ष्मणौ ।

तथा भरतशत्रुघ्नौ प्रीत्या द्वन्द्व बभूवतुः ॥ ८१ ॥

समान इति । शोभना स्निग्धा भ्रातरो येषां ते सुभ्रातरः । 'नष्टृतश्च' इति  
कप् न भवति, 'वन्दिते भ्रातु' इति निषेधात् । तेषां भावः सौभ्रात्रं युवादित्वाद-  
ण् । तस्मिन्समाने चतुर्णां तुल्येऽपि यथोभौ रामलक्ष्मणौ प्रीत्या द्वन्द्व बभूवतुः, तथा  
भरतशत्रुघ्नौ प्रीत्या द्वन्द्व द्वौ द्वौ साहचर्येणाभिव्यक्तौ बभूवतुः । 'द्वन्द्वे रहस्यमर्यादा-  
वचनव्युत्क्रमणयज्ञपात्रप्रयोगाभिव्यक्तिषु' इत्यभिव्यक्तार्थं निपातः । क्वचित्कस्य-  
चित्स्नेहो नातिरिच्यत इति भावः ॥ ८१ ॥

(चारों भाइयोंमें) उत्तम भातृभावके तुल्य होनेपर भी जिस प्रकार दोनों राम तथा  
लक्ष्मण परस्पर सयुक्त हुए, उसी प्रकार भरत तथा शत्रुघ्न भी हुए अर्थात् राम तथा लक्ष्मणका  
और भरत तथा शत्रुघ्नका परस्परमें अधिक प्रेम होनेसे वे एक दूसरेके सहचर हुए ॥ ८१ ॥

तेषां द्वयोर्द्वयोरैक्य विभिदे न कदाचन ।

यथा वायुविभावस्वोर्यथा चन्द्रसमुद्रयोः ॥ ८२ ॥

तेषामिति । तेषां चतुर्णां मध्ये द्वयोर्द्वयो रामलक्ष्मणयोर्भरतशत्रुघ्नयोश्चेत्यर्थः ।  
यथा वायुविभावस्वोर्वातवद्धथोरिव चन्द्रसमुद्रयोरिव च ऐक्यमैकमत्यं कदाचन न  
विभिदे एककार्यत्व समानसुखदुःखत्वं च क्रमादुपमाद्वयावलम्ब्यते । सहजः सहकारी  
हि बह्वेर्वायुः चन्द्रबृहदौ हि वर्धते सिन्धुस्तस्क्ये च क्षीयत इति ॥ ८२ ॥

उन (चारों भाइयों) में दो-दोका एकता अर्थात् साहचर्य (सर्वदा साथ रहना)  
वायु तथा अधिके समान और चन्द्र तथा सूर्यके समान कभी भी भिन्न नहीं हुई ॥ ८२ ॥

ते प्रजानां प्रजानाथास्तेजसा प्रश्रयेण च ।

मनो जह्नुर्निदाघान्ते श्यामाभ्रा दिवसा इव ॥ ८३ ॥

त इति । प्रजानाथास्ते कुमारस्तेजसा प्रभावेण प्रश्रयेण विनयेन च निदाघान्ते  
ग्रीष्मान्ते श्यामान्यभ्राणि मेघा येषां ते श्यामाभ्रा, नातिशीतोष्णा इत्यर्थः । दिवसा  
इव प्रजानां लोकानां मनश्चित्तं जह्नु हरन्ति स्म ॥ ८३ ॥

प्रजाओंके स्वामी वे (चारों राजकुमार) प्रभाव तथा विनयसे ग्रीष्मकालके बादमें श्याम-  
वर्ण बादलोंवाले दिवसों (दिनों) के समान प्रजाओंके मनको हरण (वशीभूत) कर लिये ॥ ८३ ॥



## एकादशः सर्गः ।

रामचन्द्रचरणारविन्दयोरन्तरङ्गचर मृज्जलीलया ।

तत्र सन्ति हि रसाध्वतुर्विधास्तान्यथाकचि सदैव निर्विश ॥

कौशिकेन स किल क्षितिश्वरो राममध्वरविघातशान्तये ।

काकपक्षधरमेत्य याचितस्तेजसा हि न वयः समीक्ष्यते ॥ १ ॥

कौशिकेनेति । कौशिकेन कुशिकापत्येन विश्वामित्रेणैत्याभ्यागत्य स क्षितिश्वरो दशरथः । अध्वरविघातशान्तये यज्ञविघ्नविध्वसाय । काकपक्षधर बालकोचितशिखा-धरम् । 'बालानां तु शिखा प्रोक्ता काकपक्ष' शिखण्डक 'इति हलायुध । राम याचित' किल प्रार्थित' खलु । याचेद्विकर्मकादप्रधाने कर्मणि क्त 'अप्रधाने दुहादीनाम्' इति वचनात् । नायं बालाधिकार इत्याशङ्क्याह—तेजसां तेजस्विना वयो बाल्यादि न समीक्ष्यते हि, अप्रयोजकमित्यर्थः । अत्र सर्गे रथोद्धता वृत्तम् । उक्तं च—'राजरा-विह रथोद्धता लग्नौ' इति ॥ १ ॥

रामचन्द्रचरणारविन्द में चित्त ! मृज्ज-सम तू सदा रमो ।

चार हैं रस वहाँ, निजेच्छया पानकर बहुस्वतन्त्र हो भ्रमो ॥

विश्वामित्र मुनिने उस राजाके पास आकर यज्ञके विघ्नकी शान्तिके लिये काकपक्षधर ( बालक ) रामको मांगा, क्योंकि तेजस्वियोंकी अवस्था ( उम्र ) नहीं देखी जाती ॥ १ ॥

कृच्छ्रलब्धमपि लब्धवर्णभाक् त दिदेश मुनये सलक्ष्मणम् ।

अप्यसुप्रणयिनां रघोः कुले न व्यहन्यत कदाचिदर्थिता ॥ २ ॥

कृच्छ्रेति । लब्धा वर्णा प्रसिद्धयो यैस्ते लब्धवर्णा विचक्षणः । 'लब्धवर्णो विच-क्षण' इत्यमरः । तान्मजत इति लब्धवर्णभाक्, विद्वत्सेवीत्यर्थः । स राजा कृच्छ्र-लब्धमपि सलक्ष्मणं तं 'रामं' मुनये दिदेशातिसृष्टवान् । तथा हि । असुप्रणयिनां 'प्राणार्थिनामप्यर्थिता योश्चा रघोः कुले कदाचिदपि न व्यहन्यत न विहता, न विफ-लीकृत्येत्यर्थः' । यैरर्थिभ्यः प्राणा अपि समर्प्यन्ते तेषां पुत्रादित्यागो न विस्मयावह इति भावः ॥ २ ॥

विद्वानोंकी सेवा करनेवाले ( राजा दशरथ ) ने कष्टसे प्राप्त हुए भी उस रामको लक्ष्मणके सहित, मुनि ( विश्वामित्रजी ) के लिये दे दिया । रघुवशियोंमें प्राणोंकी याचना करने-वालोंकी भी याचना कभी असफल नहीं होती । ( अंत राजा दशरथजी विश्वामित्र मुनिकी यशस्वाके लिये प्रिय पुत्र रामजीको कैसे मना ऋते ? ) ॥ २ ॥

पाववादिशति पार्ष्विस्तयोर्निर्गमाय पुरमार्गसंस्क्रियम् ।

तावदाद्यु विद्ये महत्ससौ सा सपुष्पजङ्गपरिमिर्धने ॥ ३ ॥

भावविति । पार्ष्विः पृथिवीवरस्ततो रामकर्मण्योर्निर्गमाय विष्कम्भवात् पुर-  
मार्गसंस्क्रियं वृक्षिसम्प्राप्तं गन्धोदकसेचनपुष्पोपहारकपसंस्कारं पाववादिशत्यत्रा-  
पवति ताकम्भकस्तथैवांपुससौ । अनेव वृक्षिसम्प्राप्तं गन्धते । सपुष्पजङ्गपरिमि-  
धुष्यस्तद्विजङ्गपरिमिर्धने सा मार्गसंस्क्रियाम् विद्ये विहिता । पुरेव वैजङ्गमसु-  
तबोर्देवाद्युद्वेगं सुकृतम् ॥ ३ ॥

राज्यमे क्व क्व क्व हीनों ( राम तथा कर्मण ) के मगरसे बाहर जानेके लिये राज-  
मार्गं ( मुख्य सड़की ) को सज्जार्ह, विकस्य एवं पूर्य-पाषाणोंसे सजाकर करदेखी जाया हो-  
एव एक जगह उत्सव हो जायने पूर साफ कर ही नीर मेंदे बरका विकस्य कर  
दिया एवं देवताओंके आश्रयसे पुष्पवृक्षकर मत्स्योत्थ सजाकर कर हो ॥ ३ ॥

तौ निदेशकरणोत्तौ पितुर्बन्धिनौ वरणयोर्निपेतुम् ।

भूपतेरपि तयो प्रवत्स्यतोर्मन्त्रयोऽपरि बाष्पबिन्द्वम् ॥ ४ ॥

भावविति । निदेशकरणोत्तौ निदेशाकरणोत्तौ बन्धिनौ बहुभ्याम् तौ कुमारौ  
पितुर्वरणयोर्निपेतुम्, प्रवत्स्यतोर्मन्त्रयोऽपरि । भूपतेरपि बाष्पबिन्द्वम् प्रवत्स्यतोः प्रवत्सं  
करिष्यतोः । अत एव बन्धवोः प्रवत्स्यतोः । 'ममिकल्प' इति रात्र्यया । तयोऽपरि  
विप्रेतुः पतिताः ॥ ४ ॥

पितृयो जाह्नवा बाष्प करतेके लिये पैवार एवं वज्र वारज लिये हुए क्व हीनों  
( राम तथा कर्मण ) के पिताके करमोर हृत्कर प्रवास किया नीर बाहर जाते हुए एवं  
करमोंमें प्रवत्स क्व हीनोंके करर राजाजी ( स्नेहसे ) जासुनोंके वृत्ति गिर पड़े ॥ ४ ॥

तौ पितुर्नयनक्षेपेन वारिणा किञ्चित्पुच्छित्पिशिकवत्कृतुमौ ।

बन्धिनौ तस्यपिमन्त्रगच्छतां पौरदृष्टिस्तुमार्गतोरणौ ॥ ५ ॥

भावविति । पितुर्नयनक्षेपेन वारिणा किञ्चित्पुच्छित्पिशिकवत्कृतुमौ । पिशा-  
चूना किञ्चिच्छा स्वात् इत्यमरः । 'तोषाद्विषाया' इति कप्यत्ययः । बन्धिनौ तादुभौ ।  
पौरदृष्टिभिः कृताभि मार्गतोरणानि सज्जायाणि कुलकानि बधोस्ती तयोऽपि,  
सहस्रो विरिक्वमन्त्रावित्यर्थः । तस्यपिमन्त्रगच्छताम् ॥ ५ ॥

पिताके दोनोत्तम क्व ( जातु ) से कुछ भीने हुए काकरायाके बहुपाटी के हीनों  
( राम तथा कर्मण ) कत मुनि ( पिशाचिनौ ) के पीछे पीछे बने ही मापीर कड़े होकर  
बाजरीक की कहीं देकर रहे थे, वे ऐसे जाह्नव 'वृद्धि' के कि जावों जावरीयोंके देवकनी  
कर्मोंसे पीरव बनकर मार्ग सजाया गया है ॥ ५ ॥

लक्ष्मणानुचरमेव राघवं नेतुमैच्छदपिरित्यसौ नृपः ।

आशिष प्रयुयुजे न वाहिनीं सा हि रक्षणविधौ तयोः क्षमा ॥ ६ ॥

लक्ष्मणेति । ऋषिर्लक्ष्मणानुचरमेव लक्ष्मणमात्रानुचर त राघव नेतुमैच्छदिति हेतोरसौ नृप आशिष प्रयुयुजे प्रयुक्तवान् । वाहिनीं सेनां न प्रयुयुजे न प्रेषितवान् । हि यस्मात्साऽशीरेव तयो कुमारयो रक्षणविधौ क्षमा शक्ता ॥ ६ ॥

विश्वामित्र मुनिने केवल लक्ष्मणके ही साथ रामचन्द्रजीको ले जाना चाहा, अत इन्हें राजाने केवल आशीर्वाद दिया, ( उनकी रक्षाके लिए ) सेनाको साथमें नहीं भेजी, ( क्योंकि ) वह आशीर्वाद ही उन दोनोंका रक्षक था ॥ ६ ॥

मातृवर्गचरणस्पृशौ मुनेस्तौ प्रपद्य पदवीं महौजसः ।

रेजतुर्गतिवशात्प्रवर्तिनौ भास्करस्य मधुमाधवाविव ॥ ७ ॥

मातृवर्गेति । मातृवर्गस्य चरणान्स्पृशत इति मातृवर्गचरणस्पृशौ, कृतमातृवर्ग-नमस्कारावित्यर्थः । 'स्पृशोऽनुदके किन्' इति किन्प्रत्यय । तौ महौजसौ मुने पदवीं प्रपद्य । महौजसो भास्करस्य गतिवशान्मेपादिराशिसक्रान्त्यनुसारात्प्रवर्तिनौ मधुमाधवाविव चैत्रवैशाखाविव रेजतु । 'फणा च सप्तानाम्' इति वैकल्पिकावेत्वाभ्यासलोपौ । 'स्याच्चैत्रे चैत्रिको मधु' इति । 'वैशाखे माधवो राघव' इति चामरः ॥ ७ ॥

माताओंको प्रणामकर महातेजस्वी मुनिके मार्गसे चलनेवाले वे दोनों ऐसे शोभायमान होते थे, जैसे महातेजस्वी सूर्यकी ( मेघ आदि सक्रान्ति ) की गतिके कारण प्रवृत्त होनेवाले चैत्र तथा वैशाख मास शोभमान होते हैं ॥ ७ ॥

वीचिलोलभुजयोस्तयोर्गत शैशवाच्चपलमप्यशोभत ।

तोयदागम इवोद्धथमिद्ययोर्नामधेयसदृश विचेष्टितम् ॥ ८ ॥

वीचीति । वीचिलोलभुजयोस्तरङ्गचञ्चलबाह्वो । इद विशेषण नदोपमानसिद्धयर्थं वेदितव्यम् । तयोश्चपल चञ्चलमपि गत गति शैशवाद्धेतोरशोभत । किमिव, तोय-दागमे वर्षासमये उज्ज्वल्युदकमित्युद्धथ । भिनत्ति कूलमिति मिथ । 'मिथोद्धथौ नदे' इति क्यवन्तौ निपातितौ । उद्धथमिद्ययोर्नदविशेषयोर्नामधेयसदृश नामानुरूप विचेष्टितमिव । उदकोज्जनकूलभेदनरूपव्यापार इव । समयोत्पन्न चापलमपि शोभत इति भावः ॥ ८ ॥

सुख ( पूर्वक गमन ) से हिलते हुए मुजाओंवाले उन दोनोंका शैशवके कारण चञ्चल भी गमन, वर्षाकाल आनेपर तरङ्गरूप चञ्चल बाहुवाले मिथ और उद्धथ नामक नदीकी नामानुकूल ( क्रमशः तटकी तोड़नेवाला और जलकी छोड़नेवाला ) चेष्टाके समान शोभित होता था ॥ ८ ॥

तौ ब्रह्मासिब्रह्मयोः प्रमात्रतो विद्ययोः पयि मुनिप्रविष्टयोः ।

मन्त्रादुर्न मणिकुट्टिमोषितौ मानुषान्तरपरिवर्तिनापि ॥ ६ ॥

ताविति । मणिकुट्टिमोषितौ मणिकुट्टिमिसमाहारोषितौ तौ मुनिप्रविष्टयोः कोटि-  
केतोपनिहोषकातिब्रह्मयोर्विद्ययोर्ब्रह्मासिब्रह्मयोर्गन्तव्योः प्रमात्रताः सामर्थ्याभ्याम्-  
पार्श्वपरिवर्तिनौ मानुसमीपवर्तिनापि पयि न मन्त्रादुः न मन्त्रान्तरपरिवर्ति-  
नाम् । अत्र रामायणश्रवणे—‘श्रुतिपासे न ते राम मविन्दते नरोत्तम । अत्रमतिबलं नैव  
कृताः पयि शयत ॥’ ॥ ५ ॥

मणिकुट्टि पुरिषर चन्द्रेके बोध के दोहों ( राम और कृष्ण ) मुनि विद्याविषयोंके  
द्वारा सिद्धांत हुए ‘ब्रह्मा और अतिब्रह्म’ नामक विद्याओंके प्रभावसे मायाके सम्यक् रहते  
हुए के समान एतेमें किन्तु नहीं हुए ॥ ५ ॥

पूर्ववृत्तकथितैः पुराविषः सानुजः पितृसखस्य राघवः ।

अस्मान् इव बाहनोषितः पादचारमपि न व्यभ्राजत् ॥ १० ॥

पूर्ववृत्तेति । बाहनोषिता सानुजो राघवः । पुराविषः पूर्ववृत्ताभिज्ञत्वं पितृसखस्य  
मुनेः पूर्ववृत्तकथितैः पुरावृत्तकथामिज्ञमान इव बाहनेन प्राप्यमान इव । बहोर्घातोः  
कर्मणि धातुम् । अस्मान् इत्यत्र द्वीर्वादिप्रपाठः । द्वीर्वात्प्राप्यमावात् । पादचारमपि  
न व्यभ्राजत् इत्यत्रात् ॥ १० ॥

बाहनों ( बायीं-बायाँ जाति सवारियों ) के बोध छोड़ मार्ग ( कृष्ण ) के दृष्टि  
रामचन्द्रजीके पुराने इतिहासोंके दाता तथा पिता ( ब्रह्मरूपी ) के भिन्न मुनिराम स्थित-  
भित्तके द्वारा प्राचीन इतिहास जादिके कर्मोंके होने वाले हुए के लाना, नये वेद  
कर्मोंके भी अनुभव नहीं किया । ( पूर्व इतिहासोंकी दृष्टि हुए चन्द्रेके वेदक कर्मोंके  
भी कर्मों-कर्म नहीं हुआ ) ॥ १० ॥

तौ सरांसि रसवद्विरम्बुमिः कृषितैः भुविमुलैः पतस्त्रिजः ।

बायवः सुरमिपुष्परेणुमिरन्नायया न जज्ञवाः सिपेबिरे ॥ ११ ॥

ताविति । तौ राघवौ कर्मभूतौ सरांसि कर्तृभि रसवद्विरम्बुरैरम्बुमिः सिपेबिरे ।  
पतस्त्रिजः पक्षिणः । भुविमुलैः भुवामि । पञ्चायवः । सुरमिनां भुवामि । तौ  
कृषितैः । बायवः सुरमिपुष्परेणुमिः सुरमिपरागी । अज्ज्ञवाः अज्ञाया न सिपेबिरे  
इति सर्वत्र सम्भवति ॥ ११ ॥

अज्ञाओंके पुरा कर्मोंके पक्षियोंके अज्ञाया मनुष्य कर्मोंके बायव सम्भव  
अज्ञ-अज्ञाओंके भीर में ( भुविपरागी ) अज्ञाओंके नव बोधोंके तथा भी ॥ ११ ॥

नाम्भसां कमलेशोभिनां तथा शाखिनां च न परिश्रमच्छिदाम् ।

दर्शनेन लघुना यथा तयोः प्रीतिमापुरुभयोस्तपस्विनः ॥ १२ ॥

नाम्भसामिति । तप एवामस्तीति तपस्विनः । 'तपःसहस्राभ्यां विनीनी' इति विनिप्रत्ययः । लघुनेष्टेन 'त्रिष्विष्टेऽपे लघु' इत्यमरः । तयोरुभयोः कर्मभूतयोः । दर्शनेन यथा प्रीतिमापुः तथा कमलशोभिनामम्भसां दर्शनेन नापुः । परिश्रमच्छिदं शाखिनां दर्शनेन च नापुः ॥ १२ ॥

तपस्वीलोगोंने अभिलषित ( या थोड़े ) उन दोनोंके दर्शनसे जैसा सुख पाया, वैसा सुख कमलोंसे शोभायमान जलके दर्शनसे और परिश्रमको ( ध्यायासे ) दूर करनेवाले वृक्षोंके दर्शनसे नहीं पाया ॥ १२ ॥

स्थाणुदग्धवपुषस्तपोवनं प्राप्य दाशरथिरात्तकामुकः ।

विग्रहेण मदनस्य चारुणा सोऽभवत्प्रतिनिधिर्न कर्मणा ॥ १३ ॥

स्थाणुदग्धेति । स आत्तकामुकः । दशरथस्यापत्यं पुमान्दाशरथी रामः । 'अत्त इङ्' इतीप्प्रत्ययः । स्थाणुर्हरः । 'स्थाणुः' कीले हरे स्थिरे' इति विश्वः । तेन दग्धवपुषो मदनस्य तपोवनं प्राप्य चारुणा विग्रहेण कायेन । 'विग्रहः समरे काये' इति विश्वः । प्रतिनिधिः । प्रतिवृत्तिः सदृशोऽभवत्कर्मणा न पुनः देहेन मदनसुन्दर इति भावः ॥ १३ ॥

धनुर्धारी दशरथनन्दन वह ( रामचन्द्रजी ) तपोवनमें पहुचकर शिवजीसे दग्ध शरीर-वाले कामके प्रतिनिधि ( केवल ) सुन्दर शरीरसे ही हुए, कार्य ( विरहिजन-पीडनरूप कार्य ) त्या शिवकी समाधिको भग्न करनेके कार्य ) से कामदेवके प्रतिनिधि नहीं हुए ॥ १३ ॥

पौराणिक कथा—ब्रह्माके वर देनेसे निर्भय तारकासुरसे पीडित देवसमूहोंने ब्रह्माके पास जाकर तारकासुरके मरनेका उपाय पूछा तो उन्होंने कहा कि 'शिवजीकी सन्तानको सेनापति बनाकर आपलोग उसे मारनेका उद्योग करें । तब हिमालयके एकदेशमें समाधि लगाये हुए, प्रतिदिन पूजाके लिए फूल आदि सामग्री पहुंचानेवाली पार्वतीसे उपास्यमान शङ्करजीकी समाधिको भङ्ग करनेके लिए देवेन्द्रके अनुरोधसे कामदेव वहां जाकर धनुषपर बाण चढ़ाकर शङ्करजीके मनमें विकार पैदा करना चाहा, इतनेमें उन्होंने उस कामदेवके दुष्कार्यको मालूमकर तृतीय नेत्रकी अग्निसे तत्काल ही उसे भस्म कर डाला ।

तौ सुकेतुसुतया खिलीकृते कौशिकाद्विदितशापया पथि ।

निन्यतुः स्थलनिवेशितादनी लीलयेत्र धनुषी अधिज्यताम् ॥ १४ ॥

साविति । अत्र रामायणवचनम्—'अगस्त्यः परमक्रुद्धस्ताडकाममिश्रसवान् । सुरपादौ महारथौ विकृतविकृतानना । इदं रूपमपहाय दारुणं रूपमस्तु ते । इति । तदेतदाह-विदितशापयेति । कौशिकादाख्यातुः । 'आख्यातोपयोगे' इत्यपादना-



एवमस्मी । विदितस्तत्पथा भुक्तेऽमुस्तथा तावन्मया विधीकृते पथि । 'विष्णुमप्रहृतं स्वा-  
मम् इति इक्ष्मणुषः । रामकथमस्मी । एवमे विवेचिते -कस्मिन् वज्रपथेऽपि नाम्नां तौ  
तयोस्ती । 'कोटिरस्यस्मिन्' इत्यमरा । कीकपेक्ष वज्रपथी । अपिहृते अये, मौढ्यौ वयो-  
स्ते अपिमे । 'अवा मौढ्यमात्रमुपि' इति विष्णुः । तपोर्भावस्तथापि विष्णुर्वा विष्णु-  
तुर्वातवन्ती नयतिर्हि कर्मणः ॥ १४ ॥

विष्णुमित्रादीन् विदित हो गया है आप जिसका ऐसी तावकसे कर्मसंग्रह कर लिये  
नये मार्गमें भूमिपर वज्रपथीको रखकर इन बीजोंके सारक्यासे वज्रपथ पर ओरी पड़ा हो ॥

वीराणिक कथा—'सुन्दर' नामक कथाकी प्रतीका विराट् 'सुन्द' नामक 'सुन्द' देवसे  
पुत्रसे हुआ । विष्णुके द्वारा 'सुन्द'के मारे जानेपर महादेव वरसे प्रपञ्च प्रद हुआ तो इक्ष्मणोके  
मुख बज्जाकी 'सुन्द'की ओरने लक्ष्मण केविपर जाकरमन किया तो ऊर्ध्वमें ऊपर होकर आप  
दिखा कि 'सुन्द इत करीरकी ओरकर भयकर करीर पारण करो और पुररोंकी प्रपञ्च  
करनेवाली विहाराह मुक्तवाली महावाली हो जानी' वही आपकी रामचन्द्रजीने विष्णुमित्र  
कृते माहम किया ।

क्यानिनावमव गृह्णीतयो माधुरास वज्रपथपाद्वि ।

तावन्मया वज्रपथपाद्विहृता कसिकेव निविष्टा वज्रास्मिन् ॥ १५ ॥

क्यानिनावमिति । अथ तनोर्ज्यानिनाव गृह्णीतौ जानती श्रम्यतीत्यर्थः । वज्र-  
पथपाद्वि कृष्णपथरात्रिर्ज्या । 'वज्रपथ' कृष्णपथे वा इति विष्णुः । कसे कसके पथ  
कृष्णके वस्याः सा तनोका तावन्मया । निविष्टा साग्रा वज्रास्मिन् वज्राकास्ती । 'वी-  
र्यानिनाव' इतीति । कसिकेव वज्रास्मी । 'अपिमे वीर्यामीमेदे कसिके वीर्या  
मनास्मी' इति विष्णुः । माधुरास माधुर्यभूष ॥ १५ ॥

इतके बाद ( इन बीजोंके द्वारा किये गये ) वज्रपथकी सुन्दर कृष्णपथकी रात्रिके  
समाप्त होवावाकी ( अर्थात् वास्तव काली ) और पञ्चक वज्रा-कृष्णकीवाली तावन्मया  
वज्रपथपाद्वि लक्ष्मण देवकीके समान वहाँ पहुँच गयी ॥ १५ ॥

तीक्ष्णवेगभुतमार्गभूषण्य मेतचीवरपसा स्मनोमया ।

अभ्यभावि भरताममस्तथा पालयेथ पितृघननोत्थया ॥ १६ ॥

तीक्ष्णवेगेति । तीक्ष्णवेगेन युता कम्पिता मार्गभूषा नर्वा तपोक्षया । मेतचीवरानि  
वज्र इति मेतचीवरपसा । तथा मेतचीवरपसा । वसतेरात्र्याहवासीकिप् । स्वनेव  
सिंहवादेनोपथा तथा तावन्मया । पितृघनने रमस्याव तपोत्थया । 'आतलोत्सर्ग'  
इत्युत्सर्गसिद्धो कर्तारि कर्मणः । तथा वास्तवेव वास्तवज्ञेयेव । 'पाद्यानिन्वो वा'  
इति वा । भरतामको रामोभ्ययान्मयिहृताः । कर्माणि हृत् । तीक्ष्णवेगेत्वाविहिते-  
वानि वज्रपाथमपि वीर्यानि ॥ १६ ॥

तीव्र वेगसे मार्गके पेड़ोंको कम्पित करनेवाली, प्रेतोंका चींथटा ( कफन ) पहनी हुई, गर्जनेसे अतिमयङ्कर उस ताडकाके श्मशानसे उठी हुई औंधीके समान, रामचन्द्रजीको अभिभूत कर दिया ॥ १६ ॥

उद्यतैकभुजयष्टिमायतीं श्रोणिलम्बिपुरुषान्त्रमेखलाम् ।

तां विलोक्य वनितावधे घृणा पत्रिणा सह मुमोच राघवः ॥ १७ ॥

उद्यतैकेति । उद्यतोन्नमितैको भुज एव यष्टिर्यस्यास्ताम् । आयतीमायान्तीम् । हृणो धातो क्षतरि 'उगितश्च' इति ङीप् । श्रोणिलम्बिनी पुरुषाणामन्त्राण्येव मेखला यस्यास्ताम् । इति विशेषणद्वयेनाप्याततायित्व सूचितम् । अत एव तां विलोक्य राघवो वनितावधे स्त्रीवधनिमित्ते घृणा जुगुप्सा करुणा वा । 'जुगुप्साकरुणे घृणे' इत्यमरः । पत्रिणेपुणा सह । 'पत्री रोप ह्रपुङ्वयो' इत्यमरः । मुमोच मुक्तवान् । आततायिवधे मनु- 'आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् । जिघांसन्त जिघासीयान्न तेन ब्रह्मा भवेत् । नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन' इति ॥ १७ ॥

ऊपर उठी हुई एक मुञ्जारूप लाठीवाली अर्थात् लाठीके समान एक मुंजाको ऊपर उठाई हुई, आती हुई और मनुष्योंकी औंठोंकी करघनी बनाकर कमरमें पहनकर लटकाती हुई उस ताडकाको देखकर रामजीने खोबध करनेमें घृणा ( या दया ) के साथ बाणको छोड़ा । ( 'पेसी स्त्रीको मारनेमें दया नहीं करनी चाहिये' ऐसा विचारकर उसपर बाण छोड़ा ) ॥ १७ ॥

यच्चकार विवरं शिलाघने ताडकोरसि स रामसायकः ।

अप्रविष्टविषयस्य रक्षसां द्वारतामगमदन्तकस्य तत् ॥ १८ ॥

यदिति । स रामसायक शिलावद्धने सान्द्रे ताडकोरसि यद्विवर रन्ध्रं चकार तद्विवरं रक्षसामप्रविष्टविषयस्य, अप्रविष्टरक्षोदेशस्येत्यर्थः । सापेक्षत्वेऽपि गमकत्वात्समासः । 'विषय स्यादिन्द्रियार्थे देशे जनपदेऽपि च' इति विश्वः । अन्तकस्य यमस्य द्वारतामगमत् । इयं प्रथमा रक्षोमृतिरिति भावः ॥ १८ ॥

उस राम-बाणने पत्थरके समान कठोर ताडकाकी छातीमें जो छिद्र किया, वह राक्षसोंके देश ( निवासस्थान ) में नहीं पहुँचे हुए यमराजके द्वारभावको प्राप्त किया अर्थात् यमराजके लिये मानो द्वार बन गया ॥ १८ ॥

बाणभिन्नहृदया निपेतुपी सा स्वकाननमुव न केवलाम् ।

विष्टपत्रयपराजयस्थिरा रावणश्रियमपि व्यकम्पयत् ॥ १९ ॥

बाणभिन्नेति । बाणभिन्नहृदया निपेतुपी निपतिता सती । 'कसुश्च' इति कसुप्र- स्वयः । 'उगितश्च' इति ङीप् । सा केवलामेकाम् । 'निर्णीते केवलमिति त्रिलिङ्ग- स्वेककृत्वयोः' इत्यमरः । स्वकाननमुव न व्यकम्पयत् । किन्तु विष्टपत्रयस्य लोक-

प्रवस्य परायेण स्थितं राजपथिष्वपि व्यक्रमयत् । तादृकीवपञ्चमेन दीर्घमस्वसि  
मयमुत्पन्नमिति भावः ॥ १९ ॥

राजसे विष इवपञ्चमी तथा विटी हुई उस तादृकमे केवल जपने वचकीं पुमिको ही  
नही क्षमिष्ठ कर दिया किन्तु तीनों ओकोओ बराबित करमेसे विषर राजपथी व्यस्योओ  
भी क्षमिष्ठ कर दिया ॥ १९ ॥

अथ ताम्बूलपा जमिसारिकायाः समाधिरमिधीयते—

राममम्यवररेण ताहिता दुःसहेन हृदये निराचरी ।

गन्धवदुधिरचन्दनोक्षिता खीयितेशवसति जगाम सा ॥ २० ॥

राममम्यपेति । सा निधाम्बु चरतीति निधाम्बु हीराक्षी जमिसारिका च ।  
दुःसहेन सोऽहमसन्धेन राम पृथ मम्यय, जन्मसामिरामो मम्यय । तस्य हरेण  
हृदय उरसि भवति च । 'हृदये मनु हरमोः इति विष्णु । ताहिता विद्यामी गन्धवद्  
दुर्गमिष्य द्युधिरमसक तदेव चन्दनं तेजोक्षिता क्षिता । अपरत्र गन्धवती सुपन्थिनी  
ये क्षिरचन्दने कुङ्कुमचन्दने ताम्बामुक्षिता यद्वा गन्धवत् क्षिरमिव चन्दनं इति-  
चन्दनमित्यर्थः । 'क्षिरं कुङ्कुमाक्षमो' इत्युपपत्तिरिति विष्णु । खीयितेश्चाप्युक्तम्  
प्रायेणरस्य च वसति जगाम ॥ २० ॥

विष प्रकर दुःसह, दुःसह क्षमके राजसे उपस्थित राधिमें गमन करनेवालीन विचारिका  
गायिका गन्धवत् चन्दनसे क्षमिष्ठ होकर प्रायन्ते वादकके निवासेत्यादिको बोली है कही  
प्रकर दुःसह मन्की मन्व करकेवाले रामके पणसे ( वा रामरूपी क्षमिष्ठके राजसे )  
हरवमे ताहित हुई राजसी तादृक गन्धवत् रक्तक चन्दनसे क्षमिष्ठ (अवर) हीकर  
वमराजपुटीको चन्दे गयो जगाम मर गयी ॥ २० ॥

नेर्धतप्रमय मन्त्रवन्मुने प्रापवक्षमवधानतोपितोत् ।

उयोतिरिन्धननिपाति मास्करालसूर्येक्षन्त इव तादृकन्तकः ॥ २१ ॥

नेर्धतप्रमिति । अर्धानन्तरं तादृकान्तकीं रामा । अथवा पराक्रमा । 'परा-  
क्रमोऽवशानं स्वात्' इति भागुरि । तेष तोपितान्मुनेः नेर्धतान् रापसान्मन्तीति  
नेर्धतप्रम् । 'अमनुजकर्तुके च' इति टक् । मन्त्रवन्मन्त्रपुत्रमयम् । सूर्येक्षन्तो  
ममिषितोपो मारकरादिन्धनादि निवातवतीतीन्धनविपाति काहवाहके उयोतिमिव ।  
प्रापवक्षमात् ॥ २१ ॥

रक्तके बाद तादृकाद्य वर क्षेपिकाके राजसे बराबरसे 'सुगुह द्विपि ( निवाधिवन्ती ) से  
गन्धवत् तादृक-वाद्य वचकी उत मन्त्र मात्र किता, विष प्रकरि सूर्येक्षन्तेमि सूर्यो  
रन्धकी क्षमनेवाके हैकही मन्त्र करता है ॥ २१ ॥

वामनाश्रमपदं ततः परं पावनं श्रुतमृपेरुपेयिवान् ।

उन्मना. प्रथमजन्मचेष्टितान्यस्मरन्नपि बभूव राघवः ॥ २२ ॥

वामनेति । ततः परं राघव । ऋषे कौशिकादाख्यातुं श्रुतं पावनं शोधनं वाम-  
नस्य स्वपूर्वावतारविशेषस्याश्रमपदमुपेयिवानुपगतः सन् । 'उपेयिवाननाश्वाननूचा-  
नश्च' इति निपातः । प्रथमजन्मचेष्टितानि रामवामनयोरैक्यात्स्मृतियोग्यान्पि राम-  
स्याज्ञातावतारत्वेन संस्कारदौर्बल्यादस्मरन्नपि उन्मना उत्सुको बभूव ॥ २२ ॥

तदनन्तर विश्वामित्रसे, मुने गये, पवित्र वामनाश्रम स्थानको पहुंचे हुए राम पूर्वजन्म  
( वामनावतार ) को चेष्टाओंको नहीं स्मरण करते हुए भी उत्सुक हुए ॥ २२ ॥

आससाद् मुनिरात्मनस्ततः शिष्यवर्गपरिकल्पितार्हणम् ।

बद्धपल्लवपुटाञ्जलिद्रुमं दर्शनोन्मुखमृगं तपोवनम् ॥ २३ ॥

आससादेति । ततो मुनिः । शिष्यवर्गेण परिकल्पिता सज्जितार्हणा पूजासामग्री  
यस्मिंस्तत्तथोक्तम् । 'सपर्यार्चाहणा समा' इत्यमरः । बद्धा पल्लवपुटा एवाञ्जलयो  
यैस्ते तथाभूता द्रुमा यस्मिंस्तत्तथोक्तम् । दर्शनेन मुनिदर्शनेनोन्मुखा मृगा यस्मिंस्तत् ।  
आत्मनस्तपोवनमाससाद् । एतेन विशेषणत्रयेणातिथिसत्कारताञ्छील्यविनय-  
शान्तयः सूचिताः ॥ २३ ॥

तदनन्तर मुनि ( विश्वामित्रजी ) ने शिष्यसमुदायद्वारा सुसज्जित पूजा-सामग्रीवाले,  
सम्पुटित पल्लव-पुटरूपी अञ्जलि-युक्त वृक्षोंवाले और दर्शनके लिये या दर्शनसे उन्मुख  
( मुखको ऊपर उठाये हुए ) मृगोंवाले अपने तपोवनको प्राप्त किया ॥ २३ ॥

तत्र दीक्षितमृषिं ररक्षतुर्विघ्नतो दशरथात्मजौ शरैः ।

लोकमन्धतमसात्क्रमोदितौ रश्मिभिः शशिविवाकराविव ॥ २४ ॥

तत्रेति । तत्र तपोवने आश्रमे दशरथात्मजौ दीक्षित दीक्षासंस्कृतमृषिं शरैर्विघ्न-  
तो विघ्नेभ्यः । क्रमेण पर्यायेण रात्रिदिवसयोरुदितौ शशिविवाकरौ रश्मिभिः किरणै-  
रन्धतमसाद्गाढध्वान्तात् । ध्वान्ते गाढेऽन्धतमसम् इत्यमरः । 'अवसमन्धेभ्यस्त-  
मसः' इति समासान्तोऽच्प्रत्ययः । लोकमिव ररक्षतु । रक्षणप्रवृत्तावभूतामित्यर्थः ॥

वहाँपर दोनों दशरथनन्दन ( राम-लक्ष्मण ) यज्ञ करनेके लिए दीक्षाको ग्रहण किये-  
हुए मुनिको षण्णोंके द्वारा विघ्नोंसे उस प्रकार रक्षा करने लगे, जिस प्रकार उदयको प्राप्त  
हुए सूर्य तथा चन्द्र किरणोंके द्वारा घने अन्धकारसे ससारको रक्षा करते हैं ॥ २४ ॥

वीक्ष्य वेदिमथ रक्तविन्दुभिर्वन्धुजीवपृथुभिः प्रदूषिताम् ।

सन्ध्रमोऽभ्रवदपोढकर्मणामृत्विजा च्युतविकङ्कतसुचाम् ॥ २५ ॥

धीर्यदेति । अथ वग्नुजीवन्मुनिर्बन्धुजीवन्मुनिमरुहैः । रक्षकस्तु बन्धुको बन्धुजी-  
वन् । इत्यमरः । रक्षन्निन्धुमिः प्रहृषिनामुपहृतां वेदिं धीर्यम् । अथोदकर्मणां त्यक्त-  
भ्यापारानां त्यक्तयत्नमर्थमाह । वृत्ता विकटतपुषी यज्ञपात्राणि येभ्यस्तेषामुत्तिजां  
पात्रकानां सम्प्रमोक्षमाह । विकटप्रह्वं पदिराद्युपकृतम् । युगादीनां पदिरादि-  
प्रकृतिकरणात् । धुपादिपात्रस्यैव विकटतमकृतिकरणात् । विकटता धुपादृष्ट इत्य-  
मरः । यद्वा सुष्माश्रय विकटतमकृतिकत्वमस्तु । अथयथापि शास्त्रसम्प्रदाह ।  
यथाह भगवानापस्तम्बः—'तान्निरेषुकाः पर्जन्यीर्मुहूर्तिकटतीः धुषो वा' इति इत्य-  
तदन्तर 'दुपहरिषा' नामक कृत् के समान वही १ रक्षतीं दूरीति इति वदनेरीथे  
देमन्तर वदन्तेको रीक देनेवाके तथा पदिरादिकृत धुपती दिरा देनेवाके कालिगो  
( नाकधे—नदकतीको ) को सम्प्रय हुआ नवाँद कालिगोने रक्षन्निन्धु—इति वद-नेरीथी  
देव नदन्तर वद करवा रीक दिरा थीर कृपती थीये रक्ष दिरा ॥ २५ ॥

अमुक्तं सपदि लक्ष्मणाग्रजो बाणमाग्रयमुखात्समुद्धरन् ।

रक्षसां बलमपश्यदम्बरे शृंगपक्षपवनेरितथ्यजम् ॥ २६ ॥

अमुक्त इति । सपदि लक्ष्मणाग्रजो रामो बाणमाग्रयमुखात्समुद्धरन् ।  
रक्षसां बलमपश्यदम्बरे । शृंगपक्षपवनेरिति तत्र कम्पिता ध्वजा यस्य तत्तपो-  
कम् । रक्षसां दुर्निमित्तसुखमेतत् । तदुक्तं शकुन्तलीके—'बासकमूलोर्विष्ये चरन्ति  
पृथाङ्गो धूमि गृहोर्ध्वगौ' इति । रक्षसां विताचरन्तं बलमपरवत् ॥ २६ ॥

वती अमवनें वरकतले नाकधे निष्ठाकते हुए रामये अमुक्त इत्यत्र नाकाग्रजे धीर्यके  
पक्षीकी हवासे क्षिप्त वरकतलोपाकी रक्षसोंकी ऐक्यकी देखा । (धौनेके द्वारा पक्ष्यकोछ  
दिलवा बना रक्षसोंका जङ्गम कटुन वा ) ॥ २६ ॥

तत्र बाणपिपती मल्लटिपां तौ शरव्यमकरोत्स नेतरान् ।

किं महोरगमिसर्पिणिक्मो रामिहेषु गरुडं प्रवर्तते ॥ २७ ॥

तत्रेति । स रामस्त्वत्र रक्षसां कले धौ मल्लटिपां मल्लं पक्षं द्विक्रतीति तैत्थम् ।  
अपिपती तौ सुबाहुमारीभौ शरव्यं ककदमकरोत् । किम् कर्त्तुं शरव्यं च इति  
इत्यमुपा । इतरात्राकरोत् । तथा हि—महोरगमिसर्पिणिक्मो गरुडो गरुडान्  
रामिहेषु ककदमाकरोत् प्रवर्तते किम् च प्रवर्तते इत्यर्थः । 'अकर्मणो अकर्म्याकर्म समी  
रक्षिकदुष्कृतौ' इत्यमरः ॥ २७ ॥

कत ( राम ) के कत सेवार्थे वद—निर्वाणक रक्षसोंके धौ धौ ( मारीक तथा हवाइ )  
मवाक है, कर्त्तोंके निष्ठाका वलावा हृसरीकी गही । क्योंकि वही १ सर्पितर सपक्ष वराक  
वाक्य वरक नवा वीर ( वक्ये रक्षेवाके निमित्त ) सर्पितर गहार करता है । कर्त्तव्य  
कराति वही ॥ २७ ॥

सोऽखमुग्रजवमखकोविदः सन्दधे धनुषि वायुदैवतम् ।

तेन शैलगुरुमप्यपातयत्पाण्डुपत्रमिव ताडकासुतम् ॥ २८ ॥

स इति । अखकोविदोऽखज्ञः स राम उग्रजवमुत्कटजवं वायुदैवतं वायुदैवता  
अस्य तद्वायव्यमख धनुषि सन्दधे सहितवान् । कर्तरि लिट् । तेनास्त्रेण शैलवद्-  
गुरुमपि ताडकासुत मारीच पाण्डुपत्रमिव, परिणतपर्णमिवेत्यर्थ । अपातयत्पाति-  
तवान् ॥ २८ ॥

अख-पण्डित ( राम ) ने तीव्र वेगवाले जिस वायव्याखको धनुषपर चढ़ाया था, उसने  
पर्वतके समान भारी भी ताडकापुत्र ( मारीच ) को पके हुए पत्तेके समान ( सरलतासे  
दूर ) गिरा दिया ॥ २८ ॥

यः सुबाहुरिति राक्षसोऽपरस्तत्र तत्र विससर्प मायया ।

तं क्षुरप्रशकलीकृतं कृती पत्त्रिणां व्यमजदाश्रमाद्वहिः ॥ २९ ॥

य इति । सुबाहुरिति । योऽपरो राक्षसस्तत्र तत्र मायया शम्बरविद्यया विस-  
सर्पं सखचार । क्षुरप्रै शरविशेषै शकलीकृतं खण्डीकृतं तं सुबाहु कृती कुशलो  
रामः । 'इष्टादिभ्यश्च' इति इनि । 'कृती कुशल इत्यपि' इत्यमरः । आश्रमाद्वहि  
पत्त्रिणां पक्षिणाम् । 'पत्त्रिणौ शरपक्षिणौ' इत्यमरः । व्यमजत्, विभज्य दत्तवानि-  
त्यर्थः ॥ २९ ॥

दूसरा 'सुबाहु' नामका जो राक्षस मायासे शम्बर-उधर घूम रहा था, चतुर रामने  
क्षुरप्र ( एक प्रकारका बाण-विशेष ) से खण्डितकर उसको आश्रमके बाहर पक्षियोंके लिये  
बाट दिया । ( उसके शरीरको खण्डशः कर आश्रमके बाहर फेंक दिया तो उसे पक्षी  
खाने लगे ) ॥ २९ ॥

इत्यपास्तमखविघ्नयोस्तयोः सांयुगीनमभिनन्द्य विक्रमम् ।

ऋत्विजः कुलपतेर्यथाक्रमं वाग्यतस्य निरवर्तयन्क्रियाः ॥ ३० ॥

इतीति । इत्यपास्तमखविघ्नयोस्तयो राघवयोः । संयुगे रणे साधु सायुगीनस्तम् ।  
'प्रतिजनादिभ्य खण्' इति खण्प्रत्ययः । 'सांयुगीनो रणे साधु' इत्यमरः । विक्रमं  
पौरुषमभिनन्द्य सत्कृत्य ऋत्विजो याज्ञिकाः । वाचि यतो वाग्यतो मौनी तस्य कुल  
पतेर्मुनिकुलेश्वरस्य क्रिया ऋत्तुक्रिया यथाक्रम निरवर्तयन्निष्पादितवन्तः ॥ ३० ॥

इस प्रकार यज्ञ-विघ्नोको दूर करनेवाले उन दोनोंके युद्ध-निपुण पराक्रमको अभिन-  
न्दितकर ऋत्विजों ( यज्ञकर्त्ताओं ) ने मौनी कुलपति ( विश्वामित्रजी ) की क्रियाओंको  
क्रमशः पूरा किया ॥ ३० ॥

तौ प्रणामपक्षकपक्षौ आतरावपसुषाप्सुतो मुनिः ।

आशिर्यामनुपदं समस्तप्रादुर्भयादितसलेन पाप्मिना ॥ ३१ ॥

वार्तिकः । अवधूये वीरान्त आप्पुता स्मृतो मुनिः । 'वीरान्तोऽवधूयो यो' इत्यमरः । प्रणामेन पक्षकपक्षौ पक्षकपक्षौ तौ आतरावपसुषामनुपदमन्वर्मपा-  
टिततलेन कुपयतान्ताः प्रवेष्टेन पवित्रेभ्योऽर्थः । पाप्मिना समस्तप्रादुर्भयात्, स्मृतो-  
पादिति भावाः ॥ ३१ ॥

अवधूय (वधूतमे किमे वादेवादि) ज्ञानको किमे हुए मुनि (विद्यामित्रो) ने प्रणम  
करके दिखते हुए पक्षकपक्षोंवाले जन दोनोंके आशीर्वाद देनेके बाद कुपयोंसे निर्दोष  
तत्त्वज्ञानके हाथोंसे स्पष्ट किया क्योंकि हाथों पीठ छूते हुए आशीर्वाद दिया ॥ ३१ ॥

तं न्यमन्त्रयत् सम्पुतक्षुर्मेखिलं स मिषिषां प्रवन्धरी ।

राववात्पि निनाय विप्रतौ तदनु मज्जजं कुतूहलम् ॥ ३२ ॥

वसिति । सम्पुतक्षुः संकल्पितसम्भारो मिषिषायां भयो मैखिलो अवकस्तं  
विद्यामित्रं न्यमन्त्रयत् तदनु । यद्यी स मुनिर्मिषिषां जनकनयरीं प्रवन्धस्तस्य  
अवकस्त्य पक्षुस्तत्त्वमजं कुतूहलं विप्रतौ राववात्पि विनाशं नीतवात् ॥ ३२ ॥

विप्रश्च स्वाम्बरका विप्रश्च किमे हुए मिषिकेश्वर (जनक) ने कन्ये (विद्यामित्रकीन्ये)  
विमन्त्रित किया । मिषिकाकी आते हुए मिषेन्द्रिय ने (विद्यामित्र मुनि) उसके पक्षुके  
(उड़ाने वालेके साथ कुकी सीताका विनाश करकेकी प्रतीका) हाथोंसे उत्तम औरकुतूहल  
हुए जन दोनों रहस्यविद् ( राम तथा कर्मण ) की जी के गये ॥ ३२ ॥

तै शिषेपु वसतिर्गताश्रमि सायमाश्रमतदनु गृह्यत ।

येषु दीर्यतपसः परिमहो वासवक्षणाकलत्रतां ययौ ॥ ३३ ॥

तैरिति । वताश्रमिस्तैरिति । सार्व शिषेपु तस्मैष्वाश्रमतदनु वसति स्वायम्-  
गृह्यत । तस्मैष्वाश्रमतदनु दीर्यतपसो गीतमस्य परिमहा पत्नी । 'पत्नीपरिजवादा-  
यूक्ततापमपरिमहा इत्यमरः । महश्चेति यावत् । वासवक्षणाकलत्रतां ययौ ॥

मार्गको अश्रम किमे हुए कन्योंके साथहाथोंसे समयेच कम आश्रम हुआके वीये  
उदरे, वहाँपर महातपस्वी (गीतम मुनि की जी को (आहूता) कायमात्र उदरकी पत्नी बन  
गयी थी ॥ ३३ ॥

प्रत्यपद्यत् विधाय यत्पुनश्चार गीतमवधू शिलाययी ।

स्वं यपु स किल किस्मिपथिष्वी रागपादरजसामनुपह ॥ ३४ ॥

मावययत् इति । शिलाययी आर्वागपि कुतूहलं माया गीतमवधूदहना चय स्व

चपुश्चिराय पुनः प्रत्यपद्यत प्राप्तवती यत् । स किलिपचिच्छिदां पापहारिणाम् । 'पाप  
'किलिपचकलमपम्' इत्यमरः । रामपादरजसामनुग्रहं किल प्रसादः किलेति श्रूयते ॥३४॥

( पतिके शापसे ) पत्थर बनी हुई गौतम-पत्नी ( अहल्या ) ने चिरकालके लिये जो  
अपना सुन्दर शरीर प्राप्त किया, वह पापनाशिनी रामके चरणरजकी कृपा थी ( पति-शापसे )  
पत्थर बनी हुई अहल्याने रामके चरणरजके स्पर्शसे सुन्दर शरीर प्राप्त किया ॥ ३४ ॥

राघवान्वितमुपस्थितं मुनिं तं निशम्य जनको जनेश्वरः ।

अर्थकामसहितं सपर्यया देहबद्धमिव धर्ममभ्यगात् ॥ ३५ ॥

राघवेति । राघवाभ्यामन्वित युक्तमुपस्थितमागतं त मुनिं जनको जनेश्वरो  
निशम्य आकर्ण्य । अर्थकामाभ्यां सहित देहबद्ध बद्धदेह, मूर्तिमन्तमित्यर्थः । बाहि-  
स्ताग्न्यादित्वात्साधु । धर्ममिव । सपर्ययाऽभ्यगात्पत्युद्धतवान् ॥ ३५ ॥

अर्थ और कामके सहित शरीरधारी धर्मके समान, राघव ( राम-लक्ष्मण ) के साथ आये  
हुए मुनि ( विश्वामित्रजी ) का नाम सुनकर राजा जनक पूजाके लिये अगवांनी किये ॥ ३५ ॥

तौ विदेहनगरीनिवासिनां गां गताविव दिवः पुनर्वसू ।

मन्यते स्म पिबतां विलोचनैः पद्मपातमपि वञ्चना मनः ॥ ३६ ॥

ताविति । दिवः सुरवर्त्मन आकाशात् । 'द्यौः स्वर्गसुरवर्त्मनोः' इति विश्वः ।  
गां भुव गतौ । 'स्वर्गेषुपशुवागवज्रदिङ्नेत्रघृणिभूजले । लक्ष्यदृष्टया स्त्रियां पुंसि गौः'  
इत्यमरः । पुनर्वसू इव तन्नामकनक्षत्राधिदेवते इव स्थितौ । तौ राघवौ, विलोचनैः  
पिबताम्, अत्यास्थया पश्यतामित्यर्थः । विदेहनगरी मिथिला तन्निवासिनां मनः  
कर्तृ पद्मपात निमेषमपि तद्दर्शनप्रतिबन्धकत्वाद्द्वञ्चनां विदम्बनां मन्यते स्म मेने ।  
'लट् स्मे' इति भूतार्थे लट् ॥ ३६ ॥

स्वर्गसे भूलोकमें आये हुए पुनर्वसु नक्षत्रके अधिष्ठाता—देवता-द्वयके समान ( स्थित )  
उन दोनोंको देखते हुए मिथिला-निवासियोंका मन पलक गिरनेको भी वञ्चना ( विदम्बना-  
वाचक ) मानता था । ( यदि हमलोगोंकी आंखोंके पलक नहीं गिरते तो इन दोनोंको हम  
लोग निरवच्छिन्न देखकर अत्यन्त सन्तुष्ट होते, ऐसा मिथिलानिवासी लोग मानते थे ) ॥ ३६ ॥

यूपवत्यवसिते क्रियाविधौ कालविल्कुशिकवंशवर्धनः ।

राममिष्वसनदर्शनोत्सुकं मैथिलाय कथयाम्बभूव सः ॥ ३७ ॥

यूपवतीति । यूपविति क्रियाविधौ कर्मानुष्ठाने, क्रतावित्यर्थः । अवसिते समासे  
सति कालविदवसरश्च कुशिकवंशवर्धनः स मुनी रामम् । अस्यतेऽनेनेत्यसनम् ।  
इपूणामसनमिष्वसन चापम् । तस्य दर्शन उत्सुकं मैथिलाय जनकाय कथयाम्बभूव  
'कथितवान् ॥ ३७ ॥



बह-सम्य-बाके वृक्षके समस्त होवेपर बनसरके बाता कुक्षिक छविसे बंजुदि करने  
बाके वृक्ष (मिवादिमन्त्री) के वनुरदेवनेके किये कथ्यधित रामचन्द्रकी बचकने करा अने

तस्य वीक्ष्य कक्षितं वपुः शिरो पायिष प्रयितव्यं शम्भनम् ।

स्वं विचिन्त्य च वपुर्दुरानम पीडितो मुहिरशुम्भस्तस्थया ॥ ३८ ॥

तस्मेति । पायिषो बनका प्रयितव्येते कम्म यस्य तथोक्तस्य । एतेन वरसंपत्ति-  
कथ्य । शिरोस्तस्य शम्भन कक्षितं कोमलं वपुर्वीक्ष्य । स्वं स्वकीयं दुरानममात्म-  
विद्रुमकल्पम् । अमेर्व्यन्तात्कथं । वपुर्विचिन्त्य च मुहिरशुम्भं कम्पामूर्त्तं वामान-  
देवम् । 'शुम्भं महाविदेवे स्वात्मान्मपुर्वीक्ष्यकेऽपि च' इति विद्वत् । तस्य वपुर्वी-  
क्ष्यस्य संत्यक्ता स्थित्या । 'अंस्या सिन्धौ करे नासे' इति विद्वत् । पीडितो बाधितः ।  
शिष्टानां रामेन दुष्करमिति दुष्कृत इति भाषा ॥ ३८ ॥

राजा ( बनका ) के प्रथित ( वनका ) वंशमें कलम्ब बाका वृक्ष रामचन्द्रके छन्द  
करिकी देकर और दुष्कसे दुष्कसे बाकेबाके बनने वनुरकी निचारकर पुत्री ( सीतानी )  
के मूलककी स्थितिसे दुष्कृत हुए । ( बनककी निचारा कि रामचन्द्रकी नेत्र स्वका वंशमें  
कलम्ब है । कलम्ब छन्द करीर है, किन्तु मेरे वनुरकी दुष्काबा कलम्ब कठिन है, वनुर  
दुष्कमेबाके नीरके किये सीतानी देवकी मरिक्कासे बह होवेके कारण मैं कलम्ब सीतानी  
निचाम नहीं कर सकता, वह महान्क है ) ॥ ३८ ॥

अत्रपीत्य मगवन्मत्तज्ञैर्यद्वृद्धमिरपि कर्म दुष्करम् ।

तत्र नाहमनुमन्तुमुत्तरे मोषहृत्ति कृष्णस्य चेष्टितम् ॥ ३९ ॥

अत्रपीति । अत्रपीत्य । मुषिमिति सेषः । किमिति । हे भयकम्पुने ! वृद्धनिर्भ-  
वह्यैर्महागर्भैरपि दुष्कर्म बलकर्म तत्र कर्मणि कथमस्य नाकमावस्य । 'कृष्णः कर्म-  
कावका' इत्यमरः । मोषहृत्ति व्यर्थेणापारं चेष्टितं साहसमनुमन्तुमाहं बोद्धे ॥ ३९ ॥  
और बोले—'हे भयकम् ! भी कर्म वड़े १ मत्तह्योते था दुष्कर है वृक्ष कर्ममें निष्क-  
मवाच कलम्ब (बाका दली) के मवातकी वपुर्दुरानमकरनेके किये कलम्ब नहीं करता ॥ ३९ ॥

हेपिता हि बहपो नरेभरास्तेम तात । यमुषा यमुर्धुत ।

क्यानिपातकठिनत्वचो मुखास्त्वाम्बिभूय भिगिति प्रतिस्थिरे ॥ ४० ॥

हेपिता इति । हे तात । तेन यमुषाबहो यमुर्धुतो नरेभरा हेपिता द्विभं प्रापिता  
हि । शिष्टेर्बातोर्व्यन्तात्कर्मणि च । 'अतिशीघ्रवीर्यपूषीक्याम्बातां पुद्गी' इत्य-  
मेन युगात्पता । ते नरेभरा क्यानिपातोः कठिनत्वचः स्वात्मुखाभिगिति विद्वत्क-  
ल्प्य प्रतिस्थिरे प्रतिष्ठतः ॥ ४० ॥

नवीति हे तात ! वृक्ष वनुरने वड़े कने वपुर्दुरीराजानीकी कठिनच कर रिता (नीर के)

मौर्वी ( धनुषको डोरी ) के निरन्तर आघातसे घट्टेयुक्त चमड़ेवाले अपनी मुजामोंको 'थिक्कारपूर्वक निन्दितकर वापस चले गये' ॥ ४० ॥

प्रत्युवाच तमृषिर्निशम्यता सारतोऽयमथवा गिरा कृतम् ।

चाप एव भवतो भविष्यति व्यक्तशक्तिरशनिर्गिराविव ॥ ४१ ॥

प्रत्युवाचेति । ऋषिस्त नृप प्रत्युवाच । किमिति । अयं रामः सारतो बलेन निशम्यतां श्रूयताम् । अथवा गिरा सारवर्णनया कृतमलम् । गीर्वं, वक्तव्येत्यर्थः । 'युगपर्याप्तयोः कृतम्' इत्यमरः । अव्यय चैतत् । 'त निवारणनिषेधयो' इति गण-  
न्याख्याने । गिरेति करणे तृतीया । निषेधक्रियां प्रति करणत्वात् । किन्त्वश  
निर्घञ्जो गिराविव । चापे धनुष्येव भवतस्तव व्यक्तशक्तिर्दृष्टसारो भविष्यति ॥ ४१ ॥

उनसे ऋषि ( विश्वामित्रजी ) बोले—'इस रामका पराक्रम सुनिये, अथवा कहना व्यर्थ  
है, पर्वतमें वज्रके समान धनुषमें ही ( इनका ) पराक्रम आपको स्पष्ट हो जायेगा ॥ ४१ ॥

एवमाप्तवचनात्स पौरुष काकपक्षकधरेऽपि राघवे ।

श्रद्धां त्रिदशगोपमात्रके दाहशक्तिमिव कृष्णवर्त्मनि ॥ ४२ ॥

एवमिति । एवमाप्तस्य यथार्थवक्तुर्मुनेर्वचनात्स जनकः काकपक्षकधरे वाले-  
ऽपि राघवे पुरुषस्य कर्म पौरुष पराक्रमम् । 'हायनान्तयुवादिभ्योऽण्' इति युवादि-  
त्वाद्ण् । 'पौरुष पुरुषस्योक्तं भावे कर्मणि तेजसि' इति विश्वः । त्रिदशगोप इन्द्रगोप-  
कीटः प्रमाणमस्य त्रिदशगोपमात्र । 'प्रमाणे द्वयसज्जन्ममात्रच' इत्यनेन  
मात्रप्रत्ययः । ततः स्वार्थे कप्रत्ययः । तस्मिन्कृष्णवर्त्मनि वह्नौ दाहशक्तिमिव श्रद्धां  
विश्वस्तवान् ॥ ४२ ॥

इस प्रकार यथार्थ कहनेवाले ( विश्वामित्रजी ) के वचनसे उस जनकने काकपक्ष धारण  
करनेवाले अर्थात् बालक भी रामचन्द्रजीमें, वीरबहूटी नामक बरसाती कीड़ेके बराबर अर्थात्  
अत्यन्त थोड़ी अग्निमें दाहशक्तिके समान, पराक्रम होनेका विश्वास किया ॥ ४२ ॥

व्यादिदेश गणशोऽथ पार्श्वगान्कार्मकाभिहरणाय मैथिलः ।

तैजसस्य धनुषः प्रवृत्तये तोयदानिव सहस्रलोचनः ॥ ४३ ॥

व्यादिदेशेति । अथ मैथिल पार्श्वगान्पुरुषान्कार्मुकाभिहरणाय कार्मुकमानेतुम् ।  
'तुमर्थाच्च भाषवचनात्' इति चतुर्थी । सहस्रलोचन इन्द्रस्तैजसस्य तेजोमयस्य  
धनुषः प्रवृत्तये आविर्भावाय तोयदान्मेघानिव गणान्गणशः । 'संख्यैकवचनाच्च  
वीप्सायाम्' इति शस्प्रत्ययः । व्यादिदेश प्रजिघास्य ॥ ४३ ॥

इसके बाद मिथिलेश्वर ( जनकजी ) धनुषको छानेके लिये पाशवती झुण्डके झुण्ड

पुत्रपौत्रो ऋतु प्रकटः यथा विसप्रकट इन्द्र पौत्रोमयः वनुषकी प्रकटः (वसिष्ठ) वरदेके  
किमे ह्यम्बके ह्यम्ब मेवोको मेवते हैं ॥ ४१ ॥

तत्प्रसुप्तमुज्जगेन्द्रभीपर्णं वीक्ष्य वारारयिरावहे वनु ।

विद्रुतक्रुमुगानुसारिणं येन बाणमसृजत् वृषण्यजः ॥ ४४ ॥

वसिति । वारारयी रामः प्रसुप्तमुज्जगेन्द्र इव भीपर्णं मयङ्गं तद्वनुर्वीक्ष्यारहे  
अप्राह । वृषो ध्वजशिखं यस्य स शिखो येन वनुषः । क्रुतरेव मृगाः । विद्रुतं  
पक्ष्यवितं क्रुमुगमनुसरति । ताण्डीक्ये निविः । तं विद्रुतक्रुमुगानुसारिणं बाण-  
मसृजन्मुमोच ॥ ४४ ॥

( वनुषके अनेपर ) वनुष-कृपात (राम) ने सीधे हुए सर्रासके समान वनुषर ऋतु  
वनुषकी ईश्वर बना किन्ना वित ( वनुष ) से शिखरीके पुनरुपवारी वनुषके पीछे र होकर  
बाके बाणकी छोड़ा था ॥ ४४ ॥

शौरात्मिक कथा—पिता वल्लभबापति के वनुषमें वसिष्ठ 'वनुषकी' के किन्ने वनुष न देवके  
कारण वसिष्ठके अपमावसे समस्त सतीये वीक्ष्यन्तिर्मे वनुषा वरार वस्य कर वनुष ही वनुष  
किन्नेवोकी बाणासे वनुषी वनुष वनुष करमे को और वनुष वनुषा वनुष वारार वनुषविते  
मग वनुषा किन्ने वनुषकीके वनी वनुष ( वी वनुषकीके वनुष वनुषा वनुष वनुष वनुष वनुष  
वा ) से वनुषवारी वनुषके अपर वनुष छोड़ा था ।

धातवज्जमकरोत्स संसदा विस्मयस्तिमितनेत्रमीक्षितः ।

शौखसारमपि नातिक्लन्तः पुष्पचापमिव पेशलां स्मर ॥ ४५ ॥

धातवज्जममिति । स रामः संसदा समया विस्मयेन स्तिमिते चेष्टे वसिष्ठमर्म्मि  
वनुषा वनुषपेक्षितः वनुष । शौखवेष्ट सारो यस्य वनुषेकसारमपि वनुषः । स्मर  
वेष्टके कोमलं पुष्पचापमिव नातिक्लन्तौ नातिक्लन्तः । वनुषेस्य वनुषेस्य वनुषेस्य  
समासाः । धातवज्जममविगमकरोत् ॥ ४५ ॥

समा ( में स्तिमित समस्त रामा नादि ) के द्वारा वनुषवसि ( विविधेन वनुष ) वनुष  
वनुष वनुष ( वनुष ) के वनुषके समान वनुष की वनुष वनुषकी वनुष वनुष वनुष वनुष वनुष  
वनुषवसि के समान वनुषाव वनुषवसे ही वनुष वनुषा वनुष वनुषा वनुष वनुष वनुष वनुष  
वर वनुषा ॥ ४५ ॥

अग्न्यमानमतिमात्रकपणात्तेन वज्रपहपस्पर्शनं वनु ।

भागपाय दृढमग्नये पुनः क्षत्रमुपतमिव ग्नयेवयत् ॥ ४६ ॥

अग्न्यमानमिति । तेन रामेनातिमात्रकपणात्तेन वनुषपहपस्पर्शनं वनुष  
वनुषमिव वनुषा वनुषो वनुष वनुष । वनुष वनुष । दृढमग्नये दृढमग्नये । वनुष

क्रोधे क्रतौ दैन्ये’ इति विश्वः । भार्गवाय चक्षुश्चक्षुः पुनरुद्यत न्यवेदयदिव  
ज्ञापयामासेव ॥ ४६ ॥

उस ( राम ) के द्वारा अत्यन्त खींचनेसे टूटते हुए तथा वज्रके समान कठोर शब्द करने-  
वाले उस धनुषने मानो अत्यन्त क्रोधी परशुरामजीसे फिर उद्यत क्षत्रिय वशको कहा ॥ ४६ ॥

दृष्टसारमथ रुद्रकार्मुके वीर्यशुल्कमभिनन्द्य मैथिलः ।

राघवाय तनयामयोनिजां रूपिणीं श्रियमिव न्यवेदयत् ॥ ४७ ॥

दृष्टसारमिति । अथ मैथिलो जनको रुद्रकार्मुके शङ्करधनुषि दृष्ट सार-  
स्थिराक्षो यस्य तद् दृष्टसार विलोकितविक्रमम् । ‘सारो चले स्थिराक्षे च’ इति  
विश्व । वीर्यमेव शुल्क, धनुर्भङ्गरूपमित्यर्थः । अभिनन्द्य राघवाय रामायायोनिजां  
देवयजनसम्भवा तनया सीतां रूपिणीं श्रियमिव साक्षात्तमीमिव न्यवेदयदपि-  
वान् । वाचेति शेषः ॥ ४७ ॥

इसके बाद मिथिलेश ( जनक ) ने ( धनुर्भङ्गरूप ) पराक्रममूल्यका अभिनन्दनकर  
शिवजीके धनुषपर देखे गये पराक्रमवाले रामचन्द्रजीके लिये देवयज्ञसे उत्पन्न पुत्री ( सीताजी )  
को, साक्षात् लक्ष्मीजीके समान दे दिया अर्थात् वाग्दान कर दिया ॥ ४७ ॥

उक्तमेवार्थं सोपस्कारमाह—

मैथिलः सपदि सत्यसङ्गरो राघवाय तनयामयोनिजाम् ।

सन्निधौ द्युतिमतस्तपोनिधेरग्निसाक्षिक इवातिसृष्टवान् ॥ ४८ ॥

मथिल इति । सत्यसङ्गर सत्यप्रतिज्ञ । ‘अथ प्रतिज्ञानिसंविदापस्तु सङ्गर’  
इत्यमर । मैथिलो राघवायायोनिजा तनया द्युतिमतस्तेजस्विनस्तपोनिधे कौशिकस्य  
सन्निधौ । अग्निः साक्षी यस्य सोऽग्निसाक्षिकः । ‘शेषाद्विभाषा’ इति कप्प्रत्ययः ।  
स एव । सपद्यतिसृष्टवान्दत्तवान् ॥ ४८ ॥

सत्यप्रतिज्ञ मिथिलेश ( जनक ) ने देवयज्ञसे उत्पन्न पुत्री ( सीताजी ) को तेजस्वी तपोनिधि  
( विश्वामित्रजी ) के समीपमें अश्विको साक्षी करनेके समान तत्काल ही ( वचनसे ) राम  
चन्द्रजीके लिये दे दिया ( जिस प्रकार अश्विको साक्षीकर कन्यादान किया जाता है, उसी  
प्रकार अश्वितुल्य तेजस्वी विश्वामित्रजीके समीपमें जनकजीने दृष्टपराक्रम रामके लिये सीताजी  
का वाग्दान कर दिया अर्थात् रामके साथ सीताका विवाह करना स्वीकार कर लिया ) ॥ ४८ ॥

प्राहिणोष महित महाद्युतिः कोसलाधिपतये पुरोधसम् ।

भृत्यभावि दुहितुः परिग्रहाद्दिश्यतां कुलमिदं निमेरिति । ४९ ॥

प्राहिणोदिति । महाद्युतिर्जनको महित पूजित पुरोधसं पुरोहित कोसला  
धिपतये दशरथाय प्राहिणोषमहितवांश्च । किमिति । निमिर्नाम जनकानां पूर्वज

कथित । इत्थं विमोः कुलं इदित्वा सीतायाः परिग्रहात्सुधात्वेन 'स्वीकराद्देतोः ।  
 नृत्पस्य भावो नृत्पस्य स्योमत्वास्तीति नृत्पभावि विरचकान्मनुमन्वतामिति ।  
 तमेति शेषः ॥ ४९ ॥

( ४१ )

महादेवली ( वनक ) के बीचकावीर ( बहरमवी ) के पास पृथिवी पुरोहितकी सेवा  
 दि—५ माय ) कन्याके विवाह करकेसे पृथिवी नवदेवताके इष्ट विधि—ब्रह्मकी स्वीकार कीजिये  
 नर्पाए विभिन्नश्रोतस्य मै कन्यायावकर मायका प्राप्त बनवा जाइया है इसे माय स्वीकार  
 कीजिये ॥ ४९ ॥

अन्वियेष सुहृदी स च स्तुतां प्राप नैनमनुकूलवाम्निजम् ।

सद्य एव सुहृतां हि पश्यते कल्पद्रुमकल्पवर्णिं अङ्घ्रितम् ॥ ५० ॥

अन्वियेषेति । स बहरमका सचमीमनुकूलं स्तुतामन्वियेष रामविवाहमायका  
 नृत्पस्यः । अनुकूलवामस्तुतासिद्धिकपाङ्कजवर्णादी हिन्दो जनकपुरोधाः सतामन्  
 क्षेत्रं बहरमं प्राप । तथाहि । कल्पद्रुमकल्पवर्णिं वो वर्मा सद्यः पाककपः स्यामत्वास्तीति  
 कल्पद्रुमकल्पवर्णि । अता सुहृतां पुण्यकरिणां अङ्घ्रितं मवीरथा सद्य एव पश्यते  
 हि । कर्मकर्तारि कद् । स्वयमेव पठे मयतीत्यर्थः । 'कर्मकर्तारं गुरुवर्णिना इति  
 कर्मकर्तावाय 'भाक्कर्मलो' इत्यात्मवेपथु ॥ ५० ॥

वर ( रामा बहरम ) योग्य स्तुता ( पुनवद्-बहोद् ) की जायते है, ( इतवेमै ही )  
 मनुकूल ( योग्य स्तुता-माधिक्य इत्यादिपुत्र संदेह ) कल्पेवाका मायन ( वनक-पुरोहित )  
 इस ( बहरमवी ) के पास पहुँच गया । क्योंकि कल्पद्रुमके कल्पे समाप्त पुन्यत्वावलोका  
 नमिज्येय उत्काव ही परिवक ( योग्य करके योग्य नर्पाए लक्षक ) होता है ॥ ५० ॥

तस्य कल्पितपुरस्किन्वाविषेः सुमुबान्धनमममममनम् ।

कल्पनाय बसमित्सखी बरी सैन्यरेणुमुपितार्कदीधिति ॥ ५१ ॥

तस्येति । कल्पितपुत्र इन्द्रसहस्रतो बली स्वाधीयतावान् । 'बल आधत्तावां व'  
 इति विवाः । कल्पितपुरस्किन्वाविषेः कृतपूजाविषेस्तत्प्राप्तममममो हिन्दस्य कर्म  
 अवरोध अन्विष्टं सुमुबान्धन सत्वात् । नान्येहैः कल्पः । सैन्यरेणुमुपितार्कदीधितिः  
 अन्नुबान्धन मतरपी ॥ ५१ ॥

इन्द्रके मित्र विरुद्रिप ( रामा बहरम ) उत्काव वस मायन ( वनक-पुरोहित ) से  
 ( वनक-सन्निह वनक ) सुनकर सेनाकी दृष्टि पूर्वके प्रकाशकी जाण्डपरित करके हुए  
 ( मित्रकाके किं ) मत्प्राप्त किने ॥ ५१ ॥

आससाह मिथिलां स वेष्टयन्पीडितोपवनपाह्वां चट्टैः ।

प्रीतिरोधमसद्विष्ट सा पुरी स्त्रीष्व अमृतपरिमोगमापत्म् ॥ ५२ ॥

आससादेति । स दशरथो बलैः सैन्यैः पीडितोपवनपादपां मिथिलां वेष्ट-  
यन्परिधीकुर्वन् आससाद । सा पुरी स्त्री युवतिसयतमतिप्रसक्तं कान्तपरिमोगं  
प्रियसम्भोगमिव । प्रीत्या रोध प्रीतिरोधमसहिष्ट सोढवती । द्वेषरोधं तु न सहत  
इति भावः ॥ ५२ ॥

वह दशरथ, सेनासे पीड़ित हैं उपवनोंके वृक्ष जिसके ऐसी मिथिलाको घेरते हुए प्राप्त  
किये और उस पुरीने पतिके अतिशयित सम्भोगके समान प्रेमपूर्वक उस प्रतिरोधको  
सहन किया ॥ ५२ ॥

तौ समेत्य समये स्थितानुभौ भूपती वरुणवासवोपमौ ।

कन्यकातनयकौतुकक्रिया स्वप्रभावसदृशीं वितेनतुः ॥ ५३ ॥

ताविति । समये शिष्टाचारे स्थितावाचारनिष्ठौ । 'समयाः शपथाचारकालसिद्धान्तसंविदः' इत्यमरः । वरुणवासवायुपमोपमान ययोस्तौ तथोक्तौ । तानुभौ भूपती  
जनकदशरथौ समेत्य स्वप्रभावसदृशीमात्ममहिमानुरूपां कन्यकानां सीतादीनां तन-  
यानां रामादीनां च कौतुकक्रिया विवाहोत्सवं वितेनतुर्विस्तृतवन्तौ तनोतेर्लिट् ॥ ५३ ॥

मर्यादापर स्थित एव वरुण तथा इन्द्रके तुल्य वे दोनों राजा (जनक तथा दशरथ) मिल  
कर कन्या तथा पुत्रके विवाह मङ्गलको अपने प्रभावके अनुसार विस्तृत किया अर्थात् बढ़ाया ॥

पार्थिवीमुदवहद्रघूद्वहो लक्ष्मणस्तदनुजामथोर्मिलात् ।

यौ तयोरवरजौ वरौजसौ तौ कुशध्वजसुते सुमध्यमे ॥ ५४ ॥

पार्थिवीमिति । उद्वहतीत्युद्वह पचाद्यच् । रघूणामुद्वहोरघूद्वहो रामः । पृथिव्या  
अपत्य स्त्री पार्थिवी । 'तस्यापत्यम्' इत्यणि । 'दिदृढाणञ्' इति स्त्रीप् । ता सीता-  
मुदवहतपरिणीतवान् । अथ लक्ष्मणस्तस्या सीताया अनुजां जनकस्यौरसीमूर्मिला-  
मुदवहत् । यौ वरौजसौ तयो रामलक्ष्मणयोरवरजावनुजातौ भरतशत्रुघ्नौ तौ सुम-  
ध्यमे कुशध्वजस्य जनकानुजस्य सुते कन्यके माण्डवीं श्रुतकीर्तिं धोदवहताम् ।  
नात्र व्युत्क्रमविवाहदोषो भिक्षोदरत्वात् । तदुक्तम्—'पितृव्यपुत्रे सापत्ये परनारी-  
सुतेषु च । विवाहाधानयज्ञादौ परिवेत्त्राद्यदूषणम्' ॥ इति ॥ ५४ ॥

इसके बाद राघवश्रेष्ठ (राम) ने पृथ्वीपुत्री (सीता) के साथ, लक्ष्मणने उसकी छोटी  
बहन उर्मिलाके साथ और उन दोनों (राम तथा लक्ष्मण) के महापराक्रमी जो छोटे भाई  
(भरत तथा शत्रुघ्न) थे, उन्होंने कुशोदरी कुशध्वजकी पुत्रियों (माण्डवी तथा श्रुतकीर्ति)  
के साथ विवाह किया ॥ ५४ ॥

विमर्श—यहां 'रामके छोटे भाई भरत और लक्ष्मणके छोटे भाई शत्रुघ्न' ऐसा क्रम  
समझना चाहिये, भरत तथा शत्रुघ्न दोनोंको राम और लक्ष्मणका छोटा भाई नहीं समझना  
चाहिये, क्योंकि पहले (१०।६६, ७०, ७१) इसी क्रमसे कुमारोंकी उत्पत्ति वर्णित है ।

वैत ( 'नाम' नामक पक्षि-विशेष ) के बँकुरी वृत्त के लक्षणों तथा सार्वकालिके ( साव ) वैचर्य रचने की विधि हुए बलवादी शिक्षार्थे नामके बँकोंके समान वृत्त ( मन्त्र वैत ) बलवादी तथा सार्वकालिके वैचर्यके समान रचने की विधि हुए बलवादी रचयिता सिद्धोंके समान ईकनेके अग्रस्य ( मही ईकने कीच ) हो गयी । ( रचयिता कीही ईकनेके छात्रोंमें निवेद किया गया है ) ॥ ६० ॥

आस्करस्य विरामभ्युदास यां ता भित्ता प्रतिभयं वधासिरे ।

क्षत्रशोभितपितृक्रियोचितं चोदयन्त्य इव भागर्थ शिया ॥ ६१ ॥

आस्कर इति । आस्को यां विरामभ्युदास च वरयां विरमुपिता । 'उपान्वय्या-  
दुत्तरा' इति कर्मत्वम् । तां विन् भित्ता सिद्धा योमापका । 'क्षिपां क्षिप्य मूरिमातु  
योमापुर्गुणफलका इत्यमरः । क्षत्रशोभितम् वा पितृक्रिया पितृत्वं तत्रोचितं  
परिचितं भागर्थं चोदयन्त्य इव प्रतिभयं मयद्वरं वधासिरे इत्यु, 'वाध कर्तृ'  
इति यातोक्तिः । 'क्षिप्यो वासितं वनम् इत्यमरः ॥ ६१ ॥

सर्वं क्षिप दिशो यै वे, क्षत्र दिशार्थे विवद न्यायिनां क्षत्रियोंके रक्षते विद्वत्वं  
करनवाके वरगुणमयीक्षे सुविन वरही हुई वे समान होने लगी ॥ ६१ ॥

साम्प्रतीपपयनादि यैकृतं मेदस शान्तिमधिकृत्य कृत्यमित् ।

अन्यपुद्ग गुग्माम्भर भित्ता स्पन्तमित्पलपयस्य तद्वययाम् ॥ ६२ ॥

तद्विति । साम्प्रतीपपयनादि यैकृतं कुर्मिमितं मेदस इत्यधिकार्यः क्षिप्योद्वारा  
शान्तिममर्चनिपुष्टिमधिकृत्योद्वारा शुभं वगिहमम्भपुद्गात्पुद्गम् । 'अरभोऽनुषोमा  
पुद्गा च इत्यमरः । न गुग्म इत्युद्गोद्गं भावीनि तस्य राज्ञो व्ययामकवय  
पुद्गात् ॥ ६२ ॥

क्षत्र मीहृष वातु कथि दिशर ( अग्रज ) की ईकने के लक्षणों तथा ( वरवा ) ने  
शान्तिके क्षिप्ये पुन ( वगिहृष ) से गुग्म और कर्मोंने रचयिता कर्म वगिहृष  
वद्वर राजाके वरही ईकनेके रचयिता ॥ ६२ ॥

तज्जगत् सपदि एतिसम्भितं मातुराग विज्ज पारिमीपुरे ।

यं प्रमुष्य गयनानि सैनिकैः प्रजणीयपुष्पाटुमिधिरम् ॥ ६३ ॥

तज्जगत् इति । तज्जगत्सम्भितं तज्जगत्सम्भितं तज्जगत्सम्भितं तज्जगत्सम्भितं  
यं प्रमुष्य गयनानि सैनिकैः प्रजणीयपुष्पाटुमिधिरम् । 'प्रमुष्य गयनानि  
सैनिकैः प्रजणीयपुष्पाटुमिधिरम् । 'प्रमुष्य गयनानि सैनिकैः प्रजणीयपुष्पाटुमिधिरम्  
प्रमुष्य गयनानि सैनिकैः प्रजणीयपुष्पाटुमिधिरम् ॥ ६३ ॥

हो गयी तो उन्होंने आँखोंको पोंछकर बहुत देरके बाद उसे देखकर, 'यह पुरुष है' ऐसा समझा ॥ ६३ ॥

पित्र्यमंशमुपवीतलक्षणं मातृकं च धनुरुर्जितं दधत् ।

यः ससोम इव धर्मदीधितिः सद्भिजिह्व इव चन्दनद्रुमः ॥ ६४ ॥

पित्र्यमिति । उपवीतं लक्षणं चिन्ह यस्य तम् । पितुरय पित्र्यः । 'वायवृत्पि-  
त्रुपसो यत्' 'पितुर्यञ्च' इति यत्प्रत्ययः । तमंशम् । धनुषोर्जितं धनुरुर्जितम् ।  
मातुरय मातृकः । 'ऋतच्छृञ्' इति ठन्प्रत्यय । तमंश च दधद्यो भार्गवः । ससोम-  
श्चन्द्रयुक्तो धर्मदीधितिः सूर्य इव । सद्भिजिह्वः ससर्पश्चन्दनद्रुम इव स्थितः ॥ ६४ ॥

यशोपवीत रूप पित्रश्च ( ब्राह्मण-लक्षण ) को तथा धनुषसे उत्पन्न मात्रश्च ( क्षत्रिय-  
लक्षण ) को धारण करते हुए ( परशुराम ) चन्द्रमासे युक्त सूर्यके समान तथा सर्पसे युक्त  
चन्दन वृक्षके समान ( ज्ञात होते ) थे ॥ ६४ ॥

येन रोषपरुषात्मनः पितुः शासने स्थितिभिदोऽपि तस्थुषा ।

वेपमानजननीशिरश्छिदा प्रागजीयत घृणा ततो मही ॥ ६५ ॥

येनेति । रोषपरुषा रोषेण क्रोधेन परुषः निष्ठुरः आत्मा बुद्धिर्यस्य सः । 'आत्मा'  
जीवो धृतिर्बुद्धि' इत्यमरः । तस्य रोषपरुषात्मन स्थितिभिदोऽपि मर्यादालङ्घिनोऽपि  
पितुः शासने । तस्थुषा स्थितेन वेपमानजननीशिरश्छिदा येन प्राग्घृणाऽजीयत ।  
ततोऽनन्तर महीजीयत । मातृहन्तुः चत्रवधात्कुतो ह्यगुप्सेति भावः ॥ ६५ ॥

क्रोधसे कठोर चित्तवाले तथा मर्यादा-भङ्ग करनेवाले भी पिताको आज्ञाका पालन  
करनेवाले और कौपती हुई माताके शिरको काटनेवाले जिस ( परशुराम ) ने पहले दयाका  
त्याग किया और इसके बादमें पृथ्वीका त्याग किया ॥ ६५ ॥

पौराणिक कथा—एक बार महर्षि 'जामदग्नि'की पत्नी 'रेणुका' जल लानेके लिये नदी-  
तटपर गयी तो मैथुन करते हुए गन्धर्वोंकी जोड़ीको देखकर उनके मनमें कुछ विकार हो  
गया और वे कुछ विलम्बसे आश्रममें लौटीं । समाधिके द्वारा जमदग्नि मुनिने सब मामूख  
कर उसके शिरको काटनेके लिये बड़े पुत्रको आज्ञा दी, किन्तु जब उसने मातृवधको पापकर्म  
मानकर मातृवध नहीं किया तो पिता जमदग्निने छोटे पुत्रको वही आज्ञा दी, और  
उन्होंने पिताको आज्ञाको सर्वोपरि मानकर माता 'रेणुका'का शिर काट डाला । फिर  
आज्ञापालनसे प्रसन्न पिताके वरदान माँगनेको कहनेपर परशुरामने माताको पुनर्जीवित  
होनेका वरदान माँगकर माताको फिर जीवित करा दिया ।

अक्षबीजवत्येन निर्बभौ दक्षिणश्रवणसस्थितेन यः ।

क्षत्रियान्तकरणैकविंशतेन्योजपूर्वगणनामिवोद्वहन् ॥ ६६ ॥





त्रिष्वध्वसु प्रयाणेषु सस्सु विसृष्टमैथिलं सन् । स्वा पुरीं न्यवर्तत । उद्देशक्रियापे-  
क्षया कर्मस्व पुर्या ॥ ५७ ॥

इस प्रकार श्रुतियुक्त वह ( राजा दशरथ ) वहां ( मिथिलामें ) चारों पत्रोंका विवाहकर  
तीन मार्गों में अर्थात् तीन दिनके पडावोंके पहननेके बाद जनकको विदाकर अपनी नगरी  
( अयोध्या ) को लौटे ॥ ५७ ॥

तस्य जातु मरुतः प्रतीपगा वर्त्मसु ध्वजतरुप्रमाथिनः ।

चिक्लिशुर्भृशतया वरुथिनीमुत्तटा इव नदीरया स्थलीम् ॥ ५८ ॥

तस्येति । जातु कदाचिद्वर्त्मसु ध्वजा एव तरवस्तान्प्रमथन्ति ये ते ध्वजतरु  
प्रमाथिन प्रतीपगा प्रतिकूलगामिनो मरुतः । उत्तटा नदीरया स्थलीमकृत्रिमभूमि-  
मिव । 'जानपदकुण्ड-' इत्यादिना ङीप् । तस्य वरुथिनीं सेनां भृशतया भृश-  
चिक्लिशु विलश्यन्ति स्म ॥ ५८ ॥

मार्गमें पताकाओं तथा वृक्षोंको छिन्न-भिन्न करनेवाली प्रतिकूल वायुने उनकी सेनाओं  
को उस प्रकार पीड़ित कर दिया, जिस प्रकार तटके ऊपर बहनेवाला नदीका वेग  
( जल-प्रवाह ) ऊपरी भूमिको पीड़ित अर्थात् आप्लावित कर देता है ॥ ५८ ॥

लक्ष्यते स्म तदनन्तरं रविर्बद्धभीमपरिवेषमण्डलः ।

वैनतेयशमितस्य भोगिनो भोगवेष्टित इव च्युतो मणिः ॥ ५९ ॥

लक्ष्यते इति । तदनन्तरं प्रतीपवनानन्तरं बद्ध भीमं विभेत्यस्मादिति भीम-  
भयङ्करं परिवेषस्य परिधेमण्डल यस्य स । 'परिवेपस्तु परिधिरुपसूर्यकमण्डले'  
इत्यमर । रविः वैनतेयशमितस्य गरुडहतस्य भोगिनः सर्पस्य भोगेन कायेन ।  
'भोगः सुखे श्र्यादिभृतावहेश्च फणकाययोः' इत्यमरः । वेष्टितश्च्युत शिरोभ्रष्टो  
मणिरिव । लक्ष्यते स्म ॥ ५९ ॥

इसके बाद भयङ्कर परिवेष-मण्डलसे युक्त सूर्य, गरुडके द्वारा मारे गये सर्पके शरीरसे  
वेष्टित ( चारों ओरसे घिरे हुए उस सर्पकी ) मणिके समान दिखलाई पड़ता था ॥ ५९ ॥

श्येनपक्षपरिधूसरालकाः सान्ध्यमेघरुधिरार्द्रवाससः ।

अङ्गना इव रजस्वला दिशो नो बभूवुरवलोकनक्षमाः ॥ ६० ॥

श्येनेति । श्येनपक्षा एव परिधूसरा अलका यासां तास्तथोक्ताः । सान्ध्यमेघा  
एव रुधिरार्द्राणि वासासि यासां तास्तथोक्ताः । रजो धूलिरासामस्तीति रजस्वला ॥  
'रजःकृप्यासुतिपरिपदो वलच्' इति वलच्प्रत्यय । दिश रजस्वला ऋजुमत्योऽङ्गना  
इव । 'स्याद्रज पुष्पमार्तवम्' इत्यमरः । अवलोकनक्षमा दर्शनार्हा नो बभूवु एकत्रा-  
दृष्टदोषादपरत्र शास्त्रदोषादिति विज्ञेयम् । अत्र रजोदृष्टिरुपात्त उक्त ॥ ६० ॥

तथा वास्योकि रामायणके बाणकाण्ड ( १० । ८-१४ ) में 'रामायणम् नुयकेन नक्षत्रे,  
मरुतो नुय मक्षत्रे नीर कक्ष्य तवा क्षत्रम् नावकेना नक्षत्रम् वाप्य ह्य' ऐसा कथ  
मिन्नेसे 'यम मरुत कक्ष्यम् तथा क्षत्रम्' इसी क्रमसे रामकुमारोंको वापति नावके  
वापिने । अन्त्याम् प्रणोमें भी वही क्रम है ।

ते चतुर्यसहिताक्षयो वसु सूनवो नववधूपरिमहा ।

सामदानयिभिमेदनिमहा सिद्धिमन्त इव तस्य भूपते ॥ ५२ ॥

त इति । ते चतुर्यसहिताक्षयः, चत्वार इत्यर्थः । वृत्तानुसारादेवमुक्तम् । सूनवो  
नववधूपरिमहाः । सिद्धिमन्ताः फलसिद्धिबुद्धस्तस्य भूपतेर्द्वारकस्य सामदानयिभि-  
मेदनिमहाश्चत्वार उपपाया इव वसुः । विधीयत इति विधिः । दायमेव विधिः । विप्रो  
वृत्ताः सूनवास्तुपायैर्बन्धा सिद्धिमिच्छीपन्मन्त्रित्वमुत्सन्नेषय ॥ ५१ ॥

मर-वसुओंसे विवाहित वे चारों वाण्ड वत रामा ( वधरथ ) के सिद्धिबुद्ध ताम वा-  
केन नीर कक्ष्यम् चार क्पाओंके समान बंधित हुए । ( वहाँ राम आदि चारों वाण्डोंकी  
सापदि चारों क्पाव तथा लीला आदि चारों वसुओंको सिद्धिकी क्पाव हो गयी है ) ॥ ५१ ॥

ता नराधिपसुता नृपात्मजैस्ते च तामिरगमन्मुखायैताम् ।

सोऽमवद्वरधभूसमागम प्रत्ययप्रहसियोगसन्निभ ॥ ५६ ॥

ता इति । ता नराधिपसुता अवकक्ष्यका सुपात्मजैर्द्वारकधुतैः कृतार्कं कृ-  
शीकष्योक्तपादिसाक्ष्यमयमम् । ते रावबाधाञ्च तामि सीतायामिस्तथा । किञ्च  
स मर्यादा वसुधा च समायम्य । मन्त्रवाचा मन्त्रवीचा च बोध इव सन्निभासीति  
सन्निभा अवयव । पञ्चाक्षर । प्रत्ययाः समाश्चो देव्यो विधीयन्ते तान् मन्त्रतया ।  
वचा मन्त्रितमत्वमयो सहेकार्यसाधनत्वं तद्ब्रह्मणीति भावाः ॥ ५६ ॥

वे रामकुमारोंको वच रामकुमारोंसे तथा वे रामकुमार वच रामकुमारोंसे कृपार्थ  
( वृत्तकृत कर्णार्थ सार्धक ) हो गये । वसुओंका वह लगामय मन्त्रित ( 'वसु' आदि वापु )  
तथा मत्वच ( 'वसु' आदि ) के समान हुआ । ( विसयकार 'वसु' आदि मन्त्रित तथा 'वसु' आदि  
मत्वच वृत्त २ रश्मिर किती वाण्डार्थकी कक्षीयें मन्त्रित होयेंसे निरर्थक होठे है क्पा वे ही  
वीची मिच्छर 'वचा' शब्द वगदर सार्धक ( 'वचन्ता' रत कर्ण के वाचक हो पाठे है वेठे  
अव वसुओंका समामय भी सार्धक हुआ ) ॥ ५६ ॥

एवमाचरतिदारममम्भर्पास्ताभिपेरय चतुरोऽपि तत्र स ।

अप्यमु प्रिपु निवृष्टमैयिषा स्या पुरी वरारथा न्यवतठ ॥ ५७ ॥

वृमिति । वृमन्ताविरगुरागवन्त वरारथान् । चतुरोऽप्यन्यसममवापुर्धस्तव  
मिच्छावा निवेरव विवाय । निवेद्या सिद्धिोद्वाद्दिन्यानेषु मन्त्रितान् इति विवा ।

हो गयी तो उन्होंने आँखोंको पोंछकर बहुत देरके बाद उसे देखकर, 'यह पुरुष है' ऐसा समझा ॥ ६३ ॥

पित्र्यमंशमुपवीतलक्षणं मातृकं च धनुरुर्जितं दधत् ।

यः ससोम इव धर्मदीधितिः सद्विजिह्व इव चन्दनद्रुमः ॥ ६४ ॥

पित्र्यमिति । उपवीत लक्षणं चिन्ह यस्य तम् । पितुरय पित्र्यः । 'वायवृत्तुपि-  
ब्रुषसो यत्' 'पितुर्यच्च' इति यत्प्रत्ययः । तमशम् । धनुषोर्जित धनुरुर्जितम् ।  
मातुरय मातृकः । 'ऋतष्ठञ्' इति ठञ्प्रत्ययः । तमश च दधद्यो भार्गवः । ससोम-  
श्चन्द्रयुक्तो धर्मदीधितिः सूर्य इव । सद्विजिह्व ससर्पश्चन्दनद्रुम इव स्थितः ॥ ६४ ॥

यज्ञोपवीत रूप पित्रश ( ब्राह्मण-लक्षण ) को तथा धनुषसे उत्पन्न मात्रश ( क्षत्रिय-  
लक्षण ) को धारण करते हुए ( परशुराम ) चन्द्रमासे युक्त सूर्यके समान तथा सर्पसे युक्त  
चन्दन वृक्षके समान ( ज्ञात होते ) थे ॥ ६४ ॥

येन रोषपरुषात्मनः पितुः शासने स्थितिभिदोऽपि तस्थुषा ।

वेपमानजननीशिरश्छिदा प्रागजीयत घृणा ततो मही ॥ ६५ ॥

येनेति । रोषपरुषा रोषेण क्रोधेन परुषः निष्ठुरः आत्मा बुद्धिर्यस्य सः । 'आत्मा-  
जीवो धृतिर्बुद्धिः' इत्यमरः । तस्य रोषपरुषात्मन स्थितिभिदोऽपि मर्यादाहिनोऽपि  
पितुः शासने । तस्थुषा स्थितेन वेपमानजननीशिरश्छिदा येन प्रागघृणाऽजीयत ।  
ततोऽनन्तर मङ्गनीयत । मातृहन्तुः सन्नवधात्कुतो शुगुप्सेति भावः ॥ ६५ ॥

क्रोधसे कठोर चित्तवाले तथा मर्यादा-भङ्ग करनेवाले भी पिताकी आज्ञाका पालन  
करनेवाले और कौपती हुई माताके सिरको काटनेवाले जिस ( परशुराम ) ने पहले दयाका  
त्याग किया और इसके बादमें पृथ्वीका त्याग किया ॥ ६५ ॥

पौराणिक कथा—एक बार महर्षि 'जामदग्नि'की पत्नी 'रिणुका' जल लानेके लिये नदी  
तटपर गयी तो मैथुन करते हुए गन्धर्वोंकी जोड़ीको देखकर उनके मनमें कुछ विकार हो  
गया और वे कुछ विलम्बसे आश्रममें लौटी । समाधिके द्वारा जमदग्नि मुनिने सब मामल्य  
कर उसके शिरको काटनेके लिये बड़े पुत्रको आज्ञा दी, किन्तु जब उसने मातृवधको पापकर्म  
मानकर मातृवध नहीं किया तो पिता जमदग्निने छोटे पुत्रको वही आज्ञा दी, और  
उन्होंने पिताकी आज्ञाको सर्वोपरि मानकर माता 'रिणुका'का शिर काट डाला । फिर  
आज्ञापालनसे प्रसन्न पिताके वरदान माँगनेको कहनेपर परशुरामने माताको पुनर्जीवित  
होनेका वरदान माँगकर माताको फिर जीवित करा दिया ।

अक्षबीजवलयेन निर्बभौ दक्षिणश्रवणसंस्थितेन यः ।

क्षत्रियान्तकरणैकविंशतेर्व्याजपूर्वगणनामिवोद्वहन् ॥ ६६ ॥

सैन्य ( 'राज' नामक पक्षि-विशेष ) के पंखवाली बृतर केजवाली तथा सार्वभौमके ( काक ) के बकरप रक्तसे भरी हुए बकरवाली दिखायें, राजके पंखोंके समान बृतर ( मयि-वैर ) बकरवाली तथा सार्वभौमके केबले समान रक्तसे भरी हुए बकरवाली रक्तमय शिरोंके समान देहनेके बहवन् ( बही देहने योग्य ) हो गयीं । ( रक्तमय शिरोंके देहनेय शिरोंमें निवेन किया गया है ) ॥ ६० ॥

मास्करश्च विशमभ्युवास या तां भित्तां प्रतिभयं वचासिरे । -

क्षत्रशोषितपितृक्रिमोषितं चोदयन्त्य इव आर्गयं रिप्ता ॥ ६१ ॥

मास्कर इति । मास्करो यां विशमभ्युवास च वस्थां विरूपितः । 'उपान्ध्या-इवसा' इति कर्मत्वम् । तां रिप्तां भित्तां रिप्ता गोमायकाः । 'रिप्तां रिप्ता क्षुरिमक्षु-शोमापुर्ण्यपूर्तका' इत्यमरः । क्षत्रशोषितेन या पितृक्रिमा विरुपयं ततोषितं परिशितं मार्गात् चोदयन्त्य इव प्रतिभयं भयङ्करं वचासिरे वस्तुम्, 'वाच वचो' इति चातोर्द्धिः । विरप्तां वासितं कृतम् इत्यमरः ॥ ६१ ॥

सूर्य विष रिष्टांशे ययै ये अष्ट रिष्टार्थे स्थित नृपाभ्यां क्षत्रिणोंके रक्तसे विरुपय करनेवाले परशुरामजीको सूचित करती हुई वे समान रोगी कयी ॥ ६१ ॥

तत्प्रतीपपवनादि वैकुण्ठ मेख्य शान्तिमधिकृत्य कृत्यवित् ।

अन्यपुङ्खु शुद्धमीश्वर भित्ते स्वन्तमित्यलपयत्स - सङ्गमयाम् ॥ ६२ ॥

तदिति । तत्प्रतीपपवनादि वैकुण्ठे शुक्तिमिश्रं मेख्य कृत्यवित्कार्बन्धः शितेरीद्वारा शान्तिमवर्धनिकृतिमधिकृत्योद्दिश्य शुद्धं पवित्रमन्यपुङ्खुपुङ्खुम् । 'अन्योऽप्युप-पुङ्खु' च इत्यमरः । स शुद्ध स्वन्तं शुभोर्वर्कं आसीति तस्य शान्तेः प्रवामकमव-पुङ्खुवाम् ॥ ६२ ॥

अष्ट पतिवृक्ष बाहु जगदि विहार ( जङ्गल ) की देहकर कार्बन्ध रावा ( दहान ) के शान्तिसे किये हुए ( पतिवृक्ष ) से पूजा और उन्होंने 'रक्तमय नृप नृपय होना' देखा करकर रामाके कान्धों इकट्ठाकर दिया ॥ ६२ ॥

तेजसः सपदि राशिरुत्थित प्रादुरास किञ्च यादिनीमुत्ते ।

यः प्रमृश्य भवनानि सैनिकैर्लक्षणीयपुरुषाकृतिमिरात् ॥ ६३ ॥

तेजस इति । सपदिभवत्तेजसो राशिर्यादिनीमुत्ते सेनामे प्रादुरास किञ्च जट । या सेनिकैर्लक्षणादि प्रमृश्य विराड्जगतीना भावनीया पुरुषाकृतिर्यस्य स तयोक्त-जगदिति शेषः ॥ ६३ ॥

रक्तमय कृत्य वरु रोग-रक्तमयराजोंके नामे प्रथम हुआ किसे ऐतिह्ये कीयेरोगकर ५३३ देरके बाद पुरुषाकृत्य देखा । ( तेजसी भविकतासे ऐतिह्योंकी गर्ते बहानीरुक्त

सत्रियोंका ( शक्तीस बार ) अन्त करनेवाला भी पराक्रम तुमको विना जीते मुझको सन्तुष्ट नहीं करता है, ( क्योंकि ) अशिका यही महत्त्व गिना जाता है कि वह समुद्रमें भी वृणमें ( स्थित ) के समान जड़े ॥ ७५ ॥

विद्धि चात्तबलमोजसा हरेरैश्वरं धनुरभाजि यत्त्वया ।

खातमूलमनिलो नदीरयै पातयत्यपि मृदुस्तटद्रुमम् ॥ ७६ ॥

विद्धीति । किञ्च ऐश्वर्य धनुर्हरेर्विष्णोरोजसा बलेनात्तबलं हतसार च विद्धि । यद्भनुस्त्वयाऽभाज्यमक्षि । 'भजेत्तु विणि' इति विभाषया नलोपः । तथा हि नदीरयः खातमूलमवदारितपाद तटद्रुम मृदुरप्यनिलः पातयति । ततः शिशुरपि रौद्र धनुरभाज्यमिति भागवतीरिति भावः ॥ ७५ ॥

शिवजी के उस धनुषको विष्णुके बलसे हरण किये हुए शक्तिवाला ( विष्णु-बलसे शक्ति-हीन ) समझो, जिसे तुमने तोड़ दिया है, क्योंकि नदीके वेगसे जबैर जड़वाले तीरस्थ वृक्ष-को साधारण हवा भी गिरा देती है ॥ ७६ ॥

तन्मदीयमिदमायुध ज्यया सङ्गमय्य सशरं विकृष्यताम् ।

तिष्ठतु प्रधनमेवमप्यहं तुल्यबाहुतरसा जितस्त्वया ॥ ७७ ॥

तदिति । तत्तस्मान्मदीयमिदमायुध कार्मुक ज्यया सङ्गमय्य संयोज्य । 'ह्यपि लघुपूर्वात्' इति शेरयादेशः । सशरं यथा तथा त्वया विकृष्यताम् । प्रधनं रणस्तिष्ठतु प्रधनं तावदास्तामित्यर्थः । 'प्रधनं मारणे रणे' इति विश्व । एवमपि मद्भनु-ष्कर्षणेऽप्यहं तुल्यबाहुतरसा समबाहुबलेन । 'रंहस्तरसी तु रयः स्यद्' इत्यमरः । त्वया जितः ॥ ७७ ॥

अतः मेरे इस धनुषकी डोरी चढाकर इसे बाण सहित खेंची तो युद्ध न हो, इस प्रकार (धनुषको चढाकर बाणसहित खेंचनेमात्रसे) समान बाहु-बलवालेतुमसे मैं जीता गया ॥७७॥

कातरोऽसि यदि वोद्गतार्चिषा तर्जितः परशुधारया मम ।

ज्यानिघातकठिनाङ्गुलिर्वृथा बध्यतामभययाचनाञ्जलिः ॥ ७८ ॥

कातर इति । यदि वोद्गतार्चिषोद्गतविषा मम परशुधारया तर्जितः कातरोऽसि भीतोऽसि । घृथा ज्यानिघातेन मौर्धोसहृदनेन कठिना अङ्गुल्यो यस्य स तथोक्तोऽभययाचनाञ्जलिरभयप्रार्थनाञ्जलिवन्ध्यताम् । 'तौ युतावञ्जलिः पुमान्' इत्यमरः ॥ ७८ ॥

यदि चमकती हुई मेरे फरसेकी धारसे भययुक्त तुम कातर हो तो व्यर्थमें (झूठ-मूठ) प्रत्यञ्चाके वार २ आघातसे कठिन ( घट्ठेयुक्त ) हुई अङ्गुलियोंवाली अभययाचनाकी अञ्जलिकी बांधो अर्थात् हाथ जोड़कर तुम मुझसे अभययाचना करो ॥ ७८ ॥

मैत्रिकस्येति । जन्मैः पार्ष्णिभ्यः । अवमितपूर्वं पूर्वमवमितम् । सुभ्युपेति समासः  
अस्य मैत्रिकस्य बहुस्यमण्योः अतश्चात् । किञ्चेति वार्ताभ्याम् । 'वार्तासम्भोजनीय  
किञ्च' इत्यमरा । लक्ष्मणमर्मा निशम्याकर्म्यं अवता आत्मनो मम पीर्यमेव अहं मम  
मित्रं समर्थये मम्ये ॥ ७२ ॥

दूतरे राजाभीते महीं सुकर्म मये मित्रिकेन ( वरुण ) के बहुमण्ये दुग्ने टीका है,  
उते दुग्नेर मेर पीर्यमपी टीपनी दुग्ने टीका है, वेता मावता इ ॥ ७३ ॥

अन्यथा अगति राम इत्यर्थं शब्द उच्यते एव मामगात् ।

प्रीडमावहति मे स सम्प्रति व्यस्तपुष्टिरव्युत्थोऽमुले त्वयि ॥ ७३ ॥

अन्यथेति । अन्यथा अन्यस्मिन्काळे । अगति राम इत्यर्थं शब्द उच्यते एव  
मामेवापात् अवगम्य । सम्प्रति त्वय्युत्थोऽमुले सति व्यस्तपुष्टिर्विपरीतपुष्टिः । अन्य-  
गामीति शब्दः । स अद्यो मै प्रीडमावहति कम्मा करोति ॥ ७३ ॥

दूतरे समर्थये अर्थात् वरुणे उच्यते मया मया 'राम' वरुण इत्ये मया होय न,  
एत समर्थ दुग्नेर अवधीमुत्थ ( अतिथी नीर अमर ) हीनेर विपरीत अवगतपत्नी  
( दुष्टे नीरकर दुग्ने मया करमेवात्मा ) वर ( 'राम' वर ) दुष्टे अतिथि कर रहा है ॥ ७४ ॥

विभ्रतोऽस्ममचलेऽप्युत्थितं ह्ये रिपू मम मतीं समागसौ ।

वेनुमत्सहरजाश्च हेह्यस्त्यं च कीर्तिमपहतमुपय ॥ ७४ ॥

विभ्रत इति । अचले प्रीडमावह्युत्थितमर्थं विभ्रतो मम ह्यै समापद्यी दुग्ने-  
पराभी रिपू मती । 'अतोऽप्यतो मनुज' इत्यमरा । वेनो विपुलेमयेनार्थस्य  
हरजावेवोर्हृदय कर्तवीर्यम् । कीर्तिमपहतमुपय बहुउत्थं च । अतहरमे अत-  
रुक्मेकः—'मममजाप्रमत्तस्य होमवेन्वास्ततो पश्यत् । अहार कर्त कोदन्ता वमज  
च मयाप्रमात्' ॥ इति ॥ ७५ ॥

वर्तमे बी अकुण्ठित ( मही सुदेवाका अर्थात् वरुण ) वरु ( वरुण ) को वरुण करके  
दूत भी मेरे बी अमु तमाय अरुणवर्त है—( वरुण ) मे तमा वरुणको वरुण करके  
कर्तवीर्य अर्थात् वरुणात् नीर ( मेरी ) कीर्तिहरण करनेके किए वैराट दुग्ने ॥ ७६ ॥

वीरान्ति कम्—एत कथाया मया वरुण वरु के वीरान्ति कथते देवे ।

अत्रियान्तपटणोऽपि विभ्रमस्तेन मामवति नाशिते त्वयि ।

पायकस्य मद्दिमा स गद्यते कश्चन्यसति सागदेऽपि च ॥ ७६ ॥

अत्रियान्तेति । येन कारयेन विभ्रते वेनासी करणा । अत्रियान्तरव करणी-  
ऽपि विभ्रमा । त्वय्यशिते । मां नावति च प्रीणाति । तथा हि—रावहरवा-  
म्येर्मदिमा स गद्यते । च कश्चन्यसति इव । 'उत्त तरवे' इति लघुमर्थे वति ।  
सागरेऽपि अकति ॥ ७७ ॥

क्षत्रियोंका ( शक्तीस बार ) अन्त करनेवाला भी पराक्रम तुमको विना जीते मुझको सन्तुष्ट नहीं करता है, ( क्योंकि ) अधिका यही महत्त्व गिना जाता है कि वह समुद्रमें भी वृष्णमें ( स्थित ) के समान बहे ॥ ७५ ॥

विद्धि चात्तबलमोजसा हरेरैश्वरं धनुरभाजि यत्त्वया ।

खातमूलमनिलो नदीरयै पातयत्यपि मृदुस्तटद्रुमम् ॥ ७६ ॥

विद्धीति । किञ्च ऐश्वर्य धनुर्हरेर्विष्णोरोजसा बलेनात्तबल हतसार च विद्धि । यद्बलुस्त्वयाऽभाज्यमक्षि । 'अक्षेश्च चिणि' इति विभाषया नलोपः । तथा हि नदीरयः खातमूलमवदारितपाद तटद्रुम मृदुरप्यनिलः पातयति । तत शिशुरपि रौद्र धनु-रमाहूतमिति मागर्वीरिति भावः ॥ ७५ ॥

शिवजी के उस धनुषको विष्णुके बलसे हरण किये हुए शक्तिवाला ( विष्णु-बलसे शक्ति-हीन ) समझो, जिसे तुमने तीव्र दिया है, क्योंकि नदीके वेगसे नजर नडवाके तीरस्थ वृक्ष-को साधारण दवा भी गिरा देती है ॥ ७६ ॥

तन्मदीयमिदमायुधं ज्यया सङ्गमय्य सशरं विकृष्यताम् ।

तिष्ठतु प्रघनमेवमप्यहं तुल्यबाहुतरसा जितस्त्वया ॥ ७७ ॥

तदिति । तत्तस्मान्मदीयमिदमायुध कार्मुक ज्यया सङ्गमय्य संयोज्य । 'त्यपि लघुपूर्वात्' इति णेरयादेशः । सशर यथा तथा त्वया विकृष्यताम् । प्रघन रणस्ति-ष्ठतु प्रघनं तावदास्तामित्यर्थः । 'प्रघन मारणे रणे' इति विश्वः । एवमपि मद्बलु-ष्कर्णोऽप्यहं तुल्यबाहुतरसा समबाहुबलेन । 'रंहस्तरसी तु रयः स्यद्' इत्यमरः । त्वया जितः ॥ ७७ ॥

अत मेरे इस धनुषकी बोरी चढाकर इसे बाण सहित खेंचो तो युद्ध न हो, इस प्रकार ( धनुषको चढाकर बाणसहित खेंचनेमात्रसे ) समान बाहु-बलवाले तुमसे मैं जीता गया ॥ ७७ ॥

कातरोऽसि यदि वोद्गतार्चिषा तर्जितः परशुधारया मम ।

ज्यानिघातकठिनाञ्जुलिर्वृथा बध्यतामभययाचनाञ्जलिः ॥ ७८ ॥

कातर इति । यदि वोद्गतार्चिषोद्गतत्विषा मम परशुधारया तर्जित कातरोऽसि भीतोऽसि । वृथा ज्यानिघातेन मौर्वीसङ्घट्टनेन कठिना अञ्जुलयो यस्य स तथोक्तोऽभययाचनाञ्जलिर्भयप्राथर्चनाञ्जलिर्वध्यताम् । 'तौ युतावञ्जलिः पुमान्' इत्यमरः ॥ ७८ ॥

यदि चमकती हुई मेरे फरसेकी धारसे भययुक्त तुम कातर हो तो व्यर्थमें ( झूठ-मूठ ) प्रत्यश्चाके बार २ आघातसे कठिन ( घट्टेयुक्त ) हुई अञ्जुलियोंवाली अभययाचनाकी अञ्जलिकी बांधो अर्थात् हाथ जोड़कर तुम मुझसे अभययाचना करो ॥ ७८ ॥



मैबिच्छस्येति । जन्मैः पार्थिवः । जन्ममितपूर्वं पूर्वमजन्ममितम् । भुञ्जुषेति समासः  
अस्य मैबिच्छस्य वज्रस्तवमन्त्रणो जतवान् । किञ्चेति वार्ताधाम् । वार्तासम्मानवधौ  
किञ्च इत्यमरः । तद्गुरुर्मन्त्रं विद्वन्वाक्यार्थं भवता आद्यमद्यो मम धीर्यमेव ग्राह्यं यत्  
मिव समर्पये जन्मे ॥ ७२ ॥

दूतरे रत्नाम्नीते नदीं शुकावे गवै पिपिकेड (वक्त्र) के वज्रको गुप्तमे टीका है  
उते श्वकर् येरी शीर्षकनी चीन्धो गुप्तमे टीका है ऐसा वाक्यता है ॥ ७२ ॥

अगम्यवा अगति राम इत्यर्थं शब्द उच्यते एव सामगात् ।

ग्रीवमावहति मे स सम्प्रति व्यस्तवृत्तिरुद्योमुत्ते त्वयि ॥ ७३ ॥

अगम्यवेति । अगम्यवाअगम्यसिम्पन्नादेः । अगति राम इत्यर्थं शब्द उच्यते एव  
मात्रेवापात् अयमत् । सम्प्रति त्वम्बुदयोन्मुखे सति व्यस्तवृत्तिरित्युक्तिः । अग  
मासीति वाक्यम् । स अगम्ये मे ग्रीवमावहति अगम्यं करोति ॥ ७३ ॥

दूतरे समजर्मे अर्थात् वक्त्रे संसारमे कदा नवा 'राम' वह शब्द छोड़ मात्र हीना यह  
वच समज गुप्तरे लवोन्मुख (अवधिषी नीर अमर) होनेपर विरहीत व्यसहारम  
(मुझे शीर्षक गुप्त मात्र करवेवाक्य) वह ('राम' शब्द) छोड़ करके कर रहा है अमर

विधत्तेऽस्मन्मन्त्रेऽप्युच्यते यो रिपू मम मर्तौ समागसौ ।

प्रेतुवत्सहरमात्र हैइत्यर्थं च कीर्तिमप्यर्तुमुद्यत ॥ ७४ ॥

विधत्त इति । अगम्ये ग्रीवमावहत्युच्यते मन्त्रं विधत्ते मम ह्रीं समागसौ इत्यु  
वासी रिपू मर्तौ । 'आयोभ्यराधो मन्त्रा' इत्यमरः । येषां विद्वद्भ्योर्बोद्धव्य  
हरमावेतोर्द्विधा कर्तव्यार्थः । कीर्तिमप्यर्तुमुद्यत वज्रस्तव्यं च । व्यसहारमे मरत  
रत्नेक—'ममचक्राकम्पितस्य होमयेन्वात्तयो वक्त्रम् । अहार कर्तं कोकनत्वा वयस  
च महाप्रमत्' ॥ इति ॥ ७४ ॥

वर्तये नो अकुण्ठित (नदीं शुकावेवाक्य अर्थात् वक्त्र) अत्र (परम) की वार्ता करे  
दूत नो मेरी ही अनु समाज अकरावकाल है—(इत्यर्थ) नो तथा वक्त्रेकी हरन करके  
कर्तव्यार्थं अर्थात् वक्त्रार्थं नीर (परी) कीर्तिहरन करकेके किप वीवार गुप्त ॥ ७४ ॥

पौराणिक कथ—एत वक्त्रा मरत वक्त्रेक वक्त्र के पौराणिक कथासे रोये ।

अत्रिचान्तकरणोऽपि विक्रमस्तेन मामवति नाशिते त्वयि ।

पावकस्य महिमा स गम्यते कस्म्यकस्यसति सागरेऽपि च ॥ ७५ ॥

अत्रिचान्तेति । तेन कारणेन विपत्ते भेषासी करण । अत्रिचान्तस्य करणी  
अपि विक्रमः । त्वम्बविते । मां नावति च ग्रीवाति । तथा हि—पावकस्या  
ध्वेर्नहिमा स गम्यते । वा कवककच इव । 'तत्र तस्यैव' इति सप्तम्यर्थे वति ।  
पावरोऽपि अकति ॥ ७५ ॥

सत्रियोका ( शक्तीस बार ) अन्त करनेवाला भी पराक्रम तुमको विना जीते मुक्तकी सन्तुष्ट नहीं करता है, ( क्योंकि ) अग्निका यही महत्त्व गिना जाता है कि वह समुद्रमें भी वृणमें ( स्थित ) के समान जके ॥ ७५ ॥

विद्धि चात्तबलमोजसा हरेरैश्वरं धनुर्भाजि यत्त्वया ।

खातमूलमनिलो नदीरयैः पातयत्यपि मृदुस्तटद्रुमम् ॥ ७६ ॥

विद्धीति । किञ्च ऐश्वर्य धनुर्हरेर्विष्णोरोजसा बलेनात्तबलं हृतसारं च विद्धि । यद्भनुस्त्वयाऽभाज्यमक्षि । 'अक्षेश्च विणि' इति विभाषया नलोपः । तथा हि नदीरयः । खातमूलमवदारितपादं तटद्रुमं मृदुरप्यनिलः पातयति । ततः शिशुरपि रौद्रधनुः रमाङ्गमिति मागर्वीरिति भावः ॥ ७५ ॥

शिवजीके उस धनुषकी विष्णुके बलसे हरण किये हुए शक्तिवाला ( विष्णु-बलसे शक्ति-हीन ) समझो, जिसे तुमने तोड़ दिया है, क्योंकि नदीके वेगसे जर्जर जड़वाले तीरस्थ वृक्ष-को साधारण हवा भी गिरा देती है ॥ ७६ ॥

तन्मदीयमिदमायुधं ज्यया सङ्गमय्य सशरं विकृष्यताम् ।

तिष्ठतु प्रघनमेवमप्यहं तुल्यबाहुतरसा जितस्त्वया ॥ ७७ ॥

तदिति । तत्तस्मान्मदीयमिदमायुधं कार्मुकं ज्यया सङ्गमय्य संयोज्य । 'ज्यवि लघुपूर्वाच्च' इति णेरयादेशः । सशरं यथा तथा त्वया विकृष्यताम् । प्रघनं रणस्तिष्ठतु प्रघनं तावदास्तामित्यर्थः । 'प्रघनं मारणे रणे' इति विश्वः । एवमपि मद्भनु-ष्कर्षणेऽप्यहं तुल्यबाहुतरसा समबाहुबलेन । 'रहस्तरसी तु रयः स्यद' इत्यमरः । त्वया जितः ॥ ७७ ॥

अतः मेरे इस धनुषकी खोरी चढ़ाकर इसे बाण सहित खेंची तो युद्ध न हो, इस प्रकार (धनुषकी चढ़ाकर बाणसहित खेंचनेमात्रसे) समान बाहु-बलवालेतुमसे मैं जीता गया ॥७७॥

कातरोऽसि यदि वोद्गताचिषा तर्जितः परशुधारया मम ।

ज्यानिघातकठिनाङ्गुलिर्वृथा बध्यतामभययाचनाञ्जलिः ॥ ७८ ॥

कातर इति । यदि वोद्गताचिषोद्गतखिषा मम परशुधारया तर्जितः कातरोऽसि भीतोऽसि । वृथा ज्यानिघातेन मौर्ध्वासङ्कटनेन कठिना अङ्गुलयो यस्य स तयोक्तोऽभययाचनाञ्जलिर्भयप्रार्थनाञ्जलिर्बध्यताम् । 'तौ युतावञ्जलिः पुमान्' इत्यमरः ॥ ७८ ॥

यदि चमकती हुई मेरे फरसेकी धारसे भययुक्त तुम कातर हो तो व्यर्थमें (झूठ-मूठ) प्रत्यङ्गाके बार २ आघातसे कठिन ( घट्टेयुक्त ) हुई अङ्गुलियोंवाली अभययाचनाकी अञ्जलिकी बांधो अर्थात् हाथ बोज़कर तुम मुझसे अभययाचना करो ॥ ७८ ॥

सैविकस्यैति । जन्मैः पार्ष्णिवा । जन्ममित्यर्थं पूर्वमनमित्यर्थः । सुप्नुयेति जन्मस्य  
जन्म सैविकस्य बहुलत्वमाशङ्क्योः कृतवाच्यः । विद्येति वातावायम् । 'वातासम्पन्नयो  
किञ्च' इत्यमरा । एतदुत्पत्त्यं विद्याभ्यासार्थं मन्त्रा वातमनो मम दीर्घमेव गच्छेत्  
मित्र सम्पन्ने मन्त्रे ॥ ७२ ॥

दृष्टे रात्रावींति यदी सुष्यन्ते नपि विविधैः (जन्म) के बहुल्ये तुम्हे तोका है  
जो सुष्यन्ते मेरे दीर्घकपी सीधको तुम्हें तोका है, ऐसा मागता हूँ ॥ ७३ ॥

अन्यथा जगति राम इत्यर्थं राज्यं उच्यते एव मामगात् ।

प्रीतिमायति मे स सम्प्रति व्यस्तवृत्तिरुद्योन्मुक्तं त्वयि ॥ ७३ ॥

अन्यथेति । अन्यथा अन्यस्मिन्मन्त्रे । जगति राम इत्यर्थं राज्यं उच्यते एव  
मामेवापात् जन्मस्य । सम्प्रति त्वमुद्योन्मुक्तं सति व्यस्तवृत्तिरिषीषीषवृत्तिः । अन्य-  
गामीति वाच्यः । स जन्मो मे प्रीतिमायति जन्मा करोति ॥ ७३ ॥

दृष्टे राज्यं यदी सुष्यन्ते नपि विविधैः (जन्म) के बहुल्ये तुम्हे मम दीर्घ  
यद्यपि तुम्हारे अन्यकोमुक्त (कचित्की भीरु जगत्तर) दीर्घतर विपरीत व्यस्तवृत्ति  
(दृष्टे दीर्घतर तुम्हें मम करकेवाच्य) नर ('राम' जन्म) तुम्हें कलित कर रहा है ॥ ७४ ॥

विभ्रतोऽक्रमचक्षेऽप्यकुर्वितं ह्ये रिपू मम मयी समापसी ।

वेजुवत्सहरणाथ ह्यहस्तं च कीर्तिमपहर्तुमुद्यत ॥ ७४ ॥

विभ्रत इति । जन्मो प्रीतिमायत्यनुचितमर्थं विभ्रतो मम ह्ये समापसी तुम्हा-  
पराधी रिपू मयी । 'जन्मोऽप्यनुचितमर्थं' इत्यमरा । वेजोः विजयेमवेद्योक्तस्य  
हरणत्वेतोर्हृदय कर्तृवीर्यम् । कीर्तिमपहर्तुमुद्यत बहुल्यत्वं च । अस्तहरणे अतः  
दक्षेण—'यमजन्ममात्रस्य होमवेत्यास्तवो वक्तव्यः । अहो कर्तुं प्रोक्तमवा वक्तव्य  
च महाप्रमाणम् ॥ इति ॥ ७५ ॥

पर्वतमे वा बहुल्येन (यदी सुष्यन्ते नपि विविधैः) जन्म (राम) की वाच्य करते  
हृद की मेरे की बहुल्येन जन्मवाच्य है—(द्वन्द्व) यी तथा नक्षत्रेदी हरण करदेते  
कर्तृवीर्यं जन्मो उच्यते नपि भीरु (मेरी) कीतिहरण करकेके किप पैचार तुम ॥ ७६ ॥

वीर्यमिदं जन्म—यद्यपि जन्मो मम जन्मो नर के वीर्यमिदं जन्मो देवे ।

अत्रियास्तकरणोऽपि विभ्रमस्तेन मामवति नाजिते त्वयि ।

पावकस्य महिमा स गवयते कक्षयन्मवति सागरेऽपि च ॥ ७७ ॥

अत्रियास्तैति । तेन कारणेन विजिते वेवासी करवा । अत्रियास्तस्य करवी-  
र्ये विभ्रमः । त्वम्विजिते । मम नावति न प्रीत्याति । तथा हि—पावकस्या-  
ज्येर्महिमा स गवयते । वा कक्षयन्मवति इव । 'तत्र तस्येव' इति सप्तम्यर्थे वति ।  
सागरेऽपि विजिते ॥ ७८ ॥

क्षत्रियोंका ( इक्कीस बार ) अन्त करनेवाला भी पराक्रम तुमको विना जीते मुक्तको सन्तुष्ट नहीं करता है, ( क्योंकि ) अशिका यही महत्त्व गिना जाता है कि वह समुद्रमें भी तृणमें ( स्थित ) के समान जले ॥ ७५ ॥

विद्धि चात्तबलमोजसा हरेरैश्वरं धनुरभाजि यत्त्वया ।

खातमूलमनिलो नदीरयैः पातयत्यपि मृदुस्तटद्रुमम् ॥ ७६ ॥

विद्धीति । किञ्च ऐश्वर्य धनुर्हरेर्विष्णोरोजसा धलेनात्तबल हतसार च विद्धि । यद्गुणस्वयाऽभाज्यमक्षि । 'भक्षेश्च धिणि' इति विभाषया नलोपः । तथा हि नदीरयः खातमूलमवदारितपाद तटद्रुम मृदुरप्यनिलः पातयति । ततः शिष्टरपि रौद्र धनु-रमाह्वयमिति मागर्वीरिति भावः ॥ ७५ ॥

शिवजी के उस धनुषको विष्णुके बलसे हरण किये हुए शक्तिवाला ( विष्णु-बलसे शक्ति-हीन ) समझो, जिसे तुमने तीव्र दिया है, क्योंकि नदीके वेगसे जर्जर जड़वाले तीरस्थ वृक्ष-को साधारण हवा भी गिरा देती है ॥ ७६ ॥

तन्मदीयमिदमायुधं ज्यया सङ्गमय्य सशरं विकृष्यताम् ।

तिष्ठतु प्रघनमेवमप्यहं तुल्यबाहुतरसा जितस्त्वया ॥ ७७ ॥

तदिति । तत्तस्मान्मदीयमिदमायुध कार्मुकं ज्यया सङ्गमय्य संयोज्य । 'व्यपि लघुपूर्वात्' इति णेरयादेशः । सशर यथा तथा त्वया विकृष्यताम् । प्रघन रणस्ति-ष्ठतु प्रघन तावदास्तामित्यर्थः । 'प्रघन मारणे रणे' इति विश्वः । एवमपि मद्गु-णैर्जितमप्यहं तुल्यबाहुतरसा समबाहुबलेन । 'रंहस्तरसी तु रयः स्यद्' इत्यमरः । स्वया जितः ॥ ७७ ॥

अतः मेरे इस धनुषकी खोरी चढाकर इसे बाण सहित खैचो तो युद्ध न हो, इस प्रकार (धनुषको चढाकर बाणसहित खैचनेमात्रसे) समान बाहु-बलवालेतुमसे मैं जीता गया ॥ ७७ ॥

कातरोऽसि यदि वोद्गतार्चिषा तर्जितः परशुधारया मम ।

ज्यानिघातकठिनाञ्जुलिर्वृथा बध्यतामभययाचनाञ्जलि' ॥ ७८ ॥

कातर इति । यदि वोद्गतार्चिषोद्गतत्विषा मम परशुधारया तर्जितः कातरोऽसि भीतोऽसि । वृथा ज्यानिघातेन मौर्वीसङ्घट्टनेन कठिना अञ्जुल्यो यस्य स तयोक्तोऽभययाचनाञ्जलिरभयप्रार्थनाञ्जलिर्यध्यताम् । 'सौ युतावञ्जलिः पुमान्' इत्यमरः ॥ ७८ ॥

यदि चमकती हुई मेरे फरसेकी धारसे मययुक्त तुम कातर हो तो व्यर्थमें (झूठ-मूठ) प्रत्यञ्चाके बार २ आघातसे कठिन (घट्टेयुक्त) हुई अञ्जुलियोंवाली अभययाचनाकी अञ्जलिकी बांधो अर्थात् हाथ जोड़कर तुम मुझसे अभययाचना करो ॥ ७८ ॥

एवमुक्तवति भीमदर्शने भार्गवे स्मितविकम्पिताक्षरः ।

तन्नुर्महणमेव राक्षसः प्रत्यपद्यत समर्थमुत्तरम् ॥ ५३ ॥

युवमिति । भीमदर्शने भार्गवे स्मितविकम्पिताक्षरः । राक्षसः क्लृप्तेन हास्येन नि-  
मित्ताक्षरः सन् । तन्नुर्महणमेव समर्थमुत्तरमुत्तरं प्रत्यपद्यताज्ञीवकरः ॥ ५३ ॥

इत्यनेन मगधर परशुरामके रक्षा करकेपर सुखरायेत ही सुखीत मगधरके रामके  
विवा इत्येव कहें) इसके अनुसारही मगध करना ही बयित कथर (विवा) स्वीकार किया ॥ ५३ ॥

पूर्वजन्मबन्धुता समागतः सोऽतिमात्रस्य पुनरानोऽभवत् ।

केवसोऽपि सुमगो न वाम्बुदः किं पुनश्चिदराचापस्याभिहतः ॥ ५० ॥

पूर्वजन्मेति । पूर्वजन्मवि वाराचपावतारे बह्वनुतेव समागतः सुखराय स  
रामोऽतिमात्रमात्रं कम्पुर्बन्धुः मित्रवर्धनोऽभवत् । तथा हि । वाम्बुदः केवसो  
रिच्छोऽपि सुमगः सोमायात् । मित्रवर्धनोऽप्येवमुक्ता अभिहतविचक्षितः किं युवा ।  
सुमग एवेति भावः ॥ ५० ॥

पूर्व जन्म ( वाचपावतार ) के अनुसार ही वृद्ध वर ( राम ) के लिये मित्रवर्धन (देवके  
के सुखर) ही ऐसे कभीकि वामा मेव कहेजा जो सुखर हीया है, फिर यदि वह वर  
अनुसरे वृद्ध हो जाय तो ( वृद्ध ही माया ) क्या कहेगा है ॥ ५० ॥

तेन भूमिनिहितैककोटि तत्प्रमुक्तं च बलिनाऽधिरोपितम् ।

निष्पन्नस्य रिपुस्य भूसूतां भूमरोप इव धूमकतनः ॥ ५१ ॥

तेनेति । बलिना तेन रामेन भूमिनिहितैका कोटिर्बन्धुः सन् । कर्मके प्रमत्तमिति  
कामुकं बभूव । 'कर्मन्' 'उक्तम्' इत्युक्तत्वात् । अधिरोपितम् । भूसूतां रिपुर्मात्रं  
वरः । भूमरोपो भूमकेऽन्तोऽधिरिव । निष्पन्नो विरतेऽस्तु नाम वदुः । विरतिरिव  
बहिरिव इत्येतदा अस्मिन्नर्थः । आसेति विष्णुप्रतिष्ठापकमन्त्रं दीपवर्धनवात्से  
कर्म वा ॥ ५१ ॥

वद्वान् वर (राम) के एक किलारीकी भूमिपर (वध) दबकर वर अनुसार वरदा रिया  
( वर ) राजाकोके बहुत वर ( वरशाय ) वृद्धव अधिसे समाप्त निरतेम हो गये ॥ ५१ ॥

तावुभावपि परस्परस्वित्ती वधमानपरिहीनतेऽसी ।

परयति स्म जनता बिनास्यये पार्वणी शशिदिवाकराविव ॥ ५२ ॥

तामिति । परस्परस्वित्ती वधमानपरिहीनतेऽसी । सर्वमात्रं च परिहीनं चेति वृद्धा ।  
वधमानपरिहीने तेजसी बभूवस्तावुभौ राघवभार्यावपि । दिवात्यये सायंकाले पार्वणि  
महो पार्वणी शशिदिवाकराविव । जनता जनसमूहः । 'धाम्नि' 'वध' 'उपहा' 'पेर' 'वद' 'व'

इति तत्प्रत्ययः । पश्यति स्मापश्यत् । अत्र राघवस्य शशिना भार्गवस्य भानुनौपम्यं  
द्रष्टव्यम् ॥ ८२ ॥

जनताने परस्पर स्थित एवं बढते हुए तथा क्षीण तेजवाले उन दोनोंको सायकालमें  
( बढते हुए तथा क्षीण तेजवाले ) चन्द्रमा तथा सूर्यके समान देखा । ( यहां बढते हुए तेज-  
वाले रामचन्द्रजीको तथा क्षीण तेजवाले परशुरामजीको समझना चाहिये ) ॥ ८२ ॥

तं कृपामृदुरवेद्य भार्गवं राघवः स्वलितवीर्यमात्मनि ।

स्वं च सहितममोघमाशुग व्याजहार हरसूनुसन्निभः ॥ ८३ ॥

तमिति । हरसूनुसन्निभः स्कन्दसमः । कृपामृदू राघवः । आत्मनि विषये  
स्वलितवीर्यं कुण्ठितशक्तिं त भार्गवं स्वं स्वकीय सहितममोघमाशुगं बाणं चावेद्य  
व्याजहार वभाषे ॥ ८३ ॥

कार्तिकेयके समान पराक्रमवाले तथा कृपासे कौमल अर्थात् दयाद्रं राम, अपने विषयमें  
वीर्यहीन ( हारे हुए ) परशुरामसे चढाये हुए अपने अमोघ ( कभी व्यर्थ नहीं होनेवाले )  
बाणको देखकर बोले—॥ ८३ ॥

न प्रहर्तुमलमस्मि निर्दय विप्र इत्यभिभवत्यपि त्वयि ।

शंस किं गतिमनेन पत्रिणा हन्मि लोकमत ते मखार्जितम् ॥ ८४ ॥

नेति । अभिभवत्यपि त्वयि । विप्र इति हेतोः । निर्दयं प्रहर्तुमलं शक्नो नास्मि  
किंत्वनेन पत्रिणा शरेण ते गतिं गमनं हन्मि । उत मखार्जितं लोकं स्वर्गं हन्मि  
शंस ब्रूहि ॥ ८४ ॥

‘अभिभव ( तिरस्कार ) करते हुए भी तुमपर ‘तुम ब्राह्मण हो’ इस कारणसे प्रहार  
नहीं कर सकता, अतः इस बाणसे तुम्हारे गतिको नष्ट करूँ अथवा तपस्यासे उपार्जित तुम्हारे  
स्वर्गलोकको नष्ट करूँ कहो’ ॥ ८४ ॥

प्रत्युवाच तमृषिर्न तत्त्वतस्त्वां न वेद्मि पुरुषं पुरातनम् ।

गां गतस्य तव धाम वैष्णवं कोपितो ह्यसि मया दिदृक्षुणा ॥ ८५ ॥

प्रत्युवाचेति । ऋषिर्भार्गवस्त राम प्रत्युवाच । किमिति । तत्त्वतः स्वरूपतस्त्वां  
पुरातनं पुरुषं न वेद्मि न, किन्तु वेद्म्येवेत्यर्थः । किन्तु गां गतस्य भुवमवतीर्णस्य  
तव वैष्णवं धाम तेजो दिदृक्षुणा द्रष्टुमिच्छुना मया कोपितो ह्यसि ॥ ८५ ॥

उस ( राम ) से मुनि ( परशुराम ) बोले—‘वस्तुतः ‘तुमको पुरातन पुरुष अर्थात् विष्णु  
मैं नहीं जानता हूँ’ यह बात नहीं है, किन्तु पृथ्वीपर अवतार ग्रहण किये हुए तुम्हारे  
वैष्णवं ( विष्णु सम्बन्धी ) तेजको देखनेको इच्छासे मैंने तुम्हें ) क्रोधायुक्त किया है ॥ ८५ ॥

मस्मसात्कृतवत् पितृद्विष पात्रसाधं वसुधां ससागरम् ।

आदितो जयविपर्ययोऽपि मे श्लाघ्य एव परमेष्ठिना त्वया ॥ ८३ ॥

मस्मसादिति । पितृद्विष पितृवैरिणो मस्मसात्कृतवत् कोपेन धस्तीकृतः ।  
विमाणा सातिकारस्मै इति सातिग्रन्थः । ससागरां वसुधां च पात्रसाधाद्यावीर्यं  
वैषं कृतवत् । 'येन वा च' इति चकारासातिः । कृतकृत्यत्वं मे परमेष्ठिना परमे  
ष्ठेके तिष्ठतीति तेषां परमपुण्येन त्वयाऽङ्गितां कृतो जयविपर्ययो पराजयोऽपि  
श्लाघ्य आस्तास्य पृथ ॥ ८३ ॥

विप्रायै वसुधो ( जयिषो ) को यस्य करमेवाते तथा सस्रुतक भूमिषो पात्रोऽपि जयिष  
( पात्रोऽपि पात्र ) करमेवाते मेरा करमेवो दुष्टारे हारा विना गवा वराधय यो मर्कत-  
समीप हो है ॥ ८३ ॥

दुष्टार्ति मस्मितां वरेजितां पुण्यसीर्षगमनाय रक्ष मे ।

पीडयिष्यति न मां किञ्चीकृता स्वगपद्भित्तिरमोगस्तोऽहम् ॥ ८४ ॥

वदिति । तच्छस्मात्कृतवत् है मस्मितां वर ! पुण्यसीर्षगमनाय दुर्मिहन्मी-  
षितां मे वरि रक्ष पात्रम् । किन्तु किञ्चीकृता दुर्मिहन्मीषितापि स्वगपद्भित्तिरमोगस्तोऽहम्  
मोपकिम्बुहं मां न पीडयिष्यति । अतस्तस्मै च ह्रीत्वर्यो ॥ ८४ ॥

रक्षन्ति हे दुर्मिहन्मीषो गच्छ ! पुण्यसीर्षो को वरेहे किने मेरी जयिष्यति वरिषो रक्षा  
करी ध्वज ( यह ) को गवा स्वर्ग-वरनरा बीजमे बीजवदित दुष्टो दुर्मिह नरी करेये  
( जय मेरी वरिषो वराधर मेरे स्वर्गबीजकी हो रक्ष जयने जयने वाप्यो यह करो ) ॥ ८४ ॥

मत्स्यपक्षत त्वेति शपथं प्राक्मुखाभ्य विसर्ज्य सायकम् ।

भार्गवस्य मुकृतोऽपि सोऽमवत्स्वगमार्तापरिधो दुरत्यय ॥ ८५ ॥

मतीति । शपथस्तथेति मत्स्यपक्षताङ्गीकृतवत् । प्राक्मुखाभ्य विसर्ज्य सायकं  
विसर्ज्य च । स सायकं मुकृतोऽपि सायकगतिर्नोऽपि । करोतेः क्तिप् । भार्गवस्य  
दुरत्ययो दुर्मिहन् अत्ययो नाको यस्य स दुरत्ययो दुरतिक्रमः स्वर्गमार्तांश्च परिक-  
प्रतिबन्धोऽमवत् ॥ ८५ ॥

राज्ये वैराग्यो हो पैसा लीकार कर विना ( बीर ) दुर्मिह बीर दुष्ट करे  
वाप्यो बीजवा यह ( वाप ) पुण्यकर्ता यो वरगुरावहे किने स्वर्ग-वार्ताया दुर्मिह वरि  
( भार्गवा—भार्यवा वर्याय विसर्ज्य ) हो गया ॥ ८५ ॥

शपथोऽपि चरणी तपोनिधे क्षम्यतामिति वदन्ममस्त्रुताम् ।

निर्मितेषु वरसा वरस्मितां शत्रुषु प्रजतिरेष कीर्तये ॥ ८६ ॥

राघव इति । राघवोऽपि क्षम्यतामिति वदंस्तपोनिधेर्भागवस्य चरणौ समस्पृश-  
क्षणनाम । तथा हि, तरस्विना बलवतां तरसा बलेन निर्जितेषु शत्रुषु प्रणतिरेव  
कीर्तये । भवतीति शेषः ॥ ८९ ॥

‘क्षमा कीजिये’ ऐसा कहते हुए रामने भी महातपस्वी ( परशुरामजी ) के दोनों  
चरणोंको स्पर्श किया ( चरणस्पर्शकर प्रणाम किया ), क्योंकि बलवानोंके बलसे शत्रुओंके  
जीत जानेपर ( विजेता बलवानोंका नम्र ) होना ही कीर्तिके लिये होता है ॥ ८९ ॥

राजसत्वमवधूय मातृकं पित्र्यमस्मि गमितः शमं यदा ।

नन्वनिन्दितफलो मम त्वया निग्रहोऽप्ययमनुग्रहीकृतः ॥ ९० ॥

राजसत्वेति । मातुरागत मातृक राजसत्व रजोगुणप्रधानत्वमवधूय तिरस्कृत्य  
पितुरागत पित्र्य शम यदा गमितोऽस्मि तदा त्वया ममापेक्षितत्वादननिन्दितम-  
गर्हितं फल स्वर्गहानिरुद्धं यस्य सोऽय निग्रहोऽपकारोऽप्यनुग्रहीकृतो ननूपका-  
रीकृतः खलु ॥ ९० ॥

‘जब मैं माताके राजसत्व ( राजसिक गुण अर्थात् क्षत्रियोचित बल ) को तिरस्कृतकर  
पिताकी शान्ति ( ब्राह्मणोचित शान्ति ) को प्राप्त कर लिया हूँ, तब तुमसे किया गया  
अनिन्दित फलवाला ( स्वर्गहानिरूप ) मेरा यह निग्रह ( शासन ) भी अनुग्रह ( उपकार )  
ही किया गया है ॥ ९० ॥

पौराणिक वार्ता -- सत्यवतीके साथ पुत्र ‘व्यूषन’ ऋषिके विवाह करनेपर ‘भृगु’ पुत्र-  
वधूको देखने आये । नव वधू-वरके द्वारा अद्वा-भक्तिसे पूजित भृगुने पुत्रवधू सत्यवतीसे  
वर मागनेको कहा तो उसने अपने लिये वेदादिशास्त्रका ज्ञाता तथा माताके लिये अस्त्र-  
शास्त्रका ज्ञाता थोड़ा पुत्र होनेका वर मांगा । प्राणायाम करनेके बाद उत्पन्न हुए दो चरुओं  
को देते हुए भृगुने सत्यवतीसे कहा—यह लाल चरु तुम्हारी माता पीपल वृक्षका आलिङ्गन  
कर ऋतुकालमें खावे तथा इस श्वेत चरुको गूलरका आलिङ्गनकर तुम ऋतुकालमें खाना ।  
यह सुन प्रसन्नचित्त सत्यवतीने कान्यकुब्जनरेश ‘गाधि’की पत्नी अपनी माताको उक्त चरु  
देकर पुत्रोत्पादक चरुका महत्त्व बतला दिया, तब उसकी माताने ‘अपनी पुत्र-वधूके लिये  
महर्षिने उत्तम चरु दिया होगा’ ऐसा मनमें विचारकर ऋतुकालके समय श्वेत चरु स्वयं  
खाया तथा लाल चरु कन्या ( सत्यवती ) को खिलाया । योगबलसे इस परिवर्तित चरुको  
खानेका वृत्तान्त मालूम कर भगवान् भृगुने पुत्रवधू सत्यवतीसे सब बातें कहते हुए  
कहा कि इस परिवर्तनसे तुम्हारा पुत्र प्राक्षण होकर भी अस्त्र-शास्त्रका ज्ञाता थोड़ा तथा  
तुम्हारी माताका पुत्र क्षत्रिय होकर भी वेदादि शास्त्रका ज्ञाता होगा । सत्यवतीने बड़ा अक्षि  
होकर इस अपराधकी क्षमायाचना की तो भृगुने कहा—‘अस्तु, इसमें परिवर्तन सर्वथा  
तो नहीं हो सकता किन्तु तुम्हारे पुत्रके बदले पौत्र प्राक्षण होकर भी क्षत्रियकर्म करने-



बाबा (बल-बाबका यथा बोधा) होता । लक्ष्मी के परिणाम स्वप्न राधा परीक्षी  
विश्रामित हुए, श्री लक्ष्मी होकर श्री माधवोपिषिठ कर्म करनेवाले हुए तथा अरवको बल-  
बाब पर बलशक्ति के पुत्र परशुराम हुए, श्री माधव होकर श्री लक्ष्मीोपिषिठ बल-बाबके  
बादा यथा नीर बोधा हुए ।

साधयाम्यहमपिभ्रमस्तु ते वैश्वकर्ष्यमुपपादयिष्यत् ।

अविधानिति वचः सखद्वयं अहमपामजमुपिस्तिरोवधे ॥ ६१ ॥

साधयामीति । अहंसाधयामि गच्छामि । बलशामकेकार्यत्वात् इति । वैश्वकर्ष्यं  
मुपपादयिष्यत् । सखद्वयिष्यत्सौ अविष्यमस्तु विज्ञानमाद्योऽस्तु । 'अव्ययं विमलसमी-  
पस्युदित्पुत्रवर्षायाः' इत्यादिवाक्यामाद्येऽव्ययीयात् । सखः कथमन्येन सख्यम-  
नस्तम् । 'तेन सहेति सुख्ययोः' इति बहुव्रीहिः । कथमपामजं राममिति, वचः  
अविधानमुक्तवान् । ब्रूयः कमुः । अविस्तिरोवधेऽस्तव्ये ॥ ५१ ॥

'मै बादा हूँ' मदिश्वरने वैश्वकर्षको करनेवाले सेरा विविध (कथन) हो' ऐसा  
वचन कथनके सहित रामसे कहकर मुनि (परशुरामजी) बलवर्धित हो गये ॥ ५१ ॥

पौराणिक कथा—महादेव बलवानसे गर-बानरको जीतकर दुसरेने नवन होनेका  
बलवान बाबर बल रावन नेकीनकी उतगि कया तर इत्यादि दोनोंने वैकुण्ठ नामने  
विष्णुके घरगने बाबर उतके गये किने लुगिपूर्वक मार्गना की । तब विष्णुने 'बलवान  
रावनके पुत्ररुतने नवतार केकर मै 'वैश्वकर्ष का लयादन बलवान' ऐसा कहकर देवताओं  
की लान्तना हो और स्वयं नरक रावनको मारनेके किने बलवान किया ।

तस्मिन् गते विजयिन् परिरम्य रामं

स्नेहावमम्यत पिता पुनरेव आतम् ।

तस्यामभरक्ष्यशुचः परितोषज्ञानम्

कृष्णान्निवृत्तिस्तरोरिव वृष्टिपातः ॥ ६२ ॥

तस्मिन्निवृत्ति । तस्मिन्मार्गने गते सति । विजयिन् रामं पिता स्नेहावपरिरम्य-  
शुचः पुत्रवर्तमेवामम्यत । शर्णं शुभस्तेति विग्रहः । अम्यशुचस्तत्त्वं वृक्षवरप परि-  
तोषज्ञानः समुत्तमप्राप्तिः कृष्णान्निवृत्तिः वाचाबलेन । 'कृष्णः शुभकमवयवीकयो' इति  
विग्रहः । कृष्णस्वामिद्वत्तत्त्वं तरोर्वृष्टिपातः वर्षापात इव अभवत् ॥ ५२ ॥

कृष्ण (परशुराम) के गये जाने पर विजयी रामकी स्नेहसे अतिशय कर पिता  
(बलवान) ने पुत्रा बलवान हुएके समान भावा । अम्यशुचः जीव करनेवाले कृष्ण (बलवान)  
की लान्तना कथन बलवानसे पीडित वृक्षकी वृष्टि होनेके समान हुआ ॥ ५२ ॥

अथ पथि गमयित्वा क्लृप्तरम्योपकार्ये  
कतिचिदवनिपालः शर्वरीः शर्वकल्पः ।  
पुरमविशदयोध्यां मैथिलीदर्शनीना  
कुवलयितगवाक्षां लोचनैरङ्गनानाम् ॥ ६३ ॥

अथेति । अथ ईषदसमाप्तः शर्वः शर्वकल्पः । 'ईषदसमाप्तौ कल्पपदेश्यदेशीयर' इति कल्पप्रत्ययः । अवनिपालः दशरथः क्लृप्ता रम्या नवा उपकार्या यस्मिन्स तस्मिन्पथि कतिचिच्छर्वरी रात्रीरगमयित्वा मैथिलीदर्शनीनामङ्गनानां लोचनैः कुवलयानि येषां सञ्जातानि कुवलयिताः । 'तदस्य सञ्जात तारकादिभ्य इतच्' इतीतच्प्रत्ययः । कुवलयिता गवाक्षा यस्यास्तां पुरमयोध्यामविशत्प्रविष्टवान् ॥ ६३ ॥

इति महामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितया सञ्जीविनीसमा-  
ख्यया व्याख्यया समेतो महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे  
महाकाव्ये सीताविवाहवर्णनो नामैकादशः सर्गः ॥ ११ ॥



इसके बाद शिवजीके समान पृथ्वीपति ( दशरथ ) ने सुन्दर-तगबू-खेमेवाले मार्गमें कई रातोंको बिताकर सीताको देखनेवाली स्त्रियोंके नेत्रोंसे नील कमलोंसे युक्त क्रिये गये क्षरी-खोंवाली अयोध्यापुरीमें प्रवेश किया ॥ ९३ ॥

यद् 'मणिप्रभा' टीकामें 'रघुवंश' महाकाव्यका 'सीताविवाहवर्णन'  
नामक एकादश सर्ग समाप्त हुआ ॥ ११ ॥



## द्वादशः सर्गः ।

वन्दामहे महोदण्डदोर्दण्डौ रघुनन्दनौ ।

तेजोनिर्जितमार्तण्डमण्डलौ लोकनन्दनौ ॥

निर्विष्टविषयस्नेहः स दशान्तमुपेयिवान् ।

आसीदासन्ननिर्वाणः प्रदीपार्चिरिवोषसि ॥ १ ॥

निर्विष्टेति । स्नेहयन्ति प्रीणयन्ति पुरुषमिति स्नेहा । पचाद्यच् । स्निहयन्ति पुरुषा येष्विति वा स्नेहा । अधिकरणार्थे घञ् । विषया शब्दादयस्त एव स्नेहा निर्विष्टा मुक्ता विषयस्नेहा येन स तथोक्तः । 'निर्वेशो भृतिभोगयोः' इति विश्वः । दशा जीवनावस्था तस्य अन्तःवार्षिकमुपेयिवान् स दशरथः । उपसि प्रदीपार्चिरिव दीपज्वालेव । आसन्नः निर्वाणः मोक्षो यस्य स तथोक्तः आसीत् । अर्चिःपक्षे तु—

विरयो रैव आश्रया । मातृवमिति यावत् । 'विषया स्वादिभिश्चार्थं द्वे अवयवौयि च' इति विरवा । स्नेहलौक्यवि । 'स्नेहलौक्यविक्रये द्वे स्वात्म्यद्वेयि च' इति विरवा । इति वर्तिका । 'वृत्ता कदाचित्कदाचान्' इति विरवा । निर्दोषं विरवा । 'निर्दोषं निर्दुर्लभं मोक्षे विनाशे गन्धमग्ने' इति बाह्वयः ३, ३ ॥

श्रीरघु-सुन्दर्य राम-कन्यकी पति कर्तुः ।

हेतुवित-मार्तण्ड, श्रीकर्णधारक स्या ॥

राम-कन्यादि स्वयं निरयोक्षी मोक्षे इव तथा कथितं कथ्य (उदात्ता) यो मातृ वै रात्रा (वक्रव) रात्रौ स्नेह (रैव) च यौव किने (कन्ये) इव तथा यौवौ कथितयत्स्वयो मय मातृकायौ वीरकौ यौ (वरा) के स्यात्त तौम उग्रदेवते (वक्रव पक्षमे-मरुतेवाते) वे ॥ १ ॥

तु कर्ममुखमागत्य रामे भीर्न्यैस्त्वामिति ।

कैकेयीरह्येवाह पक्षित्युद्यता वरा ॥ २ ॥

तमिति । अतः कैकेयीसङ्घेय पक्षित्य कैकायिणीस्त्वत्तु वृद्धा मियेव । 'पक्षितं कन्या वीर्यं कैकायी विव्रता वरा' इत्यमरः । कर्ममुखं कर्मोपकण्ठमागत्य रामे श्रीरामकन्यमर्प्यस्वतः निर्भीचतामिति तमत् । वक्रवो वृद्धोऽयमिति विचार्य रामस्य वीरराम्यामिवैकं कन्यद्वेत्तव्यं ॥ ३ ॥

एवै इव नाभौके वहायेते उग्रपते कैकेयीसङ्घेय वक्रव जाकर 'रामस्य राम-कन्यौ वै वी' इति कदा । (कर्मोपकण्ठमेवै इव नाभौके वैव कन्या उग्रपा जाकर वक्रववै रामस्य रामकन्यौ वैना वरा) ॥ २ ॥

सा पीरान्योरध्वन्तस्य रामस्याभ्युदयमुति ।

प्रत्येकं ह्यव्याजके कुल्येवोद्यानपादपाम् ॥ ३ ॥

येति । सा पीरकान्तस्य रामस्याभ्युदयमुदिरमिरेकवार्त्ता । इत्यथा कुत्रिमा सरित् । 'कुल्यत्स्य कुत्रिमा सरित्' इत्यमरः । उद्यानपादपादिव पीराम् प्रत्येकं त्पादके ॥ ३ ॥

वापरीकोके प्रिय रायस्य वधति (अमिरेक) श्री कन्या कन्यके वृद्धोक्षी वरके तमाव प्रत्येक वापरीकोक्षी वाकावित वर विवा ॥ ३ ॥

तस्यामिपेकसम्भारं कल्पितं कूरनिग्रहण ।

दूषयामास कैकेयी शोकोप्यै पार्ष्णिमाश्रुमि ॥ ४ ॥

तस्येति । शूरनिग्रहा कैकेयी तस्य रामस्य कल्पितं सम्भृतममिरेकस्य अमा-

रमुपकरणं शोकोष्णैः पार्थिवाश्चभिर्दूषयामास । स्वदुःखमूलेन राजशोकेन प्रतिब-  
धन्धेत्यर्थः ॥ ४ ॥

क्रूर निश्चयवाली कैकेयीने तैयार किये गये अभिषेक-साधनको शोकसे उष्ण दशरथको  
आँसुओंसे दूषित कर दिया । ( क्रूर विचारवाली कैकेयीके कारण रोते हुए राजाने रामके  
अभिषेकको रोक दिया ) ॥ ४ ॥

सा किलाश्रासिता चण्डी भर्त्रा तत्संश्रुतौ वरौ ।

उद्वामेन्द्रसिक्ता भूर्बिलममाविवोरगौ ॥ ५ ॥

सेति । चण्डयतिकोपना 'चण्डस्वख्यन्तकोपनः' इत्यमरः । सा किल भर्त्रा-  
ऽऽश्रासिताऽनुनीता सती तेन भर्त्रा संश्रुतौ प्रतिज्ञातौ वरौ । इन्द्रेण मेघेन सिक्ता-  
भिवृष्टा । 'इन्द्र फणिज्जके सान्द्रे घनकामनयोर्मदै' इति विश्वः । भूर्बिले वरमी-  
कादौ मरुताधुरगाविव । उद्वामोज्ज्वलार ॥ ५ ॥

चण्डी ( अतिक्रोधशील ) उस कैकेयीने पतिके आश्रासन देनेपर मेघसे सींची गयी  
भूमि बिलमें घुसे हुए दो सर्पोंको जिस प्रकार उगल देती है, उसी प्रकार उनके दिये हुए  
दो वरोंको उगला ( मागा ) ॥ ५ ॥

तयोश्चतुर्दशैकेन राम प्राब्राजयत्समाः ।

द्वितीयेन सुतस्यैच्छद्वैधव्यैकफलां श्रियम् ॥ ६ ॥

तयोरिति । सा तयोर्वरयोर्मध्ये एकेन वरेण राम चतुर्दश समाः सम्बत्सरान् ।  
अत्यन्तसयोगे द्वितीया । प्राब्राजयत्प्रावासयत् । द्वितीयेन वरेण सुतस्य भरतस्य  
वैधव्यैकफलां स्ववैधव्यमात्रफलाम् । न तूपभोगफलमिति भावः । श्रियमैच्छद्विधेय ॥

उन ( दोनों ) वरोंमेंसे एक वरसे रामको चौदह वर्षतक प्रवास ( बनवास ) दिया और  
दूसरे वरसे एकमात्र अपना विधवा होना ही जिसका फल है, ऐसी पुत्र ( भरत ) की  
रानलक्ष्मीको मागा ॥ ६ ॥

पौराणिक कथा—अमरपीडित इन्द्रके गुलानेसे स्वर्गमें जाकर युद्धमें इन्द्रकी सहायता  
करते हुए दशरथ असुरोंके बाणोंसे बिछ होकर भूच्छित हो गये, उस समय कैकेयीने—  
जो युद्ध स्थलमें भी उनके साथ ही थी—उनकी सेवा शुश्रूषा की, उससे प्रसन्न होकर राजा  
दशरथने कैकेयीसे बार मांगनेके लिए कहा तो उसने 'मैं आपसे दो वर मांगती हूँ, किन्तु  
जब कभी उन्हें लेना चाहूँगी, आप देनेका वचन दें' ऐसा कैकेयीके कहनेपर दशरथने  
'एवमस्तु' कहा । उन्हीं वरोंको कैकेयीने इस समय मन्थराकी प्रेरणासे मांगा । कहीं २ पर  
राजा दशरथके भूच्छित होनेके स्थानमें यह प्रसन्न आता है कि असुरोंके साथ युद्ध करते  
हुए दशरथके रथका धुरा टूट गया तो उस आपत्तिसे कैकेयीने उनकी बचाया, जिससे  
प्रसन्न दशरथने बार मांगनेके लिये कहा । शेष कथा-प्रसन्न पूर्ववत् ही है ।

पित्रा वृत्तां लवम् रामं प्राप्स्यहीं प्रत्यपद्यत ।

पद्मावतनाय गच्छेति तवाङ्गां मुदितोऽग्रहीत् ॥ ७ ॥

विधेति । रामः प्राक् पित्रा वृत्तां महीं लवम् प्रत्यपद्यतमीचकार । स्वत्वानुमानादिति भावः । पद्मावतनाय गच्छेत्येवंकृत्वा तवाङ्गां मुदितोऽग्रहीत् । पित्राङ्गाकरणादिति भावः ॥ ७ ॥

रामने पहले पिताके द्वारा भी गयी राव-कन्यीको ( लवने लवामके दु-खसे ) रोते हुए लीकार किने दे, पीछे कन्यी 'बनये जानो इस बातानी' ( पिताकी बाताना राज्य तथा भरणी राज्यप्राप्तिसे ) प्रसन्न होते हुए लीकार किया ॥ ७ ॥

वधतो मङ्गलक्ष्मीमे वसानस्य च वल्कले ।

वृद्धदुर्विस्मितास्तस्य मुखरागं समं जनां ॥ ८ ॥

वधत इति । मङ्गलक्ष्मीमे-प्राक्के च ते भीमे वृद्धये च वधतो वल्कले वसान-स्वाध्यायचतस्रस्तस्य रामस्य सममेकविधं मुखरागं मुखवर्णं जना विस्मिता वदन्ताः । मुखदुःखयोरविकृत इति भावः ॥ ८ ॥

जन्मभूतः क्षीणोऽपि ( पहले ) सुन्दर २ ऐश्वर्यवान् पश्यते हुए ( तथा वृद्धमें वय जाते समय ) वल्कल पश्यते हुए रामके मुखके वर्ण (भाव वा प्रसन्नता) की क्षीणता कर्मसे देखा । ( पहले रामनामिकाके सिधे सुन्दर २ वय पश्यते-समय तथा वय जातेके सिधे वल्कल पश्यते समय रामके मुखमें क्षीरं दुर्गं वा पीकका चिह्न न देखकर जोय जाबर्धित हो गये ) ॥ ८ ॥

स सीतालक्ष्मणसस्य सत्याह् गुरुमन्त्रोपधम् ।

विवेश दण्डकारण्यं प्रत्येकं च सतां मनः ॥ ९ ॥

स इति । स रामो गुहं विहरं सत्याह् गुरुमन्त्रोपधम् । सीतालक्ष्मणयोः सखेति विग्रहः । ताभ्यां सहिता सन् दण्डकारण्यं दण्डकाशमभ्यास-कृत्या वा पुनं वर्णं विवेश । सतां मनस्य प्रत्येकं विवेश । विदुषस्तथा सर्वे सन्तां क्षण्डुका इति भावः ॥ ९ ॥

शिरासे छत्रब्रह्म नहीं करती हुए वे राम सीता और लक्ष्मणके साथ दण्डकारण्यमें तथा प्रत्येक सज्जनोंके शिरासे प्रविष्ट हुए । ( रामकी विदुषाकृतिसे सभी सज्जन बलवत् प्रसन्न हो गये ) ॥ ९ ॥

राजाऽपि तद्विधोवातं स्मृत्वा शार्पं स्वकर्मजम् ।

शरीरस्यागमात्रेण दृष्टिस्तथममन्यत ॥ १० ॥

राजेति । तद्विधोवातः दृष्टविधोगुमतिताः राजाऽपि स्वकर्मणा सुविबुधवचकमेव

जात' स्वकर्मस्तं शाप पुत्रशोकज मरणरमक स्मृत्वा शरीरत्यागमात्रेण देहत्यागेनैव  
दुःखिलाभ प्रायश्चित्तमन्यत । मृत इत्यर्थः ॥ १० ॥

उनके वियोगसे दुःखित राजा (दशरथ) ने भी अपने कर्मसे प्राप्त शापको (देखें  
१०।७१-७९) स्मरणकर एकमात्र शरीरत्याग (मरने) से ही शुद्धिकी प्राप्ति (प्रायश्चित्तके  
द्वारा शुद्धि) समझा अर्थात् वे मर गये ॥ १० ॥

विप्रोषितकुमारं तद्राज्यमस्तमितेश्वरम् ।

रन्धान्वेषणदक्षाणा द्विषामामिषतां ययौ ॥ ११ ॥

विप्रोषितेति । विप्रोषिता गताः कुमारा यस्मिन्स्तत्थोक्तम् । अस्तमितो मृत  
ईश्वरो राजा यस्य तत्थोक्त तद्राज्य रन्धान्वेषणदक्षाणां द्विषां शत्रूणामामिषतां भोग्य-  
वस्तुतो ययौ । 'आमिषं भोग्यवस्तुनि' इति केशवः ॥ ११ ॥

जित राज्यसे राजकुमार परदेश (राम-लक्ष्मण वनको तथा भरत-शत्रुघ्न नानाके यहाँ)  
चले गये हैं और राजा मर गये हैं, ऐसा वह राज्य विद्राव्वेपी शत्रुओंका भोग-साधन  
बन गया ॥ ११ ॥

अथानाथाः प्रकृतयो मातृबन्धुनिवासिनम् ।

मौलैरानाययामासुर्भरत स्तम्भिताश्रुभिः ॥ १२ ॥

अथेति । अथानाथाः प्रकृतयोऽमात्याः । 'प्रकृति' सहजे योनाधमात्ये परमात्म-  
नि' इति विश्वः । मातृबन्धुषु निवासिन भरत स्तम्भिताश्रुभिः । पितृमरणगुप्त्यर्थ-  
मिति भावः । मौलैरान्ते सचिवैरानाययामासुरागमयाञ्चक्रुः ॥ १२ ॥

इसके बाद अनाथ मन्त्रियोंने मामाके यहाँ रहते हुए भरतको आँसूकी रोके हुए  
विश्वासपात्र मन्त्रियोंसे बुलवाया ॥ १२ ॥

श्रुत्वा तथाविधं मृत्यु कैकेयीतनयः पितुः ।

मातुर्न केवल स्वस्याः श्रियोऽप्यासीत्पराङ्मुखः ॥ १३ ॥

श्रुत्वेति । कैकेयीतनयो भरत पितुस्तथाविध, रामवियोगादित्यर्थः । स्वमातृ-  
मूल मृत्यु मरण श्रुत्वा स्वस्या मातु केवल मातुरेव पराङ्मुखो न किन्तु श्रियोऽपि  
पराङ्मुख आसीत् ॥ १३ ॥

कैकेयीपुत्र (भरत) पिताको उस प्रकार (राम-विरहके कारण) दुर्घ मृत्युको सुनकर  
केवल अपनी मातासे ही पराङ्मुख नहीं हुए, अपितु राजलक्ष्मीसे भी पराङ्मुख हुए ।  
(भरतने माता तथा राजलक्ष्मी दोनोंका—त्यागकर दिया) ॥ १३ ॥

ससैन्यम्याम्यगात्रामं वशिष्ठानाममाश्रये ।

तस्य परमन्तसोमित्रेऽवधुर्धसतिद्रुमात् ॥ १४ ॥

ससैन्यमिति । ससैन्यो भरतो राममन्त्रादित्य । किं कुर्वन् । आश्रमाश्रयैर्भवन् ।  
क्षिमिमुंक्षिमिर्दक्षितायेते रामविवाहा इति कथितान् ससोमित्रेर्धममन्त्रादित्य  
तस्य रामस्य वसतिद्रुमाविवाहासहचारं परमन्त्रादित्यस्य वसतिद्रुमाभ्यो वदन् ॥ १४ ॥

ससत्तद्वि ( भरतः ) आश्रमाश्रयो ( ससोमित्रः ) स वसन्त्ये गौः अश्वमन्त्रादित्य रामस्य  
विवाहासह चरन्त्ये परं रोते इदं रामका अनुपमव किन्ना ॥ १४ ॥

वित्रकूटवनस्त्वं च कवितस्वर्गोत्तिर्गुरो ।

कस्य्या निमन्त्रयाह्वये वमनुक्षिप्तसम्पदा ॥ १५ ॥

वित्रकूटेति । वित्रकूटवनस्त्वं च रामं च गुरोः पितुः कवितस्वर्गोत्तिः, कवितस्वित्  
मरणा सक्षिप्तः । अनुक्षिप्तवपुस्तद्विष्टा सम्पत्तुः पुण्योत्कर्षं वत्सा सा । 'सम्पत्  
कूटो पुण्योत्कर्षः' इति शेषः । तथा कस्य्या कस्येव निमन्त्रयाह्वये आहूतयात्,  
रामस्यनुमतेत्याहुताह्वयेत्यर्थः ॥ १५ ॥

वित्रकूटके वमं विवाहा करे इदं रामस्य पितृका वलुका राज करकर भरतने विवा  
मीपी इदं राजकर्म्योते रामको निमन्त्रित किन्ना । ( 'राजकर्म्योते मं लोकार नहीं करुना  
वत्ता नार लोकार वत्ता वीन कोविने । ऐसी रामसे प्रार्थना की ) ॥ १५ ॥

स हि प्रथमजे तस्मिन्महोदधीपरिमहे ।

परिषेत्तारमात्मानं मेने स्वीकरणावमुष ॥ १६ ॥

स इति । स हि भारता प्रथमजोऽयमे तस्मिन् रामेऽमहोदधीपरिमहे सवि स्वर्ग  
मुवस्वीकरणावमुष परिषेत्तारं मेने । 'परिषेत्तारमुषोदधे मेने' इति वारपरिमहस्य  
इत्यमरः । मूपरिमहोदधि वारपरिमहस्य इति शेषः ॥ १६ ॥

वह भरतने वड़े भारी रामकी राजकर्म्योत्ती लोकार नहीं करवैपर वड़े स्वर्ग राम-  
कर्म्योको लोकार करवैवाके वरवैकी 'परिषेत्ता' पाया । ( वड़े भारीके अनिरादित्य ररते  
विवाहा करवैवाके छेदि भारीकी 'परिषेत्ता' करवै है वह विवाहा छेत्त-निवत्त ॥ क्योंकि  
की-परिमहके सजान भुनि ( राजकर्म्यो ) का परिमह की माना गया है ॥ १६ ॥

तमराक्ष्यमपाकृष्टं निर्वेशात्स्वर्गिणं पितुः ।

६८ ययाचे पाहुके पञ्चात्सु राग्याधिदेवते ॥ १७ ॥

तमिति । स्वर्गिण्य स्वर्गोत्तरप पितुर्निर्देशाद्यावत्पाकृष्टं निर्वेत्तवितुमन्त्र  
सं रामे पञ्चाद्याधिदेवते वामिन्धी कर्तुं पाहुके वयाचे ॥ १७ ॥

स्वर्गीय पिताकी आज्ञासे पृथक् करनेके लिये ( पिताकी आज्ञा तोड़कर राजलक्ष्मीको स्वीकृत करनेके लिये ) असमर्थ रामसे बादमें राज्यकी अधिष्ठात्री देवता बनानेके लिये जनकी खडाककी मांगा ॥ १७ ॥

स विसृष्टस्तथेत्युक्त्वा भ्रात्रा नैवाविशत्पुरीम् ।

नन्दिग्रामगतस्तस्य राज्य न्यासमिवाभुनक् ॥ १८ ॥

स इति । स भरतो भ्रात्रा रामेण तथेत्युक्त्वा विसृष्ट सन् पुरीमयोध्यां नाविश-  
देव । किन्तु नन्दिग्रामगतः सस्तस्य रामस्य राज्य न्यासमिव निक्षेपमिवाभुनगपा-  
लयत्, न तूपमुक्तवानित्यर्थः । अन्यथा 'भुजोऽनवने' इत्यात्मनेपदप्रसङ्गात् ।  
भुजेल्लं ॥ १८ ॥

'अच्छा बैसा ही हो' यह कहकर ( राज्याधिष्ठात्री देवता बनानेके लिये अपनी खराक देकर ) माई रामसे लौटाये गये भरत अयोध्या पुरीमें प्रवेश नहीं किये, किन्तु नन्दिग्राममें रहते हुए ( वे भरत ) धरोहरके समान रामके राज्यका पालन किया ॥ १८ ॥

दृढभक्तिरिति ज्येष्ठे राज्यतृष्णापराङ्मुखः ।

मातुः पापस्य भरतः प्रायश्चित्तमिवाकरोत् ॥ १९ ॥

इति । ज्येष्ठे दृढभक्ती राज्यतृष्णापराङ्मुखो भरत इति । पूर्वोक्तानुष्ठानेन मातुः  
पापस्य प्रायश्चित्तं तदपनोदक कर्माकरोदिव इत्युपेक्षा । दृढभक्तिरित्यत्र दृढशब्दस्य  
'स्त्रिया पुवत्-' इत्यादिना पुवद्भावो दुर्घटः । 'अप्रियादिषु' इति निषेधात् । भक्ति  
शब्दस्य प्रियादिषु पाठात् । अतो दृढ भक्तिरस्येति नपुसकपूर्वपदो बहुव्रीहिरिति  
शाण्ड्याख्यानं दृढभक्तिरित्येवमादिषु पूर्वपदस्य नपुसकस्य विवक्षितत्वासिद्धमिति  
समाधेयम् । धृत्तिकारश्च—दीर्घनिधृत्तिमात्रपरो दृढभक्तिशब्दो लिङ्गविशेषस्यानुपका-  
रत्वात् स्त्रीत्वमविवक्षितमेव, तस्मादस्त्रीलिङ्गत्वादृढभक्तिशब्दस्यायं प्रयोग इत्यभि-  
प्रायः । न्यासकारोऽप्येवम् । भोजराजस्तु—कर्मसाधनस्यैव भक्तिशब्दस्य प्रियादि-  
पाठाद्भवानीभक्तिरित्यादौ कर्मसाधनत्वात् पुवद्भावप्रतिषेधः । दृढभक्तिरित्यादौ मातु-  
साधनत्वात् पुवद्भावसिद्धिः पूर्वपदस्येत्याह ॥ १९ ॥

बड़े ( माई राम ) में अटल भक्तिवाले तथा राज्याकी तृष्णासे विमुख भरत मानो माता  
के पापका प्रायश्चित्त करने लगे ॥ १९ ॥

रामोऽपि सह वैदेह्या वने वन्येन वर्तयन् ।

चचार सानुजः शान्तो वृद्धेच्चाकुज्रतं युवा ॥ २० ॥

राम इति । सानुजः सलक्ष्मण शान्तो रामोऽपि वैदेह्या सह वने वन्येन वन-



ससैन्यश्चान्वगात्त्रामं वशिष्ठानाममाश्रये ।  
तस्य परमस्ससीमित्रेरुपमुर्वसतिष्ठुमान् ॥ १४ ॥

ससैन्यमिति । ससैन्यो भरतो राममन्वगतम् । किं कुर्यात् । आत्रमाकर्षयन्वा  
सिमिर्मुषिमिर्द्विधातेते रामविवासा इति कथितान् ससौमित्रेर्ब्रह्मवत्सहितस्य  
तस्य रामस्य वसतिमुमाविवासावृत्तान् परमन्वब्रह्मवत्वाप्यो वदन् ॥ १४ ॥

सैन्यसहित ( मरुते ) आत्रवाशिषी ( सुनिषी ) से वत्सवै यौ क्त्वेन ससहित रामसे  
निवासपूत इत्योको वेद्यते यौ रोते ह्यप रामका अनुगमय विना ॥ १४ ॥

चित्रकूटवनस्थं च कथितस्वर्गतिगुरोते । १ ३ ३ १  
ससैन्या निमन्त्रयात्त्रके तमनुष्णिससम्पदा ॥ १५ ॥ १८ १

चित्रकूटेति । चित्रकूटवनस्थं तं रामं च पुरो पितुः कथितस्वर्गतिः, कथितसि  
म्पदा ससिन्धुः । अनुष्णिससम्पदा सम्पत्तुः पुष्पकोर्ते मत्वा सा । 'सम्पत्  
सूतौ पुष्पकोर्ते' इति कथना । तथा कथना करणैव सिन्धुनात्त्रके आहूतया  
राममनुमतेपातुहत्वैत्यर्थः ॥ १५ ॥

चित्रकूटके वने निवास करते हुए रामसे पितृको वल्लुका राज करकर भरतसे विवा  
योनी हुई राजकन्योसे रामकी निमन्त्रित विवा । ( राजकन्योको मैं खीकर नहीं करंगा  
बल्कि आप खीकर कनका यौन कीलिये । ऐसी रामसे ब्रतना की ) ॥ १५ ॥

स हि प्रथमजे तस्मिन्नकृतभीपरिमहे ।  
परिवेष्टारमात्मानं मेने स्वीकरणाबुभुष ॥ १६ ॥

स इति । स हि भरता प्रथमजेभ्यः तस्मिन् अकृतभीपरिमहे सति स्वर्ग  
सुखस्वीकरणात्प्रत्मानं परिवेष्टाह मेने । 'परिवेष्टाबुभुषे' श्वेच्छे हारपरिमहत्  
इत्यमरः । अपरिमहोभ्यः हारपरिमहसम इति भाषा ॥ १६ ॥

जब भरतसे बड़े धर्म रामको राजकन्योका स्वीकार नहीं करवैपर पहले स्वर्ग राज  
कन्योको स्वीकार करवैवाले भरतको 'परिवेष्टा' माना । ( बड़े धर्मके अनिवारित रहते  
विवाह करनेवाला छोटे धर्मको 'परिवेष्टा' कहते हैं वह विवाह कनक-विवाह है, क्योंकि  
को-परिमहके समान भूमि ( राजकन्यो ) का परिमह भी माना गया है ॥ १६ ॥

तमराज्यमपाकृष्टुं निर्देशात्स्वर्गिणं पितुः ।

यथाचे पातुके पद्माकर्तुं राम्याधिदेवते ॥ १७ ॥

तमिति । स्वर्गिण्य स्वर्गवत्स्य पितुर्निर्देशात्त्रासनात्पाकृष्टुं विवर्तमित्यमरस्य  
-तं रामं पद्मात्त्राकादिदेवते स्वामिन्वी कर्तुं पातुके यथाचे ॥ १७ ॥

( रामवाणके अमोघ होनेसे अपनी एक आखों उसके द्वारा नष्ट करारकर ) उस वाणसे अपनेको छुड़ाया ॥ २३ ॥

रामस्त्वासन्नदेशत्वाद् भरतागमनं पुनः ।

ॐ अशङ्क्योत्सुकसारङ्गां चित्रकूटस्थलीं जहौ ॥ २४ ॥

राम इति । रामस्त्वासन्नदेशत्वाद्देतोः पुनर्भरतागमनमाशङ्क्योत्सुकसारङ्गामुत्क-  
ण्ठितहरिणां चित्रकूटस्थलीं जहौ तत्याज । आसन्नश्चासौ देशश्चेति विग्रहः ॥ २४ ॥

रामने समीप होनेसे फिर भरतके आनेकी आशङ्काकर (मावी राम-विरहसे) उत्कण्ठित  
हरिणोंवाली चित्रकूट भूमिको छोड़ दिया ॥ २४ ॥

प्रययावातिथेयेषु वसन् ऋषिकुलेषु सः ।

दक्षिणां दिशमृतेषु वार्षिकेष्विव भास्कर ॥ २५ ॥

प्रययाविति । स राम । अतिथिषु साधून्यातिथेयानि । 'पथ्यतिथिवसतिस्व-  
पतेर्दब्' इति ठक्प्रत्ययः । तेष्पृषिकुलेष्वृष्याश्रमेषु । 'कुल कुच्ये गणे देहे गेहे जन-  
पदेऽन्वये' इति हैम । वर्षासु भवानि वार्षिकाणि । 'वर्षाभ्यष्टक्' इति ठक्प्रत्ययः ।  
तेष्पृषेषु नक्षत्रेषु राशिषु वा भास्कर इव वसन् दक्षिणां दिश प्रययौ ॥ २५ ॥

वे राम अतिथियोंमें सद्यवहार करनेवाले, ऋषियोंके आश्रमोंमें रहते हुए उस प्रकार  
दक्षिण दिशाको गये, जिस प्रकार सूर्य वर्षाके नक्षत्रों ( आर्द्रा आदि ) में दक्षिण दिशाको  
जाते हैं अर्थात् दक्षिणायन होते हैं ॥ २५ ॥

बभौ तमनुगच्छन्ती विदेहाधिपते. सुता ।

प्रतिषिद्धापि कैकेय्या लक्ष्मीरिव गुणोन्मुखी ॥ २६ ॥

बभाविति । त राममनुगच्छन्ती अनुयान्ती विदेहाधिपते सुता सीता कैकेय्या  
प्रतिषिद्धा निवारिताऽपि गुणोन्मुखी गुणोत्सुका लक्ष्मी राजलक्ष्मीरिव बभौ ॥ २६ ॥

उस रामके पीछे चलती हुई जनकनन्दिनी सीता, कैकेयीके मना करनेपर ( रामके )  
गुणोंमें उत्कण्ठित ( अत एव रामके पीछे २ चलती हुई ) राज-लक्ष्मीके समान शोभाय-  
मान होती थी ॥ २६ ॥

अनुसूयातिसृष्टेन पुण्यगन्धेन काननम् ।

सा चकाराङ्गरागेण पुष्पोच्चलितपट्पदम् ॥ २७ ॥

अनुसूयेति । सा सीताऽनुसूययाऽत्रिभार्ययाऽतिसृष्टेन दत्तेन पुण्यगन्धेनाङ्गरागेण  
काननं वनं पुष्पेभ्य उच्चलिता निर्गता पट्पदा अमरा यस्मिंस्तत्तथाभूतं चकार ॥ २७ ॥  
उस सीताने अनुसूया ( अत्रि ऋषिकी पुत्री ) के दिये हुए पवित्र ( श्रेष्ठ ) गन्धवाले

शयेन कम्पमुकादिना । तर्तयत् वृष्टिं कुर्महीयन्नुद्वेगनाशार्थं नरनाशायके पुनः  
बीजमस्य पुनः जघार ॥ २० ॥

रामने भी सीताके साथ बन्ध (बन्धमें होनेवाले कम्प मूक, कठ वल्लभ आदि) से  
बीजम-विचार करते हुए और श्राव्य रहते हुए वे पुनःअस्यमें ही बीजे मर्ते (कम्पन) के  
साथ पुनःकुर्महीयनोंके अन्तका पाकन किया ॥ २० ॥

प्रमाथस्तस्मिन्निष्पन्नमिमांशितं स वनस्पतिम् ।

क्यापिद्वेष्टे सीताया शिरये किञ्चिद्विश्वममात् ॥ २१ ॥

प्रमाथ इति । स रामा क्यापिद्वेष्टात्वेन स्वमहिम्ना स्तम्भिता स्थिरीकृता कृता  
वस्व तं वनस्पतिमाश्रिता सत् । किञ्चिद्विश्वमाश्रित्य सीताया अङ्गे अश्रिते किन्ने  
मुत्पाप ॥ २१ ॥

उक्त रामने किसी समय (रामने) प्रमाथसे स्थिर आश्रितके वनस्पति (पुत्र) का  
नामवकर और किसी समय मानों कुछ कष्टकर्मसे सीताके गोहर्म करन दिया ॥ २१ ॥

येन्द्रि किञ्च नमोस्तस्या शिवद्वारं स्तनौ द्विज ।

प्रियोपभोगाधिष्ठेयु पीरोमाग्यमिवाचरन् ॥ २२ ॥

येन्द्रिरिति । येन्द्रिरिग्नस्य पुण्ये द्विजा पक्षी काकः । येन्द्रिः काकः वनस्पतयो  
इति शिरकः । तस्याः सीतायाः स्तनौ । प्रियस्य रामस्योपभोगाधिष्ठेयुः वनस्पतयश्च  
विवर्णाः । पीरोमाग्येन दोषैकद्विजना कर्म पीरोमाग्यम् । 'दोषैकद्विजनापीरोमाग्यम्'  
इत्यमरः । द्विजैकद्विजनात्माचरन्कुर्महीयनं नमोर्विवद्वारं किञ्चिदेव । किञ्चिदेष्टिजे ॥

पक्षी (काकःकाकी आरभ्य किया हुआ) इत्येका पुनः (वचन) उक्त सीताके स्तनोंके,  
रामके उपभोगके (नमःकर्म) विद्योमें दोष दिखाने हुएके समान मनोंसे विद्योमें कर  
दिया । (दोषैका कर्म आरम्भकर बहनोंसे सीताके स्तनोंपर प्रहार किया) ॥ २२ ॥

तस्मिन्मास्वविपीकस्य रामो रामावपोषितः ।

आत्मानं मुमुषे चस्मादेकनेत्रव्ययेन सः ॥ २३ ॥

तस्मिन्निति । रामया सीतयाऽवपोषितो रामस्तस्मिन्काक इपीकः काकाकाव ।  
'इपीकः काकावमुप्यते' इति हकापुत्रः । आरभ्यहस्यति सः । 'अमुं वेपथे' इति  
आतोर्मुम् । 'अस्वतिवतिवयातिम्भोऽद्' इत्यादुपत्यथा । 'अस्वतेस्तुम्' इति  
धुयागमः । स काक एकनेत्रस्य स्वयेव दानेन तस्मादुत्पादितमात्रं मुमुषे मुक्त्याम् ।  
मुमुषे कर्तरि क्त्वि । 'येन मुमुषे' इतिव्ययीणाः ॥ २३ ॥

शिरा सीतासे इस वान्को आत्मवकर रामने उक्त (काकःकाकी इत्यपुन वचन) पर 'अम्'  
नामक पुन-विशेषके वान्की जघावा और पर (वचन) एक जीवकी मुपावर

( रामबाणके अमोघ होनेसे अपनी एक आंखको उसके द्वारा नष्ट कराकर ) उस बाणसे अपनेको छुड़ाया ॥ २३ ॥

रामस्त्वासन्नदेशत्वाद् भरतागमनं पुनः ।

अ) अशङ्क्योत्सुकसारङ्गां चित्रकूटस्थलीं जहौ ॥ २४ ॥

राम इति । रामस्त्वासन्नदेशत्वाद्धेतोः पुनर्भरतागमनमाशङ्क्योत्सुकसारङ्गामुक्क-  
ण्ठितहरिणा चित्रकूटस्थलीं जहौ तत्याज । आसन्नभ्रासौ देशश्चेति विग्रहः ॥ २४ ॥

रामने समीप होनेसे फिर भरतके आनेकी आशङ्काकर (भावी राम-विरहसे) उत्कण्ठित  
हरिणोंवाली चित्रकूट भूमिकी छोड़ दिया ॥ २४ ॥

प्रययावातिथेयेषु वसन् ऋषिकुलेषु सः ।

दक्षिणां दिशमृच्छेत्पु वार्षिकेज्जिव भास्करः ॥ २५ ॥

प्रययाविति । स रामः अतिथिषु साधून्यातिथेयानि । 'पथ्यतिथिवसतिस्व-  
पतेर्दम्' इति ठक्प्रत्ययः । तेष्पृषिकुलेष्वृष्याश्रमेषु । 'कुल कुत्थे गणे देहे गेहे जन-  
पदेऽन्वये' इति हैमः । वर्षासु भवानि वार्षिकाणि । 'वर्षाभ्यष्टक्' इति ठक्प्रत्ययः ।  
तेष्पृषेणु नक्षत्रेषु राशिषु वा भास्कर इव वसन् दक्षिणां दिशं प्रययौ ॥ २५ ॥

वे राम अतिथियोंमें सङ्ग्रहवहार करनेवाले, ऋषियोंके आश्रमोंमें रहते हुए उस प्रकार  
दक्षिण दिशाकी गये, जिस प्रकार सूर्य वर्षाके नक्षत्रों ( आर्द्रा आदि ) में दक्षिण दिशाकी  
जाते हैं अर्थात् दक्षिणायन होते हैं ॥ २५ ॥

बभौ तमनुगच्छन्ती विदेहाधिपते. सुता ।

प्रतिषिद्धापि कैकेय्या लक्ष्मीरिव गुणोन्मुखी ॥ २६ ॥

बभाविति । तं राममनुगच्छन्ती अनुयान्ती विदेहाधिपते सुता सीता कैकेय्या  
प्रतिषिद्धा निवारिताऽपि गुणोन्मुखी गुणोत्सुका लक्ष्मी राजलक्ष्मीरिव बभौ ॥ २६ ॥

उस रामके पीछे चलती हुई जनकनन्दिनी सीता, कैकेयीके मना करनेपर ( रामके )  
गुणोंमें उत्कण्ठित ( अत एव रामके पीछे २ चलती हुई ) राज-लक्ष्मीके समान शोभाय-  
मान होती थी ॥ २६ ॥

अनुसूयातिसृष्टेन पुण्यगन्धेन काननम् ।

सा चकाराङ्गरागेण पुष्पोच्चलितपट्पदम् ॥ २७ ॥

अनुसूयेति । सा सीताऽनुसूययाऽग्निमार्ययाऽतिसृष्टेन दत्तेन पुण्यगन्धेनाङ्गरागेण  
काननं वनं पुष्पेभ्य उच्चलिना निर्गता पट्पदा अमरा यस्मिंस्तत्तथाभूतं चकार ॥ २७ ॥  
उस सीताने अनुसूया ( अग्नि ऋषिकी पत्नी ) के दिये हुए पवित्र ( श्रेष्ठ ) गन्धवाले

बहिरागते वस वन्यो पुन्योति वने ह्यर जगतीति शुच कर विवा (पुन्योति बोरकर जगती  
नकिं शुचिनि सीताके बहिराग पर जाने को) ॥ १७ ॥ ॥ १ ॥

सन्व्याभ्रकपिरास्तस्य विराधो नाम राक्षसः ।

अतिघ्नमार्गमाहस्य रामस्येन्दोरिव भ्रातृ ॥ २८ ॥

सन्व्याभ्रेति । सन्व्याभ्रकपिस्तो सन्व्याभ्रकपिस्तः पित्रो विराधो नाम राक्षसः ।  
ग्रहो रघुरिन्दोरिव । सत्य रामस्य मार्गमन्वानमाहृत्पावक्यातिहृत् ॥ २८ ॥

सन्व्याभ्रकपिस्तो सन्व्याभ्रकपिस्तः (काक-वीर्य) सर्वभावा विराध नामक राक्षस  
भ्रातृके मार्गो रोहि ह्यर राक्षके सदाय वस रामके मार्गो रोहिकर ब्रह्मा हो वस ॥ २८ ॥

स जहार तयोर्मध्ये मैत्रिकी शोचशोपणः ।

नमोनमस्यथोर्षुष्टिमब्रह्म इवान्तरे ॥ २९ ॥

स इति । शोचस्य शोच्य शोचक, अथसन्व्याभ्रकपिस्तः । स राक्षसस्तपोराम-  
कक्षमन्त्रोर्मध्ये मैत्रिकीम् । नमोनमस्यथोः आनयमन्त्रपदवीरन्तरे मध्ये बुद्धिमन्-  
ग्रहो सर्वप्रतिपन्न इव जहार । 'हृत्विर्षु' अष्टिवातेभ्यः प्राप्ताग्रहो समी' इत्यमरः ॥ २९ ॥

संसारयोः कृत्वा करमेकाया नृ विराध वन बोधोके शोचते सीतायो वन ब्रह्मर हरण  
कर विवा नित ब्रह्मर भावत एवा भ्रातृ महीनोके मन्व्याभ्र वसो वृत्ता (श्रीराम वसन्त)  
हरण कर केदा है ॥ २९ ॥

सं विनिर्दिष्ट्य कञ्जुत्सवी पुरा वृषवति स्थलीम् ।

गन्धेनाशुचिना चेति क्षुभायां निबन्धुः ॥ ३० ॥

उमिति । कञ्जुत्सवः शोचकके पुन्योति कञ्जुत्सवी रामकक्षमन्त्री सं विराधं विनि-  
र्दिष्ट्य वृत्ता । कञ्जुत्सवः प्रविष्टेन गन्धेन स्थलीमात्रमनुष्यं दुरा वृषवति वृषवित्त  
सीति हेतोः । 'वाक्पुत्राविपातयोर्ध्व' इति उमिप्यहोर्ध्वः कञ् । क्षुभायां निबन्धुः  
मृमी क्षुभित्वा निबन्धुवती च ॥ ३० ॥

राम बीर कक्षमन्त्रे को भारकर 'नृ दुर्योधने वृत्ते धूमिको वृत्त कर देया' केदा  
निवारकर को धूमिके भाव विवा ॥ ३० ॥

पञ्चवट्यां सती रामः शासन्त्यकुन्मज्जन्मनः ।

अनपोडस्त्रिस्तस्यो विन्ध्याद्रिः प्रकटाविव ॥ ३१ ॥

पञ्चवट्यामिति । एते रामः कुन्मज्जन्मनोऽप्यस्य वसन्तः । पञ्चवट्यां वट्या  
समावृताः पञ्चवटी । 'उद्विष्टार्थोत्तरपक्षमाहारे च' इति एतदुक्तं । 'संख्यापूर्वो  
क्षिप्त' इति क्षिप्तसंख्यायाः । 'क्षिप्तो' इति वीप् । 'क्षिप्तुरेकचक्र' इत्येकचक्रम् ।

तस्यां पञ्चवटयाम् । विन्ध्योद्भिः प्रकृतौ वृद्धेः पूर्वावस्थायामिव । अनपोढस्थितिरन-  
तिक्रान्तमर्यादस्तस्थौ ॥ ३१ ॥

इसके बाद राम अगस्त्यजीके कहनेसे मर्यादाकी नहीं छोड़ते हुए पञ्चवटीमें उस प्रकार  
रहने लगे, जिस प्रकार विन्ध्यपर्वत अगस्त्यके कहनेसे अपनी प्रकृति (पूर्वावस्था) में  
रहता है ॥ ३१ ॥

रावणावरजा तत्र राघवं मदनातुरा ।

अभिपेदे निदाघार्ता व्यालीव मलयद्रुमम् ॥ ३२ ॥

रावणेति । तत्र पञ्चवटयां मदनातुरा रावणावरजा रावणानुजा शूर्पणखा । 'पूर्व-  
पदा सञ्ज्ञायामग' इति णत्वम् । राघवम्, निदाघार्ता धर्मतप्ता व्याकुला व्याली  
मुञ्जङ्गी मलयद्रुम चन्दनद्रुममिव । अभिपेदे प्राप ॥ ३२ ॥

वहा पर रावणकी कामपीडित छोटी बहन ( शूर्पणखा ), चन्दन वृक्षकी ग्रीष्मसे पीडित  
सर्पिणीके समान रामचन्द्रको प्राप्त हुई । ( रामके पास आयी ) ॥ ३२ ॥

सा सीतासन्निधावेव तं वव्रे कथितान्वया ।

अत्यारूढो हि नारीणामकालज्ञो मनोभवः ॥ ३३ ॥

सेति । सा शूर्पणखा सीतासन्निधावेव कथितान्वया कथितस्ववशा सती तं राम  
वव्रे वृत्तवती । तथा हि अत्यारूढोऽतिप्रबुद्धो नारीणा मनोभवः काम कालज्ञोऽवस-  
रज्ञो न भवतीत्यकालज्ञो अनवसरज्ञो हि ॥ ३३ ॥

उस ( शूर्पणखा ) ने सीताके सामने ही अपने कुलकी बताकर रामकी वरण किया ।  
बहुत बड़ा हुआ कियोंका काम समयको नहीं पहचानता है ॥ ३३ ॥

कलत्रवानहं बाले । कनीयांसं भजस्व मे ।

इति रामो वृषस्यन्तीं वृषस्कन्धः शशास ताम् ॥ ३४ ॥

कलत्रेति । वृषः पुमान् । 'वृषः स्याद्वासवे धर्मे सौरभेये च शुक्रले । पुराशि  
भेदयो ऋङ्गयां मूषकश्रेष्ठयोरपि' ॥ इति विश्वः । वृष पुरुषमात्मार्थमिच्छतीति  
वृषस्यन्ती कामुकी । 'वृषस्यन्ती तु कामुकी' इत्यमरः । 'सुप आत्मन क्यच्' इति  
क्यच्प्रत्ययः । 'अश्वक्षीरवृष-लवणानामात्मग्रीसौ क्यचि' इत्यसुरागमः । ततो लट्  
शत्रादेशः । 'उगितश्च' इति ङीप् । श्लोकार्थस्तु—वृषस्कन्धो रामो वृषस्यन्तीं  
तां राक्षसीम् । हे बाले ! अहं कलत्रवान्, मे कनीयांसं कनिष्ठ भजस्व इति  
शशासाज्ञापितवान् ॥ ३४ ॥

वृषके समान स्कन्धवाले रामने 'हे बाले ! मैं स्त्रीयुक्त हूँ, मेरे छोटे भाईके पास  
जाओ' इस प्रकार अतिमैथुनेच्छावाली उस ( शूर्पणखा ) से कहा ॥ ३४ ॥

पथेष्ठाभिगमनात्पूष सेनाप्यनमिनन्दिता ।

साऽमूत्रामाभया मूयो नदीयोमयपूषामाप् ॥ ३५ ॥

ज्येष्ठेति । पूर्वं ज्येष्ठमिषमवासेन छत्रमभीषाप्यवमिनन्दिता नाज्ञीकृता पूषे रामाभया रामसमीपं पुषरायच्छन्ती सा राजसी । अमे कृते भवतीत्युमयपूषामाप् नदीयाम् । सा हि धातावाताम्नां अर्पयेत् पूष इत्यगामिनी नदीसदृशमभूदित्यर्थः ॥

वहके बड़े भारंके पास आयेके कारण वत ( अमन ) के लीछार नहीं करके पर फिर राज्यके पास आते वह ही छत्रोंकी आज्ञा करयेवाली नदीके समान हुई ॥ ३५ ॥

सरस्मं मैत्रिलीहासं क्षयसौम्यां निनाय ताम् ।

निघातस्त्रिमितां वेलां चन्द्रोदय इवोदये ॥ ३६ ॥

रश्ममिति । मैत्रिलीहासः क्षयं सौम्यां सौम्याक्षरां तां राजसीम् । निघातेन त्रिमितां निजकस्तुदयेर्वेदमग्नयुविह्वलिम् अग्नयुविह्वलिम् । 'अग्नयुविह्वली वेला' इत्यमरः । चन्द्रोदय इव । संक्रमे संकोचे निघातः ॥ ३६ ॥

सीताजी इतीये क्षयवाले किये छत्रों की बनी हुई ( किन्तु राजसी होनेके कारण सर्वदा मण्डार फलवाली ) वत क्षयवाली वायुके जघाते वाला अग्नयुविह्वली अग्नयुविह्वली समान संक्रम कर दिया ॥ ३६ ॥

पञ्चमत्योपहासस्य सद्यः प्राप्स्यसि परम माम् ।

सुम्यां परिमवो व्याप्रथामित्यवेहि त्वया कृतम् ॥ ३७ ॥

पञ्चमिति । पञ्चमत्योपहासस्य । अस्वीपहासस्य पञ्च सद्यः सम्प्राप्त्यैव प्राप्स्यसि । मां परम । त्वया कृतं कृतं कृतमुपहासक्यं कारणं व्याप्रथी विप्रये सुम्यां कृत्यं परिमव इत्यवेहि ॥ ३७ ॥

'वत वरहात ( महात ) का पञ्च तीस पावोंकी सुखी वेला; तुमसे किये क्या वह वरहात व्याप्रथीके विषयमें सुखी द्वारा किया गया तिरस्कार है' यह समझो । ( वित वरहात व्याप्रथीका तिरस्कार करनेवाली सुखीका कुचक नहीं होता, उही मकार छेरे द्वारा किये बड़े वरहातका छेरा पञ्च की तीस ही सुखी वेला ) ॥ ३७ ॥

इत्युक्त्वा मैत्रिलीं मर्तुरष्टे निभिरासी मयात् ।

रूपं शूर्पणखा नाम्नः सद्यो प्रत्यपश्यत् ॥ ३८ ॥

इतीति । यथाऽमर्तुरष्टे विविधलीलाकृन्ती मैत्रिलीमित्युक्त्वा शूर्पणखा नाम्ना सद्यश्च, शूर्पणखारूपमुपलभित्यर्थः । रूपमाकर्षं प्रत्यपश्यत् स्वीचकार, अहं चक्षित्यर्थः ॥ ३८ ॥

भयसे पति ( राम ) की गोदमें छिपती हुई सीतासे ऐसा कहकर शूर्पनखाने नामके समान ( भयङ्कर ) रूप धारण कर लिया ॥ ३८ ॥

लक्ष्मणं प्रथमं श्रुत्वा कोकिलामञ्जुवादिनीम् ।

शिवाघोरस्वनां पश्चाद् बुबुधे विकृतेति ताम् ॥ ३९ ॥

लक्ष्मण इति । लक्ष्मण प्रथम कोकिलावन्मञ्जुवादिनीं पश्चाच्छिवावद्घोरस्वनां जम्बुकीभीषणरवां तां शूर्पणखां श्रुत्वा, तस्याः स्वनं श्रुत्वेत्यर्थः । सुस्वनः शङ्ख अयूते इतिव्यपयोगः । विकृता मायाविनीति बुबुधे बुद्धवान् । कर्तरि लिट् ॥ ३९ ॥

लक्ष्मणने पहले कोकिलके समान मधुर बोलनेवाली तथा बादमें 'स्यारिन ( शृगाली ) के समान भयङ्कर स्वरवाली उस ( के शब्द ) को सुनकर- 'यह मायाविनी है' ऐसा जाना ॥ ३९ ॥

पर्णशालामथ क्षिप्रं विकृष्टासि प्रविश्य सः ।

वैरूप्यपौनरुक्त्येन भीषणां तामयोजयत् ॥ ४० ॥

पर्णशालामिति । अथ स लक्ष्मणो विकृष्टासिः कोशोद्धृतखड्गः सन् क्षिप्रं पर्णशालां प्रविश्य । भीषयतीति भीषणाम् । नन्धादिवाक्स्वयुट् कर्तरि । तां राक्षसीं कर्णनासादिच्छेदाद्यद्वैरूप्यं तस्य वैरूप्यस्य पौनरुक्त्यं द्वैगुण्यं लक्षणया । तेनायोजयद्योजितवान् । स्वभावत एव विकृता ता कर्णादिच्छेदेन पुनरतिविकृतामकरोदित्यर्थः ॥ ४० ॥

इसके बाद वह लक्ष्मण ( म्यानसे ) तलवारको खींचे हुए, शट पर्णकुटीमें घुसकर भयङ्कर रूपवाली उस ( शूर्पनखा ) को कुरूपकी पुनरुक्तिसे युक्तकर दिया अर्थात् राक्षसी होनेके कारण पहलेसे ही कुरूप उस शूर्पनखाकी उसके नाक-कान काटकर अधिक कुरूप कर दिया ॥ ४० ॥

सा वक्रनखधारिण्या वेणुकर्कशपर्वया ।

अङ्कुशाकारयाऽङ्कुल्या तावतर्जयदम्बरे ॥ ४१ ॥

सेति । सा वक्रनखं धारयतीति वक्रनखधारिणी । तथा वेणुवत्कर्कशपर्वया । अत एवाङ्कुशस्याकार इवाकारो यस्याः सा तथा, अङ्कुल्या । तौ राघवावम्बरे व्योम्नि स्थिता । 'अम्बर व्योम्नि वाससि' इत्यमरः ॥ अतर्जयदमर्त्ययत् । 'तर्ज भर्त्सने' इति धातोश्चौरादिकादनुदात्तेष्वान्तेपदेन साम्यम् । तथापि चक्षिणो द्विकरणाज्जापकादनुदात्तेष्वनिमित्तस्यात्मनेपदस्यानित्यत्वात्परस्मैपदमूढमित्युक्तमाख्यातचन्द्रिकायाम् 'तर्जयते भर्त्सयते तर्जयतीत्यपि च दृश्यते कविषु' इति ॥ ४१ ॥

उस ( शूर्पनखा ) ने टेढ़े नखोंवाली, बांसके समान पोरोंवाली तथा अङ्कुशके समान आकारवाली अङ्गुलिसे, आकाशमें ( पहुँचकर ) उन दोनों ( राम-लक्ष्मण ) को डराया ॥ ४१ ॥



प्राप्य चाहु जनस्थानं त्वरादिभ्यस्तथाविधम् ।

रामोपक्रममाचक्ष्यो रक्षपरिमर्षं नयम् ॥ ४२ ॥

प्राप्येति । साम्राज्य जनस्थानं प्राप्य त्वरादिभ्यो राक्षसेभ्यस्तथाविधं स्वाहृद्यैरा-  
त्मकं वादिकाप्येव रूपम् । उपक्रम्यत इत्युपक्रमः । कर्मणि प्रप्रत्यया । इमं न  
कर्तुं प्रप्रत्यया । रामोपक्रमम् रामेण साहाय्यप्राप्तमित्यर्थः । 'उपशोपक्रमे तदाध्य-  
क्षमाप्तायाम्' इति वक्ष्यितव्यम् । तत्रैव रसज्ञां कर्मभूतानां परिमर्षमाचक्ष्यो च ॥ ४२ ॥

और छोड़ जनस्थान ( दम्भकाररक्षा एक माला-विशेष ) को प्राप्तकर कर जाहिर  
रामके यह व्यवहारकर रामछोके सर्वप्रथम तिरस्कारछो नतकाना ॥ ४२ ॥

मुखाभय्यक्ष्णां ता नैर्ऋतां पशुरो वपुः ।

रामामिषादिनां तेषां तदेवामूषमङ्गक्षम् ॥ ४३ ॥

मुचेति । नैर्ऋता राक्षसाः । 'नैर्ऋतो यन्तुर्ऋती' इत्यमरः । मुखाभयरेषु कर्मा-  
निष्ठेभ्यो क्ष्णां क्ष्णां तां पशुरो वपुः इत्युच्यते । वक्ष्येव रामामिषादिनां राममन्त्रित्वानां  
तैवामङ्गक्षमाप्ताम् ॥ ४३ ॥

राक्षसोंने भी मन्त्री और कमन्त्री वच ( चूर्णलका ) को माला किना वही रामके  
प्रति कपई करवैवाके राक्षसोंका मधकुम हुआ । ( वाचार्थे सामने मङ्ग-पद मन्त्रिणी  
वैद्यना औचित्य-कारणमें मङ्ग-कारक माला कहा है ) ॥ ४३ ॥

उदाभुजानापततस्तान्मन्त्रैरेव राक्षसः ।

निवृत्ते विजयाशसां चापे भीतां च क्षप्सवो ॥ ४४ ॥

उदाभुजेति । उदाभुजानुपतानुजानामपतत आवाप्यतो रक्षान् समर्थास्तान्करानी-  
श्रेण्य राक्षसचापे वपुनि निक्षेपस्याशसां सामासां क्षप्सवो भीतां च निवृत्ते । सीतारक्ष-  
सक्षमत्वं विदुष्य स्वर्गं पुत्राय राज्ञे इति भावः ॥ ४४ ॥

रामने करन कराने हुए और जाते हुए अधिमानी जब रामछोके देखकर कतुर्ग  
विजयकी आकांक्षी और वक्ष्यमने सीतारक्षे रक्षा नपाए सीतारक्षे रक्षके किने क्षप्सवो  
विदुष्यकर स्वर्ग मुद्रके किने तैवार ही गये ॥ ४४ ॥

एको द्वाशरविः कर्म वातुधानां सङ्कशः ।

ते ह वाचन्त एवाभी तावाम् वृष्टो स तैः ॥ ४५ ॥

एक इति । द्वाशरविं द्वाय वक्ष्येवहित्तिनिः । वातुधानां कर्म सङ्कशः सतीति  
शेषः । तेषां वाचनेषु स राम जासी मुद्रे ते वातुधाना वाचन्तो वाचार्थक्याका दम्  
तावाम् वृष्टो स तैः ॥ ४५ ॥

यद्यपि राम अकेले थे और राक्षस हजारों थे, किन्तु उन राक्षसोंने जितने राक्षस थे, उतने रामको संग्राममें देखा ॥ ४५ ॥

असज्जनेन काकुत्स्थः प्रयुक्तमथ दूषणम् ।

न चक्ष्मे शुभाचारः स दूषणमिवात्मनः ॥ ४६ ॥

असज्जनेनेति । अथ शुभाचारो रणे साधुचारी सद्वृत्तश्च स काकुत्स्थोऽसज्जनेन दुर्जनेन रक्षोजनेन च प्रयुक्तं प्रेषितमुच्चारितं च दूषणं दूषयतीति दूषणस्तं दूषणाख्यं राक्षसमात्मनो दूषणं दोषमिव न चक्ष्मे न सेहे । प्रतिकर्तुं प्रवृत्त इत्यर्थः ॥ ४६ ॥

सदाचरणवाले रामने दुष्ट राक्षसलोगोंसे भेजे गये उस ( 'दूषण' नामक राक्षस ) को उस प्रकार क्षमा नहीं किया, जिस प्रकार सदाचारी व्यक्ति दुर्जनोंके उच्चारित अपने दोषको क्षमा नहीं करता है ॥ ४६ ॥

त शरैः प्रतिजग्राह खरत्रिशिरसौ च सः ।

क्रमशस्ते पुनस्तस्य चापात्सममिवोद्ययुः ॥ ४७ ॥

तमिति । स रामस्त दूषणं खरत्रिशिरसौ च शरैः प्रतिजग्राह, प्रतिजहारैत्यर्थः । क्रमशो यथाक्रमम् । प्रयुक्ता अपीति शेषः । तस्य ते शराः पुनश्चापात्समं युगपदि-बोध्युः । अतिलघुहस्त इति भावः ॥ ४७ ॥

उस ( राम ) ने उस ( 'दूषण' नामक राक्षस ) को तथा खर और त्रिशिराको प्रति-ग्रहण किया ( उनके विरुद्ध युद्ध किया ) । उनके क्रमसे ( एकके बाद दूसरा ) छोड़े गये भी बाण मानों धनुषसे एक साथ निकले । ( रामने इतने शीघ्र बाण छोड़े कि क्रमश छोड़े गये भी बाण एक साथ ही छोड़े गये-से मालूम पड़ते थे ) ॥ ४७ ॥

तैस्त्रयाणां शितैर्बाणैर्यथापूर्वविशुद्धिभिः ।

आयुर्देहातिगैः पीत रुधिर तु पतत्रिभिः ॥ ४८ ॥

तैरिति । देहमतीत्य भित्वा गच्छन्तीति देहातिगाः । तैर्यथास्थिता पूर्वविशुद्धि-यैषां तैः । अतिवेगत्वेन देहभेदाप्रागिव रुधिरलेपरहितैरित्यर्थः । शितैस्तीक्ष्णैस्तेषां तैस्त्रयाणां खरादीनामायुजीवितं पीतम् । रुधिर तु पतत्रिभिः पक्षिभिः पीतम् ॥ ४८ ॥

देहको भेदन करनेवाले, पहले ( देहभेदनके पूर्व ) के समान शुद्धियुक्त ( मारने पर भी रक्तरहित होनेसे स्वच्छ ) और-तीक्ष्ण उन बाणोंने उन तीनों ( दूषण, खर और त्रिशिरा ) को आयुको पी लिया ( उन्हें मार डाला ) और उनके रक्तको पक्षियोंने पीया ॥

तस्मिन् रामशरोत्कृत्ते बले महति रक्षसाम् ।

उत्थित दृष्टोऽन्यच्च कबन्धेभ्यो न किञ्चन ॥ ४९ ॥

तस्मिन्निति । तस्मिन् रामसरेल्लक्ष्मणे द्वित्र्ये महति रक्षसां बन्धे उरियतमुत्पात-  
त्रियाभिधिर्ह्य प्राणिनां कथम्येभ्यः सिरोहीनधारीभ्यः । 'कम्बोऽग्नी त्रिबाहुज्य-  
सूर्यकक्षेवरस्य इत्यमरः । जल्पवाग्बलिक्रान्तं च दृष्टो । कथम्येभ्य इत्यत्र 'जम्बातरस्य'  
इति पञ्चमी । त्रिस्तैर्य इत्यभिधेयार्थः ॥ ३९ ॥

रक्षसोऽपि यत्तु रक्षी सेनायै राम-बाणोऽपि कटे ( मारे ) जानेपर कषर बडे इव नव  
( केर कटे इव धिरते हीन वै ) के अतिरिक्त कुछ नहीं दिखाई पड़ा क्योंकि सब रक्षसों  
को रामने मार दिया ॥ ४० ॥

सा बाणवर्षिणं रामं धोषयित्वा मुरद्विषाम् ।

अम्बोपाय मुष्याप गृम्यन्नाये वरुमिनी ॥ ४० ॥

येति । सा मुरद्विषां रक्षसां वरुमिनी सेना बाणवर्षिणं रामं धोषयित्वा कुट्टे  
करयित्वा । गृम्यायां क्षुत्वा गृम्यन्नायम् । 'क्षुत्वा बाहुक्ये इति छिन्नकम् । तस्मिन्  
अम्बोपायापुनर्वर्षात् मुष्याप, ममारोवर्षः । अत्र मुरतभ्रान्तकमन्तासमाधि-  
र्यन्ते ॥ ४० ॥

रक्षसोऽपि नर सेना बाण वरसाधैराके रामको अम्बुपर ( फिर ) नहीं जानेके भिन्ने  
गोचो ( के पक्षी ) को क्षान्ताये ली पनी क्योंकि मर गयी ॥ ४१ ॥

उपवाहविदीर्णानां रावणं प्रति रक्षसाम् ।

तेषां क्षूर्पणक्षौर्वेका बुध्यदृष्टिहराजम्बत् ॥ ४१ ॥

रावणेति । बुद्धां क्षूर्पणक्षानि कस्याः सा क्षूर्पणका । 'पूर्वज्ञातंज्ञानामय'  
इति कथम् । 'नक्षत्रमुखात्तंज्ञानम्' इति दीप्यतिरेकः । तैव रावणे प्रति रावणक्षौ-  
र्विदीर्णानां इत्याद्यां तेषां रक्षसां कराधीनां बुध्यदृष्टिं बलीं हरति प्रापवतीति बुध्यदृष्टि-  
हराजम्बत् । 'वातांशुदृष्टिर्बुध्यात्' इत्यमरः । 'हरतेरुद्यमनेऽच्' इत्यच्प्रत्ययः ॥ ४१ ॥

रामके अर्धोऽपि मारे गये वन रक्षसोंके दुरे समाचारको रामके पास पहुँचाने वाली  
एक क्षूर्पणका ही गयी ॥ ४२ ॥

निम्नहास्त्वसुरप्रभानां वधाच्च वनवासुखं ।

रामेण निश्चितं मेने पर्वं वरसु मूर्धसु ॥ ४२ ॥

विप्रहासिति । त्वसुः क्षूर्पणकाया निम्नहावक्ष्योद्यमप्रभानां वधूतां करतीनां  
वधाच्च कसत्तन्त्रवदृष्टुजो रामो रामेण वरसु मूर्धसु पर्वं पर्वं निश्चितं मेने ॥ ४२ ॥

वरन ( क्षूर्पणका ) को नष्टविधक करती है तथा निम्न वाग्बलोंके मारते है रामके  
( जपते ) इसी प्रसंगको पर राम का पैर रक्षणा समझा ॥ ४२ ॥

रक्षसा मृगरूपेण वञ्चयित्वा स राघवौ ।

जहार सीतां पक्षीन्द्रप्रयासक्षणाविघ्नितः ॥ ५३ ॥

रक्षसेति । स रावणो मृगरूपेण रक्षसा मारीचेन राघवौ वञ्चयित्वा प्रतार्य पक्षी-  
न्द्रस्य जटायुप. प्रयासेन युद्धरूपेण क्षण विघ्नितः सक्षातविघ्नः सन् सीतां जहार ॥  
उस ( रावण ) ने ( सुवर्णके ) मृगरूप धारण करने वाले राक्षस ( मारीच ) से राम-  
लक्ष्मणको वञ्चितकर पक्षिराज ( 'जटायु' नामक गृध्र ) से क्षणमात्र विघ्नयुक्त होकर  
सीताका हरण कर लिया ॥ ५३ ॥

तौ सीतान्वेपिणौ गृध्रं लूनपक्षमपश्यताम् ।

प्राणैर्दशरथप्रीतेरनृण कण्ठवर्तिभिः ॥ ५४ ॥

ताविति । सीतान्वेपिणौ तौ राघवौ लूनपक्ष रावणेन क्षिप्तपक्ष कण्ठवर्तिभिः  
प्राणैर्दशरथप्रीतेर्दशरथसख्यस्यानृणमृणैर्विमुक्त गृध्र जटायुपमपश्यतां दृष्टवन्तौ ।  
हशैर्लडि रूपम् ॥ ५४ ॥

सीताको दूढ़ते हुए उन दोनों ( राम-लक्ष्मण ) ने कटे हुए पक्षीवाले और कण्ठमें  
आये हुए प्राणीसे दशरथ की मित्रतासे ऋणमुक्त गृध्र जटायुको देखा । ( दशरथकी पुत्रवधू  
सीताको छुड़ानेके लिये शत्रुसे युद्धकर मरणावस्थाको प्राप्त होनेसे गृध्रराज 'जटायु'को दश-  
रथकी मित्रतासे ऋणमुक्त समझना चाहिये ) ॥ ५४ ॥

स रावणहृतां ताभ्यां वचसाऽऽचष्ट मैथिलीम् ।

आत्मनः सुमहत्कर्म व्रणैरावेद्य सस्थितः ॥ ५५ ॥

स इति । स जटायू रावणहृतां मैथिलीं ताभ्यां रामलक्ष्मणाभ्याम् । 'क्रिया-  
ग्रहणमपि कर्तव्यम्' इति सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी । वचसा वाग्वृत्त्याऽचष्ट । आत्मनः  
सुमहत्कर्म युद्धरूपं व्रणैरावेद्य सस्थितो मृत ॥ ५५ ॥

वद् ( जटायु ) उन दोनों ( राम-लक्ष्मण ) से सीताको रावणसे हरण की हुई वचनसे  
कहकर अपने वड़े भारी कर्म ( सीताकी रक्षाके लिये रावणसे युद्धरूप कर्म ) की अपने  
घावोंसे ही बतलाकर मर गया ॥ ५५ ॥

तयोस्तस्मिन्नवीभूतपितृव्यापत्तिशोकयोः ।

पितरीवामिसंस्कारात्परा ववृत्तिरे क्रिया ॥ ५६ ॥

तयोरिति । व्यापत्तिर्मरणम् । नवीभूत पितृव्यापत्तिशोक पितुः दशरथस्य  
व्यापत्तिर्मरणस्य शोकः तयोरतौ तयो राघवयोस्तस्मिन्नृध्रे पितरीवामिसंस्काराद्-  
ग्निसंस्कारमारम्य परा उत्तरा क्रिया ववृत्तिरेऽवर्तन्त । तस्य पितृवदौर्ध्वदेहिक  
चक्रतुरित्यर्थः ॥ ५६ ॥

मया हो मया है पिता (रक्षारण) के मरणका घोक विनका पेछे लख होनों  
कर्मन्धे वस (व्याप्तु) में नागितल्लार (वत्) छे डेकर लख कर्ष पिताके समान  
हूना । ( वत् होनोंके व्याप्तुके मरनेपर पिताके मरनेके समान डोक किया और वत् नारि  
लख पारकोकि संस्कार भी पिताके समान ही किया ) ॥ ५९ ॥

वधनिभूतशापस्य कर्मन्धस्योपवेशात् ।

सुमूर्च्छं सख्य रामस्य समानव्यसने हरौ ॥ ६० ॥

बधेति । वधेन रामकृतेन विधूतशापस्य वैवशुर्धं वधस्य कर्मन्धस्य रक्षोवितेन-  
स्योद्ग्रेसितो रामस्य समानव्यसने समानापादि, कर्मन्धविशोगदुषिते सख्यार्थिनी  
त्पर्य, हरौ करौ सुमीये । 'दुष्कर्मविशेकेषु हरिषां कपिषु त्रिषु इत्यमरः । सख्यं  
सुमूर्च्छं वदुषे ॥ ५० ॥

रामके मारवैछे शापस मुक्त कर्मन्धके वधकानेछे रामकी विनका ( पारं नागिके द्वारा  
लखके हरम किने बानेके कारण रामके ) समान दुष्कर्मके वावर ( दुमीय ) में वधने वदुषे ॥

स इत्वा वासिन बीरस्वतपदे विरकाङ्क्षिते ।

घातोऽस्मान् ज्ञावेरां सुमीर्षं संन्यवेशयत् ॥ ६१ ॥

स इति । बीरः स रामो वासिर्धं सुमीर्षाग्रजं इत्वा विरकाङ्क्षिते तपदे वासि-  
स्थाने घातोऽस्मात् आदेशमिव आदेशमूर्धं पारवन्तरमित्येवार्थः । सुमीर्षं संन्यवेश  
पत्स्यारितवान् । यथा 'अस्तेमूर्धं' इत्यस्तिघातोऽस्मात् आदेशो भूषादुरस्तिकर्षम-  
क्षेर्धं समन्विष्यते तद्वदिति भावः । आदेशो नाम लक्ष्मन्तरस्य स्थाने विधीयमानं  
सम्पत्तरमभिधीयते ॥ ५६ ॥

वत् ( राम ) के नागीको मरकर नागके ल्वावर आदेशके समान ( 'मध्' या नादि  
नागको ल्वावर मरकर 'मस्तेमूर्धं' तथा 'ग्राप्ता' - - इत्यदि वदौछे यिरिध 'व्'  
और 'पि' नादि आदेशके समान ) दुमीयकी विरकाङ्क्षे अमिधरिध वत् ( वासी ) के  
स्थान पर रका ॥ ५९ ॥

इतस्ततश्च वैदेहीमन्वेष्टुं मर्त्योदित्वा ।

कपय्येकरार्तस्य रामस्यैव मनोरथा ॥ ६२ ॥

इत इति । वैदेहीमन्वेष्टुं मार्तिनुं मर्त्तां सुमीर्षेण बोधित्वा मनुजः । कपयो इह-  
मन्मनुजाः । आर्तस्य विरहादुरस्य रामस्य मनीरथा कामा इव इतस्ततश्चेक्यावा-  
दैषेण वदनुष ॥ ५९ ॥

लामो ( दुमीय ) के द्वारा लोताकी बोधनेके किने वावर ( इनुपाय, पहर नारि )  
रामके मनोरथके समान ववर-उवर बूबने कने ॥ ५९ ॥

प्रवृत्तावुपलब्धायां तस्याः सम्पातिदर्शनात् ।

मारुतिः सागरं तीर्णः संसारमिव निर्ममः ॥ ६० ॥

प्रवृत्ताविति । सम्पातिर्नाम जटायुषो ज्यायान्भ्रान्ता । तस्य दर्शनात् । तन्मुखा-  
दिति भावः । तस्याः सीतायाः प्रवृत्तौ वार्तायाम् । 'वार्ता प्रवृत्तिर्गुत्तान्तः' इत्यमरः ।  
उपलब्धायां ज्ञातायां मस्याम् । मारुतस्यापत्यं पुमान्मारुतिः हनुमान्नागरम् । ममे-  
त्येतद्व्ययं ममतायाचि । तद्रहितो निर्ममो निःस्पृहः ससारमविद्याबन्धनमिव ।  
तीर्णस्वत्तार । तरतेः कर्तरि क्तः ॥ ६० ॥

सम्पाति ( 'जटायु' का मारु ) के देखनेसे उस ( सीता ) की यात्रा मारुम होनेपर,  
ससार को अस्पृह रहित व्यक्तिके समान, मनुष्यको पार कर गये ॥ ६० ॥

दृष्टा विचिन्वता तेन लब्धायां राक्षसीवृत्ता ।

जानकी विषवल्लीभिः परीतं महौपधिः ॥ ६१ ॥

दृष्टेति । लब्धाया रावणराजधान्यां विचिन्वता मृगयमाणेन तेन मारुतिना राक्ष-  
सीभिर्वृत्ता जानकी विषवल्लीभिः परीता परिवृता महौपधिः मल्लीविनीकतेषु दृष्टा ॥

( सीताको ) दृढत हृष्ट हनुमान्ने, विषवृताओंसे घिरी हुई महौपधिके समान राक्षसियोंसे  
घिरी हुई सीताको लक्ष्मणें देखा ॥ ६१ ॥

तस्यै भर्तुरभिधानमङ्गुलीयं ददौ कपिः ।

प्रत्युत्तमित्रानुष्णैस्तदानन्दाश्रुविन्दुभिः ॥ ६२ ॥

तस्या इति । कपिर्हनुमान्भर्तुं रामस्य मरप्रत्यभिज्ञानं श्रमिज्ञायत इत्यभिज्ञान  
प्रत्यभिज्ञानमाधकमङ्गुलीयमूमिकाम् । 'अङ्गुलीयकमूमिका' इत्यमरः । 'जिह्वामूला-  
द्रुलेदय' इति छप्रत्ययः, तस्यै जानक्यै ददौ । किं विषमङ्गुलीयम् । अनुष्णैः क्षीतल-  
स्तस्या आनन्दाश्रुविन्दुभिः प्रत्युत्तमित्र मित्रत्वम् । भर्तृभिज्ञानदर्शनादानन्दयाप्नो  
जात इत्यर्थः ॥ ६२ ॥

कपि ( यानर अर्थात् हनुमान् ) ने उस ( सीता ) के लिये पति ( राम ) के दिये  
हुए चिह्न रूप अंगुली की, दृढ तथा उस सीताके आनन्दजन्य आँसुओं के बूँदोंसे निर्गतके  
समान, दिया ॥ ६२ ॥

निर्वाप्य प्रियमन्देशैः सीतामश्रुधोद्धतः ।

स दृष्ट्वा पुरीं लब्ध्वा शृणामोदरिनिग्रहः ॥ ६३ ॥

निर्वाप्येति । स कपिः । प्रियस्य रामस्य सन्देशवार्तिकः सीतां निर्वाप्य सुख-  
यित्वा । अश्रुस्य रावणकुमारस्य वधेनोद्धतो हसः सन् । शृणु मोदोदरिनिग्रजितः कर्तुः-

मया हो मया है पिता (दशरथ) के मरणका शोक मिलकर पैसे तब दोनों  
कर्मण्ये वसु (वयसु) में नमिस्तस्थार (बाह) से केकर सब कार्य पिताके समान  
हुआ । ( इन दोनोंने वयसुके मरनेपर पिताके मरनेके समान शोक किया और बाह नारि  
सब पारकोटिक संस्कार भी पिताके समान ही किया ) ॥ ५६ ॥

यधनिबूतशापस्य कवन्धस्योपदेशात् ।

सुमूर्च्छं सख्य रामस्य समानक्यसने हरी ॥ ५७ ॥

अपेति । यधेय रामकृतेषु विप्लवशापस्य देवमुखं यतस्तु कवन्धस्य रक्षोभिद्रो-  
स्वोपदेशतो रामस्य समानक्यसने समानापदि, कञ्चनविधोगादुपहिते सख्यप्रियं  
त्वर्थः, हरी कपी सुमीये । 'शुद्धादिकविमेकेषु हरिर्ना कपिके विदु इत्यमरा । सख्यं  
सुमूर्च्छं बह्वे ॥ ५७ ॥

रामके मारनेसे आपस कुछ कवन्धके वचनमेसे रामकी विवता ( पार्य राक्षि के द्वारा  
रानीके हरण किने जानेके कारण रामके ) समान दुःखराके वावर ( सुमीय ) में बहने लगी ॥

स हत्वा वाञ्छिन वीरस्वत्पदे चिरकङ्किते ।

घातोः स्थान इवादेशा सुमीयं सन्यवेशयत् ॥ ५८ ॥

स इति । वीरा स रामो वाञ्छिनं सुमीयामयं हत्वा चिरकङ्किते उत्तरे वाञ्छि-  
स्थाने, घातोः स्थान आदेशमिव, आदेशमृते वाञ्छितरमिषेत्यर्थः । सुमीयं सन्यवेश-  
यत्स्वापितवान् । यथा 'अस्तेयं' ह्यस्तिघातोः स्थान आदेशो भूषादुरस्तिकार्यम-  
दीयं सममिषते तद्वदिति भावः । आदेशो नाम वाञ्छितरस्य स्थाने विधीयमानं  
वाञ्छितरममिषीयते ॥ ५८ ॥

उठ ( राम ) ने वाञ्छिकी मारकर वाञ्छिके स्थानपर आदेशके समान ( 'नत्' या' अग्नि  
वाञ्छिकी स्थानपर अजडा मस्तीयुं तथा राजाध्या' --- हत्यादि घातोंसे धिहित व  
वीर 'विश' अग्नि आदेशके समान ) सुमीयको निरकङ्किते कविचरित वसु ( बाह्य ) के  
स्थान पर रखा ॥ ५८ ॥

इतस्ततश्च वैदेहीमन्येष्टुं भर्तृचोदिता ।

कपय्योऽठराष्टस्य रामस्येव मनोरमा ॥ ५९ ॥

इत इति । वैदेहीमन्येष्टुं भार्गवो भर्ता सुमीयेन चोदिता प्रयुक्ताः कपयो वृद्ध-  
जन्ममुक्ताः आर्तस्य विरहादुरस्य रामस्य मनोरमा कामा इव इतस्ततश्चोत्कर्षा  
वैदेष्टुं प्रयुक्ता ॥ ५९ ॥

रामो ( सुमीय ) के द्वारा सीताकी चौकनेके किने वावर ( इतुयस्य बह्व आदि )  
रामके मन्त्रोक्तके समान वर-वर बूझने लगे ॥ ५९ ॥

प्रवृत्तावुपलब्धायां तस्याः सम्पातिदर्शनात् ।

मारुतिः सागर तीर्णं ससारमिव निर्ममः ॥ ६० ॥

प्रवृत्ताविति । सम्पातिर्नाम जटायुषो ज्यायान्भ्रान्ता । तस्य दर्शनात् । तन्मुखा-  
दिति भावः । तस्याः सीतायाः प्रवृत्तौ वार्तायाम् । 'वार्ता प्रवृत्तिर्बृत्तान्तः' इत्यमरः ।  
उपलब्धायां ज्ञाताया सत्याम् । मारुतस्यापत्य पुमान्मारुतिः हनूमान्सागरम् । ममे-  
त्येतदव्यय ममतावाचि । तद्रहितो निर्ममो निःस्पृहः ससारमविद्याबन्धनमिव ।  
तीर्णस्तार । तरते कर्तरि क्तः ॥ ६० ॥

सम्पाति ( 'जटायु' का भार्गव ) के देखनेसे उस ( सीता ) की बात मालूम होनेपर,  
सागर को अङ्गुली रहित व्यक्तिके समान, समुद्रको पार कर गये ॥ ६० ॥

दृष्टा विचिन्वता तेन लङ्काया राक्षसीवृता ।

जानकी विषवल्लीभिः परीतेव महौषधिः ॥ ६१ ॥

दृष्टेति । लङ्कायां रावणराजधान्यां विचिन्वता मृगयमाणेन तेन मारुतिना राक्ष-  
सीभिर्बृता जानकी विषवल्लीभिः परीता परिवृता महौषधि सञ्जीविनीकृतेव दृष्टा ॥

( सीताको ) दृढते हुए हनुमान्ने, विषलताओंसे घिरी हुई महौषधिके समान राक्षसियोंसे  
घिरी हुई सीताको लङ्कामें देखा ॥ ६१ ॥

तस्यै भर्तुरभिज्ञानमङ्गुलीय ददौ कपिः ।

प्रत्युद्रतमिवानुष्णैस्तदानन्दाश्रुविन्दुभिः ॥ ६२ ॥

तस्या इति । कपिर्हनूमान्भर्तुं रामस्य सम्बन्ध्यभिज्ञान अभिज्ञायत इत्यभिज्ञानं  
प्रत्यभिज्ञानसाधकमङ्गुलीयमूर्मिकाम् । 'अङ्गुलीयकमूर्मिका' इत्यमरः । 'जिह्वामूला-  
ङ्गुलेश्वर' इति छत्रपत्य , तस्यै जानक्यै ददौ । किं विधमङ्गुलीयम् । अनुष्णैः शीतलै-  
स्तस्या आनन्दाश्रुविन्दुभिः प्रत्युद्रतमिव स्थितम् । भर्त्रभिज्ञानदर्शनादानन्दवाण्यो  
जात इत्यर्थः ॥ ६२ ॥

कपि ( वानर अर्थात् हनुमान् ) ने उस ( सीता ) के लिये पति ( राम ) के दिये  
हुए चिह्न रूप अङ्गुली को, ठण्डे तथा उस सीताके आनन्दजन्य आँधूक्तो बूँदोंसे निर्गतके  
समान, दिया ॥ ६२ ॥

निर्वाप्य प्रियसन्देशैः सीतामक्षवधोद्धतः ।

स ददाह पुरीं लङ्कां क्षणसोढरिनिग्रहः ॥ ६३ ॥

निर्वाप्येति । स कपिः । प्रियस्य रामस्य सन्देशैर्वाचिकैः सीतां निर्वाप्य सुख-  
यित्वा । अक्षस्य रावणकुमारस्य वधेनोद्धतो हस्तः सन् । क्षण सोढोऽरेरिन्द्रजितः कर्तुः ।



( अथ रामने ) अथ माता ( पुत्र ) से समुद्र के पार पर्वतपर विह्वल ( दर्शनादि होनेसे )  
रुसरी पहाड़विपरीतो बगति हुए के समान नावतोंने जहाजी वेर किया ॥ ७१ ॥

रणं प्रवृत्ते तत्र भीमं प्लवगरक्षसाम् ।

विम्विजृम्भितकफकुत्स्नपौलस्त्यजयधोपण ॥ ७२ ॥

रण इति । तत्र कङ्कामां प्लवगानां रणघातं च भीमो भवदुरो विम्विजृम्भित-  
कफकुत्स्नपौलस्त्ययोरासराक्षसयोर्धनधोपणं जयधोपणं यस्मिन् स तथोक्तो रणं प्रवृत्ते  
प्रवृत्तः । विम्विजृम्भितकफाः कङ्कविग्रही\* इत्यमरः ॥ ७२ ॥

यदा पर ( कङ्काने ) विजानोने केवली हुई राम तथा रावणधो जयधोपणराक्षस, भावर  
और राक्षसोंका धक्काकर पड़ होने कथा ॥ ७२ ॥

पादपायिस्त्रपरिषं शिक्षानिष्पिष्टमुद्गरं ।

अतिराक्षनसन्ध्यसं यौकहृण्यमतङ्गम् ॥ ७३ ॥

पादपेति । विम्विजो रणः । पादपैर्बुधैरास्त्रिहा मयया परिषा ज्येष्ठवक्त्रादयि  
यस्मिन् स तथोक्तः । 'परिषा परिषाचना' इत्यमरः । शिक्षामिर्विष्पिष्टाङ्गिहा मुद्गरा  
बधोवया यस्मिन् स तथोक्तः । 'हुण्यो मुद्गरवती' इत्यमरः । अतिप्रक्षय कक्षान्ध  
सिद्धयन्ता कक्षान्धाता यस्मिन् स तथोक्तः । ज्येष्ठे रण्यो भय्या मतङ्गया यस्मिन् स  
तथोक्तः ॥ ७३ ॥

( तिसरे- ) पैदोसे परिष मय्य जिये गये हैं पल्लवों ( बछारों ) से मुद्गर बूट-  
कर दिये गये हैं मखौन्दी महार छक महारकी बलहूब कर गये हैं । राक्षसोंकी कक्ष  
नाशिकी कषेहा नावतोंके कक्षमहार ही कद गये हैं और बर्गोंसे मय्याके हाथी व्याकुल  
किये गये हैं ( पैदा हुए हुआ ) ॥ ७३ ॥

अथ रामशिररक्षेन्दुदशनोद्भ्रान्तचेतनाम् ।

सीता मायेति रांसन्ती त्रिजटा समजीपयत् ॥ ७४ ॥

अयेति । अनाकण्ठस्य । विद्यते इति ज्येष्ठः पक्षः । शिर एव ज्येष्ठ इति विग्रहः ।  
रामशिररक्षेन्दुस्य त्रिदुग्धकृष्णराक्षसमात्राभिर्मितस्य बर्धनोद्भ्रान्तचेतनां यत्  
संज्ञां सीतां त्रिजटां नाम कश्चिन्सीतापचरातिनी राक्षसी मापाकशिरसं जलेतप्सराव  
मिति रांसन्ती मुखात् । 'राधवर्गोर्निलय' इति निर्णयमुदाहरणम् । समजीपयत् ॥ ७४ ॥

( 'त्रिदुग्धकृ' नामक राक्षससे मापाकण ) रामके शिररक्षक करमा देखनेसे व्याकुल  
विपराधी सीतानी त्रिजटायने 'यह माया है' ऐसा कहकर निजया ( बैर दिया ) ॥ ७४ ॥

कर्म जीपति मे माय इति सा विजहो ।

काममिति । सा सीता मे नाथो जीवतीति हेतोः शुच शोकं काम विजहौ तस्या-  
ज । किन्तु प्राक्पूर्वमस्य नाथस्यान्त नाश सत्य यथार्थं मत्वा जीवितवत्यस्मीति हेतो-  
लंजिता लज्जावती । कर्तरि क्तः । दुःखादपि दुःसहो लज्जाभर इति भावः ॥ ७५ ॥

उस ( सीता ) ने—‘मेरे स्वामी ( रामजी ) जीवित हैं’ यह जानकर शोकको विलकुल  
छोड़ दिया, किन्तु ‘पहले इन ( प्राणनाथ राम ) की मृत्युको सत्य मानकर भी मैं जीती  
रह गई अर्थात् उसी क्षण नहीं मरी’ इस कारण लज्जित हुई ॥ ७५ ॥

गरुडापातविश्लिष्टमेघनादास्त्रबन्धनः ।

दाशरथ्यो क्षणक्लेशः स्वप्नवृत्त इवाभवत् ॥ ७६ ॥

गरुडेति । गरुडस्तावत् । तस्यापातेनागमेन विश्लिष्ट मेघनादस्येन्द्रजितोऽस्त्रेण  
नागपाशेन बन्धन यस्मिन्स तथोक्तः । क्षणक्लेशो दाशरथ्यो रामलक्ष्मणयोः । स्व  
प्नवृत्तः स्वप्नावस्थायां भूत् इवाभवत् ॥ ७६ ॥

गरुडके आनेसे नष्ट हो गया है मेघनादका नागास्त्र बन्धन जिसका ऐसा राम-लक्ष्मण  
का क्षणिक क्लेश स्वप्नमें हुएके समान मालूम हुआ ॥ ७६ ॥

ततो विभेद पौलस्त्यः शक्त्या वक्षसि लक्ष्मणम् ।

रामस्त्वनाहतोऽप्यासीद्विदीर्णहृदयः शुचा ॥ ७७ ॥

तत इति । तत पौलस्त्यो रावण शक्त्या कासूनामकेनायुधेन । ‘कासूनामर्थ-  
यो शक्ति’ इत्यमर । लक्ष्मण वक्षसि विभेद विदारयामास । रामस्त्वनाहतोऽप्यह-  
तोऽपि शुचा शोकेन विदीर्णहृदय आसीत् ॥ ७७ ॥

इसके बाद रावणने शक्ति ( ‘कासू’ नामके शस्त्र ) से लक्ष्मणको हृदयमें मारा, राम  
आघात ( चोट ) रहित होकर भी शोकसे विदीर्ण हृदयवाले हो गये ॥ ७७ ॥

स मारुतिसमानीतमहौषधिहृतव्यथः ।

लङ्कास्त्रीणां पुनश्चक्रे विलापाचार्यक शरैः ॥ ७८ ॥

स इति । स लक्ष्मणो मारुतिना मरुसुतेन हनुमता समानीतया महौषध्या  
सञ्जीविन्या हृतव्यथ सन्पुनः शरैर्लङ्कास्त्रीणां विलापे परिदेवने । ‘विलाप परिदेवन  
म्’ इत्यमरः । आचार्यकमाचार्यकर्म । ‘योपधाद्गुरुपोत्तमाद्बुज्’ इति बुज् । चक्रे ।  
पुनरपि राक्षसाञ्जघानेति व्यज्यते ॥ ७८ ॥

वह ( लक्ष्मण ) हनुमानसे लाई गई औषध सञ्जीवनी वृत्ती ) से व्यथा रहित होकर  
बाणोंसे लङ्काकी स्त्रियोंके रोनेमें आचार्य कर्म किये ( राक्षसोंको बाणोंसे मारा, जिससे वहाँ  
की स्त्रियाँ विलापकर रोने लगीं ) ॥ ७८ ॥

मित्रो बन्धो ब्राह्मणबन्धुभ्यो येन स लभोऽयं सन् । लट्ठां पुरीं ददाय भरतीचकार ॥

सीताभे मित्र ( राम ) के सहोद्योति तन्मृदुवर नक्ष ( रावणका पुत्र ) के मातृवैधे  
लट्टत तथा बन्धमात्र धनु ( मेघनाथ ) के बन्धनकी लहान किन्ने हुए अथ ( हनुमान् ) के  
बन्धना बन्धनीको बन्ध दिया ॥ ६३ ॥

प्रत्यभिज्ञानरत्नं च रामायणस्य मूर्ति ।

इदं स्वयमायात वैदेहा इव मूर्तिमात् ॥ ६४ ॥

प्रतीति । कुटी कृतकृत्या कवि स्वयमायात मूर्तिमद्वैदेहा इवमिति स्थितं तस्या  
इव प्रत्यभिज्ञानरत्नं च रामायणस्य मूर्तिमात् ॥ ६४ ॥

कृतकृत्य वध ( हनुमान् ) के स्वयं आये हुए मूर्तिमात् सीताभे इतन्ने समान ( सीताभे  
रिने हुए ) प्रत्यभिज्ञान प्रत्यभिज्ञा को रामके किन्ने रिक्तकाया ( रिक्त ) ॥ ६४ ॥

स प्राप इदमन्यस्तमपि स्वरानिमीक्षित ।

अपयोधरसस्रगौ मियासिद्धननिष्ठितम् ॥ ६५ ॥

स इति । इदमे बहसि न्यस्तस्य पदस्य मयोरभिज्ञानरत्नस्य स्वर्येन विनीक्षितो  
मोक्षितः स रामोऽभिधमनाः पयोधरसस्रगौ रत्नस्यस्त्रीं बस्यास्तां त्रयामूतो मित्राया  
आभिज्ञानेन वा निर्मुक्तिरावन्मुक्ता प्राप ॥ ६५ ॥

इदपरर रत्ने हुए प्रत्यभिज्ञाने स्पर्शते नीचे मूर्ति हुए ( राम ) के स्तनके स्पर्शते  
रहित मित्रा ( सीता ) के आभिज्ञानके लक्ष्मी प्राप ॥ ६५ ॥

श्रुत्वा रामं प्रियोदम्भं मेने तत्सङ्गमोत्सुकः ।

महार्जवपरिच्छेपं साक्षात् परित्यासधुम् ॥ ६६ ॥

श्रुतेति । मित्राया कदाचित् वार्ताम् । 'अदन्ता साधुवार्तायो' इति विरक्तः । श्रुत्वा  
तस्या वार्तायाः धर्म पक्षको रामो कदापि सङ्गमो यो महार्जव पद परिच्छेप-  
परिच्छेपत् परिच्छेपं श्रुतिद्वयवत्सुतरं मेने ॥ ६६ ॥

मित्रा ( सीता ) के प्रत्यभिज्ञाने स्वयं वतते दिव्यदेवे किन्ने श्रुति रामके कदा-  
चित् वार्ता साधुवार्ता वार्ता ( साक्षात् पद हीने वीर्य ) समझा ॥ ६६ ॥

स प्रतस्थेऽरिमायाय हरिसैन्यैर्नुवृत्तः ।

न केवलं मुवा शृष्टे ज्योमिन् सम्बाधवर्तिमि ॥ ६७ ॥

स इति । केवलमेवं मुवा शृष्टे प्रत्यभिज्ञान किन्ने ज्योमिन् च सम्बाधवर्तिमि  
अदन्तामिद्विरिद्येनैः कविबह्विधुत्वेऽभिज्ञा सन्त रामोऽरिमायाय प्रतस्थे  
न केवल ॥ ६७ ॥

केवल पृथ्वीपर ही नहीं अपि तु आकाशमें भी ( अधिक भीड़के कारण ) कठिनतासे चलने वाली वानरोंकी सेनाओं से अनुगत उस रामने शत्रु ( रावण ) के नाशके लिये प्रस्थान किया ॥ ६७ ॥

निविष्टमुदधेः कूले तं प्रपेदे विभीषणः ।

स्नेहाद्राक्षसलक्ष्म्येव बुद्धिमाविश्य चोदित ॥ ६८ ॥

निविष्टमिति । उदधेः कूले निविष्ट त रामम् । विशेषेण भीषयते शत्रूनिच्छि विभीषणो रावणानुज । राक्षसलक्ष्म्या स्नेहाद् बुद्धिं कर्तव्यताज्ञानमाविश्य चोदितः प्रणोदित इव । प्रपेदे प्राप्तः ॥ ६८ ॥

राक्षस-लक्ष्मीके द्वारा स्नेहसे बुद्धिमें प्रवेश कर प्रेरित हुए के समान विभीषणने समुद्रके तट पर स्थित उस ( राम ) को प्राप्त किया ( रामके पास पहुँचे ) ॥ ६८ ॥

तस्मै निशाचरैश्वर्यं प्रतिशुश्राव राघवः ।

काले खलु समारब्धाः फल बध्नन्ति नीतयः ॥ ६९ ॥

तस्मा इति । राघवस्तस्मै विभीषणाय । 'प्रत्याह्व्यां श्रुत्वा पूर्वस्य कर्ता' इति सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी । निशाचरैश्वर्यं राक्षसाधिपत्यं प्रतिशुश्राव प्रतिज्ञातवान् । तथा हि । कालेऽवसरे समारब्धाः प्रक्रान्ता नीतयः फल बध्नन्ति गृह्णन्ति खलु । जनयन्तीत्यर्थः ॥ ६९ ॥

रामने उस ( विभीषण ) के लिये राक्षसोंका ऐश्वर्य ( राज्य ) देनेकी प्रतिज्ञा की, क्योंकि समय पर आरम्भ की गई नीतियाँ सफल होती हैं ॥ ६९ ॥

स सेतु बन्धयामास प्लवगैर्लवणाम्भसि ।

रसातलादिवोन्मग्नं शेष स्वप्नाय शार्ङ्गिणः ॥ ७० ॥

स इति । स रामो लवण क्षारमग्भो यस्यासौ लवणाम्भस्तस्मिंश्चवणाब्धौ प्लवगः प्रयोज्यैः । शार्ङ्गिणो विष्णो स्वप्नाय शयनाय रसातलात्पातालादुन्मग्नमुत्थितः शेषमिव स्थितम् । सेतु बन्धयामास ॥ ७० ॥

उस ( राम ) ने वानरोंके द्वारा क्षारसमुद्रमें, विष्णुको सोनेके लिये पातालसे ऊपर आकर स्थित शेषनागके समान, पुलको बनवाया ॥ ७० ॥

तेनोत्तीर्य पथा लङ्का रोधयामास पिङ्गलैः ।

द्वितीय हेमप्राकारं कुर्वद्भिरिव वानरैः ॥ ७१ ॥

तेनेति । रामस्तेन पथा सेतुमार्गेणोत्तीर्य । सागरमिति शेषः । पिङ्गलैः सुवर्णवर्णैः इत एव द्वितीय हेमप्राकारं कुर्वद्भिरिव स्थितैर्वानरैर्लङ्कां रोधयामास ॥ ७१ ॥

( वत्त रामने ) वत्त मार्गं ( बुद्ध ) से सधरके बार कतरकर विह्वल ( वर्णमाले होनेसे )  
पूछते बहिरदिवातीको बनाते हुए के समान बापोंसे कृपाकी भिर बिना ॥ ७१ ॥

रणं प्रवृत्ते तत्र भीमं प्लावगरक्षसाम् ।

विभिन्नमृन्मिसकाकुत्स्यपौलस्त्यअयचोपण ॥ ७२ ॥

रण इति । तत्र सङ्घातों प्लावणार्ता रक्षसां च भीमो भवद्भरो विभिन्नमृन्मिसं  
काकुत्स्यपौलस्त्यचोरामरावणयोर्णयबाक्यं कवचाद्यो वस्मिन् स तथोक्तो रणो प्रवृत्ते  
प्रवृत्त । अस्मिन् समरावीकरणे कटहविद्यही इत्यमरः ॥ ७२ ॥

यहां रर ( कटहमें ) दिवानोंमें केव्हां दुर्ग राम तथा राक्षसों वचबोधनापान नावर  
भीर राक्षसोंका प्रवृत्त बुद्ध होने कथा ॥ ७२ ॥

पावपाविह्वपरिष शिखानिष्पिष्टमुद्गर ।

अतिरक्षलक्षन्यासं यौलदग्गमतङ्गसं ॥ ७३ ॥

पावपेति । शिखियो रणः । पावपैर्बुधैराशिक्षा यस्याः परिषा कोहचक्षकानि  
वस्मिन् स तथोक्तः । 'परिषा परिचायना इत्यमरः । शिखामिर्दिष्टिष्टावूर्तिता मुद्गरा  
अचोपना वस्मिन् स तथोक्तः । 'मुष्मणे मुद्गरपत्नी' इत्यमरः । अतिरक्षलक्षन्या  
विश्रमन्ता वक्षन्ताता वस्मिन् स तथोक्तः । यौलै यस्या यस्या मत्तङ्गा वस्मिन् स  
तथोक्तः ॥ ७३ ॥

( विसर्ग- ) कैवर्ते परिष भग्न क्रिये यथे हैं पावरों ( बहानों ) ॥ मुद्गर बुद्ध  
कर दिने लगे हैं मर्षोंकी महात्ता सब महारथों बहद्द्व कर गये हैं । राक्षसोंको कल्ल  
नपदिशे नपेका बावरोंके वक्ष्यहार हो वह पडे हैं और फर्वाते भग्नके हाथों मत्तङ्ग  
क्रिये गये हैं ( पैठा बद्ध हुआ ) ॥ ७३ ॥

अथ रामशिररक्षेववशनोद्भ्रान्तचेतनाम् ।

सीता मायेति शंसन्ती त्रिखटा समखीभयत् ॥ ७४ ॥

अपेति । कथाकण्ठाय । त्रिखटे इति शेषः कण्ठः । शिर एव शेष इति विद्या ।  
रामशिररक्षेवस्य विष्णुविह्वल्यराक्षसमावाशिमितस्य वर्णमालोद्भ्रान्तचेतनां एता  
संज्ञां सीतां त्रिखटा काम कथितीतापचपातिभी राक्षसी मापाकवित्तं कलेतस्तत्  
मिति शंसन्ती भुवना । 'अप्यवमोर्गितय' इति शिल्पं युगायत । समखीभवत् इत्यमरः  
( 'विष्णुविह्व' नामक राजपते मापाक्य ) रामके मरतक्षक करवा येकपेसे न्याहुक  
मिचराकी सीतान्ने त्रिखटके 'अहं यत्ता ॥' पैठा कल्लर विजयता ( बैन विना ) ॥ ७४ ॥

अमं जीवति मे माय इति सा विजहो ह्ययम् ।

मायस्मत्ता सरयमस्यन्तं जीवितोऽस्मीति क्षमिता ॥ ७५ ॥

काममिति । सा सीता मे नाथो जीवतीति हेतोः शुच शोकं काम विजहौ तत्या-  
ज । किन्तु प्राक्पूर्वमस्य नाथस्यान्त नाश सत्य यथार्थं मत्वा जीवितवत्यस्मीति हेतो-  
र्लज्जिता लज्जावती । कर्तरि क्तः । दुःखादपि दुःसहो लज्जाभर इति भावः ॥ ७५ ॥

उस ( सीता ) ने—‘मेरे स्वामी ( रामजी ) जीवित हैं’ यह जानकर शोकको विलकुल  
छोड़ दिया, किन्तु ‘पहले इन ( प्राणनाथ राम ) की मृत्युको सत्य मानकर भी मैं जीती  
रह गई अर्थात् वसी क्षण नहीं मरी’ इस कारण लज्जित हुई ॥ ७५ ॥

गरुडापातविशिलष्टमेघनादास्त्रबन्धनं ।

दाशरथ्योः क्षणक्लेशं स्वप्नवृत्त इवाभवत् ॥ ७६ ॥

गरुहेति । गरुहस्तादर्थः तस्यापातेनागमेन विशिलष्ट मेघनादस्येन्द्रजितोऽस्त्रेण  
नागपाशेन बन्धनं यस्मिन्स तथोक्त । क्षणक्लेशो दाशरथ्यो रामलक्ष्मणयोः । स्व  
प्नवृत्तं स्वप्नावस्थायां भूत् इवाभवत् ॥ ७६ ॥

गरुहके आनेसे नष्ट हो गया है मेघनादका नागास्त्र बन्धन जिसका ऐसा राम-लक्ष्मण  
का क्षणिक क्लेश स्वप्नमें हुएके समान मालूम हुआ ॥ ७६ ॥

ततो विभेदं पौलस्त्यः शक्त्या वक्षसि लक्ष्मणम् ।

रामस्त्वनाहतोऽप्यासीद्विदीर्णहृदयः शुचा ॥ ७७ ॥

तत इति । ततः पौलस्त्यो रावणः शक्त्या कासूनामकेनायुधेन । ‘कासूनामर्ष्य-  
यो शक्ति’ इत्यमरः । लक्ष्मण वक्षसि विभेदं विदारयामास । रामस्त्वनाहतोऽप्यह-  
तोऽपि शुचा शोकेन विदीर्णहृदय आसीत् ॥ ७७ ॥

इसके बाद रावणने शक्ति ( ‘कासू’ नामके शस्त्र ) से लक्ष्मणको हृदयमें मारा, राम  
आघात ( चोट ) रहित होकर भी शोकसे विदीर्ण हृदयवाले हो गये ॥ ७७ ॥

स मारुतिसमानीतमहौषधिहतव्यथः ।

लङ्कास्त्रीणां पुनश्चक्रे विलापाचार्यक शरैः ॥ ७८ ॥

स इति । स लक्ष्मणो मारुतिना मरुत्सुतेन हनुमता समानीतया महौषध्या-  
सञ्जीविन्या हतव्यथ सन्पुनः शरैर्लङ्कास्त्रीणां विलापे परिदेवने । ‘विलाप परिदेवन  
म्’ इत्यमरः । आचार्यकमाचार्यकर्म । ‘योपधाद्गुरुपोत्तमाद्बुञ्’ इति बुञ् । चक्रे ।  
पुनरपि राक्षसाञ्जघानेति व्यज्यते ॥ ७८ ॥

वह ( लक्ष्मण ) हनुमानसे लार्ई गई औषध सञ्जीवनी बूटी ) से व्यथा रहित होकर  
बाणोंसे लङ्काको स्त्रियोंके रोनेमें आचार्य कर्म किये ( राक्षसोंको बाणोंसे मारा, जिससे वहां  
की स्त्रियां विलापकर रोने लगीं ) ॥ ७८ ॥

( वध रामने ) वध भार्ये ( पुत्र ) से समझके पार करकर सिद्ध ( गर्वनाके होमेते )  
 सुखी बहारदिबारीको बनाते हुए के समान पानरोंसे कड़ाकी घेर लिया ॥ ७१ ॥

रथं प्रवृत्ते सत्र भीमं प्लवगरक्षसाम् ।

विमिश्रमिमितकाकुत्स्मपौक्षस्थप्रमथोपणं ॥ ७२ ॥

रथ इति । सत्र कड़ायां प्लवगानां रथसां च भीमो मयङ्गरो विमिश्रमिमितं  
 काकुत्स्मपौक्षस्थबोरामरावणबोपप्रमथोपणं अप्रमथो परिमत् स तथोक्ते रथ प्रवृत्ते  
 मयङ्ग । अश्विनां समरानीकरणाः ककुहविग्रही इत्यमरा ॥ ७२ ॥

यहां पर ( कड़में ) बिछानेमें दोन्नी दुई राम तथा रावणकी बबरीबनाराज जाबर  
 और राक्षसोंका मयङ्गकर कर होने क्या ॥ ७२ ॥

पादपाविश्रुपरिष शिखानिष्पिष्टसुहृत् ।

ध्वतिशक्नन्सन्ध्यासं शौचदण्डमसतङ्गम् ॥ ७३ ॥

पादपेति । किंचिदो रथं । पादपेनूचैराश्विना धनवाः परिषा कोहवहकाहानि  
 वस्मिन् स तथोक्त । 'परिषा परिषातना इत्यमरा । शिखानिर्विन्पिष्टमूर्चिता सुहृदा  
 बनीक्या वस्मिन् स तथोक्त । 'मृग्यो सुहृदशनी' इत्यमरा । ध्वतिप्रकाश सन्ध्या  
 तिष्ठन्ता मयङ्गासा वस्मिन् स तथोक्त । शौच दण्डा मया मयङ्गासा वस्मिन् स  
 तथोक्त ॥ ७३ ॥

( विष्टमें- ) कैहोंसे परिष मग्न क्रिये गये हैं पत्थरों ( चट्टानों ) से सुहर पृ-पृ-  
 कर दिने गये हैं मर्जोंकी महरा, सब महरकी चट्टान कर गये हैं । राक्षसोंकी कल  
 कादिकी लपेटा पत्थरोंके बकमहर ही पड़ गये हैं और पर्वतोंसे मयगाह हाथी म्वाङ्क  
 क्रिये गये हैं ( देता कर हुआ ) ॥ ७३ ॥

अथ रामशिररक्षवशानोवृज्जाम्बवेतनाम् ।

सीतां मायेति शंसन्ती त्रिजटा समजीवयत् ॥ ७४ ॥

अथेति । अथान्तरम् । त्रिजटे इति श्लेषः कण्ठः । शिर एव श्लेष इति विग्रहः ।  
 रामशिररक्षेहस्य विपुत्रिहृत्कामराचलमागामिर्मितस्य कर्त्तव्येनोवृज्जाम्बवेतनां एत  
 संज्ञां सीतां त्रिजटा नाम कम्पिणीतापचपातिनी राजसी मायाकविपत् न्तवेतसरा  
 मिति संसन्ती मुवाजा । शप्पबनोर्मितस्य इति शिल्पं मुमायमा । समजीवयत् इत्यत्र  
 ( 'विपुत्रिहृत्' नामक राजहते मायाकृत् ) रामके मत्स्यका करमा देवनेसे म्वाङ्क  
 विपनस्य सीताको त्रिजटके 'वह माया है' ऐसा कहकर त्रिजटा ( नेवी दिया ) ॥ ७४ ॥

कामं जीवति मे माय इति सा विजहौ ह्ययम् ।

माङ्गल्यं सत्यमस्यन्त जीविषोऽस्मीति व्रजिता ॥ ७५ ॥

धीर भी बहुतसे राक्षस, उनके रक्तकी नदियों पर समरमें उढी हुई धूलिके समान  
मानरोंकी सेना पर गिरे ( गिर कर मरे ) ॥ ८२ ॥

निर्ययावथ पौलस्त्य पुनर्युद्धाय मन्दिरात् ।

अरावणमराम वा जगदयेति निश्चितः ॥ ८३ ॥

निर्ययाविति । अथ पौलस्त्यो रावणः । अथ जगदरावण रावणशून्यरामं राम-  
शून्य वा भवेदिति निश्चितो निश्चितवान् । कर्तरि क्तः । विजयमरणयोरन्यतरनिश्चय-  
वान्पुनर्युद्धाय मन्दिरात्निर्ययौ निर्जंगाम ॥ ८३ ॥

इसके बाद रावण 'आज ससार रावण या रामसे हीन हो जावेगा (मैं ही मर जाऊगा  
या रामको ही मारूँगा )' ऐसा निश्चयकर राजमवनसे युद्धके लिये निकला ॥ ८३ ॥

राम पदातिमालोक्य लङ्केश च वरूथिनम् ।

हरियुग्य रथं तस्मै प्रजिघाय पुरन्दरः ॥ ८४ ॥

राममिति । पादाभ्यामततीति पदाति' त पादचारिण रामम् । वरूथो रथगुप्तिः ।  
'रथगुप्तिर्वरूथो ना' इत्यमरः । अत्र वरूथेन रथो लक्ष्यते । वरूथिन रथिन लङ्केश  
मालोक्य पुरन्दर इन्द्र' । युग वहन्तीति युग्या रथाश्वाः । 'तद्वहति रथयुगप्रासङ्गम्'  
इति यप्रत्ययः । हरियुग्य कपिलवर्णाश्वम् । 'शुकादिकपिमेकेषु हरिर्ना कपिले त्रिषु'  
इत्यमरः । रथ तस्मै रामाय प्रजिघाय प्रहितवान् ॥ ८४ ॥

इन्द्रने रामको पैदल तथा लङ्कापति ( रावण ) को रथपर सवार देखकर उन (राम)  
के लिये हरित ( सन्ज ) घोड़ोंसे युक्त रथको भेजा ॥ ८४ ॥

तमाधूतध्वजपट व्योमगङ्गोर्मिवायुभिः ।

देवसूतभुजालम्बी जैत्रमध्यास्त राघवः ॥ ८५ ॥

तमिति । राघवो व्योमगङ्गोर्मिवायुभिराधूतध्वजपटम् । मार्गवशादिति भावः ।  
जेतेव जैत्रो जयनशीलः त जैत्रम् । जेवृशब्दात्तृचन्तात् 'प्रज्ञादिभ्यश्च' इति स्वार्थे-  
णप्रत्ययः । त रथ देवसूतभुजालम्बी मातलिहस्तावलम्बः सक्षध्यास्ताधिष्ठितवान् ।  
आसेलङ्क ॥ ८५ ॥

आकाश गङ्गाकी लहरोंकी वायुसे उठते हुए पताकाके वस्त्रवाले विजयशील उस रथपर  
देवसारथि ( मातलि ) के हाथको पकड़कर रामचन्द्र सवार हुए ॥ ८५ ॥

मातलिस्तस्य माहेन्द्रमामुमोच तनुच्छदम् ।

यत्रोत्पलदलक्लैव्यमस्त्राण्यापु सुरद्विषाम् ॥ ८६ ॥

मातलिरिति । मातलिरिन्द्रसारथिमाहेन्द्रम् । तनुरङ्गाद्यतेज्जेनेति तनुच्छदो वर्म ।



स नार्द मेघनाभस्य धनुरपेन्द्रायुधप्रभम् ।

मेघस्येव शरत्कण्डो न क्षिप्रिपयरोपयत् ॥ ७३ ॥

स इति । स कथ्यमानः । शरत्कण्डं मधस्यम् । मेघनाभस्यगृहिणो नार्द सिंहबाहु  
म् । अल्पत्र पञ्चितं च इन्द्रायुधप्रभं शङ्खपुष्पभं धनुषं किञ्चिद्वज्रमपि न पर्येत्येव  
आवरोपितवान् । समरधीवित्पथा ॥ ७३ ॥

इति ( अन्तर्ग ) मे मेघनाभके सर्वत्र तथा इन्द्र धनुषके समान कान्तिवाके धनुषको—  
( हीनोमे ) किङ्कीको भी इति प्रकार नहीं छोड़ा जिस प्रकार शरद्वरत्ताके मेघके  
सर्वत्र और इन्द्र धनुषको नहीं छोड़ता ( नष्ट कर देता ) है । ( अन्तर्गमे मेघनाभकी  
मारहाता ) ॥ ७३ ॥

कुम्भकर्ण कपीन्ध्रेण तुल्ययस्य स्मृत् कृत ।

हरोष रामं शृङ्गीर तद्भुविममनरिक्त ॥ ७४ ॥

इन्द्रमर्क इति । कपीन्ध्रेण शृङ्गीरेण स्मृत् शृङ्गजन्तावास्तुस्यावस्यो वासकर्ण्यै-  
रेव सहसा इति कुम्भकर्णइन्द्रेण सिङ्गमेवकण्डोरेण विना भवा विना रक्तवर्णवस्तुनि  
सौधे वास्य स लोकाः । 'इन्द्रा पापाप्यहारण' इति वास्तुर्भवा सिङ्गम्ये' इति वा  
मरा । शृङ्गी सिङ्गीरिणः । रामं हरोष ॥ ७४ ॥

बाबरराज ( इम्री ) के द्वारा बहव ( पर्वतका ) के सयान दिवा भवा ( वास-  
कान्ते रमित दिवा भवा, वास एव ) शृङ्गी ( केरी ) से काटे गये मैमृतिरुपके सर्वत्रके  
समान स्थित कुम्भकर्ण रायकी वीर विना ॥ ७४ ॥

अक्षते बोधितो भ्रात्रा प्रियस्त्वज्जो ब्रुवा भवान् ।

रामेपुभिरितीवामी वीधनिर्द्रां प्रवेशित ॥ ७५ ॥

अक्षक इति । प्रियस्त्वज्जो भ्रात्रा मयाम्बुया भ्रात्रा रामदेवाक्षके बोधित  
इतीवासी कुम्भकर्णो रामेपुमी रामवाग्निर्धर्मिर्निर्द्रां मरणं प्रवेशितो यमिता । यथा  
कोकेन्द्रियवस्तुविनाकडुकितरस्य लोकोवि मृषिहमुपपापते तद्वदिति भावा ॥ ७५ ॥

'सौन्दर्ये नमिन् वसन्त करैवाके कुम्भकर्ण इति इति प्रकार पारं ( राय ) के इन्द्रा  
नक्षत्रमर्मे कपावा नवा भावों इति कारणसे रायके वाग्निमे वने महाविद्रादे प्रविष्ट करा  
दिवा । ( रामराजीके महारसे कुम्भकर्ण मारा भवा ॥ ७५ ॥

इतरावपि रक्षांसि पेतुर्नानरकोटिषु ।

रक्षांसि समरोत्थानि तच्छोणितनवीधिव ॥ ७६ ॥

इतरामीति । इतराणि रक्षांसि वापरमीति । समरोत्थानि रक्षांसि तेष्वरक्षसां  
कोटिष्वपीषु रक्तमण्डलैश्चिव पेतुः । निपत्य यत्तापीत्यर्थः ॥ ७६ ॥

तुत्वाच्च बहुमन्यत । साधु मद्भिक्रमस्याय पर्याप्तो विषय इति बहुमानमकरोदित्यर्थः ।  
बह्विक्ति क्रियाविशेषणम् ॥ ८९ ॥

लोकपालों को जीतनेवाले, अपने मस्तकोंसे शिवजी की पूजा करनेवाले और कैलास पर्वतको बठानेवाले रावणको रामने ( अपने पराक्रमके ) योग्य माना ॥ ८९ ॥

तस्य स्फुरति पौलस्त्यः सीतासङ्गमशंसिनि ।

निचखानाधिकक्रोधः शर सन्ध्येतरे भुजे ॥ ९० ॥

तस्येति । अधिकक्रोधः पौलस्त्यः स्फुरति स्पन्दमानेऽत एव सीतासङ्गमशंसिनि  
सीतायाः सङ्गम शंसतीति तस्मिन् तस्य रामस्य सध्य इतरो यस्मात्सन्ध्येतरे दक्षिणे ।  
न बहुव्रीहौ' इतीतरशब्दस्य सर्वनामसंज्ञाप्रतिषेधः । भुजे शरं निचखान निखा  
तबान् ॥ ९० ॥

अत्यन्त क्रोध युक्त रावण, फरकते हुए ( अत एव ) सीताके सङ्गमको सूचित करते  
हुए उस ( राम ) के दाहिने बाहुमें बाण मारा ॥ ९० ॥

रावणस्यापि रामास्तो भित्त्वा हृदयमाशुगः ।

विवेश भुवमाख्यातुमुरगेभ्य इव प्रियम् ॥ ९१ ॥

रावणस्येति । रामेणास्तः छिन्न आशुगो बाणः । विश्रवसोऽपत्य पुमान् रावणः ।  
विश्रवः शब्दादपत्येऽर्थेऽणप्रत्यये सति । 'विश्रवसो विश्रवणरघणौ' इति रचनादेशः ।  
तस्य रावणस्यापि हृदय वद्धो भित्त्वा विदार्य । उरगेभ्यः पातालवासिभ्य प्रिय-  
माख्यातुमिव भुव विवेश ॥ ९१ ॥

रामका छोडा हुआ बाण उस रावणके भी हृदय का भेदनकर मारों पातालवासी  
नागोंसे प्रिय सन्देश कहनेके लिये भूमिमें घुस गया ॥ ९१ ॥

वचसैव तयोर्वाक्यमस्त्रमस्त्रेण निघ्नतोः ।

अन्योन्यजयसंरम्भो ववृधे वादिनोरिव ॥ ९२ ॥

वचसैवेति । वाक्य वचसैवास्त्रमस्त्रेण निघ्नतोः प्रतिकुर्वतोस्तयो रामरावणयोः ।  
वादिनो कथकयोरिव । अन्योन्यविषये जयसंरम्भो ववृधे ॥ ९२ ॥

बातको बातसे ही और अस्त्रोंसे अस्त्रों को नष्ट करते उन दोनों ( राम-रावण ) का  
कथकके समान परस्पर विजयका क्रोध बढ़ गया । ( जिस प्रकार वादी तथा प्रतिवादी बातसे  
ही बातको नष्ट करते हुए परस्परमें जीतने के लिये क्रमशः क्रोधित हो जाते हैं वसी प्रकार  
एक दूसरेके शस्त्रोंको शस्त्रोंसे ही नष्ट करते हुए वे दोनों परस्परमें विजयप्राप्त करनेके  
लिये अत्यन्त कुपित हो गये ) ॥ ९२ ॥

‘पुंसि संशयां वा प्रायेण’ इति वा । तं तस्य रामस्यामुद्योचनप्रयत्नात् । न च  
तमुपदेष्टुं सुरद्विषामध्यानुत्पद्यतां यत्नैर्भवेत् तपुंसपर्यं निरर्थक्यं तद्वत् ॥ ८४ ॥

मायिक ( दण्डका सारथि ) नै रण्यका यत्र रामको पदमाया, त्रित ( कनक ) र  
रत्नसौके इत्येकपदके समान अर्थ हो गये ॥ ८५ ॥

अन्योन्यदर्शनप्राप्तविप्रमावसरं धिरान् ।

रामरावणयोर्युद्धं चरितार्थमियामयत् ॥ ८६ ॥

अन्योन्येति । धिरान्योन्यदर्शनेन प्राप्तविप्रमावसरं रामरावणयोर्युद्धमावोर्ध्वं  
चरितार्थं सफटसमवधि । प्राक्पराव्यवसावदौर्ध्वथाद्विच्छिन्नत्वात् तन्नामात्सकल्प  
मुद्येववते ॥ ८६ ॥

वहुत समयके बाद परस्परको देखनेसे वराक्रमके अवसरकी प्राप्त किया हुआ राम—  
रामका युद्ध मर्त्यो लक्ष्य हो गया ॥ ८७ ॥

मुञ्जमूर्धोरथाद्भुक्त्यादेकोऽपि धनवानुज्ज्वलः ।

पृथगे ज्ञयवापूषो मातृवश इय स्थितः ॥ ८८ ॥

मुञ्जेति । वज्राभूता पूर्वं यथापूर्वं सुप्सुपेति समासः । यथापूर्वं व मवतीत्यव  
ध्यपूर्वं । निहृतवज्रवज्रकाः परिहारसूच्य इत्यर्थः । अत एवैकोऽपि स च वज्रभूतो  
रामः । मुञ्जान् मूर्धान्न्योरकाः । पादाय मुञ्जमूर्धोर । मातृवशत्वाद्भुक्त्यादेकवज्रकाः ।  
तस्य वज्रभूतावज्रवज्रभूतो । तद्वज्रभूते वाक्—‘दद्यात्सो विप्रसिद्धमुज्ज्वलपुष्पा  
दुमन्त्रिरे’ इति । मातृवशे मातृसम्बन्धनि वर्गे स्थित इव इत्येव इत्येति । ‘वशे वेर्गो  
हुके वसे’ इति चिरकः । अत्र रावणमातृ रचोवादिनापूषो रचोर्वा इति कल्पते ।  
अतस्त्रैकोऽन्यवेककाः परिकृत इवाकल्पतेत्यर्थः ॥ ८८ ॥

वहवैसे विज ( समस्त गजुओंके शत्रु हो जावेसे ) जैकेका रत्नक बहुते पाहु मरण  
उपा देतो वाज ( पीछ गज्ज बल मर्याद और बार वैरोवाज ) मातृके हुकूम  
स्थितके समान विचार पक्षा वा ( जैकेका होकर भी जेकेका राजसौसे पुत्र विचार  
पक्षा वा ) ॥ ८९ ॥

क्षेत्रात् क्षोकपात्नामां स्वमुज्ज्वलचितेश्वरम् ।

रामस्तुक्षितकैशासमराति बहुमन्यत ॥ ९० ॥

क्षेत्रमित्ये । क्षोकपात्नामामिन्द्रादीनां क्षेत्रात् । ‘कर्तृकर्मभोः कृति’ इति कर्म-  
नि वही । स्वमुज्ज्वलचितेश्वरमित्येक्षितेक्षितं तुक्षितकैशासमराति तमेव जीर्वाजी-  
रत्नसम्पन्नं महावीर्यमराति सन् रामो गुणप्रद्विज्जाम्नेतृपुत्रोत्कर्षेण प्रेम्ण स्थोऽन्ये

सुखाच्च बहुमन्यत । साधु मद्भिक्रमस्यायं पर्याप्तो विषय इति बहुमानमकरोदित्यर्थः ।  
बह्विति क्रियाविशेषणम् ॥ ८९ ॥

लोकपालों को जीतनेवाले, अपने मस्तकोंसे शिवजी की पूजा करनेवाले और कैलास  
पर्वतको ठठानेवाले रावणको रामने ( अपने पराक्रमके ) योग्य माना ॥ ८९ ॥

तस्य स्फुरति पौलस्त्यः सीतासङ्गमशसिनि ।

निचखानाधिकक्रोधः शरं सव्येतरे भुजे ॥ ९० ॥

तस्येति । अधिकक्रोधः पौलस्त्यः स्फुरति स्पन्दमानेऽत एव सीतासङ्गमशसिनि  
सीतायाः सङ्गमं शसतीति तस्मिन् तस्य रामस्य सव्य इतरो यस्मात्सव्येतरे दक्षिणे ।  
न बहुव्रीहौ' इतीतरशब्दस्य सर्वनामसंज्ञाप्रतिषेधः । भुजे शरं निचखान निखा  
तवान् ॥ ९० ॥

अत्यन्त क्रोध युक्त रावण, फरकते हुए ( अत एव ) सीताके सङ्गमको सूचित करते  
हुए उस ( राम ) के दाहिने बाहुमें बाण मारा ॥ ९० ॥

रावणस्यापि रामास्तो भित्त्वा हृदयमाशुगः ।

विवेश भुवमाख्यातुमुरगेभ्य इव प्रियम् ॥ ९१ ॥

रावणस्येति । रामेणास्त चित्त आशुगो बाण । विश्रवसोऽपत्यं पुमान् रावणः ।  
विश्रवः शब्दादपत्येऽर्थेऽणप्रत्यये सति । 'विश्रवसो विश्रवणरवणौ' इति रवणादेशः ।  
तस्य रावणस्यापि हृदयं वक्षो भित्त्वा विदार्य । उरगेभ्यः पातालवासिभ्यः प्रिय-  
माख्यातुमिव भुव विवेश ॥ ९१ ॥

रामका छोटा हुआ बाण उस रावणके भी हृदय का भेदनकर मानों पातालवासी  
नागोंसे प्रिय सन्देश कहनेके लिये भूमिमें घुस गया ॥ ९१ ॥

वचसैव तयोर्वाक्यमस्त्रमस्त्रेण निघ्नतोः ।

अन्योन्यजयसंरम्भो ववृधे वादिनोरिव ॥ ९२ ॥

वचसैवेति । वाक्य वचसैवास्त्रमस्त्रेण निघ्नतो प्रतिवृत्तोस्तयो रामरावणयोः ।  
वादिनो कथकयोरिव । अन्योन्यविषये जयसंरम्भो ववृधे ॥ ९२ ॥

बातको बातसे ही और अस्त्रोंसे अस्त्रों को नष्ट करते उन दोनों ( राम-रावण ) का  
कथकके समान परस्पर विजयका क्रोध बढ़ गया । ( जिस प्रकार वादी तथा प्रतिवादी बातसे  
ही बातको नष्ट करते हुए परस्परमें जीतने के लिये क्रमशः क्रोधित हो जाते हैं वसी प्रकार  
एक दूसरेके शस्त्रोंको शस्त्रोंसे ही नष्ट करते हुए वे दोनों परस्परमें विजयप्राप्त करनेके  
लिये अत्यन्त क्रुपित हो गये ) ॥ ९२ ॥

त्रिक्रमव्यतिहारेण सामान्याऽभूद्दयोरपि ।

अपभ्रीन्तरा धविमत्तवारणयोरपि ॥ ६३ ॥

विद्यतेति । अवधीर्त्रिक्रमस्य व्यतिहारेण पर्यायक्रमेण तयोर्द्वयोरपि । अन्तरा मध्ये । अप्यवमतत् । वेदिवैद्याकरा विविधमत्तवारणयोरपि । सामान्या साधारणाभ्युप-  
गम्यन्तरनिवृत्तेत्यर्थः । अत्र मत्तवारणयोरित्यत्र द्वयोस्त्वत्र च 'अन्तरान्तरेण कुत्रो' इति द्वितीया न भवति । अन्तरासङ्गस्योक्तरीत्यान्वयान्नवत् । मध्ये क्रमसि भित्ति-  
कृत्वा रात्री योचनमपीति प्रसिद्धिः ॥ १३ ॥

परक्रमके व्यतिहारते ( कवी रामके परक्रम बह्वेते तथा कवी रामके परक्रम-  
बह्वेते ) इव दीनोन्ने मध्यवत् त्रिक्रमव्ययी कत मन्तार सामान्य ( कवी रामके बह्वेते कवी  
रामके बह्वेते ) इति मन्तार कहते इत्युक्ती मन्तारके दाविबोके बीचमें बेरी सामान्य  
क्रममें होती है ( किसी बेरीके नाकात्माके विविधो मध्यमें करके बी दाविबो के परस्परमें  
बुझ करवा बीच-प्रसिद्ध है ) ॥ १३ ॥

कृतप्रतिकृतश्रीस्तैस्तयोर्मुखां मुरामुरैः ।

परस्परशरणावा पुन्यवृष्टिं न सेहिरे ॥ ६४ ॥

कृतेति । स्वयमवस्ययोगा कृतं प्रतिकृतं परकृतमतीक्ष्णरस्ताम्बर्षी श्रीतैः मुरामुरै-  
र्वाचंवर्य तयो रामराजवयोर्मुखां पुन्यवृष्टिम् । इवीमिति लेशः । परस्परं शरणावा न  
सेहिरे । अहमेवाकं किं एवेति आन्तराकं कृतेतरेतरवाच्य इतिरेतरेतपुन्यवृष्टिमन्त-  
वित्यर्थः ॥ १४ ॥

कृत ( किसी पर मतकेके किये कोइया तथा कृत्य ) तथा प्रतिकृत्य ( अपनी रचने के किये  
कत जोइने किये कृत्यको मन्त करदेके किये कृत्य कोइया ) ॥ मन्तव वैरावा नीर एवमपीते  
की नई पुन्यवृष्टिकी परस्परका वाचस्पृह नहीं सहन किया । ( राम तथा रामन परस्परमें  
एक दूसरेपर कृत्य कोइकर गारते थे तथा कतके जोइने किये कृत्यकी अपने कृत्यके किये-  
मिचकर आत्म-रक्षा करते थे, एवमैव वैरावा तथा रामन मन्तव्य दीधत्-प्रवृत्त राम कवी  
रामनर पुन्यवर्षा करते थे किन्तु वे दोनों तथा आविष नाम कोइते थे कि पुन्य वृष्टिमें  
नहीं गिरकर कपरही रह जायेंगे ) ॥ १४ ॥

अयन्नाहुविषां रक्षं शतश्रीमथ शत्रवे ।

हृता वैवस्वतस्त्वेव कृतशस्मक्षिमक्षिपत् ॥ ६५ ॥

अय इति । अय रजो रात्रयोऽवसा कोहस्य आहुतिः कीर्त्तयिता कीर्त्तनी कृतनी  
कोहकम्पकक्षिपत्तिविषैषा । 'अयणी तु चतुर्णाक्य कोहकम्पकक्षिपत्ति नक्षि' इति  
केलवा । हृता विजयकम्पवा । वैवस्वतस्त्वान्तकस्य कृतशस्मक्षिमक्षिपत् । अयने

राघवायास्त्रिपत्तिसवान् । कूटशास्त्रमलिरिव कूटशास्त्रमलिरिति व्युत्पत्त्या धैवस्वतगदा-  
या गौणी संज्ञा । कूटशास्त्रमलिर्नामैकमूलप्रकृतिः । कण्टकीवृत्तविशेषः । 'रोचनः कूटशा-  
स्त्रमलिः' इत्यमरः । तस्मादृश्य च गदाया अयःशङ्खचितत्वादनुसन्धेयम् ॥ ९५ ॥

इसके बाद राक्षस ( रावण ) ने लोहको, कीलोंसे व्याप्त शतधनी ( यष्टिके आकारवाले  
शस्त्र-विशेष ) को, विजयमें प्राप्त हुई यमराजको कूटशास्त्रमलि ( कण्टकयुक्त मूलवाली  
शास्त्रमलीके समान गदा ) के समान रामको मारनेके लिये फेंका ॥ ९५ ॥

राघवो रथमप्राप्ता तामाशा च सुरद्विषाम् ।

अर्धचन्द्रमुखैर्बाणैश्चिच्छेद कदलीमुखम् ॥ ९६ ॥

राघव इति । राघवो रथमप्राप्तां तां शतधनीं सुरद्विषां रघुसामाशां विजयतुष्णां  
च । 'आशा तृष्णादिशोः प्रोक्ता' इति विश्वः । अर्धचन्द्र इव मुख येषां तैर्बाणैः कद-  
लीमुखसुखयया तथा चिच्छेद । अथवा कदन्यामिव सुखमवलेखो यस्मिन्कर्मणि  
तदिति विग्रहः ॥ ९६ ॥

रामने रथतक नहीं पहुँची हुई उस गदाको तथा राक्षसों की आशाको अर्धचन्द्राकार  
फलों वाले बाणोंसे केलेके समान सुखपूर्वक काट दिया ( राक्षसोंको आशा थी कि इस  
शक्तिसे राम अवश्यमेव मर जायेंगे, किन्तु जब रामने उसको केलेके समान अनायासही  
काट दिया तो उनकी आशा नष्ट हो गई ) ॥ ९६ ॥

अमोघ सन्धे चाम्मै धनुष्येकधनुर्धरः ।

ब्राह्ममन्त्र प्रियाशोकशल्यनिष्कर्षणौषधम् ॥ ९७ ॥

अमोघमिति । एकोऽद्वितीयो धनुर्धरो राम प्रियायाः शोक एव शल्यः तस्य  
निष्कर्षणमुद्धारकः यदौषध तदमोघ सफल ब्राह्मं ब्रह्मदेवताकमन्त्रमभिमन्त्रितं बाण-  
मन्त्रै रावणाय च, तद्वधार्थमिष्यर्थः । धनुषि सन्धे ॥ ९७ ॥

प्रधान धनुर्धर ( राम ) ने प्रिया सीताके शोक रूपी कौटिके निकालनेमें औषधरूप  
सफल ब्रह्मास्त्रको इस ( रावणको मारने ) के लिये धनुषपर रक्खा ॥ ९७ ॥

तद्वयोमिनि शतधा भिन्न ददृशे दीप्तिमन्मुखम् ।

वपुर्महोरगस्येव करालफणमण्डलम् ॥ ९८ ॥

तदिति । व्योमिनि शतधा भिन्नं प्रसृत दीप्तिमन्ति मुखानि यस्य तद् ब्रह्मास्त्रम् ।  
करालं भीषणं तुङ्गं वा फणमण्डलं यस्य तत्तथोक्तम् । 'करालो वपुर्ग्रे करालो  
शीघ्रणोऽपि च' इति विश्वः । महोरगस्य शेषस्य, वपुर्विव । ददृशे दृष्टम् ॥ ९८ ॥

आकाशमें सैकड़ों तरफ फैला हुआ, चमकते हुए फलों ( अन्नमार्गों ) वाला वह  
( ब्रह्मास्त्र ) भयङ्कर फणा-समूहवाले शेषके शरीरके समान दिखाई पड़ा ॥ ९८ ॥

त्रिकमव्यतिहारेण सामान्याऽभूद्द्वयोरपि ।

जयभीरन्तरा भविमत्तवारणयोरपि ॥ ६३ ॥

विद्यमेति । जयभीरिद्वयमव्यतिहारेण पक्षादयमेव तयोद्भवोरपि । अन्तरा मध्ये । अन्वयमन्तरम् । भविमत्तवारणयोरपि । सामान्या साधारणाम्भूत्, नान्यम्भतरमप्येत्यर्थः । अत्र मत्तवारणयोरित्यत्र द्वयोरित्यत्र च 'अन्तरान्तरेण पुनः' इति द्वितीया न भवति । अन्तराशब्दरूपोक्तरीत्यान्वयान्तरात् । मध्ये कमपि मिति कृत्वा राज्ञो योष्यमन्तीति प्रसिद्धिः ॥ ६३ ॥

पञ्चमके व्यतिहारो ( कवी राजके पञ्चमक वदनेसे तथा कवी राजके पञ्चमक वदनेसे ) वर दोनोंके मध्यवर्त निवृत्तकस्वी वर प्रकार सामान्य ( कवी राजके पञ्चम कवी राजके पञ्चम ) द्वय मित प्रकार कहे हुए दो मध्यवर्त रघुपंशके बीचमें वेही सामान्य करने होती है ( किसी वेहीके आधारवासी मितिसे मध्यवर्त करने की रघुपंशों का मध्यवर्त पुन करवा जीव प्रसिद्ध है ) ॥ ६३ ॥

कृतमतिकृतमीतैस्तयोर्मुखां सुपुम्पुरैः ।

परस्परशरणावा पुन्यदृष्टि न सेहिरे ॥ ६४ ॥

कृतमिति । रघुपंशमयोऽयं कृतं मतिकृतं परकृतमतीकारस्याम्ना मीतैः सुराभ्युपार्थ धातुसंज्ञं तयो रामराजमयोर्मुखां पुन्यदृष्टिम् । इतीमिति शेषः । परस्परं शरणावा न सेहिरे । अहमेवाहं किं त्वमेति चान्तराक पुनरेतरेतरावापु विरितरेतरेतपुन्यदृष्टिमवधारय दित्वा ॥ ६४ ॥

कृत ( किसी पर जानेके लिये छोड़ा गया करने ) तथा मतिकृत ( अपनी रक्षाके लिये वर छोड़े लिये करनेके लिये करने छोड़ना ) से मध्यवर्त देवता और राजाओंके बीच गई पुन्यदृष्टिकी परस्परका वापसमूल नहीं छूटने दिया । ( उस तथा राज्य परस्परमें पक्ष दूसरेपर करने छोड़कर मारते थे तथा वतके छोड़े लिये करनेके करने करने किन्मिच्छकर आत्म-रक्षा करते थे, परस्पर देवता तथा राजा वरमध्य छोड़कर कमजोर राज तथा राजापर पुन्यवर्त करते थे किन्तु वे दोनों तथा अधिक वाप छोड़ते थे कि पुन्य मृषियें नहीं गिरकर करती रह जाते थे ) ॥ ६४ ॥

अमन्यादुपिता रक्ष रावभीमथ राजने ।

हृतां वैवस्वतस्येव कून्नास्मक्षिमक्षिपत् ॥ ६५ ॥

अप इति । अत्र रघो राजाजोषसा कोदहस कङ्कभिः कीचेजिता कीर्त्तये कृतकी कोदकपदकीक्षितवद्विचिसेषाम् । 'अतन्वी तु चतुष्टया कोदकपदकपक्षिता मक्षि' इति केचन । हृतां विजयकषाम् । वैवस्वतस्यान्तकस्य कून्नास्मक्षिमक्षिपत् । अत्र

सङ्घकीमातृभेदयोः ॥ सुगन्धौ च मनोज्ञे च वाच्यवत्सुरभि स्मृतम् । इति विश्वः ।  
सुरविमुक्त पुष्पवर्षमुपनत आसन्नो मणिवन्धो राज्याभिषेकसमये भावी यस्य तस्मि  
न्पौलस्त्यशत्रो रामस्य मूर्ध्नि शिरसि पपात । इदमेव राज्याभिषेकसूचकमिति  
भावः । मालिनीवृत्तमेतत् ॥ १०२ ॥

इसके बाद भावी रामराज्याभिषेकमें समीपतममणिवन्धुयुक्त होनेवाले, रामके (अथवा—  
अञ्जलि युक्त) मस्तकपर देवोंने फूलोंकी वर्षाकी, तब उन फूलोंके अनिशय सुगन्धित  
होनेके कारण हाथियोंके मदजलका पान करनेसे भारी पखोंवाले भी भ्रमरसमूह दिक्पालोंके  
हाथियोंके गण्डस्थलको छोडकर उन फूलों पर ही आ गये ये ॥ १०२ ॥

यन्ता हरे. सपदि संहतकार्मुकज्य-

मापृच्छथ राघवमनुष्ठितदेवकार्यम् ।

नामाङ्करावणशराङ्कितकेतुयष्टि-

मूर्ध्व रथ हरिसहस्रयुज निनाय ॥ १०३ ॥

यन्तेति । हरेरिन्द्रस्य यन्ता मातलि सपदि संहतकार्मुकज्यमनुष्ठितं देवकार्यं  
रावणवधरूप येन त राघवमापृच्छथ साधु यामीत्यामन्त्र्य । नामाङ्कैर्नामात्तरचिह्नै  
रावणशरैरङ्किता चिह्निता केतुयष्टिर्ध्वजदण्डो यस्य तम् । हरीणां वाजिनां सहस्रेण  
युज्यत इति हरिसहस्रयुक् तम् । 'यमानिलेन्द्रचन्द्रार्कविष्णुसिंहांशुवाजिषु । शुका-  
हिकपिमेकेषु हरिर्ना कपिले त्रिषु' इत्युभयग्राप्यमरः । रथमूर्ध्व निनाय नीत-  
वान् ॥ १०३ ॥

इन्द्रका सारथि ( मातलि ) धनुष-बाण को समेटे हुए, देवकार्य ( रावण-वधरूप ) को  
पूरा किये हुए ( राम ) से पूछ कर नाम खुदे हुए रावण के बाणों से चिह्नित पताकाके  
दण्डवाले सहस्र घोड़ोंसे युक्त रथको ऊपर ( स्वर्गमें ) ले गया ॥ १०३ ॥

रघुपतिरपि जातवेदोविशुद्धा प्रगृह्य प्रियां

प्रियसुहृदि विभीषणे सङ्गमय्य श्रिय वैरिणः ।

रविसुतसहितेन तेनानुयात ससौमित्रिणा

भुजविजितविमानरत्नाधिरूढः प्रतस्थे पुरीम् ॥१०४॥

रघुपतिरिति । रघुपतिरपि जातवेदस्यात्मनौ विशुद्धां जातशुद्धिं प्रियां सीतां प्रगृह्य  
स्वीकृत्य । प्रियसुहृदि विभीषणे वैरिणो रावणस्य श्रिय राज्यलक्ष्मीं सङ्गमय्य सङ्गतां  
कृत्वा । गमेर्ण्यन्ताल्लघप्रत्ययः । 'मितां ह्रस्व' इति ह्रस्वः । 'क्यपि लघुपूर्वात्'  
इति णेरयादेशः । रविसुतसहितेन सुग्रीवयुक्तेन ससौमित्रिणा सलक्ष्मणेन तेन विभी-  
षणेनानुयातोऽनुगतः सन् । विमानं रत्नमिव विमानरत्नमित्युपमितसमासः । भुज



तेन मन्त्रप्रयुक्तेन निमेषार्धावपातयत् ।

स रावणशिरःपङ्क्तिमञ्जातप्रणवेष्टनाम् ॥ ९९ ॥

हेनेति । स रामो मन्त्रप्रयुक्तेन तेनाद्येणाज्ञातमणवेष्टनामणिसौम्याद्यवधुमूढजन-  
हन्ता रावणशिरःपङ्क्तिं निमेषार्धावपातयन्पातयामास ॥ ९९ ॥

इति (राम) ने मन्त्रपूर्वक शीरे पवे कृत् (मञ्जातम्) शि (वाल्मीकीयताये शिरः)  
शिरसा का अनुपय नही करमेवाके, रामने मन्त्र-समूहकी जाके पङ्क्तिमें (शिरः)  
पिता दिया ॥ ९९ ॥

वाक्कायप्रतिमेषाप्सु क्षीयिभिन्ना पतिष्यत् ।

रत्न रत्नान्यस्य कथञ्चिदपरेष्वपि ॥ १०० ॥

वाक्कायप्रतिमेषाप्सु क्षीयिभिन्ना पतिष्यत् इति  
क्षीयः क्षयः । क्षयार्था ये क्षेपार्थेण परम्परा पङ्क्तिः । क्षीयिभिन्ना वाक्कायप्रति-  
मेषाप्सु प्रतिमा प्रतिबिम्बमिव रत्नम् । अर्थस्य वाक्कायप्रतिमेषाप्सु पतिष्यत् इति  
मात्रा ॥ १०० ॥

वाक्कायप्रतिमेषाप्सु (वाक्कायप्रतिमेषाप्सु क्षीयिभिन्ना पतिष्यत्) रत्न-कथनके कथनोंके कथनोंके  
मन्त्रों परहसे अनेकधा विन्न मातृकाके स्वरोंके प्रतिबिम्बके समान क्षीयित हुए ॥ १०० ॥

महतां पर्यतां तस्य शिरसि पतितमपि ।

मनो नातिचिराद्वाप्त पुनः सम्भाररङ्गिनाम् ॥ १०१ ॥

महतामिति । पतितमपि तस्य शिरसि पर्यतामपि पुनः सम्भाररङ्गि-  
नाम् पूर्वं तत्तत्कर्तृत्वमिति भावः । महताममरणात् । 'महती पद्मवती' इत्यमरः ।  
मना चितं नातिचिराद्वाप्तमिति वाच्यं न माय ॥ १०१ ॥

रामने शीरे हुए भी कठोकी देखते हुए फिर कुछ कावेकी शक्ति करवाके शीरे  
मन पूरा १ विनष्ट नहीं किया । (क्षीयिभिन्ना पूर्वाये पर्यतोकी कथनके कथनोंके  
प्रकार के पुनः कुछ पवे कथी प्रकार फिर भी न कुछ बाँव पेशी शक्ति देखानोंके मनमें  
हुए १ वही रही) ॥ १०१ ॥

अथ भवगुरुपक्षैर्लोकपालाद्विपानामनुगतमक्षिणैर्गणमितीर्षिहाय ।

वपनतमपिबन्धे मूर्ध्नि पौष्टस्पर्शजो मुरमि मुरमिमुक्तं पुण्यवर्षं पपात ॥

अथेति । अथ भवगुरुपक्षैर्लोकपालाद्विपानामनुगतमक्षिणैर्गणमितीर्षिहाय  
लोकपालाद्विपानामनुगतमक्षिणैर्गणमितीर्षिहायानुगतमक्षिणैर्गणमितीर्षिहाय  
पुण्यम् । 'मुरमि' इत्येवम् । 'मुरमि' इत्येवम् । 'मुरमि' इत्येवम् । 'मुरमि' इत्येवम् ।

इसके बाद गुणज्ञाता रामनामक विष्णुशब्द गुणवाले, अपने ( विष्णुके ) पद की अर्धा-  
त आकाशको विमान से पार करते हुए समुद्रको देखकर एकान्तमें प्रिया ( सीता ) से यह  
कहने लगे ॥ १ ॥

वैदेहि पश्यामलयाद्विभक्तं मत्सेतुना फेनिलमम्बुराशिम् ।

छायापथेनेव शरत्प्रसन्नमाकाशमाविष्कृतचारुतारम् ॥ २ ॥

वैदेहीति । हे वैदेहि सीते ? आ मलयान्मलयपर्यन्तम् । 'पञ्चम्यपाद्परिभि'  
इति पञ्चमी । पदद्वय चैतत् । मत्सेतुना विभक्त द्विधाकृतम्, अत्यायतसेतुनेत्यर्थः ।  
हर्षाधिक्याच्च मदग्रहणम् फेनिल फेनवन्तम् । 'फेनादिलक्ष' इतीलक्षप्रत्ययः ।  
क्षिप्रकारी चायमिति भावः । अम्बुराशिम् । छायापथेन विभक्त शरत्प्रसन्नमाविष्कृत-  
चारुतारमाकाशमिव पश्य मम महानय प्रयासस्त्वर्थ इति हृदयम् । छायापथो  
नाम ज्योतिश्चक्रमध्यवर्ती कश्चित्तिरश्चीनोऽवकाशः ॥ २ ॥

हे जनकनन्दिनि ! मलय पर्वततक मेरे पुलसे विभक्त और फेनयुक्त, छायापथसे विभक्त  
शरद् ऋतुमें निर्मल सुन्दर ताराओंसे युक्त आकाशके समान, समुद्रको देखो ॥ २ ॥

गुरोरियक्षोः कपिलेन मेध्ये रसातलं सङ्क्रमिते तुरङ्गे ।

तदर्थमुर्वीमवदारयद्भिः पूर्वं किलायं परिवर्धितो नः ॥ ३ ॥

गुरोरिति । यियक्षोर्यष्टुमिच्छो । यजेः सञ्जन्तादुप्रत्ययः । गुरो सगरस्य  
मेध्येऽश्वमेधाहं तुरगे हये कपिलेन मुनिना रसातलं पातालं सङ्क्रमिते सति ।  
तदर्थमुर्वीवदारयद्भिः खनज्जिनोऽस्माकं पूर्वैर्धृद्धैः सगरसुतैरयं समुद्रः परिवर्धितः  
किल । किलेत्यैतिह्ये । अतो नः पूज्य इति भावः । यद्यपि तुरङ्गहारी शतक्रतुरस्त-  
थापि तस्य कपिलसमीपे दर्शनात्स एवेति तेषां आन्ति तन्मत्त्वैव कविना कपिले-  
नेति निर्दिष्टम् ॥ ३ ॥

( अश्वमेध ) यज्ञ करनेके इच्छुक गुरु ( पूज्य सगर ) के यक्षिय ( यज्ञ-सम्बन्धी ) घोड़ेको  
कपिलमुनिके पास ( इन्द्रके द्वारा चुराकर ) पातालमें बांधेजानेपर उस घोड़ेके लिये पृथ्वीको  
खोदने वाले हमारे पूर्वजों ( सगरके साथ सद्गुरु पुत्रों ) इस समुद्रको बढ़ाया है ॥ ३ ॥

गर्भं दधत्यर्कमरीचयोऽस्माद्विवृद्धिमत्राश्नुवते वसूनि ।

अबिन्धनं वह्निमसौ बिभर्ति प्रह्लादन ज्योतिरजन्यनेन ॥ ४ ॥

गर्भमिति । अर्कमरीचयोऽस्मादन्धे । अपादानात् । गर्भमग्नयं दुधति, वृष्ट्यर्थ-  
मित्यर्थः । अयमर्थो दशमसर्गो- 'ताभिर्गर्भ' इत्यत्र स्पष्टीकृतः । अयं लोकोपकारीति  
भावः । अत्रावधौ वसूनि धनानि । 'धने रत्ने वसु स्मृतम्' इति विश्वः । विवृद्धिम-  
श्नुवते प्राप्नुवन्ति, सम्पद्धानित्यर्थः । असावाप इन्धनं दाह्य यस्य तदाहकं वह्निं

विमिश्रं यद्विमावर्तयं पुष्पकं तदाकृत्य सन् । पुरीमयोध्यां प्रतस्थे । 'समक्षप्रविम्बा  
स्या' इत्यात्मवेपथुम् । अथ प्रत्यागक्रियाया जकर्मकस्थेऽपि तद्वत्प्रभूतोद्देशक्रियारेण  
सकर्मकत्वम् । अस्ति च चातुर्ना क्रियाम्भरोपसर्जनकरवार्धामिवावकत्वम् । यथा  
'कुसुमान्प्रचति इत्याद्यान्मादायक्रियायमौ पाप्मो निधीयत इति ॥ १०७ ॥

इति महामहोपाध्यायकोकाचकमविक्रमायसुरिभिरचितया सङ्गीविनीसमात्मना  
स्वात्मनया समेतो महाकविजीकाकिदासकृष्टी रघुर्वंशे महाकाव्ये  
रामण्यवली नाम द्वादशाः सर्गाः ॥ ११ ॥

राम यो वशि ( वरीका से ) छत्र विना ( सीता ) को महककर त्रिभुवि विनीतको  
बभू ( रामन ) को राम-कहमी बेकर सूर्य-सम्ब ( सुमीव तथा स्वम्बके सहित छत्र  
( विनीतन ) से बभूवत हीकर बाहु ( वक्र ) से भीते पदे विमलबेज पुष्पकविनाय पर  
उपार हीकर लयोष्मापुरीश्वी वने ॥ १४ ॥

यद् 'महिमामा, वीर्यामै' रघुर्वंश महाकाव्यका 'रामण्यव  
नामक द्वादश सर्ग स्यात् इत्या ॥ ११ ॥

## अयोध्याः सर्गः

शैलेन्यस्रकपोदरणाथ मिश्रोन्नयनं चम्बं मरुतं तिरुवाय ।

पुष्पमयामं भुवनामिरामं रामं विरामं विपद्गुणपान्से ॥

अथात्मनः शम्भुगुणं गुणस्तं परं विमानेन विगाहमानं ।

रत्नाकरं वीर्यमिथं स जायां रामामिधानो हरिरित्युवाच ॥ १ ॥

अवेति । अथ प्रत्यागवस्तरम् । जानासीति ॥ । 'इष्टुपचञ्चलीकिरा' क  
इत्यनेन कथ्यन्त्याः । गुणानां शो गुणस्तः । रत्नाकरादिवर्णैः शरंगुणामिश्र इत्यर्थः ।  
स रामामिधानो हरिर्विष्णुः सङ्गो गुणो वरश्च तद्वत्पुष्पमयममना स्वस्य परं  
विष्णुपदम् आकाशमित्यर्थः । 'विपद्विष्णुपदम्' इत्यमरः । 'अष्टगुणकमाद्य  
सन् इति तात्त्विकम् । विमानेन पुष्पकेन विगाहमानः सन् । रत्नाकरं समुद्रं  
वीर्यमिथो रहसि । मिश्रोऽन्वोप्य रहस्यपि' इत्यमरः । अथां वतीं सीतामिति  
वचनमन्त्याप्रकरोद्योक्तम् । रामस्य हरिरित्यभिधानं निरङ्कुशमहिमयोत्तमार्थम् । मिश्रो-  
ग्रहणं शोहीविधगमसूचनायम् ॥ १ ॥

शैलेन-कथ्यन् नायनो वी शिषु वीरा रिपु इत्या ।

वम वीर्य-सुन्दर वरार वी राम को ईष्टु वथा ॥

इसके बाद गुणशता रामनामक विष्णुशब्द गुणवाले, अपने ( विष्णुके ) पद को अर्थात् आकाशको विमान से पार करते हुए समुद्रको देखकर एकान्तमें प्रिया ( सीता ) से यह कहने लगे ॥ १ ॥

वैदेहि पश्यामलयाद्विभक्तं मत्सेतुना फेनिलमम्बुराशिम् ।

छायापथेनेव शरत्प्रसन्नमाकाशमाविष्कृतचारुतारम् ॥ २ ॥

वैदेहीति । हे वैदेहि सीते ? आ मलयान्मलयपर्यन्तम् । 'पञ्चम्यपादपरिभिः' इति पञ्चमी । पदद्वय चैतत् । मत्सेतुना विभक्त द्विधाकृतम्, अत्यायतसेतुनेत्यर्थः । हर्षाधिक्याच्च मद्ग्रहणम् फेनिल फेनवन्तम् । 'फेनादिलश्च' इतीलङ्घ्यत्ययः । क्षिप्रकारी चायमिति भावः । अम्बुराशिम् । छायापथेन विभक्त शरत्प्रसन्नमाविष्कृत-चारुतारमाकाशमिव पश्य मम महानय प्रयासस्त्वर्थ इति हृदयम् । छायापथो नाम ज्योतिश्चक्रमध्यवर्ती कश्चित्तिरश्चीनोऽवकाशः ॥ २ ॥

हे अनकनन्दिनि ! मलय पर्वततक मेरे पुलसे विभक्त और फेनयुक्त, छायापथसे विभक्त शरद् ऋतुमें निर्मल सुन्दर ताराओंसे युक्त आकाशके समान, समुद्रको देखो ॥ २ ॥

गुरोरियक्षोः कपिलेन मेध्ये रसातलं सङ्क्रमिते तुरङ्गे ।

तदर्थमुर्वीमवदारयद्भिः पूर्वं किलायं परिवर्धितो नः ॥ ३ ॥

गुरोरिति । यियक्षोर्यण्डुमिच्छोः । यजे. सन्नन्तादुप्रत्ययः । गुरो सगरस्य मेध्येऽश्वमेधाहं गुरो ह्ये कपिलेन मुनिना रसातलं पातालं सङ्क्रमिते सति । तदर्थमुर्वीमवदारयद्भिः खनद्भिर्नोऽस्माकं पूर्ववृद्धैः सगरसुतैरयं समुद्रः परिवर्धितः किल । किलेत्यैतिह्ये । अतो नः पूज्य इति भावः । यद्यपि तुरङ्गहारी शतक्रतुस्तथापि तस्य कपिलसमीपे दर्शनात्स एवेति तेषां भ्रान्तिः तन्मत्त्वैव कविना कपिलेनेति निर्दिष्टम् ॥ ३ ॥

( अश्वमेध ) यज्ञ करनेके इच्छुक गुरु ( पूज्य सगर ) के यक्षिय ( यज्ञ-सम्बन्धी ) घोड़ेको कपिलमुनिके पास ( इन्द्रके द्वारा सुराकर ) पातालमें बांधेजानेपर उस घोड़ेके लिये पृथ्वीको खोदने वाले हमारे पूर्वजों ( सगरके साथ सहस्र पुत्रोंने ) इस समुद्रको बढ़ाया है ॥ ३ ॥

गर्भं दधत्यर्कमरीचयोऽस्माद्विवृद्धिमत्राशुवते वसूनि ।

अविन्धन वह्निमसौ बिभर्ति प्रह्लादन ज्योतिरजन्यनेन ॥ ४ ॥

गर्भमिति । अर्कमरीचयोऽस्मादवधे । अपादानात् । गर्भमगमय दुधति, घृष्टयर्थः मित्यर्थः । अयमर्थो दशमसर्गो- 'ताभिर्गम' इत्यत्र स्पष्टीकृतः । अयं लोकोपकारीति भावः । अग्रावधौ वसूनि धनानि । 'धने रत्ने वसु स्मृतम्' इति विश्वः । विवृद्धिम-शुवते प्राप्नुवन्ति, सम्पद्धानित्यर्थः । असावाप इन्धन दाहं यस्य तदाहक वह्नि

विमर्ति । अयकोऽवभाषितं च तद्वर्जनीति भाषा । अनेन प्रह्लादचमप्रह्लादकं अनेन  
गोऽवनि अमितम् । अनेन्यन्ताकमणि मुक् । सौम्य इति भाषा ॥ ४ ॥

इस समुद्र-तुर्ल-किरण (अजय) गर्भ-धारण करती है इस समुद्रमें रहने वाली यह समुद्र-विस्फा अजय ही हन्म है इसी वजह-विशेषों कारण करता है और इस समुद्रमें अजय-रहने के अर्थ-वजह-विशेषों कारण करता है ॥ ५ ॥

तां तामरस्यो प्रतिपद्यमानं स्थितं पुरा व्याप्य दिशो मद्विम्ना ।

विष्णोरिवास्यानयधारणोयमीदृक्त्या रूपमियत्तया वा ॥ ५ ॥

सामिति । तां सामवेक्ष्य । शिववीप्सवो इति वीप्सायां हिरदि ।  
 अथरत्नमन्त्रमाद्यवस्थाया । विष्णुपदे-सप्तपदवस्थाया । प्रतिपद्यमानं मन्त्रमर्थं  
 मन्त्रिणा दत्तं दत्तो वृष्ट्या रितं विष्णोरिवास्व रात्राऽत्रस्व स्व स्वकमुक्तं  
 शीघ्रा बहुमकमाद्यवस्थापदवस्थापदेष्टव्यवस्था वा मन्त्ररत्ना परिमाणं तदवस्थावशा  
 मीनं धूर्तिकपय ॥ ५ ॥

कन २ ( नववैद्य ) नवरत्नाओंकी ( सत्सुरक्षामें—महोदय न्यायि तथा विष्णु पदार्थमें—सत्सुरक्षामें नवरत्नाओंकी ) प्रशंसा करते हुए तथा महिम्नसे इसी विद्याओंमें व्याप्त होकर सत्सुरक्षामें समाप्त होत सत्सुरक्षामें प्रशंसा है तथा प्रशंसा है इत प्रशंसा विष्णु करकेके विष्णु प्रशंसा है ५५३

नामिप्रत्यङ्गमुहसनेन संस्तुयमानं प्रथमेन धात्रा ।

अमु युगान्तोषितयोगनिः सःस्य सोऽप्यनुरुपोज्जयिष्यते ॥ ६ ॥

नामोपि । सुपाण्डे कृपायां शक्तिः परिचिता योगा रक्षाभिद्यैः सिद्धेन  
विद्या बलं स पुत्रो विष्णुर्ब्रह्मा च । चतुर्भुजश्च संहतः । नाम्नां प्रसन्नं पदम्  
सर्वं पदं तदासमेन तदाभिधमकाशमेव प्रसमेन ध्याया दृष्टादीनामपि कथा विना  
महेन संस्तुपमाया सत् । अमुमभिद्येते अमुपिन्धेते इत्यर्थः । कृपाण्डेभ्यः  
स्तीति भावः ॥ १ ॥

मन्त्र-कार्ये योग-विशेषो महान् भिन्ने द्वये विष्णु संसारक संसारक, भवति  
 वरक कमल वर विष (वक्त्र मन्त्र-वति मन्त्रिषो वति मन्त्रिषो) मन्त्रिषो वति  
 विषे वति द्वय वति मन्त्रिषो वति है मन्त्रिषो वर मन्त्रिषो वति वी वर वति  
 वी वर है ॥ ५ ॥

पश्यन्निवा गोत्रमिवात्तगन्धां शरद्वयमेवं शतशो महीध्रः ।

मृपा ह्योपप्लविन परेभ्यो धर्मोत्तरं मध्यमाभाप्रयस्ते ॥ ७ ॥

पठयिरेति । पठयिष्यामि अनेकविधेन । अथवा 'पठयिष्यामि'—इति वाच्यम् ।

किप् । आत्तगन्धा हृतगर्वा, अभिभूता इत्यर्थः । 'गन्धो गन्धक आमोदे लेशे सम्बन्धगर्वयोः' इति विश्वः । 'आत्तगन्धोऽभिभूतः स्यात्' इत्यमरः । महीं धारयन्तीति महीध्रा पर्वताः । मूलविमुजादित्वात्कप्रत्ययः । शत शत शतशः शरण्यश्चणसमर्थमेन समुद्रम् । परम्य शत्रुम्य उपप्लविनो भयवन्तो नृपा धर्मोत्तर धर्मप्रधान मध्यम मध्यमभूपाळमिव । आश्रयन्ते । 'अरेश्च विजिगीषोश्च मध्यमो भूम्यन्तर' इति कामन्दक । आर्तबन्धुरिति भावः ॥ ७ ॥

पक्षोंके काटनेवाले इन्द्रके द्वारा गर्व-शून्य किये गये जीते गये पर्वत सैकड़ोंके शरणमें सम्यक् व्यवहार करने वाले उस प्रकार आश्रय करते हैं, जिस प्रकार शत्रुओंसे पीड़ित राजा धर्मात्मा मध्यम राजाका आश्रय करते हैं ॥ ७ ॥

रसातलादादिभवेन पुंसा भुवः प्रयुक्तोद्ग्रहणक्रियायाः ।

अस्याच्छमम्भः प्रलयप्रवृद्ध मुहूर्तवक्त्राभरणं बभूव ॥ ८ ॥

रसातलादिति । आदिभवेन पुंसाऽऽदिवराहेण रसातलात्प्रयुक्तोद्ग्रहणक्रियायाः कृतोद्धारणक्रियाया । विवाहक्रिया च व्यज्यते । भुवो भूदेवताया प्रलये प्रवृद्धमस्या, वधेरच्छमम्भो मुहूर्त वक्त्राभरण लज्जारक्षणार्थं मुखावगुण्ठन बभूव । तदुक्तम्—  
“उद्धृतासि वराहेण कृष्णेन शतयाहुना” इति ॥ ८ ॥

जव आदि पुरुष ( वराह ) ने पातालसे पृथ्वीका उद्धार किया ( विष्णु पक्षमें—विवाह किया ) तब प्रलय-कालमें वढ़ा हुआ इसका जल मुहूर्त भरके लिये उस पृथ्वीके मुखका भूषण हुआ ( वि० पक्षमें पृथ्वीरूपिणी नववधूके लज्जानिवारणार्थं घूँघट हुआ ) ॥ ८ ॥

मुखार्पणेषु प्रकृतिप्रगल्भाः स्वयं तरङ्गाधरदानदक्षः ।

अनन्यसामान्यकलत्रवृत्तिः पिवत्यसौ पाययते च सिन्धूः ॥ ९ ॥

मुखेति । अन्येषां पुंसा सामान्या साधारणा न भवतीत्यनन्यसामान्या कलत्रेषु वृत्तिर्भोगरूपा यस्य स तथोक्तः । इममेवार्थं प्रतिपादयति—तरङ्ग एवाधरस्तस्य दाने समर्पणे दक्षश्चतुरोऽसौ समुद्रो मुखार्पणेषु प्रकृत्या सख्यादिप्रेरण विना प्रगल्भा घृष्टा सिन्धूर्नदी । 'सिन्धुः समुद्रे नद्या च' इति विश्वः । स्वयं पिबति पाययते च तरङ्गाधरमिति शेषः । 'न पादग्याह्यमा०' इत्यादिना पिबतेर्ण्यन्तान्नित्य परस्मैपदनिषेधः 'गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थ०' इत्यादिना सिन्धूना कर्मत्वम् । दम्पत्योर्युगपत्परस्पराधरपानमनन्यसाधारणमिति भावः ॥ ९ ॥

( नदीरूप ) स्त्रियोंसे अनन्य साधारण भोग करनेवाला और स्वयं तरङ्गरूप अधरको देनेवाला यह समुद्र मुख-दान करनेमें स्वभावतः धृष्ट नदियोंको स्वयं पान करता है और कराना है । ( सम्भोगकालमें दम्पतिका परस्पर अधरपान करना कामतन्त्र प्रसिद्ध है ) ॥ ९ ॥

ससत्त्वमादाय नवीमुखाग्भः सम्मील्यन्तो विवृताननत्पात् ।

धमी शिरोमिस्त्रिमयः सरन्त्रैसध्य वितन्दन्ति जलप्रवाहाम् ॥१०॥

ससत्त्वमिति । धमी तिमबो मात्पयिसेपम् । तदुक्तम्— अस्ति मात्परितमि  
नाम सत्त्वोन्नतमापत्तः इति । विवृताननत्पाद्वाचमुपवादेतोः । आवयविवृतेष्व  
र्थः । ससत्त्वं मात्स्वादिमानिसहितं नवीमुखाग्भ आदाय धम्मील्यन्तमनुपुममि श्रेय  
इत्यन्तः सन्तः सरन्त्रोः शिरोमिर्जलप्रवाहान्तर्यं वितन्दन्ति । जलप्रवाहोन्नतम  
विचरन्त्यते ॥ १ ॥

ये शिपि ( नदी १ मध्यस्थिता ) सुखी वृत्त वया होनेके कारण गरिबोंके इरानेके  
बन्धुजोंके तरित बन्धु ( सुखी ) केर फिरे सुखी वन्द करती हुई फिर सुख मलकों  
के ऊपरी भागसे ( धोखारेके तवाव ) बन्धु वाराको छोड़ती हैं ॥ १ ॥

मातङ्गनक्षत्रैः सहस्रोत्पतद्भिर्मिलान्निघा परम समुद्रफेनाम् ।

कपोतसंसर्पितया म यपां यजन्ति कणक्षुण्णचामरत्वम् ॥ ११ ॥

मातङ्गनेति । सहस्रोत्पतद्भिर्मिलान्निघा परम समुद्रफेनाम्  
एव । ये चेन्म यपां कणक्षुण्णचामरानां कपोलेषु संसर्पितया संसर्पयैव हेतुना कर्तुं  
यत्नं चामरत्वं यजन्ति ॥ ११ ॥

कणक्षुण्णचामरे हुए चामरकार विद्याल भावसे ही भावोंमें दिवस छत्रके फेनोंको  
देखी को फेन एव ( भावों ) के करीबके पास स्थित होतेसे कणक्षुण्ण चामरोंमें चामरपान  
की चारण करते हैं ॥ ११ ॥

वेदानिनाय प्रसूता सुजङ्गा महोर्मिस्फुजशुनिर्घोषा ।

सूर्याशुसम्पर्कससृक्षरागौर्ध्वम्यन्त एते मणिभिः फणस्वैः ॥ १२ ॥

वेवेति । वेदानिनाय । वेदानिके वातुमित्यर्थः । 'विवाधोपपन्नस्य च कर्तुं  
स्वाधिनः इत्यनेन कर्तुं' । प्रसूता विर्यया महोर्मिर्वा विरहूर्ध्वपुच्छेकः । इतिहो-  
शुष्क इत्यनुपपत्त्या । तस्मात्त्रिभिरोषा दुर्ध्वमेव एते भुजङ्गाः सूर्याशुसम्पर्क-  
ससृक्षरागोः प्रसृक्षकान्तिभिः फणस्वैर्मणिभिर्व्यन्तः धन्वीपन्ते ॥ १२ ॥

तीरकी मनुका पाव करनेके लिये बाहर निकले हुए, वही १ तरङ्गोंके पक्षोंके समाप्त  
स्थित वे सूर्य किरणोंके पक्षोंके पक्षोंके हुए कणक्षुण्ण मणिों से मातङ्ग नदी हैं ॥ १२ ॥

तथाभरुपरिपु विद्रुमेषु पर्यस्तमेतत्सहस्रोर्मिबैगात् ।

ऊर्ध्वाङ्गुरमोतमुखं कर्वाञ्जितसोरापपन्नमति शङ्खमूयम् ॥ १३ ॥

उत्पेति । तथाभरुपरिपु, अवरुपरिपुमित्यर्थः । विद्रुमेषु मन्त्राकेषु सहस्रोर्मिबैगा-

स्पर्शस्तं प्रोत्थिसमूर्ध्वाङ्कुरविदुमप्ररोहैः । प्रोतमुखं स्यूतवदनमेतच्छृङ्खानां यूथ वृन्दं  
कथञ्चित्क्लेशादपक्कामति विलम्ब्यापसरतीत्यर्थः ॥ १३ ॥

तुम्हारे अघरके समान प्रवालों ( मृगाओं ) में सहसा तरङ्गों के वेग से ऊपर आया  
हुआ ऊपर में स्थित ( प्रवालों के ) अङ्कुरों में फैला हुआ शङ्ख-समूह किसी प्रकार कठिनार्थसे  
अर्थात् रुकनेसे कुछ विलम्बकर अलग होता है ॥ १३ ॥

प्रवृत्तमात्रेण पयांसि पातुमावर्तवेगाद्भ्रमता घनेन ।

आभाति भूयिष्ठमयं समुद्र प्रमथ्यमानो गिरिशेव भूयः ॥ १४ ॥

‘प्रवृत्तेति । पयांसि पातु प्रवृत्त एव प्रवृत्तमात्रो न पीतवांस्तेनावर्तवेगात् ।  
‘स्यादावर्तोऽभ्रमसां भ्रम’ इत्यमरः । भ्रमता घनेन मेघेनाय समुद्रो भूय पुनरपि  
गिरिणा मन्दरेण प्रमथ्यमान इव भूयिष्ठमित्यन्तमाभाति ॥ १४ ॥

जलको पीनेके लिये आरम्भ करते हुए भँवर ( पानी का चकोड़ ) से घूमते हुए बादल  
से यह समुद्र फिर झुमेरुसे मथे जाते हुए के समान अत्यन्त शोभित होता है ॥ १४ ॥

दूरादयश्चक्रनिभस्य तन्वी तमालतालीवनराजिनीला ।

आभाति वेला लवणाम्बुराशेर्धारानिवद्धेव कलङ्करेखा ॥ १५ ॥

दूरादिति । अयश्चक्रनिभस्य लोहचक्रसदृशस्य । लवणाम्बुराशेर्दूरात्तन्मण्डपेनाव-  
भासमाना तमालतालीवनराजिभिर्नीला वेला तीरभूमिर्धारानिवद्धा चक्राश्रिता कल-  
ङ्करेखा मालिन्यरेखेव । आभाति । ‘मालिन्यरेखां तु कलङ्कमाहुः’ इति दण्डी ॥ १५ ॥

लोहचक्रके समान क्षारसमुद्रकी वेला दूरसे छोटी मालूम पड़ती हुई और तमालों तथा  
तालों की बनराजिसे श्यामवर्णवाली धारासे निबद्ध कलङ्करेखा के समान मालूम पड़ती है ॥

‘वैलानिल’ केतकरेणुभिस्ते सम्भावयत्याननमायताक्षि ।

मामक्षम मण्डनकालहानेर्वेत्तीव विम्बाधरचन्द्रतृष्णम् ॥ १६ ॥

वेलेति । हे आयताक्षि । ‘वेला स्यात्तीरनीरयो’ इति विश्वः । वैलानिलः  
समुद्रतीरवायुः केतकरेणुभिस्त आनन सम्भावयति । किमर्थमित्यपेक्षायामुत्प्रेक्षते—  
विम्बाधरे चन्द्रतृष्ण मा मण्डनेनाभरणक्रियया कालहानिर्विलम्बस्तस्या अक्षमसह-  
मानम् । कर्मणि पठ्यते । कालहानिमसहमान वेत्तीव वेत्ति किम् । नो चेत्कथं सम्भाव-  
येदित्यर्थः ॥ १६ ॥

- हे विशाललोचनवाली सीता ! समुद्रतट की दूरा ( तुम्हारे अघरोंके प्यासी और मण्डन-  
जन्य सनयातिग्राम ( विलम्ब ) की मण्डनेमें असमर्थ मुझको जानती हुई-के समान, केतकी-  
पुष्पके पराणोंसे तुम्हारे मुग्धकी अलङ्कृत कर रही है ॥ १६ ॥



त्वमिति । हे यौव मयसीधे ! 'ऊदुता' इत्युक्त्वा ततो बहीत्वात्समुद्री इत्या । तं  
रक्षसा राजनेन यतो येन मार्गेण । मार्गेविमलिक्रमस्तसि । अपकीताऽप्युदता तं मार्गं  
पानिगिरिपायाबाहुनतुमश्वमुत्थ पृथा कृता बीदय आबर्जिता ममिषा पृथगा पा  
निरयाभीवा पामिस्तमिः आशामिः स्वावयवमूलाभिः कृपया मेम्भर्षवम् । इत्युक्ते  
हृषा सुखदक्षित्वार्थः । आका वृक्षान्तरे मुमं इति विधा । कृताऽप्रीयामपि आत्म-  
स्त्वेव, तदुक्तं मनुष्या- 'अस्तर्थाया भवत्येवै मुक्तुः कसमम्विता' इति ॥ २३ ॥

हे यौव ! राक्षस (रावण) तुमको विष्ट राक्षसे के 'मृग' बोझेमें 'अर्धमर्ध' रूप कृत  
भोजे लुब्धे हुये पक्षवेषाकी आभिवेषे कष्ट मार्गकी कठोर दुर्ग दिक्कता ॥ २४ ॥

सुखम्ब इमां दुरनिर्भयेष्वस्तवागतिर्ध समबोधयन्माम् ।

अध्वपारयन्त्यो विशि वसिगस्थामुत्पन्नमराजीनि विलोचनानि ॥ २५ ॥

सुख इति । इमां दुरेषु अवशेषु विध्वंविधा विध्वंहा सुखो दुराज्ञाभावेत्यस्म-  
राजीनि विलोचनानि वसिगस्थं विशि अध्वपारयन्त्याः यक्षवन्मन्त्राः सत्यस्तवागतिर्ध  
अत्यवधिर्ध मां समबोधयन्, अक्षिषेहृषा अक्षुतिमबोधयस्वित्वार्थः ॥ २५ ॥

कुशाभीधे मङ्गर्ये विष्टर हरिण्या धी कपट विधे हृद पञ्च-तद्वत् धके वेणीते  
वक्षिन् विधा की कीर देवते हुये तुम्हारी गतिसे बही बाधवेषाके दुष्टको तुम्हाप रावण  
वतकारे ॥ २५ ॥

यत्त्रिरेमोन्मयवत् पुरस्तादायिर्मबस्म्वरलेखि मृङ्गम् ।

नवं पर्यो यत्र यनैर्मेषु च त्वक्षिप्रयोगाशु समं मिसृष्टम् ॥ २६ ॥

यत्त्रिति । मन्मथवतो नाम गिरेरम्बरकेम्बजह्वं यत्त्रिरेमोन्मयवत् पुरस्तादे वा  
विद्यंति यत्र यत्त्रे यनैर्मेषैर्नवं पयो मया त्वक्षिप्रयोगेन यद्वत् यत्र समं मिसृष्टं  
सृष्टम् । मेवदर्शनाद्वर्णयन्मम हृदि मिसृष्टमिति आका ॥ २६ ॥

आकाशकी हुये पाया कभीह नष्ट कीका आत्मवात् पर्येका वर शिखर दिक्कता ॥  
अज्ञात यदे मेवसे बळकी तथा धीने तुम्हारी निरक्षरे कलत्र बीजूकी बाध वरसादे मे कथरे  
वरसते हुये मेवकी ईकठर तुम्हारी निरक्षरे शक्तिन होकर मेमे अत्यन्त रीवा था ॥ २६ ॥

गन्धर्व्य भाराहतपत्न्यानां कावृम्भमर्षेभ्रतकेसरं च ।

स्निग्धमात्र केच शिशिर्ना वमुच्युर्मस्मिन्नसङ्गानि विम त्वया मे ॥ २७ ॥

गन्ध इति । मस्मिन्नङ्गे अस्मिन्निर्भयामिराहतायां पत्न्यकारां पत्न्यत्र यत्त्रो-  
हृतकेसरं कावृम्भं बीपङ्गुधुमे च स्निग्धमाऽमनुष्याः शिशिर्ना वरिजाम् 'शिशिर्ना वरि-  
जिनी' इत्यमरा । केचन च त्वया विम मेमसङ्गानि वयमुक्ताः । 'वयुंसकेच' इति  
वरुंसकेचोक्त ॥ २७ ॥

जिस ( माल्यवानके शिखर ) पर वर्षाकी धाराओंसे ताड़ित पड़्योंका गन्ध, आधे निकले हुए केसरोवाला कदम्बपुष्प और मयूरोके मनोहर शब्द तुम्हारे विनी मुझे असह्य हो गये थे ॥ २७ ॥

पूर्वानुभूतं स्मरता च यत्र कम्पोत्तर भीरु तवोपगूढम् ।

गुहाविसारीण्यतिवाहितानि मया कथञ्चिद्भनगर्जितानि ॥ २८ ॥

पूर्वति । किञ्च हे भीरु ! यत्र शृङ्गे पूर्वानुभूतं कम्पोत्तरं कम्पप्रधानं तवोपगूढमुप-  
गूहन मेघस्तनितश्रवणेन भीरुस्वभावत्वावध्या, कृतमालिङ्गनमित्यर्थः । स्मरता मया  
गुहाविसारीणि घनगर्जितानि कथञ्चिदतिवाहितानि स्मारकत्वेनोद्दीपकत्वात्, क्लेशेन  
गमित्तानीत्यर्थः ॥ २८ ॥

हे-भीरु ! जिस ( महेन्द्रके शिखर ) पर पड़ते 'अनुभूत' ( मेघके भयङ्कर गर्जनेसे डरने  
के कारण ) अधिक कम्पन युक्त तुम्हारे आलिङ्गनको स्मरण करते हुये मैंने गुफाओं ( प्रति-  
श्रवित होनेसे ) में बड़े हुये, मेघ-गर्जनको किसी तरह अर्थात् बड़े कष्टसे बितायी ॥ २८ ॥

आसारसिक्तक्षितिवाष्पयोगान्मामक्षिणोद्यत्र विभिन्नकोशैः ।

विहम्ब्यमाना नवकन्दलैस्ते विवाहधूमारुणलोचनश्रीः ॥ २९ ॥

आसारेति । यत्र शृङ्गे विभिन्नकोशैर्विकसितकुड्ममलैर्नवकन्दलैः कन्दलीपुष्पैरुण-  
चणैरासारेण धारासम्पातेन । 'धारासम्पात आसारः' इत्यमरः । सिक्कायाः क्षितेर्वाष्प-  
स्य धूमवर्णस्य योगाद्देतोर्विहम्ब्यमानाऽनुक्रियमाणा ते विवाहधूमेनारुणा लोचनश्रीः  
सादृश्यात्स्मर्यमाणेति शेषः । मामक्षिणोदपीडयत् ॥ २९ ॥

जिस ( मन्दराचलके शिखर ) पर खिञ्जी हुई कलियोंवाले कन्दली-पुष्पोंने धारापूर्वक-  
वर्षा होनेसे भीगी हुई भूमिसे निकलते हुए भाफके द्वारा अनुकूल, विवाहकालिक ( हवनके )  
धूमसे लाल नेत्रोंकी शोभाने स्मरण आने पर ) मुझे पीडित किया ॥ २९ ॥

उपान्तवानीरवनोपगूढान्यालक्ष्यपारिप्लवसारसानि ।

दूरावतीर्णा पिबतीव खेदादमूनि पम्पासलिलानि दृष्टिः ॥ ३० ॥

उपान्तेति । उपान्तवानीरवनोपगूढानि पार्श्ववञ्जुलपनच्छद्धान्यालक्ष्य ईषद्-  
दृश्याः पारिप्लवाश्चञ्चलाः सारसा येषु तान्यमूनि पम्पासलिलानि पम्पासरोजलानि  
दूरादवतीर्णा मे दृष्टिरत एव खेदापिबतीव, न विहातुमुत्सहत इत्यर्थः ॥ ३० ॥

समीपस्थ वेंतके उपवनोमें डके हुए और थोड़ा-२ दिखलाई पड़ते हुए सारस पक्षियों  
वाले, पम्पासरके जलको दूरसे पड़ती हुई मेरी दृष्टि मानो खरसे पी रही है । ( पम्पासरके  
जलको दूरसे देखना हुआ मैं उससे दृष्टि दाना नहीं चाहता ) ॥ ३० ॥

एते वयं सैष्वभिन्नगुक्तिपयस्तमुत्थापयन् पयोधे ।

प्राप्ता मुहूर्तेन विमानवेगात्कूलं फलापजितपूगमासम् ॥ १७ ॥

एत इति । एते वयं सैष्वभिन्नगुक्तिपयस्तमुत्थापयन् पयोधे परितः  
विमाने मुक्तानां पट्टाणि वरिमलपोकम् । फलेरावजिताः वानमिताः पूगमास  
वरिमलतलपोधेः छागरस्य कूलं तीरं विमानवेगात्पुष्पकविमानवेगात्मुहूर्तेन प्राप्ताः ॥

ये इमल्लेग रात्रौ नोते हृष्ये हर्षं ह्युक्तिरोते कैत्रे हृष्य हृष्य-समूहगणे नीर वक्रोते  
नारते मुने हृष्य दगतेते हृष्योते समूहगणे समूह-वत् पर विमान को हीन यन्त्रे वारण  
मुहूर्त (बीजदी) मे हृष्य गते ॥ १७ ॥

कुप्य तावत्करमोः पद्मान्मार्गे सुगमेक्षिणि दृष्टिपातम् ।

पथा विदूरीमयतः समुद्रात्सकानना निष्पतसीव भूमि ॥ १८ ॥

कुप्येति । 'अमिषावाकनिर्णयस्य करमो वही' इत्यमरः । करम इत्येक  
वस्त्राः सा करमोक्त 'उक्तपरादीपमे' इत्युक् । तस्याः समुद्रो हे करमोक्त ।  
सुगमेक्षित इति दिग्दर्शः । हे सुगमेक्षिणि । तावत्पद्मान्मार्गे क्वहिताप्यधि, दृष्टि-  
पातं कुप्य पथा सकानना भूमिर्विदूरीमयतः समुद्रात्सकानना निष्पतसीव ।  
विदूरीमयद्विष्टेभ्यविष्टाविष्टा ॥ १८ ॥

हे करमोक्त, हे वृषभनी । नष्ट पीठे रास्तेषु देवी वक्रते तद्वत् वृषि हृ  
हीतो हर्षं समुद्रते मार्गे निष्पतसीव ॥ १८ ॥

कचित्पथा सञ्चरते मुराणा कचिद्वनानां पततां कचिच्च ।

यथाविभो मे मनसोऽमिक्षापः प्रवर्तते परय तथा विमानम् ॥ १९ ॥

कचेति । हे देवि । विमानं पुष्पकं मे मनसोऽमिक्षापो यथाविभस्तथा प्रवर्तते  
परय कचित्पराणां पथा मार्गेण सञ्चरते । कचिद् वनानां कचित्पततां पथिनां च  
पथा सञ्चरते । 'समस्तुतीवापुत्तय' इति धर्मार्थकरतैलमयेपदम् ॥ १९ ॥

( हे देवि । ) कैसी मेरा वनवा होती है वह पुष्पक विमान वैसी हो चला है वैसी ।  
करी वनवानोंके, कही वनों के नीचे कहीं पथियोंके मार्गसे ( चला है ) ॥ १९ ॥

असौ महेन्द्रद्विपदानगम्भिमामार्गावीचिविमर्षशीलः ।

आकशरावाभुर्दिनयौनोत्थानाधामति स्वेदकमान्मुखे ते ॥ २० ॥

असाविति । महेन्द्रद्विपदानगम्भिराकशमहागम्भिः विधिमर्षीर्तन्वृत्तीति विमान-  
गमा गद्गा 'तन्वृत्तीर्षी'परपदप्रमाहारे च' इत्यनेनी'परपदप्रमाहारे । तस्या निष्पत्त्य-  
ज्जना कोचीनां विमर्षेण सम्पर्केण कीलोम्भावाकाशरावाभुर्दिनयौनोत्थानाधामान्मुख-  
वास्ते मुखे स्वेदकमानाधामति इति । अनेन मुरपदप्रमाहारे दर्शितः ॥ २० ॥

येराव तके मदसे सुगन्धियुक्त, आकाशगङ्गाके तरङ्गोंके स्पर्शसे शीतल यह आकाश-वायु मध्याह्नके कारण उत्पन्न तुम्हारे मुखमें पसीनोंको सुखा रहा है ॥ २० ॥

करेण वातायनलम्बितेन स्पृष्टस्त्वया चण्डि कुतूहलिन्या ।

आमुञ्चतीवाभरणं द्वितीयमुद्भिन्नविद्युद्वलयो घनस्ते ॥ २१ ॥

करेणेति । हे चण्डि कोपने ! 'चण्डस्त्वत्यन्तकोपन' इत्यमर । कुतूहलिन्या विनोदार्थिन्या त्वया कर्ष्या वातायने गवाक्षे लम्बितेनावस्रसितेन करेण स्पृष्ट उद्भिन्न-विद्युद्वलयो घनस्ते द्वितीयमाभरणं वलयमामुञ्चतीव अर्पयतीव । चण्डीत्यनेन कोपन-शीलत्वान्नीत । विप्र त्वां मुञ्चति मेघ इति व्यज्यते ॥ २१ ॥

हे कोपशीले ! कौतुकवश तुम ( विमानधी ) छिडकीसे बाहर निकाले हुए हाथसे मेघ को स्पर्श करती है तब चमकती हुई बिजुली रूप कङ्कणवाला वह मेघ तुमको मानो दूसरा भूषण देता है ॥ २१ ॥

अमी जनस्थानमपोढविघ्न मत्वा समारब्धनवोटजानि ।

अध्यासते चीरभृतो यथास्वं चिरोज्झितान्याश्रममण्डलानि ॥ २२ ॥

अमीति । अमी चीरभृतस्तापसा जनस्थानमपोढविघ्नमपास्तविघ्न मत्वा ज्ञात्वा समारब्धा नवा उटजा पर्णशाला येषु तानि । 'पर्णशालोटजोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः । चिरोज्झितानि, राक्षसमयादित्यर्थः । आश्रममण्डलान्याश्रमविभागान्यथास्व स्व स्व-मनतिक्रम्याध्यासतेऽधितिष्ठन्ति ॥ २२ ॥

ये वक्कल-बारी ( तपस्वी ) जनस्थान ( दण्डकारण्यका भू-भाग-विशेष ) को निर्विघ्न मानकर बनायी जारही हैं नयी पर्णशालायें जिनमें घेसे, ( राक्षसोंके मयसे पहले ) बहुत समय तक छोड़े हुए आश्रमोंमें अपने २ क्रमसे निवास कर रहे हैं ॥ २२ ॥

सैषा स्थली यत्र विचिन्विता त्वा अष्ट मया नूपुरमेकमुर्व्याम् ।

अदृश्यत त्वच्चरणारविन्दविरलोषट्ख्वादिव बद्धमौनम् ॥ २३ ॥

सैषेति । सा पूर्वानुभूता स्थल्येषा, दृश्यत इत्यर्थः । अष्ट स्थल्यां त्वां विचिन्विताऽन्विष्यता मया । त्वच्चरणारविन्देन यो विश्लेषो वियोगस्तेन यद् दुःख तस्मादिदं बद्धमौनं नि शब्दम् उर्व्यां अष्टमेक नूपुर मञ्जीर । 'मञ्जीरो नूपुरोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः । अदृश्यत दृष्टम् । हेतुत्प्रेक्षा ॥ २३ ॥

यह वही वनभूमि है, जहाँ तुमको ढँढते हुये मैंने भूमिपर नूपुरकी पाया था, जो मानों तुम्हारे चरण-कमलके विरह जन्य दुःखसे मौन दिखलाई पड़ता था ॥ २३ ॥

त्वं रक्ष सा भीरु यतोऽपनीता त मार्गमेताः कृपया लता मे ।

अदर्शयन्वक्तुमशक्नुवत्यः शाखाभिरावर्जितपल्लवाभिः ॥ २४ ॥

एते धर्मं सैकतमिषाशुक्तिपर्यस्तमुत्तमपटलं पयोधे ।

प्राप्ता मुहूर्तेन विमानवेगात्कूर्सं फलावर्जितपूगमाक्षम् ॥ १७ ॥

पुत्र इति । एते धर्मं सैकतेषु मिषाणि सुष्ठुविताणि शुक्तिणि पर्यस्ताणि परिष्ठा-  
विष्टानि सूक्ष्माणि पटलानि बलिमलबोधकाः । फलैरावर्जिताः आनमिताः पूगमाक्ष-  
धर्मिस्तत्पयोधेः सागरस्य कूर्सं तीरे विमानवेगात्सुष्यकविमानवेगान्मुहूर्तेन प्राप्ताः ।

ये इत्यनेन राजर्षौषे प्रभेदे द्वे शुक्तिर्षौषे चैकते द्वे कृपा-समूहशब्दे नीर कर्षणे  
भारते द्वे द्वे कृपाशब्दे शब्दोके समूहशब्दे समूह-कृत पर विमान श्री सीम बलिदे कारण  
मुहूर्ते (दीपदी) मे पूर्ण पक्षे ॥ १७ ॥

कुण्डल्य वायुत्तरमोह पद्मान्मार्गे मृगप्रेक्षिणि दृष्टिपाठम् ।

एषा विदूरीमवतः समुद्राश्चक्रनना निम्नतर्त्तव भूमि ॥ १८ ॥

कुण्डलेति । 'मन्त्रिवन्वादात्मनिष्ठं कास्य क्रमो बहिः' इत्यमरा । क्रम इत्येक-  
वत्या सा क्रमोक्तः 'उत्तरपदादौपम्ये' इत्युक् । तस्या सम्प्रज्ञौ हे क्रमोक्तः ।  
सुयक्रमेवत इति विग्रहः । हे मृगप्रेक्षिणि ! तावत्पद्मान्मार्गे कक्षितान्वति, दृष्टि-  
पाठं कुण्डल्य एषा लक्ष्यवता भूमिर्किदूरीमवतः समुद्राश्चक्रनना निम्नतर्त्तव ।  
किदूरान्वादिरोज्यमिष्यामिष्या ॥ १८ ॥

ये क्रमोक्तः हे सप्तमयी ! अथा योक्ते रास्तेषी द्वयोः वनके लदित वर भूमि इर-  
दीपौ द्वे समुद्रौ मानो निकट एवौ ॥ १८ ॥

अचित्पथा सञ्चरते सुराणां कश्चिद्वनानां एतदां कश्चिच्च ।

यथानिषां मे मनसोऽमितापः प्रवर्तते परम वचा विमानम् ॥ १९ ॥

अनेचिदिति । हे देवि ! किमात्रं पुण्यकं मे मनसोऽमितापे यथानिषस्तथा प्रवर्तते  
परम कश्चित्सुराणां पथा मार्गेन सञ्चरते । कश्चिद् वनानां कश्चित्पथां पथिनां च  
पथा सञ्चरते । समस्तुतीयात्पुण्यत् इति समुद्रोत्तरतेरामवैपद्य ॥ १९ ॥

( हे प्रिये ! ) चैतो मया वक्ष्यतां होतो है वद पुण्यक विनाय वैति ही वक्षता है देवी !  
अरी वैपथार्थोक्ते, अही प्रीति है नीर अही शक्तिर्षौके मार्गति ( वक्षता है ) ॥ १९ ॥

अस्ती महेन्द्रद्विपद्मानगम्भिकियार्गमायीषिषिमर्षरीतः ।

आक्षयशापुर्दिनयौवनोत्थानाधामति स्वेदक्षयान्मुले तः ॥ २० ॥

असाविति । महेन्द्रद्विपद्मानगम्भिरावतमहगम्भ्याः क्षिप्रियार्थैर्नोत्पत्तीति विमा-  
नीणा गान् 'उत्थिताद्येत्तरपदसमाहारे च' इत्यनेनोत्तरपदसमाहारे । तस्या विषय-  
ज्ञाना पीपीना विमर्देन सम्पर्केन श्रीतोऽप्यावाकासकापुर्दिनयौवनोत्थानाधामप्राप्तसम्भ-  
व्यस्ते मुखे स्वेदक्षयानाधामति इति । अनेन शूरपथसञ्चारो वक्षितः ॥ २० ॥

ऐरावतके मदसे सुगन्धियुक्त, आकाशगङ्गाके तरङ्गोंके स्पर्शसे शीतल यह आकाश-वायु मध्याह्नके कारण उत्पन्न तुम्हारे मुखमें पसीनोंकी सुखा रहा है ॥ २० ॥

करेण वातायनलम्बितेन स्पृष्टस्त्वया चण्डि कुतूहलिन्या ।

आमुञ्चतीवाभरणं द्वितीयमुद्भिन्नविद्युद्वलयो घनस्ते ॥ २१ ॥

करेणेति । हे चण्डि कोपने ! 'चण्डस्वत्यन्तकोपन.' इत्यमर । कुतूहलिन्या विनोदार्थिन्या स्वया कर्त्र्या वातायने गवाक्षे लम्बितेनावलसितेन करेण स्पृष्ट उद्भिन्न-विद्युद्वलयो घनस्ते द्वितीयमाभरणं वलयमामुञ्चतीव अर्पयतीव । चण्डीत्यनेन कोपन-शीलत्वाङ्गीत. चिप्र त्वां मुञ्चति मेघ इति व्यज्यते ॥ २१ ॥

हे कोपशीले ! कौतुकवश तुम ( विमानकी ) छिडकीसे बाहर निकाले हुए हाथसे मेघ को स्पर्श करती है तब चमकती हुई बिजुली रूप कङ्कणवाला वह मेघ तुमको मानो दूसरा मृषण देता है ॥ २१ ॥

अमी जनस्थानमपोढविघ्न मत्वा समारब्धनवोटजानि ।

अध्यासते चीरभृतो यथास्वं चिरोज्झितान्याश्रममण्डलानि ॥ २२ ॥

अमीति । अमी चीरभृतस्तापसा जनस्थानमपोढविघ्नमपास्तविघ्न मत्वा ज्ञात्वा समारब्ध नवा उटजा पर्णशाला येषु तानि । 'पर्णशालोटजोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः । चिरोज्झितानि, राक्षसमयादित्यर्थः । आश्रममण्डलान्याश्रमविभागान्यथास्व स्व स्व-मनतिक्कन्याध्यासतेऽधितिष्ठन्ति ॥ २२ ॥

ये वस्त्रक-धारी ( तपस्वी ) जनस्थान ( दण्डकारण्यका भू-भाग-विशेष ) को निर्विघ्न मानकर बनायी जारही हैं नयी पर्णशालाओं जिनमें बैठे, ( राक्षसोंके मयसे पहले ) बहुत समय तक छोड़े हुए आश्रमोंमें अपने २ क्रमसे निवास कर रहे हैं ॥ २२ ॥

सैषा स्थली यत्र विचिन्वता त्वां भ्रष्टं मया नूपुरमेकमुर्व्याम् ।

अदृश्यत त्वच्चरणारविन्दविश्लेषदु ख्लादिव बद्धमौनम् ॥ २३ ॥

सैवेति । सा पूर्वाभ्रभृता स्थल्येषा, दृश्यत इत्यर्थः । अत्र स्थल्यां त्वां विचिन्वताऽन्विष्यता मया । त्वच्चरणारविन्देन यो विश्लेषो वियोगस्तेन यद् दुःख तस्मादिव बद्धमौनं नि शब्दम् उर्व्यां अष्टमेक नूपुर मञ्जरी । 'मञ्जरी नूपुरोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः । अदृश्यत दृष्टम् । हेतुल्लेखा ॥ २३ ॥

यह बड़ी वनभूमि है, जहां तुमको ढँढते हुये मैंने भूमिपर नूपुरकी पाया था, जो मानों तुम्हारे चरण-कमलके विरह जन्य दुःखसे मौन दिखलाई पड़ता था ॥ २३ ॥

त्वं रक्ष सा भीरु यतोऽपनीता त मार्गमेताः कृपया लता मे ।

अदर्शयन्वक्तुमशक्नुवत्यः शाखाभिरावर्जितपल्लवाभिः ॥ २४ ॥

त्वमिति । हे मीर ! मगधीले ! 'ऊरुता' इत्युक्त्वा ततो बहीत्वात्समुद्री इत्युक्त्वा । त्वं  
 रघुसा राजनैव यतो येन मार्गेण । मार्गेभिर्मण्डितस्तसि । अपचीताभ्यङ्गता तं मार्गं  
 चागिन्निषामन्नाह्वयमुमद्यन्नुक्त्य एता कृता वीर्यं आदर्शिता त्वमिता पञ्चबा पा  
 निरवावीपा चाभिस्तामि ताकासि एवावयवभूताभिः कृपया मेभ्यश्चैवम् । इत्युक्ते  
 श्या सुचपक्षित्वम् । ताका वृषभन्दरे जुजे' इति विद्या । कृताऽऽशीवामपि ज्ञानम  
 शयश्च तदुक्तं मनुष्या- 'अन्तस्तेषां मयस्येते सुखदुःखसमन्विताः' इति ॥ २३ ॥

हे मीर ! राक्षस ( रावण ) प्रयत्नो विधु राक्षसे के गुण, लोकमेव अक्षमं इव कृत्वा  
 मोने द्रुहते ॥ पञ्चशोभाय वाकिवोते कश्च यत्पक्षी कृताकर दृष्टे विक्षणात् ॥ २४ ॥

मुरस्य दमोदुरनिर्म्येपेसास्तवागतिर्न समबोधयन्माम् ।

व्यापारयन्त्यो विरि दक्षिन्स्यामुत्पदमण्वीनि विलोचनानि ॥ २५ ॥

मुरस्य इति । दमोदुरेषु भयवेषु विज्येया विज्युद्वा सुम्यो भृगाङ्गनमोत्पदम-  
 ण्वीनि विक्षोभयानि दक्षिन्स्यां विधि व्यापारयन्त्या प्रवर्तयन्त्या इत्युक्तवागतिर्न  
 यत्त्वमिति मां समबोधयन् । दक्षिणैव त्वद्विजितवोधयत्तित्वम् ॥ २५ ॥

कुडामोके कङ्कुरमे विच्छिन्न इतिविद्या की कपर विने इव रक्त-सङ्कुर राके शरीरे  
 दक्षिण विद्या की नीर दैवतां इति प्रवर्तय पक्षिणी नदी वायव्यराके दृष्टयो प्रवृत्ता रावता  
 अतर्क ॥ २५ ॥

पतत्रिरेमस्मिन्नत पुरस्तादाविर्मवत्पम्बरलेखि शृङ्गम् ।

नवं पर्वो यत्र धनैर्मयु च त्वद्विमयोगाभु समं विसृष्टम् ॥ २६ ॥

एतदिति । मन्त्रवदतो नाम गिरेरम्बरकेवज्ज्वलन् शृङ्गं क्षिप्रमेतदुत्पुस्तम्भे वा  
 विर्मवति यत्र शृङ्गे धनैर्मयैर्वैवं पर्वो मया त्वद्विमयोगेन वक्ष्यु तच्च समं विसृष्टित्वं  
 शृङ्गम् । मेवर्द्धनाश्रुर्धुक्वमस्तु विसृष्टमिति भाषा ॥ २६ ॥

मात्स्यकथो धृमे पाका कर्षात् वतुन केषा मात्स्यवान् पर्वतश्च वत् तिकट विद्य ररा हे  
 कर्षापर मने मेवमे वक्ष्यती तथा मैमे प्रवृत्तारे निरहते कल्प कर्षात्की लाव वरदावे मे कर्षात्  
 वरत्ते धृमे मेवकी दैवकार प्रवृत्तारे निरहते पक्षिण होडर मैमे कल्पन्त रीवा वा ॥ २६ ॥

गन्धश्च धाराहृतपत्थतानां कादम्बमर्षोद्भूतकेसरं च ।

स्निग्धाश्च फेफ्थ शिशिनां बभ्रुर्वस्मिन्नसङ्गानि बिना त्वया मे ॥ २७ ॥

गन्ध इति । वस्मिन्प्रो धाराभिर्निरा-राभिरहृतायां वक्ष्यकायां गन्धश्च कर्षो-  
 द्भूतकेसरं कादम्ब वीरदुग्धं च विसृज्या मनुष्याः शिशिनां बर्हिनाय 'शिशिनी वक्षि-  
 बर्हिनी' इत्यमरा । केदारश्च त्वया विना मेऽस्तङ्गानि वक्ष्युः । 'मपुंसकेन' इति  
 मपुंसकेऽस्तेषां ॥ २७ ॥

जिस ( माल्यवानके शिखर ) पर वर्षाकी धाराओंसे ताड़ित पड़गोका गन्ध, आधे निकले हुए केसरोवाला कदम्बपुष्प और मयूरोंके मनोहर शब्द तुम्हारे बिनो मुझे असह्य हो गये थे ॥ २७ ॥

पूर्वानुभूतं स्मरता च यत्र कम्पोत्तर भीरु तवोपगूढम् ।  
गुहाविसारीण्यतिवाहितानि मया कथञ्चिद्धनगर्जितानि ॥ २८ ॥

पूर्वति । किञ्च हे भीरु ! यत्र शृङ्गे पूर्वानुभूत कम्पोत्तरं कम्पप्रधानं तवोपगूढमुप-  
गूहन मेघस्तनितश्रवणेन भीरुस्वभावत्वात्त्वया, कृतमालिङ्गनमित्यर्थ । स्मरता मया  
गुहाविसारीणि घनगर्जितानि कथञ्चिदतिवाहितानि स्मारकत्वेनोद्दीपकत्वात्, क्लेशेन  
गमितानोत्पद्यः ॥ २८ ॥

हे भीरु ! जिस ( महेन्द्रके शिखर ) पर पड़े 'अनुभूत' ( मेघके भयङ्कर गर्जनेसे डरने  
के कारण ) अधिक कम्पन युक्त तुम्हारे आलिङ्गनको स्मरण करते हुये मैंने गुफाओं ( प्रति-  
ध्वनित होनेसे ) में बड़े हुये, मेघ-गर्जनको किसी तरह अर्थात् बड़े कष्टसे बिताया ॥ २८ ॥

आसारसिक्तक्षितिवाष्पयोगान्मामक्षिणोद्यत्र विभिन्नकोशैः ।

विदम्ब्यमाना नवकन्दलैस्ते विवाहधूमारुणलोचनश्रीः ॥ २९ ॥

आसारेति । यत्र शृङ्गे विभिन्नकोशैर्विकसितकुड्मलैर्नवकन्दलैः कन्दलीपुष्पैरुष्ण-  
चणैरासारेण धारासम्पातेन । 'धारासम्पात आसार' इत्यमरः । सिक्काया क्षितेर्वाष्प-  
स्य धूमवर्णस्य योगादेतोर्विदम्ब्यमानाऽनुक्रियमाणा ते विवाहधूमेनारुणा लोचनश्रीः  
सादृश्यात्स्मर्यमाणेति शेषः । मामक्षिणोदपीडयत् ॥ २९ ॥

जिस ( मन्दरावलके शिखर ) पर खिञ्जी हुई कलिगोवाले कन्दली-पुष्पोंने धारापूर्वक-  
वर्षा होनेसे भोगी हुई भूमिसे निकलते हुए भाफके द्वारा अनुकृत, विवाहकालिक ( हवनके )  
धूपसे लाल नेत्रोंकी शोमाने स्मरण आने पर ) मुझे पीडित किया ॥ २९ ॥

उपान्तवानीरवनोपगूढान्यालक्ष्यपारिप्लवसारसानि ।

दूरावतीर्णा पिबतीव खेदादमूनि पम्पासलिलानि दृष्टिः ॥ ३० ॥

उपान्तेति । उपान्तवानीरवनोपगूढानि पार्श्ववञ्जलपतच्छ्रान्यालक्ष्य ईषदु-  
दृश्या पारिप्लवाश्चल्ला सारसा येषु तान्यमूनि पम्पासलिलानि पम्पासरोजलानि  
दूरादवतीर्णा मे दृष्टिरत एव खेदात्पिबतीव, न विहातुसुखसह्य दृश्यर्थः ॥ ३० ॥

समीपस्थ वेंतके उपवनोसे डके हुए और थोडा २ दिखलाई पड़ते हुए सारस पक्षियों  
वाले, पम्पासरके जलकी दूरसे पड़तो हुई मेरी दृष्टि मानो खेरसे पी रही है । ( पम्पासरके  
जलको दूरसे देखता हुआ मैं उससे दृष्टि इतना नहीं चाहता ) ॥ ३० ॥



अत्रापियुच्छति रथाङ्गनाम्नामन्योन्यस्त्वोत्पलकेसरणि ।

॥ गन्धानि इत्यन्तरिक्षिणा ते भया मिमे सस्युहमीक्षितानि ॥ ११ ॥

अत्रेति । अत्र पञ्चमन्तरस्य न्योन्यस्यैव दृष्टौ तत्त्वज्ञेयसंसारस्य विषयत्वादि तत्त्वाद्वात्मना  
 इन्द्रादि पञ्चमन्त्रादिद्वयानि ते तत्र दूरान्तरवर्तिना दूरैश्च वर्तिना मया हे शिवे !  
 उपर्युक्तं साभिप्रायमसीद्विज्ञाति । तदानीं स्वाम्यस्यार्पणित्यर्थः ॥ ११ ॥

हे मित्रे ! वल पञ्चाक्षर बर परस्परमें एक दूसरेकी कमकदीबैनाके, मित्रोमरहित अन्ध-  
 आकरषोंकी भीड़की मुमसे दूर रहते हुये मैंने नके स्नेहसे देखा था । (मने देकनेसे मुमस्य  
 स्मरण हो आता था ) ॥ ३२ ॥

इमां तदाशोकक्षतां च तन्वीं स्तनाभिरामस्तवभ्रमिनधाम् ।

त्वत्प्राप्तिबुद्ध्या परिरञ्ज्यन्मन्त्रीमित्रिण्य सामुखं निपिद्य ॥ ३२ ॥

इमामिति । किञ्च तत्त्वव्यवस्थितमाम्नां तत्त्वव्यवस्थामभिधत्तां तन्मोक्षिमां तदाहो  
कस्य कर्ता व्याख्यातस्तत्त्वव्यवस्थितव्याख्या त्वमेव प्राप्तेति भावत्वा परिरब्धुमाकिर्ति  
काम्यो बल्य सोऽयं धर्मिद्विधा कथमन्येव साम्याः विनिश्चयः शेषं स्वीतेति विचारितः ।  
परिरब्धुमन्न इत्यत्र 'तुं काम्यमवसोरपि' इति वचनव्यवस्थामवसोरपि ॥ ३९ ॥

આચાર્યે સમાજ ચર્ચાકર ગુણગોષ્ઠિ કુચી હર્ષ બોર પાણી રસ વરવર્તિની જાહોજગ્યાઓ  
ગુર્જે મૈને વા કિયાં રસ વિચારો જગજિજ્ઞાન ચરણે શ્રી રત્નકુલ વધા રોષે હર મુલકો  
આચાર્યને રોષ ૩ ૨૧ ૫

अमृतमनानन्तरसम्भिनीनां भुत्वा स्वयं अमृतमिदृशीनाम् ।

प्रत्युद्गमजन्तीम कसुत्पतन्त्यो गोदावरीसारसपङ्कमस्थाम् ॥ ३३ ॥

अमुरिति । विमानस्यान्तरेण्यवकाशेषु अन्वेष्यते वास्तवासां कान्तव्यवस्थित्वासां  
स्वयं सुखा स्वयंभवाभ्यन्तरेण्यवकाशेषु अन्वेष्यते वास्तवासां कान्तव्यवस्थित्वासां  
अमुरिति ॥ ३३ ॥

विमानमें कभी हुई तकलीफों को छोड़ कर बंदिनों मृतकों के स्मरण, समारंभ (जैसे हनुमान जय होम) आदि के भीतर कभी हृदय के गीतों की बन्दी के सारसीया हृदय बन्दी हनुमन्त आदि की कर रहे हैं ॥ २२ ॥

एषा त्वय्य देशसमभ्ययाऽपि धटान्मुसवर्षितयास्रपूता ।

भामन्वयस्यनुशङ्कणस्य च पिरास्यपटी मनो मे ॥ १४ ॥

वैति । ऐक्यमप्यवाहति आराधनवाञ्छीतर्था । तत्रा ययामुमि संवर्धिता  
वाक्यत्वा यत्वा सा, कमुप्रा अयमवमिमुप्रासवत्संवर्धिता एव कृष्यसता यत्वा

सा चिराद् दृष्टेया पञ्चवटी मे मन आनन्दयत्याह्लादयति । पञ्चवटीशब्द पूर्वमेव व्याख्यातः ॥ ३४ ॥

कृशोदरी ( होनेसे भार ले चलनेमें असमर्थ ) होनेपर भी तुमने वहाँसे सींचकर जहाँ के आमकी गोंछियों ( छोटे २ पौधों ) को बढ़ाया है, ऐसी तथा मुझे देखकर सामने आते हुए कृष्णसार मृगोंवाली एव बहुत दिनोंके बाद देखी गयी भी यह पञ्चवटी मुझे आनन्दित कर रही है ॥ ३४ ॥

अत्रानुगोदं मृगयानिवृत्तस्तरङ्गवातेन विनीतखेदः ।

रहस्त्वदुत्सङ्गनिषण्णमूर्धा स्मरामि वानीरगृहेषु सुप्तः ॥ ३५ ॥

अत्रेति । अत्र पञ्चवटयां गोदां गोदावरी तस्या समीपेऽनुगोदम् 'अनुर्यत्समया' इत्यव्ययीभावः । मृगयाया निवृत्तस्तरङ्गवातेन विनीतखेदो रहो रहसि अत्यन्त-संयोगे द्वितीया । त्वदुत्सङ्गनिषण्णमूर्धा सन्नह वानीरगृहेषु सुप्तः स्मरामि । वाक्यार्थः कर्म सुप्त इति यत्तत्स्मरामीत्यर्थः ॥ ३५ ॥

इस ( पञ्चवटी ) में गोदावरी नदीके समीप शिकारसे लौटा हुआ, तरङ्गोंकी ( शीतल ) वायुसे खेदरहित, वेतोंके कुर्जोंमें एकान्तमें तुम्हारे अङ्कमें शिरकी रखकर सोया हुआ मैं ( उसकी ) स्मरण करता हूँ ॥ ३५ ॥

भ्रूभेदमात्रेण पदान्मघोनः प्रभ्रशयां यो नहुषं चकार ।

तस्माविलान्मःपरिशुद्धिहेतोर्भौमो मुनेः स्थानपरिग्रहोऽयम् ॥ ३६ ॥

भ्रूभेदेति । यो मुनिर्भ्रूभेदमात्रेण भ्रूमङ्गमात्रेणैव नहुष राजान मघोनः पदादिन्द्र-त्वात्प्रभ्रशयाश्चकार प्रभ्रशयति स्म । आविलान्मःपरिशुद्धिहेतोः कलुषजलप्रसादहेतो-स्तस्य मुनेरगस्त्यस्य । अगस्त्योदये शरदि जलं प्रसीदतीत्युक्तं प्राक् । भूमौ भवो भौमः स्थानपरिग्रह आश्रमोऽयं दृश्यते इति शेषः । भौम इत्यनेन दिव्योऽप्यस्ती-त्युक्तम् । परिशुद्धते इति परिग्रहः । स्थानमेव परिग्रह इति विग्रहः ॥ ३६ ॥

जिस ( अगस्त्य मुनि ) ने केवल भ्रुकुटि टेढ़ी करनेसे ही नहुषको इन्द्रपदसे गिरा दिया, मलिन जल की शुद्धि ( निर्मल ) होनेके कारणभूत ( अगस्त्यके उदय होनेपर अर्थात् शर-द्वत्त में बरसाती मलिन जलका निर्मल होना सर्वानुसवसिद्ध है ) उस मुनिका भूमिपर स्थित यह आश्रम है ॥ ३६ ॥

त्रेताऽग्निधूमाग्रमनिन्यकीर्तस्त्वयेदमाक्रान्तविमानमार्गम् ।

प्रात्वा हविर्गन्धि रजोविमुक्तः समश्नुते मे लघिमानमात्मा ॥ ३७ ॥

त्रेताऽग्नीति । अनिन्यकीर्तस्त्वस्यागस्त्यस्याक्रान्तविमानमार्गं हविर्गन्धोऽस्यास्ती-ति हविर्गन्धि त्रेताऽग्निरग्नित्रयम् । 'अग्नित्रयमिदं त्रेता' इत्यमरः । पृषोदरादिस्वादे-

त्वम् । त्रेतायामेवमाप्रतिष्ठं ब्राह्मणमात्रं रजसो गुणविमुक्तो मे ममाराज्यं भवत्यं  
कथिमानं कमुत्पुन्यं समश्नुते प्राप्नोति ॥ ३० ॥

महंतवीर बहली कथ (अपत्य) मुनिके जात्रादये व्याप्त इतिभके पन्थाने,  
वेताधि (मात्रापत्य बह्वनवीर और भाईरत्न अपत्य) के बुनामके सुंदर रवीपुत्र  
रहित देरा बन्धनकरण कहुवाको प्राप्त करण है ॥ ३० ॥

एतन्मुनेर्मानिनि शातकर्णे पञ्चाप्सरसो नाम विहारधारि ।

आभावि पर्यन्तधर्म विदूरान्मेघान्तराक्षर्यमिषेन्दुबिम्बम् ॥ ३१ ॥

एतदिति । हे मानिनि । शातकर्णेर्मुनेः सम्बन्धि पञ्चाप्सरसो नामपञ्चाप्सर इति  
मंथिजम् । पञ्चाप्सरसो वस्तिमिति विग्रहः । पर्यन्तेषु वधावि वत्स तत्पर्यन्तवर्गने  
तस्मिन्वहारि मीकासरो विदूरात् । मेघानामन्तरे जम्ब जातकर्ममीकृत्यपय ।  
'आनीकर्म्येर्मिम्माही' इत्यमरः । इन्दुबिम्बमिव आभावि ॥ ३१ ॥

हे मानिनि । 'अपत्य' वाचक मुनिका समीपत्वरवर्ते हुए विहारधोत्र बह्माम  
'पञ्चाप्सरस' नामक राजन्य वृत्ते मेवके मन्थमैरित्य हुइ ९ विचार रविवेपके बन्धनित्यके  
समय कोविद होया है ॥ ३१ ॥

पुण स र्माहुरन्यत्रवृत्तिचरन्ध्रुगैः सार्धं सुपिर्मघोना ।

सम्प्रभिनीतेन किञ्चोपनीत पञ्चाप्सरसोपीधनकूटवन्धम् ॥ ३२ ॥

उच्यते । पुन एवस्मिन्काले इयं हुरमात्रवृत्तिस्तन्मात्राहुरतो ध्रुगौ सार्धं सह  
चरन्त आनि। समावेस्तवतो मीतेव मधोवेन्ध्रेव पञ्चावामप्सरसां वीरवत् । 'तस्मि-  
न्मात्रोत्तरपद्वज्ज्वाहरे च' इत्यनेनोत्तरपद्वज्ज्वाहरे । तदैव कूरवन्धं अन्धमन्ध्रपुत्रवत्तरी  
'अन्माया कूरवन्धं स्वात्' इत्यमरः । किञ्चैतद्विधेः । ध्रुयसाहचर्योन्ध्रवद्वैव वत्  
इति यावत् ॥ ३२ ॥

एते केव कृष्णाहुरते वीरववाता करिवेपके वर्षाद वेरक कुष्माहुर कान्त  
रश्मिपके और वृन्ते के ताव भरते हुए कथ मुनिकी (कर्मकी) समग्रपिठे बरे हुए रम्यवे  
पांथ बन्धरावर्ते वीरवकरी कथ जात्रमे कता दिवा (हुवती पांथ बन्धरावर्ते) देकर  
कर्म उपते अहंकर दिवा ॥ ३२ ॥

तस्यायमन्दर्हिषसौममात्रं मसकस्यैर्विमुदङ्गधोप ।

विषद्वगत् पुष्पकचम्पराता क्षणं प्रतिभुम्भुसारा करोति ॥ ३३ ॥

तस्यैति । अन्धर्हिषसौममात्रो बह्मन्तर्गतमात्राह्यवत्स वत्स जातकर्णेव  
मसक सन्धता सहीतमृद्वज्ज्वाहरे विषद्वगत् सन्पुष्पकस्य चम्पराता तिरोपुहावि ।

‘चन्द्रशाला शिरोगृहम्’ इत्यमरः । क्षण प्रतिशुद्धिः प्रतिध्वानैर्मुखरा ध्वनन्तीः करो-  
ति । ‘स्त्री प्रतिशुःप्रतिध्वाने’ इत्यमरः ॥ ४० ॥

जलके मध्यमें बने हुए महलोंमें निवास करनेवाले उस ( शातकर्णि ) मुनिका, होते हुए  
सगीतका मृदङ्गनाद आकाशमें पहुँच कर पुष्पकविमानके चन्द्रमवनोंको क्षण भर प्रति-  
ध्वनिसे शब्दायमान कर रहा है ॥ ४० ॥

हविर्भुजांमेघवतां चतुर्णां मध्ये ललाटन्तपसप्तसप्तिः ।

असौ तपस्यत्यपरस्तपस्वी नाम्ना सुतीक्ष्णश्चरितेन दान्तः ॥ ४१ ॥

हविरिति । नाम्ना सुतीक्ष्णः । सुतीक्ष्णनामा चरितेन दान्तः । सौम्योऽसावपरस्त-  
पस्वी एषवतामिन्धनवताम् । ‘काष्ठ दार्ढिन्धन त्वेषः’ इत्यमरः । चतुर्णां हविर्भुजा-  
मग्नीना मध्ये ललाट तपतीति ललाटन्तपः सूर्यः । ‘असूर्यललाटयोर्दक्षितपोः’ इति  
‘खरप्रत्ययः’ । ‘अरुद्विषदजन्तस्य सुम्’ इत्यनेन सुमागमः । ललाटन्तपः सप्तसप्तिः  
सप्ताश्वः सूर्यो यस्य स तथोक्त सन् तपस्यति तपश्चरति । ‘कर्मणो रोमन्थतपोभ्यां  
वर्तिचरोः’ इति क्यङ् । ‘तपसः परस्मैपदं च’ इति वक्तव्यम् ॥ ४१ ॥

जितेन्द्रिय चरितवाले ‘सुतीक्ष्ण’ नामक यह दूसरे तपस्वी इन्धन युक्त चार अग्नियोंके  
मध्यमें ललाटको तप्तकरनेवाले सूर्यसे युक्त होकर तपस्या कर रहे हैं । ( पञ्चाग्निमें चारो  
दिशाओंमें जलती हुई चार अग्नि तक सूर्य रूप पञ्चम अग्निके मध्यमें स्थित होकर तपस्या  
करनेका शास्त्रीय विधान है, अत एव माघमें—‘तेनस्विमध्ये’ तेजस्वी दवीयानपि गण्यते ।  
.....पञ्चतपसः पञ्चमस्तपनो यथा’ कहा है ॥ ४१ ॥

अमु सहासप्रहितेक्षणानि व्याजार्धसन्दर्शितमेखलानि ।

नालं विकर्तुं जनितेन्द्रशङ्क सुराङ्गनाविभ्रमचेष्टितानि ॥ ४२ ॥

अमुमिति । जनितेन्द्रशङ्क जनिता इन्द्रस्य शङ्का भय येन त तपसेति शेषः ।  
अमु सुतीक्ष्ण सहास प्रहितानीक्षणानि दृष्टयो येषु तानि व्याजेन केनचिन्मिपेण ।  
‘पुस्यर्धोऽर्धं समेऽक्षके’ इति विश्वः । अर्धमीपसन्दर्शिता मेखला काञ्ची येषु तानि-  
सुराङ्गनानामिन्द्रप्रेषितानां विभ्रमा विलासा एव चेष्टितानि विकर्तुं स्खलयितुमल,  
समर्थानि न बभूवुरिति शेषः ॥ ४२ ॥

जिसमें हैंसते हुए कटाक्ष हैं, ऐसी तथा जिसमें किसी बहानेसे करधनीके आधे भाग  
दिखाये गये हैं, ऐसी, देवाङ्गनाओंकी विलास युक्त चेष्टायें, तपस्यासे इन्द्रको भयभीत करने  
वाले ‘सुतीक्ष्ण’ मुनिको विकृत ( तपोऽग्र ) नहीं कर सकी ॥ ४२ ॥

एषोऽक्षमालावलय मृगाणा कण्ड्वयितारं कुशसूचिलावम् ।

सभाजने मे भुजमूर्ध्वबाहुः सव्येतरं प्राध्वमितः प्रयुङ्क्ते ॥ ४३ ॥

युव इति । कर्णवामुरेव सुतीक्ष्णोऽहमाद्यैव यकर्म यस्य तं युवाणां कर्णविकारं  
 कृत्वा युव सूचयस्तां कृतवतीति कुम्भसूचिकावस्तम् । 'कर्णवाम्' इत्यम् । वृत्तिर्वि-  
 शेषैर्नैर्गपनीकत्वं मृतवत्वा कर्मकमत्वं च श्लेष्यते । सप्यादितरं वृत्तिर्न युवं मे मम  
 समाज्ये सम्मानविमिते 'विमिश्रितकर्णवोमी' इति सप्तमी । इतः मार्घ्यं मृत्युतुल्य-  
 वत्त्वं मृषुष्टे मेरयति । 'आशुशुक्लार्कं मार्घ्यम्', इत्यमरः । अन्वयं चैतत् ॥ ४३ ॥

कर्णवाह ( नाम वाहको सर्वथा कपर ही टकवेवाके ) वाह ( सुतीक्ष्ण ) सुनि जहमाया  
 रम्ये वरववाके, वृत्तो सुवजाने वाके तथा कुम्भकमी सुवोमी कर्ममे वाके वाहिने शास्त्री  
 विं सत्कारमे क्वा रहे है जर्वात् वाहिने शास्त्री मेरा सत्कार कर रहे है ॥ ४३ ॥

वार्षधमत्वाद्यप्यसि भसैप कम्पेन किञ्चित्प्रतिगृह्य मूर्त्तं ।  
 दृष्टिं विमानव्यवधानमुत्थं पुनः सहस्रार्चिपि सन्निवृत्ते ॥ ४४ ॥

वार्षधमत्वाद्यपि । यद्यपि सुतीक्ष्णा वार्षं परावृत्तिं विचिन्मयतीति वार्षधमे  
 मीयवती । 'वापि यस्ये अये' इति कप्यत्ववा । 'वार्षधमपुरन्दरी च' इति युव ।  
 कस्य भावस्तत्त्वान्मम प्रवर्ति किञ्चित्मूर्त्तः कम्पेन इतिगृह्य विमानेव व्यवधानं  
 विरोधानं तस्मान्मुत्थम् । 'अपेतापोऽमुक्त्यतितावन्नस्तैरुपका' इत्यनेन पञ्चमी  
 समाहता । इति युवा सहस्रार्चिपि पूर्वं सन्निवृत्ते, सम्पद्विजय इत्यर्थः । अन्वयः-  
 कर्मकत्वप्रसङ्गात् ॥ ४४ ॥

इत ( सुतीक्ष्ण ) सुनिमे मीव होनेके कारण, मेरे मनाकमी नत्कमी कुम्भ विजनेके  
 लीकृत कर पुनः किनामते इतिमे इतकर फिर सुर्वे क्वा किना है ॥ ४४ ॥

अथ शरवणं शरमङ्गनामस्वपोषणं पावनमादिताने ।  
 चिराय सन्तर्प्यं समिद्धिरग्निं यो मन्त्रपूर्तां तनुमप्यहोपीत् ॥ ४५ ॥

अथ इति । शरमे शरमे सायु करणं पावयतीति पावयत् । अथो शरवणं तपो-  
 वनमादितान्ये शरमङ्गनामो मुनेः सम्मानि, वा शरमङ्गनिराव चिरमग्निं यमिति  
 सन्तर्प्यं तर्पयित्वा ततो मन्त्रैः पूर्तां श्रुतां तनुमप्यहोपीत् इत्युक्तम् । सहोमेर्लुक् ॥

वाग्निहोत्र करववाके 'शरवणं मुनिव्य करणागोके किने यद् तरीदन है दित मुनिने  
 चिरकाल तक समिधानोके वाग्निमी तनुव कर मन्त्रोके यविन शरीरकी भी हवन कर  
 दिया वा ॥ ४५ ॥

क्षापाविनीताम्बपरिजमेपु भूयिष्ठसम्भाष्यफलेष्वमीषु ।  
 तस्यपतिधीनामधुना सपर्यां स्थिता सुपुत्रेष्विव पादपेषु ॥ ४६ ॥

क्षावेति । अशुभाभिसिन्धवाके तस्य शरमङ्गस्य सम्मानिन्वतिधीनां सपर्यां स्थिति-  
 युवा । 'युवा नमस्तावतिता सपर्यां चैवमा' इत्यमरः । क्षापाविर्बिनीतोऽप-

नीतोऽवपरिश्रमो यैस्तेषु भूयिष्ठानि बहुतमानि सम्भाव्यानि श्लाघ्यानि फलानि येषां  
तेज्वमीषु पादपेष्वाश्रमवृक्षेषु सुपुत्रैर्विव स्थिता तत्पुत्रैरिव पादपैरनुष्ठीयत इत्यर्थः ॥

इस समय उस (शरभङ्ग) मुनिकी अतिथि-पूजा छायासे मार्गके परिश्रमको हरनेवाले  
तथा अत्यन्त मधुरफलोंवाले, सुपुत्रोंके समान इन वृक्षोंमें रह गई है अर्थात् अतिथियोंके  
आनेपर शरभङ्ग मुनिके सुपुत्रोंके समान ये वृक्ष छाया तथा मधुर फलोंके द्वारा अतिथि—  
सत्कार करते हैं ॥ ४६ ॥

धारास्वनोद्गारिदरीमुखोऽसौ शृङ्गाग्रलभाम्बुदवप्रपङ्कः ।

बध्नाति मे बन्धुरगात्रि चक्षुर्दृप्तः ककुद्भानिव चित्रकूटः ॥ ४७ ॥

धारेति । धारा निर्झरधाराः, यद्वा धारया सातत्येन स्वनोद्गारिदयैव मुख यस्य  
सः शृङ्गं, शिखरं विषाणं च तस्याग्रे लग्नोऽम्बुद एव वप्रपङ्को वप्रक्रीडासक्तपङ्को यस्य  
सः असौ चित्रकूटो हे बन्धुरगात्रि ! उन्नतानताङ्गि ! 'बन्धुर वृन्नतानतम्' इत्यमरः ।  
इसः ककुद्भान्वपम इव मे चक्षुर्बध्नात्यनन्यासक्त करोति ॥ ४७ ॥

हे मनोहर शरीरवाली सीता ! कन्दराओंके आगेमें झरनोंसे कलकल शब्द युक्त  
धाराको गिराता हुआ तथा चौटीके ऊपर मेघरूपी वप्रक्रीडाके पङ्कसे युक्त यह चित्रकूट पर्वत  
कन्दराके समान मुखसे सदा सशब्द धाराको गिराते-हुये और सोंगके ऊपरमें मेघके  
समान वप्रक्रीडा करने (अखाड़ने) में लगे पङ्कवाले मतवाले सौँदके समान मेरी दृष्टिको  
अपनी ओरसे नहीं हटने देता है ॥ ४७ ॥

एषा प्रसन्नस्तिमितप्रवाहा सरिद्विदूरान्तरभावतन्वी ।

मन्दाकिनी भाति नगोपकण्ठे मुक्तावली कण्ठगतेव भूमेः ॥ ४८ ॥

एषेति । प्रसन्नो निर्मलः स्तिमितो निःस्पन्दः प्रवाहो यस्या सा विदूरस्यान्तर-  
स्य मध्यवर्त्यवकाशस्य भावात्तन्वी दूरदेशवर्तित्वात्तनुत्वेनावभासमाना मन्दाकिनी  
नाम काचिन्निप्रकूटनिकटगौषा सरिन्नगोपकण्ठे भूमे कण्ठगता मुक्तावलीव भाति ।  
अत्र नगस्य शिरस्त्वं तदुपकण्ठस्य कण्ठश्च च गम्यते ॥ ४८ ॥

निर्मल तथा शान्तप्रवाहवाली, दूर होनेसे पतली दिखाई देती हुई यह मन्दाकिनी नदी  
पर्वत (चित्रकूट) के समीपमें कण्ठमें लटकती हुई मुक्ता-मालाके समान शोभित हो रही है ॥

अयं सुजातोऽनुगिर तमालः प्रवालमादाय सुगन्धि यस्य ।

यवाङ्कुरापाण्डुकपोलशोभी मयाऽवतसः परिकल्पितस्ते ॥ ४९ ॥

अयमिति । गिरः समीपेऽनुगिरम् । 'गिरेश्च सेनकस्य' इति समासान्तदृष्ट्यत्ययः ।  
सुजातः स तमालोऽयं हरयते यस्य तमालस्य शोभनो गन्धो यस्य तत्सुगन्धिः ।  
'गन्धस्येदुत्पृतिसुसुरभिभ्यः' इत्यनेनेकारः समासान्तः । प्रवाल पञ्चवमादाय मया

ते बवाहुरवदापायस्यै कपोके क्षोभी क्षोभते वा क्षोभेयतसा कपोकद्वारा परिकल्पिता ॥

पर्वण्ये समीपमे वह समान ( दिवार्हे हे रहा ) है जिसके समान कुछ पक्षरथी केर  
मने बवाहुरके समान पाण्डु कपोक्ये क्षोभानाम समाना कर्मचूतव बवावा वा ॥ ४१ ॥

अनिग्रहत्रासयिनीतसत्त्वमपुष्पकिङ्गात्फलवम्भिवृक्षम् ।

वनं सप साधनमेतत्त्रराविष्कृतोवमतरप्रभावम् ॥ ४० ॥

अनिग्रहेति । अनिग्रहत्रासा वृक्षभरहिता अपि विधीता सत्त्वा अन्तर्गतो वस्ति-  
स्तत् । अपुष्पकिङ्गापुष्पव्यभिचितं विनैव फलवम्भिवत् फलादिभ्यो वृक्षा वस्ति-  
स्तत् । अत एवाविष्कृतोवमतरप्रभावमन्वेतिस्तत्सा साधनं वनमेतत् ॥ ४० ॥

वन्म वना मारण्ये यत्र नदीं रवेरेते क्षान्त वन्दुमीवाप्त्य, विना दूष्ये हीं कर्मवारे  
वर्धिताता अतएव प्रभाववाक्वा वह 'अभि' मुनिव तस्मा साधनचूतवन अर्थात् उपोवन है ॥

अत्रामिषेभ्यश्च तपोवनानां मत्तर्पिहस्तोवृक्षतद्देमपद्याम् ।

प्रवर्तयामास किङ्गालुसूया त्रिस्रोतस इत्यम्बकमीक्षितास्ताम् ॥ ४१ ॥

अत्रेति । अत्र वनेऽमुसूयामिषाणी सप्त च इत्येवम सप्तर्षयः । 'विस्तर्प्ये संज्ञा-  
याम्' इति तत्पुरुषसमासः । तेषां इत्येवमुसूयानि देमपद्यानि वस्वास्तां म्यम्बकमी-  
क्षिताम् हरिहरम्बं त्रिस्रोतसं भागीरथीं तपोवनस्यासूयीवामिषेभ्यश्च स्नायाम्  
प्रवर्तयामास प्रवाहयामास । किङ्गेयैतिह्यै ॥ ४१ ॥

इत उपोवनमे वन्दुसूया ( 'अभि' मुनिवी पत्नी ) ॥ सप्तर्षीको हे वन्दे रोने नये है  
उपवने कमल जिसके ऐसी तथा शिवजीके नररुद्रकी माया रूप गद्गदी द्विवीको स्नायके  
जिसे प्रवाहित कराया है ॥ ४२ ॥

वीरासमैर्भ्यानमुपाशुपीषाममी समध्यासितवेदिमध्या ।

निधातनिष्कम्पतया विमान्ति योगाभिरुद्धा इव शास्त्रिभोऽपि ॥ ४२ ॥

वीरासमैरिति । वीरासमैर्ब्रह्मसाधनैः स्वामं वृषण्ये वैद्यत इति व्यामठक-  
समाविष्टेति इत्यर्थः । तेषां तैरुपविष्ट व्यामठाशुपीषां सम्बन्धिता समध्यासित-  
वेदिमध्याः इव वीरासमरधानीभ्यः । अमी शास्त्रिभोऽपि निधाते विष्कम्पतया योगा-  
भिरुद्धा इव व्यामठा इव विमान्ति व्यामठोऽपि निष्कम्भा इव सन्ति । वीरासमे  
वसिष्ठः—'एकयाहमबैरिमिन्विज्ज्वल्यौदगि संस्थितयः । इतहस्मिस्तथा चाम्बं वीरा-  
अमसुराहृतम् ॥ इति ॥ ४३ ॥

वीरस्तमते ( नेहरू ) व्याम करमेवाके अतिरिक्ते, वेदिमध्यां स्थित है इत ही वलके  
अमठते स्थित होनेके कारण व्याम करके इत के समान क्षोभते है ॥ ४३ ॥

त्वया पुरस्तादुपयाचितो यः सोऽयं वटः श्याम इति प्रतीतः ।

राशिरमणीनामिव गारुडानां सपद्मरागः फलितो विभाति ॥ ५३ ॥

त्वयेति । त्वया पुरस्तात्पूर्वं य उपयाचितः प्रार्थितः । तथा च रामायणे—  
‘न्यग्रोध तमुपस्थाय वैदेही वाक्यमब्रवीत् । नमस्तेऽस्तु महावृत्त पालयेन्मे व्रत  
पतिः ॥’ इति । श्याम इति प्रतीतः स वटोऽयं फलितः सन् । सपद्मरागो गारुडानां  
मणीनां मरकतानां राशिरिव विभाति ॥ ५३ ॥

तुमने पहले जिसकी प्रार्थना की थी, वह ‘श्याम’ नामसे प्रसिद्ध यह वट अर्थात्  
‘श्यामवट’ पद्मराग मणियोंके सहित गारुत्मक (विछौर) मणियोंकी ढेरके समान शोभता है ॥  
‘कचित्—’इत्यादिभिश्चतुर्भिः श्लोकैः प्रयागे गङ्गायमुनासङ्गमवर्णयति—

कचित्प्रभालेपिभिरिन्द्रनीलैर्मुक्तामयी यष्टिरिवानुविद्धा ।

अन्यत्र माला सितपङ्कजानामिन्दीवरैरुत्खचितान्तरेव ॥ ५४ ॥

कचित्खगानां प्रियमानसानां कादम्बसंसर्गवतीव पङ्क्तिः ।

अन्यत्र कालागुरुदत्तपत्राऽभक्तिर्भुवश्चन्दनकल्पितेव ॥ ५५ ॥

कचित्प्रभा चान्द्रमसी तमोभिश्छायाविलीनैः शबलीकृतेव ।

अन्यत्र शुभ्रा शरदभ्रलेखा रन्ध्रोष्णवालद्यनभप्रदेशा ॥ ५६ ॥

कचिच्च कृष्णोरगभूषणेव भस्माङ्गरागा तनुरीश्वरस्य ।

पश्यानवद्याङ्गि विभाति गङ्गा भिन्नप्रवाहा यमुनातरङ्गैः ॥ ५७ ॥

कचिद्वित्यादि । हे अनवद्याङ्गि ! यमुनातरङ्गैर्भिन्नप्रवाहा व्यामिश्रौषा गङ्गा  
जाह्नवी विभाति । त्व पश्य । केव, कचित्प्रदेशे प्रभया लिम्पन्ति सन्निहितमिति  
प्रभालेपिभिरिन्द्रनीलैरनुविद्धा सह गुम्फिता मुक्तामयी यष्टिरिव हारावलिरिव  
विभाति । अन्यत्र प्रदेशे इन्दीवरैर्नीलोत्पलैरुत्खचितान्तरा सह ग्रथिता सितपङ्क-  
जानां पुण्डरीकाणां मालेव विभातीति सर्वत्र सगन्धः । कचित्कादम्बसंसर्गवती  
नीलहसससृष्टा प्रिय मानस नाम सरो येषां तेषां खगानां राजहसानां पङ्क्तिरिव ।  
‘राजहसास्तु ते चञ्चुरणैर्लोहितैः सिताः’ इत्यमरः । अन्यच्च कालागुरुणा दत्तपत्रा  
रचितमकरिकापत्रा भुवश्चन्दनकल्पिता भक्तिरिव कचिच्छायासु विलीनैः स्थितैस्त-  
मोभिः शबलीकृता कर्बुरीकृता चान्द्रमसी प्रभा चन्द्रिकेव । अन्यच्च रन्ध्रेष्णवालद्यन-  
भप्रदेशा शुभ्रा शरदभ्रलेखा शरन्मेघपङ्क्तिरिव कचित्कृष्णोरगभूषणा भस्माङ्गरागेश्व-  
रस्य तनुरिव विभाति । शेषो व्याख्यातः । कलापकम् ॥ ५४-५७ ॥

कलापक

हे अनिन्दित शरीरवाणी ( सीता ) ! कान्तिसे ( समीपस्थ वस्तुओंको ) लिप्त करते हुए



रघुबीजं यमिनींसे बह्वीं नवीं जोतोको बह्वींके समान वृत्तों नीर बोज कमजोसे बज २  
 में व्याप्त वीर कमजोको याकाके समान योकाकेतोसे कुछ वीर संसपकिरीको पकिरे समान,  
 वृत्तों नीर बाजलुको मकरिध (मकराकार रचना-विशेष) कमजोसे बजारे हुई इन्को  
 रचनाके सधान करी पर (वृत्त बाजिको) बाजामें पड़ो हुई कर्तुरित बाँदनीके समान  
 वृत्तों नीर पिरोमें (मेषके बल्य भागमें कहीं २ दिक्कामें पड़ रहा है नाथस-परीक  
 भिन्ने ऐसी तराफ़ से मेष-कैलाके समान कुम्भसरसे बजलुठ मर्यादों क्योने हुए  
 बिनकोके बरीरके सधाम बसुनाके तराहोसे विशदवाहवाकी कडा कोपित हो रही है ५४-५७

समुद्रपत्न्योर्जङ्घसन्निपाते पूतास्मनामत्र किञ्चामिपेक्षत् ।

तत्स्वामकोचेन विनाऽपि भूयस्तनुस्वजां नास्ति शरीरकम्पः ॥ ५८ ॥

समुद्रेति । अत्र समुद्रपत्न्योर्जङ्घसन्निपाते सप्तमेऽपि देवतावात्  
 पूतास्मनां दुःखस्मनां पुतां तन्नामकोचेन तद्विनामेव किञ्चपि तनुस्वजां प्रत्यक्षरी  
 स्तपतामिन्दरं सूत्रा पुनः शरीरकम्पः शरीरकोषो नास्ति किञ्च । अन्यत्र बाजारेव  
 मुक्ति । अत्र तु स्वाभाविक मुक्तिमित्यर्थः ॥ ५८ ॥

वहाँ दोनों नदियों (नद्या-बहुवचने) छहममें स्वाव करनेसे पवित्र नात्मभावोंको  
 क्षम प्रसिद्धे विना भी करने पर फिर शरीरकम्प नहीं होता है क्योंकि वे केवल वहाँ  
 स्वाभाविक ही मुक्तिसे होते हैं ॥ ५८ ॥

पुरं निपादाधिपतेरिव तद्यस्मिन्मया मौक्षिमर्षि विहाय ।

अटामु वर्यास्वरुदस्सुमन्त्रं कैकेयि क्षमा फलितस्त्वहेति ॥ ५९ ॥

पुरमिति । निपादाधिपतेर्गुह्यं तत्पुरमित्यर्थः । अस्मिन्पुरे यथा मौक्षिमर्षि विहाय  
 अटामु वर्याम् रक्षिताम् सतीषु सुमन्त्राः । 'हे कैकेयि । तव काम्य मनोरथा फलितः  
 सफल जाताः इत्यर्थः । 'कस्मिन् ननु विमोचने' इति यावत् ॥ ५९ ॥

यह निपातराम (पुर) का अगर (गृह)पुर) है, 'वहाँ पर मेरे मुकुटपत्नी  
 कोदकर बटाई नाथके पर 'हे कैकेयि । तुम्हारे मनोरथ सफल हुए ऐहिक (करकर) सुमन्त्र  
 तोने थे ॥ ५९ ॥

पपोधरैः पुण्यज्जनाङ्गनानां मिषिष्ठेयैराम्बुबरेणु मस्याः ।

आहं सरः कारणमातत्रापो बृक्षेरिषाम्यक्तमुदाहरन्ति ॥ ६० ॥

पपोधरेति । पुण्यज्जनाङ्गनायां पपुलीनां पपोधरैः स्वर्गैर्मिषिष्ठं वपुष्को  
 हेराम्बुबरेष्वरूपं तत् । तत्र तां श्रीकृष्तीति ज्ञान्यते । अहम् इहं आहमम् । 'कस्त-  
 दिते' इति टिप्पण । आहं सरोमात्राकारं वस्याः सरपथा बृक्षैर्हृष्यत्स्वाम्यक्तं  
 प्रभावमिव कारयत् । अहंरूपं बाध आहवाको वेदाः । अहं बहुव्रीहिना पुनरा  
 वदाहरन्ति प्रचलते ॥ ६० ॥

यक्ष-स्त्रियां जिसके स्वर्णकमलोंके परागको स्तनोंमें लगाती हैं ऐसे मानससरोवरको जिस ( सरयु नदी ) का, बुद्धि ( महत्त्व ) के अव्यक्त ( प्रधान ) के समान, कारण आप्त-वाक् अर्थात् आसोंका वचन वेद या आप्तवचनवाले मुनि लोग कहते हैं । ( वेद या मुनि लोग जिस सरयु नदीको मानससरोवरसे निकली वतलाते हैं )—॥ ६० ॥

जलानि या तीरनिखातयूपा वहत्ययोध्यामनु राजधानीम् ।  
तुरङ्गमेधावभृथावतीर्णैरिच्छाकुभिः पुण्यतरीकृतानि ॥ ६१ ॥

जलानीति । यूप सस्कृत पशुधनघनाहो दारुविशेषः । तीरनिखातयूपा या सर-यूत्तुरङ्गमेधा अश्वमेधास्तेष्ववभृथार्थमेवावतीर्णैरवरुद्धैरिषवाकुभिरिषवाकुगोत्रापत्यैर्भः पूर्वैः । तद्वाजत्वादणो लुक् । पुण्यतरीकृतान्यतिशयेन पुण्यानि कृतानि जलान्ययो-ध्या राजधानीं नगरीमनुसमीपे तथा लक्षितयेत्यर्थः । अनुशब्दस्य 'लक्षणेत्यम्भूता-न्यानभागवीप्तासु प्रतिपर्यनव' इत्यनेन कर्मप्रवचनीयत्वात्तद्योगे द्वितीया । वहति प्रापयति ॥ ६१ ॥

तीरमें गाढे गये यूप ( यज्ञ-पशु बाधनेके लिये मन्त्रोंसे सस्कृत स्तम्भ-विशेष ) वाली जो ( सरयु नदी ) अश्वमेध यज्ञके अवभृथ ( यज्ञका समाप्ति-सूचक अन्तिम स्नान-विशेष ) के लिये उतरे ( प्रवेश किये ) हुए इक्ष्वाकुवशके राजाओंसे अधिक पवित्र जलको अयोध्या-समीपमें धारण करती प्राप्त कराती है ॥ ६१ ॥

यां सैकतोत्सङ्गसुखोचितानां प्राज्यैः पयोभिः परिवर्धितानाम् ।

सामान्यधात्रीमिव मानसं मे सम्भावयत्युत्तरकोसलानाम् ॥ ६२ ॥

यामिति । यां सरयू मे मानसं कर्तुं सैकत पुलिन तदेवोत्सङ्गं तत्र यत्सुखं तत्रोचितानां प्राज्यैः प्रभूतैः पयोभिरम्बुभिः क्षीरैश्च । 'पय क्षीरं पयोऽम्बु च' इत्यमरः परिवर्धितानां पुष्टानामुत्तरकोसलानामुत्तरकोसलेश्वराणां सामान्यधात्रीं साधारण-मातरमिव सम्भावयति । 'धात्री जनन्यामलकीवसुमत्युपमातृपु' इति विश्वः ॥ ६२ ॥

जिस ( सरयु नदी ) को मेरा चित्त तट रूपगोदमें ( मातृपक्षमें-तटके समान गोदमें ) सुखके योग्य तथा पर्याप्त जलसे ( मातृपक्षमें-दूधसे ) बढ़ाये तथा परिपुष्ट किये गये उत्तर-कोशलके राजाओंकी सामान्य धात्री ( सर्व-साधारण माता ) के समान सस्कृत करता है ॥

सेय मदीया जननीव तेन मान्येन राज्ञा सरयूर्वियुक्ता ।

दूरे वसन्त शिशिरानिलैर्मा तरङ्गहस्तैरुपगृह्णीत ॥ ६३ ॥

सेयमिति । मदीया जननी कौसल्येव मान्येन पूज्येन तेन राज्ञा दशरथेन वियुक्ता सेय सरयूदूरे वसन्तम्, प्रोप्यागच्छन्तमित्यर्थः । मां पुत्रभूत शिशिरानिलैस्तरङ्गैरेव हस्तैरुपगृह्णीतवालिङ्गतीव ॥ ६३ ॥

पूज्य एत रात्रा ( दशरथजी ) के द्वारा बीबी परं मेरी यत्ना ( कौसल्या ) के उत्पन्न यह वह तरु पक्षी दूर स्थित ( परबैधमें विवास करते हुए ) शुभ्रभी शब्दी इवावाके छत्र कम शनोते ( मातृपक्षमें—तरुओंके समान शनोते ) जाकिष्ठित कर रही है ॥ ६३ ॥

विरक्तसन्ध्याकपिशं पुरस्ताद्यतो रजं पार्थिवमुज्जिहीते ।

शङ्के इन्मत्कथितप्रवृत्तिः प्रत्युद्गतो मा भरत ससैन्य ॥ ६४ ॥

विरक्तेति । विरक्तप्रतिरक्त या सन्ध्या तद्वत्कपिशं तादृशवर्णम् । पृथिव्या इव पार्थिवम् । रजो वृक्षि पुरस्तादग्रे यतो वस्मात्कारणाज्जिहीतं चञ्चलमिति । तस्मात् इदुरस्यास्तीति इवमान् । 'करादीनां च' इति बीबी । तेन कथिता प्रवृत्तिरस्मात्प्रसववातां वरमेव भरता ससैन्याः सम्प्रां प्रत्युद्गत इति शङ्के तर्कयामि । 'सङ्गा प्रवृत्तिर्कपो' इति सन्धानम् । अत्र यत्तदोक्तिस्त्वसम्बन्धात्तच्छब्दकामः ॥ ६३ ॥

अत्र दशरथ जायै अत्यन्त काव्यवर्ण सन्ध्याशब्दे समान कथित वर्ण पृथ्वीशब्द वृक्षि छत्र रही है ( अत्र ) इन्मत्कथित प्रवृत्ति मेरे समाचारको मातृमकर परत सेवाके साथ मेरी वगवन्बीबी नामके हैं ऐसा समझना है ॥ ६४ ॥

अद्या भिर्यं पालितसङ्गराय प्रत्यर्पयिष्यत्यनर्था स साधु ।

इत्या निवृत्ताय सूचे करादीन्संरक्षिता त्वामिव छत्रमणो मे ॥ ६५ ॥

अद्येति । किञ्च साधुः सञ्जना स भरतः । 'साधुर्चातुर्पिके चारी सम्भवे चापि वाच्यवत्' इति विरचः । पालितसङ्गराय पालितपितृवृत्तिशब्द मे मङ्गलमन्वयामहोर्ण भोगामावाहनुनिवृत्तां किञ्च संरक्षितां भिर्यम् । सूचे सूचे करादीन्मृत्वा निवृत्ताय मे कथमया संरक्षितामनर्था त्वामिव प्रत्यर्पयिष्यत्यद्या सारवम् । 'तस्मै अद्यमङ्गलस्य ह्ययम्' इत्यमरा ॥ ६५ ॥

सधन वह ( भरत विवाहात्कम कम ) प्रतिबन्धी दूरा दिने दूर मेरे किने ( लक्ष भोजन व करके रखाकरवेते ) निर्दोष क्यमीको वस्तुछत्र वर दशरथ समर्पण करेते, वित प्रथम सुकमे पर जादि राघवजी मे मारकर कीटे दूर मेरे किने सञ्जना कथमने निर्दोष परं सरक्षित तुमको छोडा ना ॥ ६५ ॥

असौ पुरस्कृत्य गुरुं पद्माति पद्मावयस्थापितपाहिनीकः ।

पुद्गेरमात्यै सह श्रीरवासा मामग्नपाणिमरतोऽभ्युपैति ॥ ६६ ॥

असाधिति । असी पद्मातिः पद्मावयमवतीति पद्मातिः पाद्मचारी श्रीरवासा वरकडकस्तमे भरतः पद्मावृद्धमानेऽवरपापिता कादिबी सेवा बेन ॥ तस्योक्तं सद् । 'वपुण्ड्र' इति कप् । गुरुं वसिष्ठं पुरस्कृत्य पुद्गेरमात्यैः सहार्थपाणिः सम्माभ्युपैति ॥ ६६ ॥

पैदल तथा वल्कल पढ़ने हुए यह भरत सेनाको पीछे कर तथा गुरु ( वसिष्ठ मुनि ) को आगेकर वृद्ध मन्त्रियोंके साथ हाथमें ऊर्ध्व लिये मेरे सम्मुख आरहे हैं ॥ ६६ ॥

पित्रा विसृष्टां मदपेक्षया यः श्रियं युवाऽप्यङ्कगतामभोक्ता ।

इयन्ति वर्षाणि तथा सहोऽग्रमभ्यस्यतीव व्रतमासिधारम् ॥ ६७ ॥

पित्रेति । यो भरतः पित्रा विसृष्टां दत्तामङ्कमुत्सङ्गं च गतामपि यां श्रियं युवाऽपि मदपेक्षया मद्भक्त्याऽभोक्ता सन् । तृप्तन्तत्वात् 'न लोकाध्ययनिष्ठाखलर्थतृणाम्' इति षष्ठीनिषेधः । इयन्ति वर्षाण्येतावतो वत्सरान् । अत्यन्तसयोगे द्वितीया । तथा श्रिया सह स्त्रियेति च गम्यते । उग्रदुश्चरमासिधार नाम व्रतमभ्यस्यतीव वर्तयतीव । 'युवा युवत्या सार्धं यन्मुधमर्तुवदाचरेत् । अन्तर्निष्ठुत्तसङ्गः स्यादासिधारव्रतं हि तत् ॥' इति यादवः । इदं चासिधाराचङ्क्रमणतुल्यत्वादासिधारव्रतमित्युक्तम् ॥ ६७ ॥

जो भरत पिताजीके द्वारा दी हुई तथा अङ्कमें आई हुई लक्ष्मीको मेरी अपेक्षा ( मेरी भक्ति ) के कारण युवा होकर भी नहीं भोग करते हुए इतने दिन ( चौदह ) वर्षोंतक उस श्री ( पक्षमें स्त्री ) के साथ मानों कठिन 'आसिधार व्रत' ( तलवारकी धारपर चलनेके समान अतिकष्टसाध्य व्रत ) का अभ्यास कर रहे हैं ॥ ६७ ॥

एतावदुक्तवति दाशरथौ तदीयामिच्छा विमानमधिदेवतया विदित्वा ।

ज्योतिष्पथादवततार सविस्मयाभिरुद्धीक्षित प्रकृतिभिर्भरतानुगाभिः ॥ ६८ ॥

एतावदिति । दाशरथौ राम एतावमुक्तवतिः सति विमानं पुष्पकं कर्तुं, तदीयां रामसम्बन्धिनीमिच्छामधिदेवतया मिषेण विदित्वा, तत्प्रेरितं सदित्यर्थः । सविस्मयाभिर्भरतानुगाभिः प्रकृतिभिः प्रजाभिरुद्धीक्षितम् ऊर्ध्वदृष्टं सज्ज्योतिष्पथादाकाशादवततार ॥ ६८ ॥

रामके ऐसा ( श्लो० — ६७ ) कहनेपर उनकी इच्छाको अधिदेवतासे मालूम कर आश्चर्यित तथा भरतके पीछे चलनेवाली प्रजाओंसे देखा गया वह पुष्पकविमान आकाश से ( भूमिपर ) उतरा ॥ ६८ ॥

तस्मात्पुरःसरविभीषणदर्शितेन सेवाविचक्षणहरीश्वरदत्तहस्तः ।

यानादवातरददूरमहीतलेन मार्गेण भङ्गिरचितस्फटिकेन रामः ॥ ६९ ॥

तस्मादिति । राम सेवाया विचक्षणं कुशलं हरीश्वरं सुग्रीवस्तेन दत्तो हस्तो हस्तावलम्बो यस्य तादृशः सन् । स्थलज्ञत्वात्पुरःसरो विभीषणस्तेन दर्शितेनादूरमासन्नं महीतलं यस्य भङ्गिभिविच्छिन्तिभी रचितस्फटिकेन चन्द्रस्फटिकेन सोपानपर्वणः मार्गेण तस्माधानात्पुष्पकादवातरदचतीर्णवान् । तरतेर्लङ् ॥ ६९ ॥

राम सेवाचतुर वानरपति ( सुग्रीव ) के हाथ वा अवलम्बन कर आगे चलनेवाले

विनीयते प्रदक्षिण तथा समीपगतां भूमिप्राप्ते (भूमिसे बीड़ा बँधा), तथा रक्षित  
यन्त्रिणी रथवासा (सीढ़ी के) मार्यते वर पुनश्च दिवात्र वरते कठरे ॥ ६० ॥

इत्याहुयंशसुरवे प्रयता प्रणम्य स भ्रातरं भरतमर्घ्यपरिमहान्ते ।  
पथभुरस्वजत मूषनि चोपजग्री तद्रक्तस्थपोदपितृराम्यमहामिषेके ॥ ६० ॥

इत्यधिकृति । प्रयता स राम इत्याहुयंशसुरवे वसिष्ठाय प्रणम्य वमस्तुभार्ग्यस्य  
परिमहः स्वीकृतस्तत्पान्ते पथभुः परित्यागन्नुवाच सः भ्रातरं भरतमस्वजज-  
टिष्ठत् । अस्मिन्मामे मत्सपापोहा परिहृताः पितृराम्यमहामिषेके वेध ठरिमन्मूर्धन्पु-  
नश्च ॥ 'मा गन्धोपादावे छिदि क्यम् ॥ ६० ॥

परिभारता राम वरवाहु बंधके गुह (वसिष्ठ छवि) को प्रणम कर अर्घ्य प्रदान करके  
बारह बार भरतसे (कावचके कारण) वमस्तुत होके हुए आश्रित्य किवा नीचे पथ  
(राम) से अधिक से रिता (वराच) के दिने हुए राम्यप्रियैक्य लाल करकेवाके वरतकसे  
वृथा । (बोटे बारके वरतक्यत् पथा वा जूना धातुमें वरतल्लाख कलम माना गया है) ॥

रमभुप्रपृष्टिजनिताननयिस्त्रिधांश्च प्लक्षाम्प्रोदजटिलानिप मन्त्रिबुधान् ।  
अन्वमहील्यणमत्तं ह्रुमद्वटिपातैर्पातानुयोगमधुपक्षरया च वाचा ॥ ६१ ॥

रमन्विति । रमभुजां मुक्करीणां प्रपृष्टवा संस्काराभावादिमिदृशवा क्वचि-  
तानेपु विह्वला विह्वलितैर्वा तागत एव प्रोहेः प्लाक्षाम्प्रोदमिरबोमुपैर्द्वैर्जटिल-  
जटिलता प्लक्षाम्प्रोदवाभिष मितवा । प्रणमतो मन्त्रिबुधान् एभिः कृपा-  
वटिपातैरवक्यैर्वातानुयोगीन् ह्रुमद्वटिपातैर्वा वाचा प्लाक्षमहील्य  
गृहीतवान् ॥ ६१ ॥

वाची—मूख कहनेसे निरुत (संस्कारहीन होनेसे बोका रहित) प्लक्षाम् वरीहोंसे कटित  
नद हथोंके समान स्थित प्रणम करके हुए ह्रुमन्त्रिणीको स्वेदपूर्वक रूपसे कृपण प्रत्य  
हृत्त मधुर वचनोंसे (जस रामने) वस्तुगृहीत किया ॥ ६१ ॥

हुज्जोतबन्धुरयसुषहरीचरो मे पीक्षस्त्य एष समरेषु पुरं महर्ता ।  
इत्याद्यतेन क्वचित् रघुनन्दनेन व्युत्क्रम्य ह्यहमणमुभौ भरतो वचन्दे ॥ ६२ ॥

हुज्जोतेति । वचं मे हुज्जोतबन्धुरयसुषहरीचरो मे पीक्षस्त्य एष समरेषु पुरं महर्ता ।  
ह्यहमिदं वरा सुधीषः । एष समरेषु पुरं महर्ता पीक्षस्त्यो विभीषणः । इत्याद्यतेवाह  
वता । कर्तरि च । रघुना नन्दनेन रामेण क्वचित्वापुसी विभीषणसुधीषी कश्चन-  
मनुजमपि व्युत्क्रमादिभ्रान्तिभिरसम्मान्य भरतो वचन्दे ॥ ६२ ॥

ये मेरे हुज्जके बन्धु तथा माझनों की ओर वालोंके राजा छधीन हैं वचं मुझसे जाने  
(नन्दन रघुना ५२) महत् करकेवाके से व्युत्क्रम-तत्पत्त अर्थात् विभीषण हैं' इस प्रकार

रामके द्वारा बतलाये गये उन दोनों ( सुग्रीव और विभीषण ) को भरतने लक्ष्मणको छोड़ कर ( लक्ष्मणका आलिङ्गन आदिसे सत्कृत करनेके पहले ) प्रणाम किया ॥ ७२ ॥

सौमित्रिणा तदनु संसृजे स चैनमुत्थाप्य नम्रशिरसं भृशमालिलिङ्ग ।  
रूढेन्द्रजित्प्रहरणव्रणकर्कशेन क्लिशयन्निवास्य भुजमध्यमुरः स्थलेन ॥ ७३ ॥

सौमित्रिणेति । तदनु सुग्रीवादिवन्दनानन्तरं स भरतः सौमित्रिणा ससृजे सङ्कृतः । 'सृज विसर्गं' देवादिकाकर्तारि लिट् । नम्रशिरसं प्रणतमेन सौमित्रमुत्थाप्य भृशं गाढमालिलिङ्गं च । किं कुर्वन् । रूढेन्द्रजित्प्रहरणघणैः कर्कशेनास्य सौमित्रेण स्थलेन भुजमध्यं स्वकीयं क्लिशयन्निव पीडयन्निव क्लिशनातिरयं सकर्मकः । 'क्लिशनाति भुवनत्रयम्' इति दर्शनात् । ननु रामायणे—'ततो लक्ष्मणमासाद्य वैदर्ही च परन्तप । अभिवाद्य ततः प्रीतो भरतो नाम चाग्रवीत ॥' इति भरतस्य कानिष्ठप्रतीयते, किमर्थं ज्यैष्ठ्यमवलम्ब्यानाजर्वेन श्लोको व्याख्यातः ? सत्यम् । किन्तु रामायणश्लोकार्थटीकाकृतोक्तं श्रूयताम् । 'ततो लक्ष्मणमासाद्य—'इत्यादि श्लोक आसादनं लक्ष्मणवैदर्होः अभिवादनं तु वैदर्हो एव अन्यथा पूर्वोक्तं भरतस्य ज्यैष्ठ्यं विरुध्यतेति ॥ ७३ ॥

उसके बाद वह ( भरत ) लक्ष्मणसे मिले—प्रणाम कर नम्रमस्तक इस ( लक्ष्मण ) को छठाकर इन्द्रजित् ( रावणपुत्र मेघनाथ ) के धावोंसे कठोर इस लक्ष्मण कि छातीसे मानो भुजमध्य ( अपनी छाती ) को पीड़ित करते हुए आलिङ्गन किया । ( लक्ष्मणकी छातीको मेघनादके प्रहारके ज्रणोंसे चिद्धित देखकर भरतको हार्दिक कष्ट हुआ ) ॥ ७३ ॥

रामाज्ञया हरिचमूपतयस्तदानीं कृत्वा मनुष्यवपुःरारुरुर्गजेन्द्रान् ।  
तेषु भरत्सु बहुधा मदवारिधाराः शैलाधिरोहणसुखान्युपलेभिरे ते ॥ ७४ ॥

रामेति । तदानीं हरिचमूपतयो रामाज्ञया मनुष्यवपुः कृत्वा गजेन्द्रानारुरुः । बहुधा मदवारिधाराः भरत्सु वर्षत्सु तेषु गजेन्द्रेषु ते कपियूथनाथाः शैलाधिरोहणसुखान्युपलेभिरेऽनुबभूवुः ॥ ७४ ॥

उम समय बानर सेनापति रामकी आज्ञासे मनुष्यके शरीरको धारण कर गजराजों पर चढ़ गये । आत्यधिक मद-धाराकी गिराते हुए उन हाथियों पर उन बानर-सेनापतियोंने ( भरतोंसे पानी गिराते हुए ) पहाड़ों पर चढ़नेका सुख प्राप्त किया ॥ ७४ ॥

सानुप्लवः प्रभुरपि क्षणदाचराणां भेजे रथान्दशरथप्रभवानुशिष्टः ।  
मायाविकल्परचितैरपि ये तदीयैर्न स्यन्दनैस्तुलितकृत्रिमभक्तिशोभाः ॥

सानुप्लव इति । सानुप्लवः सानुगः । 'अभिसारस्त्वनुसर सहायोऽनुप्लवोऽनुगः' इति यादवः । क्षणदाचराणां रक्षसां प्रभुर्विभीषणोऽपि प्रभवत्यस्मादिति

प्रमथो जनको वृद्धरा प्रमथो पत्न्य स वृद्धराप्रमथो रामः । तेनानुतिष्ठ जातस्य  
सह रथान् मेमे । तामेव विशिष्यति—ये रथा मायाविष्णुपरचितौ सङ्ग्रहस्तिरे-  
भिर्मितैरपि तद्दीपविष्णोपगोत्रैः स्वम्बुधः रवैस्तुकिङ्कभिर्ममकिङ्कभोमास्तुकिता समी  
कृता कृत्रिमा कृत्रिमा मिश्रता मत्प्रीत्यां कोमा वेद्यां ते तयोक्त्य न भवन्ति । तेभ्य  
तत्ताम्यं न कमस्य इत्यर्थः । कृत्रिमोत्पन्न 'द्विषताः मित्राः इति मित्रप्रत्ययः । 'नमे-  
रिम्बन्ध' इति ममाप्यस्य ॥ ७५ ॥

वृद्धरा-कन्दन ( राम ) श्री बाबा पात्रे हुए नितावररान (विमोचन) श्री मनुष्यादिवी  
के साथ एवं रथोंपर सवार हुए, जो माया श्री कल्पनासे बनाये गये एवं (राजपते) के  
रथोंसे वरावरको नहीं बनाये श्रीमायाके नहीं हुए ॥ ७५ ॥

भूयस्ततो रघुपतिर्विजसत्पताक-

सम्पास्त क्षमगति सावरको विमानम् ।

दोपातनं पुष्वृहस्पतिपोगहरय-

स्तारापतिस्वरक्षविशुदिवाभ्रहृन्दम् ॥ ७६ ॥

भूय इति । ततो रघुपतिः सावरको भरतकचमचसहिता सन् विजसत्पताकं  
कामेनैकान्मुसारेण यतिः पत्न्य तद्विमारं मूकः पुनरपि । पुष्वृहस्पतिम्बां नीत्येव  
वरयो वृक्षदीपस्तारापतिश्चो बोधा धनं दोषातयम् । सावजिराम्यज्ञेनोभ्यवेन्म  
कपटपुष्पे तुद् च' इत्यनेन बोधासम्पदादम्बाहृन्मुक्तयः । तत्रकद्विपुत्रकचसहिद्व  
भूमिमिव सम्पास्ताविहितवान् ॥ ७६ ॥

वृक्षके वाह मनुष्यो ( भरत तथा कचमच ) के सहित राम पताकसे श्रीवाचनाय नीर  
एकानुसार ममन करकेवाके पुनः विमान पर फिर वस प्रकार सवार हुए, जिन प्रकार  
हुए तथा वृहस्पतिके संगते वृक्षकोय जन्मया पतनें पत्रक विभुषी पुनः मेव-समूह पर  
सवार होता ( ममन करता ) है ॥ ७६ ॥

तत्रेश्वरेण जगतां प्रसूयादियोर्वी वर्षात्ययेन ठचमभ्रपनादिवेन्दो ।

रामेण मैथिलसुतां वराकचकृच्छात्प्रसुद्वृतां धृतिमतीं भरतो वंभदे ॥

तत्रेति । तत्र विमाने । जगतामीश्वरेणामिवराहेन प्रकृषाहूर्णमिव वर्षाप्रत्ययेन  
शरवागमेबाह्रवाम्भैवसङ्कातादिभ्यो कर्षं चमित्रकमिव । रामेण वृक्षकच पुष  
कृष्टं सङ्गं तस्मात्प्रसुद्वृतां धृतिमतीं सम्प्रोच्यतीं मैथिलसुतां सीतां भरतो  
वम्भदे ॥ ७७ ॥

वृक्ष विमानके ऊपर; प्रत्यति ( वराह वम्भदे ) के द्वारा मचपते वम्भदे की इन्दीके  
समान तथा वराहके द्वारा मैथिलसुता वम्भदे की अम्भदेके समान रामके द्वारा राम  
के वृक्षके वम्भदे की वैभवतिनी सीताको भरतके प्रणाम किया ॥ ७७ ॥

लङ्केश्वरप्रणतिभङ्गदृढव्रत तद्वन्द्य युगं चरणयोजनकात्मजाया ।  
ज्येष्ठानुवृत्तिजटिलं च चिरोऽस्य साधोरन्योन्यपावनमभूदुभयं समेत्य ॥

लङ्केश्वरेति । लङ्केश्वरस्य रावणस्य प्रणतीनां भङ्गेन निरासेन दृढव्रतमखण्डित-  
पातिव्रत्यमत एव वन्द्यं तज्जनकात्मजायाश्चरणयोर्युगं ज्येष्ठानुवृत्त्या जटिल जटा-  
युक्त साधोः सज्जनस्यास्य भरतस्य शिरश्चेत्युभय समेत्य मिलित्वाऽन्योन्यस्य  
पावन शोधकमभूत् ॥ ७८ ॥

लङ्केश्वर ( रावण ) को प्रणामोंको भङ्ग करनेसे ( रावणकी प्रार्थना ठुकरा देनेसे ) दृढ  
व्रतवाला ( अत एव ) वन्दनीय, उस जनकनन्दिनी ( सीता ) का वह चरणयुगल और  
वढे ( भाई राम ) के अनुवृत्ति करनेवाला जटायुक्त महात्मा इस भरतका मस्तक—ये दोनों  
मिलकर परस्परको पवित्र करनेवाले हुए ॥ ७८ ॥

क्रोशार्धं प्रकृतिपुरःसरेण गत्वा काकुत्स्थः स्तिमितजवेन पुष्पकेण ।  
शत्रुघ्नप्रतिविहितोपकार्यमार्यः साकेतोपवनमुदारमध्युवास ॥ ७९ ॥

क्रोशार्द्धमिति । आर्यः पूज्य काकुत्स्थो राम. प्रकृतयः प्रजा. पुर सूर्यो यस्य  
तेन स्तिमितजवेन मन्दवेगेन पुष्पकेण । क्रोशोऽध्वपरिमाणविशेषः । क्रोशार्धं क्रोशै-  
कदेश गत्वा शत्रुघ्नेन प्रतिविहिता सज्जिता उपकार्या. पटभवनानि यस्मिंस्तदुदारं  
महत्साकेतस्यायोध्याया उपवनमध्युवासाधितघ्नौ । 'साकेतः स्यादयोध्यायां कोसला-  
नन्दिनी तथा' इति यादवः ॥ ७९ ॥

इति श्रीमहामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितया सज्जीविनीस-  
माख्यया व्याख्यया समेतो महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवशे महा-  
काव्ये दण्डकाप्रत्यागमनो नाम त्रयोदशः सर्गः ॥ १३ ॥

पूज्य राम, प्रजावर्ग जिसके आगे २ चल रहे हैं, ऐसे मन्दगतिवाले पुष्पक विमानसे  
आधाक्रोश चलकर शत्रुघ्नसे सनाये गये तम्बूकनात टेण्ट आदि वस्त्र-भवनों वाले अयोध्याके  
सुन्दर उपवनमें निवास किया ॥ ७९ ॥

यह 'मणिप्रभा' टीकामें 'रघुवश महाकाव्यका 'दण्डकाप्रत्यागमन'  
नामक त्रयोदशसर्ग समाप्त हुआ ॥ १३ ॥



## चतुर्थः सर्गः ।

सद्योऽयं मेधिकमन्यकम्पाः सौम्यैर्धर्मैस्त्वमहनिबानम् ।

रुग्णाहपट्टेऽहोः समार्थं रामस्य वन्दे रमणीकमस्मम् ॥

मर्तुं प्रणाश्यावय रोचनीयं वराऽन्तरं तत्र समं प्रपन्ने ।

अपस्पृष्टां वरारबी जनन्यौ जेवाविधोपप्रतरोऽन्तरौ ॥ १ ॥

मर्तुरिति । अपोषयनाविद्यावान्तरं वरारबी रामकमनी । अपप्यन्तरोरात्रव-  
हृत्स्व । अपप्य जाग्रते इति निपातः । तस्य जेवाद् मतवी क्ये इव । 'वह्नी तु  
'मत्तविर्जता' इत्यमरः । मर्तुर्वरारवस्व प्रणाश्यावयेचनीयं वराऽन्तरमवस्थाप्य-  
रम् । 'अवस्थाप्यो वक्ष्यन्ते स्थावकादि' इति विश्वः । प्रपन्ने प्राप्ते जननी कौस-  
ल्यामुक्तिरेव सत्येष्टोपवने समं सुतपस्वपक्षताम् । उभोः कर्तुरि कर्त्तुः ॥ १ ॥

सद्योऽयं मेधिकमन्य कान्ति तन्मद के कपी ।

चन्द्र वयं समान वन्दी राममुच्य तुम्हरे मनी ॥

इत्येव वक्तुं वहां पर ( वरवर्ग्यं ) राम-कमन्यके पतिवै मरयेते क्षीयनीय वक्ष्यते वरं  
हरे वीर्यो वयस्यो ( क्षैल्लता तथा छमिया ) की सद्योऽयं वृद्धके कर्मते क्षीयनीय वक्ष्यते  
वरं हरे वी कर्मान्ते के समान एक साथ देखा ॥ १ ॥

वमावुमाभ्यां प्रपत्तौ हसारी यथाक्रमं विक्रमशोभिनी तौ ।

विस्पष्टमस्त्रान्धतया न दृष्टी क्षातो सुतस्पर्शसुखोपलम्भात् ॥ २ ॥

वमाविति । यथाक्रमं स्वस्वमातृपूर्वकं प्रपत्तौ क्रमसुखवन्तौ हसारी इत्यनुक्तौ  
विक्रमशोभिनी तादृशौ रामकमन्यावुमाभ्यामन्तरोरुभिरन्धतया हेतुवा । 'अक्रमस्त-  
व सोभितम्' इति धातुः । विस्पष्टं न दृष्टी किन्तु सुतस्पर्शेन वायुर्ध्वं तत्सोपलम्भा-  
वमुपलब्धवन्तौ ॥ २ ॥

वीर्यो माताजीकी क्रमपूर्वक प्रणाम दिने हुए, अनुभूति बाध दिने हुए ( अन्तर )  
वराक्रमते क्षीयमान कम वीर्यो ( राम वरमन ) की जालम्यानु बहते रहतेसे अन्ती-ली  
शोमेके कारण ( माताजीने ) नहीं देखा किन्तु पुत्रके स्पर्शके शुचये मात्र शोभते ( वय  
वीर्यो पुत्रोकी ) वक्ष्यताम् ॥ २ ॥

जानन्दज शोकजमम् पाप्मस्तयोरशीर्षं शिशिरं विभेद ।

गङ्गासरय्योज्ज्वलमुष्णवर्षं हिमाग्निस्फुल्लं ह्यावतीर्णम् ॥ ३ ॥

जानन्दज इति । तयोर्मातृशोकजः शिशिरा वीर्यका पाप्मा शोकजमसीतमुष्ण-

मश्रु । उष्णतप्त ग्रीष्मतप्त गङ्गासरथ्वोर्जल कर्म अवतीर्णो हिमाद्रेर्निस्थन्दो निर्झर इव विभेद, आनन्देन शोकस्तिरस्कृत इत्यर्थः ।

उन दोनों (कौसल्या तथा सुमित्रा) के आनन्दोत्पन्न ठण्डे आँसूने, ठण्डा एवं गर्म गङ्गाके जलके गिरते हुए हिमालयके झरनेके प्रवाहके समान, शोकजन्य आँसूको दूर कर दिया । (यहाँ ठण्डे आनन्दजन्य आँसूके द्वारा शोकजन्य आँसूको दूर करनेके वर्णनसे पुत्र प्राप्तिजन्य आनन्दसे पतिमरणजन्य शोक दूर हो गया यह कहा गया है, शीतल जलसे गर्म जलको भी शीतल हो जाना प्रसिद्ध है ) ॥ ३ ॥

ते पुत्रयोर्नैर्ऋतशस्त्रमार्गानार्द्रानिवाङ्मे सदय स्पृशन्त्यौ ।

अपीप्सितं क्षत्रकुलाङ्गनानां न वीरसूशब्दमकामयेताम् ॥ ४ ॥

त इति । ते मातरौ पुत्रयोरङ्गे शरीरे नैर्ऋतशस्त्राणां राक्षसशस्त्राणां मार्गान्त्रणान् शस्त्रघातकिणानां द्रान्सरसानिव सदय स्पृशन्त्यौ क्षत्रकुलाङ्गनानामीप्सितमपि वीरसूर्वीरमातेति शब्द नाकामयेताम् । वीरप्रसवो दुःखहेतुरिति भावः ॥ ४ ॥

वे दोनों (कौसल्या तथा सुमित्रा) दोनों पुत्रों (राम तथा लक्ष्मण) के राक्षस-शस्त्रोंसे किये गये आर्द्र (ताजा) के समान अणोंको दया पूर्वक (धीरे) स्पर्श करती हुई क्षत्रिय कुलवधुओंके अत्यन्त अमिलपित भी वीरसू (वीर पुत्र पैदा करनेवाली) शब्दकी इच्छा नहीं की । (वीर सन्तान पैदा करना महान् कष्टका कारण होता है, यह मानकर उसकी चाहना नहीं की) ॥ ४ ॥

क्लेशावहा भर्तुरलक्षणाऽहं सीतेति नाम स्वमुदीरयन्ती ।

स्वर्गप्रतिष्ठस्य मुरोर्महिष्यावभक्तिभेदेन वधूर्वचन्दे ॥ ५ ॥

क्लेशावहेति । आवहतीत्यावहा भर्तुं क्लेशावहा क्लेशकारिणी अत एवालक्षणाऽहं सीतेति स्व नामोदीरयन्ती स्वर्ग प्रतिष्ठाऽऽस्पद यस्य तस्य स्वर्गस्थितस्य गुरोः शशुरस्य महिष्यौ श्वश्र्वौ । 'वधूः स्नुषा वधूर्जायास्नुषा' इत्यमर । अभक्तिभेदेन वचन्दे । स्वर्गप्रतिष्ठस्येत्यनेन श्वश्र्ववैधव्यवर्णनं धुःख सूचितम् ॥ ५ ॥

'कुलक्षणवाली मैं सीता पतिको कष्ट देनेवाली हुई' इस प्रकार अपने नामको कहती हुई वह सीताने स्वर्गगत श्वशुर की दोनों पट रानियों (कौसल्या-सुमित्रा) को विना भेद भावके प्रणाम किया ॥ ५ ॥

उत्तिष्ठ वत्से ननु सानुजोऽसौ वृत्तेन भर्ता शुचिना तवैव ।

कृच्छ्र महत्तीर्ण इति प्रियाहं तामूचतुस्ते प्रियमप्यमिथ्या ॥ ६ ॥

उत्तिष्ठेति । 'ननु 'वत्से ! उत्तिष्ठ । असौ सानुजो भर्ता तवैव शुचिना वृत्तेन मह-  
१६ रघु०

कृष्णं दुग्धं तीर्णस्तीर्णवाहं इति विचार्यो तौ बभूवुः शिवमन्त्रमिच्छां सत्यं ते बभूवुः  
बभूवुः । उभयं दुग्धं चमिति याचते ॥ ५ ॥

अथ होमो ( कौशल्या तथा सुमित्रा ) ये लौहं करिष्ये वीर्यं स्वीयते वि दुमि ! यदी  
दुग्धारे पवित्रं जायते तस्य ही वज्रवक्त्रे सतिष्ठे पति ( राम ) ये वक्ष्ये मातुं कञ्चिदपि यत्  
किञ्चिदपि । इति प्रकारं शिव होमो ह्यपि यौ सत्यं वचनं कौशल्या ॥ ५ ॥

अथामिषेणं रघुवंशकेतोः प्रारब्धमानन्वज्जलैर्बनन्मयो ।

निर्वर्तयामासुरमात्पशुस्यस्तीर्णवाहैः काञ्चनकुम्भतोयैः ॥ ७ ॥

अथेति । अथ काञ्चनकोरालान्द्रव्यैरावन्त्रवाप्यैः प्रारब्धं प्रकृतं रघुवंशकेतो राम-  
स्यामिषेणमात्पशुस्यस्तीर्णमयो यज्ञमनुकैम्ब काञ्चनकोरालैः काञ्चनकुम्भतोयैर्विर्वर्त-  
यामासुर्विष्णोश्चामासुः ॥ ७ ॥

इत्येव वाक् वृद्धं यन्त्रिभौने होमो याचार्थो ( कौशल्या तथा सुमित्रा ) ये वाचन्तं वच-  
नं वृद्धे जायते इति ह्यपि राजवंशं वृद्धं ( रघुवंशकेतोः पञ्चाशत्तमं वचनं ) एतन्ने  
वाचिषेणो होमो कौशल्या, इत्यर्थं कञ्चनकोरालैः पुनः किञ्चिदपि ॥ ७ ॥

सरित्समुद्रान्सुरसीञ्च गत्वा रक्षाक्षपीन्त्रैरुपपादितानि ।

तस्यापतन्मूर्ध्नि जलानि जिष्णोर्विन्ध्यस्य मेघप्रमदा इवाप ॥ ८ ॥

सरित्सि । रक्षाक्षपीन्द्राः सरितो गङ्गायाः समुद्रान्द्रव्यं दीप्तरसीर्मेघसाक्षीञ्च  
गत्वा उपपादितान्सुरसीञ्चानि जलानि जिष्णोर्विन्ध्यस्य । 'जम्बित्स्वस्रं स्तु' इति  
श्रुत्यनुवचनम् । तस्य रामस्य मूर्ध्नि विन्ध्यस्य विन्ध्यज्यैर्मूर्ध्नि मेघप्रमदा अप  
उत्पतन्तीञ्च अपतत् ॥ ८ ॥

राक्षसो तथा राजसीके स्नातो ( सुमीय तथा विभीषण ) ये पञ्चादि वदो दुर्ग-  
भादि तस्य तथा मानसं भादि सतीर्णको वाचरं जाये यत् वच, विन्ध्यपर्वतं विन्ध्य-  
मेघस्य वचनं सत्यं विन्ध्यो रामके मलकपरं निरे ॥ ८ ॥

तपस्त्रिषेपश्चिन्ध्याऽपि तावत् प्रेक्षणीयं सुतरं बभूव ।

राजेन्द्रनेपथ्यविधानयोमा तस्योदिताऽऽसीत्सुनदक्षरोपा ॥ ९ ॥

तपस्त्रिषि । यौ रामस्तपस्त्रिषेपश्चिन्ध्याऽपि तपस्त्रिषेपश्चिन्ध्याऽपि सुतरात्प्रमत्तं  
प्रेक्षणीयं तावत्प्रेक्षणीयं वच बभूव । तस्य राजेन्द्रनेपथ्यविधानेन राजेन्द्रनेपथ्योदिता  
या योमा सा सुनदक्षं नाम होमो यस्याः सा सुनदक्षरोपा द्विपुत्राऽसीत् ॥ ९ ॥

यौ ( राम ) तपस्त्रिषेपश्चिन्ध्याऽपि यौ जलन्तं सुतरं ये वचनो रामेन्द्रनेपथ्यो  
दक्षरोपे ये पश्यन्तं यस्याः योमा सुनदक्षं योमाको हरे ॥ ९ ॥

स मौलरक्षोहरिभिः ससैन्यस्तूर्यस्वनानन्दितपौरवर्गः ।

विवेश सौधोद्भूतलाजवर्षामुत्तोरणामन्वयराजधानीम् ॥ १० ॥

स इति । स राम. ससैन्यस्तूर्यस्वनैरानन्दितपौरवर्गः सन्, मूले भवा मौला मन्त्रिवृद्धास्तै रचोभिर्हरिभिश्च सह सौधेभ्य उद्भूतलाजवर्षामुत्तोरणामन्वयराजधानी-  
अयोध्यां विवेश प्रविष्टवान् ॥ १० ॥

बाजाओंके शब्दसे नागरिकोंको आनन्दित करते हुए सेना-साहित्य वे ( रामचन्द्रजी )  
महलोंसे ( स्त्रियोंके द्वारा ) खील ( लावा ) बरसाने वाली तथा तोरणयुक्त, अपने वशकी  
परम्परागत राजधानी ( अयोध्यापुरी ) में प्रवेश किये ॥ १० ॥

सौमित्रिणा सावरजेन मन्दमाधूतबालव्यजनो रथस्थः ।

घृतातपत्रो भरतेन साक्षादुपायसङ्घात इव प्रवृद्धः ॥ ११ ॥

सौमित्रिणेति । सावरजेन शत्रुघ्नयुक्तेन सौमित्रिणा लक्ष्मणेन मन्दमाधूते बाल  
व्यजने चामरे यस्य स रथस्थो भरतेन घृतातपत्र एव चतुर्व्यूहो राम प्रवृद्ध साक्षा  
दुपायानां सामादीनां सङ्घातः समष्टिरिव । विवेशेति पूर्वेण सम्बन्धः ॥ ११ ॥

रथपर बैठे हुए रामको छोटे भाई ( शत्रुघ्न ) के साथ लक्ष्मणजी चामर डुला रहे थे,  
भरतजी श्वेतच्छत्र लगाये हुए थे, ऐसे वे ( रामचन्द्रजी ) उन्नत उपायों ( साम, दान, दण्ड  
और भेद ) के समुदायके समान ( अयोध्यामें प्रवेश किये ) ॥ ११ ॥

प्रासादकालागुरुधूमराजिस्तस्याः पुरो वायुवशेन भिन्ना ।

वनान्निवृत्तेन रघूत्तमेन मुक्ता स्वयं वेणिरिवावभासे ॥ १२ ॥

प्रासादेति । वायुवशेन भिन्ना प्रासादे य कालागुरुधूमस्तस्य राजी रेखा । वना-  
न्निवृत्तेन रघूत्तमेन रामेण स्वयं मुक्ता तस्या पुरं पुर्यां वेणिरिव आवभासे ।  
पुरोऽपि पतिव्रतासमाधिरुक्तः । 'न प्रोपिते तु सस्क्रुर्याश्च वेणीं च प्रमोचयेत्' इति  
हारीतः ॥ १२ ॥

उस अयोध्यानगरीके महलोंमें कालागुरु धूप जलाये जा रहे थे, हवासे फैला हुआ  
उनका धूँआ ऐसा शोभित होता था कि मानो वनसे लौटे हुए रामने उस नगरीकी चौटी  
( केशसमूह ) को खोल दिया हो ॥ १२ ॥

श्वश्रूजनानुष्ठितचारुवेषां कर्णोरथस्था रघुवीरपत्नीम् ।

प्रासादवातायनदृश्यबन्धैः साकेतानार्योऽङ्गलिभिः प्रणोमुः ॥ १३ ॥

श्वश्रूजनेति । श्वश्रूजनैरनुष्ठितचारुवेषा कृतसौम्यनेपथ्याम् । 'आकल्पवेषौ नेप-  
थ्याम्' इत्यमरः । कर्णोरथ स्त्रीयोग्योऽरूपरथः । 'कर्णोरथः प्रवहणं हयनं रथगर्भके' इति

बाहवः । तत्रस्थां रघुवीरपत्नीं सीतां साकेतनार्यः प्रासादवातापयेत् । इत्यन्वयेत्स  
 पुनरेतज्जिनिः प्रगेमुः ॥ १३ ॥

अनीलाब्धौ विधौने साधुर्गो ( कोसल्या-सुमित्रा ) के द्वारा धूप-बत्त परस्पर स्नान  
 किया तथा अनील ( विधौने के अर्पण योग्य वाष्पकी माटी ) पर बैठी हुई सीताको परस्पर  
 विचकारं बतली हुई अनीलको वाँचकर प्रणाम किया ॥ १३ ॥

स्फुरत्प्रभामण्डलमानुसूयं सा विभ्रती शान्प्रसन्नप्रसाम् ।

रराज हृद्येति पुनः स्वपुत्रं सम्दर्शिता दक्षिणतोऽप्यभार्य ॥ १४ ॥

स्फुरदिति । स्फुरत्प्रभामण्डलमानुसूयमा इति आश्रितं महातनमाश्रितं  
 निवेदनार्थं विभ्रती सा सीता भर्ता स्वपुत्रं हृद्येति सम्दर्शिता दक्षिणतोऽप्यभार्य  
 रराज ॥ १४ ॥

कैकसे हुए प्रभा-समूहवाले अनुसूयके दिने हुए अमिन्वर अहराभ्यो ऊपर हुए सीता  
 पैसी सीमावर्माण होटी थी कैसे रामबाहू फिर उसे अर्पण प्रवेष्टकरकर अपनी बतली  
 ( अनीला ) के दिने 'बह सीता हूँ' । वह विचकारा रहे हों ॥ १४ ॥

वेरमानि रामः परिवर्हन्ति विभारय सीदार्धनिधिं मुहुरन्म ।

वाप्यायमाप्नो बलिमभिचेतमालेक्यरोपस्य पितुर्विवेरा ॥ १५ ॥

वेरमानीति । मुहुरो माया सीदार्ध सीकल्पः । 'हृत्तगसिन्धुर्गते पूर्वपदस्य व'  
 इत्युपपदबुद्धिः सीदार्धनिधिं रामा मुहुरन्म परिवर्हन्मपुनरुपपन्नमिति वेरमानि  
 विभारय इत्यादि । आलेक्यरोपस्य पितुर्विभ्रमात्पुनरुपपन्नं विवेरं पुनः  
 वाप्यायमाप्नो वाप्यमुहुरन्मिवेरा । 'वाप्यायमाप्नोमुहुरन्म' इति स्वच्छप्रत्ययः ॥ १५ ॥

सम्भववाक्ये अन्तर राम मित्रोंके दिने सब साधुओं से परिपूर्ण बरीकी ( अन्तरवेने दिने )  
 देकर पुनः विभ-वाग वने हुए पिता ( अहराभ्यो ) के कमरेमें रोके हुए प्रवेष्ट दिने ॥ १५ ॥

कृताञ्जलिस्तत्र यदग्न्य सत्यामाभरयत् स्वर्गोपकाद् गुरुन ।

तन्निन्पमानं मुहुर्यं तथेति जहार सगर्जा भरतस्य मातुः ॥ १६ ॥

कृताञ्जलिरिति । तत्र निवेदने कृताञ्जलिः सन् रामः । दे अग्न्यः । जो गुरु पिता  
 स्वर्गोपकाद् अग्न्यः तस्यामाभरयत् अग्न्यामिति यदग्न्यं तन्निन्पमानं  
 विचार्यमाणं तत्र मुहुर्यं । इत्येवं प्रकारेण भरतस्य मातुः कैकेय्या कच्छी अहाराण  
 नवत्त राज्ञा प्रतिज्ञापरिपाकं स्वर्गोपकादमित्यर्थः । भरतग्रहणं तदपेक्षापरि  
 पाक्यमुत्तरावधौतकार्यम् ॥ १६ ॥

बहोरर हाथ भीके हुए पैमान । हमारे पिताजी स्वर्गोपकाद् देवेवाके तत्वकीभी बरी

छोड़ा था, विचार करने पर वह तुम्हारा ही सत्कर्म है' ऐसा कहकर भरतकी माता (कैकेयी) की लज्जाको दूर किया ॥ १६ ॥

तथैव सुग्रीवविभीषणादीनुपाचरत्कृत्रिमसंविधाभिः ।

सङ्कल्पमात्रोदितसिद्धयस्ते क्रान्ता यथा चेतसि विस्मयेन ॥ १७ ॥

तथैवेति । सुग्रीवविभीषणादीन् । सविधीयन्त इति सविधा भोग्यवस्तूनि । कृत्रिमसंविधाभिस्तथा तेन प्रकारेणैवोपाचरत् । यथा सङ्कल्पमात्रेणेच्छामात्रेणोदित-सिद्धयस्ते सुग्रीवादयश्चेतसि विस्मयेन क्रान्ता आक्रान्ताः ॥ १७ ॥

( रामने ) सुग्रीव और विभीषण आदिका तैयार कौ गई सामग्रियोंसे ऐसा सत्कार किया कि केवल इच्छा करते सब साधनोंके पहुँच जानेसे वे मनमें आश्चर्य करने लगे ॥ १७ ॥

सभाजनायोपगतान्स दिव्यान्मुनीन्पुरस्कृत्य हतस्य शत्रोः ।

शुश्राव तेभ्यः प्रभवादि वृत्तं स्वविक्रमे गौरवमादधानम् ॥ १८ ॥

सभाजनेति । स रामः सभाजनायामिनन्दनायोपगतान्दिवि भवान्मुनीनगस्त्या दीन्पुरस्कृत्य हतस्य शत्रो रावणस्य प्रभवादि जन्मादिक स्वविक्रमे गौरवमुत्कर्षमाद-धान वृत्तं तेभ्यो मुनिभ्यः शुश्राव श्रुतवान् , विजितोत्कर्षाज्जेतुरुत्कर्ष इत्यर्थः ॥ १८ ॥

( राज्याभिषेकका ) अमिनन्दन करनेके लिये आये हुए ( अगस्त्य आदि ) दिव्यमुनियों का सत्कारकर रामने उन लोगोंसे अपने पराक्रमके महत्वको बढ़ाने वाला मारे गये शत्रु ( रावण ) के जन्मादिका वृत्तान्त सुना ॥ १८ ॥

प्रतिप्रयातेषु तपोधनेषु सुखादविज्ञातगतार्धमासान् ।

सीतास्वहस्तोपहृताग्रथपूजान्क्ष कपीन्द्रान् विससर्ज राम ॥ १९ ॥

प्रतीति । तपोधनेषु मुनिषु प्रतिप्रयातेषु प्रतिनिवृत्त्य गतेषु सत्सु सुखादविज्ञात एव गतोऽर्धमासो येषां ताननन्तर सीतायाः स्वहस्तेनोपहृता दत्ताग्रथपूजोत्तमसम्भाषना येभ्यस्तान् । एतेन सौहार्दातिशय उक्त । रक्षकपीन्द्रान् रामो विससर्ज विसृष्टवान् ॥ १९ ॥

तपस्वियोंके चले जानेपर मुख पूर्वक रहनेसे बीते हुए आधे महीने समयको नहीं जानने वाले तथा जिनके लिये स्वयं सीताजी अपने हाथोंसे सत्कारके लिये सामग्री लाई हैं, ऐसे राक्षस तथा वानरोंके राजा ( सुग्रीव तथा विभीषणको ) रामने बिदा किया ॥ १९ ॥

तच्छात्मचिन्तासुलभं विमान हृत सुरारे सह जीवितेन ।

कैलासनाथोद्वहनाय भूयः पुष्प दिवः पुष्पकमन्वमस्त ॥ २० ॥

तदिति । तच्छात्मचिन्तासुलभ स्वेच्छामायकम्य सुरारे रावणस्य जीवितेन

सह इयं विद्या पुण्यं पुण्यवदामरणमृतं पुण्यं विमलं भूयाः पुनरपि क्षेत्रसबाण  
कुम्भेरस्थोद्भवावात्मनस्तद्वाञ्छातव्याम् । ममतेह्यङ्कः । मृषोमहमेव पूर्वमप्येतन्मो  
रमेवेति सूच्यते ॥ २० ॥

रघुनामावसे कपिलित होमे बाके तथा वैवस्वत ( रावण ) के प्राणीकी साथमें हरन किं  
॥ २१ ॥ ( आकाश-कुसुम के समान पुष्प ) उस पुष्पक विमानकी कुम्भेरकी चढ़नेके किने कि  
मेव विद्या ॥ २१ ॥

पितुर्निधोगात्रनवासमेवं निस्तीर्य रामः प्रतिपन्नराज्यम् ।

अमौर्यकामेयु सभा प्रपेदे यथा तथैवाचरतेषु वृत्तिम् ॥ २१ ॥

पितुरिति । राम एवं पितुर्विधोवात्पासनाद्भववात्सं निस्तीर्णानन्तरं प्रतिपन्नराज्य  
मात्रराज्या सन् । अमौर्यकामेयु यथा तथैवाचरतेषु सभा वृत्ति प्रपेदे अहैकमेव  
व्यवहृतवानित्यर्थः ॥ २१ ॥

रस प्रकार पितृकी आज्ञासे बन्वातकी समाप्त कर राज्यकी पावे हुए राय बर्दे, लक्ष्  
मीर कानमें तथा छोटे भाइयोंमें समान व्यवहार करके गये ॥ २१ ॥

सर्वासु मातृप्यपि वत्सकत्वात्स निर्विशेषप्रतिपत्तिरासीत् ।

पठाननापीतपयोधरासु नेता अमूनामिष कृत्तिकासु ॥ २२ ॥

सर्वासिद्धिः । स रामो वत्सकत्वात्स्निग्धत्वात् न तु क्षेत्रपतीत्वार्थम् । 'स्निग्धवत्स  
वत्सकः' इत्यमरः । सर्वासु मातृप्यपि निर्विशेषप्रतिपत्तिस्तुल्यसत्कार आसीत् ।  
कृत्तमिष अमूनां नेता अमृताः बहुमिरावनेरापीताः पयोधरा स्वभा वासां ताडु  
कृत्तिकास्त्रिव ॥ २२ ॥

स्वैहवाजन होमसे वे ( राम ) सब याताओंमें उस प्रकार समान आदर करते थे  
जिस प्रकार बिनके स्तनीकी बचनमें बीबा है ऐसी कृत्तिकाओंका आदर कर्त्तिकेव सदा  
करते हैं । (कोटिप सिद्धान्तके अनुसार कृत्तिका नक्षत्रोंकी संख्या तीन है जस से दुकाओं  
कर्त्तिकेवकी बीमेके किने ६ स्तनीका होमा कथित हो है और रस प्रकार कीसकारि दीयों  
रापनाओंका कपनानीपमैववाच भी सङ्ग्रहित हो जाता है) ॥ २२ ॥

तेनार्चवांक्षोमपराङ्मुखेन तेन प्रसा विभ्रमयं क्रियमाणम् ।

तेनास श्लोकः पितृमाम्बिनेत्रा तेनैव शोभ्यपनुयेन पुत्री ॥ २३ ॥

तेनेति । क्षेत्रोक्षोमपराङ्मुखेन वदाम्येव तेन रामेनार्चवात् अधिकभास वदन् ।  
सिद्धान्तवतिकपकममवमेतत् । विधेयको अर्थ भवता भवता तेव विद्यावाचपुत्राववा-  
चात् । दिनेत्रा विद्यामकेन तेन पितृमावात् पितृवक्षिष्यतीत्यर्थः । क्षेत्रमपनुदतीति

शोकापनुदो दुःखस्य हर्ता तेन । 'तुन्दशोकयो परिमृजापनुदो' इति कप्रत्ययः ।  
तेन पुत्री पुत्रवानास, पुत्रवदानन्दयतीत्यर्थः ॥ २३ ॥

प्रनालोग रामके लोभशून्य ( दाता ) होनेसे धनिक, विघ्ननाशक होनेसे अपने २  
कर्तव्यमें सलग्न, विनय-शिक्षक होनेसे पितावाले और शोक-नाशक होनेसे पुत्रवान् थे ॥

स पौरकार्याणि समीक्ष्य काले रेमे विदेहाधिपतेर्दुहित्रा ।

उपस्थितश्चारु वपुस्तदीय कृत्योपभोगोत्सुकयेव लक्ष्म्या ॥ २४ ॥

स इति । स रामः कालेऽवसरे पौराणां कार्याणि प्रयोजनानि समीक्ष्य विदेहा  
धिपतेर्दुहित्रा सीतया उपभोगोत्सुकयाऽत एव तदीयं सीतासम्यन्धि चारु वपुः कृत्वा  
स्थितया लक्ष्म्येव । उपस्थितः सङ्गतः सन् रेमे । 'उपस्थानं तु सङ्गतिः' इति  
यादवः ॥ २४ ॥

वे राम यथासमय राजकार्य देखकर उस ( सीता ) के सुन्दर शरीर करके भोगके लिये  
वत्कण्ठित लक्ष्मीके समान सीताके साथ बड़ा उपस्थित होकर ( पहुँच कर ) रमण  
करते थे ॥ २४ ॥

तयोर्यथाप्रार्थितमिन्द्रियार्थानासेदुपोः सङ्गसु चित्रवत्सु ।

प्राप्तानि दुःखान्यपि दण्डकेषु सञ्चिन्त्यमानानि सुखान्यभूवन् ॥ २५ ॥

तयोरिति । चित्रवत्सु वनवासवृत्तान्तालेख्यवत्सु सङ्गसु यथाप्रार्थितं यथेष्टमि-  
न्द्रियार्थानिन्द्रियविषयाब्धवादीनासेदुपोः प्राप्तवतोस्तयोः सीतारामयोर्दण्डकेषु  
दण्डकारण्येषु प्राप्तानि दुःखान्यपि विरहविलापान्वेषणादीनि सञ्चिन्त्यमानानि स्मर्य-  
माणानि सुखान्यभूवन् । स्मारकं तु चित्रदर्शनमिति द्रष्टव्यम् ॥ २५ ॥

वनवासकी घटनाओंके चित्रोंसे सुसज्जित मद्दकोंमें इच्छानुसार इन्द्रिय-विषयोंको प्राप्त  
करते हुए उन दोनों ( सीता और राम ) के स्मरण किये गये दण्डकारण्यमें मिले हुए दुःख  
भी सुख देने वाले हुए ॥ २५ ॥

अथाधिकस्निग्धविलोचनेन मुखेन सीता शरपाण्डुरेण ।

आनन्दयित्री परिणेतुरासीदक्षरव्यञ्जितदोहदेन ॥ २६ ॥

अथेति । अथ सीताऽधिकस्निग्धविलोचनेनात्यन्तमसृणल्लोचनेन शरवत्तणविशेष  
वत्पाण्डुरेणात एवानक्षरमवागव्यापार यथा भवति तथा व्यञ्जितं प्रकटितं दोहद  
गर्भो येन तेन मुखेन परिणेतु पत्युः । कर्मणि पठ्यी । आनन्दयिष्यासीत् ॥ २६ ॥

इसके बाद सीता अधिक सुन्दरनेत्रोंवाले तथा कासके समान पाण्डुवर्ण ( अत एव )  
विना कहे ही गर्भावस्थाको बतलानेवाले मुखसे पति ( राम ) को आनन्द देनेवाली हुई ।  
( सीताको मुखपाण्डुरतासे गर्भिणी जानकर राम बहुत आनन्दित हुए ) ॥ २६ ॥



तामङ्गमारोप्य कृष्णाङ्गयष्टिं यजन्तिराश्वन्तपयोधरामाम् ।

विसृज्यमाना रहसि प्रतीतं पप्रच्छ रामां रमणोऽभिलापम् ॥ २० ॥

तामिति । मतीतो गर्भज्ञानवात् । रमयतीति रमय्य शिवां कृष्णाङ्गयष्टिं यजन्त्यन्तरेण  
पीडित्वाऽऽश्वान्तपयोधरायां विसृज्यमानां तां रामां रहस्यङ्गमारोप्याभिलापं मनो  
रयं पप्रच्छ । एतच्च—‘बोहवस्वामदानेन गर्भो बोधयन्वाप्नुवत्’ इति साक्षात् न  
तु कौत्सादित्यनुसन्धेयम् ॥ २० ॥

प्रसन्न पति ( रामचन्द्रने ) दुर्बल बटीरकवत्ताकी तथा दशमवर्षीयाके लवामोनाके  
सकन्न शिवाको एकान्तमे गोहये वेदाकर बतका यवीदिक्कित ( तुम् नवा पादवी हो  
पेटी बसकी नवीकस्वाका बोहव ) पूछा ॥ २० ॥

सा वृष्टनीपारयलीनि हिंस्रैः सम्बद्धवैश्वानसकन्यकानि ।

इयेष भूय कुरावन्ति गन्तुं भागीरथीतीरतपोवनानि ॥ २१ ॥

सेति । सा सीता हिंस्रैर्हता बीभत्ता एव बह्वी येन ताभिः । तिर्यग्मिन्द्रकमिदां  
बलिः । सम्बद्धा कृतसन्ध्यायाः कृतसत्रया वैशाखसार्गा कन्यका येन ताभिः कृत  
वन्ति भागीरथीतीरतपोवनानि भूयः पुनरपि गन्तुमिष्टेनाभिलाषम् ॥ २१ ॥

नह ( सीता ) कहा बर्तनीके हता गद्ग-बकी गद्ग-पतिके जिये दिने बानेबाके बीभत्ता  
( ‘घोनी’ बल्लभ कुनिबाल-विष्टेन ) को दिखइ का बली हैं ऐते वेकावस ( बल्लभ )  
कुनिबोकी कन्यामोके ताव कहा सम्बन्ध ( प्रेम मत ) हो गया है ऐते, बीर कुजाबोनाके  
गन्धर्वोके तीरीरर स्थित लवीगनोकी फिर बानेके जिये दच्छा की ॥ २१ ॥

तस्यै प्रतिमुत्थ रघुमभीरस्तपीप्सितं पार्वचरयन्मुखात् ।

आश्लोक्षयिष्यन्मुदितामयोष्यां प्रासादमभ्रीलिहसादरोह ॥ २२ ॥

तस्या इति । रघुमभीरो रामस्तस्यै सीतायै तत्पूर्वोक्तपीप्सितं मनोरथं प्रतिमुत्थ  
पार्वचरेत्तत्कथमेचितैरनुपात्ता सन् मुदितां तामयोष्यामाश्लोकयिष्यत् यत्नं कौटिल्य  
अस्मिन्मज्जत्तं प्रासादमादरोह । ‘बहाभे किदा इति बहप्रत्यया । ‘अर्द्धिह्वयन्त’  
एव भूय इति मुमायसा ॥ २२ ॥

रामेड ( राम ) बतके जिये ‘बैसा हो करेण’ ऐत लवीकरकर पार्वचरी अनुचरी  
अनुगत होत हए दमस्त अवीन्वापुरीको बैसनेके जिये, बाल्लककी हूटे हए ( गद्ग किये )  
महकपर नहे ॥ २२ ॥

अद्याप्यं राजपथं स परवन्धिगाह्यमानां सरयू च नोमि ।

वित्पसिमिन्वाभ्युपितानि पौरैः पुरोपकण्ठोपवनानि रेमे ॥ २३ ॥

अवेति । स रामः अद्याः सम्पत्ता आपन्ता पञ्चभूयको वरिमस्तं राजपथं

नौभिः समुद्रवाहिनीभिर्विगाह्यमानां सरयू च । पौरविलासिभिरभ्युपितानि पुरोप-  
कण्ठोपवनानि च पश्यन् रेमे । विलासिन्यश्च विलासिनश्च विलासिनः । 'पुमान्स्त्रिया'  
इत्येकशेषः ॥ ३० ॥

वे ( राम ) समृद्धि युक्त दूकानोंवाले राजमार्ग ( सड़कों ) को, नावोंसे पारकी जाती  
हुई सरयू नदीको और विलासी नागरिकोंसे युक्त नगरके समीपस्थ उपवनोको देखते हुए  
प्रसन्न हुए ॥ ३० ॥

स किंवदन्तीं वदतां पुरोगः स्ववृत्तमुद्दिश्य विशुद्धवृत्तः ।

सर्पाधिराजोरुभुजोऽपसर्प पप्रच्छ भद्रं विजितारिभद्रः ॥ ३१ ॥

स इति । वदता वाग्मिना पुरोगः श्रेष्ठो विशुद्धवृत्त सर्पाधिराजः शेषस्तद्गुरु  
भुजौ यस्य स विजितारिभद्रो विजितारिश्रेष्ठः स राम स्ववृत्तमुद्दिश्य भद्र भद्रनाम-  
कमपसर्प चर किंवदन्तीं जनवाद पप्रच्छ । 'अपसर्पश्चरः स्पष्ट इति, 'किंवदन्ती  
जनश्रुति' इति चामरः ॥ ३१ ॥

वक्ताओंमें श्रेष्ठ, शुद्ध आचरणवाले, शेष नागके समान बृह बाहुवाले और श्रेष्ठ शत्रुओंको  
जीतनेवाले उस ( राम ) ने अपने आचरणके विषयमें कौ जानेवाली लोकचर्चाको 'भद्र'  
नामक गुप्तचरसे पूछा ॥ ३१ ॥

निर्वन्धपृष्ठं स जगाद सर्वं स्तुवन्ति पौराश्चरितं त्वदीयम् ।

अन्यत्र रक्षोभवनोषितायाः परिग्रहान्मानवदेव देव्याः ॥ ३२ ॥

निर्वन्धेति । निर्वन्धेनाग्रहेण पृष्ठः सोऽपसर्पो जगाद । किमिति । हे मानवदेव ।  
रक्षोभवन उषिताया देव्या सीताया परिग्रहात्स्वीकारादन्यत्रतरांशे, त वर्जयित्वेत्य-  
र्थः । स्वदीय सर्वं चरित पौराः स्तुवन्ति ॥ ३२ ॥

आग्रहपूर्वक पूछनेपर उस ( 'भद्र' नामक गुप्तचर ) ने कहा कि 'हे राजन् ! नागरिक  
लोग रावणके यहाँ रहीं हुई देवी ( सीताजी ) को पुनः ग्रहण करनेके अतिरिक्त आपके सब  
व्यवहारकी प्रशंसा करते हैं अर्थात् सीताजीको पुनः पत्नीरूपमें स्वीकार करना पसन्द  
नहीं करते ॥ ३२ ॥

कलत्रनिन्दागुरुणा किलैवमभ्याहत कीर्तिविपर्ययेण ।

अयोधनेनाय इवामितप्त वैदेहिबन्धोर्हृदय विदद्रे ॥ ३३ ॥

कलत्रेति । एव किल कलत्रनिन्दया गुरुणा दुर्वहेण कीर्तिविपर्ययेणापकीर्त्याऽऽ-  
भ्याहत वैदेहिबन्धोर्वदेहिबन्धस्य । 'इत्यापोः सजाछन्दसोर्बहुलम्' इति ह्रस्वः,  
कालिदास इतिवत् । हृदयम् अयोधनेनामितप्त सन्तप्तमयः इव विदद्र विदीर्णम् ।  
कर्तरि लिट् ॥ ३३ ॥

इस प्रकार परलोको विन्वाते गम्भीर जलमग्नते तद्विषय रायका इदम जीवैके वने  
तद्विषय तत्र जीवैके समान विद्योर्न ही नया ॥ १६ ॥

किमात्मनिर्भावकथामुपेक्षे आगामदोषामुत सस्त्यजामि ।

इत्येकपक्षाभयभिक्षावत्त्वादासीत्स दोष्तावताचित्तवृत्ति ॥ १४ ॥

विमिति । अत्रमयो विभावोऽपवाद एव कथा ताम् विमुपेक्षे । अतः अदोषा  
कावर्त्ती आवां सस्त्यजामि । अत्रमयापि प्रत्ये कट् । इत्येकपक्षाभयेऽन्तरपक्षपरिग्रहे  
मित्रकमत्तत्परिग्रहेऽपवादस्य रामो वामेक पक्ष चित्तवृत्तिर्यस्य स आसीत् ॥ १४ ॥

नया मै अस्मी जलमग्नते ( नदनामी ) की नलकी वयेका कर दू, या विदीन की  
( सीता ) की वने हूँ इस प्रकार एक पक्षके स्वीकार करनेमें व्यस्तुमया होनेसे मे ( राम )  
हीन्यमान ( इत्येव नद्वे इत्येके समान ) चित्तवाके ही वने ॥ १५ ॥

निश्चित्य आत्मन्यनिवृत्तिं वाच्यं स्थग्येन पत्न्या परिमादुनैच्छत् ।

अपि स्वदेहात्किमुतेन्निवृत्त्याप्यापनानां हि यतो गरीय ॥ १५ ॥

निश्चित्येति । निश्चि । आत्मन्यनिवृत्तिं, आत्मन्येव आत्मन्यतिरिक्तोपायेन निवृत्तिर्न  
एव तद्वन्मनिवृत्ति निश्चित्य पत्न्यास्तथाप्येव परिमार्ष्टुं परिहर्तुमेच्छत् । तथा हि,  
अज्ञोपनानां पुंसां स्वदेहात्पि यतो गरीयो गुणतरय । इतिव्याप्त्यन्तर्गम्यनवमिता-  
अन्तेरिति निवृत्तिव्याप्यत्वात् इति किमुत अत्रमया । 'नदनामी विनये इत्युक्तमपि  
वक्ष्ये । एतां चैतिवार्थ एव ॥ १५ ॥

किर अन्य प्रकारसे दूर नहीं करने नीच जलमग्नते ( निन्वा-नदनामी ), की सीतके  
त्याग करनेसे दूर करना चाहता । अज्ञोपन ( पक्षकी ही पक्ष नलनेपाली ) का पक्ष अत्र  
अदोषते ही नद्व होता है फिर इतिवर्त्ती विनयोर्न की नद्व होता है यह स्वा  
करना है ॥ १५ ॥

स सभिपात्यावरजान्द्वौजास्तद्विजियादशमहोपहर्षम् ।

कीर्त्तीनमाभाभयमापन्नसे तेभ्य पुनश्चेदमुपायं धाक्यम् ॥ १६ ॥

स इति । इतीजा निस्तेजस्य स रामस्तत्र रामस्य विमिमादप्येव तद्वर्त्ते  
अवरजान्द्वौजास्तद्विजियादशमहोपहर्षम् इतिवर्त्ती कीर्त्तीनं विन्वा तेभ्य आचर्य ।  
पुनरिदं आचर्यमुपायं च ॥ १६ ॥

कीन तेवार्त्ते ( अश्व इत्येवार्त्ते ) मे राम इति नार्त्तीकी उक्तकर एकके विचार  
( अश्वी ) की इत्येव इत्येव पक्ष जीवोर्न 'अपने विनयमें होनेवाली निन्वाकी अद्व  
किर यह वक्ष्य करे—॥ १६ ॥

राजर्षिवंशस्य रविप्रसूतेरुपस्थितः पश्यत कीदृशोऽयम् ।

मत्तः सदाचारशुचेः कलङ्कः प्रयोदवातादिव दर्पणस्य ॥ ३७ ॥

राजर्षीति । रवेः प्रसूतिर्जन्म यस्य तस्य राजर्षिवंशस्य सदाचारशुचेः सद्वृत्ता-  
च्छुद्धान्मतो मत्सकाशात् । दर्पणस्य प्रयोदवातादिव, अम्भः कणादित्यर्थः । कीदृशो-  
ऽयं कलङ्क उपस्थितः प्राप्तः पश्यत ॥ ३७ ॥

‘सूर्यवंशीय राजर्षियोंके कुलमें उत्पन्न और सदाचारी मुझसे मेधवी द्वासे दर्पणके  
समान यह कैसा ( अकल्पनीय ) कलङ्क पैदा हुआ’ यह तुम लोग देखो ॥ ३७ ॥

पौरैषु सोऽहं बहुलीभवन्तमपां तरङ्गेष्विव तैलबिन्दुम् ।

सोढुं न तत्पूर्वमवर्णमीशे आलानिक स्थाणुमिव द्विपेन्द्रः ॥ ३८ ॥

पौरैष्विति । सोऽहम् । अपां तरङ्गेषु तैलबिन्दुमिव पौरैषु बहुलीभवन्त प्रसरन्त-  
म् । स एव पूर्वो यस्य स तम् । तत्पूर्वमवर्णमपवादम् । ‘अवर्णाक्षेपनिर्वादपरीवादा-  
पवादवत्’ इत्यमरः । द्विपेन्द्र आलानमेवालानिकम् । विनयादित्वास्वार्थे ठक् ।  
अथवाऽऽलान वन्धन प्रयोजनमस्येत्यालानिकम् । ‘प्रयोजनम्’ इति ठक् । स्थाणुं  
स्तम्भमिव । चूतवृक्ष इति वरसामान्यविशेषभावादपौनरुक्त्य द्रष्टव्यम् । सोढं नेशे  
न शक्नोमि ॥ ३८ ॥

वह मैं जलके तरङ्गोंपर तैलबिन्दुके समान नागरिकोंमें फैलते हुए सर्वप्रथम अपयशको  
वस प्रकार सद्नेमें असमर्थ हूँ ( वर्दास्त नहीं कर सकता ) जिस प्रकार गजराज पहले  
पहल बांधनेवाले खूंटिको सद्नेमें असमर्थ होता है ॥ ३८ ॥

तस्यापनोदाय फलप्रवृत्तावुपस्थितायामपि निर्व्यपेक्षः ।

त्यक्ष्यामि वैदेहसुता पुरस्तात्समुद्रनेमिं पितुराज्ञयेव ॥ ३९ ॥

तस्येति । तस्यावर्णस्यापनोदाय दूरीकरणाय फलप्रवृत्तवपत्योत्पत्तावुपस्थितायां  
सत्यामपि निर्व्यपेक्षो निःस्पृहः सन् । वैदेहसूताम् । पुरस्तात्पूर्वं पितुराज्ञया समुद्र-  
नेमिं समुद्रो नेमिरिव नेमिर्यस्याः सा भूमिः । तामिव त्यक्ष्यामि ॥ ३९ ॥

उस ( अपयश ) को दूर करनेके लिये फलको मालूम करते हुए भी निःस्पृह होकर  
सीता को पिताकी आज्ञासे सम्पूर्ण पृथ्वीके समान छोड़ूँगा ॥ ३९ ॥

ननु सर्वथा साध्वी न त्याज्येत्याह—

अवैमि चैनामनघेति किन्तु लोकापवादो बलवान्मतो मे ।

छाया हि भूमेः शशिनो मलत्वेनारोपिता शुद्धिमत्तः प्रजाभिः ॥ ४० ॥

अवैमीति । एनां सीतामनघा साध्वीति चावैमि । किन्तु मे मम लोकापवादो

वक्ष्याम्यस्य । कुत्र । हि वस्मात्प्रजाभिर्ममैरवाणा प्रतिविम्बं दृष्टिमयो निर्मलत्वं  
वाञ्छितो मलयेष कञ्चुकोवातोपिता । अतो केकापवाद् एव वक्ष्यामिष्यर्था ॥४७॥

इति (सीताम्बे) मे विद्वान् वामना ई । फिर भी जोकनिम्बाली मे बड़ा मान्य ॥  
क्योंकि (चन्द्रमार्गे बहनेवाली) घूमिची परजाहीको कोय विमल चन्द्रमाका कञ्चु करवे  
हैं । (उसके अवलम्बनिक होनेपर भी बीच कसे हो सत्य मान्य है । इसी प्रकार सीताके  
विद्वान् होनेपर, झूठी होने पर भी जोकनिम्बाली ही सत्य मानना तथा कसे दूर करवा  
वर्णित मानता है) ॥ ४७ ॥

रघोवशान्तो न च मे प्रयासो व्यर्थः स वैरप्रतिमोचनाय ।

अमर्षणं शोणितकाक्ष्णया किं पवा स्पृशन्तं वृषति त्रिभिर्द्वः ॥ ४८ ॥

एव इति । किञ्च मे रघोवशान्तः प्रयासो व्यर्थो न किन्तु स वैरप्रतिमोचनाय  
वैरमोचनाय । तथा हि अमर्षणोऽमर्षणो द्विभिर्द्वः सर्वं पवा पश्येत् स्पृशन्तं वृषते  
शोणितकाक्ष्णया वृषति किम् ? किन्तु वैरविषातवासेत्पर्यः ॥ ४८ ॥

और रावणको मारनेका मेरा प्रयास व्यर्थ नहीं समझना चाहिये क्योंकि वह तो विरोध  
का बरका केनेके किसे वा क्या असह्यशील (क्षीय) सर्व परसे दवादेवाके व्यक्तिमें एक  
हीनेके किने सेसता है । अर्थात् नहीं वह ही केवक बरका केनेके किसे हो कर्मका है ॥४८॥

तदेव सगं कद्वजावृषितैर्न मे मयङ्किं प्रतिपेक्षनीयम् ।

पथर्षिता निहृत्तवाक्कमराभ्यामप्राणान्मया धारयितुं चिरं व ॥ ४९ ॥

वसिति । तत्तत्तदेव मे सम्यं विज्ञया । 'सर्पः स्वमावृत्तिमोहमित्यवाभ्याम्  
छन्ति इत्यमरः । कद्वजावृषितैर्मयङ्किं प्रतिपेक्षनीयम् । निहृत्तं वाक्प्रदेव कर्म  
वेषां प्राणान्मया चिरं धारयितुं धारणं करयितुं को पुष्पाकर्मर्षिताकिन्मिच्छा  
यति । अस्तीति शेषः ॥ ४९ ॥

इस कारण निम्नाक्य कहेको निष्कलमेसे मेरा बोधा चाहिये ही तो करनाई होकर  
इस बीच मेरे इस निमग्नकी मना मत करवा (क्योंकि ऐसी विच्छा होने पर मैं जोकेकी  
अपेक्षा भर जाना अच्छा समझता हूँ) ॥ ४९ ॥

इत्युक्तवन्तं जनकममायां नितान्तसुखामिनिवेशमीशम् ।

न कश्चन भ्रातृषु तेषु राक्षसो निपेक्षुमासीदनुमोदितुं वा ॥ ५० ॥

इतीति । इत्युक्तवन्तं जनकममायां विषये नितान्तसुखप्रतिनिवेशमस्तिह्यमह-  
मीयं वरामिदं तेषु भ्रातृषु मध्ये कश्चनावि निपेक्षुं निवारयितुमनुमोदितुं प्रवर्तयितुं  
वा सको नासीत् पक्षहृत्स्वापि प्रवक्ष्यामिष्यर्थाः ॥ ५० ॥

ऐसा कहे हुए सीतामें अत्यन्त कठोर निश्चय किये हुए राजा ( राम ) को भार्योंमें से न तो कोई निषेध कर सका और न समर्थन कर सका ॥ ४३ ॥

स लक्ष्मण लक्ष्मणपूर्वजन्मा विलोक्य लोकत्रयगीतकीर्ति ।

सौम्येति चाभाष्य यथार्थभाषी स्थित निदेशे पृथगादिदेश ॥ ४४ ॥

सं इति । लोकत्रयगीतकीर्तिस्त्रैलोक्ये प्रथितयथा यथार्थभाषी लक्ष्मणपूर्वजन्मा लक्ष्मणाग्रज स रामो निदेशे स्थितमाज्ञाकारिण लक्ष्मण विलोक्य 'हे सौम्य, सुभग' इत्याभाष्य च पृथग्भरतशत्रुघ्नाभ्या विनाकृत्यादिदेशाज्ञापयामास ॥ ४४ ॥

तीनों लोकमें व्याप्त यशशाले, यथार्थवक्ता और लक्ष्मणके बड़े भाई वे ( राम सर्वदा आज्ञापालनेवाले ) लक्ष्मणसे 'हे सौम्य !' ऐसा सम्बोधितकर अलग (व्यक्तिगत रूपसे) कहे—

प्रजावती दोहदशसिनी ते तपोवनेषु स्पृह्यालुरेव ।

स त्वं रथी तद्वथपदेशनेयां प्रापस्य वाल्मीकिपद त्यजैनाम् ॥ ४५ ॥

प्रजेति । दोहदो गर्मिणीमनोरथः, तच्छसिनी ते प्रजावती आवृजाया । 'प्रजावती आवृजाया' इत्यमरः । तपोवनेषु स्पृह्यालुरेव सस्पृहैव । 'स्पृहिगृहिपतिदयिनिद्रा-तन्द्राध्रदाम्य आलुच' इत्यनेनालुप्प्रत्ययः । स त्वं रथी सन् । तद्वथपदेशेन दोहद-मिषेण नेयां नेतव्यामेनां सीतां वाल्मीकेः पद स्थान प्रापस्य गमयित्वा 'विभाषापः' इत्यपदेशः । त्यज ॥ ४५ ॥

दोहद ( गर्मकालीन इच्छा ) को बतलाने वाली तुम्हारी माभी ( भौजाई सीता ) तपो-वनोंमें जाना ही चाहती है, वह तुम रथ पर सवार होकर उस बहानेसे स्ते वाल्मीकिके आश्रमको पहुँचाकर छोड़ आओ ॥ ४५ ॥

स शुश्रुवान्मातरि भार्गवेण पितुर्नियोगात्प्रहृतं द्विषद्वत् ।

प्रत्यग्रहीदग्रजशासनं तदाज्ञा गुरुणां ह्यविचारणीया ॥ ४६ ॥

सं इति । पितुर्जन्मदग्नेनियोगाच्छासनाद्भार्गवेण जामदग्न्येन कर्त्रा । 'न लोका-न्ययनिष्ठाखल्यर्थवृत्ताम्' इत्यनेन पक्षीप्रतिषेधः । मातरि द्विषतीव द्विषद्वत् । 'तन्न तस्येव' इति वतिप्रत्ययः । प्रहृतं प्रहारं शुश्रुवान्श्रुतवान् । 'भाषाया सदवसश्रुचः' इति क्कुप्रत्ययः । स लक्ष्मणस्तदग्रजशासनं प्रत्यग्रहीत् । हि यस्माद् गुरुणा-माज्ञाऽविचारणीया ॥ ४६ ॥

जिसप्रकार परशुरामने माताको शत्रुके समान मारनेके लिये पिता की आज्ञाको झुनकर स्वीकार किया था अर्थात् तदनुसार माताको मारा भी था, उसी प्रकार लक्ष्मणने बड़े भाई ( राम ) की आज्ञा की स्वीकार किया क्योंकि बड़ोंकी आज्ञा विचारणीय नहीं होती ( अर्थात् गुरुजन की यह आज्ञा उचित है या अनुचित ऐसा विचार करना ठीक नहीं ) ॥ ४६ ॥

अयानुत्सृज्यमयणप्रतीतामत्रस्तुमिर्मुक्तपुर मुरक्तौ ।

रथ सुमन्त्रप्रतिपन्नररिमसारोप्य वैदेहसुतां प्रतस्थे ॥ ४७ ॥

अयेति । अयासी कथमणः । अनुत्सृज्यमणेन प्रतीतामिहात्मनोऽपि दुष्टां वैदेहसु-  
तामत्रस्तुमिरभीष्टमिर्मांमिजीबह्वनयोः । 'अधिपुषिधविधियैः क्लृप्ता' इति बहुवच-  
नः । दुष्टैर्मुक्तपुरं सुवन्धेन प्रतिपन्नररिम पृथीतमग्रहं रथमारोप्य प्रतस्थे ॥ ४७ ॥

रघुरामके प्रत्यक्षे नर पौराणिक वार्ता रहस्ये ( ११/१५ ) किन्तु वा सुन्दरे है ।

रघुके नर ( वै कथमण ) अनुत्सृज्य वात ( उपोषणमें जाया ) सुमन्त्रे प्रत्यक्ष अन्ध-  
जन्मिनीके निरर ( किन्तु मनीषा क्लृप्ता वा बालवर अष्टिकी देवदत्त वहाँ मनुष्ये वा क्लृप्ते  
वाके ) वीर्येते दुष्ट रूप और सुवन्धे वाके वाते हुए रथपर चढ़कर ( उपोषणमें )  
बस पड़े ॥ ४७ ॥

सा नीयमाना रुचिरान्ववेशाम्बिषङ्गो मे प्रिय इत्यनन्वत् ।

नानुत्सृज्य कल्पद्रुमतां विहाय वारं तमात्मन्यसिपन्नहृत्सम् ॥ ४८ ॥

सेति । सा सीता रुचिरान्वेशोद्गम्यवैद्याधीनमाया आप्यमाया सती मे मम  
प्रिया प्रियं करोतीति प्रियहृत् । सिपन्नरीत्यनन्वत् । 'वैमप्रियमयेक्य' इति कथना-  
त्कथ्यत्वम् । तं प्रियमात्मनि विषये कल्पद्रुमतां मुरहृत्तां विहायसिपन्नहृत् वारं  
वाह्यं वायासीत् । इत्येतत्सु । असिपन्नः कल्पाकारहृत् कोऽन्यस्यै वृद्धविशेषः ।  
'असिपन्नो मनेत्येवाकरो न नरकान्तरे' इति विद्या । आसन्नप्राप्तुम् इति  
आवा ॥ ४८ ॥

मनीषा रथान्तरे किन्ता जाती हुई सीता मेरे प्रिय ( राम ) प्रिय करनेवाके हैं । ऐसा  
( समझते हुई ) प्रत्यक्ष हुई ( किन्तु ) करने विषयमें कल्पद्रुमके मतको छोड़कर अतिरथ  
वन ( किन्तु वनके वीर्य और दुष्टाधिक्य पते तकवारके समान हैं ऐसे दुष्टवादी समन वन )  
के दुष्ट ( अत्यन्त दुष्टवादी ) गये हुए वनकी वहाँ चलाया ॥ ४८ ॥

कुण्डलं वस्त्रां पयि क्षामणो अत्सन्मेतरेण स्फुरता तव रणा ।

आकम्पयतमस्यै गुरु मायि कुलमस्यस्तुप्रप्रियदर्शनेन ॥ ४९ ॥

कुण्डलेति । पयि कथमणो नर कुण्डलं वस्त्रम् सीतायाः कुण्डलं मणिसंज्ञकवस्त्रम्  
मायि मणिष्यद् कुलमस्यस्तुप्रप्रियदर्शनेन पयि तेन स्फुरता अन्तेतरेण दक्षिणेवा-  
चनात्स्यै सीतायै आकम्पयत् । सीतां दक्षिणादिस्फुरत्तुं बुद्धिमित्तमाहुः ॥ ४९ ॥

अत्यन्तके फल वाक्यो रसिकों प्रियावा वत भावी महात् दुष्टकी प्रिय ( रामके )  
दर्शनसे सर्वदाके किन्ते वस्त्र रत्नवादी कथनी हुई दर्शनी जाँचके सीताके वनवा रिया  
( दर्शनी जाँच के कथनसे सीताको भावी प्रिय-निरादकी आकम्पना होने लगी ) ॥ ४९ ॥

सा दुर्निमित्तोपगताद्विपादात्सद्यः परिम्लानमुखारविन्दा ।

राज्ञः शिव सावरजस्य भूयादित्याशशसे करणैरबाह्यैः ॥ ५० ॥

सेति । सा सीता दुर्निमित्तेन दक्षिणाक्षिस्फुरणरूपेणोपगतात् प्राप्ताद्विपादाद् दुःखात्सद्यः परिम्लानमुखारविन्दा छान्तमुखकमला सती सावरजस्य सानुजस्य राज्ञो रामस्य शिव भूयादित्यबाह्यैः करणैरन्तःकरणैराशशसे । शसतेरपेक्षायामात्मनेपदमिष्यते । करणैरिति बहुवचन क्रियावृत्त्यभिप्रायम् । पुनः पुनराशशसे-त्यर्थः ॥ ५० ॥

अशकुनके कारण उत्पन्न विपादसे तत्काल मलिन मुखकमलवाली बहू ( सीता ) 'छोटे भाई' के सहित राजा ( रामचन्द्र ) का कल्याण हो' ऐसा अन्तःकरणसे कहने ( मनाने ) लगी ॥ ५० ॥

गुरोर्नियोगाद्वनितां वनान्ते सार्ध्वीं सुमित्रातनयो विहास्यन् ।

अवार्यतेवोत्थितवीचिहस्तैर्जह्नुर्दुहित्रा स्थितया पुरस्तात् ॥ ५१ ॥

गुरोरिति । गुरोर्ज्येष्ठस्य नियोगात्सार्ध्वीं वनिताम्, अत्याज्यामित्यर्थः । वनान्ते विहास्यस्यच्यन्सुमित्रातनयो लक्ष्मणः पुरस्तादग्रे स्थितया जह्नुर्दुहित्रा जाह्नव्योत्थितैर्वीचिहस्तैरवार्यतेव । अकार्यं मा कुर्वित्यवार्यतेव । ह्युत्प्रेक्षा ॥ ५१ ॥

बड़े भाई ( राम ) की आज्ञासे पतिव्रता स्त्री ( सीता ) को भविष्यमें छोड़ते हुए सुमित्राकुमार ( लक्ष्मण ) को मानो आगे स्थित गङ्गाजीके ऊपर उठते हुए तरङ्गरूपी हार्थोंने मना किया ॥ ५१ ॥

रथात्स यन्त्रा निगृहीतवाहात्ता भ्रातृजाया पुलिनेऽवतार्य ।

गङ्गा निषादाहतनौविशेषस्ततार सन्धामिव सत्यसन्धः ॥ ५२ ॥

रथादिति । सत्यसन्धः सत्यप्रतिज्ञः स लक्ष्मणो यन्त्रा सारथिना निगृहीतवाहाद्बुद्धाश्वाद्वाद् भ्रातृजाया पुलिनेऽवतार्यारोप्य निषादेन किरातेनाहतनौविशेषः आनीतद्वठनौकः सन् । गङ्गां मागीरर्थी सन्धां प्रतिज्ञामिव ततार । 'सन्धा प्रतिज्ञा मर्यादा' इत्यमरः ॥ ५२ ॥

सत्य प्रतिज्ञावाले वे ( लक्ष्मण ) सारथि ( सुमन्त्र ) से रोके गये घोड़ोंवाले रथसे उस भाभी ( सीताजी ) को किनारेपर बतारकर निषादके द्वारा लायी हुई नावसे गङ्गाको प्रतिज्ञा के समान पार किये ॥ ५२ ॥

अथ व्यवस्थापितवाक्कथञ्चित्सौमित्रिरन्तर्गतवाष्पकण्ठः ।

औत्पातिक मेघ इवाश्मवर्षं महीपते शासनमुज्जगार ॥ ५३ ॥



अथेति । अथ कथञ्चिद्व्यपवस्थापिता प्रकृतिमापायिता वाक्येन सा अन्तर्गतवाक्य  
कथ्यते इत्यत्र सः कथ्यस्तस्मिन्मातुरित्यर्थः । सौमित्रिर्महोपदेः आसन्नम् । मेव उपदे  
अवमीत्यादिभिरनर्थक्यं शिवाकर्षणमिव उच्यते इति चेन्न । वाक्यस्तेनावाक्यत्वाद्  
अवधारितेति चेन्न ॥ ५३ ॥

इत्येव वाक् किं प्रकाशं अर्थात् वक्ष्ये कथिनायति अथैव वचनको प्रकृतित्वात् ( अथैव  
किं इह होकर ) वाक्येति पदप्रकृत्याऽपि अर्थः अर्थात् महोपाधौ शीघ्रोक्तौ वक्ष्यते मेव  
समयः रात्र्यन्ते आह्वाने वाक् किं अर्थात् कदा ॥ ५३ ॥

ततोऽभिपद्यन्निशयिप्रविद्धा प्रध्वंसमानामरणप्रसूना ।

स्वमूर्तिसामप्रकृतिं परित्री कृतेव सीता सहसा जगाम ॥ ५४ ॥

तत इति । ततः अभिपद्यन् अन्तर्परित्यागक्या पराजयाः । 'अभिपद्यन् पराजये'  
इत्यमरः । स पृथग्विस्तृत्यैव निप्रविद्धा अभिपद्यता । प्रध्वंसमानावपि पतन्वामरजा-  
न्येव प्रसूयन्ति यस्याः सा सीता कृतेव । सहसा स्वमूर्तिकामस्त्य स्वशरीरकामस्त्य  
स्वोत्पत्तेः प्रकृतिं कारणं परित्री जगाम, भूसी पराजयेत्यर्थः । सीतामापदि मर्त्यैव  
अरन्मिति भावः ॥ ५४ ॥

इत्येव वाक् तिरस्कार कर्मा जायते अभिपद्य तदा तिरस्ते इति । पुनश्च सीता भूषणोपाधौ  
कथ्यते समयः नह अपरैः शरीरको उत्पत्तिश्च कारणभूत इत्येवोक्तौ प्राप्तं इति अर्थात् तत्र इवाके  
कथ्येति तिरस्ते इति भूषणोपाधौ कथा किं प्रकार इत्यो पर वक्ष्यते इति प्रकाशं विस्तृतं  
अभिपद्य परं तिरस्ते इति भूषणोपाधौ सीता अपरौ उत्पत्तिके कारण इत्योपरि तिर वक्ष्यते ॥ ५४ ॥

वीराभिरुवाच—अनाद्युष्टिरेवमेव कर्तव्यं कथं वक्ष्यते कथात्तर अथवा पदमेव महर्षिर्वाक्यो  
आवाते निप्रविष्टावरेव अथवा कथं त्वं वक्ष्यते, कथं समय इत्येव अथवापि सीता  
इत्येव इति, इत्येव वचनो माता तथा पावन-वीर्य करमेति अथवापि विना इति ।

इत्युवाचुर्विश्रमणं कथं त्वां त्यजेत्कस्मात्पतिराययुत ।

इति क्षिति संशयितेय तस्यै वृत्तिं प्रवेष्टा जननी न तावत् ॥ ५५ ॥

इत्युवाचिति । इत्युवाचुर्विश्रमणं, महाकुलप्रसूतिरित्यर्थः । आर्षभुता सापुत्ररिता  
पतिर्मर्ता त्वम्भक्तमाहकारजलकथं त्यजेत् अस्माभिरित्यित्यर्थः । इति संशयितेय  
सन्निहायेव तावत् त्वामहेतुशान्तायतिः प्रागित्यर्थः । जननी क्षितिस्तरयै सीतायै  
प्रवेष्टाय आत्मनीति शेषः । न वृत्ति ॥ ५५ ॥

इत्युवाचुर्विश्रमणे अथवा वरं कथापारो वति ( राम ) इत्युवाचो एकारक कथो वीर्य रते  
इति इति प्रकारः कथं इति माता इत्येव वत् सीतायै किं ( अथवेने ) प्रवेष्ट  
( त्वाम ) कथं विना ॥ ५५ ॥

सा लुप्तसंज्ञा न विवेद दुःख प्रत्यागतासुः समतप्यतान्तः ।

तस्या. सुमित्राऽऽत्मजयत्नलब्धो मोहादभूत्कष्टतरः प्रबोधः ॥५६॥

सेति । लुप्तसंज्ञा नष्टचेतना मूर्च्छिता सा दुःख न विवेद । प्रत्यागतासुर्लब्धसंज्ञा सत्यन्त समतप्यत, दुःखेनादृश्यतेत्यर्थः । तपेः कर्मणि लङ् । कर्मकर्तरीति केचित् । तच्च । 'तपस्तप कर्मकस्यैव' इति यद्वनियमात् । तस्याः सीतायाः सुमित्राऽऽत्मजयत्नलब्धः प्रबोधो मोहात्कष्टतरोऽति दुःखदोऽभूत् । दुःखवेदनासम्भवादिति भावः ॥ ५६ ॥

वह ( सीता ) मूर्च्छित होकर दुःखकी नहीं जाना ( और ) दोशमें आकर अन्त करणमें सन्तप्त होने लगी । सुमित्रा-तनय ( लक्ष्मण ) के बहुत प्रयत्नों ( शीतल जल-सिञ्चन आदि ) से प्राप्त उस ( सीता ) का ज्ञान ( दोशमें आना ) मूर्च्छासे अधिक कष्टकारक हुआ ॥ ५६॥

न चावदद्भर्तुरवर्णमार्या निराकरिणोर्वृजिनाहतेऽपि ।

आत्मानमेव स्थिरदुःखभाज पुनः पुनर्दुष्कृतिर्न निनिन्द ॥ ५७ ॥

नेति । आर्या साध्वी सा सीता वृजिनाहत एनसो विनाऽपि । 'कलुष वृजिनै-  
नोऽघम्' इत्यमरः । 'अन्यारादितरर्तेदिक्शब्दाश्चूत्तरपदाजाहियुक्ते' इत्यनेन पञ्चमी ।  
निराकरिणोर्निरासकस्य । 'अलकृज्जिनाकृज' इत्यनेनेणुचप्रत्ययः । भर्तुरवर्णमप  
चाद न चावदन्नैवावादीत् । किन्तु स्थिरदुःखभाजमत एव दुष्कृतिर्नमात्मान पुनः  
पुनर्निनिन्द ॥ ५७ ॥

साध्वी (सीता) ने बिना अपराधके त्याग करनेवाले पति (राम) को निन्दित वचन नहीं  
कहा, किन्तु स्थिर दुःखको भोगनेवाली, अपनी पापी आत्माकी ही वार २ निन्दा की ॥५७॥

आश्वास्य रामावरजः सतीं तामाख्यातवाल्मीकिनिकेतमार्गः ।

निध्नस्य मे भर्तुर्निदेशरौच्यं देवि क्षमस्वेति बभूव नम्र ॥ ५८ ॥

आश्वास्येति । रामावरजो लक्ष्मण सतीं साध्वीं तामाश्वास्य आख्यात उपदिष्टो  
वाल्मीकीर्निकेतस्याश्रमस्य मार्गो येन स तथोक्तः सन् । निध्नस्य पराधीनस्य । 'अ-  
धीनो निध्न आयत्त' इत्यमरः । मे भर्तुर्निदेशेन स्वाग्यनुज्ञया हेतुना यद्वैष्य पारु-  
ष्य तद्दे देवि ! क्षमस्व इति नम्र प्रणतो बभूव ॥ ५८ ॥

रामके छोटे भाई ( लक्ष्मण ) साध्वी सीताको आश्वासन ( दाढस ) देकर वाल्मीकि  
आश्रमका रास्ता बतलाकर 'हे देवि ! पराधीन मेरे, स्वामीकी आज्ञाकी रूक्षता (रूखापन)  
को क्षमा करो' यह कहकर प्रणाम किये ॥ ५८ ॥

सीता तमुत्थाप्य जगाद् वाक्यं प्रीताऽस्मि ते सौम्य चिराय जीव ।

विडौजसा विष्णुरिवाग्रजेन भ्रात्रा यदित्य परवानसि त्वम् ॥ ५९ ॥

सीतेति । सीता तं कथमप्यमुखाप्य वाक्यं कणात् । किमिति । हे सीम्न साधो !  
ते सीतामसि मित्वापि चिरं जीव । बधत्मात् । विद्वीजसेन्नेन विष्णुस्येन्द्र इव बभूव  
केव ज्यैष्ठ्येन ज्ञात्वा त्वमित्यं परबान्धवतन्त्रोऽस्ति ॥ ५९ ॥

बभूवो बढाकर सीता बोली—हे सीम्न ! तुम चिरंजीवी होओ । मैं तुमपर प्रलय हो  
गो तुम बड़े भारीसे इन्द्रसे विष्णुके समान इस प्रकार पराधीन हो ॥ ५९ ॥

अभूजनं सूर्यमनुक्रमेण विज्ञापय प्रपितमत्प्रणामम् ।

प्रजानियेकं मयि वर्तमानं सुनोरनुष्णाप्यत चेतसेति ॥ ६० ॥

इवभूजवमिति । सर्वं इवभूजवमनुक्रमेण प्रपितमत्प्रणामम् सन् मत्प्रणाममुत्तरे  
त्वर्य । विज्ञापय । किमिति । निविध्यत इति निषेधः । मयि वर्तमानं सुनोस्त-  
त्पुत्रस्य प्रजाविषेकं यमं चेतसाऽनुष्णाप्यत विजयस्त्विति चिन्तयतेति ॥ ६० ॥

जवा बीज सव लक्ष्मणसे घेरा मणम कह कर कइवा कि—‘सुनो’ त्वर-  
(रामचन्द्रजी) के सुनानबीज कर्वाव बर्नको आपकीय इरवसे त्वरव रक्षना कर्वाव लक्ष्मण  
महाक कामना करवा ॥ ६० ॥

वाच्यस्त्वया महाचनात्स राजा बहौ विद्वज्जामपि परसमसम् ।

मां लोकवादभवजावहासी मुतस्य किं तत्सदृशं कुतस्य ॥ ६१ ॥

वाच्य इति । स राजा त्वया महाचनात्मवृत्तवमिति कृत्वा । इत्यन्वये वदन्ती ।  
वाच्यो वक्तव्यः । किमित्यत आह—‘बहौ’ इत्यादिभिः सप्तभिः शब्दोक्तैः । अच्यो समी-  
पे समक्षम् । विमत्स्यर्थेऽप्यधीमावाः सामीप्यार्थे वा । अच्यधीमावे वक्तव्यवृत्ति  
स्यात् इति समासान्तवृत्त्यात्पत्तः । समक्षमग्रे बहौ विद्वज्जामपि मां लोकवादस्य मि-  
थ्यामवात्स्य अवनाम्नेतोहवासीरत्वाकीरिति वक्तव्यवृत्तस्य प्रस्तास्य कुतस्य सत्यं  
किम् ? किन्त्वसदसमित्यर्थः । बहौ सुतराव भवजस्य चेति बोधवा । कर्मचार्यसीति  
वात्वा ॥ ६१ ॥

द्वेरे कहवैसे वस रत्ना ( रामचन्द्रजी ) की तुम कइवा कि—प्रत्यक्षमें अग्निमें कुत  
यो सुनको लोक-विवादके सुनवैसे को तुमने बीज दिया है वह लोकविवाद सुनारे  
कुतसे बीज है ? ॥ ६१ ॥

कस्याप्ययुद्धेरथवा तवायं न कामचारो मयि शङ्कनीयः ।

ममैव क्षमास्तस्मात्तवातकानां विपाकविस्फूर्जोत्प्लवप्रसङ्गः ॥ ६२ ॥

कस्याप्येति । अथवा कस्याप्ययुद्धेः सुविचरतव कर्तुः अपि विषयेऽयं त्वायो न  
क्षमजत इत्युक्ता कर्तव्यं न शङ्कनीयः । कामचारकृत्यापि न विषय इत्यर्थः । किन्तु  
ममैव क्षमास्तस्मात्तवातकानामसद्व्ये विषयत इति विपाकः कर्तुं स एव विस्फूर्जोत्प्लव  
वाचिर्बोधः । स्फूर्जोत्प्लवनिर्घोषः इत्यमरः ॥ ६२ ॥

अथवा इसे श्रेष्ठ बुद्धिवाले तुम्हारी मनमानों करनेकी आज्ञा मुझे नहीं करनी चाहिये, (किन्तु) मेरे दूसरे जन्मोंके पापोंका असह्य परिणाम रूप वज्रपात (या विजलीकी कड़क) है ॥

उपस्थितां पूर्वमपास्य लक्ष्मीं वन मया सार्धमसि प्रपन्नः ।

तदास्पदं प्राप्य तयातिरोषात्सोढाऽस्मि न त्वद्भवने वसन्ती ॥ ६३ ॥

उपस्थितामिति । पूर्वमुपस्थितां प्राप्ता लक्ष्मीमपास्य मया सार्धं वन प्रपन्नोऽसि । प्राप्तोऽसि । तत्तस्मात्तया लक्ष्म्याऽतिरोषात्त्वद्भवनं आस्पदं प्रतिष्ठाम् । 'आस्पदं प्रतिष्ठायाम्' इति निपातः । प्राप्य वसन्त्यहं सोढा नास्मि ॥ ६३ ॥

पहले प्राप्त हुई राजलक्ष्मीको छोड़कर मेरे साथ वनको गये थे, इस कारण तुम्हारे यहां आदर पाकर रहती हुई मुझे उस राजलक्ष्मीने सहन नहीं किया ॥ ६३ ॥

निशाचरोपप्लुतभर्तृकाणां तपस्विनीनां भवतः प्रसादात् ।

भूत्वा शरण्या शरणार्थमन्य कथं प्रपत्स्ये त्वयि दीप्यमाने ॥ ६४ ॥

निशाचरेति । निशाचरैरुपप्लुता. पीडिता भर्तारो यासां ता निशाचरोपप्लुता-भर्तृकाः । 'नद्यतश्च' इति कप्रत्ययः । तासां तपस्विनीनां भवतः प्रसादादनुग्रहाच्च शरण्या शरणसमर्था भूत्वा । अद्य त्वयि दीप्यमाने प्रकाशमाने सत्येव शरणार्थमन्य तपस्विनः कथं प्रपत्स्ये प्राप्स्यामि ॥ ६४ ॥

राक्षसोंसे पीडित पतियों वाली तपस्विनियोंके शरण्य (शरणगतमें सद्ब्यवहार करने-वाली) होकर आपके समर्थ रहते हुए दूसरेकी शरणपानेके लिये कैसे जाऊँ ? ॥ ६४ ॥

किं वा तवात्यन्तवियोगमोघे कुर्यामुपेक्षा हृतजीवितेऽस्मिन् ।

स्याद्रक्षणीय यदि मे न तेजस्त्वदीयमन्तर्गतमन्तरायः ॥ ६५ ॥

किं वेति । किं वाऽथवा तव सम्बन्धिनाऽत्यन्तेन पुनः प्राप्तिरहितेन वियोगेन मोघे निष्फलेऽस्मिन् हृतजीविते तुच्छजीविते उपेक्षां कुर्यां कुर्यामेव । रक्षणीय रक्षणा-ईमन्तर्गतं कुक्षिस्थं त्वदीय तेजः शुक्र गर्भरूपम् । 'शुक्र तेजोरेतसो च बीजवीर्येन्द्रियाणि च' इत्यमरः । मे ममान्तरायो विघ्नो न स्याद्यदि ॥ ६५ ॥

अथवा यदि रक्षा करने योग्य मुझमें स्थित तुम्हारा तेज (गर्भ) यदि बाधक नहीं होता तो तुम्हारे नित्य विरहके कारण निष्फल इस अभागो जीवनकी भी मैं उपेक्षा कर देती अर्थात् मर जाती ॥ ६५ ॥

साऽहं तपः सूर्यनिविष्टदृष्टिरूर्ध्वं प्रसूतेऽश्नितुं यतिष्ये ।

भूयो यथा मे जननान्तरेऽपि त्वमेव भर्ता न च विप्रयोगः ॥ ६६ ॥

सेति । साऽहं प्रसूतेरूर्ध्वं सूर्यनिविष्टदृष्टिः सती तथाविधं तपश्चरितुं यतिष्ये,

वया भूवरतेन तपसा ये मम जननान्तरैरपि त्वमेव भर्तास्वा विप्रयोगश्च न स्यात् ॥  
 ११ मैं समानके नाद खूबको ओर देखती हुई 'सा तप करकेके किये प्रबल करने  
 जिससे जननान्तरमें भी मेरे वरिष्ठ होंगी होंगी ओर ( मेरा तुमसे ) विशेष न हो ॥ ११ ॥

मृपस्य धर्माधिमपाक्षनं यत्स एष धर्मो भुना प्रणीतः ।

निर्घासिताऽप्येवमतस्मयाऽहं तपस्विसामान्यमपेक्षणीया ॥ १२ ॥

मृपस्यति । कर्माणां माझजादीबामाधमाला प्रकाशबादीनां च वाक्यं यत्स एष  
 मृपस्य धर्मो भुना प्रणीतः अतः कर्माणां च त्वया निर्घासिता निष्कासिताऽ-  
 प्यहं तपस्विनि सामान्यं साधारणं वया मयति तवापेक्षणीया । कठजट्टवजायेरि  
 कर्माधमदीति सीतायां कर्तव्येत्वर्यः ॥ १२ ॥

मनुष्ये कर्माधमदी रहा करना राखल्य धर्म क्या है इस कारण वादर निष्काशे हुई  
 भी मयको तुम सामान्य तपस्विनी के समान देखना ( मुझको पायी न समझते हुए एक  
 तपस्विनी समझ कर कर्माधम-वाक्यके नाते मेरी भी वत्स तपस्विनीकोके समान रहा  
 करना ) ॥ १२ ॥

तथेति तस्या प्रतिगृह्य वाचं रामानुजे दृष्टिपथं व्यतीते ।

सा मुच्छकण्ठं व्यसनातिमाराधयन् विद्या कुरतीव भूयः ॥ १३ ॥

तथेतीति । तथेति तस्याः सीताया वाचं प्रतिगृह्याद्विदुषः रामानुजे कथमपि  
 दृष्टिपथं व्यतीतेऽस्तिश्रुत्येति सति सा सीता व्यसनातिमाराधु बुद्ध्यातिरेकमुच्छकण्ठं  
 वया स्वाध्याया समुत्पन्नेत्वर्यः । विद्या भीता कुरतीवोच्छेदीव । 'उच्छेदकुरती सती'  
 इत्यमरः । सुवा भूविहं कण्ठम् बुद्धेः ॥ १३ ॥

'जन्मा वैसा करने' इस प्रकार उस ( सीता ) के वचनको लीकार कर जन्मको  
 छेदिते लोहक हो जाने पर जलजल कण्ठके कारण करी हुई बुद्धीके समान फिर कण्ठ को  
 कर ( बुद्ध्या काककर ) रीति करी ॥ १३ ॥

मूर्त्यं मयूरां कुसुमानि वृक्षान् वर्माभुपाद्यान्विजहूर्धिरियः ।

तस्या प्रपन्ने समस्तु सभाषमत्यन्तमासीदुर्वि वनेऽपि ॥ १४ ॥

कृतमिति । मयूरा मूर्त्यं विहङ्गुल्लभयन्ताः । वृक्षाः कुसुमानि । इरिज्य भपाणा  
 मूर्त्यं इत्थं तस्याः सीतायाः समस्तुसभाषं प्रपन्ने तुल्यवृक्षार्थं माते वनेऽप्यत्यन्तं  
 कवितमासीत् । वया रामगेहैऽपीत्यपिवाच्यार्थः ॥ १४ ॥

मयूरीने नाचना वृक्षीने पुष्प ओर वरिष्ठोने प्राप्त हुई वृक्षान्को ओर विना, जलके  
 समान तुल्यकी राखे हुए कममें भी ( 'अपि' शब्दसे अभीष्टाके राखवचनमें भी ) जलपिक  
 रीति होके क्या ॥ १४ ॥

तामभ्यगच्छद्रुदितानुसारी कविः कुशोष्माहरणाय यातः ।

निषादविद्धाण्डजदर्शनोत्थः श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः ॥ ७० ॥

तामिति । कुशोष्माहरणाय याति । कविर्वाल्मीकी कुदितानुसारी सस्तां सीता-  
मभ्यगच्छत् । अभिगमन च दयालुस्येत्याह—निषादेति । निषादेन व्याधेन विद्ध-  
स्याण्डजस्य क्रौञ्चस्य दर्शनोत्थ उत्पन्नो यस्य शोकः श्लोकत्वमापद्यत, श्लोकरूपे-  
णावोचदित्यर्थः । स च श्लोकः पठ्यते—‘मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः  
समा । यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधी । काममोहितम् ॥’ इति । तिरश्चामपि दुःख न सेहे  
किमुतान्येषामिति भावः ॥ ७० ॥

कुशा तथा हवन-समिधा लानेके लिये ( आश्रमसे ) चले हुए कवि वाल्मीकी रीनेके  
शब्दके अनुसार आकर उसे ( सीताको ) प्राप्त किया, जिसका निषाद ( व्याधा ) के द्वारा  
मारे गये पक्षी ( क्रौञ्च पक्षी ) के देखनेसे उत्पन्न शोक श्लोक रूपमें परिणत हो गया  
( श्लोक बन गया ) ॥ ७० ॥

पौराणिक वार्ता—एक समय वाल्मीकी मुनि मध्याह्न स्नान करनेके लिये आश्रमके  
पासमें वहती हुई तमसा नदीको जा रहे थे, उसी समय एक व्याधा मैथुन करते हुए क्रौञ्च-  
मिथुनमेंसे एक नर पक्षी पर बाण चलाया, उसे मारते हुए देखकर दयार्द्र-हृदय महर्षिके  
मुखसे वेदसे भिन्न एक नया ही लौकिक छन्दमें एकाएक यह श्लोक निकल पड़ा—

‘मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगम शाश्वती समा । यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधी काममोहितम् ।’

अर्थात् ‘हे व्याध ! जो तुमने मैथुन करते हुए क्रौञ्च पक्षीकी जोड़ीमें-से काम-मोहित  
एक ( नर-पुरुष पक्षी ) को मारा, अतः तुम बहुत वर्षों तक प्रतिष्ठा ( सुख ) को मत  
प्राप्त कर ।’

इसके बाद ब्रह्माने प्रकट होकर रामचरित वर्णन करनेके लिये आदेश देते हुए उनको  
अप्रतिहत ज्ञान दिया और महर्षि वाल्मीकिने ‘रामायण’ की रचनाकी, इसी कारणसे  
‘वाल्मीकीय रामायण’ आदिकान्य तथा वाल्मीकी मुनि आदि कवि कहलाये ।

तमश्रु नेत्रावरणं प्रमृज्य सीता विलापाद्विरता ववन्दे ।

तस्यै मुनिर्दोहदल्लिङ्गदर्शी दाश्वान्सुपुत्राशिपमित्युवाच ॥ ७१ ॥

तमिति । सीता विलापाद्विरता सती नेत्रावरण दृष्टिप्रतिबन्धकमश्रु प्रमृज्य तं  
मुनिं ववन्दे । दोहदल्लिङ्गदर्शी गर्भचिह्नदर्शी मुनिस्तस्यै सीतायै सुपुत्राशिप तत्प्राप्ति-  
हेतुभूतां दाश्वान्दत्तवानिति वक्ष्यमाणप्रकारेणोवाच । ‘दाश्वान्ताद्वान्मीदृश्व’  
इति फ्रस्वन्तो निपातः ॥ ७१ ॥

विलाप करना बन्दकर सीताने नेत्रके आवरण ( देखनेमें बाधक ) आँसुको पोंछ कर



अन्तरास्तीर्णं मेघ्य शुद्धमजिनमेव तत्प शय्या यस्मिंस्तमुटज पर्णशालां विते-  
रुर्द्धुः ॥ ८१ ॥

उन तपस्विनियोंने उस सीताके लिये, पूजनके वाद सायंकालमें निवास करने ( सोने )  
के लिये शकुदी-तैलके जलते हुए दीपक वाली, भीतरमें पवित्र बिछाये गये मृगचर्मकी  
शय्यावाली पर्णशालाको दिया ॥ ८१ ॥

तत्राभिषेकप्रयता वसन्ती प्रयुक्तपूजा विधिनाऽतिथिभ्यः ।

वन्येन सा वल्कलिनी शरीर पत्यु प्रजासन्ततये वभार ॥ ८२ ॥

तत्रेति । तत्राश्रमेऽभिषेकेण स्नानेन प्रयता नियता वसन्ती विधिना शास्त्रेणाति-  
थिभ्यः प्रयुक्तपूजा कृतसत्कारा वल्कलिनी सा सीता पत्यु प्रजासन्ततये सन्ताना-  
विच्छेदाय हेतोः । वन्येन कन्दमूलादिना शरीर वभार पुषोष ॥ ८२ ॥

वहाँ ( आश्रममें ) अभिषेक अर्थात् स्नानमें नियत, शास्त्रोक्त विधिते अतिथि-सत्कार  
करनेवाली वल्कल धारण करती हुई वह सीता पति ( रामचन्द्र ) की सन्तान के विच्छेद  
( वीचमें नष्ट ) नहीं होनेके लिये वनोत्पन्न कन्द-मूल-फल आदिसे शरीर-पालन किया ॥

अपि प्रभु सानुशयोऽधुना स्यात्किमुत्सुकः शक्रजितोऽपि हन्ता ।

शशस सीतापरिदेवनान्तमनुष्ठित शासनमग्रजाय ॥ ८३ ॥

अपीति । प्रभू राजाऽधुनाऽपि सानुशय सानुताप स्यात्किम् । इति काकुः ।  
उत्सुकः शक्रजित इन्द्रजितो हन्ता लक्ष्मणोऽपि सीतापरिदेवनान्त सीताविलापान्त-  
मनुष्ठित शासनमग्रजाय शशस कथयामास ॥ ८३ ॥

‘राजा ( रामचन्द्रजी ) अब भी ( सीताके करुण सन्देशको सुनकर भी ) दयालु होंगे  
क्या ?’ इस प्रकार ( विचार करते हुए ) उत्कण्ठित, इन्द्रजित ( मेघनाद ) के भी मारनेवाले  
( लक्ष्मण ) सीता के विलापतक किये गये अनुशासन अर्थात् सीताके सन्देशको बड़े भाई  
( राम ) से कहा ॥ ८३ ॥

बभूव राम सहसा सबाष्पस्तुषारवर्षीव सहस्यचन्द्रः ।

कौलीनभीतेन गृहाक्षिरस्ता न तेन वैदेहसुता मनस्तः ॥ ८४ ॥

बभूवेति । सहसा सपदि सबाष्पो रामः । तुषारवर्षी सहस्यचन्द्रः पौपेन्दुरिव  
बभूव । अत्यश्रुतया तुषारवर्षिणा पौषचन्द्रेण तुल्योऽभूत् । ‘पौपे तैषसहस्यौ द्वौ’  
इत्यमरः । युक्त चैतद्वित्याह-कौलीनाश्लोकापवादात् । ‘स्यात्कौलीन लोकवादे’ इत्य  
मरः । भीतेन तेन रामेण वैदेहसुता सीता गृहाक्षिरस्ता । मनस्तो मनसश्चित्ताह  
निरस्ता । पञ्चम्यास्तसिल् ॥ ८४ ॥



सुविश्वो प्रथमं किञ्च । गर्वके विन्वको देवते इव मुनि ( वारमीति धनि ) मे पुत्रवत्प्रे  
होनेन्य भाव्योर्वा देवत येषां नृणां ॥ ७१ ॥

जाने विस्मृष्टा प्रणिधानतस्त्वां मिथ्याऽपवाहसुभितेन भर्ता ।

तन्मा व्यविष्टः विपयान्तरस्थं माताऽसि वैदेहि पितुर्निकेतम् ॥ ७२ ॥

भाव इति । त्वां मिथ्याऽपवाहेन सुभितेन भर्ता विस्मृष्टां त्वयां प्रणिधानतया  
समाविष्टया जाने । हे वैदेहि ! विपयान्तरस्थं देवान्तरस्थं पितुर्निकेतस्थं निकेतं  
पूर्वं मातामसि । तत्परमात्मा व्यविष्टा या सोमी । व्यवेर्लुङ् । 'न भाव्योर्वा' इत्या-  
द्यामप्रविपेया । भर्तृपेक्षितानां पितृगृहे वास एवोचित इति भावः ॥ ७२ ॥

सूरी लोक-निवासे इत्यत्र पठिते द्वारा सोमी परं पुत्रकी मे ध्यामसे नावदा हूँ ।  
हे जनकदुमारी । इतरे देवते स्थित पिताके ही घर पुत्र पहुँच नई ही जन्मन दुर्लभ  
मत हीकी ॥ ७२ ॥

सत्त्वात्प्रोक्तप्रयक्यत्वेऽपि सत्यप्रतिष्ठेऽप्यविकल्पनेऽपि ।

त्वां प्रत्यक्स्मात्कलुषप्रवृत्तावस्त्येव मम्युभरताममे मे ॥ ७३ ॥

वत्सातेति । सत्त्वात्प्रोक्तप्रयक्यत्वेऽपि । साधनार्थिक्यत्वेऽप्येवमेव सर्वलोकोपका  
रिण्यपीत्यर्था । सत्यप्रतिष्ठे सत्यज्ञानेऽपि अविकल्पनेऽप्येवमेव । अस्माद्विन्वसि इत्येव स्वेह  
पात्रेऽपि त्वां प्रत्यक्स्मात्कलुषप्रवृत्तावस्त्येव मम्युभरताममे मे मम्युभो  
पीत्येवमेव । सर्वानुमात्यादयोऽर्थं शेष इत्यर्थः । सीतामनुवर्तार्योऽर्थं रामोपात्मन्या ॥ ७३ ॥

तीनों कोछोके कर्मकोछो छत्रावे ( रामसीकी पारे ) इव सी ( पिताकी भावापावन  
कर १४ वर्ष वनमें रहनेसे ) सत्य प्रतिष्ठानाके भी और जल्प-प्रवृत्ता नहीं करनेवाके  
मी ( वरुण तीनों पुत्रोंसे हुआ भी ) पुत्रपारे विवर्धने विष्कारन निमित्त वरुण कर देनेवाके  
राम पर मेरा श्रेष्ठ है ही ॥ ७३ ॥

तवोरुक्षीर्षिः शत्रुरा सखा मे सतां भवोच्छेदकरः पिता ते ।

धुरि स्थिता त्वं पतिदेवतामा किं तन्न येनासि ममानुकम्प्या ॥ ७४ ॥

तवेति । उक्षीर्षिस्तत्र शत्रुः वसन्तौ मे सखा । ते पिता जन्मका एतां विभुषी  
भवोच्छेदकरो ज्ञानोपदेक्षादिना संसारदुःखार्थसन्धरी । त्वं पतिदेवतामा वतिवतामा  
धुरि स्थिता । येन विमिश्रेण ममानुकम्प्यानुप्राप्त्य नासि उत्किम्प । न किञ्चि-  
नित्यर्थः ॥ ७४ ॥

नई नवली दुन्दारे शत्रु ( वसन्त ) मे मित्र के । पुत्रपारे पिता जन्मकोछे ( जन्म-  
परीच्छे द्वारा ) संसारदुःख भाग करनेवाके हैं । पतिवतामा भी जन्मनशून्य पुत्र दित कारण  
मेरे वरुण की प्रीति नहीं ही ऐसा कारण है । जन्मद पिता कीर्ष करन नहीं, किन्तु मे  
१. 'ते वसन्त' इति न चर्कः ॥ ७४ ॥

तपस्विसंसर्गविनीतसत्त्वे तपोवने वीतभया वसास्मिन् ।

इतो भविष्यत्यनघप्रसूतेरपत्यसंस्कारमयो विधिस्ते ॥ ७५ ॥

तपस्वीति । तपस्विसंसर्गेण विनीतसत्त्वे शान्तजन्तुकेऽस्मिन्स्तपोवने वीतभया निर्भीका वस । इतोऽस्मिन्वनेऽनघप्रसूतेः सुखप्रसूतेस्तेऽपत्यसंस्कारमयो जातकर्मा-  
दिरूपो विधिरनुष्ठान भविष्यति ॥ ७५ ॥

तपस्वियोंके ससर्गसे विनीत ( हिंसक भावको छोड़े हुए ) जन्तुओं वाले इस वनमें तुम निर्मय होकर रहो । इस वनमें निर्विघ्न प्रसव करनेवाली तेरी सन्तानका संस्कारकर्म होगा ( अथवा निर्विघ्न प्रसव करने वाली तेरी सन्तान का संस्कारकर्म यहां से अर्थात् मेरी तरफ से होगा ) ॥ ७५ ॥

अशून्यतीरा मुनिसन्निवेशैस्तमोपहन्त्रीं तमसां वगाह्य ।

तत्सैकतोत्सङ्गबलिक्रियाभिः सम्पत्स्यते ते मनसः प्रसादः ॥ ७६ ॥

अशून्येति । सन्निविशन्ते येष्विति सन्निवेशा उटजा । अधिकरणार्थे 'घञ्प्रत्य-  
य' । मुनिना सन्निवेशैरुत्तमैरशून्यतीरां पूर्णतीरां तमसः शोकस्य पापस्य वा हन्त्री-  
म् । 'तमस्तु क्लीबे पापे नरकशोकयोः' इत्यमर । तमसां नदीं वगाह्य तत्र स्नात्वा ।  
बलिक्रियाऽपेक्षया पूर्वकालता । तस्या सैकतोत्सङ्गेषु बलिक्रियाभिरिष्टदेवतापूजावि-  
धिभिस्ते मनसः प्रसादः सम्पत्स्यते भविष्यति ॥ ७६ ॥

मुनियोंकी कुटियाओंसे अशून्य ( परिपूर्ण ) तीरवाली एव शोक या पापका नाश करने वाली तमसा नदीमें गोता लगाकर उसके रेतिले तीरमें ( इष्ट देवताओंकी ) पूजासे तुम्हारा मन प्रसन्न होगा ॥ ७६ ॥

पुष्प फलं चार्तवमाहरन्त्यो बीजं च बालेयमकृष्टरोहि ।

विनोदयिष्यन्ति नवाभिषङ्गामुदारवाचो मुनिकन्यकास्त्वाम् ॥ ७७ ॥

पुष्पमिति । ऋतुरस्य प्राप्त आर्तवम् , स्वकालप्राप्तमित्यर्थः । पुष्प फल च ।  
अकृष्टरोहकृष्टक्षेत्रेत्यम् , अकृष्टपत्न्यमित्यर्थः । बलये हित बालेयं पूजायोग्यम् ।  
'छदिरुपधिबलेर्दञ्' इति छद्प्रत्ययः । बीजं नीवारादि भान्यं चाहरन्त्य उदारवाचः  
अगदभगिरो मुनिकन्यका नवाभिषङ्गा नूतनदुःखा त्वां विनोदयिष्यन्ति ॥ ७७ ॥

ऋतुओंमें पैदा होनेवाले फूल तथा फलकी तथा विना बीजे पैदा होनेवाले पूजायोग्य ( नीवार आदिके ) बीजकी लाती हुई तथा मधुरभाषिणी मुनिकन्यायें नवीन दुःखवाली तुमको प्रसन्न करेंगी ॥ ७७ ॥

पयोघटैराश्रमबालवृक्षान्सवर्धयन्ती स्वबलानुरूप ।

असशय प्राक् तनयोपपत्तेः स्तनन्वयप्रीतिमवाप्स्यसि त्वम् ॥ ७८ ॥



अन्तरास्तीर्णं मेध्य शुद्धमजिनमेव तत्प शय्या यस्मिन्स्तमुटजं पर्णशालां विते-  
रुर्दुः ॥ ८१ ॥

उन तपस्विनियों ने उस सीता के लिये, पूजन के बाद सायंकाल में निवास करने ( सोने )  
के लिये शुद्धी-तैल के जलते हुए दीपक वाली, भीतर में पवित्र बिछाये गये मृगचर्म की  
शय्या वाली पर्णशाला को दिया ॥ ८१ ॥

तत्राभिषेकप्रयता वसन्ती प्रयुक्तपूजा विधिनाऽतिथिभ्यः ।

वन्येन सा वल्कलिनी शरीरं पत्युः प्रजासन्ततये बभार ॥ ८२ ॥

तत्रेति । तत्राश्रमेऽभिषेकेण स्नानेन प्रयता नियता वसन्ती विधिना शास्त्रेणाति-  
थिभ्यः प्रयुक्तपूजा कृतसत्कारा वल्कलिनी सा सीता पत्युः प्रजासन्ततये सन्ताना-  
विच्छेदाय हेतोः । वन्येन कन्दमूलादिना शरीरं बभार पुपोप ॥ ८२ ॥

वह ( आश्रम में ) अभिषेक अर्थात् स्नान में नियत, शास्त्रोक्त विधि से अतिथि-सत्कार  
करने वाली वल्कल धारण करती हुई वह सीता पति ( रामचन्द्र ) की सन्तान के विच्छेद  
( वीच में नष्ट ) नहीं होने के लिये वनोत्पन्न कन्द-मूल-फल आदि से शरीर-पावन किया ॥

अपि प्रभुः सानुशयोऽधुना स्यात्किमुत्सुकः शक्रजितोऽपि हन्ता ।

शशस सीतापरिदेवनान्तमनुष्ठितं शासनमप्रजाय ॥ ८३ ॥

अपीति । प्रभू राजाऽधुनाऽपि सानुशयः सानुतापः स्यात्किम् । इति काकु ।  
उत्सुकः शक्रजित इन्द्रजितो हन्ता लक्ष्मणोऽपि सीतापरिदेवनान्तं सीताविलापान्त-  
नुष्ठितं शासनमप्रजाय शशस कथयामास ॥ ८३ ॥

‘राजा ( रामचन्द्रजी ) अब भी ( सीता के करुण सन्देश को सुनकर भी ) दयालु होंगे  
न्या ?’ इस प्रकार ( विचार करते हुए ) उत्कण्ठित, इन्द्रजित ( मेघनाद ) के भी मारने वाले  
( लक्ष्मण ) सीता के विलाप तक किये गये अनुशासन अर्थात् सीता के सन्देश को बड़े भाई  
( राम ) से कहा ॥ ८३ ॥

बभूव रामः सहसा सबाष्पस्तुषारवर्षीव सहस्यचन्द्रः ।

कौलीनभीतेन गृहान्निरस्ता न तेन वैदेहसुता मनस्तः ॥ ८४ ॥

बभूवेति । सहसा सपदि सबाष्पो राम । तुषारवर्षी सहस्यचन्द्रः पौपेन्द्रुरिव  
बभूव । अत्यश्रुतया तुषारवर्षिणा पौषचन्द्रेण तुल्योऽभूत् । ‘पौपे तैपसहस्यौ द्वौ’  
इत्यमरः । युक्तं चैतद्व्याह-कौलीनाल्लोकापवादात् । ‘स्यात्कौलीनं लोकवादे’ इत्य-  
मरः । भीतेन तेन रामेण वैदेहसुता सीता गृहान्निरस्ता । मनस्तो मनसश्चित्ताक्षः  
निरस्ता । पञ्चम्यास्तसिल् ॥ ८४ ॥

कस्मिन्पश्चात् सीतायां समीपं लङ्कायां पुनरु वरदाने वाके पीवमासके चम्पूमाके स्वयम्  
राम भौषु गिराने क्री गयोकि कोकनित्यादि बरे रूप राममे सीतायां वरसे निम्नमात्र, यस्मै  
यदी निष्ठाया वा (कारणकि सीतायां निष्ठुत्वाके विषयमे रामको पूर्वतया विद्यास वा) ॥८४॥

निष्ठुत्वा शोकं स्वयमेव धीमान्वर्णाभमाभेक्षणमागच्छः ।

स भ्रातृसाधारणभोगमुख्यं राज्यं रञ्जोरिच्छमाना शरणात् ॥ ८५ ॥

विभूतेति । धीमान्वर्णाभमाभमानां वावेद्यमेष्टुसम्भावे जागृक्योऽयमर्थः ।  
‘जागृक्य’ इत्युक्त्यन्वया । रञ्जोरिच्छमाना रञ्जोर्गुरुशून्यचेताः स रामा स्वयमेव  
शोकं निष्ठुत्वा निष्ठुत्वात्सात्विः साधारणभोगस्य शरीरस्थितिमात्रोपबुद्धमित्यर्थः ।  
यत्नं सद्युक्तं राज्यं कृत्वा ॥ ८५ ॥

इतिषाम् रत्नं ( वाद्यन बर्हि चार ॥ ) तथा नामय (प्रबन्धनं वादि चार वाद्यन)  
को रत्नमेव सत्त्वय तथा रत्नस्थितं पुनरु रचितं बर्हि सत्यिक गुणं बुद्ध निष्ठुत्वाके राम  
स्वयं ही कोकनी बर्हिचर माययोसे समान कमये योय द्विषे वावे वाके सद्युक्तिकनी राज्ञ  
सात्त्वक करमे कमे ॥ ८५ ॥

तामेकमार्था परिषादमीरो साध्वीमपि त्यक्तवतो मूपस्य ।

वदस्यसहस्रमुखा वसन्ती रेजे सपत्नीरहितेव अरमी ॥ ८६ ॥

तामिति । परिषादमीरोर्निष्ठाभीरोरत एवेकमार्थमपि साध्वीमपि तां सीतां  
त्यक्तवतो मूपस्य रामचन्द्रस्य वदस्यसहस्रमुखमसम्मान्मुखां वसन्ती कश्मीः सप-  
त्नीरहितेव रेजे विहीने । तस्य सन्त्यन्तरपरिग्रहो वायुविधि माया ॥ ८६ ॥

निष्ठाया वरसे यत् सीतायां सीता का यी त्वाय करमेवाके रामाराधके इदमेव  
कस्मिन्पश्चात् सीतायां निष्ठाया करतो इदं कश्मी सपत्नी-रहितेके समानकोवायमय इदं ।  
( राममे यत् सपत्नीजनकी कारण किना बर्हिच पुनः पुनरा विवाह यदी किना ) ॥ ८६ ॥

सीतां हित्वा ब्रह्मगुप्तरिपुनोपयमे वदन्त्यां

तस्या यत् प्रतिहृतिस्ततो यत्प्रज्ञाजहार ।

वृत्तान्तेन अतप्यपिपयप्रापिणा तेन अर्तु-

सा मुहूर्तं कथमपि परित्यागादुन्मत्तं विप्रेहे ॥ ८७ ॥

सीतामिति । ब्रह्मगुप्तरिपु रामा सीतां हित्वा त्यक्त्वाऽम्बां द्विषं कोकनेमे न परि-  
प्रीतवामिति वत् । ‘उपायम् स्वकरमे’ इत्यात्मनेपदम् । किञ्च । तस्याः सीताया  
यत् प्रतिहृतेः प्रतिज्ञाया हिरण्यमाया सञ्ज्ञा प्रतिहृतिस्ततो सत्प्रज्ञाजहारा इत्यर्थः

निति । 'सखीको धर्ममाचरेत्' इति धर्मशास्त्रात् । यत्नेन श्रवणविषयप्रापिणा श्रोत्र-  
देशगामिना भर्तृधृत्तान्तेन चार्तया हेतुना सा सीता दुर्वार दुर्निरोध परित्यागेन यद्  
दुःखं तत्कथमपि विपेहे विसोढवती ॥ ८७ ॥

इति महामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितया सञ्जीविनीसमाख्यया  
व्याख्यया समेतो महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये  
सीतापरित्यागो नाम चतुर्दश सर्गः ॥ १४ ॥



रावणशत्रु ( राम ) ने सीताका त्यागकर दूसरा विवाह नहीं किया तथा उसीकी मूर्तिके  
साथ अर्थात् स्वर्णमयी सीताकी प्रतिमाको अर्द्धाङ्गिनी बनाकर यज्ञोंको किया । पतिके  
इस वृत्तान्तको सुननेसे असह्य भी त्यागके कष्टको उस ( सीता ) ने किसी प्रकार सहन  
किया ॥ ८७ ॥

यह 'मणिप्रभा, टीकामें 'रघुवंश' महाकाव्यका 'सीतापरित्याग'  
नामक चतुर्दश सर्ग समाप्त हुआ ॥ १४ ॥



आज दो सहस्र सात विक्रमीय वर्षमें । महाशिवरात्रिपर्वके हर्षप्रकर्णमें ॥  
रघुवंशका 'मणिप्रभा' अनुवाद चार सर्ग । राष्ट्रभाषामें किया विवाद-वर्ग ॥ १ ॥  
विश्वनाथ-पादाब्जमें अर्पित यह कृति भूरि । हो जन हर्षप्रेदा सदारामचरितमय भूरि ॥ २ ॥



---

प्राविस्थानम्—

चौखम्बा संस्कृत सीरिज आफिस,  
पो० बाक्स न० ८, बनारस-१

---

# रघुवंशमहाकाव्यम्

## पञ्चदशः सर्गः

आरण्यक-गृहस्थानां श्वशुरौ यद्रजःकणा ।

स्वयमौद्वाहिकगेहस्मै रामाय ते नमः ॥

कृतसीतापरित्यागः स रत्नाकरमेखलाम् ।

बुभुजे पृथिवीपालः पृथिवीमेव केवलाम् ॥ १ ॥

कृतेति । कृतसीतापरित्यागः स पृथिवीपालो रामो रत्नाकर एव मेखला यस्या-  
स्ताम्, साण्वामित्यर्थः । केवलाम् एकामित्यर्थः । पृथिवीमेव बुभुजे भुक्तवान्, न तु  
पार्थिवीमित्यर्थः । साऽपि रत्नखचितमेखला । पृथिव्या कान्तासमाधिर्व्यज्यते ।  
रामस्य स्यन्तरपरिग्रहो नास्तीति श्लोकभिप्रायः ॥ १ ॥

यति-गृहस्थोके श्वशुर जिसके हुये थे धूलि-कण ।

उद्वाह मन्दिर ये स्वयं, उस राम पदको नित नमन ॥

सीताका परित्यागकर वे राजा 'राम' समुद्ररूपी मेखला (करधनी) वाली केवल  
पृथ्वीका भोग करने लगे ॥ १ ॥

लवणेन विलुप्तेज्यास्तामिक्षेण तमभ्ययुः ।

मुनयो यमुनाभाजः शरण्यं शरणार्थिनः ॥ २ ॥

लवणेनेति । लवणेन लवणाख्येन तामिक्षेण तामिक्षाचारिणा, रक्षसेत्यर्थः ।  
विलुप्तेज्या लुप्तयागक्रिया अत एव शरणार्थिनो यमुनाभाजो यमुनातीरवासिनो  
मुनयः शरण्यं शरणाहं रक्षणसमर्थं तं रामं रक्षितारमभ्ययुः प्राप्तौ । यातेर्लङ् ॥ २ ॥

'लवण' नामक निशाचर ने नष्ट भ्रष्ट किये गये बन्ध करनेवाले, यमुना तटवासी शर-  
णार्थी मुनिलोग शरणागतवत्सल रामके पास आए ॥ २ ॥

अवेक्ष्य रामं ते तस्मिन् प्रजहुः स्वतेजसा ।

त्राणाभावे हि शापास्त्रा कुर्वन्ति तपसो व्ययम् ॥ ३ ॥

अवेक्ष्येति । ते मुनयो राममवेक्ष्य । रक्षितारमिति शेषः । तस्मिन्लवणे स्वतेजसा  
शापरूपेण न प्रजहुः । तथा हि, त्रायते इति त्राणं रक्षकम् । कर्तरि क्युट् । तदभावे  
शाप एवास्त्रं येषां ते शापास्त्राः सन्तस्तपसो व्ययं कुर्वन्ति । शापदानात्तपसो व्यय  
इति प्रसिद्धे ॥ ३ ॥

उन मुनियोंने रामको ( अपना रक्षक ) देखकर उस लवणासुर पर प्रहार नहीं किया  
अर्थात् लवणासुरको शाप देकर नष्ट नहीं किया, क्योंकि शाप ही अस्त्र है जिनका, ऐसे  
मुनिलोग रक्षकके न होनेपर तपको व्यय करते हैं । ( क्रोधजन्य शापसे तप क्षीण होता  
है, अतएव मुनिलोग जबतक दूसरे रक्षकके द्वारा कार्यसिद्धि हो सकती है, तबतक, किसी  
अपराधीको शापद्वारा दण्ड नहीं देते हैं ) ॥ ३ ॥



प्रतिशुभाय काकुत्स्थस्तेभ्यो विप्रप्रतिक्रियाम् ।

धर्मसंरक्षणार्थैव प्रवृत्तिर्मुनि शार्ङ्गिणः ॥ ४ ॥

प्रतीति । काकुत्स्थो रामस्तेभ्यो मुनिभ्यो विप्रप्रतिक्रियां कल्पयन्कृपां प्रतिशु-  
भाय प्रतिजज्ञे । 'प्रसादभ्यां शुभा पूर्वत्वकर्ता' इत्यनेन चतुर्थी । तथा हि मुनि शार्ङ्गि-  
विभ्योः प्रवृत्ती रामकृपेणावतरणं धर्मसंरक्षणमेवायौ प्रयोजनं यस्याः सा तत्रैव ॥

काकुत्स्थ ( राम ) ने इन मुनिवास विप्रों प्रतिस्पर्ध करके ( कल्पये मार्ये ) को  
प्रतिशुभा को स्वोक्ति धर्म-रक्षाके लिये ही प्रवृत्तीपर विष्णुका अवतार होता है ॥ ४ ॥

ते रामाय वक्ष्योपायमाद्यन्मुर्विबुधहिषः ।

दुर्जयो कल्पया शूची विशूचः प्रार्थ्यतामिति ॥ ५ ॥

त इति । ते मुनयो रामाय विबुधहिषा सुरारेण्यवस्थं वक्ष्योपायमाद्यन्तु ।  
शुभातीति कल्पया । नन्द्यादिवाक्यसु । 'तत्रैव विपातनाम्नात्वाद् । कल्पया शूची  
यूज्यान्तुर्बोधोऽत्रभ्याम् । किन्तु विशूचा शूचरहितः प्रार्थ्यतामिति सम्भवताम् । 'प्रार्थ-  
यामसिपाये च प्रार्थना कथ्यते शूची' इति केचन ॥ ५ ॥

उन मुनिको रामसे ईश्वरी कल्याणार्थके वचनके उपायको—'यद् कल्पयन्तु शूच्यन्त  
ओर दुर्जय किन्तु शूचरहित है उसपर कर्तार कीविधि रत नन्द्य करा ॥ ५ ॥

आदिदेशाथ शत्रुर्मं तेषां चेमाय राघवः ।

करिष्यन्निबन्धमास्य यथार्थमरिमिप्रहात् ॥ ६ ॥

आदिदेशति । अथ तेषां मुनीनां चेमाय चेमकरणात् राघवो रामः शत्रुध्वमसि-  
देष्ट । अत्राप्येवते—अस्य कष्टास्व नामारिबिग्रहान्मुह्यन्नाहेतोः । यथा मृतोर्ध्वो  
यस्य तद्यथा करिष्यन्निबन्धः । अहन्मतीति शत्रुणा । 'अमनुष्यकर्मणि च' इति चकारा  
रहस्यवशाद्गुणादयः सिद्धा इति तूर्गसिद्धः । पाणिनीयेऽपि बहुवचनमाश्रयेऽस्ति ।  
'कृत्यस्तुये बहुवच' इति ॥ ६ ॥

इसके बाद रामने इन मुनियोंके कल्याणके लिये शत्रुध्वको—'शत्रुके निम्न करने  
( दण्ड देने ) से इन ( शत्रु ) के नामको 'रिता' करते हुए के उपाय—'माया दी ।  
( कल्याणार्थके मार्येके लिये शत्रुध्वको देना ) ॥ ६ ॥

रामस्य दक्षमप्रयाये हेतुमाह—

या कश्यप रघूणां हि परमेकः परम्यथ ।

अपयाद् श्वोरक्ष्यं व्यावर्तयितुमीश्वरः ॥ ७ ॥

च इति । हि परमात् परान्नुद्गतावतीति परम्यथ । द्विस्त्वरभोरतापे' इति  
नन्द्यवचः । 'अधि इत्य' इति इत्यः । रघूणां मध्ये वा कश्यपका अवतारो  
रिपोपघाद्यनुत्तरं सामान्यघाथमिह वरं कर्तुं व्यावर्तयितुं आधिपुत्रीधरा समर्थः ।  
अथाऽशत्रुध्वमेवादिदेशीति पूर्वमाश्रयः ॥ ७ ॥

शत्रुको दण्डित करनेवाला रघुवशियोंमें कोई भी एक व्यक्ति शत्रुको पराजित करनेके लिये इस प्रकार समर्थ होता है, जिस प्रकार अपवाद-शास्त्र उत्सर्ग-शास्त्रको रोकनेमें समर्थ होता है ॥ ७ ॥

अग्रजेन प्रयुक्ताशीस्ततो दाशरथी रथी ।

ययौ वनस्थलीः पश्यन्पुष्पिताः सुरभीरभीः ॥ ८ ॥

अग्रजेनेति । ततोऽग्रजेन रामेण प्रयुक्ताशीः कृताशीर्वादो रथी रथिकोऽभी-  
र्निर्भीको दाशरथि पुष्पाणि सक्षातानि आसां ता पुष्पिताः सुरभीरामोदमाना वन-  
स्थलीः पश्यन् ययौ ॥ ८ ॥

इसके बाद बड़े भाई ( राम ) से आशीर्वादको पाये हुए दशरथ-कुमार ( शत्रुघ्न )  
रथपर सवार होकर निर्भय हो खिले हुए फूलोंवाली तथा सुगन्धित वनस्थलियोंको देखते  
हुए चले ॥ ८ ॥

रामादेशादनुगता सेना तस्यार्थसिद्धये ।

पश्चादध्ययनार्थस्य धातोरधिरिवामवत् ॥ ९ ॥

रामेति । रामादेशादनुगता सेना तस्य शत्रुघ्नस्य । अध्ययनमर्थोऽभिधेयो  
यस्य तस्य । धातो 'इङ् अध्ययने' इत्यस्य धातो पश्चादधिरव्युपसर्ग इव । अर्थ-  
सिद्धये प्रयोजनसाधनायेत्येकत्र । अन्यत्राभिधेयसाधनाय अभवत् । 'अर्थोऽभिधेय-  
रैवस्तुप्रयोजननिवृत्तिषु' इत्यमरः । यथा 'इङ्किावध्युपसर्गं न व्यभिचरत' इति  
न्यायेनाध्युपसर्गं स्वयमेवार्थसाधकस्य धातो सन्निधिमात्रेणोपकरोति सेनाऽपि  
तस्य तद्वदिति भावः ॥ ९ ॥

रामकी आज्ञासे शत्रुघ्नके पीछे चलती हुई सेना अध्ययनार्थक ( इङ् ) धातुके अनुगत  
'अधि' ( उपसर्ग ) के समान हुई । ( जिस प्रकार 'इङ् अध्ययने' धातुका साथ 'अधि'  
उपसर्ग कभी नहीं छोड़ता, उसी प्रकार शत्रुघ्नका साथ सेनाने कभी नहीं छोड़ा-बराबर  
उनके पीछे चलती रही ) ॥ ९ ॥

आदिष्टवर्मा मुनिभिः स गच्छंस्तपतां वरः ।

विरराज रथप्रष्टैर्वालखिल्यैरिवांशुमान् ॥ १० ॥

आदिष्टेति । रथप्रष्टै रथाग्रगामिभिः । 'प्रष्टोऽग्रगामिनि' इति निपातः । मुनिभिः  
पूर्वोक्तैरादिष्टवर्मा निर्दिष्टमार्गो गच्छंस्तपता वेदीप्यमानानां मध्ये वरः श्रेष्ठः स  
शत्रुघ्नः । वालखिल्यैर्मुनिभिरशुमान्सूर्य इव विरराज । तेऽपि रथप्रष्टा इत्यनुसन्धेयम् ॥

रथगामा मुनिर्वाक द्वारा बतलाये गये मार्गवाले तेजस्वि-श्रेष्ठ वह शत्रुघ्न रथगामी  
वालखिल्य मुनियोंसे तेजस्वि-श्रेष्ठ सूर्यके समान शोभित हुए ॥ १० ॥

तस्य मार्गवशादेका बभूवुः वसतिर्यतः ।

रथस्वनोत्कण्ठमृगे वाल्मीकीये तपोवने ॥ ११ ॥

तस्वेति । बहो गन्धता । इत्येतोः कपुमयया । तस्य कपुमय्य मर्मवशात्प-  
 'स्वयं वाक्यम् उद्गीषा' इत्यादिपरिमितमिच्छावर्गीकृत्ये वाक्सीकृतमिति ।  
 'वृद्धा' इति कपुमयः । तपोवच पूजा वसती रात्रिभूय । तत्रैको रात्रिभूय  
 इत्यर्थः । 'वसती रात्रिर्वैरमो' इत्यमरः ॥ ११ ॥

वाते ह्य एत कपुमयै एवमेव अनित्ये कपुमयै इति शेषात्, वाक्सीकृतं मुनि-  
 तपोवच (वस कपुमयः) एक निवास इवा वचात् कपुमय एक रात्र वाक्सीकृतं मुनि-  
 ज्ञानमने इति ॥ ११ ॥

तमुचिः पूजयामास कुमार कलान्तवाहनम् ।

तपःप्रमायसिद्धामिर्विशेषमतिपतिभिः ॥ १२ ॥

तस्मिन् । कलान्तवाहनं कलान्तपुत्रं तं कुमारं कपुमयपुत्रिर्वाक्सीकृतपुत्रमात्र-  
 सिद्धामिर्विशेषमतिपतिभिः कपुमयपुत्रमात्रमात्रिः वासनकचनपावादिभिः पूजयामास  
 च (वाक्सीकृतं) मे वच ह्य वाहो (योः कादि सप्तद्वयो) वाके वस कपुमय  
 तत्त्वात् सिद्ध विद्वेद सामाधिक्येन (वतिभिः) उत्तर किं ॥ १२ ॥

तस्यामेवास्य धामिन्धामन्तर्वैली प्रजावती ।

सुतावसुत सम्पन्नौ कोटवृद्धादिब सिति ॥ १३ ॥

तस्वामिति । तस्यामेव धामिन्धामन्तर्वैली प्रजावती । अन्तरस्या अस्तीत्य-  
 म्त्ववती गर्मिणी । 'अन्तर्वैली च धामिनी' इत्यमरः । 'अन्तर्वैलीवतीर्नुक' इति  
 कीप नुराजस्य । प्रजावती साधुजाया सीता । सिति सम्पन्नौ सम्पत्नी कोटवृद्ध-  
 विव सुतावसुत ॥ १३ ॥

एत (कपुमय) को गर्मिणी मायी (सीता) मे वसी रतये उमान् अनित्ये इति  
 पुत्रोऽपि इति अन्तर्वैली केतु पुत्री कोप तथा अन्तर्वैली अन्तर्वैली इति ॥ १३ ॥

सन्तानधनपावसात् सौमित्रिः सौमित्रस्यवान् ।

प्राप्तकिर्मुनिमामन्ध्र प्राप्तयुक्तरथो ययौ ॥ १४ ॥

सन्तानेति । प्राप्तयुक्तरथः सन्तानधनपावसात् सौमित्रिः सौमित्रस्यवान् ।  
 सौमित्रः प्राप्तयुक्तरथः सञ्जयः सञ्जयः । प्राप्तकिर्मुनिमामन्ध्रप्राप्तयुक्तरथः सञ्जयः ।

एतके वा प्राप्तयुक्तरथः सञ्जयः (रामचन्द्रो) के पुत्रोऽपि इति उपमेते एतत् कपुमय  
 एवमेव सञ्जयः प्राप्तयुक्तरथः सञ्जयः वाक्सीकृतं मुनिः प्राप्तयुक्तरथः सञ्जयः ॥ १४ ॥

स च प्राप मधुपर्णं कुम्भीनस्याद्य कुसिन्धुः ।

पनात्करमिषायाय सस्यराशिमुपस्थितः ॥ १५ ॥

स इति । स कपुमयः मधुपर्णं नाम कवचपुरं प्राप । कुम्भीनसी नाम राक्ष-  
 सपदा तस्मात् इति स पुत्रो कवचपुरं कवचपुरं कवचपुरं सञ्जयः सञ्जयः सञ्जयः सञ्जयः  
 सञ्जयः सञ्जयः सञ्जयः सञ्जयः ॥ १५ ॥

वे शत्रुघ्न 'मधूपघ्न' नामक लवण-नगरीमें पहुँचे, ( वहाँ पर ) कुम्भोनसी पुत्र लवणा-  
घ्नुर वनसे कर ( टैक्स ) के समान जीवसमूहको लेकर उपस्थित हुआ ॥ १५ ॥

धूमधूम्रो वसागन्धी ज्वालावध्रुशिरोरुहः ।

क्रव्याद्गणपरीवारश्चिताऽग्निरिव जङ्गमः ॥ १६ ॥

धूमेति । किम्भूतो लवणः । धूम इव धूम्रः कृष्णलोहितवर्णः । 'धूम्रधूमलौ कृष्ण-  
लोहिते' इत्यमरः । वसागन्धी हन्मेदोगन्धः, सोऽस्यास्तीति वसागन्धी । 'हन्मेदस्तु  
वपा वसा' इत्यमरः । ज्वाला इव वध्रव पिशङ्गाः शिरोरुहाः केशा यस्य स तथोक्तः ।  
'विपुले नकुले विष्णौ वध्रुः स्यात्पिङ्गले त्रिषु' इत्यमरः । क्रव्यं मांसमदन्तीति  
क्रव्यादो राक्षसाः, तेपा गण एव परीवारो यस्य स तथोक्तः । अत एव जङ्गमश्चरि-  
ष्युश्चिताऽग्निरिव स्थितः । कृशानुपत्ते-धूमैर्धूम्रवर्णः । ज्वाला एव शिरोरुहाः ।  
क्रव्यादो गृध्रादय इत्यनुसन्धेयम् ॥ १६ ॥

( वह लवणाघ्नुर ) घूर के समान धूम्र ( लाल-काला ) वर्णवाला, चबों के समान  
गन्धवाला, अग्निकी ज्वालाके समान पिङ्गलवर्णयुक्त केशोंवाला, राक्षसपरिवारवाला  
अर्थात् राक्षसोंसे युक्त—घूरसे धूम्रवर्णवाला, ज्वालारूपी पिङ्गल केशोंवाला, कच्चे मांसका  
भक्षण करनेवाले गीध आदि पक्षियोंसे युक्त-जङ्गम ( चलने-फिरनेवाला ) चिताग्निके  
समान था ॥ १६ ॥

अपशूलं तमासाद्य लवणं क्षक्षमाणानुजः ।

रुरोध सम्मुखीनो हि जयो रन्ध्रप्रहारिणाम् ॥ १७ ॥

अपशूलमिति । लक्ष्मणानुजः शत्रुघ्नोऽपशूलं शूलरहित लवणमासाद्य रुरोध ।  
तथा हि, रन्ध्रप्रहारिणां रन्ध्रप्रहरणशीलानाम् । अपशूलतैवान्न रन्ध्रम् । जयः सम्मु-  
खीनो हि सम्मुखस्य दर्शनो हि । 'यथामुखसम्मुखस्य दर्शनं खः' इति खप्रत्ययः ।  
अधिकारलक्षणाद्यस्तु दुर्लभ एव ॥ १७ ॥

लक्ष्मणके छोटे भाई ( शत्रुघ्न ) ने शूलरहित उस लवणाघ्नुरको प्राप्तकर रोका, क्योंकि छिद्र-  
युक्त ( शाखादि साधन न रहनेसे निर्वल ) शत्रुघ्न पर प्रहार करनेवालोंको विजय सामने रहती  
है अर्थात् निर्वल शत्रुघ्न पर प्रहार करनेवाले योद्धाकी अवश्य ही विजय होती है ॥ १७ ॥

नातिपर्याप्तमालक्ष्य मत्कुक्षेरद्य भोजनम् ।

दिष्टया त्वमसि मे धात्रा भीतेनेवोपपादित ॥ १८ ॥

इति सन्तर्ज्यं शत्रुघ्न राक्षसस्तज्जिघांसया ।

प्रांशुमुत्पाटयामास मुस्तास्तम्बमिव द्रुमम् ॥ १९ ॥

नातीत्यादि । युग्मम् । राक्षसो लवण । अद्य मत्कुक्षे । मुज्यत इति भोजनम् ।  
भोज्य मृगादिक नातिपर्याप्तमनतिसमग्रमालक्ष्य दृष्ट्वा भीतेनेव धात्रा दिष्टया भाग्येन  
मे स्वमुपपादित कश्चितोऽसि । इति शत्रुघ्न सन्तर्ज्यं तस्य शत्रुघ्नस्य जिघांसया  
हन्तुमिच्छया प्रांशुमुत्त द्रुमम् । मुस्तास्तम्बमिव अक्लेशेनोत्पाटयामास ॥ १८ १९ ॥

‘आम मेरे पैर के बोल परिपूर्ण भीषम ( हम कम शुभ आदि पशुओं को ) नहीं देख कर बड़े हुए-से मराने यागवसे तुमको मेरा भीषम कल्पित किया है’ ऐसा बराबर राक्षस कल्पान्तर वर सङ्गमने मारनेको दण्डसे ‘धोवा गायक वासुकी कण्डके समान ( कला वास ) एक नई वृद्धको कलाकृति का ॥ १८ ॥ १९ ॥

सौमित्रेर्निशितैर्वापैरन्तरा घाकलीकृताः ।

गार्ग पुष्परजाः प्राप न शास्त्री नैर्जतेरिताः ॥ २० ॥

सौमित्रेरिति । नैर्जतेरितो दण्ड्येरिताः काक्यन्तरा मध्ये विस्तिर्वापैर्जन्तु-  
कृतसन्धीमित्रैः सङ्गमस्व गार्ग न प्राप । किन्तु पुष्परजा प्राप ॥ २० ॥

कल्पान्तरके द्वारा केन्द्र बना वह वृद्ध सुमित्राकुमार ( सङ्गम ) के तीस्र वासुकी से गोचने सम्बन्ध होकर नहीं पहुँच सका ( सङ्गमके तीस्र वासुकी से गोचने हो हुआ हुआ होकर गिर पड़ा ), किन्तु ( वर वृद्धके ) पुष्पकोटा परम ( सङ्गमके पास ) पहुँचा ॥ २१ ॥

विनाद्यान्तस्य वृक्षस्य वृक्षस्तस्मै महोपकम् ।

प्रजिघाय कृतान्तस्य मुष्टिं पूयगिष स्थितम् ॥ २१ ॥

विनाद्यादिति । वृक्षो कल्पस्तस्य वृक्षस्य विनाद्यान्तस्योः । महोपकं महान्तं पाप-  
कम् । वृक्षक स्थितं कृतान्तस्य वृक्षस्य मुष्टिमिष । मुष्टिपयो द्विभिन्नः । तस्मै वृक्ष-  
प्राय प्रजिघाय प्रहितवान् ॥ २१ ॥

वर वृद्धके गह ( कण्डका होकर कण्डक ) होनेसे राक्षस कल्पान्तरके वर सङ्गम ( को मारने ) के द्विदे वरमात्र के वृक्ष स्थित मुष्टि ( मुष्टक ) के समान बड़ा भारी बनकर केन्द्र ॥ २१ ॥

पेन्द्रमस्त्रमुपावाय शत्रुभ्येन स ताडिताः ।

सिकतात्मावपि परां प्रपेदे परमाशुताम् ॥ २२ ॥

पेन्द्रमिति । स महोपक सङ्गमनेनैन्द्रमिन्द्रवैद्यताकमस्त्रमुपावाय ताडितोऽस्ति  
इति सङ् । सिकतात्मासिकतात्मावपि परां परमाशुतां प्रपेदे । यतोऽभ्युपस्थित स  
परमाशुरिस्माद्वा ॥ २२ ॥

दण्डाव केन्द्र सङ्गमसे अभिहत वर वरमात्रे वाक् ( वर ) से जो अधिक क्रोध-क्रोध  
वरमात्रावको प्राप्त किया वर्णाव सङ्गमने दण्डावसे वर वरमात्रे अभिहत वरमात्रे  
समस्त क्रोध-क्रोध कर दिया ॥ २२ ॥

तमुपाद्रवमुद्यम्य वक्षिण्यं क्षीर्निशाकराः ।

पक्षतास्त इधीत्पातपवनप्रेरितो गिरिः ॥ २३ ॥

तमिति । वि शास्त्रो राक्षसो वक्षिण्यं क्षीः ‘कमु रोपणी’ इति मगधतो भाष्यकारस्य  
प्रयोगादोऽप्यत्र ननुसकथं ब्रह्मण्य । ‘सुत्रवाह प्रवेष्टो क्षीः इति पुंविज्ञातः-

चर्यापुंस्त्वं च । तथा च प्रयोगः—‘दोषं तस्य तथाविधस्य भजतः’ इति । सद्येतरे  
बाहुमुद्यम्य एकस्तालस्तदाख्यवृक्षो यस्मिन्स एकतालः । उत्पातपवनेन प्रेरितो  
गिरिरिव । तं शत्रुघ्नमुपाद्रवदभिद्रुतः ॥ २३ ॥

राक्षस लवणासुर दाहिना हाथ ठाकर एक ताड वृक्षवाले वायु-प्रेरित पर्वतके ममान,  
उस शत्रुघ्नपर ( प्रहार करनेके लिये ) दौड़ा ॥ २३ ॥

कार्णोऽन पत्त्रिणा शत्रुः स भिन्नहृदयः पतन् ।

आनिनाय भुवः कम्पं जहाराश्रमवासिनाम् ॥ २४ ॥

कार्णोनेति । स शत्रुलवणः । कार्णोऽन वैष्णवेन पत्त्रिणा घाणेन । उक्तं च रामा-  
यणे—‘एवमेव प्रजनितो विष्णोस्तेजोमय शरः’ इति । ‘विष्णुर्नारायण कृष्ण’  
इत्यमर । भिन्नहृदयः पतन्भुवः कम्पमानिनायानीतवान्, देहभारादित्यर्थः ।  
आश्रमवासिनां कम्प जहार । तस्मात्तदकुतोभया वमूधुरित्यर्थः ॥ २४ ॥

वैष्णव ( विष्णु देवतावाला ) बाण से भिन्न ( विधे हुए ) हृदयवाला वह शत्रु ( लवणा-  
सुर ) गिरता हुआ पृथ्वीको कम्पनयुक्त कर दिया ( कंपा दिया ) तथा आश्रमवासियों  
( मुनियों ) के कम्पन ( भय ) को हरण कर लिया अर्थात् उसके मरनेसे मुनि लोग  
निर्भय हो गये ॥ २४ ॥

वयसां पङ्क्तयः पेतुर्हृतस्योपरि विद्विषः ।

तत्प्रतिद्वन्द्विनो मूर्ध्नि दिव्याः कुसुमवृष्टयः ॥ २५ ॥

वयसामिति । हृतस्य विद्वेधीति विद्विषः तस्य विद्विषो राक्षसस्योपरि वयसां पत्त्रि-  
णां पङ्क्तयः पेतुः । तत्प्रतिद्वन्द्विनः शत्रुघ्नस्य मूर्ध्नि तु दिव्याः कुसुमवृष्टयः पेतुः ॥

मारे गये शत्रु ( लवणासुर ) के ऊपर ( उसके मांसको भक्षण करनेके लिये ) पक्षियोंका  
समूह गिरने लगा तथा उस लवणासुरके शत्रु ( शत्रुघ्न ) के मस्तकपर दिव्य पुष्प गिरने  
लगे अर्थात् आकाशसे पुष्पवृष्टि होने लगी ॥ २५ ॥

स हत्वा लवणं वीरस्तदा मेने महौजसः ।

भ्रातु सोदर्यमात्मानमिन्द्रजिह्वघशोभिनः ॥ २६ ॥

स इति । स वीर शत्रुघ्नो लवणहत्वा तदाऽऽत्मान महौजसो महाबलस्येन्द्र  
जिह्वधेन शोभिनो भ्रातुर्लक्ष्मणस्य समानोदरे शयित सोदर्यमेकोदर मेने । सोद-  
राद्य’ इति यप्रत्यय ॥ २६ ॥

उस शूर वीर ( शत्रुघ्न ) ने लवणासुरको मारकर उस समय अपनेको महापराक्रमी इन्द्र-  
विजयी मेघनादको मारनेसे शोभाशाली भाई ( लक्ष्मण ) का सहोदर माना ( लवणासुरको  
मारकर इस समय मैं लक्ष्मण का वास्तविक सहोदर बना, ऐसा समझा ) ॥ २६ ॥

तस्य संस्तूयमानस्य चरितार्थैस्तपस्विभिः ।

शुशुभे विक्रमोदग्रं वीढयाऽवनतं शिरः ॥ २८ ॥

तस्वेति । अरितायै कृतायै कृतकार्यैस्तपस्विभिः संस्तुयमानस्य तस्य अनुष्ण-  
रप विक्रमेनोद्गमुज्ज्वलं श्रीरघोः कञ्जवाक्यवतं नम्रं धिरा हृष्टये । दिव्यमस्त-  
कजैव धूपजमिति भावाः ॥ २७ ॥

कृतकृत्य तपस्विर्वाते प्रशंसित होते हुए वह अनुष्णरूप पराक्रमते लवत ( विद्रु )  
कञ्जाते नमस्तक होमिय हुआ । ( कञ्जाहृष्टके वरते कृतकृत्य मुनिजीव वर अनुष्ण  
प्रशंसा करने के लिये तपःश्रद्धासे मस्तकहो विभवमम्य कञ्जाते सुखा किया, लवत वह अनु-  
ष्णर माखन पड़ते है ) ॥ २७ ॥

उपहृता स काकिन्धाः पुरीं पीठचभूषणः ।

निर्ममे निर्मेमाऽर्थेषु मधुरा मधुराकृतिः ॥ २८ ॥

उपहृज्जमिति । पीठचभूषणः । अर्थेषु विपरीत निर्ममो निरपुहः । मधुराकृतिः  
सौम्यरूपा स कञ्जका काकिन्धा वसुधाया उपहृज्जं दृष्टे । विमलवर्णैर्यवबीभावाः ।  
मधुरां नाम पुरीं निर्ममे निर्मितताम् ॥ २८ ॥

पुरवार है धूपन चितका ऐसे, विपरीत मयकारहित और विमलवर्ण लव कञ्जके  
वसुधाके लवत 'मधुरा' मागरीकी वसुधा ॥ २८ ॥

या सौरज्यप्रकाशानिर्बमौ पीरविभूतिभिः ।

स्वर्गानिभ्यन्वयमनं कृत्येवायमिबेधिता ॥ २९ ॥

येति । वा पृ । सञ्जका शोषयो रत्ना वस्याः सुराः सा सुराणी सुरादिसा मास  
सौरज्यप्रकाशः । तेन प्रकाशयामि प्रकाशमावयामि पीरानां विभूतिभिरैवै । स्वर्ग-  
स्वामिभ्यन्वोदितिरिक्तजनः तस्य समग्रमाहरणं कृत्योपविबेधितोपस्थापितैव वधी ।  
अत्र कौटिलिका-“मूलपूर्वममूलपूर्वं वा जनपदं परदेशप्रवाहेन स्वदेशानिभ्यन्वयम-  
मेव वा विवेकसेव” इति ॥ २९ ॥

जो मधुर वेद लकाते हुक होनेके कारण प्रकाशहीन पम्परिक ऐश्वर्यसे लवके  
नितिरिक कीर्तकी काकर वसावी गई के समान होमती थी ॥ २९ ॥

तत्र सौमगतः पश्यन्मधुरां चक्रवाकिनीम् ।

हेममक्षिमतीं भूमेः प्रवेष्टीमिह पिमिये ॥ ३० ॥

तस्वेति । तत्र मधुरायां सौमगतो हर्माकृता स चक्रवाकिनी चक्रवाकमती  
वसुधाम् । हेममक्षिमतीं सुवर्णरत्नवातीं भूमेः प्रवेष्टीं वैपीमिव । वैपिः प्रवेष्टी  
हृत्पमरा । परस्मिप्तिव पीता । 'पीङ् पीणवै' इति आठोर्देशादिकृत् ॥ ३० ॥

वत मधुराये मरुके लवत वह हुक है मधुर चक्रवाक ( चक्रवा ) से हुक वसुधा  
रानीकी लवमयी रत्नवाती पीठीके समान हैकरी हुए प्रलभ हुए ॥ ३० ॥

अस्मति रामस्तन्तावदुवाचमाह-

सखा पुराणस्यापि अवकस्य च मन्त्रकृत् ।

सखस्कारोमयपीत्वा मैथिलेयौ यथाविधि ॥ ३१ ॥

सखेति । दशरथस्य जनकस्य च सखा मन्त्रकृन्मन्त्रद्रष्टा स वाल्मीकिरपि ।  
'सुकर्मपापमन्त्रपुण्येषु कृज' इति क्रिप् । उभयोर्दशरथजनकयोः प्रीत्या स्नेहेन  
मैथिलेयौ मैथिलीपुत्रौ यथाविधि यथाशास्त्र सञ्चस्कार सस्कृतवान् । जातकर्मादिभि-  
रिति शेषः ॥ ३१ ॥

दशरथ तथा जनकके भी मित्र मन्त्रद्रष्टा ( वाल्मीकि मुनि ) ने दोनों ( दशरथ और  
जनक ) के प्रेमसे दोनों मैथिली-पुत्रोंका ( देखें, श्लो० १३ ) विधिपूर्वक सस्कार किया ॥ ३१ ॥

स तौ कुशलवोन्मृष्टगर्भकलेदौ तदाख्यया ।

कविः कुशलवावेव चकार किल नामतः ॥ ३२ ॥

स इति । स कविर्वाल्मीकिः कुशैर्दर्मैर्लवैर्गोपुच्छलोमभिः । 'लवो लवणकिञ्च-  
स्कपचमगोपुच्छलोमसु' इति वैजयन्ती । उन्मृष्टो गर्भकलेदो गर्भोपद्रवो ययोस्तौ  
कुशलवोन्मृष्टगर्भकलेदौ मैथिलेयौ तेषां कुशानां च लवानां चाख्यया नामतो नाम्ना  
यथासख्य कुशलवावेव चकार किल । कुशोन्मृष्ट कुश । लवोन्मृष्टो लवः ॥ ३१ ॥

उस ( आदि ) कवि अर्थात् वाल्मीकिने, कुश तथा लव ( गोपुच्छके रोएँ ) से दूर  
किया गया है गर्भजन्य उपद्रव जिनका ऐसे उन दोनों ( सीताके पुत्रों ) का नाम उन  
( कुश तथा लव = गोपुच्छके रोएँ ) के नाम पर 'कुश और लव' ही रखा । ( आदि  
कवि वाल्मीकिने आश्रममूलम कुश तथा गोपुच्छके रोमोंसे सीताके पुत्रोंका गर्भजन्य  
उपद्रव नष्ट किया था, अतः कुश तथा गोपुच्छरोमके नाम पर उन दोनों पुत्रोंका नाम भी  
'कुश तथा लव' रखा ) ॥ ३२ ॥

साङ्ग च वेदमध्याप्य किञ्चिदुत्क्रान्तशैशवी ।

स्वकृतिं गापयामास कविप्रथमपद्धतिम् ॥ ३३ ॥

साङ्गमिति । किञ्चिदुत्क्रान्तशैशवावतिक्रान्तवाक्यौ तौ साङ्ग च वेदमध्याप्य  
कवीनां प्रथमपद्धतिम्, कवितायीजमित्यर्थः । स्वकृतिं काव्यरामायणाख्य गापया-  
मास । गापयतेर्लिट्, शब्दकर्मकरत्वात् 'गतिबुद्धिप्रत्ययवसानार्थशब्दकर्मार्कमकाणा-  
मणि कर्ता स णौ' इत्यनेन द्विकर्मकत्वम् ॥ ३३ ॥

उनके वचनके कुछ वीत जानेपर ६ अङ्गों<sup>१</sup> के सहित वेदको पढ़ाकर कवियोंका सर्व-  
प्रथम कवितावीजभूत अपनी रचना ( रामायण ) को उन दोनों से गान कराया ॥ ३३ ॥

रामस्य मधुरं वृत्तं गायन्तौ मातुरग्रतः ।

तद्वियोगव्यथां किञ्चिच्छिथिलीचक्रतुः सुतौ ॥ ३४ ॥

रामस्येति । तौ सुतौ रामस्य वृत्तं मातुरग्रतो मधुर गायन्तौ तद्वियोगव्यथां  
रामविरहवेदना किञ्चिच्छिथिलीचक्रतुः लघूकृतवन्तौ ॥ ३४ ॥

१ तदुक्तम्—'शिक्षा कल्पो व्याकरण निरुक्त ज्योतिषा गतिः ।

छन्दोपिचितिरित्येतत्पटङ्गो वेद उच्यते ॥'



माता ( सीता ) के जाने रामकी मयूर कथाकी याते हुए कम दोनों पुत्रोंके पुत्र ( पुत्र ) के विशेषमें हुकूमके कुछ कम किया । ( पुत्रोंसे माली जाती हुई मयूर रामकथाको हुकूम रामके विरहसे जलन सीताका हुकूम कुछ कम हुआ ) ॥ १४ ॥

इतरेऽपि रघोर्धरयास्त्रयस्तेवाऽग्नितेजसः ।

तद्योगात्पतिवत्नीषु पत्नीष्वासन् द्विसूनवाः ॥ १५ ॥

इतरेऽपीति । रघोर्धरया वंसे यथाः । द्वैतैवप्रत्यस्वेताभनवा । तेषां तैव इव तैस्यो तेषां ते द्वैताग्नितेजसाः । इतरे रामादभ्ये त्रयो मरताद्वयोऽपि तद्योगात्तेषां योगाद्भरतादिष्वभ्यन्तपतिवत्नीषु भर्तृमतीषु बीजापतिवासु, वधातिमतीधित्वार्कः- 'पतिवत्नी समर्तुका' इत्यमरः । 'अन्तर्गतपतिवत्तुर्लोक' इति दीप्तिरन्तर्गतो गुणाममन्तः- वत्नीषु द्विसूनव आसन् । द्वौ द्वौ सन् तेषां ते द्विसूनव इति विग्रहा । अन्तर्गत- क्वाक्यस्त्व वृत्तिविषये बीप्ताकेन्य सप्तपञ्चादिवत् ॥ १५ ॥

उत्पद्येत्यत्र तथा वेतागिभ्ये समान ऐक्यी जन्म ( भरत आदि तीनों ) की सीता- ज्यवती वीज्योमें जन-जन ( भरत आदि ) के सम्बन्धसे दो-दो पुत्रवाके हुए । ( भरत जन्म तथा अनुभवे यो दो-दो पुत्र हुए ) ॥ १५ ॥

शत्रुघातिनि शत्रुघ्ना सुबाहौ च बहुभुते ।

मधुपदिदिशो सृम्भोनिदधे पूर्वजोरसुका ॥ १६ ॥

अन्विति । पूर्वजोरसुको ज्येष्ठमित्रः शत्रुघ्नो बहुभुते शत्रुघातिनि सुबाहौ च तत्र- मकधोः सृम्भोर्मधुरा च विदिशा च ते नगार्थो विदधे । मित्रान्न गत इत्यर्थः ॥ १६ ॥  
नये मार्गके द्विमे कच्छिडत अनुभवे शत्रुघातक 'सुबाहु' तथा 'बहुभुते' (नामक जयने) दो पुत्रोंको 'मधुरा' तथा 'विदिशा' ( के राज्य ) को दे दिया ॥ १६ ॥

मधुस्तपोभ्ययो मा भूद्वाक्यमीकेरिति सोऽस्पृगात् ।

मैथिलीतनयोवृणीतनिःस्पृग्व्युगमाधमम् ॥ १७ ॥

यत् इति । स शत्रुघ्नो मैथिलीतनवधोः कृष्णकवचोपहृतीतेन निःस्पृग्व्युगं दीत-  
मिच्छता मित्रकहरिर्ष बाक्यमीकेशममम् । मूलाः पुनरपि तपोभ्ययो संविधानकरार्थं  
तपोहानिर्मा भूदिति हेतोः अत्यगात् । अतिरुद्ध गत इत्यर्थः ॥ १७ ॥

ये शत्रुघ्न सीताके पुत्र ( जय तथा कुल ) के ( रामचरित ) पत्नीसे शत्रु घातके बाक्योदिके काममको, तपस्यामें फिर वाचा न हो' इस कारण श्रीवकर नये नये नर्पाय कीटसे समझ फिर तपोभ्य में न जाकर सीते ज्योत्षा कोट नये ॥ १७ ॥

वशी विवेका चापोभ्यां रप्यासंस्कारागामिनीम् ।

शत्रुघ्नस्य वप्यापीरेरीक्षितोऽस्पृग्वन्तपीरवम् ॥ १८ ॥

वशीति । वशी स कवचस्य वधाहेतोः पीरैः पीरक्षयैरवन्तं गौरवं वस्तिमन्ममि-  
यत्तवैवितः सन् । रप्यासंस्कारैस्तोरणादिभिः क्रोमते या तामपोभ्यां विवेक च ॥ १८ ॥

जितेन्द्रिय (उन शत्रुघ्न) ने लवणाक्षरके भारनेसे नागरिकों (अयोध्यावासियों) के द्वारा अत्यन्त गौरवपूर्वक देखे जाते हुए मार्गोंकी सजावटसे शोभित अयोध्यामें प्रवेश किया ॥३८॥

**स ददर्श सभामध्ये सभासद्भिरुपस्थितम् ।**

**रामं सीतापरित्यागादसामान्यपतिं भुवः ॥ ३९ ॥**

स इति । स शत्रुघ्न. सभामध्ये सभासद्भिः सभायां सीदन्ति ते तैः सम्यैरुपस्थितं सेवितं सीतापरित्यागाद्भुवोऽसामान्यपतिमसाधारणपतिं रामं ददर्श ॥ ३९ ॥

उस शत्रुघ्नने सभाके बीचमें सभासदोंसे सेवित तथा सीताके परित्यागसे पृथ्वीके असाधारण पति रामको देखा (पहले रामजी सीता तथा पृथ्वी, इन दोनोंके पति थे, किन्तु सीताका त्यागकर देनेपर अब केवल पृथ्वी के ही पति रहे—ऐसे, सभासदोंसे सेवित सभाके मध्यमें विराजमान रामको शत्रुघ्नने देखा ॥ ३९ ॥

**तमभ्यनन्दत्प्रणत लवणान्तकमग्रजः ।**

**कालनेमिवधात्प्रीतस्तुराषाडिष शार्ङ्गिणम् ॥ ४० ॥**

तमिति । अग्रजो रामो लवणस्यान्तकं हन्तार प्रणत त शत्रुघ्नम् । कालनेमिर्नाम राक्षसः तस्य वधात्प्रीत । तुरा वेगं सहत इति तुराषाडिन्द्रः । 'छन्दसि सह' इति ण्विः । यद्वा सहतेर्णिचि कृते साहयते क्तिप् । 'अन्येषामपि दृश्यते' इति पूर्व-यदस्य दीर्घ । 'सहे साड स' इति परवम् । शार्ङ्गिणमुपेन्द्रमिव अभ्यनन्दत् ॥४०॥

बड़े भाई (राम) ने नम्र तथा लवणाक्षरधातक (शत्रुघ्न) का प्रसन्न होते हुए उस प्रकार अभिनन्दन किया, जिस प्रकार कालनेमिके वधसे प्रसन्न (बड़े भाई) इन्द्रने (छोटे भाई) विष्णु का अभिनन्दन किया था ('उपेन्द्र इन्द्रावरज' ' ' इत्यादि कोश तथा पौराणिक वचनोंसे विष्णु इन्द्रके छोटे भाई माने जाते हैं) ॥ ४० ॥

**स पृष्टः सर्वतो वार्तमाख्यद्राक्षे न सन्ततिम् ।**

**प्रत्यर्पयिष्यत काले कवेराद्यस्य शासनात् ॥ ४१ ॥**

स इति । स शत्रुघ्न पृष्ट सन् । सर्वतो नार्तं कुशलं राज्ञे रामायाख्यदाख्यातवान् । चक्षिडो लुङ् । 'चक्षिड' ख्याज् इति ख्याजादेश । 'अस्यतिवक्तिख्यातिभ्योऽङ्' इत्यङ् । 'आतो लोप इटि च' इत्याकारलोप । ख्यातेर्वा लुङ् । सन्ततिः कुशलवोत्पत्तिः नाख्यत् । कुत कालेऽवसरे प्रत्यर्पयिष्यत आद्यस्य कवेर्विष्मीकेः शासनात् ॥ ४१ ॥

पूछे जानेपर उस शत्रुघ्नने राजा (राम) से सब कुशल कहा, किन्तु मन्त्रिष्यमें (वाल्मीकी) समर्पण करनेवाले कवि (वाल्मीकि मुनि) की आज्ञासे (सीताकी) सन्तान (के समाचार) को नहीं कहा ॥ ४१ ॥

**अथ जानपदो विप्रः शिशुमयासयौवनम् ।**

**अवतार्याद्विश्व्यास्थं द्वारि चक्रन्द भूपते ॥ ४२ ॥**

अथेति । अथ अगपदे मयो आगपयो विष् । कश्चिदिति सेषः । अत्राप्तवीर्य  
सिंहस्य । मृतमिति सेषः । भूपते रामस्य ह्यार्यद्वयव्यासं यथा तथा ज्येष्ठार्याद्वय-  
स्वेवैवावरोप्य चन्द्रं युध्येत् ॥ ४१ ॥

इसके बाद रामश्रिवाही मन्थन युवावस्थाओ महीं पावे हुए वाक्य ( वृत्त ) को  
राजशरपर गोदमें एककर बिताकर रोने लगा ॥ ४१ ॥

शोचन्नीपाडसि वसुधे या त्वं दशरथाकम्प्युता ।

रामहस्तमनुयाप्य कक्षात् कक्षतरं गता ॥ ४२ ॥

शोचन्नीवेति । हे वसुधे ! दशरथाकम्प्युता भद्रा या त्वं रामहस्तमनुयाप्य कक्ष-  
कक्षतरं गता सखी शोचन्नीपाडसि ॥ ४२ ॥

हे दूधो ! तुम शोचन्नीर हो, जो ( दुध ) दशरथसे हीन होकर राम के हाथमें बहकर  
अधिकसे अधिक बहने लगी हुई हो ॥ ४२ ॥

श्रुत्वा तस्य शुभा हेतुं शोका जिह्वाय शमय ।

न ह्यकाक्षमयो मृत्युरिह बाहुपदमस्तुघात् ॥ ४३ ॥

श्रुत्वेति । शोका दशको शमयस्तस्य विमल्य ह्यकाक्षमयः ॥ मृत्युरिह बाहुपदमस्तु-  
श्रुत्वा जिह्वाय कथितः । कृताः । हि वस्मादकाक्षमयः अत्राप्तकक्षोत्पन्ना मृत्युरिह-  
शुभां परं राष्ट्रं वास्तुघात् । श्रुत्वे जीवति यहीपात्र श्रियत इत्यर्थः ॥ ४३ ॥

एक बंधो राजा राम वत् ( माधन ) के बीरका कारण ( वाक्य युद्धों कतु )  
हमकर अविगत हुए, क्योंकि बहाना युद्धोंको राजासे कक्षकतु नहीं होती ॥ अर्थात्  
युद्धोंके अविगत रहने लगे वा वाक्यको कतु कमी नहीं होती ॥ ४३ ॥

स मुहूर्तं समस्वेति शिखरान्धास्य पुनश्चितम् ।

यान् समस्मार कीर्त्तये वैवस्वतजिगीषया ॥ ४४ ॥

स इति । स रामो मुहूर्तं शिखरान्धास्य पुनश्चितं समस्वेत्यान्धास्य वैवस्वतस्यान्तकस्यापि  
जिगीषया हेतुमिच्छया कीर्त्तये यान् पुनश्चितं समस्मार ॥ ४४ ॥

वत् रामने 'मुहूर्तमात्र क्षमा करो' इस प्रकार पुनश्चित माधनको जायाउन देकर  
अमरावको कीर्त्तनेको इच्छासे पुनश्चित विमान ( पुनश्चित विमान ) का स्मरण किया ॥ ४४ ॥

व्याचक्ष्णस्तद्व्यास्य प्रस्थिता स रघूदधः ।

उपचार पुरस्तस्य गृहरूपा सरस्वती ॥ ४५ ॥

आथेति । रघूदधो राम व्याचक्ष्णः सन् तत्पुण्यकर्मव्यास्य प्रस्थिताः । अथ  
उपचार पुरो गृहरूपा सरस्वत्यसरीरा वासुधचारोद्भवः ॥ ४५ ॥

वसुधारो के रघुवंश राम वत् ( पुनश्चित विमान ) पर उपचार होकर जले, (वत् प्रस्थ)  
जलके साथके व्याचक्ष्णानी हुई ॥ ४५ ॥

राजप्रजासु ते कश्चिदपचार प्रवर्तते ।

तमन्विष्य प्रशमयेभ्वितासि ततः कृती ॥ ४० ॥

राजन्निति । हे राजन् । ते प्रजासु कश्चिदपचारो वर्णधर्मव्यतिकरः प्रवर्तते । तमपचारमन्विष्य प्रशमये । तत् कृती कृतकृत्यो भवितासि भविष्यसि ॥ ४० ॥

हे राजन् । तुम्हारी प्रजाओंमें कोई हीनाचरण (वर्णाश्रम धर्मके प्रतिकूल व्यवहार) हो रहा है, उसे पता लगाकर नष्ट करो, तब (तुम) सफल होवोगे ॥ ४० ॥

इत्याप्तवचनाद्रामो विनेष्यन्वर्णविक्रियाम् ।

दिशः पपात पत्रेण वेगनिष्कम्पकेतुना ॥ ४८ ॥

इतीति । इत्याप्तवचनाद्रामो वर्णविक्रियां वर्णापचार विनेष्यक्षपनेष्यन् वेगेन निष्कम्पकेतुना पत्रेण बाहनेन पुष्पकेण । 'पत्र बाहनपद्यो' इत्यमरः । दिशः पपात धावति स्म ॥ ४८ ॥

इस वर्ण विकार (वर्णाश्रम धर्मके प्रतिकूल व्यवहार) को भविष्यमें दूर करनेवाले राम वेगसे कम्पनरहित पताकावाले (पुष्पक) विमानसे दिशाओंको दौड़े (सब दिशाओंमें पता लगानेके लिए चल पड़े) ॥ ४८ ॥

अथ धूमाभिताम्राक्षं वृक्षशाखाऽवलम्बिनम् ।

ददर्श कश्चिदैक्ष्वाकुस्तपस्यन्तमधोमुखम् ॥ ४९ ॥

अथेति । अथैक्ष्वाकुवक्षप्रभवे ऐक्ष्वाको रामः । 'कोपधादण्' इत्यणि कृते 'दाण्डिनायन—' इत्यादिनोकारलोपनिपातः । धूमेन पीयमानेनाभिताम्राक्षं वृक्षशाखाऽवलम्बिनधोमुखं तपस्यन्तं तपश्चरन्तं कश्चिद्विरूपं ददर्श ॥ ४९ ॥

इसके बाद ऐक्ष्वाकुवशी रामने धूम्रपानसे लाल ओखोंवाले, वृक्षकी डालसे लटकते हुए और नीचे मुखकर तपस्या करते हुए किसी (पुरुष) को देखा ॥ ४९ ॥

पृष्टनामान्वयो राज्ञा स किलाचष्ट धूमपः ।

आत्मानं शम्बुकं नाम शूद्रं सुरपदार्थिनम् ॥ ५० ॥

पृष्टेति । राज्ञा नाम चान्वयश्च तौ पृष्टौ नामान्वयौ यस्य स तथोक्तः । धूमं पिवतीति धूमपः । 'सुपि' इति योगविभागात्कप्रत्ययः । स पुरुष आत्मानं सुरपदार्थिनं स्वर्गार्थिनम् । अनेन प्रयोजनमपि पृष्टमिति ज्ञेयम् । शम्बुकं नाम शूद्रमाचष्ट वभापे किल ॥ ५० ॥

राजाके द्वारा नाम तथा वंशके पूछनेपर उस धूम्रपानकर्ता (पुरुष) ने अपनेको स्वर्गाभिलाषी शम्बुक नामक शूद्र बतलाया ॥ ५० ॥

तपस्यनधिकारित्वात्प्रजानां तमघावहम् ।

शीर्षच्छेद्यं परिच्छिद्य नियन्ता शस्त्रमाददे ॥ ५१ ॥



अगस्त्यजीने पीतपूर्व ( पहले पीये गये ) समुद्रके द्वारा अपने छुटकारा के बदलेमें दिये गये देवताओंके ग्रहण करने योग्य अलङ्कारको रामके लिये दिया ॥ ५५ ॥

तं दधन्मैथिलीकण्ठनिर्व्यापारेण बाहुना ।

पश्चाच्चिववृते रामः प्राक्परासुर्द्विजात्मजः ॥ ५६ ॥

तमिति । मैथिली कण्ठनिर्व्यापारेण आलिङ्गनरहितेन बहुना तमलङ्कार दध-  
द्भाम पश्चाच्चिववृते निवृत्त । परासुर्मृतो द्विजात्मज प्राग्रामापूर्वं निववृते ॥ ५६ ॥

सीताके कण्ठके व्यापारसे रहित ( सीताका त्यागकर देनेसे उसके कण्ठका आलिङ्गन नहीं करनेवाले ) बाहु से उस ( अगस्त्यजीके दिये हुए अलङ्कार ) को धारण करते हुये राम पीछे लौटे और मरा हुआ ब्राह्मणका पुत्र पहले लौटा ( रामके वापस आनेके पहले ही ब्राह्मणका मरा हुआ पुत्र जो गया ) ॥ ६५ ॥

तस्य पूर्वोदितां निन्दां द्विजः पुत्रसमागतः ।

स्तुत्या निवर्तयामास त्रातुर्वैवस्वतादपि ॥ ५७ ॥

तस्येति । पुत्रसमागतः पुत्रेण सङ्गतो द्विजो वैवस्वतादन्तकादपि त्रातु रक्षकस्य ।  
‘भीत्रार्थानां भयहेतु’ इत्यपादानापञ्चमी । तस्य रामस्य पूर्वोदितां पूर्वोक्ता निन्दां  
स्तुत्या निवर्तयामास ॥ ५७ ॥

पुत्रसे मिला हुआ वह ब्राह्मण पहले की गयी ( देखें-श्लोक ४३ ) उन ( राम ) की निन्दाको यमराजसे भी बचानेवाले रामकी स्तुतिसे दूर किया । ( पुत्रके जीवित हो जानेपर ब्राह्मणने रामजी की बहुत स्तुति करके पहले जो राम की निन्दा ( देखें श्लोक ४३ ) की थी, उसका परिमार्जन किया ) ॥ ५७ ॥

तमध्वराय मुकाश्वं रक्षःकपिनरेश्वरा ।

मेघाः सस्यमिवाम्भोभिरभ्यवर्षन्नुपायनैः ॥ ५८ ॥

तमिति । अध्वरायाश्वमेघाय मुक्ताश्च त राम रक्षःकपिनरेश्वरा सुग्रीवविभीषणा-  
न्दयो राजानश्च मेघा अम्भोभिः सस्यमिव उपायनैरभ्यवर्षन् ॥ ५८ ॥

( अश्वमेघ ) यशके लिये घोड़ा छोड़े हुए उस रामको राक्षस ( विभीषण आदि ), वानर ( सुग्रीव आदि ) और राजाओं ( भारतवासी अन्य नरेंद्रों ) ने उसप्रकार भेंट दिये, जिस प्रकार मेघ धान्यको जल देता है ॥ ५८ ॥

दिग्भ्यो निमन्त्रिताश्चैनमभिजग्मुर्महर्षयः ।

न भौमान्येव धिष्ण्यानि हित्वा ज्योतिर्मयान्यपि ॥ ५९ ॥

दिग्भ्य इति । निमन्त्रिता आहूता महर्षयश्च भूम्या सम्बन्धीनि भौमानि  
धिष्ण्यानि स्थानान्येव न । ‘धिष्ण्य स्थाने गृहे भेऽग्नौ’ इत्यमर । किन्तु ज्योति-  
र्मयानि नक्षत्ररूपाणि धिष्ण्यान्यपि हित्वा दिग्भ्य एव राममभिजग्मुः ॥ ५९ ॥

( रामके द्वारा ) निमन्त्रित महर्षियों केवल भूमिस्थित निवास-स्थानोंको हा छोड़कर

नामा दिशान्ते रामै वास न्नी जाये किन्तु दिव्य विवास-स्थानोंको भी छोड़कर  
नामा दिशान्ते रामके वास जाये ॥ ५९ ॥

उपशस्यनियिदैस्तेष्वतुर्गारुभी बभौ ।

अयोध्या सुखलोकेव सद्य पैतामही तनुः ॥ ६० ॥

उपशस्येति । अन्तरि द्वारान्तेषु मुखाणि परवासां चतुर्गारुभ्योऽपि । उप-  
शस्येति प्रामाण्येन विवक्षितः । 'प्रामाण्य उपशस्येति स्यात्' इत्यमरः । तेमैर्हर्षिभिः । सद्य  
सुखलोकेन विताम्यस्येन पैतामही तनुर्मुक्तिरिव बभौ ॥ ६० ॥

चार द्वारकपी चार मुणवाकी यह बभौया-पुत्री प्रामाण्यमें झूरी हुए बभू कहिये  
तत्काल लोकस्थिति करनेवाले ( चारमुखवाके ) मन्त्राईं क्षीरार्क समान घोषित होने लगे ।  
इत्यादिप्रस्थानोऽपि विवेक्षाः पश्युः प्रामाण्यवाचितानि ।

अनन्यजानेः सौषासीद्यस्माच्छाया द्विरप्यमी ॥ ६१ ॥

रक्षस्य इति । वैदेह्यास्तत्राग्रेऽपि क्षात्र्यो वर्ण्यं पुंन । कुत्ता । बस्मात् । प्रामाण्य-  
जातीयवस्तुकी बह्वक्षत्र्यविशेषमहाक्षिणा । नास्त्यस्यां शब्दा यत्न तस्यावन्त्यजानेः ।  
'अपचाया विद्' इति समासाम्बो विवक्षितः । पश्युः रामस्य द्विरप्यमी सौख्यम् ।  
'द्विर्वाचनम्' इत्यप्रतिष्ठाप्येन विपातः । सा विज्ञेय चाया वज्ज्यासीत् । अवि-  
वाक्यमेतत् ॥ ६१ ॥

सौषाका त्याग की प्रवृत्तियों का, क्योंकि वज्ज्याज्यमें स्थित उद्धतकीमति (राम)  
की सुखवर्धित रही (सौषा हो) की थी । (सौषाका त्यागकर राममें दूसरा विश्रुत रही  
किन्तु और वज्ज्यमें सुखवर्धित सौषाकी प्रतिमाकी ही अपनी लक्ष्मिप्रीति के त्यागमें रक्षस  
कण्ठमें पूर्ण किया ) ॥ ६१ ॥

विधेरधिकसम्मातस्तथा प्रवृत्ते मन्त्राः ।

आसन्मन्त्र क्रियाविघ्ना राक्षसा एव रक्षिण्य ॥ ६२ ॥

विधेरिति । ततो विधेः आकाशविकसम्मातोऽतिरिच्यमावपरिकरो मन्त्रा प्र-  
वृत्ते प्रवृत्ताः । वज्ज्य मन्त्रे विद्वान्त पुमिरिति विध्याः प्रत्युहाः । 'वज्ज्यैकविवाचनम्'  
इति का । क्रियाविघ्ना अनुष्ठानविघातका राक्षसा एव रक्षिणो रक्षका आसन् ॥

इच्छे वाक्य-विहित विधियों अधिक सामन्यता का बह्विधत्व हुआ, जिस कर्मों  
विघ्न करनेवाले राक्षस ही रक्षक थे ( तो फिर वज्ज्य मन्त्रों निमित्त पूर्ण प्रीतिमें क्या लक्ष्य  
ही लक्ष्य है ) ॥ ६२ ॥

अथ प्राचेतसोपर्व रामायणमितस्तथा ।

मैथिल्यो कृष्णज्यो जगत्तुर्गुणोदितौ ॥ ६३ ॥

अथेति । अथ मैथिल्यो मैथिलीतमयो । 'जीम्यो वज्ज्य' । कृष्णज्यो कृष्ण  
आत्मीयता ओदितौ प्रेरितौ सन्तौ । प्राचेतसो वात्सीकि । उद्धतवत् इत्युक्ता ।

‘आतश्चोपसर्गे’ इति कर्मण्यङ्प्रत्ययः । प्राचेतसस्योपज्ञा प्राचेतसोपज्ञम् । प्राचेतः सेनादौ ज्ञातमित्यर्थः । ‘उपज्ञा ज्ञानमाद्यं स्यात्’ इत्यमरः । ‘उपज्ञोपक्रमं तदाद्या- विख्यासायाम्’ इति नपुंसकत्वम् । अच्यते ज्ञायतेऽनेनेत्येयन, रामस्यायन चरितं रामायण रामायणाख्य काव्यम् । ‘पूर्वपदात्सज्ञायामगः’ इति णत्वम् । उत्तरायण- मिति चत् । इतस्ततो जगत् । गायतेर्लिट् ॥ ६३ ॥

इसके बाद गुरु ( वाल्मीकि मुनि ) की आज्ञासे सीताके पुत्र कुश तथा लव वाल्मीकि मुनि की प्रथम रचना रामायणको श्वर उधर गाने लगे ॥ ६३ ॥

**वृत्तं रामस्य वाल्मीकेः कृतिस्तौ किन्नरस्वनौ ।**

**किं तद्येन मनो हर्तुमलं स्यातां न शृण्वताम् ॥ ६४ ॥**

वृत्तमिति । रामस्य वृत्त वर्ण्यम् । वस्तिवति शेषः । वाल्मीकेः कृति काव्यम्, गेयमिति शेषः । तौ कुशलवौ किन्नरस्वनौ किन्नरकण्ठौ गायकौ, पुनरिति शेषः । अत एव तर्हि येन निमित्तेन तौ शृण्वतां मनो हर्तुमलं शक्तौ न स्याताम् ? सर्व सरसमित्यर्थः ॥ ६४ ॥

( एक तो ) रामका चरितरूप वस्तु ( दूसरे ) वाल्मीकि मुनिकी रचनारूप गान और ( फिर ) किन्नरके समान मधुर कण्ठध्वनिवाले वे दोनों ( कुश तथा लवरूप ) गायक, ( अतएव ), वह क्या वस्तु थी, जो वे दोनों ( कुश तथा लव ) सुननेवालोंके मनको हरण करनेके लिये पर्याप्त ( पूर्णतया समर्थ ) नहीं होते । ( सुन्दर रामका चरित, वाल्मीकि मुनिकी रचनारूपी उत्तम गान तथा किन्नरतुल्य मधुर कण्ठध्वनिवाले वे दोनों गायक—इन सब साधनोंके एकसे एकके उत्तम होनेसे उन दोनों ने सुननेवालोंके मनको हरण कर लिया ) ॥

**रूपे गीते च माधुर्यं तयोस्तज्ज्ञैर्निवेदितम् ।**

**ददर्श सानुजो रामः शुश्राव च कुतूहली ॥ ६५ ॥**

रूप इति । ते जानन्तीति तज्ज्ञा । तंस्तज्ज्ञैरभिज्ञैर्निवेदितं तयोः कुशलवयो- रूपे आकारे गीते च माधुर्यं रामणीयकं सानुजो रामः कुतूहली सानन्द सन् यथासख्य ददर्श शुश्राव च ॥ ६५ ॥

उनके जानकारोंसे बतलाये गये, उन दोनोंके रूप ( शरीर-सौन्दर्य ) तथा गानकी मधुरताको छोटे भाइयोंके साथ कुतूहलयुक्त रामने ( क्रमसे ) देखा और सुना ॥ ६५ ॥

**तद्गीतश्रवणैकाग्र्यं संसदश्रुमुखी वमौ ।**

**हिमनिष्यन्दिनी प्रातर्निर्वातेव वनस्थली ॥ ६६ ॥**

तदिति । तयोर्गीतश्रवणे एकाग्रसक्ताश्रुमुखी । आनन्दादिति भावः । संसत्समा प्रातर्हिमनिष्यन्दिनी निर्वाता वातरहिता वनस्थलीव । वमौ शुश्रुमे । आनन्दपार- वश्याग्निष्पन्दमास्त इत्यर्थः ॥ ६६ ॥

उन दोनोंके गानको सुननेमें आसक्त और ( सीताके स्मरणसे ) आँसुओंको गिराती



हर्षं सप्त प्रत्यङ्मुखैर्विपरित्यज्य कर्तुं हर्षं बाधुद्विष्यन् वयस्त्वयोक्तं समानं शोभितं हर्षं ॥ ११ ॥

वयोवैवर्षिसंवादि रामस्य च तयोस्तथा ।

जनता प्रेक्ष्य साहस्यं नाक्षिकस्यैव्यतिष्ठत ॥ १२ ॥

अथ इति । जनता जनानां समूहः । 'मामजानवन्तुसद्वायैभ्यस्तक इति तत्क-  
ल्पया । वयोवैपास्यामेव विसंवादि विकल्परं तथा तयोः कुसुमवचो रामस्य च  
साहस्यं प्रेक्ष्य । नाक्षिकस्य च यस्मिन्कर्म्मणि तथैवा तथा । नमर्षस्य नम्रस्यैव  
वहुमीहि । व्यतिष्ठतातिष्ठत् । 'समवयवविभ्याः स्था' इत्यत्रमनेपद्म् । विसंवादि-  
नेयमद्याचीवित्यर्थाः ॥ १२ ॥

अथ सम्यक् जनता वयस्त्वा तथा विरते विकल्पेन रायको तथा जन दोषो ( कुसुम  
वच ) को समानताको रेषकर विवस्वन्वते एविव शोकर स्थित हर्षं वयस्य राम तथा वय  
दोषो को समानताको एविव रेषकी एही ॥ १३ ॥

तमयोर्न तथा लोकः प्राचीण्येन विसिम्भिये ।

नृपतेः प्रीतिहासेषु पीतस्पृहयया यथा ॥ १४ ॥

अथयोरिति । कोको अथ वयसो कुमारयोः प्राचीण्येन नैवुभ्येन तथा न विसि-  
म्भिये न विसिम्भित्वा, यथा नृपतेः प्रीतिहासेषु पीतस्पृहयया पीतस्पृह्येन विसिम्भिये ॥

अथ वय दोषो ( कुसुम तथा वच ) को विपुलताते देवा आश्रयित वही हृद, कैला  
पता ( राम ) के प्रीतिहासोर्मे निम्नह मासते आश्रयित हृद ॥ १४ ॥

गोये को नु विनेता वा कस्य चेष्यं कृतिः कथे ।

इति पद्य स्वर्गं पूष्टी ली वास्मीकिमशंसताम् ॥ १५ ॥

यैव इति । गोये पीते को नु वा पुन्योविनेता पिबकः । वृद्ध्या मरने । 'पु-  
न्यतावां वितर्कं च' इत्यमरः । इयं च कस्य कथेः कृतिरिति राज्ञा स्वर्गं वृष्टी ली  
कुसुमवचो वास्मीकिमशंसतामुच्यन्ती विवेतारं कथं विवर्णः । 'गोये केव विनीती  
शाम् इति पाठे वामिति पुन्यवर्णप्रतिपादकमप्यर्थं वृद्ध्याम् । तथा वाचमर्थ-  
केन पुंसा वा पुंसा गोये पीतविषये विनीती पिबिती । कर्मणि निहायनवया ॥ १५ ॥

'प्रम दोषोको विसने गाता विसनया री तथा नह एवमा किञ्च कथिओ री' इति  
राजाके नृपतेवर वय दोषोने वास्मीकिओ वनकावा ॥ १५ ॥

अथ सावच्छो रामा प्राचेतसमुपेयिषान् ।

करीकृतपातमो रेहं राज्यमस्मी न्यवेदयत् ॥ १६ ॥

अथेति । अथ सावच्छो रामा प्राचेतसं वास्मीकिमुपेयिषाग्रता सत् । रेहं  
प्राप्तमाप्त्य ऊरीहृत् अत्रमार्गं स्वापयित्वोवर्णः । राज्यमरमे प्राचेतमात्र न्यवेद-  
यात्समर्पितवात् ॥ १६ ॥

इसके बाद छोटे भाइयोंके सहित रामने वाल्मीकिके पास जाकर अपनी आत्माका स्थापनकर राज्यको इस वाल्मीकि मुनिके लिये समर्पित कर दिया ॥ ७० ॥

**स तावाख्याय रामाय मैथिलेयौ तदात्मजौ ।**

**कविः कारुणिको ववे सीतायाः सम्परिग्रहम् ॥ ७१ ॥**

स इति । करुणा प्रयोजनमस्य कारुणिको दयालुः । 'प्रयोजनम्' इति ठञ् । 'स्याद्दयालु कारुणिकः' इत्यमरः । स कवी रामाय मैथिलेयौ तदात्मजौ रामसुता-वाख्याय सीताया सम्परिग्रह स्वीकार ववे यथाचे ॥ ७१ ॥

दयालु कवि ( आदिकवि वाल्मीकि मुनि ) ने मैथिलीकुमार उन दोनोंको रामके पुत्र बतलाकर रामसे सीताको स्वीकार करनेके लिये याचना की ॥ ७१ ॥

**तात शुद्धा समक्षं नः स्नुषा ते जातवेदसि ।**

**दौरात्म्याद्रक्षसस्तां तु नात्रत्याः श्रद्धुः प्रजाः ॥ ७२ ॥**

तातेति । हे तात ! ते स्नुषा सीता नोऽस्माकमक्ष्णो समीपं समक्षम् । 'अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्य' इति समासान्तष्टच् । जातवेदसि वह्नौ शुद्धा, नास्माकमविश्वास इत्यर्थः । किन्तु रक्षसो रावणस्य दौरात्म्यादत्रत्याः प्रजास्ता न श्रद्धुर्न विश्वश्रुः ॥ ७२ ॥

'हे तात ! आपकी स्नुषा ( पुत्रवधूसमा सीता ) हमारे सामने अग्रिमें शुद्ध हुई है । ( अतएव हमें इसके ऊपर अविश्वास नहीं है, किन्तु ) यहाँ की प्रजाओंने रावणकी दुष्टतासे ( उस अग्निशुद्धिपर ) विश्वास नहीं किया ॥ ७२ ॥

**ताः स्वचारित्रमुद्दिश्य प्रत्याययतु मैथिली ।**

**ततः पुत्रवतीमेनां प्रतिपत्स्ये त्वदाज्ञया ॥ ७३ ॥**

ता इति । मैथिली स्वचारित्रमुद्दिश्य ताः प्रजाः प्रत्याययतु विश्वासयतु । विश्वासस्य वृद्धिरूपत्वात् 'णौ गमिरवोधने' इति ह्णो गम्यादेशो नास्ति । ततोऽनन्तर पुत्रवतीमेनां सीतां त्वदाज्ञया प्रतिपत्स्ये स्वीकरिष्ये ॥ ७३ ॥

( अतएव यह ) अपने चरित्र ( सदाचार ) का लक्ष्यकर उन प्रजाओंको विश्वास दिलावे, तब मैं पुत्र सहित इस ( सीता ) को आपकी आज्ञासे स्वीकार करूँगा ॥ ७३ ॥

**इति प्रतिश्रुते राज्ञा जानकीमाश्रमान्मुनिः ।**

**शिष्यैरानाययामास स्वसिद्धिं नियमैरिव ॥ ७४ ॥**

इतीति । राज्ञेति प्रतिश्रुते प्रतिज्ञाते सति मुनिराश्रमाज्जानकीं शिष्यैः प्रयोज्यैः स्वसिद्धिं स्वार्थसिद्धिं नियमैस्तपोभिरिव आनाययामास ॥ ७४ ॥

पेसा ( ७२-७३ श्लोकोक्त रीति से ) राजा ( राम ) के प्रतिज्ञा करनेपर मुनिने तपस्याओंसे अपनी सिद्धिके समान सीताको शिष्योंसे बुलवाया ॥ ७४ ॥

अन्येषुरथ काकुत्स्थः सधिपात्य पुरीकसः ।

कविमाहाययामास प्रस्तुतप्रतिपत्तये ॥ ७५ ॥

अन्येषुरिति । अथ काकुत्स्थो रामः । अन्येषुरन्वसिमवाहिनि प्रस्तुतप्रतिपत्तये  
प्रकृतकाव्यानुसन्धानात् पुरीकसः पौराण्य सधिपात्य मेकविद्या कवि वात्सीकिमा-  
हाययामासात्कारयामास ॥ ७५ ॥

इसके बाद रामने दूसरे दिन उपस्थित कर्षकी तिथिके दिने अपरप्रतिपत्तये  
प्रकृतिकर कवि ( वात्सीकि ) को बुलवाया ॥ ७५ ॥

स्वरसंस्काररत्नासी पुत्राभ्यामथ सीतया ।

कृत्वेवोर्ध्विर्धं सूर्यं धर्मं मुनिवपस्थितः ॥ ७६ ॥

स्वरेति । अथ स्वर उदात्तादि । सत्कारः कर्षकृदि उदात्ता आवासाणि  
मोर्ध्विर्धं सूर्यमिव पुत्राभ्यामुपकथितया सीतया कर्त्तव्योर्ध्विर्धं राममसी मुनि-  
वपस्थित उपपत्तये ॥ ७६ ॥

( कदाच आदि ) स्वरको सुनिसे पुत्र आवा ( सावित्री ) से ऐश्वर्य सूर्यके समान  
उपपुत्र सीतसे ऐश्वर्य रामके पास वात्सीकि मुनि उपस्थित हुए ॥ ७६ ॥

कापायपरिशीतन स्वपदार्पितचक्षुषा ।

अन्वमीपत घ्राणेति घ्राण्येन वपुषैव सा ॥ ७७ ॥

कापावेति । कषायेन रक्षं कषायम् । 'तेन रक्षं रागात्' इत्यम् । तेन परि-  
शीतेन संवृतेन स्वपदार्पितचक्षुषा घ्राण्येन प्रसवेन वपुषैव सा सीता तुष्टा घ्राणी-  
त्यन्वमीपताजुमिता ॥ ७७ ॥

ऐसना वहन हुए अपने बैरपर इति काके हुए घ्राण्य उदीरते ही स्त्र ( सीता )  
हुए हैं ऐस अनुमान ( ओरोओ बात ) हुआ ॥ ७७ ॥

अन्वस्त्वदासोकपयाप्रतिसंहृतचक्षुषा ।

तस्थुस्तेऽपाध्युलाः सर्वे फलिता इव शासनाः ॥ ७८ ॥

अना इति । तस्याः सीतायाः कर्मण आसोकपयाहर्षनमायाव्यतिसंहृतचक्षुषौ  
विचर्तितदृष्ट्याः सर्वे अनाः फलिताः काकय इव अवाक्यमुदा अवचतमुवास्तत्त्वा ॥

सीताओ ईशनेसे अनयो इति ईशने हुए सब ओरोओ फले हुए आनन्दे तयान  
( नवने-अनने ) मुन्धो नीचे कर लिया ॥ ७८ ॥

तां दृष्टिविषये मर्तुर्मुनिवस्थितविष्टः ।

हुरु निःशंभयं यत्से स्ववृत्ते लोकात्मित्यशङ्कः ॥ ७९ ॥

तामिति । आस्थितविष्टोऽविष्टितासको मुनिः द्वे वाते । मर्तुर्दृष्टिविषये समर्थ  
स्ववृत्ते स्वचरिते विषये लोकनिर्वाहार्थं बुद्धः इति तां सीतामवाप्याति राम ॥ ७९ ॥

आसनपर बैठे हुए मुनिने 'हे वत्से ! पति (राम) के सामने अपने सदाचारके विषयमें लोगोंको सन्देशरहित करो' ऐसा सीतासे कहा ॥ ७९ ॥

अथ वाल्मीकिशिष्येण पुण्यमावर्तितं पयः ।

आचम्योदीरयामास सीता सत्यां सरस्वतीम् ॥ ८० ॥

अथेति । अथ वाल्मीकिशिष्येणावर्तितं दत्तं पुण्यं पूतं पयो जलमाचम्य सीता सत्या सरस्वतीं वाचमुदीरयामासोष्णारयामास ॥ ८० ॥

इसके बाद वाल्मीकिके शिष्यके द्वारा दिये गये पवित्र जलसे आचमनकर सीताने सत्य वचन कहा—॥ ८० ॥

वाङ्मनःकर्मभिः पत्यौ व्यभिचारो यथा न मे ।

तथा विश्वम्भरे देवि मामन्तर्धातुमर्हसि ॥ ८१ ॥

वागिति । वाङ्मनः कर्मभिः पत्यौ विषये मे व्यभिचारः स्खलित्य न यथा नास्ति यदि तथा तर्हि । विश्व विभर्तीति विश्वम्भरा भूमि । 'सज्ञायां भृतृ—' इत्यादिना खचप्रत्यय । 'अरुद्धिपद—' इत्यादिना मुमागम । हे विश्वम्भरे देवि ! मामन्तर्धातु गर्भे वासयितुमर्हसि ॥ ८१ ॥

वचन, मन और कर्मसे पतिके विषयमें यदि मैं स्खलित नहीं हुई हूँ, तब हे मात (वसुन्धरे) मुझे अन्तर्हित कर लो अर्थात् अपने भीतर मुझे समा लो ॥ ८१ ॥

एवमुक्ते तथा साध्या रन्ध्रात्सद्योभवाद् भुवः ।

शातहृदमिव ज्योतिः प्रभामण्डलमुद्ययौ ॥ ८२ ॥

एवमिति । साध्या पतिव्रतया तथा सीतयैवमुक्ते सति सद्योभवाद् भुवो रन्ध्राच्छातहृद वैद्युत ज्योतिरिव प्रभामण्डलमुद्ययौ ॥ ८२ ॥

पतिव्रता सीताके ऐसा कहनेपर तत्काल फटती हुई पृथ्वीसे विजुलीके समान प्रभासमूह ऊपर निकला ॥ ८२ ॥

तत्र नागफणोत्क्षिप्तसिंहासननिपेदुषी ।

समुद्ररशना साक्षात्प्रादुरासीद्वसुन्धरा ॥ ८३ ॥

तत्रेति । तत्र प्रभामण्डले नागफणोत्क्षिप्ते सिंहासने निपेदुष्यासीना समुद्ररशना समुद्रमेखला साक्षात् । वसूनि धारयतीति वसुन्धरा भूमि । 'खचि ह्रस्व' इति ह्रस्व । प्रादुरासीत् ॥ ८३ ॥

उस प्रभासमूहमें सर्पकी फणासे ऊपर उठाये हुए सिंहासनपर बैठी हुई समुद्ररूपी कर्धनीवाली साक्षात् पृथ्वी प्रकट हुई ॥ ८३ ॥

सा सीतामङ्कमारोप्य भर्तृप्रणिहितेक्षणाम् ।

मा मेति व्याहरत्येव तस्मिन्पातालमभ्यगात् ॥ ८४ ॥

सेति । सा वसुधरा भर्तरे प्रविहितेक्ष्मां वृषद्विं सीतामहमारोच्य तस्मिन्  
भर्तरे रामे मा भेति मा हरेति व्याहरति वक्ष्येव व्याहरन्तमवाहयेत्कर्त्ता । 'प्री  
वानादौ' इति सप्तमी । पाताकमभ्ययात् ॥ ८३ ॥

यद् माता पुत्री पतिव्यो वैकृती इव सीताव्यो भोदये रक्षकर रामके 'नही, नही' अये  
रक्षेपर भी उनके निवेकव्यो कपेछा करके पाताक बनी गयी ॥ ८४ ॥

वरापां तस्य संरम्भं सीताप्रत्यर्पणैषिणः ।

शुचिर्षिषिषकापेक्षी धामयामास अम्बिनः ॥ ८५ ॥

वरापामिति । सीताप्रत्यर्पणमिच्छतीति तथोक्तम् अम्बिनः आसन्नपुत्रत्वात्  
रामस्य वरापां विषये संरम्भं विषिषकापेक्षी वैषम्यविह्वली शुचिर्माता तनयामास ।  
अवहवम्मात्री विधिरिति माता ॥ ८५ ॥

सीताके प्रत्यर्पण ( वापसी ) चाहनेवाले वसुधारी रामके शोकव्यो विविके दिवाव्यो कीरे  
नही तक लज्जा पैठा जाननेवाले बहिष्क कीर वापसीदिने जान्य दिया ॥ ८५ ॥

अक्षीप्तिवस्तुन्य यज्जाले सुहृद्व्य पुरस्तुतान् ।

रामः सीतागत स्नेहं निवृत्ते तद्व्यत्ययोः ॥ ८६ ॥

अक्षीमिति । रामो यज्जाले पुरस्तुतान्प्रवितावृष्णीन्वाक्सीन्पाद्विभुहृद्व्य निवी  
यज्जाले विवृत्त्य सीतागत स्नेहं तद्व्यत्ययोः सुहृद्व्यत्ययोर्विद्वे ॥ ८६ ॥

राम वज्जे अन्तरे लज्जा सुमित्रो तथा मित्रोव्यो विताव्य सीता विवृत्त्य स्नेह वर्यो  
पुत्रोमें करके क्ये ॥ ८६ ॥

पुत्राक्षितञ्च सम्प्रेषात्स वेद्यं सिन्धुनामकम् ।

वदौ वृत्तप्रमावाय भरताय सुतप्रजः ॥ ८७ ॥

पुत्रेति । सिद्धः । सुतप्रजा स रामो पुत्राक्षितो भरतमातुल्यम् सम्प्रेषात्सिन्धु-  
नामकं वेद्यं वृत्तप्रमावाय वृत्तप्रजाय रामेभेति शेषः । भरताय वदौ ॥ ८७ ॥

प्रमत्तञ्च राकम् करते बुध रामो पुत्राक्षित ( भरत के माता ) के कहतेसे 'सिन्धु नामक  
वेद्यको रामसे प्रमावित भरतके दिव्य दिया ॥ ८७ ॥

भरतस्तत्र गन्धर्वाण्युधि निर्जित्य केवलम् ।

आतोर्ध्वं ब्राह्मणमास समत्याजयद्वायुधम् ॥ ८८ ॥

भरत इति । तत्र सिन्धुवैद्यो भरतोऽपि बुधि गन्धर्वाण्युधिर्य केवलमेवमातोर्ध्वं  
वीमाय । 'तत्त वीमादिकं वाद्यमातर्ध्वं मुरजादिकम् । वंदादिकं तु सुधिरं कंठवत्-  
कादिकं वजम् ॥ अनुविधमिदं वाद्यं वादिजातोद्यनामकम् ॥ इत्यमरः । प्रमा-  
यामास । वायुर्ध्वं समत्याजयत्प्रवितावृत्तिवत् । ब्रह्मिण्यज्योर्ध्वन्तर्ध्वोर्ध्वकर्मकरं निज-  
मित्यनुध्यायेवम् ॥ ८८ ॥

वहाँ (गान्धर्व देशके) भरतने युद्धमें सब गन्धर्वोंको जीतकर उनसे केवल वीणा हण कराया और शस्त्रका ग्रहण करना छुड़ा दिया । (भरतसे पराजित गन्धर्वोंने फिर वीणा युद्धमें शस्त्रको नहीं ग्रहण किया, किन्तु सदा गान करनेके लिये केवल वीणा ग्रहण किया) ॥ ८८ ॥

**स तक्षपुष्कलौ पुत्रौ राजवान्योस्तदाख्ययोः ।**

**अभिषिच्यामिपेकाह्वौ रामान्तिकमगात्पुनः ॥ ८९ ॥**

स इति । स भरत । अभिपेकाह्वौ तक्षपुष्कलौ नाम पुत्रौ तदाख्ययोः, तक्षपुष्कलाख्ययोरित्यर्थः । पुष्कल पुष्कलावत्या तक्ष तक्षशिलायामिति राजधान्योर्नगरयोर्मिषिच्य पुनः रामान्तिकमगात् ॥ ८९ ॥

वे भरत राज्याभिषेकके योग्य 'तक्ष' तथा 'पुष्कल' नामक अपने पुत्रोंको उनके नामसे प्रसिद्ध 'तक्षशिला' और 'पुष्कलावती' नामकी दो राजधानियोंमें क्रमशः अभिषिक्तकर फिर रामके पास लौट आये ॥ ८९ ॥

**अङ्गदं चन्द्रकेतुं च लक्ष्मणोऽप्यात्मसम्भवौ ।**

**शासनाद्रघुनाथस्य चक्रे कारापथेश्वरौ ॥ ९० ॥**

अङ्गदमिति । लक्ष्मणोऽपि रघुनाथस्य रामस्य शासनादङ्गद चन्द्रकेतुं च तदाख्यावात्मसम्भवौ पुत्रौ । कारापथो नाम देशः । तस्येश्वरौ चक्रे ॥ ९० ॥

लक्ष्मणने भी रामके आदेशसे 'अङ्गद' तथा 'चन्द्रकेतु' नामक अपने पुत्रोंको 'कारापथ' (नामक देश) का स्वामी बना दिया ॥ ९० ॥

**इत्यारोपितपुत्रास्ते जननीनां जनेश्वराः ।**

**भर्तृलोकप्रपन्नानां निवापान्विदधुः क्रमात् ॥ ९१ ॥**

इतीति । इत्यारोपितपुत्रास्ते जनेश्वरा रामादयो भर्तृलोकप्रपन्नानां स्वर्गात्तानां जननीनां क्रमाभिवापान्विदधादीन्विदधुश्चक्रुः । 'पितृदानं निवाप स्यात्' इत्यमरः ॥

इस प्रकार (श्लो० ८७-९०) पुत्रोंको (पूर्वोक्त देशोंमें) स्थापितकर उन प्रजारक्षकों (राम आदि चारों भाइयों) ने पतिलोकको प्राप्त (मरी हुई) माताओंके क्रमशः तर्पणों (आहुति आदि पारलौकिक कर्मों) को किया ॥ ९१ ॥

**उपेत्य मुनिवेषोऽथ कालः प्रोवाच राघवम् ।**

**रहसंवादिनौ पश्येदावां यस्तं त्यजेरिति ॥ ९२ ॥**

उपेत्येति । अथ कालोऽन्तर्को मुनिवेषः सन्नुपेत्य राघव प्रोवाच । किमित्याह—रहस्येकान्ते संवादिनौ सम्भाषिणावावां यः पश्येत् । रहस्यमङ्ग कुर्यादित्यर्थः । तस्यजेरिति ॥ ९२ ॥

इसके बाद काल अर्थात् मृत्युने मुनिका वेष धारण कर रामके पास आकर 'एकान्तमें,

वांतांवाप करते हुए हम दोनोंको जो थोड़े देके, वसना तुम त्याग कर देना" ऐसा कहा ॥ ११ ॥

तथेति प्रतिपन्नाय विधुतात्मा नृपाय सः । -

माधव्यौ दिवमभ्यास्य शासनात्परमेष्ठिनः ॥ १२ ॥

तथेतीति । स काकस्तथेति प्रतिपन्नाय नृपाय रामाय विधुतात्मा प्रकण्ठि-  
निवस्थकया सन् । परमेष्ठिनो महात्मा शासनादिवमभ्यासेत्याचक्षौ ॥ १२ ॥

वस ( काक ) मे भैया दो दो वस प्रकार स्वीकार किये हुए रामसे अपना कर प्रक-  
रके 'महादे' नारेष्ठते जब भाप स्वयंको बर्ने ऐसा कहा ॥ १२ ॥

विद्वानपि तथोर्द्धास्याः समग्र कक्षमणोऽमिनत् ।

मीतो दुर्वाससाः शापाद्भामसम्पर्शानार्थिनः ॥ १३ ॥

विद्वानिति । हात्स्यो ह्यसि विपुल्यो कक्षमणो विद्वानपि पूर्वस्थोकोक्तं जानन्नपि  
रामसम्पर्शार्थिनो दुर्वाससो मुनेः सापनीया सन् । तयोः काकरामणो समग्रं  
संवाहममिनत् विमेत् ॥ १३ ॥

हात्पर स्थित हुए कक्षमणे - ( राम तथा मुनिवैपी कक्षकी कर्तव्ये ) जानते हुए भी  
रामके दर्शनको चाहनेवाके दुर्वास कक्षिके सापसे बरकर बस होता ( राम तथा काक )  
के संवादको विव कर दिया । ( परस्पर माण्य करते हुए उन दोनोंके सानने काकर कर्ण  
वाचा बल ही ) ॥ १४ ॥

स गत्वा सरपूतीरं देहस्यामेन योषवित् ।

कक्षापवित्रयां ध्यतुं प्रतिज्ञां पूर्वकर्मणः ॥ १५ ॥

स इति । योगविद्योगममनिही स कक्षमणः सरपूतीरं गत्वा देहस्यामेन पूर्व-  
कर्मणो भ्रातुं प्रतिज्ञामविवर्त्तयां सत्वां ककार ॥ १५ ॥

मेनके शाठा वत कक्षमणे सरपू' नदीके तटपर जाकर शरीर-त्याग करनेसे रहे  
पार्य ( राम ) को प्रतिका ( बैठे इको १२ १३ ) को सत्य किया ॥ १५ ॥

तस्मिन्पारमचतुर्भागे प्राङ्नाकमधितस्तुपि ।

पादबन्धं शिथिलं तस्यौ भुवि धर्मक्षिपादिव ॥ १६ ॥

तस्मिन्निति । चतुर्थो भागचतुर्भागाः । संख्याधर्मस्य वृत्तिविषये पुरजार्थैर्ब-  
धतांशवत् । आत्मचतुर्भागे तस्मिन्नाकमये प्राङ्नाकमधितस्तुपि पूर्व स्वर्गं बभूवुः  
सति रामश्च रामा । भुवि क्षिपाद्धर्म इव शिथिलं तस्यौ । पादक्षिपको हि शिथिलं  
विहतीति भावः । शैतानां धर्मक्षिपादित्वाद्वा । पादचतुर्बाधा बहुविध ध्वन्यते ।  
'पादा ररम्यवप्रितुर्पाद्या' इत्यमरः । अथ पादा पत्न्यासी क्षिपात् । 'संख्याधु-  
र्धेयं' इत्यकारकोपा समासमत्ताः ॥ १६ ॥

अपने चतुर्बाध ( नीचते दिस्ता ) वस ( कक्षमण ) के बहने स्वयंसे जानेपर राम दुष्टी  
पर तीन पादवाके धर्मने सत्वाय शिथिल रह्ये को । ( शैता मुनये धर्मके तीन पाद होनेसे

वह शिथिल होकर रहता है, तीन पादवाले, व्यक्तिका एक पादसे हीन होनेपर शिथिल रहना स्वामाविक ही है ) ॥ ९६ ॥

स निवेश्य कुशावत्यां रिपुनागाङ्कुश कुशम् ।

शरावत्यां सतां सूक्तैर्जनिताश्रुलव लवम् ॥ ९७ ॥

उदक्प्रतस्थे स्थिरधीः सानुजोऽग्निपुरःसरः ।

अन्वितः पतिवात्सल्यात् गृहवर्जमयोध्यया ॥ ९८ ॥

स इत्यादीति । युग्मम् । स्थिरधी स राम । रिपव एव नागा गजास्तेषामङ्कुशं निवारक कुश कुशावत्यां पुर्यां निवेश्य स्थापयित्वा । सूक्तै समीचीनवचनैः सतां जनिता अश्रुलवा अश्रुलेशा येन त लव लवाख्यं पुत्रम् । 'लवो लेदो विलासे च छेदने रामनन्दने' इति विश्व । शरावत्या पुर्याम् । 'शरादीना च' इति शरकुशशब्दयोर्द्विव । निवेश्य सानुजोऽग्निपुरःसर सन् । पत्यौ भर्तरि वात्सल्यादनुरागात् । गृहान्वर्जयित्वा गृहवर्जम् 'द्वितीयायां च' इति णमुल् । अय क्वचिदपरीप्सायामपीष्यते । 'अनुदात्तं पदमेकवर्जम्' इत्येकाच शेषतया व्याख्यातत्वात् । परीप्सा स्वरा । अयोध्ययाऽन्वितोऽनुगत उदक्प्रतस्थे ॥ ९७-९८ ॥

स्थिर बुद्धिवाले वे राम शत्रुरूपो हाथीके अङ्कुशभूत कुशको 'कुशावती' में तथा सुन्दर वचनोंसे सज्जनोंके नेत्रोंमें आँसू लानेवाले ( सज्जनोंको रुलानेवाले ) लवको 'शरावती' में स्थापित कर छोटे भाईयोंके सहित हो, अग्निको आगे लिये हुए, स्वामी ( राजा ) में स्नेह होनेसे घर छोड़कर अयोध्यासे युक्त होकर उत्तर दिशाको चले ॥ ९७-९८ ॥

जगृहस्तस्य चित्तज्ञाः पदवीं हरिराक्षसाः ।

कदम्बमुकुलस्थूलैरभिवृष्टां प्रजाऽश्रुभि ॥ ९९ ॥

जगृहुरिति । चित्तज्ञा हरिराक्षसा कदम्बमुकुलस्थूलै प्रजाऽश्रुभिरवृष्टां तस्य रामस्य पदवीं मार्गं जगृहु, तेऽप्यनुजगमुरित्यर्थ ॥ ९९ ॥

रामके चित्तको जाननेवाले वानरों तथा राक्षसों ने कदम्बपुष्पकी कलिकाके समान वही-वही ( वूँदवाली ) प्रजाको आँसुओंसे भीगे हुए मार्गको ग्रहण किया अर्थात् रामके पीछे वानर तथा राक्षस भी चले ॥ ९९ ॥

उपस्थितविमानेन तेन भक्तानुकम्पना ।

चक्रे त्रिदिवनिश्रेणिः सरयूरनुयायिनाम् ॥ १०० ॥

उपस्थितेति । उपस्थित प्राप्त विमान यस्य तेन । भक्तानुकम्पत इति भक्तानुकम्पना । तेन रामेणानुयायिनां सरयूस्त्रिदिवनिश्रेणि स्वर्गाधिरोहणी चक्रे । 'निश्रेणिस्त्वधिरोहणी' इत्यमर ॥ १०० ॥



गतांशान् करतुं ह्यहं ह्यमोहोन्नी को मोहं देहे कस्यवा ह्यम त्याग्य कर देना' ऐसा कहा ॥ ११० ॥

तथेति प्रतिपन्नाय विवृतारमा नृपाय सः ।

व्यासकथौ विवमध्यास्य द्यासनात्परमेष्ठिनः ॥ १३ ॥

तथेतीति । स काकस्तथेति प्रतिपन्नाय नृपाय रामाय विवृतारमा प्रकाशित-  
मित्रस्वरूपा सख् । परमेष्ठिनो ब्रह्मणा द्यासनाद्विवमध्यास्येत्याश्रयकथौ ॥ १३ ॥

अथ ( काक ) ने 'वैसा ही हो इस प्रकार लीकार किन्ने हुए समझे नचना रूप प्रका-  
शक है 'ब्रह्म'ने बाँधेहुते जब जाय स्वर्ग'में वहीं' ऐसा कहा ॥ १३ ॥

विद्वानपि तयोर्द्वौभ्याः समर्थकश्चमयीऽमिमत् ।

मीतो दुर्वाससा द्यापाद्भामसम्पर्शानार्थिना ॥ १४ ॥

विद्वानिति । द्यात्सो द्वारि विपुष्टो कश्मलो विद्वानपि पूर्वरक्षोकोष्ठं काकद्वि-  
रामसम्पर्शानार्थिको दुर्वाससो मुनेः क्षापात्नीता सख् । तयोः काकभामयोः समर्थ-  
संबाधमिमम् विभेद् ॥ १४ ॥

द्वारपर स्थित हुए कश्मलने -( राम तथा मुनिवैरी काक'को धर्म'में ) बाधते हुए भी  
रामके दर्शन'में बाधनेवाले दुर्वास' काविधे क्षापते करकर बन होना ( राम तथा काक )  
के संबाध'को विभ कर दिया । ( परस्पर बाधन करते हुए बन ही'में'के सामने बाधकर कर्त्ते  
बाधा बाध ही ) ॥ १४ ॥

स यत्वा सरयूतीरं वेदस्थानेन योयवित् ।

अक्यापवितर्थां भ्रातृ प्रतिज्ञां पूर्वज्ञमन ॥ १५ ॥

स इति । योगविद्योगममविही स कश्मलाः सरयूतीरं गत्वा वेदवायेन पूर्व-  
जन्मनो भ्रातृ प्रतिज्ञामवितर्थां सत्वां ककार ॥ १५ ॥

योग'के बाधा कत कश्मल'ने 'सरयू' नदी'के तट'पर जाकर 'घटित'त्वा'न करने'में गये  
भ्रातृ ( राम ) 'को प्रतिज्ञा ( देते' वने '१२ १३' ) 'को सत्य किया ॥ १५ ॥

तस्मिन्भारमभ्यतुमंगि प्राङ्नाकमभितस्थुषि ।

राघव शिषिस्तस्यौ मुषि धर्मक्षिपाविय ॥ १६ ॥

तस्मिन्निति । अतुर्यो भागवतुर्मायः । संवत्सासम्पत्स्य वृत्तिरिषये पुरमाज्ज्व-  
लतांशवत् । आत्मवतुर्माये तस्मिन्नात्मने प्राङ्नाकमभितस्थुषि पूर्व स्वर्गं आमुषि  
मति राघवो रामः । मुषि निपाज्जर्म ह्य किञ्चित् तरसी । नाद्विकट्ये हि किञ्चित्  
तिष्ठतीति भावः । प्रेताणां धमक्षिपावित्वाङ्गः । पादवतुर्माया अङ्गिज्ज प्यम्बते ।  
'पादा ररम्ब'अङ्गिमुर्वास' इत्यमरः । तस्यः पादा यत्वासी निपात् । संवत्सासम्प-  
त्स्य इत्यकारकोपा समासालता ॥ १६ ॥

जगने अतुर्य'य ( बीमार' हिरा ) कत ( कश्मल ) 'के पहले स्वर्ग'में जाने'पर राम 'स्वर्ग'  
पर हीन पाद'वाके चर्म'के समाज 'प्रिविज' लये कने । ( वेदा मुचने चर्म'के हीन पाद ही'में

## षोडशः सर्गः

अथेतरे सप्त रघुप्रवीरा ज्येष्ठं पुराजन्मतया गुणाश्च ।

चक्रुः कुशं रत्नविशेषभाजं सौभ्रात्रमेषां हि कुलानुसारि ॥ १ ॥

वृन्दारका यस्य भवन्ति मृक्का मन्दाकिनी यन्मकरन्दविन्दुः ।

तवारविन्दाक्ष पदारविन्द वन्दे चतुर्वर्गचतुष्पद तत् ॥

अथेति । अथ रामनिर्वाणानन्तरमितरे लवादयः सप्त रघुप्रवीराः पुरः पूर्वं जन्म यस्य तस्य भावस्तत्ता तथा । गुणैश्च ज्येष्ठं कुश रत्नविशेषभाजं तत्तद्वैष्टवस्तुभागिनं चक्रुः । तदुक्तम्—‘जातौ जातौ यदुत्कृष्टं तद्गतमभिधीयते’ इति । तथा हि, सुभ्रा-  
तृणां भावः सौभ्रात्रम् । ‘हायनान्त्युवादिभ्योऽण्’ इत्यनेन युवादित्वादण्प्रत्ययः ।  
एषां कुशलवादीनीं कुलानुसारि वशानुगत हि ॥ १ ॥

अमर जिसके अमर हैं औ जाह्नवी मकरन्दकण ।

चतुर्वर्गके चतुष्पाद उस पद्यपादको है नमन ॥

इसके ( रामके स्वर्गारोहणके ) बाद रघुवशिश्रेष्ठ अन्य सातों ( राम पुत्र लव, भरत पुत्र तक्ष और पुष्कल, शत्रुघ्न-पुत्र सुबाहु और बहुश्रुत ) ने पहले जन्म लेनेसे तथा गुणोंसे श्रेष्ठ कुशको उत्तमोत्तम रत्न दिये, क्योंकि इन ( रघुवशियों ) का सद्भ्रातृभाव कुलक्रमगत ( खान्दानी ) होता है ॥ १ ॥

ते सेतुवार्तागजवन्धमुख्यैरभ्युच्छिताः कर्मभिरप्यवन्धैः ।

अन्योन्यदेशप्रविभागसीमां वेलां समुद्रा इव न व्यतीयुः ॥ २ ॥

त इति । सेतुर्जलबन्ध । वार्ता कृपिगोरक्षणादिः ‘वार्ता कृप्याद्यद्वन्तयोः’ इति विश्व । गजवन्ध आकरेभ्यो गजग्रहण ते मुख्य प्रधान येषां तैरवन्धैः सफलैः कर्म-  
भिरभ्युच्छिता, अतिसमर्था अपीत्यर्थः । ते कुशादयः । प्रविभज्यन्त इति प्रविभागा  
अन्योन्यदेशप्रविभागानां या सीमा ताम् । वेला समुद्रा इव । न व्यतीयुर्नाति-  
चक्रमु । अत्र कामन्दक—‘कृपिर्वणिक्पथो दुर्गं सेतु कुक्षरवन्धनम् । खन्याकर-  
धनादानं शून्यानां च निवेशनम् ॥ अष्टवर्गमिमं साधु स्वयं वृद्धोऽपि वर्धयेत् ॥’  
इति ॥ २ ॥

नदी अदिका बाँध बनवाना, खेती तथा गोपालन आदि करना तथा आकरोंसे हाथियों को ग्रहण करना आदि सफल क्रमोंसे अत्यन्त समृद्धियुक्त भी वे ( कुश आदि ) परस्परके देशके विभाजनकी सीमाका उल्लङ्घन उस प्रकार नहीं करते थे, जिस प्रकार समुद्र तटका उल्लङ्घन नहीं करता ॥ २ ॥

चतुर्भुजांशप्रभवः स तेषां दानप्रवृत्तेरनुपारतानाम् ।

सुरद्विपानामिव सामयोनिर्मिश्रोऽष्टधा विप्रससार वंशः ॥ ३ ॥

विमाक्यो प्राक्त मत्तस्तस्य कस्य रामने अनुगमन करीवालों ( अपने पीछे जानेवाले  
बाबुरों राज्यों तथा अधीनशासी प्रजाओं ) के किन्हीं सरभूषों स्वर्णकी छोटी क्का की  
जगति रामके पीछे जो-जो व्यक्ति सरभूषणर जाने वे उन जनजाति ही स्वर्णमें गुँथ गये ।

पद्मोपतरकस्पोऽभूत्सम्मर्षस्तत्र मञ्जताम् ।

अतस्तद्वाक्यया तीर्थं पावनं मुनिः पश्ये ॥ १०१ ॥

परिति । पद्मस्मात्तत्र सरम्भा मञ्जता सम्मर्षः गोपतरो गोपतरावम् । तत्कथ्यो  
भूत् । अतस्तद्वाक्यया गोपतराव्यया पावनं क्षोभकं तीर्थं मुनिः पश्ये ॥ १ ॥

जिस कारण वहाँ (सरभूषों) स्नान करनेवालोंकी पीढ़ पीढ़ी सरकतासे ठेरकेके समान  
हई, इस कारण पृथ्वीपर वह 'गोपतर' नामसे प्रसिद्ध पवित्र तीर्थ हो गया ॥ १ ॥

स विनुविशुषांशेषु प्रतिपञ्चात्ममूर्तिषु ।

त्रिवन्दीमूतपौराणां स्वर्गान्तरमकल्पयत् ॥ १०२ ॥

स इति । विनुः प्रभुः स रामो त्रिवन्दीवर्ण्येषु सुधीवादिषु प्रतिपञ्चात्ममूर्तिषु  
सम्पु त्रिवन्दीमूला देवसुवर्णयता ये पौरास्तेषां वृत्तमनुस्मृत्वा स्वर्गान्तरमकल्पयत् ॥

सर्वसमर्थ कस रामने देवों के अंतमृत सुधीव आदि के जगती-जगती मूर्ति (पूर्व देवताओं)  
को प्रसन्न कर देनेपर मैंने देव वने हुए नगरवासीयोंके किन्हीं दूतरा स्वर्ग बनाया ॥ १ ॥

निर्वर्त्यैव ब्रह्ममुक्ताधिरक्षेत्रकार्यं सुराणां

विष्णुपसेवा स्वतनुमविद्यास्वर्गलोकाप्रतिष्ठाम् ।

कङ्कानाथं पवनतनयं चोमयं स्थापयित्वा

कीर्तिस्तम्भद्वयमिव गिरी वक्षिणे चोत्तरे च ॥ १०३ ॥

निर्वर्त्यैति । विष्णुपसेवा विष्णुरेवं सुराणां ब्रह्ममुक्ताधिरक्षेत्रकार्यं निर्वर्त्यैति  
प्याय । कङ्कानाथं विभीषणं पवनतनयं हनुमन्तं चोमयं कीर्तिस्तम्भद्वयमिव । वं  
क्षिमे गिरी विष्णुके चोत्तरे गिरी हिमवति च स्थापयित्वा । सर्वलोकाप्रतिष्ठां सर्वलो  
कात्मजभूतां स्वतनुं स्वमूर्तिमविषय ॥ १ ॥

इति कङ्कानाथीव्याकथायां श्रीरामस्वर्गारोहणो नाम पञ्चदशः सर्गः ॥ १५ ॥



इस प्रकार विष्णु जनजातमें रामके वचन देकराव्यो पूरा कर कङ्कानाथ (विभीषण)  
तथा पवनकुमार हनुमान को ही कीर्तिलम्बीके समान दक्षिणवर्ण (विष्णुदूर) तथा उत्तर  
वर्ण (हिमवत) पर स्थापित कर समस्त संसारके आत्मजभूत अपने शरीरमें ब्रह्म दिया है

इत प्रकार 'अभिषेक' टीका में बचरय सर्व समाप्त हुआ ॥ १५ ॥

## षोडशः सर्गः

अथेतरे सप्त रघुप्रवीरा ज्येष्ठं पुराजन्मतया गुणाश्च ।

चक्रुः कुशं रत्नविशेषभाजं सौभ्रात्रमेषां हि कुलानुसारि ॥ १ ॥

वृन्दारका यस्य भवन्ति भृङ्गा मन्दाकिनी यन्मकरन्दविन्दुः ।

तवारविन्दात्त पदारविन्द वन्दे चतुर्वर्गचतुष्पद तत् ॥

अथेति । अथ रामनिर्वाणानन्तरमितरे लवादयः सप्त रघुप्रवीराः पुर पूर्व जन्म यस्य तस्य भावस्तत्ता तथा । गुणैश्च ज्येष्ठं कुश रत्नविशेषभाजं तत्तच्छ्रेष्ठवस्तुभागिनं चक्रुः । तद्युक्तम्—‘जातौ जातौ यदुरकृष्ट तद्गन्तमभिधीयते’ इति । तथा हि, सुभ्रा-  
तृणां भावः सौभ्रात्रम् । ‘हायनान्तयुवादिभ्योऽण्’ इत्यनेन युवादिस्वादिप्रत्ययः ।  
पृषा कुशलवादीनां कुलानुसारि वशानुगत हि ॥ १ ॥

अमर जिसके भ्रमर हैं औ जाह्नवी मकरन्दकण ।

चतुर्वर्गके चतुष्पाद उस पक्षपादको है नमन ॥

इसके ( रामके स्वर्गारोहणके ) बाद रघुवशिश्रेष्ठ अन्य सातों ( राम पुत्र लव, भरत पुत्र तक्ष और पुष्कल, शत्रुघ्न-पुत्र सुबाहु और बहुश्रुत ) ने पहले जन्म लेनेसे तथा गुणोंसे श्रेष्ठ कुशको उत्तमोत्तम रत्न दिये, क्योंकि इन ( रघुवशियों ) का सद्भ्रातृभाव कुलक्रमागत ( खान्दानी ) होता है ॥ १ ॥

ते सेतुवार्तागजवन्धमुख्यैरभ्युच्छिताः कर्मभिरप्यवन्ध्यैः ।

अन्योन्यदेशप्रविभागसीमां वेलां समुद्रा इव न व्यतीयुः ॥ २ ॥

त इति । सेतुर्जलबन्धः । वार्ता कृपिगोरक्षणादिः ‘वार्ता कृप्याद्यदन्तयो’ इति विश्व । गजवन्ध आकरेभ्यो गजग्रहणं ते मुख्यं प्रधानं येषां तैरवन्ध्यै सफलै कर्म-  
भिरभ्युच्छिता, अतिसमर्था अपीत्यर्थः । ते कुशादयः । प्रविभज्यन्त इति प्रविभागा  
अन्योन्यदेशप्रविभागानां या सीमा ताम् । वेलां समुद्रा इव । न व्यतीयुर्नाति-  
वक्रमु । अत्र कामन्दक —‘कृपिर्वणिक्पथो दुर्गं सेतुं कुञ्जरवन्धनम् । खन्याकर-  
धनादानं शून्यानां च निवेशनम् ॥ अष्टवर्गमिमं साधु स्वयं वृद्धोऽपि वर्धयेत् ॥’  
इति ॥ २ ॥

नदी आदिका बाँध बनवाना, खेती तथा गोपालन आदि करना तथा आकरोंसे हाथियों  
को ग्रहण करना आदि सफल कर्मोंसे अत्यन्त समृद्धियुक्त भी वे ( कुश आदि ) परस्परके  
देशके विभाजनकी सीमाका उल्लङ्घन उस प्रकार नहीं करते थे, जिस प्रकार समुद्र तटका  
उल्लङ्घन नहीं करता ॥ २ ॥

चतुर्भुजांशप्रभवः स तेषां दानप्रवृत्तेरनुपारतानाम् ।

सुरद्विपानामिव सामयोनिर्मिञ्जोऽष्टधा विप्रससार वंशः ॥ ३ ॥

चतुर्मुखासममय इति । चतुर्मुखो विष्णुः तस्यांश्च रामादयः । ते प्रमथाः कम्पामि वरप स तपोऽथ । द्वात्रिंशन्मो महात्मा । 'द्वात्रिंशन्मो त्वानो' इति विष्णोः । प्रवृत्तिर्मापातः प्रवाहश्च । द्वात्रिंशत्पञ्चैरनुपातरताम् तेषां कुसुमकन्दलीनां स बन्धः । सामयोमि । सामवेदप्रमथो द्वात्रिंशत्पञ्चैरनुपातरताम् सुरहिषाणां दिग्मात्रानां बन्ध इव अदृशमिमाः सन् । विप्रसत्तार विस्तृतोऽस्य । सामभोगिरित्यत्र पाककाप्या—'सर्वस्वात्मकपान्ते हे समानीय प्रजापतिः । इस्ताभ्यां परिगृह्यान् सप्त सामान्ययाचत । गायत्रीं प्रजापतस्तस्मात्समुत्प्रेतुर्मतश्चकाः ॥' इति ॥ ३ ॥

इमं हेमते विमुक्त यही होमेषां क्व ( कुसुम आदि ) क्व विष्णुके बन्ध ( राम आदि ) ते कल्पक इव बन्ध मरप्रवृत्ते शुक्र दिग्गजैः सामवेदीत्यत्र बन्धके स्यान् आठ भाग्ये विमल होकर दहने क्यार ॥ ३ ॥

अथार्चरात्रे स्तिमितप्रदीपे ध्याप्यापदे सुसज्जने प्रमुखाः ।

कुशाः प्रवासस्थककनकेषामदृष्टपूर्वा बनितामपरयत् ॥ ४ ॥

अथैति । अथ अर्च रात्रेरर्चरात्रः । 'अर्च ननुसकम् इत्येकदेशसमाप्तः । 'अथ सर्वैकदेशसंख्यातपुष्पाश्च रात्रौ' इति समाप्तान्तोऽव्ययवा । 'रात्राद्वाह्यं पुंसि' इति विष्णुसंस्तुत्यम् । अर्चरात्रे त्रिशीपे स्तिमितप्रदीपे सुसज्जने सज्जन्मुहे प्रमुखाः न तु सुसज्ज । कुशाः प्रवासस्थककनकेषां प्रोक्षितमर्ककानेभ्यः । अदृष्टा पूर्वमित्यदृष्टां तावत् । सुसज्जयेति समाप्तः । बनितामपरयत् ॥ ४ ॥

रसकै रात्र आदीपयते स्मात्त दीपोषां ओर सोमे इव दीपोषां क्व वनाग्रमे क्व इव कुम्भने प्रोक्षित ( वरदेशने स्थित ) पतिषाणी ओर वेपथो चारव की इव तथा वदक कवी यही देवी यवी लभय अपरिणिगि ओर देवा ॥ ४ ॥

सा साधुसाधारणपार्थिव्यैः स्थित्वा पुरस्तात्पुद्गलमासाः ।

क्षेतुः परेषां जगदात्मपूर्व तस्यास्तस्मिन् बन्धुमता वक्ष्य ॥ ५ ॥

सैति । सा बनिता साधुसाधारणपार्थिव्यैः सज्जनसाधारणरात्र्यभिवाः पुस्तुतमास इत्युक्तैस्तः परेषां कन्याणां क्षेतुर्बन्धुमतस्तस्मिन् कुलस्य पुरस्तात्स्थित्वा जगदात्मपूर्व यथा स्यादस्तस्मिन् वक्ष्य ॥ ५ ॥

असौ क्षीमे सज्जन साधारणके किम् है रात्रकक्षीमे विमली पति इन्द्रके समान ऐवत्यो सज्जनके विमिता और मादवीषाक असकुसुमे काके कवी होकर पदक 'अथ इन्द्रका जगदात्म कर हाव ओर किम् ॥ ५ ॥

अथानपोडार्पकमप्यगारं ध्यापामिषाद्वर्षातक प्रविष्टाम् ।

सविस्मयी द्वाष्टरथेस्तनूजा मोक्षाय पूर्वाब्धिविष्टपठरथः ॥ ६ ॥

अथैति । अथ सविस्मयाः पूर्वाब्धेय करीरपूर्वभावेय निष्ठकतत्परस्त्वत्तमरथो द्वाष्टरथैस्तनूजा कुजा । अथपोडार्पकमनुजातिविष्णुमममपि । 'तद्विष्णुमममममपि न ना'

इत्यमरः । आगारम् । आदर्शतलं छायामिव प्रविष्टं तां वनितां प्रोवाचावदत् ॥११॥

इसके बाद आश्चर्ययुक्त, पूर्वाह्न अर्थात् कटिके ऊपरी भागसे शय्याको छोड़े हुए ( पैर फैलाये शय्यापर बैठे हुए ) रामके पुत्र कुश आगल ( किवाडकी किल्ली ) नहीं खोले गये अर्थात् बन्द मकानमें भी, दर्पणके भीतर छायाके समान प्रवेश की हुई, उस खोसे बोले—॥

लब्धान्तरा सावरणेऽपि गेहे योगप्रभावो न च लक्ष्यते ते ।

विभर्षि चाकारमनिर्वृतानां मृणालिनी हैममिवोपरागम् ॥ ७ ॥

का त्वं शुभे कस्य परिग्रहो वा किं वा मदभ्यागमकारणं ते ।

आचक्ष्व मत्वा वशिनां रघूणां मनः परस्त्रीविमुखप्रवृत्तिः ॥ ८ ॥

लब्धान्तरेति । युग्मम् । सावरणेऽपि गेहे लब्धान्तरा लब्धावकाशा । त्वमिति शेषः । योगप्रभावश्च ते न लक्ष्यते । मृणालिनी हैमं हिमकृतमुपरागमुपद्रवमिव । अनिर्वृतानां दुःखितानामाकारं विभर्षि च । न हि योगिनां दुःखमस्तीति भावः । किं च हे शुभे ! त्वं का । कस्य वा परिग्रहः पत्नी । ते तव मदभ्यागमे कारणं वा किम् । वशिनां जितेन्द्रियाणां रघूणां मनः परस्त्रीषु विषये विमुखा प्रवृत्तिर्यस्य तत्तथाभूतां मत्वाऽऽचक्ष्व ॥ ७-८ ॥

‘तुम बन्द कमरे ( घर ) में भी आ गयी हो, तुम्हारा योगविषयक कोई प्रभाव भी नहीं दिखाई पड़ता है, ( क्योंकि ) हिमजनित उपद्रवको मृणालिनीके समान दुःखियोंकी आकृतिको तुम धारण कर रही हो ( योगियोंको कभी दुःख नहीं होता और तुम दुःखिया हो रही हो, अतएव तुमने योगसिद्धिसे इस बन्द कमरेमें प्रवेश किया है—ऐसी कल्पना करना ठीक नहीं है ) । हे शुभे ! तुम कौन हो और किसकी पत्नी हो ? अथवा मेरे पास तुम्हारे आनेमें क्या कारण है ? जितेन्द्रिय रघुवशियोंके मनको परस्त्रीसे विमुख व्यवहार वाला मानकर कहो ॥ ७-८ ॥

तमवतीत्सा गुरुणाऽनवद्या या नीतपौरा स्वपदोन्मुखेन ।

तस्याः पुरः सम्प्रति वीतनाथां जानीहि राजन्नधिदेवतां माम् ॥९॥

तमिति । सा वनिता तं कुशमवतीत् । अनवद्याऽदोषा या पू स्वपदोन्मुखेन विष्णुपदोन्मुखेन गुरुणा त्वरिपत्रा नीतपौरा हे राजन् ! मा सम्प्रति वीतनाथामनार्थां तस्याः पुरो नगर्या अयोध्याया अधिदेवता जानीहि ॥ ९ ॥

उस स्त्रीने लवसे कहा—‘अनिन्दनीय जिस ( अयोध्या ) नगरीसे अपने पद ( वैकुण्ठ ) के लिये उन्मुख तुम्हारे पिता ( राम ) पुरवासियोंको अपने साथ ( स्वर्गमें ) ले गये हैं, हे राजन् ! उस नगरीकी इस समय अनाथ अधिष्ठात्री देवी मुझको जानो अर्थात् उस अयोध्यापुरीकी मैं अनाथ अधिष्ठात्री देवी हूँ ॥ ९ ॥

वस्वौकसारामभिभूय साऽहं सौराज्यवद्धोत्सवया विभूत्या ।

समग्रशक्तौ त्वयि सूर्यवंश्ये सति प्रपन्ना करुणामवस्थाम् ॥१०॥

वस्वीकस्तारमिति । साम्भं सीराज्येन राजन्वत्तया हेतुना बहोरसवत्ता विमुत्ता ।  
वस्वीकस्ताराश्चकपुरी । 'बलकापुरी वस्वीकस्तारा स्वात्' इति कोत्ता । अस्या  
मानसोत्तरसैकधिकारवर्तिनी काङ्गनगरी । 'वस्वीकस्तारा सकस्म' इति विष्णुपुरा-  
णात् । ताममिमूय विरस्कुन्व समप्रच्छद्यै त्वपि सूर्यवरेये सति कङ्गामवस्थां दीवां  
वस्वी मयत्ता माप्ता ॥ १ ॥ ।

४२ मीने (१४७०) सुन्दर राधा रहनेसे कसबबुद्धि देखवैति कल्याणपुरी वा इन्द्रपुरीमें  
ठिरल्लहार कर (रुच समथ) सम्पूर्ण कठिनाये सुर्वेवशी सुन्दारे रहनेपर दीनापत्ता श्री  
मातृ किजा है ॥ १ ॥

विशीर्षंतस्याहृतो निवेशः पर्यस्तग्राहः प्रभुणा विना मे ।

विहन्वपरयस्तनिमग्नसूर्ये दिगन्तमुधामिहभिन्नमेघम् ॥ ११ ॥

विशीर्षेति । तस्याभ्युदयक्रिया । 'तत्त्वं सम्बन्धद्वारेण' इत्यमरः । अहोवि पूरं  
मेवम् । 'अहं मध्ये च त्र्यम्बके च श्रीमेऽम्बके पुद्गलतो' इति विद्या । विशीर्षामि तस्या  
नात्मद्वारा च सतामि यस्य स ततोक्तः । 'विशीर्षकस्याहसतो निवेशः' इति वा  
पाठः । अहम् श्रीमाः । 'स्याहम् श्रीममधिपाम्' इत्यमरः । ईषद्वयमर्षं विशीर्षामि  
विशीर्षकस्याभ्युदयक्रिया यस्य स ततोक्तः । पर्यस्तप्राक्तः अस्तप्राक्कारः । 'प्राक्तो  
वरणा प्राक्तः' इत्यमरः । अमुष्वा स्वामिवा विनैषममृतो मे निवेशो निवेशमम् । अस्त-  
विमलसूर्यमस्तामिशीनार्कमुपामिक्षेपेन मिथमेवं विनाशं विदम्बयत्यनुकरोति ॥१॥

स्वामी ( राम ) के बिना जल-ज्वल हुए सेक्यों जहाजिकार्यों ( वा जहाजियों ) बाजा तथा हूँ हूँ गैरे ( परकोटा = कारुशियारी ) बाजा मेरा बार जलजलमे जिये ( हूँ ) ईद सूर्यवाके तथा सीलन बाजते फिरी हुए जियवाके सार्वभौमके समान हो रहा है ॥ ११ ॥

निशासु भास्वत्पलनूपुष्पं यः सञ्चरोऽमृषमिसारिकायाम् ।

नमःसुखोदकाविचितामिषामिः स बाह्यते यमपथं शिवामि ॥

निष्ठास्थिति । निष्ठाशु भावस्थिति दीप्तिमति ककम्यध्वजमधुराणि मधुराणि  
धातां तासामनिसारिकाणाम् । 'कान्तादिभिर्वा तु वा वासि सहेतुं साधनिसारिकम्'  
इत्यमरः । यो राजपते । सत्तराधनेनेति सत्तरः । सत्तरसाधनममृतम् । 'योधरसज्ज'  
रवद्वयम्यज्ञावनिममाज्' इत्यनेन यम्यवाप्तो निपातः । नक्षत्रं मुखेण वा  
यवकास्तामिनिधितामिनिधमिनिधम्यासाभि निधामि ओहीमि स रज्यपते  
पाद्यते गन्धते । यद्देव्यो बहिषातुरस्तीत्युपदेशः ॥ १२ ॥

राशिमें श्री राजमार्ग अमकते तथा मङ्गल-शक्ति करते हुए मङ्गलशाली अमिसारिकाओंके आनेका साधन था, उस राजमार्ग में (रक्त समय) विद्यासे अमकते हुए हृष्टते मांस श्री ईश्वरशाली स्वारिषों अमकती हैं ॥ २३ ॥

आस्फालितं यत्प्रमदाकराग्रैर्मृदङ्गधीरध्वनिमन्वगच्छत् ।

वन्यैरिदानीं मद्विषैस्तदम्भः शृङ्गाहतं क्रोशति दीर्घिकाणाम् ॥१३॥

आस्फालितमिति । यदम्भ प्रमदाकराग्रैरास्फालितं ताडितं सत् । जलक्रीडा-  
त्विति शेषः । मृदङ्गानां यो धीरध्वनिस्तमन्वगच्छदन्वकरोत् । तद्दीर्घिकाणामम्भ  
इदानीं वन्यैर्महिषैः कर्तुमि । शृङ्गैर्विपाणैराहतं सक्क्रोशति, न तु मृदङ्गध्वनिमनुकरो-  
तीत्यर्थः ॥ १३ ॥

जो ( बावरियोंका जल, पहले जलक्रीडा करते समय ) युवती स्त्रियोंके हस्तावातसे  
मृदङ्गकी ध्वनिका अनुकरण करता था, वह बावरियोंका जल नङ्गली मैसोंके शृङ्गसे आहत  
होकर रोता है ( वैसा मृदङ्गध्वनिका अनुकरण नहीं करता है ) ॥ १३ ॥

वृक्षेशया यष्टिनिवासभङ्गान्मृदङ्गशब्दापगमादलास्याः ।

प्राप्ता दवोल्काहतशेषवर्हाः क्रीडामयूरा वनवर्हिणत्वम् ॥ १४ ॥

वृक्षेशया इति । यष्टिरेव निवास स्थान तस्य भङ्गात् । वृक्षे शेरत इति वृक्षे-  
शयाः । 'अधिकरणे शेते' इत्यच्प्रत्ययः । 'शयवासवासिष्वकालात्' इत्यलुक्सस-  
म्या । मृदङ्गशब्दानामपगमादभावादलास्या नृत्यशून्याः । दवोऽरण्यवह्निः । 'दव-  
द्वावौ वनारण्यवह्नी' इत्यमरः । तस्योल्काभि स्फुलिङ्गैर्हतेभ्यः शेषाणि वर्हाणि येषा  
ते क्रीडामयूरा वनवर्हिणस्व वनमयूरस्व प्राप्ता ॥ १४ ॥

ढण्डेपर बैठना छूट जानेसे ( पहले स्थान-स्थानपर मयूरोंके बैठनेके लिये छोटे छोटे  
लकड़ियों के टुकड़े टेंगे हुए थे, परन्तु इस समय उनके नहीं रहनेसे ) वृक्षोंपर सोनेवाले  
तथा मृदङ्गकी ध्वनि नहीं सुननेसे नृत्य नहीं करनेवाले और दवाभिकी चिनगायियोंसे  
जलकर बचे हुए पङ्कवाले क्रीडामयूर जगली मयूर हो गये हैं ॥ १४ ॥

सोपानमार्गेषु च येषु रामा निक्षिप्तवत्यश्चरणान्सरागान् ।

सद्यो हतन्यङ्कुभिरस्त्रदिग्धं व्याघ्रैः पदं तेषु निधीयते मे ॥ १५ ॥

सोपानेति । किञ्च येषु सोपानमार्गेषु रामा रमण्यः सरागांश्चाक्षरसाद्रांश्चरणा-  
न्निक्षिप्तवत्यः । तेषु मे सम मार्गेषु सद्यो हतन्यङ्कुभिर्मारितमृगैर्व्याघ्रैरस्त्रदिग्धं रुधिर-  
ल्लिप्त पदं निधीयते ॥ १५ ॥

जिन सीढियोंपर रमणियों महावर लगे हुए पैरोंको रखती थीं अर्थात् महावर लगाकर  
चलती थीं, उन मेरे सोपान मार्गोंपर तत्काल मृगोंको मारनेवाले बाघ रक्तरञ्जित पैर  
रख रहे हैं ॥ १५ ॥

चित्रद्विपाः पञ्चवनावतीर्णाः करेणुभिर्दत्तमृणालभङ्गाः ।

नखाङ्कुशाघातविभिन्नकुम्भाः संरब्धसिंहप्रहृतं वहन्ति ॥ १६ ॥

चित्रेति । पञ्चवनमवतीर्णाः प्रविष्टा, तथा लिखिता इत्यर्थः । करेणुभिः करिणी  
भिः । चित्रगताभिरेव । 'करेणुरिभ्यां स्त्री नेमे' इत्यमरः । दत्तमृणालभङ्गाश्चित्रद्विप



वस्वीकसारासिति । साङ्गं श्रीराम्येन रामम्बतया हेतुना बद्धोत्तमया विमुक्त्या  
वस्वीकसाराभ्यङ्गपुरी । 'वज्रकापुरी वस्वीकसारा एवात्' इति कोष्ठा । अथवा  
मानसोत्तरलेकविचारवर्तिनी सङ्कवयरी । 'वस्वीकसारा सङ्कवय' इति विष्णुपुरा-  
णात् । तामभिमुख तिरस्कार्य समप्रसक्तौ त्वमि सूर्यवन्द्ये सति कल्याणवत्सो दीर्घा  
वर्षा प्रपन्ना प्राप्ता ॥ १ ॥

यद् मने ( रहस्ये ) गुम्बर रागा रहस्येते अस्तपञ्चक ऐवर्षी वज्रकापुरी वा इत्युपेय  
तिरस्कार्य यद् ( इत्त समय ) सम्पूर्ण कश्चिन्नाहि सूर्यवन्दी गुम्बारे रहनेपर दोषान्तरा ओ  
प्राप्त किया है ॥ १ ॥

विशीर्णतस्याद्भुततो निवेशः पर्यस्तशाका प्रमुखा विना मे ।

विहन्वयत्यस्तनिमग्नसूर्ये विनान्तमुग्रानिलमिन्नमेघम् ॥ ११ ॥

विशीर्णेति । तस्याम्बुहाकिम्प । 'तत्परं सम्पाद्भुतरोषु' इत्यमरा । अद्भुति गूढ-  
मेधा । 'अद्भुतं अन्ते च दृष्ट्ये च श्रीमेम्बर्णे गूढान्तरे' इति विश्व । विशीर्णानि तस्या-  
बान्धुर्वा च कृतानि यस्य स तथोक्तः । 'विशीर्णकम्पाद्भुततां निवेशः' इति वा  
पाठः । अद्भुत श्रीमा । 'स्वाद्भुतः श्रीममक्षिपात्' इत्यमरा । ईक्ष्ममासं विशीर्णानि  
विशीर्णकम्पाद्भुततानि यस्य स तथोक्तः । पर्यस्तशाका अस्तप्रसङ्गरा । 'प्रसक्तो  
वरणाश्चाका इत्यमरा । प्रमुखा स्वामिना विषेयम्भुतो मे निवेशो विवेकनम् । अस्त  
निम्नसूर्यमस्तामिशीर्णार्कमुग्रानिलमेघ मिन्नमेघं विनान्तं विहन्वयत्यनुकरोति ॥ ११ ॥

त्वामी ( राम ) के विना अस्त-म्बल हुए लेश्मो अद्भुतकिम्पों ( वा अम्बुवर्णों ) बाधा  
तथा दूरे हुए घेरे ( वरकोश = पारिवारी ) बाधा मेरा वर अस्तप्रसक्तों घेरे ( दूरे ) ईर  
सूर्यवाके तथा दीर्घ वाहुते बिकरे हुए मेघवाके सार्कवाक्ये समाप्त हो रहा है ॥ ११ ॥

निष्ठासु भास्वत्कलानुपुराण्या यः सञ्चारोऽभूत्प्रससारिकाणाम् ।

अन्मुक्तोऽक्षविचितामिषामि स वाह्यते पञ्चपथः शिवाभिः ॥

विचारिवति । निष्ठासु भास्वन्ति ईक्षिमन्ति कल्याण्यध्यक्षमपुरानि नूपुरमि  
बासां तासामभिसारिकाणाम् । 'काम्ताविनी तु वा याति सञ्चेतं सार्धमिसारिकम्'  
इत्यमरा । ओ रामपथा । सञ्चारत्यन्तेति सञ्चारः । सञ्चारसाधनमसू । 'घांवरसञ्-  
चारश्चन्द्रम्यापन्नविगमाश्च' इत्यनेन वापत्यपाप्तो विपातः । नदस्तु सुखेण वा  
अक्षप्रसक्तमिर्द्विचितामिषामिहन्विहमांशमिः शिवाभिः ओद्दीपि स रामपथो  
पाप्मते गम्यते । अक्षेण्यो बहिषातुररतिरुपदेष्टा ॥ १२ ॥

रात्रिमें ओ रामवर्ण नामकते तथा मयुर रश्मि करीत हुए नूपुरवादी अक्षप्रसक्तोंके  
बानेय साधन था, उस रामवर्ण में ( इत्त समय ) विहानेते अक्षीत हुए सुखते मात ओ  
ईक्ष्मवाली स्वारिणी चकती है ॥ १२ ॥

आस्फालितं यत्प्रमदाकराग्रैर्मृदङ्गधीरध्वनिमन्वगच्छत् ।

वन्यैरिदानीं महिषैस्तदम्भः शृङ्गाहतं क्रोशति दीर्घिकाणाम् ॥ १३ ॥

आस्फालितमिति । यदम्भः प्रमदाकराग्रैरास्फालितं ताडितं सत् । जलक्रीडा-  
स्त्विति शेषः । मृदङ्गानां यो धीरध्वनिस्तमन्वगच्छद्वन्वकरोत् । तद्दीर्घिकाणामम्भः  
इदानीं वन्यैर्महिषैः कर्तृभिः शृङ्गैर्विपाणैराहतं सत्क्रोशति, न तु मृदङ्गध्वनिमनुकरो-  
तीत्यर्थः ॥ १३ ॥

जो ( बावरियोंका जल, पहले जलक्रीडा करते समय ) युवती कियोंके इस्ताघातसे  
मृदङ्गकी ध्वनिका अनुकरण करता था, वह बावरियोंका जल जङ्गली मैसोंके शृङ्गसे आहत  
होकर रोता है ( वैसा मृदङ्गध्वनिका अनुकरण नहीं करता है ) ॥ १३ ॥

वृक्षेशया यष्टिनिवासमङ्गान्मृदङ्गशब्दापगमादलास्याः ।

प्राप्ता दवोल्काहतशेषवर्हाः क्रीडामयूरा वनवर्हिणत्वम् ॥ १४ ॥

वृक्षेशया इति । यष्टिरेव निवासः स्थान तस्य मङ्गात् । वृक्षे शेरत इति वृक्षे-  
शया । 'अधिकरणे शेते' इत्यच्प्रत्ययः । 'शयवासवासिष्वकालात्' इत्यलुक्सस-  
स्या । मृदङ्गशब्दानामपगमादभावादलास्या नृत्यशून्या । दवोऽरण्यवह्निः । 'दव-  
दावौ वनारण्यवह्नी' इत्यमरः । तस्योल्काभिः स्फुलिङ्गैर्हतेभ्यः शेषाणि वर्हाणि येषां  
ते क्रीडामयूरा वनवर्हिणत्व वनमयूरत्व प्राप्ता ॥ १४ ॥

टाण्डेपर बैठना छूट जानेसे ( पहले स्थान-स्थानपर मयूरोंके बैठनेके लिये छोटे छोटे  
लकड़ियों के टुकड़े टेंगे हुए थे, परन्तु इस समय उनके नहीं रहनेसे ) वृक्षोंपर सोनेवाले  
तथा मृदङ्गकी ध्वनि नहीं सुननेसे नृत्य नहीं करनेवाले और दवाशिकी चिनगारियोंसे  
जलकर धके हुए पट्टवाले क्रीडामयूर जंगली मयूर हो गये हैं ॥ १४ ॥

सोपानमार्गेषु च येषु रामा निक्षिप्तवत्यश्चरणान्सरागान् ।

सद्यो हतन्यङ्कुभिर्रसदिग्ध व्याघ्रैः पदं तेषु निधीयते मे ॥ १५ ॥

सोपानेति । किञ्च येषु सोपानमार्गेषु रामा रमण्य सरागाङ्गाधारसाद्रांश्चरणा-  
लिक्षितवत्यः । तेषु मे मम मार्गेषु सद्यो हतन्यङ्कुभिर्मारितमृगैर्व्याघ्रैरसदिग्ध रुधिर-  
लिप्त पदं निधीयते ॥ १५ ॥

जिन सीढ़ियोंपर रमणियों महावर लगे हुए पैरोंको रखती थीं अर्थात् महावर लगाकर  
चलती थीं, उन मेरे सोपान मार्गोंपर तत्काल मृगोंको मारनेवाले बाघ रक्तरेखित पैर  
रख रहे हैं ॥ १५ ॥

चित्रद्विपाः पद्मवनावतीर्णाः करेणुभिर्दत्तमृणालभङ्गाः ।

नस्त्राङ्कुशाघातविभिन्नकुम्भाः संरब्धसिद्धप्रहृतं वहन्ति ॥ १६ ॥

चित्रेति । पद्मवनमवतीर्णा प्रविष्टा, तया लिखिता इत्यर्थः । करेणुभिः करिणी-  
भिः । चित्रगताभिरेव । 'करेणुरिम्यां स्त्री नेमे' इत्यमरः । दत्तमृणालभङ्गाश्चित्रद्विपा

आयेन्वमहाह्वः । नखाः पृष्ठाङ्गुष्ठाः तेषाम्भावातेर्बिम्बिजकुम्भ्यां स्नात्वा सरन्वसिं  
महतं कुपितस्त्रिद्वयद्वारं बह्विधं ॥ १३ ॥

कमलवर्गमें प्रविष्ट, हथिनियोंके द्वार। दिये गये हैं कुण्डलकण्ड विनोद के। ऐसे विविध  
हाथी मखमली बगुलके महारते विधौर्ण कुम्भवाके होकर शोधित सिंहके महार को प्राप्त कर  
रहे हैं । ( निजमें दिष्टावा गया है कि हाथी कमलवर्गमें प्रविष्ट हैं हथिनियों के बड़े भिने  
पुनाकण्ड के रही हैं कम विभिन्न हाथियोंको वास्तविक हाथी मानकर सिंहोंने उनके  
माथोंपर पक्षा मारकर उनके मस्तकस्थ कुम्भोंको विधौर्ण कर दिया है ) ॥ १३ ॥

स्तम्भेषु योऽस्मिन्प्रतिघातनामानामुत्क्रान्तवर्णकमभूस्तथाप्याम् ।

स्तमोत्तरीपायि भवन्ति सङ्गाधिर्मोकपङ्क्तः कपिमिर्बिमुक्ता ॥ १४ ॥

स्तम्भेष्विति । उच्छ्रान्तवर्णकमा विसीर्णवर्णविन्वासास्ताम् वृत्तरत्न वास्तव्यां  
स्तम्भेषु योऽस्मिन्प्रतिघातनामां कीदृशिकृतीनां वाक्मयीनां कपिमिर्बिमुक्ता किमोकम  
कङ्कुषा एव पट्टाः । 'समो कम्बुकविर्मोकौ' इत्यमरः । सङ्गात्सङ्गात्स्तमोत्तरीयवि  
स्तनाम्भादभवत्तापि भवन्ति ॥ १४ ॥

( स्नान-स्नानपर ) झूटे हुए रंग तथा वृत्तरत्न वर्णवाली कम्बोंमें कनी मुठियोंके लठोंके  
बल सेवींसे छोड़े हुए केंचुक हो रहे हैं । ( कंधोंमें जो मुठियां बनी हुई हैं उनमें फिरे  
हुए लठों को केंचुक छोड़ा है वही बल मुठियोंके लठोंके बल हो रहे हैं तथा कम्ब-कम्ब  
से उनके रंग झूट गये हैं और वे मखिमवर्ण हो गयी हैं ) ॥ १४ ॥

कालान्तरश्यामसुषेपु नक्षमितस्ततो रजःपुष्पाङ्गुरेषु ।

त एव मुखगुणप्रास्रस्योऽपि हर्म्येषु मूर्च्छन्ति ॥ चन्द्रपादाः ॥

कालान्तरेति । कालान्तरेण कालमेवमतेन श्यामसुषेपु मखिमवर्णेष्वितस्ततो  
रजःपुष्पाङ्गुरेषु हर्म्येषु पृष्ठेषु नखं रात्री मुखगुणावां दृष्टिरिव दृष्टिः स्वाच्छन्नं चेत्  
तादृशा अपि तदा पूर्व ये मूर्च्छन्ति स्म त एव चन्द्रपादाश्चन्द्ररमणाः । 'पादा  
रमन्वद्विप्रवांशान्' इत्यमरः । न मूर्च्छन्ति च कालान्तरपर्या ॥ १५ ॥

बहुत समयसे पुतार्न नहीं करायेते बाजी पुतार्न वाले तथा हवर-हवर (कड़ी-कड़ी कर)  
कमै हुए बाल वाले महलोंपर रातमें मीठी को कड़ीके लज्जान निर्मल भी वे ही चन्द्रकिरण  
प्रतिबिम्बित नहीं होते हैं । ( पहले महलोंके लज्जदा पुतार्नसे निर्यक रहनेके कारण हवर  
रातमें चन्द्रमाथी किरने प्रतिबिम्बित होती थी किन्तु अब बहुत समयसे पुतार्न नहीं होनेसे  
वे काले पड़ गये हैं कड़ी-कड़ी बाल कम गयी हैं; जय एव हवरपर पहले प्रतिबिम्बित  
होनेवाली ही चन्द्रकिरणें अब प्रतिबिम्बित नहीं हो रही हैं ) ॥ १५ ॥

व्याधर्म्यं शाखाः सधर्म्यं च यासां पुष्पाप्युपात्तानि विलासिनीभिः ।

धर्म्यैः पुक्षिमैरियं धानरेस्ताः निराश्रयस्तं सद्यानसता मदीयाः ॥ १६ ॥

वाधर्म्येति । किञ्च विलासिनीभिः सधर्म्यं शाखाः कथाऽव्यपवादावर्जानन्य

यासां लतानां पुष्पाण्युपात्तानि गृहीतानि ता मदीया उद्यानलता घन्यैः पुलिन्दै-  
म्लेच्छविशेषैरिव वानरैः, उभयैरपीत्यर्थः । विलश्यन्ते पीडयन्ते । विलशनात्, कर्मणि  
लट् । 'मेदा, किरातशवरपुलिन्दा म्लेच्छजातयः' इत्यमरः ॥ १९ ॥

विलासिनी स्त्रियां जिनकी डालियोंको ( दूटनेके भयसे ) धीरेसे झुकाकर फूल तोड़ती  
थी, मेरी उन उद्यान लताओंको जङ्गली ( पुलिन्द ) म्लेच्छजाति—कोल भील आदि ) तथा  
वानर द्विज मित्र करते हैं ॥ १९ ॥

रात्रावनाविष्कृतदीपभासः कान्तामुखश्रीवियुता दिवाऽपि ।

तिरस्क्रियन्ते कृमितन्तुजालैर्विच्छिन्नधूमप्रसरा गवाक्षाः ॥ २० ॥

रात्राविति । रात्रावनाविष्कृतदीपभास अप्रकटीकृतदीपदीप्तय, दीपप्रभाशून्या  
इत्यर्थः । दिवाऽपि दिवसेऽपि कान्तामुखाना स्त्रिया कान्त्या वियुता रहिता विच्छि-  
न्नो नष्टो धूमप्रसरो येषां ते गवाक्षाः कृमितन्तुजालैर्लतातन्तुवितानैस्तिरस्क्रियन्ते  
छाद्यन्ते ॥ २० ॥

रात्रिमें दीपकके प्रकाशको बाहर नहीं फैलने देनेवाली और दिनमें भी स्त्रियोंके  
(खिडकियों पर नहीं जानेसे) मुखकी शोभासे हीन खिडकियाँ मकड़ियोंके जालोंसे आच्छन्न  
होनेके कारण धूँए का निकलना भी बन्द कर रही हैं । ( खिडकियोंमें मकड़ियोंके जाल  
हैं इसलिये उनपर से झाँकनेके लिये दिनमें कोई स्त्री नहीं जाती, रातमें उनसे दीपकोंके  
प्रकाश बाहर नहीं निकलते और न धूँआँ ही बाहर निकलता है ) ॥ २० ॥

बलिक्रियावजितसैकतानि स्नानीयसंसर्गमनाप्नुवन्ति ।

उपान्तवानीरगृहाणि दृष्ट्वा शून्यानि दूये सरयूजलानि ॥ २१ ॥

बलीति । 'बलि पूजोपहारः स्यात्' इति शाश्वत । बलिक्रियावर्जितानि सैक  
तानि येषां तानि । स्नानीयानि स्नानसाधनानि चूर्णादीनि । 'कृत्यन्युदो बहुलम्'  
इति करणेऽनीयर प्रत्यय, स्नानीयसंसर्गमनाप्नुवन्ति सरयूजलानि शून्यानि  
रिक्तान्युपान्तेषु वानीरगृहाणि येषां तानि च दृष्ट्वा दूये परितप्ये ॥ २१ ॥

पूजन-क्रियासे हीन तटवाले, स्नानार्थ चूर्णसे राहत और पासमें बेंतोंके शून्य कुओंवाले  
सरयूके जलको देखकर मैं दुःखित होती हूँ ॥ २१ ॥

तदर्हसीमां वसतिं विस्वज्य मामभ्युपैतुं कुलराजधानीम् ।

द्वित्वा तनुं कारणमानुषीं तां यथा गुरुस्ते परमात्ममूर्तिम् ॥ २२ ॥

तदिति । तत्तस्मादिमां वसतिं कुशावतीं विस्वज्य कुलराजधानीं राज्ञा धीय  
तेऽस्यामिति राजधानी तामयोष्या मामभ्युपैतुमर्हसि । कथमिव । ते गुरु पिता  
रामस्तां प्रसिद्धां कारणवशान्मानुषीं तनुं मानुषमूर्तिं द्वित्वा परमात्ममूर्तिं यथा  
विष्णुमूर्तिमिव ॥ २२ ॥

रस करम गुप्त रस ( कुशावती गगरी ) को छोड़कर कुल-राजधानी ( बयोपा ) से  
मुझे रस प्रकर प्राप्त करो जिस प्रकार गुप्तरे पिता (राम) से कारणरस प्राप्त भिने हुए  
मानव-शरीरको छोड़कर परमात्माकी मूर्तिकी प्राप्त कर लिया ॥ २१ ॥

तथेति तस्याः प्रणय प्रतीता मरयमहीत्यामहरो रघुण्याम् ।

पूरव्यमिष्यन्मुक्षमसादा शरीरस्थयेन तिरोयमूत् ॥ २३ ॥

तथेतीति । रघुमां प्रामहर् अथ कुलस्तस्याः पुरा प्रणयं यास्यां प्रतीतो इह  
संस्तथेति प्रणयमहीत्युक्तवात् । एत पुरापिरेवतामप्यमिष्यन्मुक्षमसादा सती ।  
इष्टवामादिति भावः, शरीरस्थयेन शरीरयोगेन करकेन तिरावमूत्तमर्चने भावार्थ  
कर्म विहाय वैर्ष्य रूपममहीत्यर्थः ॥ २३ ॥

रघुवंशियों में अह कुलसे प्रसन्न होकर रस ( यवती की अविज्ञानी देवता ) को वापस  
को बैसा ही हो हम प्रकर रसीकार कर दिया और प्रसन्नमुखताकी वह ( यवती की  
अविज्ञानी देवता ) भी शरीररचनासे अन्तर्धान हो गयी अर्थात् प्रत्यक्ष इन्द्रमात्र वापस-  
शरीरको छोड़कर अमलक देवशरीर को वापस कर दिया ॥ २३ ॥

तद्वदुत्तं संसदि रात्रिदुर्त्तं प्रातर्द्विसेम्यो नृपतिः श्रवसः ।

अथवा त एव कुलराजधान्याः आभारपतिरवे पृथमम्यनन्दन् ॥ २४ ॥  
तद्विति । नृपतिः कुलराजद्वदुत्तं रात्रिदुर्त्तं रात्रिदुर्त्तान्तं प्रातः संसदि समाप्तं  
द्विजग्या संसत् । ते द्विजाः श्रुत्वेनं कृत्वा कुलराजधान्याः साक्षप्रत्यक्षमेव वलिते  
द्विपद वृत्तमम्यनन्दन् । पतिरवेन वृत्तांशीत्युक्तवात् । आशीर्वादिति शेषः । अत्र  
गामर्था—'इष्टा रच्यन् शोभनं वैभ सुख्यात्पञ्चात् इष्टो वा स पार्श्वं विपद्ये । संसदिर्द्वे  
तप साधुर्द्विजग्यरवे आशीर्मा प्रीणयेमुच्यते' इत्यमरः । रघुमम्यनन्दन्मिति भावः ॥

राजा ( कुल ) से प्राप्तः कृतक तन्मात्रे भावार्थ-अत्र कृत रात्रिदे नृपालको राजन्ये  
करा और अह ने राजाए कुलराजधानी ( बयोपा ) के द्वारा पतिरवे रसीकृत रस  
कुलस्य ( आशीर्वाद देकर ) अमिष्यन् किया ॥ २४ ॥

कुशावतीं भाविमसारस कृत्या पात्राऽनुकूलऽहनि सापठेयः ।

अनुमुता पापुरिवाभ्रवृन्दैः सैम्यैरपाण्याऽमिमुखा प्रतरये ॥ २५ ॥

कुशावतीमिति । स कुल कुशावतीं श्रोत्रिषु द्वाग्द्विषयीनां भाविमसारः ।  
तद्वर्षीयकवने इति भाविमसारः । श्रोत्रिषु द्वाग्द्विषयीनां इति विधाता । श्रोत्रि-  
ष्वान्ममी समी' इत्यमरः । कृत्वा पात्राऽनुकूलैर्द्वि सावरोचः आन्तरुतः सत् ।  
वापुरभ्रवृन्दैरिव । सैम्यैरनुमुतोऽनुगतः सज्जपोष्ठाऽमिमुखा प्रतरये ॥ २५ ॥

ये कुल कुशावती गगरीकी वरिष्ठ के असीन कर (उन्हें राज देकर) पात्राके अनुकूल  
( एवं अनुकूल ) दिग्दर्श अन्तरुतके तद्विषय मरान्तरमे अनुगत वात्रुके तन्मात्र सेनाके  
अनुगत होकर अयोध्याको चले ॥ २५ ॥

सा केतुमालोपवना बृहद्भिर्विहारशैलानुगतेव नागैः ।

सेना रथोदारगृहा प्रयाणे तस्याभवज्जङ्गमराजधानी ॥ २६ ॥

सेति । केतुमाला एवोपवनानि यस्याः सा बृहद्भिर्नागैर्गजैर्विहारशैलैः क्रीडाशै-  
लैरनुगतेव स्थिता । रथा एवोदारगृहा यस्याः सा सेना तस्य कुशस्य प्रयाणे  
जङ्गमराजधानी सञ्चारिणी नगरीवामवद्वभूव ॥ २६ ॥

यात्रामें पताकाओंकी पङ्क्तियाँ हाँ हैं उपवन जिसकी ऐसी, बड़े-बड़े हाथियोंसे क्रीडा-  
पर्वतके समान स्थित, रथरूपी मनोहर भवनोंवाली वह सेना उस कुशकी जङ्गम (चढ़ने-  
फिरने वाली) राजधानी हुई ॥ २६ ॥

तेनातपत्रामलमण्डलेन प्रस्थापितः पूर्वनिवासभूमिम् ।

बभौ बलौघः शशिनोदितेन वेलामुदन्वानिव नीयमान ॥ २७ ॥

तेनेति । आतपत्रमेवामल मण्डल विम्ब यस्य तेन तेन कुशेन पूर्वनिवासभूमि-  
मयोध्या प्रति प्रस्थापितो बलौघः । आतपत्रवदमलमण्डलेनोदितेन शशिना वेलं  
नीयमान प्राप्यमाण । उदक्रमस्यास्तीत्युदन्वान् उदधिरिव बभौ । 'उदन्वानुदवौ  
'च' इति निपातनात्साधु ॥ २७ ॥

श्वेतच्छत्ररूप निर्मल मण्डलवाले कुशके द्वारा प्रथम निवासस्थान (अयोध्या पुरी)  
की भेजा गया सेनासमूह उगे हुए श्वेतच्छत्रके समान निर्मल (एवं गोल) मण्डलवाले  
चन्द्रमाके द्वारा तीर पर लाये जाते हुए समुद्रके समान शोभित हुआ । (चन्द्रमाके उदय  
शेनोपर समुद्रका तीरकी ओर बढ़ना सर्वानुभवसिद्ध है) ॥ २७ ॥

तस्य प्रयातस्य वरूथिनीनां पीडामपर्याप्तवतीव सोढुम् ।

वसुन्धरा विष्णुपदं द्वितीयमध्यारुह्येव रजश्छलेन ॥ २८ ॥

तस्येति । प्रयातस्य प्रस्थितस्य तस्य कुशस्य वरूथिनीनां सेनानां कर्त्राणाम् ।  
'कर्तृकर्मणोः कृति' इति कर्तरि पठ्यते । पीडा सोढुमपर्याप्तवतीवाशक्तेव वसुन्धरा  
रजश्छलेन द्वितीय विष्णुपदमाकाशमध्यारुह्येव । इत्युपेक्षा ॥ २८ ॥

प्रस्थाग किये हुए कुशकी सेनाओंकी पीडा (भार) को नहीं सहती हुईके समान  
पृथ्वी धूलिके व्याजसे मानो दूसरे विष्णुपद अर्थात् आकाशकी चली गयी ॥ २८ ॥

उद्यच्छमाना गमनाय पश्चात्पुरो निवेशे पथि च व्रजन्ती ।

सा यत्र सेना ददृशे नृपस्य तत्रैव सामग्रयमतिं चकार ॥ २९ ॥

उद्यच्छमानेति । पश्चात्कुशावस्था सकाशाद्गमनाय प्रयाणाय तथा पुरोऽग्रे  
निवेशे निमित्ते, निवेष्टुं चेत्यर्थः । उद्यच्छमानोद्योग कुर्वती । 'समुदाहृत्यो यमोऽ  
ग्रन्धे' इत्यस्य सकर्मकाधिकारत्वादात्मनेपदम् । पथि च व्रजन्ती नृपस्य कुशस्य स  
सेना यत्र पश्चात्पुरो मध्ये वा ददृशे तत्रैव सामग्रयमतिं कृत्स्नतावुद्धिं चकार  
अपरिमिता तस्य सेनेत्यर्थः ॥ २९ ॥

( कुम्भानी ) नगरीके विजयके भावमें बन्धुके विषे पैवार जानेमें गहरी हुई तथा मार्गमें बन्धी हुई कुम्भानी सेनाकी बर्णनपर ( बगलके विषयके भावमें आगे वा मार्गमें ) ओगमें देखा गहरी पर 'बहु लघुर्न सेना है' ऐसा विचार किया नगरी कुम्भानी के धोकेसे बन्धुके भी नगरगत विधाक होनेसे ओगमें पूरी सेवा समझा ॥ १८ ॥

तस्य द्विपार्श्वं मद्यारिसेकास्सुराभिघाताच्च तुरङ्गमायाम् ।

रेणुः प्रपेदे पथि पङ्कमार्धं पङ्कोऽपि रेणुत्वमिषाय नेतुः ॥ १९ ॥

तस्येति । नेतृत्वस्य कुसरस्य द्विपार्श्वं मद्यारिमिः सेकात्तरङ्गमार्श्वं सुराभिघाताच्च तुरङ्गमायाम् पथि रेणु इका पङ्कमार्धं पङ्कस्य प्रपेदे, पङ्कोऽपि रेणुत्वमिषाय तस्य तावदस्तीत्यर्थः ॥ १९ ॥

नायक कुम्भके द्विपार्श्वके मद्यारिसेकासे और वीरोंके सुरोंके नाशत से रास्ते में ( मन्त्रा ) बूझी कीकड़ हो गयी और कीकड़ बूझी हो गया ॥ १९ ॥

मार्गपिथी सा कटकान्तरेषु वैष्ण्वेषु सेना बहुधा विमिम्ना ।

बभूव रेवेव महाविषाया वसप्रतिभुम्भिः शुद्धामुक्ताम् ॥ २० ॥

मार्गपिथीति । वैष्ण्वेषु विष्ण्वधर्मनिष्ठेषु कटकान्तरेषु नितम्बावकासेषु । 'बभूव कोऽप्यौ नितम्बोऽग्र' इत्यमरः । मार्गपिथी मार्गविषयिकी । अत एव बहुधा विमिम्ना । महाविषाया दीर्घलम्बा सा सेना । रेवेव वर्मदेव । 'देवा तु वर्मदा सोमोऽग्रवा मेकलकम्पका' इत्यमरः । शुद्धामुक्ताम् वसप्रतिभुम्भिः प्रतिष्ठापयन्ति वसप्रतिभुम्भिः ॥ २० ॥

विष्ण्वधर्मके मध्यमार्गमें मार्गकी ओगनी हुई नगरी कुम्भानीमें विमल नगर लक्ष्मी करती हुई अत सेनामें स्वागति करती हुई देवा वीरोंके समान शुद्धामुक्ताओंके प्रतिष्ठापित कर दिया ॥ २० ॥

स धातुमेवालयमानोमिः प्रभुः प्रयाण्यभिमिम्रतुर्पैः ।

अथकङ्कपक्षिण्यमुपायनामि पश्यन्पुष्पिण्यैवपपादितानि ॥ २१ ॥

स इति । धातुर्नागैरिकादीनां यैवेवायना अलक्ष्य पाययैर्नागैरिकाकारा बभूव । अथापि यै अवपय यैवेवायना तमिम्रानि तुर्पानि बभूवैवमिषा स प्रभु कुम्भः । पुष्पिण्यैः किरासैवपपादितानि अथमर्पितान्मुपायनामि पश्यत् । विष्ण्वं अथकङ्कपक्षिण्यैः ॥ २१ ॥

( पर्वतके ) बलुओंके शेरन करनेसे नगरी बलुओं कीकड़ हुए बन्धुकेसे बल हो गया है रमके परिमेष केर विरक्तपेठे तथा नागाकी जगि ( सेवा हाथी पीढ़े आदिसे बल ) से अभिमत हो रहे हैं तुर्प ( पुरानी नागा ) बलके पेठे स्वामी कुम्भ ( पर्वतवासी ) पुष्पिण्यैः कावे गये बलापनोकी ईकड़ हुए विष्ण्वधर्मके बल पथे ॥ २१ ॥

तीर्थे तदीये गच्छेत्तु बन्धात्प्रतीपणामुत्तरतीऽस्य गङ्गाम् ।

अथत्पण्यङ्गपङ्कनीपङ्कगुह्यता नमोऽङ्गनलीकपयम् ॥ २२ ॥

तीर्थं इति । तदीये वैन्ध्ये तीर्थेऽवतारे मजा एव सेतुस्तस्य घन्धाद्धेतोः प्रतीपर्णां पश्चिमवाहिनीं गङ्गामुत्तरतोऽस्य कुशस्य नभोलङ्घनेन लोलपद्मा हंसा अयत्नेन बाल-  
व्यजनीवभूषाभराण्यभूवन् । अभूततद्भावे चिव ॥ ३३ ॥

विन्ध्य के तट पर हाथियों का पुल बन जाने से उलटी अर्थात् पश्चिम दिशा में बहने-  
वाली गंगा के उत्तर भाग में कुशके, आकाश में उड़ने से चञ्चल पक्षोंवाले इस अनायास  
ही चामर हो गये ॥ ३३ ॥

स पूर्वजानां कपिलेन रोषान्नस्मावशेषीकृतविग्रहाणाम् ।

सुरालयप्राप्तिनिमित्तमम्भस्त्रैस्त्रोतसं नौलुलितं घवन्दे ॥ ३४ ॥

स इति । स कुश कपिलेन मुनिना रोषान्नस्मावशेषीकृता विग्रहा देहा येषां  
तेषां पूर्वजानां वृद्धानां सगराणां सुरालयस्य स्वर्गस्य प्राप्ता निमित्तं नौलुलितं  
क्षुभितम् । त्रैस्त्रोतस इव त्रैस्त्रोतस गङ्गामम्भो ववन्दे ॥ ३४ ॥

कुशने कपिल मुनि के क्रोध से मस्मावशिष्ट शरीरवाले अर्थात् जले हुए पुरुषों की  
स्वर्गप्राप्ति का कारण तथा नौकाओं से चञ्चल गङ्गाजल की वन्दना की ।

पौराणिक कथा—इक्ष्वाकुवशोत्पन्न राजा सगर ने सौर्वो अश्वमेध यज्ञ करते समय जब  
यज्ञ के घोड़े को छोड़ा तब अपने पद के छिन जाने के भय से इन्द्रने चुपके से घोड़े को  
पाताल लोक में तपस्या करते हुए कपिल मुनि के आश्रम में बाँध दिया । तदनन्तर उसको  
खोजते हुए राजा सगर के साठ सहस्र पुत्रों ने पृथ्वी को खोद पाताल में जाकर कपिलमुनि  
के आश्रम में घोड़े को बँधा देख 'इसी कपटी ने इस घोड़ेको चुराकर यहाँ बाँध रखा है और  
अब यह हम लोगोंको देख झूठे ध्यान लगाकर बैठ गया है' ऐसा विचार कर उन पर पाद-  
प्रहार किया । उससे क्रुद्ध महर्षि ने नेत्रोत्पन्न अग्निसे उन्हें क्षणमात्रमें भस्म कर डाला ।  
बाद घोड़े तथा सगर-पुत्रों को खोजते हुए लोगों ने वहाँ जाकर जले हुए साठ सहस्र राज  
कुमारोंकी भस्मराशि तथा बँधे हुए घोड़े और कपिलमुनिको देखकर सब वृत्तान्त मालूम किया  
और उक्त मुनि के आदेश से ही भस्मीभूत उन लोगों को स्वर्गप्राप्ति के लिए तपस्या द्वारा  
गङ्गाजी की वहाँ लाने का निश्चय कर तपस्या के लिए हिमालयपर पहुँचकर कठिन तपस्या  
में लग गये । इस प्रकार वशानुवशज के तपस्या करते करते भगीरथ ने गङ्गाजी को प्रसन्न  
किया और अपने रथ के अनुसार उन्हें कपिलाश्रम में—जहाँ उनके पुरुषा भस्म हुए थे—  
लाकर उनका उद्धार किया । वर्तमानकाल में उस स्थानको 'गङ्गासागर' कहते हैं और प्रत्येक  
भस्मरसम्क्रान्ति को स्थानार्थं जहाज द्वारा वहाँ लोग जाते हैं ॥ ३४ ॥

इत्यध्वनः कैश्चिद्दहोभिरन्ते कूलं समासाद्य कुशः सरय्याः ।

वेदिप्रतिष्ठान्वितताध्वराणां यूपानपश्यच्छतशो रघूणाम् ॥ ३५ ॥

इतीति । इति कैश्चिद्दहोभिरध्वनोऽन्तेऽवसाने कुश सरय्या कूल समासाद्य



वितताम्बराणां विस्तृतमच्छाणां रघूणाम् । वेदिः प्रतिष्ठास्यई वैषां तान् । पूषाम्बरा-  
न्तोऽपरवत् ॥ ३५ ॥

इस प्रकार ( ३५ ३४ ) कई दिनों में मार्ग के अन्त में सार्वधरीके तीर को  
मासकर कुण्डने बड़े-बड़े बहों के करियेवाले रघुवर्षियोंके, वेदियों पर बने सैन्यों वस्त्राभूषणों  
को देखा ॥ ३५ ॥

आभूष्य शाकाः कुसुमद्रुमाणां स्पृष्ट्वा च शीताम्बरपूतरङ्गान् ।

त यक्षान्तसैम्यं कुलराज्याभ्याः प्रत्युद्यन्नामोपचान्तावायुः ॥ ३६ ॥

आभूषेति । कुलराज्याभ्यां उपचान्तावायुः कुसुमद्रुमाणां शाका आभूषेत्क-  
ृत्वा, सुरमिर्मन्दजेत्यर्थः । शीताम्बरपूतरङ्गाश्च स्पृष्ट्वा । अनेन सैम्योक्तिः । यक्षान्त  
सैम्यं तं कुर्म्यं प्रत्युद्यन्नाम ॥ ३६ ॥

मंडपरम्पराएन राजबाघी ( जयोष्ठा पुरी ) के रूपम की शत्रु में प्रेषित बहों को  
वर्षियों को बीका कम्पित कर और सार्वधरी के सीतक तराई का लक्ष्यकर कभी दूर सेबाघोंके  
कुंड की जगहानी की । ( सीतक मन्द और सुगन्ध शत्रु में कभी दूर सेबाघों के करिब कुण्ड  
को कक्षकर ( मार्गक्रम ) को दूर किया ) ॥ ३६ ॥

अधोपशस्ये रिपुमन्मशस्यस्तस्याः पुरः पौरसखाः स राजा ।

कुलराज्यजस्तानि चक्रपञ्चजानि निवेद्यवामास वल्ली वल्लानि ॥ ३७ ॥

अथेति । अथ रिपुषु मार्गं सख्यं कृत्वा शत्रो वा परस्य सः । 'सख्यं सङ्घी घरे बन्धे  
इति विद्या । पीरानां सखा पौरसखाः । 'राजद्रुमसखिम्यदृक्' इत्यनेन दृक्प्रत्ययः ।  
कुलराज्यजस्तानि वल्ली स राजा चक्रपञ्चजतो वा पञ्चवा येनां तानि तानि  
वल्लानि सैम्यानि तस्याः पुरः पुर्यां उपशस्ये ग्रामाग्रे । 'ग्रामाग्रे उपशस्यं रमात्'  
इत्यमरा । निवेद्यवामास ॥ ३७ ॥

शत्रुओं में सख्य ( कोक कुल्य बन्ध वा बाण ) की श्रम करनेवाले अन्तरिक्षों ( जयोष्ठा-  
वर्षियों ) के मित्र कुलके पञ्चजन्म जर्वात् वस्त्रत और वल्ली राजा कुण्डने चक्र पञ्चजन्मों  
वाली इस सेना को ग्राम के पास में डहराया ॥ ३७ ॥

तां शिष्यसङ्गाः प्रभुणा निमुच्यस्तथागतौ सम्भृतसाधनत्वात् ।

पुरं नवीचक्रुरपि विसर्गाम्येष्टा निष्ठाग्रम्भक्षपितामिबोर्बोम् ॥ ३८ ॥

तामिति । प्रभुणा निमुच्यः शिष्याणां तथाहीनां सखाः सम्भृतसाधनत्वमि-  
क्षितोपकरणवातां तथागतौ शून्यामित्यर्थः । पुरमबोधयाम् । मेष्टा अपि विसर्गा-  
भक्तसेकादिवाप्यम्भपितां प्रीप्सतस्तानुर्बोमिष । नवीचक्रुः परिपूरयास्तम्भः ॥ ३८ ॥

राजा कुण्ड से निकुल काटीगरी में साधनों के सङ्घिन होने से—( ३८ ) शून्य कक्षी  
( जयोष्ठा पुरी ) को वस्त्र प्रकार कभी कर दिया जिस प्रकार देव शानी छोड़ने ( वर्ण-  
क्रम ) से— शत्रु के द्वारा तुलाई दूर दृष्टी की कभी कर देना है ॥ ३८ ॥

ततः सपर्यां सपशूपहारां पुरः परार्ध्यप्रतिमागृहायाः ।

उपोषितैर्वास्तुविधानविद्धिर्निर्वर्तयामास रघुप्रवीरः ॥ ३९ ॥

तत इति । ततो रघुप्रवीरः कुशः प्रतिमा देवताप्रतिकृतयः, अर्च्या इत्यर्थः । परार्ध्यप्रतिमागृहायाः प्रशस्तदेवतायतनायाः पुरः उपोषितैर्वास्तुविधानविद्धिः प्रयोज्यैः पशूपहारैः सहितां सपशूपहारां सपर्यां पूजा निर्वर्तयामास कारयामास । अत्र पयन्ताणि च पुनरित्यनुसन्धेयम् । अन्यथा वृतेरकर्मकस्याकरोत्यर्थत्वे कारयत्य-  
र्थाभावप्रसङ्गात् । भवितव्य वृतेरप्यन्तकर्त्रा प्रयोज्यत्वेन तन्निर्देशात्प्रयोगान्तरस्या  
पेक्षितत्वात् ॥ ३९ ॥

इसके बाद रघुश्रेष्ठ कुशने कुलपूज्य देवताका निवासस्थान उस नगरीकी पशुओंकी बलिसहित पूजाको उपवास किये हुए या समीपस्थ एव गृह-विधिको जाननेवालों ( विद्वानों ) के द्वारा पूरा करवाया ॥ ३९ ॥

तस्याः स राजोपपदं निशान्तं कामीव कान्ताहृदयं प्रविश्य ।

यथार्हमन्यैरनुजीविलोकं सम्भावयामास यथाप्रधानम् ॥ ४० ॥

तस्या इति । स कुशस्तस्याः पुरः सम्बन्धि राजोपपदः राजशब्दपूर्वं निशान्तं, राजभवनमित्यर्थः । 'निशान्तं भवनोपसोः' इति विश्वः । कामी कान्ताहृदयमिव प्रविश्य । अन्यैर्निशान्तैरनुजीविलोकममात्यादिकं यथाप्रधानं मान्यानुसारेण । यथार्हं यथोचितं, तत्तदुचितगृहैरित्यर्थः । सम्भावयामास सम्भावितवान् ॥ ४० ॥

राजा कुश उस ( अयोध्या पुरी ) के राजपूवक निशान्त ( भवन ) अर्थात् राज-भवनमें कान्ताके मनमें कामीके समान प्रवेश कर अन्यान्य ( दूसरे दूसरे ) भवनोंके द्वारा प्रधानके क्रमसे अनुचरोंका सत्कार किया । ( स्वयं राजभवनमें प्रवेश कर मंत्री आदिके निवास करनेके लिये योग्यतानुसार दूसरे भवनोंको देकर अन्यान्य अनुचरोंका सत्कार किया ) ॥ ४० ॥

सा मन्दुरासंश्रयिभिस्तुरङ्गैः शालाविधिस्तम्भगतैश्च नागैः ।

पूरावभासे विपणिस्थपण्या सर्वाङ्गनद्धाभरणेव नारी ॥ ४१ ॥

सेति । विपणिस्थानि पण्यानि क्रयविक्रयार्हवस्तूनि यस्याः सा । 'विपणि पण्य-  
वीधिका' इत्यमरः । सा पूरयोध्या मन्दुरासंश्रयिभिरश्वशालासंश्रयणशीलैः । 'वाजि-  
शाला तु मन्दुरा' इत्यमरः । 'जिहृत्ति-' इत्यादिनेनिप्रत्ययः । तुरङ्गैरश्वैः । शालासु  
गोहेषु ये विधिना स्थापिताः स्तम्भास्तान्गतैः प्राप्तेर्नागैश्च । सर्वाङ्गेषु नद्धान्याभर-  
णानि यस्याः सा नारीव । आवभासे ॥ ४१ ॥

बाजारकी श्रणियोंमें रखी हुई विक्रय वस्तुओंवाली वह नगरी घुड़शालाओंमें रहनेवाले घोड़ोंसे तथा गजशालाओंमें सविधि स्थापित खम्भों में बंधे हुए हाथियोंसे सम्पूर्ण शरीर में आभूषण पहनी हुई स्त्रीके समान शोभित हुई ॥ ४१ ॥

वसन्त तस्यां वसती रघूणां पुराणशोभाप्रथितेपितावाम् ।

न मैथिलेया स्पृहयाम्यमूष मर्जे दिवो आप्यसकेन्द्राय ॥ ४२ ॥

वसन्ति । स मैथिलेया कुसा पुराणशोभां पूर्वाशोभाप्रथितेपितायां तस्यां रघूनां वसन्तावयोध्यायां वसन् । दिवो मर्जे देवेन्द्राय तथाऽऽम्बेन्द्राय कुबेरायैव न स्पृहयाम्यमूष, तावपि न यजन्तामासेत्यर्थः । 'स्पृहेरीप्सितः' इति सम्प्रदायान्तराद्युर्थः । एतेषापोध्याया अन्वयवरादिष्वविष्यं गम्यते ॥ ४२ ॥

शचीन क्षोभाय पुनः प्राञ्च क्षी दुर्दे रघुवंशिनोक्षी यस्त नयती ( नवीन्वा पुते ) नै त्रिदास करते इव येतिस्त्रीकुमार कुञ्चये स्वर्गावीस ( इन्द्र ) तथा अम्बावीस ( कुबेर ) क्षी क्षी सृष्टा मरी क्षी नवीत जपने समवे इन्द्र बीर कुबेरयो वी कुञ्च मरी समष्टा इत्येव कुञ्चस्व कुमुद्वीसङ्गमं प्रसीति—

अथास्य रक्षप्रथिताचरीयमेकान्तपाण्डुस्तबलम्बिहारम् ।

निम्बासहाय्योद्युक्तामखणाम धर्मः प्रियाद्येयमिवोपदेन्दुम् ॥ ४३ ॥

अथास्येति । अथास्य कुञ्चस्व । रात्रैर्मुञ्चमविर्द्धिचित्तान्पुत्ररीवाग्नि वर्त्म रतम् । एकान्तप्रबन्त पाण्डुः स्वबलोकम्बिहो हारा वर्त्मस्तम् । निम्बासहाय्यो न्यदिष्टस्मान्बोद्युक्तानि यत्र तम् । पूर्व क्षीतक्यापं प्रियाया त्रैयं वैपद्यमुपदेन्दुमिह धर्मो दीप्य आखणाम् ॥ ४३ ॥

रतम् वार कुञ्चये रात्रौ से शुभे दुर दुपदेशके, अतस्त निर्मल सन्तोषर अतस्ते इव हारावै बीर अतस्ते इरावे गोम नवीत जपयत् सुख नवीताते प्रियायै देवद्ये मायै वरदेव करवैके किने दीप्यस्तम् आखाम् ॥ ४३ ॥

अयस्त्यबिह्वल्यभास्तमीप दिगुत्तरा मास्त्वति सधिहृते ।

आगन्वदौतामिह बाण्यदृष्टि दिग्यदृष्टि हैमवती ससर्ज ॥ ४४ ॥

अयस्त्येति । अगस्त्या विष्टुं यस्य तस्माद्बलान्मासां इक्षिणावभात्रादिति समीर्य सधिहृते सति । उत्तरा दिक् । आगन्वदौतां बाण्यदृष्टिमिह । हैमवती दिग्मवन्त रश्मिमी दिग्मवन्ति दिग्मिन्वन्त् ससर्ज । अत्र प्रोषितप्रियासमायामसमाधिर्निर्गते ॥

वक्षिण्यपते सूर्ये ( नयने ) वास बीरवीरर वरर दिशामे नवान्वसे क्षीतक पाण्य दृष्टिके समाव दिमाकवै उन्हे निम्बन्वक्षी क्षीतक नवीत उन्धी बीस वदने क्षी ॥ ४४ ॥

प्रबुद्धतापो विवसोऽतिमात्रमत्यर्थमेव क्षणदा च तन्वी ।

उभौ विरोधप्रियया विमिथौ आपापती सानुशयाधिवास्ताम् ॥

प्रबुद्ध इति । अतिमार्थं प्रबुद्धतापो विवसः । अत्यर्थमेवावर्त्य तन्वी कुसा क्षणदा च हन्तेतापुमी । विरोधप्रियया प्रत्यक्षकण्डूदिविवा विरोधापरमेव विमिथौ सानुशया सानुशयापती आपापती इत्यती इव आरताय तयोरेपि तापकार्यसम्मवापस्त-  
इत्यावन्तामित्यर्थः ॥ ४५ ॥

अत्यन्त सन्तापयुक्त दिन और अत्यन्त दुर्बल अर्थात् छोटी रात्रि—ये दोनों, प्रणयकलह आदि परस्पर विरुद्ध व्यवहारसे पृथक् हुए पश्चात्तापयुक्त दम्पती ( स्त्री-पुरुष ) के समान थे ॥ ४५ ॥

**दिने दिने शैवलवन्त्यधस्तात्सोपानपर्वाणि विमुञ्चदम्भः ।**

**उदण्डपद्मं गृहदीर्घिकाणां नारीनितम्बद्वयसं वभूव ॥ ४६ ॥**

दिने दिने हति । दिने दिने प्रतिदिन शैवलवन्त्यधस्ताद्यानि सोपानानां पर्वाणि भङ्ग्यस्तानि विमुञ्चत् । अत एवोदण्डपद्मं गृहदीर्घिकाणामम्भः । नारीनितम्बः प्रमाणमस्य नारीनितम्बद्वयसं वभूव, विहारयोग्यमभूदित्यर्थः । 'प्रमाणे द्वयसज्जद्वयमात्रच' इति द्वयसञ्चप्रत्यय ॥ ४६ ॥

प्रतिदिन शैवालयुक्त सोढियांको छोड़ता ( घटता ) हुआ ( अतएव जलसे ) ऊपर उठे हुए उदण्डयुक्त कमलवाला भवनोंकी बावरियोंका पानी स्त्रियोंके नितम्बके बराबर रह गया ॥

**वनेषु सायन्तनमल्लिकानां विजृम्भणोद्वन्धिषु कुड्मलेषु ।**

**प्रत्येकनिक्षिप्तपदः सशब्दं संख्यामिवैषां भ्रमरश्चकार ॥ ४७ ॥**

वनेष्विति । वनेषु विजृम्भणेन विकासेनोद्वन्धिषूकटसौरभेषु । 'गन्धस्य' इत्यादिना समासान्त इकारादेशः । सायन्तनमल्लिकानां कुड्मलेषु सशब्द यथा तथा प्रत्येकमेकैकस्मिन्निक्षिप्तपदः, मकरन्दलोभादित्यर्थः । भ्रमर एषां कुड्मलानां संख्यां गणनां चकारेव ॥ ४७ ॥

वनमें खिलनेसे उत्कट गन्धवाले सायकालीन मल्लिका-पुष्पोंकी कलिकाओंपर शब्द पूर्वक ( गुञ्जनके साथ साथ प्रत्येकपर ) पैर रखता ( बैठता ) हुआ भ्रमर मानो इनकी गिन्ती कर रहा था ॥ ४७ ॥

**स्वेदानुविद्धार्द्रनखक्षताङ्गे भूयिष्ठसंदष्टशिखं कपोले ।**

**च्युतं न कर्णादपि कामिनीनां शिरीषपुष्पं सहसा पपात ॥ ४८ ॥**

स्वेदानुविद्धेति । स्वेदानुविद्धमार्द्रं नूतन नखक्षतमङ्गो यस्य तस्मिन्कामिनीनां कपोले भूयिष्ठमत्यर्थं संदष्टशिखं विस्लिष्टकेसरम् । अत एव कर्णाच्च्युतमपि शिरीषपुष्पं सहसा न पपात ॥ ४८ ॥

स्वेद ( पसीना ) से युक्त, आर्द्र ( ताजा ) नखक्षतसे चिद्धिन कामिनियोंके कपोलमें अत्यन्त पृथग्भूत केसरवाला अत एव कानसे गिरा हुआ भी शिरीषका पुष्प एकाएक नहीं गिरा ( किन्तु पसीनेसे गीले तथा आर्द्र नखक्षतमें सट जानेसे कुछ विलम्बसे गिरा ) ॥ ४८ ॥

**यन्त्रप्रवाहैः शिशिरैः परीतान्त्रसेन धौतान्मलयोद्भवस्य ।**

**शिलाविशेषानघिशय्य निन्गुर्धारागृहेष्वातपसृद्धिमन्तः ॥ ४९ ॥**

यन्त्रप्रवाहैरिति । ऋद्धिमन्तो धनिका धारागृहेषु यन्त्रधारागृहेषु शिशिरैर्यन्त्र-

प्रवाहैर्यन्त्रसञ्चारितसङ्क्रिष्टैः परीताभ्यासाभ्यक्रान्तवत्स्य रसीन कन्धोरकेन  
 श्रीताम्रप्रकिटादिबुकाविशेषाभ्यभिषयासनाभ्यभिषय्य तेषु कविताऽऽतप विभु  
 शतवपरिवारं यत्नः ॥ ४९ ॥

यन्मित्रेन श्रीमारेवाके वरौर्ने उन्ने श्रीनारोते शुच वषा कन्दन-वच से वोरं यं  
 यद्गानोर रौकर श्रीमन्को विवावा ॥ ४९ ॥

आगार्द्रमुक्तेष्वनुपपत्तयः विभ्यस्तसायस्तनमस्त्रिकेषु ।

कामो वसन्तात्मयमन्वधीर्यः केशेषु सेमे वसमवृत्तानाम् ॥ ५० ॥

एवावर्जति । वसन्तस्वात्मसहकारिभ्योऽवबेवासिक्त्रेण मन्वधीर्योऽसिद्धवत्  
 कस्य कावाजांश से मुक्ताय रूपसञ्चारत्वावमित्यर्थः । तेषु अनुपपत्तयः रूपसञ्चा-  
 कन्धरं विभ्यस्ताः सावन्तनमस्त्रिका येषु तेषु । वसन्तानां केशेषु वरं केशे  
 तैर्दृष्टिपित इत्यर्थः ॥ ५० ॥

वसन्तः शत्रुके वीरनेति विविक्तसङ्क्रिष्ट कामरूपेण कावसे जाई यं कृते रूप तथा वृत्-  
 वासते दृग्गन्ध कर सार्वकायं गुणे रूप, यत्किञ्चै नूनोवाके कामिनिर्बोके केशोर्ने कति  
 काम किं वरार्थं तत् कन्दारके कामिनिर्बोके वाको बो वरनेति कामोदीपय इति ॥ ५० ॥

आपिञ्चय वसन्तस्य कर्मत्वाभ्यनुवाय कुशुमेऽर्जुनस्य ।

वसन्ताऽपि देहं गिरिशेन रोपात्कण्ठीकृता ज्येष्ठ मनोमवस्य ॥ ५१ ॥

आपिञ्चति । वसन्तस्य कर्मत्वाभ्यनुवाय कुशुमेऽर्जुनस्य । वसन्तस्य कर्मत्वाभ्यनुवाय  
 वस्य कर्तुमवस्य । 'वसन्तः कर्तुमोर्जुन' इत्यमरः । मन्त्री देहं वसन्ताभ्यं रोपा-  
 द्वितीयं गिरिरस्यस्य विवासात्मन गिरिकस्तेन । कोमादित्वाभ्यनुवाय । गिरौ रोप  
 इति विमदे तु 'गिरौ सेतेर्ह' इत्यस्य अन्वयि विवासात्मनोऽपि मन्त्रोपापपवि-  
 स्वात् । वसन्तपूर्वोत्थमेव विवाहवाच्यं व्याख्यम् । कण्ठीकृता मनोमवस्य आ-  
 मीर्षिण्युद्यमे ॥ ५१ ॥

परा-कर्मके व्याहृतेति ज्ञात्वात् पिञ्चति नञ् कर्तुं न दृष्ट्यो मन्त्री (काम के)  
 वीरयो मन्त्रर मो श्रीरौ विवर्गोके शाय कण्ठित कामरूपयो मन्त्रा ( वनपक्षो वीर )  
 के लक्षण श्रीमती यी ॥ ५१ ॥

मनोवृत्तान् सङ्कारमङ्गं पुराण्यङ्गीर्णं नवपातकम् ।

सम्बन्धता कामिजनेषु वीषाः सर्वे मिश्रावयिता प्रमृष्टा ॥ ५२ ॥

मनोवृत्तिः । मनोवृत्तान्मिति सर्वत्र सम्बन्धते । सङ्कारमङ्गं नृत्तपञ्चकम् ।  
 पुराणं वासितं वीरतेभ्योनेति कीदृशः पञ्चदशपञ्चिका पुरावितेपरतः । 'कीदो  
 इव' इत्युपादिसूत्रेण 'कीदृ' स्वार्थे इत्यस्मात्प्रातोर्लुक्प्रत्ययः । 'पञ्चदश' इत्येतो  
 कीदृशः पञ्चदशः शिवा' इति वाच्यः । नर्तं पादकायाः पुन्यं पादके च सम्बन्धता सङ्का-  
 वता विवावावयिता प्रीत्यकाकेन । 'अववित्त्वयाने एवासीति कः के विवेकः

‘च’ इति विश्वः । कामिजनेषु विषये सर्वे दोषास्तापादय प्रमृष्टा परिहृताः ॥ ५२ ॥

सुगन्धित आमके पल्लव-खण्ड, पुराण ( सुवासित ) गन्नेका मध और नये पाटलाके-  
गुष्पको सङ्कटित करते हुए ग्रीष्मकालने कामियोंके विषयमें सब दोषोंको दूर कर दिया  
अर्थात् ग्रीष्मकालमें सुगन्धित आम्र-पल्लवखण्ड आदिके द्वारा कामोत्तेजन होनेसे उन कामि-  
योंकी सम्पूर्ण कमी पूरी हो गयी ॥ ५२ ॥

जनस्य तस्मिन्समये विगाढे बभूवतु द्वौ सविशेषकान्तौ ।

तापापनोदक्षमपादसेवौ स चोदयस्थौ नृपतिः शशी च ॥ ५३ ॥

जनस्येति । तस्मिन्समये ग्रीष्मे विगाढे कठिने सति जनस्य द्वौ सविशेष साति-  
शयं यथा तथा कान्तौ बभूवतु । कौ द्वौ ? तापापनोदे क्षमा योग्या पादयोरहङ्मयोः  
पादानां रश्मीना च सेवा यथोस्तातुदयस्थावभ्युदयस्थौ स च नृपति शशी च ॥

ताप ( चन्द्रपक्षमें—गर्मी तथा कुशपक्षमें—सन्ताप = दुःख ) के अत्यन्त तीव्र होनेपर  
लोगोंके लिये ताप ( चन्द्रपक्षमें—गर्मी, कुशपक्षमें—दुःख ) के दूर करनेमें समर्थ पादों  
( चन्द्रपक्षमें—किरणों तथा कुशपक्षमें—चरणों ) की सेवावाले उदयप्राप्त राजा कुश तथा  
चन्द्र—ये दोनों ही अत्यन्त प्रिय हुए ॥ ५३ ॥

अथोमितोलोत्तान्मदराजहंसे रोधोलतापुष्पवद्दे सरय्वा ।

विहर्तुमिच्छा वनितासखस्य तस्याम्भसि ग्रीष्मसुखे बभूव ॥ ५४ ॥

अथेति । अथोर्मिषु लोला सत्पुष्पा वन्मदा राजहंसा यस्मिस्तस्मिन् । ‘लोल  
श्चलसत्पुष्पायो’ इत्यमर । रोधोलतापुष्पाणा वद्दे प्रापके । पचाद्यच् । ग्रीष्मेसु सुखे  
सुखकरे सरय्वा अम्भसि पयसि तरय कुशस्य वनितासखस्य, वनिताभिः सहेत्यर्थः ।  
विहर्तुमिच्छा बभूव ॥ ५४ ॥

इसके बाद तरङ्गोसे चञ्चल या सत्पुष्प एव वन्मद राजहंसोंवाले तथा तीरस्थ लताओंके  
फूलोंको बहानेवाले ग्रीष्मकालमें सुखप्रद सरयू-नदीके जलमें स्नानोंके साथ राजा कुशकी  
विहार करनेकी इच्छा हुई ॥ ५४ ॥

स तीरभूमौ विहितोपकार्यामानायिभिस्तामपकृष्टनक्राम् ।

विगाहितु श्रीमहिमानुरूपं प्रचक्रमे चक्रधरप्रभाव ॥ ५५ ॥

स इति । चक्रधरप्रभावो विष्णुतेजा स कुशस्तीरभूमौ विहितोपकार्या यस्या-  
स्ताम् । आनायो जालमेपामस्तीर्थानायिनो जालिका । ‘जालमानाय’ इति  
निपातः । ‘आनाय पुंसि जाल स्यात्’ इत्यमर । तीरपकृष्टनक्रामपनीतग्राहा तद्  
सरयू श्रीमहिम्नो सगणप्रभावयोरनुरूप योग्य यथा तथा विगाहितु प्रचक्रमे ।  
अत्र कामन्दक—‘परितापिषु वासरेषु पश्यस्तटलेष्वास्थितमाससैन्यचक्रम् । सुवि-  
शोभितनक्रमीनजाल व्यवगाहेत जल सुहृत्समेत ॥’ इति ॥ ५५ ॥

विष्णुतुल्य प्रभाववाले कुश जिसके तटपर सामियाना, टेण्ट आदि लगे हैं ऐसी, जाल-

बाणो ( यक्षाहो ) शरा मण्डले हीन की गयी सरजूमें सम्पत्ति तथा प्रचारके अमुक्तार लक्ष्य  
प्रोवा करने लगे ॥ ५५ ॥

सा सीरसोपानपद्यावतापद्म्योम्यकेयूरविधट्टिमीमि ।

समपुरक्षोमपद्ममिदसीपुष्टिम्नहसा सरिङ्गनामि ॥ ५६ ॥

तेति । सा सरितसरपूरसीरसोपानपद्मेनावताराङ्गवतरजादुम्योम्ब केयूरविधट्टि-  
मीमिः संनद्याङ्गसहर्षिणीमिः समपुरक्षोमामिः समपुरक्षकनामिः पद्ममिः पार्श्वं तामि-  
रङ्गनामिहेतुमिद्विगर्हसा भीतहृसाऽम्सीत् ॥ ५६ ॥

५६ (छन्दः) यही सीरस सीङ्गिनीके रस्ते कटनेके कारण (बलिकटन संख्या होके)  
परस्परमें बाङ्गमर्दोंके संवर्धनवासी तथा बढते हुए पुरोंवाली शिबोंसे आकुल होके  
हो गयी (कल्पविक्रमसहर्षणसे सरजूके उत्तर दक्षिणके होत आकुल हो गयी) ॥ ५६ ॥

परम्पदाम्युक्तजसत्पदार्थां तासां मृषो मखनपगवर्ध्नी ।

नौसधयाः पार्श्वगतं किरातीमुपात्तवाल्म्यजनां वभाये ॥ ५७ ॥

परस्परति । नौसधयाः परस्परमम्युक्तनौ सधये उत्पराधमासध्यानां तासां मृषो  
जज्जने रायोऽमिकावस्तर्ध्नी मृषः पार्श्वगतामुपात्तवाल्म्यजनां मृषीतवामनां मिराती  
वामनप्राङ्गिणीं वभाये । किरातस्तु मुनाम्नरे । शिवां वामनवाल्म्यां मास्त्रज्जवम्नरे  
वृषोः ॥ इति कथाया ॥ ५७ ॥

नावपर देहे ह्य तथा परस्परमें पानीका सीम खेदनी हुई कम शिबोंके त्वासीं टव  
(बलिकाव) ओ देवनेवाले राजा कुम्भसे खर हुआही हुई पार्श्ववर्तिनी किरातीसे क्या ५७

पद्म्यावराधैः शतशो मदीयैर्विगाह्यमानो गलिताङ्गपगो ।

सम्पदाद्याः साध्व इयैष वर्णं पुष्पत्यजेर्कं सरयूमवाह ॥ ५८ ॥

परस्परति । यस्मिताङ्गामीर्मदीयैः शतशोऽम्बरोर्विगाह्यमानो विखेड्यमात्र दृष्ट  
सरयूमवाह । साध्वः समेकाः सम्पदाद्याः सम्पदाऽङ्गिणीष्व इष्टः । जनेर्कं नागरिर्कं  
वर्णं रक्तपीतादिकं पुष्पति परहः । नावपार्श्वः कर्म ॥ ५८ ॥

देवो—पुत्र हुए अश्वत्थ ( कुटुम्भपरि ) बाणी देरे अन्तःपुरकी शिबोंसे शिन्देतिट ठाह  
मरीका प्रवाह देवकुल सम्पदाकाके समान अनेक रङ्गोंकी मात्र कर रहा है ॥ ५८ ॥

पिनुसमस्तापुरसुम्पदीनां यद्वर्धनं नौमुक्तितामिधमिः ।

मनुज्यतीमिर्मदरागह्यानां विलाजनेषु प्रतिपुक्तमासाम् ॥ ५९ ॥

विनुज्यति । नौमुक्तितामिर्नौमुक्तितामिरत्रिरात्पुरसुम्पदीनां यद्वर्धनं कर्तव्यं  
विनुज्यती इतं लक्ष्मणविक्रमजनेषु नवनेषु मदीय वा रागजोनाता मनुज्यतीतिर्नरेवम्नरी-  
मिरत्रिरात् प्रतिपुक्तः शब्दविनयः । प्रतिविशिष्टावमति ताकार्यकारित्वात्पुष्पवर्धन-  
ऽवधि जाया ॥ ५९ ॥

नावसे सम्मालित पानी ने रनिवास की सुन्दरियों के जिस अञ्जन को नष्ट कर दिया (धो-  
वाला) है, उस अञ्जनको इन सुन्दरियों के नेत्रों में मदराग की सुन्दरता करनेवाले पानीने  
वापस कर दिया अर्थात् पानी से अञ्जन के धुल जाने पर भी उनकी आँखों में स्नान करने  
से मदरागसौन्दर्य (लालिमा) आ गया है ॥ ५९ ॥

**एता गुरुश्रोणिपयोधरत्वादात्मानमुद्वोदुमशक्नुवत्यः ।**

**गाढाङ्गदैर्वाहुभिरप्सु बालाः क्लेशोत्तरं रागवशात्प्लवन्ते ॥ ६० ॥**

एता इति । गुरु दुर्वहं श्रोणिपयोधर यस्यात्मन इति विग्रहः । गुरुश्रोणिपयोधर-  
त्वादात्मानं शरीरमुद्वोदुमशक्नुवत्य एता बालाः गाढाङ्गदैर्वाहुभिः क्लेशो-  
त्तरं दुःखप्रायं यथा तथा रागवशात्क्रीडाभिनवेशपारतन्त्र्यात्प्लवन्ते तरन्ति ॥ ६० ॥

नितम्बों तथा स्तनों के दुर्वह (भारी) होने से देहके ढोने में असमर्थ होती हुई बालाएँ  
चिपके हुए बाजूबंदोंवाले बाहुओं से (जलक्रीडा के लिए) अधिक चाहना होने से क्लेश-  
पूर्वक (कठिनता से) पानी में तैरती हैं ॥ ६० ॥

**अमी शिरीषप्रसवावतंसा प्रभ्रंशिनो वारिविहारिणीनाम् ।**

**परिप्लवा श्रोतसि निम्नगायाः शैवाललोलाश्छलयन्ति मीनान् ॥**

अमी इति । वारिविहारिणीनामासां प्रभ्रंशिनो अष्टा निम्नगाया श्रोतसि  
पारिप्लवाश्चञ्चलाः । 'चञ्चलं तरलं चैव पारिप्लवपरिप्लवे' इत्यमरः । अमी शिरीष-  
प्रसवा एवावतंसा कर्णभूषा शैवाललोलाञ्जलीलीप्रियान् । 'जलनीली तु शैवालम्'-  
इत्यमरः । मीनांश्छलयन्ति प्रादुर्भावयन्ति । शैवालप्रियत्वाच्छिरीषेषु शैवालभ्रमा-  
त्प्रादुर्भवन्तीत्यर्थः ॥ ६१ ॥

जलविहार करनेवाली इन सुन्दरियों के गिरे हुए तथा नदी (सरयू) के जल में चञ्चल  
ये शिरीषपुष्प-निर्मित कर्णभूषण शैवाल में चञ्चल मछलियों को वञ्चित करती हैं । (शैवाल  
के भ्रम से मछलियाँ इन शिरीष-पुष्प-रचित कर्णभूषणों में शरीर रगड़ने के लिए जाकर  
वञ्चित हो जाती हैं) ॥ ६१ ॥

**आसां जलास्फालनतत्पराणां मुक्ताफलस्पर्धिषु शीकरेषु ।**

**पयोधरोत्सर्पिषु शीर्यमाणः संलक्ष्यते न न्छिदुरोऽपि द्वारः ॥ ६२ ॥**

आसामिति । जलस्यास्फालने तत्पराणामासकानामासां स्त्रीणां मुक्ताफलस्पर्-  
धिषु सौक्तिकानुकारिषु पयोधरेषु स्तनेषूत्सर्पन्त्युत्पतन्ति ये तेषु शीकरेषु शीकराणां  
मध्ये शीर्यमाणो गलन्हारोऽत एव छिदुरः स्वयं छिन्नोऽपि न संलक्ष्यते । 'विदिमि-  
दिच्छिदे कुरच्' इति कुरच्प्रत्ययः । शीकरसंसर्गाच्छिन्न इति न ज्ञायत इति भावः ॥

पानी को उछालती हुई इन सुन्दरियों के मुक्ताफल (मोती) के समान तथा स्तनों पर



( तमके अन्ततः से ) बहकते हुए बहकनों ( के मध्य ) में खीनी होकर ( दुःख ) निज हुआ भी द्वार कक्षिण नहीं होता है ॥ ६२ ॥

आवर्तेशामा नतन्मभिकान्तेमहो ध्रुवां द्रुम्हवराः स्तनान्मम् ।

जातानि कषाययवोपमानान्यपूरयतीनि विज्ञासिनीनाम् ॥ ६३ ॥

आवर्तेशोमेति । विज्ञासिनीनां विकसनसीकानां खीनाम् । श्री कण्ठसम्पन्नान्तेति विमुपस्यवा । कषाययवानामुपमेयानां पाम्नुपमानानि लोकाभिज्ञादि साम्प्रदूरवर्तीन्मृत्तिकागतानि जातानि । कस्य किमुपमानमित्यब्राह्म-वतन्मभिकान्ते-र्विज्ञासामिस्तोमाया आवर्तेशामा । 'स्वावावर्ताऽभस्यं प्रमद' इत्यमरः । ध्रुवां द्रुम्हवराः । स्तनानां द्रुम्हवराऽवकाशकाः । उपमावमिति सर्वत्र सङ्गम्यते ॥ ६३ ॥

विज्ञासिनीनां के रूप तथा अवयवों को उदयार्थ अत्यन्त निकटत्व ही नहीं ( वरा- ) गहरी बाधि को खीना को चौर की कक्षिण ध्रुवों ( को खीना ) को तल्लेन मोर रानी ( को खीना ) को बहकाह ( बहका हो नके ) बर्गः द्रुम्हवरी को यदते धावि नू मोर रानी को अत्यधिक समानता को समझ पायी के चौर, तल्लेन मोर बहकाह मात्र कर रहे हैं ॥ ६३ ॥

वीरस्यहीनहिमिस्तकक्षापैः प्रस्तिगच्छेकैरभिमन्थमानम् ।

ओम्नेषु सम्मूर्च्छति रक्तमास्यं शीतानुग वारिमुद्बुधायम् ॥ ६४ ॥

वीरस्यहीनः । उरकक्षापैश्चवर्गैः प्रमिषा मधुराः केका ज्ञेयां तैस्तीरस्वहीन रिधतर्हीमिर्मपूररभिमन्थमानं रक्तं भाष्यं शीतानुगं शीतानुसारिणां खीनां सम्पन्निव धार्मिक मुद्बुधस्तस्य बाधं बाधयति ओम्नेषु सम्मूर्च्छति व्याप्नोति ॥ ६४ ॥

मयते हुए, मयोर केका ( मधुराणां ) बाधे तथा वारिस्वच्छेति मधुरांसे अभिध-वीर्य हीनां हरें हवने योग्य गीन को अनुपमनस्योका इव ( वधोन्नातक विजयिनीनां ) को बहकन वरह को पवि काजी में व्याप्त हो रहो है ॥ ६४ ॥

सम्पृष्टलोपवक्षानितम्येविश्वमुपकाद्यान्तरितोदुत्तम्या ।

अमी लक्षापूरितसूत्रमार्गा मोर्न मज्जन्ते रथनाकक्षापाः ॥ ६५ ॥

सम्पृष्टेति । सम्पृष्टलोपेण बहमेकादशविकक्षाष्टकेष्ववकाशानां नितम्येवविकारै विश्वमुपकासेन वयोत्सवाऽन्तरितान्वाहतामि वाप्नुवन्ति नवधावि तदुद्बुधः । मुपमवकाशेति भावा । अमी लक्षापूरितसूत्रमार्गा, निषकन इत्यर्थः । रथना दृष्टकक्षया भूषा । 'कक्षापो भूषणे चर्ह' इत्यमरः । अमी निषात्पूतामिदानीं मज्जन्ते ॥

( मोमने से ) लगे हुए कक्षेबाधे विषयों के निगमोवर चौरनी से जिसे हुए लक्ष्मणों के-समान के बहूप्रण भूषणार्थके लक्ष्मण निषकन कर भूषण नीन ( महारथ ) हो रहे हैं ॥ ६५ ॥

पताः करोत्पीडितवारिधारा दर्पात्सखीभिर्वदनेषु सिक्ता ।

वक्तेतराग्रैरलकैस्तरुण्यश्चूर्णारुणान्वारिलवान्वमन्ति ॥ ६६ ॥

पता इति । दर्पात्सखीजनं प्रति करैरुत्पीडिता उत्सारिता वारिधारा याभिस्ताः स्वयमपि पुनस्तथैव सखीभिर्वदनेषु सिक्ता पतास्तरुण्यो वक्तेतराग्रैर्जलसेकाद्वज्रग्रैरलकैः करणैश्चूर्णं कुङ्कुमादिभिररुणान्वारिलवानुदकविन्दून्वमन्ति वर्पन्ति ॥ ६६ ॥

दपके कारण हाथसे जलको उछालनेवाला तथा (पुनः उसा प्रकार अर्थात् हाथसे जलको उछालकर) सखियोंके द्वारा मुग्धमें सिक्त हुई ये (विलासिनियाँ) सीधे अग्रभागवाले केशोंके चूर्णों (केशमें लगाये गये सुगन्धित कुङ्कुमादि चूर्णों) से जलकी लाल लाल बूंदोंको गिरा रही हैं । (आनन्दजन्य दर्पसे विलासिनी स्त्रियाँ एव उनकी सखियाँ परस्परमें एक दूसरेपर हाथसे जल उछाल रही हैं तथा भीगनेसे सीधे अग्रभागवाले इनके बालोंसे कुङ्कुमादि चूर्णोंसे मिश्रित होनेसे जलकी लाल लाल बूंदें टपक रही हैं ) ॥ ६६ ॥

उद्वन्धकेशश्च्युतपत्रलेखो विश्लेषिमुक्ताफलपत्रवेष्टः ।

मनोज्ञ एव प्रमदामुखानामभोविहाराकुलितोऽपि वेषः ॥ ६७ ॥

उद्वन्धकेशेति । उद्वन्धा उद्भ्रष्टा केशा यस्मिन्स । च्युतपत्रलेख चतपत्ररचनः । विश्लेषिणो विस्रसिनो मुक्ताफलपत्रवेष्टा मुक्तामयताटङ्का यस्मिन्स । एवमभोविहाराकुलितोऽपि प्रमदामुखाना वेषो नेपथ्यं मनोज्ञ एव । 'रम्याणा विहृतिरपि श्रिय तनोति' इति भावः ॥ ६७ ॥

खुले हुए बालोंवाला, (गण्डस्थलोंपर) धुली हुई पत्ररचनावाला और मोतियोंके बने नाटङ्क (कर्णभूषण विशेष) से रहित एव जल विहारसे अस्तन्यस्त भी विलासिनियोंका वेष मनोहर हो है ॥ ६७ ॥

स नौविमानादवतीर्य रेमे विलोलहारः सह ताभिरप्सु ।

स्कन्धावलग्नोद्धृतपद्मिनीकः करेणुभिर्वन्य इव द्विपेन्द्रः ॥ ६८ ॥

स इति । स कुक्षोः नौर्विमानमिव नौर्विमानम् । उपमितसमासः । तस्मादवतीर्य विलोलहारः सन् ताभिः स्त्रीभिः सह करेणुभिः सह स्कन्धावलग्नोद्धृतपद्मिन्युत्पाटिता नलिनी यस्य स तथोक्तः सन् । 'नद्धतश्च' इति कप्प्रत्ययः । वन्यो द्विपेन्द्र इव । अप्सु रेमे ॥ ६८ ॥

चञ्चल हारवाले वे कुक्ष विमानके तुल्य नावसे उतरकर उन विलासिनियोंके साथ, हथिनियोंके साथ कन्धेपर स्थित उखाड़ी हुई कमलिनीवाले हाथीके समान जलमें विहार करने लगे ॥ ६८ ॥

ततो नृपेणानुगताः स्त्रियस्ता भ्राजिष्णुना सातिशय विरेजुः ।

प्रागेव मुक्ता नयनाभिरामाः प्राप्येन्द्रनीलं किमुतोन्मयूखम् ॥ ६९ ॥

तत इति । ततो भ्राजिष्णुना प्रकाशनशीलेन । 'सुवश्च' इति चकारादिष्णुच् ।

नृपेयाजुगताः स्रज्जटास्ताः क्षियाः सतिष्ठन् यथा तथा विरेहः । प्रागेव हन्त्रनीक्यो  
यात् पूर्वमेव केवला अपीत्यर्थः । मुक्ता मयसो नयनाभिरामाः सन्मयूषमिन्द्रवीर्यं  
प्राप्य किमुत अभिरामा इति किमु नक्षत्रमित्यर्थः ॥ ६९ ॥

इसके बाद शोभनशोक राजा कुतरे नमुगल ( सम्मिष्ट ) के किरीं नलरि  
शोभने कयी नचेंकि मुक्यरें पड़े से ही देखनेमें लम्बर होपी है कपर देखी हुई  
किरनोबसे हन्त्रनीक ( नीकम ) को पाकर क्या क्या है । कर्षाए निमित्तकसे लीक  
कोमटी है ॥ ६९ ॥

वर्जोदकैः काञ्चनभृङ्गमुक्षैस्तमायताक्ष्यः प्रणयासिञ्चन् ।

तथापतः सोऽतितर्यं वमासे मघातुमिष्यम् इवादिपञ्चा ॥ ७० ॥

वर्जोदकैरिति । तं कृष्णमायताक्ष्यः काञ्चनस्य श्यैर्मुक्षानि तैर्वर्जोदकैः कृष्ण-  
दिव्यद्रव्यसहितोदकैः प्रणयासनेहासिञ्चन् । तथागतस्तथा स्थिता, वर्जोदकसिञ्च-  
इत्यर्थः । न कुशा सघातुमिष्यम्बो गेरिकृष्णयुष्योऽधिराज इव । अतितर्यं वमासे-  
त्यर्थः अकासे ॥ ७० ॥

सुवर्णमयी पिचक्षरिणी से छोड़े वये कुटुयादिके लखुन पानीसे दियाक केचोंयको  
कन सुन्दरिचोंने पस कुलको सिमिठ किया और बैठे कर्षाए किरींके द्वारा लखुन  
पानी में मीये हुए है कुल बाहु ( नीक आदि ) के मिष्यन्से कुछ दिमाकके सम्य  
छोमिठ हुवे ॥ ७० ॥

तेनायरोधप्रमदासखेम विपाहमानेन सतिष्ठन् ताम् ।

आकाशगङ्गापतिरप्सरामिर्भूतो भरतपालमुपातलीलः ॥ ७१ ॥

तेनेति । अवरोधप्रमदासखेमान्तापुरसुन्दरीसहचरेण तां सतिष्ठतां सरपूविपा-  
हमानेन तम् कुटीकाकातागजुनयां रतिः खीका यस्य लोऽप्सरामिर्भूतः ज्ञातुो मरुता-  
मिन्द्रोऽमुवातलीलोऽमुकृतलीः । अमुदिति शेषः । हन्त्रमनुकृतवामित्यर्थः ॥ ७१ ॥

अन्तस्तुल्ये प्रवराको के सहित वरीमेह लखने निहार करते हुवे कुलमे अप्यबकीं  
सम आकाशगङ्गा में सम ( एक कीका ) करते हुवे हन्त्रको शोभनको प्राप्त किया ॥ ७१ ॥

यस्तुन्मयोनेरधिगम्य रामः कुशाय राज्येन समं दिदेश ।

तस्य जैत्रामरण विहर्तुरकातपार्तः सखिले समञ्जः ॥ ७२ ॥

वदिति । जैत्रामरण रामः तुन्मयोनेरगसयाधिगम्य प्राप्य कुशाय राज्येन समं  
दिदेश वरी राज्यसममूक्यमित्यर्थः । सखिले विहर्तुः खीकितुररय कृष्णस्य तजैत्रा-  
भरत्वं अवशीकजामरयमशातपार्तः सत् समञ्जः सुबोधः ॥ ७२ ॥

राम कुलके ( रिता ) में अनन्तर लुन्नी मल किन्तु अधिको राज्यके सार कुलके  
किन्तु रिता ना कम ( कुल ) का दिव्यशीक वर जामरय दिया जाने हुए गिरकर पानीमें  
हुव ६५ ॥ ७२ ॥

स्नात्वा यथाकाममसौ सदारस्तीरोपकार्या गतमात्र एव ।

दिव्येन शून्यं चलयेन बाहुमपोढनेपथ्यविधिर्ददर्श ॥ ७३ ॥

स्नात्वेति । असौ कुश सदार सन् यथाकाम यथेच्छ स्नात्वा विगाह्य । तारे योपकार्या पूर्वोक्ता ता गतमात्रो गत एवापोढनेपथ्यविधिरकृतप्रसाधन एव दिव्येन चलयेन शून्य बाहु ददर्श ॥ ७३ ॥

स्त्रियोंके साथ इच्छानुसार स्नान कर तारस्थित ग्रामियाने ( पट निर्मित भवन ) में आने ही विना शृङ्गार किये हुए उस कुशने दिव्य वस्त्रोंसे मूना हाथ देखा ॥ ७३ ॥

जयश्रियः संवननं यतस्तदामुक्तपूर्वं गुरुणा च यस्मात् ।

नेहेऽस्य न भ्रंशमतो न लोभात्स तुल्यपुष्पाभरणो हि धीरः ॥ ७४ ॥

जयश्रिय इति । यत कारणात्तदाभरण जयश्रिय संवनन वशीकरणम् । 'वश-क्रिया संवननम्' इत्यमर । यस्माच्च गुरुणा पित्राऽऽमुक्तपूर्वं पूर्वमामुक्तम्, आद्यत-मित्यर्थ । सुप्सुपेति समास । अतो हेतोरस्याभरणस्य भ्रंश नाश न सेहे । लो भाज । कुत । हि यस्माद्धीरो विद्वान्स कुशस्तुल्यानि पुष्पाण्याभरणानि च यस्य स । पुष्पेष्वाभरणेषु धृतेषु निर्मास्यबुद्धिं करोतीत्यर्थ ॥ ७४ ॥

जिस कारणसे पिता ( राम ) ने विजयलक्ष्माका वशीकरण वह भूषण कुशको पहनाया था, अत एव वे ( कुश ) उस भूषण का गिरना नहीं सह सके (उसके गिरनेसे उन्हें अपार दुःख हुआ ), लोभसे नहीं, क्योंकि वे कुश पुष्प तथा भूषणको समान समझते थे ॥ ७४ ॥

ततः समाज्ञापयदाशु सर्वानानायिनस्तद्विचये नदीष्णान् ।

बन्ध्यश्रमास्ते सरयू विगाह्य तमूचुरग्लानमुखप्रसादाः ॥ ७५ ॥

तत इति ॥ तत नद्यां स्नान्ति कौशलेनेति नदीष्णा तान् । 'सुपि' इति योग विभागात्कप्रत्यय । 'निनदीभ्यां स्नाते कौशले' इति पठ्यम् । सर्वानानायिनो जालिकांस्तस्याभरणस्य विचयेऽन्वेपणे निमित्ते आशु समाज्ञापयदादिदेश । त आ-नायिन सरयू विगाह्य विलोढ्य बन्ध्यश्रमा विफलप्रयासास्तथाऽपि तद्वृत्तिं ज्ञात्वा-ऽग्लानमुखप्रसादा सश्रीकमुखा सन्तस्त कुशमूचु ॥ ७५ ॥

नदीमें अच्छी तरह गोता लगानेवाले सभी जालिकों ( जाल लगानेवाले धीवरों ) को उस ( पितृदत्त आभरण ) को खोजनेके लिये उस कुशने शीघ्र आशा दी । सरयूको विलो-हित ( उसमें अच्छी तरह खोज ) कर व्यर्थ परिश्रमवाले ( रत्नको नहीं प्राप्त किए हुए ) भी प्रसन्नमुख होते हुए वे ( जालिक ) उस कुशसे बोले ॥ ७५ ॥

कृत. प्रयत्नो न च देव लब्धं मग्न पयस्याभरणोत्तमं ते ।

नागेन लौल्यात्कुमुदेन नूनमुपात्तमन्तर्हदवासिना तत् ॥ ७६ ॥

कृत इति । हे देव ! प्रयत्नः कृतः । पयसि मग्न त आभरणोत्तम न च लब्धम् ।

किन्तु तदाभरणमन्तर्हृद्वासिषा कुमुदेव कुमुदाभ्येव नागैर पक्षीर्य क्रैस्ताडो  
भादुपायं गृहीतम् । मूलमिति वितर्के ॥ ७९ ॥

हे देव । ( हम कोशने ) बल किया । ( किन्तु ) पत्नी में बूने हुए भापके उस सब  
प्रथमश्रे ( हमने ) गद्दी बाधा । 'तत्त ( अमृतरत्न ) को हर के मोतर निरात करेको  
हस्त' नामक मागने कोमरी के किया है वह हमारा अनुमान है' ॥ ७९ ॥

तत' स कृत्वा धनुषततज्य धनुर्धरा कोपविकोहिताक्ष' ।

पादरमत सीरगतस्तरस्वी मुञ्जकुमाशाय समादवेऽरुम् ॥ ८० ॥

तत इति । ततो धनुर्धरा कोपविकोहिताक्षस्तरस्वी बन्धाम्ब कुससीरयता  
सम्बभूरावततज्यमयिज्यं कृत्वा मुञ्जकुस्य कुमुदस्य नाशाय पादरमतं वरुमदेवतक-  
मञ्च समादवे ॥ ८० ॥

इसके बाद कोपते कल नैर्धोवाके धनुषी पर बन्धान् उस कुम्भने ( सरबूके ) ऊपर  
बाधर नागको मारनेके लिए बहुत बड़ाकर पादर अरुमको मञ्च दिया ॥ ८० ॥

तस्मिन्नुवाः संहितमात्र एव क्षोमारसमाविद्धतरङ्गहस्ता ।

रोषांसि विप्रक्षयपातमग्रा करोष बन्धाः परुषं वरास ॥ ८१ ॥

तस्मिन्निति । तस्मिन्को संहितमात्रे सत्येव हृद्वा कामावेतो समाविद्धा  
सङ्कृष्टास्तरङ्गा एव हस्ता वरुष स रोषांसि विप्रक्षयपातम् । नवपाते गङ्गाहृदयते  
मग्रा पतितः । 'नवपातस्तु हस्तयते गतंस्वस्वपादिना' इति वादकः । बन्धा  
करीष परुषं योर् वरास बन्धान् ॥ ८१ ॥

उत्त ( कुम्भ ) के पास जाते ही कोमरी केहते हुए तरङ्गस्वी शार्धोवाका पर हर तर्धो  
गिराता हुआ नक्षत्रे गिरे हुए बन्धुके शानीके समान वरु रर करने लगा ॥ ८१ ॥

तस्मात्समुद्रादिय मन्थमानाधुवृक्षतनधास्तहसाम्भमञ्च ।

सहस्येय सार्धं सुरराजसुहृत्तः कन्धा पुरस्सुहृत्त मुञ्जकुमाशाय ॥ ८२ ॥

तस्मादिति । मन्थमानासमुद्रादिय उद्धृतनधास्तमितग्रादातस्माद् इत्यन्तः ।  
कन्ध्या सार्धं सुरराजसुहृत्तस्य हृत्तः पारिजात इव । कन्धा पुरस्सुहृत्त मुञ्जकुमाशाय  
कुमुदा सहसोम्भमञ्च ॥ ८२ ॥

मन्थ । ति कुम्भ मनुष्ये नक्षत्रीयदिन वारिजान् हस्तके समान व्यापुष यवरोवाके उत  
उरते कन्धापी भाये कन्धे वह नागराज कन्धर निदम् ॥ ८२ ॥

विमूषणप्रमुपहारदस्तमुपमिषत्तं वीक्ष्य विद्यां पतिस्तम् ।

सौवधमस्तं प्रतिसहृद्धार महंष्यनिर्यन्धरुपा हि सन्ता ॥ ८३ ॥

विदूषयैति । विद्यां पतिर्मनुष्यविद्यां वृत्ता । द्वी विद्या वीरवन्धुमी इत्यम् ।  
विदूषणं प्रमुपहारति बन्धपतिपति विमूषणप्रमुपहारः । कर्मन्धनः । विदूषणप्रमुप

हारो हस्तो यस्य तम् । उपस्थित प्राप्त तं कुमुद वीक्ष्य सौपर्णं गारुत्मतमस्त्रं प्रति-  
सञ्जहार । तथा हि, सन्त प्रहेषु नम्रेष्वनिर्वन्धरूपोऽनियतकोपा हि ॥ ८० ॥

राजा ( कृश ) ने भूषणरूप प्रत्युपहारको हाथमें लेकर उपस्थित नागको देखकर  
गारुडास्त्रको समेट लिया ( उसका प्रहार नहीं किया ), क्योंकि सज्जन लोग नम्र  
व्यक्तियोंपर क्रोध करनेका हठ अर्थात् क्रोध नहीं करते हैं ॥ ८० ॥

त्रैलोक्यनाथप्रभवं प्रभावात्कुशं द्विषामङ्कुशमस्त्रविद्वान् ।

मानोन्नतेनाप्यभिवन्ध्य मूर्ध्ना मूर्ध्नाभिषिक्तं कुमुदो वभाषे ॥ ८१ ॥

त्रैलोक्येति । अस्त्र विद्वानस्त्रविद्वान् । 'न लोकाव्ययनिष्ठास्त्रलथर्वनाम्' इत्यनेन  
पट्टीनिषेध । 'द्वितीयाश्रित—' इत्यत्र गम्यादीनामुपसख्यानाद् द्वितीयेति योग-  
विभागाद्वा समास । गारुडास्त्रमहिमाभिज्ञ इत्यर्थः । कुमुद । त्रयो लोकास्त्रै  
लोक्यम् । चातुर्वर्ण्यादिस्वास्वार्थे ष्यङ्प्रत्ययः । त्रैलोक्यनाथो रामः प्रभवो जनको  
यस्य तम् । अत एव प्रभावाद् द्विषामङ्कुश निवारक मूर्ध्नाभिषिक्त राजानं कुशं  
मानोन्नतेनापि मूर्ध्नाऽभिवन्ध्य प्रणम्य वभाषे ॥ ८१ ॥

अस्त्रज्ञाना ( गारुडास्त्रके प्रभावको जाननेवाला ) 'कुमुद' ( नामका नाग ) त्रैलोक्यपति  
( राम ) के पुत्र तथा प्रभावसे शत्रुओंके अङ्कुश राजा कुशको मानसे उन्नत भी मस्तकसे  
अभिवादन कर बोला ॥ ८१ ॥

अवैमि कार्यान्तरमानुषस्य विष्णोः सुताख्यामपरां तनुं त्वाम् ।

सोऽहं कथं नाम तवाचरेयमाराधनीयस्य धृतेर्विधातम् ॥ ८२ ॥

अवैमीति । त्वाम् । ओदनान्तरस्तण्डुल इतिवत्कार्यान्तर कार्यार्थः । 'स्थाना-  
स्मीयान्यतादर्थ्यरन्धान्तर्येषु चान्तरम्' इति शाश्वत । स चासौ मानुषश्चेति तस्य  
विष्णो रामस्य सुताख्या पुत्रसञ्ज्ञामपरा तनु मूर्तिमवैमि । 'आत्मा वै पुत्रनामासि'  
इति श्रुतेरित्यर्थः । स जानन्नहमाराधनीयस्योपास्यस्य तव धृतेः प्रीतेः । 'धृ प्रीतौ'  
इति धातो स्त्रिया क्तिन् । विधात कथं नामाचरेयम्, असम्भावितमित्यर्थः ॥ ८२ ॥

आपको कार्य ( देवकार्य ) के लिये मनुष्य ( रूप धारण किये हुए ) विष्णुका पुत्ररूप  
शरीर अर्थात् पुत्र मैं जानता हूँ, वह मैं पूजनीय आपकी प्रीतिके विपरीत व्यवहार कैसे  
करूँगा ? अर्थात् कदापि नहीं करूँगा ॥ ८२ ॥

कराभिधातोत्थितकन्दुकेयमालोक्य बालातिकृतूहलेन ।

हृदात्पतज्ज्योतिरिवान्तरिक्षादावत्त जैत्राभरणं त्वदीयम् ॥ ८३ ॥

कराभिधातेति । कराभिधातेनोत्थित ऊर्ध्वं गत कन्दुको यस्या सा । कन्दुका-  
र्थमूर्ध्वं पश्यन्तीत्यर्थः । इय बालातिकृतूहलेनात्यन्तकौतुकनान्तरिक्षाज्ज्योतिर्निषत्र-  
मिव । 'ज्योतिर्भद्योतदृष्टिपु' इत्यमर । हृदात्पतस्त्वदीय जैत्राभरणमालोक्यादत्तागृह्णात् ॥

हाथके अभिधातसे ऊपर उड़ल हुए गेंदवाली अर्थात् गेंदके लिये ऊपर देखती हुई इस

वाका ( ज्योष कम्पा ) ये आत्यन्त कुतूहल्यो आकाशसे गिरते इव ताराके समान इत्ये  
गिरते इव आरके दिव्यशील आभरणयो के चिन्ता ॥ ८१ ॥

तदेतदाजानुविक्तमिना ते जग्यायासरेखाकिण्णसाम्प्रमेन ।

भुजेन रक्षापरिधेय भूमेरपैतु योगं पुमरसक्षेम ॥ ८४ ॥

तदेतद्विति । तदेतदाभरणमाजानुविक्तमिना वीर्येण । श्वाघातेन वा रेखा रेखा-  
कारा प्रत्ययस्तासां किं चिद्धं तदैव अन्वर्तनं यद्यत् तेन । भूमे रक्षायाः परिधेय  
रक्षाश्रीकेन । 'परिधो योगमेवास्मिन्नुदरेऽर्थात्तथातथो' इत्यमरः । अंसक्षेमं बलवता है  
भुजेन पुनर्चोपसङ्गतिमुपैतु । एतेर्विषाण्यैर्महामाग्न्यक्षीर्षपुराणराक्षसकर्मणादिप्राप्तैः ।

इस अरण्ये ( भूयः ) आजानुक्म्भी ( सुदौर्गत-कर्मकरी इव अर्थात् विनाशके )  
प्रत्ययान्ते आजातजन्म रेखाकम जन्म ( बट्टे ) से चिह्नित पृथ्वीको रक्षाके लिये परिपूर्य  
और बलवान् बाहुसे फिर संयुक्त होवे अर्थात् इस भूयःको आप फिर बाहुयें भरन करे ।

इमां स्वसारं च यचीयसीं मे कुमुदतीं नार्हसि नानुमन्तुम् ।

आत्मापराधं हृदतीं चिराय दुष्पूषया पार्थिव पाद्भ्योस्ते ॥ ८५ ॥

इमामिति । किञ्च । हे पार्थिव ! ते'तव'पाद्भ्योमिराय दुष्पूषया-परिचर्यवा ।  
'दुष्पूषा औतुमिच्छायां परिचर्यामहात्मनो' इति विश्वः । आत्मापराधमाभरणप्रद-  
नकरं कुमुदतीम् परित्रिहीयन्तीमित्यर्थः । 'आर्त्तासायां मृतपक्ष' इति चकारादुक्त  
मानार्थे सवृत्त्यया । 'आच्छीमन्नोर्मुम्' इत्यस्य वैकटिकप्रबन्धानुसमावाः । इमां मे  
यचीयसीं कविष्ठां स्वसारं भयिष्ठीं कुमुदतीमनुमन्तुं नार्हसीति न, नार्हस्येवेत्यर्थः ।

हे राजन् आपके अर्थको बहुत समय तक सेवा करनेसे जगमे अरारको दूर  
करती हुई 'कुमुदती' नामको मेरी इस छोटी बहनको आज स्वीकार करनेके योग्य नहीं है  
किसा नहीं है अर्थात् इसे अवश्य स्वीकार करे ॥ ८५ ॥

इयूचियानुपहृतामरणाः क्षितीया श्लाघ्या मयाम्भजनं द्रव्यनुमापितारम् ।  
संयाज्यां विधिपदास समेतवन्धुः कन्यामयमं कुमुदं कुलमूषणेन ॥ ८६ ॥

इतीति । इति पूर्वश्लोकोक्तमविधानुक्तवाम् । मुवाः कमुः । उपहृतामरणाः उपहृ-  
तमामरणं सेव प्राप्तविताभरणाः कुमुदः । हे कुमुद ! मयाम्भजन्तः स्वजनो बन्धु  
इत्यनुमापितारमनुचर्यां क्षितीयं कुली समेतवन्धुर्पुत्रवन्धुः तान् कन्यामयम्  
कन्याकपेन कुलबोर्भूषणैः विधिवन्तः शोभायामास । न कवचं तदीयमेव किन्तु  
रक्षणीयमपि भूयः तस्मै हस्तवाविति ध्वनिः । आत्मनश्चानुयचोराचार्यव्यापं तु  
जातेन सम्यहितम् ॥ ८६ ॥

तस्याः स्पृष्टे मनुजपतिना साहचर्याय हस्ते

माङ्गल्योर्णावलयिनि पुरः पावकस्योच्छिन्नस्य ।

दिव्यस्तूर्यध्वनिरुदचरव्यश्नुवानो दिगन्तान्

गन्धोदग्रं तदनु ववृषुः पुष्पमाश्चर्यमेधाः ॥ ८७ ॥

तस्या इति । मनुजपतिना कुशेन साहचर्याय, सहधर्माचरणायेत्यर्थः । माङ्गल्यया मङ्गले साधुर्योर्णा मेषादिलोम । 'ऊर्णा मेषादिलोमिन् स्यात्' इत्यमरः । अत्र लक्षणया तन्निर्मितं सूत्रमुच्यते । तथा वलयिनि वलयवति तस्या कुमुदस्याहस्ते पाणावुच्छिन्नस्योदधिप पावकस्य पुरोऽग्रे स्पृष्टे गृहीते सति दिगन्तान्व्यश्नुवानो व्याप्नुवन्दिव्यस्तूर्यध्वनिरुदचरदुस्थितः । तदन्वाश्चर्या अद्भुता मेधा गन्धेनोदग्रमुत्कटं पुष्प पुष्पाणि । जात्यभिप्रायेणैकवचनम् । ववृषु । आश्चर्यशब्दस्य । 'रौद्रं तूग्रममी त्रिषु । चतुर्दश' इत्यमरवचनात्त्रिलिङ्गत्वम् ॥ ८७ ॥

राजा ( कुश ) के, साहचर्य ( सहधर्मिणी बनाने ) के लिये मङ्गलार्थ ऊनी सूतके बने कङ्कणयुक्त उस 'कुमुदती' के हाथको जलती हुई अग्नि के सामने ग्रहण करने पर दिशाओं के अन्ततक फैलनेवाली दिव्य तूर्यध्वनि हुई तथा आश्चर्यजनक मेधोने श्रेष्ठ गन्धयुक्त पुष्पोंकी वर्षा की ॥ ८७ ॥

इत्थं नागस्त्रिभुवनगुरोरैरसं मैथिलेयं

लब्ध्वा बन्धुं तमपि च कुशः पञ्चमं तक्षकस्य ।

एकं शङ्कां पितृवधरिपोरत्यजद्वैनतेया-

च्छान्तन्यालामवनिमपरं पौरकान्तः शशास ॥ ८८ ॥

इत्थमिति । इत्थं नागः कुमुद । त्रयाणां भुवनानां समाहारस्त्रिभुवनम् । 'तद्वि-  
तार्थ' इत्यादिना तत्पुरुषः । अदन्तद्विगुत्वेऽपि पात्राद्यदन्तत्वात्तपुसकत्वम् । 'पात्रा-  
द्यदन्तैरेकार्थो द्विगुलक्षयानुसारतः' इत्यमरः । तस्य गुरुः रामः । तस्यौरसः धर्मः  
पत्नीजः पुत्रम् । 'औरसो धर्मपत्नीजः' इति याज्ञवल्क्यः । मैथिलेयः कुशः बन्धुः  
लब्ध्वा । कुशोऽपि च तक्षकस्य पञ्चमः पुत्रः तः कुमुदः बन्धुः लब्ध्वा एकस्तयोरन्यतरः  
कुमुदः पितृवधेन रिपोर्वैनतेयाद्विरुद्धात् । गुरुणा वैष्णवाद्येन कुशेन त्याजितक्रौर्या  
दिति भावः । शङ्काः भयमत्यजत् । अपरः कुशः शान्तन्याला कुमुदाज्ञया वीतसर्प-  
भयामवनिमत एव पौरकान्तः पौरप्रियः सन्धुशशास ॥ ८८ ॥

इति सङ्गीविनीव्याख्याया कुमुदतीपरिणयो नाम षोडशः सर्गः ॥ १६ ॥



इस प्रकार नाग ( 'कुमुद' नामक नाग ) ने त्रिभुवनाधीश ( राम ) के पुत्र मैथिली-  
कुमार ( कुश ) को बन्धु ( रूपमें ) प्राप्त कर और कुश भी तक्षक के पञ्चम पुत्र 'कुमुद' को



वन्धु (स्वप्ने) प्रापन्नर (इन दोनोंमेंसे) एक अर्थात् 'कुमुद' प्रामने ( कुमुदे बध्नेसे विमुक्त  
 मङ्गल विठा रामदे द्वारा गच्छकी करतला त्याग करानेसे ) विठाके मारनेसे यह समझे  
 जबको छोड़ा और दूसरे अर्थात् कुससे (कुमुदकी भावासे) सर्वजनसे रहित हन्त्रीका प्राप्त  
 जागरिकोद्यम प्रिय बन्धुकर दिया ॥ ८८ ॥

वद 'मतिप्रसा' व्याप्तार्थे 'रघुधर' महाकाव्यका 'कुमुदगी-परिचय'

नामक बोधक सर्ग समाप्त हुआ ॥ १९ ॥

—३३—

## सप्तदशः सर्गः

बभौ रामपदाम्भोजं रेशको बभ सन्ततम् । कुर्वन्ति कुमुदगीतिमर-वगूमेदिवा ॥

मतिधि नाम काकुत्स्थस्यात्पुत्रं प्राप कुमुदगी ।

पश्चिमाद्यामिनीयाप्राप्तसाधमिष खेतना ॥ १ ॥

अतिविमिति । कुमुदगी काकुत्स्थकावतिवि नाम पुत्रम् । खेतना इति  
 पश्चिमाद्यन्तिमाद्यामिन्या राक्षसांस्तद्वद्वरात् । 'ही वामद्वारौ समौ' इत्यमरा । प्रसादं  
 बैलघमिष प्राप । प्राप्ते सर्वेषां सुखिबैलघं मचलीति प्रसिद्धिः ॥ १ ॥

को परमा नित व-वगूमेदि कुमुद प्रमथे करते हैं ।

रामचन्द्रके कम बचपणको प्रणाम दम करते हैं ॥

कुमुदगी ( 'कुमुद नामक मापको छोटी बहन ) ने कुससे 'अतिधि नामक पुत्रको इस  
 प्रकार प्राप्त किया जिस प्रकार बैलना ( बुद्धि ) एविके अन्तिम प्रहरसे प्रसाद (स्वप्नका)  
 को प्राप्त करती है ॥ १ ॥

स पितुः पितृमान्दं मातुः पितृमान्दं ।

अपुनात्समितेभोमी मार्गात्पुत्तरवसिषौ ॥ २ ॥

स इति । पितृमाद प्रकल्पितपुत्रः । प्रसंसार्ये सपुत्र । सुविधित इत्यर्थः । अत्र  
 वमपुतिः । सविपुत्रेयं विशेषणम् । सोऽतिधिः पितुः कृष्णस्य मातुः कुमुदस्याप्य  
 वस्य । सविपुत्तरवसिषाभौ मार्गाविष । अपुनात्पविषीकृतवात् ॥ २ ॥

सुविधित तथा अनुपम अतिविक्रमि कत 'अतिधि' ने पिता तथा माता के बंधको दत्त  
 प्रकार बलिष किया जिस प्रकार सुपुत्र कपूर और बलिष मार्गको ( कपूरजन तथा बलिषा  
 बन होमेवर ) पविष करते हैं ॥ २ ॥

तमापौ कुरुविद्यानामर्थमर्थविदां वरः ।

पश्चात्पार्थिवकन्यान् पापिमप्राहयत्पिता ॥ ३ ॥

तमिति । अर्थात्कुरुविद्यानामर्थमर्थविदां वरः । पश्चात्पार्थिवकन्यान् पापिमप्राहयत्पिता ॥ ३ ॥

तेषां वरः श्रेष्ठः पिता कुशस्तमतिथिमादौ प्रथमः कुलविद्यानामान्वीक्षिकीत्रयी-  
वार्तादण्डनीतीनामर्थमभिधेयमग्राह्यदबोधयत् । पश्चात्पार्थिवकन्यानां पाणिमग्रा-  
ह्यत्स्वीकारितवान्, उद्वाह्यदित्यर्थः । ग्रहर्ण्यन्तस्य सर्वत्र द्विकर्मकत्वमस्ती-  
त्युक्तं प्राक् ॥ ३ ॥

अर्थ (शब्दार्थ तथा दान-सग्रहादि कार्यके प्रयोजनों) के ज्ञाता पिता (कुश) ने  
पहले उसे (अतिथि को) कुलविद्या (आन्वीक्षिकी आदि वंशपरम्परागत राजनीति विद्या)  
के अर्थका ग्रहण कराया अर्थात् राजनीतिको पढ़ाया और बादमें राजकन्याओंके पाणिको  
ग्रहण कराया अर्थात् राजकुमारियोंके साथ उनका विवाह कर दिया ॥ ३ ॥

जात्यस्तेनाभिजातेन शूरः शौर्यवता कुशः ।

अमन्यतैकमात्मानमनेकं वशिना वशी ॥ ४ ॥

जात्य इति । जातौ भवो जात्यः कुलीनः शूरो वशी कुशोऽभिजातेन कुलीनेन ।  
'अभिजातः कुलीनः स्यात्' इत्यमरः । शौर्यवता वशिना तेनातिथिना करणेन एक-  
मात्मानम् । एको न भवतीत्यनेकस्तम् । अमन्यतः । सर्वगुणसामग्र्यादात्मज-  
मात्मान एव रूपान्तरमस्तेत्यर्थः ॥ ४ ॥

कुलीन, शूरवीर तथा जितेन्द्रिय कुशने कुलीन, शूरवीर तथा जितेन्द्रिय उस 'अति-  
थि'के द्वारा अकेले भी अपनेको अनेक समझा अर्थात् 'अतिथि' नामक अपने पुत्रमें अपने  
सम्पूर्ण गुणोंके होनेसे उसे अपना ही रूपान्तर माना ॥ ४ ॥

स कुलोचितमिन्द्रस्य साहायकमुपेयिवान् ।

जघान समरे दैत्यं दुर्जयं तेन चावधि ॥ ५ ॥

स इति । कुशः कुलोचितं कुलाभ्यस्तमिन्द्रस्य साहायकः सहकारित्वम् ।  
'योपधाद् गुरुपोत्तमाद् बुञ्' इत्यनेन बुञ् । उपेयिवान्प्राप्तः सन्समरे नामतोऽर्थ-  
तश्च दुर्जयं दैत्यं जघानावधीत् । तेन दत्येनावधि हतश्च । 'लुङि च' इति हनो  
वधादेशः ॥ ५ ॥

उस कुशने अपने वंश (रघुवंश) के योग्य इन्द्रकी सहायता कर युद्धमें 'दुर्जय' (दुखसे  
जीतने योग्य तथा 'दुर्जय' नामक) दैत्यको मारा तथा (स्वयं भी) उससे मारे गये ॥ ५ ॥

तं स्वसा नागराजस्य कुमुदस्य कुमुद्वती ।

अन्वगात्कुमुदानन्दः शशाङ्कमिव कौमुदी ॥ ६ ॥

तमिति । कुमुदस्य नाम नागराजस्य स्वसा कुमुद्वती कुशपत्नी । कुमुदानन्दं  
शशाङ्कं कौमुदी ज्योत्स्नेव । तः कुशमन्वगात् । कुशस्तु । कुः पृथ्वी तस्याः सुग्रीति  
सैवानन्दो यस्येति कुमुदानन्दः, परानन्देन स्वयमानन्दतीत्यर्थः ॥ ६ ॥

नागराज 'कुमुद' का बहन 'कुमुद्वती' ने कुमुदको विकसित करनेवाले चन्द्रमाकी  
चौदनीके समान पृथ्वीको हर्षसे आनन्दित करनेवाले उस कुशका अनुगमन किया अर्थात्  
कुशकी मृत्युके बाद वह सती हो गयी ॥ ६ ॥

तयोर्विषस्पतेरासीवेका सिंहासनायमाह ।

द्वितीयाऽपि सखी शय्यायाः पारिजाताशमागिनी ॥ ७ ॥

तथोरिति । तयोः कुशकुमुद्वयोर्मध्ये एकः कुशो विषस्पतेरिन्द्रस्य सिंहासनाय  
सिंहासयैकदेशः तत्रागासीत् । द्वितीया कुमुद्वती शय्या इत्याख्या पारिजातोदय  
भागिनी प्राद्विषी । 'मन्थूय-' इत्यादिना मन्त्रैर्विबुधत्वात् । सख्यासीत् । कस्या  
द्विराद्विवरपतिः सायुः ॥ ७ ॥

इयं दोनो ( कुश तथा कुमुद्वती ) यै से एव ( कुश ) शय्यासीत् इन्द्रके भावे जातस्यो  
प्राप्त करनेवाले यै तथा दूसरी ( कुमुद्वती ) इन्द्रानीकी पारिजात का भाग देनेवाली उन्हें  
दनी अर्थात् अपने अपने पुण्यकर्मोंसे दोनोंमें स्वर्गमें अत्र रहना वाता ॥ ७ ॥

तदारभस्तम्भयं राज्यं मन्त्रिवृत्ता समावधुः ।

स्मरन्तः पश्चिमाम्नायां मर्तुः सङ्ग्राममायिनः ॥ ८ ॥

तदिति । सङ्ग्राममायिनः सङ्ग्रामे कार्यताः । आश्रयकार्ये यिनः । अङ्गो-  
र्भविष्यद्वाचमन्त्र्ययोः इति षष्ठीनिषेधाः । मर्तुः स्वामिना कुशस्य पश्चिमामन्त्रिमाम्नि-  
यां विपर्यये पुत्रोऽभिविष्यत्य इत्यङ्कपां स्मरन्तो मन्त्रिवृत्तास्तदुत्तममन्त्रमन्त्रमन्त्रि-  
रन्त्ये समावधुर्विदधुः ॥ ८ ॥

( इन्द्रको तदावता करनेके पश्चात् ) संग्राममें जानेवाले स्वामी ( कुश ) की मन्त्रि-  
आज्ञासे स्मरण करते हुए लूटें मन्त्रियोंमें उनमें पुत्र ( अभिवि ) की राजपरीवर देना ॥

ते तस्य कक्षपयामासुरमिषेकाय विधिपमि ।

विमार्गं नयमुद्वेहि यत्तु स्तम्भमतिष्ठितम् ॥ ९ ॥

त इति । ते मन्त्रिवरतरावातिथेरमिषेकाय विधिपमिरद्वेष्टुस्तम्भेदिकं यत्तु स्त-  
म्भमतिष्ठितं यत्तु स्तम्भेयुः प्रतिष्ठितं यत्तु विमार्गं मन्त्र्यपक्षपयामासुः स्मरन्तानासुः  
यत्तु ( लूटें मन्त्रियों ) के आगिरों से वस ( अभिवि ) के राजपरीवर देने के  
आश्रयों पर विष्णु के दोनो भागों विमान ( मन्त्र्य ) नयवाता ॥ ९ ॥

तत्रैव हेमकुम्भेषु सम्पुनैस्तीर्थधारिभिः ।

उपतप्त्युः प्रहृतया मद्रपीडापयेदितम् ॥ १० ॥

तत्रेति । तत्र विमाने मद्रपीडा पीडाविशेषे उपवेष्टितमेनमन्त्रिभिः हेमकुम्भेषु सम्पु-  
नैः मद्रपृथ्वीतैस्तीर्थधारिभिः करणैः प्रहृतयो मन्त्रिणः उपतप्त्युः ॥ १० ॥

उत्तम आतमपर देनादे यत्तु वस अभिवि का मन्त्रियोंने त्वत्पदे यत्तु मे से इन्द्र  
नार्थ से मन्त्रियों के देना ॥ १० ॥

अह्निः स्मिग्यगम्भीरं मूर्ध्नि राह्वनपुच्छरैः ।

अम्यमीयत ब्रह्मार्जं तस्याक्षिच्छिन्नस्तति ॥ ११ ॥

अह्निरिति । आहर्तुं कुच्छं शुभं देना मे । 'कुच्छं' करिहत्याने प्रायमाणमुत्ते

जले' इत्यमरः । स्निग्धं मधुर गम्भीरं च नदस्त्रित्यैस्तस्यातिथेरविच्छिन्नसन्तत्य-  
विच्छिन्नपारम्पर्यं कल्याणं भावि शुभमन्वसीयतानुमितम् ॥ ११ ॥

वजाये जाते हुए मुखवाले अतएव मधुर एव गम्भीर ध्वनि करते हुए वार्जोसे उस  
( अतिथि ) के कल्याणकी अविच्छिन्न परम्परा वाला होनेका अनुमान होता था अर्थात्  
'अतिथि'के कल्याणकी परम्परा कभी भी नहीं टूटेगी, ऐसा अनुमान किया गया ॥ ११ ॥

दूर्वायवाङ्कुरप्लक्षत्वगभिन्नपुटोत्तरान् ।

ज्ञातिवृद्धैः प्रयुक्तान्स भेजे नीराजनाविधीन् ॥ १२ ॥

दूर्वेति । सोऽतिथि । दूर्वाश्च यवाङ्कुराश्च प्लक्षत्वचश्चाभिन्नपुटा चालपल्लवाश्चोत्त-  
राणि प्रधानानि येषु तान् । अभिन्नपुटानि मधूकपुष्पाणोति केचित् । कमलानीत्य-  
न्ये । ज्ञातिषु ये वृद्धास्तैः प्रयुक्तानीराजनाविधीन्भेजे ॥ १२ ॥

उस 'अतिथि'ने दूब, यवके अङ्कुर ( जड़, मुजरियों ), पीपलकी छाल तथा नये पल्लवों  
( मतान्तरसे मड़ुपके फूलों या कमलों ) से युक्त जातीमें वृद्ध जनोंसे की गयी आरती  
की प्राप्त किया अर्थात् जातिके बड़े-बूढ़े लोगोंने नवामिपिक्त राजा 'अतिथि'की दूर्वादियुक्त  
आरती की ॥ १२ ॥

पुरोहितपुरोगास्तं जिष्णुं जैत्रैरथर्वभिः ।

उपचक्रमिरे पूर्वमभिषेक्तुं द्विजातयः ॥ १३ ॥

पुरोहितेति । पुरोहितपुरोगा पुरोहितप्रमुखा द्विजातयो ब्राह्मणा जिष्णुं  
जयशील तमतिथिं जैत्रैर्जयशीलैरथर्वभिर्मन्त्रविशेषैः करणैः पूर्वमभिषेक्तुमुपचक्रमिरे ॥

पुरोहित आदि ब्राह्मणोंने पहले विजयशील अथर्व-मन्त्रोंसे जयशील उस 'अतिथि'  
का अभिषेक करना आरम्भ किया ॥ १३ ॥

तस्यौघहती मूर्ध्नि निपतन्ती व्यरोचत ।

सशब्दमभिषेकश्रीर्गङ्गेव त्रिपुरद्विषः ॥ १४ ॥

तस्येति । तस्यातिथेर्मूर्ध्नि सशब्द निपतन्त्योघमहती महाप्रवाहा । अभिषिच्य-  
तेऽनेनेत्यभिषेको जलम् । स एव श्री । यद्वा तस्य श्री समृद्धिस्त्रिपुरद्विषः शिवस्य  
मूर्ध्नि निपतन्ती गङ्गेव व्यरोचत । त्रयाणां पुराणां द्वेष्टीति विग्रहः ॥ १४ ॥

उस 'अतिथि' के मस्तक पर गिरती हुई ध्वनिसहित महाप्रवाहयुक्त अभिषेक लक्ष्मी  
शङ्करजीके मस्तक पर ध्वनि के साथ गिरती हुई महाप्रवाहयुक्त गङ्गाके समान शोभित हुई ॥

स्तूयमानः क्षणे तस्मिन्नलक्ष्यत स वन्दिभिः ।

प्रवृद्ध इव पर्जन्यः सारङ्गैरभिनन्दितः ॥ १५ ॥

स्तूयमान इति । तस्मिन्क्षणेऽभिषेककाले वन्दिभिः स्तूयमान सोऽतिथिः प्रवृद्ध  
प्रवृद्धवान् । कर्तरि क्त । अत एव सारङ्गैश्चातकैरभिनन्दितः पर्जन्यो मेघ इव ।  
अलक्ष्यत ॥ १५ ॥

तयोर्दिवस्पतेरासीवेकः सिंहासनाद्यमाह ।

द्वितीयाऽपि सखी शय्याः पारिजाताद्यामागिनी ॥ ७ ॥

तथोरिति । तयोः कुशकुमुदयोर्मध्ये एकः कुशो विरहस्पतेरित्यस्य सिंहासनाद्यमागिनी । तन्मागिनी । द्वितीया कुमुदती शय्या इत्याख्याः पारिजाताद्यामागिनी प्रादिनी । 'सम्पूज' इत्यादिना भजेर्धिनुप्रात्ययाः । सख्यासीत् । कस्या दिव्यादिवस्पतिः सायुः ॥ ७ ॥

वन दोनो ( कुश तथा कुमुदती ) में से एक ( कुश ) स्वर्गवीर्य शत्रुके जाने आत्मने प्राप्त करनेवाले वने तथा दूसरी ( कुमुदती ) शत्रुानीकी पारिजात का भाव देनेवाली लक्ष्मी वनी अर्थात् अपने-अपने पुण्यकर्मोंसे दोनोंने स्वर्गमें ब्रह्म एवाय प्राप्त ॥ ७ ॥

तदात्मसम्भव राज्ये मन्त्रिहृत्वा समावधुः ।

स्मरन्तः पश्चिमामाशां भर्तुः सकृद्रामयामिमाः ॥ ८ ॥

तदिति । सहधामयाविना सहधाम आरयत । आश्वरवकार्ये विनि । 'अम्भो मन्त्रिष्वदायमर्णवो इति पट्टाभिषेकाः । भर्तुः स्वामिना कुशस्य पश्चिमाममितिमाश्यां विषयवे पुत्रोऽभिषेकस्य इत्येवंपर्या स्मरन्तः मन्त्रिहृत्वास्तद्वृत्तसम्भवमतिथिं राज्ये समावधुर्निहृत्वा ॥ ८ ॥

( शत्रुको सहायता करनेके लिए ) सहधाममें जानेवाले स्वाधी ( कुश ) को अन्तिम आश्वीके स्मरण करते हुए वृद्ध मन्त्रिणीने वनके पुत्र ( अनिभि ) को राज्याभिषेकके विषये बात

से तस्य कल्पयामासुरभिषेकाय शिषिपमि ।

विमार्गं नयमुद्वेदि चतुस्तम्भमतिष्ठितम् ॥ ९ ॥

त इति । ते मन्त्रिणस्तस्मात्तिथेरभिषेकाय सिषिपमिरद्वेष्टुवृत्तवेदिकं चतुस्तम्भमतिष्ठितं चतुर्षु रत्नमेष्टुमतिष्ठितं यच्च विमार्गं मण्डपकल्पयामासुः कल्पयामासुः ॥

तन ( वृद्धे मन्त्रिणी ) ने काटीवर्ती से वस ( अनिभि ) के राज्याभिषेकके विषये बात कर्मोवर रिक्त कंधी देवीवाका विमार्ग ( मण्डप ) बनवाया ॥ ९ ॥

तत्रैतं हेमकुम्भेषु सम्मुत्तैस्तीर्थवारिमि ।

उपतरधुः प्रकृतयो मद्रवीठापर्यवितम् ॥ १० ॥

तत्रेति । तत्र विमाने अत्रवीठे वीर्यविशेषे उपवर्षितमेममतिथिं हेमकुम्भेषु तादृशैः सहपुद्गीतैस्तीर्थवारिमिः करणैः प्रकृतयो मन्त्रिणाः उपतरधुः ॥ १० ॥

उपतर धातुमवर ईश्वरी के वने वन अनिभि का मन्त्रिणीम श्रवणके वनलोके रती इव तीर्थवत्, से अनिभि के विषय ॥ १० ॥

मद्रिभिः स्निग्धगम्भीरं त्र्येराहतपुष्करैः ।

अम्यपीयत कस्याप्य तस्यापि विपुलसस्तति ॥ ११ ॥

मद्रिभिः । आहतं पुष्करं सुप्तं वेधां तैः । 'पुष्करं करिहस्तामे वायमाण्डमुने

जले' इत्यमर । स्निग्ध मधुरं गम्भीरं च नदद्विस्तृत्यैस्तस्यातिथेरविच्छिन्नसन्तत्य-  
विच्छिन्नपारम्पर्यं कल्याण भावि शुभमन्वमीयतानुमितम् ॥ ११ ॥

वजाये जाते हुए मुखवाले अतएव मधुर एव गम्भीर ध्वनि करने हुए वाजोंसे उम  
( अतिथि ) के कल्याणकी अविच्छिन्न परम्परा वाला होनेका अनुमान होता था अर्थात्  
'अतिथि'के कल्याणकी परम्परा कभी भी नहीं टूटेगी, ऐसा अनुमान किया गया ॥ ११ ॥

दूर्वायवाङ्कुरप्लक्षत्वगभिन्नपुटोत्तरान् ।

ज्ञातिवृद्धैः प्रयुक्तान्स भेजे नीराजनाविधीन् ॥ १२ ॥

दूर्वेति । सोऽतिथिः । दूर्वाश्च यवाङ्कुराश्च प्लक्षत्वचश्चाभिन्नपुटा वालपल्लवाश्चोत्त-  
राणि प्रधानानि येषु तान् । अभिन्नपुटानि मधूकपुष्पाणोति केचित् । कमलानीत्य-  
न्ये । ज्ञातिषु ये वृद्धास्तैः प्रयुक्तास्त्रीराजनाविधौभेजे ॥ १२ ॥

उस 'अतिथि'ने दूब, यवके अङ्कुर ( जई, भुजरियाँ ), पीपलकी छाल तथा नये पल्लवों  
( मतान्तरसे मड़ुएके फूलों या कमलों ) से युक्त चातीमें वृद्ध जनोंसे की गयी आरती  
को प्राप्त किया अर्थात् जातिके बड़े-बूढ़े लोगोंने नवामिपिक्त राजा 'अतिथि'की दूर्वादियुक्त  
आरती की ॥ १२ ॥

पुरोहितपुरोगास्तं जिष्णुं जैत्रैरथर्वभिः ।

उपचक्रमिरे पूर्वमभिषेक्तुं द्विजातयः ॥ १३ ॥

पुरोहितेति । पुरोहितपुरोगा पुरोहितप्रमुखा द्विजातयो ब्राह्मणाः जिष्णुं  
जयशीलं तमतिथिं जैत्रैर्जयशीलैरथर्वभिर्मन्त्रविशेषैःकरणैः पूर्वमभिषेक्तुमुपचक्रमिरे ॥

पुरोहित आदि ब्राह्मणोंने पहले विजयशील अथर्व-मन्त्रोंसे जयशील उस 'अतिथि'  
का अभिषेक करना आरम्भ किया ॥ १३ ॥

तस्यौघहृती मूर्ध्नि निपतन्ती व्यरोचत ।

सशब्दमभिषेकश्रीर्गङ्गेव त्रिपुरद्विषः ॥ १४ ॥

तस्येति । तस्यातिथेर्मूर्ध्नि सशब्द निपतन्त्योघमहतीमहाप्रवाहा । अभिषिक्त्य-  
तेऽनेनेत्यभिषेको जलम् । स एव श्री । यद्वा तस्य श्री समृद्धिस्त्रिपुरद्विष शिवस्य  
मूर्ध्नि निपतन्ती गङ्गेव व्यरोचत । अयाणा पुराणा द्वेष्टीति विग्रहः ॥ १४ ॥

उस 'अतिथि' के मस्तक पर गिरती हुई ध्वनिसहित महाप्रवाहयुक्त अभिषेक लक्ष्मी  
शङ्करजीके मस्तक पर ध्वनि के साथ गिरती हुई महाप्रवाहयुक्त गङ्गाके समान शोभित हुई ॥

स्तूयमानः क्षणे तस्मिन्नलक्ष्यत स वन्दिभिः ।

प्रवृद्ध इव - पर्जन्यः सारङ्गैरभिनन्दितः ॥ १५ ॥

स्तूयमान इति । तस्मिन्क्षणेऽभिषेककाले वन्दिभिः स्तूयमान सोऽतिथिः प्रवृद्ध  
प्रवृद्धवान् । कर्तारि क । अत एव सारङ्गैश्चातकैरभिनन्दित पर्जन्यो मेघ इव ।  
अलक्ष्यत ॥ १५ ॥

तयोर्द्विषम्यतेवासीदेका सिंहासनार्थमाह ।

द्वितीयाऽपि सखी शय्या पारिजातांशमागिमी ॥ ७ ॥

तथोरिति । तयोः कुञ्जकुमुद्वृत्त्योर्मध्ये एका कुञ्जो विहरपतेरिन्द्रस्य सिंहासनार्थं सिंहासनैकदेशः तद्वत्तासीत् । द्वितीया कुमुद्वृत्ती शय्या इन्द्राण्याः पारिजातांशत्वा मागिमी प्रादिनी । 'मण्डूक- इत्यादिना मन्त्रैर्मनुष्यात्मया । सख्यासीत् । कस्तूरित्वाविहरपतिः साधुः ॥ ७ ॥

एक दोनो ( कुञ्ज तथा कुमुद्वृत्ती ) में से एक ( कुञ्ज ) इन्द्रजीव इन्द्रके आने जाकरके प्राप्त करनेवाके बने तथा दूसरी ( कुमुद्वृत्ती ) इन्द्राणीकी पारिजात का भाग देनेवाकी लगी बनी मन्त्राद् अपने अपने पुण्यकर्मोंसे दोनोंमें स्वर्गमें जेष्ठ स्थान पाया ॥ ७ ॥

तदात्मसम्भय राज्यं मन्त्रिचक्षुः समावृष्टः ।

स्मरन्तः पश्चिमामायां मर्तुः सक्रमामयायिमा ॥ ८ ॥

तद्विति । सक्रमामयायिमा मन्त्रप्रामं वाच्यता । आधरवकार्ये विनि । 'अकर्मो भविष्यद्वापमर्ण्योः इति पट्टीविषयाः । मर्तुः स्वामिनाः क्रमस्य पश्चिमामन्त्रिमायां शां विपर्यये पुत्रोऽन्विषेच्छस्य इत्येवंकृपा स्मरन्तो मन्त्रिहृदस्तद्वृत्तमसम्भयमतिवि राज्यं समावृष्टमिदं ॥ ८ ॥

( इन्द्रजीव सदावता करनेके लिए ) संग्राममें जानेवाके स्वामी ( कुञ्ज ) की अन्तिम आज्ञासे स्मरण करते हुए हुई मन्त्रियोंमें इनके पुत्र ( अतिवि ) को राज्यकीपर देना ॥

ते तस्य कल्पयामासुरमिषेक्ष्य शिदिपमि ।

विमार्गं नयमुद्वेदि चतुस्तम्भमतिष्ठितम् ॥ ९ ॥

त इति । ते मन्त्रिणस्तस्यातिशेरमिषेकाय शिदिपमिरुद्वेष्टतत्वेदिक चतुस्तम्भमतिष्ठितं चतुर्षु स्तम्भेषु मतिष्ठितं वर्षं विमार्गं मन्त्रय कल्पयामासुः कल्पयामासुः ॥

एत ( हुई मन्त्रियों ) ने करीगते से पत्त ( अतिवि ) के राज्यप्रियेके लिये चार चतुर्षोपर स्थित वर्षों के बीचका विमार्ग ( मन्त्रय ) कल्पया ॥ ९ ॥

तस्मै हेमकुम्भेषु सम्पुटीस्तीर्थचारिणि ।

उपतस्थुः मङ्गलतो मङ्गलीयापबोधितम् ॥ १० ॥

तत्रेति । तत्र विमार्गे मङ्गलीये पीठविषये उपबोधितमेवमतिवि हेमकुम्भेषु सम्पुटी स्तीर्थस्तीर्थचारिणि करने मङ्गलतो मन्त्रिणाः उपतस्थुः ॥ १० ॥

उत्तम जातनवर ईशाने एवै वसन् 'मन्त्रि' मन्त्रियोंमें उत्तमके कक्षमें गये हुए तीर्थयात्रीके अतिथि किया ॥ १० ॥

नन्निः स्निग्धगम्भीरं तृष्येदाहृतपुष्करि ।

अन्धमीयत कल्पार्थं तस्याविच्छिन्नसत्तति ॥ ११ ॥

नन्निरिति । आहृतं पुष्करं शृणुं वेत्तां तैः । 'पुष्करं करिहस्तामे वाचमाप्युद्वे

जले' इत्यमरः । स्निग्ध मधुरं गम्भीर च नदद्भिस्तूयैस्तस्यातिथेरविच्छिन्नसन्तरय-  
विच्छिन्नपारम्पर्यं कल्याणं भावि शुभमन्वमीयतानुमितम् ॥ ११ ॥

वजाये जाते हुए मुखवाले अतएव मधुर एव गम्भार ध्वनि करते हुए बाजोंसे उस  
( अतिथि ) के कल्याणकी अविच्छिन्न परम्परा वाला होनेका अनुमान होता था अर्थात्  
'अतिथि'के कल्याणकी परम्परा कभी भी नहीं टूटेगी, ऐसा अनुमान किया गया ॥ ११ ॥

दूर्वायवाङ्कुरप्लक्षत्वगभिन्नपुटोत्तरान् ।

ज्ञातिवृद्धैः प्रयुक्तान्स भेजे नीराजनाविवीन् ॥ १२ ॥

दूर्वेति । सोऽतिथि । दूर्वाश्च यवाङ्कुराश्च प्लक्षत्वचश्चाभिन्नपुटा घालपल्लवाश्चोत्त-  
राणि प्रधानानि येषु तान् । अभिन्नपुटानि मधूकपुष्पाणोति केचित् । कमलानीध-  
न्ये । ज्ञातिषु ये वृद्धास्तैः प्रयुक्ताः नीराजनाविवीन् ॥ १२ ॥

उस 'अतिथि'ने दूब, यवके अङ्कुर ( जई, भुजरियाँ ), पीपलकी छाल तथा नये पल्लवों  
( मतान्तरसे महुएके फूलों या कमलों ) से युक्त जातीमें वृद्ध जनोंसे की गयी आरती  
की प्राप्त किया अर्थात् जातिके बड़े-बूढ़े लोगोंने नवामिपिक्त राजा 'अतिथि'की दूर्वादियुक्त  
आरती की ॥ १२ ॥

पुरोहितपुरोगास्तं जिष्णुं जैत्रैरथर्वभिः ।

उपचक्रमिरे पूर्वमभिषेक्तुं द्विजातयः ॥ १३ ॥

पुरोहितेति । पुरोहितपुरोगा पुरोहितप्रमुखा द्विजातयो ब्राह्मणाः जिष्णुं  
जयशील तमतिथिं जैत्रैर्जयशीलैरथर्वभिर्मन्त्रविशेषैः करणैः पूर्वमभिषेक्तुमुपचक्रमिरे ॥

पुरोहित आदि ब्राह्मणोंने पहले विजयशील अथर्व-मन्त्रोंसे जयशील उम 'अतिथि'  
का अभिषेक करना आरम्भ किया ॥ १३ ॥

तस्यौघहृती मूर्ध्नि निपतन्ती व्यरोचत ।

सशब्दमभिषेकश्रीर्गङ्गेव त्रिपुरद्विषः ॥ १४ ॥

तस्येति । तस्यातिथेर्मूर्ध्नि सशब्द निपतन्त्योघमहती महाप्रवाहा । अभिषिच्य-  
तेऽनेनेत्यभिषेको जलम् । स एव श्री । यद्वा तस्य श्री समृद्धिस्त्रिपुरद्विषः शिवस्य  
मूर्ध्नि निपतन्ती गङ्गेव व्यरोचत । त्रयाणां पुराणां द्वेष्टीति विग्रहः ॥ १४ ॥

उस 'अतिथि' के मस्तक पर गिरती हुई ध्वनिसहित महाप्रवाहयुक्त अभिषेक लक्ष्मी  
शङ्करजीके मस्तक पर ध्वनि के साथ गिरती हुई महाप्रवाहयुक्त गङ्गाके समान शोभित हुई ॥

स्तूयमानः क्षणे तस्मिन्नलक्ष्यत स वन्दिभिः ।

प्रवृद्ध इव पर्जन्यः सारङ्गैरभिनन्दितः ॥ १५ ॥

स्तूयमान इति । तस्मिन्क्षणेऽभिषेककाले वन्दिभिः स्तूयमान सोऽतिथिः प्रवृद्धः  
प्रवृद्धवान् । कर्तरि क्त । अत एव सारङ्गैश्चातकैरभिनन्दित पर्जन्यो मेघ इव ।  
अलक्ष्यत ॥ १५ ॥





खम्बर आदि ) को भार न देने की, और ( केवल बछड़ोंके दूध पीने के लिये ) गायों का दुहना वन्द करनेकी आज्ञा दी ॥ १९ ॥

**क्रीडापतत्रिणोऽप्यस्य पञ्जरस्थाः शुक्रादयः ।**

**लब्धमोक्षास्तदादेशाद्येष्टगतयोऽभवन् ॥ २० ॥**

क्रीडापतत्रिण इति । पञ्जरस्था शुक्रादयोऽस्यातिथेः क्रीडापतत्रिणोऽपि, किमुतान्य इत्यपिशब्दार्थः । तदादेशात्तस्यातिथेः शासनाल्लब्धमोक्षाः सन्तो यथेष्ट गतिर्येषां ते स्वेच्छाचारिणोऽभवन् ॥ २० ॥

पिंजड़े में रहनेवाले क्रीडाके लिये पाले गये पक्षी ( तोता, मैना आदि ) भी उम 'अतिथि' की आज्ञासे छुटकारा पाकर स्वेच्छा-पूर्वक विचरण करने लगे ( उनकी आज्ञाने क्रीडार्थ पाले गये पञ्जरस्थ पक्षियोंको भी छोड़ दिया गया ) ॥ २० ॥

**ततः कक्ष्यान्तरन्यस्तं गजदन्तासनं शुचि ।**

**सोत्तरच्छदमध्यास्त नेपथ्यग्रहणाय स ॥ २१ ॥**

तत इति । ततः सोऽतिथिर्नेपथ्यग्रहणाय प्रसाधनस्वीकाराय । कक्ष्यान्तरं हर्म्याङ्गणविशेषः । 'कक्ष्या प्रकोष्ठे हर्म्यादे' इत्यमरः । तत्र न्यस्त स्थापितं शुचिं निर्मलं सोत्तरच्छदमास्तरणसहितं गजदन्तस्यासनं पीठमध्यास्तं तत्रोपविष्ट इत्यर्थः ॥

इसके बाद वे 'अतिथि' आभूषण पहननेके लिये दूसरे प्रकोष्ठमें गये और वहीं रखे हुए हाथीदाँतके बने हुए तथा चादर बिछे हुए श्वेत सिंहासन पर बैठे ॥ २१ ॥

**तं धूपाश्यानकेशान्तं तोयनिर्णिक्तपाणय ।**

**आकल्पसाधनैस्तैस्तैरुपसेदुः प्रसाधका ॥ २२ ॥**

तमिति । तोयेन निर्णिक्तपाणयः क्षालितहस्ता प्रसाधका अलङ्कृताः धूपेन गन्धद्रव्यधूपेनाश्यानकेशान्तं शोषितकेशपाशान्तं तमतिथिं तैस्तैराकल्पस्य नेपथ्यस्य साधनैर्गन्धमाख्यादिभिरुपसेदुरुपतस्थुः, अलङ्कृतैरित्यर्थः ॥ २२ ॥

जलसे हाथ धोए हुए प्रसाधकों ( शृङ्गार करनेवालों ) ने धूप देनेसे मूले हुए केशवाले उस 'अतिथि' को उन-उन शृङ्गार सामग्रियोंसे अलङ्कृत किया ॥ २२ ॥

**तेऽस्य मुक्तागुणोन्नद्धं मौलिमन्तर्गतस्रजम् ।**

**प्रत्यूपुः पञ्चरागेण प्रभामण्डलशोभिना ॥ २३ ॥**

त इति । ते प्रसाधका मुक्तागुणेन मौक्तिकसरेणोन्नद्धमुद्वद्धमन्तर्गतस्रजमस्यातिथेर्मौलिं घर्मिन् प्रभामण्डलशोभिना पञ्चरागेण माणिक्येन प्रत्यूपुः प्रत्युसचक्रुः ॥ २३ ॥

उन शृङ्गारकर्ताओंने ऊपर उठाकर मोतियों की लहोसे बाँधे गये तथा बीचमें ( पुष्पांकी ) मालासे युक्त उस 'अतिथि' के वालों के बीच-बीचमें प्रभा-समूहसे शोभमान माणिक्योंको रूँधा ॥ २३ ॥

उत्त तस्मै नमिष्यते स्तुत सङ्क्षिप्तान् वह नमिषि पाठकोसे नमिष्यते ते ॥  
मैत्रये समाप्त विष्णुवादी पद्ये के ॥ १५ ॥

तस्य सम्मन्त्रपुत्राभिः स्नानमद्विः प्रतीच्यतः ।

वपुषे वैपुतस्याग्नेर्गृध्रिसेवाविष्य धृतिः ॥ १५ ॥

तस्येति । सम्भन्धैः पूताभिः शुद्धामिरज्जिः स्नातं प्रसीधकः कुर्वतस्तत्  
 वृष्टिसेवाय । विद्यतोऽयं वैद्यतरुस्थानिभ्यनस्थानोरिव । अतिबहुधे ॥ ११ ॥

सिद्धावस्था विद्युत्सम्पन्नी अभियंता के तैयारी समाप्त बहू गनी ॥ १६ ॥

स तावदमिपेकान्ते स्नातकेभ्यो वही बह्व ।

यावदीषां समाप्येरन्वहाः पर्याप्तवसिष्ठाः ॥ १७ ॥

स इति । सोऽतिपिरमिषेकान्ते रनातकेभ्यो पुद्गल्येभ्यस्तावत्परिमाणं बहु  
 भन इति । यावत्ता वसुधैवा रनातकाणां पर्वसदृश्याः समग्रदृश्या वज्रा समान्यै  
 रद् तावद्वावित्त्वम् ॥ १७ ॥

राज्यामिवद्धे अमृत्यै वल्ल अतिथि राजाने वल्ल माह्वयोके विने वल्लना वल्ल दिवा  
विदनेसे वल्लके वल्लान्न ( वल्लिवृत्त ) वल्लिनावाके वल्ल समाप्त हो जाय ॥ २७ ॥

ते प्रीतमसन्तस्मै यामाशिषमुदीरयन् ।

सा तस्य कर्मनिर्णयैव पञ्चाह्वया कसौ ॥ १८ ॥

[illegible]

मध्यमिष कम मध्यमोपेन ७७ जाति के सिधे दो आसोबाँद रिवा बरहल जाति के दूरे कभीसे प्राप्त कलोकें द्वारा वलन वादके सिधे हुमा अर्थात् अतिवि' के सम्यग्वादि कम पूर्ववर्माजिग होमेले वय माझनों के सिधे बने आसोबाँद का कम वलन वाद प्राप्त होमेवाला हुमा ॥ १८ ॥

वस्यच्छेर्षं स वस्यार्थं वस्यार्हाणामवश्यताम् ।

धुर्याणां च पुरा मासमश्राहं आदिषादृषाम् ॥ १९ ॥

**अथ यत्तु ईति ।** सांनिधिर्ब्रह्मणा नश्यत्येवं ब्रह्माहात्म्यवन्नाम् । पुरं वा  
न्याति पुत्रा वसती चार्द्धकालीयां भूषो नारदः सीता गङ्गायामृष्टौ वास्तानां शान्तार्ध  
योद्धिनी इति आदिमहाविष्णवे ॥ ३५ ॥

सत जगनि के बंधे हुए ( जेरी अरि ) नीनोंको बचकी छोड़नेछां आरे आनेवाली  
( बानीछ दण्ड बाधे हुए अचरापी आदि ) को बरी मारके को मार दीनेवाली ( बैन

जय जयकार किये जाते हुए वे 'अतिथि' इन्द्रसभाके समान सभा ( -भवन ) में पहुँचे ॥

वितानसहितं तत्र भेजे पैतृकमासनम् ।

चूडामणिभिरुद्धृष्टपादपीठं महीक्षिताम् ॥ २८ ॥

वितानेति । तत्र सभाया वितानेनोल्लोचेन सहितम् । 'अस्त्री वितानमुल्लोच' इत्यमरः । महीक्षिता राज्ञां चूडामणिभिः शिरोरत्नैरुद्धृष्टमुल्लिखित पादपीठ यस्य तत् । पितुरिदं पैतृकम् । 'ऋतष्टब्' इति ठप्प्रत्ययः । आसनं सिंहासनं भेजे ॥ २८ ॥

वहाँपर चँदोवा लगे हुए तथा राजाओंके मुकुटमणियोंसे उल्लिखित ( प्रणाम करने हुए राजाओंके मुकुटमणियोंसे छूए गये ) पिताके सिंहासनपर बैठे ॥ २८ ॥

शुशुभे तेन चाक्रान्तं मङ्गलायतनं महत् ।

श्रीवत्सलक्षणं वक्षः कौस्तुभेनेव कैशवम् ॥ २९ ॥

शुशुभ इति । तेन चाक्रान्तम् । श्रीवत्सो नाम चिह्नविशेषः । तल्लक्षणं श्रीवत्सरूपम् । 'श्रीवत्सनन्द्यावर्तादिविच्छेदा बहवो द्वयोः' इति सज्जनः । महदधिकं मङ्गलायतनं मङ्गलगृहं सभारूपम् । कौस्तुभेन मणिनाऽऽक्रान्तं श्रीवत्सलक्षणम् । कैशवस्येदं कैशवम् । वक्ष इव शुशुभे ॥ २९ ॥

उस 'अतिथि' से युक्त विशाल एवं मङ्गल स्थान वह 'श्रीवत्स' नामक गृह-विशेष 'कौस्तुभ' मणिसे युक्त महामङ्गल स्थान श्रीवत्स ( विष्णु भगवान्की छातीका चिह्न विशेष ) से चिह्नित विष्णुकी छातीके समान शोभित हुआ ॥ २९ ॥

वभौ भूयः कुमारत्वादाधिराज्यमवाप्य सः ।

रेखाभावादुपाकृतः सामग्रथमिव चन्द्रमा ॥ ३० ॥

वभाविति । सोऽतिथिः कुमारत्वादाव्यादुभूयो यौवराज्यमवाप्यैवानन्तरम् । अधिराजस्य भावः अधिराज्यं माहाराज्यमवाप्यः । रेखाभावादर्थेन्द्रत्वमवाप्यैव सामग्रथमुपाकृतः पूर्णतां गतश्चन्द्रमा इव वभौ इति व्याख्यानम् । तदपि यौवराज्याभावनिश्चये ज्याय एव ॥ ३० ॥

वे 'अतिथि' कुमारभाव होनेसे युवराजपदको प्राप्तकर तथा बादमें राज्यश्रीको प्राप्तकर रेखारूपसे पूर्णताको प्राप्त हुए अर्थात् चन्द्रमाके समान शोभित हुए ॥ ३० ॥

प्रसन्नमुखरागं तस्मितपूर्वाभिभाषिणम् ।

मूर्तिमन्तमभ्यन्यन्त विश्वासमनुजीविनः ॥ ३१ ॥

प्रसन्नो मुखरागो मुखकान्तिर्यस्य तस्मितपूर्वं यथा तथाऽभिभाषिणमाभाषणशीलं तस्मिन्मनुजीविनः सेवकाः । मूर्तिमन्तं विग्रहवन्तं विश्वासं विश्वम्भमभ्यन्यन्तः । 'समौ विस्रम्भविश्वासौ' इत्यमरः ॥ ३१ ॥

अनुचरोंने प्रसन्न मुखकान्तिवाले तथा पहले मुस्कराकर भाषण करनेवाले उस 'अतिथि' को मूर्तिमान् विश्वास जैसा माना ॥ ३१ ॥

अश्वमेधाज्ञारणं च सुगन्धमिसुगन्धिता ।

समापय्य ततश्चक्रुः पर्व विन्ध्यस्तरोचनम् ॥ २४ ॥

अश्वमेधेति । किं च । सुगन्धाम्ना कस्तूरिकया सुगन्धिता अश्वमेधाज्ञारणं  
विशेषणं समापय्य समाप्य ततोऽनन्तरं विन्ध्यस्ता रोचना गोरोचना इस्मिन्तर्गतं  
पर्वतवर्गं चक्रुः ॥ २४ ॥

कस्तूरीते द्युनित अश्वमेधे नद्योऽप्येव नद्यो वादये गोरोचनते पुनः पर्वतवर्गं रो ।

आमुच्यमरणः सञ्जी इत्यथिहपुनश्चक्रुः ।

आसीद्विद्ययमेकया स राज्यधीवधूवर ॥ २५ ॥

आमुच्येति । आमुच्यमरण आसक्तितामरणः । अजोऽस्य सन्तीति कवी ।  
'अस्मायामेवास्मिन् विविः इति विविप्रत्ययः । इत्यादिभूमस्येति इत्यथिह । वरुः  
कृतं तद्वत् । अथ वधुर्ग्रीहिवैवाधीनमेव मनुवालयन्त्येवैव सर्ववर्गीत्यादिकर्मवत्  
यावपि मारुर्ग्रीहं प्रत्ययमिच्छन्ति । एवमन्वयापि इत्यस्य । राज्यग्रीहं वधूः  
बोधा तस्या वरो बोधा । 'वधुः स्तुपा वरोधा वी वरा आमाद्विहमयो' इति  
विश्वः । सोऽतिविस्तिष्ठयेव प्रेक्ष्यो दृष्टवीच आसीत् । वरोऽप्येवंविधोऽयम् ॥ २५ ॥

मोतिर्योके धूम्रयोके पर्वते इत्येव । माता वारण इति इत्येव नीर इत्येव विमोते इत्येव  
नद्यो पर्वते इत्येव राज्यवर्गोऽपि नदी नदी ( नदी नद्यो ) के वर ( वरि ) के 'अति' इत्येव  
इत्येव अत्यन्त सुन्दर इत्येव ॥ २५ ॥

नैपथ्यवर्धितकन्या तस्यावर्धो हिरण्यमे ।

विराजोदिते सूर्ये मेरी कल्पतरोरि ॥ २६ ॥

नैपथ्येति । हिरण्यमे सीतलं आवर्धो वपुः नैपथ्यवर्धितो वैप वरधतस्तस्वमेति  
वेरद्वत्ता प्रतिविम्बम् । वदिते सूर्ये वपुःनद्यमे मेरी वा कल्पतस्तस्य द्वापेव विर-  
राज । तस्य वर्धसङ्कान्तविम्बत्वं अस्मन्मन्त्रैराविरुध्यम् ॥ २६ ॥

सुवर्णके वने वनेनमे गङ्गावती वेलावती वत 'अतिवि' वा प्रतिविम्ब सूर्योदय होवत्  
इत्येव पर्वतमे कल्पतरोरि ( प्रतिविम्बके ) समाव श्लेषित इत्येव ॥ २६ ॥

स राजककुब्धप्रपाजिमि पार्श्ववर्तिमि ।

यपापुषीरिताशोकः सुधर्मावधर्मा समाम् ॥ २७ ॥

स इति । सोऽतिथी राजककुब्धानि राजविह्वलि कृष्णामरादीनि । 'प्राधान्ये  
राजकिते च द्वापे ककुब्धोऽर्थिकाय' इत्यमरा । तेषु ध्वजः पाजयो वेलां सेः पार्श्व-  
विम्बितेवैषीरिताशोक उकारितअवधर्माः । 'जाकोके अवधर्मा रपात् इति इत्य-  
पुनः । सुधर्मावा वैधसमाया अवधर्मावधर्मा समावधर्मावधर्मा । 'वधसुधर्मा  
वैधसमा' इत्यमरा ॥ २७ ॥

राजविध ( राज नाम अति वारण करमे ) से अत्यन्त शोचनेके शोचनेके शोचनेके

जय जयकार किये जाते हुए वे 'अतिथि' इन्द्रसभाके समान सभा ( भवन ) में पहुँचे ॥

वितानसहितं तत्र भेजे पैतृकमासनम् ।

चूडामणिभिरुद्धृष्टपादपीठ महीक्षिताम् ॥ २८ ॥

वितानेति । तत्र समायां वितानेनोल्लोचेन सहितम् । 'अस्त्री वितानमुल्लोच' इत्यमर । महीक्षिता राज्ञा चूडामणिभि शिरोरत्नैर्दृष्टमुल्लिखित पादपीठ यस्य तत् । पितुरिदं पैतृकम् । 'ऋतष्टब्' इति ठप्प्रत्ययः । आसन सिंहासन भेजे ॥ २८ ॥

वहाँपर चूडोवा लगे हुए तथा राजाओंके मुकुटमणियोंसे उल्लिखित ( प्रणाम करने हुए राजाओंके मुकुटमणियोंसे छूए गये ) पिताके सिंहासनपर बैठे ॥ २८ ॥

शुशुभे तेन चाक्रान्तं मङ्गलायतनं मदत् ।

श्रीवत्सलक्षणं वक्षः कौस्तुभेनैव कैशवम् ॥ २९ ॥

शुशुभ इति । तेन चाक्रान्तम् । श्रीवत्सो नाम चिह्नविशेष । तल्लक्षण श्रीवत्सरूपम् । 'श्रीवत्सनन्धावर्तादिविच्छेदा बहवो द्वयो' इति सज्जन । महदधिक मङ्गलायतनं मङ्गलगृह सभारूपम् । कौस्तुभेन मणिनाऽऽक्रान्त श्रीवत्सलक्षणम् । कैशवस्येदं कैशवम् । वक्ष इव शुशुभे ॥ २९ ॥

वत्स 'अतिथि' से युक्त विशाल एव मङ्गल स्थान वह 'श्रीवत्स' नामक गृह-विशेष 'कौस्तुभ' मणिसे युक्त महामङ्गल-स्थान श्रीवत्स ( विष्णु भगवान्की छातीका चिह्न विशेष ) से चिह्नित विष्णुकी छातीके समान शोभित हुआ ॥ २९ ॥

वमौ भूयः कुमारत्वादाधिराज्यमवाप्य सः ।

रेखाभावादुपाकूढः सामग्र्यमिव चन्द्रमा ॥ ३० ॥

वभाविति । सोऽतिथि कुमारत्वाद्वाल्याद्भूयो यौवराज्यमवाप्यैवानन्तरम् । अधिराजस्य भाव आधिराज्य माहाराज्यमवाप्य । रेखाभावादर्थेन्द्रत्वमवाप्यैव सामग्र्यमुपाकूढ पूर्णता गतश्चन्द्रमा इव वमौ इति व्याख्यानम् । तदपि यौवराज्याभावनिश्चये ज्याय एव ॥ ३० ॥

वे 'अतिथि' कुमारभाव होनेसे युवराजपदको प्राप्तकर तथा बादमें राज्यश्रीको प्राप्तकर रेखारूपसे पूर्णताको प्राप्त हुए अर्थात् चन्द्रमाके समान शोभित हुए ॥ ३० ॥

प्रसन्नमुखरागं तं स्मितपूर्वाभिभाषिणम् ।

मूर्तिमन्तममन्यन्त विश्वासमनुजीविनः ॥ ३१ ॥

प्रसन्नेति । प्रसन्नो मुखरागो मुखकान्तिर्यस्य तं स्मितपूर्वं यथा तथाऽभिभाषिणमाभाषणशील तमतिथिमनुजीविनः सेवका मूर्तिमन्त विग्रहवन्त विश्वास विस्रम्भममन्यन्त । 'समौ विस्रम्भविश्वासौ' इत्यमर ॥ ३१ ॥

अनुचरोंने प्रसन्न मुखकान्तिवाले तथा पहले मुस्कराकर भाषण करनेवाले उस 'अतिथि' को मूर्तिमान् विश्वास जैसा माना ॥ ३१ ॥

स पुर पुरुहूतधीः कल्पद्रुमनिमग्नश्याम् ।

क्रममापन्नकार धां नागेनैरायतोजसा ॥ ३२ ॥

स इति । पुरहूतधीः सोऽर्थतिथिः कल्पद्रुमाणां विधाः समाना एवञ्च कल्पस्य  
पुरमपोरुषामैरायतस्य भोज इषोभो बधं कल्प तेन नागेन कुञ्जरेण क्रममापन्नकार ।  
अनुपसर्गाद्वा इति वेदस्त्रिपदमाप्नोतेत्यम् । धां चकार स्वर्गकोटसहस्रीं बध्ने  
त्यर्थः । 'धीः स्वर्गमुरवार्मोः' इति विधा ॥ ३२ ॥

इन्द्रके समान आवाके वध अतिथि नि कल्पद्रुमके समान वताकाभोवादी (अपोवा)  
नदरीको वैरायतके समान कलशान् हाथीसे भूमते हुय स्वर्ग (के समान) बना दिया प्रस

तस्यैकस्योद्भिन्नं छर्चं मूर्ध्नि तेनामकृत्विषा ।

पूर्वपादविषोणीष्य कृत्स्नस्य कणतो हतम् ॥ ३३ ॥

तस्येति । तस्यैकस्य मूर्ध्नि अणुमुद्भिन्नमुकमित्यम् । अमकृत्विषा तेन इन्द्रेण  
कृत्स्नस्य अणतः पूर्वपादस्य कुक्षस्य विषोणेन वशीष्य सन्तापस्तद्वर्तं नातितव ।  
अत्र इन्द्रोद्यमवसन्तापहरणकल्पयोः कारणकारणयोर्मिन्नवेधवाद्दसद्वितिरकृत्वा ।  
तदुक्तम्—'कारणकारणयोर्मिन्नवेधत्वे सत्यसद्वृत्तिः' इति ॥ ३३ ॥

वध एक अतिथि के मरुतक पर कल कणा हुआ वा (किन्तु) वध इन्द्रकेवने सन्त  
जाय (प्रजा) के पूर्व (वहने) राजा (कुछ) के विरहसे कल्प सन्तापको दूर कर दिया । (एक  
अधिकके कलका संसारके सन्तापको दूर करना आश्चर्यजनक है । वह अद्भुत कार्य राज  
'अतिथि के प्रभावसे हुआ) ॥ ३३ ॥

धूमाग्निः शिखाः पद्मावुदयत्पदाधो रवे ।

साऽतीत्य तेजसां वृत्तिं सममेवोत्थितो गुणैः ॥ ३४ ॥

धूमाग्निः । अग्नेर्धूमापकाय अग्निरग्नित्यर्थः । शिखा आकाशः । रवेऽवुदयत्-  
आवृत्तारमंजवा । वृत्तिः सन्त इति वीचः । सोऽर्थतिथिस्तेजसमाग्न्यादीनां वृत्ति स्त-  
आवृत्ततीत्य गुणैः समं सदैवोत्थित उदितः, अपूर्णमिदमित्यर्थः ॥ ३४ ॥

अतिथिके आका ( धूम ) के बाद तथा सूर्यको फिरने कलके बाद वृत्तिप्रकार होती है  
किन्तु वे अतिथि वैश्वरिषी ( अग्नि नादि ) के स्वभावका अतिक्रमण कर गुणों ( प्रभाव  
वशः शक्तिमान् नादि ) के साथ ही उदित हुए ॥ ३४ ॥

तं प्रीतिविशद्वैर्मेधैरन्वयुः पौरवोपितः ।

हारत्यसन्नैर्व्योतिर्मिर्निर्मावर्ष इव ध्रुवम् ॥ ३५ ॥

तमिति । पौरवोपितः प्रीत्या विषद्वैः प्रसन्नैर्मेधैः करमेस्तमतिविमग्नपुराण-  
युः, सद्यस्तिहारमहाधुरित्यर्थः । कर्मणि । हारति प्रसन्नैर्व्योतिर्मिर्निर्मावर्षो  
राजपो ध्रुवमिव ध्रुवपातवज्रत्वात्पारावकरोत्यर्थः ॥ ३५ ॥

नगरकी नारियोंने प्रेमसे प्रसन्न नेत्रोंमें, निर्मल ताराओंसे भ्रुवका रात्रिओंके समान उस 'अतिथि' का अनुगमन किया अर्थात् प्रसन्न नेत्रोंमें उस 'अतिथि' को देखा ॥ ३५ ॥

**अयोध्यादेवताश्चैनं प्रशस्तायतनार्चिताः ।**

**अनुदध्युरनुध्येयं सान्निध्यै. प्रतिमागतैः ॥ ३६ ॥**

अयोध्येति । प्रशस्तेष्वायतनेष्वालयेष्वर्चिता अयोध्यादेवताश्चानुध्येयमनुग्राह्य-  
मेनमतिथिं प्रतिमागतैर्चासङ्क्रान्तै सान्निध्यै सन्निधानैरनुदध्युरनुजगृहु । 'अनु-  
दध्यान्मनुग्रहः' इत्युत्पलमालायाम् । तदनुग्रहबुद्ध्या सन्निदधुरित्यर्थः ॥ ३६ ॥

श्रेष्ठ देवमन्दिरोंमें पूजित अयोध्यापुरीस्थ देवताओंन भी अनुग्रहके योग्य इस अतिथि'  
पर प्रतिमाओंमें आये हुए अपने सामीप्यसे अनुग्रह किया अर्थात् पूजाकालमें प्रतिमाओंमें  
आकर पूजन स्वीकार करनेसे अनुगृहीत किया ॥ ३६ ॥

**यावन्नाश्यायते वेदिरभिषेकजलाप्लुता ।**

**तावदेवास्य वेलाऽन्तं प्रताप प्राप दुःसह ॥ ३७ ॥**

यावन्नेति । अभिषेकजलैराप्लुता सिक्ता वेदिरभिषेकवेदिर्यावन्नाश्यायते न शुष्य-  
ति । कर्तरि लट् । तावदेवास्य राज्ञो दुःसह. प्रतापो वेलाऽन्त वेलापर्यन्त प्राप ॥

राज्याभिषेकके जलसे मोंगी हुई वेदी जबतक सूखने भी नहीं पायी, तभीतक इस  
'अतिथि' का दुःसह प्रताप समुद्रनटतक पहुँच गया ॥ ३७ ॥

**वसिष्ठस्य गुरोर्मन्त्रा सायकास्तस्य धन्विनः ।**

**किं तत्साध्य यदुभये साधयेयुर्न सङ्गताः ॥ ३८ ॥**

वसिष्ठस्येति । गुरोर्वसिष्ठस्य मन्त्रा । धन्विनस्तस्यातिथे सायका. इत्युभये  
सङ्गता सन्तो यत्साध्य न साधयेयुस्तत्तादृक्साध्य किम्, न किञ्चिदित्यर्थ । तेषा-  
मसाध्य नास्तीति भावः ॥ ३८ ॥

गुरु वसिष्ठके मन्त्र तथा धनुर्धारी उस 'अतिथि' के बाण ये दोनों मिलकर वह कौनसा  
कार्य था, जिसे सिद्ध न कर सकें अर्थात् उनके लिए कोई कार्य असाध्य नहीं था ॥ ३८ ॥

**स धर्मस्थसखः शश्वदर्थिप्रत्यर्थिनां स्वयम् ।**

**ददर्श संशयच्छेद्यान्व्यवहारानतन्द्रितः ॥ ३९ ॥**

स इति । धर्मे तिष्ठन्तीति धर्मस्थाऽसभ्या । 'राज्ञा सभासद' कार्या रिपौ मित्रे  
च ये समाः' इत्युक्तलक्षणाः । तेषां सखा धर्मस्थसख, तत्सहित इत्यर्थ । अतन्द्रि-  
तोऽनलस' स नृप 'शश्वत्, अन्वहमित्यर्थ । अर्थिना साध्यार्थवतां प्रत्यर्थिना  
तद्विरोधिनां च सशयच्छेद्यान्सशयाद्धेतोश्छेद्यान्परिच्छेद्यान्, सन्दिग्धत्वादवश्य  
निर्णयानित्यर्थ । व्यवहारानृणादानादिविवादान्स्वय ददर्शानुसन्दधौ, न तु प्राद्वि-  
वाकमेव नियुक्तवानित्यर्थ । अत्र याज्ञवल्क्यः- 'व्यवहारानृप. पश्येद्विद्वद्भिर्वाहणैः  
सह' इति ॥ ३९ ॥



नर 'अतिथि' धार्मिक सभासदोंके साथ निराश्रय होकर कहीं तथा प्रसवी (सर्प  
मुराह) के सन्निध्य विचारों (मुकुरमों) को स्वयं देखना था ॥ ३९ ॥

ततः परमभिष्यत्तसौमनस्यमियेदिते ।

युयोज पाकामिमुष्यैर्मुस्याम्बिषापनाफलेः ॥ ४० ॥

तत इति । ततः परं व्यपहारदर्शनामन्तरं भूषणानुजीविताः । अभिष्यत् कुत्र  
प्रसादादिकिञ्चैः स्फुटीभूतं पात्सीमनस्यं स्वामिना प्रसक्तत्वं तेषां मित्रेदिते सुमित्रे  
पाकामिमुष्यैः सिद्ध्यन्मुष्यैर्विषापनायां विजृम्भीता कक्षेः प्रेसितायैर्मुञ्जोत्र योजका-  
मास । अत्र बृहस्पतिः- निमुक्ता कमभिष्यत्तौ विजृम्भीतौ च परपृक्ता । भूषणानु-  
जीव्यन्तु नवोऽप्यहोम्यतां प्रजेत् ॥ इति । कश्चिन्न वचयति- 'नवोऽप्यहोम्यतां नवोऽ-  
प्यासीत् इत्यादिवा । अत्र सौमनस्यकक्षयोजकादिभिर्नृपस्य बृहस्पतिप्रवृत्त-  
शब्दमुसन्नेपम् ॥ ३९ ॥

इसके बाद ( मुकुर मरुत्वा जायिते ) स्वयं प्रसक्ताओं सुमित करवाके तब तब  
होनेवाले सूचकानोंके कक्षों ( पारितोषिकों ) से धानोंको कुछ किना नर्पाद कर्षण  
पात्रोंको प्रत्यक्ष होकर पारितोषिक दिया ॥ ४० ॥

प्रजास्तद्वृक्षतया नद्यो नमसेव विवर्णिताः ।

तस्मिन्स्तु मूयसीं वृद्धिं नमस्ये ता इवाययुः ॥ ४१ ॥

प्रजा इति । प्रजास्तत्कालियैर्जुष्या पित्रा कुक्षेन । नमसा आननमसेव नद्य  
इव विवर्णिताः । तस्मिन्नतिथी तु नमस्ये माद्वपदे मासे ता इव नद्य इव मूयसीं  
वृद्धिमन्मुद्वमामयुः, प्रजापोषणेन पितरमतिप्रपितवानित्यर्थः ॥ ४१ ॥

प्रकारं वत् अतिथि के विराटे ज्ञानमास (श्री वृद्धि) से नदियोंके समान नदी  
तथा वत् 'अतिथि' के राजा होनेपर ही भारपदमासमें वन ( नदियों ) के समान नदीके  
वृद्धि ( लब्धि ) को प्राप्त हो गई ॥ ४१ ॥

ययुषाच न तन्मिध्या यद्वदौ न जहार तत् ।

सोऽभून्नममत्तं यान्मुत्पृष्टस्य प्रतिरोपयन् ॥ ४२ ॥

ययिति । सोऽतिथिर्नममत्तं यान्मुत्पृष्टस्य प्रतिरोपयन् ॥ ४२ ॥  
यद्वदौ तन्म जहार न पुनराहरे । किन्तु यान्मुत्पृष्टस्योत्पत्त्यं प्रतिरोपयन्मुक्ता  
स्थापकममममत्तौ नममनियमोऽभूत् ॥ ४२ ॥

वत् अतिथि के श्री प्रजा नव नमस्य नदी हुआ नवीन बैठा ही किया तथा यो  
( वाच जाति ) दिया, वही वरन नहीं किया नवीन पुनः वापस नदी किया । ( सर्वथा  
कर्मोंमें उत्तमजगत् पावन किया ), किन्तु यद्वदौका कर्मकन कर पुनः वत् राजपर  
स्थापित करते हुए ( राज्यप्रद कर पुनः वनको नदीका राज्य वापस करते हुए ) के  
'अतिथि' वत् प्रतापके हुए ॥ ४२ ॥

वयोरूपविभूतीनामेकैकं मदकारणम् ।

तानि तस्मिन्समस्तानि न तस्योत्तिसिपिचे मनः ॥ ४३ ॥

वय इति । वयोरूपविभूतीनां यौवनसौन्दर्यैश्वर्याणां मध्य एकैकं मदकारणं मदहेतुः । तानि मदकारणानि तस्मिन् राज्ञि समस्तानि । मिलितानीति शेषः । तथाऽपि तस्यातिथेर्मनो नोत्तिसिपिचे न जगर्वं । सिञ्चतेः स्वरितेत्वादात्मनेपदम् । अत्र वयोरूपादीनां गर्वहेतुत्वान्मदस्य च मदिराकार्यत्वेनातत्कारकत्वान्मदशब्देन गर्वो लक्षयत इत्याहुः । उक्तं च—‘ऐश्वर्यरूपतारुण्यकुलविद्यावलैरपि । हृष्टलाभादिना ह्येषामवज्ञा गर्वं ईरितः । मदस्त्वानन्दसम्मोहः सम्भेदो मदिराकृतः ॥’ इति । अत एव कविनाऽपि ‘उत्तिसिपिचे’ इत्युक्तम् । न तु ‘उन्माद’ इति ॥ ४३ ॥

अवस्था ( युवावस्था ), सुन्दर रूप तथा ऐश्वर्य, इनमेंसे एक एक गर्वका कारण होता है और उस ‘अतिथि’ में वे तीनों विद्यमान थे; किन्तु उनका मन गर्वित नहीं हुआ ॥ ४३ ॥

इत्थं जनितरागासु प्रकृतिष्वनुवासरम् ।

अक्षोभ्यः स नवोऽप्यासीद् दृढमूल इव द्रुमः ॥ ४४ ॥

इत्थमिति । इत्थमनुवासरमन्वह प्रकृतिषु प्रजासु जनितरागासु जनित उत्पन्नो राग प्रीतिर्यासु तासु सतीषु स राजा नवोऽपि । दृढमूलो द्रुम इव । अक्षोभ्योऽप्र घृण्य आसीत् ॥ ४४ ॥

इस प्रकार प्रतिदिन अनुरक्त प्रजाओंमें वे ‘अतिथि’ नये होते हुए भी दृढ जड़वाले वृक्षके समान क्षोभरहित ( अजेय ) थे ॥ ४४ ॥

अनित्याः शत्रवो बाह्या विप्रकृष्टाश्च ते यतः ।

अतः सोऽभ्यन्तरान्नित्यान्घट् पूर्वमजयद्रिपून् ॥ ४५ ॥

अनित्या इति । यतो बाह्या शत्रवः प्रतिनुषा अनित्या, द्विपन्ति सिञ्चन्ति चेत्यर्थः । किञ्च । ते बाह्या विप्रकृष्टा दूरस्थाश्च । अतः सोऽभ्यन्तरानन्तर्वर्तिनो नित्यान्घट् रिपून्कामक्रोधादीन्पूर्वमजयत् । अन्तः शत्रुजये बाह्या अपि न दुर्जया इति भावः ॥ ४५ ॥

बाहरी शत्रु ( अन्य राजा आदि ) अनित्य हैं और वे दूर भी रहते हैं, अतएव उस ‘अतिथि’ ने पहले अपने भीतर रहनेवाले तथा नित्य छः शत्रुओं ( काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य ) को जीत लिया ॥ ४५ ॥

प्रसादाभिमुखे तस्मिन्प्रपत्ताऽपि स्वभावतः ।

निकषे हेमरेखेव श्रीरासीदनपायिनी ॥ ४६ ॥

प्रसादाभिमुख इति । स्वभावतश्चपलाऽपि श्री प्रसादाभिमुखे तस्मिन्नुपे । निकषे निकषोपले हेमरेखेव । अनपायिनी स्थिराऽऽसीत् ॥ ४६ ॥

स्वभावे ही वक्रक भी कभी प्रसन्न वत् राजा में कसोटीपर स्वर्न-रेखाके समाव लि  
वनी रहो ॥ ४२ ॥

कातर्यं कंचना नीतिः शीर्षं व्यापद्बेष्टितम् ।

मताः सिद्धिं समेताभ्यामुभयाम्यामन्त्रियेषु सा ॥ ४३ ॥

कातर्यमिति । केवला शीर्षवर्जिता नीतिः कातर्यं भीरुवत् । शीर्षं कंचनं  
स्वमुपजनीयम् । केवले नीतिरहितं शीर्षं व्यापद्बेष्टितम् व्याप्रादिवैद्यमात्रमि  
त्यर्थः । 'व्याप्राद्वो नमःकरा पद्मका व्यापद्' मताः इति हजानुवा । अतो हेतो  
मोऽमित्रा समेताभ्यां सङ्गताभ्यामुभयाम्नी नीतिसौभाग्यां सिद्धिं अवप्राप्तिमन्त्रि  
युप गणपितवान् ॥ ४३ ॥

केवला ( अणुताहीन ) राजनीति ( से ही कार्य करना ) कातरता ॥ तथा केवला ( एक  
नीतिहीन ) शूरा ( से ही कार्य करना ) विरक्त जन्तुओं ( व्याव-सिद्ध आदि ) की वेष्ट  
( से समाव ) है । अतः वत् अतिवि' में सम्मिश्रित बन दोनों ( राजनीति तथा शूरा )  
से सिद्धि की ओर की अर्थात् समबानुसार राजनीति नीर नीरता; दोनोंका भाग्य पर  
आवर्तित करनेकी वेष्टा की ॥ ४३ ॥

न तस्य मण्डले राघो व्यस्तप्रमिथिदोषिते ।

महदममपस्त्रिद्विद् व्यस्तस्येव विवस्वता ॥ ४४ ॥

मेति । व्यस्तः सर्वतः प्रद्विताः प्रमिथपभरा पूव दीक्षितवो वरमवो वर  
तरव । प्रमिथिः प्रार्थने 'चरे' इति लाभता । तरव राज्ञः । व्यस्तस्य विवस्वत वि  
रवता पूर्वस्येव । मण्डले स्वविषये किञ्चिदुत्पन्नमहदममार्तं नामवज्रापीड ॥  
चारचक्रुवा सर्वमपरवदितवर्क ॥ ४४ ॥

त्रिभुक्त क्रिये यत्र प्रवक्तरूप किरणोवाके वत् राधादे ईष्ट अर्थात् राज्यमें अन्तरमें  
समान कैलासे यत्र किरणोवाके वैभवहित पूर्वके मण्डलके समाव ओई भी ( अनुसर्ग  
पराई ) महद ( अमलक अघात ) गही रहा । ( सर्वत्र त्रिभुक्त प्रवक्तरोंके हाथ है  
अतिवि समस्त राज्यके कार्योंको मान्यून करते हैं ) ॥ ४४ ॥

रात्रिन्विपविभागेषु यद्वादिर्षं महीसिताम् ।

तस्मिन्नेषे नियोगेन स विवस्वतपराक्षका ॥ ४५ ॥

रात्रिन्विपमिति । रात्री च दिवा च रात्रिन्विपम् । 'अचतुरविचतुरमुचतुरार्ध'  
पुण्येष्टमनुद- द्वाविषाधिकरूपार्थे इन्नेष्टमपराक्षको निपाता । अपराक्षको  
व्यवसायम् । अत्र चतुर्धर्मेकमवा रात्रिन्विपमिति अहोरात्रयोर्विषयः । तदर्थविषय  
अज्ञा प्रदरावत् । तेषु महीक्षितां राजां यद्वादिर्षमिदमस्मिन्काळे कर्तव्यमिति  
सम्बादिमिदपदिष्ट तदा राजा विवस्वतपराक्षकम् । संवदरहितः सः । विवोमेव  
निवसेव तिवेरे अनुदितपदिमर्थः । अत्र नीतिवत्—'अर्थात् नियोगविषय'

समुच्चया भवन्ति । अनेनैवोपायेन नान्येनेति नियोगः । अनेन वाक्येन वेति विकल्पः । अनेन चेति समुच्चयः' इति ॥ ४९ ॥

( राजनीतिकारोंने ) रात-दिनके विभागमें राजाओंके लिये जो कुछ ( कार्य करनेके लिये ) कहा है, सशयरहित उस 'अतिथि' ने उसका नियमसे पालन किया अर्थात् राजनीतिशास्त्रकारोंके कथनानुसार रात-दिनके समयको विभागकर उस 'अतिथि' राजाने सब कार्योंका निरीक्षण किया ॥ ४९ ॥

**मन्त्रः प्रतिदिनं तस्य बभूव सह मन्त्रिभिः ।**

**स जातु सेव्यमानोऽपि गुप्तद्वारो न सूच्यते ॥ ५० ॥**

मन्त्र इति । तस्य राज्ञ प्रतिदिन मन्त्रिभि सह मन्त्रो विचारो बभूव । स मन्त्र सेव्यमानोऽप्यन्वहमावर्यमानोऽपि जातु कदाचिदपि न सूच्यते न प्रकाश्यते । तत्र हेतुगुप्तद्वार इति सवृत्तेक्षिताकारादिज्ञानमार्ग इत्यर्थः ॥ ५० ॥

प्रतिदिन मन्त्रियोंके साथ उस 'अतिथि' को गुप्तमार्गवाला मन्त्रणा (गुप्त परामर्श) होता थी, रात दिन को जातो हुई भी वह मन्त्रणा (किसीको) मालूम नहीं पड़ती थी ॥ ५० ॥

**परेषु स्वेषु च क्षिप्तैरविज्ञातपरस्परैः ।**

**सोऽपसर्पैर्जजागार यथाकाल स्वपन्नपि ॥ ५१ ॥**

परेष्विति । यथाकालमुक्तकालानतिक्रमेण स्वपन्नपि सोऽतिथि परेषु शत्रुषु वेषु स्वकीयेषु च । मन्त्र्यादितोर्थेऽपि शेषः । क्षिप्तैः प्रहितैरविज्ञाता परस्परैरेषा तैः, अन्योन्याविज्ञातैरित्यर्थः । अपसर्पैश्चरैः । 'अपसर्पैश्चर स्पश' इत्यमरः । जजागार बुद्धवान्, चारमुखेन सर्वमज्ञासीदित्यर्थः । अत्र कामन्दक — 'चारान्विचारयेत्तीर्थंवात्मनश्च परस्य च । पापण्ड्यादीनविज्ञातानन्योन्यमितरैरपि ॥' इति ॥ ५१ ॥

यथासमय सोते हुए भी वे 'अतिथि' राजा शत्रुओं (के देशों) में तथा आत्मीय (मन्त्री-सेनापति आदि प्रकृतियों) में भेजे गये तथा आपसमें अपरिचित (एक दूसरे को गुप्तवर नहीं जाननेवाले) गुप्तचरोंसे निरन्तर जागरूक रहते थे ॥ ५१ ॥

**दुर्गाणि दुर्ग्रहाण्यासंस्तस्य रोद्धुरपि द्विषाम् ।**

**न हि सिंहो गजास्कन्दी भयाद् गिरिगुहाशय ॥ ५२ ॥**

दुर्गाणीति । द्विषा रोद्धू रोधकस्यापि, न तु स्वय रोध्यस्येत्यर्थः । तस्य राज्ञो दुर्ग्रहाणि परैर्दुर्घर्षाणि दुर्गाणि महीदुर्गादीन्यासन् । न च निर्भीकस्य किं दुर्गैरिति वाच्यमित्यर्थान्तरन्यासमुखेनाह—न हीति । गजानास्कन्दति हिनस्तीति गजास्कन्दा सिंहो भयाद्धेतो । गिरिगुहासु शेष इति गिरिगुहाशयो न हि, किन्तु स्वभावत एवेति शेषः । 'अधिकरणे शेते' इत्यध्यात्मय । अत्र मनु — 'धन्वदुर्गं महीदुर्गमन्दुरं चार्धमेव वा । नृदुर्गं गिरिदुर्गं वा समाश्रित्य जनेत्पुरम् ॥' इति ॥ ५२ ॥

अनुमोको रीकनेवाले भी वस 'नतिवि' के किसे दुर्जन से; क्योंकि इतिवोंपर कर्म करमेवाला सिंह भवते वहाइको कम्हराये नहीं छोटा है। ( किन्तु जैसे विधीक होकर सिंह दुराहित वर्ण-कम्हराये छोटा है, वैसे ही विधीक भी वस नतिविके किसे अनुमोको करेव से ) ॥ ५२ ॥

अप्यमुचयाः समारम्भाः प्रत्यवेद्या मिरत्यया ।

रामेशालिसधर्माजस्तस्य गुरुं विवेचिरे ॥ ५३ ॥

अप्यमुचया इति । अप्यमुचयाः कल्याणप्रधानाः, न तु विपरीताः । प्रत्यवेद्या दृष्टावन्तमेतावत्कृतव्यमित्यमुसन्धानैव विचारणीयम् । अत एव मिरत्यया निर्वाह रामेश्वरान्तरे परवाते से साकल्यरतेषां सधर्मायाः अतिनिगूढा इत्यर्थः । 'वर्णनं निष्पेक्षया इत्यनिच्छन्नयः समासात्ताः । तस्य दाम्नाः समासम्बन्ध इति कर्म रम्भाः कर्माणि गूढमप्रकाशं विवेचिरे चक्षिता इत्यर्थाः । 'चक्षानुमेयम् प्रत्यक्षम्' इति भाषा ॥ ५३ ॥

प्रवाकताः कल्याणकारी विचारणीय (तथा कर्म पूर्ण हो चुका, अब रचना कर्म कृत है इत्यादि प्रकटते विचार करने योग्य अत एव) विज्ञप्तिरुक्त तथा योचते ही एकमे वरं (सभी नामक) बानके समाज वर्मवाले कर्वाए बहार दिना प्रकाशित हुए ही सफल होनेके वस 'नतिवि' के कर्म गुरुकपते परिपक्व (लक्ष्य) होतेसे कर्वाए कर्म-विधि होतेपर ही कर्म करनेका अनुमान होता था ॥ ५३ ॥

अपयेन प्रवृत्ते न जात्यपचितोऽपि सः ।

वृत्ती नदीमुखेनैव प्रस्थानं ज्ञापयाम्मसा ॥ ५४ ॥

अपयेनैति । सोऽतिनिष्पचितोऽपि बुद्धिं यतोऽपि सः । जात्यु कदाचिद्व्यवर्णनं कुमार्गेण न प्रवृत्ते न प्रवृत्ता, प्रवृत्तिं न जहादित्यर्थः । तथा हि स्वयम्भुवोऽपि कर्मवशात्तरणं वृत्तौ पुरोत्पीड्य सत्तां नदीमुखेनैव नदीप्रवेशमार्गेणैव प्रवासे विनो रणम्, न त्वम्बधेत्यर्थः ॥ ५४ ॥

बुद्धिको प्राप्त भी वस 'नतिवि' के कर्म भी कुमार्ग को नहीं एकदम क्योंकि वृद्धेता भी धार-समुद्र मदीके रास्तेसे ही चलता है ॥ ५४ ॥

कामं प्रकृतिवैराग्यं सदाः शमयितुं कर्म ।

यस्य कर्मणः प्रतीकारः स तन्मोहपादयत् ॥ ५५ ॥

काममिति । प्रकृतिवैराग्यं ज्ञापयितव्यम् । वैराग्यमुत्पन्नमिति शेषः । सदा कामं सम्बन्धमयितुं प्रतिकर्तुं कर्म शक्यं स तथा यस्य प्रकृतिवैराग्यस्य प्रतीकारा कर्मा कृतव्याः अवर्णनीयत्वादित्यर्थः । उद्दिष्टार्थं मोहपादयत् । अत्यप्रतीकारावन्तुत्पादय वरमिति भाषा । अवर्णनीयत्वात्— जीनाः प्रकृतयो कोर्मं लुप्या वान्ति विरागताः ।

विरक्ता यान्त्यमित्रं वा भतारं धनन्ति वा स्वयम् ॥' तस्मात्प्रकृतीनां विरागकारणानि नोत्पादयेदित्यर्थः ॥ ५५ ॥

प्रजाके वैराग्य ( उत्पन्न प्रेमका अभाव ) को तत्काल शान्त करनेमें समर्थ भी उस 'अतिथि' ने जिस ( वैराग्य अर्थात् प्रेमाभाव या विरोध ) को शान्त करना पड़े, उसको पैदा होने नहीं दिया । ( 'प्रक्षालनाद्धि पङ्क्तस्य दूरादस्पर्शनं वरम्' नीति के अनुसार उस 'अतिथि' राजाने प्रजाओंमें उत्पन्न विरोधको शक्तिसे दवानेकी अपेक्षा उसे पैदा ही न होने देना अच्छा समझा ) ॥ ५५ ॥

शक्येष्वेवाभवद्यात्रा तस्य शक्तिमतः सतः ।

समीरणसहायोऽपि नाम्भःप्रार्थी दवानलः ॥ ५६ ॥

शक्येष्विति । शक्तिमतः शक्तिसम्पन्नस्यापि सतस्तस्य राज्ञः शक्येषु शक्तिविषयेषु स्वस्माद्दीनबलेष्वेव विषये यात्रा दण्डयात्रा अभवत्, न तु समधिकेष्वित्यर्थः । तथा हि, समीरणसहायोऽपि दवानलोऽम्भःप्रार्थी जलान्वेषी न । दग्धुमिति शेषः । किन्तु तृणकाष्ठादिकमेवास्मिन्विषयतीत्यर्थः । अत्र कौटिल्यः—'समज्यायोभ्यां सन्दधीत हीनेन विगृहीयाद्' इति ॥ ५६ ॥

शक्तिशाली भी उस 'अतिथि' की यात्रा ( चढ़ाई ) शक्य ( जीतने योग्य ) अपनेसे दुर्बल राजाओं पर ही हुई, क्योंकि वायुके सहायक होनेपर भी दावाभि जलकी चाहना नहीं करती अर्थात् जलको जलानेकी इच्छा नहीं करती, (अपितु तृण-काष्ठादिको ही जलाती है) ॥

न धर्ममर्थकामाभ्यां ववाधे न च तेन तौ ।

नार्थं कामेन कामं वा सोऽर्थेन सदृशस्त्रिषु ॥ ५७ ॥

नेति । स राजाऽर्थकामाभ्यां धर्मं न ववाधे न नाशितवान् । तेन धर्मेण च तावर्थकामौ न । अर्थं कामेन कामं वाऽर्थेन न ववाधे, एकत्रैवासक्तो नाभूदित्यर्थः । किन्तु त्रिषु धर्मार्थकामेषु सदृशस्तुल्यवृत्तिः । अभूदित्यर्थः ॥ ५७ ॥

तीनों ( अर्थ, धर्म तथा काम ) में समान वृत्तिवाले उस 'अतिथि' राजाने अर्थ और कामसे धर्मको, धर्मसे अर्थ और कामको, अथवा कामसे अर्थको और अर्थसे कामको पीड़ित नहीं किया अर्थात् धर्म, अर्थ और काम तीनोंका समान रूपसे सेवन किया ॥ ५७ ॥

हीनान्यनुपकर्तृणि प्रवृद्धानि विकुर्वते ।

तेन मध्यमशक्तीनि मित्राणि स्थापितान्यतः ॥ ५८ ॥

हीनानीति । मित्राणि हीनान्यतिक्षीणानि चेदनुपकर्तृण्यनुपकारीणि । प्रवृद्धान्यतिसमृद्धानि चेद्विकुर्वते विरुद्धं चेष्टन्ते, अपकुर्वन्त इत्यर्थः । 'अकर्मकाश्च' इत्यात्मनेपदम् । अतः कारणात्तेन राज्ञा मित्राणि सुहृद् । 'मित्रं सुहृदि मित्रोऽर्के' इति विश्वः । मध्यमशक्तीनि नातिक्षीणोच्छ्रितानि यथा तथा स्थापितानि ॥ ५८ ॥

दुर्बल मित्र कोई लाभ नहीं पहुँचाते तथा बलवान् मित्र विकारयुक्त हो जाते, अर्थात्

रघुनोको रोक्नेवाले भी वस 'अतिथि' के दिने बुझैय वे; ननोंकि शक्तिओर लज्ज  
करनेवाला छिह मयसे बहादुरी कम्हरामें नहीं छोटा है । ( किन्तु बैठे मिथीक  
छिह छुरावित परत-कम्हरामें छोटा है बैठे ही निर्भीक भी वस 'अतिथि' के दिने रघुनो  
नजैय वे ) ॥ ५२ ॥

अभ्यमुषयाः समारम्भाः प्रत्यवेष्ट्या निरत्ययाः ।

गर्मशातिसधर्माण्यस्तस्य गृहे विप्रेक्षिरे ॥ ५३ ॥

अभ्यमुषया इति । अभ्यमुषया कथयाममवाणा, न तु विपरीताः । प्रत्यवेष्ट  
पुताबाहुतमेतावन्तत्वात्प्राप्यमुष्यामेव निष्कासीयाः । अत एव निरत्यया निर्गत  
धर्मोऽस्यास्तरे पश्यते न आकलयतेषां सधर्माणा अस्तिनिगूढा इत्यर्थः । 'अभ्यं  
विष्णोश्चक्रत्' इत्यभिप्रायः । समासात्ताः । तस्य राज्ञः समारम्भास्त इति तस्य  
रम्भा कर्माणि गृहमप्रकाशे विप्रेक्षिरे कश्चिदा इत्यर्थः । 'कथापुमैवाम प्रारम्भ' इति भाषा ॥ ५३ ॥

प्रारम्भः कस्याकथायो विचारणीय (रतना काय पूर्व हो चुका अब रतना कर्मे प्रार  
है इत्यदि प्रारम्भ विचार करने योग्य अत एव) विमरहित तथा भीतरमें हो पड़े क  
(छाठी नामक) बालके समान कर्मेवाले अर्थात् बाहर बिना प्रकाशित हुए ही उत्पन्न होनेवा  
वस 'अतिथि' के कार्य शुद्धरूपसे परिपक्व (सफ) होतेसे अर्थात् कल-छिद्र होनेपर ही कर्मे  
कार्यका अनुमान होता था ॥ ५३ ॥

अपयेन मयवृते न आत्पचितोऽपि सा ।

पुत्री नदीमुखेनैव प्रस्थान कथयाम्मसः ॥ ५४ ॥

अपयेनेति । सोमसिन्धुपचितोऽपि वृद्धि गतोऽपि सत् । अतु कथापिदृष्टपूर्व  
कुमार्येन न मयवृते न मयवृत्त, अर्थात् न अहोविषयः । तथा हि कथयाम्मसो  
कथयसमारम्भ वृद्धी पुरोत्पीडे सत्यां नदीमुखेनैव नदीप्रवेशमार्गेनैव प्रस्थानं वि  
रम्य, न त्यज्येत्यर्थः ॥ ५४ ॥

वृद्धिओ माह भी वस 'अतिथि' ने कभी भी दुम्यर्मे ओ नहीं पकड़ा; ननोंकि बड़ेतर  
मी क्षार-समुद्र नदीओ राखेते ही चकटा है ॥ ५४ ॥

कर्म प्रकृतिवैराग्यं सद्यः शमयितुं क्षमः ।

धस्य कार्यः प्रतीकारः स तन्मीषोद्धवावयत् ॥ ५५ ॥

क्षममिति । प्रकृतिवैराग्यं प्रकाशिराग्य । वैराग्यरूपमिति शेषः । सद्यः क्षमं  
सम्भवक्षमयितुं प्रतिकर्तुं क्षमः अथवा स क्षमः प्रकृतिवैराग्यस्य प्रतीकारः कार्य  
कर्तव्यः, अजर्मेहेतुत्वावित्यर्थः । तन्मीषोद्धवावयत् । अत्यप्रतीकारावनुपादय  
वरमिति साधः । अत्र कीदृशम्—'जीवा प्रकृतयो कोर्मं लुप्या वासित विरागताम् ।

मैं सर्वदा तत्पर थे और दूसरोंके छिद्रों (न्यसन आदि दुर्बलावस्थाओं) पर अपने छिद्रोंको छिपाते थे ॥ ६१ ॥

ज्ञा संवर्धितो नित्यं कृतास्त्रः साम्परायिकः ।

य दण्डवतो दण्डः स्वदेहाज्ञ व्यशिष्यत ॥ ६२ ॥

‘‘हो दम सैन्य वा तद्वतो दण्डवतो दण्डसम्पन्नस्य तस्य राज्ञः । संवर्धितः पुष्टः कृतास्त्रः शक्तितास्त्रः । सम्परायो युद्धम् । ‘युद्धा-  
न्त्यमरः । तमर्हतीति साम्परायिकः । ‘तदर्हति’ इति ठक्प्रत्ययः ।  
‘हो यमे मानमेवे लगुछे दमसैन्ययो’ इति विश्व । स्वदेहाज्ञ  
॥ स्वदेहेऽपि विशेषणानि योज्यानि । मूलबल स्वदेहमिवारब्ध-

‘अतिथि’के पिता (कुश) के द्वारा सर्वदा बढ़ाया गया, अस्त्रमें  
। सैन्यबल शरीर से मित्र नहीं हुआ अर्थात् वे अपने शरीर के  
पर करते थे ॥ ६२ ॥

रोरत्नं नास्य शक्तित्रयं परः ।

रस्मात्तदयस्कान्त इवायसम् ॥ ६३ ॥

‘रोरत्नमिव अस्य राज्ञः शक्तित्रयं परः शत्रुर्न चकर्षम् ।  
यम् । अयस्कान्तो मणिविशेष आयस लोहविकारमिव

इनकी तीनों शक्तियों (प्रभुशक्ति, मन्त्रशक्ति और  
क्रिया, किन्तु उस ‘अतिथि’ ने शत्रुसे तीनों शक्तियों-  
लिया (अपनी ओर खींच लिया) ॥ ६३ ॥

पीषु वनेषूपवनेष्विव ।

चेरुर्वेश्मस्विवाद्रिषु ॥ ६४ ॥

‘पीषु दीर्घिकास्त्विव । ‘वापी तु दार्घिका’  
‘आराम स्थादुपवनम्’ इत्यमरः । अद्रिषु  
‘वैर स्वेच्छया चेश्वरन्ति स्म ॥ ६४ ॥

भ्यश्च सम्पदः ।

षडंशभाक् ॥ ६५ ॥

‘पदश्चरन् । स राजाऽऽश्रमेर्षह-  
उक्रमय षडंशभावचक्रे । यथाक्रम-





तथा अपने कार्योंमें, सर्वदा तत्पर थे और दूसरोंके छिद्रों ( ध्यसन आदि दुर्बलावस्थाओं ) में प्रहार करते हुए अपने छिद्रोंको छिपाते थे ॥ ६१ ॥

**पित्रा संवर्धितो नित्यं कृतास्त्रः साम्परायिकः ।**

**तस्य दण्डवतो दण्डः स्वदेहाज्ञ व्यशिष्यत ॥ ६२ ॥**

पित्रेति । दण्डो दमः सैन्य वा तद्वतो दण्डवतो दण्डसम्पन्नस्य तस्य राज्ञः । पित्रा कुशेन नित्यं संवर्धितः पुष्टः कृतास्त्रः शिञ्जितास्त्रः । सम्परायो युद्धम् । 'युद्धा-  
थयो. सम्परायो' इत्यमरः । तमर्हतीति साम्परायिकः । 'तदर्हति' इति ठक्प्रत्ययः ।  
दण्डः सैन्यम् । 'दण्डो यमे मानभेदे लगुष्ठे दमसैन्ययो.' इति विश्वः । स्वदेहाज्ञ  
व्यशिष्यत नाभिद्यत । स्वदेहेऽपि विशेषणानि योज्यानि । मूलबल स्वदेहमिवारब्ध-  
दित्यर्थः ॥ ६२ ॥

सैन्यबलयुक्त उस 'अतिथि'के पिता ( कुश ) के द्वारा सर्वदा बढ़ाया गया, अस्त्रमें  
शिक्षित और युद्धके योग्य सैन्यबल शरीर से भिन्न नहीं हुआ अर्थात् वे अपने शरीर के  
समान ही सेनाको भी रक्षा करते थे ॥ ६२ ॥

**सर्पस्येव शिरोरत्नं नास्य शक्तित्रयं परः ।**

**स चकर्ष परस्मात्तदयस्कान्त इवायसम् ॥ ६३ ॥**

सर्पस्येवेति । सर्पस्य शिरोरत्नमिव अस्य राज्ञः शक्तित्रयं परः शत्रुर्न चकर्ष ।  
स तु परस्माच्छत्रोस्तच्छक्तित्रयम् । अयस्कान्तो मणिविशेष आयस लोहविकारमिव  
चकर्ष ॥ ६३ ॥

सर्पके मस्तकपर मणिके समान इनकी तीनों शक्तियों ( प्रभुशक्ति, मन्त्रशक्ति और  
वत्साहशक्ति ) को शत्रुने आकृष्ट नहीं किया, किन्तु उस 'अतिथि' ने शत्रुसे तीनों शक्तियों-  
को लोहेको चुम्बकके समान आकृष्ट कर लिया ( अपनी ओर खींच लिया ) ॥ ६३ ॥

**वापीष्विव स्रवन्तीषु वनेषूपवनेष्विव ।**

**सार्थाः स्वैरं स्वकीयेषु चेरुर्वेशमस्विवाद्रिषु ॥ ६४ ॥**

वापीष्विति । स्रवन्तीषु नदीषु । वापीषु दीर्घिकाष्विव । 'वापी तु दीर्घिका'  
इत्यमरः । वनेष्वरण्येषूपवनेष्वारामेष्विव । 'आराम स्यादुपवनम्' इत्यमरः । अद्रिषु  
स्वकीयेषु वेशमस्विव सार्था वणिक्प्रभृतयः स्वैरं स्वेच्छया चेरुश्चरन्ति स्म ॥ ६४ ॥

**तपो रक्षन्स विघ्नेभ्यस्तत्स्करेभ्यश्च सम्पदः ।**

**यथास्वमाश्रमैश्चक्रे वर्णैरपि षडंशभाक् ॥ ६५ ॥**

तप इति । विघ्नेभ्यस्तपो रक्षन् । तत्स्करेभ्यः सम्पदश्च रक्षन् । स राजाऽऽश्रमैर्ब्रह्म-  
चर्यादिभिरवर्णैरपि घ्राह्यणादिभ्यश्च यथास्व स्वमनस्तिष्ठन् षडंशभाक्चक्रे । यथाक्रम-

माधमैस्तपसो ययैः सम्पन्नां च यज्ञाद्यमाकृत इत्यर्थः । यज्ञोऽसा यज्ञाः । सङ्ख्या  
सम्पत्स्य वृत्तिविषये पूजार्थमायुक्तं प्राक् ॥ ९५ ॥

विष्णो ॥ उपस्वाम्ये तथा चोरो से सम्पत्तिर्ये रक्षा करते हुए वस 'वृत्ति' को नामने  
( मध्यम आदि चार नामों ) तथा ययै ( मध्यम आदि चारों ययै ) के बराबरी  
( नाममोने उपस्वाम्ये तथा ययैने सम्पत्तिर्ये ) छठे हिस्सेका बायी तथा दिसा ज्योत  
उपस्वा तथा सम्पत्तिर्ये रक्षा करनेसे मध्यचारी आदि चारों नामों बाँके और मध्यम  
आदि चारों ययैराके जोय कमजोर जपनी जपनी उपस्वा तथा सम्पत्तिर्ये का बड़ा मज  
राज्य 'वृत्ति' को देने को ॥ ९५ ॥

अभिनिः सुपुत्रे रत्नं सेनैः सस्य जनैर्गङ्गा ।

दिवेश चेतनं तस्मै रक्षासदृशमेव भूः ॥ ९६ ॥

अभिभिरिति । सूर्मिस्तस्मै राम्ये रक्षासदृशं रक्षणाद्रुपमेव चेतनं भूतिं दिव्य  
हरी । कमज । अभिभिराकरैः । 'अभिः शिवामाकरा स्वात्' इत्यमरः । रत्नं मद्रि  
कमार्थि सुपुत्रेऽमीजवत् । सेनैः सस्य । जनैर्गङ्गास्तिवः सुपुत्रे ॥ ९६ ॥

जानोन रत्न, सेनैः नाम ( जन्म ) और जनोने हाथियों का उत्पादन किया  
( उत्पन्न कर वृत्ति के क्रिये इस प्रकार दिया ) हथीने रक्षाके योग्य ही वेदव वृत्त  
वृत्ति के लिए प्रधान किया ॥ ९६ ॥

स गुण्यानां यज्ञानां च यज्या यन्मुक्तविक्रमः ।

यमूय विनियोगज्ञः साधनीयेषु वस्तुषु ॥ ९७ ॥

स इति । यन्मुक्तविक्रमः स राजा यज्या गुण्यानां सम्बन्धिमहावीर्यो यज्या  
मूक्तवृत्तादीनां च साधनीयेषु वस्तुषु साम्येऽर्थेषु विनियोगे जायतीति विनि-  
योगस्य च इति वा विनियोगज्ञः । कर्मविषयायास्तुपपद्वसमासः । अतोऽमुपसर्गे  
क' इति कर्मवया । सेवविषयायां यजिसमासः । 'इगुपच—' इत्यादिवा कर्म-  
वया । यमूय । इदमज्ञ यज्ञोक्तव्यम्' इत्याद्यज्ञासीदित्यर्थः ॥ ९७ ॥

अतिक्रमके समान पराक्रमी वह 'वृत्ति' का गुणो' तथा ययै के सावनीय  
मयोऽर्थोके कर्म के नामने जाना हुआ । ( वे वृत्ति राजा किछ त्वावर वेत्ता कर्म  
करना तथा वेसे व्यक्ति को किछ त्वावर नियुक्त करना जादिके कुछ बड़ा हुए ) ॥ ९७ ॥

इति कमारमधुक्षानो यज्जमिति अतुर्विधम् ।

आतीर्थावप्रतीपात स तस्याः फलमाप्तो ॥ ९८ ॥

इतीति । इति अतुर्विधम् । सामाप्त्यापेक्षिति योषः । राजनीतिं वृद्धनीतिं क्रमा

१. वस्तुषु—'सर्वेषां विष्णो नाममात्मने दीयमानवः ।

वस्तुषु' इत्यमरः ॥

२. वस्तुषु कोने—'ग्रीकं नामः वृद्धनीतिं विपरायिकं वक्तुम् । इति ।

स्वामादिक्रमादेव प्रयुञ्जानः स राजा आतीर्थान्मन्यथादशाभक्ततीर्थपर्यन्तम् ।  
‘योनौ जलावतारे च मन्यथादशस्वपि । पुण्यक्षेत्रे तथा पात्रे तीर्थं स्यात्’ इति  
इत्यायुध । तस्या नीते. फलमप्रतीघातमप्रतिबन्ध यथा तथा आनशे प्राप्तवान् ।  
मन्यथादिषु यमुद्दिश्य य उपाय. प्रयुज्यते स तस्य फलतीत्यर्थः ॥ ६८ ॥

उस क्रमसे चार प्रकारकी राजनीति (साम, दाम, दण्ड और भेद) को प्रयुक्त करते हुए  
उस ‘अतिथि’ ने अद्वारह तीर्थों तक निर्बाध रूपसे उस राजनीतिके फलको प्राप्त किया ॥ ६८ ॥

**कूटयुद्धविधिज्ञेऽपि तस्मिन्सन्मार्गयोधिनि ।**

**भेजेऽभिसारिकावृत्तिं जयश्रीवीरगामिनी ॥ ६९ ॥**

कूटयुद्धेति । कूटयुद्धविधिज्ञेऽपि कपटयुद्धप्रकाराभिज्ञेऽपि सन्मार्गेण योधिनि  
‘धर्मयोद्धरि तस्मिन्नतिथौ वीरगामिनी जयश्रीरभिसारिकावृत्तिं भेजे । ‘कान्तार्थिनी  
तु या याति सङ्केत साभिसारिका’ इत्यमरः । जयश्रीस्तमन्विष्यागच्छदित्यर्थः ॥ ६९ ॥

कपटयुद्धकी विधिके ज्ञाता होनेपर भी सन्मार्ग अर्थात् धार्मिक युद्ध करते हुए उस  
‘अतिथि’ में वीरको प्राप्त करने वाली विजयलक्ष्मीने अभिसारिकावत् बताव किया अर्थात्  
पतिको प्राप्त करनेकी अभिलाषिणी होकर ‘अतिथि’ के पास स्वयं गयी । ( युद्धमें ‘अतिथि’  
ने विजय पायी ) ॥ ६९ ॥

**प्रायः प्रतापभग्नत्वादरीणां तस्य दुर्लभ ।**

**रणो गन्धद्विपस्येव गन्धभिन्नान्यदन्तिनः ॥ ७० ॥**

प्राय इति । अरीणां सर्वेषामपि प्रतापेनावृत्तेजसैव भग्नत्वात्तस्य राज्ञः । गन्धेन  
मदगन्धेनैव भिन्ना भग्ना अन्ये दन्तिनो येन तस्य गन्धद्विपस्येव । प्रायः प्रायेण  
रणो दुर्लभः । खलुर्थयोगेऽपि शेषविवक्षायां पष्ठीमिच्छन्तीत्युक्तम् ॥ ७० ॥

शत्रुओंके (उस ‘अतिथि’ के) प्रतापसे हतोत्साह या पराजित होनेसे उस ‘अतिथि’ का  
( मदधाराके ) गन्धसे अन्य हाथियोंको भग्न ( परास्त ) करनेवाले मदप्रवाहयुक्त हाथीके  
समान युद्ध होना प्राय दुर्लभ ही था । ( जिस प्रकार मदस्फरण करनेवाले मतवाले हाथीको  
मदके गन्धसे ही दूसरे हाथियोंके भग्नोत्साह होनेसे युद्ध करनेका अवसर प्रायः कम मिलता  
है, उसी प्रकार उस ‘अतिथि’ के प्रतापसे ही उनके शत्रुओंके भग्नोत्साह हो जाने से किसी  
शत्रुसे युद्ध करनेका अवसर प्रायः कम मिलता था ) ॥ ७० ॥

**प्रवृद्धौ हीयते चन्द्रः समुद्रोऽपि तथाविधः ।**

**स तु तत्समवृद्धिश्च न चाभूत्ताविव क्षयी ॥ ७१ ॥**

प्रवृद्धाविति । प्रवृद्धौ सत्यां चन्द्रो हीयते । समुद्रोऽपि तथाविधश्चन्द्रवदेव  
प्रवृद्धौ हीयते । ‘प्रवृद्ध’ इति वा पाठ । स राजा तु ताभ्यां चन्द्रसमुद्राभ्यां समा  
वृद्धिर्यस्य स तत्समवृद्धिश्चाभूत् । तौ चन्द्रसमुद्राविव क्षयो । ‘जिहत्ति-’ इत्यादि-  
नेनिप्रत्यय । नाभूत् ॥ ७१ ॥



चन्द्रमाकी किरणों की कमलमें तथा सूर्यकी किरणों की कुमुदमें गति नहीं होती, किन्तु गुणवान् उस 'अतिथि' के गुणोंने शत्रुमें भी स्थान पाया अर्थात् शत्रु भी उस 'अतिथि' के गुणों की प्रशंसा करते थे ॥ ७५ ॥

**पराभिसन्धानपरं यद्यप्यस्य विचेष्टितम् ।**

**जिगीषोरश्वमेधाय धर्म्यमेव बभूव तत् ॥ ७६ ॥**

पराभिसन्धानपरमिति । अश्वमेधाय जिगीषोरस्य विचेष्टितं दिग्विजयरूपं यद्यपि पराभिसन्धानपरं शत्रुवञ्चनप्रधानं तथाऽपि तद्धर्म्यं धर्मादनपेतमेव । 'धर्म-पथ्यर्थन्यायादनपेते' इति यत्प्रत्यय । बभूव । 'मन्त्रप्रभावोत्साहशक्तिभिः । परा-न्सन्दध्यात्' इति कौटिल्यः ॥ ७६ ॥

अश्वमेध यज्ञके लिये विजयाभिलाषी उस 'अतिथि' की चेष्टा यद्यपि शत्रुओंको वञ्चित करने वाली थी, तथापि वह धर्मसे युक्त ही हुई । अथवा—उस 'अतिथि' की चेष्टा यद्यपि शत्रुको वञ्चित करनेवाली थी, तथापि अश्वमेध यज्ञके लिये विजयाभिलाषी (उस अतिथिकी) वह चेष्टा धर्मयुक्त ही हुई ॥ ७६ ॥

**एवमुद्यन्प्रभावेण शास्त्रनिर्दिष्टवर्मना ।**

**वृषेव देवो देवानां राजा बभूव सः ॥ ७७ ॥**

एवमिति । एवं शास्त्रनिर्दिष्टवर्मना शास्त्रोपदिष्टमार्गेण प्रभावेण कोशदण्डजेन तेजसा । 'स प्रतापः प्रभावश्च यत्तेज कोशदण्डजम्' इत्यमरः । उद्यन्नुद्युक्तान् । स वृषा वासवो देवानां देवो देवदेव इव राजा राजा राजराजो बभूव ॥ ७७ ॥

इस प्रकार शास्त्रप्रदर्शित मार्गवाले प्रभावसे ( अथवा—अपने प्रभावसे शास्त्रप्रदर्शित मार्गसे अर्थात् सन्मार्ग पर चलकर अपने प्रभावद्वारा ) उन्नत होते हुए वे 'अतिथि' देवोंके देव इन्द्रके समान राजाओंके राजा हो गये अर्थात् जैसे इन्द्र देवदेव हैं, वैसे ही 'अतिथि' भी 'राजराज' हो गये ॥ ७७ ॥

**पञ्चमं लोकपालानामूचुः साधर्म्ययोगतः ।**

**भूतानां महतां षष्ठमष्टमं कुलभूभृताम् ॥ ७८ ॥**

पञ्चममिति । तम् । राजानमिति शेषः । साधर्म्ययोगतो यथाक्रम लोकसरक्षण-परोपकारभूधारणरूपसमानधर्मस्त्वबलाल्लोकपालानामिन्द्रादीनां चतुर्णां पञ्चममूचुः । महतां भूतानां पृथिव्यादीनां पञ्चानां षष्ठमूचुः । कुलभूभृतां कुलाचलानां महेन्द्रम-ल्यादीनां सप्तानामष्टममूचुः ॥ ७८ ॥

(लोक उस राजराज 'अतिथि' की क्रमशः लोकरक्षा, परोपकार और पृथ्वी धारणरूप), समान धर्मके सम्बन्धसे लोकपालों ( इन्द्र, यम, वरुण और कुवेर ) में पाँचवाँ, महाभूतों ( पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश ) में छठा और कुलपर्वतों ( महेन्द्र, मलय, सप्त-शुक्तिमान्, ऋक्ष, विन्ध्य और पारियात्र ) में आठवाँ कहने लगे ॥ ७८ ॥

दूरापवर्जितकञ्जैस्तस्याङ्गां घासमार्पिताम् ।

यत्तु शिरोभिर्मूपाङ्गा देवाः पौरुण्दीमिव ॥ ७९ ॥

दूरापवर्जितकञ्जैरिति । मूपाङ्गः । आसवेयु पौर्ण्यर्पितामुपन्यस्तां तस्य राज्ञः  
आज्ञाय । देवाः पौरुण्दीमैश्वरीमाश्रमिव । दूरापवर्जितकञ्जैर्दूरापरिहृततरु-  
पक्षिरोभिर्मूपा ॥ ७९ ॥

राजाभोजे घासगर्भे ही लक्ष्मी वनकी भावाकी देवोंके प्रति रण्डी भावाकी समान  
दूरे ही वन ( स्वेच्छकप्ररूप राजविह ) से उचित मस्तकीसे नारक किया नर्मीए फलक  
सुखकर वस अतिथि की भावाका पावन किया ॥ ७९ ॥

अस्तिवज्रः स तथाऽऽमर्षं वसिष्ठाभिर्महाकृतौ ।

यथा साधारणीमूर्तं नामास्य जनदत्तव ॥ ८० ॥

अस्तिवज्र इति । स राज्ञा महाकृतावधमेवे अस्तिवज्रो वाजकाम्बुविनामिस्तथाऽऽ-  
मर्षार्थमासा । अर्षतेर्भौवादिप्रसिद्धिः । यथास्य राज्ञो जनदत्तव च नाम साधार-  
णीमूर्तमेकीमूर्तव । जमबोरपि जनदत्तज्ञा यथा स्वातन्त्र्यार्थः ॥ ८० ॥

जस 'अतिथि' ने महाबल अर्षात् अर्षमेव 'वहने' अतिथिओंको दक्षिणाएवसे वस प्रकर  
सत्कार किया जिस प्रकार वस अतिथि' को भीर कुबेरका 'बबर' नाम समाज ही बना अर्षात्  
अत्यधिक बरका दान देनेसे वस अतिथि' और कुबेर में कोई पैर नहीं रह गया ॥ ८० ॥

इन्द्रावृष्टिर्निषमितगवोद्रेकवृष्टिर्वमोऽम्

घादोनाथाः शिवशकपथाः कर्मणे नौबपथाम् ।

पूषपिप्ती तद्वत्तु विद्ये कोपवृद्धि कुबेर

स्तस्मिन्वृष्टोपनतचरितं मेघिरे शोकपाङ्गाः ॥ ८१ ॥

इन्द्रावृष्टिः । इन्द्रावृष्टिरमूर्तः । वमो निषमितः शिवारिता मदस्य रोमस्वोद्रेक-  
पूष वृष्टिर्वम सोऽमूर्तः । घादोनाथो वक्रो नौबराणां नाविक्रमो कर्मणे सन्नरात्  
शिवशकपथा सुचरकमार्गोऽमूर्तः । तद्वत्तु पूषपिप्ती रघुरामादिमहिमादिज्ञः कुबेर  
कोपवृद्धि विद्ये । इत्थं शोकपाङ्गास्तस्मिन् रात्रि निषय वृष्टोपनतस्य घादपातस्य  
चरितं वृष्टि मेघिरे । 'इन्द्रको वक्रमत्सेवी विपद्वाप्यङ्गितादिभिः । वर्तत इन्द्रोपनतो  
अर्धवैतमचस्थिता ॥ इति कौटिल्या ॥ ८१ ॥

इति सलीविषीप्याङ्गावामातिथिर्वर्षो नाम घातव्याः शर्मा ॥ १० ॥

( वस 'अतिथि' के राजा होनेपर ) रण्डीका नर्मी हुई वयने रोग वृद्धि की टीका,  
( वप्रिष्ठो ) के कार्य ( मे सार्वभवा देने ) के लिये वनने वक्रमर्षीको सुखपूर्वक वर होने योग्य  
बनाया और वमके वर वृक्षेवाकी (रह वम वक्रव, राम आदि) को नर्मीया करनेवाकी  
कुबेरने ( वस अतिथि के ) कोषकी वचना ॥ ८१ ॥

वर 'अतिथि' के 'अतिथि' नामक 'लक्षक' कर्म लवण हुआ ॥ १० ॥

## अष्टादशः सर्गः

स नैषधस्यार्थपतेः सुतायामुत्पादयामास निषिद्धशत्रुः ।

अनूनसारं निषधान्नगेन्द्रात्पुत्रं यमाहुर्निषधाख्यमेव ॥ १ ॥

यत्पादपांसुसम्पर्कादहस्यासीदपांसुला ।

कारुण्यसिन्धवे तस्मै नमो वैदेहिबन्धवे ॥

स इति । निषिद्धशत्रुर्निवारितरिपुः सोऽतिथिनैषधस्य निषधदेशाधीश्वरस्यार्थ-  
पते राज्ञ सुतायां निषधान्निषधाख्यान्नगेन्द्रात्पर्वतादनूनसारमन्यूनबलं पुत्रमुत्पा-  
दयामास । यं पुत्रं निषधाख्यं निषधनामकमेवाहुः ॥ १ ॥

जिसके चरणान्बुजरज छूत हा गीतमपत्नी सती बनी ।

दया-सिन्धु सीता-बान्धव उसको मम प्रणति है भक्ति-सनी ॥

उस 'अतिथि' ने निषध देशाधीशकी कन्यामें निषध पर्वत के समान बलवान् पुत्र उत्पन्न  
किया, जिसको (लोग) 'निषध' कहते हैं अर्थात् जिसका नाम 'निषध' है ॥ १ ॥

तेनोरुवीर्येण पिता प्रजायै कल्पिष्यमाणेन ननन्द यूना ।

सुवृष्टियोगादिव जीवलोकः सस्येन सम्पत्तिफलोन्मुखेन ॥ २ ॥

तेनेति । उरुवीर्येणातिपराक्रमेणात एव प्रजायै लोकरक्षणार्थं कल्पिष्यमाणेन  
तेन यूना निषधेन पिताऽतिथि सुवृष्टियोगात्सम्पत्तिफलोन्मुखेन पाकोन्मुखेन  
सस्येन जीवलोक इव । ननन्द जहर्ष ॥ २ ॥

प्राणि-समूह महापराक्रमी तथा भविष्यमें प्रनारक्षाके लिये समर्थ युवक उस पुत्रसे इस  
प्रकार हर्षित हुआ जिस प्रकार अच्छी वृष्टि होनेसे पकनेवाले धान्यसे होता है ॥ २ ॥

शब्दादि निर्विशय सुखं चिराय तस्मिन्प्रतिष्ठापितराजशब्दः ।

कौमुद्वतेयः कुमुदावदातैर्धामर्जितां कर्मभिरारुरोह ॥ ३ ॥

शब्दादीति । कुमुद्वत्या अपत्य पुमान्कौमुद्वतेयोऽतिथि शब्दादि शब्दस्पर्शादि  
सुख सुखसाधन विषयवर्गं निर्विशयोपभुज्य चिराय तस्मिन्निषधाख्ये पुत्रे प्रतिष्ठा  
पितराजशब्दो दत्तराज्य सन् । कुमुदावदातैर्निर्मलैः कर्मभिरश्वमेधादिभिरर्जितां  
सम्पादितां धा स्वर्गमारुरोह ॥ ३ ॥

'कुमुद्वती' पुत्र उस 'अतिथि' ने शब्द आदि ( विषय- ) सुखको चिरकालतक भोगकर  
तथा उस 'निषध'को राजा बनाकर कुमुदके समान निर्मल कर्मोंसे प्राप्त स्वर्गमें गमन किया ॥

पौत्रः कुशस्यापि कुशेशयाक्षः ससागरां सागरधीरचेताः ।

एकातपत्रां भुवमेकवीरः पुरार्गलादीर्घभुजो धुभोज ॥ ४ ॥

पौत्र इति । कुशेशयाक्ष शतपद्मलोचनः । 'शतपत्रकुशेशयम्' इत्यमरः । साग-  
रधीरचेता समुद्रगम्भीरचित्त एकवीरोऽसहायशूर पुरस्यार्गला कपाटविष्कम्भः ।



“तद्विष्णुस्मोर्मांसे न वा” इत्यमरः । तद्विष्णुस्मृता कुक्षस्य वीक्षो विषयोऽपि सत्ताव  
शमेकातपत्रो मुखं तुमोज पाकवामास । सुमोऽवबधे’ इत्युक्ते परस्मैपदम् ॥ ३ ॥

कमलमुख मेघनाथे, समुद्रके समान पीत निपराधे, एक ( सुम्न ) द्वा पीरपक्षे नीर  
मवरक्षे ( रक्षार्थ ) कर्कशके समान कम्पो मुग्धाशोके अत कुक्षरीव विषय’ ने समुद्र एक  
एकच्छत्र ( होकर ) धूम्रोक्त भोग दिया ॥ ४ ॥

तस्यानलौघास्तनयस्तदन्ते र्वंशमिषं प्राप नक्षामिषान् ।

यो नद्वक्त्रानीव गङ्गाः परेषां नक्षाम्यसूक्ष्माभक्षिनामवक्त्रम् ॥ ५ ॥

तस्येति । अथकौत्राः वक्षितेनाः नक्षामिषानो नक्षत्रवस्तस्य निषवस्य तत्र  
वस्तस्य निषवस्ताम्येऽवसने र्वंशमिषं रात्र्यवकाशीं प्राप । वक्षिनामवक्त्रो यो  
नक्ष । यत्रा नद्वक्त्रमिव नक्षत्रावरयकाशीव । ‘नद्वक्त्राद्वक्त्रवक्त्र’ इति द्वक्त्र-  
त्वचा । परेषां नक्षाम्यसूक्ष्माभक्षिनामवक्त्रम् ॥ ५ ॥

इत ‘निषव’ के अन्तिमके समान ऐवली ‘वक्त्र’ नामक पुनरे वक्त्रके बाद कुक्षम्यो  
( रक्ष ) को प्राप्त किया, कमलमुख निष ( वक्त्र ) ने नासक बहुत रक्षक रक्षके समान,  
कुक्षों को ऐवाको मरित ( द्वि-विष ) कर दिया ॥ ५ ॥

नमस्करैर्गोतयद्याः स होमे नमस्तत्तद्व्यामवतुं तनूवम् ।

वपार्तं नम-शब्दमयेन नाम्ना काम्यं नमोमासमिव प्रज्ञानाम् ॥ ६ ॥

नम इति । नमस्करैर्गोतयद्याः स होमे नमस्तत्तद्व्यामवतुं नम-  
शब्दमयेन नाम्ना वपातम्, नमोमाससंश्रुमिषार्थः । नमोमासमिव आवचमास  
मिव । प्रज्ञानां काम्यं विषं तद्वत् पुनं होमे ॥ ६ ॥

इव नम्यति गात्रे गत्रे नक्षत्रानि अतः ‘नम’ ने नाक्षत्रके समान स्वाभरण छोरवाने  
‘नम्य’ नामसे प्रसिद्ध और नाक्ष नासके समान प्रज्ञानोंके विष पुनः प्राप्त दिया ॥ ६ ॥

तस्मै पिष्टुग्र्योत्तरकोसक्षानां धर्मोत्तरस्तरममये प्रमुरवम् ।

सूमेर्यस्य जरसीपदिष्टमदेहवन्धाय पुनर्वचम्य ॥ ७ ॥

तस्मै इति । धर्मोत्तरो धर्मोपधावाः स नक्षः प्रमये समर्थाव तस्मै नमते तदुत  
रक्षोसक्षानां प्रमुचमविषार्थं विष्टुग्र्य वराज करता जरसोपदिष्टम्, बार्द्धके विष्टुर्षि  
समिपार्थः । सूमेर्यस्य सैः सह सङ्गतम् । अत्रार्थं नक्षत्रवम्’ इति निपातः । पुनरदेह  
वन्धाय पुनरदेहसम्बन्धविष्टुत्तये नक्षत्र मोक्षार्थं वर्न गत इत्यर्थः । अदेहवन्धायै  
एव प्रमोचप्रतिषेधेऽपि नक्षत्रमास इष्यते ॥ ७ ॥

अदेहवन्धाय अतः नक्ष ने उत्तरकोसमदक्षाररागित्यर्थः अत्रात् उत ‘नम’ की देकर वृद्धा  
न गमामे अविष्टुर्षि वृक्षोंके साथको दित ( न मान्यते ) देहके नक्षत्रवदित होवेके निरे  
नक्ष ६ वि ) ७ निपातः ॥

तेन द्विषानामिव पुण्डरीको राज्ञामजय्योऽजनि पुण्डरीकः ।

शान्ते पितर्याहृतपुण्डरीका यं पुण्डरीकाक्षमिव श्रिता श्रीः ॥ ८ ॥

तेनेति । तेन नभसा । द्विषानां पुण्डरीको दिग्गजविशेष इव । राज्ञामजय्यो जेतुमशक्यः । 'अजय्यजय्यौ शक्यार्थे' इति निपातनास्साधु पुण्डरीकः । पुण्डरीकाख्यः पुत्रोऽजनि जनितः । पितरि शान्ते स्वर्गते सति । आहृतपुण्डरीका गृहीतश्वेतपद्मा श्रीयं पुण्डरीकं पुण्डरीकाक्षं विष्णुमिव श्रिता ॥ ८ ॥

उस 'नम' से हाथियोंके अजेय 'पुण्डरीक' ( अक्षिकोणका दिग्गज ) के समान राजाओंका अजेय 'पुण्डरीक' ( नामका पुत्र ) हुआ । पिता ( नम ) के मरनेपर श्वेतकमल-धारिणी लक्ष्मीने विष्णुके समान उस ( पुण्डरीक ) का आश्रय किया ॥ ८ ॥

स क्षेमधन्वानममोघधन्वा पुत्रं प्रजाक्षेमविधानदक्षम् ।

धर्मा लम्भयित्वा क्षमयोपपन्नं वने तपः क्षान्तततरश्चचार ॥ ९ ॥

स इति । अमोघ धनुर्यस्य सोऽमोघधन्वा । 'धनुषश्च' इत्यनङ्गादेश समासान्त । स पुण्डरीक प्रजानां क्षेमविधाने दक्ष क्षमयोपपन्नं ज्ञान्तियुक्त क्षेम धनुर्यस्य तक्षेमधन्वान नाम पुत्रम् । 'वा संज्ञायाम्' इत्यनङ्गादेश । धर्मा लम्भयित्वा प्रापय्य । लभेर्गार्थत्वाद् द्विकर्मकत्वम् । क्षान्ततरोऽत्यन्तसहिष्णु तन् वने तपश्चचार ॥ ९ ॥

सफल धनुषवाले वे ( पुण्डरीक ) प्रजाओंके कल्याण करनेमें समर्थ और क्षमासे युक्त अर्थात् सहनशील 'क्षेमधन्वा' नामक पुत्रको पृथ्वी सौंपकर ( राज्यभार देकर ) अत्यन्त सहनशील होते हुए वनमें तपस्या करने लगे ॥ ९ ॥

अनीकिनीनां समरेऽग्रयायी तस्यापि देवप्रतिमः सुतोऽभूत् ।

व्यश्रूयतानीकपदावसानं देवादि नाम त्रिदिवेऽपि यस्य ॥ १० ॥

अनीकिनीनामिति । तस्य क्षेमधन्वनोऽपि समरेऽनीकिनीनां चसूनामग्रयायी देवप्रतिम इन्द्रादिकल्प सुतोऽभूत् । अनीकपदावसानमनीकशब्दान्तं देवादिदेव-शब्दपूर्वं यस्य नाम देवानीक इति नामधेय त्रिदिवे स्वर्गेऽपि व्यश्रूयत विश्रुतम् ॥

उस 'क्षेमधन्वा' को भी युद्धमें सेनाओंके आगे चलनेवाला देवतुल्य पुत्र हुआ, जिसका नाम स्वर्गमें भी अन्तर्में 'अनीक' तथा आदि में 'देव' पदसे युक्त अर्थात् 'देवानीक' प्रसिद्ध हुआ ॥ १० ॥

पिता समाराधनतत्परेण पुत्रेण पुत्री स यथैव तेन ।

पुत्रस्तथैवात्मजवत्सलेन स तेन पित्रा पितृमान्वभूव ॥ ११ ॥

पितेति । स पिता क्षेमधन्वा समाराधनतत्परेण शुश्रूपापरेण तेन पुत्रेण यथैव पुत्री यभूव तथैव स पुत्रो देवानीक आत्मजवत्सलेन तेन पित्रा पितृमान्वभूव, लोक-पितृश्वपुत्रत्वयो फलमनयोरेवासीदित्यर्थः ॥ ११ ॥

“तद्विष्णुमोर्गां न वा” इत्यमरः । तद्विर्धमुखाः कुक्षरव पीडो निपचोऽपि सताप  
रामेकातपत्रां मुचं हुमोज पाकवामास । ‘मुयाङ्गवने’ इत्युक्ते परस्मैपदम् ॥ ४ ॥

कमकुम्भ वेववाके, समुद्रके समान पीर विचवाके, एक ( कुम्भ ) छद् पीरवाके पीर  
मारवा ( रवां ) नर्मणाके समान कम्पो मुवाताके वस कुक्षरीन ‘निपच’ के समुद्र वस  
कुम्भ ( होकर ) हुमीका मोव दिवा ॥ ४ ॥

सम्यामलौकास्तनयस्तदन्ते रंशमिषं प्राप नक्षामिषान् ।

यो नहृषसानीय गच्छः परेषां बलाम्यमुदुनाप्रक्षिणामवपन्नः ॥ ५ ॥

तत्पति । नक्षत्रौजाः बह्वितेजाः बलामिषानो बलकयस्तस्य निपचस्य ठम  
वस्तस्य निपचस्त्वान्तेऽवसाने रंशमिषं रागवकचमीं प्राप । नक्षिणामवपन्नो यो  
मच्छः । गजो नहृषकामि बह्मप्रापस्वकामीव । ‘नहृषाद्वाहृषकच्’ इति-हृषकण्य-  
त्यया । परेषां बलाम्यमुदुनाप्रक्षिणामवपन्नः ॥ ५ ॥

वस ‘निपच’ के नक्षिके समान ठमस्के ‘नक्ष’ नामक पुत्रने वसके वार कुम्भवा  
( ठम ) के प्राप्त किया, कमकुम्भम मिच ( वक्ष ) ने वासक बहुत त्यागके शायीके समान,  
समुद्रों के समानके मरित ( मिच-मिच ) कर दिवा ॥ ५ ॥

नमश्चरेयीतपसा स केमे नमस्तत्करयामतनुं तनूयम् ।

क्यार्तं नम-शब्दमयेन नाम्ना कान्तं नमोमासमिष मञ्जानाम् ॥ ६ ॥

वय इति । नमश्चरेयीतपसाः स नको नमस्तत्करयामतनुं नम-  
शब्दमयेन नाम्ना क्वातयम्, नमश्चरेयीतपसाः । नमोमासमिष मञ्जानाम्  
मिष । मञ्जानां कान्तं मिषं तनूयं पुनं केमे ॥ ६ ॥

इव तन्वरीति यदे वदे नक्षत्राने वस मक्ष के नक्षत्राके समान स्वामन्त्रं वरीरवाके  
‘नमस्’ नामके प्रसिद्ध पीर नामक मासके समान मञ्जानांके मिष पुत्रके प्राप्त किया ॥ ६ ॥

तस्मै विष्णुपोत्तरकोसलागां यमोत्तरस्तत्प्रमये प्रभुत्वम् ।

सुगोचर्यं जरसोपविष्टमदेहवन्धाय पुनर्बन्ध ॥ ७ ॥

तस्मै इति । यमोत्तरो कर्मपञ्चागः स बलः प्रमये समर्थाव तस्मै वयमे तदुप  
रकोसलागां प्रभुत्वमाधिपत्यं विष्णुव दत्ता जरसा जरयोपविष्टम्, यद्वैके विष्णुर्वि  
तमिषार्थः । यमेरजर्षं तैः सह सङ्गतम् । नमर्षं सङ्गतम् इति विपादा । पुनरदेह  
बन्धाय पुनर्देहवन्धायविष्टमये वयन्म मोचार्थं वयं यत्र हरवर्कः । अदेहवन्धाके  
त्वम् प्रसङ्गप्रतिषेधेऽपि नमस्तमात्रं श्रूयते ॥ ७ ॥

वर्मपञ्चाग वस ‘नक्ष’ ने वसत्रकोऽन्यद्वैका रामिमिषाऽपि नक्ष वस के वक्ष इका  
वरशानांके नक्षिकेन वृषके समानके मि ( नक्षान्तरमे ) देहके वन्धवदित होके के मि  
( मुखिके मि ) कर दिवा ॥ ७ ॥

पक्रमैः सामाद्युपायै' । 'सामादिभिरुपक्रमै' इति मनु । चतुर्दिगीशश्चतसृणां दिशा-  
मीशो बभूव ॥ १५ ॥

मनुष्योंके विशेष ज्ञाता तथा चतुर जिस 'अहीनगु' ने अवतार लिए हुए आदि पुरुष  
( विष्णु भगवान् ) के समान सफल चार उपायों ( साम, दान, दण्ड और भेद ) से चारों  
दिक्पालों को जीत लिया ॥ १५ ॥

तस्मिन्प्रयाते परलोकयात्रां जेतयंरीणां तनयं तदीयम् ।

उच्चैःशिरस्त्वाजितपारियात्रं लक्ष्मी सिपेवे किल पारियात्रम् ॥ १६ ॥

तस्मिन्निति । अरीणा जेतारि तस्मिन्नहीनगौ परलोकयात्रां प्रयाते प्राप्ते सति ।  
उच्चैः शिरस्त्वादुन्नतशिरस्कत्वाजित पारियात्र कुलशैलविशेषो येन त पारियात्र  
पारियात्राख्य तदीय तनयं लक्ष्मी सिपेवे किल ॥ १६ ॥

शत्रुओंके विजेता उस 'अहीनगु' के परलोकयात्रा करनेपर ( राज- ) लक्ष्मीने उन्नत-  
स्तक होनेसे पारियात्र ( सात कुलपर्वतोंमेंसे एक पर्वतविशेष ) को जीतनेवाले 'पारियात्र'  
नामक उनके पुत्रका सेवन करने लगी अर्थात् 'अहीनगु' के मरनेपर उसका पुत्र 'पारियात्र'  
जन्मा हुआ ॥ १६ ॥

तस्याभवत्सूनुरुदारशील शिलः शिलापट्टविशालवक्षा ।

जितारिपक्षोऽपि शिलीमुखैर्यः शालीनतामव्रजदीव्यमानः ॥ १७ ॥

तस्येति । तस्य पारियात्रस्योदारशीलो महावृत्त । 'शील स्वभावे सद्बृत्ते' इत्य-  
मर । शिलापट्टविशालवक्षा शिल शिलाख्यः सूनुरभवत् । य सूनु शिलीमुखै-  
र्बाणैः । 'अलिबाणौ शिलीमुखौ' इत्यमरः । जितारिपक्षोऽपीदृश्यमान स्तूयमानः सन् ।  
शालीनतामव्रजतां लज्जामव्रजदगच्छत् । 'स्यादष्टे तु शालीनः' इत्यमरः । 'शाली-  
नकौपीने अष्टाकार्ययो' इति निपातः ॥ १७ ॥

उस 'पारियात्र' को उदार स्वभाववाला और चट्टानके समान चौड़ी छातीवाला  
'शिल' नामक पुत्र हुआ । बाणोंसे शत्रुओंके पक्षको जीतनेवाला भी जो स्तुति करनेपर  
लज्जित हुआ ॥ १७ ॥

तमात्मसम्पन्नमनिन्दितात्मा कृत्वा युवानं युवराजमेव ।

सुखानि सोऽभुङ्क्षु सुखोपरोधि वृत्तं हि राक्षामुपरुद्धवृत्तम् ॥ १८ ॥

तमिति । अनिन्दितात्माऽगर्हितस्वभाव स पारियात्र आत्मसम्पन्नबुद्धिसम्प-  
न्नम् । 'आत्मा यन्नो धृतिर्बुद्धिः स्वभावो ब्रह्मवर्त्म च' इत्यमरः । युवानं त शिल युव-  
राज कृत्वेव सुखान्यभुङ्क्षु, न स्वकृत्वेत्येवकारार्थः । किमर्थं युवराजशब्दकरणमित्या-  
ह्वयान्यथा सुखोपभोगो दुर्लभ इत्याह-सुखोपरोधीति । हि यस्माद्राज्ञां वृत्तं प्रजापा-  
लनादिरूपं सुखोपरोधि बहुलत्वात्सुखप्रतिबन्धकम् । अत एवोपरुद्धवृत्तम्, कारादि-  
वद्धसदृशमित्यर्थः । उपरुद्धस्य स्वयमूढमारस्य च सुख नास्तीति भावः ॥ १८ ॥

असि प्रहार तेषामे तत्पर कृत (देवानीक वायव्य) पुनरपि रिता (देववन्धा) उत्पन्न  
वायु इव, कृती प्रहार पुनरासक्त कस पिनासि क्व पुन भी मेव रितावाका हुवा ॥ ११ ॥

पूर्यस्तपोरारामसमे विरोहामारमोद्गमे वर्ष्यचतुष्टयस्य ।

पुरं निषादैकमिधिगुणानां जगाम यन्वा यजमानकोकम् ॥ १२ ॥

पूर्व इति । गुणानामेकमिधिर्गन्धा मिथिविष्टास्तवोऽपि पुन्रप्युपमेत्ये पूर्व  
रिता येमयन्वाऽऽमसमे स्वतुष्टय जगमोद्गमे पुनै देवानीके विरोहो विरहतां वर्ष्य-  
चतुष्टयस्य पुरं रक्षामारं निषादै यजमानकोकं यन्मूकोकं जगाम ॥ १२ ॥

गुण्यं कः कुरुव नास्ति तथा सन्निधि वक्ष्यतां (कन दीनो (निता-पुनो) ये जगाम  
जगाम 'देववन्धा' वाहक रिता जगामगुण्य पुनये पादो वर्षीके विरह्यकसे वारण द्विरे वदे  
वार (राज्यवास्तव्यार) को रक्षार वक्ष्यतांनोके कोकको कवे जगाम मर वदे ॥ १२ ॥

वक्षी सुतस्तस्य वक्ष्यकवत्कारस्येषामिवासीद् द्विपतामपीह ।

सहस्रविप्रमपि हि प्रयुक्तं माधुर्यमीधे हरिषामप्रहीतुम् ॥ १३ ॥

वक्षीति । तस्य देवानीकस्य वक्षी समर्थः सुतोऽग्नीनगुर्नामेति वक्ष्यमानवामकः ॥  
वक्षं वक्षकरं मधुरं वक्षीति वक्षं वक्षः । 'विषं वक्षे वक्षः कश्च' इति वक्ष्यत्वया ।  
तस्य मावस्तव्यम् । तस्माद्विष्टाद्विष्टात्वेपामिव द्विपतामपीह प्रिय जगाम ।  
जगाम देवानीकमिधिराजं कम्पते । तथा हि प्रयुक्तमाधुर्यं माधुर्यं सहस्रैकवारं विप्र-  
गाम्नीतामपि हरिषामप्रहीतुं वक्षीकर्तुमीधे सखोति ॥ १३ ॥

कस देवानीकस्य वक्षी पुन मधुरमानी होवेते जाल्योकोके समान जगामोका भी प्रिय  
हुवाः सर्वोके—जगामर मधुर वक्ष्य एववार जगाम ना करे हुव हरिनीको भी वक्षीपुन  
करतेये समर्थ होवा है ॥ १३ ॥

अग्नीनगुर्नाम स गां समग्रामग्नीन्वाहुप्रविष्ठा सद्यास ।

यो ह्रीनसंसर्गपराङ्मुक्तत्वाद् युवाऽप्यनर्प्यस्यैर्विहीनः ॥ १४ ॥

अग्नीनगुरिति । अग्नीनवाहुप्रविष्ठाः समग्रपुत्रपराङ्मयाः । 'अविषं कश्च वक्षं विष्टं  
अविषं च पराङ्मया' इति विष्ठा । ह्रीनसंसर्गपराङ्मुक्तत्वात्वीनसंसर्गविमुक्तत्वात्वेतो  
गुणान्मयवर्षैरवर्षकरैर्वसवैः पावयताद्विमिर्विहीनो रक्षितो योऽग्नीनगुर्नाम स  
पूर्वोको देवानीकपुता समग्रं सर्वा गां मुखं सद्यास ॥ १४ ॥

समस्त वाहुककाके कस ('अग्नीनगु') ये सन्पूर्व हुप्पीका सद्यास विना भी योज्ज्वल  
होवा हुवा भी बीनोके संसर्गते विष्टा रक्षितो जगामवक्ष्यक जगामोते रक्षित ना ॥ १४ ॥

गुरो स आनन्तरमन्तरा पुस्तं पुमानाद्य इवावतीर्य ।

उपक्रमैरस्वक्षितैश्चतुर्मिष्यतुर्बिगीशश्चतुरो वसू ॥ १५ ॥

गुरोति । पुमानातरको विरोधवातुरो विपुला सोऽग्नीनगुव गुरोऽपि पुन-  
न्तराय । अवतीर्य मुखं प्राप्त जाया पुमान्विपुति । अवक्षितैरमतिहरीचतुर्मिष्य

उसके बाद इन्द्रतुल्य प्रभाववाला, युद्धमें वज्रके समान ( भयङ्कर ) ध्वनि करनेवाला, हीरोंकी ग्वानरूपी भूषणवाली पृथ्वीका पति 'वज्रनाभ' नामक उस 'वज्रनाभ' का पुत्र हुआ ।

तस्मिन् गते द्यां सुकृतोपलब्धां तत्सम्भवं शङ्खणमर्णवान्ता ।

उत्खातशत्रुं वसुधोपतस्थे रक्षोपहारैरुदितैः खनिभ्यः ॥ २२ ॥

तस्मिन्निति । तस्मिन्वज्रणाभे सुकृतोपलब्धा सुधर्मार्जिता द्यां स्वर्गं गते सति । उत्खातशत्रुमुद्धृतशत्रु शङ्खण नाम तत्सम्भव तदारम्भजमर्णवान्ता वसुधा खनिभ्य आकरेभ्य उदितैरुपलब्धै रक्षोपहारैरुद्धृतवस्तुसमर्पणैरुपतस्थे सिपेवे । 'जातौ जातौ यदुत्कृष्ट तद्गतमभिधीयते' इति भरतविश्वौ ॥ २२ ॥

उस 'वज्रनाभ' के धर्मार्जित स्वर्गमें जाने ( मरने ) पर शत्रुओंका उन्मूलन किये हुए 'शङ्खण' नामक उस 'वज्रनाभ' के पुत्रको समुद्रपर्यन्त पृथ्वीने खानोंसे उत्पन्न रत्नोंके उपहारों द्वारा सेवा की अर्थात् 'वज्रनाभ' के पुत्र 'शङ्खण' ने समुद्रपर्यन्त पृथ्वीपर राज्य किया ॥ २२ ॥

तस्यावसाने हरिदश्वधामा पित्र्यं प्रपेदे पदमश्विरूपः ।

वेलातटेपूषितसैनिकाश्वं पुराविदो यं व्युषिताश्वमाहुः ॥ २३ ॥

तस्येति । तस्य शङ्खणस्यावसानेऽन्ते हरिदश्वधामा सूर्यतेजा । अश्विनोरिव रूपमस्येत्यश्विरूपोऽतिसुन्दर । तत्पुत्र इति शेष । पित्र्यमिति सम्बन्धिपदसामर्थ्यात् । पित्र्य पद प्रपेदे । वेलातटेपूषिता निविष्टा सैनिका अश्वश्च यस्य तम् । अन्वर्थ्यनामानमित्यर्थः । य पुत्र पुराविदो वृद्धा व्युषिताश्वमाहुः ॥ २३ ॥

उस 'शङ्खण' के ( मरनेके ) बाद सूर्यके समान तेजस्वी तथा अश्विनोकुमारोंके समान ( सुन्दर ) रूपवाले ( उस 'शङ्खण' के पुत्रने ) पिताका पद ( राज्य ) प्राप्त किया, समुद्रतटों पर सैनिकों तथा घोड़ोंको रखनेसे इतिहासज्ञ लोग जिसको 'व्युषिताश्व' कहते हैं ॥ २३ ॥

आराध्य विश्वेश्वरमीश्वरेण तेन क्षितेर्विश्वसहो विजज्ञे ।

पातुं सहो विश्वसखः समग्रां विश्वम्भरामात्मजमूर्तिरात्मा ॥ २४ ॥

आराध्येति । तेन क्षितेरीश्वरेण व्युषिताश्वेन विश्वेश्वरं काशीपतिमाराध्योपास्य विश्वसहो नाम विश्वसख समग्रा सर्वा विश्वम्भरां भुवं पातु रक्षितु सहत इति सह क्षम । पचाद्यच् । आत्मजमूर्ति पुत्ररूप्यात्मा स्वयमेव । 'आत्मा वै पुत्रनामासि' इति श्रुते । विजज्ञे सुपुत्रे । विपूर्वो जनिर्गर्भविमोचने वर्तते । यथाऽऽह भगवान्पाणिनि — 'समां समा विजायते' इति ॥ २४ ॥

पृथ्वीपति उस 'व्युषिताश्व'ने विश्वेश्वर ( काशीपति शङ्कर भगवान् ) की आराधना कर सत्कार ॥ ( या सबका ) मित्र और सम्पूर्ण पृथ्वीका पालन करनेमें समर्थ 'विश्वसह' नामक पुत्ररूप आत्मा ( स्वय ) को उत्पन्न किया ( काशी विश्वेश्वरके पूजक उस 'व्युषिताश्व' का 'विश्वसह' नामक पुत्र हुआ ) ॥ २४ ॥

अभिहितं आभासकं यत् 'वारिवाच' मे वचनं त्वत् पुत्रयो युवताम् वनात्त री त्वयो  
वा भोव दिवा; त्वयोकि त्वयोरोक्तं राजाभावा न्यायतः ( प्रजापालनं अहिं कार्त्तं ) इत्यर्थे  
राक्षसेनावा होता है अनन्तर यह कागागा ( केक ) के मन्त्रन ही १८ म

त रागदग्धिष्यविदूतमय भोगेषु सौभाग्यविरोधभाग्यम् ।

पिलासिमीनामरतिक्षमा वि मरा धृषा मरसरिणी अहार ॥१७॥

तमिति । रागे कष्यन्तीति रागदग्धिष्यः रागदग्धर्तका इत्यर्थः । तेषु भागेषु विष  
यस्यविदूतमेव सन्तम् । विदूतः । विद्यापिमीनां भोजिनीनां सौभाग्यविरोधकं सौभाग्यं  
तिराज्य हेतुना भाग्यं भागार्हम् । 'वज्राः कु विदूतयो इति कुत्रम् । नं वारिवाच  
रतिक्षमा न धपतीयरतिक्षमाऽपि अत एव धृषा मरसरिणी रतिक्षमासु रित्त  
सिमीभिर्विषयः । अरा यद्वा यदीयकार ॥ १९ ॥

अमुताम दारुणाने भोग्ये अमः पुत्र तथा विनासिनी विषो है (अवनी) अरिह तुम्हारा  
कारण भोग कराने योग्य वन 'वारिवाच' को रतिमे अमर्त्य श्री ( रतिमे मर्त्य विनासिनी  
विषो है धाव ) हेव करमेवाणी जरा (प्रजा) मे अर्थ ही वचने कर दिया । 'वारिवाच' वर  
ही मने वरम्भु विषय-भोगसे व है सन्तान ( निरुति ) नहीं हुआ । ॥ १९ ॥

उन्माम इत्युद्भूतनामधेयस्तस्यापद्यार्थोन्मत्तमभिरम्भः ।

सुतोऽमपरपञ्चजनामकल्पः कृत्स्नस्य नामिन्पमण्डकस्य ॥ २० ॥

उपभेति । तस्य अिक्तमवरयोवाच इत्युद्भूतनामधेयः प्रसिद्धनामा पद्यार्थं यथा  
तथोक्तं अभिरम्भं वरत्त सा, गम्भीरनामिरित्यर्थः । तदुक्तम्- 'वरत्तं सत्त्वं च वा  
मिषं धाम्मीर्षं त्रिषु सत्यते । पञ्चजनामिष्यपो दिष्णुसदृशः कृत्स्नवरपं पुपमण्डकस्य  
नामिः प्रपातम् । नामिः प्रपाते कस्तूरीमधेऽपि कश्चिरीरितः' इति विश्वः । सुतोऽ-  
मवत् । 'अध्यात्मवचनपूर्वात्प्राप्तमयोन्मा' इत्यत्राभिति योगविभागात्पुत्रनामपद्यवाभा  
व्याः सिद्धाः ॥ २० ॥

यस 'विष्व के 'उन्मत्तनाम' नामक स्वार्थविशेषेण अरिह विद्याज नामिरम्भराका अर्धे  
गम्भीर नामि हीमैते विपरीतार्थक 'उन्मत्तनाम' नामक दिष्णुके समान और उन्मत्तं पत्र  
सम्पूर्ण प्रपात पुत्र हुआ ॥ २० ॥

ततः परं वज्रपरममात्रस्तद्धारमज्ञः संपति वज्रधोपा ।

धमूष वज्राकट्मूषण्यायाः पतिः पूषिण्या किञ्च वज्रणामः ॥ २१ ॥

तत इति । ततः परं वज्रपरममात्र इत्युक्तेनाः संपति सख्यामे वज्रधोपोऽस्तमि-  
तुष्यधमिर्षं वज्रनामो नाम तस्योन्मात्रनामनामो वज्रणा हीरकावमाकराज जगत्  
पूष धूमनामि अस्वास्तस्याः पूषिण्याः पतिर्वज्रधुष किञ्च वज्र । वज्रं स्वकी तुष्ण-  
कावयो । अग्निदेवे वज्रमेवैवज्रनामनामनामन्तरे ॥ इति विश्वः ॥ २१ ॥

निजे स्वकीयेऽधिकारे प्रजापालनकृत्य आधाय निधाय । ब्रह्मणो भावो ब्रह्मभूयं  
ब्रह्मत्वं तदेव गतिस्तामाजगाम, सुक्तोऽभूदित्यर्थः । 'स्याद् ब्रह्मभूयं ब्रह्मत्वम्'  
इत्यमरः । 'भुवो भावे' क्यप् ॥ २८ ॥

कीर्तियों से ब्रह्मलोक तक प्रसिद्ध वे 'कौशल्य' ब्रह्मज्ञानी 'ब्रह्मिष्ठ' नामक अपने पुत्रको  
ही अपने अधिकार ( राज्य ) पर नियुक्त कर ब्रह्मत्व गति अर्थात् मुक्तिको प्राप्त हुये ॥ २८ ॥

तस्मिन्कुलापीडनिभे विपीडं सम्यङ्महीं शासति शासनाङ्गाम् ।

प्रजाश्चिरं सुप्रजसि प्रजेशे ननन्दुरानन्दजलाविलाक्ष्य ॥ २९ ॥

तस्मिन्निति । कुलापीडनिभे कुलशेखरतुल्ये । 'वैकृक तु तत् । यत्तियंक्'  
क्षिप्तमुरसि शिखास्वापीडशेखरौ' इत्यमरः । सुप्रजसि सत्सन्तानवति । 'नित्यम-  
सिप्रजामेधयो इत्यसिचप्रत्ययः । तस्मिन्प्रजेशे प्रजेश्वरे ब्रह्मिष्ठे शासनाङ्गां शासन-  
चिह्नां महीं विपीड निर्वाध यथा तथा सम्यक्शासति । आनन्दजलाविलाक्ष्य आन-  
न्दवाष्पाकुलनेत्राः प्रजाश्चिरं ननन्दुः' ॥ २९ ॥

कुलशेखर तुल्य तथा श्रेष्ठ प्रजावाले उस ( ब्रह्मिष्ठ नामक ) राजाके शासन से अङ्कित  
पृथ्वीका यथायोग्य शासन करते रहने पर आनन्दाश्रुसे आकुल अर्थात् परिपूर्ण नेत्रवाली  
प्रजायें चिरकालतक आनन्दित रही ॥ २९ ॥

पात्रीकृतात्मा गुरुसेवनेन स्पष्टाकृतिः पत्ररथेन्द्रकेतोः ।

तं पुत्रिणां पुष्करपत्रनेत्रं पुत्रः समारोपयदग्रसंख्याम् ॥ ३० ॥

पात्रीकृतात्मेति । गुरुसेवनेन पित्रादिशुभ्रपुत्र्या पात्रीकृतात्मा योग्यीकृतात्मा ।  
'योग्यभाजनयोः पात्रम्' इत्यमरः । पत्ररथेन्द्रकेतोर्गुरुध्वजस्य स्पष्टाकृतिः स्पष्टवपुः,  
तत्समरूप इत्यर्थः । 'आकृतिः कथिता रूपे सामान्यवपुषोरपि' इति विश्वः । पुष्कर-  
पत्रनेत्रं पद्मदलाक्षः पुत्रः पुत्राख्यो राजा । यद्वा पुत्रशब्द आवर्तनीयः । पुत्रः पुत्रा-  
ख्य पुत्र सुतः । त ब्रह्मिष्ठ पुत्रिणामग्रसंख्यां समारोपयत्, अग्रगण्य चकारेत्यर्थः ॥

गुरु ( पिता-मातादि बहों ) की सेवासे आत्माको सत्प्राप्त बनाये हुये और गरुडध्वज  
की स्पष्ट आकृति ( विष्णुतुल्य देह ) वाले तथा कमलपत्रके तुल्य नेत्रवाले 'पुत्र' नामक  
पुत्रने उस 'ब्रह्मिष्ठ' को सन्पुत्रवालोंको प्रथम गणनामें रख दिया ॥ ३० ॥

वंशस्थितिं वंशकरेण तेन सम्भाव्य भावी स सखा मघोनः ।

उपस्पृशन्स्पर्शनिवृत्तलौल्यस्त्रिपुष्करेषु त्रिदशत्वमाप ॥ ३१ ॥

वंशस्थितिमिति । स्पृश्यन्त इति स्पर्शा विषया । तेभ्यो निवृत्तलौल्यो निवृत्त-  
तृष्णः । अत एव मघोन इन्द्रस्य सखा मित्र भावी भविष्यन्, स्वर्गं जिगमिषु-  
रित्यर्थः । स ब्रह्मिष्ठो वंशकरेण वंशप्रवर्तकेन तेन पुत्रेण वंशस्थितिं कुलप्रतिष्ठां  
सम्भाव्य सम्पाद्य त्रिपु पुष्करेषु तीर्थविशेषेषु । 'दिवसस्ये सज्ञायाम्' इति समासः ।  
उपस्पृशन्स्नानं कुर्वन्निदशत्व देवभूयमाप ॥ ३१ ॥



अंशे हिरण्यशरिणो स जाते हिरण्यनामे तनये नयः ।

द्विषामसह्य सुतरां तकर्णां हिरण्यरेता इव सामिबोऽमृत ॥ २५ ॥

अंश इति । नयः शरीरं । स विषसह्यः । हिरण्यशरिणोर्विष्णोरसे हिरण्यनामे बाहि तनये जाते सति । तकर्णां सामिबो हिरण्यरेता इत्युच्यते । द्विषामसह्योऽमृत ॥ २५ ॥

गीतिह ५४ 'विषसह्य' हिरण्यशरिणोः शत्रु अर्थात् विष्णुके अंशमूला 'हिरण्यनाम' नामक पुत्रके अल्प होनेपर इहोको बालुके कुछ अधिक समान अनुभवी असह्य हो गये ॥ २५ ॥

पिता पितृजामनुजस्तमस्ते वयस्यमन्त्राणि श्रुत्वामि क्षिप्त्वा ।

राजासमाजानुविहन्मिबाहुं कृत्वा कृती वस्त्रकान्धमूष ॥ २६ ॥

वितेति । पितृजामनुजा, विहन्मिबाहु इत्यर्थः । 'मन्त्राणि पितृभ्याम्' इति श्रुतेः । अत एव कृती, कृतकृत्य इत्यर्थः । पिता विषसह्योऽस्ते वयसि वस्त्रकान्धमन्त्राण्यविवाहार्थं श्रुत्वामि क्षिप्त्वा, श्रुत्वा हिरण्यम् । आजानुविहन्मिबाहुं दीर्घबाहुम् । धाम्नासम्पन्नमिति भावः । स हिरण्यनाम राजानं कृत्वा वस्त्रकान्धमूष, वर्ष एव इत्यर्थः ॥ २६ ॥

पितृ-आमसी मुक्त ( अत एव ) कृतकृत्य पिता ( विषसह्य ) जनन्तमुक्त ( मोक्ष ) को काम करकेका रण्डक होकर आजानुबाहु (प्रदने एक कन्धी जुगलको) वस ( 'हिरण्यनाम' नामक पुत्र ) को राजा बनाकर (सर्व) वस्त्रकान्धारी हो गये अर्थात् पुत्रको राजाघार लैकर मुक्ति कामके रण्डक 'विषसह्य' अङ्गमी उप करकेके किये गये गये ॥ २६ ॥

कौसल्य इत्युत्तरकोसकानां पत्युः पतञ्जान्धममूषजस्य ।

तस्यौरसः सोमसुत सुतोऽमृन्मेवात्सवः सोम इव द्वितीया ॥ २७ ॥

कौसल्य इति । उत्तरकोसकानां पत्युः पतञ्जान्धममूषजस्य पूर्वबन्धामरजस्य सोमसुता सोम सुतवत्ताः पञ्चम इत्यर्थः । 'सोमे सुता इति क्षिप् । तस्य हिरण्यनामस्य । द्वितीयाः सोममूष इव । मेजोत्तरो नयवापन्धकरः कौसल्य इति मतिः । कौसल्योऽसौ धर्मपत्नीका सुतोऽमृत ॥ २७ ॥

उत्तर कौसल्यके राजा पूर्वजन्मभूषण तथा सोमरसका राज करेवाके अर्थात् नयःको वस 'हिरण्यनाम'का दूसरे नयःकोके समान नैजामन्त्राण्यव 'कौसल्य' नामक पुत्र हुआ ॥ २७ ॥

यथोमिरामग्रसर्म मन्त्राणां स मन्त्रमूर्धगतिमाजगम ।

प्रक्षिप्तमावाप निसेऽपिचरि मक्षिप्तमेव स्वतनुमसूतम् ॥ २८ ॥

यथोमिति । या मन्त्रमावाप आजगमसर्म मन्त्रसर्वपर्यन्तम् । अभिविवाह अवधीमावः । यथोमि मन्त्राणां मसिहः यः कौसल्योऽस्ति त्रयेण मन्त्रान्तं मक्षिप्तम्, मक्षिप्तमिति । मन्त्रकान्धमनुजस्तमविहन्मिबाहुये विष्णुतोर्षम् इति मनुष्यो मुक्त । 'वस्तुविते' इति टिकोपः । मक्षिप्तं मक्षिप्तकर्म स्वतनुमसूतं स्वात्मजतैव

निजे स्वकीयेऽधिकारे प्रजापालनकृत्य आधाय निधाय । ब्रह्मणो भावो ब्रह्मभूयं  
ब्रह्मत्व तदेव गतिस्तामाजगाम, मुक्तोऽभूदित्यर्थः । 'स्याद् ब्रह्मभूयं ब्रह्मत्वम्'  
इत्यमरः । 'भुवो भावे' वयप् ॥ २८ ॥

कीर्तियों से ब्रह्मलोक तक प्रसिद्ध वे 'कोशल्य' ब्रह्मज्ञानी 'ब्रह्मिष्ठ' नामक अपने पुत्रको  
ही अपने अधिकार ( राज्य ) पर नियुक्त कर ब्रह्मत्व गति अर्थात् मुक्तिको प्राप्त हुये ॥ २८ ॥

तस्मिन्कुलापीडनिभे विपीडं सम्यङ्महीं शासति शासनाङ्काम् ।

प्रजाश्चिरं सुप्रजसि प्रजेशे ननन्दुरानन्दजलाविलास्य ॥ २९ ॥

तस्मिन्निति । कुलापीडनिभे कुलशेखरतुल्ये । 'वैकल्यक तु तत् । यत्तिर्यक्'  
शिसुरसि शिखास्वापीडशेखरौ' इत्यमरः । सुप्रजसि सत्सन्तानवति । 'नित्यम-  
सिप्रजामेधयो इत्यसिप्रप्रत्ययः । तस्मिन्प्रजेशे प्रजेश्वरे ब्रह्मिष्ठे शासनाङ्कां शासन-  
चिह्नां महीं विपीड निर्बाध यथा तथा सम्यक्शासति । आनन्दजलाविलास्य आन-  
न्दवाष्पाकुलनेत्रा प्रजाश्चिरं ननन्दु ॥ २९ ॥

कुलशेखर तुल्य तथा श्रेष्ठ प्रजावाले उस ( ब्रह्मिष्ठ नामक ) राजाके शासन से अङ्कित  
पृथ्वीका यथायोग्य शासन करते रहने पर आनन्दाश्रुसे आकुल अर्थात् परिपूर्ण नेत्रवाली  
प्रजायें चिरकालतक आनन्दित रहीं ॥ २९ ॥

पात्रीकृतात्मा गुरुसेवनेन स्पष्टाकृतिः पत्ररथेन्द्रकेतो ।

तं पुत्रिणां पुष्करपत्रनेत्र पुत्रः समारोपयदग्रसंख्याम् ॥ ३० ॥

पात्रीकृतात्मेति । गुरुसेवनेन पित्रादिशुश्रूषया पात्रीकृतात्मा योग्यीकृतात्मा ।  
'योग्यभाजनयो पात्रम्' इत्यमरः । पत्ररथेन्द्रकेतोर्गुरुहृष्वजस्य स्पष्टाकृतिः स्पष्टवपुः,  
तत्समरूप इत्यर्थः । 'आकृति कथिता रूपे सामान्यवपुषोरपि' इति विश्वः । पुष्कर-  
पत्रनेत्रः पद्मदलाक्ष पुत्रः पुत्राख्यो राजा । यद्वा पुत्रशब्द आवर्तनीय । पुत्रः पुत्रा-  
ख्यः पुत्र सुतः । त ब्रह्मिष्ठ पुत्रिणामग्रसंख्यां समारोपयत्, अग्रगण्य चकारेत्यर्थः ॥

गुरु ( पिता-मातादि बड़ों ) की सेवासे आत्माकी सत्पात्र बनाये हुये और गरुडध्वज  
की स्पष्ट आकृति ( विष्णुतुल्य देह ) वाले तथा कमलपत्रके तुल्य नेत्रवाले 'पुत्र' नामक  
पुत्रने उस 'ब्रह्मिष्ठ' की सत्पुत्रवालोंकी प्रथम गणनामें रख दिया ॥ ३० ॥

वंशस्थितिं वंशकरेण तेन सम्भाव्य भावी स सखा मघोनः ।

उपस्पृशन्स्पर्शनिवृत्तलौल्यस्त्रिपुष्करेषु त्रिदशत्वमाप ॥ ३१ ॥

वंशस्थितिमिति । स्पृश्यन्त इति स्पर्शा विषया । तेभ्यो निवृत्तलौल्यो निवृत्त-  
नृणाः । अत एव मघोन इन्द्रस्य सखा मित्र भावी भविष्यन्, स्वर्ग जिगमिषु-  
रित्यर्थः । स ब्रह्मिष्ठो वंशकरेण वंशप्रवर्तकेन तेन पुत्रेण वंशस्थितिं कुलप्रतिष्ठां  
सम्भाव्य सम्पाद्य त्रिषु पुष्करेषु तीर्थविशेषेषु । 'दिवसख्ये सञ्ज्ञायाम्' इति समासः ।  
उपस्पृशन्स्तान् कुर्वन्निदशत्व देवमूयमाप ॥ ३१ ॥

विष्णोर्धे निरुद्ध ( नत पत्र ) इत्यर्थे भाषी गिर उत्त 'नक्षिष्ठ' रात्रौ नक्षत्रे प्रकृतं  
उत्त ( 'पुत्र' नामक पुत्र ) से नक्षत्रविधिसे सम्भावना कर विष्णुकरमें स्नान करते हुए वन  
भाष्ये प्राप्त किया ॥ ३१ ॥

तस्य प्रभामिर्जितपुष्पराग पौष्पां तिथौ पुष्पमस्तुत पत्नी ।

तस्मिन्पुष्पमनुदिते समग्रां पुष्टिं जनाः पुष्प इव द्वितीये ॥ ३२ ॥

तस्येति । तस्य पुष्पाण्यस्य पत्नी पौष्पां पुष्पमस्तुतपुष्परागं पौर्णमासी तिथौ ।

'पुष्पपुष्पा पौर्णमासी पौषी' इत्यमरः । 'नक्षत्रेण पुष्पा काका' इत्यमरः ।  
'शिव्वाङ्गम्' इत्यादिना जीप् । यमना निर्जितः पुष्परागो मणिमिसेपो वेध तं पुष्पं  
पुष्पाण्यमस्तुत । द्वितीये पुष्पं पुष्पमस्तुत इव तस्मिन्पुष्टिते सति जनाः समग्रां  
पुष्टिं बुद्धिमस्तुप्यत् ॥ ३२ ॥

उत्त ( 'पुत्र' नामक रात्रौ ) की जीने पुष्प नक्षत्रसे मुक्त ठियिमें काष्ठिते पुष्पाग  
मणिसे नीतमेव 'पुष्प' ( नामक पुत्र ) की उत्पत्ति किया । द्वितीय पुष्प नक्षत्रके समान  
जनके उत्पत्ति होनेपर लोगोंके लालुचि की ॥ ३२ ॥

महीं महेच्छः परिकीर्यं सूनी मनीषिणे जैमिनयेऽर्पितात्मा ।

तस्मात्सयोगादधिमम्य योगमश्रममेऽकुरुपत जन्ममीदः ॥ ३३ ॥

महीमिति । महेच्छो महाछयाः । 'महेच्छस्तु महाछया' इत्यमरः । जन्ममीदः  
संसारमी । स पुत्रः सूनी महीं परिकीर्यं विद्युम्ब मनीषिणे नक्षत्रिद्याविदुषे जैमिनये  
मुनयेऽर्पितात्मा मिष्यमूतः सन्निपत्यः । सयोगाद्योविषस्तस्माजैमिनेर्षीं बोधयि  
क्षामविनाशजन्ममे जन्ममिदुत्तये मोक्षमाकुरुपत समपद्यत । 'कपौ सम्पद्यमावे  
वागुर्वा वक्तव्या' मुक्त इत्यर्थः ॥ ३३ ॥

महाछय वन पुत्रः जन्मचारण करनेसे करिवाके से 'पुत्र' नामक रात्रौ (पुष्प नामक)  
पुत्रके पुष्पी देकर निदुष्ट जैमिनि मुनिसे नात्मसमर्पण कर अर्थात् जैमिनिसे द्विष्य  
वाक्कर बोली उत्त ( जैमिनि ) से योग लागकर मुक्त हो गये ॥ ३३ ॥

ततः परं तत्प्रमथ प्रपेदे ध्रुवोपमेयो ध्रुवसन्धिदयीम् ।

यस्मिन्ममूरुपापसि सरयङ्गण्ये सन्धिर्ध्रुवः सध्रमतामरीप्याम् ॥ ३४ ॥

तत इति । ततः परं स पुष्पाः प्रमथः वारुणं परथ न तत्प्रमथः, तत्प्रमथ  
इत्यर्थः । ध्रुवमीशानपादिनोपमेयः । 'ध्रुव भीशानपादिः स्यात्' । इत्यमरः । ध्रुवस  
न्धिदयीं प्रपेदे । वयापसि भेदे सपथसन्धे सरयङ्गण्ये वरिभङ्गध्रुवसन्धी सध्रमताम,  
अनुदितानामित्यर्थः । वरीणी सन्धिर्ध्रुवः स्थिरोऽयम् । ततः सार्पकवामोत्पथः ॥ ३४ ॥

उत्तके वार उत्त पुष्प के मुरगुण 'मरुतम्' नामक पुत्रने पुष्पीसे प्राप्त किया, यह  
तथा सन्धिदयी जिस 'पुष्प' नामक रात्रौमें मुक्त ॥ ( यमना करने ) हुए रात्रौकी  
रात्रौ सन्धि हुई ॥ ३४ ॥

सुते शिशावेव सुदर्शनाख्ये दर्शात्ययेन्दुप्रियदर्शने सः ।

मृगायताक्षो मृगायाविहारी सिंहादवापद्विपदं नृसिंहः ॥ ३५ ॥

सुत इति । मृगायताक्षो नृसिंह पुरुषश्रेष्ठ स ध्रुवसन्धिदर्शात्ययेन्दुप्रियदर्शने प्रतिपच्चन्द्रनिभे सुदर्शनाख्ये सुते शिशौ सत्येव मृगायाविहारी सन् सिंहाद्विपद मरणमवापत् । व्यसनासक्तिरनर्थावहेति भावः ॥ ३० ॥

मृगतुल्य विशाल नेत्रवाले तथा मनुष्यश्रेष्ठ उस 'ध्रुवसन्धि' ने अमावास्याके बाद (द्वितीया) के चन्द्रमाके समान देखनेमें प्रिय 'सुदर्शन' नामक पुत्रके बालक रहने पर ही शिकार करते हुए, सिंहासे धिपत्तिको प्राप्त किया अर्थात् वे सिंहासे मारे गये ॥ ३५ ॥

स्वर्गामिनस्तस्य तमैकमत्यादमात्यवर्गः कुलतन्तुमेकम् ।

अनाथदीना प्रकृतीरवेक्ष्य साकेतनाथं विधिवच्चकार ॥ ३६ ॥

स्वर्गामिन इति । स्वर्गामिन स्वर्गातस्य तरय ध्रुवमन्धेरमात्यवर्गः । अनाथा नाथहीना अतएव दीना । शोच्याः प्रकृती प्रजा अवेक्ष्य । कुलतन्तु कुलावलम्बनमेकमद्वितीय त सुदर्शनमैकमत्याद्विधिवत्साकेतनाथमयोध्याधीश्वर चकार ॥ ३६ ॥

स्वर्गप्राप्त उस 'ध्रुवसन्धि' के मन्त्रिसमूहने अनाथ होनेसे दुःखित प्रजाओंको देखकर कुल के आश्रय एक 'सुदर्शन' को ही एकमत (सर्वसम्मति) से विधिपूर्वक अयोध्या का राजा बनाया ॥ ३६ ॥

नवेन्दुना तन्नभसोपमेयं शवैकसिंहेन च काननेन ।

रघोः कुलं कुड्मलपुष्करेण तोयेन चाप्रौढनरेन्द्रमासीत् ॥ ३७ ॥

नवेन्दुनेति । अप्रौढनरेन्द्र तद्रघो कुल नवेन्दुना बालचन्द्रेण नभसा व्योम्ना । शवः शिशुरेक सिंहो यस्मिन् । 'पृथुक शवक शिशु' इत्यमर । तेन काननेन च । कुड्मल कुड्मलावस्थ पुष्कर पङ्कज यस्मिन्तेन तोयेन उपमेयमुपमातुमर्हमासीत् । नवेन्द्रायुपमानेन तस्य वर्धिष्णुताशौर्यध्रीमश्वानि सूचितानि ॥ ३७ ॥

अप्रौढ ( बालक ) राजावाला वह रघुकुल नये चन्द्रवाले आकाशके, बालक एकसिंहवाले वनके और अविकसित कमलवाले पानी ( तालाब ) के समान हुआ ॥ ३७ ॥

लोकेन भावी पितुरेव तुल्यः सम्भावितो मौलिपरिग्रहात्सः ।

दृष्टो हि वृष्वङ्गकलभप्रमाणोऽप्याशाः पुरोवातमवाप्य मेघ ॥ ३८ ॥

लोकेनेति । स वालो मौलिपरिग्रहात्किरीटस्वीकाराद्धेतोः पितुस्तुल्यः पितृस्वरूप एव भावी भविष्यति लोकेन जनेन सम्भावितस्तर्कित । तथा हि, कलभप्रमाणः कलभमात्रोऽपि मेव पुरोधातमवाप्याशा दिशो वृष्वङ्गच्छन्दष्टो हि ॥ ३८ ॥

लोगोंने उस ( बालक राजा ) को मुकुट धारण करने ( राजा बनने ) से पिताके ही तुल्य होनेवाला समझा, क्योंकि हाथीके प्रमाणवाले ( अत्यन्त थोड़े ) भी मेघको पूर्ववायु ( पुरवैया दवा ) के साथमे दिशाओंको घेरते हुए देखा गया है ॥ ३८ ॥

॥ विषयोऽसि विस्तरह ( अतएव ) एतन्मै मासी मित्र तस 'मृष्टिह' राजाने बंधके प्रसक्तं बंध ( 'पुत्र' नामक पुत्र ) से बंधविधितको सम्भावना कर विपुलकारमें स्थाप करते हुए अत्र मास्को प्राप्त किया ॥ ३१ ॥

तस्य प्रमानिर्जितपुष्परागं पीप्यां तिथौ पुष्पमसूत पत्नी ।

तस्मिन्पुष्पमनुविते समग्रां पुष्टिं तन्मा पुष्प इव द्वितीये ॥ ३२ ॥

तस्यैति । तस्य पुष्परागस्य पत्नी पीप्यां पुष्पमसूतपुष्परागं पीप्यामासी तिथौ । 'पुष्पपुष्प पीप्यामासी पीपी' इत्यमरा । 'बन्धनेन पुष्प कण्ठ' इत्यमरपर । 'द्विद्विप्यम्' इत्यादिना कीप् । प्रमथा निर्जितः पुष्परागो मन्निविसेये येन तं पुष्प पुष्पमसूतम् । द्वितीये पुष्पे पुष्पमसूत इव तस्मिन्पुष्टिते सति तन्मा समग्रां पुष्टिं वृद्धिपुष्पम् ॥ ३२ ॥

इत ('पुत्र' नामक राजा ) की जीवने पुष्प कण्ठसे पुष्प द्वितीयं कान्तिसे पुष्पराग मन्निविसेये 'पुष्प ( नामक पुत्र ) की उत्पत्ति किया । द्वितीय पुष्प कण्ठके समान कान्ति उत्पत्ति होवेपर कोयले अनुवति को ॥ ३२ ॥

महौ महेच्छम परिकीर्य सुग्री मनीषिणे क्षेमिनयेऽर्पितारमा ।

तत्समात्सयोमावधिगम्य योगमज्जम्भनेऽकल्पत ज्जम्भमीका ॥ ३३ ॥

महौमिति । महेच्छो महाशयः । 'महेच्छस्तु महाशयः' इत्यमरा । ज्जम्भमीका संसारमीका ॥ पुत्रः सुग्री महौ परिकीर्य विदुष्य मनीषिणे ब्रह्मविद्याविदुषे क्षेमिनये सुवयेऽर्पितारमा क्षिप्यन्ता सन्निधयः । सयोगाद्योगिनस्तरमात्रैर्मिनेपौर्ण योगविद्यामधिगम्याज्जम्भने ज्जम्भनिदुष्ये मोक्षवात्कल्पत समपद्यत । 'कुरौ सम्पद्यमाने वत्सुर्धौ वत्स्यता सुख इत्यका ॥ ३३ ॥

महाशय रथ पुनः जगमवारण करदेस करनैराके ॥ 'पुत्र' नामक राजा ( पुष्प नामक ) पुत्रको अपनी रैकर विद्वान् क्षेमिनि सुनिष्के ब्रह्मसमर्पण कर अर्थात् विद्वानका क्षिप्य वत्सकर योगी तस ( क्षेमिनि ) से योग स्वीकृत सुख हो गये ॥ ३३ ॥

ततः परं तत्प्रमथं प्रयेदे ध्रुवोपमेयो ध्रुवसन्धिर्ध्वाम् ।

पस्मिन्मभूजग्यायसि सत्यसन्धे सन्धिर्ध्रुवा सन्धमतामरीषाम् ॥ ३४ ॥

तत इति । ततः परं स पुष्पः प्रमथः क्यरकं परप ॥ तत्प्रमथः तद्प्रमथ इत्यर्थः । ध्रुवमीतानपादिनोपमेया । 'ध्रुव बीतानपादि स्यात्' । इत्यमरा । ध्रुवसन्धिर्ध्वाम् प्रयेदे । स्यावसि भेदे सत्यसन्धे सत्यमतिज्ञे वरिमन्मभूजसन्धी सन्धमताम्, अनुवृत्तावामित्यर्थः । अरीणां सन्धिर्ध्रुवा शिराऽम्भूत् । ततः सार्धकवामोत्तरार्धः ॥ ३४ ॥

इसके बाद तस 'पुष्प' के पुत्रपुष्प 'सुवसनि' नामक पुत्रने पुष्पीको प्राप्त किया, अतः तत्प्रमथीक तस 'पुष्प' नामक राजामें सुवसि ( प्रमथ करते ) हुए राजाको

मणौ महानील इति प्रभावादल्पप्रमाणेऽपि यथा न मिथ्या ।

शब्दो महाराज इति प्रतीतस्तथैव तस्मिन्युयुजेऽर्भकेऽपि ॥ ४२ ॥

मणाविति । अल्पप्रमाणेऽपि मणाविन्दनीले प्रभावात्तेजिष्वाद्देतोर्महानील इति शब्दो यथा मिथ्या निरर्थको न, तथैवार्भके शिक्षावपि तस्मिन्सुदर्शने प्रतीत-  
प्रसिद्धो महाराज इति शब्दो न मिथ्या युयुजे ॥ ४२ ॥

छोटे आकारवाले भी ( नीलम ) मणिमें तेज ( पानी ) होनेसे 'महानील' यह नाम  
जिम प्रकार अशक्य नहीं है, 'उसी प्रकार बालक भी उस 'सुदर्शन'में प्रसिद्ध 'महाराज'  
शब्द भी अशक्य नहीं हुआ ॥ ४२ ॥

पर्यन्तसञ्चारितचामरस्य कपोललोलोभयकाकपक्षात् ।

तस्याननादुच्चरितो विवादश्चस्खाल वेलास्वपि नार्णवानाम् ॥ ४३ ॥

पर्यन्तेति । पर्यन्तयो. पार्श्वयो. सञ्चारिते चामरे यस्य तस्य बालस्य सम्ब-  
न्धिन. कपोलयोर्लोलाबुभौ काकपक्षौ यस्य तस्मादाननादुच्चरितो विवादो वाचनम-  
र्णवाना वेलास्वपि न चस्खाल, शिशोरपि तस्याज्ञाभङ्गो नासीदित्यर्थः । चपलसस-  
र्गोऽपि महान्तो न चलन्तीति ध्वनिः । उभयकाकपक्षादित्यत्र 'वृत्तिविषये उभयपुत्र  
इति वदुमशब्दस्थाने उभयशब्दप्रयोगः' इत्युक्तं प्राक् ॥ ४३ ॥

दोनों पार्श्वोंमें चलाये जाते हुए चामरवाले उस ( 'सुदर्शन' नामक नृपति ) के  
कपोलद्वयमें हिलते हुए काकपक्षवाले मुखसे निकली हुई आशा समुद्रोंके तटोंमें अर्थात्  
समुद्रतट तक भग्न नहीं हुई ॥ ४३ ॥

निर्वृत्तजाम्वूनदपट्टशोभे न्यस्तं ललाटे तिलकं दधानः ।

तेनैव शून्यान्यरिसुन्दरीणां मुखानि स स्मेरमुखश्चकार ॥ ४४ ॥

निर्वृत्तेति । निर्वृत्ता जाम्वूनदपट्टशोभा यस्य तस्मिन्कृतकनकपट्टशोभे ललाटे  
न्यस्त तिलक दधान स्मेरमुख स्मितमुख स राजाऽरिसुन्दरीणा मुखानि तेनैव  
तिलकेनैव शून्यान्यरि चकार । अखिलमपि शत्रुवर्गमवधीदिति भावः ॥ ४४ ॥

स्वर्णनिर्मित पट्टसे शोभित ललाटमें लगाये गये तिलकको धारण करते हुए स्मितयुक्त  
मुखवाले, उस 'सुदर्शन' ने शत्रु-स्त्रियोंके मुखोंको उसीसे अर्थात् तिलकसे ही शून्य कर  
दिया । ( 'सुदर्शन' ने समस्त शत्रुओंको मारकर उनकी विधवा स्त्रियोंके ललाटको  
तिलक-शून्य कर दिया ) ॥ ४४ ॥

शिरीषपुष्पाधिकसौकुमार्यः खेदं स यायादपि भूषणेन ।

नितान्तगुर्वीमपि सोऽनुभावाद् धुरं धरिष्या विभराम्भूष ॥ ४५ ॥

शिरीषेति । शिरषपुष्पाधिकसौकुमार्यः, कोमलाङ्ग इत्यर्थः । अत एव स  
राजा भूषणेनापि खेदं भ्रम यायाद्गच्छेत् । एवम्भूत स नितान्तगुर्वीमपि धरिष्या

त एवभीष्यामपिहस्ति यास्तमाधोरण्याभ्यस्तमप्रत्येष्टम् ।

पञ्चपदेष्टीयमपि प्रमुखात्प्रीकृत पीताः पितृगौरवेण ॥ ३९ ॥

तमिति । राजकीय्यां राजमार्गेऽपि हस्ति हस्तिभिः । विभक्त्यर्थेऽप्यपीमात् ।  
यान्तं गच्छन्तम्, हस्तिगमाच्छ गच्छन्तमित्यर्थः । आचोरनाक्रमितं शिष्टावासा-  
दिना गृहीतमन्वये समुद्धारयेप्यर्थं पक्ष्वाभि भूताः पक्ष्वाः । 'तद्विद्यार्थः' इत्या-  
दिना समासाः । 'तमपीशो बृहो भूतो माधी' इत्यधिकारे 'विद्ययाति नित्यम्' इति  
तद्विद्यस्व श्रुत्वा । ईयत्समासाः पक्ष्वाः पक्ष्वादेशीयः । 'ईयत्समासाः- इत्यधिकारे  
देशीयश्च पक्ष्वाः । तं पक्ष्वादेशीयमपि वाक्यमपि तं पक्ष्वादेशीयं पीरत् प्रमुखाप्रतिपक्षीरत्वेन  
प्रेषन्त । पितरं वाट्पीरत् तादृशेनैव पक्ष्वादेशीयः ॥ ३९ ॥ ।

राजमन्त्रि हाजीर सवार होकर काठे हुप. (बालक होनेके कारण) हाजीरानसे प्रार्थना किये (सम्हाले) गये और धूपपत्राके और चार-चर्खों नजरानावाले की वस्त्र (सुदार्शन नामक बालक राजा) को राजा होनेसे नागरिकोंसे पिताके समान गौरवसे देखा । (बालक होनेपर भी राजा होनेसे वस्त्र सुदार्शन को नजरपट्टियोंसे पिताके समान कृप्य माया) ॥ ११ ॥

कर्म न सोऽकस्यत पैतृकस्य सिद्धान्तस्य प्रतिपूरणाय ।

तेजोमहिम्ना पुनरावृत्तात्मा तन्माप यामीकरयिहरेण ॥ ५० ॥

काममिति । स सुदर्शना पैतृकरच सिंहासकस्य कर्मसम्यक् प्रतिपूरणात् बाक्य-  
हृत्य बाक्याह्वयार्थं न पर्याप्त इत्यर्थः । कामकिरपिजरेण कनकमौलिं तेजोम-  
हिना पुनस्तैजसमपहा त्याहुतात्मा निस्तारितवैद्यः अस्तस्तिहासर्ग व्याप व्याप-  
बाह् ॥ ४ ॥

३ ( 'सुदर्शन' वाक्य होनेके कारण ) पिताके सिंहासनकी पूर्ण करनेके लिये मने ही नहीं समर्थ हुए; किन्तु स्वर्णके समान गौर रंगकी लक्ष्मिकासी विस्तृत रेश्माके बन्धोने वर ( सिंहासन ) की श्लाघा ( परिपूर्ण ) कर दिया ॥ ४ ॥

तस्माद्यः विविदिषावतीर्णवसंस्पृहन्तौ तपनीयपीठम् ।

साहचर्यो मृपतयः प्रसिद्धैर्बन्धिरे भीतिमिरस्य पादौ ॥ ४१ ॥

[illegible]

उस सिद्धांतमते कोड़ा-सा बीबेरों और कछुओं हुए तथा (छोटे हीमेसे) लीमेके पारपीटको लपटें नहीं करते हुए बस (‘सुदृढीय नामक नावक राव’) के अकल्पक लमे होलो बरबोचो दाकाओसे (‘पार लपटें करकेके किसे’) कुछ कवर कछुसे हुए मरगछोंसे प्रभाव किया ॥ ४२ ॥

न केवलं गच्छति तस्य काले ययुः शरीरावयवो विवृद्धिम् ।  
वंश्या गुणाः खल्वपि लोककान्ताः प्रारम्भसूक्ष्माः प्रथिमानमापुः ॥  
नेति । काले गच्छति सति तस्य केवलं शरीरावयवो एव विवृद्धिं प्रसारं न  
ययुः । किन्तु वंशे भवा वश्या लोककान्ता जनप्रियाः प्रारम्भे आदौ सूक्ष्मास्तस्य  
गुणा शौर्यौदार्यादयोऽपि प्रथिमानं पृथुत्वमापुः खलु ॥ ४९ ॥

समयके व्यतीत होते रहनेपर उस 'सुदर्शन' के केवल शरीरके अवयव ही नहीं दृष्ट-  
पुष्ट हुए, किन्तु वंशज, लोक रमणीय और आरम्भमें सूक्ष्म गुण भी पुष्टता (वृद्धि) को  
प्राप्त हुआ ॥ ४९ ॥

स पूर्वजन्मान्तरदृष्टपाराः स्मरन्निवाल्केशकरो गुरुणाम् ।

तिस्रस्त्रिवर्गाधिगमस्य मूलं जग्राह विद्याः प्रकृतीश्च पित्र्याः ॥ ५० ॥

स इति । स सुदर्शनः पूर्वस्मिन् जन्मान्तरे जन्मविशेषे दृष्टपारा स्मरन्निव गुरुणा  
मवलेशकरः सन् । त्रयाणां धर्मार्थकामाना वर्गस्त्रिवर्गः तस्याधिगमस्य प्राप्तेर्मूल-  
विद्यो विद्यास्त्रयीवार्त्तादण्डनीती पित्र्या पितृसम्बन्धिनीः प्रकृती प्रजाश्च जग्राह  
स्वायत्तीचकार । अत्र कौटिल्य- 'धर्माधर्मौ त्रय्याभिर्यानीयौ वार्त्ताया नयानयो  
दण्डनीत्याम्' इति । अत्र दण्डनीतिर्नयद्वारा काममूलमिति द्रष्टव्यम् । आन्वी-  
क्षिका अनुपादान् त्रयन्तर्भावपक्षमाश्रित्य । यथाऽऽह कामन्दकः- 'त्रयी वार्त्ता  
दण्डनीतिस्त्रिस्तो विद्या मनोर्मता । त्रय्या एव विभागोऽयं येन सान्वीक्षिकी  
मता ॥' इति ॥ ५० ॥

पहले जन्मान्तरमें अन्ततक देखी गयी (विद्याओंको) स्मरण करते हुएके समान,  
गुरुओंके सुखकारक उन 'सुदर्शन'ने पिता 'ध्रुवसन्धि' की तीनों विद्याओं (आन्वीक्षिकी,  
त्रयी और वार्त्ता) को तथा प्रकृतियों (मन्त्री, सेना आदि) को वशीभूत कर लिया ॥

व्यूह स्थित किञ्चिदिवोत्तरार्धमुन्नद्धचूडोऽञ्चितसव्यजानुः ।

आकर्णमाकृष्टसचाणधन्वा व्यरोचतास्त्रेषु विनीयमानः ॥ ५१ ॥

व्यूहोति अस्त्रेषु धनुर्विद्याया विनीयमानः शिक्षमाणोऽत एवोत्तरार्धं पूर्वकार्यं  
किञ्चिदिव व्यूहं विस्तीर्य स्थितः । उन्नद्धचूड ऊर्ध्वमुखकृण्व वदकेशः । अञ्चितमाहु-  
ञ्चित सव्य जानु यस्य स आकर्णमाकृष्ट सचाण धनुर्धन्वा येन स तथोक्तः सन् व्य-  
रोचताशोभत ॥ ५१ ॥

अल- (धनुष) विद्या सीखते हुए, पूर्वाद्ध (नाभिसे ऊपरका भाग) शरीरको विस्तीर्ण  
करके स्थित, ऊपर उठाकर बाँधे गये चूड़ावाले, शोभमान मग्न्य घुटनेवाले और काननक  
खींचे हुए बाण सहित धनुषवाले (वे 'सुदर्शन') राजा शोभित हुए ॥ ५१ ॥

अथ मधु वनितानां नेत्रनिर्वेशनीयं

मनसिजतरुपुष्पं रागवन्धप्रवालम् ।



पुरं मुचो भारममुभावत्सामभ्यादिभिराम्बभूव बभार । 'ग्रीहीमुखी रघुवर्ष' इति  
विश्वपादामृतयया ॥ ४५ ॥

सिरीसके पुष्पे भी अधिक शुकुमार के उपर्यन्त मुखी भी चित्र होते थे, ( ४८ )  
क्योंकि अत्यन्त भारी हथौड़े भारको मठापसे चारम किया ॥ ४५ ॥

न्यस्ताक्षरामक्षरमूमिकायां क्वरस्त्व्येन पृष्ठाति किपि न यायत् ।

सर्वाणि तावच्छ्रुतद्वययोगात्फलाभ्युपायुक्तं स वृष्टतीतेः ॥ ४६ ॥

न्यस्ताक्षरामिति । अक्षरमूमिकायामक्षरकेकक्षरको न्यस्ताक्षरां रचिताक्षरपट्टिरे  
कल्प्यायां किपि पञ्चाक्षरार्जमिमिको मायुकां क्वरस्त्व्येन तावत् पृष्ठाति स मुखर्षवस्ता  
वच्छ्रुतद्वययोगादिप्राद्वर्षसंसर्गात्सर्वाणि वृष्टतीतेर्द्वयसाम्यस्य कल्पानुपायुक्तम्  
भूत् । प्रत्येक वक्ष्यकस्य तस्य पञ्चाक्षरस्यमात्रं यावत् संवाचार्थमिवानवहित्वर्थः ॥

पट्टीपर किसी पद के वर्णमात्रको पूर्णतया कपनक ( कोर ) नहीं ग्रहण कर पाता है  
तबतक वे 'सुरक्षित' विषयवस्तुके छावने रक्षणीतिके कर्मका उपयोग करने लगे । ( पूर्ण  
कल्पान्वित कर्मके द्वारा पृष्ठपे हो निवृत्त पञ्चाक्षर 'सुरक्षित' का 'सावाच्य' मानो किम  
नके किने हुआ ) ॥ ४६ ॥

उरस्यपर्वातनियेषामागा ग्रीहीमविष्यन्तमुर्ध्वसमाप्ता ।

सञ्जातलज्जेव तमातपत्रच्छापाच्छसेनोपहृगूह कक्ष्मीः ॥ ४७ ॥

उरसीति । उरस्यपर्वातो निवेशमातो विचासावकासो पर्याप्तः सा अत एव  
ग्रीहीमविष्यन्तं वविष्यमाकमुर्ध्वसमाप्ता ग्रीहवपुष्मात्मविष्यतीति प्रतीचमात्रां  
कक्ष्मीः सञ्जातलज्जेव साक्षादकिङ्किर्तुं कक्षितेव तं मुखर्षवमातपत्रच्छापाच्छसेनो  
पहृगूहकिङ्किः । अत्रच्छापा कक्ष्मीरूपेति प्रसिद्धिः । ग्रीहवपुष्मात्माः ग्रीहपुष्पाकमे  
कक्षा भवतीति ध्वनिः ॥ ४७ ॥

'सुरक्षित' की जातीपर अपूर्ण कियात करने योग्य स्थावराणी" मविष्यमे ग्रीह होते  
हुए ( वन ) की रक्षता पूर्ण कक्ष्मीके कक्षित सी होती हुई वन सुरक्षित' की वनको क्षापा  
के बहानेसे बाकिनन किया ॥ ४७ ॥

अनश्नुत्तानेन युगोपमानमवयवमौर्ध्वीकिप्यक्षाम्छनेन ।

अरपृष्ठकङ्कगस्तरुणाऽपि आसीन्नसावती तस्य मुञ्जेन भूमिः ॥ ४८ ॥

अक्षरपुत्रायेति । युगोपमानं युगसादृश्यमवयवमात्रेणामाप्नुवता । अक्षरं ग्रीर्ध्व-  
मिनां ज्वालातप्रमिदरेव कल्पार्जं यस्य तेष । अरपृष्ठः प्रवृत्तासुः प्रवृत्तामुर्ध्वेन  
तेव । तस्य अक्षपादिग्रीही स्थाप्य इतिमहाः । पूर्वविशेषाणि च तस्य मुखर्षवस्य  
मुञ्जेन भूमि रक्षावत्वासीत् । शिखोरपि तस्य तेजस्तादृशित्वार्थः ॥ ४८ ॥

मुखी समानताकी कपाक, लम्बाकी विह ( मरटे, पहा ) से उद्विग्न की, तबबारकी  
पृष्ठकी बरी लक्ष्य किने हुए भी वह सुरक्षितकी बावसे कक्षी उपविन भी ॥ ४८ ॥

न केवलं गच्छति तस्य काले ययु शरीरावयवा विवृद्धिम् ।

वंश्या गुणाः खल्वपि लोककान्ताः प्रारम्भसूक्ष्माः प्रथिमानमापुः ॥

नेति । काले गच्छति सति तस्य केवलं शरीरावयवा एव विवृद्धि प्रसारं न ययुः । किन्तु वशे भवा वश्या लोककान्ता जनप्रिया प्रारम्भे आदौ सूक्ष्मास्तस्य गुणा शौर्यौदार्यादयोऽपि प्रथिमानं पृथुत्वमापुः खलु ॥ ४९ ॥

समयके व्यतीत होते रहनेपर उस 'सुदर्शन' के केवल शरीरके अवयव ही नहीं दृष्ट-पुष्ट हुए, किन्तु वशज, लोक रमणीय और आरम्भमें सूक्ष्म गुण भी पुष्टा (वृद्धि) को प्राप्त हुआ ॥-४९ ॥

स पूर्वजन्मान्तरदृष्टपाराः स्मरन्निवाल्केशकरो गुरुणाम् ।

तिस्रस्त्रिवर्गाधिगमस्य मूलं जग्राह विद्याः प्रकृतीश्च पित्र्याः ॥५०॥

स इति । स सुदर्शनः पूर्वजन्मान्तरे जन्मविशेषे दृष्टपारा स्मरन्निव गुरुणा मन्त्रलेशकर सन् । त्रयाणां धर्मार्थकामानां वर्गस्त्रिवर्गः तस्याधिगमस्य प्राप्तेर्मूल-तिस्रो विद्यास्त्रयीवार्त्तादण्डनीती-पित्र्याः पितृसम्बन्धिनी-प्रकृती-प्रजाश्च जग्राह स्वायत्तीचकार । अत्र कौटिल्य - 'धर्माधर्मौ त्रय्यामुर्थानर्थौ वार्त्ताया नयानर्थौ दण्डनीत्याम्' इति । अत्र दण्डनीतिर्नयद्वारा काममूलमिति द्रष्टव्यम् । आन्वीक्षिक्या अनुपादान त्रयन्तर्भावपक्षमाश्रित्य । यथाऽऽह कामन्दकः- 'त्रयी वार्त्ता दण्डनीतिस्तिस्त्रो विद्या मनोर्मता । त्रय्या एव विभागोऽयं येन सान्वीक्षिकी मता ॥' इति ॥ ५० ॥

पहले जन्मान्तरमें अन्ततक देखी गयी (विद्याओंको) स्मरण करते हुएके समान, गुरुओंके सुखकारक उन 'सुदर्शन ने पिता 'ध्रुवसन्धि' की तीनों विद्याओं (आन्वीक्षिकी, त्रयी और वार्त्ता) को तथा प्रकृतियों (मन्त्री, सेना आदि) को वशीभूत कर लिया ॥

व्यूह स्थितः किञ्चिदिवोत्तरार्धमुन्नद्धचूडोऽञ्चितसव्यजानुः ।

आकर्णमाकृष्टसचाणधन्वा व्यरोचतास्त्रेषु विनीयमानः ॥५१॥

व्यूहोति अस्त्रेषु धनुर्विद्यायां विनीयमान शिष्यमाणोऽत एवोत्तरार्ध पूर्वकार्यं किञ्चिदिव व्यूह विस्तीर्य स्थित । उन्नद्धचूड ऊर्ध्वमुखकृप्य वद्वकेशः । अञ्चितमाकुञ्चित सव्य जानु यस्य स आकर्णमाकृष्ट सचाण धनुर्धन्वा येन स तथोक्त सन् व्यरोचताशोभत ॥ ५१ ॥

अस्त्र-(धनुष) विद्या सीखते हुए, पूर्वाङ्ग (नाभिसे ऊपरका भाग) शरीरको विस्तीर्ण करके स्थित, ऊपर उठाकर बाँधे गये चूड़ावाले, शोभमान सव्य घुटनेवाले और कानतक खींचे हुए बाण सहित धनुषवाले (वे 'सुदर्शन') राजा शोभित हुए ॥ ५१ ॥

अथ मधु वनितानां नेत्रनिर्वेशनीयं

मनसिजतरुपुष्पं रागयन्वप्रवालम् ।

१ - अङ्कतकविधि सर्वाङ्गीणमाकल्पजातं -

विहसितपद्मार्थं यौवनं स प्रपेदे ॥ ५२ ॥

अथेति । अथ स सुदर्शनो वनितायां मैत्रैर्निर्दिष्टयौवं भोग्यम् वैप्रपेदमित्यर्थः ।  
 'निर्दिष्टो वृत्तिमोगयोः' इत्यमरः । मनु यौवय । रागावन्धोऽनुरागसंज्ञाया एव  
 प्रवाह्यः पञ्चमो यस्य तत् । मयसिद्ध एव तद्वत्तस्य पुष्पं पुष्पभूतम् । अङ्कतकवि-  
 कृत्रिमसम्पादनम् । सर्वाङ्गी व्याप्नोतीति सर्वाङ्गीयम् । 'तत्सर्वाङ्गी' पञ्चकर्मपञ्च-  
 पात्रं व्याप्नोति' इत्यनेन ज्ञाप्यम् । आकल्पजातमाधरमसमूहभूतम् । आर्तं  
 विहसितपद्मं विहासस्थानं यौवनं प्रपेदे । विहसिदमनुपुष्पाकल्पजातदिव्यसङ्घर्ष-  
 यौवनस्य अनुवाकरवत्तस्यिषोपलमाकाकपकमेतत् ॥ ५२ ॥

एतदेव तद्वत् 'सुर्यं न किञ्चिदेवैवोति भीम अर्थात् किञ्चिदेवैवोति प्रकल्प-  
 यमौव-वृद्धौ पुष्पकम् अनुपाग-समूहके नवरत्न-रजः स्वाभाविक, समस्त स्त्रीर्यं  
 व्याप्तं पूरकतद्वत्कर विहासके प्रथम ( मुष्प ) त्याग मुवावस्थायां प्राप्त विहा ॥ ५२ ॥

प्रतिहृतिरचनारम्भो वृत्तिसम्बन्धिताम्ब्य

समधिकतरकपाः शुद्धसन्तानकामैः ।

अधिविधिवुरमात्यैराहतास्तस्य पून

प्रथमपरिपुहीते भीमुषी राजकन्या ॥ ५३ ॥

प्रतिहृतिरचनारम्भ इति । वृत्तिभिः कन्यापरीक्षार्थं प्रेरिताभिः सम्बन्धिताम्ब्यो  
 वृत्तिसम्बन्धिताम्ब्यः प्रतिहृतीनां वृत्तिविविधितकल्पप्रतिमानां रचनारम्भो दिव्या  
 योग्याः । 'पञ्चमी विमले' इति पञ्चमी । समधिकतरकपः । विधिविर्माणादपि रज-  
 नीयनिर्माणा इत्यर्थः । शुद्ध सन्तानकामैराहता आनीता राजकन्या वृद्ध-  
 रतस्य सुदर्शनस्य सम्बन्धिन्यौ प्रथमपरिपुहीते भीमुषी भीम पून से अधिविधि-  
 वुरधिविधौ चक्रुः । आगमना सप्तमीभावे चक्रुरित्यर्थः । 'ह्युत्सापविकाशवृद्धा-  
 धिविधा' इत्यमरः ॥ ५३ ॥

इति सप्तमिणीम्बान्धवायां वंशानुकम्पो नामाष्टादशः सर्गः ॥ १४ ॥



वृत्तिषो द्वारा दिव्याये गदे विधौति यो लम्बरी ओट शुद्ध सन्तानयो पारपेदा  
 मिवोति नाथो गयी राजकन्याओये ( 'सुर्यं' के द्वारा ) एवमेव स्त्रीहृत्त यो गयी  
 मरुतो तथा वृद्धो लम्बरी वनाया अर्थात् वृद्धे ही नीयति तथा वृद्धोपनि वृद्ध 'सुर्यं'  
 वा वनि वनाया ॥ ५३ ॥

एत 'अधिविधा' दीवार्थे 'वंशानुकम्प' नामक अष्टादश सर्ग समाप्त हुआ ॥ १४ ॥

## एकोनविंशः सर्गः

अग्निवर्णमभिषिच्य राघवः स्वे पदे तनयमग्नितेजसम् ।

शिश्निये श्रुतवतामपश्चिमः पश्चिमे वयसि नैमिषं वशी ॥ १ ॥

मनसो मम ससारबन्धमुच्छेत्तुमिच्छत' ।

रामचन्द्रपदाम्भोजयुगलं निगढायताम् ॥

अग्निवर्णमिति । श्रुतवतां श्रुतसम्पन्नानामपश्चिम' प्रथमो वशी जितेन्द्रियो राघवः सुदर्शनः पश्चिमे वयसि चार्द्धके स्वे पदे स्थानेऽग्नितेजस तनयमग्निवर्णमभिषिच्य नैमिष नैमिषारण्य शिश्निये श्रितवान् ॥ १ ॥

ससार-बन्धोच्छेदके इच्छुक हमारे स्वान्तका ।

निविडसम हो पाद-पङ्कजयुगल सीताकान्तका ॥

विद्वानोंमें प्रधान एव जितेन्द्रिय रघु-कुलोत्पन्न 'सुदर्शन' अन्तिम अवस्था ( बुढापा ) में अग्निके समान तेजस्वी 'अग्निवर्ण' नामक पुत्रको अपने स्थानपर अभिषिक्त कर नैमिषारण्यको चले गये ॥ १ ॥

तत्र तीर्थसलिलेन दीर्घिकास्तल्पमन्तरितभूमिभिः कुशैः ।

सौधवासमुदजेन विस्मृतः सञ्चिकाय फलनिःस्पृहस्तपः ॥ २ ॥

तत्रेति । तत्र नैमिषे तीर्थसलिलेन दीर्घिका विहारवापीरन्तरितभूमिभिः कुशैः स्तल्प शय्यामुदजेन पर्णशालया सौधवास जलमन्दिरं विस्मृतो विस्मृतवान्स । फर्तारि क. । फले स्वर्गादिफले नि स्पृहस्तपः सञ्चिकाय सञ्चितवान् ॥ २ ॥

वहाँपर तीर्थ जलसे ( विहारकी ) बावलियोंबो, भूमि पर बिछाये गये कुशोंसे पलङ्गको, पर्णशालासे महलको भूले हुए ( अतएव ) फल प्राप्तिकी चाह नहीं करनेवाले वे 'सुदर्शन' तपका सञ्चय करने लगे ॥ २ ॥

लब्धपालनविधौ न तत्सुतः खेदमाप गुरुणा हि मेदिनी ।

भोक्तुमेव भुजनिर्जितद्विषा न प्रसाधयितुमस्य कल्पिता ॥ ३ ॥

लब्धपालनविधाविति । तत्सुत सुदर्शनपुत्रोऽग्निवर्णो लब्धस्य राज्यस्य पालनकर्मणि खेद नाप, अवलेशेनापालयदित्यर्थ । कुत । हि यस्माद् भुजनिर्जितद्विषा गुरुणा पित्रा मेदिन्यस्याग्निवर्णस्य भोक्तुमेव कल्पिता । प्रसाधयितु न । प्रसाधन कण्टकशोधनम् । अलङ्कृतिर्ध्वन्यते । तथा च यथाऽलङ्कृता युषति. केवलमुप-भुज्यते तद्वदिति भावः ॥ ३ ॥

उस 'सुदर्शन' के पुत्र ( अग्निवर्ण ) मिले हुए राज्य-पालनमें खिन्न नहीं हुए अर्थात् सरलतासे पृथ्वीपालन किया क्योंकि बाहु ( -बल ) से शत्रुओंको पराजित किये हुए पिता ( सुदर्शन ) ने इस ( अग्निवर्ण ) के भोगनेके लिये ही पृथ्वीको दिया था, कण्टकशोधन

( कर्मकृतस्य धनुर्भोज्ये मारुतं धोय कर्त्ते ) के लिये नहीं दिया था वनांत तरुणों में  
पड़े ही सब धनुर्भोज्ये मारुतं धोय कर्त्ते निष्कण्ठक बनाकर 'अग्निवर्ष' को  
रखा बनाया था, नतएव इस 'अग्निवर्ष' को अहारिणों को के समान दृष्टीका धोय कर  
करमा था ॥ १ ॥

सोऽधिकारममिका कुलोचितं काश्यप स्वयमवर्तयत्समाः ।

समिवेद्य सचिबेप्यतःपरं स्त्रीविधेयनवधौयमोऽमघत् ॥ ४ ॥

स इति । अमिका कामुकः । अनुकामिकामीकाकमिता इति निपाता । 'काम'  
कामयितामीका कर्मका कामनोऽमिका इत्यमरा । सोऽमिकर्णो कुलोचितमकि-  
कारं प्रजापाकर्म काश्यप समा कतिविहृततरास्वयमवर्तयत्करोत् । अतः स  
सचिबेऽपि समिवेद्य मिथाय स्त्रीविधेयं स्यात्तीर्णं नर्त यौवर्तं यस्य साऽमघत्  
इत्यासक्तोऽमृदित्यर्थः ॥ ४ ॥

कामी इत 'अग्निवर्ष' के कुछ वहीनक कुलोचित अविद्या ( प्रजापाक कर्म ) को  
स्वयं दिया इनके बाद पुत्रावस्थाका वह कार्य अग्निवर्षों को हीस्वर विदोंके वहीन  
( विदोंमें आसक्त ) हो गया ॥ ४ ॥

कामिनीसहचरस्य कामिनस्तस्य पेशमसु सुवह्मणादिषु ।

ऋद्धिमन्तमपिर्द्धिदत्तरः पूयमुत्सवमपोहद्वज्रहृत् ॥ ५ ॥

कामिनीसहचरस्येति । कामिनीसहचरस्य कामिनस्तस्य सुवह्मणादिषु सुवह्मणा-  
दिषु वरमस्वविकर्त्ता पूयमादयिकसम्भार उत्तर दत्तवान् । ऋद्धिमन्तं सावयव  
स्वयं पूर्वमुत्सवमपोहद्वज्रहृत् । उत्तरमुत्तरमपिर्द्धिदत्तस्योत्सवपरागता वृत्तेवर्त्तः ॥

कामिनीपुत्र इव अग्निकर्त्ता के वृद्ध वज्रों हुए मर्त्योंमें पूर्वकी अवेद्या नई तरुति-  
हुक असर्वोके परकेके उत्सवको दवा दिया । ( उत्तरोत्तर अविद्ध उत्तर 'अग्निवर्ष' के  
वर्षोंमें होता रहा ) ॥ ५ ॥

इन्द्रिवार्षपरिशुष्यमक्षमा सोढुमेकमपि स क्षप्यान्तरम् ।

अन्तरंय विहरन्विद्यानिर्द्या न व्यपीक्षत समुत्सुकाः प्रजाः ॥ ६ ॥

इन्द्रिवार्षपरिशुष्यमिति । इन्द्रिवार्षपरिशुष्यं शम्भुादिविचरदितमेकमपि  
चक्षुर्दत्तं चक्षुर्दत्तं सोढुमक्षमोऽस्तत्तत् सोऽमिन्वर्षों दिया न बिना न दितविद्यमन्त-  
रेव विहरन्मनुषुका दर्शनकातिचची । प्रजा न व्यपीक्षत नापक्षितवाद् ॥ ६ ॥

विषय-मौनरी रहित एक क्षमको की तरुण करनेमें क्षमवर्ष वत अग्निवर्ष के राग  
दिन अम्यपुत्रों ॥ विहार करने हुए अन्वष्टित प्रजाओंकी अवेद्या नहीं की ( प्रजाके  
रागमन्त्रि क्षमोंकी ओर कुछ भी ध्यान नहीं दिया ) ॥ ६ ॥

गीरवाद्यद्वि जातु मग्निवर्षा दर्शनं प्रकृतिकाठित वही ।

तत्प्रापारविपद्यक्षमिना कपलेन चरयेन कल्पितम् ॥ ७ ॥

गौरवादिति । जातु कदाचिन्मन्त्रिणां गौरवाद् गुरुत्वाद्धेतोः, मन्त्रिवचनानुरो-  
धादित्यर्थः । प्रकृतिभिः प्रजाभिः काङ्क्षितं यदपि दर्शनं ददौ तदपि गवाक्षविवराद्  
चलम्बिना केवलेन चरणेन चरणमात्रेण कक्षितं सम्पादितम् । न तु मुखावलोक-  
नप्रदानेनेत्यर्थः ॥ ७ ॥

मन्त्रियोंके गौरवसे प्रजाओंके द्वारा अभिलषित जो भी दर्शन दिया, वह केवल  
खिड़कीसे लटकते हुए केवल पैरसे ही दिया । ( मन्त्रियोंके आग्रहसे खिड़कीसे लटकते हुए  
पैरका दर्शन हो कभी-कभी प्रजाको होना था, उनके मुखका दर्शन, प्रजाको कभी नहीं  
मिलता था ) ॥ ७ ॥

तं कृतप्रणतयोऽनुजीविनः कोमलात्मनखरागरूपितम् ।

भेजिरे नवदिवाकरातपस्पृष्टपङ्कजतुलाऽधिरोहणम् ॥ ८ ॥

तमिति । कोमलेन मृदुलेनात्मनखानां रागेणारूप्येन रूपितं छुरितम् । अत-  
एव नवदिवाकरातपेन स्पृष्टं व्याप्तं यत्पङ्कज तस्य तुला साम्यमधिरोहति प्राप्नो-  
तीति तुलाऽधिरोहणम् । तं चरणमनुजीविनः कृतप्रणतयः कृतनमस्कारा सन्तो  
भेजिरे सिपेविरे ॥ ८ ॥

कोमल अपने नखांकी कान्तिसे युक्त (अतएव) प्रातः कालके सूर्यप्रकाशसे युक्त कमल  
की समानता करनेवाले उस चरणको प्रणाम करते हुए मृत्पौंने सेवन किया ॥ ८ ॥

यौवनोन्नतविलासिनीस्तनक्षोभलोलकमलाश्च दीर्घिका ।

गूढमोहनगृहास्तदम्बुभिः स व्यागहत विगाढमन्मथः ॥ ९ ॥

यौवनेति । विगाढमन्मथः प्रौढमदनः सोऽग्निवर्णो यौवनेन हेतुनोन्नतानां  
विलासिनीस्तनानां क्षोभेणाघातेन लोलानि चञ्चलानि कमलानि यासां ताः ।  
तदम्बुभिस्तासां दीर्घिकाणामम्बुभिर्गूढान्यन्तरितानि मोहनगृहाणि सुरतभवनानि  
यासु ताश्च दीर्घिका व्यागहतं व्यलोढयत् । स्त्रीभिः सह दीर्घिकासु विजहारेत्यर्थः ॥

तीव्र कामवासनावाले उस (अग्निवर्ण) ने युवावस्थासे उत्पन्न विलासिनी-स्तनोंके  
आघातसे चञ्चल कमलोंवाली और उन (बावलियों) के जलसे गूढ सुरत गृहोंवाली बाव-  
लियोंको विलोडित किया अर्थात् युवती स्त्रियोंके साथ बावलियों में जलकोड़ा की ॥ ९ ॥

तत्र सेकहतलोचनाञ्जनैर्घौतरागपरिपाटलाधरैः ।

अङ्गनास्तमधिकं व्यलोभयन्नपितप्रकृतकान्तिभिर्मुखैः ॥ १० ॥

तत्रेति । तत्र दीर्घिकास्वङ्गना सेकेन हतं लोचनाञ्जनं नेत्रकज्जलं येषां ते ।  
रज्यतेऽनेनेति रागो रागद्रव्यं लाक्षादि । रागस्य परिपाटलोऽङ्गुणः । 'गुणे शुक्ला  
दयः पुंसि' इत्यमरः । घौतो रागपरिपाटलो येषां ते तथोक्ता अधरा येषां ते,  
निवृत्तसाहकमिकरागैरित्यर्थः । अतः एवार्पितप्रकृतकान्तिभिः, अभिव्यञ्जितस्वा-  
भाविकरागैरित्यर्थः । एवभूतैर्मुखैस्तमग्निवर्णमधिकं व्यलोभयन्नलोभितवत्य ॥

वहोवर अङ्गनाजोनि सिद्धमते पुके हुए मेरके नखबोवाक रतके तुम्हनेसे रत्ना  
मोहरवाके (वतएव) नङ्गनिम (रंगोंके तुम्हनेसे स्थानाधिक) अङ्गिवाके सुपौसे न  
अधिकर्न की सुभाषा ॥ १ ॥

प्राणकान्तमधुगन्धकषिणीः पानमूमिरचनाः प्रियासखा ।

अभ्यपद्यत स वासितासखाः पुष्पिताः कमलिनीरिच द्विषः ॥ ११ ॥

प्राणकान्तेति । प्रियासखाः सोऽङ्गिवाको प्राणकान्तेव प्राणतपनेन मधुगन्धेन  
कक्षिणीर्मनोहारिणीः । रचयन्त इति रचनाः । पानमूमय एव रचनाः इतिता वान  
मूमय इत्यर्थः । वासितामप्राः करिणीसहचराः । वासिता कीकरिण्योऽह इत्यन्ता ।  
द्विषा पुष्पिताः कमलिनीरिच अभ्यपद्यतामिता ॥ ११ ॥

प्रियाजोने छदित मे 'अधिकर्न' नाकको तुल करनेवाके मय-दन्तसे आहू करके  
वाकी (मय-) पानमूमिको सिखी हुई कमलिनीको हस्तिके साथ हाथीके समान बने ।

सातिरेकमङ्गकरणां रक्षस्तेन वृत्तममितेपुरङ्गनाः ।

तामिरप्पुपहत मुक्तासख सोऽपिबहुकुसुमतुल्यदोहृद् ॥ १२ ॥

तेति । अङ्गना रहो रहसि सातिरेकस्य आविष्टवस्य नवस्य कारणं तेभ्यमि  
वर्गेन वृत्तं मुक्तासखं मयममितेपुरा बहुकैव सुखदोहृदस्तुल्यमिच्छायाः । 'अप दोहृ  
दम् । इच्छा कान्तु एतेहा एव हायमरा । बहुकुसुमस्वाङ्गनामर्दार्दित्यपुनराभि-  
कावत्तम् । सोऽप्य तामिरङ्गनामिच्छावृत्तं वृत्तं मुक्तासखमपिबद् ॥ १२ ॥

अङ्गनाजोने एकत्वमे (प्रियके इत्या नदने हाथीके दिने बाँधे) अधिक मरके करव  
वत अधिकर्न से दिने मने नखी वाहना की ओर बहुत (मोहवरी) हुके समान  
दोहरवाके 'अधिकर्न' से मोहन (अङ्गनाजो) से दिने लने मयका पान बिना ॥ १२ ॥

अङ्गमङ्गपरिचर्तनोचिते तस्य निष्पत्तुराम्यतामुने ।

वत्तकी च इदमङ्गमस्यन्य वत्तुवापयि च वामकोजया ॥ १३ ॥

वत्तमिति । अङ्गपरिचर्तनोचिते वत्तुवापयिहारार्थे उमे तस्याधिकर्नस्याङ्गमस्यन्य  
पूर्णता निष्पत्तु । के उमे । इदमङ्गमस्यन्य मनोहरवत्तिवत्तकी बीजा च । वत्तु  
वाङ्गमस्यन्यमिच्छा वामकोजया कामिन्मयि च । इदम् गच्छतीति इदमङ्गना ।  
अप्यकरने एतेः सुपुपसंवापयतवत्तुवापयि । अङ्गाविरोधितयोर्विजावामावयोर्वी-  
जावामावामावयोर्वी ॥ १३ ॥

वामि एवे (विहार करके सपन करके वा रखने) के योग्य, इदमङ्ग (मङ्ग)  
अधिकारी बीजा तथा मङ्गनामिच्छा सुकीरना (सुन्दर मेरवाकी) बीजा—इव मोहने  
वत 'अधिकर्न' के पार्वतमयी नखान रचा नखाए वत 'अधिकर्न' के बीजा वामोने  
वामिनी की तथा बीजा रखती थी ॥ १३ ॥

स स्वयं प्रहृतपुष्करः कृती लोलमाल्यवलयो हरन्मनः ।

नर्तकीरभिनयातिलङ्घिनीः पार्श्ववर्तिषु गुरुष्वलज्जयत् ॥ १४ ॥

स इति । कृती कुशल स्वयं प्रहृतपुष्करो वादितवाद्यमुखो लोलानि माल्यानि च यस्य स तथोक्तो मनो हरन् । नर्तकीनामिति शेषः । सोऽभिवर्णोऽभिनयातिलङ्घिनीः, अभिनयेषु स्वलन्तीरित्यर्थः । नर्तकीर्विलासिनीः । 'शिदिपनि प्लुन्' इति प्लुन्प्रत्ययः । 'पिद्वौरादिभ्यश्च' इति ङीप् । 'नर्तकीलासिके समे' इत्यमरः । गुरुषु नाट्याचार्येषु पार्श्ववर्तिषु समीपस्थेषु सस्वेवालज्जयत्सङ्गामगमयत् ॥ १४ ॥

(राजा वजानेमें) निपुण, स्वयं बाजा (तबला-मृदङ्ग आदि) को बजाते हुए अतएव चञ्चल (हिलती हुई) माला तथा कङ्कणवाले नर्तकियों के मनको हरण करते हुए उस 'अभिवर्ण' ने नृत्यका उल्लङ्घन (नियम-भङ्ग) करनेवाली नर्तकियोंको गुरुओं (नृत्य-वाद्य विद्याओंके आचार्यों) के समीप रहनेपर लज्जित कर दिया ॥ १४ ॥

चारु नृत्यविगमे च तन्मुखं स्वेदभिन्नतिलकं परिश्रमात् ।

प्रेमदत्तवदनानिलः पिवन्नृत्यजीवदमरालकेश्वरौ ॥ १५ ॥

चार्विति । किञ्च । चारु सुन्दरं नृत्यविगमे लास्यावसाने परिश्रमाघर्तनप्रयासारस्वेदेन भिन्नतिलकं विशीर्णतिलकं तन्मुखं नर्तकीमुखं प्रेम्णा दत्तवदनानिलः प्रवर्तितमुखमारुतः पिवन् । अमराणामलकायाश्चेश्वराविन्द्रकुबेरावत्यजीवदत्ति-क्रम्याजीवत् । ततोऽप्युत्कृष्टजीवित आसीदित्यर्थः । इन्द्रादेरपि दुर्लभमीदृशं सौभाग्यमिति भावः ॥ १५ ॥

नृत्यके अन्तर्मे परिश्रमके कारण पसीनेसे विच्छिन्न तिलकवाले उस (नर्तकी) के सुन्दर मुखको (सुखानेके लिये) प्रेमसे मुखकी हवा देकर (मुखसे पूक लगाकर) पान (चुम्बन) करते हुए उस 'अभिनवर्ण' ने इन्द्र तथा कुबेरके जीवनको भी अतिक्रमण कर दिया । (उक्त आनन्द इन्द्र तथा कुबेरके जीवन सुखसे भी उत्तम था) ॥ १५ ॥

तस्य सावरणदृष्टसन्धयः काम्यवस्तुषु नवेपु सङ्गिनः ।

वल्लभाभिरुपसृत्य चक्रिरे सामिभुक्तविषयाः समागमा ॥ १६ ॥

तस्येति । उपसृत्यान्यत्र गत्वा नवेपु नूतनेषु काम्यवस्तुषु शब्दादिष्विन्द्रियार्थेषु सङ्गिन आसक्तिमत सतस्तस्य सावरणा प्रचलत्वा दृष्टा प्रकाशाश्च सन्धयः साध-न्द्रियार्थाश्चक्रिरे । यथेष्ट भुक्तश्चेत्तर्ह्य नि स्पृष्ट सन्नस्मात्समाप नायास्यतीति भावः । अत्र गोनर्दीय — 'मन्धिर्द्विविधः, सावरण प्रकाशाश्च । सावरणो भिक्षुव्यादिना प्रकाश स्वयमुपेत्य केनापि' इति । 'इत स्वयमुपेत्य दिनेपार्थं तत्र स्थितोऽऽत्मा जाप स्वयं सन्धेय' इति चास्यायनः । अन्यत्र गत्र कश्चिन्नन्धाय पुनरुपगम्य-यार्थोपमोगेनानिर्गुत्तृण चक्रुरित्यर्थः ॥ १६ ॥



समीप आकर नये-नये शीघ्र वस्तुओंमें आसक्त वस्तु अधिपत्य के प्रत्यक्ष तथा शरीर  
साधनोंवाले समस्तमूर्खों मित्राओंने आये शीघ्र नये विषयवाका कर दिया बर्बाद रिक्त  
श्रीशर्ष नाम्बज दये हुए 'अधिपत्य' से किसी प्रकार भिन्नकर मित्राओंने फिर जायेके लिये  
'वाध्य' उन्हें विषयमोदते लज्जित कर दिया ॥ १६ ॥

अङ्गुलीकिसलयाग्रतज्जगद्भूमिभङ्गकुटिलं च वीक्षितम् ।

मेघकामिरसकृष्णं वन्द्यमन्त्रयन्प्रणयिनीरुपायं सः ॥ १७ ॥

अङ्गुलीकिसलयेति । सोऽग्निवर्णः प्रणयिनीः मेघसीर्षज्जगत्पञ्च गन्धर्वपुरा  
किसलयानि तेजाम्प्राप्तिं तैरुत्तमं भास्वत्तं भूमिभङ्गेन अमेधेन कुटिलं च वीक्षितं  
वीक्ष्यं वात्सल्यमेककामिभङ्गनं आयाप । अपराधिनो वन्द्यता इति भाषा ॥ १७ ॥

अन्वयः विषयमोदार्थ आकर मित्राओंको बधित करनेवाले उस 'अधिपत्य' को मित्र  
ओंने अङ्गुलीकिसल नामकवाग्रमत्पक्षे उल्लिखित किया अ मङ्गलकर ठिकी देखा तथा मेघमूर्ख  
( करवर्तियों ) से लनेक बार बोला ॥ १७ ॥

तेन कृतिविविधं निपेयुषा पृष्ठतः सुरतवारणचिपु ।

शुभ्रुषे प्रियव्रतस्य कातरं विप्रकृम्भपरिहङ्गिना वचः ॥ १८ ॥

तेनेति । सुरतस्य भारो वासरा तस्य रात्रिषु कृतीनां विविधं यथा तथा पृष्ठतः  
प्रियवचस्य पञ्चाङ्गानि निपेयुषा तेषां निवर्त्तनं विप्रकृम्भपरिहङ्गिना विरहहङ्गिना ।  
प्रियवासी जगन् प्रियवचः, तस्य कातरं वचः 'प्रियवान्मनेन मां पाहीत्येवमस्मि  
योगवचनं शुभ्रुषे ॥ १८ ॥

सुरत-विषयों रात्रियोंमें कृतीके माझम रत्नेरर ही मित्राई पीछे ( चिपकर ) से  
हुए उस 'अधिपत्य' के बज्जनाओ लज्ज करानेवाली मित्रास्य कातर वचन ( 'ये कृति !  
प्रियवचन अतिमूर्ख' को मित्रा जाने में बाधित नहीं रहूँगी ) तथा उन्हें शीघ्र पुका जाने  
इत्यादि शीघ्रवचन ) सुना ॥ १८ ॥

कीर्यमेत्यं पृथिवीपरिग्रहाभ्यर्तकीर्यसुखमाप्तुं तद्वपुः ।

वर्तते स्म च कथञ्चिदाक्षिकप्रङ्गुलीसरणसम्भवति ॥ १९ ॥

कीर्यमिति । पृथिवीपरिग्रहाभ्यर्तकीर्यसुखमाप्तुं तद्वपुः । समामात्रेतावर्तकीर्यसु  
माप्तुं सुखमाप्तुं सतीषु कीर्यमालसुखमेत्यं प्राप्य । अङ्गुलीः सरणेन स्वरणेन  
सम्भवति किंकिटप्रकाशः सोऽग्निवर्णरतासौ वर्तकीनां वपुरतद्वपुःराक्षितम्भ-  
विहृतते स्माभ्यर्तते ॥ १९ ॥

रात्रियोंके बजापमों ( रत्नकर ) पर्यङ्गियों तथा सुखम परङ्गियोंमें कीर्यना प्राप्तकर  
( बज्जनाभाव भित दीकर ) अङ्गुलीयोंके स्वरपुण ही जानेसे गिरी हुई प्रकाश ( विष  
करनेवाली कृती ) जाते हुए अतिमूर्ख ने उन वर्तकीनों ( या रत्नियों ) के शरीर ( लम्ब,  
करीब जमीन ) पर किण्वी ( मकरादिकों विषयशी करी ) हुए किसी प्रकार ( बड़े बड़े  
साथ ) समग्र विद्याया ॥ १९ ॥

प्रेमगर्वितविपक्षमत्सरादायताच्च मदनान्महीक्षितम् ।

निन्युस्तसवविधिच्छलेन तं देव्य उज्झितरुषः कृतार्थताम् ॥२०॥

प्रेमगर्वितेति । प्रेम्णा स्वविषयेण प्रियस्यानुरागेण हेतुना गर्विते विपक्षे सपत्न-  
जने मत्सराद्वैरादायतात्प्रवृद्धान्मदनाच्च हेतोर्देव्यो राज्य उज्झितरूपस्यकरोपा-  
सत्यस्त महीक्षितसुस्तसवविधिच्छलेन महोत्सवकर्मग्याजेन । कृतोऽर्थः प्रयोजन येन  
स कृतार्थः, तस्य भावस्तत्ता निन्यु । मदनमहोत्सवव्याजाक्षीतेन तेन स्वमनोरथं  
कारयामासुरित्यर्थः ॥ २० ॥

प्रेमसे गर्वित सपत्नी लोगोंमें असूयासे बड़े हुए काम वासना से प्रणय कोपको  
छोड़ी हुई रानियोंने उत्सव कार्यके बहानेसे उस राजा को कृतार्थ किया । ( उत्सव  
करनेके बहानेसे उनके साथ सम्भोगादि कर अपने मनोरथको पूरा किया ) ॥ २० ॥

प्रातरेत्य परिभोगशोभिना दर्शनेन कृतखण्डनव्यथाः ।

प्राञ्जलिः प्रणयिनीः प्रसादयन्सोऽदुनोत्प्रणयमन्थरः पुनः ॥ २१ ॥

प्रातरिति । सोऽश्विर्वर्णं प्रातरेत्यागत्य परिभोगशोभिना दर्शनेन हेतुना ।  
दर्शनेनान्तर्हृत्युत् । कृता खण्डनव्यथा यासा तास्तथोक्ता, खण्डिता इत्यर्थः । तदु-  
क्तम्—‘ज्ञातेऽन्यासङ्गविकृते खण्डितेर्ग्याकपायिता’ इति । प्रणयिनी प्राञ्जलि  
प्रसादयस्तथाऽपि प्रणयमन्थरः प्रणयेन नर्तकीगतेन मन्थरोऽलसः, तत्र शिथिल-  
प्रयत्नः सन्नित्यर्थः । पुनरदुनोत्पर्यतापयत् ॥ २१ ॥

प्रात काल ( दूसरी स्त्रियों के ) सम्भोगसे शोभित दर्शनसे अपने प्रेमके खण्डित होनेसे  
दुःखित ( खण्डिता ) प्रियाओंको हाथ जोड़कर प्रसन्न करते हुए उस अश्विर्वर्णने प्रेममें  
शिथिल होकर उन्हें फिर मन्तव्य किया । ( दूसरी स्त्रियोंके साथ सम्भोग करनेके चिह्नसे  
युक्त आये हुए पतिको देखकर ईर्ष्यासे युक्त स्त्री ‘खण्डिता’ कहलाती है ) ॥ २१ ॥

स्वप्नकीर्तितविपक्षमङ्गनाः प्रत्यभैत्सुरवदन्त्य एव तम् ।

प्रच्छदान्तगलिताश्रुविन्दुभिः क्रोधभिन्नचलयैर्विवर्तनैः ॥ २२ ॥

स्वप्नकीर्तितेति । स्वप्ने कीर्तितो विपक्ष सपत्नजनो येन तम् । तमश्विर्वर्णम् ।  
अवदन्त्य एव । त्वया गोत्रस्खलनं कृतमित्यनुपालम्भमाना एव । अङ्गना स्त्रियः  
प्रच्छदस्यास्तरणपटस्यान्ते मध्येगलिताश्रुविन्दुयोऽप्येते क्रोधेन भिन्नानि भ्रमानि  
चलयानि येषु तैर्विवर्तनैः पराविलम्बनैः प्रत्यभैत्सु प्रतिचक्रुः, तिरश्चक्रुरित्यर्थः ॥

स्वप्नमें सपत्नीका नाम लिये हुए उस ‘अश्विर्वर्ण’से कुछ नहीं बोलती हुई स्त्रियोंने  
ऊपर बिछाये गये चादरोंपर गिरती हुई अश्रुविन्दु हैं जिनमें ऐसे तथा क्रोधसे तोड़ दिये  
गये हैं कङ्कण जिनमें, ऐसे विमुख होकर सोनेसे ( उस अश्विर्वर्णको ) तिरस्कृत किया ॥२२॥

फलसपुष्पशयनाल्लुतागृहानेत्य दूतिकृतमार्गदर्शनः ।

अन्वभूत्परिजनाङ्गनारतं सोऽवरोधभयवेषथूत्तरम् ॥ २३ ॥

समीप आकर नवै-नवै शीघ्र वस्तुओंमें आतक वस्तु अधिवर्ण के प्रापक तथा रीति स्थापनोवाले समागमोंको प्रियानोंमें आये शीघ्र नवै विवचनका कर दिया अर्थात् नित्य शीघ्रार्थे मन्त्रम नवै रूप 'अधिवर्ण' से किसी प्रकार मिलकर प्रियानोंमें फिर जानेके लिये वाच्य करने विवचनोपरी अर्द्धगुण कर दिया ॥ १३ ॥

अनुकीकृतितयाप्रतर्जनं भूविमलकुटिलं च वीक्षितम् ।

मेकलाभिरसकृद्य न्ययम वञ्चयन्प्रणयिनीरवाप सः ॥ १३ ॥

अनुकीकृतिकेति । सोम्यिवर्णः प्रणयिनीः प्रेयसीर्षद्वयव्ययम गन्धर्वद्वयः क्लिप्तक्यादि तेषामग्रामि तैस्तर्जनं अर्द्धं भूविमलेन इमेदेन कुटिलं च वीक्षितं वीक्ष्य चासङ्गमेप्रकामिद्वयमं आवाप । अपराधिनो इत्येवा इति भावः ॥ १३ ॥

न्ययम विवचनोपरी आकर प्रियानोंको वञ्चन करनेवाले वस्तु 'अधिवर्ण' को दिनाओंमें अनुकीकृत्य लवरकवाप्रयोगसे उचित्र किया भू-वहकर विच्छा ईच्छा तथा मेकलाभ (करबान्नी) ॥ नवै-नवै वार वारा ॥ १३ ॥

तेन वृत्तिविहित निपेक्षुषा पृष्ठतः सुरतधाररात्रिषु ।

पृथुवे प्रियजनस्य कातर विप्रक्षम्भपरिचक्षिणो वचः ॥ १४ ॥

तेनेति । सुरतस्थ भारी वासरा उत्तम रात्रिषु वृत्तीनां विहितं यथा तथा पृष्ठं प्रियजनस्य पद्यास्ततो निपेक्षुषा तेषामिवर्णन विप्रक्षम्भपरिचक्षिणो विरहचक्षिणः । प्रियत्वात् प्रियजनः, तस्य कातरं वचः 'प्रियजनवचनेन मां पश्यीत्येवमस्मि शीघ्रवचनं पृष्ठतः ॥ १४ ॥

सुरत-दिनको रात्रियोंमें वृत्तीके माध्यम रखनेपर ही प्रियाके पीछे ( निम्न ) के रूप वस्तु 'अधिवर्ण' के वञ्चनाकी कृष्ण करनेवाली प्रियाका कातर वचन ( वी वृत्ति । प्रियतम अधिवर्ण' को दिना जाने में लोभित नहीं रहूँगी अतः उन्हें शीघ्र गुण लोभो श्यादि शीघ्रवचन ) सुना ॥ १४ ॥

कौस्थमेत्य गृहिणीपरिमहाज्जातीमिः समापमाहोर्नर्तकीषु वेदसास्वमुक्

वर्तते स्म स कथञ्चिवाक्षिणजङ्गुसीसरणसम्भवर्तिकः ॥ १५ ॥

कौस्थमिति । गृहिणीपरिमहाज्जातीमिः समापमाहोर्नर्तकीषु वेदसास्वमुक् भामु हर्षभासु सतीषु कौस्थमीतिमुक्त्वमेव प्राप्य । अङ्गुक्षयोः वरत्वेन स्वदेव सन्नवर्तिको विप्रक्षितकलाका सोम्यिवर्णरतासां नर्तकीणां यदुस्तद्वपुःप्रक्षिप्तकला- विहृतिरिति समाप्नवर्तते ॥ १५ ॥

रात्रिकेही समापमसे ( हरकर ) भर्तृकिनें तथा हर्षय वरत्तियोंमें जोकता प्रत्यक्ष ( वञ्चनावाच्य विप्र दोष ) अनुकीकृतिके रीतिगुण ही वाच्येति निरी हुई प्रकृत्य ( विप्र करनेवाली वृत्ती ) वाके वस्तु 'अधिवर्ण' के वन भर्तृकिनों ( वा रात्रियों ) के शरीर ( लम्ब, कमीक अग्नि ) पर क्लिष्ट ( अपराधियों प्रियकारी करते ) हुए किसी प्रकार ( नवै-नवै वार वारा ) समय विनावा ॥ १५ ॥

प्रेमगर्वितविपक्षमत्सरादायताच्च मदनान्महीक्षितम् ।

निन्युत्सवविधिच्छलेन तं देव्य उज्जितरूपः कृतार्थताम् ॥२०॥

प्रेमगर्वितेति । प्रेरणा स्वविषयेण प्रियस्यानुरागेण हेतुना गर्विते विपक्षे सपत्न-  
जने मत्सराद्वैरादायताध्रुवद्वान्मदनाच्च हेतोर्देव्यो राज्य उज्जितरूपस्य क्तरोपा-  
सत्यस्त महीक्षितमुत्सवविधिच्छलेन महोत्सवकर्मव्याजेन । कृतोऽर्थः प्रयोजन येन  
स कृतार्थः, तस्य भावस्तत्ता निन्यु । मदनमहोत्सवव्याजाशीतेन तेन स्वमनोरथ  
कारयामासुरित्यर्थः ॥ २० ॥

प्रेमसे गर्वित सपत्नी लोगोंमें असूयासे बढे हुए काम वासना से प्रणय कोपको  
छोड़ी हुई रानियोंने उत्सव कार्यके बहानेसे उस राजा को कृतार्थ किया । ( उत्सव  
करनेके बहानेसे उनके साथ सम्मोगादि कर अपने मनोरथको पूरा किया ) ॥ २० ॥

प्रातरेत्य परिभोगशोभिना दर्शनेन कृतखण्डनव्यथाः ।

प्राञ्जलिः प्रणयिनीः प्रसादयन्सोऽदुनोत्प्रणयमन्थरः पुनः ॥ २१ ॥

प्रातरिति । सोऽभिवर्णं प्रातरेत्यागत्य परिभोगशोभिना दर्शनेन हेतुना ।  
दृशेर्ण्यन्तास्त्वयुट् । कृता खण्डनव्यथा यासा तास्तथोक्ता, खण्डिता इत्यर्थः । तदु-  
क्तम्—‘ज्ञातेऽन्यासङ्गविकृते खण्डितेर्न्याकपायिता’ इति । प्रणयिनी प्राञ्जलि-  
प्रसादयस्तथाऽपि प्रणयमन्थर प्रणयेन नर्तकीगतेन मन्थरोऽलस, तत्र शिथिल-  
प्रयत्न सन्नित्यर्थः । पुनरदुनोत्पर्यतापयत् ॥ २१ ॥

प्रात काल ( दूसरी स्त्रियोंके ) सम्मोगसे शोभित दर्शनसे अपने प्रेमके खण्डित होनेसे  
दुःखित ( खण्डिता ) प्रियाओंको हाथ जोडकर प्रसन्न करते हुए उस अभिवर्णने प्रेममें  
शिथिल होकर उन्हें फिर सन्मत्त किया । ( दूसरी स्त्रियोंके साथ सम्मोग करनेके चिह्नमें  
युक्त आये हुए पतिको देखकर ईर्ष्यासे युक्त छा ‘खण्डिता’ कहलाती है ) ॥ २१ ॥

स्वप्नकीर्तितविपक्षमङ्गना. प्रत्यभैत्सुरवदन्य एव तम् ।

प्रच्छदान्तगलिताश्रुबिन्दुभिः क्रोधभिन्नवलयैर्विवर्तनैः ॥ २२ ॥

स्वप्नकीर्तितेति । स्वप्ने कीर्तितो विपक्ष सपत्नजनो येन तम् । तमभिवर्णम् ।  
अवदन्य एव । स्वया गोत्रस्वलन कृतमित्यनुपालम्भमाना एव । अङ्गना स्त्रिय  
प्रच्छदस्यास्तरणपटस्यान्ते मध्ये गलिताश्रुबिन्दवो येषु तै क्रोधेन भिन्नानि भ्रमानि  
वलयानि येषु तैर्विवर्तनै पराग्विलम्बनै प्रत्यभैस्सुः प्रतिचक्रुः, तिरश्चक्रुरित्यर्थः ॥

स्वप्नमें सपत्नीका नामालिये हुए उस ‘अभिवर्ण’से कुछ नहीं बोलती हुई स्त्रियोंन  
कपूर विद्याये गये चादरोपर गिरती हुई अश्रुबिन्दु हैं जिनमें ऐसे तथा क्रोधसे तोड दिये  
गये हैं कङ्कण जिनमें, ऐमे विमुख होकर सोनेसे ( उस अभिवर्णको ) तिरस्कृत किया ॥२२॥

क्लृप्तपुष्पशयनांल्लतागृहानेत्य दूतिकृतमार्गदर्शनः ।

अन्वभूत्परिजनाङ्गनारतं सोऽधरोधभयवेपथूत्तरम् ॥ २३ ॥

वक्ष्यन्तुपुष्पसपनामिति । -सोऽग्निवर्णो वृत्तिमि। कृतमार्गदर्शकः सन् । वक्ष्यन्तुपुष्प  
सपनाङ्कतामुद्दामेत्यादौ बाह्यत्वापुरजमात्रमेव यो वैपथ्यः कम्पस्तदुत्तरं तद्यथा  
यथा तथा परिजनानां वारतं वासीरतमम्बभूत् । परिजनानां सात्वज्जना येति शिप्रः ।  
अत्र हीनन्तस्यापि वृत्तीकम्बस्य कम्बोमङ्गमयाद् इत्यन्तं कृतम् । 'अपि मार्गं मयं  
कुर्वाण्कम्बोमङ्गं त्वज्जेशिराम् इत्युपदेशात् ॥ २३ ॥

वृत्तिकोटी वरकाये गये मार्गवाकं वक्ष्यन् 'अग्निवर्णं' यथावा नवो पुष्पकोटी इत्याद्यन्ते  
कृता मयमो ( कुम्भो ) ये बाह्य वान्तपुराणे वक्ष्यते अथिक्त कम्पन युक्त इति इह रातीमयो  
के साध सन्मोग विना ॥ २३ ॥

नाम वक्ष्यमञ्जनस्य ते मया प्राप्य माण्यमपि तस्य काङ्क्ष्यते ।

लोहसुर्यं ननु मनो ममेति त गोत्रविस्मयितमूचुरङ्गना ॥ २४ ॥

वामेति । मया ते वक्ष्यमञ्जनस्य प्रियमञ्जनस्य नाम प्राप्य तज्ज्ञानाऽऽह्वारं कम्पवा  
तस्य लोहमञ्जनस्य वक्ष्यमप्य । तत्परिहासकारणमिति शेषः । तदपि काङ्क्ष्यते ।  
ननु वत मम मनो लोहसुर्यं पृथु । इत्यनेन प्रकारेण बाह्यत्वा योऽपि नास्ति विस्मयितं  
स्वाकितवन्तं तममिष्यन्मृगः । 'योत्रं नामि कुक्षेऽन्धके' इति बाह्यः । तज्ज्ञानकामे  
सति तज्ज्ञान्यमपि काङ्क्षि मे मनः । नहो लुप्तेति लोहसुर्यमुपाकृतमन्तेत्यर्थः ॥ २४ ॥

'मै शुभ्रारो प्रिदाके नामन्ते लुनकर न्यस्य हो वक्ष्ये मातृको जी वाह्यो हूँ  
( वयोकि ) मेरा मन कोमो है इस प्रकार देखिये गीतस्तुति ( लप्प वा वातवीगमे  
हृत्परी प्रिदाक नाम केनेकके ) वक्ष्य 'अग्निवर्णं' ते वक्ष्य । ( रत प्रकार वन्दे न्यह्वयते  
वपलम्ब विना ) ॥ २४ ॥

सूर्यपञ्च लुप्तितलगाकुल छिन्नमेकलामसक्तकरङ्कितम् ।

सत्पितस्य श्रयमं विलासिनस्तस्य विभ्रमरताम्यपाशुजात् ॥ २५ ॥

सूर्यपञ्चविधिः । सूर्यपञ्च सूर्योऽङ्गान्तकरणैरधोमुखापरिवृतायाः शिवाश्रितुरय-  
कितैः कुटुम्भारिमिर्बभू पिङ्गम् । 'बभू स्थापितुके पिङ्ग' इत्यमरः । लुक्तितलगाकुलं  
करिपञ्चवचन्ये शिवा भूमिगतमरतकृतया पतितपिङ्गुकिटवमिराकुलम् । विभ्र  
मेकलं हरिविभ्रमकरणैः शिवा उचिपुत्तैकवरणत्वाङ्कितमेकलम् । अङ्कितकाङ्कितं  
पैपुङ्गवचन्ये भूतकविहितकान्तापरणत्वाङ्कापारागपितं शवर्णं कर्तुं । उचिपुत्तस्य ।  
श्रयमादिति भावः । विभ्रमरतस्य शिवाश्रित्येव विभ्रमरतामि लीकारतानि सूर्य  
वचन्येति शिवाश्रित्यर्थः । अपाशुजात्पृथुचकार । व्यानतादीनां कर्तृत्वं इतिहरये-  
व्यानतं रतमिह शिवा यदि स्याद्वयोमुक्तवत्पुष्पाह्वयः । तत्पदि समपिदस्य वक्ष्यमा  
स्याद् वृत्तादिपुष्पपरिपनरिपिनि ॥ भूगततलममुखाश्रयमरतकानुपततिरिक्कचमधोमुग्री  
शिप्यम् । अत्रमति स्वकरङ्कमेकलं वक्ष्ये करिपञ्चं तदुपपत्ते ॥ योनिदैकवरणैः सनु-  
चितैः वावते हि हरिविभ्रमाह्वयः । न्यरतहस्तपुगाका विभ्रे परे बोधितेति करिपञ्च  
वक्ष्यमा ॥ अत्रतो यदि कनैरधोमुग्री यैपुके वृत्तवत्पुत्तये मिये ॥ इति ॥ २५ ॥

चूर्ण ( गिरे हुए कुङ्कुमादि-चूर्ण ) से पिङ्गल वर्ण, पड़ी हुई मालाओंसे व्याप्त, दूरी हुई करघनीवाली और महावरसे चिह्नित शय्या ( शय्यासे ) उठे हुए विलासो उस 'अग्निवर्ण' के विलासयुक्त रमणको स्पष्ट करती थी ॥ २५ ॥

स स्वयं चरणरागमादधे योषितां न च तथा समाहितः ।

लोभ्यमाननयनः श्रुत्वांशुकैर्मैखलागुणपदैर्नितम्बिभिः ॥ २६ ॥

स इति । सोऽग्निवर्णं स्वयमेव योषिता चरणयो राग लाघारसमादधेऽर्पया-  
मास । किञ्च । श्लथाशुकैः प्रियाङ्गस्पर्शादिति भावः । नितम्बिभिर्नितम्बवन्निर्मैख-  
लागुणपदैर्जघनैः । 'पश्चान्नितम्ब स्त्रीकटथा' क्लीबे तु जघन पुरः' इत्यमरः । लोभ्य-  
माननयन आकृष्यमाणदृष्टिः सन् । तथा समाहितोऽवहितो नादधे यथा सम्यग्गाग-  
रचना स्यादिति भावः ॥ २६ ॥

इस 'अग्निवर्ण'ने स्त्रियोंके चरणोंमें महावर स्वयं लगाया, किन्तु शिथिल वस्त्रवाले  
एव नितम्बवाले जघनोंसे लुब्धनेत्रवाले ( वस्त्र हटनेसे नितम्बयुक्त जङ्घाओंके देखनेमें  
आसक्त ) वे वैसा ( पाद-रञ्जनके योग्य ) सावधान नहीं रह सके अर्थात् स्त्रियोंके चरणोंको  
स्वयं रगते हुए वे 'अग्निवर्ण' उनके वस्त्रहीन जघनोंको देखनेमें आसक्त होकर उत्तम  
प्रकारसे उनका चरण नहीं रग सके ॥ २६ ॥

चुम्बने विपरिवर्तिताधरं हस्तरोधि रशनाविघट्टने ।

विघ्नितेच्छमपि तस्य सर्वतो मन्मथेन्धनमभूद्धधूरतम् ॥ २७ ॥

चुम्बन इति । चुम्बने प्रवृत्ते सति विपरिवर्तिताधर परिहृतोष्ठम् । रशनाविघ-  
ट्टने ग्रन्थिविघ्नसने प्रसक्ते सति हस्तं रुणद्धि वारयतीति हस्तरोधि । इत्थं सर्वतः  
सर्वत्र विघ्नितेच्छ प्रतिहतमनोरथमपि वधूनां रत सुरत तस्याग्निवर्णस्य मन्मथे-  
न्धन कामोद्दीपनमभूत् ॥ २७ ॥

प्रियाओंने चुम्बनमें मुख फेर लिया और करघनी खोलते समय हाथसे रोक दिया,  
इस तरह सब प्रकारसे रुकी हुई इच्छावाले भी वधूके रमणने उस 'अग्निवर्ण'के कामाक्षिको  
बढ़ाया ॥ २७ ॥

दर्पणेषु परिभोगदर्शिनीर्नर्मपूर्वमनुपृष्टसंस्थितः ।

छायया स्मितमनोज्ञया वधूर्हानिमीलितमुखीश्चकार सः ॥ २८ ॥

दर्पणेष्विति । सोऽग्निवर्णो दर्पणेषु परिभोगदर्शिनीः सम्भोगविह्वानि पश्यन्ती-  
र्वधूर्नर्मपूर्वं परिहासपूर्वमनुपृष्ट तासां शृष्टभागे संस्थितः सन् । स्मितेन मनोज्ञया  
छायया दर्पणगतेन स्वप्रतिबिम्बेन हीनिमीलितमुखीलज्जाऽवनतमुखीश्चकार ।  
समागत दृष्ट्वा लज्जिता इत्यर्थः ॥ २८ ॥

दर्पणोंमें सम्भोगके चिह्नों ( दन्तक्षत, नखक्षत आदि ) को देखती हुई स्त्रियोंके

परिहासपूर्वकं पीठे कङ्के द्वयं कस्य 'अग्निवर्णं' मे सुस्वप्नस्य ममोदर (वर्णनोद्रे वही इति  
नयमी) वरच्छाईं ते वनं त्विदोऽथ कन्यास्ये वरप्रसूचीं करं दिवा अर्थात् वर्णयमे प्रतिविमितं  
पुनरेव पीठे कङ्का होकर सुस्वप्नस्य द्वयं 'अग्निवर्णं' चानकर कस्य त्विदोमे कन्यास्ये सुस्वप्ने  
पीथा करं दिवा ॥ २८ ॥

कण्ठसक्तमुबुधाह्वयम्वर्णं न्यस्तपाद्गततमप्रपादयोः ।

प्रार्थयन्त शयनोत्थित प्रियास्तं निशाऽस्त्ययविसर्गं शुम्भनम् ॥ २९ ॥

कण्ठसक्तेति । प्रियाः कान्ताह्वयितं तमग्निवर्णं कण्ठसक्तं कण्ठार्पितं मुबुधाह्व  
यम्वर्णं धर्मिस्तत् । अम्रपादयोः स्वकीयबोध्यस्ते पाद्गतके धर्मिस्तत् । निशाभयमे  
विसर्गो विस्तृत्य घमनं तत्र यत्पुनश्चनं तत्प्रार्थयन्त । 'बुधाच्च' इत्यादिना द्विकर्मक-  
त्वम् । अत्र गोमर्दीषा—'रतावसाने यदि शुम्भवादि यदुभयं यावाम्मद्वयोऽस्य वासा'  
इति ॥ २९ ॥

प्रियानोमे सुम्भास्ये कङ्के द्वयं कस्य अग्निवर्णं ॥ कण्ठमेवोदरं वाङ्मते शौचकर (अवने)  
अवने वैरमे रणे अग्निवर्णं चो वरप्रसूचीं रङ्करं मानकात् मे सुम्भा ओदकर वाते  
समयं शुम्भवस्ये प्रार्थना चो ॥ २९ ॥

प्रेक्ष्य वर्णजतलस्यमातरमनो राजयेपमतिशयक्रियाभिनम् ।

विमिश्रे न स तथा यथा युवा व्यक्तकक्षं परिभोगमवहनम् ॥ ३० ॥

प्रेक्षेति । युवा सोऽग्निवर्णोऽतिशयं यथा तथा धाममानमतिशयक्रियाभिनं  
वर्णजतलस्यं वर्णजसक्तकक्षं मातरमनो राजयेपं प्रेक्ष्य तथा न विमिश्रे न तुलोय यथा  
व्यक्तकक्षं प्रकटविह्वं परिभोगमवहनं प्रेक्ष्य विमिश्रे ॥ ३० ॥

युवक इति अग्निवर्णं वर्णजमे प्रतिविमितं इत्यथो सोमाथो तिरस्कुलं कर्तव्येनो नयने  
राजयेपं इत्येव वैरा प्रसन्नं नही द्वयं, वैरा स्वहं त्विदोवाते सम्योगमे समीप  
नयनको इत्येव प्रसन्नं द्वयं ॥ ३० ॥

मित्रहृत्यगपदिरय पार्श्वतः प्रस्थित तमनवरिधत प्रियाः ।

विप्रादे शठ ! पलायनच्छन्नाम्यहससि कटपुः कक्षप्रदौ ॥ ३१ ॥

मित्रहृत्यपमिति । मित्रहृत्यं सुहृत्कार्यमपदिरय व्याजीकृत्य पार्श्वतः प्रस्थितं  
न्यतो गन्तुमुपुक्तमनवरिधतमवस्थातुमर्थं तमग्निवर्णं प्रियाः, हे शठ इति गूढवि-  
मिश्रकारिन् 'गूढविमिश्रकृत्' इति वराकपकः । तत्र पलायनस्य यदुक्तमवज्ञता  
तत्त्वता । तन्मे त्वद्वाऽज्ञसा द्वयम् इत्यमरः । विप्राः कानीमः । 'विदो कटो वा'  
इति वेदविषयो भाषेयः । इति । पलायेति शेषः । कक्षप्रदौ केशाकर्षणे कटपुः । अत्र  
गोमर्दीषा—'अतुरवाताऽमिषमने मित्रकार्ये तथाऽपदि । विप्रेतेषु मित्रतमा  
वन्तस्वा वारागवन्ता ॥ इति । विरक्तकक्षप्रस्तावे वापवापवा—'मित्रहृत्यं वाप-  
दिरपान्वाय पीठे इति ॥ ३१ ॥

मित्र-कार्यका वहाना कर पाससे जाते हुए ठहरने में असक्त ( विरक्त ) उस 'अशिवर्ण' को प्रियाओंने 'हे कपटी ( गुप्त सम्भोगके द्वारा हमारा अप्रिय करनेवाले ) कपटसे तुम्हारे भागनेको हमलोग अच्छी तरह जानती हैं' ऐसा ( कहकर उनके ) केशोंको पकड़कर घेर लिया ॥ ३१ ॥

तस्य निर्दयरतिश्रमालसा कण्ठसूत्रमपदिश्य योषित ।

अध्यशेरत बृहद्भुजान्तरं पीवरस्तनविलुप्तचन्दनम् ॥ ३२ ॥

तस्येति । 'निर्दयरतिश्रमेणालसा निश्चेष्टा योषित कण्ठसूत्रमालिङ्गनविशेषमपदिश्य व्याजीकृत्य पीवरस्तनाभ्या विलुप्तचन्दन प्रमृष्टाङ्गराग तस्याश्रिवर्णस्य बृहद्भुजान्तरमध्यशेरत वक्त्रस्थले शेरते स्म । कण्ठसूत्रलक्षण तु—'यत्कुर्वते वक्षसि वल्लभस्य स्तनाभिघातं निविद्धोपगूहात् । परिश्रमार्थं शनकैर्विदग्धास्तत्कण्ठसूत्रं प्रवदन्ति सन्त ॥' इदमेव रतिरहस्ये स्तनालिङ्गनमित्युक्तम् । तथा च—'उरसि कमितुरुक्ष्वैरादिशन्ती घराङ्गी स्तनयुगमुपधत्ते यस्तनालिङ्गनं तत्' इति ॥ ३२ ॥

निर्दय ( अत्यधिक ) रमणके परिश्रमसे आलसयुक्त स्त्रियों 'कण्ठसूत्र' आलिङ्गनका वहानाकर बड़े-बड़े स्तनोंसे पोंछे गये चन्दनवाले उनकी विशाल छातीपर सो गयीं ॥ ३२ ॥

सङ्गमाय निशि गूढचारिणं चारदूतिकथितं पुरोगताः ।

वञ्चयिष्यसि कुतस्तमोवृतः कामुकेति चकृपुस्तमङ्गनाः ॥ ३३ ॥

सङ्गमायेति । सङ्गमाय सुरतार्थं निशि गूढमज्ञातं चरतीष्टगृहं प्रति गच्छतीति गूढचारी । तं चारदूतिकथितम् । चरन्तीति चारा गूढचारिण्यः । 'उवलितिकसन्तेभ्यो णः' इति णप्रत्ययः । चाराश्च ता दूत्यश्च चारदूत्य ताभिः कथितं निवेदितं तमश्रिवर्णमङ्गना पुरोऽप्रेगता । अवस्त्वमार्गा, सत्य इत्यर्थः । हे कामुक ! तमसा वृतो गूढ सन् कुतो वञ्चयिष्यसीति उपालभ्येति शेषः । चकृपुः, स्ववासं निन्द्यु रित्यर्थः ॥ ३३ ॥

सम्भोगके लिए रातमें छिपकर जाते हुए गुप्त घूमनेवाले दूतियों के बतलाये गये उस 'अशिवर्ण'को आगे पहुँची हुई अङ्गनाएँ 'हे कामुक ! गन्धकारमें छिपकर कैसे ( हमलोगोंको ) ठगोगे' ऐसा ( कहकर अपने शयनगृहमें ) खींच ले गयीं ॥ ३३ ॥

योषितामुदुपतेरिवाचिषां स्पर्शनिवृत्तिमसाववाप्नुवन् ।

आरुरोह कुमुदाकरोपमां रात्रिजागरपरो दिवाशयः ॥ ३४ ॥

योषितामिति । उदुपतेरिन्दोरचिषा भासामिव । 'ज्वाला भासो न पुस्यचि' इत्यमरः । योषितां स्पर्शनिवृत्तिं स्पर्शसुखमवाप्नुवन् । किञ्च, रात्रिपु जागरपरः दिवा दिवसेषु शेते स्वपितीति दिवाशयः । 'अधिकरणे शेते' इत्यध्प्रत्ययः । असावश्रिवर्णं कुमुदाकाररूपोपमां साम्यमारुरोहं प्राप ॥ ३४ ॥



समूह के निरर्थक समाप्त। विद्यार्थी स्वयं-सुखार्थी प्राप्त करते हुए तथा। यद्यपि अन्ये  
दिनें सोते हुए इस 'अधिसूच' ने कुसुदाकरकी समग्रता प्राप्त किया ॥ १४ ॥

वेष्टुनः कृष्णमपीडितापरा वीजया नक्षपदाह्मितीत्या ।

शिर्यप्यार्यं वमयेन येजितास्त्वं विजिह्यमयना व्यजामयम् ॥ ३५ ॥

बेजुनेति । इत्यसौ पीडिताचरा बहुला । नतपदैर्नञ्चतैरङ्गितैरवभिहितो-  
 स्तथा, समिताचरोऽन्वयश्चमा इत्यर्थः । तथापि बेजुना बीजवा बेजुमयेव । न-  
 नोऽपीदृशकारिणेत्यर्थः । बेजिता पीडिताः सिद्धं बेजुबीजावाधार्मिकं कुर्वन्तीति  
 विश्वकार्यो गायिकाः । 'कर्मन्वण' इत्यत्र 'विज्ञानमूहवसन्मूहममूहान्नवत्तवपू-  
 ठमूहमन्वण' इत्यनेन लीप् । तं विविद्यवचनां कुट्टिकश्रयाः सत्याः । एवं बेजितं  
 जानन्नपि कृया न पीडयतीति साविमार्थं परबन्ध इत्यर्थः । इत्यलोभयम् । तथापि  
 चाख्येकनमपि तस्याकर्षकमेवाविति भावः ॥ १५ ॥

इन्द्रधनुस पीडित अश्वतोषाथी तथा नक्षत्रधनुस विहित कर्माँ (अर्धों) वाली (तथा दि क्रमधनु ओष्ठ (अर्ध) तथा अर्धोंको पीडित करनेवाली) बंधी तथा बीणास दोहोंसे पीडित शिख (बंधी तथा बीणा बजानेकी कला) को करती हुई अर्धों बंधी तथा बीणा बजाती हुई कुटिलनेत्रवाली (इन्द्रधनु एवं मण्डलधनुस इसकोतीको पीडित होना आवश्यक नो है 'अक्षिधर्म अर्ध एवं कर्मके बीणाकारी बंधी तथा बीणा बजवा रहे हैं इस कथनसे भावनासे कटिब ईश्वरवाली) शिखीने उस अग्निधर्मको छुनावा (बहु कारणसे पीडित शिख के कुटिल दर्शनसे नो अग्निधर्मको आवश्य मिलता था) ॥ १५ ॥

मङ्गलसत्त्वबचनाभ्यं मिथा स्त्रीषु नृत्यमुपजाय वर्धयन् ।

स मयागनिपुणैः प्रयोक्तव्यमिह सख्यपर्यं सह मित्रसखिभ्यो ॥ ३६ ॥

अहेति । अहं हस्तादि । कल्पमन्तकल्पयत् । कल्पं गौर्वा नाम्ना कार्त्तव्यं वक्ष्य  
तद्गुणसम्बन्धनाममयम् । आश्रितस्तारिकवाधिककौयं विविधमित्यर्थः । यथाह  
भरता— सामान्यामित्रो नाम शेषो वाग्रासत्त्वक इति । मृत्तमयिवर्गं मित्रो  
रहसि केषु नर्तकीपूषणाय मित्राय वर्त्तव्यम् । स मित्रसन्धिषी सङ्घरसमर्थं प्रयोध-  
मित्रये विदुषो कृतिमिः प्रयोधमिरमित्रयार्थमकासकैर्वादिवाच्यैः सह सज्जन-  
संघर्षं कृतवान् । सङ्घर्षो पराभिमानेत्यादि ॥ ३९ ॥

साहित्यिक, सांस्कृतिक तथा नायिक (वन तीन प्रकारके) वृक्षोंके किशोरे द्वारा कराकर विद्यावासी द्वारा वस 'अग्निवर्ण' के मिश्रोंके पास पहुँच मयोनकर्ताओं (मातावाचार्) के साथ स्पर्धा की ॥ १३ ॥

इत्या मन्त्रादि हरप कृत्रिमामिह विरचितविहारमन्त्रमन्त्र—

असंख्यमित्युक्त्यास्तु न सावस्तस्य नीपरावसाऽङ्गत्वादि ।

प्राचुरि प्रमदबहिषेणभूतप्रणिमाद्रिषु विहायविप्रमः ॥ ३० ॥

अंसलम्बि हति । प्रावृष्यंसलम्बिन्य कुटजानामर्जुनानां कुम्भानां च स्रजो यस्य तस्य । नीपानां कदम्बकुसुमानां रजसाऽङ्गरागिणोऽङ्गरागवतस्तस्याग्निवर्णस्य प्रमद-  
वर्हिणे पून्मत्तमयूरेषु दृत्रिमाद्रिषु विहार एव विभ्रमो विलासोऽभूदभवत् ॥ ३७ ॥

वर्षाकालमें कन्धेसे लटकती हुई कोरैया तथा अर्जुनके फूलोंकी मालावाले तथा कदम्ब के परागका अङ्गराग लगाये हुए उस 'अग्निवर्ण'ने मतवाले भोरोंवाले कृत्रिम ( बनावटी ) पर्वतोंमें विहाररूप विलास किया ॥ ३७ ॥

विग्रहाच्च शयने पराङ्मुखीर्नानुनेतुमवला स तत्त्वरे ।

आचकाङ्क्ष घनशब्दविकलवास्ता विवृत्य विशतीर्भुजान्तरम् ॥

विग्रहाच्चेति । प्रावृषीत्यनुपज्यते । सोऽग्निवर्णो विग्रहात्प्रणयकलहाच्छयने शय्याया पराङ्मुखीरवला अनुनेतु न तत्त्वरे स्वरितवान् । किन्तु घनशब्देन घन-  
गर्जितेन विकलवाक्शक्तिता भत एव विवृत्य स्वयमेवाभिमुखीभूय भुजान्तरं विशतीः प्रविशन्ती । 'आच्छीनद्योर्नुम्' इति नुम्बिकल्पः । ता अवला आचकाङ्क्ष । स्वय-  
ग्रहादेव सामुख्यमैच्छदित्यर्थः ॥ ३८ ॥

( वर्षाकालमें ) उस 'अग्निवर्ण' ने प्रणयकलहसे शय्यापर विमुख ( पीठ फेरी ) हुई अवलाओंको मनानेकी शीघ्रता नहीं की, ( किन्तु ) मेघके गर्जनसे व्याकुल ( अतएव ) लौट कर ( सामने मुखकर स्वयं ) हृदयमें प्रवेश ( आलिङ्गन ) करती हुई उनकी चाहा । ( मेघ-  
गर्जनसे उत्पन्न कामोद्दीपनसे व्याकुल होकर प्रणयकलहमें विमुख होकर सोई हुई ये स्त्रियाँ स्वयं मेरी छातीसे लिपटकर आलिङ्गन करें, ऐसी इच्छा की ) ॥ ३८ ॥

कार्तिकीषु सवितानहर्म्यभाग्यामिनीषु ललिताङ्गनासखः ।

अन्वभुङ्क्त सुरतभ्रमापदां मेघमुक्तविशदां स चन्द्रिकाम् ॥ ३९ ॥

कार्तिकीष्विति । कार्तिकस्येमा कार्तिक्यः । 'तस्येदम्' इत्यण् । तामु यामिनीषु निशासु, शरद्रात्रिष्वित्यर्थः । सवितानान्युपरिवृत्तावृत्तानि हर्म्याणि भजतीति सवि-  
तानहर्म्यभाक् । भजेर्णिवप्रत्ययः । हिमवारणार्थं सवितानमुक्तम् । ललिताङ्गनासखः सोऽग्निवर्ण सुरतभ्रमापदा मेघमुक्ता चासौ विशदा च ताम् । बहुलप्रहणास्तविशे-  
षण समासः । चन्द्रिकामन्वभुङ्क्त ॥ ३९ ॥

कार्तिककी रात्रियोंमें चंद्रोवे सहित महलके छतोंका सेवन करनेवाले सुन्दरियों सहित उस 'अग्निवर्ण'ने सम्भोगके खेदको दूर करनेवाली मेघरहित होनेसे निर्मल चाँदनीका भोग किया ॥ ३९ ॥

सैकतं च सरयू विवृण्वतीं श्रोणिष्विम्बमिव हंसमेखलम् ।

स्वप्रियाविलसितानुकारिणीं सौघजालविवरैर्व्यलोकयत् ॥ ४० ॥

सैकतमिति । किञ्च, हसा एव मेखला यस्य तत्सैकतं पुलिन श्रोणिष्विम्बमिव

चन्द्रके किरणोंके समान; शिबोंके लक्ष्म—सबकी प्राप्त करते हुए तथा; एषिर्मे कस्मेते  
दिनमें सोते हुए इस अधिकर्ण मे कुमुदाकरकी समताको प्राप्त किया ॥ ३४ ॥

वेणुना वृक्षमपीक्षिताधरा बीजया नक्षपदाङ्कितोरवा ।

शिरूपकार्यं समयेन वेजितास्तं विजिह्वमयमा व्यङ्ग्यामयन् ॥ ३५ ॥

वेणुमेति । वृक्षमैः पीक्षिताधरा दृष्टोद्भा । नक्षपदैर्बलचतैरङ्कितोरवभिङ्कितो-  
त्सङ्गाः, वजिताधरोरुबाह्वमा हृत्पर्यः । तथापि वेणुना बीजया चेतुभयैव । वक्ष-  
रोरुपीडकारिमोरर्वाः । वेजिताः पीक्षिताः शिबं वैपुत्रीमावाद्यादिकं कुर्वन्तीति  
पितृव्यार्थो पादिका । 'कर्मण्यप्य' इत्यब् 'दिङ्बाधमहवसद्ब्रह्मन्मात्रपूतपूठ-  
ठ्ठकन्करपा' इत्यनेन लोप् । तं विजिह्वमयमा कुटिकादयमा सायः । एवं वेजिते  
कामवपि दृष्टा नः पीडयतीति सामिप्यार्थं परमस्य हृत्पर्यः । व्यङ्ग्योमयम् । लक्ष्मि-  
धाद्येकवमपि तस्याकर्पकमेवामुदिति भावाः ॥ ३५ ॥

रत्नहस्तो पीडित नक्षत्रोवास्ते तथा नक्षत्रहस्ते पिडित कवचो ( जवनों ) वाणी ( तथा  
दि कमल ) भीड ( जवर ) तथा जवनोंकी पीडित करवेवाकी ) बंदी तथा बीजास डोकसे  
पीडित शिर ( बंदी तथा बीजा बजावेको कवा ) को करती हुई कर्मात् बंदी तथा बीज  
वजानी हुई कुटिकनेववाकी ( रत्नहस्त एवं नक्षत्रहस्ते रत्नकोषोंको पीडित होवा जानकर को  
ये अधिपत्तं जवर एवं कवके पीडयती बंदी तथा बीजा वजवा रहे हैं । इत प्रत्युक्त  
मात्रतामे कुटिक हेतुवेवाली ) शिबोंमे इस अग्निवर्णको प्रयाया ( वक्ष धारमे पीडित  
किवाके कुटिन दर्शनसे भी अग्निवर्णको कामन् दिग्गता वा ) ॥ ३५ ॥

अङ्गसत्त्ववचनामयं मिया स्त्रीषु नृस्यमुपधाय दर्शयन् ।

स प्रयोगनिपुणे प्रयोक्तृभिः सङ्घर्षं सह मित्रसङ्घिषी ॥ ३६ ॥

अङ्गेति । अङ्गं हस्तादि । सत्त्वमन्त्राकरजय । वक्षर्षं गीर्षं आमवा करणं वक्ष  
तदङ्गसत्त्ववचनामयम् । आङ्गिकसामिकवाचिककुर्येन विविधमित्यर्थः । वक्ष्य  
भरतः—'सामान्त्रात्मिकयो नाम ज्ञेयो ज्ञातृसत्त्वमा' इति । नृस्यमभिबर्षं मित्रो  
रदगि स्त्रीषु वर्तकीपूषधाय मिवाय दर्शयन् । स मित्रसङ्घिषी सहचरसमर्षं प्रयायैः  
मित्रैरे निपुणैः कृतिमि प्रयोक्तृभिरभिवाचार्थप्रकाशकैर्नर्तयार्थैः सह सङ्घर्षं  
संपर्षं कृतवात् । सङ्घर्षो पराभिवाचैवा ॥ ३६ ॥

आङ्गिक, लारिक तथा वाचिक ( इन तीन प्रकारके ) नृस्योको शिबोंके हात कराकर  
दिगन्तमे हुए इस 'अग्निवर्ण मे शिबोंके हात चतुर प्रधवर्णोंको ( नारवावाकी ) के साथ  
स्पर्षी की ॥ ३६ ॥

इता प्रकृति तरव कुत्रिमादिषु विरचितविहारप्रकारमाह—

मंसलम्बिकुन्दमार्तुनक्षत्रस्तस्य नीपरजसाऽङ्गुलिगण ।

प्राङ्मुखि प्रमद्वर्द्धिहेण्वभूद्वज्रिमादिषु विहायविभ्रमा ॥ ३७ ॥

बायु से उत्पन्न पल्लव सहित आग्नमञ्जरीको देखकर प्रणयकलङ्को छोटती हुई असह्य विरह-  
वाले उस 'अग्निवर्ण'को अनुनीत किया ( स्वयं मनाया ) ॥ ४३ ॥

ताः स्वमङ्गमधिरोप्य दोलया प्रेङ्खयन्परिजनापविद्धया ।

मुक्तरज्जु निबिडं भयच्छलात्कण्ठबन्धनमवाप बाहुभिः ॥ ४४ ॥

ता इति । ता अङ्गना, स्वमङ्ग स्वकीयमुत्सङ्गमधिरोप्य परिजनेनापविद्धया  
सम्प्रेषितया दोलया मुक्तरज्जु त्यक्तदोलासूत्रं यथा तथा प्रेङ्खयश्चालयन्भयच्छलात्प-  
तनभयमिपाद्बाहुभिरङ्गनामुजैर्निबिड कण्ठबन्धनमवाप प्राप । स्वयङ्ग्रहाश्लेषसु-  
खमन्वभूदित्यर्थः ॥ ४४ ॥

उन अङ्गनाओंको अपनी गोदमें बिठाकर दास-दासिओंसे हिलाये जाते हुए झूलेसे  
रस्ती छोड़कर चलाते हुए उस 'अग्निवर्ण'ने भय के बहाने उन अङ्गनाओंकी मुजाओंमें  
गाढ बन्धनको प्राप्त किया ( स्वयं किये गये झूलेसे गिरने का बहाना द्वारा अङ्गनाओंके द्वारा  
किये गये गाढ आलिङ्गनके सुखको 'अग्निवर्ण'ने प्राप्त किया ) ॥ ४४ ॥

तं पयोधरनिषिक्तचन्दनैर्मौक्तिकग्रथितचारुभूषणैः ।

ग्रीष्मवेषविधिभिः सिपेविरे श्रोणिलम्बिमणिमेखलैः प्रियाः ॥ ४५ ॥

तमिति । प्रिया पयोधरेषु स्तनेषु निषिक्तमुत्तम चन्दन येषु तैः । मौक्तिकैर्ग्र-  
थितानि प्रोतानि चारुभूषणानि येषु तैः, मुक्ताप्रायाभरणैरित्यर्थः । श्रोणिलम्बिन्यो  
मणिमेखला मरकतादिमणियुक्तकटिसूत्राणि येषु तादृशैर्ग्रीष्मवेषविधिभिरुष्णकालो-  
चितनेपथ्यविधानैः, शीतलोपायैरित्यर्थः । तमग्निवर्णं सिपेविरे ॥ ४५ ॥

प्रियाओंने स्तनोंमें लगाये गये चन्दनोंवाले मुक्तामालाओंसे गुथे हुए सुन्दर आभूषणों  
वाले तथा नितम्बोंपर लटकती हुई मणियोंकी करघनियोंवाले ग्रीष्मकालीन वेषके उपायों  
( शीतकर यहाँ ) से उस 'अग्निवर्ण'की सेवा की ॥ ४५ ॥

यत्स लग्नसहकारमासवं रक्तपाटलसमागमं पपौ ।

तेन तस्य मधुनिर्गमात्कृशश्चित्तयोनिरभवत्पुनर्नवः ॥ ४६ ॥

यत्स इति । सोऽग्निवर्णो लग्न सहकारश्चूतपल्लवो यस्मिंस्त रक्तपाटलस्य पाट-  
लकुसुमस्य समागमो यस्य तमासव मद्य पपौ । इति यत्तेनासवपानेन मधुनिर्ग-  
माद्वसन्तापगमात्कृशो मन्दवीर्यस्तस्य चित्तयोनिः कामः पुनर्नवः प्रवलोऽभवत् ॥

उस 'अग्निवर्ण'ने जो आन्नपल्लव लगे हुए तथा पाटलपुष्पसे युक्त मद्यका पान किया,  
उस मद्यके पानसे, वसन्तके बीननेसे कृश ( विषयभोगमें असमर्थ ) हुए उस 'अग्निवर्ण'के  
मनकी कामवामना फिर नयी हो गयी ॥ ४६ ॥

एवमिन्द्रियसुखानि निर्विशन्नन्यकार्यविमुखः स पार्थिवः ।

आत्मलक्षणनिवेदानृतूनत्यवाहयदनङ्गवाहितः ॥ ४७ ॥

एवमिति । एवमनङ्गवाहितः कामप्रेरितोऽन्यकार्यविमुखः स पार्थिव इन्द्रियाणां

विष्णुवतीम् । अत एव स्वमिवाविकसितान्पशुकरोतीति तद्विधां शरयूम् । सौम्य  
आत्मनि यथावा त एव विवरणि तैर्भ्योकोकयत् ॥ ४० ॥

वीर इत्यस्य वैजया ( करवनी ) वाक् तस्यै नितम्बस्य अनुकरण करनेवाले तस्यै  
मरुके विवकिरोऽपि विवो ( विवो ) इति वैजा ॥ ४१ ॥

मर्मरैरशुद्रूपगन्धिमिर्म्यकहेमरघानैस्तमेकतः ।

अद्वयप्रथममोक्षलोहपं हैमनैर्निधसमैः सुमध्यमाः ॥ ४२ ॥

मर्मरैरिति । मर्मरैः संस्कारविशेषाणां व्यापमात्रैः । 'अथ मर्मराः । स्वमिणे वस-  
पमानाम्' इत्यमरः । अशुद्रूपगन्धिमिर्म्यकहेमरघानैर्कीर्त्तितवाङ्मयमात्रकवकमेकत-  
गुणैः हैमनैर्हमन्ते मयैः । सर्वज्ञान्य लकोपस्य इति हैमन्तस्याङ्गप्रत्ययस्तस्य  
पञ्च । विवसुवैरशुद्रैः सुमध्यमाः शिव एकतो नितम्बैकवैस आश्रयनमोक्षयोर्वीरी  
गन्धमिर्म्यकहेमलोहपमासकतं तं अद्वयप्रथमः ॥ ४३ ॥

मर्मर ( वृष इत्येके कारण अवशये शीघ्रं वृष इव कन्द करनवाक् ), अवकमे वृषे  
नन्वुक्त, वद्वक्याके कारण दिप्यतां वरती इव करवनिर्वाक् हैमन्त-सम्बन्धी करवोऽपि  
शुद्धर अदिमागवाक् विवोने नितम्बके एक भाषणे नीवीके वीरने वीर कोक्यैर् लोह  
वत् मर्मिर्वाक् को वाङ्मय किञ्च ॥ ४४ ॥

अर्पितमिति तद्विषययो गर्मयश्मसु मिधातुद्विषयः ।

तस्य सर्वसुरतान्तरसमाः साक्षितां शिदिगन्धया ययुः ॥ ४५ ॥

अर्पितेति । निवाता वातरहिताः कृद्योऽम्बन्तराणि सेनां तेषु गर्मयश्मसु  
शुद्धाभ्यगृहेष्वपिता इत्याः स्तिमिता निवातरवाङ्मयका वीपा एव इत्यपि अर्पितम् ।  
अर्पितमिति तद्विषयं च गम्यते । सर्वसुरतान्तरसमास्तापस्वेहापनोदनत्वादीर्ष्यक  
त्याद्य सर्वेषां सुरतान्तरसमां सुरतमैशानां जमाः कियार्ताः शिदिगन्धस्तत्साक्षि  
र्वस्य साक्षिता ययुः । विविक्तकान्तवैज्याद्यभेष्टं विजहारोययः ॥ ४६ ॥

वायुशोभ वीर्यो विस्तयेवाक् अम्बरके मङ्गलोऽपि वायुशोभ स्वान शोभेति निधनं त्विष  
शोभकक इति को जगामो इव ( एकरक इत्यनी इव ) तथा गम्भीरं सुरतमेरुं ( वीर्यं ) इति  
समर्थं तद्विषयं इव 'मर्मिर्वाक्' लक्षितानो ज्ञात किञ्च । ( अनुकूल समय तथा यजमान  
स्वान शोभेति वन्दोऽपि दक्ष्यापूर्वकं विविध प्रकारके तन्मीग किञ्च ) ॥ ४७ ॥

इक्षिमेन पयमेन सम्भुत मक्ष्य भूतभुसुर्म सपलुयम् ।

अन्धमैपुरवत्तयिमहास्तः पुष्टसद्यपिषागमप्लवा ॥ ४८ ॥

इक्षिमेति । अत्र वा इक्षिमेन पयमेन मक्ष्याविकेन सपलुयं अर्पितं तत्पक्ष्य  
भूतभुसुर्म प्रेषवापपुनविमहालपयविरोधात् - सन्धो पुष्टसद्यपिषागमप्लवा  
तमप्यत्रैषुः । तद्विरहजगद्विमानाः वक्ष्यमेवाभुमीनवात् इत्यर्थः ॥ ४९ ॥

( एतन्म अत्रै ) मक्ष्याविके, यक्षिण ( अनुकूल वक्ष्याविके वक्षिण शिदिगन्धया )

वायु से उत्पन्न पल्लव सहित आम्रमञ्जरीको देखकर प्रणयकलहको छोड़ती हुई असद्य विरह-  
वाले उस 'अश्विवर्ण'को अनुनीत किया ( स्वय मनाया ) ॥ ४३ ॥

ताः स्वमङ्गमधिरोप्य दोलया प्रेङ्खयन्परिजनापविद्धया ।

मुक्तरज्जु निविडं भयच्छलात्कण्ठबन्धनमवाप बाहुभिः ॥ ४४ ॥

ता इति । ता अङ्गनाः स्वमङ्ग स्वकीयमुखसङ्गमधिरोप्य परिजनेनापविद्धया  
सम्प्रेषितया दोलया मुक्तरज्जु त्यक्तदोलासूत्र यथा तथा प्रेङ्खयश्चालयन्भयच्छलात्प-  
तनभयमिपाद्बाहुभिरङ्गनाभुजैर्निविड कण्ठबन्धनमवाप प्राप । स्वयङ्ग्रहाश्लेषसु-  
प्तमन्वभूदित्यर्थः ॥ ४४ ॥

उन अङ्गनाओंको अपनी गोदमें बिठाकर दास-दासिओंसे हिलाये जाते हुए झूलेसे  
रस्ती छोड़कर चलाते हुए उस 'अश्विवर्ण'ने भय के बहाने उन अङ्गनाओंकी भुजाओंमें  
गाढ़ बन्धनको प्राप्त किया ( स्वयं किये गये झूलेसे गिरने का बहाना द्वारा अङ्गनाओंके द्वारा  
किये गये गाढ़ आलिङ्गनके सुखको 'अश्विवर्ण'ने प्राप्त किया ) ॥ ४४ ॥

तं पयोधरनिषिक्तचन्दनैर्मौक्तिकग्रथितचारुभूषणैः ।

ग्रीष्मवेषविधिमि सिपेविरे श्रोणिलम्बिमणिमेखलैः प्रियाः ॥ ४५ ॥

तमिति । प्रिया पयोधरेषु स्तनेषु निषिक्तमुरिष्य चन्दन येषु तैः । मौक्तिकैर्ग्र-  
थेतानि प्रोतानि चारुभूषणानि येषु तैः, मुक्ताप्रायाभरणैरित्यर्थः । श्रोणिलम्बिन्यो  
मणिमेखला मरकतादिमणियुक्तकटिसूत्राणि येषु तादृशैर्ग्रीष्मवेषविधिभिरुष्णकालो-  
चितनेपथ्यविधानैः, शीतलोपायैरित्यर्थः । तमश्विवर्णं सिपेविरे ॥ ४५ ॥

प्रियाओंने स्तनोंमें लगाये गये चन्दनोंवाले मुक्तामालाओंसे गुथे हुए सुन्दर आभूषणों  
वाले तथा नितम्बोंपर लटकती हुई मणियोंकी करधनियोंवाले ग्रीष्मकालीन वेषके उपायों  
( शीतकर यद्वा ) से उस 'अश्विवर्ण'की सेवा की ॥ ४५ ॥

यत्स लग्नसहकारमासवं रक्तपाटलसमागमं पपौ ।

तेन तस्य मधुनिर्गमात्कृशश्चित्तयोनिरभवत्पुनर्नवः ॥ ४६ ॥

यत्स इति । सोऽश्विवर्णो लग्न सहकारश्चूतपल्लवो यस्मिस्त रक्तपाटलस्य पाट-  
लकुसुमस्य समागमो यस्य तमासव मद्य पपौ । इति यत्तेनासवपानेन मधुनिर्ग-  
माद्दसन्तापगमात्कृशो मन्दवीर्यस्तस्य चित्तयोनिः काम पुनर्नव प्रबलोऽभवत् ॥

उस 'अश्विवर्ण'ने जो आम्रपल्लव लगे हुए तथा पाटलपुष्पसे युक्त मद्यका पान किया,  
उस मद्यके पानसे, वसन्तके वीतनेसे कृश ( विषयभोगमें असमर्थ ) हुए उस 'अश्विवर्ण'के  
मनकी कामवासना फिर नयी हो गयी ॥ ४६ ॥

एवमिन्द्रियसुखानि निर्विशन्नन्यकार्यविमुखः स पार्थिवः ।

आत्मलक्षणनिवेदितानृतूनत्यचाहयदनङ्गवाहितः ॥ ४७ ॥

एवमिति । एवमनङ्गवाहितः कामप्रेरितोऽन्यकार्यविमुखः स पार्थिव इन्द्रियाणां

मिहृष्वतीम् । अत एव स्वप्रियाविकसितान्बभूवुस्तोतीति तद्विधां सरयूम् । सौम्य  
वाचादि यथाहा । त एव विवराणि तैर्ष्यकोकयत् ॥ ३० ॥

वीर इत्यस्य मेखका ( करवनी ) वाके तन्मध्ये नितम्बका अनुकरण करवनीये सरयूये  
मरुको शिखिजोको पिबो ( पिबो ) इति वैया ॥ ३४ ॥

मर्मरैरगुठपुपगम्भिभिर्म्यकहेमगणनैस्तमेकतः ।

अगुपप्रपनमोसकोलुपं हैमगैर्निवसमैः सुमध्यमाः ॥ ३१ ॥

मर्मरैरिति । मर्मरैः खंस्कारविशेषाणां व्यापमानौ । 'अथ मर्मरः । स्वचिते वय  
पर्जनाश्च इत्यमरा । अगुपपुपगम्भिभिर्म्यकहेमरसवैर्हैमवाहृष्यमानकवकमेखका-  
गुणैः हैमवैर्हैमगैः मर्मैः । सर्वज्ञान्य तन्मेषण' इति हैमन्तस्यैवाहृष्यत्यवस्तानं  
पञ्च । तिवसमैर्गुणैः सुमध्यमाः खिब एकतो नितम्बैकदेश आग्रवममोचबोर्नीदी-  
वाम्यविर्लसमबोर्लोपमास्रतं तं कुराचङ्गुः ॥ ३१ ॥

मर्मर ( वृक्षेनेके कारण नवतुल्ये शीघ्र पुर-पुर कण्ड करनेवाले ), मर्मरक पुरते  
गन्धवुत्त, नवतुल्यके कारण विकसारे पदवी दुर्ग करवनिबोवाके हैमन्त-सम्बन्धी करवैते  
सुन्दर करिमागवाकी खिबोने नितम्बके एक मायमें नीचीके शीघ्रते वीर कोकनेमें जीह  
तत्त 'मर्मरक'को आहृष्ट विद्या ॥ ४१ ॥

अर्पितन्तिमितव्रीपदधयो गर्मवेशमस्तु मियातकुसिपु ।

तस्य सर्वसुरतान्तरक्षमाः साक्षिणां सिद्धिरात्रयो ययुः ॥ ३२ ॥

अर्पितेति । मिवाता वातरहिताः कुचयोश्चान्तराणि येषां तेषु गर्मवेशमस्तु  
गुहागुहैवपिठा इत्याः सितमिता मिवातत्वाविज्ञका व्रीपा वृष पदयो वामिस्ताः ।  
अज्ञानिमिपदहितं च गम्यते । सर्वसुरतान्तरक्षमास्तापस्वेदापनोदरवाहीर्ब्रह्म  
रवाच सर्वेषां सुरतान्तराणां सुरतमेवामी जमाः किवाही । सिद्धिरात्रयस्तरवामिब  
र्वस्य साक्षिता ययुः । मिबिचकालदेष्टायाधवैर्ब्रह्म विवहारेत्यर्थः ॥ ३२ ॥

वायुधोम भीतरी दिलवैवाके अन्तरके यहाँमें वायुहीन स्थान होमेते निम्नक स्थित  
शीघ्रकर इच्छी लयागी दुर्ग ( एकक वीरनी दुर्ग ) तथा सम्पूर्ण सुरतमेरों ( कावों ) के  
सपर्ये रविबोने वत्त मर्मरक के साक्षिणावो प्राप्त विद्या । ( अनुकृष्ट समथ तथा वक्ष्य  
स्थान होमेते कन्धोमे इच्छापूर्वक विविध प्रकारके सम्मोद दिने ) ॥ ४२ ॥

वक्षिणेन पयनेन सम्भुत मध्य भूतकुसुमं सपल्लवम् ।

अम्यमैपुरवप्लुधिप्रहास्त युक्तसहयिथोपमङ्गमाः ॥ ३३ ॥

वक्षिणेनेति । कङ्कना वक्षिणीन पयनेन मकवाविडेन सम्भुतं अर्पितं सपल्लवं  
भूतकुसुमं मेखकापूनविद्यास्तप्यविरोधात् - साधो भूतसहयिथोपं हुसहविराई  
समन्वयेन । तद्विरहसहस्रमावा वक्ष्ययेवानुगीतयत्त वृत्तार्थः ॥ ३३ ॥

५ ( वक्ष्यन वक्ष्ये ) अहवाजोनि, वक्षिण ( अनुकृष्ट वक्ष्यनार्थे मीथिन विद्यावादी )

तस्येति । तस्य राज्ञः पाण्डुवदना । अल्पभूषणा परिमिताभरणा सावलम्बं दासादिहस्तावलम्बसहित गमन यस्या सा सावलम्बगमना । मृदुस्वना हीनस्वरा । राज्ञः सोमस्य यक्षमा राजयक्षमा क्षयरोगः तेन या परिहानि क्षीणावस्था सा । कामयते विषयानिच्छति कामयान । कमेणिङन्ताच्छानच् । 'अनित्यमागमशासनम्' इति मुमागमाभावः । एतदेवाभिप्रेत्योक्त वामनेनापि—'कामयानशब्दः सिद्धोऽनादिश्च' इति । तस्य समवस्थया कामुकावस्थया तुला साम्यमाययौ प्राप । कालकृतो विशेषोऽवस्था । 'विशेषः कालिकोऽवस्था' इत्यमरः ॥ ५० ॥

पाण्डुवर्णं मुखवाली, अत्यल्प भूषणवाली ( जिसमें परिमित भूषण पहना जाय ऐसी ), अवलम्बनके सहित ( दास-दासी या दण्ड आदिके सहारेसे ) गमनवाली और क्षीणस्वरवाली क्षयरोगकी खिन्नताने कामुकके समान अवस्थाको प्राप्त किया अर्थात् 'अग्निवर्ण' हाथ आदिका सहारा लेकर चलने लगे और क्षीण स्वरसे बोलने लगे ॥ ५० ॥

व्योम पश्चिमकलास्थितेन्दु वा पङ्कशेषमिव धर्मपल्वलम् ।

राज्ञि तत्कुलमभूत्क्षयातुरे वामनार्चिरिव दीपभाजनम् ॥ ५१ ॥

व्योमेति । राज्ञि क्षयातुरे सति तत्कुल पश्चिमकलायां स्थित इन्दुर्यस्मिस्तत्क-  
शवशिष्टेन्दु व्योम वा व्योमेव । वाशब्द इवार्थः । यथाह दण्डी—'इववद्वायथाशब्दौ'  
इति । पङ्कशेष धर्मपल्वलमिव । वामनार्चिरिव दीपभाजन दीपपात्रमिवाभूत् ॥

राजा 'अग्निवर्ण'के क्षयरोगी होनेपर वह रघुकुल अन्तिमकलासे अवशिष्ट चन्द्रकला-  
वाले आकाशके समान, कीचढमात्र वचे हुए ग्रीष्मकालीन छोटे जलशयके समान, छोटी लव ( ज्वाला ) वाले दीपपात्रके समान हो गया ॥ ५१ ॥

वाढमेष दिवसेषु पार्थिवः कर्म साधयति पुत्रजन्मने ।

इत्यदर्शितरुजोऽस्य मन्त्रिणः शश्वदूचुरघशङ्किनीः प्रजाः ॥ ५२ ॥

वाढमिति । वाढ सत्यमेष पार्थिवो दिवसेषु पुत्रजन्मने पुत्रोदयार्थं कर्म जपा-  
दिकं साधयति । इत्येवमदर्शितरुजो निगूहितरोगा सन्तोऽस्य राज्ञो मन्त्रिणोऽ-  
घशङ्किनीर्व्यसनशङ्किनीः प्रजाः शश्वदूचुः ॥ ५२ ॥

'ये राजा 'अग्निवर्ण' सत्य, दिनोंमें पुत्रोत्पत्तिके लिये पर्याप्त कर्मसाधन जपादि करते हैं' ऐसा उभ 'अग्निवर्ण'के रोगको छिपानेवाले मन्त्रियोंने अनिष्टकी आशङ्का करने वाली प्रजाओंसे सर्वदा कहा ॥ ५२ ॥

स त्वनेकवनितासखोऽपि सन्पावनीमनवलोक्य सन्ततिम् ।

वैद्ययज्ञपरिभाविनं गदं न प्रदीप इव वायुमत्यगात् ॥ ५३ ॥

स इति । स त्वग्निवर्णोऽनेकवनितासखः सन्नपि । पावनीं पित्रर्णमोचनीं सन्त-



सुखमि सुखकराणि शब्दादीनि निर्विघ्नानुभवजातमनो कथयेः सुखजनधारयानि  
चिद्देविदेदिताम् । अयमुत्तरिदानीं वर्तत इति ज्ञापिताम् । आत्म्यपांशीमन्वदाह-  
रगमयत् ॥ ४० ॥

इत प्रकार कायदेरित दूसरे कार्य ( प्रयापाजन राक्षसिरीक्षणदि ) से विमुक्त न  
‘अधिमनो’ राजाने इन्द्रिय-सुखकर विषयोंको भोगते हुए, अपने कथनोते ; मन्त्र पढ़ी  
हुं आत्मनोके पितामा ॥ ४० ॥

त प्रमत्तमपि न प्रमादतः शोकुराकमितुमभ्यपार्थिवा ।

आमयस्तु रतिरागसम्पन्नौ वृक्षशाप इव अमृमक्षिण्योत् ॥ ४१ ॥

तमिति । प्रमत्तं व्यसथासक्तमपि तं तुर्य प्रमादतोऽभ्यपार्थिवा आकमितुमभि-  
भवितुं न शक्नुमं लज्जा । रतिरागसम्पन्न आमनो व्याभिस्तु, जयरोमा इत्यर्थः ।  
वृक्षश्च वृक्षप्रजापतेः शापममृमक्षि । अक्षिण्योवृक्षशब्दः । शापोऽपि रतिरागसम्पन्न-  
इति । अत्र वृक्षः किङ्कण्याः स्वकन्या उपेक्ष्य राक्षिण्यामेव समानं राजान सोमं  
लज्जाप । शापलाभ्यापि वृक्षकन्येव तं क्षिण्योतीत्युपाख्यायते ॥ ४१ ॥

दूसरे राजा जैन ( विषयसक्त होकर राक्षसिरीक्षण प्रयापाजन आदि कार्य नहीं  
करनेसे ) प्रमाद करते हुए उस अधिवर्त्त पर ( जनके ) प्रतापके कारण नाकमन करनेसे  
जिसे समर्थ नहीं हुए, किन्तु रतिमें राग करनेसे अत्यन्त रोगने राजाको उस प्रकार कोकर  
दिना, जिस प्रकार रति रागसे अत्यन्त लज्जा-शाप जन्यमात्रो क्षीन करता है ॥ ४१ ॥

पौराणिक कथा—एक प्रजापतिने अन्ध अपनी कन्याओं को वृक्षकर पेड़िनी में ही  
अधिक रति करनेसे अमृमा को क्षीन होनेका शाप दिना नहीं शाप नाकमन अमृमा के  
क्षीन होनेमें कारण होता है ।

दृष्टक्षोपमपि तत्र सोऽत्यजस्तस्यैवस्तु मिषजामनाधवा ।

स्वाधुमिस्तु विषयैर्हृतस्ततो दुष्कामिन्द्रियगणो निवार्यते ॥ ४२ ॥

दृष्टक्षोपमपीति । मिषजां वैशाजामनाधवो । वधसि न रिहता । ‘वधमे सिद्ध  
आधवा, हायमरा । अक्षिण्य इत्यर्थः । इत दृष्टक्षोपमपि । रोगजननादिति ज्ञेया । तस्य  
अस्य वस्तु सङ्गवस्तु क्षीमतादिकं सङ्गजनकं वस्तु नात्यजम् । तथा हि । इन्द्रियगण  
स्वाधुमिर्विषयैर्हृतस्तु ततोऽत्यजस्ततोऽपि मिषजामनाधवो दुष्कामं कृच्छ्रेण निवार्यते । यदि  
वार्यतेति शेषः । दुस्त्यजाः तस्य विषया इत्यर्थः ॥ ४२ ॥

देवोको वाग नहीं क्षम्येवाके वस्तु ‘अक्षिण्य’के श्रेष्ठ गये दोषोंवाके भी वस्तु संतर्प  
वर्तार्थ ( जो मन्त्र लक्ष्मि ) को नहीं छोड़, नतीके मिषकर विषयोंके नहींभूत इन्द्रिय-  
तन्त्रको कर ( इन्द्रिय-मिषकर विषयो ) से दुष्कामपूर्वक रीत्या जाता है ॥ ४२ ॥

तस्य पाण्डुवदनाऽप्यमृष्या सावकाऽवगममभ्य सुदुस्वना ।

राजयक्ष्मपरिहृमिषयपी अमयावसमवश्यया तुलाम् ॥ ४३ ॥

तस्येति । तस्य राज्ञः पाण्डुवदना । अल्पभूषणा परिमिताभरणा सावलम्बं दासादिहस्तावलम्बसहित गमन यस्या सा सावलम्बगमना । मृदुस्वना हीनस्वरा । राज्ञः सोमस्य यक्षमा राजयक्षमा क्षयरोगः तेन या परिहानि । क्षीणावस्था सा । कामयते विषयानिच्छति कामयान । कमेणिङन्ताच्छानच् । 'अनिध्यमागमशासनम्' इति सुमागमाभावः । एतदेवाभिप्रेत्योक्त वामनेनापि—'कामयानशब्दसिद्धोऽनादिश्च' इति । तस्य समवस्थया कामुकावस्थया तुला साम्यमाययौ प्राप्तः । कालकृतो विशेषोऽवस्था । 'विशेषः कालिकोऽवस्था' इत्यमरः ॥ ५० ॥

पाण्डुवर्णं मुखवाली, अत्यल्प भूषणवाली ( जिसमें परिमित भूषण पहना जाय ऐसी ), अवलम्बनके सहित ( दास-दासी या दण्ड आदिके सहारे से ) गमनवाली और क्षीणस्वरवाली क्षयरोगकी खिन्नताने कामुकके समान अवस्थाको प्राप्त किया अर्थात् 'अग्निवर्ण' हाथ आदिका सहारा लेकर चलने लगे और क्षीण स्वरसे बोलने लगे ॥ ५० ॥

व्योम पश्चिमकलास्थितेन्दु वा पङ्कशेषमिव धर्मपल्वलम् ।

राज्ञि तत्कुलमभूत्क्षयातुरे वामनार्चिरिव दीपभाजनम् ॥ ५१ ॥

व्योमेति । राज्ञि क्षयातुरे सति तत्कुल पश्चिमकलायां स्थित इन्दुर्यस्मिस्तत्कुलावशिष्टेन्दु व्योम वा व्योमेव । वाशब्द इवार्थः । यथाह दण्डी—'इववद्वायथाशब्दौ' इति । पङ्कशेषं धर्मपल्वलमिव । वामनार्चिरिव दीपभाजन दीपपात्रमिवाभूत् ॥

राजा 'अग्निवर्ण'के क्षयरोगी होनेपर वह रघुकुल अन्तिमकलासे अवशिष्ट चन्द्रकलावाले आकाशके समान, कीचढमात्र बचे हुए ग्रीष्मकालीन छोटे जलाशयके समान, छोटी लव ( ज्वाला ) वाले दीपपात्रके समान हो गया ॥ ५१ ॥

वाढमेष दिवसेषु पार्थिवः कर्म साधयति पुत्रजन्मने ।

इत्यदर्शितरुजोऽस्य मन्त्रिणः शश्वदूचुरघशङ्किनीः प्रजाः ॥ ५२ ॥

वाढमिति । वाढ सत्यमेष पार्थिवो दिवसेषु पुत्रजन्मने पुत्रोदयार्थं कर्म जपादिकं साधयति । इत्येवमदर्शितरुजो निगूहितरोगा सन्तोऽस्य राज्ञो मन्त्रिणोऽघशङ्किनीर्व्यसनशङ्किनी प्रजा शश्वदूचु ॥ ५२ ॥

'ये राजा 'अग्निवर्ण' सत्य, दिनोंमें पुत्रोत्पत्तिके लिये पर्याप्त कर्मसाधन जपादि करते हैं' ऐसा उस 'अग्निवर्ण'के रोगको छिपानेवाले मन्त्रियोंने अनिष्टकी आशङ्का करने वाली प्रजाओंसे सर्वदा कहा ॥ ५२ ॥

स त्वनेकवनितासखोऽपि सन्पावनीमनवलोक्य सन्ततिम् ।

वैद्ययज्ञपरिभाविनं गदं न प्रदीप इव वायुमत्यगात् ॥ ५३ ॥

स इति । स त्वग्निवर्णोऽनेकवनितासखः सन्नपि । पावनीं पित्रर्णमोचनीं सन्त-

तिमवबलोज्ज्वलं पुद्गलमवाप्येत्यर्थः । वैद्ययज्ञपरिभाषिणं यद् रोगम् । मन्त्रीषो वायु-  
मिव । नात्यगाच्छातिचक्षुः समारोत्यर्थः ॥ ५३ ॥

किं वे 'अग्निवर्ण' राजा अथैकं विभोके साधु रक्षते इत्यपी एभिः समानयो परी-  
रेक्यन्त वेभोके कर्मयो ध्वने करैवाके रोगयो वायुयो दीपकयो समानं अतिक्रम्य यही क-  
सके ( रोगयो नहीं जीत सके कबीर मर गये ) ॥ ५४ ॥

तं गृहोपवन एव सङ्गताः पश्चिमकटुविद्या पुरोधसा ।

रोगशान्तिमपदिश्य मन्त्रिणः सङ्गृह्यते शिखिनि गृहमादधुः ॥ ५५ ॥

तमिति । पश्चिमकटुविद्याऽन्वेष्टिविधिज्ञेन पुरोधसा सङ्गताः समेता मन्त्रियो  
गृहोपवन एव गृहाराम एव । 'आरामा स्थाणुपवनम्' इत्यमरा । रोगशान्तिम-  
पदिश्य शान्तिकर्म अपदिश्य तमग्निवर्णं सङ्गृह्यते समिद्धे शिखिभ्यस्तौ गृहमप्य-  
शमादधुर्निबधुः । अग्निवर्णं संस्कारं चक्षुरित्यर्थः ॥ ५४ ॥

अन्तिम संस्कार ( अन्वेष्टि ) की विधिके बाता पुरोहितके साधु मन्त्रियोंके निष्पन्न  
हस्त 'अग्निवर्ण' को गृहके उपवनमें ही रोगके शान्तिकर्मका बराबा करके जलही कुं  
अग्निमें गृहकपसे ( बिना किसीकी सहाये ) जला दिया ॥ ५४ ॥

तैः कृतप्रकृतिमुक्यसङ्गमर्हैषां तस्य सहधर्मचारिणी ।

साधुदण्डशुभगमकक्षणा प्रत्यपद्यत वराधिपधियम् ॥ ५५ ॥

तैरिति । आद्य सौमं कृता प्रकृतिमुक्यानां पीरजवप्रधानानां अङ्गप्रदा सी-  
पातर्ष वैस्ताद्यौर्मन्त्रिभिः साधु विपुल दण्डशुभगमकक्षणा परीक्षितशुभगमर्हैषां  
तस्याग्निवर्णस्य सहधर्मचारिणी वराधिपधियं प्रत्यपद्यत राजकक्ष्मी प्राप ॥ ५५ ॥

(किं) दण्ड ही प्रभाव नगरीकोही पुनःकर मन्त्रियोंके अच्छी तरह माझस हुए वर्णके  
सङ्गमर्हैषां कृत 'अग्निवर्ण' की सङ्गमर्हिणी (वरावाही)के राजकक्ष्मीको प्राप्त किया ॥ ५५ ॥

तस्यास्तयाधिपनरेन्द्रविपत्तिशाका

बुध्नेर्बिलोचनजलैः प्रथमामिततः ।

निर्वापिताः कमलकुम्भमुज्ज्वलैः

वशांमियेकविधिना शिशिरेण गर्भः ॥ ५६ ॥

तस्या इति । तयाधिपता नरेन्द्रविपत्त्या वा सोमरतरमाधुर्जिह्वकोचमज्ज-  
प्रथमामिततरवा गर्भः कमलकुम्भायां मुनीश्वरैरुज्ज्वलैः शिशिरेण क्षीतकेन  
वशांमियेकविधिना कक्षनवाग्निपेकजलेन निर्वापिता आप्यपिता ॥ ५६ ॥

इत प्रकट राजा ( पति ) की विपत्ति ( वायु ) कमल की छींटे वरुण जलकोंटे वरुण  
तन्त्रज्ञ वरुण राजाका गर्भ लगीकक्ष्मीके मुनियों के गिरे हुए जलके वशांमियेककी विधिसे क्षीतक  
जलीर पुनःवरा एव हुआ ॥ ५६ ॥

तं भावार्थं प्रसवसमयाकाङ्क्षणीनां प्रजाना-

मन्तर्गूढं क्षितिरिच नभोबीजमुष्टिं दधाना ।

मौलैः सार्धं स्थविरसचिवैर्द्वेमसिंहासनस्था

राज्ञी राज्यं विधिवदशिषद्भर्तुरव्याहताज्ञा ॥ ५७ ॥

तमिति । प्रसवो गर्भमोचनम् । फलं च विवक्षितम् । 'स्यादुत्पादे फले पुण्ये प्रसवो गर्भमोचने' इत्यमरः । तस्य यः समयस्तदाकाङ्क्षणीनां प्रजानां भावार्थं भावाय, भूतय इत्यर्थः । 'भावो लीलाक्रियाचेष्टाभूत्यभिप्रायजन्तुषु' इति यादवः । क्षितिरन्तर्गूढं नभोबीजमुष्टिमिव । श्रावणमास्युप्तं बीजमुष्टिं यथा घत्ते तद्वदित्यर्थः । मुष्टिशब्दो द्विलिङ्गः । 'अक्लीवौ मुष्टिमुस्तकौ' इति यादवः । अन्तर्गूढमन्तर्गतं तं गर्भं दधाना द्वेमसिंहासनस्थाऽव्याहताज्ञा राज्ञी मौलैर्मूलादागतैर्वा । आप्तैरित्यर्थः । स्थविरसचिवैर्द्वैकामात्यैः सार्धं भर्तुं राज्यं विधिवद्विध्यहम्, यथाशास्त्रमित्यर्थः । अहार्थं वतिप्रत्ययः । अशिषच्छास्ति स्म । 'सतिशास्यतिभ्यश्च' इति स्लेरट् । 'शास इदङ् हलोः' इतीकारः ॥ ५७ ॥

इति महामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितया सङ्गीविनीसमा-

ख्यया व्याख्यया समेतो महाकविध्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महा-

काव्ये अग्निवर्णशृङ्गारो नामैकोनविंशः सर्गः ॥ १९ ॥



फल-समय ( फल लगनेवाले कार्तिक मास ) को चाहनेवाली प्रजाओं ( किसानों ) की उन्नतिके लिए भीतरमें छिपे हुए तथा श्रावणमासमें बोये गये बीजकी मूठको धारण करती हुई पृथ्वीके समान प्रसूतिसमय ( बालकके पैदा होनेका दशम मास ) को चाहनेवाली प्रजाओंकी उन्नतिके लिए अन्तर्गुप्त ( उदरमें स्थित ) उस गर्भको धारण करती हुई राज-सिंहासनस्थ और अस्खलित शासनवाली उस रानीने विश्वासपात्र मन्त्रियोंके साथ विधिपूर्वक मतिके राज्यका शासन किया ॥ ५७ ॥

वैक्रमे वसुखलाक्षि(२००८)वत्सरे सौम्ययुक्त'विजया'ख्यदिक्रिथौ ।

पूर्णतामुपगता 'मणिप्रभा' विश्वनाथपदपङ्कजेऽर्पिता ॥ १ ॥

हरगोविन्दमन्त्रेण हरगोविन्दशास्त्रिणा ।

हरगोविन्दतो लब्ध यत्तत्र समर्पितम् ॥ २ ॥

समाप्तं रघुवंशमहाकाव्यम् ।



स्रक्केभरस्य भवने सुषिर स्थितेति  
रामेण श्लोकपरिषादमयाकूलो न ।  
निर्वासितां जनपदापि गमगुर्वा

सीतां वनाय परिकर्षति स्रग्मणोऽयम् ॥'

अत्र नृत्यप्रयोगार्थं स्वभार्याह्वानमिच्छता सूत्रधारेण 'सीतां वनाय परिकर्षति स्रग्मणोऽयम्' इति सीतास्रग्मणयोः प्रवेशं सूचयित्वा निष्क्रान्तेन स्वप्रयोगमतिशयान् पक्ष प्रयोगः प्रयोमितः ।

(४—'प्रवक्तृ' प्रस्तावना)

काल प्रवृत्तमाभित्य सूत्रधूम्यत्र वर्णयेत् ।

सदाभ्यपश्य पात्रस्य प्रवेशस्तत्प्रवर्तकम् ॥ ३७ ॥

धवा—

'आसादितप्रकट—' इत्यादि । 'उत्त' प्रविशति यथानिर्दिष्टो राम'

बोह ! वह तो कथमन है जो गर्मिणी सीता को बहापति राजन के भवन में रहने के कारण श्लोकपदाद क भय से राम द्वारा वेशनिर्वासन का वन्द दिव जाने पर पक्ष की ओर खींचे किन्हे जा रहा है ।

यहाँ 'प्रयोगातिशय' इसकिन्हे है क्योंकि सूत्रधार नृत्यप्रयोग के किन्हे अपनी जाबा ( मटी ) की बुकाबा चाहता है किन्तु 'वच की ओर सीता को कथमन खींचे जा रहा है' आदि कहकर सीता और कथमन के प्रवेश की सूचना दे देता है और स्वयं रंगमञ्च से निकल जाता है । इस प्रकार सूत्रधार स्वयं अपने पूर्व प्रयोग अर्थात् नृत्यानुष्ठान का अतिशय करके अन्य प्रयोग अर्थात् सीता और कथमन के प्रवेश की सूचना देते 'प्रयोगातिशय' नामक प्रस्तावना कर रहा है ।

विमर्श—वाक्यान्तर्गत मरुत्तुनि ने 'प्रयोगातिशय' की वह परिचयता की है—

'प्रयोगे तु प्रयोगे तु सूत्रधारः प्रवोक्तव्ये ।

ततश्च प्रविशेत्—पार्श्व प्रयोगातिशयो हि सा ॥ (मादनञ्जाब । १२.११)

अर्थात् यहाँ सूत्रधार प्रस्तावना—कथमन प्रयोग अथवा नृत्यानुष्ठान में लाजवामक अन्य प्रयोग अथवा नृत्यानुष्ठान कर दे और पात्र का प्रवेश हो वहाँ को प्रस्तावना हुना करती है वह 'प्रयोगातिशय' कही जाना करती है ।

वामिनकमारटीकार ने इसकिन्हे कहा है—

'सूत्रधार एव वच प्रयोगे प्रयोगे समुद्रककवाजबुराकवह बोधयति स प्रयोगाद्वरकेत्यात् प्रयोगातिशयः ।

अनुवाद—'प्रवर्तक' वह प्रस्तावना—प्रकार है जिसमें सूत्रधार लाजवामक के समक वसन्त आदि वाद्य का वर्जन किया करता है और पात्र उस वर्जन की रकपमगी के आचार पर रंगमञ्च पर आ पहुँचता है ।

इसका उदाहरण ( कविताराम' नामक कपक—ग्रन्थ की ) 'आसादितप्रकट' आदि प्रस्तावना है, यहाँ सूत्रधार 'आसादितप्रकटविमर्शकचन्द्रहास'—विष्टाव चन्द्रिका से निष्प्रेतमाव—'विष्टावचन्द्रा'—सीन्धुसम्पूर्ण—'संवृत्तचन्द्रा'—चन्द्रावीर्य के विष्टावक—किंवा संतमसावृत्त वन काक के विष्टावक धारकसमक का वर्जन कर रहा है और इसकी रकेव—मयी 'आसादितप्रकटविमर्शकचन्द्रहास'—पराशित 'राज' के चन्द्रहास का

(५—‘अवलगित’ प्रस्तावना)

यत्रैकत्र समावेशात्कार्यमन्यत्प्रसाध्यते ।

प्रयोगे खलु तज्ज्ञेयं नाम्नावलगितं बुधैः ॥ ३८ ॥

यथा शाकुन्तले—

सूत्रधारो नटीं प्रति । ‘तवाऽस्मि गीतरागेण—’ इत्यादि । ततो राज्ञः प्रवेशः ।

को लिये—‘विशुद्धकान्त’—साध्वी सीता के सङ्ग ‘सभृतवन्धुजीव’—वानर सैनिकों और लक्ष्मण को पुनरुज्जीवित किये किंवा रावण जैसे अज्ञानसतमस के सहारक राम का प्रवेश करा देती है ।

विमर्श—नाट्यशास्त्रकार भरत मुनि ने ‘प्रवर्त्तक’ प्रस्तावना का यह लक्षण किया है—

‘कालप्रवृत्तिमाश्रित्य वर्णना या प्रयुज्यते ।

तदाश्रयाच्च पात्रस्य प्रवेशस्तत् प्रवृत्तकम् ॥ ( नाट्यशास्त्र २०.३७ )

जिसे आचार्य अभिनवगुप्त ने इस प्रकार समझाया है—

‘यदा कालप्रवृत्तिं काञ्चिदवलम्ब्य यथा सूत्रधारेण किञ्चिद् वस्तु वर्ण्यते तदाश्रयेण च पात्रस्य प्रवेश तत्कालप्रवृत्त्या स्वार्थोक्तत्वात् प्रवृत्तकम् ।’

उपयुक्त प्रस्तावना-चतुष्टय में यह स्पष्ट है कि सूत्रधार के वाक्य, अर्थ, आह्वान तथा समय-वर्णन की विचित्रता से रङ्गमञ्च पर पात्र का प्रवेश हुआ करता है । नाट्य-पात्र के प्रवेश के ये चित्र-विचित्र प्रकार हैं जिनमें किसी एक रूपक में किसी एक का ही आश्रय लिया गया है । भरत मुनि का यही आदेश भी है—

‘पात्रग्रन्थैरसवाध प्रकुर्यादामुखं तत ।’

( नाट्यशास्त्र २०.३९ )

अनुवाद—‘अवलगित’ वह प्रस्तावना-भेद है जहाँ सूत्रधार अपने प्रस्तावनानुष्ठान रूप एक प्रयोग में नाट्यारम्भ-रूप अन्य प्रयोग की भी युक्तिपूर्वक योजना कर दिया करता है और पात्र का प्रवेश हो जाता है ।

इसका उदाहरण ‘अभिज्ञानशाकुन्तल’ की प्रस्तावना है, जहाँ सूत्रधार नदी से कहता है—‘आर्य ! तुम्हारे मनोहर गीत राग की ओर मैं उसी प्रकार खिंचा जा रहा हूँ जैसे वीढ़ते हरिण की ओर यह राजा दुष्यन्त खिंचा आ रहा है ।’ और रङ्गमञ्च पर दुष्यन्त का प्रवेश हो जाता है ।

विमर्श—भरत मुनि के नाट्यशास्त्र में ‘अवलगित’ का यह लक्षण है—

‘यत्रान्यस्मिन् समावेश्य कार्यमन्यत् प्रसाध्यते ।

तच्चावलगितं नाम विज्ञेय नाट्ययोक्तृभिः ॥’

जिसे अभिनवगुप्तपादाचार्य ने इस प्रकार स्पष्ट किया है—

( नाट्यशास्त्र १८.११६ )

‘यत्रोत्तरे दीयमाने अन्यानुसंधानपूर्वकेऽप्यन्यत् कार्यं सिध्यति तदान्यकार्यावलगनाद-  
..वलगितम् ।’

अर्थात् जहाँ सूत्रधार के अन्यार्थक वचन से अन्य कार्य भी सम्पन्न हो जाय वहाँ ‘अवलगित’ नामक आमुख-भेद हुआ करता है ।

(आमुक्तोपपुच्छ वीर्ष्य)

योज्यान्यत्र यथालाभं वीर्ष्यज्ञानीतराप्यपि ।

अत्र आमुक्ते । उदात्त(त)कावसगितयोरितराभि वीर्ष्यज्ञानि वक्ष्यमाणानि ।

(नलकुट्ट क मत् में प्रस्तावना का अन्य प्रकार)

नलकुट्टस्तु—

नेपथ्योक्तं श्रुतं यत्र स्वाकाशवचन तथा ॥ ३९ ॥

समाभिस्थापि कर्तव्यमामुखं नाटकादिषु ।

एषामामुखमेवानामेकं कश्चित्प्रयोगयेत् ॥ ४० ॥

तेनार्यमथ पात्रं वा समाधिप्यैव सूत्रशृक् ।

प्रस्तावनान्ते निर्गच्छेत्ततो वस्तु प्रयोजयेत् ॥ ४१ ॥

(वस्तु : इतिवृत्त : १-आधिकारिक २-प्रासंगिक)

वस्तिवृत्तम् ।

इदं पुनर्वस्तु कुचेर्द्विर्विधं परिकल्प्यते ।

आधिकारिकमेकं स्यात्प्रासङ्गिकमथापरम् ॥ ४२ ॥

अनुवाद—आमुख अथवा प्रस्तावना क जो पाँच प्रकार बताये गये उन्में से किसी एक की योजना में वीथी के अन्य अङ्गोंकी भी उपयोगितानुसार योजना की जा सकती है।

यहाँ (कारिका में) 'अथ' का अभिप्राय 'अवकाशित' नामक प्रस्तावनामेद का नहीं अपितु पञ्चविध 'आमुख' का अभिप्राय है। 'उदात्तक' और 'अवकाशित' क अतिरिक्त जो वीर्ष्य हैं उन्का अंगो निरूपण किया जायगा।

अनुवाद—रूपक-प्रयोगों के पञ्चविध आमुख का जो निरूपण किया गया वहाँ तो रङ्गमञ्च पर उपस्थित सूत्रधार अवकाश प्राप्त कर पात्र का प्रवेश हुआ करता है किन्तु आमुख का एक और भी प्रकार है जिसे 'नलकुट्ट' ने कहा है और जिसमें नेपथ्य-वचन अथवा आकाशभाषित के अन्त पर ही सूत्रधार प्रस्तावना कर दिया करता है। इन पञ्चविध प्रस्तावनानों में किसी एक की ही योजना किसी एक रूपक-प्रयोग के किये आवश्यक है। सूत्रधार का यह कर्तव्य है कि रूपक-प्रयोग के वृत्तान्त अथवा पात्रविलेप की सूचना के बाद प्रस्तावना समाप्त कर दे और स्वयं रङ्गमञ्च से निकल जाय जिसके बाद रूपक-प्रयोग आरम्भ हो जाय।

यहाँ कारिका के 'वस्तु' पद का अभिप्राय 'इतिवृत्त' का अभिप्राय है।

विमर्श—(क) साहित्यवर्णन की 'व्यप्री' टीका में 'नलकुट्ट' की जो आमुख का नाम बताया गया है (अनामविस्तृतिपात्रवदितोऽपि नलकुट्टावकाशः वक्तुं प्रभेद इति वक्ष्यितुमाह—नलकुट्टस्तिवृत्ति—पृष्ठ १४ ) वह निरर्थक है।

(ख) रूपक-प्रयोगों में पात्रप्रवेश के पहले का याग तो 'आमुख' अथवा प्रस्तावना है और उसके बाद का भाग 'नाट्य' है। 'नाट्य' का सूचक होने के कारण प्रस्तावना को 'आमुख' कहा गया है (इहंमुक्तं सूत्रसमिधसूचकत्वात्प्रासङ्गिक-आमुख-प्रस्तावनानामेवोपाप्येतदुच्यते)।

अनुवाद—नाट्यकोषियों के अनुसार रूपक-प्रयोग में, 'वस्तु' अथवा 'इतिवृत्त' की

अधिकारः फले स्वाम्यमधिकारी च तत्प्रभुः ।  
तस्येतिवृत्तं कविभिराधिकारिकमुच्यते ॥ ४३ ॥

फले प्रधानफले । यथा बालरामायणे रामचरितम् ।  
अस्योपकरणार्थं तु प्रासङ्गिकमितीष्यते ।

अस्याधिकारिकेतिवृत्तस्य उपकरणनिमित्तं यच्चरितं तत्प्रासङ्गिकम् । यथा  
सुग्रीवादिचरितम् ।

प्रकार का हुआ करता है—( १ला ) आधिकारिक और ( २रा ) प्रासङ्गिक । ‘अधिकार’ का अभिप्राय फल के स्वामित्व का अभिप्राय है और ‘अधिकारी’ वह कहा जाया करता है जो फल का स्वामी हुआ करता है । इस प्रकार ‘अधिकारी’ ( अर्थात् प्रधान नायक ) से सम्यक् जो इतिवृत्त हुआ करता है उसे ‘आधिकारिक’ इतिवृत्त कहा जाया करता है ।

यहाँ ‘फले स्वाम्यम्’ में ‘फले’ का अभिप्राय प्रधान फल का अभिप्राय है ( आनुपङ्गिक अथवा अप्रधान का नहीं ) । ‘आधिकारिक’ इतिवृत्त का निदर्शन ‘बालरामायण’ में उपनिबद्ध राम का रावण-वध-सम्बद्ध इतिवृत्त है ।

और जिसे ‘प्रासङ्गिक’ इतिवृत्त कहा गया है वह ऐसा इतिवृत्त हुआ करता है जो ‘आधिकारिक’ इतिवृत्त का सहायक किंवा उपयोगी हुआ करता है ।

यहाँ, कारिका में ‘अस्य’ का अभिप्राय ‘आधिकारिक इतिवृत्त’ का अभिप्राय है और ‘उपकरणार्थ’ का अभिप्राय उपकरण अथवा सहायता के निमित्तभूत चरित अथवा वृत्त का अभिप्राय है जिसे ‘प्रासङ्गिक’ नाम दिया गया है ।

‘प्रासङ्गिक’ इतिवृत्त-प्रकार का उदाहरण राम-सम्बन्धी रूपक-प्रबन्ध में सुग्रीव आदि से सम्बद्ध वृत्त है ।

विमर्श—अभिनयेय काव्य का शरीर ‘वृत्त’ माना गया है और अभिनेय काव्य का शरीर ‘इतिवृत्त’ अथवा कविद्वारा उपस्कृत वृत्त । कवि द्वारा वृत्त के उपस्कार का साधन सन्धि-योजना है जिसमें वृत्त के प्रकार-वैचित्र्य की कल्पना रहा करती है । कोई भी वृत्त स्वभावतः न तो आधिकारिक हो सकता है और न प्रासङ्गिक । यह तो कवि की कल्पना है जो एक ही वृत्त में ‘अधिकार’ और ‘प्रासङ्गिक’ का भेद करके एक को ‘आधिकारिक’ रूप में प्रस्तुत करती है और दूसरे को ‘प्रासङ्गिक’ रूप में । ‘आधिकारिक’ वृत्त तो रूपक-प्रबन्ध का व्यापकवृत्त हुआ करता है और ‘प्रासङ्गिक’ इस व्यापक वृत्त का ‘उपकरण’भूत वृत्त रहता है । अभिनवभारतीकार ने ‘आधिकारिक’पद की यह निरुक्ति की है—‘अधिकारं सर्वत्रानुयायित्वम् हृदयानुयायित्वं प्रयोजनमस्य ( तत् ) ।’ जिससे यह स्पष्ट है कि रूपक का ‘आधिकारिक’वृत्त वह है जिसे कवि रूपक प्रबन्ध-व्यापी बनाया करता है । ‘प्रासङ्गिक’ पद की निरुक्ति ‘अभिनवभारती’कार ने इस प्रकार की है—

‘प्रसक्तिर्हि प्रसङ्गं तत् आगतं प्रासङ्गिकं, प्रसज्यते वा प्रधानफलनिष्पत्तये इति प्रसङ्गस्तत् आगतम् ।’

जिससे यह निश्चित हो जाता है कि ‘प्रासङ्गिक’ वृत्त ‘आधिकारिक’ वृत्त का ही उपस्कारक वृत्त हुआ करता है ।

नाट्यदर्पण की इन रक्तियों में, जिनमें ‘अभिनवभारती’ के अभिप्रायों का सार खींचा हुआ है, ‘आधिकारिक’ और ‘प्रासङ्गिक’ का यह तात्पर्य बताया गया है—



(पताकास्थानकः नाटकीय उपयोगः)

पताकास्थानकं योन्यं सुविचार्येह वस्तुनि ॥ ४४ ॥

इह नाटये ।

यत्रार्थे चिन्तितेऽन्यस्मिस्तत्स्थितोऽन्यः प्रयुज्यते ।

आगन्तुकेन भाषेन पताकास्थानकं तु तत् ॥ ४५ ॥

मुख्यमिष्टकं वृत्तमङ्गं प्राप्तिकं कथितम् । मुख्यं सर्वप्रकल्पध्यायित्वा प्रथमम् । इत्थं सर्वोत्कर्षेण कथरमिष्टेन फलं वक्ष्ये । वृत्तं चरितम् अङ्गं मुख्यवृत्तस्यानुपायित्वावयवम् । प्रसंगात् परकीयपरत्वाद्भावेन प्राप्तमिष्टम् । इह तावच्च भिसर्गतः किञ्चिच्चरितं मुख्यमङ्गं वा किन्तु बहुष्वपि फलेषु कथितेऽस्यात्यन्तमुख्यमङ्गमिष्टेति तत्प्रकल्पितम् । अनेन च एव फलवद् वृत्तं तद्विह मुख्यम् । तद्वितरवर्णनात् प्राप्तमिष्टम् । रामप्रबन्धेषु हि सुग्रीवमैत्री-क्षरजागतविभीषणरक्षस-राक्षसवध-सीताप्रत्यागमयवादिषु सीताप्रत्यागमनस्यैव प्राधान्यं कविना प्रतिपादितम् । तत्संपात्तमात्रं तद्विषयेषु प्रवृत्तेः । अत एव तावच्चरितम् । कथिरपि न स्वच्छाया फलबोत्कर्षं विवक्षुमर्हति किन्तु चिन्तयेत् । वक्ष्ये चोदाहृत्यैवैव फलमुचितं तत्सर्वबोत्कर्षो निबन्धनीयाः । प्राप्तमिष्टस्यापि च मुख्यवृत्तप्रयत्नेनैव निष्पत्तिविधया । मयन्नान्तरे हि तदपि मुख्यं स्यात् । 'कथिरिति परीष मुख्यो वेत्ता फलसिद्धौ सहायमपेक्षते तत्रैव प्राप्तमिष्टम्, न सर्वत्र ।

(नाट्यदर्पण १२ विवेक)

संक्षेप के रूपक-प्रबन्धों में जो कथावस्तु-रचना (Plot Construction) है उसमें सर्वत्र नायिकायिक और कथावस्तु प्राप्तिक वृत्त का योजना-वैशिष्ट्य स्पष्टतया दृष्टिकथित होता है ।

अनुवाद—रूपक-प्रबन्धों की 'वृत्तिवृत्त-रचना' में वैशिष्ट्य के भावान के किन्तु कवि के लिये यह अपेक्षित है कि वह विचारपूर्वक 'पताकास्थानक' की योजना करे ।

यहाँ कारिका में 'इह' पद का अन्विष्टाव 'नाट्य (अथवा रूपक)' का अन्विष्टाव है ।

'पताकास्थानक' क्या है ? 'पताकास्थानक' वह है जिसे नाट्य के उस स्थान पर जहाँ नाटककार किसी एक प्रयोजन अथवा उपाय की चिन्ता कर रहा है उसके समान अन्य प्रयोजन अथवा उपाय की अकस्मात् अवर्तित उपस्थिति हो आया करती है ।

विमर्श—'पताकास्थानक' एक प्रकार का वृत्तिवृत्त ही है । इस वृत्तिवृत्त-प्रकार की योजना मुख्य वृत्तिवृत्त में वैशिष्ट्य का भावान किया करती है (तेन पताकास्थानकमिति वृत्तमेयोप्यते । तत्र वर्णमार्तं तु अवाजडकं पताकासदृशमित्यर्थोऽप्युक्तं भवति । स चाम्योऽर्थवत्स्थित-स्तन्मुख्यमर्थं किमायति विधिज्ञपतीति । अथियवभाती नाट्यपद्याल १९३ ।)

'पताका' और 'पताकास्थानक' का वृत्तिवृत्त-प्रकारों में बरतार भिन्न है । 'पताका' वृत्त वृत्त को रूपक प्रबन्धों के मुख्य वृत्त का उपकारक होने से एक निश्चित स्थान पर और पूर्णतः समस्त एक निश्चित कथनेवाला वृत्त हुआ करता है किन्तु 'पताकास्थानक' वह वृत्त है जो कहीं-कहीं उपनिबद्ध हुआ करता है और नाट्य के सीन्दर्भ-वर्णन के लिए ही उपनिबद्ध हुआ करता है । नाट्यवर्णनकार में दृष्टीकथित क्या है—

'चिन्तितार्थापरमाप्तिर्पुंसे अत्रोपकारिणी ।

पताकास्थानकं तत्तु अतुर्था मण्डनं कथितम् ॥

( १ म पताकास्थानक )

तद्देवानाह—

सहसैवार्थसंपत्तिगुणवत्युपचारतः ।

पताकास्थानकमिदं प्रथमं परिकीर्तितम् ॥ ४६ ॥

यथा रत्नावल्याम्—

‘वासवदत्तेयम्’ इति राजा यदा तत्कण्ठपाश मोचयति तदा तदुक्त्या  
‘सागरिकेयम्’ इति प्रत्यभिज्ञाय ‘कथ ? प्रिया मे सागरिका ?

अलमलमतिमात्र साहसेनामुना ते

त्वरितमयि । विमुञ्च त्व लतापाशमेतम् ।

चलितमपि निरोद्धु जीवित जीवितेशे !

क्षणमिह मम कण्ठे बाहुपाश निधेहि ॥’

अत्र फलरूपार्थसपत्ति. पूर्वोपेक्षयोपचारातिशयाद् गुणवत्युत्कृष्टा ।

अर्थ—कर्म-करणव्युत्पत्त्या प्रयोजनमुपायश्च । अध्यवसितात् प्रयोजनादुपायाच्चा-  
न्यस्य प्रयोजनस्योपायस्य च प्राप्तियत्रेति वृत्ते उपकारिणी प्रधानफलोपकारिका  
तदिति वृत्त पताकास्थानकम् । उपकारित्वमात्रसाम्यात् पताकास्थान एव तुल्य पताका-  
स्थानकम्, न पुन पताकास्थानमेव । अत एव तुशब्द पताकास्वरूपाद् व्यतिकर  
द्योतयति । मण्डनमिति एकमपि पताकास्थानक नाट्य-काव्यस्यालङ्करणम्, किं पुनर्द्वे  
त्रीणि चत्वारि वा ? एतद्विहीन रूपक न कार्यमित्यर्थ । क्वचिदित्यन्तराऽन्तरा, न तु  
पताकावन्निरन्तरम् । अत एव पताकातो भिद्यते । ( नाट्यदर्पण १म विवेक )

अनुवाद—‘पताकास्थानक के चार भेद हैं जिन्हें कमश बताया जा रहा है—

पहला ‘पताकास्थानक’ वह है जहाँ सामाजिकों को अकस्मात् अभीष्ट अर्थ का परिचय  
मिल जाता है क्योंकि यहाँ कवि एक प्रयोजन तो मन में रखता है और दूसरे का उप-  
निबन्धचातुर्य दिखाया करता है ।

इसका उदाहरण ‘रत्नावली’ का यह प्रसंग है—

‘नायक उदयन ‘सागरिका’ को, गले में लतापाश का फन्दा लगाते देख, वासवदत्ता  
समझ लेता है किन्तु उसकी धोली से यह जान कर कि वह तो उसकी प्रियतमा  
‘सागरिका’ है उसके बाहु-पाश को अपने गले का फन्दा बनाने को उत्सुक हो उठता है  
और कहने लगता है—

तू यह आत्मघात का साहस क्यों कर बैठी ! अरे इस लतापाश को फेंक और अपने  
इस प्रियतमा के गले में अपना बाहुपाश ढाल दे जिससे तेरे विरह में भागने के इच्छुक  
इसके प्राण भागने न पाँय ।’

यहाँ अकस्मात् इष्ट-लाभ की प्राप्ति है क्योंकि सामाजिक उदयन को बहुत देर से  
सागरिका के प्रेम-मिलन-सुख का प्रार्थी देखते आये हैं और सहसा इस प्रकार के प्रेम-  
मिलन-सुख के पानेवाले उदयन को देख प्रसन्नता से भर उठते हैं ।

विमर्श—यह ‘पताकास्थानक’ भी एक विचित्र वृत्त-भेद ही है । इस वृत्त-भेद में भी कोई  
न कोई नायक अवश्य होना चाहिये । ‘अभिनवभारती’कार के अनुसार दैवयोग और देशकाल-  
विशेष के कारण नायक के जो भिन्न भिन्न रूप हो सकते हैं, उनमें से किसी एक रूप में, वह  
स्वयं इस वृत्त-भेद का नायक हो जाता करता है —

( १ व पताकास्थानक )

वचः सातिष्ठयं सिद्धं नानाबन्धसमाश्रयम् ।

पताकास्थानकमिदं द्वितीयं परिकीर्तितम् ॥ ४७ ॥

यथा वेण्याम्—

'रक्षप्रसाधितमुखा' क्षतविग्रहाश्च स्वस्या मधन्तु कुठराजमुताः सभृत्स्या ।'

अत्र रक्षादीना रुधिरसारीराधेस्तुकरलोपयोनो बीजार्थप्रतिपादनान्नेष्टमङ्गल प्रतिपत्तौ सत्या द्वितीय पताकास्थानकम् ।

'अत्रान्वयः प्रयोयर्थं चिन्तितं तद्वैधिम्यकारि च प्रयोजनान्तरं सपक्षम् । तत्र च द्वैक-योगः, तथाभूतद्वैककण्ठयोगः नात्यक्त स्वतन्त्रमैवात्म्यमिसन्धिबोगात् कश्चिपतमेव सत्पारि-  
कैव वा मरज्जमेवोचितमित्यन्वयमिसन्धानेन बह्वीति पताकावत्यक्तसंज्ञार्थं भवते ।

( अमित्रवर्मभारती भाग १ व पृष्ठ १९ )

अनुवाद—दूसरा 'पताकास्थानक' यह है जहाँ प्रकृत विषय की बर्तता में ऐसा किञ्च बचन-विन्यास किया हुआ रहता है जो अग्रकृत के भी उपयुक्त हो जाता है और एक अन्तःकार की सृष्टि कर जाता है ।

इसका उदाहरण 'वेणीसंहार' का वह प्रसङ्ग है—

'सुखचार मंगलसंज्ञक करता है—'सभृत्स्या' ( अनुचर-परिवरों के साथ ) वत विग्रहा' ( क्याही-समये की नीति से विमुक्त और पचान्तर में, वत-विघट घरीर किये ) किं वा 'रक्षप्रसाधितमुखा' ( प्रजापत्यों के रक्षक तथा साधनत्व को सुसोमित करनेवाले और पचान्तर में, कोटुसहाय करीर किये घरीर पर गिरे-पड़े ) 'कुम्भराजमुता' ( कुम्भराज घतराज के कुम्भर-गण ) 'स्वस्या भवन्तु' ( आत्मन् करें और पचान्तर में-मरमिर्ते ) ।'

यहाँ 'पताकास्थानक' का दूसरा प्रकार इसकिये स्पष्ट दिखायी पड़ रहा है क्योंकि 'रक्ष' और 'विग्रह' आदि किञ्च पक्षों का ऐसा विन्यास किया हुआ है जिससे 'परिवर' और घरीर का अर्थ निकल पड़ता है और भीम के वेणीसंहार रूप प्रतिज्ञा-प्राप्तन के बीजभूत वृत्तार्थ की अभिव्यक्ति हो उठती है जो कि 'वेणीसंहार' रूप एक की एक तुल्य-सृष्टिवा सी ही है ।

विमर्श—तत्त्वान्वयार्थ मरज्जुमि नि इस 'पताकास्थानक' प्रकार की वह परिभाषा की है—

'वचः सातिष्ठयं सिद्धं कान्धबन्धसमाश्रयम् ।

पताकास्थानकमिदं द्वितीयं परिकीर्तितम् ॥ ( ताम्रपुष्पाक्ष १९, १९ )

जिसे साहित्यदर्पणकार ने इस प्रकार बरक किया है—

'वचः सातिष्ठयं सिद्धं नानाबन्धसमाश्रयम् ।

पताकास्थानकमिदं द्वितीयं परिकीर्तितम् ॥

यहाँ 'कान्धबन्धसमाश्रयम्' के स्थान पर 'नानाबन्धसमाश्रयम्' बरक पड़ा है । 'अमित्र-  
वर्मभारती' ने 'कान्धबन्धसमाश्रयम्' का अग्रिमार्थ यह बताया है—

'कान्धबन्धः प्रकृतस्य वर्णवीर्यस्य चो बन्धः अतिशयोक्त्यादिना योजनं तन्निमित्तवशात्-  
प्रचनं ( तत् ) ।

'नानाबन्धसमाश्रयम्' का भी वही भावार्थ होता आदिवे । 'नानाबन्ध' का शास्त्रार्थ 'उर्ध्व-  
मेघो' टीका में 'दिविनिष्ठोपन-सम्बन्ध' ( साहित्यदर्पण १, उर्ध्वमेघो-विरचित व्याख्या पृष्ठ १७१ )

( ३ य पताकास्थानक )

अर्थोपक्षेपकं यत्तु लीनं सविनयं भवेत् ।

श्लिष्टप्रत्युत्तरोपेतं तृतीयमिदमुच्यते ॥ ४८ ॥

लीनमव्यक्तार्थम्, श्लिष्टेन सम्बन्धयोग्येनाभिप्रायान्तरप्रयुक्तेन प्रत्युत्तरेणापेतम्, सविनय विशेषनिश्चयप्राप्त्या सहितं सपाद्यते यत्तत्तृतीय पताकास्थानम् ।

यथा वेण्या द्वितीयेऽङ्के—

‘कञ्चुकी—देव ! भग्नं भग्नम् ।

राजा—केन ?

कञ्चुकी—भीमेन ।

राजा—कस्य ?

कञ्चुकी—भवतः ।

राजा—आ ! किं प्रलपसि ?

कञ्चुकी—( सभयम् ) देव ! ननु ब्रवीमि । भग्न भीमेन भवतः ।

बताया है जो यहाँ एक आशिक अभिप्राय-प्रकार अवश्य है किन्तु सम्पूर्ण नहीं । ‘उन्मी दीदा’ का ‘नानाबन्ध’ को यह व्याख्या अर्थात्—

‘नानाबन्धो बीजप्रकाशननायकमगलसूचनादिरूप’

यहाँ असंगत है । ‘विमला’ व्याख्या ( पृष्ठ २५१ ) में ‘नानाबन्ध’ को ‘उन्मी दीदा’ का अर्थ दिया गया है जिससे कोई अभिप्राय नहीं निकलता । वस्तुतः विमलाय वदति इति, ‘उन्मी दीदा’ पद से, अभिप्राय ‘अतिशयोक्ति’ ‘समासोक्ति’ आदि-आदि अर्थयोजना-प्रकारों का अर्थ है ।

अनुवाद—तीसरा ‘पताकास्थानक’ वह है जिसमें ऐसे अर्थों का प्रत्युत्तर प्रयुक्त होता है जिससे अस्फुट भी अभिप्रेत किया जा सकता है ।

यहाँ ‘लीनम्’ का अभिप्राय अस्फुट ( किन्तु प्रस्तुत रूप से अभीष्ट ) का अर्थ है, ‘श्लिष्टप्रत्युत्तरोपेतम्’ का तात्पर्य प्रस्तुत अर्थ से सम्बन्धयोग्य अन्य अस्फुट अर्थ-युक्त प्रत्युत्तर का तात्पर्य है और ‘सविनयम्’ का अर्थ ‘विनय’ अथवा विनये निश्चय से युक्त का अर्थ है । तात्पर्य यह है कि तीसरा ‘पताकास्थानक’ इस प्रकार के विविध वर्णन से युक्त हुआ करता है ।

इसका निदर्शन ‘वेणीसहार’ के द्वितीय अङ्क का यह प्रसंग है—

‘कञ्चुकी—महाराज ! तोड़ दिया, तोड़ दिया ।

राजा—अरे ! किसने ?

कञ्चुकी—भीम ने ।

राजा—किसका ?

कञ्चुकी—आप का ।

राजा—अरे ! क्या बोल रहा है ?

कञ्चुकी—( भयभीत होकर )—महाराज ! बात यह है कि मैंने .. ने तोड़ दिया ।

आपका

राजा—भिगू पूछापसव ! कोऽयमद्य ते व्यामोहः ?

कम्बुकी—वेद्य ! न व्यामोहः ।

सत्यमेव—

भग्नं भीमेन भयता भरता रथकेतनम् ।

पतितं किङ्किणीकणमश्रुमन्ममिष क्षिती ॥'

अत्र दुर्योधनोदमङ्गरूपप्रस्तुतसंक्रान्तमर्थोपशेषणम् ।

( ४ र्थ पताकास्थानक )

द्वयर्थो वचनविन्यासः सुस्तिष्ठ' काव्ययोजित' ।

प्रधानार्थान्तराश्लेषी पताकास्थानक परम् ॥ ४९ ॥

पद्या रत्नावल्याम्—

'उद्दामोत्कृष्टिका विपाण्डुररुध्रं प्रारब्धजुम्मां क्षणा

दायासं शसनोद्गमैरभिरक्षौ रातन्वहीमात्मन' ।

अथोद्यानसतामिमा समदना नारीमिवाभ्या भुव

परम् कोपविपाटसद्युतिं मुखं देव्या करिष्याम्यहम् ॥'

राजा—भरे हुए ! यह सब क्या अण्डबण्ड बक रहा है ?

कम्बुकी—महाराज ! अण्डबण्ड नहीं । बात यह है कि ( भीमेन भरता ) मण्डर वनम्बर ने आपके रथ का ध्वज तोड़ दिया है जो कि किङ्किणी की ध्वनि के बहाने मानो गन्धर्व करते हुए पृथिवी पर कौट रहा है ।

यहाँ प्रत्युत्तर वाक्य की जो योजना है उससे पते बर्ण का उपशेष अथवा प्रत्यापन किया जा रहा है जो कि यहाँ दुर्योधन के उद्दामङ्ग-रूप प्रस्तुत अर्थ में समाप्त होकर सहृदय सामाजिक को चमकृत कर देता है ।

विमर्श—यहाँ साहित्यवर्णनकार की 'इति' अभिनवभारती की दन पंक्तिों का आचार के रही है—

'कीममस्तुदरूपमुत्तिष्ठमागमर्षजाते, शिखरेण संबन्धयोग्येवप्रमियापान्तरप्रयुक्तेवापि प्रत्युत्तरेजोपेतं सत्यं सविनयं विरोधेन अयेन विरोधेनियमव्याप्या सदितं संपद्यते तत्, सूतीवं पताकास्थानकम् । ( अभिनवभारती ३ प पाय, सूत्र २ )

अनुवाद—पौधा 'पताकास्थानक' यह है जहाँ ऐसे द्वयर्थक वचन का उपन्यास हुआ करता है जो कि मुख्य अभिप्राय से निम्न अभिप्राय का प्रत्यक्ष हो करता ही है साथ ही साथ अर्थ-अवगम के इतिवृत्त के भी उपयुक्त बन जाता है ।

इसका उदाहरण 'रत्नावली' का यह प्रसङ्ग है—

'राजा—आज 'उद्दामोत्कृष्टिका' ( बहुत अधिक संख्या में निकली कठिनों वाली और प्रेममिक्त की उत्कृष्टता से मरी ) 'विपाण्डुररुध्रं' ( पीछे रंग की कठिनों से पीछी-पीछी और प्रेम-विरह में पीछी पड़ी ) 'प्रारब्धजुम्मा' ( पूछ खिचने वाली और अकसापी ) 'अश्रुमन्ममिष' ( असबोद्गमैरश्रुमन् आयासमाश्रित्यम् ) ( अकस्मात् निरन्तर चकते पवन के झोंकों से झकझोरी और विरह-वेव्या की आहों से कलान्त बनी ) 'समदना' ( मदन कुछ पर चढ़ी और काम-भावना में पड़ी ) इस उदाहरण को एक सुन्दरी की मूर्ति जैसी

अत्र भाव्यर्थः सूचितः ।

( पताकास्थानक की योजना में नाटककार का स्वातन्त्र्य )

एतानि चत्वारि पताकास्थानानि क्वचिन्मङ्गलार्थं क्वचिदमङ्गलार्थं सर्वसन्धिषु भवन्ति । काव्यकर्तुरिच्छावशाद् भूयो भूयोऽपि भवन्ति ।

यत्पुनः केनचिदुक्तम्—‘मुखसन्धिमारभ्य सन्धिचतुष्टये क्रमेण भवन्ति’ इति । तदन्ये न मन्यन्ते, एषामत्यन्तमुपादेयानामनियमेन सर्वत्रापि सर्वेषामपि भवितु युक्तत्वात् ।

देख-देख मुझे यही इच्छा होती है कि वासवदत्ता के हृदय में मान उत्पन्न कर दूं और उसके कोपरक्त मुख को देख आनन्द मनाऊँ ।’

यहाँ यह स्पष्ट है कि ‘रत्नावली’ नाटिका के भावी वृत्त का उपरोप अथवा प्रत्यायन हो रहा है ( क्योंकि बाद में उदयन को सागरिका के प्रेम में पगे देख वासवदत्ता का मुह कोप से लाल हो जाता है ) ।

विमर्श—‘रत्नावली’ के उपर्युक्त ‘उद्दामोत्कलिकान्’ आदि सदर्थ को दशरूपककार ने तो ‘पताकास्थानक’ माना है क्योंकि यहाँ ‘तुल्यविशेषण’ को महिमा से भावी वृत्त का उपरोप किया जा रहा है किन्तु ‘अभिनवभारती’कार ने इसमें ‘व्याहार’ नामक वीथ्यङ्ग का उदाहरण देखा है और ‘पताकास्थानक’ की कल्पना का स्पष्टन भी किया है—

‘उद्दामोत्कलिकाम्’ इति तु नोदाहरणम्, द्वयर्थताप्रतिपत्तावपि हि नात्रार्थेन सहकारिता कुत्रचिदाचरिता । तस्मादेतद्-वीथ्यङ्गस्य व्याहारस्यैवोदाहरण युक्तम् ।’

( अभिनवभारती, ३ य भाग, पृष्ठ २० )

‘अभिनवभारती’कार के अनुसार ‘रत्नावली’ का यह प्रसङ्ग, अर्थात्—‘प्रीत्युत्कर्षकृतो दशा-मुदयनस्येन्दोरिवोद्वीचते’ आदि इस पताकास्थानक-प्रकार का उदाहरण है जहाँ सध्यासमय के वर्णन से सागरिका को उदयन की उपस्थिति की सूचना मिल जाती है और वह बोल पटना है—

‘अयं सो राजा उदयनो जस्स अहं तादेण दिण्णा’ ( ‘अयं स राजा उदयनो यस्याहं तातेन दत्ता’-रत्नावली-१ म अङ्क ) ।’

अनुवाद—ये उपर्युक्त चार प्रकार के ‘पताकास्थानक’ हैं । इनकी योजना रूपक-प्रवन्धों की सभी सन्धियों में हो सकती है । कहीं इनकी योजना से मङ्गलाशंसा हुआ करती है और कहीं अमङ्गलाशंसा (जैसा कि उद्धृत प्रसङ्गों में स्पष्ट है) । इनकी योजना रूपककार की इच्छा पर निर्भर है । आवश्यकतानुसार इन्हें कई बार भी उपनिबद्ध किया जा सकता है ।

‘पताकास्थानक’ की योजना के सम्बन्ध में एक आध नाट्याचार्य यह कहते हैं—‘पताकास्थानक चार है इसलिये इनकी योजना ‘मुख’ संधि से प्रारम्भ कर ‘विमर्श’ सन्धि तक ही क्रमशः की जानी चाहिये’ । किन्तु अन्य नाट्यमर्मज्ञ इस नियम को नहीं माना करते क्योंकि उनका कहना यह है कि ‘पताकास्थानक’ तो नाट्य-प्रवन्ध के लिये अत्यन्त आवश्यक तत्त्व है और इसलिये सभी सन्धियों में सभी प्रकार के पताकास्थानकों की योजना हो सकती है न कि पहली सन्धि में पहले की और दूसरी आदि में दूसरे आदि की, ( वस्तुतः पताकास्थानक-योजना का अनियम ही सबसे सुन्दर नियम है ) ।

विमर्श—‘पताकास्थानक’ की योजना के सम्बन्ध में ‘अभिनवभारती’कार का भी यही कथन है—

(रूपक की इतिवृत्त-रचना : चरितचित्रण अथवा रस क अनुवृत्त)

यत्स्यादनुचितं वस्तु नायकस्य रसस्य वा ।

विरुद्धं तत्परिस्थान्यमन्यथा वा प्रकल्पयेत् ॥ ५० ॥

अनुचितमितिवृत्तं यथा—रामस्य च्छद्मना वालिबधः । सकृन्नोदात्तपथे नोक्तमेव । वीरचरिते तु वाली रामबधार्थमागधो रामेण हत इत्यन्यथा कृतः ।

(अर्थोपदेष्टक की योजना : कवि-स्वातन्त्र्य का एक प्रकार विशेष)

अङ्गेष्वदर्शनीया या वक्तव्यैव च संमता ।

या च स्याद्वर्पपर्यन्तं कथा दिनद्वयादिजा ॥ ५१ ॥

अन्या च विस्तरा सूच्या सार्थोपदेष्टकैर्युजैः ।

‘पताकानामपेक्ष हि बह्वेवताः कर्तव्यं तद्वैकेन क्रियते अनुवृत्तेन वा । केचिदपि—अनुवृत्तं सगिबु बत्तारः पताकावायकाः तेषां यथाक्रमं सूचकानि पताकास्थानकानि, प्रथमे मुखसंग्रहो बाबबतुर्बमबमसंसंग्रहाविति । तत्प्राप्तपताका इव प्रकटीकर्तव्यस्तुहीजाबा-मपि सूचकान्तरानि वक्तव्यमपि स्तुः, बत्तारका विषयेन पताकानामपेक्षा मय्युः न च मुखसंग्रहावाद्ये द्वितीयं प्रतिमुखसंग्रहादिबादिकयो म्याये कथये वा साक्ष्यमाविपति—इत्युक्तमेव । ( जमिन्वभारती भाग ३ म पृष्ठ-२२ )

अनुवाद—रूपक-प्रवर्णनों की इतिवृत्त-रचना में कवि के किये यह आवश्यक है कि या तो वह सूचवृत्त के उस अंश को छोड़ ही दे जो असीध चरित-चित्रण अथवा रसभाव के प्रतिकूल पड़ रहा हो वा उसे यथासंभव दूसरा रूप दे दे ।

उदाहरण के किये ‘उदात्तराघव’ को लिया जा सकता है जहाँ कवि ने राम के चरित विवक्षित किया तत्सम्बन्धी रसभाव के अनुचित (रामविरुद्धक सूचवृत्त के अंतर्भूत) राम द्वारा विपक्ष बालि के बध का वृत्तान्त छोड़ दिया है । अथवा ‘महावीरचरित’ को देखा जा सकता है जहाँ महाकवि ने इस वृत्त को दूसरा रूप दे दिया है जहाँ इसका इस प्रकार वर्णन किया है कि ‘बाकि ही राम का बध करने जाता है वीर राम उसे मार डालते हैं ।

विरुद्ध—रूपक-प्रवर्णन में ‘जमिन्वकीय’ वृत्त के सम्बन्ध में आरवधर्वणकार का भी बड़ा कथन है—

अनुवृत्तं च विरुद्धं च नायकस्य रसस्य वा ।

वृत्तं वस्तु परिस्थान्यं प्रकल्पनमथवाअन्यथा ॥

अनुवृत्तमनुचितं विरुद्धं विपरीतं परिस्थान्यनुपेक्षणीयम् । वीरकवित्तस्य अनुचितं परकीर्तमोगादि, विरुद्धं भीरोक्तत्वदि । आहारस्य प्रकल्पमाकिमान-सुखनाष्टुचितम् । बीमस्तप्तु विरुद्धः । अन्येष्वेवैषित्वेनाविरोधेन वा ( नाट्यवर्णन २ म विवेक ) ।

अनुवाद—रूपक-कवि के किये, वृत्तवर्णन के संवन्ध में यह ध्यान रखना आवश्यक है कि ऐसी घटना जिसे रस की दृष्टि से तो जाह्न के अन्तर्गत स्थान देना अनुचित है किन्तु पूर्वापर वृत्त-योजना की दृष्टि से विवक्षित करना भी अवैधित है ‘अर्थोपदेष्टक’ की योजना द्वारा सूचित की जाय । इसी प्रकार ऐसी घटनायें भी ‘अर्थोपदेष्टक’-योजना द्वारा

अङ्केषु अदर्शनीया कथा युद्धादिकथा ।

वर्षादूर्ध्वं तु यद्वस्तु तत्स्याद्वर्षादधोभवम् ॥ ५२ ॥

उक्त हि मुनिना—

‘अङ्कच्छेदे कार्यं मासकृतं वर्षसञ्चितं वापि ।

तत्सर्वं कर्तव्यं वर्षादूर्ध्वं न तु कदाचित् ॥’

एव च चतुर्दशवर्षव्यापिन्त्यपि रामवनवासे ये ये विराधवधादयः कथा-  
शास्ते ते वर्षवर्षावयवदिनयुग्मादीनामेकतमेन सूचनीया न विरुद्धाः ।

दिनावसाने कार्यं यदिने नवोपपद्यते ।

अर्थोपक्षेपकैर्वाच्यमङ्कच्छेदं विधाय तत् ॥ ५३ ॥

(अर्थोपक्षेपक स्वरूप और प्रकार-निर्देश)

अथ के तेऽर्थोपक्षेपका इत्याह—

अर्थोपक्षेपकाः पञ्च विष्कम्भकप्रवेशकौ ।

चूलिकाङ्काऽवतारोऽथ स्यादङ्गमुखमित्यपि ॥ ५४ ॥ ✓

ही सूचित की जाय, जिनमें दो दिन से लेकर सालभर का (अर्थात् अधिक) समय लगा  
हा या जो बहुत विस्तार रखती हो ।

यहाँ ‘अङ्क’ में अदर्शनीय घटना का अभिप्राय युद्ध आदि सरीखी घटनाओं का  
अभिप्राय है ।

एक वर्ष से अधिक समय में घटी घटनाओं की योजना भी ‘अर्थोपक्षेपक’ द्वारा ही  
की जा सकती है किन्तु इसके लिये अपेक्षित यह है कि एक वर्ष से अधिक का घटनाकाल  
एक वर्ष के भीतर ही मान लिया जाय । नाट्याचार्य भरतमुनि का यही आदेश है—

‘वह वृत्त जो एक मास में घटित हुआ हो अथवा एक वर्ष में सम्पन्न हुआ हो,  
अङ्कच्छेद अर्थात् विष्कम्भक आदि अर्थोपक्षेपक-प्रकारों में से किसी एक के द्वारा वर्णित  
किया जा सकता है । किन्तु एक वर्ष से अधिक समय में घटी घटना का उपनिबन्ध  
कदापि नहीं होना चाहिये ।’

और वस्तुतः इसीलिये रामविषयक रूपक-प्रबन्धों में, राम के १४ साल के वनवास-  
काल में घटित, विराध-वध आदि-आदि कथाओं को, एक वर्ष अथवा एक वर्ष के भीतर  
अथवा एक दिन या दो दिन में ही घटित रूप से अर्थोपक्षेपकों द्वारा उपनिबद्ध किया  
गया है जिसमें नाटयशास्त्र की मर्यादा की भी पूर्ण रक्षा हुई है ।

अनुवाद—अर्थोपक्षेपक प्रकार—

‘अर्थोपक्षेपक’ के पांच प्रकार हैं—(१) विष्कम्भक, (२) प्रवेशक, (३) चूलिका,  
(४) अङ्कावतार और (५) अङ्गमुख ।

विमर्श—सरम इतिवृत्त का निबन्धन तो ‘अङ्क’ में हुआ करता है किन्तु नीरस और इसी-  
लिये अनिवन्धनीय इतिवृत्त-प्रकार की भी योजना पूर्वोपरवृत्त-सम्बन्ध की दृष्टि से अपेक्षित ही हुआ  
करती है । अनिवन्धनीय इतिवृत्त की सूचना के जो उपाय हैं उन्हें ‘अर्थ’ अथवा इतिवृत्त के  
‘उपक्षेपक’ अथवा प्रत्यायक होने के नाते ‘अर्थोपक्षेपक’ कहा गया है ।



( १ म अर्थोपप्रेषक : विष्कम्भक : दो भेद )

वृत्तवर्तिष्यमाणानां कथाश्रानां निदर्शकः ।

संक्षिप्तार्थस्तु विष्कम्भ आदावङ्गस्य दक्षितः ॥ ५५ ॥

मध्येन मध्यमाभ्यां वा पात्राभ्यां सप्रयोजितः ।

शुद्धः स्यात्स तु संकीर्णो नीचमध्यमकल्पितः ॥ ५६ ॥

उत्र शुद्धो यथा—माखतीमाचवे रमशाने कपालकुण्डला । सङ्कीर्णो यथा—  
रामामिनन्दे अपपञ्चकापाक्षिकी ।

( २ म अर्थोपप्रेषक : प्रवेशक )

अथ प्रवेशकः—

प्रवेशकोऽनुदात्तोऽस्या नीचपात्रप्रयोजितः ।

अङ्कद्वयान्तर्विधेयः श्लेषं विष्कम्भके यथा ॥ ५७ ॥

अनुवाद—इन पञ्चविध अर्थोपप्रेषकों में 'विष्कम्भक' वह अर्थोपप्रेषक हुआ करता है जो कि मूल और भावी कथा-भागों की सूचना दिया करता है और अङ्क की अपेक्षा कम विस्तार रक्ता करता है । इसकी योजना अङ्क के आरम्भ में ही की जाती करती है ( मध्य अमरा अन्त में नहीं ) । इसके दो प्रकार हैं—१ वा यह जिसे 'शुद्ध विष्कम्भक' कहते हैं और जिसमें मध्यम प्रकृति के एक पात्र अथवा दो पात्रों के द्वारा वृत्त किंवा वर्तिष्यमान वृत्तान्त भागों की सूचना दे दी जाती करती है और २ वा यह, जिसे 'मिश्र' ( अथवा सङ्कीर्ण ) विष्कम्भक कहा गया है क्योंकि इसमें नीच और मध्यम प्रकृति के पात्रों द्वारा मूल और भावी अरबक बहानों सुचित की जाती करती हैं ।

'शुद्ध विष्कम्भक' के उदाहरण के लिये 'माखतीमाचवे' ( के मुठीय अङ्क ) का विष्कम्भक पर्याप्त है जहाँ रमशान में 'अपक्षित कपालकुण्डला भूत और भावी वृत्तान्तों की सूचना देती है । इसी प्रकार 'सङ्कीर्ण विष्कम्भक' के चित्कर्तव्य-रूप में 'रामामिनन्द' नाटक में अपञ्चक और कापक्षिक द्वारा प्रयुक्त विष्कम्भक दिखाया सकता है ।

विमर्श—वाचवर्यप्रकार की 'वह विष्कम्भक' परिभाषा यहाँ प्याम देने योग्य है—

‘अङ्कावर्तस्य वृत्तस्य विष्कम्भकानुसिद्धिः ।

संक्षिप्य संस्कृतोत्तराङ्गी मध्यमैर्बनैः ॥

शुद्धो विष्कम्भकस्तत्र सङ्कीर्णो नीच-मध्यमैः ।

अङ्कद्वयान्तरेकः वाचवर्यप्रकारासीत्कालात् ॥

अर्थात् कथक प्रसङ्गों में कतिपय घंटे या कमभाग उपनिबद्ध होने पड़े हैं जो अङ्कान्त अर्थात् अरबक होने के कारण वा रबक होने पर भी एक दिन में अभिषेक के लिये अचभावनीय होने के कारण 'अङ्क' में अभिव्यञ्जीय हुआ करते हैं । ऐसी कथामागों को बोलना माने के अङ्क के इतिहास के उपयोगी होने के लिये 'विष्कम्भक' द्वारा भी जाना करती है । 'विष्कम्भक' पर दो यह श्रुत्यति—'विष्कम्भाति अनुसम्भानेन वृत्तमुपलभ्यमसीति विष्कम्भकः' जिससे यह स्पष्ट है कि वह 'अङ्कद्वयान्तक' हुआ करता है । 'अङ्कद्वयान्तक' होने का अभिप्राय अङ्कान्त का संसृष्ट होना है अथवा दो अङ्कों या दो अङ्काओं का सम्मिश्र ( संवद्ध कराने वाला ) होना है ।

अनुवाद—'प्रवेशक' भी विष्कम्भक की ही भाँति वृत्त और वर्तिष्यमान इतिहास का

अङ्कद्वयस्यान्तरिति प्रथमाङ्केऽस्य प्रतिषेधः । यथा—वेण्यामश्वत्थामाङ्के राक्षसमिथुनम् ।

( ३य अर्थोपक्षेपकः चूलिका )

अथ चूलिका—

अन्तर्जवनिनासंस्थैः सूचनार्थस्य चूलिका ।

यथा वीरचरिते चतुर्थाङ्कस्यादौ—( नेपथ्ये ) भो भो वैमानिकाः, प्रवर्तन्ता रङ्गमङ्गलानि' इत्यादि । 'रामेण परशुरामो जित' इति नेपथ्ये पात्रैः सूचितम् ।

( ४र्थ अर्थोपक्षेपकः अङ्कावतार )

अथाङ्कावतार —

अङ्कान्ते सूचितः पात्रैस्तदङ्कस्याविभागतः ॥ ५८ ॥ ✓

यत्राङ्कोऽवतरत्येषोऽङ्कावतार इति स्मृतः ।

सूचक हुआ करता है । इसकी योजना दो अङ्कों के बीच में की जाया करती है और इसमें 'अनुदात्तोक्ति' अर्थात् सस्कृतभिन्न प्राकृतादि भाषा द्वारा कथावस्तु की सूचना हुआ करती है । इसका प्रयोग नीचे पात्रों का कार्य है ।

दो अंकों के बीच में 'प्रवेशक' की योजना का यह तात्पर्य है कि पहले अंक में इसकी योजना निषिद्ध है । इसके उदाहरण के लिए, 'वेणीसंहार' के तृतीय अंक अर्थात् 'अश्वत्थामाङ्क' के राक्षस-मिथुन का वृत्तान्त देया जा सकता है ।

विमर्श—'प्रवेशक' और 'विष्कम्भक' में जो वस्तुतः भेद है वह भाषा का भेद है । 'प्रवेशक' की भाषा प्राकृत हुआ करती है और 'विष्कम्भक' की सस्कृत अथवा सस्कृत-प्राकृत । 'प्रवेशक' को इसलिए 'प्रवेशक' कहा जाया करता है क्योंकि इसका कार्य सामाजिक-हृदय में अप्रत्यक्ष अर्थ का प्रवेश कराना हुआ करता है ( अप्रत्यक्षान् अर्थान् सामाजिकहृदये प्रवेशयतीति प्रवेशक ) ।

अनुवाद—'चूलिका' वह अर्थोपक्षेपक-प्रकार है जिसमें पात्र नेपथ्य के भीतर से ही वस्तुविशेष की सूचना दिया करते हैं ।

इसका उदाहरण 'महावीर-चरित' के चतुर्थ अंक के आरम्भ में यह वृत्त-सूचना है—  
( नेपथ्य से )

अरे वैमानिक गण ! रङ्गमङ्गल कार्य प्रारम्भ किये जाय । आदि ।

यहाँ नेपथ्यवर्ती पात्र राम द्वारा परशुराम की विजय की सूचना दे रहे हैं ।

विमर्श—नाट्यदर्पणकार ने 'चूलिका' की यह परिभाषा की है—

'वस्तुन सूचनं चूला पात्रैर्नेपथ्यसंस्थितै ॥

वस्तुन इति कस्यचिदर्थस्य सूचनमुपक्षेप । पात्रैः स्त्रीपुंसौ नेपथ्यसंस्थितैर्यवनि-कान्तरदेशस्थायिभि । सा चूडेव चूलिका रङ्गाभिनेयार्थस्य नेपथ्यपात्रोक्ते शिखा-कल्पत्वात् ।'

अनुवाद—'अङ्कावतार' वह अर्थोपक्षेपक-भेद है जिसे पिछले अंक के अन्त में, उस अंक में पात्रों द्वारा, अग्रिम अंक की सूचना कहा करते हैं ।

धया—

अभिज्ञाने पञ्चमाह्वे पात्रैः सूचितं पद्माङ्गस्त्वङ्गस्याङ्गमिरोप इवावतीर्ण ।  
( 'अम अर्धोपवेशकः अङ्गमुख )

अथाङ्गमुखम्—

यत्र स्यादङ्ग एकस्मिन्नङ्गानां सूचनाऽखिला ॥ ५९ ॥  
तदङ्गमुखमित्याहुर्धाजार्थस्यापकं च तत् ।

यथा—

माञ्जरीमाधवे प्रथमाङ्गवौ कमन्दकम्बतोदिते मूरिवसुप्रसूतीनां भाविभू  
मिञ्जनां परिक्षिप्तकथाप्रबन्धस्य च प्रसङ्गात्सन्निवेशं सूचितवत्यौ ।  
( 'अङ्गास्व' यथा है ? )

अङ्गान्तपात्रैर्याङ्कास्यं छिन्नाङ्कस्पर्धसूचनात् ॥ ६० ॥

इसमें उदाहरण 'अभिज्ञानशाकुन्तल' के पञ्चम अंक के पात्रों द्वारा सूचित  
उक्त अंक का अंक है जो पञ्चम अंक के ही अङ्गरूप से उपविष्ट है ।

विमर्श—'अङ्गान्तर' की भावार्थगद्गार-सम्पन्न करेण यह है—

'साङ्गान्तरातो यत् पात्रैरङ्गान्तरमसूचनम् ।

पात्रान्तरमात्रेण यस्यैवाङ्गस्य पात्रैरभिहितार्थतया सूचनीयार्थस्याभावात् । प्रबन्ध-  
विष्कम्भक—सूचनारहितमङ्गान्तर अवशिष्ट द्वितीयाङ्गान्तराणावङ्गान्तरात् ।

( भाष्यपरचः । १४ विवेक )

अनुवाक—'अङ्गमुख' वह अर्धोपवेशक-प्रकार है जिस एक अङ्ग में अन्य अङ्गों की  
सूचना बढ़ा जाया करता है और जिसमें बीच तथा अर्थ ( फल ) दोनों सचेप में सूचित  
हुआ करते हैं ।

इसमें उदाहरण 'माञ्जरीमाधव' के प्रथम अङ्क का आरम्भ है जहाँ 'कमन्दकी  
और 'कम्बतोदित' द्वारा, मूरिवसु भावि की अग्रिम भूमिका की सूचना दे दी जाती है  
और सचित कथाप्रबन्ध भी उपविष्ट बन दिया जाता है ।

विमर्श—साहित्यवपणकार का यह 'अङ्गमुख' वपण 'मात्रप्रधानकार' के इस 'अङ्गास्व  
वपण का अनुसरण करता है

'गुण्य सकटाङ्गानां मध्यमङ्गमुपैः ।

यथा 'मीदृमिमी इत्यं पात्रेह निरिपन्धदे' ॥

अवकाशिता पृष्ठकामङ्गमुत्तरण च ।

ममत्तया रमतापाविहृत सर्पाङ्गमुच्यते ॥

अथ मुनं विभिर्देवोपरि सिन्धत प्रिया पावरी ।

पुराण्यै तदङ्गमुपमिति मन्त्री श्रुतिरामि ॥

( भाष्यपरचः । ७४ विवेक )

य 'अङ्गमुख' का अङ्क और भी प्रकार है जिसे 'अङ्गान्तर' कहते हैं । 'अङ्गान्तर'  
का अभिप्राय पूर्व अङ्क के अन्त में प्रविष्ट पात्रों द्वारा अग्रिम अंगवद् अङ्गों की सूचना  
का अभिप्राय है ।

अङ्कान्तपात्रैरङ्कान्ते प्रविष्टैः पात्रैः । यथा वीरचरिते द्वितीयाऽङ्कान्ते—  
( प्रविश्य )

सुमन्त्रः—भगवन्तौ वशिष्ठविश्वामित्रौ भवतः सभार्गवानाह्वयतः ।

इतरे—क भगवन्तौ ?

सुमन्त्र —महाराजदशरथस्यान्तिके ।

इतरे—तत्तत्रैव गच्छाम' इत्यङ्कपरिसमाप्तौ । '( ततः प्रविशन्त्युपविष्टा वशिष्ठविश्वामित्रपरशुरामा )' इत्यत्र पूर्वाङ्कान्त एव प्रविष्टेन सुमन्त्रपात्रेण शतानन्दजनककथाविच्छेदे उत्तराङ्कमुखसूचनादङ्कास्यम्' इति ।

एतच्च धनिकमतानुसारेणोक्तम् । अन्ये तु—'अङ्कावतरणेनैवेदं गतार्थम्' इत्याहु ।

यहाँ कारिका के 'अङ्कान्तपात्रै' का तात्पर्य 'अङ्क के अन्त में प्रविष्ट पात्रों का' तात्पर्य है ।

इसका उदाहरण 'महावीरचरित' के द्वितीय अङ्क के अन्त में प्रयुक्त यह अर्थोप-  
चेपक है—

( प्रवेश करके )

सुमन्त्र—भगवान् वशिष्ठ और विश्वामित्र भार्गव परशुराम और आप सबको  
बुला रहे हैं ।

और लोग—कहाँ हैं भगवान् वशिष्ठ और विश्वामित्र ?

सुमन्त्र—महाराज दशरथ के पास विराजमान हैं ।

और लोग—तब वहीं चला जाय ।

यहाँ द्वितीय अङ्क के अन्त में वशिष्ठ, विश्वामित्र और परशुराम का प्रवेश होता है ।  
इसे 'अङ्कास्य' इसलिए माना गया है क्योंकि पूर्व अङ्क में प्रविष्ट पात्र 'सुमन्त्र'द्वारा जनक  
और शतानन्द-सम्बन्धी कथावस्तु का विच्छेद हो जाता है और अभिन्न अङ्क की कथा-  
वस्तु के मुख अथवा आरम्भ की सूचना दे दी जाती है ।

यहाँ 'अङ्कास्य' का यह अभिप्राय आचार्य धनिक के मत का अनुसरण करते हुये  
चताया गया है । अन्य नाट्याचार्य 'अङ्कावतार' से ही इसे गतार्थ मानते हैं ( क्योंकि  
इसमें और अङ्कावतार में कोई भेद नहीं । )

विमर्श—'अङ्कमुख' के इस प्रकार का यही अभिप्राय भावप्रकाशनकार ने भी प्रकाशित  
किया है—

'पूर्वाङ्कान्तप्रविष्टैर्यदुत्तराङ्कार्थसूचनम् ।

पूर्वाङ्कार्थानुवृत्त्यर्थं तदङ्कास्यमुदीरितम् ॥

अङ्कान्तपात्रैरङ्कास्य द्विजाङ्कार्थस्य सूचनम् ।

यथा हि वीरचरिते द्वितीयेऽङ्केऽवसानके ॥

रामभार्गवयोर्मध्ये सुमन्त्रेण प्रविश्य तु ।

विश्वामित्रवशिष्टौ च तदाह्वानेन सूचितौ ॥

रामयोस्तत्र कलहाविच्छेदेनैव तौ पुन ।

तृतीयाङ्कप्रवेशेन सुमन्त्रेणैव सूचितौ ॥'

( भावप्रकाशन ७म अधिकार )

(विष्कम्भक आदि की योजना-प्रवृत्ति)

अपेक्षित परित्याग्यं नीरस वस्तु विस्तरम् ।

यदा संदर्शयेच्छेषमाप्तुमानन्तरं तदा ॥ ६१ ॥

कार्यो विष्कम्भको नाट्य आमुखाक्षिप्तपात्रकः ।

यथा—रत्नावल्या योगन्धरायणप्रयोजितः ।

यदा तु सरसं वस्तु मूलादेव प्रवर्तते ॥ ६२ ॥

आदावेव तदाऽङ्गे स्यादामुखाक्षेपसमयः ।

यथा—शाकुन्तले ।

विष्कम्भकाद्यैरपि नो वधो बाष्पणोऽधिकारिणः ॥ ६३ ॥

अन्योऽन्येन तिरोधानं न कुर्यात्सर्ववस्तुनोः ।

रसं शृङ्गारादि । यदुक्तं पनिकेन—

‘न चातिरसतो वस्तु दूरं विष्कम्भतां नयेत् ।

रसं वा न तिरोद्व्यादस्त्वलङ्कारसमूहैः ॥’ इति ।

अनुराग—इस अर्थोपदेशक-प्रकारों की योजना की यह व्यवस्था है—

जहाँ रूपक-प्रवृत्ति के सरस आरम्भ के लिये कम्भी-बौदी नीरस कथा का बोझा आवश्यक है वहाँ सबद अपेक्षित कथा का वर्णन भी आवश्यक है और इससे लिये आमुखाक्षेप प्रस्तावना के बाद में ही आमुखाक्षिप्त पात्र द्वारा विष्कम्भक का प्रयोग उपयुक्त माना गया है । ‘रत्नावली’ में, आमुखाक्षेप के बाद, योगन्धरायण द्वारा प्रयुक्त जो ‘विष्कम्भक’ है वह इसी विष्कम्भक—योजना के नियम का निदर्शन है ।

किन्तु यदि रूपक-प्रवृत्ति का प्रारम्भ से ही सरस हो तब आमुखाक्षेप प्रस्तावना द्वारा पात्र-प्रवृत्ति की सूचना के बाद ही अङ्क का आरम्भ आवश्यक है । वहाँ विष्कम्भक की योजना अपेक्षित नहीं ।

अभिज्ञानशाकुन्तल का आरम्भ इसी नियम का निदर्शन है ।

विष्कम्भक आदि की योजना द्वारा भी नायक के वध का वर्णन वहाँ नहीं किया जाना चाहिये । साथ ही साथ न तो वृत्तान्त-वर्णन द्वारा रस का तिरोधान करना चाहिये और न रस के वाराधिरुद्ध अस्मिन्प्रवृत्ति द्वारा वृत्तान्त को ही तिरोहित करना चाहिये ।

वहाँ ‘रसवस्तुना’ में ‘रस’ का अभिप्राय शृङ्गार आदि रसों का अभिप्राय है । आचार्य धनिक का भी इस सम्बन्ध में यही कथन है—

‘न तो रस की अनवरत योजना द्वारा कथावस्तु का विषय उचित है और न वस्तु-वर्णन अथवा अलङ्कार-वर्णन द्वारा रस का ही तिरोधान उपयुक्त है ।

विमर्श—अर्थोपदेशक का योजना का एक मात्र उद्देश्य ऐसी सूच्यवस्तु की सूचना है जोकि रूपक के इतिहास के लिये अपेक्षित हो—

‘अर्थोपदेशकैः सूच्य पात्रभिः प्रतिपाद्यते ।

विष्कम्भ-वृत्तिकमङ्गलाङ्कारादिव्यवसाधैः ॥

सूच्यार्थसूच्योपायाः सूत्रिभिः वक्ष्यन्तिनाः ।

(भाष्यप्रकाश २ अथ अतिरसः)

( अर्थप्रकृति-पञ्चकः : नामनिर्देशः )

बीजं बिन्दुः पताका च प्रकरी कार्यमेव च ॥ ६४ ॥

अर्थप्रकृतयः पञ्च ज्ञात्वा योज्या यथाविधि ।

अनुवाद—रूपक-निर्माण के उपयुक्त जो 'अर्थप्रकृतिपञ्चक' है वह यह है—( १ ) बीज ( २ ) बिन्दु, ( ३ ) पताका, ( ४ ) प्रकरी और ( ५ ) कार्य । रूपक में इन अर्थप्रकृतिओं का नियमानुसार उपनिबन्ध आवश्यक माना गया है ।

यहाँ 'अर्थप्रकृति' का अभिप्राय 'अर्थ' अथवा प्रयोजन की 'प्रकृति' का है और 'प्रकृति' का अभिप्राय 'सिद्धि-हेतु' अथवा 'साधक उपाय' का अभिप्राय है ।

विमर्श—नाट्यशास्त्रकार भरतमुनि ने इस रूपक-प्रबन्ध में अर्थप्रकृति-पञ्चक की यथाविधि योजना का आदेश दिया था ( अर्थप्रकृतयः पञ्च ज्ञात्वा योज्या यथाविधि-नाट्यशास्त्रः १९.२१ ) । 'अर्थ-प्रकृति' क्या है ? इसकी सीमामा में 'अभिनवभारती'कार ने यह कहा है—

'इतिवृत्तविषये यथा येन प्रकारेणाधिकारिकस्य खण्डनलक्षणोऽपि पञ्चावस्था उक्ता स्तेनैव प्रकारेणार्थप्रकृतयोऽपि पञ्चैव पठ्यन्ते । तदनभिधाने उपायादिवस्वरूपाऽपरिज्ञानात् प्रारम्भाद्यवस्थानां परमार्थतोऽसवेष्टने आधिकारिकत्वमविहितं स्यात् । यत्रार्थं फलतस्य प्रकृतयः उपायाः फलहेतव इत्यर्थः । तत्र जडचेतनतया द्विधा करणम्, जडश्च मुख्यकारण-भूतः, गूढतरो वा, आद्य बीजं द्वितीयं कार्यं करणीयं प्रयोज्यमित्यर्थः । चेतनोऽपि द्विधा मुख्य उपकरणभूतश्च, अन्त्योऽपि द्विधा स्वार्थसिद्धिसहिततया परार्थसिद्धया युक्तः शुद्धयोऽपि च, तत्राद्यो बिन्दुः द्वितीयः पताका तृतीयः प्रकरी । तदेतैः पञ्चभिरुपायैः पूर्णफलं निष्पाद्यते । अन्ये त्वाहुः—अर्थस्य समस्तरूपकवाच्यस्य प्रकृतयः प्रकरणान्यवयवार्थ-खण्डा इत्यर्थप्रकृतयः एतच्च व्याख्यानं नातीव प्रकृतं पोषयति । सन्ध्यादीनामपि चार्थ-प्रकृतिस्वमत्र व्याख्याने स्यात्, इतिवृत्तमेव च समुदायरूपम् । अर्थ इतिवृत्ते प्रकृतयः इति वक्तव्येऽर्थग्रहणमतिरिक्तं स्यात्, इत्यवस्थाभिश्च मुख्यतावर्णनं वर्णनमात्रं स्यादिति किमनेन ( अभिनवभारती - ३ य माग, पृष्ठ १२ ) ।'

अर्थात् रूपक के आधिकारिक इतिवृत्त के अन्तरङ्ग विश्लेषण में 'अवस्थापञ्चक' का जो विश्लेषण किया जाया करता है उसका पूर्ण परिज्ञान तब तक नहीं हो सकता जब तक उसके ( आधिकारिक इतिवृत्त के ) बहिरङ्ग विश्लेषण में 'अर्थप्रकृति-पञ्चक' का स्वरूप निर्धारित न कर लिया जाय । 'अर्थप्रकृति' का अभिप्राय 'अर्थ' अथवा फल के उपाय अथवा हेतु का अभिप्राय है । फलहेतु अथवा फलोपाय प्रथमतः दो प्रकार से विभक्त किये जा सकते हैं—( १ ला ) जडरूप फलसाधन और ( २ रा ) चेतनरूप फलसाधन । यह जडरूप फलोपाय भी दो प्रकार से विभक्त दिखायी दे सकता है—( १ ला ) बीज, जोकि फल का मुख्य कारण है और ( २ रा ) कार्य, जिसे बीज से फलोत्पादन के लिये प्रयुक्त किया जाया करता है । इसी प्रकार चेतनरूप फलोपाय के भी दो भेद हो सकते हैं—( १ ला ) मुख्य और ( २ रा ) सहकारी । यह 'सहकारी' रूप चेतन फलहेतु भी दो प्रकार का हो सकता है—( १ ला ) स्वार्थसिद्धिपूर्वक परार्थ का साधक और ( २ रा ) स्वार्थनिरपेक्ष रूप से परार्थ का साधक । इन त्रिविध चेतनरूप फलोपायों में बिन्दु तो मुख्य फलोपाय है और पताका और प्रकरी प्रथम और द्वितीय प्रकार के सहकारी फलोपाय हैं ।

यहाँ यह स्पष्ट है कि 'फल' को रूपककार और नायक दोनों का फल माना गया है । रूपक-कार के लिये रूपक का फल रसोत्साह है और रूपक में 'नायक का फल धर्मार्थ-काममोक्ष रूप पुरुषार्थचतुष्टय में से कोई एक अथवा परस्पर सम्मिश्र पुरुषार्थ हो सकता है ।

(१ म अर्थप्रकृति : बीज)

अर्थप्रकृतय प्रयोजनसिद्धिहेतवः । तत्र बीजम्—

अल्पमात्रं समुद्दिष्टं बहुधा यद्विसर्पति ॥ ६५ ॥

फलस्य प्रथमो हेतुर्बीजं तदभिधीयते ।

यथा—रत्नावल्या यत्सराजस्य रत्नावलीप्राप्तिहेतुर्बैवानुबल्यप्राप्तितो योगः  
 श्वरायणव्यापारः । यथा वा—वेण्यां द्वीपदीकेरासंयमनहेतुर्भीमसेनक्रोधोप-  
 धितो युधिष्ठिरोत्साहः ।

अर्थप्रकृति के सन्तान में निम्न-लिख अतिप्राय भी प्रचलित रहे हैं : कुछ लोग अर्थप्रकृति को अर्थ अथवा समस्त रूपकार्य का 'अवयव' अथवा कुछ मानते रहे हैं किन्तु ऐसा मानने से 'अर्थप्रकृति और 'सन्धि' का स्वरूप-विशेष अस्पष्ट हो जाता है । कुछ लोग अर्थ को इतिवृत्त मात्र 'अर्थप्रकृति' को इतिवृत्त में प्रकृति' कथन भी समझते रहे हैं किन्तु ऐसा समझने से 'अर्थप्रकृति' और अवस्थाप्राप्त का भेद समाप्त हो जाता है । इसलिये 'अर्थप्रकृति' को 'प्रयोगात्मक मानना ही अवश्यक है ।

अनुवाद—'बीज' वह अर्थप्रकृति है जिसे मुख्य फल का मुख्य हेतु अथवा उपाय कहा गया है । धान्य-बीज की भाँति रूपक-प्रबन्ध का यह 'बीज' आरम्भ में अल्पमात्र सूक्ष्म रूप में उपस्थित रहा करता है और उचरोत्तर विस्तारित और वृद्धिशील होता जाता है ।

जैसे कि 'रत्नावली' के आरम्भ में अनुकूल धान्य से उपकृत अमल्य वीगन्धरायण के व्यापार का जो वर्णन है जिस पर बलराज वधूयन की सामारिका-प्राप्ति निर्भर है वह 'बीज' रूप अर्थप्रकृति की ही बीजवा है ।

अथवा जैसे कि 'वेणीसद्वार' के आरम्भ में भीमसेन के क्रोधावेश से समुद्र युधिष्ठिर के पुत्रोत्साह का जो वर्णन है जोकि द्वीपदी के कससयमन (वेणीसद्वार : लुके कसपात का संसारना) का निदान है, उसमें 'बीज' रूप अर्थप्रकृति की ही रूपरेखा हल्का करती है ।

विमर्श—नाट्यरचयिता को इन बीजों में जिनमें 'अभिनेयमारता' का बीजसम्बन्धी मग संक्षिप्त किया हुआ है 'बीज' का वह स्वरूप है—

'स्वस्वोद्दिष्टं फलप्राप्तो हेतुर्बीजं प्ररोहणात् ।

आही गम्भीरव्यावृत्तिविशिष्टो मुख्यफलप्राप्तान्न यो हेतुमुख्यसाधोपायो स धान्य-  
 बीजम् । प्ररोहणादुत्तरं धान्योपसाक्षादिभिर्विस्तरणात् । इदं चासुत्रानन्दरं  
 निरूपयते । बीजं हि नादमहीनामिति वृत्तार्थस्योपायः । आमुक्तं ॥ रूपकप्रस्तावनायं नट-  
 स्वेव वृत्तम् । या पुनरत्र नाट्यार्थरूपो मुख्यस्ताः प्रयोगात्मकानि कार्यमेव । अत एव  
 सुप्रोक्तं अपि बीजाच्छात्रा प्रविष्टनाट्यरूपस्य पुनरुपपत्तौ । यथा च रत्नावल्या—

'द्वीपादन्वस्मादपि मप्यादपि कळमिधेरिस्ताऽप्यन्तात् ।

आनीय सति चरयति विधिरभिमतमभिमुपजीवतः ॥

इत्याद्यामुन्मोहं वीगन्धरायणः पठति ।

तत्र बीजं कथितं व्यापारकम् । यथा रत्नावल्यां धान्यराजस्य रत्नावलीप्राप्ति-  
 हेतुर्लघुवृत्तं सा सामारिका-पुरमिच्छादिर्वीगन्धरायणव्यापारः ।

कथितं व्यसनविपुलिकलं रूपकं व्यसनोपशेषरूपम् । "

( २ य अर्थप्रकृति . विन्दु )

अवान्तरार्थविच्छेदे विन्दुरच्छेदकारणम् ॥ ६६ ॥

। यथा—रत्नावल्यामनङ्गपूजापरिसमाप्तौ काव्यार्थविच्छेदे सति 'उदयनस्येन्दोरिवोद्दीक्षते' इति सागरिका श्रुत्वा '( सहर्षम् ) कथ एसो सो उदअणणरिन्दो' ( कथमेप स उदयननरेन्द्र. ) इत्यादिरवान्तरार्थहेतुः ।

कचिद् व्यसनाभ्युदययोरुपक्षेपरूपम् । कचिद् व्यसनोपनिपाते तन्निवृत्त्युपक्रमरूपम् । यथा मुद्राराक्षसे चाणक्य --

'आ क एप मयि स्थिते चन्द्रगुप्तमभिभवितुमिच्छति ?

नन्दकुलकालभुजर्गी कोपानलवहलोलधूमलताम् ।

अद्यापि वध्यमाना वध्य को नेच्छति शिखा मे ?

इत्यादि नायक-प्रतिनायकामात्याद्याश्रयेण विचित्ररूपो वीजोपन्यास ।'

( नाट्यदर्पण १ म विवेक )

'वीज' का अन्यविध भी विदलेषण किया गया है । फलबीज, वस्तुबीज और अर्थबीज के रूप में विविध बीज की कल्पना प्राचीन नाट्याचार्यों की कल्पना है—

फले यस्य हि सहार फलबीज तु तद्वेत् ।

वस्तुबीज कथा ज्ञेया अर्थबीजं तु नायक ॥

अनुवाद—'विन्दु वह अर्थप्रकृति है जिसे रूपक-प्रबन्धों के अवान्तर वृत्त-विच्छेद की समावना में अविच्छेद का कारण कहा गया है ।

इसके उदाहरणरूप में 'रत्नावली' का वह प्रसङ्ग पर्याप्त है जहाँ सागरिका की कामपूजा समाप्त होने पर वृत्त-विच्छेद संभव है किन्तु वन्दी के इस वाक्य अर्थात् 'अस्तापास्तसमस्तभासि दशामुदयनस्येन्दोरिवोद्दीक्षते' के सुनने के बाद सागरिका की इस उक्ति अर्थात् 'क्या ये ही महाराज उदयन हैं' आदि से अग्रिम इतिवृत्त अविच्छिन्न रूप से चल निकलता है—

विमर्श—'अभिनवभारती'कार ने भरतमुनि के इस 'विन्दु'-लक्षण अर्थात्—

'प्रयोजनानां विच्छेदे यदविच्छेदकारणम् ।

यावत्समासिर्वन्धस्य स विन्दु परिकीर्तित ॥'

के विमर्श में यह कहा है—

'प्रयुज्यते फल यैरुपायानुष्ठानै तेपामितिवृत्तवशादवश्यकर्तव्यतादिभिर्विच्छेदेऽपि सति यदनुसन्धानात्मक प्रधाननायकगत सन्धिद्वयज्ञान विन्दु ज्ञानविचारण फललाभोपायत्वात् । यावदविच्छेद प्रत्यनुसन्धानेन न कृतस्तावन्न किञ्चिदपि कार्यं निर्वहति । ननु बीज तावत् फलान्तमास्ते विन्दोस्तु कथं स्थितिरित्याह यावत् समासिरिति । यावत्त्वस्य वध्यमानस्य फलस्य सम्यगासिस्तावत् । एतदुक्तं भवति—सकलोपायप्रतिजागरणनिमित्तं ह्यनुसन्धानं यावद्धि मुख्यनायकेन प्रत्यनुसन्धानेन न क्रियते तावद् जडाजडरूप सर्वोपायधर्मोऽनुपायकल्प एव । एव प्रधानानुसन्धानचेतनव्यापार कारणानुग्राही स्वयं च परमकारणस्वभावस्तैलविन्दुवत् सर्वव्यापकत्वादपि विन्दु । बीजं च मुखसन्धेरेव प्रवर्त्यात्मानमुन्मेषयति विन्दुस्तदनन्तरमिति विमर्शोऽनयो, द्वे अपि तु समस्तेतिवृत्तव्यापके ( अभिनवभारती, भाग ३ य, पृष्ठ-१४ ) ।'

अर्थात् नाटकीय इतिवृत्त में आवश्यक कार्यजन्य व्यवधान के निवारणार्थ जो नायकादिगत उपायानुसन्धान की योजना चला करती है उसे 'विन्दु' कहा गया है । प्रत्येक नाटकीय चरित



( इ व अर्थमकृतिः पताका )

अपि प्रासंगिक इव पताकेभ्यमिधीयते ।

यथा—रामचरिते-सुग्रीवादे- भेष्यां भीमादेः, शाकुन्तले भिक्षुकस्य चरितम् ।

( पताका की मद्रूपपर्यन्त योजना )

पताकानायकस्य स्यान्न स्वकीयं फलान्तरम् ॥ ६७ ॥

गर्मे सन्धौ विमर्शे वा निर्वाहस्तस्य सायते ।

यथा—सुग्रीवादे- राज्यप्राप्त्यादि । यत्तु मुनिनोक्तम्—

‘आ गर्भाद्या विमर्शाद्या पताका विनिवर्तते ॥’ इति ।

उत्तर पताकेति । पताका नायकफल निर्वाहणपर्यन्तमपि पताकाया प्रकृति वर्तनात् इति व्याख्यातमभिनवगुणपादे ।

को कपनो अर्पनो कर्तृत्वदि है और उसके कपने-अपने कपान है जिसका अनुसन्धान कपना अन्वेषण कर्तृत्वमात्रो है । इस प्रकार ‘विन्दु’ को रूपक-प्रवण में व्याप्त ज्ञान कपना विचारकन इतिवृत्त मात्र माना गया है और इससे योजना विनिवर्त कपनी पदी है ।

अनुवाद—‘पताका वह सामयिक इतिवृत्त है जो व्यापक हुआ करता है और प्रधान फल का साहायक बना करता है ।

उदाहरण के लिये रामचरितसम्बन्धी रूपक-प्रवणों में सुग्रीवादि-वृत्तान्त कपना ‘विभीषंहार’ में भीमसेन-सम्बन्धी वृत्तान्त कपना ‘अभिज्ञानसाकुन्तल’ में भिक्षुक-सम्बन्धी वृत्तान्त ।

अनुवाद—‘पताका रूप प्रासंगिक इतिवृत्त का भी एक नायक हुआ करता है किन्तु अप्रकारिक नायक-विषयक फल के अतिरिक्त उसका अन्य कोई फल उपनिबद्ध नहीं किया जाया करता । पताकानायक का अपना जो फल है उसका उपनिबद्ध गर्भसन्धि कपना विमर्शसन्धि में ही समाप्त हो जाता है ।

उदाहरण के लिये ( रामचरित आदि रूपक-प्रवणों में ) सुग्रीवादि-वृत्तान्त रूप का ‘पताका’ है उसमें सुग्रीवादि का राज्यकामादिरूप फल गर्भ कपना विमर्शसन्धि में ही उपनिबद्ध है न कि निर्वाहण सन्धि में ( क्योंकि वहाँ तो मुख्य नायक का ही फल का उपनिबन्ध अपेक्षित है ) ।

यहाँ वह ध्यान रखना चाहिये कि भरतमुनि की इस उक्ति अर्थात् ‘पताका को गर्भसन्धि कपना विमर्शसन्धि की समाप्ति के पहले ही निष्पन्न कपना समाप्त हो जाना चाहिये’ का पताकानायक-संबन्धी उपर्युक्त फल-योजना के सिद्धान्त से कोई विरोध नहीं पड़ता क्योंकि यहाँ, जैसा कि अभिनवगुणपादाचार्य का कहना है, ‘पताका’ का अभिप्राय ( उपचारक ) पताकानायकगत फल का अभिप्राय है न कि पताकरूप प्रासंगिक इतिवृत्त का, जो कि ( गर्भ और विमर्श तक ही नहीं अपितु ) निर्वाहण सन्धि तक भी चला करता है ।

विमर्श—यहाँ वह ध्यान रखना चाहिये कि साहित्यदर्पणकार का ‘पताकेति पताकानायक फलम्’—‘वर्तनात्’ आदि जो फलरूप है वह ‘अभिनवमासी’ की इन पंक्तियों का मानानुसार रूप है—

( ४ र्थ अर्थप्रकृति-प्रकरी और उसकी विधान-न्यवस्था )

प्रासङ्गिकं प्रदेशस्थं चरितं प्रकरी मता ॥ ६८ ॥

यथा—कुलपत्यङ्के रावणजटायुसवादः ।

प्रकरी नायकस्य स्यान्न स्वकीयं फलान्तरम् ।

यथा—जटायोः मोक्षप्राप्तिः ।

स्वफलसिद्धये यतमानस्य तत्र तत्रावश्य पृथग्गणनाशङ्केति, तत्प्रशमनप्रयोजनम् अस्मत्पक्षे कस्मिंस्तर्हि प्रधानसन्धौ तस्यानुयायित्वमिति दर्शयितुमाह—आगर्भादाविमर्शा-द्वेति प्रतिमुखे गर्भे यदि वा । यमर्थं व्याप्य 'निवर्तते पताकेतिवृत्तं तावत्येव पताकानाय-कस्य स्वफलसिद्धिरुपनिबन्धनीया, सिद्धफलस्त्वसौ प्रधानफल एव व्याप्तिमात्राणां आसी-नोऽपि भूतपूर्वगत्या पताकाशब्दवाच्योऽयं मुख्यत्वेन । अत्राह कस्माद् यस्मादिति । कस्माद्-स्याभिप्रायः, प्रधानवच्च कल्प्येतेत्युक्तत्वात् निर्वाहादपि किं तद्भवति, अत्रोत्तर यस्मादिति निर्वहणपर्यन्ते तत्फले क्रियमाणे तुल्यकालयोरुपकार्योपकारकत्वाभावात् तेन प्रधानो-पकारभावो न भवेत् ।' अभिविधावाहः । ये तु मर्यादाया व्याचक्षते ते न सम्यगमस्तः ।

( अभिनवभारती - ३ य भाग, पृष्ठ १८ )

अनुवाद—'प्रकरी' वह अर्थप्रकृति है जिसे रूपक-प्रबन्धों के अल्पदेश व्यापक प्रासङ्गिक वृत्त के रूप में देखा जाया करता है । इसके उदाहरण के लिये 'कुलपत्यङ्क' के रावण-जटायु-संवाद-सम्बन्धी वृत्तान्त को लिया जा सकता है ।

'प्रकरी' रूप प्रासङ्गिक किंवा अल्पदेश-व्यापक वृत्त का भी नायक अवश्य हुआ करता है किन्तु मुख्य नायक के फल के अतिरिक्त प्रकरी-नायक का और कोई फल नहीं हुआ करता ( अर्थात् 'प्रकरी'-नायक का कार्यकलाप उसके अपने प्रयोजन-विशेष के लिये नहीं अपि तु 'आधिकारिक'-नायक के ही उद्देश्यविशेष के लिये हुआ करता है ) । जैसे कि 'जटायु' की जो मोक्षप्राप्ति है वह उसके प्रयत्नों का फल नहीं अपितु राम के सीतालाभरूप फल का ही साधन है ।

विमर्श—नाट्याचार्य भरतमुनि के अनुसार 'प्रकरी' का यह स्वरूप है—

'फलं प्रकल्प्यते यस्या परार्थायैव केवलम् ।

अनुबन्धविहीनत्वात् प्रकरीति विनिर्दिशेत् ॥'

( नाट्यशास्त्र १९ २५ )

अर्थात् 'प्रकरी' वह इतिवृत्त-विशेष है जो स्वार्थनिरपेक्ष रहा करता है और एकमात्र आधि-कारिक इतिवृत्त के ही लिये विनियुक्त किया जाया करता है । इसीलिये 'प्रकरी'नायक का कृत्यानुष्ठान अपने लिये नहीं अपि तु एकमात्र 'आधिकारिक'नायक के ही लिये हुआ करता है ।

नाट्यदर्पणकार ने 'प्रकरी' का सुन्दर विवेचन किया है—

'प्रकरी' चेत् क्वचिद् भावी चेतनोऽन्यप्रयोजन ।'

'क्वचिद् भावी वृत्तैकदेशन्यापी अन्यस्य मुख्यनायकस्यैव प्रयोजन यस्य स चेतन सहकारी प्रकर्षेण स्वार्थानपेक्षया करोतीति प्रकरी । . . यथा रामप्रबन्धेषु जटायु । चेदित्यनेन पताकावदनवश्यभावित्वमाह । क्वचिद् भावित्वात् स्वार्थनिरपेक्षत्वाच्च पताका-तो मेद् ।' ( नाट्यदर्पण : १ म विवेक )

अर्थात् 'प्रकरी' को यदि वृत्तविशेष कहने के बदले चरितविशेष कहा जाय तो कोई आपत्ति नहीं । 'प्रकरी' रूपक-प्रबन्धों का वह चरितविशेष है जो मुख्य नायक के लिये ही सब कुछ

(५ म अर्थप्रकृति : कार्य)

अपेक्षितं तु यत्साध्यमारम्भो यन्निष्पन्नः ॥ ६९ ॥

समापनं तु यत्तिसद्वयं तत्कार्यमिति संमतम् ।

यथा—रामपरिते रावणवधः ।

किन्ना करता है। 'प्रकरी' भी नायक का एक सहकारी चरित है किन्तु स्वार्थनिरपेक्ष रहकर नायक के प्रयोजनों का सम्पादन बना करता है। प्रकरी की योजना अनिवार्य नहीं बल्कि सुवैकल्पिक है।

'प्रकरी' के इस स्वरूप को देखते साहित्यदर्पण की कम्पा-टीका का यह प्रकरी-विमर्श—

'प्रकरीति । प्रकरी तत्प्रकरी नायकस्य जडावुप्रयुक्तेः स्वकीय फलान्तर स्वप्रयोजन विशेषरूपेण न स्यात् किन्तु तत्प्रयोजनस्य फलान्तराधिकार स्वार्थिति प्राम्बदेवार्थः । उदाहरति—यथेति । जडावोर्मोक्षप्राप्तिरिति । अथमाशयः—जडावोर्मोक्षप्राप्तिर्वर्ज्यमाना न प्रकृतोपयोगिनी किन्तु तस्यैव पुण्यजनिकेति उपदिष्टमुक्तं न पताका । यास्तु रात्रौ न सबाहो स प्रकृतोपयोगीत्यस्य प्राम्बदिकत्वात् प्रकरीत्यम् । एतद्वतिरित्यस्य तु तदेकव्यय-वर्तित्वमाश्रयम् ( कम्पा-टीका, पृष्ठ—१५१ )

उक्त करतूत सा ही प्रतीत होता है।

एतल ही साह साहित्यदर्पण के अंग्रेजी अनुवाद ( पृष्ठ १५१ ) में 'प्रकरी-विमर्श' का यह अनुवाद—

A object of the hero other than the principal is not the Prakari.  
विकटुक निरर्थक सा ही दिखायी देता है।

अनुवाद—'कार्य' रूप अर्थप्रकृति का अमिमात्र उस प्रधानतया अवस्थित साध्य का है जिसके उद्देश्य से नायक के कुरवीं का आरम्भ हुआ करता है और जिसकी सिद्धि में नायक का कल्याणसाधन समाप्त माना जाता करता है।

उदाहरण के बिना रामचरितसम्बन्धी रूपक-प्रबन्धों में 'रावणवध' का जो विवरण है वह अर्थरूप अर्थप्रकृति का ही विशुद्ध है।

विमर्श—'कार्य' रूप अर्थप्रकृति के निरूपण में पाठ्यशास्त्री में यथात मनुभेद रहता जाता है। मत्तनुधि के अनुसार 'कार्य' का यह स्वरूप है—

'यथाधिकारिकं वस्तु सम्यक् प्राप्तिः प्रयुज्यते ।

तद्यर्थो वा समारम्भस्तत्कार्ये परिधीर्तितम् ॥ ( तत्त्वशास्त्र १५-१६ )

जिसे नायक अमिनधुन ने इस प्रकार स्पष्ट किया है—

'यथाधिकारिकमिति—प्राप्तिः प्रधाननायकपताकानायकप्रकरीनायकैवेतनरूपैः, बह्वस्तु फलरूप प्रयुज्यते संपादिते संपादनेनानुसन्धीयते तत्तत्प्रयोजनो वा संपूर्णताप्राप्ति पूर्वपरिगृहीतस्य प्रधानस्य बीजान्वीपायस्य फलम् आरम्भ इत्यारम्भस्यव्याप्यो प्रयुज्यते श्रियाप्रकृतिः सर्वोर्ज्यः सहकारी कार्यमिनुचते वेतनैः कार्यते कर्ममिति व्युत्पत्त्या । सम्यगिति प्रयुज्यमानोत्साहवृत्तिप्रयसम्पन्नैरित्यर्थः । तेन जनपद-कोप-दुर्गादिकम्पापार मेचिन्व सामानुपायवर्गा इत्येतत् सर्वं कार्यमन्तर्भवति । तत्र परं प्रथमपरिगृहीतः प्रधानमूलोन्मुपायो बीजत्वमेवोक्तः ।

जित्प्र अमिमात्र यह है—जिस कार्यव्यवस्थित को हृदि हैं प्रधान नायक, पताक-नायक और प्रकरी-नायक का कार्यव्यापार बना करता है उसके बिना को भी नायकक साधन-समुदाय है

वह सब 'कार्य' रूप अर्थप्रकृति के अन्तर्गत रखा करता है। प्रधान उपाय तो 'बीज' है ही किन्तु उसका सहायक जो कुछ भी उपाय है वह सब 'कार्य' रूप ही है (कार्यते फलमिति कार्यम्)। इस प्रकार नाटककार द्वारा 'बीज' रूप से निक्षिप्त वृत्तविशेष की सफलता के लिये नियोजित जो भी वृत्त-वैचित्र्य है वह सब 'कार्य' रूप ही है।

'कार्य' का यही अभिप्राय नाट्यदर्पणकार ने भी लिया है—

साध्ये बीजसहकारी कार्यम्—

प्रधाननायक-पताकानायक-प्रकरीनायकै साध्ये प्रधानफलत्वेनाभिप्रेते बीजस्य प्रारम्भावस्थोपक्षितस्य प्रधानोपायस्य सहकारी सम्पूर्णतादायी सैन्य-कोश-दुर्ग-सामाद्य-पायलक्षणो द्रव्य-गुण-क्रियाप्रभृति सर्वोऽर्थश्चेतनै कार्यते फलमिति कार्यम्। अयमत्रोपायाना निबन्धसंक्षेप-सहायानपेक्षाणा नायकाना वृत्ते बीज-विन्दु-कार्याणि त्रय एवोपाया, सहायापेक्षान्तु पताका-प्रकरीभ्यामन्यतरया वा सह पञ्च चत्वारो वेति ।'

'कार्य'स्तु मुख्यतया—

कार्यं फल प्रत्युपकारविशेषै पुनर्वीजादीना मुख्यता बाहुल्यं प्राधान्य वा निबन्धनीयम्। तत्र बीजविन्द्वोस्तावन्मुख्यत्वमेव सर्वव्यापित्वात्। पताका-प्रकरी-कार्याणा तु मुख्यफल प्रत्युपयोगापेक्षा एकस्य द्वयोस्त्रयाणा वा मुख्यत्वमन्येषा चामुख्यत्वम्। तत्र पताकाया मुख्यत्वं यथा श्रीशूद्रकविरचिताया मृच्छकटिकाया पूर्वोपकारोपगृहीतस्यार्यकस्य। प्रकर्या यथा वीरनागविरचिताया कुन्तमालाया सीतायास्तदपत्ययोश्च पालन-संयोजनाभ्या स्वफलनिरपेक्षस्य वाल्मीके। उभयोर्यथारामप्रवन्धेषु सुग्रीवविभीषणयोजन-दायुहन्ममदङ्गदादीनाञ्च। पताका-प्रकर्योरल्पत्वेऽभावे वा सर्वत्र कार्यस्य मुख्यत्वमिति ।'

( नाट्यदर्पण १ म विवेक )

अर्थात् 'बीज' रूप से उपक्षिप्त नायक के उपाय किं वा इस उपाय से सम्बद्ध इतिवृत्त की सफलता-सम्पूर्णता के लिये सर्वत्र रूपक-प्रवन्धों में 'कार्य' रूप का अर्थ प्रकृति की योजना अनिवार्य है। नायक सहायतापेक्षी हो अथवा सहायतानपेक्षी हो, प्रासङ्गिक वृत्त की योजना की गयी हो या न की गयी हो, 'कार्य' की योजना आवश्यक है क्योंकि बिना सैन्य-दुर्ग-कोष आदि साधनवर्णन के कार्यारम्भ की सफलता का अभिव्यञ्जन कदापि संभव नहीं।

किन्तु 'दशरूपक'कार ने 'कार्य' का दूसरा ही लक्षण-निरूपण किया है—

'तस्येतिष्ठत्तस्य किं फलमित्याह—

कार्यं त्रिवर्गस्तच्छुद्धमेकानेकानुबन्धि च ।

-धर्मार्थकामा फलं तस्य शुद्धमेकैकमेकानुबन्ध द्वित्र्यनुबन्ध वा ।'

तत्साधन व्युत्पादयति—

स्वरूपोद्दिष्टस्तु तद्धेतुर्बीजं विस्तार्यनेकधा ।

स्तोकोद्दिष्ट कार्यसाधक पुरस्तादनेकप्रकार विस्तारी हेतुविशेषो बीजवद् बीजम् तच्च महाकाव्यावान्तरकार्यहेतुभेदादनेकप्रकारमिति ।'

( दशरूपक १ म प्रकाश )

अर्थात् 'कार्य'से अभिप्राय धर्म अर्थ-कामरूप पुरुषार्थ से है जिसका प्राप्ति के लिए नायक के कार्यारम्भ आदि का चित्रण किया जाया करता है। यह कार्य 'महाकार्य' 'अवान्तर कार्य' आदि रूपों में विभक्त रखा करता है। 'कार्य' बीज का सहकारी (साधन) नहीं अपितु बीज का साध्य है—

दशरूपककार के इस 'कार्य' लक्षण के प्रभाव में ही भावप्रकाशनकार की यह 'कार्य-परिभाषा' निकली है।

(अवस्थापक स्वल्प और प्रकार विवेक)

अवस्था पञ्च कार्यस्य प्रारम्भस्य फलार्थिभिः ॥ ७० ॥

आरम्भयत्नप्राप्त्याप्तानियताप्तिफलागमाः ।

“बीजं विष्णुः पताका च प्रकरी कार्यमेव च ।  
अर्थप्रकृतयः पञ्च कथामेवस्य हेतवः ॥  
एते कथावरीरस्य हेतवः परिधीर्तिताः ।  
साधनत्वादि बीजस्य प्रथमं तदुपविपत ॥  
साध्यत्वादेव कार्यस्य सर्वांस्ते तत्प्रयोजयेत् ।  
अविष्ण्वेवाय एवमेव विष्णुं मध्ये तपोरपि ॥  
तत्र तत्र यथायोगे पताका प्रकरीर्म्यसेत् ।  
तथा कार्यप्रकृतयस्तत्-अवृष्टिश्च वर्धिता ॥

तत्तत्तत्त्वविनीक्ष्येति वाक्ये कार्यं विद्येयवते ।  
‘तत्तत्त्वविनीक्ष्येति’ मीमांसकमपि कृत्वा महापोत्रिणो  
ब्रह्मविद्विस्तमपप्रकरी इहा शृप्तं मेदिनी ।  
सेतुर्बिणपश्चिमौ जलविधी सौमन्तपश्चिमिता  
कल्पाम्बे च कृतं समस्तमदृशप्रीयोपसर्गं बगत् ॥  
अत्र धर्माधिनिष्ठाः कल्पेन प्रकृतिता ॥”

(भावमन्त्रस्तु उप बन्धित)

यहाँ स्पष्टता ‘बीज’ को साधन और कर्माधेयस्वरूप ‘कार्य’ को फल अथवा साध्य निर्दिष्ट किया गया है ।

साहित्यदर्पणकार का ‘अर्थ’ शब्द ‘वस्तुस्वरूप’ और ‘भावमन्त्रस्तु’ के ‘अर्थ’ शब्द के आधार पर निकला है । ऐसा मतीय होता है कि साहित्यदर्पणकार ने यहाँ अपनी समीक्षालिखित का लाभ छोड़ दिया है क्योंकि यदि ‘अर्थ’ भी साध्य ही हो तो ‘प्रकृतयः’ और ‘अर्थ’ (बीजों अथवा बीजों और पौधों अर्थप्रकृति) के एक एक गिनाने और बताने की क्या आवश्यकता ।

अनुवाद—एक के उद्देश्य से जो कार्य आरम्भ किया जाय उसकी वे पाँच अवस्थाएँ स्वभावता हुआ करती हैं—१ आरम्भ २ प्रारम्भ ३ प्राप्तिप्राप्त्य, ४ नियताप्ति और ५ फलागम ।

विमर्श—अवस्था-भनिरूपण में ही साहित्यदर्पणकार ने वस्तुस्वरूप के ही वस्तु-अवस्था-अर्थ का सहारा लिया है—

‘अवस्थाः पञ्च कार्यस्य प्रारम्भस्य फलार्थिभिः ।

आरम्भ-प्रारम्भ-प्राप्तिप्राप्ति-फलागमाः ॥” (वस्तुस्वरूप १-१)

यहाँ यह स्पष्ट है कि ‘अवस्थापञ्चक’ शब्दसाधक का पारिभाषिक यह न होकर सामान्यार्थक यह हो गया है । यहाँ अवस्थापञ्चक के रूप में किसी कार्य अथवा व्यापार की पाँच स्थानों का ही निरूपण किया गया है । किन्तु मरत मुनि के इस ‘अवस्थापञ्चक’ निमर्श अर्थात्—

‘इत्यस्मिन् फलप्रीयो तु व्यापारः कारकस्य (अस्य) यः ।

तस्यानुपूर्व्या विधेयाः पञ्चावस्थाः प्रयोज्युभिः ॥

आरम्भश्च प्रारम्भश्च तथा प्राप्तिश्च-समस्तः ।

निबता च फलागमिः फलप्रीयाश्च पञ्चमाः ॥

(गजवशा)

( १म अवस्था . आरम्भ )

तत्र—

भवेदारम्भ औत्सुक्यं यन्मुख्यफलसिद्धये ॥ ७१ ॥

यथा—रत्नावल्यां रत्नावल्यन्त पुरनिवेशार्थं यौगन्धरायणस्यौत्सुक्यम् ।  
एव नायकनायिकादीनामप्यौत्सुक्यमाकरेषु बोद्धव्यम् ।

( २य अवस्था यत्न )

प्रयत्नस्तु फलावाप्तौ व्यापारोऽतिविरान्वितः ।

के परामर्श में अभिनवभारतीकार का जो कथन है—

‘अथ कविप्रयत्नेन साध्यो व्यापारपरिस्पन्दो यो बाह्मनसगतस्तस्य या अवस्था, आनुपूर्व्येति-उद्देशक्रमेणैव प्रयोक्तुमि कविभिर्निबन्धनीयतया ज्ञातव्या ता उद्दिशति-प्रारम्भश्चेति । चकारैस्तथाशब्देन चावश्यंभाविकमत्वमासामुच्यते । न हि प्रेक्षापूर्वकारिणोऽवस्थान्तरासभावनायां प्रारम्भ उचितो भवति, तत्प्रारम्भश्चेदुत्तरोत्तरावस्था-प्रसर एव । पञ्चम इत्यनेन क्रमो विवक्षित इति दर्शयति । एता क्रमेण दर्शयितुमाह ( औत्सुक्यमात्रवन्धस्त्विति )—महत प्रधानभूतस्य फलस्य युज्यमानस्य तत्तन्नायकोचि-तस्य यद्वीजमुपायमप्यत् तस्य यदौत्सुक्यमात्र तद्विषयस्मरणोत्कण्ठानुरूपम्, अनेनोपाये-नैतत् सिद्धयतीति, तस्य वन्धो हृदये निरुद्धि प्रारम्भ, सा च नायकस्यामात्यस्य नायिकाया प्रतिनायकस्य दैवस्य वा तस्या हि तथैवानुमानाद् व्यवस्था’ ।

( अभिनवभारती नाट्यशास्त्र १९. ७. ८ )

उससे यह पता चलता है कि ‘अवस्थापञ्चक’ का सम्बन्ध नायक से तो है किन्तु कवि अथवा नाटककार से भी है । वास्तविक जीवन के नायकादि के व्यापार का ‘अवस्थापञ्चक’ नाटककार की कला द्वारा नाटक के ‘अवस्थापञ्चक’ के रूप में परिणत हुआ करता है । नाटक का ‘अवस्था-पञ्चक’ नाटक के मुख्य चरितों के व्यक्तित्व के क्रमिक विकास चित्रण का विश्लेषण है । इस ‘अवस्थापञ्चक’ की समुचित योजना के ही लिये ‘अर्थप्रकृतिपञ्चक’रूप इतिवृत्तयोजना की यथास्थान और यथासमव आवश्यकता हुआ करती है ।

अनुवाद—‘आरम्भ’ कार्य की वह अवस्था है जिसे मुख्य फल की सिद्धि के लिये औत्सुक्य कहा गया है ।

जैसे कि ‘रत्नावली’ में, नायक वत्सराज उदयन के अन्तःपुर में नायिका रत्नावली के निवेश के लिये, अमात्य यौगन्धरायण का जो औत्सुक्य-वर्णन है उसमें आरम्भावस्था की ही योजना दिखायी देती है । अन्यान्य रूपक-प्रवन्धों में अन्यान्य नाटकीय चरितों जैसे कि नायक, नायिका आदि-आदि के औत्सुक्यवन्ध की योजना की गयी है किन्तु यह सब भी ‘आरम्भ’ दशा की ही योजना है ।

विमर्श—‘आरम्भ’ का अभिप्राय केवल मुख्यफलसिद्धि के लिये उपायविषयक औत्सुक्य ही नहीं अपितु इस औत्सुक्य के अनुरूप बाह्मनस-व्यापार भी है जैसा कि नाट्यदर्पणकार ने स्पष्ट कहा है—

‘उपायविषयमौत्सुक्यमौत्सुक्यानुगुणो व्यापारश्चावस्थावस्थेत्यर्थः ।

( नाट्यदर्पण-१ म विवेक )

अनुवाद—‘प्रयत्न’ वह कार्यावस्था है जिसे फलप्राप्ति के लिये सत्वर उद्योग के रूप में देखा जाया करता है ।

यथा रत्नावल्याम्—‘सहस्रि ण अत्थि अण्यो वंसण उषाभो पित्त उषा तथा  
आजिहिअ उषासमीहिअ करइस्सम् ।’ [ तथापि नास्त्यन्यो वर्धनोपाय इति यथा  
तथा आह्वय्य यथासमीहित करिष्यामि ] इत्यादिना प्रतिपादितो रत्नावल्या  
श्वित्रलेखनाविर्घत्सराजसङ्गमोपाय । यथा च—रामचरिते समुद्रबन्धनावि ।

( ३५ अवस्था : प्राप्त्याप्ता )

उपायापायशब्दाभ्यां प्राप्स्याप्ता प्राप्तिस्त्वमथ ॥ ७२ ॥

यथा—रत्नावल्यां तृतीयेऽङ्के वेपपरिवर्तनामिसरणादेः सङ्गमोपायाश्चसक-  
दत्तालक्षणापायराहुत्या चानिर्धारितैश्चान्तसङ्गमरूपफलप्राप्ति प्राप्त्याप्रा ।  
पथमन्वयः ।

जैसे कि ‘रत्नावली’ के, इस प्रसङ्ग अर्थात् ‘उद्यम से मित्रों का और तो कोई  
उपाय नहीं केवल जैसे-जैसे उन्हें जिस में लीककर अपनी हथ्का पूरी करने में  
उपनिबद्ध, बत्तराज से मित्रों के किये, रत्नावली का श्वित्रलेखनरूप जो व्यापार है  
उसमें ‘प्रयत्न’ शब्द का ही स्वरूप परिकल्पित होता है । इसी प्रकार रामचरित-सम्बन्धी  
रूपक-प्रवर्णों में समुद्रबन्धन आदि व्यापार-वर्णन प्रयत्न-शब्द की ही योजना के रूप में  
देखा जा सकता है ।

विमर्श—नाट्यदर्पणकार ने ‘अभिनवमार्तरी’ का अनुसरण करते हुए ‘प्रयत्न’ का बड़ा सुन्दर  
व्याख्यान किया है—

‘प्रयत्नो व्यापृतौ त्वरा । मुख्यफलप्राप्त्यव्यापारमे त्वराऽनेनोपायेन विद्या फलं च  
मवाप्तीति विधयेन परमौत्तुर्ग्वं प्रकर्षेण चरन् प्रयत्नः । औत्तुर्ग्वमात्रमार्तरी परमौत्तुर्ग्वं  
तु प्रयत्न इत्यर्थः ( नाट्यदर्पण : १ म दिवक ) ।’

अर्थात् प्रयत्न आरम्भ की ही उत्तरावस्था है । आरम्भ यदि औत्तुर्ग्व है तो प्रयत्न परमौत्तुर्ग्व ।

अनुवाद—‘प्राप्त्याप्ता’ वह कर्मावस्था है जिसे फलसिद्धि के साधक और प्रतिबन्धक  
के पारस्परिक द्वन्द्व में फलसिद्धि की वांछा अथवा सम्भावना कहा गया है ।

जैसे कि ‘रत्नावली’ के तृतीय अङ्क में रत्नावली के वासवदत्ता-वचन में अनिसाररूप  
सङ्गमोपाय ( उद्यम-मित्रों के साथ ) और वासवदत्ता की उपस्थिति के रूप में उसके  
सङ्गसापाय ( उद्यम-मित्रों के प्रतिबन्धक ) के द्वन्द्व में उद्यम-मित्रों के रूप फल की  
सम्भावना अथवा वांछा का जो चित्रण है वह प्राप्त्याप्तावस्था की ही योजना है ।

इसी भाँति अन्य कथकप्रवर्णों में अन्यविध प्राप्त्याप्ता-योजना देखी जा सकती है ।

विमर्श—नाट्यदर्पणकार के अनुसार ‘प्राप्त्याप्ता’ का वह स्वरूप है ३—

‘फलसंभावना किञ्चित् प्राप्त्याप्ता हैतुमात्रतः । मात्सर्येण कलान्तरयोगा प्रतिबन्ध-  
निधयश्च व्यतिष्ठयते । कलान्तरासंबन्धावनिमित्तबाधप्रयत्नाद्योपायादीपत् प्रयत्न-  
फलस्य वा सम्भावना न तु निवृत्तः सा प्राप्तेः प्रयत्नफलकामत्वात् प्राप्त्याप्ता ।

( नाट्यदर्पण १ म दिवक )

तात्पर्य यह है कि फलक प्रवर्णों में जो प्राप्त्याप्ता-योजना है वह मायकचरितों के अन्तर्द्वन्द्व  
और परिद्वन्द्व की ही अभिव्यक्ति है ।

( ४थ अवस्था : नियतासि )

अपायाभावतः प्राप्तिर्नियतासिस्तु निश्चिता ।

अपायाभावान्निर्धारितैकान्तफलप्राप्तिः । यथा रत्नावल्याम्—‘राजा—देवी-प्रसादनं त्यक्त्वा नान्यमत्रोपायं पश्यामि ।’ इति देवीलक्षणापायस्य प्रसादनेन निवारणान्नियतफलप्राप्तिः सूचिता ।

( ५म अवस्था फलागम )

साऽवस्था फलयोगः स्याद्यः समग्रफलोदयः ॥ ७३ ॥

यथा—रत्नावल्या रत्नावलीलाभश्चक्रवर्तित्वलक्षणफलान्तरलाभसहितः । एवमन्यत्र ।

अनुवाद—‘नियतासि’ कार्य की वह अवस्था है जिसे ‘अपायाभाव’ अर्थात् विघ्नबाधा की निवृत्ति में फल-प्राप्ति की संभावना का निश्चय कहा गया है ।

‘अपायाभावात् निश्चिता प्राप्ति’ का अभिप्राय विघ्न के निराकरण में निर्धारित फलप्राप्ति का अभिप्राय है । जैसे कि ‘रत्नावली’ के इस प्रसङ्ग अर्थात् ‘वासवदत्ता को प्रसन्न करने के अतिरिक्त उदयन से मिलने का और कोई उपाय नहीं’ में, वासवदत्ता-प्रसादनरूप उपाय के द्वारा, उदयन-मिलन के विघ्नों की निवृत्ति में, उदयन-मिलन की संभावना का जो निश्चय है उसमें ‘नियतासि’ की ही झलक दिखायी दिया करती है ।

विमर्श—नाट्यदर्पणकार ने ‘नियतासि’ का यह लक्षण किया है—

‘नियतासिरूपायानां साकल्यात् कार्यनिर्णय ।

प्रधानफलहेतूना प्रतिबन्धकामावेन सकलसहकारिसम्पत्त्या कार्यस्य प्रधानफलस्य निर्णयो भविष्यत्येवेति निश्चयो नियता फलान्वयमिचारिव्याप्तिर्नियतासि ।’

( नाट्यदर्पण १म विवेक )

अनुवाद—‘फलागम’ वह कार्यावस्था है जिसे समग्र फललाभ कहा गया है ।

जैसे कि ‘रत्नावली’ में ही, नायक वत्सराज उदयन के रत्नावली-लाभ और साथ ही साथ चक्रवर्तित्व-लाभ का जो वर्णन है वह ‘फलागम’ की अवस्था की ही योजना है ।

इसी प्रकार अन्य रूपक-प्रबन्धों की भी फलागमावस्था पहचानी जा सकती है ।

विमर्श—आचार्य रामचन्द्र और गुणचन्द्र ने ‘फलागम’ का यह विमर्श किया है जो यहाँ ध्यान देने योग्य है—

‘साक्षादिष्टार्थसम्भूतिर्नायकस्य फलागम ।

साक्षात् समनन्तरं न तु दानादिभ्यः स्वर्गादिफलमिव जन्मान्तरभाविनी दृष्टस्याभि-प्रेतस्य अर्थस्य प्रयोजनस्य सम्यक् पूर्णत्वेन भूतिरूपत्ति । फलस्यागम आगमारम्भो न पुनरागतत्वम् । इह फलस्योत्पत्त्यावेश पञ्चम्यवस्था । उत्पत्तनस्य तु नायकेन य. संभोगस्तत् प्रबन्धस्य मुख्य साध्यम् । अतएव फले साध्ये नायकस्य पञ्चावस्था सङ्गच्छन्ते । नायकस्येत्यनेन चावस्थान्तराणि सचिव-नायिका-विपक्ष-देवादिव्यापारैरपि निबध्यन्ते इत्युक्तं भवति । तानि तु तथा निबद्धान्यपि फलतो नायक एव पर्यवस्यन्ति । फलागम पुनर्नायकस्यैव निबद्ध्यते ।’ ( नाट्यदर्पण १म विवेक )

अर्थात् ‘फलागम’ का अभिप्राय नायक का समग्र फललाभ नहीं अपि तु उसके समग्र फल के लाभ का आरम्भ है । फल की प्राप्ति फलागम नहीं अपि तु फल की उत्पत्ति फलागम है । अन्यथा इसे कार्यावस्था कैसे कहा जा सकता है ।



( 'सन्धि' स्वरूप-विकल्प )

यथासंस्पर्शमवस्थामिरामिर्योगात् पञ्चमिः ।

पञ्चघैवेतिवृत्तस्य भागाः स्युः पञ्च मन्वयः ॥ ७४ ॥

तल्लक्षणमाह—

अन्तरैकार्यसम्बन्धः सन्धिरेकान्वये सति । ✓

एकेन प्रयोजनेनान्वितानां कथांशानामवान्तरैकप्रयोजनसम्बन्धः सन्धिः ।  
वक्ष्येयमाह—

( सन्धिपञ्चक )

मूलं प्रतिमुखं गर्भो विमर्श उपसंहृतिः ॥ ७५ ॥ ✓

इति पञ्चाङ्गस्य भेदाः स्युः क्रमाच्छृणुगमुच्यते ।

अनुवाद—'अर्थप्रकृतिपञ्चक' रूप वृत्तमेव के साथ अवस्थापञ्चक की क्रमिक सम्बन्ध योजना के कारण नाटकीय इतिवृत्त के जो पाँच भाग हुआ करते हैं उन्हें ही पाँच संधियों कहा करते हैं ।

यहाँ 'सन्धि' का अतिमात्र एक प्रधान इतिवृत्त के साथ परस्पर सम्बन्ध अन्य अवाप्तर इतिवृत्त-कण्ठों के सम्बन्ध का अतिमात्र है ।

उत्तरार्ध यह है नाटक के इतिवृत्त-कण्ठों का अपने-अपने उद्देश्य-विशेषों के साथ सम्बन्ध तो 'सन्धि' है ही, साथ ही साथ इन परस्पर संबन्ध इतिवृत्त-कण्ठों और उनके उद्देश्यों का प्रधान नाटकीय इतिवृत्त और उसके मुख्य उद्देश्यविशेष के साथ जो सम्बन्ध है वह भी 'सन्धि' ही है ।

विमर्श—नाट्यदर्शनकार ने 'अभिनवभारती' के सन्धि-विमर्श के आधार पर 'सन्धि' का यह स्वरूप-विवेक किया है—

'सम्बन्धो मुख्यवृत्तौ सा पञ्चावस्थालुगात् क्रमात् । मुख्यस्य स्वतन्त्रत्वं महावाक्यार्थ-स्वाद्या भागा परस्पर स्वकल्पेन चट्टौ सन्धीयन्ते इति सन्धिरवस्थापिमा प्रारम्भप्रतिमि-रमुगता अनुधाता अवस्था समाप्ती समाप्यन्त इत्यर्थः । ( नाट्यदर्पण : १० म विवेक )

अर्थात् यदि कल्प-अवन्त को एक 'महावाक्य' और कल्प-प्रवन्त को 'महावाक्यार्थ' माना जाय तो सन्धिपञ्चक को इत्यन्त अंतःपञ्चक अथवा अन्तःपञ्चक मानना पड़ेगा । महावाक्यरूप कल्पप्रवन्त के ये पाँच अंश अथवा भाग अपने-अपने अवाप्तर अंश अथवा भागों में छे संधिबद्ध रहा ही करते हैं परस्पर भी संधिबद्ध अथवा सुसंबन्ध ही उपनिबद्ध होने काया करते हैं । अपने-अपने अंशों में सुसंधिबद्ध किंवा परस्पर संबन्ध वह पंचनिबद्ध कल्पकार्योपसि ही सन्धिपञ्चक है ।

अनुवाद—इस 'सन्धि' के ये पाँच भेद हैं—( १ ) मूल ( २ ) प्रतिमुख ( ३ ) गर्भ ( ४ ) विमर्श और ( ५ ) उपसंहृति ( अथवा विमर्श ) ।

विमर्श—नाट्यार्थानां भरतमुनि ने पञ्चविध सन्धि का यह विवेक किया है—

'मूर्धं प्रतिमुखं चैव गर्भो विमर्श एव च ।

तथा विमर्शनं चेति नाटके पञ्च सन्धयः ॥

अर्थात् अभिनवभारतीभार ने इस प्रकार सन्धियाँ हैं—

'मूर्धं प्रतिमुखं चैवेति । समुच्चयपदैः पञ्चाणां सर्वज्ञावर्यमानस्य च्योतितस्य । विपम-

( १ म सन्धि-मुखसन्धि )

यथोद्देशं लक्षणमाह—

यत्र वीजसमुत्पत्तिर्नार्थरससम्भवा ॥ ७६ ॥

प्रारम्भेण समायुक्ता तन्मुखं परिकीर्तितम् ।

यथा—रत्नावल्या प्रथमेऽङ्के ।

वाचिभि क्रमनियम । नाटक इत्यभिनेयरूपके इत्यर्थः । महावाक्यार्थरूपस्य रूपकार्यस्य पञ्चाशा अवस्थाभेदेन कल्प्यन्ते । तेनार्थावयवा सन्धीयमाना परस्परमङ्गैश्च सन्धय इति समाख्या निरुक्ता ।

( अभिनवभरती नाट्यशास्त्र १९ ३७ )

अर्थात् अपने-अपने अङ्गों में सम्बद्ध और परस्पर सम्बद्ध जो रूपकार्य के पांच अंश अथवा अवयव हैं वे ही पांच सन्धिया हैं ।

अनुवाद—क्रमशः 'सन्धिपञ्चक' का निरूपण किया जा रहा है । इस 'सन्धिपञ्चक' में जो प्रथम सन्धि है उसे 'मुख' कहा करते हैं । 'मुखसन्धि' का अभिप्राय रूपक की अर्थराशि का वह अंश है जिसके साथ नायक की प्रारम्भावस्था सम्बद्ध रहा करती है और जिसमें 'बीज' रूप अर्थप्रकृति की योजना हुआ करती है । यह 'मुखसन्धि' रूप अर्थराशि ऐसी हुआ करती है जिसमें भिन्न-भिन्न रसभावों की अभिव्यञ्जना भरी रहा करती है ।

जैसे कि 'रत्नावली' नाटिका के प्रथम अङ्क की जो अर्थराशि है वह 'मुखसन्धि' रूप ही अर्थराशि है ।

विमर्श—नाट्याचार्य भरतमुनि के अनुसार 'मुखसन्धि' का यह लक्षण है—

यत्र वीजसमुत्पत्तिर्नार्थरससंभवा ।

काव्ये शरीरानुगता तन्मुखं परिकीर्तितम् ॥

जिसे 'अभिनवभारती'कार ने इस प्रकार समझाया है—

'प्रारम्भभावित्वान्मुखमिव मुखम्, यावत् क्रियावत्यर्थभागराशौ बीजस्य मुखोपायस्य सम्यगुत्पत्तिः शरीरेण प्रारम्भात्मना अनुगता भवति, नानामूर्तोऽर्थवशात् प्रसङ्गायातो रससंभवो य स्यात् । एतदुक्तं भवति—प्रारम्भोपयोगी यावानर्थराशि प्रसक्तानुप्रसक्त्या विचित्रास्वाद आपतित तावान् मुखसन्धि, तदभिधायी च रूपकैकदेश । यथा रत्नावल्या प्रथमेऽङ्के । तथा हि, अमात्यस्य वीरो, वस्त्रराजस्य शृङ्गाराद्भुतौ, ततः शृङ्गार इति ह्यानय सागरिकाया राजदर्शनेऽमात्यप्रारम्भविषयीकृतेऽर्थराशिरूपयोगीति मुखसन्धि ।'

( अभिनवभारती . नाट्यशास्त्र . १९ ३९ )

अर्थात् 'मुख'सन्धि वह नाटकीय अर्थराशि है जिसके दर्शन में नाटक के मुख का दर्शन सम्पन्न हुआ करता है । नाटक के मुख होने के लिये, नाटक की यह आरम्भिक अर्थराशि रसभाववैचित्र्य से मनी हुआ करती है । 'मुख' इस प्रारम्भोपयोगी अर्थराशि को तो कहते ही हैं, साथ ही साथ इसके अभिधायक रूपक-प्रबन्ध के एकदेश को भी 'मुख' ही कहते हैं । इस दृष्टि से 'रत्नावली' के प्रथम अंक में 'मुख'सन्धि का दर्शन और 'रत्नावली' के प्रथम अङ्क का मुख-सन्धि के रूप में दर्शन-दोनों एक ही बात है ।

( १ प सन्धि : प्रतिमुख )

फलप्रधानोपायस्य सुखसन्धिनिवेशिनः ॥ ७७ ॥  
लक्ष्यालस्य इषोद्भेदो यत्र प्रतिमुखं च तत् ।

पद्या—रत्नावल्यां द्वितीयेऽङ्के बत्सरारजसागरिकासमागमहेतोरनुराग-  
बीजस्य प्रथमाहोपक्षितस्य सुसंगता-विदूषकाभ्यां ज्ञायमानतया किञ्चिदस्यस्य  
वासवदत्तया चित्रफलाकृष्टान्तेन किञ्चित्तुभीयमानस्योद्देशरूप उद्भेद ।

अनुवाद—‘प्रतिमुख’ वह सन्धि है जिसमें सुखसन्धि-निवेश बीज का ऐसा उद्भेद  
हुआ करता है जो कल्प और लक्ष्य-दोनों का रक्षा करता है ।

जैसे कि ‘रत्नावली’ के द्वितीय अङ्क की जो चर्चाराजि है वह ‘प्रतिमुखसन्धि’ रूप  
चर्चाराजि है क्योंकि इसमें लक्ष्य बत्सरारज और नायिका रत्नावली के उस प्रेमबीज का  
उद्भेद विधानी पद्धति है जो कि उनके परस्पर मिश्रण के हेतुरूप में प्रथम अङ्क में ही  
निहित हो चुका है । रत्नावली के प्रथमाह में उपस्थित प्रेमबीज का यह उद्भेद इसलिये  
किञ्चिन्मात्र कल्प है क्योंकि सुसंगता और विदूषक इससे पूर्वतया परिचित बताये गये  
हैं । यह इसलिये किञ्चिन्मात्र कल्प ही है क्योंकि बत्सवत्ता को इसकी जो कुछ भी  
आवश्यकता है वह सागरिका द्वारा चित्रित बत्सरारज के चित्र के आधार पर अनुमान द्वारा  
ही है अन्वयतः नहीं ।

विमर्श—यहां नाट्यवैकल्य का वह ‘प्रतिमुख’-विमर्श जिस पर ‘अमिलवमारतो’ को व्याप  
है व्याप देने योग्य है—

‘प्रतिमुखं कियत्कल्पबीजोद्भाससमन्वितः ।

प्रधानवृत्तांत इह उत्तरेषु च स्मर्यते । कियत्कल्पस्य सुखसन्धी गम्भीरत्वेन स्वस्तत्वा-  
दीपत् प्रकाशस्य बीजस्य प्रधानोपायस्योद्भेदमेव प्रवक्तव्यमस्तमेव सम्मरानुगतः प्रस्ता-  
वत्पारिच्छिन्ना वा प्रधानवृत्तांत स सुखसन्धिमुक्त्वेन वर्तते इति प्रतिमुखम् । ‘हीराक्ष  
स्वस्तादयि’ इत्यादिना ह्यमात्येय सागरिकावैक्षित्यं बीजं सुखसन्धी स्वस्तं बसन्तोत्सव-  
कामदेवपूजादिना विरोहितत्वाद्योपलक्ष्यम् । तत्र च सुखवृत्तारचित-बत्सरारज-सागरिका  
समागमेव द्वितीयाङ्के उद्भास इति ।

( कल्पवर्धनः १ प्र विवेक )

यहां यह स्पष्ट है कि ‘रत्नावली’ के प्रथम अङ्क में उपस्थित प्रेमबीज के द्वितीय अङ्क में  
उद्भेद की कल्पना और लक्ष्यता की सम्मन सामाजिकों के साथ है न कि पात्रों के रूप ।

किन्तु विमर्श कथितान ने बत्सकल्पकार की इस ‘प्रतिमुख’-बीजांश चर्चा—

‘कल्पकल्पतयोद्भेदस्तस्य प्रतिमुखं सचत् ।

“ “ तस्य बीजस्य किञ्चिदकल्प किञ्चिदकल्प इषोद्भेदः प्रकाशं तत्पति  
मुपयम् । पद्या रत्नावल्यां द्वितीयेऽङ्के बत्सरारजसागरिकासमागमहेतोरनुरागबीजस्य प्रथमा-  
होपक्षितस्य सुसंगताविदूषकाभ्यां ज्ञायमानतया किञ्चिदस्यस्यस्य बत्सवत्तया च चित्र-  
फलाकृष्टान्तेन किञ्चित्तुभीयमानस्य उद्भासवत्तयोद्भेदः प्रतिमुखसन्धिरिति ।

( कल्पवर्धनः १ प्र प्रकाश )

य अनुसरण किया है और नीचे उद्भेद की उद्भासक-रूपता की ‘रत्नावली’ के पात्रों की इति से  
देखा है न कि तत्पति की इति से ।

(३ य सन्धि गर्भसन्धि)

फलप्रधानोपायस्य प्रागुद्भिन्नस्य किञ्चन ॥ ७८ ॥

गर्भो यत्र समुद्भेदो हासान्वेषणवान्मुहुः ।

फलस्य गर्भीकरणाद्गर्भ । यथा रत्नावल्या द्वितीयेऽङ्के—‘सुसंगता—सहि, अदक्खिणा दाणिं सि तुमं जा एवं भट्टिणा हत्येण गहिदा वि कोवं ण मुञ्चसि’ [ सखि । अदक्खिणेदानीमसि एव या एव भर्त्रा हस्तेन गृहीतापि कोप न मुञ्चसि ] इत्यादौ समुद्भेदः । पुनर्वासवदत्ताप्रवेशे हास । तृतीयेऽङ्के—‘तद्वार्तान्वेषणाय गतः कथं चिरयति वसन्तक’ इत्यन्वेषणम् । विदूषकः—‘ही ही भो, कोसम्बीरज्जलम्भेणापि ण तादिसो पियवअस्सस्स परितोसो जादिसो मम सआसादो पियवअण सुणिअ भविस्सदि’ [ ही ही भो कौशाम्बीराज्यलाभेनापि न तादृश. प्रियवयस्यस्य परितोप. यादृशी मम सकाशात् प्रियवचनं श्रुत्वा भविष्यति ] इत्यादावुद्भेदः । पुनरपि वासवदत्ताप्रत्यभिज्ञानाद् हास । सागरिकायाः सङ्केतस्थानगमनेऽन्वेषणम् । पुनर्लतापाशकरणे उद्भेदः ।

अनुवाद—‘गर्भ’ वह सन्धि है जिसे ‘मुख’ और ‘प्रतिमुख’ सन्धि में क्रमशः किञ्चिन्मात्र उद्भिन्न प्रधानोपायरूप बीज का ऐसा समुद्भेदन कहा जाया करता है जिसमें बीज के हास और विकास की चिन्ता साथ-साथ चला करती है ।

इस सन्धि को ‘गर्भ’ इसलिये कहा करते हैं क्योंकि इसमें नाटक का प्रधान फल गर्भित (अन्तर्निविष्ट) प्रतीत हुआ करता है । उदाहरण के लिये, ‘रत्नावली’ के द्वितीय अङ्क का जो यह प्रसङ्ग अर्थात्—

‘सुसङ्गता-सखी ! तेरे प्रियतम ने अपने हाथ से तुझे पकड़ रखा है लेकिन तू है जो कोप छोड़ना नहीं जानती ।’ आदि है, उसमें तो मुखसन्धि-निश्चित अनुराग-बीज का समुद्भेद दिखायी पड़ रहा है । इसके अनन्तर वासवदत्ता के पुनः प्रवेश में इस बीज का हास परिलक्षित होता है । तत्पश्चात् तृतीय अङ्क के इस सन्दर्भ अर्थात् ‘सागरिका का समाचार जानने, वसन्तक, न जाने, कथं निकला लेकिन अभी तक न आया ।’ आदि में, इसका अनुसन्धान प्रतीत होता है और विदूषक का जो यह कथन अर्थात्—‘कौशाम्बी का राज्य मिलने पर भी मेरे प्रियवयस्य को उतनी खुशी न होगी जितनी मेरे मुँह से इस आनन्द की बात सुन लेने पर’ आदि है, उसमें इसी का विकास पता चल रहा है । इसी प्रकार वासवदत्ता के पहचानने में इस बीज के हास और सागरिका के प्रेममिलन-स्थान पर पहुँचने में इसके अनुसन्धान और लतापाश से सागरिका के आत्मघात-चिन्तन में समुद्भेद की जो प्रक्रिया दिखायी देती है वह सब ‘गर्भसन्धि’ रूप ही अर्थराशि है ।

विमर्श—आचार्य रामचन्द्र के अनुसार ‘गर्भ’ सन्धिका यह अभिप्राय है—

‘बीजस्यौन्मुखवान् गर्भो लामालाभगवेपणै ।

उत्पत्युद्घाटनदशाद्वयाविष्टस्य बीजस्यौन्मुख्यं फलजननाभिमुख्यं तद्वान् । प्राप्त्याशया तृतीयावस्थया परिच्छिन्नो लामालाभगवेपणै पुनः पुनर्भवद्विर्युक्तं प्रधानवृत्तांशो गर्भसन्धिः । ... अत्र पुनः पुनर्लामालाभगवेपणैर्वीजस्यौन्मुख्यं दर्शितम् । अतएव फल

( १ नै सन्धिः विमर्श-सन्धिः )

अथ विमर्श—

यत्र मुख्यफलोपाय उद्भिन्नो गर्मतोऽधिका ॥ ७९ ॥

आपाद्यै सान्तरायस्य स विमर्श इति स्मृतः ।

यथा शाकुन्तले चतुर्थोद्धारौ—‘अनसूया—पिबवहे, अइवि गन्धर्वेण विवाहेण णिब्बुत्तच्छाणां पिबसही ससुत्तता अणुरूपमत्तुमाइणी संसुत्तेति निठ्ठुदं मे हिअमम्, वह वि एत्तिअं चिन्तणिअम्’ [ प्रियवहे ! यद्यपि गान्धर्वेण विवाहेन विदूतकस्याणां प्रियसखी शकुन्तला, तथापि अनुकम्पमर्तुगामिनी सहेतेति निर्दोषं मे इदम् तथाप्येतावन्निवर्तनीयम् ] इत्यत आरभ्य सप्तमाहोपनिषाध्य शकुन्तलाप्रत्यभिज्ञानात्प्रागर्घ्यसञ्चयं शाकुन्तलाविस्मरणरूपविमर्शोक्तिरिति ।

प्रतिप्रमाणत्वात् गर्मसन्धिरूप्यते । इह गर्मसन्ध्याद्यप्यर्घ्यं प्रमाणफलसंभावनामक-  
प्यते ” “अवमर्शसन्धौ ॥ प्राप्यया प्रमाणफलनिश्चयक्यत्वादिति विशेषः ॥

( नाट्यदर्पण १ म विभेद )

अर्थात् ‘गर्मसन्धि’ रूपकप्रवृत्त्या को नव अर्थोक्ति ई इति ‘मुष्ट और ‘प्रतिमुष्ट’ सन्धिवा ॥ इत्यादि क निर्धार कर सकते हैं । बीच की वस्तुति के बाद उद्धारन और उद्धारन के बाद फल-  
प्लुत्य स्वभाव- हुआ करता है । गर्मसन्धि में कम्प्राप्ति की संभावना अभिव्यक्त होती है  
कम्प्राप्ति का निश्चय नहीं । ‘बीज’ के अन्तर्गत और काम हास और अन्वेषण अथवा दिव्य-बाधा  
और उसके निराकरण में जो इच्छा है उसका प्रदर्शन रूपक को एक अनिवार्य आवश्यकता है ।

अनुवाद—विमर्श (अथवा अवमर्श) वह सन्धि है जिसमें गर्मसन्धि में उद्भिन्न  
प्रमाणोपाय रूप बीज और भी अधिक, उद्भिन्न प्रतीत हुआ करता है और साथ ही साथ  
बाध परिस्थिति (जैसा कि सापाद्य) के कारण आनेवाली विज्ञ-बाधाओं से भी उद्घा-  
तिलानी दिया करता है ।

उदाहरणके लिये, ‘अभिज्ञानशाकुन्तल’ के चतुर्थ अङ्क के आरम्भक इस संदर्भ अर्थात्—  
‘अनसूया—प्रियवहे ! यद्यपि हमारी सखी शकुन्तला का गान्धर्वसिद्धि से विवाह-  
सङ्गठ सम्पन्न हो चुका और वह अपने योग्य पति का भी पा चुकी, किन्तु हम लोगों को  
इस बात की चिन्ता है—

आदि, से लेकर सप्तम अङ्क में उपनिबद्ध शकुन्तला-प्राप्यभिज्ञान (शकुन्तला की पहचान)  
रूप वृत्तान्त के पहले को भी इतिवृत्त माय है वह ‘विमर्श’ सन्धिरूप ही अर्थोक्ति है ।

इसमें पहले की अपेक्षा अधिक क्लेशमुक्त बीज अर्थात् बुध्यन्तगत शकुन्तला-विषयक  
येम-प्रस्ताव के विषयक में जित् प्रवृत्ति की योजना की गयी है वह ‘शकुन्तलाविस्मरण’  
(बुध्यन्त द्वारा शकुन्तला की विस्मृति) की प्रवृत्ति है कि इस समय अर्थोक्ति को  
‘विमर्श’ रूप बना रही है ।

विमर्श—विमर्श १-व ० अर्थः ॥ यत्र गर्म अवमर्श भी कहा करते हैं । अभिव्य-  
क्तार्थात्त में अन्वेषण करना ही कहा है—

‘गमनिभिन्नबीजार्थो विमोक्षणकृताऽपि वा ।

अप्यप्यसमजो वापि स विमर्श इति स्मृतः ॥

गर्मनिभिन्नबीजार्थ इति । अथिह विमर्श इति पठ्यति अन्य अवमर्श इति । तथ

अथ निर्वहणम्—

बीजवन्तो मुखाद्यर्था विप्रकीर्णा यथायथम् ॥ ८० ॥

एकार्थमुपनीयन्ते यत्र निर्वहणं हि तत् ।

यथा—वेण्याम्, 'कञ्चुकी—( उपसृत्य, सहर्षम् ) महाराज ! वर्धसे । अयं खलु भीमसेनो दुर्योधनक्षतजारुणीकृतसर्वशरीरो दुर्लभ्यव्यक्तिः' इत्यादिना द्रौपदीकेशसयमनादिमुखसन्ध्यादिवीजानां निजनिजस्थानोपक्षिप्तानामेकार्थ-योजनम् ।

यथा वा—शाकुन्तले सप्तमाङ्गे शकुन्तलाभिजानादुत्तरोऽर्थराशिः । एषाम-ज्ञान्याह—

सन्देहात्मको विमर्शः । ननु पूर्वं सभावनाप्रत्ययं तत् सशय इति नेदमुचितम्, संशय-निर्णयान्तरालवर्तिनं हि तर्कं तार्किका प्राहुः । किं च विमर्शसन्धिर्नियतफलप्राप्त्यवस्थया व्याप्तं, तच्च नियतत्वं सदेहश्चेति किमेतत् । 'अत्राहुः—तर्कान्तरमपि हेत्वन्तरवशाद् बाध-च्छेदरूपतापराकरणे सशयो भवेत्, किं न भवति ! इहापि च निमित्तबलात् कुतश्चित् संभावितमपि फलं यदा बलवता प्रत्युद्भूते कारणानि च बलवन्ति भवन्ति तदा जनक-विघातकयोस्तुल्यबलत्वात् कथं न सदेहः । तुल्यबलविरोधकविधीयमानवैधुर्यव्याधूनन-सन्धीयमानस्फारफलावलोकनाया च पुरुषकार सुतरामुद्धुरकन्धरीभवतीति तर्क-ान्तरमत्र सशयः ततो निर्णय इत्येतदेवोचिततरम् ।' ( अभिनवभारती १९, ४२ )

अर्थात् 'प्राप्त्याशा' के बाद 'नियताप्ति' की अवस्था का जो क्रम है वही 'गर्म' के बाद 'विमर्श' का क्रम है । फलप्राप्ति की संभावना होने पर भी सदेह का होना इसलिये स्वाभाविक है क्योंकि विघ्न-बाधाओं की मुठभेड़ समाप्त नहीं हुई है । फलप्राप्ति की नियत संभावना और विघ्नबाधा के कारण इसकी संदिग्धता के द्वन्द्व में जो नाटकीय चरित का विकास हुआ करता है उसका एक अपना हा सौन्दर्य और महत्त्व है । 'विमर्श' सन्धि में नाटक के प्रधान चरित का पौरुष और भी अधिक उद्दीप्त रूप से प्रकाशित हुआ करता है ।

अनुवाद—निर्वहण सन्धि —'निर्वहण सन्धि'रूपक प्रबन्ध की वह अर्थराशि है जिसमें उन-उन सन्धियों में यत्र-तत्र उपन्यस्त बीजादि रूप इतिवृत्ताश्च प्रधान फल के निष्पादक बनते दिखायी दिया करते हैं ।

उदाहरण के लिये 'वेणीसहार' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'कञ्चुकी—( पास पहुँच कर, सहर्षं ) महाराज ! जय हो ।

दुर्योधन के रक्त से रजित और इसीलिये पहचान में न आने वाले ये भीमसेन ही हैं' आदि में इस नाटक के प्रधान फल के निष्पादन का जो उपन्यास है वह निर्वहण सन्धि रूप ही रूपकार्य है । वस्तुतः यही वह रूपकार्य है जिसकी निष्पत्ति के लिये उन-उन सन्धियों में यथास्थान विन्यस्त द्रौपदीकेशसयमनादिरूप बीजादिभूत इतिवृत्ताश्च उन्मुख किं वा उत्मुख होते रहे हैं ।

अथवा 'अभिज्ञानशाकुन्तल' के सप्तमाङ्ग में शकुन्तला की पहचान की घटना के बाद की जो वृत्त-योजना है उसे भी 'निर्वहण' के निदर्शन रूप में ले सकते हैं ।

(सम्बन्ध-निरूपण : 'मुख' सन्धि के १२ अङ्ग)

उपशेषः परिकरः परिन्यासो निलोभनम् ॥ ८१ ॥

युक्तिः प्राप्तिः समाधानं विधान परिमावना ।

उद्भेद करणं भेद एतान्यङ्गानि वै मुखे ॥ ८२ ॥

(१ म अङ्ग-उपशेष)

ययोद्देशं लक्षणमाह—

काव्यार्थस्य समुत्पत्तिरुपशेष इति स्मृतः ।

विमर्श—वाक्यपर्यन्त के अनुसार 'निर्बहण' का वह स्वल्प है—

'सभीजविह्वलावस्था नानामावा मुलावस्थाः ।

फलस्तपोरिगो पस्मिन्नसौ निर्बहणं मुखम् ॥

बीजस्य विह्वल विकार उत्पत्तुर्ब्रह्मलक्ष्मीमुत्पादिकः सह बीजविह्वलैरवस्थानिब्र  
मप्रसन्नप्रतिनिर्बहणम् । नाना विविधा भावाः स्थापित्यभिचारि-सात्त्विका अथवा नावयन्ति  
फलं साधयन्ति भावा उपाया विन्दु-पताका-मकरी-कम्पांति यत्र । मुलावस्था व फले  
रति-हासोत्साह-विस्मय-स्वादिमात्राङ्गस्य प्रति-गर्भीमुख्य-महद्वि-म्यभिचारिबाहुस्य  
व मुलावस्था । हुम्बहामी तु फले कोक-शोक-मय द्युगप्ता-स्थादिनावयानुत्पत्तीप्रभवि  
म्यभिचारिबहुस्य इत्यन्तम् । मुलावस्था मुख-प्रतिमुख-गर्भ-विमर्शः । फलेव मुखसाप्येन  
वस्यक-प्रतिभावक-नायिकामात्रादि-व्यापारे सम्बन्धित्येव पुम्बन्धे संवदधन्ते पस्मिन्  
प्रधानबुद्धौ स फलमात्रावस्था परिच्छिन्नो निर्बहणसन्धिः । अत्रमिति प्रारम्भस्य विमर्श-  
हाविनाभावित्वात् सर्वकर्मकेष्वस्वावरयमात्रमाह । (वाक्यरत्नः १ म विवेक)

अर्थात् स्वल्प प्रत्यय का वहि कहीं आरम्भ है तो कहीं अन्त भी है । करण के अन्त्य के  
उपशेष को भी हीनह्वल-परित नववा रचनावादि, रूप कर्त्तरादि है वही अन्त में उपसंहार को  
बाधा करती है और एकत्र आनन्द में विलीन हुआ करती है ।

अनुवाद—यद्यपि सन्धिओं के अङ्गों का निरूपण किया जा रहा है । सर्वप्रथम 'मुख'  
सन्धि के व १२ अङ्ग हैं—(१) उपशेष (२) परिकर (३) परिन्यास (४) निलोभन  
(५) युक्ति, (६) प्राप्ति (७) समाधान (८) विधान (९) परिमावना (१०)  
उद्भेद, (११) कारण और (१२) भेद ।

विमर्श—वाक्यावधि भरत मुनि ने सम्बन्धों का वही सुन्दर अभिप्राय व्यक्त है—

'अ-हीनो बरो बहुवैचारमममो भवेत् ।

अह्नीर्भ तथा कार्यं व प्रयोगदर्भ भवेत् ॥

उदात्तमपि यत् कार्यं स्याद्बहैः परिचरितम् ।

हीनत्वादि प्रयोगस्य न सती रक्षयेन्मात्र ॥

कार्यं वदपि हीनार्थं सम्बन्धैः समञ्चितम् ।

हीनत्वात् प्रयोगस्य कोमायेति न संशयः ॥ (वाक्यरत्न १९. १२-१५)

अनुवाद—मुखसन्धि के अङ्गों का क्रमका यह स्वल्प है—

(१) 'उपशेष' वह है जिसने काव्यार्थ की समुत्पत्ति कहा करते हैं । 'काव्यार्थ' का  
अभिप्राय हरव अथवा अन्य काव्यों के प्रस्तुत विषयवस्तु इतिवृत्त का अभिप्राय है । जैसे  
कि 'चिन्तीसंहार' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

काव्यार्थ इतिवृत्तलक्षणप्रस्तुतताभिधेय । यथा वेण्याम्—‘भीमः—

लाक्षागृहानलविषान्नसभाप्रवेशै-

प्राणेषु वित्तनिचयेषु च नः प्रहृत्य ।

आकृष्य पाण्डववधूपरिधानकेशान्

स्वस्था भवन्ति मयि जीवति धार्तराष्ट्राः ॥

( २ य अङ्ग-परिकर )

समुत्पन्नार्थबाहुल्यं ज्ञेयः परिकरः पुनः ॥ ८३ ॥

यथा तत्रैव—

प्रवृद्धं यद्वैरं मम खलु शिशोरेव कुरुभि-

नं तत्रार्यो हेतुर्न भवति किरीटी न च युवाम् ।

जरासधस्योर स्थलमिव विरूढ पुनरपि-

क्रुधा भीम. सन्धि विघटयति यूय घटयत ॥

‘भीम—ओह ! लाक्षागृह में आग लगा कर, विषमय अन्न खिला कर, द्यूत-सभा में जुला कर, धन-सम्पत्ति छीन कर, प्राण लेने के प्रयत्न कर और द्रौपदी के केश और वस्त्र खोल-खींच कर, मेरे जीते-जागते, क्या कौरव राजगण स्वस्थ बैठे आनन्द मनाया करें ?’

आदि में मुखसन्धि के ‘उपक्षेप’ रूप अङ्ग की ही योजना है क्योंकि यहाँ ‘वेणीसंहार’ रूप काव्यार्थ की उत्पत्ति स्पष्ट दिखायी दे रही है ।

विमर्श—‘उपक्षेप’ का वास्तविक अभिप्राय इतिवृत्त-रूप काव्यार्थ की ही समुत्पत्ति नहीं अपितु रूपक बन्ध के मुख्य रसमावरूप अर्थ की भी समुत्पत्ति है । जैसे कि साहित्यदर्पणकार ने ‘वेणी-संहार’ नाटक के जिस प्रसङ्ग का उल्लेख किया है वह इसीलिए ‘उपक्षेप’ नहीं कि उसमें वेणीसंहार के इतिवृत्त का बीजावाप हुआ है अपितु इसलिए है कि उसमें वेणीसंहार के मुख्यरस का बीज बोया गया प्रतीत हो रहा है और साथ ही साथ नायक-चरित का युद्धोत्साह-रूप वैशिष्ट्य भी परिलक्षित हो रहा है ।

‘उपक्षेप’ अत्यन्त आवश्यक सन्ध्यङ्ग है बिना इसके नाटक की अर्थराशि का वृक्ष कदापि उत्पन्न नहीं हो सकता ।

अनुवाद—‘परिकर’ का अभिप्राय उत्पन्न काव्यार्थ ( अथवा नाट्यार्थ ) का बाहुल्य अथवा विकासोन्मुख होना है । जैसे कि ‘वेणीसंहार’ के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

‘भीम—वचपन से ही कौरवों के साथ मेरा वैरभाव बढ़ता आया है । इसके लिए न मुझे युधिष्ठिर को दोष देना है और न अर्जुन को और न तुम्हीं दोनों ( नकुल और सह-देव ) को । मैं तो जरासध के वधस्थल की भाँति पहले दूटी और फिर जुषी, कौरवों और पाण्डवों की इस सन्धि को तोड़ने की प्रतिज्ञा कर रहा हूँ । अब तुम लोगों की हिम्मत हो तो इसे जोड़कर देख लो ।’

मैं, मुखसन्धि के जिस ‘अङ्ग’ की योजना है वह ‘परिकर’ ही है क्योंकि यहाँ ‘वेणीसंहार-रूप’ काव्यार्थाङ्कुर पहले की अपेक्षा अधिक विकासोन्मुख दिखायी दे रहा है ।

विमर्श—‘परिकर’ का अभिप्राय ‘परिकरण अथवा उपक्षिप्त अर्थ के स्वरूप विस्तार का अभि-प्राय है । ‘वेणीसंहार’ की उपर्युक्त उक्ति में भीम का युद्धोत्साह किंवा क्रोधावेश और भी अधिक स्पष्ट रूप से प्रतीत होने लगता है ।



( ३ व अङ्ग-परिण्यास )

तन्निष्पत्तिः परिण्यासः—

यथा तत्रैव—

अथ मुञ्जधर्मसंज्ञागदाभिधातसंपूर्णितोरुगुणस्य सुबोधनस्य ।

मत्यानाधनद्वयनशोणितशोणपाणिरुत्तसमिध्याति कर्त्तास्त्वय देवि । भीम ॥

अत्रोपरोपो नामेतिष्ठत्तलक्षणस्य काव्याभिधेयस्य संक्षेपेणोपरोपणमात्रम् ।  
परिकरस्त्वैव बहुलीकरणम् । परिण्यासस्तथाऽपि निम्नयापत्तिरूपतया परितो  
इत्येव न्यसनम्, इत्येवा मेव । एतानि चाङ्गानि उक्तेनैव पौर्वापर्येण भवन्ति,  
अङ्गान्तराणि त्वन्यथापि ।

( ३ व अङ्ग-विद्योभन )

—गुणारूपान विद्योभनम् ।

यथा तत्रैव, 'त्रीपदी—गाय, किं दुर्करं तु परिकुर्विदेव' [ नाथ ! किं दुष्कर  
त्वया कुर्वितेन ] यथा वा मम अङ्गकलायां अङ्गकलावर्जने—सेयम्, 'तादृश्यस्य  
विलास'—इत्यादि । यत्तु शकुन्तलादिषु 'भीमाभङ्गाभिरामम्'—इत्यादि गुण-  
विगुणवर्जनं तद्वीजावर्जसम्बन्धाभावात् संस्पृष्टम् । एवमङ्गान्तराणामप्युक्तम् ।

अनुवाद—'परिण्यास' कहते हैं पौर्वापत्ति किंवा स्वरूप विलुप्त काव्यार्थ के विक्षेप  
निर्वाह को । जैसे कि 'बेजीसंहार' के ही इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'भीम—त्रीपदी ! बिम्बा न कर इन प्रसङ्ग मुक्कदमों में कुमती अपनी गदाके प्रहार  
से दुर्पोषण को ज्यों तोड़ हूँगा भीर उसके गाठ काक-काक एक से अपने हाथ गीठे किम्  
मेरी बनी सँचार्य्या ।

में 'परिण्यास' की ही कपरेका सज्जक रही है ।

यहाँ उपरोप-परिकर और परिण्यास के क्रम का अस्मिमात्र यह है—'उपरोप' तो इति  
वृत्तरूप काव्य अथवा वाक्य के अर्थ का संक्षेप में उपस्थापन-मात्र है जिसे 'परिकर' कहते  
हैं वह इसी संक्षेपता उपरिपठ काव्यार्थ का अस्मिमात्र विस्तार है और 'परिण्यास' इसका  
बाद की अवस्था है जिसमें विक्षिप्ताग्र विलुप्त काव्यार्थ का विक्षेप निवार्य विलास दिया  
करता है तथा वह काव्यार्थ इत्यर्थ में स्थान पावे कहता है । य तीन अङ्ग तो ऐसे हैं जिनकी  
बोजना, जिस क्रम से इनका भिन्न है उसी क्रम से की जाया करती है किन्तु अन्य जो  
१ अङ्ग है उनकी बोजना क्रम अथवा अनुक्रम दोनों प्रकार से हो सकती है ।

अनुवाद—'विद्योभन' का अस्मिमात्र गुणवर्जन अथवा गुणवर्जन का अस्मिमात्र है । जैसे  
कि 'बेजीसंहार' के ही इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'त्रीपदी—नाथ ! आप जब कुछ हो जायें तब क्या नहीं कर सकते ?'

आदि में अथवा मेरी अपनी इति 'अङ्गकला' के इस अङ्गकला-पर्यन्त-प्रसङ्ग अर्थात्  
'यही अङ्गकला है तत्परा की विकास मूर्ति आदि में जो गुणवर्जन है वह 'विद्योभन'  
क्रम ही है । यहाँ यह स्थान रखना चाहिये कि 'अभिजातवाञ्छित' आदि के 'भीमाभङ्गा-  
भिरामम्' अर्थात् मूर्ति में जो गुण आदि का गुणवर्जन है उसमें कोई 'सम्बन्ध' बोजना नहीं  
बोली है इस रूप के अङ्गमूल अर्थ न इसका कोई सम्बन्ध नहीं । इसी प्रकार अन्य

( ५ म अङ्ग : युक्ति )

संप्रधारणमर्थानां युक्तिः—

यथा—‘वेण्यां-‘सहदेवो भीमं प्रति आर्य ! किं महाराजसन्देशोऽयमव्युत्पन्न एवार्येण गृहीतः’ इत्यतः प्रभृति यावद्भीमवचनम् ।

‘युष्मान् ह्येपयति क्रोधाल्लोके शत्रुकुलक्षयः ।

न लज्जयति दाराणां सभायां केशकर्षणम् ॥’ इति ।

( ६ठां अङ्ग—प्राप्ति )

—प्राप्तिः सुखागमः ॥ ८४ ॥

यथा तत्रैव—‘मध्नामि कौरवशतं समरे न कोपात्—’ इत्यादि । ‘द्रौपदी—  
( श्रुत्वा सहर्षम् ) गाध, अस्सुदपुव्व क्खु एद वअणम्, ता पुणो पुणो भण ।’  
[ नाथ अश्रुतपूर्वं खल्विदं वचनम्, तत्पुन पुनर्भण । ]

प्रसङ्गों में भी ‘सन्ध्यङ्ग’ और सन्ध्यङ्ग की भाँति प्रतीत होने वाले अन्य वैशिष्ट्यों का विवेक स्वयं कर लेना चाहिये ( अर्थात् यह ध्यान रखना चाहिये कि ‘सन्ध्यङ्ग’ रूपक के वीजभूत अर्थ से ही सम्बद्ध तत्त्व है ) ।

विमर्श—‘विलोमन’ ‘गुणाख्यान’ रूप हुआ करता है । इससे प्रस्तुत कृत्य के सम्पादन की अभिलाषा स्थिर की जाया करती है । ‘वेणीसहार’ के उपर्युक्त प्रसङ्ग में भीम की ‘वेणीसहार’ विषयक अभिलाषा का ही स्थिरीकरण किया हुआ है । ‘परिन्यास’ के बाद ‘विलोमन’ की योजना हुआ करती है । कुछ नाट्याचार्य, जैसे कि धनिक और धनञ्जय आदि, तो इसे ‘मुखसन्धि’ का ही अङ्ग मानते हैं किन्तु कुछ नाट्याचार्य, जैसे कि रामचन्द्र, गुणचन्द्र आदि, ऐसे भी हैं जो इसे अन्य सन्धियों के लिये भी उपयुक्त मानते हैं ।

अनुवाद—‘युक्ति’ कहते हैं ‘अर्थसंप्रधारण’ अथवा कर्त्तव्यनिश्चय को । जैसे कि, ‘वेणी-सहार’ के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

‘सहदेव ( भीम के प्रति ) आर्य ! आपने महाराज का संदेश ठीक-ठीक नहीं समझा ।’  
आदि से लेकर भीमसेन की इस उक्ति अर्थात्—

‘सहदेव ! भरी राज-सभा से द्रौपदी का केशकर्षण तुम लोगों के लिये क्योंकर लज्जा-जनक लगाने लगे, अरे ! तुम लोगों को तो क्रोध में आकर शत्रुवश के सहार करने में लज्जा लग रही होगी ।’

तक जो सर्वभूत है उसमें ‘युक्ति’ की ही योजना की गयी है ।

विमर्श—‘युक्ति’ अथवा ‘अर्थसंप्रधारण’ में, गुण-दोष के विवेकपूर्वक, कार्यपर्यालोचन का अभिप्राय छिपा है । युक्ति की योजना में सन्ध्यङ्ग निर्देश के क्रम का कोई महत्त्व नहीं, क्योंकि ‘विलोमन’ के बाद ‘युक्ति’-योजना का कोई नियम नहीं दिखायी देता । ‘परिकर’ के बाद भी ‘युक्ति’ की योजना की जा सकती है और की भी गयी है ।

अनुवाद—‘प्राप्ति’ का अभिप्राय सुखागम है । जैसे कि ‘वेणीसहार’ के ही इस प्रसङ्ग अर्थात्—

‘भीम—मैं भला संग्राम में कौरवों पर क्यों क्रोध करने लगा ।’

आदि के अनन्तर—

‘द्रौपदी ( सुनकर, प्रसन्नता के साथ ) प्रियतम ! पहले, कभी तुम्हारे मुँह से ऐसी

(७ म अङ्ग-समाधान)

वीजस्यागमनं यत्तु तत्समाधानमुच्यते ।

यथा तत्रैव—‘(नेपथ्ये कलकलानन्तरम्) ओ मो मुपद्विराट्पृथ्व्यन्धक  
सहदेवप्रसूतयः । अस्मद्वीजिणीपक्षयः कौरवपमूप्रधानयोधाश्च शृण्वन्तु भवन्तः’

यत्तस्यप्रथममङ्गीकृतमनसा यत्नेन मन्वीकृतं

यद्विस्मर्तुमपीहितं रामवता शान्तिं कुलस्येभ्यः ।

तदपूर्वतपिसंभूतं नृपसुताकेशाम्भराकर्षणैः

क्रोधभ्योतिरिव महत्कुलमेनो योधिष्ठिरं जृम्भते ॥’

अत्र ‘स्वस्था भवन्तु मयि जीवति—’ इत्यादि बीजस्य प्रधाननायकमिमं  
यत्नेन सम्यगाहितत्वात्समाधानम् ।चात न सुबाई पकी ! कहो कहो चित्-छिर बाही कहो । आदि में जिस संज्ञा की  
चोजना है वह ‘प्राप्ति’ ही है ।विमर्श—‘प्राप्ति’ का अतिशय केवल दुःख का अन्त नहीं अपितु सुखहेतु का भी आनन्द है  
वेला कि नाट्यदर्पणकार का कथन है—

‘प्राप्यं सुखसम्प्राप्तिः—सुखस्य सुखहेतोश्च सम्प्राप्त्येवमाह्वसि प्रापणम्

(नाट्यदर्पणः १ न विवेक)

रत्नो बीजना एक बार हो हो वेला ओर निवृत्त नहीं । वैधर्म्य के लिये रत्नो जनेत्र बार  
भी योजना की जा सकती है ।अनुवाद—‘समाधान’ वह है जिसे बीज का आगमन जबवा समीचीन रूपसे आचार्य  
कहा गया है ।

जैसे कि ‘जिगीसंहार’ के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

‘(नेपथ्य में हठा मचये क बाह्) ओरे ! मुपद्वि, विराट्, पृथ्वि अन्धक और सहदेव  
प्रसूति अर्जुनद्विजास्यको और कौरवसेनाप्यको । सुभा—आज कौरव-पक्ष में महाराज युधिष्ठिर की श्रेयाधि धयक रही है बड़ी आशा कि  
सायपाकन की प्रतिज्ञा के दृष्ट्ये क वर से परिभ्रमपूर्वक तुसा सा विवा गवा बा जिसे  
कुलसुरा और कुलशान्ति के किम विस्तृतिगर्भ तक में उत्क विवा गवा पा, किन्तु पृथु  
की अरुणि और द्रौपदी के कलाम्भराकर्षण की श्रान्ति अका कपयक जसे साम्प्र रहम दे ।  
आदि, मैं ‘समाधान’ की ही योजना स्पष्ट दिगामी दे रही है ।वहाँ ‘समाधान’ इमीतिव है क्योंकि यहाँ ‘मेरे जीते-आगते क्या कौरव स्वरपक्षित  
हुए आनन्द मचायेंगे आदि भीमवचन में उपस्थित युद्धोत्साहविषयक बीज का ही समी-  
चीन आधान किया जा रहा है ।विमर्श—‘समाधान’ वस्तुतः बीज का ही अनुन्वीत है । उपस्थित बीज के समीचीन आधान  
का अतिशय केवल परिपाक है । नाट्यदर्पणकार ने इमीतिव समाधान को ‘अनुन्वीत’ कहा है—

अनुन्वीतः समाहितः ॥

संक्षिप्तोपस्थितस्य बीजरूप स्वरूपानुतिपादनार्थं अनुन्वीता अत्रितिर्वैधर्म्यं सम्प्रा-  
प्त्यन्तः प्राप्यं वाक्यं समाहितम् (नाट्यदर्पणः १ न विवेक) ।

( ८ म अङ्ग-विधान )

सुखदुःखकृतो योऽर्थस्तद्विधानमिति स्मृतम् ॥ ८५ ॥

यथा बालचरिते—

‘उत्साहातिशय वत्स ! तव बाल्यं च पश्यत ।

मम हर्षविषादाभ्यामाक्रान्तं युगपन्मनः ॥’

यथा वा मम प्रभावत्याम्—‘नयनयुगासेचनकम्’ इत्यादि ।

( ९ म अङ्ग-परिभावना )

कुतूहलोचरा वाचः प्रोक्ता तु परिभावना ।

यथा वेण्यां द्रौपदी युद्धं स्यान्न वेति संशयाना तूर्यशब्दानन्तरम् ‘णाध ! किं दाणिं एसो पलअजलहरत्थणिदमन्थरखणे खणे समरदुन्दुभि ताडीअदि ।’ [ नाथ ! किमिदानीमेष प्रलयजलधरस्तनितमन्थर ण्णे ण्णे समरदुन्दुभिस्ताडयते ]

अनुवाद—‘विधान’ वह है जिसे सुख-दुःख अथवा सुख या दुःख का एकत्र या अनेकत्र उपनिपात कहा गया है । जैसे कि ‘बालचरित’ के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

‘राम ! क्या बताऊँ, एक ओर तुम्हारा उत्साह और दूसरी ओर तुम्हारे बाल्यभाव को देखकर, मेरा मन एक ही साथ हर्ष और विषाद से आक्रान्त हो उठा है ।’

आदि में या मेरी अपनी कृति ‘प्रभावती-परिणय’ के ‘नेत्रयुगल की संतृप्तिरूप’ आदि संदर्भ में, जिस सन्ध्यङ्ग की योजना है वह ‘विधान’ ही है ।

विमर्श—नाट्यदर्पणकार के अनुसार ‘विधान’ का यह स्वरूप है—

‘विधान सुखदुःखासि—

द्वयोः सुखदुःखयोरेकत्रानेकत्र वा पात्रे प्राप्तिरेकस्य वा सुखस्य दुःखस्य वा प्राप्तिर्विधानम् । एकत्र पात्रे सुखदुःखयो प्राप्तिर्यथा मालतीमाधवे—

‘माधवः—

यद् विस्मयस्तिमितमस्तमितान्यभावमानन्दमन्दमृतप्लवनादिवाभूत् ।

तत् सन्निधौ तदधुना हृदय मदीयमङ्गारजुम्बितमिव न्यथमानमास्ते ॥’

इत्यनेन सानुरागमालत्यवलोकनान्माधवस्य सुखदुःखासि ।’ (नाट्यदर्पण १ म विवेक)

‘प्राप्ति’ और ‘विधान’ दो भिन्न-भिन्न स्वभाव के अङ्ग हैं । ‘प्राप्ति’ तो सुखान्वेषण अथवा सुख-साधनान्वेषण है किन्तु ‘विधान’ सुप्तसन्निधानरूप है । सुख के अन्वेषण और सन्निधान में जो भेद है वही ‘प्राप्ति’ और ‘विधान’ के परस्पर भेद का हेतु है ।

अनुवाद—‘परिभावना’ वह है जिसे कुतूहलपूर्ण वचन का विन्यास कहा गया है ।

जैसे कि ‘वेणीसहार’ में ‘युद्ध होगा या न होगा’ के सदेह में पड़ी द्रौपदी की जो यह उक्ति है—

‘प्राणनाथ ! क्या बात है कि रह-रह कर, प्रलयकालीन सेवगर्जन की भाँति गंभीर और भयङ्कर समर-दुन्दुभि का नाद सुनायी पड़ रहा है ।’

उसमें ‘परिभावना’ की ही रूपरेखा झलक रही है ।

विमर्श—‘परिभावना’ का तात्पर्य विस्मय है—

‘जिज्ञासातिशयेन किमेतदिति कौतुकानुबन्धे विस्मय परिभावना ।’

( नाट्यदर्पण • १ म विवेक )

( १ अङ्ग-उद्भवे )

धीञ्चार्यस्य प्ररोहः स्यादुद्भवेदः—

यथा तत्रैव—‘श्रीपदी—अण्ण च णाह, पुणोमि तुम्हेहि समरावो आअ-  
 किञ्चसमास्सासइव्वा । [ अण्ण च णाह ! पुनरपि पुण्यामि समरावगात्पाह समा-  
 आसथित्वा ]

मीम—ननु पाञ्चालराजजनये ! किमद्यास्त्रीकाश्चासनया—

भूय परिमयकलान्तिलक्ष्म्यायिधुरिताननम् ।

अनिश्रोपितकौरव्यं न परयसि वृक्षोदरम् ॥

( ११ अङ्ग-करण )

—करण पुनः ॥ ८६ ॥

प्रकृतार्थसमारम्भः—

यथा तत्रैव—‘देवि ! गच्छामो वयमिवानी कुलकुलवयाय’ इति ।

हिमवन्प्रमिथ्यञ्च वचन-निन्वास द्वारा उपहित वीजस्तु ये सम्बद्ध विज्ञाता श्री ही पुक्ति श्री  
 नावा करती है ।

अनुवाद—‘उद्भवेद’ का अमिग्राम वीचार्य का प्ररोह है । जैसे कि ‘कनीसंहार’ के ही  
 इस प्रसङ्ग अर्थात्—

‘श्रीपदी—नाह ! एक बात और संग्राम से औरकर एकबार फिर मुझे सन्त्वना देना ।

मीम—पाञ्चालराजकुमारी ! अब झूठी सन्त्वना क्यों ?

अब व इस मीम को अपमान से अर्पित और म्मानमुक्त न देख पावोगी । अब  
 तो औरबों का सर्वथास करके प्रसन्नवदन मीम मेरे सामने होगा ।

आदि में जो सम्पन्न है वह ‘उद्भवेद’ रूप ही है ।

विमर्श—‘उद्भवेद’ का एकम नामवर्णन की इन पंक्तियों में स्पष्ट है—

‘स्वरूपप्ररोह उद्भवेदः—आसुमान्तरमुत्तस्य वीजस्य स्वरूपप्ररोहः । विहित फलस्य  
 छानालुपूतप्रवर्धनं चाण्यस्योच्छ्रुततेषोद्भवेदः । वीजस्योद्भाटनमहुरकल्पम्, उद्भवेद  
 पुनरहुरकल्पानुद्भाटनाद् भूमिम्यस्तथाण्योच्छ्रुततेष माधीनावत्वा इत्यर्थं मुखसम्भवेप्राप्त्य  
 न पुनस्तद्वत्कृपात् प्रतिमुक्तसम्भवेः ।’ ( नामवर्णन प्रथम विवेक )

अर्थात् ‘उद्भवेद’ ही मुखसन्नि का अंग है और ‘उद्भाट’ प्रतियुक्त सन्नि का । ‘उद्भवेद’ वीज  
 को अंकुरावस्था की तैयारी है और ‘उद्भाट’ वीज का अंकुरोत्पत्तय है । ‘उद्भवेद’ के बाद ही  
 ‘उद्भाट’ की सम्पादना है यह कहें नहीं । इसलिये ‘उद्भवेद’ मुखसन्नि का अङ्ग है—और ‘उद्भाट’  
 प्रतियुक्त सन्नि का ।

अनुवाद—‘करण’ का अमिग्राम प्रस्तुत विषय के समारम्भ का अमिग्राम है ।

जैसे कि ‘कनीसंहार’ का वह प्रसङ्ग अर्थात्—

‘मीम—देवी ! अब इस कुल्लोच के सर्वथास के किये चरु पड़े हैं ।

आदि में जो सम्पन्न है वह करण ही है ।

विमर्श—‘करण’ अन्तर के अनुकूल अर्थात्स्म है । इस अंग की योजना से ही उपहित  
 वीज का ही परिधीन क्रिया अन्ता करता है । अन्त के अन्तारण में वीज का मुखोत्पत्तय की  
 अन्तिमिक परिपुष्ट होना दिखायी दे रहा है ।

( १२ अङ्ग-भेद )

—भेदः संहतभेदनम् ।

यथा तत्रैव—‘अत एवाद्यप्रभृति भिन्नोऽहं भवद्भ्यः ।’

केचित्तु—‘भेदः प्रोत्साहना’ इति वदन्ति ।

( प्रतिमुखसन्धि के १३ अङ्ग : निर्देश )

अथ प्रतिमुखाङ्गानि—

विलासः परिसर्पश्च विधुतं तापनं तथा ॥ ८७ ॥

नर्म नर्मद्युतिश्चैव तथा प्रगमनं पुनः ।

विरोधश्च प्रतिमुखे तथा स्यात्पर्युपासनम् ॥ ८८ ॥

पुष्पं वज्रमुपन्यासो वर्णसंहार इत्यपि ।

अनुवाद—‘भेद’ कहते हैं सघविधात को ।

जैसे कि ‘वेणीसंहार’ के इस प्रसंग अर्थात्—

‘भीम—इसीलिये आज से मेरा और तुम लोगों का कोई सम्बन्ध नहीं ।’

आदि में जिस सन्ध्यङ्ग का विनिवेश है वह ‘भेद’ है ।

कुछ नाट्याचार्य ‘भेद’ का अभिप्राय ( सघविधात नहीं अपितु ) ‘प्रोत्साहना’ मानते हैं ।

विमर्श—‘भेद’ का एक और भी अभिप्राय है और वह है ‘पात्रनिर्गम’ । नाट्यदर्पणकार ने ‘भेद’ का यह स्वरूपमीमांसा की है—

‘भेदनं पात्रनिर्गम —रङ्गप्रविष्टानां पात्राणां निर्गमो रंगान्निःसरणं येन तद् भेदनम् ।  
पात्राणां यथास्व प्रयोजनवशादितश्चेतश्च गन्तुमन्यार्थोऽप्यभिप्राय उद्यमो वा रंगान्निर्गम-  
मापादयन् भेदनमुच्यते । यथा वेणीसंहारे भीमो द्रौपद्या संग्रामापायशङ्किन्या शरीरान-  
पेक्षे पराक्रमे निषिद्ध प्रत्याह—

‘अयि सुचत्रिये ।

अन्योन्यास्फालभिन्नद्विपरुधिरवसासान्द्रमस्तिष्कपङ्के  
मग्नानां स्यन्दनानामुपरि कृतपदन्यासविक्रान्तपत्तौ ।

स्फीतासृक्पानगोष्ठीरसदशिवशिवातूर्यनृत्यतकवन्धे

संग्रामैकार्णवान्तपयसि विचरितुं पण्डिता पाण्डुपुत्रा ॥’

इत्येतेन हि संग्रामविचरणे पाण्डवानां पाण्डित्यख्यापनेन संग्रामावतरणाभिप्राय-  
सहदेवस्य चात्मनश्च संघातभेदनार्थ एवोपदर्शित इति भेदोऽङ्गम् ।

अन्ये तु भेद प्रोत्साहनामाहुः ।

अन्ये तु सहतानां प्रतिपक्षाणां बीजफलोत्पत्तिनिरोधकानां विश्लेषक भेदरूपमुपाय-  
भेदनं मन्वते ।’ ( नाट्यदर्पण - प्रथम विवेक )

अनुवाद—‘प्रतिमुख’ सन्धि के ये १३ अङ्ग हैं—( १ ) विलास, ( २ ) परिसर्प,  
( ३ ) विधुत, ( ४ ) तापन, ( ५ ) नर्म, ( ६ ) नर्मद्युति, ( ७ ) प्रगमन, ( ८ ) विरोध,  
( ९ ) पर्युपासन, ( १० ) पुष्प, ( ११ ) वज्र, ( १२ ) उपन्यास और ( १३ ) वर्णसंहार ।

विमर्श—प्रतिमुखसन्धि के इन अंगों की योजना से नाटकीय इतिवृत्त में वैचित्र्य का

## (१ अङ्ग-विलास)

सध—

समीहा रतिमोगार्था विलास इति कथ्यते ॥ ८९ ॥

रतिस्त्रक्षणस्य माधस्य यो हेतुमूढो भोगो विषयः प्रमदा पुरुषो वा तदर्थो समीहा विलासः ।

अथा शाकुन्तले—

‘छमं प्रिया न मुलभा मनस्तु सद्भाषदर्शनायासि ।

अकृतार्थेऽपि मनसिजे रतिमुमयप्रार्थना कुरुते ॥’

भाषान किना जाता है । वरुण ये अङ्ग प्रतिमुष्ट के ही अंग हैं किन्तु अन्त्य भी एकका सम्पत्ता किना जाता है ।

अनुवाद—‘विलास का अभिप्राय रतिभाव (वस्तुतः रसादिरूप रसाधीनार्थों) के विषयमूल पदार्थों के किम् अभिकाषा है ।

‘रतिमोगार्था समीहा’ विलास है । इसका तात्पर्य यह है—‘रतिमोग’ कहते हैं रति-रूप भाव के हेतुमूढ ‘भोग’ अथवा विषय जैसे कि की और पुरुष को । ‘रतिमोग’ के किये अर्थात् प्रेमिका के हृदय में प्रेमी के किम् और प्रेमी के हृदय में प्रेमिका के किम् वा समीहा अथवा अभिकाषा है वह है ‘रतिमोगार्था समीहा’ । ‘विलास’ इसी समीहा का परिभाषिक नाम है ।

जैसे कि अभिजायशाकुन्तल के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

‘दुष्यन्त—मेरे किम् प्रिया शाकुन्तला को पाया मके ही करिब हो किन्तु मेरा मम उससे अनुरागविह्वल के समान-विस्तृत में ही जीव रहा करता है । चाहे मेरा और उसका मिलन हो या न हो मुझे इसी से सम्तोष है कि हम दोनों एक दूसरे को चाहने लगे हैं ।’

मैं, दुष्यन्त के हृदय में शाकुन्तला से मिलने की अभिकाषा का जो अभिव्यञ्जन है उसमें ‘विलास’ का स्वल्प स्पष्ट है ।

विमर्श—‘विलास’ प्रतिमुखसन्धि का प्रथम अङ्ग है और प्रतिमुखसन्धि कथकलामात्र की एक निष्ठेय अर्थात्ति हुका करती है न कि गङ्गासम कथको को हो । हम इति ॥ ‘विलास’ को ‘रतिमोगार्था समीहा’ कहना संपन्न नहीं प्रतीय होता । वहाँ वरि ‘रति’ पर को स्वाभिमादभाव का उपलक्षण मान किना जाय तब ‘विलास’ की परिभाषा ठीक बैठ जाती है । वस्तुतः माधव दर्शनकार का वहाँ नहीं कथ है—

‘प्रतिमुखसन्ध आहारादप्यङ्गं विवक्ष्यतीत्यर्थः । न पुनः सुखे यस्य उपदिश्यते तत्तद्वैक रसाधीन विभाषायां भावस्य अभिचारिणि पोषणीयाः । कामकले न कथं सुखसन्धायुपक्रमता गङ्गातः प्रतिमुखं विवक्ष्येव स पुनः विस्मयते । विलासमाकाशकाम्येव केताराम्यङ्गमि विवक्ष्यतीत्यादि । वीरदि-रसमयापेक्ष्यकलेषु कथञ्चु तुमकसाह्यारिसमन्विषो सुखिषो-रिद्धाम्बादारो विलासः ।’ (वाक्यदर्पणः प्रथम विवक्ष)

अर्थात् जैसे श्वारासभाय कथक-वचनों में माधव और वारिहा की वरवर रतिमोहा को ‘विलास’ कहा गया है वीर ही वीर-रसभाय कथक-वचनों में विलासविषयक समीहा को ‘विलास’ ही है ।

( २ अङ्ग-परिसर्प )

इष्टनष्टानुसरणं परिसर्पश्च कथ्यते ।

यथा शाकुन्तले—

‘राजा—भवितव्यमत्र तथा । तथा हि—

अभ्युन्नता पुरस्तादवगाढा जघनगौरवात्पश्चात् ।

द्वारेऽस्य पाण्डुसिकते पदपङ्क्तिरुद्गच्छतेऽभिनवा ॥’

( ३ अङ्ग-विधुत )

कृतस्यानुनयस्यादौ विधुतं त्वपरिग्रहः ॥ ९० ॥

यथा तत्रैव—‘अलं वो अन्तेऽरविरहपञ्जुस्तुएण राएसिणा उवरुद्धेण ।’

[ अलं च अन्तःपुरविरहपर्युस्तुकेन राजर्षिणा उपरुद्धेन ]

केचित्तु—‘विधुतं स्यादरतिः’ इति वदन्ति ।

अनुवाद—‘परिसर्प’ का तात्पर्य किसी लुप्तप्राय किन्तु अभीष्ट वस्तु का अन्वेषण है ।

जैसे कि ‘अभिज्ञानशाकुन्तल’ के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

‘राजा—‘यहाँ मेरी प्रियतमा अवश्य होगी । क्योंकि—

इस लतामण्डप के द्वार पर पीली बालू के ऊपर पड़े, आगे की ओर ऊँचे और नितम्बभार से पीछे की ओर दबे, नये-नये पद-चिह्न उसी की सूचना दे रहे हैं ।’

मैं, दुष्यन्त के द्वारा, अदृश्य शाकुन्तला का जो अनुसंधान वर्णित है वह ‘परिसर्प’ का ही निदर्शन है ।

विमर्श—‘परिसर्प’ को कतिपय नाट्याचार्य ‘अनुसर्पण’ कहा करते हैं । ‘अनुसर्पण’ का अभिप्राय नष्ट किन्तु इष्ट वस्तु की ईक्षा है । ( नष्टेष्टेहाऽनुसर्पणम्—पूर्वमुपलब्धस्य पुनरन्तरितस्येतिवृत्तवशादभिलषितस्यार्थस्येहाऽन्वेषणमनुसर्पणम् ) ।

यह ‘परिसर्प’ अथवा ‘अनुसर्पण’ इतिवृत्त का अर्थ अथवा अवयव नहीं । इसका सम्बन्ध चरितचित्रण से है । मुख्य-रूपक-चरित के हृदय के भाव का इसके साथ सम्बन्ध है । किन्तु जैसा कि मुख्य रूपक-चरित का चित्रण ही इतिवृत्त के वैचित्र्य का नियामक होता है, ‘विलास’ और ‘परिसर्प’ को इतिवृत्तरूप रूपकार्थ का अंग बताया गया है । नष्टवस्तु का अन्वेषण किसी भी रसभाव से सम्बद्ध रूपक-प्रबन्ध में अपेक्षित है । ‘अभिज्ञानशाकुन्तल’ का उदाहरण एक सजेतमात्र है ।

अनुवाद—‘विधुत’ का अभिप्राय किसी पूर्वकृत अनुनय या सान्त्ववचन के परित्याग का अभिप्राय है ।

जैसे कि ‘अभिज्ञानशाकुन्तल’ के ही इस प्रसङ्ग अर्थात्—

‘शाकुन्तला—मेरे लिये तुम लोग अन्तःपुर के विरह में व्याकुल इस राजर्षि को न रोको ।’

आदि में, दुष्यन्त को रोक रखने के लिये, शाकुन्तला के पूर्वकृत अनुनय के परित्याग का जो वर्णन है उसमें ‘विधुत’ की योजना है ।

कुछ नाट्याचार्य इसे ‘विधुत’ कहते हैं और ‘विधुत’ का अभिप्राय ‘अरति’ ( अरुचि ) बताते हैं ।

विमर्श—नाट्याचार्य भरतमुनि ने ‘विधुत’ के बदले ‘विधूत’ को सन्ध्यङ्ग माना है—



(४ अङ्ग-तापन)

उपायादर्शनं यत् तापनं नाम तद्ववेत् ।

यथा रत्नावल्याम्—‘सागरिका—

दुग्धाह्वणाणुरागो लज्जा गरुडं परवसो जप्त्वा ।

प्रियसहि प्रियसम पेम्भं मरणं सरणं णवरि एवम् ॥’

[ दुर्कमज्जनाणुरागो लज्जा शुर्वी परवस आत्मा ।

प्रियसहि ! प्रियमं मेम मरणं सरणं केवकमेकम् ॥ ]

(५ अङ्ग-नम)

परिहासवधो नर्म—

यथा रत्नावल्याम्—

‘सुसंगता—सहि ! अस्स किंवे तुमं आभवा सो ज्ञं वे पुरवो विट्ठहि ।

[ सहि ! यस्य कृते त्वमागता सोम्य ते पुरस्तिष्ठति ]

सागरिका—( साम्प्रसूयम् ) कस्स किंवे अहं आभवा ? [ कस्स कृते  
बहमागता ? ]

‘कृतस्यानुनयस्याही विवृत्तं अपरिमहः ।’

( नाट्यशास्त्र १५-७७ )

मिन्नु ‘विवृत्त’ और ‘विवृत्’ का अभिप्राय एक ही है । ‘पूर्वज्ञान अनुनय का अपरिमह’ को ‘मरति’ अथवा ‘मरति’ है इसलिये वस्तुवचनकार को ‘विवृत्-परिमाणा नो ठीक ही है । नाट्य-वर्णनकार ने इस सम्बन्ध को ‘विवृत्त’ अथवा ‘विवृत्’ न बल्कि ‘वृत्त’ कहा है—

‘वृत्तं साम्प्रसूयम्—

साम्प्रसूयने अवाहरो मनागनाहतिः ‘मनोऽप्यापत्त्यात् । ( नाट्यदर्शन : प्रथम विवेक )

अनुवाद—‘तापन’ का अभिप्राय संतापनिवारक उपाय के अर्थार्थ अथवा अननयधारण का अभिप्राय है ।

जैसे कि ‘रत्नावली’ के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

‘सागरिका—प्रिय सहि ! दुर्कम मेरी से मेने प्रेम किया, कच्चा जातो यहाँ बहन देवी मेरी पराधीनता अहम् मुझे सता रही है, मेम बचता ही जा रहा है अब तो कबक मरने में ही कस्याम है ।

मैं कस्सरात्र सं मिहने क उपाय के संबंध में सागरिका के मन का जो अभिप्राय अभिप्राय हो रहा है उसमें ‘तापन’ की ही रूपरेखा शब्दक रही है ।

विमर्श—नाट्यशास्त्रकार भरत मुनि ने अनुसार ‘तापन’ का यह स्वरूप है—

‘अपावहर्शनं यत् तापनं नाम तद्ववेत् । ( नाट्यशास्त्र : १५-७७ )

वस्तुवचनकार ने ‘तापन’ के बरके ‘सम’ को प्रतिमुग सति का अर्थ बताया है और ‘उम’ का अभिप्राय ‘भरति’ का अन्तर्भाव कहा है ।

अनुवाद—‘नर्म’ का तात्पर्य परिहासपूर्ण वचन है ।

जैसे कि ‘रत्नावली’ के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

‘सुसंगता—सहि ! तिमकं त्विं नु यहाँ आयी है वह तो तेरे सामने विराटमान है ।

सागरिका—( चिह्नकर ) बता किसके त्विं में यहाँ आयी हैं ?

‘सुसंगता—अल अण्णसकिदेण । ण चित्तफलअस्स ।’ [ अलम् अन्यशक्ति-  
न ननु चित्रफलकस्य ]

( ६ अङ्ग-नर्मद्युति )

--धृतिस्तु परिहासजा ॥ ९१ ॥

नर्मद्युतिः--

यथा तत्रैव—

‘सुसंगता—सहि । अदक्खिणा दाणिं सिं तुम जा एव्वं भट्ठिणा हत्थाव-  
लम्बिदावि कोव ण मुञ्चसि । [ सखि । अदक्षिणेदानीमसि खं, यद् एव भर्त्ता  
हस्तावलम्बितापि कोप न मुञ्चसि ]

सागरिका—( सभ्रूभङ्गमीपद्विहस्य ) सुसंगदे । दाणि वि कीलिदु न  
विरमसि ।’ [ सुसङ्गते । इदानीमपि क्रोडितु न विरमसि ]

केचित्तु—‘दोपस्याच्छादन हास्य नर्मद्युतिः’ इति वदन्ति ।

सुसंगता—तुम सशक क्यों हो कि किसी और के लिये यहाँ आयी हो । अरे ! मैं तो  
हम ‘चित्रफलक’ के लिये कह रही थी ।’

आदि में जो हास-परिहास-पूर्ण वार्तालाप है उसमें ‘नर्म’ की ही योजना है ।

विमर्श—‘नर्म’ को क्रीड़ा के लिये ‘हास परिहास’ माननेका अभिप्राय यह है कि इस सन्ध्यङ्ग  
की योजना शृङ्गार रस प्रधान रूपकप्रवन्धों में ही समभव है ।

नाट्यदर्पणकार ने स्पष्ट कहा है—

‘धृते च नर्म-नर्मद्युति अङ्गे कामप्रधानेष्वेव रूपकेषु निबन्धमर्हत् । कैशिकीप्राधान्येन  
तेषां हास्योचितत्वात् ।’ ( नाट्यदर्पण १ म विवेक )

अनुवाद—‘नर्मद्युति’ का तात्पर्य परिहास में भी धैर्य धारण करना है ।

जैसे कि ‘रत्नावली’ के ही इस प्रसङ्ग अर्थात्—

‘सुसंगता—सखि ! तू भी कितनी गलती कर रही है कि अपने प्रियतम के हाथ में  
आने पर भी कोप नहीं छोड़ती ?

सागरिका—( भौंहे चढाकर, मुस्कराते हुए ) तू हमेशा मजाक किया करती है ।’

आदि में, सुसंगता के परिहास से भी न घबड़ानेवाली सागरिका का जो चित्रण है  
उसमें ‘नर्मद्युति’ की ही रूपरेखा स्पष्ट है ।

कुछ नाट्याचार्य ‘नर्मद्युति’ को किसी दोप का आच्छादक हास-परिहास माना करते हैं ।

विमर्श—नाट्याचार्य भरतमुनि के अनुसार ‘नर्मद्युति’ का यह लक्षण है—

‘दोपप्रच्छादनार्थं तु हास्यं नर्मद्युति स्मृता ।’ ( नाट्यशास्त्र १९-७८ )

जिसे ‘अभिनवभारती’कार ने इस प्रकार स्पष्ट किया है—

‘दोषो येनोक्तेन प्रच्छादयितुमिष्यते तस्यापि हास्यजनकत्वेन नर्मं च सुतरां द्योतितं  
भवतीति नर्मद्युति ।’

विमर्श—नर्मद्युति का यही अभिप्राय नाट्यदर्पणकार ने भी लिया है—

‘दोषावृत्तौ तु तद्वद्युति —

दोषावृत्तौ दोषाच्छादनाय, यत् पुनर्हसन हास्यहेतुर्वाक्यं सा तस्य नर्मणो द्योतनं  
नर्मद्युति । ( नाट्यदर्पण प्रथम विवेक )

(७ अङ्क-प्रगमन)

—प्रगमन वाक्यं स्यादुत्तरोत्तरम् ।

यथा विक्रमोर्वशीयम्—

'उर्वशी—जयतु सखतु महाराजो । [ जयतु जयतु महाराज ]

राजा—

मया नाम जितं यस्य त्वया जय लीयते ।' इत्यादि ।

(८ अङ्क-विरोध)

विरोधो व्यसनप्राप्तिः—

यथा चण्डकोशिके—

'राजा—मूनमसभीक्ष्यकारिणा मया अन्वेनेष स्फुरच्छिखाकसापो ज्वलन् पद्मपां समाक्रान्त ।'

छिन्नु साहित्यवर्षणकार को 'नर्मपुति-परिभाषा' वञ्चकप्रकार के हउ 'उर्वशी-कलन' अर्थात्—

'प्रतिस्तम्भा प्रतिर्मता' ((वञ्चक १-२९))

का अनुसरण करती है ।

अनुवाद—'प्रगमन' कहते हैं उत्कृष्टतर उत्तरवचन को । जैसे कि 'विक्रमोर्वशीयम्' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'उर्वशी—जय हो महाराज । जय हो ।

राजा—जिसकी जय तुम मनाओ उसकी जय तो हो ही ।

अर्थात् मैं, पुनरुक्त का जो उत्कृष्ट उत्तर है उसमें 'प्रगमन' का ही स्वल्प रूप है ।

विमर्श—अध्यात्मकार भरतमुनि ने 'प्रगमन' के बदले 'प्रगमन' नाम रखा है । छिन्नु अभिप्राय एक ही है । साहित्यवर्षणकार ने 'प्रगमन' को 'प्रतिवाक्यमेवा' कहा है—

'प्रगमा प्रतिवाक्यमेवा—

प्रत्यक्षप्रतिपक्षिणी वाक्य प्रतिवाक्य तस्याः श्रेयि । अपकर्षतो ह्ये प्रतिवचने उत्कर्षतो बहुवचि । यथा वशीसंहार—

भानुमती—आर्षपुत्र ! अतिमात्रं मे सङ्गा बाधते ।

सहमुमन्वता मामार्षपुत्रा ।

राजा—अपि देवि ।

किं नो व्यासद्विषां प्रकम्पितभुवामशीदिनीनां कलं ?

किं ब्रूयेन किमहाराजपिथिनिर्वैवं यदि कलमयि ।

भीरु ! भानुसत्त्व मे मुञ्चयन्त्यापामुन्त्यापयिष्या

त्वं दुष्योधमकशरीरपुष्टिणी सङ्गात्पदं किं तव ?

भानुमति—आर्षपुत्र ! यदि मे किञ्चिद् सङ्गा मुप्यामु समिहितेषु ।

(आरकादयः प्रगम विदेह)

अनुवाद—'विरोध' का अभिप्राय विपत्ति का जागम है । जैसे कि 'चण्डकोशिक' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'राजा—मैंने भी बिना साधे-समझे जैसे अग्रा आग पर पैर रक्ता है जो न करना अर्थात् घात करी कर डाला ।'

( ९ अङ्ग-पर्युपासन )

—क्रुद्धस्यानुनयः पुनः ॥ ९२ ॥

स्यात्पर्युपासनं—

यथा रत्नावल्याम्—

‘विदूषक.—भो, मा कुप्य । एसा हि कदलीघरन्तरं गदा’ [ भोः मा कुप्य एषा हि कदलीगृहान्तर गता ] इत्यादि ।

( १० अङ्ग-पुष्प )

—पुष्पं विशेषवचनं मतम् ।

यथा तत्रैव—( राजा हस्ते गृहीत्वा स्पर्शं नाटयति )

विदूषक —भो वअस्स । एसा अपुव्वा सिरी तए समासादिदा । [ भो. वयस्य ! एषा अपूर्वा श्रीस्वया समासादिता ]

राजा—वयस्य ; सत्यम्—

श्रीरेपा, पाणिण्यस्या. पारिजातस्य पल्लव ।

कुतोऽन्यथा स्रवत्येप स्वेदच्छद्मामृतद्रवः ॥’

आदि में, ‘विरोध’ का ही स्वरूप स्पष्ट है ।

विमर्श—नाटयाचार्य भरतमुनि ने इसे ‘निरोध’ कहा है—

‘या तु व्यसनसप्राप्ति स निरोध प्रकीर्तिता ।’

( नाट्यशास्त्र १९-७९ )

नाट्यदर्पणकार इसे ‘रोध’ कहते हैं—‘रोधोऽर्ति -अर्ति खेदो व्यसनमिष्टरोधाद् रोधः ।’

अनुवाद—‘पर्युपासन’ वह है जिसे क्रोधोपशमन के लिये अनुनय कहा गया है ।

जैसे कि ‘रत्नावली’ के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

‘विदूषक—कोप न करो महाराज ! वह तो कदलीकुज के भीतर चली गयी ।’

आदि में, विदूषक के द्वारा वत्सराज के कोपोपशमन के लिये जो अनुनय किया गया है वह ‘पर्युपासन’ है ।

विमर्श—नाट्यदर्पणकार ने ‘पर्युपासन’ के बदले ‘सान्त्वन’ को सन्ध्यङ्ग माना है । किन्तु दोनों का अभिप्राय एक ही है । जैसे पर्युपासन को ‘क्रुद्धानुनय’ कहा गया है वैसे ही ‘सान्त्वन’ को ‘क्रुद्धानुकूलन’ ( सान्त्वन नाम क्रुद्धस्यानुकूलनम् ) ।

अनुवाद—‘पुष्प’ का अभिप्राय ‘विशेष वचन’ अर्थात् चित्ताकर्षक वचनविन्यास है । जैसे कि ‘रत्नावली’ के ही इस प्रसङ्ग अर्थात्—

‘( राजा हाथ में सागरिका को प्रकटकर स्पर्शानन्द का अभिनय करता है )’

विदूषक—प्रियवयस्य ! तुम्हारे हाथ तो एक अपूर्व लक्ष्मी लग गयी ।

राजा—मित्र ! तुमने ठीक कहा—

यह वस्तुतः लक्ष्मी है और इसके हाथ वस्तुतः पारिजात-पल्लव हैं, अन्यथा स्वेद-विन्दुओं के रूप में अमृत की बूँदें कहाँ से टपक पड़तीं !

आदि में, जो चित्ताकर्षक वचनविन्यास है वह ‘पुष्प’ रूप प्रतिमुखसन्धि के अङ्ग का एक सुन्दर निदर्शन है ।

( ११ अङ्क-चतुर्थ )

। प्रत्यक्षनिष्ठुरं वचनम्—

यथा तत्रैव—

‘राज्ञा—कम्ममिहस्योऽहं त्वया ज्ञातः ?

सुसंगता—य केवसं तुमं समं चित्तफलपण । ता जाय गदुअ देवीय  
णिवेदहस्सम् ।’ [ य केवसं त्वं समं चित्तफलपण । तद्यावद्वत्त्वा देव्यै निवेदयिष्यामि ]

( १२ अङ्क-उपन्यास )

—उपन्यासः प्रसादनम् ॥ ९३ ॥

यथा तत्रैव—

‘सुसंगता—भट्टट्टण । अतं सङ्गाय । मयं पि भट्टिणीय पसादेण कीद्विद  
ब्जेयं पदिहि । ता किं कण्णामरणेण । अबो बि मे गदुअरो पसादा पसो, सँनाम्नपणकत मे ‘पुण्य’ को ‘विशेषतः वाक्य’ कहा है और इसका वह अन्विष्ट  
बताया है—‘पूर्व’ स्वयमन्वेन वा केनचित् प्रयुक्तं वचनमपेक्ष्य यद् विशेषयुक्तं वचनं प्रयुज्यते  
तेनान्वेयं वा तत् पूर्वस्माद् विशेषयत् । तच्च वचनं पुण्यमिव पुण्यम् । कश्चरत्नात्म्यं  
पुण्यमिव पूर्ववत्पुण्यस्वाकङ्क्षाकरित्वात् ।

( नामधेय ११ - प्रथम विवेक )

इससे यह स्पष्ट है कि इस संघर्ष की योजना कल्पप्रकरणों के कथोपकथन ( Dialogue )  
में वैशिष्ट्य के आगम के लिये की गयी है ।

अनुवाद—‘वचन’ कहते हैं कठोर वचन-विन्यास की ।

जैसे कि ‘रत्नावली’ के इस प्रसंग अर्थात्—

‘राज्ञा—सी यहाँ हैं—यह तुम्हें कैसे पता ?

सुसंगता—केवळ अकेले ही क्यों, चित्तफलपण के साथ कहिये—मैं अभी ‘जाकर  
महाराजी से खबर बताती हूँ ।’आदिमें सुसंगता का जो कठोर वचन-विन्यास है उसमें ‘वचन’ की ही स्पष्टता  
स्पष्ट हो रही है ।विमर्श—‘वचन’ नामक संघर्ष की योजना का तात्पर्य पूर्वप्रयुक्त वचन वा पूर्वनिर्दिष्ट  
विषय के प्रत्यक्ष वचन वा विषय के उपन्यास का तात्पर्य है । ‘विशेषतः’ के निम्न प्रसंग में  
इसका स्वल्प अधिक स्वल्पसे ही दिखानी पड़ता है—

‘अवत्वासा—( कर्म्ममुद्दिश्य ) है रे राजमार्गमारगुल ! स्तापसत् !

कम्ममि न विपिओ हुसिवा भीक्ष्णा वा

हुपवतनवपायित्तेन पिप्पा समाप ।

तच्च भुज्जकम्हर्पाप्मायमानस्य वाम-

सिरसि चरण एव न्परयते वामयैनम् ॥

अनुवाद—‘उपन्यास’ कहते हैं प्रसंगगतवचन वचन-विन्यास वा वस्तुस्थापन को ।

जैसे कि ‘रत्नावली’ के इस प्रसंग अर्थात्—

‘सुसंगता—महाराज ! कहिल होयै की कोई बात नहीं । महाराजी की कृपा से मुझे

तुए अहं एत्थ आलिहिदत्ति कुविदा मे पिअसही साअरिआ । एसा ज्जेव पसादीअटु ।' [ भर्तः अल शङ्कया । मयापि भर्त्या प्रसादेन क्रीडितमेव एतैः । तर्कि कर्णाभरणेन अतोऽपि मे गुरुतरः प्रसाद एव, यच्चया अहमालिपितेति कुपिता मे प्रियमस्त्रि सागरिका । एषैव प्रसाद्यताम् ]

केचित्तु—'उपपत्तिकृतो ह्यर्थ उपन्यासः स कीर्तितः ।' इति वदन्ति ।

उदाहरन्ति च, तत्रैव—'अदिमुहरा क्खु सा गम्भदासी' इति । [ अतिमुखरा खलु सा गर्भदासी ]

( १३ अङ्ग-वर्णसंहार )

चातुर्वर्ण्योपगमनं वर्णसंहार इष्यते ।

यथा महावीरचरिते तृतीयेऽङ्के—

'परिपटियमृपीणामेव वीरो युधाजित् सह नृपतिरमात्यैर्लोमपादश्च वृद्धः ।

अयमविरतयज्ञो ब्रह्मवादी पुराणः प्रभुरपि जनकानामङ्ग भो याचकास्ते ॥'

इत्यत्र ऋषिक्षत्रादीना वर्णाना मेलनम् ।

अभिनवगुप्तपादास्तु—'वर्णशब्देन पात्राण्युपलक्ष्यन्ते । संहारो मेलनम्' इति व्याचक्षते ।

ऐसे आभरणों से खेल करने का अवसर मिल चुका है । मुझे कर्णाभरण नहीं चाहिये । मुझे तो आपने तभी बहुत बड़ा पारितोषिक दिया जब कि मेरा चित्र खींच लिया, जिसने मेरी प्रिय सखी सागरिका को मुझसे नाराज कर रखा है । आप उसी को प्रसन्न करें ।

आदि में, जो प्रसादजनक वचनविन्यास है उसमें 'उपन्यास' का ही स्वरूप स्पष्ट हो रहा है ।

कतिपय नाट्याचार्य 'उपन्यास' को युक्तियुक्त अर्थ का उपस्थान कहा करते हैं और इसके निदर्शन-रूप से 'रत्नावली' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'विदूषक—यह अन्त पुर की परिचारिका, यह गर्भदासी बड़ी बातूनी है ।' को उद्धृत करते हैं ।

विमर्श—'उपन्यास' के सम्बन्ध में साहित्यदर्पणकार ने जिस मतान्तर का उल्लेख किया है वह भरतमुनि का यह उपन्यास-लक्षण है—

'उपपत्तिकृतो योऽर्थ उपन्यासश्च स स्मृतः ।' ( नाट्यशास्त्र )

अनुवाद—'वर्णसंहार' का अभिप्राय चातुर्वर्ण्य का एकत्र उपस्थान है ।

जैसे कि 'महावीरचरित' के तृतीय अङ्क के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'यह ऋषिसभा विराज रही है, ये वीर महाराज युधाजित् अपने अमात्यवर्ग के साथ विराज रहे हैं, ये अङ्गराज वयोवृद्ध लोमपाद विराजमान हैं, ये महायाज्ञिक ब्रह्मवादी जनकवशी महाराज सीरध्वज उपस्थित हैं । और सब के सब आपके याचक बने आये हुये हैं ।'

आदि में, ऋषिओं, राजाओं आदि सभी वर्णवाले लोगों का जो एकत्र सम्मेलन उप-निबद्ध है, उसमें 'वर्णसंहार' की ही रूपरेखा क्षलक रही है ।

किन्तु आचार्य अभिनवगुप्त ने 'वर्ण' का अभिप्राय 'नाटकीय पात्र' और 'संहार' का

उदाहरन्ति च रत्नावल्यां द्वितीयेऽह्ने—‘अदो वि मे अर्थं गुरुमरो पसावो’  
[ अतोऽपि मे अर्थं गुरुतरा प्रसावः ]

इत्यादेरारम्य ‘णंहत्ये गेण्हिअ पसावेहि णम् । [ गमु दस्ते गृहीत्वा प्रसावय प्साव ]  
राजा—काऽसौ’ इत्यादि ।

( गर्भसन्धि के १३ अङ्क-विर्देश )

अथ गर्भाङ्गानि—

अभूताहरण मार्गो रूपादाहरणे क्रम ॥ ९४ ॥

संग्रहमानुमान च प्रार्थना चिन्तिरेव च ।

ब्रो(रो)टकाचिबलोदेगा गर्भे स्युर्निद्रवस्तथा ॥ ९५ ॥

अभिप्राय ‘सम्मोहन’ पताया है और इस ‘वर्णसंहार’ ( नाटकीय पात्र-सम्मोहन ) के उदाहरण रूप में, ‘रत्नावली’ के द्वितीय अङ्क में—

‘सुसंगता—इससे भी बढ़कर मेरे लिये यही प्रसाव है ।

आदि संवत्स से लेकर ‘महाराज ! हाथ में लीजिये इन्हें प्रसन्न कीजिये । राजा—बह कहीं है कहीं है ?’ आदि सङ्घर्ष तक का वस्तुवर्णन दिया है ।

विमर्श—नाट्याचार्य सरस्वति का वर्णसंहार-कथन यह है—

‘वस्तुवर्णनोपगमन वर्णसंहार इत्येते’ ( नाट्यशास्त्र : १९, ८२ )

जिसे ‘अमिनवमारती’ और ‘अमिनवगुप्तनाट्याचार्य’ ने इस प्रकार स्पष्ट किया है—

‘वस्तुवर्णनसंघर्षेन पात्राण्युपकथयन्ते । तेन यत्र पात्राणि पृथक् स्थितान्यपि वीक्ष्यन्ते स वर्णसंहारः । उपाभाषस्तत्प्राप्तुः-इह वीरप्रभावे तावत्पायक्यप्रतिपाद्यकौ तत्सन्धिर्वा च प्रभावत्वेन वर्ण्यन्त इति वर्णाः कामप्रभावेऽपि नायको नायिका तत्सन्धिर्वा चेति ।

अमिनवगुप्तनाट्याचार्य ने नाट्याचार्यवर्णनपद्धति के मञ्चन में ‘वर्णसंहार’ मानते वर्णन पर कथन भी किया है—

‘यत्तु नाट्याचार्यवर्णनवस्तुवर्णनमेकमिति तद्व्यवस्थाद्वयारम्भमेव ।

किन्तु आशय है कि साहित्यदर्पणकार को वर्णसंहार का वह विवेचन अभिप्राय नहीं ।

अनुवाद—गर्भसन्धि के वे १३ अङ्क हैं—( १ ) अभूताहरण ( २ ) मार्ग ( ३ ) क्रम ( ४ ) उदाहरण ( ५ ) क्रम ( ६ ) संग्रह ( ७ ) अनुमान ( ८ ) प्रार्थना ( ९ ) चिन्ति ( १० ) ब्रोटक ( अथवा टोटक ), ( ११ ) अधिवक्त्र, ( १२ ) उद्देग और ( १३ ) निद्रव ।

विमर्श—साहित्यदर्पणकार ने ‘मुल’ और ‘महामुल’ सन्धिको के अङ्क को ही मोठ ‘गर्भ-सन्धि’ के भी अङ्क का कथन-निर्देश और परिगणन ‘पद्यरूपक’ के ही आधार पर किया है । नाट्यदर्पणकार ने ‘अमिनवमारती’ के अनुसरण में गर्भसन्धिके इन नाट्य अङ्कों को तो नाटकीय दृष्टिकोण की उपयोगिता को दृष्टि से व्यवसूक्त बताया है—

संग्रहो ख्यममुमा माधनोद्बुद्धिः क्रमा ।

उद्देगो विद्रवश्चेतद् गुण्यता कार्यमसकम् ॥

और इन पाँच अङ्कों को अनिवार्य माना है—

‘आधेपोऽधिकर्कं मार्गोऽस्तथाहरणतोऽह्ने ।

पक्षेतामि प्रभावानि गर्भेऽङ्गानि त्रयोदश ॥

सम्पूर्ण-बोझा के संवत्स में पैंतीसवींका उपसूक्त भी । किन्तु साहित्यदर्पणकार ने इसे

( १—अभूताहरण )

तत्र व्याजाश्रयं वाक्यमभूताहरणं मतम् ।

यथा अश्वत्थामाङ्के—

‘अश्वत्थामा हत इति पृथासूनुना स्पष्टमुक्त्वा

स्वैर शेषे गज इति पुनर्व्याहृतं सत्यवाचा ।

तच्छ्रुत्वाऽसौ दयिततनयः प्रत्ययात्तस्य राज्ञः

शस्त्राण्याजौ नयनसलिल चापि तुल्यं मुमोच ॥’

( २—मार्ग )

तत्त्वार्थकथनं मार्गः—

यथा चण्डकौशिके—

‘राजा—भगवन् ।

गृह्यतामर्जितमिदं भार्यातनयविक्रयात् ।

शेषस्यार्थं करिष्यामि चण्डालेऽप्यात्मविक्रयम् ॥’

अनुवाद—‘अभूताहरण’ का अभिप्राय व्याजगर्भ वचनविन्यास है । जैसे कि ( वेणी-सहार के ) ‘अश्वत्थामाङ्क’ के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

‘सत्यवादी पृथापुत्र ( युधिष्ठिर ) ने पहले से कहा—‘अश्वत्थामा मारा गया’ और बाद में धीरे से कहा ‘हाथी’ । पुत्रवत्सल द्रोण ने अश्वत्थामा की मृत्यु पर विश्वास कर लिया और शस्त्र के साथ साथ आँख के आँसू गिरा दिये ।’

मैं, जो व्याजगर्भ वचनबन्ध है, उसमें ‘अभूताहरण’ का स्वरूप स्पष्ट है ।

विमर्श—नाट्यशास्त्रकार भरतमुनि ने ‘अभूताहरण’ की यह परिभाषा की है—

‘कपटापाश्रय वाक्यमभूताहरण विदुः ।’ ( नाट्यशास्त्र १९.८२ )

इस सन्ध्यङ्ग की योजना रूपकविशेष के रसभाव की उपयोगिता के आधार पर की जाती है । भिन्न-भिन्न रसभावसम्बन्धी रूपक प्रबन्धों में भिन्न-भिन्न प्रकार के कपट अथवा छद्म-विषयक प्रसङ्ग उपस्थित हो सकते हैं ।

अनुवाद—‘मार्ग’ कहते हैं प्रकृत विषय से सवद्ध होने योग्य परमार्थ वचन को । जैसे कि ‘चण्डकौशिक’ के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

‘ऋषिराज ! पत्नी और पुत्र को बेचकर जो लाया हूँ उसे स्वीकार करें । जो कुछ बाकी रहे, चण्डाल के हाथ अपने आप को बेचकर पूरा करूँगा ।’

मैं, हरिश्चन्द्र का जो प्रसङ्गोचित यथार्थ वचन है वह ‘मार्ग’ का ही निदर्शन है ।

विमर्श—‘मार्ग’ को सभी नाट्यशास्त्रार्थ ‘तत्त्वार्थकथन’ या ‘तत्त्वार्थश्रवण’ मानते हैं । ‘मार्ग’ रूप सन्ध्यङ्ग की कड़ी सुन्दर योजना ‘मुद्राराक्षस’ के इस प्रसङ्ग में है—

‘राजा—( प्रविश्य स्वगतम् )

राज्य हि नाम राजधर्मानुवृत्तिपरतन्त्रस्य भूपतेर्महदप्रीतिस्थानम् । कुत —

परार्थानुष्ठाने रह्यति नृप स्वार्थपरता

परित्यक्तस्वार्थो नियतमयथार्थ चित्तिपति ।

परार्थक्षेत् स्वार्थादभिमततरो हन्त । परवान्

परायत्त प्रीते कथमिव रस वेत्ति पुरुषः ॥



(१-रूप)

—रूप वाक्यं वितर्कवत् ॥ ६६ ॥

यथा रत्नावल्याम्—

‘यज्ञा—

मनं प्रपृत्त्यैव यस्तु दुर्लभं यं तथापि मे ।

कामेनैव तत्कथं विदुः समं सर्वं शिलीमुखैः ॥’

(२-उदाहरण)

उदाहरणमुत्कर्षयुक्तं वचनमुच्यते ।

यथा अन्वत्यामाह—

‘यो यं शस्त्रं विभर्ति स्वभुजगुरुमदं पाण्डवीनां यमूनां

यो यं पाञ्चाक्षगोत्रे शिष्टुरधिकषया गर्भराध्यां गतो वा ।

यो यस्तत्कमसाक्षी, यरति मयि रयो यश्च यश्च प्रतीप

क्रोधान्धस्तस्य तस्य स्वयमिह जगतामन्तकस्यान्तक्रोऽहम् ॥’

अपि च दुराराध्या कम्भीरात्मविभ्रिरपि राजर्षिः । कुतः—

लीक्यादुद्दिष्टे सूक्ष्मे परिमलप्रासादं संतिष्ठते

सूक्ष्मं हेति न गच्छति प्रणयितामस्तन्मविहस्वपि ।

युरेम्बोऽप्यधिकं विमेषुपहसत्येकान्तभीकमहो

भीकम्प्रसरेण वेष्टनगिता दुरलोपचर्चा धूसरं च

यहाँ ‘मर्म’ को बोझा हस्तित्वे से कभीकि धन्यप्राप्त का वह वचार्थवचन सामान्यरूप का होवे हुए भी प्रकृत प्रत्यक्ष के सर्वत्र अनुकूल है ।

अनुवाद—‘रूप कहते हैं वितर्कयुक्त वचन को । जैसे कि ‘रत्नावली के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

‘रत्ना—मन तो स्वभावतः चंचल हुआ करता है जिससे इसे निभाया बनाया अस्त-मय है किन्तु तब भी काम ने एक ही साथ अपने सभी भावों से मेरा मन जैसे बिज-रकर बिना, कुछ समझ नहीं जाता ।

मैं, जस्तराज का जो वितर्कयुक्त वचन है, उसमें ‘रूप’ का ही स्वरूप दिखायी देता है ।

विमर्श—जैसे अनिष्ट वचना अनिर्धारित ‘आक्षर’ को रूप कहा जाता करता है जैसे ही नामप्रकार के सभी से सम्बद्ध संज्ञक वचना अनवधारण का अवस्थास ‘रूप’ नामक सम्बद्ध है । मुखसन्धि का ‘बुद्धि’ नामक अंग भी कल्पविषयक व्यापीह ही है किन्तु उसमें मर्म का आक्षर निरूप रखा करता है जब कि प्रतिमुखसन्धि के अंगभूत ‘रूप’ में अनिष्ट आक्षर के सभी के सम्बन्ध में तर्क वितर्क हुआ करता है ।

अनुवाद—‘उदाहरण कहते हैं स्वविवेक या परविवेक उत्कर्ष के सूक्ष्म वचन-विन्यास को । जैसे कि ‘विभीषणार क ‘अन्वत्यामाह’ के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

‘पाण्डव-सेना के जो-जो भीरू अपने बाहुबल के अमिमान में पूर सज्ज किये खड़े हैं, पाञ्चाक राजवंश के जो-जो योद्धे जोड़े भीरू जागे खरस केने बाधे राक्षसुमार हैं, मेरे पिता के वच को जो-जो कर्ष हुये बैजते रहे हैं और मेरे भागी जो-जो शत्रु-पक्ष के समर्थक हो रहे हैं, पक्ष-उन का ही नहीं काक का भी प्राण केने हैं अथवात्मा, जब जा ही पहुँचा ।’

( ५—क्रम )

भावतत्त्वोपलब्धिस्तु क्रमः स्यात्—

यथा शाकुन्तले—

‘राजा—

स्थाने खलु विस्मृतनिमेषेण चक्षुषा प्रियामवलोकयामि ।

तथाहि—

उन्नमितैकभ्रूलतमाननमस्याः पदानि रचयन्त्याः ।

पुलकाञ्चितेन कथयति मय्यनुरागं कपोलेन ॥’

( ६—संग्रह )

—संग्रहः पुनः ॥ ९७ ॥

सामदानार्थसंपन्नः—

यथा रत्नावल्याम्—

‘राजा—साधु वयस्य । इदं ते पारितोषिकम् ।’ ( इति कटक ददाति ) ।

आदि में, अश्वत्थामा का जो स्वोत्कर्षसूचक वचन है उसमें ‘उदाहरण’ की वही सुन्दर योजना है ।

विमर्श—‘उदाहरण’ का तात्पर्य उत्कर्ष का आहरण अथवा अभिव्यञ्जन है (उदाहृति समुत्कर्ष) अनुवाद—‘भाव’ अर्थात् परामिप्राय अथवा भावी अर्थ के निर्णय को ‘क्रम’ नामक सन्ध्यङ्ग कहा गया है । जैसे कि ‘अभिज्ञानशाकुन्तल’ के इस प्रसङ्ग अर्थात् —

‘राजा—प्रियतमा शाकुन्तला को, निर्निमेष नयनों से देखना, मेरे लिये सर्वथा उचित है क्योंकि—

पद-रचना में चिन्तामग्न मेरी प्रिया का यह मुख, जिसकी शोभा एक भौंह के ऊपर उठे रहने के कारण विचित्र लग रही है और जिसमें आनन्द के रोमाञ्च उठते जा रहे हैं, अपने कपोलफलक से मेरे प्रति अनुराग की सूचना सा दे रहा है ।’

आदि में, दुष्यन्त के द्वारा शाकुन्तलागत भाव का जो उद्घयन है उसमें ‘क्रम’ की रूपरेखा स्पष्ट है ।

विमर्श—साहित्यदर्पण की तर्कवागीशी, लक्ष्मी तथा विमला न्याख्याओं में ‘भाव’ का अभिप्राय नायक-नायिका का स्वभावज अलङ्कार ( निर्विकारात्मके चित्ते भाव प्रथमविक्रिया ) माना गया है जो कि सर्वथा अप्रासङ्गिक है । यहाँ ‘भाव’ का अर्थ ‘अभिप्राय’ अथवा ‘भावी अर्थ’ है जिसका ऊहापोह अथवा प्रतिभादि द्वारा उद्घयन ‘क्रम’ नामक सन्ध्यङ्ग की रूपरेखा है । क्रमो भावस्य निर्णय—भावस्य परामिप्रायस्याथवा भाव्यमानस्यार्थस्योद्घप्रतिभाऽऽदिवशा-न्निर्णयो यथावस्थितरूपनिश्चय क्रम । बुद्धिस्तत्र क्रमते न प्रतिहन्यत इत्यर्थः ।

अनुवाद—‘संग्रह’ का तात्पर्य साम, दान, आदि के द्वारा अभीष्ट अर्थ का लाभ है । जैसे कि ‘रत्नावली’ के इस प्रसङ्ग अर्थात् —

‘राजा—प्रियवयस्य । लो यह पारितोषिक ( और अपना रत्नवलय दे देता है ) ।’

आदि में, जो सन्ध्यङ्ग है वह ‘संग्रह’ रूप ही है ।

विमर्श—‘संग्रह’ का अभिप्राय साम-दान-दण्ड-भेद आदि की योजना का अभिप्राय है । किसी भी रसभावविशिष्ट रूपक प्रबन्ध में इसकी यथास्थान योजना मर्म है ।

(७-अनुमान)

—लिङ्गाद्दूहोऽनुमानता ।

यथा आमकीराधवे नाटके—

‘राम—

सीतागतैरपि तरङ्गयती धरित्रीमास्रोक्तेनैर्मयतो जगतां शिरासि ।  
तस्यानुमापयति कश्चनकान्तिगौरकायस्य सूर्यतनयत्वमप्युपमां च ॥’

(८-प्रार्थना)

रतिदपोत्सवानां तु प्रार्थनं प्रार्थना भवेत् ॥ ९८ ॥

यथा रत्नावल्याम्—

‘प्रिये सागरिके ।

शीतांशुर्नक्षमुत्पले तव दृशी, पद्मानुकारो करी,  
रम्भास्तन्मनिम तथोरुयुगलं, बाहू सुखलोपमा ।  
इत्याह्लादकपलिकाङ्गि । रमसाभिः शङ्खमाङ्गि य मा  
मङ्गानि त्वमनङ्गतापपिषुण्यद्येहि निर्वापय ॥’

इदं च प्रार्थनाक्यमङ्गम् । धन्यते निर्वाह्यो भूतावसरत्वात्प्रशस्तिनामाङ्गं  
नास्ति तन्मतानुसारेणोक्तम्, अन्यथा पञ्चपट्टिसक्यत्वमसङ्गात् ।

अनुवाद—‘अनुमान’ कहते हैं किसी साधन विशेष के ज्ञान पर किसी साध्यविशेष के ज्ञान को । जैसे कि ‘आमकीराधवे नाटक के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

‘राम-परशुराम की यह विकसतपूर्ण बात, जिससे पृथिवी कांप उठी है परशुराम की यह छवि जिससे संसार के तिर बौके छूक रहे हैं और परशुराम की यह दिव्य देह जिससे काशम की कान्ति भी झीझी कना रही है उस इन सबसे बड़ी सूचित होता है कि या तो ये सूर्ययुक्त हैं या सूर्यवा अपरूप्य महत्मानव ।’

विमर्श—अनुमान तो हैतुपूर्वक साध्यनिर्वाह है और ‘तुक्ति’ का अतिशय कर है । इस किने दोनों संयोज मित्र-मित्र हैं ।

अनुवाद—‘प्रार्थना’ का अन्वय परस्पर प्रेममिलन ग्रहण तथा प्रसोदजनक पदार्थों की वाचना है । जैसे कि ‘रत्नावली’ के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

‘रत्ना—प्रिये सागरिके ।

तेरे तो बङ्ग-प्रणय बङ्गाल के ही जनक हैं—तेरा मुख बङ्गमा है तेरे नयन गीष्म-कमल हैं, तेरे हाथ पर हैं तेरे कल्लुगक कन्दकीस्तम्भ हैं, और तेरी मुखाब्जें मृणाकोपम कोमल हैं । और कामपीडित मेरा यह करीर धरे बिना कितना संतप्त है । दू जा जा और अपने आकिङ्गम से मुझे कान्ति पहुँचा जा ।

अग्नि में बत्तराज की सागरिका के आकिङ्गम के किरे जो वाचना है उसमें इस ‘प्रार्थना’ नामक सम्प्रेष्ट की कपरेला स्पष्ट है ।

वार्तसन्धि का वह ‘प्रार्थना’ नामक अङ्ग वस्तुतः यहाँ सत्तान्तर के रूप में ही निर्दिष्ट किया गया है क्योंकि जो वाक्याचार्य निर्वाहजसन्धि में ‘प्रशस्ति’ नामक अङ्ग को अतिरिक्त जग नहीं मानते क्योंकि उनके अनुसार ‘प्रार्थना’ से ही ‘प्रशस्ति’ का अतिशय शतार्थ हो सका होता है । उनके किने यहाँ ‘प्रार्थना’ की सम्प्रेष्टता अतिवार्त है । ‘प्रार्थना’ के

( ९-क्षिति )

रहस्यार्थस्य तद्भेदः क्षितिः स्यात्—

यथाश्वत्थामाङ्के—

‘एकस्यैव विपाकोऽयं दारुणो भुवि वर्तते ।

केशप्रहे द्वितीयेऽस्मिन्नून निशेविता प्रजाः ॥’

( १०-त्रोटक )

—त्रो(तो)टकं पुनः ।

संरन्धवाक्—

यथा चण्डकौशिके—

‘कौशिक —आः, पुनः कथमद्यापि न सम्भूता स्वर्णदक्षिणा ।’

अतिरिक्त ‘प्रशस्ति’ को भी सन्ध्यङ्ग मानने से तो सन्ध्यङ्गों की संख्या ६५ हो जायगी. इसलिये ‘प्रार्थना-वादी’ नाट्याचार्यों के लिए ‘प्रशस्ति’ को अतिरिक्त सन्ध्यङ्ग मानना आवश्यक नहीं ।

विमर्श—नाट्यदर्पणकार ने गर्भसन्धि के इस अङ्ग को माना है और इसका यह लक्षण किया है—

‘प्रार्थना भावयाचनम्—

भावाना साध्यफलोचिताना रति-हर्षोत्सवादीना याचन प्रार्थना ।’

( नाट्यदर्पण . १ म विवेक )

अनुवाद—‘क्षिति’ वह है जिसे रहस्यात्मक इतिवृत्त की सूचना कहा गया है । जैसे कि ‘वेणीसहार’ के ‘अश्वत्थामाङ्क’ में—

‘जो कुछ हो चुका वह तो केवल द्रौपदी के केशाकर्पण का भयङ्कर परिणाम रहा और द्रोण के केशाकर्पण से अब जो होने जा रहा है वह ससार के विनाश से कम अनर्थपूर्ण कदापि न होगा ।’

आदि रूप में, भावी अश्वत्थामाविषयक इतिवृत्त की जो सूचना है उसमें ‘क्षिति’ नामक सन्ध्यङ्ग का ही स्वरूप स्पष्ट है ।

विमर्श—नाट्यदर्पणकार ने ‘क्षिति’ को ‘आक्षेप’ कहा है और इसका यह लक्षण किया है—

‘आक्षेपो बीजप्रकाशनम्—

प्राप्त्याशावस्थानिवद्धस्य बीजस्य मुखकार्योपायस्य प्रकाशनं प्रकर्षणाविर्भावनमाक्षेप ।’

वस्तुतः रहस्यरूप इतिवृत्त का प्रकाशन प्राप्त्याशावस्था के बीज का ही प्रकाशन है अन्य कुछ नहीं ।

अनुवाद—‘त्रोटक’ ( अथवा तोटक ) का तात्पर्य क्रोधाभिव्यञ्जक वचनविन्यास का है । जैसे कि ‘चण्डकौशिक’ के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

‘कौशिक—ओह ! फिर तुमने कहा कि अभी तक मेरी स्वर्णदक्षिणा तुम न जुटा पाये ?’ आदि में कौशिक-विश्वा मित्र का जो रोषपूर्ण वचनविन्यास है उसमें ‘त्रोटक’ की योजना स्पष्ट है ।

विमर्श—नाट्यदर्पणकार ने ‘टोटक’ की बड़ी सुन्दर व्याख्या की है—

‘टोटकं गर्भित वच —

क्रोध-हर्षादिसम्भूतावेगगर्भितं वचनं टोटयति भिनत्ति हृदयमिति टोटकम् ।’

( ११ अधिवक् )

—अधिवलमभिसभिच्छलेन यः ॥ ९९ ॥

यथा रत्नावल्याम्—

‘कद्रञ्जममाळा—भट्टिणि, इयं सा चित्तसाक्षिणी । वसन्तमस्त सण्णं करोमि’ [ भट्टि ! इयं सा चित्तसाक्षिका तथावद्वासन्तस्य संज्ञां करोमि । ] इत्यादि ।

( १२—उद्देग )

नृपादिजनिता भीतिरुद्देगः परिकीर्तितः ।

यथा वेण्याम्—

‘प्राप्तावेकरमारुहो वृच्छन्त्यौ त्वामितस्ततः’ ।

स कर्णारि स च कुरो वृककर्मा वृकोदर ॥’

( १३—विद्रव )

शङ्कामयप्रासकृतः सम्प्रभो विद्रवो मतः ॥ १०० ॥

अनुवाद—‘अधिवक्’ का अभिप्राय किसी व्याज से किसी के अभिप्राय का अन्वेषण है । जैसे कि ‘रत्नावली’ के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

कद्रञ्जममाळा महाराणी ! यह रही चित्तसाक्षा । जब मैं वसन्तक को हसारा करती हूँ ।’ आदि में जो संध्यङ्ग है वह ‘अधिवक्’ है ।

विमर्श—नाट्यशास्त्री में ‘अधिवक्’ के लक्षण के सम्बन्ध में पचास मतभेद हैं । कोई ‘अधिवक्’ को ‘अधिकरञ्जयेन’ मानते हैं तो कोई इसे कपट का अन्वेषण माना करते हैं । किसी-किसी भाष्यकारों ने ‘क्षेत्रात्मनश्चालन को अधिक कहा है जिसका बड़ा सुन्दर उदाहरण यह है—

‘मीमंसेना ( चतुराङ्गमुदिरण ) अकमिवानी मन्थुना—

कृष्ण कंथायु मायां नृपमवसि तथा पाण्डवानां नृपैर्यैः ।

सर्वे ते श्लोचबद्धी कृष्णसकमकुलमवहया वेण वृन्धतः ।

आर्तस्थो भावयेद्भू न शतं शुद्धचक्रसमवया नापि वृषात् ।

पुनः पौन्यैश्च कर्मव्यतिगुह्येण कृते तात ! साक्षी भव त्वम् ॥

अनुवाद—‘उद्देग’ का अभिप्राय किसी कारणवत् उत्पन्न भय का अभिप्राय है । जैसे कि ‘बेनीसंहार’ के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

‘एक रथ पर आरुह और तुम्हें पता लगाते थे दोनों आ रहे हैं जिसमें एक तो कर्म का पातक है और दूसरा क्रूर वृकोदर है ।

आदि में जो संध्यङ्ग है वह ‘उद्देग’ है ।

विमर्श—‘उद्देग’ मन्थी उपस्थिति का नाम है भय का कारण जो भी हो इसके कारणभय का वर्तन ‘उद्देग’ है । गृहभारतप्रधान कपट में प्रतिन्यायिका की उपस्थिति में भयवर्तन उद्देग होगा और अन्तरासद्विरक्त कृष्णों में अन्व प्रसार के भय का वर्तन उद्देग माना जायगा ।

मनसा—‘विद्रव’ का तात्पर्य शङ्का, भय और आस से सम्पूर्ण लक्षण अथवा चित्त की व्याकुलता है । जैसे कि इयं संदर्भ अर्थात्—

‘कालान्तककरालास्य क्रोधोद्भूतं दशाननम् ।  
विलोक्य वानरानीके सम्भ्रमं कोऽप्यजायत ॥’  
(विमर्शसन्धि के १३ अङ्ग निर्देश)

अथ विमर्शाङ्गानि—

अपवादोऽथ संफेटो व्यवसायो द्रवो द्युतिः ।  
शक्तिः प्रसङ्गः खेदश्च प्रतिषेधो विरोधनम् ॥ १०१ ॥  
प्ररोचना विमर्शे स्यादादानं छादनं तथा ।  
(१—अपवाद)

दोषप्रख्यापवादः स्यात्—

यथा वेण्याम्—

‘युधिष्ठिरः—पाञ्चालक । कचिदासादिता तस्य दुरात्मनः कौरव्यापस-  
दस्य पदवी ।

पाञ्चालकः—न केवल पदवी, स एव दुरात्मा देवीकेशपाशस्पर्शापातक-  
प्रधानहेतुरुपलब्धः ।’

‘काल की भौंति विकराल मुखवाले और क्रोध में पागल दशानन को देखते ही वानर-  
सेना में भगदड़ मच गयी ।’

आदि में जो सम्भ्रमवर्णन है उसमें ‘विद्रव’ की ही रूपरेखा स्पष्ट है ।

विमर्श—नाट्यदर्पणकार ने ‘विद्रव’ की यह सुन्दर व्याख्या की है—

‘भयत्रासकारिणो वस्तुनो या शङ्काऽपायकारकत्वसंभावना सा द्रवति श्लथीभवति  
हृदयमनेनेति द्रव ( विद्रव ) । उपनतं भयमुद्वेग, तत्संभावना तु विद्रवः ।’  
अर्थात् भयङ्कर वस्तु की संभावना तो ‘विद्रव’ है और ऐसी वस्तु की उपस्थिति ‘उद्वेग’ है ।  
इससे ‘विद्रव’ और ‘उद्वेग’ का भेद स्पष्ट है ।

अनुवाद—‘विमर्श’ सन्धि के ये १३ अङ्ग हैं—(१) अपवाद, (२) संफेट, (३) व्यव-  
साय, (४) द्रव, (५) द्युति, (६) शक्ति, (७) प्रसङ्ग, (८) खेद, (९) प्रतिषेध,  
(१०) विरोधन, (११) प्ररोचना, (१२) आदान और (१३) छादन ।

विमर्श—साहित्यदर्पणकार ने यहाँ यह विचार छोड़ दिया कि द्रव, प्रसङ्ग, सम्फेट, अपवाद,  
छादन, द्युति, खेद, निरोध और सरम्भ की तो प्रयोजनवश योजना हुआ करती है और शक्ति,  
प्ररोचना, आदान और व्यवसाय इस सन्धि के प्रमुख अङ्ग हैं ।

अनुवाद—‘अपवाद’ कहते हैं दोष के प्रख्यापन को । जैसे कि ‘वेणीसंहार’ के इस  
प्रसङ्ग अर्थात्—

‘युधिष्ठिर—पाञ्चालक । क्या तुझे उस कौरवाधम दुर्योधन के रहने-सहने का कुछ  
पता मिला ?

पाञ्चालक—महाराज ! केवल रहने-सहने का ही क्यों, यह कहिये कि देवी द्रौपदी के  
केशाकर्षण का वह महापापी ही मिल गया ।’

आदि में, जो सन्ध्यङ्ग है वह ‘अपवाद’ ही है ।

विमर्श—‘अपवाद’ नामक सन्ध्यङ्ग की योजना वहाँ की जाया करती है जहाँ स्वविषयक

(१-संक्षेप)

—सफेटो रोपमापणम् ॥ १०२ ॥

यथा तत्रैव—

‘दुर्योधन—अरे रे भरतनय ! दृष्टस्य राज्ञः पुरतो निमित्तमध्यात्मकम्  
रक्षापसे । शृणु रे—

कृष्टा केशेषु भार्या तव तव च पशोस्तस्य राज्ञस्तयोर्वा  
प्रत्यक्षे भूपतीनां मम सुवनपतेराज्ञया घृतवासी ।  
तस्मिन् वैरानुबन्धे यव किमपकृत सैर्हता ये नरेन्द्रा  
बाहोर्भीर्यापिभारद्विजगुरुमर्दं मामंजित्वैव वर्षं ॥

भीमा—( संक्रोधम् ) आ पाप ।

दुर्योधन—आ पाप ।’ इत्यादि ।

( १—व्यवसाय )

व्यवसायश्च विधेयः प्रतिज्ञादेतुसंभवः ।

यथा तत्रैव—

‘भीमा—

निहतारोपकौरव्यं भीमो दुःशासनासृगा ।

भङ्गा दुर्योधनस्योर्ध्वोर्भीमोऽयं शिरसा नतः ॥’

जबका परविषयक बीच के व्यवहार का प्रसङ्ग आता करता है । किसी भी रसभावविषयक रूपक-  
प्रबन्ध में इसकी उचितता बोलना संभव है ।

अनुवाद—‘संक्षेप’ कहते हैं रोपपूर्णक मापण को । जैसे कि ‘बेनीसंहार’ के ही इस  
प्रसङ्ग अर्थात्—

‘दुर्योधन—अरे भीम भीमाह्वय ! क्या तुम्हें बचोद्वज्जमहाराज के आगे भी अपने बीच  
कुर्सी पर बसना हो रहा है—ओ सुन ओ ।

सुन सुवनपति की आज्ञा से राज-समा के समक्ष तुम पशु ( भीम ) के समक्ष और  
तेरे ( अर्जुन के ) भी समक्ष उस तुम्हारे राजा और जब तुम्हारे दोनों अनुजों के समक्ष  
सभी के समक्ष मेरी घृतवासी सेरी की के केश लीचे गये तो हुआ क्या ? हमारी-तुम्हारी  
झुठला में उन हजारों राजाओं का क्या अपराध जो कर्ण में मारे गये ? अरे, अभी  
क्या बसना करते हो अभी तो बाहुबल का महाप्रयोग ही दुर्योधन क्या है बिना तुम्हें  
हराय यह बसना ?

भीम—( क्रुद्ध होकर ) अरे पापी !

दुर्योधन—अरे पापी !’

आदि में दुर्योधन और भीम का जो रोपमापण है उसमें ‘संक्षेप’ का ही रूपक शब्द  
रहा है ।

विमर्श—‘संक्षेप’ बलुगः प्लुत उत्तर-मनुष्यार ई ओ बीच का अनिश्चयक हुआ करता है ।  
इसकी बोलना अर्थप्रधान वीरभावविषयक रूपक-प्रबन्धों की विशेषता है ।

अनुवाद—‘व्यवसाय’ कहते हैं हेतु के साध-साध कार्य के निर्देश को । जैसे कि  
‘बेनीसंहार’ के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

‘भीम—महाराज ! कौरववंश के पिताशत्रु, दुःशासन के रक्त से सने और दुर्योधन के  
अपराध के शत्रु, इस भीम का शिर झकाकर, आपको प्रणाम स्वीकार हो ।

(४—द्रव)

द्रवो गुरुव्यतिक्रान्तिः शोकावेगादिसम्भवा ॥ १०३ ॥

यथा तत्रैव—

‘युधिष्ठिर—भगवन् ! कृष्णाग्रज ! सुभद्राभ्रातः !

ज्ञातिप्रीतिर्मनसि न कृता, क्षत्रियाणां न धर्मो

रूढ सख्यं तदपि गणितं नानुजस्याजुनेन ।

तुल्य काम भवतु भवतः शिष्ययोः स्नेहबन्धः

कोऽयं पन्था यदसि विमुखो मन्दभाग्ये मयि त्वम् ॥’

(५—द्युति)

तर्जनोद्वेजने प्रोक्ता द्युतिः—

यथा तत्रैव दुर्योधनं प्रति कुमारवृकोदरेणोक्तम्—

‘जन्मेन्दोर्विमले कुले व्यपदिशस्यद्यापि धत्से गदां

मां दुःशासनकोष्णशोणितमधुक्षीव रिपुं मन्यसे ।

दर्पान्धो मधुकैटभद्विषि हरावप्युद्धत चेष्टसे

त्रासान्मे नृपशो ! विहाय समरं पङ्केऽधुना लीयसे ॥’

आदि में, जो भीम का वचन है उसमें ‘व्यवसाय’ का स्वरूप स्पष्ट है ।

विमर्श—नाट्यदर्पणकार ने ‘व्यवसाय’ का यह लक्षण किया है—

‘व्यवसायोऽर्थहेतुयुक्—

युगिति योजन युक् । अर्थनीयफलस्य हेतुस्तद्योगो व्यवसायः ।

अर्थात् अभिलषित वस्तु की प्राप्ति के लिये जो समुचित उपायबन्ध है वह ‘व्यवसाय’ है ।

अनुवाद—‘द्रव’ कहते हैं शोकावेग अथवा क्रोधावेग आदि के कारण, पूज्य व्यक्ति के प्रति, अनादर भाव के प्रदर्शन को । जैसे कि ‘वेणीसहार’ के ही इस प्रसङ्ग अर्थात्—

‘युधिष्ठिर—भगवन् ! कृष्णाग्रज ! सुभद्राभ्रातः ।

आपने इसका भी ध्यान न रखा कि हम सब सम्बन्धी हैं, चात्रधर्म भी आप भूल पड़े, अर्जुन के साथ, अपने अनुज ( कृष्ण ) के मित्रभाव पर भी आपका ध्यान न रखा, आप यह भी भूल गये कि दुर्योधन और भीम—दोनों ही आपके समान गुरुस्नेह के अधिकारी हैं, अधिक क्या कहूँ, ऐसा लगता है जैसे मेरा दुर्भाग्य ही आपको अज्ञान पर अग्रसर कर रहा हो ।’

आदि में, शोकाविष्ट युधिष्ठिर द्वारा बलराम के अनादर का जो वर्णन है उसमें ‘द्रव’ का स्वरूप स्पष्ट है ।

विमर्श—नाट्यदर्पणकार ने भी ‘द्रव’ को ‘पूज्यव्यतिक्रम’ ही माना है किन्तु ‘पूज्यव्यतिक्रम’ का अभिप्राय पूजनीय व्यक्ति का अनादर न लेकर ‘पूज्यव्यक्ति द्वारा ‘मार्गभ्रश’ लिया है ।

अनुवाद—‘द्युति’ का अभिप्राय किसी की भर्त्सना करना अथवा किसी को भयभीत करना आदि है । जैसे कि ‘वेणीसहार’ के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

( कुमार वृकोदर अर्थात् भीम की दुर्योधन के प्रति उक्ति )

‘अरे दुर्योधन ! आज भी तू अपने को चन्द्रवश का राजकुमार मान रहा है । आज भी तू गदा धारण कर रहा है । आज भी तू दुःशासन के उष्ण रक्त-पान से मत्त मुखे



(१-शक्ति)

—शक्तिः पुनर्मवेत् ।

विरोधस्य प्रथमनम्—

यथा तत्रैव—

‘कुर्वन्स्थाप्ता हतानां रणशिरसि अना भस्मसाद् देहभारा  
नमन्निर्ममं कथञ्चिद्दत्तु अलममी वाचया बान्धवेभ्यः ।  
मार्गान्तां शक्तिवेदान् हतनगागहने अण्डितान् गृध्रकन्धै-  
रस्त मास्थाम् प्रयातः सह रिपुमिरयं संक्षिप्तानां बलानि ॥’

(२-प्रसङ्ग)

—प्रसङ्गो गुरुकीर्तनम् ॥ १०४ ॥

यथा मुष्णघटिक्रियाम्—

‘वाय्वाद्यः—एसो बन्धु सागलक्ष्यस्स सुषो अल्लभिस्सवत्तस्स पत्तिभो

अपना सन्धु सम्मत्त रहा है। जान सी तू मनुसुद्धन, कैदमारी कुष्ण के प्रति उद्बुद्धता  
दिखा रहा है। भरे भरपट्ट ! तो फिर सामने का बा। मेरे दर से संप्राम से मनाकर,  
अकाशप-यंक में क्यों किया है ?’

आदि में मुष्णघटन की जो मर्मना है उसमें ‘पुति’ की कुरेका स्पष्ट है।

विमर्श—‘पुति’ में ध्वनि और अर्थ, मर्मना और मर्म साक्षात् अथवा असाक्षात् अनार  
और नयमान सब कुछ अन्तर्भूत है। इस संज्ञा की ध्वनि और अर्थमान रूपों का  
सौम्य है। इतिवृत्त-विच्छेद और चरित-चित्रण दोनों के बिना इस संज्ञा की आवश्यकता है।

अनुवाद—‘शक्ति’ कहते हैं विरोध के प्रथमन को। जैसे कि ‘विमीसंहार’ के ही इस  
प्रसङ्ग अर्थात्—

‘जब संप्राम समाप्त हुआ जब सगे-सम्बन्धी अपने स्वतः सगे-सम्बन्धियों की  
अन्वेषि-क्रिया में लगा जायें जब बन्धु-बान्धव अपने विरुद्ध बन्धु-बान्धवों के विरुद्ध  
जैसे से भरे तर्पण प्रारम्भ कर दें जब हृदय-मिश्र गिरों और कीर्तियों से मोची-असोटी अपने  
स्वतः हृदय-मित्रों की देह, सुखों के इस जगत् से हूँद निकालें। जब सन्धुसंताप के साथ  
साथ भगवान् मास्कर भी अस्त हो चुके, जब सेगार्थ संप्राम से लुप्त हो जायें।  
आदि में गुरु-वाक्य-विरोध का जो प्रथमन-वर्णन है, उसमें इस ‘शक्ति’ की ही  
शक्ति दिखायी दे रही है।

विमर्श—वाक्यवर्णनार्थ के ‘शक्ति’ की विरोध का प्रथमन न वाक्य ‘कुक्षप्रसङ्ग’  
माना है—

‘कुक्षप्रसङ्गं शक्तिः । कुक्षस्य प्रसादनमनुकूलं कुक्षिभिर्वादिशक्तिधर्मत्वेन सा  
शक्तिः । यदि वा कुक्षस्य क्षिपता प्रकर्षेण साधर्मं विवाचनं शक्तिः ।

और ‘कुक्षप्रसङ्ग’ को इसविधे ‘शक्ति’ कहा है क्योंकि कुक्षि-शक्ति से कुक्ष प्रसङ्ग को प्राप्त  
किया जा सकता है। जब शक्ति का विनाश हो कुक्षप्रसङ्ग का अन्त अभिप्राय है।

अनुवाद—‘प्रसङ्ग’ का अभिप्राय पृथगीय पुरुष का गुणवर्णन है—

जैसे कि ‘मुष्णघटिक’ का इस प्रसङ्ग अर्थात्—

‘वाय्वाद्यः—ये दहे बीसागरवत् के पुत्र आर्य विप्रवत् के पीता वाय्वत् जो कर्त्तरी

चालुदत्तो वावादिदु वक्त्रमङ्गाण गिज्जइ । एदेण किल गणिआ वसन्तसेणा सुअ-  
ण्णलोहेण वावादिदेत्ति [ एषु खलु सागरदत्तस्य सुतः आर्यविश्वदत्तस्य नप्ता चारु-  
दत्तो व्यापादयितु वध्यस्थान नीयते । एतेन किल गणिका वसन्तसेना सुवर्णलोभेन  
व्यापादिता ] ।-

चारुदत्तः—( सनिर्वेद स्वगतम् )

मखशतपरिपूत गोत्रमुद्भासित यत्  
सदसि निविडचैत्यब्रह्मघोषैः पुरस्तात् ।

मम निधनदशायां वर्त्तमानस्य पापै-

स्तदसदृशमनुष्यैर्घुष्यते घोषणायाम् ॥'

इत्यनेन चारुदत्तवधाभ्युदयानुकूलप्रसङ्गाद् गुरुकीर्त्तनमिति प्रसङ्गः ।

( ८—खेद )

मनश्चेष्टासमुत्पन्नः श्रमः खेद इति स्मृतः ।

मनःसमुत्पन्नो यथा मालतीमाधवे—

‘दलति हृदयं गाढोद्वेगो द्विधा न च भिद्यते

वहति विकलः कायो मोह' न मुञ्चति चेतनाम् ।

ज्वलयति तनूमन्तर्दाहः, करोति न भस्मसात्

प्रहरति विधिर्मर्मच्छेदी, न कृन्तति जीवितम् ॥'

एव चेष्टासमुत्पन्नोऽपि ।

के लिये वध्यभूमि पर ले जाये जा रहे हैं । धनलोभ के कारण गणिका वसन्तसेना की  
हत्या इनका अपराध है ।

चारुदत्त ( निर्विण्ण होकर, स्वगत )—

ओह ! कहाँ मेरा सैकड़ों यज्ञकर्मों के सम्पादन से परम पुनीत प्रसिद्ध वंश जिसकी  
प्रशंसा में मन्दिरों और चैत्यों में वेदध्वनियाँ गूँजती रहीं । लेकिन, अब मरणासन्न मुझे  
देख-देख यह नीच चाण्डाल, मेरे अपराध की घोषणा के साथ-साथ मेरे पुनीत वंश पर  
कलक लगा रहा है ।'

आदि में, वध-घोषणा के साथ-साथ चारुदत्त का जो 'गौरव-वर्णन' है, उसमें 'प्रसङ्ग'  
का स्वरूप स्पष्ट दिखायी दे रहा है ।

विमर्श—नाट्यदर्पणकार ने भी 'प्रसङ्ग' को महापुरुष-सत्कीर्त्तन ही कहा है—

‘प्रसङ्गो महता कीर्त्ति —

कीर्त्ति सशब्दनम् ।'

अनुवाद—‘खेद’ कहते हैं शोक आदिरूप मन अथवा शरीर के व्यापारों के कारण  
समुत्पन्न परिश्रम को ।

जैसे कि ‘मानसखेद’ का ‘मालतीमाधव’ में यह वर्णन—

‘प्यारी मालती के विरह का शोकावेग, मेरा हृदय विदीर्ण कर रहा है, लेकिन तब  
भी यह फटता नहीं । यह व्याकुल शरीर मूर्च्छित हो रहा है, लेकिन तब भी होश  
बाकी है । भीतर की जलन शरीर को जला रही है, लेकिन तब भी यह जलकर राख  
नहीं हुआ । दुर्भाग्य मर्यान्तक चोट कर रहा है, लेकिन तब भी प्राण बाकी है ।'

इसी भाँति, चेष्टासमूत ‘खेद’ का उदाहरण देकर लिया जा सकता है ।

(१—प्रतिषेध)

ईप्सितार्थप्रतीघातः प्रतिषेध इतीभ्यते ।

यथा मम प्रभावत्यां विदूषकं प्रति—

‘प्रद्युम्ना—सखे ! कयमिह स्वमेकाकी यत्से ? क नु पुन’ प्रियसखी  
नानुगम्यमाना प्रियतमा मे प्रभावती ?विदूषकः—असुरपत्न्या व्याधारिभ कहिं बि कीड़ा [ असुरपत्नि का  
कुत्रापि नीता ] ।

प्रद्युम्ना—( दीर्घं निश्चस्य )

हा पूर्णचन्द्रमुखि ! मत्तचकोरनेत्रे !

मामामताङ्गि ! परिहाय कुतो गतासि ?

गच्छ स्वमय ननु जीवित ! त्वमेव

दैवं कर्षणपर कृतकृत्यमस्तु ॥

(१०—विरोधन)

कार्यात्ययोपगमनं विरोधनमिति स्मृतम् ॥

यथा वेष्माम्—

‘युधिष्ठिरः—

तीर्थे मीप्समहोदधौ कयमपि द्रोणानले निवृत्ते

कर्णारीषिपमोगिनि प्रशमिते शस्त्रे च धाते विभम् ।

मीमेन प्रियसाहसेन रमसादृश्याचरोपे जये

सर्वे जीवितसदार्थं वयममी वाचा समारोपिका ॥’

विसर्ग—‘वे’ का अभिप्राय समी गान्ध्याचार्य कायिक कवचा मानसिक परिमल हो पाया है । इच्छा कायिक कवचा मानसिक अम अविचारिभावों में बिना जाता है किन्तु रसिकों के परिशील के बिना इसे संभव ही मान लिया गया है ।

बनुवाद—‘प्रतिषेध’ का अभिप्राय असीद्ध अर्थ की प्रवृत्ति में निवृत्तवाचा का अभिप्राय है जैसे कि, मेरी कुत्त ‘प्रभावती’ के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

‘प्रद्युम्न ( विदूषक से )—मित्र ! तुम वहाँ अकेले कैसे ? मेरी प्रियतमा प्रभावती भी उसकी सखियों वहाँ गयी ?

विदूषक—उसे तो राजसराय कहीं बुका ले गया ।

प्रद्युम्न—( बाह्र जीवकर ) ।

हा पूर्णचन्द्रमुखि ! हा मत्तचकोरानि ! हा सुन्दरि ! मुझे जीव नु कहीं चक परी ! मेरे प्राण ! तू भी सीम चक वस ! मेरा हुआम्व जय जानम्ब मनान ।

आदि में जो सम्पन्न है वह प्रतिषेध ही है ।

बनुवाद—‘विरोधन’ का अभिप्राय किसी कर्षण में विरोधस्थापन है । जैसे कि ‘बीजोत्सहार’ के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

‘युधिष्ठिर मीप्सपराक्रमकप सागर भी पार कर चुके, द्रोणकय जपि भी वृत्त चुकी, कर्ण या विचवर भी मड़ चुका और सबय ला दूर भी स्वयं पहुँचा दिया गया । विजय

( ११—प्ररोचना )

प्ररोचना तु विज्ञेया संहारार्थप्रदर्शिनी ॥ १०६ ॥

यथा वेण्याम्—

‘पाञ्चालकः—अहं देवेन चक्रपाणिना सहितः—इत्युपक्रम्य कृतं सन्देहेन ।

पूर्यन्ता सलिलेन रत्नकलशा राज्याभिषेकाय ते

कृष्णात्यन्तचिरोष्मिन्ते तु कबरीबन्धे करोतु क्षणम् ।

रामे शातकुठारभास्वरकरे क्षत्रद्रुमोच्छेदिनि

क्रोधान्धे च वृकोदरे परिपतत्याजौ कुतः संशयः ॥’

( १२—आदानं )

कार्यसंग्रह आदानम्—

यथा वेण्याम्—‘भो भोः समन्तपञ्चकचारिणं ।

नाहं रक्षो न भूतो रिपुरुधिरजलाह्लादिताङ्गं प्रकामं

निस्तीर्णोरुप्रतिज्ञाजलनिधिगहनं क्रोधनः क्षत्रियोऽस्मि ।

तो निश्चित ही थी लेकिन, साहसरसिक भीम ने दुर्योधन-वध की प्रतिज्ञा क्या कर ली, हम सबको प्राण-संशय में डाल दिया ।’

आदि में, जो सभ्य हैं वह ‘विरोधन’ रूप ही है ।

विमर्श—नाट्यदर्पणकार ने ‘विरोधन’ को ‘विरोध’ कहा है—

‘विरोध प्रस्तुतज्यानिः—प्रस्तुतस्य कार्यस्य ज्यानिर्ल्ययः विरोध इव विरोधः ।’

किन्तु दोनों का अभिप्राय एक ही है ।

अनुवाद—‘प्ररोचना’ कहते हैं अभिलिखित अर्थ के ऐसे प्रदर्शन को मानो वह संपन्न हो गया हो । जैसे कि ‘वेणीसंहार’ के ही इसे प्रसङ्ग अर्थात्—‘पाञ्चालक’ में चक्रपाणि भगवान् कृष्ण द्वारा आदि से लेकर, इसे प्रसङ्ग अर्थात्—

‘अव विजय में क्या संदेह !

अब महाराज युधिष्ठिर के राज्याभिषेक के लिये रत्नकलशों में जल भरा जाये, अब द्रौपदी, बहुत दिनों से न सँवारे गये अपने केशों को सँवार ले, अब जब कि लोचन कुठार से सुशोभित भुजा वाले, क्षत्रियकानन के संहारक परशुराम और क्रोधान्ध भीम संग्राम में कूद पड़े हैं तब विजय में क्या संदेह !’

आदि तर्क, वेणीसंहाररूप भावी कार्य का निष्पन्न रूप से जो वर्णन है उसमें ‘प्ररोचना’ की योजना स्पष्ट है ।

विमर्श—नाट्यदर्पणकार ने ‘प्ररोचना’ की बड़ी विशद व्याख्या की है—

‘भावसिद्धिः प्ररोचना—निर्वहणसन्धौ भाविनोऽर्थस्य सिद्धिः सिद्धत्वेनोपक्रमणं, प्रकर्षेण रोच्यते दीप्यतेऽनया रूपकार्यं इति प्ररोचना ।’

और इसके उदाहरण-रूप में, वेणासंहार का ही ‘पूर्यन्ताम्’ आदि प्रसङ्ग उद्धृत कर यह कहा है कि इस प्रसङ्ग में ‘प्ररोचना’ इसलिये है क्योंकि यहाँ भविष्य में सम्पन्न होने वाले ‘युधिष्ठिर-राज्याभिषेक’ और ‘द्रौपदीकेशसंयमन’ को सम्पन्नरूप से वर्णित किया गया है ।

अनुवाद—‘आदानं’ कहते हैं ‘कार्यसंग्रह’ अथवा मुख्य फल के दर्शन को । जैसे कि ‘वेणीसंहार’ के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

‘भीम—अरे समन्तपञ्चक के रणक्षेत्र में विचरनेवालो ! मैं राक्षस नहीं, मैं प्रेत नहीं,

मो मो राजन्यवीरा । समरशिखिशिखामुच्छ्रोपा । कृतं च  
 । आसेनानेन लीनैर्हतकरितुरगान्सर्हिषैरास्यते यत् ॥  
 अत्र समस्तरिपुष्यकायस्य सगृहीतत्वादावानम्

( ११—वाचन )

—तदाहुश्छादन पुनः ।

॥ कार्यार्थमप्रमानादे सहनं खलु यद्गमेत् ॥ १०७ ॥

यथा, तत्रैव—

‘अनुना—आर्य । प्रसीद किमत्र कोचेन—

अप्रियाणि करोस्वेव बाधा शक्ते न कर्मणा ।

हतभ्रातृरातो दुःखी प्रसापैरस्य का व्यथा ॥’

( विवेक सन्धि के १४ अङ्क । निर्दल )

अथ निर्वहणाङ्गानि ।

सन्धिर्विबोधो ग्रथनं निर्णयः परिमाणम् ।

कृतिः प्रसाद आनन्दः समयाऽप्युपगृह्यन् ॥ १०८ ॥

मापणं पूर्ववाक्यस्य काव्यसंहार एव च ।

( १५ ) प्रवृत्तिरिति संहारे ज्ञेयान्यङ्गानि नामतः ॥ १०९ ॥

मै—कोच का बचतार बहुत कमिष हैं जिससे सखुरत में श्री भरकर स्वामि किया है और अपने मयङ्कर प्रसङ्गों, अपार पारावार को पार कर किया है । जो कृतिव-वीरो, और संप्रसादक में बचने से बचने हुए रहते हैं । बरो मत, मुझसे, बरकर हाथी-धोरे, कं शच के पीछे मत बिपों ।

आदि में, अनुपपन्न काव्य का जो, उपसंहार-वर्णन है, उसमें ‘आवाच’ का, काव्य स्पष्ट है ।

— विमर्श—माज्जर्यकार ने ‘आपण’ को ‘प्रमाणापीय’ कहा है और ‘प्रमाणापीय’ का अधिकतम सुख-रस का साक्षात्कार बताया है ।

अनुपपन्न—‘आवाच’ कहते हैं कर्मसिद्धि के लिये अपमान आदि के सहन करने का । जैसे कि ‘विषीसंहार’ के ही इस प्रसङ्ग में आया—

‘अनुना—आर्य । काय कुरु न हो—

इस दुर्बल्य को जो कुछ करी-कोटी मुजली हो मुझा खेने उठिब । यह आपका जब क्या बिगाड़ सकता है । इसे तो इसके सेक्यों माहनों की मौत क्या रही है । इसके प्रकाय से होता गया है ।’

आदि में अपमान-सहन का जो वर्णन है उसमें ‘आवाच’ की ही योजना है ।

विमर्श—माज्जर्य के अनुसार आनन्द मनुमानर्जनं अथवा ‘अपमानसहन’ है—

‘आवाचं मनुमानर्जनम्—

मनुपपन्नानो वेन माज्जते तत् आवाचम् ।’ ( माज्जर्य ११ विवेक )

अनुपपन्न—विवेक सन्धि के वे १० अङ्क हैं—(१) सन्धि, (२) विषय (३) प्रवृत्ति,

( १—संधि )

तत्र—

बीजोपगमनं सन्धिः—

यथा तत्रैव ( वेण्याम् )—

‘भीमः—भवति । यज्ञवेदिसम्भवे । स्मरति भवती यन्मयोक्तम्—‘चञ्चद्भु-  
जे’त्यादि ।’

अनेन मुखे क्षिप्रबीजस्य पुनरुपगमनमिति सन्धिः।

( २—विबोध )

—विबोधः कार्यमार्गणम् ।

यथा तत्रैव—

‘भीमः—मुख्तु नामार्यः क्षणमेकम् ।

युधिष्ठिरः—किमपरमवशिष्टम् ?

भीमः—सुमहदवशिष्टम् । सयमयामि तावदनेन सुयोधनशोणितोक्षितेन  
पाणिना पाञ्चाल्या दुःशासनावकृष्ट केशहस्तम् ।

(४) निर्णय, (५) परिभाषण, (६) कृति, (७) प्रसाद, (८) आनन्द, (९) समय, (१०) उप-  
शृङ्खन, (११) भाषण, (१२) पूर्ववाक्य, (१३) काव्यसंहार और (१४) प्रशस्ति ।

अनुवाद—‘सन्धि’ का अभिप्राय (मुखसन्धि में) निश्चित बीज (रूप इतिवृत्त-  
वैचित्र्य) का उपगमन अथवा पुनःसंधान है । जैसे कि ‘वेणीसंहार’ के ही इस  
प्रसङ्ग अर्थात्—

‘भीम—अरी । यज्ञवेदिसम्भवे । क्या तुझे थाद है कि मैंने क्या कहा था—अपने  
प्रचण्ड भुजदण्ड में घुमायी जाती  
आदि में, जो सन्ध्यङ्ग है वह ‘सन्धि’रूप ही है क्योंकि यहाँ ‘मुखसन्धि’ में निश्चित  
बीज का उपगमन अथवा पुनः संधान किया जा रहा है ।

विमर्श—‘निर्वहण’ में इस ‘सन्धि’ नामक अङ्ग की योजना आवश्यक है क्योंकि इसके  
द्वारा रूपक के उपक्रम और उपसंहार का सम्बन्ध स्थापित किया जाया करता है । नाट्यदर्पणकार  
ने इसीलिये कहा है—

‘सन्धिर्वीजफलागम—

मुखसन्धौ न्यस्तस्य प्रारम्भावस्थाविषयीकृतस्य बीजस्योद्घाटोन्मुख्याद्यैर्विकारैः फले  
फलागमावस्थायामागमनं ङोकेन सन्धि ।

अत्र मुखे यदुपगतं बीजं तत्क्षिकटी-  
भूतमिति । इदमङ्गमवश्यं निबन्धनीयमिति ।’ ( नाट्यदर्पण १ म विवेक )

अनुवाद—‘विबोध’ का अभिप्राय कर्तव्य का अनुसंधान है । जैसे कि ‘वेणीसंहार’ के  
इस प्रसङ्ग अर्थात्—

‘भीम—आप मुझे, थोड़ी देर के लिये छोड़ दें ।

युधिष्ठिर—अब क्या बाकी है ?

भीम—अभी बहुत कुछ बाकी है । अभी तो मुझे, दुर्योधन के रक्त से सने इन हाथों  
से, दुःशासन द्वारा खोली गयी, द्रौपदी की वेणी संवारनी है ।

पुथिष्ठिर—गच्छतु मयाम्, अनुभवतु उपस्थिनी वेणीसंहारम् ।' इति ।  
अनेन केरासयमनकायस्यान्वपणाद्विबोध ।

(३—प्रथम)

उपन्यासस्तु कार्याणां प्रथनम्—

यथा तत्रैव—

'मीमा—पाश्चाति ! म कलु मयि जीवति संहारम्या पुन्यासनविकृष्टिर्णी  
वेपिरात्मपापिभ्याम् । तिष्ठ, स्वयमेवाहं संहारमि ।' इति ।

अनेन कार्यस्योपपत्तेपाह प्रथनम् ।

(४—विर्णय)

—निर्णयः पुनः ॥ ११० ॥

अनुमृतायकथनम्—

यथा तत्रैव—

'मीमा—देव अजातराश्रो ! अद्यापि दुर्बोचनहृत्क' । यथा हि तस्य वुरात्मना—

मूमी सिंसं शरीरं निहितमिषमसूक्ष्मन्वमामं निद्याङ्गे

अरमीरार्थे निपिच्छ अनुकवधिपयःसीमया सार्द्धमुर्ध्या ।

पुथिष्ठिर—अन्धी वात है । जाओ प्रीपरी अब भी 'वेणीसंहार' ( वेणी के संहारने )  
का कुछ निकै ।

मी, वो सध्मह ई वह 'विबोध' हो है क्योंकि वहाँ मीम के द्वारा 'वेणीसंहार' की  
स्वकर्तव्य के अन्वेषण का ही वर्णन है ।

विमर्श—नाम्नसर्वगन्धर्व 'विबोध' की 'निरीप' कहा है और 'निरीप' का वर स्थान  
किया है—

'निरीपः कार्वासीमीमा—

अस्त्व कार्वासी सुखी अस्त्वोषणं तस्मिन्नुपस्थितपत्न्याद्विरोक किन्तु दोषों की  
अभिप्राय एक ही है ।

अनुवाद—'प्रथम' कहते हैं जिसे कार्य का उपपत्ताज अथवा उपरोप कहा गया है ।  
जैसे कि 'वेणीसंहार' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'मीमा—पाश्चाति ! मेरे पीले-आगले, तुसे अपने हाथों पुन्यासन द्वारा जोड़ी राखी  
अपनी वेणी व बाँधनी चाहिये । इह, मैं स्वयं इसे बँधूँगा ।

अर्थात् मैं मीमासैम के कर्तव्यकर्म वेणीबन्धन का जो वर्णन है उसमें 'प्रथम' की ही  
योग्यता है ।

विमर्श—'प्रथम' की रसिकिने 'प्रथम' कहते हैं क्योंकि इनके द्वारा व्यापक और एक ही  
उपपत्तय स्थापित किया गया करता है ( प्रथमते सम्प्रथमते व्यपतरेण मुख्यकर्ममन्वेति  
प्रथमयत् ) ।

अनुवाद—'विर्णय' कहते हैं अनुमृत अर्थ के कथन को । जैसे कि 'वेणीसंहार' के ही  
इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'मीमा—सहारात ! अजातराश्री ! यथा आज भी वह बीच दुर्बोचन अथवा हुआ है ।  
अरे, मैंने उस बीच का—

भृत्या मित्राणि योधाः कुसकुलमनुजा दग्धमेतद्रणाग्नौ  
नामैक यद् ब्रवीषि क्षितिप । तदधुना धार्तराष्ट्रस्य शेषम् ॥'

( ५—परिभाषण )

—वदन्ति परिभाषणम् ।

परि कृतं वाक्यम्—

यथा शाकुन्तले

'राजा—

तापसी—का

दारपरित्यागिनो नाम प्रहीन्यति ] ।

थ सा तत्रभवती किमाख्यस्य राजर्षे. पत्नी ?

। धम्मदारपरिट्टादणो णामं गेण्हिस्सदि' [ कस्तस्य धर्म-

शरीर मिट्टी में मिला दिया है, रक्तचन्दन की भाँति उसका लाल रक्त मेरे शरीर का अङ्गराग बन रहा है, आप को विजयश्री मिली है और चारों समुद्रों से घिरी यह वसुन्धरा आप की चेरी बन चुकी है, कुरुवंश के अनुचर-परिचर, इष्ट-मित्र, शूर-वीर सब के सब इस रणानल में जल-भुन चुके हैं, अब तो जिसे आप 'दुर्योधन' कहते हैं वह केवल नाममात्र बच रहा है ।'  
आदि में भीस का जो अनुभूतार्थ वर्णन है उसमें 'निर्णय' का ही रूप स्पष्ट परिलक्षित हो रहा है ।

विमर्श—नाट्यदर्पणकार ने 'निर्णय' का यह लक्षण किया है—

'निर्णयोऽनुभवख्याति — ज्ञेयेऽर्थे सन्दिहानमप्रतिपाद्यमानं वा प्रति यदनुभवस्यानुभू-  
तस्यार्थस्य निर्णयार्थं कथनं तत् ज्ञेयार्थनिर्णयान्निर्णयः' ( नाट्यदर्पण . १ म विवेक ) ।

इस सन्ध्यङ्ग की योजना भी अनिवार्य मानी गयी है ।

अनुवाद—'परिभाषण' वह है जिसे परिवाद अथवा भिन्दा का सूचक भाषण कहा गया है । जैसे कि, 'अभिज्ञानशाकुन्तल' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'राजा—आर्ये ! यह तो बताइये कि आप इन्हें किस नाम के राजा की पत्नी कहना चाहती हैं ?

तापसी—जिसने अपनी पत्नी का परित्याग कर दिया है उस पापी का नाम कौन ले !'  
आदि में, तापसी का जो दुष्यन्त-निन्दन है उसमें 'परिभाषण' का स्वरूप स्पष्ट है ।

विमर्श—नाट्यदर्पणकार ने 'परिभाषण' को 'परिभाषा' कहा है और 'परिभाषा' की यह व्याख्या की है—

'परिभाषा स्वनिन्दनम्—

स्वापराधोदघटनं परिभाषा । यथा 'तापसवत्सराजे' वासवदत्ता प्रति राजा (सात्त्वम्)-  
देवि ! किं ब्रवीषि ?

यथा तथा घृतप्राण नि स्नेह निरपत्रपम् ।

आनन्दामृतवर्षिण्या दृष्टाप्यनुगृहाण माम् ॥

यथा वा 'नलविलासे' दमयन्तीं प्रति नल —

न प्रेम निहित चित्ते न चाचार सता स्मृत ।

त्यजता स्वा वने देवि ! भया दारुणमाहितम् ॥



(६—कृति)

—सम्भार्यधामन कृतिः ॥ १११ ॥

यथा चेष्टाम्—

‘कृष्णः—एते भगवन्तो व्यास-वाल्मीकिमृत्तयोऽभियेकं पारयन्तस्तिष्ठन्ति इति ।  
अनेन प्राप्तवाक्यस्याभियेकमङ्गलौ स्मिरीकरय कृति ।

(७—प्रसाद)

शुभ्रपादिः प्रसादः स्यात्—

यथा तत्रैव भीमेन त्रौपद्या केरासंयमनम् ।

(८—आनन्द)

—आनन्दो वाञ्छितानामः ॥

यथा वा ‘राजवाङ्मयवे’ रामः (स्वगतय) —

बैदेही इतर्थास्तव महता संख्ये विषय कुमा-

व्योत्पत्तिरुत्कृष्टो वचमुक्तः कीनाद्यवासीकृता ।

प्रापान् पदिरहेऽप्यहं विद्यतांस्तेन अपापीधुर

वचनं वृत्तिपितृ लपापि न पुरस्तस्या विकला वमा ॥

साहित्यदर्पणकार के अनुसार तो ‘परिभाषण परमिन्ना-सुपक भाषण याना क्या है किन्तु  
मातृवर्णनकार के अनुसार यह स्वभिन्नात्मक वचन है ।

अनुवाद—‘कृति’ कहते हैं उपकल्प विषय के द्वारा चित्त-संमति के वर्णन को । जैसे कि  
‘बैजीसंहार’ के इस प्रसङ्ग में—

‘कृष्ण—भगवान् व्यास और वाल्मीकि आदि महर्षि अभियेक (एक) होने आपकी  
प्रतीक्षा कर रहे हैं ।

अर्थ में, अभियेकमङ्गल द्वारा, सुगुहिर के चित्त में आगति और स्मृति की स्थापना का  
को वर्णन है उसमें ‘कृति’ की ही उपरोक्त शक्त रहती है ।

विमर्श—‘कृति’ का अभिप्राय होम कथा कल्प जन्म का परिपाकन है और कि मातृवर्णन-  
कार का वचन है—

‘कृतिः चेन्नम्—उपकल्प परिपाकनं चेमा ।’

अनुवाद—‘प्रसाद’ का अभिप्राय सेवा परिचर्या आदि का अभिप्राय है । जैसे कि  
‘बैजीसंहार’ में भीम द्वारा त्रौपदी के केरासंयमन की पहना का का उल्लेख है वह ‘प्रसाद’  
रूप संस्कार की ही योजना है ।

विमर्श—मातृवर्णनकार में ‘प्रसाद’ को ‘उपासि’ कहा है और ‘उपासि’ का अभिप्राय  
‘सेवा’ बताया है—

‘सेवापासिता—येषा परमसत्तिहेतुत्वोपासा ।’

मातृवर्णनकार के अनुसार ‘प्रसाद’ मातृवाचने वरत के अतिरिक्त अन्य मातृवर्णनकारों के  
का का सम्बन्ध है—

‘अन्ते स्वल्प एवाने प्रियदित्वापरणप्रतितां प्रसक्तिं प्रसादमहं मन्वते ।

(मातृवर्णनः १ म वि३५)

अनुवाद—‘आनन्द’ वह है कृति मनोरथ की पूर्ति में संतोष कहा गया है ।

यथा तत्रैव—

‘द्रौपदी—विमुमरिदं एदं वावार णाधस्स पसादेण पुणो वि सिक्खिस्स ।’  
[ विस्मृतमेन व्यापारं नाथस्य प्रसादेन पुनरपि शिक्षिष्ये ] ।

( ९—समय )

समयो दुःखनिर्याणं—

यथा रत्नावल्याम्—

‘वासवदत्ता—( रत्नावलीमालिङ्ग्य ) समस्सस बहिणिण । समस्सस’  
[ समाश्वसिहि भगिनि ! समाश्वसिहि ] ।

( १०—उपगूहन )

—तद्भवेदुपगूहनम् ॥ ११२ ॥

यत् स्यादद्भुतसम्प्राप्तिः—

यथा मम प्रभावत्या नारददर्शनात् प्रद्युम्न ऊर्ध्वमवलोक्य—

‘दधद्विद्युल्लेखामिव कुसुममाला परिमल—

भ्रमद्भृङ्गश्रेणीध्वनिभिरुपगीता तत इतः ।

दिगन्त ज्योतिर्भिस्तुहिनकरगौरैर्धवलुय—

न्नित कैलासाद्रिः पतति वियतः किं पुनरिदम् ॥’

जैसे कि ‘वेणीसहार’ के ही इस प्रसङ्ग अर्थात्—  
‘द्रौपदी—मैं तो वेणी बाँधना भूल सी ही गयी थी, लेकिन अब आपकी कृपा से इसे फिर सीख जाऊँगी ।’  
आदि में, द्रौपदी के अभिलषित लाभ और संतोष का जो वर्णन है उसमें ‘आनन्द’ की ही योजना है ।

विमर्श—आनन्द के हेतु होने के नाते ‘वादिश्रुतागम’ को आनन्द कहा गया है—जैसा कि नाट्यदर्पणकार का कथन है—‘प्रकारशतैर्वाञ्छितस्यार्थितस्य सामस्येनागम प्राप्तिरानन्द-हेतुत्वादानन्दः ।’

अनुवाद—‘समय’ वह सन्ध्यङ्ग है जिसे दुःख का अपगमन ( दूर हो जाना ) कहा गया है । जैसे कि ‘रत्नावली’ के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

‘वासवदत्ता—( रत्नावली को गले लगाकर ) धवड़ाओ नहीं वहन ।’  
आदि में, रत्नावली के दुःखनिर्याण का जो वर्णन है उसमें ‘समय’ का स्वरूप स्पष्ट है ।

विमर्श—नाट्यदर्पणकार के अनुसार ‘समय’ का यह लक्षण है—

‘समयो दुःखनिर्वास —

दुःखनिर्गमयुक्त काल समय ।

अनुवाद—‘उपगूहन’ कहते हैं विस्मय की प्राप्ति को । जैसे कि, मेरी अपनी कृति ‘प्रभावती’ में, नारद के दर्शन से ऊपर की ओर दृष्टि उठाये, प्रद्युम्न की जो यह उक्ति है—  
‘यह क्या ? यह क्या है जो सान्द्र सौरभ-लोभ से मँडराते भौरों की गुजार से भरी

( ११—भाषण )

—सामदानादि भाषणम् ।

यथा चण्डकोरिके—

'धर्मः—तदेहि धर्मलोकमभिविष्ट ।'

( १२—पूर्ववाक्य )

पूर्ववाक्यं तु विज्ञेय यथोक्तार्थोपदर्शनम् ॥ ११३ ॥

यथा वेण्याम्—

'भीमा—बुद्धिमतिके ! क सा भानुमती । परिमन्तु सम्प्रति पाण्डवदायनी'

( १६—काव्यसंहार )

धर्मदानसंप्राप्तिः काव्यसंहार इष्यते ।

यथा सर्वत्र—किं ते भूय प्रियमुपकरोमि । इति ।

बनकती पुष्पमाका बारन किये तथा चन्द्रचबक लेख से दिग्गन्त को प्रकाशित करते हुये इधर आता जा रहा है ? कहीं यह कैलास पर्वत की नहीं या जीर कुङ्ग की नहीं है ? इसमें 'उपगूहन' का स्वल्प स्पष्ट है ।

विमर्श—नाट्यदर्पणकार ने 'उपगूहन' के स्थान पर 'परिगूहन' नाम प्रयुक्त किया है और 'परिगूहन' का वह अतिशयोक्ति बताया है—

'विस्मयस्वापिमान्वात्मकस्वाज्ञातरसस्य प्रसिद्धिः परिगूहनम् ।

अनुवाद—'भाव' का अनिर्वाच्य सामान्यभावक, विषयद्वय अथवा द्विवर्णक वचन है । जैसे कि 'अर्धवृष्टिक' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'धर्म—हरिश्चन्द्र ! इधर आओ तुम्हें धर्मलोक में विचरना है ।'

अर्थात्, हरिश्चन्द्र के किये सामान्यभावक धर्म का जो अर्थ है उसमें 'भाव' का जोड़ना है ।

विमर्श—'भाव' अल्प विवक्षितवचन है । वस्तु की तथा विवक्षित रसोपरिपक्व रूपकप्रवर्णों से भी नहीं है ।

अनुवाद—'पूर्ववाक्य' यह है जिसे पूर्वोक्त विषय अथवा वचन का उपसर्गमें बँधी गया है । जैसे कि, 'वेणीसंहार' का इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'भीमा—बुद्धिमतिके ! कहीं गयी वह भानुमती ? अब देखें कीसे पाण्डव-पत्नी की अपमान करती है ।

आदि में जो संक्षेप है वह 'पूर्ववाक्य' ही है ।

विमर्श—'पूर्ववाक्य' का दूसरा नाम 'आगम्य' है । नाट्यदर्पणकार ने 'आगम्य' नाम से ही इस संज्ञक का उल्लेख किया है—

'आगम्यका कृष्णवर्णनम् ।

किन्तु 'आगम्य' का अनिर्वाच्य द्विती के रूप का द्विती के द्वारा वर्णन है । नाट्यदर्पणकार के अनुसार 'पूर्ववाक्य' अथवा नाट्यवाणी की भाषणा का सम्बन्ध है—'मुखसम्भाषण-कारणमस्यकारणवर्णनं पूर्ववाक्यमत्रमत्र स्थाने चेद्विदाममिति ।'

अनुवाद—'काव्यसंहार' यह संज्ञक है जिसी वचनवाच की संप्राप्ति कहा गया है । जैसे

( १४-प्रशस्ति )

नृपदेशादिशान्तिस्तु प्रशस्तिरभिधीयते ॥ ११४ ॥

यथा प्रभावत्याम्—

‘राजानः सुतनिर्विशेषमधुना पश्यन्तु नित्यं प्रजा  
जीयासु’ सदसद्विवेकपटवः सन्तो गुणप्राहिणः ।  
सस्यस्वर्णसमृद्धयः समधिकाः सन्तु क्षमामण्डले  
भूयादव्यभिचारिणी त्रिजगतो भक्तिश्च नारायणे ॥’  
अत्र चोपसंहारप्रशस्त्योरन्त एकेन क्रमेणैव स्थितिः ।

( सन्ध्यङ्ग-निवेश में मतभेद )

‘इह च मुखसधौ उपक्षेपपरिन्यासयुक्त्युद्भेदसमाधानानां प्रतिमुखे च  
परिसर्पणप्रगमनवज्रोपन्यासपुष्पाणां गर्भेऽमृताहरणमार्गत्रो (तो) टकाधिवलक्षे-  
पाणां विमर्शोपवादशक्तिव्यवसायप्ररोचनादानानां प्राधान्यम् । अन्येषां च यथा  
सम्भवस्थितिः ’ इति केचित् ।

किं समस्त रूपकप्रबन्धों में, ‘किन्ते भूयः प्रियमुपकरोमि’ का जो उपनिबन्ध किया  
जाया करता है वह ‘काव्यसंहार’ की ही योजना है ।

विमर्श—नाट्यदर्पणकार ने ‘काव्यसंहार’ की यह सुन्दर परिभाषा की है—

‘वरेच्छा काव्यसंहारः ।

ईप्सित दातुमभिलाषो वरेच्छा । तज्जनितो ‘भूयः किं ते प्रियमुपकरोमि,’ इति प्रश्न  
इत्यर्थः । स च प्रहीतर्त्नप्रतीच्छति प्रतीच्छति च सम्पादयितुर्भूयसीमिच्छा दर्शयितुं, निव-  
ध्यते । तत्र सति सर्वस्मिन्नेवेप्सिते सस्पन्ने प्रस्तुत काव्यस्यैव संहियत इति काव्यसंहारः ।

अनुवाद—‘प्रशस्ति’ का तात्पर्य नृप, देश, देव आदि का स्वस्त्ययन अथवा आशीर्वचन  
आदि है । जैसे कि ‘प्रभावती’ की यह ‘प्रशस्ति’—

‘राजा लोह सदा पुत्रवत् प्रजापालन करते रहें, सदसद्विवेकशील, गुणप्राही सज्जन  
सदा दीर्घायु बने रहें, पृथिवी पर धन-धान्य और रूप्य-सुवर्ण की सम्पदा बरसती रहे  
और सारा त्रिभुवन भगवान् नारायण का एकान्त भक्त बन जाय ।’

‘काव्यसंहार’ और ‘प्रशस्ति,’ इन दोनों सन्ध्यङ्गों की योजना क्रमशः ही की जाया  
करती है (अर्थात् पहले ‘काव्यसंहार’ और उसके बाद ‘प्रशस्ति’ की योजना आवश्यक है) ।

विमर्श—‘प्रशस्ति’ रूपकप्रबन्धों का अन्त मङ्गल है ( प्रशस्ति शुभशसना ) । इसका  
उपनिबन्ध अनिवार्य माना गया है । इसे नाटकीय इतिवृत्त के अन्तर्गत रहनेवाली वस्तुयोजना  
कहा गया है ।

अनुवाद—इन उपर्युक्त सन्ध्यङ्गों की योजना के सम्बन्ध में आचार्यों में मतभेद पाया  
जाता है । कुछ नाट्याचार्य तो सभी सन्धिओं के सभी सन्ध्यङ्गों की योजना आवश्यक  
मानते हैं और कुछ का यह कथन है—‘मुखसन्धि के प्रमुख अङ्ग उपक्षेप, परिन्यास, युक्ति,  
उद्भेद और समाधान हैं, प्रतिमुखसन्धि में परिसर्पण, प्रगमन, वज्र, उपन्यास और पुष्प  
की योजना अनिवार्य हैं, गर्भसन्धि के लिये अमृताहरण, मार्ग, तोटक, अधिवल और क्षेप  
अपेक्षित हैं और विमर्शसन्धि के मुख्य अङ्ग अपवाद, शक्ति, व्यवसाय, प्ररोचना और  
आदान हैं । इन निर्दिष्ट सन्ध्यङ्गों के अतिरिक्त और जो अवशिष्ट सन्ध्यङ्ग हैं उनकी योजना

(सम्पन्नबोझा-विषयक परिमिश्रित सिद्धान्त)

चतुःपष्टिविध श्रोतदङ्गं प्रोक्तं मनीषिभिः ।

कुर्यादनियते तस्य सधावपि निवेष्टनम् ॥ ११५ ॥

रसानुगुणतां वीक्ष्य रसस्यैव हि मुरूपता ।

यथा वेणीसंहारे तृतीयाङ्के दुर्योधनकर्णयोर्महत्संघारणम् । एषमन्यत्रापि ।  
यत्तु द्रष्टाविमि 'नियम एव' इत्युक्तं तद्वाच्यमिदम् ।

रूपकविशेष के उपयोगविशेष की ही दृष्टि से की जा सकती है और की भी गयी है।

विमर्श—सम्पन्नों की 'उर्वरैश्चक्रानुसार' बोझा तथा 'उपयोगानुसार' बोझा के दो मत हैं। समित्तमारतीकार के उपयोगानुसार सम्पन्नबोझा का सिद्धान्त व्यवसाय है और रसस्वकार ने उर्वरैश्चक्रानुसार सम्पन्नबोझा का सिद्धान्त स्वीकार किया है।

अनुवाद—नाटकवेत्तों ने तो ११ सम्पन्न गिनाये हैं ( किन्तु कथक-निरूपण किया जा चुका ), किन्तु इनकी बोझा के सम्बन्ध में परिमिश्रित सिद्धान्त यह है—रूपक-प्रबन्धों का सारमूल कार्य रस है और उसी सम्पन्न की बोझा आवश्यक है रूपक-प्रबन्धों के रसकय सारार्थ के अनुकूल हो। इस दृष्टि से एक सन्धि के अङ्ग की बोझा दूसरी सन्धि में भी की जा सकती है।

एक सन्धि के अङ्ग की दूसरी सन्धि में बोझा का उदाहरण 'वेणीसंहार' का तृतीय अङ्ग है जहाँ सन्धि तो गर्मसन्धि है किन्तु जहाँ सुखसन्धि के अङ्ग 'संभारण' की बोझा की गयी है और वही सुन्दरता से की गयी है। अन्य रूपकप्रबन्धों की यही बात है। आचार्य कन्नडनादि का यह कथन कि 'जो अंग जिस सन्धि का हो उसकी उसी सन्धि में बोझा की जाय' ठीक नहीं जगता क्योंकि रूपकप्रबन्ध इसके उल्टे फलते दिखाई देते हैं।

विमर्श—नाटकाचार्य भरतमुनि का सम्पन्नबोझा के सम्बन्ध में यह आदेश था—

'यथासन्धि तु कर्तव्यान्नेताम्यङ्गानि नाटके ।

कविभिः कथ्यन्तु च रसभावमपेक्ष तु ॥

समिधमि कदाचित् द्विविधयोगे वा युता ॥

शास्त्राकार्यमवस्थां च कार्याम्यङ्गानि सन्धिषु ॥

( नाट्यशास्त्र २९. ३ ४-२ १ )

जिसे 'जमित्तमारतीकार' ने इस प्रकार उद्धृत किया—

'यथासन्धि स्थिति—जो वसिम् सम्पन्न बोझ इत्यर्थः । बोध्यतां च कश्चिरेव आशयि, न च मुक्तकथिः किन्तु प्रबन्धबोझासमर्थः । तथाह—कविमिरित्यदि । बहु क्रमेः कीरत तत् प्रबन्धविमर्शकौशिकमित्याह—रसभावमपेक्षेति तद्वेदा च कीदृकमित्यर्थः । रस एव हि प्रीत्या ध्युत्पत्तिरहं नाकार्यमके साक्षात्तुचम् । ततश्च यद् यथा यद् यस्यानुपयोगि तद्वेदोचक्रिनो रचितद्विध-ईरापव्यङ्ग्यतिरसाम्भारमप्ययोजितं तद्वाहरेणान्त-प्रविष्टं सत् पुष्टिं प्याभिमिहृष्टि च विधत्ते, तथैव पुमर्थापयो कृद्बभमुप्रमेष्टुमसमर्थः सुन्दर तदुचितरससंक्रमणवा माशान्ताम्यवसो विनेयजनस्य ह्यपाये वरतुनि कथरपादपकथनवाच्य कथयते । रससंक्रमन्तिव विभाषादिकथयतेव नाप्यपेक्षुक्तं यथे । ताम्यङ्गानि स्थितानि विधत्तितरसभावदिसंपूर्णभावमात्रि भवन्ति यानि त्वेकरसापदितमनसा वान्तरविर-वेकतयेवमहमहिम्ना समुचितभावव नाप्यङ्गवामनुवर्तन्ते । इतिहृत्वाविष्येदोऽपि हि

( सन्ध्यङ्गनिवेश की उपयोगिता )

दृष्टार्थरचनाश्चर्यलाभो वृत्तान्तविस्तरः ॥ ११६ ॥

रागप्राप्तिः प्रयोगस्य गोप्यानां गोपनं तथा ।

प्रकाशनं प्रकाश्यानामङ्गानां षड्विधं फलम् ॥ ११७ ॥

अङ्गहीनो नरो यद्वन्नैवारम्भक्षमो भवेत् ।

अङ्गहीनं तथा काव्यं न प्रयोगाय युज्यते ॥ ११८ ॥

संपादयेतां सन्ध्यङ्गं नायकप्रतिनायकौ ।

तदभावे पताकाद्यास्तदभावे तथेतरत् ॥ ११९ ॥

रसस्यैव पोषक, अन्यथा विच्छेदे स्थाय्यादेस्तुटितत्वात् क रसवार्ता । तेन रसस्यैवाय विभावादिपरिकरो यदङ्गचक्रमिति । ... ननु सन्धिपरतन्त्रैरङ्गैर्भवितव्यम्, तद्रसपारतन्त्र्यमेवा कुतस्त्यम् ? उच्यते—सन्ध्यो ह्यवस्थापरतन्त्रा, प्रारम्भाभिधानदशाविशेषोपयोगिकथाखण्डलकमुखसन्धिरित्युक्तम्, एवमन्यत्र । ... नन्वत किम् ? इदमतो भवतीत्याह—रसभावापेक्षया तु कार्यं स्थितम् ..... कार्यमपि रसप्रवाहजननपर्यन्तत्वेन कृतार्थतां संपद्यते इति यावत् ।

समिश्राणीति सन्ध्यन्तरोक्तं सन्ध्यन्तरेऽपीत्यर्थं । यथा युक्तिमुखेऽप्युक्ता 'गर्भेऽप्युपनिबद्धा वितर्कव्यभिचार्यशपोषकभावेन वेणीसहारे । द्वित्रीति द्वित्वत्रित्वयोगेनेत्यर्थः । तेनैकमपि सन्ध्यङ्गं तत्रैव सन्धौ द्विस्त्रिवा कर्त्तव्यम् ।' ( अभिनवभारती, पृष्ठ ६१-६२ )

अर्थात् जिसे 'अङ्गचक्र' ( ६४ सन्ध्यङ्ग ) कहते हैं वह रसाभिव्यञ्जक विभावादि-परिकर के अतिरिक्त और कोई वस्तु नहीं । जैसे विभावादियोजना रस-समुद्भास के लिये हुआ करती है वैसे ही अङ्गचक्र-योजना भी रसप्रवाह के ही लिये अपेक्षित है न कि नाट्यशास्त्र की मर्यादा के अनुपालन के लिये । ध्वनिकार आनन्दवर्धन की यह सूक्ति यहाँ स्मरण रखने योग्य है—

‘सन्धिसन्ध्यङ्गघटनं रसाभिव्यक्त्यपेक्षया ।

नतु केवलया शास्त्रस्थितिसम्पादनेच्छया ॥’ ( ध्वन्यालोक ३ १२ )

अर्थात् काव्य प्रबन्धों में सन्धिघटना या सन्ध्यङ्गयोजना एक मात्र रसाभिव्यञ्जन के ही लिये आवश्यक है न कि नाट्यशास्त्र की विधि के अनुष्ठान के लिये । लोचनकार ने इसीलिये कहा है—

‘भरतमुनिना सन्ध्यङ्गानां रसाङ्गभूतमितिवृत्तप्राशस्त्योत्पादनमेव प्रयोजनमुक्तम् । न तु पूर्वरङ्गाङ्गचदष्टसम्पादन विघ्नादिवारण वा ।’ ( ध्वन्यालोकलोचन, पृष्ठ ३४० )

अनुवाद—उपर्युक्त सन्ध्यङ्गों की योजना से रूपक-प्रबन्धों का जो लाभ है वह ६ प्रकार का हुआ करता है—( १ ) अभीष्ट अर्थ की योजना, ( २ ) सामाजिक हृदय में आश्चर्यभाव का सक्रमण, ( ३ ) कथानक का विस्तार, ( ४ ) सामाजिक हृदय में रूपकदर्शन के प्रति अनुराग का उत्पादन, ( ५ ) गोपनीय विषय का गोपन और ( ६ ) प्रकाशनीय विषय का प्रकाशन । जैसे अङ्गहीन मनुष्य किसी भी कार्य में समर्थ नहीं हो सकता वैसे ही अङ्गहीन काव्य-प्रबन्ध भी अभिनय के उपयुक्त नहीं रह सकता । इसलिये रूपक-प्रबन्ध अपना नाम तभी सार्थक सिद्ध कर सकते हैं जबकि इनमें उपनिबद्ध नायक और प्रतिनायक के वाग्विलासों में सन्ध्यङ्गों की रूपरेखा झलका करे । नायक और प्रतिनायक के वाग्व्यवहारों के बाद सन्ध्यङ्गों की योजना का अवसर पताका आदि अर्थप्रकृतियों की

प्रायेण प्रधानपुरुषप्रयोग्यामि सभ्यज्ञानि भवन्ति । किन्तुपक्षेपादित्रयं  
भीषस्याल्पमात्रसमुद्दिष्टत्वात्प्रधानपुरुषप्रयोगिषमेव साधु ।

(रसामिष्यजन के किये सम्म्यक्प्रयोग)

रसव्यक्तिमपेक्ष्यैषामज्ञानां संनिवेशनम् ।

न तु क्वचलया श्लाघस्थितिसपादनेच्छया ॥ १२० ॥

तथा च यद्रेण्या दुर्योधनस्य आमुमत्या सह विप्रसम्मो वरितः, तत्तादृश-  
वसरेऽत्यन्तमनुपितम् ।

अविरुद्ध तु यद् वृत्त रसादिव्यक्तयेऽधिकम् ।

तदप्यन्यथयेद्वीमात्र वदेद्वा कदाचन ॥ १२१ ॥

योजना में है । और यदि वहाँ जबरन न मिके तो बीच, किन्तु यदि वही योजना में तो सम्म्यक्ज्ञों का स्वकल्प-सङ्गर्भ आकरक ही है ।

यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि सम्म्यक्ज्ञों की योजना का स्वभावसर तो बहुत-  
कमक-प्रचण्डी के मुख्य चरितों के ही कथनोपकथन में रहा करता है किन्तु 'उपक्षेप'  
'परिहार' और 'परिभ्रात' की योजना अप्रधान चरितों के भी कथनोपकथन में समझ है  
क्योंकि इनका (उपक्षेप आदि का) सम्म्यक् बीच के आवाप उद्धार और औत्सुक्य से है  
और आवाप उद्धार और औत्सुक्य की अवस्थानों में बीचकप इतिवृत्त संश्लेषता ही उप-  
न्यस्त हुआ करता है ।

विमर्श—'नाटकवर्णन' की इन पंक्तियों में सम्म्यक्-योजना की पद्धति और वरवीरिया का  
व्या रोचक वर्णन है—

'सविधानाच्छास्त्रान्मनुनि सन्निधयस्त्वाग्निषोम्यपकलेन निष्पादकत्वात् ।' 'अङ्गुलि च  
वृत्तविस्तरकपरित्यागवर्यं विवक्ष्यमीयाति । अपरबा—'रसस्य परवी राक्वेव वनाम्तात्प-  
हता रमेन च जडापुषः समुपकम्ब सुग्रीव सहाय वातराशिराम्यप्रतिपादवादिमन्त्र  
समुद्रसेतुवन्ममात्रम्य मिहस्य च रावण प्रत्याधीते'त्यत्र प्ररम्भात्पदस्थानिकम्बमीदीः पञ्च-  
मिरपि सन्निमिर्बीजापुषावमुत्तैर्निबद्धे कपके वृत्तसंश्लेषः स्यात् तथा च न चमत्करा ।  
किञ्च रङ्गकमपि वृत्तमङ्गुलिष्येण विवक्ष्यमाणं परी रक्तिमाणाति कर्मवशात् प्रवक्ष्य-  
मात्रमपि वृत्तमङ्गुलिष्येण विवक्ष्यमाणमिवायाति । अवगच्छात्काम्यपता चाङ्गुलिमङ्गुल्य  
वृत्तस्य न भवति । ( नाटकवर्णन ४२ ग विवेक )

जगुषा—सम्म्यक्ज्ञों की योजना का उद्देश्य रस की अवस्थिति है न कि बाज्जताज  
की मर्पाबा का पाक्य ।

सम्म्यक्प्रयोगका के इस सिद्धान्त की दृष्टते 'वेणीसंहार' में किया गया दुर्योधन के  
विरुद्ध में व्यापक आमुमती का विषय ( अर्थात् प्रतिमुक्त-सन्धि के अङ्ग 'विकास' का  
उपनिबन्ध ) अत्यन्त अनुचित प्रतीत होता है ( क्योंकि इससे वेणीसंहार के रसमात्र  
का कोई परिपोष नहीं होता, यह तो केवल आकस्मिकता की रक्षा के किये उपनिबन्ध  
किया हुआ है ) ।

कथकप्रचण्डी के रचयिता का एकमात्र कर्तव्य किस प्रकार रसामिष्यजन हुआ करता  
है ( न कि नाट्यशास्त्र की सविधानों का अनुसरण ), यह इच्छे भी स्पष्ट है कि मुक्तवृत्त  
के अविरुद्ध रहनेवाली भी क्यावस्तु, यदि वह रसविहीन के उत्कलस के उपपुङ्गव हो तो  
या तो शक ही जाना करती है या विरक्त जोर ही जाना करती है ।

अनयोऽदाहरण सत्प्रबन्धेऽभिव्यक्तमेव ।

(वृत्ति-विचार)

अथ वृत्तयः —

शृङ्गारे कैशिकी वीरे सात्त्वित्यारभटी पुनः ।

रसे गौड्रे च बीभत्से वृत्तिः सर्वत्र भारती ॥ १२२ ॥

चतस्रो वृत्तयो ह्येताः सर्वनाट्यस्य मातृकाः ।

स्थुर्नायिकादिव्यापारविशेषा नाटकादिषु ॥ १२३ ॥

रसाभिव्यञ्जन के लिये, इतिवृत्त के हेर-फेर (अथवा सन्ध्यङ्ग-योजना में रसापेक्षा) के उदाहरण तो सभी प्रसिद्ध-प्रबन्ध हैं ही ।

विमर्श—अनिदार्शनिक आनन्दवर्धनाचार्य के शब्दों में सधि-सन्ध्यङ्ग-घटना के नियम के अनुपालन का यह निर्देश है—

‘रसादिव्यञ्जकत्वे [प्रबन्धस्य चेदमन्यन्मुख्यं निबन्धन यत्सन्धीना मुखप्रतिमुखग-भावंमर्शनिर्वहणाख्याना तदङ्गानाञ्चोपचेपादीना घटन रसाभिव्यक्त्यपेक्षया, यथा—रत्ना-चल्याम्, न तु केवलं शास्त्रस्थितिसम्पादनेच्छया, यथा—वेणीसहारे विलासाख्यस्य प्रतिमुख-सन्ध्यङ्गस्य प्रकृतरसनिबन्धाननुगुणमपि द्वितीयोऽङ्के भरतमतानुसरणमात्रेच्छया घटनम् ।’  
(ध्वन्यालोक . ३ य उद्योत)

और यहाँ साहित्यदर्पणकार ने इसी का अनुसरण किया है ।

अनुवाद—अब ‘वृत्ति-चतुष्टय’ का निरूपण किया जा रहा है—

‘वृत्ति’ कहते हैं नाटकादि प्रबन्धों में उपनिबद्ध नायक-नायिका आदि के विविध व्यापारों को । ‘वृत्ति’ वस्तुतः अभिनयमात्र की जननी है । ‘वृत्ति’ चार प्रकार की हुआ करती है—( १ ) ‘कैशिकी’, जो शृङ्गाररस के अभिव्यञ्जन के लिये है, ( २ ) ‘सात्त्वती’ जिससे वीररस की अभिव्यक्ति का सम्बन्ध है, ( ३ ) ‘आरभटी’ जो रौद्र और बीभत्स रस के प्रतिपादन के लिये है और ( ४ ) भारती, जिसका सम्बन्ध सभी रसों से है ।

विमर्श—भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में ‘वृत्ति’ का बड़ा विशद और विचारोत्तेजक वर्णन है । यहीं यह भी बताया गया है कि वेदचतुष्टय से अङ्गचतुष्टयात्मक नाट्यवेद की भाँति वृत्ति-चतुष्टय का भी विकास हुआ है—

‘ऋग्वेदाद्भारती जिसा यजुर्वेदाच्च सात्त्वती ।

कैशिकी सामवेदाच्च शेषा चाथर्वणादपि ॥ ( नाट्यशास्त्र २०, २५ )

वैसे तो ‘वृत्ति’-तत्त्व एकरूप ही है क्योंकि ‘कायिक’, ‘वाचिक’ और ‘मानसिक’ व्यापारों में परस्पर असम्भेद (असकीर्णता) सर्वथा असमव है । किन्तु ‘काय-वाङ्मनस्’ की चेष्टाओं में, प्रत्येक के यथास्थान प्राधान्य की दृष्टि से, वृत्तितत्त्व को चतुर्विध बताया गया है । इस वृत्ति-चतुष्टय में भारती वृत्ति रूपकप्रबन्धों में विहित चरितों का वाग्व्यापार है । नाट्याचार्य भरत-मुनि ने स्पष्ट कहा है—

‘भाषतो वाक्यभूयिष्ठा भारतीयं भविष्यति ।’ ( नाट्यशास्त्र २२. ९ )

भारती वृत्ति शब्द-वृत्ति है—इस सम्बन्ध में सभी नाट्याचार्य एकमत हैं । अभिनवभारतीकार ने ‘भारती’ को ‘पाठ्यप्रधाना’ अथवा ‘वाग्वृत्ति’ कहा है । रसार्णवमुपाकरकार ने भारती को स्पष्टतया ‘शब्दवृत्ति’ माना है—



भासां तु मध्ये वृत्तीनां सम्प्रवृत्तिस्तु भारती ।

विश्वोऽर्थावृत्तपरमेयाः तच्चतस्रो हि वृत्तयाः ॥ (रत्नार्णवमुक्ताः ११८१)

भारतमुनि की यह 'भारती'-समोक्षा नहीं ध्यान देने योग्य है—

‘या बाक्प्रधाना पुक्प्राप्तोन्मा जीवर्जिता संस्कृतवाक्ययुक्ता ।

स्वयामपेयैर्मरते प्रयुज्य सा भारती नाम भवेत् वृत्तिः ॥

(नाट्यशास्त्र २८१५)

यहाँ भारती वृत्ति के 'बाक्प्रधाना वृत्ति' होने में तो कोई विचार नहीं किन्तु 'पुक्प्रप्तोन्मा' 'जीवर्जिता' और 'संस्कृतवाक्ययुक्ता' भाष्य में विचार-विमर्श की आवश्यकता है। जैसे छे कवक-प्रवर्णों में प्राकृत वाक्यप्रचार भी वर्णित है किन्तु वाक्यशास्त्र की परिभाषा के अनुसार इसे 'भारती वृत्ति' नहीं माना जा सकता। यहाँ संभवतः ऐसा मानीय होता है कि नाट्यशास्त्र परत-मुनि ने प्रधान पुक्क वरितों के संस्कृत वाक्यापार की वृत्ति से भारती को 'संस्कृतवाक्ययुक्ता' कर दिया है। भारती वृत्ति जीव-रिता का वाक्यापार नहीं मानी गयी क्योंकि जीव-रितों की वृत्ति सात्वती अथवा कैवल्यी वृत्ति है। जीव-रितों के वाक्यापार उनके हाव-भारों से अनुप्राणित रहा करते हैं। इसलिये कुछ भारती का वर्णन नहीं हो सकता। नाट्यशास्त्रकार का यह वृत्ति-विमर्श भी यहाँ ध्यान देने योग्य है—

‘भारती सात्वती कैवल्यपारमही च वृत्तयाः ।

रसमाशानिगमगम्यतसौ नाट्यमातरः ॥

पुक्प्राप्तसाधको विचित्रो व्युत्पत्तौ वृत्तिः । रसमाशानिगमया वचनमाप्यास्तांस्तन्मय-  
त्वेन गच्छन्ति । रसमाशानिगमयच्छन्तिषो हि सप्तो मरते—व्यापारः । ‘वृत्त इति चतु-  
र्मेवत्वमन्यतमबद्धांशमाशान्यविचयका, अपरयात्मकव्यापारसंबन्धितमेकमेव वृत्तितत्त्वम् ।  
य नाम प्रबन्धेषु व्यापाराभिराशब्धिताः कोऽप्येकाकी कविको वाचिको मावसो वा  
व्यापारो हस्यते । काविकवा हि व्यापृतयो मानसैर्वाचिकैश्च व्यापारैः समिधन्ते । सप्तो-  
निकर्तितमवप्रत्यर्थ विना रज्जुस्य काव्यव्यापारपरिस्पन्धस्याभावत् । वाचिकयो मात-  
स्वस्य कवपरिस्पन्धादिनाभाविम्य एव तावदाविष्वापाराभावे वचनानुच्चारणान् प्रामा-  
दिरूपकपरिस्पन्धाभावे मनोवृत्तनुपकणनाथ । ‘मनःशून्यस्य व्यापारः काविको वाचिको  
वाऽऽरज्यकवाचिकमयभीय एव । किन्तुपञ्चद्वि च हास्याप्यं वृद्धिपूर्वकमेव विस्तरमुक्तं वि-  
हते । अतः संकीर्णत्वोऽप्यंशमाशान्यापेक्षया वृत्तयमतथाः । नाट्यस्याभिनेयकाध्यस्व-  
मातर इव मातरः । आश्या हि वणधीयत्वेन कविद्वये व्यवसिञ्चताभ्याः काव्यशून्यमते ।  
‘नाट्य’ इति च प्रस्तापापक्य । तैवानभिनेयैरपि काव्ये वृत्तयो मवमयं । न हि व्यापार-  
शून्यं किञ्चिद् वर्तनीयमस्ति । रज्जुमत्तरं च नाट्यमिति रज्जुस्य व्यापारशून्यत्वेनावृत्ति-  
त्वेऽपि च कश्चिद् वाच्यः । मूर्च्छांती तु व्यापाराभावेन वृत्तमाशेऽपि न नाट्यस्य वृत्तिमय-  
त्वहानिः, बाहुल्यापेक्षया वृत्तिमयत्वस्याभिमतत्वाद्दिति ॥ (नाट्यदर्शन १६५ विवेक)

अर्थात् क्या अभिनेय और क्या अनाभिनेय—दोनों प्रकार के प्रवर्णों की जननी 'वृत्ति' ही है। जब कि वरि हस्य में वर्ण्य वरित का सन्तुर्न सक्रिय अवहित प्रतियोगिता हो जाता है तभी वाक्य की उत्पत्ति होती है अथवा नहीं। वर्ण्य वरित के सन्तुर्न सक्रिय अवहित और वाक्य की वृत्ति में निम्न-प्रतिविम्ब मात्र का सम्बन्ध रहा करता है। वार वृत्ति में वाक्यापार में वर्ण्य वरित का ही निरूपण दिया जाता करता है। जैसा अविरत एक अक्षरिण्य मय है किन्तु रसका यह अविवार नहीं कि रसका निरूपण य दिया जाय। वृत्तिरस एक है किन्तु निरूपण वृत्ति में

( १—कैशिकी वृत्ति )

तत्र कैशिकी—

या श्लक्ष्णनेपथ्यविशेषचित्रा स्त्रीसंकुला पुष्कलनृत्यगीता ।

कामोपभोगप्रभवोपचारा सा कैशिकी चारुविलासयुक्ता ॥ १२४ ॥

( कैशिकी के अङ्ग : १—नर्म )

नर्म च नर्मस्फूर्जो नर्मस्फोटोऽथ नर्मगर्मश्च ।

चत्वार्यङ्गान्यस्या—

तत्र—

—वैदग्ध्यक्रीडितं नर्म ॥ १२५ ॥

इष्टजनावर्जनकृत्तच्चापि त्रिविधं मतम् ।

विहितं शुद्धहास्येन सशृङ्गारभयेन च ॥ १२६ ॥

तत्र केवलहास्येन विहितं यथा रत्नावल्याम्—

अनुवाद—‘कैशिकी’ वह वृत्ति है जिसमें नानाविध मनोरम वेशभूषण की शोभा रहा करती है, जो रमणी-पात्र के बाहुल्य से विचित्र लगा करती है, जिसके लिये बहु-विध नृत्य, गीत आदि की योजना आवश्यक है, जिसमें कामोपभोग अथवा रतिसुख से सबद्ध बहुविध व्यापारों का प्राधान्य रहा करता है और जो सुन्दर हाव-भावादि से समन्वित हुआ करती है ।

विमर्श—‘कैशिकी’ पद की यह व्युत्पत्ति है—

‘अतिशायिन केशा सन्त्यासामिति कैशिका स्त्रिय ‘स्तनकेशवतीत्वं हि स्त्रीणां लक्ष-णमि’ति तत्प्रधानत्वात् तासामिय कैशिकी ।’

और इस व्युत्पत्ति से ही यह सिद्ध है कि इस वृत्ति में स्त्रीबाहुल्य, नेपथ्यवैचित्र्य, काम-व्यवहार तथा संगीतप्राचुर्य स्वभावतः रहा करते हैं । इस वृत्ति का सम्बन्ध शृङ्गार रस से है और विलासमय हास-परिहास से भी । तात्पर्य यह है कि जहाँ कहीं भी लालित्य और माधुर्य हो वह सब कैशिकी का ही क्षेत्र है । ‘सगीतरत्नाकर’कार शाङ्गदेव ने इसीलिये कहा है—

‘वागङ्गाभरणानां या सौकुमार्येण निर्मिता ।

उल्लसद्गीतनृत्ताढ्या शृङ्गाररसनिर्भरा ॥

नि शङ्क कैशिकीं ब्रूते तां सौन्दर्यकजीविताम् ।’

अनुवाद—‘कैशिकी’ के ये चार भेद हैं—( १ ) नर्म, ( २ ) नर्मस्फूर्ज, ( ३ ) नर्मस्फोट और ( ४ ) नर्मगर्म ।

इन चारों में ‘नर्म’ वह है जिसे प्रियजन का मनोरञ्जक, बहुविध क्रीडाविलास कहा गया है । इसमें भी तीन विशेषतायें देखी जाती हैं—१ ली, केवल हास-परिहासमय लीला, २ री, शृङ्गारगर्म हास्यलीला और ३ री, मयमिश्रित हासलीला ।

पहली विशेषता से विशिष्ट अर्थात् शुद्ध हास्यपूर्वक क्रीडाविलास का उदाहरण ‘रत्नावली’ का यह प्रसङ्ग है—

‘वासवदत्ता—( फलकमुद्दिश्य सहासम् ) एसा भि व्यसरा सय समीपे  
अभालिहिदा एवं किं अज्यसन्तस्तु विष्णाप्यम्’ [ एषाज्यपरा तव समीपे बभा  
भिलिता पृतम् किमार्थवसन्तकस्व विज्ञावम् । ]

समृद्धारहास्येन यथा शाकुन्तले राजानं प्रथि—

‘शकुन्तला—असंगुहो सण किं करिस्सवि [ असंगुहः पुनः किं करिष्यति ] ।

राजा—इवम् । ( इति व्यथसितं शाकुन्तलापकर्त्र ढीकते )

समयहास्येन संभा रत्नावल्याम्, आलेख्यदर्शनावसरे ।

‘सुसंगता—आणियो मए एसो सुतन्तो समं चित्तफलएण । ता ईषीए  
गहुअ निवेदइस्सम्’ [ शातो मया एष वृष्टान्तः, समं चित्तफलकेण । तद्वदेवै गता  
निवेदयिष्यामि । ]

एतद्व्यस्यसम्बन्धि नर्मोवाहृतम् । एवं वेपथेष्टासम्बन्धमपि ।

( १—नर्मस्फूर्ज )

नर्मस्फूर्जः सुखारम्भो भयान्तो नवसंगमः ।

यथा मालविकाया सङ्केतनायकमभिसूतायाम्

‘वासवदत्ता—( चित्रकूटक देवकर हूँसी के साथ ) यह जो तुम्हारे पास लगी  
चित्रित की गयी है क्या यह भी कार्य वसन्तक की चित्रकारी है ?’

कुमारी विद्योपता बाबे अर्थात् अजयसम्भिन्न प्रीतिविकास का उदाहरण ‘अभिज्ञान-  
शाकुन्तल’ का यह प्रसङ्ग रहा—

‘शकुन्तला ( हुप्यन्त स )—

यदि यह मनुकर असंगुह रहा तो क्या कर लेगा ?

राजा—यह कर लेगा । ( कहकर तुम्हण से शकुन्तला का मुँह छक रहा है ) ।

तिसरी विद्योपता बाबे अर्थात् अजयसम्भिन्न प्रीतिविकास का उदाहरण ‘रत्नावली’ का  
यह प्रसङ्ग है—

‘सुसंगता—( चित्र बैल सेने पर ) मुझे यह सब और यह चित्र सब कुछ पता चक  
गया है । अब मैं महारानी को आकर बताती हूँ ।’

ये उपयुक्त उदाहरण तो वाच्यसम्बन्ध नर्म के उदाहरण रह । इसी भाँति वचसम्बन्ध  
अथवा वैज्ञान्यसम्बन्ध ‘नर्म’ के भी निर्वाण वैसे का सकते हैं ।

विमर्श—भारतमुनि ने ‘नर्म’ का यह लक्षण दिया है—

‘आरम्भपितृव्यादौ विद्वत्करणं विद्वत्वीररमम् ।

दास्त्वप्रवचनशुद्धौ नर्मो त्रिविधं विज्ञावीजान् ॥

ईप्साव्येधप्रार्थं सोपाष्टमकरगानुविद्वज्ज ।

अज्ञप्रोपचयहर्तुं सविमलमर्थं हर्तुं नर्म ॥ ( वाचस्पत्यः १ ५७ c )

अनुवाद—‘नर्मस्फूर्ज’ यह कैसाही श्रेष्ठ है जिसे प्रेमी-प्रेमिका का ऐसा अज-संगम  
रहा गया है या कि आरम्भ में आनन्दवाचक और अन्त में ( प्रीतिविकासक कारण )  
अथ वा अन्तक हुआ करता है ।

इसके निर्वाण-रूप में ‘मालविकाग्निमित्र’ का यह प्रसङ्ग देगा या ताकता है—

‘नायकः—

विस्तृज सुन्दरि ! सङ्गमसाध्वसं ननु चिरात्प्रभृति प्रणयोन्मुखे ।

परिगृहाण गते सहकारतां त्वमतिमुक्तलताचरित मयि ॥

मालविका—भट्टा, देवीए भएण अप्पणो वि पिअ कडं ण पारेमि’ ( भर्तः !  
देव्या भयेन आत्मनोऽपि प्रियं कर्तुं न पारयामि ) इत्यादि ।

( ३—नर्मस्फोट )

अथ नर्मस्फोटः—

नर्मस्फोटो भावलेखः सूचिताल्परसो मतः । १२७ ॥

यथा मालतीमाधवे—

‘गमनमलसं शून्या दृष्टिः शरीरमसौष्ठवं

श्वसितमधिक किन्त्वेतत् स्यात् किमन्यदितोऽथवा ।

भ्रमति भुवने कन्दर्पाज्ञा विकारि च यौवनं

ललितमधुरास्ते ते भावाः क्षिपन्ति च धीरताम् ॥’

‘नायक ( सकेतस्थान पर अभिसारिणी मालविका से मिलने पर )—

प्रिये ! इस प्रेम-मिलन में तुझे भय क्यों हो ? मैं तो पता नहीं कब से तेरे प्रेम का पुजारी हो गया हूँ । तुझे तो, जैसे माधवी लता सहकार-पादप से मिले, वैसे ही मुझसे मिल जाना चाहिये ।

मालविका—प्रियतम ! मैं क्या करूँ ! महारानी का डर मुझे ऐसा लगा है कि मैं अपनी यह कामना भी पूरी नहीं कर सकती ।’

विमर्श—कैशिकी का यह द्वितीय भेद नाट्यशास्त्र में ‘नर्मस्फुज’ नाम से कहा गया है ।  
‘नर्मस्फुज’ की परिभाषा यह है—

‘नवसङ्गमसमो गोरतिसमुदयवेषवाक्यसंयुक्तः ।

ज्ञेयो नर्मस्फुजो ह्यवसानभयात्मकश्चैव ॥’ ( नाट्यशास्त्र . २०.५९ )

अभिनवभारतीकार की यह ‘नर्मस्फुज’ व्युत्पत्ति—

‘नर्मणः स्फुजो विघ्न इति’

भी इस कैशिकीविशेष का नाम ‘नर्मस्फुज’ ही प्रमाणित करती है ।

दशरूपककार के अनुसार इसका नाम ‘नर्मस्फिज’ है—

‘नर्मस्फिजो सुखारम्भो मयान्तो नवसगमे ।’ ( दशरूपक २.५१ )

अनुवाद—‘नर्मस्फोट’ वह कैशिकी-भेद है जिसे ( भय, हास, हर्ष, त्रास, रोष आदि ) विविध भावलेखों से किञ्चिन्मात्र अभिव्यक्त प्रेमी-प्रेमिका के रतिभाव का वैचित्र्य कहा गया है ।

इसका उदाहरण ‘मालतीमाधव’ का यह प्रसङ्ग है—

‘मकरन्द—माधव को यह सब क्या हो रहा है—चाल में आलस, दृष्टि की शून्यता, शरीर की ग्लानि, श्वास का बाहुल्य, पता नहीं क्या रोग है ! यह सब रोग नहीं, वस मालती के प्रेम का प्रभाव है । ससार में काम का शासन अक्षुण्ण है, यौवन में चित्त को कौन सभाल सकता है और सौन्दर्य और माधुर्य तो सदा हृदय को उद्वेलित करने के लिये ही उत्पन्न हुये हैं ।’

अससगमनादिभिर्भाष्येणैर्भाष्यस्य मालत्यामनुरागः स्तोकः प्रकाशितः ।

(४—नर्मगर्भं)

नर्मगर्भोऽप्यवदतिर्नेतुः प्रच्छन्नवर्तिनः ।

अथा—

सत्रैव सस्त्रीरूपधारिणा माधवेन मालत्या मरणव्यवसायधारणम् ।

(२—सात्वती वृत्तिः अङ्गवस्तुष्वेव : स्वरूपभिरुपणः)

अथ सात्वती—

सात्वती बहुला सत्त्व-शौर्यस्यागदयार्जवैः ॥ १२८ ॥

सहर्षा क्षुद्रभृङ्गारा विधोका सावृक्षता तथा ।

उत्थापकोऽयं सांघात्यः संलापः परिवर्त्तकः ॥ १२९ ॥

विधेया इति वरशारः सात्वत्याः परिकीर्तिताः ।

उत्तेजनकरो क्षत्रोर्वागुत्थापक उच्यते ॥ १३० ॥

यहाँ यह स्पष्ट है कि सात्वती मालास आदि माधवेसों से सात्वती के प्रति माधव का प्रेम का झुझ-झुझ प्रकाशक व्यवहार हो रहा है ।

विमर्श—यह साहित्यदर्पणकार के स्वरूपक का ही अर्थवा अनुसरण किया है । माधवाचार्य मरणवृत्ति का यह नर्मस्फोट-कथन ही सभी नाट्यशास्त्रकारों की नर्मस्फोट-परिभाषा का आधार है—

‘विधिवानां भाषाणां कर्त्तव्यैर्भूमिती बहुविधेषु’ ।

असमप्राविष्टरसो नर्मस्फोटस्तु विज्ञेयः ॥ (नाट्यशास्त्र : २९)

अनुवाद—नर्मगर्भं कैसिकी का वह अर्थ है जिसे क्षुद्रभृङ्गधारी प्रेमी का, प्रेमिका के साथ प्रेमव्यवहार कहा गया है ।

इसका उदाहरण ‘मालतीमाधव’ का वह प्रसङ्ग है जहाँ माधव सात्वती की सत्ती के रूप में सात्वती को उसके मरण-विषय से डिगाने की सफल चेष्टा करता है ।

विमर्श—नाट्यशास्त्र में ‘नर्मगर्भं’ की वह परिभाषा है—

‘विज्ञावरूपसोभाषनादिभिर्भाष्यको गुणैर्वचः ।

प्रच्छन्नं व्यवहरते कर्त्तव्यसाधर्मगर्भाभ्यो ॥ (नाट्यशास्त्र १९१)

अभिनेतारोक्तार की वह ‘नर्मगर्भं’ व्युत्पत्ति भी इसका अभिप्राय स्पष्ट कर देती है—

‘नर्मोपयोमिना विज्ञानाया नर्मोद्धृता इव प्रच्छन्नतया यथेति यथा प्रसन्नरूपो भावकः संकतस्थानं गच्छति ।’

अनुवाद—सात्वती वृत्ति—

‘सात्वती’ वह वृत्ति है जिसमें सत्त्व शीर्ष त्वाग वृषा भीरु वार्जव आदि का प्रकाश हुआ करता है । इसमें प्रसन्नता की प्राप्ति स्वाभाविक है । इसमें गद्गार का भी पुट रहता है । कठम का इसके साथ कोई सम्बन्ध नहीं । इसमें अनुत्तर रस के प्रकाशन का अनुत्तर सामर्थ्य है । इसके ये चार अंगविशेष हैं—(१) उत्थापक, (२) सांघात्य (३) सकाश भीर (४) परिवर्त्तक । इन चारों अंगों में (१) ‘उत्थापक’ का अभिप्राय परपक्ष को उत्तेजित करनेवाली बातों का अभिप्राय है ।

यथा महावीरचरिते—

‘आनन्दाय च विस्मयाय च मया दृष्टोऽसि दुःखाय वा  
वैतृण्यन्तु ममापि सम्प्रति कुतस्त्वदर्शने चक्षुषः ।  
त्वत्साङ्गत्यसुखस्य नाऽस्मि विषयस्तत् किं वृथा व्याहृतै ?  
अस्मिन् विश्रुतजामदग्न्यदमने पाणौ धनुर्जृम्भताम् ॥’  
मन्त्रार्थद्वैवशक्त्यादेः सांघात्यः सङ्घभेदनम् ।

मन्त्रशक्त्या यथा—मुद्राराक्षसे राक्षससहायाना चाणक्येन स्वबुद्ध्या  
भेदनम् । अर्थशक्त्यापि तत्रैव ।

द्वैवशक्त्या यथा—रामायणे रावणाद्विभीषणस्य भेदः ।

संलापः स्याद्गभीरोक्तिर्नानाभावसमाश्रयः ॥ १३१ ॥

यथा वीरचरिते—

‘रामः—अयं स, य. किल सपरिवारकार्तिकेयविजयावर्जितेन भगवता  
नीललोहितेन परिवत्सरसहस्रान्तेवासिने तुभ्य प्रसादीकृत. परशु’ ।

परशुरामः—राम दाशरथे । स एवायमार्यपादानां प्रिय परशु ।’ इत्यादि ।

जैसे कि ‘महावीरचरित’ की इस उक्ति अर्थात्—

‘तुम मेरी आँखों के सामने आये—मुझे आनन्द देने के लिये, आश्चर्यचकित करने के लिये और दुःख भी देने के लिये । तुम्हें देखते भला मेरी आँखों में वृत्ति कहाँ ? मैं तुम्हारा शत्रु ठहरा, मेरा और तुम्हारा सग-साथ कहाँ और सग-साथ का आनन्द भी कहाँ । व्यर्थ अब मैं कुछ नहीं कहता, बस अपने हाथ में धनुष पकड़ो, मैं भी देखूँ कि महावीर परशु-राम के विजेता के हाथ में कितना दम है ।’

मैं, जो नाट्यात्मक वैशिष्ट्य है वह सात्वती वृत्ति के ‘उत्थापक’ रूपअंश का ही वैशिष्ट्य है ।

( २ ) अर्थात् ‘सांघात्य’ का अभिप्राय मन्त्रशक्ति, अर्थशक्ति, द्वैवशक्ति आदि-आदि शक्तियों द्वारा सघ-भेदन का अभिप्राय है । जैसे कि ( महाकवि विशाखदत्त रचित ) ‘मुद्राराक्षस’ में, चाणक्य की राजनीति के दौवपेंच से, राक्षस के सहायकों में फूट पैदा करने का वर्णन, ‘मन्त्रशक्तिकृत’ सांघात्य की ही योजना है । अर्थशक्तिकृत ‘सांघात्य’ भी मुद्राराक्षस में ही यत्र-तत्र स्पष्ट है । द्वैवशक्तिकृत ‘सांघात्य’ का उदाहरण रामायण-कथाश्रित नाटकों में रावण और विभीषण के पारस्परिक भेद का प्रकाशन है ।

( ३ ) अर्थात् ‘संलाप’ ऐसी गभीर उक्ति को कहते हैं जिसमें विविध भावों के प्रकाशन का सामर्थ्य रहा करता है । जैसे कि ‘महावीरचरित’ के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

‘राम—ओह ! क्या यही वह परशु है जिसे कुमार कार्तिकेय और उनके सहायकों पर आपकी विजय से प्रसन्नहृदय भगवान् शङ्कर ने, सहस्रों वर्षों तक धनुर्वेद का अभ्यास करनेवाले आप जैसे अपने शिष्य को, पुरस्कार रूप में दिया है ?

परशुराम—राम ! तुमने ठीक कहा, हमारे पूज्य आचार्य शङ्कर का यही वह प्रिय परशु है ।’

इत्यादि में, जो वृत्ति है वह ‘संलाप’रूप सात्वती वृत्ति ही है ।

## प्रारब्धादन्यकार्याणां करणं परिवर्तकः ।

यथा पेण्याम्—

‘मीमा—सहदेव ! गच्छ त्वं गुरुमनुवत्स्य । अहमप्यस्नागारं प्रविरचामुच  
सहायो भवामीति यावत् । अथवा आमन्त्रयितव्यैव मया पाश्चात्सी ।’ इति ।

और (४) अर्थात् ‘परिवर्तक’ वह सात्वती प्रकार है जिसे प्रस्तुत कार्य से मित्र  
प्रकार के कर्मों में उत्पत्ति का प्रकाशन कहा करते हैं । जैसे कि ‘वर्षासंहार’ क इस  
प्रसङ्ग अर्थात्—

‘मीमा—सहदेव ! जानो तुम पुषिष्ठिर का साथ दो । मैं भी तब तक अस्नानार्थ  
चलता हूँ और अन्न लेकर आता हूँ । और मुझे शीपही से भी लो बिना लेनी है ।

अग्नि में जो वृत्ति-योजना है वह सात्वती-वृत्ति के ‘परिवर्तक’ रूप प्रकार की ही योजना है ।

विमर्श—(क) सात्वती वृत्ति का सर्वप्रथम अतिमात्र अनुकार्य पुरुषों के विविध मानसिक  
व्यापार का अतिमात्र है । साथ ही साथ आदिक, वाचिक और शारीरिक अतिमात्र से कुछ  
अनुकर्तृत्व (नष्ट) के भी मानसिक-व्यवहार का नाम सात्वती वृत्ति ही है । मात्वीय  
वृत्तियों के मात्वीय व्यापार मित्र-मित्र प्रकारों से प्रकाशित हुआ करते हैं । कहीं विविध स्मृति  
पक्षि-मात्वीय (संज्ञा) द्वारा कहीं एक कार्य के करते हुये कार्यन्तर के प्रति उत्पत्ति (परिवर्तक)  
द्वारा कहीं परपक्ष से वृत्तेज्या की उत्पत्ति (उत्पादक) के द्वारा और कहीं मोक्ष के द्वैतत्व से  
परपक्ष-भेद (साक्षात्) के द्वारा अनुकार्य वृत्तियों का जो भी व्यापार-व्यवहार है वह सब एक  
सम्बन्ध में ‘सात्वती वृत्ति’ कहा जाता है (हर्ष का भावार्थ कर्म विविधामिदंस्मिन्निदं  
प्रारब्धकर्मपरित्याग्य कार्यन्तरपरिग्रह्य संभ्राम्य परोत्साहनेन सम्प्रविप्रयोपै  
वर्द्धिता अरिसंज्ञातमेवजमनेवाभ्यैव बहुभिः प्रकारैर्लक्ष्यते इति—नाट्यदर्पण इव दिव्य) ।  
बहुधा जो ‘सात्वती वृत्ति’ के प्रकार-परिणाम की ओर आकर्षकता नहीं क्योंकि मानसिक  
कार्य-व्यवहार की गणना अर्थात् है, किन्तु वाक्यों में निरक्ष वृत्तियों के मानस-व्यापार का विशेषण  
करते हुए अतिप्रथम नामाधारी ने अतिप्रथम मानस-व्यापारों को सात्वती के मेह-बहुवचन के रूप में  
मान किया है । साहित्यदर्पणकार भी इन्हीं नामाधारी के अनुयायी हैं ।

(ख) नामाधारी वरतमुनि ने सात्वती वृत्ति का वह स्वकल्प-निष्पन्न किया है—

‘या सात्वतैनेह शृण्वेव बुद्ध्या न्यायेन वृत्तेन सम्भविता च ।

हर्षोक्त्या संवृत्तसोक्तमात्रा सा सात्वती नाम भवेत्तु वृत्ति ॥

वसाङ्गप्रमिषयवती सत्त्वोत्थानवचनप्रकरणीयु ।

सत्त्वाधिकारबुद्ध्या विज्ञेया सात्वती वृत्ति ॥

वीरजसुतरीवरसा विरस्तम्भासकल्पविधेया ।

उद्धतपुरुषमात्रा परस्परार्थार्थानुता च ॥

‘उत्पादक्य परिवर्तक्य संकटापक्य सत्त्वता ।

सत्त्वतोऽस्याः भेदा विज्ञेया सात्वतवर्गी ॥

अहमप्युत्पत्त्यामि त्वं तावदर्होपात्मनः शक्तिम् ।

इति सर्वसंस्तुत्यस्तस्यैवत्पापक्यं ज्ञेयम् ॥

सत्त्वानसमारब्धावर्णानुत्पत्त्य बोधार्थयोगवत्सम् ।

अन्मानमार्गं बुद्धौ स चापि परिवर्तको ज्ञेयः ॥

सावर्ण्यो निरावर्ण्योऽपि वा शमयवचसंयुक्तः ।

साधिचेपालापो ज्ञेय. सँल्लापक. सोऽपि ॥  
मन्त्रार्थवाक्यशक्त्या दैववशादात्मदोषयोगाद्वा ।  
सघातभेदजननस्तज्ज्ञैः सघात्यको ज्ञेय. ॥'

( नाट्यशास्त्र २०. ४१-५० )

जिससे यह पता चलता है कि 'सात्त्वती वृत्ति' का सम्बन्ध सात्त्विकाभिनय से है और इसमें वीर, रौद्र और अद्भुत रसों के अभिव्यञ्जन की शक्ति निहित है । धर्मयुद्ध के प्रेमी वीर पुरुषों का मनोव्यापार यदि 'सात्त्वती' की कल्पना का मूल है तो कूटयुद्ध के धनी योद्धा लोगों का मानस-व्यापार 'आरम्भदी' की कल्पना का मूल है । 'धीरोदात्त' नायक के मानसिक व्यापार का विश्लेषण यदि 'सात्त्वती' के रूप में किया जा सकता है तो 'धीरोद्धत' नायक का मनोव्यापार-विश्लेषण 'आरम्भदी' के रूप में ।

'सात्त्वती' का सम्बन्ध शृंगार, करुण और निर्वेद से नहीं है क्योंकि वैसे तो रति, शोक और निर्वेद से आविष्ट लोगों में भी मनोव्यापार अवश्य हुआ करता है किन्तु इन भावों के आवेश में मन का व्यापार उतना उन्मुक्त और स्फूर्तिशील नहीं हुआ करता जितना कि उत्साह, क्रोध और विस्मय के भावों के आवेश में । 'शृङ्गार' में मन भोगविषयों में निमग्न रहा करता है, 'करुण' में मन भोग विषयों से दूर भागना चाहता है और निर्वेद में मन किंकर्तव्य-विमूढ़ पड़ा रहता है । उत्साहशील, क्रुद्ध किंवा विस्मयस्तिमित व्यक्ति के मन की स्फूर्ति कुछ विचित्र ही हुआ करती है । जहाँ कहीं कवि अथवा नाटककार अपनी काव्य अथवा नाट्यकृतिश्रों में उत्साहाविष्ट, क्रोधाक्षिप्त किंवा विस्मयाविद्ध चरित का चित्रण करता है वहाँ 'सात्त्वती वृत्ति' की ही रूपरेखा निर्मित होती है ।

सात्त्वती वृत्ति के प्रथम प्रकार का 'उत्थापक' नाम सर्वथा सार्थक है क्योंकि उत्साह, क्रोध अथवा विस्मय के भावों का प्रथम परिस्पन्द मन को अधिक से अधिक ऊपर उठाता है । दवे मन का उत्साह क्या और क्रोध क्या और विस्मय भी क्या ? 'वेणोत्सहार' में भीम के मनोव्यापार की जो रूपरेखा इस सूक्ति अर्थात्—

‘स्पृष्टा येन शिरोरुहेषु पशुना पाञ्चालराजात्मजा  
येनास्याः परिधानमप्यपहत राज्ञा कुरुणां पुर ।  
यस्योर स्थलशोणितासवमह पातुं प्रतिज्ञातवान्  
सोऽय मद्भुजपञ्जरे निपतित सरक्ष्यता कौरवा ॥’

में खिंची है उसमें सात्त्वती के 'उत्थापक' प्रकार का ही चित्र शल्लक रहा है ।

क्रोध के आवेश में उठा मन जिधर चाहे उधर चल पड़ता है, एक कार्य को छोड़कर दूसरे कार्य में समर्थ हो सकता है । उत्साह और विस्मय से आविष्ट मन की भी यही बात है । इस परिस्थिति में मन के व्यापार को 'परिवर्तक' कहना उचित ही है ।

मन की यह उठान और पटक परस्पर अधिक्षेपपूर्ण वचनों में और भी अधिक प्रकाशित होती है और यही 'सँल्लापक' की रूपरेखा है । केवल अधिक्षेपपूर्ण वचन से ही 'सत्त्व' का पूर्ण प्रकाश नहीं हो जाता । उत्साह और क्रोध के आवेश में पक्ष और प्रतिपक्ष एक दूसरे को दवाने के लिये तरह-तरह का चालें सोचने और चलने में लग जाते हैं । यहाँ मन का व्यापार बड़ा व्यापक और स्फूर्तिमय हो उठता है । इसके नामकरण के लिये 'सघात्य' शब्द का प्रयोग किया जाया करता है जोकि सात्त्वती के एक प्रकारविशेष का नाम है ।

( ग ) भरतनाट्यशास्त्र और अभिनवभारती के इस 'सात्त्वती' विश्लेषण को बाद के नाट्याचार्यों ने, परम्परा-रक्षण के ही रूप में, अपने-अपने ढंग से अपने-अपने ग्रन्थों में उपनिबद्ध



(३—आरमटीवृत्ति : साङ्गोपाङ्गवर्णन)

अभारमटी—

मायेन्द्रजालसग्रामक्रोधोद्भ्रान्तादिचेष्टितैः ॥ १३२ ॥

संयुक्ता वचनन्धाद्यैरुद्धतारमटी मता ।

वस्तुत्यापनसफेदा सखिसिरषपातनम् ॥ १३३ ॥

इति भेदास्तु चत्वार आरमटयाः प्रकीर्तिताः ।

मायाद्युत्यापित वस्तु वस्तुत्यापनमुच्यते ॥ १३४ ॥

यथोदाहरणम्—

‘जीयन्ते अयिनोऽपि सान्प्रतिमिरप्रातैर्विषयव्यापिमि  
मोस्त्वन्त’ सकला रघोरपि कथ कस्मादकस्मादमी ।

एते चोमकबन्धकण्ठरुधिरैराभ्यायमानोवरा

मुञ्चन्त्याननकंवरानसमुच्चस्तीक्ष्णान् रवान् फेरवा ॥’ इत्यादि ।

सम्फेदस्तु समाधातः क्रुद्धसत्वरयोर्द्वयोः ।

यथा साक्षत्वां माधवाघोरपष्टयो ।

क्रिया है। ‘वस्तुत्यापन’ ‘परिवर्तक’ ‘संस्कारक’ और ‘संघातक’ को कि ‘निजुद्ध’ अथवा ‘मस्त्वन्त’ में प्रतिस्पर्धी शोकात्मों के बल-बलन और मन के छिम्पिछिन्पि व्यापारों के विविध नामरूप हैं। नामरूपाख में ‘सारवती’ वृत्ति के ‘प्रकारणशुद्ध’ को वारिमाणिक्य में स्वीकार मिले वही है। अङ्ग और वचन का सहयोग होने पर भी मन के व्यापारों का बाहुल्य ‘साधनी’ की संज्ञा का कारण है।

अनुवाद—आरमटी वृत्ति—आरमटी वह वृत्ति है जिसे माया इन्द्रजाल, संग्राम, क्रोध, क्रमैर्द आदि-आदि के व्यापारों में प्रबल मन का कर्मककाप कहा जाया करता है। सत्रु क वय भयका वचन आदि इसी वृत्ति क बाह्य रूप हैं। इसका भीद्वन्द्व के साथ भट्टक सम्बन्ध है। इसके चार मंत्र हैं—(१) वस्तुत्यापन (२) सफेद, (३) संक्षिप्त और (४) अवपत्तन। इन चारों में से (१) अर्थात् ‘वस्तुत्यापन’ वह है जिसे माया आदि क द्वारा बलु का उद्योगन अथवा प्रकटन कहा जाया करता है।

उदाहरण के लिए, ‘उदाहरणम्’ की इस सृष्टि अर्थात्—

‘आकाशमण्डल का आण्डुल करनेवाला घनघोर सततसन्धमूढ से अक्षरमान् इसा लगता है जैसे भगवान् मातरु के भी प्रबल अरणसमूह पराजित होते जा रह हैं और चारों ओर सबकर रूढ़-सुखों क रधिर-यान से करते थे प्रणीत होनवाक, पदों को कुम्पात और कन्दरोपम सुनीं से जाग की सी छपटें निकालते शृगालों ने पीचक चीकरा मचाना प्रारम्भ कर दिया है।

में जिस मनोव्यापार का प्रकाशन है उसमें आरमटी क ही ‘वस्तुत्यापन’ रूप प्रथम प्रकार का दान किया जा सकता है।

(२) अर्थात् ‘सफेद’ यह आरमटी-प्रकार है जिसमें क्रुद्ध और रघरातीत वच और विषय का परस्पर समाधात (प्रहार) कहा जाया करता है।

जस कि ‘माङ्गीमाधव’ में, माधव और ‘अपारपष्ट’ का का घात-प्रतिघात-वर्जक है वसने ‘सफेद’ की ही रूपरेखा दिनायी देनी है।

संक्षिप्ता वस्तुरचना शिल्परितरथापि वा ॥ १३५ ॥

संक्षिप्तिः स्थानिवृत्तौ च नेतुर्नेत्रन्तरग्रहः ।

यथोदयनचरिते कलिञ्जहस्तिप्रयोगः । द्वितीयं यथा वालिनिवृत्त्या सुग्रीवः ।  
यथा वा परशुरामस्यौद्धत्यनिवृत्त्या शान्तत्वापादनम्—‘पुण्या ब्राह्मणजातिः’—इति ।

प्रवेशत्रासनिष्क्रान्तिहर्षविद्रवसंभवम् ॥ १३६ ॥

अवपातनमित्युक्तं—

यथा कृत्यारावणे षष्ठेऽङ्के—‘( प्रविश्य खड्गहस्तः पुरुषः )’ इत्यतः प्रभृति  
निष्क्रमणपर्यन्तम् ।

( ३ ) अर्थात् ‘संक्षिप्ति’ वह आरम्भटी-भेद है जिसे कौशल द्वारा अथवा और किसी प्रकार से किसी वस्तुविशेष की संक्षिप्त रचना कहा गया है । साथ ही साथ एक नाटकीय चरित के स्थान पर दूसरे नाटकीय चरित ( अथवा किसी नाटकीय चरित के किसी एक वैशिष्ट्य के स्थान पर उसके दूसरे वैशिष्ट्य ) का परिवर्तन भी ‘संक्षिप्ति’ ही है ।

उदाहरण के लिए, वत्सराज उदयनके चरित से सम्बद्ध रूपक-प्रवन्धों में ‘कलिञ्ज-हस्तिप्रयोग’ ( लकड़ी के बने नकली हाथी से उदयन को वश में करने की घटना ) वस्तुतः ‘कौशल द्वारा उत्थापित वस्तुविशेष’ रूप संक्षिप्ति-प्रकार ही है । इसी भाँति, एक नाटकीय चरित के स्थान पर दूसरे नाटकीय चरित के परिवर्तन में जो ‘संक्षिप्ति’ सम्भव है उसका उदाहरण रामचरित से सम्बद्ध रूपक-प्रवन्धों ( जैसे कि ‘महावीरचरित’ ) में मृत वालि के स्थान पर सुग्रीव की स्थापना में देखा जा सकता है । इसी प्रकार किसी नाटकीय चरित के एक वैशिष्ट्य के स्थान पर उसके दूसरे वैशिष्ट्य के परिवर्तन में जो संक्षिप्ति-रूप हो सकता है वह भी, राम-सम्बन्धी रूपक-प्रवन्धों ( जैसे कि ‘महावीरचरित’ ) में ही, परशुराम के उद्धत स्वभाव के बदले उसके शान्त-सौम्य स्वभाव के परिवर्तन में, जिसे ‘पुण्या ब्राह्मणजाति’ आदि सूक्तिओं में स्पष्ट देखा जा सकता है, स्पष्ट प्रतीत हुआ करता है । और—

( ४ ) अर्थात् ‘अवपातन’ वह आरम्भटी-प्रकार है जिसे इतस्ततः यातायात, त्रास, हर्ष, विद्रव आदि-आदि का सम्मेलन कहा गया है ।

जैसे कि ‘कृत्यारावण’ के षष्ठ अंक में ‘एक खड्गधारी पुरुष के प्रवेश’ ( प्रविश्य खड्गहस्त पुरुष ) से लेकर उस खड्गधारी पुरुष के निष्क्रमण ( रंगमञ्च से चले जाने ) तक का जो प्रसंग है उसमें ‘अवपातन’ का ही स्वरूप परिलक्षित होता है ।

विमर्श—नाट्याचार्य भरतमुनि ने ‘आरम्भटी’ श्रुति की यह परिभाषा की है—

‘आरम्भटप्रायगुणा तथैव बहुकपटवञ्चनोपेता ।

दम्भानृतवचनवती स्वारम्भटी नाम विज्ञेया ॥

पुस्तावपातप्लुतलघितानि

स्वैद्यानि मायाकृतमिन्द्रजालम् ।

चित्राणि युद्धानि च यत्र निव्य

तां तादृशीमारम्भटीं वदन्ति ॥

पादगुण्यसमारब्धा इत्यसिम्भानविज्ञानोपेता ।  
 कामाकामार्यकृता विज्ञेया वृत्तिरारमटी च  
 संक्षिप्तिकावपाटी वस्तुत्पापममयापि संक्षेपः ।  
 पूरे इत्याम मेधा ॥  
 अन्वयसिद्धयुक्तो बहुपुस्तोत्थानचित्रनेपथ्याः ।  
 सविष्टवस्तुविषयो ज्ञेया संक्षिप्तका नाम ॥  
 अन्वयसमुत्पाद विज्ञचविनिपातसम्भवावरणम् ।  
 क्षिप्रमेवमिर्गमममपातमिमं विज्ञानीयात् ॥  
 सर्वरससमासकृत सविष्टवाविज्ञवाभर्ष वापि ।  
 नाट्यं विभाव्यते वस्तुवस्तुत्पापन ज्ञेयम् ॥  
 संरम्भसमयुक्तो बहुपुस्तमिदमप्युक्तनिर्भरः ।  
 सक्षमहारबहुका सम्भेदो नाम विज्ञेयाः ॥

(नाट्यशास्त्र १ ३४ ३१)

विज्ञेया अभिप्राय यह है—‘आरमटी’ वृत्ति ‘वस्तु’ शेषावेग आदि से संयुक्त वाचिक, वाचिक और सामासिक व्यापार-विशेष का नाम है। ‘आरमटी’ ऐसे शब्द को कहा करते हैं जो कि ‘आर’ अथवा ‘प्रत्यय’ (शब्दों के लक्ष्मण के अन्वय) के समान हिसन-समर्थ हो। वहाँ भी कथक-मन्त्रों में ऐसे ‘आरमटी’ हों वहाँ ‘आरमटी’ वृत्ति विराजमान रहा करती है। ‘आरमटी (शब्द) और वस्तु इन्हें वक्ष्या आदि-आदि के विच-विचित्र प्रकारों का सम्बन्ध सम्बन्ध है। इसमें ‘आरमटी’ में वस्तु, इन्द्र वक्ष्या आदि-आदि को अवैद्यनेक विधिवताओं का सम्बन्ध रहा करता है। ‘आरमटी वृत्ति के छान वाचिक, वाचिक, छात्रिक और भावार्थ—इन चारों में मनों का सम्बन्ध है। यह वृत्ति शब्द रसमात्रों से सम्बन्धित वृत्ति है—‘मन्त्रावली व भीमसे शैले आरमटी मन्त्र’। (नाट्यशास्त्र)

वचन चारों वृत्तों परस्पर संबन्धों वृत्तों हैं क्योंकि वाचिक, वाचिक और मानस व्यापारों का असंबन्ध विभाग असम्भव है किन्तु एक ही किसी व्यापार के विभिन्नान् मायात्म के कारण आरमटी चारों वाचिक विभाग क्रिये का उद्देश्य है। नाट्यशास्त्र मरुजुनि से इसीका कहा है—

‘न होकरसर्वं कार्यं निश्चिद्वृत्ति यवोगता ।  
 भावो वापि रसो वापि प्रवृत्तिर्हृषिके वा ॥  
 सर्वेषां सम्बन्धतायां कथं वरुण भवेद्बहु ।  
 स मन्त्रव्यो वक्षः स्थायी शेषाः सचारिणो मतम् ॥

(नाट्यशास्त्र १ ३२ २०-२८)

और इसीके वाचार्थे अभिनवप्रकाश का भी कहना है—

‘वस्तु इति चतुर्मेदत्वम् अन्वयसमवेदासमाधानविवक्षया । अपरथा अवैक्यव्यापार-सम्बन्धनेन वृत्तिरारमम् न नाम प्रबन्धेषु व्यापारात्तरासंबन्धिता कोऽव्येकाशी-वाचिको वाचिको मानसो वा व्यापारो कथ्यते ।

किन्तु चार के नाट्यशास्त्रों में वृत्ति-वचन के इस विषय के वरुण ‘वृत्तिवस्तु’ को वरमत्त का ही प्रबन्धन रिता है। साहित्यदर्पणकार ने भी ‘वृत्तों नाट्यशास्त्र’ को सम्भवा का ही ध्यान रखा है और इसी वृत्ति से ‘आरमटी’ और वस्तु के मन्त्रों का वक्षन-निरूपण जारी दिया है।

(४—भारती वृत्ति)

—पूर्वमुक्तैव भारती ।

( नाट्योक्ति-निर्देश )

अथ नाट्योक्तयः—

अश्राव्यं खलु यद्वस्तु तदिह स्वगतं मतम् ॥ १३७ ॥

सर्वश्राव्यं प्रकाशं स्यात्तद्भवेदपवारितम् ।

रहस्यं तु यदन्यस्य परावृत्य प्रकाश्यते ॥ १३८ ॥

त्रिपताककरेणान्यानपवार्यान्तरा कथाम् ।

अन्योन्यामन्त्रणं यत्स्यात्तज्जनान्ते जनान्तिकम् ॥ १३९ ॥

किं ब्रवीषीति यन्नाट्ये विना पात्रं प्रयुज्यते ।

श्रुत्वेवानुक्तमप्यर्थं तत्स्यादाकाशभाषितम् ॥ १४० ॥

यः कश्चिदर्थो यस्माद्गोपनीयस्तस्यान्तरत ऊर्ध्वं सर्वाङ्गुलिनाभितानामिकं त्रिपताकलक्षणं कर कृत्वान्येन सह यन्मन्त्र्यते तज्जनान्तिकम् । परावृत्यान्यस्य रहस्यकथनमपवारितम् । शेष स्पष्टम् ।

अनुवाद—‘वृत्तिचतुष्टय’ में भारती वृत्ति का जो स्वरूप है उसका निरूपण पहले ही ( अर्थात् स्थापना-निरूपण के प्रसङ्ग में ) कर दिया गया है ।

विमर्श—भारती वृत्ति और वाचिकाभिनय का अटूट सन्ध है । यह वृत्ति समस्त रूपक-भेदों और समस्त रस-भेदों की वृत्ति है । आचार्य रामचन्द्र ने स्पष्ट कहा है—

‘सर्वरूपकभाविस्वात्, रसानां च वागजन्यत्वात् सर्वरसात्मकत्वम् ‘भारतीरूपत्वात् न्यापारस्य भारतीति ।’ ( नाट्यदर्पण ३ य विवेक )

अनुवाद—नाट्योक्ति-निरूपण —

‘स्वगत’ का अभिप्राय ऐसे वचन से है जो किसी दूसरे को सुनाने के लिये न हो । (इसी को ‘आत्मगत’ भी कहा करते हैं) । ‘प्रकाश’ सभी के श्रवण-योग्य वचन का नाम है । ‘अपवारित’ उस वचन को कहते हैं जिसे किसी के प्रति गोपनीय समझकर, उससे अन्यत्र हटकर, दूसरे पर प्रकाशित किया जाता करता है । ‘जनान्तिक’ कई एक पात्रों के परस्पर वार्तालाप के प्रसङ्ग में, दो पात्रों के बीच होनेवाली वह बातचीत है जिसे वे ‘त्रिपताक’ नामक हस्त-मुद्रा द्वारा इसलिये किया करते हैं जिसमें और कोई उसे सुनने उनके पास न आना चाहे । ‘आकाशभाषित’ वह बातचीत है जो विना किसी और पात्र की उपस्थिति के, ‘क्यों भाई क्या कहा ?’ आदि कह-सुनकर, एक ही पात्र द्वारा, कही-सुनी जाया करती है । यहाँ ‘जनान्तिक’ का अभिप्राय यह है—

जब कोई पात्र किसी पात्र के प्रति कोई बात गोपनीय रखना चाहता है तब वह ऐसी हस्त-मुद्रा बनाया करता है जिसमें और सब अङ्गुलियाँ तो ऊपर उठी रहें और अनामिका झुकी रहे । यह हस्त-मुद्रा ‘त्रिपताक’-कर कही जाती है । इस प्रकार ‘त्रिपताक’ दिखा कर, एक को सुनने से मना करके, दूसरे को सुनायी गयी बात ‘जनान्तिक’ है । ‘अपवारित’ भी एक प्रकार की गोपनीय बातचीत ही है जिसे दो पात्र आपस में किया करते हैं

(नाटकपात्रों का नाम-निर्देश)

दक्षां सिद्धां च सेनां च-वेश्यानां नाम दर्शयेत् ।

दक्षप्रायाणि वणिजां चेन्मेष्योस्तथा पुनः ॥ १४१ ॥

वसन्तादिषु वण्यस्य वस्तुनो नाम यद्भवेत् ।

वेरया यथा वसन्तसेनादि । वणिग्विष्णुदत्तादि । चेट कलाहंसादि ।  
चेटी मन्दारिकादि ।और उस पात्र की ओर पीठ घेरकर किया करते हैं जिसे वे घुमाना नहीं चाहते ।  
'जनान्तिक' और 'अपवारित' के अतिरिक्त 'स्वगत', आदि नाट्योच्चाराँ तो स्वयं स्पष्ट हैं ।

विमर्श—नाटकशास्त्र में नाटकीय दृष्ट के चार मुख्य प्रकारों का निर्देश है । ये चार मुख्य प्रकार—'सूच्य' 'प्रयोग्य' 'अप्युक्त' और 'उपेक्ष्य' कहे जाते हैं । 'सूच्य' तो वह दृष्ट है जो दर्शक को सूचना देता है किन्तु नाटकीय दृष्टिदृष्ट के बिना उपकीर्ती भी रहा करता है । इसी के बिना 'विष्णु-मन्दार' आदि की घोषणा अपेक्षित होती है । 'प्रयोग्य' वह दृष्ट है जो रसक को सूचना देता है और अभिनव-वस्तुद्वारा सामान्यिकों के साक्षात्कार के बिना समर्पित किया जाया करता है । इन दोनों दृष्टों के साथ उल्लेख्य गमनागमनादिक दृष्ट 'व्यक्त' प्रकार का दृष्ट है । 'उपेक्ष्य' दृष्ट का अभिप्राय भगवन्-स्नान-पुष्पादि से सम्बद्ध दृष्ट है जो मनुष्योपकीर्ती के बिना रसक होने के कारण रसक-प्रवृत्ति में वस्तु-वस्तु उपनिबद्ध किया जाया करता है । इन चार मुख्य दृष्ट-प्रकारों के अतिरिक्त 'प्रकाश' 'स्वगत' 'अपवारित' 'जनान्तिक' और 'नाट्यसमापित' भी रूपकप्रवृत्तियों के दृष्ट-भेद हो हैं । 'प्रकाश' वह दृष्ट-प्रकार है जो सर्वज्ञान को सूचना देता है । (यद्बहुतमगोप्यतयाऽप्ये-  
षामात्मम्यतिरिक्तानामपि ज्ञाप्यं तत् प्रकाशत इति प्रकाशम्) । 'स्वगत' वह दृष्ट-भेद है जो व्यक्तों के बिना श्रेयसीय माना जाया करता है । (यत् पुनरुत्पत्त्यां गोप्यतया स्वच्छेदेव स्थितं तत् स्वगतम्) । 'अपवारित' वह दृष्ट-प्रकार है जिसे एक किन्ती के बिना श्रेयसीय रसक वस्तु कहा जाया करता है (पराहृत्य अप्युक्तमेवावधारितव्येभ्यः पराहृत्योत्तमोपयाम्यस्मै रह स्यात्वा वा तद्वपचार्यत यद्गतां प्रकाशत इत्यपवारितम्) । 'जनान्तिक' भी एक दृष्ट-भेद हो है (विपताकान्तरोऽप्येव ज्ञेया परगजगन्मित्रिकम् उर्ध्वमर्षाङ्गुलिर्बकानामिन्द्र करमिन्द्र-  
ताका सांस्तरमभाष्यं प्रति ध्वनयाम वन्न, अन्त्येन सह ज्ञेयो जगन्नामकेकस्यैव गोप्यतया वहुनामस्तिकं धाम्यतया मिहर्षं जनान्तिकम्) । इसी भाँति 'नाट्यसमापित' भी एक पात्र का हो परग-प्रतिपत्तिरूप दृष्ट है (कश्चित् श्रेयसार्थमनुभाषणमप्युक्तया परकीया प्रवृत्ति, कश्चित् श्रेयप्रवृत्त्यानुभाषणमप्युक्तया परकीयमुत्तरम्) ।

अनुवाद—रूपक-प्रवृत्तियों में नायिका या उपनायिका रूप में उपनिबद्ध नायिका का नाम पूजा रचना आदि जिसके अन्त में 'दक्षा' 'सिद्धा' या 'सेना' पद अवसर आये । इसी प्रकार वणिज्जन के नामकरण के अन्त में वह पुनः वणिज्जन के अन्त में 'दक्षा' पद अवसर आये । 'चेट' और 'चेटी' के नाम पूजे होने जाँच जाँच कि वसन्त आदि शब्दों में दर्शनीय वस्तुओं के वाचक पद हैं ।

वैयस कि, 'वेरया' का नाम 'वसन्तसेना' आदि वणिज्जन का नाम 'विष्णुदत्त' आदि चेट का नाम 'कलाहंसा' आदि और 'चेटी' का नाम 'मन्दारिका' आदि ।

विमर्श—नाटकीय पात्रों के नाम निर्देश में नाट्यदृष्ट और न के नाम-निर्देश को याया दक्ष्य-कहे हैं । जैसे नाट्यदृष्ट और न के शीर्षकनाम पुनः का नाम 'मीमा' या 'विरिन्द' रखा गया

( नाटक का नामकरण )

नाम कार्यं नाटकस्य गर्भितार्थप्रकाशकम् ॥ १४२ ॥

यथा रामाभ्युदयादि ।

( 'प्रकरण' का नाम-निरूपण )

नायिकानायकाख्यानात्संज्ञा प्रकरणादिषु ।

यथा मालतीमाधवादि ।

( 'नाटिकादि' का नामकरण )

नाटिकासट्टकादीनां नायिकाभिर्विशेषणम् ॥ १४३ ॥

यथा रत्नावली कर्पूरमञ्जर्यादि ।

( नाटक के कतिपय प्रयोग-विशेष : निर्देश )

प्रायेण प्यन्तकः साधिर्गमेः स्थाने प्रयुज्यते ।

यथा शाकुन्तले-ऋषी, 'गच्छाव' इत्यर्थे 'साधयावस्तावत्' ।

( नाटक के पात्रों के संबोधन-प्रकार )

राजा स्वामीति देवेति भृत्यैर्भट्टेति चाधमैः ॥ १४४ ॥

राजर्षिभिर्वयस्येति तथा विदूषकेण च ।

राजन्नित्यृषिभिर्वाच्यः सोऽपत्यप्रत्ययेन च ॥ १४५ ॥

स्वेच्छया नामभिर्विप्रैर्विप्र आर्येति चेतरैः ।

वयस्येत्यथवा नाम्ना वाच्यो राज्ञा विदूषकः ॥ १४६ ॥

करता होगा वैसे ही रूपक-प्रबन्धों में भी इसी प्रकार का नाम अपेक्षित माना गया है । यही बात अन्यान्य नामप्रकारों की भी है ।

अनुवाद—'नाटक' का नाम ऐसा होना चाहिये जिससे उसके भीतरी अभिप्राय का प्रकाशन हो जाय । जैसे कि 'रामाभ्युदय' आदि ।

अनुवाद—'प्रकरण' आदि का नाम नायिका और नायक के मिले-जुले नाम पर रखना उचित है । जैसे कि 'मालतीमाधव' आदि ।

अनुवाद—नाटिका और सट्टक आदि का नाम नायिका के नाम पर रखना चाहिये । जैसे कि 'रत्नावली' 'कर्पूरमञ्जरी' आदि ।

अनुवाद—रूपक-प्रबन्धों में 'साध्' धातु का प्यन्तरूप 'साधयति' प्राय 'गम्' धातु के रूप-गच्छति' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ करता है ।

उदाहरण के लिये 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में दोनों ऋषि 'गच्छाव' न कहकर 'साधया-वस्तावत्' कहते हैं ।

अनुवाद—सेवकों के द्वारा राजा को 'स्वामिन्' और 'देव' शब्दों से सम्बोधित किया जाया करता है । अधम प्रकृति के व्यक्ति 'भट्ट' शब्द के द्वारा राजा को सम्बोधित किया करते हैं । एक राजा दूसरे राजा के लिये 'वयस्य' पद का प्रयोग करता है । विदूषक भी राजा को 'वयस्य' कहकर ही पुकारा करता है । 'ऋषि-जन' यदि राजा को संबोधित करते

वाच्यौ नटीसूत्रभाराचार्यनाम्ना परस्परम् ।

सूत्रधार वदेद्भाष इति वै पारिपाथिकः ॥ १४७ ॥

सूत्रधारो मारिपेति हण्डे इत्यधमै समाः ।

वयस्येस्युधमैर्दहो मध्यैरायति चाग्रजः ॥ १४८ ॥

मगवभिति वक्तव्या सर्वैर्देवर्षिलिङ्गिनः ।

वदेद्वाङ्मी च चेटी च भवतीति विदूषकः ॥ १४९ ॥

आयुष्मन् रयिनं सूतो वृद्ध तातेति चैतरः ।

वत्सपुत्रकतातेति नाम्ना गोत्रेण वा सुतः ॥ १५० ॥

शिष्योऽनुजय वक्तव्योऽमात्य आर्येति चाधमैः ।

विप्रैर्यममात्येति सचिवेति च भण्यते ॥ १५१ ॥

साधो ! इति तपस्वी च प्रज्ञान्तमोच्यते मुधैः ।

स्वगृहीतामिध पूज्यः शिष्याद्यैर्विनिगद्यते ॥ १५२ ॥

उपाध्यायेति चाचार्यो महारात्रेति भूपतिः ।

हैं तो 'राजन्' पद का प्रयोग करते हैं अथवा अपरधमत्ववाच्य ( 'पौरव' आदि ) पद का प्रयोग करते हैं । आश्रयों द्वारा आश्रय का सम्बोधन स्वेच्छापूर्वक किया जा सकता है । आश्रय लोग नाम केन्द्र भी एक दूसरे को सम्बोधित कर सकते हैं किन्तु और लोगों के द्वारा आश्रय के किये 'भार्य' पद ही सम्बोधन-पद के रूप में प्रयुक्त किया जा सकता है । नटी और सूत्रधार एक दूसरे के सम्बोधन में 'भार्य' और 'भार्या' पद का प्रयोग किया करते हैं । पारिपाथिक यदि सूत्रधार को सम्बोधित करे तो 'मात्र' पद का प्रयोग करता है और सूत्रधार यदि पारिपाथिक को सम्बोधित करे तो 'मारिप' पद का प्रयोग करता है । बीच भेरी के लोग परस्पर सम्बोधन के किये 'हण्डे' पद का व्यवहार करते हैं, उध भेरी के लोग परस्पर आमन्त्रण के किये 'वयस्य' पद का प्रयोग करते हैं और मध्यभेरी के लोगों के परस्पर सम्बोधन में 'दहो' पद का प्रयोग हुआ करता है । छोटे भाई के किये बड़े भाई के आमन्त्रण में 'भार्य' पद का प्रयोग हुआ करता है । देव यदि और सम्भाषी आदि का सम्बोधन के किये 'मगवन्' पद प्रयुक्त हुआ करता है । राजा और चेटी को आमन्त्रण करने के किये विदूषक के द्वारा 'भवती' पद का प्रयोग हुआ करता है । सूत के द्वारा राजा के सम्बोधन में 'आयुष्मन्' पद का प्रयोग किया जाता करता है । पुत्रक के द्वारा वृद्ध के आमन्त्रण में 'तात' पद प्रयुक्त होता है । पिता के द्वारा प्रयुक्त पुत्र के आमन्त्रणपद 'वत्स' 'पुत्रक' 'तात' आदि नाम अथवा गोत्र-नाम हैं । गुरु के द्वारा शिष्य के तथा अग्रज के द्वारा अनुज के सम्बोधन-पद भी 'वत्स' 'पुत्रक' 'तात' आदि ही हैं । बीच भेरी के लोगों द्वारा 'अमात्य' का आमन्त्रण आर्य पद से हुआ करता है । विप्रज आमन्त्रण की 'अमन्त्र' अथवा 'सचिव' पद से सम्बोधित किया करते हैं । तबराही और बीतराग का सम्बोधन-पद 'साधो' है । शिष्य आदि के द्वारा गुरुजीव गुरु का आमन्त्रण 'मुगृहीत' नाम पद का प्रयोग पूर्वक हुआ करता है । आचार्य का आमन्त्रण 'उपाध्याय' पद के प्रयोग से किया जाता करता

स्वामीति, युवराजस्तु कुमारो भर्तृदारकः ॥ १५३ ॥

भद्रसौम्यमुखेत्येवमधमैस्तु कुमारकः ।

वाच्या प्रकृतिमी राज्ञः कुमारी भर्तृदारिका ॥ १५४ ॥

पतिर्यथा तथा वाच्या ज्येष्ठमध्याधमैः स्त्रियः ।

हलेति सदृशी, प्रेष्या हज्जे वेश्याञ्जुका तथा ॥ १५५ ॥

कुट्टिटन्यम्बेत्यनुगतैः पूज्या च जरती जनैः ।

आमन्त्रणैश्च पाषण्डा वाच्याः स्वसमयागतैः ॥ १५६ ॥

शका(शक्या)दयश्च संभाष्या भद्रदत्तादिनामभिः ।

यस्य यत्कर्म शिल्पं वा विद्या वा जातिरेव वा ॥ १५७ ॥

तेनैव नाम्ना वाच्योऽसौ ज्ञेयाश्चान्ये यथोचितम् ।

( रूपकों का भाषा-विभाग )

अथ भाषाविभागः—

पुरुषाणामनीचानां संस्कृतं स्यात्कृतात्मनाम् ॥ १५८ ॥

सौरसेनी प्रयोक्तव्या तादृशीनां च योषिताम् ।

है और राजा का आमन्त्रण 'महाराज' पद से सम्पन्न हुआ करता है। युवराज का आमन्त्रणपद 'स्वामिन्' है, राजकुमार का आमन्त्रण-पद 'भर्तृदारक' है और नीच श्रेणी के लोगों के उपयुक्त, राजकुमार के सम्बोधन-पद, 'भद्र', 'भद्रमुख' आदि हैं। प्रजाजन के द्वारा राजकुमारी को 'भर्तृदारिका' पद से सम्बोधित किया जाया करता है। उच्च, नीच और मध्य श्रेणी के लोग स्त्री के लिए उसी आमन्त्रणपद का प्रयोग किया करते हैं जो कि उसके पति के आमन्त्रण में प्रयुक्त किया जाया करता है। समान श्रेणी के स्त्री-पात्र 'हला' पद से एक दूसरे को आमन्त्रित किया करते हैं। दासी का आमन्त्रण 'हज्जे' पद से, वेश्या का आमन्त्रण 'अञ्जुका' पद से और कुट्टिनी का आमन्त्रण 'अम्ब' पद से हुआ करता है। पूजनीय वृद्धा स्त्री का आमन्त्रण-पद 'अम्ब' ही है। पाषण्ड (कापालिक) आदि लोगों का आमन्त्रण उनके सम्प्रदाय में प्रचलित नामों द्वारा ही किया जाया करता है। शक, यवन आदि लोगों के लिए 'भद्र', 'दत्त' आदि नाम सम्बोधन में प्रयुक्त होते हैं। वस्तुतः बात यह है कि किसी के सम्बोधन में ऐसे ही पद का प्रयोग किया जाया करता है जो कि उसके कर्म, उसके कौशल, उसकी विद्या और उसकी जाति के अनुरूप हो। अन्यत्र तो, जहाँ जैसा उचित हो वहाँ वैसा सम्बोधन किया जाया करता है।

विमर्श—नाटकीय पात्रों के सम्बोधन अथवा आमन्त्रणप्रकारों पर भी लोक-जीवन के सम्बोधन अथवा आमन्त्रणप्रकारों की दृष्टि है। रूपकों में पात्रों की नाम-व्यवस्था वस्तुतः 'लोक धर्मों' की योजना है, न कि 'नाट्यधर्मों' की।

अनुवाद—(रूपक-प्रवर्णनों में) उच्च श्रेणी के पदे-लिखे पुरुषों की भाषा 'संस्कृत' हुका करती है। उच्च श्रेणी की पदी-लिखी स्त्रियाँ 'सौरसेनी' में बातचीत करती दिखायी



आसामव तु गाथासु महाराष्ट्री प्रयाज्येत् ॥ १५९ ॥  
 अत्रोक्ता मागधी भाषा राजान्तपुरचारिणाम् ।  
 घेटानां राक्षपुत्राणां भेष्टानां त्वार्धमागधो ॥ १६० ॥  
 प्राच्यां विद्रुपकादीनां घूर्तानां स्यादवन्तिजा ।  
 योधनागरिकादीनां द्राक्षिणास्या हि दीक्ष्यताम् ॥ १६१ ॥  
 श्वराणां शकादीनां द्वाबरीं सप्रयोजयत् ।  
 द्राहीकभापोदीच्यानां द्राविडी द्राविडादिषु ॥ १६२ ॥  
 आमीरपु तथामीरी चाण्डालो पुच्छसादिषु ।  
 आमीरी द्वाबरी चापि काष्ठपात्रोपजीविषु ॥ १६३ ॥  
 तमैषाङ्गारकारादौ पैशाची स्यात्पिछाचषाक् ।  
 घटानामप्यनीचानामपि स्यात्सौरसैनिका ॥ १६४ ॥  
 बालानां पण्डकानां च नीचप्रहविचारिणाम् ।  
 उन्मत्तानामातुराणां सैव स्यात्संस्कृतं क्वचित् ॥ १६५ ॥  
 ऐश्वर्येण प्रमत्तस्य दारिद्र्यापद्रुतस्य च ।  
 भिक्षुवल्कधरन्दीनां प्राकृतं संप्रयोज्येत् ॥ १६६ ॥  
 संस्कृतं संप्रयाक्तव्य लिङ्गिनीपूचमासु च ।  
 दधीमन्त्रिसुतावध्यास्वपि कैश्चित्तयोदितम् ।

जाया करती है। कुन्दीन छिपीं के गीत की भाषा 'महाराष्ट्री' है। राजा के आगंतुर में रहनेवाले बामन कुम्भ आदि लोगों की भाषा मागधी हुआ करती है। घेट, राजपुत्र और भेडिजन की भाषा अर्धमागधी है। विद्रुपक आदि प्राच्या (गौरी) भाषा का व्यवहार किया करते हैं। घूर्तों की भाषा 'आयम्ती' है। राजसेवी सैनिकों और नागरीयों की भाषा 'द्राक्षिमाणा (बहमी)' है। शबरी और दाक-येवन आदि लोगों की भाषा 'द्राहीक' और द्राविडी (द्रविज के लोगों) की भाषा 'द्राविडी' है। आमीरी की भाषा 'आमीरी' और चाण्डालों की भाषा पण्डाली हुआ करती है। लजरी का नाम बरमेराही की भाषा 'जामारी' अथवा 'जाबरी' होती है ये कोई भी हो सकती है। लाहार आदि की भाषा 'पेशाची' हुआ करती है। उन्मत्त और मध्यम भेरी की परिचों की भाषा 'शारसेवी' है। साध ही साध बाज्यों नयुंगरी लोहे व्यागिनिभि, उन्मत्तों और जामुर लोगों की भाषा भी 'शारसेवी' ही हुआ करती है। कटी-कटी हुंसे 'संस्कृत' बोलने हुए भी प्रसन्न दिखा जाया करता है। चर्मोन्मत्त अथवा हरिश्च और साध ही साध भिक्षुक अथवा बलि-बाजक की भाषा 'प्राकृत' बनी जाया करती है। उन्मत्त जाति की अन्नचरिनिभों अथवा बरिचरिनिभों की भाषा 'मंजून' हुआ करती है। कुछ नायाचार्य राजा सन्निवृत्ती

कार्यतश्चोत्तमादीनां कार्यो भाषाविपर्ययः ॥ १६८ ॥

योषित्सखीवालवेश्याकितवाप्सरसां तथा ।

वैदग्ध्यार्थं प्रदातव्यं संस्कृतं चान्तरान्तरा ॥ १६९ ॥

एषामुदाहरणान्याकरेण बोद्धव्यानि । भाषालक्षणानि मम तातपादाना  
भाषार्णवे ।

( नाट्य-‘लक्षण’ और नाट्य-‘अलङ्कार’ )

पट्त्रिंशलक्षणान्यत्र, नाट्यालंकृतयस्तथा ।

त्रयस्त्रिंशत्प्रयोज्यानि वीथ्यङ्गानि त्रयोदश ॥ १७० ॥

लास्याङ्गानि दश यथालाभं रसव्यपेक्षया ।

यथालाभ प्रयोज्यानीति सम्बन्ध । अत्रेति नाटके ।

और वेश्या के लिये भी ‘संस्कृत’ का प्रयोग उचित मानते हैं । जहाँ तहाँ कार्यवश  
भाषापरिवर्तन भी किया जा सकता है । साथ ही साथ स्त्री, सखी, बालक, वेश्या,  
घृतकार और अप्सरा के लिये बीच-बीच में ‘संस्कृत’ भाषा में भी बोलना उचित माना  
गया है । क्योंकि इससे उनकी विदग्धता का प्रकाशन किया जाया करता है ।

इन भाषाओं के उदाहरण रूपक-प्रबन्धों में स्वयं देखे जा सकते हैं । इन भाषाओं के

स्वरूप-विमर्श के लिये हमारे पूज्य पितृचरण का ‘भाषार्णव’ नामक ग्रन्थ पर्याप्त है ।  
विमर्श—संस्कृत के रूपक प्रबन्धों में ‘भाषाविधान’ का सिद्धान्त वास्तविक जीवन के वाग्-  
व्यवहार की अनुकृति पर आश्रित है । नाट्यदर्पणकार ने संक्षेप में ‘भाषाविधान’ का यह सिद्धान्त  
उपरिष्ठ किया है—

‘देवानीचनुणा पाठ संस्कृतेनाथ जातुचित् ।

महिषी-मन्त्रिजा-पण्यस्त्रीणामव्याजलिङ्गिनाम् ॥

बाल-पण्ड-ग्रहग्रस्त-मत्त-स्त्री-रूपयोपिताम् ।

प्राकृतेनोत्तमस्यापि दारिद्र्यैश्वर्यमोहिन ॥

अत्यन्तनीचभूतादौ पैशाची मागधी च वाक् ।

शौरसेनी तु नीचस्य देशोद्देशे स्वदेशगी ॥

तिर्यग्जात्यन्तरादीनामानुरूप्येण संकथा ।

भाषा-प्रकृति-वृत्तादे कार्यत क्वापि लङ्घनम् ॥’ (नाट्यदर्पण ४र्थ विवेक)

अनुवाद—नाटक में, रसाभिव्यञ्जन की दृष्टि से, जहाँ जैसा उचित हो, इन-इन का  
उपनिबन्ध अपेक्षित है—

( क ) ३६ नाट्य-लक्षण ।

( ख ) ३३ नाट्यालङ्कार ।

( ग ) १३ वीथ्यङ्ग और

( घ ) १० लास्याङ्ग ।

( यहाँ नाट्य-लक्षण, नाट्यालङ्कार, वीथ्यङ्ग और लास्याङ्ग के यथालाभ अर्थात् उपयो-  
गितानुसार प्रयोग का निरूपण किया जा रहा है इसलिये कारिका के )

‘यथालाभ पद का सम्बन्ध ‘प्रयोज्यानि’ पद से है और ‘अत्र’ पद से अभिप्राय  
‘नाटक’ से है ।

( ३९ लक्ष्मणों का माम निर्देश )

पत्र सप्तगानि—

भूपणाक्षरसंघातो शोभोदाहरणं तथा ॥ १७१ ॥

हेतुसंशयवृष्टान्तास्तुल्यतर्कः पक्षोक्षयः ।

निदर्शनामिप्रायो च प्राप्तिर्विचार एव च ॥ १७२ ॥

दिष्टोपदिष्टे च गुणातिपातातिशयौ तथा ।

विशेषणनिरुक्तौ च सिद्धिर्ब्रह्मविपर्ययौ ॥ १७३ ॥

दाक्षिण्यानुनयो माह्वार्थापत्तिर्गर्हणं तथा ।

पृच्छा प्रसिद्धिः सारूप्यं सश्रयो गुणकीर्तनम् ॥ १७४ ॥

लेशो मनोरथोऽनुक्तसिद्धिः प्रियवधस्तथा ।

विमर्श—‘नाम्न-स्मरण’ और ‘नाम्ना-कटुार का एकमात्र उपयोग नाटक के इतिवृत्तम सरीर में रसाभिव्यञ्जन-सामर्थ्य का अधिकारिक भावान है। बीम्बहों की योजना से ‘नाटक का इति-वृत्तारम्भ सरीर क्षय-क्षय नवीन हुआ करता है और रमणीय बना करता है। ‘बीम्ब’ वस्तुतः ‘मारुतीवृत्ति’ की ही एक छन्दर कोश है। सभी कथक-प्रबन्ध ‘बीम्ब’ (बक्र-मार्ग) से ही चल करत हैं। नास्तिकों का नाटक में उपयोग यदि और अभिव्यक्ति-बोनों की इष्टि से है और इच्छा अरुण ‘रचनावैशिष्ट्य’ है। ऐसे ही विनयाव अरिस्तव के पूर्ववर्ती नाटकस्थानों प्रकरणों में भी इच्छा विवेचन छोड़ दिया या कभीकि इन प्रकरणों का उद्देश्य नाटक-निर्माण की प्रक्रिया का विवेचन या न कि अभिनय-प्रक्रिया का। विनयाव अरिस्तव के प्राचीन नाटकस्थान प्रवर्गा के निर्देशक से ही इनका निकपण किया है न कि समसामयिक ‘रंगमंच’ को कार्यप्रणाली के विवेचनरूप से।

अनुवाक—( १ ) भूपण ( २ ) अक्षरसंघात ( ३ ) शोभा, ( ४ ) उदाहरण, ( ५ ) हेतु, ( ६ ) संशय ( ७ ) वृष्टान्त ( ८ ) तुल्यतर्क, ( ९ ) पक्षोक्षय ( १० ) निदर्शन ( ११ ) अभिप्राय ( १२ ) प्राप्ति ( १३ ) विचार ( १४ ) विष्ट, ( १५ ) उपविष्ट ( १६ ) गुणातिपात ( १७ ) गुणातिशय ( १८ ) विशेषण ( १९ ) निरुक्ति, ( २० ) सिद्धि, ( २१ ) ब्रह्म ( २२ ) विपर्यय ( २३ ) दाक्षिण्य ( २४ ) अनुनय ( २५ ) माह्व, ( २६ ) अर्थापत्ति ( २७ ) गर्हण ( २८ ) पृच्छा ( २९ ) प्रसिद्धि, ( ३० ) सारूप्य ( ३१ ) सश्रय ( ३२ ) गुणकीर्तन ( ३३ ) लेश ( ३४ ) मनोरथ ( ३५ ) अनुक्त सिद्धि और ( ३६ ) प्रियवध ।

विमर्श—साहित्यवर्षणकार का यह वर्णिकक्षय-निकपण भरतमुनि के नाटकस्थान के १९ में नञ्याप के वृष्टान्तिकपण-प्रकरण के इस पाठान्तर का अनुसरण करता है—

भूपणाक्षरसंघातो शोभोदाहरणं तथा ।

हेतुसंशयवृष्टान्तः प्राप्तिमिप्राय एव च ॥

निदर्शनं निरुक्तं च सिद्धिर्ब्रह्म विरोधनम् ।

गुणातिपातातिशयो तुल्यतर्कः पक्षोक्षयः ॥

विष्टं विरोपविष्टं च विचारोऽप्य विपर्ययः ।

दाक्षिण्यानुनयो माह्व अर्थोपत्तिर्गर्हणं तथा ॥

( १—लक्षण-प्रकार . भूषण )

तत्र—

लक्षणानि गुणैः सालंकारैर्योगस्तु भूषणम् ॥ १७५ ॥

यथा—‘आक्षिपन्त्यरविन्दानि मुग्धे । तव मुखश्रियम् ।

कोपदण्डसमग्राणा किमेषामस्ति दुष्करम् ॥’

अर्थापत्ति प्रसिद्धिश्च पृच्छा सारूप्यमेव च ।

मनोरथश्च लेशश्च सक्षोभो गुणकीर्तनम् ॥

ज्ञेयाभ्यनुक्तसिद्धिश्च प्रिय वचनमेव च ।

षट्त्रिंशल्लक्षणान्येवं काव्यबन्धेषु निर्दिशेत् ॥ ( नाट्यशास्त्र १६ . १-५ )

अनुवाद—भूषण—इन ३६ लक्षणों में ‘भूषण’ वह लक्षण है जिसे माधुर्यादि गुण किंवा अनुप्रास-उपमादि अलङ्कारों द्वारा दृश्य ( अथवा श्रव्य- ) काव्य-प्रबन्ध के कथाशरीर में सौन्दर्य का संयोग अथवा ‘अलङ्करण’ कहा जाया करता है । उदाहरण के लिए निम्न सूक्ति अर्थात्—

‘अरी सुन्दरी । तू इतनी मुग्धा है कि कमल तेरी मुखश्री का अपहरण करने पर उतारु हो उठे हैं । ये कमल, जिनके पास कोप ( चीजकोप तथा प्रभूत घनराशि ) किंवा दण्ड ( कमलनाल तथा सैन्य ) की कोई कमी नहीं, जो भी कर ढाले थोड़ा ही है ।’

विमर्श—( क ) साहित्यदर्पण की सभी संस्कृत किंवा हिन्दी टीकाओं और व्याख्याओं में ‘भूषण’ नामक लक्षण का अभिप्राय अस्पष्ट ही रह गया है । जैसे कि ‘तर्कवागीशी’ टीका की यह भूषण-व्याख्या—‘गुणैर्माधुर्यौज प्रसादैर्यमकोपमाद्यलङ्कारसहितैर्योगः परस्परमेलकः’ जितनी ‘भूषण’ के अभिप्राय से दूर है उतनी ही ‘विमला’ व्याख्या की यह भूषण-टीका ‘अलङ्कारसहित गुणों के योग को भूषण कहते हैं’, ‘भूषण’ के तात्पर्य से विमुख है । वस्तुतः तो ‘लक्षण’ का ही अभिप्राय इन टीकाओं में अस्पष्ट है । ‘गुण’, ‘अलङ्कार’ और ‘लक्षण’ का जब तक विस्पष्ट विभाग न समझा जाय तब तक लक्षण का निरूपण श्रामक ही होगा । इन तीनों का प्रविभाग आचार्य अभिनवगुप्त की इन पंक्तियों में स्पष्ट है—

‘लक्षणानि गुणालङ्कारमहिमानमनपेक्ष्य स्वसौभाग्येनैव शोभन्ते । लक्षणं महापुरुषस्य पद्मादिरेखादिवत् काव्यशरीरस्य सौन्दर्यदायि । अलङ्कारस्तु रत्नाभरणादिवदेव, येन विनापि स्वसौन्दर्येणैव पुरुषः प्रतिभासते । गुणस्तु प्रवृत्तिद्योतितो धैर्यादिवत् काव्यस्य शब्दार्थरचनामाश्रयति । यथा लक्षणरहित पुरुषो न सुन्दरशब्दवाच्यस्तथा लक्षणवर्ज कथाशरीर गुणालङ्कारोज्ज्वलमपि नीरसत्वं भजत् प्रौढकाव्याभिधानं नार्हति । कथाशरीर-सम्पन्नेषु काव्येष्वेव लक्षणानि निर्वर्त्यन्ते न तु मुक्तकादिषु खण्डकाव्येषु, अत एव ‘काव्य-बन्धास्तु कर्त्तव्या’ इति मुनिनैव मुक्तकादिवारणपरमुक्तम् ।

( अभिनवभारती : नाट्यशास्त्र : १६ अध्याय )

अर्थात् गुण और अलङ्कारों से लक्षण का भेद इस प्रकार समझा जा सकता है कि गुण और अलङ्कार तो काव्य सामान्य की विशेषतायें हैं किन्तु ‘लक्षण’ एक ऐसा वैशिष्ट्य है, जो केवल कथाशरीर-सम्पन्न काव्य प्रबन्ध का ही वैशिष्ट्य है । जैसे धैर्यादि गुण किंवा रत्नकणिकादि अलङ्कारों से युक्त भी मानवशरीर लक्षणरहित होने पर प्रभावमय नहीं प्रतीत हुआ करता वैसे ही माधुर्यादि गुण किंवा अनुप्रास-उपमादि अलङ्कारों से युक्त भी काव्य का कथाशरीर भूषणादि लक्षण से शून्य होने पर प्रभावोत्पादक नहीं लगा करता ।

( ख ) काव्य में ‘भूषण’ नामक लक्षण वह है जिसके होने पर माधुर्यादि गुण और उपमादि

( २—अक्षरसंघात )

वर्णनाक्षरसंघातविश्रायैरक्षरैर्मितै ।

यथा शाकुन्तले—

‘रात्रा—कषित्सखीं वा नातिबाधते शरीरसंघात’ ।

प्रियवदा—सम्पदं लघोसहो लघुसम गमिस्त्वयि’ [ साग्रतं कच्छीपयमुप-  
क्षमं यमिष्यति ] ।

( १—शोभा )

सिद्धैर्यैः समं यत्राप्रसिद्धोऽर्थः प्रकाशते ॥ १७६ ॥

श्लिष्टश्लेषणचित्रार्था सा शोभेत्यभिधीयत ।

यथा—

‘सङ्हरासम्भव’ छन्द कोटिबोऽपि गुणान्वित ।

क्षमं चतुरिष कुरो वर्जनीय सतां प्रभु ॥

अक्षरों से कुछ क्वाक्षरीर अधिकधिक रसोन्नेतक हुआ करता है । माधुर्यादि गुण और कम्प्यदि क्वाक्षरों से कुछ क्वाक्षरीर में वह वस्तु मिलके होने पर रसोन्नेतका प्रबल रूप से सम है, वस्तुतः एक विशिष्ट कविन्यापार ही है जो छन्द और अन्य के व्यापारों में स्फुरित हुआ करता है ।  
जैसा कि ध्वनिकार को इस पक्षि अर्थात्—

‘आन्वाप्यमृते मृदुरे समीप्य विनिवेशिता ।

कपटप्रविरक्तहृत्तर्ग्यं पृथि यथार्थताम् ॥

का संकेत है । इस बहुविध कविन्यापार को एक शब्द कह है जिसे ‘भूषण’ नामक कक्षन के रूप में प्राचीन कान्य-वाक्य-कोटियों में देखा-दिखाया है ।

अनुवाद—‘अक्षरसंघात’ नामक कक्षन वह कक्षण है जिससे स्वल्प किन्तु निश्चित अक्षरों द्वारा विशिष्ट अर्थ का उपवर्जन कहा गया है । जैसे कि ‘अभिज्ञानसाकुन्तल’ के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

‘रात्रा—यथा वह क्षरिसंघात तुम्हारी सखी को बहुत अधिक तो वह वहाँ पहुँचा रहा है ?

प्रियवदा—अब अब कि इसे कहा मिल गयी तब तो खाली हो ही जायगा ।

में वह ‘अक्षरसंघात’ नामक ( कविन्यापाररूप ) कक्षण ही है जिससे वहाँ बादल का क्वाक्षरीर मधोरस और हृदयप्राप्ति कहा रहा है ।

विमर्श—अक्षरसंघात यो वह क्वाक्षण है जोर इसे अन्य किन्तु निश्चित छन्द-प्रयोग द्वारा रसोन्नेत विभागादिरूप अर्थ के उपवर्जन के लिए संकेतित किया गया है । अभिनवगुप्तार्थ में यही समझता है । अक्षरसंघात नामक कक्षण का एकत्र समझाया है—

‘तथाहि मानिबीत्यक्षरार्थे ईर्ष्यादिप्रकम्पे लक्ष्मीत्यामिकापिके, वरतनुमिति संमते विभावतां तन्मेव प्रापयन्ति । ( अभिनवगुप्तार्थी पृष्ठ २ )

अनुवाद—‘शोभा वह कक्षण है जिसके कारण अप्रसिद्ध भी अर्थ सिद्ध भय के समान प्रकाशित हुआ करता है । अप्रसिद्ध अर्थ के सिद्ध अर्थ के समान प्रकाशित होने का अभि-  
प्राय यह है कि साधारण भी वर्ण्य विषय इसके कारण सहजबहुव्यपकारी और सरस बन जाया करता है । जैसे कि निम्न सुक्ति अर्थात्—

‘मनस्वी कोर्गो को कुटिक हृदय राजा से जाहे वह ‘सङ्घातसमय’ ( सम्पुष्पसल )

(४—उदाहरण)

यत्र तुल्यार्थयुक्तेन वाक्येनाभिप्रदर्शनात् ॥ १७७ ॥

साध्यतेऽभिमतस्वार्थस्तदुदाहरणं मतम् ।

यथा—

‘अनुयान्त्या जनातीत कान्त साधु त्वया कृतम् ।’

का दिनश्री विनार्केण का निशा शशिना विना ॥’

‘शुद्ध’ (पवित्राचरण) ‘कोटिद’ (महादानी) और ‘गुणान्वित’ (महागुणशाली) ही क्यों न हो, इसी प्रकार बचते रहना उचित है जिस प्रकार किसी ‘सद्वंशसंभव’ (अच्छे वांस के बने), ‘शुद्ध’ (कौटादिवेधरहित) ‘कोटिद’ (असह्य रिपुगण के संहारक) और ‘गुणान्वित’ (प्रत्यञ्चाबुद्ध) धनुष से बचा जाया करता है ।  
इत्यादि में, जो लक्षण है, वह ‘शोभा’ है ।

विमर्श—‘शोभा’ का अभिप्राय एक ऐसा कविव्यापार (शब्दार्थव्यापार) है जिससे अशोभन भी अर्थ शोभित लगने लगता है । आचार्य अभिनवगुप्त ने अभिज्ञानशाकुन्तल की इस सूक्ति अर्थात्—

‘भेदश्छेदकृशोदर लघु भवत्युत्थानयोग्यं वपु

सत्त्वानामपि लक्ष्यते विकृतिमन्त्रितं भयक्रोधयो ।

उत्कर्ष स च धन्विना यदिव सिध्यन्ति लक्ष्ये चले

मिथ्या हि व्यसनं वदन्ति मृगयामीदृग्विनोदः कुत ॥’

में, ‘शोभा’ का दर्शन किया है क्योंकि यहाँ एकमात्र कविव्यापार ही अनुचित भी अर्थ को औचित्यपूर्ण दिखा रहा है ।

अनुवाद—‘उदाहरण’ वह लक्षण है जिसे किसी निगूढ़ अभिप्राय का निगूढ़ार्थक किंवा तुल्यार्थक वाक्य द्वारा प्रतिपादन कहा गया है । जैसे कि निम्न सूक्ति अर्थात्—

‘जनककुमारी । तूने अपने ‘जनातीत’ बनबास के लिये अग्रसर (तथा लोकोत्तर प्रियतम राम का अनुगमन कर वड़ा ही अच्छा किया । विना सूर्य के दिन-श्री क्या और विना चन्द्र के रात्रि क्या ?’

में, जो ‘लक्षण’ है वह उदाहरण ही है ।

विमर्श—नाट्यशास्त्रकार भरतमुनि ने ‘उदाहरण’ की यह परिभाषा की है—

‘यत्र तुल्यार्थयुक्तेन वाक्येनाभिप्रदर्शनात् ।

साध्यते निपुणैरर्थस्तदुदाहरणं स्मृतम् ॥’

जिसकी अभिनवभारतीकारकृत व्याख्या यह है—

‘परेषा दुर्भेद्यपरमार्थेन तुल्यार्थप्रयुक्तेन वाक्येन निगूढाशय कस्मैचिन्निपुणैर्यत्र प्रकाशयते तदुदाहरणम् ।’ यथा ‘प्रद्युम्नाभ्युदये’ तृतीयेऽङ्के-  
ऽन्तर्नाटिकाया सूत्रधारवचनम्—

‘देवदनुजाधिप त्वा त्रिभुवनलक्ष्मीरिव स्वयं रागात् ।

अभिरूपमभिसूतवती नलकूचरमत्र नाटके रम्भा ॥’

अत्राभिसरणमेव प्रद्युम्नसगमोपाय इयर्थं साध्यते ।’

(अभिनवभारती नाट्यशास्त्र . १६ अध्याय पाठान्तर)

‘उदाहरण’ के उपर्युक्त स्वरूप को देखते हुए ‘साहित्यदर्पण’ की संस्कृत और हिन्दी व्याख्याओं में जो ‘उदाहरणनिरूपण’ है वह आन्तिपूर्ण ही प्रतीत होता है ।

(५-बेह)

॥ हेतुर्वाक्यं समासोक्तमिष्टकृतेतुदर्शनात् ॥ १७८ ॥

यथा वेण्या भीम प्रति—

शेरी—एव मय मणिवं भाणुमदि सुभाण अमुक्केसु केसेसु कर्ह देयीप केसा मंजमिममिति [ एवं मया मणित भाणुमति ! पुग्माकममुक्केसु केसेसु कर्ह देण्या कंसा संयम्भते ] ।

(१-संक्षय)

संक्षयोऽज्ञाततत्त्वस्य वाक्ये स्याद्यदनिश्चयः ।

यथा यथातिविज्ञये—

‘इयं स्वर्गाधिनाथस्य सखमी’ किं पक्षकन्यका ।

किं वास्य विषयस्यैव वेधता किमु पार्वती ॥’

(५-छान्त)

दृष्टांतो यस्तु पक्षेऽर्थसाधनाय निदर्शनम् ॥ १७९ ॥

अनुवाद—‘हेतु’ वह कथन है जिसे संक्षिप्त तथा पुष्टिपूर्व किन्तु अनिमित्त अनिग्रह का लक्ष्यबोधक वाक्य कहा गया है । जैसे कि ‘बेवीसहस्र’ क इस सम्बन्ध में बर्णात्—

‘शेरी—( भीम के प्रति )—मिने कहा था—भाणुमति ! अब तक तुम्हारे कस न सुनें सब तक प्रीपदी क केस क्योकर रेंग जाँव ।

आदि में जो कथन है वह ‘हेतु’ है ।

विमर्श—अनिमित्तमाराधीनार ये ‘हेतु’ का वह स्वरूप-निर्देश किया है—

‘कससाधकवाक्यमुक्त मितवाक्यार्थ विविधमङ्गलुकं लक्षयम् ।

( अनिमित्तमाराधी २ १७९वर्षाव पाठान्तर )

अनुवाद—‘संक्षय’ वह कथन है जिसे किसी वाक्य में किसी जगह किन्तु समस्त अर्थ क सम्बन्ध में अनिग्रह का उपस्थास कहा गया है । जैसे कि ‘यथातिविज्ञये’ के इस सम्बन्ध में बर्णात्—

‘यथा वह सुन्दरी इन्द्र की राजकन्या है ? कोई लक्षकन्या है ? इस इन्द्र की अनिग्रही देवी है ? साधक पार्वती है ?’ आदि में जो कथन है वह ‘संक्षय’ है ।

विमर्श—साहित्यवर्षण की संस्कृत किंवा हिन्दी व्याख्याओं में ‘संक्षय’ नामक कथन का जो अनिग्रह बताया गया है वह संक्षया अन्त ही रह गया है । ‘संक्षय’ को उस वाक्य जबवा मङ्गल-बानव का सौन्दर्य है किसे कवि कन्या मारककार इस प्रकार रचा करता है जिसमें वह माये किंवा विकारों के अतिशय के कारण असमाधुभाव तथा अपरिचयार्थक-ता क्या करे । इस ‘संक्षय’ का दर्शन अनिग्रहवाक्यमुक्त के निम्न संदर्भ में जैसा कि अनिमित्तमाराधीनार में किया है स्पष्टता किया जा सकता है—

विद्वेष्ट कोपवशात् प्रमादविहिता दीर्घ न सा कुप्यति  
वर्णापोत्पत्तिता मधममपि पुनर्भावाभिमत्या मया ।

तां हर्तुं विदुषत्रिपोमपि न च मे लक्ष्यः पुरावर्तिनी

सा वाक्यमन्तगोचरे लक्ष्यपोवातेति काव्यं विधाय ॥

अनुवाद—‘छान्त’ वह कथन है जिसे पदार्थसाधकहेतु का मनोहर निदर्शन कहा

यथा वेण्याम्—

‘सहदेव—आर्य ! उचितमेवैतत्तस्या यतो दुर्योधनकलत्रं हि सा’ इत्यादि ।

(८—तुल्यतर्क)

तुल्यतर्को यदर्थेन तर्कः प्रकृतिगामिना ।

यथा तत्रैव—

‘प्रायेणैव हि दृश्यन्ते काम स्वप्नाः शुभाशुभाः ।

शतसंख्या पुनरिय सानुज स्पृशतीव माम् ॥’

(९—पदोच्चय)

संचयोऽर्थानुरूपो यः पदानां स पदोच्चयः ॥ १८० ॥

यथा शाकुन्तले—

‘अधरः किसलयरागः कोमलविटपानुकारिणौ बाहू ।

कुसुममिव लोभनीय यौवनमङ्गेषु सनद्धम् ॥’

अत्र पदपदार्थयोः सौकुमार्यं सहशमेव ।

जाया करता है । जैसे कि ‘वेणीसंहार’ में—

‘सहदेव—आर्य ! उसके ( भानुमती के ) लिये तो यह सब उचित ही है क्योंकि वह तो दुर्योधन की पत्नी है ।’

आदि जो सन्दर्भ है वह ‘दृष्टान्त’ रूप लक्षण से ही विभूषित है ।’

विमर्श—भरतमुनि के अनुसार ‘दृष्टान्त’ लक्षण का यह स्वरूप है—

‘सर्वलोकमनोग्राही यस्तु पदार्थसाधक ।

हेतोर्निर्दर्शनकृत स दृष्टान्त इति स्मृत ॥’

( नाट्यशास्त्र १६।१२ )

जिसे अभिनवभारतीकार ने इस प्रकार स्पष्ट किया है—

‘धर्माविरुद्धतया सर्वलोकमनोग्राही वचनं निर्दर्शनोपष्टम् दृष्टान्तसज्ञकं लक्षणम् ।’

( अभिनवभारती १६।१२ )

अनुवाद—‘तुल्यतर्क’ का अभिप्राय है प्रकृत ( प्रत्यक्ष ) अर्थ के परामर्श के द्वारा अप्रकृत ( अप्रत्यक्ष ) अर्थ के प्रकाशन का । जैसे कि ‘वेणीसंहार’ के इस सन्दर्भ अर्थात्—

‘शुभ और अशुभ स्वप्न तो प्रायः लोग देखा ही करते हैं किन्तु ‘एक सौ सपों के मारने’ का यह स्वप्न-दर्शन मुझे, जिसके एक सौ भाई हैं, कुछ खटक सा रहा है ।’

में, जो लक्षण है वह ‘तुल्यतर्क’ ही है ।

अनुवाद—‘पदोच्चय’ का अभिप्राय है अर्थानुरूप पद-सन्दर्भ का । जैसे कि ‘अभिज्ञान-शाकुन्तल’ के इस सन्दर्भ अर्थात्—

‘शकुन्तला का अधर कोमल लताकिसलय ली लालिमा लिये है, दोनों बाँहें लता की दो टहनियों की कोमलता लिये हैं और यौवन तो फूल की भाँति अङ्ग-अङ्ग में क्षलक ही रहा है ।’

में, जो लक्षण है, वह ‘पदोच्चय’ है क्योंकि यहाँ सुकुमार अर्थ के अनुरूप सुकुमार पद की योजना स्पष्ट प्रतीत हो रही है ।



( १ — निदर्शन )

यत्रार्थानां प्रसिद्धानां क्रियत परिकीर्तनम् ।

परपक्षव्युदासार्थं तन्निदर्शनमुच्यते ॥ १८१ ॥

यथा—

‘सात्रघर्मोपि सैर्धर्मैरलं शशुषधे नृपा’ ।

किं तु पालिनि रामेण गुणो बाण’ पराङ्मुखः ॥’

( ११—अभिप्राय )

अभिप्रायस्तु सादृश्यादभूतार्थस्य कल्पना ।

यथा शाकुन्तले—

‘इदं किंलाभ्याजमनोहर वपुस्तपस्समं साधयितुं य इच्छति ।

भुवं स नीलोत्पलपत्रधारया शमीतल छेतुमुपि ध्येयस्यति ॥’

( १२—प्राप्ति )

प्राप्तिः केनचिदर्शन किञ्चिद्वानुमीयते ॥ १८२ ॥

यथा मम प्रभावस्याम्—

‘अनेन कलु सबतअरता अञ्जरीकेणावरयं विदिता भविष्यति प्रियतमा मे प्रभावती ।’

अनुवाद—‘निदर्शन का अभिप्राय है प्रसिद्ध जर्ज के परिकीर्तन का जिसमें वहाँ कोई अन्य समावधान न हो सके। जैसे कि इस छक्ति अर्थात्—

‘वह तो ठीक ही है कि राजगज चित्रिचोषित सीमान-वर्म से कजुओं का बब किया करते हैं किन्तु राम ने जो बाकि पर बाब जोड़ा वह उसके पराङ्मुख रहने पर जोड़ा संमुख रहने पर नहीं।’

मैं जो कहता हूँ वह ‘निदर्शन’ है।

विमर्श—‘छादित्यवर्णन की वह शरिफ नामक ( १६१५ ) की ही शरिफ का स्वरूप है।

अनुवाद—‘अभिप्राय का तात्पर्य सादरश के अरथ अभूतपूर्व जर्ज की कल्पना है। जैसे कि, ‘अभिधानशकुन्तल’ की इस छक्ति अर्थात्—

‘अह ! इस विसर्गमुन्वर ( शकुन्तला के ) शरीर को जो तपस्वा के कष्टों के सहजे योग्य बनाना चाहता है वह वस्तुतः नीलकण्ठ के किसकण के किनारे से घसी डूब को काटना चाहता है।

मैं जो कहता हूँ वह ‘अभिप्राय’ है।

विमर्श—परतन्त्र के अनुसार ‘अभिप्राय’ का स्वरूप यह है—

‘अभूतपूर्वों को धर्म सादरश परिकल्पितः।

कोकल्प इव नृपाही सोऽभिप्राय इति स्मृतः ॥ ( अमरशब्द : १११२४ )

अनुवाद—‘प्राप्ति’ का अभिप्राय है—किसी वस्तु के बंध मात्र से उस वस्तु का अनुमान। जैसे कि मेरी अपनी कृति ‘प्रभावतीपरिचय’ की इस छक्ति अर्थात्—

‘यह अमर जो सर्वत्र विचरा करता है अवश्य जानता होगा कि मेरी प्रियतमा प्रभावती कहीं है।

( १३—विचार )

विचारो युक्तिवाक्यैर्यदप्रत्यक्षार्थसाधनम् ।

यथा मम चन्द्रकलायाम्—

‘राजा—नूनमियमन्त पिहितमदनविकारा वर्तते ।

यतः—

हसति परितोपरहित निरीक्ष्यमाणापि नेक्षते किञ्चित् ।

सख्यामुदाहरन्त्यामसमञ्जसमुत्तर दत्ते ॥’

( १४—दिष्ट )

देशकालस्वरूपेण वर्णना दिष्टमुच्यते ॥ १८३ ॥

यथा वेण्याम्—

‘सहदेवः—

यद्वैद्युतमिव ज्योतिरार्ये क्रुद्धेऽद्य सभृतम् ।

तत्प्रावृडिव कृष्णोयं नूनं सबद्धयिष्यति ॥’

मैं, जो लक्षण है वह ‘प्राप्ति’ ही है ( क्योंकि चञ्चरीक के विचरण से, उस ( चञ्चरीक ) के प्रभावतीविषयक ज्ञान का अनुमान हो रहा है ) ।

विमर्श—भरतमुनि का ‘प्राप्ति’-लक्षण यह है—

‘दृष्टवैवावयवान् काश्चिद् भावो यत्रानुमीयते ।

प्राप्तिं तामभिजानीयाल्लक्षणं नाटकाश्रयम् ॥’ ( नाट्यशास्त्र १६।१३ )

अनुवाद—‘विचार’ का अभिप्राय है—युक्तियुक्त वाक्य से अप्रत्यक्ष वस्तु के साधन का ।

जैसे कि मेरी अपनी कृति ‘चन्द्रकला’ के इस सन्दर्भ अर्थात्—

‘राजा—अवश्य ही यह-अपने हृदय में प्रेम छिपाये हुई है-क्योंकि—यह हँसती है किन्तु प्रसन्नता से नहीं, इसे सखियाँ देखती हैं किन्तु वह उन्हें नहीं देखती और इससे सखियाँ बहुत कुछ कहती हैं किन्तु वह उनसे कुछ नहीं बोलती ।’

मैं, जो लक्षण है वह ‘विचार’ है ।

विमर्श—भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में ‘विचार’ का यह लक्षण दिया हुआ है—

‘पूर्वाशयसमानार्थैरप्रत्यक्षार्थसाधनैः ।

अनेकोपाधिसयुक्तो विचारः परिकीर्तितः ॥’ ( नाट्यशास्त्र १६।२४ )

जिसका अभिनवभारतीकार ने यह उदाहरण दिया है—

‘साध्ये निश्चितमन्वयेन घटित विभ्रत्सपक्षे स्थिति  
व्यावृत्त च विपक्षतो भवति यत्तत् साधनं सिद्धये ।

यत्साध्य स्वयमेव तुल्यमुभयो पक्षे विरुद्ध च यत्

तस्याङ्गीकरणेन वादिन इव स्यात् स्वामिनो निग्रहः ॥’ ( सुद्वाराक्षस )

अनुवाद—‘दिष्ट’ का अभिप्राय है—देश और काल के स्वरूपानुसार वस्तु-वर्णना का ।

जैसे कि ‘वेणीसहार’ के इस सन्दर्भ अर्थात्—

‘सहदेव—आज क्रुद्ध भीम मैं वैद्युत अग्नि की सी जो प्रतिशोध-ज्वाला धधक रही है वह अवश्यमेव वर्षा सी द्रौपदी के कारण और भी भभक उठेगी ।’

मैं, जो लक्षण दिखायी दे रहा है, वह ‘दिष्ट’ ही है ।

( १५—उपदिष्ट )

उपदिष्ट मनोहारि वाक्यं शास्त्रानुसारत ।

यथा शाकुन्तले—

‘छुमूपस्य गुरुम्, कुरु प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीघने,  
मनुर्विप्रकृतापि रोपणतया मा स्म प्रसीप गम ।  
मृषिष्ठं मय दक्षिणा परिजनं भाम्येष्यनुत्सेकिनी,  
धान्त्येयं गृहिणीपदं युवतयो वामा’ कुलस्मापय ॥’

( १६—गुणातिपाठ )

गुणातिपाठः कार्यं यद्विपरीत गुणान्प्रति ॥ १८४ ॥

यथा मम चन्द्रकसाया चन्द्रं प्रति—

‘अहं संहरिअहं तमो जेप्यहं सभलेहि ते पाओ ।  
बससि सिरे पसुबइयो तहबिह इत्थीअ जीअणं हरसि ॥’  
[ बरि सदिपत्त तमो गुछते सकटैस्तव पाहा ।  
बससि सिरसि पछुपतेस्तवापि जीअं जीअन हरसि ॥ ]

( १७—गुणातिपाठ )

यः सामान् गुणोद्वेकः स गुणातिषयो मतः ।

विमर्श—मरतमुनि ने ‘विष्ट’ में कुछ और बातें भी दी हैं—

‘यथादेशं यथाकारं यथाकर्म च वर्णते ।

यथास्वचं परोक्षं वा ह्यं ( विष्ट ) तद्वर्णतोऽपि वा ॥ ( भाटवशास्त्र १६, २१ )

अनुवाद—‘उपदिष्ट’ वह कथन है जिसे शास्त्रानुसार मनोहरवाक्य-विन्यास कहा गया है । जैसे कि ‘अभिज्ञानसाकुन्तल’ के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

‘बड़े-बूढ़ों की सेवा करना, सपत्नियों के प्रति प्रियसखी-साव रचना, पति से किसी कारण अग्रसम्पन्न होने पर भी उनके विरुद्ध आचरण न करना, परिजनधर्म के प्रति दया भाव रखना और सौभाग्य वृद्धि में भी अभिमान से दूर रहना । ऐसा यदि तुम्हें बिना तों महाराज दुष्कान्त की सखी गृहिणी बन जायेगी । ऐसा न करनेवाकी ही वामाक्षपत्य कुछ की पीड़ा बनी रहती है ।

में जो कथन है वह ‘उपदिष्ट’ ही है ।

विमर्श—मरतमुनि के अनुसार ‘उपदिष्ट’ का वह कथन है—

‘परिपुत्रं तु लाघार्यं यद्व्यवसममिषीयते ।

विद्वन्मनोहर एवमुपदिष्टं तदुच्यते ॥’ ( भाटवशास्त्र १६, २४ )

अनुवाद—‘गुणातिपाठ’ का अभिप्राय ऐसा गुणवर्णन है जिसमें गुणविरोध का आभास हुआ करे । जैसे कि मेरी अपनी वृत्ति ‘वन्धकका के इस सम्पर्क अर्थात्—

‘मझे ही तुम जैयरा दूर किया करो किन्तु संसार के प्राणी तुम्हारे पैरों ( किरणों ) को जीवना ही बड़ा करते हैं । भले ही तुम मगवान् बाहर के सस्तक पर बिराजो किन्तु विधोगिबिबी का प्राय्य जेमेबाके भी तुम्हीं हो ।

में जो बन्धोपाकर्मवर्णन है वह ‘गुणातिपाठ’ का ही उदाहरण है ।

अनुवाद—‘गुणातिसय’ का अभिप्राय है—गुण-सामान्य के कीर्तन से गुणविरोध के

यथा तत्रैव—

‘राजा—( चन्द्रकलाया मुख निर्दिश्य )

असावन्तश्चन्द्रद्विकचनवनीलाञ्जयुगल-

स्तलस्फूर्जत्कम्बुर्विलमदलिसघात उपरि ।

विना दोपासङ्ग सततपरिपूर्णाखिलकल

कुतः प्राप्तश्चन्द्रो विगलितकलङ्कः सुमुखि ! ते ॥’

( १८—विशेषण )

सिद्धानर्थान् बहुनुक्त्वा विशेषोक्तिर्विशेषणम् ॥ १८५ ॥

यथा—

‘तृष्णापहारी विमलो द्विजावासो जनप्रियः ।

हृदं पद्माकर किन्तु बुधस्त्व स जलाशयः ॥’

( १९—निरुक्ति )

पूर्वसिद्धार्थकथनं निरुक्तिरिति कीर्त्यते ।

यथा वेण्याम्—‘निहताशेषकौरव्य —’ इत्यादि ।

अनुकीर्तन का । जैसे कि मेरी ही कृति ‘चन्द्रकला’ के इस सन्दर्भ अर्थात्—

‘राजा—( चन्द्रकला के मुख को लक्ष्यकर )—

अरी सुमुखि ! यह तो बता कि मुझे यह निष्कलङ्क किंवा विना ‘दोपासग’ ( रात्रि किंवा दोपों के सम्पर्क ) के ही, निरन्तर पौडश कलाओं से परिपूर्ण ( संगीतादिकलाओं से सुशोभित ), चन्द्र ( मुख ) कहाँ से मिल गया, जिसके भीतर इतने सुन्दर नीलकमल युगल ( नयन ) खिले दीख रहे हैं, जिसके नीचे इतना सुन्दर कम्बु ( शख तथा ग्रीवा भाग ) चमक रहा है और जिसके ऊपर भ्रमरसमूह ( केशपाश ) मँदराते लग रहे हैं ।’  
मैं, जो लक्षण है वह ‘गुणातिशय’ है ।

अनुवाद—‘विशेषण’ वह लक्षण है जिसे ‘प्रसिद्ध अर्थ के उपवर्णन के अनन्तर उसके वैशिष्ट्य का अनुकीर्तन’ कहा गया है । जैसे कि यह सूक्ति अर्थात्—

‘तृष्णापहारी’ ( जलाशयपक्ष में—प्यास मिटानेवाला और वर्ण्य पुरुषपक्ष में याचक जन की आकांक्षा के निवर्तक ) ‘विमल’ ( जलाशयपक्ष में—स्वच्छजलपूर्ण और पुरुष पक्ष में—निर्मल हृदय ) ‘द्विजावास’ ( जलाशयपक्ष में—जलपक्षियों के निवासभूत और पुरुषपक्ष में—ब्राह्मणों के आश्रयदाता ) ‘जनप्रिय’ ( जलाशयपक्ष में—सुन्दर किं वा पुरुष पक्ष में—हितकारक ) और ‘पद्माकर’ ( जलाशयपक्ष में—कमलों के आवास और पुरुषपक्ष में—लक्ष्मी के आवास ) जैसे आप हैं वैसा ही जलाशय भी है । किन्तु आप ‘बुध’ पण्डित ठहरे और जलाशय ‘जडाशय’ मूर्ख ( अचेतन ) ही ठहरा ।’

अनुवाद—‘निरुक्ति’ वह लक्षण है जिसे पूर्वसिद्ध अर्थ का वर्णन कहा गया है । जैसे कि ‘वेणीसंहार’ की ‘निहताशेषकौरव्य’ आदि पूर्वोद्धृत सूक्ति में जो लक्षण है वह ‘निरुक्त’ ही है ।

विमर्श—नाट्यशास्त्र की निरुक्ति ( निरुक्त ) परिभाषा यह है—

‘निरवयस्य वाक्यस्य पूर्वोक्तार्थप्रसिद्धये ।

यदुच्यते तु वचन निरुक्त तदुदाहृतम् ॥’ ( नाट्यशास्त्र . १६ १६ )

( २०—सिद्धि )

यहनां कीर्तनं सिद्धिर्मिप्रेतार्थसिद्धयः ॥ १८६ ॥

यथा—

‘यद्दीर्यं कूर्मराजस्य यच्च शेषस्य विक्रमः ।  
पृथिव्या रक्षयो राजन्नेकत्र त्वयि सत्स्मितम् ॥’

( २१—अंस )

ह्मादीनां मवेवृभंशा वाच्यादन्यतरद्वयः ।

यथा वेण्याम्—कञ्चुकिर्न प्रथि

‘दुर्योधन’—

सहस्रस्युत्पगण सवाम्भयं सहमित्रं ससुतं सहानुजम् ।  
स्वबलेन निहन्ति संयुगे नभिरास्याप्सुसुतं सुयोधनम् ॥’

( २२—विपर्यय )

विचारस्यान्यथाभावः सदिहासु विपर्ययः ॥ १८७ ॥

यथा—

‘मत्वा क्षोकमवातारं संतोषे यैः कृता मतिः ।  
त्वयि राजनि ते राजस्य तथा व्ययसायिनः ॥’

( २३—वाचिष्य )

दाक्षिण्य चेष्टया वाचा परविधानुवर्तनम् ।

अनुवाद—‘सिद्धि’ वह कथन है जिसे एक अमिप्रेत वर्ण की सिद्धि के किये जानेकी अमिप्रेत वर्णों का वर्णन कहा गया है। जैसे कि, इस सुक्ति अर्थात्—

‘महाराज ! पृथिवी के रक्षण में जो भी कूर्मराजस्य विष्णु का वीर्य है और जो भी शेष-बाग का विक्रम है वह सब एक आप ही में एकत्रित है। मैं जो कथन है वह ‘सिद्धि’ है।

अनुवाद—‘अंस’ वह कथन है जिसे किसी अन्य व्यक्ति का किसी विषय के वर्णन के स्थान पर विषयान्तर का वर्णन करना कहा करते हैं। जैसे कि ‘वेणीसंहार’ का इस प्रसङ्ग अर्थात्—

‘दुर्योधन ( कञ्चुकी से )—जब हीन ही संग्राम में क्या मृत्युवर्ण, क्या हनुमान्मय क्या मित्र और क्या अनुज-सबके साथ दुर्योधन को पाण्डुपुत्र अपने पराक्रम से मार गिरा होगा।

मैं जो कथन है वह ‘अंस’ है ( क्योंकि शोध में जाकर दुर्योधन पाण्डवों को स्वयं मार डालने के पहले पाण्डवों द्वारा अपने सारे भाते का वर्णन कर सकती है )।

अनुवाद—‘विपर्यय’ वह कथन है जिसे संदेह के कारण पूर्वविचार का परिवर्तन कहा जाता करता है। जैसे कि, इस सुक्ति अर्थात्—

‘महाराज ! वे लोग जो यह सोचकर कि ‘कोई भी ऐसा नहीं है जो वाच से सबे सन्तोष-साधन कर लुके है अब आपके रहते अपना मित्रत्व बहुत लुके है। मैं जो कथन है वह ‘विपर्यय’ है।

अनुवाद—‘वाचिष्य’ वह कथन है जिसे वेदा अथवा वाणी द्वारा परविध के अनुवर्तन-वर्णन में देखा जा सकता है। जैसे कि इस सम्बन्ध अर्थात्—

वाचा यथा—

‘प्रसाधय पुरीं लङ्कां राजा त्व हि विभीषण !  
अर्थेणानुगृहीतस्य न विघ्नः सिद्धिमन्तरा ॥’

एवं चेष्टयाऽपि ।

( २४—अनुनय )

वाक्यैः स्निग्धैरनुनयो भवेदर्थस्य साधनम् ॥ १८८ ॥

यथा वेण्याम्—अश्वत्थामान प्रति—

‘कृपः—दिव्यास्त्रग्रामकोविदे भारद्वाजतुल्यपराक्रमे किं न सभाव्यते त्वयि ।’

( २५—माला )

माला स्याद्यदभीष्टार्थं नैकार्थप्रतिपादनम् ।

यथा शाकुन्तले—

‘राजा—

किं शीकरैः क्लमविमर्दिभिरार्द्रवातं सञ्चारयामि नलिनीदलतालवृन्तम् ।

अङ्गे निवेश्य चरणानुवृत्त पद्मताम्री सवाहयामि करभोरु ! यथासुख ते ॥’

( २६—अर्थापत्ति )

अर्थापत्तिर्यदन्यार्थोऽर्थान्तरोक्तेः प्रतीयते ॥ १८९ ॥

यथा वेण्याम्—द्रोणोऽश्वत्थामान राज्येऽभिप्रेक्षुमिच्छतीति कथयन्त  
कर्णं प्रति—

‘राजा—साधु अङ्गराज ! साधु, कथमन्यथा—

‘राक्षसराज विभीषण ! अब तुम राजा हो, लङ्का की राजधानी अब तुम्हीं से शोभित होगी । भला आर्य राम का अनुग्रह हो और कार्यसिद्धि के विना कोई विघ्न पड़ जाय ।’  
मैं, ‘वाणी’ द्वारा परचित्तानुवर्तनात्मक ‘दाक्षिण्य’ स्पष्ट है ।

अनुवाद—‘अनुनय’ वह लक्षण है जिसे स्निग्ध वचनों द्वारा अभिप्रेत अर्थ का साधन कहा गया है । जैसे कि, ‘वेणीसहार’ के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

‘कृप—( अश्वत्थामा से ) दिव्यास्त्रों के एक पण्डित और आचार्य द्रोण सरीखे पराक्रमी तुमसे क्या कुछ नहीं हो सकता ?’

आदि में ‘अनुनय’ नामक लक्षण का स्वरूप स्पष्ट है ।

अनुवाद—‘माला’ वह लक्षण है जिसे अभीष्ट के प्रतिपादक अनेक अभिप्रेत अर्थों का उपवर्णन कहा करते हैं । जैसे कि ‘अभिज्ञानशाकुन्तल’ के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

‘राजा—प्रिये ! क्या शीतल जलबिन्दुओं से भिगोये नलिनीपत्र से तुम्हें पत्ता झल्लू ? क्या तेरे कमलसम कोमल चरणों को गोद में लेकर दबाऊँ, जिसमें तुम्हें अच्छा लगे ?’

इत्यादि में, जो लक्षण है वह ‘माला’ है ।

अनुवाद—‘अर्थापत्ति’ वह लक्षण है जिसे किसी एक वस्तु के वर्णन से, किसी दूसरी वस्तु का प्रकाशन कहा जाया करता है । जैसे कि ‘वेणीसहार’ के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

‘( कर्ण के यह कहने पर कि द्रोण अश्वत्थामा को राजा बनाना चाहते हैं ) दुर्योधन—  
अङ्गराज ! बहुत ठीक कहा तुमने ! नहीं तो—

दृश्यामयं सोऽतिरघो वक्ष्यमानं किरीटिना ।  
सिंधुराजमुपेक्षेत् नैव चेत्कथमन्यथा ॥'  
(१७—गर्हण)

दृषणोद्घोषणायां तु मर्त्सना गर्हणं तु वत् ।

यथा तत्रैव—कथं प्रति—

‘अश्वत्थामा—

मिथीयं गुरुरापभाषितवशात्किं मे तवयामुषं ?  
सम्प्रत्येव मयाविहाय समरं प्राप्तोऽस्मि किं त्वं यथा ?  
जातोऽहं स्तुतिर्वशात्कीर्तनविषां किं सारथीनां कुले ?  
क्षुद्रारातिकृषाप्रियं प्रतिकरोम्यक्षेपेण नाक्षेपेण यत् ?'  
(१८—पृष्ठा)

अभ्यर्थनापरैर्वाक्यैः पृच्छार्थान्वेषणं यथा ॥ १९० ॥—

यथा तत्रैव—

‘सुन्दरक—अज्ञा, अबि नाम सारथिद्विभो विदुः तुझेहि महाराजो दुखो  
घयो न वेति ।’ [ जाबो, अबि नाम सारथिद्विटीवो बड़ो दुष्पामिर्महाराजो दुखोवलो  
न वेति ]

(१९—प्रसिद्धि)

प्रसिद्धिलोकसिद्धार्यैरुक्तैरर्थसाधनम् ।

यथा विक्रमोर्वरयाम्—

वे अतिरघ जाकार्यं ज्ञेयं सिन्धुराज ( बब्रव ) को स्वयं अभ्यदान देकर भी  
क्योंकर गुप्तवास बैठे रहे जब कि अर्जुन सिन्धुराज को मार रहा था ।

अग्नि में जो कथन है वह ‘अर्थापत्ति’ है ।

अनुवाद—‘गर्हण’ वह कथन है जिसे ‘होषोद्घोषण होने पर मर्त्सना का प्रयत्न’  
कहा गया है । जैसे कि ‘बेणीसंहार’ के ही इस प्रसङ्ग अर्थात्—

‘अश्वत्थामा ( कथं के प्रति )—क्या तुझ के शाप-वपन से तुम्हारी तरह मेरा भी  
अस्य मिथीय हो गया ? क्या मैं भी तुम्हारी तरह कभी संयाम से भाग बिकका हूँ ? क्या  
मैं भी तुम्हारी तरह राजवंशावली के गुणगायक सारथियों के झुके में जन्मा हूँ ? कि  
इस झुके शापकों के अपकार का प्रतीकार अथ से न देकर रोके-बोले से हूँ ?’  
मैं जो कथन है वह ‘गर्हण’ नामक कथन है ।

अनुवाद—‘पृष्ठा’ वह कथन है जिसे ‘अभ्यर्थनापरक वचनों से अभिमत अर्थ का  
अन्वेषण’ कहा गया है । जैसे कि ‘बेणीसंहार’ के ही इस प्रसङ्ग अर्थात्—

‘सुन्दरक—अरे मझे लोगो ! क्या आपने सारथि के साथ महाराज दुर्घोषण को  
दुहर करी देया है ?’

अग्नि में ‘पृष्ठा’ नामक ही कथन स्पष्ट परिचित हो रहा है ।

अनुवाद—‘प्रसिद्धि’ वह कथन है जिसे किसी एकलुह और लोकप्रसिद्ध अर्थ के  
आधार पर किसी अभिमत अर्थ का साधन कहा गया है । जैसे कि ‘विक्रमोर्वशीव’ के  
इस प्रसङ्ग अर्थात्—

‘राजा—

सूर्याचन्द्रमसौ यस्य मातामहपितामहौ ।  
स्वयं कृतः पतिर्द्वाभ्यामुर्वश्या च भुवा च यः ॥’  
( ३०—सारूप्य )

सारूप्यमनुरूपस्य सारूप्यात्क्षोभवर्धनम् ॥ १९१ ॥

यथा वेण्याम्—दुर्योधनध्रान्त्या भीमं प्रति—

‘युधिष्ठिरः—दुरात्मन् ! दुर्योधनहतक !—’ इत्यादि ।  
( ३१—संचेप )

संक्षेपो यत्तु संक्षेपादात्मान्यार्थे प्रयुज्यते ।

यथा मम चन्द्रकलायाम्—

‘राजा—प्रिये !

अङ्गानि खेदयसि किं शिरीषकुसुमपरिपेलवानि मुधा ।

( आत्मान निर्दिश्य— )

अयमीहितकुसुमानां सम्पादयिता तवास्ति दासजनः ॥’

( ३२—गुणकीर्तन )

गुणानां कीर्तनं यत्तु तदेव गुणकीर्तनम् ॥ १९२ ॥

यथा तत्रैव—

‘नेत्रे खञ्जनगञ्जने सरसिजप्रत्यथि—’ इत्यादि ।

‘राजा—मैं पूछ रहा हूँ । मैं वह हूँ जिसके मातामह और पितामह सूर्य और चन्द्र हैं और जिसे उर्वशी और युधिष्ठीर, दोनों ने अपना पति वरण किया है ।’

मैं, जो लक्ष्मण है, वह ‘प्रसिद्धि’ नामक ही लक्ष्मण है ।

अनुवाद—‘सारूप्य’ वह लक्ष्मण है जिसे ‘किसी पूर्वानुभूत वस्तु का मन क्षोभकारक सारूप्यवर्णन’ कहा गया है । जैसे कि ‘वेणीसहार’ के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

‘( दुर्योधन के भ्रम से भीम को लक्ष्यकर ) युधिष्ठिर—नीच ! महापतिव दुर्योधन !’ इत्यादि में जो कथासविधान का सौन्दर्य है वह ‘सारूप्य’ नामक लक्ष्मण के ही कारण है ।

अनुवाद—‘संचेप’ वह लक्ष्मण है जिसे किसी अन्य पदार्थ के स्थान पर, संचेप के लिये, आत्मानुकीर्तन कहा गया है । जैसे कि मेरी अपनी कृति ‘चन्द्रकला’ के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

‘राजा—प्रिये ! शिरीषकुसुम की भाँति कोमल अपने अङ्गों को तू क्योंकर कष्ट दे रही है ?

( अपने आप को निर्दिष्टकर ) तेरे मनचाहे फूलों को चुनने के लिये तो तेरा यह दास खबा ही है ।’

मैं, जो लक्ष्मण है वह ‘संचेप’ ही है ।

अनुवाद—‘गुणकीर्तन’ वह लक्ष्मण है जिसे गुणों का उपवर्णन कहा गया है ।

जैसे कि मेरी अपनी कृति ‘चन्द्रकला’ की ‘नेत्रे खञ्जनगञ्जने सरसिजप्रत्यथि’ आदि पूर्वोद्धृत सूक्ति ‘गुणकीर्तन’ का ही द्योतन है ।



( ३१—छेद )

स लेखो मण्यते वाक्यं यस्सादृश्यपुरसरम् ।

यथा वेण्याम्—

‘राजा—

‘इसे खरति गाङ्गेये पुरस्कृत्य शिखण्डिनम् ।  
या रक्षाया पाण्डुपुत्राणां सेवाऽस्माकं भविष्यति ॥’

( ३२—मनोरथ )

मनोरथस्त्वभिप्रायस्योक्तिर्यज्ञान्तरेण यत् ॥ १९३ ॥

यथा—

‘रतिकेसिकस्य’ किञ्चिदेव मन्मथमन्वर’ ।  
परम सुष्ठु । समासन्मात्कावन्मरपुम्बसि प्रियाम् ॥’  
( ३५—अनुत्पत्तिः ) —

विशेषार्थोऽविस्तारोऽनुक्तसिद्धिरुदायते ।

यथा—

‘गृहपृष्ठपाटिकायाम्—

दृश्येते तन्वि । यावेतौ चारुचन्द्रमसं प्रति ।  
प्राप्ते कल्याणनामानाबुभौ तिप्यपुनर्वत् ॥’

अनुवाद—‘केस’ वह कवण है जिसे सादर्यप्रकाशनसमर्थ वाक्य का उपन्यास कहा जाता करता है । जैसे कि ‘बिनीसंहार’ की इस सूक्ति अर्थात्—

‘राजा—अभिमान्यु के मारने पर हमारी भी बड़ी प्रसंसा होगी जो सिलखी को अग्र कर भीष्म के मारने पर पाण्डुपुत्रों की प्रसंसा हुई ।’  
में जो कवण है वह ‘छेद’ है ।

अनुवाद—‘मनोरथ’ वह कवण है जिसे किसी अभिमत अभिप्राय का, विचित्रता के साथ प्रकाशन कहा गया है । जैसे कि इस सूक्ति अर्थात्—

‘जरी सुन्दरी ! रतिकेसि में मगुर कृत्रिम करनेवाका किंवा काममोहित यह ईश आनन्द के साथ हसी का अनुमान करता दिखाई दे रहा है ।’  
में जो कवण है वह ‘मनोरथ’ है ।

अनुवाद—‘अनुत्पत्ति’ वह कवण है जिसे किसी ( अवर्जित भी ) अव्यवस्थित का उद्गम अथवा तर्जना द्वारा विस्तार कहा गया है । जैसे कि ‘गृहपृष्ठपाटिका’ के इस संदर्भ अर्थात्—

बुद्धिमति पीते ! कान्तिमान् चन्द्र के समीप जो वे दी दिखायी दिया करते हैं उन्हें ही स्वनामधेय ‘तिप्य’ और ‘पुनर्वत्’ कहा करते हैं ।

में जो कवण है वह ‘अनुत्पत्ति’ ही है ( क्योंकि यहाँ विचित्रता, राम और कृष्ण, अवर्जित भी अभिप्राय उद्ग द्वारा ही विसदृश्य से प्रतीत हो जाता है ) ।

( ३६—प्रियोक्ति-प्रियवचन )

स्यात्प्रयाणयितुं पूज्यं प्रियोक्तिर्हर्षभाषणम् ॥ १९४ ॥

यथा शाकुन्तले—

‘उदेति पूर्वं कुसुमं ततः फलं घनोदयः प्राक्तदनन्तरं पयः ।

निमित्तनैमित्तिकयोरयं विधिस्तव प्रसादस्य पुरस्तु सम्पदः ॥’

( नाट्यालङ्कार : नामनिर्देश )

अथ नाट्यालङ्काराः—

आशीराक्रन्दकपटाक्षमागर्वोद्यमाश्रयाः ।

उत्प्रासनस्पृहाक्षोभपश्चात्तापोपपत्तयः ॥ १९५ ॥

आशंसाध्यवसायौ च विसर्पोल्लेखसंज्ञितौ ।

उत्तेजनं परीवादो नीतिरर्थविशेषणम् ॥ १९६ ॥

प्रोत्साहनं च साहाय्यमभिमानोऽनुवर्तनम् ।

उत्कीर्तनं तथा याच्ना परिहारो निवेदनम् ॥ १९७ ॥

प्रवर्तनाख्यानयुक्तिप्रहर्षाश्चोपदेशनम् ।

इति नाट्यालङ्कृतयो नाट्यभूषणहेतवः ॥ १९८ ॥

विमर्श—नाट्यशास्त्र की ‘अनुक्तसिद्धि’परिभाषा यह है—

‘प्रस्तावेनैव शेषोऽर्थं कृत्स्नो यत्र प्रतीयते ।

वचनेन विनाऽनुक्तसिद्धिं सा परिकीर्तिता ॥’ ( नाट्यशास्त्र १६. ४० )

अनुवाद—‘प्रियोक्ति’ ( प्रियवचन ) वह लक्षण है जिसे पूज्य लोगों की विज्ञापना के लिये आनन्दजनक भाषण कहा गया है । जैसे कि ‘अभिज्ञानशाकुन्तल’ के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

‘ससार में कारण और कार्य का यही नियम है कि पहले फूल फूलता है तब फल निकलता है, पहले मेघ मँडराते हैं तब वर्षा होती है । किन्तु महर्षि कण्व के अनुग्रह और भक्तजनों के कल्याण में यह लौकिक कार्यकारणभाव लागू ही नहीं होता ।’  
मे, जो ‘लक्षण’ है वह ‘प्रियोक्ति’ है ।

विमर्श—अर्थात् नाट्य और क्या का-य—नर्तन कथाशरीर के सविधान में आलाप-सलाप का वैदग्ध्य स्पष्ट परिलक्षित हुआ करता है । यह सब वस्तुतः तो कर्तव्य-कर्म ही है किन्तु शब्दार्थ व्यापार के रूप में हो इसका प्रकाशन हुआ करता है । ‘प्रियोक्ति’ भी इसी कथाशरीर-सविधान के उपयुक्त सम्भाषण वैदग्ध्य का एक रूप है ।

अनुवाद—नाट्यालङ्कार ये हैं जो कि नाट्य के शोभाभाष्यक हुआ करते हैं—

(१) आशी, (२) आक्रन्द, (३) कपट, (४) अक्षमा, (५) गर्व, (६) उद्यम, (७) आश्रय, (८) उत्प्रासन, (९) स्पृहा, (१०) क्षोभ, (११) पश्चात्ताप, (१२) उपपत्ति, (१३) आशंसा, (१४) अध्यवसाय, (१५) विसर्प, (१६) उल्लेख, (१७) उत्तेजन, (१८) परीवाद, (१९) नीति, (२०) अर्थविशेषण, (२१) प्रोत्साहन, (२२) साहाय्य, (२३) अभिमान, (२४) अनुवर्तन, (२५) उत्कीर्तन, (२६) याच्ना, (२७) परिहार, (२८) निवेदन, (२९) प्रवर्तन, (३०) आख्यान, (३१) युक्ति, (३२) प्रहर्ष और (३३) उपदेशन ।

(१—आशी)

## आशीरिष्टमनाशंसा—

यथा शाकुन्तले—

‘यथातेरिय शर्मिष्ठा पत्युर्बहुमथा मम ।

पुत्रं त्वमपि सभार्जं सेव पुरुषमाप्नुहि ॥’

(२—आश्विन)

—आक्रन्दः प्रलपित शुचां ।

विमर्श—भरतमुनि के नाट्यशास्त्र के १९ वें अध्याय में १९ मात्रवच्छगों (जबका मात्र ध्रुवों) का निकषण है। आशीन शब्द से ही इस अध्याय का पाठभेद बका जा रहा है। कुछ नाट्यशास्त्रकारों ने एक पाठ अपमाना है और कुछ ने दूसरा। १९ वीं अनाशी के भोक्ता के दोनों पाठों को अपमान पर गद्यवच्छग की संख्या पूरी कर दी है। साहित्यदर्पणकार ने दोनों पाठों को अपमान पर एक के आधार पर १९ मात्रवच्छग और दूसरे के आधार पर १९ मात्रवच्छग की कल्पना की है। ‘अभिनवभारती’ के अनुसूचक धर्मशास्त्रों को यह स्पष्ट हो पात्र है कि—‘नाट्यपाकट्टार’ और ‘नाट्यवच्छग’ को एक ही कल्पना कुछ ऐसी है जिसके सम्बन्ध में निःसन्देह सिद्ध संमत्त नहीं नहीं हुआ है। भरतमुनि के अनुसार तो ‘वच्छग’ का सम्बन्ध के वच्छग है (काव्यवन्तासु कर्तव्या रश्मिचक्षुःकृपाविता—नाट्यशास्त्र १९ १९९) और ‘कल्प’ निरूपण का अविभाज्य रहते हैं किन्तु भरतमुनि के अनुयायियों में ‘वच्छग’ के सम्बन्ध में विभिन्न मत प्रचलित रहे हैं। जो मङ्गीत तथा अभिनवभारती से ‘वच्छग’ का सम्बन्ध ‘कल्प’ से मानते हैं किन्तु भोक्ता द्वारा वच्छग विचाराव्यवहार के अनुसार ‘वच्छग’ का सम्बन्ध ‘कल्प’ से है। इसके अतिरिक्त कतिपय नाट्यशास्त्रकार ‘वच्छग’ और ‘कल्प’ को भिन्न भिन्न नाट्यकर्म के रूप में देखते हैं और कतिपय ऐसी हैं जिन्होंने ‘वच्छग’ को ‘कल्प’ (निरूपण) का ही सनातनिक मान लिया है। विचाराव्यवहार में जबने सभी धर्माचार्यों के ‘वच्छग’ और ‘कल्प’/विच्छग शब्दों का सामान्य स्वीकार कर १९ मात्रवच्छगों और १९ मात्रवच्छगों का निकषण कर डाला है। ‘मात्रवच्छग’/कार द्वारा वच्छग के प्रमाण में विचाराव्यवहार ने नाट्य के ‘वच्छग’ और ‘कल्प’ का विवेचन किया है। विचाराव्यवहार के विभिन्न ‘यथा’ ‘उपपादय’ ‘आशंसा’ ‘अभिनव’ ‘विमर्श’ ‘उपपादय’ ‘साहाय्य’ ‘उपपादय’ ‘उपपादय’ और ‘प्रकर्षण’ नामक नाट्यवच्छग (जबका ‘नाट्यवच्छग’) ‘भरत नाट्यशास्त्र’ ‘वच्छगवच्छग’ ‘वच्छगवच्छग’ आदि में नहीं नहीं अपेक्षित होते। ‘मात्रवच्छग’ के आत्मिक रूप का ही सम्भवतः इन्द्र पूर्णित हो हुआ हो। जो कुछ भी हो ‘वच्छग’ जबका ‘कल्प’ का निरूपण विवेक विचाराव्यवहार ने ही नहीं किया। इनके ‘उप’ और ‘अपेक्ष’ और ‘मैत्राव’ की विवेक विचाराव्यवहार के ही सामान्य पूर्ववत् ही (अन्तर्गत रूप से) नहीं विचारनी दे रही है।

अनुवाद—‘आशी’ यह नाट्यपाकट्टार है जिसे इच्छा की आशंसा जबका अनुसूचक कामना कहा गया है। जैसे कि, ‘अभिज्ञानशाकुन्तल’ के इस सम्बन्ध में कहा—

‘जैसे महाराज यथापि के किसे महाराणी शर्मिष्ठा रही जैसे ही अपने पति के किसे द हो का और जैसे महाराणी शर्मिष्ठा ने सभार्जुन को अपने दिया जैसे ही द भी एक सभार्जुन से पुत्रवती हो ।’

में जो नाट्यपाकट्टार है यह ‘आशी’ है।

अनुवाद—‘आश्विन’ यह नाट्यपाकट्टार है जिसे शोकवि के आशय के कर्म प्रकाश

यथा वेण्याम्—

‘कञ्चुकी—हा देवि ! कुन्ति ! राजभवनपताके !—’ इत्यादि ।

( ३—कपट )

कपटं मायया यत्र रूपमन्यद्विभाव्यते ॥ १९९ ॥

यथा कुलपत्यङ्के—

‘मृगरूप परित्यज्य विधाय कपटं वपुः ।

नीयते रक्षसा तेन लक्ष्मणो युधि संशयम् ॥’

आदि के उपवर्णन में देखा जा सकता है । जैसे कि, ‘वेणीसंहार’ के इस प्रसंग अर्थात्—  
‘कञ्चुकी—हा देवि ! कुन्ति ! हा राजभवनपताके !’ आदि में ‘आक्रन्द’ की ही शोभा-  
धायकता दिखाई देती है ।

विमर्श—नाट्यशास्त्र के एक पाठ का ‘आक्रन्द’लक्षण यह है—

‘आत्मभावमुपन्यस्य परसादृश्यमुक्तिभिः ।

तीव्रार्थभाषण यत्स्यादाक्रन्दः स तु कीर्तितः ॥’

जिसकी ‘अभिनवभारती’-सम्मत व्याख्या यह है—

तीव्रः साक्षादवाच्यो योऽर्थस्तस्य परं प्रति सादृश्ययोजनप्रकारैरात्माभिप्रायं प्रमुखे  
दत्त्वा तत्समन्तत भाषण स्फुटकथन तन्निजभावाविष्करणप्रधानत्वादाक्रन्दो नाम लक्ष-  
णम् । यथा मसैव—

‘किं पान्थ त्वरसे विलोक्य निशां या बुभुक्षुषी पाण्डुरा  
चन्द्रं चुम्बितुमीहते प्रकटयन्त्यग्रे सरागां स्थितिम् ।  
यद्वा नागरभोगदुर्लभितकैर्न्यस्तापि न ज्ञायते  
ग्रामेऽग्राम्यजनोपभोगसुभगं निर्व्याजिरम्यं सुखम् ॥’

अत्रोत्तरेणार्धेन ग्रामीणो रम्यतमो भोजनशयनादिसम्भोग इति वक्ष्या मोहप्रायोऽ-  
वाच्य आत्माभिप्रायः । तदरोचकत्वं तदुभय प्रमुखे निधाय निशाकरवृत्तान्तसादृश्येन  
तीव्रः स्वात्मानुराग आविष्कृतः—  
( अभिनवभारती नाट्यशास्त्र १६. १९ )

यहाँ यह स्पष्ट है कि साहित्यदर्पणकार ने इस ‘आक्रन्द’लक्षण का अनुसरण नहीं किया है  
अपितु ‘भोजराज’ तथा ‘शारदातनय’ के इस आक्रन्दस्वरूप अर्थात्—

‘आक्रन्दोऽभीष्टविषयः शोकलाभ उदाहृतः’ ।

का ही दर्शन किया है ।

अनुवाद—‘कपट’ वह नाट्यालङ्कार है जिसे व्याजपूर्वक किसी वस्तु के एक भिन्न  
रूप का प्रकाशन कहा गया है । जैसे कि ‘कुलपत्यङ्क’ ( किसी नाटक के अङ्कविशेष ) की  
इस सूक्ति अर्थात्—

‘मारीच ने अपना मृगरूप छोड़कर राक्षसरूप ग्रहण कर लिया है और वह मंग्राम  
में लक्ष्मण को प्राणसशय में डाल रहा है ।’  
में, जो नाट्यालङ्कार है वह ‘कपट’ है ।

विमर्श—नाट्यशास्त्र का ‘कपट’लक्षण यह है—

‘छलमुक्त्वा त्वन्येषामेभिः सन्धानाभिभावक कपटम् ।’

( नाट्यशास्त्र १६. ३९ )

(४—अक्षमा)

अक्षमा सा परिमषः स्वरूपोऽपि न विपद्यते ।

यथा शाकुन्तले—

'यज्ञा—मो' सत्यवादिम् ! अम्युपगतं तावदस्मामि । किं पुनरिमामभि  
सन्धाय क्षम्यते ।

शाकुन्तलः—'मिनिपात'—' इत्यादि ।

(५—गर्भ)

गर्वाऽवलेपनं वाक्य—

यथा तत्रैव—

'यज्ञा—ममापि नाम सखैरमिमूयन्ते गृहा ।'

(१—उत्तम)

—कार्यस्फारम्भं तद्यमः ॥ २०० ॥

यथा कुम्भाङ्के—

'रायणः—पर्यामि शोकविषशोऽन्तकमेव सावत् ।'

(७—आश्रय)

ग्रहण गुणवरकार्यहेतोराश्रय उच्यते ।

यथा विभीषणनिमत्सनाङ्के—

'विभीषणः—राममेवाश्रयामि' इति ।

अनुवाक—'अक्षमा वह नादवाक्यकार है जिसे मित्रिभ्याम् भी अभाव की क्षमाहक  
शीलता का वर्णन कहा गया है । जैसे कि 'अभिज्ञानशाकुन्तल' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—'राजा—जो सत्यवादी सुमिराज ! मैंने समझ लिया कि मैं प्रबन्धक छूटा । तन्मित्र  
हूँ नारी की प्रवचनवा ॥ सुदी क्या मित्रगा, वह नहीं समझ सक्त !

शाकुन्तल—सर्वनाश मित्रेणा महाराज ! वर्धनाश ।

इत्यादि में अक्षमा की शांताशासकता इतिवृत्त को सुन्दर बना रही है ।

अनुवाक—'गर्भ' यह नादवाक्यकार है जिसे अभिमानपूर्वक किसी वचन का उपविबन्ध  
कहा गया है । जैसे कि 'अभिज्ञानशाकुन्तल' के ही इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'राजा—आह ! मेरे घर घर भी जीवजन्तुओं का आक्रमण ।'

आदि में 'गर्भ' ही नादवाक्यकार के रूप में दिखाई दे रहा है ।

अनुवाक—'उत्तम' वह नादवाक्यकार है जिसे कार्यादय का वयन कहा गया है । जैसे  
कि 'कुम्भाङ्क' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—'रायण—हृत्प्रजिह्व न रहा, मैं अब अपने आप का ही साक्षात् समराज के रूप में  
रह रहा हूँ ।'

आदि में 'उत्तम' का वयन रह रहा है ।

न १—आश्रय वह नादवाक्यकार है जिस वाक्यविधि के लिए गुणगुण जनपदों के  
आश्रय करने का वर्णन आदि कहा गया है । जैसे कि 'विभीषणनिमत्सनाङ्क' के इस  
प्रसङ्ग अर्थात्—

(८—उत्प्रासन)

उत्प्रासनं तूपहासो योऽसाधौ साधुमानिनि ॥ २०१ ॥

यथा शाकुन्तले—

‘शार्ङ्गरवः—राजन् ! अथ पुनः पूर्ववृत्तान्तमन्यसङ्गाद्विस्मृतो भवान् । तत्कथमधर्मभीरोर्दारपरित्यागः—’ इत्यादि ।

(९—आकाक्षा)

आकाङ्क्षा रमणीयत्वाद्बस्तुनो या स्पृहा तु सा ।

यथा तत्रैव—

‘राजा—

चारुणा स्फुरितेनायमपरिक्षतकोमल ।

पिपासतो ममानुज्ञा ददातीव प्रियाधर ॥’

(१०—क्षोभ)

अधिक्षेपवचःकारी क्षोभः प्रोक्तः स एव तु ॥ २०२ ॥

यथा—

‘त्वया तपस्विचाण्डाल ! प्रच्छन्नवधवर्तिना ।

न केवलं हतो वाली स्वात्मा च परलोकतः ॥’

‘विभीषण—अच्छी बात है अब मैं राम की शरण लूँगा ।’

आदि में, ‘आश्रय’ ही इतिवृत्त-सौन्दर्य का वर्द्धक है ।

अनुवाद—‘उत्प्रासन’ वह नाट्यालङ्कार है जिसे अपने आप को सज्जन माननेवाले किसी दुर्जन के उपहास को वर्णन कहा गया है । जैसे कि ‘अभिज्ञानशाकुन्तल’ के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

‘शार्ङ्गरव—राजन् ! यदि पहली बातें ( शाकुन्तला से अपना गान्धर्वविवाह ) आप कार्यव्यग्र होने के कारण भूल गये हैं तब भी अधर्म से डरनेवाले आपका यह ‘धर्मपत्नी-परित्याग’ कैसा ?’

आदि में, ‘उत्प्रासन’ ही इतिवृत्त का उपरञ्जक अलङ्कार है ।

अनुवाद—‘आकाक्षा’ वह नाट्यालङ्कार है जिसे किसी वस्तु की मनोहरता के कारण उसकी लालसा का वर्णन कहा गया है । जैसे कि ‘अभिज्ञानशाकुन्तल’ के ही इस प्रसङ्ग अर्थात्—

‘राजा—अब तक अनुम्वित होने के कारण अतिशय कोमल प्रियाधर की यह सुन्दर फड़कन, ऐसा लगता है, मुझे रसपान की अनुज्ञा सी दे रही है ।’

आदि में ‘आकाक्षा’ का ही उपनिबन्ध है ।

अनुवाद—‘क्षोभ’ वह नाट्यालङ्कार है जिसे अधिक्षेपार्थक वचन का उपन्यास कहा गया है । जैसे कि, इस प्रसङ्ग अर्थात्—

‘अरे तपस्वि-चाण्डाल ! राम ! छिपकर मारनेवाले तूने सुश्रु वाली को ही नहीं मारा, अपने आपको भी परलोक के लिये नष्ट कर दिया ।’

आदि में, इतिवृत्त का जो अलङ्कार है वह ‘क्षोभ’ ही है ।

( ११—पञ्चात्ताप )

। मोहावधीरितार्थस्य पञ्चात्तापः स एव तु ।

यथानुशापाद्धे—

‘राम—

किं हेठ्या न विद्युम्बितोऽस्मि बहुशो मिथ्यामिरातस्वया ।’ इति ।

( १२—उपपत्ति )

उपपत्तिर्मता हेतोरुपन्यासोऽर्थसिद्धये ॥ २०३ ॥

यथा ध्व्यशिलायाम्—

‘स्त्रियस्ते स्त्रियमाणे या त्वयि जीवति जीवति ।

तां पश्यिष्यसि जीवन्तीं रक्षात्मानं ममाश्रुमि ॥’

( १३—आश्रयता )

आश्रयतं स्यादाश्रयता—

यथा श्मशानं—

‘माधव—

तत्परयेयमनङ्गमङ्गलागृहं मूयोऽपि तस्या मुक्तम् ।’ इति ॥

( १४—अप्यवसाय )

—प्रतिष्ठाप्यवसायकः ।

यथा नमः प्रभावत्याम्—

वनवाट—‘पञ्चात्ताप’ यह नाटकाङ्कहार है जिसे मोहावधौ अवधीरित वस्तु के किये अनुशाप का वर्णन कहा गया है । जैसे कि ‘अनुशापाद्ध’ क इस प्रसङ्ग अर्थात्—

‘राम—बोह ! सीता के मुँह पर किये मेमालराय कयावे, मेरा तुम्हव जी उसने स्वीकार न किया ।’

आदि में, जो नाटकाङ्कहार है वह ‘पञ्चात्ताप’ है ।

अनुवाद—‘उपपत्ति’ यह नाटकाङ्कहार है जिसे कार्यसिद्धि के किये अप्युक्त साधन का उपन्यास कहा गया है । जैसे कि, ‘ध्व्यशिला’ के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

‘जो तेरे मरने पर मर जानगी और जीने पर जीती रहेगी, उसे यदि जीवित रचना चाहता हो तो मेरी माया से अपने आपको बचा ले ।’

आदि में जो नाटकाङ्कहार है वह ‘उपपत्ति’ है ।

अनुवाद—‘आश्रयता’ यह नाटकाङ्कहार है जिसे अश्रितवस्तु वस्तु की प्राप्ति के किये आश्रय का वर्णन कहा गया है । जैसे कि ‘माधवशिला’ के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

‘माधव—यदि मैं काम के अङ्गकायास विप्रासुख को बार्बर होयता तो कैसा अश्रय होता ।

आदि में जो नाटकाङ्कहार है वह आश्रयता है ।

अनुवाद—‘अप्यवसाय’ यह नाटकाङ्कहार है जिसे किसी कार्य पर आश्रय होने के निश्चय का वर्णन कहा गया है । जैसे कि, मेरी अपनी कृति ‘असावरीपरिवन’ के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

‘वज्रनाभः—

अस्य वक्षः क्षणेनैव निर्मथ्य गद्यानया ।  
लीलयोन्मूलयाम्येष भुवनद्वयमद्य वः ॥’

(१५—विसर्प)

विसर्पो यत्समारब्धं कर्मानिष्टफलप्रदम् ॥ २०४ ॥

यथा वेण्याम्—

‘एकस्यैव विपाकोऽयम्—’ इत्यादि ।

(१६—उल्लेख)

कार्यग्रहणमुल्लेख—

यथा शाकुन्तले—राजानं प्रति—

‘तापसौ—समिधाहरणाय प्रस्थितावावाम् । इह चास्मद्गुरोः कण्वस्य  
कुलपतेः साधिदैवत इव शकुन्तलानुमालिनीतीरमाश्रमो दृश्यते । न चेदन्य-  
(या) कार्यातिपात’, प्रविश्य गृह्यतामतिथिसत्कारः’ इति ।

(१७—उत्तेजन)

—उत्तेजनमितीष्यते ।

स्वकार्यसिद्धयेऽन्यस्य प्रेरणाय कठोरवाक् ॥ २०५ ॥

यथा—

‘इन्द्रजिच्चण्डवीर्योऽसि नाम्नैव बलवानसि ।

धिनिधक्प्रच्छन्नरूपेण युध्यसेऽस्मद्भयाकुलः ॥’

‘वज्रनाभ— चणभर में अपनी इस गदा से इसकी छाती चूर-चूरकर अब मैं दोनों  
लोकों का समूलोन्मूलन कर दिखाता हूँ ।’

आदि में, जो ‘अलङ्कार’ है वह ‘अभ्यवसाय’ ही है ।

अनुवाद—‘विसर्प’ वह नाट्यालङ्कार है जिसे किसी अनिष्टकारक कार्यारम्भ का  
उपवर्णन कहा गया है ।

जैसे कि ‘वेणीसहार’ के प्रसङ्ग ‘एकस्यैव विपाकोऽयम्’ आदि में जो नाट्यालङ्कार है  
वह ‘विसर्प’ ही है ।

अनुवाद—‘उल्लेख’ वह नाट्यालङ्कार है जिसे किसी कार्य के करने की स्वीकृति का  
वर्णन कहा गया है । जैसे कि ‘अभिज्ञानशाकुन्तल’ के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

‘दोनों तापस ( राजा से )—हम दोनों तो समिधा लाने निकले हैं । यहाँ मालिनी-  
तीर पर साक्षात् देवी की आँति शकुन्तला के सरक्षण में, हमारे कुलपति कण्व का आश्रम  
है । यदि आपको कोई विशेष कार्य न हो, तो वहाँ चलें और हमारा आतिथ्य स्वीकार  
करें ।’ आदि में जो नाट्यालङ्कार है वह ‘उल्लेख’ है ।

अनुवाद—‘उत्तेजन’ वह नाट्यालङ्कार है जिसे अपनी कार्यसिद्धि के निमित्त, किसी  
दूसरे को प्रेरित करने के लिये, कठोर वचन का उपन्यास कहा गया है । जैसे कि  
इस प्रसङ्ग अर्थात्—

‘इन्द्रजित्, तू तो प्रचण्डवीर्य है, तेरे नाम से ही तेरी शक्ति का महत्त्व स्पष्ट हुआ



( १८—परीवाद )

मर्त्तना तु परीवादो—

यथा मुन्दराह्—

‘दुर्पोषता—धिग् धिग् सूत । किं कृतवानसि ।

। प्रसस्य मे प्रकृतिदुर्लभितस्य पाप पापं विधास्यति—इत्यादि ।

( १९—नीति )

—नीतिं क्षात्रेण वर्तनम् ।

यथा शाकुन्तले—

‘दुष्पन्तः—विनीतवेपप्रवेश्यानि तपोवनानि ।’ इति ।

( २०—अर्थविशेषण )

उक्तस्यार्थस्य यच्च स्यादुत्कीर्तनमनेकधा ॥ २०६ ॥

उपालम्भविशेषेण तत् स्यार्थविशेषणम् ।

यथा शाकुन्तले राजानं प्रति—

‘शाङ्कर’—आ कथमिदं नाम, किमुपन्यस्वमिति ? । ननु भवानेव नितरां लोकदुत्तान्निष्पन्नः ।

सतीमपि क्षात्रिकुलैकसंभवा अनोऽयन्वा मर्तुमतीं विराड्गते ।

अतः समीपे परियेसुरिष्यते प्रियाप्रिया वा प्रमदा स्वयं भुमि ॥’

करता है, किन्तुने दुःख की बात है कि तब भी मैं मुससे डर रहा है और बचकप में मुससे कृपा चाहता है ।’

आदि में जो लाटवाक्य है वह ‘उत्तेजन’ है ।

अनुवाद—‘परीवाद’ वह लाटवाक्य है जिसे मर्त्तनापुत्र वचन का उपनिबन्ध कहा गया है । जैसे कि ( वेणीसंहार के ) ‘मुन्दराह’ के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

‘दुर्बोध—बिस्मय है मुस आरभी को ! यह ऐसे क्या किया ? ओह ! अब तो वह नीच भीम मेरे प्रिय अपुत्र दुःसासन को मार ही जायेगा ।

आदि में जो लाटवाक्य है वह ‘परीवाद’ ही है जो कि यहाँ इतिवृत्त को मुन्दर बना रहा है ।

अनुवाद—‘नीति’ वह लाटवाक्य है जिसे शाकलुसरथ का कर्मक कहा गया है । जैसे कि ‘अभिज्ञानशाकुन्तल’ के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

‘दुष्पन्त—तपोवन के भीतर चकवा है । ऐसे वेप में चकवा होगा जिसमें बलता सकल ।

आदि में जो लाटवाक्य है वह ‘नीति’ की ही बोधना है ।

अनुवाद—‘अर्थविशेषण’ वह लाटवाक्य है जिसे पूर्वोक्त भी अर्थ का, उपालम्भ के अभिप्राय से अनेकवार पुनर्वचन कहा गया है । जैसे कि, ‘अभिज्ञानशाकुन्तल’ के ही इस प्रसङ्ग अर्थात्—

‘शाङ्कर ( राजा से )—ओह ! क्या तुमने कहा कि ‘यह सब क्या ?’ भरे कोक-वृक्षान्तमिषु तुम्हारे जैसे राजा लोग होंगे इस बातप्रती बला ऐसे कहाँ—

इका तो यही जाता है कि कोरा, सती भी सबका भी पर, यदि वह अपने माता-पिता के घर ही रहती रहे, तरह तरह की र्थकार्य करने लगते हैं । इसीकिय अभी माता-पिता यही

( २१—प्रोत्साहन )

प्रोत्साहनं स्यादुत्साहगिरा कस्यापि योजनम् ॥ २०७ ॥

यथा बालरामायणे—

‘कालरात्रिकरालेयं स्त्रीति किं विचिकित्ससि ।

तज्जगत्त्रितय त्रातुं तात ! ताडय ताडकाम् ॥’

( २२—साहाय्य )

साहाय्यं सङ्कटे यत्स्यात् सानुकूल्यं परस्य च ।

यथा वेण्याम्—कृप प्रति—

‘अश्वत्थामा—त्वमपि तावद्राज्ञः पार्श्ववर्ती भव ।

कृपः—वाञ्छाम्यहमद्य प्रतिकर्तुम्—’ इत्यादि ।

( २३—अभिमान )

अभिमानः स एव स्यात्—

यथा तत्रैव—

‘दुर्योधनः—मातः किमप्यसदृशं कृपण वचस्ते—’ इत्यादि ।

चाहते हैं कि उनकी विवाहिता पुत्री, चाहे वह अपने पति की प्यारी हो या न हो, पति के पास ही रहे ।’

आदि में जो, नाट्यालङ्कार हैं वह ‘अर्थविशेषण’ है ।

अनुवाद—‘प्रोत्साहन’ वह नाट्यालङ्कार है जिसे किसी को किसी कार्यसिद्धि की ओर प्रवृत्त करने के लिये, उत्साहवर्धक वचन का विन्यास कहा गया है । जैसे कि ( महाकवि राजशेखरकृत ) ‘बालरामायण’ के इस सदर्थ अर्थात्—

‘तात ! यह ताडका स्त्री नहीं, कालरात्री सी एक विभीषिका है । त्रिभुवन की रक्षा के लिये इसे मारना ही उचित है ।’

आदि में, जो नाट्यालङ्कार है वह ‘प्रोत्साहन’ है ।

विमर्श—नाट्यशास्त्र के अनुसार ‘प्रोत्साहन’ का यह स्वरूप है—

‘उत्साहजननै स्पष्टैरर्थैरौपम्यसंश्रयै ।

- प्रसिद्धैरूपगूढै च ज्ञेय प्रोत्साहनं बुधै ॥’ ( नाट्यशास्त्र २६ १० )

जिसकी ‘अभिनवभारती’ व्याख्या से यह स्पष्ट हो जाता है कि ‘प्रोत्साहन’ के द्वारा काव्य-नाट्य के इतिवृत्तशरीर का सौन्दर्य निखारा जाया करता है ।

अनुवाद—‘साहाय्य’ वह नाट्यालङ्कार है जिसे सकटकाल में किसी दूसरे के प्रति सहायता का उपवर्णन कहा गया है । जैसे कि ‘वेणीसहार’ के इस सदर्थ अर्थात्—

‘अश्वत्थामा ( कृप से )—आप भी अब महाराज के समीप पहुँचे ।

कृप—मैं भी चाहता हूँ कि शत्रुओं से वदला ले लूँ ।’

आदि में, जो नाट्यालङ्कार है वह ‘साहाय्य’ है ।

अनुवाद—‘अभिमान’ वह नाट्यालङ्कार है जिसे अभिमानसूचक वाक्य-प्रयोग कहा गया है । जैसे कि ‘वेणीसहार’ के इस सदर्थ अर्थात्—

‘दुर्योधन—माँ ! तुम्हारी बात ( अर्थात् पाण्डवों को साथ देने की बात ) बड़ी दीनताभरी और तुम्हारे लिये सर्वथा अनुचित सी लग रही है ।’

( १७—अनुवर्तन )

—प्रथयादनुवर्तनम् ॥ २०८ ॥

अनुवृत्तिः—

यथा शाकुन्तले—

‘राजा—( शाकुन्तलां प्रति ) अयि ! तपो वर्धते ?

अनुसूया—‘वापि अतिथिविसेससाहेण’ [ इवाभीमतिथिविसेसकामेव ] इत्यादि ।

( १७—उत्कीर्तन )

—भूतकार्याख्यानमुत्कीर्तन मत्तम् ।

यथा बालरामायणे—

‘अत्रासीत्कपिपाराशम्वनविधि’ शक्त्या भवद्वेषरे ।

गाढं पक्षसि ठाबिते हनुमता श्रोत्राद्विरत्राहृत’ ।’ इत्यादि ।

‘वापि’ में जो वाक्यकाङ्क्ष है वह अस्मिमान है ।

विमर्श—वाक्यकाङ्क्ष में अस्मिमान की वह परियाया है—

‘वार्त्तमात्मस्तु बहुविर्भवैः कार्यपुच्छिमि ।

त वा पर्यवतिष्ठेत् सोऽस्मिमानस्तु संश्रितः ॥ ( नाटकादत्र १६, ८ )

और अस्मिन्परवर्तनमें मैं हूँ अस्मिमान’ कहकर इस स्वरचित सूक्ति अर्थात्—

‘सीताशोरपुच्छकाया परि कथाः कस्मात्प्रभो मे वृत्तं

संभ्रम्यन्मया कलकलपरधीस्तंभस्तुमुच्छिता ।

किं प्राप्ताम् न हनुमत्पुत्र मिश्रतमार्गकल्पमन्त्राद्यै

वीर्यैस्ते किमु पश्चिमोदविकसात् सम्पापवन्धा स्थितिः ॥’

के वाक्य पर इसे इस प्रकार समझाया है—

‘अत्र हि उत्तरपर्यवर्त्येत कदा कदा यस्यां कार्यपुच्छिमि भ्रम्योद्यमानाः “

वार्त्तमात्मोऽयि वा न निवर्तते ।’ तथाभूतोऽर्थोऽर्थैकिकत्वात्तदनुपाया

विच्छेदस्य कृता है जैसे गान्ध्याकाङ्क्षों का नाम भी वाक्यार्थ-वेद से विन्न-विन्न होता पक गया है ।

अनुवर्त—‘अनुवर्तन’ वह वाक्यकाङ्क्ष है जिसे विषयपूर्वक किसी के स्वरूपविषय का वर्णन कहा जाता करता है ।

जैसे कि ‘अस्मिन्नामसङ्कलपक’ के इस सम्बन्ध अर्थात्—

‘राजा ( शाकुन्तला से ) कहिये आप की उपस्था को विविध बल रही है ?

अनुसूया—‘नव विरोधता, जब कि आप जैसे अतिथिविसेस मिल गये हैं ।’

‘वापि’ में ‘अनुवर्तन’ का ही स्वरूप स्पष्ट है ।

अनुवर्त—‘उत्कीर्तन’ वह वाक्यकाङ्क्ष है जिसे भूतपूर्व कालों का कथा वृत्तान्तों का उपवर्णन कहा गया है । जैसे कि, इस सम्बन्ध अर्थात्—

‘जहाँ वह स्वाम है जहाँ हम लोग बागपाश में बँधे गये थे यह वह स्वाम है जहाँ हमारे देवर की दुष्टी में मेघनाद की सखि ( अश्विनीधर ) ने बोट की पी और हनुमान् उनके जिम्मे प्रोणाचक ( के साथ-साथ सजीववी बूटी ) उड़ा लाये थे ।’

‘वापि’ में जो वाक्यकाङ्क्ष है वह ‘उत्कीर्तन’ है ।

( २६—याच्ना )

याच्ना तु कापि याच्ना या स्वयं दूतमुखेन वा ॥ २०९ ॥

यथा—

‘अद्यापि देहि वैदेहीं दयालुस्त्वयि राघवः ।  
शिरोभिः कन्दुकक्रीडां किं कारयसि वानरान् ॥’  
( २७—परिहार )

परिहार इति प्रोक्तः कृतानुचितमार्जनम् ।

यथा—

‘प्राणप्रयाणदुःखार्तं उक्तवानस्म्यनक्षरम् ।  
तत्क्षमस्व विभो ! किं च सुग्रीवस्ते समर्पितः ॥’  
( २८—निवेदन )

अवधीरितकर्तव्यकथनं तु निवेदनम् ॥ २१० ॥

यथा राघवाभ्युदये—

अनुवाद—‘याच्ना’ वह नाट्यालङ्कार है जिसे स्वयं या दूतमुख से, किसी से किसी वस्तु की याचना का उपनिबन्ध कहा गया है । जैसे कि, इस सदर्म अर्थात्—

‘अभी समय है तुम सीता को लौटा दो । राजाओं के मुण्डों से वानरसैनिकों की कन्दुकक्रीडा क्यों प्रारम्भ कराओ ? राम दयालु हैं । सोच लो ।’

आदि में, जो नाट्यालङ्कार है वह ‘याच्ना’ है ।

विमर्श—भरत-नाट्यशास्त्र में ‘याच्ना’ का यह लक्षण है—

‘आदौ यत्क्रोधजननमन्ते हर्षप्रवर्धनम् ।

यत्र प्रियं पुनर्वाक्यं सा याच्ना परिकीर्तिता ॥’ ( नाट्यशास्त्र १६ २२ )

जिसे अभिनवमार्ताकार ने अपनी इस स्वरचित सूक्ति अर्थात्—

‘भूमि कण्टकिनी पुरो विटपिन प्रायो बहूपद्रवा  
भूयश्चैष दिवाकरो मृगयते सन्ध्याङ्गनासङ्गमम् ।  
तद्विश्रम्य जनोऽयमत्र सद्ने प्राभ्योचितं सेव्यतां  
प्रातः पान्थ विचार्य चेतसि चिरं स्थातासि गन्तासि वा ॥’

के आधार पर इस प्रकार समझाया है—

‘प्रथम यत्तदात्वे परुपमायत्यां च सफल वस्तुच्यते ततश्च प्रियम् । पुनः शब्दात्ततो हितं पुनः प्रियमित्येव प्रबोध्यस्य प्रबोधधिया याचनाद् याच्ना ।’

अनुवाद—‘परिहार’ वह नाट्यालङ्कार है जिसे किसी पूर्वकृत अनुचित कार्य के परिहार का घर्णन कहा गया है जैसे कि इस सदर्म अर्थात्—

‘हे राम ! अपने प्राणों के वियोग में व्याकुल मैंने तुम्हें जो भी अनुचित कहा उसके लिये क्षमा चाहता हूँ । तुम्हारी सेवा के लिये सुग्रीव को सौंप रहा हूँ ।’  
आदि में, जो नाट्यालङ्कार है वह ‘मार्जन’ है ।

अनुवाद—‘निवेदन’ वह नाट्यालङ्कार है जिसे पहले तिरस्कृत विषय का पुनः स्वीकारघर्णन कहा गया है । जैसे कि ‘राघवाभ्युदय’ के इस सदर्म अर्थात्—

‘सहस्रम्—आय । समुद्राभ्यर्चनया गन्तुमुद्यतोऽसि तत्किमेतत् ।’

( २९—प्रवर्त्तन )

प्रवर्त्तन तु कार्यस्य यत्स्यात्साधुप्रवर्त्तनम् ।

यथा वेण्याम्—

‘राजा—कञ्चकिम् ! देवस्य देयकीमन्दनस्य बहुमानाद्वत्सस्य भीमसेनस्य विजयमङ्गलाय प्रवर्त्त्यन्तां सत्रोपितां समारम्भा ।’

( ३०—आख्याय )

आख्यानं पूर्ववृत्तोक्तिः—

यथा तत्रैव—

‘देशा सोऽयमराविशोणितकलैयस्मिन् हवा पूरिता—’ इत्यादि ।

( ३१—पुक्ति )

—पुक्तिरर्थावधारणम् ॥ २११ ॥

यथा सत्रैव—

‘यदि समरमपास्य नास्ति सृत्योभयमिति युक्तमितोऽन्यत् प्रयातुम् ।

अथ मरणमवरयमेव जन्तो किमिति मुखा मस्ति यरा कुरुष्वम् ॥’

‘कृष्ण—आय ! आप तो समुद्र की ही अभ्यर्चना से प्रभाव के किये उद्यत हुए, लेकिन अब क्या ?’

आदि में जो वाक्यान्तहार है वह ‘निवेदन’ है ।

अनुवाद—‘प्रवर्त्तन’ वह वाक्यान्तहार है जिसे किसी व्यक्तिगत कर्म की ओर प्रवृत्ति—वर्णन कहा गया है । जैसे कि ‘बेजीसहार’ के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

‘राजा—कञ्चकि ! भगवान् देवकीमन्दन कृष्ण के कहने से भीमसेन के विजयमङ्गल की लैयारीबाँट चुके हों ।

आदि में जो वाक्यान्तहार है वह ‘प्रवर्त्तन’ है ।

अनुवाद—‘आख्याय’ वह वाक्यान्तहार है जिसे पूर्ववृत्तान्त का अनुवर्णन कहा गया है । जैसे कि ‘बेजीसहार’ के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

‘अथत्यामा—यही वह स्थान है जहाँ सन्तुओं के रक्तजल से जलाशय भर दिये गये थे ।’

आदि में जो वाक्यान्तहार है वह ‘आख्याय’ है ।

अनुवाद—‘पुक्ति’ वह वाक्यान्तहार है जिसे अद्वैत-निश्चय का वर्णन कहा गया है । जैसे कि, ‘बेजीसहार’ के ही इस प्रसङ्ग अर्थात्—

अथत्यामा—बीरो ! यदि संसार के अतिरिक्त अन्यत्र मरने का दर नहीं तब तो भाग जाओ । लेकिन यदि एक न एक दिन सबको मरना ही है तो बीरवत्ता का वर्णन कदाचित् करते हो ।’

आदि में जो वाक्यान्तहार है वह ‘पुक्ति’ है ।

विमर्श—आख्याय में ‘पुक्ति’ का वह स्वरूप है—

‘साधते योऽर्थसम्बन्धो महति समवायता ।

परस्परानुपश्येन सा पुक्तिः परिकीर्तिता ॥’ (आख्याय २९१५)

( ३२—प्रहर्ष )

प्रहर्षः प्रमदाधिक्यं—

यथा शाकुन्तले—

‘राजा—तत्किमिदानीमात्मानं पूर्णमनोरथं नाभिनन्दामि ।’

( ३३—उपदेशन )

—शिक्षा स्यादुपदेशनम् ।

यथा तत्रैव—

‘सहि, ण जुत्तं अस्समवासिणो जणस्स अकिदसक्कार अदिधिविसेसं उज्झिअ सच्छन्ददो गमनम्’ [ सखि ! न युक्तमाश्रमवासिनो जनस्य अकृतसत्कारमतिधिविशेषमुज्झित्वा स्वच्छन्दतो गमनम् ] ।

( नाट्य-लक्षण और नाट्यालङ्कार . वास्तविक ऐकरूप्य और भेद-निर्देश की परम्परा )

एषा च लक्षणनाट्यालङ्काराणा सामान्यत एकरूपत्वेऽपि भेदेन व्यपदेशो गडुलिकाप्रवाहेण ।

जिसे अभिनवभारतीकार ने इस सूक्ति अर्थात्—

‘लावण्यसिन्धुरपरैव हि केयमत्र

यत्रोत्पलानि शशिना सह संलवन्ते ।

उन्मज्जति द्विरदकुम्भतटी च यत्र

यत्रापरे कदलिकाण्डमृणालदण्डा ॥’

के आधार पर इस प्रकार स्पष्ट किया है—

‘अत्र महद्भिरूकृष्टैर्नैत्रवदनादिभि परस्परशोभात्मकानुकूल्योपलक्षितेन समवायेनैकविश्रान्त्याऽर्थं सवध्यमान उपपद्यमानोऽपूर्वतरङ्गिणीलक्षण साधित इति योजनादियं युक्तिः । प्रतीयमान रूपकमत्रेति चेत् किं तत् शरीरं लक्षणमयमेवेत्युक्तमसकृत् ।

अनुवाद—‘प्रहर्ष’ वह नाट्यालङ्कार है जिसे आनन्दातिरेक का वर्णन कहा गया है । जैसे कि ‘अभिज्ञानशाकुन्तल’ के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

‘राजा—तब तो मुझे अपने आप को पूर्णमनोरथ समझते हुये प्रसन्नतासे भर उठना चाहिये ।’

आदि में, जो नाट्यालङ्कार है वह ‘प्रहर्ष’ है ।

अनुवाद—‘उपदेशन’ वह नाट्यालङ्कार है जिसे शिक्षादान का वर्णन कहा गया है । जैसे कि ‘अभिज्ञानशाकुन्तल’ के ही इस प्रसङ्ग अर्थात्—

‘अनसूया—अरी सखी ! हम लोग आश्रम के रहनेवाले हैं इसलिये किसी अतिथि-विशेष का सत्कार किये बिना, स्वच्छन्दता से कहीं चला जाना, हमारे लिये ठीक नहीं ।’

आदि में, जो नाट्यालङ्कार है वह ‘उपदेशन’ है ।

अनुवाद—अब तब जिन ‘भूषण’ आदि नाट्यलक्षणों और ‘आशी’ आदि नाट्यालङ्कारों का पृथक्-पृथक् विवेचन किया गया उनके सम्बन्ध में यह जान लेना आवश्यक है कि वस्तुतः तो नाट्य के ‘लक्षण’ और ‘अलङ्कार’ एक ही तत्त्व हैं क्योंकि दोनों का उद्देश्य नाट्य के इत्तिवृत्त-शरीर की शोभाधायकता ही है । अब नाट्यशास्त्रकारों ने जो इन्हें भिन्न भिन्न नाम और रूप का मान रखा है उसका एक ही कारण प्रतीत होता है और वह ‘गडुलिकाप्रवाह’ अथवा ‘गतानुगतिकता’ है ।

( नाट्यकवच और नाट्याकङ्कार : उपसोप-मेव और अभिषार्य योजना )

एषु च केपाधिदृग्गुणालङ्कारभावसंभ्यविशेषास्तर्भावेऽपि नाटके प्रयत्न कस्यस्याचक्षिष्योक्तिः ।

एतानि च—

पञ्चसन्धि चतुर्वृत्ति चतुःपट्टयज्ञसंयुतम् ।  
पद्भिर्लङ्कारणोपेतमलङ्कारोपशोभितम् ॥  
महारसे महामोगमुवाचरधनाभितम् ।  
महापुरुषसत्त्वर साम्बाचारं जनप्रियम् ॥  
सुरिक्षसन्धियोगं च सुप्रयोगं सुखाद्यम् ।  
सदुराज्याभिधानं च कवि कुर्यात् नाटकम् ॥

विमर्श—साहित्यवर्णनकार की यह 'नाट्यकवचालङ्काराभिरुचय' भरतमुनि की एक सम्मता कथा है—

'पद्भिर्लङ्कारितानि तु कवचादि मोक्षानि ये ध्वजसमितानि ।

कल्पेभु मातार्भागतानि तस्यैः सम्पक् प्रयोग्यानि ध्यारसं तु ॥

( नाट्यशास्त्र १६. ४ )

के नागर पर प्रचलित हुआ है । उचित भी नहीं है कि 'कवच' और 'लङ्कार' को अन्वित माना जाय । विश्वनाथ कविराज ने यहाँ वस्तुछिन्न अपनायी । यह तो अच्छा ही किया । किन्तु इसके ही बरि 'कवच' और 'लङ्कार' का फलकत्व निर्दिष्ट कर दिया गया होय तो इसके पूर्वक विवेचन का यह सब आवात-मवात न करना पड़ा होय । ऐसा कल्पा है कि मातृप्रकाश-कार के प्रमाण में एकसे ही साहित्यवर्णनकार ने यह सब झूठ प्रकाश किया है ।

अनुवाद—ऊपर विरचित नाट्य-कवचों और नाट्याकङ्कारों में कतिपय-विशेष भी 'कवच' और 'लङ्कार' हैं जो मातृभाषि गुण कल्पयति लङ्कार विधातयति माय किंवा पुनःपुनः सम्पन्नता में स्वभावता अन्तर्भूत प्रतीत होते हैं । किन्तु तब भी इन्हें गुण, लङ्कार, भाव और सम्पन्नता से पूर्वक मानकर जो निर्दिष्ट किया गया उसका एक कतव्य है और वह यह है कि काव्य-नाट्य में कवचयोजना और लङ्कारयोजना के प्रति कवि को प्रयत्नशील होने की आवश्यकता है । इसीकिये नाट्यशास्त्र भरतमुनि की यह मान्यता है—

'कवि को ऐसे नाट्य की रचना करनी चाहिये जिसमें सम्पन्नता का विधात हो, वृत्तिचतुष्टय का उपविशण हो, रस सम्पन्नता की योजना हो, लङ्कारों का समावेश हो लङ्कारों की शोभाभाष्यता हो, पुनरावर्तनपुनः रसों का सञ्चार हो अधिकधिक मनोरञ्जक रसमायी का अनुमानक हो, शब्द और अर्थ के गुणों का समुचित विधात हो, महापुरुषों के चरित की चर्चा हो, जीवबोधवैश्व की धरमार हो सामाजिकजगत् के विविध मनोरञ्जनसामग्री हो, सन्धियों और सम्पन्नता का सुसंरचित विधात हो, काव्याङ्गों की योजना हो, पुनः और पुनः का वैचित्र्य हो और अन्त में किंवा प्रसन्न सन्धियों द्वारा वस्तु-वर्जना हो ( नाट्यशास्त्र : १९. १३९-१४३ ) ।

तात्पर्य यह है कि नाट्य में कवच और लङ्कारों की योजना आवश्यक आवश्यक है क्योंकि इससे रसामिष्यजन का सम्बन्ध है ।

विमर्श—विश्वनाथ कविराज अविनयभारती की लक्ष्मीमाता से पूर्ण परिचित हैं । यहाँ उन्होंने लक्ष्मी के लक्षण में अविनयभारतीकर की 'रसशरी' का निर्दिष्ट किया है । रस

और 'गुण' का वास्तविक ऐवरूप्य और व्यावहारिक भेद भी एक 'लक्षण'विषयक सिद्धान्त है जैसा कि 'अभिनवभारती' की इन पक्तियों में स्पष्ट है—

‘एकेषां तु दर्शन—कवेर्यं प्रतिभात्मा प्रथमपरिस्पन्द तद्व्यापारवलोपनता, गुणा, प्रतिभावत एव हि रसाभिव्यञ्जनसामर्थ्यं माधुर्यादेरुपनिबन्धनसामर्थ्यं, न सामान्यकवे । अनेन शब्देनेदं वस्तु वर्णयामीत्येवभूतवर्णनापरपर्यायद्वितीयव्यापारसपाद्यास्त्वलङ्कारा ।’

‘शब्दानमीभि शब्दैर्यानमीभिर्यै संघटयामीत्येवमात्मकस्तु यस्तृतीय कवे परिस्पन्द तदधीनात्मलाभादिशब्दात्मात्मात्मककाव्यशरीरसञ्चितानि वक्ष्यमाणश्लेषादिगुणदशकसमभिव्यञ्जनपराणि शब्दार्थोपसंस्कारकल्पानि क्रियारूपाणि लक्षणातीति, यदुक्तं तत्रैव—

काव्येप्यस्ति तथा कश्चित् सिन्धु स्पर्शोऽर्थशब्दयो ।

य श्लेषादिगुणव्यक्तिदत्त स्याल्लक्षणस्थितः ॥’

(अभिनवभारती नाट्यशास्त्र १६ अध्याय)

अर्थात् ‘गुण, अलङ्कार और लक्षण’ कवि की प्रतिभा के त्रिविध स्फुरणरूप से तो त्रिविध तत्त्व हैं। कविप्रतिभा का प्रथम उन्मेष माधुर्यगुणरूप में, द्वितीय उन्मेष अलङ्कारयोजना में और तृतीय उन्मेष लक्षणविन्यास में परिलक्षित देखा जा सकता है। किन्तु शब्दों का पारस्परिक गुम्फनवैचित्र्य और अर्थों का पारस्परिक सदर्थ-सौन्दर्य जैसे ‘गुण’ का स्वरूप है वैसे ही ‘लक्षण’ का भी और इस दृष्टि से गुण और लक्षण का ऐकरूप्य भी है।

इसी भाँति ‘लक्षण’ और ‘अलङ्कार’ का भी ऐकरूप्य और भेद लक्षणविषयक ही सिद्धान्त है जो कि अभिनवभारती की निम्न पक्तियों में प्रतीत होता है—

‘काव्ये तावद्वचनं शरीरं, तस्योपमादयस्त्रयोऽर्थभागे, यथा हि पृथग्भूतेन हारेण रमणी विमृष्यते तथोपमानेन शशिना तत्सादृश्येन वा कविवुद्धिचञ्चलतया परिवर्तमानत्वात् पृथक् सिद्धेनैव प्रकृतवर्णनीयवनितावदनादि सुन्दरीक्रियत इति तदेवालङ्कार । उपाध्यायमतन्तु—लक्षणबलादलङ्काराणा वैचित्र्यमागच्छति । तथा हि—गुणानुवादानाम्ना लक्षणेन योगात् प्रशसोपमा, अतिशयनाम्नाऽतिशयोक्ति, मनोरथाख्येनाप्रस्तुतप्रशसा, मिथ्याध्यवसायेनापह्नुति, सिद्धया तुल्ययोगितेति, एवमन्यदुत्प्रेक्ष्यम् । लक्षणानाञ्च परस्परवैचित्र्यादप्यनन्तो विचित्रभाव, यथा प्रतिपेधमनोरथयो समेलनादाच्चेति ।’

(अभिनवभारती अध्याय १६)

अर्थात् ‘लक्षण’ और ‘अलङ्कार’ में उपस्कार्योपस्कारकभाव होने से दोनों परस्पर भिन्न भी हैं और ‘लक्षण’ और ‘अलङ्कार’ के पारस्परिक वैचित्र्य-संयोग से समूत काव्यसौन्दर्य की दृष्टि से दोनों का समन्वय भी समभव है—

‘लक्षण’ और ‘सन्ध्यङ्ग’ के भेदाभेद का भी सिद्धान्त लक्षणविषयक ही सिद्धान्त है जैसा कि निम्न पक्तियों में स्पष्ट है—

‘अन्ये मन्यन्ते—इतिवृत्तखण्डलकान्येव सन्ध्यङ्गकानि लक्षणातीति च व्यपदिश्यन्ते । निमित्तभेदात् पूर्वापरसम्बन्धेन वीजोपक्षिप्तैर्ध्वं निर्वहणपर्यन्ते परस्परसन्धायकत्वेन सन्ध्यङ्गतया व्यपदेश, रसविशेषोपयोगितया वृष्यङ्गवाचोयुक्ति, काव्यगतख्यातिप्राश-स्वोपयोगितया महापुरुषगतपाशध्वजपादरेखादिवल्लक्षणशब्दवाच्यता’ (अभिनवभारती अध्याय १६) अर्थात् ‘सन्ध्यङ्ग’ और ‘लक्षण’ एकरूप भी हैं और भिन्नरूप भी। इतिवृत्तरूप शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग होने के नाते तो ‘लक्षण’ और ‘सन्ध्यङ्ग’ एक रूप हैं किन्तु निमित्तभेद से दोनों में भेद भी किया जा सकता है। इतिवृत्तखण्डों को, इस दृष्टि से कि वे परस्पर एक दूसरे से



(वाक्यरचना और वाक्याकृति : उपयोग-भेद और अभिव्यक्ति योजना)

एषु च केषांचिद्वृत्तानां सङ्ग्राह्यमात्रसंख्यविशेषान्तर्भावोऽपि नाटकं प्रथमतः कथयित्वा तद्विशेषोक्तिः ।

एतानि च—

पञ्चसन्धि चतुर्वृत्ति चतुःपद्यसंयुतम् ।  
पद्यविशेषानामोपेतमङ्गहारोपशोभितम् ॥  
महारसं महाभोगमुवाचरपनाम्भितम् ।  
महापुरुषसत्त्वर साध्याचारं जनप्रियम् ॥  
सुरिलष्टसंभयोगं च सुप्रयोगं सुखाभयम् ।  
सुदुरासाभिधानं च कविः कुर्यात् नाटकम् ॥

विमर्श—साहित्यदर्पणकार का यह 'वाक्यरचनाकृतिसंश्लेष' भरतमुनि की रस व्याख्या जवाब—

'वद्विचित्रैरिति तु कथयामि प्रोक्तानि चैव भूषयसमितमि ।

काव्येषु भावार्थगतानि तस्यैः सन्ध्याप्रयोगानि यत्परस तु ॥

(नट्यशास्त्र १६. ४)

के आचार पर प्रवर्णित हुआ है। उचित की वही है कि 'कथन' और 'अङ्गहार' को अभिन्न माना जाय। विश्वनाथ कविराज ने यहाँ वस्तुइति जपतायी। वह तो अच्छा ही किया। किन्तु पहले ही बरि 'कथन' और 'अङ्गहार' का एककर्म निर्दिष्ट कर दिया गया होता तो हमके पूर्व निवेदन का वह सब आवास प्रवास न करना पड़ा होता। ऐसा क्या है कि भावप्रकाशनकार के प्रभाव में पड़ने से साहित्यदर्पणकार ने वह सब दुर्बल प्रवास किया है।

अनुवाद—ऊपर निरूपित वाक्य-रचनाओं और वाक्याकृतियों में कतिपय ऐसे भी 'कथन' और 'अङ्गहार' हैं जो मात्रार्थादि गुण रूपकादि अङ्गहार विभागादि भाग किंवा पुनरुक्ति सन्ध्याओं में स्वभावात् अन्तर्भूत प्रतीय होते हैं। किन्तु वह भी हमें गुण, अङ्गहार, भाव और सन्ध्याओं से भूषक मानकर जो निर्दिष्ट किया गया उसका एक कारण है और वह यह है कि काव्य-नाट्य में कथनयोजना और अङ्गहारयोजना के प्रति कवि को प्रभावशील होने की आवश्यकता है। इसीलिये नाट्यभाष्य भरतमुनि की यह मान्यता है—

'कवि को ऐसे नाटक की रचना करनी चाहिये जिसमें सन्धिपञ्चक का विन्यास हो, वृत्तिचतुष्टय का उपविभाग हो १६ सन्ध्याओं की योजना हो १९ कथनों का समावेश हो अङ्गहारों की शोभापायकता हो पुरुषार्थोपयुक्त रसों का सङ्ग्राह हो अधिकधिक ममोरज्ज्वल रसमात्रों का अनुमान हो शब्द और अर्थ के गुणों का समुचित विकास हो मदसुरजनों के चरित की चर्चा हो जीवबोधोपदेश की भरमार हो सामाजिकजन क विवेक ममोरज्ज्वलसामग्री का सन्धियों और सन्ध्याओं का सुसंरचित विन्यास हो, कारणाओं की योजना हो दुर्गों और वृत्तों का वैशिष्ट्य हो और मयुर किंवा प्रसन्न शब्दों द्वारा वस्तु धर्मता हो (नाट्यशास्त्र : १९. ११९. १२१) ।

नाट्यार्थ यह है कि नाटक में कथन और अङ्गहारों की योजना अवश्य आवश्यक है क्योंकि इससे रसाभिन्नजन का संभव है।

विमर्श—विश्वनाथ कविराज अभिनवभारती की रचनाशीलता से पूर्ण परिचित है। जो हमने अङ्ग के अङ्ग में अभिनवभारतीकार की रचनाओं का निर्देश किया है। 'कथन'

और 'गुण' का वास्तविक ऐकरूप्य और व्यावहारिक भेद भी एक 'लक्षण'विषयक सिद्धान्त है जैसा कि 'अभिनवभारती' को इन पक्तियों में स्पष्ट है—

'एकेषा तु दर्शन—कवेर्यं प्रतिभात्मा प्रथमपरिस्पन्दं तद्व्यापारवलोपनताः गुणाः, प्रतिभावत एव हि रसाभिव्यञ्जनसामर्थ्यं माधुर्यादेरुपनिबन्धनसामर्थ्यं, न सामान्यकवेः । अनेन शब्देनेदं वस्तु वर्णयामीत्येवभूतवर्णनापरपर्यायद्वितीयव्यापारसंपाद्यास्त्वलङ्काराः ।'

'शब्दानमीभिः शब्दैरर्थानमीभिरर्थैः संघटयामीत्येवमात्मकस्तु यस्तृतीयः कवेः परिस्पन्दः । तदधीनात्मलाभादिशब्दात्मार्थात्मककाव्यशरीरसञ्चितानि वक्ष्यमाणश्लेषादिगुणदशकसमभिव्यञ्जनपराणि शब्दार्थोपसंस्कारकल्पानि क्रियारूपाणि लक्षणातीति, यदुक्तं तत्रैव—

काव्येष्यस्ति तथा कश्चित् स्निग्धः स्पर्शोऽर्थशब्दयोः ।

यः श्लेषादिगुणव्यक्तिद्वयं स्याल्लक्षणस्थितः ॥'

(अभिनवभारती नाट्यशास्त्र १६ अध्याय)

अर्थात् 'गुण, अलङ्कार और लक्षण' कवि की प्रतिभा के त्रिविध स्फुरणरूप से तो त्रिविध तत्त्व हैं । कविप्रतिभा का प्रथम उन्मेष माधुर्यगुणरूप में, द्वितीय उन्मेष अलङ्कारयोजना में और तृतीय उन्मेष लक्षणविन्यास में परिलक्षित देखा जा सकता है । किन्तु शब्दों का पारस्परिक गुम्फनवैचित्र्य और अर्थों का पारस्परिक सदर्थ-सौन्दर्य जैसे 'गुण' का स्वरूप है वैसे ही 'लक्षण' का भी और इस दृष्टि से गुण और लक्षण का ऐकरूप्य भी है ।

इसी भाँति 'लक्षण' और 'अलङ्कार' का भी ऐकरूप्य और भेद लक्षणविषयक ही सिद्धान्त है जो कि अभिनवभारती को निम्न पक्तियों में प्रतीत होता है—

'काव्ये तावद्वचनं शरीरं, तस्योपमादयस्त्रयोऽर्थभागे, यथा हि पृथग्भूतेन हारेण रमणी विभूष्यते तथोपमानेन शशिना तत्सादृश्येन वा कविवुद्धिचञ्चलतया परिवर्तमानत्वात् पृथक् सिद्धेनैव प्रकृतवर्णनीयवनितावदनादि सुन्दरीक्रियत इति तदेवालङ्कारः ।' उपाध्यायमतन्तु—लक्षणबलादलङ्काराणां वैचित्र्यमागच्छति । तथा हि—गुणानुवादान्मा लक्षणेन योगात् प्रशंसोपमा, अतिशयानाम्नाऽतिशयोक्ति, मनोरथालम्बेनाप्रस्तुतप्रशंसा, मिथ्याध्यवसायेनापह्नुति, सिद्धधा तुल्ययोगितेति, एवमन्यदुत्प्रेक्ष्यम् । लक्षणानाञ्च परस्परवैचित्र्यादप्यनन्तो विचित्रभावः, यथा प्रतिषेधमनोरथयोः समेलनादाक्षेप इति ।'

(अभिनवभारती अध्याय १६)

अर्थात् 'लक्षण' और 'अलङ्कार' में उपस्कार्योपस्कारकभाव होने से दोनों परस्पर भिन्न भी हैं और 'लक्षण' और 'अलङ्कार' के पारस्परिक वैचित्र्य-संयोग से सभूत काव्यसौन्दर्य की दृष्टि से दोनों का समन्वय भी समव है—

'लक्षण' और 'सन्ध्यङ्ग' के भेदाभेद का भी सिद्धान्त लक्षणविषयक ही सिद्धान्त है जैसा कि निम्न पक्तियों में स्पष्ट है—

'अन्ये मन्यन्ते—इतिवृत्तखण्डलकान्येव सन्ध्यङ्गकानि लक्षणातीति च व्यपदिश्यन्ते । निमित्तभेदात् पूर्वापरसम्बन्धेन बीजोपचिसेऽर्थे निर्वहणपर्यन्ते परस्परसन्धायकत्वेन सन्ध्यङ्गतया व्यपदेशः, रसविशेषोपयोगितया वृत्त्यङ्गवाचोयुक्तिः, काव्यगतख्यातिप्राशस्त्योपयोगितया महापुरुषगतपाशध्वजपादरेखादिवल्लक्षणशब्दवाच्यता' (अभिनवभारती अध्याय १६) अर्थात् 'सन्ध्यङ्ग' और 'लक्षण' एकरूप भी हैं और भिन्नरूप भी । इतिवृत्तरूप शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग होने के नाते तो 'लक्षण' और 'सन्ध्यङ्ग' एक रूप हैं किन्तु निमित्तभेद से दोनों में भेद भी किया जा सकता है । इतिवृत्तखण्डों को, इस दृष्टि से कि ये परस्पर एक दूसरे से

इति मुनिनोक्तवाग्माटकेऽयस्य कतक्यान्वेव ।

(धीप्यङ्गः संकेतः)

धीप्यङ्गानि वक्ष्यन्ते ।

(कास्य के अङ्गः निर्देशः)

सास्याङ्गान्याह—

गेयपदं स्थितपाठ्यमासीनं पुष्पगण्डिका ॥ २१२ ॥

प्रच्छेदकस्त्रिगूढं च सैन्धवाख्यं द्विगूढकम् ।

उत्तमात्तमकं चान्यदुक्तप्रस्युक्तमेव च ॥ २१३ ॥

लास्यं दक्षविभं क्षतदङ्गमुक्तं मनोपिभिः ।

(१—कास्याङ्गः गेयपदः)

तत्र—

तन्त्रीमाण्डं पुरस्कृत्योपविष्टस्यासने पुरा ॥ २१४ ॥

शुद्धं गानं गेयपद—

यथा—

गौरीगृहे धीया वाद्यन्ती मलयवती ।

निके-श्रुते भाव्य का शरीर-सत्त्वान बनाते है 'सम्पन्न' कहा का समझा है और हम इति से कि इनके द्वारा भाव्य में स्वाति और प्रसक्ति पाया करती है 'कम्पन' भी भावा का समझा है ।

'कम्पन' और 'विभाव' के भेदाभेदवाद में भी उपर्युक्त इति ही कारणरूप से दितार्क देती है ।

(क) 'कम्पन' के सम्बन्ध में इस 'वक्ष्यङ्गी' का निन्द्य 'शब्दविक्रमप्रवाह' के रूप में छे निष्कर्ष का समझा है जैसे कि साहित्यदर्पणकार के निष्कर्ष है किन्तु भाव्य की बात यह है कि साहित्यदर्पणकार हम 'शब्दविक्रमप्रवाह' में पचाहित केने हुये ।

अनवाद—नाटक में धीप्यङ्गों का भी उपयोग है । 'धीपी' के जो-जो अङ्ग हैं उनका विशेषण पचास्तर किया का रहा है ।

अनुवाद—(नाट्योपयोगी) कास्याङ्गों का विरूपण किया का रहा है—कास्य के ये १ अङ्ग हैं जो नाटक के किंय उपयोगी हैं—(१) गेयपद, (२) स्थितपाठ्य, (३) आसीन (४) पुष्पगण्डिका, (५) प्रच्छेदक, (६) त्रिगूढ (७) सैन्धव (८) द्विगूढक, (९) उत्तमोत्तमक और (१०) उत्तमस्युक्त ।

विमर्श—कवि और अभिनेता के किंये भाव्य में कास्याङ्गों का समुचित निमित्तोप शक्तिने भावस्वर भाग्य तथा है तथाकि इससे 'रत्नगोविन्द' की निष्पत्ति हुआ करती है । कात्यायन अभिनवगुप्त ने इसीविषे कहा है—'यानि कास्याङ्गानि वक्ष्यन्ते तेषां कश्चिद्गोविन्दोपि कोकापरिच्छेदोपि रत्नगोविन्द्याय कविप्रयोक्तमिनादये निवन्धनीयः ।

(अभिनवभारती भाष्यश्रुतः २९-२९)

अनुवाद—'गेयपद' वह कास्याङ्ग है जिसे तन्त्री भाण्ड कर्मात् सर्वविध आतोत्तमपद, रंगमंच पर स्वरव विष्ट बैठे हुये गायको का श्रुत (वस्तुतः श्रुत कथना अभिनवभाष्य) भाव्य कहा जाया करता है । जैसे कि 'रत्नगोवि' में प्रयुक्त, पार्वतीमन्दिर में धीया वजाती 'मलयवती' का—

‘उत्फुल्लकमलकेसरपरागगौरद्युते । मम हि गौरि ! ।  
अभिवाञ्छितं प्रसिध्यतु भगवति ! युष्मत्प्रसादेन ॥’

( २—स्थितपाठ्य )

—स्थितपाठ्यं तदुच्यते ।

मदनोत्तापिता यत्र पठति प्राकृतं स्थिता ॥ २१५ ॥

अभिनवगुप्तपादास्त्वाहुः—

उपलक्षणं चैतत् । क्रोधोद्भ्रान्तस्यापि प्राकृतपठनं स्थितपाठ्यम् । इति ।

( ३, ४, ५—आसीन, पुष्पगण्डिका, प्रच्छेदक )

निखिलातोद्यरहितं शोकचिन्तान्विताबला ।

अप्रसाधितगात्रं यदासीनासीनमेव तत् ॥ २१६ ॥

आतोद्यमिश्रितं गेयं छन्दांसि विविधानि च ।

स्त्रीपुंसयोर्विपर्यासचेष्टितं पुष्पगण्डिका ॥ २१७ ॥

‘विकसित कमलकेसर-पराग सी गौरवर्ण वाली भगवति गौरि ! आप की अनुकम्पा हो, मेरे मनोरथ पूर्ण हों ।’

आदि अभिप्रायपूर्ण गान ‘गेयपद’ नामक लास्याङ्ग की ही योजना है ।

विमर्श—आचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार ‘गेयपद’ यह है—

‘ध्रुवागानपञ्चकमन्तरालापस्वररहितं यत्र प्रयोगयोग्यं भवति, स काव्यप्रयोगो गेयपदमित्युक्तं भवति’ ( अभिनवभारती १६. १२१ )

अनुवाद—‘स्थितपाठ्य’ वह लास्याङ्ग है जिसे किसी कामपीडिता का, भावावेश के साथ प्राकृतसूक्ति-पाठ कहा गया है ।

‘स्थितपाठ्य’ के सम्बन्ध में आचार्य अभिनवगुप्त का यह मत है—भरतमुनि का ‘स्थितपाठ्य’ के सम्बन्ध में यह कथन कि यह ‘मदनानलतप्ताङ्गी’ का प्राकृत-पाठ है वस्तुतः यह अभिप्राय रखता है कि क्रोध में पागल व्यक्ति का भी प्राकृत-पाठ ‘स्थितपाठ्य’ ही है ( क्योंकि यहाँ ‘मदनानलतप्ताङ्गी’ पद क्रोधादिके आवेश में आये लोगों का उपलक्षण है ) ।

विमर्श—अभिनवभारती में आचार्य अभिनवगुप्त की ये पक्तियाँ हैं—

‘एतच्चावेशोपलक्षणं तेन क्रोधाविष्टोऽपि संस्कृतेन पठतीत्याद्यपि ( स्थितपाठ्यमेव ) मन्तव्यम् ।’

यहाँ यह स्पष्ट है कि साहित्यदर्पणकार ने स्मृति के आधार पर अभिनवगुप्ताचार्य के मत का उल्लेख किया है ।

अनुवाद—‘आसीन’ वह लास्याङ्ग है जिसे शोकाकुला किंवा चिन्ता में डूबी अभिनेत्री सुन्दरी का, बिना किसी आतोद्य और बिना किसी गात्रप्रसार ( आङ्गिक अभिनय ) के, रगमञ्च पर आसीन होना कहा जाया करता है । ‘पुष्पगण्डिका’ उस लास्याङ्ग को कहते हैं जिसमें विविध छन्दों में आतोद्य के साथ गान हुआ करता है और स्त्री पुरुष बनकर और पुरुष स्त्री बने अभिनय किया करते हैं । और ‘प्रच्छेदक’ वह लास्याङ्ग है जिसे किसी

इति मुनिनोक्तत्वात्माटकेऽवरयं कृतव्यान्येष ।

( बीष्मपट्ट : संकेत )

धीष्मन्नानि वक्ष्यन्ते ।

( कास्य के बहू : निर्देश )

कास्यान्नान्याह—

गेयपदं स्थितपाठ्यमासीनं पुष्पगण्डिका ॥ २१२ ॥

प्रच्छेदकस्त्रिगूढ च सैन्यवास्यं द्विगूढकम् ।

उत्तमात्तमकं चान्यदुक्तप्रस्युकमेव च ॥ २१३ ॥

लास्ये दक्षविधं हस्तदक्षमुक्त मनीषिभिः ।

( १—कास्याह : गेयपद )

तत्र—

तन्त्रीमाहं पुरस्कृत्योपविष्टस्यासने पुरः ॥ २१४ ॥

शुद्ध गानं गेयपद—

यथा—

गीरीगृहे बीणां वादयन्ती मलयवती ।

निके-कुके नाट्य का शरीर-संस्कार बनाते हैं 'सम्पन्न' कहा का सञ्चय है और इस दृष्टि से कि इनके द्वारा काव्य में स्वाति और प्रसरित जाया करती है 'कथन' भी माना जा सकता है ।

'कथन' और 'विचार' के मेलामेवकार में भी उपर्युक्त दृष्टि ही कारणरूप से दिखाई देती है ।

( ८ ) 'कथन' के सम्बन्ध में इस 'वक्ष्यणी' का निष्कर्ष 'यद्विच्छिन्नप्रकार के रूप में तो निष्कर्ष या सञ्चय है जैसा कि साहित्यवर्णनकार ने निष्कर्षा है किन्तु वाक्यों को मात्र वह है कि साहित्यवर्णनकार इस 'यद्विच्छिन्नप्रकार' में प्रकाशित कैसे हुए ।

अनवरत—वाक्य में बीष्मपट्टों का भी उपयोग है । 'बीष्म' के जो-जो अर्थ हैं उनका विवेचन यथावसर किया जा रहा है ।

अनुवाद—( नाट्योपयोगी ) कास्याहों का निरूपण किया जा रहा है—कास्य के वे १ अर्थ हैं जो नाट्य के लिये उपयोगी हैं—(१) गेयपद, (२) स्थितपाठ्य, (३) आसीन (४) पुष्पगण्डिका, (५) प्रच्छेदक, (६) द्विगूढ (७) सैन्य (८) द्विगूढक, (९) उत्तमोत्तमक और (१०) उत्तमप्रस्युक ।

विमर्श—हरि और अमित्रेय के निवेद नाट्य में नाटकाहों का समुचित विभिन्न रसनिवेदनात्मक माना गया है कि इसी 'रजनीवैशिष्ट्य' को निरूपित हुआ करती है । नाट्यवर्णन में इसीकिये कहा है—'नामि कास्याहानि वक्ष्यन्ते तेभ्यः कश्चिद्वैशिष्ट्यांशो हाकापरिरक्षांश्चि रजनीवैशिष्ट्याय कश्चिद्वैशिष्ट्यांशो निवेदयन्तीति ।

( अमित्रवर्णनटी मध्यमाख : १९ १९ )

अनुवाद—'गेयपद' वह कास्याह है जिस तन्त्री माहज अर्थात् सर्वविध भाग्योपार्जन, रंगमंच पर स्वरय किन्तु वेड़े हुए गावर्षों का शुद्ध ( वस्तुता शुद्ध अथवा अमित्रवर्णन ) गावर्ष कहा जाया करता है । जो कि 'रागावली' में प्रयुक्त, पार्वतीमन्दिर में बीणा बजाती मलयवती का—

(७—सैन्धव)

कश्चन भ्रष्टसंकेतः सुन्यक्तकरणान्वितः ॥ २१९ ॥

प्राकृतं वचनं वक्ति यत्र तत्सैन्धवं मतम् ।

करणं वीणादिक्रिया ।

(८—द्विगूढक)

चतुरस्रपदं गीतं मुखप्रतिमुखान्वितम् ॥ २२० ॥

द्विगूढं रसभावाद्वयम्—

अनुवाद—‘सैन्धव’ वह लास्याङ्ग है जिसे (रसाभिव्यञ्जनसमर्थ) वीणावादनदि-पूर्वक, किसी ‘भ्रष्टसंकेत’ (रसोचित ध्वनिविकार को भूले हुये) अभिनेता का, प्राकृत-प्राय सूक्तिओं का पाठ कहा गया है। यहाँ ‘करण’ का अभिप्राय वीणादिवादन का अभिप्राय है।

विमर्श—नाट्यशास्त्र में ‘सैन्धव’ अथवा ‘सैन्धवक’ नामक लास्याङ्ग का यह लक्षण है—

‘पात्र विभ्रष्टसंकेत सुन्यक्तकरणान्वितम् ।

प्राकृतैर्वचनैर्युक्तं विदुः सैन्धवकं बुधा ॥’ (नाट्यशास्त्र १९-१३१)

जिसे अभिनवभारतीकार ने इस प्रकार स्पष्ट किया है—

‘अथ सैन्धवकादुपजीव्यमशं स्वीकर्तुमाह-पात्र विभ्रष्टसंकेतमिति—

‘सैन्धवीमाश्रिता भाषा ज्ञेया तत्सैन्धव बुधैः । सूपवाद्यादिसयुक्तम्’ इति च लास्याङ्ग-विधाने (अध्याय ३१) वक्ष्यते । तत्र यदा नान्यप्राकृतादिभाषोपकरणत्वेन सैन्धवी-प्राया आश्रीयते तद्रसोपयोगि रञ्जनाधिक्यात्, अलौकिकोऽन्यमर्थो रञ्जनोपयोगी लास्या-ङ्गात् स्वीकृतो भवति । तथा हि शृङ्गाररसे सातिशयोपयोगिनी प्राकृतभाषेति सट्टक, कर्पूर-मञ्जरीख्यो राजशेखरेण तन्मय एव निबद्ध, भेज्जलेन राधाविप्रलम्भाख्यो रासकाङ्क सैन्ध-वभाषावाहुत्वेन, चन्द्रकेण स्वानि रूपकाणि वीररौद्राधिकोपयोगिनि सस्कृतभाषयैव । अत एव च तत्तद्रसोपयोगतारतम्यादेवैकतमस्यातोऽन्यस्यात्र प्राधान्यं कल्प्यते ।’

(अभिनवभारती १९ १३१)

अर्थात् रसोचित ‘सैन्धवी’ आदि प्राकृतभाषानिवद्ध सूक्ति का पाठ सैन्धव है ।

यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि ‘सैन्धव’ नामक लास्याङ्ग की कल्पना ‘सैन्धवी’ भाषा-निबद्ध पाठादि के कारण हुई है न कि चञ्चल पुरुष द्वारा प्रयुक्त होने के कारण, जैसा कि ‘साहित्यदर्पण’ के एक सस्कृतव्याख्याकार ने कहा है—‘कश्चन पुरुषो यत्र प्राकृतं वचनं वक्ति तत्र सैन्धवे-नाश्वेनेव चञ्चलेन पुरुषेण प्रयुक्तत्वात् सैन्धव नाम लास्याङ्गं विदुः । यथा—स्वप्नवासवदत्ते- (राजा)-श्रुतिसुखनिनदे कथं नु देव्या इत्यादि ।’

(साहित्यदर्पण ‘लक्ष्मी’ व्याख्या पृष्ठ ४३३)

अनुवाद—‘द्विगूढक’ वह लास्याङ्ग है जिसमें ‘मुख’ और ‘प्रतिमुख’ नामक अङ्गों से युक्त किंवा रसभावरमणीय चतुरस्रपद गीत की योजना हुआ करती है ।

विमर्श—साहित्यदर्पण की सस्कृत और हिन्दी व्याख्याओं में ‘मुखप्रतिमुखान्वितम्’ पद से ‘मुख’ और ‘प्रतिमुख’ सन्धि का अभिप्राय लिया गया है (विमला टीका . पृष्ठ ३०५ और लक्ष्मी टीका, पृष्ठ ४३३) जो कि सर्वथा असंगत है । अभिनवभारतीकार ने स्पष्ट कहा है—‘मुख-प्रतिमुखौ सन्धी इत्येतदपि न समीचीनम् अनुपयोगादस्यार्थस्य, ‘मुखप्रतिमुखे गीतका-ङ्गत्वेन हि’ इत्यादि ।

अन्यासक्त पतिं मत्वा प्रेमविच्छेदमन्युना ।  
वीणापुरासुर गानं स्त्रिया प्रच्छेदको मतः ॥ २१८ ॥  
( १—त्रिगूढक )

स्त्रोवेपचारिणां पुसां नाटय श्लक्ष्णं त्रिगूढकम् ।

यथा मातृत्वात्—

‘मकरन्द’—एपोडस्मि मातृती संवृत्त ।’

सुन्दरी का, अपने पति को किसी लम्बे सुन्दरी के प्रति अनुरक्त देख प्रेममग्न के करण वीणावादनपूर्वक गान करता गया है ।

विमर्श—‘मासौग नामक कात्याज्ञ को कलमरसभाष्य नाटय का उपरच्छक कहा गया है । ( आत्मीयपाठानुपजीवितेवासनांसेव योगतत्र सर्वत्र कल्यादी रजनोपयोगि—अमित्रव मारती ) ।

‘पुष्पगण्डिका का तात्पर्य अमित्रवमारतीकार के शब्दों में यह है—‘मातृसाक्षरवात् पुष्प-गण्डिका गानमुत्तरीतगतवैविध्ययोगात्’ । अर्थात् माता की पति वहाँ मृत, यान और मोत का सम्मिश्रण-वैविध्य ही यह ‘पुष्पगण्डिका’ है ।

नाट्यशास्त्र में ‘प्रच्छेदक’ का यह स्थान है—

‘प्रच्छेदकस्य विशेषो यत्र चन्द्रास्तपाहृतम् ।

स्त्रिया प्रियेषु सज्जन्ते ह्यपि विमियकारिणु ॥ ( नाट्यशास्त्र : १९ १२६ )

विष्टे अमित्रवमारतीकार ने इस प्रकार समझाया है—

‘प्रच्छेदक’ इति कात्याज्ञविधाने ( नाट्यशास्त्र : अध्याय ३१ ) वक्ष्यते । ‘ओरस्तायां मदि-  
रायां वा वर्णने सक्तिरेवम् । आत्मसाक्षरकल्पितस्य महापर्वविमृष्टितम् ॥ इति ( नाट्य-  
शास्त्र : अध्याय ३१ ) त्रिधा प्रच्छेदकस्य कथनमुक्तम् । तत्र अक्षय्यीरायां वक्ते, प्रसाधने  
वर्णने, पानगोष्ठ्यां पान ईदृशप्रतिफलिततत्त्वाङ्गतिवर्तने सति कात्याज्ञाः प्रहर्ष इति त्रिधा  
प्रच्छेदं प्रतिविष्कृतमिति पक्षायात् । ‘पूर्व रसोपयोग्यकीर्तिककृतविसेषग्रहण प्रच्छेदका-  
नुपजीवितम् । यद्वापुस्याध्यायपाठः—

यद् यथास्ति न तत्रास्य कविर्बन्धनमर्हति ।

वक्तासंमति तत्रास्य तद्वर्ण्यं सौमनस्यदम् ॥

देशोक्तिवद्गुरो जीर्वा तद्विगुण्यकमविदता ।

ईदृक स्थावकता न स्वात् किं कदाचन कुतश्चित् ॥ इत्यादि ।

अनुवाद—‘त्रिगूढक’ वह कात्याज्ञ है जिसे कविवेद्यपारी पुरुषमर्दों का मनोहर अमि-  
त्रव कहा गया है । जैसे कि ‘मातृतीमात्रव’ में ‘मकरन्द’ का ‘मातृती’ रूप में जो अमित्रव  
है वह ‘त्रिगूढक’ नामक कात्याज्ञ है ( जिसकी, अमर्त्युति ने अपने मातृतीमात्रव में  
बोझा की है ) ।

विमर्श—नाट्यशास्त्र में ‘त्रिगूढक’ की यह परिभाषा है—

अमित्रुररक्षकपदं समवृत्तैरकल्पकम् ।

नाट्यं पुरुषभाषावधे त्रिगूढकमिति स्मृतम् ॥ ( नाट्यशास्त्र १९. ११ )

यथा—

बालरामायणम् ।

( २य रूपक-भेद प्रकरण 'सभेद निरूपण )

अथ प्रकरणम्—

भवेत्प्रकरणे वृत्तं लौकिकं कविकल्पितम् ॥ २२४ ॥

शृङ्गारोऽङ्गी नायकस्तु विप्रोऽमात्योऽयवा वणिक् ।

सापायधर्मकामार्थपरो धीरप्रशान्तकः ॥ २२५ ॥

विप्रनायकं यथा मृच्छकटिकम् । अमात्यनायक मालतीमाधवम् । वणि-  
ङ्नायकं पुष्पभूषितम् ।

नायिका कुलजा कापि वेश्या कापि द्वयं क्वचित् ।

तेन भेदास्त्रयस्तस्य तत्र भेदस्तृतीयकः ॥ २२६ ॥

कितवधूतकारादिविटचेटकसंकुलः ।

कुलस्त्री पुष्पभूषिते । वेश्या तु रङ्गवृत्ते । द्वे अपि मृच्छकटिके । अस्य नाट-  
कप्रकृतित्वाच्छेष नाटकवत् ।

अनुवाद—‘प्रकरण’ वह रूपक विशेष है जिसका वृत्त लौकिक किंवा कवि-कल्पित हुआ करता है, जिसमें शृङ्गार की अभिव्यञ्जना अङ्गी-रस के रूप में हुआ करती है, जिसका नायक विप्र, ‘अमात्य और वणिक्-श्रेणी में से किसी एक का हो सकता है और जिसमें नायक को ‘धीरशान्त’ प्रकृति तथा विपरीत परिस्थिति में पड़े रहने पर भी धर्म-अर्थ और काम-परायण रूप में चित्रित किया जाया करता है ।

जैसे कि ( महाकवि शृङ्गार-रचित ) ‘मृच्छकटिक’ जिसका नायक ( चारुदत्त ) एक द्राह्मण है, ( महाकवि भवभूति-रचित ) ‘मालतीमाधव’ जिसका नायक ( माधव ) एक राजसचिव है और ‘पुष्पभूषित’, जिसका नायक एक वणिक् है ।

नायिकाभेद से भी प्रकरण में भेद दिखायी देता है । जैसे कि कोई प्रकरण ऐसा है जिसमें कुलस्त्री नायिकारूप में चित्रित की गयी है, कोई ऐसा, जिसमें वेश्या को नायिका बनाया गया है और कोई ऐसा, जिसमें कुलजा और वेश्या दोनों नायिकारूप में वर्णित की गयी हैं । इन तीनों ‘प्रकरण’ भेदों में तीसरा अर्थात् ‘कुलजा-वेश्या-नायिका-द्वयात्मक’ जो ‘प्रकरण’ है उसमें धूर्त, धूतकार, विट और चेट आदि का भी पर्याप्त चित्रण रहा करता है ।

जैसे कि ‘पुष्पभूषित’ नामक प्रकरण में कुलजा का नायिकारूप में चित्रण, ‘तरङ्गदत्त’ नामक प्रकरण में वेश्या का नायिकारूप में चित्रण और ‘मृच्छकटिक’ में कुलजा और वेश्या—दोनों का नायिकारूप में चित्रण स्पष्ट दिखायी देता है ।

प्रकरण की अन्य विशेषतायें नाटक की विशेषतायें हैं क्योंकि यह रूपक-प्रकार नाटक का ही निप्यन्दरूप है ।

विमर्श—( क ) नाट्याचार्य भरतमुनि ने ‘प्रकरण’ का यह विशद विवेचन किया है—

‘यत्र कविरात्मशक्त्या वस्तु शरीरं च नायकं चैव ।

औत्पत्तिकं प्रकुरुते प्रकरणमिति तद् बुधैर्ज्ञेयम् ॥



(१—उत्तमोत्तमक)

—उत्तमोत्तमकं पुनः ।

कोपप्रसादअमभिधेययुक्तं रसोत्तरम् ॥ २२१ ॥

(१०—उत्तमस्तुत)

हावहेलान्वित चित्रश्लोक्यन्धमनोहरम् ।

उक्तिप्रत्युक्तिसंयुक्त सोपालम्भमलीकवत् ॥ २२२ ॥

विलासान्वितगीतार्थयुक्तप्रत्युक्तमुच्यते ।

स्पष्टान्नुदाहरणानि ।

(महानाटक क्या है)

एतदेव यदा सर्वैः पताकास्थानकैर्युतम् ॥ २२३ ॥

अहम् दधमिर्षीरा महानाटकमुचिरे ।

एतदेव नाटकम् ।

अनुवाद—‘उत्तमोत्तमक’ वह काव्याङ्ग है जिसे कोप किंवा प्रसादसम्पन्न आशेषपूर्ण, उत्तरोत्तर रसमनोहर है। तथा हाव से युक्त और चित्र-विविक्तपद-बन्धमय गायन कहा जाया करता है ।

विमर्श—‘उत्तमोत्तमक’ को वह निश्चिन्त प्यान देने योग्य है—

‘अस्मानि तावत्काव्याङ्गानि तेभ्योऽपीहमुत्तमम्, सर्वं हि रसपर्वाधीति दलितं प्राक् ।  
तथा संज्ञार्थं कम्’ (अमिनकराटी नाटकान्त १९, ११४)

अनुवाद—‘उत्तमस्तुत’ वह काव्याङ्ग है जिसे आकाशमार्पित स्वगत आदि रूप से (बकीकृत) उक्ति-प्रत्युक्तिमय उपाध्ममपूर्ण, विलासयुक्त गीतमयोजन कहा गया है ।

इसके और पूर्वनिर्दिष्ट काव्याङ्गों के उदाहरण स्पष्ट हैं ।

विमर्श—काव्याङ्गों के प्रयोग और उपयोग का परम प्रयोग नाटक का रचनाविधि है जो कि रसस्वाद्य में सहज है । अमिनकराटीभार में स्पष्ट कहा है—

‘तथा हकीकिकैशिकयुपयोगि रसांसे सर्वोपकारि यद्देविम्यं तत्कलत्राद्भूतेजम् ।’

किन्तु साहित्यवर्णनभार के लिये वह सब काव्याङ्गसम्पन्नी रचनाविधि-निरूपण परम्परा का अनुसरण मात्र करता है जो कि समसाययिक राजमय को परिशिष्टि का उपरपेन ।

अनुवाद—वह नाटक ‘महानाटक’ कहा जाया करता है जिसमें आनुविध पताकास्थानक की योजना रहा करती है और जिसका बहुत-बलित-वर्णन । अङ्गों में किया गया होता है ।

यहाँ कारिका में ‘एतदेव’ से ‘नाटक’ का अभिप्राय किया गया है (य कि पूर्वपरामुष्ट उत्तमस्तुतकप काव्याङ्ग का) । महानाटक क उदाहरणरूप में (महाकवि राजशेखर कृत) ‘वाकरामायण नाटक’ किंवा या लक्षता है ।

विमर्श—‘महानाटक’ की कल्पना ‘महाध्वज’ का कल्पना गरीबी है । यहाँ वह पान रचना आवश्यक है कि बहुश्रुतध्यान में ‘महाराज’ को धर्म कल्पना नहीं और इसलिये ‘महानाटक’ अथवा ‘महाध्वज’ का निषाधक रस-वितार नहीं यदि तु शरीर-विभार ही है ।

यथा—

बालरामायणम् ।

( २य रूपक-भेद प्रकरण .सभेद निरूपण )

अथ प्रकरणम्—

भवेत्प्रकरणे वृत्तं लौकिकं कविकल्पितम् ॥ २२४ ॥

शृङ्गारोऽङ्गी नायकस्तु विप्रोऽमात्योऽथवा वणिक् ।

सापायधर्मकामार्थपरो धीरप्रशान्तकः ॥ २२५ ॥

विप्रनायक यथा मृच्छकटिकम् । अमात्यनायक मालतीमाधवम् । वणि-  
ङ्गनायकं पुष्पभूषितम् ।

नायिका कुलजा कापि वेश्या कापि द्वयं क्वचित् ।

तेन भेदास्त्रयस्तस्य तत्र भेदस्तृतीयकः ॥ २२६ ॥

कितवद्यूतकारादिविटचेटकसंकुलः ।

कुलस्त्री पुष्पभूषिते । वेश्या तु रङ्गवृत्ते । द्वे अपि मृच्छकटिके । अस्य नाट-  
कप्रकृतित्वाच्छेष नाटकवत् ।

अनुवाद—‘प्रकरण’ वह रूपक विशेष है जिसका वृत्तलौकिक किंवा कवि-कल्पित हुआ करता है, जिसमें शृङ्गार की अभिव्यञ्जना अङ्गी-रस के रूप में हुआ करती है, जिसका नायक विप्र, अमात्य और वणिक्-श्रेणी में से किसी एक का हो सकता है और जिसमें नायक को ‘धीरशान्त’ प्रकृति तथा विपरीत परिस्थिति में पड़े रहने पर भी धर्म-अर्थ और काम-परायण रूप में चित्रित किया जाता करता है ।

जैसे कि ( महाकवि शूद्रक-रचित ) ‘मृच्छकटिक’ जिसका नायक ( चारुदत्त ) एक ब्राह्मण है, ( महाकवि भवभूति-रचित ) ‘मालतीमाधव’ जिसका नायक ( माधव ) एक राजसचिव है और ‘पुष्पभूषित’, जिसका नायक एक वणिक् है ।

नायिकाभेद से भी प्रकरण में भेद दिखायी देता है । जैसे कि कोई प्रकरण ऐसा है जिसमें कुलस्त्री नायिकारूप में चित्रित की गयी है, कोई ऐसा, जिसमें वेश्या को नायिका बनाया गया है और कोई ऐसा, जिसमें कुलजा और वेश्या दोनों नायिकारूप में वर्णित की गयी हैं । इन तीनों ‘प्रकरण’ भेदों में तीसरा अर्थात् ‘कुलजा-वेश्या-नायिका-द्वयात्मक’ जो ‘प्रकरण’ है उसमें धूर्त, द्यूतकार, विट और चेट आदि का भी पर्याप्त चित्रण रहा करता है ।

जैसे कि ‘पुष्पभूषित’ नामक प्रकरण में कुलजा का नायिकारूप में चित्रण, ‘तरङ्गदत्त’ नामक प्रकरण में वेश्या का नायिकारूप में चित्रण और ‘मृच्छकटिक’ में कुलजा और वेश्या—दोनों का नायिकारूप में चित्रण स्पष्ट दिखायी देता है ।

प्रकरण की अन्य विशेषतायें नाटक की विशेषतायें हैं क्योंकि यह रूपक-प्रकार नाटक का ही निप्यन्दरूप है ।

विमर्श—( क ) नाट्याचार्य भरतमुनि ने ‘प्रकरण’ का यह विशद विवेचन किया है—

‘यत्र कविरागमशस्या वस्तु शरीरं च नायकं चैव ।

औत्पत्तिकं प्रकुरते प्रकरणमिति तद् धुषेर्ज्ञेयम् ॥

यद्वाच्यमवाह्यं कार्यं प्रकरोत्यमृतगुणयुक्तम् ।  
 उत्पन्नबीजवस्तु प्रकल्पमिति तदपि विज्ञेयम् ॥  
 यद्यप्येके मन्वन्तं वस्तु क्षरीरं च वृत्तिमेवम् ।  
 तद्यद्वदोऽपि योग्यं सकल्पणं सधमन्विष्युः ॥  
 विप्रबलिकसन्निधानां पुरोहितामात्यसार्यवाहनाम् ।  
 चरितं यन्मैकविधं श्रेयं तद्यद्वदयं नाम ॥  
 बोधात्तन्मापककृतं न विष्यचरितं न राजसम्भोगम् ।  
 ब्रह्मचर्यसम्प्रयुक्तं तन्मैवं प्रकरणं तन्मैः ॥  
 दासविद्वेष्टिषु च वेदसम्प्रदायप्रकारमोपेतम् ।  
 मन्त्रकुक्षीचरितं कार्यं कार्यं प्रकरणे तु ॥ (वाचस्पत्य १८ ४६-५)

विष्का अस्मिन् बहू है—प्रकरण बहू रूपक-प्रकार है जिसके अतिवृत्तस्यो चरितविषय किन्ना अद्वैत-निरूपण में कवि को कल्पना का हाथ रहा करता है (प्रकरणेन क्रियते कल्पयते चेत्, फलं वस्तु वा न्यस्त-समस्ततयाऽपेति प्रकरणम्) । इस रूपक-प्रकार में भी वैविध्य-मेव है । एक प्रकार का वह प्रकरण हो सकता है जिसमें नेता कल्पित हो और वृत्त तथा एक अकल्पित हो; दूसरे प्रकार का वह जिसमें वृत्त कल्पित हो और नेता और एक अकल्पित हो; तीसरे प्रकार का वह जिसमें एक कल्पित हो और नेता और वृत्त अकल्पित हो; चौथे प्रकार का वह जिसमें नेता और वृत्त कल्पित हो और एक अकल्पित हो पाँचवें प्रकार का वह जिसमें नेता और एक कल्पित हो और वृत्त अकल्पित हो छठे प्रकार का वह जिसमें एक और वृत्त कल्पित हो और नेता अकल्पित हो और सातवें प्रकार का वह जिसमें नेता, एक और वृत्त तीनों के तीनों कल्पित हो ।

(ख) नाविका-शेख के कारण 'प्रकरण' के शब्दों से दो का परिणाम किन्ना तथा है । नाटक-दर्पणकार ने स्पष्ट कहा है—

‘कुक्षी गृहवातां पश्यन्ती तु विपर्वि ।  
 विदे पत्नी ह्य तस्माद्विषयसिद्धिर्वाच्यः ॥

गृहवातां गार्हस्थोचितपुरुषार्थसाधके वृत्ते कुक्षीय की नाविकाशेख अस्मिन्नाहीन विषयमयीया तथा पुष्पवृष्टिके । विपर्वि तु गार्हस्थवर्जोचितपुरुषार्थवर्जने वरदैव नायिकत्वमेव विषयमयीया तथा तरङ्गवत् । उभययोगस्य विद एव विद्यानामनोरथ-धारणम् । विदे गीत-नृत्य-वाद्यविषयके वृत्त पात्र-वेषादिषु प्रसङ्गे कलाश्रयके मुख्यवस्तु भाषकत्वेन विवक्षिते । कुक्षी चेति ह्य तदुचितगार्हस्थपुरुषार्थविषया विषयमयीयम् ।

‘यता दृष्टसंकीर्णमेवमवश्यं सप्तमेव प्रकरणे तस्माद्विषयसिद्धिर्वाच्यः पृथक् प्रकरणम् । अतुर्वस दृष्टा’ सप्त शक्तीणां प्रकरणमेवम् ॥ (वाचस्पत्य १८ व विवेक)

निबन्धन चरित्रान् मे केवल तीन प्रकरणमेवों का निर्देश किया है । ऐसा करना पुष्टिपुष्ट भी है क्योंकि अविश्वस्य का हाथ होने से प्रकरण में अन्वयित भी करनेना हो सकती है इसी को भाषिका का कल्पित होना अथवा अकल्पित होना भावि-आदि-विद्वत् इस प्रकार प्रकरण को मेवसम्भवा अत्यधिक हो अथवा ५-प्रकरण अथवा 'प्रकरण' का समान्य भवे होकर कर देने से बाहे प्रिन्ती भी अ-ना-न्यवि विविधताओं से प्रकल्पनेव की सकला नहीं वह सकेरी ।

(ग) साहित्यदर्पण के उपरान्त सप्तशतों में अस्मिन्नावधायक प्रकरण का इहान् 'पुष्प-मूर्ति' नामक प्रकरण दिया गया है किन्तु वह पाठ अशुद्ध है । वही 'पुष्पमूर्ति' अथवा 'पुष्पमूर्ति' पाठ हीना अस्ति । अस्मिन्नावधायक प्रकरण में 'पुष्पमूर्ति' नाम का अस्ति किन्ना है—

( द्वय रूपक-प्रकार भाण )

अथ भाण—

भाणः स्याद्भूर्तचरितो नानावस्थान्तरात्मकः ॥ २२७ ॥

एकाङ्क एक एवात्र निपुणः पण्डितो विटः ।

रङ्गे प्रकाशयेत्स्वेनानुभूतमितरेण वा ॥ २२८ ॥

संवोधनोक्तिप्रत्युक्ती कुर्यादाकाशभाषितैः ।

सूचयेद्वीरशृङ्गारौ शौर्यसौभाग्यवर्णनैः ॥ २२९ ॥

तत्रेतिवृत्तमुत्पाद्यं वृत्तिः प्रायेण भारती ।

मुखनिर्वहणे सन्धी लास्याङ्गानि दशापि च ॥ २३० ॥

अत्राकाशभाषितरूपपरवचनमपि स्वयमेवानुबदन्नुत्तरप्रत्युत्तरे कुर्यात् ।  
शृङ्गारवीररसौ च सौभाग्यशौर्यवर्णनया सूचयेत् । प्रायेण भारती, कापि

‘एतदेवाभिमन्यमानेन पुष्पदूषितकेऽशोकदत्तादिशब्दाकर्णनेन समुद्रदत्तस्य शङ्का  
योपनिबद्धा सा न दोषाय’

नाट्यदर्पणकार को भी ‘पुष्पदूषितक’ का ही पता है—

‘एवं च पुष्पदूषितकेऽशोकदत्तादिशब्दाकर्णनेन समुद्रदत्तस्य नन्दयन्त्या या व्यली-  
कशङ्कोपनिबद्धा सा न दोषाय’

इसी प्रकार ‘रङ्गवृत्त’ ( वेश्या तुरङ्गवृत्ते ) पाठ अशुद्ध है क्योंकि इस प्रकरण का नाम ‘तरङ्ग-  
दत्त’ है ( यथा मृच्छकटी पुष्पदूषितक-तरङ्गदत्तादिषु नाट्यदर्पण २ य विवेक ) ।

अनुवाद—‘भाण’ वह रूपक-प्रकार है जिसमें भूर्तचरित का चित्रण हुआ करता है,  
नानाविध लोकोपयोगी व्यवहारों का उपनिबन्ध रहा करता है और जिसकी रचना एक  
अङ्कमें ही सम्पूर्ण हुआ करती है । इसमें एक ही कुशल किं वा बुद्धिमान् नायक, जो कि  
‘विट’ हुआ करता है, स्वानुभूत अथवा परानुभूत विषयों का रङ्ग-सामाजिकों को परिचय  
दिया करता है । इस प्रकार के विषय-परिचय में वह ‘आकाशभाषित’ आदि का आश्रय  
लेकर, किसी न किसी को सम्बोधित किया करता है और उक्ति-प्रत्युक्ति द्वारा अपना  
अभिप्राय सामाजिकों पर प्रकाशित किया करता है । इसमें शृङ्गार और वीर रसों की  
अभिव्यञ्जना हुआ करती है जिसके लिये विलास-वर्णन और शौर्य-वर्णन अपेक्षित रहा  
करते हैं । इसका इतिवृत्त कवि-कल्पित हुआ करता है । इसमें प्रायः भारती वृत्ति का ही  
वाहुल्य रहा करता है । सन्धिपञ्चक में ‘मुख’ और ‘निर्वहण’ सधियों की योजना यहाँ  
आवश्यक है । मनोरञ्जन-वैचित्र्य की दृष्टि से इसमें दसों लास्याङ्गों का उपन्यास उचित  
माना गया है ।

यहाँ ‘आकाशभाषित’ की योजना का तात्पर्य यह है कि किसी अन्य पात्र के न होने पर  
भी, विट, स्वयं ही, अन्य पात्र की उक्ति की कल्पना कर लिया करता है और उत्तर-प्रत्युत्तर  
रूप में विषय का विस्तार कर दिया करता है । शृङ्गार और वीर रसों की सूचना के लिये  
यहाँ सौभाग्य और शौर्य के वर्णन ही साधन माने गये हैं । यहाँ ‘प्रायः भारती वृत्ति के  
वाहुल्य होने’ का अभिप्राय यह है कि कहीं-कहीं कैशिकी वृत्ति भी यहाँ अपेक्षित रहा

कैराक्यपि मृत्तिर्भवति । ज्ञास्याज्ञानि गयपवादीनि । तदाहरणं-स्त्रीलामधुकर ।  
( अर्थ रूपक-भकार : व्यायोग )

अथ व्यायोग —

स्मृतातेतिष्ठो व्यायोग स्वरूपस्त्रीजनसंयुत ।  
हीनो गर्भविमर्शाम्पा नरैर्बहुमिराभित ॥ २३१ ॥  
एकाद्वय मन्दस्त्रीनिमित्तममरोदय ।  
कैशिकीवृत्तिरहित प्रसूपातस्तत्र नापकः ॥ २३२ ॥  
राजपिरय दिव्यो वा मवेद्वीरोद्वतश्च सा ।

करती है । यहाँ 'कास्याज्ञो' का अन्विष्टाव 'गयपव' का हि पूर्वनिर्दिष्ट इस कास्याज्ञो का अन्विष्टाव है । इस रूपक-भकार के उदाहरण के किये 'स्त्रीलामधुकर' को किया जा सकता है ।

विमर्श—'मान' शब्द की वह स्मृति है—

'मन्यते ज्योतिष्ठा ( आकाशमाभितेन ) बाधकेव स्वपरवृत्त प्रकाशयतेत्येति भाषा' अर्थात् 'मान' वह रूपकभकार है जिसमें मानक 'आकाशमाभित' के द्वारा स्ववृत्त और वरवृत्त का प्रकाशन किया करता है ।

'मान' में अज्ञात और वीर इस का ही प्राधान्य हुआ करता है किन्तु वह भी विकास और विक्रमके वर्णन के आधार पर ही अपेक्षित माना गया है, न द्विविध परित-विकास के आधार पर ।

'मान' के किये 'ज्योतिष्ठा' होना आवश्यक है । इसीकिये इसमें 'विद' 'विष्ठा' आदि के वृत्तान्त का वर्णन स्वमाकृत अपेक्षित हुना करता है । इसकी रूपरेखा का निर्देश करते हुए—'नाट्यवर्णन'कार के यह कहा है—

'अत्र विद्याहीना परब्रह्मज्ञानमकं कृतं प्रेक्षकाणामवज्ञानीयत्वापन्नार्थं व्युत्पाद्यत इति । अर्थात् 'मान' में 'विद-वरित विष्ण' का वर्णन वर्तमान की गद्यमा ही सामान्यका को अवगत और सज्ज करमा है ।

नाट्यज्ञान का वह माण-कण्य भाग के स्वरूप और प्रयोग का पूर्णतया परिचायक है—

आत्मानुसूतसंसी परसज्जवर्णवाविशेषस्तु ।  
विशिष्टावधो हि भाषी विशेषस्तेष्ववर्णन ॥  
परब्रह्मज्ञानमसंख्य प्रतिषन्नैकपरोक्षप्रमितैः ।  
आकाशपुष्पकमितैरहविकारैरभिनयैश्च ॥  
वृत्तिवित्तप्रयोजनो बाबावस्थान्तरात्मकमीध ।  
एकाद्वो बहुवेष्टा सततं कर्षो ह्युच्यते ॥

( नाट्यज्ञान : १८१ ८-११ )

अनुवृत्त—व्यायोग —'व्यायोग' उस रूपक प्रकार का नाम है जिसका इतिवृत्त प्रख्यात हुआ करता है जिसमें स्त्रीपार्श्व की संख्या बहुत कम और पुंस्वपार्श्व की संख्या प्रचुर हुआ करती है, जिसके किये 'गर्भ' और 'विमर्श' सम्प्रदाय की योजना अपेक्षित नहीं रहा करती और जिसकी एक बाहु में ही समाप्ति आवश्यक मानी गयी है । इसमें ऐसे संप्रदाय का वर्णन हुआ करता है जिसका कर्मण की न हो । इसमें कैशिकी वृत्ति नहीं रहा करती । इसका नायक कोई प्रसिद्ध पुंस्व हुआ करता है जिसके किये राजर्षि

हास्यशृङ्गारशान्तेभ्य इतरेऽत्राङ्गिनो रसाः ॥ २३३ ॥

यथा सौगन्धिकाहरणम् ।

( ५म रूपक-भेद : समवकार )

अथ समवकार —

वृत्तं समवकारे तु ख्यातं देवासुराश्रयम् ।

सन्धयो निर्विमर्शास्तु त्रयोऽङ्कास्तत्र चादिमे ॥ २३४ ॥

अथवा देवविशेष होना आवश्यक है । इसमें धीरोदात्त प्रकृति के ही नायक का चित्रण अपेक्षित है । इसमें हास्य, शृङ्गार और शान्त—इन तीन रसों को छोड़कर, अन्य रसों में से किसी को भी अङ्गी अथवा प्रधानरूप में रखा जा सकता है ।

‘व्यायोग’ के उदाहरण के लिए ‘सौगन्धिकाहरण’ को लिया जा सकता है ।

विमर्श—भरतनाट्यशास्त्र में ‘व्यायोग’ का यह लक्षण है—

‘व्यायोगस्तु विधिज्ञैः कार्यं प्रख्यातनायकशरीर ।

अल्पस्त्रीजनयुक्तस्त्वेकाहकृतस्तथा चैव ॥

बहवश्च तत्र पुरुषा व्यायच्छन्ते यथा समवकारे ।

न च तत्प्रमाणयुक्तं कार्यस्त्वेकाङ्क एवायम् ॥

न च दिव्यनायककृतं कार्यो राजर्षिनायकनिबद्ध ।

युद्धनियुद्धाधर्षणसंघर्षकृतश्च कर्तव्य ॥

एवंविधस्तु कार्यो व्यायोगो दीप्तकाव्यरसयोनौ ।’

( नाट्यशास्त्र १८. १०-१३ )

‘व्यायोग’ शब्द की व्युत्पत्ति से ही इस रूपक-प्रकार का स्वरूप पहचाना जा सकता है । ‘व्यायोग’ की व्युत्पत्ति यह है—

‘विशेषेण आ समन्तात् युज्यन्ते कार्यार्थं सरभन्तेऽत्रेति व्यायोगः ।’

नाटक और प्रकरण तो ‘पूर्णसन्धि’ रूपकप्रकार हैं किन्तु भाग और व्यायोग आदि ‘न्यूनसन्धि’ रूपकभेद हैं । रूपकों के ‘पूर्णसन्धि’ और ‘अपूर्णसन्धि’ होने का यह अभिप्राय है—

‘नाटकादिनायकस्य तु प्रेक्षापूर्वकारित्वेनार्तिसहत्वाद् हितचतुफलकर्तव्यारम्भित्वेन विनिपातप्रत्ययापाकरणाच्च सर्वावस्थासम्भवेन पञ्चापि सन्धयो भवन्त्येव । अत्र ( व्यायोगे ) च गर्भाविमर्शसन्धिप्रतिषेधे एतत्सन्धिपरिच्छेदिके प्राप्त्याशा-नियतासी अवस्थे अपि प्रतिषिद्धे एव ।’ ( नाट्यदर्पण २य विवेक )

अर्थात् ‘नाटक’ में तो सन्धिपञ्चक की साक्षोपाङ्ग योजना अपेक्षित रहा करती है क्योंकि यहाँ का नायक एक अनुकरणीयचरित महापुरुष हुआ करना है जो कि आशा-निराशा के द्वन्द्व में पटा, अपनी कार्यसिद्धि के लिए, सतत जागृक रहा करता है किन्तु ‘व्यायोग’ में ऐसी बात नहीं हुआ करती । यहाँ युद्ध-नियुद्ध-संघर्ष आदि के वर्णन वैचित्र्य का ही महत्त्व है और इसलिये नायक की प्राप्त्याशा और नियताप्ति की अवस्थार्था का निरूपण आवश्यक नहीं ।

अनुवाद—समवकार — ‘समवकार’ वह रूपकभेद है जिसका वृत्त देवविषयक अथवा असुरविषयक हुआ करता है और पुराणादिप्रसिद्ध हुआ करता है । इसमें ‘विमर्श’सन्धि को छोड़कर और सन्धियों की रचना अपेक्षित है । इसकी रचना तीन अङ्कों में सम्पूर्ण हुआ करती है, जिनमें, पहले अङ्क में मुख और प्रतिमुखसधि दूसरे में गर्भसन्धि और

सन्धी द्वावन्त्ययोस्तद्वदेक एको भवेत्पुनः ।

नायका द्वादशोदात्ताः प्रख्याता देवमानवाः ॥ २३५ ॥

फल पृथक्पृथक्तेषां वीरमुख्योऽखिलो रसः ।

वृक्षयो मन्दकैश्चिष्यो नाश्र बिन्दुप्रवेशकौ ॥ २३६ ॥

वीध्यङ्गानि च तत्र स्फुर्यथालामं प्रयोदश ।

गायत्र्युष्णिग्मुखान्पथ च्छन्दांसि विविधानि च ॥ २३७ ॥

त्रिमृत्कारस्त्रिकपटः कार्यभार्य त्रिविधः ।

वस्तु द्वादशनालोमिर्निष्पाद्यं प्रथमाङ्कगम् ॥ २३८ ॥

द्वितीयेऽङ्के चतसृभिर्दाम्यामङ्के तृतीयके ।

नास्तिक्य घटिकाद्वयमुच्यते । बिन्दुमवेशाकी च नाटकोप्यपि नह  
विधातव्यो । तत्र—

धर्मार्थकामैस्त्रिविधाः मृत्कारः कपटः पुनः ॥ २३६ ॥

स्वामाधिकाः कृत्रिमव देववो विद्वदः पुनः ।

धीसरे में निर्बहुवचन की योजना आवश्यक है। इसमें १२ नायकों का चरित्र-विवरण हुआ करता है जिसके लिए वीरोदात्त होना प्रस्ताव होना और विषय भववा भविष्य होना आवश्यक है। इन १२ नायकों में प्रत्येक का प्रयोजन पृथक्-पृथक् हुआ करता है। इसमें वीर रस की ही 'कृत्री-कर्म' में अभिव्यक्ति अवस्थित है और अन्य रस भङ्गक से उपविबद्ध हुआ करते हैं। इसमें 'कैसिधी' के पुत्र के साथ-साथ वीर तीनों वृत्तियों आवश्यक है। इसका क्रिय 'बिन्दु-निवेश' की आवश्यकता नहीं और न 'प्रवेशक' योजना की ही अपवाद है। इसमें उपयोगिता की दृष्टि से चर्चा-तर्ही वीची के १२ अङ्गों का उपन्यास आवश्यक है। इसमें गायत्री और उष्णिग सुम्हीं के प्राधान्य के साथ-साथ वृत्त-वैविध्य भी अपेक्षित है। समप्रकार के लिए 'त्रिमृत्कार' 'त्रिकपट' और 'त्रिविध' होना आवश्यक है। इसका प्रथमाङ्क का इतिवृत्त १२ वरी में द्वितीयाङ्क का इतिवृत्त ४ वरी में और तृतीयाङ्क का इतिवृत्त ४ वरी में समस्त निभा जाया करता है।

यहाँ (चरित्र में) 'वाकिका' का अभिप्राय दो वरी का है। जैसे तो नाटक का कथन समप्रकार आदि रूपक-प्रकारों में भी अनुगत माना गया है किन्तु समप्रकार के लिए 'बिन्दु-निवेश' और 'प्रवेशक'-योजना आवश्यक नहीं समझी गयी है और इसीलिए इसका लक्षण में 'नाम बिन्दुप्रस्ताव' वह उपन्यास है।

'समप्रकार' के 'त्रिमृत्कार' होने का अभिप्राय 'त्रिविधमृत्कार' माना है। 'त्रिविध-मृत्कार' का अभिप्राय धर्ममृत्कार अधर्ममृत्कार और काममृत्कार का अभिप्राय है। समप्रकार 'त्रिकपट' हुआ करता है—इसका अभिप्राय यह है कि इसमें स्वामाधिक कृत्रिम और देवना-गीत प्रकार के कपट की योजना हुआ करती है। इसी प्रकार 'समप्रकार' के

अचेतनैश्चेतनैश्च चेतनाचेतनैः कृतः ॥ २४० ॥

तत्र शास्त्रविरोधेन कृतो धर्मशृङ्गारः । अर्थलाभार्थकल्पितोऽर्थशृङ्गारः । प्रहसनशृङ्गारः कामशृङ्गारः । तत्र कामशृङ्गारः प्रथमाङ्क एव । अन्ययोस्तु न नियम इत्याहुः । चेतनाचेतना गजादयः । समवकीर्यन्ते बहवोऽर्था अस्मिन्निति-समवकारः ।

‘त्रिविद्रव’ होने का तात्पर्य अचेतन, चेतन और चेतनाचेतनात्मक तीन विद्रवप्रकारों से युक्त होना है ।

यहाँ ‘धर्मशृङ्गार’ से शास्त्रानुकूल शृङ्गार समझा जाया करता है और ‘अर्थशृङ्गार’ से अर्थलाभार्थक शृङ्गार । ‘कामशृङ्गार’ का तात्पर्य प्रहसनात्मक शृङ्गार है । समवकार के प्रथमाङ्क में जिस शृङ्गार की योजना हुआ करती है वह ‘कामशृङ्गार’ है । द्वितीयाङ्क और तृतीयाङ्क के लिये कोई विशेष नियम नहीं है जैसा कि नाट्याचार्यों का मत है । यहाँ ‘चेतनाचेतनात्मक विद्रव’ का अभिप्राय हाथी आदि द्वारा संभव उपद्रव का अभिप्राय है । समवकार को इसलिये समवकार कहते हैं क्योंकि इसमें चित्र-विचित्र अर्थ उपनिबद्ध रहा करते हैं । ‘समवकार’ का उदाहरण ‘समुद्रमथन’ है ।

विमर्श—(क) ‘समवकार’ की उपयोगिता के सम्बन्ध में अभिनवभारतीकार का यह कथन है—  
‘एवं श्रद्धालवो देवताभक्ताः तद्देवयानादावनेन प्रयोगेणानुगृह्यन्ते, निरनुसन्धान-हृदया स्त्रीबालमूर्खाश्च विद्रवादिनाहृतहृदया क्रियन्ते’ (अभिनवभारती नाट्यशास्त्र . अध्याय १८) अर्थात् समवकार के अभिनय का स्थान देवमन्दिर का प्रागण है और समय देवयाना का दिवस । देवभक्त जनसमाज के सामने देवविशेषों की चरितचर्चा देवभक्ति के प्रचार का सुन्दर साधन है । समवकार में ‘विद्रव’ (बहुविध उत्पात) के अभिनय से अव्युत्पन्न जन-समाज का भी पर्याप्त मनोरञ्जन हुआ करता है ।

नाट्यदर्पणकार ने भी ‘समवकार’ की सामाजिक उपयोगिता का यही नकेत किया है—

‘समवकारे च सक्षिप्तं सहास्यं शृङ्गारः पटो विद्रवो देवासुरवैरनिमित्तं सम्प्रहारादिकं च दिव्यप्रभावसाध्यं लौकिकीभिरुपपत्तिभिर्हीनं मायेन्द्रजाल-प्लुत-लङ्घनोच्छेद्य-पुस्तावपा-तादिवहुलयाऽरभटया वृत्त्या सर्वमपि प्रहसन-कपट-विद्रवादि कुतूहलिना परा तुष्टिमुत्पा-दयितुं न्युत्पाद्यते । यदाहुः—

शूरास्तु वीर-रौद्रेषु नियुद्धेष्वहवेषु च ।

बाला मूर्खाः स्त्रियश्चैव हास्य-शोक-भयादिषु ॥’

अर्थात् जैसे ‘समवकार’ में चित्र-विचित्र अर्थ समवकीर्णरूप से उपनिबद्ध रहा करते हैं वैसे ही इस रूप-प्रकार के सामाजिक भी विविध प्रकार के लोग हुआ करते हैं जिन्हें, इसमें, चित्र-विचित्र-रूप का मनोरञ्जन मिला करता है ।

(ख) ‘त्रिशृङ्गार’ अर्थात् ‘धर्मशृङ्गार’, ‘अर्थशृङ्गार’ और ‘कामशृङ्गार’ का अभिप्राय यह है—‘यहाँ ‘शृङ्गार’ शब्द का अर्थ शृङ्गार रस नहीं अपितु प्रेमी प्रेमिकायुगल है जो कि शृङ्गार का छालन्वन विभाव हुआ करता है । अब ‘धर्मशृङ्गार’ का अर्थ हुआ ‘धर्म’ अथवा गार्हस्थ्यधर्माचरण के द्वारा प्रेमी-प्रेमिकायुगल का परस्पर संयोग और साथ ही साथ प्रेमी प्रेमिकायुगल का ऐसा पारस्परिक सम्बन्ध जिसका उद्देश्य गार्हस्थ्यधर्माचरण अथवा परदारवर्जनादिपूर्वक रतिमुखास्वाद हो । ‘कामशृङ्गार’ का तात्पर्य हुआ ‘काम’ अथवा रतिमुख के द्वारा स्त्री-पुरुषयुगल का संयोग अथवा रतिमुख के लिये स्त्री-पुरुषयुगल का सम्बन्ध । इसी प्रकार ‘अर्थशृङ्गार’ का अभिप्राय है अर्थ अथवा



यथा—समुद्रमथनम् ।

( पृष्ठ रूपक-भेद : हिम )

अथ हिम—

यायेन्द्रजालसग्रामक्रोधोवृष्टान्तादिचेष्टिते ।

उपरागैश्च भूयिष्ठो हिमः ख्यातेतिवृत्तकः ॥ २४१ ॥

जल-जालादि के द्वारा का-पुरुषमुगल का परस्पर संयोग अथवा 'जल' के बिने जी-पुरुषद्वय का परस्परिक सम्बन्ध । नाट्यदर्पणकार ने स्पष्ट किया है—

'धर्मकामार्थाः फल हेतवश्च यस्व (शृङ्गारस्य) तत्र परतीर्तयोगक्यस्य शृङ्गारस्य पराक्षरवर्जनादिको धर्मः फलम् । दानादिकस्तु धर्मः स्म्यधिकामस्य हेतुः । काम-शृङ्गार स्रग्दाम्भा जीपुंसयो रतिस्वरूपेतुश्च जीपुंसविर्गुण्यते । तत्र जीपुंसद्वयस्य शृङ्गारस्य रतिक्यः कामः फलम् । रतिकूपस्य शृङ्गारस्य जीपुंसद्विक्यः कामो हेतुः । अत्र च काममार्गारे जी परकी कम्पा च प्राक्, न पुनः स्वदारा वरवा वा । यथा सम्पत्त्याह्वया । स्वदाराही हि धर्मस्याप्यनुभवयोगः फलकस्यैव कामस्य फल-हेतुमात्रो न स्वात् । अर्थो रास्य-सुखम-धाम्य-वशादिः । तत्र धर्मयोपितो केवाचित् सुमगायां पुंसां चार्थकः शृङ्गारः । वरवादिषु च पुंसामप्येतुक्तः शृङ्गारः । वैवाहीकमपि गणवर्ध-यज्ञादिक्याणां रत्न्यासर्वसमीक्षा मन्त्रयेव । तद्वाराधकानो चार्थमस्ति । ( नाट्यदर्पण २५ विवेक )

( ग ) 'विकपट' का तात्पर्य जमिनवमारोहण के अर्थों में यह है—

'कपटो बह्वन्ता । 'त्रिधा तत्र बह्वन्ता 'बुद्धयैव कदाचित् केवल्या कपटो भवति स हि वस्तुगतक्रमविहितः वस्तु फलं तत्प्राप्ती वस्तुगता फलसाधकः कर्ता । तस्य वा क्रमा उपामन्त्रितमार्गाः सेतु विहितः यत्रानपराध एव बह्वन्तेन कल्प्यते स पूर्वमुक्तः । यत्र तु बह्वन्तीयोऽपि सापराधः स परममुक्तः कपटः । 'यत्र तु ह्योरेपि च कश्चिदभिसन्निहोण काकताकीयेन तुल्यफलमिसन्निहानवतोऽप्येक उपक्रमेणापरस्परकथनेन पुण्यते तत्र बह्वन्ता सा वैवहता बह्वन्ता ।'

यहाँ साहित्यदर्पणकार ने वस्तुगतक्रमविहित को 'स्वामात्मिक' 'परममुक्त' को 'जमिन' और 'वैवहसम्पत्' को 'वैवह' मानकर 'विकपट' का अर्थ किया है ।

( ब ) 'त्रिधिव' का जमिमात्र यह है—

'त्रिधिवन्ति त्रयस्मिन् जना अस्मादिति त्रिध्वनोऽनर्थाः । 'त्रि' इति प्रकारत्रयमुक्तः । तत्र जीवोत्थो हस्त्यादिकः । जजीवोत्था वस्त्रादिकः । जीवाजीवोत्थो वगरोपरोद्वहः ।

( नाट्यदर्पण : २५ विवेक )

साहित्यदर्पणकार ने 'जीवोत्थ' को जैनविश्व 'जजीवोत्थ' को जयैतद्विश्व और जीवा-जीवोत्थ को जैनजयैतद्विश्व मानकर 'त्रिधिव' का जमिमात्र स्पष्ट किया है । 'त्रिधिव' के सम्बन्ध में नाट्यशास्त्र को भी संक्षिप्त वृत्त स्पष्ट है—

'मुद्रावकर्मभयो वा वाग्म्यशिराज्जगत्सममकृतो वा ।

वगरोपरोद्वहो वा त्रिध्वो त्रिध्वविधिवः ॥ ( नाट्यशास्त्र : १८, ७ )

अनुवाद—हिम—'हिम यह रूपकप्रकार है जिसमें माया इन्द्रजाल, सग्राम किंवा श्रेयादि से व्यग्रहृदय व्यभिचारी की चेष्टाओं का वास्तव्य रहा करता है और जिसमें विनाश-वहकपात-सूर्य-चन्द्रोपराग आदि का वर्णन हुआ करता है इसका इतिवृत्त

अङ्गी रौद्ररसस्तत्र सर्वेऽङ्गानि रसाः पुनः ।  
 चत्वारोऽङ्का मता नेह विष्कम्भकप्रवेशकौ ॥ २४२ ॥  
 नायका देवगन्धर्वयक्षरक्षोमहोरगाः ।  
 भूतप्रेतपिशाचाद्याः षोडशात्यन्तमुद्रताः ॥ २४३ ॥  
 वृत्तयः कैशिकीहीना निर्विमर्शाश्च सन्धयः ।  
 दीप्ताः स्युः पट्टसाः शान्तहास्यशृङ्गारवर्जिताः ॥ २४४ ॥  
 अत्रोदाहरण च 'त्रिपुरदाहः' इति महर्षिः ।  
 ( ७म रूपकभेदः ईहामृग )

अथेहामृग—

ईहामृगो मिश्रवृत्तश्चतुरङ्गः प्रकीर्तितः ।

प्रख्यात होना चाहिये । इसमें रौद्र तो अङ्गी अथवा प्रधान रस हुआ करता है और अन्य रस अङ्गरूप से उपनिबद्ध किये जाया करते हैं । इसकी रचना के लिये अङ्कचतुष्टय पर्याप्त है । इसमें विष्कम्भक और प्रवेशक की योजना आवश्यक नहीं । इसके १६ नायक हुआ करते हैं जो कि देव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, सर्प, भूत, प्रेत, पिशाचादि जैसे अत्यन्त उद्धतप्रकृति के जीव हुआ करते हैं । इसमें कैशिकी को छोड़कर अन्य तीनों वृत्तिओं का विन्यास रहा करता है । इसमें 'विमर्श' सन्धि के अतिरिक्त अन्य सन्धियों की योजना अपेक्षित है । इसके लिये शान्त, हास्य और शृङ्गार को छोड़कर अन्य ६ रसों की दीप्ति अत्यावश्यक है ।

'डिम' का उदाहरण 'त्रिपुरदाह' है जैसा कि महर्षि भरत का कथन है ।

विमर्श—अभिनवभारती के अनुसार 'डिम' की व्युत्पत्ति यह है—

'डिमो डिम्बो विद्रव इति पर्याया, तद्योगादय डिम' । अन्ये तु ड्यन्त इति डिमा उद्धतनायकास्तेषा वृत्तिर्यत्रेति ।'

अर्थात् 'डिम' कहते हैं विद्रव अथवा उत्पात को और जिस रूपकप्रकार में उत्पातवर्णन का बाहुल्य हो वह रूपकप्रकार डिम है । नाट्यशास्त्र में 'डिम' का यह लक्षण है—

'प्रख्यातवस्तुविषय प्रख्यातोदात्तनायकश्चैव ।  
 पट्टसलक्षणयुक्तश्चतुरङ्गो वै डिमः कार्य ॥  
 शृङ्गारहास्यवर्जं शेषे सर्वे रसे समायुक्त ।  
 दीप्तरसकाव्ययोर्निर्नाभावोपसम्पन्न ॥  
 निर्धातोत्तकापातैरुपरगोणेन्दुसूर्ययोर्युक्तः ।  
 युद्धनियुद्धाधर्षणसफेदकृतश्च कर्तव्य ॥  
 मायेन्द्रजालबहुलो बहुपुस्तोत्थानयोगयुक्तश्च ।  
 देवभुजगेन्द्रराक्षसयक्षपिशाचावकीर्णश्च ॥  
 षोडशनायकबहुल सात्वत्यारभटिवृत्तिसंपन्न ।  
 कार्यो डिम प्रयत्नाज्ञानाश्रयभावसम्पन्न ॥'

( नाट्यशास्त्र २८, ८४-८८ )

अनुवाद—ईहामृग —'ईहामृग' वह रूपकप्रकार है जिसका इतिवृत्त ऐतिहासिक

यथा—समुद्रमयनम् ।

( पठ रूपक-श्लेष : छिम् )

अथ छिम्—

भायेन्द्रजातसग्रामक्रोधाद्भ्रान्तादिचेष्टितै ।

उपरागैश्च भूयिष्ठो छिम् ख्यातेतिवृत्तकः ॥ २४१ ॥

यत्न-आन्दारि के द्वारा का-पुरुषपुत्रक का परस्पर संबोधन जवना 'वर्ध' के छिमे की पुरुषपुत्रक का परस्परिक सम्बन्ध । भास्वरूपेणकार ने स्पष्ट किया है—

'धर्मकामाद्याः फलं हेतुबलं बन्ध ( श्रद्धास्त्व ) तत्र परमीसंयोगक्यस्य श्रद्धास्त्व परदारवर्धभाविको धर्मो फलम् । आनादिकस्तु धर्मः स्यादिकामस्य हेतुः । काम-श्रद्धा श्रद्धाभ्यां जोपसयो रतिस्त्वद्येतेषु कीर्तुसादिर्युक्ते । तत्र कीर्तुसादिर्युक्तस्य रतिक्या कामो फलम् । रतिक्यस्य श्रद्धास्त्व कीर्तुसादिक्या कामो हेतुः । यत्र च कामश्रद्धा की परकी कम्वा च श्रद्धा, न पुनः स्वहारा वेदया वा । यथा शक्त्याहत्या । स्वहाराही हि धर्मस्याप्यनुमेषोक्त केवलस्यैव कामस्य फल-हेतुभावो न स्यात् । यत्रो रत्न-सुख-धर्म-धाम्य-बन्धादि । तत्र पण्यवोपिठां केवाचित् धूमगानां पुंसां कार्यकला श्रद्धा । वेदवर्धिवे च पुंसांमर्धिवेत्तुः श्रद्धा । वेदाहीचामपि गण्यवर्ध-बन्धादिक्यानां श्रद्धाधर्मसमीहा मन्त्रये । तद्वाराधकार्मां कार्यप्रतिष्ठा । ( नाट्यदर्पण : २४ विवेक )

( ग ) 'चिक्कट' का तात्पर्य भविष्यमारतीकार के सङ्गों में यह है—

'कपटो बह्वना । विद्या तत्र बह्वना 'हृद्भवैव कदाचित् केवलत्वा कपटो भवति स हि वस्तुगतजन्मविहितः वस्तु फलं तत्प्राप्ती वस्तुगत' फलसाधकः कर्ता तस्य वा क्रमो उपावचित्तयादिः तेन विहितः पञ्चानपराध एव बह्वकेव बह्व्यते स एवमुक्तः । यत्र तु बह्वीवोऽपि सापराधा स परममुक्त कपटः । यत्र तु हृद्बोरपि च कश्चिन्निसन्निवोऽपि कालात्कीवेन हृत्पञ्चमिसन्निधानवतोरप्येक उपपत्तेनापरस्त्वपचयेन युज्यते तत्र बह्वना सा वैवहता बह्वना ।

यहाँ साहित्यदर्पणकार ने 'वस्तुगतजन्मविहित' को 'स्वामादिक' 'परममुक्त' को 'हृद्बोर' और 'वैवहतासम्पत्' को 'वैवह' मानकर 'चिक्कट' का अर्थ किया है ।

( ङ ) 'चिद्रिज' का अभिप्राय यह है—

'चिद्रिजमिति वस्तुमिति अवा अस्मादिति चिद्रिजोऽप्यर्थः । चिद्रि इति प्रकरवचमुक्तः । तत्र जीवोरथो हृत्पञ्चमिः । जीवोरथः सत्पञ्चमिः । जीवोरथोऽप्यो नगरोपरोच्यते ।

( नाट्यदर्पण : २५ विवेक )

साहित्यदर्पणकार ने 'जीवोर' को चेतनचिद्रिज 'जीवोर' को अचेतनचिद्रिज और जीवोर जीवोर चेतनाचेतनचिद्रिज मानकर 'चिद्रिज' का अभिप्राय स्पष्ट किया है । 'चिद्रिज' के सम्बन्ध में नाट्यसूत्र की वे पंक्तियों बहुत स्पष्ट हैं—

'पुत्रवत्कर्ममथो वा वाच्यमिगलेष्वस्तंममकृतो वा ।

नगरोपरोच्यते वा विज्ञेयो विज्ञवचिविज्ञः ॥' ( नाट्यसूत्र १८. ७० )

अनुवाद—छिम्—'छिम् यह रूपककार है जिसमें भावा, इन्द्रजात, सग्राम किया जोवादि से अप्रमद्वय व्यक्तियों की चेष्टाओं का वाच्य रह करता है और जिसमें विजात उद्गमपाठ-सूर्यचन्द्रोपराग आदि का वर्णन हुआ करता है इसका इतिवृत्त

यथा—कुसुमशेखरविजयादि ।

( ८म रूपक-प्रकार . अङ्क )

अथाङ्क—

उत्सृष्टिकाङ्क एकाङ्को नेतारः प्राकृता नराः ॥ २५० ॥

रसोऽत्र करुणः स्थायी बहुस्त्रीपरिदेवितम् ।

प्रख्यातमितिवृत्तं च कविर्बुद्ध्या प्रपञ्चयेत् ॥ २५१ ॥

भाणवत्सन्धिवृत्त्यङ्गान्यस्मिञ्जयपराजयौ ।

इस रूपकप्रकार के उदाहरण 'कुसुमशेखरविजय' आदि है ।

विमर्श—( क ) भरतनाट्यशास्त्र में

'ईहामृग' की यह परिभाषा है—

'दिव्यपुरुषाश्रयकृतो दिव्यस्त्रीकारणोपगतयुद्ध ।

सुविहितवस्तुनिबद्धो विप्रत्ययकारकश्चैव ॥

उद्धतपुरुषभाय स्त्रीरोपप्रथितकान्यवन्धश्च ।

सप्तोभविद्रवकृतः सफेदकृतस्तथा चैव ॥

स्त्रीभेदनापहरणावमर्दनप्राप्तवस्तुशृङ्गार ।

ईहामृगस्तु कार्यं सुसमाहितकान्यवन्धश्च ॥

यद्व्यायोगे कार्यं ये पुरुषा वृत्तयो रसाश्चैव ।

ईहामृगोऽपि ते स्युः केवलममरस्त्रिया योग ॥

यत्र तु वधेऽपि सताना वधो ह्युदयो भवेद्धि पुरुषाणाम् ।

किञ्चिद् व्याज कृत्वा तेषां युद्धं शमयितव्यम् ॥'

( नाट्यशास्त्र १२ ७८-८० )

( ख ) अभिनवभारतीकार ने 'ईहामृग' की यह व्युत्पत्ति दी है—

'ईहा चेष्टा मृगस्येव स्त्रीमात्रार्था यत्र स ईहामृग ।' ( अभिनवभारती अ. १८ )

अर्थात् ईहामृग को इसलिए 'ईहामृग' कहा करते हैं क्योंकि यहाँ नायक मृग की भाँति एक-मात्र स्त्रीप्राप्ति में ही तत्पर चित्रित किया जाता करता है ।

( ग ) साहित्यदर्पण के 'विमला'व्याख्याकार ने 'ईहामृग' की व्युत्पत्ति ( नायको मृगवद-लभ्या नायिकामत्र ईहते चान्छ्रुतीतीहामृग ) का यह आक्षेप समझाया है—'इसमें मृग के तुल्य अलभ्य कामिनी को नायक चाहता है, अतः इसे 'ईहामृग' कहते हैं,' किन्तु 'अभिनवभारती' के देखते यह अभिप्राय ठीक नहीं प्रतीत होता । साहित्यदर्पणकार का वही अभिप्राय है जो कि 'अभिनवभारती' के आचार्य का है । तात्पर्य यह है कि इस रूपकप्रकार में नायक मृगवत् चेष्टा में निरत ( स्त्रीभोगपरायण ) दिखाया जाता करता है, न कि नायिका 'मृगवत्' अलभ्य वर्णित की जाया करती है ।

अनुवाद—'अङ्क'-'अङ्क' अथवा 'उत्सृष्टिकाङ्क' वह रूपकप्रकार है जो कि एक अङ्क में ही रचा जाया करता है और जिसमें साधारण पुरुषों को नायकरूप में चित्रित किया जाया करता है । इसमें करुण रस 'अङ्गी' हुआ करता है, क्योंकि यहाँ नारी-विलाप का वर्णन प्रचुर मात्रा में रहा करता है । इसका इतिवृत्त प्रख्यात हुआ करता है और नाटककार की कल्पना द्वारा विस्तार के साथ वर्णित किया जाया करता है । इसमें सन्धि, वृत्ति और इनके अङ्गों की योजना 'भाण' के समान हुआ करती है । इसमें जय-पराजय, युद्ध-नियुद्ध

मुखप्रतिमुखे सन्धी तत्र निर्घृणं तथा ॥ २४१ ॥  
 नरदिव्यावनियमौ नायकप्रतिनायकौ ।  
 स्यात्तौ धीरोद्धतावन्यो गूढभावादयुक्तकृत् ॥ २४६ ॥  
 दिव्यस्त्रियमनिच्छन्तीमपहारादिनेच्छतः ।  
 मृङ्गाराभासमप्यस्य किञ्चित्किञ्चित्प्रदर्शयत् ॥ २४७ ॥  
 पताकानायका दिव्या मर्त्या वापि दक्षोद्धताः ।  
 युद्धमानीय संरम्भ परं स्यान्नाभिर्वर्तते ॥ २४८ ॥  
 महात्मानो वधप्राप्ता अपि बभूवुः स्युरत्र नो ।  
 एकाङ्गो देव एवात्र नेतेत्याहुः पर पुनः ॥ २४९ ॥  
 दिव्यस्त्रीहेतुक युद्ध नायका पङ्क्तिवरे ।

मित्रं स्यादास्यातम् । अन्यं प्रतिनायकः । पताकनायकस्तु नायकप्रति  
 नायकयोर्मिलिता वरा । नायके मृगवदसम्पन्ना नायिकामत्र ईहते बाणवृत्तीतिहा  
 मृगः ।

और कवियत इतनी का सम्मिश्रण हुआ करता है और जिसकी रचना के लिये अद्भुतगुह्य  
 पर्वोत्त माना गया है । इसमें मुक्त प्रतिमुख और निर्घृण की चीज ही संविषाँ आवश्यक  
 हैं । इसमें नायक और प्रतिनायक के बीच और मानव—दोनों होने में कोई रोक-टोक नहीं  
 (अर्थात् यदि नायक देव हो तो मानव भी प्रतिनायक हो सकता है और यदि प्रतिनायक  
 देव हो तो नायक के रूप में मानव का भी विधान हो सकता है) । इसके नायक और  
 प्रतिनायक के लिये प्रख्यात और धीरोद्धत होना आवश्यक है । इसका प्रतिनायक प्रख्यात  
 आचारवाक्य और अनुचित कर्मों में उत्तर रहा करता है । इसमें प्रतिनायक के आत्म  
 से मृङ्गाराभास की भी कुछ बोधी ही अभिव्यक्तता स्वाभाविक है क्योंकि यहाँ प्रतिनायक  
 के कार्यों में उसके प्रेम की अभिव्यक्ति किसी दिव्याङ्गना का अपहरण आदि भी वर्णित  
 रहा करता है । इसके पताकानायक वस हुआ करते हैं जो कि दिव्य अथवा मानव—दोनों  
 प्रकार के हो सकते हैं । यहाँ प्रतिनायक का वक्त्र, युद्धस्थान में प्रदर्शित करके, किसी व  
 किसी बहाने, समाप्त कर दिया जाता करता है । यहाँ बलबोम्ब की श्रेणी के वक्त्र का  
 वर्णन नहीं किया जाता करता । कुछ नायकाचार्यों ने ईहामृग के लिये, एक बहाने की  
 ही रचना पर्वोत्त मानी है और देव की ही नायकत्व में स्वीकार किया है । कुछ और  
 आचार्यों के अनुसार इस रूपप्रकार में का नायक आवश्यक हैं जो कि किसी दिव्याङ्गना  
 के कारण परस्पर कटते-सगाकटते विभित्त लिये जाता करते हैं ।

कारिका में 'मित्र' पद से प्रसिद्ध और अप्रसिद्ध (प्रख्यात और कवियत) इतिहास  
 का अभिप्राय किया गया है । अन्य पद का अभिप्राय 'प्रतिनायक' का अभिप्राय है ।  
 इसके पताकनायकों अर्थात् नायक के सहायकों और प्रतिनायक के सहायकों की संख्या  
 वस हुआ करती है । ईहामृग को इसलिये ईहामृग कहते हैं क्योंकि इस रूपप्रकार  
 में नायक मृग की भाँति ऐसी नायिका की ईहा कबला कामना में विरत विभित्त किया  
 जाता करता है जो कि अकम्ब अथवा बुध्माप्य हुआ करती है ।

यथा—कुसुमशेखरविजयादिः ।

( ८म रूपक-प्रकार अङ्क )

अथाङ्क —

उत्सृष्टिकाङ्क एकाङ्को नेतारः प्राकृता नराः ॥ २५० ॥

रसोऽत्र करुणः स्थायी बहुस्त्रीपरिदेवितम् ।

प्रख्यातमिति वृत्तं च कविर्बुद्ध्या प्रपञ्चयेत् ॥ २५१ ॥

भाणवत्सन्धिवृत्त्यङ्गान्यस्मिञ्जयपराजयौ ।

इस रूपकप्रकार के उदाहरण 'कुसुमशेखरविजय' आदि हैं ।

विमर्श—( क ) भरतनाट्यशास्त्र में

'ईहामृग' की यह परिभाषा है—

'दिव्यपुरुषाश्रयकृतो दिव्यस्त्रीकारणोपगतयुद्ध ।  
सुविहितवस्तुनिबद्धो विप्रययकारकश्चैव ॥  
उद्धतपुरुषधाय स्त्रीरोपप्रथितकान्यवन्धश्च ।  
सक्षोभविद्रवकृत, सफेटकृतस्तथा चैव ॥  
स्त्रीभेदनापहरणावमर्दनप्राप्तवस्तुशृङ्गारः ।  
ईहामृगस्तु कार्य सुसमाहितकान्यवन्धश्च ॥  
यद्व्यायोगे कार्यं ये पुरुषा वृत्तयो रसाश्चैव ।  
ईहामृगेऽपि ते स्युः केवलममरस्त्रिया योग ॥  
यत्र तु वधेप्सिताना वधो ह्युदग्रो भवेद्धि पुरुषाणाम् ।  
किञ्चिद् व्याज कृत्वा तेषां युद्धं शमयितव्यम् ॥'

( ख ) अभिनवभारतीकार ने 'ईहामृग' की यह व्युत्पत्ति दी है— ( नाट्यशास्त्र १२ ७८-८२ )

'ईहा चेष्टा मृगस्येव स्त्रीमात्रार्था यत्र स ईहामृग ।'

( अभिनवभारती अ. १८ )  
अर्थात् ईहामृग को इसलिए 'ईहामृग' कहा करते हैं क्योंकि यहाँ नायक मृग की भाँति एक-मात्र स्त्रीप्राप्ति में ही तत्पर चित्रित किया जाता करता है ।

( ग ) साहित्यदर्पण के 'विमला' व्याख्याकार ने 'ईहामृग' की व्युत्पत्ति ( नायको मृगवद-लभ्या नायिकामात्र ईहते वाञ्छुतीतीहामृग ) का यह आशय समझाया है—'इसमें मृग के तुल्य अलभ्य कामिनी को नायक चाहता है, अतः इसे 'ईहामृग' कहते हैं,' किन्तु 'अभिनवभारती' के देखते यह अभिप्राय ठीक नहीं प्रतीत होता । साहित्यदर्पणकार का वही अभिप्राय है जो कि 'अभिनवभारती' के आचार्य का है । तात्पर्य यह है कि इस रूपकप्रकार में नायक मृगवत् चेष्टा में निरत ( स्त्रीभोगपरायण ) दिखाया जाता करता है, न कि नायिका 'मृगवत्' अलभ्य वर्णित की जाती करती है ।

अनुवाद—'अङ्क'—'अङ्क' अथवा 'उत्सृष्टिकाङ्क' वह रूपकप्रकार है जो कि एक अङ्क में ही रचा जाता करता है और जिसमें साधारण पुरुषों को नायकरूप में चित्रित किया जाता करता है । इसमें करुण रस 'अङ्गी' हुआ करता है, क्योंकि यहाँ नारी-विलाप का वर्णन प्रचुर मात्रा में रहा करता है । इसका इतिवृत्त प्रख्यात हुआ करता है और नाटककार की कल्पना द्वारा विस्तार के साथ वर्णित किया जाता करता है । इसमें सन्धि, वृत्ति और इनके अङ्गों की योजना 'भाण' के समान हुआ करती है । इसमें जय-पराजय, युद्ध-नियुद्ध

युद्धं च वाचा कथम्यं निर्वेदवचनं यद् ॥ २५२ ॥

इमं च केचित् नात्कायन्तपात्यङ्गपरिच्छेदायमुत्सृष्टिकाङ्गनामानम् आहुः ।  
अन्ये तु—उक्तान्ता यित्थोमरूपा सृष्टियत्रेत्युत्सृष्टिकाङ्ग । यथा—शर्मिष्ठा  
ययाति ।

( १म रूपक-श्रेयः । बीबी । बीबी के १३ अङ्क )

अथ बीबी—

बीध्यामेको भवेदङ्ग कथिदेकोऽत्र करुप्यते ।

आकाङ्क्षमापितैरुक्तैश्चिन्ता प्रत्युक्तिमाधित ॥ २५३ ॥

सूचयेद्भूरि मृद्गारं किञ्चिदन्यान्सान् प्रति ।

आदि वाली द्वारा प्रकाशित किये जाया करते हैं । साथ ही साथ इसमें निर्वेदप्राप वचनों का भी बाहुल्य रहा करता है ।

कतिपय नाट्याचार्य इस रूपक-प्रकार का 'उत्सृष्टिकाङ्ग' नाम अधिक उचित समझते हैं । उनका कहना यह है कि 'अङ्ग' तो नाटकादि रूपक-प्रबंधों का सर्वसम्मत अन्त-विभाग है और इसकिये 'अङ्ग' शब्द के द्वारा एक रूपकमेव को सूचित करना उचित नहीं ।

कुछ नाट्याचार्य 'उत्सृष्टिकाङ्ग' की यह व्युत्पत्ति बताते हैं—

यह रूपकप्रकार 'उत्सृष्टिकाङ्ग' है जिसको ( इतिवृत्तरचना आदि ) सृष्टि उत्कृष्ट अथवा अन्य रूपकप्रकारों से उछटी हुआ करती है ।

'उत्सृष्टिकाङ्ग' का उदाहरण 'शर्मिष्ठावयाति' है ।

निर्मास—( क ) 'मात्रप्रकाशन'कार ने 'अङ्ग' अथवा 'उत्सृष्टिकाङ्ग' का यह स्वरूप-निर्देश किया है—

'उत्सृष्टिकाङ्गे प्रख्यातमिति वृत्तं कथिद् भवेत् ।

कथिदिदेवदुत्पाद्यमप्रकाशतं कथेरिया ॥

विश्वैरपुत्रः पुत्रैः सेवैरन्यैः समन्विता ।

केसिकीदृतिहीनम् साध्व्यारमयीयुता ॥

मिथुनपुत्रसंकेतप्रहारविषमोद्भवा ।

प्रभूततत्त्वकीर्णा परिवैभितमेवुरा ॥

निर्वेदमापितैः कीर्णा नानाव्यक्तुक्पेष्टितैः ।

अतिज्ञपानकमावाः कर्त्तव्योऽभ्युत्थानित्ताः ॥

एवमुत्सृष्टिकाङ्गस्तु कथम्वा काव्यवेदिनि ॥

( मात्रप्रकाशन मङ्गल अङ्किकर )

( क ) अभिनवभारती में 'उत्सृष्टिकाङ्ग' पर भी एक और प्रकार की ही व्युत्पत्ति दी गयी है—

'उत्कृष्टमनीया सृष्टिर्भीषित प्राणा पासां ता उत्सृष्टिकाः शोचन्त्यः क्षिपस्तामिरहित इति तथोक्त । ( अभिनवभारती : १८ अङ्काव )

अनुसार—बीबी—बीबी यह रूपकप्रकार है जिसमें एक ही अङ्ग हुआ करता है और एक ही नाटक 'आकाङ्क्षमाधित' के द्वारा, विश्व-विविध उत्तर-अनुत्तर-पूर्वक, अन्त्यान्त कल्पविक्रि पात्रों से आकाङ्क्ष-संकाप करते हुए विभिन्न किन्ना बोध्या करता है । इसमें ग्यारह रस की अभिव्यक्ति अधिक और अन्य रसों की अभिव्यक्ति कम रखी जाया करती है ।

मुखनिर्वहणे सन्धी अर्थप्रकृतयोऽखिलाः ॥ २५४ ॥

कश्चिदुत्तमो मध्यमोऽधमो वा शृङ्गारबहुलत्वाच्चास्याः कैशिकीवृत्तिबहु-  
लत्वम् ।

अस्यास्त्रयोदशाङ्गानि निर्दिशन्ति मनीषिणः ।

उद्धात्य(त)कावलगिते प्रपञ्चस्त्रिगतं छलम् ॥ २५५ ॥

वाक्फेल्यधिवले गण्डमवस्यन्दितनालिके ।

असत्प्रलापव्याहारमृद(मार्द)वानि च तानि तु ॥ २५६ ॥

( वीथ्यङ्ग-लक्षण . १-उद्धात्यक, २-अवलगित )

तत्रोद्धात्य(त)कावलगिते प्रस्तावनाप्रस्तावे सोदाहरण लक्षिते ।

( ३-प्रपञ्च )

मिथो वाक्यमसद्भूत प्रपञ्चो हास्यकृन्मतः ।

इसमें सन्धियाँ तो केवल 'मुख' और 'निर्वहण' दो ही हुआ करती हैं किन्तु अर्थ-  
प्रकृतियाँ पाँचों ।

यहाँ कारिका में 'कश्चित्' का अभिप्राय उत्तम, मध्यम अथवा अधम प्रकृति के  
नायक का अभिप्राय है । 'वीथी' में शृङ्गार-बाहुल्य का अभिप्राय कैशिकी-प्राचुर्य का  
अभिप्राय है ।

नाट्यशास्त्रकोविदों ने 'वीथी' के १३ अङ्ग बताये हैं—(१) उद्धात्यक, (२) अवलगित,  
(३) प्रपञ्च, (४) त्रिगत, (५) छल, (६) वाक्फेलि, (७) अधिवल, (८) गण्ड, (९) अवस्य-  
न्दित, (१०) नालिका, (११) असत्प्रलाप, (१२) व्याहार और (१३) मृदव (अथवा मार्दव) ।

विमर्श—'वीथी' भारतीवृत्ति का एकदेश है । भारतीवृत्ति के एकदेश होने के कारण इसमें  
वक्रोक्तिवैचित्र्य का बाहुल्य रहा करता है । इसीलिये वीथी की यह निरुक्ति है—

'वक्रोक्तिमार्गेण गमनाद् वीथीव वीथी'

अर्थात् वीथी को इसलिये 'वीथी' कहते हैं क्योंकि यह वीथी (गली) की भाँति टेढ़ी-मेढ़ी  
( उक्तिवक्रतापूर्ण ) हुआ करती है । 'वीथी' के १३ अङ्ग वस्तुतः इसके वक्रोक्ति वैचित्र्य के ही  
भिन्न-भिन्न रूप हैं । इसीलिये साङ्गोपाङ्ग वीथी को रूपकमात्र के लिये उपकारक माना गया है  
जैसा कि अभिनवभारतीकार का मत है—

'नाटिकादिभागान्तसमस्तरूपकोपजीव्यत्वाद् वीथीं लक्षयति ।'

और जैसा कि इसका नाट्यदर्पणकारकृत यह समर्थन है—

'सर्वेषा रूपकाणां नाटकादीनां वक्रोक्त्यादिसङ्कुलत्रयोदशाङ्गप्रवेशेनोपयोगिनी वैचि-  
त्र्यकारिका ।'

अनुवाद—इन तेरह अङ्गों में (१) उद्धात्यक और (२) अवलगित का स्वरूप नाटक  
की प्रस्तावना अथवा आमुख के निरूपण-प्रसङ्ग में पहले ही निर्दिष्ट किया जा चुका है  
( इसलिये यहाँ इनके अतिरिक्त अङ्गों का ही स्वरूप निरूपण किया जा रहा है ) ।

अनुवाद—'प्रपञ्च' वह वाक्यमन्दर्भ है जो परस्पर हासजनक किंवा मिथ्यारूप



यथा विक्रमोर्वाश्याम्—

वसमीम्बविवृणकचेट-घोरन्योन्यवधनम् ।

(४—त्रिगत)

त्रिगतं स्यादनेकार्थयाजनं श्रुतिसाम्यस्य ॥ २५७ ॥

यथा तत्रैव—

‘राजा—

सर्वशिविसृता नाथ, दृष्टा सर्वाङ्गमुन्दरी ।

रामा रम्ये बनान्तेऽस्मिन् मया विरहिता स्वया ॥

(नेपथ्ये तत्रैव प्रतिशब्धः)

राजा—‘कथं दृष्टेऽस्याह !’ अत्र प्ररनवाक्यमेवोत्तरत्वेन योजितम् । नटादिभिः  
तयविषयमेवेदमिति कथितम् ।

हुआ करता है । जैसे कि ‘विक्रमोर्वाशीय’ में बकसी पर बैठे विवृणक और चेटी का आकाप  
संकाप ।

विमर्श—‘मरतनाथवशात्स के अनुसार प्रपञ्च’ का यह स्वरूप है—

‘यदसम्भूतं वचनं संस्तवयुक्तं हृषीः परस्परं वत्तु ।

पुनस्तथावहेतोः स इत्यन्वयनात् प्रपञ्चः स्यात् ॥’ (नाटवशात् १८ १२)

अर्थात् दो पात्रों के परस्पर परिस्वात्मक अथवा प्रशंसात्मक किंवा हस्तोपहासपूर्ण मिथ्यावाक्यों  
का नाम प्रपञ्च है । परस्पर वाताकाप में एक दूसरे के अपिप्रास का प्रयत्न अथवा विस्तार स्वा-  
भाविक है । वह भी स्वाभाविक है कि इस प्रकार के वाताकाप में झूठमूढ़ बातें बकानी और  
‘प्रपञ्च’ तो वस्तुतः ओझसीवन ही हो वस्तु है । किन्तु ओझसीवन में इसके द्वारा कुछ मनोरंजन  
की संभावना नहीं । इसका नाट्य के क्षेत्र में प्रयापन इसे कुछ मनोरंजनार्थक बना देता है ।  
इसीलिए कतिपय नाट्यवाचार्थ परकीमेयकुशल विद्वेद के ऐसे वाताकाप में इतना स्वरूप-वर्धन  
किया करते हैं —

‘रक्ता चण्डा दीक्षिता धर्मद्वारा मर्षं मोक्षं प्राप्तये पीयते वा ।

मित्रा मोक्षं धर्मकण्ठं च कथ्या कौको धर्मः कस्य गो धारति रम्भा ॥

बनवाट—‘त्रिगत वह है जिसमें श्रुति-साम्य के कारण अनेक ज्यों की योजना कहा  
करते हैं । जैसे कि ‘विक्रमोर्वाशीय’ के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

‘राजा—‘वितिवृत्ताय ! इस बनवाट में कोई हुई सर्वाङ्गमुन्दरी रमणी की नहीं  
देखा है ।

(नेपथ्य में प्रतिध्वनि)

जोह ! इसने तो कहा कि देखा है ! आदि में जो वीथ्याह है यह ‘त्रिगत’ है ।

कुछ नाट्यवाचार्थ (जैसे कि ब्राह्मणकथार आदि) ‘त्रिगत’ का इसीप्रकार त्रिगत कहते  
हैं क्योंकि यह वह गदी और मूखपार—इस तीन अभिनेताओं द्वारा प्रयुक्त किया जाता  
करता है (किन्तु इस साम्यता की कोई विशेष प्रामाणिकता नहीं) ।

विमर्श—(क) मरतनाथवशात्स में ‘त्रिगत’ का यह उल्लेख है—

‘श्रुतिसाम्यस्याप्यस्मिन् बहुबोद्धां युग्मिभिर्निपुण्यम् ।

ब्रह्मास्वमहासर्वं वा तत्रिगतं नाम विधेयम् ॥’ (नाटवशात् १८ अन्धार)

(५-छल)

प्रियाभैरप्रियैर्वाक्यैर्विलोभ्यच्छलनाच्छलम् ।

यथा वेण्याम्—

‘भीमार्जुनौ—

कर्ता द्यूतच्छलानां, जतुमयशरणोद्दीपनः सोऽभिमानि

राजा दुःशासनादेर्गुरुनुजशतस्याङ्गराजस्य मित्रम् ।

कृष्णाकेशोत्तरीयव्यपनयनपटुः पाण्डवा यस्य दासाः

क्वाऽऽस्ते दुर्योधनोऽसौ कथयत, न रूषा, द्रष्टुमभ्यागतौ स्वः ॥’

यहाँ ‘श्रुतिसारूप्य’ का अभिप्राय शब्द सादृश्य का अभिप्राय है और ‘त्रि’ से तीन का ही नहीं अपितु अनेक का अर्थ लिया गया है । अभिनवभारतीकार ने इसीलिये कहा है—

‘त्रिशब्दोऽनेकोपलक्षणम्, अनेकमर्थं गतमिति त्रिगतम् । वाक्ये मुख्यमुत्तरमनेकप्रश्न-साधारणम् । इह तु य एव प्रश्नस्तदेव प्रतिवचनमिति विशेष यथा—

सर्वक्षितिमृता नाथ ! इत्यादि ।’

(ख) भावप्रकाशनकार ने कतिपय नाट्याचार्यों के मतानुसार नटादित्रितयालाप को भी ‘त्रिगत’ कहा है और यह बताया है कि यह ‘त्रिगत’ नाटक की प्रस्तावना में ही प्रयुक्त होता है—

‘श्रुतिसाम्यादनेकार्थयोजन त्रिगतं त्रिवह । नटादित्रितयालाप पूर्ववद्भेदोपपद्यते ॥

एतत्प्रस्तावनात्मेति कथ्यते नाट्यवेदिभि ॥’

(ग) नाट्यदर्पणकार ने ‘त्रिगत’ का एक और भी स्वरूपनिर्देश किया है जो कि कतिपय नाट्याचार्यों को मान्य है—

‘यद्वा शब्दोऽव्यक्त ध्वनिमात्रं तत्साम्येनानेकार्थयोजन त्रिगतम् । यथेन्दुलेखायां वीध्याम्—

राजा—वयस्य ।

किं नु कलहसनादो मधुरो मधुपायिना नु झङ्कार ।

हृदयगृहदेवतायास्तस्या नु सनूपुरश्चरणः ॥’ (नाट्यदर्पण २य विवेक)

अनुवाद—‘छल’ का अभिप्राय वस्तुतः अप्रिय किन्तु प्रिय प्रतीत होनेवाले वाक्यों द्वारा किसी की वञ्चना का अभिप्राय है । जैसे कि ‘वेणीसंहार’ की इस सूक्ति अर्थात्—

‘भीम और अर्जुन—बताओ कहाँ है द्यूतकपट का वह कुशल कलाकार, लाक्षागृह का वह निर्माता और दाहक, अभिमान को वह धनी, दुःशासनादि का वह राजा, अनुजशत का वह अग्रज, अङ्गराज का वह मित्र, द्रौपदी के केशाम्बरकर्पण का वह व्यसनी, और दासतापाश में पाण्डवों को बाँधनेवाला वह दुर्योधन ? हम उसके दर्शन के लिए आये हैं, क्रोध से नहीं ।’

आदि में, जो वीथी का अंग है वह ‘छल’ है ।

विमर्श—ताहित्यदर्पणकार का यह सोदाहरण छल नित्यग ‘भावप्रकाशन’ के आधार पर हुआ है । भावप्रकाशनकार का छल लक्षण यह है—

‘प्रियैरिवाप्रियैर्वाक्यैर्विलोभ्य छलना छलम् ।’

(भावप्रकाशन ८म अधिकार)

और उदाहरण भा ‘कर्ता द्यूतच्छलानाम्’ आदि ही है ।

यथा विक्रमोर्वश्याम्—

यक्षमीस्पष्टिदूयकचेटयोरन्योन्यवचनम् ।

(३—त्रिगत)

त्रिगतं स्यादनेकार्थयोजनं श्रुतिसाम्यत ॥ २५७ ॥

यथा तत्रैव—

‘यथा—

सर्वक्षितिसृतां नाथ, दृष्टा सर्पाङ्गसुन्दरी ।

रामा रम्ये वनाम्सेऽस्मिन् मया विरहिता स्वया ॥

(नेपथ्ये तत्रैव प्रतिराम्य)

यथा—कर्म दृष्टेत्याह ।’ अत्र प्ररनवाक्यमेवोत्तरत्वेन योजितम् । मृदावित्रि तयविक्रयमेवेवमिति कश्चित् ।

हुआ करता है । जैसे कि ‘विक्रमोर्वशीय’ में यक्षमी पर बैठे बिकृपक और बेटी का आकाश-संकाप ।

विमर्श—मरतनाटवशास्त्र के अनुसार ‘प्रपञ्च’ का वह स्वरूप है—

‘यदसद्वृत्तं वचनं संस्तवयुक्तं द्वयोः परस्परं वत् ।

एकस्य आर्थहेतोः स इत्यवगमना प्रपञ्चा स्यात् ॥’ (नाटवशास्त्रः १८ ११)

जहाँ दो बातों के परस्पर परिचयात्मक लक्षणा मध्यसाध्यक किंवा हास्तेपहासपूर्ण मिश्राकार का नाम प्रपञ्च है । परस्पर वार्ताकार में एक दूसरे के अधिप्राय का प्रपञ्च लक्षणा विस्तार स्वाभाविक है । वह भी स्वाभाविक है कि इस प्रकार के वार्ताकार में छूठमठ बातें बनावी जाँव । ‘प्रपञ्च’ तो वस्तुतः कोकबीजन की ही वस्तु है । किन्तु कोकबीजन में इसके द्वारा कुछ मनोरंजन की संभावना नहीं । इसका नाट्य के क्षेत्र में प्रयोग इसे कुछ मनोरंजनरम्य बना देता है । इतीतिव्य कतिपय नाटकाचार्य परकीर्णमकुसुम विट-शेड के बैठे वार्ताकार में इसका स्वल्प-वर्धन किया करते हैं —

‘रम्या वचसा वीक्षिता धर्मद्वारा मयी मांसे जायते पीनते वा ।

मिथा मांम्यं धर्मवचनं वा लब्ध्वा कीदो धर्म-कस्य नो मयि रम्या ॥

अन्वय—‘त्रिगत’ वह है जिसे कृति-साम्य के कारण अनेक अर्थों की योजना कहा करते हैं । जैसे कि ‘विक्रमोर्वशीय’ के इस प्रसङ्ग आर्थात्—

‘यथा—‘क्षितिकृत्वाण ! इस वनाम् में कोई हुई सर्पाङ्गसुन्दरी रम्यी को नहीं देखा है ?

(नेपथ्य में प्रतिध्वनि)

ओह ! इसने तो कहा कि देखा है !’ जाति में जो बीष्यङ्ग है वह ‘त्रिगत’ है ।

कुछ नाटकाचार्य (जैसे कि बलकृष्णकार आदि) ‘त्रिगत’ को इसीकिपु ‘त्रिगत’ करते हैं क्योंकि यह लड़, मही और मृगधार—इन तीन अधिनायकों द्वारा प्रयुक्त किया जाता करता है ( किन्तु इस मान्यता की कोई विशेष प्रामाणिकता नहीं ) ।

विमर्श—( ५ ) मरतनाटवशास्त्र में ‘त्रिगत’ का वह अर्थ है—

सुतिमाकम्पाद्यस्मिन् बहुबोध्यां सुतिभिर्निमुञ्च्यते ।

बहुस्वमहात्स्यं वा तस्मिन्नायं भागं निर्जय ॥’ (नाटवशास्त्रः १८ अष्टम)

( ७—अधिवल )

अन्योन्यवाक्याधिक्योक्तिः स्पर्धयाधिवलं मतम् ।

यथा मम प्रभावत्याम्—

‘वज्रनाभः—

अस्य वक्षः क्षणेनैव निर्मथ्य गद्यानया ।

लीलयोन्मूलयाम्येष भुवनद्वयमद्य वः ॥

प्रद्युम्नः—अरे अरे असुरापसद ! अलममुना बहुप्रलापेन ।

मम खलु—

अद्य प्रचण्डभुजदण्डसमर्पितोरुकोदण्डनिर्गलितकाण्डसमूहपातैः ।

आस्ता समस्तदितिजक्षतजोक्षितेय क्षोणिः क्षणेन पिशिताशनलोभनीया ॥’

( ८—गण्ड )

गण्डं प्रस्तुतसंबन्धि भिन्नार्थं सत्त्वरं वचः ॥ २६० ॥

यथा वेण्याम्—

‘राजा—

अध्यासितु तव चिराज्जघनस्थलस्य पर्याप्तमेव करभोरु । ममोरुयुग्मम् ॥

अनन्तरम् ( प्रविश्य )

विमर्श—दशरूपककार ने ‘प्रस्तुत साकाक्ष वाक्य की समाप्ति’ को ‘वाक्केलि’ कहा है —

‘वाक्यस्य प्रकान्तस्य साकाक्षस्य विनिवर्त्तनं वाक्केलि ।’ ( दशरूपक ३ १७ )

और इसता यह उदाहरण दिया है—

‘त्वं जीवितं त्वमसि मे हृदय द्वितीय त्व कौमुदी नयनयोरमृत त्वमङ्गे ।

इत्यादिभिः प्रियशतैरनुबध्य मुग्धा तामेव शान्तमथवा किमत परेण ॥’

अनुवाद—‘अधिवल’ कहते हैं परस्पर स्पर्धापूर्वक बढ़-चढ़कर बातचीत करने को ।

जैसे कि मेरी ही कृति ‘प्रभावतीपरिणय’ के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

‘वज्रनाभ—इस गदा से क्षण भर में इसका वक्षस्थल विदीर्ण कर दूँगा और तुम दोनों का इहलोक और परलोक, चुटकी वजाते, मिट्टी में मिला दूँगा ।

प्रद्युम्न—अरे नीच राजस ! वन्द कर अपना प्रलाप, देख—

आज, मेरे प्रचण्ड भुजदण्ड में सुशोभित इस भीषण कोदण्ड ( धनुष ) से छूटनेवाले धाण क्षण-भर में दैत्यवश के रक्त से पृथिवी भिगो देंगे और मासभोजी प्राणिओं को प्रसन्न कर डालेंगे ।’

आदि में, जो ‘वीथ्यङ्ग’ है वह अधिवल है ।

विमर्श—साहित्यदर्पणकार का ‘अधिवल’—लक्षण दशरूपक के ‘अधिवल’—लक्षण का ही उद्धरण है । ‘अधिवल’ के सुन्दर दृष्टान्त ‘वेणीसहार’ में यत्र-तत्र देखे जा सकते हैं । उक्ति-प्रत्युक्ति में स्पर्धा द्वारा ही वलाधिक्य आ सकता है और इसीलिये यहाँ ‘स्पर्धा’ को ही मूल कारण माना गया है ।

अनुवाद—‘गण्ड’ कहते हैं प्रस्तुत विषय से सबद्ध किन्तु विरुद्धार्थक वचन के सहसा उपन्यास को । जैसे कि ‘वेणीसहार’ के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

‘राजा—अरी सुन्दरी ! मेरा यह ऊरुयुगल तेरे जघनमण्डल का आसन बनने के लिये पूर्णरूप से उद्यत है ।

( 'बल विपयक मत्तमेव )

अन्य स्थावृज्जला किञ्चित्कार्यमुद्दिष्य कस्यचित् ॥२५८॥  
 उदीर्यते पदचर्नं घञ्चनादास्थरोपकृतम् ।

( १-वाक्येति )

वाक्येतिहास्यसम्बन्धो द्विप्रत्युक्तितो भवेत् ॥ २५९ ॥

प्रिप्रीन्मुपसङ्गणम् ।

यथा—

'मिक्षो । मांसनियेवणं प्रकुटप, किं तेन मयं विना  
 मयं चापि तव मित्रं मिषमहो बाराङ्गनामि' सह ।  
 वेरयाऽप्यर्चदधि' कुतस्तव धनं द्यूतेन चौर्येण वा  
 चौर्यद्यूतपरिमहोऽपि मयतो, नष्टस्य कन्या गति ॥'  
 ( वाक्येतिविपयक मत्तमेव )

केचित्—'प्रधान्तवाक्यस्य साक्षादुस्यैव निवृत्तिर्वाक्येति' इत्याहुः ।  
 अन्ये 'अनेकस्य प्रत्ययैकमुत्तरम् ।'

अनुवाद—कुछ वाक्याचार्य 'कु' का यह उच्चारण करते हैं—

'कु' यह वाक्यात्मक, हासजनक किंवा रोपकारक वचन है जिसे किसी उद्देश-  
 विशेष से किसी क प्रति प्रयुक्त किया जाता है ।

विमर्श—यहाँ साहित्यदर्पणकार ने मरुतमुनि का यह वचन उद्धृत नहीं किया—

'अन्यार्थमेव वाक्यं वृत्तमभिसम्बाध्यास्त्यरोपकृतम् ।

आदि मरुतान्तरकर्म से स्वीकार किया है ।

अनुवाद—'वाक्येति' का अभिप्राय कतिपय उक्ति-प्रत्युक्तिजों द्वारा हास-परिहास की  
 छद्मि का अभिप्राय है । यहाँ कारिका में 'द्विभि'—'दो-तीन' का अभिप्राय दो-तीन का नहीं  
 अपितु अधिक का है क्योंकि 'द्विभि' एवं 'अधिक' का उपसङ्गण है ।

जैसे कि विष्णु छुक्ति अर्थात्—

( 'गृहस्वामी ) मित्रबुधे । क्या मांस का रहे हैं ? ( मित्र ) बिना मयिरा के मांस  
 सात्वा भी तो क्या खाया ! ( गृहस्वामी ) तो क्या मयिरा भी चाहिये ? ( मित्र ) मयिरा  
 तो चाहिये ही किन्तु साथ साथ बाराङ्गना मित्र साथ तो खीर भी अच्छा । ( गृहस्वामी )  
 लेकिन बाराङ्गना तो वैसे से मित्र पावेगी, आपके पास पैसा क्यों ? ( मित्र ) वध  
 की क्या कमी खोरी खीर जुगा जायाव रहें ! ( गृहस्वामी ) ओह ! तो आप खीर खीर  
 जुगासी भी हैं ? ( मित्र ) अरे माय ! बरबादी में खीर ही क्या ?  
 आदि में जो हास-परिहास की छद्मि है वह 'वाक्येति' के ही कारण है ।

विमर्श—'वाक्येति' एक वचन-कोटा है । वचनकोटा 'कथ्येति' और 'प्रत्युक्ति' दोनों  
 प्रकार से संगत है । साहित्यदर्पणकार का 'वाक्येति'—उदाहरण प्रत्युक्तिपूर्वक वाक्येति का  
 उदाहरण है ।

अनुवाद—कतिपय वाक्याचार्यों ( जैसे कि वृत्तकपककार आदि ) क मठ में  
 'वाक्येति' का अभिप्राय किसी साक्षात् प्रस्तुत वचन की समझति है । कतिपय ऐसे भी  
 वाक्याचार्य हैं जो 'वाक्येति' को अनेक प्रयोगों का एक उत्तर मानते हैं ।

( ७—अधिवल )

अन्योन्यवाक्याधिक्योक्तिः स्पर्धयाधिवलं मतम् ।

यथा मम प्रभावत्याम्—

‘वज्रनाभः—

अस्य वक्ष क्षणेनैव निर्मथ्य गद्यानया ।

लीलयोन्मूलयाम्येष भुवनद्वयमद्य वः ॥

प्रद्युम्नः—अरे अरे असुरापसद ! अलममुना बहुप्रलापेन ।

मम खलु—

अद्य प्रचण्डभुजदण्डसमर्पितोरुकोदण्डनिर्गलितकाण्डसमूहपातैः ।

आस्ता समस्तदितिजक्षतजोक्षितेय क्षोणिः क्षणेन पिशिताशनलोभनीया ॥’

( ८—गण्ड )

गण्डं प्रस्तुतसंबन्धि अभिचार्य सत्वरं वचः ॥ २६० ॥

यथा वेण्याम्—

‘राजा—

अध्यासितु तव चिराज्जघनस्थलस्य पर्याप्तमेव करभोरु । ममोरुयुग्मम् ॥

अनन्तरम् ( प्रविश्य )

विमर्श—दशरूपककार ने ‘प्रस्तुत साकाक्ष वाक्य की समाप्ति’ को ‘वाक्केलि’ कहा है —

‘वाक्यस्य प्रकान्तस्य साकाक्षस्य विनिवर्त्तनवाक्केलि ।’ ( दशरूपक ३ १७ )

और इसका यह उदाहरण दिया है—

‘त्वं जीवित त्वमसि मे हृदयं द्वितीय त्वं कौमुदी नयनयोरमृत त्वमङ्गे ।

इत्यादिभि प्रियशतैरनुरुध्य मुग्धा तामेव शान्तमथवा किमत परेण ॥’

अनुवाद—‘अधिवल’ कहते हैं परस्पर स्पर्धापूर्वक वद-चदकर बातचीत करने को ।

जैसे कि मेरी ही कृति ‘प्रभावतीपरिणय’ के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

‘वज्रनाभ—इस गदा से छण भर में इसका वक्षस्थल विदीर्ण कर दूँगा और तुम दोनों का इहलोक और परलोक, चुटकी वजाते, मिट्टी में मिला दूँगा ।

प्रद्युम्न—अरे नीच राजस ! वन्द कर अपना प्रलाप, देख—

आज, मेरे प्रचण्ड भुजदण्ड में सुशोभित इस भीषण कोदण्ड ( धनुष ) से छूटनेवाले बाण छण-भर में दैत्यवश के रक्त से पृथिवी भिगो देंगे और मासभोजी प्राणिओं को प्रसन्न कर डालेंगे ।’

आदि में, जो ‘वीध्यङ्ग’ है वह अधिवल है ।

विमर्श—साहित्यदर्पणकार का ‘अधिवल’-लक्षण दशरूपक के ‘अधिवल’-लक्षण का ही उद्धरण है । ‘अधिवल’ के सुन्दर दृष्टान्त ‘वेणीसहार’ में यत्र-तत्र देखे जा सकते हैं । उक्ति-प्रत्युक्ति में स्पर्धा द्वारा ही वलाधिक्य आ सकता है और इसीलिये यहाँ ‘स्पर्धा’ को ही मूल कारण माना गया है ।

अनुवाद—‘गण्ड’ कहते हैं प्रस्तुत विषय से संबद्ध किन्तु विरुद्धार्थक वचन के सहसा उपन्यास को । जैसे कि ‘वेणीसहार’ के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

‘राजा—अरी सुन्दरी ! मेरा यह ऊरुयुगल तेरे जघनमण्डल का आसन बनने के लिये पूर्णरूप से उद्यत है ।

कञ्जुकी—देव ! मग्न मग्नम्—इत्यादि ।

अत्र रथकेतनमङ्गार्यं वचनमूरुमङ्गार्ये सम्बन्धे सम्बन्धम् ।

(१—अवस्थान्वित)

व्याख्यान स्वरसौकुस्यान्यथावस्थान्वितं भवेत् ।

यथा क्षितिरथमे—

सीता—आव ! काङ्क्षं वस्तु अयोध्याय गन्तव्यम्, तर्हि सो राजा विनयेन पश्यिष्ये [ आठ ! कवय कस्तु अयोध्यायां गन्तव्यम्, तत्र स राजा विनयेन पश्य-  
पितृभ्याः ] ।

लव—अथ किमावास्यां राजोपजीविन्यां भवितव्यम् ।

सीता—आव ! सो वस्तु मुन्हाणं पिता [ आठ ! स पुष्पाक पिता ] ।

लव—किमावयो रघुपति पिता ?

( कञ्जुकी का प्रवेश )

कञ्जुकी—महारथ ! वह सो दूत बुका ।

जगदि में जो 'वीर्यदूत' है वह राजा है क्योंकि यहाँ रथ के शयनस्थ के दृष्टि से सम्बन्ध  
कञ्जुकी-वचन दुर्योधन के ऊपरगुरु के भक्त्यर्थ में भी सम्बन्ध हो रहा है ।

विमर्श—( क ) अन्तरामचरित का निम्न प्रसङ्ग भी 'गच्छ' का एक सुन्दर निदर्शन है—

'रामः—इयं मेहे कृष्णीरियमसूतवर्तिर्नयनयो—

इसावस्थाम् स्पर्शां वपुषि बहुकाम्यनरसा ।

अयं बाहुः कम्पे सिभिरमसुषो मीलिक्रसरा

किमस्या न प्रया वद्वि परमसङ्गस्तु विरहा ॥

( प्रक्षिप्य ) प्रतिहारी—देव उच्यते ( देव ! उपस्थिता ) ।

( ख ) मरुताम्यन्ताक के अनुसार गच्छ का वह त्वक्म है—

सख्यसंभ्रममुत्तं विवाहयुक्तं तयावदावृत्तम् ।

कञ्जुकी-वचनपङ्क्ति गच्छ प्रवृत्ति लक्षणा ॥ ( भाष्यदाता १८२५ )

दम्प का शरणार्थी होना भी होता है । अतः प्रिती चोड़े में दुष्ट एक बरा रहता है भेरी हो  
रथ बोम्बह में दुष्ट अर्थ मरा रहता है जिसके कारण रथ गच्छ कारण है—

'अभ्यामिप्रापेणाकम्मात् प्रत्युक्तं प्रतिवचनतयाऽनुधारितमपि प्रतिवचनरूपतया  
प्रधानतः यत् संबन्धे वचनं तत् बुद्धार्थगर्भकम् बुद्धद्योयितगर्भकम् इव गच्छ ।

( भाष्य-पंथ १२२ श्लोक )

नन्वा—'अवस्थान्वित' कहते हैं स्वामिप्राप के प्रकाशक वचन के अभ्यासा व्याख्यान  
का । जैसे कि 'सुखितराम' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'सीता—युव ! तूहिं अयोध्या में सावधानी से जाना है । वहाँ राजा के साथ विनय  
पूर्वक मिलना है ।

लव—तो क्या हम दोनों माई राजा की सेवा करेंगे ?

सीता—व तुम्हारे पिता हैं ।

लव—वका रघुराज हमारे पिता हैं ?

सीता—( साशङ्कम् ) मा अण्णघा सङ्कद्धम्, ण क्खु तुम्हाण सअलाए ज्जेव पुह्वीएत्ति' [ मा अन्यथा सङ्कध्वम्, न खलु युष्माकम्, सकलाया एव पृथिव्या । ]

( १०—नालिका )

प्रहेलिकैव हास्येन युक्ता भवति नालिका ॥ २६१ ॥

सवरणकार्युत्तर प्रहेलिका ।

यथा रत्नावल्याम्—

'सुसङ्गता—सहि जस्स किदे तुम आअदा सो इद ज्जेव चिट्ठदि [ सखि ! यस्य कृते स्वमागता स इत एव तिष्ठति । ]

सागरिका—कस्स किदे अहं आअदा [ कस्य कृते अहमागता । ]

सुसङ्गता—ण क्खु चित्तफलअस्स' [ ननु चित्रफलकस्य । ]

अत्र त्व राज्ञः कृते आगतेत्यर्थः सवृत ।

सीता—( घबराकर ) नहीं, नहीं, घबराओ नहीं, तुम्हारे ही नहीं, सारी पृथिवी के पिता हैं ।'

आदि में, जो वीथ्यङ्गविन्यास है वह 'अवस्पन्दित' का ही विन्यास है ।

विमर्श—'अवस्पन्दित' को ही 'अवस्पन्दित' भी कहा गया है । नाट्यदर्पणकार ने 'अवस्पन्दित' का यह अभिप्राय प्रकाशित किया है—

'स्वेच्छोक्तस्याऽन्यथाख्यान यदवस्पन्दितं तु तत् ।

स्वेच्छया वर्णनाभिप्रायमात्रेणोक्तस्यान्यथाऽऽख्यानमन्यार्थकथनरूपं यत् तदवस्पन्दितं चक्षु स्पन्दनादिवदन्तर्गतसूचनीयसम्भवात् ।

अर्थात् जैसे चक्षु स्पन्दन से हृदय का अभिप्राय प्रकाशित होता है वैसे ही 'अवस्पन्दित' रूप वचनविन्यास से हृदय का अभिप्राय प्रकट किया जाया करता है ।

अनुवाद—'नालिका' कहते हैं हास-परिहासयुक्त पहेली को । यहाँ 'प्रहेलिका' ( पहेली ) का अभिप्राय एक ऐसे उत्तर का अभिप्राय है जहाँ कोई बात छिपायी गयी प्रतीत होती है । जैसे कि 'रत्नावली' के इस प्रसङ्ग अर्थात्—

'सुसगता—सखी ! जिसके लिये तू यहाँ आयी है वह यहीं विराजमान है ।

सागरिका—किसके लिये मे यहाँ आयी ?

सुसगता—अरे ! इस चित्रफलक के लिये समझ लो ।'

आदि में, जो वचनविन्यास है वह 'नालिका' रूप है क्योंकि यहाँ यह बात कि 'तू राजा के लिये आयी है' छिपायी गयी प्रतीत हो रही है ।

विमर्श—नाट्यदर्पण के अनुसार 'नालिका' का यह स्वरूप है—

'हास्याय वञ्चना नाली—

परप्रतारणकारि यदुत्तर हास्याय हासनिमित्त निगूढार्थत्वात् भवति सा नाली व्याज-रूपा प्रणालिका ।' ( नाट्यदर्पण २४ विवेक )



( ११—असत्प्रकाप )

अमत्प्रलापो यद्वाक्यमसम्बद्धं तथोत्तरम् ।

अगृह्यतोऽपि मूर्खस्य पुरो यच्च हितं वचः ॥ २६२ ॥

तत्राद्य यथा मम प्रमादव्याप्त्याम्—

‘प्रद्युम्न—( सहकारवज्रोपमसौख्यं सानन्दम् ) अहो क्वमिहैव—

अलिङ्गितमङ्गजुलकेशी परिमलबहला रसावहा तन्वी ।

किंसल्यपेशलापाणि कोकिळकलमायिणी प्रियतमा मे ॥’

एवमसंबद्धोद्योऽपि । एतरीयं यथा—वेण्यां दुर्योधन प्रति गांधारीवाक्यम् ।

( १२—व्याहार )

व्याहारो यत्परस्परार्थे शास्त्रस्योपकारं वचः ।

यथा मातृविकारिनिमित्ते—‘( शास्त्रप्रयोगावसाने मातृविकारं निर्गन्तुमिच्छति ) ।

विदूषक—मा दास कवेसमुद्रा गमिस्ससि [ मा दासपुत्रेसमुद्रा गमिष्यसि ]  
( इत्युपक्रमेण )

अनुवाद—‘असत्प्रकाप’ कहते हैं असंबद्ध वाक्य अथवा उत्तर को । साथ ही साथ न समझनेवाले व्यक्ति के किये दित्तरकर वचनोपगमास भी ‘असत्प्रकाप’ ही है ।

जैसे कि ‘असंबद्ध-वाक्य’ रूप असत्प्रकाप का यह उदाहरण जो कि मेरी ही कृति ‘प्रमादतीपरिणय’ की सृष्टि है—

‘प्रद्युम्न ( सहकारवल्ली को बैठकर प्रसन्नता से )—ओह ! तो क्या यह—

मेरी यह अलिङ्गितमङ्गजुलकेशी अमरों की भाँति काछे-काछे कर्जोबाली ( और अमररूप केशपासवाली ), परिमलबहुला—रतिपरिमल से भरी ( और सौरभवाली ) ‘रसावहा’-आनन्द देनेवाली ( और रस से भरी ) ‘तन्वी-नुवती ( और छोटी सी ), ‘किंसल्यपेशकपाणि-पक्ष्मबोधम कोमल हाथवाली ( और पक्ष्मवक्ष्म हाथवाली ) और ‘कोकिळकलमायिणी-कोकिळ की भाँति मीठी पोलीवाली ( और कोकिळवृक्षनरूप बाजी-वाली ) प्रियतमा है !’

इसी भाँति ‘असत्प्रकाप’ उचरकर असत्प्रकाप का उद्घाटन हो चुका जा सकता है । तीसरे प्रकार के ‘असत्प्रकाप’ का विवरण ‘बिजीतहार’ में दुर्योधन के प्रति गांधारी का वाक्य है ।

विमर्श—वदन्वदन्कार के अनुसार ‘असत्प्रकाप’ का यह स्वरूप है—असंबद्धकथावादाऽ-सत्प्रकापो यथोत्तराः । शब्द में ‘असत्प्रकाप’ वरितविवरण के लिये आवश्यक है । यहाँ ‘असंगति रूप वाक्यरूप का वर्णन नहीं किया जा सकता क्योंकि वस्तुतः अप्रतिपक्ष प्रतीति-वर्णन-वर्णन के निरूपण में ‘असत्प्रकाप’ का ही सीधे-सीधे और वचनोपगमास द्वारा कहा जाता है ।

अनुवाद—‘व्याहार’ कहते हैं दूसरे के सामर्थ्य प्राप्त करने के लिये वचन-विन्यास का । जैसा कि—‘मातृविकारिनिमित्तं क इति प्रसक्तं अर्थम्—

( शास्त्रप्रयोग के बाद मातृविकार वादवृत्ति न जाना चाहती है )

विदूषक—यु शास्त्र का उक्तप्रमाण नर पदों से नहीं आ सकती ।

गणदासः—( विदूषक प्रति ) आर्य ! उच्यता यस्त्वया क्रमभेदो लक्षितः ।

विदूषकः—पदम बम्भणपूआ भोदि, सा इमाए लद्धिदा [ प्रथम ब्राह्मणपूजा भवति, सा अनया लद्धिता ] । (मालविका स्मयते) 'इत्यादिना नायकस्य विशुद्ध-नायिकादर्शनप्रयुक्तेन हासलोभकारिणा वचसा व्याहारः ।

( १३—मृदव )

दोषा गुणा गुणा दोषा यत्र स्युर्मृद(मार्द)वं हि तत् ॥२६३॥

क्रमेण यथा—

प्रिय ! जीवितताक्रौर्यं निःस्नेहत्य कृतघ्नता ।

भूयस्त्वदर्शनादेव ममैते गुणता गता ॥

तस्यास्तद्रूपसौन्दर्यं भूषित यौवनश्रिया ।

मुखैकायतन जात दुःखायैव ममाधुना ॥

( रूपकों में वीथ्यङ्गों का निवेश और उपयोग )

एतानि चाङ्गानि नाटकादिषु सम्भवन्त्यपि वीथ्यामवश्य विधेयानि स्पष्ट-

गणदास—( विदूषक से ) कहो भाई ! इसने क्या शास्त्र का उल्लंघन किया ?

विदूषक—सबसे पहले तो ब्राह्मणपूजा होनी चाहिये । इसे इसने कहाँ किया ?

( मालविका मुसकरा देती है )

इत्यादि में, 'व्याहार' की ही योजना है क्योंकि यहाँ नायक अग्निमित्र को, मालविका-दर्शन का निःशङ्क अवसर देने के लिये, विदूषक का यह हासकारक और लोभजनक वचन-विन्यास 'व्याहार' रूप ही है ।

विमर्श—'व्याहार' की इस निरुक्ति अर्थात्—

'विविधोऽर्थ आदियतेऽनया ( उक्तया ) इति व्याहार' से ही हम वीथ्यङ्ग का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है ।

अभिनवभारतीकार ने 'व्याहार' की दूसरी निरुक्ति की है—'विविधोऽर्थोऽभिनीयते येन ( स व्याहार ) ।'

अनुवाद—'मृदव' का अभिप्राय ऐसा वचन-विन्यास है जिसमें दोष गुण जैसे लगा करते हैं और गुण दोष जैसे ।

क्रमशः उदाहरण ( दोष की गुणवत् प्रतीति )—

'प्रियतम ! तुम्हारे वियोग में मेरा जीना, मेरी क्रूरता, निःस्नेहता और कृतघ्नता ही समझा जायगा । किन्तु तुम्हारे पुनर्मिलन से, क्रूरता, निःस्नेहता और कृतघ्नता के ये सब दोष, मेरे गुण ही मान लिये जायेंगे ।'

( गुण की दोषवत् प्रतीति )

'उसका यौवन की श्री से समृद्ध वह रूपसौन्दर्य पहले कितना आनन्ददायक रहा ! किन्तु अब ( उसके वियोग में ) तो वह सब मेरे लिये दुःखरूप ही हो गया है ।'

विमर्श—'मृदव' की व्युत्पत्ति यह है—

'मृदा परपक्षमर्दनेन स्वपक्षमवति रक्षतीति मृदवम्—गुणस्य दोषीकरण दोषस्य च गुणीकरणम् ।'

( नाट्यदर्पण २य विवेक )

अनुवाद—वैसे तो ये सभी वीथ्यङ्ग नाटकादिरूपक-प्रबन्धों में पाये जाया करते हैं

यथा नाटकादिषु विनिविष्टान्यपीहोवाहसानि । वीचीय नानारसानां चात्र मासा-  
रूपतया स्विचत्वाद्भीषीयम् । यथा—मासविका ।

( १०म रूपक-प्रकार : प्रहसन : सप्रमेद्वनिक्यम् : १म भेद : शुद्ध प्रहसन )

अथ प्रहसनम्—

माणवस्तन्त्रिसन्ध्यङ्गलास्याङ्गाङ्गैर्विनिमितम् ।

मवेत्प्रहसनं वृत्तं निन्दानां कविकल्पितम् ॥ २६४ ॥

अत्र नारमटी, नापि बिष्कम्मकप्रवृत्तौ ।

अङ्गी हास्यरसस्तत्र वीध्यङ्गानां स्थितिर्न वा ॥ २६५ ॥

तत्र—

तपस्विभगवद्विप्रप्रभृतिष्वत्र नायकः ।

एको यत्र भवेदृष्टा हास्य तच्छुद्धमुच्यते ॥ ,

यथा कन्दर्पकेलि ।

( २म भेद : सङ्कीर्ण प्रहसन )

आभित्य कञ्चन जनं संकीर्णमिति तद्विदुः ॥ २६६ ॥

यथा—धूतचरितम् ।

किन्तु 'वीची' नामक रूपकप्रकार में इसकी जायजा अभिवार्य मानी गयी है और इसीलिए 'वीची' के विकल्पप्रसङ्ग में इसका सोवाहरण निकल्पन किया गया है । 'वीची' को इसीलिए वीची कहा करते हैं क्योंकि यह रसभाषी की वीची अथवा पंक्ति ( माका ) सी रची जाया करती है । सोवाहरण के लिये 'मासविका' ।

विमर्श—साहित्यवर्णनकार ने वीची नामक रूपकप्रकार का सोवाहरण 'मासविका' दिया है । यह रूपकप्रकार नाटकीयमित्र के अतिरिक्त अन्य कोई रूपकप्रकार होया । नायक-प्रकार ने बुद्धिजीवी और 'शुद्ध' नामक वीची-कर्मों का निर्देश दिया है ।

अनुवर्त—'प्रहसन' वह रूपक-प्रकार है जिसमें लक्षि संपन्न कात्याज्ञ और जट्ट की रचना माल की भाँति हुका करती है । इसका इतिवृत्त अथम प्रकृति के नायक का इतिवृत्त होता है और कविकल्पित होता है ।

प्रहसन में 'भारमटी' वृत्ति नहीं हुका करती और न बिष्कम्मक और लोकाक की ही रचना की जाया करती है ।

प्रहसन का अङ्गी रस हास्य रस हुका करता है । इसमें वीध्य-भोजना येरिदक है अभिवार्य नहीं ।

वह प्रहसन 'शुद्ध' प्रहसन कहा जाया करता है जिसमें तपस्वी संन्यासी और माक्रम भोजी के व्यक्तियों में से किसी एक अथवा के व्यक्ति को एहनायक के रूप में चित्रित किया जाया करता है । जैसे कि कन्दर्पकेलि नामक प्रहसन-प्रकरण ।

इसके अतिरिक्त 'संकीर्ण प्रहसन' वह प्रहसन-प्रकार है जिसमें किसी भी अथम प्रकृति के व्यक्ति का नायकरूप में चित्रण किया जाया करता है । जैसे कि 'धूतचरित' नामक

( 'संकीर्ण' प्रहसनविषयक मतभेद तथा 'विकृत' नामक प्रहसननिरूपण )

वृत्तं बहूनां धृष्टानां सङ्कीर्णं केचिदूचिरे ।

तत्पुनर्भवति द्वयङ्कमथवैकाङ्कनिर्मितम् ॥ २६७ ॥

यथा—लटकमेलकादिः ।

मुनिस्त्वाह—

‘वेश्याचेटनपुसकविटधूर्ता बन्धकी च यत्र स्यु ।

अविकृतवेषपरिच्छदचेष्टितकरण तु सङ्कीर्णम् ॥’ इति ।

विकृतं तु विदुर्यत्र पण्डकञ्चुकितापसाः ।

भुजङ्गचारणभटप्रभृतेर्वेषवाग्युता ॥ २६८ ॥

इदं तु सङ्कीर्णेनैव गताथेमिति मुनिना पृथङ्नोक्तम् ।

विमर्श—‘प्रहसन’ श्रेणी के रूपको का अपना ही उपयोग है जैसा कि नाट्यदर्पणकार का कथन है—

‘प्रहसनेन हि पाखण्डिप्रभृतीनां चरितं विज्ञाय विमुखं पुरुषो न भूयस्तान् वञ्चकानु-  
पसर्पति ।’

अर्थात् ‘प्रहसन’ में दम्भ-पाखण्ड आदि दुर्गुणोंवाले नायकचरित का जो चित्रण हुआ करता है उससे सामाजिकों को यह लाभ हुआ करता है कि वे दम्भी, पाखण्डी आदि लोगों के फेर में पड़ने से बच जाते हैं ।

अनुवाद—कतिपय नाट्याचार्य उस प्रहसन को संकीर्ण प्रहसन कहा करते हैं जिसमें कई एक छटनायकों का चरितचित्रण रहा करता है और जो एक अङ्क अथवा दो अङ्क का हुआ करता है । ‘संकीर्ण’ प्रहसन का उदाहरण ‘लटकमेलक’ आदि प्रहसन-प्रबन्ध हैं ।

यहाँ भरतमुनि का मत यह है—

‘संकीर्ण प्रहसन वह ‘प्रहसन’ है जिसमें वेश्या, विट, चेद, बन्धकी, नपुंसक और विदूषक आदि का चरित चित्रित रहा करता है और उनकी वेष-भूषा और प्रवृत्ति-चेष्टा का अविकल अनुकरण किया जाता करता है ।’

इसके अतिरिक्त ‘विकृत’ प्रहसन वह प्रहसन-प्रकार है जिसमें नपुंसक, कञ्चुकी और तापसलोग कामुक, चारण और खोद्दा लोगों की वेष-भूषा और बोल-चाल का अनुकरण किया करते हैं ।

भरतमुनि ने इस तृतीय प्रहसन-प्रकार का निरूपण नहीं किया है क्योंकि उनके अनुसार यह भी द्वितीय प्रहसन-प्रकार अर्थात् ‘संकीर्ण प्रहसन’ में ही अन्तर्भूत है ।

विमर्श—भावप्रकाशकार ने विविध प्रहसन का यह स्वरूप बताया है—

‘भाणवत् स्यात् प्रहसनं तस्मिन् परिभिद्यते ।

शुद्धकाव्यस्य सङ्कीर्णं क्वचिद् वैकृतमित्यपि ॥

तत्र श्रोत्रियनिर्ग्रन्थशाक्यादीनां यथायथम् ।

भाषाचेष्टिततद्रूपहास्यवाक्यसमन्वितम् ॥

चेदचेटीविटव्यास शुद्धं प्रहसनं भवेत् ।

उद्धात्यकादिवीथ्यङ्कैर्मिश्रं संकीर्णमुच्यते ॥

विटकामुकचेटादित्रयोवेषधरैस्तु यत् ।

परिग्राण्मुनिपण्डितैः कृतं वैकृतमुच्यते ॥

( उपरूपक-विरूपण : १का प्रकार : नारिका )

अयोपरूपकाणि । तत्र—

नाटिका फलसङ्घा स्यात् स्त्रीप्राया चतुरङ्गिका ।

प्रस्थातो घीरललितस्तत्र स्यान्नायको नृप ॥ २६९ ॥

स्यादन्तःपुरसम्बद्धा मञ्जीतव्यापृताववा ।

नवानुरागा कन्यात्र नायिका नृपवक्षसा ॥ २७० ॥

सम्प्रवर्तते नतास्यां देव्यास्त्रासेन छद्मिष्ठ ।

देवी भवेत्पुनर्ज्येष्ठा प्रगल्भा नृपवक्षसा ॥ २७१ ॥

पदे पदे मानवती तद्वत् सङ्गमो द्वयोः ।

दृष्टिः स्यात्कौशिकी स्वल्पविमर्शाः सन्धयः पुनः ॥ २७२ ॥

द्वयोर्नायिकानायकयोः ।

यथा—रत्नावली—बिहारासमक्षिकादि ।

सैरन्ध्रिका स्वात् मञ्जीता दृष्टा 'मागव्यमुदी ।

'अधिकलि'ग्रहसर्व

पञ्चमैक्यमीरितम् ॥

( भावप्रकाशः : ८ अक्षर )

अनुवाद—अब उपरूपकों का निरूपण किया जा रहा है । इन उपरूपकों में—

सबप्रथम को उपरूपक है वह 'नाटिका' है । 'नाटिका' वह उपरूपक है जिसका वृत्त कवि द्वारा कल्पित हुआ करता है । इसमें स्त्री-विरित ही अधिकप्रधिक विधित हुआ करते हैं । इसका चार अङ्गों में समाप्त होना आवश्यक है । इसमें किसी प्रकृत राजवंश के, घीर कल्पित प्रकृति वाले, राजा को 'नायक' रूप में रखा जाता करता है । इसमें जो 'नायिका' हुआ करती है उसका किये नायक के अन्तःपुर से सम्बद्ध होना अथवा संगीतकला में निपुण होना, राजकुलोत्पन्न होना तथा नवानुरागवती कन्या होना अपेक्षित है । इसमें नायक राजा का नायिका के प्रति रतिभाव देवी अथवा राजमहिषी के भय से अनुचित रूप से ही प्रकटित किया जाता करता है । यहाँ 'देवी' से अभिप्राय राजकुल में उत्पन्न कि वा 'प्रगल्भा' प्रकृति वाली राजराज्ञी से है जो कि पग पग पर मान करती विधित को जाया करती है तथा जिसकी अनुकम्पा पर ही नायक और नायिका का प्रेम-मिलन वर्धित हुआ करता है । इसमें कैसिकी वृत्ति का प्राधान्य रहा करता है और अंशमात्र विमर्श सन्धि क साथ सन्धि-अनुव्य की रचना हुआ करती है ।

यहाँ ( पदे पदे मानवती आदि कारिका में ) 'द्वयोः' का अभिप्राय 'नायकानायिकयोः' नायक और नायिका ( क प्रेम-मिलन ) का अभिप्राय है । उद्धारज क दिये ( महाकवि हर्ष-विरित ) 'रत्नावली' ( महाकवि राजशेखर-विरित ) 'त्रियलालमजिज्ज' आदि आदि पर्वत हैं ।

विमर्श—नाटिका नायक उपरूपक वरुणा 'नायक' और 'मञ्जीत' नामक रूपों के ही विधित-सम्बन्धित ही रचा जाता करता है । इनको 'हीन-नयना' का विरित होना आवश्यक है और इसमें नायक का राजकुलोत्पन्न होना भी अपेक्षित है इस प्रकार 'मञ्जीत' की मति

( २रा प्रकार : त्रोटक )

अथ त्रोटकम्—

सप्ताष्टनवपञ्चाङ्गं दिव्यमानुपसंश्रयम् ।

त्रोटकं नाम तत्प्राहुः प्रत्यङ्गं सविदूषकम् ॥ २७३ ॥

प्रत्यङ्गसविदूषकत्वाच्च शृङ्गारोऽङ्गी । सप्ताङ्गं यथा—स्तम्भितरम्भम् । पञ्चाङ्गं यथा—विक्रमोर्वशीयम् ।

‘इतिवृत्त’ और नाटक की भाँति ‘नायक’ की रचना और चर्चा से ‘नाटिका’ की रूप-रेखा बना करती है । नाट्यशास्त्रकार भरतमुनि ने इसीलिये कहा है—

‘प्रकरणनाटकभेदादुत्पन्नं वस्तु नायको नृपतिः ।  
अन्तःपुरसगीतककन्यामधिकृत्य कर्तव्या ॥  
स्त्रीप्राया चतुरङ्गा ललिताभिनयात्मिका सुविहिताङ्गी ।  
बहुनृत्तगीतवाद्या रतिसम्भोगात्मिका चैव ॥  
राजोपचारयुक्ता प्रसादनक्रोधदम्भसंयुक्ता ।  
नायकदेवीदूती सपरिजना नाटिका ज्ञेया ॥’

( नाट्यशास्त्र २०. ६० ६१ ( चौ. स. सी ) )

अनुवाद—‘त्रोटक’ वह उपरूपक-प्रकार है जो पाँच, सात, आठ अथवा अधिक से अधिक नव अङ्कों में रचा जाया करता है । इसमें देव और मानव—दोनों का समिश्र वृत्त वर्णित हुआ करता है । इसके प्रत्येक अङ्क में ‘विदूषक’ की उपस्थिति आवश्यक है ।

‘प्रत्येक अङ्क में विदूषक की उपस्थिति’ का अभिप्राय यह है कि ‘त्रोटक’ में शृङ्गार रस का ही प्रधान अभिव्यञ्जन हुआ करता है । सप्ताङ्कपरिमित ‘त्रोटक’ के उदाहरण के लिए ‘स्तम्भितरम्भ’ नामक उपरूपक लिया जा सकता है । पञ्चाङ्कपरिमित ‘त्रोटक’ का उदाहरण ( महाकवि कालिदास कृत ) ‘विक्रमोर्वशीयम्’ है ।

विमर्श—‘त्रोटक’ को ही ‘तोटक’ भी कहा जाया करता है । भावप्रकाशनकार आचार्य शारदा-तनय ने ‘तोटक’ ( त्रोटक ) का यह लक्षण दिया है जिसमें आचार्यों के मतभेद-निर्देश के साथ साथ सोदाहरण स्वरूप निर्देश भी स्पष्ट है—

‘दिव्यमानुपसंयोगो यत्राङ्कैरविदूषकैः ॥

तदेव तोटक भेदो नाटकस्येति हर्षवाक् । तद्व्यापकमित्यन्ये नाद्रियन्ते विपश्चित ॥  
नवाष्टसप्तपञ्चाङ्गं दिव्यमानुपसङ्गमम् । तोटकं नाम तत् प्राहुर्भेदं नाटकसम्भवम् ॥  
इत्येक आहुराचार्या अन्ये त्वेव प्रचक्षते । दिव्यमानुपसंयोगस्तोटकं नाटकानुगम् ॥  
नवाङ्गं तोटकं दृष्टं मेनकानहुषाङ्गयम् । तोटकं मदलेखाख्यं यत्तत् स्तम्भितरम्भकम् ॥  
ऋमादष्टाङ्गसप्ताङ्गी दृश्यते ह्यविदूषकौ । यद्विक्रमोर्वशीयाख्यं पञ्चाङ्गं तोटकं स्मृतम् ॥’

( भावप्रकाशन ८म अधिकार )

विश्वनाथ कविराज ने केवल ‘स्तम्भितरम्भक’ नामक तोटक का उल्लेख किया है जब कि भावप्रकाशनकार को ‘मेनकानहुष’ और ‘मदलेखा’ नामक और तोटकों का पता है । ये तीनों तोटक आजकल अनुपलब्ध हैं । महाराज भोज उपरूपकों में ‘तोटक’ का उल्लेख नहीं करते ।

अथ सप्तमः—

प्राकृतेनैवनि पुमिद्रेयनिर्वाच्यदृष्टा  
 नागस्रवचना गोष्ठे केचिद्विशिष्टावर्त्ता ॥  
 ईना गर्भविनशाभ्यां पञ्चरक्षापिडन्विता । ६९ ॥  
 कामसृङ्गागसृष्टा स्यात्पिकाकुविनिर्मिता ॥ ७० ॥

यथा—रैवतमर्त्तिका ।

(चौथा प्रकर सप्तक)

अथ सप्तमः—

सदृकं प्राकृतानुपगतार्थं स्यादप्रवेष्टकम् ।  
 न च विष्कम्भकोऽप्यत्र प्रचुरबाहुसुतो रसः ॥ ७१ ॥  
 अष्टावधनिष्कामयां स्यादित्यभाटिकासमम् ।

यथा—कपूरमस्तुरी ।

अनुवाक—गोष्ठी—‘गोष्ठी’ वह उपरूपक-प्रकार है जिसमें जब या इस साधारण केर्त  
 क बुद्धों का चरित वर्णन हुआ करता है । इसीप्रकार इसमें उदात्त बचन नहीं पाए जाते ।  
 हममें केचिद्वी बुद्धि ही प्रधान वृत्ति है । हममें ५ या ६ की पात्र का सकते हैं । सम्पत्तियों  
 में गर्भ और विमल का नहीं कोई रवान नहीं । वहीं ‘कामसृङ्गा’ अवस्थित माना गया है ।  
 हमकी रचना एक अष्ट में ही की जाया करती है । उदाहरण के लिये रैवतमर्त्तिका  
 नामक उपरूपक लिखा जा सकता है ।

विमर्श—भावप्रकाशनकार धर्मदासजी के अनुसार ‘पेठी’ का यह स्वरूप है—

‘अवोत्पादकमेकाहो गोष्ठी मङ्गारमन्धरा ।  
 कृतमाभ्यर्थकावन्वीपतपद्वयवर्धिका ॥  
 प्राकृतेनैवनि पुमिद्रेयनिर्वाच्यदृष्टता ।  
 गर्भावमशासम्पिम्बां स्यात्ता बोधतवापकृता ॥  
 अत्र रवान केचिद्वी बुद्धि सुद्धी नाम्परसाधया ।  
 न कुञ्जरघटाघातपात्रं भवति कम्पली ॥

(भावप्रकाशन । ८म अध्याय । १०म श्लोक)

विमर्श बरिगार का भी गोष्ठी-प्रकार बसतुन । इसी भाव का है ।

अनुवाक—सदृक—सदृक नामक उपरूपक यह है जिसकी रचना आरम्भ से अ  
 तक, प्राकृत भाषा में ही जाया करती है । हममें प्रवेशक और ‘विष्कम्भक’ दोनों में  
 किसी की भी आवश्यकता नहीं हुआ करती । हमका प्रधान रूप से अमिष्वरूप प्राकृत  
 ‘अद्वैत रस हुआ करता है । इसकी और विशेषताएँ ‘मादिक्य की ही विशेषताएँ हैं  
 कबल इसके ‘अष्टों का ‘विमर्श’ है । उदाहरण के लिये (महाश्वी  
 राजागार प्रणीत) ‘क

विमर्श—भाषा

रचना है—

( पाँचवाँ प्रकार : नाट्यरासक )

अथ त्रोटकम्—  
सप्ताष्टनवमेकाङ्कं बहुताललयस्थिति ॥ २७७ ॥  
त्रोटकं कं तद्वत्पीठमर्दोपनायकम् ।

प्रत्यक्षसविदूषयत्र सशृङ्गारो नारी वासकसज्जिका ॥ २७८ ॥

यथा—विक्रमोर्जहणे सन्धी लास्याङ्गानि दशापि च ।

प्रतिमुखं सन्धिमिह नेच्छन्ति केवलम् ॥ २७९ ॥

‘शतिवृत्त’ औसन्धिवद्वयवती यथा—नर्मवती । सन्धिचतुष्टयवती यथा—विलासवती ।  
कारनी है ।

‘सट्टक नाटिकाभेदो नृत्यभेदात्मकं भवेत् ।

केशिकीभारतीयुकहीनरीड्ररसादिकम् ॥

सर्वसन्धिविहीनञ्च नाटिकाप्रतिरूपकम् ।

शूरसेनमहाराष्ट्रवाच्यभापादिकल्पितम् ॥

अङ्कस्थानीयविच्छेदचतुर्यवनिकान्तरम् ।

छादनस्खलनभ्रान्तिनिह्नुवादेरसंभवात् ॥

न वदेत् प्राकृतीं भापा राजेति कतिचिजगु ।

मागध्या शूरसेन्या वा वदेद्राजेति केचन ॥

नाटिकाप्रतिरूप यद्विशेषो रूपकस्य तत् ।

सट्टक तेन तस्याहु भापा ता प्राकृतीं परे ॥

राजशेखरवल्लुप्त तद् यथा कर्पूरमञ्जरी ।’ (भावप्रकाशन ९म अधिकार)

‘सट्टक’ श्रेणी के उपरूपकों में राजशेखररचित ‘कर्पूरमञ्जरी’ ही आजकल उपलब्ध है ।

र अनुवाद—नाट्यरासक—‘नाट्यरासक’ वह उपरूपक-प्रकार है जिसकी रचना एक अङ्क ही हुआ करती है । इसमें लय और ताल का पर्याप्त स्थान और महत्त्व है । इसका उदाहरण उदात्त प्रकृति का हुआ करता है । इसमें नायक का सहायक ‘पीठमर्द’ भी श्यक है । इसमें शृङ्गार के पुट के साथ-साथ हास्यरस को ही प्रधान रस रखा जाया तना है । इसकी नायिका ‘वासकसज्जा’ नायिका के रूप में चित्रित की जाया करती है । साधमें ‘मुख’ और ‘निर्वहण’ नाम की दो सन्धियों की ही रचना पर्याप्त है । लास्य के दस इसमें अपेक्षित हैं । कुछ नाट्याचार्यों की दृष्टि में, इसमें प्रतिमुख सन्धि नहीं रहा है ( और सन्धियाँ तो आवश्यक ही हैं ) ।

त-उदाहरण के लिये, ‘नर्मवती’ नामक नाट्यरासक, जिसकी रचना दो सन्धियों में की ना है और ‘विलासवती’ नामक नाट्यरासक, जिसमें चार सन्धियाँ हैं ।

इ-विमर्श—‘नाट्यरासक’ का शारदातनय-सम्मत स्वरूप यह है—

नमनीभिर्भुवो भर्तुं चेष्टितं यत्र नृत्यते । रागाद्वसन्तमालोक्य स ज्ञेयो नाट्यरासक ॥

अ (भावप्रकाशन ९म अधिकार)

विश्वनाथ कविराज ने अपने लक्षण में ‘नाट्यरासक’ की जिन जिन विशेषताओं का निर्देश या है वे भावप्रकाशनकार के नाट्यरासक-लक्षण में नहीं पायी जाती । ‘भावप्रकाशन’कार और उनके पूर्ववर्ती ‘शृङ्गारप्रकाश’कार के अनुसार ‘नाट्यरासक’ का अभिप्राय नारी-पात्रों द्वारा नायकचरित का नृत्याभिनय है किन्तु, विश्वनाथ कविराज ने इसकी अङ्क-रचना, सन्धियोजना,



( चतुर्थ प्रकार : प्रस्थानक )

अथ प्रस्थानकम्—

प्रस्थाने नायको दासो हीनः स्पादुपनायकः ।

दासी च नायिका वृत्तिः कैशिकी भारती तथा ॥ २८० ॥

सुरापानसमायोगादुरिष्टार्थस्य संहतिः ।

अह्नौ श्रौ लयतालादिर्निर्लासो बहुलस्तथा ॥ २८१ ॥

यथा—शृङ्गारविलम्बम् ।

( ७ वीं प्रकार : उक्ताप्य )

अथोक्ताप्यम्—

उदात्तनायक दिव्यवृत्तमेकाग्रभूषितम् ।

स्वल्पकान्तेर्युतं हास्यशृङ्गारकरुणै रसैः ॥ २८२ ॥

उत्ताप्यं बहुसंग्रामसङ्गीतमनोहरम् ।

रसामिष्यबला आदि-आदि विद्येयताओं का भी उल्लेख किया है। विद्येयता का विराज इसी निर्दिष्ट 'नर्मवर्त' और 'विदासवर्त' नामक भावराज्य का लक्षण अनुपकृत है।

अनुवाद—प्रस्थानक—प्रस्थानक वह उपकल्पक-भेद है जिसमें कोई 'धुर्य नायक' रूप में चित्रित हुआ करता है और उसका उपनायक उससे भी हीन प्रेमी का रहा करता है। इसमें किसी दासी को 'नायिका' रूप में रखा जाता करता है। वहाँ 'कैशिकी' और 'भारती' दो वृत्तियाँ अवस्थित हैं। इसका उपस्थापित विषय की समाप्ति मधिरामिनोद के वर्णन के साथ हुआ करती है। इसे दो अह्नों में ही रखा जाया करता है। इसमें कथ और ताक आदि आदि सङ्गीतप्रमक विषय अधिक मात्रा में रखा करते हैं। उदाहरण के लिये 'शृङ्गारविलम्ब' को किया जा सकता है।

विमर्श—भाषार्थ शारदातनय ॥ 'प्रस्थानक ( अथवा प्रस्थान ) का वह कथन दिया है—

'प्रस्थानं कैशिकीवृत्तियुतं हीनोपनायकम् ।

आपानकैकिकिकितं कथ्यतामककापुगाय ॥

दासादिनामकं ब्रह्म विद्येयदिनायकम् ।

मुकनिर्बहजोपेतं शृङ्गारविलम्बं यथा ॥'

( भाष्यप्रधान : १म अन्वय )

वस्तुतः भाषार्थ शारदातनय और विद्येयता का विराज का 'प्रस्थानक' कथन एक समान ही है। दोनों भाषाओं में 'शृङ्गारप्रकाश' को प्रस्थानक के ही उदाहरण-रूप में स्वीकार किया है।

अनुवाद—उक्ताप्य—'उक्ताप्य' ( अथवा उक्ताप्यक ) वह उपकल्पक-प्रकार है जिसमें किसी पद्माच प्रकृति के नायक का चरित-चित्र जीवा जाया करता है। इसका वृत्त दयता-संगम्यी वृत्त हुआ करता है। इसमें एक लंका का ही विधान अवस्थित है। (अन्ते विविध) सिद्धक नामक उपरूपक-प्रकार के ( आद्योत्तमादि ) लंका इसमें भी मिश्रित किये जाया करते हैं। इसमें शृङ्गार हास्य और कथन रस का अवतार अवस्थित माना गया है। इसे सुन्दर बनाने के लिये संग्राम के वर्णन और 'असङ्गीत' ( अन्तर्जयनिक—परबं क पीछे गाया जाने वाला किंवा प्रस्तुत विषय-सूचक गीत ) के गायन का सहारा लिया जाता

चतस्रो नायिकास्तत्र त्रयोऽङ्का इति केचन ॥ २८३ ॥

शिल्पकाङ्गानि वक्ष्यमाणानि । यथा—देवीमहादेवम् ।

( ८ वॉ प्रकार—काव्य )

अथ काव्यम्—

काव्यमारभटीहीनमेकाङ्क हास्यसङ्कुलम् ।

खण्डमात्राद्विपदिकाभग्नतालैरलंकृतम् ॥ २८४ ॥

वर्णमात्राछड्डणिकायुतं शृङ्गारभाषितम् ।

नेता स्त्री चाप्युदात्तात्र सन्धी आद्यौ तथान्तिमः ॥ २८५ ॥

यथा—यादवोदयम् ।

करता है । कुछ नाट्याचार्यों ने इसमें चार नायिकाओं का चित्रण और तीन अङ्कों का विधान आवश्यक माना है । शिल्पक के अङ्गों का आगे निरूपण किया जा रहा है । इसका उदाहरण 'देवीमहादेव' नामक उपरूपक लिया जा सकता है ।

विमर्श—'उल्लाप्य' को ही 'उल्लोप्य' अथवा 'उल्लोप्यक' भी कहा गया है । और इसका यह लक्षण किया गया है—

'उल्लोप्यकं स्यादेकाङ्कमवमर्शविनाकृतम् ।

निष्प्रवृत्तिनिधानञ्च शिल्पकाङ्गविभूषितम् ॥

हास्यशृङ्गारकारुण्ययुक्तमुज्ज्वलवेपवत् ।

बहुपुस्त च चतुरोज्ज्वलनायकनायिकम् ॥

यथा देवीमहादेव यथा चोदात्तकुञ्जरम् ।

यस्मिन्नुल्लोप्यकं नाम ध्यङ्ग गीत प्रवर्तते ॥'

( भावप्रकाशन ९ अधिकार )  
विश्वनाथ कविराज के समय में 'देवीमहादेव' नामक 'उल्लाप्य' ही उपलब्ध होगा, किन्तु शारदातनय के समय में 'उदात्तकुञ्जर' नामक भी उल्लोप्य ( अथवा उल्लाप्य ) उपलब्ध था । आजकल इनमें कोई भी उपलब्ध नहीं ।

अनुवाद—काव्य वह उपरूपक-भेद है जिसमें हास्य रस का प्राधान्य रहा करता है । इसमें 'आरभटी' को छोड़ कर और वृत्तियाँ अपेक्षित हैं । इसकी रचना एक अङ्क में ही की जाया करती है । इसमें 'खण्डमात्रा' 'द्विपदिका', 'भग्नताल' आदि गीतभेदों का उपरक्षण आवश्यक है । इसमें शृङ्गार रस के प्रकाशक 'वर्णमाला' और 'छड्डलिका' छन्दों से एक सुन्दरता आया करती है । इसके नायक और नायिका उदात्त प्रकृति के लोग हुआ करते हैं । इसमें 'मुख' और 'निर्वहण' दो ही सन्धियों का निबन्ध आवश्यक है । इसका उदाहरण 'यादवोदय' नामक उपरूपक है ।

विमर्श—'भावप्रकाशन' कार के अनुसार 'काव्य' नामक उपरूपक का यह लक्षण है—

'काव्य सहास्यशृङ्गार सर्ववृत्तिसमन्वितम् ।

सभग्नतालद्विपदीखण्डमालापरिष्कृतम् ॥

गर्भावमर्शसन्धिम्या हीनमेकाङ्कमेव च ।

कचिद्विलास्ययुत वा स्याद्विटचेटीसमन्वितम् ॥

(१ वाँ प्रकरण—प्रेक्षण)

अथ प्रेक्षणम्—

गर्माभमर्शरहितं प्रेक्षणं हीननायकम् ।

असूत्रधारमेकाङ्गमविष्कम्भप्रवेशकम् ॥ २८६ ॥

नियुद्धसम्प्रेष्टयुतं सर्ववृत्तिसमाधितम् ।

नेपथ्ये गीयते नान्दी तथा सत्र प्ररोचना ॥ २८७ ॥

यथा—वाक्यद्वयम् ।

कुङ्कुमाब्जयुतं कथितोद्भातनायकम् ।

एव प्रकल्पयेत् काम्यं तद् गीयविजयो यथा ॥

विप्राभारतयत्निकपुत्रनायिकानाथकेन्द्रकम् ।

मुद्रितप्रमदाभापत्नेष्टितैरन्तराम्भरा ॥

प्रथितं विदधेद्विषेपभाषाविशेषं वा ।

एवं वा कल्पयेत् काम्यं यथा सुधीयकेन्द्रकम् ॥

(भाष्यप्रकाशन १म नमिस्कार)

‘काम्य’ नामक उपकल्पक और अन्य-काम्य का अन्तर्गत भव ‘काम्य’ परस्पर निवृत्ति-विषय होते हैं। सारवातनव का ‘काम्य’-शब्द साहित्यदर्पण के ‘काम्य’-शब्द से कुछ भिन्न है। सारवातनव को ‘सुधीयकेन्द्रक’ नामक एक और ‘काम्य’ का पता है।

जमुना—‘मिलान वह उपकल्पक-प्रकार है जिसमें नीच प्रकृति का नायक चित्रित किया जाता करता है। इसमें ‘गर्म’ और ‘विमर्श’ दोनों सम्बन्धों नहीं रही जाया करती। इसमें सूत्रधार की कोई आवश्यकता नहीं। इसके सिवा एक बहुत ही रचना अपेक्षित है। इसमें विष्कम्भक और प्रवेशक दोनों में से कोई नहीं रखा जाना करता। इसमें नियुद्ध (हस्तयुद्ध) और सम्प्रेष्ट (सरोप नायक) आवश्यक हैं। इसमें सभी वृत्तियाँ अपेक्षित हैं। इसमें नेपथ्य में ही ‘नान्दी-गायन’ किया जाता करता है और ‘मराचका’ (कवि-नट-सामाजिक आदि की प्रशंसा) भी कर दी जाता करता है। इसका उदाहरण ‘वाक्यद्वय’ है।

विमर्श—‘प्रेक्षण’ को ही ‘प्रेक्षणक’ भी कहते हैं। सारवातनव ने ‘प्रेक्षणक’ (प्रेक्षण) का यह उदाहरण दिया है—

‘पदार्थामिदं यस्य कथितं च कथ्यम्बितम् ।

कुम्भे नर्तकी यत्र सोऽपि नर्तनका युवा ॥

काम्यं हि वा स्थाप्यकिकं समरप्यासमन्वितम् ।

सुतकचतुराङ्ग्या यत्र कर्तुं प्रवर्तते ॥

गर्माभमर्शरहितं सर्ववृत्तिसमन्वितम् ।

प्रभूतमागधीश्वरसेनिकं रसमाद्युक्तम् ॥

हिमानीति वदन्त्येतदुत्तमाधमनायकम् ।

भारत्यारभडीपुत्रं वधयित्वात्तत्र सत्पत्नी ॥

यथा वदन्तिवाक्यं मुद्रितविजयो यथा ।

एतेनैवप्यपठेतां नान्दी तस्य विधीयते ॥

( १०वां प्रकार—रासक )

अथ रासकम्—

रासकं पञ्चपात्रं स्यान्मुखनिर्वहणान्वितम् ।

भाषाविभाषाभूयिष्ठं भारतीकैशिकीयुतम् ॥ २८८ ॥

असूत्रधारमेकाङ्कं सवीथ्यङ्गं कलान्वितम् ।

श्लिष्टनान्दीयुतं ख्यातनायिकं मूर्खनायकम् ॥ २८९ ॥

उदात्तभावविन्याससंश्रितं चोत्तरोत्तरम् ।

इह प्रतिमुखं सन्धिमपि वेचित्प्रचक्षते ॥ २९० ॥

यथा—मेनकाहितम् ।

कचिद् गर्भावमशौ स्त कचिद् वृत्तिचतुष्टयम् ।

कचिन्नेपथ्यवाक्पाठश्च न कदाचन सूत्रघट् ॥

एव प्रेक्षणक विद्याद् यथा त्रिपुरमर्दनम् ॥'

शारदातनय के अनुसार 'नर्तनक' और 'प्रेक्षणक' दोनों प्रक्षणक-प्रकार हैं । विश्वनाथ कविराज ने 'नर्तनक' को छोड़ दिया है । शारदातनय के समय तक तीन प्रेक्षणक उपलब्ध प्रतीत होते हैं जबकि विश्वनाथ कविराज को एक अर्थात् 'वालिक्थ' का ही पता है ।

अनुवाद—'रासक' वह उपरूपक-भेद है जिसमें पाँच-पाँच पात्र रहा करते हैं । इसमें 'मुख' और 'निर्वहण' दो संधियाँ ही रची जाया करती हैं । इसमें 'भाषा' और 'विभाषा' दोनों का अधिकाधिक प्रयोग हुआ करता है । इसके लिये भारती और कैशिकी—दो वृत्तियाँ पर्याप्त हैं । इसमें भी 'सूत्रधार' नहीं रहा करता । इसकी रचना एक अङ्क में ही की जाया करती है । इसमें 'वीथी' के सभी अङ्गों की योजना आवश्यक है । इसके लिये नृत्य-गीत आदि-आदि कलाओं की अपेक्षा हुआ करती है । इसका नान्दी-नायन श्लिष्ट पद द्वारा किया जाया करता है । इसकी नायिका कोई प्रसिद्ध रमणी हुआ करती है और इसका नायक कोई मूर्ख पुरुष । इसमें उत्तरोत्तर उदात्त भावों का विन्यास किया जाया करता है । कुछ नाट्याचार्य इसके लिये प्रतिमुख सन्धि की भी रचना आवश्यक मानते हैं । इसका उदाहरण 'मेनकाहित' नाम का उपरूपक-ग्रन्थ है ।

विमर्श—'रासक' और 'नाट्यरासक' के सम्बन्ध में नाट्याचार्यों का भेदवाद, अभेदवाद और भेदाभेदवाद—तीनों मिलते हैं । विश्वनाथ कविराज भेदवादी हैं ।

'अभिनवभारती' का 'रामक' स्वरूप विश्वनाथ कविराज के रासक-लक्षण से भिन्न है—

'अनेकनर्तकी योज्य चित्रताललयान्वितम् ।

आचतुष्पष्टियुगलाद्रासक मसृणोद्धतम् ॥'

अर्थात्—'रासक' एक नृतात्मक प्रबन्ध है न कि नाट्यात्मक ।

विश्वनाथ कविराज का रामक-लक्षण भावप्रकाशनकार के एक प्रकार के रासक के लक्षण के समान है—

'अथ रासकमेकाङ्क सूत्रधारेण वर्जितम् ।

सुश्लिष्टनान्दीयुक्तञ्च पञ्चपात्र त्रिसन्धिक्म् ॥

पूर्णभाषाविभाषाभि कैशिकीभारतीयुतम् ।

( ११ वां प्रकार—संज्ञापक )

अथ संज्ञापकम्—

संज्ञापकेऽङ्गावतारस्त्रयो वा नायकः पुनः ।

पापण्डः स्याद्रसस्तत्र शृङ्गारकण्ठेतरः ॥ २९१ ॥

मधुः पुरसंरोधच्छलसंग्रामविद्रवाः ।

न तत्र हृदिर्मवसि भारती न च कैश्चिकी ॥ २९२ ॥

यथा—मायाकपाक्षिकम् ।

( १२ वां प्रकार—श्रीगदित )

अथ श्रीगदितम्—

प्रख्यातवृत्तमेकाङ्गं प्रख्यातोदात्तनायकम् ।

प्रसिद्धनायिक गर्भविपर्यायां विवर्जितम् ॥ २९३ ॥

वीर्यहन्मण्डितं मुख्यनायकं क्वातनायिकम् ।

मर्माकर्मसंश्लेषं च क्वापोद्देशमुपितम् ।

उदात्तभावविन्यासमुपितं सोऽरोचरम् ॥

पूर्वं कवचमुदिष्टं रासकस्यात्र कैश्चन ।

( यावत्प्रकाशन : १ न अक्षर )

अनुसार—‘संज्ञापक’ वह उपकथक-प्रकार है जिसकी रचना तीन या चार अङ्गों में हुआ करती है, जिसमें किसी पापण्डी को नायकत्व में चित्रित किया जाता करता है और जिसमें अन्तर और कथन को दोहरा और कोई भी एक रस अङ्गीकृत में अनिवार्य किया जा सकता है। इसमें मगरोपरोध अथ संग्राम, अम-संज्ञम आदि आदि की वर्णना का बाहुल्य रहा करता है। इसके किन्तु न तो भारती वृत्ति अपेक्षित है और न कैश्चिकी इसका उदाहरण ‘माया-कपाक्षिक’ है।

विमर्श—यावत्प्रकाशन में ‘संज्ञापक’ का वह निम्न कथन किया है—

‘संज्ञापकस्तेतिवृत्तं नायकात् चोत्पाद्यमेव वा ।

मित्र वा तत्र श्रीगारहास्वी नैवार्हता कश्चित् ॥

अथचो धीररीत्याम्भामात्मन्यन्व रासः स्मृतः ।

प्रायः सपरमसात्मनः शृङ्गारपापण्डनायकः ॥

दीवारिज्जन्मकपटमुद्रस्याभोपरीषत्तम् ।

रात्तरदारभटीवृत्तिसहितम् सविज्ञाः ॥

अङ्गावतारो द्वितीयेऽङ्गे ताक्यानुपपुष्पवत् ।

मूर्तावोऽङ्गः सकपटः प्रथमोऽङ्गः सविज्ञाः ।

अनुपपुष्पाः प्रविशुषात्मनः संज्ञापको मयेव ॥

( यावत्प्रकाशन : १ न अक्षर )

अनुसार—श्रीगदित—‘श्रीगदित’ वह उपकथक-प्रकार है जिसका इतिवृत्त प्रख्यात वृत्त का नाम हुआ होता है जिसकी रचना एक अङ्ग में समाप्त होती है और जिसमें किसी मन्त्रात और धीरोदात्त प्रकृति के नायक का चरित चित्रित किया हुआ होता है। इसकी

भारतीवृत्तिबहुलं श्रीतिशब्देन संकुलम् ।

मतं श्रीगदितं नाम विद्वद्भिस्वरूपकम् ॥ २९४ ॥

यथा—क्रीडारसातलम्—

श्रीरासीना श्रीगदिते गायेत्किंचित्पठेदपि ।

एकाङ्को भारतीप्राय इति केचित्प्रचक्षते ॥ २९५ ॥

उल्लमुदाहरणम् ।

( १३ वा प्रकार-शिल्पक )

अथ शिल्पकम्—

चत्वारः शिल्पकेऽङ्काः स्युश्चतस्रो वृत्तयस्तथा ।

अशान्तहास्याश्च रसा नायको ब्राह्मणो मतः ॥ २९६ ॥

वर्णनात्र श्मशानादेर्हीनः स्यादुपनायकः ।

सप्तविंशतिरङ्गानि भवन्त्येतस्य तानि तु ॥ २९७ ॥

आशंसातर्कसंदेहतापोद्वेगप्रसक्तयः ।

नायिका के लिये प्रख्यात होना आवश्यक है । इसमें गर्भ और विमर्श सधियाँ नहीं हुआ करती । इसमें भारती वृत्ति का वाहुल्य रहा करता है और 'श्री' शब्द का प्रयोग प्रचुर मात्रा में हुआ करता है ।

इसका उदाहरण 'क्रीडारसातल' नामक उपरूपक-प्रबन्ध है ।

'श्रीगदित' का एक और भी प्रकार है जिसे कतिपय नाट्याचार्य माना करते हैं । इस श्रीगदित-प्रकार में श्रीवेषधारिणी नटी रगमच पर बैठ कर कुछ गाती और पद पढ़ती दिखायी जाया करती है । इसमें एक अङ्क हुआ करता है और भारती वृत्ति का प्राचुर्य रहा करता है ।

इसका उदाहरण हूँदा जा सकता है ।

विमर्श—साहित्यदणकार का दिताय 'श्रीगदित' लक्षण भोजराज के इस श्रीगदित-लक्षण का अनुसरण करता है—

'तत्र श्रीरिव दानवशत्रोर्यस्मिन् कुलाङ्गना पत्यु ।

वर्णयति शौर्यधैर्यप्रभृतिगुणानग्रतस्सख्याः ॥

पत्या च विप्रलब्धा गातव्ये तान् क्रमादुपालभते ।

श्रीगदितमिति मनीषिभिरुदाहृतोऽसौ पदाभिनयः ॥' (शृङ्गारप्रकाश)

इस श्रीगदित प्रकार का उदाहरण भावप्रकाशनकार के अनुसार 'रामानन्द' नामक उपरूपक प्रबन्ध है ।

अनुवाद—शिल्पक-शिल्पक' वह उपरूपक-प्रकार है जिसमें चार अङ्क और चारों वृत्तियाँ हुआ करती हैं । इसमें शान्त और हास्य को छोड़ कर अन्य रसों की अभिव्यञ्जना की जाया करती है । इसका नायक ब्राह्मण हुआ करता है । इसमें श्मशान आदि का वर्णन किया जाया करता है । इसका उपनायक अधम प्रकृति का व्यक्ति हुआ करता है । इसके २७ अङ्क हुआ करते हैं—(१) आशंसा, (२) तर्क, (३) संदेह, (४) ताप, (५) उद्वेग

प्रयत्नप्रयनोत्कण्ठावदित्याप्रतिपत्तयः ॥ २९८ ॥

विलासालस्यवाग्पाणि प्रहर्षाश्वासमूढताः ।

साधनानुगमोन्मुक्तसविस्मयप्राप्तयस्तथा ॥ २९९ ॥

लामविस्मृतिसंफेत्ता वैश्वारथ्य प्रपादनम् ।

चमत्कर्तृतिष्ठेत्यमीषां स्पष्टत्वाल्लक्ष्म नोच्यते ॥ ३०० ॥

संफेत्तप्रयनयो पूर्णमुच्छ्वारेण अदम सिद्धम् ।

यथा—कनकावतीमाधव ।

( १० वां प्रकार—विलासिका )

अथ विलासिका—

शृङ्गारबहुलैकाङ्का दशलास्याङ्गसंयुता ।

विदूषकविटाम्यां च पीठमर्देन भूषिता ॥ ३०१ ॥

हीना गर्भविमर्शाभ्यां सविभ्यां हीननायका ।

स्वल्पवक्ता मुनेपथ्या विख्याता सा विलासिका ॥ ३०२ ॥

(१) प्रसक्ति, (२) प्रयत्न, (३) प्रयन (४) उत्कण्ठा (५) अवहित्या, (६) प्रतिपत्ति (७) विलास (८) आकष्य (९) वाग्पाणि (१०) प्रहर्ष (११) आश्रय (१२) मूढता, (१३) साधनानुगम (१४) उन्मुक्त (१५) विस्मय (१६) प्राप्ति (१७) काम (१८) विस्मृति (१९) संफेत्त, (२०) वैश्वारथ्य, (२१) प्रपादन और (२२) चमत्कर्तृति । इन अर्थों के कवय इनके भाव से ही स्पष्ट हैं ।

इसमें ‘संफेत्त’ और ‘प्रयन’ को अधिक पारिभाषिक है, पहले ही स्पष्ट कर दिने गये हैं ।

इस उपरूपक-प्रकार का उदाहरण ‘कनकावतीमाधव’ नामक उपरूपक-प्रबन्ध है ।

विमर्श—विदनाथ कविराज का ‘शिक्षक’-लक्षण भावप्रकाशनकार के इस शिक्षक प्रश्न का अनुसरण करता है—

विदूषकप्रभुरहं स्वाद्यतुर्दृष्टिविराजितः ।

हास्यं विता रसैः पूर्णं स्वतो आकाशनायकः ॥

हीनोपनायकः कापि रमसानादिसमाकुलः ।

उक्ता पुनर्भूः कम्पा वा ताः स्युः सविमर्शिनः ॥

माह्वती माधवस्थं कम्पकस्य कनकावती ।

अह्नामि सप्तविंशत्युत्कण्ठाभीनि च अमरा ॥

( भावप्रकाशन : व अविचार )

अनुसार—विलासिका—‘विलासिका’ वह उपरूपक-प्रकार है जो गृह्यारम्भ-प्रभुर हुआ करता है और जिसकी रचना के लिए एक बहुत पर्याप्त मात्रा गयी है । इसमें लालच के हसी अर्थों की पाठ्यता आवश्यक है । इसमें विदूषक, विद और पीठमर्द का चरितचित्रण अवहित है । इसमें गम्भीर विमर्श सविषां नहीं हुआ करती । इसका नायक अयम प्रकृति का पुनर्भू हुआ करता है । इसमें पून की मात्रा थोड़ी रहा करती है । इसमें वराभूषा पर विनाय ध्यान रखा जाया करता है ।

केचित्तु तत्र विलासिकास्थाने विनायिकेति पठन्ति । तस्यास्तु 'दुर्मल्लिकायामन्तर्भावः' इत्यन्ये ।

( १५ वाँ प्रकार-दुर्मल्लिका )

अथ दुर्मल्लिका —

दुर्मल्ली चतुरङ्गा स्यात् कैशिकोभारतीयुता ।

अगर्भा नागरनरा न्यूननायकभूषिता ॥ ३०३ ॥

त्रिनालिः प्रथमोऽङ्कास्यां विटक्रीडामयो भवेत् ।

पञ्चनालिवितीयोऽङ्को विदूषक विलासवान् ॥ ३०४ ॥

पण्णालिकस्वृतीयस्तु पीठमर्दविलासवान् ।

चतुर्थो दशनालिः स्यादङ्कः क्रीडितनागरः ॥ ३०५ ॥

यथा—विन्दुमती ।

कतिपय नाट्याचार्य इसे 'विलासिका' न कह कर 'विनायिका' कहा करते हैं । और कुछ 'विनायिका' को 'दुर्मल्लिका' नामक उपरूपक-भेद में अन्तर्भूत देखा करते हैं ।

विमर्श—भावप्रकाशनकार, ने इस उपरूपक प्रकार का कोई निर्देश नहीं किया है ।

अनुवाद—दुर्मल्लिका—'दुर्मल्लिका' वह उपरूपक-प्रकार है जिसकी रचना चार अङ्कों में की जाया करती है और जिसमें कैशिकी और भारती वृत्ति का उपनिबन्धन हुआ करता है । इसमें गर्भ सन्धि नहीं हुआ करती । इसके पात्र कला-कुशल हुआ करते हैं । इसका नायक नीच प्रकृति का व्यक्ति हुआ करता है । इसका प्रथम अङ्क ऐसा हुआ करता है जिसका अभिनय तीन नाडी ( ६ घड़ी ) का समय लिया करता है और विट की विविध क्रीडाओं से परिपूर्ण रहा करता है । इसके दूसरे अङ्क के अभिनय में पाँच नाडी ( १० घड़ी ) का समय लगा करता है और विदूषक की लीलायें प्रचुर मात्रा में रहा करती हैं । इसका तीसरा अङ्क ६ नाडी ( १२ घड़ी ) का समय लिया करता है और पीठमर्द की भावभण्डों से भरपूर हुआ करता है । इसके चौथे अङ्क में दश नाडी ( २० घड़ी ) का समय लगा करता है और नायक की क्रीडायें प्रदर्शित की जाया करती हैं ।

इसका उदाहरण 'विन्दुमती' नामक उपरूपक-प्रबन्ध है ।

विमर्श—भावप्रकाशनकार ने 'दुर्मल्लिका' का यह स्वरूप बताया है —

'अथ दुर्मल्लिकानाम प्रौढनागरनायिका ।

चतुरङ्गा चतुस्सन्धिर्गर्भसन्धिविनाकृता ॥

विटो विलसति स्वैर प्रथमाङ्के त्रिनाडिका ।

विदूषको द्वितीयेऽङ्के विलसत्पञ्चनाडिक ॥

पीठमर्दो विहरति तृतीये सप्त नाडिका ।

विटादित्रितयक्रीडा चतुर्थे दश नाडिका ॥

चौर्यरतिप्रतिभेद यूनोरनुरागवर्णन क्वापि ।

यत्र ग्राम्यकथाभिः कुरुते किल दूतिका रहसि ॥

मन्त्रयति च तद्विषयन्यगजातित्वेन याचते च वसु ।

लब्ध्वापि लब्धुमिच्छति या सा दुर्मल्लिका नाम्ना ॥



( १६ वीं प्रकाश-प्रकरणिका )

अथ प्रकरणिका—

नाटिकैव प्रकरणो सार्यवाहान्नायका ।

समानवयुजा नेतुर्मवेद्यश्च च नायिका ॥ ३०६ ॥

सूत्र्यमुदाहरणम् ।

( १० वीं प्रकाश—दृष्टीय )

अथ दृष्टीरा—

द्वलीश एक एवाहू सप्ताष्टौ दक्ष वा स्त्रिय ।

वागुदाचैकपुरुषः कैशिकीवृषिकृज्जला ।

मुखान्तिमौ तथा सन्धी बहुताललयस्थितिः ॥ ३०७ ॥

यथा—कैशिरैवतकम् ।

यथा दुर्मन्त्रिका मन्त्रे प्राहुर्मन्त्रिकप्रमिति ।  
 यस्यानुज्ञायाः स्यात्पुरोहितप्रत्ययापसादीनाम् ।  
 प्रत्ययाभिर्वाहः सापि च मन्त्रिका मयति ।  
 कुत्रक्या मन्त्रिका वेह महाराहभाषया मयति ।  
 गोरोचने च कार्वाण्यहवती भावरसविधा ।

( नायकप्रकाशन : ९ म नायिका )

साहित्यदर्पणकार का 'दुर्मन्त्रिका' कथन 'भावप्रकाशन' के प्रथम दुर्मन्त्रिका-प्रकाश का कथन है ।  
 अनुवाद—प्रकरणिका—'प्रकरणिका' ( प्रकरण ) वस्तुतः उस प्रकाश को कहा करते हैं जिसमें नायक के रूप में सार्यवाह ( सेठ ) आदि का चित्रण किया जाया करता है और नायिका के रूप में उसकी सहायिका किसी की का ।

इसका उदाहरण देना चाहिये ।

विमर्श—प्रकरणों का निरूपण नाट्यदर्पणकार ने भी किया है किन्तु इसे 'कथक' की भाँति में स्थान दिया है न कि वपकथक की । 'नायिका' और 'प्रकरण' बलून नाटक और प्रकरण की निरूपणार्थों के सादृश्य के परिणाम हैं ( कैशिकीवृषिकृज्जला च नायकधर्म, प्रकरणस्वात्मकैशिकीवृषिकृज्जला । कथनार्थक भविष्यद्विवाद्यकथक च प्रकरणधर्म ) तथा नाटकप्रकरणोत्पत्तयेऽपि )

( नाट्यदर्पण : २ व विवेक )

अनुवाद—दृष्टीय—'दृष्टीय' वह उपकरण-प्रकार है जिसमें एक ही वस्तु रद्दा करता है और मात्र आठ या दस स्त्रीपात्र डूबा करते हैं । इसका नायक उदात्तवाणी का ध्येय डूबा करता है । इसमें कैशिकी वृषि का वायुव्य अपवर्धित है । इसमें मुर और निर्बल कवच दो ही स्त्रियों पर्याप्त हैं । इसमें रामा ताल, रूप आदि का प्राचुर्य रद्दा करता है । उदाहरण के लिए 'कैशिरैवतक' पर्याप्त है ।

विमर्श—भविष्यत्कालीकार का दृष्टीय-प्रकाशन यह है—

मन्त्रयेन तु यम्भुत दृष्टीमन्त्रिमिति स्थूलम् ।

प्रकाशन तु मना स्यात् गोपयिणी यथा हरिः ॥

( भविष्यत्काली : दृष्ट १८१ )

( १८—वाँ प्रकार—भाणिका )

अथ भाणिका—

भाणिका श्लक्ष्णनेपथ्या मुखनिर्वहणान्विता ।  
 कैशिकीभारतीवृत्तियुक्तैकाङ्कविनिर्मिता ॥ ३०८ ॥  
 उदात्तनायिका मन्दनायकात्राङ्गसप्तकम् ।  
 उपन्यासोऽथ विन्यासो विवोधः साध्वसं तथा ॥ ३०९ ॥  
 समर्पणं निवृत्तिश्च संहार इति सप्तमः ।  
 उपन्यासः प्रसङ्गेन भवेत्कार्यस्य कीर्तनम् ॥ ३१० ॥  
 निर्वेदवाक्यव्युत्पत्तिर्विन्यास इति स स्मृतः ।  
 भ्रान्तिनाशो विवोधः स्यान्मिथ्याख्यानं तु साध्वसम् ॥ ३११ ॥  
 सोपालम्भवचः कोपपीडयेह समर्पणम् ।  
 निदर्शनस्योपन्यासो निवृत्तिरिति कथ्यते ॥ ३१२ ॥  
 संहार इति च प्राहुर्यत्कार्यस्य समापनम् ।

यहाँ यह स्पष्ट है कि साहित्यदर्पणकार ने इस लक्षण का अनुसरण नहीं किया है। साहित्य-दर्पणकार का 'हल्लीश' लक्षण 'भावप्रकाशन'कार के इस हलासक-लक्षण से भी कुछ-कुछ भिन्न है —

‘अथ हल्लीसक सप्त नवाष्टदशनायिकम् ।  
 सानुदात्तोक्ति चैकाङ्क कैशिकीवृत्तिभूषितम् ॥  
 एकाङ्क वा भवेद्द्वयङ्कं विमर्शमुखसन्धिमतम् ।  
 सगेयलास्य यतिमतं खण्डताललयान्वितम् ॥  
 एकविश्रामसहितं यथा स्यात् केलिरैवतम् ॥’

अनुवाद—‘भाणिका’ वह उपरूपकभेद है जिसमें सुन्दर नेपथ्य-रचना अपेक्षित हुआ करती है। इसमें मुख और निर्वहण सधियाँ ही रहा करती हैं। इसमें कैशिकी और भारती वृत्तिओं की ही योजना हुआ करती है। इसके लिए एक अङ्ग ही पर्याप्त है। इसकी नायिका उदात्त प्रकृति की रमणी हुआ करती है और नायक नीच वश का व्यक्ति हुआ करता है। इसके सात अङ्ग हुआ करते हैं—( १ ) उपन्यास, ( २ ) विन्यास, ( ३ ) विवोध, ( ४ ) साध्वस, ( ५ ) समर्पण, ( ६ ) निवृत्ति और ( ७ ) संहार। इस ‘अङ्गसप्तक’ में ‘उपन्यास’ का अभिप्राय प्रसङ्गवश कार्य का कीर्तन है, ‘विन्यास’ का अभिप्राय निर्वेदश्रोतक वचनविन्यास है, ‘विवोध’ का अभिप्राय भ्रम का निराकरण है, ‘साध्वस’ का अभिप्राय मिथ्या-अहंकार का प्रदर्शन है, ‘समर्पण’ का अभिप्राय कोपपूर्वक निन्दाबहुल वचन है, ‘निवृत्ति’ का अभिप्राय निदर्शन ( उदाहरण ) का उपन्यास है और ‘संहार’ कार्य की समाप्ति का नाम है।

स्पष्टान्युदाहरणानि ।

यथा—कामवृत्ता ।

एतेषां सर्वेषां नाटकप्रकृतित्वेऽपि यथोचित्य यथाज्ञानं नाटकोक्तविरोधपरिमह । यत्र च नाटकोक्तस्यापि पुनरुपादानं यत्र तत्सङ्गवस्य नियमः ।

‘अभ्य’ काव्य निरूपण

अथ अभ्यकाव्यानि—

अभ्यं भातव्यमात्रं तत्पद्यगद्यमयं द्विधा ॥ ३१३ ॥

इस अङ्ग-संज्ञक की उदाहरण स्पष्ट है । इस उपरूपक-प्रकार को उदाहरण ‘कामवृत्ता’ है ।

यद्यपि ये सभी उपरूपक प्रकार ‘नाटक’ नामक रूपकप्रवृत्ति से ही निकले हैं किन्तु हमसे भीष्टिय की दृष्टि से नाटक की विशेषताओं का समावेश किया जाया करता है । जहाँ-जहाँ इस उपरूपक-प्रकारों के कवनों में नाटक की विशेषताओं का स्पष्ट निर्देश किया गया है वहाँ यह समझना आवश्यक है कि निर्दिष्ट विशेषताओं हमसे अवश्यमेव अपेक्षित हैं ।

विमर्श—साहित्यवर्णनकार का यह अभिप्राय-कथन ‘आवप्रकाशनकार’ के इस भेदिक-व्यञ्जन से निम्न है—

‘मायो हरिचरितमिति स्वीकृतगाथादि वर्णमात्रम् ।

सुकुमारतः प्रयोगात् मायोऽपि च मायिका भवति ॥

दिश्यामिहारीनिर्विचरिता कथितप्रवृत्तयुक्ता ।

ताकान्तराकमुक्ता कथिष्यि रथ्यादिसङ्कलिता ॥

अर्थाद्वाहनिवारणमात्रवसन्तमत्तपत्नीभिः ।

विधामैव विहीना श्रीवोग्या वर्जितोत्पत्तौ ॥

वस्तुनि मायिकया नव वृत्तं वा नियमतो विधीयन्ते ।

नवमद्विपक्षमेव स्यान्ते च भगवत्तत्त्वा स्यात् ॥

स्यान्तारेण तस्या कथिताको वस्तुव्या विद्यते ।

विविधचोविन्यासैः सम्पन्नोपसाहसंपत्तिः ॥

कास्याङ्ग-सन्निविधमा भागवद्वाच्यं भगवत्कथा स्यात् ॥

अथ मायवर्जितान्तराकप्रवृत्तयुक्तप्रवृत्तिः ।

गमावमर्शहीना च सुकाव्यवस्तुपिता ॥

स्वस्ववृत्तप्रवृत्त्या च पीठमर्शविरहितता ।

वितुपक्षेण सहिता वृत्ताकाव्यसमन्विता ॥

पाञ्चाकरीतिनियता भवेद्वाणीत्वहीना यथा ॥

( भावप्रकाशन : १ म अक्षर )

अन्वय—अथ तक ‘दरय’ काव्यों का निरूपण किया गया अब इसके बाद, ‘अभ्य’ काव्यों का निरूपण किया जा रहा है—

‘अभ्य’ काव्य उस स्वात्मिक वाक्य को कहा करते हैं जो केवल अवयव-धीन होता करता है ( अर्थात् जिसे ईगमच पर अभिन्नता द्वारा प्रदर्शित नहीं किया जाया करता )

( १ म श्रव्य काव्य-प्रकार . पद्यमय अथवा पद्य-काव्य )

तत्र पद्यमयान्याह—

छन्दोबद्धपदं पद्यं तेन मुक्तेन मुक्तकम् ।  
द्वाभ्यां तु युग्मकं सांदानितकं त्रिभिरिष्यते ॥ ३१४ ॥  
कलापकं चतुर्भिश्च पञ्चभिः कुलकं मतम् ।

( १—पद्यात्मक काव्य-प्रकार . मुक्तक )

तत्र मुक्तक यथा मम—

‘सान्द्रानन्दमनन्तमव्ययमज यद्योगिनोऽपि क्षण  
साक्षात्कर्तुमुपासते प्रति मुहुर्ध्यानैकतानाः परम् ।  
धन्यास्ता मथुरापुरीयुवतयस्तद्ब्रह्म या कौतुका-  
दालिङ्गन्ति समालपन्ति शतधाऽकर्षन्ति चुम्बन्ति च ॥’

अपितु स्वयं पदा अथवा सुना जाया करता है । ) इस काव्य के भी दो भेद हैं—१ ला पद्यमय श्रव्य काव्य और २ रा गद्यमय श्रव्य काव्य ।

इन दोनों में, पहले ‘पद्यात्मक’ श्रव्य काव्यों के स्वरूप बताये जा रहे हैं—

‘पद्यात्मक’ काव्य वह है जिसके पद छन्दोबद्ध हुआ करते हैं । यह ‘पद्यात्मक’ काव्य भी कई प्रकार का हुआ करता है, जैसे कि १ ‘मुक्तक’, जिसके पद्य ( अपने अर्थ में ) अन्य किसी पद्य की आकांक्षा से ‘मुक्त’ अथवा स्वतन्त्र हुआ करते हैं, २. युग्मक, जिसमें दो पद्यों की रचना पर्याप्त मानी जाया करती है, ३. सांदानितक, जिसकी रचना तीन पद्यों में पूर्ण हो जाया करती है, ४ कलापक, जिसकी रूप-रेखा पद्य-चतुष्क में पूर्ण हो जाती है और ५ कुलक, जिसमें पाँच पद्यों का एक ‘कुल’ दिखायी दिया करता है ।

अनुवाद—इन पद्य काव्यों में जो ‘मुक्तक’ काव्य है उसका स्वरूप-निर्दर्शन निम्न स्वरचित सूक्ति में स्पष्ट है—

‘धन्य हैं वे मथुरा की युवतियाँ, जो उस आनन्दमय, अनन्त, अनादि किंवा शाश्वत परात्पर परब्रह्म को अपने भुजापाश में बाँधा करती हैं, आलाप-सलाप में रिझाया करती हैं, छीना-क्षपटी में सताया करती हैं और चुम्बनों में भुलाया करती हैं, जिसके क्षण भर के भी साक्षात्कार के लिये, ध्यानमग्न योगियों को निर्विकल्प समाधि में लीन होना पड़ता है ।’

विमर्श—विश्वनाथ कविराज की उपर्युक्त सूक्ति ‘मुक्तक’ काव्य है । संस्कृत काव्य-साहित्य के जितने ‘मुक्तक’-रत्न उपलब्ध हैं उनसे कहीं अधिक खो गये हैं और कदाचित् सदा के लिये खो गये हैं । ‘मुक्तक’ की रचना संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश तीनों भाषाओं में होती रही है । ‘मुक्तक’ काव्य के सम्बन्ध में आचार्य आनन्दवर्धन की यह उक्ति स्मरणीय है—

‘मुक्तकेषु प्रवन्धेष्विव रसवन्धामिनिवेशिन कवयो दृश्यन्ते । यथा ह्यमरकस्य कवेर्मुक्तका शृङ्गाररसस्यन्दिन प्रवन्धायमाना प्रसिद्धा एव—(वन्यालोक ३ य उद्योत) ।’

अर्थात् रसास्वाद का दृष्टि से ‘मुक्तक’ रचनायें प्रवन्ध काव्य का भाँति महत्त्वपूर्ण हैं । अमरक के मुक्तकों में बहनेवाली शृङ्गार मन्दाकिनी का जिसने आनन्द लिया हो, उसे प्रवन्ध काव्यों के क्षीरसागर से क्या प्रयोजन ?

(१—पद्यात्मक काव्य—प्रकार : युग्मक)

युग्मकं यथा मम—

किं करोयिं करोपान्ते कान्ते । गण्डस्यक्षीमिमाम् ।  
 प्रणयप्रणये कान्तेऽनैकान्ते नोपिता कुच ॥  
 इति यावत्कुत्रज्ञाक्षी वक्तुमीहामहे वयम् ।  
 तावदाविरभूच्छूते मधुरो मधुपञ्चनि ॥  
 एवमन्यान्पि ।

'युग्मक' और 'रस' का सम्बन्ध बहुत है। प्रबन्धकार्यों में तो विभावदिव्योक्त का प्रक्रिया-बन्धन दिखायी दिया करता है किन्तु 'युग्मक' में रस-धीवना के पक्ष पक्ष ठहर इतने प्रक्ति-साक्षी हुआ करत है कि एक से ही अन्त्य-समाप्ति हो जाता करता है और रस का आकाश-प्रारम्भ हो जाता है।

आचार्य अमिनवण्ड ने 'युग्मक' को जो यह निरूपित बनायी है—

'युग्मकमेवावकिञ्चित् तस्य संज्ञायां कम् । तैव स्वतन्त्रतया परिसमाप्तविराका-  
 चार्यमपि प्रबन्धमभ्यवर्ति न युग्मकमित्युच्यते—( ध्वन्यालोकाध्यायन : १ व लघोः ) ।  
 उसमें 'युग्मक' के स्वरूप को सुन्दर साक्षी दियायी देती है।

अनुसार—इसी प्रकार 'युग्मक' का उदाहरण भी विन्म स्वरचित सूक्ति में स्पष्ट है—  
 'जैसे ही मैंने उस युगावधमी सुन्दरी को कहा था चाह—मिसे ! तू वधोकर अपने हाथों  
 पर कपोलस्यङ्गी रहने पड़ी है तेरा प्रियतम तो एकमात्र तेरे ही प्रेम में पड़ा है मरु  
 पेरी प्रेमी के प्रति मान-कोप की क्या आवश्यकता—कि आकाश-अरिषों के सुरमुद्र में  
 मधुर अमर-गुंजार सुनाई पड़ने लगी ।'

इसी भणित और पद्यात्मक काव्य-प्रकारों जैसे कि सांघवितक आदि के उदाहरण  
 स्वयं हूँ किन्ने का सकते हैं।

विमर्श—निबन्धन करिताय ने 'युग्मक' और 'सांघानितक' को ही एक प्रकार का एक  
 काव्य कहा है किन्तु आचार्य अमिनवण्ड के अनुसार युग्मक ही 'सांघानितक' प्रतीत होता  
 है। 'सांघानितक' का अर्थ आचार्य अमिनवण्ड ने यह किया है—'हाम्वा विमर्शमासी  
 सम्मानितकम्' ( ध्वन्यालोकाध्यायन : १ व लघोः ) । काव्यानुशासकवार हेमचन्द्राचार्य के  
 अनुसार भी 'युग्मक' कोई एक प्रबन्ध-प्रकार नहीं बरिष्ठ 'सांघानितक' ही, जो वधो में  
 पूर्ण होने के कारण, 'युग्मक' कहा का सकता है।

निबन्धन करिताय ने आचार्य अमिनवण्ड और हेमचन्द्राचार्य के 'रिषेपक' नामक काव्य  
 प्रकार को जो तीन पदों में पूर्ण हो जाता करता है (त्रिभिर्लक्षणम्) 'सांघानितक' म्यत रखा है।

रस 'रिषेपक' अथवा 'सांघानितक' का उदाहरण महाकवि माधव का यह 'रिषेपक' (अथवा  
 सांघानितक) है—

'असिषिकमपराजसमय कण्ठं इक्षुपरिरक्षयुद्दवृद्धिस्तनेन ।  
 क्षणिततनुस्तो भुजेन भर्तुर्धुमधुपुष्पतिबद्धमेकबाहुम् ॥  
 सुहृन्मुसममाभ्यती नितान्तं प्रणवितकाप्रवितम्बमण्डलेन ।  
 विपमितपृष्ठदारपटितिर्यङ्गकुण्डमित्तं तत्पुण्ड्रपले विपिण्डम् ॥  
 गुणरक्तकनूपुराणुनायं सकलितनतितवामपापपदा ॥  
 इतरवृत्तिकोत्तमाङ्गाना पद्मक मग्मघर्मर्षं जयाम् ॥

( विन्यासः १८-१८ )

(महाकाव्य स्वरूप-विनिश्चय)

सर्गबन्धो महाकाव्यं तत्रैको नायकः सुरः ॥ ३१५ ॥

किन्तु आचार्य मल्लिनाथ ने महाकवि माघ के निम्न 'सदानितक' अर्थात्—

'विरोधिवचसो मूकान् वागीशानपि कुर्वते ।  
जडानप्यनुलोमार्थान् प्रवाच कतिना गिर ॥  
सत्तिष्ठस्याप्यतोऽस्यैव वाक्यस्यार्थगरीयस ।  
सुविस्तरतरा वाचो भाष्यभूता भवन्तु मे ॥'

( शिशुपालवध २. २४, २५ )

का उल्लेख किया है जिसकी रचना दो पद्यों में ही पूर्ण है ।

'कलापक' की परिभाषा आचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार यह है—'चतुर्भिः कलापकम्'

अर्थात् वह काव्यबन्ध 'कलापक' है जो चार पद्यों का बना होता है । इसका उदाहरण यह है—

'या धर्मभासस्तनयापि शीतलै स्वसा यमस्यापि जनस्य जीवनै ।  
कृष्णाऽपि शुद्धैरधिक विधातृभिर्विहन्तुमंहासि जलैः पटीयसी ॥  
यस्या महानीलतटीरिव द्रुता प्रयान्ति पीत्वा हिमपिण्डपाण्डव ।  
कालीरपस्तभिरिवाऽनुरजिता क्षणेन भिन्नाञ्जनवर्णता घना ॥  
व्यक्त बलीयान् यदि हेतुरागमादपूरयत् सा जलधि न जाह्नवी ।  
गङ्गाघनिर्मस्मितशम्भुकन्धरासवर्णमर्णः कथमन्यथाऽस्य तत् ॥  
अभ्युद्यतस्याक्रमितु जवेन गा तमालनीला नितरा धृतायतिः ।  
सीमेव सा तस्य पुर क्षण बभौ बलाग्वुराशोर्महतो महापगा ॥'

( शिशुपालवध १२ ६७-७० )

'कुलक' को पाँच अथवा पाँच से अधिक पद्यों का बन्ध कहा गया है ( पञ्चप्रभृतिभिः कुलकम् ध्वन्यालोकलोचन . ३ य उद्योत ) महाकवि माघ का यह 'कुलक' बन्ध प्रसिद्ध है—

'सकलमपि निकामं कामलोलान्यनारीरतरभसविमर्दे भिन्नवत्यङ्गरागम् ।  
इदमिति सहदेवाश्चर्यमाश्चर्यधाम्नस्तव खलु मुखरागो यच्च भेद प्रयात ॥  
प्रकटतरमिम माद्राक्षुरन्या रमण्य स्फुटमिति सविशंकं कान्तया तुल्यवर्ण ।  
चरणतलसरोजाक्रान्तिसक्रान्तयाऽसौ वपुषि नखविलेखो लाडया रजितस्ते ॥  
तदवितथमघादीर्यन्मम त्व प्रियेति प्रियजनपरिमुक्तं यदुदुकूल दधान ।  
मदधिवसतिमागा कामिना मण्डनश्रीर्जति हि सफलत्वं वल्लभालोकनेन ॥  
नवनखपदमङ्ग गोपयस्वशुकेन स्थगयसि मुहुरोष्ठ पाणिना दन्तदष्टम् ।  
प्रतिदिशमपरस्त्रीसगशसी विसर्पन् नवपरिमलगन्ध केन शक्यो वरीतुम् ॥  
इति कृतवचनाया कश्चिदभ्येत्य विभ्यद् गलितनयनवारैर्यति पादावनामम् ।  
कक्षमपि समर्थ मानिना मानभेदे रुदितमुदितमस्त्र योषितां विप्रहेपु ॥'

( शिशुपालवध ११. ३१-३५ )

महाकवि माघ के 'शिशुपालवध' में पद्यषट्कात्मक, पद्यसप्तकात्मक, पद्याष्टकात्मक किं वा पद्यनवकात्मक 'कुलक' भी उपलब्ध होते हैं जिनमें 'काव्य' की विशेषतायें ओतप्रोत हैं ।

अनुवाद—पद्यकाव्य के प्रकारों में जो 'सर्गबन्धात्मक' काव्यप्रकार है उसे 'महाकाव्य' कहा करते हैं । ( चरित्रवर्णन की दृष्टि से ) इस 'सर्गबन्ध'रूप महाकाव्य में एक ही नायक का चरित चित्रित किया जाया करता है । यह नायक चाहे कोई देवविशेष हो,

सदृशः सप्रिया वापि धीरोदात्तगुणान्वित ।  
 एकवृत्तमवा भूपा\* कुलमा वृहवोऽपि वा ॥ ३१६ ॥  
 मृत्तरधीरश्वान्तानामेकोऽङ्गी रस इष्यते ।  
 अङ्गानि सर्वेऽपि रसाः सर्वे नाटकसंघयः ॥ ३१७ ॥  
 इतिहासोद्भव वृत्तमन्यद्वा सज्जनाभयम् ।  
 चत्वारस्तस्य वर्गाः स्युस्तेष्वेकं च फलं भवेत् ॥ ३१८ ॥  
 आदौ नमस्कियाष्टीर्णा वस्तुनिर्देश एव वा ।  
 कचिमिन्दा खलादीनां सतां च गुणकीर्तनम् ॥ ३१९ ॥  
 एकवृत्तमयै पद्यैरवसानेऽन्यवृत्तकैः ।  
 नातिस्वल्पा नातिदीर्घा सर्गा अष्टाधिका इह ॥ ३२० ॥  
 नानावृत्तमय कापि सर्गः कथन इष्यते ।

या प्रक्यात राजवंश का राजा हो ऐसा हुआ करता है जिसमें 'धीरोदात्त' वाक्य के गुण विद्यमान रहा करते हैं। किसी किसी महाकाव्य में एक राजवंश में उत्पन्न अनेकों कुलीन राजाओं की भी चरित्र-वर्णना लिखाई जाती है। (रसानिमिश्रण की दृष्टि से) मंगार और और नाट्य रसों में से कोई एक ही रस किसी महाकाव्य में 'अद्भुत' अथवा 'प्रधान' रूप से परिपुष्ट किया जा सकता है। इन तीनों रसों में से जो रस भी 'अद्भुत' अथवा 'प्रधान' रसों का वह उसकी अपेक्षा अन्य सभी रस 'अद्भुत' अथवा 'अप्रधान' रूप से कमिष्यक किये जा सकते हैं। (सम्बन्ध-रचना की दृष्टि से) पात्रक की सभी सन्निधियों महाकाव्य में आवश्यक मानी गई हैं। (इतिवृत्त-बोधना की दृष्टि से) कोई भी ऐतिहासिक अथवा किसी महापुरुष के जीवन में सम्बन्ध कोई कोकप्रसिद्ध वृत्त यहाँ वर्णित किया जा सकता है। जैसे तो (उपयोगिता की दृष्टि से) महाकाव्य में कर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप पुरोपाय-बहुवचन का व्यापकमक विरूपण किया जाता करता है किन्तु परम फल के रूप में किसी एक का ही सर्वतोमग्न उपनिबन्ध युक्तिपुष्ट माला गया है।

इन उपर्युक्त स्वरूप-संगत विशेषताओं के अतिरिक्त दृष्टिपथ अन्याय्य भी विशेषताएँ हैं या सगवन्धक महाकाव्य में पायी जाया करती हैं। जैसे कि—(१) महाकाव्य का आरम्भ मङ्गलमक हुआ करता है। यह मङ्गल या तो 'नमस्कारात्मक' हो या 'आष्टी-वार्त्तात्मक' हो या 'वस्तुनिर्देशात्मक' हो, महाकवि की इच्छा कि या विरय-वर्णन पर निर्भर है। (२) किसी किसी महाकाव्य में 'जटिमिन्दा' (बुद्ध प्रकृति के आलोचकों की मिन्दा) तथा 'सम्पदसा' (साधु प्रकृति के आलोचकों की प्रशंसा) भी उपनिबद्ध रहा करता है। (३) प्रत्येक सर्ग में किसी एक वृत्त में यह पद्य रचे जाया करते हैं और प्रत्येक सर्ग में उस वृत्त की दोहराकर अन्य वृत्त में पद्य-रचना की जाया करती है। (४) आठ सर्गों से कम सर्ग महाकाव्य में नहीं हुआ करता और पद्य भी दसों हुआ करते हैं जो न तो बहुत छोटे हों और न बहुत बड़े। (५) किसी किसी महाकाव्य में भिन्न भिन्न वृत्तों में भी बहू वचनों से सर्ग-निर्माण हुआ करता है। (६) किसी सर्ग के

सर्गान्ते भाविसर्गस्य कथायाः सूचनं भवेत् ॥ ३२१ ॥

संध्यासूर्येन्दुरजनीप्रदोषध्वान्तवासराः ।

प्रातर्मध्याह्नमृगयाशैलर्तुवनसागराः ॥ ३२२ ॥

संभोगविप्रलम्भौ च मुनिस्वर्गपुराध्वराः ।

रणप्रयाणोपयममन्त्रपुत्रोदयादयः ॥ ३२३ ॥

वर्णनीया यथायोगं साङ्गोपाङ्गा अमी इह ।

कवेर्वृत्तस्य वा नाम्ना नायकस्येतरस्य वा ॥ ३२४ ॥

नामास्य सर्गोपादेयकथया सर्गनाम तु ।

सन्ध्यङ्गानि यथालाभमत्र विधेयानि 'अवसानेऽन्यवृत्तकैः' इति बहुवचनम-  
विवक्षितम् । साङ्गोपाङ्गा इति जलकेलिमधुपानादयः ।

यथा—रघुवंश-शिष्टपालवध-नैषधादयः ।

अन्त में उसके अगले सर्ग में आने वाले वृत्त की सूचना आवश्यक हुआ करती है । ( ७ )  
सर्गबन्धनात्मक काव्य में इन इन विषयों का यथास्थान किंवा यथासम्भव साङ्गोपाङ्ग  
वर्णन किया जाया करता है—( १ ) संध्या ( २ ) सूर्य ( ३ ) चन्द्र ( ४ ) रात्रि ( ५ )  
प्रदोष ( ६ ) अन्धकार ( ७ ) दिन ( ८ ) प्रातः काल ( ९ ) मध्याह्न ( १० ) मृगया  
( ११ ) पर्वत ( १२ ) ऋतु ( १३ ) वन-उपवन ( १४ ) समुद्र ( १५ ) सम्भोग ( १६ )  
विप्रयोग ( १७ ) मुनि ( १८ ) स्वर्ग ( १९ ) नगर ( २० ) यज्ञ ( २१ ) संग्राम ( २२ )  
यात्रा ( २३ ) विवाह ( २४ ) सामाधुपायचतुष्टय ( २५ ) पुत्रजन्म आदि आदि । ( ८ )  
महाकाव्य का नामकरण-संस्कार कवि के नाम पर वर्ण्य चरित के आधार पर, नायक के  
नाम के अनुसार अथवा इनके अतिरिक्त किसी अन्य आधार पर किया हुआ रहता  
है और ( ९ ) महाकाव्य के सर्ग का भी नाम रखा जाया करता है जो कि उसमें वर्ण्य  
वृत्त के अनुसार हुआ करता है ।

महाकाव्य में सन्धिपञ्चक की रचना तो अनिवार्यतः हुआ करती है किन्तु सन्ध्यङ्गों  
की रचना ( अनिवार्य नहीं अपि तु ) उनकी उपयोगिता की दृष्टि से ही यत्र तत्र की  
जाया करती है ।

यहाँ ( 'एकवृत्तमयै पद्यै' आदि कारिका में ) 'अवसानेऽन्यवृत्तकैः ( अन्त में भिन्न  
वृत्तों से रचना ) का अभिप्राय ( सर्ग-रचना में व्यवहृत वृत्त की अपेक्षा ) सर्गान्त में  
किसी एक भिन्न वृत्त की रचना का अभिप्राय है ( न कि अनेकानेक भिन्न वृत्तों का )  
क्योंकि यहाँ बहुवचन के प्रयोग में बहुत्व का अभिप्राय विवक्षित नहीं ।

सध्यादि के 'साङ्गोपाङ्ग' वर्णन का तात्पर्य जलकेलि, मधुपान आदि-आदि, उन-उन  
कालों अथवा स्थानों आदि में सभव मानव कार्यकलापों तथा मनोविनोदों के वर्णन का  
तात्पर्य है ।

सर्गबन्धरूप 'महाकाव्य' के उदाहरण के रूप में 'रघुवंश' ( जिसका नाम वर्ण्य  
नायक के वंशज एक महाप्रतापी राजा के नाम पर है ), 'शिष्टपालवध' ( जिसका नाम  
प्रतिनायक-संबन्धी वृत्त के नाम पर है और 'नैषध' ( जिसका नाम नायक के उपनाम



यथा वा मम—राघवविज्ञासादि ।

पर है) आदि देखे जा सकते हैं। जबमा मेरी 'राघवविज्ञास' आदि 'सर्गबन्ध' कृतिर्वा 'महाकाव्य' के निर्देशार्थ पर्याप्त हैं।

विमर्श—साहित्यदर्पणकार का 'महाकाव्य-कक्षण' जितना विस्तृत और पूर्ण है उसका नाम आत्मप्रकारों का नहीं। साहित्यदर्पणकार ने इतिवृत्त, परिचयिजन और रसमाशामिबन्धन-तीनों की दृष्टि से 'महाकाव्य' का स्वरूप-निरूपण किया है। साहित्यदर्पण का महाकाव्य-कक्षण वस्तुतः कोषककार के रस सूत्रम संकेत अर्थात्—'महाकाव्यकृपा पुरुषार्थप्रकाश समस्तवस्तु-वर्णनप्रबन्धः सरावन्धा यस्मैक एव' (धन्याकोकमोचन : १५ पद्येत्) का विस्तृत वर्णन है।

यहाँ महाकाव्य में सन्नि सत्पद्मादि-बोधना का निर्देश ध्वनिदार की इस मान्यता का ही समर्थन है—

विभावमात्रानुभावसद्भावीभिष्यत्काव्या ।  
विधि कयासरिरस्थ वृत्तस्वोपेक्षितस्य वा ॥  
इतिवृत्तवसावता रच्यन्वावजुगुणां स्थितिम् ।  
उपेक्ष्याउप्यन्तरामीहरसोचितकमोक्षका ॥  
सन्निवसन्त्यवदने रसामिष्यच्छपेक्षया ।  
न तु केवलका शास्त्रस्थितिसंपादनेच्छया ॥  
सरीपनप्रसमये वयावसरमन्तरा ।  
रसस्फारब्धविभ्रान्तेरनुसन्धानमद्विधा ॥  
वच्छृङ्खलीनां शब्दवप्यानुकम्पेव बोधवत् ।  
प्रबन्धस्य रसादीनां व्यञ्जनमेव निबन्धनम् ॥ (धन्याकोक : १६ पद्येत्)

साहित्यदर्पणकार ने 'महाकाव्य' की और जिस छोटी-छोटी विवेकताओं का वर्णन किया है वे वस्तुतः सभी उपलब्ध महाकाव्यों की विवेकताएँ हैं।

मन्त्रप्रकाशककार ने सर्वबन्ध का तो कक्षण अवगत किया है किन्तु इसे 'महाकाव्य' नहीं कहा है—

'यत्र धुलीतिहासायाः पेशका वाच्यपेक्षकाः ।  
विबद्धा वर्णनोपेताः सर्गबन्धा स हृष्यते ॥  
सर्गबन्धेन तुल्यो वा प्राकृतेन निबध्यते ।  
आवासावन्धा स इति सेतुबन्धवदुच्यते ॥  
अपभ्रंशोऽथ यतो वा माहात्म्योभिरम्बितः ।  
स सन्निबन्धो विज्ञेयः वयाऽक्षिपयवगादिका ॥  
वृत्तान्ता विप्रकीर्णाः स्तुः संहिता यत्र कोविदो-  
सा संहितेत्यभिहिता रघुवंशो यथा कृता ॥

(मातृप्रकाशन : १ म अधिकार )

ऐसा प्रतीत होता है कि सर्वबन्धों में महाकाव्य की कल्पना विश्रुत करिमान की प्रतिभा की एक देन है। मन्त्रप्रकाशककार के अनुसार 'रघुवंश' 'संहिता' है किन्तु साहित्यदर्पणकार के अनुसार 'महाकाव्य'। यद्यपि 'रघुवंश' 'संहिता' की कल्पना में ही 'महाकाव्य' की कल्पना की है।

( महाकाव्य-सम्बन्धी कतिपय आनुपद्धिक विशेषतायें . आर्ष-महाकाव्य में 'सर्ग' के बदले 'आख्यान' रचना )

अस्मिन्नार्पे पुनः सर्गा भवन्त्याख्यानसंज्ञकाः ॥ ३२५ ॥

अस्मिन्महाकाव्ये । यथा—महाभारतम् ।

अनुवाद—यही 'सर्गबन्ध' का काव्यप्रकार, जिसे प्राचीन ऋषि-कवियों ने रचा है 'सर्ग' के बदले 'आख्यान' में विभाजित किया गया है ।

यहां ( कारिका में ) 'अस्मिन्' से 'महाकाव्ये' ( महाकाव्य में ) का अर्थ लिया गया है । इसके उदाहरण के लिये ( महर्षि-महाकवि व्यास-प्रणीत ) 'महाभारत' लिया जा सकता है ।

विमर्श—'महर्षि व्यास-प्रणीत 'महाभारत' आर्ष महाकाव्य है'—इस धारणा के प्रवर्तक साहित्यदर्पणकार हैं । ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने महाभारत को महाकाव्य नहीं अपितु 'महाकाव्यात्मक शास्त्र' कहा है—'महाभारतेऽपि शास्त्ररूपे काव्यच्छायावधिनि वृष्णिपाण्डव-विरसावसानवैमनस्यदायिनी समाप्तिमुपनिबध्नता महामुनिना वैराग्यजननतात्पर्यं प्राधान्येन स्वप्रबन्धस्य दर्शयता मोक्षलक्षणं पुरुषार्थं शान्तो रसश्च मुख्यतया विवक्षाविषयत्वेन सूचित । ...तदेवमनुक्रमणीनिर्दिष्टेन वाक्येन भगवद्व्यतिरेकिणं सर्वस्यान्यस्यानित्यतां प्रकाशयता मोक्षलक्षणं एवैकं परं पुरुषार्थं शास्त्रनये, काव्यनये च तृष्णाक्षयसुखपरिपोषलक्षणः शान्तो रसो महाभारतस्याङ्गित्वेन विवक्षित इति सुप्रतिपादितम् ( ध्वन्यालोक ४र्थ उद्योत ) । अर्थात् मोक्षरूप परम पुरुषार्थ के प्रतिपादन की दृष्टि से तो महाभारत 'शास्त्र' है किन्तु शान्त रस की मधुर अभिव्यञ्जना की दृष्टि से 'काव्य' ।

'महाभारत' आदि आर्षकवि-प्रबन्धों के ही देखते अन्य आलङ्कारिकों ने काव्य के अन्यविध विभाग किये हैं —

'शास्त्रं काव्यं शास्त्रकाव्यं काव्यशास्त्रं च भेदत ।  
चतुष्प्रकारं प्रसरं सतां सारस्वतो मत ॥  
शास्त्रं काव्यविद् ग्राह्यं सर्वकाव्याङ्गलक्षणम् ।  
काव्यं विशिष्टशब्दार्थसाहित्यसदलङ्कृति ॥  
शास्त्रकाव्यं चतुर्वर्गप्रायं सर्वोपदेशकृत् ।  
भट्टिभौमककाव्यादि काव्यशास्त्रं प्रचक्षते ॥  
शास्त्रं कुर्यात् प्रयत्नेन प्रसन्नार्थमनुष्टुभा ।  
येन सर्वोपकाराय याति सुस्पष्टसेतुताम् ॥  
काव्ये रसानुसारेण वर्णनानुगुणेन च ।  
कुर्वीत सर्ववृत्तानां विनियोगं विभागवित् ॥  
शास्त्रकाव्येऽतिदीर्घाणां वृत्तानां न प्रयोजनम् ।  
काव्यशास्त्रेऽपि वृत्तानि रसायत्तानि काव्यवित् ॥  
पुराणप्रतिविम्बेषु प्रसन्नोपायवत्सु ।  
उपदेशप्रधानेषु कुर्यात्सर्वेष्वनुष्टुभम् ॥  
नानावृत्तविशेषास्तु कवे शस्तस्य शासनात् ।  
यान्ति प्रभोरिवात्यन्तमयोग्या अपि योग्यताम् ॥'

इस विभाग के अनुसार महाभारत 'शास्त्रकाव्य' सिद्ध होता है न कि महाकाव्य । विश्वनाथ

(प्राकृत भाषा में रचित महाकाव्य में 'सर्ग' के बरके 'आभास' की रचना)

प्राकृतैर्निर्मिते तस्मिन्सर्गा आभाससंश्लकाः ।

छन्दसा स्कन्धकेनैतत्कचिद्भलितकैरपि ॥ ३२६ ॥

यथा—सेतुबन्ध\* । यथा वा भय—कुलसयाश्चरितम् ।

(अपभ्रंश भाषा में रचित महाकाव्य में 'सर्ग' के बरके 'कुडवक' की रचना)

अपभ्रंशनिबद्धेऽस्मिन् सर्गा कुडवकामिधाः ।

तथापभ्रशयोग्यानि च्छन्दांसि विविधान्यपि ॥ ३२७ ॥

यथा—कल्पपरिक्रम\* ।

(काव्य : स्वकल्पनिकल्प)

भाषाविभाषानियमात्काव्य सर्गसमुज्जितम् ।

एकार्थप्रवणैः पद्यैः सधिसामग्र्यवर्जितम् ॥ ३२८ ॥

यथा—मिश्राटनम्, आर्याविलासश्च ।

कविराज ने महामातृ को 'आप महाकाव्य' कहकर अपने काव्यविषयक सिद्धान्त (वाक्य रचनात्मक काव्यम्) का बड़ा सुन्दर पुरोकारण दिया है ।

अनुवाद—यही महाकाव्य यदि प्राकृत भाषा में रचा गया हो तो 'सर्गों' में रचित न होकर 'आभासों' में रचित हुआ करता है । इस 'आभासों' में जो छन्द प्रयुक्त हुआ करते हैं वे अधिकतर 'रक्तगद्य' अथवा 'गमितक' नाम के छन्द हुआ करते हैं ।

उदाहरण के लिये (महाकवि प्रवरसेन-विरचित) 'सेतुबन्ध' । अथवा भरी अपनी रचना—'कुलसयाश्चरित' ।

धिसर्ग—साहित्यदर्पणकार ने काव्यात्मकता की इति । संस्कृत और प्राकृत के महाकाव्यों में कोई भेद नहीं दिया है और वह सर्वथा प्रामाण्य ही है । 'सर्ग' के स्थान पर आभास को रचना प्राचीन निर्वाण-परम्परा का अनुसरण-भाव है न कि अन्य कुछ ।

अनुवाद—यही महाकाव्य यदि अपभ्रंश भाषा में रचा जाय तो उसमें 'सर्ग' रचना के बरके 'कुडवक' की रचना हुआ करती है । इस 'कुडवकों' में अपभ्रंश भाषा के योग्य अनेकानेक छन्द रच जाया करते हैं ।

उदाहरण के लिये—कल्पपरिक्रम\* ।

अनुवाद—(महाकाव्य के अनिर्दिष्ट) 'काव्य' पद्य-प्रयुक्त का वह प्रकार है जो संस्कृत प्राकृत कि वा अपभ्रंश भाषा में मिलजु किया जाया करता है । इसमें 'सर्गों' का बन्ध आवश्यक नहीं और न गणितप्रयुक्त का सम्बन्ध रचना हुई अपेक्षित है । इसकी स्वर-रचना 'एकार्थप्रवण' अर्थात् एक वृत्त अथवा चरित से सम्बन्ध पद्य-कव्य से ही पूर्ण हो जाया करती है ।

उदाहरण के लिये—मिश्राटन काव्य\* और आर्याविलास आदि ।

(खण्डकाव्य : लक्षण और उदाहरण)

खण्डकाव्यं भवेत्काव्यस्यैकदेशानुसारि च ।

यथा—मेघदूतादि ।

(‘कोप’ रूप पद्य प्रबन्ध • स्वरूप निर्देश)

कोपः श्लोकसमूहस्तु स्यादन्योन्यानपेक्षकः ॥ ३२९ ॥

ब्रज्याक्रमेण रचितः स एवातिमनोरमः ।

सजातीयानामेकत्र सन्निवेशो ब्रज्या । यथा मुक्तावल्यादि ।

( २ य श्रव्यकाव्य-प्रकार • गद्यमय अथवा गद्य-काव्य )

अथ गद्यकाव्यानि ।

तत्र गद्यम्—

वृत्तगन्धोज्झितं गद्यं मुक्तकं वृत्तगन्धि च ॥ ३३० ॥

भवेदुत्कलिकाप्रायं चूर्णकं च चतुर्विधम् ।

अनुवाद—‘काव्य’ अथवा ‘महाकाव्य’ के कतिपय लक्षणों से युक्त जो पद्य-प्रबन्ध है उसे ‘खण्डकाव्य’ कहा करते हैं। जैसे कि (महाकवि कालिदास रचित) ‘मेघदूत’ इत्यादि ।

विमर्श—‘मेघदूत’ मुक्तकों का बना खण्डकाव्य है। मेघदूत के मुक्तकों के सम्वन्ध में आचार्य अभिनवगुप्त ने कहा है—‘पूर्वापरनिरपेक्षेणापि हि येन रसचर्वणा क्रियते तदेव मुक्तकम् । यथा—स्वामालिख्य प्रणयकुपितामित्रादिश्लोक । (ध्वन्यालोचन ३ य उद्योत )

अनुवाद—‘कोप’ पद्यों का वह समग्र है जिसमें सभी पद्य परस्पर स्वतंत्र अस्तित्व रखा करते हैं। यह ‘कोप’ तब अधिक सुन्दर लगा करता है जब कि सजातीय पद्य एक-एक स्थान पर संगृहीत रखा करते हैं ।

यहाँ ‘ब्रज्या’ का अभिप्राय सजातीय पद्यों के एकत्र सन्निवेश का अभिप्राय है। उदाहरण के लिए ‘मुक्तावली’ ( सूक्तिमुक्तावली ) आदि ।

विमर्श—काव्यानुशासनकार हेमचन्द्राचार्य के अनुसार ‘कोप’ ( कोश ) रूप पद्यप्रबन्ध का अभिप्राय स्वरचित अथवा अन्यरचित सूक्तियों का समग्र है—‘स्वपरकृतसूक्तिसमुच्चय कोप’ ( काव्यानुशासन ८ ११ ) । संस्कृत काव्य साहित्य में अनेकानेक पद्यप्रबन्ध आज भी उपलब्ध हैं जो ‘कोप’ रूप ही रचे गये हैं । ‘आर्यासप्तशती’ आदि पद्य-प्रबन्ध यदि स्वरचित सूक्तियों के समुच्चयरूप हैं तो ‘सदुक्तिकर्णामृत’ आदि पद्य प्रबन्ध अन्यान्य कवि-रचित सूक्तियों के इन कोप प्रबन्धों के निर्माण में विविधविषयक काव्य-सूक्तियों का प्रचार मूल कारण प्रतीत होता है । मनोरञ्जन और उपदेश—दोनों उद्देश्यों से कोप प्रबन्ध रचे गये प्रतीत होते हैं ।

अनुवाद—अब श्रव्य-काव्य के २ य प्रकार ‘गद्यकाव्य’ का निरूपण किया जा रहा है । यहाँ ‘गद्य’ का अभिप्राय यह है—

‘गद्य’ वह शब्दार्थ-योजना है जो छन्दोबद्ध नहीं हुआ करती । गद्य के चार प्रकार हैं—(१) मुक्तक, (२) वृत्तगन्धि, (३) उत्कलिकाप्राय और (४) चूर्णक । इनमें (१) ‘मुक्तक’ वह गद्य-बन्ध है जो असमस्त पदों में रचा जाया करता है, (२) ‘वृत्तगन्धि’, वह गद्य-प्रकार है जिसमें वृत्तों के अंश यत्र-तत्र प्रतीत हुआ करते हैं, (३) ‘उत्कलिकाप्राय’, वह गद्य-

आद्यं समासरहित वृत्तभागयुत परम् ॥ ३३१ ॥

अन्यदीर्घसमासाद्य सूर्यं चाल्पसमासकम् ।

मुक्तक तथा—'गुरुर्वचसि प्रयुक्तसि—' इत्यादि ।

वृत्तगण्य तथा मम—

'समरकण्डूकानिविहमुजदण्डकुण्डलीकृतकोदण्डशिखिनीटंकारोआगरिवैरिनगर' इत्यादि । अत्र 'कुण्डलीकृतकोदण्ड'—इत्यनुष्टुप्चतस्य पाद, 'समरकण्डूक' इति च प्रथमाश्रयपरहितस्वस्यैव पाद ।

वृत्तसिक्ताप्राय तथा ममेव—'अभिसविसुमरणिमिदसरविसरविदक्षिदसमरपरिगतपवरपरपक्ष—' [ अभिस-विमुमर-मिषित-सर-विसर-विदक्षित-समर-परि-तप्रवर-परपक्ष ] इत्यादि ।

पूर्णकं यथा मम—'गुणरत्नसागर' जगदेकनागर ! कामिनीमदन ! अनरक्षत !' इत्यादि ।

( गद्यकान्य क अन्तर्गत भेद—( १ ) कथा )

कथायां सरसं वस्तु गद्यैरेव विनिर्मितम् ॥ ३३२ ॥

कचिदत्र भवेदायां कचिद्वपश्चापयक्यके ।

आदौ पद्यैर्नमस्कारः खलादेर्ध्वचकीर्तनम् ॥ ३३३ ॥

येह है जो कान्हे कान्हे समस्त पदों में रचा गया होता है और (१) वृत्तक वह मध्य रचना है जिसमें छोटे छोटे समस्त पदों का उपनिबन्ध हुआ करता है ।

उदाहरण के लिये—( १ ) मुक्तकगद्यकान्य गुरुर्वचसि प्रयुक्तसि ( वचन में गौरव रखने वाला तथा बृहत्पणितुल्य; वक्त में विशाल तथा महाराज प्रभु क तुल्य ) आदि ( जहाँ यह स्पष्ट है कि प्रायः वह 'मुक्त' अथवा अन्य पद-निरपेक्ष रहने के कारण सुन्दर लग रहा है ) । ( २ ) वृत्तगण्य गद्य-कान्य ( मरी स्वरचित कृति )—'समरकण्डूक विविहमुजदण्डकुण्डलीकृतकोदण्डशिखिनीटंकारोआगरिवैरिनगर । इत्यादि जहाँ 'कुण्डलीकृतकोदण्ड' पद अनुष्टुप् चतुस्र का चरण लग रहा है और 'समरकण्डूक' पद भी पद्य के दो अक्षरों की दशा है जो अनुष्टुप् चतुस्र का ही चरण बन जाता है । ( ३ ) वृत्तसिक्ताप्राय गद्य-कान्य ( मरी स्वरचित कृति )—अभिसविसुमरणिमिदसरविसरविदक्षिदसमरपरिगतपवरपरपक्ष ।' इत्यादि ( जहाँ कान्हे समस्त पद स्पष्ट दिनायी पद्य रहे हैं और ( ४ ) 'वृत्तक' गद्यकान्य ( स्वरचित कृति )—'गुणरत्नसागर ! जगदेकनागर ! कामिनीमदन ! अनरक्षत !' इत्यादि ( जहाँ स्पष्ट समस्त कान्हे पदों की योजना का लक्षण स्पष्ट स्पष्ट रहा है ) ।

व्याख्या—गद्यकान्य का अर्थ प्रमेय 'कथा' है जिसमें सरस इतिवृत्त की रचना हुआ करती है । इस 'कथा' की यह भी विशेषता है कि इसमें कहीं-कहीं 'आद्य' पद्य रचा जाता है और कहीं 'वचन' और 'अपवचन' लक्ष्मी की भी रचना हुआ करती है । इसके प्रारम्भ में अथवा अन्त में 'मङ्गल' दिया जाता करता है और गद्य विद्या तथा लक्षण प्रशंसा-पदवादी वच भी उपलक्षण रहा करते हैं । उदाहरण के लिये ( महापरि वाचरचित ) 'वाङ्मयी आदि पद्योक्त हैं ।

यथा—कादम्बर्यादिः ।

( २-आख्यायिका )

आख्यायिका कथावत्स्यात्कवेर्वशानुकीर्तनम् ।

अस्यामन्यकवीनां च वृत्तं पद्यं क्वचित्क्वचित् ॥ ३३४ ॥

कथांशानां व्यवच्छेद आश्वास इति वध्यते ।

आर्यावक्त्रापवक्त्राणां छन्दसा येन केनचित् ॥ ३३५ ॥

अन्यापदेशेनाश्वासमुखे भाव्यर्थसूचनम् ।

यथा—हर्षचरितादि । 'अपि त्वनियमो दृष्टस्तत्राप्यन्यैरुदीरणात् ।' इति दण्ड्याचार्यवचनात् केचित् आख्यायिका नायकेनैव निबद्धव्या' इत्याहुः, तद-युक्तम् । आख्यायानादयश्च कथाख्यायिकयोरेवान्तर्भावान्न पृथगुक्ता' ।

यदुक्तं दण्डिनैव—

अत्रैवान्तर्भविष्यन्ति शेषाश्चाख्यानजातयः ।' इति ।

एपामुदाहरणम्—पञ्चतन्त्रादि ।

विमर्श—'कथा' गद्यकाव्य का एक प्रकार विशेष है । 'कथा' में विकट वन्धप्राचुर्य तो होता ही है किन्तु इसका रसवन्ध-वैचित्र्य ही इसे 'काव्य श्रेणी में स्थापित करने में समर्थ होता है—'कथायां तु विकटवन्धप्राचुर्येऽपि गद्यस्य रसवन्धोक्तमौचित्यमनुसर्तव्यम्' ( ध्वन्यालोक इय उच्यते ) ।

अनुवाद—'आख्यायिका' भी 'कथा' की ही भांति गद्यकाव्य का एक प्रकार है । इसमें भी प्रायः 'कथा' की ही विशेषतायें रहा करती हैं । इसमें कवि अपने वंश का अनुकीर्तन करता है और यत्र-तत्र अन्य कवियों की भी चर्चा किया करता है । इसमें जहां-तहां पद्यसूक्तियां भी रहा करती हैं । इसके कथांशों का व्यवच्छेद ( परिच्छेद ) 'आश्वास' नाम से निर्दिष्ट किया जाया करता है । इसमें, 'आश्वास' के प्रारम्भ में, आर्या, वक्त्र और अपवक्त्र छन्दों में से किसी एक के द्वारा, किसी विषय-वर्णन के बहाने, वर्णनीय विषय की सूचना भी दी जाया करती है ।

इसके उदाहरण रूप में ( महाकवि बाण आदि कृत ) 'हर्षचरित' आदि आख्यायिका-वन्ध प्रसिद्ध हैं ।

कुछ काव्याचार्यों का यह कहना कि 'आख्यायिका' नायक द्वारा कथित आख्यान रूप है' ठीक नहीं है क्योंकि काव्याचार्य दण्डी ने स्पष्ट कहा है कि 'आख्यायिका में नायक द्वारा आख्यान-कथन का कोई नियम नहीं क्योंकि कतिपय आख्यायिकायें ऐसी भी हैं जिनके आख्यान-कथन नायक-भिन्न पात्रों द्वारा भी किये गये पाये जाते हैं ।' 'कथा' और 'आख्यायिका' के अतिरिक्त 'आख्यान' आदि को भिन्न प्रकार के गद्यकाव्य मानने की आवश्यकता नहीं क्योंकि इन्हें 'कथा' अथवा 'आख्यायिका' में ही अन्तर्भूत किया जा सकता है । वस्तुतः आचार्य दण्डी का भी यही मत है—'अन्य अनेक आख्यान-जातियां 'कथा' अथवा 'आख्यायिका' में ही अन्तर्भूत हैं ।' इन आख्यान-जातियों के उदाहरण-रूप में 'पञ्चतन्त्र' आदि रचनायें देखी जा सकती हैं ।

आद्य समासरहितं वृत्तमागयुत परम् ॥ ३३१ ॥

अन्यदीर्घसमासाद्य तुर्यं चाल्पसमासकम् ।

मुक्तक तथा—‘गुरुर्वचसि प्रयुद्धरसि’ इत्यादि ।

वृत्तगणिव यथा मम—

‘समरकण्डूकानिविभक्तगुञ्जकण्डलीकृतकोवण्डशिखिनीटकारोच्चागरितपैरिनगर’ इत्यादि । अत्र ‘कुञ्जकलीकृतकोवण्ड’ इत्यनुष्टुप् वृत्तस्य पादः, ‘समरकण्डूक’ इति च प्रथमाश्रयसमरहितस्त्वस्यैव पादः ।

स्तकलिकाप्राय यथा ममैव—‘अणिसविमुमरणिसिद्धसरविसरविद्विषसमरपरिगदपवरपरवज्र’ [ अविष्ट-विमुमर-विमिष्ट-गर-विसर-विहसित-समर-परिक-तद्वर-परवज्र ] इत्यादि ।

चूर्णकं यथा मम—‘गुणरत्नसागर’ जगदेकनागर ! कामिनीमदन ! जनरञ्जन !’ इत्यादि ।

( गद्यकाव्य के अन्तर्गत मेव—( १ ) कथा )

कथायां सरस वस्तु गद्यैरेव विनिर्मितम् ॥ ३३२ ॥

कचिदत्र मन्दार्या कचिद्वक्त्रापयकत्रके ।

आदौ पद्यैर्नमस्कारं खलादेर्ध्वचकीर्तनम् ॥ ३३३ ॥

मेव है जो कव्ये कव्ये समस्त पदों में रचा गया होता है और ( १ ) ‘वक्त्रक’ वह गद्य-रचना है जिसमें छोटे छोटे समस्त पदों का उपनिबन्ध हुआ करता है ।

उदाहरण के लिये—( १ ) मुक्तकगद्यकाव्य ‘गुरुर्वचसि प्रयुद्धरसि’ ( वक्त्रक में गौरव रखने वाला तथा वृद्धरपतितुल्य, वक्त्र में विद्याक तथा महाराज प्रभु के तुल्य ) आदि ( जहाँ यह स्पष्ट है कि प्रायेक पद ‘मुक्त’ अर्थात् कव्य पद-निरपेक्ष रहने के कारण सुन्दर बना रहा है ) ; ( २ ) वृत्तगणिव गद्य-काव्य ( मेरी स्वरचित कृति )—‘समरकण्डूक-विभक्तगुञ्जकण्डलीकृतकोवण्डशिखिनीटकारोच्चागरितपैरिनगर’ इत्यादि जहाँ ‘कुञ्जकलीकृतकोवण्ड’ पद अनुष्टुप् वृत्त का कारण बना रहा है और ‘समरकण्डूक’ पद भी पदके के दो अक्षरों को हटा देने पर अनुष्टुप् वृत्त का ही कारण बन जाता है ; ( ३ ) स्तकलिकाप्राय गद्य-काव्य ( मेरी स्वरचित कृति )—‘अणिसविमुमर विमिष्टसरविसर विहसित समर-परिगतप्रवर-परवज्र’ इत्यादि ( जहाँ कव्ये समस्त पद स्पष्ट दिखाने की पद्धति है और ( ४ ) ‘चूर्णक’ गद्यकाव्य ( स्वरचित कृति )—‘गुणरत्नसागर ! जगदेकनागर ! कामिनीमदन ! जनरञ्जन !’ इत्यादि ( जहाँ रचना समस्त वक्त्रे पदों की योजना का सीधे-सीधे स्पष्ट प्रकट रहा है ) ।

अनुवाद—गद्यकाव्य का एक प्रमेव ‘कथा’ है जिसमें सरस इतिवृत्त की रचना हुआ करती है । इस ‘कथा’ की यह भी विशेषता है कि इसमें कहीं-कहीं भावों का बन्ध रचा जाता है और कहीं ‘वक्त्रक’ और अपवक्त्रक वृत्तों की भी रचना हुआ करती है । इसके प्रारम्भ में नमस्कारात्मक ‘मन्दार’ किन्ना आया करता है और वक्त्र-विम्वर तथा सज्जन-प्रसंता-भाषणों पर भी उपवक्त्रक रचा करते हैं । उदाहरण के लिये ( महाराजि वाचरचित ) ‘कादम्बरी’ आदि बर्णित हैं ।

यथा—कादम्बर्यादिः ।

( २-आख्यायिका )

आख्यायिका कथावत्स्यात्कवेर्वशानुकीर्तनम् ।

अस्यामन्यकवीनां च वृत्तं पद्यं क्वचित्क्वचित् ॥ ३३४ ॥

कथांशानां व्यवच्छेद आश्वास इति वध्यते ।

आर्यावक्त्रापवक्त्राणां छन्दसा येन केनचित् ॥ ३३५ ॥

अन्यापदेशेनाश्वासमुखे भाव्यर्थसूचनम् ।

यथा—हर्षचरितादिः । 'अपि त्वनियमो दृष्टस्तत्राप्यन्यैरुदीरणात् ।' इति दण्ड्याचार्यवचनात् केचित् आख्यायिका नायकेनैव निबद्धव्याः इत्याहुः, तदयुक्तम् । आख्यानादयश्च कथाख्यायिकयोरेवान्तर्भावान्न पृथगुक्ताः ।

यदुक्तं दण्डिनैव—

अत्रैवान्तर्भविष्यन्ति शेषाश्चाख्यानजातयः ।' इति ।

एषामुदाहरणम्—पञ्चतन्त्रादि ।

विमर्श—'कथा' गद्यकाव्य का एक प्रकार विशेष है । 'कथा' में विकट वन्धप्रानुयं तो होता ही है किन्तु इसका रसबन्ध-वैचित्र्य ही इसे 'काव्य-श्रेणी में स्थापित करने में समर्थ होता है—'कथायां तु विकटवन्धप्रानुयंऽपि गद्यस्य रसबन्धोक्तमौचित्यमनुसर्तव्यम्' ( ध्वन्यालोक इय उद्योत ) ।

अनुवाद—'आख्यायिका' भी 'कथा' की ही भाँति गद्यकाव्य का एक प्रकार है । इसमें भी प्रायः 'कथा' की ही विशेषतायें रहा करती हैं । इसमें कवि अपने वंश का अनुकीर्तन करता है और यत्र-तत्र अन्य कवियों की भी चर्चा किया करता है । इसमें जहाँ-तहाँ पद्यसूक्तिया भी रहा करती हैं । इसके कथांशों का व्यवच्छेद ( परिच्छेद ) 'आश्वास' नाम से निर्दिष्ट किया जाया करता है । इसमें, 'आश्वास' के प्रारम्भ में, आर्या, वक्त्र और अपवक्त्र छन्दों में से किसी एक के द्वारा, किसी विषय-वर्णन के वहाने, वर्णनीय विषय की सूचना भी दी जाया करती है ।

इसके उदाहरण रूप में ( महाकवि वाण आदि कृत ) 'हर्षचरित' आदि आख्यायिका-वन्ध प्रसिद्ध हैं ।

कुछ काव्याचार्यों का यह कहना कि 'आख्यायिका' नायक द्वारा कथित आख्यान रूप है' ठीक नहीं है क्योंकि काव्याचार्य दण्डी ने स्पष्ट कहा है कि 'आख्यायिका में नायक द्वारा आख्यान-कथन का कोई नियम नहीं क्योंकि कतिपय आख्यायिकायें ऐसी भी हैं जिनके आख्यान-कथन नायक-भिन्न पात्रों द्वारा भी किये गये पाये जाते हैं ।' 'कथा' और 'आख्यायिका' के अतिरिक्त 'आख्यान' आदि को भिन्न प्रकार के गद्यकाव्य मानने की आवश्यकता नहीं क्योंकि इन्हें 'कथा' अथवा 'आख्यायिका' में ही अन्तर्भूत किया जा सकता है । वस्तुतः आचार्य दण्डी का भी यही मत है—'अन्य अनेक आख्यान-जातियाँ 'कथा' अथवा 'आख्यायिका' में ही अन्तर्भूत हैं ।' इन आख्यान-जातियों के उदाहरण-रूप में 'पञ्चतन्त्र' आदि रचनायें देखी जा सकती हैं ।



(राघपद्यमक काव्य-प्रबन्ध : १-कम्पू)

अथ राघपद्यमयानि—

राघपद्यमय काव्यं चम्पूरित्यभिधीयते ॥ ३३६ ॥ ✓

यथा—वेशराजचरितम् ।

(१-विष्णु)

राघपद्यमयी राजस्तुतिर्विरुद्धमुच्यते ।

यथा—विरुद्धमणिमाळा ।

(१-करम्मक)

करम्मकं तु मायामिविविधामिविनिर्मितम् ॥ ३३७ ॥

यथा मम—पेशरामायामयी प्रशस्तिरजापसी ।

(काम्यकाव्यप्रकारों का विविध काव्यभेदों में अन्तर्भाव)

यद्यन्येऽपि भेदा एतेषामत्रप्रसिद्धत्वात्पुनश्चभेदावतिरिक्तमात्रं न प्रवक्ष्यसि ।  
इति साहित्यदर्पणे हरयम्भकाम्यनिरूपणो नाम पष्ठ परिच्छेदः ।

अनुवाद—राघपद्यमक काव्यप्रबन्ध—यह काव्यप्रकार जो राघपद्यमय हुआ करता है 'चम्पू' कहा जाया करता है ।

इस काव्यप्रकार के उदाहरणरूप में 'वेशराजचरित' आदि देखे जा सकते हैं ।

अनुवाद—'विष्णु' की एक राघपद्यमय काव्यप्रबन्ध है जिसमें राज-प्रशस्ति की उपाय करती है ।

इसका उदाहरण 'विरुद्धमणिमाळा' है ।

अनुवाद—'करम्मक' यह काव्य-प्रकार है जो विविध मायाओं में रचा जाया करता है ।

इसका उदाहरण मेरी कृति 'प्रशस्तिरजापसी' है जिसमें १९ मायों प्रयुक्त हैं ।

अनुवाद—इस उपरिनिर्दिष्ट काव्यप्रकारों के अतिरिक्त भी अनेकानेक काव्यप्रकार मिले-मिलाये पाये हैं । किन्तु इनका यहाँ पुनश्च उल्लेख-विकल्प अभियेष्ट नहीं क्योंकि इनके बीर निर्दिष्ट काव्य-प्रकारों के स्वरूप में कोई भेद नहीं मतीय होता ।

विमर्श—साहित्यदर्पणकार ने मिल काव्य प्रकारों का स्वकल-निरूपण किया है इनके अतिरिक्त विभिन्न काव्य-प्रकारों का नाम निर्दिष्ट किया है—

‘देव केनापि तावन्न राघपद्यममभितम् । जनेषुपदार्थं माक्षिण्यादिमासविचिञ्चितम् ॥  
 लुराहरत्नं वाता विमलकण्ठाहसंयुतम् । संयोजयन्निमग्नया बलं प्रभुरं पदपूर्वकम् ॥  
 विमुक्तपुनराह्वयकम् । स्वाचक्ष्णकम् । आद्यन्तपदसंयुक्तम् । संस्कृतमाह्वयकम् ॥  
 अष्टमिर्वा अष्टमिर्वा वाच्यैः स्वल्पप्रमाणिता । अतिरिक्तम् । मित्रवाच्यवृत्तिर्विचित्रपदोपेक्षिता ॥  
 सर्वतो वैचित्र्यादिरेवा योग्यम् । मया । कर्णनामाह्वयकम् । विरुद्धमणिमाळा ॥  
 वाच्यवाह्यमरसंयुक्तम् कथिता विरामको । वाराणां संक्षेपया पद्यैर्मुक्तम् वाच्यम् मया ॥  
 विवेका संक्षेपया पद्यैर्मुक्तम् विवाचनी मया । एवाणां संक्षेपया पद्यैर्मुक्तम् वाच्यम् मया ॥  
 पद्यैः पद्यमिवमुक्तम् प्रोक्तम् वाच्यम् मया ।

साहित्यदर्पण का अर्थ परिच्छेद समाप्त

## सप्तमः परिच्छेदः

( काव्य के दोष स्वरूप निरूपण )

इह हि प्रथमतः काव्ये दोषगुणरीत्यलङ्काराणामवस्थितिक्रमो दर्शितः' संप्रति के त इत्यपेक्षायामुद्देशक्रमप्राप्तानां दोषाणां स्वरूपमाह—

रसापकर्षका दोषाः,—

अस्यार्थः प्रागेव स्फुटीकृतः । तद्विशेषानाह—

( दोष-तत्त्व-प्रकार-निरूपण )

—ते पुनः पञ्चधा मताः ।

पदे तदंशे वाक्येऽर्थे संभवन्ति रसेऽपि यत् ॥ १ ॥

स्पष्टम् । तत्र—

अनुवाद—काव्य लक्षण के प्रसङ्ग में यह बताया जा चुका है कि दोष, गुण, रीति और अलङ्कार की काव्य में कैसी अवस्थिति है। अब यहाँ यह बताना आवश्यक है कि दोष आदि काव्य-तत्त्व क्या हैं? सर्वप्रथम, जैसा कि इनका निर्देश-क्रम है, दोष-तत्त्व का निरूपण किया जा रहा है—

‘दोष’ वे हैं जो रस ( काव्य के आत्म-तत्त्व ) के अपकर्षक हुआ करते हैं ।

‘दोष’ के रसापकर्षक होने का जो अभिप्राय है वह पहले ही ( अर्थात् वाक्यं रसात्मक काव्य दोषास्तस्यापकर्षका साहित्यदर्पण १-३ आदि में ) स्पष्ट कर दिया गया है ।

विमर्श—विश्वनाथ कविराज ने काव्य स्वरूप-निरूपण की अपनी दृष्टि से ‘दोष’-तत्त्व का निरूपण किया है । काव्य के ‘रसात्मक वाक्य’ रूप होने के कारण, काव्य के दोष ‘रस के अपकर्षक तत्त्व’ ही हो सकते हैं । रस के अपकर्षकारक तत्त्वों में ‘साक्षात्’ और ‘परम्परया’ रस के अपकर्ष का स्वभाव मानना युक्तियुक्त ही है । ‘साक्षात्’ रस के अपकर्ष की ये तीन सभावनायें हैं— (१) रस की प्रतीति का अभाव, (२) रस की विलम्ब से प्रतीति और (३) रसप्रतीति में चमत्कार की मात्रा की न्यूनता । इस दृष्टि से काव्य के परम हेतु तत्त्व रसदोष ही सिद्ध होते हैं । ‘रस-दोष’ की उत्पत्ति कवि की अशक्ति से सम्बद्ध है । कवि की ‘अव्युत्पत्ति’ भी काव्य के अपकर्ष का कारण है । इस अव्युत्पत्ति से उन दोषों का सन्बन्ध है जो परम्परया रस के अपकर्ष-जनक तत्त्व हुआ करते हैं । मानव के शरीर में काणत्व, खञ्जत्व आदि की भाँति काव्य के शब्दार्थ शरीर में श्रुति-कटुत्व, अपुष्टार्थत्व आदि दोष हुआ करते हैं और मानव के मुखत्व, अलसत्व आदि की भाँति काव्य के वे दोष हैं जिन्हें एक शब्द में ‘रस दोष’ कहा गया है ।

यहाँ काव्यप्रकाशकार की दोष-मीमांसा साहित्यदर्पणकार के दोष स्वरूप विवेक की प्रभावित कर रही है ।

अनुवाद—ये रस के अपकर्षकारक दोष पाँच प्रकार के हैं—( क ) पदगत दोष, (ख) पदाशगत दोष, ( ग ) वाक्यगत दोष, ( घ ) अर्थगत दोष और ( ङ ) रसगत दोष । इनका स्वरूप इनके नाम से ही स्पष्ट है ।

(पद पदांश-वाच्य-गत दोष निर्वेद)

दुःश्रवणविधास्त्रीलानुचितार्थाप्रयुक्तताः ।

ग्राम्याप्रतीतसन्दिग्धनयार्थनिहतार्थता ॥ २ ॥

अवाचकत्वं छिद्यत्वं विरुद्धमतिकारिता ।

अविमृष्टविषेयाधिभावश्च पदवाच्ययोः ॥ ३ ॥

दोषा केचिद्भवन्त्येषु पदांशेऽपि पदे परे ।

निरर्थकासमर्थत्वे व्युत्ससंस्कारता तथा ॥ ४ ॥

(पददोष-विकल्पः । १-दुःश्रवणः)

पदपदार्थतया भुविदुःश्रवणहृत्य दुःश्रवणत्वम् ।

यथा—

‘कार्त्ताप्यं चातु तन्वद्गी कदाऽनङ्गपरांशदा ।’

(१-अङ्गीकृत्यः । त्रिविधः)

अरलीकृतं श्रीशकुन्तलाऽमङ्गलव्यञ्जकत्वात्त्रिविधम् ।

कमेणोपाहरणम्—

अनुवाद—पदगत दोष ये हैं—(१) दुःश्रवण (भुविदुःश्रवण) (२) त्रिविध अङ्गीकृत्य (३) अनुचितार्थत्व (४) अग्रयुक्तत्व, (५) ग्राम्यत्व (६) अप्रतीतत्व (७) संदिग्धत्व (८) नैवार्थत्व (९) निहतार्थत्व (१०) अवाचकत्व, (११) छिद्यत्व, (१२) विरुद्धमतिकारिता, (१३) अविमृष्टविषेयाधत्वं (१४) निरर्थकत्व (१५) असमर्थत्व और (१६) व्युत्ससंस्कारत्व । इनमें ‘निरर्थकत्व’ असमर्थत्व और ‘व्युत्ससंस्कारत्व’ तो केवल पदगत दोष हैं किन्तु अन्य बातयगत भी हैं। साथ ही साथ इन्हीं में कतिपय जैसे कि ‘दुःश्रवण’ आदि ऐसे हैं जो ‘पदांशगत’ भी हुआ करते हैं।

अनुवाद—‘दुःश्रवण’ पद अथवा पदांश की वह पदपदार्थता है जो काव्य—पाठक के कानों को भुविस्त किना करती है। जैसे कि इस पंक्ति अर्थात्—

अमङ्गलव्यञ्जका (कमेणोपाहृत्य के पद्यमूल) पद तन्वद्गी (धुन्वरी) कव (अपने विषय के मिकल मूल से) ‘कार्त्ताप्यं (प्रेम की कृतार्थता) पायेगी ।’

[यहाँ पद स्पष्ट है कि ‘कार्त्ताप्यं’ पद की कर्त्तव्य कर्त्तव्यविधों कानों के पदों से दृष्ट वाक्यी है जिससे ‘अमङ्गलव्यञ्जका तन्वद्गी’ का विषयक कव्य-पाठक के दृश्य तक नहीं पहुँच पाता]

विमर्श—‘दुःश्रवण’ का ही दूसरा नाम ‘कटत्व’ है। पर के कटकर अथ से सामान्य का विषय ही कटता है और अर्थ-व्यञ्जक के प्रति उन्मुख नहीं होना पारता। पर ही दुःश्रवण से निम्न शक्ति काव्य औरत का रही है—

‘वर्षेहि जलदो वन पथ धूर्ध्वं चातकः ।

पापुर्विक्रम नीपा काकोर्ध्वं वर्धेहि हृत्पथं मम ॥

अनुवाद—‘अङ्गीकृत्य’ वह दोष है जो कि पद अथवा पदांश में त्रींश (कमा), लुप्ता (पूजा) और अमङ्गल के अविशेष के अविशेष के कारण त्रिविध रूप से रीता वापा करता है।

इसके समान उदाहरण प हैं—

( व्रीडाभिव्यञ्जनरूप अश्लीलत्व )

‘दृष्टारिविजये राजन् । साधन सुमहत्तव ।’

( जुगुप्सा और अमङ्गल के अभिव्यञ्जन में अश्लीलत्व )

‘प्रससार शनैर्वायुर्विनाशे तन्वि । ते तदा ।’

अत्र साधन-वायु-विनाश-शब्दा अश्लीलाः ।

( ३—अनुचितार्थत्व )

‘शूरा अमरता यान्ति पशुभूता रणाध्वरे ।’

अत्र पशुत्व कातर्यमभिव्यनकीत्यनुचितार्थत्वम् ।

( ४—अप्रयुक्तत्व )

अप्रयुक्तत्वं तथा प्रसिद्धावपि कविभिरनादृतत्वम् ।

‘राजन् । दर्प में चूर शत्रुगण पर विजय पाने के लिये आप का ‘साधन’ ( सैन्यबल ) महान् है ।’

‘अरी सुन्दरी । तेरे ‘विनाश’ ( अदर्शन ) के समय ऐसा हुआ कि ‘वायु’ धीरे-धीरे निकल पड़ी ।’

यहाँ ‘साधन’ पद ( यद्यपि सैन्य के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है किन्तु ) ‘लिङ्ग’ के लज्जास्पद अभिप्राय का अभिव्यञ्जन करने के कारण अश्लील है, ‘वायु’ पद ( यद्यपि पवन के अर्थ में प्रयुक्त है किन्तु ) ‘अपानवायु’ के घृणास्पद अभिप्राय के अभिव्यञ्जन से अश्लील है और ‘विनाश’ पद ( भले ही इसे ‘न देखने’ के अर्थ में प्रयुक्त किया गया हो ) ‘मृत्यु’ के अमङ्गलास्पद अभिप्राय का अभिव्यञ्जक होने के कारण अश्लील लग रहा है ।

विमर्श—साहित्यदर्पणकार ने काव्यप्रकाश में उद्धृत अश्लील सूक्तियों के उद्धरण के बदले उन सूक्तियाँ के अश्लील पदों को लेकर अपने श्लोक बनाये हैं और व्रीडा, जुगुप्सा कि वा अमङ्गल के अभिव्यञ्जक त्रिविध ‘अश्लीलत्व’ के उदाहरण दिये हैं । ‘दृष्टारिविजये’ आदि में ‘साधन’ पद वस्तुतः व्रीडाभिव्यञ्जक है क्योंकि इससे वर्ण्य भूपाल का उत्साह युद्धविषयक उत्साह के रूप में प्रकाशित होने के बदले कामलम्पटता के उत्साह के रूप में प्रकाशित होने लगता है । इसी भाँति ‘प्रससार’ आदि में ‘वायु’ और ‘विनाश’ पद ‘जुगुप्सा’ और ‘अमङ्गल’ के अभिव्यञ्जक हैं क्योंकि इनके द्वारा यहाँ नायक-हृदय में नायिका के विरह से वास्तविक वायु के प्रेमोदीपन का अभिप्राय नहीं प्रकाशित होता अपि तु नायक की लम्पटता का ही अभिप्राय अभिव्यक्त होता है ।

अनुवाद—‘अनुचितार्थत्व’ पद का वह दोष है जिसके द्वारा ऐसे अर्थ का अभिव्यञ्जन हुआ करता है जिससे वर्ण्य विषय में अनौचित्य प्रतीत होने लगता है । जैसे कि—‘वे शूर-वीर जो सग्रामयज्ञ के पशु ( भैंसे और बकरे ) हैं, वस्तुतः अमर हो जाते हैं’ आदि में ‘पशु’ पद में ‘अनुचितार्थत्व’ स्पष्ट है क्योंकि इसके द्वारा यहाँ शूर-वीरों की विवशता और दयनीयता का अभिप्राय प्रकाशित किया जा रहा है जो कि वर्ण्य विषय के लिये सर्वथा अनुचित है ।

[ ‘अनुचितार्थत्व’ उस कवि के पद-प्रयोग में समव है जो अव्युत्पन्न हो । व्युत्पत्ति से ही उचितानुचितत्व का परिज्ञान समव है । ]

अनुवाद—‘अप्रयुक्तत्व’ वह दोष है जिसे किसी पद की, कोप आदि में उस रूप से प्रसिद्धि होने पर भी कवि-सम्प्रदाय में अप्रयुक्ति कहा गया है । जैसे कि—

यथा—

‘माति पद्मः सरोवरे ॥’

अत्र पद्मशब्दः पुष्पिणः ।

(५—प्राप्त्यत्व)

प्राप्त्यत्व यथा—

‘कटिस्ते हरते मनः ॥’

अत्र कटिशब्दो प्राप्त्यः ।

(६—अप्रतीतत्व)

अप्रतीतत्वमेकदेशमात्रप्रसिद्धत्वम् ।

यथा—

‘योगेन वसिताराधः ॥’

अत्र योगशब्द एव वासनार्थ आशयशब्दः ।

‘सरोवर में पद्म ( पद्म-पुष्पिण ) सुसोमित हो रहा है । आदि में पुष्पिण ‘पद्म’ शब्द में ‘अप्रपुच्छत्व’ स्पष्ट है क्योंकि कोशवि में तो ‘पद्म’ शब्द पुष्पिण रूप में प्रसिद्ध है किन्तु कविसम्प्रदाय में ‘पद्म’ शब्द सदा वयुसकर्मिण में ही प्रयुक्त हुआ करता है ।

[ ‘अप्रपुच्छत्व’ शेष उसी कवि की रचना में रह सकता है जिसमें ‘भ्युत्पत्ति’ का अभाव हो । ‘भ्युत्पत्ति’ केवल अन्धालुसासन में प्रवीणता नहीं अपितु अन्धालुसासन में विद्वत्ता भी है । ‘अप्रपुच्छत्व’ शेष से वही कवि बच सकता है जिसने काव्य-साहित्य का अध्ययन और अनुसन्धान किया हो । ]

बतुपद—‘प्राप्त्यत्व’ वह शेष है जिसे पदों का र्थोक्त्यन कहा जाया करता है । जैसे कि—‘तेरी ‘कटि’ ( कमर ) तो मेरा चित्त पुरा रही है ।

आदि में ‘कटि’ पर प्राप्त्य है क्योंकि इसे र्थोक्त्यन की प्रयोग में जाना करते हैं । इसके प्रवीण से यहाँ कवि का र्थोक्त्यन समझता है ।

विमर्श—पदों के प्रयोग में प्राचीनता और विद्वत्ता अथवा अज्ञान्यता और सम्यक्ता की जास-बीज से ‘प्राप्त्य’ शेष की उत्पत्ति हुई है । विद्वत्ता अथवा सम्यक्ता कवि ‘नित्य’ पर का प्रयोग करता है । अथवा ‘कटि’ और ‘नित्य’ का कर्म एक ही है किन्तु विद्वत्-श्रेणी में ‘नित्य’ पर का प्रयोग हुआ करता है न कि ‘कटि’ का । ‘नित्य’ पर के साथ ही विद्वत् मायना में लुकी है शक्यता ‘कटि’ पर से कोई संपर्क नहीं । ‘कटि’ पर के प्रयोग से शृंगारभाव की कटाक्ष में प्राचीनता अथवा अज्ञान्यता की भी गन्ध आ जाती है । इसीलिए आलङ्कारिकों ने ऐसे पदों को प्राप्त्य कहा है ।

बतुपद—‘अप्रतीतत्व’ वह शेष है जिसे पद की एकदेशिता अथवा एकत्रात्मता में प्रसिद्ध कहा गया है ।

जैसे कि—‘योग ( चित्तवृत्तिनिरोध ) से विमर्श आकाश ( वासना ) बाका ( मोक्ष प्राप्त करना है )’ आदि में । यहाँ आकाश’ पद ऐसा है जो एकत्रात्म चोगदर्शन में ही ‘वासना’ के अर्थ में प्रसिद्ध है ( न कि लोक अथवा काव्य में ) ।

विमर्श—अविमर्श के लिए प्रतीत पदों का प्रयोग अपेक्षित है न कि अप्रतीत पदों का । मित्र-मित्र शब्दों के पदों के प्रयोग से कवि का अविमर्श-प्रदर्शन अनेक ही हो पावे, काव्य-निर्माण बड़ी हो सकता ।

( ७—संदिग्धत्व )

‘आशीःपरम्परा वन्द्यां कर्णे कृत्वा कृपां कुरु ।’

अत्र वन्द्यामिति किं वन्दीभूतायामुत वन्दनीयामिति संदेहः ।

( ८—नेयार्थत्व )

नेयार्थत्व रूढिप्रयोजनाभावादशक्तिकृतं लक्ष्यार्थप्रकाशनम् ।

यथा—

‘कमले चरणाघातं मुखं सुमुखि ! तेऽकरोत् ।’

अत्र चरणाघातेन निर्जितत्वं लक्ष्यम् ।

अनुवाद—‘संदिग्धत्व’ वह दोष है जिसे किसी पद के द्वारा संदेहात्मक अर्थ का उपस्थापन कहा गया है । जैसे कि—

‘महाराज ! आप प्रशंसा से भरी ( वन्द्या ) आशीर्वाद-परम्परा सुनें और कृपा करें ।’ यहाँ ‘वन्द्याम्’ पद में ‘संदिग्धत्व’ स्पष्ट दिखायी दे रहा है क्योंकि यहाँ यह संदेह उत्पन्न हो जाता है कि इससे ‘प्रशंसापूर्ण’ का अर्थ लिया जाय या ‘वन्दी बनायी गयी नारी’ का ।

विमर्श—‘वन्द्याम्’ प्रयोग ऐसा है जो ‘वन्द्या’ ( वन्दनीया ) शब्द की द्वितीया के एकवचन का रूप है और ‘वन्दी’ शब्द की सप्तमी के भी एक वचन का रूप है । दोनों का भिन्न भिन्न अर्थ है । ऐसे पद के प्रयोग में सहृदय काव्य-पाठक उद्विग्न हो उठता है क्योंकि उसे कवि का तात्पर्य निस्तदिग्ध नहीं प्रतीत हुआ करता । जब तक कवि का तात्पर्य निस्तदिग्ध न प्रतीत हो तब तक काव्य का आस्वाद क्यों कर मिले ?

अनुवाद—‘नेयार्थत्व’ वह दोष है जिसे किसी पद के द्वारा ऐसे लक्ष्यार्थ का प्रकाशन कहा गया है जिसमें न तो कोई रूढि हो और न प्रयोजन और जिसका कारण एकमात्र प्रयोक्ता की अशक्ति अर्थात् अव्युत्पत्ति हो । उदाहरण के लिए—

‘अरी सुमुखि ! तेरे मुख ने तो कमल पर चरणाघात [ पादप्रहार ] कर दिया ।’ यहाँ ‘चरणाघात’ पद में ‘नेयार्थत्व’ दोष है क्योंकि इससे ‘जीत लेने’ का जो लक्ष्यार्थ निकलता है [ ‘चरणाघात’ पद का वाच्यार्थ यहाँ अनुपपन्न है । भला ‘मुख’ के साथ चरणाघात—लात मारने—की क्रिया का क्या सम्बन्ध ! ] वह रूढि और प्रयोजन-शून्य है और वस्तुतः प्रयोक्ता के असामर्थ्य के कारण है ।

विमर्श—‘नेयार्थ’ पद उन पदों को कहा करते हैं जो निषिद्ध लाक्षणिक पद हैं जैसा कि आचार्य कुमारिल ने कहा है—

‘निरूढा लक्षणा काश्चित्सामर्थ्यादभिधानवत् ।  
क्रियन्ते साम्प्रत काश्चित् काश्चिन्नैव त्वशक्तितः ॥’

अर्थात् कुछ लाक्षणिक पद तो ऐसे हैं जो प्रयोग-प्रवाह में पड़कर ‘वाचक’ सरीखे बन गये हैं जैसे कि ‘कुशल’ आदि पद । कुछ पद ऐसे हैं जो प्रयोजनवश, यथासमय और यथासम्भव लाक्षणिक बन जाया करते हैं जैसे कि ‘गङ्गाया घोष’ आदि में ‘गङ्गा’ आदि पद । किन्तु बिना रूढि अथवा प्रयोजन के ही जो पद लाक्षणिक मान लिये जाया करते हैं जैसे कि ‘रूपो घट’ आदि में, रूपवान् के अर्थ में ‘रूप’ आदि पद, वे वस्तुतः निषिद्ध लाक्षणिक पद हैं और प्रयोक्ता की अव्युत्पत्ति के प्रदर्शक हुआ करते हैं । इस प्रकार निषिद्ध लाक्षणिक पदों के प्रयोग में ‘नेयार्थत्व’ का दोष स्वाभाविक ही है ।

(१-निहतार्थत्व)

निहतार्थत्वमुभयावस्थस्य शब्दस्याप्रसिद्धेऽर्थे प्रयोगः ।

यथा—

‘यमुनाशम्बरमम्बरं क्यतानीत् ।’

शम्बरशब्दो वैत्ये प्रसिद्धः, इह तु अस्ते निहतार्थः ।

(१०-अवाचकत्व)

यथा—

‘गीतेषु कर्ममावृत्ते ।’

अत्राह-पूर्वो वाच्यः चातुर्वर्त्यार्थेऽवाचकः ।

यथा वा—

‘दिनं मे त्वयि संप्राप्ते ध्याम्यच्छन्नाऽपि धामिनी ।’

अत्र दिनमिति प्रश्नशमयार्थेऽवाचकम् ।

अनुवाद—‘निहतार्थत्व’ वह शेष है जिसे किसी उभयार्थक पद का अप्रसिद्ध अर्थ में प्रयोग किया गया है । उदाहरण के लिये—

‘यमुनाशम्बर ( यमुना का कण ) आकाश में ललित हो गया ।

यहाँ ‘शम्बर’ शब्द में ‘निहतार्थत्व’ स्पष्ट है कि क्योंकि इसे इसके अप्रसिद्ध अर्थ ‘कण’ अर्थ में प्रयुक्त किया गया है जो कि इसके प्रसिद्ध शैवकण अर्थ से ( जो कि जलवातस्य अविकम्ब प्रतीत हो पड़ता है ) विरोधित अवस्था तिरस्कृत हो रहा है ।

विमर्श—यहाँ के प्रसिद्ध और अप्रसिद्ध अर्थों का विवेक ‘निहतार्थत्व’ शेष से कबसे का ब्याप है । श्रोतादि से यहाँ का कबल कम्ब-निर्माण के उपपन्न नहीं क्योंकि श्रोतादि ॥ वह वत्ता ब्रह्मा कठिन है कि किसी पद का श्रेय अर्थ प्रसिद्ध है और कौन अप्रसिद्ध । अर्थ की प्रसिद्धि और अप्रसिद्धि दो अर्थ-व्यवहार के परिणाम से ही जल्दी जा सकती है ।

अनुवाद—अवाचकत्व वह शेष है जिसे किसी पद के द्वारा ऐसे अर्थ के उपस्थापन में देखा जाता करता है जिसमें उसकी वाचकता नहीं रहा करती । जैसे कि—

‘वह ( गीतेषु कर्ममावृत्ते ) गीत पर काम दे रहा है ।

यहाँ आह-उपसर्गपूर्वक ‘वाम’ वाता ( आवृत्ते ) का जो प्रयोग है उसमें अवाचकत्व स्पष्ट है क्योंकि आवृत्ते’ पद के लक्ष्य के अर्थ का वाचक है न कि ‘देने’ के अर्थ का । ‘देने’ के अर्थ की वाचकता से शून्य इस पद के प्रयोग में ‘अवाचकत्व’ तो होगा ही ।

अपवा—

‘जब तुम आ गये तब तो बीपेरी रात भी मेरे लिये ( दिन ) प्रकाशपूर्ण हो गयी ।’

यहाँ ‘दिन’ पद ‘प्रकाशपूर्णता’ के अर्थ में अवाचक है क्योंकि इसकी वाचकता तो ‘सूर्यास्तपुत्र समय’ के ही अर्थ में स्वीकृत है न कि प्रकाशमयता के अर्थ में भी ।

विमर्श—अब यह विचारित करने का कल्याण न करे तब वह ‘अवाचक’ न हो तो क्या हो ? ‘अवाचक’ पद का प्रयोग भी कवि को अनुपलब्धि या ही परिणाम है । अनुपलब्धि कवि के पद अवाचक नहीं हुआ करते । अवाचक पद को ‘अव्यर्थ’ भी कहा करते हैं । ‘अवाचक’ अथवा ‘अव्यर्थ’ पद अनुपलब्धि वह पद है जो कि ‘कविपुत्र’ हुआ करता है अपनी ऐसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ जाता है । जिसमें वह अवाचक है । किन्तु उदाहरण से अवाचकत्व का अविभाव बहुत स्पष्ट हो जाता है—

( ११—क्लिष्टत्व )

क्लिष्टत्वमर्थप्रतीतेर्व्यवहितम् ,

यथा—

‘क्षीरोदजावसतिजन्मभूव. प्रसन्ना’ ।

अत्र क्षीरोदजा लक्ष्मीस्तस्या वसति पद्म तस्य जन्मभूवो जलानि ।

[ १२—विरुद्धमतिकृत्व ]

‘भूतयेऽस्तु भवानीश’ ।

अत्र भवानीशशब्दो भवान्या पत्यन्तरप्रतीतिकारित्वाद्विरुद्धमतिकृत् ।

[ १३—अविमृष्टविधेयाशत्व ]

विधेयस्य विमर्शाभावेन गुणीभूतत्वम् अविमृष्टविधेयाशत्वम् ।

‘विभजन्ते न ज्ञे भूपमालभन्ते न ते ध्रियम् ।

आवहन्ति न ते दुःखं प्रस्मरन्ति न ये प्रियाम् ॥’

यहा ‘विभजन’ को ‘सेवा’, ‘आलभन’ को ‘लाभ’, ‘आवहन’ को ‘वहन’ अथवा ‘धारण’ और ‘प्रस्मरण’ को ‘अत्यधिक स्मृति’ के अर्थ में लिया गया है किन्तु इन अर्थों में इन पदों की कोई शक्ति नहीं । विभजन की शक्ति ‘वाटने’, ‘आलभन’ की शक्ति ‘मारने’, ‘आवहन’ की शक्ति करने और ‘प्रस्मरण’ की शक्ति ‘भूलने’ के अर्थ में है ।

अनुवाद—‘क्लिष्टत्व’ वह दोष है जिसे किसी पद के द्वारा विवक्षित अर्थ की प्रतीति के व्यवधान अथवा विलम्ब में देखा जाया करता है । जैसे कि—

‘क्षीरोदजावसतिजन्मभूमि ( जल ) कितने प्रसन्न हैं ।’

यहा ‘क्षीरोदजावसतिजन्मभू’ पद ‘क्लिष्टत्व’ से दूषित है क्योंकि इसके विवक्षित ‘जल’ रूप अर्थ की प्रतीति में इतना व्यवधान है कि पहले ‘क्षीरोदजा’ से ‘लक्ष्मी’ के अर्थ, फिर ‘क्षीरोदजावसति’ से ‘कमल’ के अर्थ और तब ‘क्षीरोदजावसतिजन्मभू’ से कमल के उत्पत्ति-क्षेत्र ‘जल’ के अर्थ तक पहुँचते-पहुँचते क्लेश होने लगता है ।

विमर्श—बुझावल बुझाने में तो क्लिष्ट पद के प्रयोग में कोई दोष नहीं किन्तु काव्य-रचना में क्लिष्ट पद रसभाव की प्रतीति को क्लेशमय और कुशकर बना देते हैं । जबकि पद से व्यवहित अर्थ की प्रतीति हो तब रस-प्रतीति कहा से हो ?

अनुवाद—‘विरुद्धमतिकृत्व’ अथवा ‘विरुद्धमतिकारित्व’ वह दोष है जिसे किसी पद से ऐसे अर्थ के उपस्थापन में देखा जाया करता है जो कि प्रकृत अर्थ से विपरीत हुआ करता है । जैसे कि—

‘भवानीपति ( शङ्कर ) सबका कल्याण करें’ में । यहाँ ‘भवानीश’ पद में ‘विरुद्धमतिकृत्व’ स्पष्ट है क्योंकि यह पद प्रकृत अर्थ के विपरीत अथवा उपमर्दक अर्थ का अवबोध करा रहा है ( ‘भवानी’ पद का अर्थ है वह देवी ( पार्वती ) जिसके पति भव अथवा शङ्कर हैं । ‘शङ्कर’ को ‘भवानीश’ कहने से यह अभिप्राय भी अभिव्यक्त हो उठता है कि भवानी के और भी पति होंगे और इस प्रकार यहाँ देवविषयक रतिभाव की अभिव्यञ्जना में अधर्म के आतङ्क का भी अश अभिव्यक्त हो उठता है जो कि सर्वथा अनुचित है ) ।

अनुवाद—‘अविमृष्टविधेयाशत्व’ वह दोष है जिसे वहाँ देखा जाया करता है जहाँ ‘विधेय’ अथवा प्रधान रूप से परामर्श योग्य अश, अप्रधान रूप से निर्दिष्ट किया गया होता है । उदाहरण के लिये, इस सूक्ति अर्थात्—



यथा—

‘स्वर्गमामटिकाविलुण्ठनयुधोच्छूनै किमेभिर्भुजै’ ।

अत्र वृथात्वं विधेयम्, तत्र समासे गुणीभाषादनुवाद्यस्वप्रतीतिकृत् ।

यथा वा—

‘रक्षास्यपि पुर’ स्थातुमश्व रामानुजस्य मे ।’

अत्र रामस्येति वाच्यम् ।

यथा वा—

‘आसमुद्रविहीरानाम् ।’

अत्रासमुद्रमिति वाच्यम् ।

यथा वा—

‘यत्र ते पतति मुमु’ कटाक्ष पटुबाण इय पञ्चरारस्य ।’

अत्र पटु इवेत्युपेक्षम् ।

‘स्वर्ग’ कपी झोरे से रोसे की लुट-खसोट में ध्वज के किसे मतवाले बने हूँ मुझझण्डों से क्या ?’ में । यहाँ प्रभावतया परामर्श-योग्य को व्यक्त है वह (उच्छूनता का) ‘वृथात्व’ (व्यर्थ होना) है किन्तु इसे समास में डालकर अवधान बना दिया गया है जिससे इसमें ‘विधेयता’ के बरके ‘अनुवाद्यता’ (उद्देश्यता) प्रतीत हो उठती है ।

[यहाँ कवि को कहा है—स्वर्गकपी झोरे से रोसे की लुट-खसोट में हूँ मुझझण्डों का ‘मतवाकापन’ व्यर्थ है किन्तु कवि कहता है—स्वर्गकपी झोरे से रोसे की लुट-खसोट में व्यर्थ के किसे ‘मतवाले बने हूँ मुझझण्डों का क्या काम ?’ यहाँ ‘उच्छूनता’ (मतवाकापन) उद्देश्यरूप से—और ‘वृथा’ विधेयरूप से रक्षार्थ योग्य है किन्तु ‘वृधोच्छूनै’ पद में उत्पुङ्गव समास में पूर्वपद की अपेक्षा उत्तरपद की प्राचा प्रभावता होने से विधेयमूल ‘वृथा’ पद गौण हो गया है और परेत्परमूल ‘उच्छून’ पद प्रधान बन गया है । इस प्रकार प्रभावतया परामर्श-योग्य अर्थ अवधारण रूप से पक्ष प्रतीत हो रहा है । जिससे विशिष्ट अमिमात्र की प्रतीति में निज पक्ष रहा है ।]

अथवा इस सूक्ति अर्थात्—‘मुझ रामानुज के भी सामने राजस टिक सकोने ?’ में । यहाँ ‘रामानुज’ इस पट्टितपुङ्गव समास वाले पद के बरके ‘राम के अनुज (रामस्वा-नुजा)’ इस बड़ी विमलकण्ठ पद के प्रयोग में ‘विधेय’ अर्थात् सुदृढराजस-संहारक राम के सम्बन्ध का ‘पिमर्श’ अपेक्षित था क्योंकि तभी कथमप्य का वीर्याह्वार अधिकप्रतिक्रियात्मक हो सकता था किन्तु ऐसा न होने से अधिकप्रतिक्रियाधरा का शेष बना गया ।

अथवा (महाकवि कविकिदास की) इस सूक्ति अर्थात्—‘समुद्रपर्यन्त पृथिवी के सम्राटों का’ आदि में । यहाँ आसमुद्र ‘चितीद्यानाम्’ इस अस्तमस्त पद के प्रयोग से ही कवि का वह विशिष्ट अमिमात्र कि ‘रघुवंशी राजाओं का अधिकार पृथिवी के साथ-साथ समुद्र पर भी था प्रकटित हो सकता था किन्तु आसमुद्रचितीद्यानाम्’ इस समस्त पद के प्रयोग से केवल यही प्रतीति हो पाता है कि ‘रघुवंशी राजाओं का अधिकार समुद्रपर्यन्त पृथिवी पर ही था । इस प्रकार यहाँ विधेय रूप से प्रयोग-योग्य ‘आसमुद्रम्’ पद को ‘चितीत्’ पद के साथ समस्त कर देने से ‘विधेयाभिमर्श’ शेष स्पष्ट परिष्कृत हो रहा है ।

अथवा इस सूक्ति अर्थात्—‘जरी मुन्चरी ! पञ्चरार (काम) के पद बाज (बूँट बाज) की मीति जहाँ भी तेरा कटाक्ष चक पड़ता है’ आदि में । यहाँ ‘पञ्चबाज इव’ पद में ‘विधे-

यथा वा—

‘अमुक्ता भवता नाथ ! मुहूर्त्तमपि सा पुरा !’

अत्रामुक्तेत्यत्र ‘नञः प्रसज्यप्रतिषेधत्व’मिति विधेयत्वमेवोचितम् ।

( नञ् का ‘प्रसज्यप्रतिषेध’ रूप अभिप्राय और समासाभाव में इसकी रक्षा )

यदाहु —

‘अप्राधान्यं विधेर्यत्र प्रतिषेधे प्रधानता ।

प्रसज्यप्रतिषेधोऽसौ क्रियया सह यत्र नञ् ॥’

याविमर्श’ स्पष्ट है क्योंकि यहाँ जो कवि का उत्प्रेक्ष्य है वह ‘षष्ठत्व’ है और यही विधेय है जिसे वाण के साथ समस्त पद बना कर गौण कर दिया गया है । यहा ‘षष्ठ इव’ का प्रयोग होना चाहिये था जिसमें ‘विधेय’ का विमर्श स्पष्ट होता और उत्प्रेक्षण का चमत्कार अनुगुण रहता ।

अथवा इस सूक्ति अर्थात्—‘नाथ ! पहले जो क्षण-भर के लिये भी आपसे अमुक्त रही’ आदि में । यहाँ कवि को ‘न मुक्ता’ पद का प्रयोग करना चाहिये था क्योंकि तभी ‘मुक्त करने’ ( छोड़ने ) के विपरीत ‘नहीं मुक्त करने’ ( न छोड़ने ) का अभिप्राय जो कि यहाँ ‘नञ्’ का ‘प्रसज्यप्रतिषेध’ रूप अभिप्राय है, प्रधान रूप से प्रकाशित हो सकता था । किन्तु समास में पढ़ जाने से यह अभिप्राय अप्रधान बन गया है जिससे यहाँ ‘विधेयाविमर्श’ दोष आ उपस्थित हुआ है ।

विमर्श— अविमृष्टविधेयाशत्व’ अथवा ‘विधेयाविमर्श’ एक ही दोष के दो नाम हैं । ‘विधेय’ वह है जो प्रधानतया प्रतिपिपादयिषित अथवा प्रतिपादन योग्य अर्थ हुआ करता है । इस ‘विधेय’ रूप अर्थ का ‘अविमर्श’ तब होता है जब उसे उपसर्जन अथवा अप्रधान बना दिया जाता है । ‘विधेय’ के ‘अविमर्श’ के स्थलों में ‘समास’ का स्थल सबसे बड़ा है । ‘समास’ वस्तुतः सामर्थ्य अथवा अर्थों की सङ्गति पर निर्भर है न कि वक्ता अथवा लेखक की इच्छा पर । ‘अर्थों की सङ्गति’ का अभिप्राय, अर्थों का परस्पर सम्बन्ध है । ‘अमुक्ता’ आदि सूक्ति में यह ‘सामर्थ्य’ विशेषण-विशेष्य-भाव-रूप है । यहाँ जो समास है वह नञ्समास है जिसमें उत्तरपदार्थ प्रधान हुआ करता है । ‘अमुक्ता’ में उत्तरपदार्थ की प्रधानता से यह स्पष्ट है कि यहाँ कोई न कोई पदार्थ, वस्तुतः नञ् का अर्थ, अप्रधान है अर्थात् विशेषण है । नञ्समास का विषय ‘पर्युदास’ का विषय सुबन्तरूप उत्तरपद के साथ समस्त हुआ करता है । ‘पर्युदास’ का शब्दार्थ है ‘परि’ अर्थात् विधान करना ( उच् + आस ) । नञ् समास का विषय ‘प्रसज्यप्रतिषेध’ नहीं । ‘प्रसज्यप्रतिषेध’ पर्युदास का ठीक उलटा है । ‘प्रसज्यप्रतिषेधात्मक’ ‘नञ्’ में निषेध का अर्थ ही प्रधान रहा करता है इसलिये यहाँ समास निषिद्ध माना जाया करता है ।

अनुवाद—‘नञ्’ की प्रसज्यप्रतिषेधात्मकता क्या है ? इसके सम्बन्ध में यह प्रमाण ध्यान में रखने योग्य है—

‘जहाँ विध्यश की अप्रधानता और प्रतिषेधाश की प्रधानता प्रतीत हुआ करती है और नञ् का सम्बन्ध क्रिया के साथ रहा करता है वहाँ ‘नञ्’ का अभिप्राय ‘प्रसज्य-प्रतिषेध’ ( प्राप्ति के विपरीत निषेध ) का अभिप्राय हुआ करता है ।’ जैसे कि—

यथा—

‘नभःअक्षधरः सनद्योऽयं न ह्यनिशाचरः ।’

उच्छोबाहरयोस्तु तत्पुरुषसमासे गुणीभावे नभः पर्युदासतया निषेधस्य विधेयतयानवगमः ।

यथाहुः—

‘प्रधानस्य विधेयत्र प्रतिषेधेऽप्रधानता ।

पर्युदासः स विज्ञेयो, यत्रोत्तरपदेन नभः ।’

तेन—

‘हुगोपात्मानमत्रस्तो भेजे धमममातुरः ।

अगृध्नुरावरे सोऽर्घानसक्तः सुकमन्वभूत् ॥’

अत्राप्रस्तवताधनूपात्मगोपनाद्येव विधेयमिति नभः पर्युदासतया गुणीभावा युक्तः ।

ननु ‘अभाद्रभोजी प्राज्ञाय’ ‘असूर्यपरया राजधारा’ इत्यादिष्वत् ‘अमुष्य’

( महाकवि काकिकास की ) यह सूक्ति अर्थात्—

‘यह तो नभःअक्षधर सम्बन्ध कहा है न कि यह निशाचर ।

मैं यहाँ ‘नभः’ का इसलिये समास में नहीं बाँटा गया है क्योंकि यहाँ प्रभाव रूप से निषेध ( यह निशाचर के प्रतिषेध ) का ही अभिप्राय विवक्षित है ।

किन्तु ‘अमुष्य’ आदि सूक्ति में ‘नभः’ को तत्पुरुष समास में समास करके गीत बना दिया गया है जिससे इसका ‘प्रसम्बन्धप्रतिषेधात्मक’ अभिप्राय ब निकल कर ‘पर्युदाससम्बन्ध’ अभिप्राय निकल रहा है जिससे निषेध की प्रभावता नहीं प्रतीत हो पाती ।

यहाँ ‘नभः’ की पर्युदासात्मकता के सम्बन्ध में यह प्रमाण ध्यान देने योग्य है—

‘यहाँ विपक्ष प्रमाण के भी प्रतिषेधात्मक अवधान रूप से प्रतीत हो और ‘नभः’ का सम्बन्ध उत्तरपद के साथ हो यहाँ जो ‘नभः’ का अभिप्राय हुआ करता है वह पर्युदाससम्बन्ध हुआ करता है । जैसे कि—

( महाकवि काकिकास के रघुवंश की ) यह सूक्ति अर्थात्—

‘महाराज दिव्य निर्माक हाकर अपने शरीर की रक्षा करते रहे । बीरोग रहते हुये धर्म का पावन करते रहे अर्थात्पुण्य हाकर अर्थ-संपन्न करते रहे और अनासक्त रहते हुये सुखभाग करते रहे ।

यहाँ ‘अक्षय्य’ आदि में ‘अभः’ को समास में बाँट दिया गया है जो कि उचित हो है क्योंकि यहाँ ‘अक्षय्य ( निर्माक ) रहते हुये’ आदि उपदेय हैं न कि विधेय । यहाँ जो विषय है वह तो ‘आत्मरक्षण’ आदि है । इस प्रकार यहाँ ‘अभः’ का अभिप्राय ‘पर्युदास’ रूप है ( न कि प्रसम्बन्धप्रतिषेधरूप ) और इसलिये इसका तत्पुरुष समास में अवधान हो जाना गहकता नहीं अपितु सर्वथा समीचीन लगता है ।

यहाँ यह सच्चा हो सकती है—जैसे ‘अभाद्रभोजी प्राज्ञाय’ अवका अमूर्यपरया राजधारा’ इत्यादि प्रसङ्गों में जब के प्रमाण में यह जाने पर भी ‘नभः’ का अभिप्राय ‘प्रसम्बन्धप्रतिषेध’ रूप निधा जा सकता है ( क्योंकि प्राज्ञ के ‘अभाद्रभोजी’ बड़े जाने न उसमें आद्रभोजन का अभाव और राजधारा के अमूर्यपरया’ कह जाने से उसमें मूर्यधर्म का अभाव ही प्रतीत होता है ) वैसे ही ‘अमुष्य’ आदि पूर्वोद्धृतप्रसङ्गों में समास में परे

इत्यत्रापि प्रसज्यप्रतिषेधो भवतीति चेद् ? न, अत्रापि यदि भोजनादिरूप-क्रियांशेन नवः सम्बन्धः स्यात्तदैव तत्र प्रसज्यप्रतिषेधत्वं वक्तुं शक्यम्, न च तथा, विशेष्यतया प्रधानेन तद्भोज्यार्थेन कर्त्रंशेनैव नवः सम्बन्धात् ।

यदाहुः—

‘श्राद्धभोजनशीलौ हि यतः कर्ता प्रतीयते ।

न तद्भोजनमात्रं तु कर्तरीनेर्विधानतः ॥’ इति ।

‘अमुक्ता’ इत्यत्र तु क्रिययैव सह सम्बन्ध इति दोष एव ।

‘नञ्’ का अभिप्राय प्रसज्यप्रतिषेधात्मक ( मोचन का अभावरूप ) क्योंकर न लिया जाय ? किन्तु इसका समाधान यह है—‘अश्राद्धभोजी ब्राह्मण’ आदि प्रसज्यों में भी ‘नञ्’ का अभिप्राय प्रसज्यप्रतिषेधरूप नहीं अपितु वस्तुतः पर्युदासरूप ही है । यहाँ ‘नञ्’ का अभिप्राय तब कहीं प्रसज्यप्रतिषेधरूप हो सकता जब कि इसका सम्बन्ध ‘भोजन’ ( और दर्शन ) आदि रूप क्रिया-भाग के साथ जुड़ पाता । किन्तु यहाँ तो ‘नञ्’ का सम्बन्ध ( विशेषणभूत भोजन-क्रिया अथवा दर्शन क्रिया के साथ नहीं अपितु ) विशेष्य-भूत और इसलिये प्रधान रूप से अवस्थित कर्तृरूप अश के साथ जुड़ा है । तभी तो कहा गया है—

‘श्राद्धभोजी’ पद में जो ( ‘सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छीत्ये’ इस सूत्र से ) ‘इनि’ प्रत्यय है वह कर्ता के अर्थ में है और इसलिये इसका अभिप्राय ‘श्राद्धभोजनशील’ हुआ करता है न कि श्राद्धभोजन मात्र ( इससे यह स्पष्ट है कि ‘अश्राद्धभोजी’ पद में ‘नञ्’ का सम्बन्ध क्रियांश के साथ नहीं अपितु कर्त्रंश-प्रत्ययार्थ-के साथ है और ‘नञ्’ का अर्थ पर्युदासात्मक है । )

इस नञ्विमर्श का निष्कर्ष यही निकला कि ‘अमुक्ता’ आदि में विधेयाविमर्श दोष तदवस्थ ही रहा क्योंकि यहाँ प्रसज्यप्रतिषेधार्थक ‘नञ्’ का सम्बन्ध क्रिया के साथ है और इसलिये इसे समास में डाल कर अग्रधान नहीं बनाया जा सकता ।

विमर्श—यहाँ साहित्यदर्पणकार का यह विचार-विमर्श ‘व्यक्तिविवेक’कार आचार्य महिम भट्ट की इन प्रक्रियों का अनुसरण कर रहा है—

‘नन्वश्राद्धभोजीत्यत्र प्रसज्यप्रतिषेधेऽपि यथा समास इष्यते तद्वद्विहापि भविष्यति । नैव शक्यम्, यतो न तावदत्र नञ् श्राद्धेनोत्तरपदार्थेनाभिसम्बन्ध कश्चित् प्रतीयते, अपि तु विशेष्यतया प्राधान्येन तद्भोज्यर्थेनैव । तत्रापि कर्त्रंश एव प्रधानं न क्रियाशः । श्राद्धभोजनशीलो ह्यतः कर्ता प्रतीयते न तद्भोजनमात्रं कर्तरि णिनेर्विधानात् । ततस्तदभिसम्बन्ध एव शाब्दो न क्रियाभिसम्बन्धः । सा हि सामर्थ्यादवसीयते, तदुपादानमन्तरेण कर्तृत्वानुपपत्तेः । तच्छ्रवणमात्रविप्रलम्भकृतश्चायं प्रसज्यप्रतिषेधभ्रमः, न पुनराब्जस्येन तत्र तद्रूपता नाम काचित् संभवति । सा हि वाक्यादेवावसीयते न वृत्ते, तयो सिद्धसाध्यार्थनिष्ठतया भिन्नार्थत्वादिति भवितव्यमेव तत्र समासेन । एवमनुरूप-स्याद्विषयि द्रष्टव्यम् । इह तु प्रतिषेधस्य प्राधान्यविवक्षा न विधेः, तत् कोऽवकाशः समासस्य ।’

अर्थात् जैसे ‘अश्राद्धभोजी’ ( न श्राद्ध भुक्ते इत्यश्राद्धभोजी ) आदि प्रसज्यों में, समास में अग्रधानतया अवस्थित भी ‘नञ्’, अभावबोधक होने के कारण, प्रसज्यप्रतिषेधरूप ही माना जाया करता है वैसे ही ‘अमुक्ता’ आदि में भी समास में प्रसज्यभूत नञ् को ‘प्रसज्य-

( छिद्रत्व-विद्वद्मतिकारित्व और अविद्वद्भिद्येवांसात्त्व की पद्मगतता की व्यवस्था )  
 पते च क्षिद्रत्वाच्च समासगता एव पद्वयोप ।

( वाच्यगत दोष-निरूपण : १ शुद्धवत्त्व )

वाक्य दुःप्रवर्त्य यथा—

‘स्मरार्थ्यं च’ कथा ताप्त्ये कार्त्तार्थ्यं विरहे तव ॥’

( १ अरलीकत्व )

कृतप्रयुक्तिरभ्यर्थे कथिर्नान्त समस्तुते ॥

अत्र गुरुप्राव्यस्त्रिकारलीकता ।

( २—नेवार्यत्व )

‘उद्यत्कमलसौहित्यैवकाभिर्भूमिपिता तनु’ ॥’

प्रतिषेध ही क्योंकि न माना जाय और अविद्वद्भिद्येवांसात्त्व की संभावना न ही जाय । किन्तु यहाँ बात वस्तुतः यह है कि अजादसौकी आदि प्रसङ्गों में नम् प्रसङ्गप्रतिषेधात्मक नहीं अपितु पदुत्पादात्मक ही है । क्योंकि अजादसौकी ( अर्थात् मोक्षं दीकमस्त्येति आजादसौकी न आजादसौकी अजादसौकी अविद्वद्मतिकारण ) में कति नम् समास की उपपत्ति हैकी आप से यही पता चलेगा कि यहाँ ‘नम्’ का सम्बन्ध प्रभावभूत कर्तृत्व अर्थ के साथ है न कि अमध्यमरूप से अवलिन क्रिया-रूप अर्थ के साथ । अब जब कि ‘वध’ का सम्बन्ध क्रियात्मक अर्थ के साथ नहीं तब इसे पदुत्पात्त रूप माना जायगा न कि प्रसङ्गप्रतिषेधरूप ।

अनुवाद—छिद्रत्व आदि ( अर्थात् विद्वद्मतिकारित्व तथा अविद्वद्भिद्येवांसात्त्व ) दोष ऐसे हैं जो समास में ही पद्वयोप कहे जा सकते हैं ( क्योंकि समास के अभाव में ये वाक्यदोष हैं )

अनुवाद—शुद्धवत्त्व दोष वाक्य का भी दोष है । जैसे कि—‘तेरे विरह में स्मरार्थ्य ( कामपीडा ) से जान्ने मुझे कथ कार्त्तार्थ्य ( कृतार्थता ) की प्राप्ति होगी आदि में ।

[ यहाँ यह स्पष्ट है कि उपर्युक्त वाक्य की कर्मकटोरता से सहस्य का हृदय उद्गिर हो उठता है और विरही प्रेमी की प्रेमीभावना का स्पर्श भी यहीं करना चाहता । ]

अनुवाद—अरलीकत्व भी वाक्यगत दोष के रूप में दिखायी दिया करता है । जैसे कि—‘यह कवि जो दूसरे के हृदय और अर्थ अपनाया करता है वस्तुतः वास्तव ( वामन ) भोजन किया करता है । आदि में । यहाँ वाक्यगत अरलीकत्व स्पष्ट है क्योंकि ‘वामन’ समस्तुते आदि वाक्य एक वृत्तात्पद अभिप्राय का प्रकाशन करता है ।

विमर्श—साहित्यदर्पण की ‘विमर्श’ और ‘अन्वी’ शीर्ष में यहाँ वाक्यदोष की स्थिति के विषे ‘प्रवृत्ति पर से पुरीचोत्तर्य का प्रभाव न अभिप्राय किया गया है किन्तु ‘प्रवृत्ति पर का ‘पुरीचोत्तर्य’ अर्थ यहाँ सम्यग नहीं । यहाँ ‘वामन’ समस्तुते’ यह पदव्याप्तक वाक्य अरलीक है क्योंकि कि इसीसे वृत्त का अभिप्राय अभिव्यक्त हो जाता है ।

अनुवाद—वाच्यगत ‘नेवार्यत्व’ इस दृष्टान्त से समझा जा सकता है—

‘वामनि—सुन्दरिणी ने ‘उद्यत्कमलसौहित्यैव’—कामपीड पद्विराग मयिणी से ( कमल + पद्म + सौहित्य = रमो = पद्विरागमयिनि ) अपने-अपने शरीर उद्यत् वृत्त दिखे ।

अत्र कमललौहित्यं पद्मरागः, वक्राभिर्वामाभिः, इति नेयार्थता ।

( ४—क्लिष्टत्व )

‘धम्मिल्लस्य न कस्य प्रेक्ष्य निकाम कुरङ्गशावाच्याः ।

रज्यत्यपूर्वबन्धव्युत्पत्तेर्मानस शोभाम् ॥’

अत्र धम्मिल्लस्य शोभा प्रेक्ष्य कस्य मानस न रज्यतीति सवन्ध क्लिष्ट ।

( ५—अविमृष्टविधेयाशत्व )

‘न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरय.’ इति ।

अत्र चायमेव न्यक्कार इति न्यक्कारस्य विधेयत्व विवक्षितम् । तच्च शब्दरचनावैपरीत्येन गुणीभूतम् । रचना च पदद्वयस्य विपरीतेति वाक्यदोषः ।

( अविमृष्टविधेयांशत्व ( विधेयाविमर्श ) की अन्यान्य सम्भावनाएँ )

‘आनन्दयति ते नेत्रे योऽसौ सुभ्रु । समागतः ।’

इत्यादिपु ‘यत्तदोर्नित्यसंबन्धः’ इति न्यायादुपक्रान्तस्य यच्छब्दस्य निरा-

यहाँ ( विना रूढि अथवा प्रयोजन के ) ‘कमललौहित्य’ पद से ‘पद्मरागमणि’ और ‘वक्रा पद से वामा अथवा सुन्दरियों का लक्ष्यार्थ प्रतिपादित किया गया है । इसलिये यहाँ वाक्यगत ‘नेयार्थत्व’ स्पष्ट दिखायी दे रहा है ।

अनुवाद—वाक्यगत ‘क्लिष्टत्व’ जैसे कि—

‘कुरङ्गशावाच्या’—इस मृगनयनी की, ‘अपूर्वबन्धव्युत्पत्तेः’—अद्भुत, विन्यासवाली, ‘धम्मिल्लस्य’—बँधी चोटी की, ‘शोभाम्’—सुन्दरता को, निकाम प्रेक्ष्य—देख कर, कस्य मानस न रज्यति’ कौन है जिसका मन मोहित नहीं हो जाता ?

यहाँ वाक्यगत ‘क्लिष्टत्व’ स्पष्ट है क्योंकि ‘धम्मिल्लस्य शोभा प्रेक्ष्य कस्य मानस न रज्यति’ ( चोटी की सुन्दरता देख किसका मन मुग्ध नहीं हो जाता ) आदि पद अपने परस्पर अन्वय में महाक्लेश उठाते दिखायी दे रहे हैं ।

विमर्श—यहाँ किसी सुन्दरी के केशपाश का रत्युद्बोधक सौन्दर्य-वर्णन विवक्षित अवश्य है किन्तु सहृदय काव्य पाठक का हृदय इससे मुग्ध होने के बदले उद्दिग्ध हो उठता है क्योंकि उसे कवि-प्रयुक्त पदों के परस्पर सम्बन्ध ज्ञान में डूब उठाना पड़ता है । क्लेश में ‘रस’ कहाँ ?

अनुवाद—वाक्यगत ‘अविमृष्टविधेयाशत्व’, जैसे कि—

‘अपमान तो यह है मेरे भी शत्रु हो गये’ आदि पूर्वोद्धृत सूक्ति । यहाँ कवि ( न्यक्कार ) विधेय रूप से विवक्षित है । आदि, जिसमें यह स्पष्ट है कि ‘अपमान’ दी गयी जिसमें विधेयवाचक ‘न्यक्कार’ पद ( उद्देश्यवाचक ‘अयम्’ पद के पहले प्रयुक्त कर दिये जाने से ) अप्रधान बन गया है । इस प्रकार यहाँ जो ‘अविमृष्टविधेयांशत्व’ है वह वाक्यदोष के रूप में दिखायी दे रहा है क्योंकि यहाँ दो पदों ( वाक्य ) की रचना में उलटफेर है ।

अनुवाद—ऐसे वाक्यों में भी ‘अविमृष्टविधेयांशत्व’ ही है—

‘अरी सुन्दरी ! वह जो तेरे नेत्रों को आनन्दित किया करता है, आया हुआ है ।’

यहाँ ‘अविमृष्टविधेयाशत्व’ इस प्रकार है—शब्द-शास्त्र का यह सामान्य नियम है कि ‘यत्’ ( जो ) और ‘तत्’ ( वह ) पद नियमतः सवद्ध रहा करते हैं ( क्योंकि ये दोनों परस्पर सापेक्ष और साकांक्ष पद हैं ) । जब ‘यत्’ पद उद्देश्य रूप से प्रस्तुत हो तो

काङ्क्षत्यप्रतिपत्तये तच्छब्दसमानाद्यतया प्रतिपाद्यमाना इदमेतद्वशात् विधेया  
पक्ष मयितुं युक्त । अत्र तु तच्छब्दनिष्ठत्वतया अनुपाद्यत्वप्रतीतिरिति ।

तच्छब्दस्यापि तच्छब्दनिष्ठत्वस्य प्रसिद्धपरामर्शित्वमात्रम् ।

यथा—

‘यं स ते नयनानन्दकरं सुष्ठु । स आगतः ।’

तच्छब्दव्यवधानेन स्थितास्तु निराकाङ्क्षमवगमयन्ति ।

यथा—

‘आनन्दयति ते नेत्रे योऽधुनाऽसौ समागतः ।’

एवमिदमादिशब्दोपादानेऽपि । यत्र च अतद्वारेकस्यार्थत्वं सम्भवति, तत्रै-  
कस्योपादानेऽपि निराकाङ्क्षप्रतीतिरितं न भवति । उपादि तच्छब्दस्योत्तर-  
वाक्यगतत्वेनोपादाने सामर्थ्यात् पूर्ववाक्ये तच्छब्दस्यार्थत्वम् ।

यथा—

‘आत्मा जानाति वत्सापम् ।’

उसकी अपेक्षा की पूर्ति के लिये ‘तत् पक्ष के समानार्थक ‘इदम्’ ‘यत्’ तथा अदम्’  
पक्षों में से कोई भी व्यवहृत हो सकता है । किन्तु जो भी व्यवहृत हो उसे विशेष रूप से  
ही व्यवहृत होना चाहिये । अब वहाँ ‘आनन्दयति ते नेत्रे योऽसौ समागतः’ आदि  
में जो ‘वत् ( या ) पक्ष उद्देश्य रूप से प्रयुक्त है उसके लिये ‘अदम्’ ( असी ) पक्ष  
विशेष सा नहीं अपितु उद्देश्य सा ही क्या रहा है क्योंकि ‘वत्’ के साथ इसके साक्षिप्य  
से केवल यही पता चलता है कि यह शिष्यका निर्देश कर रहा है वह एक प्रसिद्ध वस्तु  
है । अदम्’ सम्बन्धी नहीं यदि ‘तत्’ सम्बन्धी ‘यत्’ के अत्यन्त समिहित हो तो वह भी  
‘यत्’ पदार्थ की प्रसिद्धि का ही बोधक मान रह जाता है । जैसे कि यदि कहा जाय—

‘अरी सुन्दरी ! वह जो तेरे नेत्रों का आनन्ददायक है आया हुआ है ।’

तो, यहाँ ‘यत् ( या ) पक्ष का साक्षिकवर्ती ‘तत् ( सा ) पक्ष भी ( विशेष नहीं बन  
रहा—अपि तु ) ‘यत्’ पदार्थ की प्रसिद्धि का ही अवबोध करा रहा है । अमिप्राप यह है  
कि यदि ‘तत्’ आदि पक्ष ‘यत्’ पक्ष से कुछ दूर रहा करें तभी वे ‘यत्’ पक्ष की अपेक्षापूर्ति  
कर सकते हैं ( और विशेष रूप में ऐसे जा सकते हैं ) जैसे कि—

‘जो तेरे नेत्रों को आनन्दित किया करता है वह अभी आया हुआ है ।’ आदि वाक्य  
में । वस्तुतः यही बात वहाँ भी लागू होती है जहाँ ‘इदम्’ आदि पक्ष ( ‘यत्’ पक्ष से कुछ  
दूर कर ) प्रयुक्त हुआ करते हैं ।

यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य है और वह यह है कि यदि कहीं ‘यत्’ और ‘तत्’ पक्षों  
में से कोई एक पक्ष अप्रयुक्त होने पर भी अर्थ-सामर्थ्य से प्रतीत हो तो वहाँ किसी पक्ष के  
प्रयोग में भी दूसरे की अपेक्षा-पूर्ति हो जाती है और ( उद्देश्य-विशेष भाव में ) किसी  
प्रकार की कोई त्रुटि नहीं दिखती होती । जैसे कि यदि वाक्य के वाक्य में ( उद्देश्यबोधक )  
‘यत्’ पक्ष प्रयुक्त हो रहा हो तो पहले वाक्य में ( विशेषबोधक ) ‘तत्’ पक्ष के प्रयोग के  
बिना भी, उसकी ( ‘तत्’ पक्ष की ) अर्थता उपस्थिति हो जायगी । उदाहरण के लिये—

‘जो पाप है [ उसे ] जन्तु-करण स्वयं जान लेता है ।’

एवम्—

‘य सर्वशैलाः परिकल्प्य वत्सं मेरौ स्थिते दोग्धरि दोहदत्ते ।  
भास्वन्ति रत्नानि महौपवीञ्च—’

इत्यादावपि ।

तच्छब्दस्य प्रक्रान्तप्रसिद्धानुभूतार्थत्वे यच्छब्दस्यार्थत्वम् ।

क्रमेण यथा—

( १—प्रक्रान्तवाचक ‘तत्’ के प्रयोग में )

‘स हत्वा वालिनं वीरस्तत्पदे चिरकाङ्क्षिते ।  
धातोः स्थान इवादेशं सुग्रीव सन्यवेशयत् ॥’

( २—प्रसिद्धि-बोधक ‘तत्’ के प्रयोग में )

‘स वः शशिकलामौलिस्तादात्म्यायोपकल्पताम् ।’

( ३—पूर्वानुभूत पदार्थ के स्मारक रूप ‘तत्’ के प्रयोग में )

‘तामिन्दुसुन्दरमुखीं हृदि चिन्तयामि ।’

यत्र च यच्छब्दनिकटस्थितानामपीदमादिशब्दानां भिन्नलिङ्गविभक्तित्वं  
तत्रापि निराकाङ्क्षत्वमेव ।

इसी भाँति ऐसे प्रसङ्गों जैसे कि—

‘दोहन कर्म में दत्त मेरु पर्वत के दोग्धरा रहने पर भी पर्वत वृन्द ने जिसे वत्स बनाया  
और वसुन्धरा से महार्घ रत्नों और महौपधियों को दूह लिया, ( वही यह हिमालय है ) ।’  
आदि में भी ( वाद के वाक्य में प्रयुक्त ‘यत्’ पद की अपेक्षापूर्ति पहले वाक्य—‘अस्त्युत्तर-  
स्याम्’—आदि में अप्रयुक्त किन्तु अर्थत लब्ध ‘तत्’ पद से स्वभावतः हो रही है जिससे  
विधेयाविमर्शत्व की आशङ्का दूर हो जाती है ) ।

प्रयुक्त न होने पर भी ‘यत्’ शब्द इन तीन परिस्थितियों में अर्थलभ्य रहा करता है—  
( १ ) जहाँ ‘तत्’ शब्द प्रक्रान्त अर्थात् प्रकरणप्राप्त के बोधकरूप से प्रयुक्त हो, ( २ ) जहाँ  
‘तत्’ शब्द प्रसिद्धि के बोधकरूप से व्यवहृत हो और ( ३ ) जहाँ ‘तत्’ शब्द से पूर्वानुभूत  
पदार्थ का स्मरण करवाया गया हो । जैसे कि क्रमशः —

‘उस महावीर ( राम ) ने वाली को मार कर, बहुत पहले से आकाङ्क्षित, उस ( वाली )  
के स्थान पर, सुग्रीव को उसी प्रकार प्रतिष्ठित कर दिया जिस प्रकार ( वैयाकरणों द्वारा )  
‘धातु’ के स्थान पर ‘आदेश’ की प्रतिष्ठा की जाया करती है ।’

[ यहाँ प्रयुक्त ‘तत्’ ( स ) पद प्रकरणप्राप्त का बोधक है और इसलिये ‘यत्’ अर्थत  
उपस्थित हो जाता है जिससे उद्देश्य-विधेय-भाव में कोई श्रुति नहीं आती । ]

‘वे चन्द्रशेखर भगवान् शिव आप सब को अपना सायुज्य प्रदान करें ।’

[ यहाँ प्रयुक्त ‘तत्’ ( स ) पद प्रसिद्धिबोधक है और इसलिये ‘यत्’ पद के प्रयोग  
की आवश्यकता नहीं । ‘यत्’ यहाँ अर्थत उपस्थित है । ]

‘उस चन्द्रमुखी का ध्यान मैं हृदय में कर रहा हूँ ।’

[ यहाँ ‘तत्’ ( ताम् ) पद पूर्वानुभूत वस्तु का वाचक है और इसलिये इसे ‘यत्’ शब्द  
की अपेक्षा नहीं । ‘यत्’ शब्द यहाँ अर्थसामर्थ्य से ही उपस्थित है । ]

यहाँ एक और भी बात है और वह यह कि यदि ‘इदम्’ आदि शब्द ‘यत्’ शब्द के





चिद्रूपेण स्थित सर्वात्मक वस्तु विवक्षितम् । तथाभूतस्य तस्य तच्छब्देन परामर्शः । एवमन्येषामपि वाक्यगतत्वेनोदाहरण बोध्यम् ।

( पदाश-गत दोष १-दुःश्रवत्व : स्वरूप तथा निदर्शन )

पदाशे तु श्रवत्व यथा—

‘तद्वच्छ सिद्धयै कुरु देवकार्यम् ।’

( २—निहतार्थत्व )

‘धातुमत्ता गिरिर्धत्ते ।’

‘यदुवाच न तन्मिथ्या यद् ददौ न जहार तत् ।’

यथा च—

‘स दुर्मनि श्रेयसि यस्य नादर स पूज्यकर्मा सुहृदां शृणोति य ।’ इति । एकतरस्योपादाने सत्यार्थं तदितरस्यार्थसामर्थ्येनोपक्षेपात् । तत्र तद् केवलस्योपादाने सत्यार्थ-स्त्रिविधः प्रसिद्धानुभूतप्रकान्तवस्तुविषयतयोपकल्पितसन्निधिना यदा तस्याभिसम्बन्धात् ।

केचित् पुनरुपात्तवस्तुविषयतयोपकल्पितयोर्द्वयोरन्याक्षेपादस्य चतुर्थमपि प्रकार-मिच्छन्ति । यथा—

‘ये नाम केचिदिह न प्रथयन्त्यवज्ञां जानन्ति ते किमपि तान् प्रति नैव यत्न ।

उत्पत्त्यतेऽस्ति मम कोऽपि समानधर्मा कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी ॥’

अत्र स कोऽप्युत्पत्त्यते य प्रति यत्नो मे सफलीभविष्यतीत्युभयोरपि तयोरर्थादाक्षेपः ।

यश्चैकवाक्ये कर्तृत्वेनोक्तो यश्चेदमादिभिः । तच्छब्देन परामर्शो न तयोरुपपद्यते ॥

यतोऽध्यक्षायमाणोऽर्थः स तेभ्य प्रतिपद्यते । न चासौ तत्परामर्शसहिष्णुरसमन्वयात् ॥

तस्मादपेतप्रकान्तसम्बन्धसहायस्यास्य यदोऽनुपपन्नप्रक्रस्यमानवस्तुसमन्वयस्यैकाकिन सार्थभ्रष्टस्येव तपस्विन पथिकस्य सन्मार्गोपदेशिक तच्छब्दाध्याहारमेवैकशरणमन्तरेण नापरोऽभिमतार्थसङ्गमोपायः सम्भवति । स चैवविधेषु सूक्ष्मरत्नेषु कलङ्कायमानो मनागपि न काव्यमाणिक्यवैकटिकानां सचेतसा मनास्यावर्जयितुमलमिति ।

अनुवाद—इसी भाति अन्य दोषों के भी वाक्यगत रूप स्वयं देखे जा सकते हैं ।

विमर्श—कान्यप्रकाशकार ने उपर्युक्त सभी दोषों के वाक्यगत स्वरूप का सोदाहरण निरूपण

किया है । जैसे कि वाक्यगत ‘ग्राम्यत्व’ का निरूपण—

‘ताम्बूलभृतगच्छोऽयं मल्ल जल्पति मानुषः । करोति खादन पान सदैव तु यथा तथा ॥’

आदि ।

अनुवाद—इसी भाँति पद के अंश में भी ‘दुःश्रवत्व’ सम्भव है जैसे कि ( महाकवि कालिदास के कुमारसम्भव की ) इस उक्ति में ही—

‘अव जाओ, तुम्हारा कार्य सिद्ध हो, देवकार्य सम्पन्न हो ।’

[ यहाँ ‘गच्छ’ के ‘छ’ और ‘सिद्धयै’ के ‘द्धयै’ में कर्णकटुता स्पष्ट है क्योंकि इन्द्र के द्वारा मदन के प्रति निवेदन के प्रसङ्ग में श्रुतिमधुर ही पद किं वा पदाश-ध्वनियाँ सुनाई देनी चाहिये थीं । ]

अनुवाद—पदाश में निहतार्थत्व—

अत्र मत्ताशब्दः स्त्रीवार्थे निहितः ।

( ३—अवाचकत्व )

‘वर्ण्यते किं महासेनो विजेयो यस्य तारकः ।’

अत्र विजेय इति कृत्यप्रत्ययः कप्रत्ययार्थेऽवाचकः ।

( ४—अरक्षीकत्व )

‘पाणि’ पल्लवपेक्षणः ।

पेक्षशब्दस्यापाक्रे अरक्षीजे ।

( ५—नेपार्थत्व )

‘समामे निहता’ शूरा बभोवाणत्वमागताः ।’

अत्र बभन्नाशब्दस्य गीष्ठाभ्याचकत्वे नेपाद्यत्वम् । तथा तत्रैव बाणत्वाने शरेति पाठे । अत्र पठ्प्रत्ययमपि न परिश्रुतिसहम् । अस्तव्यादौ वृत्तरपठ्, वाङ् वानक्षादौ पूवपठ्म् ।

‘बह पर्वतं बाणमत्ता ( गणक, अन्नक आदि बाणुर्जो की भरमार ) घातन करता है ।  
 यहाँ यह स्पष्ट है कि ‘बाणमत्ता’ पठ् का ‘मत्ता’ रूप अर्थात् ‘महामती बारी’ के अर्थ में प्रसिद्ध है जिससे यहाँ विवक्षित ‘मत्तपू’ प्रत्यय का अर्थ निहित अथवा स्तिरच्छ्रुत कर दिया गया है ।

अनुवाद—पदासगत अवाचकत्व—

‘उन महासेन का क्या बलाग किया बाण जो तारकासुर को भीत चुके हैं ।’  
 यहाँ ‘विजेय’ पठ् में जो कृत्यसंज्ञक ‘वत् (अथो पठ् से निहित) प्रत्यय है वह वह विवक्षित ( भूतकालमाचक ) ‘वत्’ प्रत्यय के अर्थ में अवाचक है ।

[ ‘विजेय’ पठ् का अर्धभूत ‘वत्’ प्रत्यय यहाँ अवाचक है । इसलिये यहाँ जो अवाचकत्व है वह पदासगत है व कि पदगत । ]

अनुवाद—पदासगत अरक्षीकत्व ( ग्रीष्ठाभ्याजक अरक्षीकत्व )—

इसका हाथ पकड़ कर भी भोंति पैकव ( कामक ) है ।  
 यहाँ यह स्पष्ट है कि ‘पेकव’ पठ् का ‘पेक’ रूप अर्थात् अरक्षीक है ( क्योंकि इसका अभिप्राय अण्डकोप है जो कि ग्रीष्ठाभ्याजक है ) ।

अनुवाद—पदासगत नेपार्थत्व—

समामे में मर मिटने वाले शूरा-वीर ‘बभोवाण ( देख ) रूप हो जाते हैं ।’  
 यहाँ पठ् का ‘बभस्’ रूप अर्थात् नेपार्थ है क्योंकि ‘बेधता’ के अर्थ में ‘धीर्बाण’ पठ् प्रसिद्ध है न कि ‘गिर’ और ‘बाण’ का पर्यायभूत अन्य बभोवाण आदि पठ् ( बिना रुद्धि अपवाद प्रयोग के ‘बभस्’ सप्तम का ‘गिर’ के अर्थ में काव्यमिक प्रयोग नेपार्थता के अतिरिक्त और कुछ नहीं ) । ‘गीर्बाण’ पठ् के उत्तरवर्ती ‘बाण’ रूप अर्थात् के बदले यदि उसके पर्यायभूत ‘गार’ पठ् को रखा है तो भी यहाँ पदासगत नेपार्थत्व रह ही जायगा । वास्तुतः बाण यह है कि ‘गीर्बाण’ पठ् के पूर्ववर्ती तथा उत्तरवर्ती अंती को उनके पर्यायों के द्वारा बदला नहीं जा सकता ( क्योंकि बहुत जाने पर नेपार्थता का दोष कम जायगा ) कुछ ऐसे ही पठ् हैं जिनके उत्तरवर्ती अंता का उनके पर्यायों में परिवर्तन अशक्य है जैसे कि ‘अकथि’ पठ् ( क्योंकि यदि ‘धि’ रूप अंता का बदल कर ‘अर’ कर दें तो ‘अरधि’ के अर्थ में ‘अरधरा’ पठ् अर्थ हो जायगा ) । कुछ पठ् जैसे भी हैं जिनके पूर्ववर्ती अंता का

( पदांशगत दोष : उपसंहार )

एवमन्येऽपि यथासम्भवं पदांशदोषा ज्ञेयाः । निरर्थकत्वादीनां त्रयाणां च पदमात्रगतत्वेनैव लक्ष्ये सम्भवः ।

क्रमतो यथा—

( निरर्थकत्व दोष )

‘मुख्य मानं हि मानिनि । ॥’

अत्र हिशब्दो वृत्तपूरणमात्रप्रयोजनः ।

( असमर्थत्व दोष )

‘कुञ्ज हन्ति कृशोदरी ।’

अत्र हन्तीति गमनार्थे पठितमपि न तत्र समर्थम् ।

( ‘च्युतसंस्कृतित्व’ दोष )

‘गाण्डीवी कनकशिलानिभ भुजाभ्यामाजघ्ने विपमविलोचनस्य वक्षः ।’  
‘आडो यमहन’, ‘स्वाङ्गकर्मकाच्च’ इत्यनुशासनबलादाङ्पूर्वस्य हन’  
स्वाङ्गकर्मकस्यैवात्मनेपद नियमितम् । इह तु तल्लङ्घितमिति व्याकरणलक्षण  
हीनत्वात् च्युतसंस्कारत्वम् ।

उनके पर्यायों में परिवर्तन अनुचित है जैसे कि ‘वाढवानल’ पद (क्योंकि यदि ‘वढवानल’  
पद के पूर्ववर्ती ‘वढवा’ रूप अक्ष को बदल कर ‘अश्वानल’ कर दिया जाय तो ‘वढवाग्नि’  
की प्रतीति न हो पायगी और नेयार्थता का दोष लग जायगा) ।

अनुवाद—इसी भाँति अन्य दोषों के भी पदांशगत रूप यथासम्भव स्वयं देखे जा  
सकते हैं ।

इन दोषों में निरर्थकत्व आदि ( अर्थात् निरर्थकत्व, असमर्थत्व और च्युतसंस्कृतित्व )  
दोष ऐसे हैं जो केवल पदगत रूप में ही काव्य-साहित्य में दिखाई देते हैं ( न कि पदांश-  
गत अथवा वाक्यगत रूप में भी ) । जैसे कि क्रम से—

‘अरी मान करने वाली ! अब तो अपना मान छोड़ ।’

यहाँ उपर्युक्त उक्ति में ‘हि’ पद केवल वृत्तपूर्ति के ही लिए प्रयुक्त है ( क्योंकि इसका  
कोई भी अर्थ यहाँ अन्वित नहीं होता ) । अथवा, जैसे कि—

‘यह कृशोदरी कुञ्ज में जा रही है ( कुञ्ज हन्ति ) ।’

यहाँ जो ‘हन्ति’ पद प्रयुक्त है वह शब्द-शास्त्र में गमन के अर्थ में निर्दिष्ट तो है किन्तु  
गमन के अभिप्राय का प्रत्यायक कदापि नहीं हो सकता ।

इसी भाँति ‘गाण्डीवधारी अर्जुन ने, त्रिलोचन शिव के कनकशिला-सरीखे वक्षस्थल  
पर, अपनी भुजाओं से प्रहार प्रारम्भ कर दिया ( आजघ्ने ) ।’

( महाकविभारवि की ) इस सूक्ति में जो ‘आजघ्ने’ पद है उसमें ‘च्युतसंस्कृतित्व’  
स्पष्ट है । कारण यह है कि ‘आडो’ उपसर्गपूर्वक ‘हन’ धातु का आत्मनेपद में प्रयोग  
पाणिनीय ‘व्याकरणशास्त्र के ‘आडो यमहन’ ( १ इ २८ )’ सूत्र के अनुसार होता  
अवश्य है किन्तु ‘स्वाङ्गकर्मकाच्च’ आदि वार्तिक की अनुवृत्ति के कारण तभी होता है जब  
कि मारने की क्रिया का कर्म ‘स्वाङ्ग’ ( स्वयं ) के आने के बाद ही ( अर्थात् अपने-  
आप ) हुआ करता है ।

‘नम्बत्र ‘आज्जणे’ इति पदस्य स्वतो न दुप्यता, अपि तु पदाम्तरापेक्षयैव इत्यस्व वाक्यदोषता ? मैवम् तथाहि गुणदोषासङ्कराणां शब्दार्थगतत्वेन व्यवस्थितेस्त्वन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वं हेतुः । इह तु दोषस्य ‘आज्जणे’ इति पदमात्रस्यैवान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वम्, पदाम्तराणां परिवर्तनेऽपि तस्य तादवस्थ्यादिति पददोषत्वमेव । तथा घयेहारमनपदस्य परिहृतावपि न पद दोषः, तथा हन्प्रकृतेरपीति न पदार्थादोषः ।

एवं ‘पद्य’ इत्यत्राप्रयुक्तस्य पदगतत्वं बोध्यम् । एवं प्राकृतादिभ्याकरण-लक्षणहीनावपि व्युत्संसकृतित्वं बोध्यम् ।

( कतिपय दोषों के स्वरूप-भेद )

इह तु शब्दानां सर्वथा प्रयोगाभावेऽसमर्थत्वम् । विरहप्रयोग निहतार्थत्वम् । निहतार्थत्वमनेकार्थशब्दविषयम् । अप्रतीतत्वं स्वेकार्थस्यापि शब्दस्य

वहाँ ( भारवि ने ) इस विषय का उल्लेख किया है जिससे यह प्रयोग व्याकरण के नियम के विरुद्ध है वहाँ ‘व्युत्संसकृतित्वं’ दोष आ जाता है ।

यहाँ ( ‘आज्जणे’ आदि में ) यह कहा जा सकता है कि अपने आप में तो ‘आज्जणे’ पद व्याकरण से अनुमोदित है और इसमें जो भी दोष है वह दूसरे पद ( अर्थात् विपन-विजोचनस्य वक्ता ) की अपेक्षा से है जिसके वक्तव्य वहाँ ‘वाक्यगत’ व्युत्संसकृतित्व की कल्पना की जा सकती है ( न कि पदमात्रगत दोष की ) । किन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं । बात यह है कि गुण, दोष किंवा अङ्गहारी की अङ्गगत अथवा अर्थगत रूप से जो व्यवस्थित माना गया है उसका कारण अन्वय-व्यतिरेक का सिद्धान्त है ( अर्थात् जो दोष अथवा गुण अथवा अङ्गहारी जिस शब्द अथवा अर्थ के रहने पर रहे और न रहने पर न रहे वह उसी शब्द अथवा अर्थ का दोष अथवा गुण अथवा अङ्गहारी माना जाता करता है ) । वहाँ जो व्युत्संसकृतित्व है वह ‘आज्जणे’ इस एक पद के रहने से ही है क्योंकि इसे हटा देने से यह दोष हट जाता है । इसलिये वहाँ ‘व्युत्संसकृतित्व’ पददोष है ( व कि वाक्यदोष ) क्योंकि अन्य वहाँ के बहुत होने पर भी यह दोष बना ही रह जाता है । वहाँ इसे पदोत्पत्ति दोष भी नहीं माना जा सकता क्योंकि जैसे ‘अप्रयोज्यपद’ की बहुत होने पर यह दोष हट जाता है वैसे ही हन्, वातु की बहुत होने पर भी ( यहाँ दोष तो वह तब होता जब कि प्रकृति और प्रत्यय दोनों में से किसी एक के बहुत होने पर भी बना रहता ) ।

इसी भाँति ‘पद्य’ ( पुष्पिणि में ‘पद्य शब्द’ ) आदि में जो ‘अप्रयुक्तत्व’ दोष है वह ‘पद्य गत’ ही माना जाना चाहिये । साथ ही साथ प्राकृत मात्वाओं के व्याकरण-नियमों के विरुद्ध जो प्रयोग हैं उनमें भी वस्तुतः ‘व्युत्संसकृतित्व’ दोष ही देखा जाना चाहिये ।

अनुवाक—यहाँ इह कतिपय उपर्युक्त दोषों का परस्पर भेद इस प्रकार समझना चाहिये—‘असमर्थत्व’ तब हुआ करता है जब कि किसी शब्द का ऐसे अर्थ में प्रयोग किया जाय जिसमें उसे कभी प्रयुक्त नहीं किया जाना करता । ‘निहतार्थत्व’ ऐसे शब्द के प्रयोग में रहा करता है जिसका किसी अर्थ में कदापि ही ( जैसे कि शिखरप्रसङ्ग में ) प्रयोग किया जाया करता है । ‘निहतार्थत्व’ की सम्भावना तो अनेकार्थक शब्द के प्रयोग में ( वस्तुतः विरह प्रयोग में ) है किन्तु ‘अप्रतीतत्व’ ऐसे एकार्थक अथवा अनेकार्थक शब्द के भी प्रयोग में सम्भव है जो कि उस अर्थ में सर्वत्र प्रयुक्त न होता हो जिसमें उसे प्रयुक्त

सार्वत्रिकप्रयोगविरहः । अप्रयुक्तत्वमेकार्थशब्दविषयम् । असमर्थत्वमनेकार्थ-  
शब्दविषयम् । असमर्थत्वे हन्त्यादयोऽपि गमनार्थे पठिताः । अवाचकत्वे दिना-  
दयः प्रकाशमयाद्यर्थ न तथेति परस्परभेदः ।

( वाक्यदोषः स्वरूप तथा भेद-निरूपण )

एवं पददोषसजातीया वाक्यदोषा उक्ता, सम्प्रति तद्विजातीया उच्यन्ते—

‘वर्णानां प्रतिकूलत्वं, लुप्ताऽऽहतविसर्गते ।

अधिकन्यूनकथितपदताहतवृत्तता ॥ ५ ॥

पतत्प्रकर्षता, सन्धौ विश्लेषाश्लीलकष्टताः ।

अर्धान्तरैकपदता समाप्तपुनरात्तता ॥ ६ ॥

अभवन्मतसम्बन्धाक्रमामतपरार्थताः ।

वाच्यस्यानभिधानं च भग्नप्रक्रमता तथा ॥ ७ ॥

त्यागः प्रसिद्धेरस्थाने न्यासः पदसमासयोः ।

संकीर्णता गर्भितता दोषाः स्युर्वाक्यमात्रगाः ॥ ८ ॥

किया गया है । ‘अप्रयुक्तत्व’ दोष का विषय वह शब्द है जो एकार्थक हुआ करता है और ‘असमर्थत्व’ दोष का वह जो अनेकार्थक हो । ‘असमर्थत्व’ और ‘अवाचकत्व’ का भेद उदाहरण से ही स्पष्ट है । ‘असमर्थत्व’ दोष का उदाहरण ‘गमन’ के भी अर्थ में पठित ‘हन्’ धातु ( हन् हिंसागत्यो ) का ( हिंसा के बदले ) गमन के अर्थ में प्रयोग है ( क्योंकि जङ्घा, पद्धति आदि शब्दों के अतिरिक्त ) इसे गमन के अर्थ में प्रयुक्त नहीं किया जाया करता ( ‘गच्छति’ के बदले ‘हन्ति’ का प्रयोग सर्वथा दुष्ट प्रयोग है ) । ‘अवाचकत्व’ के उदाहरण-रूप में ‘प्रकाशमय’ आदि अर्थों में प्रयुक्त ‘दिन’ आदि शब्दों को लिया जा सकता है जो कि इन अर्थों में शब्दशास्त्र में कदापि निर्दिष्ट नहीं ।

अनुवाद—अब उन वाक्यदोषों का निरूपण किया जा रहा है जो कि एकमात्र वाक्य-  
गत हुआ करते हैं क्योंकि अब तक जिन वाक्यदोषों का निरूपण किया गया वे पददोषों  
के सजातीय थे । ये दोष एकमात्र वाक्यदोष हैं—

- |                     |                       |
|---------------------|-----------------------|
| १ प्रतिकूलवर्णत्व   | १३ समाप्तपुनरात्तत्व  |
| २ लुप्तविसर्गत्व    | १४. अभवन्मतसम्बन्धत्व |
| ३ आहतविसर्गत्व      | १५. अक्रमत्व          |
| ४ अधिकपदत्व         | १६. अमतपरार्थत्व      |
| ५ न्यूनपदत्व        | १७ वाच्यानभिधान       |
| ६ कथितपदत्व         | १८ भग्नप्रक्रमत्व     |
| ७ हतवृत्तत्व        | १९ प्रसिद्धित्याग     |
| ८ पतत्प्रकर्षत्व    | २० अस्थानस्थपदत्व     |
| ९ सन्धिविश्लेष      | २१ अस्थानस्थसमासत्व   |
| १० सन्ध्यश्लीलत्व   | २२ संकीर्णत्व         |
| ११ सन्धिकष्टत्व     | और                    |
| १२ अर्धान्तरैकपदत्व | २३ गर्भितत्व ।        |

‘नन्यत्र ‘आजघ्ने’ इति पदस्य स्वतो न दुष्टा, अपि तु पदान्तरापेक्षैव इत्यस्य वाक्यदोषता ? मैवम् । तथाहि गुणदोषाद्वक्त्राणां शब्दार्थगतत्वेन व्ययस्थितेस्तद्व्ययव्यतिरेकानुविधायित्वं हेतुः । इह तु दोषस्य ‘आजघ्ने’ इति पदमात्रस्यैवाव्ययव्यतिरेकानुविधायित्वम्, पदान्तराणां परिवर्त्तनेऽपि तस्य तावदव्ययव्यतिरेकपदोपत्वमेव । तथा यद्येवमनपदस्य परिवृत्तावपि न पदोपः, तथा हन्प्रकृतेरपीति न पदारादोषः ।

एवं ‘पद्य’ इत्यत्राप्रयुक्तस्य पद्यगतत्वं बोध्यम् । एवं प्राकृतादिभ्याकरणलक्षणहीनावपि व्युत्पत्तस्वरत्वमूढम् ।

( कतिपय दोषों के स्वल्प-भेद )

इह तु शब्दानां सर्वथा प्रयोगाभावेऽसमर्थत्वम् । विरलप्रयोगे निहतार्थत्वम् । निहतार्थत्वमनेकार्थशब्दविषयम् । अप्रतीतत्वं त्वेकार्थस्यापि शब्दस्व

यहाँ ( मारवि ने ) इस विषय का उल्लेख किया है जिससे यह प्रयोग व्याकरण के विषय के विरल है यहाँ ‘व्युत्पत्तस्वरित्व’ दोष आ जाता है ।

यहाँ ( ‘आजघ्ने आदि में ) यह कहा जा सकता है कि अपने आप में तो ‘आजघ्ने’ पद व्याकरण से अनुमोदित है और इसमें जो भी दोष है वह दूसरे पद ( अर्थात् विषय-विशेषणस्य वचः ) की अपेक्षा से है जिसके देखते यहाँ ‘वाक्यगत’ व्युत्पत्तस्वरित्व की कल्पना की जा सकती है ( न कि पदमात्रगत वाच की ) । किन्तु ऐसा कहा जा नहीं सकता । यह है कि गुण दोष किंवा अङ्कुरों को सम्बन्धित अथवा अर्थगत रूप से जो व्यवस्थित माना गया है उसका कारण वाक्यव्यतिरेक का सिद्धान्त है ( अर्थात् जो दोष अथवा गुण अथवा अङ्कुर जिस शब्द अथवा अर्थ के रहने पर रहे और न रहने पर न रहे वह उसी शब्द अथवा अर्थ का वाच अथवा गुण अथवा अङ्कुर माना जाता करता है ) । यहाँ जो व्युत्पत्तस्वरित्व है वह ‘आजघ्ने’ इस एक पद के रहने से ही है क्योंकि इसे हटा देने से यह दोष हट जाता है । इसलिये यहाँ ‘व्युत्पत्तस्वरित्व’ पदोप है ( न कि वाक्यदोष ) क्योंकि वाक्य यहाँ के बहुत होने पर भी यह दोष बना ही रह जाता है । यहाँ इसे पदोपगत दोष भी नहीं माना जा सकता क्योंकि जैसे ‘आजघ्ने’ को बहुत होने पर यह दोष हट जाता है वैसे ही इन् प्रत्ययों को बहुत होने पर भी ( पदोप दोष तो वह तब होता जब कि प्रकृति और प्रत्यय दोनों में से किसी एक के बहुत होने पर भी बना रहता ) ।

इसी भाँति ‘पद्य’ ( पुष्पि में ‘पद्य शब्द ) आदि में जो ‘अप्रयुक्तत्व’ दोष है वह ‘पद्यगत’ ही माना जाता चाहिये । साथ ही साथ प्राकृत भाषाओं के व्याकरण-विषयों के विरल जो प्रयोग हैं उनमें भी वस्तुता ‘व्युत्पत्तस्वरित्व’ दोष ही देखा जाना चाहिये ।

ननुवाच—यहाँ हम कतिपय अपभ्रंश दोषों का परस्पर भेद इस प्रकार समझना चाहिये—‘असमर्थत्व’ तब हुआ करता है जब कि किसी शब्द का ऐसे अर्थ में प्रयोग किया जाय जिसमें उसे कभी प्रयुक्त नहीं किया जाना करता । ‘निहतार्थत्व’ ऐसे शब्द के प्रयोग में रहा करता है जिसका किसी अर्थ में क्याचित ही ( जैसे कि रिक्तप्रसङ्ग में ) प्रयोग किया जाया करता है । ‘निहतार्थत्व’ की सम्भावना तो अनेकार्थक शब्द के प्रयोग में ( वस्तुता विरल प्रयोग में ) है किन्तु ‘अप्रतीतत्व’ ऐसे एकार्थक अथवा अनेकार्थक शब्द के भी प्रयोग में सम्भव है जो कि उस अर्थ में सर्वत्र प्रयुक्त न होता हो जिसमें उसे प्रयुक्त

( २—लुप्तविसर्गत्व )

‘गता निशा इमा बाले ।’

अत्र लुप्ता विसर्गाः ।

( ३—आहतविसर्गत्व )

आहता ओत्वं प्राप्ता विसर्गा यत्र ।

यथा—‘धीरो वरो नरो याति ।’

( ४—अधिकपदत्व )

‘पल्लवाकृतिरक्तोष्ठी ।’

अत्राकृतिपदमधिकम् ।

( ‘अधिकपदत्व’विषयक विशेष विचार )

एवम्—

‘सदाशिवं नौमि पिनाकपाणिम् ।’

इति विशेषणमधिकम् ।

यहाँ यह तो निश्चित है कि साहित्यदर्पणकार ने ‘काव्यप्रकाश’ के अनुरोध पर ‘प्रतिकूलवर्णत्व’ का स्वरूप निरूपण किया है किन्तु ‘रति’ को काव्योत्कर्षकारक अतिरिक्त तत्त्व माननेवाले आचार्य के लिये ‘अरीतिमत्’ का स्वरूप निरूपण कदाचित् युक्तिसंगत होता ।

अनुवाद—‘अरी सुन्दरी । ये रातें यों ही बीत गयीं ।’

यहाँ ( ‘गता निशा इमा बाले’ आदि में ) विसर्गों का लोप है जिसमें ‘लुप्तविसर्गत्व’ दोष दिखायी दे रहा है ।

[ सकार के ‘ससञ्जुषो रु’ से रुत्व, ‘भोभगोभघोऽपूर्वस्य योऽशि’ से यत्व तथा ‘हलि सर्वेषाम्’ और ‘लोप शाकल्यस्य’ से यलोप होने पर ‘लुप्तविसर्गत्व’ का जन्म होता है । जिस वाक्य में विसर्ग का उच्चारण हो उसमें पाठ सौन्दर्य किंवा पाठ माधुर्य रहा करता है । किन्तु यदि विसर्ग लुप्त रहे तो पाठ में असौकर्य तो होता ही है साथ ही साथ नीरसता भी उत्पन्न हो जाती है । ]

अनुवाद—‘आहतविसर्गत्व’ वहाँ होता है जहाँ विसर्गओकार के रूप में परिवर्तित हो जाया करते हैं । जैसे कि ‘धीरो वरो नरो याति’ सरीखे वाक्य में ।

[ विसर्गों के ओकार में परिवर्तन से वाक्यपाठ में नीरसता आ जाती है जिसके कारण ‘आहतविसर्गत्व’ अथवा ‘उपहतविसर्गत्व’ को वाक्य दोष माना गया है । ]

अनुवाद—‘अधिकपदत्व’, जैसे कि—

‘पल्लव की आकृति की भाँति लाल ओठोंवाली ।’ यहाँ यह स्पष्ट है कि ‘आकृति’ पद ( अनुपयुक्त होने के कारण ) अधिक लग रहा है ( क्योंकि नायिका के ओठों की तुलना ‘पल्लव’ से ही की जाया करती है, उसकी आकृति से नहीं ) ।

अनुवाद—इसी भाँति इस उक्ति जैसे कि—

‘पिनाकपाणि सदाशिव ( भगवान् शङ्कर ) को प्रणाम ।’ आदि में, विशेषणरूप से प्रयुक्त ‘पिनाकपाणि’ पद अधिक प्रतीत हो रहा है ( क्योंकि भगवान् शङ्कर की स्तुति के प्रसङ्ग में इसका उपयोग अकिञ्चित्कर ही है ) । किन्तु ( महाकवि कालिदास के कुमार-संभव की ) इस सूक्ति अर्थात्—



(वाचस्पत्यशेषः १ प्रतिशूकवर्णनम्)

वर्णनानां रसानुगुण्यविपरीतत्वं प्रतिशूकत्वम् ।

यथा मम—

‘भोवदृह सप्तदृह सभयो कर्हिपि मोदुमह नो परिदृह ।

हियपण फिट्टह जज्झाह मुदुह विहीए सा ॥’

(वदुतपति उद्धोटवति जपने कर्हपि मोदुमति नो परिदुनति ।

इत्येव सिद्धपति जज्झया मुदुवति हते सा ॥)

अत्र टक्करा मृत्काररसपरिपन्थिन केवलं शक्तिप्रदर्शनाय निबद्धा । एषा चैकविप्रिपत्तुःप्रयोगे न साहस्रसमञ्ज इति न दोषः ।

विमर्श—साहित्यदर्पणकार ने काव्यप्रकाशकार-सम्मत वाचस्पत्यो की ही निकपन किया है। काव्यप्रकाशकार के अनुसार वाचस्पत्यशेष दोषों की संख्या २१ है। साहित्यदर्पणकार ने काव्य प्रकाश निरूपित ‘विसृजित्व’ दोष को ‘सन्निविष्टैव’ ‘सम्पदकोकल’ और ‘सन्निविष्टैव वाचक’ तीन दोषों के रूप में देखा है जिससे साहित्यदर्पणकार की वाचस्पत्योसङ्ख्या २१ हो गयी है।

अनुवाद—‘प्रतिशूकवर्णन’ यह दोष है जिसे रसामिष्यजन्य के प्रतिकूल वर्णों की बोलनावाले वाक्य में देखा जाना करता है। उदाहरण के लिए इस स्वरचित काव्य-वाक्य अर्थात्—

‘तुम्हारे विरह में यह सुन्दरी पक्षी पर करवटे बध्ना करती है हृन्प-वैर पदका करती है मोहवित में जप्ता करती है और उसी काम बोक-बाजकर पवी रहा करती है इसका हृन्प पत्ता पठता है और कला के कारण इसकी बेचैनी बढती दिखायी दिया करती है। आदि में। यहाँ ‘प्रतिशूकवर्णन’ इसलिये है क्योंकि यहाँ कवि ने शक्तिप्रदर्शन के लिये (प्रतिशूकवर्णन के विरुद्ध में अपना कवि-कीचक दिखाने के लिये) यहाँ के क्रोमक रस-वस्तुतः शृंगार रस-के बिकल उल्लेखों की बोलना की है। जैसे यदि हो-एक अथवा लीच-बार बार इनका प्रयोग हो जान सो कोई विशेष रसमग्न बनना दोष नहीं होता किन्तु इनका अनेक बार प्रयोग जैसा कि यहाँ स्पष्ट है, दोषावह ही क्या रहा है।

विमर्श—सरस्वतीकण्ठाभरणकार के अनुसार ‘प्रतिशूकवर्णन’ दोष का नाम ‘अतीतिमति’ है—‘गुणाणां दृश्यते अत्र श्लेषादीनां विपर्ययाः । अतीतिमतिरिति प्राहुस्तत् त्रिविधं प्रचलते ॥ सङ्घातार्थमवयवयोगस्य प्राधान्यात् प्रथमं भिन्नं । मूल्या श्लेषादिभिर्योगेन पुनश्चेधोपजायते ॥ अत्र वा श्लेषसमतासौकुमार्यविपर्ययः । सङ्घप्रधानमप्राप्तमतीतिमतिरुपपन्नं ॥ विपद्येन श्लेषस्य सौधर्मः क्षिणिको भवति । अनेकस्य पृथ विपद्यो समताया विपर्ययात् ॥ सौकुमार्यविपर्ययात् कठोर उपजायते । वा तु कान्तिप्रसादार्थम्वत्तीनामन्वयमातिः ॥ अर्थप्रधानः प्रोक्तस्तु वाक्ये गुण्यविपर्ययः । अप्रसन्नं भवेत् वाक्यं प्रसादस्य विपर्ययात् ॥

(सरस्वतीकण्ठाभरणः १ २८-२५)

अर्थात् श्लेष, प्रसाद समता सौकुमार्य आदि गुणों के बीच से ही वाक्यों में काव्यता की प्रतीति हुमा करती है किन्तु इनके अभाव में वाक्य काव्यमात्र में बदल जाते हैं। गुणों के विपर्यय में रीतिमग्न सामान्यिक है क्योंकि गुणवती पदरचना का ही नाम ‘रीति’ है। श्लेष के विरुद्ध में संदर्भ में लेखन ‘समता’ के विपर्यय में वचन में वैचल्य और सौकुमार्य के विपर्यय में रचना में कठोरता का होना निश्चित ही है।

( २—लुप्तविसर्गत्व )

‘गता निशा इमा बाले !’

अत्र लुप्ता विसर्गाः ।

( ३—आहतविसर्गत्व )

आहता ओत्वं प्राप्ता विसर्गा यत्र ।

यथा—‘धीरो वरो नरो याति ।’

( ४—अधिकपदत्व )

‘पल्लवाकृतिरक्तोष्ठी ।’

अत्राकृतिपदमधिकम् ।

( ‘अधिकपदत्व’विषयक विशेष विचार )

एवम्—

‘सदाशिव नौमि पिनाकपाणिम् ।’

इति विशेषणमधिकम् ।

यहाँ यह तो निश्चित है कि साहित्यदर्पणकार ने ‘लुप्तविसर्गत्व’ के लिये ‘अरीतिमत्’ का स्वरूप निरूपण कदाचित् युक्तिमग्न न हो

अनुवाद—‘अरी सुन्दरी ! ये रातें यों ही बीत गयीं ।’

यहाँ ( ‘गता निशा इमा बाले’ आदि में ) विसर्गों का लोप दोष दिखायी दे रहा है ।

[ सकार के ‘ससञ्जो ह’ से रुत्व, ‘भोभगोभो’ से ‘सर्वेषाम्’ और ‘लोप शाकश्यस्य’ से यलोप होने पर जिस वाक्य में विसर्ग का उच्चारण हो उसमें पाठ सौन्दर्य के लिये किन्तु यदि विसर्ग लुप्त रहे तो पाठ में असौकर्य तो होगा भी उत्पन्न हो जाती है । ]

अनुवाद—‘आहतविसर्गत्व’ वहाँ होता है जहाँ विसर्ग हटा जाया करते हैं । जैसे कि ‘धीरो वरो नरो याति’ सरासरी

[ विसर्गों के ओंकार में परिवर्तन से वाक्यपाठ में नाकाम्यता ‘आहतविसर्गत्व’ अथवा ‘उपहतविसर्गत्व’ को वाक्य दोष माना जाता है ]

अनुवाद—‘अधिकपदत्व’, जैसे कि—

‘पल्लव की आकृति की भाँति लाल ओठोंवाली !’ यहाँ ( अनुपयुक्त होने के कारण ) अधिक लग रहा है ( क्योंकि ‘पल्लव’ से ही की जाया करती है, उसकी आकृति से नहीं )

अनुवाद—इसी भाँति इस उक्ति जैसे कि—

‘पिनाकपाणि सदाशिव ( भगवान् शङ्कर ) को प्रयुक्त ‘पिनाकपाणि’ पद अधिक प्रतीत हो रहा है ( क्योंकि प्रसङ्ग में इसका उपयोग अकिञ्चित्कर ही है ) किन्तु ( समव की ) इस सूक्ति अर्थात्—

‘कुर्या हस्स्यापि पिनाकपाणौ’ इति ।

अत्र तु पिनाकपाणिपद् विशेषप्रतिपत्त्यर्थमुपात्तमिति युक्तमथ ।

यथा या—‘वाचमुवाच कीत्स’ ।

अत्र वाचमित्यधिकम् । उवाचेत्यनेनैव गतार्थत्वाद् ।

कश्चित्तु विशेषणवानार्थं तत्प्रयोगो मुक्यते ।

यथा—‘उवाच मधुरा वाचम्’ इति ।

केचित्स्वाहु—अत्र विशेषणस्यापि क्रियाविशेषणत्वं सम्भवति तत्रापि तत्प्रयोगो न घटते ।

यथा—‘उवाच मधुरं धीमान्’ इति ।

( ५—न्यूनपदत्व )

‘यदि मय्यर्पिता दृष्टिः किं ममेन्द्रतया तदा ।’

अत्र प्रथमे त्वयेति पद् न्यूनम् ।

( ६—कथितपदत्व )

‘रतिक्षीणममं भिन्ने सखीलमनिशो बहन् ।’

अत्र क्षीणशब्द पुनरुक्तः ।

‘पिनाकपाणि महादेव का भी बेच दिगा हूँ’ आदि में विशेषणरूप से प्रयुक्त वही ‘पिनाकपाणि’ पद सर्वथा ( सार्वक किंवा ) विरुद्ध है क्योंकि इसके द्वारा भयवान् काहर की एक विशेषता ( वस्तुतः दुर्बलता ) का अवलोकन कराया जा रहा है ।

अधिकपदत्व का यह भी एक स्पष्ट उदाहरण है—

‘कीत्स वचन बोके’—( ‘वाचमुवाच कीत्स’ एतुर्बन्धः । न म सर्ग ) वहाँ ‘वाचम्’ पद अधिक है क्योंकि ‘उवाच’ पद के प्रयोग से ही ‘वचन’ के उच्चारण का अभिप्राय निकल आता है । किन्तु कभी-कभी विशेषण के प्रयोग की सार्वक्यता के लिये इस पद का प्रयोग आवश्यक हो जाता है जैसे कि—

‘यह वचा मीठा वचन बोका ।’ किन्तु वहाँ कथितपद आचार्य ( जैसे कि काव्यप्रकाश-कार आचार्य मम्मट ) अधिकपदत्व ही मानते हैं क्योंकि उनका कहना यह है कि यदि विशेषण ( जैसे कि ‘उवाच मधुरा वाचम्’ में ‘मधुरा’ पद ) को क्रियाविशेषण ( ‘उवाच मधुरं धीमान्’ में ‘मधुरम्’ पद ) के रूप में व्यवहृत किया जाय तब यह स्पष्ट हो जाएगा कि ‘वाचम्’ आदि पद अधिक हैं और प्रयोग योग्य नहीं हैं । इसीलिये—‘उवाच मधुरं धीमान्’ आदि वाचन विरुद्ध हैं ( क्योंकि यहाँ कोई पद अनुपयुक्त होने से अधिक नहीं है )

अतएव—‘न्यूनपदत्व’ जैसे कि—

‘यदि (आपने) मेरी ओर कृपा-दृष्टि की तो मुझे इन्द्रक पदकी भी कोई चिन्ता नहीं ।’  
‘वहाँ ( यदि मय्यर्पिता दृष्टि—इस ) प्रथम चरण में ‘त्वया’ पद की कमी रह गयी है जिससे इसमें ‘न्यूनपदत्व’ का दोष आ गया है ।

अतएव—‘कथितपदत्व’ जैसे कि—

‘यह कीटा करती बढ़ती समीर रतिकीटा की धामिल भगा रही है ।’  
‘वहाँ ‘लीला’पद पुनरुक्त है क्योंकि ‘सलीलम्’ क विशेषण क रहते हुए ‘रतिक्षीणमम’ में ‘लीला’ पद आवश्यक प्रतीत हो रहा है ।

एवम्—‘जक्षुर्विसं धृतविकासिविसप्रसूनाः ।’

अत्र विसशब्दस्य धृतपरिस्फुटतत्प्रसूना इति सर्वनाम्नैव परामर्शो युक्तः ।

( ७—हतवृत्तत्व )

हतवृत्तम्—लक्षणानुसरणेऽप्यश्रव्यम् , रसानुगुणम् , अप्राप्तगुरुभावान्त-  
लघु च । क्रमेण यथा—

‘हन्त ! सततमेतस्या हृदय भिन्ते मनोभवः कुपितः ।’

‘अयि ! मयि मानिनि ! मा कुरु मानम् ।’

इदं वृत्तं हास्यरसस्यैवाऽनुकूलम् ।

‘विकसित-सहकार-भार हारि-परिमल एव समागतो वसन्तः’ ।

इसी भाँति ( महाकवि माघ के शिशुपालवध ५म सर्ग की ) इस सूक्ति अर्थात्—

‘हाथों में कमल के फूल ( विसप्रसून ) लिये हुये सैनिकों ने कमलनाल ( विस ) खाना प्रारम्भ किया ।’

मैं, जो ‘धृतविकामिविसप्रसूना’ पद है उसमें ‘विस’ पद पुनरुक्त है क्योंकि यहाँ ‘धृत-परिस्फुटतत्प्रसूना’ पद का प्रयोग होना चाहिये था जिसमें पूर्वप्रयुक्त ‘विस’ का ‘तत्’ इस सर्वनाम पद द्वारा परामर्श हो जाता और ‘कथितपदत्व’ की कोई संभावना भी न रह पाती ।

अनुवाद—‘हतवृत्त’ उस प्रकार का वृत्त है जो (१) छन्दशास्त्र के नियमानुसार ठीक होने पर भी, सुनने में खटक जाया करता है, (२) प्रकृत रस के अननुगुण अथवा प्रतिकूल लगा करता है और (३) जिसके पाद के अन्त का लघुवर्ण गुरु नहीं हो पाता ( जैसा कि नियमानुसार उसे होना चाहिये ) । इस प्रकार के वृत्त में वद्ध काव्यवाक्य ‘हतवृत्तत्व’ दोष से दूषित रहा करता है । उदाहरण के लिये—

‘ओह ! निरन्तर ही ऐसा होता है कि कामदेव क्रुद्ध होकर इस सुन्दरी के हृदय पर प्रहार किया करते हैं ।’

[ यहाँ अर्थात् ‘हन्त सततमेतस्या’ हृदयं भिन्ते मनोभव कुपितः’ में ‘हतवृत्तत्व’ इस लिये है क्योंकि वैसे तो यह आर्या छन्दशास्त्र के नियम अर्थात्—

‘यस्या पादे प्रथमे द्वादश मात्रास्तथा तृतीयेऽपि ।

अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश साऽऽर्या ॥’

आदि का अनुसरण कर रही है किन्तु सुनने में खटक जाती है क्योंकि प्रथम चरण ‘अनुष्टुप्’ सा सुनायी पड़ता है और वाद में आर्या की चाल प्रतीत होती है । ]

अथवा

‘अरी मान करने वाली ! मुझ पर मान न कर ।’

यहाँ भी ‘हतवृत्तत्व’ है क्योंकि यहाँ का जो ( पञ्चदशिका नामक ) वृत्त है वह हास्य रस के अभिव्यञ्जन के अनुकूल हुआ करता है ( जब कि यहाँ का रस शृङ्गार है ) ।

अथवा

‘खिली हुई आम की मजरियों के मधुर सौरभ से सना वसन्त का समय आ पहुँचा ।’

यस्यावान्ते अघोरपि गुरुमायं उक्तः, तत्सर्वत्र द्वितीयचतुर्थपादविषयम् ।  
प्रथमवृत्तीयपादविषयम् नु वसन्तविलम्बकारेण ।

अत्र 'प्रमुदितसौरभ आगतो वसन्तः' इति पाठो युक्तः ।

यथा वा—

'अभ्यास्ता गुणरत्नरोहणमुषो धन्या सुवन्द्यैव सा  
सम्भारः कलु सेडन्य एव विधिना वैरेप सृष्टो मुषा ।  
श्रीमत्प्रमिष्ठुषी द्विपां करतलात् क्षीणा नितम्बस्थलात्  
दृष्टे यत्र पतन्ति मूढमनसामक्षाणि बक्ष्यामि च' ॥

अत्र 'बक्ष्यामि च' इति वचनस्य रसवत्त्वमुच्यते । 'बक्ष्याम्यपि' इति पाठो तु  
वाङ्मयमिति न शेषः । 'इवमप्राप्तगुरुमावान्तच्छु' इति काव्यप्रकाशकारः । वस्तु  
वस्तु 'सप्तपाञ्चुरयोऽप्यमव्ययम्' इत्यन्ये ।

यहाँ 'इतदुत्पत्त्य' इसलिये है क्योंकि 'विकसितसहकारमारहारि' इस प्रथम चरण के  
अन्त का कपुर्वर्ण गुरुवर्ण के रूप में यहाँ सुनायी देता (जैसा कि निबन्धसुसप्त उसे  
सुनायी देता चाहिये) । अन्वयात् का यह विषय कि पाद के अन्त का कपुर्वर्ण गुरुवर्ण  
के रूप में (विकल्पता) सुनायी पड़ना चाहिये वस्तुतः और अन्वयों के तो द्वितीय और  
चतुर्थ चरणों के लिये अविवर्ण है किन्तु 'वसन्तविलम्ब' आदि वृत्तों के प्रथम और वृत्तीय  
चरणों में भी इसे कम्पू माना गया है (इसलिये यहाँ के पुष्पिताग्रा वृत्त के प्रथम चरण  
में इसे कम्पू होते न देखकर 'इतदुत्पत्त्य' की प्रतीति स्वामात्रिक है) ।

यहाँ यदि 'विकसितसहकारमारहारि' प्रमुदितसौरभ आगतो वसन्तः' यह पाद  
कर दिया जाय तो 'हारि' का 'रि' अन्तो के संयुक्त 'म' के प्रभाव से गुरुवर्ण के रूप में  
सुनायी पड़ने लगाता है और 'इतदुत्पत्त्य' का शेष हट जाता है ।

अथवा

'गुणरत्नों की उत्पादिका वह मृमि कोई और ही मृमि है, वह सौमन्यसाक्षिनी मिट्टी  
कोई और ही मिट्टी है और वे सम्भार (साधन) कोई और ही सम्भार हैं जिससे  
विधाता ने इस पुष्प को बनाया है । तभी तो यह बात है कि इसके देखते (प्रथम  
अवस्था कम से) मृग्य दृष्ट्य वने सज्जनों के हाथ से लक्ष और सुन्दरियों के विलम्ब से  
यह सहसा छूट पड़ते हैं ।

यहाँ भी 'इतदुत्पत्त्य' है क्योंकि (यहाँ के 'सार्धकविप्रदित' वृत्त के अन्तिम चरण के  
अन्त में) 'बक्ष्यामि च' में जो अन्तकपुर्वर्ण है उसके कारण यह वृत्त वीका-वाका सुनायी  
पड़ रहा है । यहाँ यदि 'बक्ष्यामि च' के बरके 'बक्ष्याम्यपि' कर दिया जाय तो (वचन-  
वैविध्य हट जाता है और) वचन में रहता अवस्था गम्भीरता आ जाती है ।

काव्यप्रकाशकार (आचार्य जगन्नाथ) ने भी इसे ('अन्वयार्ता' आदि का) इतदुत्पत्त्य  
ही माना है किन्तु 'अप्राप्तगुरुमावान्तच्छु' रूप 'इतदुत्पत्त्य' कहा है (अर्थात् यहाँ 'इतदुत्पत्त्य'  
इसलिये है क्योंकि 'बक्ष्यामि च' का अन्तिम कपुर्वर्ण किसी प्रकार से भी गुरुवर्ण के रूप में  
नहीं सुनायी देता जैसा कि इसके लिये आवश्यक है) । किन्तु इसकी 'इतदुत्पत्त्य' जैसा  
कि अन्य आचार्यों का कहना है, 'अन्वयार्ता' के अनुसरण में भी) अव्ययता के कारण  
मानी जानी चाहिये ।

( ८—पतत्प्रकर्षत्व )

‘प्रोज्ज्वलज्ज्वलनज्वालाविकटोरुसटाच्छटः ।

श्वासक्षिप्तकुलद्दमाभृत् पातु वो नरकेशरी ॥’

अत्र क्रमेणानुप्रासप्रकर्षः पतितः ।

( ९—सन्धिविश्लेष )

‘दलिते उत्पले एते अक्षिणी अमलाङ्गि ! ते’ ।

विमर्श—‘रसवादी काव्याचार्य ‘हतवृत्तता’ को एक बड़ा दोष मानते हैं । वृत्त और रस का परस्पर सम्बन्ध है और इसीलिये रसानुगुण वृत्त की रचना आवश्यक मानी गयी है । महाकवि क्षेमेन्द्र ने ठीक ही कहा है—

‘काव्ये रसानुसारेण वर्णनानुगुणेन च । कुर्वीत सर्ववृत्तानां विनियोगं विभागवित् ॥’

‘वृत्तरत्नावली कामादस्थाने विनिवेशिता । कथयत्यज्ञतामेव मेखलेव गले कृता ॥’

( सुवृत्ततिलक ३य विन्यास )

अर्थात् वृत्तरचना के पहले ‘रस’ और ‘वर्ण्यवस्तु’ का विचार आवश्यक है । जो वृत्त रसानुकूल और वर्णनानुकूल होता है वही काव्य का वास्तविक माध्यम है । यदि बिना सोचे समझे कोई कवि कविता के गले में छन्दों की माला पहना दे तो वह अपनी ही मूर्खता प्रकाशित करता है । कर्धनी को किसी सुन्दरी के गले में पहनानेवाला मूर्ख ही तो है !

‘वृत्त’ और ‘रस’ के अनुगुण्य के सम्बन्ध में भी क्षेमेन्द्र की ये पक्तिया ध्यान देने योग्य हैं—

‘शृङ्गारालम्बनोदारनायिकारूपवर्णनम् । वसन्तादितदङ्ग च सच्छायमुग्जातिभि ॥

रथोद्धता विभावेषु भव्या चन्द्रोदयादिषु । पाङ्गुण्यप्रगुणा नीतिर्वशस्थन विराजते ॥

वसन्ततिलक भाति सङ्करे वीर-रौद्रयो । उपपन्नपरिच्छेदकाले शिखरिणी मता ॥

औदार्यरुचिरौचित्यविचारे हरिणी वरा । साक्षेपकोधधिककारे पर पृथ्वी भरक्षसा ॥

प्रावृट्प्रवासव्यसने मन्दाक्रान्ता विराजते ।’ ( सुवृत्ततिलक : ३य विन्यास )

अनुवाद—‘पतत्प्रकर्षत्व’ ( वह दोष है जिसे बन्ध के क्रमिक प्रकर्ष के हास में देखा जाया करता है ), जैसे कि—

‘प्रचण्ड ज्वलन ( अग्नि ) की ज्वाला की भाँति विशाल और भयङ्कर सटाभार वाले किंवा श्वासोच्छ्वास से कुचालकों को ढिगा देने वाले वे नरसिंह भगवान् आप सब का कल्याण करें ।’

यहाँ ‘पतत्प्रकर्षत्व’ स्पष्ट है क्योंकि अनुप्रास का प्रकर्ष क्रमशः गिरता ही दिखायी दे रहा है ।

विमर्श—बन्ध में क्रमशः प्रकर्ष के हास का कारण कवि की अशक्ति है । प्रकर्ष के उत्तरोत्तर पतन से काव्य-पाठक के काव्यानन्द में भी क्रमिक हास का होना स्वाभाविक है । बन्ध की पतत्प्रकर्षता रसविधातक हो सकती है । इसीलिये आलङ्कारिकों ने इसे वाक्यदोष माना है और इससे बचने के लिये कवियों को चेतावनी दी है ।

अनुवाद—‘सन्धिविश्लेष’ ( वह दोष है जिसे इच्छानुसार अथवा शब्दशास्त्र के नियमानुसार सन्धि के अभाव में देखा जाया करता है ) जैसे कि—

‘अरी सुन्दरी ! तेरी ये आँखें सिले नीलकमल हैं ।’

एवंविधसन्धिविरलेपस्य असकृत् प्रयोग एव दोषः । अनुरासनमुक्तं पृथग्भङ्गभयमात्रेण सन्धिविरलेपस्य तु सकृदपि ।

यथा—

‘वासवाराणमुत्से भाति इन्दुश्चन्दनचिन्दुवत् ।’

( १ —सम्पूरणीकत्व )

‘चलाण्डामरपेष्टिव’ इति ।

अत्र सन्धौ-जुगुप्साभ्यस्तु कमरलीलत्वम् ।

( ११—सन्धिकत्व )

‘सर्व्यसाधत्र तर्वाली मर्वन्ते चार्थवस्थिति’ ।

अत्र सन्धौ कण्ठत्वम् ।

( यहाँ ‘इकिते उत्पत्ते एते सन्धिषु अमकारि’ आदि पदों में प्रपञ्च संज्ञा के कारण कहीं भी सन्धि नहीं । इसलिये यहाँ सन्धिविरलेप का दोष स्पष्ट दिखायी दे जाता है । ) इस प्रकार के ‘सन्धिविरलेप’ को इसलिये दोष माना जाता है क्योंकि अनेक बार सन्धि-भङ्ग लोक नहीं ( अनेक बार सन्धिभङ्ग से तो पाठ-सीम्बर्ध बिगड़ जाता है ) । व्याकरणशास्त्र के नियम के उल्लंघन में किया गया सन्धिभङ्ग चाहे वह कन्धोभङ्ग से ही क्यों न बचने ‘सन्धिविरलेप’ का ही दोष है । उदाहरण के लिये—

‘वासवाराण मुके भाति इन्दुश्चन्दनचिन्दुवत्’ ( पश्चिम दिशा के मुक्तमण्डक पर चन्द्रमा ऐसा चमक रहा है मानो चन्दन-चिन्दु हो ) आदि प्रसङ्गों में कन्धोभङ्ग से बचने के लिये जो ( ‘मप्रति-इन्दुः’ में ) सन्धि न की गयी उसमें व्याकरणशास्त्र के सन्धि-नियम के उल्लंघन के कारण, यहाँ ही वह एक बार ही नहीं ब किया गया हो ‘सन्धिविरलेप’ का ही दोष शक्य जाता है ।

अनुवाद—‘सम्पूरणीकत्व’ ( वह दोष है जिससे सन्धि के कारण अरकीकता की प्रतीति में देखा जाया करता है ) जैसे कि—

‘( वेगाकुञ्जित गगने ) चकण्डामरपेष्टिता ।

( अचमुत्पत्ते पक्षी ततोऽग्रेण सचिद्रूपः ॥ )

आदि प्रसङ्गों में ‘चकण्+अमरपेष्टिता’ में सन्धि के कारण जो ‘कण्डा’ ( अथवा ‘कण्ड’ ) की सृति हो रही है उसमें एक कण्डात्पद् अतिमात्र ( स्पष्ट किया दीर्घ पुरीय अथवा पुण्य के अन्वयेतिवच ) की प्रतीति के हो जाने के कारण अरकीकता उत्पन्न हो जाती है ।

अनुवाद—‘सन्धिकत्व’ ( वह दोष है जिसे सन्धिविधान के कारण उत्पन्न होवेवासी सुतिक्रियता अथवा सुतिकर्कषता में देखा जाया करता है ) जैसे कि—

‘इस मर्वन्त’ ( भक्तमति के प्राप्तभाग ) में ‘चार्थवस्थिति’ ( कभी सुन्दर कमरे वाली ) और ( उर्ध्व ) बहुवचनी ‘तर्वाली’ ( हृत्पण्डित ) दिखायी पड़ रही है ।

आदि प्रसङ्गों में जो ( व्याकरण के नियमानुसार ) सन्धिविधान दिखायी दे रहा है उसके कारण सुतिकर्कषता उत्पन्न हो रही है ( जिसमें ‘सन्धिकत्व’ स्पष्ट शक्य होता है ) ।

( १२—अर्धान्तरैकपदत्व )

‘इन्दुर्विभाति कर्पूरगौरैर्धवल्यन् करैः ।

जगन्मा कुरु तन्वद्भि । मान पादानते प्रिये ॥’

अत्र जगदिति प्रथमाद्धे पठितमुचितम् ।

( १३—समासपुनरात्तत्व )

‘नाशयन्तो घनध्वान्त तापयन्तो वियोगिनः ।

पतन्ति शशिन’ पादा भासयन्तः क्षमातलम् ॥’

अत्र चतुर्थपादो वाक्यसमाप्तावपि पुनरुपात्त ।

( १४—अभवन्मतसम्बन्धत्व )

अभवन्मतसम्बन्धो यथा—

‘या जयश्रीर्मनोजस्य यया जगदलङ्कृतम् ।

यामेणाक्षीं विना प्राणा विफला मे कुतोऽद्य सा ॥’

अत्र यच्छब्दनिर्दिष्टाना वाक्याना परस्परनिरपेक्षत्वात् तदेकान्तःपातिना एणाक्षीशब्देन अन्येषा सम्बन्ध. कवेरभिमतो नोपपद्यत एव ।

अनुवाद—‘अर्धान्तरैकपदत्व’ ( वह दोष है जिसे किसी श्लोक-वाक्य के पूर्वार्द्ध के पद के उत्तरार्ध में लगे रहने अथवा उत्तरार्ध के पद के पूर्वार्ध में चले जाने में देखा जाया करता है ) जैसे कि—

‘अरी सुन्दरी ! यह चन्द्रमा कर्पूर की भाँति शुभ्र किरणों से धवल बनाते हुये, चमक रहा है, जगत को । पैरों पर गिरे अपने प्रियतम पर अब तो मान न कर ।’ आदि सूक्तियों में, जो दोष है वह ‘अर्धान्तरैकपदत्व’ का ही दोष है क्योंकि यहाँ पूर्वार्ध में रखने योग्य ‘जगत्’ पद उत्तरार्ध में रखा हुआ दिखायी दे रहा है ।

अनुवाद—‘समासपुनरात्तत्व’ ( वह दोष है जिसे वाक्य के समास हो जाने पर भी पुन उससे समन्वित होनेवाले पद के प्रयोग में देखा जाया करता है ) जैसे कि—

‘घने अँधेरे को छिन्न-भिन्न करने वाली, वियोगियों को सतप्त करती चन्द्र-किरणें नीचे उतर रही हैं, धरातल को चमकाती हुई ।’

यहाँ ( तीन चरणों में ) वाक्य के समास हो जाने पर भी जो चतुर्थ चरण ( भास-यन्त क्षमातलम्—धरातल को चमकाती हुई ) रचा गया है उसमें ‘समासपुनरात्तत्व’ का दोष आ लगा है ।

अनुवाद—‘अभवन्मतसम्बन्धत्व’ ( वह दोष है जिसे ऐसे वाक्य में देखा जाया करता है जहाँ किसी पद का अभिप्रेत सम्बन्ध अथवा अन्वय उत्पन्न न हो सके ) जैसे कि—

‘जो कि कामदेव की विजयलक्ष्मी है, जिसके द्वारा यह ससार सुशोभित हो रहा है और जिस मृगनयनी के विना मेरा जीवन निष्फल है, आज वह कहाँ है ?’

यहाँ ‘अभवन्मतसम्बन्धत्व’ है क्योंकि कवि के चाहने पर भी ‘एणाक्षी’ पद का सम्बन्ध, पूर्वार्ध के परस्पर निरपेक्ष ( स्वतन्त्र ) दोनों वाक्यों ( ‘या जयश्रीर्मनोजस्य’ और ‘यया जगदलङ्कृतम्’ ) से नहीं बैठ पाता । पूर्वार्ध के दोनों वाक्य परस्पर निराकाङ्क्ष इसलिये हैं क्योंकि दोनों ‘यत्’ शब्द से युक्त हैं । और ‘एणाक्षी’ पद इनसे इसलिये संबद्ध नहीं हो



‘यां विनामी वृथा प्राणा एणाक्षी सा कुसोऽय मे’ ।

इति चण्डवृनिर्विष्टबाभ्यान्त-पाठित्वेऽपि चण्डवृनिर्विष्टबाभ्यै सम्बन्धो पठते ।

यथा वा—

‘ईक्षसे यत्कटाक्षेण तदा भन्वी मनोमुष’ ।

अत्र अदित्यस्य तवेत्यनेन सम्बन्धो न पठते ।

‘ईक्षसे चेत्’ इति तु पुच्छः पाठः ।

यथा वा—

‘व्योत्स्नाचय पयःपूरस्तारका’ कैरवापि च ।

राजति व्योमकासारराजसं सुषाकर ॥’

अत्र व्योमकासारराजस्य समासे गुणीमावाच्यव्यस्य न सर्वे सयोगः ।

विधेयाविमर्शो यदेवाविसृष्टं तदेव बुध्यम् । इह तु प्रधानस्य कासारपदार्थस्य

पाठा क्योंकि यह (उत्तरार्ध के) एक वाक्य (‘यामेजाक्षी विधा’ आदि) में ही अन्तर्भूत पदा विजायी दे रहा है ।

यहाँ यदि ‘यां विनामी वृथा प्राणा एणाक्षी सा कुसोऽय मे’—और जिसके बिना मेरा जीवन व्यर्थ है वह गृगलपत्नी जब कहती है—कर विधा जान तो ‘एणाक्षी’ पद, उसके ही पद ‘तत्’ कम्बु से पुच्छ (विधेय) वाक्य के अन्तर्गत क्यों न रहे ‘यत्’ कम्बु से विविष्ट तीनों (उद्देश्य) वाक्यों से बधेष्ट रूप से सम्बन्ध हो जाता है (और वहाँ से ‘अभ्यव्यस्त-सम्बन्ध’ का बोध भी हो जाता है) ।

अथवा

‘यदि तू किसी पर कटाक्ष बकाती है तब तो कमरबैच धनुर्धरकम्ब में उसके सामने लड़ा ही हो जाता है ।

यहाँ भी ‘अभ्यव्यस्तसम्बन्ध’ है क्योंकि यहाँ प्रमुख ‘यत्’ पद (जिसका अर्थ ‘यदि’ है) ‘तदा’ पद के साथ (जो कि कटाक्षवाक्य है) सम्बन्ध नहीं हो पाता । किन्तु यहाँ यदि (ईक्षसे यत् के स्थान पर) ‘ईक्षसे चेत्’ कर दिया जान तो ‘चेत्’ और तदा का अभिमत सम्बन्ध स्थापित हो जाता है (और यह बोध भी हो जाता है) ।

अथवा

‘चौदवी अकरापि है तारे कुमुद हैं और व्योमसरोवर का राजसं पात्रमा सोमा-यमान है ।

यहाँ अभ्यव्यस्तसम्बन्ध इसलिये है क्योंकि ‘व्योमकासार’ (गगनसरोवर) पद समास में पड़कर गीन हो गया है और पूर्वार्ध के दोनों वाक्यों (‘व्योत्स्नाचया पयःपूर’ और ‘तारका कैरवापि च’) में किसी उचित वा, संबन्ध नहीं हो पाता ।

‘विधेयाविमर्श’ (अविमृष्टविधेयात्वात्) और ‘अभ्यव्यस्तसम्बन्ध’ में परस्पर भेद है । ‘विधेयाविमर्श’ में ता वही पद बोधपुच्छ माना जाता करता है जो कि (प्रधानरूप से उपपन्न होने के बख्के) अभ्यव्यस्त से उपपन्न किया गया होता है । किन्तु ‘अभ्यव्यस्तसम्बन्ध’ में समस्त वाक्य के अर्थ में विरोध भी प्रतीति हो उठती है क्योंकि जब कि ‘कामार (सरोवर) पद का अर्थ समास में पड़कर प्रधानतया प्रतीत न हो तब ता वह

प्राधान्येनाऽप्रतीते सर्वोऽपि पयःपूरादिशब्दार्थस्तदङ्गतया न प्रतीयत इति सर्व-  
वाक्यार्थविरोधाऽवभास इत्युभयोर्भेदः ।

‘अनेन च्छिन्दता मातुः कण्ठं परशुना तव ।

वद्धस्पद्धः कृपाणोऽयं लज्जते मम भार्गव ! ॥’

अत्र ‘भार्गवनिन्दाया प्रयुक्तस्य मातृकण्ठच्छेदनकर्तृत्वस्य परशुना सम्बन्धो  
न युक्तः’ इति प्राच्याः । ‘परशुनिन्दामुखेन भार्गवनिन्दाधिक्यमेव वैदग्ध्य द्योत-  
यति’ इत्याधुनिकाः ।

निश्चित ही है कि ‘पय पूर’ आदि पदों के अर्थ उसके अङ्गरूप से कदापि प्रतीत नहीं  
हो सकते ( और साङ्गरूपक की योजना समुचित नहीं बन सकती ) ।

[ तात्पर्य यह है कि ‘ज्योत्स्नाचयः’ आदि में साङ्गरूपक बाँधा गया है । आकाश पर  
सरोवर (कासार) का आरोप किया गया है और चाँदनी पर जलराशि तथा तारागण पर  
कुसुद का । किन्तु जब तक तत्पुरुष समास में पदा ‘कासार’ पदार्थ अप्रधान बना रहे  
तब तक उसके अङ्गरूप से ‘अभिप्रेत ‘पय पूर’ आदि पदार्थ उससे क्योंकि सबद्ध हो पावें  
और क्योंकि साङ्गरूपक उपपन्न हो सके । ]

प्राचीन आलङ्कारिकों (जैसे कि काव्यप्रकाशकार के अनुयायियों) के अनुसार इस सूक्ति  
अर्थात्—

‘भार्गव परशुराम ! माता का गला काटनेवाले, तुम्हारे इस परशु के साथ स्पर्द्धा करने  
में मेरा यह कृपाण लज्जित हो रहा है, अन्यथा  
में, ‘अभवन्मतसम्बन्धत्व’ है क्योंकि यहाँ भार्गव परशुराम की निन्दा के प्रकाशन के लिये  
प्रयुक्त, मातृकण्ठ-छेदन के कर्तृत्व के साथ ‘परशु’ का सम्बन्ध नहीं स्थापित हो पाता  
( क्योंकि ‘परशु’ तो मातृकण्ठ-छेदन के ‘करण’रूप से ही सम्बद्ध हो सकता है ) । किन्तु  
नवीन काव्याचार्य ( वस्तुतः साहित्यदर्पणकार और उनके अनुयायी लोग ) यहाँ यह  
दोष नहीं मानते क्योंकि उनका कहना यह है कि यहाँ तो परशु की निन्दा के द्वारा भार्गव  
परशुराम का अधिकाधिक तिरस्कार अभिव्यक्त किया जा रहा है जिसमें दोष के बदले  
कवि कौशल झलक रहा है ( अचेतन परशु पर तो मातृकण्ठ-छेदन के कर्तृत्व का आरोप है  
और इसी से वह निन्दनीय है किन्तु चेतन परशुराम तो और भी अधिक निन्दनीय है  
जिसके साथ मातृकण्ठ-छेदन के मुख्य कर्तृत्व का सम्बन्ध है ) ।

विमर्श—काव्यप्रकाशकार ने ‘अभवन्मतसम्बन्धत्व’ का वैज्ञानिक विवेचन किया है । उनके  
अनुसार इस दोष के ये ६ नियामक हैं—

१. विमक्ति-भेद

२. पदन्यूनत्व

३. आकाक्षाविरह

४. समासच्छन्नता

५. व्यङ्ग्यसम्बन्धाभाव और

६. व्युत्पत्तिविरोध

यहाँ साहित्यदर्पणकार को इस दोष की ये सभी नियामकतायें मान्य हैं । ‘व्यङ्ग्यसम्बन्धाभाव-  
निबन्धन’ अभवन्मतसम्बन्धत्व के उदाहरण में काव्यप्रकाशकार ने यह सूक्ति उद्धृत की है—

‘चापाचार्यस्त्रिपुरविजयी कार्तिकेयो विजेय शस्त्रव्यस्त सदनमुदधिर्भूरिय हन्तकार ।

अस्थेवैतत् किमु कृतवता रेणुकाकण्ठघातां वद्धस्पद्धस्तव परशुना लज्जते चन्द्रहास ॥’  
और इसमें इस दोष को इस प्रकार दिखाया है—

( १५—अक्रमण )

अक्रमण यथा—

‘समय एव करोति बलाबलं प्रणिगवन्त इतीव शरीरिणाम् ।

शरवि हंसरणा पटुपीकृतस्वरमयूरमयूरमणीयताम् ॥’

अत्र परामृश्यमानवाक्यानन्तरमेवेति शब्दोपयोगो मुष्मते, न तु ‘प्रणिग-  
वन्त’ इत्यनन्तरम् ।

एवम्—

‘द्वयं गत संप्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया कपाक्षिन’ ।

कक्षा च सा काम्बिमती कक्षावतस्त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी ॥’

अत्र स्वमित्थनन्तरमेव चकारो मुष्मः ।

‘( चापाचर्मादिपुरविषयी इत्यादी ) भार्गवस्य विन्ध्यायां उत्तर्पणम्, कृतवतेति परकी  
सा प्रतीयते कृतवत इति तु पाठे मतयोषी भवति । ( अम्यपकाशः : अम बकाश )यहाँ साहित्यदर्पणकार को जो भावोचना है उसमें कोई विशेष उत्पन्न नहीं । ‘कृत की निम्ना से  
कृतवती की निम्ना को पराकाष्ठा’ का अभिप्राय अभिव्यक्त तो हो सकता है किन्तु इसकी कवि  
व्यक्ति का भाव्यमन्त्र ही सही है जिसमें ‘अम्यपकाशः’ का बोध लगा है । यहाँ साहित्य-  
दर्पणकार यह नहीं स्पष्ट करते कि अनेक ‘विन्ध्याणां’ आदि में यह बोध गुप्त हो गया है ।अनुवाद—‘अक्रमण’ अथवा अक्रमण ( यह बोध है जो कि, जिस पद के पहले का  
पीछे जिस पद का प्रयोग उचित हो उसे यहाँ न कर अन्यत्र करने में देखा जाता करता है )  
जैसे कि ( महाकवि माव के ‘विष्णुपाकम्’ की ) इस सूक्ति अर्थात्—‘मावो इस बात को  
कहते हुए कि सत्तार में ‘सकल बकावत समय के ही अधीन है शरद् वायु में कम्बुओं  
की चमत्कृत मयूरी की केम की कठोर बचती हुई, बड़ी मणोरम बना रही है ।’  
में जो बोध है वह ‘अक्रमण’ है । यहाँ ‘इति’ शब्द का प्रयोग, वस्तुतः, ‘समय एव करोति  
बलाबलम्’ इस वाक्यके बाद होना चाहिये था क्योंकि ‘इति’ शब्द के द्वारा इसी वाक्यार्थ  
का परामर्श अपेक्षित है । ऐसा न करके ‘प्रणिगवन्तः’ पद के बाद जो ‘इति’ का प्रयोग  
किया गया है उसमें ‘अक्रमण’ बोध आ गया है ।

इसी प्रकार ( महाकवि कविदास के कुमारसम्भव की ) इस सूक्ति अर्थात्—

‘कपाकपाणि त्रिषु क समागम की कामना के कारण संप्रति हो वस्तुमें जोचनीय हो  
गयी है—एक तो चण्डमा की यह ( जगत्प्रसिद्ध ) काम्बिमती कक्षा और दूसरी कोक  
कोचन की चमिक्रका पृ ( अर्थात् पार्वती ) ।’में भी यह ‘अक्रमण’ ही दिखाई दे रहा है क्योंकि यहाँ ‘त्वम्’ पद के बाद ही ‘च’ शब्द  
का प्रयोग उचित था ( य कि ‘अस्य लोकस्य’ के बाद । यहाँ तो ‘च’ के द्वारा ‘चण्डिका  
और ‘कोककोचन की चमिक्रका पार्वती’ का समुच्चय अभिव्यक्त है ‘कोक’ का नहीं ) ।विमर्श—अक्रमण का ही दूसरा नाम ‘क्रमण’ है । अनेक ही यह बोध वरों के समुच्चय  
अन के विपर्यय के कारण हो किन्तु इसका प्रभाव नीला की प्रतीति पर बढ़ा है और वाक्यार्थ  
में विस्तृतता उत्पन्न कर देता है जिससे वाक्य-रचना के दृष्टि से जो कुछ हो जाता है ।  
समय एव करोति बलाबलं आदि सूक्ति में परामर्शनीय वार्थ के परिच्छेद के लिये ‘इति’  
पद का प्रयोग है किन्तु यहाँ भी परामर्शनीय वार्थ है वह ‘समय एव करोति बलाबलम्’ है  
य कि ‘समय एव करोति बलाबलं प्रणिगवन्तः’ है । इसलिये यह स्पष्ट है कि ‘इति’ के

( १६—अमतपरार्थत्व )

अमतपरार्थता यथा—

‘राममन्मथशरेण ताडिता—’ इत्यादि ।

अत्र शृङ्गाररसस्य व्यञ्जको द्वितीयोऽर्थः प्रकृतरसविरोधित्वादनष्टः ।

( १७—वाच्यानभिधान )

वाच्यस्यानभिधानं यथा—

व्युत्क्रम में यहाँ वाक्य विसरथुल हो रहा है और ‘अक्रमत्व’ का निदर्शन लग रहा है । यहाँ व्यक्तिविवेककार आचार्य महिममट्ट को ये पक्तियाँ ध्यान देने योग्य हैं—

‘उक्तिस्वरूपावच्छेदफलो यत्रेतिरिप्यते ।

न तत्र तस्मात् प्राक् किञ्चिदुक्तेरन्यत् पदं वदेत् ॥

उपाधिभावात् स्वा शक्तिं स पूर्वत्रादधाति हि ।

न च स्वरूपावच्छेद पदस्यान्यस्य सम्मतः ॥

इतिनैवेतरेषामप्यन्ययानां गतिः समा ।

ज्ञेयत्वमेवमादीनां तज्जातीयार्थयोगिनाम् ॥

यतस्ते चादय इव श्रूयन्ते यदनन्तरम् ।

तदर्थमेवावच्छिन्दुरासमक्षस्यमन्यथा ॥

अथानन्तर्यनियमस्तेषामर्थोचितीवशात् ।

अन्यतस्तर्हि तत्कार्यसिद्धेस्ते स्युरपार्थका ॥

कैश्चिदेव हि केषाञ्चिद् दूरस्थैरपि सङ्गतिः ।

न जातु सर्वे सर्वेषामित्येतदभिधास्यते ॥ ( व्यक्तिविवेक २५ विमर्श )

अर्थात् जहाँ किसी उक्ति के स्वरूप-व्यवच्छेद के लिए ‘इति’ शब्द प्रयुक्त हो वहाँ यह आवश्यक है कि इस ‘इति’ के पहले उस उक्ति के अतिरिक्त अन्य किसी भी पद का प्रयोग न किया जाय । ‘इति’ शब्द वस्तुतः पूर्ववाक्य का अवच्छेदक हुआ करता है क्योंकि यह उसका उपाधिरूप है, इसलिए इसके पूर्व, वक्तव्य वस्तु के अतिरिक्त, अन्य किसी भी पद का निवेश अनुचित है । यही बात ‘इत्थम्’, ‘एवम्’ आदि अन्य अव्यय-पदों की भी है । क्योंकि जैसे समुच्चयार्थक ‘च’ अपने पूर्वनिर्दिष्ट पदार्थ का व्यवच्छेदक अथवा परामर्शकारक हुआ करता है वैसे ही ‘इत्थम्’, ‘एवम्’ आदि भी । यदि ऐसी बात न हो तो अर्थ ही असंगत हो जायगा ।

वाक्य विन्यास एक कला है । इस कला में कवि को कितना सतर्क होना चाहिये इसका बड़ा सूक्ष्म विवेक ‘अक्रमत्व’ के निरूपण में किया गया है ।

अनुवाद—‘अमतपरार्थत्व’ वह दोष है जिसे ऐसे वाक्य में देखा जाया करता है जिसका ( अग्रकृत-रूप से अभिव्यङ्ग्य ) अर्थ प्रकृत अर्थ के विरुद्ध हुआ करता है । जैसे कि ( महाकवि कालिदास के रघुवश की ) इस सूक्ति अर्थात्—

‘रामरूपी मन्मथ के द्वारा वाणों से आहत ( ताडका )’—आदि में ।

यहाँ ‘अमतपरार्थत्व’ स्पष्ट है क्योंकि यहाँ जो दूसरा शृङ्गारपरक ( अग्रकृत ) अर्थ निकल रहा है वह प्रकृत रस ( वस्तुतः वीरत्स रस ) रूप वाक्यार्थ का विरोधी होने के कारण ‘अमत’ अथवा अनुचित है ।

अनुवाद—‘वाच्यानभिधान’ ( वह दोष है जिसे ऐसे वाक्य में देखा जाया करता है जिसमें ‘वाच्य’ अथवा अवश्यवक्तव्य पद का ‘अभिधान’ नहीं रहा करता ) जैसे कि—

‘व्यतिक्रमस्तथ कं मे वीक्ष्य वामाक्षि ! कुप्यसि ।’

अत्र व्यतिक्रमलक्षमपीत्यपिरपर्य वक्तव्यो नोक्तः ।

न्यूनपदत्वे यावत्कपदस्यैव न्यूनता विवक्षिता, अपेक्षु न तयात्वमित्यनयो-  
र्मेव । एवमन्यत्रापि ।

यथा वा—

‘चरणानतकान्तायास्त्वम्यि । कोपस्तथापि ते ॥’

अत्र चरणानतकान्तासीति वाच्यम् ।

अरी सुन्दर ययनो वाक्षी ! तुमसे सुखमें कीज सा प्रेम-व्यतिक्रम का लेख देना कि  
रुख हो गयी ?

यहाँ ‘व्यतिक्रमकथन’ के वाक् ‘असि ( भी ) का अभिधान आक्षर्यक वा जिसके व  
होने से ‘वाच्यव्यतिथान’ का बोध जा उगा है क्योंकि बिना ‘असि’ के अभिप्रेत अर्थ की  
प्रतीति अशंभव है । यहाँ यह ध्यान में रखना चाहिये कि ‘वाच्यव्यतिथान’ और ‘अन्य  
पदत्व’ एक नहीं अपितु परस्पर भिन्न बोध हैं । ‘अन्यपदत्व’ तो वहाँ हुआ करता है वहाँ  
( किसी अक्षरव्यवस्था ) वाचक पद की कमी रहा करती है । उपर्युक्त उद्धरण में ‘असि’  
वाचक पद नहीं, इसलिये यहाँ ‘अन्यपदत्व’ नहीं अपितु ‘वाच्यव्यतिथान’ बोध है । इसी  
प्रकार अन्य प्रसङ्गों में भी ‘अन्यपदत्व’ और ‘वाच्यव्यतिथान’ का परस्पर भेद स्वयं  
समझा जा सकता है । जैसे कि इस प्रसङ्ग अर्थात्—

‘अरी सुन्दरी ! तुम्हारा जिसके चरणों पर मिथवन गिरा पड़ा हो फिर भी यह प्रेम-  
भाव नहीं बदला ।’

आदि में ‘वाच्यव्यतिथान’ इसलिये है क्योंकि वहाँ अक्षरव्यवस्था पद ‘चरणानत-  
कान्तासीति’ है जिसे प्रयुक्त व कर ‘चरणानतकान्तायास’ का प्रयोग किया गया जो  
उचित नहीं ।

विमर्श ( क )—क-व्यवस्थाकार का अनभिहितवाच्यत्व और साहित्यवर्णनकार द्वारा  
निर्दिष्ट वाच्यव्यतिथान-बीजो वस्तुतः एक ही बीज के दो नाम हैं । काव्यप्रकाशकार ने तो  
‘विक्रमोर्ध्वीक’ को इस लक्षि अर्थात्—

‘त्वयि विवक्षरतेः प्रियवाहिना प्रत्यनङ्गपरामृष्टकेतसा ।

कमपरावत्त्वमम परवसि त्वयसि मानिनि ! दासजनं धृतम् ॥

में, अनभिहितवाच्यत्व की जानकारी की है और इसे इस प्रकार निरूपित किया है—

‘अत्रापरावत्त्वममपीति वाच्यम्’—( काव्यप्रकाश : ७ म वक्रास )

किन्तु साहित्यवर्णनकार ने इस बीज के ही विवर्धनार्थ ‘विक्रमोर्ध्वीक’ की उपर्युक्त परिभाषा  
को ठीक-सही कर नष्ट किया है—

‘व्यतिक्रमस्तथ कं मे वीक्ष्य वामाक्षि ! कुप्यसि ।

अत्र व्यतिक्रमलक्षमपीत्यपिरपर्य वक्तव्यो नोक्तः ॥

यहाँ यह स्पष्ट है कि साहित्यवर्णनकार ने ‘व्यतिक्रमस्तथ कथयति’ के बरके, बिना छोटे-समूहों,  
समस्त ‘व्यतिक्रमकथन’ पद को ‘अक्षरव्यवस्था’ पद बताया है । काव्यप्रकाश में भिन्नता और  
गोचरता के भाग्य के कारण करिबान् विवर्धन में यहाँ ऐसी अवस्था पात पित्त हो गई जो  
कराए धर्म नहीं । जब तक ‘व्यतिक्रमकथन’ पद को अक्षरव्यवस्था के ( व्यतिक्रमस्तथ कथन ) इस  
रूप से प्रयुक्त व किया जान तब तक अपि को ‘अक्षरव्यवस्था’ सुविशुद्ध नहीं हो सकती ।

( १८—भग्नप्रक्रमत्व )

भग्नप्रक्रमता यथा—

‘एवमुक्तो मन्त्रिमुख्यै रावणः प्रत्यभाषत ।’

अत्र वचधातुना प्रक्रान्तं प्रतिवचनमपि तेनैव वक्तुमुचितम् । तेन ‘रावणः प्रत्यवोचत’ इति पाठो युक्तः । एव च सति न कथितपदत्वदोषः, तस्योद्देश्य-व्यतिरिक्तविषयकत्वात् । इह हि वचनप्रतिवचनयोरुद्देश्यप्रतिनिर्देशत्वम् ।

यथा—

‘उदेति सविता ताम्रस्ताम्र एवास्तमेति च ।’

( ख ) ‘वाच्यानभिधान’ दोष की एक ओर भी रूपरेखा है जिसे न तो काव्यप्रकाशकार ने दिखाया है और न कविराज विश्वनाथ ने ही । व्यक्तिविवेककार आचार्य महिममट्ट के अनुसार, ‘वाच्यानभिधान ( वाच्यावचन ) की यह रूप-रेखा किसी सूक्ति के लिये अपेक्षित किसी अलङ्कार के ‘अवचन’ अथवा ‘अनभिधान’ ( योजना के न करने ) में दिखायी दिया करती है—

‘यत्रान्यस्यालङ्कारस्य विषयेऽलङ्कारान्तरनिबन्धस्सोऽपि वाच्यावचन दोषः । तत्र समासोक्तिविषये श्लेषस्योपनिबन्धो यथा—

अलकालिकुलाकीर्णमारक्तच्छदसुन्दरम् ।

आमोदिकर्णिककान्त भाति तेऽब्जमिवाननम् ॥’

अत्र हि अब्जसमुचितविशेषणोपादानसामर्थ्यात्तस्याब्जस्योपमानभावावगम समासोक्तेरेव विषयो युक्तो न श्लेषस्य, तत्रैव तस्यानुमीयमानतया सचेतनचमत्कारकारित्वोपपत्तेः, श्लेषे सु तस्य वाच्यतया तद्विपरीतत्वादित्युक्तम् । ‘ . . . ’

( व्यक्तिविवेक २५ परामर्श )

अर्थात् ‘वाच्यावचन’ अथवा ‘वाच्यानभिधान’ का एक प्रकार वह है जहां किसी एक अलङ्कार के क्षेत्र में दूसरे अलङ्कार का समावेश कर दिया जाया करता है ।

अनुवाद—‘भग्नप्रक्रमत्व’ वह दोष है जिसे बिना कारण के [किसी क्रम अथवा परिपाटी को छोड़ देना कहा जाया करता है ] जैसे कि—

‘मुख्य मुख्य मन्त्रियों के द्वारा इस प्रकार कहे-सुने गये ( उक्त. ) रावण ने उन्हें यह प्रतिभाषण दिया ( प्रत्यभाषत ) ।’

यहां ‘उक्त’ पद में ‘वच्’ धातु का उपक्रम है और इसलिये ( उपसहार में भी ) ‘प्रत्यभाषत’ के बदले ‘प्रत्यवोचत’ पद का ही प्रयोग उचित था ( ऐसा न होने से यहां ‘भग्नप्रक्रमत्व’ का दोष आ लगा है ) । यहां यह कहना कि ‘एवमुक्तो मन्त्रिमुख्यै रावण प्रत्यवोचत’ कहने में ‘कथितपदत्व’ दोष हो जाता है, ठीक नहीं । वात यह है कि ‘कथित-पदत्व’ वहीं होता है जहां ‘उद्देश्य-प्रतिनिर्देश-भाव’ नहीं रहा करता । यहां ( ‘एवमुक्त . प्रत्यवोचत ।’ आदि सूक्ति में ) ‘कथितपदत्व’ कैसे हो सकता है जबकि ‘वचन’ और ‘प्रतिवचन’ में ‘उद्देश्यप्रतिनिर्देशभाव’ श्लक्ष्ण रहा है । ( यह ‘उद्देश्य-प्रतिनिर्देशभाव’ है—‘उद्देश्योऽनूद्य स एव प्रतिनिर्देश्य प्रतीतिमान्यर्थपरिहारात् पुनरभिधेयो यत्र स ’ अर्थात् ‘उद्देश्य-प्रतिनिर्देशभाव’ बहा हुआ करता है ‘जहां ‘उद्देश्य’ अथवा पूर्व उच्चारित का, प्रतीति की एकरसता की दृष्टि से, पुन उच्चारण किया जाय ) । ‘उद्देश्यप्रतिनिर्देश-भाव’ इस उदाहरण से स्पष्ट समझा जा सकता है—

‘मयं लाल-लाल ही उदित होता है और लाल-लाल ही हुक्ता है ।’

इत्यत्र हि यवि पवान्तरेण स पवाथ' प्रतिपाद्यते तदान्योऽर्थ इव प्रतिभासमान' प्रतीतिं स्वगच्छति ।

यथा वा—

‘ते हिमालयमामन्त्र्य पुनः प्रेक्ष्य च शूषिनम् ।

सिद्धं चास्मै निवेद्यार्थं तद्विस्तृत्य' समुद्युय ॥’

अत्र ‘अस्मै’ इतीदमा प्रकाम्तस्य तेनैव वत्समानाम्यामेतद्वन्शब्दाभ्यां वा परामर्शो युक्त्ये न तच्छब्देन ।

यथा वा—

‘उदन्वच्छिन्ना मू' स च पतिरपां योजनशतम् ।’

अत्र ‘मिता मू' पत्यापां स च पतिरपाम्’ इति युक्तः पाठः ।

एवम्—

‘यशोऽधिगन्तुं सुखलिप्सया वा ममुप्यसंकपामतिवर्तितु वा ।

निरुत्सुकानामभियोगमाज्ञां समुत्सुकेषाहमुपैति सिद्धि ॥’

अत्र ‘सुखमीहितुम्’ इत्युचितम् ।

यहाँ यदि ‘कल-कल’ के अनिप्राय का ‘तात्’ पद के अतिरिक्त अन्य किसी (रक्त अथवा स्नेहित आदि) पद से प्रतिपादन किया जाय तब (पदमेव क कारण) इस अनिप्राय में भी कुछ मिश्रता प्रतीत होने लगेगी और (उदय किंवा अस्त के समय कल-कल पूर्व रूप) अर्थ की प्करस प्रतीति (जो यहाँ अपेक्षित है) स्पष्टित हो जायगी ।

अथवा जैसे कि—‘उन मरीचि अग्नि अफिमुरियों के हिमालय से विद्या की शूरी महादेव का दर्शन किया, उन्हें पार्वती क विवाह की पक्की बात बतायी और उनकी आज्ञा लेकर स्वर्ग-मार्ग की ओर प्रस्थान किया । (कम्यारसम्भार : स्तं १)

यहाँ भी ‘मग्नप्रकम्पत्’ स्पष्ट है क्योंकि अस्मै’ पद से ‘इदम्’ के द्वारा शूरी महादेव का परामर्श प्रारम्भ किया गया है और इसलिये ‘इदम् क ही द्वारा अथवा ‘इदम्’ के समानार्थक ‘एतत्’ अथवा ‘अहम्’ शब्द के द्वारा इसका उपसंहार भी किया जाना चाहिये या न कि ‘तत्’ शब्द क द्वारा (‘इदम्’ शब्द तो पूर्वानुभूत किंवा प्रतीति वस्तु का वाचक है और ‘तत्’ शब्द पूर्वानुभूत किंतु अप्रत्यक्ष वस्तु का । ‘इदम्’ क बदले ‘तत्’ के प्रयोग से यदि का विवक्षित अर्थ प्करस नहीं प्रतीत होता ) ।

अथवा जैसे कि ‘पृष्ठी समुद्र से घिरी है और सागर सैकड़ों पात्रों विस्तोर्न है ।’

यहाँ भी ‘मग्नप्रकम्पत्’ ही है । यहाँ यदि ‘मिता मू' पायापां स च पतिरपाम् क दिया जाय तो यह दोष बुर हो जायगा और अर्थ की अपेक्षित ऐवय-प्रतीति निर्बिम्ब होती रहेगी ।

अथवा जैसे कि—‘यश पात्रों के लिये, सुख पात्रों की इच्छा से अथवा समाज में सर्वश्रेष्ठ बनने क लिये जो काम निष्काम रूप से सतत कर्त्तव्यपरायण रहा करत है वरुणः उन्हीं क पाम सफलता उल्लुक्ता से पहुँच सकती है—

(किरिता १४ : १ व लं)

यहाँ भी ‘मग्नप्रकम्पत्’ शक्य रहा है । यहाँ यदि (‘सुखलिप्सया के बदले) ‘सुखमीहितुम्’ कर दिया जाय तो यह दोष बुर हो जायगा ।

अत्राद्ययोः प्रकृतिविषयः प्रक्रमभेदः । तृतीये पर्यायविषयः, चतुर्थे प्रत्यय-  
विषयः । एवमन्यत्रापि ।

( १९—प्रसिद्धित्याग )

प्रसिद्धित्यागो यथा—

‘घोरो वारिमुचां रवः ।

अत्र मेघानां गर्जितमेव प्रसिद्धम् । यदाहुः—

‘मञ्जीरादिषु रणितप्राय पक्षिषु च कृजितप्रभृति ।

स्तनितमणितादि सुरते मेघादिषु गर्जितप्रमुखम् ॥’ इत्यादि ।

इन उपर्युक्त उदाहरणों में, पहले दोनों ( अर्थात् ‘एवमुक्तो मन्त्रिमुख्यै’ और ‘ते हिमालयमामन्य’ ) में ‘भग्नप्रक्रमत्व’ ‘प्रकृतिविषयक’ है, तीसरे ( अर्थात् ‘उदन्व-  
च्छिन्ना भू’ आदि ) में ‘पर्यायविषयक’ है और चौथे ( अर्थात् ‘यशोऽधिगन्तुम्’ आदि )  
में ‘प्रत्ययविषयक’ है । इसी भाँति अन्यत्र अन्यान्यविषयक ‘भग्नप्रक्रमत्व’ स्वयं  
देखा जा सकता है ।

विमर्श — भग्नप्रक्रमत्व ( प्रक्रमभेद ) की व्यक्तिविवेककार-कृत यह मीमांसा यहाँ ध्यान  
देने योग्य है—

‘प्रक्रमभेदोऽपि शब्दानौचित्यमेव । स हि यथा प्रक्रममेकरसप्रवृत्ताया प्रतिपत्तृप्रवृत्ते-  
रुत्थात इव परिस्खलनखेददायी रसमङ्गाय पर्यवस्यति । किञ्च सर्वत्रैव शब्दार्थव्यवहारे  
विद्वद्भिन्नरपि लौकिकक्रमोऽनुसर्त्तव्य । लोकश्च मा भूद्रसास्वादप्रतीते परिम्लानतेति यथा-  
प्रक्रममेवैनमाद्रियते नान्यथा । स चायमनन्तप्रकारः सभवति । प्रकृति-प्रत्यय-पर्यायादीनां  
तद्विषयभावाभिमतानामानन्त्यात् ।

( व्यक्तिविवेक २५ विमर्श )

अर्थात् प्रक्रमभेद एक प्रकार का शब्दानौचित्य है । जैसे कोई रथारोही ऊबड़-खाबड़ रास्ते  
पर चलने में निरन्तर गिरने से डरा करता है और रथारोहण का आनन्द भी नहीं पाया करता  
वैसे ही ‘प्रक्रमभेद’ के प्रसङ्गों में सहृदय सामाजिक रसास्वाद से वञ्चित रहा करता है । प्रक्रम का  
मङ्ग काव्य का एक अक्षम्य अपराध है । इसके प्रकार अनन्त हैं । प्रकृति-प्रक्रमभेद, सर्वनाम-  
प्रक्रमभेद, प्रत्यय-प्रक्रमभेद, पर्याय-प्रक्रमभेद, विभक्ति-प्रक्रमभेद, उपसर्ग-प्रक्रमभेद, वचन-प्रक्रमभेद,  
कालविशेष प्रक्रमभेद, कारकशक्ति प्रक्रमभेद आदि-आदि प्रकार इसके प्रमुख भेदों में गिने जाया  
करते हैं ।

यनुवाट—‘प्रसिद्धित्याग’ ( वह दोष है जिसे ‘कविसमय’ प्रसिद्धि का त्याग कहा  
गया है ) जैसे कि—

‘यह मेघों का भयङ्कर रव आदि’ सूक्ति ।

यहाँ ‘प्रसिद्धित्याग’ इमलिये है क्योंकि मेघों के सम्बन्ध में ‘गर्जित’ शब्द प्रसिद्ध है  
न कि ‘रव’ । जैसे कि ( रुद्रट के काव्यालङ्कार में ) कहा भी गया है—

‘मञ्जीर आदि की ध्वनि के सम्बन्ध में ‘रणित’ प्रभृति, पक्षियों के शब्द के सम्बन्ध में  
‘कृजित’ प्रभृति, सभोग के शब्द के प्रसङ्ग में ‘स्तनित’, ‘मणित’ आदि और मेघ आदि के  
सम्बन्ध में ‘गर्जित’ प्रभृति शब्द प्रसिद्ध हैं ।’

विमर्श—यहाँ ‘प्रसिद्धि’ का अभिप्राय जैसा कि काव्यप्रकाशकार का कथन है, एक प्रकार के  
‘कवि समय’ का अभिप्राय है—



( १०—अस्थानस्यपदत्व )

अस्थानस्यपदता यथा—

‘तीर्थेतदीये गन्तसेतुबन्धात्प्रतीपगामुत्तरतोऽस्य गङ्गाम् ।

अयन्नवाक्ष्यन्मनीषमधुर्हंसा नमोऽङ्गमशोऽपञ्चा ॥’

अत्र तदीयपदात्पूर्वं गंगामित्यस्य पाठो युक्तः । एवम्—

‘हितान्न यं सङ्गृह्यते स किञ्चिन् ॥’

अत्र सङ्गृह्यत इत्यत्र पूर्वं नञ् स्थितिरुचिता ।

अत्र च पदमात्रस्यास्थाने निवेशोऽपि सर्वमेव वाक्यं विवक्षितार्थप्रत्यायने  
सन्धरमिति वाक्यदोषता । एवमन्यत्रापि । इह केऽप्याहुः—‘पराभ्येन वाचक-

‘मञ्जीरादिषु रजितमार्थं पविषु च कृषितप्रवृत्तिः ।

स्तनितमप्तिरादि घुरते मेधादिषु रमितप्रमुक्तम् ॥

इति प्रसिद्धिमतिक्रान्तम् । यथा—

‘महामरुच्यमास्तुमितपुष्करावर्तक—

प्रचण्डवनगर्जितप्रतिफलुकाग्री मुहुः ।

रक्षा भयममैरवाः स्वपितरोवसीकन्धरा

कुतोऽप्य समराक्षसे रघममूहपूर्वा पुरा ॥

अत्र रवो मधुकादिषु प्रसिद्धो न तुल्यविशेषे सिद्धान्ते ।

और इस ‘प्रसिद्धि’ के त्याग में प्रसिद्धित्वाय नञ्वा ‘प्रसिद्धिरुत्पत्ति की संभावना सामाजिक है ।

अतएव—‘अरबावस्यपदत्व’ ( वह शेष है जिसे अनुचित स्थान में किसी पद के  
विन्यास में देखा जाया करता है ) जैसे कि ( महाकवि काटियास के रघुवंश की  
वह सुक्ति—‘जसक तीर्थ अथवा अकनवतरणस्थान पर गन्तसमूह के द्वारा सेतु का निर्माण कर,  
जब कि महाराज कुल प्रतिष्ठाकाप्रमिणी गङ्गा को पार किया करते थे तब भाव्यधर्मार्थ  
के पार करने में चञ्चक पञ्चाक्षर हुंसा, उनके किये अह्वयिष चमर का काम करने लगाते थे ।यहां ‘अस्थानस्यपदत्व’ इसकिये है क्योंकि ‘तदीय’ पद अनुचित स्थान पर पड़ा  
हुआ है । यही यदि ‘तदीय’ पद के पहले ‘गङ्गाम्’ का प्रयोग कर दिया जाय तो ( ‘तत्  
के द्वारा पूर्वनिर्दिष्ट ‘गङ्गा’ का वरामर्श होने से ) यह शेष इत जाय ।

इसी प्रकार ( महाकवि मारवि के किरातार्जुनीय की ) यह सुक्ति—

‘जो राजा अपने हितचिन्तकों से हित की बात नहीं धुमता’ जादि ।

यहाँ भी ‘अस्थानस्यपदत्व’ है क्योंकि ‘नञ्’ का प्रयोग अनुचित स्थान पर किया  
हुआ है । यहाँ ‘सङ्गृह्यते’ के पहले ‘यं’ का प्रयोग उचित होता ( और तब यह शेष भी  
इत जाता ) ।यहाँ यह अज्ञा टीका नहीं कि जब पदमात्र के, अरबाव ( अनुचित स्थान ) पर रहने के  
कारण ‘अरबावस्यपदत्व’ शेष उत्पन्न होता है तब हमको यह शेष क्यों न माना जाय ।  
कारण यह है कि किसी पद के अनुचित स्थान पर पड़े रहने पर समस्त वाक्य अभिप्रेत  
अर्थ की प्रतीति में शिथिल हो जाता है जिससे इस ‘वाचकशेष’ मानना ही पुत्रिपुत्र  
है । यही बात वस्तुतः अन्य वाक्यगत शेषों के सम्बन्ध में भी कम्पू होती है ।

यहाँ कुछ लोग यह कहते हैं कि ‘अरबावस्यपदत्व’ में जो ‘पद’ पाए है उसमें वाचक

मेव प्रायशो निगद्यते, न च नवो वाचकता, निर्विवादात्स्वातन्त्र्येणार्थबोधन-  
विरहात्' इति । यथा—'द्वय गतम्-' इत्यादौ त्वमित्यनन्तरं चकारानुपादानाद-  
क्रमता तथात्रापीति ।

( २१—अस्थानस्थसमासत्व )

अस्थानस्थसमासता यथा—

‘अद्यापि स्तनशैलदुर्गविषमे सीमन्तिनीनां हृदि  
स्थातुं वाञ्छति मान एष धिगिति क्रोधादिवालोहितः ।  
प्रोद्यद्दूरतरप्रसारितकरः कर्षत्यसौ तत्क्षणा-  
त्फुल्लकैरवकोपनिःसरदलिश्रेणीकृपाण शशी ॥’

पद का ही ग्रहण हुआ करता है और इसलिये जब कि ‘हितान्न य सशृणुते’ आदि में  
‘नञ्’ वाचक पद नहीं, क्योंकि निर्विवाद और स्वतन्त्र रूप से इसमें अर्थबोधकता नहीं  
रहा करती, तब यहाँ यह दोष भी नहीं माना जा सकता । यहाँ तो जैसे ( द्वय गतम् )  
आदि सूक्ति में, ‘त्वम्’ के बाद ‘च’ के अनुपादान में ‘अक्रमत्व’ माना जाया करता है,  
वैसे ही ‘अक्रमत्व’ ही मानना ठीक है ( अस्थानस्थपदत्व नहीं ) ।

विमर्श—यहाँ यह बात विचारणीय है कि साहित्यदर्पणकार ने तो महाकवि कालिदास की  
‘तीर्थे तदीये गजसेतुवन्धात्’ आदि सूक्ति में ‘अस्थानस्थपदत्व’ का निरीक्षण किया है और  
प्राचीन काव्याचार्य महिमभट्ट ने ‘क्रमभेद’, जैसा कि इन पक्तियों में स्पष्ट है—

‘तीर्थे तदीये गजसेतुवन्धात् प्रतीपगामुत्तरतोऽस्य गङ्गाम् ।’ इति । अत्र हि परामर्श-  
नीयमर्थमनुक्तवैव यस्तस्य सर्वनामपरामर्श स क्रमभेदो दोष । तस्य हि प्रक्रान्तोऽर्थो  
विषय दृष्टो न प्रक्रंस्यमान, तस्य स्मृतिपरामर्शरूपत्वात् । स्मृतेश्चानुभूत एवार्थो विषयो  
नानुभवविषयमाण । अत्र च प्रतीतिमात्रमनुभवोऽभिमतो नेन्द्रियविषयभाव । न स गङ्गार्थं  
प्रतीतपूर्वो य. परामृश्येतेति परामर्श-क्रमभेदो दोषः । ( व्यक्तिविवेक . २य विमर्श )  
अर्थात् ‘तीर्थे तदीये’ आदि में ‘क्रमभेद’ है क्योंकि यहाँ परामर्शयोग्य अर्थ का निरूपण  
किये बिना ही, उसे ‘तत्’ सर्वनाम द्वारा निर्दिष्ट किया गया है । प्रक्रान्त (वर्णन के लिये उपस्थापित)  
अर्थ ही ‘तत्’ के द्वारा परामर्श योग्य माना जा सकता है न कि प्रक्रंस्यमान अर्थ ( वह अर्थ  
जिसका निरूपण आगे किया जाय ) । जब गङ्गारूप अर्थ का पहले कोई पता नहीं, तब उसका  
( ‘तदीये’ ) ‘तत्’ द्वारा कैसा परमर्श ? इसलिये परामर्श के क्रम का भग होने से यहाँ  
‘क्रमभेद’ निश्चित है ।

वस्तुतः यहाँ व्यक्तिविवेककार की ही दोष समीक्षा ठीक है, साहित्यदर्पणकार की नहीं । बात  
यह है कि ‘तीर्थे तदीये’ आदि सूक्ति में पदनिवेश के अनौचित्य से अभिप्रेत अर्थ की प्रतीति नहीं  
हो पाती जिसके कारण यहाँ क्रमभेद अथवा अक्रमत्व मानना ही उचित है । ‘अस्थानस्थपदत्व’  
में प्रस्तुत अर्थ प्रतीत होता है और पद निवेश खटका करता है ।

अनुवाद—‘अस्थानस्थसमासत्व’ ( वह दोष है जिसे किसी वाक्य में, किसी समस्त  
पदावली के अनुचित प्रयोग में देखा जाया करता है ) जैसे कि—

‘अरे ! यह चन्द्रमा तो सभवतः यह सोचकर कि उसके सामने भी, स्तनों के ‘शैल  
दुर्ग’ से विकट, रमणियों के हृदय में प्रेम-कोप स्थान पाना चाहता है, क्रोध से तमतमाया’

अथ कोपिन उक्ती समासो न कृतः, कपेरुक्ती कृतः ।  
(२२—सङ्कीर्णत्व)

वाक्यान्तरपदानां वाक्यान्तरेऽनुप्रवेशः सङ्कीर्णत्वम् । यथा—  
'अर्धं सुखं कुरुक्षाभिः । परमं मानं नमोऽङ्गनम् ।'  
अथ नमोऽङ्गनं यन्त्र परमं मानं मुञ्चेति मुक्तम् ।  
'किञ्चिद्वस्त्रमेकवाक्यविषयम्' इत्यस्माद्विभक्तम् ।  
(२३—गर्मितत्व)

वाक्यान्तरे वाक्यान्तरानुप्रवेशो गर्मितत्वा । यथा—  
'रमये चरणप्राप्ते प्रणतिप्रणयोऽधुना ।  
यवामि मस्मि । मस्मं ते कदाचिन्नोभिता कृचः ॥'

हृन्ना अपने कम्मे-कम्मे किन्न-इस्त को लेकाये सौमता के साथ बिकसित कुमुद-कोस से भ्रमरापदी के रूप में अपनी कटार लीचता दिखायी पड़ रहा है ।

यहाँ 'अवधानत्वसमासत्व' है क्योंकि कुरु (चन्द्रमा) की उक्ति में समास नहीं किया गया (जोकि वण्यवाक्य के लिये उचित था) और कवि की उक्ति (अर्धां प्रोक्तं पूरतरप्रसारितकरा) और 'कुङ्कुमैरवकोसमिम्बरवकिञ्चिन्नोभिताम्' में समास कर दिया गया (यहाँ वण्य सौकुमार्य नहीं बल्कि अलङ्कार कथ्यता) ।

विमर्श—'अवधानत्वसमासत्व' का साहित्यदर्पणधारक निरूपण वस्तुतः 'अध्वमकाश' का अनुप्रासः अनुकरण अवदा अनुसरण है । 'अवधानत्वसमासत्व' इत्यस्मिन् वाक्यहीन है क्योंकि वण्य को ओजस्विता के बिना रसभाव का समुचित जन्मभाव नहीं मिल सकता ।

अनुवाद—सङ्कीर्णत्व यह दोष है जिसे एक वाक्य के अन्तर्गत प्रयोगोचित पदों का दूसरे वाक्य में अनुप्रवेश कहा करते हैं । जैसे कि—

अरी युगवयनी ! चन्द्रमा को छोड़ देक अपने साथ को इस आकाश के भागन में ।

यहाँ मुक्तिपुत्र वाक्य यह होता—'नमोऽङ्गने अर्धं परमं मानं सुखं'—(आकाश के भागन में चन्द्रमा को देक और अपना मान छोड़) ।

यहाँ यह ध्यात रहना चाहिये कि 'सङ्कीर्णत्व' और 'किञ्चिद्वस्त्र' में परस्पर भेद है । 'सङ्कीर्णत्व' अनेक वाक्यविषयक दोष है और 'किञ्चिद्वस्त्र' एक वाक्यविषयक ।

विमर्श—संस्कृतकौटिल्यकार ओजस्व के अनुसार 'सङ्कीर्णत्व' का यह स्वरूप विवर्त है—

'वाक्यान्तरपदमिदं संकीर्णमिति तद्विदुः । यथा—

कर्म जादति शुचिः कूरं कोष्ठति मिर्धं दधः ।

रत्नान् गुहायति कष्टं दद्यापति नमरं रथविराट् ।

किञ्चिद्वस्त्रार्थेऽप्यत्र ये इस प्रकार स्पष्ट किया है—

'वाक्यान्तरसंस्कृताभिः पदानि वाक्यान्तरमनुप्रवेशितं तथा प्रतीतिं बिभ्रन्ति यथा समुदाय एक वृत्तितो भवति ।

अनुवाद—'गर्मितत्व' यह दोष है जिसे एक वाक्य के भीतर दूसरे वाक्य का अनुप्रवेश कहा गया है । जम कि—

अरी सती ! जब कि शिवलय बेड़ी पर जगावाचना के 'जिये गिरा पड़ा हो' जब इस समय मेरा तुझसे यही कहना है कि, कोय करना उचित नहीं ।

( अर्थदोष . स्वरूप तथा भेद )

अर्थदोषानाह—

अपुष्टदुष्क्रमग्राम्यव्याहताश्लीलकष्टताः ।

अनवीकृतनिर्हेतुप्रकाशितविरुद्धताः ॥ ९ ॥

सन्दिग्धपुनरुक्तत्वे रूपातिविद्याविरुद्धते ।

साकाङ्क्षता सहचरभिन्नताऽस्थानयुक्तता ॥ १० ॥

अविशेषे विशेषश्चानियमे नियमस्तथा ।

तयोर्विपर्ययौ विध्यनुवादायुक्तते तथा ॥ ११ ॥

निर्मुक्तपुनरुक्तत्वमर्थदोषाः प्रकीर्तिताः ।

तद्विपर्ययो विशेषेऽविशेषो नियमेऽनियमः ।

( १—अपुष्टत्व )

अत्रापुष्टत्व मुख्यानुपकारित्वम् । यथा—

‘विलोक्य वितते व्योम्नि विधुं मुखं रूपं प्रिये ।’

अत्र विततशब्दो मानस्यागं प्रति न किञ्चिदुपकुरुते ।

[ यथा ‘रमणे चरणप्रान्ते प्रणतिप्रवणेऽधुना क्रुध कदाचित् नोचिताः’—इस वाक्य के भीतर ‘वदामि सखि ते तत्त्वम्’ यह वाक्य आ घुसा है जिससे अर्थ की प्रतीति ठीक नहीं हो पाती । ]

अनुवाद—अर्थ के दोष ये हैं—

( १ ) अपुष्टत्व, ( २ ) दुष्क्रमत्व, ( ३ ) ग्राम्यत्व, ( ४ ) व्याहृतत्व, ( ५ ) अश्लीलत्व, ( ६ ) कष्टत्व, ( ७ ) अनवीकृतत्व, ( ८ ) निर्हेतुत्व, ( ९ ) प्रकाशितविरुद्धत्व, ( १० ) सन्दिग्धत्व, ( ११ ) पुनरुक्तत्व, ( १२ ) रूपातिविरुद्धत्व, ( १३ ) विद्याविरुद्धत्व, ( १४ ) साकाङ्क्षत्व, ( १५ ) सहचरभिन्नत्व, ( १६ ) अस्थानयुक्तत्व, ( १७ ) अविशेष में विशेष ( अविशेषपरिवृत्तत्व ), ( १८ ) अनियम में नियम ( अनियमपरिवृत्तत्व ), ( १९ ) विशेष में अविशेष ( विशेषपरिवृत्तत्व ), ( २० ) नियम में अनियम ( नियमपरिवृत्तत्व ), ( २१ ) विध्ययुक्तत्व, ( २२ ) अनुवादायुक्तत्व और ( २३ ) निर्मुक्तपुनरुक्तत्व ।

यथा ‘तयोर्विपर्ययौ’ का अभिप्राय है ( अविशेष में विशेष का विपर्यय अर्थात् ) ‘विशेष में अविशेष’ और ( अनियम में नियम का विपर्यय अर्थात् ) ‘नियम में अनियम’ ।

अनुवाद—‘अपुष्टत्व’ वह अर्थदोष है जिसे मुख्य अर्थ के अनुपकारक किसी पदार्थ की योजना में देखा जाया करता है । जैसे कि—

‘प्रिये ! इस वितत व्योम में चन्द्रमा को देख और मान छोड़ दे ।’ यहाँ जो मुख्य अर्थ है वह ‘मानस्याग’ है और इस मुख्य अर्थ के प्रति, ज्योम के विशेषणरूप से प्रयुक्त

अधिकपदत्वं पदार्थान्वयप्रतीतेः समकालमेव वाच्यप्रतिभासः, इह तु प्रमादिति विरोधः ।

( १—हुष्कमत्त्व )

हुष्कमत्ता यथा—

‘देहि मे वाजिन राजन् । गजेन्द्रं वा मवाक्षसम् ।’

अत्र गजेन्द्रस्य प्रथम वाचनमुचितम् ।

( २—ग्राम्यत्व )

‘स्यपिहि त्वं समीपे मे स्वपिन्वेषाधुना प्रिये ।’

अत्रार्थो ग्राम्यः ।

( ३—व्यावृत्तत्व )

कस्यचित्प्रागुत्कर्षमपकर्षं वाचिवाच्य पश्चात्तदन्वयप्रतिपादनं व्यावृत्तत्वम् ।

यथा—

‘हरन्ति हृदयं यूनां न नवेम्बुकलादयः ।’

योदयते धैर्यं तन्वी लोकलोचनचन्द्रिका ॥’

‘वितत क्व पदार्थ की कोई उपयोगिता नहीं प्रतीत होती । यहाँ अधिकपदत्व की शंका नहीं होती चाहेपु नवोक्ति ‘अपुस्त्य और ‘अधिकपदत्व’ में परस्पर भेद है । ‘अधिकपदत्व’ में तो पदार्थों की अन्वय-प्रतीति के ही साथ वाच्य का भी भान हो उठता है किन्तु ‘अपुस्त्य’ में ( जैसा कि उपर्युक्त उदाहरण में स्पष्ट है ) अन्वय-प्रतीति के बाद ही वाच्य-प्रतीति हुआ करती है ।

अनुवाद—‘हुष्कमत्त्व’ वह अर्थशेष है जिसे वस्तुओं के निरन्तर्य क्रम के अभीक्ष्ण में देखा जाया करता है । जैसे कि—

‘महाराज ! मुझे एक घोड़ा दे दीजिये अथवा न हो तो एक महोन्नत गजराज ही दे सकिये ।’

यहाँ ‘हुष्कमत्त्व’ स्पष्ट है क्योंकि ‘अथवाचन’ से पहले गजेन्द्र-वाचन का उपविबन्ध उचिन् होता ।

[ बहुमुक्त्य वाच्य की भाँति पहले की जाती है जिसके न निक सकन की वृत्ता में अल्प मुक्त वस्तु की वाचना का अवसर आता है । काक में वाचन का वही क्रम है । इसे विगाड़ कर यहाँ कवि ने ‘हुष्कमत्त्व’ का आह्वान किया है ]

अनुवाद—‘ग्राम्यत्व’ वह अर्थशेष है जिसे अधिवृत्त अनुषंगों की भी वाच्यता में देखा जाया करता है । जैसे कि—

‘तु मरे पास सोना । प्रिये ! मैं अभी तेरे पास ही सोऊँगा ।’

यहाँ ‘ग्राम्यत्व’ स्पष्ट है क्योंकि यहाँ प्रेमी और प्रेमिका का वह प्रेम-संक्रान्त अधिवृत्ता और असम्भवा-पूर्व क्रम रहा है ।

अनुवाद—‘व्यावृत्तत्व’ वह अर्थशेष है जिसे यहाँ देखा जाया करता है यहाँ किसी वाच्य वा पदसे उत्कर्ष या अपकर्ष दिला कर वाच्य में उसक विपरीत अपकर्ष वा उत्कर्ष-वर्जन दावे लगाता है । जैसे कि—

‘नवादिन पञ्च-वर्षिका आदि के दर्शन से युवा प्रेमियों का हृदय बना में बड़ी हो पाता । उनका हृदय ना हय सुन्दरी के चरण स भय में हुआ करता है या कि काक-लोचन की चन्द्रिका है ।

अत्र येषामिन्दुकला नानन्दहेतुस्तेषामेवानन्दाय तन्व्याश्चन्द्रिकात्वारोपः ।

( ५—अश्लीलत्व )

‘हन्तुमेव प्रवृत्तस्य स्तब्धस्य विवरैपिणः ।

यथाशु जायते पातो न तथा पुनरुन्नतिः ॥’

अत्रार्थोऽश्लीलः ।

( ६—कष्टत्व )

‘वर्षत्येतदहर्पतिर्न तु घनो धामस्थमच्छ पयः

सत्यं सा सवितुः सुता सुरसरिपूरो यया प्लावितः ।

व्यासस्योक्तिपु विश्वसित्यपि न कः, श्रद्धा न कस्य श्रुतौ

न प्रत्येति तथापि मुग्धहरिणी भास्वन्मरीचिष्वपः ॥’

अत्र यस्मात्सूर्याद्वृष्टेर्यमुनायाश्च प्रभवस्तस्मात्तयोर्जलमपि सूर्यप्रभवम् । ततश्च सूर्यमरीचीनां जलप्रत्ययहेतुत्वमुचितम् , तथापि मृगी भ्रान्तत्वात्तत्र

यहा ‘व्याहृतत्व’ इसलिये है क्योंकि पहले तो चन्द्र-चन्द्रिका को युवा प्रेमियों का आनन्द-निदान न बताया गया ( अपकर्ष-वर्णन ) और अब उनके आनन्द के हेतु-रूप में सुन्दरी पर चन्द्रिका का आरोप कर दिया गया ( उत्कर्ष-वर्णन ) ।

अनुवाद—‘अश्लीलत्व’ वह अर्थदोष है जिसे ब्रीडा, जुगुप्सा, अमङ्गल आदि-आदि के अभिव्यक्त अर्थ में देखा जाया करता है । जैसे कि—

‘ऐसे क्रूरहृदय पुरुष का, जो मारने में लगा रहता है, अकड़ा रहा करता है और छिन्त्रान्वेषण में तत्पर हुआ करता है, पतन जितना शीघ्र समभव है उतना उत्थान नहीं ।’

यहाँ ‘अश्लीलत्व’ स्पष्ट है क्योंकि यहाँ जो दूसरा अर्थ अभिव्यक्त हो रहा है—‘जो सुरतक्रीडा में, योनि-ताडन में लगा करता है, स्तब्ध है और योनिच्छिद्र को ढूँढ़ा करता है ऐसे दुष्ट शिरन ( पुरुषेन्द्रिय ) का पतन जितना शीघ्र समभव है उतना उत्थान नहीं ।’ यह अश्लील है ।

विमर्श—अर्थात् ‘अश्लीलत्व’ काव्य-साहित्य में इसलिये दोष माना गया है क्योंकि काव्य का प्रयोजन सरसोपदेश भी है । ‘सरसोपदेश’ और ‘अश्लीलत्व’ साथ नहीं रह सकते । सम्यक्ता और सत्कृति की रक्षा कविता का भी उद्देश्य है । इसलिये कविजन को अश्लीलता-पूर्ण विषयों की अवतारणा से वचना आवश्यक है । अन्यथा सहृदय हृदय में उद्वेग उत्पन्न हो सकता है, न कि भाव सवेग जो कि रसास्वाद में ही समभव है । ‘अश्लीलता’ रस विघातक है । इसलिये दोष है ।

अनुवाद—‘कष्टत्व’ वह अर्थदोष है जिसके कारण कोई अर्थ कष्टपूर्वक अवगत हुआ करता है । जैसे कि—

‘वह सूर्य है जो कि अपने मण्डलान्तर्गत निर्मल जल की वर्षा किया करता है, मेघ भला यह वर्षा कैसे करे । वह सूर्यसुता यमुना है जो कि सुरनदी गङ्गा को आप्लावित किया करती है, न कि और कोई । भला कौन है जो महर्षि व्यास के वचन ( सूर्य से वृष्टि की होने की बात ) पर विश्वास न करे ? ऐसा कौन है जिसे श्रुति पर ( ‘आदित्याज्जायते वृष्टि’ आदि श्रुति-वचन पर ) श्रद्धा न हो ? किन्तु यह मुग्ध मृगी ऐसी है जो सूर्यरश्मियों में जल की समावना पर विलकुल विश्वास नहीं करती ।’

यहाँ ‘कष्टत्व’ है । यहा यह अप्रस्तुत अर्थ निकल रहा है—‘वृष्टि और यमुना-दोनों का जल सूर्य से उत्पन्न होता है क्योंकि वृष्टि और यमुना-दोनों सूर्य से उत्पन्न हैं । इसलिये

अधिकपदत्वे पदार्थान्वयप्रतीते समक्षसमेध बाधप्रतिभासः, इह तु प्रमा  
दिति विरोधः ।

(२—दुष्कमल)

दुष्कमला यथा—

‘देहि मे वामिन राजन् । गजेन्द्रं वा मयाससम् ।’

अत्र गजेन्द्रस्य प्रथम बाधनमुच्यते ।

(३—ग्राम्यत्व)

‘स्वपिहि त्वं समीपे मे स्वपिभ्येबाधुना प्रिये ।।’

अत्रार्थो ग्राम्यः ।

(४—व्यावृत्तत्व)

कल्पवित्प्रागुत्कर्षमपकर्षं वामिबाध पञ्चापद्वन्द्वप्रतिपादनं व्यावृत्तत्वम् ।

यथा—

‘हरन्ति हृदयं यूना न मयेन्दुच्छताक्षः ।

धीर्यते वैरिणं तन्वी लोकलोचनचन्द्रिका ।।’

‘वितत क्व पदार्थ की कोई उपयोगिता नहीं प्रतीत होती । यहाँ अधिकपदत्व की संका नहीं होती चाहे कि ‘अपुष्टत्व’ और ‘अधिकपदत्व’ में परस्पर भेद है । ‘अधिकपदत्व’ में तो पदार्थों की सम्बन्ध-व्यतीति के ही साथ बाध का भी भाव हो जाता है किन्तु ‘अपुष्टत्व’ में ( जैसा कि उपर्युक्त उदाहरण में स्पष्ट है ), सम्बन्ध-व्यतीति के बाद ही बाध-व्यतीति हुआ करता है ।

अनुवाद—‘दुष्कमल’ वह अर्थदोष है जिसे वस्तुओं के निबन्धन क्रम के अनौचित्य में देखा जाया करता है । जैसे कि—

‘महाराज ! मुझे एक बोझ दे दीजिये अबका न हो तो एक महोम्मल महाराज ही दे दायिम् ।’

यहाँ ‘दुष्कमल’ स्पष्ट है क्योंकि ‘अववाचन’ से पहले गजेन्द्र-वाचन का उपविबन्ध उचित होता ।

[ बहुमुख्य वस्तु की भाँति पहले की जाती है जिसके न निक सकने की वृत्ता में अल्प मुख्य वस्तु की वाचना का अवसर आता है । लोक में वाचना का नहीं क्रम है । इसे बिराद कर यहाँ कवि ने दुष्कमल का आह्वान किया है ]

अनुवाद—‘ग्राम्यत्व’ वह अर्थदोष है जिसे अधिकपद मनुष्यों की ही बातचीत में देखा जाया करता है । जैसे कि—

‘तू मेरे पास सोना । प्रिये । मैं अभी तेरे पास ही सोऊँगा ।

यहाँ ‘ग्राम्यत्व’ स्पष्ट है क्योंकि यहाँ प्रेमी और प्रेमिका का वह प्रेम-व्यक्त्यात्मक वार्त्ता-व्यवहार और असम्बन्ध-पूर्ण क्या रहा है ।

अनुवाद—‘व्यावृत्तत्व’ वह अर्थदोष है जिसे यहाँ देखा जाया करता है यहाँ किसी वस्तु का पहले उत्कर्ष का अपकर्ष दिखा कर बाद में उसके विपरीत अपकर्ष का उत्कर्ष वर्जन हान किया है । जैसे कि—

‘महादित चन्द्र-चन्द्रिका आदि के वर्जन से युवा प्रेमियों का हृदय बच में नहीं हो पाता । उनका हृदय तो इस सुन्दरी के वर्जन से बच में हुआ करता है जो कि लोक-लोचन की चन्द्रिका है ।

अत्र येषामिन्दुकला नानन्दहेतुस्तेषामेवानन्दाय तन्व्याश्चन्द्रिकात्वारोपः ।

( ५—अश्लीलत्व )

‘हन्तुमेव प्रवृत्तस्य स्तब्धस्य विवरैषिणः ।

यथाशु जायते पातो न तथा पुनरुन्नतिः ॥’

अत्रार्थोऽश्लीलः ।

( ६—कष्टत्व )

‘वर्षत्येतदहर्षतिर्न तु घनो धामस्थमच्छ पयः

सत्य सा सवितुः सुता सुरसरित्पूरो यया प्लावितः ।

व्यासस्योक्तिषु विश्वसित्यपि न कः, श्रद्धा न कस्य श्रुतौ

न प्रत्येति तथापि मुग्धहरिणी भास्वन्मरीचिष्वपः ॥’

अत्र यस्मात्सूर्याद्वृष्टेर्यमुनायाश्च प्रभवस्तस्मात्तयोर्जलमपि सूर्यप्रभवम् ।  
ततश्च सूर्यमरीचीना जलप्रत्ययहेतुत्वमुचितम् , तथापि मृगी भ्रान्तत्वात्तत्र

यहां ‘न्याहतत्व’ इसलिय है क्योंकि पहले तो चन्द्र-चन्द्रिका को युवा प्रेमियों का आनन्द-निदान न बताया गया ( अपकर्ष-वर्णन ) और अब उनके आनन्द के हेतु-रूप में सुन्दरी पर चन्द्रिका का आरोप कर दिया गया ( उत्कर्ष-वर्णन ) ।

अनुवाद—‘अश्लीलत्व’ वह अर्थदोष है जिसे ग्रीहा, जुगुप्सा, अमङ्गल आदि-आदि के अभिव्यक्त अर्थ में देखा जाया करता है । जैसे कि—

‘ऐसे क्रूरहृदय पुरुष का, जो मारने में लगा रहता है, अकड़ा रहा करता है और छिन्नावेषण में तत्पर हुआ करता है, पतन जितना शीघ्र सम्भव है उतना उत्थान नहीं ।’

यहाँ ‘अश्लीलत्व’ स्पष्ट है क्योंकि यहाँ जो दूसरा अर्थ अभिव्यक्त हो रहा है—‘जो सुरतक्रीड़ा में, योनि-न्ताडन में लगा करता है, स्तब्ध है और योनिच्छिद्र को ढँका करता है ऐसे दुष्ट शिश्न ( पुरुषेन्द्रिय ) का पतन जितना शीघ्र सम्भव है उतना उत्थान नहीं ।’ यह अश्लील है ।

विमर्श—अर्थात् ‘अश्लीलत्व’ काव्य-साहित्य में इसलिये दोष माना गया है क्योंकि काव्य का प्रयोजन सरसोपदेश भी है । ‘सरसोपदेश’ और ‘अश्लीलत्व’ साथ नहीं रह सकते । सभ्यता और सस्कृति की रक्षा कविता का भी उद्देश्य है । इसलिये कविजन को अश्लीलता-पूर्ण विषयों की अवतारणा से वचना आवश्यक है । अन्यथा सहृदय हृदय में उद्वेग उत्पन्न हो सकता है, न कि भाव-सवेग जो कि रसास्वाद में ही सम्भव है । ‘अश्लीलता’ रस विधातक है । इसलिये दोष है ।

अनुवाद—‘कष्टत्व’ वह अर्थदोष है जिसके कारण कोई अर्थ कष्टपूर्वक अवगत हुआ करता है । जैसे कि—

‘वह सूर्य है जो कि अपने मण्डलान्तर्गत निर्मल जल की वर्षा किया करता है, मेघ भला यह वर्षा कैसे करे । वह सूर्यसुता यमुना है जो कि सुरनदी गङ्गा को आप्लावित किया करती है, न कि और कोई । भला कौन है जो महर्षि व्यास के वचन ( सूर्य से वृष्टि की होने की बात ) पर विश्वास न करे ? ऐसा कौन है जिसे श्रुति पर ( ‘आदित्याजायते वृष्टि’ आदि श्रुति-वचन पर ) श्रद्धा न हो ? किन्तु यह मुग्ध मृगी ऐसी है जो सूर्यरश्मियों में जल की समावना पर विलकुल विश्वास नहीं करती ।’

यहाँ ‘कष्टत्व’ है । यहाँ यह अप्रस्तुत अर्थ निकल रहा है—‘वृष्टि और यमुना-दोनों का जल सूर्य से उत्पन्न होता है क्योंकि वृष्टि और यमुना-दोनों सूर्य से उत्पन्न हैं । इसलिये



अक्षप्रत्यय न करोति । अयमप्रस्तुतोऽध्यर्धो दुर्बोधः, दूरे चास्मत्प्रस्तुताबोधो  
इति कथ्यत्वम् ।

(—अनवीकृतत्वम्)

‘सदा भरति से मानु’ सदा बहति मारुत ।  
सदा भस्ते मुखं शेष’ सदा धीरोऽधिकस्थनः ॥’

अत्र सदेत्यनवीकृतत्वम् ।

अत्रास्य पदस्य पर्यायान्तरेणोपादानेऽपि यदि नाम्यद्विधिस्यन्तरं तदास्य  
दोषस्य संशय इति कथितपदत्वाद्भेदः ।

नवीकृतत्वं यथा—

‘मानु’ सकृद्युक्तपुराण एव रात्रिन्विष गन्धबहुं प्रयाति ।

विभर्ति शेष’ मत्तं परित्री पद्मं शृङ्गेरिपि घम एव ॥’ इति ।

सुखरसिम्बों में जब की सुभावना पर विश्वास उठित है किन्तु हरिणी मतिमग्न में पड़ी है  
और उसे सूर्य-किरणों में घानी का विश्वास नहीं हो रहा है । यह अप्रस्तुत अर्थ स्वयं  
कहासाध्य है और इसलिये इसके आधार पर निकलने वाला प्रस्तुत अर्थ अर्थात् नायक  
पर नायिका के अविश्वास का अभिप्राय और भी अधिक हुआसाध्य बन रहा है ।

अनुपम— अनवीकृतत्व’ वह अर्थहीन है जिसे एक ही प्रकार से बिना किसी विधि-  
प्रता और नवीयता के किसी अर्थ के उपन्यास में देखा जाया करता है । जैसे कि—

सूर्य सदा आकाश में विचरण करता है चातु सदा बहती रहा करती है दोबताय  
सदा घुम्नी का भार बहक किया करते हैं और गम्भीर स्वभाव क लोग सदा बाघरजावा  
पराक्रमुक्त हुआ करते हैं ।

यहाँ ‘अनवीकृतत्व’ है क्योंकि प्रत्येक बार ‘सदा’ के प्रयोग से बातों-बारों के अर्थ,  
विचित्रता और नवीयता से शून्य क्या रहे हैं ।

यहाँ ‘कथितपदत्व’ की आकांक्षा नहीं होती चाहिये क्योंकि ‘कथितपदत्व’ और  
अनवीकृतत्व’ में परस्पर भेद है । यहाँ तो ‘अनवीकृतत्व’ स्पष्ट है क्योंकि ‘सदा’ पद के  
बहुते इसके अन्य ( सर्वदा अजल आदि ) पर्यायवाचक पद के प्रयोग में भी वहाँ किसी  
विचित्रता का आधान नहीं हो सकता ( किन्तु ‘कथितपदत्व’ में पर्याय-परिवर्तन से दो-  
मुक्ति सभी साधते हैं ) ।

उत्पुष्ट्य सृष्टि में नवीयता का आधान इस प्रकार सम्भव है ( जैसा कि महाकवि  
आकित्वास की निम्न सृष्टि में स्पष्ट है )—

सूर्य एक बार ही अपने रथ में घोड़ों का जोता करता है चातु, क्या रात और क्या  
दिन निरन्तर बढ़ा करती है शेष सदा घुम्नी का भार बहक किया करता है और जो  
पद्मसङ्घर्ष ( प्रजापातक ) राजगण हैं उनका भी धर्म यह सतत कर्त्तव्यहीनता ही है ।

विमर्श— सरा करि से मानु’ में ‘अनवीकृतत्व’ और भागुः सङ्करवृत्तपुराण २२ में नवी-  
कृतत्व स्पष्ट है । नवीयता में समरकार है । विद्वेषन में अपाकार वहाँ ! सरा करि’ आदि में  
भी एक प्रकार के ही अर्थ का एक प्रकार से ही अभिप्राय है किन्तु ‘भागुः सङ्करवृत्तपुराण २२  
आदि में निम्न-निम्न प्रकार से विभिन्न भिन्न भिन्न नवी में संवत्ति एक अर्थ का उपन्यास  
किया हुआ है ।

( ८—निर्हेतुत्व )

‘गृहीतं येनासीः परिभवभयान्नोचितमपि

प्रभावाद्यस्याभून्न खलु तव कश्चिन्न विषयः ।

परित्यक्तं तेन त्वमपि सुतशोकान्न तु भया-

द्विमोक्ष्ये शस्त्र ! त्वामहमपि यतः स्वस्ति भवते ॥’

अत्र द्वितीयशस्त्रमोचने हेतुर्नोक्त इति निर्हेतुत्वम् ।

( ९—प्रकाशितविरुद्धत्व )

‘कुमारस्ते नराधीश ! श्रिय समधिगच्छतु ।’

अत्र ‘त्व श्रियस्व’ इति विरुद्धार्थप्रकाशनात्प्रकाशितविरुद्धत्वम् ।

( १०—संदिग्धत्व )

‘अचला अवला वा स्युः सेव्या ब्रूत मनीषिणः ? ।’

अत्र प्रकरणाभावाच्छान्तशृङ्गारिणोः को वक्तेति निश्चयाभावात्सन्दिग्धत्वम् ।

अनुवाद—‘निर्हेतुत्व’ वह अर्थदोष है जिसे बिना किसी हेतु के उपन्यस्त अर्थ में देखा जाया करता है । जैसे कि ( वेणोसहार, ३५ अङ्क की यह सूक्ति )—

‘अरे शस्त्र ! चात्रकृत तिरस्कार के भय से, ग्राह्यणोचित आचार के प्रतिकूल भी, तुझे, जिस मेरे पूज्य पिता ने ग्रहण किया, उनके प्रभाव से तू सर्वत्र अप्रतिहत और अप्रष्टप्य रहता आया है । उन्होंने तेरा परित्याग कर दिया केवल पुत्र-शोक के कारण, किसी के डर से नहीं । अब मैं भी तुझे छोड़ रहा हूँ । जा तेरा कल्याण हो ।’

यहाँ ‘निर्हेतुत्व’ इसलिये है क्योंकि ( जैसे द्रोण-कृत शस्त्रपरित्याग के लिये सुतशोक को हेतुरूप से उपन्यस्त किया गया है वैसे ) अश्वत्थामा द्वारा किये जानेवाले शस्त्र-परित्याग के लिये कोई हेतु उपन्यस्त नहीं किया गया ।

अनुवाद—‘प्रकाशितविरुद्धत्व’ वह अर्थदोष है जिसे ऐसे अभिव्यङ्ग्य अर्थ में देखा जाया करता है जो कि विवक्षित अर्थ के प्रतिकूल लगा करता है । जैसे कि—

‘महाराज ! आपके राजकुमार को राजलक्ष्मी मिले ।’ यहाँ एक अर्थ प्रकाशित हो रहा है—‘महाराज ! अब आप मर जाँय ।’ और यह स्पष्ट है कि यह अर्थ यहाँ विवक्षित अभिप्राय के सर्वथा विरुद्ध है । इसलिए यहाँ ‘प्रकाशितविरुद्धत्व’ स्पष्ट है ।

अनुवाद—‘संदिग्धत्व’ वह अर्थदोष है जिसे ऐसे अर्थ में देखा जाया करता है जो कि संदिग्ध रहा करता है । जैसे कि—

‘पण्डितगण ! आप ही बतावें कि ( परमेश्वर की आराधना के लिये ) पर्वत की शरण लें या ( सुरत-सुख के लिये ) अवलाओं की सेवा करूँ ।’

यहाँ ‘संदिग्धत्व’ इसलिये है क्योंकि प्रकरण के अभाव में यह निश्चय करना असम्भव है कि यहाँ का वक्ता शान्तप्रकृति का है या शृङ्गारी ।

विमर्श—काव्यप्रकाशकार ने ‘संदिग्धत्व’ के निदर्शन-रूप में यह काव्य-सूक्ति उद्धृत की थी—

‘मात्सर्यमुत्सार्य विचार्य कार्यमार्या समर्यादमुदाहरन्तु ।

सेव्या नितम्बा किमु भूधराणामुत स्मरस्मेरविलासिनीनाम् ॥’

और साहित्यदर्पणकार ने इस को तोड़-मरोड़कर इस प्रकार बना दिया—

‘अचला अवला वा स्युः सेव्या ब्रूत मनीषिण !’

( ११—पुनरुक्त्य

'सहसा विवृणीत न क्रियामन्विवेक परमापदा पदम् ।

वृणते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धा' स्वयमेव सम्पद ॥'

अत्र द्वितीयार्थे व्यतिरेकेण द्वितीयपादस्यैवाय इति पुनरुक्तता ।

यहाँ यह स्पष्ट है कि विभगाय कविताय की कदाहरण-सूक्ति काव्य-सूक्ति नहीं और तब नहीं दोष-निरीक्षण भी विप्रयोजन हो है ।

अनुवाद—'पुनरुक्त्य' वह अर्थदोष है जिसे एक प्रकार से प्रतिपादित अर्थ के पुनः प्रकारान्तर से प्रतिपादन में देखा जाया करता है जैसे कि—

'सहसा कोई कार्य करना ठीक नहीं' अन्विवेकिता ही आपदाओं की जननी है । संपदा तो स्वयं ही गुण कोन्टी है और विवेकी का स्वयंवरण किया करती है ।'

यहाँ 'पुनरुक्त्य' है क्योंकि ( इस श्लोक के पूर्वार्द्ध के ) द्वितीय पाद ( अन्विवेक परमापदा पदम् ) का ही अर्थ उत्तरार्ध में व्यतिरेक द्वारा ( वृणते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धा स्वयमेव संपदा ) उपपन्न किया हुआ है ।

विमर्श—अन्विवेककार ने 'पुनरुक्त्य' ( पौनरुक्त्य ) का बड़ा विचार विचार किया है । उनकी दृष्टि में 'मार्ग पौनरुक्त्य' एक महादोष है—

'पौनरुक्त्यमार्थमेवाभ्युपगम्यं शुद्धं न सत्यं तस्यार्थमेवै सत्यमुच्यते । बहुलं तस्य न सत्यपुनरुक्तं प्रथमं वाच्यम्, अर्थपुनरुक्त्येनैव गतातीत्यात् । न सत्यमेवे सत्यं सत्येऽपि अविद्योः । यथा—

'इसति इसति स्वामिन्पुत्रश्चै सत्यपि रोदिति

प्रविण्मन्त्रिकाधीतं सत्यं प्रकृत्यति कृत्यति ॥ इति

तदमेवे तु मुहूर्तः । अन्वयः तात्पर्यमेवात् । तत्र भूपजमेव न रूपस्य । तस्यानुप्रासविशेष-विषयत्वेनेष्टत्वात् । ( अन्विवेक एक विमर्श )

जहाँ 'अर्थपुनरुक्ति' के अतिरिक्त 'अर्थपुनरुक्ति' मानने की कोई आवश्यकता नहीं । 'अर्थ पुनरुक्ति' सत्य हो न ही क्योंकि अर्थमेव होने पर अर्थ-सत्य में क्या दोष । अर्थ के एक होने पर ही अर्थ-सत्य दोषावह हुआ करता है । किन्तु अर्थमेव होने पर अर्थ-सत्य में ही अर्थ-सत्य निर्मुक्त हो है ।

इस 'पौनरुक्त्य' दोष में जाना प्रकारों की संभावना है किन्तु 'अन्विवेक'कार ने स्थिति में निरिद्ध भी किया है—

'सामर्थ्यसिद्धस्यार्थस्य यथावा पुनरुक्तता ।

तात्पर्यमेवाभ्युपगम्यस्य द्विविधिं शास्त्रापीप्यते ॥

पौनरुक्त्यमिति द्वेधा पीठमुच्यतया रिपतयः ।

तत्र रूपमेवाधमपरं । सूच्यं सत्यम् ॥

सम्पत्कारिण्युपैक्यमुप्राससंज्ञया ।

तत्त्वोदाहृतमेव प्राग् रूपं तु वितन्पते ॥

प्रकृतिप्रत्ययार्थोऽस्य पदवाच्यार्थं पृथक् ॥

विषयो बहुधा ज्ञेया स त्वमेवोपहरति ॥

अभिन्नं पृथक् अर्थार्थः प्रकृतौ प्रत्ययस्य च ।

तत् पौनरुक्त्योपहतं पदमाही विप्रमेवेत् ॥

( १२—प्रसिद्धिविरुद्धत्व )

प्रसिद्धिविरुद्धता यथा—

‘ततश्चचार समरे शितशूलधरो हरिः ।’

अत्र हरेः शूल लोकेऽप्रसिद्धम् ।

यथा वा—

‘पादाघातादशोकस्ते सञ्जाताङ्कुरकण्टकः ।’

अत्र पादाघातादशोकेषु पुष्पमेव जायत इति प्रसिद्धं न त्वङ्कुर इति कवि-समयख्यातिविरुद्धता ।

( १३—विद्याविरुद्धत्व )

‘अधरे करजक्षत मृगाच्याः ।’

विहितस्य बहुव्रीहे कर्मधारयशक्या ।

शब्दस्य मत्वर्थ्यादेर्व्यक्तैव पुनरुक्तता ॥

पुनरुक्तिप्रकाराणामिति दिक्षात्रमीरितम् ।

विवेक्तुं को हि कात्स्न्येन शक्नोत्यवकरात्करम् ॥ ( व्यक्तिविवेक २य विमर्श )

साहित्यदर्पणकार द्वारा उदाहृत ‘पुनरुक्तत्व’ वस्तुतः ‘पौनरुक्त्य’ का एक प्रकार है जिसे ‘व्यक्ति-विवेककार’ ने इस प्रकार सकेतित किया है—

‘वाक्यार्थविषय पौनरुक्त्यं यथा—

सहसा विदधीत न क्रियामविवेक परमापदा पदम् ।

वृणते हि विमृश्यकारिण गुणलुब्धा स्वयमेव सपदः ॥

अत्र हि अविवेकप्रयुक्तमविमृश्यकारित्वलक्षण सहसाकार्यकारित्व नामापदामविकलं कारणमिति तेषां कार्यकारणभावमन्वयवाक्येन प्रतिपाद्य पुनः कारणाभावरूप विमृश्य-कारित्वमनूद्य तत्कार्यभूतविपदभावरूपाणां सपदा सद्भावो भणित इति व्यतिरेकवाक्ये-नापि तेषां कार्यकारणभाव एवाभिहित इति तस्य पुनरुक्तता । अन्वय-वाक्यादेव तदवगते ।’

( व्यक्तिविवेक २य विमर्श )

अनुवाद—‘प्रसिद्धिविरुद्धत्व’ वह अर्थदोष है जिसे लोक-प्रसिद्धि अथवा कवि-प्रसिद्धि के विरुद्ध किसी अर्थ के उपन्यास में देखा जाया करता है । जैसे कि—

‘तव तीक्ष्ण शूल धारण किये भगवान् विष्णु सग्राम में विचरण करने लगे ।’

यहाँ ‘प्रसिद्धिविरुद्धत्व’ स्पष्ट है क्योंकि लोक में विष्णु का शूल-धारण अप्रसिद्ध है ( शूल-धारण तो वस्तुतः महादेव के लिये प्रसिद्ध है, विष्णु के लिये नहीं ) ।

अथवा

‘अरी सुन्दरी ! तेरे पाद-प्रहार से यह अशोक-पादप अङ्कुरों से भर उठा है ।’

यहाँ भी ‘प्रसिद्धिविरुद्धत्व’ है क्योंकि कवि समय के अनुसार, रमणी के चरण-प्रहार से, अशोक-पादप में पुष्पोद्गम प्रसिद्ध है, अङ्कुरोद्गम नहीं । पहले उदाहरण में तो लोक-प्रसिद्धि के विरुद्ध अर्थ के अभिधान में ‘प्रसिद्धिविरुद्धत्व’ रहा, किन्तु यहाँ कवि-समय-प्रसिद्धि के विरुद्ध अर्थ के वर्णन में ‘प्रसिद्धिविरुद्धत्व’ है ।

अनुवाद—‘विद्याविरुद्धत्व’ वह अर्थदोष है जिसे व्याकरण-भिन्न शास्त्र के विरुद्ध प्रतीत होने वाले अर्थ के अभिधान में देखा जाया करता है ( व्याकरण-भिन्न इसलिये क्योंकि

( ११—पुनरुक्तत्व )

‘सहसा विवर्धित न क्रियामभिवेक’ परमापवा पदम् ।

वृणते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्ध्वा स्वयमेव सम्पद ॥’

अत्र द्वितीयार्थे व्यतिरेकेण द्वितीयपावस्वैवाथ इति पुनरुक्त्या ।

वहाँ यह स्पष्ट है कि क्रियामात्र कबिताम को उदाहरण-सूक्ति अथवा-सूक्ति नहीं और तब वहाँ दोष-निरीक्षण भी निम्नशेखन ही है ।

अनुवाद—‘पुनरुक्तत्व’ यह अर्थदोष है जिसे एक प्रकार से प्रतिपादित अर्थ के पुनः प्रकारान्तर से प्रतिपादन में देखा जाता करता है जैसे कि—

‘सहसा कोई कार्य करना ठीक नहीं अभिवेकिता ही भावदात्री की बनती है । संपदा को स्वयं ही गुण कोऊती है और विवेकी का स्वयंवरण किया करती है ।

वहाँ ‘पुनरुक्तत्व’ है क्योंकि ( इस श्लोक के पूर्वार्ध के ) द्वितीय पद ( अभिवेक परमापवा पदम् ) का ही अर्थ उपरार्ध में व्यतिरेक हुआ ( वृणते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्ध्वा स्वयमेव संपदा ) उपन्यस्त किया हुआ है ।

विमर्श—अभिविवेकभार ने ‘पुनरुक्तत्व’ ( पीनरुक्तत्व ) का क्या विचार किया है । वगैरे इति में ‘मार्ग पीनरुक्तत्व’ एक महादोष है—

‘पीनरुक्तत्वमार्थमेवाभ्युपगन्तुं युक्तं न सामर्थ्यं तत्सामर्थ्यमेवै सत्यमुक्तत्वात् । बहुलं ‘तत्त्व न सम्यक्प्रवक्तुं युक्तं न सामर्थ्यं, अर्थपुनरुक्तत्वेनैव गताप्यत्वात् । न ह्यर्थमेवै सम्य-सामर्थ्येऽपि कबिरोषा । यथा—

‘इति इति स्वामिन्पुनरुक्तं कृत्यपि रोहिणि

प्रतिपन्नमिदमिदं नान्यं प्रवृत्तिरिति कृत्यपि ॥ इति

तदमेवै तु दुष्टतैव । अन्यत्र तात्पर्यमेवात् । तत्र भूतत्वमेव न रूपम् । तस्यानुप्रासविशेष-विषयत्वेनेवात् । ( व्यतिरेकः । २५ विमर्श )

जहाँ ‘अर्थपुनरुक्ति’ के अतिरिक्त ‘अर्थपुनरुक्ति’ मानने की कोई आवश्यकता नहीं । ‘इन्द्र पुनरुक्ति’ एक दोष भी नहीं क्योंकि अर्थमेव होने पर अर्थ-सामर्थ्य में क्या दोष । अर्थ के एक होने पर ही अर्थ-सामर्थ्य दोषावह हुआ करता है । किन्तु तात्पर्यमेव होने पर अर्थमेव में ही अर्थ-सामर्थ्य निर्दिष्ट ही है ।

इस ‘पीनरुक्तत्व’ श्लोक में माना प्रकारों की संभावना है किन्तु व्यतिरेकभार ने स्थिति में निर्दिष्ट भी किया है—

‘सामर्थ्यसिद्धत्वाप्यस्य यथावा पुनरुक्तता ।

तात्पर्यमेवाभ्युपगन्तुं युक्तं सामर्थ्यवर्धनम् ॥

पीनरुक्तत्वमिति हेत्वा वीजमुक्त्यतया रिक्तम् ।

तत्र रूपत्वमेवाप्यमपरं । रूपं स्मृतम् ॥

सम्यक्प्रवृत्तिरिति युक्त्यानुप्राससंज्ञया ।

तत्त्वोदाहरणमेव प्राग् रूपं तु वितन्वते ॥

प्रकृतिप्रत्ययार्थोऽस्य पदत्वमर्थः पदम् न ।

विषयो बहुधा शेषः स क्रमेणोपपद्यते ॥

अभिज्ञ पद अर्थार्थः प्रकृतेः प्रत्ययत्वं न ।

तत् पीनरुक्तत्वोपहृतं पदमादी विवर्धनेत् ॥

( १२—प्रसिद्धिविरुद्धत्व )

प्रसिद्धिविरुद्धता यथा—

‘ततश्चचार समरे शितशूलधरो हरिः ।’

अत्र हरेः शूलं लोकेऽप्रसिद्धम् ।

यथा वा—

‘पादाघातादशोकस्ते सञ्जाताङ्कुरकण्टकः ।’

अत्र पादाघातादशोकेषु पुष्पमेव जायत इति प्रसिद्धं न त्वङ्कुर इति कवि-समयख्यातिविरुद्धता ।

( १३—विद्याविरुद्धत्व )

‘अधरे करजक्षतं मृगाच्याः ।’

विहितस्य बहुव्रीहे कर्मधारयशक्या ।

शब्दस्य मत्वर्थ्यादेर्व्यक्तैव पुनरुक्तता ॥

पुनरुक्तिप्रकाराणामिति दिव्यात्रमीरितम् ।

विवेकजुं को हि कात्स्न्येन शक्नोत्यवकरात्करम् ॥’ (व्यक्तिविवेक २य विमर्श)

साहित्यदर्पणकार द्वारा उदाहृत ‘पुनरुक्तत्व’ वस्तुतः ‘पौनरुक्त्य’ का एक प्रकार है जिसे ‘व्यक्ति-विवेककार’ ने इस प्रकार सकेतित किया है—

‘वाक्यार्थविषय पौनरुक्त्यं यथा—

सहसा विदधीत न क्रियामविवेक परमापदा पदम् ।

वृणते हि विमृश्यकारिण गुणलुब्धा स्वयमेव सपदः ॥

अत्र हि अविवेकप्रयुक्तमविमृश्यकारित्वलक्षण सहसाकार्यकारित्वं नामापदामविकल कारणमिति तेषां कार्यकारणभावमन्वयवाक्येन प्रतिपाद्य पुनः कारणाभावरूप विमृश्य-कारित्वमनूद्य तत्कार्यभूतविपदभावरूपाणां सपदा सञ्जातो भणित इति व्यतिरेकवाक्ये-नापि तेषां कार्यकारणभाव एवाभिहित इति तस्य पुनरुक्तता । अन्वय-वाक्यादेव तद्वगते ।’

( व्यक्तिविवेक २य विमर्श )

अनुवाद—‘प्रसिद्धिविरुद्धत्व’ वह अर्थदोष है जिसे लोक-प्रसिद्धि अथवा कवि-प्रसिद्धि के विरुद्ध किसी अर्थ के उपन्यास में देखा जाया करता है । जैसे कि—

‘तव तीक्ष्ण शूल धारण किये भगवान् विष्णु सग्राम में विचरण करने लगे ।’

यहाँ ‘प्रसिद्धिविरुद्धत्व’ स्पष्ट है क्योंकि लोक में विष्णु का शूल-धारण अप्रसिद्ध है ( शूल-धारण तो वस्तुतः महादेव के लिये प्रसिद्ध है, विष्णु के लिये नहीं ) ।

अथवा

‘अरी सुन्दरी ! तेरे पाद-प्रहार से यह अशोक-पादप अङ्कुरों से भर उठा है ।’

यहाँ भी ‘प्रसिद्धिविरुद्धत्व’ है क्योंकि कवि समय के अनुसार, रमणी के चरण-प्रहार से, अशोक-पादप में पुष्पोद्गम प्रसिद्ध है, अङ्कुरोद्गम नहीं । पहले उदाहरण में तो लोक-प्रसिद्धि के विरुद्ध अर्थ के अभिधान में ‘प्रसिद्धिविरुद्धत्व’ रहा, किन्तु यहाँ कवि-समय-प्रसिद्धि के विरुद्ध अर्थ के वर्णन में ‘प्रसिद्धिविरुद्धत्व’ है ।

अनुवाद—‘विद्याविरुद्धत्व’ वह अर्थदोष है जिसे व्याकरण-भिन्न शास्त्र के विरुद्ध प्रतीत होने वाले अर्थ के अभिधान में देखा जाया करता है ( व्याकरण-भिन्न इसलिये क्योंकि

अत्र गृह्णार (कर्म) शास्त्रविद्वत्त्वादिषाभिद्वत्ता ।  
एषमन्यशास्त्रविद्वत्त्वमपि ।

( १३—साक्षात्कृत्य )

‘ऐशस्य अनुपो भङ्गं क्षत्रस्य च समुन्नतिम् ।  
क्षीरत्नं च कर्म नाम भुज्यते मार्गोऽधुना ॥’  
अत्र क्षीरमुपेक्षितुमिति साक्षात्कृत्य ।

( १४—सहचरमिच्छत् )

‘सञ्जनो दुर्गती मग्नं कामिनी गक्षितस्तनी ।  
कक्षं पूज्यं समन्याया सापाय मम चेतसः ॥’

अत्र सञ्जनं कामिनी च शोभनी तत्सहचरं कक्षोऽशोभन इति सहचर-  
मिच्छत्त्वम् ।

( १५—अस्थानमुच्छ्रय )

‘आह्ला शास्त्रिकासामपिप्रणयिनी शास्त्राणि चानुर्नवं

व्याकरण के विद्वद् अभिधान में तो ‘अनुत्संस्कारत्वं’ का विस्वदोष एक पृथक् दोष है ही) ।  
जैसे कि—

‘युगमयनी के अक्षर पर यह नज़रत आये ।

यहाँ ‘विद्याविद्वत्त्व’ है क्योंकि यहाँ ‘अक्षर पर नज़रत’ का जो वर्णन है वह काम-  
वाचक के विद्वद् है ।

इसी भाँति अन्वय साक्षों के विपरीत अर्थों के अभिधान में भी ‘विद्याविद्वत्त्व’  
ही माना जाया करता है ।

अनुवाद—‘साक्षात्कृत्य वह अर्थदोष है जिसे ऐसे अर्थ के अभिधान में देखा जाया  
करता है जिसकी जाकीजा तो बनी रह किन्तु जिसका प्रतिपादन न किया जाय । जैसे कि—  
अब मका मार्ग पर दूराराम के छिये यह कैसे सम्भव हो कि वे तिक-पिनाक का मङ्ग  
और चित्रि आति का उत्कर्ष और साथ ही साथ क्षीरत्न ( की उपचा ) सहन कर के ।

यहाँ ‘साक्षात्कृत्य’ है क्योंकि यहाँ क्षीरत्न की ‘उपचा’ के अर्थ की जाकीजा बनी है  
किन्तु इसे प्रतिपादित नहीं किया गया है ।

विमर्श—अर्थ की निराकाङ्क्ष प्रतीति के बिना रसास्वादि संभव नहीं । इसीके सार्वभौम अर्थ  
के उपपत्ता में दोष की मान्यता आवश्यक है ।

अनुवाद—‘सहचरमिच्छत्त्व’ वह अर्थदोष है जिसे सञ्जलीय अर्थों के बीच किसी  
विजातीय अर्थ के उपविबन्ध में देखा जाया करता है । जैसे कि—

‘हृत्ति ॥ पद्म सञ्जन दुलभ उन्नत रत्नों से रहित सुन्दरी और सभा में रुमा पाने  
वाला एक—य तीनों मेरे चित्त में जुमा करते हैं ।

यहाँ ‘सहचरमिच्छत्त्व’ स्पष्ट है क्योंकि ‘सञ्जन’ और ‘सुन्दरी’ के शोभन अर्थों के साथ  
‘रत्न’ के शोभन अर्थ का उपपत्तास किया हुआ है ।

अनुवाद—‘अस्थानमुच्छ्रय वह अर्थदोष है जिसे अनुपपुच्छ स्थान पर समग्र होने  
वाले वाच्यार्थ में देखा जाया करता है । जैसे कि—( महाकवि राजसेखर के ‘वाल्मीकि’  
के प्रथम अष्ट की यह शक्ति )—

‘जिसकी आज्ञा मुकुट-मणि की भाँति इन्द्र को भी सिरोंपार्थ है जिसके दिव्य शब्द

भक्तिभूतपतौ पिनाकिनि पद लङ्घेति दिव्या पुरी ।  
उत्पत्तिर्द्रुहिणान्वये च तदहो नेष्ट्वरो लभ्यते  
स्याच्चेदेष न रावण क नु पुनः सर्वत्र सर्वे गुणाः ॥'  
अत्र न रावण इत्येतावतैव समाप्यम् ।

( १७—अविशेष में विशेष )

हीरकाणां निधेरस्य सिन्धोः किं वर्णयामहे ।'

अत्र रत्नानां निधेरित्यविशेष एव वाच्यः ।

( १८—अनियम में नियम )

‘आवर्त्त एव नाभिस्ते नेत्रे नीलसरोरुहे ।

भङ्गाश्च वलयस्तेन त्वं लावण्याम्बुवापिका ॥’

अत्रावर्त्त एवेति नियमो न वाच्यः ।

( १९—विशेष में अविशेष )

‘यान्ति नीलनिचोलिन्यो रजनीष्वभिसारिकाः ।’

नवीन दिव्य दृष्टि का कार्य किया करते हैं, जिसकी शिवभक्ति सर्वविदित है, जिसका दिव्य स्थान लङ्कापुरी के नाम से प्रसिद्ध है और जिसका जन्म ब्रह्मा के महान् वंश में हुआ है उसके समान भला और कोई वर कहाँ मिले ! वस एक बात है कि यह ‘रावण’ है । किन्तु सब गुण सर्वत्र रहते कहाँ हैं ?

यहाँ ‘अस्थानयुक्तव’ है क्योंकि यहाँ के वाक्यार्थ को, जिसे ‘स्याच्चेदेष न रावण’ पर ही समाप्त हो जाना चाहिये ( क्योंकि ‘रावण’ पद से ही ‘वर के रूप में रावण के निषेध’ की ‘अर्थान्तरसक्रामितवाच्यष्वनि’ प्रतीत हो उठती है ), अनुपयुक्तस्थान पर समाप्त किया गया है ( ‘क नु पुन सर्वत्र सर्वे गुणा’ पर वाक्यार्थ का समाप्त होना तो अनुचित है क्योंकि यह विवक्षित अर्थ के विरुद्ध पड़ता है ) ।

अनुवाद—‘अविशेष में विशेष’ वह अर्थदोष है जिसे सामान्य-कथन के बदले विशेष-कथन में देखा जाया करता है ( जिससे विवक्षित अर्थ-प्रतीति में विलम्ब पड़ता है और रसभाव-प्रतीति भी विलम्ब से हो पाती है ) । जैसे कि—

‘हीरों के निधान इस समुद्र का क्या वर्णन करें’ आदि ।

यहाँ ‘अविशेष में विशेष’ का अर्थदोष स्पष्ट है क्योंकि यहाँ ‘रत्नों के निधान’ इस सामान्य-कथन के बदले ‘हीरों के निधान’ इस विशेष-कथन से अभिप्रेत अर्थ-प्रतीति में विलम्ब लग रहा है ।

अनुवाद—‘अनियम में नियम’ वह अर्थदोष है जिसे अनियमत. कथन के बदले नियमाभिधान में देखा जाया करता है । जैसे कि—

‘तेरी नाभि आवर्त्त ही ठहरी, तेरे नेत्र नीलकमल रहे और तेरी त्रिवली तरङ्ग है—  
अरी ! सचमुच ही तू लावण्य की जलवापी है ।’

यहाँ ‘अनियम में नियम’ का दोष स्पष्ट है क्योंकि ‘आवर्त्त एव’ इस नियमाभिधान की कोई आवश्यकता नहीं प्रतीत होती ।

अनुवाद—‘विशेष में अविशेष’ वह अर्थदोष है जिसे विशेष-वचन के बदले सामान्य के अभिधान में देखा जाया करता है । जैसे कि—

‘नीले वस्त्र पहन कर अभिसारिकार्यें रातों में निकल रही हैं ।’



अत्र तमिष्ठास्त्विति रजनीविशेषो वाच्यः ।

(१०—नियम में अनियम)

‘आपातसुरसे भोगे निमग्ना’ किं न कुर्वते ।’

अत्र आपात एवमिति नियमो वाच्यः ।

ननु वाच्यस्यानभिधाने ‘व्यतिक्रमकथम्’ इत्यावाधपरमाधः, इह चैवकार स्येति कोऽनयोमेव । अत्राह—‘नियमस्य वचनमेव पृथग्भूतं नियमपरिवृत्ते विषयः’ इति, सप्त तथा सत्यपि द्वयोः शब्दार्थबोधोपतायां नियामकाभावात् ।

तस्मै गतिरिति चेत् ? ‘व्यतिक्रमकथम्’ इत्यादौ शब्दोपधारणानन्तरमेव बोधप्रतिभासः, इह स्वयंप्रत्ययानन्तरमिति भेदः । एवं च शब्दपरिवृत्तिसहत्वा

यहाँ ‘विशेष में अनिवेश’ का बोध है क्योंकि यहाँ ‘रजनी’ ( रात ) इस सामान्य वचन का कोई प्रयोजन नहीं यहाँ तो ‘तमिष्ठा’ ( जैसी रात ) इस विशेष-वचन का स्मारक है ( क्योंकि धीकनिचोक बाड़ी रमणियों के अनिवेश के विषय इसी की उप-योगिता है ) ।

अनुवाद—‘नियम में अनियम’ वह अर्थबोध है जिसे नियमता अनिवेश के बड़े अनिवेश से अनिवेश में देखा जाया करता है । जैसे कि—

‘आरम्भ में अच्छे कगले बाके विषय-सुख में हूँ लोग सजी प्रकार के अकार्य किया करते हैं ।’

यहाँ ‘विषय में अनियम’ का बोध दिखायी दे रहा है क्योंकि यहाँ ‘आपातसुरसे’—‘आरम्भ में अच्छे कगले बाके’ इस अनियमता अनिवेश के बड़े ‘आपात पूव सुरसे’—‘आरम्भ में ही अच्छे कगले बाके’ इस विषयानिवेश की आन्तरिकता प्रतीत होती है ( क्योंकि तभी ‘अन्य समय के स्वावर्तन’ का अपेक्षित अनिवेश निकल सकता है ) ।

यहाँ यह ध्यान उठ सकता है कि ‘वाच्याननिधान’ और ‘विषयानियमानिवेश’ में भेद क्या ? जैसे ‘व्यतिक्रमकथम्’ आदि में अपि के अभाव में ‘वाच्याननिधान’ जैसे ही यहाँ ‘आपातसुरसे’ आदि में ‘पूव’ के अभाव में ‘विषयानियमानिवेश’ ! इसका यह उत्तर कि ‘विषयानियमानिवेश’ तो एक विशेष बात है जो कि विषय के अन्वय में देखी जाती है और जिसके कारण नियमपरिवृत्ति अथवा विषय में अनियम के अनिवेश का बोध उत्पन्न होता है किन्तु ‘वाच्याननिधान’ यह है जिसे विषयगतक पद के अतिरिक्त भी पद के अभाव में देखा जाया करता है, छीक नहीं उँचता । बात यह है कि यदि ऐसा मान भी किया जाय तब भी न तो ‘वाच्याननिधान’ को अप्रत्यक्ष बोध सिद्ध करने का कोई कारण पताया जा सकता है और न ‘विषयानियमानिवेश’ को अर्थबोध मानने का ( क्योंकि जब कि दोनों में अन्वय पद का अभाव ही कारण है तब दोनों को अप्रत्यक्ष क्यों न मान लिया जाय ) ।

किन्तु यहाँ एक बात है और यह यह है—‘वाच्याननिधान’ के प्रसङ्गों—जैसे कि ‘व्यतिक्रमकथम्’ आदि—में तो ऐसा होता है कि अप्रत्यक्षकारण के बाद ही बोध का शान हो उठता है किन्तु ‘विषयानियमानिवेश’ के स्थल पर, जैसे कि ‘आपातसुरसे’ आदि में अर्थबोध के बाद पता चलता है कि कुछ गटक रहा है । इस प्रकार प्राचीन आकट्टा-रिक्तों द्वारा मान्य अप्रत्यक्षबोध-अन्वय का यह सिद्धान्त कि ‘अप्रत्यक्ष बोध है जो अप्रत्यक्ष करने से दृढ़ जाय और अर्थबोध यह जो शब्द बदलने पर भी न हटे अन्ततोगत्या इस

सहत्वाभ्यां पूर्वैरादृतोऽपि शब्दार्थदोषविभाग एवं पर्यवस्यति—यो दोषः शब्द-परिवृत्तयसहः स शब्ददोष एव । यश्च पदार्थान्वयप्रतीतिपूर्वबोध्यः सोऽपि शब्ददोषः । यश्चार्थप्रतीत्यनन्तरं बोध्यः सोऽर्थोश्रय इति । एवं चानियमपरिवृत्तित्वादेरप्यधिकपदत्वाद् भेदो बोद्धव्यः । अमत्परार्थत्वे तु 'राममन्मथशरेण—' इत्यादौ नियमेन वाक्यव्यापित्वाभिप्रायाद्वाक्यदोषता । अश्लीलत्वादौ तु न नियमेन वाक्यव्यापित्वम् ।

( २१—विध्ययुक्तत्व )

'आनन्दितस्वपक्षोऽसौ परपक्षान् हनिष्यति ।'  
अत्र परपक्ष हत्वा स्वपक्षमानन्दयिष्यतीति विधेयम् ।

( २२—अनुवादायुक्तत्व )

'चण्डीशचूडाभरण ! चन्द्र ! लोकतमोपह ! !  
विरहिप्राणहरण ! कदर्थय न मां वृथा ॥'  
अत्र विरहिण उक्तौ तृतीयपादस्यार्थो नानुवाद्यः ।

रूप में परिनिष्ठत होता है—'वह दोष, जो शब्द-परिवर्तन के बाद भी बना रहे, शब्द-दोष है और वह दोष भी शब्ददोष ही है जो कि पदार्थों के अन्वय-बोध के पहले ही प्रतीत हो जाता है । इसके विपरीत अर्थदोष वह है जिसका पता अर्थबोध के बाद लगा करता है' । इस परिनिष्ठित सिद्धान्त का अनुसरण करने से यह भी निर्धारित हो जाता है कि 'अनियमपरिवृत्ति' आदि अर्थदोष 'अधिकपदत्व' आदि पददोषों से सर्वथा भिन्न प्रकार के दोष हैं ।

यहाँ एक और भी बात ध्यान में रखनी चाहिये और वह यह है—'अमत्परार्थत्व' में भी अर्थप्रतीति के बाद दोष-प्रतिभास होता है जैसा कि 'राममन्मथशरेण' आदि प्रसङ्गों में स्पष्ट है किन्तु इसे अर्थदोष न मान कर वाक्यदोष ही माना जाया करता है क्योंकि वह दोष वस्तुतः समस्त वाक्य में व्याप्त होने से वाक्यदोष ही कहा जा सकता है । किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि 'हन्तुमेव प्रवृत्तस्य' आदि में 'अश्लीलत्व' भी, वाक्य-व्यापक होने से, वाक्यदोष मान लिया जाय क्योंकि यहाँ यह आवश्यक नहीं की अश्लीलता समस्त वाक्य में ही व्याप्त हो ( क्योंकि यहाँ यह 'अश्लीलता' 'हन्तुमेव' आदि वाक्यांश में भी है और 'विवरैपिण' आदि पद में भी ) ।

अनुवाद—'विध्ययुक्तत्व' वह अर्थदोष है जिसे विधेय के अयोग्य अर्थ में विधेय-तात्पर्य का समर्पण कहा जाया करता है । जैसे कि—

'अपने पत्न को आनन्दित करने वाला वह राजा परपत्न का सहार कर डालेगा ।'

यहा 'विध्ययुक्तत्व' है क्योंकि यहाँ जो विधेय है वह यह है—'परपत्न का सहार कर यह राजा अपने पत्न के लोगों को प्रसन्न कर देगा ।' इस विधेय के वजह, यहाँ ऐसे अर्थ को विधेय बनाया गया है जो कि वस्तुतः विधेय बनने के योग्य नहीं ।

अनुवाद—'अनुवादायुक्तत्व' वह अर्थदोष है जिसे ऐसे उद्देश्य के अभिधान में देखा जाया करता है जो कि विधेय के अनुकूल नहीं प्रतीत हुआ करता । जैसे कि—

'हे चण्डीशचूडाभरण ! हे ससार के तमोनाशक ! हे विरहिप्राणहरण चन्द्र ! मुझे व्यर्थ के लिये तग न कर ।'

( १३—निर्मुक्तपुनरुत्थाय )

‘सग्नं रागावृताङ्गया मुहवमिह ययैवासिषष्टधारिकण्ठे

मातङ्गानामपीहोपरि परपुरुषैर्मा च दृष्टा पवन्ती ।

तस्सत्त्वेऽयं न किञ्चिद्गूणयति विदितं तेऽस्तु तेनास्मि वृत्ता

भृत्येभ्यः श्रीनियोगाद्गविमुमिति गतेषाम्नुधि यस्य कीर्तिः ॥’

अत्र विदितं तेऽस्मिन्ननेन समापितमपि वचनं तेनेत्यादिना पुनरुपात्तम् ।

( रसदोषः स्वल्प तथा प्रकार-निरूपण )

अथ रसदोषानाह—

रसस्योक्तिः स्वल्पेन स्थापितं चारिणोरपि ॥ १२ ॥

परिपन्थिरसाङ्गस्य विमावादेः परिग्रहः ।

आक्षेप कल्पितः कुरुद्रादनुभावविभावयोः ॥ १३ ॥

अकान्ठे प्रयत्नच्छेदौ तथा दीप्तिः पुनः पुनः ।

यहाँ ‘अनुभावापुच्छम्’ स्पष्ट है क्योंकि जब कि वहाँ का वक्ष एक विरही है तब इस वृत्ति के तृतीय चरण ( ‘विरहिमाधहरण’ ) का अर्थ सर्वोत्कृष्ट उचित उद्देश्य के रूप में समझा जा सकता है ! ( अर्थात् वक्ष के विशेषणरूप में ‘विरहिमाधहरण’ का उपस्थापन ठीक नहीं क्योंकि कोई विरही किसी ऐसी वस्तु से जो कि ‘विरहिमाधहरण’ हो, प्रायमिच्छा सर्वोत्कृष्ट माँग सके ! )

अनुवाक—‘निर्मुक्तपुनरुत्थाय’ यह अर्थदोष है जिसे वहाँ देखा जाया करता है वहाँ पहले समाप्त की हुई बात पुनः प्रतिपादित की जाया करती है । जैसे कि—

‘इस राजा की कीर्ति कछ्मी के पिता समुद्र के पास पहुँच रही है और कछ्मी की आज्ञा से उसे भागो वह सम्भव है रही है कि ‘यह राजा जो मुझ कछ्मी को कुछ समझता नहीं, वह तो उस तकाल का जेमी बना है जो कि ‘रागावृताङ्गी’ ( रक्त से सनी और प्रेम में पूरी ) सज्जनों के गले लगा करती है और जिसे हजारों लोग मारतों ( हाथियों और चीब बाण्डाओं ) के ऊपर भी गिरती-पड़ती देखा करते हैं । इस राजा ने मुझे अपने कृपाओं तक को सीप दिया है—यह भी जान लेना ।’

यहाँ ‘निर्मुक्तपुनरुत्थाय’ स्पष्ट है क्योंकि वहाँ वाक्यार्थ से ‘विदितं तेऽस्तु’ पर ही समाप्त हो चुका था किन्तु इसे ‘तेनास्मि’वादि के द्वारा पुनः प्रतिपादित किया गया ।

अनुवाक—जब रस-सम्बन्धी दोषों का निरूपण किया जा रहा है । रस-दोष ये हैं—

- ( १ ) रस की स्वसम्बन्ध-वाच्यता ( रसस्य स्वसम्बन्धवाच्यत्वम् )
- ( २ ) स्वविभाव की स्वसम्बन्ध-वाच्यता ( स्वविभावः स्वसम्बन्धवाच्यत्वम् )
- ( ३ ) ध्वनिचारिभाव की स्वसम्बन्ध-वाच्यता ( ध्वनिरिणः स्वसम्बन्धवाच्यत्वम् )
- ( ४ ) प्रकृष्टरस-विकृतविभावविचोचनता ( परिपन्थिरसाङ्गग्रहणम् )
- ( ५ ) अनुभाव की कष्ट-कल्पना ( कष्टाविसृष्टानुभावत्वम् )
- ( ६ ) विभाव की कष्ट-कल्पना ( कष्टाविसृष्टविभावत्वम् )
- ( ७ ) अकान्ठ में रस-विस्तार ( अकान्ठे रसप्रवणम् )

अङ्गिनोऽननुसंधानमनङ्गस्य च कीर्तनम् ॥ १४ ॥

अतिविस्तृतिरङ्गस्य प्रकृतीनां विपर्ययः ।

अर्थानौचित्यमन्यच्च दोषा रसगता मताः ।

( १—रस की स्वशब्दवाच्यता )

रसस्य स्वशब्दो रसशब्दः शृङ्गारादिशब्दश्च ।

क्रमेण यथा—

‘तामुद्वीक्ष्य कुरङ्गाक्षीं रसो नः कोऽप्यजायत ।’

‘चन्द्रमण्डलमालोक्य शृङ्गारे मग्नमन्तरम् ।’

( २—स्थायिभाव की स्वशब्दवाच्यता )

स्थायिभावस्य स्वशब्दवाच्यत्वं यथा—

‘अजायत रतिस्तस्यास्त्वयि लोचनगोचरे ।’

( ३—व्यभिचारिभाव की स्वशब्दवाच्यता )

व्यभिचारिणः स्वशब्दवाच्यत्वं यथा—

( ८ ) अकाण्ड में रसच्छेद ( अकाण्डे रसच्छेद )

( ९ ) पुन पुन रस-दीप्ति ( पुन पुन रसोद्दीप्ति )

( १० ) अङ्गी रस का अननुसंधान ( अङ्गिरसाननुसंधानम् )

( ११ ) प्रकृत रस के अनुपकारक का अति विस्तृत वर्णन ( अनङ्गरसकीर्तनम् )

( १२ ) अङ्गभूत रस-भावादि का अतिविस्तार ( अङ्गरसातिविस्तृतिः )

( १३ ) प्रकृति-विपर्यय

( १४ ) अर्थानौचित्य

अनुवाद—रसदोषों के उदाहरण क्रमशः दिये जा रहे हैं । सर्वप्रथम ‘रस की स्वशब्द-वाच्यता’ वह रसदोष है जिसे आस्वादात्मक रसरूप अनुभव अथवा उसके प्रकार-वैचित्र्य का ‘रस’ अथवा ‘शृङ्गार’ आदि वाचक पदों द्वारा अभिधान किया गया है । जैसे कि—  
‘उस भृगनयनी को देखकर हम लोगों में एक अपूर्व रस उत्पन्न हुआ ।’

अथवा

‘चन्द्रमण्डल को देखकर हृदय शृङ्गार में हूव गया ।’

विमर्श—‘रस’ शब्द के प्रयोग से न तो रस उपस्थित होता है और न ‘शृङ्गार’ शब्द के प्रयोग से शृङ्गार । रस तो एक अखण्ड स्वप्रकाशानन्दरूप सवेदन है । यह एकमात्र अभिव्यङ्ग्य तत्त्व है । इसे कदापि वाच्य नहीं बनाया जा सकता । इसे वाच्य बनाने में कोई चमत्कार नहीं मिल सकता । इसीलिए ‘रस की स्वशब्दवाच्यता’ एक रसदोष के रूप में मान्य है ।

अनुवाद—‘स्थायिभाव की स्वशब्दवाच्यता’, जैसे कि—

‘तुम पर दृष्टिपात क्या हुआ, उसके हृदय में रति उत्पन्न हो गयी ।’

[ यहाँ शृङ्गार रस के स्थायी भाव रति को उसके वाचक शब्द द्वारा अभिहित किया गया है । इस अभिधान से सहृदय हृदय में रति की अभिव्यञ्जना कहाँ ? ]

अनुवाद—‘व्यभिचारिभाव की स्वशब्दवाच्यता’, जैसे कि—

‘जाता लज्जावती मुग्धा प्रियस्य परिचुम्बने।’

अत्र प्रथमे पादे ‘आसीन्मुकुलिकाक्षी सा’ इति लज्जाया अनुभावमुत्तेन फयने युक्तः पाठः ।

(४—महूत रस-विह्व विभाषादि-बोजना)

‘मान मा कुरु सन्यक्ति । शास्त्रा यौवनमस्त्यरम् ।’

अत्र यौवनास्यैयनिवेदनं गृह्याररसस्य परिपन्थिनं शान्तरसस्याङ्गं शान्तं स्तौय च विभाष इति गृह्यारे तत्परिग्रहो न युक्तः ।

(५—अनुभाव की कह-कल्पना)

‘घवस्तयति शिशिररोषिणि भुवनसख लोकोलोचनानन्दे ।

ईपत्किमकटाक्षा स्मेरमुल्लू सा निरीक्ष्यतां तन्वी ॥’

अत्र रसस्याहीपनालम्बनविभाषाधनुभावपर्यवसायिनी स्थितायिति कह-कल्पना ।

‘प्रियतम के परिचुम्बन में वह मुग्धा कजा गयी ।

[ यहाँ कजा क अभिचारिमात्र का उसके बावक पद द्वारा का उपस्थापन है उससे रति की अभिष्यक्तता का सम्बन्ध नहीं और न उसमें सहृदय-हृदय को ही स्पर्श करने का सामर्थ्य है । ]

यहाँ यदि प्रथम चरण में ‘आसीन्मुकुलिकाक्षी सा’ ( उसकी ओलें मुकुलित हो गयीं ) कर दिया जाय तो ‘कजा’ क अभिचारी भाव अनुभाव द्वारा अभिष्यक्त होने को और पद दोष भी हट जाय ।

अनुवाद—‘महूत रस-विह्व विभाषादि-बोजना’ जैसे कि—

बरी सुन्दरी । यौवन टिकने बाक्य नहीं । ए अनुभाव माव लोच ।

यहाँ गृह्यार रस का प्रसङ्ग है और इसलिये यहाँ उसके विरोधी शान्त रस के अह-भूत और शान्त के ही विभावक से उपयुक्त ‘यौवन क अरथ’ का वर्जन सर्वथा अनुचित है ।

विमर्श—विरोधी रस से सम्बन्ध विभाषादि का परिग्रह एक अवहूर रसदोष है । अतिदार्ढ्य निष्ठ आत्मवर्धनाचार्य ने इसे इस प्रकार प्रतिपादित किया है—

‘प्रस्तुतरसपौष्ट्या विरोधी यो रसस्तस्य सवन्धिना विभावमाधनुभावानां परिग्रहो रसविरोधहेतुकः संभवधीयः । तत्र विरोधिरसविभावपरिग्रहो यथा शान्तरसविभाषेण तद्विभावतयैव निरूपितेष्वन्तरमेव गृह्यारविधिभाववर्जने । विरोधिरसभावपरिग्रहो यथा प्रियं प्रति प्रवचककहपुपितस्तु कामिधीयु वैराग्यकथाभिरनुगतः ।

( व्याख्याशेक १५ श्लोक ) ।

अनुवाद—‘अनुभाव की कह-कल्पना’ जैसे कि—

‘शिरसी विगाड़ी और हिँसते बह्मबाकी उस सुन्दरी को तब देखो जब कि संसार के बेजों की धानधित करने वाले जन्ममा की कीतक चाँदनी चारों ओर झिड़क रही हो ।’

यहाँ गृह्यार के उद्दीपनविभाव ‘अनुवर्धन’ और आत्मवर्धनविभाव ‘वर्धित चायिका’ दोनों के द्वारा ‘भावपनयन के आह्वान’ का अनुभाव का बड़ी कह-कल्पना से पता चक पाता है और इस विभव में रसास्वाद् भी कल्पना हो जाता है ( क्योंकि यहाँ जब तक नाचकनिष्ठ अनुभाव का उपविषय न किया जाय तब तक बावकगत गृह्यार की अभिष्यक्ति कैसे हो ) ।

( ६—विभाव की कष्ट-कल्पना )

‘परिहरति रतिं मतिं लुनीते स्वलतितरा परिवर्तते च भूयः ।

इति बत विषमा दशाऽस्य देहं परिभवति प्रसभं किमत्र कुर्मः ।’

अत्र रतिपरिहारादीनां करुणादावपि सम्भवात्कामिनीरूपो विभावः कृच्छ्रा-  
दाक्षेप्यः ।

( ७—अकाण्ड में रसविस्तार )

अकाण्डे प्रथमं यथा—वेणीसंहारे द्वितीयेऽङ्के प्रवर्तमानानेकवीरसंक्षयेऽ-  
काले दुर्योधनस्य भानुमत्या सह शृङ्गारप्रथनम् ।

( ८—अकाण्ड में रसच्छेद )

छेदो यथा—वीरचरिते राघवभार्गवयोर्धाराधिरूढेऽन्योन्यसंरम्भे ‘कङ्कण-  
मोचनाय गच्छामी’ति राघवस्योक्तिः ।

( ९—पुनः पुनः रसदीप्ति )

पुनः पुनर्दीप्तिर्यथा—कुमारसंभवे रतिविलापे ।

( १०—अङ्गी रस का अनुसंधान )

अङ्गिनोऽनुसंधानं यथा—रत्नावल्या चतुर्थेऽङ्के बाभ्रव्यागमने सागरिकाया  
विस्मृतिः ।

अनुवाद—‘विभाव की कष्टकल्पना’, जैसे कि—

‘मेरे मित्र की दशा बड़ी बुरी है । इसे न तो किसी वस्तु की कोई स्पृहा होती है और  
न यह धैर्य ही धर पाता है, अकारण ही यह कुछ इधर-उधर की बोल पड़ता है और सदा  
करवटें बदला करता है । समझ में नहीं आता कि क्या किया जाय ।’

यहाँ ‘स्पृहा के निराकरण’ ( रतिपरिहार ) आदि अनुभाव ऐसे हैं जो करुण रस में  
भी संभव हैं और इसलिये इनके द्वारा यहाँ का ‘कामिनी’रूप आलम्बन विभाव बढ़े  
कष्ट से पता चल पाता है ( जिसमें रसभग स्पष्ट है ) ।

अनुवाद—‘अकाण्ड अथवा अनवसर में रसविस्तार’, जैसे कि—

वेणीसंहार के द्वितीय अङ्क में, जहाँ महाभयङ्कर नरसंहार मचा हुआ है, असमय में  
ही, दुर्योधन और भानुमती का जो प्रेम-प्रकाशन है वह अकाण्ड में शृङ्गार का विपुल  
वर्णन होने से एक महादोष है ।

अनुवाद—‘अकाण्ड अथवा अनवसर में रसच्छेद’, जैसे कि—

‘महावीरचरित’ में, जहाँ राम और परशुराम का वीरदर्प उमड़ा पड़ रहा है, राम  
का यह कथन कि ‘वे कङ्कणमोचन के लिये जा रहे हैं’ ( जिसमें राम के हृदय में उत्साह  
के बदले कातर्य का ही भाव प्रतीत हो उठता है और रसभङ्ग की अवस्था आ पहुँचती है ) ।

अनुवाद—‘पुनः पुनः रसदीप्ति’, जैसे कि—

‘कुमारसंभव’ के रतिविलाप का प्रसङ्ग ( जहाँ शोक का पौन पुन्येन आस्वाद  
आनन्दात्मक होने के बदले उद्वेगात्मक हो उठता है ) ।

अनुवाद—‘रत्नावली’ नाटिका के चतुर्थ अङ्क का वह प्रसङ्ग जहाँ कञ्चुकी ‘बाभ्रव्य’ के  
आगमन से, वत्सराज उदयन सागरिका को ही भूल जाते हैं ।

( ११—प्रकृतस्य के अनुपकारक का विस्तृत वर्णन )

अनङ्गस्य कीर्तनं यथा—कूर्पूरमञ्जरी राजनायिकयोः स्वयं कृतं वसन्तस्य  
वर्णनमनादृत्य बन्धिवर्णितस्य प्रशंसनम् ।

( १२—अङ्गभूत रसभावादि का अतिविस्तार )

अङ्गस्यातिविस्तृतिर्यथा—किराते सुराङ्गनायिकासावि ।

( १३—प्रकृतिविपर्यय )

प्रकृतयो दिव्या अदिव्या दिव्यादिव्यामेति । तेषां धीरोदात्तादिता ।  
तेषामप्युत्तमाधममध्यमत्वम् । तेषु च यो यथामूढस्तस्यायथावर्णने प्रकृतिवि-  
पर्ययो दोषः । यथा—धीरोदात्तस्य रामस्य धीरोदात्तव्यङ्ग्यना नाक्षियम् । यथा  
वा—कुमारसंभव उत्तमदेववयो पार्वतीपरमेश्वरयोः समोगन्धहारवर्णनम् । 'इदं  
पित्रोः समोगवर्णनमिवात्यन्तमनुचितम्' इत्याहुः ।

( १४—अर्थावैचित्य )

अन्यदनौचित्यं देशकालादीनामन्यथा वर्णनम् । तथा सति हि काव्यस्या  
सत्पताप्रविभासेन विनयानामुन्मुखीकारसम्भवः ।

अनुवाद—'अनङ्गकीर्तन ( प्रकृत रस के अनुपकारक का विस्तृत वर्णन ) जैसे कि—

'कूर्पूरमञ्जरी' ( रामचन्द्रचरित्तु सङ्क-प्रबन्ध ) का यह प्रसङ्ग जहाँ दोनों राजनायिकों  
स्वयं वर्णित वसन्तसौन्दर्य की प्रशंसा के लिये, चारण द्वारा वर्णित वसन्त-सुषमा की  
प्रशंसा करने में कम जाती है ।

अनुवाद—'अङ्ग की अतिविस्तृति' ( अङ्गभूत रसभावादि का अति विस्तृत वर्णन )  
जैसे कि—

'किराताकुशी' में अप्सराओं के राग-रस की अतिविस्तृत वर्णन ( जिससे वर्तुनविद्ध  
उत्साह की अभिव्यक्ति में विकम्ब और चिह्न दोनों एकट्ठे दिखायी देते हैं ) ।

अनुवाद—'प्रकृतिविपर्यय' वह रसदोष है जिससे प्रकृति अर्थात् दिव्य अदिव्य और  
दिव्यप्रदिव्य रूप से विविध प्रकृति और इसके धीरोदात्त अर्थात् भेद-प्रमेद और इह भेद-  
प्रमेदों के भी उत्तम मध्यम और अधम रूप प्रकार-वचन के स्वरूप के प्रतिबन्ध वर्णन में  
दोषा जाया करता है । जैसे कि धीरोदात्त प्रकृति के राम का, धीरोदात्त प्रकृति के रामक  
की भाँति एक से बरके को मारना 'प्रकृतिविपर्यय' नामक रसदोष है । अथवा 'कुमार  
संभव' में देवदेह पार्वती और परमेश्वर का समीपगन्धार वर्णन जिससे जात्यर्थ सम्मिश्र  
ने 'अपने माँ-बाप के सम्मोग-वर्णन की भाँति अत्यन्त अनुचित माना है 'प्रकृतिविपर्यय'  
का एक उत्पन्न सुन्दर निदर्शन है ।

अनुवाद—'अन्यविषय अनौचित्य' अथवा अर्थावैचित्य वह रसदोष है जिससे देश काल  
आदि के अपयोचित वर्णन में दोषा जाया करता है । यह इसलिये एक मध्यम रसदोष है  
क्योंकि ऐसे वर्णन से काव्य में असम्बन्धता प्रतीत होने लगती है और सामाजिक, निर्मल  
काव्य से बिना केनी है ऐसे काव्य के प्रति कदापि जाहूँ नहीं किये जा सकते ।

विमर्श औचित्यनिर्वाह के सम्बन्ध में अतिवादीक आनन्दवर्णन को यह कारिका नहीं  
रमरम करने योग्य है—

'अनौचित्यवत्ते वाग्यवृत्तमङ्गस्य अपरमम् ।

प्रतिश्रील्लिखकमप्यस्य रसस्योपनिषत् परा ॥ ( जम्बाजेक ३ २५ श्लोक )

( अलङ्कार-दोष : पूर्वनिरूपित दोष-वर्ग में अन्तर्भाव, उपमादिगत दोष 'अनुचितार्थत्व' )

एभ्यः पृथगलङ्कारदोषाणां नैव संभवः ॥ १५ ॥

एभ्य उक्तदोषेभ्यः । तथाहि—उपमायामसादृश्यासंभवयोरुपमानस्य जाति-  
प्रमाणगतन्यूनत्वाधिकत्वयोरर्थान्तरन्यासे उत्प्रेक्षितार्थसमर्थने चानुचितार्थत्वम् ।  
क्रमेण यथा—

‘प्रध्नामि काव्यशशिनं विततार्थरश्मिम् ।’

‘प्रज्वलजलधारावन्निपतन्ति शरास्तव ।’

‘चण्डाल इव राजाऽसौ सग्रामेऽधिकसाहसः ।’

‘कर्पूरखण्ड इव राजति चन्द्रबिम्बम् ।’

‘हरवन्नीलकण्ठोऽयं विराजति शिखावतः ।’

‘स्तनावद्रिसमानौ ते ।’

अनुवाद—जिन दोषों का अब तक निरूपण किया गया उनके अतिरिक्त ‘अलङ्कार-  
दोष’ की प्राचीन आलङ्कारिक-सम्मत मान्यता निरर्थक है ।

यहाँ कारिका के ‘एभ्यः’ का अभिप्राय ‘उपर्युक्त दोषों’ का अभिप्राय है । तात्पर्य यह है कि प्राचीन आलङ्कारिकों द्वारा माने गये उपमालङ्कार में ‘असादृश्य’ और ‘असंभव’ उपमान में जातिगत किं वा प्रमाणगत ‘न्यूनत्व’ तथा ‘आधिक्य’ तथा ‘अर्थान्तरन्यास’ में उत्प्रेक्षित अर्थ का ‘यथाकथञ्चित् समर्थन’ आदि जो अलङ्कारगत दोष हैं वे सब के सब ‘अनुचितार्थत्व’ दोष में ही अन्तर्भूत हो जाते हैं । जैसे कि क्रमशः—

‘मैं ऐसे काव्य-चन्द्र की रचना में लगा हूँ जिसकी अर्थ-रश्मियाँ चतुर्दिक् फैला करें ।’

[ यहाँ उपमालङ्कार में ‘असादृश्य’ अथवा साधारण धर्म की अप्रसिद्धि के कारण सादृश्याभाव का जो दोष है वह वस्तुतः ‘अनुचितार्थत्व’ ही है । ]

‘तुम्हारे बाण ऐसे निकल रहे हैं मानों तपे जल की धार हों ।’

[ यहाँ उपमालङ्कार में ‘असंभव’ अर्थात् उपमान की असंभावना का जो दोष है वह भी ‘अनुचितार्थत्व’ रूप ही है । ]

‘यह राजा तो सग्राम में चण्डाल की भाँति महा साहसी दिखायी देता है ।’

[ यहाँ उपमालङ्कार में उपमान के जातिगत न्यूनत्व का जो दोष है वह वस्तुतः ‘अनुचितार्थत्व’ दोष ही है । ]

‘यह चन्द्रबिम्ब कर्पूरखण्ड की भाँति शोभित हो रहा है ।’

[ यहाँ उपमालङ्कार में उपमान के प्रमाणगत न्यूनत्व का जो दोष है वह एक प्रकार का ‘अनुचितार्थत्व’ है । ]

‘यह मयूर महादेव की भाँति नीलकण्ठ है और बड़ा ही सुन्दर लग रहा है ।’

[ यहाँ उपमालङ्कार में उपमान के जातिगत आधिक्य का जो दोष है वह ‘अनुचितार्थत्व’ में ही अन्तर्भूत है । ]

‘तेरे स्तन पहाड़ की भाँति हैं ।’

[ यहाँ उपमालङ्कार में उपमान के प्रमाणगत आधिक्य का जो दोष है वह ‘अनुचितार्थत्व’ के अतिरिक्त कोई पृथक् दोष नहीं । ]



‘विषाकराद्रक्षति यो गुहासु स्तीनं विषाभीषमिदाम्बकरम् ।  
क्षुत्रेऽपि मूत्रं शरणं प्रपन्ने ममत्यमुष्यैः शिरसामतीष ॥’

एवमादिपूत्रेक्षितार्थस्यासमूततयैव प्रतिभासनं स्वरूपमित्यनुचितमेव तत्स  
मयनम् ।

(यमक-श्लेषः अग्रमुक्त्यर्थः)

यमकस्य पादत्रयगतस्याग्रमुक्तस्य श्लेषः । यथा—

‘सहस्राभिजनैः क्षिप्रैः सहसा कुञ्जमन्दिरम् ।  
उदिते रत्ननीनाये सहसा याति मुग्धरी ॥’

(उत्प्रेक्षागत श्लेषः अवाचकत्वः)

उत्प्रेक्षायां यथाशब्दस्योत्प्रेक्षाघोषकत्वेऽवाचकत्वम् ।

यथा—

‘यप मूर्तो यथा यमः क्षितिपो रक्षति क्षितिम् ।

(अनुभासगत श्लेषः प्रतिबृत्त्यर्थत्वं)

एवमनुभासे वृत्तिविरुद्धस्य प्रतिबृत्त्यर्थत्वं ।

‘यही वह दिमाक्य है जो मानो सूर्य से बड़े हुए और गुफाओं में लुके-छिपे बँधे  
की रक्षा किया करता है । और ऐसा करे भी क्यों नहीं क्योंकि जो बड़े हैं वे शरण में  
जायुं जोरों पर भी ममत्व ही रक्का करते हैं ।’ (कुमारसंभवः १ म सर्गः)

यहाँ अर्थान्तरव्यास में जो उत्प्रेक्षा अर्थ है वह असत्त्व है और इसलिये उसका  
समर्थन भी अनुचित है । इस प्रकार वह अर्थान्तरव्यास-श्लेष भी ‘अनुचितार्थत्वं’ में ही  
अन्तर्गुत है ।

अनुवाद—‘यमक’ अकङ्कार में ‘पादत्रयवर्तिता’ का जो श्लेष है वह वस्तुतः ‘अग्रमुक्त्य’  
रूप ही श्लेष है । जैसे कि—

‘वह सुन्दरी, चन्द्रोदय होने पर अपने स्निग्ध सखीजन के साथ (स्वर्गवती अमिजवती  
सह), हँसती-मुस्कराती (सहसा=इसेन हान्येन सह इति सहसा) बिना कुछ सोचे-  
विचारे (सहसा) कुञ्ज-मन्दिर की ओर चक पड़ी है ।

यहाँ यमक में ‘पादत्रयवर्तिता’ का श्लेष है क्योंकि अकङ्कारिकों का सिद्धांत है कि  
‘यमक त्रिपाद (पादत्रयमुक्त) यही होना चाहिये’ (यमकं तु त्रिपादस्यैव कदाचिदपि  
त्रिपादः) । किन्तु वह यमक-श्लेष वस्तुतः ‘अग्रमुक्त्य’ में ही अन्तर्गुत दिखायी देता है  
क्योंकि जब कि पादत्रयवर्तिता यमक प्रयोग-योग्य नहीं तब उसका बन्ध ‘अग्रमुक्त्य’ श्लेष  
से ही वृत्त माया आसगा ।

अनुवाद—‘उत्प्रेक्षाकङ्कार’ में ‘उत्प्रेक्षा अथवा संभावन के अर्थ में (सादरवार्त्तिक)  
‘यथा’ शब्द के प्रयोग में जो श्लेष माना गया है वह ‘अवाचकत्व’रूप ही श्लेष है ।  
जैसे कि—

‘वह राजा मानो सरीर भारी धर्म होकर पृथ्वी की रक्षा करता है ।

यहाँ ‘यथा’ के प्रयोग में जो उत्प्रेक्षा-श्लेष है (क्योंकि सादरवार्त्तिक ‘यथा’ शब्द से  
उत्प्रेक्षा का अभिप्राय अभिप्राय नहीं हो पाता) वह ‘अवाचकत्व’ में अन्तर्गुत है ।

अनुवाद—अनुभास में ‘वृत्तिविरुद्ध’ का श्लेष ‘प्रतिबृत्त्यर्थत्वं’ में अन्तर्गुत समझना  
चाहिये । जैसे कि—

यथा—

‘ओवट्टइ उल्लट्टइ—’ इत्यादौ ।

( उपमागत दोष : अधिकपदत्व, न्यूनपदत्व )

उपमायां च साधारणधर्मस्याधिकन्यूनत्वयोरधिकपदत्वं न्यूनपदत्वं च ।

क्रमेणोदाहरणम्—

‘नयनज्योतिषा भाति शंभुर्भूतिसितद्युतिः ।

विद्युतेव शरन्मेघो नीलवारिदखण्डधृक् ॥’

अत्र भगवतो नीलकण्ठत्वस्याप्रतिपादनाच्चतुर्थपादोऽधिकः ।

‘कमलालिङ्गितस्तारहारहारी मुर द्विषन् ।

विद्युद्विभूषितो नीलजीमूत इव राजते ॥’

अत्रोपमानस्य सबलाकत्व वाच्यम् ।

( उपमागत दोष : भग्नप्रक्रमत्व )

अस्यामेवोपमानोपमेययोर्लिङ्गवचनभेदस्य कालपुरुषविध्यादिभेदस्य च भग्नप्रक्रमत्वम् ।

‘ओवट्टइ उल्लट्टइ’ आदि ।’

यहा ‘शृङ्गार रस की सानुप्रास रचना में, ओजोगुण के अभिव्यञ्जक वर्णों की जो योजना है, जिसे प्राचीन आलङ्कारिक ‘वृत्तिविरोध’ माना करते हैं, उसमें ‘प्रतिकूलवर्णत्व’ रूप ही दोष दिखायी देता है ।

अनुवाद—‘उपमालङ्कार’ में ‘धर्माधिकत्व’ और ‘धर्मन्यूनत्व’ के जो दोष माने गये हैं वे वस्तुतः ‘अधिकपदत्व’ और ‘न्यूनपदत्व’ में ही अन्तर्भूत हैं । जैसे कि क्रमशः—

‘भस्माङ्गराग से शुभ्रकान्तिवाले महादेव शङ्कर अपने माललोचन से ऐसे शोभायमान हुआ करते हैं जैसे नीलमेघ के टुकड़े से युक्त ‘शरस्कालीन’ शुभ्र मेघ विद्युत्प्रकाश से शोभायमान लगा करता है ।’

यहा उपमालङ्कार में साधारण धर्मगत ‘अधिकत्व’ का दोष है क्योंकि ( उपमेयभूत ) महादेव शङ्कर के लिये ‘नीलकण्ठ धारण’ का साधारण धर्म प्रतिपादित नहीं । और ( उपमान रूप ) शरन्मेघ में ‘नीलवारिद-खण्ड-धारण’ का धर्म प्रतिपादित है । यहाँ इस प्रकार ‘नीलवारिदखण्डधृक्’ यह चतुर्थ चरण ‘अधिकपदत्व’ दोष से दूषित है ।

‘लक्ष्मी से आलिङ्गित तथा मनोहर मुक्ताहार से सुशोभित मुरजित भगवान् विष्णु विद्युत् से विभूषित नीलमेघ की भाँति सुन्दर लगा करते हैं ।’

यहा जो ‘उपमालङ्कार’ है उसमें ‘धर्मन्यूनत्व’ का दोष है क्योंकि जैसे ( उपमेयभूत ) भगवान् विष्णु के लिये ‘मुक्ताहार धारण’ का धर्म प्रतिपादित है वैसे ही ( उपमानभूत ) नीलमेघ के लिये भी बलाका अथवा ‘वक्रपङ्क्ति योग’ का धर्म प्रतिपादित होना चाहिये था । किन्तु यह ‘धर्मन्यूनत्व’ वस्तुतः ‘न्यूनपदत्व’ दोष से ही गतार्थ समझा जाना चाहिये ।

अनुवाद—‘उपमालङ्कार’ में ही ( प्राचीन आलङ्कारिकों द्वारा मान्य ) जो अन्य अलङ्कार-दोष जैसे कि उपमान और उपमेय में ‘भिन्नलिङ्गत्व’, ‘भिन्नवचनत्व’, ‘कालभेद’,

क्रमेणोदाहरणम्—

‘सुधेष विमलमन्द्र’ ।

‘ज्योत्स्ना इय सिता कीर्ति’ ।

‘अप्यभिसया सयोरसीदु व्रजतो’ सुधेषेपयो ।

हिमनिर्मुक्तयोर्येगि चित्राचन्द्रमसोरिय ॥’

अत्र तयामूतचित्राचन्द्रमसोः शोभा न खन्यासीत् । अपि तु सर्वदापि मयति ।

‘सतेष राजसे वस्यि’ ।

अत्र सता राजते, त्वं तु राजसे ।

‘चिर जीपतु ते सुनुमार्कण्ड्यमुनिर्यवा’ ।

अत्र मार्कण्ड्यमुनिर्जीयत्येष, न खल्वेतदस्य ‘जीपतु’ इत्यनेन विधेयम् ।

इह तु यत्र लिङ्गवचनभेदेऽपि न साधारणधर्मस्यान्यथामावस्तत्र न दोषः ।

क्रमेणोदाहरणम्—

‘मुस चन्द्र इवामाति’ ।

‘पुरुषमेव विमलमेव’ आदि-आदि हे ये अन्तस्तोयत्वा ‘मगमममम’ में अन्तर्भूत विख्याती वेते हैं । क्रमशः उदाहरण के लिये—

‘वह चन्द्रमा मुसा की भाँति निर्मल है ।’

[ वहाँ ‘उपमा’ में उपमावगत को ‘किङ्कमेव’ है वह ‘प्रक्रममेव’ रूप ही दोष है । ]

‘ज्योत्स्नाओं की भाँति सुनु कीर्ति ।’

[ वहाँ ‘उपमा’ में उपमावगत ‘वचनमेव’ का दोष एक प्रकार का ‘प्रक्रममेव’ रूप ही दोष है । ]

‘सुध वेष में महर्षि बसिष्ठ के तपोवन के प्रति एकसाथ प्रस्थानोन्मुख महारानी सुदक्षिणा और मन्दा राज विक्षीप की वही शोभा हुई जो कि हिमनिर्मुक्त चित्रा और चन्द्रमा की हुवा करती है । ( पुरातः १ मध्व ) ।

यहाँ ‘उपमा’ में ‘कङ्कमेव’ का जो दोष है क्योंकि उपमेयमूत सुदक्षिणा और विक्षीप की शोभा तो अतीत से संभव है जब कि उपमावमूत चित्रा और चन्द्रमा की शोभा प्रतिवर्ष की वस्तु है, वह ‘प्रक्रममेव’ का ही क्वात्वर है ।

‘भरी सुन्दरी ! तुम कता की भाँति सुन्दर हो ।’

वहाँ उपमा’ में ‘पुरुषमेव’ का जो दोष है क्योंकि ‘कता सुन्दर है’ और ‘तुम सुन्दर हो’ कहने में पुरुषत्वव्यय स्पष्ट है वह ‘प्रक्रममेव’ के अतिरिक्त और कोई अकटारदोष नहीं पैदा पुन मार्कण्ड्य मुनि की भाँति चिरजीवी होये ।

[ यहाँ ‘उपमा’ में विधेयमेव’ का जो दोष है क्योंकि मार्कण्ड्य मुनि तो सदा चिर जीवी हैं और इसलिये उनके चिरजीवन ( ‘जीपतु’ ) की विवपता असङ्गत है वह वस्तुता ‘प्रक्रममेव’ रूप ही दोष है । ]

यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य है और वह यह है कि जहाँ उपमा में किङ्क और वचन का दोष होने पर भी साधारण धर्म में कोई दोष नहीं उत्पन्न हुवा करता वहाँ ‘मगमममम’ का दोष नहीं कहा करता । जैसे कि क्रमशः—

‘मुस चन्द्रमा की भाँति चमक रहा है ।’

‘तद्वेषोऽसदृशोऽन्याभिः स्त्रीभिर्मधुरताभूतः ।

दधते स्म परां शोभा तदीया विभ्रमा इव ॥’

पूर्वोदाहरणेषु उपमानोपमेययोरेकस्यैव साधारणधर्मेणान्वयसिद्धेः प्रक्रान्त-  
स्यार्थस्य स्फुटोऽनिर्वाहः ।

( अनुप्रासगत दोष · अपुष्टार्थत्व )

एवमनुप्रासे वैफल्यस्यापुष्टार्थत्वम् ।

यथा—‘अनणुरणन्मणिमेखलमविरलशिञ्जानमञ्जुमञ्जीरम् ।

परिसरणमरुणचरणे ! रणरणकमकारणं कुरुते ॥’

[ यहाँ उपमेयभूत ‘मुख’ और उपमानभूत ‘चन्द्र’ में लिङ्गभेद स्पष्ट है किन्तु ‘आभाति’ का साधारण धर्म दोनों में समानरूप से अनुगत है । इसलिये यहाँ ‘प्रक्रमभेद’ की कोई सम्भावना नहीं । ]

( ‘मधुरताभूतः’ ) माधुर्यमय किंवा ( ‘अन्याभि स्त्रीभिरसदृशः तद्वेषः’ ) और स्त्रियों से विलक्षण उस सुन्दरी का वेष वैसे ही अनिर्वचनीयरूप से सुन्दर लगता है जैसे ( ‘मधुरताभूतः’ ) मधुरता से भरे तथा ( ‘अन्याभि स्त्रीभिरसदृशः’ ) और स्त्रियों से विलक्षण लगने वाले ( ‘तदीया विभ्रमा’ ) उसके हावभाव अनिर्वचनीयरूप से सुन्दर लगा करते हैं ।

[ यहाँ ‘उपमा’ में, उपमान और उपमेय के ‘वचनभेद’ का दोष स्पष्ट है, क्योंकि ‘मधुरताभूतः’, ‘असदृशः’ और ‘दधते’ तो उपमेय में एकवचनान्त रूप से संबद्ध होते हैं किन्तु उपमान में बहुवचनान्त रूप से । किन्तु यहाँ ‘प्रक्रमभेद’ इसीलिये नहीं क्योंकि ये साधारणधर्मबोधक पद अपने स्वरूप को अलुप्य वनाये हुये ही उपमान और उपमेय में अनुगत हो जाते हैं । ]

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि पूर्वोद्धृत ( ‘नयनज्योतिषा’ आदि से लेकर ‘मार्कण्डेय-मुनिर्यथा’ तक की ) उदाहरण—सूक्तिओं में ‘भग्नप्रक्रमत्व’ क्यों माना गया है । बात यह है कि उनमें, उपमेय और उपमान में से केवल एक ही साधारण धर्म से संबद्ध हो पाता है और इस प्रकार प्रक्रान्त अर्थ ( उपमान और उपमेय में साधर्म्य की अनुगति ) का निर्वाह नहीं हो पाता और जबकि प्रक्रान्त अर्थ का निर्वाह न हो तब तो ‘प्रक्रमभेद’ का मानना अनिवार्य ही है ।

अनुवाद—‘अनुप्रास’ में ( वस्तुतः शब्दालङ्कार में ) ‘वैफल्य’ अथवा ‘वैयर्थ्य’ का जो दोष माना गया है वह एक प्रकार का ‘अपुष्टार्थत्व’ है । जैसे कि—

‘अरी लाल कमल की भांति लाल चरणवाली ! क्या बात है कि मणिमेखला की विपुल ध्वनि तथा निरन्तर ध्वनित मञ्जीर की मोहक रुनझुन से सुशोभित, तेरा यह इतस्ततः संचरण, अकारण ही मुझमें रणरणक ( कामचिंता ) उत्पन्न किया करता है ।’

[ यहाँ जो अनुप्रास है उसमें प्रकृत रस की कोई उत्कर्षाधायकता नहीं । मणिमेखला के रणन के लिये ‘अनणु’, मञ्जु मञ्जीर के लिये ‘अविरलशिञ्जान’ आदि-आदि पद केवल अनुप्रास-बन्ध के लिये उपन्यस्त हैं । इस प्रकार अनुप्रास का यह दोष ‘अपुष्टार्थत्व’ का ही एक रूपान्तर प्रतीत हो रहा है । ]

(समासोक्ति तथा अर्थान्तरव्याप्तगत दोषः पुनरुक्त्यः)

एवं समासोक्तौ साधारणविशेषणवशात्परार्थस्य प्रतीक्षापि पुनस्तस्य शब्देनोपादानस्याप्रस्तुतप्रशंसाया व्यञ्जनयैव प्रस्तुताभावगते शब्देन तदभिधानस्य च पुनरुक्त्यम् ।

क्रमेणोदाहरणम्—

‘अनुरागयन्तमपि क्षोचनयोर्द्वयं यत् सुखमवापहरम् ।

निरासयद्रविमपेतयत् प्रियवासवात्परदिग्गणिम् ॥’

अत्रापरविगित्येतावतैव तस्या गणिकत्वं प्रतीयते ।

‘आहूतेषु विहङ्गमेषु मशको नायाम् पुरो धार्यते

मय्ये वा घुरि वा बसंस्कृणमणिर्घसे मणीनां घुरम् ।

अघोतोऽपि न कम्पते प्रचक्षितु मय्येऽपि तैर्जस्विना

धिक्क्षामाम्यमचेतसं प्रमुमिषानासुष्ठववान्तरम् ॥’

अत्राचेतसं प्रभोरभिधानमनुचितम् ।

उदाहरण—इसी भाँति ‘समासोक्ति’ में जहाँ साधारण विशेषण के सम्बन्ध से प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति स्वाभाविक है पुनः अन्वयः प्रतीयमान अर्थ के अभिधान के कारण जबवा ‘अप्रस्तुतप्रशंसा’ में जहाँ व्यञ्जनाव्यापार से ही प्रस्तुत अर्थ का बोध संभव है पुनः अन्वयः प्रस्तुत अर्थ के अभिधान के कारण जो ‘अकङ्कार-दोष’ हो सकता है वह वस्तुतः ‘पुनरुक्त्यः’ (पौनःपुन्यः) रूप ही दोष समझा जाना चाहिये । उदाहरण के लिये क्रमशः—

‘प्रथम विज्ञा रूप गणिका ये अनुराग युक्त (कम्) और मेषों के लिये सुखकर और सीतक भी सूर्य को ‘अपेतयत्’ (निरासयित् और विघ्नं) समस्तकर गगनात्म्य से ही बाहर निकल दिवा ।’

यहाँ (अप्रस्तुतप्रशंसा : १म सर्ग की सूक्ति) समासोक्ति में ‘अपरविद्’ पद से ही ‘चेरवा’ का व्यञ्जवार्थ निकल सकता है किन्तु ‘गणिका’ पद के द्वारा उसे जो पुनः प्रतिपादित किया गया है उसके कारण जहाँ ‘पुनरुक्त्यः’ का दोष आ जाता है ।

इसी प्रकार ‘अप पक्षियों को सुखभी तो मच्छर भी अपने को विहङ्गम जाति का मान कर उनके साथ रह पड़ता है अप मणिर्घों का केला-बोला करी तो घृणमणि सी, मणि जाति का होने के कारण उसके बीच खान पा जाता है; अप व्योमिर्मय पदार्थों की खलता करो तो कभीतः (अगम्) भी अपने आप को व्योमिर्मय जाति का पदार्थ मानकर पहुँच जाते हैं । बिचार है किसी विशेषकृत्य किंवा सूर्य राजा की भाँति उस ‘सामान्य’ (जातिमान) को जो कहीं भी स्वकृत्यतारतम्य नहीं देखा करता ।’

यहाँ (महावस्तक की इस सूक्ति में) ‘अप्रस्तुतप्रशंसा’ में व्यञ्जव्यापार से ही प्रस्तुत अर्थ की प्रतीति संभव है । किन्तु ‘अचेतसं प्रमुम्’ इस व्यञ्जोपादान से इसे पुनः अभिहित करके अकङ्कार-दोष से दूषित कर दिया गया है । किन्तु वह अकङ्कार-दोष भी वस्तुतः एक प्रकार का ‘पुनरुक्त्यः’ (पौनःपुन्यः) दोष ही है ।

( अनुप्रासगत अन्य दोष : ख्यातिविरुद्धत्व )

एवमनुप्रासे प्रसिद्धयभावस्य ख्यातिविरुद्धत्वम् ।

यथा—

‘चक्राधिष्ठितां चक्री गोत्रं गोत्रभिदुच्छ्रितम् ।

वृषं वृषभकेतुश्च प्रायच्छन्नस्य भूभुजः ॥’

( उपर्युक्त दोष : अनित्यत्वव्यवस्था, ‘दुःश्रवत्वं’ की अनित्यता )

उक्तदोषाणां च क्वचिद् गुणत्वमित्याह—

वक्तरि क्रोधसंयुक्ते तथा वाच्ये समुद्धते ।

रौद्रादौ तु रसेऽत्यन्तं दुःश्रवत्वं गुणो भवेत् ॥ १६ ॥

एषु चास्वादस्वरूपविशेषात्मकतया मुख्यगुणप्रकर्षोपकारित्वाद् गुण इति व्यपदेशो भाक्तः ।

क्रमेण यथा—

‘तद्विच्छेदकृशस्य कण्ठलुठितप्राणस्य मे निर्दयं

क्रूरः पञ्चशरः शरैरतिशितैर्भिन्दन्मनो निर्भरम् ।

शम्भोर्भूतकृपाविधेयमनसः प्रोद्दामनेत्रानल-

ज्वालाजालकरालितः पुनरसावास्तां समस्तात्मना ॥’

अनुवाद—अनुप्रास में ‘प्रसिद्धयभाव’ का जो दोष माना गया है उसे ‘ख्यातिविरुद्धत्व’ में ही अन्तर्भूत समझना चाहिये । जैसे कि—

‘ये ही वे महाराज हैं जिन्हें चक्रधारी विष्णु भगवान् ने चक्रवर्तित्व दिया है, गोत्रभिद् इन्द्र भगवान् ने वश दिया है और वृषभकेतु महादेव शक्र ने धर्म दिया है ।’

यहाँ ( चक्राधिष्ठितां चक्री आदि में ) अनुप्रास के आवेश में कवि ने ऐसी बातों का उल्लेख कर दिया है जो पुराणादि के द्वारा प्रमाणित नहीं । यह ‘अनुप्रास-दोष’ ख्याति-विरुद्धत्व का ही एक रूपान्तर है ।

अनुवाद—उपर्युक्त दोष कैसे कहीं दोष नहीं लगते और कहीं गुण सरीखे लगा करते हैं, इसका विचार किया जा रहा है—

सर्वप्रथम ‘दुःश्रवत्वं’ दोष ऐसा है जो कि वक्ता के क्रोधावेश, वर्ण्य विषय के औद्धत्य तथा रौद्र आदि रसभाव के अभिव्यञ्जन में वस्तुतः गुण का ही कार्य किया करता है ।

यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि उपर्युक्त परिस्थितिओं में ‘दुःश्रवत्वं’ दोष का ‘गुण’ कहने में उपचार का आश्रय लिया गया है । बात यह है कि वैसे तो ओज, माधुर्य आदि गुण आनन्दानुभवात्मक रसभाव के स्वरूपविशेष हैं किन्तु उपर्युक्त परिस्थितिओं में ‘दुःश्रवत्वं’ आदि के द्वारा रसभाव के समुत्कर्ष और रसधर्मभूत ओज आदि मुख्य गुणों के अभिव्यञ्जन में साहाय्य के कारण यदि ‘दुःश्रवत्वं’ आदि को ‘गुण’ कहा गया तो आपत्ति क्या ?

उदाहरण के लिये क्रमशः—

‘उसके विरह में दीन-हीन और वस्तुतः कण्ठागतप्राण मेरे हृदय पर, निर्दयतापूर्वक, तीक्ष्ण वाणों से प्रहार करनेवाला यह क्रूर पञ्चशर काम, क्या ही अच्छा होता यदि,

(समासोक्ति तथा अर्थान्तरभ्यासगत दोषः पुनरुक्त्यः)

एवं समासोक्ती साधारणविशेषणशस्त्रात्पराधस्य प्रतीक्षावपि पुनस्तस्य शब्देनोपादानस्याप्रस्तुतप्रशस्तायां व्यञ्जनार्थैव प्रस्तुतार्थावगते शब्देन तदभिधानस्य च पुनरुक्तत्वम् ।

क्रमेणोदाहरणम्—

‘अनुरागवन्तमपि क्षोभनयोर्वैभवं ययुः सुखमवापहरम् ।

निरक्षसयत्रुषिमपेतयसु विजयाश्रयादपरविग्मापिक्व ॥’

अत्रापरविगित्येवायतैव सस्या गणिकात्वं प्रतीयते ।

‘आहूतेषु विहङ्गमेषु मराको नायान् पुरो धार्यते

मये वा धुरि वा वसंस्वृणमणिर्घटे मणीनां मुरम् ।

अद्योतोऽपि न कम्पते प्रचक्षितुं मयेऽपि तेजस्विनां

विस्तारामाभ्यमचेतसं प्रमुमिधानाभृष्टतन्धान्तरम् ॥’

अत्राचेतसं प्रमोदमिधानमनुचितम् ।

अनुवाद—इसी भाँति ‘समासोक्ति’ में, वहाँ साधारण विशेषण के सामर्थ्य से प्रतीक मान अर्थ की प्रतीति स्वाभाविक है पुनः सम्पन्न प्रतीकमान अर्थ के अमिबाव के कारण अथवा ‘अप्रस्तुतप्रशंसा’ में वहाँ व्यञ्जनाभ्यास से ही प्रस्तुत अर्थ का बोध संभव है, पुनः सम्पन्न प्रस्तुत अर्थ के अमिबाव के कारण जो ‘अकटारदोष’ हो सकता है वह वस्तुतः ‘पुनरुक्त्यः’ (पौनरुक्त्य रूप ही दोष समझा जाया चाहिये) उदाहरण के लिये, क्रमशः—

‘पश्चिम दिशा कय गणिका मे अनुराग पुण्ड (काक) वीर नेत्रों के लिये सुखकर और कीटक की सूँ को ‘अपेतयसु’ (अपरहित वीर निर्धन) सम्पन्नकर पगनाक्य से ही बाहर निकलक दिया ।’

वहाँ (किन्तुपाक्यः : ५२ सूच्य की सूक्ति) समासोक्ति में ‘अपरदिक्’ पद से ही ‘वेरवा’ का व्यञ्जनार्थ निकल सकता है किन्तु ‘गणिका’ पद के द्वारा उसे जो पुनः प्रतिपादित किया गया है उसके कारण वहाँ ‘पुनरुक्त्यः’ का दोष जा करता है ।

इसी प्रकार ‘अथ पश्चिमी का मुकाबो तो सम्पन्न भी अपने को विहङ्गम जाति का मान कर उसके साथ हीच पड़ता है अथ पश्चिमी का कंका-कोका करो तो पृथग्नि भी मणि जाति का होवे के कारण उसके बीच स्थान पा जाता है; अथ ज्योतिर्मय पद्मार्जों की मज्जा करो तो कसीय (सुमरू) भी अपने साथ को ज्योतिर्मय जाति का पदार्थ मानकर पहुँच जाते हैं । विचार है किसी विशेषण के बिना सूच्य राजा की भाँति उस ‘सामान्य’ (जातिमात्र) का जो वहाँ भी स्वकथारतन्त्र नहीं देखा करता ।

यहाँ (मङ्गलतक की इस सूक्ति में) ‘अप्रस्तुतप्रशंसा’ में व्यञ्जनाभ्यास से ही प्रस्तुत अर्थ की प्रतीति संभव है । किन्तु ‘अचेतसं प्रभुम्’ इस अश्वोपादान से इसे पुनः अमिहित करके अकटार-दोष से दूषित कर दिया गया है । किन्तु वह अकटार-दोष भी वस्तुतः एक प्रकार का ‘पुनरुक्त्यः’ (पौनरुक्त्य) दोष ही है ।

यथा—

‘करिहस्तेन सबाधे प्रविश्यान्तर्विलोडिते ।  
उपसर्पन् ध्वजः पुंसः साधनान्तर्विराजते ॥’

अत्र हि सुरतारम्भगोष्ठ्याम्—

‘ताम्बूलदानविधिना विसृजेद्वयस्यां  
व्यर्थः पदैः पिशुनयेच्च रहस्यवस्तु’ इति कामशास्त्रस्थितिः ।

आदिशब्दाच्छमकथाप्रभृतिषु बोद्धव्यम् ।

( निहतार्थत्व-अप्रयुक्तत्व : अनित्यत्वनियम )

स्यातामदोषौ श्लेषादौ निहतार्थाप्रयुक्तते ॥ १७ ॥

यथा—

‘पर्वतभेदि पवित्रं जैत्र नरकस्य बहुमतं गहनम् ।  
हरिमिव हरिमिव हरिमिव सुरसरिदम्भः पतन्नमत ॥’

‘जब कि घमासान युद्ध में घुसकर गजराज की सूँढ़ रास्ता बना दे, तब वीर योद्धा का विजय-ध्वज सेना के बीच पहुँच कर बड़ा भव्य दृश्य उपस्थित किया करता है ।’

[ यहाँ अभिव्यङ्ग्य अश्लील अर्थ यह है—‘जब कि ‘करिहस्त’ ( अर्थात् तर्जनी, मध्यमा और अनामिका अंगुलियों द्वारा योनि शैथिल्य के लिये बनाये गये, मुद्राविशेष ) के द्वारा ‘संवाध’ ( योनि ) में प्रवेश पाकर और उसे अच्छी तरह विलोडित करके पुरुष का ‘ध्वज’ ( लिङ्ग ) ‘साधन’ ( योनि ) के भीतर बारबार आया-जाया करता है तो सचमुच बड़ा आनन्द आता है ।’ ]

यहाँ जो भी ‘अश्लीलत्व’ है वह ‘गुण’ हो रहा है क्योंकि यह उक्ति काम-गोष्ठी से सम्बद्ध है और काम-शास्त्र की यह मर्यादा है कि ‘सखी को पान आदि देकर बाहर भेज दिया जाय और गोपनीय कामवार्ता द्वयर्थक पदों द्वारा ही प्रकाशित की जाय ।’

यहाँ कारिका में ‘आदि’ पद इसीलिये प्रयुक्त है जिसमें ‘कामगोष्ठी’ की भाँति ‘शमगोष्ठी’ आदि का भी ग्रहण कर लिया जाय ।

अनुवाद—‘निहतार्थत्व’ और ‘अप्रयुक्तत्व’ दोष भी श्लेष आदि के प्रसङ्गों में दोष नहीं समझे जाते । जैसे कि—

‘सुरनदी के उस पवित्र जल-प्रपात को नमस्कार है जो कि ‘हरिमिव हरिमिव हरिमिव’ विष्णु और इन्द्र और दुर्गावाहन सिंह की भाँति ‘पर्वतभेदि’—हिमालय को विदीर्ण कर प्रवाहित हुआ है । ‘पवित्रम्’ परम पावन है, ‘नरकस्य जैत्रम्’—पाप-संताप का नाशक है और ‘गहनम्’ अचिन्त्य प्रताप वाला है ।’

[ विष्णुपक्ष में—‘पर्वतभेदि पवित्रम्’—पर्वतों के विदारक वज्र से गोकुल के रक्षक, ‘नरकस्य जैत्रम्’—नरकासुर के संहारक, ‘बहुमतम्’—सर्वपूज्य, गहनम्—अचिन्तनीय महिमावाले । इन्द्रपक्ष में—‘पर्वतभेदि पवित्रम्’—पहाड़ों के पक्ष काटनेवाले, पवि अथवा वज्र से देवों की रक्षा करने वाले, ‘जैत्रम्’—सर्वत्र विजयी, ‘नरकस्य बहुमतम्’ दयापात्र मानव के पूज्य, ‘गहनम्’—दुर्जेय । सिंहपक्ष में—‘पर्वतभेदि पवित्रम्’—पहाड़ों की गुफा में रहने वाले और अपनी वासभूमि के स्वयं एकमात्र रक्षक, ‘नरकस्य जैत्रम्’ दुर्बल मानव को तुच्छ समझने वाले, बहुमत गहनम् अनेकानेक गजराजों के संहारक । ]



अत्र शृङ्गारे कुपितो वक्ता ।

‘मूर्ध्वध्याभूयमानम्बनवमरधुनीलोच्छक्नोसन्नालो

वृभूताम्भोवृवम्मात्प्रसमममिनमभिस्रनक्षत्रजक्षम् ।

छर्चन्त्यस्ताद्विद्वद्वृष्टमिमिभररमसोद्यन्तमस्यत्ववेग-

भ्रान्तत्रयाण्डसण्डं प्रवितरसु शिर्वं शान्मय साण्डवं व ॥’

अत्रोद्यतसाण्डवं वाच्यम् । इमे पद्ये मम ।

रौद्राविरसत्वं एतद्वृद्धिमयापेक्षयापि शुभ्रवत्त्वमत्यन्तं गुणं ।

यथा—

‘वत्कृत्योत्कृत्यं कृत्तिम्—’ इत्यादि ।

अत्र बीमत्सो रसः ।

( बरलीकृत्य की अभिव्यक्त्यभिव्यक्ता )

सुरसारम्मगोष्ठ्यादावल्लीलत्वं तथा पुनः ।

तथा पुनरिति गुणं पद्य ।

बीमवत्ता के लक्ष्यवद् मगवान् शृङ्गार के प्रचण्ड नेत्रानक की व्याख्याओंमें पुनः पूर्वकल्प से भस्मसात् हो जाता ।

यहाँ इस प्रकारसमयी सृष्टि में जो ‘हुम्बलत्व’ है वह वस्तुता गुण का कार्य कर रहा है । कारण यह है कि यहाँ जो वक्ता है वह काम के प्रति कोपान्तेस से भरा हुआ है और इसलिये उसके मनमौल्य के प्रकाशक कर्मकण्डु बर्ण कर सकते नहीं बसितु अपने ही बनाते हैं ।

और

‘मगवान् शृङ्गार का वह साण्डव, जिसमें जनके बरान्ध में चक्कर कारने वाली और बलान्ध निध्वाव से मरी सुरबही की तुमुलतरङ्ग-भाकाओं से झिड़कते लक्ष्मणों के बहाने छाँटी कमल नक्षत्र गगन-मण्डक की ओर चँक जाते विजायी पवा करते हैं और जिसमें जनक ऊपर उठे चरण के इनस्तता बेगपूर्वक नचाने से उत्पन्न प्रबल प्रमथन के होंठों के साथ समस्त लड़ाई बाबता सा क्या करता है आप शबक सदा कसवान करता रहे ।

यहाँ जो वर्ण्य विषय है अर्थात् ‘साण्डव’ वह एक बीमत्वपूर्ण विषय है और इसलिये यहाँ जो भी ‘हुम्बलत्व’ है वह गुण का ही कार्य करता विसाखी दे रहा है ।

ये उपर्युक्त सृष्टिर्वा स्वरचित सृष्टिर्वा हैं ।

रीढ़ आदि बीह रसों में हुम्बलत्व वस्तुता उपर्युक्त दोनों परिस्थितियों की अपेक्षा यहाँ अधिक गुण सा क्या करता है । जैसे कि ( महाकवि-अवधूति रचित ‘माकलीमायव’ की सृष्टि )—

‘उत्कृत्योत्कृत्यं कृत्तिम्’ आदि । यहाँ जो अभिव्यक्त्यभिव्यक्त रस है वह ‘बीमत्व’ है और यह निर्दिष्ट है कि यहाँ का ‘हुम्बलत्व’ रसामिव्यञ्जक हो रहा है ।

अनुवाद—‘बरलीकृत्य’ दोप भी काम-गोष्ठी आदि की परिस्थिति में दोप क बरके गुण का ही कार्य किया करता है ।

यहाँ ( कारिका में ) ‘तथा पुनः ( पुनः उसी प्रकार होने ) का अभिप्राय ‘गुणवद् होने’ का अभिप्राय है । जैसे कि—

( कथितपदत्व-अनित्यत्व-व्यवस्था )

—कथितं च पदं पुनः ॥ १८ ॥

विहितस्यानुवाद्यत्वे विपादे विस्मये क्रुधि ।

दैन्यैऽथ लाटानुप्रासेऽनुकम्पायां प्रसादेने ॥ १९ ॥

अर्थान्तरसंक्रमितवाच्ये हर्षेऽवधारणे ।

गुण इत्येव ।

यथा—

‘उदेति सविता ताम्रः—’ इत्यादि ।

अत्र विहितानुवादः ।

‘हन्त ! हन्त ! गतः कान्तो वसन्ते सखि ! नागतः ।’

अत्र विवादः ।

‘चित्रचित्रमनाकाशे कथं सुमुखि ! चन्द्रमाः ।’

अत्र विस्मयः ।

‘सुनयने नयने निषेहि’ इति ।

अत्र लाटानुप्रासः ।

‘नयने तस्यैव नयने च ।’

अनुवाद—जिसे ‘कथितपदत्व’ दोष कहा करते हैं वह निम्न परिस्थितिओं में गुण-सा लगा करता है ।

( १ ) विहित अथवा उद्देश्य के प्रतिनिर्देश में, ( २ ) विपाद में, ( ३ ) विस्मय में, ( ४ ) क्रोध में, ( ५ ) दोषता में, ( ६ ) लाटानुप्रास में, ( ७ ) अनुकम्पा में, ( ८ ) किसी के प्रसादन = प्रसन्न करने में, ( ९ ) अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यत्वनि में, ( १० ) हर्ष में और ( ११ ) अवधारण अथवा विषय-निश्चय में ।

यहाँ पूर्वकारिका से ‘गुण’ पद की अनुवृत्ति आ रही है जिससे यह अभिप्राय निकलता है कि ‘कथितपदत्व’ गुण हो जाता है । जैसे कि—

‘उदेति सविता ताम्रः’ ( सूर्य लाल-लाल ही उगता है ) आदि, यहाँ उद्देश्य का प्रतिनिर्देश करना है इसलिये ‘ताम्र एवास्तमेति च’ में ‘ताम्र’ पद में ‘कथितपदत्व’ दोष नहीं ।

‘ओह ! वसन्त आ गया, ओह ! कान्त न आये ।’

यहाँ विवाद के कारण ‘हन्त’, ‘हन्त’ आदि पदों में ‘कथितपदत्व’ दोष नहीं अपितु गुण है ।

‘अरे ! अरे ! बिना आकाश के यह चन्द्रमा कहाँ से निकल पड़ा !’

यहाँ विस्मय के कारण ‘चित्र चित्रम्’ आदि में कथितपदत्व गुण का कार्य कर रहा है ।

‘अरी सुनयने ! अपने नयन तो इधर कर ।’

यहाँ लाटानुप्रास के कारण ‘नयने नयने’ में ‘कथितपदत्व’ गुण सा सुंदर लग रहा है ।

‘उसी के नयन नयन हैं ।’

अत्रेन्द्रपक्षे पवित्रशब्दो निहृत्वार्थः । सिंहपक्षे मत्तज्ञशब्दो मातृज्ञार्थेऽप्रयुक्तः ।

(अप्रतीतत्वः अवित्यक्त-विषयः)

गुणः स्यादप्रतीतत्वं श्रुत्वं चेद्वक्तृवाच्ययोः ।

यथा—

‘त्वामामनन्ति प्रकृतिं पुरुषार्थप्रवर्तिनीम् ।

त्वदर्शनमुपासीन त्वामेव पुरुषं विदुः ॥’

स्वयं वापि परामर्शे—

अप्रतीतत्वं गुण इत्यनुपगम्यते ।

यथा—

‘युक्तः कक्षामिस्तमसां विहृत्यै क्षीयन्न तामि’ कृतये य एवाम् ।

हृदं निराकम्बपवापकम्बं तमारम्बन्तं परिशीलयामि ॥’

यहाँ ‘पवित्र’ पक्ष इन्द्रपक्ष में ‘निहृत्वा’ है ( क्योंकि इसका कोकप्रसिद्ध अर्थ ‘पावन’ है, ‘पवि’ अथवा ‘वत्’ से रचक यहाँ ) । साथ ही साथ ‘मत्तज्ञ’ पक्ष, सिंहपक्ष में ‘अप्रयुक्त’ है क्योंकि यहाँ ‘मातृज्ञ’ पक्ष ही प्रयुक्त होता है । किन्तु यहाँ रसोप का प्रसंग होने से ‘निहृत्वा’ और ‘अप्रयुक्तत्व’ के दोनों दोष दोष यहाँ प्रतीत होते ।

अनुवाद—‘अप्रतीतत्व’ दोष यहाँ गुण की भाँति रहा करता है यहाँ वक्ता और वाक्य ( जोता ) दोनों विषय के सम्प्रत्ययेवाके हुआ करते हैं । जैसे कि ( कुमारसम्भवा स्व सत्यं की सृष्टि )—

‘इ देवप्रविदेव ! वाप ही वह प्रकृति हैं जिससे पुरुषार्थचतुष्टय का प्रवर्तक हुआ करता है । हे शहर ! वाप ही वह पुरुष हैं जो ब्रह्ममात्र रहा करता है और सदा अनस्तक सूरस्य चित्तक है ।

[ यहाँ ‘प्रकृति’ ‘पुरुष’ आदि-आदि पक्ष के प्रयोग में ‘अप्रतीतत्व’ की वास्तव्य हस्त-किये नहीं होनी चाहिये क्योंकि यहाँ महाकवि ने ऐसे वक्ता ( अर्थात् देवहनुम् ) और ऐसे जोता ( अर्थात् महादेव शहर ) की उन्मादवा की है जो सत्य हैं । ]

यह ‘अप्रतीतत्व’ यहाँ भी गुण सा ही कमा करता है यहाँ कोई विहृता वक्ता किसी सुबोध वस्तु-परामर्श में विरत प्रतीत हुआ करता है ।

[ यहाँ ‘स्वयं वापि परामर्श’ के साथ ‘अप्रतीतत्व’ गुण का, जोकि करिका के पूर्वचरण में है अनुप्रास अथवा सवन्ध प्रमत्त केवा चाहिये । जैसे कि—

‘तै उत अपूर्व विष्णुक किंवा विराट्कम्ब जगत्-जगत् का चिन्तन करता है जोकि अविद्यात्मक कार्यकलाप के संघातक के लिये अपनी मावाविद्युति कपी कक्षाओं से पूर्ण हो जाता है और इस अविद्यात्मक कार्यकलापों के संहार के लिये, अपनी मावाविद्युति से रहित होकर परमछाक से अवस्थित हो जाता है ।

[ यहाँ यह कि वक्ता भवन्त-रहस्य से परिचित है और स्वयं वक्ता-पूर्वावेषण में विरत है तब ‘अप्रतीतत्व’ की क्या संभावना ? यहाँ जीरो को प्रतीत होने काका यह ‘अप्रतीतत्व’ वस्तुता गुणरूप ही कमा रहा है । ]

( कथितपदत्व' अनित्यत्व-व्यवस्था )

—कथितं च पदं पुनः ॥ १८ ॥

विहितस्यानुवाद्यत्वे विषादे विस्मये क्रुधि ।

दैन्यैऽथ लाटानुप्रासेऽनुकम्पायां प्रसादेने ॥ १९ ॥

अर्थान्तरसंक्रमितवाच्ये हर्षेऽवधारणे ।

गुण इत्येव ।

यथा—

‘उदेति सविता ताम्रः—’ इत्यादि ।

अत्र विहितानुवादः ।

‘हन्त ! हन्त ! गतः कान्तो वसन्ते सखि ! नागतः ।’

अत्र विषादः ।

‘चित्र चित्रमनाकाशे कथं सुमुखि ! चन्द्रमाः ।’

अत्र विस्मयः ।

‘सुनयने नयने निधेहि’ इति ।

अत्र लाटानुप्रासः ।

‘नयने तस्यैव नयने च ।’

अनुवाद—जिसे ‘कथितपदत्व’ दोष कहा करते हैं वह निम्न परिस्थितिओं में गुण-सा लगा करता है ।

( १ ) विहित अथवा उद्देश्य के प्रतिनिर्देश में, ( २ ) विषाद में, ( ३ ) विस्मय में, ( ४ ) क्रोध में, ( ५ ) दोषता में, ( ६ ) लाटानुप्रास में, ( ७ ) अनुकम्पा में, ( ८ ) किसी के प्रसादन = प्रसन्न करने में, ( ९ ) अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यत्वनि में, ( १० ) हर्ष में और ( ११ ) अवधारण अथवा विषय-निश्चय में ।

यहाँ पूर्वकारिका से ‘गुण’ पद की अनुवृत्ति आ रही है जिससे यह अभिप्राय निकलता है कि ‘कथितपदत्व’ गुण हो जाता है । जैसे कि—

‘उदेति सविता ताम्रः’ ( सूर्य लाल लाल ही उगता है ) आदि, यहाँ उद्देश्य का प्रतिनिर्देश करना है इसलिये ‘ताम्र एवास्तमेति च’ में ‘ताम्र’ पद में ‘कथितपदत्व’ दोष नहीं ।

‘ओह ! वसन्त आ गया, ओह ! कान्त न आये ।’

यहाँ विषाद के कारण ‘हन्त’, ‘हन्त’ आदि पदों में ‘कथितपदत्व’ दोष नहीं अपितु गुण है ।

‘अरे ! अरे ! विना आकाश के यह चन्द्रमा कहाँ से निकल पड़ा !’

यहाँ विस्मय के कारण ‘चित्र चित्रम्’ आदि में कथितपदत्व गुण का कार्य कर रहा है ।

‘अरी सुनयने ! अपने नयन तो इधर कर ।’

यहाँ लाटानुप्रास के कारण ‘नयने नयने’ में ‘कथितपदत्व’ गुण सा सुंदर लग रहा है ।

‘उसी के नयन नयन हैं ।’

इत्यादावर्णान्तरसंक्रमितवाच्यो ध्वनि ।

एवमन्यत्रापि ।

(संक्षिप्तत्व । अभित्यक्त-नियम)

सन्दिग्धत्वं तथा व्याजस्तुतिपर्यवसायि चेत् ॥ २० ॥

गुण इत्येष यथा—

‘पृथुकावस्वरपात्रं मृषितनिरोपपरिजन वेद्य ।

विक्रसत्क्रेणुगहनं सम्प्रति सममावयो सदनम् ॥’

(कहल्यः गुणव्यवस्था)

वैयाकरणमुख्ये तु प्रतिपाद्येऽप्य वक्तुरि ।

कष्टत्वं दुःश्रवत्वं वा—

गुण इत्येष ।

यहाँ ‘अर्वान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि’ में ‘नयने-नयने’ में प्रसीत होवेवाला ‘अभित-पदत्व’ बोध नहीं ध्वितु गुण है । इसी भाँति अन्य प्रसङ्गों में ‘अभितपदत्व’ की गुणकता स्वयं देखी जा सकती है ।

अनुवाद—‘संक्षिप्तत्व’ बोध भी गुण हो जाता है यदि वह व्याजस्तुति में समाप्त हो ।

यहाँ भी पूर्वकारिका से ‘गुण’ की अनुवृत्ति आ रही है ।

उदाहरण के लिये—

‘महाराज ! इस समय तो हमारा बीर आपका मचन एक समाज ही है—‘पृथुकाव-स्वरपात्रम्’ (राज-पत्र में) पृथुनि बृहन्ति कावस्वरस्य सुवर्णस्य पात्रमपि भास्वनादीनि यत्र—अनेकानेक स्वर्ण-पात्रों से विभूषित; (वाचक-पत्र में) पृथुकावो क्षिप्रान् कावस्वर-स्य क्लृपिपासाव्यये पात्रं स्वावय—मूख व्याज से पीछले-विकविक्रमते वाक-वर्णों की कल्प ध्वनि से भरा, ‘मृषितनिरोपपरिजनम्’ (राज-पत्र में) मृषिताः रत्नाढ्युताः भिल्लेषाः सर्वे परिजनाः सेवका यत्र—रत्नाढ्युत अनुचर-परिचरों से भरपूर; (वाचक-पत्र में) मुनि स्थण्डिके उषिताः आसनाद्यमावात् स्थिताः भिल्लेषाः परिजनाः समग्राः पुत्रक-त्रादयः यत्र—पृथ्वी पर हूँचर पधर छोड़ कमानेवाले कोशों से भरपूर; ‘विक्रसत्क्रेणुगह-नम्’ (राज-पत्र में) विक्रसन्तीमिः क्रेणुमिः गहनम्—धुँदुर-धुँदुर इधमिधियों से सुसजे-मित; (वाचक-पत्र में) विक्रसत्का विकवर्तिनाः मूखवाद्यस्तैर्वा रेणुमिर्गहनम्—विक में सुजे चूड़ों की बूँद से बूरर !’

यहाँ ‘सन्दिग्धत्वं’ स्पष्ट है क्योंकि ‘पृथुकावस्वरपात्रम्’ आदि का अर्थ-निर्णय नहीं हो पाता । किन्तु इस उक्ति के व्याजस्तुतिक्रम होने से वह ‘संक्षिप्तत्व’ वाच के बदले गुण सा बना करता है ।

अनुवाद—‘कहल्य’ तथा ‘पृथुकावत्वं’  
जोनों वैयाकरण होने का अभिमान रखते

जाया करते हैं तथा बीर ओटा

यथा—

‘दीधीवेवीट्समः कश्चिद्गुणवृद्धयोरभाजनम् ।

किंप्रत्ययनिभः कश्चिद्यत्र सन्निहिते न ते ॥’

अत्रार्थः कष्टः । वैयाकरणश्च वक्ता । एवमस्य प्रतिपाद्यत्वेऽपि ।

‘अत्रास्मार्पमुपाध्याय त्वामहं न कदाचन ।’

अत्र दुःश्रवत्वम् । वैयाकरणो वाच्यः । एवमस्य वक्तृत्वेऽपि ।

( ग्राम्यत्वं अतित्यत्व-व्यवस्था )

—ग्राम्यत्वमधमोक्तिषु ॥ २१ ॥

गुण इत्येव । यथा मम—

‘यहाँ कुछ लोग तो ऐसे हैं जो ‘दीधीट्’ और ‘वेवीट्’ धातुओं के समान न तो गुण ( दया दाक्षिण्य और ‘अदेह्’ गुण ) से परिभाषित गुण ) के भाजन हैं और न वृद्धि ( धन-समृद्धि और ‘वृद्धिरेचि’ से परिभाषित वृद्धि ) के ही । साथ ही साथ कुछ ऐसे भी हैं जो किप् प्रत्यय की भाँति सर्वलुप्त हैं और जिनके सम्पर्क में आने से औरों को भी गुण और वृद्धि का सौभाग्य नहीं मिल पाता ।’

यहाँ जो अर्थ है वह बड़ा कष्टगम्य है किन्तु यह सब ‘कष्टत्वं’ इसलिये गुणवत् प्रतीत होता है क्योंकि यहाँ का वक्ता एक वैयाकरण है और अपने शास्त्र-पाण्डित्य के प्रदर्शन का इच्छुक है ।

इसी भाँति यह ‘कष्टत्वं’ वहाँ भी गुण ही समझा जायगा जहाँ श्रोता वैयाकरण हो और अपने व्याकरण-पाण्डित्य का अभिमान रखता हो ।

इसी प्रकार—

‘इस विषय में मैंने कभी भी अपने उपाध्याय को स्मरण करने का कष्ट नहीं किया ।’

यहाँ ‘अस्मार्पम्’ आदि में ‘दुःश्रवत्वं’ है किन्तु यहाँ के श्रोता के वैयाकरण होने से इसे दोष न मानकर, गुण ही माना जायगा । इसी प्रकार यह ‘दुःश्रवत्वं’ वहाँ भी गुण ही होगा जहाँ वक्ता वैयाकरण हो ।

विमर्श—बौद्धव्यवैशिष्ट्य से ‘कष्टत्वं’ की गुणरूपता के उदाहरण में काव्यप्रकाशकार ने यह सूक्ति उद्धृत की थी—

‘यदा त्वामहमद्राक्ष पदविद्याविशारदम् ।

उपाध्याय तदाऽस्मार्पं समसप्राञ्च च समदम् ॥

जिसे साहित्यदर्पणकार ने तोड-मरोडकर ‘दुःश्रवत्वं’ की गुणरूपता के उदाहरण में उद्धृत किया है । किन्तु पाठकों से यह छिपा नहीं है कि साहित्यदर्पण के उद्धरण में ‘दुःश्रवत्वं’ का आभासमात्र भले ही मिले सम्पूर्ण स्वरूप कदापि नहीं है ।

अनुवाद—जिसे ‘ग्राम्यत्वं’ दोष कहा गया है वह, अधम अथवा अपढ़ लोगों की उक्ति में, गुण सा ही लगा करता है ।

यहाँ भी पूर्वकारिका से ‘गुण’ पद अनुवृत्त है ।

उदाहरण के लिये, यह स्वरचित सूक्ति

‘एसो ससहरविम्बो वीसह हेअङ्गवीणपिण्डो ष्व ।  
एवे अस्ससमोहा पडन्ति आसासु दुग्धमार ष्व ॥’  
[ एव साधारविम्बो हरपते हैयङ्गवीणपिण्ड ष्व ।  
पते चांशसमूहाः पतन्त्यासासु दुग्धचारा ष्व ॥ ]

इय विवृयकोक्ति ।

(‘निर्हेतुत्व’ की गुण व्यवस्था)

निर्हेतुता तु स्यातेऽर्थे दोषता नैव गच्छति ।

यथा—‘संप्रति संप्र्यासमयककद्वन्द्वानि विघटयति ।’

(‘कथाविविधत्व’ की गुणव्यवस्था, ‘कविसमय-कीर्तन’)

कवीनां समये स्याते गुणः स्यात्तविकृद्धता ॥ २२ ॥

कविसमयक्यातानि च—

मालिन्यं व्योम्नि पापे, यशसि च वलता वर्ण्यते हासकीर्त्योः

रक्तौ च क्रोधरागौ ; सरितुदधिगतं पङ्कजेन्दीवरादि ।

तोयाधारेऽखिलेऽपि प्रसरति च मरालादिकः पतिसङ्को ।

ज्योत्स्ना पेया चकोरैर्जलघरसमये मानसं यान्ति हंसाः ॥ २३ ॥

पादाघातादश्लोक विकसति भङ्गुलं योपितामास्यमधै

र्युनामङ्गेषु हाराः, स्फुटति च हृदयं विप्रयोगस्य तापै ।

‘चन्द्रमा का वह विम्ब पेसा कगता है जैसे मरप्रभ का गोका हो भीर उसकी ये किरने चारों ओर पेसी छिटक रही हैं भावों वृष की चारायें हैं ।

वहाँ जो ‘मालिन्य’ है वह, इसके लक्ष्य के विवृयक होने के कारण गुण का कार्य कर रहा है ।

अनुवाद—‘निर्हेतुत्व’ शेष वहाँ शेष नहीं माना जाया करता जहाँ वर्ण्य विषय शोक-प्रसिद्ध हुआ करता है । जैसे कि—

‘इस समय वह संप्र्यासक चक्रवाक-मिथुन को अकण-अकण करता प्रतीत हो रहा है ।

वहाँ संप्र्या के समय चक्रवाक मिथुन के परस्पर विघटन की बात बरतुता लोक प्रसिद्ध बात है । इसदिष्ट वहाँ जो भी ‘निर्हेतुत्व’ है वह परवृत्ता नहीं ।

अनुवाद—जिसे ‘कथाविविधत्व’ का शेष कहा गया है वह कवि-समय-प्रसिद्धि के कारण कहीं गुण का ही कार्य किया करता है ।

वहाँ कवि-समय प्रसिद्धि में वृषवी गणना है—

‘आवाता भीर वाय में वृष्णवर्चता, यश हास और कीर्ति में सुप्रवर्चता, क्रोध और अनुराग में रणवर्चता, रक्त और नील वसक का वही-मगुद्धर्षि में अगितव समरत मुचमवर्षी अलाशयो में वरुहस किंवा चक्रवाक आदि का अपरचान चकोर पक्षी के हात चन्द्रिका का वाय वर्णाकाल में हंसों का भावगरोधर के प्रति प्रपञ्चन रमणिओं के चार-प्रहार से अशोक में वृक्ष शिकमा और वनक सुतोन्मिद्ध मय से अनुक का विवसित

मौर्वी रोलम्बमाला धनुरथ विशिखाः कौसुमाः पुष्पकेतो-

भिन्नं स्यादस्य वाणैर्युवजनहृदयं स्त्रीकटाक्षेण तद्वत् ॥ २४ ॥

अह्वयम्भोजं, निशायां विकसति कुमुदं, चन्द्रिका शुक्लपक्षे

मेघध्वानेषु नृत्यं भवति च शिखिनां नाप्यशोके फलं स्यात् ।

न स्याज्जाती वसन्ते; न च कुसुमफले गन्धसारद्रुमाणा-

मित्याद्युन्नेयमन्यत्कविसमयगतं सत्कवीनां प्रबन्धे ॥ २५ ॥

एषामुदाहरणान्याकरेषु स्पष्टानि ।

होना, युवक और युवती के अङ्गों में मुक्ताहार, वियोग में संताप से हृदय का विदीर्ण हो जाना, कामदेव की प्रत्यक्षा के रूप में अमर-पक्षि, काम के धनुष और वाण के रूप में पुष्प, काम-वाण और नारी कटाक्ष से युवा प्रेमीओं के हृदय का विदीर्ण होना, दिन में कमल का खिलना, रात में कुमुद का विकसित होना, शुक्लपक्ष में ही चाँदनी का छिदकना, मेघ गर्जन के समय मयूरों का नाच उठना, अशोक में फल का अभाव, वसन्त में मालती का न खिलना, चन्दन में फूल और फल का न होना और इसी भाँति काव्य-साहित्य में उपलब्ध कवि समय अथवा कवि-सम्प्रदाय की चित्र-विचित्र बातें ।

इनके उदाहरण काव्य-प्रबन्धों में यत्र-तत्र स्वयं ढूँढ़े जा सकते हैं ।

विमर्श—‘कविसमय’ क्या है ? इसकी सीमासा महाकवि राजशेखर के शब्दों में यह है—

‘अशास्त्रीयमलौकिक च परम्परायात् यमर्थमुपनिबध्नन्ति कवयः स कविसमयः ।

‘नन्वेष दोष कथङ्कार पुनरुपनिबन्धनार्हः’ इति आचार्या । ‘कविमार्गानुग्राही कथमेवः दोषः ? इति यायावरीय ।’

अर्थात् ‘कविसमय’ वस्तुतः ऐसे काव्य वर्णित अर्थ का नाम है जो कि अशास्त्रीय किंवा अलौकिक होने पर भी कविपरम्परा के द्वारा काव्य-साहित्य में उपनिबद्ध किया जाया करता है । अशास्त्रीय और अलौकिक होने पर भी इस अर्थप्रकार का उपनिबन्ध दोषावह नहीं क्योंकि इसका कार्य काव्य-मार्ग को प्रशस्त करना है ।

यह ‘कविसमय’ तीन प्रकार का है—१. असत् का उपनिबन्ध, २. सत् का अनिबन्ध और ३. पदार्थ-नियम । महाकवि राजशेखर के अनुसार इस त्रिविध कविसमय का यह अभिप्राय है—

‘तत्र सामान्यस्यासतो निबन्धनम्—यथा नदीषु पद्मोत्पलादीनि, जलाशयमात्रेऽपि हसादयः, यत्र तत्र पर्वतेषु सुवर्णरत्नादिकञ्च । नदीपद्मानि यथा—

‘दीर्घाकुर्वन् पद्मं मदकलं कूजितं सारसाना  
प्रत्यूषेषु स्फुटितकमलामोदमैत्रीकषायः ।

यत्र स्त्रीणां हरति सुरतग्लानिमङ्गलानुकूलं  
शिप्रावात प्रियतम इव प्रार्थनाचाटुकार ॥’

सतोऽप्यनिबन्धनम्—तद् यथा—न मालती वसन्ते, न पुष्पफल चन्दनद्रुमेषु, न फलमशोकेषु ।

अनेकत्र प्रवृत्तवृत्तीनामेकत्राचरणं नियम, तद् यथा समुद्रेष्वेव मकरा, ताम्रपण्यामेव मौक्तिकानि ।



( 'घनुषकत्व' की अवधारणा )

घनुषर्पादिषु शब्देषु शब्दास्तु घनुरादयः ।

आसृद्धत्वादिदोषाय—

यथा—'पूरिते रोषसी ज्ञानैघनुष्यास्फास्रनोद्भवैः' ।<sup>१</sup>

अत्र व्याशब्देनापि गतार्थत्वे घनुशब्देन व्याया घनुष्यावसीकरणं बोध्यते ।

असतोऽपि शब्दस्य निबन्धनम्—सुष्टिप्राकृत्य सूत्रिभेदत्वं च तमसा, कुम्भापवाकृत्यं च व्यात्स्वत्वात् ।

शब्दस्य सतोऽनिकल्पनम्, तद्वत्त्वा—कुम्भपरदे सत्या अपि व्यात्स्वत्वात् घनुषकपदे व्याप्यकारस्य ।

शब्दविषयम्, तद्वत्त्वा—सकल एव चम्बुवस्याप्यम्, हिमवातेन मूर्खोत्पत्तिस्थानम् । असतोऽपि किमार्थस्य निबन्धनम्, यथा—वाक्यात्मविधुनस्य विधि मित्रतदप्रपञ्चम्, चकोराणां चम्लिकापावजम् ।

सतोऽपि किमार्थस्यानिकल्पनम्, तद्यथा—दिवा शीघ्रोत्पन्नावात्मविकासः विज्ञा विमिश्रम् शेफालिककुसुमावात्मविकसं ।

असतो गुणस्य निबन्धनम्, यथा—यसोद्गोसमप्रसुतो शीतकम् अवसता पापप्रभृतेषु कृष्णत्वम् ।

सतोऽपि गुणस्यानिकल्पनम्, यथा—कुम्भकुम्भकावां कामिवन्तानां च रक्तत्वम्, कमकुम्भकुम्भप्रभृतेषु हरितत्वम्, मिश्रपुष्पाणां च पीतत्वम् ।

गुणनिषेधस्तु तद्वत्त्वा—सामान्योपादाने मानिक्यावां शोणता, पुष्पाणां तुषकता मेवानां कृष्णता च ।

कृष्णवर्त्म्योऽ, कृष्णहरितयोः कृष्णरवामयोः, पीतरक्तयोः, तुषकमीरयोरेकत्वेन निबन्धनं च कविसमयः ।

( अन्वयोमांसा अध्याय १४ १५ )

संस्कृत शब्द-साहित्य का एक वर्ष-प्रकार अविस्मय के रूप में भाव-सनी अविमल द्वारा उपविष्ट हुआ है । महाकवि रामकेशर की निम्न शक्ति से वह अनुमान किया या सकता है कि सर्वप्रथम 'अविस्मय' का निर्माण रामकेशर का ही किया हुआ है—

'सोऽयं कवीनां समया काव्ये सुष्ठु इव स्थितः ।

स साम्प्रतमिहास्माभिर्बर्षाशुद्धि विबोधिताः'

( अन्वयोमांसा १६ अध्याय )

अनुवाद—कतिपय वर्षों में 'गुणकत्व' बोध नहीं माना जाता । जैसे कि 'ज्या' ( घनुष की प्रत्यञ्जा ) अर्द्धि के बड़े 'घनुष्या' आदि प्रयुक्त किये जा सकते हैं जिनके अतिमात्र घनुष पर चढ़ाई प्रत्यञ्जा अर्द्धि निकटते हैं ( न कि केवल घनुष की प्रत्यञ्जा आदि जो कि 'ज्या' आदि के अतिमात्र हैं ) ।

उदाहरण के लिये—

'( घनुष्यां ) घनुष पर चढ़ी प्रत्यञ्जा के आस्फाटन से उत्पन्न धनियों से पृथ्वी भीर आक्राण होनी भर गये ।

यहाँ यह स्पष्ट है कि केवल 'ज्या' एव के प्रयोग से भी 'घनुष्या' का अतिमात्र निकल सकता था किन्तु 'घनुष्या' कहने से 'घनुष पर चढ़ी प्रत्यञ्जा चढ़ाई प्रत्यञ्जा का विशेष अतिमात्र निकल रहा है या कि यहाँ वस्तुता विशिष्ट है ।

आदिशब्दात्—

‘भाति कर्णावतंसस्ते ।’

अत्र कर्णस्थितत्वबोधनाय कर्णशब्दः । एव श्रवणकुण्डलशिरःशेखर-  
प्रभृतिः । एव निरुपपदो मालाशब्दः पुष्पस्रजमेवाभिधत्त इति स्थितावपि ‘पुष्प-  
माला विभाति ते ।’ अत्र पुष्पशब्दः उत्कृष्टपुष्पवृद्धयै ।

एवं ‘मुक्ताहार’ इत्यत्र मुक्ताशब्देनान्यरत्नामिश्रितत्वम् ।

—प्रयोक्तव्याः स्थिता अमी ॥ २६ ॥

धनुर्ज्यादयः सत्काव्यस्थिता एव निबद्धव्याः, न त्वस्थिता ‘जघनकाञ्ची-  
करकङ्कणादयः ।

( म्यूनपदत्व की अदोपता )

उक्तावानन्दमग्रादेः स्यान्म्यूनपदता गुणः ।

यथा—

‘गाढालिङ्गनवामनीकृतकुचप्रोद्भिन्नरोमोद्गमा

यहाँ ( धनुर्ज्यादिपु में ) ‘आदि’ पद का प्रयोग इसलिये किया गया है जिसमें अन्य  
पुनरुक्तवत् प्रतीत होने वाले पदों में भी पुनरुक्तत्व का परिहार समझ लिया जाय ।  
जैसे कि—

‘तेरा कर्णावतंस बड़ा सुन्दर लग रहा है ।’

यहाँ केवल ‘अवतंस’ शब्द से ही ‘कर्णावतंस’ का अभिप्राय निकल सकता था किन्तु  
‘कान में पहने कनफूल’ के विशेष अभिप्राय के अवबोधनार्थ ‘कर्ण’ शब्द का भी प्रयोग  
किया गया है । इसी प्रकार ‘श्रवणकुण्डल’, ‘शिर शेखर’ प्रभृति पदों में भी, इन इन  
अङ्गों में अवस्थिति के अवबोध के लिये, ‘श्रवण’ और ‘शिरस्’ आदि पदों का प्रयोग  
निर्दुष्ट माना जायगा ।

इसी प्रकार बिना किसी उपपद के प्रयुक्त ‘माला’ शब्द से भी पुष्पहार ( फूल की  
माला ) का अर्थ निकल सकता है किन्तु ‘तेरी पुष्पमाला बड़ी सुन्दर लग रही है’ आदि  
प्रयोगों में ‘पुष्प’ पद के योग से सुन्दर-सुन्दर फूलों की गुथी माला का विशेष अभिप्राय  
प्रकाशित किया जाया करता है ।

इसी प्रकार ‘हार’ के बदले ‘मुक्ताहार’ के प्रयोग से ‘अन्य रत्नों से अमिश्रित मौक्तिक  
के हार’ का विशेष अभिप्राय प्रकाशित किया जाया करता है ।

किन्तु इन उपर्युक्त पुनरुक्तवत् प्रतीत होने वाले पदों के सम्बन्ध में यह ध्यान रखना  
चाहिये कि इनमें से उन्हीं का प्रयोग दोषावह नहीं जो कि काव्य-प्रबन्धों में यत्र-तत्र  
प्रयुक्त हो चुके हैं ।

जैसे कि ‘धनुर्ज्या’ आदि पद काव्य-प्रबन्धों में यत्र तत्र प्रयुक्त हैं और इनके प्रयोग में  
कोई आपत्ति नहीं । किन्तु ‘जघनकाञ्ची’, ‘करकङ्कण’ आदि का प्रयोग ठीक नहीं क्योंकि  
काव्य-प्रबन्धों में इन्हें प्रयुक्त नहीं किया गया ।

अनुवाद—‘म्यूनपदत्व’ दोष भी वहाँ गुण ही हो जाया करता है जहाँ आनन्द में  
विभोर अथवा शोकाकुल लोगों की उक्ति का उपनिषन्ध हो । जैसे कि—

‘गाढालिङ्गन से दबे हुए स्तनोंवाली, आनन्द के रोमाञ्च से भरी, सान्द्र स्नेहस के

मा त्रस्नहरसातिरेकविगलच्छ्रीममित्रम्बाभरा ।

मा मा मानद । माति मामलमिति आमामभरोजापिनी

मुमा किं मु मृता मु किं मनसि मे सीना विसीना मु किम् ॥

अग्र पीडयेति न्यूनम् ।

कचिन्न दोषा न गुण —

न्यूनपदत्यमिरयेव । यथा—

‘तिष्ठेत्कोपवशात्प्रभाषपिहित्वा दीपं न मा कुप्यति

स्वगापोत्पत्तिता भयेन्मयि पुनर्भाषार्त्रमस्या मम’ ।

तां हर्षं विपुचक्षिपोऽपि न य मे राक्षः पुरोषतिनी

सा थात्यन्तमगोपर नयनयोजतिरिति कोऽय पिधि ॥’

अग्र प्रभाषपिहितेति भवेदिति चेत्यनन्तरं ‘नैतद्यत्’ इति पदानि न्यूनानि ।  
एषां पदानां न्यूनतायामप्येतद्वाक्यव्यङ्ग्यस्य वितर्काव्यव्यभिचारिभावस्यो-  
त्क्रांशपरमाण्वन्तः शुभः । ‘दीपं न मे’त्यादियाक्यप्रत्यया य प्रतिपत्त्या तिष्ठेदित्या-  
दियाक्यप्रतिपत्तेर्वाचः स्फुटमेवावभासत इति न दोषः ।

अपिचय से नितम्ब को अनातूत कर देनेवाली, ‘अरे ! वस वस करा अब नहीं’ इत्यादि  
अवरो को अत्युन्नत स्वर ॥ निकालनी यह तुम्हरी पता नहीं, सा यही है या मर गयी है  
या मरे मर में बस गयी है या हृदय में गुरु मिल गयी है ।

पदों ‘न्यूनपदत्व’ प्रतीत ही है क्योंकि ‘माम्’ के बाद ‘पीडय’ पद जो कि प्रयुक्त  
होना चाहिये दोष दिया गया है । किन्तु यह सब इसलिये न्यूनपदत्व नहीं क्योंकि  
आमन्वयनिक में इतना ही पर्याप्त है और इसी से रसातिरेक का अनुभव सम्भव है ।

कहीं-कहीं पर ऐसा भी होता है कि ‘न्यूनपदत्व’ न तो दोष सा छोटे और न गुण  
सा ही ।

पहले, ‘कचिन्न दोषो न गुण’ अर्थात् में ‘न्यूनपदत्व’ पद की जाहति है । उदाहरण  
के लिये ( महाश्वि काकिदास के ‘चित्रमोर्वशीयम्’ की यह पृष्ठि ) ।

‘क्या ऐसा तो नहीं कि मेरी मित्रा उर्वशी प्रणय-कोप के कारण अपनी अन्तर्पात्र  
विद्या के प्रभाव से अन्तर्हित हो गयी ? किन्तु इतनी देर तक तो वह कभी रुक नहीं  
हुई । क्या ऐसा तो नहीं कि वह स्वर्गलोक में उड़ कर चली गयी ? किन्तु मुझे तो वह  
हृदय से चाहती है । क्या ऐसा तो नहीं कि अमर उसे बुरा के गये ? किन्तु मेरे रहते  
भका अमर उसे कैसे बुरा सके ! कहीं भी वह बिछाई नहीं पवती ! यह सब क्या हो  
गया । क्या हो रहा है ?’

यहाँ भी ‘न्यूनपदत्व’ है क्योंकि ( प्रथम चरण में ) ‘प्रभाषपिहित्वा’ और ( द्वितीय  
चरण में ) ‘भवेत्’ पदों के बाद ‘नैतद्यत्’ ( ऐसी बात नहीं क्योंकि ) पद की न्यूनता  
प्रतीत हो रही है । किन्तु इन पदों की यह न्यूनता नहीं ‘शुभ’ का कार्य इसलिये नहीं  
कर रही है क्योंकि इसके द्वारा, इस सम्पन्न वाक्य में व्यङ्ग्य ‘वितर्क’ कय व्यभिचारी  
भाव का कोई विशेष परिपोष नहीं प्रतीत होता इसका यह व्यभिचय नहीं कि यह  
‘न्यूनपदत्व’ यहाँ दोष है । अस्तुता यह ‘न्यूनपदत्व’ यहाँ दोष भी नहीं क्योंकि ‘पीडय’  
सा कुप्यति’ आदि प्रतिचरणगत उत्तरार्ध वाक्य के अर्थसामर्थ्य से ही ‘तिष्ठेत् कोपवशात्’

( अधिकपदत्व की अदोषता )

—गुणः काऽप्यधिकं पदम् ॥ २७ ॥

यथा—

‘आचरति दुर्जनो यत्सहसा मनसोऽप्यगोचरानर्थान् ।

तन्न न जाने जाने स्पृशति मनः किं तु नैव निष्ठुरताम् ॥’

अत्र ‘न न जान’ इत्ययोगव्यवच्छेदे ।

द्वितीये ‘जान’ इत्यनेन नाहमेव जाने इत्यन्ययोगव्यवच्छेदाद्विच्छित्ति-  
विशेषः ।

( समासपुनरात्तत्व की अदोषता )

समासपुनरात्तत्वं न दोषो न गुणः कचित् ।

यथा—‘अन्यास्ता गुणरत्न—’ इत्यादि ।

अत्र प्रथमार्धेन वाक्यसमाप्तावपि द्वितीयार्धवाक्यं पुनरुपात्तम् ।

एवं च विशेषणमात्रस्य पुनरुपादाने समासपुनरात्तत्वं न वाक्यान्तरस्येति  
विज्ञेयम् ।

प्रभावपिहिता’ आदि प्रतिचरणगत पूर्वार्द्ध वाक्य के अभिप्राय का निराकरण स्पष्ट प्रतीत  
हो रहा है जिसके लिये ‘नैतद्यत्’ पद की न्यूनता कोई न्यूनता नहीं प्रतीत होती ।

अनुवाद—कहीं-कहीं ‘अधिकपदत्व’ गुणवत् प्रतीत हुआ करता है । जैसे कि—  
‘यह बात कि ‘दुष्ट मनुष्य अकस्मात् कुछ ऐसे कार्य कर डालते हैं जिन्हें कोई सोच  
भी न सके’ ऐसा नहीं कि मैं न जानता होऊँ किन्तु कुछ प्रतिकार इसलिये नहीं करता  
क्योंकि मेरे हृदय में निष्ठुरता का भाव उत्पन्न ही नहीं होता ।’

यहाँ ‘अधिकपदत्व’ प्रतीत होता है क्योंकि ‘न जाने’ में ‘न’ अधिक है । किन्तु यह  
‘अधिकपदत्व’ यहाँ गुण का ही कार्य कर रहा है क्योंकि इससे वक्ता के साथ, प्रस्तुत  
दुर्जन पुरुष के आचरण के ज्ञान का जो ‘अयोग’-असंबन्ध-हो सकता था उसका व्यवच्छेद  
अथवा निवारण किया जा रहा है ( अयोगव्यवच्छेद ) जिससे ‘अह जाने एव’ का विशेष  
अभिप्राय अभिव्यक्त हो उठता है ।

इसी प्रकार ‘जाने जाने’ में दूसरी बार प्रयुक्त ‘जाने’ पद अधिक प्रतीत होता है किन्तु  
यह ‘अधिकपदत्व’ गुण सा ही लग रहा है क्योंकि इसके द्वारा ‘अहमेव जाने’ ( मैं ही  
जानता हूँ, कोई दूसरा क्या जानेगा ) का एक सुन्दर अभिप्राय प्रकाशित हो जाता है  
जिसमें ‘अन्ययोगव्यवच्छेद’ ( वक्ता के अतिरिक्त अन्य लोगों में प्रस्तुत दुर्जन पुरुष के  
दुराचरण के ज्ञान के निराकरण ) का मर्म अन्तर्निहित है ।

अनुवाद—कहीं-कहीं ‘समासपुनरात्तत्व’ न तो दोष सा लगता है और न गुण सा  
ही । जैसे कि—

‘अन्यास्ता गुणरत्नरोहणमुव’ आदि सूक्ति में ।

यहाँ यह स्पष्ट है कि प्रथमार्ध में ही वाक्य समाप्त हो चुका है किन्तु ‘श्रीमत्कान्ति-  
शुभाम्’ आदि द्वितीयार्ध वाक्य के रूप में पुन उपात्त है । किन्तु तब भी यहाँ ‘समास-  
पुनरात्तत्व’ कोई दोष नहीं क्योंकि यहाँ विशेषणमात्र का पुन उपादान नहीं अपितु  
साकांक्ष वाक्य का पुन उपादान है । ‘समासपुनरात्तत्व’ तो विशेषणमात्र के उपादान में

(गर्मितत्व की अवोपता)

गर्मितत्वं गुणः कापि—

यथा—

‘विहमातङ्गपटाविमक्तचतुराषाढा मही साध्यते

सिद्धा सापि बवन्त एव हि त्रयं रोमाञ्जिता पर्यत ।

त्रिप्राय प्रतिपाद्यते किमपरं रामाय तस्मै नमो

यस्मात्प्रातुरभूत्कथावृत्तमिदं यत्रैव चास्त गतम् ॥’

अत्र बवन्त एवस्यापि वाक्यवाक्यान्तरप्रवेशात् चमत्प्रशस्तिराय पुष्पादि

(पतत्प्रकर्षत्व की अवोपता)

—पतत्प्रकर्षता तथा ॥ २८ ॥

तथेति कश्चित् गुणः । यथा—‘चञ्चद्भुज—’ इत्यादि ।

अत्र चतुर्थपादे सुकुमाराद्यतया शब्दादम्बरत्यागो गुणः ।

(रसपद दोषों की अभिव्यक्त्यवस्था)

कश्चिदुक्तौ चञ्चल्येन न दोषो व्यभिचारिणः ।

अनुभावविभाव्यां रचना यत्र नोचिता ॥ २९ ॥

सम्भव था । यहाँ इसे गुण भी नहीं माना जा सकता क्योंकि इसके पुनः उपपत्त्य से कोई चमत्कार-विशेष भी यहाँ उत्पन्न नहीं होता ।

अनुपम—‘गर्मितत्व’ दोष भी कहीं-कहीं गुण सा क्या करता है । जैसे कि—

‘इस पुष्पी को बीता जाता है जिसकी चारों समीप्ये चारों दिशाओं तक पहुँचा करती हैं । और ‘बह पुष्पी बीत ही गयी कहते हुए जब कोरा रोमाञ्जित हो उठते हैं तो उसे ब्राह्मण को हाथ में दे दिया जाता है । हम तो बस यह अनुभूत क्या जिससे उत्पन्न हुई और जिसके साथ अस्त हो गयी उन अद्वितीय शान्तरी परछाया के आगे हाथ जोड़े करते हैं ।’

यहाँ ‘गर्मितत्व’ है क्योंकि ‘बवन्त एव हि त्रयं रोमाञ्जिता पर्यत’ यह वाक्य विहमातङ्गपटाविमक्तचतुराषाढा मही साध्यते सिद्धा सापि त्रिप्राय प्रतिपाद्यते’ इस वाक्य के बीच में हुआ पक्ष है । किन्तु तब भी इसे यहाँ गुण ही माना जायगा क्योंकि इसी के द्वारा विस्मय-चमत्कार का यहाँ अभिव्यक्तिपरिपोष किया जा रहा है जो कि सर्वथा अवोचित है ।

अनुपम—इसी प्रकार ‘पतत्प्रकर्षत्व’ भी कहीं-कहीं गुण हो जाता है ।

यहाँ ‘पतत्प्रकर्षता तथा’ में ‘तथा’ से ‘पतत्प्रकर्षत्व’ के गुण होने का अभिप्राय किया गया है । जैसे कि—

‘चञ्चद्भुजत्रमित’ आदि पूर्वोक्त बेजीसंहार-सुनिह ।

यहाँ चतुर्थ चरण (उर्ध्वसपिप्पति कर्वास्तव देवि भीम—) में शब्दादम्बर का जो परिप्राग है जिसमें पतत्प्रकर्षत्व स्पष्ट है वह गुणवत् प्रतीत हो रहा है क्योंकि इससे यहाँ का कोमल भाव सुंदरता से अभिव्यक्त हो उठता है ।

अनुपम—कहीं-कहीं पर व्यभिचारिभाव का उसके वाक्य पक्ष द्वारा अभिधान भी बीच नहीं हुआ करता, यदि, यहाँ अनुभाव तथा विभाव की योजना में कोई व्यतिरिक्त न हो ।

यत्रानुभावविभावमुखेन प्रतिपादने विशदप्रतीतिर्नास्ति, यत्र च विभावानुभावकृतपुष्टिराहित्यमेवानुगुणं तत्र व्यभिचारिणः स्वशब्देनोक्तौ न दोषः ।

यथा—

‘औत्सुक्येन कृतत्वं सहभुवा व्यावर्तमाना हिवा  
तैस्तैर्वन्धुवधूजनस्य वचनैर्नीताभिमुख्य पुनः ।

दृष्ट्वाग्रे वरमात्तसाध्वसरसा गौरी नवे सद्गमे

सरोहत्पुलका हरेण हसता श्लिष्टा शिवायास्तु वः ॥’

अत्रौत्सुक्यस्य त्वरारूपानुभावमुखेन प्रतिपादने सद्गमे न भटिति प्रतीतिः, त्वराया भयादिनापि सम्भवात् । हियोऽनुभावस्य च व्यावर्तमानस्य कोपादिना सम्भवात् । साध्वसहासयोस्तु विभावादिपरिपोषस्य प्रकृतरसप्रतिकूलप्रायत्वादित्येषां स्वशब्दाभिधानमेव न्याय्यम् ।

सञ्चार्यादेर्विरुद्धस्य वाध्यत्वेन वचो गुणः ।

तात्पर्यं यह है कि जबकि अनुभाव और विभाव की योजना से किसी व्यभिचारी भाव की विशद प्रतीति न हो सके अथवा जब कि विभाव और अनुभव के द्वारा परिपोष न पाना ही किसी रसभाव के चमत्कार के लिए अधिक उपयुक्त हो जाय तब वाचक पद से उस व्यभिचारी भाव का अभिधान दोष नहीं माना जा सकता । जैसे कि ( रत्नावली की यह सूक्ति )—

‘प्रियतम शिव के साथ नवमिलन में उत्सुकता से शीघ्र चल पड़ने वाली किन्तु स्वाभाविक लज्जा से पुन लौट पड़ने में लगी, उन-उन सखी-सहेलियों के कहने-सुनने से सामने लायी गयी किन्तु महादेव को वर के रूप में देखते ही भय के वशीभूत बनी और हँसते प्रियतम के द्वारा आलिङ्गन में वैधी तथा आनन्द से रोमाञ्चित वह देवी पार्वती आप सबका कल्याण करें ।’

यहाँ ‘व्यभिचारिभावों का स्वशब्दोपादान’ दोष नहीं क्योंकि यदि ‘औत्सुक्य’ रूप व्यभिचारी भाव को सत्वर-गमन के अनुभाव द्वारा प्रतिपादित किया गया होता तो प्रेममिलन में औत्सुक्य की अविलम्ब प्रतीति न हो पाती। इसका कारण यह है कि सत्वर गमन भय अथवा हर्ष से भी संभव है औत्सुक्य से ही क्यों ? ( किन्तु यहाँ तो ‘औत्सुक्य’ की ही अभिव्यञ्जना अभिप्रेत है जो कि इसी पद के उपादान में संभव है ) इसी प्रकार ‘ही’ ( लज्जा ) की विशद अभिव्यक्ति के लिए इसके वाचक पद का ही प्रयोग उचित है क्योंकि ‘व्यावर्तन’ ( लौट पड़ने ) के अनुभाव द्वारा इसका प्रकाशन असंभव है । व्यावर्तन के अनुभाव का संबन्ध केवल लज्जा से ही नहीं अपितु कोप अथवा भय से भी है और इसी के निराकरण के लिए यहाँ ‘ही’ ( लज्जा ) पद प्रयुक्त किया गया है ।

इसी प्रकार ‘साध्वस’ और ‘हास’ के भाव भी अपने वाचक पदों द्वारा ही यहाँ प्रतिपादित हैं और इसी में औचित्य है क्योंकि यदि विभाव आदि के द्वारा इन भावों का परिपोष किया गया होता तब तो ये सब यहाँ के शृङ्गाररस के प्रतिकूल से लगते ( क्योंकि भयानक और हास्य रस के स्थायीभावों का प्रकाशन-प्रपञ्च शृङ्गार के प्रतिकूल ही पड़ेगा अनुकूल नहीं ) ।

इसी प्रकार जहाँ विरुद्ध रस-भाव के विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भावों की

यथा—

‘कामकार्यं शराक्षयमणं क च कुलम्—’ इत्यादि ।

अथ प्रशमाज्ञानां चित्तकर्मतिशब्दाधृतोनामभिरुपाज्ञोत्सुक्यस्मृतिवैयर्थ्यनिष्ठाभिस्तिरस्कारं पश्यन्ते चिन्ताप्रधानमास्वाद्यप्रकर्षमाभिर्भाषयति ।

विरोधिनोऽपि स्मरणे साम्येन वचनेऽपि वा ॥ ३० ॥

मवेद्विरोधो नान्योन्यमङ्गिन्यङ्गत्वमाप्तयोः ।

क्रमेण यथा—

‘अथ स रसानोत्कर्षी—’ इत्यादि ।

अत्राज्ञानव्यभिचारे रतेरसात्मतया स्मर्यमाणानो तदज्ञानां शोकोदीपकतया कदधानुसूयता ।

‘सरागया स्मृतवनवर्मतोयमा कदाहतिव्यमितपूजुरूपीठया ।

मुहुर्मुहुर्वैरानविसृज्योद्यया रुपा नृपाः प्रियतमयेव मेजिरे ॥’

योजना इस प्रकार की गयी होती है जिसमें वे प्रकृत रस से दूरे-दूरावे रहा करते हैं तो वहाँ यह ‘विकल्परिमादादिपरिग्रह’ शेष न होकर शुभ ही हुआ करता है । जैसे कि—

‘कामकार्यं शराक्षयमणं क च कुलम्—’ इत्यादि ।

यहाँ यह स्पष्ट है कि विकल्परसभावकण ‘सम’ के अङ्गभूत चित्तकर्म, मति सङ्गा और चतुष्कय व्यभिचरिमात्रों की ऐसी योजना की गयी है जिसमें वे वहाँ के अभिजापदिक-कर्म मंत्रार के परिपोषक औरतुल्य स्मृति वैयर्थ्य और चिन्ता के व्यभिचरिमात्रों से दूरा सिद्धे गये हैं जिससे अन्त में चिन्ता की पारम्भादिकता की आनन्दानुभूति ही उत्पत्ती है और व्यभिचारिक परिपुष्ट विषयकर्म का आस्वाद मिट जाता है । इस प्रकार वहाँ ‘विकल्परिमादादिपरिग्रह’ का शेष शुभ का ही कर्म करता प्रतीत हो रहा है ।

इसी प्रकार परस्पर विकल्परसों के अङ्गों का एकत्र समावेश भी होय होने के बदले शुभ ही हो जाता करता है यदि निम्न दृष्टिों से यह विकल्परस-योजना हुई हो—

- (क) प्रकृत रस के विरोधी रस या भाव का स्मरण-कण से उपविचर्य
- (ख) परस्पर विकल्परस या भाव की साम्य-विवक्षा-पूर्वक योजना और
- (ग) एक प्रधान रस के साथ परस्पर विरुद्ध रसों का अङ्गकण से अभिव्यञ्जन ।

जैसे कि (प्रकृत रस के विरोधी रस या भाव के स्मरण कण से उपविचर्य में रस-शोक-परिहार) —

‘अथ स रसानोत्कर्षी’ इत्यादि (महाभारतसृष्टि) ।

यहाँ यह स्पष्ट है कि रसिभाव की पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं हो रही है क्योंकि इसका आकरव्यभिचारकण नावक सूरिधवा सर लुब्ध है किन्तु तब भी इसके अङ्गभूत रसता-कर्षण आदि की ऐसी योजना की हुई है जिसमें वे अतीत की स्मृति के कण में प्रतीत हो रहे हैं और अन्ततोगत्वा शोक को परित्यजते हुए वहाँ के कवचरस के ही विरोधक बने दिगामी दे रहे हैं ।

अथवा

(परस्पर विकल्परस या भाव की साम्यविवक्षा-पूर्वक योजना में रसशोक-परिहार) —  
‘सरागया’ राग अर्थात् श्रेय या अनुराग के आवेश में कात-कात नेत्रों बबरा स्नेहार्प

अत्र सम्भोगशृङ्गारो वर्णनीयवीरव्यभिचारिणः क्रोधस्यानुभावसाम्येन विवक्षितः ।

‘एकं ध्याननिमीलनान्मुकुलितप्राय द्वितीयं पुनः

पार्वत्या वदन्तान्नुजस्तनभरे सम्भोगभावालसम् ।

अन्यद्दूरविकृष्टचापमदनक्रोधानलोद्दीपित

शम्भोभिन्नरसं समाधिसमये नेत्रत्रयं पातु वः ॥’

अत्र शान्तशृङ्गाररौद्ररसपरिपुष्टा भगवद्विषया रतिः ।

यथा वा—

‘क्षिप्तो हस्तावलग्नः प्रसभमभिहतोऽप्याददानोऽशुक्रान्त

गृह्णन् केशेष्वपास्तश्चरणनिपतितो नेक्षितः संभ्रमेण ।

आलिङ्गन् योऽवधूतस्त्रिपुरयुवतिभिः साश्रुनेत्रोत्पलाभिः

कामीवाद्रापराधः स दहतु दुरित शम्भवो वः शराग्निः ॥’

नेत्रों वाली, ‘सूतघनघर्मतोयया’—‘क्रोध अथवा सत्त्व के उद्रेक से निकले स्वेद जल से भीगी, ‘कराहतिध्वनितपृथुक्षीठया’—अपने या प्रियतम के कारावात से ‘ऊरुदेश पर चोट पड़ने से विह्वल बनी और ‘मुहुर्मुहुर्दशनविलघितोष्ठया’ बार बार ओठ चवाती या प्रियतम के दशन-चूत से पीड़ित अधर वाली, क्रुद्धतारूपिणी प्रियतमा ने, शिशुपाल के पक्षवाले सभी राजाओं को अपने वश में कर लिया ।’

यहाँ प्रकृत वीर रस के विरोधी सम्भोगशृङ्गार की योजना है किन्तु यह योजना इस प्रकार की गयी है जिसमें इसके अनुभाव ( सरागता आदि ) प्रकृत वीररस के व्यभिचारी ‘क्रोध’ के अनुभावों के समान वर्णित हैं । इसलिये यहाँ भी रसदोष की कोई संभावना नहीं ।

अथवा

( एक प्रधान रस के साथ परस्पर विरुद्ध रसों के अङ्गरूप से अभिव्यञ्जन में रसदोष-परिहार )

‘समाधिस्थ महादेव शङ्कर का वह पहला नेत्र जो कि ध्यान-बन्ध में वन्द सा रहा करता है, वह दूसरा नेत्र जो कि पार्वती के मुख कमल और उन्नत उरोजों पर प्रणय-भाव रखा करता है और वह तीसरा नेत्र जो कि धनुर्धर कामदेव को भस्मीभूत करने वाले क्रोधानल की ज्वालाओं से जला करता है, विविध रसभावों की अनुभूति कराते हुये, आप सब का कल्याण मङ्गल करता रहे ।’

यहाँ भगवद्विषयक रतिभाव ही मुख्य रूप से अभिव्यङ्ग्य है और इसलिये इसके परिपोषक और इसके साथ अङ्गरूप से अभिव्यङ्ग्य शान्त, शृङ्गार और रौद्ररस किसी प्रकार का पारस्परिक विरोध करते नहीं प्रतीत होते ।

अथवा

‘त्रिपुरान्तक महादेव शङ्कर का वह बाणानल जो कि प्रेमापराधी कामी की भीति, त्रिपुरासुर की विरह-विह्वल सुन्दरियों से क्षिप्त किये जाने पर भी, उनका हाथ पकड़ा करता है, दूर किये जाने पर भी उनके घस्त्र के अञ्जल लूँछा करता है, हटा दिये जाने पर भी उनके केशपाश में हाथ लगाया करता है, संभ्रमवश आँखों से परे किये जाने पर भी, उनके पैरों पर आ गिरा करता है और दूर से रोके जाने पर भी उन्हें आलिङ्गन करना चाहता है, आप सबके पाप-सन्ताप का शमन करता रहे ।’



अत्र कविगता भगवद्विषया रतिः प्रधानम् । तस्याः परिपोषकतया भगवत्  
शिपुरध्वंसं प्रत्युत्साहस्यापरिपुष्टतया रसपक्षीमप्राप्ततया भावमात्रस्य करुणोऽ  
ङ्गम् । यस्य च कमीपेति साम्यबलादायातः शृङ्गारः ।

एव चाभिमानविधामतया करुणस्याप्यङ्गुलीवेति द्वयोरपि करुणशृङ्गारयोर्म  
गद्यदुत्साहपरिपुष्टद्विषयरतिभावास्वादप्रकर्षकतया योगपक्षसम्भवादङ्गत्वेन न  
विरोधः ।

ननु समूहाक्षम्भनारमकपूर्णधनानन्तरूपस्य रसस्य तादृशोनेतररसेन कथं  
विरोधः सम्भावनीयः ? एकपक्षे निवेशप्राप्तुर्भावैर्योगपक्षविरहेण परस्परपक्षोपमर्ष  
कत्वानुपपत्तेः । नाप्यङ्गाक्षिभावनः, द्वयोरपि पूर्णतया स्वातन्त्र्येण विधानेः ।

सत्यमुक्तम् । अत एवात्र प्रधानेतरेषु रसेषु स्वातन्त्र्यविधामराहित्यात्पूर्ण  
रसभावमात्राच्च बिलक्षणतया संचारिरसनान्ना व्यपदेशः बाध्यानाम् ।

अस्मत्पितामहानुस्रक्विपण्डितमुख्यभीषण्डीवासपादानां तु अण्डरसनाम्ना ।

यहाँ प्रधानरूप से अभिप्रेत को भाव है वह कविनिष्ठ विषयवस्तु रति जबका  
मति का भाव है । इसके परिपोषक किये जिस विरह भाव की वहाँ बोधका है वह है  
शिपुरध्वंस में विरह भगवान् शृङ्गार के 'उत्साह' का भाव जो कि शीररस के रूप में परिपुष्ट  
न हो सकने के कारण भाव रूप में ही रह गया है और जिसके अङ्ग के रूप में करुण रस  
का अवभास हो रहा है जो कि वस्तुतः 'कामी' इस साम्य-विषया से आश्रित शृङ्गार को  
अपना अङ्ग बनाने विराजमान है । वह करुण भी वहाँ अन्तिम आस्वाद का विषय वहाँ  
बन रहा है । और इसीकिये अङ्गरूप से ही वहाँ इसका अनुभव हो रहा है । इस प्रकार  
करुण और शृङ्गार दोनों वहाँ भगवद्विष्ठ उत्साहभाव से परिपुष्ट कविनिष्ठ भगवद्-विषयक  
रतिभाव के परिपोषक बन रहे हैं और इसीकिये इनका सहानुस्वाद्य रसबोध का उत्पादक  
वहीं अपितु कविनिष्ठ भगवद्-विषयक रतिभाव का अधिकधिक परिपोषक ही प्रतीत  
हो रहा है ।

यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है—जब कि 'रस' विभावादि-वर्ग का सम्बन्धित निष्पन्न-  
रूप एक अक्षय्य आनन्दरूप अनुभव है तब इसी प्रकार के दूसरे रसरूप अनुभव से  
इसका विरोध क्योंकर सम्भव है ? साब ही ज्ञात जब कि इस प्रकार के दो रसरूप  
अनुभवों का एक कल्प-बाल्य में निवेश अथवा एक कल्प-बाल्य द्वारा अभिप्रेत एक  
समय में असम्भव है तब हमें परस्पर उपमर्ष-उपमर्ष-भाव की क्या सम्भावना हो  
सकती है ? इसके अतिरिक्त, जबकि दो रस पूर्णतया अभिप्रेत हैं और स्वतन्त्र रूप से  
आनन्दानुभव के विषय बन रहे हैं तब कबमें अङ्गाक्षिभाव भी क्योंकर माना जा सकता है ?

प्रश्न ती सीक है और वस्तुतः इसीकिये प्राचीन आकङ्क्षारिक ऐसे मतज्ञों पर अग्रजान  
तथा प्यङ्गव रस को 'सहारी रस' कहा करते हैं क्योंकि उनके अनुसार इस प्रकार का  
रस न तो स्वतन्त्र रूप से आस्वाद-विषय हो पाता है और न मुख्य रस की भाँति  
पूर्णतया अभिप्रेत ही हो सकता है अपितु अपनी ही सामग्री से परिपुष्ट होकर एक  
विलक्षण भाव सा बना रहता है ।

और वस्तुतः इसीकिये हमारे पितामह के अनुसार कवि पण्डित-महाशय, आचार्य  
जीकण्डीदा १ में इस प्रकार के रस को 'अण्ड रस' कहा है—

यदाहुः—

‘अङ्गं बाध्योऽथ संसर्गं यद्यङ्गी स्याद्रसान्तरे ।

नास्वाद्यते समग्र तत्ततः खण्डरसः स्मृतः ॥’ इति ।

ननु ‘आद्यः करुणबीभत्सरौद्रवीरभयानकै’ इत्युक्तनयेन विरोधिनोर्वीरशृङ्गारयोः कथमेकत्र—

‘कपोले जानक्याः करिकलभदन्तद्युतिमुपि

स्मरस्मेरस्फोरोडुमरपुलक वक्त्रकमलम् ।

मुहुः पश्यच्छृण्वन् रजनिचरसेनाकलकलं

जटाजूटग्रन्थि द्रढयति रघूणां परिवृढः ॥’

इत्यादौ समावेशः । अत्रोच्यते—इह खलु रसाना विरोधिताया अविरोधितायाश्च त्रिधा व्यवस्था । कयोश्चिदालम्बनैक्येन, कयोश्चिदाश्रयैक्येन, कयोश्चिन्नैरन्तर्येणेति । तत्र वीरशृङ्गारयोरालम्बनैक्येन विरोधः । तथा हास्यरौद्रबीभत्सैः सम्भोगस्य । वीरकरुणरौद्रादिभिर्विप्रलम्भस्य । (आलम्बनैक्येन) आश्रयैक्येन च वीरभयानकयोः । नैरन्तर्यविभावैक्याभ्यां शान्तशृङ्गारयोः । त्रिधाऽयं

‘वह रस जो कि अपने आप में अङ्गी (मुख्य) होने पर भी दूसरे रस का अङ्ग (उपकारक) बन जाया करता है अथवा विरोधी होने पर भी, प्रकृत रस के साथ, साम्यविवक्षा से, एकत्र समावेश पा जाता है अथवा बिना विरोध के, स्वतन्त्र रूप से ही प्रकृत रस में सम्मिलित हो जाता है, जिससे उसका पार्यन्तिक आस्वाद नहीं मिल सकता, ‘खण्डरस’ कहा जाया करता है ।’

यहाँ यह कहा जा सकता है कि जबकि ‘प्रथम अर्थात् शृङ्गार रस, करुण बीभत्स-रौद्र-वीर और भयानक रसों से विरुद्ध पड़ता है’ इस पूर्वोक्त सिद्धान्त के अनुसार वीर और शृङ्गार में परस्पर विरोध है तब एक काव्यवाक्य जैसे कि—

‘एक ओर तो रघुराज राम हाथी के बच्चे के दाँत की काँति से पूर्ण कपोलवाले सीता के मुख-कमल पर काम-विकास और प्रेम के रोमाञ्च देखने में निरत हैं और दूसरी ओर वे राक्षस-सेना का कोलाहल सुनकर अपने जटाजूट की गाँठ भी बाँध रहे हैं ।’

इत्यादि में, इनका एकत्र समावेश क्योंकर अनुचित नहीं ? किन्तु इसका समाधान इस प्रकार किया जा सकता है—

‘दो रसों के विरोध या अविरोध की तीन संभावनायें हैं—( १ ) या तो दोनों का आलम्बन एक हो ( २ ) या दोनों का आश्रय एक हो ( ३ ) या दोनों एक दूसरे के वाद बिना व्यवधान के अभिव्यक्त हो रहे हों । अब वीर और शृङ्गार का जो विरोध है उसका कारण उनके आलम्बन का एक होना है । इसी भाँति सम्भोग शृङ्गार के साथ हास्य, रौद्र और बीभत्स के विरोध का कारण आलम्बन का ऐक्य ही है । यही बात विप्रलम्भ शृङ्गार के साथ वीर, करुण और रौद्र आदि के विरोध की भी है । आश्रय की एकता ( और आलम्बन की एकता ) के कारण जो विरोध संभव है वह वीर और भयानक में देखा जा सकता है । अव्यवहित रूप से एक दूसरे के वाद अभिव्यक्तन में और विभावैक्य के कारण शांत और शृङ्गार परस्पर विरुद्ध पड़ते हैं । वीर रस का अद्भुत और रौद्र से उपर्युक्त तीनों संभावनाओं में अविरोध ही रहा करता है । यही अविरोध शृङ्गार का अद्भुत के साथ और भयानक का बीभत्स के भी साथ दिखायी देता है ।’

विरोधो धीरस्यादुमुत्तरोद्गाभ्याम् । शृङ्गारस्यादुमुत्तेन भयानकस्य धीमत्सेनवि ।

तेनात्र धीरशृङ्गारयोर्मिमांसाम्यनत्वाच्च विरोधः । एव च धीरस्य नायकनिष्ठत्वेन भयानकस्य प्रतिनायकनिष्ठात्वेन निषेधे मिमांसयत्वेन न विरोधः । यच्च नागानन्दे प्रशमनाभयस्यापि ओमूतबाह्वनस्य भक्षयवत्पुनरागो परिचितः, तत्र 'अहो गीतमहो वादित्रम्' इत्यदुमुत्तस्यान्तरा निषेधानान्नैरन्तर्यामिणा शान्तशृङ्गारो विरोधः । एवमन्यदपि ज्ञेयम् । 'पाण्डुशम वदनम्' इत्यादौ च पाण्डुतादीनामङ्गमात्रं कुरुष्वपि प्रसङ्गेऽपीति न विरोधः ।

( सर्वदोष-प्रतिप्रसङ्गः । समस्तदोषों की अनित्यत्वव्यवस्था )

अनुकारे च सर्वेषां दोषाणां नैव दोषता ॥ ३१ ॥

सर्वेषां दुःप्रवृत्तप्रसूतीनाम् ।

यथा—

‘एष दुःस्वयम्भुव नौमीत्यादि जल्पति कश्चन ।’

अत्र दुःस्वयम्भुवराष्ट्रोऽप्रयुक्तः ।

अब यदि इस दृष्टि से ‘कपोके जानक्या’ आदि काव्य-वाक्य पर विचार किया जाय तो यह स्पष्ट है कि वहाँ धीर और शृङ्गार में कोई विरोध नहीं क्योंकि दोनों मित्र-मित्र आत्मजन पर अभिप्रेत हो रहे हैं ( अर्थात् शृङ्गार तो सीता रूप आत्मजन पर प्रकाशित हो रहा है और धीर रावण-सैन्य रूप आत्मजन पर ) । इसी प्रकार अब कि धीर रस नायक-निष्ठ रूप से अभिप्रेत हो और भवावक रस की अभिप्रेति प्रतिभावक के आत्मजन पर हो सब दोनों में आत्म-मेव के कारण को भी विरोध है वह इतना जाना जाता है । ‘जानावन्’ नाटक में जो काम रूप स्वाधीनाय के आत्मज (बापक) ‘अमृतबाहुत का (बापक) ‘मलयवती’ के प्रति प्रेमालुराग प्रकाशित है उसमें सीत और शृङ्गार का इसकिये कोई विरोध नहीं क्योंकि वहाँ इन दोनों रसों का अव्यवहित अभिप्रेतन नहीं है अपितु इनके बीच में ‘अहो गीतम् अहो वादित्रम्’ आदि के द्वारा अदुमुत्त रस का संचार कर दिया गया है । इसी भाँति अन्यत्र काव्य-नाटक-प्रबन्ध में अन्य रसों के भी अविरोध का रहस्य समझा जा सकता है ।

‘पाण्डुशम वदनम्’ आदि पूर्वोक्त सुक्ति में भी ‘कुरुष्व और ‘कुरुष्व विप्रकम्भ’ के अंगों का विरोध इसकिये नहीं क्योंकि वहाँ ‘पाण्डुता’ आदि कुरुष्व रस के संचारार्थ अनुभाव नहीं अपितु कुरुष्व विप्रकम्भ के भी संचारार्थ अनुभाव हैं ।

अनुभाव—इन उपर्युक्त समस्त दोषों का एक अमोघ अपवाद यह है जिसे ‘अनुकरण’ कहते हैं । अर्थात् अनुकरण में कोई भी दोष दोष नहीं माना जा सकता । ( क्योंकि अनुकरण का दोष अनुकरण में दोष नहीं हुआ करता ) । जैसे कि—

‘यह मैं कुरुष्ववन् (इन्द्र) को प्रणाम कर रहा हूँ, ऐसी बात कोई बक सक रहा है ।’

यहाँ ‘कुरुष्ववन्’ वचन, इन्द्र के वचन में अनुकृत होने पर भी, प्रयुक्त किया हुआ है किन्तु वह ‘अनुकृत्य’ वहाँ दोष नहीं क्योंकि यहाँ वचन किसी दूसरे की पंक्ति का अनुकरण करते यह सब कह रहा है ।

अन्येषामपि दोषाणामित्यौचित्यान्मनीषिभिः ।

अदोषता च गुणता ज्ञेया चानुभयात्मता ॥ ३२ ॥

अनुभयात्मता अदोषगुणता ।

इति साहित्यदर्पणे दोषनिरूपणो नाम सप्तमः परिच्छेदः ।



इस उपर्युक्त विचारधारा का अनुसरण करते हुये, औचित्य की दृष्टि से, अन्य दोषों की भी अदोषता अथवा गुणरूपता अथवा अदोष गुणता यत्र-तत्र स्वयं बुद्धिमान् पाठक समझ सकते हैं ।

यहाँ कारिका में 'अनुभयात्मता' का अभिप्राय 'अदोष-गुणता' ( न तो दोष हो और न गुण हो ) का अभिप्राय है ।

विमर्श—काव्यप्रकाशकार ने 'अनुकरण' को समस्त पद-दोषों का अपवाद-स्थान माना है—

‘अनुकरणे तु सर्वेषाम् ।

सर्वेषां श्रुतिकटुप्रभृतीनां दोषाणाम् । यथा—

मृगचक्षुषमद्राक्षमित्यादि कथयत्ययम् ।

पश्यैष च गवित्याह सुत्रामाण यजेति च ॥' ( काव्यप्रकाश ७म उल्लास )

यहाँ साहित्यदर्पणकार ने काव्यप्रकाशकार की ही मान्यता का अनुसरण किया है किन्तु ऐसे प्रसंग में किया है जिससे यह स्पष्ट होना कठिन है कि अनुकरण पद-दोषों का ही अपवाद-स्थान है या अन्य दोषों, जैसे कि अर्थगत अथवा रसगत दोषों का भी । अर्थगत अथवा रसगत दोष अनुकार्य अथवा अनुकरण—दोनों प्रकार के वाक्यों में दोष ही प्रतीत होते हैं, गुण नहीं ।

साहित्यदर्पण सातवाँ परिच्छेद समाप्त ।



## अष्टम. परिच्छेद

(काव्य में गुण-तत्त्व : स्वरूप और उपयोग)

गुणानाह—

रसस्याङ्गित्वमात्रस्य धर्माः शौर्यादयो यथा ।

गुणाः—

यथा लक्ष्यङ्गित्वमात्रस्यात्मन उत्कर्षहेतुत्वाच्चौर्योद्यो गुणशब्दवाच्याः, तथा काव्येऽङ्गित्वमात्रस्य रसस्य धर्मा स्वरूपविशेषा, माधुर्योद्योऽपि स्वसम पक्षपक्षान्वर्तमानस्य अर्थव्यवस्थापदेशस्योपयिक्तानुगुण्यमात्र इत्यर्थः । यथा चैषां रसमात्रस्य धर्मत्वं तथा वर्तितमेव ।

(गुणविभाग : माधुर्यं शौर्यं तथा प्रसाद)

माधुर्यमोञ्जोऽथ प्रसाद इति च त्रिधा ॥ १ ॥

ते गुणाः ।

ननुवाच—अथ गुण-निरूपणं किमा वा रहा है—

जैसे प्राणि-शरीर में सारभूत आत्मतत्त्व के धर्म शौर्यं शौर्यं आदि गुण कहे गये हैं वैसे ही काव्य-शरीर में सारभूत रस-तत्त्व के धर्म माधुर्यं-शौर्यं आदि भी गुण कहे जाते हैं ।

तत्पर्यं यह है कि जैसे प्राणिमात्र के शरीर-संस्थान में अत्यधिक महत्वपूर्ण आत्म-तत्त्व के उत्कर्षकारक, शौर्यं और शौर्यं आदि 'गुण' शब्द से प्रतिपादित किये जाते हैं वैसे ही काव्य-शरीर काव्य के परमसार रस के धर्मभूत माधुर्यं शौर्यं आदि, भी जो कि वस्तुतः रस के स्वरूपविशेष हैं 'गुण' कहे गये हैं और इसविषय गुण कहे गये हैं क्योंकि ये ही वे रस-धर्म हैं जो कि रसप्रतिष्ठापक पद समुदाय के 'काव्य' कहे जाने से एकमात्र निश्चय है और जिसका एकमात्र धर्म अपने आपारम्भ 'रस' का उत्कर्षवर्धन है । किन्तु प्रकार यह 'गुण' रसका आत्मतत्त्व के ही धर्म हैं—इसका प्रतिपादन पहले ही (प्रथम परिच्छेद में) किया जा चुका है ।

विमर्श—'गुण रस के धर्म हैं'—यह सिद्धांत आनितादीनियों का एक प्रतिनिधित्व धर्म सिद्धांत है । आचार्य आत्मवर्णन ने स्पष्ट कहा है—

'तमर्धमवकाशमन्ते येऽङ्गित्वं ते गुणाः रसतः ।

अङ्गप्रतिपादितार्थकारा मन्तव्याः कथं कथिष्य ।

ये तमर्ध रसप्रतिष्ठापकमङ्गित्वं सन्तमवकाशमन्ते ते गुणाः शौर्यादिवत् । काव्यवाचककथना-न्वहानि ये पुनस्तदाप्रतिपादितेऽङ्गकारा मन्तव्याः कथं कथिष्य । (धर्मशोक १४ वचन)

काव्यमवाचक और साहित्यवर्णनकार ये इसी गुणवाद का निरूपण और विवेचन किया है जिसके अनुसार गुण रसका आत्मतत्त्व के धर्म सिद्ध होते हैं न कि धर्म अपना धर्म है ।

ननुवाच—ये रसधर्मभूत गुण तीन हैं—(१) माधुर्यं (२) शौर्यं और (३) प्रसाद । यहाँ करिका में 'ते' का अभिप्राय 'गुणाः' का है ।

तत्र—

( माधुर्यनिरूपण )

चित्तद्रवीभावमयो ह्लादो माधुर्यमुच्यते ।

यत्तु—केनचिदुक्तम्—‘माधुर्यं द्रुतिकारणम्’ इति तन्न, द्रवीभावस्यास्वाद-  
स्वरूपाह्लादाभिन्नत्वेन कार्यत्वाभावात् । द्रवीभावश्च स्वाभाविकानाविष्टत्वात्म-  
ककाठिन्यमन्युक्रोधादिकृतदीप्तत्वविस्मयहासाद्युपहितविज्ञेयपरित्यागेन रत्याद्या-  
कारानुविद्धानन्दोद्बोधेन सहृदयचित्तार्द्रप्रायत्वम् । तच्च—

विमर्श—माधुर्यं, ओज तथा प्रसाद रूप से गुणवैविध्य के निर्धारण में काव्यप्रकाशकार का  
यह कथन है—

‘इदानीं गुणानां भेदमाह—माधुर्योऽजःप्रसादाख्यास्रयस्ते न पुनर्दश ।’

( काव्यप्रकाश ८ म उल्लास )

जिममें यह स्पष्ट है कि रस-धर्म होने के नाते तीन ही गुण काव्य-गुण कहे जा सकते हैं न कि  
वामनादि सम्मत दस गुण । साहित्यदर्पणकार ने वाद-विवाद की आशका से ‘न पुनर्दश’ का  
सकेन छोड़ दिया है किन्तु इसका निर्देश आवश्यक-सा लगता है क्योंकि ध्वनिवादी आचार्य यों ही  
तीनों गुणों को काव्य-गुण नहीं मानते अपितु रसधर्मता की कमीटी पर कसकर हों इन्हें काव्य-गुण  
मानते हैं । वामनादि सम्मत १० गुण शब्द अथवा अर्थ के धर्म भले ही हों रसके धर्म कदापि  
नहीं । रसवाद और गुणवाद के इस समन्वय में काव्यप्रकाशकार की भाँति साहित्यदर्पणकार का  
भी कार्य स्तुत्य है ।

अनुवाद—इस ‘गुणत्रितय’ में—

‘माधुर्य’ वह है जिसे एक ऐसा आह्लाद अथवा आनन्द कह सकते हैं जिसका स्वरूप  
सहृदय-हृदय की ‘द्रुति’ अथवा ‘द्रवीभूतता’ ( पिघल पड़ना ) है ।

‘माधुर्य’ के सम्बन्ध में किसी काव्याचार्य ( काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मट ) का  
यह कहना कि ‘माधुर्य चित्त की द्रुति का कारण है’ सर्वथा चतुरस्र नहीं लगता । वात यह  
है कि जबकि ‘हृदय की द्रुति अथवा द्रवीभावमयता’ आस्वादात्मक आह्लाद से कोई भिन्न  
वस्तु नहीं तब इसे ( हृदयाह्लाद रूप ) ‘माधुर्य’ का कार्य कैसे मान लिया जाय ? हृदय  
की द्रुति अथवा द्रवीभावमयता क्या है ? ‘हृदय की द्रुति अथवा द्रवीभावमयता’ वस्तुतः  
सहृदय के हृदय का पिघल-सा पड़ना है और यह तभी संभव है जब कि सहृदय का  
हृदय ( उत्साहादिजन्य ) अनावेश अर्थात् विषयग्रहण में असामर्थ्य के स्वभाव-सुलभ  
‘काठिन्य’, अनुताप अमर्ष आदि से सभूत ‘दीप्तत्व’ किंवा हास-विस्मय आदि से  
उत्पन्न ‘विज्ञेय’ से सर्वथा मुक्त होकर रति आदि कोमल भावों के स्वरूप से अनुविद्ध  
गानन्द के अनुभव में लीन हो जाता है ।

विमर्श—यहाँ साहित्यदर्पणकार ने आचार्य मम्मट की इस माधुर्य-मीमांसा अर्थात्—

‘आह्लादकत्वं माधुर्यं शृङ्गारे द्रुतिकारणम् ।’

( काव्यप्रकाश ८. ६८ )

गति पर आक्षेप किया है । ‘माधुर्य’ और आह्लाद अथवा आस्वाद एक अभिन्न अनुभव  
है—इस सम्बन्ध में दोनों आचार्य एकमत हैं । दोनों में जो भेद है उसका कारण दोनों के  
हाव्यविषयक मत का भेद है । काव्यप्रकाशकार के अनुसार ‘माधुर्य’ द्रुतिकारक है, द्रुतिरूप  
नहीं क्योंकि वैसे तो ‘माधुर्य’ शृङ्गार आदि मधुर रसों का आस्वादविशेष है किन्तु इसका अभि-  
व्यक्ति क्षेत्र वह शब्दार्थयुगल है जो कि मधुर शृङ्गारमय हुआ करता है । शब्दार्थयुगल के माधुर्य

(माधुर्य का अभिव्यक्ति-क्षेत्र)

संयोगे कल्पे विप्रलम्भे श्रान्तेऽधिकं क्रमात् ॥ २ ॥

सम्भोगादिशब्दा उपलक्षणाणि । तेन सम्भोगाभासादिव्यप्येतस्य स्थिति र्हेया ।

अब आपिमात्र मधुर शब्दों रस के अभिव्यक्ति-क्षेत्र का सामर्थ्य है । इसीक्षेत्रे गुण भी व्यक्तार्थ-गुण के 'व्यप्य' होने से शब्दों रूप से निरिक्त दिखे गये हैं । साहित्यदर्पणकार ने माधुर्य 'आहार' और 'हुति' को एक ही आगम्यानुभव मान लिया है । यहाँ ही वह माधुर्या साहित्य दर्पणकार को वैयर्थिक अनुभूति से प्रभावित हो किन्तु वह निश्चित है कि जो भी शब्दीय प्रमाण है वह काव्यप्रकाशकार के ही रस के अधिक अनुकूल है ।

ध्वनिशार्ङ्गेनिक आभिव्यक्ति-क्षेत्र की ये पंक्तियाँ भी काव्यप्रकाशकार की मान्यता को ही प्रमाणित करती प्रतीत हो रही हैं—

'श्रुंगारे विप्रकम्पान्ते कल्पे च प्रकर्षवत् ।

माधुर्यमाश्रयं याति पतस्तत्राधिकं भगः ॥

यहाँ जब कि वह कहा गया कि 'माधुर्य' सम्भोग शब्दों की अपेक्षा विप्रकम्प शब्दों में और विप्रकम्प शब्दों की अपेक्षा कल्प रस में उत्तरोत्तर प्रकट रूप करता है क्योंकि सङ्गर के स्वर को आश्रय (हुति वा इवीभावमयता) सम्भोग की अपेक्षा विप्रकम्प में और विप्रकम्प की अपेक्षा कल्प में अधिक बढ़ी रहा करता है । तब तो वह सिद्ध हो है कि माधुर्य 'आश्रय' का कारण है न कि 'आश्रय' से अभिव्यक्त वस्तु है ।

यह 'आश्रय' अबका किन्तु को हुति वा इवीभावमयता क्या है । इसके सम्बन्ध में कीचनकार को वह पंक्ति ज्ञान देने योग्य है—

'आश्रयमिति—सङ्कटवत्स्य चेता स्वाभिव्यक्तिमयाविरलत्वमर्कं काटिभं श्लोभादिहीन-  
कल्प विस्मयहासप्रहस्यप्रसन्नं च त्वज्जतीत्यर्थः । (कम्पार्थक्योचनः । २४ अंशे)

अनुवाद—जब 'माधुर्य' के क्षेत्र का विकसल किया जा रहा है । यह 'माधुर्य' सम्भोग शब्दों कल्प रस विप्रकम्प शब्दों और आहत रस में अनुगत रहा करता है और इनमें भी उत्तरोत्तर मधुर बना करता है ।

यहाँ, करिका में 'संयोग' आदि कल्प उपलक्षण-माला हैं और इसक्षेत्रे 'संयोग शब्दों' आदि की भाँति 'संयोगशब्दाराभास' आदि में भी 'माधुर्य' की अवस्थिति मानी जानी चाहिये ।

विमर्श—(क) माधुर्य के अभिव्यक्ति-क्षेत्र के सम्बन्ध में काव्यप्रकाशकार का वह कथन है—

'कल्पे विप्रलम्भे तत्प्राप्ते चातिशयाभिव्यक्तम् । (काव्यप्रकाश ८. १२)

साहित्यदर्पणकार यहाँ काव्यप्रकाशकार से सहमत है । किन्तु साहित्यदर्पणकार को वह कारण कि 'माधुर्य' शब्दाराभास आदि का भी धर्म अबका वरक्य-विशेष है काव्यप्रकाशकार आदि शब्दीय व्याख्याकारों से नहीं दिखाई देती ।

(ख) साहित्यदर्पणकार ने 'गुण' के अतिरिक्त 'गुणभास' की कल्पना नहीं की है । शब्दाराभासमयी रचना में माधुर्य की अपेक्षा सर्वप्रथम माधुर्याभास (!) का आतिशय मानना अधिक उपयुक्त होता । वैसे तो आत्मन्यायिक अनुभव की दृष्टि से 'रस' और 'रसभास' में कोई फारस नहीं और गुणों को रस की भाँति रसभास का भी धर्म मानना बतिय है किन्तु, 'आत्मभास' में अनुगत धर्म की 'वर्माभास' न हो जब इसक्षेत्रे सर्वप्रथम शब्दीय व्याख्याकारों ने रस-गुण-भोगाभास में विरलत्व-पुष्टि को बहुत अधिक नहीं कहा था ।

( माधुर्य के अभिव्यञ्जन-साधन )

मूर्ध्नि वर्गान्त्यवर्णेन युक्ताष्टउड्डान्विना ।

रणौ लघू च तद्व्यक्तौ वर्णाः कारणता गताः ॥ ३ ॥

अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा मधुरा रचना तथा ।

यथा—

‘अनङ्गमङ्गलभुवस्तदपाङ्गस्य भङ्गयः ।

जनयन्ति मुहुर्यूनामन्तःसन्तापसन्ततिम् ॥’

यथा वा मम—

‘लताकुञ्जं गुञ्जन् मदवदलिपुञ्जं चपलयन्

समालिङ्गन्नङ्गं द्रुततरमनङ्गं प्रबलयन् ।

मरुन्मन्दं मन्दं दलितमरविन्दं तरलयन्

रजोवृन्दं विन्दन् किरति मकरन्दं दिशि दिशि ॥’

अनुवाद—( रसधर्मभूत ) इस ‘माधुर्य’ के अभिव्यञ्जन के जो निमित्त हैं वे ये हैं—

( १ ) वर्ण, जैसे कि ( कर्णकटु ) ट, ठ, ड और ढ को छोड़कर ‘क’ से ‘म’ पर्यन्त के वर्ण, जो कि अपने-अपने वर्ग के अन्य वर्ण से मिलकर श्रुतिमधुर ध्वनि की सृष्टि किया करते हैं (जैसे कि अनङ्ग, कुञ्ज आदि में), अन्य वर्ण से असयुक्त रेफ और मूर्धन्य ‘ण’कार ।

( २ ) असमस्त रचना ।

( ३ ) अल्पसमासवती रचना और

( ४ ) मधुर पद-योजना ।

जैसे कि ( अपने-अपने वर्ग के अन्य वर्ण से सन्नद्ध वर्णों की माधुर्य-व्यञ्जकता )—

‘उस सुन्दरी के अपाङ्गों ( नेत्रप्राप्तों ) की वे ( भङ्गिमायें ) लीलायें, जो अनङ्ग की मङ्गलमयी जन्मभूमियाँ हैं, युवा प्रेमियों के हृदय में निरन्तर संताप उत्पन्न किया करती हैं ।’

[ यहाँ ‘अनङ्ग’, ‘मङ्गल’, ‘अपाङ्ग’, ‘भङ्गी’, ‘जनयन्ति’, और ‘अन्तःसन्तापसन्ततिम्’ में वर्ग के प्रथम वर्ण, अपने वर्गान्त्य वर्ण से सन्नद्ध हुये, माधुर्य की अभिव्यञ्जना में तत्पर लग रहे हैं । ]

इसी भाँति ( असमस्त किंवा अल्प समासवती रचना में उपर्युक्त प्रकार के वर्णों की माधुर्य-व्यञ्जकता )—

‘यह समीर मधुर गुञ्जन में मग्न भ्रमरपुञ्ज से भरे लताकुञ्ज को चञ्चल बना रहा है, प्रेमी-जन के अङ्ग-अङ्ग का आलिङ्गन करता हुआ, उनके अन्तरङ्ग में अनङ्ग ( काम ) का सञ्चार कर रहा है, मन्द मन्द सञ्चारित होता हुआ अरविन्द वन को तरङ्गित कर रहा है और सुरभित सुमनों के पराग का अङ्गराग लगाकर चारों ओर मकरन्द की मधुर वृष्टि करता जा रहा है ।’

यह सूक्ति स्वरचित सूक्ति है ।

[ यहाँ असमस्त अथवा अल्पसमासवाली रचना की माधुर्य-व्यञ्जकता स्पष्ट है । यह सूक्ति विश्वनाथ कविराज की कविता का एक सुन्दर निदर्शन है । विश्वनाथ कविराज कवि थे और परम रसिक थे । यहाँ कवित्व और रसिकत्व का मणिकाञ्चन-संयोग स्पष्ट दिखाई दे रहा है । ]



( ओजोगुण : स्वल्प तथा चेतन-निरूपण )

ओजश्चित्तस्य विस्ताररूपं दीप्तत्वमुच्यते ॥ ४ ॥

वीरवीमत्सरौघेषु क्रमेणाचिन्त्यमस्य तु ।

अस्योजसः । अत्रापि वीरादिराध्या उपलक्षणानि । तेन वीराभासादावप्य-  
स्मायस्थितिः ।

( ओजोगुण के अभिव्यञ्जन-साधन )

वर्गस्याक्रुहीयान्यां युक्तौ वर्गौ तदन्तिमौ ॥ ५ ॥

तथर्षघो ह्योर्वा सरफौ टठढदैः सह ।

क्षकारश्च पकारश्च तस्य व्यञ्जकतां गता ॥ ६ ॥

तथा समासो बहुलो घटनौद्धत्यञ्जलिनी ।

अनुवाद—जैसे 'ओज' कहते हैं वह सङ्कटवङ्कट की वह दीप्ति अथवा प्रत्यक्षित-  
प्रापता है जिसका स्वल्प चित्त की विस्तृति अथवा उष्णता है । वह ओज वीर वीमत्स  
और रौद्ररस में उत्तरोत्तर प्रकटस्वरूप से विराजमान रहा करता है ।

यहाँ कारिका में 'अस्य' पद का अभिप्राय 'ओज' का अभिप्राय है । यहाँ भी वीर  
आदि शब्द उपलक्षण हैं । इसलिये वीराभास आदि में भी ओज की अवस्थिति मान्य है ।

विमर्श—यहाँ भी साहित्यदर्पणकार ने भाषार्थ सम्मत की आवश्यकता की है । आत्मप्रकाश-  
कार सम्मत के अनुसार ओज 'दीप्तिस्वरूप' है 'दीप्तिरूप' नहीं बल्कि इस शक्ति से स्पष्ट है—

'दीप्ताभासविस्तृतेर्ह्युत्तरोजो वीररसस्थितिः ।' ( आत्मप्रकाश : ८, १९ )

'दीप्ति' एक आत्मावनिर्देश है और रौद्रादि रसों के अनुभव का परिणामस्वरूप है । वह दीप्ति ही  
वस्तुतः 'ओज' है वीर रौद्रादि रस इस दीप्ति अथवा ओज के ही आत्मावरूप हैं । रौद्रादिरसों  
की ओज कहा जा सकता है किन्तु यहाँ उपचार का आशय मानना पड़ेगा । इसी प्रकार रौद्रादि  
रस के प्रकाशमसमर्थ सन्दर्भ और अर्थ तथा हीन समासयुक्त शब्द भी उपचारात् 'दीप्ति' ही कहे  
जा सकते हैं । 'चित्त की विस्तृति' जिस की एक अवस्था है जिसको उत्पत्ति दीप्ति अथवा ओज  
अथवा रौद्रादिरसास्वादा हैं संग्रह है ।

अनुवाद—इस ओज के जो अभिव्यञ्जन साधन हैं वे ये हैं—

( १ ) वर्ण—जैसे कि कर्मण आदि वर्णों के प्रथम ( क, ख, ग, घ, ङ ) और तृतीय  
( ग, ज, झ, ढ, ण ) वर्णों का एकत्र आने-जपने अथवा वर्णों ( वर्णों के प्रथम वर्णों के  
अल्प वर्णों का च, छ, ज और वर्णों के तृतीय वर्णों के अल्प वर्ण ( ख, झ, ढ, ण म ) से  
संयोग ( जैसे कि पुष्प, वज्र आदि में ) पीछे, ऊपर अथवा दोनों ओर से, किसी वर्ण के  
साथ संयुक्त रहे ( जैसे कि वज्र, निर्वाह आदि में ) संयुक्त अथवा असंयुक्त द, ढ, ण  
और ङ ताकड्य धकार और मूर्धन्य पकार ।

( २ ) दीर्घसमासवती इत्यादि ।

( ३ ) औद्धत्यपूर्ण पदोपयोग ।

यथा—

‘चञ्चद्भुज—’ इत्यादि ।

( प्रसादगुण : स्वरूप तथा चेत्र-निर्देश )

चित्तं व्याप्नोति यः क्षिप्रं शुष्केन्धनमिवानलः ॥ ७ ॥

स प्रसादः समस्तेषु रसेषु रचनासु च ।

व्याप्नोति आविष्करोति ।

उदाहरण के लिये ( दीर्घसमासवती किंवा उद्धत पदरचना में दीप्त वर्णों की ओजो-व्यञ्जकता ) ‘चञ्चद्भुजभ्रमित’ आदि पूर्वोदाहृत वेणीसंहार-सूक्ति ।

विमर्श—‘चञ्चद्भुजभ्रमित’ आदि सूक्ति की ओजोमयता के प्रदर्शन में लोचनकार की ये पक्तियाँ ध्यान देने योग्य हैं—

‘चञ्चदिति—चञ्चद्भया वेगादावर्तमानाभ्यां भुजाभ्यां भ्रमिता येयं चण्डा दारुणा गदा तथा योऽभितः सर्वत उर्वोर्धातस्तेन सम्यक्चूर्णितं पुनरनुत्थानोपहत कृतमूर्युगल युगपदे-वोद्धृत्यं यस्यतं सुयोधनमनाहत्यैव स्थानेनाशयानतया न तु कालान्तरशुष्कतयाववद्गहस्ता-भ्यामविगलद्रूपमत्यन्तमाभ्यन्तरतया धन न तु रसमात्रस्वभाव यच्छोणित रुधिर तेन शोणौ लोहितौ पाणी यस्य स । अत एव स भीम कातरत्रासदायी । तवेति—यस्यास्तत्त-दुपमानजात कृत देव्यनुचितमपि तस्यास्तव कचानुत्तसयिष्यति, उत्तसवत. करिष्यति, वेणीत्वमपहरन् करविच्युतशोणितशकलैर्लोहितकुसुमापीडेनेव योजयिष्यतीत्युत्प्रेक्षा, देवी-स्थानेन कुलकलत्रखिलीकारस्मरणकारिणा क्रोधस्यैवोद्दीपनविभावत्व कृतमिति नात्र शृङ्गार-शङ्का कर्त्तव्या । सुयोधनस्य चानादरणं द्वितीयगदाघातदानाद्यनुद्यम । स च सबूर्णितोरु-त्वादेव । स्थानग्रहणेन द्रौपदीमन्युप्रचालने त्वरा सूचिता । समासेन च सन्ततवेगवहन-स्वभावात् तावत्येव मध्ये विश्रान्तिमभमाना चूर्णितोरुद्वयसुयोधनानादरणपर्यन्ता प्रती-तिरेकत्वेनैव भवतीत्यौद्धत्यस्य परं परिपोषिका ।’ ( ध्वन्यालोकलोचन २य उद्योत )

अर्थात् ‘चञ्चद्भुजभ्रमित’ आदि जो रचना है उसमें दीर्घसमास की ओजोव्यञ्जकता स्पष्ट है । दीर्घसमास के कारण सहृदय हृदय की प्रज्वलितप्रायता आरम्भ से अन्ततक अविश्रान्त रहा करती है । दीप्ति की यह अविश्रान्ति ओज का एक अनुभव-विशेष है ।

अनुवाद—जिसे ‘प्रसाद’ कहते हैं वह सहृदय-हृदय की एक ऐसी निर्मलता है जो कि चित्त में उसी भाँति व्याप्त हो जाती है जिस भाँति सूरजी लकड़ी में आग । यह ‘प्रसाद’ सभी रसों का धर्म अथवा स्वरूप-विशेष है और इसकी अवस्थिति सभी रचनाओं की विशेषता हुआ करती है ।

यहा कारिका में ‘व्याप्नोति’ का अभिप्राय ‘आविष्करोति’ का अभिप्राय है । चित्त का आविष्कार, चित्त के व्यासङ्ग-विशेष की निवृत्ति में, उसकी विमलता है ।

विमर्श—काव्यप्रकाशकार ने ‘प्रसाद’ का यह स्वरूप विवेक किया है—

‘शुष्केन्धनाभिवत् स्वच्छजलवत् सहसैव य ।

व्याप्नोत्यन्यत् प्रसादोऽसौ सर्वत्र विहितस्थिति ॥

अन्यदिह चित्तम्

( काव्यप्रकाश ८म उच्छास )

और यही वस्तुतः ध्वनिकार-कृत भी प्रसाद विवेक है—

(प्रसादगुण के अमिष्यज्ञान-साधन)

ध्वन्दास्तद्वयञ्जका अर्थयोधकाः श्रुतिमाश्रयः ॥ ८ ॥

यथा—

‘सूचीमुक्तेन सङ्क्षेपे कृतग्रन्थस्थ

मुख्यकलाप ! लुठसि स्तनयो प्रियाया’ ।

बाजै स्मरस्य शशशो विनिकृतमर्मा

स्वप्नेऽपि सां कथमहं न विलोकयामि ॥’

(माधुर्यादि गुणवय की सम्प्रगुण्यता । जीवभारिक)

एषा ध्वन्द्वगुणस्य च गुणवृत्त्योप्यते धुषैः ।

शरीरस्य शौर्याविगुणयाग इव इति शेषः ।

‘समर्पकत्व सम्प्रसारण यत्तु सर्वरसान् प्रति ।

स प्रसादो गुणो ज्ञेयः सर्वसाधारणक्रियाः ॥ (ध्वन्दाश्लेष २६ उच्यते)

शेषतश्चर ने भी ‘प्रसाद’ की वही स्वरूप-मीमांसा की है—

‘समर्पकत्वम्—सम्प्रसारणत्वं इद्वयसंवादेन प्रतिपत्तुं प्रति स्वात्मनेसेन व्यापारकत्वं इति हि गुणकाद्वयप्रवृत्त्यात् । अकृत्योपदेशप्रवृत्त्यात् च तद्वक्तव्यं प्रसक्तत्वं नाम सर्वरसानां गुणः । उपचारात् तथाक्रिये ध्वन्दाश्लेषे अन्वयार्थयोः समर्पकत्वं तद्वि प्रसादः । तमेव व्याचष्टेऽप्रसादिति—ननु रसगतो गुणस्तत् कथं सम्प्रसारणोः स्वच्छतेत्याह—स चेति । च सम्प्रसारणत्वे । सर्वरससाधारणं एव गुणः । स एव च गुण पूर्वविद्यः । सर्वोपेयं रचना सम्प्रगता चार्थगता च समस्ता चासमस्ता च तत्र साधारणः ।’

(ध्वन्दाश्लेषकोष २६ उच्यते)

अनुवाद—इस ‘प्रसाद’ के अमिष्यज्ञान-साधन के सङ्घ है, जिसके अर्थ उनके अर्थ मात्र से ही सकल उठते हैं ।

उदाहरण के लिये—

अरे सुखाहार ! जब कि एक बार भी (गूँधे जाने के समय) सूची के अग्र भाग से बिड़ होने पर तू, किसी मेघसी के स्तनों पर कोठये लगाता है तो सड़कों बार कम के बानों से छिन्न-भिन्न इद्वयवाले झुंटे वह मेघसी, क्या बात है कि, स्वप्न में भी कभी वही चीज पड़ती ।

विमर्श—‘प्रसाद’ के व्याख्यान-रूप में काव्यप्रकाशकार द्वारा व्यक्त वह सूत्र वही सुन्दर है—‘परिमर्कान् पीनस्तनजबजसङ्गाहुमयतः तयोर्मध्यस्थान्तः परिमिक्रममप्यह्रितयः । इदं व्यवस्थान्तं रक्तमुककताद्येवकनेः कृताङ्गनाः सम्पाप बहति विसिबीपत्रसंभवम् ॥’

(काव्यप्रकाशः ८५ वक्तव्यः)

अनुवाद—आकस्मिक व्यापार्य (उपबुध) माधुर्य जोष और प्रसाद गुणों को ध्वन्-गुण भी कहा करते हैं किन्तु ऐसा कहने में ‘गुणवृत्ति’ अथवा ‘उपचार’ का ही आशय किया करते हैं ।

यहाँ ‘गुणवृत्ति’ अथवा ‘उपचार’ से माधुर्यादि के ध्वन्गुण होने में जो अमिष्य किया है वह यह है—जैसे वायवसाय के अर्थ भी शीर्ष और जीहार्थ आदि (स्वच्छता-अभिलक्ष्य परम्परासंभव से) शरीर के अर्थ रूप में कल्पित किये जा सकते हैं वैसे

( प्राचीन-अलङ्कारशास्त्र-सम्मत श्लेष, समाधि, औदार्य तथा प्रसाद का ओजोगुण में अन्तर्भाव )

श्लेषः समाधिरौदार्यं प्रसाद इति ये पुनः ॥ ६ ॥

गुणाश्चिरन्तनैरुक्ता ओजस्यन्तर्भवन्ति ते ।

ओजसि भक्त्या ओजःपदवाच्ये शब्द ( अर्थ ) धर्मविशेषे ।

तत्र श्लेषो बहूनामपि पदानामेकपदवद्भासनात्मा ।

यथा—

‘उन्मज्जल्लकुञ्जरेन्द्रभसास्फालानुबन्धोद्धताः

सर्वाः पर्यतकन्दरोदरभुवः कुर्वन् प्रतिध्वानिनीः ।

उच्चैरुच्चरति ध्वनिः श्रुतिपथोन्माथी यथाय तथा

प्रायप्रेखदसख्यशङ्खघवता वेलेयमुद्रच्छति ॥’

ही रसमात्र के धर्म, माधुर्य और ओज आदि भी (स्वाश्रयाश्रयित्वरूप परम्परासंबन्ध से) शब्द अथवा अर्थ के गुण रूप में मान लिये जाया करते हैं ।

विमर्श—रसधर्मभूत माधुर्यादि गुणत्रय के शब्दगुण और अर्थगुण कहे जाने में ‘उपचार’ के आश्रय का जो अभिप्राय है वह लोचनकार की इस पक्ति से अत्यधिक स्पष्ट है—

‘एतदुक्तं भवति—वस्तुतो माधुर्यं नाम शृङ्गारादे रसस्यैव गुणः । तन्मधुररसाभिव्यञ्जकयोः शब्दार्थयोरुपचरित मधुरशृङ्गाररसाभिव्यक्तिसमर्थता शब्दार्थयोर्माधुर्यमिति हि लक्षणम् ।’

और इस पक्ति से भी—

‘एवं माधुर्योऽजं प्रसादा एव त्रयो गणा उपपन्ना भामहाभिप्रायेण । ते च प्रतिपन्नास्वादमया मुख्यतया तत आस्वाद्ये उपचारिता रसे ततस्तद्व्यञ्जकयोः शब्दार्थयोरिति तात्पर्यम् ।’

( ध्वन्यालोक लोचन २य उद्योत )  
अर्थात् वस्तुतः माधुर्यादि तीनों गुण सहृदय सामाजिक के आस्वादरूप हैं । इन्हें रसगुण कहने में उपचार का आश्रय लिया गया है और उपचार से ही इन्हें शब्द और अर्थ के भी गुण कहा जा सकता है जैसा कि कहा भी गया है ।

अनुवाद—प्राचीन आलङ्कारिकों ( जैसे कि आचार्य वामन आदि ) के द्वारा, शब्द-गुण के रूप में गिनाये गये ‘श्लेष’, ‘समाधि’, ‘औदार्य’, और ‘प्रसाद’ गुण कोई अतिरिक्त गुण-तत्त्व नहीं अपितु ‘ओज’ में ही अन्तर्भूत दिखायी देते हैं ।

यहां ‘श्लेष’ आदि के ‘ओज’ में अन्तर्भूत होने का अभिप्राय वस्तुतः ‘ओज’ पद की उपादानलक्षणा-द्वारा लक्षित ओजोमय शब्द-धर्म अथवा बन्धगाढत्व में अन्तर्भूत होने का अभिप्राय है ।

जैसे कि वामनादि सम्मत ‘श्लेष’रूप शब्दगुण, जो कि अनेकों पदों के ऐसे बन्ध का नाम है जिसमें वे एक पद की भाँति सश्लिष्ट प्रतीत हुआ करते हैं और जिसे निम्न सूक्ति जैसे कि—

‘कानों के परदों को फाड़ ढालनेवाली किंवा ऊपर उठते हुए भीमकाय गजाकार तरङ्गों के निरन्तर सवेग आस्फालन से विकट लगने वाले समस्त पर्वत-कदरागर्भ को प्रतिध्वनित करने वाली यह घोर ध्वनि ऐसी उठ रही है जिससे यही पता चलता है जैसे

अथ बन्धबैकल्यात्मकत्वाद्योज एव ।

समाधिरारोहावरोहकर्मः । आरोह उत्कर्षः, अवरोहोऽपकर्षः, तयोः क्रमो वैरस्यवानावहो विन्यासः । यथा—‘पञ्चब्रह्मसूत्र’ इत्यादि । अत्र पादत्रये क्रमेण बन्धस्य गाढता । अतुल्यपादे स्वपकर्षः । तस्यापि च तीव्रप्रयत्नोक्त्यामयस्य श्लोकास्मिता ।

उच्चारण विच्छेदस्वस्रक्षणा । विच्छेदस्व पदानां न्युत्पत्त्यायत्वम् ।

यथा—

‘सुपरणमिमिधितैर्नृपुरैर्नैवकीनां मृणिति रणितमासीत्तत्र चित्रं कृतं च ।’

अत्र च तन्मठानुसारेण रसानुसंधानमन्तरेणैव शब्दप्रौढोक्तिमात्रेणैव । प्रसादं श्लोकमिमिधितैर्विख्याता ।

यथा—

‘यो यः शब्दं विमर्ति स्वमुज्जुगुह्यमात् पाण्डवीनां यमूनाम्’ इति ।

इतस्तुतः कदापमान अस्तस्य शब्दों से शुभ-बन्ध कमाने वाले समुद्र की प्रलयकाशीय अकरासि उमक पड़ी हो ।

इत्यादि में स्पष्ट देखा जा सकता है, वस्तुतः विच्छेद गुणकल्प ‘श्लोक’ के व्यतिरिक्त और कोई कल्प-तत्त्व नहीं ।

इसी प्रकार समाधि-कल्प सम्बन्ध, जिस बन्ध का क्रमिक आरोह और अवरोह (उत्तरावरोह) रूप कहा गया है—और बन्ध के क्रमिक आरोह और अवरोह का क्रमिमात्र उसके आरोह अवरोह उत्कर्ष और अवरोह अवरोह अपकर्ष (बन्धगाढत्व और बन्ध-वैविध्य) के ऐसे क्रम अवरोह विन्यास का क्रमिमात्र है जिससे समाधि-कल्प रूप में वरस्य (नीरसता) का संसार नहीं हुआ करता और जिसे पञ्चब्रह्मसूत्रमिति आदि सृष्टि द्वारा उद्घाटित किया गया है जिसके तीन चरणों में बन्ध-व्यवस्था से और चतुर्थ चरण में बन्ध-वैविध्य होने पर भी तीव्र प्रयत्न से उच्चारण करने वाले के कारण श्लोकमयता स्पष्ट है, वह भी वस्तुतः श्लोक में ही अन्तर्भूत है ।

इसी प्रकार ‘श्रीद्वार्य’कल्प सम्बन्ध, जिसे पदों का विच्छेद अवरोह न्युत्पत्त्यायत्व कहा गया है और जिसे इस सृष्टि कहा—

‘नर्तकी के सुन्दर चरणों में विन्यस्त नूपुरों से देखी छनछनाहट पैदा की जो मिठास से मरी और सर्वत्र विस्मयजनक प्रतीत हुई ।

के आधार पर समझाया गया है वह भी ‘श्लोक’ से ही गतार्थ है । ऐसे तो यहाँ नीरस के अभाव में ‘श्लोक’ नहीं हो सकता किन्तु, वामन के मत का अनुसरण करते हुए, रस के अनुसंधान के बिना ही केवल गाढबन्धता के दैवते इस सृष्टि को भी श्लोकमयता मान लेने में कोई आपत्ति नहीं ( क्योंकि वहाँ एकमात्र तत्पर्य श्रीद्वार्य अवरोह विच्छेदबन्धता का श्लोक में अन्तर्भाव है ) ।

इसी प्रकार ‘प्रसाद’ नामक सम्बन्ध, जिसका स्वकल्प श्लोक अवरोह बन्धगाढत्व से संमिश्र बन्ध-वैविध्य का श्लोकार्थ है और जिसे—‘यो यः शब्दं विमर्ति स्वमुज्जुगुह्यमात् पाण्डवीनां यमूनाम्’ आदि पूर्णोक्त वृत्तिसंहारसृष्टि द्वारा उद्घाटित किया जाया करता है, वस्तुतः ‘श्लोक’ में ही अन्तर्भूत है ।

( प्राचीन-अलङ्कारशास्त्र-सम्मत 'पृथक्पदत्व'रूप माधुर्य का 'माधुर्य' गुण में अन्तर्भाव )  
 माधुर्यव्यञ्जकत्वं यदसमासस्य दर्शितम् ॥ १० ॥  
 पृथक्पदत्वं माधुर्यं तेनैवाङ्गीकृतं पुनः ।

यथा—

'श्वासान्मुञ्चति' इत्यादि ।

( प्राचीन-अलङ्कारशास्त्र-सम्मत अर्थव्यक्ति का 'प्रसाद' में अन्तर्भाव )

अर्थव्यक्तेः प्रसादाख्यगुणेनैव परिग्रहः ॥ ११ ॥

अर्थव्यक्तिः पदानां हि ऋटित्यर्थसमर्पणम् ।

स्पष्टमुदाहरणम् ।

विमर्श—'श्लेष' की परिभाषा यह है—

'शब्दानां भिन्नानामप्येकत्वप्रतिमानप्रयोजकं संहितयैकजातीयवर्गाविन्यासविशेषो गाढत्वापरपर्यायः श्लेषः ।'

'समाधि'—लक्षण—

'बन्धगाढत्वशिथिलत्वयोः क्रमेणावस्थापनं समाधिः ।'

'औदार्य'—स्वरूप—

'कठिनवर्णघटनारूपविकटत्वलक्षणोदारता ।'

'प्रसाद'—

'गाढत्वशैथिल्याभ्यां व्युत्क्रमेण मिश्रणं प्रसादः ।'

अनुवाद—प्राचीन आलङ्कारिक-सम्मत 'माधुर्य' को भी, जिसे 'पृथक्पदत्व' कहा गया है, उस रसधर्मभूत 'माधुर्य' में अन्तर्भूत मानना उचित है जिसकी अभिव्यक्ति असमस्त पदरचना द्वारा हुआ करती है ।

जैसे कि—'श्वासान् मुञ्चति' आदि पूर्वोदाहृत सूक्ति में जो 'पृथक्पदत्व'रूप माधुर्य है उसे असमस्त पदरचना द्वारा अभिव्यङ्ग्य 'माधुर्य' का ही निदर्शन माना जा सकता है ।

विमर्श—आचार्य वामन ने 'माधुर्य'रूप शब्दगुण का यह लक्षण किया है—

'पृथक्पदत्वं माधुर्यम्' बन्धस्य पृथक्पदत्वं यत्तन्माधुर्यम् ।  
 समासदैर्व्यनिवृत्तिपरञ्चैतत् ।

( काव्यालङ्कारसूत्र ३: १०, २० )

अनुवाद—इसी प्रकार प्राचीन आलङ्कारिकों का 'अर्थव्यक्ति' नामक शब्दगुण, जिसका स्वरूप पदों का अनायास अर्थबोधन है, 'प्रसाद' गुण द्वारा ही गतार्थ समझना चाहिये ।

विमर्श—'अर्थव्यक्ति' का यह लक्षण है—

'क्षगिति प्रतीयमानार्थान्वयकत्वमर्थव्यक्तिः ।'

उदाहरण के लिये यह सूक्ति—

'नितरा परुषा सरोजमाला न मृणालानि विचारपेशलानि ।  
 यदि कोमलता तवाङ्गकानामथ का नाम क्थाऽपि पल्लवानाम् ॥'

( रसगङ्गाधर १म आनन )

( प्राचीन-अकङ्कारसाक्ष-सम्मत 'कान्ति' तथा 'सुकुमारता' : हास्यप्राणरूप )

ग्राम्यदुःश्रवतात्यागास्तस्मान्तिष्ठ सुकुमारता ॥ १२ ॥

अगीकृतेति सम्बन्धः । तस्य हासिकाविषयविन्यासवैपरीत्येनालोचिकरो-  
भारास्तिस्वम् । सुकुमारता अपाठन्यम् अनयोरुदाहरणे स्पष्टे ।

( प्राचीन-अकङ्कारसाक्ष-सम्मत 'समता' : गुणवचन में अन्तर्भाव )

कचिदोपस्तु समता मार्गामेदस्वरूपिणी ।

अन्ययोक्तगुणेष्वस्या अन्तःपातो यथायथम् ॥ १३ ॥

मत्स्येन विकटेन वा मार्गेणोपक्रान्तस्य सन्दर्भस्य तेनैव परिनिष्ठानं मार्ग-  
मेदः । स च कचिदुपोपः ।

तथाहि—

'अभ्युदात्तमरूपपाणिबठराभोगं च विभ्रदगु'

पारीन्द्र' शिष्टोरेप पाणिपुटके सम्मातु किं वायता ।

तद्यत्तुर्धरगन्धसिन्धुररातप्रोद्गमवानार्जव-

श्रोतः शोषणरोपणासुनरितः कल्पाग्निरक्षायते ॥'

वृत्तवाच—प्राचीन अकङ्कारसाक्ष में वर्णित 'कान्ति' और 'सुकुमारता' नामक जो दो  
सम्बन्ध हैं वे क्रमशः 'ग्राम्यत्व' और 'दुःश्रवण' दोषों के परिहाररूप ही हैं ।

यहाँ 'ग्राम्यदुःश्रवतात्यागास्तस्मान्तिष्ठ सुकुमारता' आदि कारिका में 'तेनैवाङ्गीकृतं  
गुणः' आदि कारिका से विमर्शविपरिणाम के द्वारा 'अङ्गीकृता पद अन्वयित समता  
वाहिप' । 'कान्ति' गुण वस्तुतः हासिक ( हरबाजे ) प्रवृत्ति लोगों के पद-प्रयोग से विकल्प  
पद-प्रयोग में रहा करता है । अग्राम्य-पद-प्रयोग में एक अलौकिक सौन्दर्य होने के कारण  
कान्ति की कल्पना की गयी है । 'सुकुमारता' का अभिप्राय वचन का अपाठन्य अथवा  
'निष्ठुर' अक्षरों से राक्षित्य है । इन दोनों के उदाहरण यहाँ अपेक्षित नहीं क्योंकि वे स्वयं  
देखे जा सकते हैं ।

वृत्तवाच—प्राचीन अकङ्कारिणी द्वारा स्वीकृत 'समता' नामक सम्बन्ध जिससे 'मार्गा  
मेदः' अथवा उपक्रम और उपसंहार में वचन का एकैक्य कहा जाया करता है, वस्तुतः  
तो गुण होने के बड़े वचन-वच 'रोप' सा ही प्रतीय होता है और यदि कहीं गुण सा भी  
क्या करता है तो उपर्युक्त प्राचीन-अकङ्कारसाक्ष-सम्मत गुणों में ही वचासंभव अन्तर्भूत  
विज्ञापी विधा करता है ।

यहाँ 'मार्गामेदः' का तात्पर्य मरण ( मातृवाधापक ) अथवा विकट ( ओजोव्यञ्जक )  
वचन के रूप में रचित सन्दर्भ का उसी प्रकार से समापन है । किन्तु इस प्रकार का  
सन्दर्भ-समापन कहीं-कहीं रोप भी हो जाता है । जैसे कि—

'महा' इससे क्या होता है कि एक सिंह-नायक, जिसके अङ्ग पुर नहीं और न जिसके  
हाथ पैर पैर आदि ही पूर्वकथेय ससक्त हैं किसी के हाथों में जा जाय ? अरे, जब कि  
इसके श्लोक में यह प्रति जाती है जिससे सैकड़ों मजोमसत गजराजों के महसमुद्र की  
तुमुक तरङ्गें छूटने लगती हैं, तब पता चलता है कि कल्पलत की अग्नि भी इसके आगे  
उज नहीं है ।'

अत्रोद्धतेऽर्थे वाच्ये सुकुमारबन्धत्यागो गुण एव । अनेवविधस्थाने माधुर्या-  
दावेवान्तःपातः ।

यथा—

‘लताकुञ्ज गुञ्जन्-’ इत्यादि ।

( प्राचीन-अलंकारशास्त्र-सम्मत अर्थगुण . गुणत्रय में अन्तर्भाव )

ओजः प्रसादो माधुर्यं सौकुमार्यमृदारता ।

तदभावस्य दोषत्वात्स्वीकृता अर्थगा गुणाः ॥ १४ ॥

ओजः साभिप्रायत्वरूपम् । प्रसादोऽर्थवैमल्यम् । माधुर्यमुक्तिवैचित्र्यम् ।  
सौकुमार्यमपारुण्यम् । उदारता अग्राम्यत्वम् । एषां पञ्चानामप्यर्थगुणानां यथा-  
क्रममपुष्टार्थाधिकपदानवीकृतमङ्गलरूपाश्लीलग्राम्याणां निराकरणेनैवागीकारः ।  
स्पष्टान्युदाहरणानि ।

अर्थव्यक्तिः स्वभावोक्त्यालङ्कारेण तथा पुनः ।

रसध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्यानां कान्तिनामकः ॥ १५ ॥

आदि सन्दर्भ के तृतीय चरण में जहाँ वाच्य अथवा वर्णनीय विषय औद्धत्यपूर्ण है, प्रथम  
और द्वितीय चरणों के प्रक्रान्त सुकुमारबन्ध का निर्वाह दोष ही होता गुण नहीं । और  
वस्तुतः इसीलिये यहाँ कवि ने इसे छोड़कर विकटबन्ध का आश्रय लिया है ।

इससे भिन्न प्रकार के प्रसङ्गों में, यदि प्रक्रान्त मार्ग का निर्वाह अथवा ‘समता’ गुण  
हो तब उसे कहीं ( ललितबन्ध के देखते ) माधुर्य में अथवा कहीं ( उद्धतबन्ध के देखते )  
ओज में अन्तर्भूत मानना ही युक्तियुक्त है । जैसे कि यदि ‘लताकुञ्ज गुञ्जन्’ आदि सूक्ति  
गण’ ललितबन्ध से अभिव्यङ्ग्य ‘माधुर्य’ के अतिरिक्त और कोई वस्तु नहीं ।

अनुवाद—इसी प्रकार, प्राचीन आलंकारिकों ( जैसे कि आचार्य वामन आदि ) द्वारा  
मान्य ‘ओज’, ‘प्रसाद’, ‘माधुर्य’, ‘सौकुमार्य’ और ‘औदार्य’ नामक जो अर्थ-गुण हैं,  
वे भी, इन गुणों के अभावरूप दोष के परिहार के अतिरिक्त और कोई गुण-तत्त्व नहीं ।

प्राचीन आलंकारिकों ने ‘ओज’ से पदों की अभिप्राय-गर्भता, ‘प्रसाद’ से अर्थ-  
निर्मलता, ‘माधुर्य’ से उक्ति-विचित्रता, ‘सौकुमार्य’ से अपरूपता और ‘औदार्य’ से अग्रा-  
म्यता का अभिप्राय लिया है । अब ये पाँच अर्थ-गुण ऐसे हैं जिन्हें गुण मानने के बदले  
‘ओज’ ‘अपुष्टार्थत्व’ का अभाव प्रसाद, ‘अधिकपदत्व’ का परित्याग माधुर्य, ‘अनवीकृतत्व’  
का परिहार सौकुमार्य, ‘अमङ्गलव्यञ्जक अश्लीलत्व’ का वर्जन और ‘औदार्य’ ‘ग्राम्यत्व’  
का निराकरण है । इन अर्थ-गुणों अथवा वस्तुतः दोष-परिहारों के उदाहरण यत्र तत्र  
स्वयं देखे जा सकते हैं ।

इसी भाति, प्राचीन आलंकारिक-सम्मत ‘अर्थव्यक्ति’ नामक जो गुण है वह भी वस्तुतः  
अर्थगुण नहीं अपितु स्वभावोक्ति अलंकार का एक स्वरूप-विशेष है । और जिसे ‘कान्ति’  
नामक अर्थ-गुण कहा गया है उसे तो रस की मुख्य अभिव्यक्ति अथवा गुणीभूत  
अभिव्यक्ति में, निःसदिग्धरूप से अन्तर्भूत मानना ही उचित है ।



अङ्गीकृत इति सम्बन्धः । अर्थव्यक्तिवस्तुस्वभावस्तुष्टत्वम् । अन्विष्टवर्ति  
रसत्वम् । स्पष्टे उदाहरणे ।

श्लेषो विचित्रतामात्रमदोषः समता परम् ।

श्लेषः क्रमकौटिल्यानुस्मरणसोपपत्तियोगरूपघटनात्मा । यत्र क्रमः क्रिया  
सन्ततिः, विरूपचेष्टित कौटिल्यम्, अप्रसिद्धवर्णनाविरहोऽनुस्मरणत्वम्, उपपाद  
क्युक्तिविन्यास उपपत्तिः, एषां योगः सम्मेलन स एव रूपं यस्या घटनाया-  
स्तद्रूपः श्लेषो वैचित्र्यमात्रम् । अनन्यसाधारणरसोपकारित्वातिशयविरहा  
इति भावः ।

यथा—

‘दृष्ट्वैकसनसंस्थिते प्रियतमे—’ इत्यादि ।

अत्र दर्शनादयः क्रियाः, समयसमर्थनरूपं कौटिल्यम्, श्लोकसंख्यबहाररूप-  
मनुस्मरणत्वम्, ‘एकासनसंस्थिते’, ‘पद्मादुपेत्य’, ‘भयने पिबाम’, ‘ईपदक्रिष्ट

वहाँ, ‘अर्थव्यक्ति’ ‘कान्तिनामकः ॥ अग्नि कारिका में पूर्वकारिका से विभक्ति-  
विपरिणाम द्वारा, ‘अङ्गीकृता’ (‘स्वीकृता’) का अन्वयाहार है । ‘अर्थव्यक्ति’ का अन्विष्टत्व  
‘वस्तुस्वभाव की स्तुष्टता’ का अन्विष्टत्व है और रस की प्रतीति अथवा स्तुष्ट अन्विष्टत्व  
का जो नाम है वह ‘कान्ति’ है ।

वहाँ ‘अर्थव्यक्ति’ ( वस्तुता स्वभावोक्ति ) और ‘कान्ति’ ( रस की स्तुष्ट प्रतीति ) के  
उदाहरण नहीं दिये जा रहे हैं क्योंकि ये स्वयं देखे जा सकते हैं ।

इसी प्रकार प्राचीन-अङ्ककलात्मक-सम्मत ‘श्लेष’ नामक अर्थ-गुण कोई गुण नहीं  
अपितु एक बन्ध-वैचित्र्य मात्र है । और जिसे ‘समता’ नामक अर्थ-गुण कहा गया है वह  
दोपामात्र के अतिरिक्त कोई और तत्त्व नहीं ।

‘श्लेष’ क्या है ? ‘श्लेष’ है—एक ऐसी धरवा अथवा रचना जिसमें ‘क्रम’ और  
‘कौटिल्य’ क्रिया ‘मनुस्मरणत्व’ और ‘उपपत्ति’ का समुचित मेल रहा कर ।

यहाँ ‘क्रम’ का अन्विष्टत्व क्रियासंज्ञति अथवा क्रिया-परम्परा का अन्विष्टत्व है, ‘कौटिल्य’  
वस्तुता विरूपचेष्टा का नाम है । ‘मनुस्मरणत्व’ में अप्रसिद्ध वर्णन के विरह का अन्विष्टत्व  
अन्तर्गम है, ‘उपपत्ति’ से उपपादक युक्तियों के विन्यास का तात्पर्य किया गया है—और  
‘श्लेष’ उस रचना को कहा गया है जिसका रूप ‘क्रम-कौटिल्य-मनुस्मरणत्व-उपपत्ति’ का  
योग अथवा सम्मेलन का रूप है । यह ‘श्लेष’ जन्तुसंगत्या एक प्रकार का बन्ध-वैचित्र्य  
सा ही सिद्ध होता है । इसे ‘गुण’ कहना निरर्थक है क्योंकि गुण तो वह है जो अधिक से  
अधिक अवलम्ब सामान्यरूप से रस का उपकार किया करता है । बन्ध-वैचित्र्य से रसा-  
त्कर्ष का क्या सम्बन्ध ? उदाहरण के लिए—

‘दृष्ट्वैकसनसंस्थिते प्रियतमे’

इत्यादि सूक्ति में ‘श्लेष’ अथवा बन्ध-वैचित्र्य है क्योंकि वहाँ ‘वर्तन’ ‘नववर्णनाय’  
अग्नि क्रिया-सन्ततिरूप ‘क्रम’ कौटिल्य और कविता-आपिकाधी के सुस्मरण तथा नवन-  
विधान द्वारा अनुराग में ‘कौटिल्य’ इस प्रकार के धरव के लोकप्रवाहनात्मक होने में  
‘मनुस्मरणत्व’ और ‘एकासन पर संस्थिति’ पीढ़े से पहुँचने ‘अन्विष्टत्व’ के लक्ष्य  
‘गर्भ’ के विरहो दृष्टान्तों आदि की उपपत्ति अथवा उपपादकता के परस्पर सम्मेलन का

कन्धर' इति चोपपादकानि, एषां योग'। अनेन च वाच्योपपत्तिग्रहणव्यग्रतया रसस्वादो व्यवहितप्राय इत्यस्यागुणता ।

समता च प्रक्रान्तप्रकृतिप्रत्ययाविपर्यासेनार्थस्य विसवादिताविच्छेदः । स च प्रक्रमभङ्गरूपविरह एव ।

स्पष्टमुदाहरणम् ।

न गुणत्वं समाधेश्च—

समाधिश्चायोन्यन्यच्छायायोनिरूपद्विविधार्थदृष्टिरूपः । तत्रायोनिरर्थो यथा—  
'सद्योमुण्डितमत्तहूणचिबुकप्रस्पर्धि नारङ्गकम् ।

अन्यच्छायायोनिर्यथा—

'निजनयनप्रतिबिम्बैरस्तुनि बहुशः प्रतारिता काऽपि ।

नीलोत्पलेऽपि विमृशति करमर्पयितु कुसुमलावी ॥'

अत्र नीलोत्पलनयनयोरतिप्रसिद्ध सादृश्यं विच्छित्तिविशेषेण निबद्धम् ।

सौन्दर्यं स्पष्ट झलक रहा है । किन्तु यह सब रस का उपकारक नहीं अपितु व्यवधायक ही है क्योंकि जब कि सहृदय सामाजिक का मन यहाँ के वर्ण्य विषय की उपपत्ति और युक्ति में व्यग्र रहे, जैसा कि उसके लिये स्वाभाविक है, तो रसभावादि की प्रतीति तो व्यवहित-प्राय हो ही गयी । अन्ततोगत्वा यही कहा जा सकता है कि 'श्लेष' गुण नहीं अपितु रचनावैचित्र्यमात्र है जो कि सर्वत्र रसानुगुण नहीं हुआ करता ।

इसी प्रकार प्राचीन-अलङ्कारशास्त्र सम्मत 'समता' नामक अर्थगुण, जिसे, उपक्रम और उपसहार-दोनों में समान प्रकृति और प्रत्यय के प्रयोग द्वारा वर्ण्यवस्तु में विसंवादित और विषमता की प्रतीति का निराकरण रूप माना जाया करता है, गुण नहीं अपितु 'भग्नप्रक्रमत्व' रूप दोष का अभावमात्र है । इसका उदाहरण भी नहीं दिया जा रहा है क्योंकि यह स्वयं स्पष्ट है ।

इसी प्रकार 'समाधि' नामक अर्थगुण को भी गुण मानना अनुचित है । यह 'समाधि' काव्यार्थ और 'अन्यच्छायायोनि' अर्थात् कवि-परम्परा-प्रसिद्ध काव्यार्थ के आधार पर पुनः परिकल्पित पूर्ववर्णितच्छाया काव्यार्थ—दोनों प्रकार के काव्यविषयक अर्थों का दर्शन । जैसे कि 'अयोनि' अथवा त्वद्विवैभव से उपकल्पित काव्यार्थ के दर्शन में 'समाधि'—

'यह नारङ्गी का फल ऐसा लग रहा है जैसे अभी अभी मुण्डित, किसी मदनोन्मत्त यवन की ठुड़ी हो ।'

इसी प्रकार 'अन्यच्छायायोनि' अथवा कवि परम्परा-प्रसिद्ध काव्यार्थ के आधार पर पुनः परिकल्पित काव्यार्थ के दर्शन में 'समाधि'—

'कोई मालिन पानी में पड़ते अपने नेत्र के प्रतिबिम्ब से उगी सी होकर, नील कमल के तोड़ने में भी सोच-विचार करती दिखायी दे रही है ।'

यहाँ 'निजनयन' आदि सूक्ति में 'अन्यच्छायायोनि' रूप अर्थ-दर्शन का अभिप्राय है—कविपरम्परा से ही नीलकमल और नयन का सादृश्य सिद्ध चला आ रहा है किन्तु यहाँ कवि ने इस प्रसिद्ध सादृश्य रूप अर्थ में, अपनी कल्पना से एक और ही विचित्रता

अस्य आसाधारणशोमानाघातस्यात्र गुणत्वम्, किन्तु काव्यशरीरमात्र निर्णेतव्यम् ।

कश्चित् 'चन्द्रम्' इत्येकस्मिन् पदार्थे वक्तव्ये 'अत्रेर्नयनसमुत्थ ज्योतिः' इति वाक्यवचनम् । कश्चित् 'निवाधरीतलहिमकालोष्णसुकुमारशरीरावयवा योषित्' इति वाक्यार्थे वक्तव्ये 'वरधर्णिनी' इति पदामिधानम् । कश्चिदेकस्य वाक्यार्थस्य द्विविधिशेषनिवेशादनैषाक्यैरभिधानमित्येवंरूपो व्यासः । कश्चिद् बहुधाक्यप्रतिपाद्यस्यैकवाक्येनाभिधानमित्येवंरूपः समासश्च, इत्येवमादीनामन्यैरुपानां न गुणत्वमुचितम्, अपि तु वैविध्यमात्रावहत्यम् ।

—तेन नार्थगुणाः पृथक् ॥ १६ ॥

तेनोक्तप्रकारेण । अर्थगुणा ओजःप्रभृतयः प्रोक्ताः ।

इति साहित्यवर्णने गुणविवेचनो नामाष्टमः परिक्रमेदः ।

का आशय कर दिया है जिससे यह प्रसिद्ध वाक्यार्थ नहीं सा बन रहा है । किन्तु यह सब अर्थवर्तक रूप 'समासि' गुण नहीं क्योंकि इससे रस का कोई अन्तर्गतसामान्य उपकार नहीं हो रहा है । यह 'समासि' तो वस्तुतः यहाँ के सर्वात्मक काव्यशरीर के विष्पादन से ही सबब है । रस-सौन्दर्य के उद्भास से इसका क्या सम्बन्ध ?

इसी प्रकार प्राचीन आक्षेपकारिकों द्वारा साम्य ओज के चार भेद ( क्योंकि पाँचवें भेद को पहले ही 'अपुष्टार्थक रूप बोध का अभावमात्र सिद्ध किया जा चुका है ) गुण नहीं अपि तु वैविध्यमात्र ही है । जैसे कि, पदार्थ में वाक्प्रचला रूप ओज जिसे 'कम्प' इस एक पदार्थ के बड़े 'अत्रेर्नयनसमुत्थ ज्योतिः' ( रघुवंश १. ७५ ) इस वाक्प्रचला में देखा जा सकता है वाक्प्रार्थ में प्रचलनाक्य 'ओज' को कि 'निवाधरीतल हिमकालोष्ण सुकुमारशरीरावयवा योषित्' ( गरमी में छीतल और सर्दियों में ठण्ड तथा सुकुमार नहीं बाकी थी ) इस वाक्प्रार्थ के बड़े 'वरधर्णिनी' इस प्रचलन में स्पष्ट है 'व्यासक्य ओज' जिसे एक वाक्प्रार्थ के बड़े द्विविधमात्र विशेषाधारपूर्वक, अनेक वाक्प्रार्थ की रचना में देखा जाया करता है और 'समास' रूप ओज को कि अनेक वाक्प्रार्थ के बड़े एक वाक्य में विषय-प्रतिपादन का अभिप्राय रखता है और इसी मति अन्व आचार्यों द्वारा गुण रूप से साम्य अन्वाम्य वैशिष्ट्य, वस्तुतः 'गुण' नहीं अपितु वैविध्याधारक मात्र ही माने जा सकते हैं क्योंकि रस का इससे क्या सम्बन्ध ?

इस विचार-विमर्श से यही सिद्ध होता है कि प्राचीन-आक्षेपकारिक-सम्मत अर्थगुण मातृप्रादि गुणत्रय के अतिरिक्त कोई अन्य कल्प-तत्त्व नहीं ।

यहाँ करिका में 'तेन' का अभिप्राय 'उक्तप्रकारेण' ( उपर्युक्त विचारप्रति से देखते हुए ) का अभिप्राय है और 'अर्थगुण' का तात्पर्य ओज आदि ( आचार्य वामन तथा मौञ्जरत्न-प्रतिपादित ) गुणों का तात्पर्य है जिसका प्रतिपादन किया जा चुका है ।

विमर्श—( क ) यहाँ साहित्यवर्णनकार में, आचार्य मम्मट की अर्थगुण-समीक्षा के बावजूद, अर्थगुणों की गुणत्रय में अन्तर्भूत सिद्ध किया है । प्राचीन आक्षेपकारिक-सम्मत अर्थगुण रस के

धर्म अथवा स्वरूपविशेष नहीं और इसलिये इन्हें गुण मानना निरर्थक है—यह सिद्धान्त वस्तुतः एक समीचीन सिद्धान्त है ।

(ख) दस अर्थगुणों में 'ओज' का यह स्वरूप है—

‘एकस्य पदार्थस्य बहुभि पदैरभिधानम्, बहूनां चैकेन, तथैकस्य वाक्यार्थस्य बहुभिर्वाक्यैर्बहुवाक्यार्थस्यैकवाक्येनाभिधानम्, विशेषणानां साभिप्रायत्वञ्चेति पञ्चविधमोजः ।’  
(रसगङ्गाधर)

जिसमें ‘पदार्थ में वाक्यरचना’, ‘वाक्यार्थ में ‘पदाभिधान’, ‘व्यास’ और ‘समास’ रूप चतुर्विध प्रौढिप्रतिपादनवैचित्र्य के अतिरिक्त और कोई गुण तत्त्व नहीं । जैसे कि ‘पदार्थ में वाक्यरचना’—

‘सरसिजवनबन्धुश्रीसमारम्भकाले रजनिरमणराज्यं नाशमाशु प्रयाति ।

परमपुरुषवक्त्राद्बुद्धरातानां नराणां मधु मधुरगिरां च प्रादुरासीद् विनोदः ॥’

यहाँ यह स्पष्ट है कि ‘उप काल में’ इस एक पदार्थ के स्थान पर—‘सरसिजवनबन्धुश्रीसमारम्भकाले’ यह वाक्यरचना की गयी है जिसमें ‘प्रौढि’ तो अवश्य है किन्तु रसोच्चास सामर्थ्य नहीं ।

इसी प्रकार वाक्यार्थ में पदाभिधान’—

‘खण्डितानेककञ्जालिमञ्जुरञ्जनपण्डिताः ।

मण्डिताखिलदिक्प्रान्ताक्षण्डांशोर्भान्ति भानवः ॥’

यहाँ ‘यस्या पराङ्गनागेहात् पति प्रातरुहेऽञ्जति’ इस वाक्यार्थ के स्थान पर ‘खण्डिता’ इस एक पद के प्रयोगस्वारस्य में ‘प्रौढि’ अवश्य है किन्तु यह ‘प्रौढि’ कोई रसधर्म नहीं अपितु उक्ति-वैचित्र्य मात्र है ।

इसी प्रकार ‘व्यास अथवा विस्तीर्ण वचन’—

‘अयाचित सुख दत्ते याचितश्च न यच्छति ।

सर्वस्व चापि हरते विधिरुच्छृङ्खलो नृणाम् ॥’

यहाँ ‘सर्व दैवाधीनम्’ इस एक वाक्यार्थ के स्थान पर अनेकों वाक्यों की रचना में ‘व्यास’ रूप प्रौढि है जो कि प्रतिपादनवैचित्र्य के अतिरिक्त और कोई काव्य-तत्त्व नहीं ।

इसी प्रकार ‘समास’ अथवा सक्षिप्त वचन—

‘तपस्यतो मुनेर्वक्त्राद्देवार्थमधिगत्य स ।

वासुदेवनिविष्टात्मा विवेश परम पदम् ॥’

यहाँ ‘मुनिस्तपस्यति, तद्वक्त्रात् स वेदार्थमधिगतवान्, तदनन्तरं वासुदेवे परब्रह्मणि मन प्रावेशयत्, ततश्च मुक्तोऽभूत्’ इत्यादि वाक्यार्थसमूह के स्थान पर एक वाक्यार्थ की योजना में ‘प्रौढि’ का स्वरूप स्पष्ट है । किन्तु यह भी प्रतिपादनवैचित्र्यमात्र ही है, रसधर्मरूप गुण नहीं ।

साहित्यदर्पण आठवाँ परिच्छेद समाप्त



# नवम परिच्छेद

( काव्य में रीति-तत्त्व : स्वरूप और उपयोग )

अथोद्देशाक्रमप्राप्तमङ्गलरनिरूपणं बहुवचन्यत्वेनोक्ताह्वय रीतिमाह—

पदसंघटना रीतिरङ्गसंस्थाविशेषपथः ।

उपकृष्टी रसादीनां—

रसादीनामर्थोऽङ्गव्यावर्तरीरस्य काव्यस्यारम्भतानाम् ।

( रीतिभेद : वैदर्भी, गौडी पाञ्चाळी तथा कासी )

—सा पुनः स्यात्तुर्विधा ॥ १ ॥

वैदर्भी चाथ गौडी च पाञ्चाळी लाटिका तथा ।

अनुवाद—जब काव्य में रीति-तत्त्व क्या है ? इसका विचार-विमर्श किया जा रहा है । अङ्गहार का निकपथ बाद में किया जायगा । जैसे तो 'रीति'-निकर्षण के पहले, जैसे की 'उत्कर्षितता' प्रोक्ष गुणाङ्गतरनीयः इस काव्यतत्त्व के अन्तर्गत से सिद्ध है, अङ्गहार का ही निकपथ आत्मरचक या किन्तु इस विषय के विस्तृत होने के कारण इसे बाद में ही प्रस्तुत करना उचित है ।

'रीति' क्या है ?

रीति अङ्ग-रचना की भाँति पद-रचना अथवा पद-संघटना है जो कि रसनावाहि की अभिव्यक्तता में सहायक हुआ करती है ।

यहाँ काटिका में 'रसादीनाम्' का अन्विष्टाव 'अङ्गव्यावर्तरीरस्य काव्य के आरम्भतानाम्' का अन्विष्टाव है ।

विमर्श—साहित्यपञ्चकार के अनुसार 'रीति' और 'संघटना' एक ही वस्तु है । 'रीति' अथवा 'संघटना' रस की अभिव्यक्ति का निमित्त है और इसीलिए साहित्यदर्पणकार ने इसे रसनावाहि की उपकृष्टी माना है । काव्यप्रकाशकार ने रीतिगत पर कोई विशेष प्रकाश नहीं दिया था क्योंकि प्राचीन कविनामी व्यासदी की दृष्टि में 'रुचि' और 'रीति' का रस के संघटनानुसारेण के अतिरिक्त और कुछ नहीं था । उपनिषद् का स्पष्ट कथन है—

'वर्णसंघटनायमार्गं यं महापुरुषायस्तेऽपि प्रतीयन्ते । तन्मतिरिच्छन्त्यस्यो वृत्तयोऽपि यम कैश्चिदुपलभ्यन्ति । प्रकाशिता, ता अपि गताः प्रवर्णमोचरम् । रीतयश्च वैदर्भीप्रभृतयः ।' और अचनकार की भी इस सम्बन्ध में वही समीक्षा है—

'रीतयश्चेति—तन्मतिरिच्छन्त्यस्योऽपि यताः प्रवर्णमोचरमिति संवन्धाः । तच्छब्देनात्र मातृपादयो गुणाः, तेषां च समुचितवृत्तपथे पद्यम्याम्यमेकपद्यमत्तल पानक इव गुण मरिचादिरसाणां संघटनकृतमामर्षं बीजककृतमम्यमर्षबीजपथिपथ गौडीय-वैदर्भी-पाञ्चाळ-देशादेशाक्यापुर्ण्यता तद्वैय विविध रीतिरिच्छुक्तम् । ( अम्बाजीक तथा कीकन १५ प्रबोध ) किन्तु साहित्यदर्पणकार 'रीति' को न छोड़ सके । संवन्धः सङ्घट और भोजन के प्रमाण में पदकार साहित्यदर्पणकार ने 'रीति' और 'काव्य' के उपपन्नोपपन्नकमात्र-सम्बन्ध पर बह लक्ष्य कर दिया है ।

अनुवाद—रीति चार प्रकार की है—( १ ) वैदर्भी ( २ ) गौडी ( ३ ) पाञ्चाळी और ( ४ ) कासी ।

सा रीतिः ।

( वैदर्भी सोदाहरण स्वरूप-निरूपण )

तत्र—

माधुर्यव्यञ्जकैर्वर्णै रचना ललितात्मिका ॥ २ ॥

अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा वैदर्भी रीतिरिष्यते ।

यथा—

‘अनङ्गमङ्गलभुवः—’ इत्यादि ।

यहाँ कारिका में ‘सा’ का अभिप्राय ‘रीति’ का अभिप्राय है ।

विमर्श—रीतिचतुष्टय में ‘वैदर्भी’ और ‘गौडी’ की मान्यता भामह और दण्डी से भी प्राचीन है । दण्डी की यह उक्ति—

‘इति मार्गद्वय भिन्न तत्स्वरूपनिरूपणात् । तद्भेदास्तु न शक्यन्ते वक्तुं प्रतिकविस्थिताः ॥  
इच्छुक्षीरगुडादीना माधुर्यस्यान्तरं महत् । तथापि न तदाख्यातुं सरस्वत्यापि पार्यते ॥’  
( काव्यादर्श १. १०१-१०२ )

‘वैदर्भी’ और ‘गौडी’ मार्गों ( वैदर्भी और गौडी रीतियों ) के स्वरूप विवेक को अलङ्कार-शास्त्र की समीक्षा की एक बहुत बड़ी कसौटी सी मानती है । रीतिवाद के प्रवर्तक आचार्य वामन ‘पाञ्चाली’ रीति के प्रथम प्रवर्तक हैं । वैदर्भी, गौडी और पाञ्चाली के अतिरिक्त ‘लाटी’ अथवा ‘लाटीया’ को, चौथी रीति के रूप में स्वीकार करनेवाले सर्वप्रथम आचार्य रुद्रट हैं । इस प्रकार साहित्यदर्पणकार ने कई शताब्दियों में प्रवर्तित रीति-चतुष्टय तत्त्व को काव्य के एक तत्त्वरूप में स्वीकार किया है । रीति-चतुष्टय की मान्यता में साहित्यदर्पणकार का अभिप्राय वस्तुतः यही है कि ‘जब काव्य रसात्मक वाक्य है तो ‘रीति’ इसकी एक विशेषता अवश्य है’ । ‘भावप्रकाशन’कार कि इन पक्तियों में, जिन्होंने साहित्यदर्पणकार की काव्य-समीक्षा को पर्याप्त रूप से प्रभावित किया है, ‘रीतिचतुष्टय’ का यह संकेत ध्यान देने योग्य है—

‘प्रतिवचनं प्रतिपुरुषं तदवान्तरजातित् प्रतिप्रीति ।

आनन्त्यात् सक्षिप्य प्रोक्ता कविभिश्चतुर्धैव ॥

त एवाक्षरविन्यासास्ता एवाक्षरपक्तयः ।

पुंसि पुंसि विशेषेण कापि कापि सरस्वती ॥’

( भावप्रकाशन, पृष्ठ ११-१२ )

अनुवाद—इस रीतिचतुष्टय में—

‘वैदर्भी’ वह रीति है जिसे माधुर्य के अभिव्यञ्जक वर्णों से पूर्ण, असमस्त अथवा स्वरूप समासयुक्त ललित रचना कहा गया है ।

जैसे कि—

‘अनङ्गमङ्गलभुव’ आदि पूर्वोद्धृत रचना ।

विमर्श—‘वैदर्भी’ के सम्बन्ध में महाकवि श्रीहर्ष की यह सूक्ति बड़ी सुन्दर है—

‘धन्यासि वैदर्भि गुणैरुदारैर्यया समाकृष्यत नैपधोऽपि ।

इत स्तुतिं का खलु चन्द्रिकाया यद्विधमप्युत्तरलीकरोति ॥’

( नैपधोयचरित ३. ११६ )

( आचार्य छद्म-सम्मत वैदर्भी-स्वरूप : निर्देश )

उद्धृतस्त्वाह—

असमस्तैकसमस्ता युक्त्य दशमिर्गुणैश्च वैदर्भी ।  
दर्शद्वितीयबहुला स्वरूपप्राणाक्षरा च मुयिषेया ॥

अत्र दशगुणास्तन्ममोक्ता रक्षेयावयव ।

( गौडीरीति : सोदाहरण स्वरूप-निर्देश )

ओजःप्रकाशकैर्वर्णैर्बन्ध आढम्बरः पुनः ॥ ३ ॥

समासबहुला गौडी—

यथा—

‘अञ्जदुसुम्’ इत्यादि ।

( आलङ्कारिक पुरुषोत्तम-सम्मत गौडी-स्वरूप : संकेत )

पुरुषोत्तमस्त्वाह—

महाकवि विष्णु की यह वैदर्भी-शुक्लाभा की ध्यान देने योग्य है—

‘अनञ्जदुष्टिः अचञ्जामृतस्य सरस्वतीविभ्रमजन्मसूक्तिः ।

वैदर्भीरीतिः कृतिनामुदेति सीमान्यकामप्रतिभू पदानाम् ॥

( विक्रमादित्यविरचित १. ९ )

अनुवाद—‘वैदर्भी’ के सम्बन्ध में ( अलङ्कारकार के रचयिता ) आचार्य छद्म का यह मत है—

‘वैदर्भी रीति अचञ्ज कठिण-पद्-रचना इस प्रकार की हुमा करती है जिसमें समस्त पदावली का प्रयोग नहीं हुमा करता, जहाँ एक जाय पद समस्त हो जाय तो कोई शक्ति नहीं जिसमें रक्षेपादि वसीं शब्दगुण विराजमान रहा करते हैं जिसमें द्वितीय वर्ग अर्थात् चर्चा के वर्णों का बाहुल्य सुन्दर लगा करता है और जिसमें ऐसे वर्ण रहा करते हैं जोकि स्वरूप प्रथम से उच्चरित हो सकते हैं ।

जहाँ ‘पुष्पा दशमिर्गुणैश्च’ में दस गुणों का अभिप्राय आचार्य छद्म-सम्मत ‘रक्षे’ ( अर्थात् दस शब्दगुणों का अभिप्राय है ।

अनुवाद—‘गौडी’ यह रीति है जिसे ओज गुण के अभिव्यञ्जक वर्णों से पूर्ण समस्त-प्रभुर, उद्धृत रचना कहा गया है ।

जैसे कि—

‘अञ्जदुसुम्भित आदि पूर्वोद्धृत रचना ।

विमर्श—रीतिवाद के प्रवर्तक आचार्य नामन के अनुसार गौडी रीति का स्वरूप यह है—

‘समस्तासुसदपदामोञ्जकप्रतिगुणाम्पिताम् ।

गौडीचामिति नात्यमिति रीति रीतिविषयताम् ॥’ ( आलङ्कारमूत्र )

जिसमें यह स्पष्ट है कि वैदर्भी और गौडी परस्पर विषम रचनाय की रीतियाँ अचञ्ज पर रचनायें हैं ।

अनुवाद—‘गौडी’ के सम्बन्ध में आलङ्कारिक पुरुषोत्तम का यह मत है—

‘बहुतरसमासयुक्ता सुमहाप्राणाक्षरा च गौडीया ।  
रीतिरनुप्रासमहिमपरतन्त्रा स्तोकवाक्या च ॥’

( पाञ्चाली रीति : सोदाहरण स्वरूप-निरूपण )

—वर्णैः शेषैः पुनर्द्वयोः ।

समस्तपञ्चषपदो बन्धः पाञ्चालिका मता ॥ ४ ॥

द्वयोर्वैदर्भीगौड्योः ।

यथा—

‘मधुरया मधुबोधितमाधवीमधुसमृद्धिसमेधितमेधया ।  
मधुकराङ्गनया मुहुरुन्मदध्वनिभृता निभृताक्षरमुज्जगे ॥’

( भोजराज सम्मत पाञ्चाली-स्वरूप )

भोजस्त्वाह—

‘समस्तपञ्चषपदामोजःकान्तिसमन्विताम् ।  
मधुरां सुकुमारा च पाञ्चालीं कवयो विदुः ॥’

( लाटी रीति : सोदाहरण स्वरूप विवेक )

लाटी तु रीतिर्वैदर्भीपाञ्चाल्योरन्तर स्थिता ।

‘गौडी रीति ऐसी हुआ करती है जिसमें समासबाहुल्य रहा करता है, जिसमें ऐसे वर्णों का प्राचुर्य हुआ करता है जो कि महाप्राण (जैसे कि वर्ग के द्वितीय और चतुर्थ वर्ण) कहे जाया करते हैं, जिसमें अनुप्रास-वैशिष्ट्य आवश्यक है और जिसमें (समास-बाहुल्य के कारण) वाक्यों का प्रयोग कम हुआ करता है ।

अनुवाद—‘पाञ्चाली’ वह रीति है जिसे माधुर्य और ओज के अभिव्यञ्जक वर्णों को छोड़कर अन्य अवशिष्ट वर्णों अर्थात् प्रसाद के अभिव्यञ्जक वर्णों से ऐसी पदरचना कहा गया है जिसमें पाँच या छ पदों के समासों से बड़े समासों का प्रयोग नहीं हुआ करता ।

यहाँ कारिका में ‘द्वयो’ का अभिप्राय वैदर्भी और गौडी रीतिओं का अभिप्राय है ।

जैसे कि (महाकवि माघ के शिशुपालवध की यह सूक्ति)—

‘वसन्त के कारण विकसित वासन्ती की मकरन्द-सपदा से बढ़ी-चढ़ी स्वरमाधुरी वाली स्वतः मधुरकण्ठी किंवा उत्तरोत्तर उन्मादकता में बढ़ती ध्वनि वाली अमरी ने बढ़ी मीठी गुञ्जार प्रारम्भ कर दी ।’

यहाँ ‘पाञ्चाली’ रीति अथवा प्रसन्न वर्णों की पदरचना का सौन्दर्य दर्शनीय है ।

अनुवाद—‘पाञ्चाली’ के सम्बन्ध में आलंकारिक भोजराज का यह मत है—

‘पाञ्चाली रीति वह रीति है जिसमें पाँच या छ पदों से अधिक पद वाले समास नहीं प्रयुक्त किये जाया करते, जिसमें ओज और कान्ति के गुण विराजमान रहा करते हैं और जो कि माधुर्य के अभिव्यञ्जक किंवा कोमल वर्णों से पूर्ण पदरचना हुआ करती है ।’

अनुवाद—‘लाटी’ वह रीति है जिसमें वैदर्भी और पाञ्चाली—दोनों रीतिओं की विशेषताएँ विराजमान रहा करती हैं ।



यथा—

‘अयमुपयति मुद्रामखन पद्मिनीनामुद्यगिरिषनालीषालमन्वारपुष्पम् ।  
विरहविधुरकोकदन्तुष भुविभिन्दन् कुपितकपिकपोलकोडताम्रस्तमांसि ॥’

(( अथ काव्याचार्य-सम्मत छाटी-स्वरूप ))

कविदाह—

‘मृदुपदसमासमुभगा युक्तैर्बर्जेनैवातिमूषिष्ठ ।  
छवितमिशेषपूरितवस्तुन्यासा भवेन्नाटी ॥’

(( अथ आलंकारिक-सम्मत रीति-चतुष्टय-स्वरूप ))

अन्ये त्वाहु—

‘गौडी चम्बरचक्रा स्याद्देवर्मी छलितकमा ।  
पाञ्चाली मिममावेन छाटी तु मृदुमि पदै ॥’  
( रचना के विधानक )

कचित्तु वक्त्रार्थावित्यादन्यथा रचनादयः ॥ ५ ॥

जैसे कि—

‘कमलवन को विकसित करने वाला उदवाचक पर्वत की वनवीथिका का वनविकसित  
सम्भारपुष्प विरहविधुर चक्रमाक के लोके का एकमात्र वाग्धर किंवा कुपित कपि के  
कपाल की सौंति रक्तवध यह सूर्य अँधेरे का उन्मुख करते हुए उदय हो रहा है ।

विमर्श—अथर्व शब्द के अनुसार ‘गौडी-पाञ्चाली-कयी’ का स्वरूप विवेक यह है—

‘पाञ्चाली छाटीया गौडीया चेति नामतोऽभिहितान् ।

कद्रुमप्यावतविरचनसमासमेवाभिमास्तथ ॥

द्वित्रपदा पाञ्चाली कयीया पञ्च सप्त वा पाचय ।

अथ्वा समासवन्तो भवति वनासक्ति गौडीया ॥

( आलंकार २ ४५ )

अनुवाद—किसी काव्याचार्य के मत में ‘काटी’ का स्वरूप यह है—

‘काटी रीति ऐसी हुआ करती है जिसमें कोमल पर्वों के समास का सौम्य बेलने  
सौम्य हुआ करता है जिसमें संयुक्त वर्णों का प्रयोग स्वरूपमात्र में ही हुआ करता है और  
जिसमें प्रकृतोपयुक्त विशेषणों से समीप वर्ण वस्तु की एक अपभ्रंश ही सदा विरक्त  
करती है ।

अनुवाद—कतिपय काव्याचार्यों ने रीति-चतुष्टय का यह संहित स्वरूप बताया है—

‘देवर्मी रीति का अभिप्राय ‘मनुरचम्य’ ‘गौडी’ रीति का अभिप्राय ‘उद्भूतचम्य’  
‘पाञ्चाली रीति का अभिप्राय ‘मिथचम्य’ और ‘काटी रीति का अभिप्राय ‘मृदुचम्य’ का  
अभिप्राय है ।

विमर्श—रीति-चतुष्टय का यह उपर्युक्त संहित विवेक ‘रीति’ और ‘व/य’ ( लंघना )  
के अन्तर का एक सुन्दर विमर्श है । काव्य साहित्य के पाठ्य ‘र’ ‘व’ चतुर्विध अन्वय से एक  
कर है ।

अनुवाद—काव्य साहित्य में रीति अथवा पदरचना के उपर्युक्त मिश्रण का अपवाद  
भी दृष्टिगत होता है जिसके कारण वक्त्राश्रित काव्याश्रित आदि आदि हैं ।

वक्त्रादीत्यादिशब्दाद्वाच्यप्रबन्धौ । रचनादीत्यादिशब्दाद् वृत्तिवर्णौ । तत्र वक्त्रौचित्याद्यथा—

‘मन्थायस्तार्णवाम्भःप्लुतकुहरचलन्मन्दरध्वानधीर’

कोणाघातेषु गर्जत्प्रलयघनघटान्योन्यसङ्घट्टचण्ड ।

कृष्णाक्रोधाग्रदूतः कुरुकुलनिधनोत्पातनिर्घातवातः

केनास्मत्सिंहनादप्रतिरसितसखो दुन्दुभिस्ताडितोऽयम् ॥

अत्र वाच्यक्रोधाद्य (न) भिन्यञ्जकत्वेऽपि भीमसेनवक्त्रत्वेनोद्धृता रचनादयः । वाच्यौचित्याद्यथोदाहृते ‘मूर्धव्याधूयमान—’ इत्यादौ । प्रबन्धौचित्याद्यथा नाटकादौ रौद्रेऽप्यभिनयप्रतिकूलत्वेन न दीर्घसमासादयः । एवमाख्यायिकायां शृङ्गारेऽपि न मसृणवर्णादयः । कथाया रौद्रेऽपि नात्यन्तमुद्धृताः । एवमन्यदपि ज्ञेयम् ।

इति साहित्यदर्पणे रीतिविवेचनो नाम नवमः परिच्छेदः ।



यहाँ करिका में ‘वक्त्राद्यौचित्यात्’ में जो ‘आदि’ पद प्रयुक्त है उससे वाच्य और प्रबन्ध के औचित्यों का ग्रहण किया गया है । साथ ही साथ ‘रचनादयः’ में प्रयुक्त ‘आदि’ शब्द वृत्ति अर्थात् समास और वर्णों के अन्यथाभाव अथवा वैपरीत्य के सूचनार्थ है ।

जैसे कि वक्त्रौचित्य से रचनादि का अन्यथाभाव—

‘मन्थन के कारण विघ्नोद्य पारावार के जलसघात से भरी कन्दराओंवाले मन्दराचल के घोर निध्वान के समान गम्भीर, नक्कारों के चलने के समय, गर्जना करनेवाले प्रलय-कालीन मेघसघात के परस्पर सघर्षण के प्रचण्ड नाद के समान भयङ्कर, द्रौपदी के क्रोध के ससूचक, कुरुवंश के विनाश के सूचक, उत्पातरूप निर्घात वात के समान भीषण और हमारे सिंहनाद के प्रतिध्वान की भाँति भयानक यह रणदुन्दुभि-निध्वान कहाँ से प्रारम्भ हो गया ?’

यहाँ (वेणीसहार की इस सूक्ति में) क्रोधादि दीप्त रसों की अभिन्यञ्जकता का प्रश्न न होने पर भी, क्योंकि यहाँ जो वर्ण्य वस्तु है वह सहदेव के प्रति भीम की जिज्ञासा मात्र है, रचना, वृत्ति और वर्णों का अन्यथाभाव स्पष्ट है । इस अन्यथाभाव अथवा रचनादि विपर्यय का कारण वक्ता भीमसेन के उद्धृत व्यक्तित्व के औचित्य का अनुसरण है ।

इसी प्रकार वाच्यौचित्य के कारण रचनादिविपर्यय—

जैसे कि ‘मूर्धव्याधूयमान’ आदि पूर्वोद्धृत ताण्डव वर्णन-सूक्ति ।

प्रबन्धौचित्य के कारण रचनादिविपर्यय का दर्शन वहाँ हुआ करता है जहाँ नाटकादि-प्रबन्ध में, रौद्ररस के प्रसङ्ग में भी, अभिनय की दृष्टि से, लम्बे-लम्बे समास आदि का प्रयोग नहीं किया जाता करता । प्रबन्धौचित्य की रचना-नियामकता वहाँ भी स्पष्ट है जहाँ आख्यायिका-प्रबन्ध में, शृङ्गार रस के प्रसङ्ग में भी, मृदुल वर्ण इत्यादि का अभाव दिखायी दिया करता है । इसी प्रकार कथा प्रबन्ध में, रौद्र रस के प्रसङ्ग में भी, उद्धत बन्ध का परिहार प्रबन्धौचित्य की रचना-नियामकता का ही निदर्शन है । इसी भाँति अन्यान्य प्रबन्धों के औचित्य के कारण जो रचनादि विपर्यय हुआ करता है वह स्वयं देखा जा सकता है ।

विमर्श—वाचस्पत्यसंस्कार में तो 'शुणामया संवदना' के अपवाह-रूप में 'वाचस्पत्य' आदि का निर्देश किया है किन्तु साहित्यदर्पणकार के अनुसार 'वाचस्पत्य' आदि 'टीसि' के अपवाह-रूप हैं।

रचना के निबन्धनों में 'रसोपिख' का स्थान सर्वोपरि है। ऐसा ही ध्वनिधर का लक्ष्य बन है—

रसबन्धोच्छ्रयीचित्त्वं भाति सर्वत्र संभिता ।

एवमा विषयापेक्षं तच्च किञ्चित् विभेदयत् ॥

(अन्वयार्थः १९)

जहाँ-तहाँ 'विचित्रोक्ति' के कारण रचना में जो वैचित्र्य संभव है वह वस्तुतः 'रसोक्ति' का ही एक अवान्तरवैशिष्ट्य है।

एतौचित्य के बाद 'वस्तौचित्य' का स्थान है। 'वस्तौचित्य' को एवना-निबामकता के सम्बन्ध में ध्वनिस्वर का वह विशेषण ध्यान देने योग्य है—

‘तत्र यथा कविः कविनिबद्धो वा कविनिबद्धश्चापि रसमावरितो रसभावसमन्वितो वा । तत्र यदा कविरपगतः रसमात्रो यथा तदा रचनायाः काम्यत्वं । यदापि कविनिबद्धो यथा रसमावरितस्तदा स पद्यम् । यदा तु कविः कविनिबद्धो वा यथा रसभावसमन्वितो रसस्य प्रघातप्रभितत्वात् ध्वन्यात्मभूतस्तदा नियमेनैव तत्रासमाप्त-  
मन्यमसमाप्तौ पद्यं संबध्यते’—( ध्वन्यालोकः । टीकायां लघुतः )

अर्थात् वक्ता के व्यक्तित्व के कारण रचना-निबन्धन में सर्वप्रथम यह दिखता है कि 'वक्ता' का अभिप्राय 'कवि' और 'कविप्रतिष्ठोत्थापित परिठ' दोनों का है। यहाँ कवि जबका कविनिष्ठ परिठ रसभावविशेषाश्रय्य हैं वहाँ कोई भी रचना सम्भव है किन्तु यदि कवि जवका कविनिष्ठ परिठ रसभावसमन्वित है तो रचना का 'असम्भवात्ता' जबका 'सम्भवसमाप्ता' होना अभिव्यक्त है।

एकना का तीसरा निबानक 'वाष्पीभित्' है। 'वाष्पीभित्' का अविमोह वह है—

‘वाष्पं च ध्वम्पश्चरसाङ्गं रसामासाङ्गं वा, जमिवेषार्थमनमिवेषार्थं वा, उत्तम-  
प्रकृत्यान्वयं तद्विचाराद्यं वेति ब्रह्मप्रकारः । ( जम्बाज्जैः एतत् उच्येत )

चतुर्थ एवमनिवामक 'विषयोचित्य' अवस्था प्रवर्तनीयित्व है जेम्हा कि ध्वनिस्वर का यह स्थल है—

विषयाप्रयत्नमप्यन्वयैवित्यं तां निषेधति । अन्वयप्रमेयाप्रयत्नः स्थिता मेवमतीति सा ॥

बद्धबाधवर्गातीति च सावधि विषयाध्ययनसम्बन्धीति संघटना विद्यन्ति । यदा  
काव्यस्य प्रमेदा मुख्यं संस्कृत-माह्व्यापन्नविषयम् । संघटितकविसेपक-कथापक-  
कथावि । पर्यायवर्ग्या, परिकथा कथकथासककथ्ये, सर्गवर्ग्योऽभिलेखार्थमाध्यायिका-  
कथ्ये इत्येवमाह्वयः । उदाहरणेणापि संघटना विसेपवती भवति ।

( अथर्वशास्त्रे ३ : सुनील उद्योत )

जिसे डीबनधर ने इस प्रकार स्पष्ट किया है—

विषयसममिति—विषयकक्षेत्रेण संप्रत्यक्षेण उक्तं । यथा हि सेनाद्यत्मकसंप्रत्यक्षेण निबन्धी पुरुषा कालरोपि तदीक्षित्वाद्बुधगुणतयैवास्ते तथा काम्यबाधकमपि । संप्रत्यक्षेण प्रथमकसम्बाधितकाम्यमप्यविशिष्टं तदीक्षित्येन वर्तते । अपिघट्यैवेदमाह—सत्यपि वस्तुबाध्म्योक्षित्ये विषयौचित्यं केवलं साहसम्पदेदमाश्रयात् न तु विषयौचित्येन वस्तुबाध्म्योचित्यं विचार्यत इति ॥ ( भन्वारीकलीलन एवावश्येति )

साहित्यदर्पण मर्तो परिच्छेद समाप्त



## दशमः परिच्छेदः

( काव्य में अलङ्कार-तत्त्व : स्वरूप और उपयोगिता )

अथावसरप्राप्तानलङ्कारानाह—

शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिनः ।

रसादीनुपकुर्वन्तोऽलङ्कारास्तेऽङ्गदादिवत् ॥ १ ॥

यथा अङ्गदादयः शरीरशोभातिशायिनः शरीरिणमुपकुर्वन्ति, तथानुप्रासोपमादयः शब्दार्थशोभातिशायिनो रसादेरुपकारका । अलङ्कारा अस्थिरा इति नैषां गुणवदावश्यकी स्थितिः ।

अनुवाद—अब ( काव्य के दोष, गुण और रीति-तत्त्व के निरूपण के बाद ) जो अवशिष्ट काव्य-तत्त्व हैं अर्थात् 'अलङ्कार', उनका निरूपण किया जा रहा है—

'अलङ्कार' शब्द और अर्थ के उन अस्थिर धर्मों को कहा करते हैं जो (मानव के शरीर की शोभा के बढ़ानेवाले) 'अङ्गद' ( वाज्रवन्द ) आदि अलङ्कारों की भाँति ( काव्य के शरीरभूत ) शब्द और अर्थ की शोभा बढ़ाया करते हैं और ( अन्ततोगत्वा ) ( काव्य के आत्मभूत ) रस भाव के अभिव्यञ्जन में सहायक हुआ करते हैं ।

तात्पर्य यह है कि जैसे अङ्गद ( वाज्रवन्द ) आदि आभूषण मनुष्य-शरीर के सौन्दर्य की अभिवृद्धि करते हुए मनुष्य के व्यक्तित्व के प्रकाशन में सहायता पहुँचाया करते हैं वैसे ही 'अनुप्रास' और 'उपमा' आदि 'अलङ्कार' ( काव्य के शरीरभूत ) शब्द और अर्थ के सौन्दर्य की अभिवृद्धि करते हुए ( काव्य के आत्मतत्त्व ) रस-भाव के प्रकाशन में सहायता पहुँचाया करते हैं । अलङ्कारों को 'शब्द और अर्थ के अस्थिर धर्म' कहने का अभिप्राय यह है कि काव्य में इनकी स्थिति गुणों की भाँति आवश्यक अथवा अनिवार्य नहीं हुआ करती ।

विमर्श—ध्वनिवादा अलङ्कारिक अलङ्कारों को काव्य के 'अस्थिर धर्म' के रूप में मानते हैं । इस मान्यता की मूल भावना ध्वनिकार की यह उक्ति है—

विवक्षा तत्परत्वेन नाङ्गित्वेन कदाचन । काले च ग्रहणत्यागौ नातिनिर्वहणैपिता ॥

निर्व्यूढावपि चाङ्गत्वे यत्नेन प्रत्यवेक्षणम् । रूपकादेरलङ्कारवर्जस्याङ्गत्वसाधनम् ॥

जिसमें यह स्पष्ट है कि रसरूप अङ्गी की दृष्टि से ही अलङ्कारों का ग्रहण-परित्याग, निर्वाह-अनिर्वाह आदि संभव हैं । और अलङ्कारों का ग्रहण-परित्याग, निर्वाह-काव्य के अस्थिर धर्म अथवा आगमापायी वैशिष्ट्य हैं ।

काव्य में अलङ्कारों की उपयोगिता काव्य के वाच्यवाचक रूप अङ्गों की शोभावर्धकता के ही कारण है जैसा कि लोचनकार ने स्पष्ट कहा है—

'वाच्यवाचकलक्षणान्यङ्गानि ये पुन ( अवलम्बन्ते ) तदाश्रितास्तेऽलङ्कारा मन्तव्याः कटकादिवत् ।' ( ध्वन्यालोकलोचन २.६ )

यहां बात काव्यप्रकाशकार की इस उक्ति का भी रहस्य है—

'उपकुर्वन्ति त सन्त येऽङ्गद्वारेण जातुचित् । हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः ॥'

(साम्प्रदायिकः १ पुनरुक्तवदामास)

शब्दाययो प्रथम शब्दस्य युक्तिविषयत्वाच्छब्दालङ्कारेषु बलभ्येषु शब्दा-  
यालङ्कारस्यापि पुनरुक्तवदामासस्य धिरन्तर्नै शब्दालङ्कारमभ्ये लभितव्यात्प्र-  
थम सनेवाह—

आपाततो यदर्थस्य पौनरुक्त्येन मासनम् ।

पुनरुक्तवदामासः स मित्राकारशब्दगः ॥ २ ॥

वदाहरणम्—

‘मुञ्जङ्गुण्डली क्यच्छरारिगुम्भाशुशीतगु’ ।

अगन्त्यपि सदापायाद्व्याप्येतोहर शिव ॥’

अत्र मुञ्जङ्गुण्डल्याविशानामापातमात्रेण सपाद्यतया पौनरुक्त्यप्रति-  
भासनम् । पर्यवसानं तु मुञ्जरूपं कुण्डलं विद्यते यस्येत्याद्यन्याय्यम् । ‘पाया-  
द्व्यात्’ इत्यत्र क्रियागतोऽयमलङ्कारः, ‘पायात्’ इत्यस्य ‘अपायात्’ इत्यत्र  
पर्यवसानात् ।

‘य बाध्य-बाधक-कमाङ्गादिपाद्यमुनेन मुक्तरम्य संमविनमुपकुर्वन्ति ते कण्ठ-  
ज्ञानामुन्मेषाणामुद्गारेण शरीरिणोऽप्युपचारका दाराद्वय इवालङ्काराः । यत्र तु नास्ति रस-  
वत्प्रतीतिरैकित्यमात्रपर्यवसायिनः । कश्चित् सगुणमपि नोपकुर्वन्ति । (सम्प्रदाय ६१०)

साहित्यदर्पणकार को यह अलङ्कारकार सर्वथा यह है किन्तु ‘उपकुर्वन्ति’ का अर्थ गुण-  
लङ्कारादिपाद्य, उपलब्धत्वं ॥ १) आदि यदि मैं एक लक्ष में हूँ, गुण के साथ अलङ्कारों  
का समर्थन वह उपलब्ध-योग्य यदि मैं बनाया गया होगा तो क्या ही अच्छा होना

अनुसार—यद्यपि यहाँ पहले साम्प्रदायिकों का ही विवेचन उचित है क्योंकि शब्द  
और अर्थरूप गुणलक्षण में शब्द ही ही उपस्थिति पहले हुआ करती है किन्तु यहाँ  
पर्यवसान शब्द और अर्थ-बाधों के अलङ्कार ‘पुनरुक्तवदामास’ का निरूपण हमलिये  
किया जा रहा है क्योंकि प्राचीन साहित्यिक इस साम्प्रदायिकों ही अन्तर्भूत मान चुके हैं।

‘पुनरुक्तवदामास’—

‘पुनरुक्तवदामास’ यह अलङ्कार है जिसमें अर्थ (यद्यपि तो नहीं किन्तु) आशयना  
पुनरुक्तवत् अर्थ न हुआ करता है और शब्द भिन्न आकार अथवा स्वरूप न हुआ करते हैं।

और कि—‘मुञ्जङ्गुण्डली’ शब्द में मुञ्जङ्गुण्डल में शरीरों को धारण करनेवाले, ‘रस-  
वत्प्रतीतिगुणलक्षणम्’ (समस्त पर) शब्दार्थों परमाणु ‘शक्ति’ अथवा बल-विद्यते  
गुण विद्यमान किन्तु शक्ति हीन अथवा अशक्तता में विद्यमान ‘अनादर’ शिव के  
अनुरोधन अनादरालङ्कार ‘अगन्त्यपि सदापायाद्व्याप्येतोहर शिव’ शब्द का अर्थ अनादर  
अथवा शिव-बाधों में अनादर रहा करे।

यहाँ ‘पुनरुक्तवदामास’ है क्योंकि आशयना मुञ्जङ्गुण्डली और ‘शक्ति-प्रतीति-  
गुणलक्षणम्’ अर्थ शब्द अर्थ अथवा अशक्त अर्थ न ही अशक्तवत् होने में पुनरुक्त  
में अर्थ न ही रहे है। यह तो अर्थ में होगा है कि इन शब्दों के भिन्न भिन्न अर्थ और कि  
‘मुञ्जङ्गुण्डली’ अर्थ है ‘मुञ्जङ्गुण्डल’ शब्दों विद्यते शिव’ (मुञ्जङ्गुण्डल पुनरुक्तवत्)  
अर्थ अर्थ शब्द न ही रहे है। यहाँ ‘अनादर’ में विद्यावत् शब्द शरीरों के अनादर

‘भुजङ्गकुण्डली’ इति शब्दयोः प्रथमस्यैव परिवृत्तिसहत्वम् । ‘हरः शिव’ इति द्वितीयस्यैव । ‘शशिशुभ्राशु’ इति द्वयोरपि । ‘भाति सदानत्यागः’ इति न द्वयोरपि । इति शब्दपरिवृत्तिसहत्वासहत्वाभ्यामस्योभयालङ्कारत्वम् ।

( २—अनुप्रास भेद—प्रभेद—निर्देश )

अनुप्रासः शब्दसाम्यं वैषम्येऽपि स्वरस्य यत् ।

स्वरमात्रसादृश्यं तु वैचित्र्याभावान्न गणितम् । रसाद्यनुगतत्वेन प्रकर्षेण न्यासोऽनुप्रासः ।

( प्रथम भेद : छेकानुप्रास )

छेको व्यञ्जनसङ्घस्य सकृत्साम्यमनेकधा ॥ ३ ॥

पौनरुक्त्य में भी यही अलङ्कार दिखायी देता है क्योंकि अन्त में ‘सदापायादव्यात्’ का अभिप्राय ‘सदाऽपायात् विष्णात् अच्यात्’ निकल पड़ता है ।

यहाँ ‘भुजङ्गकुण्डली’ इन दो शब्दों में पहला अर्थात्, ‘भुजङ्ग’ शब्द ही परिवृत्तिसह शब्द है ( अर्थात् इसे बदल देने पर भी इस अलङ्कार में कोई छति नहीं हो सकती ) और ‘हरः शिव’ में दूसरा अर्थात् ‘शिव’ शब्द ही बदला जा सकता है ( किन्तु तब भी यह अलङ्कार अक्षुण्ण ही रहेगा ) ।

काव्यप्रकाशकार द्वारा उदाहृत इस सूक्ति अर्थात्—

‘अरिवधदेहशरीर सहसारथिसूततुरगपादात् ।

भाति सदानत्यागः स्थिरतायामवनितलतिलक ॥’

में ‘भाति सदानत्याग’ में दान और त्याग—दोनों शब्द ऐसे हैं जिनका पर्याय द्वारा परिवर्तन नहीं किया जा सकता क्योंकि ऐसा करने से यहाँ इस अलङ्कार के ही नष्ट-भ्रष्ट हो जाने का डर है । इस प्रकार यह स्पष्ट है कि यह अलङ्कार शब्द और अर्थ—दोनों का अलङ्कार है—शब्द का अलङ्कार इसलिये क्योंकि कहीं शब्द की परिवृत्ति में यह अलङ्कार नष्ट हो जाता है और अर्थ का अलङ्कार इसलिये क्योंकि कहीं शब्द की परिवृत्ति से भी इस अलङ्कार का स्वरूप नहीं विगड़ता ( जैसा कि उपर्युक्त उदाहरण से स्पष्ट ही है ) ।

विमर्श—‘पुनरुक्तवदाभास’ से शब्दालङ्कार—वर्णन क प्रारम्भ की परिपाटी प्राचीन है । साहित्यदर्पणकार ने भी प्राचीन आलङ्कारिकाँ भी परम्परा का अनुसरण किया है । यहाँ भी ‘काव्यप्रकाशकार’ की एक प्रकार से आलोचना ही का गयी है ।

अनुवाद—‘अनुप्रास’ वह शब्दालङ्कार है जिसे स्वर के वैसादृश्य में भी, शब्द अथवा व्यञ्जन का सादृश्य कहा गया है ।

स्वरमात्र के सादृश्य में ‘अनुप्रास’ इसलिये नहीं माना जाया करता क्योंकि स्वर—सादृश्य में कोई विचित्रता नहीं प्रतीत हुआ करती । ‘अनुप्रास’ को इसलिये अनुप्रास कहा करते हैं क्योंकि यह रसभावादि के अनुकूल एक ‘प्रकृष्ट’ अथवा चमत्कारपूर्ण शब्द—न्यास ( अनु + प्र + आस ) अथवा शब्दावृत्तिरूप अलङ्कार हुआ करता है ।

विमर्श—साहित्यदर्पणकार ने ‘शब्दसाम्य’ को अनुप्रास की रूपरेखा कहा है जब कि काव्य-प्रकाशकार के अनुसार अनुप्रास का अभिप्राय ‘वर्णसाम्य’ है—वर्णसाम्यमनुप्रास ।

( काव्यप्रकाश ९म उल्लास )

अनुवाद—अनुप्रास का प्रथम भेद अर्थात् ‘छेकानुप्रास’ वह है जिसे व्यञ्जन समुदाय के सकृत् अथवा एक बार होनेवाले अनेक प्रकार के साम्य में देखा जाया करता है ।

छेकछेकानुप्रास'। अनेकथेति स्वरूपतः क्रमवत् । रस' सर इत्यादेः क्रमभेदेन सादृश्य नास्थासङ्कारस्य विषयः ।

उदाहरण मम सातपावानाम्—

‘आवाय बहुलगन्धान् भीकुर्म्यं पवे पवे भ्रमराम् ।

अयमेति मन्वमम् कावेरीवारिपावनं पवन ॥’

अत्र गन्धान् भीतिसमुत्थोः, कावेरीवारीत्यसमुत्थोः, पावनं पवन इति व्यञ्जनानां बहूनां सकृदावृत्तिः । छेकौ विदग्धस्तत्प्रयोग्यत्वादेव छेकानुप्रासः ।

( रस भेदः । वृत्त्यनुप्रासः )

अनेकस्यैकधा साम्यमसकृदाप्यनेकधा ।

एकस्य सकृदप्येव वृत्त्यनुप्रास उच्यते ॥ ४ ॥

एकया स्वरूपतः एव, न तु क्रमतोऽपि । अनेकधा स्वरूपतः क्रमवत् । सकृदपीत्यपि शब्दावसकृदपि ।

उदाहरणम्—

‘तस्मीतिन्मधुगन्धालुन्धमधुपठ्याभूतभूताङ्कुर

कीडत्कोकिलकाकलीकलकलैरुद्गीर्णैर्कर्मज्वरा ।

यहाँ कारिका में ‘छेक’ का अभिप्राय छेकानुप्रास का अभिप्राय है ‘अनेकधा’ (साम्य) का तात्पर्य स्वरूपतः साम्य और क्रमतः साम्य का तात्पर्य है । यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि ‘रसः सरः’ आदि यहाँ में क्रमभेद से जो व्यञ्जनसादृश्य है उसमें ‘छेकानुप्रास’ की कोई संभावना नहीं ।

जैसे कि मेरे पूज्य विचारण की इस सूक्ति का ‘छेकानुप्रास’—

कावेरी के अक-संस्पर्ध से पावन पवन मन्व-मन्व गति से चल रही है और बहुत की सुरमि से सुरमित बना पग-पग पर भ्रमरी को मस्त बना रहा है ।

यहाँ ‘गन्धान्भीकुर्म्यं’ में संयुक्त ‘म्’ ‘कावेरीवारि’ में असंयुक्त ‘वर’ और ‘पावन’ पवन में अनेक असंयुक्त व्यञ्जनों ( ए-व-न ) की दो एक बार आवृत्ति है उसमें ‘छेक’ अथवा विदग्ध कवि द्वारा प्रयुक्त इस अनुप्रास अर्थात् ‘छेकानुप्रास’ की छटा बहुत दृष्टनीय है ।

अनुवाद—द्वितीय अनुप्रास—भेद अर्थात् वृत्त्यनुप्रास वह संख्याङ्कुर है जिसे अनेक व्यञ्जनों की एक प्रकार की ( अर्थात् स्वरूपतः ) समानता अथवा अनेक व्यञ्जनों की अनेक बार ( स्वरूपतः और क्रमतः ) आवृत्ति या एक वर्ण की एक बार किंवा अनेक बार आवृत्ति कहा करते हैं ।

यहाँ कारिका में ‘एकधा’ (साम्य) का तात्पर्य केवल स्वरूपतः (साम्य) का तात्पर्य है क्रमतः (साम्य) का नहीं । ‘अनेकधा’ (साम्य) का अभिप्राय स्वरूप और क्रम—दोनों प्रकार के साम्य का अभिप्राय है और ‘सकृदपि’ में ‘अपि’ सम्बन्ध के प्रयोग से ‘असकृत्’ (अनेक बार) का भी अर्थ संगृहीत किया गया है ।

उदाहरण के लिये—

‘वसन्तः पशुं कवे विन को कि प्रचुर मात्रा में समुद्भूत पुष्परस के सीरम से मधुमयी द्वारा कल्पित आश्रमजरीओं के आस्था में कीन कोकिलकुल की काकली की

नीयन्ते पथिकैः कथं कथमपि ध्यानावधानक्षण-

प्राप्तप्राणसमासमागमरसोल्लासैरमी वासराः ॥'

अत्र 'रसोल्लासैरमी' इति रसयोरेकधैव साम्यम्, न तु तेनैव क्रमेणापि द्वितीये पादे, कलयोरसकृत्तेनैव क्रमेण च । प्रथमे एकस्य मकारस्य सकृत्, धकारस्य चासकृत् । रसविषयव्यापारवती वर्णरचना वृत्तिः, तदनुगतत्वेन प्रकर्षेण न्यसनाद् वृत्त्यनुप्रासः ।

( ३ य भेदः श्रुत्यनुप्रास )

उच्चार्यत्वाद्यदेकत्र स्थाने तालुरदादिके ।

सादृश्यं व्यञ्जनस्यैव श्रुत्यनुप्रास उच्यते ॥ ५ ॥

उदाहरणम्—

'दृशा दग्धं मनसिजं जीवयन्ति दृशैव याः ।

विरूपाक्षस्य जयिनीस्ताः स्तुमो वामलोचनाः ॥'

अत्र जीवयन्ति' इति, 'याः' इति, 'जयिनी' इति । अत्र जकारयकारयोरेकत्र स्थाने तालावुच्चार्यत्वात्सादृश्यम् । एवं दन्त्यकण्ठ्यानामप्युदाहार्यम् । एष च सहृदयानामतीव श्रुतिसुखावहत्वाच्छ्रुत्यनुप्रासः ।

कलध्वनि से विरहिओं के कानों को दुःखित कर रहे हैं, वस्तुतः उन विचोगिओं के लिये, जिन्हें प्रियाचिन्तन के समय प्रियामिलन का परमानन्द मिलने लगता है, बड़े कष्टकर प्रतीत हो रहे हैं ।

यहाँ 'रसोल्लासैरमी' में 'र-स' का एक प्रकार का ही अर्थात् स्वरूपत ही साम्य दिखायी देता है क्रमतः नहीं । इसके दूसरे चरण में 'कल' की, अनेक बार, स्वरूपत किंवा क्रमशः-दोनों प्रकार की समानता है । साथ ही साथ प्रथम चरण में 'म' की एक बार और 'घ' की अनेक बार आवृत्ति स्पष्ट है । इस प्रकार इस सूक्ति में वृत्त्यनुप्रास का सौन्दर्य स्पष्ट दिखायी दे रहा है । इस अनुप्रासभेद के वृत्त्यनुप्रास कहे जाने का यह अभिप्राय है—'वृत्ति' एक ऐसी रचना है जिसमें रसाभिव्यञ्जन का सामर्थ्य रहा करता है और इस 'वृत्ति' के अनुकूल वर्णों का जो प्रकृत न्यास है वह 'वृत्त्यनुप्रास' है ।

अनुवाद—'श्रुत्यनुप्रास' वह अनुप्रासभेद है जिसे तालु, दन्त आदि स्थानों में से किसी एक स्थान में उच्चरित व्यञ्जनों का सादृश्य कहा जाया करता है । उदाहरण के लिये—'उन वामलोचनाओं ( सुन्दर नयनोंवाली रमणियों ) को नमस्कार है जो कि दग्ध काम को दृष्टि से ही पुनरुज्जीवित किया करती हैं और इस प्रकार विरूपाक्ष भगवान् शिव को भी जीतनेवाली हैं ।'

यहाँ 'श्रुत्यनुप्रास' स्पष्ट है क्योंकि 'जीवयन्ति', 'या' और 'जयिनी.' में ऐसे 'ज' और 'य' वर्णों का सादृश्य है जो कि तालु-स्थानीय हैं ।

इसी प्रकार दन्तस्थानीय, कण्ठस्थानीय आदि वर्णों के सादृश्य में श्रुत्यनुप्रास के स्वरूप स्वयं देखे जा सकते हैं ।

इस अनुप्रास-प्रकार को इसलिये 'श्रुत्यनुप्रास' कहा जाया करता है क्योंकि समान स्थानीय वर्णों का सादृश्य सहृदयों को बड़ा श्रुतिसुखावह ( कर्ण-प्रिय ) लगा करता है ।



अत्रानेकपदानां पौनरुक्त्यम् । एष च प्रायेण साटजनप्रियत्वात्प्रादानुप्रासः ।

—ऽनुप्रास पञ्चधा ततः ॥ ७ ॥

स्पष्टम् ।

( १—वमक )

सत्यमे पृथगर्थायाः स्वरव्यञ्जनसंहृतेः ।

क्रमेण तनैवावृत्तिर्यमक विनिगद्यते ॥ ८ ॥

अत्र द्वयोरपि पद्ययोः कश्चित्सार्थकत्वं कश्चिन्निरर्थक्यम् । कश्चिदेकत्वं साधकत्वमपरस्य निरर्थकत्वम् । अत उक्तम्—‘सत्यमे’ इति । ‘तनैव क्रमेण’ इति वमो मोद इत्यादौर्विविक्तविषयस्य सूचितम् । एतच्च पादपादाद्वरलोकावृत्तिर्येन पादावृत्तेरानेकविधतया प्रभूतसममेवम् ।

इवदहन ( वाद्यगति ) है और जिसके पास प्रेमिका है उसके किये इवदहन ( वाद्यगति ) भी सुविनयीविति ( चन्द्रमा ) है ।

यहाँ अनेक पदों की आवृत्ति का सौम्यार्थ वर्णनीय है जिससे यहाँ का ‘कन्दानुप्रास’ कहा मनोरम बन रहा है । यह अनुप्रासमेव इसलिये ‘कान्दानुप्रास’ कहा जाया करता है क्योंकि कान्दास के कवियों का यह कहा प्रिय अनुप्रास है ।

इस उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि अनुप्रास पाँच प्रकार का हुआ करता है ( अर्थात् १ कन्दानुप्रास २ वृत्तानुप्रास ३ मुरारानुप्रास ४ अन्वयानुप्रास और ५ कन्दानुप्रास ) ।

यह कारिकाओं स्वयं स्पष्ट है ।

विमर्श—कान्दानुप्रास वह अनुप्रासप्रकार है जिसे ‘कारवनवस्तुम’ अर्थात् कान्दानुप्रास के कवियों और रसिकों का परमप्रिय अनुप्रास कहा गया है । प्राचीन जाह्नकारिकों ने इसके भी अनेकप्रकारों में प्रवेश बताया है । सरस्वतीकण्ठानुरणकार ने इसके प्रकार-वर्ग का निरूपण किया है—

‘स चाव्यवहितो व्यस्ता समस्त उभयः पुनः ।

उभयं चक्रवाकं च गर्भरश्मौवाभिधीयते ॥

( सरस्वतीकण्ठापरण २ १ २ )

और इसकी अवान्तर व्यातियों को वमक-व्यातियों की भाँति प्रचुर संस्काराधी बताया है—

‘वमकाणां हि पावनयो वर्ण्यन्ते भेदमद्यतः ।

अनुप्रासस्य कान्दानां मिश्रतावन्त्य एव हि ॥

( सरस्वतीकण्ठापरण २ १ ५ )

अनुवाद—‘वमक’ वह शब्दावलीप्रकार है जिसे, सार्थक होने पर मिश्र अर्थवाले स्वर वदन्वय-समूह की पूर्वक्रमानुसार आवृत्ति कहा करते हैं ।

यहाँ कारिका में सत्यमे (अर्थ सति सार्थक होने पर) इसलिये कहा गया है क्योंकि ‘वमक’ में देखा होता है कि कहीं-कहीं तो दोनों पद सार्थक हुआ करते हैं और कहीं-कहीं दोनों निरर्थक और कहीं-कहीं ऐसा भी हुआ करता है कि एक पद तो सार्थक रहा करता है और दूसरा निरर्थक । ‘तनैव क्रमेण’ ( पूर्वक्रमानुसार ) कहने का यह अभिप्राय है कि ‘वमो मोद’ सरीपर स्वर-व्यञ्जन-समूह की आवृत्ति को ‘वमक’ न समझा जाय क्योंकि

( पदावृत्तिरूप यमक )

विङ्मात्रमुदाह्रियते—

‘नवपलाश-पलाशवनं पुरः स्फुटपराग-परागत-पङ्कजम् ।

मृदुल तान्त-लतान्तमलोकयत् स सुरभिं सुरभिं सुमनोभरैः ॥’

अत्र पदावृत्तिः । ‘पलाशपलाश’ इति ‘सुरभि सुरभिम्’ इत्यत्र च द्वयोः सार्थकत्वम् । ‘लतान्तलतान्त’ इत्यत्र प्रथमस्य निरर्थकत्वम् । ‘परागपराग’ इत्यत्र द्वितीयस्य । एवमन्यत्राप्युदाहार्यम् ।

‘यमकादौ भवेदैक्य डलोर्बबोर्लोरोस्तथा ।’

इत्युक्तनयात् ‘भुजलता जडतामबलाजनः’ इत्यत्र न यमकत्वहानिः ।

यहाँ ‘द’ और ‘म’ रूप स्वर-व्यजन समूह का क्रम उलटा हुआ दिखायी दे रहा है । ‘यमक’ की भेदसंख्या अतिप्रचुर है क्योंकि पादावृत्ति, पादार्धावृत्ति, श्लोकावृत्ति आदि-आदि प्रकार की आवृत्तियाँ ‘यमक’ की ही विविध रूपरेखायें हैं और इनमें भी प्रत्येक के अनेकानेक प्रकार ( जैसे कि पाद के आद्यभाग की आवृत्ति, मध्यभाग की आवृत्ति और अन्त्यभाग की आवृत्ति आदि-आदि ) सम्भव हैं ( जोकि काव्य-साहित्य में उपलब्ध भी हुआ करते हैं ) ।

दिग्दर्शनमात्र के लिये उदाहरण .—

‘श्रीकृष्ण ने ‘सुमनोभरै सुरभिं सुरभिम्’ फूलों से सुरभित उस ‘सुरभि’ अर्थात् वसन्त समय का दर्शन किया जो ‘नवपलाशपलाशवनम्’ नये-नये पलाशों अर्थात् किसलयों से लहलहाते पलाशवन के सौन्दर्य से समृद्ध, ‘स्फुटपरागपरागतपङ्कजम्’—खिले हुए और पराग अर्थात् पुष्परज से परागत अथवा व्याप्त कमलों की मोहकता से मधुर और ‘मृदु-लतान्तलतान्तम्’—मृदुल अर्थात् सुकुमार किंवा तान्त अथवा आतप से सतत लताओं की कोमलता से रमणीय लग रहा था ।’

यहाँ जो ‘यमक’ है वह ‘पदावृत्ति’ प्रकार का है क्योंकि ‘पलाश’, ‘पराग’, ‘मृदुल’ आदि पदों की आवृत्ति स्पष्ट दिखाई दे रही है ।

यहाँ ‘पलाश-पलाश’, ‘सुरभिं सुरभिम्’ ये दोनों पद ऐसे हैं जो सार्थक हैं । किन्तु ‘लतान्त लतान्त’—में पहला ‘लतान्त’ निरर्थक है [ क्योंकि यहाँ जो पद है वह ‘लतान्त’ नहीं अपितु ‘मृदुल’—‘तान्त’ है ] । इसी प्रकार ‘पराग पराग’ में दूसरा जो ‘पराग’ पद है वह कोई अर्थ नहीं रखता ( क्योंकि यहाँ पद ‘पराग’ नहीं अपितु ‘परागत’ है ) ।

इसी भाँति ‘पादावृत्ति’ आदि यमक प्रकारों में सार्थक अथवा निरर्थक स्वर-व्यजन-समुदाय की आवृत्ति के उदाहरण स्वयं ढूँढ़ लिये जा सकते हैं ।

‘यमक में ‘ड’ और ‘ल’, ‘व’ और ‘ब’ किंवा ‘र’ और ‘ल’ वर्णों में कोई भेद नहीं माना जाया करता’—यह एक सर्वमान्य आलंकारिक सिद्धान्त है । इसलिये ‘भुजलतां जडतामबलाजन’ आदि प्रसंगों में यमक बन्ध में कोई क्षति नहीं मानी जाती ।

विमर्श—यमक का अवान्तर जातियों की संख्या के संबंध में सरस्वतीकण्ठाभरणकार का यह कथन है—

‘चतुस्त्रिद्वयेकपादेषु यमकानां विकल्पना ।

आदिमध्यान्तमध्यान्तमध्यान्तश्च सर्वतः ॥

अत्रानेकपदानां पौनरुक्त्यम् । एष च प्रायेण साटजनप्रियत्वाद्भाटादनुप्रासः ।

—अनुप्रास पश्चात्ततः ॥ ७ ॥

स्पष्टम् ।

(३—यमक)

सत्यर्थे पृथगर्यायाः स्वरभ्यञ्जनसहतेः ।

क्रमेण सनैषादृष्टिर्यमक विनिगद्यते ॥ ८ ॥

अत्र द्वयोरपि पदयोः कचित्सार्थकत्वं कचिन्निरर्थकत्वम् । कचिदेकत्वं साधकत्वमपरस्य निरर्थकत्वम् । अत उक्तम्—‘सत्यर्थे’ इति । ‘तेनैव क्रमेण’ इति यमो मोक्ष इत्यादेर्बिभक्तविषयत्वं सूचितम् । एतच्च पादापादाद्वरलोकादृष्टि-  
त्वेन पादादृष्टेऽत्रानेकविधतया प्रभूतत्वमभेदम् ।

द्वयद्वय ( द्वावपि ) है और जिसके पाद्य प्रेमिका है उसके क्रिये द्वयद्वय ( द्वावपि ) भी मुहिनवीचि ( चमत्प्रास ) है ।

यहाँ अनेक पदों की आहुति का सौम्यार्थ दर्शनीय है जिससे यहाँ का ‘अनुप्रास’ कहा मजबूर बन रहा है । यह अनुप्रासमेव इसलिये ‘काम्यनुप्रास’ कहा जाया करता है क्योंकि काम्यदेश के कवियों का यह कहा प्रायः अनुप्रास है ।

इस उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि अनुप्रास पाँच प्रकार का हुआ करता है ( अर्थात् १ काम्यनुप्रास २ वृत्त्यनुप्रास ३ श्रुत्यनुप्रास ४ जल्पानुप्रास और ५ काम्य अनुप्रास ) ।

यह कारिकास स्वर्य स्पष्ट है ।

विमर्श—काम्यनुप्रास वह अनुप्रासप्रकार है जिसे ‘अटवनवक्तव्य’ अर्थात् काम्यनुप्रास के कवियों और रसिकों का परमप्रिय अनुप्रास कहा गया है । प्राचीन जालंधारिकों ने इसके भी अनेकवैध भेद-भेद बताये हैं । सरस्वतीकण्ठाकरनकार ने इसके प्रकार-बद्ध का निरूपण किया है—

‘स चाप्यवहितो भवताः समस्त उभयः पुनः ।

उभयं चक्रवर्त्तं च धर्मरश्मिभिर्युतम् ॥

( सरस्वतीकण्ठाकरन १ १ )

और इसकी अवान्तर जातियों की यमक-जातियों की मूर्ति प्रभुर संभारामों बनाया है—

‘यमकां हि पादभ्यो पञ्चमते भेदमप्यथा ।

अनुप्रासस्य काठानां विद्वत्तावन्त्य पुन हि ॥

( सरस्वतीकण्ठाकरन २ १ ५ )

अनुवाद—‘यमक’ वह वाक्यार्थकार है जिसे, सार्थक होने पर विद्वत् अर्थवाके स्वर व्यञ्जन-समूह की पूर्वक्रमानुसार आहुति कहा करते हैं ।

यहाँ कारिका में सत्यर्थ ( यथे सति सार्थक होने पर ) इसलिये कहा गया है क्योंकि ‘यमक’ में ऐसा होता है कि कहीं-कहीं तो दोनों वह सार्थक हुआ करते हैं और कहीं-कहीं दोनों निरर्थक और कहीं-कहीं ऐसा भी हुआ करता है कि एक वह तो सार्थक रहा करता है और दूसरा निरर्थक । ‘तेनैव क्रमेण’ ( पूर्वक्रमानुसार ) कहने का यह अभिप्राय है कि ‘यमो’—यही स्वर-व्यञ्जन-समूह की आहुति को ‘यमक’ न समझा जाय क्योंकि

( पदावृत्तिरूप यमक )

दिङ्मात्रमुदाह्रियते—

‘नवपलाश-पलाशवनं पुर’ स्फुटपराग-परागत-पङ्कजम् ।

मृदुल तान्त-लतान्तमलोकयत् स सुरभिं सुरभिं सुमनोभरैः ॥’

अत्र पदावृत्तिः । ‘पलाशपलाश’ इति ‘सुरभिं सुरभिम्’ इत्यत्र च द्वयोः सार्थकत्वम् । ‘लतान्तलतान्त’ इत्यत्र प्रथमस्य निरर्थकत्वम् । ‘परागपराग’ इत्यत्र द्वितीयस्य । एवमन्यत्राप्युदाहार्यम् ।

‘यमकादौ भवेदैक्य डलोर्बबोर्लोरोस्तथा ।’

इत्युक्तनयात् ‘भुजलता जडतामबलाजनः’ इत्यत्र न यमकत्वहानिः ।

यहाँ ‘द’ और ‘म’ रूप स्वर-व्यजन समूह का क्रम उलटा हुआ दिखायी दे रहा है । ‘यमक’ की भेदसंख्या अतिप्रचुर है क्योंकि पादावृत्ति, पादार्धावृत्ति, श्लोकावृत्ति आदि-आदि प्रकार की आवृत्तियाँ ‘यमक’ की ही विविध रूपरेखायें हैं और इनमें भी प्रत्येक के अनेकानेक प्रकार ( जैसे कि पाद के आद्यभाग की आवृत्ति, मध्यभाग की आवृत्ति और अन्त्यभाग की आवृत्ति आदि-आदि ) सम्भव हैं ( जोकि काव्य-साहित्य में उपलब्ध भी हुआ करते हैं ) ।

दिग्दर्शनमात्र के लिये उदाहरण —

‘श्रीकृष्ण ने ‘सुमनोभरै सुरभिं सुरभिम्’ फूलों से सुरभित उस ‘सुरभि’ अर्थात् वसन्त समय का दर्शन किया जो ‘नवपलाशपलाशवनम्’ नये-नये पलाशों अर्थात् किसलयों से लहलहाते पलाशवन के सौन्दर्य से समृद्ध, ‘स्फुटपरागपरागतपङ्कजम्’—खिले हुए और पराग अर्थात् पुष्परज से परागत अथवा व्याप्त कमलों की मोहकता से मधुर और ‘मृदुलतान्तलतान्तम्’—मृदुल अर्थात् सुकुमार किंवा तान्त अथवा आतप से सतप्त लताओं की कोमलता से रमणीय लग रहा था ।’

यहाँ जो ‘यमक’ है वह ‘पदावृत्ति’ प्रकार का है क्योंकि ‘पलाश’, ‘पराग’, ‘मृदुल’ आदि पदों की आवृत्ति स्पष्ट दिखाई दे रही है ।

यहाँ ‘पलाश-पलाश’, ‘सुरभिं सुरभिम्’ ये दोनों पद ऐसे हैं जो सार्थक हैं । किन्तु ‘लतान्त लतान्त’—में पहला ‘लतान्त’ निरर्थक है [ क्योंकि यहाँ जो पद है वह ‘लतान्त’ नहीं अपितु ‘मृदुल’—‘तान्त’ है ] । इसी प्रकार ‘पराग पराग’ में दूसरा जो ‘पराग’ पद है वह कोई अर्थ नहीं रखता ( क्योंकि यहाँ पद ‘पराग’ नहीं अपितु ‘परागत’ है ) ।

इसी भाँति ‘पादावृत्ति’ आदि यमक-प्रकारों में सार्थक अथवा निरर्थक स्वर-व्यजन-समुदाय की आवृत्ति के उदाहरण स्वयं ढूँढ़ लिये जा सकते हैं ।

‘यमक में ‘ड’ और ‘ल’, ‘व’ और ‘व’ किंवा ‘र’ और ‘ल’ वर्णों में कोई भेद नहीं माना जाया करता’—यह एक सर्वमान्य आलंकारिक सिद्धान्त है । इसलिये ‘भुजलतां जडतामबलाजन’ आदि प्रसंगों में यमक बन्ध में कोई क्षति नहीं मानी जाती ।

विमर्श—यमक का अवान्तर जातियों की संख्या के सवध में सरस्वतीकण्ठाभरणकार का यह कथन है—

‘चतुस्त्रिद्वयेकपादेषु यमकानां विकल्पना ।

आदिमध्यान्तमध्यान्तमध्यान्तश्च सर्वतः ॥

( अर्थ भेदः जल्पानुप्रास )

अप्यञ्जनं चेद्यथावस्थं सहायेन स्वरेण तु ।

आवर्त्यतेऽन्त्ययोज्यत्वादन्त्यानुप्रास एव तत् ॥ ६ ॥

यथावस्थमिति यथासम्भयमनुस्वारविसर्गस्वरयुक्तश्रवणविशिष्टम् ।

एव च प्रायेण पादस्य पदस्य चान्ते प्रयाग्यः ।

पादान्तगो यथा मम—

‘किरा’ कारास्तबकबिच्छस’ अथ प्रकटितकरमविलास’ ।

अष्टदशवराट्कञ्चनं त्यजति न चेत् काममनस्पम् ॥’

‘मन्दं हसन्त’ पुष्पकं वहन्त’ इत्यादि ।

विमर्श—अप्यप्रकाश में हृत्प्रासास’ की कोई चर्चा नहीं । कविराज भित्तनभ ने संभवतः सरस्वतीकण्ठामरणकार के प्रयास में, पङ्क्तिर इच्छा की चर्चा की है । सरस्वतीकण्ठामरणकार के अनुसार ‘हृत्प्रासास सर्वभेद अनुप्रास है—

‘प्रायेण हृत्प्रासासस्तत्प्रासासमापकः । समायेव हि वैदुर्मी माति तेन विचित्रिता ॥  
निवेद्यपति बान्धेयी प्रतिमानवतः कवेः । पुनरनुप्रासस्य सप्तमाभिनि चेतसि ॥

( सरस्वतीकण्ठामरण २ ७१-७२ )

अर्थात् अनुप्रास-प्रकारों में सर्वोत्तम को अनुप्रास है वह ‘हृत्प्रासास’ है । यह अनुप्रास प्रतिमासाधी कवि की मन्त्र-समाधि का परिणाम है । नहीं वह अनुप्रास है जिसे ‘वैदुर्मी’ की कपटिका का निष्पादक कहा जा सकता है ।

सरस्वतीकण्ठामरणकार ने इस अनुप्रास-प्रकार के अनेकानेक बनावट प्रयोगों का निर्देश किया है जिनमें मञ्जुष, वर्णमञ्जुष, वर्णोत्कट, वर्णानुत्कट आदि-आदि मुख्य हैं ।

निम्न पंक्तिजो में इस अनुप्रास-प्रकार की महिमा गावी हुई है—

‘यथा ज्योत्स्ना चन्द्रमसं यथा कावचमङ्गनाम् । अनुप्रासस्तथा काव्यमङ्गदुर्लभं वमा ॥  
अनुप्रासः कविगिरां पङ्कजर्ममयोऽपि वा । सोऽप्यनेन स्तवकितः शिष्यं कामपि पुष्यति ॥

( सरस्वतीकण्ठामरण २, ७५-७६ )

अनुवाद—चतुर्थ अनुप्रास-भेद अर्थात् जल्पानुप्रास यह है जिसे प्रथम स्वर के साथ यथावस्थ अपञ्जन की ऐसी व्याप्ति में देखा जाना करता है जोकि पद अथवा पाद के अन्त में पड़ा करता है ।

यहाँ कारिका में ‘यथावस्थम्’ का अभिप्राय अनुस्वार विसर्ग किया स्वरयुक्त अक्षर के यथासम्भव पूर्ववत् रहने का अभिप्राय है । यह जल्पानुप्रास यथा पाद के अन्त में अथवा यहाँ-तहाँ पद के अन्त में भी प्रयुक्त हुआ करता है ।

पदाहरण के लिये पादान्तवर्ती जल्पानुप्रास जोकि मेरी इस स्वरवित्त सूक्ति अर्थात्-  
‘केस’ है कास के फूट सरीके सेत काप है करम अथवा रँद के समान बैरंगा और  
अँसे हैं ककी कीदी की भीति निस्तेज । किन्तु मय असी भी विषय-सृष्ट्या में रम रहा है ।’

अथवा

‘ममं हसन्तः पुष्पकं वहन्तः आदि पूर्वोद्धृत सूक्ति में स्पष्ट है ।

विमर्श—‘जल्पानुप्रास’ की मग्यता में ‘विमर्श कविराज ने समतावधिज संश्लेष-

(५ म भेद • लाटानुप्रास)

शब्दार्थयोः पौनरुक्त्यं भेदे तात्पर्यमात्रतः ।

लाटानुप्रास इत्युक्तो—

उदाहरणम्—

स्मेरराजीवनयने नयने किं निमीलिते ।

पश्य निर्जितकन्दर्प कन्दर्पवशग प्रियम् ॥

अत्र विभक्त्यर्थस्य पौनरुक्त्येऽपि मुख्यतरस्य प्रातिपदिकांशद्योत्यधमिरूपस्य भिन्नार्थत्वान्नाटानुप्रासत्वमेव ।

‘नयने तस्यैव नयने च ।’

अत्र द्वितीयनयनशब्दो भाग्यवत्त्वादिगुणविशिष्टत्वरूपतात्पर्यमात्रेण भिन्नार्थः ।

यथा वा—

‘यस्य न सविधे दयिता दवदहनस्तुहिनदीधितिस्तस्य ।

यस्य च सविधे दयिता दवदहनस्तुहिनदीधितिस्तस्य ॥’

संस्कृत कवियों की रचनाओं के साधुर्थ का विश्लेषण किया है । पीयूषवर्ष जयदेव-कृत ‘चन्द्रालोक’ में एक अनुप्रास-प्रकार को ‘स्फुटानुप्रास’ कहा गया है—

‘श्लोकस्याद्ये तदर्धे वा वर्णावृत्तिर्यदि ध्रुवा । तदा मता मतिमतां स्फुटानुप्रासता सताम् ॥’

अर्थात् श्लोक के पूर्वार्द्ध के अन्त में आनवाले वर्ण की, श्लोक के उत्तरार्ध के अन्त में, आवृत्ति का नाम ‘स्फुटानुप्रास’ है किन्तु, विश्वनाथ कविराज का ‘अन्त्यानुप्रास’ और पीयूषवर्ष जयदेव का ‘स्फुटानुप्रास’ वस्तुतः एक ही अनुप्रास-भेद के दो नाम हैं ।

अनुवाद—‘लाटानुप्रास’ वह अनुप्रासभेद है जिसे ऐसे शब्दों और अर्थों की आवृत्ति कहा करते हैं जोकि केवल तात्पर्यत भिन्न हुआ करते हैं । उदाहरण के लिये—

‘अरी ‘स्मेरराजीवनयने’ (खिले कमल सरीखे नेत्रोंवाली) । ‘नयने किं निमीलिते’—(तूने अपने नेत्र क्यों बन्द कर लिये हैं ?) देख, अपने ‘निर्जितकन्दर्प’ (काम को भी सौंदर्य में परास्त करनेवाले) ‘कन्दर्पवशग’ (काम के वशीभूत) प्रियतम को तो देख ।’

यहाँ विभक्त्यर्थ की आवृत्ति के न होने पर भी, प्रातिपदिक रूप अंशों जैसे कि ‘नयन-नयन’, ‘कन्दर्प-कन्दर्प’ आदि की आवृत्ति स्पष्ट है और यह भी स्पष्ट है कि प्रातिपदिक रूप अंशों द्वारा बोध्य प्रधानभूत धर्मरूप (नेत्र और काम) अर्थ अभिन्न है (तथा तात्पर्यत भिन्न भी है) इस प्रकार यहाँ ‘लाटानुप्रास’ स्पष्ट है ।

अथवा

जैसे कि—‘नयने तस्यैव नयने च’ (वस्तुतः उसी की आँखें आँखें हैं) ।

यहाँ ‘नयने-नयने’ में विभक्त्यर्थ भी आवृत्ति है और दूसरा नयन शब्द तात्पर्यत भिन्न अर्थ का भी उपस्थापक है क्योंकि इसमें भाग्यशीलता आदि गुणों की विशेषता का अभिप्राय निगूढ़ है । इस प्रकार यह ‘लाटानुप्रास’ का एक सर्वांग समीचीन उदाहरण है ।

अथवा

जैसे कि—‘जिसके पास प्रेमिका नहीं उसके लिये तुहिनदीधिति’ (चन्द्रमा) भी

अत्रानेकपदानां पौनरुक्त्यम् । एष च प्रायेण साट्जनमियत्वाद्वाटानुप्रासः ।

—ऽनुप्रास पञ्चधा सतः ॥ ७ ॥

स्पष्टम् ।

( ३—यमक )

सत्यर्थे शृङ्गार्यायाः स्वरव्यञ्जनसङ्घटेः ।

क्रमेण सनैवावृत्तिर्यमकं विनिगद्यते ॥ ८ ॥

अत्र द्वयोरपि पद्ययोः कवित्तसार्यकत्वं कविभिरर्थकत्वं । कविदेवस्य सायकत्वमपरस्य निरर्थकत्वम् । अत उक्तम्—‘सत्यर्थे’ इति । ‘तिनैव क्रमेण’ इति दसो मोद इत्यादेर्यिचित्त्वविषयस्य सूचितम् । एतच्च पादपादाद्वरलोकावृत्तिर्येन पादावृत्तेऽनेकविधतया प्रभूततममेवम् ।

इवदहन ( वाचागि ) है और जिसके पास मेमिका है उसके किये इवदहन ( वाचागि ) भी तुद्धिनदीयिति ( जम्बूमा ) है ।

यहाँ अनेक पदों की आवृत्ति का सौम्यार्थ वर्णनीय है जिससे यहाँ का ‘जम्बूमा’ कहा मनोरम बन रहा है । यह जम्बूमासमेव इसकिये ‘वाचागुमास’ कहा जाया करता है क्योंकि काटदेहा के कविजनों का यह कहा मिय जम्बूमास है ।

इस उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि जम्बूमास पाँच प्रकार का हुआ करता है ( अर्थात् १. जम्बूमास २. जम्बूमास ३. मुरगुमास ४. जम्बूमास और ५. जम्बूमास ) ।

यह कविकर्ता स्वयं स्पष्ट है ।

विमर्श—वाचागुमास वह जम्बूमासप्रकार है जिसे ‘काटजनवक्त्रम्’ अर्थात् काटमास के कवियों और रसिकों का परमप्रिय जम्बूमास कहा गया है । प्राचीन आर्यभट्टिकों ने इसके भी अनेकानेक भेद प्रभेद बताये हैं । सरस्वतीकण्ठाभरणकार ने इसके प्रकार-वृद्ध का निरूपण किया है—

‘स चाप्यवहितो व्यस्ता समस्त उभया युता ।

उभय चक्रवर्त्तं च गर्भरक्षेयानिधीयते ॥

( सरस्वतीकण्ठाभरण १ १ १ )

और इसकी अवन्तर बातों को यमक-आतियों की रीति प्रभुर संख्यावाची बताया है—

‘यमकानां हि धातव्यो वर्ण्यन्ते मेदुमन्त्राः ।

जम्बूमासस्य काटानां विहास्तावन्त्य एव हि ॥

( सरस्वतीकण्ठाभरण १ १ ५ )

जम्बूमास—‘यमक’ वह वाच्यार्थकार है जिसे सार्थक होने पर मिला अर्थवाले रवा र्वञ्जन-समूह की पूर्वजम्बूमास आशुति कहा करते हैं ।

यहाँ कविकर्म में सत्यर्थ ( अर्थ सति सार्थक होने पर ) इसकिये कहा गया है क्योंकि यमक में ऐसा होता है कि कहीं-कहीं तो दोनों पद सार्थक हुआ करते हैं और कहीं-कहीं दोनों निरर्थक और कहीं-कहीं ऐसा भी हुआ करता है कि एक पद तो सार्थक रहा करता है और दूसरा निरर्थक । ‘तेनैव क्रमेण’ ( पूर्वजम्बूमास ) कहने का यह अभिप्राय है कि ‘दसो मोद’ सरीखे रवा-व्यञ्जन-समूह की आवृत्ति को ‘यमक’ व समझा जाय क्योंकि

( पदावृत्तिरूप यमक )

विङ्मात्रमुदाह्रियते—

‘नवपलाश-पलाशवनं पुर’ स्फुटपराग-परागत-पङ्कजम् ।

मृदुल तान्त-लतान्तमलोकयत् स सुरभिं सुरभिं सुमनोभरैः ॥’

अत्र पदावृत्तिः । ‘पलाशपलाश’ इति ‘सुरभि सुरभिम्’ इत्यत्र च द्वयोः सार्थकत्वम् । ‘लतान्तलतान्त’ इत्यत्र प्रथमस्य निरर्थकत्वम् । ‘परागपराग’ इत्यत्र द्वितीयस्य । एवमन्यत्राप्युदाहार्यम् ।

‘यमकादौ भवेदैक्य डलोर्बोर्लोरोस्तथा ।’

इत्युक्तनयात् ‘भुजलता जडतामबलाजनः’ इत्यत्र न यमकत्वहानिः ।

यहाँ ‘द’ और ‘म’ रूप स्वर-व्यजन समूह का क्रम उलटा हुआ दिखायी दे रहा है । ‘यमक’ की भेदसंख्या अतिप्रचुर है क्योंकि पादावृत्ति, पादार्धावृत्ति, श्लोकावृत्ति आदि-आदि प्रकार की आवृत्तियाँ ‘यमक’ की ही विविध रूपरेखाएँ हैं और इनमें भी प्रत्येक के अनेकानेक प्रकार ( जैसे कि पाद के आद्यभाग की आवृत्ति, मध्यभाग की आवृत्ति और अन्त्यभाग की आवृत्ति आदि-आदि ) सम्भव हैं ( जोकि काव्य-साहित्य में उपलब्ध भी हुआ करते हैं ) ।

दिग्दर्शनमात्र के लिये उदाहरण —

‘श्रीकृष्ण ने ‘सुमनोभरै सुरभिं सुरभिम्’ फूलों से सुरभित उस ‘सुरभि’ अर्थात् वसन्त समय का दर्शन किया जो ‘नवपलाशपलाशवनम्’ नये-नये पलाशों अर्थात् किसलयों से लहलहाते पलाशवन के सौन्दर्य से समृद्ध, ‘स्फुटपरागपरागतपङ्कजम्’—खिले हुए और पराग अर्थात् पुष्परज से परागत अथवा व्याप्त कमलों की मोहकता से मधुर और ‘मृदु-लतान्तलतान्तम्’—मृदुल अर्थात् सुकुमार किंवा तान्त अथवा आतप से सतस लताओं की कोमलता से रमणीय लग रहा था ।’

यहाँ जो ‘यमक’ है वह ‘पदावृत्ति’ प्रकार का है क्योंकि ‘पलाश’, ‘पराग’, ‘मृदुल’ आदि पदों की आवृत्ति स्पष्ट दिखाई दे रही है ।

यहाँ ‘पलाश-पलाश’, ‘सुरभिं सुरभिम्’ ये दोनों पद ऐसे हैं जो सार्थक हैं । किन्तु ‘लतान्त लतान्त’—में पहला ‘लतान्त’ निरर्थक है [ क्योंकि यहाँ जो पद है वह ‘लतान्त’ नहीं अपितु ‘मृदुल’—‘तान्त’ है ] । इसी प्रकार ‘पराग-पराग’ में दूसरा जो ‘पराग’ पद है वह कोई अर्थ नहीं रखता ( क्योंकि यहाँ पद ‘पराग’ नहीं अपितु ‘परागत’ है ) ।

इसी भाँति ‘पादावृत्ति’ आदि यमक-प्रकारों में सार्थक अथवा निरर्थक स्वर-व्यजन-समुदाय की आवृत्ति के उदाहरण स्वयं हूँद लिये जा सकते हैं ।

‘यमक में ‘ड’ और ‘ल’, ‘व’ और ‘ब’ किंवा ‘र’ और ‘ल’ वर्णों में कोई भेद नहीं माना जाया करता’—यह एक सर्वमान्य आलंकारिक सिद्धान्त है । इसलिये ‘भुजलतां जडतामबलाजन’ आदि प्रसंगों में यमक बन्ध में कोई क्षति नहीं मानी जाती ।

विमर्श—यमक का अवान्तर जातियों की संख्या के सवध में सरस्वतीकण्ठाभरणकार का यह कथन है—

‘चतुस्त्रिद्वयेकपादेषु यमकानां विकल्पना ।

आदिमध्यान्तमध्यान्तमध्याद्यन्ताश्च सर्वत ॥



(४-वक्रोक्ति)

अन्यस्यान्यार्थकं चाप्यन्यथा योत्रयेद्यदि ।

अन्य श्लेषेण काका वा सा वक्राक्तिस्ततो द्विधा ॥ ९ ॥

द्विधेति श्लेषवक्रोक्तिः काकुवक्रोक्तिश्च । क्रमेणोदाहरणम्—

( श्लेषवक्रोक्तिः । समग्र और अमग्र श्लेषवक्रोक्तिः )

‘किं यूयं स्थल एव सम्प्रति बयं प्ररनो विरोषाभय

किं भूते विहग स वा फण्णपतियत्रास्वि सुतो हरि’ ।

यामा यूयमग्रो विहग्वरसिक्कं कीटक्कं स्मरो वर्तते

येनास्मासु विवेकशून्यमनसं पुंस्त्वेव योपिद्वभ्रम ॥’

अत्र विरोषपदस्य ‘वि’ पक्षी, ‘रोपो नाग’ इत्यवयवयोग्यत्वात् समग्र-  
श्लेष । अन्यत्र स्वमग्नः ।

( काकुवक्रोक्तिः )

‘काले कोकिमेषाचालं सहकारमनोहरे ।

कुटागसं परित्यागात्तस्याभ्येतो न वृथते ॥’

अस्वान्तबहवस्तेषां भेदाः संभेदबोधनाः ।

मुक्ता बुक्काभ्येव वरधन्ते तत्र केचन ॥

( सरस्वतीकण्ठाभरण १ ३१-३२ )

मनुष्य—‘वक्रोक्ति’ वह अन्वयानुसार है यहाँ ‘श्लेष’ के कारण अथवा ‘काकु’ ( व्यभि-  
चिकार ) के कारण, किसी क अन्वयार्थक वाक्य को किसी अन्य अर्थ में लगा लिया जाय  
करता है । ‘श्लेष’ के कारण ऐसा होने से ‘श्लेष-वक्रोक्ति’ और ‘काकु’ के कारण ऐसा  
होने से ‘काकु-वक्रोक्ति’ इस प्रकार वक्रोक्ति के दो प्रकार हुआ करते हैं ।

यहाँ कारिका में ‘द्विधा’ ( दो प्रकार की ) कहने का अभिप्राय ‘श्लेषवक्रोक्ति’ और  
‘काकुवक्रोक्ति’ रूप से वक्रोक्ति के दो प्रकारों के समग्र का अभिप्राय है ।

क्रमशः उदाहरण—

( वक्र- ) के ‘पूषम्’—कौन है आप काग ? ( जोता- ) ‘स्वक पूषस्तं प्रति वयम्’—हम  
कोय तो अभी सूखी जमीन पर हैं ( ‘के’ का अर्थ (अकपर) किया गया है जिसके मतुपर  
में ‘स्पष्टे’ ( स्वक पर ) कहा गया है ) । ( वक्र- ) ‘प्ररनो विरोषाभय’—हम तो भाव  
क्षेत्रों के बारे में जाबना चाहते हैं ( जोता- ) क्या आप ने किसी ‘पश्चिमिरोष’ के बारे  
में पूछा वा ‘अधिराज’ शेषनाग के बारे में—साफ बताइये ? ( यहाँ ‘वि+रोष’ का मीग कर  
पक्षी और शेषनाग अर्थ किया गया है ) । ( वक्र- ) आप भी बड़े डरे हैं ! ( जोता- )  
बरे ! आप कम नहीं आप भी बड़े डरा हैं बरे कहीं से ऐसा भेस आप के एक कम भावा  
जिससे हम पुकारों में आप को की का भ्रम होने लगा ? ( यहाँ ‘वत्सा’ का अर्थ ‘की’  
किया गया है । )

यहाँ ‘विरोष’ पद में ‘वि’ = पक्षी और रोष = शेषनाग’ के दो अर्थ हैं जिससे यहाँ को  
‘श्लेष’ है वह समग्र श्लेष है । किन्तु अन्वय ( जैसे कि ‘क’ जाति में ) अमग्र श्लेष है ।  
इस प्रकार यहाँ ‘द्विविध श्लेषवक्रोक्ति’ स्पष्ट है ।

कोक्ति की शृङ्ख से मनुष्य और व्याजमजरी से भगोहर इस वक्तव्य में अपराधी प्रेमी  
के परित्याग से उस सुन्दरी का हृदय क्षुब्धित नहीं होता ।

अथ कयाचित्सख्या निषेधार्थे नियुक्तो नन् अन्यथा काक्वा दूयत एवेति विध्यर्थे घटितः ।

( ५—भाषासमक )

शब्दैरेकविधैरेव भाषासु विविधास्वपि ।

वाक्यं यत्र भवेत्सोऽयं भाषासम इतीष्यते ॥ १० ॥

यथा सम—

‘मञ्जुलमणिमञ्जीरे कलगम्भीरे विहारसरसीतीरे ।

विरसासि केलिकीरे किमालि । धीरे च गन्धसारसमीरे ! ॥’

एष श्लोकः संस्कृत-प्राकृत-शौरसेनी-प्राच्यावन्तीनागरापभ्रंशेष्वेकविध एव ।

‘सरस कङ्गण कव्वम् ।’

इत्यादौ तु ‘सरसम्’ इत्यत्र संस्कृतप्राकृतयोः साम्येऽपि वाक्यगतत्वाभावे वैचित्र्याभावान्नायमलङ्कारः ।

( ६—श्लेष )

श्लिष्टैः पदैरनेकार्थाभिधाने श्लेष इष्यते ।

यहाँ ‘काकुवक्रोक्ति’ इसलिये है क्योंकि ‘न दूयते’ का निषेधार्थक नन्, विदग्ध सखी द्वारा, काकु ( गले की आवाज ) से, ‘दूयते एव’ ( अवश्य दुखित होता है ) के अर्थ में बदल दिया गया है जिससे यह निषेधार्थक वाक्यविध्यर्थक बन रहा है ।

अनुवाद—‘भाषासम’ ( अथवा भाषासमक ) वह शब्दालङ्कार है जिसे देखने में एक प्रकार के किन्तु वस्तुतः विविध भाषाओं के शब्दों से बने वाक्य के सौन्दर्य में देखा जाया करता है ।

जैसे कि मेरी यह स्वरचित सुक्ति—

‘अरी सखी ! मधुर और गम्भीर ध्वनि वाले मञ्जुल मणि-मजीरों से क्या रूठना ? क्रीडा-वापिका के तीर से क्या रोष ? क्रीडाशुक पर क्या चोभ ? और इस चन्दन-सुरभित मलय-समीर से कैसी अनवन ( अरे, रूठो अपने प्रेमी पर, इन्हें तो अपनाओ !’

यहाँ ‘भाषासम’ इसलिये है क्योंकि यह श्लोक-वाक्य संस्कृत, प्राकृत, शौरसेनी, प्राच्या, अवन्ती, नागर और अपभ्रंश भाषाओं में एक सा ही लगेगा ।

‘सरस कङ्गण कव्वं’ इत्यादि में, संस्कृत और प्राकृत में एक प्रकार से लगने वाले ‘सरस’ पद के देखते, ‘भाषासम’ का भ्रम नहीं होना चाहिये क्योंकि यह अलङ्कार तो विविध भाषाओं के एक समान लगने वाले शब्दों द्वारा घटित वाक्य-बन्ध का वैचित्र्य है । ‘सरस’ इस एक पद में कोई वैचित्र्य नहीं और इसलिये यहाँ इस अलङ्कार की भी कोई संभावना नहीं ।

विमर्श—‘भाषासमक’ प्राचीन आलङ्कारिकों का शब्दालङ्कार नहीं । ‘भाषाश्लेष’ से ‘भाषा-समक’ की रूपरेखा का पार्थक्य १४ वीं शताब्दी के आलङ्कारिकों का कार्य है । समव है विश्वनाथ कविराज ही इसके प्रथम प्रवर्तक हों ।

अनुवाद—‘श्लेष’ वह अलङ्कार है जिसे श्लिष्ट पदों द्वारा अनेक अर्थों के अभिधान में

वर्णप्रत्ययलिङ्गानां प्रकृत्योः पदयोरपि ॥ ११ ॥

श्लेषादिभक्तिपञ्चनमापाणामष्टधा च सः ।

कमेपोदाहरणम्—

( १—वर्णरक्षेप )

‘प्रतिमूलतामुपगते हि बिभी विपक्षस्यमेति बहुसाधनता ।

अथलम्बनाथ दिनमर्तुरमूम पतिव्यस करसहस्रमपि ॥’

अत्र ‘विभी’ इति विष्णुविशिष्टयोरुपधरेकारयोरीकाररूपत्याच्छ्लेषः ।

( २—प्रत्ययरक्षेप )

‘किरणा हरिणाहृत्य दक्षिणञ्च समीरण’ ।

कान्तोत्सङ्गमुपां नूनं सर्व एव मुधाकिर ॥’

अत्र ‘मुधाकिर’ इति विष्णु-क-प्रत्यययोः । किं चात्र बहुवचनैकवचनयोरैक-  
रूप्यावचनरक्षेपोऽपि ।

देखा जाया करता है । यह रक्षेप आठ प्रकार का हुआ करता है—( १ ) वर्णरक्षेप ( २ )  
प्रत्ययरक्षेप, ( ३ ) किरणरक्षेप ( ४ ) ग्रहणरक्षेप, ( ५ ) पदरक्षेप, ( ६ ) विभक्तिरक्षेप,  
( ७ ) वचनरक्षेप और ( ८ ) भाषारक्षेप ।

रक्षेप के इस आठ प्रकारों के उदाहरण क्रमशः दिये जा रहे हैं—

( १—वर्णरक्षेप )

‘विभी—विधि क और वचनमा क प्रतिकूल हो जाने पर, सभी साधन व्यर्थ हो जाते  
हैं । सभी को सर्व के ‘करसहस्र’ किरण-समूह, और हस्त-समूह अस्तकाल के समय,  
जैसे सहारा देने में असमर्थ रहा करते हैं ।

यहाँ (लिङ्गप्राप्त्यर्थ की उपर्युक्त सुक्ति में) ‘वर्णरक्षेप’ स्पष्ट है क्योंकि ‘विभी’ पर देखा  
है जिसमें ‘विधि’ और ‘विष्णु’ के अन्तिम वर्ण इकार और उकार सप्तमी विभक्ति के एक  
वचन में ‘वी’ के एक रूप में परिवर्तित दिखायी दे रहे हैं ।

( २—प्रत्ययरक्षेप )

‘कान्तोत्सङ्गमुपां—कान्ता ( पिता ) अथवा कान्त ( प्रियतम ) के आक्रियत्व में  
आनन्दित प्रेमी अथवा प्रेमिकाओं के किये हरिणाहृत्य किरणा इक्षिणञ्च समीरण—  
चन्द्रमा की चाँदनी और सकल समीर, नूनं सर्व एव—वस्तुतः सब कुछ ‘मुधाकिर’—(बहु-  
वचनान्त ‘किरणा’ के बोध में मुधां किरन्तीति मुधाकिरा और एकवचनान्त समीरण  
के साथ मुधां किरन्तीति मुधाकिरा ) अक्षुप्त की वर्षा करने वाले ही कहा करते हैं ।

यहाँ ‘मुधाकिर’ में ‘किम्’ और ‘क’ दोनों प्रत्ययों के मेल के कारण ‘प्रत्ययरक्षेप’ स्पष्ट  
है ( ‘किरणा मुधाकिर’ = ‘मुधां किरन्तीति मुधाकिर’ मुधा + क + विप्र प्रथमा बहु-  
वचनान्त रूप और ‘समीरणा मुधाकिर’ = मुधां किरन्तीति मुधाकिर, मुधा + क + क,  
प्रथमा एकवचनान्त रूप ) ।

‘मुधाकिर’ में ( रक्षेप का सप्तम प्रकार ) वचनरक्षेप भी आया जा सकता है क्योंकि  
यहाँ बहुवचन और एकवचन के रूप एक सरीखे कहा रहे हैं ।

(३—लिङ्गश्लेष)

‘विकसन्नेत्रनीलाब्जे तथा तन्व्या’ स्तनद्वयी ।

तव दत्तां सदा मोद लसत्तरलहारिणी ॥’

अत्र नपुसकस्त्रीलिङ्गयोः श्लेषो वचनश्लेषोऽपि ।

(४—प्रकृतिश्लेष)

अयं सर्वाणि शास्त्राणि हृदि जेषु च वक्ष्यति ।

सामर्थ्यकृदमित्राणां मित्राणा च नृपात्मजः ॥’

अत्र ‘वक्ष्यति’ इति वहि वच्योः, ‘सामर्थ्यकृत्’ इति कृन्तति-करोत्योः प्रकृत्योः ।

(५—पदश्लेष)

‘पृथुकार्तस्वरपात्रम्—’ इत्यादि । अत्र पदभङ्गे विभक्तिसमासयोरपि वैलक्षण्यात्पदश्लेषः, न तु प्रकृतिश्लेषः ।

(३—लिङ्गश्लेष)

‘तन्व्या लसत्तरलहारिणी विकसन्नेत्रनीलाब्जे तथा स्तनद्वयी—इस सुन्दरी के वे खिले कमल सरीखे नेत्र ( विकसन्नेत्रनीलाब्जे ), जो कि ‘लसत्तरलहारिणी’ ( लसन्ती शोभमाने तरले चञ्चले हारिणी मनोज्ञे चेति—नपुसकलिङ्ग प्रथमा द्विवचनान्त रूप ) वड़े सुन्दर, वड़े चञ्चल किंवा वड़े मनोहर हैं और इसकी ‘स्तनद्वयी’ जो ‘लसत्तरलहारिणी’ ( लसन् शोभमान तरल मध्यमगिर्यस्य स हारो यस्या सा—स्त्रीलिङ्ग प्रथमा एकवचनान्त रूप ) सुन्दरमध्यमणि से सुशोभित मुक्ताहार से मनोरम है—ये दोनों, ‘तव आमोदम् सदा दत्ताम्’ सदा तुम्हें प्रसन्नता प्रदान करें ( विकसन्नेत्रनीलाब्जे के साथ ‘दत्ताम्’=दद्याताम्, लोट् परस्मैपद द्विवचन और स्तनद्वयी के साथ ‘दत्ताम्’=दद्यात्, लोट् आत्मनेपद एकवचन ) ।

यहाँ ‘लसत्तरलहारिणी’ में नपुसकलिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग के मेल के कारण लिङ्गश्लेष स्पष्ट है । यहाँ ‘दत्ताम्’ में द्विवचन और एकवचन के मेल से ‘वचनश्लेष’ भी दर्शनीय लग रहा है ।

(४—प्रकृतिश्लेष)

‘अयं नृपात्मज’—यह राजकुमार, अमित्राणा मित्राणाञ्च सामर्थ्यकृत्—जो कि शत्रुओं का ‘सामर्थ्यकृत्’ ( सामर्थ्य कृन्तति छिनत्तीति ) बल-सहाराक है और मित्रों का भी ‘सामर्थ्यकृत्’ ( सामर्थ्य करोतीति ) बल-वर्द्धक है, सर्वाणि शास्त्राणि हृदि जेषु च वक्ष्यति—अपने हृदय और विद्वत्समाज में सभी शास्त्रों का धारण और प्रवचन द्वारा प्रतिपादन करेगा ।

यहाँ ‘प्रकृतिश्लेष’ इसलिये है क्योंकि ‘वक्ष्यति’ में वद् धातु और वच् धातु, परस्पर मिली-जुली दिखायी दे रही हैं और ‘सामर्थ्यकृत्’ में कृत् और कृञ् धातुओं का परस्पर मेल दर्शनीय है ।

(५—पदश्लेष)

‘पृथुकार्तस्वरपात्रम्’ आदि पूर्वोद्धृत सूक्ति । यहाँ ‘पदश्लेष’ है प्रकृतिश्लेष नहीं क्योंकि पदों के भङ्ग करने ( जैसे कि पृथु + कार्तस्वर, पृथुक् + आर्त्तस्वर आदि रूप से पृथक्-पृथक् करने ) पर, विभक्ति और समास दोनों पृथक्-पृथक् प्रतीत होने लगते हैं । ‘पदश्लेष’ में ‘प्रकृतिश्लेष’ से यही भेद है कि पदश्लेष में तो पद के साथ-साथ विभक्ति और समास भी पृथक्-पृथक् प्रतीत हुआ करते हैं किन्तु ‘प्रकृतिश्लेष’ में विभक्ति और समास का वैलक्षण्य अथवा पार्थक्य नहीं रहता । इस दृष्टि से, इस सूक्ति अर्थात्—

एवञ्च—

‘नीलानामाकुलीमायं लुगधैर्मुरिशिलीमुखैः ।

सदृशे वनपुष्पानां कमलानां वक्षीक्ष्यो ॥’

अत्र लुग्धशिलीमुखादिरान्दानां रिक्तत्वेऽपि विमर्शेभेवात्मकृतिरनेक,  
अन्यथा सर्वत्र पदश्लेषप्रसङ्गः ।

( १—विमर्शिरुपेय )

‘सर्वस्वं हर सर्वस्य त्व भवच्छेदतत्परः ।

स्योपकारसामुख्यमायासि वतुवर्तनम् ॥’

अत्र ‘हर’ इति पक्षे शिवसम्बोधनमिति सुप् । पक्षे हृषाणोस्त्विति  
विमर्शे । एवं ‘भव’ इत्याद्यौ ।

( २—वचनरुपेय )

अस्य च मेवस्य प्रत्ययरूपेणापि गतार्थत्वे प्रत्ययान्तरासाध्यमुक्तविरुद्ध  
गतत्वेन विच्छिन्नविशेषाभयवात्युपगुक्तिः ।

‘तवीजने, उस सुन्दरी के मुख ‘लुग्धैः मुरिशिलीमुखैः आकुलीमायं नीलानां वनपुष्पानां  
कमलानां सदृशे’—ऐसे हैं जिन्हें बहुत अधिक बानों से सजे-बजे प्यालों द्वारा प्याकुल किये  
गये वनवासी सूर्यों के मुख किया सीरम के प्रेमी अनेकानेक अमरों द्वारा चिरे अकवासी  
कमलों के बूँदों के समान कहा जा सकता है ।

में ‘प्रकृतिरुपेय साधना ही उचित है क्योंकि यहाँ ‘लुग्ध शिलीमुख’ आदि लक्ष्यों में  
क्षिप्रता रहने पर भी विमर्श ( और साथ ही साथ समास ) में कोई भेद नहीं प्रतीत  
होता । यदि ऐसी बात न मानी जाय ( अर्थात् यदि विमर्श आदि क भेद में भी पद-  
श्लेष ही माना जाया करे ) तब तो सर्वत्र पदश्लेष ही हुआ करे और प्रकृतिरुपेय न।  
कहीं भी कोई चेत न रह जाय ।

( १—विमर्शिरुपेय )

( शिव के प्रति शिवभक्त की उक्ति ) है बहुत महादेव ! ‘त्वं सर्वस्य सर्वरत्नम्—तुम्हीं  
हस चराचर जगत् के सर्वस्व हो ‘त्वं भवच्छेदतत्परः तुम्हीं प्राप्तिमात्र क किये इस  
संसार अथवा जन्म-मरण-परम्परा के तोड़ने वाले हो और ‘त्व स्योपकारसामुख्यं वतु-  
वर्तनमायासि तुम्हीं ऐसे हो जो समय-समय पर ऐसा शरीर धारण किया करते हो जो  
सहाचरण और सहपुत्रों से सबका कल्याणकारी हुआ करता है ।’

‘( अपने पुत्र के प्रति चोर की उक्ति )’ ‘हे पुत्र ! त्वं सर्वस्य सर्वरत्नं हर’ तू सब का सब  
कुछ चुराया कर ‘त्वं वृद्धतत्परो भव’—जो कोई भी तुझे रोके-रोके उसे मिट्टी में मिला दे,  
‘आयासि वर्तनं वतु’—ऐसा व्यवहार कर जिसमें लोग लंग हो जाँय और ‘उपकारसामुख्यं  
भव’—किसी के साथ कोई भी उपकार न कर ।

यहाँ एक पद ( अर्थात् शिवपद ) में ‘हर’ पद सम्बोधन का पद है जिससे यहाँ ‘सु’  
विमर्श आयी है और दूसरे अर्थात् चोर पद में यह पद ( हृषार्थक ) ‘ह’ वाणु से  
( हारलकार में ) विहित ‘सिप्’ विभक्ति का रूप है । इसी प्रकार ‘भव’ पद, शिवपद  
में सम्बोधन की ‘सु विमर्श का रूप है और चोरपद में ‘यु’ वाणु से ( हारलकार में )  
विहित ‘मिप्’ विमर्श का रूप है । इस प्रकार यहाँ विमर्शिरुपेय का सौम्य रूप है ।

अपि इस प्रकार क विमर्शिरुपेय को प्रत्ययरूपेय में अन्तर्भूत भी किया जा सकता है

(८—भाषाश्लेष)

‘महदे सुरसन्ध मे तमव समासङ्गमागमाहरणे ।

हर बहुसरणं चित्तमोहसुवसर उमे सहसा ॥’

अत्र सस्कृतमहाराष्ट्रयोः ।

(श्लेषगत भेद-प्रभेद)

पुनस्त्रिधा सभङ्गोऽथाभङ्गस्तदुभयात्मकः ॥ १२ ॥

एतद्भेदत्रय चोक्तभेदाष्टके यथासम्भव ज्ञेयम् ।

यथा वा—

‘येन ध्वस्तमनोभवेन बलिजित्काय’ पुरास्त्रीकृतो

यश्चोदवृत्तभुजङ्गहारबलयो गङ्गा च योऽधारयत् ।

यस्याहु शशिमच्छिरोहर इति स्तुत्य च नामामराः

पायात्स स्वयमन्धकक्षयकरस्त्वा सर्वदोमाधवः ॥’

क्योंकि सुप् और तिङ् विभक्ति भी प्रत्ययरूप ही हैं किन्तु इसे इसलिये एक पृथक् श्लेष-प्रकार माना गया है क्योंकि यह और प्रत्ययों (जैसे कि क्तिप् आदि) से निष्पन्न न होने और एक मात्र सुचन्त और तिङन्तरूप होने के कारण एक अपनी ही विचित्रता रखता प्रतीत होता है ।

‘(सस्कृत भाषा में अर्थ) हे महदे ! हे उमे ! हे भक्तजनों को आनन्दित करनेवाली देवी पार्वती ! आगमाहरणे सुरसन्ध मे समासङ्गमव—आगम-ज्ञान के उपार्जन में, देवों द्वारा अभिलपित ज्ञान-प्रेम को, मुझ में स्थापित करो, अवसरे बहुसरणं त चित्तमोह सहसा हर—और समय समय पर, मेरे मन के उस मोहान्धकार का शीघ्र नाश करती रहो जो कि उसे नाना प्रकार से घेरा करता है ।

‘(महाराष्ट्री में अर्थ) हे हरवहु ! हे गौरी ! हे पार्वती ! धमे मह रसं देसु-धर्म में मेरा प्रेम बढ़ाओ, तमवस आस गमागमा हर—इस जन्ममरणरूप ससार से, मेरी तमोमयी नृणा को, दूर हटा दो, त सरण तुम ही मेरे लिये एक मात्र शरण हो, मे चित्तमोह अवसरउ—और मेरे चित्त के सभी व्यामोहों को दूर कर दो ।’

यहाँ सस्कृत और महाराष्ट्री भाषाओं का श्लेष स्पष्ट है ।

अनुवाद—यह श्लेष, पदों के भङ्ग-अभङ्ग के कारण, तीन प्रकार का हो जाया करता

है—(१) सभङ्गश्लेष, (२) अभङ्गश्लेष और (३) सभङ्गाभङ्गश्लेष ।

श्लेष का यह भेदत्रय इसके उपर्युक्त आठ प्रकारों में ही यथासम्भव अनुगत समस्त लेना चाहिये । अथवा इसके लिये यह निम्न सूक्ति उदाहृत की जा रही है जिसमें सभङ्ग, अभङ्ग और सभङ्गाभङ्ग श्लेष का स्वरूप एकत्र स्पष्ट है—

‘(विष्णु-पञ्च में) स माधवः त्वा पायात्—वे माधव अर्थात् लक्ष्मीपति विष्णु तुम्हारी रक्षा करें, येन अभवेन अन ध्वस्तम्—जो अजन्मा हैं और (कृष्णरूप में) शकटासुर के सहारक है, येन पुरा बलिजित्काय स्त्रीकृत—जिन्होंने, अमृतमयन के समय, बलिदानव जो अनाचारी कालियनाग का दमन कर चुके हैं, य रवलयः—जो श्रुतियों और उपनिषदों के अन्तिम रहस्य हैं, य अग गाञ्ज आधारयत्—जिन्होंने (कृष्णरूप में) गोवर्धन पर्वत

अत्र 'येन' इत्यादौ समञ्जरलेपः । 'अन्धकः' इत्यादावमङ्गः । अनयोश्चैकत्र सम्भवात्समञ्जसमञ्जात्मको भन्यगौरवमयात्पृथक्नोदाहृतः ।

(रक्षेपविषयक शास्त्रार्थः)

इह केचिदाहुः—'समञ्जरलेप एव शब्दरलेपविषयः । यत्रोदात्तादिस्वरभेदाद्भिन्नप्रयत्नोच्चार्यत्वेन भिन्नयोः शब्दयोर्लोकान्तरन्यायेन रलेपः' । अमङ्गलस्य रलेप एव । यत्र स्वरभेदाद्भिन्नप्रयत्नोच्चार्यतया शब्दाभेदादधरोरेकवृत्तगत फलद्वयन्यायेन रलेपः । यो हि ध्वनिमिव स तदलङ्कार एव । अलङ्कार्यालङ्कारणभावस्य लोकोपदाभयामयिमावेनोपपत्तिः' इति ।

और (धर्मरूप में) इस प्रियी को धारण किया है, यत्न च सक्षिप्तशिरोहर इति स्तुत्यं नाम अमरा आहुः—जिन्होंने देवता लोग शक्तिमत् अर्थात् चन्द्रमा के नासक राहु के मस्तक का कर्मववाका कहा करते हैं अन्धकचक्र—आ कि धाद्यों के निवास (हरका घाम) के संस्थापक और संहारक दोनों हैं सर्वदा—और जो कि सब कुछ के दाता हैं, सब के मनोरथ सफल करने वाले हैं ।

(सिच-पक्ष में) येन प्वस्तमनोभवमं बलित्किताया पुरा अस्तीकृत्य—मनोमय अथवा काम के संहारक, जिन्होंने त्रिपुरदाह के समय बलित्व विष्णु के शरीर को अपने अङ्गुली में प्रयुक्त किया यह उद्धृतमुक्तहृदयकथा—जिन्होंने कपड़े हुने सर्पराज को धपवा हार और बन्ध बनाया, या गङ्गाज अवारयत्—जिन्होंने अपने मस्तक पर गङ्गा को सम्राज्य, यस्य च क्षिरा दक्षिमत इति हर इति च स्तुत्यं नाम अमरा आहुः—जिनका चन्द्रार्कमस्तक और स्तुत्य 'हर' नाम देवगण की वन्दना का विषय है स्वयम्भुव चक्र—जिन्होंने अम्बकापुर का संहार किया, उमावना—और जो उमा के पति हैं वे भगवान् लङ्कर सर्वदा दुन्दारी रहा करें ।

यहाँ समञ्ज अमङ्ग और समञ्जमङ्ग—दोनों प्रकार के रक्षेप दर्शनीय हैं । इस एक ही सूक्ति में 'येन' इत्यादि में समञ्जरक्षेप 'अन्धकचक्र' में अमङ्गरक्षेप और अम्बज समञ्जमङ्गरक्षेप की अवस्थिति बताते हुये यह आश्चर्यक नहीं कि उन्हें भिन्न-भिन्न सूक्तियों द्वारा उद्धृत किया जाय क्योंकि ग्रन्थ के आकार-प्रकार के बदले का भी तो डर है ।

अनुवाद—यहाँ कतिपय काव्याचार्यों (जैसे कि अलङ्कारसर्वस्वकार [आचार्य इय्यक् आदि] का यह कहना है कि 'समञ्ज रक्षेप की गणना अष्टाङ्कहारों में की जानी चाहिये क्योंकि यही रक्षेप-प्रकार सम्भ्रक्षेप का विषय है क्योंकि यहाँ देखा संभव है कि पदात्तादि स्वरों के भेद के कारण भिन्न-भिन्न प्रकारों द्वारा उच्चारण करने योग्य भिन्न-भिन्न भी शब्द, 'जटु' (काक) और 'कठ' (कम्पी) की मूर्ति परस्पर एक दूसरे से रिकट अथवा मिके-मुके से प्रतीत हुना करते हैं' । अमङ्गरक्षेप को तो अष्टाङ्कहार मानना पड़ता है क्योंकि यह रक्षेप-प्रकार अर्धरक्षेप का विषय है । यहाँ उदात्तादि स्वरों की अभिन्नता से उच्चारण के बाध और आम्बान्तर प्रयत्नों में भेद न होने के कारण ज्यों में भेद नहीं हुना करता और अर्ध एक गुण्य में कटके दो [क्यों की मूर्ति परस्पर रिकट अथवा मुके-मुकाने कहा करते हैं । योही अलङ्कार प्रसीकिये अथ् अथवा अर्ध का अलङ्कार कहा जाया करता है क्योंकि यह अथ् अथवा अर्ध पर आश्रित रहा करता है । जिसे काव्य में अलङ्कार्य-अलङ्कारणमात्र कहते हैं उसमें वस्तुतः, लोक के अलङ्कार्य-अलङ्कारणमात्र की ही मूर्ति आभयामविद्याय (आचारायेवमाय) रूप संभव ही ठीक बँचता है ।'

तदन्ये न क्षमन्ते । तथाहि—अत्र ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्यदोषगुणालङ्काराणां शब्दार्थगतत्वेन व्यवस्थितेरन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वेन नियम इति ।

न च 'अन्धकक्षय-' इत्यादौ शब्दाभेदः, 'अर्थभेदेन शब्दभेदः' इति दर्शनात् । किं चात्र शब्दस्यैव मुख्यतया वैचित्र्यबोधोपायत्वेन कविप्रतिभयोद्दृक्ताच्छब्दालङ्कारत्वमेव । विसदृशशब्दद्वयस्य घन्घे चैवविधस्य वैचित्र्याभावाद् वैचित्र्यस्यैव चालङ्कारत्वात् । अर्थमुखप्रेक्षितया चार्थालङ्कारत्वेऽनुप्रासादीनामपि रसादिपरत्वेनार्थमुखप्रेक्षितयार्थालङ्कारत्वप्रसङ्गः । शब्दस्याभिन्नप्रयत्नोच्चार्यत्वेनार्थालङ्कारत्वे 'प्रतिकूलतामुपगते हि विधौ' इत्यादौ शब्दभेदेऽप्यर्थालङ्कारत्वतवापि प्रसज्यतीत्युभयत्रापि शब्दालङ्कारत्वमेव । यत्र तु शब्दपरिवर्तनेऽपि न श्लेषत्वखण्डना, तत्र—

किन्तु अन्य काव्याचार्यों ( जैसे कि काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मट आदि ) को यह सब मान्य नहीं । उनका कहना यह है—ध्वनि, गुणीभूतव्यङ्ग्य, दोष, गुण और अलङ्कार की शब्दगतता अथवा अर्थगतता की व्यवस्था का एकमात्र नियामक 'अन्वयव्यतिरेक' का सिद्धान्त है । यहाँ 'आश्रयाश्रयिभाव' अथवा 'आधाराधेयभाव' का क्या काम ? इसलिये शब्द के भेद अथवा अभेद से, 'येन ध्वस्तमनोभवेन' आदि सूक्ति में, कहीं शब्दश्लेष ( सभङ्गश्लेष ) और कहीं जैसे कि 'अन्धकक्षय' आदि में अर्थश्लेष ( अभङ्गश्लेष ) का मानना युक्तियुक्त नहीं क्योंकि 'अन्धकक्षय' आदि में, जब कि अर्थ भिन्न हैं, तब, शब्द की अभिन्नता कैसी ? क्योंकि यह तो एक मान्य सिद्धान्त है कि 'यदि कहीं अर्थ भिन्न-भिन्न हैं तो वहाँ शब्द भी भिन्न-भिन्न ही होंगे ।'

साथ ही साथ 'अन्धकक्षय' आदि में शब्दश्लेष की मान्यता अधिक युक्तिसंगत दिखायी देती है क्योंकि यहाँ जो भी चमत्कार है वह एकमात्र इस शब्द के ही कारण है जिसे कवि की प्रतिभा यहाँ उद्विग्न कर रही है । यदि यहाँ अन्य प्रकार के दो शब्द रख दिये जाँय तो यह चमत्कार नष्ट होता दिखायी देगा और जब चमत्कार ही नष्ट हो जायगा तो अलंकार कहीं से रह पायगा क्योंकि जो भी 'अलंकार' है वह तो 'वैचित्र्य' रूप है । इसके अतिरिक्त यहाँ यह भी ध्यान रखना चाहिये कि यदि अर्थ की दृष्टि से इस अलंकार को अर्थालंकार मानना है तो अनुप्रास आदि को भी अर्थालंकार ही मानना पड़ेगा क्योंकि अनुप्रास आदि शब्दालंकार भी ( अर्थनिरपेक्ष नहीं अपितु ) रसभावादि रूप अर्थ की अपेक्षा रखा करते हैं । यहाँ यह भी कहना उचित नहीं कि जब कि 'अन्धकक्षय' आदि शब्द एक ही प्रयत्न से उच्चारण किये जाने योग्य हैं तब इन्हें अर्थश्लेष का ही विषय मानना ठीक है क्योंकि तब तो 'प्रतिकूलतामुपगते हि विधौ' आदि में भी, जहाँ 'विधि' और 'विधु' शब्द के सप्तमी एकवचनान्तरूप वस्तुतः भिन्न भिन्न होने पर भी, एक प्रयत्न से उच्चरित हो सकते हैं, अर्थश्लेष ही मानना पड़ जायगा । इसलिये यहाँ यही मानना ठीक है कि सभङ्ग और अभङ्ग दोनों प्रकार के श्लेष शब्दालंकाररूप ही हैं ( और 'अन्धकक्षय' आदि तथा 'प्रतिकूलतामुपगते हि विधौ' आदि में जो श्लेष है वह शब्दश्लेष ही है ) । इसका यह अभिप्राय नहीं कि अर्थश्लेष का कोई विषय ही नहीं बच पाता । अर्थश्लेष का विषय वह है जहाँ शब्द के बदल देने पर भी श्लेष में कोई छति नहीं आया करती । जैसे कि निम्नसूक्ति अर्थात्—



‘स्तोकेनोन्नतिमायाति स्तोकेनायास्यधोगतिम् ।

अहो सुसदृशी धृतिस्तुताकोटे सख्यस्य च ॥’

इत्यादायर्थश्लेषः । अस्म्य षास्त्रकारान्तरविषिक्तविषयताया असम्भवादिष-  
सानेभ्यस्तत्कारान्तरेष्वपवादत्वेन तद्व्यापकतया तत्प्रतिमोत्पत्तिहेतुत्वमिति केचित् ।

इत्यमत्र विचार्यते—समासोक्त्यप्रस्तुतप्रशंसादौ द्वितीयार्थस्मानभिषेय  
तया नास्य गन्धोऽपि । ‘विद्वन्मानसहस्र—’ इत्यादौ श्लेषगर्भे रूपकेऽपि मानस-  
शब्दस्य चित्तसरोरूपोभयार्थत्वेऽपि रूपकेण श्लेषो बाध्यते । सरोरूपस्यैवार्थस्य  
विभ्राम्बिभ्रामतया प्राभाभ्यात्, श्लेषे द्वार्थद्वयस्यापि समकक्षत्वम् ।

‘सन्निहितवाक्यान्वकारा भास्वन्मूर्तिश्च’ इत्यादौ विरोधमासेऽपि विद्वद्वा-  
र्थस्य प्रतिभावमात्रस्य प्ररोहामावाप्तिर श्लेषः । एवं पुनरुक्तवदमासेऽपि ।

‘घोड़े में ही ऊपर बैठना और घोड़े में ही नीचे गिरना बड़ी बड़ बात है जो कि तरान्,  
की डंडी और लकड़ी की एक समान बात है ।

में जो रक्षेप है वह अर्थरक्षेप है ( क्योंकि ‘स्तोकम् आदि पदों के बड़े ‘स्वरूपेण’ जगि  
रख देने पर भी वहाँ ‘रक्षेप’ तो अप्रुण्य ही दिखायी देता रहता है ) ।

यहाँ प्राचीन काव्याचार्यों ( जैसे कि आचार्य कन्नड और आचार्य सूर्यक ) की यह  
मात्तता भी ठीक वहीँ बैठती कि ‘रक्षेप का चम अन्व बलकारों से असंकीर्ण रहा करता  
है रक्षेप अन्व बलकारों के आभासमात्र का उत्पादक हुआ करता है और ‘रक्षेप’ अन्व  
बलकारों का अपवादरूप होने से उन्नत वाचक है ( क्योंकि अन्व बलकार सामान्य  
है और रक्षेप विरोध रूप होने से वाचक है ) । यहाँ इस प्रकार देखा है—  
‘समासोक्ति’ अमस्तुतप्रशंसा’ आदि के प्रसङ्गों में रक्षेप की गन्ध भी नहीं रहती क्योंकि  
वहाँ प्रतीत होनेवाला जो दूसरा अभिप्राय हुआ करता है वह अभिप्रेषण नहीं अपितु  
व्यङ्ग्यरूप ही हुआ करता है ( और रक्षेप के किन्ने दोनों अर्थों का वाचक होना ही  
सर्वमात्र है ) । ‘विद्वन्मानसहस्र’ आदि सूक्ति में भी वहाँ रक्षेपार्थ रूपक है और  
‘मानस’ सम्प्र मग और सरोवररूप दोनों अर्थों का वाचक है ऐसा नहीं कि रक्षेप द्वारा  
कमक बाधित हो अपितु ऐसा है कि कमक द्वारा ही रक्षेप बाधित हो रहा है क्योंकि यहाँ  
अन्तर्गतोक्त्या रूपक चमत्कार के कारण, ‘सरोवररूप’ अर्थ पर ही सङ्ग्रह की आस्था  
जमती है । यहाँ रक्षेप की समावृत्ति तो तब होती जबकि सरोवररूप और मनरूप दोनों  
अर्थ परस्पर विरुद्ध होते और प्रयोजनतया विराजमान प्रतीति होते ।

इसी प्रकार यदि ‘सन्निहितवाक्यान्वकारा भास्वन्मूर्तिश्च’ ( विरोध—कुत्त-कुत्त अन्व-  
कार कुत्त और सूत्र की मूर्ति, विरोधपरिहार—केलक अन्वकार से कुत्त और प्रकाश-  
मान रूपवाची ) आदि विरोधमास के प्रसङ्गों को देखा जाय तो वहाँ भी ( अपवाद-  
विद्वद् और अन्ततः अविद्वद् अर्थों के मेल के कारण ) ‘रक्षेप’ की समावृत्ति नहीं दिखायी  
पड़ती क्योंकि यहाँ जो विद्वद् अर्थ है वह अपाठता अर्थ ही प्रतीत हो अन्ततः तो  
कदापि अवस्थित नहीं रहता । यही बात ‘पुनरुक्तवदमास’ के अर्थों पर भी कम्बू होती  
है ( क्योंकि वहाँ भी दूसरी अर्थ के आभासमात्र रूप से ही रह जाने के कारण ‘रक्षेप’ की  
समावृत्ति समझ हो जाती है ) ।

तेन 'येन ध्वस्त-' इत्यादौ प्राकरणिकयोः, 'नीतानाम्-' इत्यादावप्राकर-  
णिकयोरेकधर्माभिसम्बन्धात्तुल्ययोगितायाम्,

'स्वेच्छोपजातविषयोऽपि न याति वक्तुं

देहीति मार्गणशतैश्च ददाति दुःखम् ।

मोहात्समुत्क्षिपति जीवनमप्यकाण्डे

कष्टप्रसूनविशिख. प्रभुरल्पबुद्धिः ॥'

इत्यादौ च प्राकरणिकाप्राकरणिकयोरेकधर्माभिसम्बन्धाद् दीपके ।

'सकलकलपुरमेतज्जातं सप्रति सुधाशुबिम्बमिव' ।

इत्यादौ चोपमाया विद्यमानायामपि श्लेषस्यैतद्विषयपरिहारेणासंभवाद्  
एषा च श्लेषविषयपरिहारेणापि स्थितेरेतद्विषये श्लेषस्य प्राधान्येन चमत्का-

इससे जो निष्कर्ष निकल सकता है वह यही है कि 'येन ध्वस्तमनोभवेन' आदि में विष्णुपरक और शिवपरक-दोनों प्राकरणिक (प्रकृतरूप से विवक्षित) अर्थों और 'नीतानामाकुलीभावम्' आदि में, (कमल और हरिणरूप) दोनों अप्राकरणिक (अप्रकृत) अर्थों में, एक धर्म ('येन ध्वस्तमनोभवेन' आदि में 'अन्धकृत्यकरत्वं' आदि और 'नीतानामाकुलीभावम्' आदि में 'वनवृद्धत्वं' आदि) के अनुप्रवेश के कारण 'तुल्ययोगिता' (पदार्थानां प्रस्तुतानामन्येषां वा यदा भवेत् । एकधर्माभिसम्बन्धः स्यात्तदा तुल्ययोगिता) की संभावना होने पर भी 'श्लेष' की ही मान्यता युक्तिसंगत है । इसी प्रकार इस सूक्ति अर्थात्—

'वदे दुःखकी बात है कि प्रसूनविशिख (पुष्पद्याण) कामदेव और अल्पबुद्धि राजा दोनों समानरूप से ही दुःखदायी हुआ करते हैं—स्वेच्छोपजातविषयोऽपि देहीति वक्तुं न याति—कामदेव स्वेच्छामात्र से प्राणिमात्र को अपने बाणों का लक्ष्य बनाया करता है और सदा अनङ्ग ही कहा जाया करता है और अल्पबुद्धि राजा भी स्वेच्छया देश-देशान्तरों पर प्रभुत्व प्राप्त करता है किन्तु किसी के द्वारा 'कुछ दीजिये' की याचना से अछूता रहा करता है, मार्गणशतैश्च दुःख ददाति—कामदेव अपने बाणों से प्राणिमात्र को विद्ध करता है, और अल्पबुद्धि राजा याचना की यातनाओं से लोगों को पीड़ित किया करता है और, मोहात् अकाण्डे जीवनमपि समुत्क्षिपति—कामदेव प्राणिमात्र के हृदय में प्रेम मोह उत्पन्न करके अचानक प्राण भी हर लेता है और अल्पबुद्धि राजा भी मोहवश प्रजाजन का प्राण हरण किया करता है ।'

आदि में प्राकरणिक (राजरूप) और अप्राकरणिक (कामरूप) अर्थों में, एक धर्म (स्वेच्छोपजातविषयत्व आदि) के 'अभिसम्बन्ध' के कारण 'दीपक' (अप्रस्तुत-प्रस्तुतयोर्दीपक तु निगद्यते) की संभावना होने पर भी 'श्लेष' मानना ही अधिक उचित है । यही बात 'सकलकलपुरमेतज्जातं सप्रति सुधाशुबिम्बमिव' (सकलकल-कोलाहल से युक्त यह नगर इस समय सकलकल-सम्पूर्ण कलाओंवाले-चन्द्रबिम्ब की भांति लग रहा है) आदि प्रसङ्गों में भी लागू होती है । क्योंकि यहाँ 'उपमा' की संभावना होने पर भी, 'श्लेष' की ही मान्यता युक्तिसिद्ध प्रतीत होती है । अब इन उपर्युक्त अलङ्कारों के प्रसङ्गों में अन्ततोगत्वा 'श्लेष' की ही मान्यता क्यों युक्तिसिद्ध होती है ? इस पर यदि विचार किया जाय तो यही कहा जायगा कि इन अलङ्कारों के क्षेत्रों के अतिरिक्त 'श्लेष' का कोई क्षेत्र नहीं वचना और इन अलङ्कारों के क्षेत्र ऐसे हैं जहाँ 'श्लेष' की कोई छुआ-

रित्प्रतीतेः श्लेषेणैव व्यपदेशो भवितुं युक्तः, अन्यथा सङ्गच्छपदेशस्य सर्वथा माधप्रसङ्गाच्चेति ।

अत्रोच्यते—न तावत्परमावत् श्लेषस्यालङ्कारान्तराविधिकविषयता 'यन् भ्यस्तः' इत्यादिना विधिकविषयत्वात् । न चात्र मुख्ययोगिता, तस्यास्य द्वयारप्यर्थयोर्वाच्यत्वनियमाभावात् । अत्र च माधवोमाधवयोरेकस्य वाच्यत्वनियमे परस्य व्यङ्ग्यत्वम् स्यात् । किञ्च—मुख्ययोगितायामप्येकस्यैव धर्मस्त्वानेकधर्मि संबन्धितया प्रतीतिः इह त्यनेकेषां धर्मिणां पूवकपूवगर्भमसम्भृतया । 'सकलकर्म' इत्यादी च नोपमाप्रतिमोत्पत्तिहेतुः श्लेषः । पूर्णोपमाया निर्दिष्टत्वापत्तेः 'कमकर्मिष मुखा मनोऽन्तेऽन्ते' इत्याद्यस्ति पूर्णोपमाया विषय इति चेत् ? न, यदि 'सकल'— इत्यादी शब्दश्लेषतया नोपमा तत्किमपराद्ध 'मनोऽन्ते' इत्यादावर्परश्लेषेण ।

सूत नहीं रहती । साथ ही साथ जब कि इन उपर्युक्त प्रसङ्गों में 'श्लेष' का ही माधव्य स्पष्ट है और यह भी स्पष्ट है कि जो भी वैचित्र्य है वह श्लेष-जन्म ही है तो इन्हें 'रक' मानने में क्या आपत्ति है ? क्योंकि यदि ऐसा न माना जाय तब तो 'श्लेष' नाम का कोई अङ्कहार ही कहीं प्रतीत नहीं होता । किन्तु 'श्लेष' के सम्बन्ध में यह विचार-विमर्श सर्वथा अतुरज नहीं । यहाँ जो समझना है वह यह है—वस्तुतः ऐसी बात नहीं कि 'श्लेष' का क्षेत्र सदा अन्य अङ्कहारों से संकीर्ण ही रहा करता है क्योंकि येन ध्वस्त-मनोमधन' आदि से ही यह स्पष्ट है कि किस प्रकार 'श्लेष' का क्षेत्र अन्य अङ्कहारों से सर्वथा विधिक अथवा मिश्र हुआ करता है । 'येन ध्वस्तमनोमधन' आदि में, विष्णुपरक और शिवपरक रूप से विभक्त दोनों प्राकरमिक अर्थों में 'मुख्ययोगिता' की तो संभावना ही नहीं हो सकती क्योंकि यहाँ ये दोनों अर्थ स्पष्टतया वाच्यरूप से विभक्त हैं जब कि 'मुख्ययोगिता' के क्षेत्र यह आकरपरक नहीं कि जिन दो प्राकरमिक अर्थों में एक धर्म का योग हो व दोनों अर्थ वाच्य रूप ही हुआ करें । यहाँ यह कहना भी ठीक नहीं कि 'मा-पव' (विष्णु) और 'उमा-पव' (शिव) रूप अर्थों में कोई एक अर्थ वाच्य है क्योंकि तब दूसरा अर्थ व्यङ्ग्य हो जायगा और 'श्लेष' की गण्य ही उस आपगी । यहाँ 'मुख्ययोगिता' की इसलिये भी कोई संभावना नहीं क्योंकि 'मुख्ययोगिता' में तो ऐसा हुआ करता है कि एक ही धर्म अनेकों धर्मियों से सम्बद्ध प्रतीत हुआ करता है और यहाँ ऐसा है कि अनेकों धर्मों मिश्र-मिश्र धर्मों से संबद्ध प्रतीति हो रहे है । (अर्थात् यदि शिव-पव में मनोमधन आदि धर्म अनुगत हैं तो विष्णु-पव में शकटासुरावध आदि धर्म समवत प्रतीत हो रहे हैं) ।

इसी प्रकार यदि 'सकलकर्म' आदि सूक्ति को किया जाय तो यह स्पष्ट दिग्राही होगा कि यहाँ जो 'श्लेष' है वह उपमा के प्रतिभासमाध का कारण नहीं जिससे वह सिद्ध हो जाय कि यहाँ जो अङ्कहार है वह श्लेष ही है उपमा नहीं, क्योंकि ऐसा होने पर तो 'पूर्णोपमा' का विषय ही उचित ही जायगा । अब यदि यह कहा जाय कि पूर्णोपमा के विषय तो कमकर्मिष मुखा मनोऽन्तेऽन्ते आदि-आदि वाच्य-सम्बन्ध हैं ही और इनके 'मनोऽन्ते' आदि में रकपद्वारा पूर्णोपमा के वाचित हो जाने से ऐसा नहीं हो सकता कि पूर्णोपमा का क्षेत्र ही कहीं न दिग्राही है, तब यहाँ यह उत्तर दिया जायगा कि 'यदि सकलकर्म' आदि में शब्दश्लेष यागने से उपमा जायगा अनुचित हो तब 'कमक-

‘स्फुटमर्थोलङ्कारावेतावुपमासमुच्चयौ, किन्तु ।

आश्रित्य शब्दमात्र सामान्यमिहापि सम्भवतः ॥’

इति रुद्रटोक्तदिशा गुणक्रियासाम्यवच्छब्दसाम्यस्याप्युपमाप्रयोजकत्वात् ।

ननु गुणक्रियासाम्यस्यैवोपमाप्रयोजकता युक्ता, तत्र साधर्म्यस्य वास्तवत्वात् । शब्दसाम्यस्य तु न तथा, अत्र साधर्म्यस्यावास्तवत्वात् । ततश्च पूर्णोपमाया अन्यथानुपपत्त्या गुणक्रियासाम्यस्यैवार्थश्लेषविषयतया परित्यागे पूर्णोपमाविषयता युक्ता, न तु ‘सकल-’ इत्यादौ शब्दसाम्यस्यैवेति चेत् ? न-‘साधर्म्यमुपमा’ इत्येवाविशिष्टस्योपमालक्षणस्य शब्दसाम्याद्व्यावृत्तेरभावात् । यदि च शब्दसाम्ये साधर्म्यमवास्तवत्वान्नोपमाप्रयोजकम्, तदा कथं ‘विद्वन्मानस-’ इत्यादावाधारभूते चित्तादौ सरोवराद्यारोपो राजादेहसाधारोपप्रयोजकः ।

किञ्च-यदि वास्तवसाम्य एवोपमाङ्गीकार्या, तदा कथं त्वयापि ‘सकल-

मिव मुखं मनोज्ञमेतत्’ में भी उपमा न मानकर, अर्थश्लेष ही क्यों न मान लिया जाय, ( क्योंकि यहाँ ‘मनोज्ञत्व’ आदि धर्म उपमान और उपमेय—दोनों में अन्वित होने से श्लिष्ट ही तो है ) ? यहाँ यह कहना भी ठीक नहीं कि ‘इव’ शब्द की उपस्थिति में ‘उपमा’ की ही मान्यता युक्तियुक्त होगी क्योंकि तब तो ‘सकलकलम्’ आदि में भी ‘उपमा ही मानना पड़ जायगा क्योंकि औपम्य जैसे ‘इव’ शब्द के सन्नाह में सम्भव है वैसे ही शब्द-साधर्म्य में भी, जैसा कि ‘सकलकलम्’ आदि में स्पष्ट ही है । तभी तो आचार्य रुद्रट का वह कथन है—

‘यह ठीक है कि अर्थाश्रित होने से उपमा और समुच्चय—दोनों निरसदिग्वधरूप से अर्थ के ही अलङ्कार हैं किन्तु यह भी ठीक है कि कहीं शब्द-साधर्म्य के आधार पर, इन्हें शब्द-गत भी मान लिया जाय ।

जिसके देखते यही मानना उचित है कि जैसे गुण साम्य और क्रिया-साम्य उपमा के नियामक हैं वैसे ही शब्द-साम्य भी उपमा का एक नियामक ही है । अब यहाँ यदि यह कहा जाय कि गुण-साम्य और क्रिया-साम्य तो उपमा के वास्तविक प्रयोजक हैं क्योंकि—ये ही दोनों ऐसे हैं जिन्हें वास्तविक साधर्म्य का आश्रय माना जा सकता है और जो शब्दसाम्य है उसमें उपमा की कोई प्रयोजकता नहीं क्योंकि ऐसा साम्य वास्तविक साधर्म्य का आश्रय नहीं और इस दृष्टि से जहा कहीं जैसे कि कमलमिव आदि में, गुण-साम्य और क्रिया साम्य हो, वहाँ, अर्थश्लेष न मानकर ( क्योंकि उपमा ऐसे प्रसङ्गों में अर्थश्लेष का अपवाद है ) पूर्णोपमा ही मानी जायगी और जहाँ, जैसे कि ‘सकलकलम्’ आदि में, केवल शब्द-साम्य हो वहाँ पूर्णोपमा नहीं मानी जायगी क्योंकि बिना ऐसी व्यवस्था के पूर्णोपमा का विषय ही कहीं नहीं मिल पायेगा, तो इसका सीधा उत्तर यह होगा कि जब कि ‘भेद में साधर्म्य’ ( साधर्म्यमुपमा ) ही उपमा का लक्षण है और साधर्म्य में सभी प्रकार के ( अर्थात् शब्दकृत भी ) साधर्म्य सगृहीत हैं तो यह कदापि सम्भव नहीं कि शब्द-साधर्म्य में उपमा न मानी जाय ।

यहाँ यह कहकर भी छुठकारा मिलना कथिन है कि शब्दकृत साधर्म्य अवास्तविक साधर्म्य है और इसलिये इसे उपमा का प्रयोजक नहीं माना जायगा क्योंकि तब को ‘विद्वन्मानसहस’ आदि सूक्ति में राकादिरूप अर्थपर हसादिरूप अर्थ के आरोप (रूपण) के

कसम्—'इत्यादी धाभ्यमृतोपमाङ्गीक्रियते ? किञ्च अत्र श्लेषस्पैव साम्यनिर्वाहकता, न ॥ साम्यस्य श्लेषनिर्वाहकता, श्लेषबन्धतः प्रथम साम्यस्यासंभवात्, इत्युपमाया एवाङ्गीकृतेन व्यपदेशो व्याप्याम् 'प्रधानेन हि व्यपदेशा भवन्ति' इति न्यायात् ।

ननु राज्याक्षकारविषयेऽङ्गाङ्गीभावसंकरो नाङ्गीक्रियते तत्प्रथमत्र श्लेषोपमयोरङ्गाङ्गीभावः संकर इति चेत् ? न, अर्थानुसंधानविरहिष्यनुप्रासावादेव तथानङ्गीकारात् । एव दीपकादावपि ज्ञेयम् ।

'सत्पद्या मधुरगिरि' प्रसाधितारा मधोद्वतारम्भा ।

निपतन्ति धार्तराष्ट्राः करलक्षरान्मविनीपुष्टे ॥'

विमितकस्य से वितादिकस्य अर्थपर सरोचरादिकस्य अर्थ का अनेदामोप (कपज) जो कि सङ्घ-साधर्म्यकृत होने पर भी मान्य है अमान्य हो जायगा ।

यहाँ यह भी ध्याव रखना चाहिये कि यदि वास्तविक साम्य में ही उपमा की साम्यता ठीक है तब अवास्तविक साम्य के प्रसङ्ग जैसे कि 'सकलकस्य' आदि में उपमा की चर्चा भी नहीं होती चाहे उसे अन्त में श्लेष द्वारा वरिष्ठ ही क्यों न कर दिया जाय । जैसे 'सकलकस्य' आदि के सम्बन्ध में वस्तुतः जो बात है वह तो यह है—यहाँ (अस्य) श्लेष ही साम्य का निर्वाह कर रहा है न कि साम्य द्वारा श्लेष का निर्वाह किया जा रहा है क्योंकि श्लेष के पहले साम्य की संभावना ही असंभव है और इस दृष्टि से यहाँ 'उपमा' ही प्रधान (अङ्गी) रूप से विराजमान है (क्योंकि श्लेष तो उपमा के अङ्ग अथवा साधनरूप से ही वरितार्थ हो चुका है) और इस नियम अर्थात् जो प्रधान हुआ करता है उसी का नाम किया जाना करता है' के दृष्टते यहाँ जिस अङ्गद्वार का नाम किया जायगा वह 'उपमा' है श्लेष नहीं ।

यहाँ यह कहा जा सकता है कि 'सकलकस्य' आदि में 'श्लेष' और 'उपमा' का अङ्गाङ्गीभाव संकर भावना ठीक नहीं क्योंकि सङ्घातद्वारों ('सकलकस्य' में सङ्घ-श्लेष और सङ्घ-साधर्म्यमिश्रित उपमा) में अङ्गाङ्गीभाव संकर नहीं माना जाता करता । किन्तु इसका उत्तर यह होगा कि बिना सङ्घातद्वारों में अङ्गाङ्गीभाव-संकर नहीं माना जाया करता वे अनुप्रास आदि ही हैं क्योंकि जहाँ में अर्थ के अनुसंधान की आवश्यकता नहीं पड़ती । (किन्तु यहाँ जैसे कि 'सकलकस्य' आदि में सङ्घ-श्लेष और सङ्घसाधर्म्यमिश्रित उपमा में अर्थानुसंधान की आवश्यकता है वहाँ तो अङ्गाङ्गीभाव संकर की मान्यता पुष्पिमुक्त ही है ।)

यही उपर्युक्त दृष्टि सङ्घ-साधर्म्यकृत दीपक आदि अङ्गद्वारों के प्रसङ्गों में जो श्लेष हो वहाँ भी रखनी चाहिये ।

अन्त में बेनीसंहार की इस सुक्ति जर्वात्—

'सत्पद्या'—सुन्दर पंखोंवाले, मधुरगिरि—मधुर लक्ष्य करते प्रसाधितारा—सर्वत्र सत्सीम्वर विकिरते मधोद्वतारम्भा—सरसाम्र के आगम्य में स्वच्छन्द विहार करते, धार्तराष्ट्रा—वे हंस कलकबसाए—इस सैरसमय में मेदिनीपुष्टे निपतन्ति—इतस्तथा सर्वत्र पवित्री पर बिखरते दिखाली दे रहे हैं ।

अत्र शरद्वर्णनया प्रकरणेन धार्तराष्ट्रादिशब्दानां हंसाद्यर्थाभिधाने नियम-  
नाद्दुर्योधनादिरूपोऽर्थः शब्दशक्तिमूलो वस्तुध्वनिः । इह च प्रकृतप्रबन्धाभि-  
धेयस्य द्वितीयार्थस्य सूच्यतयैव विवक्षितत्वादुपमानोपमेयभावो न विवक्षित  
इति नोपमाध्वनिर्न वा श्लेष इति सर्वमवदातम् ।

( ७—चित्रालङ्कार )

पद्माद्याकरहेतुत्वे वर्णानां चित्रमुच्यते ।

आदिशब्दात्खङ्ग-मुरज-चक्र-गोमूत्रिकादयः । अस्य च तथाविधलिपिसन्नि-  
वेशविशेषवशेन चमत्कारविधायिनामपि वर्णानां तथाविधश्रोत्राकाशसमवायवि-

में, 'उपमाध्वनि' और 'श्लेष' का जो झगड़ा है उसका भी निपटारा कर दिया जा रहा है ।  
यहाँ कुछ काव्याचार्य 'उपमाध्वनि' मानते हैं क्योंकि उनके अनुसार यहाँ यह अभिप्राय  
निकलता है कि जैसे 'सत्पत्ता-बढ़े-बढ़े सहायकोंवाले, मधुरगिरि-मिष्टभाषी, प्रसाधिताशा-  
विजय की आकांक्षा से भरे, मदोद्धतारम्भा-वीरदर्प में चूर होकर सग्राम की तैयारी किये,  
धार्तराष्ट्रा-दुर्योधन आदि कौरवराजकुमार, कालवशात्-समय के फेर से, मेदिनीपृष्ठे निप-  
तन्ति-सर्वत्र युद्ध-क्षेत्र में सर-कट कर गिर-पड़ रहे हैं' वैसे ही सत्पत्ता-सुन्दर पखोंवाले  
धार्तराष्ट्रा-ये हस इतस्तत् . . विचरते दिखायी दे रहे हैं ।'

किन्तु वस्तुतः यह सब उपमाध्वनि नहीं क्योंकि यहाँ 'सत्पत्ता' आदि शरद्वर्णन-सम्बन्धी  
सन्दर्भ का जो दुर्योधन-सम्बद्ध दूसरा अभिप्राय है उसमें उपमानोपमेयभाव की विवक्षा  
नहीं अपितु नाटकीय इतिवृत्त की सूचना ही विवक्षित है । यहाँ 'श्लेष' की भी कोई  
सम्भावना इसलिये नहीं क्योंकि हंसपरक वाच्यार्थ और दुर्योधनादिपरक व्यङ्ग्यार्थ में  
श्लेष कैसा ? यहाँ तो वस्तुतः शब्दशक्तिमूल वस्तुध्वनि का सौन्दर्य दर्शनीय है क्योंकि  
जहाँ एक ओर शरद्वर्णन रूप प्रकरण के कारण 'धार्तराष्ट्र' आदि शब्दों की अभिधा 'हंस'  
आदि अर्थों के प्रतिपादन में नियन्त्रित हो रही है वहाँ दूसरी ओर शब्दशक्ति की महिमा  
से ( शब्दी व्यञ्जना के कारण ) दुर्योधनादिपरक द्वितीयार्थ भी प्रकाशित हो रहा है ।

इस विशद विचार से श्लेष का स्वरूप स्पष्ट हो गया इसमें कोई संदेह नहीं ।

अनुवाद—'चित्र' वह शब्दालङ्कार है जिसे वर्णों के ऐसे विन्यास-वैचित्र्य में देखा  
जाया करता है जिसमें पद्य आदि की रूपरेखा झलक जाया करती है ।

यहाँ कारिका में 'आदि' पद का प्रयोग इसलिये है जिसमें खड्ग, मुरज, चक्र,  
गोमूत्रिका आदि आदि चित्रों की रूपरेखा का भी ग्रहण कर लिया जाय ।

'चित्र' को शब्दालङ्कार कहने में उपचार का आश्रय लिया जाया करता है । यहाँ  
'उपचार' के आश्रय का अभिप्राय यह है—'वस्तुतः' तो शब्दात्मक वर्ण आकाश के गुण  
हैं और समवाय सम्बन्ध से आकाश में ही रहा करते हैं और चित्रालङ्कार के रूप में  
जो वर्ण-विन्यास है वह पद्मादि रूप में रचित लिपिसन्निवेश के अतिरिक्त और कुछ  
नहीं । किन्तु वैचित्र्याधायक लिपिसन्निवेशरूप वर्णों का वैचित्र्याधायक श्रोत्राका-  
शसमवेत वर्णों से कोई भेद नहीं हुआ करता । इसलिये यह निश्चित ही है कि आकाश-  
निष्ठ वर्णों को उपचारत आकारनिष्ठ मान लिया जाय । इस प्रकार आकाशसमवेत  
वर्णों का पद्माद्याकारनिष्ठ वर्णों से औपचारिक अमेद ही 'चित्रालङ्कार' के शब्दगत  
अलङ्कार होने का कारण है ।

शेषपक्षेन चमस्कारविधायिभिर्ध्वैरभेदेनोपचाराप्यङ्गशङ्कात्प्रात्यम् । तत्र पूर्व-  
वधो यथा मम—

‘भारमा सुपमा चारु कथा भारवपुसमा ।

मात्तवृत्तमावासा सा यामा मेऽस्तु मा रमा ॥’

एषोऽष्टपदपदसमघो दिग्बलेषु निर्गमप्रदेशाभ्या रिक्तपणम्, किन्तु विवि-  
ग्वलेष्वन्यथा, कर्णिकधरं तु रिक्तपणम् । एवं छद्गवन्धादिकमप्युक्तम् ।

काव्यान्तर्गद्भूतसमा तु नेह प्रपञ्च्यते ।

उदाहरण के लिये वह स्वरचित ‘पद्यवन्ध —

‘भारमा सुपमा’

[ जिसका अर्थ यह है—भार-मा-सुपमा=भार अर्थात् कामदेव की मा=सोमा की  
भक्ति सुपमा अथवा सोमावासी चाकसका मात्तवृत्तमा=अपधी सुन्दरता से भार अर्थात्  
कामदेव की पक्ष रति को भी पराजित करनेवाली मात्तवृत्तमावासा=विद-वेद  
आदि के द्वारा अप्राप्त भजन में विराजमान सा वासा=वह सुन्दरी, मेऽस्तु=मुझे निश्च  
आय रमा मांस्तुम्भके ही छक्की न मिले ]

यह उपर्युक्त पद्यवन्ध ‘अष्टपद-पद्य’-वन्ध है । इसके अष्टपदपद्यवन्ध होते का  
अभिप्राय यह है कि इसके कतिपय वर्ण जहाँ दिखायी में दैके वहाँ अथवा किसीको  
पर निर्गम और प्रवेश अर्थात् अनुलोम और प्रतिलोम-पाठ में निकल अथवा एकत्र के  
क्या करते हैं और कतिपय ऐसे भी रहा करते हैं जो विरिक्तार्थों में निरुत्त वहाँ पर  
केवल मन्त्र अथवा निर्गम ( केवल अनुलोम अथवा केवल प्रतिलोम पाठ ) के कारण  
छिन्न अथवा एकत्र नहीं रहा करते । इसका जो कर्मकार है वह छिन्न अथवा  
एकत्र का ही रहा करता है । इस मन्त्र के चित्र-वन्ध की भक्ति अन्य की चित्र-  
प्रकार जैसे कि छद्गवन्ध आदि स्वर्ण समस्त लिये जा सकते हैं ।

यहाँ चित्राङ्गहार का भेद-प्रभेद लक्षित नहीं बताया जा रहा है क्योंकि कल्प के  
लिये वह अङ्गहार एक ऐसी गाँठ का काम करता है जिससे हाथ का प्रवाह निश्चित हो  
जाता है और सङ्कष्टवृद्धि उद्दिष्ट हो पड़ता है ।

विमर्श—( क ) प्रायः सभी भाष्यकारों ने ‘विम’ अङ्गहार की कर्त्ता की है । अनिवासी  
भाष्यकारों से वात्स्यायिक कवि की रचना कहा करते हैं । चित्राङ्गहार का निर्माण-वैयर्थ्य  
कल्प की एक तात्त्विक साधना है । इस साधना का अन्त्य प्रायः सभी संस्कृत के कवि  
कर चुके हैं ।

( ख ) विमर्श कविराज का चित्राङ्गहार-कल्प ‘अङ्गहारसर्वस्व’ के इस विम-कल्प का  
अनुसरण करता है—

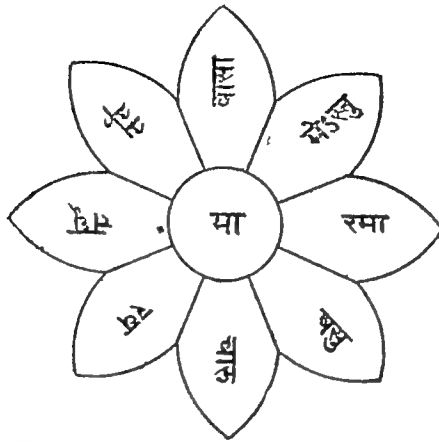
‘वर्णाङ्ग कर्त्ताप्राप्त्यतिवृत्तये विमम् ।’

पीयूषकल्पप्रस्तावे एवान्वितोपदिष्टवर्णपीयूषकल्पार्थं चित्रवन्धम् । यद्यपि चित्र-  
वन्धार्थं छद्गवन्धादिसंनिवेशविधिद्वयं तथापि ओषाकाकासमवेत-वर्णाङ्ग-कल्पामेदेव तेषां  
कोके प्रतीतेर्वाचकशङ्काङ्कारोक्तम् ।

—अङ्गहारसर्वस्व पृष्ठ १

( ग ) विमर्श कविराज द्वारा उदाहृत ‘अष्टपदपद्यविम’ इस प्रकार देखा जा सकता है—

( अष्टदलपद्मचित्र )



( घ ) चित्रालङ्कार का विशद विवेचन सरस्वतीकण्ठाभरणकार ने किया है। सरस्वतीकण्ठाभरणकार के अनुसार 'चित्र' ध्वनिशून्य रचना नहीं जिससे वह आलेख्य की भाँति निर्जीव लगा करे। चित्र की परिभाषा वस्तुतः यह है—

‘वर्णस्थानस्वराकारगतिबन्धान् प्रतीह य । नियमस्तद् बुधैः षोढा चित्रमित्यभिधीयते ॥’  
अर्थात् ‘चित्र’ वह रचना है जो कि व्यञ्जन, ( उच्चारण ) स्थान, स्वर, पञ्चादि आकृति, गति ( पढ़ने का विशेष ढंग ) और बन्ध के नियम से आश्चर्यजनक हुआ करती है।

‘चित्र’ के अनेकानेक भेद-प्रभेद हैं जो कि उपर्युक्त षड्विध वर्णादि नियम के ही परिणाम हैं। वर्ण अथवा व्यञ्जन-नियम के कारण ‘वर्णचित्र’ बनता है जिसे निम्न सूक्ति में देखा जा सकता है—

‘न नोननुन्नो नुन्नो नाना नानानना ननु ।  
नुन्नोऽनुन्नो ननुन्नो नानेना नुन्ननुन्ननुत् ॥’

यहाँ ‘न’ इस एक व्यञ्जन के ही नियमत प्रयोग से ‘एकव्यञ्जन चित्र’ बना हुआ है। स्थान नियम से ‘स्थान-चित्र’ की रचना हुआ करती है जिसमें ‘निष्कण्ठ्य’, ‘निस्तालव्य’, ‘निरोधय’ आदि-आदि के अनेकों भेद-प्रभेद हैं। उदाहरण के लिये यह ‘निष्कण्ठय चित्र’—

‘भूरिभूर्ति पृथुमीतिमुस्मूर्ति पुरुस्थितिम् ।  
विरिञ्चिं सूचिरुचिधी. शुचिभिर्नुतिभिर्धनु ॥’

स्वर-नियम से ‘स्वर चित्र’ रचे जाते हैं। इस ‘स्वरचित्र’ के भी ‘ह्रस्वैकस्वर’, ‘दीर्घैकस्वर’ आदि-आदि भेद-प्रभेद हैं। जैसे कि, यह ‘ह्रस्वैकस्वर-चित्र’—

‘उरुगुं धुगुरु युत्सु चुकुशुस्तुण्डु पुरु । लल्लु पुपुपुसुसु सुसुहुनुं मुहुसुहुं ॥’  
आकार-नियम के परिणाम-स्वरूप पञ्चादि आकृतियों के उन्मुद्रण में जो ‘चित्र’ बना करता है उसके प्रकार-वैचित्र्य का क्या कहना ? आकार चित्रों में चतुर्दलपद्म, अष्टदलपद्म, षोडशदलपद्म, आदि-आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। जैसे कि ‘अष्टदलपद्म’—

‘याश्रिता पावनतया यातनच्छिदनीचया ।  
याचनीया धिया माया यामायासं स्तुता श्रिया ॥’

गति-नियम भी चित्र-निर्माण का कारण है। गति-चित्र के भी अनेकों भेद हैं जिनमें ‘गत-प्रत्यागत’, ‘तुरङ्ग-पद’, ‘सर्वतोमद्र’ आदि प्रसिद्ध हैं। उदाहरण के लिये ‘गतप्रत्यागत’ चित्र—



‘वारवामागमीरा सा सारामीगमनारवा । कारितारिववा सेवा नासेवावितरिका ॥

वन्ध-नियम से ‘वित्र’ के लक्ष्यके मेरु निष्कल पड़ते हैं जिनमें ‘विषयव्यवहार’ ‘विन’,  
‘व्यवहार’ ‘विविधितवन्ध’ आदि मुख्य हैं । व्याख्यान के लिये ‘भोगवन्ध’—

‘कमकारकिहारिविवाहविशेषवर्ग’ अवकाश

न गगामिहरे विवि सारमनारमण करती व ।

उमसा बकहावि विवाहवसेव वर बनकमल

न बमामि विर सवितारमनादिमह जगता व ॥

‘वित्र’ की मेरु-गमना अंतर्मय है । साथ ही साथ कव्य-साहित्य में इच्छा और विवेक  
उभय ही हैं । सरस्वतीकण्ठाभरण्यार का इसीप्रकार यह कथन है—

‘कुम्भरत्नाय कठोरत्नाय कुर्वीकत्नाय विनायके ।

विद्यात् वसित विवे शेषमुखं महत्प्रमामि ॥

( ७ ) साहित्यदर्पण्यार ने वस्तुतः वित्र-भेदों में केवल जाहति-नियम के वित्र-भेदों का  
निर्देश किया जिनमें ‘अद्वयव्यवहार’ की रचना का संकेत भी कर दिया है । अद्वयव्यवहार  
के निर्माण का यह विषय है कि सरस्वतीकण्ठाभरण्यार का कथन है—

‘कर्मिकानां व्यसेवेकं हे हे विदु विविधु व ।

प्रवेसविर्गमौ विदु कुर्याद्व्यवहारमुजे ॥

अर्थात् ‘अद्वयव्यवहार’ में एक वर्ग कर्मिका अथवा लक्ष्य के केन्द्र में रहना चाहिये और पूर्ण  
आदि विद्याओं तथा पूर्व-प्रथम आदि की विविधताओं में ही-ही वही की विन्यस्त करना चाहिये ।  
विद्याओं में विन्यस्त वर्गों का अनुसंधान-प्रतिक्रिया पाठ हुआ करता है और विविधताओं में विन्यस्त  
वर्ग केवल अनुसंधान-पदों कावा करता है ।

कभी-कभी कविजन अपने कान्धों की वार्त्ता करने के लिये ‘अद्वयव्यवहार’ वित्र रचा करते हैं  
और उसमें अपने नाम की अंकित रचा करते हैं । व्याख्यान के लिये महाश्वेद राजकुमार-उचित  
यह ‘अद्वयव्यवहार’ वित्र की कि ‘राजकुमारकमल’ कहा जाता करता है—

‘राजावद्याविराज्या विसरारसविद्व्याजवाज्यव्यापकारा

राज्य पक्षामधेया वजनजनपनस्या स्वया स्तम्भमारा ।

रामा व्यस्तस्मिरत्ना सुदिनजनहितुः कीः करवारवारा

राजा इवास्तु मञ्ज सिधमममवशिवाकविद्यावतारा ॥

( ८ ) प्रविवादी जाहति-भेदों के लिये अजहति-विवेचन आवश्यक है । विचाराव कविराज  
प्रविवादी जाहति-भेदों के लिये अजहति-विवेचन आवश्यक है । विचाराव कविराज ने ‘विवाहहार’ का सौदाहरण कथन-निरूपण  
किया है और इसे ‘अजहति-भेद’ कहा है । किन्तु विचाराव कविराज का यह सब विवेचन  
अजहति-भेदों की माथीन वस्तुता का अनुसरण नहीं ही हो ‘रमात्मक वाक्य’ की अजहति-भेदों  
का निरूपण करानि नहीं । विचाराव कविराज की ‘विचाराव’ नामक कथन-वक्तव्य मान्य नहीं  
किन्तु अजहति-भेदों में विवाहहार अवश्य मान्य है । ऐसा कथन है कि माथीन साहित्यिक  
वस्तुता और प्रवीन कथन वार्त्ता के दृष्ट में ही ‘साहित्यदर्पण’ की रचना हुई है और इसलिये  
साहित्यदर्पण्यार का मनीष्यात्मक संतुल्य जहाँ-जहाँ विविध हो गया है । विवाहहार यदि  
अजहति-भेदों में ही और रमात्मक वाक्य की कथन मानने वाले आचार्य के लिये तो ऐसा ही  
है—तब इसमें अजहति-निरूपण की भी कोई आवश्यकता न थी । किन्तु अजहति-भेदों के आचार्य  
व्यवहार और सरस्वतीकण्ठाभरण्यार की वार्त्ता के प्रभाव में बहकर विचाराव कविराज ने  
विवाहहार की ही ‘साहित्यदर्पण’ के ही नीति देना दिया है और महर्षों की ही रिताने का  
प्रमाण कर दिया है । साहित्यिक कविता से कथन किता कथन है

( प्रहेलिका : अलङ्कारत्वखण्डन )

रसस्य परिपन्थित्वान्नालङ्कारः प्रहेलिका ॥ १३ ॥

उक्तिवैचित्र्यमात्रं सा च्युतदत्ताक्षरादिका ।

च्युताक्षरा दत्ताक्षरा च्युतदत्ताक्षरा च ।

उदाहरणम्—

‘कूजन्ति कोकिलाः साले यौवने फुल्लमम्बुजम् ।

किं करोतु कुरङ्गाक्षी वदनेन निपीडिता ॥’

अत्र ‘रसाले’ इति वक्तव्ये ‘साले’ इति ‘र’ च्युतः । ‘वने’ इत्यत्र ‘यौवने’ इति ‘यौ’ दत्त । ‘वदनेन’ इत्यत्र ‘मदनेन’ इति ‘म’ च्युत ‘व’ दत्तः । आदि-शब्दात्क्रियाकारकगुप्त्यादयः ।

तत्र क्रियागुप्तिर्यथा—

‘पाण्डवानां सभामध्ये दुर्योधन उपागतः ।

यस्मै गा च सुवर्णं च सर्वोण्याभरणानि च ॥’

अत्र ‘दुर्योधनः’ इत्यत्र ‘अदुर्योऽधनः’ इति । ‘अदु’ इति क्रियागुप्तिः । एवमन्यत्रापि ।

अनुवाद—शब्दालङ्कारों में ‘प्रहेलिका’ को भी एक अलङ्कार माना गया है । किन्तु इसे अलङ्कार मानना ठीक नहीं क्योंकि इससे काव्यात्मभूत रस में विघ्न ही पड़ा करता है । ‘प्रहेलिका’ के ‘च्युताक्षरा’, ‘दत्ताक्षरा’, ‘च्युतदत्ताक्षरा’ आदि प्रकार अधिक से अधिक उक्तिवैचित्र्य-मात्र ही कहे जा सकते हैं ।

यहाँ कारिका के ‘च्युतदत्ताक्षरादिका’ पद में ‘च्युताक्षरा’, ‘दत्ताक्षरा’ और ‘च्युतदत्ताक्षरा’ इन तीन प्रकार की प्रहेलिकाओं का ग्रहण किया गया है ।

उदाहरण के लिये—

‘साल पर कोयलें कूक रही हैं और यौवन में कमल खिले हुये हैं । यह मृगनयनी, जो कि वदन से निपीडित है, क्या करे ?’

यहाँ ‘साले’ में ‘च्युताक्षरा’ प्रहेलिका है क्योंकि यहाँ के उपयुक्त पद ‘रसाले’ के ‘र’ को छोड़ दिया गया है । यहाँ ‘यौवने’ में ‘दत्ताक्षरा’ प्रहेलिका है । क्योंकि यहाँ के उचित ‘वने’ पद में ‘यौ’ को जोड़ दिया गया है । इसी प्रकार ‘वदनेन’ में ‘च्युतदत्ताक्षरा’ प्रहेलिका है क्योंकि यहाँ के उपयुक्त ‘मदनेन’ पद का ‘म’ निकल गया है ( च्युत ) और उसके स्थान पर ‘व’ चला आया है ( दत्त ) ।

कारिका के ‘च्युतदत्ताक्षरादिका’ पद में ‘आदि’ का प्रयोग इमलिये है जिसमें यहाँ ‘क्रियागुप्ति’, ‘कारकगुप्ति’ आदि-आदि प्रहेलिका-प्रकार सगृहीत मान लिये जाँय । जेसे कि क्रियागुप्ति—

‘पाण्डवों की सभा में जो निर्धन व्यक्ति गया उसे उन्होंने गौ, भूमि, स्वर्ण किंवा नाना भौतिक के रत्न दिये ।’

यहाँ ‘क्रियागुप्ति’ स्पष्ट है क्योंकि यहाँ ‘दुर्योधन’ पद में ‘अदु’ क्रिया छिपी हुई है । ‘सभामध्ये दुर्योधन’ में यह छिपी क्रिया इस प्रकार निकलती है—‘अदु + या + अधनः’

( अर्थाङ्कहार । १—उपमा )

अथावसरप्राप्तेष्वर्थाङ्कहारेषु सादृश्यमूलेषु कश्चित्तथ्येषु तेषामप्युपजीव्यत्वेन प्राधान्यात् प्रथममुपमासाह—

साम्यं वाच्यमवैधर्म्यं वाक्यैक्यं उपमा द्वयोः ॥ १४ ॥

रूपकादिषु साम्यस्य व्यङ्ग्यत्वम्, व्यतिरेके च वैधर्म्यस्याप्युक्तिः, उपमे योपमायां वाक्यद्वयम्, अनन्वये त्वेकस्यैव साम्योत्थिरित्यस्या मेव ।

अपाठः । इसी प्रकार कारकगुप्ति' आदि रूप की प्रहेलिकाओं के उदाहरण एवं दैक क्रिये का प्रकट है ।

विमर्श—( क ) विशाङ्कहार 'आम्भान्तर्गुप्त' है और प्रहेलिका 'रसपरिस्थिती' है । उन इनका लोदाहरण कथन-निकषण करना 'गुप्तिरिक्ताप्रसाद' नहीं तो और क्या है ?

( ख ) विष्णुनाथ कविराज का 'प्रहेलिका'-निकषण सरस्वतीकण्ठाभरणकार के प्रभाव में हुआ है । 'प्रहेलिका' क्या है ? सरस्वतीकण्ठाभरणकार ने 'प्रहेलिका' को 'पहेली-मुद्गीबल' कहा है और इसके ३ प्रकारों का समस्तार निरूपण किया है—

'प्रहेलिका सङ्कल्पिता साधयि पोषा स्मृताचरा । वृत्ताचरोभयं मुष्टिर्बिन्दुसत्पर्यवत्यपि ॥ श्रीहमोद्गीबिभोदेवु सञ्जैराकीर्णमन्त्रये । परम्यामोदने चापि सोपयोगा प्रहेलिका ॥

( सरस्वतीकण्ठाभरण २ ११३-१४ )

'प्रहेलिका' का उपयोग मोड़ी विभोव रहस्यभाषण और दूसरे को आन्वेषित करने में हो है । इससे वह स्पष्ट है कि आम्भ ने 'प्रहेलिका' का और स्थाव नहीं ।

( ग ) विष्णुनाथ कविराज द्वारा निरिक्त 'क्रियागुप्ति' 'कारकगुप्ति' आदि प्रहेलिका-प्रकार सरस्वतीकण्ठाभरण के अनुसार 'गुप्त' के भेद-वर्णन है—

क्रियाकारकसंज्ञान्ते पञ्चमिमाषयस्तुमि । गोपितीः पदविधे मातुर्गुहं गृहार्थवेदिता ॥

( सरस्वतीकण्ठाभरण २ ११५ )

इसने 'क्रियागुप्ति' का वह उदाहरण बड़ा शुन्दर है—

'स्तनत्रयमभराभिराममम्ब गमनमिहं महिराम्यैवचाप ।

कममिह स्रुता बकोकमन्तो मदनधरम्बरज्वरा सुधाना ॥

यहाँ 'स्त' क्रियापद शुद्ध है क्योंकि वस्तुतः श्लोक-वाच्य इस प्रकार है—'अपमभराभिराम-मम्बं महिराम्यैवचाप गमनमवकोकमन्तो हे सुधाना । कममिह पूर्वं मदनधरम्बर ज्वरा न स्त ।

अनुवाद—अब अर्थाङ्कहारों के निरूपण के आरम्भ में सादृश्यमूलक अर्थाङ्कहारों का विशेषण आवरणक समझ कर सर्वप्रथम 'उपमा' का स्वरूप-विशेष किया जा रहा है क्योंकि यही वह अङ्कहार है जिसे सादृश्यमूलक अर्थाङ्कहारों का मूल माना गया है और जो कि वस्तुतः एक सर्वाधिक समकारण अङ्कार है ।—

'उपमा' क्या है ? 'उपमा' वह अङ्कार है जिसे उपमान और उपमेय का ऐसा साम्य अथवा 'सादृश्य' कहा करते हैं जो कि वस्तुतः एक वाच्य में प्रतिपादित रहा करता है और जिसमें वैधर्म्य की कोई भी चर्चा नहीं हुमा करती ।

'उपमा' दो पदार्थों का वह वैधर्म्यवाच्य साम्य है जो कि एक वाच्य-प्रतिपाद हुआ करता है—इस परिभाषा से यह स्पष्ट है कि उपमा 'रूपक' आदि अङ्कहारों से भिन्न जिसमें ( दो पदार्थों का ) साम्य (वाच्य नहीं अनित्य) व्यवहृत हुआ करता है 'व्यतिरेक' से

( उपमा के भेद-प्रभेद • १म पूर्णोपमा • श्रौती और आर्थी )

सा पूर्णा यदि सामान्यधर्म औपम्यवाचि च ।

उपमेयं चोपमानं भवेद्वाच्यम्—

सा उपमा । साधारणधर्मो द्वयोः सादृश्यहेतू गुणक्रिये मनोज्ञत्वादि ।

औपम्यवाचकमिवादि । उपमेयं मुखादि । उपमान चन्द्रादि ।

पृथक् है जिसमें ( साम्य के साथ-साथ ) वैधर्म्य की भी चर्चा रहा करती है, 'उपमेयोपमा' से एक रूप नहीं जिसमें साम्य ( एक वाक्य में नहीं अपितु ) दो वाक्यों में प्रतिपादित हुआ करता है और 'अनन्वय' से भी अलग है जिसमें ( दो पदार्थों का नहीं अपितु ) एक पदार्थ का ही साम्य वर्णित रहा करता है ।

विमर्श—( क ) काव्य में 'उपमा' की उपयोगिता और उत्कर्षापायकता के सवन्ध में एक कवि ने यह कहा—

‘अलङ्कारशिरोरत्नं सर्वस्वं कान्यसपदाम् ।

उपमा कविवशस्य मातेवेति, मतिर्मम ॥’

अर्थात् 'उपमा' वस्तुतः कविता की जननी है । 'उपमा' पर कविवश का अस्तित्व निर्भर है । 'उपमा' कविता का सर्वस्व है और यही वह अलङ्कार है जो कि कविता का चूडामणि है ।

आलंकारिक 'उपमा' को अलङ्कार-वृक्ष का बीज मानते हैं—

‘उपमैवानेकप्रकारवैचित्र्येणानेकालङ्कारबीजभूतेति प्रथमं निर्दिष्टा ।’

( रय्यक • अलङ्कारसर्वस्व )

अर्थात् 'उपमा' में वह शक्ति है जो कि अनेकानेक अलङ्कारों को जन्म दे सकती है । अलङ्कार का तात्पर्य वैचित्र्य है और उपमा समस्त वैचित्र्य की मातृभूमि है ।

( ख ) 'उपमा' को 'वैधर्म्य साम्य' मानने का यह अभिप्राय है—'साम्य' अथवा 'साधर्म्य' के तीन प्रकार हैं—( १ ) भेदप्राधान्य जैसे कि 'व्यतिरेक' में, ( २ ) अभेदप्राधान्य, जैसे कि रूपक में और ( ३ ) भेदाभेदतुल्यत्व । इस साम्य अथवा साधर्म्य के तृतीय प्रकार अर्थात् 'भेदाभेदतुल्यत्व' की भावना में जो सादृश्य की अनुभूति है वह उपमा है ( एव च भेदाभेदतुल्यत्वविषये यः सादृश्यप्रत्ययो जायते तस्योपमाविषयत्वमुक्तम्—आचार्य जयरथ ) । अलङ्कारसर्वस्वकार ने भी इसीलिए कहा है—

‘यत्र किञ्चित् सामान्यं कश्चिच्च विशेषः स विषयः सादृशताया ।’

अर्थात् सादृश्य की प्रतीति का विषय वह वस्तु है जिसमें अभेदहेतुक सामान्य और भेदहेतुक विशेष दोनों रहा करते हैं ।

अनुवाद—यह उपमा तब 'पूर्णोपमा' हुआ करती है जबकि इसमें उपमेय, उपमान, साधारण धर्म और उपमावाचक पद सभी स्पष्टतया प्रतिपादित रहा करते हैं ।

यहां कारिका में 'सा' का अभिप्राय 'उपमा' का है, 'साधारण धर्म' का अभिप्राय उपमान और उपमेयरूप से अवस्थित दो पदार्थों के पारस्परिक सादृश्य के नियामक 'मनोज्ञत्व' ( सौन्दर्य ) आदि गुण किंवा क्रिया आदि का है और 'औपम्यवाचक' का अभिप्राय सादृश्य के साक्षात् प्रतिपादक 'हव' आदि पदों का अभिप्राय है । 'उपमेय' उसे कहते हैं जो कि सादृश्य का आश्रयभूत पदार्थ हुआ करता है जैसे कि 'मुख' आदि और 'उपमान' वह है जिसे सादृश्य का निश्चितरूप से सवन्धी पदार्थ कहा जाया करता है जैसे कि 'चन्द्र' आदि ।

—इयं पुन ॥ १५ ॥

श्रीती यथेववाद्यम् इवार्थो वा वतिर्यदि ।

आर्थी तुल्यसमानाद्यास्तुल्यार्थो यत्र वा वति ॥ १६ ॥

यथेववादयः शब्दा उपमानानन्तरप्रयुक्ततुल्यादिपदसाधारणा अपि भुविमा त्रेषोपमानोपमेयगतसादर्यसङ्गणसम्बन्ध बोधयन्तीति वत्सङ्गादे श्रीसुपमा । एवं तत्र तस्येव' इत्यनेनेवार्थे विहितस्य वतेरुपादाने । तुल्याद्यस्तु—'कमलं तुल्यं मुखम्' इत्यादायुपमेय एव । 'कमलं मुखस्य तुल्यम्' इत्यादायुपमान एव । 'कमलं मुखं च तुल्यम्' इत्यादायुपमेयत्रापि विभक्त्यन्तीत्यर्थानुसन्धानादेव साम्यं प्रतिपादयन्तीति वत्सङ्गादे आर्थी । एवं 'तेन तुल्यम्—' इत्यादिना तुल्यार्थे विहितस्य वतेरुपादाने ।

यह 'पूर्वोपमा' दो प्रकार की हुआ करती है—(१) वह जिसे 'श्रीती' 'पूर्वोपमा' कहा करते हैं क्योंकि इसमें 'यथा' 'इव' 'वा' आदि जैसे औपम्यवाचक पद अथवा 'इव' के अर्थ में विहित 'वति' प्रत्यय का प्रयोग हुआ करता है जिसके अन्वयमात्र से ही सादर्य का अभिप्राय प्रतीत हो उठता है और (२) वह जो कि 'आर्थी' पूर्वोपमा कही गई है क्योंकि इसमें प्रयुक्त 'तुल्य' 'समान' आदि औपम्यवाचक पद अथवा तुल्यार्थक 'वति' प्रत्यय से जो सादर्य प्रतीत हुआ करता है वह (साक्षात् नहीं अपितु) अर्थानुसन्धान-पूर्वक ही प्रतीत हुआ करता है ।

यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि क्योंकि 'यथा' 'इव' 'वा' आदि जैसे किसी पद के प्रयोग में उपमा 'श्रीती' हुआ करती है । 'यथा' 'इव' 'वा' आदि के रहने से उपमा इसकिये 'श्रीती' हुआ करती है क्योंकि ये पद ऐसे हैं जो कि उपमान के बाद 'प्रयुक्त' किये जानेवाले 'तुल्य' आदि पदों के समान होवे पर भी अन्वयमात्र से ही उपमान और उपमेय दोनों में अनुगत सादर्य के स्वल्प को स्वल्प प्रकट कर दिया करते हैं । इसी अंति 'तत्र तस्येव' (५३-१११) इस पामिबिसूत्र से 'इव' के अर्थ में विहित 'वति' प्रत्यय के प्रयोग में भी उपमा 'श्रीती' ही हुआ करती है क्योंकि इस प्रत्यय का अन्वयमात्र ही उपमान और उपमेय के पारस्परिक साम्य का स्वल्प परिचय दे दिया करता है ।

किन्तु 'तुल्य' आदि पदों के प्रयोग में उपमा 'आर्थी' हुआ करती है । 'तुल्य' आदि पदों के प्रयोग में उपमा के 'आर्थी' होने का कारण यह है कि उपमान और उपमेय दोनों में अनुगत सादर्य के सूक्ष्म साध्य अथवा साधर्म्य का प्रतिपादन इनके अन्वयमात्र से नहीं अपितु इनके अर्थानुसन्धान के कारण हुआ करता है क्योंकि कहीं जैसे कि कमल के तुल्य मुख है' आदि में 'तुल्य' आदि पद केवल उपमेय से संबन्ध प्रतीत होते हैं, कहीं जैसे कि 'कमल मुख के तुल्य है' आदि में 'तुल्य' आदि पद केवल उपमान से संबन्ध विचारते हैं और कहीं-कहीं जैसे कि 'कमल और मुख तुल्य हैं'—आदि में ऐसा भी होता है कि ये पद उपमान और उपमेय दोनों में संबन्ध लगा करते हैं ( इसकिये जब तक इनके अर्थ का पर्यालोचन न हो जब तक उभयगत साम्य अथवा साधर्म्य का स्पष्टीकरण नहीं हो पाता ) । इसी प्रकार 'तेन तुल्यं क्रिया योद्धति' (५३-१५) इस पामिबिसूत्र से विहित 'वति' प्रत्यय के अर्थानुसन्धान से साम्य का अवलोकन होने के कारण, इस प्रत्यय के प्रयोग में भी उपमा 'आर्थी' ही हुआ करती है ।

( पूर्णोपमागत भेद : तद्धितगा, समासगा और वाक्यगा पूर्णोपमा )

द्वे तद्धिते समासेऽथ वाक्ये—

द्वे श्रौती आर्थी च । उदाहरणम्—

( तद्धितगा, समासगा और वाक्यगा श्रौती पूर्णोपमा )

‘सौरभसम्भोरुहवन्मुखस्य कुम्भावि व स्तनौ पीनौ ।

हृदयं मदयति वदनं तव शरदिन्दुर्यथा बाले ॥’

अत्र क्रमेण त्रिविधा श्रौती ।

विमर्श—उपमा के ‘श्रौती’ होने का तात्पर्य सादृश्य का ‘इवादि’ शब्द से प्रतिपादित होना है—इवादि शब्द दो भिन्न वस्तुओं के सादृश्य के अभिधायक हुआ करते हैं—‘यथेवशन्दौ सादृश्यमाह तुर्व्यतिरेकिणो.’ ( मामह ) ।

‘उपमा’ का ‘आर्थी’ होना ‘तुल्यादि’ शब्द से सादृश्य का प्रत्यायन है जैसा कि आचार्य महिनाथ का कथन है—

‘इवादीनामप्यर्थात् सदृशपर्यवसानं श्रुत्या तु सादृश्यगमकत्वमेवेति तद्व्ययोगे श्रौती-त्यर्थः । तुल्यादिशब्दानां तु श्रुत्या सदृशपरत्वमर्थात्तु सादृश्यपर्यवसानमिति तेषां प्रयोगे स्वार्थात्याह ।’

अनुवाद—‘श्रौती’ और ‘आर्थी’ प्रकारों की यह द्विविध पूर्णोपमा तद्धितगा, समासगा और वाक्यगा होने के कारण ६ प्रकार की हो जाया करती है ।

यहाँ कारिका में ‘द्वे’ से श्रौती और आर्थी दोनों प्रकार की पूर्णोपमाओं का अभिप्राय लिया गया है । जैसे कि—

अनुवाद—‘अरी सुन्दरी । तेरे मुख का सौरभ कमलवत् है, तेरे दोनों स्तन दो घटों की भाँति पीन ( मोटे ) हैं और तेरा मुख उसी प्रकार हृदय को आनन्दित किया करता है जिस प्रकार शरद् ऋतु का चन्द्रमा ।’

यहाँ पूर्वार्द्ध के प्रथम और द्वितीय वाक्य में क्रमशः ‘तद्धितगा’ और ‘समासगा’ श्रौती पूर्णोपमा है और उत्तरार्द्ध में ‘वाक्यगा’ श्रौती पूर्णोपमा परिलक्षित हो रही है ।

[ यहा ‘सौरभसम्भोरुहवन्मुखस्य’ में तद्धितगा श्रौती पूर्णोपमा है—उपमेय ‘मुख’ है, उपमान अम्भोरुह है, सौरभ दोनों में अनुगत साधारण धर्म है और ‘अम्भोरुहवत्’ ( अम्भोरुहस्येव अम्भोरुहवत् ) में ‘हव’ के अर्थ में विहित तद्धित प्रत्यय ‘वति’ के रूप में औपम्यवाचक पद भी विराजमान है । इसी प्रकार—‘कुम्भावि व स्तनौ पीनौ’ में समासगा श्रौती पूर्णोपमा दिखायी दे रही है क्योंकि यहा उपमेय ‘स्तन’, उपमान ‘कुम्भ’, साधारण धर्म ‘पीनत्व’ और उपमावाचक पद ‘हव’—ये उपमा के चारों अङ्ग विराजमान हैं । यह श्रौती पूर्णोपमा ‘समासगा’ इसलिये है क्योंकि यहाँ ‘कुम्भावि व’ समस्तपद है जिसमें ‘हवेन समासो विभक्त्यलोप पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्व च’ इस वार्तिक के अनुसार समास तथा विभक्ति के लोप का अभाव दोनों स्पष्ट हैं । इसी भाँति ‘हृदयं मदयति वदनं तव शरदिन्दुर्यथा बाले’ में वाक्यगा श्रौती पूर्णोपमा का स्वरूप स्पष्ट है क्योंकि यहा ‘वदन’ उपमेय है, ‘शरदिन्दु’ उपमान है, ‘मादकता’ साधारण धर्म है और ‘यथा’ के रूप में औपम्यवाचक पद भी विद्यमान है । ]

(तद्धितगा समस्तगा और बाक्यगा आर्थी पूर्णोपमा)

‘मधुर’ सुधावदधर’ पल्लवतुल्योऽतिपेक्षध’ पाणि ।

चकितसूगक्षोचनाभ्यां सहस्री अपले च क्षोचने तस्या ॥’

अत्र क्रमेण त्रिविधा आर्थी ।

—पूर्णा पदेव तत् ।

स्पष्टम् ।

(सुतोपमा : मेघ-ममेव)

लुप्ता सामान्यधयोदेरेकस्य यदि वा द्वयोः ॥ १७ ॥

त्रयाणां बानुपादाने भौत्यार्थी सापि पूर्ववत् ।

सा लुप्ता ।

अनुवाद—‘उस सुन्दरी का अधर सुधावत् मधुर है, हाथ पल्लवतुल्य सुकुमार हैं और नेत्र चकित सूग के पत्रों के समान चञ्चल हैं ।’

यहाँ प्रथमार्थ के प्रथम वाक्य में ‘तद्धितगा’ द्वितीय वाक्य में ‘समास्तगा’ और उचरार्थ में ‘बाक्यगा’ आर्थी पूर्णोपमा क्रमशः दिखायी दे रही हैं ।

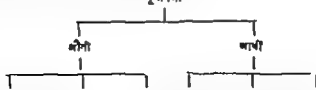
[‘मधुरः सुधावदधर’ में तद्धितगा आर्थी पूर्णोपमा है क्योंकि यहाँ अधर ‘उपमेय’ सुधा ‘उपमान’ माधुर्य ‘साधारण धर्म’ और (सुधावत् में) ‘तेज तुल्य’ क्रिया चैद्विती (५१ ११५) इस परिमिति-सूत्र से ‘तुल्य’ के अर्थ में चिह्नित तद्धित ‘वति’ प्रत्ययक्य औपम्यवाचक पद—ये चारों विराजमान हैं । ‘पल्लवतुल्योऽतिपेक्षधः पाणि’ में समास्तगा आर्थी पूर्णोपमा का स्वक्य स्पष्ट झलक रहा है क्योंकि यहाँ उपमेय ‘पाणि’ उपमान ‘पल्लव’ साधारण धर्म ‘सीकुमार्य’ और (पल्लवतुल्य में) औपम्यवाचक समास्तगत ‘तुल्य’ पद, ये सभी उपमा के अङ्ग उपरिग्रत हैं । इसी प्रकार ‘चकितसूगक्षोचनाभ्यां सहस्री अपले च क्षोचने तस्या’ में बाक्यगा आर्थी पूर्णोपमा की शोभा विराजती है रही है क्योंकि यहाँ क्षोचन ‘उपमेय’ ‘चकितसूगक्षोचन’ ‘उपमान’ ‘अपक्षता’ ‘साधारणधर्म’ और सहस्र के रूप में औपम्यवाचक पद, ये चारों उपमा के अङ्ग विद्यमान हैं ।]

इस प्रकार यह सिद्ध है कि पूर्णोपमा ९ प्रकार की हुजा करती है ।

‘पूर्णा पदेव तत्’ आदि कारिकाएँ स्वयं स्पष्ट हैं ।

विमर्श—‘पूर्णोपमा’ के प्रकारबद्ध का श्रेष्ठक :—

पूर्णोपमा



१ तद्धितगा २ समास्तगा ३ बाक्यगा ४ तद्धितगा ५ समास्तगा ६ बाक्यगा

९ प्रकार—‘सुतोपमा’ यह है जिसमें उपमा के साधारण धर्म आदि अङ्ग-अनुग्रह में से एक या दो वा तीन लुप्त रह जायें । ‘पूर्णोपमा’ की ही भाँति सुतोपमा भी सुबद्धा ‘भौती’ और ‘आर्थी’ दो रूपों की हुजा करती है ।

यहाँ कारिका में ‘मा’ का अभिप्राय ‘सुतोपमा’ का अभिप्राय है ।

तद्भेदमाह—

पूर्णावद्धर्मलोपे सा विना श्रौती तु तद्धिते ॥ १८ ॥

सा लुप्तोपमा धर्मस्य साधारणगुणक्रियारूपरय लोपे पूर्णावदिति पूर्वोक्त-  
रीत्या पदप्रकारा, किं त्वत्र तद्धिते श्रौत्या असम्भवात्पञ्चप्रकारा ।

उदाहरणम्—

‘मुखमिन्दुर्यथा पाणिः पल्लवेन समः प्रिये ।

वाचः सुधा इवोष्ठस्ते बिम्बतुल्यो मनोऽश्मवत् ॥’

इस ‘लुप्तोपमा’ का भेद-परिगणन किया जा रहा है—

सर्वप्रथम वह लुप्तोपमा, जिसमें साधारण धर्म लुप्त अथवा अप्रतिपादित रहा करता है और जिसे ‘धर्मलुप्ता उपमा’ कहा जाया करता है, पूर्णोपमा की भाँति ६ प्रकार की होनी चाहिये किन्तु तद्धित में इसके ‘श्रौतीरूप’ की असम्भावना के कारण, पांच प्रकार की ही मानी जाया करती है ।

तात्पर्य यह है कि गुण अथवा क्रियारूप साधारण धर्म के लोप अथवा अनुपादान में जो ‘लुप्तोपमा’ हुआ करती है उसमें, पूर्वप्रतिपादित प्रकार से, पूर्णोपमा की भाँति, प्रकार-पदक की सभावना है किन्तु वस्तुतः इसके जितने प्रकार माने जाया करते हैं वे पांच ही हैं क्योंकि ‘तद्धितगा श्रौती लुप्तोपमा’ नामक प्रकार की कोई रूप-रेखा यहा बनती नहीं दिखायी देती ( कारण यह है कि ‘तत्र तस्येव’ सूत्र से पण्ड्यन्त अथवा सप्तम्यन्त साधर्म्य-वाचक पद के ही सहारे ‘वति’ रूप तद्धित प्रत्यय विहित हो सकता है किन्तु जब कि यहाँ साधर्म्यवाचक पद का लोप अथवा अनुपादान है तब तो यह निश्चित ही है कि ‘वति’ प्रत्यय प्रयुक्त ही नहीं हो सकता और साधारण धर्म के लोप में ‘तद्धितगा श्रौती लुप्तोपमा’ की कोई सभावना भी नहीं हो सकती ) ।

उदाहरण के लिये—

‘प्रिये ! तुम्हारा मुख चन्द्रमा की भाँति है, तुम्हारा हाथ पल्लव के समान है, तुम्हारी वाणी सुधा सरीखी है, तुम्हारे ओठ बिम्बतुल्य हैं किन्तु तुम्हारा मन अश्मवत् ( पत्थर की भाँति ) है ।’

[ ‘मुखमिन्दुर्यथा’ में वाक्यगा श्रौती धर्मलुप्तोपमा है क्योंकि मुख ‘उपमेय’, इन्द्रु ‘उपमान’ तथा ‘यथा’ औपम्यवाचक पद—ये तीनों यहा, इस वाक्य में, उपस्थित हैं किन्तु ‘मदयति अथवा आनन्दयति’ का साधारण धर्म लुप्त अथवा अप्रतिपादित पदा है । ‘पाणि पल्लवेन सम’ में वाक्यगा आर्थी धर्मलुप्तोपमा है क्योंकि पाणि के रूप में ‘उपमेय’ पल्लव के रूप में ‘उपमान’ और सम के रूप में ‘औपम्यवाचक’ पद तो हैं किन्तु कोमलता का साधारण धर्म लुप्त है । ‘वाच सुधा इव’ में समासगा श्रौती धर्म लुप्तोपमा है क्योंकि यहाँ माधुर्यरूप साधारण धर्म तो अप्रयुक्त है किन्तु उपमेय ‘वाणी’ उपमान ‘सुधा’ और ‘सुधा इव’ में ‘इवेन सह’ आदि वार्तिक के अनुसार, विभक्त्यलोप के साथ, औपम्यवाचक समासगत ‘इव’ पद—तीनों उपस्थित हैं । ‘ओष्ठस्ते बिम्बतुल्य’ में, समासगा आर्थी धर्म-लुप्तोपमा दिखायी दे रही है क्योंकि यहाँ ‘रक्ता’ का साधारण धर्म अनुपात है और उपमेय के रूप में ‘ओष्ठ’, उपमान के रूप में ‘बिम्ब’ और औपम्यवाचक पद के रूप में समासगत ‘तुल्य’ शब्द विराजमान हैं । इसी प्रकार ‘मनोश्मवत्’ में तद्धितगा आर्थी धर्मलुप्तोपमा स्पष्ट है क्योंकि यहाँ तृतीयान्त ‘अश्मन्’ शब्द से ‘तुल्य’ के अर्थ में ‘तेन



( धर्मसुतोपमा के पाँच प्रकार )

आधारकर्मविहिते द्विविधं च कथञ्चि कथञ्चि ।

कर्मकर्त्रोर्णामुलि च स्यादेव पञ्चधा पुनः ॥ १९ ॥

( १—आधार और २ कर्म से विहित 'वयञ्च' प्रत्यय के प्रयोग में धर्मसुतोपमा )

'धर्मसुतोपमा' इत्यनुपपद्यते । कथञ्च-कथञ्च-जमुल कक्षापमते इत्युच्यते ।

क्रमेणोदाहरणम्—

'अन्त'पुरीयसि रण्येषु, सुतीयसि त्वं

पीर अन तव सदा रमणीयते श्री ।

एष भिषामिरसुतघृतिवराभिन्नु

सञ्चारमत्र मुनि सञ्चारसि धितीरा । ॥

अत्र 'अन्त'पुरीयसि' इत्यत्र सुखादिद्वारास्पदत्वस्य, 'सुतीयसि' इत्यत्र स्नेहनिमग्नत्वस्य च साधारणधर्मस्य लोपः ।

तुल्यं क्रिया चेद्वृत्ति' से विहित 'वृत्ति' कथ नीचम्यवाचक तद्विध प्रत्यय उपमा के रूप में 'अरम' और उपमेय के रूप में 'मम'—ये तीन तो स्पष्टतया प्रतिपादित हैं किन्तु कठिणता का साधारण धर्म लुप्त है । इस प्रकार यहाँ 'धर्मसुतोपमा' के प्रकार-पञ्चक का निवृत्तत्व स्पष्ट है । ]

विमर्श—धर्मसुतोपमा को उत्पत्तीकृतप्रमाणधर के 'तुल्यपूर्ण' उपमा कहा है—'लोपे सामान्यधर्मस्य तुल्यपूर्णं गच्छते ( मास्वनीकृतप्रमाण ४ १७ ) । 'तुल्यपूर्ण' का उदाहरण यह है—'राजीवमिव तै वनं वेप्रे भीक्षोत्पले ह्य । रम्मास्तम्भाविषोक्त च करिकुम्भाविष स्तनी । धर्मसुतोपमा के कथञ्च पाँचों प्रकार वस्तुतः 'तुल्यपूर्ण' की कल्पना में अन्तर्भूत प्रतीत होते हैं । ऐसा लगता है कि विभाजन के आसरे के कारण अन्त आकृष्टिकों की 'तुल्यपूर्ण' मान्य नहीं हुई ।

अनुवाद—इस धर्मसुतोपमा के च अन्त भी पाँच प्रकार हुआ करते हैं—( १ ) आधार अथवा अधिकरण से विहित 'वयञ्च' प्रत्यय के प्रयोग में ( २ ) कर्म से विहित 'वयञ्च' प्रत्यय के प्रयोग में ( ३ ) कर्ता से विहित वयञ्च प्रत्यय के प्रयोग में ( ४ ) कर्मोपपद 'जमुल' प्रत्यय के प्रयोग में और ( ५ ) कथुपपद 'जमुल' प्रत्यय के प्रयोग में ।

यहाँ कारिका में पूर्वकारिका से 'धर्मसुतोपमा' इस पद का अन्वहार है । पाणिनि-व्याकरण के मत में जो 'वयञ्च' 'वयञ्च' और जमुल प्रत्यय हैं वे ही कर्ताप अथवा कान्तर व्याकरण के मत में क्रमशः 'ह्य' 'आप्ति' और 'अय' कहे जाया करते हैं ।

धर्मसुतोपमा के इन पाँचों प्रकारों के उदाहरण क्रमशः दिये जा रहे हैं—

'मदमात्र! आप ही ऐसे हैं जो समामो में ऐसा किया करते हैं जिस अन्तगुर में, आप ही ऐसे हैं जो अपने अन्तगुर के प्रति पुत्र की भाँति व्यवहार किया करते हैं और आप ही ऐसे हैं जो अन्तगुर के प्रति राजसखी रमणी की भाँति रदा करती हैं और आप ही ऐसे हैं जो अन्तगुर के प्रति ह्य की भाँति विचारण किया करते हैं ।'

यहाँ 'अन्त-पुरीयसि' ( अन्त-पुरीयसि—अन्त-पुरीयसि—'उपमावादावा

एवमन्यत्र ।

इह च यथादितुल्यादिविरहाच्छ्रुत्यादिविशेषचिन्ता नास्ति । इदं च केचि-  
दौपम्यप्रतिपादकस्येवादेर्लोप उदाहरन्ति, तदयुक्तम्—क्यङ्गादेरपि तदर्थविहि-  
तत्वेनौपम्यप्रतिपादकत्वात् ।

ननु क्यङादिषु सम्यगौपम्यप्रतीतिर्नास्ति प्रत्ययत्वेनास्वतन्त्रत्वाद् इवादि-  
प्रयोगाभावाच्चेति न वाच्यम्, कल्पवादावपि तथाप्रसङ्गात् । न च कल्पवादी-

( ३१-१० ) सूत्र के अन्तर्गत 'अधिकरणाच्चेति०' इस वार्तिक के द्वारा, उपमानवाचक  
'अन्त पुरे'रूप अधिकरण पद से आचार के अर्थ में विहित क्यच् प्रत्यय ) में 'सुख-  
पूर्वक विहार' का साधारण धर्म लुप्त है और 'सुतीयसि' ( सुतं पुत्रमिवाचरसि सुतीयसि-  
'उपमानादाचरे' सूत्र से उपमानवाचक 'सुतम्'रूप कर्मपद से आचार के अर्थ में विहित  
क्यच् प्रत्यय ) में 'स्नेहाधिक्य' का साधारण धर्म अनुप्राप्त है । इसी भाँति 'रमणीयते'  
( रमणी इव आचरति-रमणीयते-कर्तुं क्यङ् सलोपश्च' ३-१-११ सूत्र से उपमानवाचक  
'रमण'रूप कर्तृपद से आचार के अर्थ में विहित 'क्यङ्' प्रत्यय ) 'वशवदता अथवा  
अधीनता' के साधारण धर्म का लोप, 'अमृतद्युतिदर्शम्' ( अमृतद्युतिमिव दृष्ट्वा-अमृतद्यु-  
तिदर्शम्-उपमाने कर्मणि च' २३-४-३५ सूत्र से, उपमानवाचक 'अमृतद्युतिम्' इस कर्मो-  
पपद में, दृश् धातु से भाव में णमुल् प्रत्यय तथा 'कषादिषु यथाविध्यनुप्रयोगः'—  
३-४ ४९, यस्माणमुल्लुक् स एव धातुरनुप्रयोक्तव्य' के अनुसार दृश् धातु का अनुप्रयोग )  
में 'लोचनाद्वादकत्व' के साधारण धर्म का लोप और 'इन्द्रसञ्चार सञ्चारसि' ( इन्द्र  
इव चरित्वा इन्द्रसञ्चार सञ्चारसि, 'उपमाने कर्मणि च' ३-४-३५ सूत्र से उपमानवाचक इन्द्र  
रूप कर्तृपपद में 'सम्' उपसर्गपूर्वक 'चर्' धातु से भाव में 'णमुल्' प्रत्यय ) में 'अप्रति-  
हतगतिस्त्व' के साधारण धर्म का लोप स्पष्ट परिलक्षित हो रहा है ।

धर्मलुप्तोपमा के इन उपर्युक्त पाचों प्रकारों में 'श्रौती' और 'आर्थी' रूपों के अनुसंधान  
की कोई आवश्यकता नहीं क्योंकि यहाँ यथा, इव आदि पद, जो कि उपमा के 'श्रौती'  
रूप के सूचक हैं और तुल्य, सदृश आदि पद जो कि उसके 'आर्थी' रूप के परिचायक हैं  
व्यवहृत ही नहीं हो सकते ।

कतिपय काव्याचार्य ( जैसे कि काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मट ) क्यच् आदि  
प्रत्ययों के प्रयोग में निर्दिष्ट उपर्युक्त धर्मलुप्तोपमा को 'वाचकलुप्तोपमा' कहा करते हैं  
क्योंकि उनकी दृष्टि में यहा उपमावाचक पद का लोप दिखायी दिया करता है । किन्तु  
ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि 'क्यङ्' आदि प्रत्यय ऐसे हैं जो 'इव' के अर्थ में विहित  
हुआ करते हैं और औपम्य का अभिप्राय रखा करते हैं जिससे इनके प्रयोग में 'वाचक-  
लुप्तोपमा' की मान्यता असंगत ही सिद्ध हो जाती है ( यहा तो धर्मलुप्तोपमा की ही  
मान्यता युक्तिसंगत है और प्रमाणसिद्ध भी है ) ।

यहा यह कहना भी ठीक नहीं कि जब कि 'क्यङ्' आदि प्रत्यय स्वतन्त्र नहीं और  
साथ ही साथ जब कि यहा 'इव' आदि पदों का भी प्रयोग नहीं, तब इनसे सादृश्य की  
समीचीन प्रतीति क्योंकर युक्तिसंगत हो । वात यह है कि यदि 'क्यङ्' आदि के प्रयोग  
में औपम्य की प्रतीति समीचीन नहीं मानी जा सकती तब 'कल्प' आदि प्रत्ययों के  
प्रयोग में औपम्य की प्रतीति क्योंकर समीचीन मान ली जाय ? यहा यह कहना भी  
निरर्थक ही है कि 'कल्प' आदि प्रत्यय तो 'इव' आदि की भाँति औपम्य के अभिधायक

नामिवादिभ्यस्तथोपम्यस्य वाचकत्वम्, क्यङादीनां तु द्योतकत्वम् इवादीनां  
मपि वाचकत्वे निश्चयाभावात्। वाचकत्वे वा 'समुद्दिष्ट पद वाचकम्' 'प्रकृति  
प्रत्ययी स्वस्यार्थपोषकौ' इति च मतद्वयेऽपि वत्यादिक्यङाद्यो साम्यमेवेति।  
यद्य केचिदाहुः—'वत्यादय इवाद्यर्थेऽनुशित्यन्ते, क्यङादयस्तथाचारार्थे' इति,  
तद्यपि न न स्यन्तु क्यङादय आचारमात्रार्था अपि तु सादरयाचारार्था इति।  
सर्वेयं धर्मलोपे द्वाप्रकारा लुप्ता।

हैं किन्तु 'क्यङ' आदि ऐसे हैं जिन्हें औपम्य का अभिप्रायक अथवा वाचक नहीं बल्कि  
द्योतक अथवा व्यञ्जक ही कहा जा सकता है क्योंकि इसका कहाँ से निश्चय कि 'इह'  
आदि औपम्य के वाचक ही हैं (द्योतक नहीं), और यदि 'क्यङ' आदि को औपम्य  
का वाचक ही माना जाय तब इसी सिद्धान्त के अनुसार ऐसा माना जा सकता है कि  
'प्रकृति-प्रत्ययक सन्मुद्दिष्ट पद ही वाचक पद हैं' और 'प्रकृति तथा प्रत्यय अपने-अपने  
अर्थ के बोधक हुआ करते हैं। किन्तु तब 'क्यङ' तथा 'वति' और 'क्यङ्' आदि प्रत्ययों  
में समानता ही माननी पड़ेगी (क्योंकि जैसे 'क्यङ' प्रत्यय सादरय का वाचक अथवा  
द्योतक है वैसे ही 'वति' और 'क्यङ' आदि प्रत्यय भी सादरय के वाचक अथवा  
द्योतक ही प्रत्यय हैं)।

यहाँ कुछ आकस्मिकों का यह कथन भी सुक्तिरंगत नहीं कि 'वति' आदि प्रत्यय तो  
इह आदि के अर्थ में विहित हुआ करते हैं और क्यङ् आदि ऐसे हैं जो आचार आदि के  
अर्थ में अनुविष्ट हैं (और इसलिये क्यङ् आदि के द्वारा औपम्य की समीचीन प्रतीति  
असंभव है)। कारण यह है कि 'क्यङ्' आदि प्रत्यय केवल आचार का ही नहीं बल्कि  
सादरयन्वित आचार का अभिप्राय रखा करते हैं (जिससे इनके प्रयोग में उपर्युक्त 'वन्ता'  
पुरीयसि' आदि सुक्ति में वाचकलुप्तोपमा की जगह धर्मलुप्तोपमा की ही साम्यता अधिक  
सुविशुद्ध प्रतीत हो रही है)।

इस प्रकार साधारणधर्म के ओप में इस प्रकार की धर्मलुप्तोपमा स्पष्ट है।

विमर्श—(क) क्यङप्रकाशकार के अनुसार 'समासगता' 'कर्मलुप्तता' आचारस्वर  
गता 'क्यङ्गता' 'कर्मलुप्तता' और 'कर्मलुप्तता' लुप्तोपमार्थे 'वाचकता' के भेदभेद हैं  
किन्तु साहित्यवर्णनकार ने इन धर्मलुप्तोपमा के प्रकारपत्रक के रूप में स्वीकार किया है।  
साहित्यवर्णनकार को वह मान्यता ही पण्डितराज काकाब की इस समीक्षा को अन्य देनी है—

'अत्रेहमवधेयम्—कर्मलुप्ततावति क्यङि च वाचकलुप्तोपादर्यं प्राचायसगतमिह  
धर्मलोपस्यापि तत्र संभवात्। न च क्यङाद्यर्थे आचार एव साधारणधर्मोऽस्तीति वक्त-  
व्यम्। धर्ममात्रक्यङाचारस्योपमाप्रयोक्तव्यमाभावात्। 'नारीवते सप्रायसेन' इत्यादी  
वृत्त्यन्तरनिषेधितः कातरत्वादिमिश्रितवाज्यवसितस्याचारस्योपमाविष्यात्कथं।  
यदि च क्यङर्त्वे आचारमात्रमुपमाविष्यात्क त्वात्तदा 'त्रिविधं लक्षणं धारतापते'  
इत्यादी सुमसिद्धादिक्याचारोपनितावप्युपमाङ्कुरैरनिष्यते तस्यैव च 'सुपर्वणि  
धर्मितमन्तराभिरी' इति वरजलपरनिर्मात्रे तस्या विषयो क्यङाद्यर्थः साधारणोप-  
मोपमा प्रयोक्तव्यः। उपमाप्रयोक्तव्यत्वेऽप्येव साधारणधर्मवाचकस्यैव  
धर्मलोपक्यङाभिधानात्। अन्यथा 'सुखक्यमिह' वस्तु प्रयुक्तमिव पञ्चम' इत्यादी  
पूर्वोपमापचेरिति द्विक्' (रसगङ्गाधरः उपमाप्रकरण)

(ख) 'इह' आदि की 'वाचकता-व्यञ्जता' के संन्य में रसगङ्गाधरकार को ये रीतियाँ ध्या-  
ने दीनी हैं—

( उपमानलुप्तोपमा : वाक्यगा तथा समासगा )

उपमानानुपादाने द्विधा वाक्यसमासयोः ।

उदाहरणम्—

‘तस्या मुखेन सदृशं रम्यं नास्ते न वा नयनतुल्यम्’ ।

अत्र मुखनयनप्रतिनिधिवस्त्वन्तरयोर्गम्यमानत्वादुपमानलोपः । अत्रैव च ‘मुखेन सदृशम्’ इत्यत्र ‘मुख’ यथेदं ‘नयनतुल्यम्’ इत्यत्र ‘दृगिव’ इति पाठे श्रौत्यपि संभवतीति । अनयोर्भेदयोः प्रत्येकं श्रौत्यार्थीत्वभेदेन चतुर्विधत्वसमवेऽपि प्राचीनानां रीत्या द्विप्रकारत्वमेवोक्तम् ।

( वाचकलुप्तोपमा . समासगा और किप्रत्ययगा )

औपम्यवाचिनो लोपे समासे किपि च द्विधा ॥ २० ॥

‘तत्रेवादीनां द्योतकत्वमेव न वाचकत्वम्, निपातत्वादुपसर्गवत् । द्योतकत्वञ्च स्वसमभिध्याहृतपदान्तरेण शक्या लक्षणया वा तादृशार्थबोधने तात्पर्यग्राहकत्वेनोपयोगित्वमिति वैयाकरणाः । उपसर्गाणां द्योतकत्वमावश्यकम् । अन्यथा ‘उपास्यते गुरु’, ‘अनुभूयते सुखम्’ इत्यादौ गुर्वादेर्लानाभिधानं न स्यात् । धात्वर्थकर्मताविरहात् । इवादीनां तु वाचकत्वम्, बाधकाभावात् । प्रागुक्तहेतुस्त्वप्रयोजकत्वाच्च साधकः । अन्यथा अव्ययत्वादिति हेतुना अव्ययमात्रस्यैव द्योतकापत्तिरिति नैयायिकाः ।’

( रसगङ्गाधर उपमाप्रकरण )

अनुवाद—उपमान के लोप में जो ‘उपमानलुप्तोपमा’ हुआ करता है वह दो प्रकार की है—( १ ) वाक्यगा उपमानलुप्तोपमा और ( २ ) समासगा उपमानलुप्तोपमा ।

जैसे कि—

‘उसके मुख के सदृश कोई वस्तु सुन्दर नहीं और न उसके नयनतुल्य ही कोई सुन्दर वस्तु है ।’

यहाँ उपमान का लोप है क्योंकि न तो यहाँ ‘मुख’ के प्रतिनिधिरूप में किसी अन्य वस्तु का उपादान है और न नयन के प्रतिनिधिरूप में ही किसी दूसरी वस्तु का प्रतिपादन है । यहाँ तो ‘मुख’ और ‘नयन’ के उपमानरूप से चन्द्र और पद्मरूप वस्तुओं की अभिव्यञ्जना हो जाती है (और उपमानलुप्ता उपमा की रूप-रेखा स्पष्ट श्लोक उठती है) । यहीं यदि ‘मुखेन सदृशम्’ के स्थान पर ‘मुखं यथेदम्’ और ‘नयनतुल्यम्’ के स्थान पर ‘दृगिव’ कर दिया जाय तो उपमानलुप्तोपमा के ‘श्रौती’रूप की भी संभावना स्पष्ट दिखायी दे जाय । वैसे तो ‘वाक्यगा’ किंवा ‘समासगा’ उपमानलुप्तोपमा में भी ‘श्रौती’ और ‘आर्थी’ भेदों की संभावना है जिससे इसके चार प्रकार माने जा सकते हैं किन्तु प्राचीन आलङ्कारिकों की रीति का अनुसरण करते हुये, यहाँ इसके वाक्यगत और समासगत भेदों की ही गणना की गयी है ।

विमर्श—‘उपमानलुप्तोपमा’ क्योंकि वाक्यगा और समासगा—दो प्रकारों की ही हो सकती है ? इसके सबन्ध में प्रदीपकार की यह उक्ति ध्यान देने योग्य है—

‘न वा श्रौती । इवादीनामुपमानमात्रान्विततया तदनुपादाने तेषामप्यनुपादानात् अतो वाक्यसमासयोरेव । तयोरेष्यार्थी एवेति द्विप्रकारा लुप्ते उपमानोपमा ।’

अनुवाद—औपम्यवाचक पद के लोप में जो वाचकलुप्तोपमा हुआ करती है उसके दो भेद हैं—( १ ) समासगा वाचकलुप्तोपमा और ( २ ) किपगा वाचकलुप्तोपमा ।

क्रमेणोदाहरणम्—

(समासगा वाचकसुलोपमा)

‘यद्वनं भृगुशाखाद्यां सुधाकरमनोहरम्’

(किष्का वाचकसुलोपमा)

‘गर्दभति भ्रुतिपरुष उग्रस्त निनदम् महात्मना पुरतः’

अत्र ‘गर्दभति’ इत्यत्रोपम्यवाचिनः किपो लोपः । न चोपमेयस्यापि लोपः, ‘निनदम्’ इत्यनेनैव निर्वेरात् ।

(चर्मोपमानसुलोपमा : मेरुद्वय)

द्विधा समासे वाक्ये च लोपे चर्मोपमानयोः ।

इनके क्रमसा उदाहरण ये रहे—

‘इस भृगुशाखी का सुक चन्द्रासुन्दर है ।’

‘यह लोगों के सामने कर्कशतापूर्वक और और से बोलता हुआ वह मनुष्य पक्ष का सा काम कर रहा है ।’

(यहाँ ‘यद्वनं भृगुशाखाद्यां सुधाकरमनोहरम्’ में समासगा वाचकसुलोपमा है क्योंकि उपमेय ‘यद्वनं’ उपमाय ‘सुधाकर’ और साधारणवर्ग ‘मनोहरम्’ तो स्पष्ट प्रतिपादित हैं किन्तु ‘सुधाकर इव मनोहरम्-सुधाकरमनोहरम्’ में उपमावाचक ‘इव’ पर लुप्त है) इसी प्रकार ‘गर्दभति’ (पशु इव आचरति गर्दभति ‘सर्वमतिपरिकेम्प’ किम्प कल्मषा’ इस वार्तिक-विषय के अनुसार उपमावाचक ‘गर्दभ’ पर से आचार के लक्ष में किम्प प्रत्यय और किम्प का सर्वापहारी लोप) में जीपम्यवाचक किम्प के लोप में वाचक सुलोपमा स्पष्ट है (क्योंकि यहाँ ‘निनदम्’ के रूप में ‘उपमेय’ ‘गर्दभ’ के रूप में ‘उपमान’ और ‘भ्रुतिपरुष’ के रूप में साधारणवर्ग स्पष्टतया प्रतिपादित हैं) ।

‘गर्दभति भ्रुतिपरुष’ आदि में उपमेय के लोप की जायंका नहीं होती बाह्ये क्योंकि यहाँ ‘निनदम्’ इस कर्तृपक्ष से ही यहाँ उपमेय का निर्देश स्पष्टतया प्रतीत हो रहा है ।

विमर्श—रसगान्धारक के अनुसार ‘किष्का सुलोपमा केवल वाचकसुलोपमा नहीं अपितु ‘वाचकवर्मसुलोपमा’ है—

‘वाचकवर्मसुलोपमा विमर्शता यथा—

कुचकरोष्णवकाशामकङ्कशामय पयोभिषोः पुच्छिभे ।

विशितपाङ्कजीर्णपल्ले हारमिह हरमिह हरमिह ॥

अत्र हार-हर-हीर-कम्प्या आचारार्थके किपि लुप्ते आतयाः । अत्र हारविच्छन्ना कचवाया हारादिसादृश्यं बोधयन्ति । सुलोपमि स्थूता किष्काचारमिति पक्षे वाचकवर्मलोप स्पष्ट पक्ष । हारादिकम्प्या पक्ष कचजया तात्त्वसादृश्यामिच्छमाचारमिति पक्षे सादृश्यस्यैव वर्मस्वपि तन्मात्रबोधकामावाचकलोप पक्षः । (रसगान्धारक : वपमाप्रकरण)

अनुवाक—साधारणवर्ग और उपमान-दोनों के लोप में जो ‘चर्मोपमानसुलोपमा’ हुआ करती है वह दो प्रकार की है—(१) समासगा चर्मोपमानसुलोपमा और (२) वाक्यगा चर्मोपमानसुलोपमा ।

‘तस्या मुखेन’ इत्यादौ ‘रम्यम्’ इति स्थाने ‘लोके’ इति पाठेऽनयोरुदाहरणम् ।

( धर्मवाचकलुप्तोपमा - भेदद्वय )

किप्समासगता द्वेधा धर्मवादिविलोपने ॥ २१ ॥

उदाहरणम्—

‘विधवति मुखाब्जमस्याः’

अत्र ‘विधवति’ इति मनोहरत्व-क्विप्प्रत्यययोर्लोपः । ‘मुखाब्जम्’ इति च समासगा । केचित्त्वत्रायिप्रत्ययलोपमाहुः ।

( उपमेयलुप्तोपमा )

उपमेयस्य लोपे तु स्यादेका प्रत्यये क्यचि ।

यथा—

‘अरातिविक्रमालोकविकस्वरविलोचनः ।

कृपाणोदग्रदोर्दण्ड’ स सहस्रायुधीयति ॥’

‘तस्या मुखेन सदृशरम्य नास्ते न वा नयनतुल्यम् ।’ आदि पूर्वोद्धृत सूक्ति में ‘रम्यम्’ के बदले ‘लोके’ कर देने से ( अर्थात् ‘तस्या मुखेन सदृशं लोके नास्ते न वा नयनतुल्यम्’ आदि पाठ में ) धर्मोपमानलुप्तोपमा के ‘वाक्यगत’ और ‘समासगत’ दोनों रूपों के उदाहरण मिल जायेंगे ।

विमर्श—‘धर्मोपमानलुप्ता’ का यह उदाहरण बड़ा सुन्दर है—

‘गाहितमखिलं विपिनं परितो दृष्टाश्च विटपिनः सर्वे ।

सहकार न प्रपेदे मधुपेन तथापि ते सम जगति ॥’

यहीं ‘तथापि ते समम्’ के बदले ‘भवत्समम्’ कर देने पर ‘समासगा धर्मोपमानलुप्ता’ दिखायी देने लगती है ।

अनुवाद—साधारण धर्म और उपमावाचक पद के लोप में जो ‘धर्मवाचकलुप्तोपमा’ हुआ करती है उसके दो प्रकार हैं—( १ ) किप्गा धर्मवाचकलुप्तोपमा और ( २ ) समासगा धर्मवाचकलुप्तोपमा । जैसे कि—

‘विधवति मुखाब्जमस्या ( इसका मुखकमल चन्द्र-सा लग रहा है ) ।’

यहाँ जो ‘विधवति’ ( विधुरिवाचरति विधवति ) पद है उसमें ‘मनोहरत्व’ रूप साधारणधर्म और किप्प्रत्ययरूप औपम्यवाचक—दोनों लुप्त हैं । इसी प्रकार ‘मुखाब्जम्’ में समासगा धर्मवाचकलुप्तोपमा है ( क्योंकि यहाँ भी ‘मनोहरत्व’ रूप साधारणधर्म और ‘इव’ रूप उपमावाचक पद—दोनों लुप्त हैं ) ।

कुछ लोग ‘विधवति’ में ‘आयि’ प्रत्यय का लोप मानते हैं ( किन्तु यहाँ जो धर्मवाचक लुप्तोपमा है वह धर्म और ‘आयि’ प्रत्यय के लोप के कारण नहीं अपितु धर्म और सादृश्य वाचक प्रत्यय के लोप के ही कारण है ) ।

अनुवाद—उपमेय के लोप में जो ‘उपमेयलुप्तोपमा’ हुआ करती है वह क्यच् प्रत्यय के प्रयोग में ही हुआ करती है और एक प्रकार की ही हुआ करती है ।

जैसे कि—

‘शत्रुओं के पराक्रमपूर्ण कृत्यों के दर्शन से प्रसन्न नेत्रवाला और कृपाण-धारण से

अत्र 'सहस्रायुधमिवास्मानमाचरति' इति यावये उपमेयस्यात्मनो लोपः । न चेहौपम्यवाचकलोपः, उच्यते न्यायात् । अत्र केरिकाण्ड—'सहस्रायुधेन सह वसति इति ससहस्रायुधः स इवाचरतीति यावयात्सहस्रायुधीयतीति पदं सिद्धौ विरोध्यस्य शब्दानुपासत्वादिहोपमेयलोपः' इति, उक्तं विचारसङ्गम्, कर्त्तरि क्यघोऽनुपासनविकृतत्वात् ।

(धर्मोपमेयलुप्तोपमा)

धर्मोपमेयलोपेऽन्या—

यथा—

मयङ्गर मुञ्चदम्बकाका बहु धुरधीर राजा अपने आप को सहस्रायुध की मूर्ति (संज्ञा में) प्रकटित कर रहा है ।

यहाँ 'सहस्रायुधमिवास्मानमाचरति' (उपमावाचारे ३१३ सूत्र से उपमावाचक 'सहस्रायुधम्' इस कर्मपद से आचार के अर्थ में 'स्वप्' = सहस्रायुधीयति) इस वाक्य में उपमेयमूल 'आत्मावय' (स्वप्) का लोप है जिससे यहाँ 'उपमेयलुप्तोपमा' स्पष्ट है (क्योंकि यहाँ उपमान 'सहस्रायुध' आचारणकर्म 'अचरति' विक्रमाकोक्यविकस्वरविक्रमेकगत' आदि और क्यच् प्रत्यय के रूप में उपमावाचक पद—ये तो तीनों विराजमान हैं) ।

यहाँ 'वाचकलुप्तोपमा' की जासका यहाँ करनी चाहिये (जो कि काव्यप्रकाशकार ने की है) क्योंकि, जब कि 'क्यच्' आदि प्रत्यय सारण्य-वाचक प्रत्यय हैं और यहाँ 'क्यच्' की उपस्थिति है तब वाचकलुप्तोपमा की यहाँ क्या संभावना ।

कविपद जाकङ्कारिणी (चण्डीदास आदि) ने यहाँ 'उपमेयलुप्तोपमा' की स्वरूप-सिद्धि के लिये जो पद कहा है कि (यहाँ 'सहस्रायुधीयति' में 'स' और 'सहस्रायुधीयति' को पृथक्-पृथक् पद मानकर उपमेयलुप्तोपमा की रूप-रेखा यहाँ देखी जा सकती और इसलिये) यहाँ जो पद है वह 'सहस्रायुधीयति' है, जिसकी विप्यति 'सहस्रायुधेन सह वर्तते' इति ससहस्रायुधः स इवाचरतीति' आदि रूप से हुआ करती है और इस प्रकार यहाँ 'सहस्रायुधीयति' इस क्रिया के कर्मपद का अनुपादान हो जिसानी है उदा है जिससे यहाँ 'उपमेयलुप्तोपमा' स्पष्ट है वह सब बलुताः पुष्टिपुष्ट यहाँ । कारण यह है कि 'उपमावाचारे' के द्वारा कर्मोपपद से ही 'क्यच्' का विधान हो सकता है व कि कर्मपद से भी (यहाँ 'सहस्रायुधीयति' में कर्मपद से क्यच्-विधान तो सर्वथा अपाणिनीय है) ।

विमर्श—रत्नहासरकार के अनुसार 'क्यच्' लुप्तोपमा केवल उपमेयलुप्त नहीं बरि उ 'वाचकलुप्तोपमा' रूपमा हुआ करती है—

'तथा तिलोत्तमीवन्त्या युराधावकचपुत्रा ।

ममाल मातुषो कोको नाककोक इशामकपुत्र ।

तिलोत्तमीवन्त्येति तिलोत्तममिवात्मावमाचरन्त्येत्याचारार्थक्यपि तिलोत्तमापदस्य तिलोत्तमासाधने काव्यमिकतया वाचकस्य लुप्तत्वेन प्रतीधमावतया आत्मन उपमेयत्व-आनुपादानाद्वोपः । स्वप् तु सा भीषमेया । आचारकर्मण उपमानस्य तिलोत्तमारूपस्य लक्षणाभिप्रेयमेवापानुपमानावाचगतेः । अत आत्मैवाधोपमेयतयोभेदा ।'

(रत्नहासर वरममममम)

बहुपद—आचारण कर्म और उपमेय के लोप में जो 'धर्मोपमेयलुप्तोपमा' हुआ करती है वह भी एक प्रकार की ही है । जैसे कि—

‘यशसि प्रसरति भवतः क्षीरोदीयन्ति सागराः सर्वे ।’

अत्र क्षीरोदमिवात्मानमाचरन्तीत्युपमेय आत्मा साधारणधर्मः शुक्लता च लुप्तौ ।

( त्रिलुप्तोपमा )

—त्रिलोपे च समासगा ॥ २२ ॥

यथा—

‘राजते मृगलोचना ।’

अत्र मृगस्य लोचने इव चञ्चले लोचने यस्या इति समासे उपमाप्रतिपाद-  
कसाधारणधर्मोपमानानां लोपः ।

( उपमाभेद संकलन )

तेनोपमाया भेदाः स्युः सप्तविंशतिसंख्यकाः ।

पूर्णा षड्विधा, लुप्ता चैकविंशतिविधेति मिलित्वा सप्तविंशतिप्रकारोपमा ।  
एषु चोपमाभेदेषु मध्येऽलुप्तसाधारणधर्मेण भेदेषु विशेष प्रतिपाद्यते—

‘आपके यश के फैलते हुये, ऐसा लगता है जैसे, सभी सागर क्षीरसागर बन रहे हैं ।’  
यहाँ ‘धर्मोपमेयलुप्तोपमा’ इसलिये है क्योंकि यहाँ ‘क्षीरोदीयन्ति’ ‘क्षीरोदमिवात्मान-  
माचरन्ति’ में उपमेयभूत ‘आत्मानम्’ और ‘शुक्लत्वादि’ रूप साधारणधर्म—दोनों लुप्त हैं ।

अनुवाद—उपमान, साधारणधर्म और औपम्यवाचक पद, तीनों के लोप में जो ‘धर्मो-  
पमानवाचकलुप्तोपमा’ हुआ करती है वह केवल ‘समासगा’ ही हुआ करती है ।

जैसे कि—‘वह मृगलोचना बड़ी सुन्दर है ।’

यहाँ ‘मृगलोचना’ इस समस्त पद में, जिसका विग्रह ‘मृगस्य लोचने इव चञ्चले  
लोचने यस्या’ है, उपमानभूत ‘लोचन’, वाचक रूप ‘इव’ और साधारणधर्मरूप ‘चाञ्चल्य’—  
तीनों लुप्त दिखायी दे रहे हैं ।

विमर्श—‘मृगलोचना’ में त्रिलुप्तोपमा की जो निष्पत्ति है वह ‘प्रदीप’कार के शब्दों में इस  
प्रकार है—

‘अत्र यदि मृगशब्देन लक्षण्या तल्लोचने विवक्ष्यते तदा नेदमुदाहरणम् । यदा तु  
मृगलोचने इव लोचने यस्या इत्यर्थो विवक्ष्यते तदा ‘सप्तम्युपमानपूर्वपदस्य बहुव्रीहिरुत्तर-  
पदलोपश्च’ इत्यनेन मृगलोचनेत्युपमानपूर्वपदस्य नयनशब्देन बहुव्रीहौ उपमानवाचिनि  
मृगलोचने इति पूर्वपदे उत्तरपदभूतस्य लोचनशब्दस्य लोपे उपमेयभूतस्य नयनमात्रस्यो-  
पादानाद्विमुदाहरणम् ।’

अनुवाद—इस प्रकार ‘उपमा’ के सब मिलाकर २७ प्रकार सिद्ध हुए ।

उपमा के २७ प्रकारों का अभिप्राय यह है—पूर्णोपमा के छ’ भेद + लुप्तोपमा के  
२१ भेद = उपमा के २७ प्रकार ।



विमर्श—( क ) विचाराय कविराज-सम्मत 'उपमा-भेद' यह है—

पूर्वोपमा के ६ प्रकार

- १—तद्वितगा भीती पूर्वोपमा—'सौरभमममोदहवत् ।'
- २—समासगा भीती पूर्वोपमा—'कुम्भाविष स्तम्भो पीपी ।'
- ३—वाक्यगा भीती पूर्वोपमा—'इदं मद्यति वर्तनं तत्र शरदिभ्युर्धया ।'
- ४—तद्वितगा आर्षी पूर्वोपमा—'मधुरः सुभाषवृत्तरा'।
- ५—समासगा आर्षी पूर्वोपमा—'पञ्चवतुल्याऽतिपञ्चः पण्डितः ।'
- ६—वाक्यगा आर्षी पूर्वोपमा—'कवितुल्याकोचवाग्म्या सहस्री अपठे च कोचने तस्या ।'

सुश्लोपमा के २१ प्रकार

- १—तद्वितगा भीती सुश्लोपमा—'मनोऽमयवत् ।'
- २—समासगा भीती सुश्लोपमा—'वाचः सुभा इव ।'
- ३—वाक्यगा भीती सुश्लोपमा—'मुपमिभ्युर्धया वाळे ।'
- ४—समासगा आर्षी सुश्लोपमा—'कोष्ठस्ते विम्बतुल्या ।'
- ५—वाक्यगा आर्षी सुश्लोपमा—'पण्डितः पञ्चनेन समः ।'
- ६—वाचकवचनविम्बवा सुश्लोपमा—'वन्तापुरीषमिति ।'
- ७—कर्मवचनविम्बवा सुश्लोपमा—'पीरं कथं सुलीयति ।'
- ८—कर्तृपदवचनविम्बवा सुश्लोपमा—'भीस्तत्र रमणीयते ।'
- ९—कर्मोपपदवचनविम्बवा सुश्लोपमा—'जसुतपुतिर्धृष्टः ।'
- १०—कर्तृपदवचनविम्बवा सुश्लोपमा—'इन्द्रसञ्चारं सञ्चारति ।'
- ११—समासगा उपमानसुश्लोपमा—'न वा वयवतुल्या ( रम्भमास्ते ) ।'
- १२—वाक्यगा उपमानसुश्लोपमा—'तस्या मुञ्जेन सहसं रम्य नास्ते ।'
- १३—समासगा वाचकसुश्लोपमा—'सुभाकरमवोदरं बहवम् ।'
- १४—विपगा वाचकसुश्लोपमा—'गर्भमिति कृतिपक्षयः ।'
- १५—समासगा वर्णोपमानसुश्लोपमा—'कोके न वा वयवतुल्यामास्ते ॥'
- १६—वाक्यगा वर्णोपमानसुश्लोपमा—'तस्या मुञ्जेन सहसं रम्य कोके नास्ते ।'
- १७—समासगा वर्णोपमानवाचकसुश्लोपमा—'सुभाकरमवोदरः ।'
- १८—विपगा —'विषमति मुञ्जाम्भमास्ते ।'
- १९—उपमेवसुश्लोपमा—'विष्मदविकोचवा स सहसापुवीयति ।'
- २०—वर्णोपमेवसुश्लोपमा—'चीरीवीरमिति सामारम्भः ।'
- २१—वर्णोपमानवाचकसुश्लोपमा—'राजते युगाकोचमा ।'

इस प्रकार सब मिश्रित रूपमा के २७ भेद हैं ।

( क ) शब्दानुशासनशास्त्र ( व्याकरण ) के नावार पर 'उपमा' के भेद-भेद की रत्नरत्न जाचार्य ब्रह्मद्वारा प्रकटित ॥ है—

'यथेवममयोदेव सा श्रुत्याम्भयमर्हति । सहसाविपदकोपादम्भकेतुविता हिवा ॥  
संक्षेपमिद्विद्वत्प्रेता सत्त्ववाचकविष्णुते । साम्योपमेवतद्वाचिविबोगाय निबध्यते ॥  
उपमानोपमेयोदौ सम्भवतद्वाचिविष्णुनाम् । कश्चित् समस्तो तद्वाचिविरहेण कश्चित् सा ॥  
तयोपमावाचाचारे वयम्प्रत्ययकोष्ठिता । कश्चित्सा कर्तुराचारे वयम्वा सा च किञ्चा कश्चित् ॥

( उपमा में साधारण धर्म • स्वरूप तथा प्रकार-निर्देश )

एकरूपः क्वचित्कापि भिन्नः साधारणो गुणः ॥ २३ ॥

भिन्ने बिम्बानुबिम्बत्वं शब्दमात्रेण वा भिदा ।

तत्र एकरूपे यथा उदाहृतम्—‘मधुरः सुधावदधरः—’ इत्यादि ।

बिम्बप्रतिबिम्बत्वे यथा—

‘भल्लापवर्जितैस्तेषां शिरोभिः श्मश्रुलैर्महीम् ।

तस्तार सरघाव्याप्तैः स क्षौद्रपटलैरिव ॥’

अत्र ‘श्मश्रुलैः’ इत्यस्य ‘सरघाव्याप्तैः’ इति दृष्टान्तवत्प्रतिबिम्बनम् ।

उपमाने कर्मणि वा कर्तरि वा यो णमुल् कपादिगतः ।

तद्वाच्या सा वतिना च कर्मसामान्यवचनेन ॥

पृष्टीसप्तम्यन्ताच्च यो वतिनामतस्तदभिधेया ।

कल्पपप्रभृतिभिरन्यैश्च तद्धितैः सा निवध्यते कविभिः॥ (अलङ्कारसारसंग्रह)

किन्तु व्याकरणशास्त्र के आधार पर उपमा के विभाजन के अनौचित्य के सबन्ध में अप्पयदीक्षित की यह उक्ति ध्यान देने योग्य है—

‘एवमयं पूर्णालुताविभागो वाक्य-समास-प्रत्ययविशेषगोचरतया शब्दशास्त्रव्युत्पत्ति-कौशलप्रदर्शनमात्रप्रयोजनो नातीवालङ्कारशास्त्रे व्युत्पाद्यतामर्हति । न वा लुप्तानामयं सामस्येन विभागः ।’ (चित्रमीमांसा)

अनुवाद—‘उपमा’ के उपर्युक्त २७ प्रकारों में से अब उन प्रकारों की कतिपय विशेषतायें निर्दिष्ट की जा रही हैं जिनमें साधारण धर्म का लोप नहीं हुआ करता—

जिन उपमा-भेदों में साधारण धर्म लुप्त नहीं हुआ करता, उनमें उसकी (साधारण धर्म की) ये कतिपय अवस्थायें हुआ करती हैं—

(१) कहीं-कहीं (उपमान और उपमेय दोनों में) साधारण धर्म एक रूप का ही रहा करता है ।

(२) कहीं-कहीं साधारण धर्म भिन्नरूप का हुआ करता है (अर्थात् उपमानगत साधारण धर्म से उपमेयगत साधारण धर्म भिन्न लगा करता है) और साधारण धर्म की इस भिन्नरूपता की दो संभावनायें हुआ करती हैं—(क) या तो उसमें बिम्ब-प्रति-बिम्बभाव का सम्बन्ध हो या (ख) केवल शब्दमात्र का भेद हो ।

साधारण धर्म की पहली अवस्था अर्थात् ‘एकरूपता’ की अवस्था की पहचान के लिये ‘मधुर सुधावदधर’ आदि पूर्वोद्धृत सूक्ति पर्याप्त है (जहाँ ‘सुधा’ उपमान और ‘अधर’-उपमेय में ‘माधुर्य’ का साधारण धर्म एक रूप से ही विराजमान दिखायी दे रहा है) ।

साधारण धर्म की दूसरी अवस्था अर्थात् भिन्नरूपता में ‘बिम्बप्रतिबिम्बभाव’ की अवस्था के निदर्शन के लिये (महाकवि कालिदास की) यह सूक्ति दर्शनीय है—

‘महाराज रघु के द्वारा, बाणों से काटे गये यवनों के ढाढ़ीभरे सिर जमीन पर ऐसे बिछने लगे जैसे मधुमक्खियों से भरे मधु के छत्ते बिछे हों ।’

यहाँ, जैसा कि ‘दृष्टान्त’ अलङ्कार में दिखायी दिया करता है, उपमेयगत ‘श्मश्रुलता’ और उपमानगत ‘सरघाव्याप्तता’ के भिन्नरूप साधारण धर्मों में बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव का सम्बन्ध स्पष्ट झलक रहा है ।

राज्यमात्रेण भिन्नत्वे यथा—

‘स्मेर विधाय नयनं विवक्षितमिव नीलमुत्पलं मयि सा ।

कथयामास कुशाङ्गी मनोगतं निखिलमाकृतम् ॥’

अत्रैके एव स्मेरत्वविवक्षितत्वे प्रतिवस्तूपमावच्छेदेन निर्दिष्टे ।

( उपमा के अन्वय के विषय : (क) एकदेशविचरिणी उपमा )

एकदेशविचरिण्युपमा वाच्यत्वगम्यते ॥ २४ ॥

मवेतां यत्र साम्यस्य—

यथा—

‘नेत्रैरिवोत्पलैः पद्मैर्मूर्धैरिव सरःप्रिय ।

पदे पदे विमान्ति स्म चक्रवाकैः स्वनैरिव ॥’

अत्रोत्पलादीनां नेत्रादीनां सादृश्यवाच्य सरःप्रीणा चक्रवाकसाम्यं गम्यम् ।

इसी प्रकार अन्वयमात्र के अर्थ से साधारण वर्त की भिन्नकृतता के उदाहरण के क्रिये यह छुट्टि—

‘उस कुशाङ्गी सुन्दरी ने किये नीलकण्ठ सरीसृप के अपने चिह्नित चेहरे को मेरे सामने किया और (जिना बोके ही) अपने इन्धुन के समस्त भावों को मुख पर प्रकाशित कर दिया ।

यहाँ, जैसे कि ‘प्रतिवस्तूपमा’ चक्रवर्त में हुआ करता है एक रूप के ही प्रतीत होनेवाले उपमानगत ‘विवक्षितत्व’ और उपमेयगत ‘स्मेरत्व’ में सम्मेलन से भिन्नकृतता स्पष्ट होकर रही है ।

विमर्श—( क ) साहित्यदर्पणकार का यह साधारणकर्मस्वरूप विवेचन ‘चक्रवर्तसर्व’ को एक वस्तु के रूप में वर्णित है—

‘तत्रापि साधारणधर्मस्य छविबहुधाभितया एककल्प्यं निर्देशः । इति बस्तुप्रति-  
वस्तुमात्रेण प्रयत्ननिर्देशः । प्रयत्ननिर्देशो च सर्वविधोऽप्युपमासु ( न पुनः स्वकल्पमेव  
कश्चिदित्यर्थः—अथर्व ) प्रतिवस्तूपमासु । विम्बप्रतिविम्बभावो वा दृष्टान्तवत् ।

( क ) वस्तुप्रतिवस्तुमात्र का अभिप्राय यह है—

‘एकदेशेन धर्मस्य सार्वभौमिकेन द्विधापादान् वस्तुप्रतिवस्तुमात्रा ।’

और ‘विम्बप्रतिविम्बमात्र का अभिप्राय है—

वस्तुतो विम्बयोर्धर्मभावः परस्परसादृश्याद्विम्बतयाव्यवसितयोर्द्विधापादान् विम्ब-  
प्रतिविम्बमात्रा ।

अनुक्त—यह भी उपमा की एक विशेषता ही है जिसे ‘एकदेशविचरिणी उपमा’ कहा करते हैं । यह ‘एकदेशविचरिणी उपमा’ यह है जहाँ साम्य ( अथवा सादृश्य ) वाच्य और व्यङ्ग्य—दोनों रूपों में दिखायी दिया करता है ।

जैसे कि—

‘भारतकाशीन सरोवर-मुपमा, चेहरे की मूर्ति उत्पल की मूर्ति कमल और स्तनों की मूर्ति चक्रवर्तमुपमा से तुल्यमित करती रही ।

यहाँ नेत्र और ‘उत्पल’ ‘मुख’ और ‘पद्म’ तथा ‘स्तन’ और ‘चक्रवर्त’ का सादृश्य तो वाच्य है ( साधारण सादृश्य प्रतिपादित है ) किन्तु ‘सरोवर-मुपमा’ और ‘रमणी का साम्य व्यङ्ग्यस्य से विचरित है ।

( ख—रसनोपमा )

—कथिता रसनोपमा ।

यथोर्ध्वमुपमेयस्य यदि स्यादुपमानता ॥ २५ ॥

यथा—

‘चन्द्रायते शुक्लरुचापि हंसो हंसायते चारुगतेन कान्ता ।  
कान्तायते स्पर्शसुखेन वारि वारीयते स्वच्छतया विहायः ॥’

( ग—मालोपमा )

मालोपमा यदेकस्योपमानं बहु दृश्यते ।

यथा—

‘वारिजेनेव सरसी शशिनेव निशीथिनी ।  
यौवनेनेव वनिता नयेन श्रीर्मनोहरा ॥’

विमर्श—साहित्यदर्पणकार की ‘एकदेशविवर्तिनी’ उपमा की मान्यता ने रसगङ्गाधरकार की निम्न उपमा-कल्पना को प्रभावित किया है—

‘इयमपि रूपकवत् केवलनिरवयवा, मालारूपनिरवयवा, समस्तवस्तुविषयसावयवा,  
एकदेशविवर्तिसावयवा, केवलश्लिष्टपरम्परिता, मालारूपश्लिष्टपरम्परिता, केवलशुद्धपरम्प-  
रिता, मालारूपशुद्धपरम्परिता चेत्यष्टधा ।’ ( रसगङ्गाधर उपमाप्रकरण )

अनुवाद—उपमा की दूसरी विचित्रता ‘रसनोपमा’ है । ‘रसनोपमा’ वह उपमा है जिसमें उपमेय उत्तरोत्तर उपमानरूप में परिणत होते-चलते दिखाई दिया करता है ।

जैसे कि—

‘शरद् ऋतु की महिमा से इस स्वच्छ सरोवर में, यह हंस, अपनी शुभ्र कान्ति से, चन्द्रमा सा लग रहा है, यह सुन्दरी, अपनी सुन्दर चाल से, हंस सी चलती दिखाई दे रही है; यह जल, अपने आनन्ददायक स्पर्श से, रमणी का सा आनन्द दे रहा है और यह आकाश, अपनी निर्मलता से अपने आपको ऐसा दिखा रहा है जैसे निर्मल जल हो ।’

यहाँ यह स्पष्ट है कि पूर्ववर्णित उपमेय उपमानरूप में परिवर्तित होता चल रहा है जैसे कि ‘हंस’ जो प्रथम वाक्य में चन्द्र की अपेक्षा उपमेय था, द्वितीय वाक्य में ‘रमणी’ की अपेक्षा उपमान बन रहा है और ‘जल’ जो कि उत्तरार्ध के पूर्व वाक्य में रमणी की अपेक्षा उपमेय था, उत्तर वाक्य में ‘आकाश’ की अपेक्षा उपमान बन गया है ।

विमर्श—रसगङ्गाधरकार को भी ‘रसनोपमा’ मान्य है—

‘उपमेयानां स्वस्वोपमानानुपमानानामुपमेयतायां रसनोपमा । यथा—

‘मूधरा इव मत्तेभा मत्तेभा इव सूनव ।

सुता इव भटास्तस्य परमोन्नतविग्रहा ॥’

अनुवाद—मालोपमा भी उपमा की ही एक विचित्रता है । ‘मालोपमा’ वह उपमा है जिसमें एक उपमेय के अनेक उपमान दिखायी दिया करते हैं ।

‘राजनय से राजलक्ष्मी इस प्रकार मनोरम लगा करती है जिस प्रकार कमल से सरसी, चन्द्रमा से रात्रि और यौवन से रमणी मनोरम लगा करती है ।’

शब्दमात्रेण भिन्नत्वे यथा—

‘स्मेर विधाय भयर्न विकसितमिव नीलमुत्पलं मयि सा ।

कथयामास कुराङ्गी मनोगतं निखिलमाकृतम् ॥’

अत्रैके एव स्मेरत्वविकसितत्वे प्रतिपत्तूपमावच्छब्देन निर्दिष्टे ।

( उपमा के अन्वयत्व वैशिष्ट्य : (क) एकदेशविवर्तिनी उपमा )

एकदेशविवर्तिन्युपमा वाच्यत्वगम्यते ॥ २४ ॥

मवेतां यत्र साम्यस्य—

यथा—

‘नेत्रैरिषोत्पलैः पद्मैर्मुञ्जैरिव सराभियं ।

पदे पदे विमान्ति स्म चक्रवाकैः स्वनैरिव ॥’

अत्रोत्पलादीनां नेत्रादीनां सादर्य वाच्य सराभीणा चाङ्गनासाम्यं गम्यम् ।

इसी प्रकार अश्वत्थाम के भेद से साधारण बर्न की भिन्नकृता के उदाहरण के क्रिये यह सुचि—

‘उस कुराङ्गी सुन्दरी ने लिये नीलकमल सरीसृप अपने विहसते नेत्रों को मेरे सामने किया और (बिना बोके ही) अपने हृदय के समस्त भावों को मुख पर प्रकाशित कर दिया ।’

यहाँ जैसे कि ‘प्रतिपत्तूपमा’ अकट्टार में हुआ करता है एक रूप के ही प्रतीत होनेवाले उपमानगत ‘विकसितत्व’ और उपमेयगत ‘स्मेरत्व’ में सम्बन्ध से भिन्नकृता स्पष्ट झटक रही है ।

विमर्श—(क) साहित्यदर्पणकार का यह साधारणस्वरूप दिखाने ‘अकट्टारसर्वस्व’ की इन पङ्क्तियों पर अवलम्बित है—

‘तत्रापि साधारणवर्णस्य कश्चिद्युगमिताया ऐक्यकृत्वेन निर्देशः । अस्मिन् वस्तुप्रतिपत्तुमात्रेण पृथङनिर्देशः । पृथङनिर्देशो च सचम्पिभेदमाश्रम् ( न पुनः स्वरूपभेदः कश्चिदित्यर्थः—अवश्य ) प्रतिपत्तूपमात् । विम्बप्रतिबिम्बभावो वा दृष्टान्तवत् ।

(ख) वस्तुप्रतिपत्तुमात्र’ का अभिप्राय यह है—

‘एकस्वैव धर्मस्य सचम्पिभेदेन द्विरुपादानं वस्तुप्रतिपत्तुमात्रः ।

और ‘विम्बप्रतिबिम्बभाव’ का अभिप्राय है—

‘वस्तुतो विम्बयोर्धर्मयोः परस्परसादर्याद्विम्बतवाच्यवसितत्वाद्विरुपादानं विम्बप्रतिबिम्बभावः ।

अनुवाद—यह भी उपमा की एक विशेषता ही है जिसे ‘एकदेशविवर्तिनी उपमा’ कहा करते हैं । यह ‘एकदेशविवर्तिनी उपमा’ यह है जहाँ साम्य (अथवा सादर्य) वाच्य और व्यङ्ग्य—दोनों रूपों में दिखायी दिया करता है ।

जैसे कि—

‘सरोवरप्रदीप सरोवर-सुपमा, जेधों की भाँति जलधियों, मृग की भाँति बगल और स्तनों की भाँति चक्रवाक्युगलों से सुषोभित लगती रही ।’

यहाँ जल और ‘जलक’ ‘मृग’ और ‘पक्ष’ तथा ‘स्तन’ और ‘चक्रवाक’ का सादर्य तो वाच्य है (सादाप सद्यता प्रतिपादित है) किन्तु ‘सरोवर-सुपमा’ और ‘रमणी का साम्य व्यङ्ग्यरूप से विवक्षित है ।

अर्थादेकवाक्ये । यथा—

‘राजीवमिव राजीव जलं जलमिवाजनि ।

चन्द्रश्चन्द्र इवातन्द्र’ शरत्समुद्योग्यमे ॥’

अत्र राजीवादीनामन्यसदृशत्वप्रतिपादनार्थमुपमानोपमेयभावो धैवक्षिकः ।  
‘राजीवमिव पाथोजम्’ इति चास्य लाटानुप्रासाद्विविक्तो विषयः । किन्त्वत्रो-  
चितत्वादेकशब्दप्रयोग एव श्रेयान् ।

तदुक्तम्—

‘अनन्वये च शब्दैक्यमौचित्यादानुषङ्गिकम् ।

अस्मिस्तु लाटानुप्रासे साक्षादेव प्रयोजकम् ॥’ इति ।

यहाँ ‘एक ही वस्तु की उपमान और उपमेय रूप में कल्पना’ के निर्देश से यह स्वयं पता चल जाता है कि ऐसी सम्भावना तभी हो सकती है जब कि ‘वाक्य भी एक ही हो’ जैसे कि—

‘शरद् ऋतु के समुल्लास का आरम्भ क्या हुआ कमल कमल सरीखा, जल जल सरीखा और चन्द्रमा चन्द्रमा सरीखा निर्मल लगाने लगा ।’

यहाँ ‘अनन्वय’ अलङ्कार है क्योंकि एक ही वाक्यमें ‘कमल’ आदि वस्तुओंकी उपमान और उपमेय—दोनों रूपों में जो कल्पना है उसमें ‘अनन्वय’ अर्थात् अन्य उपमानों के सद्भाव और सादृश्यके ‘अभाव’ (अनन्वय) का कविहृदय सम्मत अभिप्राय स्पष्ट घटित हो रहा है ।

‘अनन्वय’ और ‘लाटानुप्रास’ परस्पर भिन्न-भिन्न अलङ्कार हुआ करते हैं क्योंकि ‘राजीव-मिव पाथोजम्’ आदि में, शब्द-भेद होने पर भी, एक ही पदरूप वस्तु में, उपमान और उपमेयरूपता की कल्पना के कारण ‘अनन्वय’ की रूपरेखा तो स्पष्ट हो जाती है किन्तु ‘लाटानुप्रास’ की कोई भी सभावना नहीं दिखायी देती । किन्तु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाल लेना चाहिये कि यदा-कदा ‘अनन्वय’ में शब्द-भेद का भी होना अपेक्षित है क्योंकि ‘अनन्वय’ के लिये यही उचित है कि उपमान और उपमेय-वाचक शब्दों में कोई स्वरूप-भेद नहीं प्रतीत हुआ करे । इसीलिये ऐसा कहा भी गया है—

‘अनन्वय’ में ( उपमान और उपमेय-विषयक ) शब्द की जो अभिन्नरूपता है वह वर्ण्य वस्तु की, उपमान और उपमेयरूपता की कल्पना के औचित्य की दृष्टि से स्वाभाविक ही है ( यह एक दूसरी बात है कि कहीं शब्द-भेद होने पर भी ‘अनन्वय’ ही हो ) । किन्तु जिसे ‘लाटानुप्रास’ कहते हैं उसके लिये तो शब्द की एकरूपता अनिवार्य है ( क्योंकि शब्द भेद में ‘लाटानुप्रास’ हो ही नहीं सकता ) ।

विमर्श—( क ) ‘अनन्वय’ का यह व्युत्पत्ति है—

‘न विद्यते उपमेयस्य उपमानान्तरेण अन्वयः संवन्धो वाऽत्रेति अनन्वयः ।’ अर्थात् ‘अनन्वय’ वह है जिसमें उपमेय, ‘अपने अतिरिक्त किसी अन्य उपमान से, किसी प्रकार सादृश्य रखता नहीं प्रतिपादित किया जाया करता । इसीलिये ‘अनन्वय’ का प्रयोजन ‘द्वितीयसद्व्यञ्चारि-निवृत्ति’ अथवा ‘अपने अतिरिक्त अन्य उपमान का निषेध’ हुआ करता है । अलङ्कारशास्त्र के प्रणेता आचार्य भामह ने इसीलिये ‘अनन्वय’ का यह लक्षण किया है—

‘यत्र तेनैव तस्य स्यादुपमानोपमेयता । असादृश्यविब्रजातस्तमित्याहुरनन्वयम् ॥’

जिसे आचार्य उद्भट ने इस सूक्ति में घटाया है—

‘यस्य वाणी स्ववाणीव स्वक्रियेव क्रियाऽमला ।

रूपं स्वमिव रूप च लोकलोचनलोभनम् ॥’

( उपमा के अन्तर्गत वैचित्र्य : वर्गीकरण की अर्समायन। )

अथितुपमानोपमेययोरपि प्रकृतत्वं यथा—

‘ईसमन्त्र इवाभाति जलं व्योमतलं यथा ।

यिमला कुसुदानीष चारका शरषागमे ॥’

‘अस्य राज्ञो गृहे भान्ति मूपानां वा विभूतयः ।

पुरन्दरस्य भवने कल्पवृक्षमथा इव ॥

अत्रोपमेयभूतविभूतिभिः ‘कल्पवृक्षमथा इव’ इत्युपमानभूता विभूतय आक्षिप्यन्त इत्याक्षेपोपमा । अत्रैव ‘गृहे’ इत्यस्य ‘भवने’ इत्यनेन प्रतिनिवेशादपि निर्देशोपमा इत्याद्यस्य न क्षमिता, एवविधवैचित्र्यस्य सहस्रधा दर्शनात् ।

( २—अनन्वयः )

उपमानोपमेयत्वमेकस्यैव त्वनन्वयः ॥ २६ ॥

अनुवाद—( उपमा-वैचित्र्य का वर्गीकरण असम्भव है क्योंकि प्राचीन अकट्टारकाव्य की यह मान्यता कि ‘उपमाव सदा अप्रकृतं ब्रूया क्वता है’ इस वास्तविकता के देखते हीक वहाँ वैचित्र्य कि ) कहीं-कहीं काव्य-साहित्य में उपमेय की भाँति उपमाव भी प्रकृत ही रहा करता है जैसे कि—

शरद के जलमय पर हंस चण्डमा की भाँति एक आत्मस की भाँति और कुम्भ तम्राग्न की भाँति सुन्दर क्या करते हैं ।

‘इस महाभरतापी राजा के भवन में सामन्त राजराज की वे विभूतिवर्ग इस प्रकार सुकोमित क्या करती हैं जिस प्रकार बुरन्दर इन्द्र के भवन में कल्पवृक्ष की विभूतिवर्ग ।’

[ यहाँ ‘ईसमन्त्र इवाभाति’ आदि में यह स्पष्ट है कि ‘इस’ आदि उपमेय की भाँति ‘चण्ड’ आदि उपमाव भी प्रकृत रूप के विवक्षित हैं क्योंकि शरद-चर्मन में दोनों ही अवस्थित हैं । किन्तु इस प्रकार के वैचित्र्य के आधार पर उपमा की येद-यमना अस्मभव है । ]

इसी प्रकार ‘अस्य राज्ञो गृहे’ आदि सूक्ति में एक विचित्र ही उपमा ( आक्षेपोपमा ) दिखायी दे रही है क्योंकि यहाँ उपमेयरूप के अवस्थित ‘सामन्त राजराज की विभूतिवर्ग’ द्वारा उपमाव रूप से अवस्थित ‘कल्पवृक्ष की विभूतिवर्ग’ का आक्षेप अवका अविम्वयन हो रहा है जिसमें ‘कल्पवृक्षमथा इव’ की वाक्यी व्यवस्था का हाथ स्पष्ट दिखायी दे रहा है । यहाँ ‘( राजा ) गृह का ‘( पुरन्दरस्य ) भवने’ द्वारा जो प्रतिनिवेश है उसमें ‘प्रतिनिवेशोपमा’ की विवक्षता साफ़ रही है । किन्तु इस प्रकार के उपमावैचित्र्य की राजका ही वस्तुता असम्भव है । इसलिये यहाँ इसके आधार पर सम्भव उपमावैचित्र्य की निर्देश अवस्थित नहीं ।

विमर्श—उपमा की विविधताओं को ही व्यव कर अप्यवस्थिति में वही एक ऐसी ‘हीनरी’ अवका भलेकी कहा है जो कि काव्य के रहस्य पर विविध हावभावों के साथ भावती रहा करती है ।

अनुवाद—‘अनन्वय’ वह अकट्टार है जिसमें एक ही वस्तु उपमाव और उपमेय-दोनों रूपों में अवस्थित हो जाया करती है—

( ४—स्मरणालङ्कार )

सदृशाणुभवाद्वस्तुस्मृतिः स्मरणमुच्यते ॥ २७ ॥

यथा—

‘अरविन्दमिदं वीक्ष्य खेलत्खञ्जनमञ्जलम् ।  
स्मरामि वदनं तस्याश्चारु चञ्चललोचनम् ॥’

जहाँ दो वाक्य हों । पूर्ववाक्यस्थ उपमेय के द्वारा द्वितीय वाक्यस्थ उपमान की उपमा अथवा सादृश्य-कल्पना दो वाक्यों की ही अपेक्षा करती है ।

‘उपमेयोपमा’ का उद्देश्य ‘उपमानान्तरतिरस्कार’ है । इसलिये जहाँ ‘उपमेय के द्वारा उपमा’ होने पर भी अन्य उपमान का तिरस्कार अभिव्यक्त नहीं हुआ करता वहाँ ‘उपमेयोपमा’ भी नहीं हुआ करती । जैसे कि—

‘सविता विधवति विधुरपि सवितरति तथा दिनन्ति यामिन्य ।  
यामिनयन्ति दिनानि च सुखदुःखवशीकृते मनसि ॥

आदि सूक्ति में, दो वस्तुओं में उपमानोपमेयभाव का पर्यायत परिवर्तन तो अवश्य है किन्तु उपमेयोपमा नहीं क्योंकि इसका उद्देश्य ‘उपमानान्तरतिरस्कार’ नहीं अपितु सुखदुःखादिरूप सवेगा के कारण मन की विवशता का प्रदर्शन है । ‘उपमेयोपमा’ में भी साधारण धर्म की एकरूपता और विम्बप्रतिविम्ब तथा वस्तुप्रतिवस्तुरूपता की समावनार्यें सगत हैं । साधारण धर्म की एकरूपता में ‘उपमेयोपमा’ का एक सुन्दर निदर्शन यह सूक्ति है—

‘खमिव जल जलमिव खं हंसश्चन्द्र इव हस इव चन्द्र ।  
कुमुदाकारास्तारास्ताराकाराणि कुमुदानि ॥’

यहाँ यह स्पष्ट है कि सर्वत्र उपमेय और उपमान में विमलता का धर्म एक रूप का ही प्रतीत हो रहा है ।

इसी प्रकार साधारण धर्म की वस्तुप्रतिवस्तुरूपता की अवस्था में ‘उपमेयोपमा’ का यह निदर्शन ध्यान देने योग्य है—

‘सच्छायाम्भोजवदना सच्छायवदनाम्बुजा ।  
वाप्योऽङ्गना इवाभान्ति यत्र वाप्य इवाङ्गना ॥’

पण्डितराज जगन्नाथ द्वारा उद्धृत इस सूक्ति अर्थात्—

‘रमणीयस्तवकयुता विकसितवज्जोजयुगलशालिन्य ।  
लतिका इव ता वनिता वनिता इव रेजिरे लतिका ॥’

में भी, साधारण धर्म की विम्ब-प्रतिविम्बरूपता में ‘उपमेयोपमा’ का स्वरूप स्पष्ट झलक रहा है ।

अनुवाद—‘स्मरण’ वह अलङ्कार है जिसे समान रूप अथवा समान गुण वाली एक वस्तु के अनुभव से, उसके सदृश दूसरी वस्तु की स्मृति का उपनिबन्ध कहा जाया करता है । जैसे कि—

‘जब कि इस कमल को देखता हूँ जो कि पास विचरते खजन-युगल से सुन्दर लग रहा है तब उस सुन्दरी के उस मुख का स्मरण हो आता है जिसमें दोनों चञ्चल नेत्रों की शोभा विराजमान रहा करती है ।’



## (१—उपमेयोपमा)

पर्यायेण द्वयोरेतदुपमेयोपमा मता ।

एतदुपमानोपमेयत्वम् । अर्थाद्वाक्यद्वये ।

यथा—

‘कमलेषु मदिर्मतिरिष कमला, तनुरिष विभा विमेव तनु ।’

धरणीय धृतिर्धृतिरिष धरणी, सततं विभाति यत यस्य ॥’

अत्रास्य राक्ष भ्रीशुद्ध्याविसदृशं नाम्यवस्तीत्यभिप्राय ।

( ७ ) ‘जनम्ब और ‘जायमुपास’ का मिल-जुलकर व्याख्यातकों को परम्परा से चलता आ रहा है। जनम्ब में छन्द-भेद शङ्क है किन्तु जायमुपास में छन्द-भेद शङ्क न्यून मन्मा गता है। जनम्ब में ‘जर्बोन्नवत्त्व’ रहा करता है किन्तु जायमुपास के बिने ‘सुभार्चरीनरत्त्व’ अपेक्षित है। इसीबिने रामीरमिष वस्योक्तम् में ‘जनम्ब ही सफला है किन्तु जायमुपास नहीं। वैसे ‘जनम्ब को सर्वश्रेष्ठ बनाने के बिने छन्दोक्त को अपेक्षा अवश्य है क्योंकि सभी उपमा और उपमेय को एक-रूपता निस्संशित्य प्रतीत हो सफली है। ‘एकवचन-छन्द में ‘जनम्ब’ और ‘जायमुपास’ के भेद के सम्बन्ध में इसीबिने कहा है—

‘पौमदवत्त्वस्य तात्पर्यमात्रमिच्छत्वात् प्रयोक्तृत्वात् जनम्बये चार्थमात्रगतपुगापदुपमा-  
नोपमेयभावस्य उपपुच्छत्वात् । छन्दोक्तस्य पुनरोपितीवस्यैव प्रसङ्गसङ्गतत्वात् ।’

गोवितीवस्य से अथवा गोविष्य के कथन जनम्ब में छन्दोक्त का अभिप्राय यह है—

‘उद्देश्यप्रतिनिर्देशयोरैककल्पमिति न्यायवद्वक्तव्यत्वात् पर्यायप्रक्रममत्रापेक्षे तु कल्प-  
स्तेनैवार्थः । ( हरकल्याणका )

अर्थात् जनम्ब के कथन का अनुसरण करते जनम्ब में छन्दोक्त वही माना जाया करता है। जनम्ब में छन्दोक्त को छन्दोक्त और प्रतिनिर्देश को एक-रूपता को रखा के ही बिने आवश्यक है।

मनुष्य—‘उपमेयोपमा यह अकृष्टा है जहाँ, हो वस्तुओं वाली-वारी से, परस्पर उपमा और उपमेयत्व में व्यवस्थित दिखानी दिया करती है।

यहाँ कारिका में ‘यत्’ का अभिप्राय ‘उपमानोपमेयत्व’ का अभिप्राय है ( क्योंकि ‘यत्’ शब्द से पूर्व कारिका क ‘उपमानोपमेयत्व’ का निर्देश किया जा रहा है ) ।

यहाँ ‘जा वस्तुओं में परस्पर उपमानोपमेय-भाव की कल्पना से यह स्पष्ट पता चल रहा है कि ऐसी सम्भावना का पावनी में ही हो सकती है (जनम्ब की भांति एक पावनी में नहीं) । इसे कि—

‘किन्तु आश्चर्य और आश्चर्य की बात है कि ये महाराज ऐसी हैं जिसकी बुद्धि लक्ष्मी-  
सरीसृपी लक्ष्मी बुद्धि-सरीसृपी कागित दिव्य देह-सरीसृपी दिव्य यह कागित-सरीसृपी एति  
पृथिवी-सरीसृपी भीरु पृथिवी एति-सरीसृपी विराजमान है ।

यहाँ ‘उपमेयोपमा’ का एक निगूह अभिप्राय है और वह यह प्रदर्शित करता है कि कार्य भूपास की बुद्धि और लक्ष्मी आदि के समान और किसी की बुद्धि और लक्ष्मी आदि नहीं है ।

विमर्श—‘उपमेयोपमा’ में वस्तुओं के वास्तविक उपमा-उपमेयभाव का पर्याय ( यही  
वा १ से ) एति-सरीसृपी लक्ष्मी है । क्योंकि ‘उपमेयोपमा’ का अभिप्राय ‘उद्देश्य के द्वारा उपास है  
मग यह वचने-दीपका दम्बता अन्वय-विधानम् । उद्देश्य के द्वारा उपास वही हो सकती है

( ४—स्मरणालङ्कार )

सदृशाणुभवादस्तुस्मृतिः स्मरणमुच्यते ॥ २७ ॥

यथा—

‘अरविन्दमिदं वीक्ष्य खेलत्खञ्जनमञ्जलम् ।  
स्मरामि वदनं तस्याश्चारु चञ्चललोचनम् ॥’

जहाँ दो वाक्य हों । पूर्ववाक्यस्थ उपमेय के द्वारा द्वितीय वाक्यस्थ उपमान की उपमा अथवा सादृश्य-करणना दो वाक्यों की ही अपेक्षा करती है ।

‘उपमेयोपमा’ का उद्देश्य ‘उपमानान्तरतिरस्कार’ है । इसलिये जहाँ ‘उपमेय के द्वारा उपमा’ होने पर भी अन्य उपमान का तिरस्कार अभिव्यङ्ग्य नहीं हुआ करता वहाँ ‘उपमेयोपमा’ भी नहीं हुआ करती । जैसे कि—

‘सविता विधवति विधुरपि सवितरति तथा दिनन्ति यामिन्य ।  
यामिनयन्ति दिनानि च सुखदुःखवशीकृते मनसि ॥

आदि सूक्ति में, दो वस्तुओं में उपमानोपमेयभाव का पर्यायत परिवर्तन तो अवश्य है किन्तु उपमेयोपमा नहीं क्योंकि इसका उद्देश्य ‘उपमानान्तरतिरस्कार’ नहीं अपितु सुखदुःखारूप सवेगा के कारण मन की विवशता का प्रदर्शन है । ‘उपमेयोपमा’ में भी साधारण धर्म की एकरूपता और विम्बप्रतिविम्ब तथा वस्तुप्रतिवस्तुरूपता की समावनार्यें सगत हैं । साधारण धर्म की एकरूपता, में ‘उपमेयोपमा’ का एक सुन्दर निदर्शन यह सूक्ति है—

‘खमिव जलं जलमिव ख हसश्चन्द्र इव हंस इव चन्द्र ।  
कुमुदाकारास्तारास्ताराकाराणि कुमुदानि ॥’

यहाँ यह स्पष्ट है कि सर्वत्र उपमेय और उपमान में विमलता का धर्म एक रूप का ही प्रतीत हो रहा है ।

इसी प्रकार साधारण धर्म की वस्तुप्रतिवस्तुरूपता की अवस्था में ‘उपमेयोपमा’ का यह निदर्शन ध्यान देने योग्य है—

‘सच्छायाभोजवदना सच्छायवदनाम्बुजा ।  
वाप्योऽङ्गना इवामान्ति यत्र वाप्य इवाङ्गना ॥’

पण्डितराज जगन्नाथ द्वारा उद्धृत इस सूक्ति अर्थात्—

‘रमणीयस्तवकयुता विकसितवचोजयुगलशालिन्य ।  
लतिका इव ता वनिता वनिता इव रेजिरे लतिका ॥’

में भी, साधारण धर्म की विम्ब-प्रतिविम्बरूपता में ‘उपमेयोपमा’ का स्वरूप स्पष्ट झलक रहा है ।

अनुवाद—‘स्मरण’ वह अलङ्कार है जिसे समान रूप अथवा समान गुण वाली एक वस्तु के अनुभव से, उसके सदृश दूसरी वस्तु की स्मृति का उपनिबन्ध कहा जाया करता है । जैसे कि—

‘जब कि इस कमल को देखता हूँ जो कि पास विचरते खजन-युगल से सुन्दर लग रहा है तब उस सुन्दरी के उस मुख का स्मरण हो आता है जिसमें दोनों चञ्चल नेत्रों की शोभा विराजमान रहा करती है ।’

‘मयि सकपटम्—’ इत्यादी च स्मृते सादरयानुमर्ष विनोत्थापितस्वाभाव-  
मलङ्कार । राघवानन्दमहापात्रास्तु—वैसादरयास्मृतिमपि स्मरणालङ्कारमिच्छ-  
न्ति । उत्रोदाहरणं तेषामेव ।

यथा—

‘शिरीषमुद्री गिरिषु प्रपेदे यदा यदा तुल्यरातानि सीता ।  
तदा तदास्यां सवनेषु सीस्यसभाणि पश्यी गलक्त्रु राम ॥’

‘स्मरण लङ्कार तो सादर-दर्शन से उत्थापित स्मृति-रूप ही हुआ करता है और इसीछिन्ने ‘मयि सकपट किञ्चित् कापि प्रणीतविशेष्ये आदि (तृतीय परिच्छेद में ‘स्मृति’ रूप व्यभिचारी भाव के उदाहरणार्थ उद्धृत) छृति में ‘स्मरण’ लङ्कार की कोई संभावना नहीं क्योंकि यहाँ जो ‘स्मृति’ है वह सादर दर्शन से उत्थापित स्मृति नहीं अपि तु प्रणय की चिन्ता से उत्पन्न ‘स्मृति’ है ।

‘सादरदर्शन से संमृत स्मृति के अतिरिक्त वैसादरदर्शन से संमृत स्मृति को ‘स्मरण लङ्कार है—वह ‘स्मरण’-संबन्धी मत्त राघवावन्द्य स्थापान ने अपवत्या है । इस मत में ‘स्मरण’ का वह उदाहरण उन्हीं का दिया हुआ है—

‘जब जब शिरीषकोमलझरी सीता पहाड़ी बगही पर तरह तरह से आविष्ट दिखायी पड़ी तब तब राम आँखों से आँसु बहाते राजमन्च में सुकन उसके अवलित मुहों का प्यान करते रहे ।’

विमर्श—विमर्श कविराज का ‘स्मरण-लङ्कार लङ्कार-सर्वस्व और काव्य-प्रकाश के स्मरण लङ्कारों का अनुसरण करता है । लङ्कार-सर्वस्व और काव्य-प्रकाश में ‘उदात्तानुमर्ष से वस्तुस्मरण की स्मृति’ की ‘स्मरण लङ्कार कहा गया है—‘उदात्तानुमर्षाद् वस्तुस्मरणस्मृति स्मरणम्’ (लङ्कार-सर्वस्व), ‘उदात्तानुमर्षस्य इत्ये सादरयो स्मृतिः । स्मरणम्’ (काव्य-प्रकाश) । स्मरण लङ्कार केवल ‘स्मृति’ नहीं अपि तु सादरस्थोत्थापित स्मृति है—यही बातमा भाव’ उन्ही लङ्कारों की है । आचार्य कण्ठ (लङ्कारसर्वस्व) ने स्पष्ट कहा है—

‘सादरं विना तु स्मृतिर्नायमलङ्कारः’

विमर्श कविराज भी वस्तुतः ‘सादरस्थोत्थापित स्मृति’ की ही स्मरण लङ्कार मानते हैं किन्तु सादर्य की भाँति वैसा दर्शन भी स्मृति का कारण हो सकता है जोर इसछिन्ने वैसादर्योत्थापित स्मृति की भी स्मरण लङ्कार मानने वाले आचार्य ही चुके हैं विमर्श राघवावन्द्य स्थापान का नामोत्कीर्ण स्वर्ध विमर्श कविराज भी ही किया है ।

‘स्मरण’ लङ्कार की कपरेका के सम्बन्ध में ‘लङ्कारसर्वस्व’ के व्याख्याकार आचार्य कविराज की यह बात प्यार दिखे योग्य है—

‘अतएव स्मर्षमात्रेणानुभूयमानस्य अनुभूयमानेन वा स्मर्षमात्रेण सादर्यपरि-  
कल्पनमप्यलङ्कारः । बहुशब्द—

यथा द्रव्येण जलित्वा साम्प्रतीयः स्मर्षमात्रया ।

स्मर्षमात्रद्वयाज्जलितं तत्रैव द्रव्यमागमिनी ॥

जहाँ ‘स्मरण’ लङ्कार कथवा उदात्तानुमर्ष से वस्तुस्मरण-स्मृति का अविग्रह स्मरण की भाँती हुई वस्तु से अनुमर्ष की भाँती हुई वस्तु की सादर्य-कल्पना कथवा अनुमर्ष की भाँती

## रूपकं रूपितारोपाद्वि (पो वि) पये निरपह्वे ।

हुई वस्तु से स्मरण की जाती हुई वस्तु की सादृश्य कल्पना है । अनुभव की जाती हुई वस्तु से स्मरण की जाती हुई वस्तु की सादृश्य-परिकल्पना में 'स्मरण' का स्वरूप निम्न मेघदूत-सूक्ति में देखिये—

‘तस्यास्तीरे रचितशिखर पेशलैरिन्द्रनीलै  
क्रीडाशैलः कनककदलीवेष्टनप्रेक्षणीयः ॥  
मद्गोहिन्याः प्रिय इति सखे चेतसा कातरेण  
प्रेषयोपान्तस्फुरिततद्धित त्वां तमेव स्मरामि ॥’

यहाँ प्रत्यक्षदृश्य मेघ और स्मृति-सिद्ध क्रीडाशैल की सादृश्य-कल्पना में 'स्मरण' अलङ्कार की रूपरेखा बड़ी सुन्दरता से उभर आयी है ।

(ख) पण्डितराज जगन्नाथ की 'स्मरण' अलङ्कार के इस उपर्युक्त लक्षण पर आपत्ति है क्योंकि उनके अनुसार 'स्मरण' का लक्षण यह है—

‘सादृश्यज्ञानोद्बुद्धसंस्कारप्रयोज्य स्मरण स्मरणालङ्कारः’

यहाँ 'सादृश्यानुभव' के बदले 'सदृशज्ञान' से उद्बुद्ध स्मृति को स्मरण अलङ्कार माना गया है जिसमें सदृशानुभव की भाँति सदृशस्मृति से भी उत्थापित स्मृति में 'स्मरण' अलङ्कार का दर्शन किया जा सके । बात भी वस्तुतः ठीक ही है । पण्डितराज ने स्पष्ट कहा है—

‘यदपि ‘सदृशानुभवाद्ब्रह्मस्वन्तरस्मृति स्मरणम्’ इत्यलङ्कारसर्वस्वरत्नाकरयोः स्मरणालङ्कारलक्षणमुक्तम्’ तदपि न । सदृशस्मरणादुद्बुद्धेन सस्कारेण जनिते स्मरणे अव्याप्ते । यथा—

‘सन्त्येवास्मिन् जगति बहव पक्षिणो रम्यरूपा-  
स्तेषां मध्ये मम तु महती वासना चातकेषु ।  
यैरध्यक्षैरथ निजसख नीरदं स्मारयन्ति  
स्मृत्यारूढं भवति किमपि ग्रहा कृष्णामिधानम् ॥’

अत्र च चातकदर्शनादेकसम्बन्धिज्ञानादुत्पन्नेनापरसम्बन्धिनो जलधरस्य भगवत्सदृशस्य स्मरणेन जनितं भगवत् स्मरण भगवद्विषयकरतिभावाङ्गम् । यदि च ‘सदृशानुभवाद्’ इत्यपहाय ‘सदृशज्ञानाद्’ इति लक्षणे निवेश्यते तदा भवत्यस्यापि समग्र इति दिक् ।’

अर्थात् सदृशानुभव की भाँति सदृशस्मरणद्वारा उद्बुद्ध संस्कार से उत्थापित स्मृति भी स्मरणालङ्कार ही है ।

(ग) 'स्मरण' अलङ्कार की जन्मभूमि वस्तुतः उपमा है । उपमा में साधारणधर्म को एकरूपता और भिन्नरूपता में विम्बप्रतिविम्बभाव तथा वस्तुप्रतिवस्तुभाव की जो कतिपय सभावनायें हैं वे 'स्मरण' के लिये भी लागू हैं ।

अनुवाद—‘रूपक वह अलङ्कार है जिसे (विषयी अथवा उपमान द्वारा) अनपह्वत (न छिपाये गये) विषय (आरोप विषय-उपमेय) पर विषयी (उपमान) का अमेदा-रोप कहा जाया करता है ।

‘रूपित’ इति परिणामाद्-व्यवच्छेदः । एतच्च तत्प्रस्तावे विवेचयिष्याम ।  
‘निरपहृते’ इत्यपहृतिव्यवच्छेदार्थम् ।

तत्परम्परित साङ्ग निरङ्गमिति च त्रिधा ॥ २८ ॥

तत्रापकम् ।

( परम्परितकपक : सप्रमेद निरूपण )

तत्र—

यत्र कस्यचिदारोपः परारोपणकारणम् ।

तत्परम्परितं श्लिष्टाश्लिष्टशब्दनिबन्धनम् ॥ २९ ॥

प्रत्येकं केवलं मालारूप चेति चतुर्विधम् ।

यहाँ कारिका में ‘रूपित’ पद का प्रयोग ‘परिणाम’ अङ्गुष्ठार से ‘कपक’ के व्यवच्छेद अथवा पार्यस्य का प्रदर्शन है और इसका विवेचन ‘परिणाम’ अङ्गुष्ठार के निरूपण-प्रसङ्ग में किया जा रहा है । साथ ही साथ यहाँ ‘निरपहृते’ पद इसविधे रखा गया है जिसमें ‘अपहृति’ से ( जिसमें विषय का विवेचन रहा करता है ) ‘रूपक’ का स्वरूप-व्यवच्छेद स्पष्ट होता रहे ।

विमर्श—अङ्गुष्ठारसंस्कार से ‘रूपक’ को उस स्तुति में ही ‘कपक’ का स्वरूप बना दिया है—

‘विषयिणा विषयस्य रूपवता करणारूपकम् ।

‘रूपवता’ को वह ‘रूपक’-स्तुति भी शुक्तिपूर्ण ही है—

‘यदा तु विषयी विषयं रूपयति रूपवन्तं करोति तद्व्यवर्णमिधाव रूपकम् ।

अनुवाद—‘रूपक’ के तीन ( मुख्य ) प्रकार हैं—( १ ) परम्परित ( २ ) साङ्ग और ( ३ ) निरङ्ग ।

यहाँ ( कारिका में ) ‘तत्’ से ‘कपक’ का निर्देश किया जा रहा है ।

विमर्श—‘साङ्ग’ कपक को ‘सावयव’ और ‘निरङ्ग’ को ‘निरवयव’ भी कहा जाता करता है । साङ्ग अथवा सावयव कपक का अविभाज्य है—‘साहाय्यवैरारोप्यमानो वर्तते यत्र तत्’ ( अर्थात् कपके का ऐसा रूप जिसमें उसके अवयव भी करित हुआ करें ) । ‘निरङ्ग’ अथवा निरवयव कपक का तात्पर्य है—‘अवयवेश्मो निष्कृष्ट आरोप्यमानो यत्र तत्’ ( अर्थात् अवयव रहित कपके का अपमान से तादात्म्यारोप ) और ‘परम्परित’ कपक का अर्थ है ‘परम्पर्यैकस्य साहाय्यादुपरस्याकृपणत्वमागतं यत्र तत्’ ( अर्थात् एक के तादात्म्यारोप के कारण अन्य का तादात्म्यारोप ) ।

अनुवाद—कपक के उपर्युक्त भेदप्रथम में—

‘परम्परित’ कपक वह कपक है जिसमें एक का अभेदारोप दूसरे के अभेदारोप का कारण हुआ करता है । इसके दो भेद हैं—( १ ) श्लिष्टाश्लिष्टनिबन्धनपरम्परित और ( २ ) अश्लिष्टाश्लिष्टनिबन्धनपरम्परित । ( १ का ) अर्थात् श्लिष्टाश्लिष्टनिबन्धनपरम्परित भी दो प्रकार का है—श्लिष्टाश्लिष्टनिबन्धन-केवल-परम्परित और श्लिष्टाश्लिष्टनिबन्धन-‘माका’-परम्परित । इसी प्रकार ( २ का ) अर्थात् अश्लिष्टाश्लिष्टनिबन्धनपरम्परित भी केवल और ‘माका’ रूप होने से दो प्रकार का ही है ।

तत्र श्लिष्टशब्दनिबन्धनं केवलपरम्परितम् ।

यथा—

आहवे जगदुदण्ड । राजमण्डलराहवे ।

श्रीनृसिंहमहीपाल ! स्वस्त्यस्तु तव बाहवे ॥'

अत्र राजमण्डलं नृपसमूह एव चन्द्रबिम्बमित्यारोपो राजबाहौ राहुत्वारोपे निमित्तम् ।

मालारूप यथा—

'पद्मोदयदिनाधीश. सदागतिसमीरण ।

भूसृदावलिदम्भोलिरेक एव भवान् भुवि ॥'

अत्र पद्माया उदय एव पद्मानामुदय, सतामागतिरेव सदागमनम्, भूसृतो राजान एव पर्वता इत्याद्यारोपो राज्ञः सूर्यत्वाद्यारोपनिमित्तम् ।

अश्लिष्टशब्दनिबन्धन केवल यथा—

'पान्तु वो जलदश्यामाः शार्ङ्गव्याघातकर्कशाः ।

त्रैलोक्यमण्डपस्तम्भाश्चत्वारो हरिबाहवः ॥'

जैसे कि श्लिष्टशब्दनिबन्धन 'केवल' परम्परित—

'हे नृसिंह महीपाल ! हे महापराक्रमी महाराज ! संग्राम में प्रचण्डबलशाली राज-मण्डल रूपी चन्द्रमा के लिये राहुस्वरूप आप का भुजदण्ड सदा विजयी हो ।'

यहाँ 'राजमण्डल' शब्द श्लिष्ट है क्योंकि इसका अभिप्राय 'राजसमूह' और 'चन्द्रबिम्ब' दोनों है । इस प्रकार यहाँ 'राजमण्डल' (राजसमूह) रूप विषय पर 'राजमण्डल' (चन्द्र-बिम्ब) रूप विषयी का आरोप स्पष्ट है । और जैसा कि यह आरोप वर्ण्य भूपाल के बाहु-दण्ड पर राहु के आरोप का निमित्त लग रहा है, यहाँ श्लिष्टशब्दनिबन्धन 'केवल'-परम्परित रूपक का लक्षण स्पष्टतया घटित हो रहा है ।

इसी प्रकार, श्लिष्टशब्दनिबन्धन 'माला' परम्परित, जैसे कि—

'हे महाराज ! इस जगतीतल पर आप ही एक ऐसे हैं जो 'पद्मोदय' ( ऐश्वर्य-परा-काष्ठा ) रूप 'पद्मोदय' ( कमलविकास ) के लिये सूर्यरूप, 'सदागति' ( सज्जनागम ) रूप 'सदागति' ( निरन्तर विचरण ) के लिये पवन रूप और 'भूसृदावलि' ( राजवर्ग ) रूप 'भूसृदावलि' ( पर्वतसमूह ) के लिये वज्ररूप से सदा विराजमान हैं ।'

यहाँ भी 'पद्मोदय', 'सदागति' और 'भूसृदावलि' पद श्लिष्ट पद हैं । यहाँ पद्मा अथवा लक्ष्मी के उदय ( पद्मोदय ) पर, पद्मों के उदय ( पद्मोदय = कमलविकास ) का आरोप, सज्जनों के आगमन ( सदागति ) पर सदा आगमन ( सदागति ) का आरोप और 'भूसृदावलि' ( राजसमूह ) पर भूसृदावलि ( पर्वतसमूह ) का आरोप स्पष्ट है और यह भी स्पष्ट है कि यह आरोप वर्ण्य भूपाल पर सूर्य, पवन और वज्र की आरोप माला का निमित्त बन रहा है ।

अश्लिष्टशब्दनिबन्धन 'केवल' परम्परित का उदाहरण यह है—

'मेघ के समान श्याम, शार्ङ्ग धनुष की प्रत्यञ्चा के आस्फालन से कठोर किंवा त्रैलोक्य रूपी मण्डल के स्तम्भरूप, भगवान् विष्णु के चारों भुजदण्ड आप सब का कल्याण करें ।' यहाँ कोई भी शब्द श्लिष्ट नहीं और त्रैलोक्य पर मण्डप का जो आरोप है वह विष्णु-भुजाओं पर स्तम्भों के आरोप के निमित्तरूप से प्रतीत हो रहा है ।

अत्र त्रैलोक्यस्य मण्डपत्वारोपो हरिबाहुनां स्तम्भत्वारोपे निमित्तम् ।

मालारूप तथा—

मनोज्ञराजस्य सिंहासपत्रं श्रीमण्डपिञ्च हरिवृक्षनाया ।

विराजते व्योमसरं सरोजं कर्पूरपूरप्रभमिन्दुचिम्बम् ॥'

अत्र मनोज्ञादे राजत्याचारोपमन्त्रचिम्बस्य सिंहासपत्रत्वाचारोपे निमित्तम् ।

'तत्र च राजमुखादीनां राहुत्वाचारोपो राजमण्डलादीनां चन्द्रमण्डलत्वाचारोपे निमित्तम्' इति केचित् ।

इसी प्रकार अरिहटसम्बन्धितम्बन 'माका परम्परित का उदाहरण—

'कामस्य राजराजेश्वर का जेठ राजराजस्य पूर्वदिशास्य सुन्दरी का चन्द्रमण्डल और गगनस्य सरोवर का कमल यह कर्पूरराजचन्द्रचिम्ब किन्ना सुन्दर बना रहा है ।

यहाँ यह स्पष्ट है कि 'काम' आदि पर 'राजा' आदि का जो जमेदारोप है वह 'चन्द्र चिम्ब' आदि पर 'जेठराज' आदि के जमेदारोप के निमित्तक्य से विराजमान है । इस प्रकार इस आरोप-माका में अरिहट चम्बों के प्रयोग के कारण अरिहटसम्बन्धितम्बन 'माका'परम्परित कमल स्पष्ट लक्ष्य रहा है ।

उक्त चतुर्विध परम्परित रूपक के सम्बन्ध में कतिपय व्याख्याचारों का यह कहना है— 'राजमण्डलकाहने' आदि में, एक के रूपक को दूसरे के रूपक का निमित्त 'इस प्रकार मानना उचित है कि 'राजबाहु' आदि पर 'राहु' आदि के जमेदारोप को 'राजमण्डल' ( राजवर्ग ) आदि पर 'राजमण्डल' ( चन्द्रचिम्ब ) आदि के जमेदारोप का निमित्त माना जाय ( इसलिये 'राजमण्डल' आदि पर 'राजमण्डल आदि के जमेदारोप को 'राजबाहु' आदि पर 'राहु' आदि के जमेदारोप का निमित्त मानना ठीक नहीं ) ।

विमर्श—'एक के आरोपमाहात्म्य से दूसरे के जमेदारोप में परम्परित रूपक को मानना तो सही लक्ष्यकारियों की है किन्तु 'किन्ना जलोप-माहात्म्य किन्ना जमेदारोप का निमित्त है' इस सम्बन्ध में विमर्श कविराज ने कहाइन प्रश्नों में अपने मत का निर्णय कर जिन कान्वा चारों के मित्र मत का लक्ष्य किया है उनमें लक्ष्यप्रसन्नस्कार आचार्य श्रेष्ठ मुख्य हैं । श्रेष्ठ ने किन्नासम्बन्धितम्बन 'माका'परम्परित का यह उदाहरण दिया है—

'विह्वलमानसार्द्धं वैरिभक्त्यासंकोचहीनपणे

दुर्गाभार्गजनीलकोटित समित्तवीर्यरसैर्बोधर ।

सत्त्वप्रीतिविजयनवृक्ष विजयप्राप्तमाचसीम धयो

साक्षात्मे धरवीर वासरसत वैरिह्वलमुखैः प्रियाः ॥

और इसमें 'परम्परित का रूपक इस प्रकार बताया है—

'अत्र त्वमेव हंस इत्यादीपणपूर्वको मानसमेव मानसमित्ताचारोप इति निरुद्धार्थं माकापरम्परितम् ।'

प्रति आचार्य कविराज ने इन शब्दों में स्पष्ट किया है—

'विह्वलित्यादिहंसरूपका माहात्म्यान्मानसरूपमिति परम्परितम्'

आचार्य श्रेष्ठ का यह मत सर्वप्रथम कम्पनकाशधर द्वारा ही प्रतिष्ठित किया गया है—

अत्र ( विह्वलमानसार्द्धं इत्यादी ) मानसमेव मानसम् कमलापा संकोच रूप कम-  
कान्तप्रसन्नोच, दुर्गाभामभार्गजमेव दुर्गायाः भार्गवम् समित्तं वीर्यर एव समिपं

( साङ्गरूपक समस्तवस्तुविषय और एकदेशविवर्ति )

अङ्गिनो यदि साङ्गस्य रूपणं साङ्गमेव तत् ॥ ३० ॥

समस्तवस्तुविषयमेकदेशविवर्ति च ।

तत्र—

आरोप्याणामशेषाणां शब्दत्वे प्रथमं मतम् ॥ ३१ ॥

प्रथमं समस्तवस्तुविषयम् ।

यथा—

‘रावणावग्रहक्लान्तमिति चागमृतेन सः ।

अभिवृष्य मरुत्सस्य कृष्णमेघस्तिरोदधे ॥’

अत्र कृष्णस्य मेघत्वारोपे वागादीनाममृतत्वादिकमारोपितम् ।

यत्र कस्यचिदार्थत्वमेकदेशविवर्ति तत् ।

स्वीकार, सत्ये प्रीतिरेव सत्यामप्रीति, विजय. पराभव एव विजयोऽर्जुनः एवमारो-  
पणनिमित्तो हंसादेरारोपः ।’ ( काव्यप्रकाश १०. २५ )

इन दोनों मतों में, विश्वनाथ कविराज और आचार्य मम्मट का मत एक ही है। दोनों ही आचार्य अलङ्कारसर्वस्वकार का खण्डन करते हैं। किन्तु निष्पक्ष भाव से देखते, अलङ्कारसर्वस्व-  
कार का ही मत अधिक युक्तिसंगत लगता है। कारण यह है कि जब कि कवि का ध्यान मुख्य  
वर्ण्य विषय ( और इसलिए मुख्य आरोप विषय ) प्रकृत भूपाल पर है तो उस पर की जाने वाली  
‘हस’ आदि की अभेदारोप माला ही मुख्य आरोप-माला है जिसकी दृष्टि से ‘मानस’ पर ‘मानस’  
आदि के आरोप का स्वारस्य और सार्थक्य ठीक ठीक समझा जा सकता है।

अनुवाद—रूपक का द्वितीय भेद ‘साङ्ग’ रूपक वह रूपक है जिसमें अङ्गों के रूपण के  
साथ-साथ अङ्गी का रूपण हुआ करता है। इस रूपक-प्रकार के भी दो भेद हैं—( १ )  
समस्तवस्तुविषय और ( २ ) एकदेशविवर्ति ।

इनमें ( १ ला ) अर्थात् ‘समस्तवस्तुविषय’ साङ्गरूपक वह रूपक हुआ करता है  
जिसमें ( कवि-निरूपित ) समस्त आरोप्यमाण ( उपमान ) शब्दत उपात्त रहा करते हैं।  
यहाँ ( कारिका में ) ‘प्रथमम्’ का तात्पर्य ‘समस्तवस्तुविषय’ प्रकार के रूपक का  
तात्पर्य है।

इसका उदाहरण यह है—

‘जब कि विष्णुरूपी मेघ ने रावणरूपी अवग्रह (अवर्षण) से क्लान्त देववृन्दरूपी सस्य  
(धान्य शालि-चेत्र) को वाणीरूपी अमृतवर्षा से सींच दिया तब वह तिरोहित हो गया।’

यहाँ रूपक की ‘साङ्गता’ और ‘समस्तवस्तुविषयता’ इसलिये है क्योंकि कवि ने  
अङ्गी रूप से अवस्थित ‘मेघ’ रूप आरोप्यमाण ( उपमानभूत ) पदार्थों को शब्दत, प्रति-  
पादित किया है और इसके अङ्ग-रूप से निरूपित ‘सस्य’ तथा ‘अवग्रह’ और ‘अमृत’-  
रूप आरोप्यमाण पदार्थों को भी शब्दत ही उपनिबद्ध किया है।

और ( २ रा ) अर्थात् ‘एकदेशविवर्ति’ साङ्गरूपक वह रूपक-प्रकार है जिसमें ( किसी  
न किसी अङ्ग से सम्बद्ध ) कोई न कोई आरोप्यमाण ( उपमानभूत चन्द्र आदि ) पदार्थ  
शब्दत प्रतिपादित न हो कर अर्थलम्ब्य रहा करता है।



कस्यपिदारोप्यमाणस्य ।

पद्या—

‘लावण्यमधुमि’ पूर्णमास्यमस्या विकस्वरम् ।

लोकसोचनरोक्तम्बकयम्बी’ केन पीयते ? ॥’

अत्र छावण्यादौ मधुत्वाधारोप’ शाब्द’, मुक्तस्य पद्यत्वारोप आर्थ’ ।

न चेपमेकदेशविधितिन्युपमा विकस्वरत्वधर्मस्यारोप्यमाणे पद्ये मुक्तयथा वर्तमानात् मुखे वोपचरितत्वात् ।

यहाँ, कारिका में कस्यपित् का अभिप्राय आरोप्यमाण (उपमान) का अभिप्राय है । इसका उदाहरण यह है—

‘लोगों के बीच ऐसे नेत्रकपी अमरसंघ नहीं हैं जो कि लावण्यकपी मधु रस से भरे इसके किसे मुख के पाद के सम्पर्क हैं ।’

यहाँ रूपक की ‘सादृशा’ और ‘एकदेशविधिति’ इसलिये है क्योंकि कवि ने ‘रोक्तम्ब’ को लड़ी आरोप्यमाण मानकर लड़क्य से अवस्थित ‘मधु’क्य आरोप्यमाण को तो छावण्या प्रतिपादित किया है किन्तु (‘आस्य’ के लिये) ‘कमक’ अर्थात् रूप आरोप्यमाण का अर्थ ही प्रकाशित होच दिया है । यहाँ (‘नेत्रैरिबोत्पलैः’ अर्थात् की भाँति) ‘एकदेशविधिति’ उपमा की आसङ्गा न होनी चाहिये क्योंकि वहाँ कवि ने ‘विकस्वरता’ (सिक छठने) के धर्म का जो प्रयोग किया है वह (जैसा कि ‘रूपक’ के लिये आवश्यक है) आरोप्यमाणमूल ‘कमक’ में तो अवश्य अवस्थित है (किन्तु जैसा कि ‘उपमा’ के लिये स्वाभाविक है) ‘मुख’ में (अवस्थित नहीं करि तु) उपचरित अवस्था कल्पित ही मानी हो रहा है (जिससे वहाँ रूपक की मान्यता ही मुक्तिमुख विज्ञापी है रही है) ।

विमर्श—(क) उपमेद ‘छाव’ जगत् ‘सावनन रूपक का पवित्रपञ्च क्यवानकृत वह क्यन पदा स्पष्ट है—

‘प्रस्वरसापेक्षविष्यधिकारो रूपकानां संज्ञातः सात्वचम् ।

उपमापि—

‘समस्तमि वस्तुन्सारोप्यमाणानि सम्योपात्तानि यत्र तत्समस्तवस्तुविषयम् ।’

‘यत्र च अविद्यमाने सम्योपात्तमारोप्यमाणं अविधार्थसामर्थ्याक्षिप्तं तदैकदेशे छावण्या पातविधियुक्ते अवयवकल्पके विवर्तनात् स्वस्वकल्पोपमेनाग्न्यध्यासेन वर्तमानैकदेशविधिति’ ।

यदा—

‘एकदेशो उपातविधियुक्ते अवयव विशेषेण स्फुटतया वर्तनादैकदेशविधिति’ ।

(रसज्ञापरः रूपक-मकरम्)

(ख) ‘एकदेशविधिति’ रूपक और ‘एकदेशविधिति’ उपमा का भेद साधारण धर्म की उपमान-संज्ञा और उपमेय-संज्ञा के बीच के आकार पर स्पष्ट हो जाता है । जैसे कि ‘मुखकमक विकस्वरता’ में विकस्वरता का धर्म कमक में तो समझा है किन्तु मुख में व्यक्त और इसलिये वहाँ ‘मुखमेव कमकम्’ रस अथवातीत में रूपक ही मान्य होता है । इसके अनुरिक्त ‘मुखकमक विकस्वरता’ में ‘विकस्वरता’ का धर्म मुख में तो वस्तुता संगत कल्पा है किन्तु कमक में केवल उपचारण ही संगत मानी होता है । इसलिये वहाँ ‘मुखं कमकमिव’ रस अवहित समझ में ‘उपमा’ ही मान्य होगी ।

( निरङ्गरूपक : भेदद्वय )

निरङ्गं केवलस्यैव रूपं तदपि द्विधा ॥ ३२ ॥

मालाकेवलरूपत्वात्—

तत्र मालारूपं निरङ्गं यथा—

‘निर्माणकौशलं धातुश्चन्द्रिका लोकचक्षुषाम् ।

क्रीडागृहमनङ्गस्य सेयमिन्दीवरेक्षणा ॥’

केवलं यथा—

‘दासे कृतागसि भवत्युचितः प्रभूणां

पादप्रहार इति सुन्दरि ! नात्र दूये ।

उद्यत्कठोरपुलकाङ्कुरकण्टकाग्रै-

र्यद्विद्यते सृदु पदं ननु सा व्यथा मे ॥’

( रूपकभेद सकलन )

—तेनाष्टौ रूपके भिदाः ।

‘चिरन्तनैरुक्ता’ इति शेषः ।

अनुवाद—रूपक का तृतीय-भेद ‘निरङ्ग’ रूपक वह रूपक है जिसमें अङ्गीरूप से अवस्थित आरोप्यमाण ( उपमान ) का ही अमेदारोप हुआ करता है । यह भी दो प्रकार का है—

( १ ला ) ‘माला’निरङ्गरूपक और ( २ रा ) केवलनिरङ्गरूपक ।

( १ ले ) अर्थात् ‘माला’निरङ्गरूपक का उदाहरण यह है—

‘यह कमलनयनी सुन्दरी विधाता की निर्माणचातुरी है, लोक नेत्र की चन्द्रिका है और अनङ्ग की विलासभूमि है ।’

[ यहाँ रूपक की ‘निरङ्गता’ और ‘मालारूपता’ इसलिए है क्योंकि कवि ने यहाँ अपने प्रधान वर्ण्य विषय ‘सुन्दरी’ का ही तीन-तीन आरोप्यमाणपदार्थों जैसे कि ‘निर्माण-चातुरी’, ‘चन्द्रिका’ और ‘विलासभूमि’ से तादात्म्यारोप स्थापित किया है, न कि इससे संबद्ध अङ्गों का भी । ]

( २ रे ) अर्थात् ‘केवल’ निरङ्गरूपक का उदाहरण यह रहा—

‘अरी सुन्दरी ! इसका मुझे क्लेश नहीं कि यदि दास अपराध करे तो उसे स्वामी का पादप्रहार सहना ही पड़ता है । मुझे तो इसका डर है कि तेरे चरण-स्पर्श से उत्पन्न, मेरे अङ्ग के पुलकाङ्कुररूपी काँटों से, तेरा कोमल चरण न छिद जाय ।’

[ यहाँ ‘केवल’ निरङ्ग रूपक इसलिये है क्योंकि कवि ने ‘पुलकाङ्कुर’रूप विषय का ही ‘कण्टकाग्र’रूप विषयी से अमेदारोप स्थापित किया है न कि उससे सम्बद्ध अङ्गों का भी । ]

विमर्श—‘साङ्ग’ रूपक में तो परस्पर सापेक्ष रूपक-सघान का दर्शन हुआ करता है किन्तु ‘निरङ्ग’ रूपक रूपक सघात की सापेक्षता से शून्य हुआ करता है

अनुवाद—इस प्रकार ‘रूपक’ अलङ्कार के सब मिलाकर आठ भेद हैं ।

यहाँ कारिका में ‘रूपक’ के आठ प्रकारों का जो निर्देश है वह प्राचीन आलङ्कारिकों के मतानुसार है ।

( रूपक-वैशिष्ट्य )

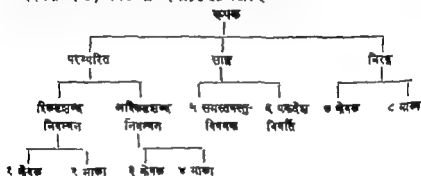
कचित्परम्परितमप्येकदेशविधितिं यथा—

‘सद्ग’ समासीविषय समिति विजयते मालवाक्षय्यस्य ॥’

अत्रार्थः समायां महिषीत्वारोपः सद्गो सौविद्वत्त्वारोपे निमित्तम् ।

अस्य मेवस्य पूर्ववन्मालारोपत्वेऽप्युदाहरणं सूच्यम् ।

विमर्शः—( क ) ‘रूपक’ का भिन्न-बौद्धिक दृष्ट प्रकार है—



( क ) विषयान्तर-परिवर्तन का पक्षरूप रूपक-विधान आचार्य रूपक और आचार्य मम्मट के रूपक-विधान का अनुसरण करता है । आचार्य रूपक में ‘अवधि’ रूपक का वह प्रत्येक विधा है—

इत्थं तु निरवयव सावयव परम्परितमिति विविधम् । आद्य केवलं मात्रारूपकं वेति द्विधा । द्वितीयं समस्तवस्तुविषयमेकदेशविधितिं चति द्विधा । तृतीय रिक्तपदस्य निवन्धनत्वेन द्विविधं सत् प्रत्येक केवल-मात्रारूपकत्वाच्चतुर्विधम् । तद्वैयर्थ्ये रूपकमेवम् ।  
( अक्षरानुस २७ पृष्ठ ११ )

( ग ) किसी प्रयोजनविधिक के ही कारण अविवन एक पदार्थ का दूसरे पदार्थ से अविवरण स्थापित किया करते हैं । प्रत्यक्ष नहीं । साहचर्यनिमित्तक आरोप ही ‘रूपक’ है । किन्तु इन काल्पाचार्य अर्थनिमित्तक आरोप को भी ‘रूपक’ मानते हैं । जैसे कि विष्णुसूक्ति अर्थात्—  
‘अमृतकवचं शोभाप्रसिद्धं प्रमोदरसप्रभा सितिमसकं च्योत्स्वाभापी तुषारधरद्विधा ।  
मनसिजह्वसी शङ्करभीषिमानमहो नु भो विरचयितुस्तत्तदा द्यौः कृती भूगर्भतवा ॥’  
ये ‘रूपक’ कारण पर कार्यकम जडा का जो आरोप है वह साहचर्यनिमित्तक नहीं बल्कि सम्बन्धननिमित्तक है, किन्तु है ‘रूपक’ ही ।

अनुवाक—उपर्युक्त अवधि रूपक के अन्वयविधि भी वैशिष्ट्य काव्य-साहित्य में दृष्टिगत हुआ करते हैं । जैसे कि कहीं-कहीं ‘परम्परित’ रूपक में ‘एकदेशविधिति’—

मात्रक क आकाशक मात्रादेश का अर्थ जो कि शुष्की का अन्वयही है संग्राम में विजयही ही रहा करता है ।’

वहीं ‘परम्परित’ रूपक में ‘एकदेशविधिति’ का वैशिष्ट्य इसकिय शक्य रहा है क्योंकि ‘सद्ग’ पर ‘काश्चकीयत्वा’ का जो आरोप है वह ‘यमा’ (पवित्री) पर अर्थ-सामर्थ्य से अर्थ ‘राजमहिषीत्व’ का आरोप के कारण है ।

इस ‘एकदेशविधिति’ परम्परित रूपक में ‘मात्रा’ रूप की भी संभावना है जिसका उदाहरण हुआ जा सकता है ।

दृश्यन्ते कचिदारोप्याः श्लिष्टाः साङ्गेऽपि रूपके ॥ ३३ ॥

तत्रैकदेशविवर्ति श्लिष्ट यथा मम—

‘करमुदयमहीधरस्तनाग्रे गलिततमःपटलाशुके निवेश्य ।

विक्रमितकुमुदेक्षणं विचुम्बत्ययममरेशदिशो मुख सुधांशुः ॥’

समस्तवस्तुविषय यथा—अत्रैव ‘विचुम्बति—’ इत्यादौ ‘चुचुम्बे हरिदवला-  
मुखमिन्दुनायकेन’ इति पाठे । न चात्र श्लिष्टपरम्परितम् ? अत्र हि ‘भूभृदा-  
वलिदम्भोलि—’ इत्यादौ राजादौ पर्वतत्वाद्यारोप विना वर्णनीयस्य राजादेर्द-

[ ‘माला’ एकदेशविवर्ति परम्परितरूपक का उदाहरण यह रहा—

‘द्युत्र सित शाम्बरशात्रवस्य ध्रीगण्डधित्र हरितोऽघलायाः ।

विराजते चार नभ सरोज कर्पूरपरमममिन्दुविषयम् ॥

यहाँ शाम्बरशत्रु पर अर्थलभ्य ‘राजत्व’ के आरोप से एकदेशविवर्तिता और एकनिमित्तक  
अन्यारोप की माला के कारण ‘माला-परम्परित’ रूपक का स्वरूप स्पष्ट है । ]

इसी प्रकार कहीं कहीं ‘साङ्ग’ रूपक भी ( परम्परित की भाँति ) श्लिष्ट-शब्द-निबन्धन  
रूप में दिखायी दिया करता है क्योंकि कतिपय आरोप्यमाण श्लिष्ट शब्दों द्वारा उपात्त  
रहा करते हैं ।

उदाहरण के लिये ‘एकदेशविवर्ति’ प्रकार का श्लिष्ट शब्द-निबन्धन साङ्गरूपक—

‘यह चन्द्रमा, उदयाचलरूपी स्तनाग्रभाग पर, जिस पर से अन्धकाररूपी अञ्जल  
गिर गया है, अपने किरणरूपी हाथ रख रहा है और पश्चिम दिशा के विकसित कुमुद  
रूपी नेत्रों से रमणीय मुख का चुम्बन करता दिखायी दे रहा है ।’

यहाँ यदि ‘विचुम्बत्ययममरेशदिशो मुख सुधांशु’ के स्थान पर ( चुचुम्बे हरिदवला-  
मुखमिन्दुनायकेन । पश्चिमदिशारूपी रमणी के मुख का चन्द्ररूपी नायक चुम्बन कर रहा  
है ) कर दिया जाय तो ‘समस्तवस्तुविषय’ प्रकार के श्लिष्टशब्दनिबन्धन साङ्गरूपक का  
स्वरूप स्पष्ट हो जायगा ( क्योंकि पश्चिम दिशा पर ‘नायिकात्व’ और चन्द्रमा पर ‘नायकत्व’  
का आरोप शब्दतः उपात्त दिखायी देने लगेगा ) ।

यहाँ ‘करमुदयमहीधरस्तनाग्रे’ आदि एकदेशविवर्ति-श्लिष्टशब्द-निबन्धन साङ्ग रूपक-  
सूक्ति में ‘श्लिष्टपरम्परित’ रूपक का भ्रम नहीं होना चाहिये । कारण यह है कि ‘परम्परित’  
रूपक के ‘भूभृदावलिदम्भोलि’ आदि पूर्वोद्धृत प्रसङ्ग में ‘राजवर्ग’ आदि पर ‘पर्वत’  
आदि के आरोप के विना वर्ण्य भूपाल आदि पर ‘पद्म’ आदि के आरोप की असंगति के  
देखते यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि ‘परम्परित’ रूपक वहाँ हुआ करता है जहाँ  
एक के आरोप-माहात्म्य से दूसरे के आरोप में अप्रसिद्ध सादृश्य का भी निमित्त रहा  
करता है ( ‘करमुदयमहीधरस्तनाग्रे’ आदि में ऐसी यात कहा ? यहाँ ‘कर’ ( हाथ ) का  
‘कर’ ( किरण ) पर आरोप, ‘नायक’ का ‘सुधांशु’ पर आरोप और ‘नायिका’ का ‘पश्चिम  
दिशा’ पर आरोप ऐसा नहीं जो एक दूसरे के आरोप पर निर्भर हो और न यहाँ आरोप  
का निमित्त अप्रसिद्ध सादृश्य ही दिखायी दे रहा है ) ।

किन्तु, ‘भूभृदावलिदम्भोलि’ आदि में ‘परम्परित’ की उपर्युक्त सगति के देखते ‘पद्मो-  
दयदिनाधीशः’ आदि में ‘परम्परित’ को असङ्गत क्यों न माना जाय ? ‘पद्मोदयदिनाधीशः’  
आदि में ‘परम्परित’ मानना इसलिये ठीक नहीं लगता कि यहाँ सूर्य आदि के साथ वर्ण्य

स्मोक्षितादिरूपेण सर्ववैष सादरयाभावावसङ्गतम् । तर्हि कथं 'पद्मोदयविना  
पीशा—' इत्यादी परम्परितम्, राजावे सूर्यादिना सादरयस्य तेजस्वितादिहेतु  
कस्य समयादिति न वाच्यम् । तथा हि—राजावेस्तेजस्वितादिहेतुकं सुम्पत्  
सादरयम्, न तु प्रकृते विषक्षितम्, पद्मोदयादेरेष द्वयोः साधारण्यमसंभवा विष-  
क्षितत्वात् । इह तु महीधरावे स्वनादिना सादरय पीनेऽनुज्ञत्वादिना सुम्पत्-  
मेवेति न रिक्तपरम्परितम् ।

कचित्समासाभावेऽपि रूपक दृश्यते—

‘मुक्तं तव कुरङ्गादि । सरोजमिति नान्यथा ।’

कचिद्वैयधिकरण्येऽपि यथा—

‘विद्ये मधुपमेणीमिह भ्रूयतया विधि ।’

कचिद्वैयर्थ्येऽपि यथा—

मूपाक आदि क, तेजस्विता की छि से प्रसिद्ध सादरय विद्यमान है और साथ ही साथ  
इस आरोप के निमित्तक्य से 'पद्मोदय' आदि पर 'पद्मोदय' अप्रति का आरोप भी नहीं  
दिखायी देता ( और इसलिये यहाँ 'साङ्ग' क्यक मके ही माना जाय 'परम्परित' तो नहीं  
ही माना जा सकता ) । किन्तु, इस समस्या का समाधान यह है—'पद्मोदयविनापीशा'  
आदि में सूर्य के साथ वर्ण्य मूपाक क, तेजस्विताहेतुक सादरय स्पष्ट तो अवश्य है किन्तु  
अभिप्रेत नहीं । यहाँ जो सादरय अभिप्रेत है वह 'पद्मोदयस्य हेतुक' ही सादरय है और  
साथ ही साथ 'पद्मोदय ( ककसी के अम्मुदय ) पर 'पद्मोदय ( कमकविकस ) का जो  
आरोप है वह 'वर्ण्यमूपाक पर 'सूर्य' के आरोप के निमित्तक्य से भी दिखायी पड़ रहा  
है ( जिससे 'पद्मोदयविनापीशा' में साङ्गक्यक की समावधान निर्मल हो जाती है ) ।  
इस प्रकार 'कस्मोदयमहीधरस्तनामे' आदि में जो 'क्यक' है वह 'परम्परित' नहीं अपितु  
रिक्तसम्यद्विषयमन एकदेशस्विति 'साङ्ग' क्यक ही है क्योंकि 'स्तन आदि के साथ  
'महीधर' आदि क जो सादरय है उसमें 'पीनता' और 'उच्छृङ्खला' की हेतुता स्वयं अपि  
परिच्छुट है ।

कहीं-कहीं समास के अभाव में भी 'क्यक' का वर्तन स्पष्टप्रतिष्ठ है । जैसे कि—

‘अरी युगनयनी । वह सच है कि छेरा मुक्त सरोज है ।

( इस प्रकार 'क्यक' में 'व्यस्त' 'समस्त' और 'व्यस्तसमस्त' आदि वैचित्र्य भी पाये  
ही जाते हैं ) ।

( 'सामानाधिकरण्य की भाँति ) वैयधिकरण्य' में भी 'क्यक' का सीम्पूर्ण विराजमान  
रहा करता है । जैसे कि—

‘विधाता ने इस सुन्दरी के मुकपट्टन पर भ्रूयता के रूप में अमरमेवी की रचना  
कर दी है ।

[ यहाँ यह स्पष्ट है कि भ्रूयता और 'मधुपमेणी' सिद्ध-विध विभक्तियों में है किन्तु  
'भ्रूयता' पर 'मधुपमेणी' का आरोप अवश्य प्रतीत हो रहा है । ]

कहीं-कहीं ( साधर्म्य की भाँति ) वैयर्थ्य में भी 'क्यक' दिखायी दिया करता है ।  
जैसे कि इस छक्ति में ही—

‘सौजन्याम्बुमरुस्थली सुचरितालेख्यद्युभित्तिर्गुण-  
ज्योत्स्नाकृष्णचतुर्दशी सरलतायोगश्वपुच्छच्छटा ।  
यैरेषापि दुराशया कलियुगे राजावली सेविता  
तेषा शूलिनि भक्तिमात्रमुलभे सेवा कियत्कौशलम् ॥’

इदं मम ।

अत्र च केषाञ्चिद्रूपकाणां शब्दश्लेषमूलत्वेऽपि रूपकविशेषत्वादर्थालङ्कार-  
मध्ये गणनम् । एवं वक्ष्यमाणालङ्कारेषु बोध्यम् ।

अधिकारूढवैशिष्ट्यं रूपकं यत्तदेव तत् ।

तदेवाधिकारूढवैशिष्ट्यसज्ञकम् ।

यथा मम—

‘इदं वक्त्रं साक्षाद्विरहितकलङ्कः शशधरः सुधाधाराधारश्चिरपरिणतं बिम्बमधरः ।  
इमे नेत्रे रात्रिन्दिवमधिकशोभे कुवलये तनुर्लावण्यानां जलधिरवगाहे सुखतरः ॥’

अत्र कलङ्कराहित्यादिनाधिकं वैशिष्ट्यम् ।

‘इस कलिकाल में जो लोग उस दुष्ट हृदयवाली राजावली ( राजगण ) की सेवा कर चुके हैं जो कि सुजनतारूपी जलधारा के लिये मरुभूमि, सच्चरित्रतारूपी चित्रवीथी के लिये आकाशमिति, गुणावलीरूपी चन्द्रिका के लिये अँधेरी चौदस की तिथि और सरलता के सम्बन्ध के लिये कुत्ते की पूँछ है, उनके लिये, केवल भक्ति से सुलभ भगवान् शङ्कर की आराधना में, कोई कौशल अपेक्षित नहीं ।’

[ यहाँ ‘मरुभूमित्व’ आदि विरुद्ध धर्मों के आरोप में भी ‘रूपक’ अलङ्कार ही दिखायी दे रहा है । ]

यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि कई रूपक ऐसे भी हुआ करते हैं जो कि शब्द-श्लेष के आधार पर रचित रहा करते हैं । किन्तु ये भी रूपक के ही विविध वचिष्य रूप हैं और इसीलिये इन्हें सामान्यतः अर्थालङ्कारभूत रूपक के ही अन्तर्गत मान लिया गया है । यही बात आगे प्रतिपादित अलङ्कारों में भी समझनी चाहिये ।

एक और भी रूपकवैचिष्य है जिसे ‘अधिकारूढवैशिष्ट्य’ सज्ञक ‘रूपक’ कहा करते हैं क्योंकि इसमें आरोप्यमाण ( उपमान ) की अपेक्षा आरोपविषय ( उपमेय ) में कुछ वैशिष्ट्य ( विशेषण योग ) भी विराजमान रहा करता है । उदाहरणके लिये इस स्वरचित सूक्ति में ‘अधिकारूढवैशिष्ट्य’ रूपक—

‘उस सुन्दरी का मुख साक्षात् कलङ्करहित चन्द्र है, अमृतधारा का आधार उसका अधर सुपक्व बिम्बफल है, उसके नेत्र रात-दिन रमणीय लगनेवाले नीलकमल हैं और उसका शरीर लावण्य का वह समुद्र है जिसमें स्नान सुखदायक ही सिद्ध होता है ।’

यहाँ ‘अधिकारूढवैशिष्ट्य’ इसलिये है क्योंकि आरोपविषय ( उपमेय ) में ‘कलङ्कराहित्य’ आदि की वह विशेषता विराजमान है जो कि आरोप्यमाण ( उपमान ) में नहीं दिखायी देती ।

विमर्श—( क ) विश्वनाथ कविराज के रूपक वैचिष्य-निरूपण का आधार ‘अलङ्कारसर्वस्व’-कार का रूपक वैचिष्य निर्देश है । ‘अलङ्कारसर्वस्व’कार ने ‘अष्टविध’ रूपक का निरूपण करके उन अन्य रूपक-प्रकारों का भी संकेत किया है जो कि प्राचीन आलङ्कारिकों को मान्य हैं । आचार्य दण्डी का रूपक-विभाग यह है—

( ६-परिष्कृत )

विषयात्मकपारोप्ये प्रकृतार्थोपयोगिनि ॥ ३४ ॥

परिणामो मवेत्तस्यात्तुल्याधिकरणो दिष्टा ।

धारोप्यमाणस्वारोपविषयात्मतया परिणमनात्परिणामः ।

यथा—‘स्मितेनोपायन दूरादागतस्य कृत्स्नं मम ।

स्वनोपपीडमारुणेप कृ(त)तो यत्ते पणस्तया ॥'

अन्यत्रोपायनपणौ वसनाभरणादिभावेनोपयुज्येते । अत्र तु मायकर्ममात्र-  
मष्टयस्योऽस्मिन्भारक्षेपरूपतया । प्रथमार्थे वैवर्धिकरण्येन प्रयोगः, द्वितीये सामा-  
नाधिकरण्येन ।

‘उपमैव विरोधतमेव। कथमिष्यते। यथा बाहुकृता धामिपत्रं वारमपहृत्वा ॥  
 कृत्वा पञ्चद्वान्वासन् कुमुदाभि नत्तारिष्व’ ॥ बाहु कृते वसन्तमीसर्गं ना मय्यहचारिणी ॥  
 इत्यतः सप्तमस्तव्यं समस्तं पूर्वमप्यम् (बाहुकृता इत्यादि) ।  
 स्मिन् अन्धेभोग्योत्समेति समस्तम्यस्तकथम् ॥

(अध्याय ११ १६-१८)

और इसे भी निरन्तर कपिराज ने निर्दिष्ट कर दिया है। इसके अनिष्ट आचरणों के द्वारा कपिराज—

‘पञ्चज्ञा राजसम्भवाः हरितमयिमया पीरपत्तयेस्तान्ते  
भद्रप्रणयधिकोत्तमविजयपरिष्पान्नामागुपुष्ट  
संमन्त्रासनाम्भुमुत्तपतियसोर्दसनीताम्पुपादा  
गङ्गाः च्मासीविदुः समिति विजयते मातृवागपदस्य ॥

आदि गुरु ने 'परमपूज्य' शब्द का प्रयोग श्री ४-पद्मसुन्दर का आदि से प्रेमपूर्ण निमित्त  
'परमपूज्य' भी विद्वान् कविताओं में प्राप्त हो है ।

(ग) रसायनकार का व्यवहारीक विवरण विवरण के रूप-विवरण से प्रदर्शित है। रसायनकार ने व्यवहारीक में मातृत्वपूर्ण की वदकरा विवरणविवरण और कारिका और केवल प्रयोगात्मक आदि का भी विवरण दिया है और साथ ही मातृत्वपूर्ण व्यवहारीक, व्यवहारीक, आदि आदि व्यवहारीक का भी व्यवहारीक का दिया है।

अनुवाद—परिणाम वह ज्ञानप्राप्त है जिसमें 'उपमय' से 'उपमान' का अभिव्यक्तिपूर्ण रूप प्राप्त होता है जो कि मनुष्याधीनवर्ती होता करता है। इसका भी से भेद है—

(१) तुल्यपाधिद्वय (अर्थात् समानविधित्व अथवा समानप्रतिद्वयक) परिमाण और  
(२) अनुपाधिद्वय (अर्थात् असमानविधित्व अथवा विपरीतद्वयक) परिमाण।

परिणाम को परिणाम इरादिय कहते हैं क्योंकि हममें आ आता प्रमाण (उपमान) रहा करता है वह आता प्रमाण (उपमान) के रूप में परिणाम हुआ करता है।

इत्यहं तदादयम् पद २—

‘उस में जल्दी जमिदा क बाग पट्टेवा नव उगम ज्ञान नियम क रूप में गा सुने  
में ही भीतर जगदीश में गायत्रिजन्म क रूप में बाकी भी था ही।

वहाँ 'सिन्धु' दूधगिरि है वहाँ 'सिन्धु' और 'पन' (भैंस और बाड़ी) को  
 कि और सिन्धुगिरि में वहाँ अथवा आभूषण आदि के रूप में उपलब्ध होते, वहाँ डोरी  
 के अन्तर्गत और बाड़ी के साथ एकत्रित की सिन्धुगिरि में सिन्धु और आभूषण के रूप में

रूपके 'मुखचन्द्र पश्यामि' इत्यादावारोप्यमाणचन्द्रादेरुपरञ्जकतामात्रम्, न तु प्रकृते दर्शनादावुपयोगः। इह तूपायनादेर्विषयेण तादात्म्य प्रकृते च नायकसंभावनादावुपयोगः। अत एव रूपके आरोप्यस्यावच्छेदकत्वमात्रेणान्वयः, अत्र तु तादात्म्येन।

'दासे कृतागसि-' इत्यादौ रूपकमेव, न तु परिणामः। आरोप्यमाणकण्टकस्य पादभेदनकार्यस्याप्रस्तुतत्वात्। न खलु तत्कस्यचिदपि प्रस्तुतकार्यस्य घटनार्थमनुसन्धीयते।

अयमपि रूपकवदधिकारूढवैशिष्ट्यो दृश्यते।

यथा—

'वनेचराणा वनितासखानां दरीगृहोत्सङ्गनिषक्तभासः।

भवन्ति यत्रौषधयो रजन्यामतैलपूराः सुरतप्रदीपाः॥'

उपयुक्त होते दिखाई दे रहे हैं। यहाँ प्रथमार्ध में जो 'परिणाम' है उसमें आरोप्यमाण (उपायनम्) और आरोपविषय (स्मितेन) भिन्न भिन्न विभक्तियोंवाले शब्दों द्वारा उपात्त हैं और द्वितीयार्ध में ऐसा है कि आरोप्यमाण (पण) और आरोपविषय (आश्लेष) दोनों एक ही वभक्तियोंवाले शब्दों द्वारा उपात्त हैं।

'रूपक' और 'परिणाम' का भेद इसी से स्पष्ट है कि 'मुखचन्द्र पश्यामि' (मुखचन्द्र का दर्शन कर रहा हूँ) आदि रूपक के प्रसङ्गों में तो आरोप्यमाण (उपमान) 'चन्द्र' आदि पदार्थ आरोपविषय (उपमेयभूत) 'मुख' के उपरञ्जक अथवा शोभातिशय के सूचकमात्र ही प्रतीत हुआ करते हैं न कि प्रस्तुत विषय जैसे कि दर्शन (पश्यामि) की क्रिया आदि के साथ सम्बद्ध रहा करते हैं किन्तु उपर्युक्त 'परिणाम' के प्रसङ्गों में यह स्पष्ट है कि आरोप्यमाण 'उपायन' आदि परार्थ, आरोपविषय 'स्मित' आदि के साथ, इस प्रकार तादात्म्य स्थापित किये पड़े हैं कि प्रस्तुत विषय—जैसे कि प्रेमी के स्वागत-सत्कार आदि में उपयुक्त होते दिखाई दे रहे हैं। तात्पर्य यह है कि जहाँ 'रूपक' में 'उपमान' (आरोप्यमाण) 'उपमेय' के अवच्छेदक अथवा उपरञ्जक रूप से अन्वित हुआ करता है, वहाँ 'परिणाम' में यह (उपमान), उस (उपमेय) के साथ, सर्वात्मना एकरूप हो जाया करता है और उसके कार्य में भी उपयुक्त हुआ करता है। इस दृष्टि से 'दासे कृतागसि' आदि प्रसङ्गों में 'परिणाम' नहीं अपितु 'रूपक' अलङ्कार ही सिद्ध होता है क्योंकि यहाँ 'रोमाञ्च' पर आरोप्यमाण (उपमान) 'कण्टकाग्र' आदि पदार्थ ऐसे हैं जिनके सम्बन्ध में 'पादभेदन' (पैर के छेदने) आदि कार्यों की चर्चा सर्वथा अप्रासङ्गिक सी ही लगती है। यहाँ अला प्रस्तुत मानभङ्गरूप कार्य में कण्टकाग्र के 'पादभेदन' (पैर में चुभने) का क्या उपयोग?

'परिणाम' भी, रूपक की ही भाँति 'अधिकारूढवैशिष्ट्य' प्रकार का भी हो सकता है। जैसे कि, इस सूक्ति अर्थात्—

'यही वह हिमालय है जिसकी कन्दराओं में किरणों को फँलाती दिव्य औपधिर्याँ, प्रियतमाओं के साथ प्रेमविहार करते वनेचरों के लिये, रात के समय, बिना तेल के रति-प्रदीप का कार्य किया करती हैं।'



अत्र प्रवीपानामोषमात्मतया प्रकृते मुरतोपयोगिन्यन्वकारनापो उपयोगोऽ  
तैषपूरत्वेनाभिकारस्यैवैशष्टयम् ।

(—संदेहः सप्रमेयनिरूपण)

सन्देहः प्रकृतेऽन्यस्य संशयः प्रतिभोत्पितः ॥ ३५ ॥

शुद्धो निश्चयगर्भोऽसौ निश्चयान्त इति त्रिधा ।

अत्र संशय एव पर्ययसान स शुद्धः ।

यहाँ 'परिणाम' इसकिये है कि 'भीषणियों' पर आरोपित 'मुरतप्रवीप भीषणियों' के साथ इतने पुष्कल (अभिन्न) हो रहे हैं कि प्रस्तुत प्रेमविहार के उपपुष्कल अन्वकार बिनासक्य कार्य का सम्पादन करते दिखायी दे रहे हैं और इसमें 'अभिकारस्यैवैशष्टय' की विशिष्टता इस प्रकार मिली है कि 'अतैकपूरता' का विशेषणयोग प्रवीपों की अपेक्षा भीषणियों की ही अधिक उत्कृष्ट सिद्ध कर रहा है ।

विमर्श—आत्मप्रकाशर ने 'परिणाम' अकट्टर की कोई चर्चा नहीं की । विन्यास कविराज ने अकट्टरसर्वस्व की 'परिणाम'मात्रता के आशय पर 'परिणाम' का कट्टर-परीक्षण किया है । अकट्टरसर्वस्व में 'परिणाम' का वह स्वरूप है—

'आरोप्यमानस्य प्रकृतोपयोगित्वे परिणामः ।'

आरोप्यमान्य रूपके प्रकृतोपयोगित्वामात्रात् प्रकृतोपरजकत्वेनैव केवकेमान्वयं मन्ते । परिणामे तु प्रकृततमत्वा—आरोप्यमान्यस्वोपयोग इति प्रकृतमारोप्यमान्यरूपत्वेन परिणमति ।

अर्थात् 'परिणाम' का अभिप्राय आरोप्यमाण अवस्था उपमान की प्रकृतोपयोगिता है । 'एक' में जो आरोप्यमाण अवस्था उपमान हुआ करता है वह प्रकृतोपयोगी नहीं हुआ करता अरिष्ट प्रकृतोपरजक हुआ करता है किन्तु 'परिणाम' में आरोप्यमाण, प्रकृत का वह स्वरूप प्रकृतोपयोगी हो जाया करता है ।

'रसगद्गार'कार में आरोप्यमाण की प्रकृतोपयोगिता का वह तात्पर्य किया है—

'विपत्तौ यत्र विषयतमत्तयैव प्रकृतोपयोगी य स्वातन्त्र्येन स परिणामः । अत्र च विषयानेवो विषयिन्धुपमुच्यते । रूपके तु गैरमिति रूपकत्वस्य भेदः । यथा—

अपारे संसार विषमविषयारण्यसरणी

मम भ्रामं भ्रामं विगच्छितविरामं अहमते ।

परिभ्रान्तस्यार्थं तरन्वितनवातीरनिष्ठयः

समस्तान् संतर्प्य हरिणवतमाक्षसितरपतु ॥

अत्र भागवद्वाक्यतयैव तमाकस्य संसारतापनिवर्त्तनकमत्वम् । मार्गभ्रान्तजनसंतापहार कृत्वाऽप्रमणीयसोमाधारत्वाच्च तमाको विपन्नितयापाता । (रसगद्गारः परिणाम-व्यकरण)

अनुवाद—'संदेह' वह अकट्टर है जिसे प्रकृत (उपमेय) में अप्रकृत का अवि-प्रतिभोत्पादित संशय कहा जाया करता है । वह तीन प्रकार का हुआ करता है—  
(१) शुद्ध संदेह, (२) निश्चयगर्भसंदेह और (३) निश्चयान्त संदेह ।

'संदेह' के इस तीन भेदों में पहला अर्थात् शुद्ध संदेह वह है जिसमें वाक्यभक्ति, मध्य और अन्त में संशय भी ही समाप्त रहा करता है । जैसे कि—

यथा—

‘किं तारुण्यतरोरिय रसभरोद्भिन्ना नवा वल्लरी  
वेलाप्रोच्छलितस्य किं लहरिका लावण्यवारांनिधेः ।

चद्राढोत्कलिकावतां स्वसमयोपन्यासविश्रम्भिणः  
किं साक्षादुपदेशयष्टिरथवा देवस्य शृङ्गारिणः ॥’

यत्रादावन्ते च सशय एव मध्ये निश्चयः स निश्चयमध्यः ।

यथा—

‘अयं मार्तण्डः किं स खलु तुरगैः सप्तभिरितः

कृशानुः किं सर्वा. प्रसरति दिशो नैष नियतम् ।

कृतान्त किं साक्षान्महिषवहनोऽसाविति पुनः

समालोक्याजौ त्वां विदधति विकल्पान् प्रतिभटाः ॥’

अत्र मध्ये मार्तण्डाद्यभावनिश्चयः, राजनिश्चये द्वितीयसशयोत्थानासंभवात्  
यत्रादौ संशयोऽन्ते च निश्चयः स निश्चयान्तः ।

यथा—

‘किं तावत्सरसि सरोजमेतदारादाहोस्विन्मुखमवभासते तरुण्याः ।

संशय्य क्षणमिति निश्चिकाय कश्चिद्विष्वोर्कैर्बक्सहवासिना परोक्षैः ॥’

‘यह सुन्दरी क्या है ? क्या यह तारुण्यतरु की रसीली नवमञ्जरी है ? क्या यह उद्वेक्षित लावण्य-सागर की लहर तो नहीं ? अथवा क्या यह, प्रेमिकाजन के लिये उत्कण्ठित प्रेमीजनों को प्रणय-पाठ पढ़ाने में उत्सुक, कामदेव की उपदेश-यष्टि है ?

[ यहाँ उपमेयभूत कामिनी में उपमानभूत वल्लरी आदि का ऐसा सशय विराजमान है जो कविप्रतिभा द्वारा उत्थापित है (स्वारसिक नहीं) और साथ ही साथ आदि से अन्त तक अद्भुत बना हुआ है । ]

दूसरा अर्थात् निश्चयगर्भ सदेह वह संदेह प्रकार है जिसके आदि और अन्त में संशय, किन्तु, मध्य में निश्चय विराजमान रहा करता है । जैसे कि—

‘महाराज ! सग्राम में आपको देख-देख शत्रु-सैनिक यह सोचा करते हैं—‘क्या यह सूर्य तो नहीं ? किन्तु सूर्य के तो सात घोड़े हुआ करते हैं ! क्या यह अग्नि तो नहीं ? किन्तु अग्नि तो सर्वत्र विचरणशील नहीं ? तो क्या यह यमराज है ? किन्तु यमराज तो महिष-वाहन हुआ करता है ।’

[ यहाँ आदि से अन्ततक उपमेयभूत भूपाल पर, उपमानभूत ‘मार्तण्ड’ आदि का जो कविप्रतिभोत्थापित सशय है, उसके मध्य में ‘मार्तण्ड’ आदि के अन्योन्याभाव (भेद) का निश्चय भी विराजमान दिखाई दे रहा है । यहाँ यह मानना ठीक नहीं कि ‘मार्तण्ड’ के अभाव निश्चय के बाद (उपमेयभूत) भूपाल का भी निश्चयात्मक ज्ञान हो जाता है क्योंकि यदि ऐसी बात होती तो आगे कृशानुरूप से और उसके भी आगे यमरूप से संशय की जो उत्पत्ति हो रही है वह क्योंकर हो पाती ? ]

तीसरा अर्थात् ‘निश्चयान्त’ सदेह वह संदेह प्रकार है जिसके आदि में संशय किन्तु अन्त में निश्चय प्रतीत हुआ करता है । जैसे कि—(शिशुपालवध की यह सूक्ति)—

‘कृष्ण के किसी सहचर को क्षणभर के लिये यह सशय हुआ कि दूर, सरोवर में कमल खिला है या स्नान करती हुई किसी तरुणी का मुख झलक रहा है किन्तु जैसे ही

अप्रतिमोत्थापिते तु 'स्वाणुर्षा पुरुषो वा' इत्याविसंशये नायमकङ्कार ।

'मध्यं सव सरोजान्नि । पयोधरभरार्थितम् ।

अस्ति मास्तीति संदेह कस्य चित्ते न भासते ॥'

अत्राविशयोक्तिरेव, उपमेये उपमानसंशयस्यैवैतद्व्यङ्ग्यारविपयत्वात् ।

(८—आम्तिमान्)

साम्यादतस्मिन्सद्व्युद्दिष्टान्तिमान् प्रतिमोत्थितः ॥ ३६ ॥

यथा—

'सुग्धा सुग्धभिषा गवां विषयते कुम्भानघो यज्ञवा'

कर्म केरवराङ्ग्या कुम्भस्य कुम्भान्ति कान्ता अपि ।

उसने वहाँ एक-सहस्रती कमलों में एकज्ज्य हाव-भाव का वर्त्तन किया, उसे निम्न हो गया कि वह वस्तु क्या है ।

[ वहाँ आरम्भ में, उपमेयभूत तकनीकज्ञ में उपमानभूत कमल का संज्ञक और अन्त में तकनीक वदनक्य वस्तुत्व का निम्न स्पष्ट प्रतीत हो रहा है । ]

'संदेह'अकङ्कार उस प्रकार के संज्ञक में नहीं हुआ करता जिसमें कविप्रतिभा का अपि तु संज्ञात्मक आत्मप्रकारमात्र है ।

कविप्रतिमोत्थापित भी 'संज्ञक' तभी 'संदेह' अकङ्कार हो सकता है जब कि वह प्रकृत में अग्रकृतविषयक संज्ञापरमक अनुभवक्य रहा करता है । इसलिये निम्न सूक्ति अर्थात्—

'जरी कमल सरीखे मैत्रीवासी । स्तब्धों के भार से तेरी कमर ऐसी विरहित हो रही है कि सब के मन में यह समझ हो उठता है कि वह ( तेरी कमर ) है भी वा नहीं' में जो संज्ञक है उसमें 'संदेह' नहीं अपि तु ( असम्बन्ध में सम्बन्धरूप ) 'अतिसंशय' की ही रूपरेखा स्पष्ट है क्योंकि 'संदेह'अकङ्कार का विषय वही संज्ञक हुआ करता है जो कि उपमेय में उपमान-विषयक संज्ञक कहा जाया करता है ।

विमर्श—(क) विमर्श कविराज का वह 'संदेह'निरूपण वाचार्थ रूपक की रस 'संदेह' मोमांस से प्रभावित है—

'विषयस्य सद्विज्ञानात्वे संदेहः । अमेयमाधान्ये आरोग्ये इत्येव । विषया प्रकृतोर्म्यः, यन्निमित्तमेव प्रकृतः संदिश्यते । अग्रकृतमसंवेदे विषयोऽपि संदिश्यते एव । तेन प्रकृत-प्रकृतगतत्वेन कविप्रतिमोत्थापिते सर्वेह संदेहाकङ्कारः । स च निमित्तः । एतद्वि विषयगर्भा विज्ञानात्तम । ( अकङ्कारसर्वत्व पृ ५२ ) ।

(ख) अणुरात्मरहित ( १ ३२ ) की निम्न-सूक्ति में भी 'संदेह' अकङ्कार है वतन्धे रसोत्कर्ष कता वस्तुतः अपूर्ण है—

प्रमोदार्थं तु हरिकण्ठवपङ्गवाणां निन्दीकितेभ्युत्तरकण्ठक्यो तु सेका ।

जातसर्त्रीविततरोः परितर्पणो मे सलीवनीपावरसो तु इवि प्रसिक्तः ॥

अनुवाद—'आम्तिमान्' अकङ्कार यह है जिसे, सादर्य के कारण एक वस्तु में दूसरी वस्तु का ऐसा अनुभव कहा जाया करता है जो ( स्वारसिक नहीं अपि तु ) कविप्रतिमोत्थापित हुआ करता है ।

इसका उदाहरण यह है—

'अनुमा की कमकती बाँझी किसके हृदय में अम नहीं पैदा करती ! सुग्ध-हृदय

कर्कन्धूफलमुच्चिनेति शबरी मुक्ताफलाशङ्कया

सान्द्रा चन्द्रमसो न कस्य कुरुते चित्तभ्रमं चन्द्रिका ॥'

अस्वरसोत्थापिता भ्रान्तिर्नायमलङ्कारः । यथा—'शुक्तिकायां रजतम्' इति ।  
न चासादृश्यमूला ।

यथा—

'संगमविरहविकल्पे वरमिह न सगमस्तस्याः ।

सङ्गे सैव तथैका त्रिभुवनमपि तन्मय विरहे ॥'

गोपवृन्द, इसे दूध की धार समझ लेते हैं और उसे रोकने के लिये, गौओं के स्तनों के नीचे दोहन-घट रखने लगते हैं, सुग्धहृदय रमणियाँ इसे देख कर, नीलकमल को भी श्वेत-कमल मान लेती हैं, और कानों का अलङ्कार बनाने लगती हैं और शबरयुवतियाँ जब इसे देखती हैं तब तो कर्कन्धू ( शरबरी ) को भी मोती मानकर चुनने में लग जाती हैं ।'

[ यहाँ चन्द्रिका में दुग्ध, कुवलय में कुमुद और वदरीफल में मुक्ताफल का जो कवि-प्रतिभोत्थापित भ्रम है उसमें 'भ्रान्तिमान्' अलङ्कार का स्वरूप स्पष्टतया परिलक्षित हो रहा है । ]

यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि 'सीप में चादी' सरीखी भ्रान्ति को भ्रान्तिमान् अलङ्कार नहीं माना जाया करता । 'भ्रान्तिमान्' अलङ्कार वह 'भ्रान्ति' है जो कि एक मात्र कविप्रतिभा द्वारा उत्थापित हुआ करती है । साथ ही साथ यह भी ध्यान रहे कि वही 'भ्रान्ति' भ्रान्तिमान् अलङ्कार की रूप-रेखा है जो कि सादृश्यमूलक हुआ करती है ? इसलिये इस प्रकार की भ्रान्ति जो कि निम्न सूक्ति अर्थात्—

'यदि यह सोचा जाय कि उस सुन्दरी के मिलन और विरह में कौन अच्छा है तो मिलन को तो कदापि अच्छा नहीं माना जा सकता, क्योंकि जब कि उससे मिलन होता है तब वह अकेली लगा करती है और जब उससे विरह होता है तब ऐसा लगता है जैसे

में, प्रतीत हो रही है, 'भ्रान्तिमान्' अलङ्कार नहीं अपितु भावनासमूत भ्रान्तिमात्र है ।

विमर्श—अलङ्कार को 'भ्रान्तिमान्' कैसे कह सकते हैं ? 'भ्रान्तिमान्' वह हो सकता है जिसके मन में भ्रान्ति हो । अलङ्कार तो वाच्य-सौन्दर्य है । वाच्य सौन्दर्य क्योंकि 'भ्रान्तिमान्' हो जाय ? यह एक शङ्का है जिसके समाधान के लिये आचार्य रुच्यक की यह उक्ति स्मरण रखने योग्य है—

'भ्रान्तिश्चित्तधर्म । स विद्यते यस्मिन् भणितिप्रकारे स भ्रान्तिमान् ।'

जिस पर आचार्य जयरथ की यह समीक्षा भी मुलाने योग्य नहीं—

'अतश्चालङ्कारे भ्रान्तिसद्भाव उपचरित ।'

पण्डितरान जगन्नाथ ने इसीलिये कहा है—

'अत्र च भ्रान्तिमात्रमलङ्कार । भ्रान्तिमानलङ्कार इति व्यवहारस्त्वौपचारिकः ।  
तथा चाहुः—

'प्रमात्रन्तरधीर्भ्रान्तिरूपा यस्मिन्ननूद्यते ।

स भ्रान्तिमानिति ख्यातोऽलङ्कारे त्वौपचारिकः ॥'

(१-उल्लेख)

कचिद् भेदाद् ग्रहीतृणां विषयाणां तथा कचिद् ।  
एकस्यानेकधोऽन्तेऽसौ य स उल्लेख उच्यते ॥ ३७ ॥

क्रमेणोदाहरणम्—

(वातुमेवविषयधनः उल्लेखः)

‘प्रिय इति गोपबधूमि’ शिष्टुरिति यूयैरधीश इति हेवै ।  
नारायण इति भक्त्यभ्येत्यमाहि योगिमिर्वै ॥’

अत्रैकस्यापि भगवत्स्वतन्तुगुणयोगादनेकधोऽन्तेऽसौ गोपबधूप्रसूतीनां कथ्या  
व्यो यथायोग प्रयोक्तव्यः ।

यदाहु—

‘यथारूपि यथार्थित्वं यथान्मुत्पत्तिं मिच्छते ।  
आभासोऽप्यर्थे एकस्मिन्ननुसन्धानसाधितः ॥’

अत्र भगवत् प्रियत्वादीनां वास्तवत्वाद् ग्रहीतृमेवाक्यं न साक्षात्पक्षम्,  
न च भ्रान्तिमान्, न चायमभेदे भेद इत्येव रूपातिशयोक्तिः । तथा हि—‘अन्त्य

अनुवाद—‘उल्लेख’ वह एकद्वार है जिसमें कहीं वातुमेव से अथवा विषय-भेद से एक  
वस्तु का अनेक प्रकार का उल्लेख अर्थात् ज्ञान अथवा वर्णन कहा करते हैं ।

क्रमात् उदाहरणम्—

‘भगवान् कृष्ण का वर्णन कर चुकती गोपिणियों ने उनमें प्रियतम का, कुछ गाओं ने  
शिष्ट का, हेवों ने अधीश्वर का अर्थों ने नारायण का और योगिणियों ने परात्पर ब्रह्म का  
वर्णन किया ।

यहाँ ‘उल्लेख’ स्पष्ट है क्योंकि भगवान् कृष्णकथन वस्तु तो एकस्य ही है किन्तु उसमें  
प्रियत्वादिभ्य अनेक धर्म हैं जिनके कारण उसका अनेक प्रकार का अनुभव किया वर्णन  
हो रहा है ।

यहाँ इस प्रकार के ‘उल्लेख’ अथवा अवधारणा का एक निमित्त है और वह निमित्त  
गोपी प्रकृति वर्णकों की कवि भावि का भेद है । ‘उल्लेख’ के निमित्तों के सम्बन्ध में  
( ईश्वरप्रत्यभिज्ञा में ) यह कहा गया है—

‘चाहे वस्तु एक ही क्यों न हो किन्तु उसका अनुसन्धानसाधित अथवा भव्यव्यवहारी-  
पूर्वक ज्ञान द्वारा सम्भूत भी आभास कवि-भेद, प्रयोक्तव्य-भेद और साधन-भेद से निम्न  
निम्न प्रकार का ही हुआ करता है ।

( जिसके दैवते यह स्पष्ट है कि ‘प्रिय इति’ आदि सूक्ति में कृष्णकथन वस्तु का विविध  
आभास वर्जित है जिसमें ‘उल्लेख’ की कल्पना विचार रही है । ) यहाँ न तो ‘भक्त्यभ्येत्य’  
की सहा होनी चाहिये और न ‘भ्रान्तिमान्’ की और न अतिशयोक्ति की ही क्योंकि  
भगवान् कृष्ण के प्रियत्व आदि धर्म आरोपित यहाँ अपिष्ट वास्तविक हैं और साथ ही  
साथ यहाँ भगवान् कृष्ण के प्रियत्व आदि विविध धर्मों के वर्णन एक नहीं अपिष्ट अनेक  
निर्दिष्ट हैं ( जो कि भ्रान्त यहाँ अपिष्ट सर्वथा विवर्जित हैं और कथाविभेद से कृष्ण को

देवाङ्गलावण्यम्—' इत्यादौ लावण्यादेर्विषयस्य पृथक्त्वेनाध्यवसानम् । न चेह भगवती गोपवधूप्रभृतिभिः प्रियन्वाद्यध्यवसीयते प्रियत्वादेर्भगवति तत्काले तात्त्विकत्वात् । केचिदाहुः—'अयमलङ्कारो नियमेनालङ्कारान्तरविच्छित्तिमूलः । उक्तोदाहरणे च शिशुत्वादीनां नियमनाभिप्रायात्प्रियत्वादीनां भिन्नत्वाध्यवसाय इत्यतिशयोक्तिरस्ति, तत्सद्भावेऽपि ग्रहीतृभेदेन नानात्वप्रतीतिरूपो विच्छित्ति-विशेष उल्लेखाख्यभिन्नालङ्कारप्रयोजक । श्रीकण्ठजनपदवर्णने—'वज्रपञ्जरमिति शरणागतैः, अम्बरविवरमिति वातिकैः' इत्यादिश्रुतिशयोक्तेर्विविक्तो विषयः । इह च रूपकालङ्कारयोगः ।'

वस्तुतस्तु—'अम्बरविवरम्—' इत्यादौ भ्रान्तिमन्तमेवेच्छन्ति न रूपकम्, भेदप्रतीतिपुरःसरस्यैवारोपस्य गौणीमूलरूपकादिप्रयोजकत्वात् ।

भिन्न-भिन्न रूप में देख रहे हैं ) । अतिशयोक्ति ( अथवा वस्तुतः अभेद में भेदरूपा अतिशयोक्ति ) भी यहाँ इसलिये नहीं हो सकती क्योंकि जैसे 'अन्यदेवाङ्गलावण्यम्' आदि सूक्ति में नायिका के प्रकृत नारीसुलभ लावण्य को ही अप्रकृत असाधारण लावण्य के रूप में अध्यवसित अथवा निश्चितरूप से प्रतिपादित किया जा रहा है वैसे यहाँ भगवान् कृष्ण में गोपवधू प्रभृति के द्वारा प्रियत्व आदि का अध्यवसान नहीं किया जा रहा है । भगवान् कृष्ण का प्रियत्व आदि तो, गोपी आदि के स्थितिकाल में, वास्तविक अथवा तात्त्विक रूप का है ( न कि काल्पनिक रूप का ) ।

'उल्लेख' अलङ्कार के सम्बन्ध में कतिपय काव्याचार्यों का यह भी कथन है—'उल्लेख' ऐसा अलङ्कार है जो कि नियमत अन्य अलङ्कारों के चमत्कारों के आधार पर बना करता है । इस प्रकार 'प्रिय इति' आदि सूक्ति में, ऐसा नहीं कि 'अतिशयोक्ति' न हो क्योंकि 'कृष्ण गोपवधू के लिये ही शिशु हैं' आदि रूप से, कृष्ण में जो 'शिशुत्व' आदि धर्मों का नियम-निर्धारण है, उसमें यह स्पष्ट है कि कृष्ण के प्रियत्वादि धर्मों में शिशुत्वादिक धर्मों का अध्यवसान अथवा अभेद-निश्चय किया जा रहा है जिसमें अभेद में भेदरूपा 'अतिशयोक्ति' बन चुकी है । किन्तु इस 'अतिशयोक्ति' के होने पर भी यहाँ एक और भी विचित्रता है जो कि ज्ञातृभेद से कृष्णरूप एक वस्तु के नानाविध आभास के रूप में दिखायी दे रही और इसी विचित्रता के कारण, यह मानना पड़ता है कि यहाँ 'अतिशयोक्ति' से भिन्न एक और ही अलङ्कार है और वह अलङ्कार 'उल्लेख' है । इस दृष्टि से ( महाकवि बाणरचित 'हर्षचरित' में ) 'श्रीकण्ठजनपद के वर्णन में आयी, 'शरणागतों ने नगर को, वज्रपञ्जर समझा, वातिकों ( खनिजशास्त्रियों ) ने अम्बरविवर ( असुरविवर = खान ) समझा' आदि सूक्ति में भी, 'उल्लेख' अलङ्कार की ही शोभा दिखायी देती है किन्तु यहाँ जो 'उल्लेख' है उसका मूल अतिशयोक्ति नहीं अपितु 'रूपक' अलङ्कार है ( क्योंकि श्रीकण्ठजनपद पर वज्रपञ्जरत्व, अम्बरविवरत्व आदि का अभेदारोप किया हुआ है न कि अभेदाध्यवसान ) ।'

वैसे, श्रीकण्ठजनपद-वर्णन की उपर्युक्त सूक्ति में जैसा कि कुछ काव्यमर्मज्ञों का कहना है, वस्तुतः जो अलङ्कार है वह 'भ्रान्तिमान्' है ( जिसके आधार पर 'उल्लेख' की रूपरेखा खड़ी है ), न कि 'रूपक' क्योंकि गौणी लक्षणा के आधार पर निर्भर 'रूपक' के लिए जिस 'अभेदारोप' की आवश्यकता हुआ करती है उसका नियामक भेदपुरस्सर अथवा भेददर्शनपूर्वक अभेदारोप है ( जिसकी यहाँ कोई सभावना नहीं और जिस अभेदारोप की

पशुशु' शारीरकमीमांसाभाष्यव्याख्याने श्रीवाचस्पतिमित्रा—'अपि च पराशब्द' परत्र सद्यमाणगुणयोगेन धत्ते इति यत्र प्रयोक्तृप्रतिपत्तो संप्रति पति' स गौणः, स च मेघप्रत्ययपुर'सर' इति । इह तु भाषिकाना श्रीकण्ठ जनपदवर्णने भ्रान्तिवृत्त एवाम्बरविषयारोप इति ।

अत्रैव च 'तपोवनमिति मुनिभि' कामायतनमिति धेरयामि' इत्यादी परिणामाकङ्क्षारयोग' ।

( विषयविचक्षणः उल्लेख )

'गाम्भीर्येण समुद्रोऽसि गौरयेणासि पर्यत' ।

इत्यादी 'वानेकधोरुल्लेखे गाम्भीर्यादिविषयभेद' प्रयोजक' । अत्र च रूपक-योग । 'गुरुयचसि, घृष्टुरसि, अर्जुनो परासि—' इत्यादिषु वाच्य रूपकानि विज्ञे विषय इति । अत्र हि श्लेषमूलातिशयोक्तियोग' ।

यहाँ सम्भावना है वह प्रमथुरस्सर अमेदारोप है जो कि 'भ्रान्तिमान्' का नियामक हो सकता है । अब गौणी कथना क्योंकि अमेदारोप में ही संभव है इसके किन्ने ( भगवत्पाद धत्तुराचार्यइत्य ) 'शारीरक मीमांसाभाष्य' की 'भामती व्याख्या' में श्रीवाचस्पति मित्र की यह उक्ति प्यान देने योग्य है—

'सम्प' का गौणी कथनारूप व्यापार यहाँ रहा करता है यहाँ प्रयोक्तृ ( वक्ष्य ) और प्रतिपत्ता ( श्रोता ) का यह अनुभव हुआ करता है कि मित्र अर्थ के वाचक सम्प को साध्य के रूप में प्रतीत करने के सम्बन्ध से, मित्र अर्थ में व्यञ्जित किया गया है । इस प्रकार गौणीकथनारूप व्यापार में भेदप्रतीति का पुट अनिवार्य है ।

अब श्रीवाचस्पति मित्र की उपर्युक्त 'गौणी' मीमांसा के देखते यह निर्विवाद ठिक हो जाता है कि श्रीकण्ठजनपदवर्णन में श्रीकण्ठजनपद पर 'वक्ष्यप्र' 'अमुरविबर' आदि का जो आरोप है वह भेदप्रतीतिपुरस्सर यहाँ अपितु भ्रान्तिपुरस्सर ही है ( जिससे यहाँ 'भ्रान्तिमान्' अकङ्क्षार के योग से 'उल्लेख' मानना अधिक युक्तियुक्त प्रतीत होता है ) ।

श्रीकण्ठजनपदवर्णन के प्रसङ्ग में ही 'मुनिभि' द्वारा ( वक्ष्य ) तपोवन समस्त मन्त्र, धेरयामो इत्या कामायतन समस्त मन्त्रा आदि उक्ति में भी 'उल्लेख' ही अकङ्क्षार है किन्तु इसके सूत्र में 'परिणाम अकङ्क्षार का वैचित्र्य पया है ( न कि रूपक अथवा भ्रान्तिमान् का ) ।

इसी प्रकार विषयभेद में 'उल्लेख' का उदाहरण यह है—

'महाराज ! आप गम्भीरता में समुद्र हैं और गौरव में पर्यत' आदि' ।

यहाँ प्रकृत मूलक का समुद्र आदि रूप में जो उल्लेख है उसका कारण गाम्भीर्य आदि-आदि बर्णों का भेद है जिससे इसे रूपकयोगमूलक 'उल्लेख' कहा जा सकता है ।

इसी प्रकार ( दर्पचरित ) 'वचन में गौरवयुक्त और वृहस्पतिकर वचनस्वरूप में विज्ञात और घृष्टुराचर्य वचन में स्वच्छ और अनुमय' आदि प्रसङ्गों में जो अकङ्क्षार है वह विषयभेदविचक्षण 'उल्लेख' ही है जिसके सूत्र में श्लेषमूलक अतिशयोक्ति का योग पया है 'रूपक' का नहीं ( क्योंकि यहाँ 'वक्ष्य' आदि विषय के निगारण और 'समुद्र' आदि विषयी के अल्पवचन की ही कोई भी बात नहीं विज्ञाती होती ) ।

निर्मा—किन्तु अतिशय का उल्लेख-निर्मा नया सुन्दर और सारपयित है । इसमें अकङ्क्षारस्वरूप का भाव सत्य रूप है । आचार्य रूपक में स्पष्ट कहा है—

'वचनं वस्तु अनेकधा गुरुते सा रूपवानुल्लेखेनानुल्लेखः । न चेद् भिन्नमिच्छ-

( १०—अपहृतिः )

प्रकृतं प्रतिषिद्धान्यस्थापनं स्यादपहृतिः ।

इयं द्विधा । कचिदपहवपूर्वक आरोपः, क्वचिदारोपपूर्वकोऽपहव इति ।  
क्रमेणोदाहरणम्—

( अपहवपूर्वक आरोप में 'अपहृति' )

'नेदं नभोमण्डलमम्बुराशिर्नैताश्च तारा नवफेनभङ्गाः ।

नायं शशी कुण्डलितः फणीन्द्रो नासौ कलङ्कः शयितो मुरारिः ॥'

( आरोपपूर्वक अपहव में 'अपहृति' )

'एतद्विभाति चरमाचलचूडचुम्बि

डिण्डीर पिण्ड-रुचि-शीतमरोचिबिम्बम् ।

उज्ज्वालितस्य रजनीं मदनानलस्य

धूमं दधत्प्रकटलाञ्छनकैतवेन ॥'

इदं पद्यं मम ।

एवम्—

'विराजति व्योमवपुः पयोधिस्तारामयास्तत्र च फेनभङ्गाः' इत्याद्याकारेण  
प्रकृतनिषेधो बोध्यः ।

खल्वेवमात्रमपि तु नानाविधधर्मयोगित्वाख्यनिमित्तवशादेतत् क्रियते । तत्र रुच्यर्थित्व-  
प्रत्युत्तयोः यथायोगं प्रयोजिकाः ।'

अनुवाद—'अपहृति' वह अलङ्कार है जिसे प्रकृत ( उपमेय ) के ( शब्दतः अथवा  
अर्थतः ) प्रतिषेध अथवा असत्यत्व-व्यवस्थापन के साथ, अप्रकृत ( उपमान ) का आहार्य-  
पक्ष कहा गया है । इसके भी दो प्रकार हैं—( १ ) अपहव अथवा उपमेय-प्रतिषेध-  
पूर्वक आरोप ( उपमान-व्यवस्थापन ) और ( २ ) आरोप अथवा उपमान-स्थापनपूर्वक  
अपहव अर्थात् उपमेय-प्रतिषेध । क्रमशः उदाहरण ये हैं—

'यह गगनमण्डल नहीं, यह तो क्षीरसागर है, ये तारागण नहीं, ये तो फेनखण्ड हैं,  
यह चन्द्रमा नहीं, यह तो कुण्डल बाँधे शोपनाग है और यह कलङ्क नहीं, यह तो शयन  
रते भगवान् विष्णु हैं ।'

[ यहाँ शब्दतः अपहवपूर्वक आरोप स्पष्ट है क्योंकि नञ्चतुष्टय के उपादान से,  
'भोमण्डल' आदि 'प्रकृत' का प्रतिषेध करके 'क्षीरसागर' आदि अप्रकृत की सत्यत्व-  
स्थापना की गयी है । ]

'अस्ताचल के शिखर पर विराजमान, यह फेनपिण्डधवल चन्द्र-बिम्ब ऐसा लग रहा  
जैसे स्पष्ट दृश्यमान कलङ्क के बहाने, रातभर जलकर बुझनेवाली कामाग्नि की धूम  
खा धारण कर रहा हो ।'

यह स्वरचित सूक्ति है ( इसमें अर्थतः 'आरोपपूर्वक अपहव स्पष्ट है क्योंकि 'धूम'  
प अप्रकृत का आरोप करके 'कलङ्क' रूप प्रकृत का अपहव किया जा रहा है और नञ्  
अभाव में, 'कैतव' पद के अर्थसामर्थ्य से ही, प्रकृत का प्रतिषेध भी विवक्षित दिखाई  
रहा है ) ।

प्रकृत-प्रतिषेध की और भी विचित्रतायें सम्भव हैं जिनमें 'अपहृति' अलङ्कार रहा





अश्लेषेण यथा—

‘इह पुरोऽनिलकम्पितविग्रहा  
मिलति का न वमस्पतिना लता ।  
स्मरसि किं सखि ! कान्तरतोत्सवं  
नहि घनागमरीतिरुदाहृता ॥’

वक्रोक्तौ परोक्तेरन्यथाकारः, इह तु स्वोक्तेरेवेति भेदः । गोपनकृता गोपनी-  
यस्यापि प्रथममभिहितत्वाच्च व्याजोक्तिः ।

पुनः श्लेष से, (अपतितया = न पतिता अपतिता तया) उसे ‘पतनाभाव’ रूप से छिपाया  
जा रहा है ।

इसी प्रकार, बिना श्लेष के, किसी प्रकाशित होते गोपनीय अर्थ के अन्यथाकरण  
अथवा अपह्नव में ‘अपह्नुति’ का उदाहरण यह है—

‘( नायिका की उक्ति— ) अरी सखी ! ऐसी कौन सी लता है जो वरसात की इस  
हवा से काँपती हुई किसी वनस्पति से नहीं सट जावे ? (सखी की उक्ति—) अरी क्या !  
ऐसा तो नहीं कि इसे देख तू अपने प्रियतम के साथ अपना रत्तिविहार याद कर उठी !  
( नायिका की उक्ति— ) नहीं-नहीं, मैंने तो वरसात के स्वभाव के बारे में कहा ।’

यहाँ ‘वक्रोक्ति’ की आशङ्का इसलिये नहीं होनी चाहिये क्योंकि ‘वक्रोक्ति’ में तो  
दूसरे की उक्ति का अन्यथाकरण हुआ करता है और यहाँ, जैसा कि स्पष्ट है, अपनी ही  
उक्ति का दूसरा अर्थ लिया जाया करता है । यहाँ ‘व्याजोक्ति’ की भी कोई संभावना  
नहीं क्योंकि यहाँ बात छिपानेवाला गोपनीय बात को पहले ही कह दिया करता है  
( जब कि ‘व्याजोक्ति’ में गोपनीय बात पहले नहीं कही जाती है ) ।

विमर्श—‘अपह्नुति’ का उपर्युक्त प्रकारान्तर काव्यप्रकाशकार को मान्य नहीं । आचार्य दण्डी  
ने इस अपह्नुति भेद का निरूपण अवश्य किया है जैसा कि काव्यादर्श ( २. ३०४ ) की निम्न  
उक्ति से स्पष्ट है—

‘अपह्नुतिरपह्नुत्य किञ्चिदन्यार्थदर्शनम् ।

न पञ्चेषु स्मरस्तस्य सहस्र पत्रिणामिति ॥’

यहाँ, साहित्यदर्पणकार ने, आचार्य दण्डी का अनुसरण करते हुए, इस अपह्नुति-प्रकार का भी  
परिगणन और लक्षण निरूपण किया है ।

‘अपह्नुति’ के दो भेदों में तो ‘औपम्य’ अन्तर्गम रहना करता है किन्तु यह तृतीय भेद ऐसा है  
जिसमें उपमानोपमेयभाव की कोई चर्चा नहीं रहा करती । सरस्वतीकण्ठाभरणकार ने इस  
अपह्नुति-भेद का सप्रभेद निरूपण किया है—

‘अनौपम्याभिधीयमानापह्नोतव्यवस्तु पूर्वा यथा—

‘राजकन्यानुरक्त मा रामोद्भेदेन रक्षका ।

अवगच्छेयुरा ज्ञातमहो शीतानिल वनम् ॥’

अत्र राजकन्यानुरागलक्षणस्य रोमाञ्चकारणस्य रक्षकावगतिहेतो पूर्वमेवाभिहितस्य च  
वनानिलसौत्यलक्षणेन कारणान्तरेणापह्नव । न चैतयो, सादृश्यमस्ति सेयमनौपम्याभि-  
धीयमानापह्नोतव्यवस्तु । कार्यात्पूर्व कारणोपन्यासेन पूर्वव्युच्यते ।’

(११—विशेष)

अन्यन्निषिष्य प्रकृतस्थापन निषयः पुनः ॥ ३९ ॥

निषयास्योऽयमलङ्कारः । अन्यद्विस्तारोप्यमाणम् ।

यथा सम—

‘वदनमिदं न सरोजं नयने नेन्वीयरे एते ।

इह सविषे मुग्धदृशो भ्रमरः । मुवा किं परिभ्रमसि ॥’

यथा वा—

‘इदि विसखताहारो नायं मुग्धमनायकः

कुण्डलयदलमेणी कण्ठे न ना गरलपुष्टिः ।

मलयजरो नेवं भस्म प्रियारहिते मयि

प्रहर न हरभ्रान्स्थानङ्गः । कृपा किमु धावसि ॥’

न इयं निषयान्तः संदेहः, सत्र सरायनिषयवारेकामयत्वेनावस्थानात् । अत्र तु भ्रमरादेः सराया नावकारेनिषयः । किञ्च न भ्रमरादेरपि सरायः एक-

अनुवन्त—‘विशेष’ वह अलङ्कार है जिसे अप्रकृत के विशेष के साथ प्रकृत का आहार्य-विशेष कहा करते हैं ।

(प्रकृतविशेष के साथ अप्रकृत के आहार्यविशेष में अपहृति-कथना की ओर अप्रकृतविशेष के साथ प्रकृत का आहार्यविशेष) ‘विशेष’ नामक एक अलङ्कार है । वही (कारिका में) ‘अन्यत् का अभिप्राय आरोप्यमाणः (अथवा उपमान) का अभिप्राय है ।

इसका उदाहरण यह स्वरचित छुट्टि है—

‘वह मुझ है कमल नहीं, व नयन है हृन्वीयर नहीं । अरे भ्रमर ! इस मुग्धाणी मुग्धरी के पास इतनी मसखता के साथ क्यों भूम रहा है ?’

अथवा यह छुट्टि—

अरे जनक ! मैं प्रियतमा के वियोग में एक बिरही जीव खड़ा, मेरे हृदय पर वसक-माल का वह डार है सपरान्त बाधुकि नहीं, मेरे गले में जीककमल के किस्तकव पड़े हैं हजाहक की ककरी ककित नहीं और मेरे करीर में चन्दन का चूर्ण लगा है भस्म नहीं । मुझ पर मका लहर के भ्रम से तू क्यों क्रोधपूर्वक रीढ़ पकता चाहता है ?’

[ यहाँ ‘वदनमिदं’ आदि में उपमेयभूत वदन और नयन क आहार्यविशेष के साथ उपमानभूत ‘सरोज’ और ‘हृन्वीयर’ का विशेष है और ‘इदि विसखताहारः’ आदि में उपमेयभूत ‘विसखता’ आदि के रथापन के साथ उपमानभूत ‘मुग्धमनायक’ का विशेष है जिसमें ‘विशेष’ की रूपरेखा स्पष्ट है । ]

‘विशेष’ और ‘विशयान्त संदेह’ परस्पर भिन्न अलङ्कार हैं । ‘विशयान्त संदेह’ में देसा होता है कि ‘संशय’ और ‘विशय’ दोनों एक ही आशय पर (एक ही व्यक्ति में) अवस्थित रहते हैं । किन्तु ‘विशय’ में देसा कि उपर्युक्त ‘वदनमिदं’ आदि छुट्टि में स्पष्ट है संशय क आशय भ्रमर आदि हैं और विशय क आशय (वत्स) नायक आदि । जैसे तो वस्तुतः भ्रमर में भी वहाँ संशय नहीं माना जा सकता क्योंकि वरि भ्रमर के हृदय में संशय हो को कि यहाँ वदन और सरोजकप कोटिपावगाही जान है, तब वह कैसे संभव है कि वह वदन और नयन के पास पहुँचे ( क्योंकि भ्रमर के किने देसा करना ठीकी संभव है जब कि वह निस्तर्दिग्य हो ) ।

कोट्यधिके ज्ञाने, तथा समीपागमनासंभवात् । तर्हि भ्रान्तिमानस्तु, अस्तु नाम भ्रमरादेर्भ्रान्तिः । न चेह तस्याश्चमत्कारविधायित्वम्, अपि तु तथाविधनायकाद्युक्तेरवेति सहृदयसवेद्यम् । किञ्चाविवक्षितेऽपि भ्रमरादेः पतनादौ भ्रान्तौ वा नायिकाचाट्वादिरूपेणैव संभवति तथाविधोक्तिः । न च रूपकध्वनिरयम्, मुखस्य कमलत्वेनानिर्धारणात् । न चापह्नुति, प्रस्तुतस्यानिपेधादिति पृथगेवायमलङ्कारश्चिरन्तनोक्तालङ्कारेभ्यः । शुक्तिकाया रजतधिया पतति पुरुषे शुक्तिकेयं न रजतमिति कस्यचिदुक्तिर्नायमलङ्कारो वैचित्र्याभावात् ।

( १२—उत्प्रेक्षालङ्कारः सप्रमेदनिरूपण )

भवेत्संभावनोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य परात्मना ।

वाच्या प्रतीयमाना सा प्रथमं द्विविधा मता ॥ ४० ॥

वाच्येवादिप्रयोगे स्यादप्रयोगे परा पुनः ।

जातिगुणः क्रिया द्रव्यं यदुत्प्रेक्ष्यं द्वयोरपि ॥ ४१ ॥

किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि यहा 'भ्रान्तिमान्' मान लिया जाय क्योंकि 'भ्रमर' आदि के हृदय में, सरोज आदि की भ्रान्ति से सरोज आदि के समीप जाने की वात सगत लगने लगती है । क्यों ? इसलिये कि यहां, जैसा कि सहृदयों का अनुभव है, भ्रान्ति में कोई चमत्काराधायकता नहीं प्रतीत होती । यहाँ जो भी चमत्कार है वह नायकादि की इस प्रकार की उक्ति में ही है क्योंकि चाहे भ्रमर आदि नायिका वदन पर टट पड़े या न टट पड़े या भ्रमर आदि के हृदय में भ्रान्ति हो या न हो, नायिका को प्रसन्न करने के लिये, इस प्रकार की चाटुक्ति सर्वथा संभव है और युक्तिसंगत भी है । यहाँ 'रूपक ध्वनि' की भी कोई संभावना नहीं क्योंकि यहाँ नायिका-वदन और कमल में अभेदादोष का निर्धारण कहाँ किया जा रहा है ? इसमें 'अपह्नुति' भी नहीं क्योंकि यहाँ प्रस्तुत ( उपमेय ) का निषेध नहीं किया गया । इसलिये यहाँ यही मानना आवश्यक है कि यहाँ जो ( निश्चय नामक ) अलङ्कार है वह प्राचीन अलङ्कारिकों के निर्धारित अलङ्कारों से विलक्षण रूप का ही अलङ्कार है ।

यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि यदि चादी समझकर सीप उठानेवाले को यह कहा जाय कि 'यह सीप है चादी नहीं' तो इस प्रकार की उक्ति को 'निश्चय' अलङ्कार नहीं माना जाया करता क्योंकि इस प्रकार के लौकिक, स्वारसिक प्रकृत-स्थापन में कोई वैचित्र्य नहीं ( और अलङ्कार के लिये वैचित्र्य होना आवश्यक है ) ।

विमर्श—( क ) साहित्यदर्पणकार को 'निश्चय'-कल्पना में एक मालिकता है । इस कल्पना में युक्ति यह है कि यदि प्रकृत के निषेध और अप्रकृत के प्रतिष्ठापन में 'अपह्नुति' है तो अप्रकृत के निषेध और प्रकृत के प्रतिष्ठापन में भी कोई 'अलङ्कार' अवश्य होना चाहिये । साहित्यदर्पणकार ने इस 'अलङ्कार' को 'निश्चय' नामक अलङ्कार माना है क्योंकि इसमें 'अप्रकृत निषेध के साथ प्रकृत-निर्धारण' की जो विचित्रता है उसका विश्लेषण किए बिना 'उत्प्रेक्षा' का विश्लेषण पूरा नहीं हो पाता ।

अनुवाद 'उत्प्रेक्षा' वह अलङ्कार है जिसे अप्रकृत के रूप में प्रकृत की संभावना कहा करते हैं । इसके प्रथमतः दो प्रकार हैं—( १ ) वाच्योत्प्रेक्षा और ( २ ) प्रतीयमानोत्प्रेक्षा । इनमें पहली अर्थात् वाच्योत्प्रेक्षा वह है जिसमें 'इय' आदि उत्प्रेक्षा-

तदृष्ट्वापि प्रत्येकं भावामावामिमानतः ।

गुणक्रियास्वरूपत्वान्निमित्तस्य पुनश्च ता ॥ ४२ ॥

द्रात्रिंशद्विधतां यान्ति—

तत्र बाष्पोत्प्रेक्षायामुदाहरणं विस्मयान्न यथा—

( बाष्पोत्प्रेक्षा )

‘ऊरुः कुरङ्गकटराश्चक्षलवेलाक्षलो माति ।

सपताकं कनकमयो विजयस्तम्भः स्मरस्येव ॥’

अत्र विजयस्तम्भस्य बहुवाचकत्वाच्चात्युत्प्रेक्षा ।

( बाष्पगुणोत्प्रेक्षा )

‘ज्ञान मौनं क्षमा शक्ती त्वागे रत्नावापिपयं ।

गुणा गुणानुबन्धित्याप्तस्य सप्रसवा इव ॥’

अत्र सप्रसवत्वं गुण ।

वाचक पदों का प्रयोग हुआ करता है और दूसरी अर्थात् प्रतीयमानोत्प्रेक्षा वह जिसमें ‘इव’ अर्थात् उत्प्रेक्षावाचक पदों का प्रयोग नहीं हुआ करता । इन दोनों प्रकार की उत्प्रेक्षाओं में जो ‘उत्प्रेक्ष्य’ वस्तु है वह पतुर्विध है—१ जाति, २ गुण, ३ क्रिया और ४ ब्रह्म । इस प्रकार से उत्प्रेक्षाओं आठ प्रकार की हुईं । वे अष्टविध उत्प्रेक्षाएँ भी उत्प्रेक्ष्य में ‘भावामिमान’ और ‘अभावामिमान’ के द्वैतिय से सौक्य प्रकार की हुईं और इन बौद्धविध उत्प्रेक्षाओं में उत्प्रेक्ष्य के निमित्त क, गुणरूप और क्रियास्व से द्विविध होने के कारण उत्प्रेक्षा क ३९ प्रकार हो गये ।

यहाँ पहले ‘बाष्पोत्प्रेक्षा’ के कुछ उदाहरण दिये जा रहे हैं—

‘इस युगनयनी का ऊरु, जिस पर इला से द्रिक्ता अष्टक कहरा रहा है’ ऐसा लगता है मानो कमरेय का वह स्वर्णमय विजयस्तम्भ हो जिस पर पताका कहरा रही हो ।’

यहाँ ‘बाष्पोत्प्रेक्षा’ स्पष्ट है क्योंकि उत्प्रेक्षावाचक ‘इव’ शब्द प्रयुक्त है । यहाँ का उत्प्रेक्ष्य है वह ‘जाति’ रूप है क्योंकि ‘विजयस्तम्भ’ एक व्यक्ति का नहीं अपितु अनेक व्यक्तियों में अनुपान ‘सामान्य’ अथवा ‘जाति’ (‘समस्त’) का वाचक शब्द है । (यहाँ इस उत्प्रेक्ष्य में भावामिमान भी स्पष्ट है क्योंकि ‘विजयस्तम्भ’ भावरूप वस्तु है । साथ ही साथ यहाँ उत्प्रेक्ष्य का गुणरूप निमित्त भी है जो कि नयिका के ऊरु का ‘सीमर्य’ है ।)

‘महाराज दिर्घाय में ज्ञान या और ज्ञान के साथ मौन भी । उनमें शक्ति थी और शक्ति के साथ क्षमा भी । उनमें त्वाग या और त्वाग के साथ आनन्दताया का अभाव भी । ऐसा लगना या मानो उनका प्रत्येक गुण परस्पर विविरोध रहते हुए, सहोदर से थे ।’

यहाँ भी बाष्पोत्प्रेक्षा स्पष्ट है क्योंकि उत्प्रेक्ष्य में ‘इव’ शब्द का प्रयोग किया हुआ है । यहाँ जो उत्प्रेक्ष्य है वह ‘गुण’ रूप है क्योंकि सामान्य वह का अधिप्राय ‘सामान्य’ गुण का अधिप्राय है (क्योंकि सर्वोप) विभाग अर्थात् यहाँ की शक्ति ‘प्रसव’ वह भी ‘प्रसव’ का अधिप्राय रहने में गुणवाचक वह है ।)

( वाच्यक्रियोत्प्रेक्षा )

‘गङ्गाम्भसि सुरत्राण ! तव निःशाननिस्वनः ।

स्नातीवारिवधूर्गगभंपातनपातकी ॥’

अत्र स्नातीति क्रिया ।

( वाच्यद्रव्योत्प्रेक्षा )

‘मुखमेणीदृशो भाति पूर्णचन्द्र इवापरः ।,

अत्र चन्द्र इत्येकव्यक्तिवाचकत्वाद् द्रव्यशब्दः । एते भावाभिमाने ।

अभावाभिमाने यथा—

‘कपोलफलकावस्याः कष्ट भूत्वा तथाविधौ ।

अपश्यन्ताविवान्योन्यमीदृक्षां क्षामता गतौ ॥’

अत्रापश्यन्ताविति क्रियाया अभावः । एवमन्यत् । निमित्तस्य गुणक्रिया रूपत्वे यथा—‘गङ्गाम्भसि’ इत्यादौ स्नातीवेत्युत्प्रेक्षानिमित्तं पातकित्व गुणः । ‘अपश्यन्तौ’— इत्यादौ क्षामतागमनरूप निमित्त क्रिया । एवमन्यत् ।

प्रतीयमानोत्प्रेक्षा यथा—

‘सुस्तान ! विजययात्रा का सूचक, आपके रणवाद्य ( नहारे ) का निनाद गङ्गाजल में स्नान करता सा लग रहा है मानो उसे शत्रुनारियों के गर्भपात के महापातक का प्रायश्चित्त करना हो ।’

यहाँ क्रियोत्प्रेक्षा है क्योंकि यहाँ जो उत्प्रेक्ष्य है वह ‘स्नानरूप क्रिया है । साथ ही साथ ‘इव’ शब्द के प्रयोग में इस उत्प्रेक्षा की वाच्यता भी स्पष्ट है ।

‘इस मृगनयनी का मुख ऐसा चमक रहा है मानो दूसरा चन्द्रमा हो ।’

यहाँ ‘द्रव्योत्प्रेक्षा’ इसलिए है क्योंकि यहाँ जो उत्प्रेक्ष्य है वह ‘चन्द्र’ शब्द द्वारा प्रतिपादित है और चन्द्र शब्द ऐसा है जो कि एक व्यक्ति का वाचक शब्द है अर्थात् ‘द्रव्य’ शब्द है ।

ये उपर्युक्त उत्प्रेक्षाएँ ‘भावाभिमानिनी’ हैं क्योंकि इनमें जो भी जात्यादिरूप वस्तु उत्प्रेक्ष्य है वह ‘भाव’रूप है ( अभाव’रूप नहीं ) ।

‘उत्प्रेक्ष्य’ के अभावाभिमान में उत्प्रेक्षा का यह उदाहरण देखिए—

‘इस विरहिणी के सुन्दर कपोल, कितने दुःख की बात है कि अब, ऐसे कृश हो रहे हैं मानो एक दूसरे को न देख पा रहे हों ।’

यहाँ अभावाभिमान स्पष्ट है क्योंकि ‘अपश्यन्तौ’ पद से दर्शन की क्रिया के अभाव का ही अभिप्राय निकलता है जो कि उत्प्रेक्ष्य है ( और जिसका निमित्त अत्यधिक कृशता है ) । इसी भाँति जाति, गुण और द्रव्यरूप उत्प्रेक्ष्यों में अभावाभिमान के उदाहरण रूपता भी स्पष्ट है क्योंकि जैसे ‘गङ्गाम्भसि’ आदि सूक्ति में उत्प्रेक्ष्य स्नान-क्रिया के निमित्तरूप से ‘पातकित्व’ का गुण प्रतीत हो रहा है वैसे ही ‘अपश्यन्ताविम’ आदि सूक्ति में—अदर्शन क्रिया के निमित्तरूप से ‘कृशताप्राप्ति’ की क्रिया प्रतीत हो रही है ।

अब प्रतीयमानोत्प्रेक्षा के उदाहरण निम्ने — दे दें—

‘सम्बन्धवा’ स्तनयुग्मेन युक्त न प्रकटीकृतम् ।

हाराय गुणिने स्थान न वृत्तमिति सङ्गत्या ॥’

अत्र सङ्गत्येवेति इष्टाद्यभावात् प्रतीयमानोत्प्रेक्षा । एवमन्यत् ।

मनु अनिनिरूपणप्रस्तावेऽङ्गकुराणां सर्वेषामपि व्यङ्ग्यत्वं भवतीत्युक्तम् । सम्प्रति पुनर्विशिष्य कममुत्प्रेक्षायां प्रतीयमानत्वम् ? उच्यते—व्यङ्ग्योत्प्रेक्षायां—‘महिम्नासहस्त’ इत्यावागुत्प्रेक्ष्य विनापि वाक्यविभ्रान्ति । इह तु स्तनयोर्संख्याया असम्भवात् सङ्गत्येवेत्युत्प्रेक्ष्येवेति व्यङ्ग्यवप्रतीयमानोत्प्रेक्षयोर्भेदः ।

अत्र वाच्योत्प्रेक्षायां षोडशसु भेदेषु मध्ये विशेषमाह—

—तत्र वाच्यमिदा पुनः ।

विना द्रव्य त्रिधा सर्वाः स्वरूपफलहेतुगाः ॥ ४३ ॥

यत्रोत्प्रेक्ष्य वाच्यप्रतीयमानोत्प्रेक्षयोर्भेदेषु मध्ये ये वाच्योत्प्रेक्षायां षोडश भेदास्तेषु च आत्वादीनां त्रयाणां ये षोडश भेदास्तेषां प्रत्येकं स्वरूपफलहेतु

‘इस सुन्दरी के स्तनयुग्म ने माँ की गुणी (सूत्र में गुणित) हार के किन्तु स्थाव व दिया हो इस कच्चा से अपना मुक्त ही प्रकट नहीं किया ।’

यहाँ ‘इष्ट’ आदि उत्प्रेक्षावाचक पद के अभाव में ‘प्रतीयमाना’ उत्प्रेक्षा स्पष्ट है और ‘कच्चा’ पद से निमित्तभूत कच्चा रूप गुण की उत्प्रेक्ष्यता भी स्पष्ट है । इसी मति का विषय प्रतीयमानोत्प्रेक्षा के उदाहरण स्वरूप समझ लिये जा सकते हैं ।

यहाँ यह जानना ही सकती है कि जब कि व्यक्ति-निरूपण के प्रसङ्ग में सभी वाच्य-कथनों की व्यङ्ग्यता का निर्देश किया जा चुका है तब यहाँ ‘उत्प्रेक्षा’ को अङ्ग से ‘प्रतीयमानोत्प्रेक्षा’ कहने की क्या आवश्यकता ? इसका समाधान यह रहा—‘व्यङ्ग्य’ ‘उत्प्रेक्षाकुरा’ और ‘प्रतीयमानोत्प्रेक्षा’ एक नहीं अपितु भिन्न काल्पनिक हैं । ‘व्यङ्ग्य’ उत्प्रेक्षा के ‘महिम्नासहस्त’ आदि उदाहरणों में जो बात दिखायी देती है वह यह है कि यहाँ ‘अप्रतीय’ आदि की सम्भावना के विना ही वाक्यसमाप्ति में कोई त्रुटि नहीं आती । किन्तु वाच्यकुरा रूप ‘प्रतीयमानोत्प्रेक्षा’ के ‘सम्बन्धवा’ आदि प्रसङ्गों में जब तक उत्प्रेक्षावाचक ‘इष्ट’ आदि पद का कल्पनिक अभाव न किया जाय—नबोकि [अथैतत् स्तनो में स्तन के चर्म कच्चा की क्या सम्भावना]—तब तक वाक्यविभ्रान्ति ही असंभव कल्पने लगती है ।

वाच्योत्प्रेक्षा के उपर्युक्त १६ भेदों का दृष्ट और विशेष अर्थ वाच्यमिदं निकले हैं जिसका निरूपण किया जा रहा है—

वाच्योत्प्रेक्षा के भेदों में, अथवा मुख्य भेद-चतुष्टय को दोहरा; अति-गुण और क्रिया मुख्य को १६ भेद हैं उनमें प्रत्येक के तीन तीन भेद हुआ करते हैं—(१) स्वरूपोत्प्रेक्षा, (२) कर्मोत्प्रेक्षा और (३) हेतुत्प्रेक्षा ।

तत्पर्य यह है वाच्योत्प्रेक्षा और प्रतीयमानोत्प्रेक्षा के जो भेद बताये जा चुके हैं उनमें, वाच्योत्प्रेक्षा के १६ भेद निर्दिष्ट हैं उनमें आति गुण और क्रिया—इस तीन उत्प्रेक्ष्य प्रकारों के अभाव पर हुए १६ भेद ऐसे हैं जो स्वल्प काल और हेतुगत होने के कारण १६ प्रकार के हो जाते हैं । इष्ट का उत्प्रेक्षण व्यङ्ग्य-व्यङ्ग्य का ही उत्प्रेक्षण हो सकता है

गतत्वेन द्वादशभेदतया षट्त्रिंशद्भेदाः । द्रव्यस्य स्वरूपोत्प्रेक्षणमेव सम्भव-  
तीति चत्वार इति मिलित्वा चत्वारिंशद्भेदाः ।

अत्र स्वरूपोत्प्रेक्षया यथा पूर्वोदाहरणेषु 'स्मरस्य विजयस्तम्भः' इति ।  
'सप्रसवा इव' इत्यादयो जातिगुणस्वरूपगाः । फलोत्प्रेक्षा यथा—

'रावणस्यापि रामास्तो भित्त्वा हृदयमाशुगः ।

विवेश भुवमाख्यातुमुरगेभ्य इव प्रियम् ॥'

अत्राख्यातुमिति भूप्रवेशस्य फल क्रियारूपमुत्प्रेक्षितम् ।  
हेतूत्प्रेक्षा यथा—

'सैषा स्थली यत्र विचिन्वता त्वा भ्रष्ट मया नूपुरमेकमुर्व्याम् ।

अदृश्यत त्वच्चरणारविन्दविश्लेषदुःखादिष बद्धमौनम् ॥'

अत्र दु खरूपो गुणो हेतुत्वेनोत्प्रेक्षितः । एवमन्यत् ।

उक्त्यनुक्तयोर्निमित्तस्य द्विधा तत्र स्वरूपगाः ।

तेषु चत्वारिंशत्संख्याकेषु भेदेषु मध्ये ये स्वरूपगायाः षोडशभेदास्ते उत्प्रे-  
क्षानिमित्तस्योपादानानुपादानाभ्यां द्वात्रिंशद् भेदा इति मिलित्वा षट्पञ्चा-

(द्रव्यफल अथवा द्रव्यहेतु का नहीं) — इसलिये द्रव्यगत वाच्योत्प्रेक्षा के भेद-चतुष्टय के साथ जात्यादिगत वाच्योत्प्रेक्षा के ३६ भेदों को मिलाकर ४० प्रकार की वाच्योत्प्रेक्षाएँ सिद्ध हुईं । इन ४० प्रकार की वाच्योत्प्रेक्षाओं में, स्वरूपगा वाच्योत्प्रेक्षा के उदाहरण के लिये, पूर्वोदाहृत सूक्तियों में आयी 'स्मरस्य विजयस्तम्भ' आदि सूक्ति ही ली जा सकती हैं जहाँ 'स्तम्भत्व' जाति के स्वरूप की उत्प्रेक्षा स्पष्ट है । इसी प्रकार पूर्वोदाहृत 'ज्ञाने मौनम्' आदि में 'सप्रसवा इव' में जो उत्प्रेक्षा है, उसमें गुण स्वरूप का उत्प्रेक्षण देखा जा सकता है । फलोत्प्रेक्षा के उदाहरण के लिये निम्न सूक्ति देखिये—

'राम द्वारा चलाये गये बाण ने रावण के भी हृदय को विद्ध कर दिया और मानो इस प्रसन्नता की बात को सर्पों पर प्रकट करने के लिये, वह पृथिवी में घुस गया ।'

यहाँ भूप्रवेश के फल के रूप में प्रियाख्यानरूप क्रिया के स्वरूप की उत्प्रेक्षा स्पष्ट है ।

इसी प्रकार हेतूत्प्रेक्षा का उदाहरण यह है—

'यही वह जगह है, जहाँ तुम्हें ढँकते हुए, मुझे पृथिवी पर गिरा हुआ, तुम्हारा एक नूपुर ऐसा निःशब्द दिखायी पड़ा मानो तुम्हारे चरणारविन्द के विश्लेष के दु ख से वह मौन—मूक पड़ा हो ।'

यहाँ यह स्पष्ट है कि दु खरूप गुण ( बद्धमौनता के ) हेतुरूप से उत्प्रेक्षित है ।

इसी प्रकार अन्यविध उत्प्रेक्षाओं के दृष्टान्त स्वयं समक्ष लिये जा सकते हैं ।

इन उपर्युक्त स्वरूपगत, फलगत तथा हेतुगत वाच्योत्प्रेक्षा-भेदों में 'स्वरूपोत्प्रेक्षा' दो प्रकार की हुआ करती है—(१) 'उक्तनिमित्ता' स्वरूपोत्प्रेक्षा और (२) 'अनुक्तनिमित्ता' स्वरूपोत्प्रेक्षा ।

यहाँ ऐसा समझना चाहिये—'उत्प्रेक्षा' के ४० प्रकार बताये जा चुके हैं । इन ४० प्रकारों में स्वरूपोत्प्रेक्षा के १६ प्रकार हैं । इन १६ प्रकार की स्वरूपोत्प्रेक्षाओं में उत्प्रेक्षण का निमित्त उपात्त भी हो सकता है और अनुपात्त भी । इस प्रकार 'स्वरूपोत्प्रेक्षा' के ३२ भेद सिद्ध हुए । अब 'स्वरूपोत्प्रेक्षा' के २२ भेद और 'फलोत्प्रेक्षा' तथा 'हेतूत्प्रेक्षा' के



राशुमेवा वाक्योत्प्रेक्षायाः । अत्र निमित्तस्योपादानं यथा पूर्वोदाहृते 'स्नायीव' इत्युत्प्रेक्षायां निमित्तं पातकित्वमुपात्तम् । अनुपादाने यथा—'यन्त्र इवापर' इत्यत्र तमाधिपसौन्दर्याद्यतिरागो नोपात्तः ।

हेतुफलबोस्तु नियमेन निमित्तस्योपादानमेव, यथा हि—'विरलेपदुःखादिव' इत्यत्र यमिमित्तं बद्धमौनत्वम् 'आख्यातुमिव' इत्यत्र च भूभ्रमेशस्त्वयोरनुपादानेऽसङ्गतमेव वाक्यं स्यात् ।

प्रतीयमानायां पोद्बरासु भेदेषु विशेषमाह—

प्रतीयमानाभेदाच्च प्रत्येकं फलहेतुगाः ॥ ४४ ॥

यथोदाहृते 'तन्वङ्कया' स्तनभुमेन' इत्यत्र लज्जयेवेति हेतुत्प्रेक्षितः । अस्यामपि निमित्तस्यानुपादानं न सम्भवति । इवाद्यनुपादाने निमित्तस्य चाकीर्तने चत्वेक्षणस्य प्रमातृनिर्णयेतुमशक्यत्वात् । स्वरूपोत्प्रेक्षाऽप्यत्र न भवति, यमोत्तरतादात्म्यनिबन्धनायामस्यामिवाद्यप्रयोगे विशेष्ययोगे सत्यतिरागोत्प्रेक्ष्युपगमात् ।

२४ भेदों को मिश्रकर ५१ प्रकार की वाक्योत्प्रेक्षाएँ स्पष्ट हो गयीं । निमित्त का उपादान में स्वरूपोत्प्रेक्षा का उदाहरण के लिए, पूर्वोदाहृत 'गङ्गाम्मसि' आदि सूक्ति में, 'स्नायीव' में जो उत्प्रेक्षा है उसे किन्ना का सकता है क्योंकि उसमें उत्प्रेक्षण के निमित्तस्व से 'पातकित्व' का उपादान स्पष्टतया किन्ना हुआ है । निमित्त के अनुपादान में 'स्वरूपोत्प्रेक्षा' का उदाहरण पूर्वोदाहृत 'मुकुन्दमेजीरयो माति' आदि सूक्ति में, 'पूर्णचन्द्र इवापरा' की उत्प्रेक्षा है जहाँ उत्प्रेक्षण के निमित्तस्व से असाधारण सौन्दर्य आदि का उपादान नहीं किन्ना गया ।

यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि 'स्वरूपोत्प्रेक्षा' की भाँति 'कलोत्प्रेक्षा' और 'हेतुत्प्रेक्षा' के भी १९-२९ भेद नहीं हुआ करते क्योंकि फल और हेतु की उत्प्रेक्षाएँ निमित्त के उपादान का बिना हो ही नहीं सकतीं । 'कलोत्प्रेक्षा' और 'हेतुत्प्रेक्षा' में निमित्त का उपादान निताम्त आवश्यक है । उदाहरण के लिए 'सेवा रयकी' आदि सूक्ति में 'विरलेपदुःखादिव' में जो 'हेतुत्प्रेक्षा' है वह तब तक नहीं हो सकती जब तक 'बद्ध' सीमता के निमित्त का उपादान न किन्ना जाय । इसी भाँति 'पुष्पमवापि' आदि सूक्ति में, 'आख्यातुमिव' में जो फलोत्प्रेक्षा है वह तब तक असम्भव है जब तक 'भूभ्रमेश' रूप निमित्त उपात्त न हो । यहाँ बहुतों का यह है कि इन उत्प्रेक्षा-भेदों में निमित्त का उपादान का बिना वाक्य ही असंगत हो जाता है (और जब वाक्य असंगत हो गया तो उत्प्रेक्षा क्यों से संगत हो जाय) ।

जब प्रतीयमानोत्प्रेक्षा का १९ भेदों का अवान्तर वैतिष्ठय का विवर्धन किन्ना जा रहा है—

प्रतीयमानोत्प्रेक्षा के भी १९ भेद हैं जिनमें प्रत्येक का, 'फलगत' और 'हेतुगत' रूप से दो-दो प्रकार हो जाया करते हैं । जैसे कि पूर्वोदाहृत 'तन्मयद्वय स्तनभुमेन' आदि सूक्ति में 'स्तन' (पृष्ठ) का प्रकट करने के हेतुरूप से 'कज्ज' की उत्प्रेक्षा की हुई है । 'प्रतीयमानोत्प्रेक्षा' में भी निमित्त का उपादान अत्यावश्यक है क्योंकि जब कि यहाँ उत्प्रेक्षापात्र का 'इव' आदि पद नहीं और उपादा का निमित्त भी अनुपात्त हो तब वह

यथा—‘अयं राजापरः पाकशासनः’ इति । विशेषणाभावे च रूपकस्य,  
यथा—‘राजा पाकशासनः’ इति । ) तदेवं द्वात्रिंशप्रकारा प्रतीयमानोत्प्रेक्षा ।

उक्त्यनुक्त्योः प्रस्तुतस्य प्रत्येकं ता अपि द्विधा ।

ता उप्रेक्षाः । उक्तौ यथा—‘ऊरुः कुरङ्गकदशः—’ इति ।

अनुक्तौ यथा मम प्रभावत्याम् ‘प्रद्युम्नः—इह हि सम्प्रति दिगन्तरमाच्छा-  
दयता तिमिरपटलेन—

घटितमिवाञ्जनपुञ्जैः पूरितमिव मृगमदक्षोदैः ।

ततमिव तमालतरुभिर्वृतमिव नीलांशुकैर्भुवनम् ॥’

अत्राञ्जनेन घटितत्वादेरुत्प्रेक्षणीयस्य विषयव्याप्तत्वं नोपात्तम् ।

कैसे समझ है कि कोई भी यह जान सके कि वहाँ ‘उत्प्रेक्षा’ हुई है । ‘प्रतीयमानोत्प्रेक्षा’ में स्वरूपगत भेद भी असंभव ही है क्योंकि जब कि ‘स्वरूपोत्प्रेक्षा’ में एकधर्मी के साथ ‘धर्म्यन्तर’ ( अर्थात् अन्य धर्मी ) का तादात्म्य अथवा अभेद आवश्यक हो और इव आदि उत्प्रेक्षावाचक पद भी न रहें तथा साथ ही साथ असंभवविशेषण का भी उपादान हो तब यह सब वैचित्र्य ‘अतिशयोक्ति’ की रूपरेखा का निर्देश कर सकता है न कि उत्प्रेक्षा का ।

जैसे कि ‘यह राजा दूसरा इन्द्र है’ आदि प्रसङ्गों में, राजरूप एकधर्मी के साथ इन्द्ररूप अन्यधर्मी की तादात्म्यभावना में, ‘अपर’रूप असंभवविशेषण ( ‘अपर’ विशेषण इसलिये असंभव है क्योंकि ‘इन्द्र’ एक ही हैं ) का जो योग है ( और साथ ही साथ ‘इव’ आदि उत्प्रेक्षावाचक पद का भी जो अनुपादान है ) उसमें ‘अतिशयोक्ति’ ही दिखायी देती है ( प्रतीयमाना स्वरूपोत्प्रेक्षा नहीं ) और यदि ‘यह राजा इन्द्र है’ आदि कहा जाय, तब असंभव-विशेषण के अभाव में ( और साथ ही साथ ‘इव’ आदि उत्प्रेक्षावाचक पद के अनुपादान में ) जो ‘अलङ्कार’ दिखायी देगा वह ( प्रतीयमाना स्वरूपोत्प्रेक्षा नहीं अपितु ) ‘रूपक’ अलङ्कार ही होगा । इस प्रकार यह स्पष्ट हो गया कि ‘प्रतीयमानोत्प्रेक्षा’ के ३२ ही भेद हुआ करते हैं ।

‘उत्प्रेक्षा’ के अब तक जो भेद निर्विष्ट किये गये, उन सब में प्रस्तुत ( प्राकरणिक अथवा उपमेय ) की उक्ति और अनुक्ति के भेद से, दो-दो भेद हो जाया करते हैं ।

यहाँ ( कारिका में ) ‘ता’ का अभिप्राय ‘उत्प्रेक्षा’ के समस्त भेदों का अभिप्राय है ( न कि पूर्वपरामृष्ट ३२ प्रकार की प्रतीयमानोत्प्रेक्षा का ) उत्प्रेक्षा में ‘प्रस्तुत की उक्ति’ के उदाहरण के लिये ‘ऊरुः कुरङ्गकदश’ आदि सूक्ति पर्याप्त है ( जिसमें प्रस्तुत अथवा उपमेयभूत ‘ऊरु’ स्पष्टतया शब्दतः उपात्त है ) । इसी प्रकार ‘प्रस्तुत की अनुक्ति’ में, उत्प्रेक्षा के उदाहरणरूप में, स्वरचित ‘प्रभावती’ नाटिका की यह सूक्ति ध्यान देने योग्य है—

‘प्रद्युम्न—इस समय यह अन्धकार दिग्दिगन्त को आच्छन्न कर रहा है जिससे ऐसा लगता है—

मानो सारा संसार अञ्जनराशि से बना हुआ सा हो, कस्तूरीचूर्ण से भरा हुआ सा हो, तमालवीथी से ध्यास सा हो और नीलाञ्जुक से आवृत सा हो ।’

यहाँ जो उत्प्रेक्षणीय है अर्थात् उपमानभूत ‘अञ्जनघटितत्वं’ आदि है वह ऐसा है जिसके लिये उपमेयरूप ‘तिमिरव्यापन’ आदि शब्दतः उपात्त नहीं ।

पथा पा—

‘क्षिप्पतीय तमोऽङ्गानि वर्पतीवाङ्मन नम’ ।

अत्र तमसो लेपनस्य व्यापनरूपो विषयो गोपात् । अङ्गानवर्पणस्य तमो-  
सम्पात् । अनयोरुत्प्रेक्षानिमित्तं च तमसोऽतिबहुलत्वं धाराहृष्येणाद्यन्तयोगेन  
पथार्थक्यम् ।

केचित्तु—‘अलेपनकर्तृमूतमपि तमो लेपनकर्तृत्वमोत्प्रेक्षितं व्यापनं च  
निमित्तम्, एवं नमोऽपि वर्पणक्रियाकर्तृत्वेन’ इत्याहुः ।

‘प्रस्तुत की वस्तुति’ में ‘उत्प्रेक्षा’ की कपरेका मित (सम्पन्नकृति) सूक्ति में  
भी स्पष्ट है—

‘ऐसा लगता है जैसे अन्धकार समस्त कौरी को छेप रहा हो और आकाश अज्ञ  
बरसा रहा हो ।’

वहाँ अन्धकार के ‘छेपन’ रूप उपमागत के किये ‘व्यापन’ रूप प्रस्तुत जगत् का  
का उपाहास नहीं किया गया है । इसी प्रकार ‘अज्ञानवर्पण’ रूप उपमागत के किये  
‘तमस्तम्पात्’ रूप प्रस्तुत जगत् का विषय भी अनुपात्त ही होकर दिया गया है । इन दोनों  
उत्प्रेक्षाओं में उत्प्रेक्षा का निमित्त भी दिया हुआ है जो कि क्रमशः ‘अन्धकार का  
बाहुल्य’ और उसका ‘आकाशम्यावरण से पृथिवी पर गिरना’ है (इस प्रकार वहाँ—  
प्रस्तुत की वस्तुति में, क्रियास्वरूपोत्प्रेक्षा का स्वरूप स्पष्ट है) ।

जैसे कुछ सम्भाव्यार्थ ‘क्षिप्पति’ आदि में उन्मोत्प्रेक्षा मानते हैं क्योंकि उनका यह  
कहना है कि वहाँ ‘तिमिर’ जो कि ‘छेपन’ की क्रिया का कर्ता वही हो सकता, ‘छेपन’  
क्रिया के कर्ता के रूप में उत्प्रेक्षित है जिसके किये ‘व्यापन’ रूप निमित्त भी प्रतीत हो  
रहा है और ‘आकाश’ जिसमें ‘वर्पण’ की क्रिया का कर्तृत्व असम्भव है, वर्पण-क्रिया के  
कर्ता के रूप में उत्प्रेक्षित है ।

विमर्श—(क) ‘उत्प्रेक्षा’ की व्युत्पत्ति यह है—‘उत् + प्र + ईष्ठा = उत्प्रेक्षा प्रकृतत्वं उप-  
मावत्त्वं ईष्ठा शानमुत्प्रेक्षा’ (ज्योति, पृष्ठ २१) । इस व्युत्पत्ति से ही यह स्पष्ट है कि उत्प्रेक्षा  
अकट्टार का चमत्कार किसी ‘प्रकृत’ की प्रकृत ‘अप्रकृत’ के रूप में ‘सम्भावना’ है । ‘संभावना’  
एक शानप्रकार है । सम्भावनात्मक शान संशय जगत् का अर्थ नहीं बरिष्ठ इतने एक विश्व  
प्रकार का ही अनुभव है जैसा कि ‘अकट्टारतत्त्व’ की ‘विमर्शनी’ व्याख्या के रचयिता व्याख्य  
बनान में कहा है—

‘उत्प्रेक्षा सम्भावनाप्रतिष्ठापनामिषेवतर्कमतीतिरुच्येति नास्त्वय संदेहमुत्पत्त्य । तत्र  
मिथ्याकथनत्वात् । अज्ञानवधारणार्थं संशय इत्यनवधारणज्ञातत्वाविशेषात् संशयज्ञानार्थं  
स्तरमावस्तकस्येत्यस्या संशयमूकत्वमिति चेत् नैतत् । अज्ञानवधारणज्ञानावधिनिर्देशं  
संशयतर्कमिति कथ्यत्वात् । तथा हि—स्यानुषां पुरुषो वेति सामान्येन पञ्चकोट्येका  
संशया । पुरुषेणानेन अविशेषमित्येकतरपक्षानुसूचकारवर्धनेन पञ्चास्तरावधारमि  
तर्कः । पुरुष एवावमिति पञ्चास्तरसंशयसंशयतरपक्षविर्जयो निश्चय इत्यस्ति सङ्कर-  
साक्षिं प्रत्यक्षानां प्रविध्यम् । अविशतोमवधारणकम्भी किं सिद्धिति विमर्शः  
सम्बेदः । एकतरपक्षवर्धनी तु तर्क इति । ‘तेन संदेहनिवृत्तपक्षतराकर्तृतां तदि  
कथन’ संभावनाप्रतिष्ठापनाद्विषय सम्भावनाप्रतिष्ठापनाद्विषयम् ।

अर्थात् वैसे तो 'सशयात्मक' और 'सम्भावनात्मक' दोनों ज्ञान अनिश्चयात्मक (अनवधारणारूप) ज्ञानप्रकार हैं किन्तु दोनों में परस्पर भेद है। 'सशय' में दो पक्षों का उल्लेख अनिवार्य है। 'क्या यह ठूठ है या आदमी' इसी प्रकार का ज्ञान 'सशय' रूप हुआ करता है। किन्तु 'सभावना' में, किसी कारणवश, दो पक्षों में से एक पक्ष का बाध और एक का प्रतिष्ठापन स्वाभाविक है। 'यह आदमी ही होगा' इस प्रकार का ज्ञान सभावनात्मक ज्ञान प्रकार है। इस प्रकार दोनों पक्षों के अवलम्बन करनेवाले 'संदेह' और एकपक्षावलम्बी 'तर्क' अथवा 'सभावना' को एक मानना अनुचित है इसलिये यह स्पष्ट है कि 'उत्प्रेक्षा' और 'संदेह' पृथक् पृथक् स्वरूप के अलङ्कार अथवा कान्य वैचित्र्य हैं।

(ख) 'उत्प्रेक्षा' और 'अतिशयोक्ति' अध्यवसायगर्भ अलङ्कार हैं किन्तु दोनों में दो प्रकार का 'अध्यवसाय' रहा करता है जिससे दोनों परस्पर भिन्न भिन्न अलङ्कार के रूप में माने जाये करते हैं। 'अध्यवसाय' का अर्थ 'विषयनिगरण' है। उत्प्रेक्षा में भी 'विषयनिगरण' रहा करता है किन्तु यह 'सिद्ध' रूप का न होकर 'साध्य' रूप का हुआ करता है। 'अतिशयोक्ति' में जो 'विषयनिगरण' हुआ करता है वह 'साध्य' नहीं अपितु 'सिद्ध' रहा करता है। 'विमर्शिनी'कार ने इसीलिये कहा है—

‘एवमप्यनिश्चयात्मकसंभावनाप्रत्ययमूलत्वादुत्प्रेक्षाया कथमन्यवसायमूलत्वम् । तस्य हि विषयनिगरण विषयनिश्चयश्च स्वरूपम् । न चात्रैकमपि सभवति । विषयोपादाना-  
ल्लिखयाभावाच्चेति । अत्रोच्यते—इह द्विधास्त्यध्यवसायः । स्वारसिक उत्पादितश्च ।  
तत्र स्वारसिके विषयानवगम एव निमित्तसामर्थ्यात् स्वरसत एव विषयप्रतीतेरुल्ला-  
सात् । . . . . इतरत्र तु विषयमवगम्यापि तदन्त करेण प्रतिपत्तौ स्वात्मपरतन्त्र-  
विकल्पनाद् विषये प्रतिपत्तिमुत्पादेत् । जानान एव हि विषयिविविक्त विषयं तत्र प्रयो-  
जनपरतया विषयिणमध्यवस्येत् । तत्राद्यो भ्रान्तिमदादिविषय । तत्र हि प्रमात्रन्तरगता  
स्वारसिकयेव तथाविधा प्रतिपत्तिर्वक्त्रानूद्यते न तूत्पाद्यते । . . . . स्वारसिकत्वं पुनः  
कविप्रतिभानिर्वतितमेवेष्टम् । अन्यथा हि भ्रान्तिमात्रस्यादिति . . . . इतरस्तूत्प्रेक्षाविषय-  
स च द्विविध सिद्ध साध्यश्च । सिद्धो यत्र विषयस्यानुपात्ततया निगीर्णत्वादध्यवसितप्राधान्य-  
न्यम् । साध्यो यत्रेवाधुपादानात् संभावनाप्रत्ययात्मकत्वाद्विषयस्य निगीर्यमाणत्वादध्य-  
वसायक्रियाया एव प्राधान्यम् ।

अत एव चात्र क्वचिद्विषयानुपादानम् । वाच्यो-  
पयोग्यध्यवसायस्य साध्यमानत्वेनोपक्रान्तत्वात् । क्वचिच्च विषयानुपादानेऽपि न  
सिद्धत्वम् । इवाधुपादानाल्लिगीर्यमाणताया प्राधान्यात् संभावनाप्रत्ययस्यैवोद्वेकात् । अत  
एव चात्र विषयस्य निगीर्यमाणत्वादरोपगर्भत्व न वाच्यम् । तत्र विषयस्य विषयितया  
प्रतीतिः । इह पुनर्विषयस्य निगीर्यमाणत्वेन विषयिण एव प्रतीतिः । ननु विषयनिग-  
रणमध्यवसायस्य लक्षणम्, इह पुनर्विषयस्य निगीर्यमाणतेति कथमत्राध्यवसायतेति  
चेत्, नैतत् । 'विषय्यन्त कृतेऽन्यस्मिन् सा स्यात् चाध्यवसानिका' इत्याद्युक्त्याऽध्यव-  
सायस्य विषयिणा विषयस्यान्त करण लक्षणम् । तच्च विषयस्य निगरणेन निगीर्यमाण-  
त्वेन वा भवतीति न कश्चिद्विशेष निगीर्यमाणमपि पूर्वोक्तरीत्या विषयस्योपात्तस्यानु-  
पात्तस्य वा भवतीत्यपि न कश्चिद्विशेष । एव सिद्धेऽध्यवसायेऽध्यवसितप्राधान्यम्  
साध्ये च स्वरूपप्राधान्यमिति सिद्धम् । यदेव चाध्यवसायस्य साध्यत्व तदेव संभावना-  
त्मकत्वम् । संभावना ह्येकतरपक्षशितिलीकारेण पञ्चान्तरदाढ्येन च प्रादुर्भवती-  
त्यस्या. साध्याध्यवसायतुल्यकक्षत्वम् । तस्यापि विषयशितिलीकारेण विषयि-  
दाढ्येन चोत्पत्तेः ।'

( अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी, पृष्ठ ६९-७० )

(उपेक्षावैचित्र्य)

अलङ्कारान्तरोत्था सा वैचित्र्यमधिकं भजेत् ॥ ४५ ॥

सत्र सापह्नोत्प्रेक्षा यथा मम—

‘अमुप्यज्जलेन मुदशो हुतपायकभूमकतुपास्याः ।

अप्राप्य मानसं विगच्छति क्षावण्यधारिपूर इव ॥’

(१) ‘उत्प्रेक्षा’ सर्वप्रथम दो प्रकार की है—१. वाच्योत्प्रेक्षा और २. प्रतीयमात्रोत्प्रेक्षा। ‘वाच्योत्प्रेक्षा’ की ‘स्वरूपगत’ ‘कृतगत’ और ‘हेतुगत’ रूप से मुख्यतया तीन प्रकार की है। इन तीनों प्रकारों में ‘स्वरूपगत वाच्योत्प्रेक्षा’ के १२ भेद हैं। १२ भेद इसलिये क्योंकि पहले छे अपकृत के रूप में अपकृतसे प्रकृत के ‘जाति’ गुण’ किन्तु और ‘द्रव्य’ रूप से चार प्रकार हैं जो कि ‘मात्राभिमान’ और ‘अमात्राभिमान’ के रूप से, दो-दो प्रकार के होकर आठ प्रकार के हो जाता करते हैं। ये आठों प्रकार उत्प्रेक्षा के निमित्त के ‘गुणरूप’ और ‘द्रव्यरूप’ से विभिन होने के कारण दो-दो प्रकार के होकर १६ बन जाते हैं। इन १६ प्रकारों में प्रत्येक में निमित्त के ‘उपादान’ और ‘अनुपादान’ के द्वैविध्य के कारण दो-दो प्रकार स्वाभाविक हैं विसते स्वरूपगत वाच्योत्प्रेक्षा के १२ प्रकार छिड़ हो जाते हैं।

(२) अर्थात् ‘कृतगत’ वाच्योत्प्रेक्षा में द्रव्य की उत्प्रेक्षा और उसके प्रकारकतुपन की और संभावना व होने के कारण बारह भेद हो संभव हैं।

(३) अर्थात् ‘हेतुगत’ वाच्योत्प्रेक्षा की बारह प्रकार की ही हुजा करती है क्योंकि वाच्योत्प्रेक्षा के इस भेद में द्रव्य की हेतुत्प्रेक्षा और उसके भेदकतुपन की संभावना नहीं रहा करती। इस प्रकार वाच्योत्प्रेक्षा के १६ (स्वरूपगत के १२ कृतगत के १२ हेतुगत के १२) भेद प्रकृत के ‘प्रतिपादन’ और ‘अप्रतिपादन’ के द्वैविध्य के कारण ११२ प्रकार के छिड़ होते हैं।

प्रतीयमात्रोत्प्रेक्षा ६४ प्रकार की है। ६४ प्रकार की इसलिये क्योंकि इसमें स्वरूपोत्प्रेक्षा के १२ भेद अंतर्भव हैं किन्तु १६ ‘कृतगत’ और १६ ‘हेतुगत’ भेद बावत्स्क हैं जो कि प्रकृत के ‘प्रतिपादन’ और ‘अप्रतिपादन’ के द्वैविध्य के कारण ६४ हो जाते हैं।

इस प्रकार उत्प्रेक्षा की भेदसंख्या १०८ है (वाच्योत्प्रेक्षा ११२ + प्रतीयमात्रोत्प्रेक्षा ६४ उत्प्रेक्षा १०८)।

(४) किन्तु ‘रसप्रदायक’ के अनुसार वस्तुतः वस्तुतः उत्प्रेक्षाभेद-संख्या प्राचीन आङ्गारिकों की परम्परा सी ही गणित नहीं—

‘इह कल्प्यादयो हि मेधा प्राचामधुरोपाहुस्तुताः। वस्तुतस्तु तेषां चमत्कारे वैकल्प्य-मस्तीव्रमुदाहरीतम्। चमत्कारवैकल्प्यं पुनस्तुतकस्वकपात्मकयोः प्रकाशना-मेवेति ।

(रसप्रदायक : उत्प्रेक्षाप्रकरण)

अनुसार—यही ‘उत्प्रेक्षा’ यदि उसके मूल में और अलंकारपत्र की वी अधिकधिक वैचित्र्य धारण करती दिखाई दिया करती है। उदाहरण के लिये, यह स्वरचित सुक्ति, जिसमें ‘अपहृति’—अलंकार-मूलक उत्प्रेक्षा का वैचित्र्य स्पष्ट है—

‘आहुतिर्वा से भरी वस्तुस्थिति के रूप से कल्पित आत्मीयता ही इस सुन्दरी के आँसुओं के बहाने ऐसा लगाता है जैसे इसका मान इसके आँसुओं में न समा सकने के कारण क्षावण्यप्रद के प्रवाह के रूप में वह निकला है।

श्लेषहेतुगा यथा—

‘मुक्तोत्कर’ सङ्कटशुक्तिमध्याद्विनिर्गतः सारमलोचनायाः ।

जानीमहेऽस्या कमनीयकम्बुग्रीवाधिवासाद्गुणवत्त्वमाप ॥’

अत्र गुणवत्त्वे श्लेषः कम्बुग्रीवाधिवासादिवेति हेतूप्रेक्षाया हेतुः । अत्र ‘जानीमहे’ इत्युत्प्रेक्षावाचकम् ।

एवम्—

मन्ये शङ्के ध्रुवं प्रायो नूनमित्येवमादयः ।

कचिदुपमोपक्रमोत्प्रेक्षा यथा—

‘पारेजलं नीरनिघेरपश्यन्मुरारिरानीलपलाशराशीः ।

वनावलीरुत्कलिकासहस्रप्रतिक्षणोत्कूलितशैवलाभा ॥’

इत्यत्राभाशब्दस्योपमावाचकत्वादुपक्रमे उपमा । पर्यवसाने तु जलधितीरे शैवालस्थिते सम्भावनानुपपत्तौ सम्भावनोत्थापनमित्युत्प्रेक्षा ।

एवं विरहवर्णने—‘केयूरायितमङ्गदैः—’ इत्यत्र ‘विकासिनीलोत्पलतिस्म कर्णे मृगायताद्या’ कुटिल’ वटाक्ष’ इत्यादौ च ज्ञेयम् ।

[ यहाँ ‘झल’ शब्द के उपादान से, प्रस्तुत ‘अश्रु’ के प्रतिपेध के साथ, अप्रस्तुत ‘लावण्यवारिपूर’ के स्थापन में ‘अपहृति’ स्पष्ट है और इस ‘अपहृति’ की भित्ति पर, क्रियोत्प्रेक्षा का जो वैचित्र्य है वह देखने ही योग्य है । ]

इसी प्रकार ‘श्लेषालंकारमूलक उत्प्रेक्षा का उदाहरण यह रहा—

‘ऐसा लगता है जैसे ‘संकटशुक्ति’ ( छोटी सीप और संकटाकीर्ण संसार ) के भीतर से निकला हुआ यह ‘मुक्तोत्कर’ ( मोतियों और मुक्त पुरुषों का समूह ) इस सारसलोचना ( कमलनयनी ) सुन्दरी के, कमनीयशखतुल्य ग्रीवा के ‘अधिवास’ ( निवास या वासना ) के कारण ‘गुणवान्’ ( सूत्रयुक्त और सत्त्वादिगुणयुक्त ) हो गया है ।’

यहाँ ‘गुणवत्त्व’ पद श्लेष है ( क्योंकि इसके ‘सूत्रयुक्तत्व’ और ‘उत्कर्षवत्त्व’ दो-दो अभिप्राय निकलते हैं ) । यहाँ ‘कम्बुग्रीवाधिवासादिव’ के रूप में हेतु की भी उत्प्रेक्षा है और ‘जानीमहे’ पद उत्प्रेक्षावाचक है ( इस प्रकार यहाँ श्लेषमूलक उत्प्रेक्षा स्पष्ट है ) ।

यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि ( ‘जानीमहे’ की भाँति ) और भी उत्प्रेक्षावाचक पद हैं जिनमें ‘मन्ये’, ‘शङ्के’, ‘ध्रुवम्’, ‘प्राय’, ‘नूनम्’ ( खलु किमु-किम् ) आदि प्रसिद्ध हैं ।

अब उपमामूलक उत्प्रेक्षा का उदाहरण देखिये—

‘भगवान् कृष्ण ने, समुद्र के तीर पर, हरे हरे पत्तों से भरी वनवीथी क्या देखी, लहरों से निरन्तर फँकी जाती शैवलराशि देख ली ।’

यहाँ उपमामूलक उत्प्रेक्षा इसलिये है क्योंकि कवि ने, उपक्रम में, उपमावाचक ‘आभा’ शब्द के प्रयोग में, उपमा की रचना की है और अन्त में सम्भावना अथवा उत्प्रेक्षण का उद्धान दिखाया है क्योंकि जबकि समुद्र के तीर पर शैवलपंक्ति की अवस्थिति अनुपपन्न है तब उसकी स्थिति का वर्णन ‘सम्भावना’ रूप ही हो सकता है । इसी भाँति—

‘प्रयास्यन्तं प्रियं श्रुत्वा गोविन्दं व्रजयोषिताम् ।

तत्क्षणजातमौनाना केयूरायितमङ्गदै ॥’

‘प्रियतम कृष्ण प्रवास पर जा रहे हैं—यह सुनकर अकस्मात् मौन धारण की हुई व्रज की

आम्निमदलङ्कारे 'सुग्धा सुग्धधिया—' इत्यादौ भ्रान्तानां वृत्तादीनां विषयस्य चम्ब्रिकारेणानमेव नास्ति, सवुपनिबन्धनस्य कविनैव कृतत्वात् । इह तु संभावनाकर्तुर्बिषयस्यापि ज्ञानमिति द्वयोर्मेव ।

संदेहे तु समकक्षया कोटिद्वयस्य प्रतीति, इह तुल्यता संभाव्यमूढे ककोटि । अतिशयोक्ती विपरिणः प्रतीतस्य पर्ययसानेऽसत्यता प्रतीयते, इह तु प्रतीतिफल एवेति मेव ।

सुन्दरियों के बानूबहू केयूर अर्थात् कंगन से हो गये । ( विरह की क्लृप्ता के कारण कंगन की बगल पर आ गये ) आदि विरहवर्णन-सूक्ति में 'केयूरप्रथितमङ्गरीः' में वक्त्र प्रत्यय के प्रयोग में, उपक्रम में उपमा स्पष्ट है जिसके आधार पर ( अङ्ग ) बानूबहू की, कंकन स्थान पर स्थिति की अनुपपत्ति में स्थिति की संभावना की गयी है जिसमें उल्लेख स्पष्ट है । यही बात—

'नासाप्रमुक्तमपरमसारिरोर्ध्वनिभादेव च विमुक्तमात्मा ।

विकासिणीकोत्पलसिद्धि कर्णं युवायतापत्वा कुटिका कटाक्षः ॥

आदि सूक्ति में 'युवायतापत्वा' के कुटिक कटाक्ष उसके कर्णों पर जिक्र की कंकन से बनाने लगी आदि की उपक्रमोपमा में विकासिणी होती है जहाँ अन्त में कर्णों पर कटाक्ष की स्थिति की अनुपपत्ति में स्थिति की 'संभावना' की गयी है और 'उल्लेख' में वक्त्र समाप्ति होती है ।

यहाँ यह सहा हो सकती है कि जैसे 'सुग्धा सुग्धधिया' आदि सूक्ति में 'आम्निमद' अलङ्कार का दर्शन हुआ करता है वैसे ही 'ऊरु कुरङ्गकरसा' आदि सूक्ति में भी, वक्त्र के 'ऊरु' आदि में 'विजयस्तम्भ' आदि की आम्नि के कारण 'आम्निमाह' क्यों न माना जाय । किन्तु यह सहा इसलिये निम्न है कि 'सुग्धा सुग्धधिया' आदि आम्निमद प्रसङ्गों में तो अम में पड़े गोप आदि को विषय अथवा उपमेयमूल 'चम्ब्रिक' आदि अम्नि का ज्ञान भी नहीं होता क्योंकि वह तो कवि है जो 'चम्ब्रिक' का कव्य करता है ( और गोप आदि 'सीप' में जाही की आम्नि की भाँति 'चौहनी आदि में सुग्ध-वार आदि की अम्नि में ही भग्न हैं ) किन्तु 'ऊरु कुरङ्गकरसा' आदि उल्लेख-प्रसङ्ग ऐसे हैं जिसमें संभावना करने वाले को विषय अथवा उपमेयमूल 'ऊरु' आदि का भी ज्ञान हो रहा है । इस प्रकार 'आम्निमाह' और 'उल्लेख' के क्षेत्र परस्पर पूरक-पूरक ही प्रतीत होते हैं ।

'उल्लेख' में 'संदेहालङ्कार' का भी अम नहीं हो सकता क्योंकि 'संदेह' में देखा होता है कि उपमेय और उपमानविषयक ज्ञान की दोनों कोटिनी समकक्ष प्रतीत हुआ करती है और यहाँ 'उल्लेख' में ऐसा कि एक ही संभाव्यकोटि उत्कटता प्रतीत होती है । 'उल्लेख' में 'अतिशयोक्ति' की भी आम्नि असंभव ही है क्योंकि 'अतिशयोक्ति' में देखा होता है कि आरम्भ में विषयी का स्वरूप प्रतीत हो जाता है और अन्त में उसकी असत्यता का पता चलता है किन्तु यहाँ उल्लेख में विषयी ( उपमान ) के स्वरूप की प्रतीति के समय में ही उसकी असत्यता की भी प्रतीति हो उठती है ।

यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि कुछ काव्याचार्यों ( अलङ्कारसर्वस्वकार आदि ) ने ( किरातामुनीच-नवम सर्ग की ) निम्नसूक्ति अर्थात्—

‘रञ्जिता नु विविधास्तरुशैला नामित नु गगनं स्थगितं नु ।

पूरिता नु विपमेषु धरित्री संहता नु ककुभस्तिमिरेण ॥’

इत्थत्र यत्तर्वादौ तिमिराक्रान्तता रञ्जनादिरूपेण सद्विद्यत इति संदेहालङ्कार इति केचिदाहुः, तन्न-एकविषये समानबलतयाऽनेककोटिस्फुरणस्थैव संदेहत्वात् । इह तु तर्वादिव्याप्तेः प्रतिसबन्धिभेदो व्यापनादेर्निगरणेन रञ्जनादेः स्फुरणं च ।

अन्ये तु—‘अनेकवनिर्धारणरूपविच्छित्त्याश्रयत्वेनैककोट्यधिकेऽपि भिन्नोऽयं संदेहप्रकारः’ इति वदन्ति स्म, तदप्ययुक्तम्-निगीर्णस्वरूपस्यान्यतादात्म्य-प्रतीतिर्हि सभावना, तस्याश्चात्र स्फुटतया सद्भावात् नुशब्देन चेशब्दवत्तस्या द्योतनादुत्प्रेक्षैवेयं भवितुं युक्ता, अलमदृष्टसंदेहप्रकारकल्पनया ।

‘क्या अन्धकार से सब वृक्ष और पर्वत काले रंग में रँग से दिये गये ? क्या ऐसा तो नहीं कि आकाश नीचे गिर पड़ा या ठक सा गया ? क्या पृथिवी ऊँची-नीची जगहों में बराबर कर दी गयी ? अथवा क्या फैली दिशायें सिकोड़ दी गयीं ?’

आदि में, ‘संदेहालङ्कार’ का जो दर्शन किया है और यह कहा है कि यहाँ वृक्षादि की अन्धकारपूर्णता रञ्जनादि के रूप में सन्देहास्पद बन रही है, वह ठीक नहीं । कारण यह है कि यहाँ ‘संदेह’ की कोई सभावना ही नहीं क्योंकि जिसे ‘संदेह’ कहते हैं वह तो एक विषय ( अर्थात् उपमेय ) में, समकक्षरूप से, अनेककोटिक ज्ञान का स्फुरण हुआ करता है । यहाँ ऐसा स्फुरण कहाँ ? यहा तो तरु, शैल, गगन, पृथिवी आदि प्रत्येक पदार्थ की तिमिराच्छन्नता भिन्न-भिन्न प्रकार की बतायी गयी है और रञ्जन, नामन, स्थगन आदि भिन्न-भिन्न रूपों में सभावित प्रतीत हो रही है और साथ ही साथ यहा यह भी स्पष्ट है कि तमोव्यापनरूप विषय के निगरण अथवा अपलाप में रञ्जन आदि रूप विषयी की सभावना हो रही है ( जिसमें ‘उत्प्रेक्षा’ की ही रूपरेखा निखरती दिखायी दे रही है ) ।

उपर्युक्त तिमिरवर्णन-सूक्ति में ही, कुछ और आलङ्कारिकों ने एक और प्रकार के संदेहालङ्कार का दर्शन किया है और यह कहा है कि यहाँ ‘संदेह’ का जो स्वरूप है उसमें तमोव्यापन और रञ्जनादिरूप ज्ञान का स्फुरण नहीं अपितु तमोव्यापनरूप एककोटिक ज्ञान का ऐसा उत्कट स्फुरण है जो कि रञ्जन, नामन, स्थगन आदि अनेक रूपों में निर्धारित होने के कारण एक और ही वैचित्र्य रख रहा है । किन्तु यह मत भी अनुपपन्न ही है क्योंकि यहाँ ‘संशय’ नहीं अपितु ‘सभावना’ है जो कि निगीर्णस्वरूप विषय की, अन्य अथवा विषयी के साथ, एक तादात्म्य-भावना है । यह तादात्म्य-भावना यहाँ इसलिये स्पष्ट है क्योंकि ‘इव’ शब्द के समानार्थक ‘नु’ शब्द के द्वारा ( जो कि उत्प्रेक्षावाचक शब्द है ) इसे यहाँ प्रतिपादित कर दिया गया है । इसलिये यहाँ जो अलङ्कार है वह ‘उत्प्रेक्षा’ ही है । यहाँ ऐसे संदेहप्रकार की कल्पना की क्या आवश्यकता जिसे और किसी ने भी नहीं माना ।

अब यह बताना आवश्यक है कि ‘मन्ये’ आदि उत्प्रेक्षावाचक पदों के प्रयोग में भी सभावना की प्रतीति के अभाव में, उत्प्रेक्षालङ्कार नहीं हुआ करता । जैसे कि निम्नसूक्ति अर्थात्—



‘यदेतच्चान्त्रान्तर्गोष्ठवसवलीला यितनुते

तदाचष्टं श्लोकं शशक इति नो मां प्रति तथा ।

अहं त्विन्तुं मन्ये त्वपरिचिराकान्ततरुणी-

कटाक्षोल्लापातघणकिणकसङ्काङ्किततनुम् ॥’

इत्यत्र ‘मन्ये’ शब्दप्रयोगऽप्युक्तरूपाया सम्भावनाया अप्रतीतिर्वितर्कमार्गनासाधपक्षबोध्येषा ।

‘राजन् ! चन्द्रमा मैं काले बाख के टुकने सा जो दिखायी पया करता है उसे लोग ‘सरा’ कहा करते हैं, किन्तु मुझ यह सब मान्य नहीं । मैं तो ऐसा समझता हूँ कि चन्द्रमा मैं जो बता हूँ वह तुम्हारे राजुओं की बिरहिनी प्रेमिकाओं के कटाक्षपूर्ण चरकपात से उत्पन्न जल का बिहू है ।

मैं, ‘मन्ये’ शब्द से अवश्य प्रसुक्त हूँ किन्तु यहाँ ‘निगीर्णस्वरूप विषय की वास्तविकता-प्रतीति का संभावना नहीं दिखायी देती । इसलिये ऐसे प्रसङ्गों में अपह्नवसूचक उल्लेख नहीं अपि तु वितर्कमान ही मानना उचित है और पुक्तिपुक्त भी है ।

विमर्श—कटाक्षा-वैचित्र्य का अनिमात्र जन्म लङ्कारामूक कटाक्षा-प्रकार के सौम्य का अनिमात्र है । साहित्यदर्पणकार का वह उल्लेख-वैचित्र्य-विचार ‘अलङ्कारसर्वस्व’ की उल्लेख-नीति से प्रभावित है । लङ्कारसर्वस्वकार ने कटाक्षा-वैचित्र्य के रूप में ‘उपमोपक्रमोपका’ का उल्लेख किया है—‘उपमोपक्रमोपका यथा—

गतास्तु तीरं तिमिषद्भेन ससंभ्रमं वीरविजयसिनीषु ।

यमोहसत्त्वेनततिष्यकेन मुखाद्दृष्टसंय विनाति सिधा ॥

अत्र द्वयसम्बन्धादभ्यास्य संभावने लङ्कारप्रयोगात्तत्प्राप्तबोध्यते । एवं चन्द्रमद्विषयप्रयोगेऽपि शेषम् ।

इसी प्रकार ‘उपमोपक्रमोपका’ भी कटाक्षा की ही एक विविधता के रूप में आचमन रूपक द्वारा निरदिष्ट है—‘उपमोपक्रमोपका यथा—

कस्तूरीतिक्तमिति भाककटक देण्या मुक्तममोच्छे

रौलम्बमिति तमाकबाकमुकुकोरसमिति मीकानपि ।

याः कर्मे विकचोत्पलमिति कुचयोरहे च कासगुरु—

श्यासमिति प्रचयन्तु तारतम्य किर्ण कीकण्टकष्टस्त्रिया ॥

अत्र चर्चते ‘सर्वप्रतिपदिकेभ्यः क्विप्’ इत्युपमानात्, ‘क्विप्’विधावानुपे उपमाप्रतीति स्तथाप्युपमानस्य प्रकृते सज्जीवित्वात् संभावयोत्पाने उल्लेखार्थं पर्यवसानम् ।

(अलङ्कारसर्वस्व १४ अं)

‘विमर्शनी’कार के अनुसार ‘अतिशयोक्तिमयी’ उल्लेख में भी वाच्य-साहित्य की विशेषताये विमर्श रीति कायती है । वेते कि—

‘पुङ्गवा वरया धनवा चान्यकिप्रपरम्पराः ।

अथमदेव परास्येर्विरजीवत अमंदा ॥

आदि में ‘अनेर में येर’ रूप अतिशयोक्तिमूक ‘उल्लेख’ । अथवा वेते कि—

‘यशमेव सहोद्भूताः विनेव सहोदयिताः ।

तेजमेव सहोद्भूतगणानेव सहोदयिताः ॥

आदि में ‘कार्यकारण की तुल्यता’का रूप अतिशयोक्ति है अनुवर्णित ‘उल्लेख’ अथवा, वेते कि—

( १२—अतिशयोक्ति : सप्रभेद निरूपण )

सिद्धत्वेऽध्यवासायस्यातिशयोक्तिर्निगद्यते ।

विषयनिगरणेनाभेदप्रतिपत्तिर्विषयिणोऽध्यवसायः ।

अस्य चोत्प्रेक्षायां विषयिणोऽनिश्चितत्वेन निर्देशात्साध्यत्वम्, इह तु निश्चितमात्रेण, इहापि मुख द्वितीयश्चन्द्र इत्यादौ ।

यदाहुः—

‘विषयस्यानुपादानेऽप्युपादानेऽपि सूरयः ।

अधःकरणमात्रेण निगीर्णत्व प्रचक्षते ॥’ इति ।

भेदेऽप्यभेदः सम्बन्धेऽसम्बन्धस्तद्विपर्ययौ ॥ ४६ ॥

पौर्वापर्यात्मकः कार्यहेत्वोः सा पञ्चधा ततः ।

तद्विपर्ययौ अभेदे भेदः, असम्बन्धे सम्बन्धः । सा अतिशयोक्तिः । अत्र भेदेऽभेदो यथा मम—

‘अखर्वगर्वस्मितदन्तुरेण

विराजमानोऽधरपल्लवेन ।

समुत्थित चीरविपाण्डुराणि पीत्वेव सद्यो द्विषता यशसि ॥’

आदि में, कार्यकारणभाव की क्रमिकता की विपर्ययरूपा अतिशयोक्ति से उत्पापित ‘उत्प्रेक्षा’ ।

अनुवाद—‘अतिशयोक्ति’ वह अलङ्कार है जिसे ‘अध्यवसाय’ की सिद्धि की प्रतीति कहा करते हैं ।

‘अध्यवसाय’ क्या है ? ‘अध्यवसाय’ है विषय ( उपमेय ) के निगरणपूर्वक, उस ( निगीर्ण-स्वरूप-विषय ) के साथ विषयी ( उपमान ) की अभेद-प्रतिपत्ति । यह ‘अध्यवसाय’ उत्प्रेक्षा में भी रहा करता है किन्तु सिद्धरूप का न होकर साध्यरूप का ही हुआ करता है क्योंकि जब कि ‘उत्प्रेक्षा’ में ‘विषयी’ ( उपमान ) का निर्देश अनिश्चित रूप से किया जाता करता है, ‘अतिशयोक्ति’ में ऐसा हुआ करता है कि ‘विषयी’ ( उपमान ) निश्चित रूप से निर्दिष्ट प्रतीत हुआ करता है । ‘उत्प्रेक्षा’ में ‘विषय-निगरण’ का अभिप्राय ‘विषय का अधःकरणमात्र’—उसके वास्तविक स्वरूप का अप-लापमात्र है और ‘अतिशयोक्ति’ में, जैसे कि ‘यह मुख दूसरा चन्द्रमा है’ आदि अतिशयोक्ति में, जो विषयनिगरण है उसमें भी विषय का अधःकरणमात्र ही दिखायी दे रहा है । इसलिये कहा भी गया है—

‘चाहे विषय का शब्दत उपादान हो या न हो, यदि उसका स्वरूप अधःकृत है अर्थात् छिपा-छिपाया प्रतीत हो रहा है तो यही उसका ‘निगरण’ है ।’

‘अतिशयोक्ति’ पाँच प्रकार की हुआ करती है—१ छा, भेद में भी अभेद-वर्णना, २ री, सम्बन्ध में भी असम्बन्ध-वर्णना, ३ री, अभेद में भी भेद-वर्णना, ४ थी, असम्बन्ध में भी सम्बन्ध-वर्णना और ५ वीं, कार्य कारण भाव-नियम की विपर्यय-वर्णना ।

यहाँ कारिका में ‘तद्विपर्ययौ’ का अभिप्राय भेद में अभेद-वर्णन और सम्बन्ध में असम्बन्ध-वर्णन के विपरीत अभेद में भेद और असम्बन्ध में सम्बन्ध-वर्णन का अभिप्राय है और ‘सा’ पद से ‘अतिशयोक्ति’ का निर्देश किया गया है ।

इन अतिशयोक्ति-भेदों का उदाहरण दिया जा रहा है । पहली—अर्थात् भेद में अभेद वर्णनारूप अतिशयोक्ति का यह स्वरचित उदाहरण देखिये—

‘कथमुपरि कलापिन’ कलापो विलसति तस्य तल्लक्ष्मीन्दुलण्डम् ।  
कुपलययुगल तसो विलोसं तिलकुमुम तदधः प्रयासमस्मात् ॥’

अत्र कान्ताफेरापारावेमयूरकलापादिभिरभेदेमाध्यवसाय ।

यथा वा—‘विरलेपदुःखादिव बद्धमीनम्’ । अत्र चेतनगतमीनित्यमन्यत्, अथे  
तनगत चाम्यदिति द्वयोर्भेदेऽप्यभेदः ।

एवम्—

‘सहाधरदत्तेनास्या जीवन रागभाकिप्रव’ ।

अत्राधरस्य रागे लौहित्यम्, प्रियस्य राग प्रेम, द्वयोरभेदः ।

अभेदे भेदो यथा—

‘अन्यदेवाङ्गलावप्यमन्या’ सौरभमम्पदः ।

तस्याः पद्मपलाराद्याः सरसत्वमस्तीकिकम् ॥’

सम्पद्येऽसम्पद्यो यथा—

‘अस्याः सर्गापिधौ प्रजापतिरमूर्कपन्ध्रो नु अन्तिमव’

गृह्णरैकरमः स्वयं नु मयमो मासो नु पुःपाकरः ।

‘कैसा आकर्ष है । ऊपर मयूर-कलाप है नीचे बहमी का चन्द्रमा विराजमान है  
उसके बीच दो चन्द्रक नीलकमल झलक रहा है, उनका बीच ठिक का फूल दिखाने  
दे रहा है और तब चित्रम ( मृगे ) का सीम्बर्च भितर रहा है ।

यहाँ यह स्पष्ट है कि कामिनी के कक्षपात-भाकलक-नेत्र-नासिका और अधरोष्ठ का  
मयूरकलाप बहमीचन्द्र नीलकमल, तिलकुप्य और चित्रम से भेद होने पर भी अभेद-  
व्यवसाय विराजमान है जिसमें अतिशयोक्ति अकटार झलक रहा है ।

उसी प्रकार पूर्वोद्धृत विरलेपदुःखादिव बद्धमीनम् आदि में भी, भेद में  
अभेदक्या अतिशयोक्ति स्पष्ट है क्योंकि वहाँ भी चेतन के समस्त ‘मीन’ ( जाली के  
रोकने ) और अचेतन के समस्त ‘मीन’ ( मिश्रणता ) में भेद होने पर भी अभेद  
अथवा तादृश्य का ही व्यवसाय दिखायी दे रहा है । इसी भाँति इस सृष्टि अर्थात्—

‘इस सुन्दरी का जीवनकाल ऐसा रहा कि इसका अधरोष्ठ क साव-साध इसका  
मियतम भी रागमय हो गया ।

में भी, भेद में अभेद के व्यवसाय में अतिशयोक्ति की ही कपरेका दिखायी  
दे रही है क्योंकि अधर और मियतम का ‘राम’ में भेद होने पर भी—अधर का ‘राम’  
उसकी कठिमा है और मियतम का राम है प्रेम—अभेद का ही वर्णन किया गया है ।

दूसरी अतिशयोक्ति अर्थात् अभेद में भेदक्या अतिशयोक्ति का उदाहरण यह रहा—  
‘इस कमलजबनी कमिनी के आँखों का कावण्य भी कुछ और, मुखसीरम भी कुछ  
और तथा उसकी सरसता भी कुछ और ही है ।’

[ यहाँ यह स्पष्ट है कि वर्ण्य रमणी के कावण्य आदि चारीमुख्य ही कावण्य  
आदि हैं किन्तु कवि ने इनमें असाधारणता की कल्पना कर भेद का व्यवसाय  
कर किया है । ]

तीसरी ‘अतिशयोक्ति’ अर्थात् स्रग्गन्ध में असम्भवकल्प अतिशयोक्ति का उदाहरण  
( किम्बोर्बधीन की ) यह सृष्टि है—

‘क्या इस उर्बसी की सृष्टि का प्रजापति कान्ति का अवधरत ज्योत चन्द्रमा है ?

वेदाभ्यासजडः कथं नु विषयव्यावृत्तकौतूहलो

निर्मातु प्रभवेन्मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः ॥

अत्र पुराणप्रजापतिनिर्माणसम्बन्धेऽप्यसम्बन्धः ।

असम्बन्धे सम्बन्धो यथा—

‘यदि स्यान्मण्डले सक्तमिन्दोरिन्दीवरद्वयम् ।

तदोपसीयते तस्याऽवदनं चारुलोचनम् ॥’

अत्र यद्यर्थबलादाहृतेन सम्बन्धेन सम्भावनया सम्बन्धः । कार्यकारणयोः पौर्वापर्यविपर्ययश्च द्विधा भवति । कारणात्प्रथमं कार्यस्य भावे द्वयोः समकालत्वे च ।

क्रमेण यथा—

‘प्रागेव हरिणाक्षीणां चित्तमुत्कलिकाकुलम् ।

पश्चादुद्भिन्नबकुलरसालमुकुलश्रियः ॥’

‘सममेव समाक्रान्तं द्वयं द्विरदगामिना ।

तेन सिंहासनपिड्यमण्डलं च महीक्षिताम् ॥’

या प्रेम का देवता मदन है? या फूलों का आकर वसन्त है? भला वेदाभ्यास से जडबुद्धि किवा विषयों से विरत हृदयवाले ब्रह्मा का क्या सामर्थ्य जो ऐसे मनोहर रूप का निर्माण कर सके !

यहाँ ‘सम्बन्ध में असम्बन्ध’ इसलिये स्पष्ट है क्योंकि उर्वशी की सृष्टि में जगत्त्रष्टा ब्रह्मा के सामर्थ्य का सम्बन्ध होने पर भी, ‘वेदाभ्यासजडत्व’ आदि के कारण, असम्बन्ध का ही निरूपण किया गया है ।

चौथी ‘अतिशयोक्ति’ अर्थात् ‘असम्बन्ध में सम्बन्ध’रूप अतिशयोक्ति का उदाहरण यह है—

‘यदि चन्द्रमा के मण्डल में दो नीलकमल जुड़े हों तब कहीं संभव है कि इस रमणी के मनोरम नयनों वाले मुख की उपमा मिल जाये ।’

यहाँ ‘असम्बन्ध में सम्बन्ध’ इसलिये है क्योंकि ‘यदि’ पद के अर्थ-सामर्थ्य से, चन्द्रमण्डल के साथ नीलकमल के आरोपित सम्बन्ध की समावना स्पष्ट है ।

कार्य-कारणभाव के पौर्वापर्य के विपर्यय में होनेवाली ‘अतिशयोक्ति’ दो प्रकार की हुआ करती है क्योंकि कार्य और कारण के पूर्वापरभाव का विपर्यय दो प्रकार का है—पहला, कारण के पहले कार्य का प्रादुर्भावरूप और दूसरा, कार्य और कारण का एककालिक अवस्थानरूप । जैसे कि ‘कारण के पहले कार्य के प्रादुर्भावरूप’ कार्यकारणभाव-विपर्यय में होनेवाली ‘अतिशयोक्ति’ अर्थात् चौथी ‘अतिशयोक्ति’ का उदाहरण—

‘भृगुनयनी सुन्दरिओं का हृदय प्रेममिलन की उत्कण्ठा से पहले भर उठा और बाद में ऐसा हुआ कि मौलश्री और आम की मञ्जरिओं में शोभा आ-विराजी ।’

इसी प्रकार कार्य और कारण के समकालिक अवस्थानरूप कार्यकारणभाव-विपर्यय में होनेवाली पाँचवीं ‘अतिशयोक्ति’ का उदाहरण—

‘गजगामी महाराज रघु ने पिता के राजसिंहासन और समस्त राजमण्डल पर एक साथ ही अपना अधिकार जमा लिया ( रघुवंश ) ।’

इह केचिदाहुः—‘केरापाशादिगणो लौकिकोऽतिरागोऽलौकिकत्वेनाभ्यवसीयते । केरापाशादीनां कक्षापादिभिरभ्यवसाय ‘अभ्यवेवाङ्गलावण्यम्’ इत्यादि प्रकारेणभ्यातिर्लक्षणस्य’ इति ।

धम्म, वत्रापि अन्यदङ्गलावण्यमन्यत्वेनाभ्यवसीयते । तथाहि ‘अभ्यवेव’ इति स्थाने ‘अभ्यविष’ इति पाठेऽभ्यवसायस्यासाध्यत्वमेवेत्युत्प्रेक्षाक्रीयते । ‘प्रागेव हरिजाक्षीणाम्—’ इत्यत्र बहुलाविभीणा प्रथमभावितापि पञ्चाङ्गावित्ते

[यहाँ यह स्पष्ट है कि प्रागेव हरिजाक्षीणाम् आदि सुक्ति में कस्मिंश्चित् क इव में उक्तव्यक्य कर्म का प्रादुर्भाव पहले वर्णित है और उसके कारणक्य से अवस्थित बहुल और आह-संज्ञिणी का विकास बाद में वर्णित है । इस प्रकार यहाँ वस्तुता परभाविणी उत्कण्ठ के साथ कविकल्पना से पूर्वभाविणी उत्कण्ठ के सम्बन्ध में कर्मकारणभाव की विपर्ययक्य ‘अतिशयोक्ति का स्वरूप स्पष्ट है । इसी प्रकार सममेव समाम्भस्तम् आदि सुक्ति में वैयक्तिक सिंहासन पर अधिकारक्य ‘कारण’ और राजमण्डलकसीकरणक्य ‘कार्य’ की एककाङ्क्षिता के वर्णन में, कर्म-कारणभाव का विपर्यय स्पष्ट है जिसमें कार्य और कारण के लौकिक पूर्वापरभाव का, उनकी कल्पविक एककाङ्क्षिता के साथ अभ्यवसाय भी स्पष्ट है ।]

यहाँ कतिपय कव्याचार्यों (जैसे कि अकहमसर्वस्वरूप कल्पक आदि) का यह कहना है कि—‘कथमुपरि ककाविना’ आदि सुक्ति में जो ‘अतिशयोक्ति’ है उसमें वर्ण रमणी के केवलाद्य आदि से सच ब्र वास्तविक सौन्दर्य (कर्म धर्म) का ही कविसमर्पित सौन्दर्य (कर्म धर्म) के साथ अभ्यवसाय-अभेद में भेद का आध्यात्मिकत्व किया हुआ है न कि उसके केवलाद्य आदि (कर्म धर्म) का मयूरकक्षापादि (कर्म धर्म) के रूप में कोई अभ्यवसाय विवक्षित है क्योंकि यदि ऐसा न भाषा जाय तब ‘अभ्यवेवाङ्गलावण्यम्’ आदि सुक्ति में (यहाँ सामान्य काव्यक्य धर्म में असामान्य काव्यक्य धर्म अभ्यवसित प्रतीत हो रहा है) अभेद में भेदक्य ‘अतिशयोक्ति’ का कथम अभ्यास हो जायता (क्योंकि जब कि एक धर्म का दूसरे धर्म के रूप में ‘अभ्यवसाय’ ही अतिशयोक्ति हो तो एक धर्म का दूसरे धर्म के रूप में अभ्यवसाय अतिशयोक्ति न हो सकेगी) । किन्तु यह सब कथन पुष्टिबुद्ध नहीं क्योंकि ‘अभ्यवेवाङ्गलावण्यम्’ आदि में जो अभेद में भेद के अभ्यवसाय का रूप है उसमें यह स्पष्ट है कि ‘अभ्यवारीसुकम’ (अभिज्ञ) काव्य ही ‘अभ्यववारीसुकम’ (मित्र जलाधारण, केवल प्रकृत नायिकावर्ती) काव्य के रूप में अभ्यवसित है । क्यों ? इसलिये कि यदि ‘अभ्यवेव’ के बड़े यहाँ ‘अभ्यविष’ कर दिया जाय तो यह, अभेद में भेद का अभ्यवसाय (सिद्ध न होकर) साध्य बन जाता है और यहाँ अतिशयोक्ति न होकर ‘उत्प्रेक्षा’ होवे समीचीन है (इसलिये यह स्पष्ट है कि ‘अभ्यवेव’ के प्रयोग में अभेद में भेद के अभ्यवसाय के सिद्ध होने के कारण, ‘अभ्यवेवाङ्गलावण्यम्’ आदि सुक्ति में ‘अतिशयोक्ति’ कथम सर्वथा प्रवृत्त हो रहा है) । यही बात ‘प्रागेव हरिजाक्षीणाम्’ आदि सुक्ति में कर्मकारणभाव के विपर्ययक्य ‘अतिशयोक्ति’ में भी दिखायी देती है क्योंकि यहाँ भी बहुलशोभा आदि की ‘पूर्वभाविता’ (रमणी-इव में रत्नरेख के पहले खिलनेवाली मीकमी आदि की सुन्दरता) ही उसकी ‘पश्चात्ताविता’ (रमणी-इव में रत्नरेख के बाद में खिलने वाली मीकमी आदि की सुन्दरता) के रूप में

नाध्यवसिता, अत एवात्रापीवशब्दयोगे उत्प्रेक्षा, एवमन्यत्र ।

अध्यवसित दिखायी दे रही है और वस्तुतः इसीलिये यहाँ भी 'एव' के बदले 'इव' कर देने से, अध्यवसाय की साध्यता में 'उत्प्रेक्षा' दिखायी पड़ने लगती है ( जिससे यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि 'एव' के रहने से, अध्यवसाय की सिद्धता के कारण, यहाँ अतिशयोक्ति का लक्षण सर्वथा लागू हो रहा है ) । ( इसी प्रकार सम्बन्ध में असम्बन्ध और असम्बन्ध में सम्बन्धरूप की अतिशयोक्तियों में भी अध्यवसाय की सिद्धता स्पष्ट है जिसके अभाव में अर्थात् अध्यवसाय की साध्यता में 'उत्प्रेक्षा' की रूपरेखा सिद्ध हो जाती है । निष्कर्ष यही है कि 'अलङ्कारसर्वस्व' आदि की यह मान्यता कि 'दो धर्मों—एक वास्तविक और दूसरे कविसमर्पित—के ही अध्यवसाय में 'अतिशयोक्ति' सम्भव है, न कि दो धर्मों के अध्यवसाय में' ठीक नहीं जँचती ) ।

विमर्श—( क ) एक धर्म का दूसरे धर्म के रूप में 'अध्यवसाय' अतिशयोक्ति है या एक धर्मों का दूसरे धर्मों के रूप में 'अध्यवसाय'—इस समस्या के सम्बन्ध में अलङ्कारसर्वस्वकार का मत यह है—

‘एषु पञ्चसु भेदेषु भेदेऽभेदादिवचनं लोकातिक्रान्तगोचरम् । अत्र चातिशयाख्य यत् फल प्रयोजकत्वान्निमित्तं तत्राऽभेदाध्यवसायः । तथा हि—‘कमलमनम्भसि’ इत्यादौ वदनादीनां कमलाद्यैर्भेदेऽपि वास्तवं सौन्दर्यं कविसमर्पितेन सौन्दर्येणाभेदेनाध्यवसितं, भेदेऽभेदवचनस्य निमित्तम् । तत्र च सिद्धोऽध्यवसाय इत्यध्यवसितप्राधान्यम् । न तु वदनादीनां कमलादिभिरभेदाध्यवसायो योजनीयः । अभेदे भेद इत्यादिषु प्रकारेष्वप्यासे । तत्र हि ‘अण लहहत्तणअ’ इत्यादौ सातिशयं लहहत्वं निमित्तभूतमभेदेनाध्यवसितम् । एवमन्यत्रापि ज्ञेयम् ।’ ( अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ ८८ )

अर्थात् 'अतिशयोक्ति' में 'कमल' आदि धर्मों के रूप में 'वदन' आदि धर्मों का अध्यवसाय विवक्षित नहीं अपितु कविसमर्पित सौन्दर्य के रूप से वास्तव सौन्दर्य का अध्यवसाय अपेक्षित है । किन्तु 'अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी' कार ने 'धर्म' और 'धर्मों' दोनों के अध्यवसाय में अतिशयोक्ति का औचित्य माना है—

‘यावता ह्यध्यवसितप्राधान्यमस्या लक्षणम् । तच्च धर्मिणामस्तु धर्माणां वेति को विशेषो येनाऽव्याप्तिरस्यात् । प्रत्युत धर्मयोरभेदाध्यवसायाभ्युपगमे उपामादीनामप्यतिशयोक्तिप्रसङ्गः स्यात् । तत्रापि धर्माणामेव भेदेऽभेदविवक्षणात् ।’

( अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी पृष्ठ ८८ )

( ख ) 'अतिशयोक्ति' को अलङ्कारों का 'परायण' अथवा 'आश्रय' कहा गया है । वेदों की ऋचाओं में भी इस अलङ्कारसौन्दर्य का दर्शन होता है । यह ऋचा—

‘द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिपस्वजाते ।

तयोरन्यः पिप्पलु स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥’

अतिशय के चमत्कार से पूर्ण हैं । इसी प्रकार 'स्मृतियों' में 'अतिशयोक्ति' पायी जाती है । भगवद्गीता स्मृति की यह सूक्ति—

‘या निशा सर्वभूतानां तस्या जागर्ति संयमी ।

यस्या जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥’

अतिशयोक्ति का एक सुन्दर उदाहरण है ।

( १७—तुल्ययोगिता )

पदार्थानां प्रस्तुतानामन्यथा वा यदा भवत् ॥ ४७ ॥

एकधर्माभिसम्बन्ध स्यात्तदा तुल्ययोगिता ।

अन्येषामप्रस्तुतानाम् । धर्मो गुणक्रियारूप ।

उदाहरणम्—

( जो प्रस्तुत पदार्थों में एक क्रियात्मक धर्म के योग में 'तुल्ययोगिता' )

'अनुक्षेपनानि कुसुमान्यवशा'

कृतमन्मथ' पठिषु दीपवशा ।

समयेन तेन मुषिरं शक्ति

प्रतिबोधितस्मरमबोधिपथ ॥'

अत्र सन्ध्यावर्णनस्य प्रस्तुतत्वात्प्रस्तुतानामनुक्षेपनादीनामेकबोधनक्रिया-  
भिसम्बन्ध ।

( जो अप्रस्तुत पदार्थों में एक गुणरूप धर्म के योग में 'तुल्ययोगिता'

'उदङ्गमार्गं द्रष्टु' कस्य चित्ते न भासते ।

मातृतीक्ष्णशृङ्गोत्प्लावकीनां कठोरता ॥'

इत्यत्र मातृत्यादीनामप्रस्तुतानां कठोरतारूपैकगुणसम्बन्ध ।

उदाहरण—'तुल्ययोगिता' वह अकस्मात् है जिसे केवल प्रस्तुत ( प्रकरमात्र ) पदार्थों  
अथवा अप्रस्तुत पदार्थों का एक धर्म से अभिसम्बन्ध कहा गया है ।पहों करिका में अन्येषाम् का अभिप्राय 'अप्रस्तुत' अथवा 'अप्राकरयिक' पदार्थों  
का अभिप्राय है और 'धर्म' से गुण अथवा क्रियात्मक धर्म अभिप्रेत है । उदाहरण के किने-  
संख्याक के चन्द्रादि के अङ्गरागों पूर्णों पदियों पर मात्र-रूप करने वाली  
अवकाशों और दीपकों की पठियों का इस प्रकार प्रतिबोधित किया जिसमें बहुत ही  
तक सोचा हुआ काम आता है ।'वहाँ, इस विद्युत्प्राक्कन-सृष्टि में यह स्पष्ट है कि सन्ध्यावर्णन के प्रसङ्ग में, अतः  
ही प्रस्तुत अथवा प्राकरयिक 'अनुक्षेपन' जादि है उन सब में एक ही 'प्रतिबोधन'  
रूप क्रिया सम्बन्ध दिखाई दे रही है ।[ तत्पर्य यह है कि यद्यपि अनुक्षेपन गुण्य, मातृतीक्ष्ण अथवादी और दीपसिद्धां  
के 'अवबोधन' में—स्वरूप-मेव अन्तर्य है क्योंकि अनुक्षेपणों का 'बोध' धर्म का 'स्मरण'  
गुण्य का 'बोध' उनका विकास मातृतीक्ष्ण अथवादी का 'बोध' उनके सिद्धे मात्र बोधने  
की शिक्षा और दीपसिद्धां का 'बोध' उनका प्रत्यक्ष बोध है किन्तु तब ही प्रसङ्ग  
की एकरूपता में क्रियाओं की एकरूपता की कल्पना से इन प्राकरयिक पदार्थों का  
एकक्रियारूप धर्म से सम्बन्ध स्पष्ट है जिसमें 'तुल्ययोगिता' की सोचा शक्य रही है । ]

इसी प्रकार—

'उस सुन्दरी के धर्मों की सुकुमारता के वर्णन से हीन ऐसे लोग हैं जिनके मन में  
यह ध्यात नहीं आता कि मातृतीक्ष्ण के गुण्य चन्द्रमा की कक्षा और चन्द्र की किसकम्  
कठोरता से मरे हैं ।'

पहों 'तुल्ययोगिता' इसलिये स्पष्ट है क्योंकि वर्णन जादिका के प्रसङ्ग में, अतः

एवम्—

‘दानं वित्तादृतं वाचः कीर्त्तिधर्मौ तथायुपः ।

परोपकरणं कायादसारात्सारमाहरेत् ॥’

अत्र दानादीनां कर्मभूतानां सारतारूपैकगुणसम्बन्ध एकाहरणक्रियासम्बन्धः ।

भी मालती आदि अप्रस्तुत पदार्थ उपनिबद्ध है, उन सब में ‘कठोरता’ का गुणरूप धर्म सर्वथा सम्बद्ध प्रतीत हो रहा है ।

इसी प्रकार गुण और क्रिया रूप द्विविध धर्म के एकत्र अभिसम्बन्ध में भी ‘तुल्ययोगिता’ ही हुआ करती है जैसे कि निम्न सूक्ति अर्थात्—

‘बुद्धिमान् लोगों के लिये यह आवश्यक है कि वे धन से दान, वाणी से सत्य, जीवन से यश और धर्म तथा शरीर से परोपकार—इस प्रकार, असार से सार का ग्रहण किया करें ।’

में ही । यहाँ ‘आहरण’ की क्रिया के कर्मरूप से उपनिबद्ध दान, ऋत, कीर्ति, धर्म और परोपकार रूप पदार्थों के साथ ‘सारता’ रूप गुण का सम्बन्ध और साथ ही साथ ‘आहरण’ के क्रियारूप धर्म का भी सम्बन्ध स्पष्ट प्रतीत हो रहा है ।

विमर्श—( क ) साहित्यदर्पणकार ने ‘तुल्ययोगिता’ के निरूपण में यह स्पष्ट नहीं किया कि यहाँ ‘औपम्य’ अभिव्यञ्ज्य रहा करता है या नहीं । ‘अलङ्कारसर्वस्व’कार के अनुसार ‘तुल्ययोगिता’ में औपम्य अथवा उपमानोपमेयभाव की अभिव्यञ्जना आवश्यक है—

‘औपम्यस्य गम्यत्वे पदार्थगतत्वेन प्रस्तुतानामप्रस्तुतानां वा समानधर्माभिसम्बन्धे तुल्ययोगिता । इवाद्यप्रयोगे ह्यौपम्यस्य गम्यत्वम् ।’ ( अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ ८९ )

अर्थात् ‘तुल्ययोगिता’ उन अलङ्कारों में से है जो कि ‘गम्यमानौपम्याश्चय’ हुआ करते हैं अर्थात् उपमानोपमेयभाव की अभिव्यञ्जना किया करते हैं । इस अलङ्कार में प्रस्तुत ( प्राकरणिक ) पदार्थों अथवा अप्रस्तुत ( अप्राकरणिक ) पदार्थों में गुणरूप अथवा क्रियारूप धर्म का योग ‘पदार्थगत’ रूप से प्रतीत हुआ करता है और इसलिये इसे ‘वाक्यार्थगत’ रूप से औपम्य की अभिव्यञ्जना रखने वाली ‘प्रतिवस्तूपमा’ से पृथक् किया जा सकता है ।

( ख ) यद्यपि साहित्यदर्पणकार ने तुल्ययोगिता के भेद-चतुष्टय का निर्देश नहीं किया किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि इसके चारों भेद साहित्यदर्पणकार को मान्य हैं । ‘विमर्शिनी’कार आचार्य जयरथ ने ‘तुल्ययोगिता’ के चार भेदों का निर्देश किया है—

‘अनेनैव चास्या प्रकृतानामप्रकृतानां च गुणक्रियात्मकधर्मयोगाद् द्वैविध्येन चतुष्प्रकारस्त्वमप्युक्तम्’ ( अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी—पृष्ठ ९० ) ।

( ग ) ‘तुल्ययोगिता’ की व्युत्पत्ति यह है—

‘तुल्यधर्मेण योगो ( सम्बन्धो ) जातोऽस्यामिति अन्वर्थनामा तुल्ययोगिता’ ( एकावली, पृष्ठ २३९ ) । इस व्युत्पत्ति से ही ‘तुल्ययोगिता’ का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है ।

( घ ) ‘औपम्य, की अभिव्यञ्जना में ‘तुल्ययोगिता’ के निदर्शन के लिये ये सूक्तियाँ ध्यान देने योग्य हैं—

( १ ) ‘शम्भोर्यज्ञरश्मिभिः प्रणमतश्चूडामणिखे स्थिता

गङ्गा चन्द्रकला च सर्वजगता वन्द्यत्वमापादिता ।

युक्ताया परतापदावविपदं कन्या पितृणामसौ

दूरीकार्यहिमालया कथमुमापादद्वयी प्राप्यते ॥’

यहाँ पार्वती की पादद्वयी के वणन प्रसङ्ग में, गङ्गा और चन्द्रकलारूप अप्रकृत पदार्थों में



( १५—दीपकाङ्कहार )

अप्रस्तुतप्रस्तुतयोर्दीपक तु निगद्यते ॥ ४८ ॥

अयं फारफमेकं स्यादनेकासु क्रियासु चेत् ।

क्रमेणोदाहरणम्—

‘बलायत्तेपावधुनापि पूर्ववत्  
प्रचाप्यते तेन अगस्त्रिगीपुष्पा ।  
सतीष वोपितप्रकृतिः सुनिश्चला  
पुमासमन्थेति भवान्तरेष्वपि ॥’

अत्र प्रस्तुतायां सुनिश्चलायां प्रकृतेरप्रस्तुतायाश्च वोपित एकानुगमनक्रिया सम्बन्धः ।

‘दूरं समागतवति त्वयि क्षीयनाये  
मित्रा मनोमहारेण तपस्विनी सा ।  
हृदिष्ठति स्वपिति धासगृहं त्वदीय-  
मायाति याति हसति शसिति क्षणेन ॥’

इयं सम । अत्रैकस्या नायिकाया चरयानाघनेकक्रियासम्बन्धा । अत्र च गुणक्रियायोराविमम्बाबसानसङ्गाधेन त्रेविध्यं न लक्षितम्, तयाविधवैविध्यस्य सर्वत्रापि सहस्रवासम्भवात् ।

भाष्यन<sup>१</sup> की क्रिया का सम्बन्ध स्पष्ट है एवं गद्दा और चन्द्रकला में ‘बन्धन’ आदि रूप लौकिक भी दृश्य रहा है ।

अनुवाद—‘दीपक’ वह कंकड़ार है जिसे प्रस्तुत ( प्राकरणिक ) और अप्रस्तुत ( अभाकरणिक ) में एक वर्म का अद्वितीयत्व कहा जाया करता है । साथ ही साथ अनेक क्रियाओं के साथ एक कारण का सम्बन्ध भी ‘दीपक’ ही है ।

‘दीपक’ के क्रमसा उदाहरण ये हैं—

‘महापराक्रमी सिद्धपाक, अपने बक के घमण्ड से जान भी ( इस जन्म में भी ) सत्सार को पीड़ित कर रहा है । टीक ही है क्योंकि सती की कीर्ति मानव-प्रकृति भी जन्म-जन्मांतर में मनुष्य का साथ दिया करती है ।

यहाँ ‘सिद्धपाकवन्’ की इस शक्ति में स्थिर मानव प्रकृति ‘प्रस्तुत’ और ‘प्राकरणिक’ है और सती की ‘अप्रस्तुत’ अथवा ‘अप्राकरणिक’ और इन दोनों में अनुगमन रूप क्रिया का वर्म समान भाव से सम्बन्ध निर्दिष्ट किया हुआ है ।

‘तुम्हारे सती के मित्रत्व के दूर चले जाने पर काम के बाणों से बिड़, वह बेचारी कभी उठती है कभी झेठती है कभी तुम्हारे निवासस्थान पर जाती है कभी तुम्हारे निवासस्थान से कीटनी है कभी हँसती है और कभी-कभी जाह धरा करती है ।’

‘यहाँ, इस स्वरचित शक्ति में एक नायिका का उदयान-शायन आदि अनेक क्रियाओं से संबन्ध वर्तित है ।

प्राचीन आलोचकों ने गुण अथवा क्रिया रूप वर्म के आदि, मध्य और अन्त में उपनिबद्ध किए जाने के कारण ‘दीपक’ का आदि, मध्य किंवा अन्त हीपक के रूप में

तीन प्रकार का मान रखा है। किन्तु यह 'त्रैविध्य' यहाँ अनावश्यक समझा गया है क्योंकि इस प्रकार का वैचित्र्य अन्य अलङ्कारों में भी सम्भव है और सहस्रों प्रकार से सम्भव है ( जिससे केवल 'दीपक' में इसका उल्लेख निरर्थक है ) ।

**विमर्श—**( क ) कतिपय काव्याचार्य, जैसे कि आचार्य उद्भट आदि, 'दीपक' में भी 'औपम्य' की अभिव्यङ्ग्यता आवश्यक मानते हैं। साहित्यदर्पणकार इसके विरुद्ध नहीं किन्तु स्पष्टतया समर्थक भी नहीं प्रतीत होते। 'अनेक क्रियाओं से एक कारक के अभिसन्ध में दीपक की मान्यता इस बात का प्रमाण है कि साहित्यदर्पणकार को यहाँ 'औपम्य' की अभिव्यञ्जना अनिवार्य नहीं प्रतीत हुई ।

( ख ) 'दीपक' पद की निरुक्ति यह है—

'प्राकरणिकाप्राकरणिकयोर्मध्यादेकत्र निर्दिष्ट समानो धर्मः प्रसङ्गेनान्यत्रोपकाराद् दीपनाद् दीपसादृश्येन दीपकाख्यालङ्कारोत्थापकः ।' ( अलङ्कारसर्वस्व पृ ७२ )

अर्थात् 'दीपक' को इसलिये 'दीपक' कहते हैं क्योंकि इसमें प्राकरणिक अथवा अप्राकरणिक के बीच, कहीं भी, एक के साथ, निर्दिष्ट धर्म दूसरे के साथ, उसी प्रकार समवेत हो जाया करता है जिस प्रकार एक स्थान पर रखा दीपक, उस स्थान के साथ-साथ अन्य स्थान को भी प्रकाशित किया करता है ।

रसगङ्गाधरकार ने 'दीपक' का तात्पर्य इस प्रकार बताया है—

प्रकृतानामप्रकृतानाञ्चैकधर्माभिसम्बन्धो दीपकम् । '...प्रकृतार्थमुपात्तो धर्मः प्रसङ्गादप्रकृतमपि दीपयति प्रकाशयति सुन्दरीकरोतीति दीपकम् । यद्वा दीप इव दीपकम्, सञ्जाया कन् । दीपस, दृश्यञ्च-प्रकृताप्रकृतप्रकाशकत्वेन बोध्यम् ।'

( रसगङ्गाधर दीपकप्रकरण )

( ग ) आचार्य भामह की 'दीपक' परिभाषा यह थी—

'आदिमध्यान्तविषयं त्रिधा दीपकमिष्यते । एकस्यैव व्यवस्थत्वादिति तन्निघते त्रिधा ॥ अमूनि कुर्वन्तेऽन्वर्थामस्याख्यामर्थदीपनात् । त्रिभिर्निर्दर्शनञ्चेदं त्रिधा निर्दिश्यते यथा ॥'

( काव्यालङ्कार २ १५, १६ )

जिसे आचार्य उद्भट ने इस प्रकार स्पष्ट किया—

'आदिमध्यान्तविषया प्राधान्येतरयोगिनः । अन्तर्गतोपमा धर्मा यत्र तद्दीपकं विदुः ।'

इन त्रिविध दीपकों में 'अदिदीपक' का उदाहरण यह है—

'श्यामला प्रावृषेण्याभिर्दिशो जीमूतपङ्क्तिभिः । भुवश्च सुकुमारभिर्नवशाद्वलराजिभिः ॥'

यहाँ 'श्यामलता' का धर्म आरम्भ में ही निर्दिष्ट है ।

'मध्यदीपक' के निदर्शन के लिये निम्न सूक्ति पर्याप्त है—

'मालिनीरशुकमृतः स्त्रियोऽलङ्कुरते मधु । हारीतशुकवाचश्च भूधराणामुपत्यका ॥'

यहाँ 'अलङ्कृत' किये जाने का धर्म मध्य में उपात्त है ।

'अन्त्यदीपक' का दृष्टान्त यह है—

'तदानीं स्फीतलावण्यचन्द्रिकाभरनिर्भरः । कान्ताननेन्दुरिन्दुश्च कस्य नानन्दकोऽभवत् ॥'

यहाँ 'आनन्दकत्व' का धर्म अन्त में प्रतिपादित है ।

साहित्यदर्पणकार ने उपर्युक्त 'दीपक'-मान्यता का ही खण्डन किया है जो कि युक्तियुक्त है क्योंकि 'दीपक' की वास्तविक रूपरेखा प्रकृत और अप्रकृत के एकधर्माभिसम्बन्ध में ही बनती है । धर्म का आदि, मध्य और अन्त में निर्देश तो दीपक के सहस्रों बन्ध वैचित्र्यों में से एक वैचित्र्य-मात्र है न कि ————— ।

( १६—प्रतिबन्धरूपमा )

प्रतिबन्धरूपमा सा स्याद्वाक्ययोर्गम्यसाम्ययोः ॥ ४९ ॥

एकाऽपि धर्मः सामान्यो यत्र निर्दिश्यते पृथक् ।

यथा—

'धन्यासि वैदमि ! गुणैरुदारैर्यथा समाकृष्यत नैपधोऽपि ।

इतः स्तुतिः' का ललु यन्मित्राया यद्विधिमप्युत्तरलीकरोति ॥'

अत्र समाकृत्यमुत्तरलीकरणं च क्रियैकैव यौनरुक्स्थनिरासाय मित्रवाचक-  
तया निर्दिष्टम् ।

इदञ्च मालयाऽपि हरयते यथा—

'यिमल एव रविर्बिराव' राशी प्रकृतिशोभन एव हि दर्पण ।

शिबगिरि' शिबहाससहोदर' सहजमुन्दर एव हि सञ्जन ॥'

( १ ) 'तुल्ययोगिता' से 'दीपक' का अर्थ इसलिये रहता है क्योंकि यहाँ 'तुल्ययोगिता' में केवल प्रस्तुत भवता केवल अस्तुतु वस्तुओं में एकसाम्यसम्बन्ध अवस्थित है यहाँ 'दीपक' में प्रस्तुत और अस्तुतु का एकसाम्यसम्बन्ध अवस्थित है । रसज्ञानावरणर 'दीपक' को इतक 'मलहर' न मानकर 'तुल्ययोगिता' का ही एक प्रकार-वैशिष्ट्य मानने के समर्थक है—

'तुल्ययोगिता' दीपकं च पृथग्भावमवदति । धर्मसङ्गच्छत्सिद्ध्याया विनिवृत्तावि-  
शेषात् । विनिवृत्तिर्येककत्वस्वैवाकङ्कारविभागादुत्तरात् । अथ धर्मस्य सङ्गच्छत्तोरविभवेऽपि  
यमिना प्रकृतावाप्रकृतात्मान्वा प्रकृताप्रकृतकत्वच च तुल्ययोगिताया दीपकस्य विशेष इति  
वाच्यम्— "सर्वेषामप्यकङ्काराणां प्रत्येकैककत्वव्यावृत्तकव्यापसेवा" "तरमातुल्ययोगि-  
ताया एव वैशिष्ट्यमुच्यते । प्रकृतानामेव धर्मस्य सङ्गच्छत्तिः, [अप्रकृतानामेव प्रकृता-  
प्रकृतानां चेति ] ( रसज्ञानावर ३९६ ३९७ )अतएव—'प्रतिबन्धरूपमा' वह अकङ्कार है जिसे साधारण की अविव्यञ्जना से भरे दो  
वाक्यांशों में पृथक्-पृथक् शब्दों द्वारा एक साधारण धर्म का निर्देश जाना जाया करता  
है । जैसे कि—हे विद्वन्ममारी ब्रह्मवर्मा ! तू सचमुच ही पाण्डु हो क्योंकि तूही देसी हो जिसने  
'अपने महर्षीय गुणों से महाराज गङ्गा का इतक आकृष्ट कर रखा है । मला, इसने बड़े  
कर चम्रिका की कथा स्तुति कि वह समुद्र का भी अपनी आर बाधल बना दिया  
करती है ।यहाँ ( 'महर्षीवचरित की इस शृति में ) 'प्रतिबन्धरूपमा' शब्द है क्योंकि 'समावर्तेन  
( आकृष्ट करने ) और 'उत्तरलीकरण' ( बाधल बनाने ) की एक रूपराशी दिया है,  
तुल्ययोगिता के विभाजन के लिये भिन्न भिन्न वाक्य साधु द्वारा निर्दिष्ट की गयी है ।प्रतिबन्धरूपमा का 'माता'कप भी वाक्यसाहित्य में दिनाधी पड़ा करता है । इस  
शृति में माता प्रतिबन्धरूपमा हैतिव—'गुरुं स्वमात्र ते ही विमान है अतएव स्वमात्र ते ही विमान है इतक स्वमात्रमा ही  
गुम्हार हुआ करना है कल्याण स्वमात्रमा ही महारैव के अकृष्टमा की प्रति शृति है और  
गङ्गा न गुम्हार भी स्वमात्र ते ही गुम्हार हुआ करने हैं ।

अत्र विमलविशदादिरर्थत एक एव ।  
वैधर्म्येण यथा—

‘चकोर्य एव चतुराश्चन्द्रिकापानकर्मणि ।  
विनावन्तीर्न निपुणाः सुदृशो रतनर्मणि ॥’

( १७—दृष्टान्त )

दृष्टान्तरतु सधर्मस्य वस्तुनः प्रतिविम्बनम् ॥ ५० ॥

सधर्मस्येति प्रतिवस्तूपमाव्यवच्छेदः । अयमपि साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां द्विधा ।  
क्रमेणोदाहरणम्—

‘अविदितगुणापि सत्कविमणितिः कर्णेषु वमति मधुधाराम् ।  
अनधिगतपरिमलापि हि हरति दृश मालतीमाला ॥’

यहाँ भी ‘कथितपदता’ रूप दोष के निवारण के लिये, एक ही ‘स्वच्छता’ का धर्म विमल, विशद आदि आदि भिन्न-भिन्न वाचक पदों द्वारा प्रतिपादित किया हुआ है । जिसमें ‘माला-प्रतिवस्तूपमा’ का स्वरूप स्पष्ट झलक रहा है ।

यह ‘प्रतिवस्तूपमा’ साधर्म्य की भाँति वैधर्म्य में भी हुआ करती है, जैसे कि—  
‘चन्द्रिका के पान में चकोरियाँ ही चतुर हैं । तभी तो अवन्ती की रमणिओं को छोड़ कर और रमणियाँ रतिक्रीड़ा में निपुण नहीं पायी जातीं ।’

[ यहाँ ‘चतुरता’ और ‘निपुणता’ का एकरूप ही धर्म, पृथक्-पृथक् पदों द्वारा निर्दिष्ट है और ‘चकोरियों’ तथा ‘अवन्ती की नारियों’ में साम्य भी अभिव्यक्त है । ‘वैधर्म्य’ में प्रतिवस्तूपमा यहाँ इसलिये है क्योंकि आपातत ‘निपुण्य’, निवेधार्थक नञ् के योग के, ‘चातुर्य’ से विलक्षण सा लग रहा है । ]

विमर्श—‘प्रतिवस्तूपमा’ की निरुक्ति यह है—

प्रतिवस्तुप्रतिवाक्यार्थमुपमा समानधर्मोऽस्यामिति ( प्रतिवस्तूपमा ) ।

तात्पर्य यह है कि ‘वस्तु’ शब्द वाक्यार्थ का अभिप्राय रखता है और इस प्रकार प्रत्येक वाक्यार्थ में समान धर्म के अभिसवन्ध के कारण ‘प्रतिवस्तूपमा’ की रूपरेखा निष्पन्न होती है । रसगद्गाधरकार ने इसीलिये ‘प्रतिवस्तूपमा’ का यह लक्षण किया है—

‘वस्तुप्रतिवस्तुभावापन्नसाधारणधर्मकवाक्यार्थयोरार्थसौपर्यं प्रतिवस्तूपमा ।’

अनुवाद—‘दृष्टान्त’ वह अलङ्कार है जिसे समान धर्म से युक्त उपमान और उपमेय रूप वाक्यार्थों ( अथवा प्रकृत और अप्रकृतरूप धर्मिद्वय में ) विम्ब-प्रतिविम्बभाव की झलक कहा करते हैं ।

यहाँ कारिका में ‘सधर्मस्य’ पद का उपादान इसलिये है जिसमें ‘प्रतिवस्तूपमा’ से ‘दृष्टान्त’ को पृथक् किया जा सके ( ‘प्रतिवस्तूपमा’ में साधारण धर्म में विम्बप्रतिविम्बभाव अपेक्षित नहीं अपितु धर्मिद्वय में विम्बप्रतिविम्बभाव अपेक्षित हुआ करता है और ‘दृष्टान्त’ में, धर्मसहित धर्मिद्वय में प्रतिविम्बन अथवा विम्बप्रतिविम्बभाव की झलक आवश्यक है ) ।

‘दृष्टान्त’ भी, साधर्म्य और वैधर्म्य के कारण, दो प्रकार का हुआ करता है । जैसे कि ‘साधर्म्य’ में दृष्टान्त—

‘किसी अच्छे कवि की सूक्ति, चाहे उसके गुण की परख हुई हो या न हुई हो, सुनने  
वा और यह ठीक भी है क्योंकि मालती की

‘त्वयि दृष्टे कुक्कुत्तस्या’ संसते मदनव्यथा ।

दृष्टानुवयमाजीन्वी ग्लानिं कुमुदसहसे ॥’

‘वसन्तल्लेखैकनिबद्धभाव परासु कान्तासु मन’ कुतो न’ ।

प्रफुल्लमल्लीमधुलम्पट’ किं मधुप्रव’ काव्यरूति वल्लिमन्वाम् ॥’

इहं पद्यं भव । अत्र ‘मना कुतो न’ इत्यस्य ‘काव्यरूति वल्लिमन्वाम्’ इत्यस्य  
पैक्यरूपतयैव पर्यवसानाध्यातिबस्तूपमैव ।

इह तु, कर्णे मधुधारावसनस्य नेत्रहरणस्य च सामान्यमेव, न त्वैक्यरूपम् ।  
अत्र सामान्यसमयकवाक्ययोः सामान्यविरोपभावोऽर्थास्तरन्वासा’, प्रतिबस्तूपमा-  
दृष्टान्तयोस्तु न तथेति मेव’ ।

भाषा जाहे उसकी गन्ध पहचान में जाये या न जाये ऐक्ये बाकों की दृष्टि को अपनी  
ओर बरबस जीव ही किया करती है ।

इसी प्रकार वैचर्म्य में दृष्टान्त—

‘अब तुम विद्यापी पढ़ जाते हो तब तो उस युगवचनी की मदनपीठा दूर भगा  
जाती है क्योंकि कुमुदावली तभी तक हीन-हीन विद्यापी पढ़ा करती है जब तक चन्द्रमा  
उदित न हुआ हो ।

अबवा निम्न स्वरचित-श्रुति में ‘दृष्टान्त ( ! )

‘वसन्तल्लेखा में कहा हुआ हमारा मन अन्य सुन्दरियों में क्योंकर रमना चाहे ?  
भला किसी चमेकी के मधुरस का कम्पर भीरा क्या किसी अन्य कृता को चाहा करता है ?’

यहाँ ‘मना कुतो न’ (हमारा मन क्योंकर कहे) और ‘काव्यरूति वल्लिमन्वाम्’ ( दूसरी  
कृता को चाहे ) ये दोनों वाक्य ऐसे हैं जो कि अन्तर्गतोक्त्या एक ही अभिप्राय रखते हैं  
और ‘प्रतिबस्तूपमा’ की कुरेखा बना रहे हैं । इसलिये यहाँ ‘दृष्टान्त नहीं अपितु ‘प्रति-  
बस्तूपमा’ ही मानी जा सकती है । किन्तु ‘अविहितगुणानि अपि’ श्रुति में ‘कानों में  
मधुधारा की वर्षा’ और ‘नेत्रों के आच्छाद करने के चर्मों में, एककृपता के बड़े, समान-  
कृपता ही प्रतीत होती है जिससे यहाँ ‘दृष्टान्त’ के ही स्वक्य का दर्शन हो सकता है ।

यहाँ यह ध्यान रखना आवश्यक है कि ‘प्रतिबस्तूपमा’ और ‘दृष्टान्त’ में जो प्रकृत  
और अप्रकृत-विषयक सामर्थ्य’ और ‘समर्थक’ वाक्यान्वेषण करते हैं उनमें सामान्य  
विरोपभाव नहीं ( अपितु किम्बप्रतिबिम्बभाव ) हुआ करता है । सामान्यविरोपभाव तो  
‘अर्थान्तरन्वासा’ में रहा करता है यहाँ ‘समर्थ्य’ और ‘समर्थक’ रूप से अवस्थित हो  
वाक्यान्वेषण में सामान्य और विरोप को सम्बन्ध के माते बिना काम नहीं चकता ।

विमर्श—(क) ‘दृष्टान्त’ और ‘प्रतिबस्तूपमा’ के वारत्तरिक श्रेय के सम्बन्ध में रसज्ञा  
परस्पर की वह दृष्टि स्पष्ट देखे योग्य है—

‘अस्य चाकङ्क्षारस्य ( दृष्टान्तस्य ) प्रतिबस्तूपमया येष्वमेतदेव वदन्त्या यमो न  
प्रतिबिम्बितः, किन्तु दृष्टान्तसामान्यात्मनैव स्थितः । इह तु प्रतिबिम्बितः ।

( रसयज्ञात् : दृष्टान्तप्रकरण )

अर्थात् ‘दृष्टान्त’ और ‘प्रतिबस्तूपमा’ परस्पर मित्र-मित्र न अकङ्क्षार है ‘दृष्टान्त’ में तो दोनों वाक्यों  
के यमो न विभ-प्रतिबिम्बभाव आवश्यक है किन्तु ‘प्रतिबस्तूपमा’ के लिये दोनों वाक्यों में  
निम्न यमो द्वारा प्रतिपादित एक साधारण यम की ही अपेक्षा है ।

( १८—निदर्शनालङ्कार )

सम्भवन् वस्तुसम्बन्धोऽसम्भवन् वाऽपि कुत्रचित् ।

यत्र विम्बानुविम्बत्वं बोधयेत्सा निदर्शना ॥ ५१ ॥

तत्र सम्भवद्वस्तुसम्बन्धनिदर्शना यथा—

‘कोऽत्र भूमिवलये जनान् मुधा तापयन् सुचिरमेति सम्पदम् ।

वेद्यन्निति दिनेन भानुमानाससाद् चरमाचलं ततः ॥’

अत्र रवेरीदृशार्थवेदनक्रियायां वक्तृत्वेनान्वयः सम्भवत्येव । ईदृशार्थज्ञापनसमर्थचरमाचलप्राप्तिरूपधर्मवत्त्वात् । स च रवेरस्ताचलगमनस्य परितापिनां

आचार्य जयरथ के अनुसार ‘दृष्टान्त’ और ‘प्रतिवस्तूपमा’ के भेद का अभिप्राय यह भी है—

‘यतोऽस्याः प्रकृतार्थस्य विशेषाभिधित्तया सादृशार्थमप्रकृतमर्थान्तरमुपादीयते । अत एव चात्र प्रकृताप्रकृतयोरुपमानोपमेयभावः । दृष्टान्ते पुनरेतादृशो वृत्तान्तोऽन्यत्रापि स्थित इति प्रकृतस्यार्थस्याविस्पष्टा प्रतीतिर्मा भूदिति प्रतीतिविशदीकरणार्थमर्थान्तरमुपादीयते । ( अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी, पृष्ठ २५ )

अर्थात् ‘प्रतिवस्तूपमा’ में अप्रकृत का उपादान, प्रकृत के सम्बन्ध में किसी विशेषता के वर्णन की इच्छा से किया जाया करता है किन्तु ‘दृष्टान्त’ में अप्रकृत का उपादान इसलिये हुआ करता है जिसमें प्रकृत की विशद प्रतीति हुआ करे ।

( ख ) पण्डितराज जगन्नाथ के अनुसार ‘दृष्टान्त’ और ‘प्रतिवस्तूपमा’ को भिन्न भिन्न अलङ्कार मानना अनावश्यक है—

‘यदि तु न तेषां दाक्षिण्य तदैकस्यैवालङ्कारस्य द्वौ भेदौ—प्रतिवस्तूपमा दृष्टान्तश्च । यच्चानयो किञ्चिद्वैलक्षण्य तत्प्रभेदताया एव साधकम्, नालङ्कारताया इति सुवचम् ।’

( रसगङ्गाधर दृष्टान्तप्रकरण )

अर्थात् यदि प्राचीन आलंकारिकों के अलंकार-विभाजन में कोई विशेष चातुर्य नहीं माना जाय तब तो एक अलंकार के ही विभागरूप में ‘प्रतिवस्तूपमा’ और ‘दृष्टान्त’ देखे जा सकते हैं न कि भिन्न भिन्न अलंकारों के रूप में ।

अनुवाद—‘निदर्शना’ वह अलङ्कार है जिसे सम्भव अथवा असम्भव ( उपपन्न अथवा अनुपपन्न ) ‘वस्तुसम्बन्ध’ अर्थात् दो वाक्यार्थों के परस्परान्वय में विम्बप्रतिविम्बभाव ( सादृश्य ) की झलक कहा करते हैं ।

उपपन्न अथवा अवाधित वाक्यार्थों के परस्परान्वय में, विम्बप्रतिविम्बभाव की झलक में जो ‘निदर्शना’ होती है उसे ‘सम्भवद्वस्तुसम्बन्धनिदर्शना’ कहा करते हैं । इसका उदाहरण यह है—

‘इस ससार में ऐसा कौन है जो व्यर्थ के लिये लोगों को पीड़ा पहुँचावे और सम्पदाओं का उपभोग करता रहे । वस्तुतः इसी बात को सूचित करते हुए दिन भर के बाद ही सूर्य अस्ताचल की ओर चला जाया करता है ।’

यहाँ ‘वस्तुसम्बन्ध’ की ‘सम्मान्यता’ अथवा उपपत्ति स्पष्ट है । कारण यह है कि यहाँ इस प्रकार के आशय अर्थात् ‘इस ससार में दूसरों को दुःख देने वाले बहुत दिन तक सुखी नहीं रह सकते’ आदि के सूचित करने ( वेदन ) में ‘सूर्य’ को जो वक्ता रूप से वर्णित किया गया है उसमें कोई अनुपपत्ति नहीं दिखाई देती क्योंकि जब कि ‘सूर्य’ के लिये

विपत्प्राप्तेऽपि बिम्बप्रतिबिम्बभावं बोधयति । असम्भवस्तुतिवर्णना त्वेकवाक्या-  
नेकवाक्यगोचरेण विविधा ।

सत्रैकवाक्यगोचरा यथा—

‘कथयति कुवलयमालासलिलं कुटिलं कटाक्षविशेषं ।

अथरं किसलयलीलामाननमस्या कक्षानिवेशिलासम् ॥’

अत्रान्यस्य धर्मं कथमन्यो बहत्विचि कटाक्षविशेषादीनां कुवलयमालादि  
गतलक्षितवादीनां कक्षनमसम्भवात्तल्लक्षितवाक्यसदृश लक्षितवाकिकमवगमयत्कटाक्ष-  
विशेषादेः कुवलयमालादेः बिम्बप्रतिबिम्बभावं बोधयति ।

यथा वा—

‘प्रयागे तव राजेन्द्र ! मुखे वैरिदृगीदृशाम् ।

राजहंसगतिं पश्यामाननेन शशिपुतिं ॥’

‘अस्तावक की ओर चक पक्षे’ के सामर्थ्य का निर्देश किया हुआ है तब तो इस प्रकार  
के अतिशाय के चित्र में भी उस (सूर्य) का सामर्थ्य सुखिबुख ही है । यहाँ इस प्रकार  
सूर्य का वस्तुत्व-रूप से वह सम्बन्ध अन्तर्गतता, ‘सूर्य के अस्तावक की ओर चके  
जाने’ और जल्पाचारी कीर्तियों के विपक्ष में पक्षे—‘इस दोनों वाक्यार्थों में बिम्बप्रति  
बिम्बभाव ( सादृश्य ) की स्थापना करता प्रतीत हो रहा है ।

इसके अतिरिक्त ऐसी ‘निदर्शना’ को कि ऐसे वाक्यार्थों के परस्परत्व में  
होनेवाले ‘बिम्बप्रतिबिम्बभाव’ में रहा करती है जो अनुपपन्न अवकाश विहित  
प्रतीत हुआ करते हैं, वह है जिसे ‘असंभववस्तुसम्बन्धनिदर्शना’ कहा करते हैं ।  
‘असंभववस्तुसंयन्त्रनिदर्शना’ भी दो प्रकार की है—पहली एकवाक्यगोचरा ( एक  
वाक्य में ही होनेवाली ) और दूसरी अनेकवाक्यगोचरा ( एक से अधिक वाक्यों में होने  
वाली ) । इसके ‘एकवाक्यगोचरा’ रूप का निदर्शन यह सृष्टि है—

‘इस सुन्दरी के कुटिल कटाक्ष लीककर्मों की सत्ता के विकास अपनाये हुए हैं,  
इसका अवरोह ऐसा है जो कोमल वक्र की लीला बारन किया करता है और इसका  
मुख तो चन्द्रमा के विक्रमविकास से पूर्व है ही ।

यहाँ ‘वस्तुसम्बन्ध’ की अनुपपत्ति इसीसे स्पष्ट है कि यहाँ वह प्रतिपादित किया  
हुआ है कि ‘एक का धर्म दूसरे में संक्रान्त हो रहा है । जब कि ‘एक का धर्म दूसरे में  
नहीं संक्रान्त हो सकता’ तब वह निमित्त है कि ‘कटाक्षविशेष’ आदि कुवलयमाला  
आदि के धर्मरूप से अवस्थित ‘विकास आदि का कारण नहीं कर सकते । इसलिये  
यहाँ जो तात्पर्य प्रकाशित हो रहा है वह यह है कि ‘कटाक्षविशेष आदि कुवलयमाला  
आदि के विकास आदि के समान विकास का कारण कर रहे हैं’ और यह तात्पर्य वस्तुतः  
‘कटाक्षविशेष आदि’ और ‘कुवलयमाला आदि’ में ‘बिम्बप्रतिबिम्बभाव’ अवकाश सादृश्य  
की ही सकल, अन्तर्गतता, विकास रहा है ( यहाँ एक वाक्य में ही दो धर्मियों का  
सादृश्य-निदर्शन है जिससे यहाँ ‘एकवाक्यगोचरा’ असंभववस्तुसम्बन्धनिदर्शना का  
रूप दिखानी दे रहा है ) ।

अब, इस सृष्टि में ‘एकवाक्यगोचरा’ असंभववस्तुसम्बन्धनिदर्शना देखिये—

‘महाराज ! जब जब लक्ष्मी पर विजयप्राप्ता के किये चक पक्षे तब जबकी  
पद्मनगरी सुन्दरियों के चरणों के राजहंसों की चाक जोष ही और चकके मुखों के  
चन्द्रमा की अम्बि से हाव हो किया ।

अत्र पादाभ्यामसम्बद्धराजहंसगतेस्त्यागोऽनुपपन्न इति तयोस्तत्सम्बन्धः कल्प्यते, स चासम्भवन् राजहंसगतिमिव गतिं बोधयति ।

अनेकवाक्यगा यथा—

‘इदं किलाव्याजमनोहरं वपुस्तपःकलमं साधयितुं य इच्छति ।

ध्रुवः स नीलोत्पलपत्रधारया शमीलतां छेत्तुमृषिर्व्यवस्यति ॥’

अत्र यच्छब्दनिर्दिष्टवाक्यार्थयोरभेदेनान्वयोऽनुपपद्यमानस्तादृशवपुस्तपः-कलमत्वसाधनेच्छा नीलोत्पलपत्रधारया शमीलताच्छेदनेच्छेवेति विम्बप्रति-विम्बभावे पर्यवस्यति ।

यथा—

‘जन्मेदं वन्ध्यतां नीतं भवभोगोपलिप्सया ।

काचमूल्येन विक्रीतो हन्त ! चिन्तामणिर्मया ॥’

अत्र भवभोगलोभेन जन्मनो व्यर्थतानयनं काचमूल्येन चिन्तामणिविक्रय इवेति पर्यवसानम् ।

यहाँ वर्ण्य शत्रुनारिओं के चरणों के लिये राजहंसों की चाल के छोटने की बात अनुपपन्न सी लगती है । यहाँ ‘नारीचरण’ और ‘राजहंसगति के त्याग’ में ( धर्मधर्मिभावरूप ) संबन्ध की कल्पना आवश्यक हो जाती है । यह सम्बन्ध तभी उपपन्न होता है जब शत्रुनारिओं की चाल और राजहंसों की चाल में ‘सादृश्य’ प्रकाशित होने लगता है जिससे यह प्रतीत होता है कि यहाँ शत्रुनारिओं के चरण राजहंसों की चाल के समान चाल का परित्याग करते वर्णित किये जा रहे हैं ।

इसी प्रकार ‘अनेकवाक्यगा’ असम्बद्धवस्तुसम्बन्धनिर्दर्शना का उदाहरण ( महा-कवि कालिदास के अभिज्ञानशाकुन्तल की ) यह सूक्ति है—

‘अरे ! इस निसर्गसुन्दर ( शकुन्तला के ) शरीर को, जिस ऋषि ने तपस्या के कष्टों के सहन करने में समर्थ बनाना ठान लिया है उसने सचमुच, नीलकमल के किसलय की कोर से शमीवृक्ष के काटने का निश्चय कर लिया है ।’

यहाँ यह स्पष्ट है कि ‘तपस्या के कष्टों के सहन करने में समर्थ बनाने’ और ‘शमीवृक्ष के काटने’—इन दोनों वाक्यार्थों में, जो कि ‘य’ और ‘स’ पदों से सम्बद्ध रूप से रचे गये हैं, परस्पर अभेदरूप से अन्वय अनुपपन्न है किन्तु अन्ततोगत्वा इनमें इस प्रकार के ‘विम्बप्रतिविम्बभाव’ ( सादृश्य ) का दर्शन हो जाता है कि ‘कोमलाङ्गी शकुन्तला के शरीर को तपःसाधन में समर्थ बनाने की इच्छा’ ऐसी है जो कि ‘नीलोत्पलपत्र की धार से शमीवृक्ष के काटने की इच्छा’ के समान है । इस प्रकार इन दोनों वाक्यार्थों का अन्वय सगत बन जाता है ।

अथवा दूसरे निर्दर्शन के लिये यह सूक्ति देखिये—

‘ससार के सुखों की भोगलिप्सा से मेरा सारा जीवन व्यर्थ बीत गया । ओह ! मैंने तो चिन्तामणि को काच के मोल बेच डाला ।’

यहाँ भी इन दोनों वाक्यार्थों का अनुपपन्न सम्बन्ध अन्त में इनके इस ‘विम्बप्रति-विम्ब’ भाव में विश्रान्त हो रहा है कि ‘भवभोग की लिप्सा से जीवन का व्यर्थयापन, वस्तुतः, काच के मूल्य में चिन्तामणि के विक्रय के समान है’ ।



एम—

‘क सूर्यप्रभो बंश’ क चास्पपिपया मति ।

तितीर्षुस्तर् मोहादुत्पेनास्मि सागरम् ॥’

अत्र मन्मत्त्वा सूर्यवंशवर्णनमुत्पेन सागरतरणमिवेति पर्यवसानम् ।

इय च कश्चिदुपमेयवृत्तस्योपमानेऽसम्भवेऽपि भवति ।

यथा—

‘योऽनुमूत’ कुक्काद्यास्तस्या मधुरिमाधरे ।

समास्मापि स सुष्ठीकारसे रसविरारदैः ॥’

अत्र प्रकृतस्याधरस्य मधुरिमधर्मस्य द्वाह्यारसेऽसम्भवात्पूर्ववत्साम्ये पर्यवसानम् ।

मात्सरूपाऽपि यथा मम—

‘क्षिपसि झुकं वृषवंशकवने मृगमर्षयसि मृगावनरवने ।

वितरसि तुरग महिषविपाये निवधकचेतो मोगविषाने ॥’

इह बिम्बप्रतिबिम्बसाक्षेपं बिना वाक्यार्थोपर्यवसानम् । दृष्टान्ते तु पर्यव-

इसी मूर्ति (महाकवि काकिकात् क सूर्यवंश की) वह सुक्ति भी इस निदर्शना प्रकार का ही उदाहरण है—

‘कहाँ तो सूर्यवंशका वर्णन ! और कहाँ मेरी अल्पवृद्धि ! ऐसा कहा है जैसे मैं अद्यावत् उड़ूँ (तब तो पाँगी) के सहारे अपार पारस्वार को पार करने तक पहुँच सकूँ ।’

कहाँ भी दोनों वाक्यार्थों अर्थात् अल्पवृद्धि से सूर्यवंश के वर्णन और ‘उड़ूँ से सतार के संतरण’ में संबन्ध अनुपपन्न है किन्तु अन्त में इसकी इस ‘साधरण’ में विज्ञप्ति हो जाती है कि ‘मेरी अल्पवृद्धि से सूर्यवंश का वर्णन हो सकता ऐसा ही है वैसे कि उड़ूँ से सतार के पार पहुँच सकता’ ।

वह निदर्शना वहाँ भी विज्ञप्ति देती है वहाँ ‘उपमेय-संबन्धी व्यवहार ‘उपमान’ में असंभव सा प्रतीत होता है । जैसे कि वहाँ—

‘उस धूमनक्षत्री के अक्षर में मुझे जिस मधुरता का आस्वाद मिला उसे रसज्ज्वल झड़ीका रस (जंगूर) में ही पा सकूँ ।

यहाँ यह स्पष्ट है कि वर्ण्य वाकिका-अक्षर की मधुरता ज्ञातारस में अर्धमव है किन्तु अन्त में वह भी स्पष्ट है कि वर्ण्य वाकिका-अक्षर की मधुरता ज्ञातारस की मधुरता के समान प्रतिपादित की जा रही है ।

वह ‘निदर्शना’ मात्सरूप में भी पायी जाया करती है । जैसे कि मेरी इस स्वरचित सुक्ति में जो ‘निदर्शना’ है वह ‘माका निदर्शना है—

‘जो तुम जो अपने मन को सांसारिक मोग-विकास में रमा रहे हो याद रखो तोते को विकास के मुँह में रोक रहे हो हिरण को बधोरे के जालों में फँक रहे हो और घोड़े को मैने की सींगों पर रक रहे हो ।

यहाँ यह स्पष्ट है कि ‘विषयमोग में मन के रमावे’ और ‘तोते को विकास के मुँह में रोकने कादि’ में जब तक, ‘बिम्बप्रतिबिम्बमात्र (साधरण) की स्थापना न हो जाय तब तक वाक्यार्थ में विज्ञप्ति नहीं आ सकती । वहाँ वाक्यार्थ ‘बिम्बप्रतिबिम्बमात्र’ में

सितेन वाक्यार्थेन सामर्थ्याद्विम्बप्रतिविम्बताप्रत्यायनम् । नापीयमर्थोपत्तिः,  
तत्र 'हारोऽयं हरिणाक्षीणाम्—' इत्यादौ सादृश्यपर्यवसानाभावात् ।

( १९—व्यतिरेक · सप्रभेद निरूपण )

आधिक्यमुपमेयस्योपमानान्यूनताऽथवा ।

व्यतिरेकः—

ही समाप्त होकर संगत हो जाते हैं जिससे यह प्रतीत हो जाता है कि यहाँ 'विषय-भोग में चित्त का अर्पण' वस्तुतः 'विलाव के मुँह में तोते के फँकने' आदि के समान प्रतिपादित किया जा रहा है ।

यहाँ 'निदर्शना' और 'दृष्टान्त' का यह भेद समझ लेना आवश्यक है—'निदर्शना' में तो विम्बप्रतिविम्बभाव के आक्षेप के बिना वाक्यार्थ ही विश्रान्त नहीं हुआ करता किन्तु 'दृष्टान्त' में वाक्यार्थ की विश्रान्ति के बाद, सामर्थ्यवश, विम्बप्रतिविम्बभाव का आक्षेप अथवा प्रत्यायन हुआ करता है ।

'निदर्शना' और 'अर्थापत्ति' अलङ्कार में भी परस्पर भेद है—'निदर्शना' के लिये विम्बप्रतिविम्बभाव अनिवार्य है किन्तु 'अर्थापत्ति' के लिये, जैसा कि 'हारोऽयं हरिणाक्षीणाम्' आदि अर्थापत्ति-प्रसङ्गों में स्पष्ट है, विम्बप्रतिविम्बभाव अथवा सादृश्य में वाक्यार्थ की विश्रान्ति अपेक्षित नहीं ।

विमर्श—अलङ्कारसर्वस्वकार ने 'दृष्टान्त' और 'निदर्शना' का भेदक यह माना है—

निरपेक्षयोर्वाक्यार्थयोर्हि विम्बप्रतिविम्बभावो दृष्टान्तः । यत्र च प्रकृते वाक्यार्थे वाक्यार्थान्तरमारोप्यते सामानाधिकरण्येन तत्र सम्बन्धानुपपत्तिमूला निदर्शनैव युक्ता, न दृष्टान्तः । एव च—

'शृद्धान्तदुर्लभमिदं वपुराश्रमवासिनो यदि जनस्य ।

दूरीकृता खलु गुणैरुद्यानलता वनलताभिः ॥'

इत्यत्र दृष्टान्तदुर्द्धिर्न कार्या । उक्तन्यायेन निदर्शनाप्राप्ते ।' ( अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ ९९ )

अर्थात् 'दृष्टान्त' तो स्वतन्त्र रूप से अवस्थित दो वाक्यार्थों का विम्बप्रतिविम्बभाव है किन्तु 'निदर्शना' तब होती है जब कि प्रकृत वाक्यार्थ पर अप्रकृत वाक्यार्थ के सामानाधिकरण्यपूर्वक आरोप में, दोनों में, सम्बन्ध की अनुपपत्ति के निवारण के लिये, 'सादृश्य' कल्पना की जाया करती है ।

अनुवाद—'व्यतिरेक' वह अलङ्कार है जिसे उपमान की अपेक्षा उपमेय के आधिक्य-वर्णन अथवा न्यूनत्व-वर्णन में देखा जाया करता है ।

यह 'व्यतिरेक' ४८ प्रकार का हुआ करता है—( १ ला ) 'व्यतिरेक' वह है जिसमें उपमान की अपेक्षा उपमेय के उत्कर्ष का 'हेतु' प्रतिपादित रहा करता है । इसके अतिरिक्त जहाँ उपमान की अपेक्षा उपमेय के उत्कर्ष का 'हेतु' प्रतिपादित नहीं हुआ करता वहाँ इस ( व्यतिरेक ) के ये तीन प्रकार हुआ करते हैं—( १ ला ) जिसमें केवल उपमेय का आधिक्य-साधक हेतु उपनिबद्ध हो, ( २ रा ) जिसमें केवल उपमान का न्यूनत्व-साधक हेतु उपनिबद्ध हो और ( ३ रा ) जिसमें उपमेय के उत्कर्ष अथवा उपमान के अपकर्ष के साधक किसी भी हेतु का कोई भी उपनिबन्ध न हो । इस प्रकार उपमेय के उत्कर्ष हेतु की उक्ति में एक और अनुक्ति में तीन भेदों को मिलाकर व्यतिरेक के ४ भेद सिद्ध हुये । इन चारों में से प्रत्येक साम्य अथवा उपमानोपमेयभाव के शब्दतः कथन, अर्थात् अव-

स च—

—एक उक्तेऽनुक्ते इतौ पुनस्त्रिधा ॥ ५२ ॥

चतुर्विधोऽपि साम्यस्य बोधनाच्छब्दतोऽर्थतः ।

आक्षेपाच्च द्वादशधा श्लेषऽपीति त्रिरष्टधा ॥ ५३ ॥

प्रत्येकं स्यान्मिलित्वाऽष्टचत्वारिंशद्विध पुनः ।

उपमेयस्योपमानावाधिक्ये हेतुरुपमेयगतमुत्कर्षकारणमुपमानगतं निरूप्य कारणं च । तयोर्द्वयोरप्युक्त्येकः, प्रत्येकं समुदायेन याऽनुक्ती त्रिभिध इति चतुर्विधेऽप्यस्मिन्नुपमानोपमेयत्वस्य निवेदन शब्देन व्यर्थेन आक्षेपेण चेति द्वादशप्रकारोऽपि श्लेषे, 'अपि' शब्दाद्वरत्तेपेऽपीति चतुर्विधविप्रकारः । उपमानान्मूनसायामप्यनयैव भङ्गया चतुर्विधविप्रकारेति मिलित्वा अष्टचत्वारिंशत्प्रकारावप्यतिरेकः ।

उदाहरणम्—

'अकलङ्कं मुखं तस्या न कलङ्गी विधुर्यया ।'

बोधन और आक्षेपता प्रत्याघन के कारण तीन तीव्र प्रकार क हुआ करते हैं जिससे 'व्यतिरेक' के १२ प्रकार निष्पन्न होते हैं । व्यतिरेक के ये चारहीँ मेव 'क्षेप' और 'अरक्षण' दोनों में समर्थ हैं जिससे इसके १४ प्रकार हो गये । इसी प्रकार उपमाय की अपेक्षा उपमेय के मूलत्व-वर्धन में जो 'व्यतिरेक' हुआ करता है उसका भी ये ही १४ प्रकार हुआ करते हैं । इस प्रकार सब मिलाकर 'व्यतिरेक' के २८ प्रकार सिद्ध हुए ।

यहाँ 'व्यतिरेक' का अर्थात् उपमान से उपमेय के उत्कर्ष का जो हेतु है उसका अभिप्राय उपमेयगत उत्कृष्टता और उपमागत निकृष्टता से सम्बन्ध किसी कारणविशेष का अभिप्राय है । इन दोनों प्रकार के हेतुओं की 'उक्ति' में तो प्रथम प्रकार का 'व्यतिरेक' हुआ करता है और इनकी 'अनुक्ति' में द्वितीय प्रकार का 'व्यतिरेक' जो कि तीन प्रकार का है—( १ का ) केवल उपमेयगत उत्कर्षहेतु की अनुक्ति में ( २ रा ) केवल उपमागत उत्कर्ष हेतु की अनुक्ति में और ( ३ रा ) दोनों प्रकार के हेतुओं की अनुक्ति में । इस चतुर्विध 'व्यतिरेक' में उपमावोपमेयभाव तीन प्रकार से प्रतिपादित हो सकता है—( १ का ) सम्प्रतः, ( २ रा ) व्यर्थतः और ( ३ रा ) आक्षेपता ( अर्थात् ह्वादि पदों के अभाव में भी उपमानोपमेयभाव की कल्पना द्वारा ) । इसलिये इस चतुर्विध 'व्यतिरेक' के चारह प्रकार निष्पन्न होते हैं । ये चारहीँ प्रकार श्लेषव्यतिरेकन भी हो सकते हैं और जैसा कि 'अपि' का अभिप्राय है अश्लेषव्यतिरेकन भी । इस प्रकार उपमाय की अपेक्षा उपमेय के उत्कर्षरूप व्यतिरेक के ये १४ प्रकार हैं । इसी वग से, उपमान की अपेक्षा उपमेय के उत्कर्षरूप 'व्यतिरेक' के भी १४ ही प्रकार सिद्ध होते हैं और इन दोनों को मिलाकर यह स्पष्ट है कि 'व्यतिरेक' के समस्त प्रकार २८ हैं ।

उदाहरण के लिये यह शक्ति—

'उस सुन्दरी का जो निष्कलङ्क मुख है वह कलङ्गी चान्द्रमा जैसा नहीं'

अत्रोपमेयगतमकलङ्कत्वमुपमानगतं च कलङ्कित्व हेतुद्वयमप्युक्तम्, यथा शब्दप्रतिपादनाच्च शाब्दमौपम्यम् ।

अत्रैव 'न कलङ्किविधूपमम्' इति पाठे आर्थम् । 'जयतीन्दु कलङ्किनम्' इति पाठे त्विववत्तुल्यादिपदविरहादाक्षिप्तम् । अत्रैवाकलङ्कपदत्यागे उपमेयतो-त्कर्षकारणानुक्तिः । कलङ्कपदत्यागे चोपमानगतनिकर्षकारणानुक्तिः । द्वयोर-नुक्तौ द्वयोरनुक्तिः ।

श्लेषे यथा—

‘अतिगाढगुणायाश्च नाब्जवद्भुरा गुणाः ।’

अत्रेवार्थे वतिरिति शाब्दमौपम्यम् । उत्कर्षनिकर्षकारणयोर्द्वयोरप्युक्तिः । गुणशब्दः श्लिष्टः । अन्ये भेदाः पूर्ववद्ब्रूयाः । एतानि चोपमेयस्योपमानादाधि-क्य उदाहरणानि । न्यूनत्वे दिङ्मात्र यथा—

यहाँ उपमेयगत उत्कर्ष के हेतुरूप में 'निष्कलङ्कता' और उपमानगत अपकर्ष के हेतुरूप में 'कलङ्कित्व' दोनों उपात्त हैं । साथ ही साथ 'यथा' शब्द के प्रयोग में, चन्द्र और मुख का 'शाब्द' उपमानोपमेयभाव भी स्पष्ट है । यहीं यदि 'न कलङ्की विधुर्यथा' के बदले 'न कलङ्किविधूपमम्' कर दिया जाय तो 'आर्थ' उपमानोपमेयभाव स्पष्ट हो जाता है और यदि 'जयतीन्दु कलङ्किनम्' ( कलङ्की चन्द्रमा को पराजित कर रहा है ) कर दिया जाय तो 'आक्षिप्त' उपमानोपमेयभाव की प्रतीति हो जाती है क्योंकि इव, तुल्य आदि पदों के अभाव में भी जो 'उपमानोपमेयभाव' हो वह 'आक्षिप्त' ही कहा जा सकता है ।

इसी उदाहरण में यदि 'अकलङ्क' पद हटा दिया जाय, तो उपमेयगत उत्कर्षहेतु की अनुक्ति में 'व्यतिरेक' का स्वरूप दिखायी देने लगता है और यदि 'कलङ्की' पद हटा दिया जाय, तो उपमानगत अपकर्ष हेतु की अनुक्ति में जो 'व्यतिरेक' की रूपरेखा है वह स्पष्ट हो जाती है । और यदि 'अकलङ्क' और 'कलङ्की' दोनों पद हटा दिये जाय तब उपमेयगत उत्कर्षहेतु और उपमानगत अपकर्षहेतु—दोनों की 'अनुक्ति' में 'व्यतिरेक' का स्वरूप दिखायी देने लगता है । यहाँ जो व्यतिरेक है वह 'अश्लिष्टशब्दनिबन्धन' है ।

श्लिष्टशब्दनिबन्धन 'व्यतिरेक' का उदाहरण यह है—

‘अत्यन्त गाढ ( चिरस्थायी ) गुण ( सौन्दर्य आदि गुण तथा तन्तुसन्तान ) वाली इस सुन्दरी के जो गुण हैं वे कमल की भांति भङ्गुर नहीं ।’

यहाँ जो औपम्य अर्थात् उपमानोपमेयभाव है वह 'शाब्द' है क्योंकि 'अब्जवत्' में जो 'वति' प्रत्यय है वह ( 'तत्र तस्येव' से विहित होने के कारण ) 'इव' के अर्थ में विहित है । यहाँ उपमेयगत उत्कर्षकारण के रूप में 'अतिगाढगुणस्व' और उपमानगत अपकर्षकारण के रूप में 'भङ्गुरगुणस्व'—दोनों की उक्ति है । साथ ही साथ यहाँ 'गुण' शब्द श्लिष्ट है ।

'व्यतिरेक' के और जो प्रकार हैं उन्हें उपर्युक्त रीति से स्वयं काव्य-साहित्य में देखा जा सकता है । यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि उदाहृत-सूक्तिओं में जो 'व्यतिरेक' है वह उपमान की अपेक्षा उपमेय का आधिक्य अथवा उत्कर्ष-वर्णन रूप 'व्यतिरेक' है ।

उपमान की अपेक्षा उपमेय का अपकर्ष-वर्णनरूप जो 'व्यतिरेक'-प्रकार है उसके दिग्दर्शन के लिये यह सूक्ति पर्याप्त है—

‘धीन’ क्षीणोऽपि शशी भूयो भूयोऽभिवर्धते सत्यम् ।

विरम प्रसीद सुन्दरि ! यौवनमनिवर्ति पार्तु तु ॥’

अत्रोपमेयभूतयौवनास्थैर्यस्याधिक्यम् । तेनात्र ‘उपमानादुपमेयस्याधिक्ये विपर्यये वा व्यतिरेकः’ इति केषांश्चिन्नक्षणे विपर्यये ‘वैतिषमनयकम्’ इति यत्केचिदाहुः । तन्न विचारसहम् । तथाहि—अत्राधिक्यमूनत्वे सत्त्वासत्त्वे एव विवक्षिते । अत्र च अन्त्रापेक्षया यौवनस्यासत्त्वं स्फुटमेव । अस्तु पात्रोदाहरणे यथाकथं चित्रति ।

‘हनुमदाद्यैर्यथा मया पुनर्दिष्टां हसैवूतपथं सितीकृतं ।’

इत्यादिषु का गतिरिति सुप्सूक्तं ‘न्यूनताऽयथा’ इति ।

‘अरी सुन्दरी । यह तो सच है कि अग्रमा बार-बार चीन होता है और बार-बार बढ़ भी जाता है । किन्तु यौवन यदि एक बार चका गया तो फिर कीटने का नहीं । देख छ, मान कोइ प्रसन्न हो जा ।

[यहाँ स्पष्ट है कि उपमानभूत ‘अग्रमा’ की अपेक्षा उपमेयभूत ‘यौवन’ का अपर्यय का वर्णन है क्योंकि यहाँ ‘अग्रमा’ में ‘अग्रिमता’ में भी अस्मिद्बुद्धि की विशेषता (अधिकता) का निर्देश है यहाँ ‘यौवन’ में ‘अनुवरागमन’ (चले जाने पर न कीट सकने की) न्यूनता का प्रतिपादन है ।]

यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि कतिपय काव्याचार्य (जैसे कि ‘कव्यप्रकाश’ का अरवि), इस सूक्ति में भी उपमेयगत आधिक्य-वर्णन रूप ‘व्यतिरेक’ मानकर—क्योंकि उपमानभूत ‘अग्रमा’ के ‘होर्ष’ की अपेक्षा उपमेयभूत ‘यौवन’ में ‘अरवैर्ष’ का वर्णन उपमेय के आधिक्य का ही वर्णन है—अकहुरसर्वस्वकार क इस ‘व्यतिरेक’ कथन अर्थात् ‘व्यतिरेक’ यह है जिसमें उपमान से उपमेय का आधिक्य कथना इसके विपर्यय (अर्थात् उपमान से उपमेय के न्यूनत्व) का वर्णन हुआ करता है’ का सम्बन्ध कर चुके हैं क्योंकि उनके अनुसार इस कथन में ‘उपमान से उपमेय के आधिक्य के ‘विपर्यय’ का उल्लेख विरर्थक सिद्ध होता है । किन्तु इन काव्याचार्यों की यह सम्भवता सुक्तिबुद्ध नहीं प्रतीत होती । कारण यह है कि ‘धीन शशी’ आदि सूक्ति, में उपमानगत आधिक्य के रूप में ‘होर्ष’ का प्रतिपादन है और उपमेयगत न्यूनत्व के रूप में ‘अरवैर्ष’ का और यह सब के किन्ने स्पष्ट है कि अग्रमा की अपेक्षा यौवन अस्थिर हुआ करता है जिससे यहाँ उपमेयगत ‘न्यूनत्व’-वर्णन रूप ‘व्यतिरेक’ निर्विद्विग्न सिद्ध हो जाता है ।

अथवा, यदि यहाँ किसी प्रकार उपमेयभूत यौवन का आधिक्य-वर्णन रूप ही ‘व्यतिरेक’ मान लिया जाय तब भी निम्न सूक्ति जैसे कि—

‘हनुमान् आदि ने तो दूतमार्ग (दूत-कर्म) को बस से दृढ़ बनाया किन्तु मैंने उसे शत्रुभी के हाथ-परिहास से दृढ़ किया ।

आदि के किन्ने उपमेयगत न्यूनत्व-वर्णन रूप व्यतिरेक का मानना जगत्प्रा, आश्चर्यक ही हो जाता है । इसलिये ‘अकहुरसर्वस्वकार’ का उपमेयगत न्यूनत्व-रूप भी ‘व्यतिरेक’ मानना उचित ही है और सर्वथा अतुरल भी है ।

निर्मा—अग्रमा की अपेक्षा उपमेय के न्यूनतात्व में ‘व्यतिरेक’ की सम्भवा और उक्तने तात्पर्यविशेष है सम्भव में ‘विमर्शनी’ का भी यह उक्ति ध्यान देने योग्य है—

‘उच्चिद्वीचयचोर्द्धि समानेऽपि यत्परले कश्चिन्ना पुनरागमनमपि संभवति न ॥ यद्यपी-

( २०—सहोक्ति )

सहार्थस्य बलादेकं यत्र स्याद्वाचकं द्वयोः ॥ ५४ ॥

सा सहोक्तिर्मूलभूतातिशयोक्तिर्यदा भवेत् ।

अतिशयोक्तिरप्यत्राभेदाध्यवसायमूला कार्यकारणपौर्वापर्यविपर्ययरूपा च ।  
अभेदाध्यवसायमूलापि श्लेषभित्तिकान्यथा च ।

क्रमेणोदाहरणम्—

( श्लेषमूल-अभेदाध्यवसायमूल-अतिशयोक्तिमूलक सहोक्ति )

‘सहाधरदलेनास्या यौवने रागभाक्प्रियः ।’

अत्र रागपदे श्लेषः ।

स्येति ततोऽस्य न्यूनगुणत्वम् । नन्वत्र विपर्यये वेति सूचितभेदान्तरमयुक्तम्—उपमाना-  
दुपमेयस्य न्यूनगुणत्वे वास्तवत्वात्तत्वे चालङ्कारत्वानुपपत्ते । यौवनस्य चात्रास्थिरत्वे प्रति-  
पाद्ये चन्द्रापेक्षयाऽधिकगुणत्वमेव विवक्षितम् यदेतच्चन्द्रवद्वात सन्न पुनरायातीति । अस-  
देतत्—यतोऽत्र चन्द्रवद् गतं सद्यौवन यदि पुनरप्यागच्छेत्तत्प्रिय प्रति चिरमीर्ष्यानुबन्धो  
युज्येत । कालान्तरेऽपि ह्यस्य तदवलोकनादिना सफलीकारः स्यात् । इदं पुनर्हतयौवन  
यात सत् पुनर्नागच्छतीति ईर्ष्याद्यन्तरायपरिहारेण निरन्तरतयैव प्रियेण सह सफलयित-  
व्यमिति ‘धिगीर्ष्याम्, त्यज प्रिय प्रति मन्यु, कुरु प्रसादम्’ इत्यस्मिन् प्रियवयस्योपदेशे  
प्रिय प्रति कोपोपशमाय चन्द्रापेक्षया यौवनस्यापुनरागमनं न्यूनगुणत्वेनैव विवक्षितमिति  
वाक्यार्थविद एव प्रमाणम् । न चैतद् वास्तवमुपमेयस्य न्यूनगुणत्वम् । तस्यैव सातिशय-  
त्वेन प्रतिपाद्यत्वात् । प्रकृतार्थोपरञ्जकत्वे हि सर्वथा कवेः सरम्भः तच्चाधिकगुणमुखेन  
अवखितरथा वेति को विशेषः । तस्माद् युक्तमेव विपर्यये वेति सूत्रम् ।

( अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी, पृष्ठ १०२ )

इसका तात्पर्य यह है कि उपमेय का न्यूनगुणत्व भी प्रकृत अर्थ की एक शोभावायकता ही है  
और इसलिए व्यतिरेक के एक प्रकार के रूप में इसे मानना युक्तियुक्त ही है ।

अनुवाद—‘सहोक्ति’ वह अलङ्कार है जिसे ‘सह’ शब्द के अर्थ-सामर्थ्य से, एक शब्द  
द्वारा दो अर्थों की ऐसी वाचकता में देखा जाया करता है जिसके मूल में ‘अतिशयोक्ति’  
का रहना आवश्यक है ।

यहाँ कारिका में जिस ‘अतिशयोक्ति’ प्रकार को ‘सहोक्ति’ का मूलभूत बताया गया  
है वह अभेदाध्यवसायमूलक किंवा कार्यकारणभाव का पौर्वापर्य-विपर्यय-मूलक अति-  
शयोक्ति प्रकार है । यह अभेदाध्यवसायमूल अतिशयोक्तिप्रकार ‘श्लेषमूलक’ और ‘अश्लेष-  
मूलक’ दोनों रूपों का हो सकता है । जैसे कि क्रमश—

‘यौवन के आगमन में इस सुन्दरी के अधरोष्ठ के साथ ही साथ इसका प्रेमी भी  
रागयुक्त हो गया ।’

यहाँ ‘राग’ पद श्लिष्ट है ( और इस श्लिष्ट पद के एक अर्थ ‘लाल रंग’ और दूसरे  
अर्थ ‘अनुराग’ में अभेद का भी अध्यवसाय है । साथ ही साथ ‘सह’ शब्द के अर्थ-  
सामर्थ्य से, ‘राग’ पद के द्वारा इसके दोनों अर्थ अभिहित भी हो रहे हैं ।

अथवा जैसे कि इस स्वरचित सक्ति में अध्यवसायमूल अतिशयोक्तिमूलक सहोक्ति—

‘सह कुमुदकन्दम्बै’ काममुल्लासयन्त’  
 सह जनतिमिरोषैर्घर्षमुत्सारयन्त ।  
 सह सरसिजपण्डै’ स्थान्तभामीक्षयन्त’  
 प्रतिविराममुपाशोर्शय’ सञ्चरन्ति ॥’

इदं मम । अत्रोक्षासादीना संवन्धिभेदावेव भवे, न तु रिक्ततया ।

‘सममेव जराधिपेन सा गुरुसंमोहविलुप्तचेतना ।

अगमत् सह तैक्ष्विग्युना ननु वीपार्थिरिव क्षितेस्तल्लम् ॥’

इयं च भाक्त्यापि संभवति । यथोदाहृते ‘सह कुमुदकन्दम्बै’— इत्यादौ ।

‘अस्मभ्यो न समं राम’ कानन गहन ययौ ।’

इत्यादौ चातिशयोक्तिमुल्लाभावात्तान्नायमसङ्गतर ।

‘अगमत्’ की किरणें कुमुदों के साथ काम को भी उल्लसित कर रही हैं। सतमस-रामसमूह के साथ (विरहीज्यों) के घर्ष का भी व्यवसर कर रही हैं, कमलों के साथ (प्रेमीज्यों के) हृदय को भी निमीलित कर रही हैं और चारों ओर धीरे-धीरे दिक्काली हुई फेकली जा रही हैं ।

यहाँ ‘उल्लासयन्ता’ आदि पद रिक्त नहीं किन्तु अपने सम्बन्धी पदार्थों जैसे कि ‘कुमुद’ आदि और ‘काम’ आदि के भेद से मिश्र मिश्र अर्थ के प्रतिपादक काम रहे हैं जिससे कुमुद-कन्दम्ब के ‘उल्लास’ (खिलने) आदि और काम के ‘उल्लास’ (बढ़ने) आदि में अनेकात्म्यसाय स्पष्ट है जिसके आधार पर ‘सह’ शब्द के अर्थ-सामर्थ्य से ‘उल्लासयन्ता’ आदि से दोनों अर्थों का अभिप्राय हो रहा है ।

इसी प्रकार ‘अर्थकारणवीचापर्वविपर्वणक्य अतिशयोक्तिमुल्लस सहोक्ति क्य वह उदाहरण देखिए—

‘सूच्यां से चेतना-शून्य बनी वह सुन्दरी, महासाग के साय-साय पेसे नीचे जा गिरी जैसे तैक्ष्विग्य के साथ-साथ वीपत्तिका पिर पड़ी हो ।

[ यहाँ जो ‘सहोक्ति’ है वह अर्थकारणभाव के वीचापर्व के विपर्वणक्य ‘अतिशयोक्ति’ अङ्गहार के आधार पर है । यहाँ अर्थकारणभाव के वीचापर्व का विपर्वण इसप्रकार है क्योंकि अर्थ भाविका के ‘भूषण’ और अर्थ सूपाक के ‘भूषण’ में कारण और अर्थ का सम्बन्ध है जो कि यहाँ विपरीत रूप से अर्थान्तरक समक में ही सम्बन्ध होते हुए प्रतिपादित किया हुआ है । ]

यह ‘सहोक्ति’ माहात्म्य की सी हुआ करती है जिसके उदाहरण रूप में ‘सह कुमुद-कन्दम्बै’ आदि पूर्वोक्त छन्द देखी जा सकती है ।

‘सहोक्ति’ के अङ्गहार होने के लिए (केवल ‘सह’ पद और इसके सामानार्थक ‘साकम्ब’ आदि पदों की उक्ति अभिप्रेत नहीं अपितु) ‘अतिशयोक्ति’ की सूक्ष्म-मिति अपेक्षित है । इसप्रकार ‘राम कम्बल के साथ-साथ वीहृद वन में गये’ आदि प्रसङ्गों में (जहाँ अतिशयोक्ति के अमलकार का सर्वथा अभाव है) ‘सह’ शब्द की उक्ति में सी सहोक्ति अङ्गहार नहीं हुआ करता ।

निर्णय—‘सहोक्ति’ के निश्चय में निश्चय करारा के वह नहीं निर्दिष्ट किया कि ‘सह’ शब्द के दोष से एक वह से निःसृत ही अर्थों में ‘उपयोगोपमेय’वाक्यन संवन्ध रहा करता है या नहीं । अतएव कामप्रकाशकार का वह ‘सहोक्ति-कथन—

( २१—विनोक्ति )

विनोक्तिर्यद्विनान्येन नासाध्वन्यदसाधु वा ॥ ५५ ॥

नासाधु अशोभन न भवति । एवं च यद्यपि शोभनत्व एव पर्यवसानं तथाप्यशोभनत्वाभावमुखेन शोभनवचनस्यायमभिप्रायो यत्कस्यचिद्वर्णनीयस्या-  
शोभनत्वं तत्परसन्निधेरेव दोषः तस्य पुनः स्वभावतः शोभनत्वमेवेति ।

यथा—

विना जलदकालेन चन्द्रो निस्तन्द्रतां गतः ।

विना ग्रीष्मोष्मणा मञ्जुर्वनराजिरजायत ॥'

‘सा सहोक्तिः सहार्थस्य बलादेकं द्विवाचकम्’

ही साहित्यदर्पण-सम्मत ‘सहोक्ति’ का आधार है । किन्तु अलङ्कारसर्वस्वकार ने ‘सहोक्ति’ में औपम्य की विवक्षा भी मानी है—

‘उपमानोपमेययोरेकस्य प्राधान्यनिर्देशेऽपरस्य सहार्थसंबन्धे सहोक्तिः’—

‘सहार्थप्रयुक्तश्च गुणप्रधानभाव । उपमानोपमेयत्व चात्र वैवक्षिकम् । द्वयोरपि प्राकर-  
णिकत्वादप्राकरणिकत्वाद्वा सहार्थसामर्थ्याद्धि तयोस्तुल्यकत्त्वम् । तत्र तृतीयान्तस्य  
नियमेन गुणत्वादुपमानत्वम् । अर्थाच्च परिशिष्टस्य प्रधानत्वादुपमेयत्वम् । शाब्दश्चात्र  
गुणप्रधानभाव । वस्तुतस्तु विपर्ययोऽपि स्यात् । तत्र नियमेनातिशयोक्तिमूलत्वमस्याः ।  
सा च कार्यकारणप्रतिनियमविपर्ययरूपा अभेदाध्यवसायरूपा च । अभेदाध्यवसायश्च  
श्लेषभित्तिकोऽन्यथा वा ।’ ( अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ २०३-२०४ )

अर्थात् ‘सहोक्ति’ अलङ्कार की समावना तमी होती है जब कि उपमान और उपमेय में एक  
तो प्रधानतया निर्दिष्ट रहा करता है और दूसरा, ‘सह’ शब्द के योग से, उसके साथ संबद्ध हुआ  
करता है । उपमान और उपमेय का अभिप्राय अप्राकरणिक और प्राकरणिक का भी है और  
इसलिये, ‘सह’ शब्द के योग में, दोनों की समकक्षता की प्रतीति ‘सहोक्ति’ का वैचित्र्य है जिसके  
मूल में अतिशयोक्ति का रहना स्वाभाविक है और आवश्यक भी । ‘सहोक्ति’ में अप्रधान और  
प्रधान का औपम्य वैवक्षिक है वास्तविक नहीं ।

महाकवि कालिदास की यह सहोक्ति सूक्ति बड़ी सुन्दर है—

‘वपुषा करणोज्झितेन सा निपतन्ती पतिमप्यपातयत् ।

ननु तैलनिपेकविन्दुना सह दीपार्चिरूपेति मेदिनीम् ॥’ ( रघुवश • ८. ३८ )

अनुवाद—‘विनोक्ति’ वह अलङ्कार है जिसे ( विना अथवा इसके समानार्थक अन्य  
पदों के अर्थ-सामर्थ्य से ) एक वस्तु के अभाव में दूसरी वस्तु की साधुता ( शोभनता )  
अथवा असाधुता ( अशोभनता ) के प्रतिपादन में देखा जाया करता है ।

यहा कारिका में ‘न असाधु’ का अभिप्राय ‘अशोभन न होने’ का अभिप्राय है । और  
यद्यपि ‘अशोभन न होने’ का, अन्ततोगत्वा, अभिप्राय ‘शोभन होना’ ही है किन्तु  
‘शोभन होने’ के लिये ‘अशोभन न होना’ जो कहा गया है उसका तात्पर्य ‘किसी दूसरी  
वस्तु के सान्निध्य से किसी वस्तु की अशोभनता’ किन्तु अपने आप में शोभनता के  
प्रतिपादन का तात्पर्य है ।

उदाहरण के लिये ( अशोभनता की अभावरूपा ‘विनोक्ति’ ) ‘विना वर्षा ऋतु के  
चन्द्रमा निर्मल लगने लगता है और ग्रीष्म के सताप के विना वनवीथी रमणीय हो  
जाता है ।’

[ यहा यह स्पष्ट है कि ‘चन्द्रमा’ और ‘वनवीथी’ अपने आप में तो शोभन हैं किन्तु



‘असाध्यशोभन यथा—

‘अमुयान्त्या खनातीतं कामं साधु खया कृतम् ।

का दिनभीर्बिनार्केण का निशा राशिना विना ॥’

‘निरर्थकं खन्म गत नक्षिन्या यथा न दृष्ट तुहिर्नाष्टुबिम्बम् ।

उत्पत्तिरिन्योरपि निष्फलैव दृष्टा विनिशा नक्षिनी न येन ॥’

अत्र परस्परविनोक्तिभङ्ग-या ‘यमस्काराविशय’ । विनाशम्प्रयोगामावेऽपि विनार्यविबध्नायां विनोक्तिरेवेयम् । एवं सहोक्तिरपि सहशब्दप्रयोगामावेऽपि सहाय्यविबध्नाया भवतीति बोध्यम् ।

वर्षा और ग्रीष्म के सम्बन्ध में अशोभन हो जाया करते हैं । इस अशोभनता क अभाव का वहाँ प्रतिपादन भी स्पष्ट ही है ।]

इसी प्रकार, शोभनता को अयमवस्था ‘विनोक्ति’

‘जनकनन्दिनि ! अपने छोकोत्तरचरित प्रियतम का अनुगमन करवाही तूने क्या ही अच्छा किया । भका सूर्य के बिना दिनही क्या ? और चन्द्रमा के बिना रातही क्या ?’

इसी प्रकार ‘विना’ पद के समानार्थक पदों के योग में भी ‘विनोक्ति’ हुआ करती है जैसे कि निम्न सूक्ति में—

‘जस कमकिनी का जन्म स्वर्ण गया जिसने सीतकिरण चन्द्रमा का दर्शन न किया और उस चन्द्रमा का आविर्भाव भी निष्फल ही रहा जिसने किसी हुई कमकिनी को न देखा ।

वहाँ एक दूसरे के बिना कमकिनी और चन्द्रमा की उत्पत्ति की निरर्थकता का जो वर्णन है उसमें एक विशेष लक्ष्यकार का गया है । यद्यपि वहाँ ‘विना’ पद का प्रयोग नहीं हुआ है किन्तु यह स्पष्ट है कि ‘विना’ पद के अर्थ का समिप्राप्त विवक्षित है । इसलिये इसे ‘विनोक्ति’ अङ्कहार का ही विद्वर्धन माना जायगा । ‘सहोक्ति’ में भी ‘सह’ शब्द का प्रयोग नहीं अपितु ‘सह’ शब्द की अर्थविबधा अवस्थित है जिससे ‘सह’ शब्द का प्रयोग न होने पर भी, ‘सह’ शब्द के अर्थ की विबधा में ‘सहोक्ति’ ही मानी जाना करती है ।

विमर्श—‘अङ्कहारसर्वस्व’कार ने ‘विनोक्ति’ का पद आवृण किया है—

‘विना कश्चिद्व्यस्य सहसत्त्वामन्त्रो विनोक्तिः । अत्यस्य शोभनत्वस्य भावः शोभनत्वम् । एवमसत्त्वस्याऽऽभयत्वस्य भावोऽशोभनत्वम् । ते द्वे सत्त्वाद्यन्त्रे यत्र कस्चिद्विद्वत्विद्यानाम्निबध्यते सा द्विधा विनोक्तिः । अत्र च शोभनत्वासोभनत्वसत्तावन्नेव दण्डव्यावामसत्तामुक्तेनाभिवाचनमन्विष्टुतिप्रयुक्ता उन्निवृत्तिरिति कयापचार्यम् ।

( अङ्कहारसर्वस्व, पृष्ठ १०१ )

‘सहोक्ति’ की कल्पना से ‘विनोक्ति’ का जन्म हुआ है । ‘विनोक्ति’ अङ्कहार वस्तुतः ‘सहोक्ति’ का प्रतिपक्ष है । यदि कहता है—‘विनयेन विना का भीः का विद्या सक्षिता विना । रहिता सत्त्ववित्त्व कीदृशी बागविद्युत्प्रकाशः’ यदि की इस वक्ति में ‘विनोक्ति’ का यमस्कार लक्ष्य रहा है । विमर्श के मञ्जरुप में भी भी अस्मृत है—‘दस्य अमिश्रण है ‘विनय’ के रहने पर ही ‘भी’ के रहने में छुपरता है अर्थात् भी’ की पिन्ता कीव ‘विनय’ की ही पिन्ता की बाध, नाहि । ‘विना’ शब्द के अभाव में भी ‘विना’ शब्द की अर्थविबधा हुआ करती है और ऐसी अवस्था में भी ‘विनोक्ति’ का ही वैशिष्ट्य रहा करता है ।

( २२—समासोक्ति )

समासोक्तिः समैर्यत्र कार्यलिङ्गविशेषणैः ।

व्यवहारसमारोपः प्रस्तुतेऽन्यस्य वस्तुनः ॥ ५६ ॥

अत्र समेन कार्येण प्रस्तुतेऽप्रस्तुतव्यवहारसमारोपः ।

यथा—

‘व्याधूय यद्वसनमम्बुजलोचनाया

वक्षोजयोः कनककुम्भविलासभाजोः ।

आलिङ्गसि प्रसभमङ्गमरोषमस्या

घन्यस्त्वमेव मलयाचलगन्धवाह ! ॥’

अत्र गन्धवाहे हठकामुकव्यवहारसमारोपः ।

लिङ्गसाम्येन यथा—

‘असमाप्तजिगीषस्य स्त्रीचिन्ता का मनस्विनः ।

अनाक्रम्य जगत्कृत्स्नं नो सन्ध्या भजते रविः ॥’

अत्र पुंस्त्रीलिङ्गमात्रेण रविसन्ध्ययोर्नायकनायिकाव्यवहारः ।

विशेषणसाम्यं तु श्लिष्टतया, साधारण्येन, औपम्यगर्भत्वेन च त्रिधा ।

अनुवाद—‘समासोक्ति’ वह अलङ्कार है जिसे ‘सम’ अर्थात् ( प्रस्तुत और अप्रस्तुत में ) समानरूप से समन्वित होनेवाले कार्य, लिङ्ग और विशेषण के बल से, प्रस्तुत पर अप्रस्तुत के व्यवहार का आरोप कहा जाया करता है ।

उदाहरण के लिये, समानरूप से समन्वित हो सकनेवाले ‘कार्य’ के सामर्थ्य से, प्रस्तुत पर अप्रस्तुत के व्यवहार-समारोप में ‘समासोक्ति’—

‘अरे मलयानिल ! तू घन्य है क्योंकि तू ही ऐसा है जो इस कमलनयनी सुन्दरी के, कनक-कलश सरीखे कुचों से, वस्त्र हटाकर, इसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग का हठपूर्वक आलिङ्गन किया करता है ।’

यहाँ ‘मलयानिल’ पर ( जो कि प्रस्तुत है क्योंकि यहाँ कवि मलयानिल का ही वर्णन कर रहा है ) ‘हठकामुक’ के व्यवहार ( जैसे कि बलात् आलिङ्गन आदि ) का समारोप स्पष्ट है जिसमें ‘समकार्यमूला’ समासोक्ति की रूपरेखा झलक रही है ।

इसी प्रकार ‘समलिङ्ग-मूला’ समासोक्ति का उदाहरण यह सूक्ति है—

‘जिसकी विजयाकांक्षा पूर्ण न हुई हो, उस वीर मनस्वी की स्त्री-चिन्ता कैसी ? ऐसा कभी नहीं होता कि सूर्य, समस्त ससार पर छाये विना, सन्ध्या का सग किया करे ।’

यहाँ ‘रवि’ के पुल्लिङ्ग और ‘संध्या’ के स्त्रीलिङ्ग होने के कारण ‘रवि’ और ‘संध्या’ पर नायक और नायिका के व्यवहार का समारोप हो रहा है जिसमें ‘समलिङ्गमूला’ समासोक्ति स्पष्ट है ।

‘समविशेषणमूला’ समासोक्ति के तीन भेद हैं क्योंकि विशेषण की समानता ( १ ) श्लिष्टता, ( २ ) साधारणता और ( ३ ) औपम्यगर्भता के कारण तीन रूपों की हुआ करती है ।

रिषट्ठया यथा मम—

‘विकसितमुखी रागासङ्गात् गञ्जतिमिरावृत्तिं  
दिनकरकरसूक्ष्माग्नेत्री निरीक्ष्य विरां पुर’ ।

सरत्तमवल्लीपाण्डुच्छाया शूरा कस्तुपाम्तर’

अयति हरिश् इन्त । प्राचेतसी तुहिनद्युति ॥’

अत्र मुखरागादिराव्याना रिषट्ठया । अत्रैव हि ‘विमिरावृत्तिम्’ इत्यत्र ‘विमिरांशुकम्’ इति पाठे एकदेशस्य रूपणोऽपि समासोच्छिन्नः, न त्वेकदेश-विधिविरूपकम्, तत्र हि विमिरांशुकयो रूप्यरूपकमाधो द्वयोऽवयवकत्वेन स्फुट सादरयतया परसाधिव्यमनपेक्षयापि स्वमात्रविधान् इति न समासोच्छिन्नं व्याहन्तुमीरा ।

यत्र तु रूप्यरूपकयो सादरयमस्फुट तत्रैकदेशान्तररूपण विना तदसङ्गत स्यादित्यस्याप्येकदेशान्तररूपणमार्थमपेक्ष्य एवेति तत्रैकदेशविधिविरूपकमेव । यथा—

जैसे कि सिद्धा से विशेषण-साम्य में ‘समासोक्ति’ की यह स्वरचित निदर्शक-सूक्ति—  
‘वज्रमा मे अपने सामने देवकी दिसा ( इन्द्रसंघन्धिनी, पूर्व दिसा ) को देखा—  
‘दिनकरकरसूक्ष्म’ को कि पूर्व के ‘कर’ ( किरनों तथा हाथों ) के स्पर्क-सुख में विनोर पड़ी थी ‘रागासङ्गात् विकसितमुखीम्’ जिसका मुख (अग्रभाग और मुँह) राग ( उपा की कसिमा और प्रेम ) के आसङ्ग से ‘विकसित’ ( प्रफुल्लित और प्रकाशित ) रूप रहा था,  
‘गञ्जतिमिरावृत्तिम्’ और जिसकी ‘विमिरावृत्ति’ ( अन्धकार का आवरण और भ्रमिभार का कुल्लुहल ) जिसके मुखी थी और अन्त में वह ( वज्रमा ) ‘सरत्तमवल्लीपाण्डुच्छाया’ पड़ी कबकी ( हरकरवरी ) के समान पीका पड़ कर तथा ‘कस्तुपाम्तर’ ( मध्य भाग में मकिल और इन्त में कुल्लुहल ) होते हुये ‘प्राचेतसीम्’ ( प्राचेतस अथवा वज्र-संघन्धिनी दिसा और ध्रुव ) की छाया में ही आकर लान्त हुआ ।

यहाँ यह स्पष्ट है कि ‘मुख’ ‘राग’ आदि पद स्थित हैं (जिनकी सहिमा से ‘समासोक्ति’, रचना हुई है) ।

यहाँ यह बात ज्ञात देने की है कि यदि ‘विमिरावृत्तिम्’ ( विमिरस्व जावृत्तिर्ब्रह्मन्, विमिरावृत्तिर्ब्रह्मन् ) पद के लक्ष्ये विमिरांशुकम् ( विमिरमेव अंशुकं पस्पत्र साम्य विमिरांशुकम् ) पद रक्त दिया जाय तो एक अंश में आरोप की मतीति के होते रहने पर भी, इस सूक्ति में ‘एकदेशविधिविरूपक’ न हो सकेगा अपितु ‘समासोक्ति’ ही रहेगी । कारण यह है कि ‘विमिर’ और ‘अंशुक’ का रूप्यरूपकमात्र ऐसा है जो ‘मार्गी’ और ‘नायिका’ के रूप्यरूपकमात्र की अपेक्षा नहीं रखता अपितु अपने आप में पूर्णतया प्रकाशित हो रहा है और इस रूप्यरूपकमात्र का सूक्ष्म ‘आवरणम्’ ( आच्छादन ) रूप सादरय भी ऐसा है जो परिस्फुटक्य से ही मतीत हो रहा है । इसलिये इस सूक्ति के एक अंश में अवस्थित ‘एकदेशविधिविरूपक’ में यह समता नहीं कि सम्पूर्ण सूक्ति में व्याप्त ‘समासोक्ति’ को हटा सकें ।

किन्तु कई ऐसे प्रसङ्ग भी हैं जहाँ ‘एकदेशविधिविरूपक’ का ही चमत्कार अन्त तक विराजमान रहता है और ‘समासोक्ति’ की कोई भी समाप्ति नहीं हुआ करती । ऐसे प्रसङ्ग वे हैं जिनमें एकदेश में रूप्यरूपकमात्र रखा करता है किन्तु इस रूप्यरूपकमात्र का

‘जस्स रणन्तेउरए करे कुणन्तस्स मण्डलगल्लअं ।  
रससंमुही वि सहसा परम्मुही होइ रिउसेणा ॥’  
( यस्य रणान्त.पुरके करे कुर्वाणस्य मण्डलाग्रलताम् ।  
रससम्मुख्यपि सहसा पराङ्मुखी भवति रिपुसेना ॥ )

अत्र रणान्तःपुरयोः सादृश्यमस्फुटमेव । क्वचिच्च यत्र स्फुटसादृश्याना-  
मपि बहूनां रूपेण शाब्दमेकदेशस्य चार्थं तत्रैकदेशविवर्तिरूपकमेव । रूपक-  
प्रतीतेर्व्याप्तिरयामासोक्तिप्रतीतितिरोधायकत्वात् । नन्वस्ति रणान्तःपुरयो-  
रपि सुखसंचारतया स्फुट सादृश्यमिति चेत् ? सत्यमुक्तम्, अस्त्येव, किन्तु  
वाक्यार्थपर्यालोचनसापेक्षम्, न खलु निरपेक्षम्, मुखचन्द्रादेर्मनोहरत्वादिवद्र-  
णान्तःपुरयोः स्वतः सुखसञ्चारत्वाभावात् ।

मूलभूत सादृश्य अस्फुट रहा करता है और अन्य अंशों में रूप्यरूपकभाव की कल्पना  
के बिना असंगत भी लगा करता है और इस असंगति के निवारण के लिये, अन्य अंशों  
में भी, शाब्द आरोप के न होने पर भी, अर्थसामर्थ्य से रूप्यरूपकभाव का आक्षेप कर  
लिया जाता करता है । उदाहरण के लिये निम्न सूक्ति देखी जाय—

‘यह वह राजा है जिसके हाथ की पकड़ में, रणरूपी अन्त पुर में खड्गगलता (तलवार)  
को देख देख रणरस में पगी भी शत्रुसेना सहसा पीछे भाग खड़ी होती है ।’

यहाँ जो अलङ्कार है वह ‘एकदेशविवर्ति’ रूपक है न कि ‘समासोक्ति’ । कारण यह है  
कि इस सूक्ति के एक अंश में विराजमान ‘रण’ और ‘अन्त पुर’ का रूप्यरूपकभाव ऐसा  
है जिसका आधारभूत सादृश्य अस्फुट है ( और इसलिये ‘खड्गगलता’ और ‘रिपुसेना’ में  
स्त्रीलिङ्ग के कारण, ‘खड्गगलता’ पर नायिका-व्यवहार और ‘रिपुसेना’ पर प्रतिनायिका-  
व्यवहार के समारोप की प्रतीति होने पर भी ‘समासोक्ति’ की संभावना नहीं हो रही है  
पर ‘नायिकात्व’ और ‘प्रतिनायिकात्व’ के आरोप के बिना असंगत हो जाय, तब तो,  
शाब्द हो या न हो, अर्थ आरोप के कारण यहाँ ‘एकदेशविवर्ति’ रूपक की मान्यता  
अनिवार्य ही हो जाती है ) ।

इसके अतिरिक्त ऐसे प्रसङ्गों में भी ‘एकदेशविवर्ति’ रूपक ही माना जायगा जहाँ  
रूप्यरूपक-भाव के मूलभूत सादृश्य के स्फुट होने पर भी, बहुत अंशों में तो आरोप  
शाब्द रहे किन्तु एक अंश में अर्थ-सामर्थ्य-सिद्ध बन जाय । कारण यह है कि ऐसे प्रसङ्गों  
में, शाब्द आरोप के बाहुल्य के कारण, रूप्यरूपकभाव की प्रतीति, नि सन्दिग्ध रूप से  
अधिक व्यापक हुआ करती है और ‘समासोक्ति’ की सम्भावना को ठक लिया करती है ।  
किन्तु इसका निष्कर्ष यह नहीं कि ‘यस्य रणान्त पुरे’ आदि में भी, यह मानकर कि  
सम्भावना कर ली जाय । क्यों ? इसलिये कि भले ही यहाँ ‘रण’ और ‘अन्त पुर’ में  
‘सुखसंचरण’ रूप सादृश्य स्फुट हो किन्तु यह ‘सुखसंचरण’ (आनन्द से विचरण) की  
‘सुखसंचरण’ रूप सादृश्य स्फुट हो किन्तु यह ‘सुखसंचरण’ (आनन्द से विचरण) की  
रूप सादृश्य ऐसा है जो (निरपेक्ष) स्वतः नहीं अपितु यहाँ के सम्पूर्ण वाक्यार्थ  
की पर्यालोचना पर निर्भर (सापेक्ष) है और साथ ही साथ ‘सुख’ और ‘चन्द्र’ के ‘मनो-  
हरत्व’ आदि रूप सादृश्य की भांति स्वतः सिद्ध भी नहीं ( क्योंकि यह तो वर्य्य भगवत् )

साधारण्येन यथा—

‘निसर्गसौरभोद्भ्रान्तमुहसंगीतराशिनी ।  
वदिते वासराधीशं स्मेराजनि सरोमिनी ॥’

अत्र निसर्गोत्पादिविशेषणसाम्यात्सरोमिन्यां नायिकाव्ययहारप्रतीतौ श्रीमात्रगामिनं स्मेरत्वधर्मस्य समारोपं कारणम् । तेन विना विशेषणसाम्यमात्रेण नायिकाव्ययहारप्रतीतेरसम्भवात् ।

औपम्यगमत्वं पुनस्त्रिधा सम्भवति, उपमारूपकसङ्कटगमत्वात् ।  
तत्रोपमागमत्वे यथा—

‘दन्तप्रमापुष्पपिता पाणिपल्लवरोमिनी ।  
केरापाराक्षिण्येन मुबेपा हरियोष्मणा ॥’

सम्बद्ध ‘प्रताप’ रूप धर्म की अभिव्यञ्जना है न कि ‘रस’ पर ‘अमृतपुरत्व’ का आरोप जो कि ‘मुहसङ्करण’ रूप साधन की स्पष्ट प्रतीति का निमित्त बन रहा है ।

अब समवेदक धर्ममूक ‘समासोक्ति’ का उदाहरण देखिये—

‘दिनपति सूर्य का उदय हुआ और स्वामयिक सौरभ से मुख धर्मों की गुञ्जररूप गीतध्वनि से भरी पछिनी मुसकुरा उठी ( गिर पड़ी ) ।

यहाँ, साधारण धर्म की समानता में समवितेपणमूक ‘समासोक्ति’ स्पष्ट है क्योंकि यहाँ ‘निसर्गसौरभोद्भ्रान्तमुहसङ्गीतराशिनी’ का विशेषण ऐसा है जो प्रस्तुत ‘सरोमिनी’ और अमृतपुर ‘नायिका’ दोनों ओर समान रूप से अभिव्यक्त हो रहा है और ‘सरोमिनी’ में ‘नायिका’ के व्यवहार की प्रतीति का निमित्त बन रहा है । किन्तु यहाँ जिसे व्यवहार-समारोप कहते हैं उसकी प्रतीति का कारण केवल ‘नयिका’ से संबद्ध ‘स्मेरत्व’ ( मुसकुराहट ) धर्म की ही मात्रा का सकटा है जो कि सरोमिनी के ‘स्मेरत्व’ बाधात विकसत रूप धर्म पर आरोपित है क्योंकि केवल ‘निसर्गसौरभ’ आदि वितेपणसाम्य से ही यहाँ नायिका-व्यवहार का समाराध नहीं सिद्ध हो पाता ( वास्तविक यह है कि ऐसे प्रसङ्गों में विशेषणसाम्य पर जो ‘समासोक्ति’ हुआ करती है वहाँ अमृतपुरगत धर्म का प्रस्तुत क धर्म पर समारोप ही प्रस्तुत कारणरूप से अविरचित रहा करता है ) ।

अब औपम्यगम विशेषण-साम्य में समासोक्ति की साम्यता अथवा असाम्यता का विचार आवश्यक है । विशेषण-साम्य में जो औपम्य दिया रहता है उसकी व तीन अवधारणाएँ हुआ करती हैं—( १ वी ) उपमागमता की अवस्था, ( २ वी ) रूपगमता की अवस्था और ( ३ वी ) उपमा-रूपक साधक्य-धर्मता की अवस्था । अब ( १ वी ) अर्थात् विशेषण-साम्य में औपम्यगमता की अवस्था विभक्त शक्ति में स्पष्ट है—

‘यह मृगजयनी जो कि ‘दन्तप्रमापुष्पपिता’ ( दन्तप्रमाप पुष्पानीब से पिता = पूरा सरीणी हाँथों की वाग्नि से जून और ‘दन्तप्रमापदन्तौ पुष्पपिता = हाँथों की वाग्नि के मरता वाग्नि बाँके कुत्तों से भरी ) ‘पाणिपल्लवरोमिनी’ ( पाणि पल्लव हूँ तेम पाणिमिनी विसकक मरीये हाँथों से मुग्ध और ‘पाणिपल्लव वल्लव वल्लव पाणिसे लपटील्ल’ = हाँथों के मरता पल्लवों से मुग्धगमिन ) और ‘मुग्ध’ ( मुग्ध धर-भूषा से मुग्धगमिन ) है ‘वशा-शाटिपुन्द्रेन रात्रौ’ भ्रमरागमूढ सरीये अथवा वशागम से बड़ी मनाहर-राग रही है तथा वशागम सरीये भ्रमरागमूढ से बड़ी मनाहर प्रतीति हो रही है ( वशागम अति-वृद्धिमेन तेम ) तथा वशागमसरीये अतिपुन्द्रेन ) ।

अत्र सुवेषत्ववशात्प्रथमं दन्तप्रभाः पुष्पाणीवेत्युपमागर्भत्वेन समासः । अनन्तरं च दन्तप्रभासदृशैः पुष्पैश्चितेत्यादिसमासान्तराश्रयेण समानविशेषण-माहात्म्याद्वारणोक्षणायां लताव्यवहारप्रतीतिः । रूपकगर्भत्वे यथा—‘लावण्यमधुभिः पूर्णम्—’ इत्यादि । सङ्करगर्भत्वे यथा—‘दन्तप्रभापुष्प—’ इत्यादि । ‘सुवेषा’ इत्यत्र ‘परीता’ इति पाठे ह्युपमारूपकसाधकाभावात्सङ्करसमाश्रयणम् । समासान्तरं पूर्ववत् । समासान्तरमहिम्ना लताप्रतीतिः । एषु च येषां मते उपमासङ्करयोरेकदेशविवर्तिता नास्ति तन्मते आद्यतृतीययोः समासोक्तिः ।

द्वितीयस्तु प्रकार एकदेशविवर्तिरूपकविषय एव । पर्यालोचने त्वाद्ये प्रकारे एकदेशविवर्तिन्युपमैवाङ्गीकर्तुमुचिता ।

यहाँ ‘सुवेषा’ इस विशेषण-पद की महिमा से, जो कि उपमा का उपपादक पद है और प्रस्तुत ‘नायिका’ में ही अन्वित हो सकता है, यह स्पष्ट है कि ‘दन्तप्रभापुष्पचिता’ आदि विशेषण भी प्रस्तुत नायिका में ही अन्वित होने योग्य हैं क्योंकि ‘दन्तप्रभापुष्पचिता’ आदि में ‘दन्तप्रभा’ पुष्पाणीव तैश्चिता’ आदि अर्थ में जो समास सम्पन्न होता है उसमें ‘उपमा’ का अन्तर्भाव निर्विवाद है । इसके बाद जब कि ‘दन्तप्रभापुष्पचिता’ आदि में ‘दन्तप्रभासदृशैः पुष्पैश्चिता’ आदि रूप से मध्यमपदलोपी समास किया जाता है तब यह स्पष्ट हो जाता है कि इन विशेषणों की महिमा से, जो कि प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों में समान रूप से अन्वित हो सकते हैं, प्रकृत ‘मृगनयनी’ पर ‘लता’ के व्यवहार का समारोप किस प्रकार किया हुआ है ( इस प्रकार यहाँ औपम्यगर्भ विशेषण-साम्य में ‘समासोक्ति’ की रूपरेखा स्पष्ट दिखायी देने लगेगी ) ।

इसी प्रकार ( २ री ) अर्थात् रूपकगर्भता की अवस्था में, विशेषणसाम्य में ‘समासोक्ति’ के दर्शन के लिये यह पूर्वोद्धृत सूक्ति देखिये—

‘लावण्यरूपी मधुरस से भरा इस सुन्दरी का विकसित मुख’...आदि’

[ यहाँ ‘लावण्यमधुभिः’ आदि में ‘मयूरन्यसकादयश्च’ इस सूत्र से रूपक समास है । ‘लावण्य’ और ‘मधु’ आदि में ‘आह्लादकत्व’ आदि रूप ‘सादृश्य’ भी स्पष्ट प्रतीत हो रहा है । जो कि यहाँ के रूप्यरूपक-भाव में मूलरूप से पढ़ा है । साथ ही साथ ‘लावण्यमधु’ आदि का रूप्यरूपक-भाव ऐसा है जो निरपेक्ष स्वतन्त्रतया अवस्थित-प्रतीत हो रहा है क्योंकि, इसके लिये, जैसा कि स्पष्ट है, ‘मुख’ पर ‘पद्मत्व’ के आरोप की कोई अपेक्षा नहीं दिखायी देती । किन्तु ‘पद्म’ में ही अन्वित हो सकने वाला ‘विकस्वरत्व’ का धर्म इसी बात को सिद्ध करता है कि ‘पद्म’ का ‘विकस्वरत्व’ मुख के ‘विकस्वरत्व’ पर आरोपित है जिससे ‘मुख’ पर पद्मव्यवहार की प्रतीति में ‘समासोक्ति’ स्पष्ट प्रतीत हो उठती है । ]

अब, ( ३ री ) अर्थात् उपमा-रूपक-साङ्ख्यगर्भता की अवस्था में, विशेषण साम्य में ‘समासोक्ति’ के निदर्शन के लिये पूर्वोद्धृत ‘दन्तप्रभापुष्पचिता’ आदि सूक्ति ही पर्याप्त है । यहाँ यदि ‘सुवेषा’ के स्थान पर ‘परीता’ कर दिया जाय तो यह स्पष्ट हो जायगा कि यहाँ न तो ‘उपमा’ का साधक कोई प्रमाण रहेगा और न ‘रूपक’ का ही ( क्योंकि ‘दन्तप्रभापुष्पचिता’ में ‘दन्तप्रभा पुष्पाणीव तैश्चिता’ इस रूप में उपमा समास भी संगत होगा और ‘दन्तप्रभा एव पुष्पाणि तैश्चिता’ इस रूप में रूपकसमास भी उपपन्न रहेगा ) और अन्त में उपमारूपक सदेह-संकर की मान्यता अनायास सिद्ध हो जायगी । और

अन्यथा—

‘पेन्त्रं घनु’ पाण्डुपयोधरेण शरद्भानार्त्रनक्षत्रात्मम् ।  
प्रमोक्षयन्ती सकलकृमिन्तुं तपं रवेरग्न्यधिकं चकार ॥’

इत्यत्र कथं शरदि नायिकाग्न्यवहारप्रतीतिः, नायिकापयोधरेणार्त्रनक्षत्रात्मं  
शक्रचापधारणासम्भवात् ।

ननु ‘आर्त्रनक्षत्रात्मम्’ इत्यत्र स्थितमप्युपमानत्वं वस्तुपर्यालोचनया पेन्त्रे

इसके बाद जब कि, ‘इत्यप्रमापुष्पचिता’ आदि पदों में उसी रूप का समास मात्रावाच्य जो कि ‘सुषेवा’ पद के सत्राज में पहले माना गया, तब यह स्पष्ट हो जाएगा कि यहाँ किस प्रकार प्रकृत नायिका पर कला का आरोप किया गया है ( क्योंकि वहाँ ‘सुषेवा’ का धर्म केवल नायिका में अन्वित प्रतीत होता था वहाँ ‘परीता’ का धर्म नायिका और कला दोनों में अनुगत प्रतीत होगा और ‘नायिका’ में ‘कला’ की प्रतीति निस्संदिग्ध रूप से होने लगेगी ) ।

यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि कुछ जलद्वारियों ( जैसे कि उद्भर आदि ) के अनुसार जो कि उपमा और रूपक के संदेह संकर की ‘एकदेशविभक्तिता’ वहीं मानते ‘इत्यप्रमापुष्पचिता’ सुषेवा अग्नि प्रथम और ‘इत्यप्रमापुष्पचिता परीता’ आदि द्वितीय उद्भरणों में तो ‘समासोक्ति अलङ्कार है किन्तु ‘काव्यमनुमिति’ आदि द्वितीय उद्भरण में जो अलङ्कार है वह ‘एकदेशविभक्तिरूपक’ है ( क्योंकि ‘काव्यमनुमिति’ आदि में जिस ‘विकस्वरत्न धर्म का निर्देश है वह जैसे तो ‘सुख’ में आश्रित प्रतीत होता है किन्तु ‘सुख’ पर ‘कमलत्व’ का आरोप में उपचारता अन्वित हो जाता है ) ।

किन्तु यदि उपर्युक्त समासोक्ति-भाष्यता पर विमर्श किया जाय तो यही निष्कर्ष निकल सकता है कि ‘इत्यप्रमा सुषेवा’ आदि प्रथम सूक्ति में ‘समासोक्ति’ की अपेक्षा ‘एकदेशविभक्ति’ ही उपमा की ही भाष्यता अधिक सुक्ष्म है । अन्वया विन्न सूक्ति अर्थात्—

‘वह शरद् कतु, जिसका ‘पाण्डुपयोधर’ ( शुभ मेघमण्डल और शुभपीत स्तनमुष्म ) पर नूतन वनचत की आभावाला इन्द्रधनुष सकल रहा है जो कि ‘सकल’ ( ‘सत्’ रूप कामधनुष और परकीर्णमनरूप हीनयुक्त ) अश्वमा का प्रमुदित ( निर्मल ऊँचा रतिमुख में विभार ) बना रही है और सूर्य ( और विपत्य ) को बहुत अधिक ‘सतत’ ( तीव्र आतपमय और मकरापायुक्त ) करती दिखायी दे रही है ( या पहुँची ) ।

आदि में ( वहाँ इन्द्रधनुष में नवचत का सादर्य और मेघ में कुच का सादर्य तो साम्य है और शरद्कतु में नायिका, अश्वमा में उपवायक तथा सूर्य में नायक का भीषण अर्थसामर्थ्य सिद्ध है ) वह कैसे संभव है कि शरद्कतु में नायिका का व्यवहार की प्रतीति में ‘समासोक्ति’ द्वारा कहे जब कि नायिकापयोधर ( जो क स्तन ) का साथ बहीन नवचत की कान्तिवाले इन्द्रधनुष का कारण का धर्म अन्वित ही नहीं हो सकता ( ‘पेन्त्रं घनु’ आदि में वह तो ‘एकदेशविभक्ति’ ही उपमा है त्रिगुण दर्शन में ‘इन्द्रधनुष’ और ‘नवचत’ ‘शरद् और ‘नायिका’ ‘अश्वमा’ और ‘प्रतिनायक तथा ‘सूर्य’ और ‘नायक’ का ओपम स्पष्ट हो जाता है ) ।

यहाँ यदि ‘पेन्त्रं घनु’ आदि में वह कहा जाय कि ‘एकदेशविभक्ति’ ही उपमा की संभावना हमद्विष नहीं होगी चाहिये क्योंकि ‘आर्त्रनक्षत्रात्मम्’ में भीषण इन्द्रधनुष

घनुषि सञ्चारणीयम् । यथा—‘दध्ना जुहोति’ इत्यादौ हवनस्यान्यथासिद्धेर्दध्नि सञ्चार्यते विधिः ।

एवञ्चेन्द्रचापाभमार्द्रनखक्षतं दधानेति प्रतीतिर्भविष्यतीति चेत् ? न, एवं विधनिर्वाहे कष्टसृष्टिकल्पनादेकदेशविवर्त्युपमाङ्गीकारस्यैव व्यायस्त्वात् ।

अस्तु वात्र यथाकथञ्चित्समासोक्तिः । ‘नेत्रैरिवोत्पलैः पद्मैः—’ इत्यादौ चान्यगत्यसम्भवात् । किं चोपमायां व्यवहारप्रतीतेरभावात्कथं तदुपजीविकायाः समासोक्तेः प्रवेशः ।

यदाहुः—

‘व्यवहारोऽथवा तत्त्वमौपम्ये यत्प्रतीयते ।

तन्नौपम्यं समासोक्तिरेकदेशोपमा स्फुटा ॥’

प्रतिपादित है और इसलिये यहाँ ‘समासोक्ति’ मानना ही ठीक है क्योंकि ‘आर्द्रनख-  
क्षताभम्’ में, जैसा कि इस सूक्ति का अर्थ रहस्य है, ‘नखक्षत’ की उपमानता ‘इन्द्रधनुष’  
में लागू मान ली जायगी और ‘इन्द्रधनुष’ की भाँति नखक्षत धारण करती’ इस अर्थ की  
प्रतीति में ‘समासोक्ति’ सिद्ध हो जायगी । अब ‘नखक्षत’ की उपमानता का ‘इन्द्रधनुष’  
में क्योंकि संचार किया गया (अर्थात् नखक्षत को उपमेय मानकर इन्द्रधनुष को क्योंकि  
उपमान मान लिया गया) इसके लिये मीमांसकों का ‘अदग्धदहन-न्याय’ ही प्रमाण है  
जिसके अनुसार ‘अप्राप्त का ही विधान’ संभव है, प्रमाणान्तर से प्राप्त का नहीं अर्थात्  
जैसे कि ‘दध्ना जुहोति’ आदि विधिवाक्य का अभिप्राय ‘दधि’ मात्र का विधान है न कि  
‘अग्निहोत्र’ का भी जो कि ‘अग्निहोत्र जुहोति’ इस विधि से ही प्राप्त है वैसे ही ‘आर्द्रनख-  
क्षताभम् ऐन्द्र धनुर्दधाना’ का अभिप्राय ‘ऐन्द्रचापाभ नखक्षतं दधाना’ ही है, जैसा कि  
इस सूक्ति के पूर्वापरपर्यालोचन से सिद्ध है ।

किन्तु इस उपर्युक्त ‘समासोक्ति कल्पना’ में, जैसा कि स्पष्ट है, कष्टकल्पना ही प्रतीत  
हो रही है । इसलिये यहाँ ‘समासोक्ति’ न मानकर ‘एकदेशविवर्तिनी उपमा’ का ही  
मानना श्रेयस्कर है । अथवा यदि ‘ऐन्द्र धनु’ आदि में किसी प्रकार उपमानुप्राणित  
‘समासोक्ति’ मान भी ली जाय तब भी यह तो अगत्या मानना ही पड़ेगा कि ‘नेत्रै-  
रिवोत्पलैः’ आदि में ‘समासोक्ति’ नहीं अपितु केवल ‘एकदेशविवर्तिनी उपमा’ ही अलङ्कार  
है । यहा एक बात और भी विशेषरूप से विचारणीय है और वह यह है कि जब कि  
‘उपमा’ में, एक वस्तु (उपमेयरूप वस्तु) पर दूसरी (उपमानरूप) वस्तु के व्यवहार  
का समारोप नहीं हुआ करता अपितु एक वस्तु की, दूसरी वस्तु से सादृश्य-प्रतीति ही  
सब कुछ है, तब यह कैसे मान लिया जाय कि सादृश्यप्रतीति पर निर्भर ‘उपमा’ में व्यव-  
हार-समारोप की प्रतीति पर निर्भर ‘समासोक्ति’ प्रवेश पा जाया करती है (अर्थात्  
‘उपमानुप्राणित समासोक्ति’ की कल्पना निराधार सी ही है) । तभी तो यह कहा गया  
है कि—

‘औपरम्य अर्थात् सादृश्यगर्भ विशेषण-प्रयोग के प्रसंगों में जो व्यवहार-समारोपरूप  
अथवा स्वरूप समारोपरूप सादृश्य प्रतीत हुआ करता है उसमें ‘समासोक्ति’ नहीं हुआ  
करती क्योंकि उसमें तो ‘एकदेशविवर्तिनी उपमा’ का ही चमत्कार-प्रतीति सिद्ध हुआ  
करता है ।’



एवञ्चोपमारूपकयोरेकदेशयिवर्तिताङ्गीकारे तन्मूलसङ्गरेऽपि समासोच्छेदप्र-  
पेशो न्यायसिद्ध एव ।

तेनीपम्यगमविशेषणोत्थापितत्वं नास्या विषय इति विशेषणसाम्ये रिक्त-  
विशेषणोत्थापिता साधारणविशेषणोत्थापिता चेति द्विधा । कार्यद्विज्ञयोस्तुम्बत्वे  
च द्विविधेति चतुःप्रकारा समासोक्तिः ।

सर्वत्रैवात्र व्यवहारसमारोपः कारणम् । स च कश्चिन्नौकिके वस्तुनि लौकि-  
क्यस्तुम्बव्यवहारसमारोपः, शास्त्रीये वस्तुनि शास्त्रीयवस्तुम्बव्यवहारसमारोपः,  
लौकिके वा शास्त्रीयवस्तुम्बव्यवहारसमारोपः, शास्त्रीय वा लौकिक्यस्तुम्बव्यवहार  
समारोप इति चतुर्धा ।

तत्र लौकिक्यस्तुमपि रसादिभेदावनेकविधम् । शास्त्रीयमपि तर्कानुर्वेदज्योति-  
शास्त्रप्रसिद्धयति चतुःप्रकारा समासोक्तिः । विस्मात्र यथा—‘व्याघ्र्य पाहस-  
नम्’ इत्यादौ लौकिके वस्तुनि लौकिकस्य इतन्नामुक्यव्यवहारोऽपि समासोपः ।

इससे क्या सिद्ध हुआ ? यही कि जब कि ‘उपमा’ और ‘रूपक’ में ‘एकदेशविधिवर्तिता’  
की मान्यता निर्दिष्ट है ( जिससे इनके प्रसङ्गों में ‘समासोक्ति’ कहापि नहीं मानी जा  
सकती ) तब वह भी निर्दिष्ट ही है कि उपमा और रूपक्युक्त सर्वैहसंकर के प्रसङ्गों में  
भी ‘समासोक्ति’ की मान्यता पुष्टिपुष्ट नहीं । इससे यह सिद्ध है कि ( जकहतरसर्वस्वर  
आदि वाक्यकारिकों द्वारा मान्य ) औपम्यगम विशेषण-साम्य ‘समासोक्ति’ का विषय नहीं  
हुआ करता ।

मिथ्या यह निकलता है कि वह समासोक्ति जो कि विशेषण-साम्य में हुआ करती  
है केवल दो प्रकार की ही है—( १ की ) रिक्तविशेषणविषयव्यवहारा समासोक्ति और ( २ की )  
साधारणविशेषणविषयव्यवहारा समासोक्ति । इस प्रकार समविशेषणमूला ‘समासोक्ति’ के  
इन दो प्रकारों को निकालकर ‘समासोक्ति’ के चार प्रकार पुष्टिपुष्ट प्रवर्तत होते हैं ।

‘समासोक्ति’ का प्रयोजक व्यवहार-समारोप ही है जो कि इसके चारों प्रकारों में व्याप्त  
है । इस व्यवहार-समारोप के भी चार रूप हैं—( १ का ) लौकिक वस्तु पर लौकिक वस्तु  
का व्यवहार-समारोप ( २ का ) शास्त्रीय वस्तु पर शास्त्रीय वस्तु का व्यवहार-समारोप  
( ३ का ) लौकिक वस्तु पर शास्त्रीय वस्तु का व्यवहार-समारोप और ( ४ का ) शास्त्रीय  
वस्तु पर लौकिक वस्तु का व्यवहार-समारोप । इसके पहले रूप की भी अनेकों प्रकार की  
संभावनाएँ हैं क्योंकि लौकिक वस्तु में भी, रसमावादि के मेव से मिथ्या मिथ्या रूपों का  
वर्तन हुआ करता है । इसी भाँति दूसरे रूप के भी अनेक प्रकार प्रवर्तत होते हैं क्योंकि  
शास्त्रीय वस्तु के भी प्रकार अनेक हैं जैसा कि तर्क-आनुर्वेद-ज्योतिषात्मक आदि-आदि मिथ  
मिथ्य शास्त्रों के प्रचलन और प्रवर्तन से स्पष्ट है ।

इस दृष्टि से देखते यही कहा जा सकता है कि ‘समासोक्ति’ ( चार ही प्रकार की  
नहीं जैसा कि कहा गया अथित ) अनेक प्रकार की हुआ करती है जैसा कि स्पष्ट है ।  
विश्वकर्षणमात्र के किपु, यदि ‘व्याघ्र्य पाहसनममुक्यव्यवहारा’ आदि सूक्ति की ‘समा-  
सोक्ति’ को देखें तो यह पता चक जायगा कि एक ( ‘मक्याविक’-रूप ) लौकिक वस्तु पर,  
दूसरी ‘इक्यमुक’-रूप लौकिक वस्तु के व्यवहार का समारोप क्या है और जैसा है ? इसी  
प्रकार यदि विग्रह-सूक्ति जायें—

‘यैरेकरूपमखिलास्वपि वृत्तिषु त्वां

पश्यद्विरव्ययमसंख्यतया प्रवृत्तम् ।

लोपः कृतः किल परंत्वजुषो विभक्ते—

स्तैर्लक्षणं तव कृतं ध्रुवमेव मन्ये ॥’

अत्रागमशास्त्रप्रसिद्धे वस्तुनि व्याकरणप्रसिद्धवस्तुव्यवहारसमारोपः । एव-  
मन्यत्र ।

रूपकेऽप्रकृतमात्मस्वरूपसन्निवेशेन प्रकृतस्य रूपमवच्छादयति । इह तु  
स्वावस्थासमारोपेणावच्छादितस्वरूपमेव तं पूर्वावस्थातो विशेषयति । अतः  
एवात्र व्यवहारसमारोपो न तु स्वरूपसमारोप इत्याहुः ।

उपमाध्वनौ श्लोके च विशेष्यस्यापि साम्यम्, इह तु विशेषणमात्रस्य ।  
अप्रस्तुतप्रशंसायां गम्यत्वम्, इह त्वप्रस्तुतस्येति भेदः ।

‘हे प्रभो ! सोचता हूँ कि जिन लोगों ने तुम्हें, तुम्हारी विविध ( सृष्टि स्थिति-सहति  
आदि ) अवस्थाओं में भी एकरूप किंवा अव्यय ( अनश्वर ) निर्विकार और असङ्ख्य  
रूपों वाला देखा है और ऐसा देख कर ‘तत्’-‘त्वम्’ आदि रूप में प्रकाशित समस्त भेद-  
भाव का उच्छेद कर दिया है, उन्होंने ही तुम्हारा सचमुच लक्षण किया है ( उन्होंने ही  
तुम्हें सचमुच पहचाना है ) ।’

आदि की ‘समासोक्ति’ पर विचार किया जाय तो यह स्पष्ट हो जायगा कि ( एक शास्त्र  
अर्थात् ) वेदान्तशास्त्र में प्रसिद्ध ( ब्रह्मरूप ) वस्तु पर ( दूसरे शास्त्र अर्थात् ) व्याकरण-  
शास्त्र में प्रसिद्ध ( निपात-रूप ) वस्तु का व्यवहार-समारोप क्या और कैसा हुआ करता  
है । यहाँ व्याकरण-प्रसिद्ध ‘निपात’-रूप वस्तु के व्यवहार-समारोप का अभिप्राय ‘यैरेक’  
आदि सूक्ति के इस निपातपरक अर्थ में समझा जा सकता है—‘हे निपात ! सोचता हूँ  
कि जिन लोगों ने तुम्हें, अनेक ( कृत-तद्धित-समास आदि ) वृत्तिओं में भी परिवर्तन-  
शून्य किंवा अव्यय ( ‘अव्यय’ पद द्वारा बोध्य ) तथा वचननिर्देश से शून्य—व्याकरण  
में अव्यय पदों के वचन आदि का विचार नहीं हुआ करता—माना है और ऐसा देखकर  
तुममें, तुम्हारी परवर्तिनी ( सुप् आदि ) विभक्तिओं का लोप स्वीकार किया है, उन्होंने  
ही तुम्हें सचमुच पहचाना है ( तुम्हारे लिये ‘चादयोऽसत्त्वे’, ‘प्रादय’, आदि सूत्रों और  
सिद्धान्तों को बनाया ) ।

इसी प्रकार अन्यत्र भी ( काव्य-साहित्य में ) विविध प्रकार के व्यवहार-समारोप के  
दृष्टान्त देखे जा सकते हैं ।

यहाँ ( वस्तुतः एकदेशविवर्तिरूपक ) और ‘समासोक्ति’ का यह परस्पर  
भेद समझ लेना चाहिये—‘रूपक’ में जो ‘अप्रकृत’ ( उपमानरूप ) रहा करता है वह  
अपने स्वरूप के समारोप से, ‘प्रकृत’ के स्वरूप को ढँक लिया करता है किन्तु ‘समासोक्ति’  
में ऐसा हुआ करता है कि ‘अप्रकृत’ अपनी अवस्था को ‘प्रकृत’ पर आरोपित किया  
करता है जिससे उस ( प्रकृत ) का स्वरूप तो नहीं ढका करता किन्तु उसकी अवस्था में  
कुछ विशेषता अवश्य आ जाया करती है । वस्तुतः इसीलिये ‘समासोक्ति’ को ‘व्यवहार-  
समारोप’ कहा गया है न कि ‘स्वरूपसमारोप’ ।

‘समासोक्ति’ और ‘उपमाध्वनि’ भी एक नहीं और न ‘समासोक्ति’ और ‘अर्थश्लेष’  
ही एक हैं । यह है कि ‘उपमाध्वनि’ और ‘अर्थश्लेष’ में तो विशेष्य का भी



अत्र प्रकरणादिनियमाभावाद् द्वावपि राजसूर्यौ वाच्यौ ।

( २५—अप्रस्तुतप्रशंसाकार . सप्रभेद निरूपण )

क्वचिद्विशेषः सामान्यात्सामान्यं वा विशेषतः ।

कार्यान्निमित्तं कार्यं च हेतोरथ समात्समम् ॥ ५८ ॥

अप्रस्तुतात्प्रस्तुतं चेद् गम्यते पञ्चधा ततः ।

अप्रस्तुतप्रशंसा स्याद्—

क्रमेणोदाहरणम्—

( सामान्य से विशेष की अभिव्यञ्जना में 'अप्रस्तुतप्रशंसा' )

'पादाहत यदुत्थाय मूर्धानमधिरोहति ।

स्वस्थादेवापमानेऽपि देहिनस्तद्वर रजः ॥'

अत्रास्मदपेक्षया रजोऽपि वरमिति विशेषे प्रस्तुते सामान्यमभिहितम् ।

नामक राजा ) प्रकाशित हो रहे हैं ।'

यहाँ 'प्रकरण' आदि अभिधानियामकों में एक की भी सम्भावना नहीं। इसलिये यहाँ राजपरक किं वा सूर्यपरक—दोनों अर्थ वाच्यरूप से ही विवक्षित प्रतीत हो रहे हैं ( जिसमें 'श्लेष' का स्वरूप स्पष्ट झलक रहा है ) ।

विमर्श—साहित्यदर्पणकार ने 'श्लेष' को शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार—दोनों प्रकार का अलङ्कार माना है । शब्दालङ्कार के रूप में 'श्लेष' को शब्दश्लेष कहा है और अर्थालङ्कार के रूप में इसे 'अर्थश्लेष' माना है । 'अर्थश्लेष' और 'शब्दशक्त्युद्भवध्वनि' के भेद के सम्बन्ध में 'प्रदीप'कार की यह उक्ति व्यान देने योग्य है—

'यत्रोभयोरर्थयोस्तात्पर्यं स श्लेषः । यत्र त्वेकस्मिन्नेव तत्, सामग्रीमहिम्ना तु द्वितीयार्थप्रतीतिः सा व्यञ्जनेति ।'

अलङ्कारसर्वस्वकार ने 'समासोक्ति' और 'अर्थश्लेष' के भेद के सम्बन्ध में यह कहा है—

'केवलविशेषणसाम्यं समासोक्तावुक्तविशेष्ययुक्तविशेषणसाम्यं स्वधिकृत्येवमुच्यते ।'

( अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ १३१ )

अनुवाद—'अप्रस्तुतप्रशंसा' वह अलङ्कार है जिसे अप्रस्तुत से प्रस्तुत की ऐसी अभिव्यञ्जना में देखा जाया करता है जिसकी ये पाँच सम्भावनायें हुआ करती हैं—( १ ली ) अप्रस्तुतरूप सामान्य से प्रस्तुतरूप विशेष की अभिव्यञ्जना, ( २ री ) अप्रस्तुतरूप विशेष से प्रस्तुतरूप सामान्य की अभिव्यञ्जना, ( ३ री ) अप्रस्तुतरूप कार्य से प्रस्तुतरूप कारण की अभिव्यञ्जना, ( ४ थी ) अप्रस्तुतरूप कारण से प्रस्तुतरूप कार्य की अभिव्यञ्जना और ( ५ वीं ) अप्रस्तुतरूप समान वस्तु से प्रस्तुतरूप समान वस्तु की अभिव्यञ्जना । इन पञ्चविध सम्भावनाओं के कारण अप्रस्तुतप्रशंसा भी पाँच प्रकार की हुआ करती है ।

इसके उदाहरण क्रमशः ये हैं—

'अपमानित होने पर भी चुप बैठ जाने वाले मनुष्य से तो वह धूल अच्छी है जो कि पैरों तले रौंदी जाने पर भी रौंदनेवाले के सिर पर जा बैठती है ।' ( शिशुपालवध )

यहाँ जो प्रस्तुत अभिव्यञ्ज्य है वह यह विशेषरूप अर्थ है—'शिशुपाल से अपमानित और किंकर्तव्यविमूढ पड़े रहने वाले हम लोगों की अपेक्षा धूल अच्छी है' । इसे सामान्य-

(१४—रखेव)

अम्बैः स्वमावादेकार्थैः स्तेपोऽनेकार्थवाचनम् ॥ ५७ ॥

‘स्वमावादेकार्थैः’ इति राध्वरलोपाद् व्यञ्जयेत् । ‘वाचनम्’ इति च  
अने । उदाहरणम्—

‘प्रपठेयम् क्रिया साध्वीमोक्षिन्यं हरितां हरन् ।

महसा मूषसा दीप्तो विरागति विमाकर ॥’

आहुत करता प्रवात हुआ करता है ‘परिकर’ अलङ्कार की कल्पना का सूचकत्व है । अलङ्कार  
सम्बन्धित है इतिविधि कहा है—‘विशेषणानां सामिप्रावर्त्यं प्रतीयमानार्थगर्भाकारः । अत एव प्रसङ्गगम्भीरपदव्यञ्जनात्  
अनेतिविधा । एवं च प्रतीयमानोपस्य वाच्योन्मुक्तत्वात् परिकर इति सार्थक नाम ।’

( अलङ्कारसर्वस्व पृष्ठ १२ )

( ४ ) ‘परिकर’ के विधि एक विशेषण की अभिप्रायवर्त्यता अपेक्षित है वा अनेक विशेषणों की  
इस संवन्ध में कल्पनाओं से पर्याप्त समझ है ।कान्तप्रकाशकर अलङ्कारसर्वस्वकर विमर्दिनीकर आदि के अनुसार अनेक विशेषणों की  
सामिप्रावर्ता ही ‘परिकर’ की कल्पना है—‘वसन्तपुष्पावस्य दोषतामिषावातविरागज्ज्वलेन पुष्पावस्यीकरः कृतः, तथाप्येकमिषाव  
बहुना विशेषणानामेवमुपन्यासे वैचिन्त्यमित्यलङ्कारमन्त्रे गणितः ।

( कान्तप्रकाश परिकरवचन )

‘विशेषणावच्छात्र बहुत्वमेव विविक्तत्वं । अन्यथा कृपुष्पावस्य दोषतामिषावातविरा-  
गज्ज्वलेन स्वीकृतस्य पुष्पावस्यार्थं विषया एवात् । एकमेवविधानेकविशेषणोपन्यासद्वारेण  
वैचिन्त्यविषया संभवतीत्यस्वाकङ्कारत्वम्’ ( अलङ्कारसर्वस्वविमर्दिनी पृष्ठ १२ ) ।विचयान कविराज भी इस संवन्ध में वही भाषाओं के अनुवाची है । किन्तु रमिष्ठराज  
काव्याव के मत में एक विशेषण की अभिप्रायवर्त्यता ही ‘परिकर’ की ही कल्पना ग्राही गयी है—‘विशेषणानेकार्थं हि अलङ्कारविषयावाचकत्वाद् वैचिन्त्यविशेषणावच्छात्रकमस्तु नाम । न तु  
प्रकृतत्वाकङ्काररमेव तदिति शक्यं वक्तुम् । ‘वैचिन्त्यविषयावाचकत्वाद् वैचिन्त्यविषया  
( स्वर्णक  
कङ्कोकिनि ) । त्वं तावद्विरागज्ज्वलेन मधमवच्छात्रकवचनमना ॥ इति प्रागुक्ते एकस्वैव  
विशेषणस्य चमत्कारिताया अपवादवर्गीयत्वात् । ‘अपि कालपयस्ककावच तस्या हा इत्यं  
मीवगयमावा । दूरस्ये अपि किं वा कथमसौ विस्तरेणकम् ॥ अनेकैकविशेषणमात्रेणैव  
सकलवाच्यार्थसंश्लेषणात् ।’ ( रसगङ्गाधरः परिकरप्रकरण )अनुवाद—‘रखेव’ वह अलङ्कार है जिसे स्वमावता एक अर्थ के वाचक पक्षों द्वारा अनेक  
अर्थों का अभिप्राय अथवा प्रतिपादन कहा जाना करता है ।यहाँ कारिका में ‘स्वमावादेकार्थैः’ इसविधि कहा गया है जिसमें इस अलङ्कार ( रखेव  
अथवा अर्थरखेव ) को ‘राध्वरलोप’ से ( जिसमें अल्प स्वमावता इवर्त्यक रहा करते हैं )  
पृथक् रूप से समझा जा सके । साथ ही साथ ‘अनेकार्थवाचनम्’ में ‘वाचनम्’ का प्रयोग  
इसविधि है जिसमें ‘अपि’ से ( जहाँ अनेक अर्थों की व्यञ्जना हुआ करती है ) इस  
अलङ्कार को ( जिसमें अनेक अर्थों का अभिप्राय अपेक्षित है ) पृथक् किया जा सके ।  
इसका उदाहरण यह है—‘सर्वत्र धार्मिक धिया-कर्म में प्रवृत्ति बताते हुये चतुर्विक् माकिन्व का निराकरण  
करते हुये किं वा महनीय तैज से वीर्य से विमाकर ( मगवान् सूर्य अथवा विमाकर

अत्र प्रकरणादिनियमाभावाद् द्वावपि राजसूर्यौ वाच्यौ ।

( २५—अप्रस्तुतप्रशंसालकार • सप्रभेद निरूपण )

क्वचिद्विशेषः सामान्यात्सामान्यं वा विशेषतः ।

कार्यान्निमित्तं कार्यं च हेतोरथ समात्समम् ॥ ५८ ॥

अप्रस्तुतात्प्रस्तुतं चेद् गम्यते पञ्चधा ततः ।

अप्रस्तुतप्रशंसा स्याद्—

क्रमेणोदाहरणम्—

( सामान्य से विशेष की अभिव्यञ्जना में 'अप्रस्तुतप्रशंसा' )

'पादाहृत यदुत्थाय मूर्धानमधिरोहति ।

स्वस्थादेवापमानेऽपि देहिनस्तद्वर रजः ॥'

अत्रास्मदपेक्षया रजोऽपि वरमिति विशेषे प्रस्तुते सामान्यमभिहितम् ।

नामक राजा ) प्रकाशित हो रहे है ।'

यहाँ 'प्रकरण' आदि अभिधानियामकों में एक की भी सम्भावना नहीं। इसलिये यहाँ राजपरक किं वा सूर्यपरक—दोनों अर्थ वाच्यरूप से ही विवक्षित प्रतीत हो रहे हैं ( जिसमें 'श्लेष' का स्वरूप स्पष्ट झलक रहा है ) ।

विमर्श—साहित्यदर्पणकार ने 'श्लेष' को शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार—दोनों प्रकार का अलङ्कार माना है। शब्दालङ्कार के रूप में 'श्लेष' को शब्दश्लेष कहा है और अर्थालङ्कार के रूप में इसे 'अर्थश्लेष' माना है। 'अर्थश्लेष' और 'शब्दशक्त्युद्भवध्वनि' के भेद के सम्बन्ध में 'प्रदीप'कार की यह उक्ति ध्यान देने योग्य है—

'यन्त्रोभयोरर्थयोस्तात्पर्यं स श्लेष । यत्र त्वेकस्मिन्नेव तत्, सामग्रीमहिम्ना तु द्वितीयार्थप्रतीतिः सा व्यञ्जनेति ।'

अलङ्कारसर्वस्वकार ने 'समासोक्ति' और 'अर्थश्लेष' के भेद के सम्बन्ध में यह कहा है—

'केवलविशेषणसाम्यं समासोक्तावुक्तं विशेष्ययुक्तविशेषणसाम्यं त्वधिकृत्येदमुच्यते ।'

( अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ १३१ )

अनुवाद—'अप्रस्तुतप्रशंसा' वह अलङ्कार है जिसे अप्रस्तुत से प्रस्तुत की ऐसी अभिव्यञ्जना में देखा जाया करता है जिसकी ये पाँच सम्भावनायें हुआ करती हैं—( १ ली ) अप्रस्तुतरूप सामान्य से प्रस्तुतरूप विशेष की अभिव्यञ्जना, ( २ री ) अप्रस्तुतरूप विशेष से प्रस्तुतरूप सामान्य की अभिव्यञ्जना, ( ३ री ) अप्रस्तुतरूप कार्य से प्रस्तुतरूप कारण की अभिव्यञ्जना, ( ४ थी ) अप्रस्तुतरूप कारण से प्रस्तुतरूप कार्य की अभिव्यञ्जना और ( ५ वीं ) अप्रस्तुतरूप समान वस्तु से प्रस्तुतरूप समान वस्तु की अभिव्यञ्जना। इन पञ्चविध सम्भावनाओं के कारण अप्रस्तुतप्रशंसा भी पाँच प्रकार की हुआ करती है ।

इसके उदाहरण क्रमशः ये हैं—

'अपमानित होने पर भी खुप बैठ जाने वाले मनुष्य से तो वह धूल अच्छी है जो कि पैरों तले रौंदी जाने पर भी रौंदनेवाले के सिर पर जा बैठती है ।' ( शिशुपालवध )

यहाँ जो प्रस्तुत अभिव्यञ्ज्य है वह यह विशेषरूप अर्थ है—'शिशुपाल से अपमानित और किंकर्तव्यविमूढ पदे रहने वाले हम लोगों की अपेक्षा धूल अच्छी है' ।

(विशेष से सामान्य की अभिव्यञ्जना में 'अप्रस्तुतप्रशंसा')

'स्त्रगिय यदि जीपितापहा हव्यं किं निहिता न हन्ति माम् ।

विपमप्यमृत कचिद्भवममृत या विपमीश्वरच्छया ॥'

अप्रेरयेच्छया पश्यद्विदितकारिणाऽपि हितकारित्वं हितकारिणोऽप्यहितकारित्वमिति सामान्ये प्रस्तुते विशेषोऽभिहित । एवञ्चात्राप्रस्तुतप्रशंसामूलोऽर्थान्तरन्यास ।

दृष्टान्ते प्रख्यातमेव यस्तु प्रतिबिम्बत्वेनोपादीयते । इह तु विपामृतयोरमृतविपीमावस्याप्रतियोगेन तस्य सद्भावात् ।

(कार्य से कारण की अभिव्यञ्जना में 'अप्रस्तुतप्रशंसा')

'इन्दुर्लित इषाच्छनेन अहिता दृष्टिमृगीणामिय,

प्रस्थानारुणिमेव धिमुमदस्य श्यामेव हेमप्रभा ।

काकरप कलया च कोकिलपपूकण्ठेप्यिव प्रस्तुतं

सीताया' पुरतश्च हन्त ! शिशिनां वर्हा' सगर्हो इव ॥'

(अपमानित और अपमान सहने वाले मनुष्य मात्र की अपेक्षा पूछ अप्पदी है आदि) रूप कार्य के अभिव्यञ्जना द्वारा अभिव्यञ्ज्य रक्ता गया है ।

'यदि यह फूल की साक्षा प्राण के लेने वाली है तो मेरी छाती पर कड़कती हुई मेरा प्राण क्यों वहीं के लेती ! ओह ! ईश्वर की भी क्या खीला है कि एक के किये तो बिप भी अमृत हो जाता है और दूसरे के किये अमृत भी बिप बन जाता है । (रघुवंश)

यहाँ 'ईश्वर की इच्छा से अमृतकवचक भी वस्तु की महत्कारिता और महत्जनक भी वस्तु की अमृतकारिता' का जो अभिप्राय है वह एक प्रस्तुतरूप 'सामान्य' अभिप्राय है और इसकी प्रतीति जिससे हो रही है वह यहाँ उपविबद्ध एक अप्रस्तुतरूप विशेष अभिप्राय अर्थात् 'अमृत के बिपत्व और बिप के अमृतत्व होने' का अभिप्राय है । यहाँ एक प्रकार से 'वर्णान्तरन्यास' का भी वैशिष्ट्य सकल रहा है (क्योंकि यहाँ सामान्य से विशेष का समर्थन भी हो रहा है) किन्तु इसका भी मूल यहाँ की 'अप्रस्तुत प्रशंसा' ही है ।

यहाँ 'दृष्टान्त' कहानार की कोई समाजना नहीं क्योंकि (जैसे मछे ही यहाँ 'बिप के कदाचित् अमृत और अमृत के कदाचित् बिप होने तथा मछ के द्वारा इन्दुमती के प्राणहरण और अज के प्राणदान' में किम्बप्रतिबिम्बभाव प्रतीत हो किन्तु) 'दृष्टान्त' में जिस वस्तु को 'प्रतिबिम्ब' (उपमा) रूप से उपन्यस्त किया जाना करता है उसके किये वह आवश्यक है कि वह प्रसिद्ध हो । यहाँ बिप के अमृत और अमृत के बिप होने का जो उपविबन्ध है वह एक अप्रसिद्ध वस्तु है और इसकिये यहाँ 'दृष्टान्त' की कल्पना निर्भर ही है ।

'सीता के (मुख के) आगे चन्द्रमा ऐसा लगता है जैसे काँच से पुता हो; (बेनी के आगे) हिरणियों के बचन ऐसे लगते हैं जैसे बगीचों में रहे हों; (जोड़ी की काँची के आगे) मीठी के दाने ऐसे लगते हैं जैसे बगड़ी काँची पौड़ी पड़ गयी हो; (अङ्गुलीमा के आगे) सोने की चमक ऐसी लगती है जैसे काँची पड़ गयी हो (मीठी काँची के आगे) कोयल की चूक ऐसी लगती है जैसे कर्मचता से भर उठी हो और (मेघपाक के आगे) और के पंख ऐसे लगते हैं जैसे किसी भी काम के न हों ।'

अत्र सम्भाव्यमानेभ्य इन्द्रादिगताञ्जनलिप्तत्वादिभ्यः कार्येभ्यो वदनादि-  
तसौन्दर्यविशेषरूपं प्रस्तुतं कारणं प्रतीयते ।

( कारण से कार्य की अभिव्यञ्जना में 'अप्रस्तुतप्रशंसा' )

'गच्छामीति यथोक्तया मृगदृशा निःश्वासमुद्रेकिणं

त्यक्त्वा तिर्यगवेक्ष्य बाष्पकलुपेणैकेन मा चक्षुषा ।

अद्य प्रेम मदपितं प्रियसखीवृन्दे त्वया वध्यता-

मित्थ स्नेहविवर्धितो मृगशिशुः सोत्प्रासमाभाषितः ॥'

अत्र कस्यचिदगमनरूपे कार्ये कारणमभिहितम् ।

( समान वस्तु से समान वस्तु की अभिव्यञ्जना में 'अप्रस्तुतप्रशंसा' )

तुल्ये प्रस्तुते तुल्याभिधाने च द्विधा श्लेषमूला सादृश्यमात्रमूला च ।

श्लेषमूलाऽपि समासोक्तिवद्विशेषणमात्रस्य श्लेषवद्विशेष्यस्यापि श्लेषे  
भवतीति द्विधा ।

क्रमेण यथा—

( समासोक्ति की भाँति केवल विशेषण की श्लिष्टता में श्लेषमूला 'अप्रस्तुतप्रशंसा' )

'सहकारः सदामोदो वसन्तश्रीसमन्वितः ।

समुज्ज्वलरुचिः श्रीमान् प्रभूतोत्कलिकाकुलः ॥'

यहाँ 'चन्द्रमा आदि में कालिख की पुताई आदि' (अप्रस्तुतरूप) कार्यों की जो  
सम्भावना की गई है उसके द्वारा, उनके कारणभूत, सीता के मुख आदि के सौन्दर्य-  
विशेष की, जोकि यहाँ प्रस्तुत है, स्पष्टतया प्रतीति हो उठती है ।

'जब कि मैंने उस सुन्दरी से यह कहा कि 'मैं अब जा रहा हूँ' तब उसने लम्बी आह  
खींची, आँसूभरी आँख से मुझे तिरछे देखा और प्रेम से पाले मृगझौने से, एक दुख-  
भरी मुस्कराहट के साथ, यह कहा कि 'अब तू मेरी सखियों से वैसे ही प्यार करना जैसे  
आज तक मुझसे करता रहा है ।'

यहा जिसका अभिधान है वह एक अप्रस्तुतरूप कारण ( विरहविह्वला नायिका की  
मृत्यु सूचना ) है और इससे जिस प्रस्तुतरूप कार्य की प्रतीति हो रही है वह नायक की  
देशान्तरगमननिवृत्ति का कार्य है ।

जहा समान वस्तु से समान वस्तु की अभिव्यञ्जना में 'अप्रस्तुतप्रशंसा' हुआ करती  
है वहा वह दो प्रकार की हुआ करती है—( १ ली ) श्लेषमूला अप्रस्तुतप्रशंसा और  
( २ री ) सादृश्यमात्रमूला अप्रस्तुतप्रशंसा ।

यह ( १ ली ) अर्थात् श्लेषमूला अप्रस्तुतप्रशंसा 'समासोक्ति' की भाँति, केवल विशेषण  
की श्लिष्टता में भी हुआ करती है और 'श्लेष' की भाँति वहां भी हुआ करती है जहाँ  
विशेष्य भी श्लिष्ट रहा करता है । जैसे कि क्रमशः—

'आम्र का वृक्ष भी कितना विचित्र हुआ करता है—'सदामोद'—निरन्तर 'आमोद'  
अर्थात् सौरभ और 'मोद' अर्थात् आनन्द से युक्त, 'वसन्तश्रीसमन्वित'—वसन्त की श्री  
अर्थात् शोभा और वसन्तकालीन वेशभूषा से विभूषित, 'समुज्ज्वलरुचि' चमकती कान्ति  
से भरपूर, 'श्रीमान्'—शोभा से पूर्ण और सुन्दर वेषधारी और 'प्रभूतोत्कलिकाकुल'  
निकली हुई मञ्जरियों से भरा और अत्यधिक उत्कण्ठा से भरा ।'



अत्र विशेषमात्ररत्नेष्वपरावप्रस्तुतात्सहकारात्स्वधित्प्रस्तुतस्य नायकस्य प्रतीतिः ।

(रत्नेष्वधीर्माति विशेष्य की भी रिकृता में रत्नेष्वका 'अप्रस्तुतप्रशंसा' )

पुस्त्यावपि प्रविशलेषादि यथाघोऽपि

यामाद्यपि प्रणयने न महानपि स्यात् ।

अभ्युदयेनवपि विश्वमितीदृशीय

केनापि विप्रकटिता पुरुषोत्तमेन ॥'

अत्र पुरुषोत्तमपदेन विशेष्येणापि रिक्तगतेन प्रचुरप्रसिद्धता प्रथमं विष्णुरेव बोध्यते । तेन वर्णनीयं कश्चित्पुरुषः प्रतीयते ।

सादर्यमात्रमूला यथा—

'एकः कपोतपोत शठरा रयेना' क्षुधाभिघायन्ति ।

धम्बरमावृतिस्तुन्यं हरहर शरणं विधे' करुणा ॥'

अत्र कपोतावप्रस्तुतात्स्वित्प्रस्तुत प्रतीयते । इयं च कश्चित्तैधम्बेनाऽपि भवति ।

'धम्बा' अलु घने बाठा' कङ्कारस्पर्शरीतता' ।

राममिन्दीवररयाम ये स्मृशन्त्यनिवारिता ॥'

यहाँ केवल विशेष्यों के रत्नेष्व से अप्रस्तुतरूप 'सहकार ( वात्रवृत्त )' के द्वारा किसी प्रस्तुतकय नामक की प्रतीति हो रही है—

'बह' ('मोहिनी'अवतार में) चाहे पुस्त्य (धीरता यथवा पुष्ट्य के स्वकय) का भी परित्याग कर दे, चाहे भीष्म (वराह अवतार में पाताक में वा मित्रम स्वाम पर) भी क्यों न चका चाम चाहे (वामनअवतार में) 'प्रणयन (कय का प्रतिष्ठा) में बड़ा भी न हो सके, किन्तु इतना निश्चित है कि संसार का उद्धार अवश्य करता रहता है । और वस्तुतः यही तो वह आदर्श है जो कि इस विश्वजय पुरुषोत्तम (मयाबाव विष्णु और पुरुषोत्तम नामक राजा) ने प्रकट कर दिखाया है ।

यहाँ यह स्पष्ट है कि विशेष्यमूल 'पुरुषोत्तम' यह भी (विष्णुनामक और राजनामक होने से) रिक्त है । इस यह के द्वारा यहके, विष्णुरूप जब जो कि अधिक प्रसिद्ध है, प्रतीत हो जाता है और इसके बाद यहाँ प्रकृत पुरुषोत्तम नामक राजा की अभिव्यक्ति हो उठती है ।

अब (२ री) अर्थात् 'सादर्यमात्रमूला' अप्रस्तुतप्रशंसा का उदाहरण यह है—

'एक जोड़ा सा कटुतर का बच्चा जड़ रहा है । उस पर सैकड़ों मूले बाज दब पड़ रहे हैं । आकाश में बिजने की कोई जगह नहीं । ओह ! ईदवर की दबा का ही सहारा है ।

यहाँ 'कपोत' अवतारत है और उससे किसी प्रस्तुतकय अवतार पुरुष की प्रतीति हो उठती है ।

यह (सादर्यमात्रमूला) अप्रस्तुतप्रशंसा कहीं-कहीं वैयर्थ्य के आधार पर भी दिलाई दिया करती है—

कमकी के स्पर्श से जीतक बगदायु के वे शोक सखमुच धम्ब हैं जो कि बिना किसी शोक-शोक के भीरुकमकचव रहाम राम का स्पर्श किया करते हैं ।'

अत्र वाता धन्या अहमधन्य इति वैधर्म्येण प्रस्तुतः प्रतीयते । वाच्यस्य सम्भवासम्भवोभयरूपतया त्रिप्रकारेयम् । तत्र सम्भवे उक्तोदाहरणान्येव ।

असम्भवे यथा—

‘कोकिलोऽहं भवान् काकः समान कालिमावयोः ।

अन्तर कथयिष्यन्ति काकलीकोविदाः पुनः ॥’

अत्र काककोकिलयोर्वाकोवाक्य प्रस्तुतस्याध्यारोपण विनाऽसम्भवि ।

उभयरूपत्वे यथा—

‘अन्तश्छिद्राणि भूयासि कण्टका बहवो बहिः ।

कथं कमलनालस्य माभूवन् भङ्गुरा गुणाः ॥’

अत्र प्रस्तुतस्य कस्यचिदध्यारोपण विना कमलनालान्तश्छिद्राणां गुण-भङ्गुरीकरणे हेतुत्वमसम्भवि । अन्येषां तु सम्भवीन्युभयरूपत्वम् । अस्याश्च समासोक्तिवद् व्यवहारसमारोपप्राणत्वाच्छब्दशक्तिमूलाद्वस्तुध्वनेर्भेदः ।

यहाँ ‘वनवायु के झोंके भाग्यशाली’ हैं यह तो अप्रस्तुत है और इससे मैं अभागा हूँ यह प्रस्तुत, जिसमें वैधर्म्य का अभिप्राय स्पष्ट है, अभिव्यक्त हो उठता है ।

यह ‘अप्रस्तुतप्रशसा’ इस दृष्टि से तीन प्रकार की हुआ करती है ( १ ) कहीं तो ‘अप्रस्तुतरूप वाच्यार्थ सभाव्य हुआ करता है, ( २ ) कहीं वह असभाव्य रहा करता है और ( ३ ) कहीं वह सभाव्य और असभाव्य दोनों रूपों में अवस्थित दिखायी पड़ा करता है । वाच्यार्थ की सभाव्यता में जो ‘अप्रस्तुतप्रशसा’ हुआ करती है उसके उदाहरण-रूप में तो पूर्वोद्धृत सूक्तियाँ ही देखी जा सकती हैं । और वाच्यार्थ की असभाव्यता में अप्रस्तुत प्रशसा’ के उदाहरण के लिये यह सूक्ति देखने योग्य है—

‘मैं कोयल हूँ, तू कौआ है—हम दोनों में कालापन तो समान ही है किन्तु हम दोनों में जो भेद है उसे वे ही जानते हैं जो कि ‘काकली’ ( स्वरमाधुरी ) की पहचान रखा करते हैं ।’

यहां काक और कोकिल का यह वाकोवाक्य ( प्रश्नोत्तरपूर्ण आलाप ) रूप वाच्यार्थ असभाव्य है ( क्योंकि काक और कोकिल यह सब प्रश्नोत्तर क्यों कर सकें ) किन्तु इसकी असभाव्यता का निराकरण इसलिये हो जाता है क्योंकि यहा प्रस्तुतरूप अर्थ ( बाहर से समान किन्तु भीतर से असमान दो पुरुषों के व्यवहाररूप अर्थ ) की अभिव्यञ्जना स्पष्टरूप से हो उठती है ।

वाच्यार्थ की सभाव्यता असभाव्यता की अवस्था में ‘अप्रस्तुतप्रशसा’ का उदाहरण यह है—

‘भीतर छिद्र ही छिद्र है और बाहर काँटे ही काँटे । फिर भला कमलनाल के गुण क्यों कर न भङ्गुर हुआ करें !’

यहा यह स्पष्ट है कि ‘कमलनाल के छिद्रों के कारण उस ( कमलनाल ) के गुणों ( तन्तुओं ) की भङ्गुरता’ का वाच्यार्थ, जो कि अप्रस्तुतरूप है, असभाव्य है और इस असभाव्यता के निराकरण के लिये यहा ‘किन्हीं प्रस्तुत पुरुष के दोषों और उस ( पुरुष ) के गुणों की नाशवत्ता’ का व्यङ्ग्यार्थ अवश्य समझा जाया करता है । किन्तु यहीं ‘कमलनाल के बाहर के काँटों और उस ( कमलनाल ) के गुणों ( तन्तुओं ) की भङ्गुरता’ का अप्रस्तुतरूप वाच्यार्थ सम्भाव्य भी है किन्तु इसकी भी उपपत्ति तभी हो पाती है

उपमाशब्दनायप्रस्तुतस्य व्यङ्ग्यत्वम् । एवं ममासोक्तार्थः । श्लेषे तु द्वयो-  
रपि बाध्यत्वम् ।

(१९—व्याजस्तुति)

—उक्ता व्याजस्तुति पुनः ॥ ५९॥

निन्दास्तुतिभ्यां वाच्याभ्यां गम्यत्ये स्तुतिनिन्दयो ।

जब कि इससे द्वारा 'किसी प्रस्तुत पुरुष के कुछ लक्षणों और उसके दया-वाचिभ्यति गुणों की महारता' का व्यङ्ग्यार्थ निकल जाता है जो कि वस्तुतः यहाँ निकल ही रहा है । इस प्रकार व्याजस्तुतक्य वाच्यार्थ की संभाव्यता-वर्तभाव्यता के सहज में 'अप्रस्तुतप्रसंसा' का स्वरूप यहाँ स्पष्ट प्रकट उठता है । यहाँ जो 'अप्रस्तुतप्रसंसा' है उसका संभव में यह ध्यान रखना चाहिये कि, समासोक्ति की भाँति इसका भी मात्र अर्थवा अन्तस्तक 'व्यवहारसमारोप' ही है (य कि कपक की भाँति क्यसमारोप) । इससे यह भी स्पष्ट है कि यह 'अप्रस्तुतप्रसंसाप्रकार' 'अप्रसक्तिपूर्वक वस्तुत्वनि से सर्वत्रा भिन्न हुआ करता है ( क्योंकि सम्प्रदायपुरुषमन्त्रनि में व्यवहारसमारोप का कोई भी पुट नहीं रहा करता ) । यह 'अप्रस्तुतप्रसंसा-प्रकार' अकट्टरत्वनि—वस्तुतः उपमाकट्टर-त्वनि—भी नहीं क्योंकि ( जब कि अप्रस्तुतप्रसंसा में अप्रस्तुतक्य अर्थ बाध्य हुआ करता है ) 'उपमात्वनि में अप्रस्तुतक्य अर्थ व्यवहृत्य से अवस्तित दिक्पायी दिक्पा करता है । 'समासोक्ति' में भी अप्रस्तुतक्य अर्थ व्यवहृत्य रहा करता है और इसलिये यहाँ 'समासोक्ति का भी जम नहीं हो सकता । इस 'अप्रस्तुतप्रसंसाप्रकार' में स्कोपाकट्टर का भी जम न होना चाहिये क्योंकि स्कोपाकट्टर में अप्रस्तुत और प्रस्तुत दोनों अर्थ बाध्य रहा करते हैं ( और अप्रस्तुतप्रसंसा में अप्रस्तुतक्य अर्थ बाध्य तथा प्रस्तुतक्य अर्थ व्यवहृत्य हुआ करता है ) ।

निर्मास—(क) अप्रस्तुत और प्रस्तुत में सामान्यविशेषभाव कार्यकारणभाव और कारण की संभावना के कारण अप्रस्तुत से प्रस्तुत की प्रतीति में 'अप्रस्तुतप्रसंसा की कल्पना स्वाभाविक है । अकट्टरसर्वत्व'कार ने इसलिये कहा है—

'इहोऽप्रस्तुतस्य सर्वत्रमेवायुः समप्रस्तुतत्वात् । प्रस्तुतपरत्वे तु क्वाचित्पदं पुनः स्पष्ट । न चाप्रस्तुतादसंख्ये प्रस्तुतप्रतीतिः अतिप्रसङ्गः । सम्बन्धे तु भवन्ती च त्रिविधं सर्वत्रमतिवर्तते । तस्यैवाभान्तरप्रतीतिरित्युक्तोपपत्तेः । त्रिविधञ्च संख्येयः—सामान्यविशेष-भावः, कार्यकारणभावः, साकृत्त्वमेति । ( अकट्टरसर्वत्व पृष्ठ १३१ )

अप्रस्तुत और प्रस्तुत में 'सामान्यविशेषभाव और 'कार्यकारणभाव' के संभव के कारण सामान्य से विशेष और विशेष से सामान्य की प्रतीति तथा कार्य से कारण और कारण से कार्य की प्रतीति भी स्वाभाविक ही है और इसलिये अप्रस्तुतप्रसंसा के बार में प्रतीति उत्पन्न हो ही है । और अप्रस्तुत और प्रस्तुत में साकृत्त्वसंभव के कारण अप्रस्तुतप्रसंसा का बार-बार प्रतीति उत्पन्न हो ही है ।

(ख) अप्रस्तुतप्रसंसा में 'अर्थांतरव्यास' और 'वृहन्त के सीमन्त के आदिमार्ग के संभव में 'अकट्टरसर्वत्व'कार की यह कति जगज्जग हैमि योग्य है—

'तद्वत् सामान्यविशेषत्वेन कार्यकारणत्वेन साकृत्वेन च बहुभेदपञ्चक्युद्दिष्टं तत्र ह्युच्यते सामान्यविशेषयोः कार्यकारणयोश्च यदा बाध्यत्वम् अस्ति तदाभांतरव्यासाभिर्भावा । सकृदप्यस्तु बाध्यत्वे दृष्टव्यम् । अप्रस्तुतस्य बाध्यत्वे प्रस्तुतस्य गम्यत्वे सर्वत्राप्रस्तुतप्रसं-सेति निर्मासः । ( अकट्टरसर्वत्व पृष्ठ १३८ )

अनुवाद—'व्याजस्तुति' यह अकट्टर है जिसे निग्राह्य वाच्यार्थ से स्तुतिकप्यव्यङ्ग्यार्थ

निन्दया स्तुतेर्गम्यत्वे व्याजेन स्तुतिरिति व्युत्पत्त्या व्याजस्तुतिः । स्तुत्या निन्दया गम्यत्वे व्याजरूपा स्तुतिः ।

क्रमेण यथा—

(व्याजेन स्तुतिः = निन्दा के बहाने स्तुति)

‘स्तनयुगमुक्ताभरणाः कण्टककलिताङ्गयष्टयो देव ! ।

त्वयि कुपितेऽपि प्रागिव विश्वस्ता द्विट्स्त्रियो जाताः ॥’

इदं मम ।

(व्याजरूपा स्तुतिः = स्तुति का बहाना मात्र)

‘व्याजस्तुतिस्तव पयोद ! मयोदितेयं

यज्जीवनाय जगतस्तव जीवनानि ।

स्तोत्रं तु ते महदिदं घन ! धर्मराज-

साहाय्यमर्जयसि यत्पथिकान्निहृत्य ॥’

और स्तुतिरूप वाच्यार्थ से निन्दारूप व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति में देखा जाया करता है ।

‘निन्दारूप वाच्यार्थ से स्तुतिरूप व्यङ्ग्यार्थ’ की प्रतीति में ‘व्याजस्तुति’ की व्युत्पत्ति है ‘व्याजेन स्तुति’ अर्थात् ‘निन्दा के बहाने स्तुति’ और ‘स्तुतिरूप वाच्यार्थ से निन्दारूप व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति’ में ‘व्याजस्तुति’ की जो व्युत्पत्ति है वह है—‘व्याजरूपा स्तुति’ अर्थात् स्तुति का बहाना मात्र ।

क्रमशः जैसे कि—

‘महाराज ! आपके क्रुद्ध होने पर भी शत्रुनारिया निश्चिन्त हैं क्योंकि पहले की ही भांति उनके स्तन अब भी ‘मुक्ताभरण’ हैं (पहले इसलिये ‘मुक्ताभरण’ थे क्योंकि मौक्तिक के आभूषणों से विभूषित थे और अब आभूषणशून्य होने के कारण ‘मुक्ताभरण’ हैं) और उनकी अङ्गयष्टि भी पूर्ववत् ही ‘कण्टककलित’ है (पहले इसलिये ‘कण्टककलित’ थी क्योंकि रतिसुख के आनन्द-रोमाञ्चों से भर उठती थी और अब इसलिये ‘कण्टककलित’ है क्योंकि प्राण लेकर जगलों में भागते-फिरने के कारण जगली काटों से बिंधी) हैं ।’

यह सूक्ति स्वरचित सूक्ति है ।

‘हे मेव ! यह तो मैं तुम्हारी व्याजस्तुति कर रहा हूँ कि तुम्हारा जल जगत् के जीवन के लिये है । किन्तु वस्तुतः तुम्हारी सबसे बड़ी स्तुति तो यह है कि तुम वियोगी जनों का प्राण लेकर यमराज की सहायता किया करते हो ।’

विमर्श—‘अलङ्कारसर्वस्व’कार ने ‘व्याजस्तुति’ की यह स्वरूप-मीमांसा की है—

‘यत्र स्तुतिरभिधीयमानाऽपि प्रमाणान्तराद् वाधितस्वरूपा निन्दायां पर्यवस्यति तत्राऽसत्यत्वाद् व्याजरूपा स्तुतिरित्यनुगमेन व्याजस्तुतिः । यत्रापि निन्दाशब्देन प्रतिपाद्यमाना पूर्ववद् वाधितरूपा स्तुतिः पर्यवसिता भवति सा द्वितीया व्याजस्तुति । व्याजेन निन्दामुखेन स्तुतिरिति कृत्वा ।’ (अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ १४२)

अर्थात् ‘व्याजस्तुति’ की दो ही समावनायें हैं । पहली समावना वह है जिसमें अप्रस्तुत स्तुतिरूप अर्थ से प्रस्तुत निन्दारूप अर्थ अमिव्यङ्ग्य हुआ करता है और दूसरी वह जिसमें अप्रस्तुत निन्दारूप अर्थ के आधार पर प्रस्तुत स्तुतिरूप व्यङ्ग्यार्थ निकला करता है ।

यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि अप्रस्तुत निन्दा अथवा स्तुतिरूप अर्थ से स्तुति अथवा निन्दारूप प्रस्तुत अर्थ की प्रतीति होने पर भी ‘व्याजस्तुति’ में अप्रस्तुतप्रशंसा की भ्रान्ति नहीं

( १७—पर्यायोक्त )

पर्यायोक्त यदा भङ्ग्या गम्यमेवामिधीयते ॥ ६० ॥

उदाहरणम्—

‘सृष्टास्ता मन्वेन राज्या’ केशसम्मोगसाक्षिता ।

साधय पारिजातस्य मञ्जुषो यस्य सैनिकैः ॥’

अत्र हयग्रीवेण स्वर्गो विधित इति प्रस्तुतमेव गम्य कारण वैचित्र्यविशेष प्रतिपत्तये सैन्यस्य पारिजातमञ्जरीसावसस्पशानरूपकप्रपञ्चरेणामिहितम् । न चेदं कार्योत्करणप्रतीतिरूपाप्रस्तुतप्रशंसा, तच्च कथंस्थाप्रस्तुतत्वात्, इह तु वर्णनीयस्य प्रभावातिशयबोधकत्वेन कथमिति कारणवत्प्रस्तुतम् ।

हुमा करती । करण वह है कि ‘अप्रस्तुतप्रशंसा’ में तो अप्रस्तुत और प्रस्तुत में ‘सामान्यरिक्त-भाव’ ‘कार्यकारणभाव’ और ‘साक्य’ का संवन्ध रहा करता है किन्तु ‘व्यावस्तुति’ में अप्रस्तुत और प्रस्तुत में इन दोनों संवन्धों से कुछ स्तुतिनिम्नाक्य संवन्ध-वैचित्र्य का समन्वय किया जाता है । इसीलिए आचार्य स्वयं का यह कथन है—‘स्तुतिनिम्नाक्यपदस्य विधिप्रतिविधे-पस्य भावाद्प्रस्तुतप्रशंसतो भेदः’ ( अङ्गहारासर्वस्व पृष्ठ १४९ )

‘व्यावस्तुति’ में अङ्गनाम्क्य ‘ध्वनि’ का भी सम्यग्व्यवहार है क्योंकि वहाँ ‘व्यावस्तुति’ में स्तुति अथवा निम्नाक्य वाच्यत्व अनुपपन्न होकर निम्ना अथवा स्तुतिकर अर्थ के द्विमे जिसमें वाच्यार्थ विद्यमान हुमा करता है अपने आपको समर्पित कर वाक्या है वहाँ ‘ध्वनि’ में ऐसा हुमा करता है कि वाच्यार्थ की विमानति के बाद वक्ष्य अथवा वाच्य के औचित्य-पर्यायोक्त से स्तुति अथवा निम्नाक्य वाच्यार्थ निम्ना अथवा स्तुतिकर वाच्यार्थ का प्राप्तावन किया करता है । ‘विमर्शिनी’कार आचार्य कथन में इसीकिस कहते हैं—

‘अत एवास्त्वा ध्वनेर्मेदा । स ( ध्वनिः ) हि विद्यान्ते वाच्यार्थे बहुवाच्यौचित्य-पर्यायोक्तभावकाद्वचनमप्यते । इह ( व्यावस्तुति ) गुणः प्रमाणान्तरात् वक्षितस्तेन वाच्यार्थे स्ववचनानुपपन्नभावत्वात् परञ्च निम्नाधी स्वं समर्पयति । तत्रैव प्रकृतवाच्यार्थस्य विद्यान्ते ।’ ( अङ्गहारासर्वस्वविमर्शिनी, पृष्ठ १४९ )

और वही अमिमान ‘रसगङ्गाधर’कार की इस कवि का भी है—

‘वास्तुकेत्यादि विशेषणैव ( ‘वास्तुकाप्रतीतायां निम्नास्तुतिम्यां स्तुतिनिम्नायोः क्रमेण पर्यवसानं व्यावस्तुतिः इति कञ्चकसूत्र उपात्तं बहु विस्तेर्यं तेवेति ) तयोः पर्यवसाना-भावं बहुन् वक्षितकथमिति । अत एव वास्त्वा ध्वनित्वम् । ध्वनी हि विवक्षिते वाच्ये वास्तुकाप्रमाणद्विधाध्वनित्वमवगम्यते । न चेत् प्रकृते । ( रसगङ्गाधर व्यावस्तुतिप्रकरण )

अनुवाद—‘पर्यायोक्त’ वह अङ्गहारा है जिसे ध्वन्यर्थ के उक्तिवैचित्र्यपूर्वक अमिमान में देखा जाता करता है । इसका उदाहरण यह है—

‘( वह वह मतावी वैल्गराज हयग्रीव है ) जिसका ऐतिह्य इन्द्राणी के केहों के उद्धारने के काम में जाने वाली वन्द्यवचन की पारिजात-मञ्जरी की कही उद्गच्छता के साथ साक्षात् करता है ।

यहाँ जो ध्वन्यर्थ विवक्षित रहा है वह यह है कि ‘हयग्रीव के स्वर्ग पर विजय पा की है’ वह ध्वन्यर्थ प्रस्तुतक्य अर्थ है और कारणक्य भी अर्थ है किन्तु इसे एक विशेष प्रकार के समन्वय के उत्पादन के द्विमे इस रूप में न कह कर दूसरे रूप में अर्थात् कार्यक्य में कहा गया है क्योंकि वहाँ ‘सैनिकों द्वारा पारिजात-मञ्जरी के उद्गच्छतापूर्वक उद्गच्छने की बात’

एवञ्च—

‘अनेन पर्यासयताऽश्रुचिन्दून् मुक्ताफलस्थूलतमान् स्तनेषु ।

प्रत्यर्पिताः शत्रुविलासिनीनामाक्षेपसूत्रेण विनैव हाराः ॥’

अत्र वर्णनीयस्य राज्ञो गम्यभूतशत्रुमारणरूपकारणवत्कार्यभूतं तथाविध-  
शत्रुस्त्रीकन्दनजलमपि प्रभावातिशयबोधकत्वेन वर्णनार्हमिति पर्यायोक्तमेव ।

‘राजन् राजसुता न पाठयति मा देव्योऽपि तूष्णीं स्थिताः

कुब्जे । भोजय मां कुमारसचिवैर्नोद्यापि किं भुज्यते ।

इत्थ राजशुकस्तवारिभवने मुक्तोऽध्वरैः पञ्चरा-

क्षित्रस्थानवलोक्य शून्यबलभावेकैकमाभाषते ॥’

अत्र प्रस्थानोद्यतं भवन्त श्रुत्वा सहसैवारयः पलायिता इति कारणं प्रस्तु-  
तम् । ‘कार्यमपि वर्णनार्हत्वेन प्रस्तुतम्’ इति केचित् ।

(हयग्रीव के स्वर्गविजयरूप कारण के) कार्यरूप में ही प्रतीत हो सकती है । यहाँ (वाच्य) कार्य से (व्यङ्ग्य) कारण की प्रतीति सी जो लग रही है उसमें कार्य से कारण की प्रतीति में होने वाली ‘अप्रस्तुतप्रशसा’ का भ्रम नहीं होना चाहिये क्योंकि ‘अप्रस्तुतप्रशसा’ में तो कार्य प्रस्तुत नहीं रहा करता किन्तु पर्यायोक्त में कारण की भाँति कार्य भी प्रस्तुत ही रहा करता है जैसे कि यहाँ ही (व्यङ्ग्य) स्वर्गविजयरूप कारण की भाँति वाच्यभूत हैं ‘सैनिकजनकृत मञ्जरी त्रोटनरूप’ कार्य भी प्रस्तुत ही लग रहा है क्योंकि इसी के द्वारा यहाँ वर्ण्य विषय (जैसे कि यहाँ दैत्यराज हयग्रीव) के प्रभावातिशय का प्रतिपादन किया जा रहा है ।

इसी प्रकार इस सूक्ति अर्थात्—

‘इस प्रतापी भूपाल ने शत्रुनारियों के स्तनों पर मोतियों सरीखे उनके अश्रुकणों की वर्षा करके उन्हें ऐसे मुक्ताहार से विभूषित कर दिया है जिसमें गुम्फनसूत्र की भी आवश्यकता नहीं ।’

में भी जो अलङ्कार है वह ‘पर्यायोक्त’ ही है क्योंकि यहाँ भी वर्ण्य भूपालकृत शत्रुसंहाररूप कारण की भाँति, जो कि व्यङ्ग्य है, वाच्यरूप से अवस्थित, ‘शत्रुनारीजनसबद्ध अश्रुजल-रूप’ कार्य भी प्रस्तुत ही प्रतीत हो रहा है और वर्ण्यविषय का एक प्रभावशाली प्रतिपादन प्रकार सा ही लग रहा है ।

इस सूक्ति अर्थात्—

‘राजन् ! आपके शत्रु के प्रासाद में पथिकों द्वारा पिंजड़ा खोलकर बाहर निकाला गया राजशुक, सूनी अटारी में अपने क्षित्रलिखित स्वामी आदि को देख-देख उन सबसे इस प्रकार कहा करता है—‘महाराज ! राजकुमारी मुझे ‘राम राम’ नहीं सिखाती, राज-रानियाँ भी चुपचाप बैठी हुई हैं, अरी कुब्जे ! मुझे खाना क्यों नहीं देती, राजकुमार और उनके सचिव लोग भी क्या अब तक उपासे पड़े हैं ?’

में भी, कतिपय काव्याचार्य (वस्तुतः साहित्यदर्पणकार और उनके अनुयायी लोग) ‘पर्यायोक्त’ ही मानते हैं क्योंकि उनके अनुसार यहाँ (कारण की भाँति) कार्य (राजशुक का अपने स्वामी आदि की मृत्यु में यह प्रलाप) भी वर्ण्य भूपाल के प्रभावातिशय के प्रतिपादनार्थ प्रस्तुतरूप से ही उपात्त है क्योंकि यहाँ (व्यङ्ग्यरूप से अवस्थित) ‘राजन् !



( २८—अर्थान्तरन्यास )

सामान्यं वा विशेषेण विशेषस्तेन वा यदि ।  
कार्यं च कारणेनेदं कार्येण च समर्थ्यते ॥ ६१ ॥  
साधर्म्येणेतरेणार्थान्तरन्यासोऽष्टधा ततः ।

क्रमेणोदाहरणम्—

( साधर्म्य के द्वारा सामान्य का विशेष से समर्थन )

‘वृहत्सहाय. कार्यान्त क्षोदीयानपि गच्छति ।

सम्भूयाम्भोधिमभ्येति महानद्या नगापगा ॥’

अत्र द्वितीयार्धगतं विशेषरूपेणार्थेन प्रथमार्धगतः सामान्योऽर्थः सोपपत्तिकः क्रियते ।

( साधर्म्य के द्वारा विशेष का सामान्य से समर्थन )

‘यावदर्थपदा वाचमेवमादाय माधवः ।

विरराम महीयासः प्रकृत्या मितभापिण. ॥’

( साधर्म्य के द्वारा कार्य का कारण से समर्थन )

‘पृथ्वि । स्थिरा भव भुजङ्गम । धारयैना

त्व कूर्मराज । तदिदं द्वितय दधीथाः ।

दिक्कुञ्जराः । कुरुत तत्त्रितये दिधीर्पा-

मार्य. करोति हरकार्मुकमाततज्यम् ॥’

अनुवाद—‘अर्थान्तरन्यास’ वह अलङ्कार है जिसे साधर्म्य अथवा वैधर्म्य के द्वारा, ‘सामान्य’ का विशेष से, ‘विशेष’ का सामान्य से, ‘कार्य’ का कारण से और ‘कारण’ का कार्य से समर्थन कहा गया है । इस ‘अर्थान्तरन्यास’ के इस प्रकार आठ भेद सिद्ध होते हैं । इनके क्रमशः उदाहरण ये हैं—

‘वड़े की सहायता से छोटा भी कार्य सिद्ध कर लेता है । बड़ी नदी के साथ मिली छोटी पहाड़ी नदी भी समुद्र तक पहुँच जाती है ।’ ( शिशुपालवध २. १०० )

यहाँ पूर्वार्द्ध-प्रतिपाद्य ‘सामान्य’रूप अर्थ द्वितीयार्ध-वर्णित ‘विशेष’रूप अर्थ से समर्थित हो रहा है जिसमें साधर्म्य का सम्बन्ध स्पष्ट है ( क्योंकि कार्यान्तगमन और समुद्रगमन परस्पर समान रूप से ही विवक्षित हैं ) ।

‘श्रीकृष्ण ऐसी बात बोले जिसके शब्द और अर्थ परस्पर नपे-तुले रहे और इसके बाद चुप हो गये । वस्तुतः वड़े लोगों का यह स्वभाव ही है कि वे मितभापी हुआ करते हैं ।’

यहाँ पूर्वार्द्धगत अर्थ ‘विशेष’रूप अर्थ है जिसका उत्तरार्धगत अर्थ से, जो कि ‘सामान्यरूप है, समर्थन किया जा रहा है’ यहाँ ‘नपी-तुली बात’ और ‘मितभाषित्व’ में परस्पर साम्य अथवा साधर्म्य भी स्पष्ट है जो कि इस ‘समर्थन’ का प्रयोजक है ।

‘अरी पृथिवी ! सम्हल जा, अरे शेषनाग ! पृथिवी को सम्हालो, अरे कूर्मराज ! पृथिवी और शेष दोनों को सम्हालो, अरे दिग्गजगण ! इन तीनों का सम्हालना तुम्हारा काम है, देखो, आर्य राम शिव के धनुष पर प्रत्यक्षा चढ़ा रहे हैं ।’



अत्र कारणभूत हरकार्मुकावसथीकरण प्रयिषीत्सैर्यावे' कार्यस्य समर्थकम् ।

( साधर्म्य के द्वारा कारण का कार्य से समर्थन )

‘सहसा विवर्षीत न क्रियाम्’ इत्यादौ सम्प्रहरण कथं सहसा विधानामावस्थ विमूरयकारित्वरूपस्य कारणस्य समर्थकम् ।

एतानि साधर्म्यं उदाहरणानि ।

वैधर्म्यं यथा—

‘इत्यभारण्यमानोऽपि भ्रिखरनाति मुषनत्रयम् ।

शाम्येत्प्रत्यपकारेण नोपकारेण हुञ्जन” ॥’

अत्र सामान्यं विशेषस्य समर्थकम् ।

‘सहसा विवर्षीत—’ इत्यत्र सहसाविधानामावस्थाप्रत्यक्षत्वं विरुद्धं कार्यं समर्थकम् । एवमन्यत् ।

यहाँ कार्य का कारण से समर्थन स्पष्ट है क्योंकि ‘प्रयिषी के सहाक्ये आदि कर्मों को ‘हरकार्मुक की प्रवृत्ति के बदलने के कारण द्वारा समर्थित किया जा रहा है । यहाँ को ‘साधर्म्य’ है वह कार्य की उत्पत्तिबोध्यता और कारण की उत्पादनबोध्यता का साम्य रूप है ।

‘सहसा विवर्षीत न क्रियाम्’ आदि ( किरातार्जुनीय-सृष्टि ) । यहाँ कारण का कार्य द्वारा समर्थन स्पष्ट है क्योंकि ‘सहसा कार्य न करवा जहाँ सोच-विचारकर कार्य करवा’ तो वहाँ कारणरूप से उपविबद्ध है और ‘उष्मीवरण’ ( सम्प्रसिद्धाभ ) के कार्य द्वारा समर्थित किया गया है ( यहाँ ‘सम्प्रसिद्धाभ’ रूप कार्य की उत्पत्तिबोध्यता और ‘विमूरय-कारित्व’ रूप कारण की उत्पादनबोध्यता में साम्य के कारण ‘साधर्म्य’ की प्रयोजकता ही स्पष्ट है ) ।

ये उपर्युक्त उदाहरण तो साधर्म्यविषयक समर्थनसमर्थक भाव के उदाहरण रहे ।

निम्न सूक्ति में ‘वैधर्म्य के द्वारा, विशेष का सामान्य से समर्थन देखिए—

‘यह तारकासुर, देवी द्वारा, इस प्रकार आराधना पाकर ही त्रिभुवन पर अत्याचार करता जा रहा है । कुछ प्रत्यपकार से शान्त हुआ करता है; उपकार से कदा ? ( कुमार संभव-रथ सर्ग )’

यहाँ उत्तरार्धागत अर्थ ‘सामान्य’ रूप अर्थ है जिसके द्वारा पूर्वार्धगत ‘विशेष’ रूप अर्थ का समर्थन किया जा रहा है ( यहाँ को समर्थन-समर्थक भाव है उसमें वैधर्म्य का हाव स्पष्ट है क्योंकि ‘आराधना पाकर कोकमहक का कार्य किया जाता है और यहाँ उसके विरुद्ध अत्याचार का कार्य हो रहा है ) ।

इसी प्रकार ‘सहसा विवर्षीत’ आदि सूक्ति में वैधर्म्य द्वारा ‘कारण का कार्य से समर्थन’ देखा जा सकता है क्योंकि यहाँ आपदाभी के प्रभाव ( आपदावृत्त ) रूप कार्य से ‘सहसा क्रियाविधान के अभाव’ अथवा ‘विमूरयकारित्व ( सोच समझकर कार्य करने ) का समर्थन किया जा रहा है जिसमें ‘वैधर्म्य’ की प्रयोजकता स्पष्ट है क्योंकि यहाँ ‘विमूरयकारित्व’ और आपदावृत्त ( कारण और कार्य ) में का संबन्ध है वह वैधर्म्य का ही संबन्ध है ( साधर्म्य का नहीं ) ।

विमर्श—( क ) अर्थात्सामान्य एक अतिरिक्त अङ्ग है । अङ्गहाराका के प्रवर्तककार्य

भामह ने भी इसका निरूपण किया है। आचार्य भामह के शब्दों में इस अलङ्कार का स्वरूप यह है—

‘उपन्यसनमन्यस्य यदर्थस्योदितादृते । ज्ञेयस्सोऽर्थान्तरन्यासः पूर्वार्थानुगतो यथा ॥’

( काव्यालङ्कार २. ७१ )

वस्तुतः यही बात आचार्य दण्डी को भी मान्य है—

‘ज्ञेयः सोऽर्थान्तरन्यासो वस्तु प्रस्तुत्य किञ्चन ।

तत्साधनसमर्थस्य न्यासो योऽन्यस्य वस्तुनः ॥ ( काव्यादर्श २. १६९ )

‘अर्थान्तरन्यास’ शब्द की व्युत्पत्ति से भी यही अभिप्राय निकलता है—

‘अर्थ्यत इति अर्थः प्रस्तुत इति यावत्, अन्यः अर्थः अर्थान्तरं तस्य न्यासः’

अर्थात् प्रस्तुत से अतिरिक्त अप्रस्तुत अर्थ का ऐसा उपनिबन्ध जो कि अन्तर्गतत्वा प्रस्तुत का समर्थक हो, ‘अर्थान्तरन्यास’ है। अलङ्कारसर्वस्वकार ने इस अलङ्कार की यह समीक्षा की है—

‘सामान्यविशेषकार्यकारणभावाभ्यां निर्दिष्टप्रकृतसमर्थनमर्थान्तरन्यासः ।’

निर्दिष्टस्याभिहितस्य समर्थनार्हस्य प्रकृतस्य समर्थकात्पूर्वं पश्चाद्वा निर्दिष्टस्य यत्समर्थनमुपपादनं न त्वपूर्वत्वेन प्रतीतिरनुमानरूपा सोऽर्थान्तरन्यासः । तत्र सामान्यं विशेषस्य विशेषो वा सामान्यस्य समर्थक इति द्वौ भेदौ । तथा कार्यं कारणस्य कारणं वा कार्यस्य समर्थकमित्यपि द्वौ भेदौ । तत्र भेदचतुष्टये प्रत्येकं साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां भेदद्वयेऽष्टौ भेदाः । हिशब्दाभिधानानभिधानाभ्यां समर्थकपूर्वोपन्यासोत्तरोपन्यासाभ्यां च भेदान्तरसंभवेऽपि न तद्गणना सहृदयहृदयहारिणी । वैचित्र्यस्याभावात् । तस्माद् भेदाष्टकमेवेहोद्भूतम् ।’ ( अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ १३९ )

अर्थात् ‘अर्थान्तरन्यास’ एक इस प्रकार का वाच्यचमत्कार है जिसमें उपपादन की अपेक्षा रखने वाले ‘प्रकृत’ का, चाहे वह पहले निर्दिष्ट किया गया हो या बाद में निर्दिष्ट किया जाय, समर्थक वाक्य द्वारा उपपादन अथवा समर्थन कहा करते हैं। ‘अर्थान्तरन्यास’ में प्रकृत का समर्थन होता है न कि उसका अनुमानतः नवीन अनुभव। ‘सामान्य’ वस्तु का विशेष से और ‘विशेष’ वस्तु का ‘सामान्य’ से उपपादन ‘हि’, ‘यत्’ आदि शब्दों के उपादान में शाब्द भी हो सकता है और इन शब्दों के अनुपादान में आर्य भी।

(ख) ‘अर्थान्तरन्यास’ और ‘दृष्टान्त’ भिन्न भिन्न रूप के अलङ्कार हैं जैसा कि ‘उद्योत’कार का कथन है—

‘अनुपपद्यमानतया सम्भाव्यमानस्यार्थस्योपपादनार्थं यदर्थान्तरं न्यस्यते सोऽर्थान्तरन्यासः । दृष्टान्ते तु सामान्यं सामान्येन विशेषो विशेषेण समर्थ्यते इति ततो भेदः ।’

अर्थात् अर्थान्तरन्यास में तो ‘सामान्य’रूप सम्भाव्य अर्थ के समर्थन के लिये, ‘विशेष’रूप अर्थान्तर का और ‘विशेष’रूप सम्भाव्य अर्थ के समर्थन के लिये ‘सामान्य’रूप अर्थान्तर का उपन्यास हुआ करता है किन्तु ‘दृष्टान्त’ में ऐसा होता है कि ‘सामान्य’ का समर्थन ‘सामान्य’ से और ‘विशेष’ का समर्थन ‘विशेष’ से ही किया जाया करता है।

(ग) विश्वनाथ कविराज ने ‘अलङ्कारसर्वस्व’कार की मान्यता का ही अनुसरण कर कार्य-कारणभाव के आश्रय पर ‘अर्थान्तरन्यास’ के दो भेदों का निरूपण किया है। किन्तु ‘अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी’कार की दृष्टि में ‘अर्थान्तरन्यास’ के कार्यकारणभावनिवन्धन दोनों भेद युक्तियुक्त नहीं हैं—

कार्यकारणभावाश्रयस्य भेदद्वयस्य काव्यलिङ्गत्वं ग्रन्थकृदेव वचयतीति सामान्य-विशेषभावाश्रयमेव भेदद्वयमाश्रयणीयम् ( अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी, पृष्ठ १३९ )

( २९—काम्यजिह्व )

हेतोर्वाक्यपदार्थत्वं क्वाव्यलिङ्गं निगद्यते ॥ ६२ ॥

सत्र वाक्यार्थता यथा—

‘यस्यन्नेप्रसमानकान्ति सलिले मग्न सविन्दीवरं  
मेघैरन्तरितं प्रिये ! तव मुक्ताब्जपापानुष्करी शरीरं ।  
येऽपि त्वद्रमनानुष्कारिणश्चस्ते राक्षसा गता  
स्त्यक्त्वाऽहरयविनोदमात्रमपि मे दैवेन न क्षम्यते ॥’

अत्र चतुर्थपादे पादप्रयत्नाभ्यानि हेतवः ।

पदार्थं यथा सम—

‘स्वप्नविश्रान्तिर्युतधूलीपटलपङ्क्तिनाम् ।  
न भवेत् शिरसा गङ्गा मूर्तिभारमिव ह्यर’ ॥’

अत्र द्वितीयार्थे प्रथमार्थमिह पद हेतु ।

अनेकपदं यथा मम—

‘पश्यन्त्यसंख्यपथगां स्वज्ञानजलावाहिनीम् ।  
देव ! त्रिपथगास्मानं गोपयत्युग्रमूर्धनि ॥’

‘रसमहाभारत’ का भी यही मत है—

‘बहु कारयेन् कारयेत् कार्येण कारयस्व वा समर्थेभ्यः इत्यपि मेद्वयमर्थान्तरम्। सत्पाककारसर्वस्वकारो न्यक्पद्यते एव। तस्य काम्यकिञ्चिदप्यत्वात्। (रत्न, ५४३०) बहुवाच—‘काम्यकिञ्च’ बहु भञ्जहार है जिसे किसी जगह के उपपाद्य के लिये

जैसे कि 'बाह्यार्थ' के हेतुकर्म में उपनिबन्धन में 'काम्यकिल्बिष' जिसका उदाहरण यह है—

हे जानक ! तुम्हारी नेत्र-कान्ति की भौंति काग्नितपाका नीलकमल तो पायी मैं  
हूब गया तुम्हारी मुख-कान्ति की कान्तिबाका जगदसा मेघों के पर्तों में छिप गया और  
तुम्हारी बिचित्र आकृति का लाल-आकृति राखदस (कर्पा के आते ही) माससरोवर भ्रम  
निकले। ओह ! ऐसा लगाता है जैसे दैव की वद भी जग्य नहीं कि मैं तुम्हारे साधन  
के साथ भी अपना मन बहका सकूँ !

यहाँ प्रथम तीन चरणों के वाच्यार्थ चौथे चरण के वाच्यार्थ के (काम्यप्रसङ्ग) उस पाद के किये हेतुरूप से उपनिबद्ध हैं।

हसी प्रकार 'पदार्थ के वैतुष्य में उपनिबन्धन में काष्पटिह' का यह स्वरूप निरूपण—

‘राजन् ! रणभूमि में आपके अवसरधर्मों के द्वारा जबर्दस्ती हुई प्रकृति से पंक्ति ग्राह्य की भारी बोझ के तहत, महावीर शिव अपने अस्तक पर धारण नहीं करते ।’

यहाँ प्रथम चरण का (स्वशास्त्राभिनिर्भरतृतीयपदकपट्टिकाम्) समस्त पक्ष पर  
द्वितीय चरण के उपपादकपक्ष से ही उपपन्नस्त विद्यमान है।

हमी भीति 'बनेक बहार्थ' क भी दृष्टिकर्म में उपविबन्धन में काय्यछिन्न का यह स्व  
रचित उदाहरण देखिए—

‘महाराज ! आपके हाथ-सहस्र क लकड़ी की लड़ी को अरबों लाखों में प्रशस्ति देकर देवदर शिपिंगा गंगा अपने आरको भगवान् शिव के जटा-मूढ़ में लपटा रही है ।

इह केचिद् वाक्यार्थगतेन काव्यलिङ्गेनैव गतार्थतया कार्यकारणभावेऽर्थान्तरन्यासं नाद्रियन्ते । तदयुक्तम् , तथा ह्यत्र हेतुस्त्रिधा भवति—ज्ञापको निष्पादकः समर्थकश्चेति । तत्र ज्ञापकोऽनुमानस्य विषयः, निष्पादकः काव्यलिङ्गस्य, समर्थकोऽर्थान्तरन्यासस्य, इति पृथगेव कार्यकारणभावेऽर्थान्तरन्यासः काव्यलिङ्गात् । तथा हि—‘यत्स्वन्नेत्र-’ इत्यादौ चतुर्थपादवाक्यम्, अन्यथा साकाङ्क्षतया समञ्जसमेव स्यात् इति पादत्रयगतवाक्य निष्पादकत्वेनापेक्षते । ‘सहसा विदधीत-’ इत्यादौ तु—

‘परापकारनिरतैर्दुर्जनैः सह सङ्गतिः ।  
वदामि भवतस्तत्त्व न विधेया कदाचन ॥’

[ यहाँ पूर्वार्ध के अनेकों पद ( के अर्थ ) उत्तरार्ध के अर्थ के उपपादक हेतु के रूप में उपन्यस्त हैं । ]

कुछ काव्याचार्यों ( जैसे कि काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मट आदि ) का यहाँ यह कहना है कि जब कि वाक्यार्थगत ‘काव्यलिङ्ग’ में ही कार्य से कारण और कारण से कार्य का समर्थन-वैचित्र्य अन्तर्भूत हो जाता है तब कार्य से कारण और कारण से कार्य के समर्थनरूप ‘अर्थान्तरन्यास’ की कोई आवश्यकता नहीं । किन्तु उनका यह कथन युक्तियुक्त नहीं प्रतीत होता । यहाँ इस प्रकार देखना है—‘हेतु’ तीन प्रकार का हो सकता है—(१) ज्ञापक हेतु, (२) निष्पादक हेतु और (३) समर्थक हेतु । इनमें ‘ज्ञापक’ रूप हेतु अनुमानालङ्कार का विषय है और जिसे ‘निष्पादक’ रूप हेतु कहते हैं वह ‘काव्यलिङ्ग’ का विषय है और तीसरा अर्थात् ‘समर्थक’रूप हेतु ‘अर्थान्तरन्यास’ का ही विषय हो पाता है । इस प्रकार यह निःसंदिग्ध है कि कार्यकारणभाव का ‘अर्थान्तरन्यास’ ( जिसमें समर्थक हेतु रहा करता है ) कार्यकारणभावगत ‘काव्यलिङ्ग’ से ( जिसके लिये निष्पादक हेतु की अपेक्षा है ) सर्वथा भिन्न प्रकार का ही अलङ्कार है और इसे ‘यत्स्वन्नेत्रसमान-कान्ति’ आदि सूक्ति में देखा जा सकता है जिसका चौथा चरण साकांक्ष पदा है और अपने निष्पादक हेतु के रूप में पहले तीन चरणों के वाक्यार्थ की अपेक्षा कर रहा है जिससे वह समजस बन जाता है ।

यहाँ एक बात ध्यान देने की है और वह यह है कि ‘सहसा विदधीत न क्रियाम्’ आदि सूक्ति में, जिसमें कार्यकारण भाव पर आश्रित ‘अर्थान्तरन्यास’ है, ‘काव्यलिङ्ग’ की शङ्का नहीं होनी चाहिये । कारण यह है कि यहाँ विना विचारे कार्य न किया जाय’ यह वाक्यार्थ स्वयं उपपन्न है और इसे किसी अन्य उपपादक वाक्य की कोई आकांक्षा नहीं दिखायी देती क्योंकि इसमें उसी प्रकार का उपदेश है जैसे कि इस सूक्ति अर्थात्—

‘परापकारी दुर्जन पुरुषों का सग कदापि न करना चाहिये—यही सच्ची बात है जिसे मैं बता रहा हूँ ।’ आदि में । ‘विमृश्यकारी व्यक्ति को सम्पत्ति स्वयं वरण करती है’—यह वाक्यार्थ ‘विना सोचे-समझे कार्य न किया जाय’ इस वाक्यार्थ का केवल समर्थन करने के लिये उपनिबद्ध है न कि इसके हेतुरूप में उपन्यस्त है । इससे यह स्पष्ट है कि कार्यकारणभाव-निवन्धन ‘अर्थान्तरन्यास’ जिसमें एक वाक्यार्थ, अपनी उपपत्ति के लिये, दूसरे वाक्यार्थ की आकांक्षा नहीं किया करता ‘काव्यलिङ्ग’ से सर्वथा भिन्न है जिसमें एक वाक्यार्थ दूसरे उपपादक वाक्यार्थ की आकांक्षा रखा करता है ।

इत्यादिपदुपदेशमात्रेणापि निराकाङ्क्षतया स्वसोऽपि गताय सद्भावा विधानामाद्य सम्पद्वरणं सोपपत्तिकमेव करोतीति पृथगेव कार्यकारणभावेऽप्यन्तरम्यासः अभ्यलिङ्गात् ।

न यत्ते शिरसा गङ्गां मूरिभारमिया हर ।

त्वद्वाजिराजिनिर्घृतपूलिभिः पङ्क्तिः हि सा ॥'

इत्यत्र हिराव्योपादानेन पङ्क्तिस्थाविविधसेतुत्वस्य स्फुटतया नायमलङ्कारवैशिष्ट्यस्येवालङ्कारत्वात् ।

यहाँ वह भी व्यास रचना चाहिये कि वहाँ उपपादक हेतु का उपन्यास हेतुत्व में किया गया हो वहाँ काव्यकिङ्क वहाँ हुआ करता ( क्योंकि काव्यकिङ्क के लिये उपन्यास की अपेक्षा हुआ करती है वाच्य हेतु की नहीं ) । जैसे कि यदि निम्न सृष्टि अर्थात्—

‘राजन् ! महादेव ने बहुत भारी बोझ के डर से गङ्गा को अपने शिर पर रखना छोड़ दिया है क्योंकि जब वह तुम्हारी जगसेमाओं से उड़ानी गयी दूध के कारण कीचड़ हो कीचड़ हो गयी है ।’

अब यदि को देखा जाय वहाँ ( हेतुत्वबोधक ) ‘हि’ ( हि हेतावयमारये ) सम्प्र क उपपादान से हेतुत्व की वाच्यता स्पष्ट है और ऐसा कहा है जैसे ( त्वद्वाजिराजिनिर्घृतपूलिभिः ) ‘पङ्क्तिः त्वात्’ के अर्थ में ही ‘हि’ एवं प्रयुक्त किया गया है तो वह निर्विवाद है कि वहाँ ‘काव्यकिङ्क’ अलङ्कार की कोई संभावना नहीं । अलङ्कार तो वैशिष्ट्य को कहते हैं और जब कि हेतु की वाच्यता में वैशिष्ट्य ही नष्ट हो गया तब ‘अलङ्कार’ ही कहाँ रहा !

विमर्श—( ५ ) वाचार्थ नाम्ना और इन्हीं वाचि प्राचीन व्याख्याकार ‘अव्यक्ति’ को अलङ्कार नहीं मानते । उनकी दृष्टि में वैशिष्ट्य ही अलङ्कार है और काव्यकिङ्क में कोई वैशिष्ट्य नहीं इसलिये वहाँ किसी प्रकार का ‘अलङ्कार’ नहीं । ‘अव्यक्ति’ के एक निर्देशानुसार ही काव्यविमर्श माना जा सकता है । ‘रत्नावली’ के अर्थ में इसलिये कहा है—

‘अथ वदन्ति—अव्यक्तिः अलङ्कारः । वैशिष्ट्याप्यसौ विविधविशेषस्वामावात् । त हि चाम्मतासंघर्षेण कविप्रतिमाविशेषो लक्षितितत्त्वप्रयुक्तमलङ्कारविशेषो हेतुत्वम् । न चान्योपरन्यतरस्याप्यत्र सम्भवाः । हेतुहेतुमज्ञावस्य वस्तुसिद्धत्वेन कविप्रतिमाविशेषावबोधात् । अत एव चाम्मलक्षितिरपि दुर्लभा । शक्येति संशयान्नोव विविधविशेषोऽत्राप्यस्तीति तु न वाच्यम् । तस्य शक्यार्थसंशयप्रयोगत्वेन काव्यकिङ्कस्वत्वलङ्कारत्वापास्तवाच्यसिद्धेः । अत्र तुल्यस्कारकवैशिष्ट्याद्विकल्पेन तुल्यस्कारकवैशिष्ट्यं तथास्तु वामोपस्कारकादुपस्कार्यस्य पृथगालङ्कारत्वम् । अथप्रतिपाद्योक्तं हेतुत्वकोट्येवमिति । अत्र तुल्यस्कारकवैशिष्ट्य एव विवक्षितं स्तत्रोपस्कारकमलङ्कार एव । अथा मङ्गले । एवं तर्हि बहुलामलङ्कारत्वेन प्राचीनैकरीकृतवामनलङ्कारतापत्तिरिति नैव अस्तु, किं वरिद्धम् । तस्मात् निर्देशरूपवोपासारकाव्यकिङ्कमित्यपि वदन्ति । ( रत्नावली अलङ्कारिकमकरण )

अर्थात् ‘अव्यक्ति’ को अलङ्कार मानना अनुचित है क्योंकि ‘अव्यक्ति’ में वह छोटा नहीं किन्ते विविधता कहा जाना करता है । न ये ‘अव्यक्ति’ में कविप्रतिमा का ही कोई हाथ है जिससे इसे अलङ्कार माना जाय और न किसी वामाकारविशेष का ही कोई पुत्र है जिससे इसमें किसी वैशिष्ट्य का पता चले । दो वाच्यार्थों का दोहोद्वयज्ञान वास्तविक हुआ करता है, कविप्रतिमाविशेष नहीं । वहाँ वह भी कहा जा सके नहीं कि ‘रत्न’ वाचि के अनुमान से अव्यक्ति को अलङ्कार माना जा सकता है क्योंकि तब तो ‘रत्न’ के ही अलङ्कार मानने में अमर बर बतल

है 'काव्यलिङ्ग' को पृथक् अलङ्कार मानने की क्या आवश्यकता है ? ऐसे प्रसंगों में जो भी चमत्कार है वह उपस्कारक 'श्लेष' का चमत्कार है न कि उपस्कार्य 'काव्यलिङ्ग' का । अन्ततोगत्वा यही कहा जा सकता है कि 'काव्यलिङ्ग' कोई अतिरिक्त अलङ्कार-तत्त्व नहीं अपितु 'निर्हेतुत्व' दोष का अभाव-रूप है ।

(ख) साहित्यदर्पणकार ने 'अलङ्कारसर्वस्व'कार के काव्यलिङ्ग-विवेचन के आधार पर 'काव्य-लिङ्ग' का लक्षण निरूपण किया है । किन्तु 'अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी'कार की इन युक्तियों के देखते यही प्रतीत होता है कि अलङ्कारसर्वस्व का काव्यलिङ्ग विवेचन केवल प्राचीन आलङ्कारिक ( आचार्य उद्भटप्रवर्तित ) परम्परा का अनुसरणमात्र है न कि वस्तुतत्त्व का पर्यालोचन—

'ननु हेतोर्वाक्यपदार्थोभयनिबन्धे न कश्चिद्विच्छित्तिविशेषः प्रतीयत इति कथमस्या-लङ्कारत्वमुक्तम् । न हि साध्यसाधनायोपात्तस्य हेतोरेव प्रकारद्वयातिरेकेणोपनिबन्धः स्यात् । न च यथासंभवविनोपनिबन्धमात्रेणालङ्कारत्व वक्तुं युक्तम् । कविप्रतिभात्मकस्य विच्छित्तिविशेषात्मकस्यालङ्कारत्वेनोक्तत्वात् । न चैवमुपनिबन्धात् कश्चिदतिशय इति कथमस्यालङ्कारत्वम् । सत्यम् । यद्यप्येवमुपनिबन्धस्य वस्तुवृत्तेरसम्भवान्न कश्चिदति-शयः प्रतीयते तथापि ग्रन्थकृता प्राच्यैर्लक्षितत्वादेतदिह लक्षितम् । अथ साध्यप्रतीतये हेतोरुपनिबन्धादस्येव वैचित्र्यातिशय इति चेत् तर्ह्यनुमानमेवेदं स्यान्नालङ्कारान्तरम् । साध्यसाधनस्य तल्लक्षणत्वेन वक्ष्यमाणत्वात् । एव हेतोर्वाक्यपदार्थतयोपनिबद्धस्य वास्त-वत्वात्स्य पृथगलङ्कारत्वं न युक्तम् । उक्तवक्ष्यमाणनीत्याऽनुमान एवान्तर्भावोपपत्तेः ।'

( अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी, पृष्ठ १८३-१८४ )

ऐसी स्थिति में 'साहित्यदर्पण'कार का 'काव्यलिङ्ग'—निरूपण केवल एक प्राचीन आलङ्कारिक परम्परा का अनुसरणमात्र-सा लगता है न कि और कुछ ।

(ग) साहित्यदर्पणकार ने हेतुत्रय के विभाग के आधार पर अनुमान, अर्थान्तरन्यास और काव्यलिङ्ग का जो विषय-विभाजन किया है वह एक नवीन कल्पना है । प्राचीन काव्याचार्य 'शापक' और 'कारक' दो ही हेतु मानते रहे हैं जैसा कि आचार्य दण्डी का कथन है—

'कारकज्ञापकौ हेतु तौ चानेकविधौ तथा' ( काव्यादर्श २-२३५ ) ।

और जैसे अग्निपुराण ( ३४३, २९-३० ) ने निर्दिष्ट किया है—

'सिसाधयिपितार्थस्य हेतुर्भवति साधक ।

कारको ज्ञापक इति द्विधा सोऽप्युपजायते ॥'

इन दोनों हेतुओं में 'कारक' हेतु का अभिप्राय यह है—

'प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च प्रयुक्ति चान्तरा विशन् ।

उदासीनोऽपि वा कुर्यात् कारकतत्त्वप्रचक्षते ॥'

( सरस्वतीकण्ठाभरण, ३१३ )

अर्थात् 'कारक' हेतु वह है जो कि उदासीन रहते हुये भी प्रवृत्ति, निवृत्ति और प्रयुक्ति का सम्पादक हुआ करता है ।

जिसे 'शापक' हेतु कहते हैं उसका स्वरूप यह है—

'द्वितीया च तृतीया च चतुर्थी सप्तमी च यम् ।

क्रियानाविष्टमाचष्टे लक्षणं शापकश्च य ॥'

अर्थात् वह हेतु जो 'शापक' हुआ करता है किसी क्रिया का निर्वर्तक नहीं हुआ करता—अपितु कार्य अथवा कारणरूप से रहते हुये कारण अथवा कार्य की स्थिति का समर्थन मात्र किया करता है ।

(१०—अनुमाणाच्छङ्कार)

अनुमानं तु विच्छिन्ना ज्ञानं साध्यस्य साधनात् ।

यथा—

‘धानीमहेऽस्या हवि सारसाद्या विरानसेऽन्त’ प्रियवक्त्रचन्द्र ।  
तत्प्रान्तिभासौ प्रसूतैस्त्वक्गोष्वापाप्नुता कुम्भस्रवाक्षिपद्ये ॥’

अत्र रूपकवशाद्विच्छिन्ना ।

यथा वा—

‘यत्र पतस्यवसानां दृष्टिर्निशिता पतन्ति तत्र शता’ ।  
तद्यापरोपितशरो बावत्यासां पुर स्मरो मन्त्रे ॥’

अत्र कविप्रौढोक्तिवशाद्विच्छिन्ना । उल्लेखायामनिमित्ततया प्रतीतिः, इह तु निमित्ततयेत्युभयोर्मेव ।

साहित्यदर्पणकार ने ‘छाया’ की ओर ही ‘निमित्तक’ और ‘समर्थक’ को मिला क्यों नै विवक्षित कर ‘कल्पकित’ और ‘अव्यक्तव्य’ को भेद-सिद्धि की है जिसमें महीतता अपरम है किन्तु पुष्टितुल्य नहीं ।

अनुमा—‘अनुमान’ वह अलङ्कार है जिसे एक विधिवत्ता के साथ साध्य द्वारा साध्य का ज्ञान कहा जाया करता है । जैसे कि—

‘देसा क्माता है जैसे इस कमकमयनी सुन्दरी के हृदय में उसके मिथुन का मुक्त-चन्द्र विराज रहा है क्योंकि ठीकी तो उसकी सर्वत्र फैलन वाली हृदय कान्ति से इसके अङ्ग-माला पाण्डु (रक्त-पीत) वर्ण के हो रहे हैं और नेत्रकमल भी मुकुटित (हँसे) दिखायी पड़ रहे हैं ।

यहाँ ‘अनुमान’ अलङ्कार है जिसमें कथक—वस्तुता निरङ्ग केवलकथक (‘वक्त्रचन्द्र’ तथा ‘अक्षिपद्य’ का कथककथक) के कारण एक अलङ्कारविशेष की प्रतीति स्पष्ट है ।

अथवा, जैसे कि—

‘जहाँ सुन्दरियों के कलाक पड़ते हैं वही काम के बाग बरसने लगते हैं । देसा प्रतीति होता है जैसे इन सुन्दरियों के आगे-आगे यशुव पर बाग चढ़ते कामदेव हीवता का रहा हो ।

यहाँ भी ‘अनुमान’ ही अलङ्कार है किन्तु इसकी विधिवत्ता का विधान (कोई अर्थ अलङ्कार नहीं अपितु) कवि की मीढ़ उठि है ।

यहाँ वह व्याख्य रचना चाहिये कि ‘उल्लेख’ और ‘अनुमान’ निमित्त-निमित्त प्रकार के अलङ्कार हैं क्योंकि ‘उल्लेख’ में सम्मान्यवस्तुका ज्ञान अनिमित्तक्य का रहा करता है किन्तु ‘अनुमान’ में यह अनिमित्तक्य का हो जाया करता है ।

विमर्श—(क) ‘अनुमान’ शब्द और अर्थ दोनों के क्षेत्र की वस्तु है । औदिक ‘अनुमान’ में शब्द अलङ्कार नहीं रहा करता । किन्तु अलङ्कारक ‘अनुमान’ अलङ्कारपूर्व हुआ करता है । अलङ्कारपूर्व ‘अनुमान’ ही अनुमानाच्छङ्कार है । ‘अनुमान’ में अलङ्कार का आगम अनिमित्तता का कार्य है जैसा कि ‘उल्लेख’ अलङ्कार का भी कथन है—

‘अनुमितिपरमनुमानम्—

अनुमितिज्ञानुमितिव्यवृत्ति । अनुमितित्वं चानुमितोमीति भावसत्ताच्छङ्कारसाक्षिके

( ३१—हेत्वलङ्कार )

अभेदेनाभिधा हेतुर्हेतोर्हेतुमता सह ॥ ६३ ॥

जातिविशेष' । व्याप्तिप्रकारकपक्षधर्मतानिश्चयजन्यज्ञान वानुमिति । तस्याश्च करणं व्याप्ति-  
प्रकारकलिङ्गनिश्चय इत्येके । व्याप्यत्वेन निश्चीयमानं लिङ्गमित्यपरे । इदं च साधारणमनु-  
मानम् । अस्य च कविप्रतिभोद्धिखितत्वेन चमत्कारित्वे काव्यालङ्कारता ।' ( रसग० अनु० )

( ख ) 'अनुमान' शब्द की व्युत्पत्ति, जैसा कि नैयायिकों का मत है, यह है—'अनुमीयते  
अनेन इत्यनुमानम् ( करणे ल्युट् ) ।' इस दृष्टि से 'अनुमान' अथवा 'अनुमितिकरण' का  
अभिप्राय 'परामर्श' अथवा 'तृतीय लिङ्गपरामर्श' है । कुछ नैयायिक 'लिङ्गज्ञान' अथवा 'व्याप्तिज्ञान'  
को अनुमितिकरण कहा करते हैं । किन्तु आलङ्कारिकों की 'अनुमान' की व्युत्पत्ति यह है—

'अनुमीयत इत्यनुमानम् ( भावे ल्युट् ) ।'

अर्थात् 'अनुमान' साधन से साध्य का ज्ञान है । 'अनुमिति' ही अनुमान है । यह 'अनुमान'  
( अथवा 'अनुमिति' ) तभी अलङ्कार हो सकता है जब कि उसमें लौकिक अनुमान से विलक्षणता  
हो । लौकिक अनुमान अथवा तार्किक अनुमान लोक-जीवन की प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति से सबद्ध  
है किन्तु काव्यात्मक अनुमान का प्रयोजन काव्यपाठक के हृदय में चमत्कार का उत्पादन है ।  
आचार्य जयरथ ( अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी के रचयिता ) ने इसीलिये कहा है—

'अतश्चास्य ( अनुमानालङ्कारस्य ) कविकर्मैव वैलक्षण्यनिमित्तमिति भावः । एवं च  
कविकर्माभावाद् यत्र विच्छित्तिविशेषाश्रयण न स्यात् तत्र नायमलङ्कार । यथा—'यो  
यत्कथाप्रसङ्गेच्छिन्नच्छिन्नायतोष्णनिश्वास' । स भवति तं प्रति रक्तस्त्वं च तथा दृश्यसे  
सुतनु ॥' अत्र रक्तत्वं प्रति विशिष्टस्य निःश्वसितस्यार्थेऽपि हेतुत्वे वास्तवत्वात् कविप्रतिभा-  
निर्वर्तितत्वाभावाच्चायमलङ्कार । कविकर्मण एवालङ्कारनिबन्धनत्वेनोक्तत्वात् आर्थत्वस्य  
तदप्रयोजकत्वात् ।' ( अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी, पृष्ठ १८३ )

( ग ) अलङ्कारान्तरगर्भ 'अनुमान' के अतिरिक्त शुद्ध 'अनुमान' भी अनुमानालङ्कार हुआ  
करता है । शुद्ध 'अनुमान' के उदाहरणरूप में आचार्य रुच्यक ने निम्न सूक्ति उद्धृत की है—  
'यत्रैता लहरीचलाचलदृशो व्यापारयन्ति भ्रुवं यत्तत्रैव पतन्ति संततममी मर्मस्पृशो मार्गणाः ।  
तच्चक्रीकृतचापमश्चितशरप्रेङ्खत्करः क्रोधनो धावत्यग्रत एव शासनधरः सत्य सदासां स्मरः ॥'  
यह सूक्ति कितनी सुन्दर है ! इसी सूक्ति को अपने शब्दों में गढ़ते हुये साहित्यदर्पणकार ने 'यत्र  
पतत्यबलानाम्' आदि सूक्ति गढ़ी है जिसमें 'अनुमान' का लक्षण तो अवश्य पड़ता है किन्तु  
'काव्यात्मकता' नहीं घटित होती । कारण यह है कि 'अबलानाम्' की ध्वनि में वह सौन्दर्य नहीं  
जो कि 'लहरीचलाचलदृश' की ध्वनि में है जो कि यहाँ अत्यन्त उपयोगी है ।

( घ ) अनुमानालङ्कार के विवेचन में रसगङ्गाधरकार की दृष्टि बड़ी सूक्ष्म है । 'रसगङ्गाधर'कार  
ने 'अनुमान' की रूपरेखा का यह विशद दर्शन किया है—

'अत्रेद वोध्यम्—मन्ये इत्यादिवाचकपदोपादाने वाच्यमनुमानम् । वक्ति, कथ-  
यतीत्यादि लक्षकपदोपादाने लध्यम् । तदन्यतरानुपादाने साध्याचिसायामनुमितौ प्रती-  
यमानम् । साध्यस्याप्यनुपादाने लिङ्गमात्रोपादानेन यत्रागूर्यमाण साध्यं तत्र ध्वन्य-  
मानम् । 'अतोऽनुमितिरवानुमानम् । तस्याश्च वाच्यत्व लध्यत्व-प्रतीयमानत्व ध्वन्यमान-  
त्वाना साम्राज्यम् ल्युटश्च करण इव भावेऽपि ।' ( रसगङ्गाधर अनुमानप्रकरण )

अनुवाद—'हेतु' वह अलङ्कार है जिसे हेतुमान् के साथ हेतु का अभेदरूप से वर्णन  
कहा गया है ।



यथा मम—‘तारुण्यस्य विलासः’ इत्यत्र परीक्षणहेतुर्नायिकापरीक्ष  
णत्वेनोक्त, विलासहासयोस्त्वभ्यवसायमूलोऽयमलङ्कारः ।

(३९—अनुकूलालङ्कारः)

अनुकूलं प्रातिकूल्यमनुकूलानुबन्धि चेत् ।

यथा—

‘कृपितासि यथा तन्धि ! निधाय करमञ्जुतम् ।

यथान् मुञ्जपाराशर्यां कण्ठमस्य दृढं सदा ॥’

इसका उदाहरण मेरी स्वरचित सूक्ति—‘तारुण्यस्य विलासः’ अर्थात् है । यहाँ ‘हेतु’ अलङ्कार इसलिये है क्योंकि (मेरी चुपकी क हृदय के) बसीकरण की ‘हेतु’ अर्थ नयिका को ‘बसीकरण’ से वर्णित किया गया है । साथ ही साथ (तारुण्यस्य विलासः में) ‘विलास’ और (समयिकताव्यवसरो हासः में) ‘हास’ में अमेदाव्यवसायमूलक ‘हेतु’ अलङ्कार स्पष्ट दिखायी दे रहा है ।

विमर्श—(क) आचार्य मामह को इति में ‘हेतु’ नाम का कोई भी अलङ्कार नहीं । आचार्य दम्बी ने ‘हेतु’ को वाप्य अवयवा कविता का अंश भूषण कहा है—

‘हेतुश्च सूक्ष्मकेशी च वाचासुचममूषकम् । (आचार्य १ २३५)

किन्तु आचार्य दम्बी का ‘हेतु’ अलङ्कार ‘आम्बुकिङ्क’ अलङ्कार है ।

आचार्य दृष्ट ‘हेतु’ अलङ्कार के सर्वप्रथम समर्थक आचार्यिक है—

‘हेतुमता सह हेतोरभिधानममेदङ्गजवेद्यम् ।

सोऽङ्गकङ्कारो हेतुः स्वात्मवेद्यः प्रथमस्तः ॥ (आचार्य ३ ८९)

किन्तु आम्बुकिङ्कार आचार्य मम्मट ने आचार्य दृष्ट का खण्डन किया है और ‘हेतु’ को अतिरिक्त अलङ्कार न मानने का आदेश दिया है—

(हेतुमता सह हेतोरभिधानममेदङ्गजवेद्यः हेतुः) इति हेतुकङ्कारोऽङ्ग एव कथितः । आनु-  
पूर्वमित्वाविरूपो ह्येव न प्रथमतां कथाविद्वांसि वैचिण्यामात्मन् । ‘अविरक्तमन्त्रविकारा’  
सकृदास्मिन्नङ्ग्य कोकिलान्तः । इत्योऽङ्गमेति संप्रति कोकोत्कण्ठकरः काका ॥ इत्यत्र  
आम्बुकिङ्कारो कोमलानुभासमहिम्नैव समाम्बासिधुर्न तु हेतुकङ्कारकमपवधति पूर्वोक्तं आम्बु-  
किङ्गमं हेतुः । (आम्बुकिङ्कार १ म अङ्कात्)

किन्तु ऐसा कथना है कि आम्बुकिङ्कार के खण्डन के आदेश में किञ्चान् अतिराज ने  
‘हेतु’ को ‘आम्बुकिङ्क’ और ‘अनुमान’ से प्रथमत्व का अलङ्कार मान लिया है ।

अथोक्त ने इसीकिये यह निर्णय किया है कि ‘हेतु’ को एक अलङ्कार मानना अनुचित है—

‘पूर्वं हेतुकङ्कारमेदाव्यवसायेऽप्येवा (अतिशयोक्तिः) । यथा ‘विलासः’ समरसीमनि  
पल्लवपल्लवसीमनि विपुलपल्लवि कोविदपल्लवः । समोदयं पुरतस्तस्यैव अतिशयोक्तिः अर्थ  
तदीयमवयवमेकपल्लवमुत्तमं ॥ इत्यादी विलासनादिपदस्य तदेवोदाहरणव्यवसायाः ।  
पुनरेव ‘हेतोर्हेतुमता सार्वभमेवो हेतुकङ्कारोऽङ्गः । इति हेतुकङ्कारोऽङ्गं प्रथमताव्यवसायाः ।

अनुरा—‘अनुकूल’ वह अलङ्कार है जिस प्रतिकूल (वस्तु) द्वारा अनुकूलता के  
संपादन में देखा जाता करता है । जैसे कि—

‘अरी सुन्दरी ! यदि तू कृपित हो गयी तो इस (मेरी) के शरीर पर बज्रवत् क्या  
कर इसके गले को अपने धातुपाश से बाँध दे ।

अस्य च विच्छित्तिविशेषस्य सर्वालङ्कारविलक्षणत्वेन स्फुरणापृथगलङ्कार  
त्वमेव न्याय्यम् ।

( ३३—आक्षेपालङ्कार )

वस्तुनो वक्तुमिष्टस्य विशेषप्रतिपत्तये ॥ ६४ ॥

निषेधाभास आक्षेपो वक्ष्यमाणोक्तगो द्विधा ।

तत्र वक्ष्यमाणविषये कचित्सर्वस्यापि सामान्यतः सूचितस्य निषेधः कचि-  
दंशोक्तावशान्तरे निषेध इति द्वौ भेदौ । उक्तविषये च कचिद्वस्तुस्वरूपस्य  
निषेधः, कचिद्वस्तुकथनस्येति द्वौ, इत्याक्षेपस्य चत्वारो भेदाः ।

यहाँ ( इस सूक्ति में ) एक ऐसी विचित्रता झलक रही है जिसे अन्य किसी भी  
अलङ्कार के वैचित्र्य में नहीं देखा जा सकता । इसलिये यही उचित है कि इस वैचित्र्य-  
प्रकार को एक पृथक् अलङ्कार ( अर्थात् 'अनुकूल' अलङ्कार ) के रूप में स्वीकार किया जाय ।

विमर्श—'अनुकूल' अलङ्कार 'रसवादी विश्वनाथ कविराज की कल्पना की एक देन है ।  
'अनुकूल' अलङ्कार की नयी कल्पना का आधार 'विषम' अलङ्कार की प्राचीन मान्यता है ।  
'विषम' अलङ्कार की परिभाषा यह रही—

'गुणौ क्रिये वा चेत्स्यातां विरुद्धे हेतुकार्ययो । यद्वारब्धस्य वैफल्यमनर्थस्य च संभवः ॥

विरूपयो सघटना या च तद्विषम मतम् ।' ( साहित्यदर्पण )

जिसमें यह स्पष्ट है कि यदि अननुरूप पदार्थों का एक प्रकार का ससर्ग एक 'अलङ्कार' है तो  
अननुरूप पदार्थों का दूसरे प्रकार का ससर्ग भी एक 'अलङ्कार' प्रकार अवश्य हो सकता है । किन्तु  
इस यत्किञ्चिन्मात्र वैलक्षण्य के आधार पर 'अनुकूल' की अतिरिक्त मान्यता आचार्य दण्डी के इस  
अलङ्कारनिरूपण सिद्धान्त के प्रतिकूल ही दिखायी देती है—

'काव्यशोभाकरान् धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते । ते चाद्यापि विकल्प्यन्ते कस्तान् कास्त्वेन वक्ष्यति ॥  
किन्तु बीज विकल्पानां पूर्वाचार्यैः प्रदर्शितम् । तदेव परिसस्कर्तुमयमस्मत्परिश्रमः ॥'

( काव्यादर्श, २. १-२ )

अर्थात् अलङ्कार तो शब्द अथवा अर्थ के वे धर्म अथवा वैशिष्ट्य हैं जो कि काव्य की शोभा  
के सपादक हुआ करते हैं । काव्य की शोभा के आधारक शब्द-धर्मों अथवा अर्थ-धर्मों का इयत्ता-  
निर्धारण नहीं हो सकता । किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि यत्किञ्चिन्मात्र वैचित्र्य के आधार  
पर नये-नये अलङ्कारों की कल्पना की जाय ।

कम से कम विश्वनाथ कविराज को यद्वा यह देखना आवश्यक था कि 'अनुकूल' अलङ्कार के  
पृथक् अलङ्कार मानने अथवा न मानने से 'रसात्मक वाक्य' में विशेषता का आधीन समव है  
अथवा नहीं । रसध्वनिवादी काव्याचार्य के लिये 'अनुकूल' को अतिरिक्त अलङ्कार मानना  
युक्तियुक्त नहीं प्रतीत होता ।

अनुवाद—'आक्षेप' वह अलङ्कार है जिसे विवक्षित वस्तु के ऐसे आपातत निषेध में  
देखा जाया करता है जो कि अन्ततोगत्वा उसकी विशेषता के प्रतिपादन के लिये किया  
जाया करता है । इसके ये दो प्रकार हैं—( १ ला ) वक्ष्यमाण वस्तुगत निषेधाभासरूप  
आक्षेप और ( २ रा ) उक्त वस्तुगत निषेधाभासरूप आक्षेप ।

वक्ष्यमाण वस्तुगत निषेधाभासरूप 'आक्षेप' भी दो प्रकार का हुआ करता है—  
( १ ला ) वह, जिसमें सामान्यतया सूचित समस्त वस्तु का निषेध किया जाया करता  
है और ( २ रा ) वह, जिसमें एक अंश में सूचित वस्तु का दूसरे अंश में निषेध हुआ

क्रमेण यथा—

( सामान्यतया सूचित वस्तु का सर्वात्मका निषेधरूप वक्ष्यमाणविषयगत आशेष )

‘स्मरशरशतविधुराया मजामि सख्या कृते किमपि ।

अजमिह विमम्य सखे ! निवृत्तहृदयस्य किं वदाम्यमया ॥’

अत्र सख्या विरहस्य सामान्यतः सूचितस्य वक्ष्यमाणविषये निषेध ।

( एक अंश के वर्णन और दूसरे अंश के निषेध में वक्ष्यमाण विषयगत आशेष )

‘तव विरहे हरिणाक्षी निरीक्ष्य नवमाक्षिकां दक्षिणाम् ।

हन्त ! निशान्तमिदानीम् आ’ किं हसन्नस्मिपतैरमया ॥’

अत्र मरिच्यतीत्यंशो नोक्तः ।

( वस्तुस्वरूप के निषेध में उक्त विषयगत आशेष )

‘बाह्य ! जाहं दूती तुभ पिबोसि सि ण मह आचारो ।

सा मरह तुम्ह अजसो एअं अम्मकल्लर मणिमो ॥’

[ बाह्य ! जाहं दूती ! तस्माः पिबोसि इति व मे आचारः ।

सा त्रिपते तवापकाः एतत् धर्माक्षरं अजसम् ॥ ]

अत्र दूतीत्वस्य वस्तुनो निषेधः ।

करता है। इसी प्रकार उक्त वस्तुगत विषेयमात्ररूप आशेष भी दो प्रकार का है—  
( १ ) का वह जिसमें वस्तु के स्वरूप का निषेध हुआ करता है और ( २ ) वह जिसमें वस्तु के कथन अथवा वर्णन का निषेध किया जाया करता है। इस प्रकार ‘आशेष’ के चार भेद सिद्ध होते हैं।

जैसे कि क्रमशः—

हे सखे ! जब भर विभ्राम करके मैं तुमसे अपनी उस सखी के विषय में कहींगी जिसका हृदय काम के अस्मक जागो द्वारा बिख हो चुका है। अथवा तुम जैसे निहुरहृदय के जागो कहीं भी तो क्या कहीं ।

यहाँ वह स्पष्ट है कि किसी सखी द्वारा किसी नविका की विरह-व्यथा की सामान्यता सूचना ही जा रही है किन्तु ‘किं मजामि’ की उक्ति से उसके सम्बन्ध में जागो कही जाने वाली बात ( वस्तुता उसकी शत्रु ) का निषेध कर दिया जा रहा है।

अरे सुभग ! तुम्हारे विरह में वह धूमनयनी सुन्दरी लिखी हुई नवमाक्षिका को देख कर इस समय कितने दुःख की बात है कि अक्षर ही ‘ओह ! अथवा, इन तुरी बातों के कहने से भी क्या काम ।’

यहाँ ‘हन्त निशान्तम्’ की उक्ति में वर्णन वायिका की दुर्दशा का अंशतः कथन है किन्तु ‘मरिच्यति’ का जागो कहा जाने वाला दूसरा अंश निषिद्ध कर दिया गया है।

‘अथ ! मैं दूती नहीं। मैं इसलिये भी नहीं आयी कि तुम उसके प्यारे हो। मैं तो तुमसे कथन के धर्माक्षर कहने आयी हूँ कि वह भर जावगी और सभी पाप तुम पर लगेगा ।’

यहाँ वह स्पष्ट है कि उक्त दूतीत्वरूप का निषेध किया गया है।

( वस्तुकथन के निषेध में उक्त वस्तुगत आक्षेप )

‘( विरहे तव तन्वङ्गी कथं क्षपयतु क्षपाम् ।

दारुणव्यवसायस्य पुरस्ते भणितेन किम् ? ॥’

अत्र कथनस्योक्तस्यैव निषेधः ।

प्रथमोदाहरणे सख्या अवश्यम्भाविमरणमिति विशेषः प्रतीयते । द्वितीयेऽ-  
शक्यवक्तव्यत्वादि, तृतीये दूतीये यथार्थवादित्वम्, चतुर्थे दुःखस्यातिशयः ।  
न चायं विहितनिषेधः, अत्र निषेधस्याभासत्वात् ।

( आक्षेप का प्रकारान्तर )

अनिष्टस्य तथार्थस्य विध्याभासः परो मतः ॥ ६५ ॥

तथेति पूर्ववद्विशेषप्रतिपत्तये ।

यथा—

‘गच्छ गच्छसि चेत् कान्त ! पन्थानः सन्तु ते शिवाः ।

ममापि जन्म तत्रैव भूयाद्यत्र गतो भवान् ॥’

‘अरे सुभग ! तुम्हारे वियोग में वह सुन्दरी भला किस प्रकार रात बितावे ? अथवा तुम्हारे सरीखे क्रूर आचरण वाले के आगे कुछ कहने से भी क्या ?’

यहाँ उक्त वस्तुकथन का निषेध स्पष्ट है ।

इन चारों उदाहरणों में विवक्षित वस्तु की ‘विशेषता’ का जो अभिप्राय है जिसके लिये वक्ष्यमाण अथवा उक्त विषय का निषेध किया गया है वह यह है—पहले अर्थात् ‘स्मरशरशतविधुराया’ आदि में सखी का ‘अवश्यभावी मरण’ रूप जो अभिप्राय प्रतीत हो रहा है वह ‘विशेष’ है, दूसरे अर्थात् ‘तव विरहे हरिणाक्षी’ आदि में यह ‘विशेष’ प्रतीत हो रहा है कि ‘उसकी दुर्दशा का वर्णन असंभव है’, तीसरे अर्थात् ‘बालभ ! ग्राहं दूती’ आदि में ‘दूती होने पर भी यथार्थवादिता’ का अभिप्राय ‘विशेष’ रूप से विवक्षित है और चौथे अर्थात् ‘विरहे तव तन्वङ्गी’ आदि में जो ‘विशेष’ है वह विरहिणी की ‘दुःख-पराकाष्ठा’ का अभिप्राय है ।

इन ‘आक्षेप’-सूक्तियों के सम्बन्ध में यह नहीं कहा जा सकता कि इनमें जिसका विधान अथवा प्रतिपादन किया गया है उसका निषेध ही वह वैचित्र्य है जो आक्षेप-अलङ्कार का स्वरूप है क्योंकि वस्तुतः जिसे ‘आक्षेप’ अलङ्कार कहा करते हैं वह ‘विहित’ के ‘निषेध’ में नहीं अपितु उसके ‘निषेधाभास’ ( आपातत निषेध ) में रहा करता है ।

अनुवाद—एक प्रकार का ‘आक्षेप’ वह भी है जिसे अनिष्ट अर्थ के ऐसे ‘विध्याभास’ अथवा ( आपातत विधान ) में देखा जाया करता है जिससे किसी विशेष अभिप्राय का प्रकाशन हुआ करता है ।

यहाँ कारिका में ‘तथा’ का अभिप्राय यह है कि जैसे प्रथम ‘आक्षेप’ प्रकार में विहित का निषेधाभास एक विशेष अभिप्राय के प्रकाशनार्थ अपेक्षित माना गया है वैसे ही इस ‘आक्षेप’-प्रकार में भी अनिष्ट अर्थ का विध्याभास एक विशेष अभिप्राय के अवबोधनार्थ ही अभिप्रेत हुआ करता है ।

जैसे कि—

‘मेरे प्रियतम ! जा रहे हो तो जाओ, तुम्हारे मार्ग मङ्गलमय हों, किन्तु, ईश्वर से मेरी यही प्रार्थना है कि मैं भी पुनः वहीं जन्म लूँ जहाँ तुम जा रहे हो ।’



अर्थात् 'आक्षेप' का अभिप्राय 'विधि' और 'निषेध' द्वारा 'निषेध' और 'विधि' का उक्ति-वैचित्र्य है। यदि प्राकरणिक अर्थ 'विधि'रूप है तो उसका 'निषेध' असंगत है। इसी प्रकार यदि प्राकरणिक अर्थ 'निषेध'रूप है तो उसका 'विधान' अनुपपन्न है। इसलिये 'विधि' का निषेध अथवा 'निषेध' का विधान वास्तविक नहीं अपितु प्रातीतिक अथवा आभासरूप ही सिद्ध होता है। 'विधि' का निषेध अथवा 'निषेध' का विधान यों ही नहीं किया जाया करता अपितु किसी विशेष अभिप्राय के प्रकाशनार्थ ही किया जाया करता है। नहीं तो जिसका विधान किया जाय उसी का निषेध किया जाय अथवा जिसका निषेध किया जाय उसीका विधान किया जाय—यह सब 'गज स्नान' ( हाथी के नहाने ) की भाँति निरर्थक ही है। प्राचीन आलङ्कारिकों ने दो प्रकार के 'आक्षेप' इसलिए माने थे क्योंकि एक आक्षेपप्रकार में 'कैमर्थ्यपर्यालोचन' ( क्यों ऐसा किया गया इस प्रश्न ) और दूसरे आक्षेपप्रकार में 'वक्ष्यमाणानयनागूरण' ( आगे कहीं जानेवाली बात के प्रकाशन ) का रहस्य अन्तर्निहित रहा करता है। किन्तु वस्तुतः यद्यपि ऐसा है कि उक्तविषयक 'आक्षेप' की ही भाँति 'वक्ष्यमाणविषयक' आक्षेप में भी 'कैमर्थ्यपर्यालोचन' ( क्यों ऐसा किया गया—इस प्रश्न ) का ही तात्पर्य रहा करता है। इसलिये प्राचीन आलङ्कारिकों के 'आक्षेप'—लक्षण में 'आक्षेप' के प्रकारद्वय का कोई निष्कर्ष नहीं निकल सकता।

वस्तुतः 'आक्षेप' का पृथक्-पृथक् लक्षण ही युक्तियुक्त है। जैसे कि 'उक्तविषयक' आक्षेप के लिए यह कहना उचित है कि इसमें 'वस्तुनिषेध' और 'वस्तुकथननिषेध' हुआ करता है और 'वक्ष्यमाणविषयक' आक्षेप में केवल 'वस्तुकथन' निषेध ही 'सामान्यतः' सूचित के निषेध और 'एक अंश के कथनपूर्वक अन्य अंश के निषेध'—इन दो रूपों में दिखाई दिया करता है।

( ग ) अनिष्ट अर्थ के विध्याभासरूप 'आक्षेप' की 'आक्षेप' प्रकार के रूप में कल्पना आचार्य रूच्यक ने सर्वप्रथम की है। यह कल्पना विश्वनाथ कविराज को भी मान्य है। आचार्य रूच्यक का इस सम्बन्ध में यह कथन है—

'यथेष्टस्येष्टत्वादेव निषेधोऽनुपपन्नः एवमनिष्टस्याप्यनिष्टत्वादेव विधानं नोपपद्यते । तत्क्रियमाण प्रस्खलद्रूपत्वाज्जिषेधं पर्यवस्यति । ततश्च विधेरुपकरणीभूतो निषेध इति विधिनाऽयं निषेधोऽनिष्टविशेषपर्यवसायी निषेधागूरणादाक्षेपः ।' ( अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ १५२ ) अर्थात् जैसे इष्ट होने के नाते इष्ट का निषेध अनुपपन्न है वैसे ही अनिष्ट होने के नाते अनिष्ट का भी विधान अनुपपन्न ही है। तब भी यदि 'अनिष्टविधान' किया जाता है तो इसका अभिप्राय अन्तर्गतत्वा निषेधरूप ही निकल सकता है जिसे 'विध्याभास' कहा जा सकता है।

निम्न सूक्तियों 'आक्षेप' को वही सुन्दर सूक्तियों हैं—

'त्व जीवित स्वमसि मे हृदयं द्वितीयं त्वं कौमुदी नयनयोरमृतं त्वमङ्गे ।  
इत्यादिभिः प्रियशतैरनुरुध्य मुग्धा तामेव शान्तमथवा किमिहोत्तरेण ॥'

( उत्तररामचरित, ३५ अङ्क )

'नो किञ्चित् कथनीयमस्ति सुमग प्रौढाः परं त्वाद्दशाः  
पन्थान कुशला भवन्तु भवत को मादृशामाग्रह ।  
किंत्वेतत् कथयामि सततरतकलान्तिच्छिदस्तास्त्वया  
स्मर्त्तव्या शिशिरा सहसगतयो गोदावरीवीचयः ॥'

( अलङ्कारसर्वस्व • उद्धरण )

'रे खल तव चरितं विदुषामग्रे विविच्य वक्ष्यामि ।  
अलमथवा पापात्मन् कृतया कथयापि ते हृतया ॥'

( पण्डितराज जगन्नाथ )

अप्रानिष्टत्वाद्गमनस्य विधिं प्रसूयन्नृपो निषेधे पयबस्मति । विशेष्य  
गमनस्यास्पन्तपरिहार्यत्वरूपं प्रतीयते ।

यहाँ जो 'अभिष्ट' अर्थ है वह 'प्रियतम का प्रवास' रूप अर्थ है । इस अभिष्ट अर्थ का 'गण्य गण्यसि चेत्' के रूप में जो विचार है वह अपने आप में असंगत है और अन्ततः ( 'मा गण्य' के रूप में ) गमन के निषेध का ही अर्थ रहता है जिससे वह निषेध अभिप्राय प्रकाशित हो रहा है कि 'ऐसी अवस्था में अन्यथा जाना सर्वथा अनुचित है ।

विमर्श—( क ) साहित्यदर्पणकार का 'आक्षेप'-कथन वाचार्थ उद्धर के इस आक्षेप-कथन के अनु रूप है—

प्रतिषेध इवेहस्य यो विशेष्यमिच्छित्तया ।

आक्षेप इति तं सम्मत् संसर्गि कथयत्तदा ।

वचनमात्रोक्तविषया स च द्विविध इष्यते ।

विषेधेनैवतत्त्वम्यो विषेधस्य च कीर्तितः ॥ ( आभ्यासद्वारसारसंग्रह २२२ )

'आक्षेप' में जिस 'अर्थविशेष की प्रतिपत्ति के लिये विहित का निषेधामात्र नबना अनिष्ट का विध्वामात्र अवस्थित रहा करता है वह 'अर्थविशेष वस्तुतः व्यवहार्य अर्थ है । इस व्यवहार्य अर्थ के कारण आक्षेप-सूक्तियों को 'ध्वनि' नहीं कहा जा सकता क्योंकि इन सूक्तियों का सौन्दर्य इस व्यवहार्य 'विशेष' में नहीं अपितु इस व्यवहार्य 'विशेष' के प्रतिपादन-वैशिष्ट्य में रहा करता है । व्यवहार ने इसीलिये कहा है—

'आक्षेपेऽपि व्यवहारविशेषाक्षेपिनो वाच्यस्यैव वाचकम् । प्राधान्येव वाच्यार्थ आक्षेपोऽपि सामर्थ्यादेव ज्ञायते । तत्र सध्वोपाकृत्यो विशेष्यमिच्छावेच्छया प्रतिषेधरूपो च आक्षेप स एव व्यवहारविरोधमाक्षिपन् मुक्त्यं काव्यसरीरम् । वाच्योक्त्यर्थनिवृत्तया हि वाच्यव्यङ्ग्ययोः प्राधान्यविषया ।' ( आभ्यासद्वार, पृष्ठ १११ )

जहाँ-तैसे 'आक्षेप' में सके ही व्यवहार्य विशेष प्रतीय हो किन्तु इस नज्द्वार की कल्पना इस व्यवहार्य विशेष में नहीं अपितु इस व्यवहार्य विशेष के व्यवहार वाच्य-वैशिष्ट्य में हो रहा करती है । व्यवहार के सौन्दर्य की अपेक्षा वाच्य का अधिक सौन्दर्य ही आक्षेप रूप व्यवहार की भाँति प्रतीय हुआ करता है । इसलिये वहाँ 'ध्वनि' को कोई संभावना नहीं ।

( ख ) नज्द्वारसर्वस्वकार ने आक्षेप की वह सुन्दर समीक्षा की है—

'वचनव्यमात्रयोः प्राकरभिकयोर्विशेषप्रतिपत्त्यर्थं विशेष्यमात्र आक्षेपः—

इह प्राकरभिकोऽर्थः प्राकरभिकवाच्येन वक्तुमिच्छते । तथाविधस्य विचारार्थस्य विषेधा कर्तुं च युज्यते । स कुतोऽपि वाचितत्त्वकफलात् विषेधावत् इति विशेष्यमात्राः सम्प्रगताः । तस्यैतस्य कर्तव्यं प्रकृतगतत्वेन विशेष्यप्रतिपत्त्यर्थम् । अन्यथा गद्यस्वाभावस्यैव स्वात् । स चाऽभ्यासमात्रोऽपि विषेधस्तत्रोक्तस्य । ना स्यात् आसुवितामिमान्त्वं वक्ष्यमास्यस्य वा स्वात् । इत्याक्षेपस्य इषी गतिः । तत्रोक्तविषयत्वेन वैषम्यपरमाक्षेपवमाक्षेपः । वक्ष्य मास्यविषयत्वेनावयवकल्पमात्रमुपमाक्षेपः । पूर्वं चार्थमेवाक्षेपस्यैव ज्ञावावैपादिति वहन्ति । तत्रोक्तविषये तस्यैवैहस्य विशेष्यस्तस्यैवाक्षेपः । वक्ष्यमास्यविषये त्विहस्य विशेषः । इहस्यविश्वान्तव्यवस्थस्य सामान्यरूपस्य विषेधः । तेनाह कथनमेव । विशेषस्य चात्र सम्प्रत्युपाकृतवाङ्मयत्वम् तत्रोक्तविषय आक्षेपे कथिहस्तु विविध्यते कथिहस्तु कथयमिति द्वी भेदी । वक्ष्यमास्यविषये तु वस्तुवचनमेव विविध्यते तत्र सामान्यप्रतिज्ञायां कथिह विशेष्यविश्वान्त विविध्यते कथिहस्तु तत्रोक्तार्थवाच्यतत्वेनैवैतदपि द्वी भेदी । तद्वचनस्य चत्वारो भेदाः । सामान्यवचनिकार्थं सामान्यविशेष्यमात्रमात्रकम् चत्वारं प्राकरभिकारमात्र-वक्ष्यम् । ( नज्द्वारसर्वस्व इव १४५-१४६ )

अर्थात् 'आक्षेप' का अभिप्राय 'विधि' और 'निषेध' द्वारा 'निषेध' और 'विधि' का उक्ति-वैचित्र्य है। यदि प्राकरणिक अर्थ 'विधि'रूप है तो उसका 'निषेध' असंगत है। इसी प्रकार यदि प्राकरणिक अर्थ 'निषेध'रूप है तो उसका 'विधान' अनुपपन्न है। इसलिये 'विधि' का निषेध अथवा 'निषेध' का विधान वास्तविक नहीं अपितु प्रातीतिक अथवा आभासरूप ही सिद्ध होता है। 'विधि' का निषेध अथवा 'निषेध' का विधान यों ही नहीं किया जाया करता अपितु किसी विशेष अभिप्राय के प्रकाशनार्थ ही किया जाया करता है। नहीं तो जिसका विधान किया जाय उसी का निषेध किया जाय अथवा जिसका निषेध किया जाय उसीका विधान किया जाय—यह सब 'गज स्नान' ( हाथी के नहाने ) की भाँति निरर्थक ही है। प्राचीन आलङ्कारिकों ने दो प्रकार के 'आक्षेप' इसलिए माने थे क्योंकि एक आक्षेपप्रकार में 'कैमर्थ्यपर्यालोचन' ( क्यों ऐसा किया गया इस प्रश्न ) और दूसरे आक्षेपप्रकार में 'वक्ष्यमाणानयनाग्रण' ( आगे कही जानेवाली बात के प्रकाशन ) का रहस्य अन्तर्निहित रहा करता है। किन्तु वस्तुतः यहाँ ऐसा है कि उक्तविषयक 'आक्षेप' की ही भाँति 'वक्ष्यमाणविषयक' आक्षेप में भी 'कैमर्थ्यपर्यालोचन' ( क्यों ऐसा किया गया—इस प्रश्न ) का ही तात्पर्य रहा करता है। इसलिये प्राचीन आलङ्कारिकों के 'आक्षेप'—लक्षण में 'आक्षेप' के प्रकारद्वय का कोई निष्कर्ष नहीं निकल सकता। /

वस्तुतः 'आक्षेप' का पृथक्-पृथक् लक्षण ही युक्तियुक्त है। जैसे कि 'उक्तविषयक' आक्षेप के लिए यह कहना उचित है कि इसमें 'वस्तुनिषेध' और 'वस्तुकथननिषेध' हुआ करता है और 'वक्ष्यमाणविषयक' आक्षेप में केवल 'वस्तुकथन' निषेध ही 'सामान्यतः' सूचित के निषेध और 'एक अंश के कथनपूर्वक अन्य अंश के निषेध'—इन दो रूपों में दिखाई दिया करता है।

( ग ) अनिष्ट अर्थ के विध्याभासरूप 'आक्षेप' की 'आक्षेप' प्रकार के रूप में कल्पना आचार्य रुच्यक ने सर्वप्रथम की है। यह कल्पना विश्वनाथ कविराज को भी मान्य है। आचार्य रुच्यक का इस सम्बन्ध में यह कथन है—

'यथेष्टस्येष्टत्वादेव निषेधोऽनुपपन्नः एवमनिष्टस्याप्यनिष्टत्वादेव विधानं नोपपद्यते । तत्क्रियमाण प्रस्वलद्रूपत्वाद्निषेध पर्यवस्यति । ततश्च विधेरुपकरणीभूतो निषेध इति विधिनाऽयं निषेधोऽनिष्टविशेषपर्यवसायी निषेधागूरणादाक्षेपः ।' ( अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ १५२ ) अर्थात् जैसे इष्ट होने के नाते इष्ट का निषेध अनुपपन्न है वैसे ही अनिष्ट होने के नाते अनिष्ट का भी विधान अनुपपन्न ही है। तब भी यदि 'अनिष्टविधान' किया जाता है तो इसका अभिप्राय अन्ततोगत्वा निषेधरूप ही निकल सकता है जिसे 'विध्याभास' कहा जा सकता है।

निम्न सूक्तियों 'आक्षेप' की बड़ी सुन्दर सूक्तियाँ हैं—

'त्वं जीवितं स्वमसि मे हृदयं द्वितीयं त्वं कौमुदी नयनयोरमृतं स्वमङ्गे ।  
इत्यादिभिः प्रियशतैरनुरुच्य मुग्धा तामेव शान्तमथवा किमिहोत्तरेण ॥'

( उत्तररामचरित, ३५ अङ्क )

'नो किञ्चित् कथनीयमस्ति सुभग प्रौढाः परं स्वादृशाः  
पन्थानः कुशला भवन्तु भवतः को मादृशामाग्रह ।  
किञ्चेतत् कथयामि सततरतकलान्तिच्छिदस्तास्वया  
स्मर्त्तव्या' शिशिराः सहसगतयो गोदावरीदीक्ष्य ॥'

( अलङ्कारसर्वस्व उद्धरण )

'रे खलु तव चरितं विदुषामग्रे विविच्य वक्ष्यामि ।  
अलमथवा पापात्मन् कृतया कथयापि ते हृतया ॥'

( पण्डितराज जगन्नाथ )



(३८—विभावना । भेष-प्रमेद )

विभावना विना हेतुं कार्योत्पत्तिर्यदुच्यते ।

उक्तानुक्तनिमित्तत्वाद्धिषा सा परिकीर्तिता ॥ ६६ ॥

विना कारणमुपनिमित्तमनोऽपि 'अयोव्य' किञ्चिद्व्यत्यारणमपेक्ष्यैव भवितुं युक्त' । सख्य कारणान्तरं क्वचिदुक्तं क्वचिदनुक्तमिति द्विषा ।

यथा—

( अनुक्तनिमित्त विभावना मध्य में )

'अनायासकृतां मध्यमराहुवरत्ने ह्यती ।

अभूषणमनोहारि वपुर्वपसि सुभ्रुव' ॥'

अत्र बयोत्पत्तिनिमित्तमुक्तम् ।

( अनुक्तनिमित्त विभावना )

अत्रैव 'वपुर्मांसि मृगीदृश' इति पाठेऽनुक्तम् ।

अनुवाद—'विभावना वह अकटार है जिसे कारण के अभाव में भी कार्य की उत्पत्ति का वर्णन कहा करते हैं । 'विभावना' के दो प्रकार हैं—( १ ) वह जिसमें कारणभाव में कार्योत्पत्ति का निमित्त प्रतिपादित हो अर्थात् 'उक्तनिमित्त' विभावना और ( २ ) वह जिसमें कारणभाव में कार्योत्पत्ति के निमित्त का प्रतिपादन न किया जाय अर्थात् 'अनुक्तनिमित्त' विभावना ।

यह विहित है कि कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती । यदि कारण के अभाव में भी कार्य की उत्पत्ति का वर्णन हो तो यह अवरज्यमायी है कि कोई व कोई ऐसा कारणविशेष अवश्य होगा ( जिसकी दृष्टि से कारण के बिना भी कार्य उत्पन्न हो सकता है ) । कहीं पर यह कारणविशेष प्रतिपादित हो सकता है ( जैसे कि उक्तनिमित्त विभावना में ) और कहीं इसका प्रतिपादन नहीं किया जाया करता ( जैसे कि अनुक्तनिमित्त विभावना में ) । वस्तुतः इस कारण अथवा निमित्तविशेष की 'उक्ति और 'अवृत्ति' के ही कारण 'विभावना' के दो भेद निम्न होते हैं । उदाहरण के लिए—

'वीथय की अवस्था में इस सुम्बरी की कमर बिना आयास-मयास के ही कुल हो रही है, इसकी जाँचें बिना किसी आसक्त के ही जाग्रता से मर पड़ी है और इसकी हड्डी बिना किसी आभूषण के ही मनोहर लग रही है ।

यहाँ 'आयास' 'आसक्त' और 'आभूषण' रूप प्रसिद्ध कारणों के अभाव में ही 'कुलता' 'तरकता' और 'मनोहरता' रूप कार्य की उत्पत्ति वर्णित है और ऐसे वर्णन का निमित्त भी प्रतिपादित है जो कि 'वीथय' रूप निमित्त है ( इस प्रकार यहाँ 'उक्तनिमित्त' विभावना की शक्य स्पष्ट है ) ।

'उपयुक्त अनायासकृतां मध्यम्' आदि श्रुति में ही 'वपुर्वपसि सुभ्रुव' के वचने 'वपुर्मांसि मृगीदृश' कर देने से 'अनुक्तनिमित्त' विभावना का उक्त्य बरित हो जाता है ( क्योंकि 'वीथय' रूप निमित्त के न रहने पर यहाँ की विभावना 'अनुक्तनिमित्त' ही कही जा सकती है ) ।

विमर्श—'विभावना एक प्राचीन अकटार है । आचार्य इण्टीका 'विभावना' अद्यन यह है—

'प्रसिद्धहेतुम्बाहुभ्यां अकिञ्चित्कारणान्तरम् ।

यत्र स्वाभाविकरत्नं वा विभाव्यं सा विभावना ॥ ( आचार्य १ १९९ )

( ३५—विशेषोक्ति )

सति हेतौ फलाभावे विशेषोक्तिस्तथा द्विधा ।

यहाँ यह स्पष्ट है कि 'विभावना' का वैचित्र्य प्रसिद्ध कारण के परित्याग के साथ-साथ अप्रसिद्ध कारण की कल्पना में रखा करता है अलङ्कारसर्वस्वकार का इसीलिए यह कथन है—

‘इह कारणान्वयव्यतिरेकानुविधानात् कार्यस्य कारणमन्तरेणासंभवः । अन्यथा विरोधो दुष्परिहरः स्यात् । यदि तु कयाचिद्भङ्ग्या तथाभाव उपनिबध्यते तदा विभावनाख्योऽलङ्कारः । विशिष्टतया कार्यस्य भावनात् । सा च भङ्गिर्विशिष्टकारणाभावोपनिबद्धा ( यथा भङ्ग्या कारण विनापि कार्यसंभव उपनिबध्यत इत्यर्थः—विमर्शिनी ) । अप्रस्तुत कारणं वस्तुतोऽस्तीति विरोधपरिहारः ।’ ( अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ १५७ )

अर्थात् जब कि यह समी जानते हैं कि बिना कारण के कार्य नहीं हो सकता तब कारण के अभाव में कार्य का सद्भाव वर्णन एक ऊपट्याग-सी ही बात है । किन्तु कविजन ऐसा वर्णन किया करते हैं । उनके इस प्रकार के वर्णन में एक वैचित्र्य है और वही ‘विभावना’ अलङ्कार है । ‘विभावना’ का अर्थ है कार्योत्पत्ति की ऐसी ‘भावना’ जिसमें एक विचित्रता है । यह ‘विचित्रता’ वस्तुतः कारण के अभाव में कार्यसद्भाव की ही विचित्रता है । जीवलोक में यह विचित्रता समझ नहीं । यह तो एक मात्र काव्यलोक की विशेषता है । ‘कारण के अभाव में कार्य का सद्भाव’ क्या है ? प्रस्तुत कारण के परिहार के साथ, अप्रस्तुत कारण की कार्यसाधकता ही, कारण के अभाव में कार्य की उत्पत्ति—कल्पना है ।

( ख ) ‘विभावना’ के मूल में अतिशयोक्ति का बीज पड़ा रहता है । जैसे कि ‘अनायासकृशम्’ आदि सूक्ति में ही यौवन-जन्य ‘कृशता’ और परिश्रमजन्य ‘कृशता’ का अमेदाध्यवसान स्पष्ट है क्योंकि तभी ‘कृशता’ के परिश्रमरूप कारण के परिहार और यौवनरूप कारण की भावना की उत्पत्ति ठीक बैठती है । ‘अलङ्कारसर्वस्व’कार ने इसीलिए कहा है—

‘सा ( अतिशयोक्ति ) च अस्यामग्न्यभिचारिणीति न तद्वाधेनास्या उत्थानम्, अपि तु तदनुप्राणितत्वेन ।’ ( अलङ्कारसर्वस्व पृष्ठ १५९ )

अर्थात् ‘विभावना’ में अतिशयोक्ति का अनुप्राणन स्वाभाविक है । यहाँ ‘अतिशयोक्ति’ द्वारा ‘विभावना’ बाधित नहीं होती अपितु सबल बना करती है ।

‘अलङ्कारसर्वस्व’ विमर्शिनीकार को भी यह मत अभिप्रेत है—

‘अतश्च क्वचिच्छुद्धस्यापि समवात् सर्वत्रास्यातिशयोक्त्यनुप्राणितत्वमिति न वाच्यमिति यदुक्तं तदयुक्तम् ।’

किन्तु पण्डितराज जगन्नाथ ने ‘विभावना’ के लिये सर्वत्र ‘अतिशयोक्ति’ का अनुप्राणन आवश्यक नहीं माना है—

‘मा स्म भूत्सर्वत्र विभावनायामतिशयोक्तिरनुप्राणिका । आहार्यभेदबुद्धिमात्रमेवानुप्राणकम् । तच्च क्वचिदतिशयोक्त्या, क्वचिच्च रूपकेणेति न दोषः ।’ ( रसगङ्गाधर पृष्ठ ५८० ) निम्न ‘विभावना’ सूक्ति वही सुन्दर है—

‘निरुपादानसम्भारमभित्तावेव तन्वते । जगद्धित्रं नमस्तस्मै कलाशलाघ्याय शूलिने ॥’  
अनुवाद—‘विशेषोक्ति’ वह अलङ्कार है जिसे कारण के सद्भाव में कार्य का अभाव-वर्णन कहा जाया करता है । यह भी दो प्रकार की है—( १ ) ‘उक्तनिमित्ता’ विशेषोक्ति और ( २ ) ‘अनुक्तनिमित्ता’ विशेषोक्ति ।

यहाँ कारिका में ‘तथा’ का अभिप्राय, निमित्त की उक्ति और अनुक्ति के कारण ‘विशेषोक्ति’ के दो भेदों में विभक्त होने का अभिप्राय है ।

तपेत्युत्तनुत्तनिमित्तत्वात् । सत्रोत्तनिमित्ता यथा—

‘घनिनोऽपि निरुन्मावा मुवानोऽपि न चञ्चला’ ।

प्रमवोऽप्यप्रमत्तास्ते महामहिमराक्षिन ॥

अत्र महामहिमराक्षित्व निमित्तमुक्तम् । अत्रैव चतुर्भावे ‘किमन्त’ सन्ति भूतके’ इति पाठे त्वनुक्तम् । अचिन्त्यनिमित्तत्व चानुत्तनिमित्तस्यैव भेद इति प्रमत् नोक्तम् ।

यथा—

‘स एककीणि जयति जगन्ति कुसुमायुधः ।

हरताऽपि तनु यस्य शम्भुना न हृत बलम् ॥’

अत्र तनुहरणेनापि बलाहरणे निमित्तमचिन्त्यम् । इह च कार्यभाव कारण-विरुद्धसङ्ग्राहमुत्तेनापि निबद्धयते । विभावनायामपि कारणभाव कारणविरुद्ध सङ्ग्राहमुत्तेन ।

जैसे कि ‘उत्तनिमित्ता’ विशेषोक्ति—

‘वे लोग महामहिमवाली महापुरुष हैं जो बची होने पर भी विरमिमान युवा होते पर भी स्थिर इच्छाके भीरु प्रभुत्व रखते पर भी अप्रमत्त हुआ करते हैं ।’

यहाँ ‘बच’ ‘यौवन’ और ‘प्रभुत्व’ रूप कारण के सम्भाव में भी ‘उन्माद’ ‘चञ्चला’ और ‘अप्रमत्त’ रूप कार्य के अभाव का वर्णन है और इसके निमित्त रूप से ‘महामहिम-राक्षित्व’ का भी प्रतिपादन है जिसमें ‘विरोपोक्ति’ का ‘उत्तनिमित्ता’ होना स्पष्ट है ।

यहाँ यदि ‘महामहिमराक्षिना’ इस वस्तु के कारण के स्थाय पर ‘किमन्तः सन्ति भूतके’ (संसार में ऐसे किन्तरे लोग हैं जो ) कर दिया जाय तो ‘अनुत्तनिमित्ता’ विशेषोक्ति का स्वल्प छलक उठता है ।

(काव्यप्रकाशकार द्वारा प्रतिपादित) विशेषोक्ति का ‘अचिन्त्यनिमित्तक’ रूप वस्तुता उसका ‘अनुत्तनिमित्तक’ रूप ही है । इसलिये यहाँ ‘अचिन्त्यनिमित्तक’ विशेषोक्ति-भेद का कोई निरूपण अपेक्षित नहीं ।

जैसे कि ‘विरोपोक्ति’ के ‘अचिन्त्यनिमित्तक’ भेद के उदाहरण रूप से उद्धृत यह छुट्टि पर्याप्त—

‘बहु कुसुमायुध (काम) ही ऐसा है जो लज्जा होते हुए भी तीनों कोनों पर विजय पावा करता है क्योंकि तभी तो उसके शरीर का विनाश करने पर भी उसके बल का विनाश भगवान् शङ्कर द्वारा न हो सका ।

वस्तुतः ‘अनुत्तनिमित्ता’ विभावना का ही निर्धारण प्रतीत होता है क्योंकि शरीर के विनाश में भी बल के विनाश के अभाव का जो वर्णन है उसमें निमित्त का ‘अचिन्त्य’ होना उसके ‘अनुत्त’ होने का ही बराबर है ।

‘विरोपोक्ति’ के संवन्ध में यह स्थान रखना चाहिये कि यहाँ (कारण के सम्भाव में) कार्य के अभाव का वर्णन किसी कार्य के विरोधी किसी पदार्थ के सङ्ग्राह-वर्णन द्वारा भी किया जा सकता है । विभावना में भी यही बात है क्योंकि यहाँ भी (कार्य के सम्भाव में) कारण के अभाव का वर्णन कारण के विरोधी किसी पदार्थ के सङ्ग्राह-वर्णन में संभव है । उदाहरण के लिए ‘का बीमारहर’ आदि (पूर्वोद्धृत) छुट्टि पर्याप्त है जहाँ (उत्कण्ठारूप कार्य के सम्भाव में) उत्कण्ठ-कारण वर आदि का अभाव-वर्णन उत्कण्ठ-

एवञ्च 'यः कौमारहरः' इत्यादेरुत्कण्ठाकारणविरुद्धस्य निबन्धनाद्विभावना ।  
'यः कौमारः' इत्यादेः कारणस्य च कार्यविरुद्धाया उत्कण्ठाया निबन्धनाद्विशेषोक्तिः, एवञ्चात्र विभावनाविशेषोक्त्यो. सङ्करः । शुद्धोदाहरणं तु मृग्यम् ।

कारण के विरोधी ( अर्थात् 'वर' आदि के सद्भाव ) के वर्णन द्वारा किया गया है जिसमें 'विभावना' स्पष्ट झलक रही है । यहीं 'विशेषोक्ति' का भी चमत्कार प्रतीत हो रहा है जिसमें 'वर' आदिरूप कारण के सद्भाव में ( उत्कण्ठाभावरूप ) कार्य के अभाव का वर्णन ( उत्कण्ठाभावरूप ) कार्य के विरोधी अर्थात् उत्कण्ठा के सद्भाव के वर्णन द्वारा किया जा रहा है । इस प्रकार यह स्पष्ट है कि 'यः कौमारहरः' आदि सूक्ति में 'विभावना' और 'विशेषोक्ति' का ( संदेह ) 'सङ्कर' बड़ा सुन्दर लग रहा है ।

वस्तुतः जहाँ भी एक दृष्टि से 'विभावना' है वहाँ दूसरी दृष्टि से 'विशेषोक्ति' का संदेह स्वाभाविक है इसलिये 'शुद्ध' विभावना अथवा 'शुद्ध' विशेषोक्ति के निदर्शनकाव्य-साहित्य में हूँदने पर ही सभवतः कहीं मिलें ( अन्यथा तो इन दोनों के सदेहसकर का वैचित्र्य उपलब्ध ही होता है ) ।

विमर्श—( क ) 'अलङ्कारसर्वस्व'कार ने विशेषोक्ति का यह स्वरूप-निर्देश किया है—

'कारणसामग्रये कार्यानुत्पत्तिर्विशेषोक्तिः—हह समग्राणि कारणानि नियमेन कार्यमुत्पादयन्ति इति प्रसिद्धम् । अन्यथा समग्रत्वस्यैवाभावप्रसङ्गात् । यत्तु सत्यपि सामग्रये न जनयति कार्यं सा किञ्चिद्विशेषमभिव्यक्तुप्रयुज्यमाना विशेषोक्तिः ।' (अलङ्कारसर्वस्व, पृ. १६१)  
अर्थात् यह तो सिद्ध ही है कि एक कोई कारण कार्य-जनक नहीं अपितु कारण सामग्री कार्य-जनक है । कारण सामग्री के रहने पर भी कार्य का न होना एक विशेष कारण की अभिव्यञ्जना है जो कि 'विशेषोक्ति'रूप वाच्यवैचित्र्य के द्वारा ही समव है । इसलिये 'विभावना' के विपरीत स्वभाववाली 'विशेषोक्ति' एक अलङ्कारप्रकार है ।

'विशेषोक्ति' की व्युत्पत्ति यह है—'विशेषं कञ्चित् प्रतिपादयितुमुक्तिः विशेषोक्तिः' । यह व्युत्पत्ति भी कारण सामग्री के सङ्काव में कार्यानुत्पत्ति के अभाव के निमित्तरूप से एक विशेष कारण की कल्पना की सिद्धि कर रही है ।

( ख ) 'यः कौमारहरः' आदि में काव्यप्रकाशकार को 'विभावना-विशेषोक्तिसङ्कर' की स्फुटता नहीं दिखायी देती किन्तु विश्वनाथ कविराज ने यहा 'विभावना विशेषोक्तिसङ्कर' का सौन्दर्य अत्यन्त स्पष्ट रूप से देखा है । यहा पण्डितराज जगन्नाथ की यह समीक्षा ध्यान देने योग्य है—

'कारणाभावकार्याभावयोर्यत्र प्रतियोगितावच्छेदकविशेषवैशिष्ट्येन श्रुत्या प्रतिपादनं तत्र विभावनाविशेषोक्तयो शाब्दत्वम् । यथा—

'भगवद्बदनाम्भोजं पश्यन्त्या अप्यहर्निशम् । तृष्णाधिकमुदेतिस्म गोपसीमन्तिनीदृशः' ॥

लोके ह्यसन्निकर्षस्तृष्णाकारणम् । तदभावे सन्निकर्षेऽपि तृष्णोपनिबद्धा । तथा सन्निकर्ष-स्तृप्तिकारणम् । तस्मिन् सत्यपि तृप्त्यभावो बोधितः । परन्तु कारणाभावकार्याभावयोरनप्राप्त्युक्तप्रकारेण प्रतिपादनमित्यर्थत्वमेव तदुभयसंशयसकरस्य । अमुमेव चार्थं मनसि-कृत्य मम्मटमहै. 'यः कौमारहरः' इति पद्यमुदाहृत्योक्तम्—'अत्र स्फुटो न कश्चिदलङ्कारः' इति ।

( रसगङ्गाधर, पृष्ठ ५८९ )

अर्थात् काव्यप्रकाशकार का यह कथन कि 'यः कौमारहरः' आदि में कोई अलङ्कार स्फुटरूप से नहीं झलकता, सर्वथा युक्तियुक्त है । कारण यह है कि यहाँ विभावना विशेषोक्ति का 'सदेहसकर'

( ३६—विरोधाच्छब्दः सप्रमेयं निरूपण )

जातिवस्तुमिर्जात्याद्यैर्गुणो गुणादिमिश्रिभिः ॥ ६७ ॥

क्रिया क्रियाद्रूप्याभ्यां यद् रूप्य द्रव्येण वा मिथः ।

विरुद्धमिव भासेत विरोधोऽसौ दक्षाकृतिः ॥ ६८ ॥

क्रमेण यथा—

( जाति का जाति से विरोधवर्णन-रूप 'विरोध' )

'तत्र विरोधे मलयमरुद्वामल', राशिरूपोऽपि सोऽप्याण' ।

इत्यसिबिद्धमपि भिन्ने नलिनीवल्लमपि निवापरधिरस्या ॥'

( गुण का गुण से विरोधवर्णन-रूप 'विरोध' )

'सन्ततमूससासङ्गाद्गुणरूपकर्मवतमया नृपते ! ।

द्विजपत्नीनां कठिना सति भवति क्वा सरोजमुकुमारा ॥'

स्पष्टता नहीं प्रतीत हो सकती । 'विभाषना' और विधेयोक्ति लक्ष्यरूप 'शब्द' और 'वर्त' रूप से हो प्रकट हो चुका करते हैं । इनका 'शब्द' रूप यह है जहाँ 'कारणमात्र' और 'कार्यमात्र' का प्रतिपादन इसके 'प्रतिषेधो' के वैधिरूप के प्रतिपादनपूर्वक जहाँ एकदम किना बाध करता है । 'वा' क्रियावत्ता जाति में ऐसी बात नहीं क्योंकि वहाँ लक्ष्यकारण कार्य के कारण का जमाव दृष्टता प्रतिपादित नहीं । वहाँ यह कहा गया है कि 'ये वर जाति हैं वे वे हो हैं' । व कि यह कि 'ये वर जाति हैं' । वे वे नहीं हैं ऐसा नहीं । इसी प्रकार वहाँ लक्ष्यकारण कार्य का जमाव दृष्टता प्रतिपादित नहीं क्योंकि वहाँ यह नहीं कहा गया कि 'मन नहीं करके होना ऐसी बात नहीं' अपितु वह कि 'मन लक्ष्यवित्त होता है' । इस प्रकार जन्तु वहाँ कार्य 'विधेयोक्ति' और कार्य 'विभाषना' का 'संविहसंकर' कार्य हो हो सकता है किन्तु जमाव नहीं है कि वहाँ 'विभाषना विधेयोक्ति' संकर स्पष्ट नहीं अपितु अस्पष्ट है और अस्पष्ट होने के कारण विचारणीय भी नहीं ।

अनुवाक—'विरोध' वह अक्षरकार है जिसे इन दस कर्षों में देखा जाना करता है—

- |  |   |
|--|---|
| ( १ ) जाति के जाति से विरोधवर्णन में ।   | ( ६ ) गुण के क्रिया से विरोधवर्णन में ।     |
| ( २ ) जाति के गुण से विरोधवर्णन में ।    | ( ७ ) गुण के द्रव्य से विरोधवर्णन में ।     |
| ( ३ ) जाति के क्रिया से विरोधवर्णन में । | ( ८ ) क्रिया के क्रिया से विरोधवर्णन में ।  |
| ( ४ ) जाति के द्रव्य से विरोधवर्णन में । | ( ९ ) क्रिया के द्रव्य से विरोधवर्णन में और |
| ( ५ ) गुण के गुण से विरोधवर्णन में ।     | ( १० ) द्रव्य के द्रव्य से विरोधवर्णन में । |

इस 'वक्ष्य' विरोधाच्छब्दकार के अन्तर्गत में उदाहरण है—

'अरे प्रेमी भुवक ! तुम्हारे विषयों में उस सुन्दरी की यह दृष्टा है कि मरुवाविक दृष्टान्त बन रही है 'अन्तर्मा की किरणें संतप्तवायव हो रही हैं अन्तरों की गुजार इतनी विस्तृत कर रही है और नकिनी-किस्कर्य ग्रीष्म का सूर्य कम रहा है ।

'रत्नम् ! मादृशों की शिथिलों के वे हाथ जो जब तक दृष्टा सुसक की कुम्हार-मिसाई और विन-राज बरेल काम में करो रहने के कारण कभी हो रहे थे आज आप के हाथों होते कमक के समान कोमल दिखायी दे रहे हैं ।

.. ( क्रिया के साथ गुण-विरोध-वर्णन-रूप 'विरोध' )

‘अजस्य गृहतो जन्म निरीहस्य हतद्विपः ।  
स्वपतो जागरूकस्य याथार्थ्यं वेद कस्तव ॥’

( गुण का द्रव्य से विरोध वर्णनरूप 'विरोध' )

‘वल्लभोत्सङ्गसङ्गेन विना हरिणचक्षुषः ।  
राकाविभावरीजानिर्विपज्वालाकुलोऽभवत् ॥’

( क्रिया के साथ क्रिया का विरोध वर्णन रूप 'विरोध' )

‘नयनयुगासेचनक मानसवृत्त्यापि दुष्प्रापम् ।  
रूपमिदं मदिराद्या मदयति हृदयं दुनोति च मे ॥’

( क्रिया का द्रव्य के साथ विरोध-वर्णनरूप 'विरोध' )

‘त्वद्वाजि’ इत्यादि ।

( द्रव्य का द्रव्य के साथ विरोध-वर्णनरूप 'विरोध' )

‘वल्लभोत्सङ्ग’—इत्यादिश्लोके चतुर्थपादे ‘मध्यन्दिनदिनाधिप’ इति पाठे द्रव्ययोर्विरोधः ।

अत्र ‘तव विरह—’ इत्यादौ पवनादीनां बहुव्यक्तिवाचकत्वात् जातिशब्दानां दवानलोष्महृदयभेदनसूर्यजतिगुणक्रियाद्रव्यरूपैरन्योन्यं विरोधो मुखत आभासते, विरहहेतुकत्वात्समाधानम् । ‘अजस्य—’ इत्यादावजत्वादिगुणस्य जन्म-ग्रहणादिक्रियया विरोधः, भगवतः प्रभावस्यातिशायित्वान्तु समाधानम् ।

‘हे परमेश्वर ! आप अजन्मा होकर भी जन्म ग्रहण किया करते हैं, निरीह होकर भी शत्रु संहार किया करते हैं, योगनिद्रामग्न रहते हुये भी जागरूक रहा करते हैं—आपका यथार्थ स्वरूप भला कौन जान सकता है ?’

‘प्रियतम के अङ्ग के सुख-सम्बन्ध के न रहने से उस मृगनयनी सुन्दरी के लिये, अव पूर्णिमा का चन्द्रमा विष की लपटों से लिपटा प्रतीत हुआ करता है ।’

‘उस मदिराक्षणा सुन्दरी का वह रूप, जो नयनयुगल के शान्तिदायक और अचिन्तनीय सौन्दर्य का केन्द्र है, मेरे हृदय में पीड़ा भी पहुँचाया करता है और आनन्द भी भरा करता है ।’

‘त्वद्वाजिराजिनिर्धूत’ आदि पूर्वोद्धृत सूक्ति ( जहाँ शिवरूप ‘द्रव्य’ और ‘न धारण करने’ की क्रिया का विरोध आभासित हो रहा है ) ।

‘वल्लभोत्सङ्गसङ्गेन’ आदि पूर्वोद्धृत सूक्ति के चतुर्थ चरण में, ‘विपज्वालाकुलोऽभवत्’ के स्थान पर, यदि ‘मध्यन्दिनदिनाधिप’ ( पूर्णिमा का चन्द्रमा मध्याह्न का सूर्य हो जाया करता है ) कर दिया जाय तब दो द्रव्यों का विरोध आभासित होने लगता है ।

इन उपर्युक्त उदाहरण-सूक्तिओं में ‘विरोध’ और ‘विरोध-परिहार’ का अभिप्राय इस प्रकार समझना चाहिये—‘तव विरह’ आदि सूक्ति में ‘मलयसमीर’ आदि शब्द जातिवाचक शब्द हैं क्योंकि इनमें अनेकानेक व्यक्तियों की वाचकता निहित है । यहाँ ‘मलय-पवन’ आदि का ‘दावानल’रूप जाति ( क्योंकि ‘दावानल’ पद जातिवाचक पद है ), ‘ऊष्मा’रूप गुण ( क्योंकि ‘ऊष्मा’ शब्द गुणवाचक शब्द है ), ‘हृदयभेदन’रूप क्रिया

‘त्वद्वाजि—’ इत्यादी ‘हरोऽपि शिरसा गङ्गां न घत्ते’ इति विरोधः, ‘त्वद्वाजि—’ इत्यादिकविप्रौढोक्त्या तु समाधानम् । स्पष्टमन्यत् ।

विभावनायां कारणभावेनोपनिष्यमानत्वात्कार्यमेव बाध्यत्वेन प्रतीयते, विरोपोक्तौ च कार्यभावेन कारणमेव; इह त्वन्योन्यद्वयोरपि बाध्यत्वमिति भेदः ।

(क्योंकि ‘इदममेवम् पद क्रियावाचक साम्य है’) और ‘सूर्य रूप ब्रह्म (क्योंकि ‘सूर्य’ ब्रह्म द्रव्यवाचक साम्य है) के साथ विरोध आपातता अवश्य प्रतीत हो रहा है किन्तु यहाँ इस विरोध के परिहार का हेतु भी उपनिषद् है जो कि ‘विराट्’ रूप हेतु है (इस प्रकार यहाँ ‘विरोध’ (वस्तुतः विरोधाभास) रूप बाध्य-बाधित की प्रतीति विविधा रूप से हो रही है) । अत्रत्य पुरुषो ब्रह्म आदि सृष्टि में जो विरोध आभासित होता है जैसे कि अत्रत्य आदि गुण और ‘ब्रह्मग्रहण’ आदि क्रिया का परस्परिक विरोध उसका समाधान परमेश्वर की अद्वैतिक महिमा के द्वारा हो रहा है । ‘त्वरुवाजिराजि आदि सृष्टि में जो यह विरोध प्रतीत होता है कि ‘हैं तो मगधान् सज्जुर किन्तु गङ्गा को नहीं घात कर सकते’ उसका परिहार त्वद्वाजिराजि आदि की कविप्रौढोक्ति द्वारा किया जा रहा है । अन्य सृष्टियों में आपातता प्रतीत विरोध का उपसमन स्पष्ट है ।

यहाँ यह स्थान रखना चाहिये कि (आपातता विरोध-प्रतीति में समान होने पर भी) ‘विराट्’ ‘विभावना’ और विरोपोक्ति पृथक्-पृथक् स्वरूप वाले अङ्कुर हैं । ‘विभावना’ में कवि जब कारण के अभाव का उपनिष्य करके कार्य की उत्पत्ति का वर्णन करता है तो यह स्पष्ट है कि यहाँ ‘आर्षोत्पत्ति’ (असंगत सी प्रतीत होने के कारण) ‘बाध्य’ रूप की रहा करती है । विसर्पाति में जो बात है वह इससे थोड़ा उल्टी है क्योंकि यहाँ कार्यभास के उपनिष्य के साथ कारण-सञ्ज्ञा का जो वर्णन हुआ करता है उसमें कारण ही (असंगत प्रतीत होने के कारण) ‘बाध्य’ रूप का उभ्या करता है । किन्तु विरोध में जो बाध्य-बाधक भाव की प्रतीति हुआ करती है वह समान वस्तुओं परस्पर ‘बाध्यता’ अथवा ‘विरुद्धता’ की प्रतीति है ।

विमर्श—(क) ‘विरोध अङ्कुर पर अनिवार्य आगत्य विरोध के अन्तर्गत और इति/के अन्तर्गत विरोध-सामासिक वचनेविशेष का अविमर्श है । अङ्कुरात्सर्वस्वत्वे दे स्पष्ट कहा है

‘विरुद्धाभासार्थं विरोध—

इह अत्रादीनां वस्तुनां वदार्थानां प्रत्यक्षं साम्यं पद मज्जानीपदिजानीयाम्नां विरोधित्वा साम्ये विरोधः । न च ममाभासं विना प्रकृतो दोषः । सति तु समाधानं प्रमुक्तं वदामासमासार्थद्वाराभासः । (अङ्कुरात्सर्वस्वत्वे, १३, १५६)

( ३७—असङ्गति )

## कार्यकारणयोर्मिन्नदेशतायामसङ्गतिः ।

पण्डितराज जगन्नाथ का भी यही कथन है—

‘एकाधिकरणसम्बद्धत्वेन प्रतिपादितयोरर्थयोर्भासमानैकाधिकरणासम्बद्धत्वम्, एकाधिकरणासम्बद्धत्वभान वा विरोध ।

स च प्ररूढोऽप्ररूढश्च । प्ररोहश्च बाधबुद्धयनभिभूतत्वम् । तद्वैपरीत्यमप्ररोहः । तत्राद्यो दोषस्य विषयः, द्वितीयश्चालङ्कारस्य । अत एवेम विरोधाभासमाचक्षते । आ ईपद्भासत इत्याभासः । विरोधश्चासावाभासश्चेति । आमुख एव प्रतीयमानो क्षणिति जायमानाविरोध-बुद्धितिरस्कृत इति यावत् । ( रसगङ्गाधर, पृष्ठ ५७० )

अर्थात् ‘विरोध’ का अभिप्राय एक आश्रय के साथ सम्बद्ध रूप से प्रतिपादित दो पदार्थों के ऐसे परस्पर अमन्त्रण का अभिप्राय है जो कि उस आश्रय पर उनमें आभासित हुआ करता है । यह विरोध ‘प्ररूढ’ अथवा वास्तविक और ‘अप्ररूढ’ अथवा आपातत प्रतीत दो रूपों का हो सकता है । इनमें वास्तविक ‘विरोध’ तो एक महादोष है किन्तु आपातत प्रतीत ‘विरोध’ अथवा ‘विरोधाभास’ एक अलङ्कार अथवा वैचित्र्य है ।

( ख ) ‘विरोध’ का क्षेत्र ‘विभावना’ तथा ‘विशेषोक्ति’ के क्षेत्र से कहीं अधिक व्यापक है । पण्डितराज जगन्नाथ ने इसीलिये कहा है—

‘तत्रापि कार्यकारणादिवुद्धयनालीढो विरोधाभासो विरोधालङ्कारः । तदालीढस्तु विभावनादिर्वच्यमाणः ।’ ( रसगङ्गाधर, पृष्ठ ५७० )

अर्थात् कार्यकारणभाव के क्षेत्र को छोड़ कर अन्यत्र आपातत विरोधप्रतीति ‘विरोध’ अलङ्कार की कल्पना का मूल है । यह तो ‘विभावना’ और ‘विशेषोक्ति’ का क्षेत्र है जहाँ कार्य-कारणभाव सम्बद्ध विरोध प्रतीत हुआ करता है ।

अलङ्कारसर्वस्वकार ने भी इसी दृष्टि से कहा था—

‘कारणाभावेन चोपक्रान्तत्वाद् बलवता कार्यमेव बाध्यमानत्वेन प्रतीयते, न तु तेन कारणाभाव इत्यन्योन्यबाधकत्वानुप्राणिताद् विरोधालङ्काराद् भेदः । एवं विशेषोक्तौ कार्याभावेन कारणसत्ताया एव बाध्यमानत्वमुन्नेयम् । येन साऽपि विरोधाद् भिन्ना स्यात् ।’

( अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ १५८ )

अर्थात् ‘विभावना’ और ‘विशेषोक्ति’ विरोधालङ्कार से भिन्न अलङ्कार-प्रकार हैं । कारण यह है कि जहाँ ‘विभावना’ और ‘विशेषोक्ति’ में पहले में कारणाभाव के द्वारा कार्य ‘बाध्य’ प्रतीत होता है और दूसरे में कार्याभाव के द्वारा कारण, वहाँ ‘विरोधालङ्कार’ में कार्य और कारण दोनों में पारस्परिक ‘विरोध’ रहा करता है ।

आचार्य जयरथ ने इसी की पुष्टि में यह पङ्क्ति उद्धृत की है—

‘कारणस्य निषेधेन बाध्यमान फलोदयः । विभावनायामाभाति विरोधोऽन्योन्यबाधनम् ॥

अतो दूरविभेदोऽस्या विरोधेन व्यवस्थितः ॥’ ( अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी, पृष्ठ १५७ )

अनुवाद—‘असङ्गति’ वह अलङ्कार है जिसे कार्य और कारण के भिन्न-भिन्न आश्रय में अवस्थान का वर्णन कहा जाता करता है (जिमका निमित्त कारण वैचित्र्य हुआ करता है) ।



यथा—

सा बाह्या, वयमप्रगल्भमनसः, सा स्त्री, वय कातरा

सा पीनोन्नतिमत्पयोधरयुगं धत्ते, सस्त्रेणा वयम् ।

साक्रान्ता अधनस्वस्तेन गुरुणा, गन्तु न शक्त्य वयं

दोषैरन्मज्जनाभयैरपटवो जाताः स्म इत्यबुमुत्तम् ॥

जैसे कि—

‘बाह्या ( योही अवस्था बाह्यी ) तो वह सुन्दरी है और अग्रगण्यता ( बलवन्ता ) हमारे मन में बसी है। स्त्री तो वह है और कातरता हम में रहा करती है। मांसक और कण्ठ उरोओं बाह्यी तो वह है और खेद हमें हो रहा है। अधनस्वक के मार से तो वह बूझी है और चकने-चिने में असमर्थ हम हैं। कितना आश्चर्य है कि दूसरे के दोषों से हममें दोष उत्पन्न हो रहे हैं ?

[ यहाँ ‘असङ्गति’ इसलिये है क्योंकि वाक्य ‘स्त्रीत्व’ आदि कारणों का आशय तो वयं नाशिका है और ‘अग्रगण्यत्व’ ‘कातरत्व’ आदि कारणों का आशय वयं नाशक बन रहा है । ]

यहाँ वह ध्यान रखना चाहिये कि ‘असङ्गति’ और ‘विरोध’ एक रूप के अङ्गुष्ठार नहीं क्योंकि यहाँ ‘असङ्गति’ ‘विरोध’ ( रूप उत्सर्ग अथवा नियम ) का अपवाद है ( क्योंकि ‘असङ्गति’ के किन्तु कार्य-कारण भाव से संबन्ध हो पड़ाओं का जो कि वस्तुतः ‘समाधा-विहरणक’ अथवा एक कारण पर अवस्थित हुआ करते हैं, निम्न-निम्न अधिकारों में अवस्थानक्य विरोध अपेक्षित है ) यहाँ ‘विरोध’ के किन्तु निम्न-निम्न आशय वाले हो पड़ाओं के आशयवचक्य विरोध की अपेक्षा है ।

विमर्श—( क ) ‘असङ्गति’ का अतिशय है—अथि सङ्गति का अभाव । ‘अङ्गुष्ठारसर्पत्त’ के इसमें वह समीक्षा की है—

‘तयोस्तु निबद्धैस्तैस्तङ्गतिः । तयोरेति कर्मकारणयोः । यद्देसनेन कर्मत्वं तद्देस-मेव कर्मत्वं दृश्यम् । न हि महात्मस्यो वक्ति पर्यंतदेसत्वं कर्म अवयति । यद्वा तन्मद्देसत्वं कारणसम्पद्देसत्वं वा कर्ममुपनिबध्यते तदोचितसंगतिविहृत्तेरसङ्गत्वात्कर्मोऽङ्गुष्ठारः । ( अङ्गुष्ठारस स्त, १३ १९४ )

अर्थात् कार्यकारण के वैयक्तिकत्व-वर्णन में असङ्गति-रूप आन्वयेतिभ्य रहा करता है। जेक में यही देखा जाता है कि यहाँ ‘कारण’ विद्यमान रहता है वहीं वह ‘कर्म’ भी बलव बन सकता है। ऐसा नहीं हुआ करता कि रछीदेवर की भाव से वहाद पर तुर्जी बलव्य हो। किन्तु वह यदि कारण और कार्य का स्वयं निम्न-निम्न बनाता है जिसमें वसकी जोकादिकल्प प्रतिमा का हाव स्पष्ट है उस ‘असङ्गति’-रूप आन्वयेतिभ्य का निर्देश आवश्यक हो जाता है।

( ख ) सङ्गतिवर्धककार मे असङ्गति’ में अतिशयोक्ति’ के अनुपातन की बात नहीं करी है। वस्तुतः यहाँ अनेकाध्यवसाय की अन्तर्वर्त्यता आवश्यक है। जेसे कि ‘सा बाह्या’ यदि सूक्ति में की ‘असङ्गति’ है इसमें अनेक का अन्वयवसाय स्पष्ट है क्योंकि वाक्यनिमित्त ‘अग्रगण्यत्व’ आदि और मेम-निमित्त ‘अग्रगण्यत्व’ आदि में ‘अनेकाध्यवसाय’ होये से हो ( अर्थात् दोनों में एकतरफा की कल्पना के ही कारण ) निम्न-निम्न रूप में कार्य और कारण के अवस्थान में की ‘विरोध’ नबन है वस्तुतः समाधान किया जा सकता है। अन्वया असङ्गति’ का अङ्गुष्ठार दोनों अंतर्भव है। ‘अङ्गुष्ठारसर्पत्त’ के इसीलिये कहा है।

‘अथ ( सा बाह्या वयमप्रगल्भमनसः-हृयाही ) बाह्यविमित्तमग्रगण्यत्ववचनत्वमन्व-व्यमन्व रमरविमित्तकर्मित्ववचोहोदाध्यवसायः । पृथग्मन्वय खेवम् ।’

( अङ्गुष्ठारसर्पत्त १३ १९४ )

अरयाश्चापवादकत्वादेकदेशस्थयोविरोधे विरोधालङ्कारः ।

( ३८—विषमालङ्कार • सप्रभेद निरूपण )

गुणौ क्रिये वा चेत्स्यातां विरुद्धे हेतुकार्ययोः ॥ ६९ ॥

यद्धारब्धस्य वैफल्यमनर्थस्य च सम्भवः ।

विरूपयोः संघटना या च तद्विषमं मतम् ॥ ७० ॥

क्रमेण यथा—

और 'अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी' कार ने इसका इसीलिए समर्थन किया है—

'अनेनातिशयोक्तिरस्या अप्यनुप्राणकत्वेन कटाक्षिता । अन्यथा हि विरोधो दुष्परिहरः स्यात् ।' ( अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी, पृष्ठ १६४ )

किन्तु पण्डितराज जगन्नाथ के अनुसार, 'असङ्गति' के लिए 'अतिशयोक्ति का अनुप्राणन' उतना आवश्यक नहीं जितना कि यथासम्भव 'अभेदाध्यवसान' का हुआ करता है—

'अस्या च विभावनायामिव कार्यांशेऽतिशयोक्त्यनुप्राणनमावश्यकम् । अन्यथा विरोधो दुष्परिहर एव स्यादित्यलङ्कारसर्वस्वकारादीना मतम् । तच्च—

'दृष्टिर्मुग्गीदृशोऽत्यन्तं ध्रुत्यन्तपरिशीलिनी ।

मुच्यन्ते बन्धनात् केशा विचित्रा वैधसी गतिः ॥'

इत्यस्मिन्निमित्तोदाहरणे व्यभिचारादसङ्गतम् । न हि । 'मुच्यन्ते बन्धनात् केशा' इत्यत्र केशबन्धनमुक्त्यंशेऽतिशयोक्तिरस्ति । किन्तु श्लेषभित्तिकाभेदाध्यवसानमात्रम् । तस्माद् येन केनापि प्रकारेण कार्यांशेऽभेदाध्यवसानमावश्यकमिति तु सङ्गतम् ।'

( रसगङ्गाधर, पृष्ठ ५९०-५९१ )

( ग ) 'असङ्गति' अलङ्कार 'विरोध' का वाचक है न कि 'विरोध' 'असङ्गति' का । 'विरोध' उत्सर्गरूप है और 'असङ्गति' विरोध का अपवादरूप । उत्सर्ग ( नियम ) अपवाद का क्षेत्र छोड़कर ही अपना क्षेत्र बनाता है । रसगङ्गाधरकार ने इसीलिए कहा है—

'व्यधिकरणत्वेन प्रसिद्धयोः समानाधिकरणत्वेनोपनिबन्धने विरोधालङ्कार । समानाधिकरणत्वेन प्रसिद्धयोर्द्वयोर्वैयधिकरण्येनोपनिबन्धनेऽसङ्गतिः । इत्थं च स्फुट एव विरोधालङ्कारादसङ्गतेर्भेदः । ( रसगङ्गाधर, पृष्ठ ५९२ )

अर्थात् 'विरोध' से 'असङ्गति' भिन्न है क्योंकि 'विरोध' में तो उन पदार्थों के समान आधार पर अवस्थान में विरोध आमासित होता है जिनकी भिन्न भिन्न आधार पर अवस्थिति प्रसिद्ध है । किन्तु 'असङ्गति' में, जिन पदार्थों के भिन्न भिन्न आधार पर अवस्थान वर्णन में विरोध की प्रतीति होती है वे ऐसे हुआ करते हैं जिनकी समान आधार पर अवस्थित प्रसिद्ध रहा करती है ।

अनुवाद—'विषम' वह अलङ्कार है जिसे निम्न सभावनाओं में देखा जाया करता है—

( १ ) जब कि कारण और कार्य के गुण अथवा उनकी क्रियायें परस्पर विरुद्ध रूप से वर्णित हों ।

( २ ) जब कि आरब्ध कार्य की विफलता और साथ ही उसमें अनर्थ की उत्पत्ति का वर्णन हो ।

( ३ ) जब कि दो विरुद्ध पदार्थों की परस्पर संघटना का उपनिबन्ध हो ।

'विषम' अलङ्कार के क्रमशः उदाहरण ये हैं—

( कारणगुण से कार्यगुण के विरोध में 'विषम' )

‘सद्यः करस्पर्शमवाप्य चित्रं रण्ये रण्ये यस्य कृपाजलेखा ।

तमाखनीला शरविन्दुपाण्डु पशसिखोक्तामरण प्रसूते ॥’

अत्र कारणरूपासिलतायाः ‘कारणगुणा हि कायगुणमारमन्ते’ इति स्थिते विरुद्धा शुभ्रयशस उत्पत्तिः ।

( कारण की क्रिया से कार्य की क्रिया के विरोध में 'विषम' )

‘आनन्दममन्दमिम कुवलयवलयोचने । ददासि त्वम् ।

विरहस्त्वयैव अनितस्तापयतितरां शरीर मे ॥’

अत्रानन्दजनकरीरूपकारणात्तापजनकविरहोत्पत्तिः ।

( आरम्भ कार्य के वैफल्य में अनर्थोत्पत्तिक्रम 'विषम' )

‘अयं रत्नाकरोऽम्बोधिरित्यसेवि घनाराया ।

घन वरेऽस्तु वदनमपूरि क्षारवारिमि ॥’

अत्र वैफल्यं कङ्कितघनतामो नामूत्, प्रसूत क्षारवारिमिर्वदनपूरणम् ।

( विरूपसंघटना में 'विषम' )

‘कं घनं तरुवन्कम्पणं नृपक्षरमो कं महेन्द्रवन्दिता ।

नियतं प्रविच्छदर्विनो नत पातुभरिणं सुदुःसहम् ॥’

‘रण्यवल्ली में जगह-जगह पर उस प्रतापी राजा के हाथ का स्पर्श पाकर कितने आश्चर्य की बात है कि, उसकी तकवार, जो तमाकपत्र की भाँति नीकी-नीकी चमक करती है उसे घस का बिस्तार कर देती है जो शरवृक्ष की चँदनी की भाँति शुभ्र-वर्ण और सघन का एक जकड़न हो जाता है । ( नवरात्रि-उत्सव )

यहाँ ‘विषम’-जकड़न का सौम्यत्व दिखायी दे रहा है क्योंकि यहाँ इस विषम अर्थात् ‘कारण’ के गुण ही कार्य के गुण के उत्पादक हुआ करते हैं । क बिन्दु यह वचन किया गया है कि ‘असिलता’-रूप कारण का ‘नीकरण’-गुण कार्यमूल वचन में ‘नीकरण’ का उत्पादन कर ‘शुभ्रवर्ण’ का उत्पादन कर रहा है ।

‘जरी नीकरमल से नयनों बाकी ! तू ही मुझे ( अपने मित्रन में ) वह साग्न आनंद दिया करती है और तेरा ही विरह मेरे शरीर को श्रुतना सतत किया करता है ।

( वरद : कामाक्ष्या-उत्तर )

यहाँ भी ‘विषम’ है क्योंकि यहाँ आनन्दजनक ‘आविष्कार’-रूप कारण से जिस क्रिया की उत्पत्ति का वर्णन किया जा रहा है वह संतापजनक ‘विरह’ है जो कि उसके सर्वथा विरुद्ध है ।

‘वद समुद्र राजाकर है—यह साचकर जनप्रप्ति की अधिकता से उसकी सेवा की गई, किन्तु हुआ क्या ? घन मित्रता तो घुट रहा, उलट मुँह में पारा पानी आ गया ।

यहाँ ‘विषम’ है क्योंकि यहाँ यह वर्णन है कि ‘आरम्भ कार्य’ अर्थात् मनोवर्धित जनताम ता हुआ नहीं उलट अनर्थ अर्थात् पारवर्तन में सुखपूरण हो गया ।

‘कहाँ तो घन मित्रमें पैरों की लाकड़ बरत पड़ने जात है और कहीं राजलक्ष्मी जिसकी देवराज भी उपामना किया करते हैं । ओह ! उस विषादा का शरित जो सरा प्रविष्ट हो रहा करता है कितना दुःख हुआ करता है ।

अत्र वनराज्यश्रियोर्विरूपयोः संघटना । इदं मम ।

यथा वा—

‘विपुलेन सागरशयस्य कुक्षिणा भुवनानि यस्य पपिरे युगक्षये ।

मदविभ्रमासकलया पपे पुनः स पुरस्त्रियैकतमयैकया दृशा ॥’

यह विषम-सूक्ति स्वरचित सूक्ति है । इसमें दो विरूप पदार्थों अर्थात् ‘वन’ और ‘राज्यश्री’ का एकत्र मेल वर्णित किया हुआ है ।

अथवा ( विरूपपदार्थों की संघटना में ‘विषम’ का यह उदाहरण )—

‘जो सागरशाही कृष्ण भगवान्, युगान्तकाल में, अपनी कुक्षि ( उदर ) में समस्त भुवनों को आत्मसात् कर लिया करते हैं उन्हें द्वारका की एक नागरी ने, कामोन्माद के कारण अधखुली अपनी एक आँख में ही भरकर रख लिया ।’ ( शिशुपालवध सर्ग १३ )

[ यहाँ भगवान् कृष्ण के सम्बन्ध में दो विरूप पदार्थों अर्थात् ‘भुवनों के आत्मसात् करने’ और ‘एक नारी की एक आँख में ही समा जाने’ का वर्णन है जिसमें ‘विषम’ का स्वरूप स्पष्ट झलक रहा है । ]

विमर्श— ( क ) ‘अलङ्कारसर्वस्व’कार के शब्दों में ‘विषम’ की समीक्षा यह है—

‘विरूपकार्यानर्थयोरुत्पत्तिर्विरूपसंघटना च विषमम् । विरोधप्रस्तावेनेह लक्षणम् । तत्र कारणगुणप्रक्रमेण कार्यमुत्पद्यत इति प्रसिद्धौ यद्विरूपे कार्यमुपपद्यमान दृश्यते तदेकं विषमम् । तथा कचिदर्थं साधयितुमुद्यतस्य न केवलं तस्यार्थस्याप्रतिलम्भो यावदनर्थ-प्राप्तिरपीति द्वितीयं विषमम् । अत्यन्तानुरूपसंघटनयोर्विरूपयोश्च संघटनं तृतीयं विषमम् । अनुरूपसंसर्गो हि विषमम् ।’ ( अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ १६१ )

अर्थात् ‘विषम’ का अभिप्राय वस्तुतः अनुरूप पदार्थों के परस्पर संसर्ग का वर्णन है । एक ‘विषम’रूप वाच्यवैचित्र्य वह है जिसमें कारणगुण के विरुद्ध कार्यगुण की उत्पत्ति का वर्णन हुआ करता है । दूसरा ‘विषम’रूप वाच्यसौन्दर्य वह है जिसमें आरम्भ अर्थ की असमाप्ति के साथ-साथ अनर्थ की भी प्राप्ति का वर्णन किया जाया करता है और तीसरा ‘विषम’रूप वागवैलक्षण्य वह है जिसमें अत्यन्त अनुरूप संसर्ग वाले पदार्थों अथवा अनुरूप पदार्थों का परस्पर संसर्ग वर्णित हुआ करता है । ये तीनों ‘विषम’ पृथक् पृथक् हैं । इनमें ‘प्रकार’ और ‘प्रकारी’ ( प्रकारप्रकारिभाव ) के संबन्ध की कोई विवक्षा नहीं हो सकती ( एकमित्याद्यभिदधता अन्त्यकृता विषमाणां भिन्नत्वमुक्तम्, न प्रकारप्रकारित्वम्, सामान्यलक्षणस्यासंभवात्—विमर्शिनी, पृष्ठ १६५ ) ।

( ख ) ‘विषम’रूप वाच्यवैचित्र्य में कविप्रतिभा का हाथ मानना आवश्यक है क्योंकि स्वभावतः अनुरूप पदार्थों के संसर्ग अथवा कार्यकारणभाव के स्वाभाविक वैरूप्य में ‘विषम’रूप अलङ्कार नहीं हुआ करता । ‘अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी’कार ने इसीलिये कहा है—

‘यद्यपि ‘गोमयाद् वृश्चिकोत्पत्ति’ इतिवत् कार्यकारणयोर्वास्तव विरूपत्वं संभवति, तथापीह कविप्रतिभानिर्वर्तितमेव तद् ग्राह्यम् । तेन—

‘द्राक्षाफलानि शिखरेषु शिलोच्चयानां पीयूषसारसनिर्भरगर्भवन्ति ।

विष्वग्दृष्टकठिनकायनिगूढशृङ्गशृङ्गाटकानि पुनरम्भसि संभवन्ति ॥’

इत्यादौ विषम न वाच्यम् । ईदृश एव कार्यकारणभावस्य वस्तुतः संभवात् ।

( अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी, पृष्ठ १६५ )

निम्नलिखित सूक्ति एक बड़ी सुन्दर ‘विषम’-सूक्ति है—

(३९—समाकृष्टार)

समं स्यादानुरूप्येण श्लाघा योग्यस्य वस्तुनः ।

यथा—

‘शशिनमुपगतेषु कीमुषी मेघमुक्त  
 जलनिधिमनुरूपं बहुकन्यापतीर्णा ।  
 इति समगुणयोगशील्यस्तत्र पीता’  
 मधनकटु नृपाणामेकवाक्यं विवधुः ॥

‘अरण्यानी क्षेत्रं कृतकनकसूत्रा क स युगा, क मुक्तहारीऽय क च स पतगा क्षेत्रमवका ।  
 क तत् कन्यारत्नं कलितमहिर्भर्तुः क च वयः स्वमाकृतं वाता विभूतमिभूतं कन्यक्यति ॥’  
 (अकृष्टारसर्वस्व अरण्य)

अनुवाद—‘सम वह अकृष्टार है जिसे परस्पर अनुकूप पदाओं के संसर्ग का सर्वत्र कहा गया है ।

अकृष्टार के लिये—

‘वह चाँदनी मेघनिर्मुक्त चन्द्रमा से का मिली, वह आकृषी अपने योग्य समुद्र के पास का पहुँची—इस प्रकार इन्धुमती नीर अथ की बोधी की प्रसंसा में क्यो, परस्पर अनुकूप पदाओं के संसर्ग में प्रसन्न होने वाले, नगरवासी अब एक स्वर से वह सब ऐसे कहने लगे जिससे अम्य राजगण के कान ईर्ष्यावश फटने लगे । (खुश : ३१)

[ यहाँ परस्पर अनुकूप पदाओं के संसर्ग-वर्णन में ‘सम’ का सीम्बर्ष स्पष्ट सकल रहा है ]

विमर्श—(क) ‘सम’ वस्तुतः विक्रमसंपदमात्मक ‘विवध’ का विवरण है वैसे कि ‘अकृष्टार सर्वस्व’ का कथन है—

‘वद्विपर्वणा समम् ।

‘विक्रमवैकर्म्यविह्वल प्रस्तावः । यद्यपि विमर्शस्य मेघवचनमुक्तं तथापि तच्छब्देन संमन्वा-  
 दन्तो मेघः परास्तरवते । पूर्वमेवद्विपर्वणस्यावकृष्टारत्वात् । अन्यमेवद्विपर्वणस्तु चात-  
 र्वातसमाकृतोऽन्यकृष्टारः । स चाधिकपानमिकुपविषमत्वेन द्विविधः ।

(अकृष्टारसर्वस्व पृष्ठ १९७)

अर्थात् ‘सम’ अकृष्टार की कल्पना में ‘विवध’ के वैकर्म्य से संसर्ग वाच्यवैविध्य के विरक्षण का हाव है । ‘विवध’ के तीन भेदों में पहले दो भेदों का विषय तो अकृष्टारकर्म नहीं हो सका किन्तु तीसरे अर्थात् विक्रमसंपदमात्मक ‘विवध’ के विवरण में ‘सम’ रूप वाच्यवैविध्य का सर्वत्र स्प्रमायिक है ।

(क) साहित्यदर्पणकार ने समाकृष्टार की केवल ‘अनुकूपसंपदमात्मक’ माना है । अनुकूप-  
 संपदमात्मक नहीं । अकृष्टारसर्वस्वकार ने अनुकूप पदाओं के परस्पर संसर्ग में ही ‘सम’ रूप वाच्यवैविध्य देखा है—

‘विचित्रं विचित्रं वत वत महविभ्रमेतद् विचित्रं जातो वैषातुधितरचनासंविधाता विधाता ।

यद्विम्बानां परिचयककरकीटिरारवाक्षीया, यथैतस्या कदककककाकोविदा ककककोक ॥

अज्ञानमिच्छाणां विम्बानां काकाणां च समागमा आर्धसिताः ॥ (अकृष्टारसर्वस्व पृष्ठ १९७)

(ग) बहिरंगराज काव्याय की समाकृष्टार-समीक्षा दूसरी हो है—

अनुकूपसंसर्गः समम् ।

संसर्गः पूर्ववद् द्विविधः । तत्रोत्पत्तिकृतस्य संसर्गस्यानुकूपार्थं कारणात् एतसमावगुण-  
 काचोपस्था, पादसगुणकवस्तुसंसर्गस्तादृशागुणोत्पत्त्या, अविशिष्टिष्टमात्रार्थं प्रयुक्तम् ।

( ४०—विचित्रालङ्कार )

विचित्रं तद्विरुद्धस्य कृतिरष्टफलाय चेत् ॥ ७१ ॥

यथा—

‘प्रणमत्युन्नतिहेतोर्जीवितहेतोर्विमुञ्चति प्राणान् ।  
दुःखीयति सुखहेतोः को मूढः सेवकादन्यः ॥’

कारणान्तप्राप्त्या च । सयोगादिलक्षणस्यापि ससर्गिणोरन्यतरगुणस्वरूपानुग्राह्यान्यतर-  
गुणस्वरूपतयाऽनुरूपत्वम् । एव चानुरूपससर्गत्वेन सामान्यलक्षणेन सर्वे भेदाः सगृहीता  
भवन्ति ।’ ( रसगङ्गाधर, पृष्ठ ६०३ )

यहाँ अलङ्कारसर्वस्व की समीक्षा में यह प्रदर्शित किया गया है कि ‘सम’ भी ‘विषम’ की  
मौति तीन भेदों वाला है क्योंकि ‘अनुरूपससर्गता’ की विशेषता इसके तीनों भेदों में, जो कि  
‘विषम’ के तीनों भेदों के विपर्यय रूप हैं, सर्वथा अनुगत प्रतीत होती है ।

अनुवाद—‘विचित्र’ वह अलङ्कार है जिसे अभीष्ट अर्थ की प्राप्ति के लिये, उसके  
अनुरूप अथवा विरुद्ध कार्य के वर्णन में देखा जाया करता है ।

जैसे कि—

‘सेवक से बढ़कर मूढ़ और कौन है जो कि अपनी उन्नति के लिये प्रणत हुआ करता  
है, अपने जीवन के लिये प्राण-परित्याग किया करता है और अपने सुख के लिये दुःख  
भोगा करता है ।’

[ यहाँ ‘विचित्र’ अलङ्कार है क्योंकि ‘उन्नति’ के लिये ‘प्रणति’ ( झुकने ), ‘जीवन’ के  
लिये ‘प्राणत्याग’ और ‘सुख’ के लिये ‘दुःखभोग’ के कार्य विरुद्ध हैं और इन्हीं का यहाँ  
वर्णन किया हुआ है । ]

विमर्श—( क ) ‘विचित्र’ अलङ्कार की सर्वप्रथम कल्पना ‘अलङ्कारसर्वस्व’कार की कल्पना है  
जैसा कि ‘अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी’कार का स्पष्ट निर्देश है—

‘एतद्धि ग्रन्थकृतैवाभिनवत्वेनोक्तम् ।’ ( अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी, पृष्ठ १६९ ) ।

‘अलङ्कारसर्वस्व’कार के अनुसार ‘विचित्र’ का स्वरूप यह है—

‘स्वविपरीतफलनिष्पत्तये प्रयत्नो विचित्रम् । यस्य हेतोर्यत्फलं तस्य यदा तद्विपरीतं  
भवति तदा तद्विपरीतफलनिष्पत्त्यर्थं कस्यचित्प्रयत्न उत्साहो विचित्रालङ्कारः । आश्चर्य-  
प्रतीतिहेतुत्वात् ।’

अर्थात् ‘विचित्र’ अलङ्कार इसलिये मान्य है क्योंकि यह आश्चर्यप्रतीति का एक हेतु है । यहाँ  
आश्चर्यप्रतीति इसलिये हुआ करती है क्योंकि अभीष्टप्राप्ति के लिये, उसके विपरीत क्रिया के  
अनुष्ठान का आग्रह, एक आश्चर्यजनक बात है ।

( ख ) ‘विचित्र’ और ‘विषम’ परस्पर मित्र अलङ्कार हैं । ‘विचित्र’ में तो ऐसा है कि ‘कारण-  
निषेध की प्रतीति’ के बाद ‘कार्यवैपरीत्यप्रतीति’ हुआ करती है किन्तु ‘विषम’ में ‘कार्यवैपरीत्य-  
प्रतीति’ के बाद ‘कारणनिषेध’ का अवसर आता है । ‘अलङ्कारसर्वस्व’कार ने ‘विचित्र’ और  
‘विषम’ का यह भेद, इन शब्दों में निर्दिष्ट किया है—

‘न चाय प्रथमो विषमालङ्कारप्रकारः । स्वनिषेधमुखेन वैपरीत्यप्रतीतेः । विपरीत-  
प्रतीत्या तु स्वनिषेधस्तस्य विषयः । यथा—‘तमालनीला शरदिन्दुपाण्डु यशस्त्रिलोका-  
भरण प्रसूते’ इत्यादि । इह त्वन्यथा प्रतीति ।’ ( अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ १६८ )

‘विषम’ और ‘विचित्र’ के परस्पर भेद के सन्ध में पण्डितराज जगन्नाथ ने एक और बात  
बताई है—

(११—अधिकमकट्टार)

आभयाधयिगोरेकस्याधिनयेऽधिकमुच्यते ।

आभयाधिनये यथा—

‘किमधिकमस्य भूमो महिमान् नारिषेर्हरिर्यत्र ।

अद्यात् एव गते कुक्षौ निक्षिप्य मुषनानि ॥’

आभिताधिनये यथा—

‘पुगान्तं ब्रह्मप्रतिसङ्गतात्मनो जगन्ति यस्या सन्निकासमासत ।

तनो ममुस्तत्र न केटमद्विपस्तपोधनाभ्यागमसम्भवा मुद’ ॥’

‘न च कारणानुसृत्य कार्यमिति विचममेवोऽर्थं बाध्यः, विचमे पुरुषकृतेरवयवभावः । कार्यकारणानुसृत्यैकवच्येनैव तदुमेदविचमव्याह । (रत्नाकर पृष्ठ ३९)

अर्थात् ‘विचम’ और ‘विचित्र’ इत्युक्तियों में परस्पर विन्न-मिन्न अकट्टार है क्योंकि यहाँ ‘विचम’ में कारण के विरुद्ध कार्य की स्वयं उत्पत्ति का वर्णन हुआ करता है वहीं ‘विचित्र’ में, विरुद्ध फल की उत्पत्ति के किये कारणानुसृत्य में पुरुष-वस्तुत्व का वर्णन हुआ करता है ।

‘अकट्टारसर्वस्वविमर्शिनी’कार ने भी ‘विचम’ और ‘विचित्र’ का वही भेद निर्दिष्ट किया है—

‘यद्यपि विचमे विचमस्य कार्यस्य स्वयमेवेत्युत्पत्तिरिह (विचित्रे) च तद्विचमत्वे प्रयत्न इति स्थितोऽप्यवयवोऽप्युद्यमे मेवैतद्यथापि ग्रन्थकृता विशेषपरिपोषादेव सूक्ष्मेधिकमात्रो मेवोऽर्थमुक्तः । (अकट्टारसर्वस्वविमर्शिनी पृष्ठ १९९)

अनुवाद—‘अधिक’ वह अकट्टार है जो आधार और आवरण में से एक के आविर्भाव के वर्णन में देखा जाता करता है ।

जैसे कि आधार के आविर्भाव के वर्णन में वह ‘अधिक’ रूप बाध्यवैचित्र्य (अकट्टार) ।

‘इस सत्ता की महिमा का इससे अधिक क्या वर्णन किया जाय कि । इसमें, कहीं किसी कोने में असादृश्य से वे भगवान् विष्णु शायन किया करते हैं जिसकी कुटि में (प्रलय के समय) समस्त संसार समा जाता करता है ।

अथवा

जैसे कि आवरण के आविर्भाव के वर्णन में वह ‘अधिक’ अकट्टार—

‘पुगान्तं में जीवमात्र को अपने में समेट कहेवाले, जिस केदमारी कृप्य के शरीर में सारा ब्रह्माण्ड फेरफेर समा जाता है उसमें तपोधन नारद के श्रुत्यागत की प्रसन्नता व समा सखी । (शिशुपाकवच)

विमर्श—‘अधिक’ की समीक्षा ‘अकट्टारसर्वस्व’कार ॥ इस प्रकार की है—

‘आभयाधयिगोरेकस्याधिनयेऽधिकम् । विशेषप्रत्यक्षादिह विर्हेतः । अनासुरूप्यस्य विरोधात्पापकत्वात् । तत्त्वानुसृत्यमाधयस्य वैपुल्येऽपि आभितस्य परिमितत्वाद्वा भवति यद्वाभितस्य वैपुल्येऽप्याभयस्य परिमितत्वाद्वा वा स्यात् । (अकट्टारसर्वस्व पृष्ठ १९९)

अर्थात् यद्यपि आधारवैचित्र्य की अननुकूलता भी एक अननुकूल संघटना होने से, ‘विचम’ को ही कल्पना करा सकती है किन्तु वहीं ‘विचम’ नहीं अपितु अधिक अकट्टार को स्वीकार देनी जानी पारिसे । कारण यह है कि यहाँ ‘विचम’ के किये केवल दो अननुकूल वस्तुओं की संघटना का वर्णन अवैधित हुआ करता है वहीं अतिरिक्त के किये काव्यावयवमात्र (आधार-वेदमात्र) रूप से ही सम्बद्ध की वस्तुओं की अननकूल संघटना का वर्णन आवश्यक माना जाता करता है । अकट्टारसर्वस्वविमर्शिनी कार ने इन्हीं किये कहा है—

( ४२—अन्योन्यालङ्कार )

अन्योन्यमुभयोरेकक्रियायाः कारणं मिथः ॥ ७२ ॥

‘त्वया सा शोभते तन्वी तथा त्वमपि शोभसे ।

रजन्या शोभते चन्द्रश्चन्द्रेणापि निशीथिनी ॥’

( ४३—विशेषालङ्कार . )

यदाधेयमनाधारमेकं चानेकगोचरम् ।

किञ्चित्प्रकुर्वतः कार्यमशक्यस्येतरस्य वा ॥ ७३ ॥

कार्यस्य करणं दैवाद्विशेषस्त्रिविधस्ततः ।

‘एव च परिमितत्वापरिमितत्वयोः सापेक्षत्वात्तथाविधवस्तुद्वयसघटनयैव तदवगमन-  
सिद्धिरित्यत्राधाराधेययोस्सघटनेनैवानुपपत्त्वमवगम्यते । विषमे चानन्यापेक्षत्वेन स्वत-  
एवानुपपत्त्योः सघटनमित्यनयोर्महान् भेद इत्यत्र पिण्डार्थः ।’

( अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी, पृष्ठ १७० )

अनुवाद—‘अन्योन्य’ वह अलङ्कार है जो परस्पर दो पदार्थों के द्वारा की गई एक  
क्रिया के वर्णन में देखा जाया करता है । जैसे कि—

‘वह सुन्दरी तुम से सुशोभित होती है और तुम उससे सुशोभित होते हो । रात से  
चन्द्रमा की और चन्द्रमा से रात की शोभा है ।’

विमर्श—‘अन्योन्य’ की कल्पना ‘विरोध’ की रूपरेखा पर आश्रित हैं । ‘परस्पर क्रियाजनन  
का वर्णन ‘अन्योन्य’ अलङ्कार है किन्तु परस्पर जनन विरुद्ध बाध है, इसका वर्णन ‘अलङ्कार’  
क्योंकर कहा जाय ? इसके सम्बन्ध में ‘अलङ्कारसर्वस्व’कार का यह कथन है—

‘इहापि विरोधप्रस्ताव एव निर्देशकारणम् । परस्परजननस्य विरुद्धत्वात् । क्रियाद्वारकं  
यत्र परस्परलोपादकत्व ( परस्परनिष्पादकत्वम् ), न स्वरूपनिवन्धन, स्वरूपस्य तथात्वो-  
क्तिविरोधात्, तत्रान्योन्याख्योऽलङ्कार । यथा—

‘कण्ठस्य तस्याः स्तनवन्धुरस्य मुक्ताकलापस्य च निस्तलस्य ।

अन्योन्यशोभाजननाद् वभूव साधारणो भूषणभूष्यभावः ॥’

अत्र शोभाक्रियामुखक परस्परजननम् । ( अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ १७० )  
अर्थात् ‘अन्योन्य’ अलङ्कार में जिसमें दो पदार्थों की परस्परजनकता का वर्णन हुआ करता है दो  
पदार्थों के स्वरूपतः परस्परलोपादन का अभिप्राय विवक्षित नहीं अपितु क्रिया अथवा धर्म द्वारा  
परस्पर निष्पादन का अभिप्राय विवक्षित है ।

रसगङ्गाधरकार ने ‘अन्योन्य’ का यह स्वरूप और भी अधिक स्पष्ट कर दिया है—

‘द्वयोरन्योन्येनान्योन्यस्य विशेषाधानमन्योन्यम् । विशेषश्च क्रियादिरूप । यथा—

‘सुदृशो जितरत्नजालया सुरतान्तश्रमविन्दुमालया । अलिकेन च हेमकान्तिना विदधे  
काऽपि रुचिं परस्परम् ॥’ अत्र गुणरूपविशेषाधानम् । रुचेर्गुणत्वात् । न च विधानरूप-  
विधानस्याचमत्कारित्वेनाविशेषत्वात् ।’ ( रसगङ्गाधर, पृष्ठ ६११ )

अनुवाद—‘विशेष’ वह अलङ्कार है जिसे निम्न सभावनाओं में देखा जाया करता है—

( १ ) जब कि बिना आधार के ही आधेय का वर्णन-वैचित्र्य दिखायी दे ।

( २ ) जब कि एक वस्तु अनेक स्थानों पर एक समय में चिराजमान वर्णित हो ।



क्रमेण यथा—

‘दिवमप्युपयासानामाकरूपममलपगुणगणा येयाम् ।

रमयन्ति जगन्ति गिर’ कथमिष कथयो न ते वम्शा ॥’

‘अनने सरिदुहरो गीरीणामपि कम्बरे ।

परयन्त्यन्तकसङ्काशं त्वामेक रिपय’ पुर ॥’

‘गृहिणी सखिष’ सखी मिष’ प्रियशिष्या लक्षिते कञ्जायिषी ।

कदणाविमुक्षेन मृत्युना हरता त्वां यद किं न मे हृतम् ॥’

(३) जब कि एक कार्य करते हुये किसी क हारा, अन्य अद्यत्य कार्य का भी वैयव्य सम्पादन उपनिबद्ध हो ।

इन तीनों समावधानों में, तीनों विशेषाङ्कारों के क्रमका उदाहरण दे हैं—

( बिना आचार के आशेष के वर्णन में ‘विशेष’ ) ‘उन कविओं की वम्शा क्यों व की साथ जिनकी महीन गुणमयी कविता उनके विरगत हो जाने पर भी, कल्प-कल्पान्तर तक, ससार को आश्चर्य-विमग्न बनाया करती है ।

[ यहाँ कविता के आचारमूल कविजन के अभाव में भी आनेवमून कविता की अवस्थिति के वर्णन में ‘विशेष’ का वैयव्य स्पष्ट झलक रहा है । ]

( एक वस्तु के, एक समय में, अनेक आचार पर अवस्थान-वर्णन में ‘विशेष’ )

‘राज्य ! आपक जगगण, यमराज के समान आपको बनीं में देखते हैं, बहियों के कजारों पर देखते हैं और पहाड़ों की कम्बराओं में देखते हैं ।’

[ यहाँ एक समय में ही एक राजा का ‘अनन आदि अनेक स्थानों पर जो अवस्थान-वर्णन है उसमें ‘विशेष’ के दूसरे रूप का अत्यन्त स्पष्ट है । ]

( अद्यत्य कार्य के वैयव्य सम्पादन में ‘विशेष’ ) ‘हनुमुनि ! निर्दय मृत्यु ने तेरा हरण करते हुए, मेरी गृहिणी मेरे सखि मेरी सखी मेरी कलित ककारों में प्रियशिष्या-मेरे सब कुछ का हरण कर लिया ।’ ( रघुवंश )

[ यहाँ हनुमन्तीहरणक एक कार्य में संक्रमण पर के द्वारा, वैयव्य ‘गृहिणी’ आदि अनेक वस्तु-हरण का जो वर्णन है उसमें ‘विशेष’ का तीसरा रूप स्पष्ट दिखाई दे रहा है । ]

विमर्श—‘अङ्काराकारसर्वस्व’ का की ‘विशेष’-परिचाया यह है—

‘अनाचारमात्रमेकमेकमोचरमस्तनककान्तरकरणं विशेषः ।

इहाचारमन्तरीज्योर्ध्वं न वर्तत इति रिषतापि वस्तुपरिहारेनाशेषतोयनिबन्धा स एको विशेषः । अन्वैक वस्तु परिमितं गुणपद्मेकया वर्तमानं क्रियते स द्वितीयो विशेषः । यत्र विविधममन्तस्वार्त्तमानवस्तुवन्तरकरणं स तृतीयो विशेषः । आशुक्लपपरिहारक-विरोधमस्तत्वाविहोक्तिः । ( अङ्काराकारसर्वस्व सूत्र २०२ )

अर्थात् ‘विशेष’ तीन अङ्कारों का सर्वस्व अङ्कार है । ‘विशेष’ के तीनों रूपों में ‘विशिष्टता’ अनुसृत है ।

निम्न ‘विशेष’ सूक्तों की उल्लेख है—

अनेक साङ्गहरिचन्द्रपङ्कजार्च्यं पाण्डकहारकवादि च पश्यवम्बा ।

‘ओम्’ विद्या पतिविषोयविद्यावृद्धम्भो ज्योत्स्नागिसारपरिकर्म स अक्षमासीत् ॥

( ४४—व्याघात )

व्याघातः स तु केनापि वस्तु येन यथाकृतम् ॥ ७४ ॥  
तेनैव चेदुपायेन कुरुतेऽन्यस्तदन्यथा ।

यथा—

‘दृशा दग्ध मनसिजम्—’ इत्यादि ।

( व्याघातः प्रकारान्तर )

सौकर्येण च कार्यस्य विरुद्धं क्रियते यदि ॥ ७५ ॥

( अत्र हरिचन्दनचर्चादिना न केवल पतिवियोगविषादम्भः कृतो यावदभिसारिका-  
परिकर्मापि कृतमित्यस्य वस्त्वन्तरकरणात्मैवायं ‘विशेषः’ । )

‘अङ्गानि चन्दनरसादपि शीतलानि चन्द्रातप वमति बाहुरय यशोभिः ।

चालुक्यगोत्रतिलक ! क वसत्यसौ ते दुर्वृत्तभूपपरितापगुरु प्रताप ॥’

( अत्राङ्गादीनामनर्हत्वेनाधारत्वाभावेऽप्याधेयस्य प्रतापस्य स्थितिरिति विशेषा-  
लङ्कारत्वम् । ) ( अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी, पृष्ठ १७२, १७३ )

अनुवाद—‘व्याघात’ वह अलङ्कार है जिसे, एक उपाय द्वारा, किसी से सिद्ध की गयी  
किसी वस्तु का, उसी उपाय द्वारा, दूसरे से उस ( वस्तु ) के ठीक विपरीत बना देने के  
वर्णन-वैचित्र्य में देखा जाया करता है ।

जैसे कि ‘दृशा दग्ध मनसिजम्’ आदि पूर्वोद्धृत सूक्ति ( जहाँ यह वर्णन है कि जिस  
दृष्टि से शिव ने कामदेव को जला दिया उसी दृष्टि से सुन्दरियों ने उसे जिला दिया ) ।

विमर्श—‘व्याघात’ के इस रूप की सीमासा ‘अलङ्कारसर्वस्व’कार ने इस प्रकार की हैं—

‘य कश्चिदुपायविशेषमवलम्ब्य केनचिन्निष्पादितं वस्तु तत्ततोऽन्येन केनचित् तदप्रतिद्व-  
न्दिना तेनैवोपायविशेषेण यदन्यथा क्रियते स निष्पादितवस्तुव्याहतिहेतुत्वाद् व्याघातः ।’

( अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ १७३ )

अर्थात् ‘व्याघात’ का तात्पर्य ‘किसी निष्पादित वस्तु के विघात’ का उपनिबन्ध है ।

‘अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी’कार ने इसे और भी स्पष्ट कर दिया है—

‘अतश्च यत्र न निष्पन्नस्य वस्तुनो व्याहतिरूपनिबध्यते तत्र नायमलङ्कारः । निष्पत्तेर-  
चाप्ररोहाद्व्याघातायोगात् । निष्पन्नवस्तुव्याहतिर्हि व्याघातः । फलं चात्र—व्याहतिकारिण-  
स्तद्वैलक्षण्यम् । अत एव ‘उत्पत्तिविनाशयोरेकोपायत्वे व्याघातः’ इति न सूत्रणीयम् । एव  
हि व्याघातत्वमेव न स्यात् ।

‘कुलममलिन भद्रामूर्तिर्मति श्रुतिशालिनो

भुजबलमल स्फीता लक्ष्मी प्रभुत्वमखण्डितम् ।

प्रकृतिभुग्भा ह्येते भावा अमीभिरय जनो

व्रजति सुतरां दर्पं राजस्त एव तवाङ्कुशा ॥’

इत्यत्र च कुलादयो यथान्येषा दर्पहेतवो न तथा तव । प्रत्युत विनयकारिण इत्येव-  
विधगुणविशिष्टस्य पुरुषान्तरेभ्योऽस्य वैलक्षण्यमात्रं विवक्षितम् । न तु कुलादिभिरुपादि-  
तोऽपि तव दर्पो व्याहृत इति येन व्याघातालङ्कारो भवति । निष्पादितवस्तुव्याहतेर-  
भावात्तन्निबन्धनत्वेन चास्योक्तत्वात् । ( अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी, पृष्ठ १७४ )

अनुवाद—दूसरे प्रकार का ‘व्याघात’ वह अलङ्कार है जिसे सौकर्य के साथ, किसी के  
द्वारा निष्पादित कार्य के अन्यथाकरण ( उलट देने ) के वर्णन में देखा जाया करता है ।



( ४५—कारणमाला )

परं परं प्रति यदा पूर्वपूर्वस्य हेतुता ।

तदा कारणमाला स्यात्—

यथा—

‘श्रुतं कृतधियां सद्भाज्जायते विनयः श्रुतात् ।

लोकानुरागो विनयान्न किं लोकानुरागतः ॥

अनुवाद—‘कारणमाला’ वह अलङ्कार है जो उत्तरोत्तर वस्तु के लिये पूर्व-पूर्व-वर्णित वस्तु की हेतुता के उपनिबन्ध में देखा जाया करता है । जैसे कि—

‘विद्वान् लोगों के सग-साथ से शास्त्रज्ञान मिलता है, शास्त्रज्ञान से विनय की प्राप्ति होती है, विनय से लोगों का प्रेम प्राप्त होता है और जब कि लोगों का प्रेम प्राप्त हो जाय तो ऐसी कौन वस्तु है जो प्राप्त न हो जाय ?’

[ यहाँ पूर्व-पूर्ववर्णित ‘शास्त्र’ज्ञान आदि को उत्तरवर्ण्य ‘विनय’ आदि के कारण-रूप से उपनिबद्ध किया गया है जिसमें ‘कारणमाला’रूप वाच्य-वैचित्र्य स्पष्ट है ।

विमर्श—( क ) ‘कारणमाला’ का अलङ्कार कल्पना में ‘कार्यकारणक्रम’ निमित्तरूप से पढ़ा है न कि वस्तुओं का शृङ्खलारूप से उपनिबन्ध, जैसा कि ‘विमर्शिनीकार’ का स्पष्ट कथन है—

‘न पुन केवलमेव शृङ्खलात्वमित्यर्थ’ । अतएव कारणमालेत्यस्या अन्वर्थमभिधानम् । एवमन्येभ्य शृङ्खलाबन्धोपचित्रितेभ्योऽलङ्कारेभ्योऽस्या विषयविभागः, न हि तेषु कार्य-कारणक्रम एव चारुत्वहेतु, विशेषणविशेष्यभावादेवान्तरस्य विच्छिन्नविशेषस्य सम्भवात् ।

( अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी, पृष्ठ १७७ )

( ख ) पण्डितराज जगन्नाथ ( रसगङ्गाधर, पृष्ठ ६२० ) ने ‘कारणमाला’ की एक और भी सम्भावना निर्दिष्ट की है जिसमें उत्तरोत्तर वर्णित, वस्तु पूर्वपूर्ववर्णित वस्तु के कारणरूप से उपन्यस्त की गयी होनी है—‘तत्र पूर्वं पूर्वं कारणं परं परं कार्यमित्येका ( कारणमाला ), पूर्वपूर्वं कार्यं परपर कारणमित्यपरा ( कारणमाला ) ।’

इस ‘कारणमाला’-भेद का उदाहरण यह है—

‘स्वर्गापवर्गौ खलु दानलक्ष्मीर्दानं प्रसूते विपुला समृद्धिः ।

समृद्धिमल्पेतरभागधेय भाग्यं च शभो ! तव पादभक्तिः ॥’

( ग ) ‘कारणमाला’रूप वाच्यवैचित्र्य की निष्पत्ति के लिये पण्डितराज जगन्नाथ की यह विचारधारा ध्यान देने योग्य है—

‘इह च यद्यादौ कारणोक्तिरेव प्रस्तूयते तदा पुनस्तस्य कारणं तस्यापि कारणमिति, तत्कस्यचित् कारणं तदपि कस्यचिदिति वा कारणमाला युक्ता । यदा तु कार्योक्तिस्तदा तस्य कार्यं तस्यापि कार्यमिति, तत् कस्यचित् कार्यं तदपि कस्यचिदिति वा युक्ता । सर्वथैव यं शब्द कार्यकारणतोपस्थापक आदौ प्रयुक्तः स एव निर्वाह्यः । एवं क्रमेण निबन्धनमाकाङ्क्षानुरूपत्वाद्वमणीयम् । अन्यथा तु भग्नप्रक्रम स्यात् । यथा प्राचीनानां पद्यम्—

जितेन्द्रियत्वं विनयस्य कारणं गुणप्रकर्षो विनयादवाप्यते ।

गुणाधिके पुंसि जनोऽनुरज्यते जनानुरागप्रभवा हि सम्पदः ॥’

अत्र जितेन्द्रियत्वं विनयस्य कारणं श्रुत्वा जितेन्द्रियत्वस्यापि किं कारणमिति, विनय-कस्य कारणमिति वा आकाङ्क्षोदेति । कारणस्यैव श्रुतिवशात् पूर्वमुपस्थिते । . . . एवं च

( ४६—माकादीपक )

—सन्मालादीपक पुनः ॥ ७६ ॥

धर्मिणामेकधमण सम्बन्धो यद्यथोत्तरम् ।

यथा—

‘त्वयि सङ्गरसम्प्राप्ते धनुषासाविता शरा’ ।

शरैररिश्चिरस्तेन भूस्तया त्वं त्वया यश ॥’

अत्रासादनक्रिया धर्म ।

( ४७—पुकावली )

पूर्वं पूर्वं प्रति विक्षेपणस्वन परं परम् ॥ ७७ ॥

विनया कस्य कारणमित्याकांक्षायां ‘गुण्यकर्णो विनयाव्याप्यत इति वाच्यं यद्यपि फलतः परिपूरकं भवति तथापि न साक्षादित्यङ्गव्यवहृतम् । ( रसगङ्गाधर पृष्ठ १२ )

अनुवाद—‘माकादीपक’ वह अकट्टार है जो ‘धर्म’-रूपसे वर्णित कबेक वस्तुओं का उत्तरोत्तर, एकधर्माभिसम्बन्ध ( एक धर्म से सम्बन्ध होता ) कहा जाया करता है । जैसे कि—

‘राजन् ! जब आप संप्राप्त में पहुँचे तब आपके धनुष ने बाणों को प्राप्त किया, बाणों ने छत्र के मस्तक प्राप्त किये छत्र के मस्तकों ने ( नीचे गिरकर ) घुमिनी प्राप्त की, घुमिनी ने आपके प्राप्त किया और आपने यश प्राप्त किया ।

यहाँ वह स्पष्ट है कि ‘आसादन-क्रिया’ ( प्राप्त करने की क्रिया ) रूप ‘धर्म’ कबेक धर्मियों के साथ उत्तरोत्तर संबन्ध होता हुआ वर्णित किया गया है ( जिसमें ‘माकादीपक’ की श्रृङ्खला स्पष्ट दिखायी दे रही है ) ।

विमर्श—‘माकादीपक’ की एक पूर्ण अकट्टार रूप में कल्पना इसकिये की गयी है क्योंकि इसमें भी श्रृङ्खलावन्ध का एक अनिच्छित वैशिष्ट्य दिखायी दिया करता है । वाचार्थ स्पष्ट न हो सकीये क्या है—

‘उत्तरोत्तरस्य पूर पूर प्रत्युत्कर्षवितुल्ये पुकावली । पूर्वस्य पूर्वस्योत्तरोत्तरोत्कर्षविनयनत्वे तु माकादीपकम् । माकात्वेन वाक्यविशेषमाश्रित्य दीपकप्रस्तासोक्तकवेनेह कथनं कृतम् । गुण्यवद्वत्प्रत्युत्कर्षवितुल्यम् ।’ ( अकट्टारतन्त्रेण पृष्ठ १७२ )

और इसी किये वाचार्थ अन्तर में इसका वस प्रकार समर्थन किया है—

‘माकासम्बन्धान् श्रृङ्खला कथयते । तस्या प्रयोपक्रम्यन्तवत् । नञ्चात्र माकोपमाक्यं माकासम्बन्धो होयः । एकस्योपमेवस्य बहुपमानोपाधानामावात् । अत्र द्वौपम्यमेव नास्ति । कोदण्डसारादीनां (‘संप्रामाज्जणमागतैर्न भवता जायै समारोपिते द्वैवाकर्ण्य वेप वेप सहसा यद् वस्तुसमासादितम् । कोदण्डेन शराः शरैररिश्चिरस्तेनपि भूमण्डकं, तेन त्वं भवता च कीर्तिरनुक्त कीर्त्या च कोके भवत्य इत्यादी ) तस्याविनयवात् । अत एवास्य दीपकमेवार्थं न वाच्यम् । औपम्यजीविनं हि तत् ( दीपकम् ) प्राच्यैः पुनरेतदीपकमात्रानुगुण्यात्तद्व्यन्तरं कथितम् । श्रृङ्खलात्वेन तु विधिघटनस्य वाक्यमितीह कथनं युक्तम् । एतच्च दीपकं पूर प्रत्युत्कर्षोक्तम्—वाचान्तरेण तु माकादीपकं प्रस्ता-वान्तरे कथयिष्यत इति । ( अकट्टारतन्त्रेणविमर्शिनो पृष्ठ १७२ )

अनुवाद—‘पुकावली’ वह अकट्टार है जिसे पूर्व-पूर्व वर्णित वस्तु के विशेषजन्य से

स्थाप्यतेऽपोह्यते वा चेत् स्यात्तदैकावली द्विधा ।

क्रमेणोदाहरणम्—

( पूर्व-पूर्ववर्णित के विशेषणरूप से उत्तरोत्तर वर्ण्य वस्तु के स्थापन में एकावली )

‘सरो विकसिताम्भोजमम्भोजं भृङ्गसङ्गतम् ।

भृङ्गा यत्र ससङ्गीताः सङ्गीतं सस्मरोदयम् ॥’

( पूर्व पूर्व वर्णित वस्तु के विशेषण रूप से उत्तरोत्तर वर्ण्य वस्तु के अपोहन में एकावली )

‘न तज्जल यत्र सुचारुपङ्कज न पङ्कज तद्यदलीनषट्पदम् ।

न षट्पदोऽसौ न जुगुञ्ज यः कलं न गुञ्जित तत्र जहार यन्मनः ॥’

कचिद्विशेष्यमपि यथोत्तर विशेषणतया स्थापितमपोहितं च दृश्यते ।

यथा—

‘वाप्यो भवन्ति विमलाः स्फुटन्ति कमलानि वापीषु ।

कमलेषु पतन्त्यलयं करोति सङ्गीतमलिषु पदम् ॥’

एवमपोहनेऽपि ।

उत्तरोत्तर वर्ण्य वस्तु का स्थापन अथवा अपोहन ( रखना अथवा हटाना ) कहा जाया करता है । इस ‘स्थापन’ और ‘अपोहन’ के भेद से ‘एकावली’ अलङ्कार के भी दो भेद हुआ करते हैं । इनके क्रमशः उदाहरण ये हैं—

‘सरोवर ऐसा है जिसमें कमल खिले हैं, कमल ऐसे हैं जिन पर भ्रमर बैठे हैं, भ्रमर ऐसे हैं जिनमें सगीत-माधुरी भरी है और सगीत ऐसा है जो कामोद्दीपक प्रतीत हो रहा है ।’

यहाँ पूर्व-पूर्ववर्णित ‘सरोवर’ आदि के विशेषणरूप में उत्तरोत्तर वर्ण्य ‘अम्भोज’ आदि का उपनिबन्ध है जिसमें ‘एकावली’ का रूप स्पष्ट झलक रहा है ।

( विश्वामित्र के साथ चलते राम के मार्ग में ) ‘ऐसा कोई सरोवर न था, जिसमें सुन्दर कमल न खिले हों, ऐसा कोई कमल न था, जिसमें भौंरे न छिपे हों, ऐसा कोई भौंरा न था, जो मधुर गुजार न कर रहा हो और ऐसी कोई गुजार न थी, जो मन को न लुभा रही हो ।’ ( मद्रिकाव्य २ १९ ) ।

[ यहाँ यह स्पष्ट है कि पूर्व पूर्व वर्णित वस्तु के लिये, उत्तरोत्तर वर्ण्य वस्तु, जो कि विशेषणरूप से उपनिबद्ध है, अपोहित ( हटायी जाती ) दिखायी दे रही है । ]

‘एकावली’ में यदा-कदा ऐसा भी हुआ करता है कि विशेष्य का, उत्तरोत्तर, विशेषण-रूप से स्थापन अथवा अपोहन किया जाया करता है । जैसे कि—

‘जलवापियाँ स्वच्छ दीख रही हैं, जलवापियों में कमल खिले हुए हैं, कमलों पर भ्रमर टूट पड़ रहे हैं और भ्रमरों में गुजार समा रही है ।’

[ यहाँ प्रथम चरण में विशेष्यभूत ‘वाप्य’ है जिसके विशेषण रूप से ‘विमला’ का उपादान है किन्तु दूसरे चरण में विशेष्यभूत वापी को ‘कमल’ का विशेषण बना दिया गया है । यही क्रम आगे भी चल रहा है, जिसमें ‘एकावली’ का एक नया रूप झलक रहा है । ]

विशेष्य के, विशेषण रूप से स्थापन की भाँति ‘अपोहन’ में भी ‘एकावली’ का यह नया रूप दिखाई दिया करता है । जैसे कि—

(७८—सार)

उत्तरोत्तरमुत्कर्षो वस्तुनः सार उच्यते ॥ ७८ ॥

यथा—

‘राज्ये सार वसुधा वसुधायामपि पुरं पुरे सौभम् ।  
सौभे वरुणं वरुणे पराङ्गनानङ्गसर्वस्वम् ॥’

‘पुण्यक्षेत्रं न सर्वत्र पुण्यक्षेत्रे न वास्तिकाः ।

वास्तिकेषु न धर्मोऽस्ति न धर्मं दुःखहेतुता ॥

विमर्श—(क) ‘पञ्चाक्षी’ में पूर्व-पूर्ववर्तिता की उत्तरोत्तर वर्ण के ‘विशेषण’ रूप से जो स्थापना हुआ करता है उसमें विशेषण का अभिप्राय वह है—

‘एवंप्रमात्रेणैवप्यस्य वस्तुनो वारसम्बन्धवशेन वैशिष्ट्यसम्बन्धमन्यते तद्विशेषणम् ।  
वद्वक्ष्यति (अङ्गहारसर्वस्वकारः)—‘उत्तरोत्तरस्य पूर्व पूर्व मत्पुत्कर्षहेतुत्वे प्रकाशयति ।’

(अङ्गहारसर्वस्वविमर्शितो)

जहाँ ‘विशेषण’ वह है जो अपने से सम्बन्ध (विशेष्यरूप) वस्तु की विशेषता व्यक्त करता है जवना उत्कर्षवृद्धि किया करता है ।

(घ) निम्न सूक्ति ‘पञ्चाक्षी’ का एक सुन्दर निवर्तन है—

‘पुराणि वस्तां सवराङ्गानि वराङ्गानां रूपपुरस्कृताङ्गानां ।

रूपं समुष्मीकितसङ्घिकासमया विकासाः कुसुमासुखस्य ॥

(नवसाहस्राद्वरित)

मनुवाह—‘सार’ अङ्गहार वह है जिससे वर्ण वस्तु के उत्तरोत्तर उत्कर्ष-वर्धन में देखा जाता करता है । जैसे कि—

‘राज्य में यदि कोई सार है तो वह पृथिवी है; पृथिवी में यदि कोई सार है तो वह नगर है, नगर में यदि कोई सार है तो वह महक है, महक में यदि कोई सार है तो वह पदंग है और पदंग में यदि कोई सार है तो वह है रतिसर्वस्व एक सुन्दरी ।

[यहाँ ‘राज्य’ यदि वर्ण वस्तु का जो उत्तरोत्तर उत्कर्ष-वर्धन किया जा रहा है उसमें ‘सार’ का वैचित्र्य स्पष्ट है ।]

विमर्श—(क) ‘सार’ का अङ्गहारसर्वस्वकार ‘व्यार’ कहते हैं—‘उत्तरोत्तरमुत्कर्षवत् वार’ । किन्तु ये दोनों नाम एक ही वाच्यवैचित्र्य के भाग हैं । उत्तरोत्तर उत्कर्ष वर्ण की वस्तुविशेष सम्भावनाएँ हैं—(१ की) एक वस्तु के स्वरूपता उत्कर्ष की वर्णन की (२ ती) एक वस्तु के वर्णन उत्कर्ष के वर्णन की (३ ती) अनेक वस्तुओं के स्वरूपता उत्कर्ष के वर्णन की और (४ की) अनेक वस्तुओं के वर्णन उत्कर्ष के वर्णन की । । से कि एक वस्तु के स्वरूपता उत्कर्ष वर्णन में ‘सार’—

‘किं कर्म किं तु वारं तिक्रमस्य तथा कुम्हकं कीस्तुमो वा  
वाक् वा वारिज कल्पमरमुपतिमिर्बद्धकिप्रेपिरेह ।

कर्म मीको क्यारे अवसि इदि करे नामिदेवो च ररं  
पापाचद्वेर्द्धमिर्द्धं च च पुत्रुवरिपुर्वर्धमानः क्रमेण ॥

अथवा, जैसे कि एक वस्तु के वर्णन उत्कर्षवर्धन में ‘सार’—

‘वतसीकुसुममयं मुखे तद्वत् त्वत्कचमेवकपुति ।

अथ वाक्यमात्ममांसकं मयुर्तं सम्यति सर्वतस्तमः ॥

( ४९—यथासंख्यालङ्कार )

यथासंख्यमनूद्देश उद्दिष्टानां क्रमेण यत् ।

‘उन्मीलन्ति नखैर्लुनीहि वहति क्षौमाञ्चलेनावृणु

क्रीडाकाननमाविशन्ति वलयकाणै समुत्त्रासय ।

इत्थं वञ्जुलदक्षिणानिलकुहूकण्ठेषु साङ्केतिक-

व्याहाराः सुभग ! त्वदीयविरहे तस्याः सखीना मिथः ॥’

( अत्रैकस्यैव तमसो निविडत्वाख्यधर्ममुखेनोत्तरोत्तरमुत्कर्षः । )

( अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी, पृष्ठ १८० )

( ख ) पण्डितराज जगन्नाथ ने उत्तरोत्तर निकर्ष-वर्णन को भी ‘सार’ का एक रूप विशेष माना है—

‘सैव ( शृङ्खलैव ) संसर्गस्योत्कृष्टापकृष्टभावरूपत्वे सारः ।’

इस ‘सार’ विशेष का उदाहरण यह है—

वृणाल्लघुतरस्तूलस्तूलादपि च याचक ।

वायुना किं न नीतोऽसौ मामयं प्रार्थयेदिति ॥’

( ग ) आचार्य जयरथ और पण्डितराज जगन्नाथ ने शृङ्खलाबन्धरूप चार अलङ्कारों जैसे कि ‘कारणमाला’, ‘मालादीपक’, ‘एकावली’ और ‘सार’ के सम्बन्ध में यह सिद्ध किया है कि ये अलङ्कार ‘शृङ्खला’ नामक एक अलङ्कार के चार भेद नहीं अपितु पृथक् पृथक् अलङ्कार हैं—

‘( शृङ्खलाबन्धोपचिता ) अलङ्कारा इति न पुन शृङ्खलैवैकोऽलङ्कारः । एवं हि साध-  
र्म्यमप्येक एवालङ्कार स्यात् । न ह्युपमादिषु साधर्म्यपरिहारेण प्रत्येक कश्चिद् विच्छिन्ति-  
विशेषसम्भवः येनालङ्कारभेदः स्यात् । एव विरोधोऽप्येक एव वाच्यः । एव सप्ताष्टा-  
नामेवालङ्काराणां लक्षणप्रणयनप्रसङ्गः । अथोपमादीनामपि साधर्म्यादाववान्तरोऽस्ति  
विशेष इति चेत् तर्हि कारणमालादीनामपि शृङ्खलाबन्धोपचित्रितत्वेऽपि वक्ष्यमाणनीत्या  
कार्यकारणविशेषणविशेष्यभावाद्यात्मास्त्येवावान्तरोऽपि विच्छिन्तिविशेष येनोपमादिवत्  
पृथगेवैषामलङ्कारत्व युक्तम् ।’ ( अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी, पृष्ठ १७६ )

‘एव शृङ्खलाविषयाणामलङ्काराणां विच्छिन्तिवैलक्षण्यस्यानुभवसिद्धत्वात् पृथगलङ्कारत्वे  
सिद्धे शृङ्खलाया विरोधाऽभेदसाधर्म्यादिवदनुप्राणकतैवोचिता न पृथगलङ्कारता । तथात्वेऽ-  
भेदादीनामपि पृथगलङ्कारतापत्ते ।’ ( रसगङ्गाधर, पृष्ठ ६२६ )

अनुवाद—‘यथासंख्य’ वह अलङ्कार है जिसे पूर्वोद्दिष्ट ( पहले प्रतिपादित ) पदार्थों  
का क्रमशः पुन कथन कहा जाया करता है ।  
जैसे कि—

‘अरे सुभग प्रेमी युवा ! तुम्हारे वियोग में विह्वल उस सुन्दरी की सखियाँ वञ्जुल,  
दक्षिणानिल और कोकिलकण्ठ के सम्बन्ध में इस प्रकार सकेतभाषा में बात-चीत करती  
सुनायी दिया करती हैं—एक कहती है—‘खिल रहे हैं’ तो दूसरी बोलती है—‘नखों से  
नोच डालो’, एक कहती है ‘बह रही है’ तो दूसरी बोलती है—‘रेशमी डुपट्टे से ढक दे’,  
एक कहती है—‘केलिवन में आ रही है’ तो दूसरी कहती है—‘कङ्कण की आवाज से डरा  
कर भगा दे ।’

विमर्श—‘यथासंख्य’ अलङ्कार, ‘अलङ्कारसर्वस्व’कार की दृष्टि में, वाक्यन्यायमलक



(५ — पर्यायकट्टार )

कधिदेकमनेकस्मिन्ननक चैकग क्रमात् ॥ ७९ ॥

भवति कियते वा चेत्तदा पर्याय इष्यते ।

क्रमेण यथा—

( एक वस्तु के अनेक स्थान पर क्रमशः अवस्थान-वर्णन में पर्याय )

‘स्थिता’ क्षुण्ण पश्चमसु साविताभरा पयोधरोत्सेधनिपातचूर्णिता ।

वल्लीपु सस्या स्तक्षिता प्रपेदिरे क्रमेण मामि प्रथमोदबिन्दुष ॥’

( अनेक वस्तुओं के एकत्र क्रमशः अवस्थान-वर्णन में ‘पर्याय’ )

‘विचरन्ति विलासिन्यो यत्र ओष्मिमरास्रसा’ ।

वृकक्रूररावास्तत्र घावन्त्यरिपुरे तथ ॥’

अकट्टार है । वाच्य यह है कि ‘वर्णन’ अकट्टार के रूप में जिस वाच्यवैविध्य का दिक्केय दिया जा सकता है वह वाच्यविधान का एक वैशिष्ट्य है न कि और कुछ—

‘उद्दिष्टानामप्यावा क्रमेणानुसृतो यथासंभवम् । कर्षं विदिष्टा उद्दिष्टा । यथाविश्वे सोऽनुसृतः । स यथावर्णान्तरगतः सम्बन्धमात्रं सामर्थ्यात् प्रतीयते । कर्षं विदिष्टानामप्यावा पञ्चाभिर्दिष्टैरेवैः क्रमेण सम्बन्धो यथासंभवमिति वाच्यार्थः । अन्ये त्विममकट्टारं क्रमसंज्ञयाऽभिप्रेक्षिरे । तत्र यथासंख्यं सामर्थ्यार्थं च हिता । साम्यं यथासमस्तावां पद्यानामसमस्तैः पदार्थवृत्तका संज्ञका । तत्र क्रमसम्बन्धस्यातिरोहितस्य प्रत्येयत्वात् । कार्यं तु यत्र समासः श्रियते तत्र समुदायस्य समुदायेव सह सम्बन्धस्य साम्यत्वाद्वाच्यं यथासंख्योच्यथा त्वयपद्यता क्रमसम्बन्धा प्रतीयते । ( अकट्टारसर्वत्र पृष्ठ १८८ )

अर्थात् पूर्वनिर्दिष्ट पदार्थों का यथाविधि पदार्थों के साथ क्रम से सम्बन्ध एक प्रकार की वाच्य-शोभा है और यही वाच्य शोभा यथासंख्य अकट्टार की रूपरेखा है । यदि इसके प्रतिपादित पदार्थ के साथ वाद में प्रतिपादित पदार्थ का सम्बन्ध मूलक्रम से हो तो वह शोच है । किन्तु यथासंख्य अकट्टार है यथाक्रम रूप शोच का अभावमात्र नहीं । यथासंख्य इतिविधि अकट्टार है क्योंकि इस वाच्यवैविध्य के निर्माण में कविप्रतिभा का हाथ रहा करता है । विमर्शनी काट वे इसी विधि कहा है—

‘योपामात्रमात्र ( यथाक्रमरूपशोचपरिहारमात्रमिति ) च नामकट्टारत्वम् । अत्र ( यथासंख्यस्य ) कविप्रतिभात्मकविश्लिष्टविशेषत्वेषोक्तत्वात् । तन्मे यास्य ‘यथासंख्यं समुदायां समामात्र इत्यादिसूत्रोदाहरणार्थं ‘पूर्वोदात्तानुरवर्तनीकुचवारादृक्कुचमृदुमृदक’ इत्यादीनामप्यकट्टारत्वमसह्य ।’ ( अकट्टारसर्वत्रविमर्शनी पृष्ठ १८८ )

अनुवाद—‘पर्याय’ वह अकट्टार है जिसे एक वस्तु के अनेक में अथवा अनेक वस्तुओं के एक में क्रमशः अवस्थान’ अथवा क्रमशः ‘सम्पादन के वर्णन में देखा जाया करता है । इससे क्रमशः उदाहरण ये हैं—

‘वर्षा की पहली बूँदें उपस्था ॥ कयी गिरिराज कुमारी ( पार्वती ) पर जब गिरीं तब पहले, जब भर के ठिपे पकड़ों पर किसी तक्षण्तर अचरोष्ट पर दक्षी बाद में उमगत उरोओं पर टकपापी फिर त्रिवली तक पहुँची और तब अन्त में गगनि टक पहुँच गयी । ( कुमारसम्भ )

रत्नम् ! जापके सत्र की राजधानी में जहाँ पहले जयमभारसे अकसायी शिक्रिसिनी रमयिनी बिहार किया करती थीं वहाँ अब भेदिने कीप और गीदह बीद मचाते दिवाली दे रहे हैं ।

( एक वस्तु के अनेक स्थान पर क्रमशः संपादन अथवा विधान-वर्णन में 'पर्याय' )

‘विसृष्टरागादधरान्निवर्तित. स्तनाङ्गरागादरुणाच्च कन्दुकात् ।

कुशाङ्कुरादानपरिक्षताङ्गुलि कृतोऽक्षसूत्रप्रणयी तथा करः ॥’

( अनेक वस्तुओं के एकत्र संपादन अथवा विधान-वर्णन में 'पर्याय' )

‘ययोरारोपितस्तारो हारस्तेऽरिवधूजनैः ।

निधीयन्ते तयोः स्थूलाः स्तनयोरश्रुबिन्दवः ॥

एषु च कचिदाधारः सहतरूपोऽसहतरूपश्च । कचिदाधेयमपि । यथा—

‘स्थिताः क्षणम्—’ इत्यत्रोदबिन्दव. पद्मादावसहतरूप आधारे क्रमेणाभवन् ।

‘विचरन्ति—’ इत्यत्राधेयभूता वृकादय सहतरूपारिपुरे क्रमेणाभवन् । एवमन्यत् ।

अत्र चैकस्यानेकत्र क्रमेणैव वृत्तेर्विशेषालङ्काराद् भेदः । विनिमयाभावात्परिवृत्ते ।

‘गिरिराज कुमारी ( पार्वती ) ने, अपना वह हाथ, जिसे, वह लाचाराग से शून्य अपने अधरोष्ठ से और स्तनों के अगाराग से रचित कन्दुक से हटा चुकी थी, तपस्या करते समय, अंगुलियों के क्षत-विक्षत करने वाले कुशों के अङ्कुरों के उखाड़ने में और रुद्राच की माला के फेरने में लगा दिया ।’ ( कुमारसम्भव )

‘राजन् ! आपकी शत्रुनारिओं ने अपने जिन उरोजों पर पहले विशुद्ध मोतियों के हार धारण किये थे, अब, उन्हीं पर, वे अपने भाँसुओं की बड़ी बड़ी बूँदें रखती दिखाई दे रही हैं ।’

‘पर्याय’ के उपर्युक्त चारों प्रकारों के सम्बन्ध में यह ध्यान रखना चाहिए कि इनमें जो वस्तु ‘आधार’रूप हुआ करती है वह कहीं-कहीं पर तो ‘सहत’ अथवा मिली-जुली हुआ करती है और कहीं कहीं पर ‘असहत’ अथवा अलग अलग रहा करती है । इसी प्रकार ‘आधेय’रूप वस्तु भी, यहाँ, यत्र तत्र ‘सहत’ और ‘असहत’—दोनों रूपों की हुआ करती है । जैसे कि ‘स्थिता चण पद्मसु ताडिताधरा’ आदि ( कुमारसम्भव ) सूक्ति में, वर्षा की बूँदें, क्रमशः, ‘असहत’ अलग अलग ‘पलक’ आदि रूप आधारों पर अवस्थित वर्णित की गयी हैं । ‘विचरन्ति विलासिन्या.’ आदि सूक्ति में ऐसा है कि ‘वृक’ आदिरूप आधेय वस्तुओं का, ‘शत्रुनगर’रूप ‘सहत’ अथवा सम्मिलित आधार पर, क्रमशः अवस्थान उपनिबद्ध किया हुआ है । इसी भाँति ‘विसृष्टरागादधरान्निवर्तित’ और ‘ययोरारोपितस्तारो हार’ आदि सूक्तियों में भी, क्रमशः ‘सहत’ और ‘असहत’ आधारों पर एक और अनेक वस्तुओं के, क्रमशः, संपादन अथवा विधान का वर्णन, स्पष्ट है ।

‘पर्याय’ ( प्रथम प्रकार के पर्याय ) का ‘विशेष’ अलङ्कार से भेद इसीलिये स्पष्ट है क्योंकि जहाँ ‘पर्याय’ के लिए, एक वस्तु के, अनेक स्थानों पर, क्रमशः अवस्थान अथवा विधान का वर्णन अपेक्षित है वहाँ ‘विशेष’ ( द्वितीय प्रकार के ‘विशेष’ ) के लिये, जो अपेक्षित है, वह, एक वस्तु की, अनेक स्थान पर, एक साथ ही, अवस्थिति का वर्णन-वैचित्र्य है ।

‘पर्याय’ परिवृत्ति से भी भिन्नरूप का अलङ्कार है क्योंकि ‘पर्याय’ में ( एक वस्तु, अनेक स्थानों पर, क्रमशः अवस्थित अथवा संपादित रूप से वर्णित होती है और )

(५१—परिवृत्ति)

परिवृत्तिविनिमयः समन्युनाधिकैर्धवेत् ॥ ८० ॥

क्रमेणोपाहरणम्—

(‘समान’ और ‘न्यून’ वस्तु के साथ विनिमय में परिवृत्ति)

‘वृक्षा कटाक्षमेणाक्षी जमाद् हृदयं मम ।

मया तु हृदयं वृक्षा गृहीतो मदनञ्चर ॥’

अत्र प्रथमेऽर्धे समेन, द्वितीयेऽर्धे न्यूनेन ।

(अधिक के साथ विनिमय में ‘परिवृत्ति’)

‘तस्य च प्रवयसो जटायुषः स्वर्गिणः किमिव शोच्यतेऽधुना ।

येन अचरच्छेपरम्यपाक्रीतमिन्दुकिरणोन्मत्त परा ॥’

अत्राधिक्येन ।

किसी प्रकार की परस्पर केव बेन (विनिमय) की कोई बात नहीं होती किन्तु परिवृत्ति में परस्पर विनिमय का अभिप्राय अन्तर्निहित रहा करता है ।

विमर्श—अकटारसर्वस्वकार में ‘परा’ की वह समीक्षा की है—

क्रममस्तावद्विद्युत्पद्यते । एकमात्रधमनेऽस्मिन्नाचारे परिहृति स पुनः पर्याया । नन्वेकमेकगोचरमिति प्राप्तेन कश्चनैव विशेषाकटारोऽन्तोक्तः । तन्निमर्शमिदमुच्यते इत्या-  
सङ्ख्योक्तम्—क्रमेणैति । इह च क्रमेणोपाध्यायार्थत्वं वीक्ष्यमतीति । तैवास्व ततो विविच्यविपयत्वम् । तथा—

‘एकस्मिन्नाचारेऽनेकमात्रेण यत्तु द्वितीया पर्याया’ “१ विनिमयान्नावात् परिवृत्ते-  
कथ्यम् । तस्या हि विनिमयो कथ्यत्वेन कथ्यते । तत्रानेकोऽसंगतकथा संगतकथ्येति  
द्विविधाः । तच्च द्विविध्यमाध्यायेयगतमिति अन्तारोक्त्य मेवम् ।

(अकटारसर्वस्व ५४ १९)

जिससे यह स्पष्ट है कि ‘साहित्यवर्णन’ का पर्वान निकषण अकटारसर्वस्व का अर्थ है । ‘परा’ के अकटार माने जाने में ‘रसगङ्गाधर’ का भी यह भुक्ति प्यान देखे योग्य है—

‘यथाभारावेपथरसंरन्ध्रक्रमेण अचिदपि अधिकल्पनापेक्षा तत्रैवायमकटारः । यत्र तु सर्वातो लोकसिद्धत्वं न तत्र कश्चिदकटारः ।

(रसगङ्गाधर ५४ १४७)

अनुवाद—‘परिवृत्ति’ यह अकटार है जिससे किसी वस्तु के, ‘समान’ ‘न्यून’ अथवा ‘अधिक’ वस्तु से विनिमय-वर्णन में देखा जाया करता है ।

इसके उदाहरण क्रमशः ये हैं—

‘उस युगनयनी सुन्दरी ने मुझे अपना कटाक्ष दिया और बहुत में मुझसे मेरा हृदय के लिया । मैंने उस सुन्दरी को अपना हृदय दिया और बहुतों में उससे कामगार के किया ।

यहाँ प्रथमार्ध में समान के साथ और उत्तरार्ध में ‘न्यून’ के साथ ‘विनिमय’ में परिवृत्ति का वैशिष्ट्य स्पष्ट लक्ष्य रहा है ।

द्विगामी उस पुरुष कटाक्ष के लिए क्योंकि शोक मनाया जाय जिसने अपने जीर्ण-जीर्ण शरीर के मांक चन्द्रमा की किरणों के समान तुल्य निर्मल पद्म प्रदीप्त किया ।

यहाँ ‘अधिक’ के साथ ‘विनिमय’ में ‘परिवृत्ति’ अर्थकार दिखाई दे रहा है ।

विमर्श—(क) 'परिवृत्ति' अलङ्कार के लिये जिस प्रकार का 'विनियम' (लेन-देन का व्यवहार) अपेक्षित है वह कविकल्पना प्रसूत होना चाहिये न कि लोक सिद्ध। लोक सिद्ध 'विनियम' अलङ्कार नहीं—

‘एषु दानादानव्यवहार कविकल्पित एव न तु वास्तवः । यत्र वास्तवस्तत्र नालङ्कारः यथा—‘कीणन्ति प्रविकचलोचना समन्तात् मुक्ताभिर्वदरफलानि यत्र वाला ।’

(रसगङ्गाधर पृष्ठ ६४८)

(ख) 'परिवृत्ति' के लक्षण में 'विनियम' का अभिप्राय, 'अलङ्कारसर्वस्व'कार के अनुसार यह है—

‘विनियमोऽत्र किञ्चित्कृत्वा कस्यचिदादानम् । समेन तुल्यगुणेन त्यज्यमानेन तादृश-स्यैवादानम् । तथाधिकेनोत्कृष्टगुणेन दीयमानेन न्यूनस्य गुणहीनस्य परिग्रहः । एवं न्यूनेन हीनगुणेन त्यज्यमानेनाधिकगुणस्योत्कृष्टस्य स्वीकारः । तदेपात्रिप्रकारापरिवृत्तिः ।’

(अलङ्कारसर्वस्व पृष्ठ १९१)

अर्थात् 'विनियम' एक वस्तु को देकर दूसरी वस्तु के लेने का नाम है ।

किन्तु आचार्य मम्मट ने 'विनियम' का अर्थ 'एक वस्तु को देकर दूसरी वस्तु का लेना' नहीं माना है अपि तु 'एक व्यक्ति के द्वारा, अपनी कोई वस्तु देकर, दूसरे से उसकी किसी वस्तु का लेना' स्वीकार किया है । पण्डितराज जगन्नाथ का भी यही मत है—

‘परकीययत्किञ्चिद्दत्त्वादानविशिष्टं परस्मै स्वकीययत्किञ्चिद्वस्तुसमर्पणं परिवृत्तिः ।’

क्रम इति यावत् । सा च तावद् द्विविधा समपरिवृत्तिविपमपरिवृत्तिश्च । समपरिवृत्तिरपि द्विविधा—उत्तमैरुत्तमानाम् न्यूनैर्न्यूनानाञ्चेति । विपमपरिवृत्तिरपि तथा—उत्तमैर्न्यूनानां न्यूनैरुत्तमानाञ्चेति ।’ (रसगङ्गाधर पृष्ठ ६४७)

विश्वनाथ कविराज 'विनियम' के दोनों अभिप्रायों में 'परिवृत्ति' अलङ्कार मानते हैं जैसा कि उनके उद्धृत उदाहरणों से स्पष्ट है ।

(ग) 'परिवृत्ति' में जिन दो वस्तुओं में 'आदान प्रदान' विवक्षित है, उनमें 'औपम्य' के अभिप्राय का अन्तर्निहित होना बहुत उत्तम है । आचार्य जयरथ ने इसका इस प्रकार समर्थन किया है—

‘अतश्चात्र द्वयोरपि तुल्यगुणत्वात्यज्यमानादीयमानयोर्गम्यमानमौपम्यम् । एव च तन्निमित्तस्य साधारणधर्मस्यापि त्रैविध्यम् । साधारणधर्मस्यानुगामितया पुनरत्र तुल्यगुणत्व यथा—’

‘सुधावदात पाण्डुत्व विनिधाय कपोलयोः । भीर्यत्कथोत्था शत्रूणां नि शेषमकरोद् यशः ॥’  
(अत्र) सुधावदातमित्यस्यानुगामित्वम् । विम्बप्रतिविम्बभावो यथा—

‘लतानामेतासामुदितकुसुमाना मरुदसौ  
मर्तं लास्य दत्त्वा श्रयति भृशमामोदमसमम् ।

लतास्त्वध्वन्यानामहह दशमादाय रमसाद्  
ददत्याधिभ्याधिभ्रमरुदितमोहह्यतिकरम् ॥’

... शुद्धसामान्यरूपत्व यथा—

‘मनोहर स्व प्रतिवेतनाय रुत प्रकल्प्योन्मदचित्तहारि ।

मध्वाददानो मधुपायिलोक पद्माकराणामनुगी बभूव ॥’

(अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी, पृष्ठ १९२)

( ५२—परिमव्यालङ्कार )

प्रश्नादप्रश्नतो यापि कथितास्तुनो मयत् ।

तादृगन्यव्यपोहश्चेच्छाब्द आर्थोऽथवा तदा ॥ ८१ ॥

परिसंख्या—

क्रमेणोदाहरणम्—

( साम्यव्यपोह में 'परिसंख्या' )

'किं भूषणं सुदृढमत्र यशो न रत्नं

किं कायमायचरितं सुदृढं न दोष' ।

किं चक्षुरप्रतिहत बिपद्या न नेत्र

जानाति कस्त्वदपरं सदसद्विवेकम् ॥'

अत्र व्यवच्छेदय रत्नादि शाब्दम् ।

( आर्यव्यपोह में 'परिसंख्या' )

'किमाराध्य सदा पुण्यं कच्च सेव्यं सदागम' ।

को ध्येयो भगवान् बिष्णुः किं काम्यं परमं पदम् ॥'

अत्र व्यवच्छेदय पापाचार्यम् । अनयोः प्रत्येकपूर्वकत्वम् ।

अप्रत्येकपूर्वकत्वे यथा—

अनुवाद—'परिसंख्या' वह अलङ्कार है जो प्रत्येकपूर्वक अथवा बिना प्रत्येक के किसी एक वस्तु के कथन से उसके सदृश, किसी दूसरी वस्तु के सम्यक् अथवा अर्थों 'व्यपोह' अथवा 'व्यवच्छेद' में देखा जाना करता है ।

इसके क्रमशः उदाहरण ये हैं—

संसार में सुदृढ भूषण क्या है ? यश न कि रत्न । कर्तव्य क्या है ? सज्जनों की मति पुण्याचरण न कि (सुरापायादि) दुष्कर्म । अमतिहतचक्षु क्या है ? दृष्टि, न कि नेत्र । और सदसद्विवेक का ज्ञान किसे है ? तुम्हें, न कि और किसी को ।

यहाँ (प्रत्येकपूर्वक, 'यथा' आदि रूप वस्तु के कथन से) 'रत्न' आदि रूप संसारक अन्य वस्तु की जो 'व्यावृत्ति' अथवा 'व्यवच्छेद' है वह 'साम्य' अर्थात् साम्य उच्यते काम्य है ( क्योंकि व्यवच्छेद 'रत्न' आदि सम्यक्ता उपाय है ) ।

'आराध्य क्या है ? पुण्य, सेव्य क्या है ? सत्सव्य ज्ञेय क्या है ? भगवान् बिष्णु और काम्य क्या है ? परम पद ।'

यहाँ (प्रत्येक पूर्वक) 'पुण्य' आदि रूप वस्तु-कीर्तन से अर्थसामर्थ्य वह 'पाप' आदि सामर्थ्यरूप वस्तु की व्यावृत्ति स्पष्ट है ( अर्थवत् इसलिये क्योंकि यहाँ 'पाप' आदि रूप व्यवच्छेद वस्तुओं का सम्यक्ता उपादान नहीं किया जा रहा है ) ।

इन दोनों उदाहरणों में प्रत्येकपूर्वक ( एक वस्तु के कीर्तन से दूसरी सदृश वस्तु की ) 'व्यावृत्ति' की गयी है ।

बिना प्रत्येक के ( एक वस्तु के कीर्तन से दूसरी सदृश वस्तु के व्यवच्छेद में ) 'परिसंख्या' के ये उदाहरण हैं—( साम्य व्यावृत्ति में 'परिसंख्या' )

‘भक्तिर्भवे न विभवे व्यसन शास्त्रे न युवतिकामास्त्रे ।  
चिन्ता यशसि न वपुषि प्रायः परिदृश्यते महताम् ॥’

( अर्थलभ्य व्यावृत्ति में ‘परिसंख्या’ )

‘बलमार्तभयोपशान्तये विदुषां समतये बहु श्रुतम् ।  
वसु तस्य न केवल विभागुणवत्तापि परप्रयोजनम् ॥’

श्लेषमूलत्वे चास्या वैचित्र्यविशेषो यथा—

‘यस्मिंश्च राजनि जितजगति पालयति महीं चित्रकर्मसु वर्णसङ्कराश्चापेपु  
गुणच्छेदा -’ इत्यादि ।

‘वदे लोगों की भक्ति ‘भव’ ( शिव-शङ्कर ) में होती है न कि ‘विभव’ ( धन-समृद्धि ) में, व्यसन शास्त्र में होता है न कि रमणी रूप कामास्त्र में और चिन्ता यश के लिये रहती है न कि शरीर के लिये ।’

[ यहाँ जो अप्रश्नपूर्वक ‘परिसंख्या’ है उसमें शब्द व्यावृत्ति स्पष्ट है । ]

‘महाराज दशरथ का बल, आर्त प्रजाजन के भय-निवारण के लिये, शास्त्रज्ञान, विद्वज्जन के समान के लिये, धन, परोपकार के लिये और गुण भी दूसरों की भलाई के ही लिये थे ।’ ( रघुवंश ८. ३१ )

‘परिसंख्या’ श्लेषमूलक भी हुआ करती है और इसमें और भी अधिक विचित्रता रहा करती है । जैसे कि ( कादम्बरी की यह सूक्ति )—

‘जव कि दिग्विजयी और प्रजापालक महाराज शूद्रक राजा थे तब ‘वर्णसंकरता’ ( रंगों का मिश्रण ) चित्रों में ही हुआ करती थी ( न कि जातियों में वर्णसङ्करता थी ), ‘गुणच्छेद’ ( प्रत्यङ्गा का टूटना ) धनुषों में ही दिखायी देता था ( न कि प्रजाजन में गुणों की कमी थी ) आदि, आदि ।’

विमर्श—( क ) ‘परिसंख्या’ के अलङ्कार होने के लिये ‘कवि-प्रतिभा-प्रसूत ही अन्यवस्तु-व्यवच्छेद, अपेक्षित है न कि लोकसिद्ध वस्तु व्यवच्छेद अथवा नैयायिक या मीमांसक सम्मत वस्तु-व्यवच्छेद—

‘अत्र चालौकिक वस्तु गृह्यमाणं वस्त्वन्तरव्यवच्छेदे पर्यवस्यति इति व्यवच्छेद्यवस्त्वन्तरशब्दमात्रं वेति नियमाभाव । अलौकिकत्वाभिप्रायेणैव क्वचित् प्रश्नपूर्वकं ग्रहणम् ।’

( अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ १९४ )

‘अलौकिकमिति कविप्रतिभानिर्वर्तितम्’ । ( अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी, पृष्ठ १९४ )

( ख ) ‘परिसंख्या’ शब्द का अर्थ ‘वर्जनबुद्धि’ है—

‘कस्यचित् परिवर्जनेन कुत्रचित् संख्यान वर्णनीयत्वेन गणनं परिसंख्या’ ।

( अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ १९३ )

( ग ) निम्न ‘परिसंख्या’ सूक्तियाँ बड़ी सुन्दर हैं—

‘कौटिल्य कचनिचये करचरणाधरदलेषु रागस्ते ।

काठिन्य कुचयुगले तरलत्व नयनयोर्वसति ॥’

‘किमासेन्य पुसा सविधमनवद्य द्युसरित्’

किमेकान्ते ध्येय चरणयुगल कौस्तुभभृत ।

किमाराध्य पुण्य किमभिलषणीय च करुणा

यदासक्तया चेतो निरवधिविमुक्त्यै प्रभवति ॥’

( ५१—उत्तराखण्ड )

—उत्तरं प्रश्नस्योत्तरादुन्नयो यदि ।

यथासकृदसंमाज्य सत्यपि प्रश्न उत्तरम् ॥ ८२ ॥

यथा मम—

‘वीक्षितु म अमा यमू स्वामी वृत्तरं गत’ ।

अहमेकाकिनी माता तवेह वसति’ कुत ॥’

अनेन पयिकस्य वसतिवाचनं प्रतीयते ।

‘अ विसमा वेधगई किं छद्वद्व जणो गुणगगाही ।

किं सोक्क सुकखत्तं किं हुगोक्क ससो सोओ ॥’

( का विष्मा ‘वैवसति’, किं कसप्य वओ गुणगगाही ।

किं सोक्क । सुकखत्तं किं हुगोक्क ! कओ कोका ॥ )

अत्रान्यव्यपदेशे तात्पर्याभावात् परिसंख्यातो भेदः । न चेदमनुमानम्, साध्यसाधनयोश्चोर्निर्देश एव तस्याङ्गीकारात् । न च काव्यसिद्धम्, उत्तरस्य अर्थं प्रत्यक्षनकत्वात् ।

‘तीर्थं गङ्गा तद्विद्वत्पत्नी निर्मलं संवमात्

देवी तस्याः प्रसन्नचित्तौ नाकिमोऽन्ये वरत्नम् ।

सा यन्नास्ते स हि वनपद्मे सुचिकित्सामन्त्रम्

तां वो वित्तं नमति स कुबो बोधयुज्यस्ततोऽन्या ॥

अनुवाद—‘उत्तर’ वह अकह्वार है जो ( १ ) उत्तर द्वारा प्रदत्त के उत्तरपत्र ( अहोपदेश ) में अथवा ( २ ) प्रश्न होने पर अनेक असंमाज्य उत्तर के वैशिष्ट्य में देखा जाया करता है ।

उदाहरण के लिए यह स्वरचित छंद—

‘सास देव वही पाठी स्वामी परदेस गये हैं मैं बाका अकेली हूँ, अब मका तुम्हें यहाँ रहने की अपाह कैसे मिले ?’

यहाँ ( नायिका ) के उत्तर से विवाह-स्थान की वाचना के सम्बन्ध में, पयिक के प्रश्न का उत्तरपत्र-वैशिष्ट्य स्पष्ट दिखाई दे रहा है ।

अथवा

‘सबसे कठोर क्या है ? मातृ का विवाह । किसकी प्राप्ति-प्रमत्ता होती चाहिये ? गुण ग्राही व्यक्ति की; सुख क्या है ? सुखी छावनी की और किसे वध में करना चुपकर है ? कुछ को ।

[ यहाँ कई एक प्रश्न हैं जिनके असंमाज्य ( साधारण बुद्धि द्वारा अज्ञान ) उत्तर दिये गये हैं । ]

‘उत्तर’ और ‘परिसंख्या’ परस्पर मिश्रस्वरूप के अकह्वार हैं क्योंकि यहाँ ‘परिसंख्या’ में ‘अव्यव्याप्ति’ की आवश्यकता है यहाँ ‘उत्तर’ में ‘अव्यव्याप्ति’ की अपेक्षा का कोई उद्भव नहीं । ‘उत्तर’ को ‘अनुमान’ अकह्वार से भी गतार्थ करना असंभव है क्योंकि ‘अनुमान’ में ‘साध्य’ और ‘साधन’—दोनों का निर्देश अभिव्यक्त हुआ करता है ( और ‘उत्तर’ में अर्थात् प्रश्न प्रश्न के ‘उत्तराखण्ड’ में केवल उत्तर का ही निर्देश अपेक्षित

( ५४—अर्थापत्ति )

दण्डापूपिकयान्यार्थागमोऽर्थापत्तिरिष्यते ।

‘मूपिकेण दण्डो भक्षित’ इत्यनेन तत्सहचरितमपूपभक्षणमर्थावायातं भवतीति नियतसमानन्यायादर्थान्तरमापत्तीत्येव न्यायो दण्डापूपिका ।

अत्र च क्वचित्प्राकरणिकादर्थोदप्राकरणिकस्यार्थस्यापतनं क्वचिदप्राकरणिकार्थात् । प्राकरणिकार्थस्येति द्वौ भेदौ ।

है । ‘उत्तरालङ्कार’ को ‘काव्यलिङ्ग’रूप भी नहीं माना जा सकता क्योंकि ‘उत्तरालङ्कार’ में जो प्रश्न उपनिबद्ध हुआ करता है वह ‘उत्तर’ का कारक हेतु नहीं हुआ करता (अपितु व्यञ्जक हेतु ही माना जा सकता है) ।

विमर्श—( क ) ‘अलङ्कारसर्वस्व’कार की ‘उत्तरालङ्कार’ समीक्षा यह है—

‘उत्तरात् प्रश्नोन्नयनमसकृदसंभाव्यमुत्तरं चोत्तरम् । यत्रानुपनिबध्यमानोऽपि प्रश्न उपनिबध्यमानादुत्तरादुन्नीयते तदेकमुत्तरम् । न चेदमनुमानम् । पक्षधर्मतादेरनुद्देशात् । यत्र च प्रश्नपूर्वकसंभावनीयमुत्तरं तच्च न सकृत् तावन्मात्रेण चारुत्वाप्रतीतिः, अतश्चासकृन्नियन्ते द्वितीयमुत्तरम् । न चेयं परिसर्या व्यवच्छेद्यव्यवच्छेदकपरत्वाभावात् ।’

( अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ २१६ )

इसमें यह स्पष्ट है कि उत्तर के द्वारा प्रश्न के उन्नयन अथवा प्रश्न के लिये अनेक बार असंभावनीय उत्तर-दान में, कविप्रतिभा का हाथ आवश्यक है । ‘विमर्शिनी’कार ने इसीलिये ‘असंभावनीय’ उत्तर का अभिप्राय ‘कविप्रतिभानिर्वर्तित उत्तर’ माना है—( असंभावनीयमिति कविप्रतिभानिर्वर्तितमित्यर्थः ) । ( अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी, पृष्ठ २१६ )

( ख ) पण्डितराज जगन्नाथ को ‘प्रश्न’ अथवा ‘असंभावनीय उत्तर’ का ‘असकृत’-दान मान्य नहीं । उनके अनुसार एक भी प्रश्न या असंभावनीय उत्तर में ‘उत्तरालङ्कार’ का वैचित्र्य झलक जाता है—

‘प्रश्नोत्तरयोरसकृतगर्भत्वे तावतैव चमत्काराज्ञासकृदुपादानापेक्षा । आकृतविरहे त्वसकृदुपादानकृतश्चमत्कारोऽपेक्ष्यते निबद्धप्रश्ने । आत्तिसप्रश्ने तु प्रश्नाद्यैपकृत चमत्कार यदि मन्यन्ते सहृदयास्तदा सकृदुपादानेऽप्यलङ्कारत्वमस्तु ।’ ( रसगङ्गाधर, पृष्ठ ७०३ )

अर्थात् यदि प्रश्न अथवा उत्तर ऐसे हों जिनके भीतर एक विशेष अभिप्राय छिपा हो, तब ‘उत्तरालङ्कार’ रूप वाच्य वैचित्र्य निष्पन्न ही हो जाया करता है । इसके लिये ‘असकृत’ प्रश्न या ‘उत्तर’ की कोई अपेक्षा नहीं मानी जाती ।

( ग ) निम्न सूक्तियों ‘उन्नीत प्रश्न’ अथवा ‘निबद्ध-प्रश्न’ दोनों रूप के ‘उत्तरालङ्कार’ की सुन्दर सूक्तियाँ हैं—

‘रोगस्य ते चिकित्सां निदानमालोच्य सुन्दरि करिष्ये ।

मा हन्त कातरा भूरसक्रियायां नितान्तनिपुणोऽस्मि ॥’

‘किमिति कृशासि कृशोदरि किं तव परकीयवृत्तान्तै ।

कथय तथापि मुदे मम, कथयिष्यति, याहि पान्थ, तव जाया ॥’

अनुवाद—‘अर्थापत्ति’ वह अलङ्कार है जिसे ‘दण्डापूपिका-न्याय’ से अन्य अर्थ की ‘आपत्ति’ अथवा प्रतीति कहा करते हैं ।

यहाँ ‘दण्डापूपिका-न्याय’ का अभिप्राय यह है—किसी ने कहा—‘चूहा लकड़ी चबा गया’ और इससे अनायास समझ लिया गया ‘चूहा लकड़ी पर रखे मालपूष भी साथ साथ



क्रमेणोदाहरणम्—

( प्राकरणिक से अक्राकरणिक अर्थ की आपत्ति में 'अर्थापत्ति' )

'हारोऽय हरिणाक्षीणा लुठति स्तनमण्डले ।

मुष्णानामप्यवस्थेयं के वय स्मरकिङ्करा ॥'

( अक्राकरणिक से प्राकरणिक अर्थ की आपत्ति में 'अर्थापत्ति' )

'विलसन्नाप स बाष्पगद्गदं सहजामप्यपहाय धीरताम् ।

अतितप्तमयोऽपि भावय भजते कैव कया शरीरिणाम् ॥'

अत्र च समानम्यायस्य श्लेषमूलत्वे वैविध्यविरोधो यद्योदाहृते—'हारोऽयम्'—  
इत्यादौ । न चेदमनुमानम्, समानम्यायस्य सम्बन्धरूपत्वाभावात् ।

का गया' । इसी मति अर्थवत् एक अर्थ से अनायास हमारे अर्थ की प्रतीति का होना 'इन्हाप्यिकमन्याय' से अर्थप्रतीति का होना है क्योंकि 'यह' के कच्ची चबा जाने से उसके माकपू का जाने और 'एक बात' से दूसरी बात के अनायास समझ केने में एक सी ही बात ( समानम्याय ) दिखाई देती है । 'अर्थापत्ति' में कहीं तो 'प्राकरणिक' अर्थ से 'अक्राकरणिक' अर्थ की आपत्ति या अनायास प्रतीति दिखाई देती है और कहीं ऐसा भी हुआ करता है कि—'अक्राकरणिक' अर्थ से 'प्राकरणिक' अर्थ आपन्न या अनायास प्रतीत हो जाय । इस प्रकार इसके दो रूप स्पष्ट दिखाई देते हैं ।

इसके अन्तर्गत उदाहरण ये हैं—

'मोती का हार हरिणाक्षी मुष्टद्विषों के स्तनमण्डलों पर छोड़ा करता है । जब कि 'मुष्टों' या 'मौलिकों' ( मुष्णानाम् = मौलिकानाम् बीतरगाण्याह ) की यह दृष्टा है तब हमारे सरीके काम-किङ्कर लोगों की तो बात ही क्या है ?

[ यहाँ 'मौलिक' और 'बीतरगा' रूप बहुत प्राकरणिक है और 'अबीतरगाप्यपत्ति' रूप वस्तु अक्राकरणिक है । दोनों में जो समानता है वह 'पुलक' रूप धर्म की समानता है । यहाँ, जब कि यह कह दिया गया कि 'मुष्ण या मुक्त भी रमणियों के प्रेम में पनाक हैं तो यह अनायास प्रतीत हो गया कि 'जो स्मर-किङ्कर हो वह तो रमणजीवन का अविनाश है ही । ]

'महाराज जब अपनी स्वाभिविक धीरता को खोज कर आँसू बहा-बहा कर बिकार करने लगे । जब बहुत सपा हुआ कोहा भी मुकायम हो जाता है तब प्राणिओं की तो बात ही क्या ? (रघुवंश ८ अ०)'

यहाँ जो अक्राकरणिक अर्थ है वह 'तबे कोहे का मुकायम पचना' है जिससे 'प्राणिओं के शरीर की सूखता' का प्राकरणिक अर्थ आपन्न अवस्था प्रतीत होता दृष्टि किबा कर रहा है । यहाँ दोनों में जो समानता है वह 'संततता' की समानता है ।

यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि जबकि 'समानम्याय' ( समानता की बात ) श्लेषोत्पादित हो तब 'अर्थापत्ति' अकटार धीरभी अधिक वैविध्यपूर्ण लगाने लगता है ऐसा कि 'हारोऽयम्' आदि सूक्ति में ( यहाँ 'मुष्णानाम्' वह रिक्त है क्योंकि हमसे 'मौलिक' और 'बीतरगा' दोनों अर्थों का अभिप्राय हो रहा है ) स्पष्ट है ।

अर्थापत्ति अकटार अनुमानाकटार से भिन्न रूप का अकटार हुआ करता है क्योंकि यहाँ का 'समानम्याय' अपेक्षित है उसमें ( अपाप्यन्वापकभाव रूप ) सम्बन्ध का कोई अभिप्राय विवक्षित नहीं ।

विमर्श—‘अर्थापत्ति’ मीमांसा समत एक प्रमाण है—

‘प्रमाणपट्कविज्ञातो यत्रार्थो नान्यथा भवेत् ।

अदृष्ट कल्पयेदन्यं साऽर्थापत्तिरुदाहृता ॥’ (श्लोकवार्तिक)

जिसका तात्पर्य ‘उपपाद्यज्ञान’ से ‘उपपादककल्पना’ है । जैसे कि जब हम यह कहते या समझते हैं कि ‘पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते’ (देवदत्त मोटा है किन्तु दिन में खाना नहीं खाता), तब यह कल्पना कर ला जानी है कि ‘देवदत्त रात्रौ भुङ्क्ते’ अर्थात् ‘रात में देवदत्त अवश्य खाता होगा ।’ यहाँ देवदत्त को पीनता ( मोटाई ) ‘उपपाद्य’ है और इसके ज्ञान से ‘उपपादक’ अथवा ‘रात्रिभोजन’ की कल्पना अर्थापत्ति है । इस प्रकार ‘अर्थापत्ति’ का अभिप्राय ‘अर्थस्यापत्तिर्यस्मात्’ और ‘अर्थस्यापत्तिः’—दोनों प्रकार का निकलता है अर्थात् ‘उपपाद्यज्ञान’, जो कि उपपादक कल्पना का ‘करण’ है वह भी अर्थापत्ति है और ‘उपपादक-कल्पना’, जो कि उपपाद्यज्ञान का फल है वह भी ‘अर्थापत्ति’ ही है ।

मीमांसकों की इन ‘अर्थापत्ति’ और आलङ्कारिकों की ‘अर्थापत्ति’ में यह समानता है कि जैसे ‘रात्रिभोजन’ रूप उपपादक कल्पना से दिवाभोजन रहित देवदत्त की ‘पीनता’ की उपपत्ति हो जाया करती है वैसे ही ‘तपे लोहे के मुलायम पड़ने’ से, समान न्याय द्वारा, सतप्त प्राणी का द्रवीभूत होना, भी अनायास समझ लिया जा सकता है ।

किन्तु मीमांसकों की ‘अर्थापत्ति’ में ‘अर्थापत्ति’रूप वाच्यसौन्दर्य का कोई अन्तर्भाव नहीं, पण्डितराज जगन्नाथ ने इसीलिये कहा है—

‘नेय (अर्थापत्तिरूपालङ्कृतिः) वाक्यवित्संमतया मर्थापत्तौ निविशते । आपादकस्या-  
र्थस्यापत्तितमर्थं विनाऽनुपत्तेरत्राभावात् । नाप्यनुमाने । आपत्ततोऽर्थस्यापादकासमाना-  
धिकरणत्वेन व्याप्यत्व पक्षधर्मत्वयोर्दूरापास्तत्वात् । न च येन कारणेनैकार्थसिद्धिस्तेनैव  
लिङ्गेनापराधानुमानमिति वाच्यम् । अर्थान्तरसिद्धेरनुमित्यात्मकताविरहात् । यतोऽय-  
मर्थोऽपि भवितुमर्हतीति बुद्धेराकार, न तु भवत्येवेति । नापि यद्यर्थातिशयोक्तौ । तस्या  
विपरीतार्थ एव द्वयोर्विश्रान्ते । न चेह तथा, आपादकस्य सिद्धत्वादापत्ततश्च संभाव्य-  
मानत्वाद् यथाश्रुत एव विश्रान्ते, तस्माद् येन न्यायेनैकोऽर्थ सिद्धस्तेनैव न्यायेनापरो-  
ऽप्यर्थं सेद्धुमर्हतीत्येवरूपेयमर्थापत्ति । अस्या चार्थान्तर लोकेऽविद्यमानमपि कविना  
स्वप्रतिभया कल्पयित्वा यदापाद्यते तदालङ्कारत्वम् । यथा—

( लीलालुण्ठितशारदापुरधियामस्मादृशानां पुरो

विद्यासन्नविनिर्गलस्कणमुषो बलगन्ति चेद् वालिश ।

अद्य श्व. ) ‘फणिनां शकुन्तशिशवो’ ( दन्तावलानां शशा

सिंहाना च मुखेन मूर्धनि पद धास्यन्ति शालावृका ॥ )

इत्यादौ ।’ अन्यथा तु कैमुतिकन्यायतामात्रम् । यथा—

‘उदुम्बरफलानीव ( ब्रह्माण्डान्यत्ति य. सदा ।

सर्वगर्वापह कालस्तस्य के मशका वयम् ॥ )’ इत्यादौ ।’

( रसगङ्गाधर, पृष्ठ ६५४ ५५ )

अर्थात् आलङ्कारिकों की अर्थापत्ति में ‘समानन्याय’ से एक उपपन्न अर्थ से, दूसरे उपपाद्यमान अर्थ की जो ‘आपत्ति’ ( प्रतीति ) हुआ करती है उसमें कविप्रतिभा का हाथ अवश्य रहना करता है । विना कविप्रतिभा के जो अर्थ आपादित किया जायगा उसमें ‘कैमुतिकता’ ( जब यह ऐसे हो सकता है तब उसके वैसे होने में क्या हर्ज है ) की ही बात रहेगी, ‘काव्यात्मकता’ की नहीं । ‘कैमुतिक न्याय’ से अलौकिक अर्थ की आपत्ति अथवा अनायास प्रतीति नहीं हुआ करती । यह तो कवि की ‘अर्थापत्ति’ है जो कि ‘समानन्याय’ से लोकोत्तर अर्थों की भी आपत्ति करवाया करती है ।

( ५१—विकल्पपाकद्वार )

विकल्पस्तुल्यबलयोर्विरोधश्चातुरीयु(य)त ॥ ८३ ॥

यथा—

‘नमयन्तु शिरसि धनं पि वा कणपूरीक्रियन्तामाद्या मौढ्यो वा ।’

अत्र शिरसां धनयो वा नमनयो सन्निविष्टहोपलक्षणत्वात् सन्निविष्टहोपलक्षणा कर्तुमशक्यत्वाविरोधः, स चैकपक्षप्रयणपथवसानः ।

तुल्यबलत्वाच्च भनुरिरोनमनयोद्वयोरपि स्पर्धया सम्भाव्यमानत्वात् । चातुर्यं चात्रीपन्थगमत्वेन । यद्य ‘कणपूरीक्रियन्ताम्’ इत्यत्रापि ।

एवं—

‘युष्माकं कुरुतां भवार्तिरामनं नेत्रे तनुर्या हरे ।’

अत्र श्लेषावष्टम्भेन चारुत्वम् ।

‘दीयतामसि तं वित्तं देवाय ब्राह्मणाय वा ।’

इत्यत्र चातुर्यमात्राभायमलङ्कारः ।

कुमारसम्भव को यह सृष्टि अर्थात्ति का एक सुन्दर निदर्शन है—

‘पश्यापतिरपि तावद्वाहि कृष्णसदृशमवदन्निमुतासमागमोक्तः ।

कमपरमवशे न विप्रकुर्वुर्बिभ्रुमपि तं यदमी स्पृशन्ति भावाः ॥

अनुवाद—‘विकल्प यह अलङ्कार है जिसे एक विचित्रता के साथ दो समबल वस्तुओं के पारस्परिक विरोध का विकल्पण कहा जाया करता है ।

जैसे कि—

‘अनुग्रह वा तो अपने सिर झुका दें या अनुप झुका दें, वा तो हमारी आज्ञा अपने कानों तक के जावें या अपने अनुप की आज्ञा अपने कानों तक के जावें ।

यहाँ ‘विकल्प’ का समतार विधापी दे रहा है क्योंकि यहाँ संवि के उपलक्षणमूल ‘सिर झुकाने’ (सिरोनमन) और विप्रह के उपलक्षणमूल ‘अनुप झुकाने’ (अनुनमन) में इसलिये विरोध स्पष्ट झलक रहा है क्योंकि ये दोनों बातें एक समय में सम्भव नहीं । यह विरोध अन्तता, दोनों में से एक पक्ष के अवकम्बन से सम्पन्न होता है । यहाँ ‘सिर झुकाने’ और ‘अनुप झुकाने’ में तुल्यबलता इसलिये है क्योंकि दोनों में परस्पर स्पर्धा सी विधापी का रही है । यहाँ (समबल वस्तुओं के विरोध प्रदर्शन में) ‘चातुर्य’ अथवा ‘वैचित्र्य’ का अभिप्राय (दोनों समबल वस्तुओं में) परस्पर ‘जीपम्ब’ अथवा ‘साधरप निर्दोष का अभिप्राय है (जैसे यहाँ ‘नमयन्तु’ जाति में ‘नमन’ अथवा साधरप कर्म ‘सिर’ और ‘अनुप’ दोनों में अनुगत रूप से निर्दिष्ट किया गया है) । बही बात ‘आज्ञा कानों तक के जावें वा आज्ञा कानों तक के जावें’ अर्थात् में भी काय है । इसी प्रकार इस सृष्टि अर्थात्—

‘( भक्तिप्रद्विधोक्तव्यप्रयिनी जीकोत्पक्षरपिनी

प्यामाहम्बवतां समाधिमिरतैर्बनि हितप्रसवे ।

काव्यस्य महानिधी रसिकतां कच्छीदसोस्तम्बती )

‘युष्माकं कुरुतां भवार्तिरामनं नेत्रे तनुर्या हरे’ ॥

में जो ‘विकल्प’-वचन है उसमें श्लेषविपणन भीपण्यार्थता का वैचित्र्य झलक रहा

है क्योंकि 'आप के पाप सताप की शान्ति भगवान् विष्णु की आँखें करें या उनकी देह करे' की उक्ति में 'आँखों' और 'देह' की समस्पर्धिता स्पष्ट है जिसका कारण 'कुरुताम्' (कृ-परस्मैपद, प्रथमपुरुष, द्विवचनान्त रूप, 'नेत्रे' से क्रियारूप से सम्बद्ध और 'कृ' आत्मनेपद, प्रथमपुरुष, एकवचनान्त रूप, 'तनु' से क्रियारूप से सम्बद्धनी के 'वचन-श्लेष' और 'भक्तिप्रह्वविलोकनप्रणयिनी' आदि विशेषणों के लिङ्ग-श्लेष (प्रणयिनी) नपुंसक लिङ्ग, प्रथमा द्विवचनान्त रूप 'नेत्रे' से सम्बद्ध और 'प्रणयिनी' स्त्रीलिङ्ग, प्रथमा एकवचनान्त रूप, 'तनु' से सम्बद्ध) से 'नेत्र' और 'देह' की सादृश्यगर्भता स्पष्ट दिखायी दे रही है।

इससे यह निष्कर्ष स्वयं निकल पड़ता है कि ऐसी सूक्तिओं जैसे कि—

'जो भी अर्जित धन हो उसे देवों या ब्राह्मणों को दे देना चाहिये।'

आदि में, जहाँ शुद्ध और श्लेषनिबन्धन औपम्यगर्भता का वैचित्र्य नहीं, 'विकल्प' अलङ्कार नहीं रहा करता।

**विमर्श—**(क) 'विकल्प' अलङ्कार 'अलङ्कारसर्वस्व' कार की कल्पना की एक देन है। 'अलङ्कारसर्वस्व' कार ने स्वयं कहा है—'प्राचीन आलङ्कारिक विकल्प का स्वरूपविवेक नहीं कर पाये थे' (पूर्वरक्तविवेकोऽत्र दर्शित इत्यवगन्तव्यम्—अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ २००)। आचार्य जयरथ ने भी यही माना है कि 'समुच्चय' अलङ्कार के प्रतिपक्षरूप से 'विकल्प' अलङ्कार की कल्पना सर्वप्रथम आचार्य रुच्यक की ही कल्पना है—

'अनेनास्य (विकल्पालङ्कारस्य) ग्रन्थकृदुपज्ञत्वमेव दर्शितम्'। (विमर्शिनी, पृष्ठ २००)

(ख) 'विकल्प' एक ज्ञानप्रकार है। इस ज्ञानप्रकार में 'नियत उभय पक्ष का अवलम्बन' स्वाभाविक है 'त्रोहिभिर्यजेत यवैर्वा' आदि वास्तविक विकल्प में कोई अलङ्कार नहीं। अलङ्कार तो उसी 'विकल्प' में सम्भव है जो कि कवि प्रतिभा निर्वातित हो। इसीलिये 'विकल्प-अलङ्कार' की रूपरेखा में शुद्ध औपम्य गर्भता अथवा श्लेषोत्थापित औपम्य-गर्भता आवश्यक हुआ करती है। 'अलङ्कारसर्वस्व' कार ने इसीलिये कहा है—

'औपम्यगर्भत्वाच्चात्र चारुत्वम् कचिच्छूलेपावलम्बनेनाप्यथ दृश्यते'।

(अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ १९८)

और इसीलिये 'विमर्शिनी' कार का भी कथन है—

'ननु च 'यवैर्वीहिभिर्वा यजेत' इति वास्तवाद् विकल्पादस्य को विशेष इत्याशङ्क्याह— औपम्येत्यादि। औपम्य साधारणधर्मनिबन्धनमिति तस्याप्यत्र त्रैधम्। एव च यत्रैवौपम्यगर्भत्व तत्रैवायमलङ्कारो न त्वन्यथेति भावः। यथा—

'निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु, लक्ष्मी. परापततु गच्छतु वा यथेष्टम्।

अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा, न्याय्यात्पथ प्रविचलन्ति पदं न धीरा ॥'

'अत्रौपम्यगर्भत्वाभावाद् विकल्पमात्रत्वम् (न तु विकल्पालङ्कार.)'।

(अलङ्कारसर्वस्व विमर्शिनी, पृष्ठ १९८)

पण्डितराज जगन्नाथ का भी यही मत है—

'अयं (विकल्पालङ्कार) च समुच्चयस्य प्रतिपक्षभूतो व्यतिरेक इवोपमाया। अत्र च विकल्पमानयोरौपम्यमलङ्कारताबीजम्, तदादायैव चमत्कारस्योद्भासात्, अन्यथा तु विकल्पतामात्रम्। यथा 'जीवन मरण वास्तु नैव धर्मं त्यजाम्यहम्' इत्यादी। अत्र जीवन-मरणयोनौपम्यस्य प्रतीतिः।' (रसगङ्गाधर, पृष्ठ ६५६)

( ५६—समुच्चयवाक्यकार : सप्रमेय-विरूपण )

समुच्चयोऽयमेकस्मिन् सति कार्यस्य साधके ।

खले कपोतिकान्यायाचत्करं स्यात्परोऽपि चेत् ॥ ८४ ॥

गुणो क्रिये वा युगपत्स्यातां यद्वा गुणक्रिये ।

यथा मय—

‘इहो धीरसमीर । हन्त जनन ते चन्वनश्मासुतो  
दाक्षिण्य जगत्तुत्तरं परिचयो गोदावरीधारिणि ।

प्रत्यहं वदसीषि मे त्वमपि चेदुदामबाधनिव  
स्मत्तोऽयं मक्षिनात्मको वनचरः किं वक्ष्यते कोदित् ॥’

अत्र दाहे एकस्मिन्नचन्वनश्मासुजन्मरूपे कारणे सत्यपि दाक्षिण्यादीनां  
हेत्वन्तराणामुपादानम् ।

अत्र सर्वेषामपि हेतूनां शोभनत्वात्संयोगः । अत्रैव चतुर्थपादे मत्तादीनां  
मशोभनानां योगवत्संयोगः ।

अनुवाद—‘समुच्चय’ वह अकट्टार है जिससे विभिन्न सम्भावनाओं में देखा जाया करता है—

( १ वी ) यदि कोई एक वस्तु किसी कार्य की सिद्धि कर रही हो तो ‘सबसे कपोतिका’  
न्याय से किसी दूसरी वस्तु का भी उस कार्य के साधकत्व से वर्णन किया जाय ।

( २ वी ) जब दो गुणों वा दो क्रियाओं वा गुण और क्रिया का एक साथ ही एकत्र  
उत्पादन किये जाय तो संयोग कहल जाय ।

उदाहरण के लिये यह स्वरचित सूक्ति—

‘अरे मलयमासत ! तेरा जन्म चम्पनवन से अरे पहाड़ों से हुआ है तेरा दक्षिण्य  
( दक्षिण दिशा से बहना और प्राविमान के लिये अनुकूलता ) अच्छीकि है पू गोदावरी  
की सीतक कदरियों के सम्पर्क से सीतक है किन्तु तब भी चम्पकती बाधनि की शक्ति  
तुझसे मेरे अङ्ग-अङ्ग बनने का रही है । अरे ! जब मैं उस वनचर ( जंगली ) कोबक  
को क्या उपाहना हूँ को कि ( बाहर और भीतर—दोनों ओर से ) कापी है (भीर अपना  
पूक से मुझे संतुष्ट कर रही है ) ।

यहाँ ‘समुच्चय’ स्पष्ट है क्योंकि मलयमासत ॥ ‘दाह’ के अशौचित्य के प्रदर्शनार्थ  
‘चम्पनवन से अरे पहाड़ों से उत्पत्ति’ के कारण के उपनिबद्ध होने पर भी ‘दाक्षिण्य’  
बाधि अन्य कारणों का उपन्यास किया जा रहा है ।

यहाँ जो ‘समुच्चय’ है उसे ‘संयोग’ रूप समुच्चय समझना चाहिये क्योंकि वहाँ  
( चम्पनवनोत्पत्ति, दक्षिण्य, गोदावरीसम्पर्क आदि ) शोभनत्व का ही हेतुओं का  
समुच्चय विवरायी दे रहा है । इस सूक्ति के चतुर्थ चरण में ( दाह के शौचित्य के  
प्रदर्शनार्थ ) ‘असंयोग’ रूप ‘समुच्चय’ माना जा सकता है क्योंकि ‘मत्ता’ ‘मक्षिनात्मकता’  
आदि अशोभनत्व के हेतुओं का ‘खले कपोत न्याय’ से संयोग वहाँ स्पष्ट प्रतीत  
हो रहा है ।

सदसद्योगो यथा—

‘शशी द्विवसधूसरो गलितयौवना कामिनी  
सरो विगतवारिज मुखमनक्षर स्वाकृते ।  
प्रभुर्धनपरायण’ सततदुर्गत. सज्जनो  
नृपाङ्गनगत’ खलो मनसि सप्त शल्यानि मे ॥’

इह केचिदाहु —‘शशिप्रभृतीनां शोभनत्वं खलस्याशोभनत्वं चेति सदसद्योग.’ इति । अन्ये तु—‘शशिप्रभृतीनां स्वतः शोभनत्वं धूसरत्वादीनां त्वशोभनत्वमिति सदसद्योग. ।’ अत्र हि शशिप्रभृतिषु धूसरत्वादेरत्यन्तमनुचित-त्वमिति विच्छिन्नविशेषस्यैव चमत्कारविधायित्वम् । ‘मनसि सप्त शल्यानि मे’ इति सप्तानामपि शल्यत्वेनोपसहारश्च । ‘नृपाङ्गनगतः खल’ इति तु क्रमभेदाद् द्रष्टव्यमावहति सर्वत्र विशेष्यस्यैव शोभनत्वेन प्रक्रमादिति ।

इसी प्रकार ‘सदसद्योग’रूप समुच्चय, जैसे कि—

‘मेरे मन में ये सात काटे चुभे हुये हैं—वह ‘चन्द्रमा’, जिसकी शोभा दिन के कारण नष्ट हो जाया करती है, वह ‘कामिनी’ जिसका यौवन नष्ट हो चुका होता है, वह ‘मरोवर’, जिसमें कमल नहीं खिलते, वह ‘मुखड़ा’, जो सुन्दर लगता है किन्तु मूर्खता झलकाया करता है, वह ‘राजा’, जो धन का लोलुप है, वह ‘सज्जन’, जो दुर्गति में पड़ा रहता है और वह ‘खल’ जो राज-दरबार में पहुँच रहा करता है ।’

इस उपर्युक्त ‘शशी द्विवसधूसरो गलितयौवना’ आदि सूक्ति के ‘समुच्चय’ के सम्बन्ध में कुछ आलंकारिकों का यह कहना है कि ‘यहाँ सदसद्योगरूप समुच्चय इसलिये है क्योंकि शशिप्रभृतिरूप शोभन वस्तुओं और ‘खल’रूप अशोभन वस्तु का एकत्र सयोग दिखायी देता है’ । किन्तु कुछ आलंकारिक ऐसा कहते हैं कि ‘यहाँ सदसद्योगरूप समुच्चय इसलिये है क्योंकि शशिप्रभृतिरूप स्वयं शोभन पदार्थों के साथ ‘धूसरत्व’ आदि रूप अशोभन वस्तुओं का सयोग प्रतीत हो रहा है । अब यहाँ यह देखना है कि इस ‘समुच्चय’ में ‘सदसद्योग’का क्या रहस्य है ? बात वस्तुतः यहाँ यह है कि यहाँ शशिप्रभृति स्वयं शोभन वस्तुओं के साथ ( अन्य कारणजन्य ) ‘धूसरत्व’ आदि अशोभन वस्तुओं का जो अत्यन्त अनुचित संयोग है उसी में ‘सदसद्योग’ है क्योंकि जो भी वैचित्र्य है वह उसी में है और उसी के चमत्कार के कारण यहाँ सदसद्योगरूप समुच्चय का सौन्दर्य झलक रहा है । साथ ही साथ ‘मेरे मन में ये सात काटे हैं’ इस उपसहार से भी यही सिद्ध है कि यहाँ शोभन वस्तु का अशोभन वस्तु के साथ अनुचित सयोग ही ‘सदसद्योग’ का अभिप्राय है ( न कि शशिप्रभृति शोभनरूप पदार्थषट्क के साथ ‘खल’रूप अशोभन पदार्थ का सयोग ) । वस्तुतः इस सूक्ति में ‘नृपाङ्गनगत खल’ की उक्ति तो ‘भग्नप्रक्रमत्व’ के दोष से दूषित है (और इसलिये यहाँ चरणत्रय में ही ‘सदसद्योग’ के देखते सदसद्योग-रूप समुच्चय मानना उचित है) । ‘नृपाङ्गनगत खल’ में ‘भग्नप्रक्रमत्व’ इसलिये है क्योंकि अन्यत्र तो शोभनरूप वस्तुयें ( जैसे कि शशी, कामिनी आदि ) विशेष्यरूप से उपनिबद्ध हैं ( और अशोभन वस्तुयें विशेषणरूप से, किन्तु यहाँ अशोभनरूप वस्तु जैसे कि ‘खल’ का उपन्यास विशेष्यरूप से है और शोभनरूप वस्तु जैसे कि ‘नृपाङ्गन’ का उपनिबन्ध विशेषणरूप से हुआ है ) ।

इह च श्रुते कपोतवत्सर्वेषां कारणानां साहित्येनावधारः । समाभ्यस्तुतार  
स्वेककायं प्रति साधके समप्रेक्ष्यन्यस्य काकवालीयन्यायेनापत्तनमिति भेदः ।

‘अरुणो च तरुणि नयने तव मलिनं च प्रियस्य मुखम् ।

मुखमानसं च सखि ते ज्वलितश्चास्यान्तरे स्मरज्ज्वलनं ॥’

अत्राद्येऽर्थे गुणयोर्योगपद्यम्, द्वितीये क्रियायोः ।

समयोर्योगपद्ये यथा—

‘कमुप च तवाहितेऽप्यकस्मात्सितपङ्ककेरुसोदरमि चक्षुः ।

परिहर्षं च महीपतीन्द्र ! तेषां वपुषि प्रस्फुटमापदां कटाक्षे ॥’

‘बुनोति चासिं वनुते च कीर्तिम् ।’

इत्यादावेकाधिकरणोऽत्येव हरयते ।

न चात्र दीपकम्, एते हि गुणक्रियायौगपद्ये समुच्चयप्रकाशनियमेन कार्यप्र  
रणकलनियमविपर्ययरूपाविराजयोक्तिमूला, दीपकस्य चार्तिराजयोक्तिमूलत्वाभावात् ।

यहाँ ‘समुच्चय’ और (जैसे प्रतिपादित) ‘समाधि का भेद समस्त लेना चाहिये—  
‘समुच्चय’ में कारणों का एकत्र उपनिषाद (उत्तरवा) ‘एकै कपोतम्याय’ से होता है  
(अर्थात् जैसे ककिहान में राजा बुगने के किये सभी कक्षर एक साथ उठर पड़ते हैं  
वैसे ही यहाँ एक कार्य की सिद्धि के किये सभी कारण एक साथ वा उपस्थित होते हैं)  
और ‘समाधि’ में ऐसा होता है कि एक हेतु के पक्षांतरूप से कार्य-साधन में समर्थ होने  
पर अन्य हेतु ‘ककटान्धविजम्भाय’ से अकस्मात् उपस्थित होता दिखायी देता है ।

गुणों के योगपद्य में ‘समुच्चय’ तथा क्रियाओं के योगपद्य में भी ) ऐसे कि—  
‘अरी सुन्दरी ! हथर तेरी बाँहें कण्ठ हुई और उधर तेरे प्रिय का मुँह कण्ठ पड़ा ।  
किन्तु जब तेरा सिर (कोप-शान्ति के कारण) नीचे झुकगा तब तेरे प्रिय के हृदय में  
कामाग्नि बक उठेगी ।

यहाँ पक्षाद्वर्ष में ‘अव्यक्त और ‘मकिमल’ रूप दो गुणों का युगपदुत्पादन वर्णित है  
और वसरार्थ में ‘आवमल और ‘ज्जलन रूप दो क्रियाओं का युगपदवस्थापन वर्णित है  
( जिसमें ‘समुच्चय’ का वैशिष्ट्य स्पष्ट सकल रहा है ) ।

गुण और क्रिया के योगपद्य में समुच्चय जैसे कि—  
‘राजन् ! स्वेत कमल की काम्ति नाके जाप के वेद जब धनुषों पर कक्षुपित हुये,  
तब वन पर जापदाओं की डेढ़ी गिराई बरसने लगी ।’

‘राजन् ! एक ओर तो तुम अपनी तकवार भोजते हो और दूसरी ओर कीर्ति फैलते हो ।  
यहाँ, ‘कमुप च’ आदि में एक अधिकरण में ही गुण और क्रिया ( कमुपत्यरूप गुण  
और ‘पठन’रूप क्रिया ) का योगपद्य है और ‘बुनोति’ आदि में दो क्रियाओं ( ‘बुनोति’  
और ‘वनुते’ रूप क्रियाओं ) का युगपदवस्थापन है । इससे यह स्पष्ट है कि ‘समुच्चय’  
( केवल अधिकरण में ‘गुण-क्रिया’ आदि के युगपद अवस्थान में ही नहीं अपि तु )  
एकधिकरण में भी ( गुण-क्रिया आदि के योगपद्य में ) रहा करता है । यहाँ ‘दीपक’  
की संभावना व होती चाहिये ( यह सोच कर कि ‘बुनोति’ और ‘वनुते’ क्रियाएँ एक  
राजक्य कर्ता से संबद्ध हैं ) कारण यह है कि समुच्चय’ के सभी प्रकारों में जिनमें  
गुण-क्रिया आदि का योगपद्य अविवर्धन रूप से अवस्थित है ‘अतिशयोक्ति का ही बलवत्कार

( ५७—समाधि )

समाधिः सुकरे कार्ये दैवाद्स्त्वन्तरागमात् ॥ ८५ ॥

मूलरूप से रहा करता है क्योंकि यहाँ जो भी गुण-क्रियादि-योगपक्ष है वह नियमतः कारण और कार्य के पौर्वापर्य का विपर्ययरूप ही हुआ करता है। जब कि 'दीपक' में 'अतिशयोक्ति' का कोई अन्तर्भाव विवक्षित नहीं तब 'दीपक' को समुच्चय के मूल में मानना निरर्थक है।

विमर्श—( क ) 'समुच्चय' में 'खले कपोत' न्याय अथवा 'खले कपोतिका' न्याय से गुणों, क्रियाओं अथवा गुण और क्रिया आदि का भिन्न अथवा अभिन्न अधिकरण में युगपदवस्थान विवक्षित रहा करता है। 'खले कपोत न्याय' का परिभाषा यह है—

'खले कपोता इव प्रतिकृति खले कपोतिका। धान्यमर्दनस्थले कपोतानां युगपदापतन तन्न्याय' खले कपोतिका-न्याय'।

अर्थात् खलिहान में एक साथ दाना चुगने के लिए गिरने वाले कवतों की भाँति, किसी एक आधार पर, एक साथ, अनेकों ( गुण-कारण आदि ) का अवतरण 'खले कपोतिका-न्याय' से अवतरण अथवा अवस्थान हुआ करता है। मीमांसाचार्य शबरस्वामी ने भी कहा है—

'अर्थेन प्रधानोपकारेण खले कपोतवद् युगपत्संनिपतन्त्यङ्गानि ( मीमांसा-सूत्र-भाष्य ११. १ १६ )।'

किन्तु 'समाधि' में 'काकतालीय' न्याय से एक कार्य में, एक कारण के रहते हुए, दूसरा प्रबल कारण, अकस्मात् आ पहुँचना है। 'काकतालीय' न्याय का लक्षण यह है—

'काकागमनमिव तालपतनमिव काकतालं काकतालमिव काकतालीयं तस्य न्यायः।' अर्थात् जैसी आकस्मिकता ताट के पेड़ पर कौए के आकर बैठने और उसके सिर पर ताड़ के फल के गिर जाने से उमकी मृत्यु में है वैसी ही आकस्मिकता से, किसी कार्य की सिद्धि के लिए, एक कारण के रहते, दूसरे का उपनिपात, 'काकतालीय' न्याय से उपनिपात है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने भी स्पष्ट कहा है—

'न चास्मिन् वक्ष्यमाण-समाध्यलङ्कारखमाशङ्क्यम्, समाधौ हि एकेन कार्ये निष्पाद्यमानेऽप्यन्येनाकस्मिकमापतता कारणेन सौकर्यादिरूपोऽतिशयो यत्र संपाद्यते स विषयः। अस्मिन् समुच्चयप्रभेदे यत्रैककार्यं संपादयितुं युगपदनेके खले कपोता इवाहमहमिकया सपतन्ति, कार्यस्य च न कोऽप्यतिशयः स'।' ( रसगङ्गाधर, पृष्ठ ६६० )

( ख ) निम्न सूक्तियों 'समुच्चय' की सुन्दर सूक्तियाँ हैं—

'दुर्वारा स्मरमार्गणा प्रियतमो दूरे मनोऽत्युत्सुक  
गाढ प्रेम नव वयोऽतिकठिना प्राणा कुल निर्मलम्।  
स्त्रीष्व धैर्यविरोधि मन्मथसुदृढ कालः कृतान्तोऽपमो  
नो सख्यश्चतुरा कथं नु विरह सोढव्य इत्थं शठ ॥'  
'सित ज्योत्स्नाजालैररुणरुचि सध्याकरभरै-  
स्तमस्तोमै श्यामच्छवि मपटलै पीतमपि च।  
नभो नीलीनील रतिरमण-लीला-विहरणे  
स्थली धात्रा चित्र चतुरमधुना चित्रितमद ॥'

अनुवाद—'समाधि' वह अलङ्कार है जिसे दैववश उपस्थित किसी वस्तु के कारण, किसी कार्य के सौकर्य-वर्णन में देखा जाया करता है। जैसे कि—



यथा—

‘मानमस्या निराकर्तुं पापयोर्मे पतिष्यत ।  
उपकाराय विष्टयेदमुदीणं धनगर्हितम् ॥’

(५८—प्रत्यगीक)

प्रत्यनीकमक्षत्तेन प्रतीकारे रिपोर्यदि ।

सदीयस्य तिरस्कारस्तस्यैवोत्कर्षसाधकः ॥ ८६ ॥

तस्यैवेति रिपोरेव । यथा मम—

जब तक मैं उस मामिली के मान के निराकरण के लिए उसके पैरों पर पईं तब तक मानवच मेरी सहायता के लिए मेघ की गर्जना प्रारम्भ हो गई ।

यहाँ ‘समाधि’ इसलिये है क्योंकि ‘मान निराकरण’ का कार्य के लिए ‘पापपतन’ का कर्म के रहते हुए भी अकस्मात् ‘मेघगर्जन’ का प्रबल कर्म का उपनिपात वर्तित हुआ है जिससे ‘माननिवारण’ के कार्य का सुकरता से संपादन प्रतीत हो रहा है ।

विमर्श—‘अकटारसर्वस्व’ का ने ‘समाधि’ को वह परिभाषा की है—

‘कारणान्तरयोगात् कार्यस्य सुकरत्वं समाधिः । केवलद्वारकस्य कार्यस्य कारणान्तर-योगात् सीकृतं च स सम्ययाधानात् समाधिः । समुच्चय-साधनयाचनान्तरमुपलक्षणम् ।

( अकटारसर्वस्व, पृष्ठ २०५ )

अर्थात् ‘समुच्चय’ के साथ ‘समाधि’ का कुछ सम्बन्ध है क्योंकि ‘एक के अन्वयार्थक रहते दूसरे के कार्यसाधक होने का वर्णन करते ‘समुच्चय’ है वैसे ही ‘एक के अन्वयार्थक रहते, दूसरे के ह्रास कार्य की सुकरता का वर्णन ‘समाधि’ है । किन्तु दोनों में परस्पर वैकल्य भी है जो कि दोनों के भिन्न-भिन्न अकटार होने का कारण है । वह वैकल्य एक में ( समुच्चय में ) ‘एक के अन्वयार्थक’ से दोनों अर्थों का एक साथ उपस्थित होना है और दूसरे में ( समाधि में ) ‘अकटारकत्व-अर्थ’ से एक कारण के रहते दूसरे का नाकरिण्य सम्बन्ध-संपादन है । ‘सीकृतं’ का तात्पर्य अन्य कारण के योग से कार्य का ‘मरकट’ से संपादन और ‘सीकृतं’ से संपादन—दोनों हैं ।

‘मानमस्या’ का हि सूक्ति में उत्पन्नक मन्त्रा सरकता से कार्य-संपादनकर ‘समाधि’ है और सीकृत के साथ कार्य-संपादनक ‘समाधि’ के लिए निम्नसूक्ति देखी जा सकती है—

‘जैन की कामरूपमभितथोदितत्वा अमात्रा

सष्टया पञ्चावलि-पूगमद्य-व्यभिचरममुद्वेहः ।

केकिचोमः कुम्भकपरसा माग्मये कार्यमात्रे

पुम्बुमार्थ धितमभिता पारिपूर्णं निनाय ॥

( विमर्शनी : अर्थ ५४ २ १ )

अनुवाद—‘प्रत्यगीक’ वह अकटार है जिसे यहाँ देखा जाता करता है यहाँ किसी प्रबल शत्रु के प्रतीकार में असामर्थ्य के कारण, उसके किसी संबन्धी के प्रतीकार का वर्धन हुआ करता है जिससे अन्ततः उस प्रबल शत्रु का ही उत्कर्ष प्रबल हुआ करता है ।

यहाँ करिका में ‘तस्यैव’ का अभिप्राय ‘रिपोरेव’ का अभिप्राय है । अकटारण के लिए यह स्वरचित सूक्ति—

‘मध्येन तनुमध्या मे मध्यं जितवतीत्ययम् ।  
इभकुम्भौ भिनत्त्यस्याः कुचकुम्भनिभौ हरिः ॥’  
( ५९—प्रतीपालङ्कार )

प्रसिद्धस्योपमानस्योपमेयत्वप्रकल्पनम् ।  
निष्फलत्वाभिधानं वा प्रतीपमिति कथ्यते ॥ ८७ ॥

‘इस पतली कमर वाली सुन्दरी ने, अपनी पतली कमर से, मेरी ( पतली ) कमर की सुन्दरता जीत ली है—यह सोचकर ही वस्तुतः सिंह, इन सुन्दर कुच कुम्भों की भाँति गज-कुम्भों ( हाथी के मस्तक के दोनों भागों ) को फाड़ डालना चाहता है ।’

विमर्श—( क ) आचार्य रुच्यक ने ‘प्रत्यनीक’ का यह स्वरूप बताया है—

‘प्रतिपक्षतिरस्काराशक्तौ तदीयस्य तिरस्कारः प्रत्यनीकम् ।

यत्र बलवत् प्रतिपक्षस्य दुर्बलेन प्रतिपक्षेण तिरस्कारं कर्तुं न शक्यते इति तत्संबन्धिनो दुर्बलस्य तं बाधितुं तिरस्कारं क्रियते तत् प्रत्यनीकम् । अनीकस्य सैन्यस्य प्रतिनिधिः प्रत्यनीकमुच्यते । तत्तुल्यत्वादिदमपि प्रत्यनीकमुच्यते । यथाऽनीकेऽभियोक्तव्ये तत्राऽसामर्थ्यात् तत्प्रतिनिधिभूतमन्यदभियुज्यते, तद्वदिह प्रतिपक्षे विज्ञेये तदीयस्य दुर्बलस्य तिरस्करणमित्यर्थः । प्रतिपक्षगतत्वेन बलवत्स्वस्यापन प्रयोजनम् ।’

( अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ २०६-२०७ )

इसमें यह स्पष्ट है कि ‘प्रत्यनीक’ के रूप में जिस वाच्यवैचित्र्य की कल्पना है उसमें ‘प्रबल’ और ‘दुर्बल’ अनीक अथवा सैन्य की गतिविधि की भाँति दो प्रतिपक्षभूत पदार्थों की गतिविधि का चित्रण किया हुआ रहता है । ‘प्रत्यनीक’ में प्रबल शत्रु के ‘सम्बन्धी’ दुर्बल शत्रु के प्रतीकार का जो अभिप्राय है उसमें प्रबल और दुर्बल शत्रु का ‘सम्बन्ध’ सादृश्यादिमूलक ही सम्बन्ध हुआ करता है ( तत्संबन्धित्वं च सादृश्यादिसम्बन्धमूलम्—विमर्शिनी, पृष्ठ २०६ ) ‘प्रत्यनीक’ के प्रयोजन के सम्बन्ध में ‘अलङ्कारसर्वस्व-विमर्शिनी’कार का यह कथन है—

‘अत्र ह्यतिरस्कार्यतिरस्करणा(त्)तिरस्करणकर्तुर्निन्दाद्वारेण बलवत्, प्रतिपक्षस्य प्रतीकार्यत्वात् स्तुतिप्रतिपादने तात्पर्यम् ।’ ( विमर्शिनी, पृष्ठ २०७ )

( ख ) पण्डितराज जगन्नाथ ने ‘प्रत्यनीक’ को ‘हेतुप्रेक्षा’ में अन्तर्भूत मानना अधिक युक्तियुक्त समझा है—

‘हेतुप्रेक्षयैव गतार्थत्वान्नेदं ( प्रत्यनीकम् ) अलङ्कारान्तरं भवितुमर्हति । अस्मिन्नलङ्कारे हेतुत्वनिश्चीयमान, हेतुप्रेक्षायां तु सभाव्यमानमित्यस्ति विशेष इति चेत्, प्रतीयमानहेतुप्रेक्षायां अनुप्रेक्षात्वापत्तेः । वाचकस्येवादेरभावाद्हेतुत्वस्य निश्चीयमानतायास्तत्रापि ( हेतुप्रेक्षायामपि ) वक्तुं शक्यत्वात् ।

‘यस्य किञ्चिदपकर्तुमक्षमं कायनिग्रहं गृहीत-विग्रहं ।

कान्तवक्तृसदृशकृतिं कृती राहुरिन्दुमधुनाऽपि बाधते ॥’

इत्यलङ्कारसर्वस्वकृतोदाहृते प्राचीनपद्येऽपि भगवद्-वैरानुयन्धादिव भगवद्वक्त्रसदृशमिन्दुं राहुर्याधत इति प्रतीतेरप्येवैव गम्यमाना । प्रतिपक्षगतबलवत्स्वत्वात्सगतदुर्यलत्वयोः प्रतीतेर्हेतुप्रेक्षान्तरादस्य वैलक्षण्यम् । नैतावता हेतुप्रेक्षायां यद्विर्भावितुमिदं ( प्रत्यनीकम् ) ईदृ, किंतु तदवान्तरविशेषोभवेति ।’ ( रसगङ्गाधर, पृष्ठ ६६६ )

अनुवाद—‘प्रतीप’ वह अलङ्कार है जिसे उपमेयरूप में प्रसिद्ध उपमान की कल्पना अथवा निष्फलता का प्रतिपादन करते हैं ।

क्रमेण यथा—

(प्रसिद्ध उपमान की उपमेय-रूपता में 'प्रतीप')

'यस्यन्तेप्रसमानकामितसखिले भग्नं तदिन्दीवरम् ।' इत्यादि ।

(प्रसिद्ध उपमान की निष्कृष्टता के प्रतिपादन में 'प्रतीप')

'तद्वक्त्रं यदि मुद्रिता शशिकया वा हेम सा नदपुतिः,  
सद्यमुपयि हारितं कुसलयैस्तच्छेस्मिन् क्व मुधा ? ।

यिहसुदर्पणनुभूयो यदि च ते किं वा नदं मूढे  
यत्तस्य पुनरुक्तस्तुषिमुखं सगंक्रमो वेधस ॥'

अथ वक्त्रादिमिरेव चन्द्रादीनां शोभातिबहनात्तेषां निष्कृष्टम् ।

कमला उदाहरण ये हैं—

'वरी सुन्दरी ! वह नीलकमल को तेरे वपनों के समान सुन्दर और मधोहर या नय पानी में डाला हुआ है । आदि ।

'यदि सब पूजा जाय तो बिजला की इस छवि में एक वस्तु के बराबर दूसरी वस्तु नहीं रहा करती क्योंकि यदि वह (सुन्दरी का) मुख है तो चन्द्रमा की चर्चा बकावा व्यर्थ है, यदि वह (सुन्दरी के देह की) काम्ति है तो सोना बिजला किस काम का, यदि वह (सुन्दरी की) बॉलें हैं तो नीलकमल तो कहीं के न रहे, यदि वह (सुन्दरी की) मुखझाड़ है तो मुधा कुछ नहीं बँचती और अधिक क्या कहा जाय यदि वह (सुन्दरी की) वृद्धि है तो कामदेव के अनुप को चिन्तन है ।'

यहाँ 'मुख' आदि में ही चन्द्र आदि की अपेक्षा अधिक 'सीम्ब' आदि के होने के कारण चन्द्र आदिक पर प्रसिद्ध उपमाओं की निष्कृष्टता का प्रतिपादन स्पष्ट है जिसमें 'प्रतीप' का स्वरूप छटक रहा है ।

विमर्श—'प्रतीप' की अकृष्टारसवैलक्षण्य कृत मीमांसा यह है—

'उपमावस्थापेय उपमेयताकथनं वा प्रतीपम् । उपमेयस्वीचोपमावमसोद्भूतसामर्थ्यं रूपमानस्य कैमर्त्यव्येवाधेया आलोचनं क्लृप्तं तदेकं प्रतीपम् उपमानप्रतिष्ठात्वात्पुन मेयस्य प्रतीपमिति व्यपदेशः । यद्युपमावतया प्रसिद्धस्थोपमानान्तरप्रतिष्ठिहापयिष्यन्माद्वरवार्थमुपमेयत्वं कथ्यते तत्पूर्वोक्तत्वात् । द्वितीयां प्रतीपम् ?' (अकृष्टारसवैल पृष्ठ २ क)

यहाँ यह स्पष्ट है कि 'प्रतीप' का सामान्यकथन नहीं किया गया यदि तु दो प्रकार के 'प्रतीप' अकृष्टारों का स्वरूप-निर्देश किया गया है (एक द्वितीयाप्रतिपमिवतया प्रमाणात् प्रतीपात्मककृष्टारप्रत्यं पुनः सामान्यकथनाभावाद्द्विमेव द्विप्रकारमित्युक्तम्—विमर्शिनः पृष्ठ २ ८) । ये दोनों प्रकार के 'प्रतीप' वर्णन के प्रकार-विशेष नहीं जित्ना स्वतन्त्र अकृष्टार है । कारण यह है कि यहाँ उपमान के बाह्य और उपमान की उपमेय-वस्तुता का भेदित न रह है जो 'उपमा' में अर्धमग्न है । इन दोनों प्रतीप-प्रकारों का प्रायः साधर्म्य है जो कि यहाँ वर्णन विविधरूप में विराजमान रहा करता है । बिना 'साधर्म्य' अथवा 'व्यपन्न' के प्रतीप के ये दोनों प्रकार अकृष्टार नहीं बनें वा सकते ।

निम्न सूक्तियों 'प्रतीप' की सत्वर सूक्तियाँ हैं—

'सुखं सखि दीप्यपेक्षयन् विद्यामु ते । उपमानतया चन्द्रं प्रियेवास्मिन्नेते मुदय ॥

'किं कर्णरुरेवैदि साधुवादा मुखाफोके किं बद्धि वामयिकासा ।

किं वृत्तवोतैर्वीदि कपयोमा कान्तवमस्तते यदि चन्द्रोऽयं किम् ॥

( प्रतीप • प्रकारान्तर )

उक्त्वा चात्यन्तमुत्कर्षमत्युत्कृष्टस्य वस्तुनः ।

कल्पितेऽप्युपमानत्वे प्रतीपं केचिदूचिरे ॥ ८८ ॥

यथा—

‘अहमेव गुरुः सुदारुणानामिति हालाहल ! तात ! मा स्म दृश्यः ।

ननु सन्ति भवादृशानि भूयो भुवनेऽस्मिन् वचनानि दुर्जनानाम् ॥’

अत्र प्रथमपादेनोत्कर्षातिशय उक्तः । तदनुक्तौ तु नायमलङ्कारः ।

यथा—

‘ब्रह्मेव ब्राह्मणो वदति’ इत्यादि ।

अनुवाद—‘प्रतीप’ का एक रूप वह भी है जिसमें पहले तो किसी अत्यन्त उत्कृष्ट वस्तु का उत्कर्ष-वर्णन किया जाता करता है और बाद में उसे, किसी दूसरी वस्तु के उपमान रूप में कल्पित कर दिया जाता है । जैसे कि—

‘अरे कालकूट विष ! तुझे यह घमण्ड क्योंकि तू ही दारुणतम वस्तुओं के सिरमौर है ! अरे ! तुझ सरीखे दारुण तो दुष्टों के वचन हैं जिनकी इस ससार में कोई गणना नहीं हो सकती ।’

यहाँ प्रथम चरण में ‘हालाहल’ का अत्यधिक उत्कर्ष प्रतिपादित है ( जिससे यह स्पष्ट है कि इससे बढ़कर प्राणघातक ससार में कुछ भी नहीं किन्तु बाद में दुष्ट वचनों के उपमान रूप में इसे कल्पित भी कर लिया गया है जिसमें यह अभिप्राय अभिव्यक्त हो रहा है कि भले ही दुष्ट वचनों से प्राण न निकले किन्तु हालाहल-पान की सी व्याकुलता इनमें अवश्य रहा करती है ) । यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि जहाँ वस्तु का अत्यधिक उत्कर्ष न वर्णित हो वहाँ ‘प्रतीप’ की कोई संभावना नहीं हुआ करती ।

जैसे कि ‘यह ब्राह्मण ब्रह्मा के समान बोल रहा है’ आदि उक्ति में ‘प्रतीप’ की खोज व्यर्थ है क्योंकि यहाँ ‘ब्रह्मा’ के उत्कर्ष का कोई वर्णन नहीं ( यहाँ तो अधिक से अधिक ‘उपमा’ ही मानी जा सकती है ) ।

विमर्श—( क ) साहित्यदर्पण की ‘विमला’टीका ( पृष्ठ २२३ ) में ‘उक्त्वा चात्यन्तमुत्कर्षम्’ आदि सदर्थ का यह अनुवाद दिया गया है—

‘किसी अत्युत्कृष्ट वस्तु का अत्यन्त उत्कर्ष वर्णन करके पाछे किसी दूसरी वस्तु को उसकी उपमान बना देने पर भी कोई लोग प्रतीपालङ्कार मानते हैं । जैसे—अहमिति । हे तात हालाहल, ( कालकूट विष ) यह घमण्ड मत करो कि दारुण वस्तुओं में सब के गुरु हम ही हैं । तुम्हारे जैसे प्राणघातक इस ससार में दुर्जनों के बहुतेरे वचन विद्यमान हैं । यहाँ प्रथम चरण में हालाहल का उत्कर्ष कहा फिर उसे दुर्जन वचनों का उपमान बना दिया ।’

किन्तु यदि यहाँ के रेखाङ्कित पदों को देखा जाय तो यह स्पष्ट पता चल जाता है कि पहले रेखाङ्कित पद का जो आशय है वह दूसरे रेखाङ्कित पद के आशय से अगढ़ा कर रहा है । पहले तो यह कहा गया कि अत्यन्त उत्कृष्ट वस्तु के उत्कर्ष-वर्णन के बाद, किसी दूसरी वस्तु को, उस अत्यन्त उत्कृष्ट वस्तु का उपमान बना देना, कुछ लोगों का ‘प्रतीप’ है किन्तु ‘अहमेव’ आदि में, इसे घटित करते समय, यह सकेत कर दिया गया ( क्योंकि ‘उसे’ पद से बड़े-चढ़े, दारुणता के उत्कर्ष वाले ‘हालाहल’ का ही सम्बन्ध बैठ सकता है ) कि यहाँ ‘किसी दूसरी वस्तु को’ उस अत्यन्त

( १०—मीलित )

मीलितं वस्तुनो गुप्ति केनचित्तुल्यलक्षणा ।

अत्र समानलक्षणं वस्तु कविदागमुक्तम् ।

क्रमेण यथा—

( सड़क कप की तुल्यलक्षण वस्तु के द्वारा-गोपन में 'मीलित' )

'सहमीवश्लोचकस्तूरीलक्ष्म बभूवस्थले हरे' ।

प्रस्तं नाशसि भारत्या भासा नीलोत्पलामया ॥'

उक्त वस्तु का वपमान नहीं बनाया जाता अपितु वही अत्यन्त उत्कृष्ट वस्तु को किसी दूसरी वस्तु का वपमान बनाया जाता है ।

इस क्षणिका का निश्चय तो ही सञ्ज्ञा है जब कि वह कहा जाय—'किसी अत्यन्त उत्कृष्ट वस्तु का अत्यन्त उत्कृष्ट वर्णन करके, पीछे उसे किसी दूसरी वस्तु का वपमान बना देने पर भी शीर्ष छेद प्रतीपात्कार मान्य है ।

अकट्टार-सर्वस्वकार की वह 'प्रतीप-समीक्षा भी वही सिद्ध करती है कि क्या अत्यन्त उत्कृष्ट वस्तु का पहले आत्यधिक उत्कृष्ट-वर्णन करके, पीछे अन्य वस्तु के वपमानरूप में प्रतिपादन 'प्रतीप' है—

'अनेन न्यायेनोत्कृष्टगुणानाम् अनुपमानमात्रमपि न सहते तत्सर्वोपमानमात्रकल्पने प्रतीपमेव' । ( अकट्टारसर्वस्व, पृष्ठ ११ )

'निमज्जिनी कार भी वस्तुतः वही अभिप्राय के समर्थक है—

'उपमानमात्रं यो न सहते तत्सर्वोपमानत्वपरिकल्पनेन प्रतिकूलवर्तित्वात् ( प्रतीपत्वा' इति ) । ( अकट्टारसर्वस्व-निमज्जिनी पृष्ठ ११ )

( ८ ) वगैरुक्तान् अन्त्या की नीमांता देखिए तो 'प्रतीप' नाम का अकट्टार ही प्रामाण्य ही जाता है—

पूर्व चाद्यं प्रतीपं प्रसिद्धोपमानानुपमप्रविशेष एव अत एव द्वितीयतृतीयादिषु चेदनुपमानं विशेषावयव । उपमानोपमेयबोस्तिरस्काररूपमात्तरात् बैस्त्वर्थं प्रयोजयेत् न तुयमा' सामान्यात् तदनुत्पूतत्वमेव तत्प्रतीतिः । न हि दाया मापुर्पातिप्रत्येव पर्विवान्तरात् विकल्पमैवपात्रिणी भवति । अपि च अनुपमानोपमेयबोस्तिरस्कारीकृतद्वारात्प्रयोजन' इत्यात् पुररक्तोऽपि तथा स्यात् । 'पूर्व च कल्पकलक्षणमात्रेपाकट्टारान्तरत्वं अथवा अस्याप्यलङ्कारान्तरत्वमप्युपर्य' इत्यात् । ( रसगङ्गाधर पृष्ठ १७ )

अनुवाद—'मीलित वह अकट्टार है जिसे किसी समान लक्षण वाली वस्तु से किसी दूसरी वस्तु के गोपन ( विषय ) के वैचित्र्य में देना जाना करता है ।

यहाँ वह 'तुल्यलक्षण' अथवा 'समानलक्षण' वस्तु ( अथवा वस्तु का चिह्नरूप समान वर्ण ) 'सहज' ( सामान्यिक ) और 'आपगत' दोनों रूपों में साम्य है ।

इसके अन्तर्गत उदाहरण य है—

'भगवान् निष्णु क वरपरप में गया लक्ष्मी क उरोओ के वरन्नी-नेत्र का चिह्न, सरररणी को न पता चला क्योंकि, वह नीलकमल की काजित वाली, निष्णु की देहगोत्र से एक कप का हो गया था ।

अत्र भगवत् श्यामा कान्तिः सहजा ।

( आगन्तुक रूप की तुल्यलक्षण वस्तु द्वारा गोपन में 'मीलित' )

‘सदैव शोणोपलकुण्डलस्य यस्या मयूखैररुणीकृतानि ।  
कोपोपरक्तान्यपि कामिनीनां मुखानि शङ्का विदधुर्न यूनाम् ॥’  
अत्र माणिक्यकुण्डलस्यारुणिमा मुखे आगन्तुक’ ।

( ६१—सामान्यालङ्कार )

सामान्यं प्रकृतस्यान्यतादात्म्यं सदृशैर्गुणैः ॥ ८९ ॥

यथा—

‘मल्लिकाचितधम्मिल्लाश्चारुचन्दनचर्चिताः ।

अविभाव्याः सुख यान्ति चन्द्रिकास्वभिसारिकाः ॥’

मीलिते उत्कृष्टगुणेन निकृष्टगुणस्य तिरोधानम् , इह तूभयोस्तुल्यगुणतया भेदाग्रहः ।

यहां भगवान् विष्णु की जिस श्यामल कान्ति से कस्तूरी-चिह्न की एकरूपता बताई गई है वह ‘सहज’ रूप की है ।

‘जिस नगरी में पद्मरागमणि के कर्ण-कुण्डलों की लाल-लाल किरणों से लाल-लाल लगने वाले, रमणीजन के मुख, क्रोध से लाल होने पर भी, कामीजन के हृदय में कोई शका नहीं उत्पन्न करते थे ( अर्थात् कामीजन को यह पता न चल पाता था कि रमणियों के मुख क्रोध से लाल हैं या लाल मणि के कर्णाभरण की किरणों से लाल हैं ) ।

यहाँ पद्मरागमणि के कुण्डलों की लालिमा, जिसके द्वारा क्रोध में लाल रमणी-मुख की लाली का छिप जाना बताया गया है, सुख के लिये ‘आगन्तुक’ है ।

विमर्श—‘अलङ्कारसर्वस्व’कार ने ‘मीलित’ को ‘एक वस्तु के द्वारा दूसरी वस्तु का निगूह्यन’ कहा है—

‘सहजेनागन्तुकेन वा लक्ष्मणा यद्वस्त्वन्तरे वस्त्वन्तर निगूह्यते तदन्वर्थाभिधानं मीलितम् । न चाय सामान्यालङ्कार, तस्य हि साधारणगुणयोगाद् भेदानुपलक्षण रूपम् । अस्य उत्कृष्टगुणेन निकृष्टगुणस्य तिरोधानमिति महाननयोर्विशेष ।’

( अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ २१० )  
अर्थात् ‘मीलित’ वह है जिसमें एक वस्तु के उत्कृष्ट गुण के द्वारा दूसरी वस्तु के निकृष्ट गुण का तिरोधान प्रतीत हुआ करता है । इससे यह स्पष्ट है कि यह अलङ्कार ‘सामान्य’ अलङ्कार से भिन्न है क्योंकि ‘सामान्य’ में दो वस्तुओं के भेद के अदर्शन का कारण उनका सामान्य गुण-योग है न कि एक के द्वारा दूसरे का तिरोधान ।

अनुवाद—‘सामान्य’ वह अलङ्कार है जिसमें साधारण गुण के योग से, प्रकृत वस्तु अन्य वस्तु से अभिन्न रूप की निरूपित हुआ करती है । जैसे कि—

‘मल्लिका की कलियों से केशपाशों को सजा कर और देह में चन्दन के अङ्गराग लगा कर, अभिसारिकार्यें, चादमी रातों में, अभिसार किया करती हैं और किसी की भी पहचान में नहीं आती ।’

‘मीलित’ में उत्कृष्ट गुण से निकृष्ट गुण का तिरोधान विवक्षित रहा करता है किन्तु ‘सामान्य’ में दो वस्तुओं के भेद की अप्रतीति का कारण ( गुण-तिरोधान नहीं अपितु )

( ६१—तद्गुणादङ्कार )

तद्गुणः स्वगुणत्यागादत्युत्कृष्टगुणग्रहः ।

यथा—

‘जगाद यवनश्वरपद्मपयसस्तपातिना ।  
नयम् मधुलिहं रवेत्यमुदमवशानांशुभिः ॥’

समान गुणों का योग माया जाया करता है जिससे दोनों भिन्न-भिन्न रूप के अङ्कार सिद्ध होते हैं ।

विमर्श—‘सामान्य’ का अङ्कारसर्वस्वकार से वह स्वरूप बनाया है—

‘यत्र प्रस्तुतस्य वस्तुभोग्यस्तुतेन साधारणगुणयोगाद्वैकतम्यं भेदान्ध्यायसापार्थक्यस्य निवृत्त्यते तत्समानगुणयोगात् सामान्यम् । ( अङ्कारसर्वस्व पृष्ठ २११ )

जहाँ ‘सामान्य’ का अभिप्राय समान गुणयोग के कारण प्रस्तुत और अमस्तुत के भेद का अग्रह नववा नवध्वनय है ।

प्रस्तुत और अमस्तुत के भेदाग्रह में भी वह अङ्कार अपहति कम नहीं अतिष्ठ एक सर्वत्र अङ्कार हुआ करता है—

‘न वेद्यमपहतिः किञ्चिद्विषय कस्यचिद्व्यतिष्ठानात् ।’ ( अङ्कारसर्वस्व पृष्ठ २११ )

जहाँ ‘अपहति’ में एक के अपहति से दूसरे का आरोप विवक्षित है वहाँ ‘सामान्य’ में अद्भुत-पूर्वक आरोप का कोई अभिप्राय नहीं रहा करता अतिष्ठ सामान्यगुणयोग से तत्प्रेम और उपमा का ‘भेदाग्रह’ अथवा ‘वैकल्य’ ही अभिव्यक्त रहा करता है ।

यहाँ भी सार्वजन्य गुण का ‘विलय’ जहाँ अनुपातित्य शब्दसामान्यरूपत्व और निम्न प्रतिविम्बमात्र आवश्यक है वैसा कि ‘विमर्शनी’कार ने कहा है—

‘साधारणगुणाणां च विकल्पत्वमात्रार्थं सिद्धम् । तेन साधारणगुणस्यानुगामितया यथा ‘मध्ये ज्ञानपदसौम्यमुक्तानाममकविचयम् । रश्मिरकच्यतमेति यत्र पूर्वमुक्तमप्यहम् ॥

‘अत्रामकप्रतिवत्त्वमनुगामितया साहचर्यविरहः’ ‘आम् ।

पञ्चितयत्न सामान्य की वह ‘सामान्य-समीक्षा’ नहीं जाय देके योग्य है—

‘ननु भेदाग्रह एव मीक्षित-सामान्य-तद्गुण-साधारण्य एकोऽङ्कहतोऽस्तु, किमङ्कारो ज्ञापेयः । मीक्षिते तत्त्वत् प्रकृत्यप्रकृत्यार्थगुणाणां भेदाग्रहः । सामान्ये केवाचित्य गुण-गुणभेदाग्रहः केवाचित्यचित्यव्यतिष्ठानातिमात्रभेदाग्रहः । तद्गुणेऽपि रङ्गमै रङ्गगुणभेदाग्रहः । न चावन्तरभेदसत्त्वाच्चैकाङ्कारत्वमुपपद्यत इति वाच्यम् । तुलोपे माविताः पूर्वोपमादौ प्रथमकङ्कारतापत्तेः । तस्मात् भेदाग्रहस्य तपो मीक्षितावयोऽवन्तर भेदा इति युक्तम्, न तु प्रथमकङ्कार इति चेत् वाच्यते—एवं तर्जभेदोऽप्येकोऽङ्कहता । तद्वावन्तरभेदा कथं कथं रिणाभासतिअथोक्तिप्रमुखा इत्यपि सक्त्यते वक्तव्यम् । विवक्षित भेदात् प्रकृतेऽपि त्वया । ( रसगङ्गाधर पृष्ठ २१५ )

अनुवाद—‘तद्गुण’ वह अङ्कार है जिसमें कोई वस्तु अपने गुण का परित्याग करती और ( अपने समीपस्थ ) अङ्कार गुणवाली वस्तु के गुण का ग्रहण करती विवक्षित हुआ करती है । जैसे कि—( सिद्धपाकवच की वह सुक्ति )

‘वदन्नेव यत्र बोके तत्र पेसा कणा वीसे ये अपने मुखकथ कमल के चतुर्दिक अपने वाले जमरी को अपनी डाकड़ दण्ड-काण्ड से टुकड़कथ कहा रहे हों ।

मीलिते प्रकृतस्य वस्तुनो वस्त्वन्तरेणाच्छादनम्, इह तु वस्त्वन्तरगुणेना-  
क्रान्तता प्रतीयत इति भेदः ।

( ६३—अतद्गुणालङ्कार )

तद्रूपाननुहारस्तु हेतौ सत्यप्यतद्गुणः ॥ ९० ॥

यथा

‘दन्त ! सान्द्रेण रागेण भृतेऽपि हृदये मम ।  
गुणगौर ! निपण्णोऽपि कथं नाम न रज्यसि ॥’

यथा वा—

‘गाङ्गमम्बु सितमम्बु यामुन कज्जलाभमुभयत्र मज्जतः ।  
राजहंस ! तव सैव शुभ्रता चीयते न च न चापचीयते ॥’

‘मीलित’ और ‘तद्गुण’ में परस्पर भेद है क्योंकि ‘मीलित’ में तो प्रकृत वस्तु का अन्य वस्तु से आच्छादन विवक्षित रहा करता है किन्तु ‘तद्गुण’ में ऐसा होता है कि एक वस्तु अन्य वस्तु के गुण से आक्रान्त प्रतीत हुआ करती है ।

विमर्श—‘तद्गुण’ की व्युत्पत्ति है—‘तस्योत्कृष्टगुणस्य गुणा अस्मिन्निति तद्गुणः’ अर्थात् ‘तद्गुण’ को इसलिये ‘तद्गुण’ कहा जाता है क्योंकि इसमें उत्कृष्ट गुणवाली ‘अप्रकृत’ वस्तु का गुण ‘प्रकृत’ वस्तु में विद्यमान वर्णित हुआ करता है । ‘अलङ्कारसर्वस्व’कार ने इसीलिये कहा है—

‘यत्र परिमितस्य वस्तुन समीपवर्तिप्रकृतवस्तुगुणस्य स्वीकरणं स तद्गुणः । तस्यो-  
त्कृष्टगुणस्य गुणा अस्मिन्निति कृत्वा । न चेद मीलितम् । तत्र हि प्रकृतं वस्तु वस्त्वन्तरे-  
णाच्छादितत्वेन प्रतीयते । इह त्वनपद्धतस्वरूपमेव प्रकृतं वस्तु वस्त्वन्तरगुणोपरकृतया  
प्रतीयत इत्यस्त्यनयोर्भेदः ।’ ( अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ २१३ )

अर्थात् ‘तद्गुण’ में अनपद्धतस्वरूप प्रकृत का अप्रकृत के गुण से उपराग अभिप्रेत है क्योंकि यहाँ अप्रकृत वस्तु से प्रकृत वस्तु के स्वरूप-तिरोधान की कोई विवक्षा नहीं हुआ करती ।

निम्न ‘तद्गुण’सूक्तिया बड़ी सुन्दर हैं—

‘विभिन्नवर्णा गरुडाग्रजेन सूर्यस्य रथ्याः परित स्फुरन्त्या ।

रत्नै पुनर्यत्र रुच रुचा स्वामानिन्यिरे वशकरीरनालै ॥’

‘इन्दूदयध्वन्दनमिन्दुवक्त्रा चैत्रस्तवेत्यादि सहायसपत् ।

वपुश्च शृङ्गारमय स मन्ये सन्तापकस्व हरवह्नियोगात् ॥’

‘अधरेण समागमाद्रदानामरुणिम्ना पिहितोऽपि शुद्धभावः ।

हसितेन सितेन पद्मलाक्ष्या पुनरुल्लासमवाप जातपद्म ॥’

अनुवाद—‘अतद्गुण’ वह अलङ्कार है जिसमें, कारण होने पर भी, प्रकृत वस्तु, अप्रकृत वस्तु के गुण का अनुहार अथवा स्वीकार करती नहीं वर्णित होती । जैसे कि—

‘अरे प्रियतम ! मेरे हृदय में, जो कि प्रगाढ राग ( प्रेम या लाली ) से भरा हुआ है, रहते हुए भी, तुम, कुछ ऐसे ‘गुणगौर’ अपने गुणों के कारण शुभ्र-रूप हो कि तुममें कोई राग ( प्रेम या लाली ) सम्भव नहीं ।’

अथवा—

‘राजहंस ! तुम शुभ्र वर्ण के गंगाजल और कज्जल वर्ण के यमुनाजल—दोनों में स्नान किया करते हो किन्तु तुम्हारी शुभ्रता न बढ़ती है और न घटती है अपितु जैसी की तैसी



पूर्वत्रातिरिक्तव्ययसंपर्कात् प्राप्तवदपि गुणगौरवान्दवाच्यस्य भावकस्य रा-  
न निष्पन्नम्, सत्तरत्राप्रस्तुतप्रशंसाया विद्यमानायामपि गङ्गायमुनापञ्चया  
तस्म हंसस्य गङ्गायमुनयो संपर्केऽपि न सद्रूपता। अत्र च गुणाप्रवणरूप-  
च्छित्तिविशेषाभयाद्भिरोपोक्तेर्मेदः, वर्णान्तरोत्पत्त्यभावाच्च विपमाम्।

( १७—सूच्यमात्रद्वार )

संलक्षितस्तु सूक्ष्मोऽर्थ आकारेणेक्षितेन वा।

कयापि सूच्यते मङ्गला यत्र सूक्ष्मं तदुच्यते ॥ ६१ ॥

यहाँ पहले उदाहरण ( अर्थात् 'हन्त साम्रेज' आदि ) में यह स्पष्ट है कि नायिका  
प्रभाव राग से भरे हृदय के सम्पर्क से, नायक के हृदय में 'अनुराग' की संभावना के  
पर भी, अनुराग का न होना निश्चित है क्योंकि 'गुणगौर' सम्य का यही अभिप्राय है  
नायिका के अनुरक्त हृदय में निवास करने पर भी नायक अनुराग-शून्य पड़ा है।

दूसरे उदाहरण ( अर्थात् गङ्गायमुना आदि ) में जहाँ राजहंस के इस प्रकार के रूप  
में एक प्रकार की 'अप्रस्तुतप्रशंसा' का भी अभिप्राय स्पष्ट है ( क्योंकि अप्रस्तुत 'राजहंस'  
की प्रशंसा से किसी प्रस्तुत 'वीरप्रकृति' महापुरुष की प्रशंसा का ही भाव प्रकटित  
रहा है ) यह निमित्त है कि गङ्गा-यमुना की अपेक्षा राजहंस अधिक प्रकट रूप  
है और गङ्गाजल तथा यमुनाजल के साथ सम्पर्क में भी, उनके गुणों का ग्रहण न कर  
वर्णित हो रहा है जिसमें 'अतद्गुण' का स्वरूप स्पष्ट सकल रहा है।

'तद्गुण' को 'विशेषोक्ति' रूप नहीं माना जा सकता क्योंकि जहाँ तद्गुण में गुण  
के अननुहार अथवा अप्रवण का एक विशेष चमत्कार रहा करता है वहाँ 'विशेषोक्ति'  
इस प्रकार का कोई चमत्कार विद्यमान नहीं। ( तत्पर्य यह है कि 'हन्त साम्रेज' आदि  
में कवि 'नायिका के प्रेम-पराग हृदय में रहते रहने' और उस भी अनुरक्त न होने  
कार्यकारणभाव की कोई कल्पना नहीं कर रहा अपितु 'ठाक वस्तु के सम्पर्क में  
ठाकी न पड़ने' की ही निश्चित कल्पना का आशय कर रहा है )।

'अतद्गुण' में 'विषम' का भी अर्थ नहीं हो सकता क्योंकि जहाँ 'विषम' में ( अथवा  
प्रकार के 'विषम' में ) कार्य का गुण या किराकरूप वर्तन कारण के गुण या क्रियाकर्म का  
से विपक्ष रूप का वर्णित किया जाया करता है वहाँ 'अतद्गुण' में ( कार्यकारण की गुण  
क्रिया में परस्पर विरोध का कोई अर्थ अपेक्षित नहीं अपि तु उपरान्त-हेतु के होने पर भी,  
उपरान्त अथवा अन्य वर्तन की उत्पत्ति का अभाव-वर्णन ही अभिप्रेत रहा करता है।

विमर्श—'अतद्गुण' तद्गुण का प्रतिपक्षरूप अकटार है—'तस्य प्रकृतस्य गुणा अस्मिन्  
अप्रकृते न सन्तीति अतद्गुणा' अथवा, 'तस्य अप्रकृतस्य गुणा अस्मिन् प्रकृते न सन्तीति  
अतद्गुणा'। 'अकटारसर्वस्व' शब्द से भी कहा है—

'तद्गुणप्रस्तावाच्च विपर्ययक्योऽतद्गुण उच्यते। तत्त्वोक्तद्गुणस्यास्मिन् गुणा  
न सन्तीति। यद्वा तत्त्वाप्रकृतस्य क्पाणमुदाहरा सत्यनुदाहरणैती दाऽतद्गुणः। तत्त्वा  
प्रकृतस्य गुणा नास्मिन् सन्तीति क्त्वा' ( अकटारसर्वस्व पृष्ठ ११४ )

निम्न सूक्ति में 'अतद्गुण' की यही सम्य रचना हुई है—

'यद्यदोऽसि यद्यपि सुन्दर तथापि त्वया मम रजितं हृदयम्।

रतामरितेऽपि हृदये सुमय निहितो न रज्योऽसि॥

अनुवाद—'सूच्य' यह अकटार है जिसमें नायक अथवा योद्धा से पहचान में आनेवाली

सूक्ष्म स्थूलमतिभिरसलक्ष्यः ।

अत्राकारेण यथा—

‘वक्त्रस्यन्दिस्वेदबिन्दुप्रबन्धैर्दृष्टा भिन्न कुङ्कुम कापि कण्ठे ।

पुस्त्व तन्व्या व्यञ्जयन्ती वयस्या स्मित्वा पाणौ खङ्गलेखा लिलेख ॥’

अत्र कयाचित्कुङ्कुमभेदेन सलक्षित कस्याश्चित्पुरुषायितं पाणौ पुरुषचिह्न-  
खङ्गलेखालिखनेन सूचितम् ।

इङ्गितेन यथा—

‘सङ्केतकालमनस विट ज्ञात्वा विदग्धया ।

हसन्नेत्रार्पिताकूत लीलापद्मं निमीलितम् ॥’

अत्र विटस्य भ्रूविक्षेपादिना लक्षितः सङ्केतकालाभिप्रायो रजनीकाल-  
भाविना पद्मनिमीलनेन प्रकाशितः ।

कोई सूक्ष्म (सूक्ष्म बुद्धि द्वारा सवेद्य) वस्तु किसी और युक्ति से प्रकाशित की जाया करती है ।

यहाँ ‘सूक्ष्म’ का अभिप्राय ‘स्थूल बुद्धि द्वारा असलक्ष्य होने’ का अभिप्राय है ।

जैसे कि आकार द्वारा संलक्ष्य सूक्ष्म वस्तु के, अन्य युक्ति से प्रकाशन में ‘सूक्ष्म’—

‘किसी सुन्दरी ने, अपनी किसी सखी के मुख से टपकी पसीने की बूंदों की रेखाओं से उसके गले के कुङ्कुम लेप को दो भागों में बँटे देखकर, मुसकराहट के साथ, उसकी हथेली पर तलवार का एक रेखाचित्र खींच दिया जिससे उसका पुरुषत्व (उसका पुरुषायित रतिविलास) सूचित हो गया ।’

यहाँ ‘सूक्ष्म’ इसलिये है क्योंकि यहाँ किसी सुन्दरी ने अपनी सखी के गले के कुङ्कुम-भेद से उसकी पुरुषायित रति की पहचान तो कर ली है किन्तु उसकी हथेली पर, पुरुष के चिह्नविशेष ‘खङ्ग’ के चित्रण की युक्ति से, उसे (विपरीत रतिविलास को) सूचित भी कर दिया है ।

इङ्गित अथवा चेष्टा द्वारा संलक्ष्य सूक्ष्म वस्तु के, अन्य युक्ति से प्रकाशन में ‘सूक्ष्म’—

‘जब कि उस चतुर सुन्दरी ने, अपने प्रेमी को प्रेममिलन के समय के जानने के लिये बढ़ा उत्सुक देखा तब उसने अपनी हँसती आँखों से अपना अभिप्राय बताते, अपने हाथ के क्रीडा-कमल की पल्लुहिओं को बन्द कर लिया ।’

यहाँ जो सूक्ष्म अर्थ है वह प्रेममिलन का समय है जिसके जानने के लिये प्रेमी बढ़ा उत्सुक है । यह सूक्ष्मरूप अर्थ प्रेमी द्वारा नायिका की ‘आँखों की हँसी’ से ज्ञात किया गया है (हँसी में आँखें बंद हो जाती हैं इसलिये प्रकाश की समाप्ति अर्थात् ‘संध्या’ को प्रेममिलन के समय-रूप में जान लिया गया है) किन्तु लीलाकमल के निमीलन की युक्ति से इस सन्ध्याकालरूप सूक्ष्म अर्थ को पुनः प्रकाशित किया जा रहा है ।

विमर्श—‘सूक्ष्म’ की ‘अलङ्कारसर्वस्व’कारकृत समीक्षा यह है—

‘सलक्षितसूक्ष्मायप्रकाशनं सूक्ष्मम् ।

इह सूक्ष्म स्थूलमतिभिरसलक्ष्यो योऽर्थः, यदा कुशाग्रमतिभिरिङ्गिताकाराभ्यां सलक्ष्यते तदा तस्य सलक्षितस्य विदग्ध प्रति प्रकाशनं सूक्ष्ममलङ्कारः ।’

(अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ २१७)

यहाँ यह स्पष्ट है कि ‘सूक्ष्म’ अलङ्कार का अभिप्राय, शिगित अथवा आकार द्वारा संलक्षित सूक्ष्म-अर्थ का प्रकाशन है ।

(१५-म्यागेकि)

व्याख्योक्तिर्गोपन व्याज्जादुद्भिन्नस्यापि वस्तुनः ।

यथा—

‘शैलेन्द्रप्रतिपाद्यमानगिरिबाह्वस्तोपगूढोन्नत  
 प्रोमाञ्जाविविसंप्लुताखिलविषिव्यासङ्गभङ्गाकुल ।  
 ध्या’ शैत्यं मुहिनाचक्षस्य करणारित्युचिषाम् सस्मितं  
 शैलान्तं पुरमारुमण्डलगणैर्यद्वैद्यताम् शिव ॥’

नेत्रं प्रवमापहुति, अपहृष्टश्चरिणो विषयस्थानमिषानात् । द्वितीयापहृष्टे  
मैत्र्यस्तत्प्रस्तावे दर्शितः ।

जन्तुवाद—‘म्याक्रोवि’ यह बकचकार है जिसमें किसी उन्नित जन्तु का प्रकट हुई बी  
मरु के, किसी बहाने से ज़िपाने का अभिप्राय भ्रमस्तर्क रचा करता है। जैसे कि—

‘‘बि बिब ओ हिमाञ्च द्वारा कन्यादान के समथ पार्वती के करालिज्ज से उत्पन्न  
 आनन्द-श्रीमान से व्यग्र होने के कारण समस्त विवाह विधि में मङ्गली पैदा करने से  
 व्याकुल हुआ करते हैं और अपने इस प्रेमोत्तिरेक को विधामे के डिमे ओह ! हिमाञ्च  
 के हाथ कितने छि हैं’’ कह-कहकर मुसकरा विवाह करते हैं बिबसे हिमाञ्च के अन्त  
 पुर में विराजमान मातृमण्डक (बाड़ी आदि मातृवर्ग) भी हँसी से कोकपोह हो जाता  
 है और सब का सदा कल्याण करते रहें ।’’

यहाँ 'आनोक्ति' स्पष्ट है क्योंकि सिध के रोमाञ्चित होने से पार्वती के प्रति उनका जो अनुराग उत्पन्न है उसे विमलम्ब के हाथों की क्षीयकता के व्यत्यय से विपाद्य रखा है।

‘व्याजोक्ति’ और पहले प्रकार की ‘अपहृति’ (वह अपहृति जिसमें उपमेय का विवेक करके, उसके स्वान पर, अण्य की स्थापना की जाया करती है) परस्पर भिन्न-भिन्न बख्तर हैं क्योंकि ‘व्याजोक्ति’ में श्रिपाने वाला व्यक्ति, ‘विषय’ का (उपमेय का) निर्देश नहीं किया करता (वह तो पहली अपहृति में होता है कि ‘विषय’ का निर्देश किया जाता है और उसके अपहृत के साथ, अण्य की स्थापना हुवा करती है)।

‘ध्वाकोश’ और ‘हितीय’ प्रकार की अपभ्रंश का रोह, वही है ही अपभ्रंश के प्रसंग में बताया का चुका है ( जिससे नहीं इसका पुनर्निर्देश अपेक्षित नहीं ) ।

विमर्श—'म्यामोषि' की 'जलंधरासर्वलकार'कृत परिभाषा यह है—

‘उनिग्मवपुनिगूहं व्यापोष्टि

यस्य विगृह्यं वस्तु कुतश्चिन्निमित्तादुत्तिष्ठं प्रकल्पतां प्रपञ्चं सद् वस्तुवत्तरमद्येषेयं विगृह्यते  
अवकल्प्यते सा वस्तुवत्तरमद्येषकल्पनं व्याजस्य वचनात् व्याजोक्तिः ।

(अष्टांगसंहिता, सूत्र २१८)

इसमें यह स्पष्ट है कि व्यापारिकों में 'अक्रिय' और 'निष्क्रिय' (ये दोनों शब्दों का अर्थ है) वस्तुओं में व्यवसायीय व्यवसाय का कोई अभिप्राय नहीं है। वहाँ 'व्यापार' है उसका तात्पर्य 'व्यवसाय' है। इसे कि 'व्यवसाय' शब्दों के अभाव में व्यापार के निष्क्रिय के अर्थ में 'व्यवसाय' शब्द का प्रयोग है।

( ६६—स्वभावोक्ति )

स्वभावोक्तिर्दुरुहार्थस्वक्रियारूपवर्णनम् ॥ ९२ ॥

दुरुहयोः कविमात्रवेद्यो अर्थस्य डिम्भादेः स्वयोस्तदेकाग्रयोरश्वेष्टास्वरूपयोः ।

यथा मम—

‘लाङ्गूलेनाभिहत्य क्षितितलमसकृद्धारयन्नप्रपद्म-  
मात्मन्येवावलीय द्रुतमथ गगन प्रोत्पतन् विक्रमेण ।  
स्फूर्जद्घृङ्गारघोषः प्रतिदिशमखिलान् द्रावयन्नेप जन्तून्  
कोपाविष्टः प्रविष्टः प्रतिवनमरुणोच्छूनचक्षुस्तरक्षुः ॥’

‘काव्यप्रकाश’कार ने भी ‘व्याजोक्ति’ में साम्य अथवा सादृश्य का अन्तर्भाव अपेक्षित नहीं माना है—‘न चैपाऽपह्नुति प्रकृताप्रकृतोभयनिष्ठस्य साम्यस्येहासंभवात् ।’

( काव्यप्रकाश . १० म उल्लास )

उद्योतकार ने भी इसी अभिप्राय से कहा है—

‘तत्र ( अपह्नुतौ ) उपमेयनिषेधपूर्वकमुपमानव्यवस्थापनम् । अत्र तु किञ्चिदनिपिध्यैव निमित्तान्तरप्रयुक्तव्यवस्थापनमित्यपि बोध्यम् ।

अनुवाद—‘स्वभावोक्ति’ वह अलङ्कार है जिसे दुरुह अर्थात् सूक्ष्म अथवा कल्पनाशील कविजन द्वारा सवेद्य, पदार्थों के स्वरूप किंवा उनकी क्रियाओं का वर्णन कहा करते हैं ।

यहाँ ( कारिका के पद ) ‘दुरुहार्थ-स्वक्रियारूपवर्णनम्’ में ‘दुरुहयोः’ का अभिप्राय है—केवल कविजन द्वारा वेद्य का, ‘अर्थस्य’ का अभिप्राय है—बालक प्रभृति विविध वस्तुजात का और ‘स्वक्रियारूपयोः’ का अभिप्राय है—‘स्वयोः’ अर्थात् अपने अपने प्रातिस्विक, ‘क्रियारूपयोः’ अर्थात् चेष्टा किंवा स्वरूप का ।

इसके उदाहरण के लिये यह स्वरचित सूक्ति देखिये—

‘बार बार अपनी पूँछ से धरती पर चोट करते और अगले पजों से उसे बार बार तोचते-खसोटते, अपने शरीर को एक क्षण में सिकोड़ते और सहसा जोर से ऊपर की ओर उछलते, भयङ्कर ‘धूँ धूँ’ शब्द करते और जानवरों को चारों ओर भगाते, क्रोध में चूर, लाल-लाल फूली हुई आँखों वाला यह बघेरा जंगल में घुसा जा रहा है ।’

यहाँ यह स्पष्ट है कि बघेरे के स्वरूप का जो चित्रण है वह ‘स्वभावोक्ति’ के सौन्दर्य से पूर्ण है ।

विमर्श—( क ) ‘स्वभावोक्ति’ प्राचीन आलङ्कारिक-मर्यादा का एक अलङ्कार है । आचार्य रुद्रट ने इसका यह लक्षण किया है—

‘सस्थानावस्थान-क्रियादि यद्यस्य यादृश भवति ।

लोके चिरप्रसिद्ध तत्कथनमनन्यथा जाति ॥

शिष्टमुग्धयुवतिकातर-तिर्यक्सम्प्रान्तहीनपात्राणाम् ।

सा कालावस्थोचित चेष्टासु विशेषतो रम्या ॥’

( काव्यालंकार . ७. ३० ३१ )

इसमें यह स्पष्ट है कि ‘स्वभावोक्ति’ को ‘जाति’ भी कहा जाता है ! ‘जाति’ का अभिप्राय सरस्वतीकण्ठाभरणकार के अनुसार यह है—

‘नानावस्थासु जायन्ते यानि रूपाणि वस्तुन । स्वैभ्य स्वैभ्यो निसर्गैभ्यस्तानि जातिं प्रचक्षते ॥

अर्थव्यप्रेरितं मेवमियता प्रतिपद्यते । आद्यमानं प्रिय वक्ति रूप सा सार्वकालिकम् ॥  
स्वरूपमाश्रयो हेतुरिति लब्धमेवहेतवः । ते संस्वानावृत्तेषु सा विशेषेण शोभते ॥  
तत्र स्वरूपं संस्थानमवस्थानं तद्वैद्य च । वेद्यो व्यापार इत्याद्योः प्रमेयैर्बहुधा स्थितम् ॥  
मुग्धाङ्गानामवस्थित्यर्थं भीषणाणां च । वेद्योः कालस्य वृत्तिस्य साधनापि च हेतवः ॥

( सरस्वतीकण्ठामरण : ३ ४८ )

अर्थात् 'जाति' का अतिमात्र 'वस्तु-स्वभाव' है । वस्तु-स्वभाव का वह तत्त्वोक्त अन्वय  
कटुह्न विषयों की-प्रतिमा का दाब रहा करता है जाति-अन्वय है ( कविप्रतिमामाश्रयण  
भीषणोद्बुद्ध जातिरिति कण्ठस्य—रत्नदर्पणव्याख्या-सरस्वतीकण्ठामरण पृष्ठ ३१२ ) । वस्तु-  
स्वभाव में 'वस्तु स्वरूप वस्तु-संस्थाप, वस्तु-अवस्थान' वैद्य व्यापार आदि जाति सभी अन्तर्भूत हैं ।  
कवि को प्रतिमा-वृत्ति में ही वह सामर्थ्य है जिससे वह वस्तु-स्वभाव के कल्लेस में एकत्र हुना  
करता है जैसे कि क्या भी क्या है—

'रसानुगुणसम्बन्धार्थिचित्प्रतिमितवैतसा । जलं विशेषस्पर्शोत्पा प्रज्ञैव प्रतिमा क्लेश ॥  
सा हि चञ्चुर्भगवत्स्वर्गीयमिति गीयते । येन साक्षात्कारोत्प्रेय भावोत्प्रेयोक्तव्यवर्ति ॥'  
'जाति अन्वय 'स्वभावोक्ति' का अन्वय की ओर में वृत्तिव्यवस्था है क्योंकि इसमें वस्तु-  
स्वभाव का जो वर्णन हुना करता है वह कविप्रतिमा-प्रसूत होने से अन्वयपूर्ण क्या करता है ।  
अन्वय-स्वरूप वस्तु-वर्णन 'स्वभावोक्ति' नहीं अन्वय 'वर्णन' अन्वय वाच-वैत है ।

( ४ ) विवक्षा कविराज ने अन्वय-स्वरूप की 'स्वभावोक्ति'-भीषासा का अनुसरण किया है ।  
अन्वय-स्वरूप की स्वभावोक्ति-भीषासा यह है—

'सूक्ष्मवस्तुस्वभाववर्णनमात्रं स्वभावोक्तिः ॥

इह वस्तुस्वभाववर्णनमात्रं आकाङ्क्षा । तत्र सति सर्वं काव्यमकटुह्रि स्यात् । यदि  
तत्काव्यमस्ति न वस्तुस्वभाववर्णनम् । तदर्थं सूक्ष्मप्रवृत्तम् । सूक्ष्मः कविस्वभाववर्णन  
गम्य । अत एव तद्विहित एव यो वस्तुस्वभाववर्णनस्य पद्यावृत्तमूनामतिरिक्तत्वेन वर्णन  
स्वभावोक्तिरकटुह्रि । ( अन्वय-स्वरूप पृष्ठ १२१ )

अर्थात् 'स्वभावोक्ति' ( स्वभाव + वक्ति ) का अन्वय सूक्ष्म अर्थात् कविप्रतिमामात्र है । संवेद्य वस्तु-  
स्वभाव की वस्तुस्वरूप वक्ति अन्वय वर्णन का अन्वय है । केवल वस्तु-स्वभाव-वर्णन 'स्वभावोक्ति'  
अन्वय नहीं अन्वय कविप्रतिमामात्रवैद्य वस्तु स्वभाव का वक्ता वर्णन 'स्वभावोक्ति' है ।

वस्तु के सूक्ष्म वृत्त स्वभाव-वर्णन की अन्वय इसविध माना जाता करता है क्योंकि इसमें  
सहज इतन एक अन्वय का अनुसरण किया करता है । लौक-वैत की वस्तुओं के सूक्ष्म वर्णन  
के विषय में सहज वृत्त का भी इतनसावृत्त हुना करता है वही स्वभावोक्ति की अन्वय  
वर्णना का अन्वय है । 'स्वभावोक्ति' में किस प्रकार का 'इतनसावृत्त' संभव है—इतन निरूपण  
आचार्य अन्वय के अन्वयों में इस प्रकार है—

'ईदृगिदं वस्तु इत्यत्र इदमसंवाद' । स च यथा—

यत्र स्तब्धमयम् । इति राज्ञीपातिप्रवृत्तः ।

इत्यत्र हा इति संज्ञाप्ता धात्री कैरेविद्वयते ॥

अत्र धात्रीगम्यारण्य स्वभाव इति वस्तुनिर्दिष्टा इदमसंवाद ।

यथा वा—

वहास्वाद्य सीता विनरति लब्धे स्वगृहिने

सुमित्राप्रवृत्त प्रमिद्विद्विरोधं तदनु च ।

वहामं वाचामं वहमतिरसं यच्च विरसं

चर्तं वा नृकं वा रचयति तु तेन स्वममनम् ॥

( ६७—भाविक )

अद्भुतस्य पदार्थस्य भूतस्याथ भविष्यतः ।

यत्प्रत्यक्षायमाणत्वं तद्भाविकमुदाहृतम् ॥ ९३ ॥

यथा—

‘मुनिर्जयति योगीन्द्रो महात्मा कुम्भसम्भवः ।  
येनैकचुलुके दृष्टौ दिव्यौ तौ मत्स्यकच्छपौ ॥’

यथा वा—

‘आसीदञ्जनमत्रेति पश्यामि तव लोचने ।  
भाविभूषणसम्भारां साक्षात्कुर्वे तवाकृतिम् ॥’

अत्रेदोत्र गृहिणीनां स्वभाव इति सवाद ।’ ( अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी, पृष्ठ २२६-२२७ )  
अर्थात् ‘स्वभावोक्ति’ में ‘हृदयसवाद’ का अभिप्राय ‘वस्तुसवाद’ का अभिप्राय है । ‘रसादि’  
में जो ‘हृदयसवाद’ है उसका तात्पर्य ‘परकीय चित्तवृत्ति की आत्मीय चित्तवृत्ति से अमेद-  
भावना’ है—

‘परकीयायाश्चित्तवृत्तेरात्मीयचित्तवृत्त्यभेदेन परामर्शो हृदयसवाद । तस्य च स्वपर-  
विभागाभावाद् देशकालाभावाच्च व्यापकत्वेन प्रतीतेः साधारण्यम् । अत एव परमाद्वैत-  
ज्ञानतुल्यत्वम् । तस्य ह्ययमित्येव परामर्शः । तदव्यतिरिक्तस्यान्यस्याऽसम्भवात् ।’

( अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी, पृष्ठ २२६ )

‘स्वभावोक्ति’ के वैचित्र्य से प्रभावित सहृदय-हृदय यही अनुभव किया करता है कि कवि  
ने जिस वस्तु का वर्णन किया है वह वस्तु वस्तुतः वैसी है । ‘हृदयसवाद’ ही वस्तुगत और चित्त-  
वृत्तिगत—द्विविध होने से स्वभाव-वर्णन किंवा रस वर्णन-दोनों में व्याप्त रहा करता है ।

निम्नलिखित सूक्ति ‘स्वभावोक्ति’ का एक सुन्दर निदर्शन है जिसमें ‘वस्तुसवाद’ के साथ-  
साथ ‘हृदयसवाद’ भी स्वतः सिद्ध दिखाई देता है ।

‘किञ्चित् कुञ्चित्चञ्चुचुम्बनमुखस्फारीभवल्लोचना

स्वप्ने मोदितचारुचाटुकरणैश्चेतोऽर्पयन्ती मुहुः ।

कूजन्ती विततैकपक्षतिपुटेनालिङ्ग्य लीलालस

धन्य कान्तमुपान्तवर्तिनमिय पारावत सेवते ॥’

अनुवाद—‘भाविक’ वह अलङ्कार है जिसे किसी भूत अथवा भावी अद्भुत पदार्थ का  
ऐसा चित्रण कहा जाया करता है जिससे वह प्रत्यक्षवत् प्रतीत होने लगता है ।

इसका उदाहरण यह है—

‘उन योगिराज कुम्भजन्मा महामुनि अगस्त्य की जय हो जिन्होंने ( समुद्र का  
आचमन करते समय ) अपने एक चुल्लू में, उन दिव्य मत्स्य ( मत्स्यावतार विष्णु )  
और कच्छप ( कच्छपावतार विष्णु )—दोनों को देख लिया था ।’

अथवा यह—‘अब भी मुझे तुम्हारी वे आँखें दिखाई दे रही हैं जिनमें कभी तुम  
अञ्जन लगाया करती थी और तुम्हारी वह रूपरेखा भी मेरी आँखों के आगे खड़ी है  
जिसे तुम आभूषणों से सुशोभित करोगी ।’

यहाँ ‘मुनिर्जयति’ आदि में ‘भाविक’ का वैचित्र्य इसलिये स्पष्ट है क्योंकि इस सूक्ति  
के अनुशीलन मात्र से सहृदय काव्य पाठक की आत्मा में जो अनेक उत्तर-चरित

न चाय प्रसादाख्यो गुणः, भूतभाषिनो' प्रत्यक्षायमाणत्वे तस्याहेतुत्वात् ।  
न चादभुतो रसः, विस्मय प्रत्यस्य इत्युत्पात् । न चातिशयोक्तिरलङ्कारः, अल्प-  
पसायामायात् । न च भ्रान्तिमान्, भूतभाषिनोभूतभाषितयैव प्रकरणात् ।

न च स्वभाषोक्तिः, तस्य लौकिकवस्तुगतसूक्ष्ममस्यभाषस्यैव यथावत्पूर्ण-  
स्वरूपम्, अस्य तु यस्तुन प्रत्यक्षायमाणस्वरूपो पिच्छित्तिविरोपोऽस्तीति ।

यदि पुनर्वस्तुना ब्यपितस्वभाषोक्त्याप्यस्या पिच्छित्ते सम्भवस्तर्हि-  
मयो' सङ्कर' ।

‘अनातपत्रोऽप्ययमत्र लक्ष्यते सितातपत्रैरिव सवतो पृथ' ।

अयामरोऽप्येव सवैय कीम्यत शिलासवालभ्यजनन कोऽप्ययम् ॥’

अत्र प्रत्यक्षायमाणस्यैव वर्णनान्नायमलङ्कारः, यणमावरोन प्रत्यक्षायमा-  
णस्यस्यैव स्वरूपत्वात् ।

महर्षि अगस्त्य का अति प्राचीन रूप प्रायश्च सा दिखाई देन लगता है । इसी प्रकार  
‘आसीद्भजनमप्रेति आदि में ‘मायिक’ का जो उद्यम होता है उसमें किसी रमणी की  
भूतकल्प किंवा भविष्यत्काल से लब्ध, जलौकिक रमणीयता का स्वरूप या साधारण  
होने लगता है ।

‘मायिक’ एक अलङ्कार है—वाच्यवैचित्र्य अथवा वर्णनवैचित्र्य है । इस ‘प्रसाद’  
गुण में अन्तर्भूत नहीं किया जा सकता क्योंकि ‘प्रसाद’ गुण से भूत और मायी वस्तु की  
प्रायश्चल्य प्रतीति का कोई संबंध नहीं माना जाया करता । ‘मायिक’ अलङ्कार ‘अदभुत  
रस’ नहीं क्योंकि यह विस्मय का हेतु हो सकता है ( और अदभुत रस ऐसा हुआ करता  
है जिसे अविश्वस्य विस्मयक्य कहा गया है ) । इस अतिशयोक्ति रूप भी नहीं कहा  
जा सकता क्योंकि यहाँ ( भूत अथवा मायी वस्तु में प्रायश्च वस्तु के ) किसी प्रकार के  
‘अप्यवसाव’ की कोई सम्भावना नहीं ( जब कि ‘अतिशयोक्ति’ में अप्यवसाव अथवा  
तादृश्य-भ्रतीतिरूप अतिशय ही सब कुछ हुआ करता है ) । ‘मायिक’ में ‘भ्रान्तिमान्’  
की भी प्राप्ति नहीं होनी चाहिये क्योंकि यहाँ भूत वस्तु भूत वस्तु के ही रूप में और  
मायी वस्तु मायी वस्तु के ही रूप में प्रकाशित हुआ करती है ( यहाँ ऐसा कभी नहीं  
होता कि मायी वस्तु में भूतता अथवा भूत वस्तु में मायिता का प्रकटन हो ) ।

‘मायिक’ वस्तुतः ‘स्वभाषोक्ति’ से भी भिन्न रूप का अलङ्कार हुआ करता है क्योंकि  
जहाँ ‘स्वभाषोक्ति’ में लौकिक वस्तु के सूक्ष्म वर्णन का यथावत् वर्णन अभिप्रेत है वहीं  
‘मायिक’ में वस्तु के ऐसे वर्णन का वैचित्र्य रहा करता है जिससे यह प्रायश्चल्य प्रतीति  
हुआ करती है । यह दूसरी बात है कि जहाँ-तहाँ सूक्ष्म-सुमय वस्तु-स्वभाव-वर्णन  
( स्वभाषोक्ति ) में ‘मायिक’ ( वस्तुस्वभाव की प्रायश्चायमात्रता ) का भी पुर दिला गया  
हो । किन्तु जहाँ कहीं भी ऐसी बात हो यहाँ ‘स्वभाषोक्ति’ नहीं अपि तु ‘म्यभाषोक्ति’  
और ‘मायिक’ का ‘सङ्कर’ ही मानने योग्य है ।

‘मायिक’ के उपर्युक्त स्वरूप की दृष्टि से यदि भिन्नकिसित सूक्ति बर्णात्—

‘राज्यक्षेत्र के बिना भी वे ऐसे लगते हैं जैसे पानी और से खेत राज्यक्षेत्र से वेधित  
हों और बिना खेत के भी वे ऐसे प्रतीत होते हैं जैसे अद्वैत से वेधित द्वारा सुखोभित  
हों—मगर ऐसा महापुरुष और कीन है ?’  
को देखें तो यह निर्विवाद है कि यहाँ ‘मायिक’ की कोई संभावना नहीं हो सकती ।

यत्पुनरप्रत्यक्षायमाणस्यापि वर्णने प्रत्यक्षायमाणत्वं तत्रायमलङ्कारो भवितु युक्तः, यथोदाहृते 'आसीदञ्जनम्'—इत्यादौ ।

कारण यह है कि 'भाविक' वहाँ नहीं हुआ करता जहाँ किसी प्रत्यक्षवत् प्रतीत होने वाली वस्तु का वर्णन किया जाया करता है (जैसा कि यहाँ स्पष्ट है) अपितु वहाँ हुआ करता है जहाँ कवि के वर्णना-वैचित्र्य से भूत अथवा भावी वस्तु की प्रत्यक्षवत् प्रतीति हुआ करती है। कवि की वर्णना-वैचित्र्य से अप्रत्यक्ष वस्तु की प्रत्यक्षवत् प्रतीति में ही 'भाविक' की रूपरेखा रहा करती है जैसा कि 'आसीदञ्जनमत्रेति' आदि पूर्वोद्धृत सूक्ति में स्पष्ट है।

विमर्श—(क) 'भाविक' प्राचीन आलङ्कारिक-मान्यता का एक अलङ्कार है। आचार्य भामह ने इसका स्वरूप इस प्रकार निदिष्ट किया है—

'भाविकत्वमिति प्राहु प्रबन्धविषय गुणम् । प्रत्यक्षा इव दृश्यन्ते यत्रार्था भूतभाविनः ॥  
चित्रोदात्ताद्भुतार्थत्व कथाया स्वभिनीतता । शब्दानाकुलता चेति तस्य हेतु प्रचक्षते ॥'

(भामह काव्यालङ्कार ३. ५२-५३)

आचार्य भामह की यह मान्यता आचार्य उद्भट द्वारा भी प्रमाणित है—

'प्रत्यक्षा इव यत्रार्था दृश्यन्ते भूतभाविनः । अत्यद्भुताः स्यात्तद्वाचामनाकुल्येन भाविकम् ॥'  
(अलङ्कारसारसंग्रह . ६ १२)

'भाविक' के सम्बन्ध में इन विचारधाराओं का विशदीकरण 'अलङ्कारसर्वस्व' कार ने इस प्रकार किया है—

'अतीतानागतयोः प्रत्यक्षायमाणत्व भाविकम् । अतीतानागतयोर्भूतभाविनोरर्थयोर-  
लौकिकत्वेनात्यद्भुतत्वाद् व्यस्तसम्बन्धरहितशब्दसन्दर्भसमर्पितत्वाच्च प्रत्यक्षायमाणत्वं  
भाविकम् । कविगतो भाव आशय श्रोतरि प्रतिबिम्बत्वेनास्तीति, भावो भावना वा पुनः  
पुनश्चेतसि निवेशन सोऽत्रास्तीति । न चेय आन्ति, भूतभाविनोः भूतभावितयैव प्रकाश-  
नात् । नाऽपि रामोऽभूदिति वद् वस्तुमात्रम् । भूतभाविगतस्य प्रत्यक्षत्वादिगतस्य  
धर्मस्य स्फुटस्याधिकस्य प्रतिलम्भात् । नापीयमतिशयोक्तिः, अन्यस्यान्यतयाऽध्यवसाया-  
भावात् । न हि भूतभव्यभूतभावित्वेनाध्यवसीयते, अभूतभावि वा भूतभावित्वेनापि,  
प्रत्यक्षमप्रत्यक्षगतत्वेन, अप्रत्यक्षमपि प्रत्यक्षत्वेन ।' (अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ २२३-२२४)

अर्थात् 'भाविक' की पृथक् अलङ्काररूप में मान्यता इसीलिये अनिवार्य है क्योंकि यही वह वाच्यवैचित्र्य है जिससे कवि हृदयगत भाव अथवा अभिप्राय सहृदय हृदय में प्रतिबिम्बित हुआ करता है। 'भाविक' को इसलिये भी 'भाविक' कहा जाया करता है क्योंकि इसी में वह सामर्थ्य है जिससे सहृदय-हृदय वर्ण्य वस्तु की 'भावना' करने में समर्थ हुआ करता है। कवि के हृदयगत अभिप्राय के सहृदय-हृदय में प्रतिबिम्बित होने अथवा कविवर्णित वस्तु की सहृदय-हृदय द्वारा 'भावना' किये जाने का जो कारण है वह एक ऐसा वर्णना-वैचित्र्य है जिससे अतीत और अनागत अथवा भूत और भावी वस्तु का ऐसा अनुभव हुआ करता है जो भावनाप्रत्यक्षरूप अनुभव है और एक अलौकिक अनुभव है। सहृदय हृदय में इस अलौकिक अनुभव की उत्पत्ति तभी हो सकती है जब कि कवि को शब्दार्थ-योजना में प्रसाद हो और कविवर्णित वस्तु में विस्मयजनकता की शक्ति हो। भूत अथवा भावी वस्तु की 'भावना' आन्ति नहीं अपि तु एक अलौकिक साक्षात्कार है जो कवि और सहृदय के हृदय की एक विशेषता है। 'भूत अथवा भावी वस्तु में ऐसी कोई विशेषता नहीं जिसमें वह प्रत्यक्षवत् प्रतीत होने लगे।' यह ही कवि-प्रतिभा है जो अपनी शब्दमूर्ति में भूत और भावी वस्तुओं का प्रत्यक्ष कराया करती है और सहृदय हृदय में चमत्कार उत्पन्न



किया करती है। 'मायिक' एक सर्वोत्तम भक्तद्वार है, ऐसा भक्तद्वार है जिसका स्वयं नाम भक्तद्वारों में नहीं देखा जा सकता।

यह 'भावना' क्या है जो 'मायिक' की कल्पना का आधार है—इसके सम्बन्ध में 'भक्तद्वारसर्वस्व' कहने यह विचार किया है—

किञ्चनस्तुप्रत्यक्षमेव प्रतिपद्युः सामग्री उपपुम्बते । सा च छोकवात्रायां भक्तद्वारीग्निर-  
स्वभावा, योगिनामतीन्द्रियाभङ्गस्यैव भावना वस्तुगत्याऽप्यनुसृत्यप्रपुच्छ । अन्वष्टतायां च  
वस्तुनामाद्वरप्रत्ययेन हृदि सन्धार्यमाण्यत्वात् । (भक्तद्वारसर्वस्व पृष्ठ २२५)

अर्थात् मायिक के रूप में यदि यह जो वस्तु-वर्णन-वैशिष्ट्य है वह वस्तुतः कवि को 'भावना' अर्थात् छवि के ही स्वरूप है। कवि को 'भावना' की भाँति सहज ही भी 'भावना' होती है। कवि और सहज ही 'भावना' एक अद्वैतिक, अतीन्द्रिय बीजप्रत्यक्षवत् प्रत्यक्ष ज्ञान है जिसमें वह और मायी वस्तु, अपने अपने काष्ठ से अद्वैतजन्य रूप में ही प्रत्यक्षवत् प्रतीत हुआ करती है। 'भावना' वस्तुमात्र की नहीं हो सकती अपि तु वही वस्तु की हुमा करती है जिसके प्रति कवि के हृदय में किस्मबाजेश उत्पन्न हुआ करता है। किस्म से आविष्ट कवि-हृदय में जो वस्तु प्रवेश करती है उसमें एक अद्वैतिक चमत्कार रहा करता है। सहज-हृदय जब ऐसी वस्तु को 'भावना' करता है तब वही भी वह वस्तु चमत्कारजनक क्या करती है और वह वस्तुने एकान्त हो कर रमने लगाता है।

कवि किसी वस्तु को 'भावना' को ऐसे छन्दों में ही मन्त्रांकित करने पर 'मायिक भक्तद्वार' की रचना कर सकता है। जो कि अनाकुल हो अथवा प्रसन्न गुण से पूर्ण हो। 'भक्तद्वारसर्वस्व' विमर्दिनीधर ने इसीविषे कहा है—

'यद्यपि बाधमाकुलस्य सर्वज्ञैव वर्जनीयम्, तथापि तत्तत्र वैपश्येवायांविशेषात् प्रतीते  
विध्यमात्रकम् । इह तु तदाकुलस्येवातीतानागतयोः प्रत्यक्षायमानत्वमेव च स्यात् इति  
माध्याम्येनैतदुच्यते । एवममेव हेतुहृदये (अद्वैतिकप्रत्येव बाधमाकुलस्येव च) अस्वा-  
कृष्टारत्वमुच्यते । इह हि केचिद्व्याः कविचर्यासि सुस्पष्टमधिक्यं बाधबाधकयो रान्तरी-  
यकमित्युच्यते । अत एवेकस्यापि रामजीयकदावी वात्साकृष्टारत्वम् । इह हि कविद्वारी  
कविचर्यासि सुस्पष्टमधिक्यं अपि मिश्रसीमायामावाक्यसर्कारावत् सहज्यामानत्वज्ञा-  
त्यहताया बाधबाधार्हाः । केचिन्नु सुभगा अपि दुर्नीयसम्प्रोपारोहितया सहज्यामानत्वज्ञा-  
वर्जका एवेतुभयमपीहान्वयमाश्रयणीयम् । (भक्तद्वारसर्वस्व-विमर्दिनी पृष्ठ २२४)

अर्थात् वेते जो प्रसन्नपूर्णता सदा अवस्थित है किन्तु 'मायिक' में हमे अत्यन्त आश्चर्य  
माना गया है। कारण यह है कि प्रसन्न के अभाव में भूत और मायी वस्तु का ऐसा वर्णन जिसमें  
यह प्रत्यक्षवत् प्रतीत हो सके, असंभव है। वस्तुतः वाणी को अनाकुलता और कवि वस्तु की  
विरमयजनकता ही 'मायिक' की कल्पना का कारण है। जिस स्थिति और अर्थ को रमणीयता कहा  
करते हैं उसका अविभाज्य कवि-वर्णित वस्तुओं का कवि-प्रयुक्त छन्दों में स्पष्टतया उल्लेख उठता है।  
बहुत ही ऐसी भी वस्तुएँ हैं जो कवि को परमार्थ-योजना में स्पष्ट शक्त्य करती हैं किन्तु इनमें  
अथवा कोई सौन्दर्य भ होने से सहज ही हृदय के आवर्जन की शक्ति नहीं रहा करती और इस  
विषे वे सहज ही अन्त-नाटक द्वारा वही भाँति देव समझी गया करती हैं जिस भाँति निम्न में  
उदाहरण। ऐसी वस्तुओं के वर्णन में 'मायिक' को संभावना नहीं हुआ करती। 'मायिक'  
को संभावना नहीं भी नहीं है क्योंकि कवि वस्तु को समय-समय ही किन्तु रचना सौम्य-हीन  
ही। इसीविषे, 'मायिक' के विषे लोगों को अपेक्षा है—सूक्ष्म-सुभग वस्तु-रचना को और अना-  
कुल अथवा प्रसन्नपूर्ण परमार्थ-योजना को भी।

‘यही वह नगरी है जिसमें मेन-मार्केट से १०-१२ मील दूर टारिखों पर चन्द्रकान्त

भ्योऽस्नानिपासात्तरता पयोमि' केलीयनं वृद्धिमुदीकरोति ॥'

( अङ्गभूत उदात्तचरित का वर्णनकथ 'उदात्त' )

'नाभिप्रमिन्नाम्बुरुहासनेन संस्तूयमान' प्रथमेन धात्रा ।

अमु युगान्तोषितयोगनिद्रां संहृत्य शोकाम् पुरुषोऽभिरोते ॥'

मभि की बनी फलें चौथी के स्पर्श से अकबारा बहाया करती हैं जिससे श्रिहासन सदा रुदरुहाते रहा करते हैं ।

[ यहाँ यह स्पष्ट है कि कवि ने वर्णन मगरी की देसी सपत्ति का वर्णन किया है जिसे श्लोक में देसना अस्मय है । यही उदात्त-वर्णन यहाँ का अकङ्कार है जिसे 'उदात्त' अकङ्कार कहा करते हैं । ]

सीते ! यही वह समुद्र है जिसमें धानिकमकथोमि ( मगवान् विष्णु की नामि से उत्पन्न कमल से जन्म लेनेवाले ) आदि ब्रह्मा द्वारा पूजनीय परमपुरुष ( मगवान् विष्णु ) अगत् क प्रलय के बाद, योगनिद्रा में निछीन हुये छपन किया करते हैं ।

( समुद्र १३१ )

[ यहाँ महाकवि कविकास ने मगवान् विष्णु का जो वर्णन किया है जो कि एक महनीय किया उदात्त चरित-वर्णन है वह समुद्र-वर्णन के अङ्गकथ से रहने के कारण, 'उदात्त' अकङ्कार का एक सुन्दर विवरण बन गया है ।

विमर्श—( क ) 'उदात्त' शब्द का ही अर्थ समुद्रिमय वस्तु है और साथ ही साथ महनीय चरित भी 'उदात्त' हो कहा जाया करता है । जिस वस्तु का वर्णन ऐसा हुआ करता है जिससे उसकी लौकिक विभूतियों का अभिमान हो उसमें 'उदात्त' अकङ्कार की मान्यता स्वाभाविक ही है । इसी प्रकार किसी महनीय पुरुष का ऐसा वर्णन जिससे किसी वस्तु की महनीयता प्रतीत हुना करे, 'उदात्त' अकङ्कार की ही समझा है । 'अकङ्कारसर्वस्व'कार में इसीविधे कहा है—

'स्वभावोत्थी मायिकं च यथावद्वस्तुवर्णनम् । तद्विषयत्वेनातोपितवस्तुवर्णनतमव उदात्तस्यावसरा । तत्रास्तमाज्यमानविभूतिपुच्छस्य वस्तुनो वर्णनं कविप्रतिभोत्त्वापितमैव कचजमुदात्तम् ।

'महापुरुषान्मुदात्तचरितानामङ्गिभूतवस्तुवत्तराङ्गमात्रेणोपविबध्यमानं चरितं बोद्धव्यम् । महापुरुषचरितस्योदात्तत्वात् ॥' ( अकङ्कारसर्वस्व पृष्ठ २६ )

अर्थात् जैसे वधानरित वस्तु के एक प्रकार के वर्णन में 'स्वभावोक्ति' और दूसरे प्रकार के वर्णन में मायिक अकङ्कार का अनुसंगान किया जाया करता है वैसे ही अविच्छिन्न वस्तु के वर्णन में 'उदात्त' की कल्पना स्वाभाविक ही है । लौकिक सृष्टि से उत्पन्न वस्तु का वर्णन कविप्रतिभोत्त्वापित ऐश्वर्य का वर्णन है और यही 'उदात्त' अकङ्कार है । उदात्त महापुरुष के वर्णन से यदि किसी अन्य वर्णन वस्तु की उदात्तता प्रकटित हो तो वहाँ भी 'उदात्त' अकङ्कार का ही अङ्गकार रहा करता है ।

( घ ) अकङ्कारसर्वस्व-विमर्शनी'कार में अङ्गभूत महापुरुष-वर्णन में 'उदात्त' का स्वरूप और भी अधिक स्पष्ट किया है—

'अङ्गिभूतस्य वस्तुनो महापुरुषचरितमुत्कर्षप्रतिपिपाद्विधयाऽनृतयोपविबध्यमावमेतदकङ्कारादम् न त्वच्छनपरतयोपात्तमिति तत्पर्यायः । तच्च बबोद्धव्यम् ( 'तद्विषयमस्य चरितम् उदात्तवचनानुपाकचम्यसमी । निवसन् बाहुसहाय्यकार रचःवर्च राम' इत्यम् )

( ६९—रसवत्, ७०—प्रेय, ७१—ऊर्जस्वि, ७२—समाहित )

रसभावौ तदाभासौ भावस्य प्रशमस्तथा ।

गुणीभूतत्वमायान्ति यदाऽलङ्कृतयरतदा ॥ ९५ ॥

रसवत्प्रेयऊर्जस्विसमाहितमिति क्रमात् ।

तदाभासौ रसाभासो भावाभासश्च । तत्र रसयोगाद्रसवदलङ्कारो यथा—

‘अयं स रसनोत्कर्षी—’ इत्यादि ।

‘कश्चित्कान्ताविरहगुरुणा स्वाधिकारात्प्रमत्तं शापेनास्तगमितमहिमा वर्षभोग्येण भर्तुः ।  
यक्षश्चक्रे जनकतनयास्नानपुण्योदकेषु स्निग्धच्छायातरुषु वसति रामगिर्याश्रमेपु ॥’  
अत्राङ्गिनो गिरिविशेषस्य वसतियोग्यत्वादिदर्शनार्थमुत्कर्षप्रतिपिपादयिष्या रामसीता-  
दिचरितमुपलक्षणपरं तत्र नायमलङ्कारः ।

यथा—

‘गोदावर्या करिकुलमदत्तोददत्तोदकाया पारे पारे वत वत परामृश्यतामृष्यमूक ।  
कङ्कालाद्री पिहितगगने दुन्दुभेयत्र रामः पादाङ्गुष्ठं निजमपि भवद्दैवतं निर्ममेऽस्तम् ॥’

अत्र पवनं प्रति वियोगिन्या उक्तौ रामचरितमुपलक्षणमात्रपरम् । न ह्यङ्गभूतेनाङ्गिनः  
कश्चिद् विशेषो विवक्षितः ।

‘अत्रासीत् फणिपाशवन्धनविधिं शक्त्या भवद्देवरे

गाढं वक्षसि ताडिते हनुमता द्रोणाद्रिरत्राहृतः ।

दिव्यैरिन्द्रजिदत्र लक्ष्मणशरैर्लोकान्तरं प्रापित—

स्तस्याप्यत्र मृगाक्षि ! राक्षसपते कृता च कण्ठाटवी ॥’

इत्यत्र तु रामस्य सीतां प्रत्युक्तावुपलक्षणीभूतदेशविशेषं पाशवन्धनाद्येव साक्षाद्विव-  
क्षितमिति न महापुरुषचरितस्य वस्त्वन्तरं प्रत्यङ्गभाव इति नायमलङ्कारः ।

( अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी, पृष्ठ २३१ )

अर्थात् ‘अङ्गभूतमहापुरुषवर्णनं’ रूप उदात्त इसीलिये उदात्त का एक प्रकार माना गया है क्योंकि  
इसके द्वारा अङ्गिरूप वर्ण्यं वस्तु के उत्कर्ष का प्रकाशन किया जाता करता है । इस दृष्टि  
से जहाँ कहीं ऐसा महापुरुष का वर्णन हो, जो कि वर्ण्यं वस्तु का उत्कर्ष प्रकाशक न हो कर, केवल  
उपलक्षणमात्र अथवा सूचक सा लगा करे वहाँ ‘उदात्त’ की कोई सम्भावना नहीं होनी चाहिये ।  
‘कश्चित् कान्ता’ आदि सूक्तिओं में महापुरुष-वर्णन अवश्य है किन्तु इसका उद्देश्य वर्ण्यं वस्तु का  
वैभव प्रकाशन नहीं अपि तु वर्ण्यवस्तु का उपलक्षण होना है । इसलिये इन सूक्तिओं में ‘उदात्त’  
का अनुसंधान असंगत है ।

जिसे ‘उदात्त’ अलङ्कार की शोभासम्पत्ति का दर्शन करना हो उसके लिये महाकवि परिमल  
गुप्त के ‘नवसाहस्राक्षचरित’ और महाकवि रत्नाकर के ‘हरविजय’ की सूक्तियों देखने योग्य हैं ।

अनुवाद—‘रसवत्’, ‘प्रेय’, ‘ऊर्जस्वि’ और ‘समाहित’ वे अलङ्कार हैं जिन्हें क्रमशः  
‘रस’, ‘भाव’, ‘रसाभास-भावाभास’ तथा ‘भावप्रशम’ को अङ्गरूप से अवस्थान में देखा  
जाया करता है ।

यहाँ कारिका में ‘तदाभासौ’ का अभिप्राय ‘रसाभास’ और ‘भावाभास’—दोनों का है ।

इन चारों अलङ्कारों में, ‘रसवत्’, जिसमें अङ्गरूप से अवस्थित रस रहा करता है, इस  
सूक्ति में स्पष्ट है—

‘अयं स रसनोत्कर्षी ( पीनस्तनविमर्दनं । नाभ्यूरुजघनस्पर्शी नीवीवित्तसनं कर ॥ )’

अत्र शृङ्गारं करुणस्याङ्गम् । एवमन्यत्रापि । प्रकृष्टप्रियत्वात्त्रेयं ।

यथा मम—

‘आमीक्षितास्रसविषर्तिततारकाक्षी

मत्कण्ठबन्धनपररसयभाद्रवल्लीम् ।

प्रस्वेद्यवारिकणिकाशितगण्डबिम्बां

सस्मृत्य सामनिशमेति न शाम्तिमन्तं ॥’

अत्र समोगशृङ्गारं स्मरणाश्रयभावस्याङ्गम् । स च विप्रक्षम्भस्य । ऊर्जो बलम्, अनौचित्यप्रवृत्तौ तद्व्याप्तीत्युच्यते ।

यथा—

‘वनेऽस्त्रिलकलासक्तं परिहृत्य निजक्षियः ।

त्वदैरिषनितायुन्दे पुलिन्दां कुर्वते रतिम् ॥’

अत्र शृङ्गाराभासो राजपिपयकप्रतिभावस्याङ्गम् । एव भावाभासोऽपि ।

समाहित परिहारः ।

यहाँ ‘रसवत्’ इसकिये है क्योंकि यहाँ ‘शृङ्गार’ रस ‘करुणरस’ के अङ्ग रूप से उपनिबद्ध है ( अङ्ग रूप से इसकिये क्योंकि यहाँ कवि ‘करुण’ की अभिव्यक्तता में रस-चित है और उसी की उत्कट उद्गीर्षि के किये ‘शृङ्गार’ का आधान कर रहा है ) ।

इसी प्रकार अन्य रसों की अङ्गता में भी ‘रसवत्’ अङ्गद्वारा वस्तु-वस्तु स्वयं देखा जा सकता है ।

‘प्रेम’ जिसे काम्याचार्यों का अत्यधिक आवश्यक अथवा सङ्कल्प का अत्यधिक मनो रञ्जक अङ्गद्वारा कहा करते हैं बिम्ब स्वरचित सृष्टि में दिखायी दे रहा है—

अबसुखी, अकसली कि या कलीविका की चञ्चलता से भरी आँखों वाली मेरे द्वारा आकर्षित होने पर प्रत्याकिङ्गन में शिथिल मुचकता वाली, कपोलों पर पसीने की बुँदें झटकती, उस सुन्दरी की जब बाद आती है तो मेरा हृदय रह-रह कर उद्भिन्न हो पड़ता है ।

यहाँ ‘प्रेम’ अङ्गद्वारा इसकिये है क्योंकि यहाँ जो ‘समोगशृङ्गार’ उपनिबद्ध है वह ‘स्मृति’ रूप भाव का अधिकाधिक परिपोषक होने से अङ्ग रूप से ही उपनिबद्ध है । और वह ‘स्मृति’ रूप धर्मिभारिभाव अन्तर्लोगरत्ना यहाँ के अङ्गी रस ‘विप्रक्षम्भशृङ्गार’ के उत्कट रूप से उद्गीर्षक होने के कारण अङ्ग रूप से ही उपनिबद्ध पड़ा है ।

‘ऊर्जस्वी’ जिसका अभिप्राय वह अङ्गद्वारा है जिसमें अनौचित्य प्रवृत्त रस और भाव ( रसाभास और भावाभास ) रूप ‘ऊर्ज’ अथवा ‘बल’ विद्यमान रहा करता है, इस सृष्टि में दर्शनीय है—

‘राजन् । जंगलों के भीक, अपनी-अपनी कहावती शियों को झोड़ कर अब आपकी प्राप्ति-रमणिओं के प्रेम में पागल हो रहे हैं ।’

यहाँ ‘ऊर्जस्वि’ अङ्गद्वारा इसकिये है क्योंकि यहाँ राजपिपयक ‘रति’ भाव के अङ्ग रूप से अवस्थित ‘शृङ्गाराभास’ का ‘ऊर्ज’ अथवा बल स्पष्ट प्रतीत हो रहा है । इसी प्रकार राजादिपिपयक रतिभाव के अङ्ग रूप से उपनिबद्ध ‘भावाभास’ रूप ‘ऊर्ज’ के कारण जो ‘ऊर्जस्वी’ अङ्गद्वारा हुआ करता है उसका उदाहरण स्वयं देखा जा सकता है ।

यथा—

‘अविरलकरवालकम्पनैर्भ्रुकुटीतर्जनगर्जनैर्मुहुः ।

दृष्टो तव वैरिणां मदः स गतः कापि तवेक्षणेक्षणात् ॥’

अत्र मदाख्यभावस्य प्रशमो राजविषयरतिभावस्याङ्गम् ।

‘समाहित’, जिसे किसी भाव के परिहार या प्रगमन (भावशान्ति अथवा भाव की प्रशम्यदवस्था) के अङ्गरूप से उपनिबन्ध में देखा जाया करता है, इस सूक्ति में स्पष्ट है— ‘राजन् ! आपके शत्रुओं का वह मद जो कि पहले, उनकी तलवारों के चमकाने और भौंहों के तरेरने और तर्जन गर्जन में दिखाई पड़ता रहा, अब, आपके सामने आने पर, पता नहीं, क्षणभर में कहा गायब हो गया ।’

यहाँ ‘समाहित’ अलङ्कार इसलिये है क्योंकि राजविषयक रतिभाव के अङ्गरूप से उपनिबद्ध ‘मद’ की प्रशम्यदवस्था (भावशान्ति) का सौन्दर्य स्पष्ट प्रतीत हो रहा है ।

विमर्श—(क) रसवदादि अलङ्कार-चतुष्टय का निरूपण साहित्यदर्पणकार ने इसीलिये किया है जिसमें ‘काव्यप्रकाशकार’ से उनकी नवीनता झलक उठे । काव्यप्रकाशकार ने तो ‘रसवत्’ आदि को अलङ्कार ही नहीं माना है क्योंकि उनकी दृष्टि में रसध्वनिवादी आनन्दवर्धनाचार्य की यह मान्यता सर्वथा शिरोधार्य है कि रस, भाव आदि ‘अलङ्कार्य’ है ‘अलङ्कार’ नहीं । रस, भाव आदि की अङ्गरूप से योजना ‘गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य’ का विषय है न कि ‘अलङ्कार’ अथवा वाच्य वाचक वैचित्र्य का । काव्यप्रकाशकार के अनुसार ‘रसवत्’, ‘प्रेय’, ‘ऊर्जस्वि’ और ‘समाहित’ ‘अपराङ्ग्यव्यङ्ग्य-गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य’ के रूप हैं । साहित्यदर्पणकार भी रसध्वनिवादी आचार्य हैं और ‘गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य’ के अपराङ्ग्यव्यङ्ग्य रूप प्रभेद में ‘रसवत्’ आदि को अन्तर्भूत मा भी दिखा चुके हैं जैसा कि इन पंक्तियों से स्पष्ट है—

‘इतरस्य रसादेरङ्गं रसादिव्यङ्ग्यम् ।

यथा—

‘अयं स रसनोत्कर्षी पीनस्तनविमर्दन । नाभयूजघनस्पर्शी नीवीविन्नसनः कर ॥’

अत्र शृङ्गारः करुणस्याङ्गम् ...

किन्तु अलङ्कारनिरूपण के प्रसङ्ग में पुन ‘रसवत्’ आदि का अलङ्काररूप में प्रदर्शन करना कुछ विचित्र सा लगता है । वस्तुतः साहित्यदर्पणकार ने यहाँ ‘अलङ्कारसर्वस्व’ और ‘विमर्शिनी’ की विचारधाराओं का अनुसरण किया है ।

(ख) ‘अलङ्कारसर्वस्व’ की विचारधारा यह है—

‘रसभावतदाभासतत्प्रशमानां निबन्धनेन रसवत् प्रेय-ऊर्जस्वि, समाहितानि ।’

‘चित्तवृत्तिविशेषस्वभावत्वाच्च रसादीनामिह तद्वदलङ्काराणां प्रस्ताव । अत एव चत्वारोऽलङ्कारा युगपहस्यन्ति । तत्र विभावानुभावव्यभिचारिभिः प्रकाशितो रस्यादि-श्चित्तवृत्तिविशेषो रसः । भावो विभावानुभावव्या सूचितो निर्वेदादिस्त्रयस्त्रिंशद्भेदः । देवादिविषयश्च रस्यादिर्भावः । तदाभासो रसाभासो भावाभासश्च । आभासत्वमविषय-प्रवृत्त्यानौचित्यम् । तत्प्रशम उक्तप्रकाराणां निवर्तमानत्वेन प्रशम्यदवस्था । तत्रापि रसस्य परिविश्रान्तिरूपत्वात् सा न सम्भवति इति परिशिष्टभेदविषयो द्रष्टव्यः । एषामुपनिबन्ध-क्रमेण रसवदादयोऽलङ्काराः । रसो विद्यते यत्र निबन्धने व्यापारात्मनि तद्रसवत् । प्रियतरं प्रेयो निबन्धनमेव द्रष्टव्यम् । एवमूर्जं वल विद्यते यत्र, तदपि निबन्धनमेव । अनौचित्यप्रवृ-त्तत्वादत्र वलयोगः । समाहित परिहारः । स च प्रकृतत्वादुक्तमेव विषयः प्रशमापरपर्यायः’

(अलङ्कारसर्वस्व . पृष्ठ २३२-२३३)



ही परिणत हो जाया करता है जिससे यह मानना आवश्यक हो जाता है कि उपमादि के द्वारा काव्यात्मभूत रसरूप 'अलङ्कार्य' ही अन्ततः अलङ्कृत विद्या जाया करता है। शरीर के बच्चा, कुण्डल आदि अलङ्कारों के सम्बन्ध में भी यही कहा जा सकता है कि ऐसे ही भल है उनके द्वारा अङ्ग प्रत्यङ्ग अलङ्कृत प्रीति ही किन्तु अन्तर्भोगत्वा 'व्यक्तित्व' ही अलङ्कृत हुआ करता है। अलङ्कार का रसापेक्ष होना ही उनका 'अलङ्कारत्व' अथवा वास्तविक स्वरूप है। इस दृष्टि से वाक्यार्थभूत रस को 'अलङ्कार्य' और उसके उपरजक अथवा उपस्कारक (शोभाधावक) रस को 'अलङ्कार' मानना युक्तिसंगत ही है। तात्पर्य यह है कि प्रधान रस सदा 'अलङ्कार्य' है और रस की 'अलङ्कार्य' उद्या यह है जिसमें एक रस प्रधानतया अभिव्यक्त्यव दूसरे रस के परिपोषण के लिये पटा रहता है।

(ग) व्यभिचारी भावों की 'अङ्गता' में उनका 'प्रेम' अलङ्कार होना स्वभाविक है। व्यभिचारी भावों की तीन श्रेणियाँ हैं—'शरीर वा', जिसमें 'निर्वेद' आदि व्यभिचारी भाव रसाभिव्यञ्जन के साधनरूप से ही उपनिबद्ध दिखाया दिया करते हैं, 'शरीर वह', जिसमें यदा-कदा 'निर्वेद' आदि व्यभिचारी भाव स्वयं अभिव्यक्तरूप से प्रतीत हुआ करते हैं और 'शरीर वह', जिसमें 'निर्वेद' आदि व्यभिचारी भाव वर्ण्य विषय के अङ्गरूप से अवस्थित होने के कारण, 'अलङ्कार' (प्रेयोऽलङ्कार) के रूप में देखे जा सकते हैं। इस श्रेणीविभाग की व्यवस्था से ही 'प्रेयोऽलङ्कार' की मान्यता निर्विवाद सिद्ध है और इस प्रकार की सम्भावनायें—

'निर्वेदादीना सर्वदेवाङ्गभावात् प्रेयोऽलङ्कारस्तद्व्यपेक्षो न वाच्यः ।  
तस्मादेतेषा व्यङ्ग्यताया ध्वनित्वं न प्राधान्यं कापि यस्माद् भजन्ते ॥  
एतेन भावप्रशमादयोऽपि व्यङ्ग्या सदैव ध्वनिता प्रयान्ति ।  
ध्वनित्वमिष्टं यदि तर्हि तेषु न लक्षणीयस्तु समाहितादि ॥'

निर्मूल है जैसा कि 'विमर्शिनी'कार का कथन है।

(घ) 'अयं स रश्नोत्कर्षो' आदि सूक्तिओं में ध्वन्यभाववाद के अनुसार वाक्यार्थभूत 'करण' रस 'रसवत्' अलङ्कार और अङ्गभूत 'शृङ्गार' रस 'उदात्त' अलङ्कार कहा जायगा किन्तु ध्वनिवाद की दृष्टि में यहाँ का करण 'रसध्वनि' रूप और शृङ्गार 'रसवत्' अलङ्काररूप दिखायी देगा। दोनों मतों में 'रसवत्' आदि अलङ्कार-चतुष्टय सगत है असगत नहीं।

(ङ) विश्वनाथ कविराज की दृष्टि सम्भवतः आचार्य कुन्तक की 'रसवत्'-मीमांसा पर नहीं पड़ी। आचार्य कुन्तक ने 'रसवत्' की ऐसी मीमांसा की है जिसके देखते 'रसवत्' की रूपरेखा कुछ और ही रूप की दिखाई देती है उनका कहना यह है—

'रसवत्' नाम का अलङ्कार एक कोरी कल्पना है। कारण यह है कि यहाँ 'अलङ्कार्य' और 'अलङ्कार' का विश्लेषण असंभव है। यह तो कहा नहीं जा सकता कि 'रस' ही 'अलङ्कार्य' है और वही 'अलङ्कार' है क्योंकि प्रतिपाद्य और प्रतिपादनवैचित्र्य में भेद का होना अनिवार्य है। 'रस तो सदा प्रतिपाद्य है और जिसे 'अलङ्कार' कहते हैं वह प्रतिपादनवैचित्र्य के अतिरिक्त और क्या हो सकता है? जब हम यह कहते हैं कि 'यह काव्य 'रसवत्' अलङ्कारयुक्त काव्य है' तब यह कहाँ पता चल पाता है कि उस काव्य में 'रस' के अतिरिक्त 'रसवत्' भी कोई अतिरिक्त तत्त्व है? जैसे कि यदि शृङ्गारादि रस 'अलङ्कार्य' है तब उसके 'अलङ्कार'रूप से कुछ दूसरी वस्तु ही देखी जानी चाहिये। यदि 'शृङ्गारादि' रस ही आनन्दचमत्कारात्मक होने के नाते 'अलङ्कार' कहा जाय, तब इस अलङ्कार द्वारा अलङ्कृत होने वाली किसी दूसरी वस्तु को ही 'अलङ्कार्य' मानना पड़ेगा ?

'अलङ्कारो न रसवत् परस्याप्रतिभासनात् ।  
स्वरूपादतिरिक्तस्य शब्दार्थासङ्गतेरपि ॥'



( ७३—भावोदय, ७४—भावसन्धि ७५—भावसप्तकता )

भावस्य चोदये सद्यो मिश्रत्वे च तदाख्यका ॥ ९६ ॥

तदाख्यका भावोदयभावसन्धिभावसप्तकनामानोऽष्टाद्वारा ।

क्रमेणोदाहरणम्—

( भावोदय )

‘मधुपानप्रवृत्तास्ते मुहूर्तिं सह यैरिण ।

भुत्वा कुतोऽपि स्वन्नाम लेमिरे विपमा वरान् ॥’

अत्र त्रासोदयो राजविपरतिभावस्याज्ञम् ।

तत्र ‘रसवत्’ का क्या अभिप्राय ? रसवत् अभिप्राय यह है—

‘रसेन वर्तते तुल्य रसवत्त्वविधानतः ।

चोम्बकद्वारा स रसवत् तद्विद्वद्भाषाभिर्मिते ॥

‘चोम्बकद्वारा स रसवत् इत्यन्वयः । या किं पूर्वस्वरूपो रूपकविः रसवदभिधीयते । किं स्वमतेन—‘रसेन वर्तते तुल्यम्’ । रसेन चोम्बकद्वारादिना तुल्यं वर्तते यथा ब्रह्मण्यत्वं चन्द्रिपस्तयैव । अ रसवद्भावकारः । कस्मात्—‘रसवत्त्वविधानतः’ । रसोऽस्वास्तीति रसवत् काव्यं तस्य भावसत्त्वम् तस्य, सरसवत्संपादनम् । ‘तद्विद्वद्भाषाभिर्मिते’ । तत् काव्यं विदुसीति तद्विद्वत्, तज्ज्ञास्तेषामभिव्यक्तिरिति रसमन्विष्यादभात् । यथा रस काव्यस्य रसवत्तां तद्विद्वद्भाषां च विदुषाति पूर्वमुपमादिरभ्युसर्गं विष्यादयन् मिथो रस वद्भावकारा संपद्यते । यथा—

‘उपोदरगोत्रं विदोक्तारकं तथा गृहीतं कश्चिना निशामुखम् ।

यथा स्मरति तिमिराशुक् तथा पुरोऽपि रम्याह्वितं न कश्चित् ॥

यद्य स्वावसरसमुचितमुकुमारस्वरूपबोर्बिषाच्छिरोर्ध्वजायां ‘रूपकाङ्ककारा’ सत्यं रोपितकमन्तवृत्तात् । कश्चिनोपनिषदाः । स च रसेपन्त्यामबोर्बिषोक्कनचक्रमाभात् । काव्यस्य सरसतामुदात्तस्य तद्विद्वद्भाषामाधानः स्वयमेव रसवद्भावकारतां समासयितवान् । ( वक्ष्येतिभीतिः । ९६ क्रमेण )

अर्थात् ‘रसवत्’ बोर्बिषाच्छिरोर्ध्वजायां नही अपितु काव्य में ‘रसवत्’ के भावार्थ सरस, रूपक आदि अङ्गद्वारों का ही एक रमणीय समिश्रण है । जहाँ ‘उपमा’ काव्य में सरसता का संपादन करे वहीं यथा ही ‘रसवत्’ होगी, जहाँ ‘रूपक’ आदि वहीं रूपक आदि ‘रसवत्’ होंगे ।

अनुवाद—‘भावोदय’ ‘भावसन्धि’ और ‘भावसप्तकता’ के अङ्गकार हैं जिन्हें क्रमशः भाव की उद्भावना तथा सन्धिपरता और मिश्रणावस्था के उपनिषदों में देखा जा सकता है । यही क्रमिका में ‘तदाख्यका’ का अभिप्राय भाव के उद्भव में ‘भावोदय’ सन्धि में ‘भावसन्धि’ और मिश्रण अवस्था सप्तकता में भावसप्तकता नामक अङ्गकारों का अभिप्राय है ।

इनके क्रमशः उदाहरण ये हैं—

‘राजम् । मिश्रण के साथ अधिकारापान में कयी आपने आशुगण कहीं से आप का नाम सुनते ही बड़ी तुरी दृष्टा में पड़ गये ।’

यही ‘भास’ के भाव की उद्भावना का विधान है । यह ‘भावोदय’ वस्तुतः यहाँ ( कविनिष्ठ ) राजविपरति रतिभाव के अङ्ग अथवा उपकारकत्वं से उपविपद्य है ( और इष्टीकिये इसे ‘भावोदय’ अङ्गकार के रूप में देखा जाया करता है ) ।

( भावसन्धि )

‘जन्मान्तरीणरमणस्याङ्गसङ्गसमुत्सुका ।

सलज्जा चान्तिके सख्याः पातु नः पार्वती सदा ॥’

अत्रौत्सुक्यलज्जयोश्च संधिर्देवताविषयरतिभावस्याङ्गम् ।

( भावशबलता )

‘पश्येत्कश्चिच्चल चपल । रे ! का त्वराह कुमारी

हस्तालम्बं वितर हृहहा ! व्युत्क्रमः कासि यासि ।

इत्थं पृथ्वीपरिवृद्ध ! भवद्विद्विपोऽरण्यवृत्ते.

कन्या कश्चित्फलकिसलयान्याददानाभिधत्ते ॥’

अत्र शङ्कासूयाधृतिरमृतिश्रमदैर्न्यविबोधौत्सुक्याना शबलता राजविषयरति-  
भावस्याङ्गम् ।

इह केचिदाहु-‘वाच्यवाचकरूपालङ्कारमुखेन रसाद्युपकारका एवालङ्काराः,  
रसादयस्तु वाच्यवाचकाभ्यामुपकार्या एवेति न तेपामलङ्कारता भवितुं युक्ता’ इति ।

‘भगवती पार्वती हमारा कल्याण करें जो कि अपने जन्मान्तर के पति ( भगवान्  
शङ्कर ) के अङ्ग-स्पर्श के आनन्द के लिये उत्कण्ठित रहा करती हैं और अपने सखीवृन्द  
के समीप होने से लज्जित भी हुआ करती हैं ।’

यहाँ ‘औत्सुक्य’ और ‘लज्जा’ के ( व्यभिचारी ) भावों की जो सन्ध्यवस्था चित्रित  
है वह ( कविनिष्ठ ) पार्वतीविषयक रतिभाव के अङ्गरूप से हो चित्रित है ( जिसमें  
‘भावसन्धि’ अलङ्कार का सौन्दर्य स्पष्ट दिखाई दे रहा है ) ।

‘राजन् ! जंगल में भगे आप के किसी शत्रु राजा की राजकुमारी फल फूल तोड़ती,  
इस प्रकार किसी से बातचीत करती सुनाई पड़ा करती है—अरे ! कोई देख लेगा, तू  
बड़ा चंचल है, जा परे हट, इतनी जल्दी क्या है ? मैं तो अभी कुमारी ही हूँ, अरे ! जरा  
हाथ का सहारा दे, ओह ! क्या कर रहा है ? किधर चल पड़ा ?’

यहाँ शङ्का, असूया, धृति, स्मृति, श्रम, दैन्य, विबोध और औत्सुक्य—इन भावों की  
शबलता ( परस्पर उपमर्श उपमर्दकरूप से अवस्थिति ) स्पष्ट है और यह भी स्पष्ट है  
कि यह भावशबलता-चित्रण यहाँ ( कविनिष्ठ ) राजविषयक रतिभाव के अङ्ग होने से  
‘अलङ्कार’ ( ‘भावशबलता’ नामक अलङ्कार ) के रूप में दिखाई दे रहा है ।

‘रसवत्’ आदि की अलङ्कार रूप में कल्पना के ( औचित्य और अनौचित्य के ) सवन्ध  
में कतिपय काव्याचार्यों का यह कथन है—

‘जिन्हें ‘अलङ्कार’ कहा करते हैं वे इसीलिये ‘अलङ्कार’ हुआ करते हैं क्योंकि उनके  
द्वारा वाच्य और वाचक ( अर्थ और शब्द ) में शोभा का आधान किया जाया करता है  
जिससे रस के उल्लास में सहायता मिला करती है । इस दृष्टि से देखते यह कैसे कहा  
जाय कि ‘रस’ आदि ही, जो कि वस्तुतः वाच्य और वाचक में आहित वैविध्य से अलङ्कृत  
किये जाया करते हैं ( ‘अलङ्कार्य’ हुआ करते हैं ), ‘रसवत्’ आदि अलङ्कार-रूप में माने  
जा सकते हैं ?’

अन्ये तु—'रसाद्युपकारमात्रेणोदात्तवृत्तिव्यपदेशो मात्तश्चिरन्तनप्रसिद्धा  
भीकार्य एव' इति ।

अपरे च—'रसाद्युपकारमात्रेणादात्तारण्यमुच्यते रूपकोटी' तु बाध्याद्युप-  
धानम्, अकारागलस्तनन्यायेन' इति ।

अभियुक्तस्तु—'स्वव्यञ्जकवाच्यवाचकाद्युपकृतेरङ्गमूले / रसादिमिरहितो  
रसादेर्वाच्यवाचकोपस्कारादरेणोपकुञ्चितरसवृत्तिव्यपदेशोऽस्म्यते । समा-  
सोक्तो तु नापि कविद्वयद्वारमात्रस्येवादावृत्तिता, न त्वास्यावस्य तस्योक्त  
रीतिरिच्छात्' इति मन्यन्ते ।

अत्र एव ध्वनिकारेणोक्तम्—

अन्य काम्यमर्मज्ञो वा यद मत है—

'रस आदि को 'रसवत्' आदि अङ्कहार इसलिये माना जाता है क्योंकि प्राचीन  
अङ्कहारिकों की यही परम्परा रही है और, आम्, ही—संस्कृत में, 'ही' कि (अथ कि  
'रूपक' आदि रस के उपकारक होने से अङ्कहार कहे जाया करते हैं तब) अङ्गमूल 'रस'  
आदि भी यदि, अङ्गीकृत से अङ्कस्थित रस आदि के उपकारक हों, तो उपचारतः 'अङ्कहार'  
ही कहे जाने योग्य हैं ।

कुछ लोगों की विचारधारा यह है—

'वस्तुता' तो 'रसवत्' आदि ही मुख्यतया 'अङ्कहार' माने जाते हैं क्योंकि रस  
का उपकार मुख्यतः इन्हीं के द्वारा समझ है । इनके अतिरिक्त 'रूपक', आदि को भी  
अङ्कहार कहा जाया करता है वह इसलिये क्योंकि वे वाच्य तो वाच्य, (अर्थ) आदि  
के सौम्यवाचक हुआ करते हैं और परम्परा (उपचारतः) 'अङ्कारागलस्तनन्याय' से  
(अङ्करी के गले में अङ्ककता मीसे 'स्तन' व होने पर भी जैसे 'स्तन' के आकार की होने  
से 'स्तन' कहा जाया करता है वैसे ही उपकारकरके 'अङ्कार' समझें 'से') 'रस' के  
उपकारकारक अथवा उपकारक हुआ करते हैं ।

किन्तु प्रामाणिक लोगों की धारणा यह है—

'अपने-अपने अभिव्यञ्जक वाच्य और वाचक (अथवा भाव्य और वाचक के वैशिष्ट्य)  
द्वारा उपस्कृत अथवा उपकृत 'रस' मात्र आदि को 'रसवत्' आदि अङ्कहारों का रूप  
इसलिये दिया जा सकता है क्योंकि उनका कार्य वाच्य-वाच्य-भाव-रूप से अङ्कस्थित 'रस'  
'मात्र' आदि के अभिव्यञ्जक वाच्य-वाचक का उपकार अथवा उपकार ही होता करता है ।  
जैसे 'समासोक्ति' में ही 'अङ्कहारता' है उससे अभिप्राय वाच्य-वाचिकविशेष 'अङ्कहार'  
का समासोप नाश है न कि इस समासोप से उपकृत आस्वाद्य' क्योंकि यह आस्वाद्य, यदि  
हो भी तो, वाच्य-वाचक का उपकारक नहीं होता, कदापि । अङ्कहारक्य नहीं हो सकता ।  
(वैसे ही 'रसवत्' आदि में 'अङ्कहारता' का अभिप्राय अङ्गमूल रस द्वारा अङ्गी-रस का  
उपस्कारमात्र है और 'अङ्क-रस' के आस्वाद्य का अभिप्राय (अङ्गी-रस) — क्योंकि 'रसक'  
में अङ्गमूल रस ही आस्वाद्य है—अङ्गी रस के आस्वाद्य का, उसके अभिव्यञ्जक  
वाच्यवाचक के उपकार द्वारा, अधिकारिक उपकारवाच्य/मात्र है ।)

ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने इसलिये कहा है—

‘प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्राङ्गं तु रसादयः ।

काव्ये तस्मिन्नलङ्कारो रसादिरिति मे मतिः ॥’

यदि च रसाद्युपकारमात्रेणालङ्कृतिरिति तदा वाचकादिष्वपि तथा प्रस-  
व्येत । एवं च यच्च कैश्चिदुक्तम्—‘रसादीनामङ्गित्वे रसवदाद्यलङ्कारः, अङ्गत्वे  
तु द्वितीयोदात्तालङ्कारः’ इति तदपि परास्तम् ।

‘जहाँ कोई रस, वस्तु अथवा अलङ्कृतिरूप वाक्यार्थ प्रधानतया प्रतीत हो वहाँ यदि  
किसी ‘रस’ आदि की अङ्गरूप से अवस्थिति दिखायी पड़े तो इन अङ्गमृते ‘रस’  
आदि को ‘अलङ्कार’ अथवा ‘रसवत्’ आदि अलङ्कार मानना उचित ही है ।’

इस दृष्टि से देखते कतिपय काव्याचार्यों का यह कहना कि ‘अलङ्कार’ होने का  
अभिप्राय ‘रसादि का उपकारमात्र’ है वस्तुतः युक्तिसंगत नहीं क्योंकि तब तो ‘वाच्य-  
वाचक’ भी ‘अलङ्कार’ कहे जायेंगे क्योंकि इनका कार्य रसादि के उपकारमात्र के अतिरिक्त  
और क्या है ? अन्ततोगत्वा अलङ्काराचार्यों का यह कथन भी कि ‘जब रस आदि अङ्गीरूप  
से अवस्थित रहा करते हैं तब उन्हें ‘रसवत्’ आदि अलङ्कार कहा जाता करता है और जब  
कि वे अङ्गरूप से ही रह जाते हैं तब उन्हें ‘उदात्त’ का द्वितीय प्रकार माना जाता करता  
है’ सर्वथा खण्डित ही सिद्ध होता है ।

विमर्श—(क) ‘रसवत्’ आदि अलङ्कारचतुष्टय की मति ‘भावोदय’ आदि तीन अलङ्कारों  
की मान्यता प्राचीन अलङ्कारवादी परम्परा की मान्यता है । ध्वनिवादी आचार्य रुच्यक और  
जयरथ ने ‘ध्वन्यभाववाद’ और ‘ध्वनिवाद’ दोनों की दृष्टि से इन अलङ्कारों को माना है और  
इनका लक्षण निरूपण भी किया है । आचार्य रुच्यक ने इन अलङ्कारों को ‘चित्तवृत्तिगत’ कहा है  
और इनका यह स्वरूप निर्दिष्ट किया है—

‘भावोदयो भावसन्निर्भावशबलता च पृथगलङ्काराः ।

भावस्योक्तरूपस्योदय उद्गमावस्था, सन्निर्भावो विरुद्धयोः स्पष्टत्वेनोपनिबन्धः शबलता  
च बहूना पूर्वपूर्वोपमर्देनोपनिबन्धः । एते च पृथग् रसवदादिभ्यो भिन्नलङ्काराः । एतत्  
प्रतिपादनं चोदयादिभिरेषा पृथगलङ्कारत्वेन निर्दिष्टत्वात् । अथ च सकरसस्पष्टिवैलक्षण्येनेते  
सर्वालङ्कारा पृथक्त्वबलत्वेनालङ्कारा इति सर्वालङ्कारशेषत्वेनोक्तम् ।’ (अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ ३३५)  
इसमें यह स्पष्ट है कि ‘भावोदय’ आदि की पृथक् अलङ्काररूप में मान्यता का कारण उनका  
अङ्गरूप में अवस्थान है ।

(ख) विश्वनाथ कविराज ध्वनिवादी आलङ्कारिक हैं । उन्होंने इन अलङ्कारों के उदाहरण  
ध्वनिवाद की दृष्टि से दिये हैं न कि ध्वन्यभाववाद की दृष्टि से । वस्तुतः विश्वनाथ कविराज ने  
इनके ‘अलङ्कार’ मानने में वही विचारधारा अपनायी है जो कि आचार्य जयरथ की विचारधारा है—

‘एवं निर्वेदादीनां रसव्यक्तौ सहकारित्वम्, अङ्गित्वे ध्वनित्वम्, अङ्गत्वे चालङ्कारत्वमिति  
विषयविभागः ।’ (अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी, पृष्ठ २३६)

किन्तु एक बात विचारणीय है—एक सूक्ति में अङ्गभूत और अङ्गीरूप दो रसों के होने पर, यह  
तो कहा जा सकता है कि अङ्गरूप से अवस्थित ‘रस’ अङ्गीरूप से, अभिव्यक्ष्य रस का, ‘अलङ्कार’  
अथवा उपस्कारक (शोभावर्धक) है क्योंकि अपने अभिव्यञ्जक तत्त्वों से अभिव्यक्त अङ्गभूत रस  
का काम, अपने ही अभिव्यञ्जक तत्त्वों से, अभिव्यक्ष्य ‘अङ्गी’, अथवा प्रधान रस का परिपोषण  
हुआ करता है किन्तु इसका क्या अभिप्राय कि ‘अङ्गरूप से अभिव्यक्ष्य, रस-अङ्गीरूप के अभि-  
व्यञ्जक वाच्य वाचकवर्ग का उपस्कारक हुआ करता है ? क्या ऐसा निर्णय विश्वनाथ कविराज के  
लिए युक्तियुक्त है ? भला, ‘रस’ चाहे वह अङ्गरूप से ही अभिव्यक्ष्य क्यों न हो, वाच्यवाचकवर्ग

( उपर्युक्त अक्षरों का परस्पर-संमिश्रण : १ म प्रकार-संघटि )

यद्येत एवालङ्काराः परस्परविमिश्रिताः ।

तदा पृथगलङ्कारौ संघटिः सङ्करस्तथा ॥ ९७ ॥

यथा लोकिनालङ्काराणामपि परस्परमिश्रणे पृथक्कारत्वेन पृथगलङ्कारत्वं तद्योक्तरूपाणां काव्यालङ्काराणामपि परस्परमिश्रणत्वे संघटिसङ्कराभ्यां पृथगलङ्कारौ ।

तत्र—

‘मिथोज्ञपेक्षमेतेषां स्थितिः संघटिरन्यते ।

एतेषां शब्दार्थालङ्काराणाम् ।

अथा—

‘विष पायावपायान् स्मेरेन्द्रीवरलोचनम् ।

संसारभ्रान्तविष्वंसईसः कंसनिपूतम् ॥’

अत्र पायावपायादिति यमकम्, संसारेत्यादौ पाशुप्रास इति शब्दालङ्कारयो

का सीम्बाबाबक माना जा सकता है । यदि अङ्गभूत ‘रस’ को अङ्गी रस के वाच्यवाचकत्व का उपलक्ष्यरक अथवा सीम्बाबाबक मान किया गया तब तो प्राचीन अङ्गभूतवाद को रसनिष्पन्न मान्यताओं ही स्वीकार कर ली गयी । ‘वाक्यं रसात्मकं काव्यम्’ के सिद्धान्त के अनुसार यह सही समझ है कि ‘रस वाच्यवाचकता’ का उपलक्ष्यरक अथवा उपलक्ष्यरक भी हो सकता है । यह एक नवी समस्या है । साहित्यवर्णनकार ॥ रस समस्या पर ध्यान नहीं दिया अतः विमिश्रण’ को मान्यताओं ही अपने अर्थों में व्यवहार कर ली ।

अनुवाद—उपर्युक्त अक्षरों की श्रितिका एक-एक कक्ष निश्चयन किया गया है परस्पर समिश्रण रूप से यी काव्य-साहित्य में विचार्य विचार करते हैं और ऐसी अवस्था में इनमें पृथक् अक्षर माना जाया करता है जो कि ‘संघटि’ और ‘सङ्कर’ नाम से हो प्रकार का हुआ करता है ।

वाक्यार्थ यह है कि जैसे कोकमसिद्ध ( सुख, मणि आदि निर्मित ) अक्षर परस्पर मिश्रित-हुके ( अर्थात् एक अक्षर में मिश्रित ) होते पर एक अतिरिक्त ही सोमा रखने के कारण, एक मिश्र प्रकार के अक्षरों से प्रतीय हुआ करते हैं जैसे ही उपर्युक्त सभी काव्य-प्रसिद्ध अक्षर, परस्पर मिश्रित-हुके रहने पर एक और ही सोमा रखा करते हैं और ‘संघटि’ तथा ‘सङ्कर’ नाम से प्रत्येक अक्षर के रूप में माने जाया करते हैं ।

इन विविध अक्षरों में—

‘संघटि’ यह अक्षर प्रकार है जिसे परस्परनिरपेक्ष अक्षरों की ‘तिष्ठतद्भुवनम्’ पृथक् अवस्थिति कहा करते हैं ।

यहाँ ( कविका में ) ‘एतेषाम् का अमिश्रण सध्यालङ्कार अर्थात् अक्षर और सध्यालङ्कार—लीना का अमिश्रण है । जैसे कि—

‘जिसे नीककमल सरीसै नवीनाके और संसारकयी जन्मद्वार के विष्वंस के जिसे सुख के कंसनिपूत भगवान् रूप्य हर्ष सभी संकटों के बचाते रहें ।

यहाँ कई एक अक्षर परस्पर संघटि हैं । ‘पायावपायान्’ में यमक है और ‘संसार भ्रान्तविष्वंसईस’ में अनुप्रास है । इस प्रकार की अक्षरालङ्कारों की ( तिष्ठतद्भुवनम् )

संस्पृष्टिः । द्वितीये पाठे उपमा, द्वितीयार्थे च रूपकमित्यर्थालङ्कारयोः संस्पृष्टिः ।  
एवमुभयोः स्थितत्वाच्छब्दार्थालङ्कारसंस्पृष्टिः ।

परस्पर 'संस्पृष्टि' का सौन्दर्य यहाँ स्पष्ट है । इसी प्रकार द्वितीय चरण ( अर्थात् स्मेरेन्दीवर-लोचन -स्मेरे विकसिते इन्दीवरे इव लोचने यस्य स' ) में 'उपमा' और द्वितीयार्थ (अर्थात् 'ससारध्वान्तविध्वसहस'-ससार एव ध्वान्त तस्य विध्वस' तस्मिन् हस' रवि ) में 'रूपक'-इन दोनों अर्थालङ्कारों की 'संस्पृष्टि' अलग झलक रही है । साथ ही साथ इस सूक्ति में निरपेक्षतया अवस्थित शब्दालंकार और अर्थालंकार की 'संस्पृष्टि' भी पृथक् रूप से ही दर्शनीय है ।

विमर्श—( क ) 'संस्पृष्टि' अलङ्कार की कल्पना एक प्राचीन आलंकारिक कल्पना है । इस कल्पना का आधार लोकप्रसिद्ध अलंकारों की परस्पर सघटना से सम्भूत एक विचित्र सौन्दर्य का दर्शन और विद्वलेपण है जैसा कि 'अलंकारसर्वस्व'कार का यह कथन है—

'अधुनैषा सर्वेषामलङ्काराणां सश्लेषसमुत्थापितमलङ्कारद्वयमुच्यते । तत्र संश्लेषः संयोगन्यायेन समन्वायन्यायेन च द्विविधः । संयोगन्यायो यत्र भेदस्योत्कटतया स्थितिः । समन्वायन्यायो यत्र तस्यैवानुत्कटत्वेनावस्थानम् । तत्रोत्कटत्वेन स्थितौ तिलतण्डुलन्यायः । इतरत्र तु क्षीरनीरसादृश्यम् । क्रमेणैतदुच्यते—

'एषा तिलतण्डुलन्यायेन मिश्रत्व संस्पृष्टिः । ' तत्र यथा वाद्यालङ्काराणां सौवर्णमणि-मयप्रभृतीनां पृथक्चास्त्वहेतुत्वेऽपि सघटनाकृतं चास्त्वान्तरं जायते, तद्वत् प्रकृतालङ्काराणामपि संयोजने चास्त्वान्तरमुपलभ्यते ।' ( अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ २४१ )

अर्थात् जस सोने और मणि के अलङ्कार अपना-अपना अलग अलग सौन्दर्य रखा करते हैं और परस्पर सलिल होने पर एक और ही सौन्दर्य की सृष्टि किया करते हैं वैसे ही शब्द और अर्थ के अलङ्कार भी अलग अलग सौन्दर्य तो रखा ही करते हैं किन्तु परस्पर सश्लेष में एक और ही विचित्र सौन्दर्य की झलक दिखाया करते हैं । अलङ्कारों का परस्पर सश्लेष दो प्रकार का हो सकता है—प्रथम वह, जिसे परस्पर निरपेक्ष अलङ्कारों का सश्लेष कहा जा सकता है और द्वितीय वह जिसे परस्पर सापेक्ष अलङ्कारों का सश्लेष कह सकते हैं । परस्पर निरपेक्ष अलङ्कारों का समिश्रण, 'तिल' और 'तण्डुल' के समिश्रण सा होने के कारण, 'संस्पृष्टि' अलङ्कार की पृथक् रूपरेखा का नियामक है ।

( ख ) 'संस्पृष्टि' के तीन प्रकार निर्दिष्ट किये गये हैं —

'तत्र तिलतण्डुलन्यायेन भवन्ती संस्पृष्टिस्त्रिधा । शब्दालङ्कारगतत्वेन, अर्थालङ्कारगतत्वेन, उभयालङ्कारगतत्वेन च ।' ( अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ २४४ )

विश्वनाथ कविराज न यथपि स्पष्टतया 'त्रिविध संस्पृष्टि' का उल्लेख नहीं किया है किन्तु इसमें कोई संदेह नहीं कि विश्वनाथ कविराज के मत में भी संस्पृष्टि का त्रैविध्य सिद्ध है । शब्दालङ्कार-संस्पृष्टि का एक सुन्दर उदाहरण शिशुपालवध की यह सूक्ति है—

'वदनसौरभलोभपरिभ्रमद्भ्रमरसभ्रमसमृतशोभया ।

चलितया विदधे कलमेखलाकलकलोऽलकलोलहृशान्यया ॥'

जहाँ 'अनुप्रास' और 'यमक'—दो विजातीय अथवा भिन्न-स्वरूप के शब्दालङ्कार परस्पर सलिल, हुये एक ही सौन्दर्य की सृष्टि करते दिखायी दे रहे हैं । इसी प्रकार अर्थालङ्कार-संस्पृष्टि के निदर्शन-रूप में 'मृच्छकटिक' की निम्न सूक्ति देखिये—

'लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्पतीवाक्ष्ण नभः ।

असत्पुष्पमेव दृष्टिर्निष्फलता गता ॥'

वही अपमा और 'उत्प्रेक्षा' की संवृष्टि वही मनोरम कम रही है।

'वमनाङ्कहार संवृष्टि' के निरुत्तमार्थ निम्न सूत्रि पर्वत है—

'आत्मन्मन्वरपुरवन्मुच्यमानाय भीतो हृत्तम निश्चितं मतिपातुरस्य ।

पादाम्बुयं मयतु मे विजयाय भजुमन्नीरसिजितमनोहरमम्बिकापा ॥

वही—'उपमा' और 'अनुमात' का चिह्नतण्डुल-वीर्य एक पृथक् ही अभि-वैविध्य सा कम रहा है। ॥ १० ॥

१० मं) आपातं वररथं ('अङ्कहारसमर्थ' की 'विमर्शिनी' आख्या के 'रेवमिता') के अतिरिक्त 'संवृष्टि' और 'संकर' की साम्यता की वही सुन्दर समीक्षा की हुई है—

'अम्बोम्बसंकरविविधमितामामलङ्कृतीनां विविधधाम चेत ।

अमम्बितत्वाद्वाहाविमर्शितयवविषयं वृष्यमेव तदिह ॥

अधाम्बयोभरयथ परस्परं तद् गुणप्रधानत्वमन्वरपदेवम् ।

तदा न संवृष्टिकथा गुणस्य पराङ्कृतायां कसु संकरा एवात् ॥

पृथक् वेदद्विनि सङ्गतं स्यात् इयं तन्व्याम्बसमीक्षमेव ।

न संकरोपापि न वा गुणत्व काणांस्तरोत्पाद्वनसक्तियोगात् ॥

(अङ्कहारसंस्वरविमर्शिता, वृत् २४१)

वृत्तम्, गुणस्य निरपेक्ष, अङ्कहारों को एकत्र धारणा, वे एक ही हैं क्योंकि ऐसे अङ्कहार जिनमें आपस में कोई संबंध नहीं रहता, अस्मत्-हृत्-हो-प्रयोग की भाँति हैं। निरपेक्ष रहा करते हैं। वही यदि वह कहा जाय कि पृथक् विविध अङ्कहारों में संबंध रहा करता है तो वे इनमें 'गुणप्रधानभाव' की साम्यता, अविभाज्य ही जाती है। किन्तु 'गुणप्रधानभाव' मानने पर चिह्नतण्डुल-वद अङ्कहार-समिश्रणकला संवृष्टि अङ्कहार का मानना निरपेक्ष ही जाता है क्योंकि 'गुणप्रधानभाव' (अङ्कसिन्धुत्व) में 'संकर' की ही साम्यता सुविशुद्ध हो सकती है। और एक बात यह भी है कि यदि एक अत्रिकय ध्यान धारण में ही अङ्कहार विविध हो तो इनमें 'संकर' की मान्यता वरतमान है क्योंकि वह कि वे दोनों 'अङ्क' हैं तो इन दोनों अङ्कविभाव की व्यवस्था कदापि सुविशुद्ध नहीं हो सकती।

किन्तु इस वृत्ति का अन्वय की आपातं वररथ ने ही किया है जो कि यह है—

'इयमेव हि सङ्घर्षावोर्बहुनां वाङ्कहारानां परस्परनिरपेक्षानामपि ससर्गं सति चाकृताविषयप्रतिपत्तिः ।

'समुचितैश्च तु भवति समग्रसंनिधानात्मकस्य चर्मस्य प्रत्यक्षमुपक्रममात्रं तथैव निष्क-कल्याणमङ्कहारानां संप्रदनाकथनं पूर्वापरकीचारेणैकमुद्बुधचिह्नोद्गम्युपक्रम-वत् एव कृत्व संसर्गो नाम वररथ संघर्षसंक्रमणपदैक्यत्वम् । अपि न-उपमेव-उपमिच्छावैविध्यम् । 'विश्रपण्ड' इत्यादिशीत्या विज्ञास्तरावाही वयः स्वकपल-कामन्तराद् व्यावृत्तत्वमपि विष्णो-हामवभासोद्बुधवर्गिककलाकर्मप्रत्ययः । चित्रकल्पमण्यकोशं वस्तु-रूपे भासते । तथैव निष्क-कल्याणमङ्कहारानां संक्रमागतत्वं मतीतामैकतावसाय इति-मुच्यते संसृज्यावक-हो-रान्तरत्वम् । इत्यादीनां च मातुर्धन्य जेवेऽपि संमीकनयां धानकादिरसविष्यतामुपक्रम-वत् एव कतिचिद्वैचित्र्यप्रतिफलवत् इयं वामपीति शुक्तमर्ककारात्तरत्वम् । न चात्र चाकृताविष-यस्य आपातमन्तरक-वाच्यम् । एकवैविध्य इयोर्बहुनां मार्ककमरान्मरानां वामावमति-कालोत्कर्षस्य एकसद्विस्तारिककलनं वेद्यमानत्वम् । (अङ्कहारसंस्वरविमर्शिता) 'संवृष्टि' प्रक्रम) अर्थात् निम्न निम्न प्रक्रम के अङ्कहारों के संसर्ग में एक अतिरिक्त वैचित्र्य का अनुभव स्वाभा-विक है। यह अतिरिक्त वैचित्र्य ही 'संवृष्टि' अथवा 'संकर' है। यह अतिरिक्त वैचित्र्य वररथ

(अलङ्कार-समिश्रण का २५ प्रकार सङ्कर)

अङ्गाङ्गित्वेऽलङ्कृतीनां तद्वदेकाग्र्यस्थितौ ।

सन्दिग्धत्वे च भवति सङ्करस्त्रिविधः पुनः ॥ ९८ ॥

अङ्गाङ्गिभावो यथा—

‘आकृष्टिवेगविगलद्भुजगेन्द्रभोग-

निर्मोकपट्टपरिवेष्टनयाम्बुराशे’ ।

मन्थव्यथाव्युपशमार्थमिवांशु यस्य

मन्दाकिनी चिरमवेष्टत पादमूले ॥’

अत्र निर्मोकपट्टापह्वेन मन्दाकिन्या आरोप इत्यपह्नुतिः । सां च मन्दा-  
किन्या वस्तुवृत्तेन व्युत्पादमूलवेष्टनं तच्चरणमूलवेष्टनमिति श्लेषमुत्थापयतीति  
तस्याङ्गम् । श्लेषश्च पादमूलवेष्टनमेव चरणमूलवेष्टनमित्यतिशयोक्तेरङ्गम्, अति-  
शयोक्तिश्च ‘मन्थव्यथाव्युपशमार्थमिव’ इत्युत्प्रेक्षाया अङ्गम् । उत्प्रेक्षा चाम्बुरा-  
शिमन्दाकिन्योर्नायकनायिकाव्यवहारगमयतीति समासोक्तेरङ्गम् । ?

लेखनी ही मित्र किया जाता अपि तु स्वमवेदनसिद्ध है । एक कान्य-वाक्य में एक अलङ्कार की  
चारुता की अपेक्षा दो अलङ्कारों की चारुता एक और ही वस्तु है । लैकिक अलङ्कारों के ससर्ग  
की ही भाँति काव्य के अलङ्कारों का ससर्ग एक अन्य प्रकार का ही सौन्दर्य हुआ करना है ।  
इसलिये ‘सदृष्टि’ और ‘सकर’ को शुद्ध और अर्थ के समस्त अलङ्कारों की अपेक्षा अन्य अलङ्कार-  
प्रकार मानना सर्वथा युक्तियुक्त है ।

अनुवाक—‘सङ्कर’ वह अलङ्कार है जिसे (दो या दो से अधिक) अलङ्कारों का ऐसा  
समिश्रण कहाँ करते हैं जिसमें वे (१) या तो अङ्गाङ्गिभावसम्बन्ध से सम्बन्ध रहा करते  
हैं, (२) या एकत्र अवस्थित रहा करते हैं, (३) या संदेह के विषय बन जाया करते  
हैं । अलङ्कारों की इसी त्रिविध सकीर्णता के कारण ‘सकर’ भी तीन प्रकार का हुआ  
करता है—(१) अङ्गाङ्गिभावरूप सकर, (२) एकत्रावस्थानरूप सकर और (३)  
सदिग्धरूप सकर ।

जैसे कि (अनेक अलङ्कारों का) अङ्गाङ्गिभावरूप सकर—

‘यही वह समुद्र है जिसकी मन्थनव्यथा की शान्ति के लिये, मानों मन्दाकिनी  
(गङ्गा) उसके पादमूल (एक देश अथवा चरण) पर पड़ी रहती है और मन्थन-काल  
में, देव और असुरवृन्द द्वारा, एक दूसरे की ओर खींचा तानी के कारण छूट कर गिरी  
तागराज-नासुक्ति की केंचुला के पवहाने, उसके व्रण के उपचार के लिये, वधी पट्टी सी  
दिखायी दिया करती है—’

यहाँ अङ्गाङ्गिभाव सकर स्पष्ट है । पहले तो ‘निर्मोकपट्ट’ (वासुकि की केंचुल) पर  
उसके अपह्व अथवा अपलाप के साथ, ‘मन्दाकिनी’ के आरोप में ‘अपह्वति’ (प्रकृत  
प्रतिपिध्यान्यस्थापना स्यादपह्वति) की रूप-रेखा उभर रही है । यह अपह्वति यहाँ के  
‘श्लेष’ की अङ्गभूत-सी प्रतीत हो रही है क्योंकि इसी के द्वारा मन्दाकिनी के वास्तविक  
‘पादमूलवेष्टन’ (समुद्र के किसी एक भाग को सम्पर्क) और ‘पादमूलवेष्टन’ (चरणों  
पर पड़ने) की स्थितता का अभिप्राय निकल रहा है । (क्योंकि ‘पादमूल’ शब्द दोनों  
अर्थों का वाचक है) । यह ‘श्लेष’ भी यहाँ ‘अतिशयोक्ति’ का अङ्ग है क्योंकि इसी के



यथा वा—

‘अनुरागवती संध्या विषसस्तत्पुर सर’ ।  
अहो ! दैवगतिभिर्वा तथापि न समागम ॥’

अत्र समासोच्छिर्विशेषोपेक्षम् ।

सन्नेहसङ्गरो यथा—

‘इवमाभाति गगने मिन्दान सन्तर्षं तम ।  
अमन्दनयनाम्बुकरं मण्डसमैन्दवम् ॥’

अत्र किं मुखस्य चन्द्रतयाभ्यवसानादतिरायोक्तिः उत इवमिति मुखं निर्विरय चन्द्रत्वारोपाद्रूपकम्, अथवा इवमिति मुखस्य चन्द्रमण्डलस्य च ह्योपरि प्रकृतयोरेकवर्त्मसम्बन्धात्तुल्ययोगिता, आहोस्त्वित्यन्तरस्याप्रकृतत्वादी-

द्वारा पादसूक्ष्मेष्टन ( समुद्र के एक देश के संसर्ग ) के साथ ‘पादसूक्ष्मेष्टन’ ( चरण-स्पर्श ) असेवाभ्यवसाय में ‘अतिसयोक्ति’ का अमत्कार उत्पन्न किया जा रहा है । यह ‘अतिसयोक्ति’ भी यहाँ ‘सम्बन्धवशा की भावी धाम्नि के किम्’ इस ‘उपेक्षा’ का अङ्ग है और अन्ततोपत्त्या यह ‘उपेक्षा’ भी यहाँ ‘अनुरासि’ और ‘मन्दप्रकिर्मी’ में वाचक और नायिका के व्यवहारसमासोप की प्रतीति कराती हुई दिखायी दे रही है जिसे देखते ही यहाँ की ‘समासोक्ति’ का अङ्ग मानना स्वाभाविक ही है ।

अथवा जैसे कि ( दो लक्ष्मणों का ) यह अङ्गतिभावसंकर—

‘संध्या अनुराग से भरी है और दिन उसका भरो लका है । किन्तु दैवगति इतनी विचित्र है कि इतना होने पर भी दोनों का परस्पर समागम नहीं हो पाता ॥’

यहाँ ( संध्या और दिन पर नायिका और नायक के व्यवहार-समासोप में ) ‘समासोक्ति’ की सुन्दरता बर्धनीय है किन्तु यह ‘समासोक्ति’ यहाँ की ‘विशेषोक्ति’ ( संध्या में अनुराग और दिन में संध्या के समुक्त उपलब्धवक्ष्य कारण-संज्ञान में भी समागम-रूप कार्य के अभाव-वर्णन में होने वाली विशेषोक्ति ) के अङ्गरूप से अवस्थित है ।

इसी प्रकार सन्नेहसंकर—

‘सब अम्बुकार को बुर करता, लोकलोचन का आनन्ददायक, वह चन्द्रमण्डल आकाश में सुलोमित हो रहा है ।’

यहाँ ‘सन्नेहसंकर’ स्पष्ट है क्योंकि यहाँ यह विधाय करना असंभव है कि बीच अङ्गहार है । क्या यहाँ इस दृष्टि से ‘अतिसयोक्ति’ मानी जाय कि ( किसी सुन्दरी के ) ‘मुख’ का ‘चन्द्र’ रूप से अभ्यवसाय हो रहा है ( जिसमें उपमेय का स्वरूप निर्गम्य पड़ा है ) ? या इस दृष्टि से ‘रूपक माना जाय कि ‘इवम्’ पद के द्वारा निर्दिष्ट ‘मुख’ पर ‘चन्द्र’ का असेवारोप किया जा रहा है ? अथवा, क्या इस दृष्टि से कि यहाँ ‘इवम्’ पद से निर्दिष्ट ‘मुख’ और ‘चन्द्रमण्डल’ रूप दो प्रकृत पदार्थों में ( अमन्दनयनाम्बुकरत्व आदि ) समानबर्त का सबन्ध सिद्ध है ‘तुल्ययोगिता’ का दर्शन किया जाय ? या यह देखते कि यहाँ ( इवम् पद द्वारा निर्दिष्ट ‘मुख’ प्रकृत है और ) ‘चन्द्रमण्डल’ अप्रकृत है ( और प्रकृत और अप्रकृत में एक वर्तमान अभिसंबन्ध है ) ‘दीर्घक’ की कपरेखा देखी जाय ? अथवा कहीं ऐसा तो नहीं कि यहाँ ‘समासोक्ति’ का सीन्धर्व हो क्योंकि ( यथानाम्बुकरत्व आदि ) विशेषण की समता से प्रस्तुतवक्ष्य चन्द्रमण्डल द्वारा अप्रस्तुतवक्ष्य मुख की प्रतीति

पक्षम्, किं वा विशेषणमन्यादप्रस्तुतस्य मुखस्य गम्यत्वात्ममासोक्तिः, यद्वा-  
प्रस्तुतचन्द्रवर्णनया प्रस्तुतस्य मुख्यस्यावगतिरित्यप्रस्तुतप्रशम्ना, यद्वा मन्म-  
योद्दीपन कालः स्वकार्यभूतचन्द्रवर्णनामुखेन वर्णित इति पर्यायोक्तिरिति  
बहुनामलङ्काराणां सन्देहात्सन्देहमङ्कुरः ।

यथा वा—‘मुखचन्द्रं पश्यामि’ इत्यत्र किं मुखं चन्द्र इव इत्युपमा ? उत  
चन्द्र एवेति रूपकमिति सन्देहः साधकवाधकयोर्द्वयोरकतरस्य सद्भावे न पुनः  
सन्देहः ।

यथा—

‘मुखचन्द्र चुम्बति’ इत्यत्र चुम्बनं मुखस्यानुकूलमित्युपमायाः साधकम् ।  
चन्द्रस्य तु प्रतिकूलमिति रूपकस्य बाधकम् ।

‘मुखचन्द्रः प्रकाशते, इत्यत्र प्रकाशाख्यो धर्मो रूपकस्य साधको मुखे  
उपचरितत्वेन सभवतीति नोपमाबाधकः ।

स्वभावतः हो रही है ? या यहाँ ‘अप्रस्तुत प्रशम्ना’ क्यों न हो जब कि अप्रस्तुतरूप  
‘चन्द्रमण्डल’ के वर्णन से प्रस्तुतरूप ‘मुख’ की प्रतीति में कोई सदेह नहीं ? अथवा कहीं  
ऐसा तो नहीं कि यहाँ ‘पर्यायोक्त’ की योजना हो क्योंकि कामोद्दीपक ( रात्रि के ) समय  
का वर्णन यहाँ उसके कार्यरूप से अवस्थित चन्द्रविन्ध के वर्णन द्वारा प्रतीत हो रहा  
है ? इस प्रकार यहाँ यह स्पष्ट है कि इन अनेकानेक अलकारों के सदेह में समूह  
‘सदेह-सकर’ का सौन्दर्य अवश्य विराजमान है ।

इसी प्रकार दो अलकारों का ‘सदेह-सकर’ भी यत्र-तत्र दिखायी दिया करता है ।  
जैसे कि ‘मुखचन्द्र पश्यामि’ इस उक्ति में ही यह सदेह हो उठता है कि क्या यहाँ इस  
दृष्टि से ‘उपमा’ मानी जाय कि ‘मुख’ को ‘चन्द्र के सदृश’ कहा गया है ? या इस दृष्टि से  
‘रूपक’ माना जाय कि ‘मुख’ को ‘चन्द्ररूप’ कहा गया है ( यहाँ यह सन्देह स्वाभाविक  
है क्योंकि यहाँ न तो ‘उपमा’ का साधक कोई हेतु उपनिबद्ध है जिससे ‘रूपक’ बाधित  
हो जाय और न ‘रूपक’ का ही साधक कोई हेतु उपनिबद्ध है जो कि ‘उपमा’ की  
सभावना को दूर हटा सके ) ।

अलकारों में सदेह की संभावना तब नहीं होती जब कि या तो किसी एक का साधक  
और दूसरे का बाधक हेतु उपनिबद्ध हो या किसी एक के साधक अथवा दूसरे के बाधक हेतु  
का ही उपनिबन्ध किया गया हो । जैसे कि यदि यह कहा जाय कि ‘वह मुखचन्द्र का  
चुम्बन कर रहा है’ तब ‘उपमा’ का साधक हेतु मिल जाता है जो कि ‘चुम्बन’ के रूप में  
उपनिबद्ध है क्योंकि ‘चुम्बन’ ‘चन्द्र’ का नहीं अपि तु ‘मुख’ का ही किया जा सकता है  
( जिससे ‘मुखचन्द्र इव मुखचन्द्रस्तम् मुखचन्द्रम्’ यह ‘उपमा’ स्पष्ट हो जाती है ) ।  
‘चुम्बन’ का संबन्ध चन्द्रमा से असंभव है जिससे यहाँ ‘रूपक’ का बाधित होना  
निःसिद्ध सिद्ध है ( इस प्रकार ‘उपमा’ के साधक और ‘रूपक’ के बाधक ‘चुम्बन’ रूप  
हेतु के उपनिबन्ध में यहाँ ‘उपमा’ और ‘रूपक’ में सदेह कदापि नहीं हो सकता ) ।

किसी एक ( अलकार ) के साधक हेतु के उपनिबन्ध में भी दूसरे अलकार का सदेह  
नहीं हुआ करता । जैसे कि यदि यह कहा जाय कि ‘मुखचन्द्र चमक रहा है’ तब ‘प्रकाश’  
के रूप में ‘रूपक’ ( मुखमेव चन्द्र मुखचन्द्रः ) का साधक हेतु स्पष्ट दिखायी दे जाता है

‘राजनारायण क्षत्रीयस्त्वामादिङ्गति निभरम् ।’

अत्र योपित आदिङ्गने नायकस्य सादृश्ये नोचितमिति सत्स्योपनिषत्स्य रामन्यसंभवावुपमावाचकम्, नारायणे संभवावुपमा ।

एवम्—

‘वदनाम्बुधमेणास्या भाति चञ्चललोचनम् ।’

अत्र वदने लोचनस्य सम्भवावुपमाया वाचकता, अम्बुजे वासंभवावुप-  
कस्य वाचकता । एव ‘सुन्दरं वदनाम्बुधम्’ इत्यादी साधारणधर्म प्रयोगे उपमितं  
व्याप्तादिभिः सामान्यप्रयोगे’ इति वचनावुपमासमासो न सम्भवीत्युपमाया

( जिससे ‘रूपक’ का स्वरूप झलक उठता है ) किन्तु यह है, ‘उपमा’ (सुखं चन्द्र इव  
मुखचन्द्रः) का वाचक नहीं कहा जा सकता क्योंकि उपचारतः ‘मुख’ में भी ‘प्रकाश’-रूप  
धर्म का समान्य संभव है ( जिससे यहाँ ‘रूपक’ और ‘उपमा’ का संवेद-सूत्र क्याचिद-  
व्यसम्भ नहीं ) ।

— इसी प्रकार किसी एक ( अङ्ककार ) के वाचकहेतु के उपविचरण में भी दूसरे का  
निगम स्वामाधिक है । जैसे कि—

‘झलमी जाय जैसे राजनारायण का बने मेम से आकिङ्गन करती है ।’

यहाँ यह स्पष्ट है कि जब कि किसी नायिका के किये नायक के सदृश किसी पुरुष का  
आकिङ्गन अनुचित है तब झलमी के द्वारा ‘भारायण’ के सूत्र ( राजा नारायण इव  
राजभारायणस्तम् ) राजा का आकिङ्गन भी कोई अपेक्षित नहीं रहता । इसलिये यहाँ  
‘उपमा’ का वाच निर्बिबाद सिद्ध है । किन्तु झलमी के द्वारा नारायण ( किन्तु ) के  
आकिङ्गन में कोई अनपेक्षित ब होने से यहाँ ‘रूपक’ ( राजा एव नारायण-राजभारायण-  
स्तम् ) की संभावना में कोई आपत्ति नहीं ( इसलिये यहाँ ‘उपमा’ और ‘रूपक’ का  
संवेद नहीं माना जा सकता ) ।

( इसी प्रकार निम्नोक्त भी यहाँ-तहाँ एक अङ्ककार के सार्वक और दूसरे के वाचक  
रूप में प्रयुक्त किया जाता करता है जिससे अङ्ककार संकेत की संभावना दूर हो जाय  
करती है । ) जैसे कि इस सूक्ति अर्थात्—

‘इस सुगन्धनी का मुलकमल चञ्चल नेत्र के साथ वदा सुन्दर क्या रहा है ।

जहाँ में ‘चञ्चललोचन’-रूप विशेषण ‘उपमा’ ( वदनाम्बुधमेण, वदनाम्बुधम् ) का तो  
साधक बन रहा है क्योंकि ‘मुख’ में ‘प्रकाश’ की स्थिति निर्बिबाद सिद्ध है किन्तु इसमें  
‘रूपक’ ( वदनाम्बुधमेण वदनाम्बुधम् ) वाचकता भी निरन्तरिण रूप से सिद्धापी  
है रही है क्योंकि ‘कमल’ में ‘लोचन’ की सम्भावना अवसम्भव है ( इसलिये यहाँ भी  
सम्भेदार्थक का कोई अन्वसर नहीं ) ।

इसी प्रकार यदि साधारणधर्म भी किसी एक अङ्ककार के सार्वक और दूसरे के  
साधकरूप में प्रतीत हो तो अङ्ककार-सार्वक की संभावना दूर होती है । जैसे कि ‘यह  
वदनाम्बुध ( मुखकमल ) सुन्दर है आदि उक्ति में, जब कि ‘सौन्दर्य’-रूप साधारण-  
धर्म के उपादान के कारण ‘उपमितं व्याप्तादिभिः सामान्याप्रयोगे’ ( अष्टाध्यायी २-१-५९ )—  
व्याप्त आदि उपमावाचक यहाँ के साथ उपमेय का समास तभी हुआ करता है जबकि  
साधारणधर्म का प्रयोग न किया जाय ) इस समास-विषय के अनुसार उपमा-समास

बाधकः । एव चात्र मयूरव्यंसकादित्वाद्रूपकसमास एव । एकाश्रयानुप्रवेशो यथा सम—

‘कटाक्षेणापीपत्क्षणमपि निरीक्षेत यदि सा  
तदानन्दः सान्द्रः स्फुरति पिहिताशेषविषयः ।  
सरोमाञ्चोदञ्चत्कुचकलशनिर्भिन्नवसन  
परीरम्भारम्भः क इव भविताम्भोरुहदृशः ॥’

अत्र कटाक्षेणापीपत्क्षणमपीत्यत्र च्छेकानुप्रासस्य निरीक्षेतेत्यत्र क्षकारमादाय वृत्त्यनुप्रासस्य चैकाश्रयेऽनुप्रवेशः । एव चात्रैवानुप्रासार्थापत्त्यलङ्कारयोः ।

यथा वा—

‘संसारध्वान्तविध्वस—’ इत्यत्र रूपकानुप्रासयोः ।

की सभावना हट गयी तब यह स्पष्ट है कि ‘उपमा’ बाधित हो गयी और मयूरव्यसका-  
दयश्च’ (अष्टाध्यायी २-१७२) इस समास-नियम के अनुसार रूपक-समास (तदनम-  
म्बुजवदनाम्बुजम्) के सिद्ध हो जाने पर ‘रूपक’ अलङ्कार की मान्यता युक्ति युक्त बन  
गयी (जिससे यहाँ भी ‘उपमा’ और ‘रूपक’ का ‘सदेह सकर’ निर्मूल हो गया) ।

अब ‘एकाश्रयानुप्रवेश’ रूप सकर का उदाहरण देखिये—

‘यदि वह सुन्दरी अपनी तिरछी निगाहों से भी, मुझे, ञ्णभर के लिये देख ले तो  
ऐसा अद्भुत आनन्द मिलने लगता है कि सब कुछ भूल पड़ता है । फिर, उस कमलनयनी  
के आनन्द रोमांच से भरे किवा अनावृत उन्नत उरोजों के आलिंगन का आनन्द कैसा  
होगा, यह तो भगवान् ही जाने ।’

इस स्वरचित् सृक्ति में ‘कटाक्षेणापीपत्क्षणमपि’ में (‘क्ष’ के स्वरूपत और क्रमतः  
एक बार साम्य के कारण) ‘छेकानुप्रास’ और ‘कटाक्षेणापीपत्क्षणमपि निरीक्षेत’ में (‘क्ष’  
के स्वरूपत और क्रमतः तीन बार साम्य के कारण) ‘वृत्त्यनुप्रास’ दोनों स्पष्ट हैं और दोनों  
‘क्ष’ रूप व्यञ्जन पर आश्रित होने के कारण ‘एकाश्रयानुप्रवेशरूप’ सकर का वैचित्र्य उत्पन्न  
कर रहे हैं । यहाँ ‘अनुप्रास’ (छेकानुप्रास और वृत्त्यनुप्रास) और ‘अर्थापत्ति’ (‘दण्डापृषिक-  
याऽन्यार्थागमोऽर्थापत्तिरिष्यते’ जैसे कि कटाक्ष से देखने पर तो यह हाल है पूरी निगाह  
से देखने पर पता नहीं क्या हो, जैसा सा देखने पर तो यह हाल है पूरा देखने पर पता  
नहीं क्या हो; ञ्णभर देखने पर तो यह हाल है देर तक देखने पर पता नहीं क्या हो—  
इस त्रिविध अर्थापत्ति) का भी ‘एकाश्रयानुप्रवेश’ रूप सकर स्पष्ट प्रतीत हो उठता है  
(क्योंकि जो पद ‘अर्थापत्ति’ के उत्थापक हैं उन्हीं में ‘अनुप्रास’ की भी छुटा विराज-  
मान है ।)

अथवा ‘एकाश्रयानुप्रवेश’ रूप सकर का उदाहरण देखिये (जहाँ ‘एकपद’ रूप एक  
आश्रय में विभिन्न रूप के विविध अलंकार-अनुप्रविष्ट है) — ‘संसारध्वान्तविध्वस-’ । यहाँ ‘रूपक’ (संसार एव ध्वान्त तमस्तस्य विध्वसे  
हस सूर्यः संसारध्वान्तविध्वसहस) और ‘अनुप्रास’ (‘ध्व’ और ‘व’ व्यञ्जनों के स्वरूपत  
और क्रमतः सकृत् साम्य के कारण छेकानुप्रास) को एकपद में अनुप्रवेश होने से, अर्था-  
लंकार और शब्दालंकार का ‘एकाश्रयानुप्रवेशरूप’ सकर बड़ा सुन्दर लग रहा है ।

यथा वा—

‘क्षुरककारयकारणसा ॥’ इत्यत्र रक्का रयका इत्येकं ककारयकार इत्येकमिति यमक्यो ।

यथा वा—

‘अहिष्णपपक्षोभरसिपसु पहिषसामाहपसु विषसेसु ।  
रहसपसारिभगीभाष णधिषञ् मोरमिष्ठाणम् ॥’

[ अमिवनपक्षोभरसितेषु पयिकस्यामापितेषु विषसेषु ।  
रमसपसारितमीषाणां भित्ति मयूरकुम्भानाम् ॥

अथवा

अमिवनपक्षोभरसितेषु पयिकस्यामापितेषु विषसेषु ।  
रमसपसारितमीषाणां क्षुरकं मयूरकुम्भानाम् ॥ ]

अत्र ‘पहिषसामाहपसु’ इत्येकामये पयिकस्यामापितेषुपमा, पयिकस्यामापितेष्विति रूपकं प्रविष्टमिति ।

अथवा ‘पक्षमपक्षुप्रवेक्ष’ रूप सत्कर का वह उदाहरण ( जिसमें समान रूप के एक से अधिक वर्णकार अनुमविष्ट हैं )—

( ‘विरचिता मनुनोपवचधिवाममिनया ह्य पयिरोषका ।  
मनुकिदा मनुवाचविचारवप ) क्षुरककारयकारणसां यतुः ॥

यहाँ ( उदाहरण १. ११ की छति में ) ‘रक्कमरक्का’ या यमक और ‘ककारयका’ का ‘यमक’ दोनों एकपाद-रूप एक आशय में अनुमविष्ट होकर ‘पक्षमपक्षुप्रवेक्ष’ रूप सत्कर की छति करते स्पष्ट मतीय हो रहे हैं ।

अथवा ‘पक्षमपक्षुप्रवेक्ष’ रूप सत्कर का वह उदाहरण—

यथेनय मेघों की ( अथवा करीबी ) गर्जना से अघ्नापमान किंवा ( पयिकस्यामापितेषु, पयिकस्यामापितेषु वा ) विरहप्यस्तुज्येयी जन के मुखवापी अथवा विरहप्यस्तुज्येयी मेरी कबकपी सामाजिक हृन्द् को उत्सुक बचाने बाके, इन वर्णों के दिनों में, गर्जन की-की किये, मयूरों का मुख चितना सुन्दर कम रहा है ।

यहाँ ‘पहिषसामाहपसु’ इस एक पाकृत पद में ( यहाँ ‘पयिकस्यामापितेषु’ और ‘पयिकस्यामापितेषु’ दोनों आपा-पाटसंभव हैं ) ‘पयिकस्यामापितेषु’ ( पयिकस्यामापितेषु ) या प्रति यथामा रावय हवाचरन्तीति वयस्य तेषु ) की ‘उपमा’ और ‘पयिकस्यामापितेषु’ ( पयिकस्यामापितेषु ) के ‘रूपक’—दोनों का अनुमविष्ट स्पष्ट है ( जिसमें ‘पक्षमपक्षुप्रवेक्ष’ रूप सत्कर का एक अतिरिक्त वैशिष्ट्य दिखाई दे रहा है ) ।

विमर्श—( क ) साहित्यदर्पण का ‘सत्कर’ विवेकन अर्थकारसर्वस्व के ‘सत्कर’निरूपण का एक मन्दन है । ‘अर्थकारसर्वस्व’ के अनुसार ‘सत्कर’ का एकत्र वह है—

( ग्रन्थ-समाप्ति )

श्रीचन्द्रशेखरमहाकविचन्द्रसूनु-

श्रीविश्वनाथकविराजकृतं प्रबन्धम् ।

साहित्यदर्पणममुं सुधियो विलोक्य

साहित्यतत्त्वमखिलं सुखमेव वित्त ॥ ६६ ॥

‘हीरनीरन्यायेन तु सकर.—

मिश्रत्व इत्येव । अनुष्कटभेदत्वमुष्कटभेदत्वं च सकर । तत्र मिश्रत्वमङ्गाङ्गिभावेन, संशयेन, एकवाचकानुप्रवेशेन च त्रिधाभवत् सकर त्रिभेदमुत्थापयति ।’

( अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ २४८ )

अर्थात् अलङ्कारों का पानी और दूध सा मिश्रण ‘सकर’ अलङ्कार की रूपरेखा का जनक है । यह मिश्रण तीन प्रकार का है—भङ्गाङ्गिमावरूप, सशयरूप और एकवाचकानुप्रवेशरूप । और इसीलिए ‘सकर’ अलङ्कार के भी ये तीन प्रकार हैं—

( ख ) अलङ्कारसर्वस्वकार ने एक वाचकानुप्रवेशरूप ‘सकर’ में शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार, दोनों की सकीर्णता स्वीकार की है जो कि काव्यप्रकाशकार को मान्य नहीं । काव्यप्रकाशकार के अनुसार ‘एकवाचकानुप्रवेश’ सकर शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार का सकर हुआ करता है—

‘स्फुटमेकत्र विषये शब्दार्थालङ्कृतिद्वयम् ।

व्यवस्थितं च

उदाहरणम्—

‘स्पष्टो ह्यसत्किरणकेसरसूर्यविम्ब विस्तीर्णकर्णिकमयो दिवसारविन्दम् ।

श्लिष्टाष्टदिग्दलकलापमुखावतार-वद्धान्धकारमधुपावलि सनुकोच ॥’

अत्रैकपदानुप्रविष्टौ रूपकानुप्रासौ ।’

( काव्यप्रकाश सकर-प्रकरण )

किन्तु साहित्यदर्पणकार ने ‘एकवाचकानुप्रवेश’ सकर में दो शब्दालङ्कारों के सकर, एक शब्दालङ्कार और एक अर्थालङ्कार के सकर तथा दो अर्थालङ्कारों के सकर की सम्भावना की है और उदाहरण द्वारा इसे प्रदर्शित भी किया है । वस्तुतः साहित्यदर्पणकार ‘अलङ्कारसर्वस्व’ के ‘एकवाचकानुप्रवेशरूप’ सकर के विवेचन से प्रभावित हैं । अलङ्कारसर्वस्वकार ने ‘एकवाचकानुप्रवेश’ रूप सकर के सम्बन्ध में स्पष्ट कहा है—

‘तृतीयस्तु प्रकार का एकवाचकानुप्रवेशलक्षण । यत्रैकस्मिन् वाचकेऽनेकालङ्कारानु-प्रवेश, न च सदेह । यथा—

मुरारिनिर्गता नून नरकप्रतिपन्थिनी । तवापि मूर्ध्नि गङ्गे चक्रधारा पतिष्यति ॥

अत्र मुरारिनिर्गतेति साधारणविशेषणहेतुका उपमा, नरकप्रतिपन्थिनीति श्लिष्टविशेषण-समुत्पत्त्यर्थोपमाप्रतिभोत्पत्तिहेतु श्लेषश्चैकस्मिन्नेव शब्देऽनुप्रविष्टौ, तस्योभयोपकारित्वात् । तुल्यजातीययोरप्यलङ्कारयोरैकवाचकानुप्रवेशसम्भवात् ।’

( अलङ्कारसर्वस्व, पृष्ठ २५५ )

साहित्यदर्पणकार, इस विवेचन की दृष्टि से, काव्यप्रकाश के समर्थक नहीं हो सकते ।

अनुवाद—काव्य-साहित्य के बुद्धिमान् पाठक, महाकवि श्री चन्द्रशेखर के पुत्र

यावत्प्रसधे दुनिमानना श्रीनारायणस्याङ्गमलङ्करोति ।  
तावन्मनः समदयम् कधीनामप ग्रथन्धं प्रथिताऽस्तु लोके ॥१००॥

इत्यालङ्कारिकप्रथमविंशतिविधिमहिकमहापात्रभीषिरवनाथध्विरावहने  
साहित्यदर्पणे 'विराम' परिच्छेदः



श्री कविराज विश्वनाथ की कृति इस 'साहित्यदर्पण' का अन्तकोकम है और काव्य साहित्य के तन्त्रों का अन्तर्वास प्राप्त करें—वही अन्तिम विवक्षित है।

यह साहित्यदर्पण ज्ञाता है, जब तक प्रवृत्तचरणवदना कधी नारायण के भक्त में सुसोमित है तब तक, कविज्ञ और रसिक-समाज के हृदय में मानम् का समार करवा रहेगा और साहित्य-जगत् में अपनी अनन्तर कीर्ति में विराजमान बना रहेगा।

### अन्तमङ्गलम्

साहित्यस्य विमर्शे यत् स्वामविधान्तिष्ठ सुखम् ।  
विश्वनाथस्य समम् सर्वेषु तद् भवेत् सदा ॥

साहित्यदर्पण : वृत्तम परिच्छेद समाप्त

# उदाहृतश्लोकानुक्रमणिका

विषय	पृष्ठाङ्क	विषय	पृष्ठाङ्क
अ		अन्तःपुरीयसि रणेपु	६९८
अकलङ्क सुख तस्या.	७७०	अन्तःश्लिष्टाणि भूयासि	७९३
अकस्मादेव तन्वद्भी	१९२	अन्तिकगतमपि मामिय	१९५
अङ्गानि खेदयसि	४८७	अन्यदेवाङ्गलावण्यम्	८५४
अचला अवला वा स्युः	६०३	अन्यासु तावदुपमर्दसहासु	३२३
अजस्य गृह्यतो जन्म	८१९	अन्यास्ता गुणरत्नरोहण	५०४
अजायत रतिस्तस्या	६११	अप्रधान विधिर्यत्र	५६७
अतिगाढगुणायाश्च	७७१	अप्रियाणि करोत्वेष	४४४
अत्ता पृथ गिमज्जह	१८	अभ्युन्मता पुरस्ताद्वगाढा	४२३
अत्युन्नतस्तनयुगा	३१५	अमित समित प्राप्ते	२९०
अत्रान्तरे किमपि वाक्	१८४	अमुं कनकवर्णां	१३०९
अत्रासीत्फणिपाश	४९८	अमुक्ता भवता नाथ !	५६७
अत्रास्मार्पमुपाध्याय	६२७	अयि ! मयि मानिनि !	५८३
अथ तत्र पाण्डुतनयेन	२२२	अयमुदयति मुद्रा	६६२
अथ प्रचण्डभुजदण्ड	५२५	अय मार्त्तण्ड किम् ?	७२९
अद्यापि देहि वैदेहीं	४९९	अय रत्नाकरोऽम्भोधि	८२४
अद्यापि स्तनशैलदुर्गाविपसे	५९७	अय स रशानोत्कर्षी	३९१
अथ कृताम्भोधरमण्ड	८७१	अय सर्वाणि शास्त्राणि	६७७
अधर किसलयराग	४७९	अरविन्दमिद वीक्ष्य	७१३
अधरे करजस्रत मृगाच्या.	६०५	अरातिविक्रमालोक	७०३
अध्यासितु तव चिरात्	५२४	अरुणे च तरुणि !	८५२
अनङ्गमङ्गलभुव	६४५	अर्धमर्धमिति	२०६
अनणुरणन्मणिमेखलम्	६१९	अलमलमतिमात्र	३८४
अनलकृतोऽपि सुन्दर !	१६४	अल स्थित्वा श्मशानेऽस्मिन्	३०९
अनन्यसाधारणधीधृता	३९५	अलिख पसुत्तम	२३९
अनन्ये च शब्दैक्य	७११	अलिकुलमञ्जुलकेशी	५२८
अनातपत्रोऽप्ययमत्र	८६८	अविदितगुणापि भणितिः	७६३
अनायासकृश मध्यम्	८१४	अविरलकरवालकम्पनै	८७५
अनुयान्त्या जनातीतम्	७७६	अव्यूढाङ्गमरूढपाणि	६५२
अनुरागवती सन्ध्या	८८६	अशक्नुवन् सोढुमधीर	२७५
अनुरागवन्तमपि	६२०	अशुच्छलेन सुहृद	७४८
अनुलेपनानि कुसुमानि	७५८	अश्वत्थामा हत इति	४३१
अनेन लोकगुरुणा	३२६	असमासजिगीपस्य	७७७
अनेन चिह्नन्ता मातु	५८९	असावन्तश्चक्षुःश्रवण	४८३
अनेन पर्यासयताश्च	७९७	असमृत मण्डनमङ्गयष्टे	१८०



विषय	पृष्ठाङ्क	विषय	पृष्ठाङ्क
असक्तं चमपरिमहत्तमा	२१५	इहं वचनं साधय	४२५
अस्माकं सखि वाससी	१४४	इहमामाति रागने	८८९
अस्य वचः वयेनैव	४९५	इन्धुर्किं स इवाजनेन	४९
अस्याः सर्गविधौ	४५४	इन्धुर्विमाति कर्पूर	५८४
अहमेव पुरु मुद्राकृष्णाम्	८५४	इन्धुर्विमाति अस्तेन	५४४
अहमेव मतो महीपतेः	१५९	इन्द्रविष्णवन्दवीर्षोऽसि	४९५
अहिण्यमपञ्चोअर	८९	इयं स्वर्गाभिनायस्य	४४८
आ		इह पुरोऽग्निहोत्रम्पित	४३४
आहृष्टियोगविगाह	८८५	इहैव त्वं तिष्ठ नृतम्	८३२
आमिषपल्पपरिष्कारि	४४५	इहसे यत् कदाचन	५८८
आचरति दुर्जनो यत्	९३३	इ-उ	
आह्रा सप्तसिद्धा	९०३	उम त्रिपञ्चक मित्यन्वा	८९
आहमा आचरति यत् पापम्	५४२	उत्कृष्टो कृत्य कृतिष्य	२९३
आदाय बहुकृष्णान्वात्	९३८	उत्तिष्ठ करकङ्कणरूप	१४०
आदित्योऽयं स्थितो मूढाः	३ ९	उत्तिष्ठ कृति यामो	१४२
आनन्दममम्भमिम्भ	८	उत्पुष्टकमककसर	५४५
आनन्दवति ते मेरे	५४१	उत्साह्यतिष्ठायं बस	४१९
आनन्दवति ते मेरे बोद्धुना	५४२	उत्सवन्निष्ठा मू	५९४
आनन्दाय न विस्मयाय न	४३३	उदेति सविता तासः	५९३
आनन्दितस्वपञ्चोऽसौ	९ ९	उदेति पूर्वं कुमुमे तताः	४३५
आपतन्तममुं वृत्तम्	२९२	उदामोत्कृष्टि	३८८
आपत्तसुरसे योगे	९०८	उत्तमकमकीदित्यैः	५४४
आमीकितकृतसविद्यैः	८४४	उत्तमितैकमूकत-	४३३
आवर्त्तं पृथ नाभिस्ते	९००	उत्तमज्जककुजरेण	३४९
आशीपरम्परा बन्धाम्	५९३	उत्तमीकम्भपुगान्कृत्य	९९८
अपरिकृतमूर्ति रसितारमुक्तैः	२१९	उत्तमीकमित नसैर्हनीदि	८३०
आसमुद्रविहीसाधाम्	५९९	उत्पुष्ट बहु तत्र किमुप्यते	५५
आसादितप्रकटविर्मक	३४३	उत्पुष्टि सति कामिनीनाम्	९९
आसीद्भजनमप्रेति	८९०	उत्पुष्टसाधन तर्वादी	५८९
आहवे जगद्गुरुः !	७१०	उत्पुष्ट मयुरां वाचय	५८२
आहारे विरतिः समरत	३१३	उत्पुष्ट मयुरां वीमान्	४
आहुतस्यामिपैकाव	१५४	उत्पुष्ट मयुरां वीमान्	४३०
आहुतेषु विद्वज्जम्बु	९२०	उ-ये	
इ-ई		पूर्व प्यायनिमीकमात्	९३०
इति गदितवती दवा	१४५	पृका कपोतवीताः	७९२
इति वाचकुराणी	५४८	इकमिम्भ साधने परादमुक्तता	२४०
इधमाराधमानोऽपि	८	एकस्वैव विपाकोऽयम्	४३५
इहं किङ्कमात्र	४८		

पद्य	पृष्ठाङ्क	विषय	पृष्ठाङ्क
आसनसंस्थिति.	१६४	कार्त्तार्थ्यं यातु तन्वङ्गी	५६०
द्विभाति चरमाचल	७३५	कालरात्रिकरालेयं	४९७
सुको मन्त्रिसुख्यै.	५९३	कालान्तककरालास्यं	४३७
वादिनि देवपौ	३१६	काले कोकिलवाचाले	६७४
१ दुश्च्यवन नौमि	६४०	काले वारिधराणाम्	७३६
५ मूर्त्तौ यथा धर्म.	६१६	कालो मधुः कुपित एष च	८८
सा कुडिलघणेण	२२२	का विसमा देवगर्ह	८४४
सो ससहरविम्बो	६२८	किङ्करोपि करोपान्ते	५४८
न्द्रं धनु पाण्डु	७८२	किं रुद्ध प्रियया कया	१७४
शस्य धनुषो भङ्गम्	६०६	किं शीकरैः क्लम	४८५
ओ-औ		किं तारुण्यतरोरियम्	७२९
शिवदृष्ट उल्लङ्घ	५८०	किं तावत् सरसि	"
औसुक्येन कृतस्वरा	६३५	किं भूषण सुदृढमत्र	८४२
क		किमधिकमस्य ब्रूम	८२८
कटाक्षेणापीषत्	८८९	किमाराध्यं सदा पुण्यम्	८४२
कटिस्ते हरते मन	५६२	किरणा हरिणाङ्कस्य	६७६
कथमीक्षे कुरङ्गाक्षी	२३४	किसलयमिव मुग्धं	२२४
कथमुपरि कलापिन	७५४	कुञ्ज हन्ति कुशोदरी	५७७
कदली कदली करभ	२८२	कुपिताऽसि यदा तन्वि ।	८०८
कदा वाराणस्यामिह	२६६	कुमारस्ते नराधीश	६०३
कपोलफलकावस्या	७४१	कुर्यां हरस्यापि पिनाकपाणे	५८२
कपोले जानक्या	६३९	कुर्वन्त्वासा हतानां	४४०
कमलालिङ्गितस्तार	६१७	कूजन्ति कोकिलास्साले	६९१
कमले चरणाघातम्	५६३	कृतप्रवृत्तिरन्यार्थे	५७०
कमलेण विभ्रसिपुण	२२४	कृतमनुमतं दृष्टं वा	२५६
कमलेव मतिर्मतिरिव	७१२	कृत्वा दीननिपीडनां	२२३
करमुदयमहीधरस्तनाग्रे	१९९	कृष्टा केशेषु नार्या	४३८
करिहस्तेन सम्बाधे	६२३	के द्रुमास्ते क वा ग्रामे	१९०
कर्त्ता द्युतच्छलानां	५२३	के यूय स्थल एव	६७४
कर्पूरखण्ड इव राजति	६१५	केयूरायितमङ्गदैः	७४९
कलयति कुवलयमाला	७६६	केश काशस्तवकविकास.	६७०
कलुषञ्च तवाहितेष्वाकस्मात्	८५२	कोऽत्र भूमिवलये	७६५
कस्स व ण होइ रोसो	३४७	कोकिलोऽहं भवान् काक.	७९३
कानने सरिदुद्देशे	८३०	क्रूरग्रहः स केतु	३७८
कामं प्रिया न सुलभा	३६६	क्वचित्ताम्बूलाक्षः	१६१
कान्तास्त एव भुवन	२७४	क्व वन तरुवत्कलभूषणम्	८२४
कान्ते तथा कथमपि	१५९	क्व सूर्यप्रभवो वश	७६८
काप्यभिल्यातयोरासीद्	६१८	क्वाकार्यं शशलघमण.	६३६
काम प्रिया न सुलभा	४२२	क्षेत्रधर्मोचितैर्धर्मै	४८०
		क्षिपसि शुर्कं घृपदशक	७६८

विषय	पृष्ठाङ्क	विषय	पृष्ठाङ्क
विशो हस्तावकानां	६३७	चरवानतकम्पादां	५१२
जीवा जीवोऽपि क्षणी	७७५	चक्रपञ्चामरपेक्षिता	५८६
पौरोद्वानसति कम्ममुवा	५४५	चक्रपाङ्गां दृष्टिं स्पृष्टसि	३३१
धर्मं ते वनु पद्मकाशि	२५०	चक्रप्या सुप्रतिपेक्षार्थं	७२३
क		चिन्तापन्थी जगत	३९
कङ्करा कमाक्षीविद्वहा	७२३	चिन्तामिः स्तिमितं मया	२७४
क		चिरदृष्टिपरिचैदमाप्त	९१९
कङ्काम्भसि दुरज्ज्वा !	७७३	चित्रं चित्रमनाकासे	६२५
कण्ठं कण्ठसि वेद कान्त !	८३३	चिरं जीवतु ते सुभ्रा	६१८
कण्ठानीति पञ्चोदया	७९३	ख	
कटा मित्रा इना बाणे	५८३	खड्ग संहरन्मह	७८२
कमबमकसं सुख्या दृष्टि	७५९	खड्गविस्र दृष्टमिद्रासि	५८३
कर्णमसि सुतिपक्ष्यम्	७०२	खपाय वदतक्षत्र	८९
काङ्कमम्बु सितमम्बु	८६३	खचवस्यकनकपद्मवल्ली	२७४
काङ्ककान्तवृक्षवचनम्या	९९३	खचस्वाने भ्राम्यं	३२३
काङ्ककिङ्कनचामनीकृतकुच	३३३	खमेन्दोर्बिम्बके कुम्भे	७३९
काङ्कीवी कवकसिद्ध	५७७	खम्भाम्भरीधरमय	८७७
काङ्कीर्वेण/समुद्रोऽसि	७३७	खमेवे वम्भवती वीरम्	७९७
कौतेय/कर्ममादृते	५९४	खक्येकिन्तरकम्भरुच	३५३
कुचवनपरतन्त्रतया वत	८९	खस्तरमन्त्रे धरप	७७५
कुक्षरकम्भपुराजुवाव	१८८	खाता कञ्जावती सुखा	६१२
गुरोर्गिरा पञ्चदिवम्भवीत्य	२५९	खार्गमोद्रेज्या इति	८९
गुह्यी सविद्या क्षणी	८३	खीयन्ते खविनोऽपि	७६४
गुह्यीतं वेवम्भीः	६३	कुमोपाख्याबमभस्ता	५७८
गुह्यतामर्कितमिह	७३३	गुह्यीतिर्मनसि	७३९
ग्रन्थानि काव्यप्रमाणम्	९१५	गाने मौल्य चमा क्षणी	७७०
घ		क्योत्सवा इव सिता क्षीरि	६१८
घटितमिवाजनपुञ्जैः	७७५	क्योत्सवाचका पयापूर	५८८
घोरी वारिमुखा रका	५९५	अकतु गगने रात्री	१८३
च		ख	
चक्षोर्य एव चतुरा	७६३	चक्षुरिण त नुवतुचक्षं	२०९
चक्षुर्विहितता चक्षी	६२३	च	
चक्षुःचक्षुर्मित	७१६	चतुष्पचार समरे	६५
चक्राङ्क इव रात्राभ्यो	६१५	चत्वर्यपञ्चमवहमह	७९४
चक्षीकक्षुडामरय	६९	चक्षुःमार्गं व ज्ञप्ता	७७८
चक्षुः सुख कुञ्जाशि !	५९८	चक्षुर्विद्यमनाक्षीर्बम्भम	१९९
चक्षुःसङ्कमाम्भोवय	६३३	चक्षुःसिमहापुत्र	३९
चक्षुःसङ्कमाम्भोवय	७०९	चक्षुःसिद्धये कुल	७७७
चक्षुःसङ्कमाम्भोवय	२	चक्षुःसिद्धये सुविद्या	८९९

विषय	पृष्ठाङ्क	विषय	पृष्ठाङ्क
तद्विच्छेदकृदास्य	६२१	दशाननकिरीटेश्वर.	२९४
तद्वेशोऽसदृशोऽन्याभि.	६१९	दानं विज्ञातं वाचं	७५९
तनुस्पर्शादस्यादर	२०२	दासे कृतागसि भव	७२१
तन्वद्भ्याः स्तनयुग्मेन	७४२	दिदृमातद्गद्यविभक्त	६३४
तव कितव किमाहितै	१७५	दिनं मे त्वयि सम्प्राप्ते	५६४
तव विरहे मलयमरुत्	८१८	दिवमप्युपयातानाम्	८३०
तव विरहे हरिणाक्षी	८१०	दिवाकराद्गच्छति यो	६१६
तवास्मि गीतरागेण	३७४	दिवि वा भुवि वा	२७१
तस्य च प्रवयसो जटायुप	८४०	दिशि मन्दायते	२९२
तस्या मुखेन सदृशम्	७०१	दीधीवेवीड्सम. कश्चित्	६२७
तस्यास्तद्रूपसौन्दर्य	५२९	दीपयन् रोदसीरन्ध्र	३२४
तह ते क्षति पठत्ता	१७९	दीयतामर्जितं वित्तम्	८४८
ता जानीथा. परिमितकथां	१७३	दीर्घाक्षं शरदिन्दुकान्ति	१२४
तामिन्दुसुन्दरमुखीम्	५७३	दुर्गालङ्घितविग्रहो	८०
तामुद्वीच्य कुरङ्गार्ची	६११	दुस्सहजणाणुराओ	४२४
तारुण्यस्य विलास.	१८१	दूरं समागतवति	७६०
तिष्ठेत् कोपवशात्	६३२	दूरागतेन कुशल	१८९
तीर्थे तदीये गजसेतु	५९६	दृष्टारविजये राजन् !	५६१
तीर्णे भीष्ममहोदधौ	४४२	दृष्टा दग्ध मनसिजम्	६६९
तीव्राभिपन्नप्रभवेण	२११	दृश्येते तन्वि ! यावेतो	४८८
वृष्णापहारी विमलो	४८३	दृष्टा दृष्टिमधो ददाति	१५७
ते हिमालयमामन्त्र्य	५९४	दृष्टिं हे प्रतिवेशिनि !	२९२
त्याग सप्तसमुद्र	२५७	दृष्टिस्तृणीकृतजगत्त्रय	१५३
त्रस्यन्ती चलशफरी	१९२	दृष्ट्या केशवगोपराग	३२८
त्रिभागशेषान् निशासु	२३४	दृष्टवैकासनसंस्थिते	१६५
त्वया तपस्विचाण्डाल	४९३	देव पायादपायाज्ञ.	८८२
त्वद्वाजिराजिनिर्धूत	२७१	देशं सोऽयमराति	५००
त्वया सा शोभते तन्वी	८२९	देहि मे वाजिन	६००
ययि दृष्टे कुरङ्गाक्ष्या.	७६४	दोर्दण्डाश्चितचन्द्र	२६३
वयि सङ्गरसम्प्राप्ते	८३४	द्वयं गत सम्प्रति शोच	५९०
त्वामस्मि चस्मि विदुषा	३०२	द्वीपादन्यस्मादपि	३७३
त्वामामनन्ति प्रकृतिम्	६२४	घ	
द		घनिनोऽपि निरुन्मादा	८१६
दत्ते सालसमन्थर भुवि	१५७	घन्य स एव तरुणो	३०३
दत्त्वा कटाक्षमेणाक्षी	८४०	घन्यासि या कथयसि	१६०
दत्त्वाभय सोऽतिरथो	४८६	घन्याऽसि वैदर्भि ! गुणैः	७६२
दधद्विष्टुल्लेखामिव	४४९	घन्या खलु वने वाता	७९२
दन्तप्रभापुष्पचित्ता	७८०	घम्मिल्लमर्धमुक्तं	१९१
दलति हृदय गाढोद्वेगो	४४१	घम्मिल्लस्य न कस्य	५७१
दलिते उत्पले पुते		घम्मिल्ले नवमल्लिका	३९४

विषय	पृष्ठाङ्क	विषय	पृष्ठाङ्क
बबकवति सिरिरोधिनि	६१९	घ	
बाहुमत्ता गिरिर्घते	५७५	पणभङ्गविचार्यो दोग्धवि	२२९
बिम्बनयसूनि मङ्गमूर्च्छन्	३१६	पञ्चोदपदिवाचीष्टः	७१७
धीरो बरो बरो वाति	५८१	पम्बिभ न एत्थ सात्थर	२८९
धुमोति चासिम्ब	८५९	पम्बिभ पिबासिभो	१९९
धृताधुधो धामदहं	२१३	परापकारभिरतो	८३
न		परिचक्षिपमूर्च्छा	७९९
न जलु बयममृष्य दान	१७५	परिष्कुरम्भीनविष	२१
न च मेधगण्यति	१६९	परिहरति रतिं भतिं	६१३
न वैद्व जीवितः	३९	पर्यतमेदिपमिष जैत्र्य	६१३
न तज्जलं जम्ब सुषार	८३५	पञ्चोपमिति साम्य	१८७
न तथा मूषपापद्वय	२१७	पञ्चवाङ्मतिरच्छेष्टी	५८१
न धत्ते शिरसा यज्जम्ब	८७७	परबलपसंक्रमपवर्णा	३९
न मते पक्ष्यां गिरं	१८३	परयामि लोक	७९९
नमयेन्नु किरासि	८७८	परयेत् कञ्चिच्च कपक रे !	८७५
न मे सममिता कोट्ये	५७७	पाणि पञ्चवपेक्षः	५८६
नयनज्योतिषा जाति	६१७	पात्रिरोजमकिरोक्षित	१८६
नयनुयसेवनकम्	८१९	पात्रकानां समामये	६९१
नवककभरा सङ्कशोभ्यम्	५६८	पात्रु वामं वरुनं हृष्यं	२१५
नवनक्षपदुमङ्गं	२७१	पात्राभयान्छोकस्ते	६७५
नवपकासपकासवनम्	२७३	पात्राद्वर्तं बहुत्वाय	७८९
नहं सर्ववर्मेनुज्जगयवा	१६९	पात्रु वो ककुदरयामा	७१७
नर्मममिहाम्बुद्धासनेन	८७९	पात्रे कर्क गौरमिधेरपरवत्	७७९
नाक्षयन्तो वनज्जान्तं	५८७	पुष्पां नाक्षयनातिरन्वय	७८९
नाहं रघो न भूतो	७७३	पुस्तकादपि प्रविष	७७१
निकननकप्रतिविम्बो	६५५	पुरिते रोक्ष्सी ध्यायैः	६३
निरर्धकं जम्ब रात	७७६	पूर्वन्तो सञ्चिकेभ	७७३
निर्मांनक्षीसकं जम्बु	७७१	पृथुकार्यस्वरपात्रम्	६९१
निर्धौनयैरुहवा	३७८	पृथि । सिवरा भव	७९९
निर्धौनं शुक्रसापमासित	७८६	मन्वकन्यकवासायत्	६१५
निन्देवधुतचम्बुर्ध	८८	मन्वमानुषवतिहेतोः	८९७
निसर्गस्तीरभीष्टमन्त	७८	मन्वविसर्गोसङ्कीक	२१
निवास्तान्त्र हवाधर्मा	२८३	मतिशुक्रतामुपगतै	६७६
निहतामेवधौरम्या	७३८	मन्वावीक्यै विवैर्वा	५६८
नीताभ्रमाकुलीभाषव	६७८	मन्वातो तथ राजेण्	७७६
नेये लज्जवयजने सरसिज	१५९	मन्वर्षवत् क्रियाः साध्वीः	७८८
नेयैरिबोत्पद्ये	७७८	मन्विर्धं यद्वैरं मय जल	७१५
नर्धं बमोमङ्ककमन्तु	७३५	मससार धर्मैर्वापुः	५६१
नो बाहु जलधं दूर्धं न च	१७१	मसाधनं पुर्वं कर्तुं	७८५
न्यवकारी द्यमेव मे	५	मसाधिकावन्वितयय	१९१
		मरवानं यज्जैः कर्तुं	२१४

विषय	पृष्ठाङ्क	विषय	पृष्ठाङ्क
प्रागेव हरिणाक्षीणाम्	७५५	मथ्नामि कौरवशतं	३२३
प्राणप्रयाणदुःखार्त्तं	४९९	मधु द्विरेफः कुसुमैकपात्रे	२७
प्राणेशेन प्रहितनखरे	२१८	मधुपानप्रवृत्तास्ते	८७८
प्रातिभं त्रिसरकेण गतानां	२०९	मधुर सुधावदधरः	६९६
प्रासावेकरथारूढौ पृच्छन्तौ	४३६	मधुरया मधुबोधित	६६१
प्रायश्चित्तं चरिष्यामि	२१५	मधुरवचनैः सभ्रूभङ्गैः	१६१
प्रायेणैव हि दृश्यन्ते	४७९	मध्य तव सरोजाक्षि !	७३०
प्रिय इति गोपवधूभि	७३२	मध्यस्य प्रथिमानमेति	१५७
प्रियजीवितताम्रौयं	५२९	मध्येन तनुमध्या मे	८५५
प्रेमाद्रां प्रणयस्पृशः	२३३	मनः प्रकृत्यैव चलं	४३२
प्रोज्ज्वलज्ज्वलनज्वाला	५८५	मनोजराजस्य सितातपत्र	७१८
व		मन्थायस्तार्णवाग्भः	६६३
बलमार्त्तभयोपशान्तये	८४३	मन्द हसन्तः पुलकं	६७०
बलाबलेपादधुनापि	७६०	मन्ये शङ्के भुवं प्रायः	७४९
बालभ ! णाहं दूदी	८१०	मया नाम जित	४२६
बाले ! नाथ ! विमुञ्च	१६३	मयि सकपटं किञ्चित्कापि	२१८
बृहत्सहायः कार्यान्तम्	७९९	महदे सुरसन्धम्मे	६७९
ब्राह्मणातिक्रमत्यागो	३२५	मल्लिकाक्षितधम्मिह्ला	८५९
भ		मल्लिकामुकुले चण्डि !	२९६
भक्तिर्भवे न विभवे	८४३	मल्लीमतल्लीषु वनान्तरेषु	२७५
भग्नं भीमेन भवतो	३८८	महिलासहस्सभरिप	२९६
भम धम्मिभ वीसत्यो	२८४	मा गर्वमुद्वह कपोलतले	१८९
भङ्गापवर्जितैस्तेषाम्	७०७	मात किमप्यस	४९७
भातिर्कर्णावतसस्ते	६३१	मान मा कुरु तन्वङ्गि !	६१२
भाति पैद्य सरोवरे	५६२	मानमस्या निराकर्त्तुम्	८५४
भानुः सद्दुयुक्तद्वरज	६०२	मानोन्नतां प्रणयिनां	३२१
मिच्छो ! मांसनिवेषण	५२४	मामाकाशप्रणिहितभुज	२१२
मिसिणीभलसअणीए	२३५	मारमा सुषमा चारु	६८८
मुक्तिमुक्तिहृदेकान्त	३०४	मुक्तोत्तर शङ्कटशक्ति	७४९
भुजङ्गकुण्डलीव्यक्त	६६६	मुख चन्द्र इवाभाति	६१८
भुजलता जडतामबलाजन	६७३	मुखं तव कुरङ्गाक्षि !	७२४
भूतयेऽस्तु भवानीश	५६५	मुखमिन्दुर्यया पाणि.	६९७
भूमौ चिप्तं शरीर	४४६	मुखमेणीहसो भाति	७४१
भूय परिभवकलान्ति	४२०	मुग्धा दुग्धवीधया	७३०
भो लङ्केश्वर ! दीयता	२५८	मुख मान हि मानिनि !	५७७
आतद्विरेफ भवता	२१७	मुनिर्जयति योगीन्द्र	८६७
अभङ्गे रचितेऽपि दृष्टि	२४०	मुहुरङ्गुलिसंवृताधरोष्ठ	३१२
म		मुहुरूपहसितामिवा	१७५
मखशतपरिपूत	४४१	मुहुर्याधूयमान	६२२
मञ्जुलमणिमञ्जरी	६७५	मृगरूपं परित्यज्य	४९१
मत्वा लोकम्	४८४	मृणालव्यालवलय	१८४

विषय	पृष्ठाङ्क	विषय	पृष्ठाङ्क
सूक्ष्ममण्डुकारम्	२०५	योरोम वृक्षितासवा	५१२
त्रिपते त्रिपत्नाये वा	२१४	यो वाः पादं विमर्ति	४३१
य		र	
वाः श्रीमारहरा स एव	१४	रश्मिस्तुल्यविद्याकण्ठे	२३५
वाः पते नयनामन्दकरा	५३९	रश्मिस्तपि पुरास्थातुम्	५१६
यं सर्वशैकाः परिकल्प्य	५०३	रश्मिस्तु विमलमाम्नाः	२९४
वाः से पतति सुम्न !	५१६	रश्मिता तु विविधास्तव	४५१
वाः पतत्यवकाशो दृष्टिः	८९	रश्मिकेकिङ्कः किञ्चित्	४८८
यस्योम्भवायां प्रमद्वान्नायां	३३१	रश्मितीकायमं मिम्भे	५८९
यस्योम्भवायां प्रमद्वान्नायां	८९	रश्मिस्तुल्यरतस्तवा	२१३
यस्योम्भवायां प्रमद्वान्नायां	४१८	रश्मिस्तुल्यरतस्तवा	५९८
यस्योम्भवायां प्रमद्वान्नायां	४३२	रश्मिस्तुल्यरतस्तवा	४०५
यस्योम्भवायां प्रमद्वान्नायां	२९०	रश्मिस्तुल्यरतस्तवा	८८८
यस्योम्भवायां प्रमद्वान्नायां	५८२	रश्मिस्तुल्यरतस्तवा	४५३
यस्योम्भवायां प्रमद्वान्नायां	५	रश्मिस्तुल्यरतस्तवा	४५१
यस्योम्भवायां प्रमद्वान्नायां	४५५	रश्मिस्तुल्यरतस्तवा	४११
यस्योम्भवायां प्रमद्वान्नायां	४५३	रश्मिस्तुल्यरतस्तवा	४५८
यस्योम्भवायां प्रमद्वान्नायां	५४४	रश्मिस्तुल्यरतस्तवा	८३९
यस्योम्भवायां प्रमद्वान्नायां	३८३	रश्मिस्तुल्यरतस्तवा	२१४
यस्योम्भवायां प्रमद्वान्नायां	४८१	रश्मिस्तुल्यरतस्तवा	३५३
यस्योम्भवायां प्रमद्वान्नायां	५१४	रश्मिस्तुल्यरतस्तवा	४३३
यस्योम्भवायां प्रमद्वान्नायां	४९	रश्मिस्तुल्यरतस्तवा	४१९
यस्योम्भवायां प्रमद्वान्नायां	८१९	रश्मिस्तुल्यरतस्तवा	२३६
यस्योम्भवायां प्रमद्वान्नायां	४५५	रश्मिस्तुल्यरतस्तवा	
यस्योम्भवायां प्रमद्वान्नायां	५१४	रश्मिस्तुल्यरतस्तवा	३८
यस्योम्भवायां प्रमद्वान्नायां	६०१	रश्मिस्तुल्यरतस्तवा	४३४
यस्योम्भवायां प्रमद्वान्नायां	९०	रश्मिस्तुल्यरतस्तवा	८५८
यस्योम्भवायां प्रमद्वान्नायां	५८८	रश्मिस्तुल्यरतस्तवा	६१०
यस्योम्भवायां प्रमद्वान्नायां	५८०	रश्मिस्तुल्यरतस्तवा	१५६
यस्योम्भवायां प्रमद्वान्नायां	२४४	रश्मिस्तुल्यरतस्तवा	३४५
यस्योम्भवायां प्रमद्वान्नायां	१८५	रश्मिस्तुल्यरतस्तवा	६१८
यस्योम्भवायां प्रमद्वान्नायां	६०	रश्मिस्तुल्यरतस्तवा	८१५
यस्योम्भवायां प्रमद्वान्नायां	४९९	रश्मिस्तुल्यरतस्तवा	४१५
यस्योम्भवायां प्रमद्वान्नायां	९२४	रश्मिस्तुल्यरतस्तवा	३२
यस्योम्भवायां प्रमद्वान्नायां	८१८	रश्मिस्तुल्यरतस्तवा	४२०
यस्योम्भवायां प्रमद्वान्नायां	८४८	रश्मिस्तुल्यरतस्तवा	४४६
यस्योम्भवायां प्रमद्वान्नायां	४१०	रश्मिस्तुल्यरतस्तवा	४३४
यस्योम्भवायां प्रमद्वान्नायां	१०९	रश्मिस्तुल्यरतस्तवा	
यस्योम्भवायां प्रमद्वान्नायां	४८५	रश्मिस्तुल्यरतस्तवा	८३३
यस्योम्भवायां प्रमद्वान्नायां	४१८	रश्मिस्तुल्यरतस्तवा	४९६

विषय	पृष्ठाङ्क	विषय	पृष्ठाङ्क
मगशावाच्या	७०२	व्यतिक्रमलवं कं मे	५९२
न सरोजम्	७३८	व्यपोहितुं लोचनतो	१९२
वदनाम्बुजमेणाच्या	८८८	व्यवहारोऽथवा तत्त्व	७८३
नेऽखिलकलासक्ताः	८७४	व्याजस्तुतिस्तत्त्व पयोद !	७९५
नराणां वनितासखा	७२७	व्याधूय यद्वसनम्	७७७
महासेन	५७६	श	
त्यतदहर्पतिर्न तु	६०१	शठान्यस्या.	१४४
भोत्सङ्गसङ्गेन	८१९	शशिनमुपगतेयम्	८२६
वसन्तलेखैकजिबद्धभाव	७६४	शशी दिवसधूसर	८५१
वाचमुवाच कौत्सः	५८२	शरीषमृद्धी गिरिषु	७१४
वाणीरकुडङ्कुड्डीणसउणि	३२७	शिखरिणि क नु नाम	२९५
वाप्यो भवन्ति विमला	८३५	शिरसि धृतसुरापणे	३७०
वारिजेनेव सरसी	७०९	शिरामुखे स्थन्दत	२५८
वासवासामुखे भाति	५८६	शीतांशुमुखमुत्पले	४३४
विकसन्नेत्रनीलाब्जे	६७७	शुश्रूषस्व गुरुन् कुरु	४८२
विकसितसहकार भार	५८३	शून्य वासगृहं	२६
विकसितमुखीं रागा	७७८	शूरा अमरतां यान्ति	५६१
विकासिनीलोत्पल	७४९	शेफालिकां विदलितं	२३६
विचरन्ति विलासिन्यः	८३८	शैलेन्द्रप्रतिपाद्यमानगिरिजा	८६४
विदधे मधुपश्रेणीमिह	७२४	शोणं वीक्ष्य मुखं	१४३
निन्दते केयूरे कुरु	१७३	श्रवणैः पेयमनेकैः	३६७
विधवति मुखाब्जमस्या	७०३	श्राद्धभोजनशीलो हि	५६९
विनयति सुदृशो दृशो.	२४१	श्रीरेषा पाणिरप्यस्या	४२७
विना जलदकालेन	७७५	श्रीहर्षो निपुण. कवि	३७४
विपिने क जटानिवन्धनं	२५४	श्रुतं कृतधियां स	८३३
विपुलेन सागरशयस्य	८२५	श्रुताप्सरोगीतिरपि	१५४
विभाति मृगशावाची	५१४	श्रुत्वा यान्त बहि	१८८
मिल एव रविर्विशद	७६२	श्रासान् मुञ्चति श्रूतले	१९०
तव तन्वङ्गी	८११	स	
विराजति न्योमवपुः	८३५	सकेतकालमनसं	९०
विललाप स बाष्पगद्गदम्	८४६	संधौ सर्वस्वहरण	३२६
विलोकनेनैव तवासुना	२७१	सगमविरहविकल्पे	७३१
विलोक्य वितते व्योम्नि	५९९	संग्रामे निहता शूरा	५७६
विवृण्वती शैलसुतापि	१७९	सततमुषलासङ्गात्	८१८
विषयस्यानुपादाने	७५३	स एकस्त्रीणि जयति	८१६
विस्ज सुन्दरि ।	४५९	स एव सुरभि काल	१७८
विसृष्टरागादधराञ्जिवर्त्तित	८३९	सकलकलं पुरमेतत्	६८३
वीक्षितु न क्षमा श्वधू	८४४	सज्जनो दुर्गाती मग्नः	६०६
वेदान्तेषु यमाहुरेकपुरुष	३७१	सज्जेहि सुरहिमासो	२९३
वृद्धोऽन्ध पतिरेपमञ्चक		सतीमपि ज्ञातिकुलैक	४९६



विषय	पृष्ठ	विषय
सत्यदा मञ्जुपरिमः	६८६	सैवा स्वकी यत्र
सदा चरति चो भालुः	६०२	सौख्यमात्रमद्वयकी
सदासिधं नौमि	५८१	सौरमममोदद्वय
सदैव शोभोत्पन्नकृष्णकर्म	८५५	स्तम्भगुणमुत्तमरत्नाः
सदा करस्पर्शमवाप्नोति चित्रम्	८५४	स्तोकैशोक्तिमावाति
सदा पुरीपरिसरेभ्यः	२०८	स्थिताः सर्वे पद्मसु
सद्यो मुनिवर्ममण्डपः	६५५	स्वाता तिष्ठति कुल्लोकरवामुता
सहस्रसम्भवाः शुभः	४७६	स्मिन्मरवात्मककाम्ति
सममेव नराधिपेन सा	७७४	सुखस्तदा बन्धुते सध्या
सममेव समाजमन्तरं	७५५	स्मरस्मरसतविधुराया
समय एव करोति	५५	स्मरार्थम्या कदा कल्पे
समादिकृष्टाः समादिकेयैः	१८२	स्मितेभोपात्मनं दुरात्
समीप्य युवस्य धिरात्	२२१	स्मेरं विभाव नयनम्
सम्प्रति सम्प्राप्तमवा	६९८	स्मेरराजीववचने
सरसिबन्धुनिर्द्धं सैवके	१८२	कथिष्य पक्षि जीवितापहा
सरलाया कथयनकर्म	६३६	स्वपीडि त्वं समीपे मे
सरोविकसितात्मोदय	८३५	स्वर्गप्राप्तिकाकिङ्कटनविधौ
सर्वविधिसुता	५२५	स्वच्छात्मा स्वपनविधौ
सर्वस्वं हर सर्वस्व	६७८	स्वामिन् प्रगुणमाकलं
स वा कश्चिज्जन्मोक्तिः	५७३	स्वामी विप्रवसिते
सहकरः सदाभोदः	७५१	स्वामी मुग्धतरो वनं
सह कृष्णकर्मन्वा	७७२	स्वेच्छोपवातविषयोपि
स ह्यथा वाकिर्बं धीरा	५७३	ह
सहयुत्पगर्भं सचलनम्	८८४	ईशजगद्भवाभाति
सहसा विजयीः विजयाः	६१५	ईशो धीर समीर । इन्द्रजयनम्
सहसा विजयीत	६	इतैः करतिगच्छेये
सहाधरद्वैजात्मा	७५४	इन्द्रमहादेवैः ससम्पदा
साम्प्रजगन्मममस्त	५५७	इन्द्र । सततमेव स्वप्न
सा पालुः प्रथमापराध	१५८	इन्द्र साम्प्रजगन्मम
सा बाका बचममगाहमममसा	८२३	इन्द्र इन्द्र गाता कम्पता
सार्धं स्वात्ममुपासितं	३०५	इन्द्रमेव प्रकृतस्व
सार्धकावर्धकम्	२१५	हरन्ति हृदयं धूमम्
सार्धं मनोरथघटीः	१६३	हरन्ती कम्प्योद्वय
सुखरज्यविजिगीषुः	६५०	हरस्तु किञ्चित्
सुखमु । कश्चिदि कोपं	२७६	इत्यपि परितोषरहितं
सुखेन विमलमन्त्रः	६१८	हा पूर्णचन्द्रमुक्तिः ।
सुखवने वपने निधेदि	६१५	हारीश्वरं हरिनालीयम्
सुखग । स्वकथारम्भे	१८७	हितम्न या ईश्वरुते
सुखगे । कोटिस्तथास्वमुपेत्य	२९५	हिममुत्तमम्
सुखीमुखेन साहचर्य	६३८	हीरकानां विधेरस्य
सुखचिन्तमङ्गी वरव	८८७	इदि विसकटाहाराः

